श्री अभिधान राजेन्द्र कोष

(प्रथम भागः)

रचयिताः

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.

प्रकाशकः

अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था.

णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स
श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय विश्वपूज्य
प्रातः स्मरणीय प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर पट्टप्रभावक चर्चाचक्रवर्ती परमपूज्य
आचार्यदेव श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वर साहित्यविशारद विद्याभूषण
श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर व्याख्यानवाचस्पति श्रीमद् विजय
यतीन्द्रसूरीश्वर, शान्तमूर्ति कविरत्न श्रीमद् विजय
विद्याचन्द्रसूरीश्वर गुरुभ्यो नमः
सकलागम रहस्यवेदी कलिकाळ सर्वज्ञकल्प–विद्वन्मान्य प्रातःस्मरणीय

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वर निर्मित

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष

卐 प्रथम भागः 卐

[द्वितीय संस्करण]

–ः प्रकाशक ः–

शांतमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वर पट्टालंकार
परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनीषी आचार्यदेव
श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज
एवं संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज
के उपदेश से
अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ
प्रदत्त द्रव्यसहाय से
श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद.

卐

श्री वीर संवत २५१३ प्रति : १०५० श्री राजेन्द्रसूरि संवत ७८
ईस्वी सन १९८६
मूल्य : संपूर्ण सेट (७ भागका) २५०१
(दो हजार पांचसो एक रुपये)

प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २–६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद–१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वेवाऽस्ति

पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है। जिसमें जिनागमों तथा विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं। अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं। अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं। किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है।

— रमेश आर. जवेरी

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज

जगत्पूज्य–गुरूदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।



दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ।। १ ।

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने अपने तप. जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्त्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया। साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया। एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना हैं श्री **अभिधान राजेन्द्र** कोश! इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भुत प्रेरणा प्रदान की है।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र.) से प्रकाशित की गई थी। प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था। विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे। अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीमांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ।

इस महान कार्य में परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज** के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन में परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानन्द विजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल की ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं:

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मंडल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला हैं।

इस प्रकाशन में हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार।

१ साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढ़ी, श्रीमाण्डवपुर तीर्थ (राज.)

४ श्री भेंसवाड़ा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज.)

६ शाह नेमिचन्द देवीचन्द फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी बलदरिया, कोशेलाव (राज.)

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ. गुजरात)
८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद
९ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ दाधाल
१० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-सुराणा
११ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ-धानेरा
१२ श्री जैनश्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई ।
१३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ, नेनावा (गुजरात)
१४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेंगलवा (राज.)
१५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, सियाणा (राज.)
१६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, आकोली (,,)
१७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (,,)
१८ श्री मांगीलाल, फूटरमल, शान्तिलाल, किशोरचन्द्र बेटा पोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुड़ाबालोतान् (राज.)
१९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
२० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म. प्र.)
२१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२२ शा. जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचन्द, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेंगलवा, (राजस्थान)
२३ श्री अमरचन्द देशमल तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
२४ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं. मद्रास
२५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटा पोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज.)

इन के अतिरिक्त गाँव नगरों के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेंगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, भेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडो, पांथेडी, बम्बई, सुमेरपुर, सांचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदाबाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, बाग्री, धानेरा, कलोल, झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू. आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद
२०४२ पोष सुद ७ (गुरुसप्तमी)

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् हो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती हैं। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में हैं; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आंखों पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है; अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत बादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममें विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है; तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूरी हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता; इसी प्रकार जब तक जीव को जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती; तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-राजा के खजाँची के समान। खजाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजांची के हाथ में होती है; अतः खजाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है; जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि......धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है; जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरूप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे; जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है-'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक है और एकार्थक शब्दों का बोध कराता है। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं--जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता हैं।

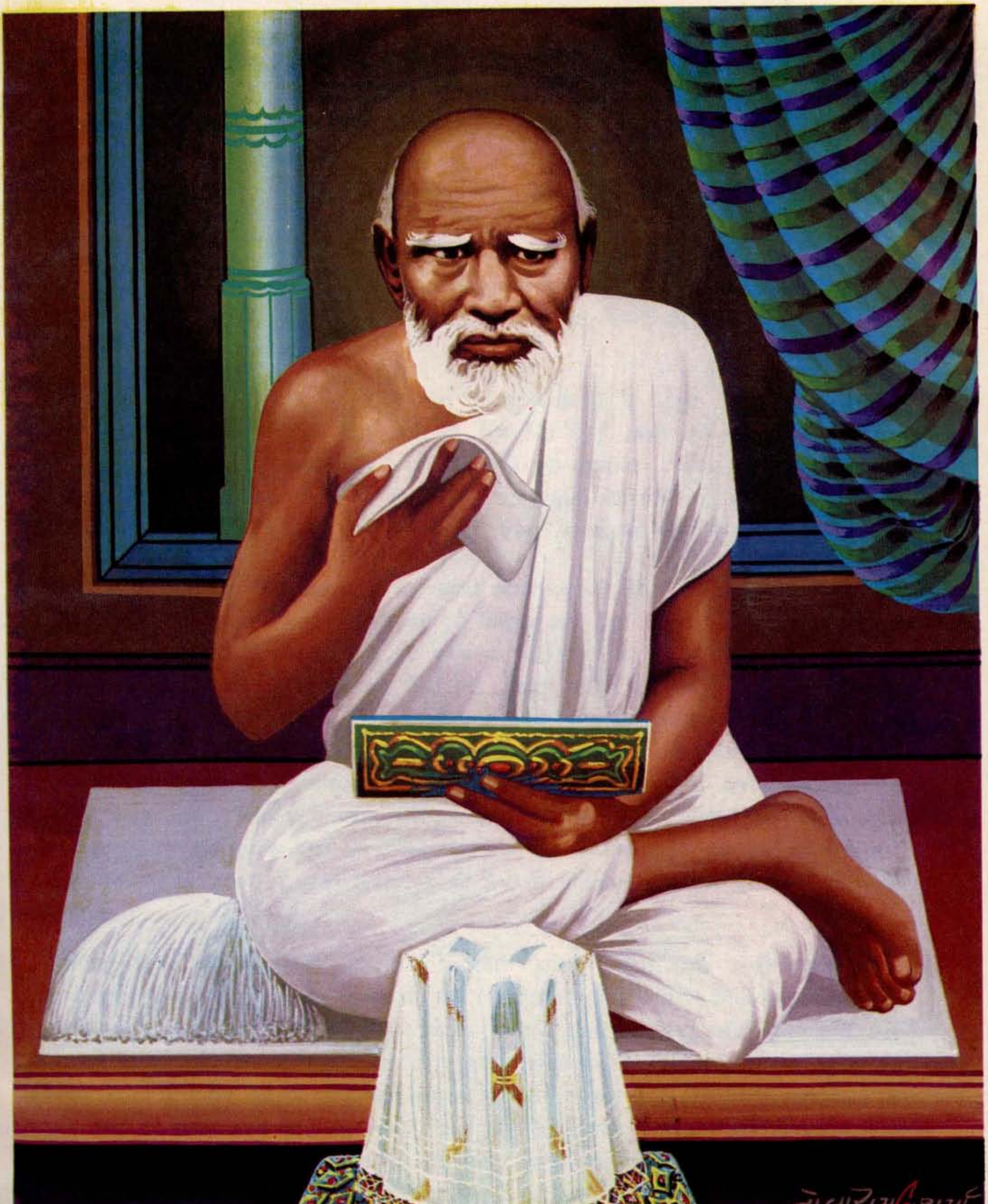
इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोंछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी–नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्वयक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्त्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य–
श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज ।



विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम् ।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ।। १ ।।

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत में की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रुप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है; इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैनधर्म–दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद, सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानबे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी है। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों में विस्तारित है। इसमें धर्म–संस्कृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनकी पुष्ट–सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पडेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपड़े का एक छोटा सा टुकडा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार–रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा–अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है; क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश की रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने को हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो; तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है। 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में बसे हुए दूर दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी; पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने .... । उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ । संयमवयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व को असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा । श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी । परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है ।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है; फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री मगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता । इनकी सेवाएं सदा स्मरणीय हैं ।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है । प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है । हम उन्हें नहीं भूल सकते ।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं । वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है । शुभम् ।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक
१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ { श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी }
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ { श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि }
९ { श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि }
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ { श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि }
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ { श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि }
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ { श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि }
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० { श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि }
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरि
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि


राजेन्द्र कोष ७
६
५
४
३
२
१
प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
उपाध्याय मोहनविजयजी महाराज
श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
उपाध्याय गुलाबविजयजी महाराज
विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज

अर्हम् ।

ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त जीवन–परिचय ।

रागद्वेषप्रदाकुद्वयदलनकृते वैनतेयत्वमाप्तः,
सूरीणामग्रगण्यो गुणगणमहितो मोहनीयस्वरूपः ।
यः "श्रीराजेन्द्रसूरि" र्जगति गुरुवरः साधुवर्गे वरिष्ठः,
तस्य स्मर्तुं चरित्रं कियदपि यतते 'श्रीयतीन्द्रो' मुनीद्रः ॥ १ ॥

आज हम उन महानुभाव करुणामूर्ति उपशम (शान्त) रसस्वरूप वर्तमान सकलजैनागमपारदर्शी श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय प्रवर जैनाचार्य भट्टारक श्रीश्री १००८ श्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का अत्यन्त प्रभावशाली संक्षिप्त जीवन–परिचय देंगे, जो कि इस भारत भूमि में अनेक विद्वज्जनों के पूज्य परोपकारपरायण महाप्रभावक आचार्य हो गये हैं ।

पूर्वोक्त महात्मा का जन्म श्री विक्रम संवत् १८८३ पौषशुक्ल ७ गुरुवार मुताबिक सन् १८२७ ईस्वी दिसम्बर ३ तारीख के दिन 'अछनेरा' रेल्वे स्टेशन से १७ मील और 'आगरे' के किले से ३४ मील पश्चिम राजपूताना में एक प्रसिद्ध देशी राज्य की राजधानी शहर ' भरतपुर ' में पारखगोत्रावतंस ओश (वाल) वंशीय श्रेष्ठिवर्य 'श्रीऋषभदास जी ' की सुशीला पत्नी 'श्रीकेसरी बाई' सौभाग्यवती की कुक्षि (कूँख) से हुआ था। आपका नाम रत्नों की तरह देदीप्यमान होने से जातीय जीमनवार पूर्वक ' रत्नराज ' रक्खा गया था। आपके जन्मोत्सव में भगवद्भक्ति, पूजा, प्रभावना, दान आदि सत्कार्य विशेष रूप से कराये गये थे, यहाँ तक कि नगर की सजावट करने में भी कुछ कमी नहीं रक्खी गयी थी ।

आपकी बाल्यावस्था भी इतनी प्रभावसंपन्न थी कि जिसने आपके माता पिता आदि परिवार के क्या ? अपरिचित सज्जनों के भी चित्तों में आनन्द–सागर का उल्लास करदिया, अर्थात् सबके लिये आनन्दोत्पादक और अतिसुखप्रद थी। आपने अपने बाल्यावस्था ही में सुरम्य वैनयिक गुणों से माता पिता और कलाचार्यों को रञ्जित कर करीब दस बारह वर्ष की अवस्था में ही सांसारिक सब शिक्षाएँ संपन्न करलीं थीं। आपके ज्येष्ठ भ्राता 'माणिकचन्दजी ' और छोटी बहन ' प्रेमाबाई ' थी।

पूज्य लोगों की आज्ञा पालन करना और माता पिता आदि पूज्यों को प्रणाम करना और प्रातःकाल उठकर उनके चरण कमलों को पूजकर उनसे शुभाशीर्वाद प्राप्त करना, यह तो आपका परमावश्यकीय नित्य कर्त्तव्य कर्म था।

आपकी रमणीय चित्तवृत्ति निरन्तर स्वाभाविक वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहा करती थी, इसीसे आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम शिक्षाओं को प्राप्त करने में उत्साही रहते थे।

सबके साथ मित्रभाव से वर्त्तना, पूज्यों पर पूज्य बुद्धि रखना, गुणवानों के गुणों को देख कर प्रसन्न होना, सत्समागम की अभिलाषा रखना, कलह से डरना, हास्य कुतूहलों से उदासीन रहना, और दुर्व्यसनी लोगों की संगति से बचकर चलना, यह आपकी स्वाभाविक चित्तवृत्ति थी।

बारह वर्ष की अवस्था से कुछ ऊपर होने पर अपने पिता की आज्ञा लेकर बड़े भाई 'माणिकचंदजी' के साथ 'श्रीकेसरियाजी' महातीर्थ की यात्रा की, और रास्ते में 'अम्बर' शहर-निवासी सेठ 'सौभाग्यमलजी' की पुत्री के डाकिनी का दोष निवारण किया और भीलों के संकट से सारे कुटुम्ब को बचाया था। इसी सबब से इस उपकार के प्रत्युपकार में 'सौभाग्यमलजी' ने अपनी सुरूपा पुत्री 'रमादेवी' का सगपन (सगाई) आप (रत्नराज) के साथ संयोजन करने का मानसिक विचार किया था। परन्तु यहाँ संबन्धियों का संमेलन न होने के सबब से सेठजी अपने कुटुम्ब सहित घर की तरफ रवाना हो गये। इधर 'माणिकचंदजी' भी अपने छोटे भाई को यात्रा कराकर 'गोड़वाड' की पञ्चतीर्थी की यात्रा करते हुए अपने घर को चले आये।

कुछ दिन घर में रहकर फिर दोनों भाई व्यापारोन्नति के निमित्त अपने पिता का शुभाशीर्वाद ले बङ्गाल की ओर रवाना हुए। क्रमशः पन्थ प्रसार करते हुए दोनों भाई 'कलकत्ते' शहर में आए और सर्राफी बाजार में आढ़तिया के यहाँ उतरे। इस शहर में दस पन्द्रह दिन ठहर कर जहाजों में धान (गल्ला) भर, शुभ मुहूर्त में 'सिंहलद्वीप' (सिलोन) की ओर रवाना हुए। मार्ग में अनेक उपद्रवों को सहन करते हुए 'सिंहलद्वीप' में पहुँचे। यहाँ से द्रव्योपार्जन करके कुछ दिनों के बाद 'कलकत्ता' आदि शहरों को देखते हुए अपने घर को आये। तदनन्तर माता पिता की वृद्धावस्था समझ कर उनकी सेवा में तत्पर हो वहाँ ही रहना स्थिर किया।

काल की प्रबल गति अनिवार्य है, यह मनुष्यों को दुःखित किये विना नहीं रहती। अकस्मात् ऐसा समय आया कि-माता और पिता के अन्तिम दिन आ पहुँचे और दोनों भाइयों को अत्यन्त शोक होनेका अवसर आगया, परन्तु किञ्चित् धैर्य पकड़ कर माता पिता की अन्तिम भक्ति करने में कटिबद्ध हो, उनकी सुन्दर शिक्षाएँ सावधानी से ग्रहण कीं, और रातदिन उनके निकट ही रहना शुरू किया, यों करते काल समय आने पर जब माता पिता का देहान्त हो गया, तब दोनों भाई संसारी कृत्य कर विशेष शोक के वशीभूत न हो धर्मध्यान में निमग्न हुए।

तब से आपकी सुरम्य चित्तवृत्ति विशेषरूप से निरन्तर वैराग्य की ओर ही आकर्षित रहने लगी, इसी से आप विषयवासनाओं से रहित होकर परमार्थ सिद्ध करने में और उच्चतम मुनिराजों के दर्शन प्राप्त करने में प्रोत्साहित रहते थे।

एक समय 'श्रीकल्याणसूरिजी' महाराज के शिष्य–यतिवर्य 'श्री प्रमोदविजयजी' महाराज विचरते विचरते शहर 'भरतपुर' में पधारे और आज्ञा लेकर उपाश्रय में ठहरे। सब लोग आपके पास व्याख्यान सुनने आने लगे। इधर 'रत्नराज' भी देव दर्शन कर उपाश्रय में व्याख्यान सुनने के लिये आये। इस सुयोग्य सभा में 'श्रीप्रमोदविजयजी' महाराज ने संसार की क्षणिक प्रीति के स्वरूप को बहुत विवेचन के साथ दिखाया कि– "अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वतः" अर्थात् इस संसार में शरीरादि संयोग सब क्षणिक हैं, याने देखने में तो सुन्दर लगते हैं परन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायक होते हैं और धन दौलत भी विनाशवान् है इसके ऊपर मोह रखना केवल अज्ञान ही है, क्यों कि–

" दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ॥
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्याः ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित ? " ॥ १ ॥

अर्थात् इस संसार में पहिले तो गर्भवास ही में मनुष्यों को जननी के कुक्षि (कूँख) में दुःख प्राप्त होता है, तदनन्तर बाल्यावस्था में भी मलपरिपूर्ण शरीर स्त्रीस्तनपयः पान से मिश्रित दुःख होता है, और जवानी में भी विरह आदि से दुःख उत्पन्न होता है, तथा वृद्धावस्था तो बिलकुल निःसार याने कफ वातादि के दोषों से परिपूर्ण है; इसलिये हे मनुष्यो ! जो संसार में थोड़ा भी सुख का लेश हो तो बतलाओ ? ॥ १ ॥

इसवास्ते अरे भव्यो ! परमसुखदायक श्री जिनेन्द्रप्ररूपित अहिंसामय धर्म की आराधना करो जिससे आत्मकल्याण हो।

इस प्रकार हृदयग्राहिणी और वैराग्योत्पादिका गुरुवर्य की धर्मदेशना सुनकर 'रत्नराज' के चित्त में अत्यन्त उदासीनता उत्पन्न हुई और विचार किया कि–वस्तुगत्या संयोग मोह ही प्राणीमात्र को दुःखित कर देता है, इससे मुझे उचित है कि-आत्मकल्याण करने के लिये इन्हीं गुरुवर्य का शरण ग्रहण करूँ, क्योंकि संसार के तापों से संतप्त प्राणियों की रक्षा करने वाले गुरु ही हैं।

ऐसा विचार कर अपने संबन्धिवर्गों की अनुमति (आज्ञा) लेकर बड़े समारोह के साथ संवत् १९०३ वैशाख सुदी ५ शुक्रवार के दिन शुभयोग और शुभ नक्षत्र में महाराज 'श्री प्रमोदविजयजी' के कहने से उनके ज्येष्ठ गुरुभ्राता 'श्रीहेमविजयजी' महाराज के पास यतिदीक्षा स्वीकार की, और संघ के समक्ष आपका नाम 'श्रीरत्नविजयजी' रक्खा गया।

महानुभाव पाठकगण ! उस समय यतिप्रणाली की मर्यादा, प्रचलित प्रणाली से अ–

त्यन्त प्रशंसनीय थी अर्थात् रजोहरण मुहपत्ती सर्वदा पास में रखना, दोनों काल (समय) प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन करना, श्वेत–मानोपेत वस्त्र धारण करना, स्त्रियों के परिचय से सर्वथा बहिर्भूत रहना, पठन और पाठन के अतिरिक्त व्यर्थ समय न खोकर निद्रादेवी के वशीभूत न होना, निरन्तर अपनी उन्नति के उपाय खोजना, और धर्म-विचार या शास्त्रविचार में निमग्न रहना इत्यादि सदाचारसे अतीव प्रशंसनीय प्राचीन समय में यतिवर्ग था। जैसे आज कल यतियों की प्रथा बिगड़ गयी है,वैसे वे लोग बिगड़े हुए नहीं थे, किन्तु इनसे बहुत ज्यादे सुधरे हुए थे। हाँ इतना जरूर था कि उस समय (१९०३) में भी कोई २ यति परिग्रह रखते थे, परन्तु महाराज 'श्रीप्रमोदविजयजी' की रहनी कहनी बिलकुल निर्दोष थी,अर्थात् उस समय के और (दूसरे) यतियों की अपेक्षा प्रायः बहुत भागों में सुधरी हुई थी, इसी से पुरुषरत्न 'श्री रत्नराजजी' ने वैराग्यरागरञ्जित हो यतिदीक्षा स्वीकार की थी।

फिर कुछ दिन के बाद 'श्रीप्रमोदविजयजी'गुरूकी आज्ञा से श्रीरत्नविजयजी ने 'मूँगी सरस्वती' विरुदधारी यतिवर्य श्रीमान् 'श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज के पास रहकर व्याकरण, न्याय, कोष, काव्य, और अलङ्कार आदि का विशेष रूप से अभ्यास किया। 'श्रीप्रमोदविजयजी' और श्रीसागरचन्द्रजी' महाराज की परस्पर अत्यन्त मित्रता थी। जब दोनों का परस्पर मिलाप होता था, तब लोगों को अत्यन्त ही आनन्द होता था। यद्यपि दोनों का गच्छ भिन्न २ था, तथापि गच्छों के झगड़ों में न पड़कर केवल धार्मिक विचार करने में तत्पर रहते थे, इसलिये 'श्रीसागरचन्द्रजी' ने आपको अपने अन्तेवासी (शिष्य) की तरह पढ़ाकर हुशियार किया था।

'सागरचन्द्रजी' मरुधर (मारवाड़) देश के यतियों में एक भारी विद्वान् थे, इनकी विद्वत्ता की प्रख्याति काशी ऐसे पुन्यक्षेत्र में भी थी, आप ही की शुभ कृपा से श्रीरत्न–विजयजी' स्वल्पकाल ही में व्याकरण आदि शास्त्रों में निपुण और जैनागमों के विज्ञाता हो गये, परन्तु विशेषरूप से गुरुगम्य शैली के अनुसार अभ्यास करने के लिये तपागच्छाधिराज श्रीपूज्य 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज के पास रहकर जैनसिद्धान्तों का अवलोकन किया और गुरुदत्त अनेक चमत्कारी विद्याओं का साधन किया।

आपके विनयादि गुणों को और बुद्धिविचक्षणता को देखकर 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज ने आपको शहर 'उदयपुर' में 'श्रीहेमविजयजी' के पास बड़ी दीक्षा और 'पन्यास' पदवी प्रदान करवाई थी और अपने अन्त समय में 'पं० श्रीरत्नविजयजी ' से कहा कि-" अब मेरा तो यह समय आलगा है, और मैंने अपने पाट पर शिष्य 'श्रीधीरविजय' को धरणेन्द्रसूरि' नामाङ्कित करके बैठाया तो है किन्तु अभी यह अज्ञ है, याने व्यवहार से परिचित नहीं है। इसलिये तुमको मैं आदेश करता हूँ कि–इसको पढ़ाकर साक्षर बनाना

और गच्छ की मर्यादा सिखाना "। इस शुभ आज्ञा को सुनकर 'पं० रत्नविजयजी' ने साञ्जलिबन्ध होकर 'तहत्ति' कहा। फिर श्रीपूज्यजी महाराज ने विजयधरणेन्द्रसूरिजी से कहा कि—' तुम रत्नविजय पन्यास के पास पढ़ना और यह जिस मर्यादा से चलने को कहें उसी तरह चलना '। धरणेन्द्रसूरिजी ने भी इस आज्ञा को शिरोधार्य माना।

महाराज श्रीदेवेन्द्रसूरिजी ने तो चारों आहार का त्याग कर शहर 'राधनपुर' में अनशन किया और समाधिपूर्वक कालमहीने में काल किया। पीछे से पट्टाधीश 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने 'श्रीरत्नविजयजी' पन्यास को बुलाने के लिये एक रुक्का लिखा कि पेस्तर 'श्रीखन्तिविजयजी' ने खेवटकर उदयपुर राणाजी के पास से 'श्रीदेवेन्द्रसूरिजी' महाराज को पालखी प्रमुख शिरोपाव बक्साया था, उसी प्रकार तुम को भी उचित है कि 'सिद्धविजयजी' से बन्द हुआ जोधपुर और बीकानेर नरेशों की तरफ से छड़ी दुशाला प्रमुख शिरोपाव को खेवटकर फिर शुरू कराओ, इस रुक्के को बाँचकर 'श्री प्रमोदविजयजी' महाराज ने कहा कि- "सूचिप्रवेशे मुशलप्रवेशः" यह लोकोक्ति बहुत सत्य है, क्यों कि 'श्री हीरविजय सूरिजी' महाराज की उपदेशमय वचनों को सुनकर दिल्लीपति बादशाह अकब्बर अत्यन्त हर्षित हुआ और कहने लगा कि—" हे प्रभो! आप पुत्र, कलत्र, धन, स्वजनादि में तो ममत्व रहित हैं इसलिये आपको सोना चाँदी देना तो ठीक नहीं ?, परन्तु मेरे मकान में जैन मजहब की प्राचीन २ बहुत पुस्तकें हैं सो आप लीजिये और मुझे कृतार्थ करिये "। इस प्रकार बादशाह का बहुत आग्रह देख 'हीरविजय सूरिजी' ने उन तमाम पुस्तकों को आगरा नगर के ज्ञानभण्डार में स्थापन किया। फिर आडम्बर सहित उपाश्रय में आकर बादशाह के साथ अनेक धर्मगोष्ठी की; उससे प्रसन्न हो छत्र, चामर, पालखी वगैरह बहु मानार्थ 'श्री हीरविजय सूरिजी' के अगाड़ी नित्य चलाने की आज्ञा अपने नोकरों को दी। तब हीरविजय सूरिजी ने कहा कि हम लोग जंजाल से रहित हैं इससे हमारे आगे यह तूफाण उचित नहीं है। बादशाह ने विनय पूर्वक कहा कि-'हे प्रभो! आप तो निस्पृह हैं परन्तु मेरी भक्ति है सो आपके निस्पृहपन में कुछ दोष लगने का संभव नहीं है'। उस समय बादशाह का अत्यन्त आग्रह देख श्रीसंघ ने विनती की कि—स्वामी! यह तो जिनशासन की शोभा और बादशाह की भक्ति है इसलिये आपके आगे चलने में कुछ अटकाव नहीं है। गुरुजी ने भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा विचार मौन धारण कर लिया। बस उसी दिन से श्रीपूज्यों के आगे शोभातरीके पालखी छड़ी प्रमुख चलना शुरू हुआ। " श्री विजयरत्न सूरिजी " महाराज तक तो कोई आचार्य पालखी में न बैठे, परन्तु 'लघुक्षमासूरिजी' वृद्धावस्था होने से अपने शिथिलाचारी साधुओं की प्रेरणा होने पर बैठने लगे। इतनी रीति कायम रक्खी कि गाँम में आते समय पालखी से उतर जाते थे, तदनन्तर 'दयासूरिजी' तो गाँव नगर में भी बैठने लगे। इस तरह क्रमशः धीरे २ शिथिलाचार की प्रवृत्ति चलते चलते अत्यन्त शिथिल होगये क्योंकि पेस्तर तो कोई राजा वगैरह प्रसन्न हो ग्राम नगर क्षेत्रादि

शिरोपाव देता तो उसको स्वीकार न कर उसके राज्य में जीववधादि हिंसा को रुकाकर आचार्य धर्म की प्रवृत्ति में वधारा करते थे, और अब तो 'श्रीपूज्य' नाम धराकर खुद खेवट कराके शिरोपाव लेने की इच्छा करते हैं, यह सब दुःषम काल में शिथिलाचारादि-प्रवृत्ति का प्रभाव जानना चाहिये। अत एव हे शिष्य! "श्रीपूज्यजी ने जो कुछ लिखा है उस प्रमाणे उद्यम करना चाहिये, क्योंकि बहुत दिन से अपना इनके साथ संबन्ध चला आता है उसको एक दम तोड़ना ठीक नहीं है"। तब अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास रत्नविजयजी भी नवीन श्रीपूज्यजी को दत्तचित्त होकर पढ़ाना प्रारम्भ किया और गच्छाधीश की मर्यादाऽनुसार बर्ताव कराना शुरू किया। श्रीपूज्यजी ने अपने गुरुवर्य की आज्ञानुसार पन्यास श्री रत्नविजयजी को विद्यागुरु समझकर आदर, सत्कार, विनय आदि करना शुरू किया। पन्यासजी ने भी श्रीपूज्य आदि सोलह व्यक्तियों को निःस्वार्थ वृत्ति से पढ़ाकर विद्वान् कर दिया। श्रीपूज्यजी महाराज ने अपने विद्यागुरु का महत्त्व बढ़ाने के लिये दफतरीपन का ओहदा [अधिकार] सौंपा अर्थात् जो पदवियाँ किसी को दी जायँ और यतियों को अलग चौमासा करने की आज्ञा दी जाय तो उनको पट्टा पन्यास 'श्री रत्नविजयजी' के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सके ऐसा अधिकार अर्पण किया। तब ज्योतिष, वैद्यक और मंत्रादि से जोधपुर और बीकानेर नरेशों को रञ्जितकर छड़ी दुशाला प्रमुख शिरोपाव और परवाना श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को भेट कराया।

एक समय संवत् १९२३ का चौमासा 'श्री धरणेन्द्रसूरिजी' ने शहर 'घाणेराव' में किया उस समय पं० श्रीरत्नविजयजी आदि ५० यति साथ में थे परन्तु भवितव्यता अत्यन्त प्रबल होती है करोड़ों उपाय करने पर भी वह [होनहार] किसी प्रकार टल नहीं सकती, जिस मनुष्य के लिये जितना कर्त्तव्य करना है वह होही जाता है, थाने पर्युषणा में ऐसा मौका आ पड़ा कि श्रीपूज्यजी के साथ श्रीरत्नविजयजी का अतर के बाबत चित्त उद्विग्न हो गया, यहाँ तक कि उस विषय में अत्यन्त वाद विवाद बढ़ गया, इससे रत्नविजयजी भाद्रपद सुदी २ द्वितीया के दिन 'श्रीप्रमोदरुचि' और 'धनविजयजी' आदि कई सुयोग्य यतियों को साथ लेकर 'नाडोल' होते हुए शहर 'आहोर' में आये और अपने गुरु श्री प्रमोदविजयजी को सब हाल कह सुनाया। जब गुरुमहाराज ने श्रीपूज्य को हितशिक्षा देने के लिये श्रीसंघ की संमति से पूर्व परंपराऽऽगत सूरिमंत्र देकर रत्नविजयजी को अत्यन्त महोत्सव के साथ संवत् १९२३ वैशाख सुदी ५ बुधवार के दिन 'आचार्य' पदवी दी और उसी समय आहोर के ठाकुर साहब 'श्रीयशवन्तसिंह' जी ने श्रीपूज्य के योग्य छड़ी, चामर, पालखी, सूरजमुखी आदि सामान भेट किया। और श्रीसंघ ने श्रीपूज्यजी को 'श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी' महाराज के नाम से प्रख्यात करना शुरू किया।

श्रीपूज्य श्री विजयराजेन्द्रसूरिजी महाराज अपनी सुयोग्य यतिमण्डली सहित ग्राम

ग्राम विहार करते हुए मेवाड़देशस्थ 'श्रीशंभूगढ़' पधारे। यहां के चौमासी 'श्री फतेहसागरजी' ने फिर पाटोच्छव करा के राणाजी के 'कामेती' के पास भेट पूजा करायी। फिर गाँवो गाँव श्रावकों से 'खमासमणा' कराते हुए संवत् १९२४ का चौमासा 'श्रीसंघ' के अत्यन्त आग्रह से शहर 'जावरे' में किया और 'श्रीभगवतीजी' सूत्र को व्याख्यान में बाँचा। यहां पर जनाणी मीठालालजी प्रमुख श्रावकों के मुख से श्रीपूज्यजी की प्रशंसा सुनकर 'नवाबसाहेब' ने एक प्रश्न पुछाया कि–"तुम्हारा धर्म हम अंगीकार करें तो हमारे साथ तुम खाना पीना करसकते हो, या नहीं"?। इसका उत्तर श्रीपूज्यजी महाराज ने यह फरमाया कि–"दीन का और जैन का घर एक है इसलिये चाहे जैसी जातिवाला मनुष्य जैनधर्म पालता हो उसके साथ हम बन्धु से भी अधिक प्रेम रख सकते हैं, किन्तु लोकव्यवहार अस्पृश्य जाति न हो तो हम जैन शास्त्र के मुताबिक खाने पीने में दोष नहीं समझते हैं" इत्यादि प्रश्न का उत्तर सुन और सन्तुष्ट हो अपने वजीर के जरिये मोहर परवाना सहित आपदागिरि, किरणीया, वगैरह लवाजमा भेट कराया। इस चौमासे में 'धरणेन्द्रसूरि' ने एक पत्र (रुक्का) लिखकर अपने नामी यति 'सिद्धकुशलजी' और 'मोतीविजयजी' को जावरे संघ के पास भेजा। उन दोनों ने आकर संघ से सब वृत्तान्त (हकीकत) कहा, तब संघ ने उत्तर दिया कि–'हम ने तो इनको योग्य और उचित क्रियावान् देखकर श्रीपूज्य मान लिया है और जो तुह्मारे भी श्रीपूज्य गच्छमर्यादाऽनुसार चलेंगे तो हम उन्हें भी मानने को तैयार हैं।

इस प्रकार बात चीत करके दोनों यति आपके पास आये और वन्दन विधि साँचवकर बोले कि–आप तो बड़े हैं, थोड़ीसी बात पर इतना भारी कार्य कर मालना ठीक नहीं है, इस गादी की बिगड़ने और सुधरने की चिन्ता तो आपही को है। तब आपने मधुर वचनों से कहा कि–मैं तो अब क्रियाउद्धार करने वाला हूँ मुझे तो यह पदवी बिलकुल उपाधिरूप मालूम पड़ती है परन्तु तुम्हारे श्रीपूज्यजी गच्छमर्यादा का उल्लंघन करके अपनी मनमानी रीति में प्रवृत्त होने लग गये हैं, इस वास्ते उनको नव कलमें मंजूर कराये बिना अभी क्रियाउद्धार नहीं हो सकता। ऐसा कह नव कलमों की नकल दोनों यतियों को दी, तब उस नकल को लेकर दोनों यति श्रीपूज्यजी के पास गये और सब वृत्तान्त कह सुनाया तब श्रीपूज्यजी ने भी उन कलमों को बाँच कर और हितकारक समझकर मंजूर की और उस पर अपनी सही भी कर दी और साथ में सूरिपद की अनुमति भी दी।

इस प्रकार श्रीधरणेन्द्रसूरिजी को गच्छसामाचारी की नव कलमों को मनाकर और अपना पाँच वर्ष का लिया हुवा 'अभिग्रह' पूर्ण होने पर जावरे के श्रीसंघ की पूर्ण विनती होने से वैराग्यरङ्गरञ्जित हो श्रीपूज्याचार्य श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने अपना श्रीपूज्यसंबन्धी छड़ी, चामर, पालखी, पुस्तक आ-

दि सब सामान श्रीसुपार्श्वनाथजी के मंदिर में चढ़ाकर संवत् १९२५ आषाढ वदि १० बुधवार के दिन अपने सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रमोदरुचिजी और श्री धनविजयजी के साथ बड़े समारोह से क्रिया-उद्धार किया, अर्थात् संसारवर्द्धक सब उपाधियों को छोड़ कर सदाचारी, पञ्च महाव्रतधारी सर्वोत्कृष्ट पद को स्वीकार किया। उस समय प्रत्येक गामों के करीब चार हजार श्रावक हाजिर थे उन सबों ने आपकी जयध्वनि करते हुए सारे शहर को गुंजार कर दिया।

क्रियाउद्धार करने के अनन्तर खाचरोद संघ के अत्यन्त आग्रह से आपका प्रथम चौमासा (सम्वत् १९२५ का) खाचरोद में हुआ, इस चौमासे में श्रावक और श्राविकाओं को धार्मिक शिक्षण बहुत ही उत्तम प्रकार से मिला और सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। चौमासे के उतार में श्रीसंघ की ओर से अट्ठाई महोत्सव किया गया, जिसपर करीब तीन चार हजार श्रावक श्राविका एकत्रित हुए, जिससे जैन धर्म की बड़ी भारी उन्नति हुई; इस चौमासे में पाँच सात हजार रुपये खर्च हुए थे और जीर्णोद्धारादि अनेक सत्कार्य हुए। फिर चतुर्मासे के उतरे बाद ग्रामानुग्राम विहार करते हुए 'नीबाड़' देशान्तर्गत शहर 'कुकसी' की ओर आपका पधारना हुआ। 'कूकसी' में आसोजी देवीचन्दजी आदि अच्छे २ विद्वान् श्रावक रहते थे, जिनके व्याख्यान में पाँच पाँच सौ श्रावक लोग आते थे, इन दोनों श्रावकों ने आपके पास द्रव्यानुयोगविषयक अनेक प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर आपने बहुतही सन्तोषदायक दिये। उन्हें सुनकर और आपका साधुव्यवहार शुरू देखकर अतीव समारोह के साथ सब श्रावक और श्राविकाओं ने विधि पूर्वक सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया। यहाँ उन्तीस २९ दिन रहकर अनेक लोगों को जैनमार्गानुगामी बनाया। फिर क्रम से संवत् १९२६ रतलाम, १९२७ कूकसी, १९२८ राजगढ़ और फिर १९२९ का चौमासा रतलाम में हुआ। इस चौमासे में संवेगी जवेरसागरजी और यती बालचन्दजी उपाध्याय के साथ चर्चा हुई, जिसमें आपको ही विजय प्राप्त हुआ और 'सिद्धान्तप्रकाश' नामक बहुतही सुन्दर ग्रन्थ बनाया गया। संवत् १९३० का चौमासा जावरा में और १९३१ तथा १९३२ का चौमासा शहर 'आहोर' में हुआ। ये दोनों चौमासे एकही गाँव में एक भारी जातीय झगड़े को मिटाने के लिये हुए थे, नहीं तो जैन साधुओं की यह रीति नहीं है कि जिस गाँव में एक चौमासा कर लिया, उसी गाँव में फिर तदनन्तर दूसरे साल का चौमासा करना, परन्तु कोई लाभालाभ का अवसर हो तो कारण सर चौमासा पर भी चौमासा हो सकता है।

संवत् १९३३ का चौमासा शहर जालोर में हुआ, यहाँ पर ढूंढियों के साथ चर्चा कर सात सौ ७०० घर मन्दिरमार्गी बनाये और गढ के ऊपर राजा कुमारपाल के बनाये हुए प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, और कुम्भ सेठ का बनाया हुआ जो चौमुखजी का मन्दिर था, उसमें से सरकारी सामान निकलवा कर बड़े समारोह से शास्त्रीय विधि पूर्वक

प्रतिष्ठा करायी। सम्वत् १९३४ राजगढ़, १९३५ रतलाम, १९३६ जीनमाल, १९३७ शिवगंज, १९३८ आलीराजपुर, १९३९ कूगसी, १९४० राजगढ़, और १९४१ का चौमासा शहर अहमदाबाद में हुआ। इस चौमासे में आत्मारामजी के साथ पत्रद्वारा चर्चा वार्ता हुई और बहुत धार्मिक उन्नति जी हुई।

सम्वत् १९४२ धोराजी, १९४३ धानेरा, और १९४४ का चौमासा 'थराद' में हुआ। यहाँ श्रीजगवतीजी सूत्र व्याख्यान में बाँचा गया, जिसपर सङ्घ ने जारी उत्सव किया और प्रति प्रश्न तथा उत्तर की पूजा की। सं० १९४५ वीरमगाँम, और १९४६ का चौमासा सियाणा में हुआ, इस चौमासे में 'अजिधानराजेन्द्र कोष' बनाने का आरम्भ किया गया। सं० १९४७ में गुरा, १९४८ आहोर, और १९४९ का चौमासा 'निबाहेरा' में हुआ। इसमें ढूँढकपन्थियों के पूज्य नन्दरामजी के साथ चर्चा हुई, जिसमें ढूढियों को परास्त करके सात ६० घर मन्दिरमार्गी बनाये। सं० १९५० खाचरोद, १९५१ और १९५२ का चौमासा 'अजिधानराजेन्द्रकोष' के काम चलने से राजगढ़ही में हुए। सं० १९५३ में चौमासा शहर 'जावरे' में हुआ, यहाँ कातिक महीने में बड़े समारोह के साथ संघ की तरफ से अट्ठाई महोत्सव किया गया, जिसमें वीस हजार रुपये खर्च हुए और विपक्षी लोगों को अच्छी रीति से शिक्षा दीगयी, जिससे जैन धर्म की बहुत जारी उन्नति हुई। सं० १९५४ का चौमासा शहर रतलाम में हुआ, यहाँ जी अट्ठाई महोत्सव बड़े धूमधाम से हुआ, जिस पर करीब दश हजार श्रावक और श्राविकाएँ आपके दर्शन करने को आईं, और संघ की ओर से उनकी जक्ति पूर्ण रूप से हुई, जिसमें सब खर्च करीब बीस हजार के हुआ, विशेष प्रशंसनीय बात यह हुई कि पाखण्डी लोगों को पूर्ण रूप से शिक्षा दी गयी, जिससे आपको बड़ा यश प्राप्त हुआ।

सम्वत् १९५५ का चौमासा मारवाड़ देश के शहर 'आहोर' में हुआ, इस चौमासे में जी धार्मिक उन्नति विशेष प्रकार से हुई और इसी वर्ष में श्रीआहोरसंघ की तरफ से 'श्रीगोडीपार्श्वनाथजी' के बावन ५२ जिनालय (जिनमंदिर) की प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाका आपही के करकमलों से करायी गयी, जिसके उत्सव पर करीब पचास हजार श्रावक श्राविकाएँ आईं और मन्दिर में एक लाख रुपयों की आमद हुई। इस अञ्जनशलाका में नौ सौ ९०० जिनेन्द्रबिम्बों की अञ्जनशलाका की गयी थी, इतना जारी उत्सव मारवाड़ में पहिले पहिल यही हुआ। इतने मनुष्यों के एकत्र होने पर जी कुछ जी किसीकी जो हानि नहीं हुई यह सब प्रजाव आपही का था। सं० १९५६ का चौमासा शहर शिवगञ्ज में हुआ। जिस में अपने गच्छ की मर्यादा बिगड़ने न पावे इस लिये इस चौमासे में आपने साधु और श्रावक संबन्धी पैंतीस सामाचारी (कलमें) जाहर कीं, जिसके मुताबिक आजकल आपका साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध संघ बर्ताव कर रहा है।

सम्वत् १९५७ का चौमासा शहर सियाणा में हुआ। यहाँ श्रीसंघ की तरफ से महाराज

कुमारपाल का बनवाया हुआ 'श्रीसुविधिनाथ जी' के जिनमन्दिर का उद्धार आपही के उपदेश से कराया गया था और आस पास चौवीस देवकुलिका बनायी गयीं थीं और उनकी प्रतिष्ठा आपके ही हाथ से करायी गयी, इस उत्सवपर मन्दिर में सत्तर ७० हजार रुपयों की आमद हुई और दिव्य एक पाठशाला भी स्थापित हुई।

सं० १९५८ का चौमासा आहोर, और १९५९ का शहर 'जालोर' में हुवा। इस चौमासे में जैनधर्म की बहुत बड़ी उन्नति हुई और मोदियों का कुसंप हटाकर सुसंप किया गया। फिर चौमासा उतरे बाद शहर आहोर में दिव्य ज्ञानभण्डार की और एक घूमटदार जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा की। इस ज्ञानभण्डार में बहुत प्राचीन २ ग्रन्थ हैं। पैंतालीस आगम और उनको पञ्चाङ्गी तिबरती (तेहरी) मौजूद है और प्राचीन महर्षियों के बनाये ग्रन्थ भी अगणित मौजूद हैं, और छपी हुई पुस्तकें भी अपरिमित संग्रह की गयी हैं, इसकी सुरक्षा के लिये एक अत्यन्त सुन्दर मार्बुल (पाषाण) की आलमारी बनायी गयी है, जिसके चारो तरफ श्रीगौतमस्वामी जी, श्रीसरस्वती जी, श्रीचक्रेश्वरी जी, और श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वर जी की मूर्तियां विराजमान हैं। यह भण्डार आपही की कृपा से संग्रहीत हुआ है। फिर सूरीजी महाराज आहोर से विहार कर 'गुड़े' गाम में पधारे। यहाँ माघसुदी ५ के दिन 'अचला जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की। तदनन्तर शिवगञ्ज होकर 'बाली' शहर में पधारे। यहाँ तीन श्रावकों को दीक्षा देकर 'श्रीकेसरिया जी' और 'श्रीसिद्धाचल जी,' तथा 'भोयणी जी' आदि सुतीर्थों की यात्रा करते हुए शहर 'सूरत' में पधारे। यहाँ पर सब श्रावकों ने बड़े भारी समारोह से नगरप्रवेश कराया और संवत् १९६० का चौमासा इसी शहर में हुआ। इस चौमासे में बहुत से धर्मद्रोही लोगों ने आपको उपसर्ग किया, परन्तु सद्धर्म के प्रभाव से उन धर्मद्रोही धर्मनिन्दकों का कुछभी जोर नहीं चला किन्तु सूरीजी महाराज को ही विजय प्राप्त हुआ। इस चौमासे का विशेष दिग्दर्शन 'राजेन्द्रसूर्योदय' और 'कदाग्रह दुर्मह नो शान्तिमन्त्र' आदि पुस्तकों में किया जा चुका है, इससे यहाँ फिर लिखना पिष्टपेषण होगा।

सम्वत् १९६१ का चौमासा शहर 'कूगसी' में हुआ। इसी चौमासे में सूरीजी महाराज ने हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत व्याकरण को छन्दोबद्ध संदर्भित किया, यह बात उसके प्रशस्तिश्लोकों में लिखी है–

दीपविजयमुनिनाऽहं यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन। विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमिमाम् ॥
अत एव विक्रमाब्दे, भूरसनवविधुमिते दशम्यां तु। विजयाख्यां चतुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥
हेमचन्द्रसंगचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम्। पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥

अर्थात् मुनिदीपविजय और यतीन्द्रविजय नामक दोनो शिष्यों से छन्दोबद्ध प्राकृतव्याकरण बनाने के लिये मैं प्रार्थित हुआ, इसीलिये विक्रम सं० १९६१ के चौमासे में आ-

श्विनशुक्ल विजय दशमी को कूकसीनगर में श्रीहेमचन्द्राचार्य रचित प्रकृतसूत्रों की वृत्तिरूप इस प्राकृतव्याकरण को अच्छे छन्दों में मैंनें रचा।

चौमासे के उतार पर गाँव 'बाग' में 'विमलनाथ स्वामी जी' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी; फिर माह महीने में शहर 'राजगढ़' में खजानची 'चुन्नीलाल जी' के बनवाये हुए 'अष्टापद जी' के मन्दिर की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी। और शहर 'राणापुर' में 'श्री धर्मनाथस्वामी' की अञ्जनशलाका (प्रतिष्ठा) करायी। तदनन्तर 'खाचरोद' शहर में पधारे। यहाँ कुछ दिन ठहर कर शहर जावरे में 'लखमा जी' के बनवाये हुए मन्दिर की प्रतिष्ठा की, और सम्वत् १९६२ का चौमासा शहर 'खाचरोद' में किया। इस चौमासे में आपने चीरोलावालों को बड़े संकट (दुःख) से छुड़ाया। 'चीरोला' मालवे में एक छोटासा गाँव है, यह गाँव ढाईसौ वर्षों से जातिबाहर था, कारण यह था कि शहर 'रतलाम' और 'सीतामऊ' की दो बारातें एकदम एकही लड़की पर आयीं, जिसमें सीतामऊ वाले ब्याह (परण) गये और रतलाम वाले योहीं रहगये। इससे इन्होंने क्रोधित हो चीरोलावालों को जातिबाहर कर दिया। फिर वह झगड़ा चला तो बहुत वर्षों तक चलता ही रहा परन्तु जाति में वे लोग न आसके, यहाँ तक कि मालवे भर में सब जगह चीरोलावाले जातिबाहर हो गये। कई मरतबा चीरोलावालों ने रतलामवाले पंचों को एक २ लाख रुपया दण्ड देना चाहा लेकिन झगड़ा नहीं मिटसका, तब बासठ १९६२ के चौमासे में चीरोलावाले सब श्रावक लोग आकर विनंती की और सब हाल कह सुनाया, तब आपने दया कर खाचरोद आदि के श्रीसंघ को समझाया और सबके हस्ताक्षर कराकर बिना दण्ड लिये ही जाति में शामिल करादिया। यह कार्य असाधारण था, क्यों कि इसके लिये पहिले बड़े २ साहूकार और साधूलोग परिश्रम कर चुके थे किन्तु कोई भी सफलता को नहीं प्राप्त हुआ था। आपके प्रभाव ने सहज ही में इस कार्य को पार लगा दिया। इसीसे आपकी उपदेश-प्रणाली कितनी प्रबल थी यह निःसंशय मालूम पड़सकती है; यह एकही काम आपने नहीं किया किन्तु ऐसे सैकड़ों काम किये हैं।

सम्वत् १९६३ का चौमासा शहर 'बड़नगर' में हुआ, यहाँ चारो महीना धर्मध्यान का बड़ाभारी आनन्द रहा और अनेक प्रशंसनीय कार्य हुए। इस प्रकार क्रियाउद्धार करने के बाद आपके ३९ उनतालीस चौमासा हुए। इन सब चौमासाओं में अनेक कार्य प्रशंसनीय हुए और श्रावकों ने स्वामीभक्ति अष्टाह्निकामहोत्सव आदि सत्कार्यों में खूब द्रव्य लगाया। कम से कम प्रत्येक चौमासे में ५००० हजार से लेकर २०००० हजार तक खरचा श्रावकों की तरफ से किया गया है, इससे अतिरिक्त शेष काल में भी आपने उलटे मार्ग में जाते हुए अनेक भव्यवर्गों को रोक कर शुद्ध सम्यक्त्वधारी बनाया। आपके उपदेश का प्रभाव इतना तीव्र था कि जिसको सुनकर कट्टर द्वेषी भी शान्त स्वभाव वाले होगये।

रात्रिभोजन नहीं करना,जीवों को जानकर नहीं मारना,चोरी नहीं करना इत्यादि अनेक नियम जिन्होंने आपसे लिये हुए हैं और जैनधर्मविषयक दृढ नियमों को परिपालन कर रहे हैं ऐसे आपके उपदेशी केवल जैन ही नहीं हैं किन्तु अन्यमतवाले जी हैं।

यति अवस्था में जी आपने सम्वत् १९०४ का चौमासा मेवाड़ देशस्थ शहर 'आकोला' में किया था। फिर क्रमशः इन्दौर, उजैन, मन्दसोर, उदयपुर, नागौर, जेसलमेर,पाली, जोधपुर, किसनगढ़, चित्तोर, सोजत, शंजुगढ़, बीकानेर, सादरी, जिलाड़े, रतलाम, अजमेर, जालोर, घाणेराव, जावरा इत्यादि शहरों में चौमासा कर सैंकड़ों जवजीरु महानुजावों को जैनधर्म के संमुख किया।

आपकी विद्वत्ता सारे जारतवर्ष में प्रख्यात थी, कोई जी प्रायः ऐसा न होगा जो आपके नाम से परिचित न हो। ज्योतिषशास्त्र में जी आपका पूर्ण ज्ञान था, जहाँ जहाँ आपके दिये हुए मुहूर्त से प्रतिष्ठा और अञ्जनशलाकाएँ हुई हैं वहाँ हजारों जनसमूह के एकत्र होने पर जी किसी का शिर जी नहीं दुखा। आपके हाथ से कम से कम बाईस अञ्जनशलाकाएँ तो बड़ी बड़ी हुईं, जिनमें हजारों रुपये की आमद हुई और छोटी २ अञ्जनशलाका या प्रतिष्ठा तो करीब सौ १०० हुई होंगी। इसके अतिरिक्त ज्ञानजण्डारों की स्थापना, अष्टोत्तरी शान्तिस्नात्रपूजा, उद्यापन, जीर्णोद्धार, जिनालय, उपाश्रय, तीर्थसंघ आदि सत्कार्यों में सूरी जी महाराज के उपदेश से जव्यवर्गों ने हजारों रुपये खर्च किये हैं और अब जी आपके प्रताप से हजारों रुपये सत्कार्यों में खर्च किये जारहे हैं।

आपकी साधुक्रिया अत्यन्त कठिन थी इस बात को तो आबालवृद्ध सजी जानते हैं, यहाँ तक कि वयोवृद्ध होने पर जी आप अपना उपकरणादिजार सुशिष्य साधु को जी नहीं देते थे तो गृहस्थों को देने की तो आशाही कैसे संजावित हो सकती है। क्रियाउद्धार करने के पीछे तो आपने शिथिलमार्गों का जी सहारा नहीं लिया और न वैसा उपदेशही किसीको दिया, किन्तु ज्ञानसहित सत्क्रियापरिपालन करने में आप बड़ेही उत्कण्ठित रहा करते थे। और वैसी ही क्रिया करने में उद्यत जी रहते थे, इसीसे आपकी उत्तमता देशान्तरों में जी सर्वत्र जाहिर थी। प्रमाद शत्रु को तो आप हरदम दबाया ही करते थे, इसीलिये साधुक्रिया से बचे हुए काल में शिष्यों को पढ़ाना और शास्त्रविचार करना, या धार्मिक चर्चा करना यही आपका मुख्य कार्य था। दिन को सोना नहीं, और रात्रि को जी एक प्रहर निद्रा लेकर ध्यानमग्न रहना, इसीमें आपका समय निर्गमन होता था; इसीलिये समाधियोग और अनुभवविचार आपसे बढ़कर इस समय और किसी में नहीं पाया जाता है।

शहर 'बड़नगर' के चौमासे में मरुधरदेशस्थ गाँव 'बलदूट' के श्रावक अपने गाँव में प्रतिष्ठा कराने के लिये आपसे विनती करने आये थे, उनसे आपने यह कह दिया था कि 'अब

मेरे हाथ से प्रतिष्ठा अञ्जनशलाका आदि कार्य न होंगे '। इसी तरह 'सूरत' में एक श्रावक के प्रश्न करने पर कहा था कि–'अभी मैं तीन वर्ष पर्यन्त फिर विहारादि करूँगा '। इन दोनों वाक्यों से आपने अपने आयुष्य का समय गर्भित रीति से श्रावक और साधुओं को बतला दिया था और हुआभी ऐसाही।

आपकी पैदलविहारशक्ति के आगाड़ी युवा साधु भी परिश्रान्त हो जाते थे, इस प्रकार आपने अन्तिम अवस्था पर्यन्त विहार किया, चाहे जितना कठिन से कठिन शीत पड़े परन्तु आप ध्यान और प्रतिक्रमण आदि क्रियाएँ उघाड़े शरीर से ही करते थे और अपने जीवन में फुलाटीन की साढ़े चार हाथ एक काँबली और उतनीही बड़ी दो चादर के सिवाय अधिक वस्त्र भी नहीं ओढ़ते थे। आपने करीब ढाई सौ मनुष्यों को दीक्षा दी होगी लेकिन कितनेही आपकी उत्कृष्ट क्रिया को पालन नहीं कर सके, इसलिये शिथिलाचारी संवेगी और ढुंढकों में चले गये, परन्तु इस समय भी आपके हस्त से दीक्षित चालीस साधु और साध्वियाँ हैं जो कि ग्राम ग्राम विहार कर अनेक उपकार कर रहे हैं।

सत्पुरुषों का मुख्य धर्म यह है कि भव्यजीवों के हितार्थ उपकार बुद्धि से नाना ग्रन्थ बनाना, जिससे लोगों को शुद्ध धार्मिक पथ (रास्ता) सूझ पड़े। इसी लिये हमारे पूर्वकालीन आचार्यवर्यों ने अनेक ग्रन्थ बनाकर अपरिमित उपकार किया है तभी हम अपने धर्म को समझकर दृढ श्रद्धावान् बने हुए हैं, और जो कोई धर्म पर आक्षेप करता है तो उसको उन ग्रन्थों के द्वारा परास्त कर लेते हैं, यदि महर्षियों के निर्मित ग्रन्थरत्न न होते तो आज हम कुछ भी अपने धर्म की रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये जो जो विद्वान् आचार्य आदि होते हैं वे समयानुकूल लोगों के हित के लिये ग्रन्थ बनाते हैं। इसी शैली के अनुसार सूरीजी महाराज ने भी लोकोपयोगी अनेक ग्रन्थ बनाये हैं।

सूरीजी महाराज के निर्मित संस्कृत–प्राकृत–भाषामयग्रन्थ–

१ 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृतमहाकोश–इस कोश की रचना बहुत सुन्दरता से की गई है अर्थात् जो बात देखना हो वह उसी शब्द पर मिल सकती है। संदर्भ इसका इस प्रकार रक्खा गया है–पहिले तो अकारादि वर्णानुक्रम से प्राकृतशब्द, उसके बाद उनका अनुवाद संस्कृत में, फिर व्युत्पत्ति, लिङ्गनिर्देश, और उनका अर्थ जैसा जैनागमों में मिल सकता है वैसाही भिन्न २ रूप से दिखला दिया गया है। बड़े बड़े शब्दों पर अधिकार सूची नम्बरवार दी गयी है, जिससे हर एक बात सुगमता से मिल सकती है। जैनागमों का ऐसा कोई भी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो। केवल इस कोश के ही देखने से संपूर्ण जैनागमों का बोध हो सकता है। इसकी श्लोकसंख्या करीब साढ़े चार लाख है, और अकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है।

२ 'शब्दाम्बुधि' कोश–इसमें केवल अकारादि अनुक्रम से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया

गया है और साथ में संस्कृत अनुवाद और उसका अर्थ हिन्दी में दिया गया है किन्तु अभिधानराजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की हुई है।

३ सकलैश्वर्यस्तोत्र सटीक, ४ खापरियातस्करप्रबन्ध, ५ शब्दकौमुदी श्लोकबद्ध, ६ कल्याणस्तोत्र प्रक्रियाटीका, ७ धातुपाठ श्लोकबद्ध, ८ उपदेशरत्नसार गद्य ९ दीपावली (दिवाली) कल्पसार गद्य, १० सर्वसंग्रह प्रकरण (प्राकृतगाथाबद्ध) ११ प्राकृतव्याकरणविवृति।

सूरीजी के संकलित संगीत ग्रन्थ—

१२ मुनिपति चौपाई, १३ अघटकुँवरचौपाई, १४ प्रष्टरचौपाई, १५ सिद्धचक्रपूजा, १६ पञ्चकल्याणकपूजा, १७ चौबीसीस्तवन, १८ चैत्यवन्दनचौवीसी, १९ चौबीसजिनस्तुति।

सूरीजी महाराज के रचित बालावबोध भाषाग्रन्थ—

२०—उपासकदशाङ्ग सूत्र बालावबोध, २१ गच्छाचारपयन्ना सविस्तर भाषान्तर, २२ कल्पसूत्र बालावबोध सविस्तर, २३ अष्टाह्निकाव्याख्यान भाषान्तर, २४ चार कर्मग्रन्थ अक्षरार्थ, २५ सिद्धान्तसारसागर (बोलसंग्रह), २६ तत्त्वविवेक, २७ सिद्धान्तप्रकाश, २८ स्तुतिप्रभाकर, २९ प्रश्नोत्तरमालिका, ३० राजेन्द्रसूर्योदय, ३१ सेनप्रश्नबीजक, ३२ षड्द्रव्यचर्चा, ३३ स्वरोदयज्ञानयन्त्रावली, ३४ त्रैलोक्यदीपिकायन्त्रावली, ३५ बासठमार्गणाविचार, ३६ षडावश्यक अक्षरार्थ, ३७ एकसौ आठ बोल का थोकड़ा, ३८ पञ्चमीदेववन्दनविधि, ३९ नवपद ओली देववन्दनविधि, ४० सिद्धाचल नवाणुं यात्रादेववन्दनविधि, ४१ चौमासी देववन्दनविधि, ४२ कमलप्रभाशुद्धरहस्य, ४३ कथासंग्रह पञ्चाख्यानसार।

इस प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाकर सूरीजी महाराज ने जैनधर्मानुरागियों पर तथा इतर जनों पर भी पूर्ण उपकार किया है।

बड़नगर के चौमासा पूरे होनेपर अपनी साधुमण्डली सहित सूरीजी ने शहर 'राजगढ़' की ओर विहार किया था, इस समय आपके शरीर में साधारण श्वास रोग उठा था। यद्यपि यह प्रथम जोर शोर से नहीं था तथापि उसका प्रकोप धीरे २ बढ़ने लगा, यहाँ तक कि औषधोपचार होने पर भी वह रोग शान्त नहीं हुआ, किन्तु श्वास की बीमारी अधिक होने पर भी आप अपनी साधुक्रिया में शिथिल नहीं हुए, और सब साधुओं से कहा कि—" हमारे इस विनाशी शरीर का भरोसा अब नहीं है, इसलिये तुमलोग साधुक्रियापरिपालन में दृढ रहना, ऐसा न हो कि जो चारित्र रत्न तुम्हें मिला है वह निष्फल होजावे, सावधानी से इसकी सुरक्षा करना, हमने तो अपना कार्य यथाशक्ति सिद्ध कर लिया है अब तुम भी अपने आत्मा का सुधारा जिस प्रकार हो सके वैसा प्रयत्न करते रहना "। इस प्रकार अपने शिष्यों को सुशिक्षा देकर सुसमाधिपूर्वक अनशन व्रत को धारण कर लिया और औषधोपचार को सर्वथा बन्द कर दिया। बस तदनन्तर थोड़े

ही दिन के बाद परमोपकारी धर्मप्रभावक आचार्यवर्य्य श्रीमान् श्रीविजयराजेन्द्रसूरीश्वर महाराजजी ने अपने इस अनित्य शरीर का सम्वत् १९६३ पौष शुक्ल ७ शुक्रवार मुताबिक २१ दिसम्बर सन् १९०६ ई० को समाधियुक्त परित्याग किया, अर्थात् इन नाशवान् संयोगों को छोड़ कर स्वर्ग में विराजमान हुए।

उपसंहार

महानुभाव पाठकवर्ग ! इस समय जीवनचरित्र लिखने की प्रथा बहुतही बढ़ गयी है इसलिये प्रायः बहुत से सामान्य पुरुषों के भी जीवनचरित्र मिलते हैं किन्तु जीवनचरित्र के लिखने का क्या प्रयोजन है यह कोई भी नहीं विचार करता, वस्तुतः सत्पुरुषों की जीवनघटना देखने से सर्व साधारण को लाभ यह होता है कि जिस तरह सत्पुरुष क्रम क्रम से उच्चकोटीवाली अवस्था को प्राप्त हुआ है वैसी ही पाठक भी अपनी अवस्था को उच्चकोटीवाली बनावे और दुर्जन पुरुषों की जीवनघटना देखने से भी यह लाभ होता है कि जिसतरह अपने कुकर्मों से दुर्जन अन्त में दुरवस्था को प्राप्त होता है वैसा वाचक न हो, किन्तु दुर्जन की जीवनघटना की अपेक्षा से सत्पुरुष के ही जीवनचरित्र पढ़ने से शीघ्र लाभ हो सकता है, इसीलिये पाठकों को महानुभाव सूरीश्वरजी का यह जीवनपरिचय कराया गया है, जिससे आपभी ऐसी अवस्था को प्राप्त होकर सदा के सुखभागी बनें, क्योंकि सूरीजी का जीवन इस संसार में केवल परोपकार के वास्ते ही था, नकि किसी स्वार्थ के वास्ते। यदि रागद्वेषरहित बुद्धि से विचारा जाय तो हमारे उत्तमोत्तम जैन धर्म की उन्नति ऐसेही प्रभावशाली क्रियापात्र सद्गुरुओं के द्वारा हो सकती है। आपका जो जीवनपरिचय बहुत ही अद्भुत और आश्चर्यजनक है, उसका यह दिग्दर्शनमात्र कराया गया है, किन्तु बड़ा 'जीवनचरित्र' जो बना हुआ है उसमें प्रायः बहुत कुछ सूरीजी महाराज का जीवनपरिचय दिया गया है, इसलिये विशेष जिज्ञासुओं को बड़ा जीवनचरित्र देखना चाहिये, उसके द्वारा संपूर्ण आपका जीवनपरिचय हो जायगा और इन महानुभाव महापुरुष के जीवनचरित्र पढ़ने से क्या लाभ हुआ सो भी सहज में मालूम पड़ जायगा। इत्यलं विस्तरेण।

नवरसनिधिविधुवर्षे, यतीन्द्रविजयेन बागरानगरे।
आश्विनशुक्लदशम्यां, जीवनचरितं व्यलेखि गुरोः ॥ १ ॥

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि

—:०:—

॥ प्रस्तावना ॥

इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो दुःख से मुक्त होने की अभिलाषा नहीं करता, किन्तु जबतक उन दुःखों से मुक्त होने के सत्य उपाय उसको मालूम न हों तबतक वह कैसे कृतकार्य (सफल) हो सकता है; इसलिये सभी को दुःख से मुक्त होने के सत्य उपाय जानने की बड़ी अभिलाषा रहती है, कि इस अपार संसार समुद्र में निरन्तर भ्रमणकरने वाले प्राणियों को प्राप्त होते हुए अत्युत्कट [जन्म-जरा-मरणादि] दुःखों से छूटने का कौनसा उपाय है ?। यद्यपि विचारशाली और तीक्ष्णबुद्धि वाले मनुष्य इसका उत्तर अवश्य देंगे, कि धर्म के सिवाय और कोई ऐसा दूसरा उपाय इन दुःखों से मुक्त होने का नहीं है; किन्तु धर्माधर्म का विवेक करना ही सर्व साधारण को अतिदुष्कर है अर्थात् कौन धर्म है और कौनसा अधर्म है इसका समझना भी कुछ सहज काम नहीं है, क्यों कि इस दुनिया में अनेक धर्मनामधारी मत प्रचलित हो रहे हैं, जिनकी गिनती करना भी बहुत कठिन है तो फिर उनमें किसको धर्म और किसको धर्माभास कहा जाय ?। हाँ महानुभावों के आदेशानुसार इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस पञ्चमकाल में–अर्थात् दुःषम आरा में, धर्माभासों का प्रायः प्रचार विशेष होना चाहिये और धर्म की अवनति दशा विशेष होनी चाहिये। इस पर फिर यह जिज्ञासा होगी कि वैसा धर्म कौन है ?। इसका उत्तर यह है कि जिस धर्म के प्रवर्तक पुरुष किसी के द्वेषी अथवा रागी न हों और जो धर्म किसी जीव के [अत्यन्त प्रिय] प्राण का विघातक न हो–अर्थात् जिससे सभी जीवों को सुख ही प्राप्त हो उसे ही धर्म कहना चाहिये। यदि ऐसा धर्म वस्तुगत्या देखा जाय तो जैन धर्म ही दिखाई देता है क्योंकि उसके प्रवर्तक जिन भगवान् भी रागद्वेष–विजेता हैं और उस धर्म का 'अहिंसा परमो धर्मः' यह सिद्धान्त भी है। यद्यपि अन्य धर्माभासों में भी अहिंसा की महिमा है किन्तु प्रधानरूप से उसकी कारणता [जन्मादि] दुःखों से मुक्त होने में नहीं मानी हुई है; और उनमें यदि एकाध अंश में दया है तो अन्यांश में हिंसा भी है। जैसे किसी मत का मन्तव्य है कि यदि कोई पशु पक्षी प्राणी इस भव में दुःख सहता हो तो उसको इस जन्म से मुक्त करदेना ही दया है। अथवा–जब कभी अवसर प्राप्त हो तो यज्ञ में प्राणियों को मारकर उनको उत्तमगति वाला बना देना। अस्तु–विशेष विस्तार इसका इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में 'अद्दगकुमार' और 'अहिंसा' शब्द पर जिज्ञासुओं को देखना चाहिये। इसीलिये कहा हुआ है कि 'पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः" ॥ १ ॥ और 'प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्' इत्यादि ॥

यह जैनधर्म—दयाधर्म, आचारधर्म, क्रियाधर्म, और वस्तुधर्म से चार भागों में विभक्त है। और इस धर्म का मुख्य कारण शासन है, जो समवसरण में बैठेहुए देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान् श्री तीर्थङ्कर के उपदेश से आविर्भूत होता है और पीछे उन्हीं उपदेशों को श्रीगौतमादि गणधर द्वादशाङ्गी अथवा एकादशाङ्गी–रूप में संदर्भित करते हैं, जिनका 'सूत्र' नाम से व्यवहार किया जाता है। ये प्रत्येक तीर्थङ्करों के शासन काल में विद्यमान दशा को प्राप्त होते हैं। यद्यपि पूर्वकाल में चौदह पूर्वधर, तथा दश पूर्वधर, श्रुतकेवली आदि महात्माओं को तो किसी पुस्तकपत्रादि की आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि उनके अतिशय से उन्हें मूल से ही अर्थज्ञान हो जाता था परन्तु आगे वाले जीवों के ज्ञान में दुर्बलता होने से और जैन धर्म के विषय अति गहन होने से उनको स्पष्ट करने के लिये निर्युक्ति–भाष्य-चूर्णि–टीका-आदि रचने पड़े। परन्तु इस समय में जैन ग्रन्थों का इतना विस्तार हो गया है कि थोड़ीसी आयुष्य में अब कोई मनुष्य सांसारिक कार्य करता हुआ गृहस्थ क्या विरक्त भी इस जैनशासनसागर के पार को प्रायः नहीं जा सकता। कारण यह है कि पहिले तो सब ग्रन्थों की उपलब्धि सब कहीं नहीं होती और जो मिलते भी हैं उनमें कौन विषय कहाँ पर है यह प्रायः ठीक २ पता हर एक को नहीं लगता और यदि किसी ग्रन्थ में पता भी लग जाय तो वह विषय दूसरी जगह या दूसरे ग्रन्थों में कहाँ कहाँ पर आया है यह पता नहीं लग सकता। यह कारण तो एक तरफ रहा, दूसरी बात यह भी है कि जिस भाषा में जैनदर्शन बना है, वह भाषा वही है कि जिसने प्राचीन समय में मातृभाषा से और राष्ट्र-भाषा से भारतभूमि में स्थान पाया था, और जिसका सर्वज्ञों से और गणधरों से बड़ा आदर किया गया, उसी भाषा का प्रचार इस समय बिलकुल नहीं है और जो नाटकों में जहाँ कहीं दिखाई देता है उसको भी उसके नीचे दी हुई छाया से ही लोग समझ लेते हैं, और यदि किसीने उसका कुछ अभ्यास भी कर लिया तो उससे जैन धर्म के मूलसूत्रों का अथवा निर्युक्तिगाथाओं का

अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान तीर्थङ्कर ने, तथा गणधरों ने अर्धमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो लोग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्रपाठ और उसका अर्थ सुनकर कण्ठस्थ करते थे तभी वे कृतकार्य भी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अहालंदिय' शब्द पर देखो) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट होजाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अत्यन्त ह्रास होगया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य्य श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय कलिकालसर्वज्ञकल्प भट्टारक १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज को बड़ी चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का ह्रास होता जाता है, इसीलिये बहुत से लोग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिल्कुल बेखबर से होगये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये? क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिसने अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा–'असंपादयतः कश्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः। यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दिन रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुवा कि–एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढि से बनाना चाहिये जिसमें जैनागम की मागधी भाषा के शब्दों को अकारादि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र का आया है उसको लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन मिले तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी वही विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इससे प्रायः अपने मनोऽनुकूल संसार का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूरी जी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया को करके इस कार्य का भार उठाया, और दत्तचित्त होकर बाईस वर्ष पर्यन्त घोर परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अभिधानराजेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। इसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भण्डार में ही पड़ा रह जायगा तो कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे? इसलिये अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूरीजी महाराज ने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण होगया अब जिसमें समस्त संसार का उपकार हो वैसा तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीसङ्घ ने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये छपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूरीजी महाराज के विनीत शिष्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण अभिज्ञ हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु--साध्वी--श्रावक--श्राविका--संबन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साथही साथ विशेषता यह है कि मागधीभाषा के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रक्खे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्दपर पुस्तक खोलकर देख ले। जो विषय जहाँ २ जिस २ जगह पर आया है उसकी भलावन (सूचना) भी उसी जगह पर दी है। और बड़े २ शब्दों पर विषयसूची भी दी हुई है जिससे विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रमाण में मूल सूत्र १, और उनकी निर्युक्ति २, भाष्य ३, चूर्णि ४, टीका ५ तथा और भी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए प्रकरण आदि अनेक ग्रन्थों का संग्रह है। जिस शब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उसे भी उस शब्दपर संग्रह कर ली है। तथा प्रसिद्ध २ तीर्थों की और सभी तीर्थङ्करों की कई पूर्वभवों से लेकर निर्वाणपर्यन्त कथायें दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत (नियम) रक्खे गये हैं वे इस तरह हैं—

१–मागधीभाषा का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिसकी टीका है] मोटे (ग्रेट) अक्षरों में रक्खा है।

२–यदि कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी भी टीका है तो उसे दो लाइन (पङ्क्ति) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका चलाई गयी है। अन्य स्थल में तो मूल मोटे अक्षरों में, और टीका छोटे (पाइका) अक्षरों में दी गई है।

३–जहाँ कहीं उदाहरण में प्राकृत वाक्य या संस्कृत श्लोक आया है उसके आद्यन्त में ' ' यह चिह्न दिया गया है, किन्तु एक से ज्यादा गाथा या श्लोक जहाँ कहीं विना टीका के हैं वहाँ पर भी दो २ लैन करके उनको रक्खा है। और यदि एकही है तो उसी लैन में रक्खा है। और जहाँ टीका अनुपयुक्त है वहाँ पर मूलमात्र ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको सप्तम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [,] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम भी दे दिया है। यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ भी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन उद्देशादि जो कुछ मिला है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ मिला है तो पाठ की समाप्ति में अध्ययन उद्देश आदि रक्खे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रक्खा है ॥

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा लिङ्ग और अनुवाद के मध्यमें भी (—) यह चिह्न दिया है। इसी तरह तदेव दर्शयति- तथा चाह- या अवतरणिका के अन्त में भी आगे से संबन्ध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रक्खा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पङ्क्ति (लाईन) से कुछ बाहर रहता है वैसा न रखकर सामान्य पङ्क्ति के बराबर ही रक्खा है और उसके आगे भी लिङ्गप्रदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मूलशब्द की तरह दी है।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'देशी' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है ।

८-किसी २ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद लिङ्ग नहीं है किन्तु (धा०) लिखा है उससे धात्वादेश समझना चाहिये ।

९- कहीं कहीं (ब० व०) (क० स०) (बहु० स०) (त० स०) (न० त०) (३ त०) (४ त०) (५ त०) (६ त०) (७ त०) (अव्ययी० स०) आदि दिया हुआ है उनको क्रम से बहुवचन; कर्मधारय समास; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नञ्तत्पुरुष; तृतीयातत्पुरुष; चतुर्थीतत्पुरुष; पञ्चमीतत्पुरुष; षष्ठीतत्पुरुष; सप्तमीतत्पुरुष; अव्ययीभाव समास समझना चाहिये।

१०- पुं०। स्त्री०। न०। त्रि०। अव्य०-का संकेत क्रम से पुँल्लिङ्ग; स्त्रीलिङ्ग; नपुंसकलिङ्ग; त्रिलिङ्ग और अव्यय समझना।

अध्ययनादि के सङ्केत और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

११—१ अ०- अध्ययन- आवश्यकचूर्णि, आवश्यकवृत्ति, आचाराङ्ग, उपासकदशाङ्ग, उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं।

२ अधि०- अधिकार- अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण, गच्छाचारपयन्ना, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं ।

३ अध्या०- अध्याय- द्रव्यानुयोगतर्कणा में हैं।

४ अष्ट०- अष्टक- हारिभद्राष्टक और यशोविजयाष्टक में हैं ।

५ उ०- उद्देश- सूत्रकृताङ्ग, भगवती, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं।

६ उल्ला०- उल्लास- सेनप्रश्न में हैं।

७ कर्म०- कर्मग्रन्थ- कर्मग्रन्थ में हैं ।

८ कल्प- कल्प- विविधतीर्थकल्प में हैं।

९ ठा०- ठाणा- स्थानाङ्गसूत्र में हैं ।

१० खण्ड- खण्ड- उत्तराध्ययननिर्युक्ति में हैं।

११ क्षण- क्षण- कल्पसुबोधिका में हैं ।

१२ काण्ड- काण्ड- सम्मतितर्क में हैं ।

१३ द्वा०- द्वात्रिंशिका- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में हैं ।

१४ द्वार- द्वार- पञ्चवस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसारोद्धार और प्रश्नव्याकरण में हैं ।

(प्रश्नव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध हैं)

१५ पद- पद- प्रज्ञापनासूत्र में हैं।

१६ परि०- परिच्छेद- रत्नाकरावतारिका में हैं ।

१७ चू०- चूलिका- दशवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं।

१८ प्रति०– प्रतिपत्ति– जीवाजिगम सूत्र में हैं।
१६ पाद– पाद– प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका ढुण्ढिका में हैं।
२० पाहु०– पाहुडा– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक में हैं।
२१ वर्ग– वर्ग –निरयावलिका, अणुत्तरोववाई, अन्तकृद्दशाङ्ग में हैं।
२२ विव० –विवरण– षोडशप्रकरण और पञ्चाशक में हैं।
२३ प्रका०– प्रकाश– हीरप्रश्न में हैं।
२४ प्र०– प्रश्न– सेनप्रश्न में हैं।
२५ श०– शतक– भगवती सूत्र में हैं।
२६ श्रु०– श्रुतस्कन्ध– सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं।
२७ वक्ष०– वक्षस्कार– जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं।
२८ सम०– समवाय– समवायाङ्ग सूत्र में हैं।
२९ सू०– सूत्र– पञ्चसूत्र में हैं।

१२—जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम—

१ अङ्ग० – अङ्गचूलिका।
२ अणु० – अणुत्तरोववाई सूत्र सटीक।
३ अनु० – अनुयोगद्वार सूत्र सटीक।
४ अने० – अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण।
५ अन्त० – अन्तगडदशाङ्ग सूत्र।
६ अष्ट० – अष्टक यशोविजयकृत सटीक।
७ आचा० – आचाराङ्गसूत्र सटीक।
८ आ०चू० – आवश्यकचूर्णि।
६ आ०म०प्र०– आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड)
१० आ०म०द्वि०– आवश्यकमलयगिरि (द्वितीयखण्ड)
११ आतु० – आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना टीका।
१२ आ०क० – आवश्यक कथा।
१३ आव० – आवश्यकबृहद्वृत्ति।
१४ उत्त० – उत्तराध्ययन सूत्र सटीक।
१५ उपा० – उपासकदशाङ्ग सूत्र सटीक।
१६ उत्त०नि० – उत्तराध्ययननिर्युक्ति।
१७ एका० – एकाक्षरीकोश।
१८ ओघ० – ओघनिर्युक्ति सटीक।
१९ औ० – औपपातिकसूत्र वृत्ति।
२० कर्म० – कर्मग्रन्थ सटीक।
२१ क०प्र० – कर्मप्रकृति सटीक।
२२ कल्प० – कल्पसुबोधिका सटीक।
२३ को० – पाइयलच्छीनाममाला कोश।
२४ ग० – गच्छाचारपयन्ना टीका।
२५ चं०प्र० – चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२६ जै० गा० – जैनगायत्रीव्याख्या।
२७ जं० – जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२८ ज्ञा० – ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक।
२९ जी० – जीवाभिगम सूत्र सटीक।
३० जीत० – जीतकल्पवृत्ति।
३१ जीवा – जीवानुशासन सटीक।
३२ जै०इ० – जैनइतिहास।
३३ ज्यो० – ज्योतिष्करण्डक सटीक।
३४ ढुं० – ढुण्ढी (प्राकृतव्याकरण) टीका।
३५ तं० – तन्दुलवयाली पयन्ना टीका।
३६ तित्थु० – तित्थुगाली पयन्नामूल।
३७ दशा० – दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति।
३८ दर्श० – दर्शनशुद्धि सटीक।
३९ दश० – दशवैकालिकसूत्र सटीक।
४० द० प० – दशपयन्नामूल।
,, १ चउसरण पयन्ना।
,, २ आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना।
,, ३ संथारगाइ पयन्ना।
,, ४ चंदाविज्झ पयन्ना।
,, ५ गच्छाचार पयन्ना।
,, ६ तंदुलवयाली पयन्ना।
,, ७ देविंदत्थव पयन्ना।
,, ८ गणिविज्जा पयन्ना।
,, ६ महापच्चक्खाण पयन्ना।
,, १० मरणविधि पयन्ना।
४१ द्रव्या० – द्रव्यानुयोगतर्कणा सटीक।
४२ द्वा० – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका(बत्तीसबत्तीसी)सटीक
४३ द्वी० – द्वीपसागरप्रज्ञप्ति।
४४ दे० ना०– देशीनाममाला सटीक।

४५ ध० — धर्मसंग्रह सटीक।
४६ ध० र० — धर्मरत्नप्रकरण सटीक।
४७ नयो० — नयोपदेश सटीक।
४८ नं० — नन्दीसूत्र सवृत्ति।
४९ नि० — निरयावली सूत्र सटीक।
५० नि०चू० — निशीथसूत्र सचूर्णि।
५१ पं० चू० — पञ्चकल्पचूर्णि।
५२ पं०भा० — पञ्चकल्प भाष्य।
५३ पञ्चा० — पञ्चाशक सटीक।
५४ पं०व० — पञ्चवस्तुक सटीक।
५५ पं० सं० — पञ्चसंग्रह सटीक।
५६ पं० सू० — पञ्चसूत्र सटीक।
५७ प्रव० — प्रवचनसारोद्धारटीका।
५८ प्रव०मू० — प्रवचनसारोध्दार मूल।
५९ प्रति० — प्रतिमाशतक सूत्र सटीक।
६० प्रश्न० — प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक।
६१ प्रज्ञा० — प्रज्ञापना सूत्र सटीक।
६२ प्रमा० — प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार सूत्र।
६३ पिं० — पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति।
६४ पिण्ड०मू० — पिण्डनिर्युक्ति मूल।
६५ पा० — पाक्षिक सूत्र सटीक।
६६ प्रा० — प्राकृतव्याकरण।
६७ भ० — भगवती सूत्र सटीक।
६८ महा० — महानिशीथ सूत्र मूल।
६९ मण्ड० — मण्डलप्रकरण सवृत्ति।
७० योग० बिं० — योगबिन्दु सटीक।
७१ रत्ना० — रत्नाकरावतारिका वृत्ति।
७२ रा० — राजप्रश्नीय (रायपसेणी) सटीक।
७३ ल० — ललितविस्तरा वृत्ति।
७४ लघु० — लघुप्रवचनसार मूल।
७५ ल० क्षे० — लघुक्षेत्रसमास प्रकरण।
७६ व्य०अ० — व्यवहार सूत्र अक्षरार्थ।
७७ वाच० — वाचस्पत्याभिधान (कोश)
७८ व्य० — व्यवहारसूत्रवृत्ति।
७९ ती० — विविधतीर्थकल्प।
८० बृ० — बृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य।
८१ विशे० — विशेषावश्यक सभाष्य सबृहद्वृत्ति।
८२ विपा० — विपाक सूत्र सटीक।
८३ श्रा० — श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति सटीक।
८४ षो० — षोडशप्रकरण सटीक।
८५ स० — समवायाङ्ग सूत्र सटीक।
८६ संथा० — संथारगपयन्ना सटीक।
८७ संस०नि० — संसक्तनिर्युक्ति मूल।
८८ संघा० — सङ्घाचार भाष्य।
८९ सत्त० — सत्तरिसयठाणा वृत्ति।
९० सम्म० — सम्मतितर्क सटीक।
९१ स्था० — स्थानाङ्ग सूत्र सटीक।
९२ स्या० — स्याद्वादमञ्जरी सटीक।
९३ सू०प्र० — सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
९४ सूत्र० — सूत्रकृताङ्ग सूत्र सटीक।
९५ सेन० — सेनप्रश्न।
९६ हा० — हारिभद्राष्टक सटीक।
९७ ही० — हीरप्रश्न।

१३—प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं ( ) ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उनके विषय में थोड़े से नियम—

१—कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रक्खा है—जैसे 'अदत्तादाण' या 'अणुजाग' शब्द है और उसका रूपान्तर अदिन्नादाण ' या ' अणुजाव ' होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रखदिया है; अर्थात्—'अदत्त (दिन्न) दाण, ' अणुजाग (व) '।

२—कहीं कहीं मागधी शब्द के अन्त में (ण) इत्यादि व्यञ्जन वर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह "अन्त्यव्यञ्जनस्य"॥ ८।१।११॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है।

३—कहीं कहीं "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्"॥ ८।१।१७७॥ इस सूत्र से एक पक्ष में व्यञ्जन के लोप होने पर बचे हुए (अ) (इ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है।

४—इसी तरह "अवर्णो यश्रुतिः"॥८।१।१८०॥ का भी विषय कोष्ठक में (य) आदि रक्खा है।

५—तथा "ख-घ-थ-ध-भाम्"॥८।१।१८७॥ इस प्राकृत सूत्र से ख घ थ ध भ अक्षरों को प्रायः हकार हुवा करता

है और कहीं २ हकार न होने का भी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये (घ) (भ) आदि अक्षर भी कोष्ठक में दिये हैं। यह नियम स्मरण रखने के योग्य है।

६–कहीं कहीं प्राकृतव्याकरण के प्रथमपादस्थ १२–१३–१४–१५–१६–१७–१८–१९–२०–२१–२२–४४ सूत्रों के भी वैकल्पिक रूप, और दूसरे पाद के २–३–५–८–१०–११ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठक में दिया है।

७–" फो भहौ " ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को (भ) या (ह) होने पर, दो रूपों में किसी एक को कोष्ठक में दिया गया है। इसी तरह इसी पाद के २४१-२४२-२४३–२४४-२४८–२४६-२५२–२५६–२५७–२६१–२६२–२६३–२६४ सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये।

८–"स्वार्थे कश्च वा" ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में (अ) इस तरह रक्खा है। इसी तरह " नो णः " ॥ ८ । १ । २२८ ॥ सूत्र का भी आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय प्रथमभाग में दिये हुए प्राकृतव्याकरण–परिशिष्ट से समझ लेना चाहिये।

१४–प्राकृत शब्दो में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण भी लिङ्ग आता है–

कहीं कहीं प्राकृत मान कर ही लिङ्ग का व्यत्यय हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४३७ पृष्ठ में 'पिट्ठतो वराहं' मूल में है, उसपर टीकाकार लिखते हैं कि 'पृष्ठदेशे वराहः, प्राकृतत्वाद् नपुंसकलिङ्गता'। इसीतरह " प्रावृद्–शरद्–तरणयः पुंसि" ॥ ८ । १ । ३१ ॥ इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग को पुंलिङ्ग होता है; और दामन्–शिरस्–नभस् शब्दों को छोड़कर सभी सान्त और नान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं, तथा 'वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः'। १ । ३३ । 'गुणाद्याः क्लीबे वा'। १ । ३४ । 'वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्'। १ । ३५ । सूत्रों के भी विषय हैं। अन्यत्र स्थल में भी लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा से ही प्राकृत में लिङ्गों की व्यवस्था मानी हुई है। जैसे–तृतीय भाग के २०४ पृष्ठ में 'कडवाइ (ण्)–कृतवादिन्' इत्यादि को में पुंस्त्व ही होता है। यद्यपि सभा और कुल का विशेषण मानने से स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का ग्रहण नहीं किया है; इसी तरह द्वितीय भाग के ९८ पृष्ठ में 'आउक्खेम–आयुःक्षेम' इत्यादि कों में यद्यपि 'कुशलं क्षेममस्त्रियाम्' इस कोश के प्रामाण्य से नपुंसकत्व और पुंस्त्व भी प्राप्त है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्यादिप्रयोगों में भी लोकप्रसिद्धि से ही लिङ्ग माना हुवा है, जैसे अर्द्धर्चादि गण में पद्म शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व भी है, तदनुसारही–'भाति पद्मः सरोवरे' यह किसीने प्रयोग भी किया, किन्तु काव्यानुशासन–साहित्यदर्पण–काव्यप्रकाश–सरस्वतीकण्ठाभरण–रसगङ्गाधरकारादिकों ने पुँल्लिङ्ग का आदर नहीं किया है।

इस ग्रन्थ के हर एक भागों में आये हुए शब्दों में से थोड़े शब्दों के उपयोगी विषय दिये जाते हैं-

प्रथम भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–'अंतर' शब्द पर अन्तर के भेद, द्वीप पर्वतों में परस्पर अन्तर, जम्बूद्वारों में परस्पर अन्तर, जिनेश्वरों में परस्पर अन्तर, ऋषभस्वामी से वीर भगवान् का अन्तर, ज्योतिष्कों का और चन्द्रमण्डल का अन्तर, चन्द्र सूर्यों का परस्पर अन्तर, ताराओं का परस्पर अन्तर, सूर्यों का परस्पर अन्तर, धातकीखण्ड के द्वारों का अन्तर, विमानकल्पों का अन्तर, आहार के आश्रय से जीवों का अन्तर, और सयोगि भवस्थ केवल्यनाहारक का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

२–'अचित्त' शब्द पर अचित्त पदार्थ का, तथा 'अच्छेर' शब्द पर दश १० आश्चर्यों का निरूपण देखना चाहिये।

३–'अजीव' शब्द पर द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अजीव की व्याख्या की हुई है।

४–'अज्जा' शब्द पर आर्या (साध्वी) को गृहस्थ के सामने दुष्टभाषण करने का निषेध, और विचित्र (नाना रंग वाले) वस्त्र पहिरने का निषेध, तथा गृहस्थ के कपड़े सीने का निषेध, और सविलास गमन करने का निषेध, पर्यङ्क गादी तकिया आदि को काम में लाने का निषेध, स्नान अङ्गरागादि करने का निषेध, गृहस्थों के घर जाकर व्यावहारिक अथवा धार्मिक कथा करने का निषेध, तरुण पुरुषों के आने पर उनके स्वागत करने का, तथा पुनरागमन कहने का निषेध, और उनके उचिताचारादि विषय वर्णित हैं।

५–'अणायार' शब्द पर साधुओं के अनाचार; 'अणारिय' शब्द पर अनार्यों का निरूपण; 'अणुओग' शब्द पर अनुयोग शब्द का अर्थ, अनुयोगविधि, अनुयोग का अधिकारी, तथा अनुयोगों की पार्थक्य आर्यरक्षित से हुई है, इत्यादि; और 'अणुव्वय' शब्द पर अणुव्रतों के विभाग देखने के लायक हैं।

६–' अणेगंतवाय ' शब्द पर स्याद्वाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनेकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनेकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप से दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पत्ति अथवा नाश मानने में दोष, हरएक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु की एकान्तसत्ता माननेवाले सांख्यमत का खण्डन इत्यादि विषय उत्तमोत्तम दिखाये गये हैं।

७ ' अण्णउत्थिय ' शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्ययूथिकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि क्रिया के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कल्याणकारी शील है या श्रुत है ? इसपर अन्ययूथिकों के साथ विवाद, और अन्ययूथिकों के साथ गोचरी का निषेध, तथा अन्ययूथिकों को भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारभूमि या विहारभूमि में जाने का निषेध आदि विषय आवश्यकीय हैं।

८ ' अदत्तादाण ' शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं।

९ ' अद्दगकुमार ' शब्द पर आर्द्रककुमार की कथा, रागद्वेषरहित के भाषण करने में दोषाभाव, बीजादि के उपभोक्ता श्रमण (साधु) नहीं कहे जाते, समवसरणादि के उपभोग करनेपर भी अर्हन् भगवान् के कर्मबन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल भावशुद्धि ही को माननेवाले बौद्धों का खण्डन, विना हिंसा किये हुए भी मांस खाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये गये हैं।

१० ' अहिगरण ' शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आज्ञा, कलह उत्पत्ति के कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, गृहस्थ के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको विना शान्त किये पिण्डादि ग्रहण करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं।

११ 'अप्पाबहुय' शब्द पर अल्पबहुत्व के चार भेद, पृथ्वीकायादिकों के जघन्याद्यवगाहना से अल्पबहुत्व, आहारक और अनाहारक जीवों का अल्पबहुत्व, सेन्द्रियों का परस्पर अल्पबहुत्व, क्रोधादि कषायों का अल्पबहुत्व, किस क्षेत्र में जीव थोड़े हैं और किसमें बहुत है इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अल्पबहुत्व, तथा ज्ञानियों का अल्पबहुत्व आदि अनेक विषय हैं।

१२ 'अमावसा' शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने मुहूर्तों के जानेपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और 'अयण' शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, चन्द्रायण के परिज्ञान में करण आदि विषय रमणीय हैं।

१३ ' अहिंसा ' शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिली है और जिन्होंने इसको ग्रहण की है उनका वर्णन, अहिंसा पालन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, प्राणीमात्र की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण, जैनों के समान अन्य मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्य मत में अहिंसा को मोक्ष की कारणता मुख्य न (गौण) होना, एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर भी हिंसा में अविरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से भिन्नाभिन्नत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली—

' अइमुंतय ' ' अउज्झा ' ' अंगारमद्दग ' ' अंजू ' ' अंम ' ' अंबम ' ' अकर ' [कीर्तिचन्द्र नरचन्द्र की] ' अक्खयणूया ' ' अक्खुद्द ' ' अगडदत्त ' ' अगहिल्लगराय ' ' अचंकारियभट्टा ' ' अचल ' ' अजिअदेव ' ' अज्जगंग ' ' अज्जचंदणा ' ' अज्जमंगु ' ' अज्जमणग ' ' अज्जरक्ख ' ' अज्जरक्खिय ' ' अज्जव ' (अहर्षिकथा) ' अज्जवइर ' ' अज्जुमणग ' ' अट्टण ' ' अट्ठावय ' ' अड्डअगाम ' ' अमति ' ' अणिरसिसओवहाण ' ' अणीयस ' ' अणुवेलंधर ' ' अणुकुलमवेस ' ' अणायया ' ' अणियाउत्त ' ' अत्तदोसोवसंहार ' ' अत्थकुसल ' ' अद्दगकुमार ' ' अप्पमाय ' ' अब्भुय ' ' अभग्गसेण ' ' अभयकुमार ' ' अभयदेव ' ' अमरदत्त ' ' अर ' ' अरहण्णय ' ' अरिट्ठनेमि ' ' अलोभया ' ' अवंतिसुकुमाल ' ' असढ ' ' अस्सावबोहितित्थ ' ' अहिच्छत्ता ' ' अहिणंदण ' आदि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं।

द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–' आउ ' शब्द पर आयु के भेद, आयु प्राणीमात्र को अतिप्रिय है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और उनके उदाहरणादि देखने चाहिये।

२–' आउकाय ' शब्द पर अप्कायिकों के भेद, अप्कायिक के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त–अचित्त–मिश्र भेदों का निरूपण, उष्ण जल की अचित्तसिद्धि, अप्काय शस्त्र का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के स्पर्श का निषेध, और शीतोदक के सेवन का निषेध आदि विषय हैं।

३–' आउट्टि ' शब्द में चन्द्र और सूर्य की आवृत्तियाँ किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

४–' आगम ' शब्द पर लौकिक और लोकोत्तर भेद से आगम के भेद, आगम का परतः प्रामाण्य, आगम के अपौरुषेयत्व का खण्डन, आप्तों के रचे हुए ही आगम का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभी प्रमाणीभूत है इसका निरूपण, मूलागम से अतिरिक्त के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगमप्रमाण का विषय होता है वह अन्य प्रमाण का भी विषय हो सकता है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आगम ही प्रमाण है, जिनागम का सत्यत्वप्रतिपादन, सब व्यवहारों में आगम के ही नियामक होने का विचार, बौद्धों के अपोहवाद का संक्षिप्त निरूपण इत्यादि पच्चीस विषय बड़े रमणीय हैं।

५–' आणा ' शब्द पर आज्ञा के सदा आराधक होने का निरूपण, परलोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की विराधना करने में दोष, तथा आज्ञाभङ्ग होने पर प्रायश्चित्त, आज्ञारहित पुरुष का चारित्र ठीक नहीं रह सकता, और आज्ञा के व्यवहार आदि का बहुतही अच्छा विचार हैं।

६–' आणुपुव्वी ' शब्द पर बहुत ही गम्भीर ११ विषय विद्वानों के देखने योग्य हैं।

७–' आता ' शब्द पर आत्मा के तीन भेद, आत्मा का लक्षण, आत्मा के कर्तृत्व पर विचार, आत्मा का विभुत्वखण्डन, आत्मा का परिणाम, आत्मा के एकत्व मानने पर विचार, आत्मा का क्रियावत्त्व, और आत्मा के क्षणिकत्व मानने पर विचार इत्यादि विषय हैं।

८–' आधाकम्म ' शब्द पर आधाकर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, तीर्थकर के आधाकर्म–भोजित्व पर विचार, भोजनादिक में आधाकर्म के संभव होने का विचार, आधाकर्म–भोजियों का दारुण परिणाम, और आधाकर्म–भोजियों का कर्मबन्ध होना, इत्यादि अनेक विषय हैं।

९–' आभिणिबोहियणाण ' शब्द पर १३ विषय विचारणीय हैं; और ' आयंबिलपच्चक्खाण ' शब्द पर आचामाम्लप्रत्याख्यान के स्वरूप का निरूपण है।

१०–' आयरिय ' शब्द पर आचार्यपद का विवेक, आचार्य के भेद; आचार्य का ऐहलौकिक और पारलौकिक स्वरूप, प्रव्राजनाचार्य, और उपस्थापनाचार्य का स्वरूप, आचार्य का विनय करना; आचार्य के लक्षण, जिनके अभाव में आचार्य नहीं हो सकता वे गुण, आचार्य के भ्रष्टाचारत्व होने में दुर्गुण, दूसरे का अहित करनाभी दुर्गुण है इसका कथन, प्रमादी आचार्य के लिये शिष्य को शिक्षा करने का अधिकार; गुरु के विनय में वैद्यदृष्टान्त, आचार्य के लिये नमस्कार करने का निरूपण, गुरु की वैयावृत्य, जिस कर्म से गच्छ का अधिपति होता है उसका निरूपण, आचार्य के अतिशय, निर्ग्रन्थियों के आचार्य, एक आचार्य के काल कर जाने पर दूसरे आचार्य के स्थापन में विधि, आचार्य की परीक्षा, आचार्य पद पर गुरु के स्थापन करने में विधि, विना परिवार के आचार्य होने का खण्डन, स्थापन करने में वृद्ध साधुओं की सम्मति होने की आवश्यकता, इत्यादि उत्तमोत्तम विषय हैं।

११–' आलोयणा ' शब्द पर आलोचना की व्युत्पत्ति, अर्थ और स्वरूप, मूलगुण और उत्तरगुण से आलोचना के भेद, विहारादि भेद से आलोचना के तीन भेद, और उसके भी भेद, शल्य के उद्धारार्थ आलोचना करने में विधि, आलोचनीय विषयों में यथाक्रम आलोचना के प्रकार, आलोचना में शिष्याचार्य की परीक्षा पर आवश्यकद्वार, आलोचना लेने के स्थान, गोचरी से आये हुए की आलोचना, द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव भेद से आलोचना के चार प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किसके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आसन्नमरण जीव के भी आलोचना लेने में ब्राह्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याध का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आवश्यकीय हैं।

१२-'आसायणा' शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देखने के योग्य है।

१३-'आहार' शब्द पर 'सयोगी केवली, अनाहारक होते हैं' इस दिगम्बर के मत का खण्डन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं इस पर विचार, पृथिवीकायिकादिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षोपरिस्थ वृक्षों का, मनुष्यों का, तिर्यग्जलचरों का, स्थलचर सर्पादिकों का, खेचरों का, विकलेन्द्रियों का, पञ्चेन्द्रियों के मूत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तेजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और सचित्ताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहारी युगलियों का अन्नाहारी होना इत्यादि विषय हैं।

१४-'इंदिय' शब्द पर इन्द्रियों के पाँच भेद होने पर भी नामादि भेद से चार भेद, तथा द्रव्यादि भेद से दो भेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारित्व, अवशिष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व, और इन्द्रियों के शुभाशुभ दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं।

१५-'इत्थी' शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इसी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भोगियों की विडम्बना, विश्वास देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निन्दा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणी का सर्वस्व हरण करने वाली और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियां हैं, उनके स्नेह में फसे हुए पुरुष को दुःखप्राप्ति, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उसके त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रस्रवण, परिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का भी निषेध इत्यादि बहुत अच्छे ५० विषय द्रष्टव्य हैं।

१६-'इस्सर' शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खण्डन, तथा ईश्वर के एकत्व और विभुत्व का खण्डन, अन्य तीर्थिकों के माने हुए ईश्वर का खण्डन आदि विषय विचारने के योग्य हैं।

१७-'उईरणा' शब्द भी द्रष्टव्य है, और 'उववाय' शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैसे-देवता देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविराधित श्रामण्य होने पर देवलोक में उपपात होता है, और नैरयिक कैसे उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है।

१८-'उवसंपया' शब्द पर आचार्यादि के काल कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हानि और वृद्धि की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है।

१९-'उवसग्ग' शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपसर्ग के भेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का रूक्षत्व आदि विषय हैं।

२०-'उवहि' शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कल्पिक और गच्छवासियों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्यूनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या को ग्रहण करती हुई निर्ग्रन्थी के उपधि, रात्रि में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गये हुए साधु के उपकरण गिर जाने पर विधि, स्थविरों के ग्रहण योग्य उपधि, साध्वियों को जो उपधि देता हो उसे उनके आने के मार्ग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं।

२१-'उसभ' शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व भव का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्ममहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी वृद्धि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्याभिषेक, राज्यसंग्रह, लोकस्थिति के लिये शिल्पादि का शिक्षण, वास, तदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषभस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके चीवरधारी होने का कालप्रमाण, भिक्षाकाल का प्रमाण, ऋषभस्वामी के आत्र भवों का श्रेयांसकुमार के द्वारा कथन, ऋषभनाथ का श्रामण्य के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रामण्यावस्थावर्णन, केवलोत्पत्त्यनन्तर धर्मकथन, ऋषभस्वामी के वन्दनार्थ मरुदेवी के साथ भरत का गमन, और भरत का दिग्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ति का प्रकार, ऋषभस्वामी की सङ्घसङ्ख्या, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने कालानन्तर भव्यों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुवा, और कब तक रहा, ऋषभस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नक्षत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारावस्था में तथा राज्य करने के समय में और गृहस्थावस्था में जितना काल है उसका मान, ऋषभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं।

इस से अतिरिक्त भी विषय इस भाग में स्थित हैं जिनका विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता।

द्वितीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

'आउ' 'आणंद,' 'आधाकम्म,' 'आपई,' 'आभीरवंचग,' 'आयरिय,' 'आराहणा,' 'आरुग्गदिय,' 'आलंबण,' 'आलोयणा,' 'आसाढभूइ,' 'इंददत्त,' 'इंदभूइ,' 'इच्छाकार,' 'इत्थिपरिसह,' 'इत्थी,' 'इलापुत्त,' 'इसिभद्दपुत्त,' 'इसिभासिय,' 'इस्सर,' 'उउंबरदत्त,' 'उकम,' 'उग्घायमाण,' 'उज्जयंत,' 'उज्जुमतिववहार,' 'उज्जुववहार,' 'उज्झियय,' 'उण्हपरीसह,' 'उदयण,' 'उदयप्पभसूरि,' 'उद्देसिय,' 'उप्पत्तिय', 'उप्पत्तिया,' 'उरब्भ,' 'उववूह,' 'उवसंपया,' 'उवहि,' 'उवालंभ,' 'उस्सारकप्प' इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं।

तृतीय भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–'एगल्लविहार' शब्द पर एकाकी विहार करने में साधु को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकिविहारियों के भेद, अशिवादि कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को छोड़ कर एकाकी विहार करने पर प्रायश्चित्तादि वर्णित हैं।

२–'एगावाइ' शब्द पर आत्मा का एकत्व मानने वालों का खण्डन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद (पुरुषाद्वैत) का खण्डन विस्तार से है।

३–'एसणा' शब्द पर १४ विषय दिये हैं वे भी साधु और गृहस्थों के देखने योग्य हैं, जैसे–साधु को किस प्रकार भिक्षा लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि।

४–'ओगाहणा' शब्द पर अवगाहना के भेद, औदारिक शरीर की अवगाहना (क्षेत्र) का मान, द्वित्रिचतुरिन्द्रियों की औदारिकावगाहना, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियों की औदारिकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्द्रियों की औदारिकशरीरावगाहना, वैक्रिय शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की वैक्रियशरीरावगाहना, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चों की वैक्रियशरीरावगाहना, असुरकुमारों की वैक्रियशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान, तैजस शरीर की अवगाहना का मान, निगोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकाय के अवगाढानवगाढ की चिन्ता, एक जगह एक ही धर्मास्तिकायादि प्रदेशावगाढ है इत्यादि विवेचन है।

५–'ओसप्पिणी' शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवसर्पिणी कितने काल को कहते हैं, अवसर्पिणी काल में संपूर्ण शुभ भाव क्रम से अनन्त गुण से क्षीण होते हैं, और उसी तरह अशुभ भाव बढते हैं, सुषमसुषमा से लेकर दुःषमदुःषमा पर्यन्त अवसर्पिणी के छ भेद, सुषमादिकों का प्रमाण, भेरुतालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप, उस काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी भवस्थिति, प्रथम से लेकर षष्ठ आरा तक का स्वरूपनिरूपण, जगत की व्यवस्था का वर्णन, भरतभूमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन भेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं।

६–'ओहि' शब्द पर अवधि शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण, अवधि के भेद, अवधि के नामादि सात भेद, अवधिक्षेत्र मान, अवधिविषयक द्रव्य का मान, क्षेत्र और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं।

७–'कज्जकारणभाव' शब्द पर कापिलादि मतों का खण्डन आदि विषय विचारणीय हैं।

८–'कम्म' शब्द पर कर्म के तीन भेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में भेद, नैयायिक और वैयाकरणों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की सिद्धि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का खण्डन, कर्म के मूर्तत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्महीकारण है ईश्वरादि नहीं हैं इसका निरूपण, स्वभाववादी के मत का खण्डन, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के भिन्न लक्षण, कर्म के चार भेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि ३७ विषय विचारणीय हैं।

९–'कसाय' शब्द पर कषायों का निरूपण है।

१०–'काउस्सग्ग' शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्छ्वास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय बड़े गंभीर हैं।

११–'काम' शब्द पर काम की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का खण्डन; तथा 'कायट्ठिइ' शब्द पर जीवों की कायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय से स्थितिचिन्ता, तिर्यक् तथा तिर्यक्स्त्रियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्त्रियों की कायस्थिति, देव तथा देवियों की कायस्थिति, पर्याप्तापर्याप्त के विशेष से नैरयिकों की कायस्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कायस्थिति, कायद्वार से जीवों की कायस्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कषायद्वार, लेश्याद्वार, सम्यग्दृष्टिद्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आहारद्वार, भाषकाभाषकद्वार, संज्ञिद्वार, भवस्थितिकद्वार के भेद से जीवों की कायस्थिति, और उदकगर्भादिकों की कायस्थिति इत्यादि ३० विषय हैं।

१२–'काल' शब्द पर कालशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का लक्षण, काल के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उसका खण्डन, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होताहै इसका निरूपण, काल के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन भेद तीर्थकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रूक्ष भेद से काल के दो भेद, स्निग्ध और रूक्ष के तीन तीन भेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं।

१३—'किइकम्म' शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साध्वियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनाने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से भेद, आचरणा का लक्षण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मङ्गल अवश्य करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, सुसाधु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और कितनी वार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि २१ विषयों का विवेचन है।

१४—'किरिया' शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के भेद, स्पृष्टास्पृष्टत्व से प्राणातिपातक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, मृषावादादि का आश्रयण करके क्रियाकरने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से एकत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाँधता हुवा जीव कितनी क्रियाओं से समाप्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्य कर्म और उसकी वेदना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, श्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगार की क्रिया का निरूपण इत्यादि १८ विषय आये हुए हैं।

१५—'कुसील' शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके भेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर सुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं।

१६—'केवलणाण' शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि, इसका साद्यपर्यवसितत्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, स्त्रीकथा भक्तकथा देशकथा और राजकथा करनेवाले के लिये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१७—'केवलिपमत्त' शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के भेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति आदि विषय निरूपित हैं।

१८–'खओवसमिय' शब्द पर क्षयोपशमिक के भेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१७—'खरयर' शब्द पर खरतर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा 'खणियवाइ' शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और खएमन आदि देखने के लायक हैं।

२०—'खेत्त' शब्द पर क्षेत्र का निरूपण, क्षेत्र के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं।

२१—'गइ' शब्द पर स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति से गति के दो भेद, प्रकारान्तर से भी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तिर्यग् मनुष्य देव के भेद से गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ भेद, नारकादिकों की शीघ्रगति आदि विषय दिये हुए हैं।

२२—'गच्छ' शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में वसने से विशेष निर्जरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्यिकाओं के साथ संवाद का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में वसना चाहिये, वसति का लक्षण, अनुष्टुब्भाषण, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं वसना, गच्छ और जिनकल्प दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं।

२३—'गणह (ध) र' शब्द पर गणधर का स्वरूप, किस तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिन गुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है।

२४—'गब्भ' शब्द पर गर्भ में अहोरात्रियों का प्रमाण, मुहूर्तों का प्रमाण, गर्भ में निःश्वासोच्छ्वास का प्रमाण, गर्भ का स्वरूप, ध्वस्तयोनि के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्वीर्य हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक वेला से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुक्षि में पुरुषादि कहाँ बसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है ?, गर्भस्थ जीव के उच्चार और प्रस्रवण का विचार, गर्भ से भी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता ? , और गर्भगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्भपतन का कारण, गर्भपोषण में विधि इत्यादि विषय हैं।

२५—' गिलाण ' शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सचित्ताचित्त से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्तन, वैद्यानुवर्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं।

२६—' गुण ' शब्द पर मूलगुण, उत्तरगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगार गुण, महर्द्धि प्राप्त्यादि, सौजन्यादि, मृदुत्वौदार्यादि, क्षान्त्यादि, वैशेषिकसंमत गुण, द्रव्यगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के भेद, गुणपर्याय का ऐक्य, और जैनसंमत गुण इत्यादि द्रष्टव्य विषय हैं।

२७—' गुणट्ठाण ' शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं।

२८—' गोयरचरिया ' शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्ग्रन्थियों की भिक्षा में विधि, भिक्षाटन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय धार्याधार्य और कार्याकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिरने पर विधि, गृह प्रवेश, गृह के अवयवों को पकड़ करके नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगारी (स्त्री) के साथ खड़े होने का निषेध, ब्राह्मणादि को प्रविष्ट देख कर के भिक्षा के लिये प्रवेश नहीं करना, तीर्थकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन वाले भिक्षा के लिये भ्रमण नहीं करते, आचार्य भिक्षा के लिये नहीं जाता, ग्राह्मवस्तु, गोचरातिचार में प्रायश्चित्त, साध्वियों की भिक्षा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं।

२९—' चक्कवट्टी ' शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्ती के पुर का प्रतिपादन, चक्रवर्ती का बल, मुक्ताहार, वर्णादि, स्त्रियां, स्त्रियों के सन्तान आदि का निरूपण, उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्ती होते हैं, कौन और कैसे चक्रवर्ती होता है इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं।

३०—' चारित्त ' शब्द पर कुम्भ के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकादि रूप से चारित्र के पाँच भेद, किस तरह चारित्र की प्राप्ति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, किन कषायों के उदय से चारित्र का लाभ ही नहीं होता और किन से हानि होती है इसका निरूपण, वीतराग का चारित्र न बढ़ता है और न घटता है, चारित्र की विराधना नहीं करना, आहारशुद्धि ही प्रायः चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं।

३१–'चेइय' शब्द पर चैत्य का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारणमुनिकृत वन्दनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ जो ज्ञान मानते हैं उनका खण्डन, चमरकृतवन्दन, देवकृत चैत्यवन्दन, सावद्य पदार्थ पर भगवान् की अनुमति नहीं होती, और मौन रहने से भगवान् की अनुमति समझी जाती है क्योंकि निषेध न करने से अनुमति ही होती है इसपर दृष्टान्त, हिंसा का विचार, साधू को स्वातन्त्र्य से चैत्य में अनधिकार, द्रव्यस्तव मे गुण, जिनपूजन से वैयावृत्य, तीन स्तुति, जिन भवन के बनाने में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठाविधि, जिनपूजाविधि, जिनस्नात्रविधि, आभरण के विषय में दिगम्बरों के मत का प्रदर्शन और खण्डन, चैत्यविषयक प्रश्नों पर हीरविजय सूरिकृत उत्तर इत्यादि अनेक विषय हैं।

३२–'चेइयवंदण' शब्द पर नैषेधिकीत्रय, पूजात्रिक, भावनात्रिक, त्रिदिङ्निरीक्षणप्रतिषेध, प्रणिधान, अभिगम, चैत्यवन्दनदिक्, अवगाह, ३ वन्दना, ३ या ४ स्तुति, जघन्यवन्दना, अपुनर्बन्धकाऽऽदिक अधिकारी हैं, नमस्कार, प्रणिपातदण्डक, २४ स्तव, सिद्धस्तुति, वीरस्तुति, वैयावृत्य की चौथी स्तुति, १६ आकार, कायोत्सर्ग इत्यादि अनेक विषय आये हैं।

तृतीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'एगत्तभावणा,' 'एलकक्ख,' 'एसणासमिइ,' 'कण्णाणयणीय,' 'कण्णीरह,' 'कत्तिय,' 'कप्प,' 'कप्पअ,' 'कयपुण्ण,' 'कवड्डिजक्ख,' 'कंडरिय,' 'कंबल,' 'करंडु,' 'कार्कदिय,' 'कायगुत्ति,' 'काल,' 'कालसोअरिय,' 'कासीराज,' 'किइकम्म,' 'कुबेरदत्त,' 'कुबेरदत्ता,' 'कुबेरसेणा,' 'कोडिसिला,' 'गंगदत्त,' 'गयसुकुमाल,' 'गुणचंद,' 'गुणसागर,' 'गुत्तसूरि,' 'गुरुकुलवास,' 'गुरुणिग्गह,' 'गोट्ठामाहिल,' 'चंडरुद्द,' 'चंदगुत्त,' 'चंदप्पभसूरि,' 'चंपा,' 'चक्कदेव,' 'चेइयवंदण'।

चतुर्थ भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–'जीव' शब्द पर जीव की व्युत्पत्ति, जीव का लक्षण, जीव का कथञ्चिन्नित्यत्व, और कथञ्चित् अनित्यत्व, हस्ति और कुन्थु का समान जीव है इसका प्रतिपादन, जीव और चैतन्य का भेदाभेद, संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, संसारियों का सेन्द्रियत्व, सिद्धों का अनिन्द्रियत्व इत्यादि विषय वर्णित हैं।

२–'जोइसिय' शब्द पर जम्बूद्वीपगत चन्द्र सूर्य की सङ्ख्या, तथा लवण समुद्र के, धातकी खण्ड के, कालोद–समुद्र के, पुष्करवर द्वीप के, और मनुष्यक्षेत्रगत समस्त चन्द्रादि की संख्या का मान, चन्द्र–सूर्यों की कितनी पङ्क्तियाँ हैं और किस तरह स्थित हैं इसका निरूपण, चन्द्रादिकों के भ्रमण का स्वरूप, और इनके मण्डल, तथा चन्द्र से चन्द्र का और सूर्य से सूर्य का परस्पर अन्तर इत्यादि अनेक विषय हैं जिनका पूरा २ निरूपण यहाँ नहीं किया जा सकता।

३–'जोग' शब्द पर योग का स्वरूप, तथा योग के भेद, और योग का माहात्म्य आदि अनेक बृहत् विषय हैं।

४–'जोनि' शब्द पर योनि का लक्षण, और उसकी संख्या, और भेद, तथा स्वरूप आदि अनेक विषय हैं।

५–'झाण' शब्द पर ध्यान का अर्थ, ध्यान के चार भेद, शुक्लध्यानादि का निरूपण, ध्यान का आसन, ध्यातव्य और ध्यानकर्ताओं का निरूपण, ध्यान का मोक्षहेतुत्व इत्यादि विषय हैं।

६–'ठवणा' शब्द पर स्थापनानिक्षेप, प्रतिक्रमण करते हुए गणधर स्थापना करते हैं, स्थापनाचार्य का चालन, स्थापना कितने प्रदेश में होती है इसका निरूपण, स्थापना शब्द की व्युत्पत्ति, और स्थापना के भेद इत्यादि विषय हैं।

७–'ठाण' शब्द पर साधु और साध्वी को एक स्थल पर कायोत्सर्ग करने का निषेध, स्थान के पंद्रह भेद, बादर पर्याप्त तेजस्कायिक स्थान, पर्याप्तापर्याप्त नैरयिक स्थान, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का स्थान, भवनपति का स्थान, और स्थान शब्द की व्युत्पत्ति इत्यादि विषय हैं।

८–'ठिई' शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविभाग से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, भवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सुवर्णकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, आउकायिकों की, बादर आउ–कायिकों की, तेउकायिकों की, सूक्ष्म तेउकायिकों की, बादर तेउकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-बादर वायुकायिकों की, वनस्पतिकायिक–सूक्ष्म वनस्पतिकायिक बादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्, जलचरपञ्चेन्द्रिय, संमूर्छिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर–पञ्चेन्द्रिय, संमूर्छिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भापक्रान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर–पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्छिम भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय–

तिर्यग्योनिक. गर्भापक्रान्तिकभुज०, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक,समूर्च्छिम०, गर्भापक्रान्ति०, मनुष्यों की. स्त्रियों की, नपुंसकों की,निर्ग्रन्थों की,वाणव्यन्तरों की,वाणव्यन्तरियों की,ज्योतिष्कों की,ज्योतिष्कियों की स्थिति-चन्द्रविम न में,सूर्य विमान में,ग्रहविमान में,नक्षत्रविमान में.ताराविमान में स्थिति,वैमानिकों की स्थिति.सौधर्म कल्प में, ईशान कल्प में,सनत्कुमार कल्प में, माहेन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्र-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में प्राणत कल्प में, आरणअच्युत कल्प में स्थिति-अधोऽधोग्रैवेयकों की, अधोमध्यमग्रैवेयकों की, अधउपरिग्रैवेयकों की, मध्यमाधोग्रैवेयकों की, मध्यममध्यमग्रैवेयकों की, मध्यमउपरिमग्रैवेयकों की, उपरिमाधोग्रैवेयकों की, उपरिममध्यमग्रैवयकों की, उपरिमउपरिम ग्रैवेयकों की स्थिति-विजयवैजयन्तजयन्तापराजितसर्वार्थसिद्धों में देवों की स्थिति,वेदनीय कर्मों की स्थिति, पुंनपुंसकों की स्थिति, अकामकायक्लेशतपस्वियों की, व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति-बाल मरण से मरे हुये व्यन्तरों की, विधवाओं की अल्पारम्भप्रवृत्त व्यन्तरों में उत्पन्नों की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं।

९-'णक्खत्त' शब्द पर नक्षत्रों की संख्या. इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य(गमन प्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि नक्षत्र-क्षिप्र, मृदु और ज्ञानवृद्धिकर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने भाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते है.प्रमदयोगी नक्षत्र, कौन नक्षत्र कितने तारावला है, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गोत्र, भोजन.द्वार,नक्षत्रविजय,सायंकाल और प्रातःकाल में नक्षत्रचन्द्रयोग,अमावास्याओं में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तों में नक्षत्रचन्द्रयोग,और संस्थान(रचना)आदि विषय हैं।

१०—'णमोक्कार' शब्द पर नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित होने पर भी नमस्कार का फलद होना, सिद्ध गुण अमूर्त ही होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य है।

११—' णय ' शब्द पर नय का लक्षण, अपेक्षानय, सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मात्मकत्व, एक जगह अनेकाकार नयप्रमाणबुद्धि, नयज्ञान प्रमात्मक है या भ्रमात्मक है इसपर विचार. द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय,और उन दोनों का मत, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के मध्य में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके मत का संग्रह, 'सिद्धसेन दिवाकर'के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय. एवंभूत नय, ७०० नय, निक्षेपनययोजना, कौन दर्शन किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत. निश्चय और व्यवहार में सभी नयों का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धाशुद्धत्व , नैगम और संग्रह का व्यवहार में अन्तर्भाव, कणाद और सौगत (बौद्ध) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय,अर्थनय , नयों में सम्यक्त्व, नयफल, ज्ञानक्रियानय, नयपार्थक्य आदि विषय दिये हुये हैं।

१२—'णरग' शब्द पर नरकदुःखवर्णन,नरकवेदना, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

१३—"णाण' शब्द पर पाँच ज्ञान, मति श्रुत भेद से ज्ञान के भेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का स्वप्रकाशकत्व, तत्त्वज्ञान इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं,और 'णिग्गंथ' शब्द पर निर्ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहिये।

१४—'तपस' शब्द पर तप क्या वस्तु है, अनशन व्रत तप कैसे है, बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण,तप वैसा करना चाहिये जिसमें शरीर की ग्लानि न हो.तप का फल, तप के चार भेद इत्यादि विषय हैं।

१५-'तित्थयर'शब्द पर तीर्थंकर शब्द की व्युत्पत्ति और यह किसका प्रतिपादक है इस का निरूपण.तीर्थंकरों के अतिशय,तीर्थंकरों के अन्तर.और तीर्थंकरों में अष्टादश दोष का अभाव,तीर्थंकरों के अभिग्रह और उनकी आदेशसङ्ख्या.आवश्यक, और उनके आहार,जन्मावसर में इन्द्रकृत्य,सभानिवेशन,शक्रक्रिया,देवलोक से उतरने के मार्ग.मेरुगमन,उपकरणसंख्या. उपसर्ग.देहमान(ऊँचाई आदि)चतुर्विंशति जिनों के अवधिज्ञानी मुनियों की संख्या,कल्पशोधि,कुमारवास, केवल(ज्ञान)नक्षत्र केवलनगरी,केवलतप, केवलमास-तिथि,केवलराशि, केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला,केलिकाल, केवलिसंख्या,गणसंख्या,गणधरसंख्या,गर्भस्थिति,गृहिकाल,गृहस्थावस्था के तीन ज्ञान,गोत्र,चतुर्दशपूर्वी,चक्रित्वकाल,चरित्र,च्युतिनक्षत्र, च्युतिमास,च्युतिराशि,च्युतिवेला,छद्मस्थत्व,छद्मस्थावस्था में वीरतपमान,यक्ष, यक्षिणी, जन्मनक्षत्र,जन्मनगरी,जन्मदेश, जन्ममास,जन्मराशि,जन्मवेला,जन्मारक,जन्मारकशेषकाल, तत्त्वसंख्या,तीर्थप्रवृत्तिकाल,तीर्थोच्छेदकाल,तीर्थंकरनाम, 'चक्रवर्ति,बलदेव,वासुदेव,प्रतिवासुदेव,तीर्थोत्पत्ति,दीक्षाकाल,दर्शन, दीक्षानक्षत्र, दीक्षापर्याय, दीक्षातरु, दीक्षातप , दीक्षापरिवार , दीक्षापुर, दीक्षाज्ञान, दीक्षामास , दीक्षाराशि, दीक्षालोचमुष्टि, दीक्षावन, दीक्षावय, दीक्षाशिविका,दिक्कुमारीकृत्य, अष्टकुमारियों के नाम,और इनके आसनों का चलन, गमनावसर

में क्या करती हैं, तीर्थंकरमाताओं को नमस्कार, इनोंका कर्तव्य, दक्षिणरुचकवासियों का कृत्य, पश्चिमरुचकवासियों का कृत्य, उदीची में रुचकवासियों का कृत्य इत्यादि, देवदूष्यवस्त्र, देवदूष्यवस्त्रस्थिति, धर्मप्रभेद, धर्मोपदेशक, नाम तीर्थंकरों के, पञ्चकल्याणक, पर्यायान्तकृतभूमि, प्रतिक्रमणसंख्या, प्रथमगणधरनाम, प्रथमप्रवर्तिनी, प्रथमश्रावक, प्रथमश्राविका, प्रत्येकबुद्धसंख्या, प्रमाद, परिवह, पारणाकाल, पारणाद्रव्य, पारणादायक, पारणादायकगति, पारणादायकदिव्यपञ्च, पारणादायकवसुधारावृष्टि, पारणापुर, प्रियगति, प्रियनाम, पूर्वप्रवृत्तिकाल, पूर्वप्रवृत्तिच्छेद, जिनों के पूर्व भव, (ऋषभदेव के पूर्वभव 'ऋषभ, शब्द पर हैं) चन्द्रप्रभ के सात भव, शान्तिनाथ के द्वादश पूर्वभव, मुनिसुव्रत के नवभव, नेमिनाथ के नवभव, पार्श्वनाथ के पूर्वभव, वीर के अट्ठाईसभव, शेष जिनों के भव, पूर्वभवगुरु, पूर्वभवायु, पूर्वभवक्षेत्र, पूर्वभवदीक्षा, पूर्वभवजिनहेतु, पूर्वभवद्वीप, पूर्वभवनाम, पूर्वभवपुरी, पूर्वभवराज्य, पूर्वभवविजय, पूर्वभवसर्ग, पूर्वभवसूत्र, मुख्यआसन, मुख्यस्थान, मुख्यतप, मुख्यनक्षत्र, मुख्यपरिवार, मुख्यपथ, मुख्यमास, मुख्यराशि, मुख्यविनय, मुख्यवेला, मुख्यारक, मुख्यारकशेषकाल, मुख्यावगाहना, मुनिस्वरूप, मुनिसंख्या, राज्य, रुद्रनाम, लाञ्छन, शरीरलक्षण, जिनवंश, वस्त्रवर्ण, जिनों के वर्ण, विवाह, विहार, संयम, सांवत्सरिक दान, समवसरण, सर्वायु, सामान्यमुनि, सामायिक, सामायिकसंख्या, श्रावकसंख्या, स्वप्न, स्वप्नविचार इत्यादि अनेक विषय हैं।

१६—'तेउकाइय' शब्द पर तेज की जीवत्वसिद्धि, अग्नि की जीवत्वसिद्धि, तद्विषयसमारंभ कटुकफलपरिहारोपन्यास, अग्निसमारम्भ में नानाविधप्राणियों की हिंसा, तेजस्कायपिण्डप्रतिपादन, तेजस्कायहिंसानिषेध इत्यादि विषय हैं।

१७—'थंडिल' शब्द पर स्थण्डिल का विवेचन देखना चाहिये। 'दंसण' शब्द पर दर्शन की व्युत्पत्ति, सम्यक् और मिथ्या भेद से दर्शन के दो भेद, क्षायिकादि भेद से तीन भेद, तथा दर्शन का पञ्चविधत्व और सप्तविधत्व, कारक रोचक दीपक भेद से तीन भेद, नवविधदर्शन इत्यादि विषय हैं।

१८—'दव्व' शब्द पर द्रव्य का निरुक्त, द्रव्य का लक्षण, षड्द्रव्यनिगमन, जीवाजीवद्रव्य असख्य अनन्त, द्रव्य के दो भेद, वैशेषिकरीति से नव द्रव्य, और उनमें दोष इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१९—'दाण' शब्द पर दान का विशेष विचार देखना चाहिये।

२०—'देव' शब्द पर देवताओं के दो भेद, तीन भेद, चार भेद, पाँच भेद इत्यादि विषय हैं।

२१—'धम्म' शब्द पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, धर्म के दो भेद, धर्म का लक्षण, धर्म के भेद और प्रभेद, धर्म के चिह्न, औदार्यलक्षण, दाक्षिण्यलक्षण, निर्मलबोधलक्षण, मैत्र्यादिकों के लक्षण, धर्म के अधिकारी, धर्म के योग्य, अवश्यही धर्म की रक्षाकरना चाहिये इसका निरूपण, अर्थ और काम का धर्म ही मूल है, धर्मोपदेश का विस्तार, धर्म का माहात्म्य, धर्म का मोक्षकारणत्वप्रतिपादन, धर्म का फल, और वह किसको दुर्लभ है और किसको सुलभ है इसका निरूपण, केवलिभाषित धर्म का श्रवण दुर्लभ है, धर्म की परीक्षा, धर्माधर्म का विचार सूक्ष्म बुद्धि से करना चाहिये इत्यादि विषय हैं।

चतुर्थ भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'जत्तासिद्ध,' 'णंदसिरि,' 'णंदिसेण,' 'नरसुंदर,' 'णागज्जुण,' 'णागहत्थिण,' 'ताराचंद,' 'दमदंत,' 'दसउर,' 'दसण्णभद्द,' 'धणमित्त,' 'धणवई,' 'धणावह,' 'धणसिरी,' 'धम्मघोस,' 'धम्मजस'।

पञ्चम भागमें आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१—'पच्चक्खाण' शब्द पर अहिंसाप्रत्याख्यान, प्रतिषेधप्रत्याख्यान, भावप्रत्याख्यान, मूलगुणप्रत्याख्यान, सम्यक्त्वप्रतिक्रमण, सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यान अनागतादि दशविध प्रत्याख्यान, अद्धाप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यानविधि, दानविधि, प्रत्याख्यानशुद्धि, प्रत्याख्यान का षड्विधत्व, ज्ञानशुद्ध, अनुभाषणाशुद्ध, अनुपालनाशुद्ध, आकार, प्रत्याख्यान में सामायिक, प्रत्याख्याताकृत प्रत्याख्यान दान का निषेध, निर्विषयक प्रत्याख्यान नहीं होता, श्रावक का प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान का फल आदि कई विषय हैं।

२—'पच्छित्त' शब्द पर प्रायश्चित्त का अर्थ, भाव से प्रायश्चित्त किसको होता है, आलोचनादि दशविध प्रतिसेवना प्रायश्चित्त, तपोऽर्ह प्रायश्चित्त में मासिक प्रायश्चित्त, संयोजनाप्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने के योग्य पर्षत् (सभा), दण्डानुरूप प्रायश्चित्त, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पाञ्चमासिक, और बहुमासिक प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्तदानविधि, आलोचना को सुनकर प्रायश्चित्त देना, प्रायश्चित्त का काल, प्रायश्चित्त का उपदेश इत्यादि विषय हैं।

३– 'पज्जुसणाकप्प' शब्द पर पर्युषणा कब करना, पर्युषणास्थापना, भाद्रपदपञ्चमीविचार, क्षेत्रस्थापना, भिक्षाक्षेत्र, संखडि, एकनिर्ग्रन्थी के साथ नहीं ठहरना, अगारी के साथ नहीं ठहरना, इच्छा से अधिक नहीं खाना, शय्यासंस्तार, उच्चारप्रस्रवणभूमि, पर्युषणा में केशलोच, उपाश्रय, दिगवकाश इत्यादि देखने के योग्य हैं।

४– 'पडिक्कमण' शब्द पर प्रतिक्रमण शब्द का अर्थ, प्रतिक्रामक, नामस्थापनाप्रतिक्रमण, प्रतिक्रान्तव्य के पाँच भेद, ईर्य्याप्रतिक्रमण, दैवसिकप्रतिक्रमणवेला, रात्रिकप्रतिक्रमण, पाक्षिकादिकों में प्रतिक्रमण, पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी ही में होता है, मङ्गल, त्रैकालिक प्राणातिपातविरति, श्रावक के प्रतिक्रमण में विधि इत्यादि बहुत विषय हैं।

५– 'पडिमा' और 'पडिलेहणा' शब्द देखने चाहिये। 'पडिसेवणा' शब्द पर प्रतिसेवना शब्द का अर्थ, और भेद आदि का बहुत विस्तार है।

६– 'पत्त' शब्द पर पात्र का लेपकरणादिक देखना चाहिये।

७– 'पमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्रामाण्यविचार, प्रमाणसंख्या, प्रमाणफल, द्रव्यादिप्रमाण आदि विषय हैं।

८– 'परिग्गह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, मूर्च्छापरिग्रह आदि अनेक भेद द्रष्टव्य हैं।

९– 'परिट्ठवणा' शब्द पर परिष्ठापनाविधि, पृथ्वीकायपरिष्ठापना, अशुद्ध गृहीत आहार की परिष्ठापना, कालगत-साधु की परिष्ठापनिका इत्यादि अनेक विषय हैं।

१०– 'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरयिकादिकों का परिणाम विशेष, स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामित्व, देवताओं का बाह्यपुद्गलों को ले करके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-परिणाम, वर्ण गन्ध रस स्पर्श के संस्थान से पुद्गल परिणत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिणतहोना, दण्डक, जीव का परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वभावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबोध और क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

११– 'पव्वज्जा' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किससे किसको प्रव्रज्या देना, किस नक्षत्र और किस तिथि में दीक्षा लेनी, दीक्षा में अपेक्ष्य वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-त्याग, सुन्दरगुरुयोग, समवसरण में विधि, पुष्पपात में दीक्षा, वासक्षेपादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किस प्रकार से देना, चैत्यवन्दन, प्रव्रज्याग्रहण में सूत्र, और उसके पालन में सूत्र, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा की प्रशंसा, जिसतरह साधर्मिकों की प्रीति हो वैसा चिह्न धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आर्यिकाओं के द्वारा वन्दन, प्रव्रजित को ऐसा उपदेश करना जिसमें अन्य भी दीक्षा लेले, परीक्षा करके प्रव्राजन, एकादशप्रतिपन्न श्रावक को दीक्षा देना, पण्डक (क्लीब) आदि को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२– 'पुढवीकाइय' शब्द पर पृथिवीकायिक की वक्तव्यता स्थित है।

१३– 'पोग्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल भिदुरधर्मवाले हैं, परमाणु का पुद्गल से अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

१४– 'बन्ध' शब्द पर बन्धमोक्षसिद्धि, बन्ध के भेद, द्रव्यबन्ध और भावबन्ध, प्रेमद्वेषबन्ध, अनुभागबन्ध, बन्ध में मोदक का दृष्टान्त, ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध इत्यादि अनेक बातें हैं।

१५– 'भरह' शब्द पर भरत वर्ष का स्वरूपनिरूपण, दक्षिणार्द्ध भरत का निरूपण, और वहाँ के मनुष्यों का स्वरूप, भरत के सीमाकारी वैताढ्य गिरि का स्थाननिर्देश, और इसके गुहाद्वय का निरूपण, तथा श्रेणि और कूटों का निरूपण, उत्तरार्द्ध भरत का निरूपण, भरत इस नाम पड़ने का कारण, तदनन्तर राजा भरत की कथा है।

१६– 'भावणा' शब्द पर भावना का निर्वचन, प्रशस्ताप्रशस्त भावना का निरूपण, मैत्र्यादि भावनाओं के चार भेद, सद्भावना से भावित पुरुष को जो होता है उसका निरूपण इत्यादि विषय आये हैं।

पञ्चम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'पमपरीसह,' 'पउमसेह,' 'पउमावई,' 'पउमसिरी,' 'पउमभद्द,' 'पउमद्दह,' 'पुढविचंद,' 'फासिंदिय,' 'बंधुमई,' 'भद्द,' 'भद्दणंदिन्,' 'भरह,' 'भीमकुमार'।

षष्ठभागमे आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–' मग्ग ' शब्द पर द्रव्यस्तव और भावस्तव रूप से मार्ग के दो भेद, मार्ग का निक्षेप, मार्ग के स्वरूप का निरूपण इत्यादि अनेक विचार हैं।

२–' मरण ' शब्द पर सपराक्रम और अपराक्रम मरण, पादपोपगमनादिकों का संक्षिप्त स्वरूप, भक्तपरिज्ञा, बालमरण, कालद्वार, अकाम मरण और सकाम मरण,विमोचाध्ययनोक्त मरणविधि,मरण के भेद इत्यादि विषय दिये गये हैं।

३–' मल्लि ' शब्द पर मल्लिनाथ भगवान् की कथा द्रष्टव्य है।

४–' मिच्छत्त ' शब्द पर मिथ्यात्व के छ स्थान, मिथ्यात्वप्रतिक्रमण, मिथ्यात्व की निन्दा, मिथ्यात्व का स्वरूप, द्रव्य और भाव से मिथ्यात्व के भेद आदि निरूपित हैं।

५–' मेहुण ' शब्द पर मैथुन के निषेध का गंभीर विचार है।

६–' मोक्ख ' शब्द पर मोक्ष की सिद्धि, निर्वाण की सत्ता–है, या नहीं, इसका निरूपण, मोक्ष का कारण ज्ञान और क्रिया है, धर्म का फल मोक्ष है, मोक्ष पर साङ्ख्य और नैयायिकों का मत, मोक्ष पर विशेष विचार, मोक्ष पर वेदान्तियों के मत का निरूपण और खण्डन. स्त्री की मोक्षसिद्धि मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं।

७–' रओहरण ' शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसचक्षु वाले मनुष्यों को सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवदयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा (किनारी या अग्रभाग) सूक्ष्म नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम. अनिसृष्ट रजोहरण ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य है।

८–' राइभोयण ' शब्द पर रात्रिभोजन का त्याग, रात्रिभोजन करने वाला अनुद्घातिक होता है, रात्रिभोजन के चार प्रकार, रास्ते में रात्रिको आहार लेने का विचार,कैसा आहार रात्रि में रक्खा जा सकता है इसका विवेक,राजा से द्वेष होने पर रात्रि को भी आहार लेने में दोषाभाव, रात्रि में उद्गार आने पर उद्गिरण करने में दोष, रात्रिभोजन प्रतिगृहीत हो तो परिष्ठापना करना, रात्रिभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के रात्रि में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं।

९ –' रुद्दज्झाण ' शब्द पर रौद्रध्यान का स्वरूप, और उसके चार भेद, रौद्रध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं।

१० ' लेस्सा ' शब्द पर लेश्या के भेद, लेश्याके अर्थ, आठ लेश्याओं का अल्पबहुत्व, देवविषयक अल्पबहुत्व, कौन लेश्या कितने ज्ञानों मे मिलती है, कौन लेश्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेश्या, लेश्याओं में गुणस्थानक, धर्मध्यानियों की लेश्या आदि विषय हैं।

११-'लोग'शब्द पर लोक शब्द का अर्थ;और व्युत्पत्ति.लोक का लक्षण,लोक का महत्त्व,लोक का संस्थान आदि विषय हैं।

१२–' वत्थ ' शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना. कितनी प्रतिमा से वस्त्र का गवेषण करना, याच्ञा वस्त्र और निमन्त्रण वस्त्र की याच्ञा पर विचार. निर्ग्रन्थिओं के वस्त्र लेने का प्रकार, चातुर्मास्य में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा से ही साधू अथवा साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण, भिन्न (फटे) वस्त्र लेने की अनुज्ञा, वस्त्रों के रँगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्ययूथिक और पार्श्वस्थादि कों को वस्त्र देने का निषेध, वस्त्र को यत्न से रखना जिससे विकलेन्द्रियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने की अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं।

१३–' वसहि ' शब्द पर किस प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के उद्गमादि दोषों का निरूपण, भिक्षू के वास्ते असंयत उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमार्जन में दोष, जहाँ गृहपति कन्दादिकों का आहार करता है वहां नहीं रहना, सस्त्रीक उपाश्रय में नहीं रहना, रुग्ण साधु की प्रतिक्रिया, जहां गृहिणी मैथुन की वाञ्छा करे उस गृहपति के गृह में नहीं वसना, गृहपति के घर में वसने के दोष, प्रतिबद्ध शय्या में वसने के दोष जिसमें घरवाला भोजन बनावे वहां नहीं रहना, और जहां पर घर का मालिक काष्ठ फाड़े या अग्नि जलावे वहां नहीं रहना, जहाँ पर साधर्मिक निरन्तर आते हों वहां नहीं रहना, कार्यवश से चरक और कार्पटिकों के साथ वसने में विधि, वसति के याचन का प्रकार, जहां पर गृहपति के मनुष्य कलह करते हों या अभ्यङ्ग (मर्दन) करते हों वहां नहीं रहना, कब कहां कितना वास करना इसका नियम, जहां राजा हो उस उपाश्रय मे वसने का निषेध, साध्वियों की वसति में साधू के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं।

१४-' विजय ' शब्द पर विजय की विशेषव्याख्या देखना चाहिये।

१५-' विनय ' शब्द पर विनय के पाँच ५ भेद और सात ७ भेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्यिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं।

१६ ' विमान ' शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ण, विमानों की प्रभा, गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं।

१७-' विहार ' शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किनके साथ विहार करना और किनके साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिवादि कारणों में वर्षा में भी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधू को विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१८-' वीर ' शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये।

षष्ठ भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

' मल्लि ' ' महापइरिक्कतर ' ' मुणिसुव्वय ' ' मूलदत्ता ' ' मूलसिरी ' ' मेहघोस ' ' मेहपुर ' ' मेहमुह ' ' मेहरिपुत्त ' ' रहणेमि ' ' रोहिणी ' ' रोहिणेयचोर ' ' वद्धमाणसूरि ' ' वररुइ ' वराहमिहिर ' ' वरुण ' 'ववहारकुसल' 'वाणा-रसी' 'विजइंदसूरि' विजयकुमार' 'विजयघोसे' 'विजयचंद' 'विजयतिलकसूरि' 'विजयसेट्ठि' ' विजयसेण ' ' विणयंधर ' ' विसेसणणु ' ' वीर '।

सप्तम भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१-' संथार ' शब्द पर संस्तार का विचार है। ' संवर ' शब्द पर सम्वर का निरूपण है। 'संसार' शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है।

२-' सक्क ' शब्द पर शक्र की ऋद्धि और स्थान, विकुर्वणा, और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किस भाषा को बोलते हैं इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है।

३-' सज्झाय ' शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा ' सत्तभंगी ' शब्द पर सप्तभङ्गी का विचार है।

४-' सद्द ' शब्द पर शब्द का निर्वचन, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौद्गलिकत्व, शब्द के दश भेद, मनोज्ञ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं।

५-'सावय' शब्द पर श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, श्रावक के लक्षण श्रावक का सामान्य कर्त्तव्य, निवास-विधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ एकविंशति गुण इत्यादि विषय हैं।

६-' हिंसा ' शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, षड्जीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन-मन्दिर बनवाने में आते हुए दोष का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं।

७-' हेउ' शब्द पर हेतु के प्रयोगप्रकार, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

सप्तम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

' संखपुर ' संजय ' ' संतिदास ' ' संतिविजय ' ' सकह ' ' सत्त ' ' समुद्दपाल ' ' सयंभूदत्त ' ' सावत्थी ' ' साव-यगुण ' ' सिंहगिरि ' ' सीलंगायरिय ' ' सीह ' ' सुकण्हा ' ' सुक्क ' ' सुग्गीव ' ' सुजसिरी ' ' सुजमित्त ' ' सुट्ठिय ' ' सुणंद ' ' सुणक्खत्त ' ' सुदंसण ' ' सुदक्खिण ' ' सुपासा ' ' सुप्पभ ' ' सुभद्द ' ' सुभूम ' ' सुमंगल ' 'सुमंगला' ' सुव्वय ' ' सूर ' ' सेणिय ' ' सोमचंद ' ' सोमा ' ' हरिएस ' ' हरिभद्द ' इत्यादि शब्दों पर कथाएँ द्रष्टव्य हैं।

☞ इस तरह से सातों भागों की यह अत्यन्त संक्षिप्त सूची समझना चाहिये, विस्तार तो ग्रन्थ से ही मालूम होगा क्योंकि भूमिका में विशेष विस्तार करके पाठकों का समय व्यर्थ नष्ट करना है। ☜

अकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत () कोष्ठक में आये हुए शब्दों की अकारादिक्रम से सूची-

अइइ-अदिइ-अइति-अदिति।
अइंदिअ-अइंदिय।
अइकंत-अतिकंत।
अइक्कंत-अतिक्कंत।
अइक्कंतजोव्वण-अतिक्कंतजोव्वण।
अइक्कंतपच्चक्खाण-अतिक्कंतपच्चक्खाण।
अइगत-अइगय।
अइत-अईत-अतीत-अइय-अईय-अतीय।
अइतद्धा-अईतद्धा-अतीतद्धा-अइयद्धा-अईयद्धा-अतीयद्धा।
अइतपच्चक्खाण-अईतपच्चक्खाण-अतीतपच्चक्खाण-अइयपच्चक्खाण-अईयपच्चक्खाण-अतीयपच्चक्खाण।
अइताण-अतिताण-अइयाण-अतियाण।
अइताणकहा-अतिताणकहा-अइयाणकहा-अतियाणकहा।
अइताणगिह-अतिताणगिह-अइयाणगिह-अतियाणगिह।
अइयाणिड्ढि-अतियाणिड्ढि-अइताणिड्ढि-अतिताणिड्ढि।
अइताणागयद्धाण-अईताणागयद्धाण-अतीताणागयद्धाण-अइयाणागयद्धाण-अईयाणागयद्धाण-अतीयाणागयद्धाण।
अइमुंतय-अइमुत्तय।
अइयात-अइयाय।
अइयार-अईयार-अतियार-अतीयार।
अइरत्तकंबलसिला-अतिरत्तकंबलसिला।
अइरावण-एरावण।
अइरित्त-अतिरित्त।
अइरित्तसिज्जासणिय-अतिरित्तसिज्जासणिय।
अइरेग-अतिरेग।
अइरेगसंठिय-अतिरेगसंठिय।
अइरेण-अचिरेण।
अइरोववण्णग-अचिरोववण्णग।
अइलोलुय-अतिलोलुय।
अइवइत्ता-अतिवइत्ता।
अइवाइन्-अतिवाइन्-अइवातिन्-अतिवातिन्।
अइवायमाण-अतिवायमाण।
अइवाय-अतिवाय।
अइवाहड-अतिवाहड।
अइविज्ज-अतिविज्ज।
अइविसय-अतिविसय।
अइविसाया-अतिविसाया।
अइविसाल-अतिविसाल।
अइसुट्टि-अतिसुट्ठि।
अइसंकिलेस-अतिसंकिलेस।

अइसंधाण-अतिसंधाण।
अइसंधाणपर-अतिसंधाणपर।
अइसंपओग-अतिसंपओग।
अइसक्कणा-अतिसक्कणा।
अइसय-अतिसय।
अइसयणाणि-अतिसयणाणि।
अइसयमईयकाल-अतिसयमईयकाल।
अइसाइ-अतिसाइ।
अइसीय-अतिसीय।
अइसुहुम-अतिसुहुम।
अइसेस-अतिसेस।
अइहि-अतिहि।
अइहिपूआ-अतिहिपूआ।
अइहिबल-अतिहिबल।
अइहिम-अतिहिम।
अइहिवणीमग-अतिहिवणीमग।
अइहिसंविभाग-अतिहिसंविभाग।
अईव-अतिव।
अउअ-अउय।
अउल-अतुल।
अंकधर-अंकहर।
अंकिअ-अंकिय।
अंगइसि-अंगरिसि।
अंगच्छेद-अंगच्छेय।
अंगण-अक्कण।
अंगसुहफरिस-अंगसुहफासिय।
अंगार-इंगार-अंगाल-इंगाल।
अंगारकड्डिणी-इंगारकड्डिणी-अंगालकड्डिणी-इंगालकड्डिणी।
अंगारकम्म-इंगारकम्म-अंगालकम्म-इंगालकम्म।
अंगारकारिया-इंगारकारिया-अंगालकारिया-इंगालकारिया।
अंगारग-इंगारग-अंगालग-इंगालग।
अंगारदाह-इंगारदाह-अंगालदाह-अंगारदाह-अंगालदाह-इंगारदाह-इंगालदाह।
अंगारपतावणा-इंगारपतावणा-अंगालपतावणा-इंगालपतावणा।
अंगारमद्दग-इंगारमद्दग-अंगालमद्दग-इंगालमद्दग।
अंगाररासि-इंगाररासि-अंगालरासि, इंगालरासि।
अंगारवई-इंगारवई।
अंगारसहस्स-इंगारसहस्स-अंगालसहस्स-इंगालसहस्स।
अंगालसोल्लिय-इंगालसोल्लिय।
अंगारायतण-इंगारायतण-अंगालायतण।

अंगारिय-इंगारिय-अंगालिय-इंगालिय।
अंगुअ-इंगुअ।
अंगुलि-अंगुली।
अंगुलिज्जग-अंगुलेज्जग।
अंगुलिविज्जा-अंगुलीविज्जा।
अंचिअ-अंचित।
अंचिअरिजिय-अंचियरिजिय।
अंजणगिरि-अंजणागिरि।
अंजलि-अंजली।
अंतक-अंतग।
अंतकर-अंतगर।
अंतकरभूमि-अंतगडभूमि।
अंतगत-अंतगय।
अंतद्धाणी-अंतद्धाणिया।
अंतरकप्प-अंतराकप्प।
अंतरणई-अंतरणदी।
अंतरदीवग-अंतरदीवय।
अंतराइय-अंतराय।
अंतरिक्ख-अंतलिक्ख।
अंतरिक्खजाय-अंतलिक्खजाय।
अंतरिक्खपडिवण्ण-अंतलिक्खपडिवण्ण।
अंतरिक्खपासणाह-अंतलिक्खपासणाह।
अंतरिक्खोदय-अंतलिक्खोदय।
अंतावेइ-अंतावेई।
अंतिअ-अंतिय।
अंतेउर-अंतपुर।
अंदोलण-अंदोल्लण।
अंधकार-अंधयार।
अंधकारपक्ख-अंधयारपक्ख।
अंधिल्लग-अंधल्लग।
अंबड-अम्मड।
अंबरूलग-अंबदालग।
अंबरिस-अंबरीस।
अंबरिसि-अंबरीसि-अंबरिसि-अंबरीसि।
अंबिआ-अंबिया।
अंसगय-अंसागय।
अकइ-अकति।
अकइसंचिय-अकतिसंचिय।
अकम्हा-अकम्मा।
अकम्हाकिरिया-अकम्माकिरिया।
अकम्हादंड-अकम्मादंड।
अकम्हादंडवत्तिय-अकम्मादंडवत्तिय।
अकम्हाजय-अकम्माजय।
अकालसज्झायकर-अकालसज्झायकारिन्।
अकिरियवाइ-अकिरियावाइ।
अकुओभय-अकुतोभय।

अकूर-अक्कूर।
अक्केउज्ज-अक्केय।
अक्कोसपरिसह-अक्कोसपरीसह।
अक्कोसपरिसहविजय-अक्कोसपरीसहवि-जय।
अक्खित्त-अक्खेत्त।
अक्खीरमधुसप्पिय-अक्खीरमहुसप्पिय।
अगत-अगद।
अगार-आगार।
अगारधम्म-आगारधम्म।
अग्गाणीअ-अग्गेणीअ।
अगिअ-अगिय।
अग्गेई-अग्गेणी।
अग्गेतण-अग्गेयण।
अघुणित-अघुणिय।
अचंकारियभट्टा-अच्चंकारियभट्टा।
अचरम-अचरिम।
अचरमंतपएस-अचरिमंतपएस।
अचरमसमय-अचरिमसमय।
अचरमावट्ट-अचरिमावट्ट।
अचल-अयल।
अचलट्ठाण-अयलट्ठाण।
अचलपुर-अयलपुर।
अचलभाया-अयलभाया।
अचला-अयला।
अचलिय-अयलिय।
अचुक्ख-अचोक्ख।
अचेल-अचेलग।
अचेलपरिसह-अचेलपरीसह।
अच्छुतित-अच्चुदित।
अच्छिंदण-आच्छिंदण।
अच्छिंदित्ता-आच्छिंदित्ता--आच्छिंदिय-आच्छिंदिय।
अच्छिंदमाण-आच्छिंदमाण।
अच्छेर-अच्छेरग।
अज्जजीयधर-अज्जजीयहर।
अट्ठपदचिंतण-अट्ठपयचिंतण।
अट्ठपदपरूवणया--अट्ठपयपरूवणया।
अट्ठिगकट्ठिय-अट्ठियकट्ठिय।
अड्ढविवास-अड्ढवीवास।
अणंगकिड्डा-अणंगकीडा।
अणंतग-अणंतय।
अणक्ख-अणक्ख।
अणपज्ज-अणप्पज्ज।
अणवट्ठियसंठाण-अणवट्ठितसंठाण।
अणविक्खा-अणवेक्खा।
अणहिलपाडगणयर-अणहिल्लवाडगणयर।
अणाउज्झयणपच्चायाय-अणाउज्झयण-पच्चायाय।
अणागत-अणागय।
अणागतकाल-अणागयकाल।
अणागतकालग्गहण-अणागयकालग्गहण।
अणिउंतय-अणिउँतय।
अणिउज्जमाण-अणिउज्जमाण।
अणिउज्जमाणभग्ग-अणिउज्जमाणभग्ग।
अणिदा-अणिया।
अणिदाण-अणियाण।
अणिदाणभूय-अणियाणभूय।
अणिदाणया-अणियाणया।
अणियत-अणियय।
अणियतचारिण्-अणिययचारिण्।
अणियतप्प-अणिययप्प।
अणियतवट्टि-अणिययवट्टि।
अणियतवास-अणिययवास।
अणियतवित्ति-अणिययवित्ति।
अणिहुत-अणिहुय।
अणिहुतपरिणाम-अणिहुयपरिणाम।
अणुगाम-अणुग्गाम।
अणुजात-अणुजाय।
अणुण्णत-अणुण्णय।
अणुपरिहारि-अनुपरिहारि।
अणुपायकिरिया-अणुवायकिरिया।
अणुपायए-अणुवायए।
अणुपालण-अणुवालण।
अणुपालणाकप्प-अणुवालणाकप्प।
अणुपालणासुद्ध-अणुवालणासुद्ध।
अणुप्पदाण-अणुप्पयाण।
अणुभाग-अणुभाव।
अणुभागबंध-अणुभावबंध।
अणुभागबंधट्ठाण-अणुभावबंधट्ठाण।
अणुभागसंकम-अणुभावसंकम।
अणुभासणसुद्ध-अणुभासणासुद्ध।
अणुमत-अणुमय।
अणुमुक्क-अणुम्मुक्क।
अणुमोयण-अणुमोयणा।
अणुविभ-अणुव्विग्ग।
अणुव्वय-अणुव्वअ।
अणुसूयत्ता-अणुस्सुयत्ता।
अणेक्क-अणेग।
अण्ण-अन्न।
अण्णइलाय--अन्नइलाय--अन्नगिलाय-अ-न्नगिलाय।
अण्णओ-अन्नत्तो-अन्नदो।
अण्णगोत्तिय-अन्नगोत्तिय।
अण्णग्गहण-अन्नग्गहण।
अण्णण्ण-अन्नन्न-अण्णण्ण-अन्नन्न।
अण्णतर-अन्नतर-अन्नयर-अन्नयर।
अण्णहा-अन्नहा-अण्णह-अन्नह।
अण्णाइस्-अन्नाइस्।
अण्णाणिय-अन्नाणिय।
अण्णात-अण्णाय।
अण्णातउञ्छ-अण्णायउञ्छ।
अण्णातचरय-अण्णायचरय।
अण्णादिस-अन्नादिस-अण्णारिस-अन्नारिस।
अण्णुण्ण-अन्नुन्न-अण्णुन्न-अन्नुन्न।
अतारिस-अतालिस।
अत्तसंजोग-अप्पसंजोग।
अत्तहिय-आयहिय।
अत्थिउज्ज-अत्थिय।
अत्थादाण-अत्थायाण।
अत्थिणत्थिप्पवाय-अत्थिनत्थिप्पवाय।
अत्थिर-अथिर।
अत्थिरछक्क-अथिरछक्क।
अत्थिरणाम-अथिरणाम।
अत्थिरतिग-अथिरतिग।
अत्थिरदुग-अथिरदुग।
अत्थिरव्वय-अथिरव्वय।
अत्थिवाय-अथिवाय।
अत्थुग्गह-अथोवग्गह।
अत्थुग्गहण-अत्थोग्गहण।
अदंसकुदंडिम-अदंसकोदंडिम।
अदंसण-अदंसण।
अदत्त-अदिण्ण।
अदत्तहारि-अदिण्णहारि।
अदत्तादाण-अदिण्णादाण।
अदत्तादाणकिरिया-अदिण्णादाणकिरिया।
अदत्तादाणवत्तिय-अदिण्णादाणवत्तिय।
अदत्तादाणविरइ-अदिण्णादाणविरइ।
अदत्तादाणवेरमण-अदिण्णादाणवेरमण।
अदत्तालोयण-अदिण्णालोयण।
अद्दूरग-अदूरय।
अद्दगकुमार-अद्दयकुमार।
अद्दगपुर-अद्दयपुर।
अद्दणो-अद्दणो।
अद्दागपसिण-अद्दागपसिन।
अद्ध-अद्धाण।
अद्धकप्प-अद्धाणकप्प।
अद्धकुलव-अरुकुरुव।
अद्धक्खिकडक्ख-अद्धच्छिकडक्ख।
अद्धिकरण-अद्धितिकरण।
अद्धुव-अधुव।
अद्धुवबंधिणी-अधुवबंधिणी।
अद्धुवसंतकम्म-अधुवसंतकम्म।
अद्धुवसकम्मिया-अधुवसकम्मिया
अद्धुवसत्तागा-अधुवसत्तागा।
अद्धुवसाहण-अधुवसाहण।
अद्धुवोदया-अधुवोदया।
अधम-अहम।
अधम्म-अहम्म।

अधम्मक्खाइ-अहम्मक्खाइ ।
अधम्मजुत्त-अहम्मजुत्त ।
अधम्मत्थिकाय-अहम्मत्थिकाय ।
अधम्मदाण-अहम्मदाण ।
अधम्मद्वार-अहम्मद्वार ।
अधम्मपक्ख-अहम्मपक्ख ।
अधम्मपज्जणण-अहम्मपज्जणण ।
अधम्मपडिमा-अहम्मपडिमा ।
अधम्मपलज्जण-अहम्मपलज्जण ।
अधम्मपलोइ-अहम्मपलोइ ।
अधम्मराइ-अहम्मराइ ।
अधम्मरुइ-अहम्मरुइ ।
अधम्मसमुदायार-अहम्मसमुदायार ।
अधम्मसीलसमुदायार-अहम्मसीलसमुदायार ।
अधम्माणुय-अहम्माणुय ।
अधम्मिजीव-अहम्मिजीव ।
अधम्मिट्ठ-अहम्मिट्ठ ।
अधम्मिय-अहम्मिय ।
अधर-अहर ।
अधरगमण-अहरगमण ।
अधरिम-अहरिम ।
अधरी-अहरी ।
अधरीलोढ-अहरीलोढ ।
अधरुट्ठ-अहरुट्ठ ।
अधव-अहव-अधवा-अहवा ।
अधि-अहि ।
अधिइ-अहिइ ।
अधिग-अहिग ।
अधिगम-अहिगम ।
अधिगमरुइ-अभिगमरुइ-अहिगमरुइ ।
अधिगमसम्मद्दंसण-अभिगमसम्मद्दंसण ।
अधिगय-अहिगय ।
अधिगरण-अहिगरण ।
अधिगरणकिरिया-अहिगरणकिरिया ।
अधिगरणिया-अहिगरणिया-आहिगरणिया-आधिगरणिया ।
अधिगरणी-अहिगरणी ।
अधिगार-अहिगार ।
अधिट्ठंत-अहिट्ठंत ।
अधिट्ठावण-अहिट्ठावण ।
अधिट्ठेत्ता-अहिट्ठेत्ता ।
अधिमासग-अहिमासग ।
अधिमुत्ति-अहिमुत्ति ।
अधिवइ-अहिवइ-अधिवति-अहिवति ।
अधेकम्म-अहेकम्म ।
अधोहि-अहोहि ।
अपइट्ठाण-अप्पइट्ठाण ।
अपइट्ठिय-अप्पइट्ठिय ।
अपइण्णपसरियत्त-अप्पइण्णपसरियत्त ।

अपच्चक्ख-अप्पच्चक्ख ।
अपच्चक्खाण-अप्पच्चक्खाण ।
अपच्चक्खाणकिरिया-अप्पच्चक्खाणकिरिया ।
अपच्चक्खाणि-अप्पच्चक्खाणि ।
अपच्चक्खाय-अप्पच्चक्खाय ।
अपच्चय-अप्पच्चय ।
अपडिकम्म-अप्पडिकम्म ।
अपडिकंत-अप्पडिकंत ।
अपडिचक्क-अप्पडिचक्क ।
अपडिण्ण-अप्पडिण्ण ।
अपडिबज्झंत-अप्पडिबज्झंत ।
अपडिबद्ध-अप्पडिबद्ध ।
अपडिबद्धया-अप्पडिबद्धया ।
अपडिबद्धविहार-अप्पडिबद्धविहार ।
अपडिबुज्झमाण-अप्पडिबुज्झमाण ।
अपडियार-अप्पडियार ।
अपडिरूव-अप्पडिरूव ।
अपडिलद्ध-अप्पडिलद्ध ।
अपडिलद्धसम्मत्तरयणपडिलंभ-अप्पडिलद्धसम्मत्तरयणपडिलंभ ।
अपडिलेस्स-अप्पडिलेस्स ।
अपडिलेहण-अप्पडिलेहण ।
अपडिलेहणासील-अप्पडिलेहणासील ।
अपडिलेहिय-अप्पडिलेहिय ।
अपडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमि-अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमि ।
अपडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारय-अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारय ।
अपडिलेहियपणग-अप्पडिलेहियपणग ।
अपडिलोमया-अप्पडिलोमया ।
अपडिवाइ-अप्पडिवाइ ।
अपडिसंलीण-अप्पडिसंलीण ।
अपडिसुणेत्ता-अप्पडिसुणेत्ता ।
अपडिहड-अप्पडिहड ।
अपडिहणंत-अप्पडिहणंत ।
अपडिहय-अप्पडिहय ।
अपडिहयगइ—अप्पडिहयगइ ।
अपडिहयपच्चक्खायपावकम्म-अप्पडिहयपच्चक्खायपावकम्म ।
अपडिहयबल-अप्पडिहयबल ।
अपडिहयवरणाणदंसणधर-अप्पडिहयवरणाणदंसणधर ।
अपडिहयसासण-अप्पडिहयसासण ।
अपडिहारय-अप्पडिहारय ।
अपडीकार-अप्पडीकार ।
अपडुप्पण्ण-अप्पडुप्पण्ण ।
अपत्तभूमिग-अपत्तभूमिग ।

अपत्थण-अप्पत्थण ।
अपत्थिय-अप्पत्थिय ।
अपत्थियपत्थय-अप्पत्थियपत्थय-अपत्थियपत्थिय-अप्पत्थियपत्थिय ।
अपद-अपय ।
अपदुस्समाण-अप्पदुस्समाण ।
अपभु-अप्पभु ।
अपमज्जणसील-अप्पमज्जणसील ।
अपमज्जित्ता-अप्पमज्जित्ता ।
अपमज्जिय-अप्पमज्जिय ।
अपमज्जियचारि-अप्पमज्जियचारि ।
अपमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमि-अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमि ।
अपमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार-अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार ।
अपमत्त-अप्पमत्त ।
अपमत्तसंजय-अप्पमत्तसंजय ।
अपमत्तसंजयगुणट्ठाण-अप्पमत्तसंजयगुणट्ठाण ।
अपमाण-अप्पमाण ।
अपमाणभोइ-अप्पमाणभोइ ।
अपमाय-अप्पमाय ।
अपमायपडिलेहा-अप्पमायपडिलेहा ।
अपमायभावणा-अप्पमायभावणा ।
अपमायवुड्ढिजणगत्तण-अप्पमायवुड्ढिजणगत्तण ।
अपमायपडिसेवणा-अप्पमायपडिसेवणा ।
अपमेय-अप्पमेय ।
अपराइत-अपराइय ।
अपरिस्साइ-अपरिस्साइ-अपरिसावि-अपरिस्सावि ।
अपलीण-अप्पलीण ।
अपवत्तण-अप्पवत्तण ।
अपवित्त-अप्पवित्त ।
अपवित्ति-अप्पवित्ति ।
अपसंसणिज्ज-अप्पसंसणिज्ज ।
अपसज्झ-अप्पसज्झ ।
अपसज्झपुरिसाणुग-अप्पसज्झपुरिसाणुग ।
अपसत्थ-अप्पसत्थ ।
अपि-अवि ।
अपीडणया-अपीलणया ।
अपुस्सुय-अप्पुस्सुय ।
अप्पउज्ज-अप्पज्ज ।
अप्पाबहुय-अप्पाबहुग ।
अप्फालिय-अफालिय ।
अप्फोआ-अप्फोया ।
अप्फोडिअ-अप्फोडिय ।
अप्फोव-अफोव ।
अबहुस्सुय-अबहुस्सुत ।

अब्भंगित्ता-अभ्भंगेत्ता ।
अब्भंतर-अब्भितर।
अब्भंतरओसचित्तकम्म-अब्भितरओस-
चित्तकम्म ।
अब्भंतरकरण-अब्भितरकरण ।
अब्भंतरग-अब्भितरग ।
अब्भंतरगणिज्ज-अब्भितरगणिज्ज ।
अब्भंतरतव-अब्भितरतव ।
अब्भंतरतो-अब्भितरतो ।
अब्भंतरदेवसिय-अब्भितरदेवसिय।
अब्भंतरपरिस-अब्भितरपरिस।
अब्भंतरपाणीय-अब्भितरपाणीय ।
अब्भंतरपुक्खरद्ध-अब्भितरपुक्खरद्ध ।
अब्भंतरपुप्फफल-अब्भितरपुप्फफल ।
अब्भंतरबाहिरिय-अब्भितरबाहिरिय ।
अब्भंतरय-अब्भितरय ।
अब्भंतरलद्धि-अब्भितरलद्धि ।
अब्भंतरसंबुक्का-अब्भितरसंबुक्का ।
अब्भंतरसगडुद्धिया-अब्भितरसगडुद्धिया।
अब्भंतरोहि-अब्भितरोहि ।
अब्भंतरिया—अब्भितरिया ।
अभविय-अभव्व ।
अभिइ-अभीइ ।
अभिण्णाय-अभिजाणिय ।
अभिसंग-अभिस्संग।
अभिसेगभंड-अभिसेयभंड।
अभिसेगसभा-अभिसेयसभा ।
अभिहित-अभिहिय ।
अमग्घाय-अमाघाय ।
अमावसा-अमावासा।
अभिज्ज-अमेज्ज ।
अमिज्झ-अमेज्झ ।
अमिज्झपुण्ण-अमेज्झपुण्ण ।
अमिज्झमय-अमेज्झमय ।
अमिज्झरस-अमेज्झरस ।
अमिज्झसंभूय-अमेज्झसंभूय ।
अमिज्झुक्कर-अमेज्झुक्कर ।
अयपाद-अयपाय ।
अयसीवण्ण-अयसिवण्ण ।
अरइपरिसह-अरइपरीसह ।
अरइपरिसहविजय-अरइपरीसहविजय।
अलाभ-अलाह ।
अलाभपरिसह-अलाहपरिसह-अलाभप-
रीसह-अलाहपरीसह ।
अलोग-अलोय ।
अवायाणुप्पेहा-अवायाणुपेहा ।
अविरइवाय-अविरइयवाय ।
अविसंवायणजोग-अविसंवायणाजोग ।
अव्वत्तभगसंचिय-अवत्तभगसंचिय ।
असंणिहिसंचय-असंनिहिसंचय ।

असंथरमाण-असंथरंत ।
असाधारण-असाहारण ।
असाय-असात ।
असायण-अस्सायण ।
असायवेयणिज्ज-असायावेयणिज्ज ।
असिय-असित ।
असुभ-असुह ।
असुभकम्मबहुल-असुहकम्मबहुल ।
असुभकिरियादिरहिय-असुहकिरियादि-
रहिय ।
असुभज्झवसाण-असुहज्झवसाण ।
असुभणाम-असुहणाम ।
असुभतरंडुत्तरणप्पाय-असुहतरंडुत्तरण-
प्पाय ।
असुभत्त-असुहत्त ।
असुभदुक्खभागि-असुहदुक्खभागि ।
असुभविवाग-असुहविवाग ।
असुभा-असुहा ।
असुभाणुप्पेहा-असुहाणुप्पेहा ।
अहत-अहय ।
अहरुट्ठ-अहरोट्ठ ।
अहाकड-अहागड ।
अहिआइ-अहिआइ ।
अहिगरणकर-अहिगरणकर।
अहिगार-अहियार ।
अहिलंघ-अहिलंख ।

॥ आ ॥

आअ-आगअ ।
आअरिस-अंसअरिस ।
आइअंतियमरण-आदिअंतियमरण ।
आइक्खग-आइक्खय ।
आइज्ज-आदेज्ज ।
आइज्जमाण—आदेज्जमाण ।
आइज्जवक्क-आदेज्जवक्क ।
आइज्जवयण-आदेज्जवयण ।
आइज्जवयणया-आदेज्जवयणया ।
आइयावण-आदियावण ।
आईण-आत्तीण-आदीण ।
आईणभोइ-आदीणभोइ ।
आईणवित्ति-आदीणवित्ति ।
आईणिय-आदीणिय ।
आउंचणा-आकुंटणा ।
आउक्काय-आउकाय ।
आउस-आउस्स ।
आएज्ज-आदेज्ज ।
आएज्जवक्क-आदेज्जवक्क ।
आएज्जणाम-आदेज्जणाम ।
आएज्जवयण-आदेज्जवयण ।
आएज्जवयणया-आदेज्जवयणया ।
आएस-आदेस ।

आएसग-आएसय ।
आकिई-आगई ।
आगंतुय-आगंतुग ।
आगमि--आगामि ।
आगमिस्स-आगमिस्सत्‌ ।
आगमेत्ता-आगम्म ।
आगासफलिह-आगासफालिय।
आगासफालियसरिसप्पह-आगासफलि
हसरिसप्पह ।
आगासफालियामय-आगासफलिहामय।
आघायण-आघवण ।
आजग-आजय ।
आजम्मसुरहिपत्त-आयम्मसुरहिपत्त ।
आजवंजवीभाव-आयवंजवीभाव ।
आजाइ-आयाइ ।
आढग-आढय।
आढत्त-आरद्ध ।
आणमणी-आणवणी ।
आणयणप्पओग-आणवणप्पओग ।
आणाकारि-आणागारि ।
आणाजोग-आणाजोय ।
आणिय-आणीय ।
आणुपुव्वसुजाय-आणुपुव्विसुजाय ।
आतंक-आयंक ।
आतंकदंसि-आयंकदंसि ।
आतंकविवज्जास-आयंकविवच्चास ।
आतंकसंपओगसंपउत्त-आयंकसंपओगसं-
गसंउत्त ।
आतंकि-आयंकि ।
आतंचणिया-आयंचणिया ।
आयंतकर-आतंतकर ।
आतंतम-आयंतम ।
आतंदम-आयंदम ।
आतंव-आयंव ।
आतंवज्झयण-आयंवज्झयण ।
आतंभरि-आयंभरि ।
आतकम्म---आयकम्म ।
आतगवेसय-आयगवेसय ।
आतगय-आयगय ।
आतगुत्त-आयगुत्त।
आतच्चाइ-आयच्चाइ ।
आतछट्ठवाइ-आयछट्ठवाइ ।
आतजम्म-आयजम्म ।
आतजस-आयजस ।
आतजोगि-आयजोगि ।
आतजोणि-आयजोणि ।
आतज्झाण-आयज्झाण ।
आतट्ठ-आयट्ठ-अप्पणट्ठ ।
आतट्ठि-आयट्ठि ।
आतणाण-आयणाण ।

आतनिट्ठ-आयनिठ।
आतनिष्फेरुय आयनिष्फेरुय।
आतणिण आयणीण।
आतणण-आयणण।
आततंत-आयतंत।
आततंतकर-आयतंतकर।
आततत्त-आयतत्त।
आततत्तप्पगास-आयतत्तप्पगास।
आततरग-आयतरग।
आततुला-आयतुला।
आतत्त-आयत्त।
आतदंरु-आयदंरु।
आतदंरुसमायार-आयदंरुसमाचार।
आतदरिस-आयदरिस।
आतद्दिहि-आयद्दिहि।
आतपप्स-आयपप्स।
आतपरिणइ-आयपरिणइ।
आतपसंसा-आयपसंसा।
आतप्पओग-आयप्पओग।
आतप्पओगणिव्वत्तिय-आयप्पओगणिव्वत्तिय।
आतप्पभ-आयप्पभ।
आतप्पमाण-आयप्पमाण।
आतप्पवाय-आयप्पवाय।
आताप्पियसंबंधणसंयोग-आयप्पियसंबंधणसंयोग।
आतवतत्त-आयवतत्त।
आतवल-आयवल।
आतववत्-आयववत्।
आतवाल-आयवाल।
आतवोध-आयवोध।
आतभाव-आयभाव।
आतभाववंकणया-आयभाववंकणया।
आतभाववत्तव्वया-आयभाववत्तव्वया।
आतनू-आयनू।
आतरक्ख-आयरक्ख।
आतरक्खा-आयरक्खा।
आतरक्खि-आयरक्खि।
आतरक्खिय-आयरक्खिय।
आतवं-आयवं।
आतवस-आयवस।
आतवस्स-आयवस्स।
आतवायपत्त-आयवायपत्त।
आतवि-आयवि।
आतविज्जा-आयविज्जा।
आतवीरिय-आयवीरिय।
आतविसोहि-आयविसोहि।
आतवेयावच्चकर-आयवेयावच्चकर।
आतसंजम-आयसंजम।
आतसंजमपर-आयसंजमपर।

आतसंजमोवाय-आयसंजमोवाय।
आतसंवेयण-आयसंवेयण।
आतसंवेयणिज्ज-आयसंवेयणिज्ज।
आतसक्खि-आयसक्खि।
आतअप्पसत्तम-आयअप्पसत्तम।
आतसत्ति-आयसत्ति।
आतसमप्पण-आयसमप्पण।
आतसमया-आयसमया।
आतसमुब्भव-आयसमुब्भव।
आतसमोयार-आयसमोयार।
आतसरीरखेत्तोगाढ-आयसरीरखेत्तोगाढ।
आतसाय-आयसाय।
आतसायाणुगामि-आयसायाणुगामि।
आतसिद्ध-आयसिद्ध।
आतसुह-आयसुह।
आतसोहि-आयसोहि।
आतहित-आयहित।
आता-अप्पा।
आताणुकंपय-आयाणुकंपय।
आताणुस्सरण-आयाणुस्सरण।
आताणुसासण-आयाणुसासण।
आताधीण-आयाधीण।
आताबग-आयाबग।
आताबण-आयाबण।
आताबणया-आयाबणया।
आतावणा-आयावणा।
आताबित्तए-आयाबित्तए।
आताबिया-आयाबिया।
आताबेमाण-आयाबेमाण।
आताभिणिवेस-आयाभिणिवेस।
आताभिसित्त-आयाभिसित्त।
आतार-आयार।
आताराम-आयाराम।
आतारामि-आयारामि।
आताव-आयाव।
आतावाइ-आयावाइ।
आतासय-आयासय।
आताहम्म-आयाहम्म।
आताहिगरणवत्तिय-आयाहिगरणवत्तिय।
आताहिगरणि-आयाहिगरणि।
आताहिय-आयाहिय।
आतिण-आतीण।
आतीकय-अप्पीकय।
आत्त-आताय।
आदंस-आयंस-आदरिस-आदस्स।
आदंसग-आयंसग-आदरिसग-आदसग।
आदंसघरग-आयंसघरग-आदरिसघरग-आदसघरग।
आदंसतल-आयंसतल।

आदंसतलोवम-आयंसतलोवम-आदरिसतलोवम-आदसतलोवम।
आदंसमंडल-आयंसमंडल-आदरिसमंडल-आदसमंडल।
आदंसमुह-आयंसमुह-आदरिसमुह-आदसमुह।
आदंसलिवि-आयंसलिवि-आदरिसलिवि-आदसलिवि।
आदर-आयर।
आदरण-आयरण।
आदरणया-आयरणया।
आदरणिज्ज-आयरणिज्ज।
आदरतर-आयरतर।
आदराइजुत्त-आयराइजुत्त।
आदाण-आयाण।
आदाणअट्ठि-आयाणअट्ठि।
आदाणगुत्त-आयाणगुत्त।
आदाणणिक्खेवदुगुंछय-आयाणणिक्खेवदुगुंछय।
आदाणनिरुद्ध-आयाणनिरुद्ध।
आदाणपय-आयाणपय।
आदाणफलिह-आयाणफलिह।
आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिइ-आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिइ।
आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिय-आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिय।
आदाणभय-आयाणभय।
आदाणभरिय-आयाणभरिय।
आदाणया-आयाणया।
आदाणवंत-आयाणवंत।
आदाणसोयगहिय-आयाणसोयगहिय।
आदाणिज्ज-आयाणिज्ज।
आदाणिज्जउज्झयण-आयाणिज्जउज्झयण।
आदाय-आयाय।
आदाहिणपयाहिण-आयाहिणपयाहिण।
आदाहिणपयाहिणा-आयाहिणपयाहिणा।
आधमण-आहमण।
आधरिसिय-आहरिसिय।
आधा-आहा।
आधाकम्म-आहाकम्म।
आधाकम्मिय-आहाकम्मिय।
आधाण-आहाण।
आधाणिय-आहाणिय।
आधाय-आहाय।
आधायग-आहायग।
आधार-आहार।
आधारसत्ति-आहारसत्ति।
आधि-आहि।
आधिक्क-आहिक्क।
आधिगरणिय-आहिगरणिय।

आधिगरणिया-आहिगरणिया।
आभिरणु-आहिरणु।
आधिरथेण-आहित्थेण।
आधिदेविय-आहिदेविय।
आधिबंध-आहिबंध।
आधिभोइय-आहिभोइय।
आधिरज्ज-आहिरज्ज।
आधिवेयणिय-आहिवेयणिय।
आधीगड-आहीगड।
आधीगरण-आहीगरण-
आधुणिय-आहुणिय।
आधुय-आहुय।
आधेय-आहेय।
आधेवच्च-आहेवच्च।
आधोरण-आहोरण।
आधोधिय-आहोहिय।
आप-आव।
आपई-आवई।
आपईधम्म-आवईधम्म।
आपगा-आवगा।
आपगेज्ज-आवगेज्ज।
आपरूण-आवडण।
आपरूव-आवडव।
आपढिग-आवढिग।
आपढिय-आवढिय।
आपण-आवण।
आपणगिह-आवणगिह।
आपणवीहि-आवणवीहि।
आपणिग-आवणिग।
आपणिज्ज-आवणिज्ज।
आपएण-आवएण।
आपएणपरिहार-आवएणपरिहार।
आपएणसत्ता-आवएणसत्ता।
आपत्त-आवत्त।
आपत्ति-आवत्ति।
आपत्तिसुत्त-आवत्तिसुत्त।
आपद्काल-आवद्काल।
आपद्देव-आवद्देव।
आपमिक्खग-आवमिक्खग।
आपपित्ता-आवपित्ता।
आपराहिय-आवराहिय।
आपलव-आपिलव।
आपसरीरअणवकंखवत्तिया-आयसरीर-
अणवकंखवत्तिया।
आपाग-आपाय-आवाग-आवाय।
आपाइ-आवाइ।
आपाण-आवाण।
आपाणग-आवाणग।
आपाय-आवाय।
आपायश्रो-आवायश्रो।

आपायण-आवायण।
आपायभद्दय-आवायभद्दय।
आपायल्लिया-आवायल्लिया।
आपालि-आवालि।
आपालाविय-आपिलाविय।
आपिंजर-आविंजर।
आपिसल्लि-आविसल्लि।
आपेक्खिय-आवेक्खिय।
आमेट्टघर-आमेट्टगार।
आमेल-आवेड।
आमोडग-आमोलय।
आयइ-आयई।
आयऊ-आयम्ब।
आयतकएणायय-आययकएणायय।
आयतचक्खु-आययचक्खु।
आयतजोग-आययजोग।
आयतट्ठित-आयतट्ठिय।
आयततर-आयतयर।
आरियक्खेत्त-आयरियक्खेत्त।
आरियठाण-आयरियट्ठाण।
आरियदंसि-आयरियदंसि।
आरियदिएण-आयरियदिएण।
आरियदेस-आयरियदेस।
आरियधम्म-आयरियधम्म।
आरियपएसिय-आयरियपएसिय।
आरियपएण-आयरियपएण।
आरियवेय-आयरियवेय।
आयाम-आचाम।
आयारवं-आयारमंत।
आरम्भइत्ता-आरम्भइत्ता।
आराहग-आराहय।
आरि-आरिय।
आरुग्ग-आरोग्ग।
आरुग्गफल-आरोग्गफल।
आरुग्गबोहिलाभ-आरोग्गबोहिलाभ।
आरुग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्ल-आ-
रोग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्ल।
आरुग्गसाहग-आरोग्गसाहग।
आलिवग-आलीवग।
आलिवण-आलीवण।
आलिविय-आलीविय।
आलिसंदग-आलिसिंदग।
आलुग-आलुय।
आव-जाव।
आवत-आवत्त-आवड-आवट्ट।
आवडपश्चावरूसंढिपसेढियसोत्थिय(सो-
वत्थिय) पूसमाणवरूमाणगमच्छंडमक-
रंरुगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसाग-
रतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त-आ-
वट्टपश्चावरूसेढिपसेढियसोत्थिय (सो-
वत्थिय) पूसमाणवरूमाणगमच्छंडम-
करंरुगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसा-
गरतरंगवणलयपउमलयभत्तिचित्त।
आवतकूड-आवट्टकूड।
आवत्तण-आवट्टण।
आवत्तणपेढिया-आवट्टणपेढिया।
आवतणिज्ज-आवट्टणिज्ज।
आवतय-आवट्टय।
आवत्तायंत-आवट्टायंत।
आवलि-आवली।
आवलियणिवाय-आवलियाणिवाय-आव
लितणिवाय।
आवलियपविट्ठ-आवलियापविट्ठ।
आवलियपविभत्ति-आवलियापविभत्ति।
आवलियबाहिर-आवलियाबाहिर।
आवीकम्म-आवीकम्म।
आसुरा-आसुरी।

॥ इ ॥

इइ-इति।
इइकह-इतिकह।
इइकायव्वया-इतिकायव्वया।
इइह-इतिह।
इइहास इतिहास।
इओ-इत्तो-इदो-एत्तो।
इंगिअ-इंगिय।
इंगिअमरण-इंगियमरण।
इंदकाइय-इंदगाइय।
इंदियत्थकोवण-इंदियत्थविकोपण।
इक्खाग-इक्खागु।
इक्खागकुल-इक्खागुकुल।
इक्खागभूमि-इक्खागुभूमि।
इक्खागराय-इक्खागुराय।
इक्खागवंश-इक्खागुवंश।
इक्खु-उच्छु।
इक्खुकरण-उच्छुकरण।
इक्खुखंड-उच्छुखंड।
इक्खुगंडिया-उच्छुगंडिया।
इक्खुघर-उच्छुघर।
इक्खुचोयग-उच्छुचोयग।
इक्खुजंत-उच्छुजंत।
इक्खुडालग-उच्छुडालग।
इक्खुपेसिया-उच्छुपेसिया।
इक्खुभित्ति-उच्छुभित्ति।
इक्खुमेरग-उच्छुमेरग।
इक्खुलट्ठि-उच्छुलट्ठि।
इक्खुवण-उच्छुवण।
इक्खुवाड-उच्छुवाड।
इक्खुवाडिया-उच्छुवाडिया।
इक्खुसालग-उच्छुसालग।
इच्छक्कार-इच्छाकार।

इच्छामित्त-इच्छामेत्त ।
इड्डि-रिद्धि-इद्धि ।
इड्डिअप्पवट्टण-इद्धिअप्पवट्टण ।
इड्डिमं-इड्डिमंत ।
इत्तो-इदो-इओ ।
इत्थिआणमणी-इत्थीआणमणी ।
इत्थिकम्म-इत्थीकम्म ।
इत्थिकला-इत्थीकला ।
इत्थिकलेवर-इत्थीकलेवर ।
इत्थिकहा-इत्थीकहा ।
इत्थिकाम-इत्थीकाम ।
इत्थिकामभोग-इत्थीकामभोग ।
इत्थिगण-इत्थीगण ।
इत्थिगब्भ-इत्थीगब्भ ।
इत्थिगुम्म-इत्थीगुम्म ।
इत्थिचिंध-इत्थीचिंध ।
इत्थिचोर-इत्थीचोर ।
इत्थिजण-इत्थीजण ।
इत्थिजिय-इत्थीजिय ।
इत्थिट्ठाण-इत्थीठाण ।
इत्थिणपुंसग-इत्थीणपुंसग ।
इत्थिणामगोयकम्म-इत्थीणामगोयकम्म ।
इत्थितित्थ-इत्थीतित्थ ।
इत्थिदोस-इत्थीदोस ।
इत्थिपच्छाकड-इत्थीपच्छाकड ।
इत्थिपण्णवणी-इत्थीपण्णवणी ।
इत्थिपरिण्णज्झयण-इत्थीपरिण्णज्झयण ।
इत्थिपरिण्णा-इत्थीपरिण्णा ।
इत्थिपरिसह-इत्थीपरिसह ।
इत्थिपरिसहविजय-इत्थीपरिसहविजय ।
इत्थिपोसय-इत्थीपोसय ।
इत्थिपुंसलक्खण-इत्थीपुंसलक्खण ।
इत्थिभाव-इत्थीभाव ।
इत्थिभोग-इत्थीभोग ।
इत्थिमज्झगय-इत्थीमज्झगय ।
इत्थिरज्ज-इत्थीरज्ज ।
इत्थिरयण-इत्थीरयण ।
इत्थिराग-इत्थीराग ।
इत्थिरूव-इत्थीरूव ।
इत्थिलक्खण-इत्थीलक्खण ।
इत्थिलिंग-इत्थीलिंग ।
इत्थिलिंगसिद्ध-इत्थीलिंगसिद्ध ।
इत्थिलिंगसिद्धकेवलणाण-इत्थीलिंगसिद्धकेवलणाण ।
इत्थिवड-इत्थीवड ।
इत्थिवयण-इत्थीवयण ।
इत्थिवस-इत्थीवस ।
इत्थिविग्गह-इत्थीविग्गह ।
इत्थिविण्णवणा-इत्थीविण्णवणा ।
इत्थिविप्पजह-इत्थीविप्पजह ।
इत्थिविप्परियासिया-इत्थीविप्परियासिया ।
इत्थिविलोयण-इत्थीविलोयण ।
इत्थिवेय-इत्थीवेय ।
इत्थिवेयण-इत्थीवेयण ।
इत्थिसंकिलिट्ठ-इत्थीसंकिलिठ ।
इत्थिसंग-इत्थीसंग ।
इत्थिसंपक्क-इत्थीसंपक्क ।
इत्थिसंपरिवुड-इत्थीसंपरिवुड ।
इत्थिसंवास-इत्थीसंवास ।
इत्थिसंसत्त-इत्थीसंसत्त ।
इत्थिसक्का-इत्थीसक्का ।
इत्थिसहाव-इत्थीसहाव ।
इत्थिसेवा-इत्थीसेवा ।
इदाणिं-इयाणि-इयाणिं ।
इंध-चिण्ह ।
इब्भग-इब्भय ।
इमी-इमा-इमिआ ।
इसि-रिसि ।
इसिदिण्ण-इसिदत्त ।
इस्सर-ईसर ।
इस्सरकड-ईसरकड ।
इस्सरकारुवाइ-ईसरकारुवाइ ।
इस्सरकारय-ईसरकारय ।
इस्सरवाइ-ईसरवाइ ।
इस्सरविभूइ-ईसरविभूइ ।
इस्सरसरिस-ईसरसरिस ।
इस्सरियमय-इस्सरियामय-ईसरियमय-ईसरियामय ।
इस्सरियसिद्धि-ईसरियसिद्धि ।
इस्सरीकय-ईसरीकय ।
ईसि-ईसिं-ईसी ।
ईसिउट्ठावलंबि-ईसिंउट्ठावलंबि-ईसीउट्ठावलंबि ।
ईसितंबच्छिकरणी-ईसिंतंबच्छिकरणी-ईसीतंबच्छिकरणी ।
ईसितुंग-ईसिंतुंग-ईसीतुंग ।
ईसिपण्णवणिज्ज-ईसिंपण्णवणिज्ज-ईसीपण्णवणिज्ज ।
ईसिपब्भार-ईसिंपब्भार-ईसीपब्भार ।
ईसिपब्भारगय-ईसिंपब्भारगय-ईसीपब्भारगय ।
ईसिपब्भारा-ईसिंपब्भारा-ईसीपब्भारा ।
ईसिपुरोवाय-ईसिंपुरोवाय-ईसीपुरोवाय ।
ईसिमत्त-ईसिंमत्त-ईसीमत्त ।
ईसिरहस्स-ईसिंरहस्स-ईसीरहस्स ।
ईसिविच्छेयकडुवा-ईसिंविच्छेयकडुवा—ईसीविच्छेयकडुवा ।
ईसिलिंदपुप्फप्पगास-ईसिंलिंदपुप्फप्पगास-ईसीलिंदपुप्फप्पगास-ईसिंलिंधपुप्फप्पगास-ईसिलिंधपुप्फप्पगास-ईसीलिंधपुप्फप्पगास ।

॥ उ ॥

उइओइअ-उदिओइअ-उइओदिअ-उदिओदिअ ।
उइण्ण-उदिण्ण ।
उइण्णकम्म-उदिण्णकम्म ।
उइण्णबलवाहण-उदिण्णबलवाहण ।
उइण्णमोह-उदिण्णमोह ।
उइण्णवेय-उदिण्णवेय ।
उइय-उदिय ।
उइयत्थमिय-उदियत्थमिय ।
उईण-उदीण ।
उईणा-उदीणा ।
उईणपाईण-उदीणपाईण ।
उईणवाय-उदीणवाय ।
उईसा-उदीसा ।
उईरण-उदीरण ।
उईरणा-उदीरणा ।
उईरिज्जमाण-उदीरिज्जमाण ।
उईरिय-उदीरिय ।
उईरेंत-उदीरेंत ।
उउंबर-उंबर ।
उउंबरदत्त-उंबरदत्त ।
उउंबरपणग-उंबरपणग ।
उउंबरपुप्फ-उंबरपुप्फ-उउंबरपुप्फु-उंबरपुप्फु ।
उउंबरवच्च-उंबरवच्च ।
उउंबरीय-उंबरीय ।
उउपरियट्ट-उऊपरियट्ट ।
उउसंधि-उऊसंधि ।
उंदुर-उंदुरु ।
उंदुरुमाला-उंदुरुमाला ।
उकट्ठ-उक्किट्ठ ।
उक्खअ-उक्खाअ ।
उचिअकरण-उचियकरण ।
उचिअकरणिज्ज-उचियकरणिज्ज ।
उचिअकिच्च-उचियकिच्च ।
उचिअजोग-उचियजोग ।
उचिअट्ठिइ-उचियट्ठिइ ।
उचिअत्त-उचियत्त ।
उचिअत्थापायण-उचियत्थापायण ।
उचिअपविसिप्पहाण-उचियपविसिप्पहाण ।
उचिआचरण-उचियाचरण ।
उचिआणुट्ठाण-उचियाणुट्ठाण ।
उच्च-उच्चअ ।
उच्चण-उच्चाण ।
उच्छूढसरीरगिह-उच्छूढसरीरघर ।
उच्छेद-उच्छेय ।
उज्जुग-उज्जुय ।

उज्जुगभूय-उज्जुयभूय ।
उज्जुगया-उज्जुयया ।
उज्जुगा-उज्जुया ।
उज्जुमइ-रिउमइ ।
उज्जुसुत्त-उज्जुसुय ।
उज्जुसुत्तवयणविच्छेय-उज्जुसुयवयण-
विच्छेय ।
उज्जुसुत्ताभास-उज्जुसुयाभास ।
उट्टिअ-उट्ठिय ।
उट्टिअदंड-उट्ठियदंड ।
उड्डुंडग-उड्डंडग ।
उड्डजाणु-उड्ढजाणु ।
उड्ढलोग-उड्ढलोय ।
उड्ढलोगविभत्ति-उड्ढलोयविभत्ति ।
उण्ह-उरण ।
उण्णुइतो-उन्नुइतो ।
उण्हपरिसह-उण्हपरीसह-उसिणपरिस-
ह-उसिणपरीसह ।
उण्हपरियाव-उसिणपरियाव ।
उण्हाभितत्त-उण्हाहितत्त ।
उत्तमड्ढि-उत्तमरिद्धि ।
उत्तरकुरा-उत्तरकुरु ।
उत्तरसमा-उत्तरासमा ।
उत्तरिज्ज-उत्तरिज्ज ।
उत्तरुढ-उत्तरूढ ।
उत्तालण-उत्तालण ।
उत्ताडिज्जंत-उत्तालिज्जंत ।
उदग-उदय ।
उदगगब्भ-दगगब्भ ।
उदगलेव-दगलेव ।
उदगसीमय-दगसीमय ।
उदगहारा-दगहारा ।
उदयसायर-उदयसागर ।
उदर-उयर ।
उदरगंठि-उयरगंठि ।
उदरत्ताण-उयरत्ताण ।
उदार-उराल ।
उद्देसिय-उद्दिसिउ ।
उद्भूत-उद्भूय ।
उब्भिदिउं-उब्भिदिय ।
उम्माद-उम्माय ।
उम्मादपमाय-उम्मायपमाय ।
उम्मिवीइ-उम्मीवीइ ।
उराल-ओराल ।
उलुग-उलूग ।
उलुगच्छि-उलूगच्छि ।
उलुगपत्तलहुय-उलूगपत्तलहुय ।
उलुगी-उलूगी ।
उवएसणा-उवदेसणा ।
उवक्खाइत्ता-उवक्खाइत्ता ।
उवगारण-उवयारण ।
उवगारियालयण-उवगारियलयण ।
उवचित-उवचिय ।
उवट्टण-उव्वट्टण ।
उवट्टणविहि-उव्वट्टणविहि ।
उवट्ठवणा-उवठावणा ।
उवट्ठवणाकप्पिय-उवठावणाकप्पिय ।
उवट्ठवणागहण-उवट्ठावणागहण ।
उवट्ठवणायरिय-उवठावणायरिय ।
उवठवणारिह-उवट्ठावणारिह ।
उवठवणी-उवट्ठावणी ।
उवट्ठविसए-उवठाविसए-उवट्ठवेत्तए-
उवट्ठावेत्तए ।
उवरिम-उपरिम ।
उवलीण-उवल्लीण ।
उववूह-उववूहा ।
उसभ-उसह ।
उसभकंठ-उसहकंठ ।
उसभणाराय-उसहणाराय ।
उसभदत्त-उसहदत्त ।
उसभपुर-उसहपुर ।
उसभपुरी-उसहपुरी ।
उसभसेण-उसहसेण ।
उसिणपरिसह-उसिणपरीसह ।
उसिय-ऊसिय-ऊसिय ।

॥ ए ॥

एई-एया ।
एक्क-एग-एय ।
एक्कअ-एगअ-एक्कइअ-एगइअ ।
एक्कइअ-एगइअ-एक्कइय-एगइय ।
एक्कसि-एक्कसिअं-एकइआ-एक्कइआ-
एगया ।
एक्कओ-एगओ-एकदो-एक्कत्तो-एगत्तो ।
एकओखहा-एगओखहा ।
एक्कओणंतय-एगओणंतय ।
एक्कओपरूाग-एगओपरूाग ।
एक्कओवंका-एगओवंका ।
एक्कओवत्त-एगओवत्त ।
एक्कओसमुवायग-एगओसमुवायग ।
एक्कओसहिय-एगओसहिय ।
एक्कंगिय-एगंगिय ।
एक्कंत-एगंत ।
एक्कंतओ-एगंतओ ।
एक्कंतकूड-एगंतकूड ।
एगंतचारि-एगंतयारि ।
एगचरियापरिसह-एगचरियापरीसह ।
एगतर-एगयर ।
एगता-एगया ।
एगदा-एगया ।
एगारस-एगारह ।
एगूणवीस-एगूणवीसइ ।
एज-एय ।
एजत-एजयंत ।
एजणं-एयणं ।
एजणा-एयणा ।
एज्जमाण-इज्जमाण ।
एणिज्ज-एणेज्ज ।
एणिज्जय-एणेज्जय ।
एतिह-एताहे ।
एत-एय ।
एतकम्म-एयकम्म ।
एतप्पगार-एयप्पगार ।
एतप्पहाण-एयप्पहाण ।
एतसमायार-एयसमायार ।
एतारिस-एयारिस-एतारिच्छ-एयारिच्छ ।
एतारूव-एयारूव ।
एतावंति-एयावंति ।
एरिक्ख-एलिक्ख ।
एलकक्ख-एलकच्छ ।
एलग-एलय ।
एव-एवं ।

॥ ओ ॥

ओघसिय-ओग्घसिय ।
ओघ-ओह ।
ओचिइय-ओचिच्च ।
ओचिइयजोग-ओचिच्चजोग ।
ओदण-ओयण ।
ओदणविहि-ओयणविहि ।
ओभासण-ओहासण ।
ओभासणभिक्खा-ओहासणभिक्खा ।
ओभासमाण-ओहासमाण ।
ओरसबलसमण्णागय-उरस्सबलसमण्णा-
गय ।
ओलि-ओली ।

॥ क ॥

कअग्गह-कयग्गह ।
कइअवपच्चत्ति-कइयवपच्चत्ति ।
कइअवपेमगिरितडी-कइयवपेमगिरि-
तडी ।
कइअविया-कइयविया ।
कइविया-कइविका ।
कंकत-कंकय ।
कंखापओस-कंखप्पओस ।
कंचणउर-कंचणपुर ।
कंची-कंचि ।
कंरुक-कंरुग ।
कंडुगगइ-कंडुगगइ ।

कंसपत्ती-कंसपाई ।
कक्कोल-कक्कोल ।
कच्छभी-कच्छवी ।
कच्छु-कच्छू ।
कच्छुल्ल-कच्छुल्ल ।
कडजोग-कयजोग ।
कडि-कडी ।
कडुग-कडुय ।
कडुगतुंबी-कडुयतुंबी ।
कडुगफलदंसग-कडुयफलदंसग ।
कडुगफलविवाग-कडुयफलविवाग ।
कणगावली-कणगावलि ।
कणाद-कणाय ।
कणिआर-कणिआर ।
कणिक-कणिय ।
कण्णधार-कण्णहार ।
कण्णपालि-कण्णपाली ।
कप्पववहार-कप्पववहार ।
कमण-कमन ।
कमलागरसंडवोहय-कमलागरसंडवोहय ।
कमलापीड-कमलामेल ।
कम्भीर-कम्हीर ।
कम्मकारि-कम्मकत्ता ।
कम्मपगडि-कम्मपयडि ।
कम्मयकायजोग-कम्मणकायजोग ।
कम्मयणाम-कम्मणणाम ।
कम्मयवग्गणा-कम्मणवग्गणा ।
कम्मायरिय-कम्मारिय ।
कम्मोपाहिविणिमुक्क-कम्मोवाहिविणिमुक्क ।
कयण्णु-कयन्नू ।
कयविक्कयज्झाण-कयविक्कयज्झाण ।
करणओ-करणतो ।
करतल-करयल ।
करतलपग्गहिय-करयलपग्गहिय ।
करतलपब्भट्ठविप्पमुक्क-करयलपब्भट्ठविप्पमुक्क ।
करतलमाइय-करयलमाइय ।
करतलपरिमिय-करयलपरिमिय ।
करज-करह ।
कलसंगलिया-कलसिंबलिया ।
कलाद-कलाय ।
कलिकलुस-कलिकलुस ।
कलुसकम्मण-कलुसकम्म ।
कलुसाउलचेय-कलुसाविलचेय ।
कलुग-कलुय ।
कविल्लुय-कवेल्लुय ।
कविल्लुयावाय-कवेल्लुयावाय ।
कह-कहं ।
कहकहभूय-कहकगभूय ।
काकण-काकणं ।
काक-काग ।
काकंदिय-कागंदिय ।
काकंदिया-कागंदिया ।
काकजंघ-कागजंघ ।
काकजंघा-कागजंघा ।
काकणि-कागणि ।
काकणिमंसग-कागणिमंसग ।
काकणिरयण-कागणिरयण ।
काकणिलक्खण-कागणिलक्खण ।
काकतालिज्ज-कागतालिज्ज ।
काकतुंड-कागतुंड ।
काकथठ-कागधठ ।
काकपाल-कागपाल ।
काकपिंडी-कागपिंडी ।
काकल्ल-कागल्ल ।
काकलि-कागलि-काकली-कागली ।
काकस्सर-कागस्सर ।
काणक-काणग ।
कादंब-कायंब ।
कादंबग-कायंबग ।
कादंबरी-कायंबरी ।
कामभोगसंसाप्पओग-कामभोगासंसापओग ।
कामासंसप्पओग-कामासंसापओग-कामासंसपओग ।
कायपरिचारग-कायपरियारग ।
कायरो-कायलो ।
कारवण-कारावण ।
कारवाहिय-कारावाहिय ।
कारविय-काराविय ।
कालागरु-कालागुरु ।
कालिग-कालिय ।
कालिगसुय-कालियसुय ।
कालिगा-कालिया ।
कालिगावाय-कालियावाय ।
कालोद-कालोय ।
किरियारय-किरियरय ।
किसल-किसलअ ।
कीयकड-कीयगड ।
कुंजग-कुंजय ।
कुंभगार-कुंभयार ।
कुक्खि-कुच्छि ।
कुक्खिकिमि-कुच्छिकिमि ।
कुक्खिपूर-कुच्छिपूर ।
कुक्खिवेयणा-कुच्छिवेयणा ।
कुक्खिसंभूय-कुच्छिसंभूय ।
कुक्खिसंबल-कुच्छिसंबल ।
कुक्खिसूल-कुच्छिसूल ।
कुक्खिहार-कुच्छिहार ।
कुवेर-कुबेर ।
कुमुअ-कुमुय ।
कुमुअवणविबोहग-कुमुयवणविबोहग ।
कुमुआ-कुमुया ।
कुमुआगार-कुमुयागार ।
कुलकर-कुलगर ।
कुलकरइत्थी-कुलगरइत्थी ।
कुलकरगंडिया-कुलगरगंडिया ।
कुलकरवंस-कुलगरवंस ।
कुलतिलग-कुलतिलय ।
कुवलयप्पभ-कुवलयप्पह ।
कुवेणि-कुवेणी ।
कुसल्ल-कुसल ।
कुहग-कुहय ।
कूणिय-कोणिय ।
केकय-केयय ।
केकाइय-केगाइय ।
केवलदंसण-केवलदरिसण ।
केवलदंसणावरण-केवलदरिसणावरण ।
कोउहल-कोऊहल-कोउहल्ल-कोऊहल्ल ।
कोकस्सर-कोगस्सर ।
कोडिग-कोडिम ।
कोडिगण-कोडियगण ।
कोत्थुभ-कोत्थुह ।
कोदंड-कोडंड ।
कोमुई-कोमुदी ।
कोमुईचार-कोमुदीचार ।
कोरंट-कोरंटग ।
कोलपाल-कोलवाल ।
कोलपागपट्टण-कोलवागपट्टण ।

☞ आगे से कोष्ठक में शब्दान्तर देने की प्रथा उठा दी गयी है किन्तु उनको ग्रन्थ में ही यथास्थान स्थान दिया जायगा। और 'अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्' इस सूत्र से लुक् हुए वर्ण का शब्दान्तर में समावेश नहीं है। ☜

आवश्यक कतिपय सङ्केत—

१–प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में भी आया करता है, इसीलिये अनेक स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि 'अनुस्वारोऽत्रालाक्षणिकः' तथा 'मकारोऽत्रालाक्षणिकः,' जैसे प्र० भा० ८४८ पृष्ठ में ' असज्झाइय ' शब्द पर बृ० की गाथा है–' पंसुयमंसयरुहिरं–केससिलावुट्ठि तह रओघाए ' ।। यहाँ समस्त ' रुहिर ' शब्द में भी अनुस्वार है । और ३७५ पृष्ठ में ' अणुजाण ' शब्द पर " सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु " । यहाँ 'तन्त्वादिषु' का ' तंतुमादीसु ' हुआ । और तृ० भा० ६०३ पृष्ठ में भी 'कुसमयमोहमोहमइमोहिय'–' कुसमयौघमोहमतिमोहित ' इस शब्द पर लिखा है कि–' मकारस्तु प्राकृतत्वात् '। इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है।

२–बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता होती है, इसीलिये कहा हुआ है कि–" अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत् " । और व्याकरणकार भी " दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ " ।। ८ । १ । ४ ।। इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं । जैसे ' साहू ' को ' सहू ' , और ' विरुज्झइ (ति) ' का ' विरुज्झई [ती] ' होता है।

३–कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप भी होता है, जैसे विशेषावश्यक भाष्य के २०८६ गाथा में "समवाइ असमवाई, छव्विह कत्ता य कम्मं च ।।" (छव्विह त्ति) ' अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात् '। प्रायः करके निर्युक्तिकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेष रूप से काम में लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है। जैसे तृ० भा० ५१७ पृष्ठ में 'किइकम्म' शब्द पर आवश्यकनिर्युक्ति है कि–' गुरुजणवंदावंती, सुस्समण जहुत्तकारिं च ' ।।३३।। इसकी वृत्ति में लिखा है कि ' अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः ' ।

४–प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में भी एकवचन हुआ करता है, जैसे आवश्यकवृत्ति के पाँचवें अध्ययन में ' भरतैरवतविदेहेषु ' के स्थान में ' भरहेरवयविदेहे ' ऐसा एकवचन किया है ।

५–प्रायः सूत्रों में और निर्युक्तिगाथाओं में जो निर्विभक्तिक पद आया करते हैं उनमें " स्यम्–जस्–शसां लुक् " ।। ८ । ४ । ३४४ ।। तथा " षष्ठ्याः " ।। ८ । ४ । ३४५ ।। इन सूत्रों से अथवा सौत्र सुप् का लोप समझना चाहिये। जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उत्त० २४ अ० का मूलपाठ है कि–"उल्लंघण पल्लंघण" इत्यादि। और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि ' उभयत्र सौत्रत्वात् सुपो लुक् ' । इसी तरह अन्य स्थल में भी समझना चाहिये।

६–सूत्रों में बाहुल्य से प्रथमा के एक वचन में ' अतः सेर्डोः ' । ८ । ३ । २ । इस सूत्र को न लगाकर " अत एत्सौ पुंसि मागध्याम् " । ८ । ४ । २८७ ।। इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे तृ० भा० ४६० पृष्ठ में है कि–"आहारए दुविहे पण्णत्ते"। इस पर टीकाकार की टीका है कि ' आहारको द्विविधः प्रज्ञप्तः ' । इसी तरह निर्युक्तिगाथाओं में भी समझना चाहिये–जैसे " वाहे " का अनुवाद ' व्याधः ' है ।

७–प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि–"तेणं कालेणं तेणं समएणं" और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि "तस्मिन् काले तस्मिन् समये" इसको हेमचन्द्राचार्य भी सिद्धहेमव्याकरण के अष्टमाध्याय–तृतीयपाद में " सप्तम्या द्वितीया " । ८ । ३ । १३७ ।। इस सूत्रपर अनुमोदन करते हैं कि ' आर्षे तृतीयाऽपि दृश्यते। यथा–' तेणं कालेणं तेणं समएणं' अस्यार्थः–' तस्मिन् काले तस्मिन् समये ' । किन्तु रायपसेणी के टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि ' ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम् ' णमिति वाक्यालङ्कारे । दृष्टान्तश्चान्यत्रापि–' णं ' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। यथा–' इमाणं पुढवी ' इत्यादि । यह पक्षान्तर भी उनके मत से स्थित है ।

८–व्यवहार, बृहत्कल्प, आवश्यकचूर्णि और निशीथ सूत्र, पं० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेष रूप से सूत्र निर्युक्ति और चूर्णि में 'तदोस्तः'।८।४।३०७। इस से और आर्षत्वाद् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे तृ० भा० 'किइकम्म ' शब्द के ५१४ और ५१५ पृष्ठ में बृहत्कल्प की निर्युक्ति है कि–"ओसंकं भे दट्ठुं, संकच्छेती उ वातगो कुविओ"। यहाँ पर शङ्काछेदी की दकार को तकार और वाचक की चकार को तकार किया है । इसी तरह "इय संजमस्स वि वतो, तस्सेवट्ठा ण दोसा य"।। इस गाथा में भी व्यय शब्द की यकार को भी तकार किया है। इसी तरह तृ० भा० ५०६ पृष्ठ के 'काहिय' शब्द पर निशीथ सूत्र की निर्युक्ति और चूर्णि की व्यवस्था है, जैसे 'तकम्मो जो धम्मं, कधेति सो काधितो होई' ।। ६३ ।

इस निर्युक्तिगाथा की चूर्णि है कि–'एवंविधो काहितो जवति'। यहाँ पर जी कायिक के ककार को तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। थकार को धकार तो 'थो धः' ॥ ८ । ४ । २६७ ॥ और 'अनादौ स्वरादसंयुक्तानां कगतथपफां गघदधबभाः' । ८ । ४ । ३९६ । इत्यादि सूत्रों से होता है।

९–संस्कृत शब्दों की सिद्धि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिद्धि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ऋ, ऌ, ऐ, औ का अजाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ङ, ञ आदि कई व्यञ्जनों का अजाव है।

१०–व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का 'अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्' ॥८।१।११॥ इस सूत्र से लुक् होजाने पर किसी शब्द का तो व्यञ्जनान्तत्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अजन्त में विपरिणाम हो जाता है, इसीलिये हलन्त शब्दों की सिद्धि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल 'आत्मन्' शब्द और 'राजन्' शब्द की सिद्धि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हींसे अन्य नकारान्त शब्दों की जी व्यवस्था की जाती है।

११–यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में छोड़कर फिर लिया है तो जहाँ से पाठ छूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में जी दे दिया है कि पाठक भ्रम में न पड़ें।

१२–प्राकृत जाषा में हिन्दी जाषा की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु "द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्" ॥ ८ । ३ । १३० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्वित्वबोधन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी "चतुर्थ्याः षष्ठी" ॥ ८ । ३ । १३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३–गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुबन्त अथवा तिङन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर जी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [–] ऐसा चिह्न दिया है।

१४–बहुतसी जगह गाथाओं में शुद्ध या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाक्षर में परिगणना होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [˘] ऐसा चिन्ह दिया गया है। यद्यपि 'दीर्घ–ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' ॥ ८ । १ । ४ ॥ इस सूत्र से ह्रस्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने से सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये ह्रस्वबोधक संकेत किया गया है, इसीतरह व्याकरणमहाभाष्य में जी लिखा है कि–" अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वा इति राणायनीयाः पठन्ति" । और वाग्जटविरचित प्राकृत पिङ्गलसूत्र में भी लिखा है कि–

" दीहो संजुत्तपरो, बिन्दुजुओ पाडिओ अ चरणंते ।
स गुरू वंक दुमत्तो, अण्णो लहु होइ सुद्ध एक्कअो "॥

इस तरह गुरु लघु की व्यवस्था करके लिखते हैं कि–

' कत्थ वि संजुत्तपरो, वण्णो लहु होइ दंसणेण जहा ।
परिहसइ चित्तधिज्जं, तरुणिकडक्खम्मि णिव्वुत्तं ' ॥

दूसरा अपवाद– ' इहिकारा बिन्दुजुआ, एओ सुद्धा अवण्णमिलिआ वि लहू ।
रहवंजणसंजोए, परे असेसं पि सविहासं ' * ॥

उदाहरण– ' माणिणि ! माणहिँ काइँ फल, ऍओ जें चरण पडु कन्त ।
सहजें भुअँगम जइ णमइ, किं करिए मणिमन्त ? ' ॥

दूसरा विकल्प– ' जइ दीहो वि अ वण्णो, लहु जीहा पढइ सो वि लहू ।
वण्णो वि तुरियपढिओ, दो तिण्णि वि एक जाणेहु " ÷ ॥

उदाहरण– ' अरेँ रे˘ वाहहि कान्ह ! णाव छोटि डगमग कुगति ण देहि ।
तइ इथिँ णदिहिँ सँतार देइ˘, जो चाहसि सो लेहि " ॥

---

* इकारहिकारौ बिन्दुयुतौ एओ शुद्धौ च वर्णमिलितावपि लघू । रेफहकारौ, व्यञ्जनसंयोगे परेऽशेषमपि सविभाषम् ॥
÷ यदि दीर्घमपि वर्णं लघुं जिह्वा पठति सोऽपि लघुः । वर्णौ अपि त्वरितपठितौ द्वौ त्रयो वा एकं जानीत ॥

छन्द की परम आवश्यकता– 'जेमं न सहइ कणअतुला, तिल्लतुलिअं अद्धअद्धेण ।
तेमं ण सहइ सवणतुला, अवच्छंदं छंदभंगेण " ॥

१५–कहीं कहीं गाथाओं में शब्दों के आद्यन्त स्वर को 'लुक्' ।८।१।१०। सूत्र से लोप कर मानते हैं, और कहीं आर्षत्वात् भी लोप करते हैं–जैसे एक उदाहरण तृ० भा० ५५६ पृष्ठ में 'किरियावाइ (ण)' शब्द पर सूत्रकृताङ्ग की गाथा है कि–"गइं च जो जाणइऽणागइं च"। इसी तरह अतीत के स्थान में 'तीत' लिखा करते हैं, और प्र० भा० ७०७ पृष्ठ में 'अवच्च' शब्दपर 'तेतियरे अच्चं तु' और ७७३ पृष्ठ में 'अलाभपरीसह' शब्दपर 'अलाभए होउदाहरणं' इत्यादि समझना चाहिये।

१६–प्रायः बहुत से स्थल पर 'से णूणं' इत्यादि मूलपाठों में 'से' शब्द आया करता है, उस पर भ० १३–१–३ (स्था० ५६३–३–५) में लिखा है कि–" से शब्दो मागधीदेशीप्रसिद्धोऽथशब्दार्थः, कचित्सावित्यर्थे, कचित्तस्येत्यर्थे प्रयुज्यते।

प्रकीर्णक विषय—

१–ज्योतिष्करण्डक में लिखा है कि स्कन्दिलाचार्य की प्रवृत्ति समय में दुःषम आरा के प्रभाव से दुर्भिक्ष पड़ जाने पर साधुओं का पढ़ना गुणना सब नष्ट होगया, फिर दुर्भिक्ष शान्त होने पर जब दो संघों का मिलाप हुआ (जो एक मथुरा में और दूसरा वलभी में था) तब दोनों के पाठ में वाचना भेद हो गया, क्योंकि विस्मृत सूत्रार्थ के पुनः स्मरण करके संघटन में अवश्य वाचनाभेद हो जाता है।

२–विशेषावश्यक भाष्य आदि कई ग्रन्थों में लिखा हुआ है कि 'आर्यवैर' के समय तक अनुयोगों का पार्थक्य नहीं हुआ था, क्योंकि उस समय व्याख्याता और श्रोता दोनों तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, किन्तु 'आर्यरक्षित' के समय से अनुयोगों का पार्थक्य हुआ है, यह बात प्रथम भाग में 'अज्जरक्खिय' शब्द पर और 'अणुओग' शब्द पर विस्तार से लिखी हुई है।

३–तृतीय भाग के ५०० पृष्ठ में 'कालियसुय' शब्द पर कालिकश्रुत (एकादशाङ्गी) के व्यवच्छेद की चर्चा है, कि सुविधि जिन के तीर्थ का सुविधि और शीतल जिन के मध्य काल में व्यवच्छेद हो गया, और व्यवच्छेद का काल पल्योपमचतुर्थभाग माना गया है। इसी तरह और भी षट् (छः) जिनों में समझना, किन्तु व्यवच्छेद काल तो सातो जिनों के मध्य में इस तरह समझना–" चउभागो १ चउभागो २. तिष्णि य चउभाग ३ पलियमेगं च ४ । तिष्णेव य चउभागा ५, चउत्थभागो य ६ चउभागो ७ " ॥ १ ॥ इति। परन्तु दृष्टिवाद अङ्ग का व्यवच्छेद तो सभी जिनान्तरों में था, और उसकी अवधि भी नहीं की हुई है।

४–यद्यपि मीमांसादर्शन के तन्त्रवार्तिककार कुमारिल भट्ट ने इस प्राकृतभाषा (अर्धमागधी) पर बहुत कुछ आक्षेप किया है, किन्तु वह उनकी अदूरदर्शिता है और व्यर्थ का ही कटाक्ष है, क्योंकि इस कोश के 'पागड' शब्द पर विशेषावश्यक भाष्य पर टीकाकार का लेख है कि—' ननु जैनं प्रवचनं सर्वं प्राकृतनिबद्धमिति दुःश्रद्धेयम् । मैवं शङ्क्यम्–' बालस्त्रीमूढमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम् । अनुग्रहाय तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ' ॥ १ ॥ और यह विचारसह भी है क्योंकि जो भाषा 'राष्ट्रभाषा' या 'मातृभाषा' जिस समय होती है, उसीमें जो लोगों को उपदेश मिलता है उसीसे आबालवृद्ध पठितापठित स्त्री पुरुष सर्वसाधारण जीवों का विशेष उपकार होता है।

५–'वागरण' शब्द पर आ० म० द्वि० कार लिखते हैं कि–भगवान् ऋषभ देव ने शक्रेन्द्र से जो व्याकरण प्रथम कहा था वही ऐन्द्र व्याकरण के नाम से प्रख्यात हुआ। तथा कल्पसुबोधिका में लिखा है कि—२० व्याकरण हैं, अर्थात्–१ ऐन्द्र, २ जैनेन्द्र, ३ सिद्धहेम, ४ चान्द्र, ५ पाणिनीय, ६ सारस्वत ७ शाकटायन, ८ वामन, ९ विश्रान्त, १० बुद्धिसागर, ११ सरस्वतीकण्ठाभरण, १२ विद्याधर, १३ कलापक, १४ भीमसेन, १५ शैव, १६ गौड, १७ नन्दि, १८ जयोत्पल, १९ मुष्टि व्याकरण, और २० वाँ जयदेव नाम से प्रसिद्ध है। इसीलिये आवश्यकवृत्ति के दूसरे अध्ययन में लिखा है कि जब ऐन्द्रादि आठ व्याकरण हैं तब केवल पाणिनीय व्याकरण पर ही आग्रह नहीं करना चाहिये। यद्यपि प्राकृतकल्पलतिका, प्राकृतप्रकाश, हेमचन्द्र, प्राकृत षड्भाषाचन्द्रिका, प्राकृतमञ्जरी आदि कई प्राकृत के व्याकरण हैं परन्तु जैसा सिद्धहेम का अष्टमाध्याय उत्तम प्राकृत व्याकरण बना है वैसा प्रायः सकलविषयसंग्राहक दूसरा प्राकृत का व्याकरण नहीं है। तथापि उसके गद्यमय होने से लोगों को कण्ठस्थ करने में कठिनता पड़ती देखकर इस कोश के कर्ता हमारे गुरुवर्य पूर्वोक्त सूरीजी महा-

राज ने अनुग्रह करके सिद्धहैम सूत्रों पर श्लोकबद्ध विवरण रचकर सरल कर दिया, जो कि कोश के प्रथम भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्यों कि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् विना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस लिये पहिले उसको एक वार खूब मनन करके पीछे कोश को देखने से विशेष आनन्द आवेगा।

६–यद्यपि महानिशीथ सूत्र में टीका या चूर्णि नहीं पायी जाती, तथापि हमारी पुस्तक में चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि–"अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैद्धान्तिकाः, केचिदालापकान्न सम्यक् श्रद्दधत्येवं तैरश्रद्दधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्दधानमित्याह हरिभद्रसूरिः,न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैरश्रद्दधानमित्यर्थः। यतः स्थानसमवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचख्ये, यथा प्रतिसंतापस्थलमस्ति–तद्गुहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः २ सप्ताष्टवारान यावदुपपातस्तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिलाघरट्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत् प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति। वृद्धवादस्तु पुनर्यथा–तावदिदमार्षसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रभूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, सुष्ठ्वतिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चेह वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयम्॥" इसके बाद फिर 'एवं कुशीलसंसग्गिं सव्वोपाएहिं पयहियं' इत्यादि पञ्चमाध्ययन का प्रारम्भ है। इसीतरह कहीं २ चूर्णि भी मिलती है जैसे इसी कोश के प्र० भा० 'अरहंत' शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्णि दोनों हैं। और 'एस समासत्थो' 'वित्थरत्थं तु इमं' ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र २ पृष्ठ २६ पङ्क्ति में लिखा है।

७–सूत्रकृताङ्ग की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीसी मालूम पड़ती हैं जैसे छन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे भी छन्दोलक्षणविहीन नहीं हैं, क्यों कि बहुत से ऐसे भी छन्द हैं जो पढ़ने में असङ्गत से मालूम होते हैं किन्तु लक्षण से पूर्ण सङ्गत हैं। क्योंकि प्राकृत पिङ्गलसूत्र में चन्द्रलेखा-चित्र–नाराच–नील–चञ्चला–ऋषभगजविलसित-चकिता-मदनललिता–वाणिनी–प्रवरललित–गरुडरुत–अचलधृति छन्द भी विलक्षण हैं। जैसे मदन ललिता का यह उदाहरण है–

" विभ्रश्यत्स्रग्गलितचिकुरा धौताधरपुटा,
म्लायत्पत्रावलिकुचतटोच्छ्वासोर्मितरला।
राधाऽत्यर्थं मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,
कंसारातेः रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम्" ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी छन्द का लक्षण सङ्गत न हो तो वहाँ आर्ष छन्द समझना चाहिये।

पैंतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, निर्युक्ति और भाष्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है–

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह अङ्गो के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण–

१–आचाराङ्ग सूत्र, अध्ययन २५, मूलश्लोकसंख्या २५००, और उसपर शीलाङ्काचार्यकृत टीका १२०००, चूर्णि ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ३६७, श्लोक ४५०, (भाष्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है)। संपूर्णसंख्या २३२५० है।

२–सूत्रकृताङ्ग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या २१००, और उसपर शीलाङ्काचार्यकृत टीका १२८५०, चूर्णि १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा २०७, श्लोक २५०, (भाष्य नहीं है) संपूर्ण संख्या २५२०० है। संवत् १५८३ में नवीन श्रीहेमविमलसूरि ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है।

३–स्थानाङ्ग सूत्र, अध्ययन (ठाणा) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् ११२० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १५२५० है, संपूर्ण संख्या १७०२० है।

४–समवायाङ्ग सूत्र, (१०० समवाय तक समवाय मिलते हैं) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ३७७६, चूर्णि पूर्वाचार्य कृत ४००, संपूर्ण संख्या ५८४३ है।

५-भगवती सूत्र (विवाहपन्नत्ति), शतक ४१, मूलश्लोकसंख्या १५७५२, और उसपर श्रीअभयदेवसूरिकृत टीका (द्रोणाचार्य से शोधी हुई) १८६१६, चूर्णि पूर्वाचार्यकृत ४०००, संपूर्ण संख्या ३८३६८ है। संवत् १५६८ में दानशेखर उपाध्याय ने १२००० श्लोक संख्या की लघुवृत्ति बनायी है।

६-ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र, अध्ययन १६, मूलश्लोकसंख्या ५५००, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ४२५२ है। इस समय में १९ कथाएँ दिखायी देती हैं, किन्तु पूर्व समय में साढ़े तीन करोड़ कथाएँ थीं ऐसी प्रसिद्धि है।

७-उपासकदशाङ्ग सूत्र, अध्यन १०, मूल श्लोकसंख्या ८१२, और इसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या १७१२ है।

८-अन्तगडदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ९०, मूलश्लोकसंख्या ९००, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ३००, संपूर्णसंख्या १२०० है।

९-अणुत्तरोववाइयदशाङ्ग सूत्र, अध्ययन ३३, मूलश्लोकसंख्या २९२, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका १००, संपूर्ण संख्या ३९२ है।

१०-प्रश्नव्याकरण सूत्र, ५ आश्रवद्वार और ५ सम्वरद्वाररूप १० अध्ययन, मूलश्लोकसंख्या १२५०, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ४६००, संपूर्ण संख्या ५८५० है।

११-विपाक सूत्र, अध्ययन २०, मूलश्लोकसंख्या १२१६, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ९००, संपूर्ण संख्या २११६ है।

संपूर्ण ग्यारह अङ्गों की मूलश्लोकसंख्या ३५६५९ है, और टीका ७३५४४ है, और चूर्णि २२७०० है, तथा निर्युक्ति ७००है, और सब मिलकर १३२६०३ है।

आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की टीका तो शीलाङ्काचार्यकृत है और बाकी नवाङ्गों की टीका अभयदेवसूरिकृत है, इसी लिये अभयदेवसूरि का नवाङ्गीवृत्तिकार के नाम से उल्लेख किया जाता है; अभयदेवसूरिजी का चरित्र प्र० भा० ७०६ पृष्ठ में और 'सीलंगायरिय' शब्दपर शीलाङ्काचार्य की कथा देखना चाहिये।

बारह उपाङ्गों के नाम, टीका, और संख्या इस तरह है—

१-उववाई उपाङ्ग, (आचाराङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या १२००, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ३१२५, संपूर्ण संख्या ४३२५ है।

२-रायपसेणी उपाङ्ग, (सूत्रकृताङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या २०७८, और उसपर मलयगिरिकृत टीका ३७००, संपूर्ण संख्या ५७७८ है।

३-जीवाभिगम उपाङ्ग, (स्थानाङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४७००, मलयगिरिकृत टीका १४०००, लघुवृत्ति ११००, और चूर्णि १५०० है, संपूर्ण संख्या २१३०० है।

४-पन्नवणा (प्रज्ञापना) उपाङ्ग, (समवायाङ्गप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या ७७८७, मलयगिरिकृत टीका १६०००, हरिभद्रसूरिकृत लघुवृत्ति ३७२८ है, संपूर्ण संख्या २७५१५ है।

५-जम्बूद्वीपपन्नत्ति उपाङ्ग, (भगवतीप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या ४१४६, मलयगिरिकृत टीका १२०००, चूर्णि १८६० है, संपूर्ण संख्या १८००६ है।

६-चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र, (ज्ञाताप्रतिबद्ध) मूलश्लोकसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ९४११, लघुवृत्ति १०००है, संपूर्ण संख्या १२६११ है।

७-सूरपन्नत्ति सूत्र उपाङ्ग, (ज्ञाताप्रतिबद्ध) मूलसंख्या २२००, मलयगिरिकृत टीका ९०००, चूर्णि १०००, संपूर्ण संख्या १२२०० है। चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति दोनों मिलकर ज्ञाताप्रतिबद्ध हैं।

८-कल्पिका उपाङ्ग, [उपासकदशाङ्गप्रतिबद्ध] काल, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण, महासेनकृष्ण के नाम से १० अध्ययन हैं।

७–कल्पावतंसिका उपाङ्ग, [अन्तगडदशाङ्गप्रतिबद्ध] पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्ययन हैं ।

१०–पुष्पिका उपाङ्ग, [अणुत्तरोववाईप्रतिबद्ध] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुत्रिका, पुण्यभद्र, माणिभद्र, दत्त, शिव, वालि, अनाहत नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

११–पुष्पचूलिका उपाङ्ग, [प्रश्नव्याकरणप्रतिबद्ध] श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

१२–वह्निदशा उपाङ्ग, [विपाकसूत्रप्रतिबद्ध] निसढ, अनि, दह, वह, पगती, जुति, दसरह, दढरह, महाधनु, सत्तधनु, दसधनु, नामेसय के नाम से १२ अध्ययन हैं ।

इन पाँचो उपाङ्गों का एक नाम ' निरयावली ' है, और कल्पिका आदि पाँचो उपाङ्गो के ५२ अध्ययन हैं । इनकी संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०७ है, इनकी वृत्ति ७०० श्री चन्द्रसूरिकृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बारह उपाङ्गों की मूलसंख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७७३६, और लघुवृत्ति ६०२८, चूर्णि ३३६०, संपूर्णसंख्या १०३५४४ है ।

दश पइन्नाओं (प्रकीर्णक) की गाथा संख्या इस तरह है—

१–चउसरण पइन्ना में ६३ गाथा हैं । २ आउरपच्चक्खाण पइन्ना में ८४ गाथा हैं । ३ भत्तपच्चक्खाण पइन्ना में १७२ गाथा हैं । ४ संथारग पइन्ना में १२२ गाथा हैं । ५ तंदुलवेयाली पइन्ना में ४०० गाथा हैं । ६ चन्दविज्जगपइन्ना में ३१० गाथा हैं । ७ देविन्दत्थव पइन्ना में २०० गाथा हैं । ८ गणिविज्जा पइन्ना में १०० गाथा हैं । ९ महापच्चक्खाण पइन्ना में १३४ गाथा हैं * । १० समाधिमरण पइन्ना में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पइन्नाओं की संपूर्ण गाथासंख्या २३०५ है और प्रत्येक में दश दश अध्ययन हैं, और ये दश पइन्ना भी पैंतालीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पइन्ना गाथा ४३ ।

२ ऋषिभाषित सूत्र संख्या ७५० ।

३ सिद्धिप्राभृतसूत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दीवसागरपन्नत्ति संग्रहणी संख्या २४०, और इसकी टीका २५०० है ।

५ अङ्गविज्जापइन्ना संख्या ८८०० (कहीं २ पाई जाती) है ।

६ ज्योतिष्करण्डक पइन्ना संख्या५००, इसकी टीका मलयगिरिकृत ५४०० है, और २१ पाहुडा [प्राभृतक] हैं ।

७ गच्छाचारपइन्ना, टीका विजयविमलगणिविरचित, मूलटीका संख्या ५८५० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अङ्गचूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूछा कि–ग्यारह अङ्गों की अङ्गचूलिका किस वास्ते हैं ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि "जिस तरह आभूषणों से अङ्ग शोभित होते हैं उसी तरह अङ्गचूलिका से एकादशाङ्गी शोभित होती है, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के लायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य है" । फिर जम्बू स्वामी ने पूछा कि–"गुरुपरंपरागम कैसा ?"। उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि–"आगम तीन प्रकार के हैं–१ अन्तागम, २ अनन्तरागम, और ३ परंपरागम । अर्थ से तो अर्हन् भगवान का अन्तागम है, और सूत्र से गणधरों का अन्तागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अनन्तरागम है, उसके बाद सभी का परंपरागम है " । और अङ्गचूलिका के अन्त में उपाङ्गचूलिका की चर्चा है कि–सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि–" सेसं उवंगचूलिया तो गहेयव्वं " अर्थात् अवशिष्ट भाग उपाङ्गचूलिका से लेना चाहिये ।

* कई लिखी प्रतियों में महापच्चक्खाण पइन्ना के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पइन्ना लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए दश पइन्नाओं से पृथक् भी है परन्तु उनकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है।

छः छेदग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निशीथ सूत्र, उद्देश २०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुभाष्य ७४००, और जिनदासगणिमहत्तरविरचित चूर्णि २८०००, बृहद्भाष्य १२००० है, यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। भद्रबाहुस्वामी की बनायी हुई निर्युक्ति गाथाएँ हैं। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ४८२१५ है। शीलभद्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि ने वि० सं० ११७४ में व्याख्या की है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यकचूर्णि आदि कई एक ग्रन्थ बनाये हैं।

२-महानिशीथ सूत्र, अध्ययन ७, चूलिका २, मूलश्लोकसंख्या ४५००, मतान्तर में इसकी तीन वाचनाएँ हैं—१लघुवाचना; ४२००; २-मध्यवाचना ४५००; ३—बृहद्वाचना ११८०० है। किन्तु हमारी पुस्तक के अन्त में लिखा है कि—

" चत्तारि सयसहस्सा, पंचसयाओ तहेव पंचासं ॥
चत्तारि सिलोगा वी, महानिसीहम्मि पाएणं " ॥ १ ॥ ४५५४ ॥

३-बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४७३ है। इसपर सं० १३३२ में बृहच्छालीय श्रीक्षेमकीर्तिसूरि ने ४२००० संख्यापरिमित टीका बनायी है। भाष्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुभाष्य ८००, चूर्णि १४३२५, संपूर्णग्रन्थसंख्या ७६७५८ हुई। टीका में लिखा हुआ है कि— [कः सूत्रमकार्षीत्, को वा निर्युक्तिं, को वा भाष्यमिति ? । उच्यते—पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्याननामकं पूर्वं तस्य यत्तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतितमप्राभृते मूलगुणेषूत्तरगुणेषु चाऽपराधेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं, कालक्रमेण च दुष्षमानुभावतो धृतिबलवीर्यबुद्ध्यायुःप्रभृतिषु परिहीयमानेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि ततो मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं, व्यवहारसूत्रं चाकारि; उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती]

४-व्यवहारदशाकल्पच्छेद सूत्र, उद्देश १०, दो खण्ड, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलयगिरिकृत ३३६२५, चूर्णि १०३६१, भाष्य ६००० है। निर्युक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५८६ है।

५-पञ्चकल्पच्छेद सूत्र, अध्ययन १६, मूलसंख्या ११३३, चूर्णि २१३०, और दूसरी टीका की संख्या ३३००, भाष्य ३१२५, संपूर्ण संख्या ६३८८, और गाथासंख्या २०० है।

६-दशाश्रुतस्कन्धछेदसूत्र, मूलसंख्या १८३५, अध्ययन १०, चूर्णि २२४५, निर्युक्तिसंख्या १६८, संपूर्णसंख्या ४२४८ है। टीका श्रीब्रह्मविरचित है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १२१६ है जिसकी टीका कल्पसुबोधिका है *।

७-जीतकल्पच्छेदसूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णि १०००, भाष्य ३१२४, संपूर्ण संख्या १६२३२ है, और चूर्णि की व्याख्या ११२० है, और इसकी लघुवृत्ति श्रीसाधुरत्नकृत ५७००, और तिलकाचार्यकृत वृत्ति १५०० है।

साधुजितकल्पविस्तार ३७५, धर्मघोषसूरिकृत वृत्ति २६५० है, और उसपर पृथ्वीचन्द्रकृत टिप्पण ६७०, और निर्युक्तिगाथा १६८ भद्रबाहुस्वामीकृत है, इसकी चूर्णि और टीकाएँ बहुत है, परंतु प्रायः करके वि० सं० १२०० के पीछे की बनी हुई हैं।

चार मूलसूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-आवश्यक सूत्र, मूलगाथा १२५, टीका हरिभद्रसूरिकृत २२०००, निर्युक्ति भद्रबाहुस्वामिकृत ३१००, चूर्णि १८००० है। दूसरी आवश्यकवृत्ति [चतुर्विंशति] २२००० है, उसकी लघुवृत्ति तिलकाचार्य कृत १२३२१ है, और अञ्चलगच्छाचार्यकृत दीपिका १२००० है, इसका भाष्य ४००० है, आवश्यकटिप्पण मलधारि हेमचन्द्रसूरिकृत ४६०० है। संपूर्णसंख्या ९८१४६ है, निर्युक्ति की टीका हरिभद्रसूरिकृत २२५०० है।

---

* अर्थतो भगवता वर्द्धमानस्वामिना असमाधिस्थानपरिज्ञानपरमार्थं उक्तः, सूत्रतो द्वादशस्वङ्गेषु गणधरैः, ततोऽपि च मन्दमेधसामनुग्रहाय अतिशायिभिः प्रत्याख्यानपूर्वादुद्धृत्य पृथक् दशाध्ययनत्वेन व्यवस्थापितः। दशाध्ययनप्रतिपादको ग्रन्थो दशा, स चासौ श्रुतस्कन्धः। दशाकल्प इति पर्यायनाम। अयं च ग्रन्थोऽसमाधिस्थानादिपदार्थशासनाच्छास्त्रम्। अस्याष्टमाध्ययनं कल्पसूत्रमुच्यते, टीका चास्य कल्प-सुबोधिकेति।

१–विशेषावश्यकसूत्र, [आवश्यकसूत्र मूल (सामायिकाध्ययन) का विशेष परिकर है] मूलसंख्या ५००० है। श्री-जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण कृत है, और इसकी बृहद्वृत्ति १८००० मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत है, लघुवृत्ति १४००० को-ट्याचार्यकृत, या द्रोणाचार्यकृत है. बृहद्वृत्ति की टीका तर्कानुविद्या जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१–पाखी (पाक्षिक) सूत्र, मूल ३६०, सं० ११८० में यशोदेवसूरिकृत टीका २७००, चूर्णि ४०० है।

१–यतिप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२–दशवैकालिक सूत्र, सय्यंभवसूरिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूरिकृत ६८१०, और मलयगिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्णि ७५००, लघुवृत्ति ३७०० है। निर्युक्तिगाथा ४५० है। आधुनिक सोमसुन्दरसूरिकृत लघुटीका ४२००, तथा समयसुंदरउपाध्यायकृत लघुटीका २६०० है।

२–पिण्डनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० है, वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७५०० है और महासूरिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १७२०० है।

३–ओघनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० हैं, द्रोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्णि ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४५० है।

४–उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ हैं, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल शान्तिसूरिकृत बृहद्वृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १७६४५ [लक्ष्मीवल्लभजी टीका] है, सं० ११२९ में नेमिचन्द्रसूरि से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गाथानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्णि ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३०० ।

अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१–नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३५, चूर्णि सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिभद्रसूरिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूरिकृत टिप्पण ३००० है।

२–अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० हैं, उसपर मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णि ३०००, और हरिभद्रसूरिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४३०० है।

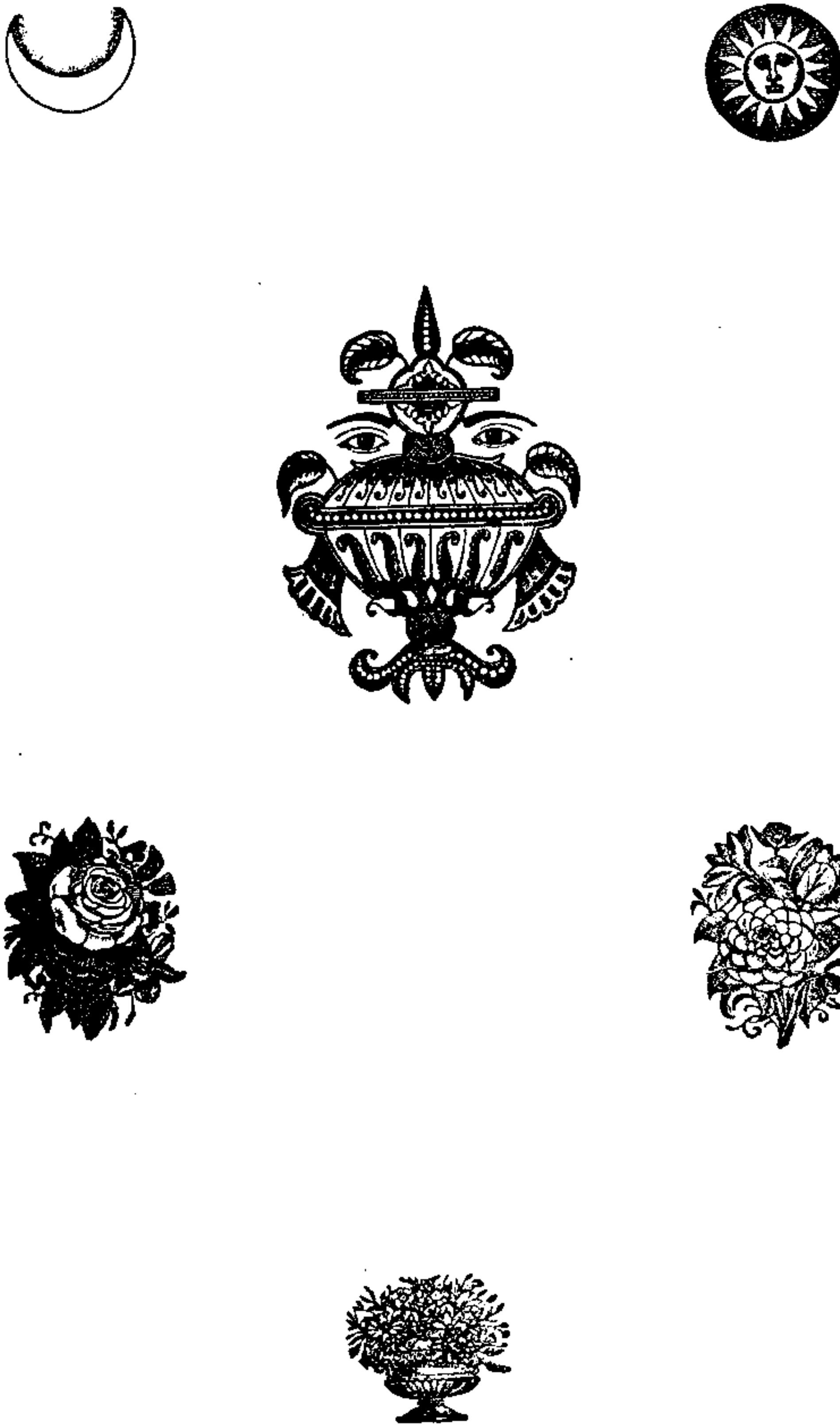
☞ इस तरह ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, दस पइन्ना, छः छेदसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलकर इस समय पैंतालीस आगमों की संख्या ली जाती है। इत्यलं विस्तरेण।

विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटित गाथाएँ टीका का अवलम्बन लेकर प्रकरण और विषय के अवि-रोध से पूरी की गयी हैं उनमें यदि कहीं पर पाठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी



आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत-मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढे चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

गवालियर-रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बडे ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, वीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिंगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-भार महूम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य-मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सोंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक-मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्-महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशारद-विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बाँगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुवा।

श्रीसंघ-बड़नगर।	श्रीसंघ-सरसी।	श्रीसंघ-झकणावदा।
,, खाचरोद।	,, मुंजाखेड़ी।	,, कूकसी।
,, मन्दसोर।	,, खरसोद-बड़ी।	,, आलीराजपुर।
,, सीतामऊ।	,, चीरोला-बड़ा।	,, रींगनोद।
,, निम्बाहेड़ा।	,, मकरावन।	,, राणापुर।
,, इन्दौर।	,, बरड़िया।	,, पारां।
,, उज्जैन।	,, (भाट)पचलाना।	,, टांडा।
,, महेन्द्रपुर।	,, पटलावदिया।	,, बाग।
,, नयागाम।	,, पिपलोदा।	,, खवासा।
,, नीमच-सिटी।	,, दशाई।	,, रंभापुर।
,, संजीत।	,, बड़ी-कड़ोद।	,, अमला।
,, नारायणगढ़।	,, धामणदा।	,, बोरी।
,, बरड़ावदा।	,, राजोद।	,, नानपुर।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ-गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद)।	श्रीसंघ-डीसा।
,, वीरमगाम।	,, वाव।	,, दूधवा।
,, सूरत।	,, भोरोल।	,, वात्यम।
,, साणंद।	,, धानेरा।	,, वासण।
,, बम्बई।	,, धोराजी।	,, जामनगर।
,, पालनपुर।	,, डुवा।	,, खंभात।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर।	श्रीसंघ-भीनमाल।	श्रीसंघ-शिवगंज।
,, आहोर।	,, सांचोर।	,, कोरटा।
,, जालोर।	,, बागरा।	,, फतापुरा।
,, भैंसवाड़ा।	,, धानपुर।	,, जोगापुरा।
,, रमणिया।	,, आकोली।	,, भारुंदा।
,, मांकलेसर।	,, साथू।	,, पोमावा।
,, देवावस।	,, सियाणा।	,, बीजापुर।
,, विशनगढ़।	,, काणोदर।	,, बाली।
,, मांडवला।	,, देलंदर।	,, खिमेल।

श्रीसंघ-गोल।		श्रीसंघ-मंडवारिया।		श्रीसंघ-सांडेराव।	
,,	साहेला।	,,	बलदूट।	,,	खुड़ाला।
,,	आलासण।	,,	जावाल।	,,	राणी।
,,	रेवतड़ा।	,,	सिरोही।	,,	खिमाड़ा।
,,	धाणसा।	,,	सिरोड़ी।	,,	कोशीलाव।
,,	बाकरा।	,,	हरजी।	,,	पावा।
,,	मोदरा।	,,	गुडाबालोतरा।	,,	एंदला का गुड़ा।
,,	थलवाड़।	,,	भूति।	,,	चाँणोद।
,,	मेंगलवा।	,,	तख्तगढ।	,,	डूडसी।
,,	सूराणा।	,,	सेदरिया।	,,	थाँवला।
,,	दाधाल।	,,	रोवाडा।	,,	जोयला।
,,	धनारी।	,,	भावरी।	,,	काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

उपोद्घातः

अर्हम् ।

कः खलु सचेतनो जन्मी नाऽस्मात् संसृतिसंसरणक्लेशाद्दात्मानमपवर्त्तयितुं कामयते ?, तथा चास्मिन् भवे बम्भ्रम्यमाणस्य कस्य वा प्रेक्षावतो दुःखमनागतमजिहासितं भवति ?। किन्तु हानोपायपरिज्ञानमन्तरा कथं कृती कोऽपि समापद्येत ? । ततो विश्वस्याऽपि विश्ववार्त्तिनश्चेतस्तदुपायजिज्ञासायां साऽभिलाषम्-यदेतदपारसंसारपारावारान्तर्निरन्तरनिमग्नकलेवरधारिणामनवरतोत्कटजन्मजरामरणाऽऽदिवेदनाऽभिभूतानां कोऽभ्युपायो मौलो हेयमिदं समूलमुन्मूलयति ?। यद्यपि खरतरधिषणादीप्तिमाञ्जिनो विचारशालिनो नरा वादमुत्तरयितुं प्रागल्भ्यमालम्बिष्यन्ते-यद् धर्ममन्तरेण कोऽप्युपायो न प्रेक्षापथमारोहति तस्मात् पराङ्मुखीकर्त्तुम् । परं तु क्षीरनीरयोरिव धर्माधर्मयोर्धिया केवलिहंसमपास्य मिश्रणमितयोरन्यतरं विवेक्तुमसाधारणजनाऽतिरिक्तस्याऽसुकरं वर्वर्ति, यतोऽस्मिन् समये परःशतानि मतानि धर्मब्रुवाणि तत इतः प्रचरन्ति, यानि संख्यातुमप्यशक्यानि संख्यावतां महामनीषिणामपि, किं पुनः पार्थक्येन धर्मोऽयमयं धर्माभास इति प्रदर्शयितुम् । यद्यपि महानुभावानामस्मद्महामान्यानां धन्यतमानामादेशानुसारेणैतद् वक्ष्यमाभाषितुं शक्यते-यदस्मिन् दुःषमारपर्याये पञ्चमे काले धर्माभासानामेव विशेषतः प्रायशः प्रचारो भवितुमर्हति धर्मस्य चाऽवनतिदशा भवितुं युज्यत इति ।

पुनरप्यत्र पर्यनुयोगेन स्मृतिसरणावधिरुह्यते-यत्तेषामन्यतमस्तादृशः को नु धर्मो निश्चयधुरामधिरोहति ?। तत्रेत्थं प्रातिवाक्यमुपढौकयन्त्यार्हताभियुक्ताः-यद्धर्मप्रवर्त्तकपुरुषा रागद्वेषकलङ्कपङ्काङ्किताङ्गविकला भवेयुर्धर्मश्च कुञ्जरादिपिपीलिकापर्यन्तस्य कस्यापि प्राणिनः परमप्रेयःप्राणपरिवर्त्तनोपदेष्टा न स्यात्, प्रत्युत शाश्वतमशाश्वतं च श्वःश्रेयसमेव प्रापयितुं प्रभवेत्, स एव धर्मपदोपादेयपदवीमङ्कितुमलम् । परमार्थतो यदीदृक्षः परमार्थः परामृश्येत् तदा तत्र भवतां तीर्थकराणामथवा भगवतो वर्द्धमानस्यैवाऽऽसन्नोपकारित्वेनानेकान्तजयपताका प्रादुर्भूयात् । यतस्त एव विमलकेवलालोकेन कालत्रयवर्तिसामान्यविशेषात्मकनिखिलपदार्थसार्थवेत्तारः, शक्राणामपि जन्मस्नात्राद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिसंपादनेनार्चनार्हाः, अवितथवस्तुतत्त्वप्रवक्तारः, शान्तरससरसस्वान्तत्वेन रागद्वेषविजयकर्त्तारः; शास्त्रान्तश्च तेषामहिंसा परमो धर्म इति ॥

यद्यपि पृथग्भूतेष्वितो धर्माभासेष्वपि किंपाकपाकोपलिप्तपायसदेश्या हिंसागर्भिता अहिंसा भगवती यत्र तत्र विलोक्यते-तस्या जिघृक्षा मधुदिग्धधाराकरालकरवालाग्रलोलरसनानामिव जनानां न सुखाकरोतीति एकत्रामत्रे संपृक्तविषमधुकल्पेव न युक्ता । यतस्तेषु जन्मादिदुःखमुमुक्षूणां प्राधान्येन कारणता तस्या नोपलक्ष्यते, अपि तु यद्यंशतस्तत्र दयाऽभिनिविष्टा, हिंसाऽपि तदन्यांशतो जागर्त्ति, यथा संसारमोचकानामिदमैदंपर्यम्-यदि नरपशुशकुनिष्वन्यतमः कोऽपि भवेऽस्मिन् संसारखेदमनुभवति, तर्हि तस्यैतो देहतः पृथक्करणमेव दयापरवशानां कर्त्तव्यमिति । सततन्तुप्रवणानां यज्वनां तु तादृक्कमवसरमासाद्य दयापात्राणामनन्यगतिकानां छागतिकानां विशसनमेवोर्ध्वगतिप्रापणमित्यादि ग्रन्थेऽस्मिन्नेव प्रथमभागे " अद्दगकुमार " "अहिंसा" शब्दयोरुपरि विशेषविस्तरः प्रेक्षणीयो जिज्ञासुनामिति । अत एवाभियुक्तानामाभाणकः-

" पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥ १ ॥
रागद्वेषविनिर्मुक्ता-र्हत्कृतं च कृपापरम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम्" ॥२॥ इत्यादि ॥

दयाऽऽचारक्रियावस्तुभेदैर्धर्मोऽयमार्हतश्चतुर्धा प्रविभक्तः । निशानमस्या देवनिर्मितसमवसरणसमवसृतस्य देवाधिदेवस्य भगवतोऽखिलज्ञस्य श्रीतीर्थकरस्योपदेशादाविर्भूतं शासनमेव । यद्वधि श्रीमद्भिर्गौतमादिभिर्गणधरैः समनन्तरं कियत्यप्यनेहसि समतीते द्वादशाङ्गीरूपेणैकादशाङ्गीरूपेण वा संदर्भितं सत् सूत्रनाम्ना व्यवह्रियते, तथा चैतत् प्रत्येकतीर्थकरशासनसमयेऽस्तित्वदशामासादयति । यद्यपि काले पूर्वस्मिन् चतुर्दशपूर्वधर-दशपूर्वधर-श्रुतकेवलिप्रभृतयो महानुभावा महात्मानो ये केचनाऽऽसन् तेषामतिशयवैभववशाद् मूलादेवार्थज्ञानं सुकरमतः स्पष्टीकरणप्रवणटीकादिपुस्तकादीनामावश्यकतैव नासीत्, परन्तु तादृशज्ञानविकलानां जीवानामर्थावामवधारणधुरां वोढुमसमर्थानां विस्मृतपदार्थसार्थस्मृतिमलभमानानां दुर्बोधस्य गहनातिगहनविषयस्य स्याद्वादिकदर्शनस्य विशदीकरणाय भगवद्भिः श्रीभद्रबाहुस्वामिप्रमुखैर्यद्यपि निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-टीकाऽऽदीनां रचना कृता, तथापि साम्प्रतं जैनग्रन्थस्य भूयान् विस्तरः समजनि, यदधुना स्वल्पीयसाऽऽयुषा न कोऽपि क्षमो मनुष्यः सांसारिकं कृत्यं समाचरन् गृहस्थविरक्तान्यतरोऽमुष्मा जैनशासनसागरात् पारमुत्तरीतुम् । हेतुरयमत्र विभाव्यते-यत् प्रथमतः सर्वेषां ग्रन्थानां समुपलब्धिरेव न सर्वत्र समुपजायते, ये चाल्पीयांसः क्वचित् क्वचिदपि समुपलभ्यन्ते, के विषयाः कुत्र तत्र विन्यस्ता इति सर्वसाधारणस्य तत्त्वतो ज्ञानमसुकरम् । यदि कस्यापि कस्मिन्नपि ग्रन्थे जायेतापि विषयाणां यथाकथञ्चिदुपलब्धिस्तथापि चेमेऽभिधेया अन्यत्रान्यत्र ग्रन्थे च कुत्र कुत्र भविष्यन्तीति परामर्शवैदग्ध्यविधुरधुरामधिरुह्यालब्धवर्णोऽपि ।

कारणान्तरमप्येतत्-यदिदं जैनदर्शनं यस्याम् (अर्द्धमागध्याम्) भाषायामभिनिबद्धम्, एषा सैव, यया प्राक्तनसमये भारतभूम्यां मातृभाषात्वेन, राष्ट्रभाषात्वेन च स्थानं प्रापि । यस्याश्च तीर्थकरगणधरप्रभृतिभिर्महानादरः कृतोऽमुष्या एव भाषायाः प्रचारः प्रचलितसमये कियानपि क्वापि नोपलक्ष्यते । यदपि दशरूपकादिषु यत्र तत्र पात्रप्रभेदप्रयुक्ता कतिपयप्रभेदभिन्ना प्राकृतभाषा दृष्टिपथमधिरोहति, तदपि तन्निम्ननिहितच्छायात एव कार्यं निर्वहन्ति यथाकथञ्चित् सर्वेऽपि पाठकाः ।

यदि केनापि प्राकृतप्रकाशादिव्याकरणदर्शनेन समभ्यस्ताऽपि शुद्धा प्राकृतभाषा, न तावत्या जैनागममूलसूत्राणां निर्युक्तिगाथा-

चूर्णिप्रभृतीनां तात्पर्यमवधारयितुं शक्यम्,यतस्तीर्थकरगणधरादिभिरर्द्धमागध्यामेवैषां प्रस्तावः प्रस्तुतः, या च सामान्यप्राकृतभाषातो नेदीयसी किञ्चिद् विलक्षणतरा ।

गतवति समये तु गुरुशुश्रूषापरायणाः श्रमणविगणव्यान्तेवासिजनाः स्वस्वाचार्यमुखाम्भोजसकाशात समुपलब्धमधुबिन्दुनिकरसदृक्षसूत्रानुपूर्वीतदर्थान् संचिन्वानाः कण्ठस्थं कुर्वन्त एव कृतकार्या बभूवुः, किन्त्वद्यश्वीनाधस्तादृश्याः परिपाट्याः प्रायशो वैकल्याद् ज्ञानदर्शनचारित्राणां भूयान् ह्रासः समजनि । संक्षिप्तविवरणं चास्याऽत्रैव प्रथमभागे " अहालंदिय " शब्दे तत्त्वबुभुत्सुभिर्जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यम् ।

निरीक्ष्य चैतादृशीं दुर्दशामस्माकं गुरुवर्याणां श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीयकलिकालसर्वज्ञकल्पभट्टारक १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहाराजानां चेतसि चिन्ताऽतिमहती समुपस्थिता-यत् प्रत्यहमार्हतधार्मिकदार्शनिकशास्त्राणां हानिरेवोपजायते , कारणादस्मादेवाद्य बहवः सुज्ञं मन्यानाः कार्यमुत्सूत्रमपि कर्तुमारभन्ते, तथा स्वधर्मग्रन्थेभ्यो विस्मृतिसरणिमाश्रिता इव । ततः किमस्यामवस्थायां करणीयमस्माभिः ?,यतः संसारेऽस्मिन्नसारे तस्यैव मर्त्यस्य जनिः सार्थिका, येन यथाशक्यमात्मधर्मस्योन्नतिः कृता । अन्यथा-

" असंपादयतः कञ्चि-दर्थं जातिक्रियागुणैः ।
यदृच्छाशब्दवत् पुंसः, संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ "
अथवा-" स लोहकारभस्त्रेव, श्वसन्नपि न जीवति "।

इति लौकिकोक्तिं सार्थकयति । एतादृशो विमर्शश्चेतसि प्रभूतकालमुवास , किन्तु कदाचिदेकस्यां क्षणदायां सहसा विचारः प्रादुर्बभूव-कोऽप्येकस्तादृशो ग्रन्थः प्रशस्ततरशैल्या रचनीयो, यस्मिन् जैनागमस्थमागधीभाषाशब्दानामकाराद्यनुक्रमतो विन्यासं विधाय गीर्वाणभाषायां तदनुवादलिङ्गव्युत्पत्तिवाच्यार्थान् निधाय समनन्तरं यथासंभवं तदुपरि मूलसूत्राणां पाठनिर्देशपुरःसरं समुपलब्धपुरातनटीकाचूर्ण्यादि विवरणं दत्त्वा स्पष्टयितव्यः । यदि स एव विषयो ग्रन्थान्तरेष्वप्युपलभ्येत तर्हि तदनुपदमेव सोऽपि निर्देश्यः । प्रायशोऽस्माद् निजमनोऽनुकूलो लोकस्योपकारो भविष्यतीति । अथोषसि समुत्थाय सूरीन्द्रः स्वनित्यनैमित्तिकीः क्रियाः समाप्यास्य प्रकृतकार्यस्य भारमुवाह । समाहितमानसेन द्वाविंशतिवर्षं यावद् महान्तमपि श्रममविगणय्य तेन कार्यमेतद् विघ्नानपोह्य संपूर्णतां लम्भितम् । यद्-'अभिधानराजेन्द्र' नामा कोशः प्राकृतभाषाप्रभेदभूतमागध्यां विरचय्य चतुर्षु भागेषु विभक्तः ।

अथैकदाऽनल्पकल्पाः श्रावकाः शिष्याश्च मुनयः श्रीमदुपाध्यायमोहनविजयदीपविजययतीन्द्रविजयप्रभृतयः साधवो विनेयाः साञ्जलिबन्धं प्रार्थनापुरःसरं व्यजिज्ञपन्-भगवन् ! यद्ययमपि ग्रन्थो ग्रन्थान्तरसमः पुस्तकभाण्डागारेष्वेव निहितः स्थास्यति तदा कियन्तो जना अनर्घ्यस्यास्य प्रवररत्नस्येव कोशरत्नस्य लाभभाजो भविष्यन्ति ? । तस्मादनेकेषु देशदेशान्तरेषु यया रीत्या भूयान् प्रचारः स्यात् , तदुपायः करणीय इति गुरुचरणान्ते विज्ञप्तिपुरस्सरं निवेदयामः ।

तदुत्तरं प्रशान्तगम्भीरया गिरा श्रीसूरीश्वराः नातिस्तोकबहुलं प्रोचुः-अस्मदीयं करणीयं पूर्तिमनयमतः परं येनोपायेन निखिललोकोपकारः स्यात् स तु युष्माभिः कर्तुमर्हः, किन्तु वयमत्राऽर्थे ताटस्थ्यमुपगताः ।

ततः श्रीसङ्घेनास्याभिधानस्य विशेषप्रचाराय शीशकाक्षरैः पुस्तकत्रणपत्रेषु मुद्रापयितुमेव निश्चित्य प्रारभ्यते स्म । पुनरस्य शोधनादिभारः सूरीन्द्राणां विनीतशिष्याभ्यां मुनिश्रीदीपविजय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयाभ्यां जगृहे, यावदस्मिन् कार्ये पूर्णाऽभिज्ञौ वर्तेते । अतः परं वक्तव्यान्तरं भाषा (हिन्दी) भूमिकातोऽवसेयम् ।

स्याद्वादनिरूपणेन समवाय-सत्ताऽपोह-वेदाऽपौरुषेयत्व-जगत्सकर्तृकत्व-शब्दाकाशगुणत्वा-ऽद्वैतवादादिखण्डनेन एकेन्द्रियाणां भावेन्द्रियज्ञानस्थापनेन च जैनदर्शनस्यातिगाम्भीर्यं व्यक्तीभवतीति दिङ्मात्रमिह तद् दर्श्यते-

अथ वस्तुनः स्याद्वादात्मकत्वं सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुबोधं स्यादिति प्रथमं तस्या निरूपणम्-

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥

एकत्र जीवादौ वस्तुनि एकैकसत्त्वादिधर्मविषयप्रश्नवशाद्विरोधेन प्रत्यक्षादिबाधापरिहारेण पृथग्भूतयोः समुदितयोश्च विधिनिषेधयोः पर्यालोचनया कृत्वा स्याच्छब्दलाञ्छितो वक्ष्यमाणैः सप्तभिः प्रकारैर्वचनविन्यासः सप्तभङ्गी विज्ञेया ।

सप्तभङ्गाः पुनरिमे-

स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिविकल्पनया प्रथमो भङ्गः १ स्यान्नाऽस्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः २ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ३ स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद् विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः ४ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ५ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः ६ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च सप्तमः ७

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । स्यात्-कथञ्चित्, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण अस्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण । तथाहि-कुम्भो द्रव्यतः पार्थिवत्वेनास्ति, न जलादिरूपत्वेन । क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन । कालतः शैशिरत्वेन, न वासन्तिकादित्वेन । भावतः श्यामत्वेन, न रक्तत्वादिना । अन्यथा इतररूपापत्त्या स्वरूपहानिः स्यादिति । अत्र भङ्गे एवकारस्तु अनभिमतार्थव्यावृत्त्यर्थमुपात्तम् । अस्त्येव कुम्भ इत्येतावन्मात्रोपादाने कुम्भस्य स्तम्भाद्यस्तित्वेनापि सर्वप्रकारेणास्तित्वप्राप्तेः प्रतिनियतस्वरूपानुपपत्तिः स्यात्, तत्प्रतिपत्तये स्यादिति प्रयुज्यते, स्यात् कोऽर्थः-कथञ्चित्, स्वद्रव्यादिभिरेवायमस्ति, न परद्रव्यादिभिरपीत्यर्थः ॥ (२) स्वद्रव्यादिभिरिव परद्रव्यादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ हि प्रतिनियतस्वरूपाभावाद् वस्तुप्रतिनियमविरोधः । न चास्तित्वैकान्तवादिभिरत्र नास्ति-

त्वमसिद्धमित्यभिधानीयम्. कथञ्चित् तस्य वस्तुनि युक्तिसिद्धत्वात् साधनवत्। न हि क्वचिदनित्यत्वादौ साध्ये सत्त्वादिसाधनस्यास्तित्वं विपक्षे नास्तित्वमन्तरेणोपपन्नम्, तस्य साधनाभासत्वप्रसङ्गात्। अथ यदैव नियतं साध्यसद्भावेऽस्तित्वं तदेव साध्याभावे साधनस्य नास्तित्वमभिधीयते, तत्कथं प्रतिषेध्यम्?, स्वरूपस्य प्रतिषेधस्यानुपपत्तेः, साध्यसद्भावे नास्तित्वं तु यत् तत् प्रतिषेध्यम्, तेनाविनाभावित्वे साध्यसद्भावास्तित्वस्य व्याघातात् तेनैव स्वरूपेणास्ति नास्ति चेति प्रतीत्यभावादिति चेत्। तदसत्। एवं हेतोस्त्रिरूपत्वविरोधात्। विपक्षासत्त्वस्य तात्त्विकस्याभावात्। यदि चायं भावाभावयोरेकत्वमाचक्षीत, तदा सर्वथा न क्वचित् प्रवर्तेत, नापि कुतश्चिन्निवर्तेत। प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयस्य भावस्याभावपरिहारेणासंभवात्, अभावस्य च भावपरिहारेणेति वस्तुनोऽस्तित्वनास्तित्वयोः रूपान्तरत्वमेष्टव्यम्। तथा चास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि सिद्धम्। यथा च प्रतिषेध्यमस्तित्वस्य नास्तित्वं तथा प्रधानभावतः क्रमार्पितोभयत्वादिधर्मपञ्चकमपि वक्ष्यमाणं लक्षणीयम्॥ (३) सर्वामपि द्वितीयलक्षणादिहोत्तरत्र चानुवर्तनीयम्। ततोऽयमर्थः—क्रमार्पितस्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया क्रमार्पिताभ्यामस्तित्वनास्तित्वाभ्यां विशेषितं सर्वं कुम्भादि वस्तु स्यात् (कथञ्चित्) अस्त्येव, स्यात् (कथञ्चित्) नास्त्येवेत्युल्लेखेन वक्तव्यमिति॥ (४) द्वाभ्यामस्तित्वनास्तित्वाख्यधर्माभ्यां युगपत् प्रधानतयाऽर्पिताभ्यामेकस्य वस्तुनोऽभिधित्सायां तादृशस्य शब्दस्यासम्भवादवक्तव्यं जीवादि वस्त्विति। तथाहि—सदसत्त्वगुणद्वयं युगपदेकत्र सदित्यभिधानेन वक्तुमशक्यम्, तस्यासत्त्वप्रतिपादनासमर्थत्वात्। तथैवासदिति अभिधानेन न सद् वक्तुं शक्यम्, तस्य सत्त्वप्रत्यायने सामर्थ्याभावात्। साङ्केतिकमेकं पदं तदभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यम्, तस्यापि क्रमेणार्थद्वयप्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः। "तौ सत्" ३।२।१२७। (पाणि०) इति शतृशानचोः संकेतितसच्छब्दवत्। इति सकलवाचकरहितत्वादवक्तव्यं वस्तु युगपद् सदसत्त्वाभ्यां प्रधानभावार्पिताभ्यामाक्रान्तं व्यवतिष्ठते। (५) स्वद्रव्यादिचतुष्टयाऽऽपेक्षयाऽस्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्यां सह वक्तुमशक्यं सर्वं वस्तु; ततः स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेत्येवं पञ्चमभङ्गेनोपदर्श्यते इति (६) परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया नास्तित्वे सत्यस्तित्वनास्तित्वाभ्यां यौगपद्येन प्रतिपादयितुमशक्यं समस्तं वस्तु; ततः स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेत्येवं षष्ठभङ्गेन प्रकाश्यते (७) स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयाऽस्तित्वनास्तित्वयोः सतोरस्तित्वनास्तित्वाभ्यां समसमयमभिधातुमशक्यमखिलं वस्तु, तत एवमनेन भङ्गेनोपदर्श्यते इति॥

उक्तं च—

"या प्रश्नाद् विधिपर्युदासभिदया बाधच्युता सप्तधा,
धर्मं धर्ममपेक्ष्य वाक्यरचनाऽनेकात्मके वस्तुनि॥
निर्दोषा निरदेशि देव! भवता सा सप्तभङ्गी यया,
जल्पन् जल्परणाङ्गणे विजयते वादी विपक्षं क्षणात्॥ १॥"

अथ सप्तभङ्गीदर्शितदिशा स्याद्वादास्तित्वम्—

दीपादारभ्य व्योमपर्यन्तं सर्वं वस्तु समस्वरूपम्, यतो वस्तुनः द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति। वाचकमुख्योऽप्येवमेवाह—"उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। समस्वभावत्वे हेतुस्तु स्याद्वादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इत्यर्थः। तदनभ्युपगमे सर्ववस्तूनां स्वरूपहानिप्रसङ्गः, कस्यचित् व्योमादिवस्तु नित्यमेव, अन्यस्य प्रदीपादिवस्तु अनित्यमेवेत्यस्य प्रतिक्षेपस्तु दिङ्मात्रमुच्यते—सर्वे भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः, तत्रैकान्तानित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्यानित्यत्वव्यवस्थापनमित्थम्। तथाहि—प्रदीपपर्यायापन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतः तैलक्षयात् वाताभिघाताद् वा ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः; पुद्गलद्रव्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम्। न ह्येतावतैवानित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य नाश उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः। न खलु मृद्द्रव्यं स्थासक-कोश-कुशूल-शिवक-घटाद्यवस्थान्तरमापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याबालगोपालं प्रतीतत्वात्। न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्, चाक्षुषत्वान्यथाऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत्। अथ यच्चाक्षुषं तत्सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत् कथं चाक्षुषम्? नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासनात्, यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वाद् भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः, प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः, इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्। रूपवत्त्वात् स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि, तुल्ययोगक्षेमत्वात्। न च वाच्यम्—तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त? इति। पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात्। दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद् भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः, इति सिद्धो नित्यानित्यः प्रदीपः। यदपि निर्वाणादर्वाक् देदीप्यमानो दीपस्तदाऽपि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्यानित्य एव॥ एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्यानित्यमेव। तथाहि—अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव तल्लक्षणम्, 'अवकाशदमाकाशम्' इति वचनात्। यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातो वा एकस्मान्नभःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः, उत्तरस्मिन् प्रदेशे च संयोगः, संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ, तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः। तथा चाहुः—"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद् विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्, उभयत्राकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम्। तथा च 'यदप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्' इति नित्यलक्षणमाचक्षते, तदपास्तम्। एवंविधस्य कस्यचिद् वस्तुनोऽभावात्। 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' इति तु सत्यं नित्यलक्षणम्। उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादन्वयिरूपाद् यन्न व्येति तन्नित्यम् इति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते,

तदोत्पादव्ययोर्निराधारत्वप्रसङ्गः, न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः । " द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क्व कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ? ॥" इति वचनात् । न चाकाशं न द्रव्यम्, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्यानित्यत्वम् । घटाकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं, तदा पटाकाशमिति व्यवहारः। न चायमौपचारिकत्वाद् प्रमाणमेव, उपचारस्यापि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात् । नभसो हि यत् किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात् कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादि तत्तत् व्यपदेशनिबन्धनं भवति तत्तद्घटादिसम्बन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तराऽऽपत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽविष्वग्भावात् । इति सिद्धं नित्यानित्यत्वं व्योम्नः । इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः ।

स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम् ?, नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात् , तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पठन्ति—

" भागे सिंहो नरो भागे, योऽर्थो भागद्वयात्मकः ।
तमभागं विभागेन, नरसिंहं प्रचक्षते" ॥१॥

एवं चोपस्थितमिदं नित्यानित्यात्मकं वस्तु,उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा,परिस्फुटमन्वयदर्शनात् लूनपुनर्जातनखादिषु अन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्;प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः; सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते, विपद्यते च , अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो, येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत्। न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा ? यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? न भिद्यन्ते चेत् , तथापि कथमेकं त्र्यात्मकम् ? । तथाच

" यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ?।
अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? ॥ १ ॥ "

इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद् भेदाभ्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम् । असत आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, द्रव्यरूपतयाऽनुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च कथं नैकं त्र्यात्मकम् ?। उक्तं च पञ्चाशति-

" प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया-
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात् ॥ १ ॥ "

तथा च स्थितं नित्यानित्यानेकान्तः कान्त एवेति । एवं सदसदनेकान्तोऽपि । नन्वत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादिवस्तु सच्च, असच्च भवति ?। सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, असत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण, अन्यथा तयोरविशेषः स्यात् । ततश्च तद्यदि सत्, कथमसत् ? अथासत्, कथं सदिति ? तदनवदातम् । यतो यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वम्, तेनैवाऽसत्त्वम्, येनैव चासत्त्वम्, तेनैव सत्त्वमभ्युपेयेत, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वद्रव्येण हिरण्मयादित्वेन, स्वक्षेत्रेण नगरादित्वेन,स्वकालत्वेन वासन्तिकादित्वेन सत्त्वम्,पररूपादिना तु पटत्वतन्तुमयत्वग्राम्यत्वग्रैष्मिकत्वादिनाऽसत्त्वम्, तदा क्व विरोधगन्धोऽपि । ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति, तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः । तथाहि-यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्,तथा सति स्वरूपादित्ववत् पररूपादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वम्, किन्तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेत्; अहो !नूतनः कोऽपि तर्कवितर्ककर्कशः समुल्लापः । न खलु यदेव सत्त्वम्, तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति; विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते; न च नाभ्युपगम्यत एवेति किमिदमिन्द्रजालम् ?। ततश्चास्यानक्षरमसत्त्वमेवोक्तं भवति । एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्वसत्त्वं तस्य,तथा परासत्त्वासत्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा; विशेषाऽभावात् । अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियत एवोपजायत इति किं परासत्त्वेनेति चेत् ? न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते, पारमार्थिकस्वासत्त्वासत्त्वात्मकस्वसत्त्वेनैव परासत्त्वासत्त्वात्मकपरसत्त्वेनाप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । इति सूक्तः सदसदनेकान्तः । एवमपरेऽपि भेदाभेदानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवेचनीयाः संमतितर्कादिभ्यो विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते ।

अतोऽनेकान्तवाद एव सन्मार्गः । यदाह-

" इच्चेयं गणिपिडगं, निच्चं दव्वट्ठियाए नायव्वं ।
पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवाओ ॥ १ ॥
जो सियवायं भासति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेइ से ण ण सयं, सो हि पमाणं पवयणस्स ॥ २ ॥
जो सियवायं निंदति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेण दुट्ठभावो, न सो पमाणं पवयणस्स ॥ ३ ॥ "

अथ समवायखण्डनम्—

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः । स च समवयनात् समवाय इति, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषेषु पञ्चसु पदार्थेषु वर्त्तनाद् वृत्तिरिति चाख्यायते । तया वृत्या समवायसम्बन्धेन तयोर्धर्मधर्मिणोरितरेतरविनिर्लुण्ठितत्वेऽपि धर्मधर्मिव्यपदेश इष्यते ।

अत्र जैनाचार्या वदन्ति-

अयं धर्मी, इमे चास्य धर्माः, अयं चैतत्सम्बन्धनिबन्धनं

समवाय इत्येतद् वस्त्वन्तरं ज्ञानविषयतया न प्रतिभासते । यथा शिलाशकलयुगलस्य मिथोऽनुसन्धायकं रालादिद्रव्यं तस्मात् भिन्नीयतया प्रतिभासते, नैवमत्र समवायस्यापि प्रतिभानम्; किन्तु द्वयोरेव धर्मधर्मिणोः; इति शपथप्रत्यायनीयोऽयं समवायः । किञ्चायं वादिना एको नित्यः सर्वव्यापकोऽमूर्तश्च परिकल्प्यते, ततो यथा घटाश्रिताः पाकजरूपादयो धर्माः समवायसम्बन्धेन समवेताः, तथा किं न पटेऽपि, तस्यैकत्वनित्यत्वव्यापकत्वैः सर्वत्र तुल्यत्वात् । यथाऽऽकाश एको नित्यो व्यापकोऽमूर्तश्च सन् सर्वैः सम्बन्धिभिर्युगपदविशेषेण संबध्यते, तथा किं नायमपीति ?। विनश्यदेकवस्तुसमवायाभावे च समस्तवस्तुसमवायाऽभावः प्रसज्यते । तत्तदवच्छेदकभेदान्नायं दोष इति चेदेवमनित्यत्वापत्तिः, प्रतिवस्तुस्वभावभेदादिति । अथ कथं समवायस्य न ज्ञाने प्रतिभानम् ?। यतस्तस्येहेतिप्रत्ययः सावधानं साधनम् । इहप्रत्ययश्चानुभवसिद्ध एव । इह तन्तुषु पटः, इहात्मनि ज्ञानमिह घटे रूपादय इति प्रतीतेरुपलम्भात् । अस्य च प्रत्ययस्य केवलधर्मधर्म्यनालम्बनत्वादस्ति समवायाख्यं पदार्थान्तरं तद्धेतुः; इति पराशङ्कामभिसन्धाय पुनरुच्यते-त्वन्मते यथा पृथवीत्वाभिसम्बन्धात्पृथवी, तत्र पृथवीत्वं पृथिव्या एव स्वरूपमस्तित्वाख्यं नापरं वस्त्वन्तरम् । तेन स्वरूपेणैव समं योऽसावभिसम्बन्धः पृथिव्याः स एव समवाय इत्युच्यते; " प्राप्तानामेव प्राप्तिः समवायः " इति वचनात् । एवं समवायत्वाभिसम्बन्धात्समवाय इत्यपि किं न कल्प्यते ?। यतस्तस्यापि यत्समवायत्वं स्वस्वरूपं तेन सार्द्धं सम्बन्धोऽस्त्येव । अन्यथा निःस्वभावत्वात् शशविषाणवदवस्तुत्वमेव भवेत् । ततश्च इह समवाये समवायत्वमित्युल्लेखेन इहप्रत्ययः समवायेऽपि युक्त्या घटत एव । ततो यथा पृथिव्यां पृथिवीत्वं समवायेन समवेतं, समवायेऽपि समवायत्वमेवं समवायान्तरेण संबन्धनीयम्, तदप्यपरेणेत्येवं दुस्तराऽनवस्थामहानदी । ननु पृथिव्यादीनां पृथिवीत्वादिसम्बन्धनिबन्धनं समवायो मुख्यस्तत्र त्वतल्लादिप्रत्ययाभिव्यङ्ग्यस्य संगृहीतसकलावान्तरजातिलक्षणव्यक्तिभेदस्य सामान्यस्योद्भवात् । इह तु समवायस्यैकत्वेन व्यक्तिभेदाभावे जातेरनुद्भूतत्वाद्गौणोऽयं युष्मत्परिकल्पित इहेतिप्रत्ययसाध्यः समवायत्वाभिसम्बन्धः, तत्साध्यश्च समवाय इति । तदेतच्च विपश्चिच्चेतश्चमत्कारकारणम् । यतोऽत्रापि जातिरुद्भवन्ती केन निरुध्येत । व्यक्तेरभेदेनेति चेत् । न । तत्तदवच्छेदकवशात्सद्भेदोपपत्तौ व्यक्तिभेदकल्पनाया दुर्निवारत्वात् । अन्यो हि घटसमवायोऽन्यश्च पटसमवाय इति व्यक्त एव समवायस्यापि व्यक्तिभेद इति; तत्सिद्धौ सिद्ध एव जात्युद्भवः । तस्मादन्यत्रापि मुख्य एव समवायः, इहप्रत्ययस्योभयत्राव्यभिचारात् । यदाह-

" अव्यभिचारी मुख्यो-ऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च ।
विपरीतो गौणोऽर्थः, सति मुख्ये धीः कथं गौणे ? " ॥१॥

तस्माद्धर्मधर्मिणोः सम्बन्धने मुख्यः समवायः, समवाये च समवायत्वाभिसम्बन्धे गौण इत्ययं भेदो नास्तीत्यर्थः । किञ्च-योऽयमिह तन्तुषु पट इत्यादिप्रत्ययात्समवायसाधनमनोरथः, स खल्वनुहरते नपुंसकादपत्यप्रसवमनोरथम् । इह तन्तुषु पट इत्यादेर्व्यवहारस्याऽलौकिकत्वात्पांशुलपादानामपि इह पटे तन्तव इत्येवं प्रतीतिदर्शनात् इह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायप्रसङ्गात् ।

अथ सत्तानिरसनम्—

अविशेषेण सद्बुद्धिवेद्येष्वपि सर्वपदार्थेषु द्रव्यादिष्वेव त्रिषु सत्तासम्बन्धः स्वीक्रियते, न सामान्यादित्रये, इति महतीयं पश्यतोहरता । यतः परिभाव्यतां सत्ताशब्दस्य शब्दार्थः । अस्तीति सन्, सतो भावः सत्ता, अस्तित्वं तद्वस्तुस्वरूपं निर्विशेषमशेषेष्वपि पदार्थेषु त्वयाऽप्युक्तम् । तत्किमिदमर्द्धजरतीयम्-यद्द्रव्यादित्रय एव सत्तायोगो नेतरत्र इति ?। अनुवृत्तिप्रत्ययाऽभावान्न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेत् । न । तत्राप्यनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् । पृथिवीत्वगोत्वघटत्वादिसामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति । विशेषेष्वपि बहुत्वादयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति । समवाये च प्रागुक्तयुक्त्या तत्तदवच्छेदकभेदादेकाकारप्रतीतेरनुभवात् । स्वरूपसत्त्वसाधर्म्येण सत्ताऽध्यारोपात्सामान्यादिष्वपि सत्सदित्यनुगम इति चेत्तर्हि मिथ्याप्रत्ययोऽयमापद्यते । अथ भिन्नस्वभावेष्वेकानुगमो मिथ्यैवेति चेद्द्रव्यादिष्वपि सत्ताध्यारोपकृत एवास्तु प्रत्ययानुगमः । असति मुख्येऽध्यारोपस्यासंभवात् द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगतः प्रत्ययः, सामान्यादिषु तु गौण इति चेत् । न । विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात् । सामान्यादिषु बाधकसंभवान्न मुख्योऽनुगतः प्रत्ययो, द्रव्यादिषु तु तदभावान्मुख्य इति चेद्, ननु किमिदं बाधकम् ?। अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमेऽनवस्था, विशेषेषु पुनः सामान्यसद्भावे स्वरूपहानिः, समवायेऽपि सत्ताकल्पने तद्वृत्त्यर्थं सम्बन्धान्तराभाव इति बाधकानीति चेत् । न । सामान्येऽपि सत्ताकल्पने यद्यनवस्था, तर्हि कथं न सा द्रव्यादिषु ?। तेषामपि स्वरूपसत्तायाः प्रागेव विद्यमानत्वात् । विशेषेषु पुनः सत्ताऽभ्युपगमेऽपि न स्वरूपहानिः । स्वरूपस्य प्रत्युतोत्तेजनात् । निःसामान्यस्य विशेषस्य क्वचिदप्यनुपलम्भात् । समवायेऽपि समवायत्वलक्षणायाः स्वरूपसत्तायाः स्वीकारे उपपद्यत एवाविष्वग्भावात्मकः सम्बन्धः, अन्यथा तस्य स्वरूपाऽभावप्रसङ्गः; इति बाधकाभावात्तेष्वपि द्रव्यादिवन्मुख्य एव सत्तासम्बन्धः; इति व्यर्थं द्रव्यगुणकर्मस्वेव सत्ताकल्पनम् । किञ्च-तैर्वादिभिर्यो द्रव्यादित्रये मुख्यः सत्तासम्बन्धः कक्षीकृतः, सोऽपि विचार्यमाणो विशीर्यत । तथाहि-यदि द्रव्यादिभ्योऽत्यन्तविलक्षणा सत्ता, तदा द्रव्यादीन्यसद्रूपाण्येव स्युः । सत्तायोगात्सत्त्वमस्त्येवेति चेत् । असतां सत्तायोगेऽपि कुतः सत्त्वम् ?, सतां तु निष्फलः सत्तायोगः । स्वरूपसत्त्वं भावानामस्त्येवेति चेत्तर्हि किं शिखण्डिना सत्तायोगेन । सत्तायोगात्प्राग् भावो न सन्, नाप्यसन्; सत्तायोगात्तु सन्निति चेद्वाङ्मात्रमेतत् । सदसद्विलक्षणस्य प्रकारान्तरस्यासंभवात् । तस्मात् सतामपि स्यात्कचिदेव सत्तेति तेषां वचनं विदुषां परिषदि कथमिव नोपहासाय जायेत ।

अपोहस्य स्वरूपनिर्वचनपुरस्सरं निरसनम्—

अपोहत्वं च स्वाकारविपरीताकारोन्मूलकत्वेनावसेयम् । अपोह्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोह इति व्युत्पत्तेः । तत्त्वतस्तु न किञ्चिद्वाच्यं वाचकं वा विद्यते, शब्दार्थतया कथिते बुद्धिप्रतिबिम्बात्मन्यपोहे कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वात् ।

ननु कोऽयम् अपोहो नाम ?, किमिदम् अन्यस्मादपोह्यते, अस्माद्वा अन्यदपोह्यते, अस्मिन् वा अन्यदपोह्यत इति व्युत्पत्त्या विजातिव्यावृत्तं बाह्यमेव विवक्षितं, बु-

ह्याकारो वा, यदि वा अपोहनमपोह इति अन्यव्यावृत्तिमात्रम्, इति त्रयः पक्षाः। न तावदादिमौ पक्षौ, अपोहनाम्ना विधेरेव विवक्षितत्वात्। अन्तिमोऽप्यसङ्गतः, प्रतीतिबाधितत्वात्। तथाहि-पर्वतोद्देशे वह्निरस्तीति शाब्दी प्रतीतिर्विधिरूपमेवोल्लिखन्ती लक्ष्यते, नानग्निर्न भवतीति निवृत्तिमात्रमामुखयन्ती। यच्च प्रत्यक्षबाधितं न तत्र साधनान्तरावकाश इत्यतिप्रसिद्धम्।

अथ यद्यपि निवृत्तिमहं प्रत्येमीति न विकल्पः तथापि निवृत्तपदार्थोल्लेख एव निवृत्त्युल्लेखः। न ह्यनन्तर्भावितविशेषणप्रतीतिर्विशिष्टप्रतीतिः। ततो यथा सामान्यमहं प्रत्येमीति विकल्पाभावेऽपि साधारणाकारपरिस्फुरणात् विकल्पबुद्धिः सामान्यबुद्धिः परेषाम्, तथा निवृत्तप्रत्ययाक्षिप्ता निवृत्तिबुद्धिरपोहप्रतीतिव्यवहारमातनोतीति चेत्?, ननु साधारणाकारपरिस्फुरणे विधिरूपतया यदि सामान्यबोधव्यवस्था; तत् किमायातमस्फुरदभावाकारे चेतसि निवृत्तिप्रतीतिव्यवस्थायाः। ततो निवृत्तिमहं प्रत्येमीत्येवमाकाराभावेऽपि निवृत्त्याकारस्फुरणं यदि स्यात्, को नाम निवृत्तिप्रतीतिस्थितिमपलपेत्। अन्यथा सति प्रतिभासे तत्प्रतीतिव्यवहृतिरिति गवाकारेऽपि चेतसि तुरगबोध इत्यस्तु।

अथ विशेषणतया अन्तर्भूता निवृत्तिप्रतीतिरित्युक्तं, तथापि यद्यगवापोढ इतीदृशाकारो विकल्पस्तदा विशेषणतया तदनुप्रवेशो भवतु, किन्तु गौरिति प्रतीतिः। तदा च सतोऽपि निवृत्तिलक्षणस्य विशेषणस्य तत्रानुत्कलनात्; कथं तत्प्रतीतिव्यवस्था। अथैवं मतिः-यद्विधिरूपं स्फुरितं तस्य परापोहोऽप्यस्तीति तत्प्रतीतिरुच्यते, तथापि सम्बन्धमात्रमपोहस्य विधिरेव साक्षान्निर्भासी। अपि चैवमध्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वमनिवार्यम्। विशेषतो विकल्पादेकव्यावृत्तोल्लेखिनोऽखिलान्यव्यावृत्तमीक्षमाणस्य तस्माद्विध्याकारावग्रहादध्यक्षतद्विकल्पस्यापि विधिविषयत्वमेव नान्यापोहविषयत्वमिति कथमपोहः शब्दार्थो घुष्यते?।

अत्राभिधीयते-

नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः, नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रम्, किन्त्वन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः। ततश्च न प्रत्येकपक्षोपनिपातिदोषावकाशः। यत्तु गोः प्रतीतौ न तदात्मा परात्मेति सामर्थ्यादपोहः पश्चान्निश्चीयते इति विधिवादिनां मतम्। अन्यापोहप्रतीतौ वा सामर्थ्यात् अन्यापोढोऽवधार्यते इति प्रतिषेधवादिनां मतम्। तदसुन्दरम्। प्राथमिकस्यापि प्रतिपत्तिक्रमादर्शनात्। न हि विधिं प्रतिपद्य कश्चिदर्थापत्तितः पश्चादपोहमवगच्छति, अपोहं वा प्रतिपद्यान्यापोढम्, तस्माद् गोः प्रतिपत्तिरिति अन्यापोढप्रतिपत्तिरुच्यते। यद्यपि चान्यापोढशब्दानुल्लेख उक्तः। तथापि नाप्रतिपत्तिरेव विशेषणभूतस्यान्यापोहस्य; अगवापोढ एव गोशब्दस्य निवेशितत्वात्। यथा नीलोत्पले निवेशितादिन्दीवरशब्दान्नीलोत्पलप्रतीतौ तत्काल एव नीलिमस्फुरणमनिवार्यम्, तथा गोशब्दादपि अगवापोढे निवेशितात् गोप्रतीतौ तुल्यकालमेव विशेषणत्वात् अगोऽपोहस्फुरणमनिवार्यम्। यथा प्रत्यक्षस्य प्रसज्यरूपाभावग्रहणमभावविकल्पोत्पादनशक्तिरेव, तथा विधिविकल्पानामपि तदनुरूपानुष्ठानदानशक्तिरेवाभावग्रहणमभिधीयते। पर्युदासरूपाभावग्रहणं तु नियतस्वरूपसंवेदनमुभयोरविशिष्टम्, अन्यथा यदि शब्दादर्थप्रतिपत्तिकाले कलितो न परापोहः कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिः। ततो गां बधानेति चोदितोऽश्वादीनपि बध्नीयात्। यदप्योच्चद्वाचस्पतिः-जातिमत्यो व्यक्तयः, विकल्पानां शब्दानां च गोचरः, तासां च तद्वतीनां रूपमतज्जातीयपरावृत्तमित्यर्थतस्तदवगतेर्न गां बधानेति चोदितोऽश्वादीन् बध्नाति। तदप्यनेनैव निरस्तम्। यतो जातेरधिकायाः प्रक्षेपेऽपि व्यक्तीनां रूपमतज्जातीयव्यावृत्तमेव चेत्, तदा तेनैव रूपेण शब्दविकल्पयोर्विषयीभवन्तीनां कथमतद्व्यावृत्तिपरिहारः?, अथ न विजातीयव्यावृत्तं व्यक्तिरूपं, तथाप्रतीतं वा तदा जातिप्रसादादेव इति कथमर्थतोऽपि तदवगतिरित्युक्तप्रायम्। अथ जातिबलादेवान्यतो व्यावृत्तम्। भवतु जातिबलात् स्वहेतुपरम्पराबलाद्वाऽन्यव्यावृत्तम्। उभयथाऽपि व्यावृत्तप्रतिपत्तौ व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरस्त्येव। न चागोऽपोढे गोशब्दसंकेतविधावन्योन्याश्रयदोषः; सामान्ये तद्वति वा सङ्केतेऽपि तद्दोषावकाशात्। न हि सामान्यं नाम सामान्यमात्रमभिप्रेतम्, तुरगेऽपि गोशब्दसङ्केतप्रसङ्गात्; किन्तु गोत्वम्; तावता च स एव दोषः, गवापरिज्ञाने गोत्वसामान्यापरिज्ञानात्। गोत्वसामान्यापरिज्ञाने गोशब्दवाच्यापरिज्ञानात्। तस्मात् एकपिण्डदर्शनपूर्वको यः सर्वव्यक्तिसाधारण इव बहिरध्यस्तो विकल्पबुद्ध्याकारः, तत्रायं गौरिति सङ्केतकरणे नेतरेतराश्रयदोषः। अस्मिन्मते च गोशब्दप्रवृत्तावगोशब्देन शेषस्याप्यभिधानमुचितम्। न चान्यापोढान्यापोहयोर्विरोधो, विशेष्यविशेषणतातिर्वा, परस्परव्यवच्छेदाभावात्, सामानाधिकरण्यसद्भावात्, भूतलघटाभाववत्। स्वाभावेन हि विरोधो, न पराभावेनेत्याबालप्रसिद्धम्। एष पन्थाः श्रुघ्नमुपतिष्ठते इत्यत्राप्यपोहो गम्यत एव। अप्रकृतपथान्तरापेक्षया एष एव। श्रुघ्नप्रत्यनीकानिष्टस्थानापेक्षया श्रुघ्नमेव। अरण्यमार्गवद्विच्छेदाभावादुपतिष्ठत एव, सार्थदूतादिव्यवच्छेदेन पन्था एवेति प्रतिपदं व्यवच्छेदस्य सुलभत्वात्। तस्मादपोहधर्मणो विधिरूपस्य शब्दादवगतिः; पुण्डरीकशब्दादिव श्वेतिमविशिष्टस्य पद्मस्य। यद्येवं विधिरेव शब्दार्थो वक्तुमुचितः कथमपोहो गीयत इति चेत्?, उक्तमत्रापोहशब्देनान्यापोहविशिष्टो विधिरुच्यते; तत्र विधौ प्रतीयमाने विशेषणतया तुल्यकालमन्यापोहप्रतीतिरिति। न चैवं प्रत्यक्षस्याप्यपोहविषयत्वव्यवस्था कर्तुमुचिता, तस्य शाब्दप्रत्ययस्येव वस्तुविषयत्वे विवादाभावात्। विधिशब्देन च यथाऽध्यवसायमतद्रूपपरावृत्तो बाह्योऽर्थोऽभिमतः; यथा प्रतिभासं बुद्ध्याकारश्च तत्र बाह्योऽर्थोऽध्यवसायादेव शब्दवाच्यो व्यवस्थाप्यते, न स्वलक्षणपरिस्फूर्त्या, प्रत्यक्षवद्देशकालावस्थानियतप्रव्यक्तस्वलक्षणास्फुरणात्। यच्चाह-

" शब्देनाव्यापृताक्षस्य, बुद्धावप्रतिभासनात्।
अर्थस्य दृष्टाविवेति। "

इन्द्रियशब्दस्वभावोपायभेदात् एकस्यैव प्रतिभासभेद इति चेत्?। अत्राप्युक्तम्-

"जातो नामाश्रयोऽन्यान्यः, चेतसाऽस्तस्य वस्तुनः।
एकस्यैव कुतो रूपं, भिन्नाकारावभासि तत्?" ॥ १ ॥

न हि स्पष्टास्पष्टे द्वे रूपे परस्परविरुद्धे एकस्य वस्तुनः स्तः, यत एकेनेन्द्रियबुद्धौ प्रतिभासेतान्येन विकल्पे, तथा सति वस्तुन एव भेदप्राप्तेः। न हि स्वरूपभेदादपरो वस्तुभेदः। न च प्रतिभास-

भेदादपरस्वरूपभेदः, अन्यथा त्रैलोक्यमेकमेव वस्तु स्यात्। दूरासन्नदेशवर्तिनोः पुरुषयोः एकत्र शाखिनि स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदेऽपि न शाखिभेद इति चेत्?, न ब्रूमः प्रतिभासभेदो भिन्नवस्तुनियतः, किन्तु एकविषयत्वाभावनियत इति। ततो यत्रार्थक्रियाभेदादिसचिवः प्रतिभासभेदः तत्र वस्तुभेदः, घटपटवत्। अन्यत्र पुनर्नियमेनैकविषयतां परिहरतीत्येकप्रतिभासो भ्रान्तः।

एतेन यदाह वाचस्पतिः–न च शब्दप्रत्यक्षयोर्वस्तुगोचरत्वे प्रत्ययाभेदः, कारणभेदेन पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदोपपत्तेरिति। तदनुपयोगि। परोक्षप्रत्ययस्य वस्तुगोचरत्वासमर्थनात्। परोक्षताऽऽश्रयस्तु कारणभेद इन्द्रियगोचरग्रहणविरहेणैव कृतार्थः। न च शाब्दे प्रत्यये स्वलक्षणं परिस्फुरति। किञ्च–स्वलक्षणात्मनि वस्तुनि वाच्ये सर्वात्मना प्रतिपत्तेः विधिनिषेधयोरयोगः। तस्य हि सद्भावेऽस्तीति व्यर्थम्, नास्ति इत्यसमर्थम्; असद्भावे नास्तीति व्यर्थम्, अस्ति इत्यसमर्थम्। अस्ति चास्त्यादिपदप्रयोगः। तस्मात् शब्दप्रतिभासस्य बाह्यार्थभावाभावसाधारण्यं न तद्विषयतां क्षमते। यच्च वाचस्पतिना जातिमद्व्यक्तिवाच्यतां वदतैव प्रस्तुत्याऽनन्तरमेव न च शब्दार्थस्य जातेर्भावाभावसाधारण्यं नोपपद्यते; सा हि स्वरूपतो नित्याऽपि देशकालविप्रकीर्णानेकव्यक्त्याश्रयतया भावाभावसाधारणीभवत्यस्ति-नास्ति-संबन्धयोग्या। वर्तमानव्यक्तिसम्बन्धिता हि जातेरस्तिता; अतीतानागतव्यक्तिसम्बन्धिता च नास्तितेति संदिग्धव्यतिरेकित्वादनैकान्तिकं भावाभावसाधारण्यमन्यथासिद्धं चेति विलपितम्, तावत्प्रकृतक्षतिः, जातौ भरं न्यस्यता स्वलक्षणावाच्यत्वस्य स्वयं स्वीकारात्। किञ्च–सर्वत्र पदार्थस्य स्वलक्षणस्वरूपेणैवास्तित्वादिकं चिन्त्यते। जातेस्तु वर्तमानादिव्यक्तिसम्बन्धोऽस्तित्वादिकमिति तु बालप्रतारणम्। एवं जातिमद्व्यक्तिवचनेऽपि दोषः; व्यक्तेश्चेत् प्रतीतिसिद्धिः, जातिरधिका प्रतीयताम्; मा वा, न तु व्यक्तिप्रतीतिदोषान्मुक्तिः।

एतेन यदुच्यते कौमारिलैः–सभागत्वादेव वस्तुनो न साधारण्यदोषः। वृक्षत्वं ह्यनिर्धारितभावाभावं शब्दादवगम्यते। तयोरन्यतरेण शब्दान्तरावगतेन संबध्यत इति। तदप्यसङ्गतम्। सामान्यस्य नित्यस्य प्रतिपत्तावनिर्धारितभावाभावत्वायोगात्। यच्चेदं न च प्रत्यक्षस्येव शब्दानाम् अर्थप्रत्यायनप्रकारो येन तद्वदेव इवास्त्यादिशब्दापेक्षा न स्यात्, विचित्रशक्तित्वात् प्रमाणानामिति। तदप्यैन्द्रियकशाब्दप्रतिभासयोरेकस्वरूपग्राहित्वे भिन्नावभासदूषणेन दूषितम्, विचित्रशक्तित्वं च प्रमाणानां साक्षात्काराध्यवसायाभ्यामपि चरितार्थम्। ततो यदि प्रत्यक्षार्थप्रतिपादनं शाब्देन तद्वदेवावभासः स्यात्, अन्वयांश्च न तद्विषयख्यापनं क्षमते। ननु वृक्षशब्देन वृक्षत्वांशे चोदिते सत्त्वाद्यंशनिश्चयनार्थमस्त्यादिपदप्रयोग इति चेत्?, निरंशत्वेन प्रत्यक्षसमधिगतस्य स्वलक्षणस्य कोऽवकाशः पदान्तरेण; धर्मान्तरविधिनिषेधयोः प्रमाणान्तरेण वा। प्रत्यक्षेऽपि प्रमाणान्तरापेक्षा दृष्टेति चेत्?, भवतु तस्यानिश्चयात्मत्वात् अनभ्यस्तस्वरूपविषये, विकल्पस्तु स्वयं निश्चयात्मको यत्र ग्राही तत्र किमपरेण?, अस्ति च शब्दलिङ्गान्तरापेक्षा, ततो न वस्तुस्वरूपग्रहः। ननु भिन्ना जात्यादयो धर्माः परस्परं धर्मिणश्चेति जातिलक्षणैकधर्मद्वारेण प्रतीतेऽपि शाखिनि धर्मान्तरवत्तथा न प्रतीतिरिति किञ्च भिन्नाभिधानाधीनो धर्मान्तरस्य नीलचलोच्चैस्तरत्वादेरवबोधः। तदेतदसङ्गतम्। अखण्डात्मनः स्वलक्षणस्य प्रत्यक्षे प्रतिभासात्। दृश्यस्य धर्मधर्मिभेदस्य प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्तत्वात्, अन्यथा सर्वं सर्वत्र स्यादिति अतिप्रसङ्गः। काल्पनिकभेदाश्रयस्तु धर्मधर्मिव्यवहार इति प्रसाधितं शास्त्रे; भवतु वा पारमार्थिको धर्मधर्मिभेदः, तथाऽप्यनयोः समवायादेर्दूषितत्वादुपकारलक्षणैव प्रत्यासत्तिरेषितव्या। एवं च यदैन्द्रियप्रत्यासत्त्या प्रत्यक्षेण धर्मिप्रतिपत्तौ सकलतद्धर्मप्रतिपत्तिः। तथा शब्दलिङ्गाभ्यामपि वाच्यवाचकादिसंबन्धप्रतिबद्धाभ्यां धर्मिप्रतिपत्तौ निरवशेषतद्धर्मप्रतिपत्तिर्भवेत्, प्रत्यासत्तिमात्रस्याविशेषात्। यच्च वाचस्पतिः–न चैकोपाधिना सत्त्वे विशिष्टे तस्मिन् गृहीते, उपाध्यन्तरविशिष्टतद्ग्रहः। स्वभावो हि द्रव्यस्य उपाधिभिर्विशिष्यते; न तूपाधयो वा, विशेष्यत्वं वा, तस्य स्वभाव इति। तदपि प्लवत एव। न ह्यभेदादुपाध्यन्तरग्रहणस्वभासञ्जितम्। भेदं पुरस्कृत्यैवोपकारकग्रहणे उपकार्यग्रहणप्रसञ्जनात्। न चाग्निधूमयोः कार्यकारणभाव एव, स्वभावत एव धर्मधर्मिणोः प्रतिनियमकल्पनमुचितम्, तयोरपि प्रमाणसिद्धत्वात्। प्रमाणसिद्धे च स्वभावोपवर्णनमिति न्यायः। यच्चात्र न्यायभूषणेन सूर्यादिग्रहणे तदुपकार्याशेषवस्तुराशिग्रहणप्रसञ्जनमुक्तम्। तदभिप्रायानवगाहनफलम्। तथाहि–स्वमते धर्मधर्मिणोर्भेदः, उपकारलक्षणैव च प्रत्यासत्तिः। तदोपकारकग्रहणे समानदेशस्यैव धर्मरूपस्यैव चोपकार्यस्य ग्रहणमासञ्जितम्, तत् कथं सूर्योपकार्यस्य भिन्नदेशस्य द्रव्यान्तरस्य वा दृष्टव्यभिचारस्य ग्रहणप्रसङ्गः सङ्गतः। तस्मादेकधर्मद्वारेणाऽपि वस्तुस्वरूपप्रतिपत्तौ सर्वात्मप्रतीतेः, क्व शब्दान्तरेण विधिनिषेधावकाशः अस्ति च, तस्मान्न स्वलक्षणस्य शब्दविकल्पलिङ्गप्रतिभासित्वमिति स्थितम्। नापि सामान्यं शाब्दप्रत्ययप्रतिभासि। सरितः पारे गावश्चरन्तीति गवादिशब्दात् सास्नाशृङ्गलाङ्गूलादयोऽक्षराकारपरिकरिताः सजातीयभेदापरामर्शनात् संपिण्डितप्रायाः प्रतिभासन्ते। न च तदेव सामान्यम्। वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं गोत्वं हि कथ्यते। तदेव च सास्नाशृङ्गादिमात्रमखिलव्यक्त्यावृत्त्यन्तविलक्षणमपि स्वलक्षणैकीक्रियमाणं सामान्यमित्युच्यते; तादृशस्य बाह्यस्याप्राप्तेर्भ्रान्तिरेवासौ, केशप्रतिभासवत्। तस्माद्वासनावशाद्बुद्धेरेव तदात्मना विवर्तोऽयमस्तु, असदेव वा तद्रूपं ख्यातु, व्यक्तय एव वा सजातीयभेदतिरस्कारेणान्यथा भासन्ताम्, अनुभवव्यवधानात्। स्मृतिप्रमोषो वाऽभिधीयताम्, सर्वथा निर्विषयः खल्वयं सामान्यप्रत्ययः, क्व सामान्यवार्ता?। यत् पुनः सामान्याभावे सामान्यप्रत्ययस्याकस्मिकत्वमुक्तम्?। तदयुक्तम्। यतः पूर्वपिण्डदर्शनस्मरणसहकारिणाऽतिरिच्यमानाविशेषप्रत्ययजनिका सामग्री निर्विषयं सामान्यविकल्पमुत्पादयति; तदेवं न शाब्दप्रत्यये जातिः प्रतिभाति, नापि प्रत्यक्षे, न चानुमानतोऽपि सिद्धिः; अदृश्यत्वे प्रतिबद्धलिङ्गादर्शनात्। नापीन्द्रियवदस्याः सिद्धिः, ज्ञानकार्यतः कादाचित्कस्यैव निमित्तान्तरस्य सिद्धेः। यदाऽपि पिण्डान्तरेऽन्तराले वा गोबुद्धेरभावं दर्शयेत्; तदा शाबलेयादिसकलगोपिण्डानामभावादभावो गोबुद्धेरुपपद्यमानः कथमर्थान्तरमाक्षिपेत्?; गोत्वादेव गोपिण्डः, अन्यथा तुरगोऽपि गोपिण्डः स्यात्, यद्येवं गोपिण्डादेव गोत्वमन्यथा तुरगत्वमपि गोत्वं स्यात्, तस्मात् कारणपरम्परात एव गोपिण्डो, गोत्वं तु भवतु मा वा। ननु सामान्यप्रत्ययजननसामर्थ्यं यद्येकस्मात् पिण्डादभिन्नम्; तदा विजातीयव्यावृत्तं पिण्डान्तरमसमर्थम्। अथ भिन्नं, तदा तदेव सामान्यं, नाम्नि परं विवाद इति चेत्?, अभिन्नैव सा शक्तिः प्र-

तिवस्तु; यथा त्वेकः शक्तस्वभावो भावः तथा अन्योऽपि भवन् कीदृशं दोषमावहति ?, यथा भवतां जातिरेकाऽपि समानध्वनिप्रसवहेतुरन्याऽपि स्वरूपेणैव जात्यन्तरनिरपेक्षा, तथाऽस्माकं व्यक्तिरपि जातिनिरपेक्षा स्वरूपेणैव भिन्ना हेतुः ।

यत्तु त्रिलोचनः-अश्वत्वगोत्वादीनां सामान्यविशेषाणां स्वाश्रये समवायः सामान्यम्; सामान्यमित्यभिधानप्रत्यययोर्निमित्तमिति । यद्येवं व्यक्तिष्वप्ययमेव तथाभिधानप्रत्ययहेतुरस्तु किं सामान्यस्वीकारप्रमादेन ? । न च समवायः सम्भवी ॥

" इहेति बुद्धेः समवायसिद्धि-रिहेति धीश्च द्वयदर्शने स्यात् ।
न च क्वचित्तद्विषये त्वपेक्षा, स्वकल्पनामात्रमतोऽनुपायः" ॥ १ ॥

एतेन येयं प्रत्ययानुवृत्तिरनुवृत्तवस्त्वनुयायिनी कथमत्यन्तभेदिनीषु व्यक्तिषु व्यावृत्तविषयप्रत्ययभावानुपातिनीषु भवितुमर्हतीत्युद्धावनं सनमस्य प्रत्याख्यानम् । जातिष्वेव परस्परव्यावृत्ततया व्यक्तीयमानास्वनुवृत्तप्रत्ययेन व्यभिचारात् । यत्त पुनरनेन विपर्यये बाधकमुक्तम्, अभिधानप्रत्ययानुवृत्तिः कुतश्चिन्निवृत्य क्वचिदेव भवन्ती निमित्तवती । न चान्यन्निमित्तमित्यादि । तन्न सम्यक् । अनुवृत्तमन्तरेणापि अभिधानप्रत्ययानुवृत्तेरतद्रूपपरावृत्तस्वरूपविशेषात् अवश्यं स्वीकारस्य साधितत्वात् । तस्मात्-

" तुल्यभेदे यया जातिः, प्रत्यासत्त्या प्रसर्पति ।
क्वचिन्नान्यत्र सैवास्तु, शब्दज्ञाननिबन्धनम् " ॥ १ ॥

यत्तु पुनरत्र न्यायभूषणेनोक्तम्-नह्येवं भवति यया प्रत्यासत्त्या दण्डसूत्रादिकं प्रसर्पति क्वचिन्नान्यत्र सैव प्रत्यासत्तिः पुरुषस्फटिकादिषु दण्डिसूत्रित्वादिव्यवहारनिबन्धनमस्तु किं दण्डसूत्रादिनेति । तदसङ्गतम् । दण्डसूत्रयोर्हि पुरुषस्फटिकप्रत्यासन्नयोर्दृष्टयोः दण्डिसूत्रिप्रत्ययहेतुत्वं नापलप्यते । सामान्यं तु स्वप्नेऽपि न दृष्टम् । तत्कथमिदं परिकल्पनीयं तदा वरं प्रत्यासत्तिरेव सामान्यप्रत्ययहेतुः परिकल्प्यताम्, किं गुर्व्या परिकल्पनयेत्यभिप्रायापरिज्ञानात् ।

अथेदं जातिप्रसाधकमनुमानमभिधीयते-यद्विशिष्टज्ञानं तद्विशेषणग्रहणनान्तरीयकम् । यथा दण्डिज्ञानम् । विशिष्टज्ञानं चेदं-गौरयमित्यर्थतः कार्यहेतुः; विशेषणानुभवकार्यं हि दृष्टान्ते विशिष्टबुद्धिः सिद्धेति । अत्रानुयोगः विशिष्टबुद्धेर्भिन्नविशेषणग्रहणनान्तरीयकत्वं वा साध्यम्; विशेषणमात्रानुभवनान्तरीयकत्वं वा ? । प्रथमपक्षे पक्षस्य प्रत्यक्षबाधासाधनावधानमनवकाशयति वस्तुग्राहिणः प्रत्यक्षस्योभयप्रतिभासाभावात् विशिष्टबुद्धित्वं च सामान्यम् । हेतुरनैकान्तिकः । भिन्नविशेषणग्रहणमन्तरेणापि दर्शनात्, यथा स्वरूपवान् घटः । गोत्वं सामान्यमिति वा । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यम् । स्वरूपवान् घट इत्यादिवत् गोत्वजातिमान् पिण्ड इति परिकल्पितं भेदमुपादाय विशेषणविशेष्यभावस्येष्टत्वादगोव्यावृत्तानुभवभावित्वात् गौरयमिति व्यवहारस्य । तदेव न सामान्यबुद्धिः । बाधकं च सामान्यगुणकर्माद्युपाधिचक्रस्य, केवलव्यक्तिग्राहकं पटुप्रत्यक्षम् । दृश्यानुपलम्भो वा प्रसिद्धः । तदेवं विधिरेव शब्दार्थः । स च बाह्योऽर्थो बुद्ध्याकारश्च विवक्षितः तत्र, न बुद्ध्याकारस्य तत्त्वतः संवृत्या वा विधिनिषेधौ, स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्यत्वात्, अनध्यवसायाच्च । नापि तत्त्वतो बाह्यस्यापि विधिनिषेधौ, तस्य शाब्दे प्रत्ययेऽप्रतिभासनात् । अत एव सर्वधर्माणां तत्त्वतोऽनभिलाप्यत्वं प्रतिभासाध्यवसायाभावात् तस्मात् बाह्यस्यैव साम्वृतौ विधिनिषेधौ । अन्यथा संव्यवहारहानिप्रसङ्गात् । तदेवं—

"नाकारस्य न बाह्यस्य, तत्त्वतो विधिसाधनम् ।
बहिरेव हि संवृत्या, संवृत्याऽपि तु नाकृतेः ॥ १ ॥"

एतेन यद्धर्मोत्तरः-आरोपितस्य बाह्यत्वस्य विधिनिषेधावित्यलौकिकमनागममतार्किकीयं कथयति । तदपहस्तितम् । नन्वध्यवसाये यद्यध्यवसेयं वस्तु न स्फुरति तदा तदध्यवसितमिति कोऽर्थः ?, अप्रतिभासेऽपि प्रवृत्तिविषयीकृतमिति योऽर्थः । अप्रतिभासाविशेषे विषयान्तरपरिहारेण कथं नियतविषया प्रवृत्तिरिति चेत् ?, उच्यते-यद्यपि विश्वमगृहीतं तथापि विकल्पस्य नियतसामग्रीप्रसूतत्वेन नियताकारतया नियतशक्तित्वात् नियता एव जलादौ प्रवृत्तिः । धूमस्य परोक्षाग्निज्ञानजननवत् ।

नियतविषया हि भावाः प्रमाणपरिनिष्ठितस्वभावा न शक्तिसाङ्कर्यपर्यनुयोगभाजः । तस्मात् तदध्यवसायित्वमाकारविशेषयोगात् तत्प्रवृत्तिजनकत्वम् । न च सादृश्याद्वारोपेण प्रवृत्तिं ब्रूमः, येनाकारे बाह्यस्य बाह्ये वा आकारस्यारोपद्वारेण दूषणावकाशः, किं तर्हि स्ववासनाविपाकवशादुपजायमानैव बुद्धिरपश्यन्त्यपि बाह्यं बाह्ये वृत्तिमातनोतीति विप्लुतैव । तदेवमन्याभावविशिष्टो विजातिव्यावृत्तोऽर्थो विधिः । स एव चापोहशब्दवाच्यः शब्दानामर्थः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयश्चेति स्थितम् ।

अत्र प्रयोगः--यद् वाचकं तत्सर्वमध्यवसितातद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रगोचरम्; यथेह कूपे जलमिति वचनम् । वाचकं चेदं गवादिशब्दरूपमिति स्वभावहेतुः । नायमसिद्धः, पूर्वोक्तेन न्यायेन पारमार्थिकवाच्यवाचकभावस्याभावेऽपि अध्यवसायकृतस्य सर्वव्यवहारिभिरवश्यं स्वीकर्तव्यत्वात् । अन्यथा सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात् । नाऽपि विरुद्धः, सपक्षे भावात् । न चानैकान्तिकः, तथाहि-शब्दानामध्यवसितविजातिव्यावृत्तवस्तुमात्रविषयत्वमनिच्छद्भिः परैः परमार्थतः—

" वाच्यं स्वलक्षणमुपाधिरुपाधियोगः,
सोपाधिरस्तु यदि वा कृतिरस्तु बुद्धेः । "

गत्यन्तराभावात् । अविषयत्वे च वाचकत्वायोगात् । तत्र-

" आद्यन्तयोर्न समयः फलशक्तिहाने-
र्मध्येऽप्युपाधिविरहात् त्रितयेन युक्तः ॥ "

तदेवं वाच्यान्तरस्याभावात् । विषयवत्त्वलक्षणस्य व्यापकस्य निवृत्तौ विपक्षतो निवर्त्तमानं वाचकत्वमध्यवसितबाह्यविषयत्वेन व्याप्यत इति व्याप्तिसिद्धिः ।

" शब्दैस्तावन्मुख्यमाख्यायतेऽर्थः,
तत्रापोहस्तद्गुणत्वेन गम्यः ।
अर्थश्चैकोऽध्यासतो भासतोऽन्यः,
स्थाप्यो वाच्यस्तत्त्वतो नैव कश्चित् ॥ "

अथापोहसिद्धिर्जैनाचार्यैरित्थं पराक्रियते-

" अथ श्रीमदनेकान्त--समुद्रोषपिपासितः ।
अपोहमापिबामि द्राक्, वीक्षन्तां भिक्षवः क्षणम् " ॥ १ ॥

इह तावद्विकल्पानां तथाप्रतीतिपरिहृतविरुद्धधर्माध्यासकथञ्चित्तादात्म्यापन्नसामान्यविशेषस्वरूपवस्तुलक्षणलक्षणर्द्धिकारीक्षितत्वं प्राक् प्राकट्यत । ततस्तत्त्वतः शब्दानामपि तत्प्रसिद्धमे-

व। यतोऽजलि युष्मदीयैः—"स एव शब्दानां विषयो यो विकल्पानाम्" इति कथमपोहः शब्दार्थः स्यात्?। अस्तु वा, तथाऽप्यनुमानवत् किं न शब्दः प्रमाणमुच्यते। अपोहगोचरत्वेऽपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, तत एव शब्दोऽपि प्रमाणमस्तु। अतीतानागताम्बरसरोजादिष्वसत्स्वपि शब्दोपलम्भान्नार्थप्रतिबन्ध इति चेत्, तर्ह्यभूद् वृष्टिः, गिरिनदीवेगोपलम्भात्, भावी भरण्युदयः, रेवत्युदयात्, नास्ति रासभशृङ्गम्, सम्यक्प्रमाणैरनुपलम्भात्, इत्यादेरर्थाभावेऽपि प्रवृत्तेऽनुमानेऽपि नार्थप्रतिबन्धः स्यात्। यदि वचोवाच्यापोहोऽपि पारम्पर्येण पदार्थप्रतिष्ठः स्यात्, तदानीमलाबूनि मज्जन्तीत्यादिविप्रतारकवाक्यापोहोऽपि तथा भवेदिति चेत्, अनुमेयापोहेऽपि तुल्यमेतत्, प्रमेयत्वादिहेत्वनुमेयापोहेऽपि पदार्थप्रतिष्ठितप्रसक्तेः। प्रमेयत्वं हेतुरेव न भवति, विपक्षासत्त्वलक्षणाभावादिति कुतस्त्या तदपोहस्य तन्निष्ठतेति चेत्, तर्हि विप्रतारकवाक्यमप्यागम एव न भवति, आप्तोक्तत्वलक्षणाभावादित्यादि समस्तं समानम्। यस्तु नाप्तोक्तत्वं वचसि विवेचयितुं शक्यमिति शाक्यो वक्ति, स पर्यनुयोज्यः—किमाप्तस्यैव कस्याप्यभावादेवमभिधीयेत, भावेऽप्यस्य निश्चयाभावात्, निश्चयेऽपि मौनव्रतिकत्वात्, वक्तृत्वेऽप्यनाप्तवचनात्, तद्वचसो विवेकावधारणाभावाद्वा। सर्वमप्येतच्चार्वाकादिवाचां प्रपञ्चात्, मातापितृपुत्रभ्रातृगुरुसुगतादिवचसां विशेषमातिष्ठमानैरप्रकटनीयमेव। न च नास्ति विशेषस्वीकारः, तत्पठितानुष्ठानघटनायामेव प्रवृत्तेर्निर्निबन्धनत्वापत्तेः। अथानुमानिकयेवाऽऽप्तशब्दादर्थप्रतीतिः; कथम्?—

"पादपार्थविवक्षावान्, पुरुषोऽयं प्रतीयते।
वृक्षशब्दप्रयोक्तृत्वात्, पूर्वावस्थास्वहं यथा॥१॥"

इति विवक्षामनुमाय, तया विवक्षेयम्, आप्तविवक्षात्वात्, मद्विवक्षावदिति वस्तुनो निर्णयादिति चेत्। तदचतुरस्रम्। अमूदृशव्यवस्थाया अनन्तरोक्तवैशेषिकपक्षप्रतिक्षेपेण कृतनिर्वचनत्वात्। किञ्च—शाखादिमति पदार्थे वृक्षशब्दसङ्केते सत्येतद्विवक्षाऽनुमानमातन्येत, अन्यथा वा। न तावदन्यथा, केनचित् कर्के घृतशब्दं संकेत्य तदुच्चारणात्, उन्मत्तसुप्तशुकशारिकादिना गोत्रस्खलनवता चान्यथाऽपि तत्प्रतिपादनाच्च हेतोर्व्यभिचारापत्तेः। संकेतपक्षे तु यद्येष तपस्वी शब्दस्तद्वशाद्वस्त्वेव वदेत्, तदा किं नाम क्षूणं स्यात्। न खल्वेषोऽर्थाद्बिभेति। विशेषलाभश्चैवं सति यदेवंविधाननुभूयमानपारम्पर्यपरित्याग इति। यदवादि—परमार्थतः सर्वतोऽव्यावृत्तस्वरूपेषु स्वलक्षणेष्वेकार्थकारित्वेनेत्यादि। तदसत्यम्। यतोऽर्थस्य वाहदोहादेरेकत्वम्, अभिन्नरूपत्वं, समानत्वं वा विवक्षितम्?। न तावदाद्यः पक्षः, षण्डमुण्डादौ कुण्डकाण्डभाण्डादिवाहादेरर्थस्य भिन्नभिन्नस्यैव संदर्शनात्। द्वितीयपक्षेऽपि सदृशपरिणामास्पदत्वम्, अन्यव्यावृत्त्यधिष्ठितत्वं वा समानत्वं स्यात्?। न प्राच्यः प्रकारः, सदृशपरिणामस्य सौगतैरस्वीकृतत्वात्। न द्वितीयः, अन्यव्यावृत्तेरतात्त्विकत्वेन वान्ध्येयस्येव स्वलक्षणेऽधिष्ठानासंभवात्। किञ्च—अन्यतः सामान्येन, विजातीयाद्वा व्यावृत्तिरन्यव्यावृत्तिर्भवेत्?। प्रथमपक्षे, न किञ्चिदसमानं स्यात्, सर्वस्यापि सर्वतो व्यावृत्तत्वात्। द्वितीये तु विजातीयत्वं वाजिकुञ्जरादिकार्याणां वाहादिसजातीयत्वे सिद्धे सति स्यात्, तच्चान्यव्यावृत्तिरूपमन्येषां विजातीयत्वे सिद्धे सति, इति स्पष्टं परस्पराश्रयत्वमिति। एवं च कारणैक्यं, प्रत्यवमर्शैक्यं च विकल्प्य दूषणीयम्। अपि च—यदि बुद्धिप्रतिबिम्बात्मा शब्दार्थः स्यात्, तदा कथमतो बहिरर्थे प्रवृत्तिः स्यात्?। स्वप्रतिभासेऽनर्थेऽर्थाध्यवसायाच्चेत्। ननु कोऽयमर्थाध्यवसायो नाम?। अर्थसमारोप इति चेत्, तर्हि सोऽयमर्थानर्थयोरग्निमाणवकयोरिव तद्विकल्पविषयभावे सत्येव समुत्पत्तुमर्हति। न च समारोपविकल्पस्य स्वलक्षणं कदाचन गोचरतामञ्चति। यदि चानर्थेऽर्थसमारोपः स्यात्, तदा वाहदोहाद्यर्थक्रियार्थिनः सुतरां प्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि दाहपाकाद्यर्थी समारोपितपावकत्वे माणवके कदाचित्प्रवर्तते। रजतरूपतोऽवभासमानशुक्तिकायामिव रजतार्थिनोऽर्थक्रियार्थिनो विकल्पात्तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्। भ्रान्तिरूपस्तर्ह्ययं समारोपः, तथा च कथं ततः प्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी कृतार्थः स्यात्। यथा शुक्तिकायां प्रवृत्तो रजतार्थक्रियार्थीति। यदपि प्रोक्तम्—कार्यकारणभावस्यैव वाच्यवाचकतया व्यवस्थापितत्वादिति। तदप्ययुक्तम्। यतो यदि कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः स्यात्, तदा श्रोत्रज्ञाने प्रतिभासमानः शब्दः स्वप्रतिभासस्य भवन्नेव कारणमिति तस्याप्यसौ वाचकः स्यात्। यथा च विकल्पस्य शब्दः कारणम्, एवं परम्परया स्वलक्षणमपि, अतस्तदपि वाचकं भवेदिति प्रतिनियतवाच्यवाचकभावव्यवस्थानं प्रलयपद्धतिमनुधावेत्। ततः शब्दः सामान्यविशेषात्मकार्थावबोधनिबन्धनमेवेति स्थितम्॥

अथापौरुषेयत्वव्याघातः—

आगमस्यापौरुषेयत्वं स्याद्वादमञ्जर्याम्। स हि पौरुषेयो वा स्यादपौरुषेयो वा?। पौरुषेयश्चेत्सर्वज्ञकृतस्तदितरकृतो वा?। आद्यपक्षे युष्मन्मतव्याहतिः। तथा च भवत्सिद्धान्तः—

"अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते।
नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः"॥१॥

द्वितीयपक्षे तु तत्र दोषवत्कर्तृकत्वेनाऽनाश्वासप्रसङ्गः। अपौरुषेयश्चेन्न संभवत्येव, स्वरूपनिराकरणात्, तुरङ्गशृङ्गवत्। तथाहि—उक्तिर्वचनमुच्यते इति चेति पुरुषक्रियानुगतं रूपमस्य एतत्क्रियाभावे कथं भवितुमर्हति। न चैतत् केवलं क्वचिद् ध्वनदुपलभ्यते, उपलब्धावप्यदृश्यवक्त्राशङ्कासम्भवात्। तस्माद्यद्वचनं तत्पौरुषेयमेव, वर्णात्मकत्वात्, कुमारसम्भवादिवचनवत्। वचनात्मकश्च वेदः। तथा चाहुः—

"ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः?॥१॥" इति।

श्रुतेरपौरुषेयत्वमुररीकृत्यापि तावद्भवद्भिरपि तदर्थव्याख्यानं पौरुषेयमेवाङ्गीक्रियते। अन्यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यस्य स्वमांसं भक्षयेदिति किं नार्थो, नियामकाभावात्ततोऽवरं सूत्रमपि पौरुषेयमभ्युपगतम्। अस्तु वा अपौरुषेयस्तथापि तस्य न प्रामाण्यम्, आप्तपुरुषाधीना हि वाचां प्रमाणतेति। यत्तु कर्त्रस्मरणं साधनं तद्विशेषणं सविशेषणं वा वर्ण्येत?, प्राक्तनं तावत्पुराणकूपप्रासादारामविहारादिव्यभिचारि, तेषां कर्त्रस्मरणेऽपि पौरुषेयत्वात्। द्वितीयं तु सम्प्रदायाव्यवच्छेदे सति कर्तृस्मरणादिति व्यधिकरणासिद्धः, कर्तृस्मरणस्य श्रुतेरन्यत्राश्रये पुंसि वर्तमानात्। अथापौरुषेयी श्रुतिः, सम्प्र-

दायाऽव्यवच्छेदे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादाकाशवदित्यनुमानरचनायामनवकाशा व्यधिकरणासिद्धिः नैवम्, एवमपि विशेषणे संदिग्धासिद्धतापत्तेः। तथा ह्यादिमतामपि प्रासादादीनां सम्प्रदायो व्यवच्छिद्यमानो विलोक्यते, प्रमादेयस्तु श्रुतेरव्यवच्छेदी संप्रदायोऽद्यापि विद्यत इति मृतकमुष्टिबन्धमनुकार्षीत्। तथा च कथं न संदिग्धासिद्धं विशेषणं विशेष्यमप्युभयासिद्धं वादिप्रतिवादिभ्यां तत्र कर्तुः स्मरणात्। न तु श्रोत्रियाः श्रुतौ कर्तारं स्मरन्तीति मृषोद्यं श्रोत्रियापसदाः खल्वमी इति चेन्ननु यूयमाम्नायमाम्नासिष्ट तावत्ततो 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोतीति प्रजापतिः सोमं राजानमन्वसृजत्ततस्त्रयो वेदा अन्वसृज्यन्तेति च' स्वयमेव स्वस्य कर्तारं स्मारयन्तीं श्रुतिं विश्रुतामिव गणयन्तो यूयमेव श्रोत्रियापसदाः किन्न स्यात्। किं च-क एवमाध्यन्दिनितित्तिरिप्रभृतिमुनिनामाङ्किताः काश्चन शाखास्तत्कृतत्वादेव मन्वादिस्मृत्यादिवदुत्सन्नानां तासां कल्पादौ तैर्दृष्टत्वात्, प्रकाशितत्वाद्वा तन्नामचिह्नेऽनादौ कालेऽनन्तमुनिनामाङ्कितत्वं तासां स्यात्। जैनाश्च कालासुरमेतत्कर्तारं स्मरन्ति। कर्तृविशेषविप्रतिपत्तेरप्रमाणमेवैतत्स्मरणमिति चेत्, नैवम्। यतो यत्रैव विप्रतिपत्तिः तदेवाप्रमाणमस्तु, न पुनः कर्तृमात्रस्मरणमपि।

" वेदस्याध्ययनं सर्वं, गुर्वध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वाद्-धुनाऽध्ययनं यथा ॥ १ ॥
अतीतानागतौ कालौ, वेदकारविवर्जितौ।
कालत्वात्तद्यथा कालौ, वर्तमानः समीक्ष्यते " ॥ २ ॥

इति कारिकोक्तैर्वेदाध्ययनवाच्यत्वकालत्वेऽपि हेतुः कुरङ्गशृङ्गभङ्गुरं कुरङ्गाक्षीणां चेत इति वाक्याध्ययनं गुर्वध्ययनपूर्वकमेतद्वाक्याध्ययनवाच्यत्वादधुनातनाध्ययनवदतीतानागतौ कालौ प्रक्रान्तवाक्यकर्तृवर्जितौ कालत्वाद्वर्तमानकालवदिति वेदप्रयोजकत्वादनाकर्णनीयौ सकर्णानाम्। अर्थापत्तेरपौरुषेयत्वनिर्णयो वेदस्य। तथाहि-संवादविसंवाददर्शनादर्शनाभ्यां तावदेव निःशेषपुरुषैः प्रामाण्येन निर्णीयेत, तन्निर्णयश्चास्य पौरुषेयत्वे दुरापः। यतः-

"शब्दे दोषोद्भवस्ताव-द्वक्त्रधीन इति स्थितिः।
तदभावः क्वचित्तावद्, गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ १ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां, शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्।
वेदे तु गुणवान् वक्ता, निर्णेतुं नैव शक्यते ॥ २ ॥
ततश्च दोषाभावोऽपि, निर्णेतुं शक्यतां कथम्।
वक्त्रभावे तु सुज्ञानो, दोषाभावो विभाव्यते ॥ ३ ॥
यस्माद्वक्तुरभावेन, न स्युर्दोषा निराश्रयाः" ।

ततः प्रामाण्यनिर्णयान्यथाऽनुपपत्तेरपौरुषेयोऽयमिति। अस्तु तावदत्र कृपणपशुपरम्पराप्राणव्यपरोपणप्रगुणप्रचुरोपदेशापवित्रत्वादप्रमाणमेवैष इत्यनुत्तरोत्तरप्रकारः प्रामाण्यनिर्णयोऽप्यस्य न साध्यसिद्धिर्विरुद्धत्वात्, गुणवद्वक्तृकतायामेव वाक्येषु प्रामाण्यनिर्णयोपपत्तेः। पुरुषो हि यथा रागादिमान् मृषावादी तथा सत्यशौचादिमान् वितथवचनः समुपलब्धः, श्रुतौ तु तदुभयाभावे नैरर्थक्यमेव भवेत्। कथं वक्तुर्गुणित्वनिश्चयश्छन्दसीति चेत् कथं पितृपितामहप्रपितामहादेरप्यसौ तस्माच्च तद्वत्तत्त्वरत्नाकरश्रेणेः पारम्पर्योपदेशस्य चानुसारेण ग्राह्यदेयनिधानादौ निःशङ्कः प्रवर्तेथाः, क्वचित् संवादाच्चेदत्रान्यत्रापि प्रतीहि कारीर्यादौ संवाददर्शनात्। कदाचित् क्वचित् संवादस्तु सामग्रीवैगुण्यात् त्वयाऽपि प्रतीयत एवं प्रतीतासमन्त्रोपदिष्टमन्त्रवत्। प्रतिपादितश्च प्राक् रागद्वेषाज्ञानशून्यपुरुषविशेषनिर्णयः किं चास्य व्याख्यानं तावत्पौरुषेयमेवापौरुषेयत्वे भावना नियोगादिविरुद्धव्याख्याने भेदाभावप्रसङ्गात्, तथा च को नामात्र विश्रम्भो भवेत्; कथं चैतद् ध्वनीनामर्थनिर्णीतिर्लौकिकध्वन्यनुसारेणेति चेत् किं न पौरुषेयत्वनिर्णीतिरपि तत्रोभयस्यापि विभावनादन्यथा अर्द्धजरतीयम्। न च लौकिकार्थानुसारेण मदीयोऽर्थः स्थापनीय इति श्रुतिरेव स्वयं वक्ति। न च जैमिन्यादावपि तथा कथयति प्रत्यय इत्यपौरुषेयवचनसामर्थ्योऽप्यन्य एव कोऽपि संभाव्येत, पौरुषेयीणामपि म्लेच्छार्यवाचामेकार्थ्ये नास्ति किं पुनरपौरुषेयवाचां, ततः परमकृपापीयूषप्लावितान्तःकरणः कोऽपि पुमान् निर्दोषः प्रसिद्धार्थैर्ध्वनिभिः स्वाध्यायं विधाय व्याख्यातीदानींतनग्रन्थकारवदिति युक्तं पश्यामः। प्रवोचाम च—" ग्रन्थः स्वीकुरुषे प्रमाणमथ चेत्तद्वाच्यनिश्चायकं। कंचित्त्वमविदं न जल्पसि ततो ज्ञातोऽस्य मूल्यक्रयी " इति आगमोऽपि नापौरुषेयत्वमाख्याति। पौरुषेयत्वाविष्कारिण एवास्योक्तवद् सद्भावात्। अपि चेयमानुपूर्वी पिपीलिकादीनामिव देशकृताङ्कुरपत्रकदलकाण्डादीनामिव कालकृता चावर्णानां वेदे न संभवति, तेषां नित्यव्यापकत्वात्। क्रमेणाभिव्यक्तेः सा संभवतीति चेत्तर्हि कथमियमपौरुषेयी भवेदभिव्यक्तिः, पौरुषेयत्वादिति सिद्धा पौरुषेयी श्रुतिः।

अथ जगत्कर्तृत्वविध्वंसः—

यत्तावदुच्यते परैः-क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृकाः कार्यत्वात् घटवदिति। तदयुक्तम्। व्याप्तेरग्रहणात्। साधनं हि सर्वत्र व्याप्तौ प्रमाणेन सिद्धायां साध्यं गमयेदिति सर्ववादिसंवादः। स खल्वयं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्?। सशरीरोऽपि किमस्मदादिवद् दृश्यशरीरविशिष्ट उत पिशाचादिवददृश्यशरीरविशिष्टः?। प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाधः। तमन्तरेणाऽपि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत्साधारणानैकान्तिको हेतुः। द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणमाहोस्विदस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यम्। प्रथमप्रकारः कोशपानप्रत्यायनीयः। तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्, तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति। द्वैतीयीकस्तु प्रकारो न संचरत्येव विचारगोचरे; संशयानिवृत्तेः। किं तस्याऽसत्त्वाददृश्यशरीरत्वं, वान्ध्येयादिवत्, किं वाऽस्मदाद्यदृष्टवैगुण्यात्पिशाचादिवदिति निश्चयाभावात्। अशरीरश्चेत्तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्। घटादयो हि कार्यरूपाः सशरीरकर्तृका दृष्टाः। अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुतः सामर्थ्यमाकाशादिवत्। तस्मात्सशरीराशरीरलक्षणे पक्षद्वयेऽपि कार्यत्वहेतोर्व्याप्त्यसिद्धिः। किञ्च-त्वन्मतेन कालात्ययापदिष्टोऽप्ययं हेतुः। धर्म्येकदेशस्य तरुविद्युदभ्रादेरिदानीमप्युत्पद्यमानस्य विधातुरनुपलभ्यमानत्वेन प्रत्यक्षबाधितधर्म्यनन्तरं हेतुभणनात्। तदेवं न कश्चिज्जगतः कर्ता। किञ्च-स ईश्वरः खलु नित्यत्वेनैकरूपः सन् त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा?। प्रथमविधायां जगन्निर्माणात्कदाचिदपि नोपरमेत। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानिः। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानादेकस्यापि कार्यस्य न सृष्टिः। घटो हि स्वारम्भक्षणादारभ्य परिसमाप्तेरुपान्त्यक्षणं यावन्निश्चयनयाभिप्रायेण न

घटव्यपदेशमासादयति । जलाहरणाद्यर्थक्रियायामसाधकतमत्वात् । अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत्तत्स्वभावायोगाद्गगनवत् । अपि च-तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत्संहारोऽपि न घटते । नानारूपकार्यकरणेऽनित्यत्वापत्तेः । स हि येनैव स्वभावेन जगन्ति सृजेत् तेनैव तानि संहरेत्,स्वभावान्तरेण वा ?। तेनैव चेत्सृष्टिसंहारयोर्यौगपद्यप्रसङ्गः, स्वभावाभेदात् । एकस्वभावात्कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात् । स्वभावान्तरेण चेन्नित्यत्वहानिः । स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः।यथा पार्थिवशरीरस्याहारपरमाणुसहकृतस्य प्रत्यहमपूर्वापूर्वोत्पादेन स्वभावभेदादनित्यत्वम् । इष्टश्च भवतां सृष्टिसंहारयोः शंभौ स्वभावभेदः । रजोगुणात्मकतया सृष्टौ, तमोगुणात्मकतया संहरणे, सात्त्विकतया च स्थितौ तस्य व्यापारस्वीकारात् । एवं चावस्थाभेदस्तद्भेदे चावस्थावतोऽपि भेदान्नित्यत्वक्षतिः । अथास्तु नित्यः सस्तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते । इच्छावशाच्चेन्ननु ता अपीच्छाः स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभाः सदैव किन्न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भः । तथा शम्भोरष्टगुणाधिकरणत्वे कार्यभेदानुमेयानां तदिच्छानामपि विषमरूपत्वान्नित्यत्वहानिः केन वार्यते ? । किञ्च-प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्वार्थकारुण्याभ्यां व्याप्ता । ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्कारुण्याद्वा ?।न तावत्स्वार्थात्,तस्य कृतकृत्यत्वात्।न च कारुण्यात्,परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम् । ततः प्राक्सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दुःखाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम् । सर्गोत्तरकाले तु दुःखिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे दुरुत्तरमितरेतराश्रयम् । कारुण्येन सृष्टिः, सृष्ट्या च कारुण्यम् इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यतीति संक्षेपः ।

अथ शब्दाकाशगुणत्वखण्डनम्–

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ।

पुद्गलैर्भाषावर्गणापरमाणुभिरारब्धः पौद्गलिकः । पौद्गलिकः शब्द इन्द्रियार्थत्वाद्रूपादिवत् । यच्चास्य पौद्गलिकत्वनिषेधाय स्पर्शशून्याश्रयत्वादतिनिविडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातात्पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धेः सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वाद्गगनगुणत्वाच्चेति पञ्च हेतवो यौगैरुपन्यस्तास्ते हेत्वाभासाः।तथा हि-शब्दपर्यायस्याश्रयो भाषावर्गणा,न पुनराकाशं,तत्र च स्पर्शो निर्णीयत एव। यथा शब्दाश्रयः स्पर्शवाननुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानानुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्तथाविधगन्धाधारद्रव्यपरमाणुवत् इत्यसिद्धः प्रथमः । द्वितीयस्तु गन्धद्रव्येण व्यभिचारादनैकान्तिकः। वर्तमानजात्यकस्तूरिकादिगन्धद्रव्यं हि पिहितद्वारापवरकस्यान्तर्विशति बहिश्च निर्याति, न चापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसम्भवान्नातिनिबिडत्वमतस्तत्र तत्प्रवेशनिष्क्रमौ, कथमन्यथोद्घाटितद्वारावस्थायामिव न तदेकार्णवत्वम्?; सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे न तयोः संभव इति चेत्तर्हि शब्देऽप्येतत्समानमित्यसिद्धो हेतुः । तृतीयस्तु तडिल्लतोल्कादिभिरनैकान्तिकः। चतुर्थोऽपि तथैव, गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारात् । नहि गन्धद्रव्यादिकमपि नासायां निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं दृश्यते। पञ्चमः पुनरसिद्धः,तथा हि-न गगनगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवदिति सिद्धः पौद्गलिकः शब्द इति । अथ नायं शब्दः पौद्गलिकः संगच्छत इति यौगाः सङ्किरमाणाः सप्रणयप्रणयिनीनामेव गौरवार्हाः। यतः कोऽत्र हेतुः?; स्पर्शशून्याश्रयत्वम्,अतिनिबिडप्रदेशे प्रवेशनिर्गमयोरप्रतिघातः,पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः,सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराऽप्रेरकत्वं,गगनगुणत्वं वा? । नाद्यः पक्षः। यतः शब्दपर्यायस्याश्रये भाषावर्गणारूपे स्पर्शाभावो न तावदनुपलब्धिमात्रात् प्रसिद्ध्यति,तस्य सव्यभिचारत्वात्। योग्यानुपलब्धिस्त्वसिद्धा तत्र स्पर्शस्यानुद्भूतत्वेनोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाभावात्, उपलभ्यमानगन्धाधारद्रव्यवत् । अथ घनसारगन्धसारादौ गन्धस्य स्पर्शाव्यभिचारनिश्चयादत्रापि तन्निर्णयेऽप्यनुपलम्भादनुद्भूतत्वं युक्तम्, नेतरत्र, तन्निर्णायकाभावात् इति चेत्, मा भूत्तावत्तन्निर्णायकं किञ्चित् , किन्तु पुद्गलानामुद्भूतानुद्भूतस्पर्शानामुपलब्धेः शब्देऽपि पौद्गलिकत्वेन परैः प्रणिगद्यमाने, बाधकाभावे च सति संदेह एव स्यात्, न त्वभावनिश्चयः, तथा च सन्दिग्धासिद्धो हेतुः । न च नास्ति तन्निर्णायकम् । तथाहि-शब्दाश्रयः स्पर्शवान्, अनुवातप्रतिवातयोर्विप्रकृष्टनिकटशरीरिणोपलभ्यमानाऽनुपलभ्यमानेन्द्रियार्थत्वात्, तथाविधगन्धाधारद्रव्यवत्, इति । द्वितीयकल्पेऽपि गन्धद्रव्येण व्यभिचारः, वर्तमानजात्यकस्तूरिकाकर्पूरकश्मीरजादिगन्धद्रव्यं हि पिहितकपाटसंपुटापवरकस्यान्तर्विशति, बहिश्च निस्सरति, नचापौद्गलिकम् । अथ तत्र सूक्ष्मरन्ध्रसंभवेनातिनिविडत्वाभावात् तत्प्रवेशनिष्काशौ; अत एव तदल्पीयस्ता, न त्वपावृतद्वारदशायामिव तदेकार्णवत्वम्, सर्वथा नीरन्ध्रे तु प्रदेशे नैतौ संभवत इति चेत्, एवं तर्हि शब्देऽपि सर्वस्य तुल्ययोगक्षेमत्वादसिद्धता हेतोरस्तु।पूर्वं पश्चाच्चावयवानुपलब्धिः,सौदामिनीदामोल्कादिभिरनैकान्तिकी।सूक्ष्ममूर्तद्रव्यान्तराप्रेरकत्वमपि गन्धद्रव्यविशेषसूक्ष्मरजोधूमादिभिर्व्यभिचारी । न हि गन्धद्रव्यादिकमपि नासि निविशमानं तद्विवरद्वारदेशोद्भिन्नश्मश्रुप्रेरकं प्रेक्ष्यते । गगनगुणत्वं त्वसिद्धम् । तथाहि-न गगनगुणः शब्दः अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवदिति । पौद्गलिकत्वसिद्धिः पुनरस्य-शब्दः पौद्गलिकः, इन्द्रियार्थत्वात्,रूपादिवदेवेत्यतितरां संक्षेपः।

अद्वैतखण्डनम्–

वेदान्तिनस्त्वेवं प्रजल्पन्ति–' सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन । आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन ' ॥ १ ॥ इति न्यायादयं प्रपञ्चो मिथ्यारूपः, प्रतीयमानत्वात् , यदेवं तदेवम् , यथा शुक्तिशकले कलधौतम्, तथा चायं, तस्मात्तथा । तदेतद्वार्तम् । तथाहि -मिथ्यारूपत्वं तैः कीदृग् विवक्षितम् । किमत्यन्तासत्त्वम् उतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वम्, आहोस्विदनिर्वाच्यत्वम् । प्रथमपक्षेऽसत्ख्यातिप्रसङ्गः । द्वितीये विपरीतख्यातिस्वीकृतिः । तृतीये तु किमिदम् अनिर्वाच्यत्वम् ?। निःस्वभावत्वं चेत् निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थत्वेऽसत्ख्यातिसत्ख्यात्यभ्युपगमप्रसङ्गः । भावप्रतिषेधेऽसत्ख्यातिरभावप्रतिषेधे सत्ख्यातिरिति । प्रतीत्य गोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेत्, अत्र विरोधः–न प्रपञ्चो, हि न प्रतीयते चेत्कथम् धर्मितयोपात्तः ?। कथं च प्रतीयमानत्वं हेतुतयोपात्तम् ? । तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते । यथा प्रतीयते, न तथेति चेत्तर्हि विपरीतख्यातिरियमभ्युपगता स्यात् । किञ्चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षबाधिता, घटोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति , घटादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादात् । इतरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चशब्द-

वाच्यत्वात्। अथ प्रत्यक्षस्य विधायकत्वात्कथं प्रतिषेधे सामर्थ्यम्। प्रत्यक्षं हि-इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति, नान्यत्स्वरूपं प्रतिषेधति।

"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं, न निषेद्धृ विपश्चितः।
नैकत्व आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते" ॥ १ ॥

इति वचनात्, इति चेन्न। अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः। पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति, नान्यथा। केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्। मुण्डभूतलग्रहणे घटाभावग्रहणवत्। तस्माद्यथा प्रत्यक्षं विधायकं प्रतिपन्नं तथा निषेधकमपि प्रतिपत्तव्यम्। अपि च-विधायकमेव प्रत्यक्षमित्यङ्गीकृते यथा प्रत्यक्षेण विद्या विधीयते, तथा किं नाविद्याऽपि इति। तथा च द्वैतापत्तिः। ततश्च सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः। तदमी वादिनोऽविद्याविवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतीयन्तोऽपि न निषेधकं तदिति ब्रुवाणाः कथं नोन्मत्ताः। इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति। अनुमानबाधितश्च-प्रपञ्चो मिथ्या न भवति, असद्विलक्षणत्वात्, आत्मवत्। प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी। स हि प्रतीयते न च मिथ्या। अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्विषयवचसामप्रवृत्तेर्मूकतैव तेषां श्रेयसी। साध्यविकलश्च दृष्टान्तः। शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन अनिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात्। किञ्चेदमनुमानं प्रपञ्चाद्भिन्नम्, अभिन्नं वा। यदि भिन्नं तर्हि सत्यमसत्यं वा। यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात्। अद्वैतवादप्राकारे खड्गपातात्। अथासत्यम्, तर्हि न किञ्चित्तेन साधयितुं शक्यम्, अवस्तुत्वात्। अभिन्नं चेत् प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यारूपत्वापत्तिः मिथ्यारूपं च तत्कथं स्वसाध्यसाधनायालम्। एवं च प्रपञ्चस्यापि मिथ्यारूपत्वासिद्धेः कथं परमब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्यात्, यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति। अथ वा प्रकारान्तरेण सन्मात्रलक्षणस्य परमब्रह्मणः साधनं दूषणं चोपन्यस्यते। ननु परमब्रह्मण एवैकस्य परमार्थसतो विधिरूपस्य विद्यमानत्वात्प्रमाणविषयत्वम्। अपरस्य द्वितीयस्य कस्यचिदप्यभावात्। तथाहि-प्रत्यक्षं तदावेदकमस्ति। प्रत्यक्षं द्विधा भिद्यते-निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात्। ततश्च निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् सन्मात्रविषयात्तस्यैकस्यैव सिद्धिः। तथा चोक्तम्-

" अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं, प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञान-सदृशं शुद्धवस्तुजम्" ॥ १ ॥

न च विधिवत्परस्परव्यावृत्तिरप्यध्यक्षत एव प्रतीयत इति द्वैतसिद्धिः, तस्य निषेधाऽविषयत्वात्, "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ" इत्यादिवचनात्। यच्च सविकल्पकप्रत्यक्षं घटपटादिभेदसाधकं तदपि सत्तारूपेणान्वितानामेव तेषां प्रकाशकत्वात् सत्ताद्वैतस्यैव साधकम्, सत्तायाश्च परमब्रह्मरूपत्वात्। तदुक्तम्-" यदद्वैतं तद्ब्रह्मणो रूपम् " इति। अनुमानादपि तत्सद्भावो विभाव्यत एव। तथाहि-विधिरेव तत्त्वं प्रमेयत्वात्। यतः प्रमाणविषयभूतोऽर्थः प्रमेयः, प्रमाणानां च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्तिसंज्ञकानां भावविषयत्वेनैव प्रवृत्तेः।

तथा चोक्तम्-

" प्रत्यक्षाद्यवतारः स्या-द्भावांशो गृह्यते यदा।
व्यापारस्तदनुत्पत्ते-रभावांशे जिघृक्षिते " ॥ १ ॥

यच्चाभावाख्यं प्रमाणं, तस्य प्रामाण्याभावान्न तत्प्रमाणम्। तद्विषयस्य कस्यचिदप्यभावात्। यत्तु प्रमाणपञ्चकविषयः स विधिरेव। तेनैव च प्रमेयत्वस्य व्याप्तत्वात्। सिद्धं प्रमेयत्वेन विधिरेव तत्त्वम्, यत्तु न विधिरूपं, तन्न प्रमेयम्। यथा खरविषाणम्। प्रमेयं चेदं निखिलं वस्तुतत्त्वम्। तस्माद् विधिरूपमेव। अतो वा तत्सिद्धिः। ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्। यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामाऽऽरामादयः पदार्थास्तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः। आगमोऽपि परमब्रह्मण एव प्रतिपादकः समुपलभ्यते-"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्, उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः" इत्यादि। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्योऽनुमन्तव्यः' इत्यादिवेदवाक्यैरपि तत्सिद्धेः। कृत्रिमेणापि आगमेन तस्यैव प्रतिपादनात्। उक्तं च-

" सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन " ॥ १ ॥

इति प्रमाणतस्तस्यैव सिद्धेः परमपुरुष एक एव तत्त्वम्, सकलभेदानां तद्विवर्तत्वात्। तथाहि-सर्वे भावा ब्रह्मविवर्ताः, सत्त्वैकरूपेणान्वितत्वात्। यद्यद्रूपेणान्वितं तत्तदात्मकमेव। यथा घटघटीशरावोदञ्चनादयो मृद्रूपेणैकेनान्विता मृद्विवर्ताः। सत्त्वैकरूपेणान्वितं च सकलं वस्तु। इति सिद्धं ब्रह्मविवर्तित्वं निखिलभेदानामिति। तदेतत्सर्वं मदिरारसाऽऽस्वादगद्गदोद्गदितमिवाभासते, विचारासहत्वात्। सर्वं हि वस्तु प्रमाणसिद्धं न तु वाङ्मात्रेण। अद्वैतमते च प्रमाणमेव नास्ति, तत्सद्भावे द्वैतप्रसङ्गात्। अद्वैतसाधकस्य प्रमाणस्य द्वितीयस्य सद्भावात्। अथ मतं लोकप्रत्यायनाय तदपेक्षया प्रमाणमप्यभ्युपगम्यते। तदसत्। तन्मते लोकस्यैवासम्भवात्। एकस्यैव नित्यनिरंशस्य परब्रह्मण एव सत्त्वात्। अथास्तु यथाकथञ्चित्प्रमाणमपि। तत्किं प्रत्यक्षमनुमानमागमो वा तत्साधकं प्रमाणमुररीक्रियते? न तावत्प्रत्यक्षम्। तस्य समस्तवस्तुजातगतभेदस्यैव प्रकाशकत्वात्, आबालगोपालं तथैव प्रतिभासनात्। 'यच्च निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं तदावेदकम्' इत्युक्तम्। तदपि न सम्यक्। तस्य प्रामाण्यानभ्युपगमात्। सर्वस्यापि प्रमाणतत्त्वस्य व्यवसायात्मकस्यैवाविसंवादकत्वेन प्रामाण्योपपत्तेः। सविकल्पकेन तु प्रत्यक्षेण प्रमाणभूतेनैकस्यैव विधिरूपस्य परब्रह्मणः स्वप्नेऽपि अप्रतिभासनात्। यदप्युक्तम्-"आहुर्विधातृ प्रत्यक्षम्" इत्यादि। तदपि न पेशलम्। प्रत्यक्षेण ह्यनुवृत्तव्यावृत्ताकारात्मकवस्तुन एव प्रकाशनात्। एतच्च प्रागेव क्षुण्णम्। न ह्यनुस्यूतमेकमखण्डं सत्तामात्रं विशेषनिरपेक्षं सामान्यं प्रतिभासते, येन यदद्वैतं तद् ब्रह्मणो रूपमित्याद्युक्तं शोभेत। विशेषनिरपेक्षसामान्यस्य खरविषाणवदप्रतिभासनात्। तदुक्तम्-

"निर्विशेषं हि सामान्यं, भवेत् खरविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वेन, विशेषास्तद्वदेव हि" ॥ १ ॥

ततः सिद्धे सामान्यविशेषात्मन्यर्थे प्रमाणविषये कुत एकस्य परमब्रह्मणः प्रमाणविषयत्वम्। यच्च प्रमेयत्वादित्यनुमानमुक्तम्, तदप्येतेनैवापास्तं बोद्धव्यम्। पक्षस्य प्रत्यक्षबाधितत्वेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वात्। यच्च तत्सिद्धौ प्रतिभासमानत्वसाधनमुक्तम्। तदपि साधनाभासत्वेन न प्रकृतसाध्यसाधनायालम्। प्रतिभासमानत्वं हि निखिलभावानां स्वतः,परतो वा?

न तावत्स्वतः; घटपटमुकुटशकटादीनां स्वतः प्रतिभासमानत्वेनासिद्धेः। परतः प्रतिभासमानत्वं च परं विना नोपपद्यते इति। यच्च परमब्रह्मविवर्तवर्तित्वमखिलभेदानामित्युक्तम्, तदप्यत्र स्थलेऽन्वीयमानद्वयाविनाभावित्वेन पुरुषाद्वैतं प्रतिबध्नात्येव। न च घटादीनां चैतन्यान्वयोऽप्यस्ति, मृदाद्यन्वयस्यैव तत्र दर्शनात्, ततो न किञ्चिदेतदपि। अतोऽनुमानादपि न तत्सिद्धिः। किञ्च-पक्षहेतुदृष्टान्ता अनुमानोपायभूताः परस्परं भिन्नाः, अभिन्ना वा?। भेदे द्वैतसिद्धिरभेदे त्वेकतारूपतापत्तिः। तत्कथमेतेभ्योऽनुमानमात्मानमासादयति। यदि च हेतुमन्तरेणापि साध्यसिद्धिः स्यात्तर्हि द्वैतस्यापि वाङ्मात्रतः कथं न सिद्धिः?।

तदुक्तम्-

"हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्, द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धि-र्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्?" ॥ १ ॥

"पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादेः,"सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इत्यादेरागमादपि न तत्सिद्धिः। तस्यापि द्वैताविनाभावित्वेन अद्वैतं प्रति प्रामाण्यासंभवात् वाच्यवाचकभावलक्षणस्य द्वैतस्यैव तत्रापि दर्शनात्।

तदुक्तम्-

"कर्मद्वैतं फलद्वैतं, लोकद्वैतं विरुध्यते।
विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्, बन्धमोक्षद्वयं तथा" ॥ १ ॥

अथ कथमागमादपि तत्सिद्धिः। ततो न पुरुषाद्वैतलक्षणमेकमेव प्रमाणस्य विषयः। इति सुव्यवस्थितः प्रपञ्चः।

ईश्वरव्यापकत्वखण्डनम्-

ईश्वरस्य सर्वगतत्वं नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना ज्ञानात्मना वा स्यात्?। प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वादितरनिर्मेयपदार्थानामाश्रयानवकाशः। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता; अस्माभिरपि निरतिशयज्ञानात्मना परमपुरुषस्य जगत्त्रयक्रोडीकरणाभ्युपगमात्। यदि परमेवं भवत्प्रमाणीकृतेन वेदेन विरोधः। तत्र हि शरीरात्मना सर्वगतत्वमुक्तम्-"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पाद्" इत्यादिश्रुतेः। यच्चोक्तं तस्य प्रतिनियतदेशवर्तित्वे त्रिभुवनगतपदार्थानामनियतदेशवृत्तीनां यथावन्निर्माणानुपपत्तिरिति। तत्रेदं पृच्छ्यते। स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत्साक्षाद्देहव्यापारेण निर्मिमीते, यदि वा सङ्कल्पमात्रेण?। आद्ये पक्षे एकस्यैव भूभूधरादेर्विधाने अक्षोदीयसः कालक्षेपस्य सम्भवाद्दीर्घीयसाऽप्यनेहसा न परिसमाप्तिः। द्वितीयपक्षे तु सङ्कल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किञ्चिद् दूषणमुत्पश्यामः। नियतदेशस्थायिनां सामान्यदेवानामपि सङ्कल्पमात्रेणैव तत्तत्कार्यसम्पादनप्रतिपत्तेः। किञ्च-तस्य सर्वगतत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽशुचिषु निरन्तरसन्तमसेषु नरकादिस्थलेष्वपि तस्य वृत्तिः प्रसज्यते। तथा चानिष्टापत्तिः। अथ युष्मत्पक्षेऽपि यदा ज्ञानात्मना सर्वजगत्त्रयं व्याप्नोतीत्युच्यते तदाऽशुचिरसास्वादादीनामप्युपलम्भसम्भावनात्, नरकादिदुःखस्वरूपसंवेदनाऽऽत्मकतया दुःखाऽनुभवप्रसङ्गाच्चानिष्टापत्तिस्तुल्यैवेति चेत्। तदेतदुपपत्तिभिः प्रतिकर्तुमशक्तस्य धूलिभिरिवावकरणम्। यतो ज्ञानमप्राप्यकारि स्वस्थलस्थमेव विषयं परिच्छिनत्ति, न पुनस्तत्र गत्वा, तत्कुतो भवदुपालम्भः समीचीनः?। न हि भवतोऽप्यशुचिज्ञानमात्रेण तद्रसास्वादानुभूतिः। तद्भावे हि स्रक्चन्दनाऽङ्गनारसवत्यादिचिन्तनमात्रेणैव तृप्तिसिद्धौ तत्प्राप्तिप्रयत्नवैफल्यप्रसक्तिरिति। यत्तु ज्ञानात्मना सर्वगतत्वे सिद्धसाधनं प्रागुक्तम्, तच्छक्तिमात्रमपेक्ष्य मन्तव्यम्। तथा च वक्तारो भवन्ति-अस्य मतिः सर्वशास्त्रेषु प्रसरति इति। न च ज्ञानं प्राप्यकारि,तस्याऽऽत्मधर्मत्वेन बहिर्निर्गमाभावात्। बहिर्निर्गमे चात्मनोऽचैतन्यापत्त्या अजीवत्वप्रसङ्गः। न हि धर्मो धर्मिणमतिरिच्य क्वचन केवलो विलोकितः। यच्च परे दृष्टान्तयन्ति-यथा सूर्यस्य किरणा गुणरूपा अपि सूर्यबिम्बकम्य भुवनं भासयन्त्येवं ज्ञानमप्यात्मनः सकाशाद्बहिर्निर्गत्य प्रमेयं परिच्छिनत्तीति। तत्रेदमुत्तरम्। किरणानां गुणत्वमसिद्धम्, तेषां तैजसपुद्गलमयत्वेन द्रव्यत्वात्। यश्च तेषां प्रकाशात्मा गुणः स तेभ्यो न जातु पृथग् भवतीति संक्षेपः।

अथैकेन्द्रियाणां भावेन्द्रियज्ञानसमर्थनेन भावश्रुतसमर्थनम्—

एकेन्द्रियाणां तावच्छ्रोत्रादिद्रव्येन्द्रियाभावेऽपि भावेन्द्रियज्ञानं किञ्चिद् दृश्यत एव, वनस्पत्यादिषु स्पष्टतल्लिङ्गोपलम्भात्। तथाहि-कलकण्ठोद्गीर्णमधुरपञ्चमोद्गारश्रवणात् सद्यः कुसुम-पल्लवादिप्रसवो विरहकवृक्षादिषु श्रवणेन्द्रियज्ञानस्य व्यक्तं लिङ्गमवलोक्यते। तिलकादितरुषु पुनः कमनीयकामिनीकमलदलदीर्घशरदिन्दुधवललोचनकटाक्षविक्षेपात् कुसुमाद्याविर्भावश्चक्षुरिन्द्रियज्ञानस्य, चम्पकादिपादपेषु तु विविधसुगन्धिगन्धवस्तुनिकुरम्बोन्मिश्रविमलशीतलसलिलसेकात् तत्प्रकटनं घ्राणेन्द्रियज्ञानस्य, बकुलादिभूरुहेषु तु रम्भातिशायिप्रवररूपवरतरुणभामिनीमुखप्रदत्तस्वच्छसुस्वादुसुरभिवारुणीगण्डूषास्वादनात् तदाविष्करणं रसनेन्द्रियज्ञानस्य, कुरबकाविटविष्वशोकादिद्रुमेषु च घनपीनोन्नतकठिनकुचकुम्भविभ्रमापन्नाजितकुम्भीनकुम्भरणन्मणिवलयक्वणत्कङ्कणाभरणभूषितभव्यभामिनीभुजलताऽवगूहनसुखात् निष्पिष्टपद्मरागचूर्णशोणतलतत्पादकमलपार्ष्णिप्रहाराच्च झगिति प्रसूनपल्लवादिप्रभवः स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्य स्पष्टं लिङ्गमभिवीक्ष्यते। ततश्च यथैतेषु द्रव्येन्द्रियासत्त्वेऽप्येतत् भावेन्द्रियजन्यं ज्ञानं सकलजनप्रसिद्धमस्ति,तथा द्रव्यश्रुताभावे भावश्रुतमपि भविष्यति। दृश्यते हि जलाद्याहारोपजीवनाद् वनस्पत्यादीनामाहारसंज्ञा, संकोचनवल्ल्यादीनां तु हस्तस्पर्शादिभीत्याऽवयवसंकोचनादिभ्यो भयसंज्ञा, विरहक-तिलक-चम्पक-केशराऽशोकादीनां तु मैथुनसंज्ञा दर्शितैव; बिल्वपलाशादीनां तु निधानीकृतद्रविणोपरिपादमोचनादिभ्यः परिग्रहसंज्ञा। नचैताः संज्ञा भावश्रुतमन्तरेणोपपद्यन्ते। तस्मात् भावेन्द्रियपञ्चकावरणक्षयोपशमाद् भावेन्द्रियपञ्चकज्ञानवद् भावश्रुतावरणक्षयोपशमसद्भावाद् द्रव्यश्रुताभावेऽपि यच्च यावच्च भावश्रुतमस्त्येवैकेन्द्रियाणामित्यलमतितरां पल्लवितेन। इत्थं सत्स्वपि प्रभूतेषु जैनदार्शनिकविषयेषु कथमल्पीयस्यस्मिन्नुपोद्घाते पार्यते दर्शयितुमिति विरम्यते कतिपयविषयप्रदर्शनेनेति-

निवेदयन्ति

संशोधकाः

॥ श्रीः ॥

मत्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी-
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात् संदीप्तजैनाऽऽगमः।
संघस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशो,
धन्यःसूरिपदाङ्कितोविजयराजेन्द्रात्परोन्योस्तिकः॥

* अर्हम् *

॥ अभिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ॥

नत्वा वीरं वन्द्यवन्द्यं, रागद्वेषविवर्जितम् ।
प्राकृतस्याकृतिरियं, छन्दोबद्धा विरच्यते ॥ १ ॥

अथ प्राकृतम् ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थ-आनन्तर्यार्थ इष्यते ।
प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र-भवं, वा तत आगतम् ॥
प्राकृतं, संस्कृतस्यान्ते, तदधिक्रियते ततः ।
सिद्धं च साध्यमानं च, द्विविधं संस्कृतं मतम् ॥
तद्योनेरेव तस्येह, लक्षणं, देशजस्य न ।
इति विज्ञापनार्थं हि, प्राकृतस्यानुशासनम् ॥
संस्कृतानन्तरं कुर्मस्तद् धीरैरवधार्यताम् ।
विभक्तिः कारकं लिङ्गं, प्रकृतिः प्रत्ययोऽभिधा ॥
समासश्चापि सर्वेऽत्र, संस्कृतस्येव प्राकृते ।
ऋ ॠ ऌ ॡ विसर्गश्च, ऐ औ ङञशषाः प्लुतः ॥
एतद्वर्ज्यो वर्णगणो, लोकाद् बोध्योऽनुवृत्तितः ।
ङञौ स्ववर्ग्यसंयुक्तौ, वर्ण्यौ च भवतो हि तौ ॥
ऐदौतौ चापि केषांचित्, कैतवं कैअवं यथा ।
सौन्दर्यं च सौंअरिअं, कौरवाः कौरवा इति ॥
अस्वरं व्यञ्जनं सर्वं, द्विवचनं तथा ।
चतुर्थ्यास्तु बहुत्वं च, न भवत्यत्र कुत्रचित् ॥

बहुलम् ॥ २ ॥

' बहुलम् ' इत्यधिकृत-माशास्त्रपरिपूरणात् ।
वेदितव्यं, यथास्थानं, तत्कार्यं दर्शयिष्यते ॥

आर्षम् ॥ ३ ॥

ऋषीणामिदमार्षं च, प्राकृतं बहुलं भवेत् ।
तत्रापि दर्शयिष्यामो, यथास्थानं यथाविधि ॥
क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ॥ ४ ॥

स्वराणां दीर्घह्रस्वत्वे, समासे भवतो मिथः ।
तत्र दीर्घस्य ह्रस्वत्वं, पूर्वं तावन्निगद्यते ॥
' अन्तर्वेदि '-पदस्थाने, ' अन्तावेई ' प्रयुज्यते ।
सप्तविंशतिरित्यत्र, ' सत्तावीसा ' भवेदिदम् ॥
क्वचिन्न ' जुवइ-जणो, ' विकल्पस्तु क्वचिद् यथा-।
वारी-मई वारि-मई, भुजयन्त्रमथोच्यते ॥
भुआ-यंतं भुअ-यंतं, अथो पतिगृहं त्विदम् ।
पई-हरं पइ-हरं, अथ वेणुवनं पदम् ॥
' वेलू-वणं वेलु-वणं, ' इत्येवमभिधीयते ।
अथ दीर्घस्य ह्रस्वत्वं, निअंबसिल इत्यपि ॥
क्वचिद् विकल्पो- जउँण-यडं च जउँणा यडं ।
नइ-सोत्तं नई-सोत्तं, वेद्यं गोरि-हरं त्विदम् ॥
गोरी-हरं, वहू-मुहं, वहु-मुहमुदाहृतम् ।

पदयोः सन्धिर्वा ॥ ५ ॥

संस्कृतोक्तं सन्धिकार्यं, व्यवस्थितविभाषया ।
प्राकृते निखिलं वेद्यं, तदुदाह्रियते यथा-॥
वासेसी वास-इसी, विसमाऽऽयवो विसम-आयवो भवति ।
दहि-ईसरो विकल्पाद्, दहीसरो, साउ-उअयं तु ॥
साऊ-अयमिति वेद्यं, ' पदयोरिति ' किं ? महइ महए ।
पाओ, पइ, वत्थाओ, मुद्धाए चापि मुद्धाइ ॥

बहुलाधिकारतावात्, क्वचिदेकस्मिन् पदेऽपि यथा-।
काहिइ काही, बिइओ, बीओ, इत्यादि बोद्धव्यम् ॥

न युवर्णस्यास्वे ॥ ६ ॥

इवर्णोवर्णयोरस्वे, परे वर्णे न संहिता ।
वंदामि अज्ज-वइरं, न वेरि-वग्गो वि अवयासो ॥
दणुइन्द-रुहिर-लित्तो, सहइ उइंदो, सहइ पसो ।
संझावहु अवऊढो, नव-वारिहरो व्व विज्जुलाभिन्नो ॥
नह-प्पभावलि अरुणो, वेद्यं चेत्याद्युदाहरणम् ॥
' युवर्णस्येति ' किं ?, गूढो-अर-तामरसप्पभम् ।
' अस्वे ' इति च किं ?, सिध्येत्, पुहवीसो यथा पदम् ॥

एदोतोः स्वरे ॥ ७ ॥

एकारौकारयोः सन्धि-र्न स्यात् क्वापि स्वरे परे ।
वहुआइ नहुल्लिहणे, आबंधंतीए कंचुअं अंगे ।
मयरद्धयसरधोरणि-धारा-छेअव्व दीसन्ति ॥
उवमासु अपज्जत्ते-भ-कलभ-दन्तावहासमूरुजुअं ।
तं चेअ मलिअ-बिस-दं-ड-विरसमालक्खिमो एण्हिं ॥
अहो अच्छरिअं चापि, ' एदोतोरिति ' किं ?, यथा-।
अत्थालोअण-तरला, इयरकईणं भमंति बुद्धीओ ।
अत्थच्चेअ निरारं-भमेंति हिअयं कइन्दाणं ॥

स्वरस्योद्वृत्ते ॥ ८ ॥

व्यञ्जनसंपृक्तो यः, स्वरो व्यञ्जनेऽवशिष्यते लुप्ते ।
उद्वृत्तः स इह स्याद्, न स्वरसन्धिस्तु तत्परतः ॥
गयणे च्चिअ गंध-उडिं, कुणन्ति, रयणी-अरो य मणुअत्तं ।
निसा-अरो य निसि अरो, बाहुलकात् क्वापि वैकल्प्यम्-॥
कुंभारो कुंभआरो च, सुरिसो च सुउरिसो ।
सन्धिरेव क्वचित् चक्का-ओ च सालाहणो यथा ॥
अत एव प्रतिषेधात्, समासेऽपि स्वरस्य तु ।
सन्धौ भिन्नपदत्वं च, वेदितव्यं मनीषिभिः ॥

त्यादेः ॥ ९ ॥

तिबादीनां स्वरस्य स्यात्, न तु सन्धिः स्वरे परे ।
यथा ' भवति इह ' स्यात्, तथा-' होइ इह ' स्मृतम् ॥

लुक् ॥ १० ॥

स्वरस्य बहुलं लुक् स्यात्, संहितायां स्वरे परे ।
निःश्वासोच्छ्वासौ नी-सासूसासा च संभवत्यत्र ।
त्रिदशेशः तियसीसो, प्रयुज्यते कोविदैरेवम् ।

अन्त्यव्यञ्जनस्य ॥ ११ ॥

शब्दानामन्तिमस्य स्याद्, व्यञ्जनस्येह लुग् यथा ।
तमो जम्मो जसो जाव, ताव चेत्यादि गद्यते ॥
समासे तु विभक्तीनां, वाक्यगानामपेक्षया ।
अन्त्यत्वं चाप्यनन्त्यत्वे, भवतीत्यवगम्यताम् ॥
यथा सभिक्खू सद्भिक्षुः, सज्जनः सज्जणोऽपि च ।
एतद्गुणा एअ-गुणा, तग्गुणा तद्गुणा इति ॥

न श्रदुदोः ॥ १२ ॥

श्रदुदित्येनयोरन्त्यं, व्यञ्जनं नैव लुप्यते ।
यथा-सद्दहियं सद्धा, उग्गयं चोन्नयं पदम् ॥

निर्दुरोर्वा ॥ १३ ॥

निर्दुरोरन्त्यलोपो वा, निस्सहं नीसहं यथा ।
दुस्सहो दूसहो चापि, दुक्खिओ दुहिओ तथा ॥

स्वरेऽन्तरश्च ॥ १४ ॥

मान्तरो निर्दुरोश्चान्त्यं, व्यञ्जनं लुप्यते स्वरे ।
निरन्तरं अंतरऽप्पा, निरसेसं दुरुत्तरम् ॥
दुरवगाहमित्यादि, क्वचिल्लुक् चापि दृश्यते ।
यथा अन्तोवरीत्यत्र, रकारो लोपमाप्तवान् ॥

स्त्रियामादविद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रवर्तमानस्य, शब्दस्यान्त्यं यदक्षरम् ।
तस्य स्थाने भवत्यात्वं, विद्युच्छब्दे तु नेष्यते ॥
प्रतिपत् पाडिवआ स्यात,संपत् संपआ च सरित् सरिआ च ।
बाहुलकात् 'सरिया' ऽप्यपि,'अविद्युतः' किं?, यथा विज्जू ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, ' रा ' इत्यादेश इष्यते ।
अयमात्त्वापवादोऽस्ति, यथा रूपं धुरा-पुरा ॥

क्षुधो हा ॥ १७ ॥

क्षुधो धस्यास्तु हादेश-स्तेन रूपं ' छुहा ' भवेत् ।

शरदादेरत् ॥ १८ ॥

शरदादेरन्तिमस्य, व्यञ्जनस्याद् भवेदिह ।
शरद् भिषग् यथा स्यातां, सरओ भिसओ क्रमात् ॥

दिक्प्रावृषोः सः ॥ १९ ॥

दिक्प्रावृषोः सो भवति, तेन स्यात् पाउसो दिसा ।

आयुरप्सरसोर्वा ॥ २० ॥

आयुषोऽप्सरसश्चान्ते, सो वा भवति, तद्यथा- ।
दीहाउसो च दीहाऊ, अच्छराऽच्छरसा भवेत् ॥

ककुभो हः ॥ २१ ॥

ककुभो भस्य ' हः ' स्यात्, ककुहा तेन सिद्ध्यति ।

धनुषो वा ॥ २२ ॥

धनुषः षस्य हो वा स्यात, धणुहं च धणू यथा ।

मोऽनुस्वारः ॥ २३ ॥

अन्तिमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।
जलं फलं गिरिं वच्छं, पेच्छेत्यादि निदर्शनम् ॥
क्वाप्यनन्त्यस्यापि यथा,-वणम्मि च वणंमि च ।

वा स्वरे मश्च ॥ २४॥

अन्तस्थस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।
पक्षे लुगपवादो मो, मस्य स्थाने भवेदिह ॥
उसभं अजिअं वंदे, उसभम् अजिअं च वा ।
बहुलत्वात् तथाऽन्यस्य,व्यञ्जनस्यापि मो भवेत् ॥
साक्षात सक्खं, यत जं,तत् तं, विष्वक् च वीसुमथ सम्यक् ।
सम्मं, पृथक् पिहम, इह-मिहयं चाऽऽलैठ्ठुमं वेद्यम ॥

ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ॥ २५ ॥

स्थाने ङञणनानां स्या-दनुस्वारोऽस्वरे यथा-।
पङ्क्तिः पंती च, पराङ्-मुखः परंमुहो, कञ्चुकः कंचुओ ।
अपि लाञ्छनं लंछणं, षण्मुख इति छंमुहो, भवति ।
उत्कण्ठा उक्कंठा, सन्ध्या संझा च, विन्ध्य इति विंझो ।
एवं ङादिष्वनुप्रय-निदर्शनं चान्यदपि वेद्यम ॥

वक्रादावन्तः ॥ २६ ॥

वक्रादीनां च शब्दानां, प्रथमादिश्च यः स्वरः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारा-ऽऽगमो यथानुसारतः ॥
वंकं तंसं अंसु, मंसु पुंछं च कुंपलं पंसु ।
गुंछं मुंढा बुंधं, कंकोडो विंछिओ गिंठी ॥
मंजारो दंसणमि-त्यादिष्वाद्यस्य कार्यमिह वेद्यम ।
पडंसुआ च वयंसो, मणंसिणी चापि माणंसी ॥
मणंसिला चेत्यादि-ष्वागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।
अणिउंतयमइमुंतय-मवरिं अनयोस्तृतीयस्य ॥
क्वचिच्छन्दःपूरणेऽपि, ' देवं-नाग-सुवण्णं ' ।
क्वचिन्न-गिठी मज्जारो, मणसिला मणासिला ॥
आर्षे ' मणोसिला ' रूपं, ' अइमुत्तयम ' इत्यपि ।
वक्रं त्र्यस्रं श्मश्रु पुच्छं, गुच्छं मूर्धा च कुड्मलः ॥
अश्रूपरि वयस्यो मा-र्जारो गृष्टिर्मनस्विनी ।
पर्शुबुध्नश्च कर्कोटो, दर्शनं गृष्टि-वृश्चिकौ ॥
अतिमुक्तकः प्रतिश्रुत्, मनस्वी च मनःशिला ।
इत्यादयो भूरि शब्दाः, वक्रादौ परिकीर्तिताः ॥

क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ॥ २७ ॥

क्त्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सू ।
तयोरन्तस्त्वनुस्वारो, वा स्यादित्यवधार्यताम् ॥
यथा-काऊण काऊणं, काउआण पदं तु वा ।
स्यात् काउआणं, स्याद्वौ व-च्छेण वच्छेणमित्यपि ॥
तथा वच्छेसु वच्छेसुं, 'णस्वोरिति ' किम् ? अग्गिणो ।

विंशत्यादेर्लुक् ॥ २८ ॥

विंशत्यादिपदानां योऽ-नुस्वारस्तस्य लुग्भवेत् ।
तेन स्याद् विंशतिर्वीसा,त्रिंशत् तीसा च संस्कृतम् ॥
सक्कयं स्याच्च संस्कारः, सक्कारो विनिगद्यते ।

मांसादेर्वा ॥ २९ ॥

मांसादीनामनुस्वारो, लोपमेति विकल्पतः ।
मासं मंसं, मासलं मंसलं वा,
कासं कंसं, केसुअं किंसुअं वा ।
सीहो सिंहो, किं कि, वा दाणि दाणिं,
पासु पंसू वा, कहं वा कह स्यात् ॥
एव एवं नूण नूणं, समुहं संमुहं तथा ।
इआणिं वा इआणिं, स्याद् मांसादीनां निदर्शनम् ॥
मांसं कांस्यं कथं पांसु-मांसलः सिंह-किंशुकौ ।
एवं नूनम् इदानीम् किम्, दाणिम् संमुख इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ ३० ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परे भवेत् ।
पङ्को पंको, कञ्चुओ कंचुओ वा,
सञ्झा संझा, कण्टओ कंटओ वा ।
कण्ड कण्ड, अन्तरं अंतरं वा,
चन्दो चंदो, कम्पई कंपई वा ॥
इत्याद्यन्यद् वदितव्यं च लक्ष्यं,वर्गे कियन् संस्कृत संहरेति ।
केचिद् धीराः शब्दविद्याप्रवीणा, एतत्कार्यं नैत्यिकं वर्णयन्ति।

प्रावृट्-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३१ ॥

प्रावृट्शब्दः शरच्छब्द-स्तरणिश्चेति ते त्रयः ।
पुंसि स्युस्तरणी चैस, पाउसो सरओ यथा ॥

स्नमदाम-शिरो-नभः ॥ ३२ ॥

दामन्-शिरो-नभो वर्जे, यत् सान्तं नान्तमस्ति वा ।
शब्दस्वरूपं तत्सर्वं, पुंल्लिङ्गमवगम्यताम् ॥

' जसो पओ तमो तेओ, उरो ' सान्ते निदर्शनम् ।
' जम्मो नम्मो तथा मम्मो , ' नान्ते लक्ष्यमिदं मतम् ॥
'अदामेत्यादि' किं प्रोक्तम् ? , यथा-दामं सिरं नहं ।
सेयं चम्मं वयं चैता-दृशं बाहुलकं पदम् ॥

वाऽक्ष्यर्थ-वचनाद्याः ॥ ३३ ॥

ये चाक्षिवाचकाः शब्दा-स्तथा ये वचनादयः ।
ते पुंसि संप्रयोक्तव्याः , सर्वेऽपीह विकल्पनात् ॥
तत्राक्ष्यर्था यथा-' अच्छी, अच्छीइं ' चापि गद्यते ।
अञ्जल्यादिगणे पाठात् , ' एसा अच्छी ' क्वचिद् भवेत् ॥
चक्खू चक्खूइँ , नयणा, नयणाइं च , लोअणा ।
लोअणाइं च , वचना-दिर्यथा-वयणा तथा ॥
वयणाइं, विज्जुणा तु, विज्जुए च , कुलो कुलं ।
छन्दो छन्दं च , माहप्पो , माहप्पं , भायणाइँ तु ॥
भायणा च , तथा दुक्खा, दुक्खाइं चेति भण्यते ।
नेत्ता नेत्ताइमित्यादेः , सिद्धिः संस्कृतवद् भवेत् ॥

गुणाद्याः क्लीबे वा ॥ ३४ ॥

क्लीबे गुणादयः शब्दाः , प्रयोक्तव्या विकल्पतः ।
गुणा गुणाइं , देवाणि, देवा , बिन्दूइँ बिन्दुणो ॥
खग्गं खग्गो , मण्डलग्गं, मण्डलग्गोऽपि भण्यते ।
कररुहं कररुहो , रुक्खा रुक्खाइँ चेत्यपि ॥

वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ॥ ३५ ॥

ये तु शब्दा इमान्ताः स्यु-स्तथाऽञ्जल्यादयश्च ये ।
ते सर्वे वा स्त्रियां वाच्या-स्तदुदाह्रियते यथा- ॥
गरिमा महिमा निल्ल-ज्जिमा च धुत्तिमाऽणिमा ।
एते स्त्रीपुंसयोर्बोध्याः, अथाञ्जल्यादिरुच्यते ।
अंजली चोरिआ पिट्ठी , तथा पिट्ठं च चोरिअं ।
अच्छी अच्छिं च वा पण्हा, पण्हो कुच्छी बली निही ॥
गण्ठी रस्सी विही चैता-दृशोऽञ्जल्यादिरिष्यते ।
' गड्डा गड्डो ' ऽनयोः सिद्धि-रत्र संस्कृतवन्मता ।
इमांत तन्त्रमाश्रित्य, कार्य्यद्वयमिहेष्यते ॥
स्वादेशस्य डिमेत्यस्य, पृथ्वादीनाञ्च संग्रहः ।
त्वादेशस्य सदा स्त्रीत्व-मिच्छन्त्येके विपश्चितः ॥

बाहोरात् ॥ ३६ ॥

आकारो बाहुशब्दस्य, स्त्रियामन्तादेश इष्यते ।
" बाहाए जेण धरिओ, एक्काए " इति दृश्यते ॥

अतो डो विसर्गस्य ॥ ३७ ॥

अतः परः संस्कृतोत्थो , यो विसर्गो भवेदिह ।
तस्य स्थाने तु ' डो ' ह्येता-दृशादेशो विधीयते ॥
सर्वतः सव्वओ तेन, पुरतः पुरओ तथा ।
अग्रतस्त्वग्गओ वाच्यो , मार्गतो मग्गओऽपि च ।
सिद्धावस्थापेक्षयाऽपि , भवतो भवओ तथा ।
भवन्तस्तु भवंतो स्यात्, सन्तः संतो, कुतः कुदो ।

निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा ॥ ३८ ॥

निष्प्रती ओत्परी वा स्तः, परे माल्ये च तिष्ठतौ ।
अत्र योऽभेदनिर्देशः, स च सर्वार्थ इष्यते ।
ओमालं वाऽपि निम्मल्लं , पइट्ठा परिट्ठा तथा ॥

आदेः ॥ ३९ ॥

आदेरित्यधिकारोऽयं, 'कगचज-'।८।१।१७७। ऽवधिको मतः
इतः परस्तु यः स्थानी , तस्यादेः कार्य्यमिष्यते ॥

त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ॥ ४० ॥

त्यदाद्यव्ययशब्दाभ्यां, यौ त्यदाद्यव्ययौ परौ ।
तयोरादेः स्वरस्येह, बहुलं लुग् विधीयते ॥
अम्हे एत्थ यथाऽम्हेत्थ, जइ इमा जइमाऽपि वा ।
जइअहं जइहं , चैव-माद्यं वेद्यं निदर्शनम् ॥

पदादपेर्वा ॥ ४१ ॥

पदात्परो योऽपि शब्दस्तस्यादेर्वाऽत्र लुग्भवेत् ।
यथा-केण वि केणावि, वा , तं पि तमवीष्यते ।

इतेः स्वरात्तश्च द्विः ॥ ४२ ॥

इतिः पदात् परो यत्र, तस्येकारो विलुप्यते ।
स्वरात्परस्तकारस्तु, तदीयो द्वित्वमाप्नुयात् ॥
स्यात् किं ति जं ति दिट्ठं ति , ' न जुत्तं ति ' स्वराद् यथा-
तह त्ति ऊ त्ति पीओ त्ति, पुरिसो त्ति निगद्यते ॥

लुप्त-य-र-व-श-ष-सां शषसां दीर्घः ॥ ४३ ॥

येषामुपर्यधस्ताद् वा , शषसां यान्ति लोपताम् ।
यरवाः शषसा वाऽपि, तेषां स्यादादिदीर्घता ॥
शस्य यलोपे ' पश्यति , पासइ ' ति निगद्यते ।
' कश्यपः कासवो ' ' आव-श्यकमावासयं ' तथा ।
रस्य लोपे तु ' विश्रामः , वीसामो ' संप्रयुज्यते ।
' विश्राम्यति वीसमइ , ' मिश्रं मीसं च भण्यते ॥
वलोपे त्वश्व आसो स्यात् , शलोपे तु मनः शिला ।
मणासिला , च दुःशास-नोऽपि दूसासणो भवेत् ।
षकारस्य यलोपे तु, शिष्यः सीसोऽभिधीयते ।
तथा रलोपे वर्षास्तु, वासा चाथ वलोपने-॥
विष्वाणः स्याच्च वीसाणो , विष्वक् वीसुं च भाष्यते ।
षस्य लोपे तु निष्षिक्तो, नीसित्तो, सस्य लोपने ।
सस्यं सासं कस्यचित् तु , कास-ईति रलोपने ॥
उस्रः ऊसो च विश्रम्भः , वीसम्भोऽथ वलोपने ।
निःस्वः नीसो , सलोपे तु , निस्सहः नीसहो भवेत् ॥

अतः समृद्ध्यादौ वा ॥ ४४ ॥

समृद्ध्यादिषु दीर्घः स्या-दकारस्याऽऽदिमस्य वा ।
सामिद्धी च समिद्धी , भवति पसिद्धी च पासिद्धी ॥
पयडं तु पायडं स्यात , पाडिवआ पडिवआ वेद्या ॥
पासुत्तो च पसुत्तो , पडिसिद्धी पाडिसिद्धी स्यात् ।
सारिच्छोऽपि सरिच्छो, तथा मणंसी च माणंसी ॥
माणंसिणी मणँसिणी , अहिआई आहिआई वा ।
पारोहो तु परोहो , भवति पवासू च पावासू ॥
पाडिप्फद्धी पडिप्फद्धी , समृद्ध्यादिरयं गणः-॥
समृद्धिः प्रतिसिद्धिश्च , प्रतिस्पर्धी मनस्विनी ।
प्ररोहः प्रकटः प्रतिपत् , प्रसुप्तोऽथाभियाति च ।
सदृक्षश्च मनस्वी च , प्रवासी चैवमादयः ।
तेन प्रवचनं पाव-यणं , अस्पर्शी आफँसो ।
परकीयं पारकेरं , पारक्कं चापि पठ्यते ।
चतुरन्तं चाउरंतं , इत्याद्यपि च सिध्यति ।

दक्षिणे हे ॥ ४५ ॥

दक्षिणे दस्य दीर्घो हे , परे स्याद् , दाहिणो यथा ।
'ह' इति किं ?, स्याद् दक्खिणो, यथा दीर्घोऽत्र नो भवेत् ।

इः स्वप्नादौ ॥ ४६ ॥

स्वप्नादिषु भवेदित्व-मादेरस्येह तद्यथा-।
सिविणो सिमिणो, आर्षे, उकारः-सुमिणो यथा ।
सिविणो, ईसि, वेडिसो, विलिअं विअणं च उत्तिमो मिरिअं।
किविणो तथा मुइंगो, दिण्णं चेत्यादि बोद्धव्यम् ।
णत्वाभावे न भवति , बहुलत्वादयं विधिः ।
यथा ' दत्तं देवदत्तो, ' नात्रासौ संप्रवर्तते ।
स्वप्नो मृदङ्गः कृपणो, दत्तो मरिच-वेतसौ ।
व्यलीक-व्यजने ईषद् , उत्तमश्चेह पठ्यते ।

पक्वाङ्गार-ललाटे वा ॥ ४७ ॥

पक्वाङ्गारललाटे-ष्वादेरित्वं , यथा-पिक्कं ।
पक्कं , इङ्गालो अ-ङ्गारो , णिडालं णडालं च ।

मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ॥ ४८ ॥

मध्यमे चैव कतमे, द्वितीयस्य स्वरस्य तु ।
इत्वं स्यात्तो यथा रूपे , ' मज्झिमो ' ' कइमो ' इमे ।

सप्तपर्णे वा ॥ ४९ ॥

सप्तपर्णे द्वितीयस्या-कारस्येत्वं विकल्पनात् ।
छत्तिवण्णो छत्तवण्णो , स्यातां रूपे इमे यथा ॥

मयट्यइर्वा ॥ ५० ॥

अइर्मयटि प्रत्यये स्या-दादेरस्य तु वा यथा-।
विषमयः-विसमइओ , स्याद् विसमइओऽपि च ॥

ईर्हरे वा ॥ ५१ ॥

हरशब्दे हकारस्या-कारं ईत्वं विकल्पनः ।
यत् समापद्यते तेन , ' हरो हीरो 'ऽभिधीयते ॥

ध्वनि-विष्वचोरुः ॥ ५२ ॥

ध्वनिशब्दे तथा विष्वक्-शब्देऽकारस्तु यः खलु ।
तस्योत्वं क्रियते तेन , ' झुणी वीसुं ' च सिध्यतः ॥

चण्ड-खण्डिते णा वा ॥ ५३ ॥

चण्डखण्डितयोरस्य , सणस्योत्वं विकल्प्यते ।
तेन चण्डं चुडं रूपं , खण्डिओ खुडिओ भवेत् ॥

गवये वः ॥ ५४ ॥

गवये तु वकारस्या-कारस्योत्वं प्रभज्यते ।
' गउओ गउआ ' चेति, रूपं सिद्धिमुपागमत् ॥

प्रथमे प-थोर्वा ॥ ५५ ॥

प्रथमस्य पथोरस्य , वोत्वं स्याद्युगपत् क्रमात् ।
पुढुमं पुढमं तेन, पढुमं पढमं तथा ॥

ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ ॥ ५६ ॥

अभिज्ञादिषु शब्देषु, ज्ञस्य णत्वे कृते पुनः ।
ज्ञस्यैव यस्त्वकारः स्यादुत्वं तस्य विधीयते ॥
यथा-अहिण्णू सव्वण्णू , आगमण्णू कयण्णुआ ।
'णत्वे ' च किम ?, यथा-'सव्व-ज्ञो' 'अहिज्ञो' भवेदिदम्॥
'अभिज्ञादाविति' च किम ?, प्राज्ञः पण्णो भवेद् यथा ।
यत्रोत्वं ज्ञस्य णत्वे स्यात् , सोऽभिज्ञादिगणः स्मृतः ॥

एच्छय्यादौ ॥ ५७ ॥

शय्यादिषु भवेदेत्व-मकारस्यादिमस्य तु ।
सेज्जा एत्थ च सुन्देरं , गेन्दुअं चेवमादयः ॥
आर्षे पुराकर्म पदं , पुरेकम्मं प्रयुज्यते ।

वल्ल्युत्कर-पर्यन्ताश्चर्ये वा ॥ ५८ ॥

वल्ल्युत्करपर्यन्ता-श्चर्येऽकारस्य चैत्वमादिभुवः ।
तेन हि वेल्ली वल्ली , उक्केरो उक्करो , भवति ॥
पेरन्तो पज्जन्तो, अच्छेरं अच्छरिज्जं च ।
अच्छरिअं अच्छअरं, तथाऽच्छरीअं विनिर्दिष्टम् ।

ब्रह्मचर्ये चः ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्ये चकारस्या-कार एत्वमवाप्नुयात् ।
अतो बुधा ब्रह्मचर्यं, बम्हचेरं प्रयुञ्जते ॥

तोऽन्तरि ॥ ६० ॥

अन्तः शब्दे तकारस्या-कारस्यैत्वं विधीयते ।
तस्मादन्तःपुरं ' अंते-उरं ' विद्वद्भिरुच्यते ॥
अन्तश्चारी भवेदन्ते-आरी , नायं क्वचिद् विधिः ।
यथा-' अंतग्गयं ' ' अंतो, वीसम्भो ' विनिगद्यते ॥

ओत्पद्मे ॥ ६१ ॥

ओत्वमादेरतः पद्म-शब्दे, ' पोम्मं ' ततो भवेत् ।
पद्म-छद्मेति ।८।२।११२। सूत्रेण , विश्लेषे ' पउमं ' स्मृतम् ॥

नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयस्याऽत ओत्वं स्यात्, नमस्कारपरस्परे ।
अतो रूपं सुनिष्पन्नं-' नमोक्कारो ' ' परोप्परं '॥

वार्पौ ॥ ६३ ॥

आदेरस्य तु वौत्वं स्याद् , धातावर्पयतौ यथा-।
रूपं ' ओप्पेइ अप्पेइ , ओप्पिअं अप्पिअं भवेत् ॥

स्वपावुच्च ॥ ६४ ॥

' स्वप् ' धातौ क्रमतः स्याता-मादेरस्यौदुतौ स्वरौ ।
तेन ' सोवइ सुवइ , ' द्वयं रूपं विभाव्यते ॥

नात्पुनर्यादाइ वा ॥ ६५ ॥

नञः परे ' पुनः ' शब्दे , यस्त्वकारोऽस्ति तस्य तु ।
' आ आइ ' इत्यादेशौ वा , स्यातामित्यभिधीयते ॥
' न उणा न उणाइ ' स्याद् , न उणो न उण ' द्वयम् ।
केवलस्यापि यद् रूपं , ' पुणाइ ' क्वापि दृश्यते ॥

वाऽलाब्वरण्ये लुक् ॥ ६६ ॥

अलाब्वरण्ययोर्वाऽऽदे-रकारस्येह लुग्भवेत् ।
लाउं अलाउं वा लाऊ, अलाऊ च विकल्पनात् ॥
एवं रण्णं अरण्णं स्यात् , ' अत इत्येव' नान्यथा ।
' आरण्ण-कुञ्जरो ' नैव-स्यादाद्यालोप इष्यते ॥

वाऽव्ययोत्खातादावदातः ॥ ६७ ॥

अव्ययेषु तथोत्खाता-दिष्वाकारस्य वाऽद् भवेत् ।
तत्राऽव्यये ' जह जहा, ' रूपं ' तह तहा ' तथा॥
' व वा ' ' ह हा ' ऽ'इयाऽहव '-प्रमुखा बहवो मताः ।
उत्खातादौ तु-उक्खायं, उक्खयं , चमरो तथा ॥
चामरो , कलओ काल-ओ परिट्ठाविओ पुनः ।
स्यात् परिट्ठविओ, संठा-विओ संठविओ पदम् ॥

मलवेण्टं तालवेण्टं, उविओ उविओ भवेत् ।
तलवोण्टं तालवोण्टं, पायसं पयसं, स्मृतम् ॥
हलिओ हालिओ, नारा-ओ नराओ च, खाइरं ।
खइरं, कुमरो वाच्यः, कुमारो, वलया पुनः ॥
बलाया, बाम्हणो बम्ह-णो, पुव्वाण्हो मतान्तरे ।
पुव्वण्हो च, चडू चाडू, दावग्गी च दवग्यपि ॥
उत्खातं चामरं ताल-वृन्तं प्राकृतहालिकौ ।
स्थापितः कालको नारा-चो बलाका च खादिरः ॥
कुमारो, ब्राह्मणः पूर्वा-ह्णश्चैमौ कस्यचिन्मते ।
उत्खातादिरयं धीरै-राकृत्या परिगण्यते ॥

घञ्वृद्धेर्वा ॥ ६८ ॥

घञ्निमित्तो वृद्धिरूपो, य आकारोऽस्तु तस्य वाऽद् ।
'पवाहो पवहो' वा स्यात्, 'पयारो पयरो' तथा ॥
'पत्थावो पत्थवो' क्वापि, न 'राओ' रागवाचकः ।

महाराष्ट्रे ॥ ६९ ॥

महाराष्ट्रे हकारस्या-ऽऽकारस्य त्वद्विधानतः ।
'मरहट्ठं मरहठो,' पुंनपुंसकतो भवेत् ॥

मांसादिष्वनुस्वारे ॥ ७० ॥

कृतानुस्वारमांसादा-वाकारो यात्यकारताम् ।
मंसं कंसं तथा पंसू, पंसणो कंसिओऽपि च ॥
वंसिओ पंसवो संसि-द्धिओ संजत्तिओ यथा ।
'अनुस्वारे' इति कथम् ?, 'मासं पासू' न चाऽविह ॥
मांसं कास्यं पांसनं कां-सिकं वांशिकपाण्डवौ ।
पांसुः सांसिद्धिकः सांया-त्रिको मांसादिरिष्यते ॥

श्यामाके मः ॥ ७१ ॥

श्यामाके तु मकारस्य, य आकारोऽस्ति तस्य तु ।
अदादेशेन श्यामाकः, 'सामओ' विनिगद्यते ॥

इः सदादौ वा ॥ ७२ ॥

सदादिशब्देष्वित्वं स्या-दाकारस्य विभाषया ।
'सया सइ' च वा रूपं, 'कुप्पासो कुप्पिसो' ऽपि च ।
'निसाअरो निसिअरो,' तथैवान्ये सदादयः ॥

आचार्ये चोऽच्च ॥ ७३ ॥

आचार्यशब्दे चस्याऽऽत-इत्वमत्त्वं च वा भवेत् ।
रूपं 'आयरिओ' तेन, सिद्धम 'आइरिओ' तथा ॥

ईः स्त्यान-खल्वाटे ॥ ७४ ॥

स्त्यान-खल्वाटयोरादे-रात ईत्वं विधीयते ।
ठीणं थीणं तथा थिण्णं, खल्लीडो तेन सिद्ध्यति ॥

उः सास्ना-स्तावके ॥ ७५ ॥

सास्ना-स्तावकयोरादे-रात उत्वं निगद्यते ।
तेन सास्ना भवेत् 'सुण्हा', स्तावकः 'थुवओ' भवेत् ॥

ऊद्वाऽऽसारे ॥ ७६ ॥

आसारशब्दे स्यादादे-रात ऊत्वं विभाषया ।
तेन सिद्ध्यति 'ऊसारो, आसारो' रूपयुग्मकम् ॥

आर्यायां र्यः श्वश्र्वाम् ॥७७॥

र्यस्याऽऽत ऊत्वं 'आर्यायाम,' 'अज्जू' श्वश्र्वां ततो भवेत् ।
'श्वश्र्वामिति' तु किम ?, अज्जा, साध्वी श्रेष्ठाऽपि भण्यते ॥

एद् ग्राह्ये ॥ ७८ ॥

ग्राह्यशब्दे भवेदेत्व-मातो गेज्झं ततो भवेत् ।

द्वारे वा ॥ ७९ ॥

द्वारशब्दे भवेदेत्व-माकारस्य विभाषया ।
देरं पक्षे दुआरं स्याद्, दारं बारं पदं तथा ॥
'नेरइओ नारइओ,' स्यातां नैरयिकनारकिकयोस्तु ।
आर्षेऽन्यत्रापि यथा,-'पच्छेकम्मं' तथाऽन्यदपि ॥

पारापते रो वा ॥ ८० ॥

भवेत् पारापते रस्था-ऽऽकारस्यैत्वं विकल्पनात् ।
तेन 'पारेवओ पारा-वओ' रूपद्वयं मतम् ॥

मात्रटि वा ॥ ८१ ॥

स्यान्मात्रट्प्रत्यये वाऽऽत-एत्वं रूपद्वयं ततः ।
एकं 'एत्तिअमेत्तं ए-त्तिअमत्तं' तथाऽपरम् ॥
बहुलाद् मात्रशब्दे 'भो-अणमेत्तं' ततो भवेत् ।

उदोद्वाऽऽर्द्रे ॥ ८२ ॥

आकारस्याऽऽर्द्रशब्दे स्या-दुत्वमोत्वं विभाषया ।
'उल्लं ओल्लं' तथा पक्षे, 'अल्लं अद्दं' च वा भवेत् ॥

ओदाल्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥

'आली' शब्दे भवेदात-ओत्वं पङ्क्त्यर्थबोधने ।
'ओली' पङ्क्तिं विजानीयात्, 'आली' नात्र, सखी यदि ॥

ह्रस्वः संयोगे ॥ ८४ ॥

दीर्घवर्णस्य ह्रस्वत्वं, संयोगे परतो भवेत् ।
तद्यथादर्शनं वेद्यं, न सर्वत्र विधीयते ॥
ताम्रं 'तम्बं' आम्रं 'अम्बं,' आस्यम् 'अस्सं' प्रयुज्यते ।
मुनीन्द्रस्तु 'मुणिन्दो' स्यात्, तीर्थं 'तित्थं' तथा पुनः ॥
गुरूल्लापाः 'गुरुल्लावा,' चूर्णः 'चुण्णो' प्रपठ्यते ।
नरेन्द्रस्तु 'नरिन्दो' स्यात्, 'मिलिच्छो' म्लेच्छ उच्यते ॥
अधरोष्ठो 'ऽहरुट्ठं' सं-वेद्यं, नीलोत्पलं तथा ।
'नीलुप्पलं' विजानीया-देवमन्यद् निदर्शनम् ॥

इत एद्वा ॥ ८५ ॥

संयोगे तु परे वाऽऽदे-रित एत्वं विभाष्यते ।
पिण्डं पेण्डं च धम्मिल्लं, धम्मेल्लं विबुधा विदुः ।
स्यात् सिन्दूरं तु सेन्दूरं, विण्हू वेण्हू निगद्यते ।
'पिट्ठं पेट्ठं' अनित्यत्वात्, 'चिता' इत्यत्र नो भवेत् ॥

किंशुके वा ॥ ८६ ॥

एत्वं वाऽऽदेरितो वेद्यं, किंशुके वाचके यथा ।
'केसुअं किंसुअं' चैतद्, द्वयं रूपं विदुर्बुधाः ॥

मिरायाम् ॥ ८७ ॥

भवेदेत्वमिकारस्य मिरा मेरा ततो भवेत् ।

पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत् ॥८८॥

पथि प्रतिश्रुत् पृथिवी,हरिद्रा-मूषिके तथा ।
बिभीतके भवेदादे-रितोऽत्वमिति भण्यते ।
पहो च पुहवी पुढवी, पडंसुआ मूसओ हलद्दी तु ।
वा स्यादत्र हलद्दा, 'बहेडओ' क्वापि वैकल्प्यम ।
'पंथं किर देसित्ते, '-त्यत्र तु पथिशब्दतुल्यवाच्यस्य ।
पन्थशब्दस्य रूपं, ज्ञातव्यं शब्दविद्भिरिह ।

शिथिलेङ्गुदे वा ॥ ८९ ॥

शिथिलेङ्गुदयोरादेरितोऽद् वा संप्रयुज्यते ।

सढिलं भवति पसढिलं, सिढिलं पमिढिलमिहाऽत्त्ववैकल्प्यात्।
इङ्गुअमङ्गुअमिङ्गुद-शब्दे रूपद्वयं बोध्यम् ॥

तित्तिरौ रः ॥ ९० ॥

रस्येतोऽत्त्वं तित्तिरौ स्यात्, तेन रूपं हि 'तित्तिरो' ।

इतौ तो वाक्यादौ ॥ ९१ ॥

वाक्यादेरितिशब्द-स्याऽन्त्यस्येतोऽत्र संभवत्यत्त्वम ॥
'इअ' जम्पिआवसाणे, 'इअ' विअसिअ-कुसुमसरोऽपीह ॥

ईर्जिह्वा-सिंह-त्रिंशद्विंशतौ त्या ॥ ९२ ॥

जिह्वादिषु इकारस्य, ईकारः संप्रयुज्यते ।
'जीहा' सीहो 'तथा' 'तीसा', यत्र तिस्तत्र त्या सह ॥
'त्रीसा' इति भवेद् रूपं, किन्तु क्वापि न जायते ।
'सिंहदत्तो' 'सिंहराओ' इति बाहुलकान्मतम् ॥

लुंकि निरः ॥ ९३ ॥

निरो रलोपे दीर्घः स्या-दिकारस्येति शब्द्यते ।
स्याद् 'नीसासो' 'नीसरइ,' एवमन्यन्निदर्शनम् ॥
'लुंकीति' किम् ?, यथा-निस्स-हाई अंगाइँ, निरणओ ।

द्विन्योरुत् ॥ ९४ ॥

द्विशब्दे न्युपसर्गे च, भवेदुत्त्वमितो यथा- ।
दु-मत्तो च दु-आई च, दु-रेहो दु-विहो तथा ॥
दुवयणं, वैकल्प्यं च, भवेद् बाहुलकादिह ।
दु-उणो बि-उणो चैव, दुइओ बिइओ यथा ॥
'क्वचित्' द्विरदः शब्दो, 'दिरओ' स्याद् द्विजो 'दिओ' ।
ओत्वं क्वापि यथा रूपं, 'दो-वयणं' प्रपठ्यते ॥
स्याद् 'णुमज्जो' 'णुम-ज्जइ,' न्युपसर्गे निदर्शनम् ।
अनित्यत्वाद् 'निवडइ,' भवतीत्यादि भूरिशः ॥

प्रवासीक्षौ ॥ ९५ ॥

इकौ प्रवासिनि तथा, भवेदुत्त्वमितो, यथा- ।
'उच्छू' 'पावासुओ' चैतद्, द्वयं व्याह्रियते पदम् ॥

युधिष्ठिरे वा ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिरे भवेदादे-रित उत्त्वं विकल्पनात् ।
जहुट्ठिलो ततो रूपं, विकल्पेन जहिट्ठिलो ॥

ओच्च द्विधा कृगः ॥ ९७ ॥

उत्त्वमोत्त्वं द्विधाशब्दे, वा कृग्धातावितः परे ।
'दोहा-किज्जइ' तेन स्यात्, 'दुहा-किज्जइ' इत्यपि ।
दोहा-इअं दुहा-इअ-मिति, 'कृग' इति किं ?, 'दिहाऽऽगयं' येन ।
क्वचित् केवलस्य स्यात्, 'दुहा वि सो सुर-वहू-सत्थो' ।

वा निर्झरे ना ॥ ९८ ॥

निर्झरे तु नकारेण, सहेतो वौत्त्वमिष्यते ।
'ओज्झरो' 'निज्झरो' चैता-दृशं रूपं बुधा विदुः ॥

हरीतक्यामीतोऽत् ॥ ९९ ॥

हरीतकीपदे टीका-रस्येतोऽत्त्वं विधीयते ।
रूपं 'हरडई' तेन, बुधैरेवं प्रयुज्यते ।

आत् कश्मीरे ॥ १०० ॥

आत्त्वमीतोऽस्तु कश्मीरे, 'कम्हारा' तेन सिद्ध्यति ।

पानीयादिष्वित् ॥ १०१ ॥

पानीयादिषु शब्देषु, स्यादीतोऽत्रेत्त्वमध्रुवम् ।
पाणिअं अलिअं ओसि-अंतं जिअइ आणिअं ॥
विलिअं करिसो वम्मि-ओ तयाणिं च जीअउ ।
दुइअं तइअं गहिरं, गहिअं सिरिसो च पलिविअं पसिअ ॥
उवणिअमिति संवेद्यः, पानीयादिर्गणो विदुषा ।
बाहुलकात् क्वचिदेषु, स्याद् वैकल्प्यं ततः करीसोऽपि ॥
पाणीअं च अलीअं, उवणीओ जीअइ स्याच्च ॥
पानीयं व्रीडितं वल्मी-कं तदानीं प्रदीपितम् ।
अवसीददलीकं चा-ऽऽनीतं जीवति जीवतु ॥
उपनीतं गृहीतं च, शिरीषं च प्रसीद च ।
गभीरतृतीयकरी-षद्वितीयादयः स्मृताः ॥

उज्जीर्णे ॥ १०२ ॥

जीर्णशब्दे भवेदीत-उत्त्वं जुण्ण-सुरा ततः ।
जिण्णे भोअणमत्ते च, नात्र बाहुलकाद् भवेत् ॥

ऊर्हीन-विहीने वा ॥ १०३ ॥

ऊत्वं हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया ।
हूणो हीणो विहीणो च, विहूणो सिद्धिमाययुः ॥

तीर्थे हे ॥ १०४ ॥

ऊत्वमीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति ।
तूहं, 'हे' इति किं प्रोक्तम् ?, 'तित्थं' नात्र यथा भवेत् ॥

एत् पीयूषापीड-बिभीतक-कीदृशेदृशे ॥ १०५ ॥

पीयूषापीड-बिभीतक-कीदृशेदृशेषु स्यादेत्त्वम् ।
पेऊसं आमेलो, बहेडओ केरिसो एरिसो ॥

नीड-पीठे वा ॥ १०६ ॥

नीडपीठयोरीतो, वा स्यादेत्त्वं ततश्च सिद्ध्यन्ति ।
नेडं नीडं पेढं, पीढं क्वाप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥

उतो मुकुलादिष्वत् ॥ १०७ ॥

मुकुलादीनामादे-रुतो भवेदत्त्वमत्र तेन स्युः ।
मउलं मउलो मउरं, मउडं अगरुं गलोई च ॥
जहिट्ठिलोऽथ च गरुई, जहुट्ठिलो सोअमल्लमिति शब्दाः ।
क्वचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विद्रुतस्तु 'विद्दाओ' ॥
मुकुलो मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्य-युधिष्ठिरौ ।
अगुरुश्च गुडूची च, मुकुटं मुकुलादयः ॥

वोपरौ ॥ १०८ ॥

उपरौ स्यादुतो वाऽत्त्वम, अवरिं उवरिं यथा ।

गुरौ के वा ॥ १०९ ॥

गुरोः कृते स्वार्थिके के, वाऽत्त्वमादेरुतो भवेत् ।
गरुओ गुरुओ रूपे, कं विना तु 'गुरू' स्मृतम् ॥

इर्भ्रुकुटौ ॥ ११० ॥

भ्रुकुटौ स्यादुतश्चादे-रित्वं हि 'भिउडी' भवेत् ।

पुरुषे रोः ॥ १११ ॥

पुरुषे रोरुतः स्यादिः, पुरिसो वा पउरिसं ।

ईः क्षुते ॥ ११२ ॥

क्षुतं प्रयुज्यते छीअं, भवेदीत्वमुतो यदा ।

ऊत् सुभग-मुसले वा ॥ ११३ ॥

सुभगे मुसले च स्या-दुत ऊत्वं विभाषया ।
सुहवो सूहवो तेन, मुसलं मूसलं भवेत् ॥

अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे ॥ ११४ ॥

उत्साहोत्सन्नभिन्ने यौ, शब्दे त्सच्छौ निरीक्षितौ ।
तयोरादेरुकारस्य, नित्यमूत्वं विधीयते ॥

ऊसुओ ऊसवो ऊसि-त्तो ऊसरइ, उच्छुकः ।
ऊसुओ ऊससइ चे-त्यादि वेद्यं निदर्शनम् ॥
उत्साहोत्सन्नयोस्तृच्छा-द्दो उच्छुओ निगद्यते ।

लुकि दुरो वा ॥ ११५ ॥

दुरो रेफस्य लोपे स्या-दुत ऊत्वं विकल्पनात् ।
दूसहो दुसहोऽपि स्याद्, दूहवो दुहवो तथा ।
सूत्रे लुकीति किं ? प्रोक्तं, दुस्सहो विरहोऽत्र न ॥

ओत् संयोगे ॥ ११६ ॥

ओत्त्वमादेरुतो नित्यं, संयोगे परतो भवेत् ।
तोण्डं मोण्डं पोक्खरं कोट्टिमं वा,
कोण्टो कोन्तो पोत्थओ लोद्धओ वा ।
वोक्कन्तं वा मोग्गरो पोग्गलं वा,
मोत्था चैतान्यस्य लक्ष्याणि सन्ति ॥

कुतूहले वा ह्रस्वश्च ॥ ११७ ॥

कुतूहले भवेदोत्त्वमुतो ह्रस्वश्च वा ततः ।
कोऊहलं कोउहल्लं, कुऊहलमिति त्रयम् ॥

अदूतः सूक्ष्मे वा ॥ ११८ ॥

सूक्ष्मशब्दे भवेदत्व-मूतो वा तेन सिध्यति ।
सण्हं सुण्हं तथाऽर्थे तु, 'सुहुमं' संप्रयुज्यते ॥

दुकूले वा लश्च द्विः ॥ ११९ ॥

दुकूलशब्दे वाऽत्वं स्या-दूतो लश्च द्विरुच्यते ।
दुअल्लं च दुऊलं च, 'दुगुल्लं' त्वार्ष उच्यते ॥

ईर्वोद्व्यूढे ॥ १२० ॥

उद्व्यूढशब्दे स्यादीत्व-भूकारस्य विभाषया ।
'उव्वीढं' तेन 'उव्वूढं,' द्वयं विद्भिरुच्यते ॥

उर्भ्रूहनूमत्कण्डूय-वातूले ॥ १२१ ॥

भ्रूहनूमत्कण्डूय-वातूलेषूत उर्भवत् ।
भुमया हनुमंतो वा-उलो, कण्डुअइ स्मृतम् ॥

मधूके वा ॥ १२२ ॥

ऊत उत्वं मधूके वा, महुअं महुअं यथा ।

इदेतौ नूपुरे वा ॥ १२३ ॥

इदेतौ नूपुरे स्याता-मूकारस्य विकल्पनात् ।
निउरं नेउरं पक्षे, नूउरं संप्रकीर्त्यते ॥

ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये ॥ १२४ ॥

कूष्माण्डी-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्य-कूर्परे ।
तूणीरे च भवत्योत्त्वमूकारस्येति दर्श्यते ।
कोहण्डी कोहली थोरं, तोणीरं कोप्परं तथा ।
मोल्लं गलोई तंबोलं, व्युत्क्रमेण प्रदर्शितम् ॥

स्थूणा-तूणे वा ॥ १२५ ॥

स्थूणा-तूणयोरोत्त्वमूकारस्य विभाषया ।
थोणा थूणा तथा तोणं, तूणं चैवमुदाहृतम् ॥

ऋतोऽत् ॥ १२६ ॥

ऋकारस्याऽऽदिभूतस्य, अत्वमित्वमितीर्यते ।
वृषभो वसहो वाच्यो, घृष्टो घट्ठोऽभिधीयते ॥
घृतं घयं, तृणं तणं, कृतं कयं, मृगो मओ ॥
इहाद्यं कृपादिपा-ठतोऽवसेयमित्यपि ॥

आत् कृशा-मृदुक-मृदुत्वे वा ॥ १२७ ॥

मृदुक-मृदुत्व-कृशाया-मात्वमृतः स्याद् यथा किसा कासा ।
माउक्कं च मउत्तण-मथ माउक्कं च मउअं वा ॥

इत् कृपादौ ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेदित्वमृतो यथा ।
किवा मिट्ठं रसे वाच्यं, मट्ठमन्यत्र पठ्यते ॥
दिअयं दिट्ठं सिट्ठं, दिट्ठी सिट्ठी निवो किवो किवा ॥
गिद्धी पिच्छी इद्धी, गिद्धी तिण्णं धिई किच्चं ॥
सिंगारो भिंगारो, भिंगो किसिओ भिऊ घिणा घुसिणं ।
किसरो किई सिआलो, विसी विइण्हो किवा किविणो ।
विच्छ-कई वाहितं, किसो समिद्धी च सइ किसाणू वा ॥
हिअं विंचुओ विसं, इसी निसंसो च उक्किट्ठं ॥
विसी तथा विहिओ, किवाणयं वा कृपादयश्चैते ।
बाहुलकादपि कार्य्यं, वेद्यं सिद्धेद् यथा रिद्धी ॥
कृपा मृष्टं दृष्टं हृदय-भृगु-सृष्टं कृपनृपौ,
घृणा दृष्टिः सृष्टिः कृति-घुसृण-गृद्धिः कृशाहृतौ ॥
वृसी पृथ्वी कृत्या कृषित-कृपणौ वृश्चिकधृती ।
नृशंसो भृङ्गारः कृशर-सकृतौ व्याहृत-ऋषी ॥
उत्कृष्ट-बृंहित-शृगाल-कृशानु-गृद्धि-
शृङ्गार-वृद्धकवि-वृत्त-कृपाण-तृप्ताः
ऋद्धि-स्पृहे अथ वितृष्ण-समृद्धि-कृच्छ्र-
भृङ्गास्तु वृत्तिरपि तेऽत्र कृपादयः स्युः ॥

पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्ठेऽनुत्तरपदे, वेत्त्वमृत्वस्य, तद्यथा-।
पिट्ठी पट्ठी पिट्ठि, परि-ट्ठविअं संप्रयुज्यते ॥
किमनुत्तरपद इति ?, महिवट्ठं यथा भवेत् ।

मसृणमृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-घृष्टे वा ॥ १३० ॥

शृङ्गे घृष्टे मृगाङ्के च, मृत्यौ च मसृणे तथा ।
ऋकारस्य भवेदित्वं, विकल्पेनेति दृश्यताम् ॥
स्याद् मिअङ्को मयङ्को वा, मिच्चू मच्चू च पठ्यते ।
सिंगं संगं विजानीयाद्, घिट्ठो घट्ठोऽपि गद्यते ॥

उदृत्वादौ ॥ १३१ ॥

ऋत्वादीनामृकारस्य, भवेदादेरुकारता ।
उऊ पुट्ठो परामुट्ठो, पउट्ठो पुहई मुई ॥
पउत्ती पाउसो वुंदा-वणो वुड्ढो च निव्वुअं ।
पाउओ पाहुडं वुट्ठी, उज्जू वुत्तन्त संवुअं ॥
निहुअं निउअं जामा-उओ माउओ भाउओ ।
मुणालं च परहुओ, वुंदं पहुडि निव्वुई ॥
विउअं उसहो पिउ-ओ, पुहवी च माउआ ।
ऋतुः परामृष्टमृणालवृन्दा-वनप्रवृत्तिप्रभृतिप्रवृष्टाः ।
वृन्दर्षभभ्रातृकमातृकामा-तृकर्जुजामातृकवृद्धिवृद्धाः ॥
विवृतनिवृतवृत्ता-न्ताभृतिप्राभृतप्रा-
भृतपितृकपृथिव्यः, संवृतप्रावृषौ च ।
परभृतनिभृतस्पृ-ष्टानि निर्वृत्तपृथ्वी,
परिपठति च ऋत्वा-दिं गणं निर्वृतिश्च ॥

निवृत्त-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

ऋत उत्वं वा वाच्यं, निवृत्तवृन्दारके पदे तु यथा ।
वुन्दारया च वन्दा-रया निवुत्तं निअत्तं च ॥

वृषभे वा वा ॥ १३३ ॥

वृषभे वेन सार्कं स्या-दकारस्योत्वमत्र वा ।
' उसहो वसहो ' चैता-दृशं रूपं प्रयुज्यते ॥

गौणान्त्यस्य ॥ १३४ ॥

गुणीभूतस्य शब्दस्य, योऽन्त्य ऋत् तस्य उद् भवेत् ।
स्याद् माउ-मण्डलं, माउ-हरं पिउहरं तथा ।
माउ-सिआ पिउ-सिआ, तथा पिउ-वणं स्मृतम् ॥

मातुरिद्वा ॥ १३५ ॥

मातृ-शब्दस्य गौणस्य, ऋत इत्वं विकल्पते ।
माइ-हरं माउ-हरं, क्वापि माईणमिष्यते ॥

उदूदोन्मृषि ॥ १३६ ॥

ओदूदुच्च क्रमादेतद्, मृषाशब्दे भवेदृतः ।
मोसा मूसा 'मुसा मोसा-वाओ ' चेदृक् प्रयुज्यते ॥

इदुतौ वृष्ट-वृष्टि-पृथक्-मृदङ्ग-नप्तृके ॥ १३७ ॥

वृष्टौ वृष्टे मृदङ्गे च, नप्तृके पृथगव्यये ।
ऋकारस्येदुतौ स्यातां, तदुदाह्रियते यथा-॥
स्याद् मिइङ्गो मुइङ्गो वा, नत्तिओ नत्तुओ तथा ।
विट्ठो वुट्ठो तथा विट्ठी, वुट्ठी रूपं पिहं पुहं ॥

वा बृहस्पतौ ॥ १३८ ॥

बृहस्पतौ भवेद् ऋतो, विकल्पनादिदुत् तथा ।
बिहप्फई बुहप्फई,बहप्फई च पाक्षिकम् ॥ [नगस्वरूपिणीछं०]

इदेदोद्वृन्ते ॥ १३९ ॥

ऋकारस्य भवेदित्वमेत्वमोत्वं यथाक्रमम् ।
तेन वृन्तं भवेद् ' विण्टं, वेण्टं वोण्टं ' त्रिधाऽऽत्मकम् ॥

रिः केवलस्य ॥ १४० ॥

केवलस्य ऋतो रिः स्याद्, ' रिद्धी रिच्छो ' ततो भवेत् ।

ऋणर्ज्वृषभत्वृषौ वा ॥ १४१ ॥

ऋणऋजुऋषभऋतुऋषिषु,ऋतोऽस्तु वा रिः रिणं अणं रिज्जू।
उज्जू ' रिसहो उसहो ', रिऊ उऊ स्याद् रिसी इसी रूपम् ॥

दृशः क्विप्-टक्सकः ॥ १४२ ॥

क्विप् टक्-सगन्तस्य दृशो-र्धातोः रिः स्याद् ऋतो यथा ।
' सदृग्वर्णः सरिवण्णो ', सदृशः सरिसो मतः ॥
सदृक्षस्तु ' सरिच्छो ' स्याद्, यादृशो जारिसो भवेत् ।
एवं एयारिसो अम्हा-रिसो अम्हारिसो तथा ॥
तारिसो केरिसो तुम्हा-रिसो सन्तीह भूरिशः ।
त्यदाद्यन्यादि-(५।१।१५२) सूत्रोक्तः, प्रत्ययः क्विबिहेष्यते ॥

आदृते ढिः ॥ १४३ ॥

आदृते तु ऋतो ढिः स्याद्, ' आढिओ ' तेन सिध्यति ।

अरिर्दृप्ते ॥ १४४ ॥

दृप्तशब्देऽरिरादेश-ऋकारस्य विधीयते ।
दृप्तसिंहेन दरिअ-सीहेणेति निगद्यते ॥

लृत इलिः क्लृप्त-क्लृन्ने ॥ १४५ ॥

क्लृप्त-क्लृन्नयोरनयो-र्लृत इलिरादेश इष्यते तेन ।
धाराकिलिन्नवत्तं, किलित्त-कुसुमोवयारेसु ॥

एत इद् वा वेदना-चपेटा-देवर-केसरे ॥ १४६ ॥

वेदनायां चपेटायां, देवरे केसरे तथा ।
एत इत्वं विकल्पेन, भवेदित्यवगम्यताम् ॥
विअणा वेअणा वा स्यात्, चवेडा चविडा तथा ।
दिअरो देवरो वेद्यः, किसरं केसरं मतम् ॥

ऊः स्तेने वा ॥ १४७ ॥

एत ऊत्वं तु वा स्तेने, थूणो थेणो द्वयं भवेत्।

ऐत एत् ॥ १४८ ॥

ऐकारस्यादिभूतस्य, भवत्येत्वं ततो भवेत् ।
सेढ्वं केढवो वेज्जो, सेला एरावणो तथा ॥
तेलुक्कं चैव केलासो, रूपाण्येतानि सन्ति च ।

इत् सैन्धव-शनैश्चरे ॥ १४९ ॥

ऐत इत्वं भवेन्नित्यं, सैन्धवे च शनैश्चरे ।
सणिच्छरो सिंधवं च, द्वयं रूपं प्रसिध्यति ।

सैन्ये वा ॥ १५० ॥

ऐत इत्वं तु वा सैन्ये, ' सिन्नं सेन्नं ' ततो द्वयम् ।

अइर्दैत्यादौ च ॥ १५१ ॥

ऐतोऽइः सैन्यशब्दे स्याद्, दैत्यादौ च तथा गणे ।
सैन्यं सइन्नं संप्रोक्तं, दैत्यादिर्लिख्यतेऽधुना-॥
अइसरिअं वइजवणो, वइआलीअं च कइअवं सइरं ।
वइएसो च दइच्चो, वइत्त वइदब्भ-वइसालो ॥
वइएहो च वइस्सा-णरो दइवअं दइन्न-वइसाहो ।
भइरव इति दैत्यादि-र्गणो बुधैर्व्याहृतः पूर्वैः ॥
' विश्लेषे तु न भवति '—चेइअमिति चैत्य इष्यते रूपम् ।
आर्षे-' चैत्यवन्दनं ची-वन्दण-' मुच्यते सद्भिः ।
दैत्यो दैन्यं भैरवो दैवतं च, वैतालीयं कैतवं स्वैर-चैत्यम् ।
वैशालो वैशाख-वैश्वानरौ वै-दर्भो वैदेहश्च वैदेश एवम् ॥
ऐश्वर्यं च वैजवनं, दैत्यादिर्गण इत्ययम् ।
आकृत्या गण्यते यस्माद्, न संख्यानियमस्ततः ॥

वैरादौ वा ॥ १५२ ॥

वैरादिषु भवेदैतो-ऽइरादेशो विकल्पनात् ।
तेन रूपद्वयं वैरे, ' वइरं वेर-' मीदृशम् ॥
कइलासो केलासो, वइसवणो पठ्यते च वेसवणो ।
वइआलिओ च वेआ-लिओ, चइत्तो तथा चेत्तो ॥
कइरवमिति केरवमिह, वइसिअमिति वेसिअं वा स्यात् ।
वइसंपायण-वेसं-पायणरूपद्वयं च मतम् ॥
वैरं वैश्रवणो वैश-म्पायनश्चैत्र-कैरवे ।
कैलासो वैशिको वैता-लिको वैरादिरुच्यते ।

एच्च दैवे ॥ १५३ ॥

ऐत एत्वमइत्वं च, दैवशब्दे पृथग्भवेत् ।
देव्वं दइव्वं दइवं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

उच्चैर्नीचैस्यअः ॥ १५४ ॥

अअ एतादृशादेशो, भवेदैतोऽविकल्पतः ।
उच्चैर्नीचैरिति पदे, नीचअं उच्चअं तथा ॥

ईद् धैर्ये ॥ १५५ ॥

धैर्य-शब्दे भवेदैत-ईत्वं ' धीरं ' ततो भवेत् ।

ओतोऽद्वाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठाऽऽतोद्य-शिरोवेदना-
मनोहर-सरोरुहे क्तोश्च वः ॥ १५६ ॥

शिरोवेदनाऽन्योऽन्य-प्रकोष्ठ-मनोहर-सरोरुहातोद्ये ।
ओतोऽत्वं वा, क-तयो-र्यथासंभवं च वत्वं स्यात् ॥

अन्नं अन्नुन्नं, मणोहरं मणहरं, सिरोविअणा ।
सिरविअणा, आवज्जं, आवउज्जं सररुहं सरोरुहमिति ॥
रूपं भवति पवट्ठो, तथा पउट्ठो प्रकोष्ठशब्दस्य ।
बाहुलकादपि कार्य्यं, क्वचिदिह वेद्यं यथास्थानम् ॥

ऊत्सोच्छ्वासे ॥ १५७ ॥

ओत ऊत्वं तु सोच्छ्वासे, सूसासो सिद्धिमृच्छति ।

गव्यउ–आअः ॥ १५८ ॥

'अउ'-'आअ' इत्यादेशौ, स्या–तामोतस्तु गोपदे ।
गउओ गउआ गाओ, ' गाई एसा हरस्स ' च ॥

औत ओत् ॥ १५९ ॥

औकारस्यादिभूतस्य, भवेदोत्वमिति स्थितम् ।
कौमुदी-'कोमुई' कौञ्चः-'कोंचो' योवनमेव च ।
'जोव्वणं' कौस्तुभः 'कोत्थु-हो' कौशाम्बी च कौशिकः ।
'कोसंबी' 'कोसिओ' रूपं, यथाक्रममुदीरयेत् ।

उत् सौन्दर्यादौ ॥ १६० ॥

उदादेशो भवेदौतः, सौन्दर्यादिषु, तद्यथा ।
सुन्देरं सुन्दरिअं, सुगन्धत्तणं दुवारिओ सुंडो ।
सुद्धोअणी पुलोमी, मुंजायण-सुवण्णिओ भवति ।
सौन्दर्य-शौण्ड-पौलोमी–दौवारिक-सौवर्णिकाः ।
मौञ्जायनः शौद्धोदनिः, सौन्दर्यादिः प्रकीर्तितः ॥

कौक्षेयके वा ॥ १६१ ॥

कौक्षेयकशब्दे स्या–दौकारस्योत्वमत्र वैकल्प्यम् ।
कुच्छेअयं च कोच्छे–अयं द्विरूपं समुद्दिष्टम् ॥

अउः पौरादौ च ॥ १६२ ॥

कौक्षेयके च पौरादौ, य औकारः प्रपठ्यते ।
तस्य स्याद् अउरादेशः, कउच्छेअयमित्यपि ॥
पौरः–पउरो, गौमो–गउमो, सौधो निगद्यते सउहं ।
कौशलमिह कउसलमिति, पौरुषमिह पउरिसं वेद्यम् ॥
स्यात् कौरवः कउरवो, सौराः सउरा बुधैर्निगद्यन्ते ।
मौलिः–मउली, मौनं–मउणं, कौलास्तथा कउला ॥
पौरो गौडः कौशलं पौरुषं च,सौराः कौलाः कौरवो मौन-सौधौ ।
मौलिः पौरादिर्गणो धीरवर्यै-राकृत्या संख्यायते नेह संख्या ॥

आश्च गौरवे ॥ १६३ ॥

औत आत्वम् , अउश्च स्या–दादेशो गौरवे पदे ।
स्याद् गारवं गउरवं, कविभिः संप्रकीर्तितम् ॥

नाव्यावः ॥ १६४ ॥

आवाऽऽदेशोऽस्तु नौ–शब्दे, औतो ' नावा ' ततो भवेत् ।

एत् त्रयोदशादौ स्वरस्य सस्वरव्यञ्जनेन ॥ १६५ ॥

त्रयोदशादिषु संख्या–शब्देषु सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
यथा–तेरह तेवीसा, तेतीसा परिपठ्यते ।

स्थविर–विचकिलायस्कारे ॥ १६६ ॥

स्थविरे च विचकिले–ऽयस्कारे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
थेरो वेइल्लं एक्कारो, विअइल्लमपि क्वचित् ।

वा कदले ॥ १६७ ॥

विभाषया तु कदल–शब्दे स्वरयुतेन हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
कयलं कयली केली, केलं रूपचतुष्टयम् ।

वेतः कर्णिकारे ॥ १६८ ॥

कर्णिकारे भवेदेत्वमितो वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनेह कण्णेरो कण्णिआरओ ॥

अयौ वैत् ॥ १६९ ॥

प्राकृते तु विकल्पेना–ऽयिशब्दे सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यैत्वं विधीयते ॥
'अइ उम्मत्तिए' ' ऐ बी–हेमि ' चैवं प्रयुज्यते ।
ऐकारस्य प्रयोगोऽपि, प्राकृते तेन बुध्यते ॥

ओत्-पूतर-बदर-नवमालिका-नवफलिका-पूगफले ॥ १७० ॥

पूतर-नवमालिकयो–र्नवफलिकाबदरयोश्च पूगफले ।
व्यञ्जनसहितेनाऽऽदेः, स्वरस्य वौत्वं परस्वरेणापि ॥
नोमालिआ पोप्फलं, नोहलिआ पोप्फली तथा बोरी ।
पोरो बोरं रूपं, निदर्शितं कोविदैरेवम ॥

नवा मयूख–लवण–चतुर्गुण–चतुर्थ–चतुर्दश–
चतुर्वार-सुकुमार-कुतूहलोदूखलोलूखले ॥ १७१ ॥

उलूखले चतुर्वारे, सुकुमारे चतुर्दशे ।
उदूखले मयूखे च, लवणे च चतुर्गुणे ॥
कुतूहले चतुर्थे च, वैकल्प्यं सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्यौत्वं विधीयते ॥
मोहो मऊहो लवणं, लोणं भवति चोग्गुणो ।
चउग्गुणो, चउत्थो चो-त्थो, चउद्दह चोद्दह ।
चोव्वारो च चउव्वारो, कोउहल्लं च कोहलं ।
सुकुमालो च सोमालो, ओहलो स्यादुऊहलो ॥
सऊखलं ओक्खलं स्या-देवं सर्वमुदाहृतम् ॥

अवापोते च ॥ १७२ ॥

उते ऽवेऽपेऽव्यये शब्द-त्रये, वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्यौत्वं विधीयते ।
'ओ अरइ' 'अव यरई, ' तथाऽवयासो भवेद्य 'ओआसो' ।
'ओ सरइ' 'अव सरइ ' ओ-सारिअमवसारिअं चैव ॥
ओ वणं, ओ घणो, उअ-वणमुअ घणोऽथ च बाहुलकात् ।
' अवगय-मवसद्दो, उअ, रवी ' न चौत्वं प्रवत्यत्र ॥

ऊच्चोपे ॥ १७३ ॥

उपसर्गे तूपशब्दे, सार्द्धं वा सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनादेः, स्वरस्योत्वं तथौद् भवेत् ॥
उवहसिअं ओहसिअं, ऊहसिअं वा उवज्झाओ ।
ओज्झाओ ऊज्झाओ, त्रयं त्रयं चात्र रूपं स्यात् ॥

उमो निषण्णे ॥ १७४ ॥

निषण्ण–शब्दे वैकल्प्य आदेशः सस्वरेण हि ।
परेण व्यञ्जनेनाऽऽदेः, स्वरस्योमो विधीयते ॥
णुमण्णो च णिसण्णो च, बुधै रूपद्वयं स्मृतम ।

प्रावरणे अङ्ग्वाऊ ॥ १७५ ॥

'अङ्गु' 'आउ' इत्यादेशौ, शब्दे प्रावरणे स्मृतौ ।

आदेः स्वरस्य स्ततः सध्य-व्यञ्जनस्वरपरस्य, वा ॥
पल्हरणं पावरणं, पावरणमुदाहृतम् ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ॥ १७६ ॥

सूत्रं 'स्वरादसंयुक्त-स्यानादेः' निखिलं विदम् ।
इतोऽधिक्रियते कार्य्य-सिद्ध्यै, तद् विचिन्त्यताम् ॥

क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ १७७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये तेषाम् ।
क-ग-च-ज-त-द-प-य-वानां, प्रायो लुक् प्राकृते भवति ॥
के-तित्थयरो लोओ, गे-नयरं स्याद् नओ मयंको च ।
चे-सई कयग्गहो स्याद्, जे-वा रययं पयावई च गओ ।
ते-जई रसायलं, दे-मयणो, पे-रिऊ सुउरिसो च ।
ये-तु विओओ नअणं, वे-लायण्णं च विउहो च ।
प्रायोग्रहणात् क्वचिदपि, न भवति यद्वत्-पयागजलमगरू ।
विउरो समवाओ दा-णवो सुकुसुमं तथा सुगओ ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, पुरंदरो संवुडो च संकरओ ॥
नक्कंचरो सगमो, धणंजओ संवरो नात्र ॥
किमसंयुक्तः ?-अक्को, वग्गो कज्जं तथैव विप्पो च ।
अच्चो धुत्तो सव्वं, वज्जं उद्दाम इति च यथा ॥
क्वचिदपि संयुक्तस्य च, नक्कचर इति भवेद् यथा रूपम् ।
क्ता अनादिभूताः, जारो चोरो तरू वयणो ॥
समासे तु विभक्तीनां, वाक्यगानामपेक्षया ।
परत्वं चापरत्वं च, तत्र लक्ष्यानुसारतः ॥
यथा-सागमिओ आय-मिओ, जलचरस्तथा ।
बारुयो 'जलयरो' चेदक्, सुहदो सुहओऽपि च ॥
क्वचिदादेरपि यथा 'सपुनः-सयण' स्मृतम् ।
सच सोअ, तथा चिन्हं इन्धं चैव प्रयुज्यते ॥
पिशाची तु पिसाजी स्या-च्चस्य जत्वेन कुत्रचित् ।
व्यत्ययो दृश्यते क्वापि, तदुदाह्रियतेऽधुना ।
'पगत्तं' पकत्वम्, 'पगो' पकोऽमुको-' अमुगो ' चापि ।
' लोगस्सुज्जोयगरा, ' ' असुगो ' असुकोऽपि ' आगारो ' ॥
आकारस्तीर्थकरः, ' तित्थगरो ' 'सावगो ' विनिर्देश्यः ।
श्रावक इति ' आगरिसो,' आकर्षः कस्य गत्वेऽत्र ॥
व्यत्ययश्च-(४।४४७) ति सूत्रात्तु, रूपनिष्पत्तिरिष्यते ।
दृश्यते चान्यदप्यार्षे, चस्य टत्वविधानतः ॥
यथाऽऽकुञ्चनमित्यत्रा-ऽऽउंटणं रूपमृच्छति ।

यमुना-चामुण्डा-कामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च ॥ १७८ ॥

यमुना चामुण्डा का-मुकातिमुक्तकपदेषु लुक् मस्य ।
अनुनासिकश्च मस्य, स्थाने स्यादित्युदाह्रियते ॥
'जँउणा' 'चाँउण्डा' चाँउं-डा ' तथा ' अँणिउन्तयं ' ।
क्वचिन्न जायते 'अइ-मुंतयं' ' अइमुत्तयं ' ।

नावर्णात् पः ॥ १७९ ॥

अवर्णात्परस्याना-देर्लुक् पस्य न जायते ।
शपथः-'सवहो' शापः, 'सावो ' नादेः कदाचन ॥
'परउट्ठो' यतो नात्र, पस्य लोपो विधीयते ।

अवर्णो यश्रुतिः ॥ १८० ॥

कगचजे-(४।१७७) त्यादिसूत्रात्, लुकि जातेऽवशिष्यते ।
अवर्णाच्च परीभूतो, योऽवर्णस्तस्य यश्रुतिः ।
सयढं नयरं गया मयंको, रययं कायमणी पयावई ।
मयणो नयणं कयग्गहो, सयलं तित्थयरो रसायलं ॥
'लायण्णं चैव 'पायालं,' ' दयालू ' इति गृह्यते ।
अवर्ण इति किं प्रोक्तं, ' सउणो ' ' पउणो ' ' कई ' ।
'पउरं' ' निहओ ' 'वाऊ,' ' राईवं ' ' निलओ ' तथा ।
यश्रुतिर्नात्र कर्तव्या, नच ' लोअस्स ' ' देअरो ' ।
अवर्णयवर्णादित्येव, क्वचित् ' पियइ ' इत्यपि ॥

कुब्ज-कर्पर-कीले कः खोऽपुष्पे ॥ १८१ ॥

कुब्जकर्परकीलेषु, कस्य वर्णस्य खो भवेत् ।
कुब्जाभिधेयं पुष्पं चेत, तदा नैव विधीयते ॥
' खुज्जो ' च ' खीलओ ' चैव, ' खप्परं ' च तथैव हि ।
अपुष्प इति किं प्रोक्तं, ' बंधेउं कुज्ज-पुप्फयं ' ॥
आर्षेऽन्यत्रापि ' खसिअं ' ' कसिनं ' ' खासिअं ' तथा ।
'कासितं' रूपमप्येवं, विकल्पमिह दृश्यते ॥

मरकतमदकले गः कन्दुके त्वादेः ॥ १८२ ॥

मरकतमदकलशब्दौ, कस्य च गत्वेन सिद्ध्यतः किंतु ।
कन्दुकशब्दस्यादे-रेव च गत्वं विनिर्देश्यम् ॥
रूपं ' मरगयं ' मय-गलो ' गेंदुअमित्यपि ।

किराते चः ॥ १८३ ॥

किरातशब्दे चत्वं हि, ककारस्य विधीयते ॥
विधिः पुलिन्द एवायं, ' चिलाओ ' इति दृश्यते ।
न कामरूपिणि विधिः, ' नमो हरकिरायं ' ॥

शीकरे भ-हौ वा ॥ १८४ ॥

शीकरे तु ककारस्य, भ-हौ स्यातां विकल्पनात् ।
सीभरो सीहरो, पक्षे सीअरो विनिगद्यते ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १८५ ॥

चन्द्रिका चन्दिमा जाता, कस्य मे विहिते सति ।

निकष-स्फटिक-चिकुरे हः ॥ १८६ ॥

निकषे स्फटिके चिकुरे, कस्य हकारो विधीयते तस्मात् ।
निहसो फलिहो चिहुरो, क्रमेण रूपाणि सिध्यन्ति ॥

ख-घ-थ-ध-भाम् ॥ १८७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
ख-घ-थ-ध-भां वर्णानां, प्रायो हः प्राकृते भवति ॥
खे-मेहला च साहा, घे-मेहो जहणमिति तथा माहो ।
थे-आवसहो, नाहो, धे-बाहो बाहई-न्दहणू ॥
भे-थणहरो सहावो, सहा नहं सोह इत्युदाहरणम् ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, संखो संघो तथा बंधो ॥
किमसंयुक्ताः ? अक्खइ, अग्घइ कत्थइ च सिद्धओ बंधइ ।
'गज्जंते खे मेहा,' अनादिभूताभिधानेन ।
प्रायोग्रहणाद् अथिरो, पलय-घणो वा नभं च जिणधम्मो ।
सरिसवखलो पणट्ठभ-ओ, कार्य्यं चेदमिह वेद्यम् ॥

पृथकि धो वा ॥ १८८ ॥

पृथक्शब्दे थकारस्य, स्थाने धो वा विधीयते ।
पिधं पुधं पिहं तेद्वत्, पुहं रूपचतुष्टयम् ॥

शृङ्खले खः कः ॥ १८९ ॥

शृङ्खले खस्य कादेशः सङ्कलं तेन सिद्ध्यति ।

पुन्नाग-भागिन्योर्गो मः ॥१९०॥

स्यात् पुन्नागे च भागिन्यां, गकारस्य मकारता ।
'पुन्नामाइं वसन्ते च' 'भामिणी' संप्रयुज्यते ॥

छागे लः ॥१९१॥

छागे गस्य लकारः स्यात्, छालो छाली च सिध्यतः ।

ऊत्वे दुर्भग-सुभगे वः ॥१९२॥

दुर्भगे सुभगे चोत्वे, कृते गस्य तु वो भवेत् ।
दूहवो सूहवोऽनूत्वे-'दुहओ सुहओ' मतः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-ल्लौ वा ॥१९३॥

खचिते तथा पिशाचे, चस्य तु स-ल्लौ विकल्पतो भवतः ।
खसिओ खइओ तस्माद्, भवति पिसल्लो पिसाओ च ॥

जटिले जो झो वा ॥१९४॥

जटिले जस्य झो वा स्याद्, झडिलो जडिलो तथा ।

टो डः ॥१९५॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य डो भवेत् ।
नडो भडो घडो रूपं, घडइ प्रणिगद्यते ॥
अस्वरात्तु भवेद् घंटा, खट्टा-संयुक्तदर्शनात् ।
आदेरेवेत्यतः 'टक्को' क्वचिन्न स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-कैटभे ढः ॥१९६॥

सटायां शकटे कैट-भे शब्दे टस्य ढो भवेत् ।
केढवो सयढो तद्वत्, सढा रूपं पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके लः ॥१९७॥

स्फटिके टस्य लादेशे, 'फलिहो' सिद्धिमृच्छति ।

चपेटा-पाटौ वा ॥१९८॥

चपेटायां च, वा ण्यन्ते, पटिधातौ च टस्य लः ।
चविला चविडा फाले-इ फाडेइ प्रसिध्यति ।

ठो ढः ॥१९९॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्ठस्य ढो भवेत् ।
मढो सढो च कमढो, कुढारो पढइत्यपि ॥
स्वरादित्येव वेकुंठो-ऽसंयुक्तस्यैव चिट्ठइ ।
अनादेरेव 'हिअए-ठाइ' चैवं प्रयुज्यते ॥

अङ्कोठे ल्लः ॥२००॥

अङ्कोठे ठस्य लो द्वित्व-भूतो भवति तेन हि ।
अंकोल्लतेल्ल-तुप्पं तु, पदं लोकैः प्रयुज्यते ॥

पिठरे हो वा रश्च डः ॥२०१॥

पिठरे ठस्य हो वा, हस्य योगे च रस्य डः ।
पिहडो पिढरो रूप-द्वयं सिद्धिमुपागमत् ।

डो लः ॥२०२॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्डस्य लो भवेत् ।
प्रायो, 'गरुलो' वडवा-मुखं च-'वलयामुहं' ।
असंयुक्तस्य किं ?-खग्गो, स्वरात् किम् ?-मोंडमिष्यते ।
अनादेरिति किम् ? डिंभो, प्रायः किम् ? क्वापि वा भवेत् ॥

वलिसं वडिसं णाली, णाडी वाऽस्ति यदं णलं ।
दालिमं दाडिमं आमे-लो आमेडो, गुलो गुडो ॥
क्वचिन्नव, यथा-नीडं निबिडं गउडो तमो ।
बहु पीडिअमित्यादि यथालक्ष्यं विभाव्यताम् ॥

वेणौ णो वा ॥ २०३ ॥

वेणौ तु णस्य लो वा स्यात्, 'वेलू वेणू' द्वयं मतम् ।

तुच्छे तश्च-छौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-छौ वा स्तो यथाक्रमम् ।
चुच्छं छुच्छं तथा तुच्छं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-त्रसर-तूवरे टः ॥ २०५ ॥

त्रसर-तगर-तूवर-पदे, तस्य टकारो विधीयते तस्मात् ।
टसरो टगरो टूवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

प्रत्यादौ डः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिषु शब्देषु तु, तस्य डकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
पडिवन्नं पडिहासो, पडिहारो पाडिनिअत्तं च ॥
पाडिप्फद्धी पडिमा, पडंसुआ पडिवया च पडिसारो ।
पहुडि पाहुडं मडयं, बहेडओ हरडई पडाया च ॥
दुष्कृतं दुक्कडं त्वार्षे सुकृतं सुकडं तथा ।
अवहृतं चाऽवहडं, आहृतं त्वा ऽऽहडं स्मृतम् ॥
प्रायः किम् ? प्रतिसमयं पइसमयं, प्रतीपमिति पईवं च ।
संप्रति संपइ बोध्यं, तथा प्रतिष्ठा पइट्ठा च ॥
प्रति-प्रभृति-मृतक-प्राभृताश्च हरीतकी ।
विभीतक-पताका-व्या-पृताः, प्रत्यादिरिष्यते ॥

इत्वे वेतसे ॥ २०७ ॥

इत्वे सति तकारस्य, डः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।
वेडिसो, इत्व इति किम् ? 'वेअसो' नेत्वमत्र तु ॥

गर्भितातिमुक्तके णः ॥ २०८ ॥

गर्भितातिमुक्तकयो-स्तस्य णकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
अणिउँतयं गब्भिणोऽपि, क्वचिन्न-'अइमुत्तयं' भवति ॥

रुदिते दिना ण्णः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना सार्कं, तस्य ण्ण-रुण्णमुच्यते । *

सप्ततौ रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सत्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

* अत्र केचित् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः, स तु शौरसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्राकृते हि ऋतुः—'रिऊ' 'उऊ'। रजतम्—'रययं'। एतद्-'एअं'। गतः—'गओ'। आगतः—'आगओ'। सांप्रतम्—'संपयं'। यतः—'जओ'। ततः—'तओ'। कृतम्—'कयं'। हृ (ह) तम्-'हयं'। हताशः-'हयासो'। श्रुतः-'सुओ'। आकृतिः-'आकिई'। निर्वृतः-'निव्वुओ'। तातः-'ताओ'। कतरः-'कयरो'। द्वितीयः-'दुइ (ई) ओ'। इत्यादयः प्रयोगा भवन्ति। न पुनः 'उदू' 'रयदमित्यादि । क्वचिद् भावेऽपि "व्यत्ययश्च" (४।४४७) इत्येव सिद्धम् । 'दिही' इत्येतदर्थं तु "धृतेर्दिहिः" (२।१३१) इति वक्ष्यामः ।

सीमाधरस्स वन्दे,तिस्सा भरिमो मुहुस्स,अम्हो अ (द्विती०षष्ठी)
सरुः धणस्स, मुक्का चिरस्स (तृती०षष्ठी) चोरस्स बीहइ सा।
इअराइँ जाण लहुअक्खराइँ पायन्तिमिल्लसहिआण। (पञ्च०षष्ठी)
' पिट्ठीएँ केस-भारो ' (सप्त० षष्ठी) विचिन्तनीयं बुधैरेवम्।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ १३५ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित् ।
गामे वसामि,नयरे न जामि (द्वि० स०) मइ वेविरीएँ मलिआइं।
लोए तिसु तेसु अलंकिआ अ पुहवी जहा भाइ। (तृती०सप्त०)

पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

स्यातां तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः कुत्रचित् यथा ।
चोराद् बिभेति ' चोरेण बीहइ ' प्रतिपाद्यते ।
'अन्तउरे महाराओ आगओ रमिउं' यथा ।

सप्तम्या द्वितीया ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने सद्भिः प्रयुज्यते ।
भवेदार्षे तृतीयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्थले ।
'विज्जुज्जोयं रत्तिं भरइ,' तृतीया तु-तेण कालेणं ।
तेणं समएणं वा, चउवीसं जिणवरा पि' यथा ।

क्यङोर्यलुक् ॥ १३८ ॥

क्यङन्तस्य क्यङ्षन्तस्य, यस्य वा लुक् भवेदिह ।
गरुआइ च गरुआअइ, अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरुरिवाचरति ।
दमदमाइ दमदमाअइ, लोहिआइ लोहिआअइ च ।

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।
इचेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हसइ हसए, तथा वेवइ वेवए ।
' इचेचः ' [४।३१८] इति सूत्रस्य चकारावुपकारकौ ।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् द्वितीयं त्रिकं भवेत् ।
सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हससि हससे, तथा वेवसि वेवसे ।

तृतीयस्य मिः ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।
मिरादेशस्तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि ।
यथा-हसामि वेवामि, भवेद् बाहुलकादिह ।
मिवेर्मेरिकारलोपो, न मरं न म्रिये तथा ।
' बहुजाणय रूसिउं ' सक्कं ' शक्नोमि गद्यते ।

बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम् ।
तदन्त्यस्य त्रयो 'न्ति न्ते इरे' स्युः पदयोर्द्वयोः ।
हसिज्जन्ति रमिज्जन्ति वेवन्ति च हसन्ति च ।
उप्पज्जन्ते विच्छुहिरे वीहन्ते च पहुप्पिरे ।
एकत्वेऽपि क्वचिदिरे स्याच्च सूसइरे इति । [१]

मध्यमस्येत्था-हचौ ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति मध्यमं त्रिकम् ।
'इत्था-हचौ' तदन्त्यस्य, भवतां पदयोर्द्वयोः ।
यथा-हसित्था हसह, वेवित्था अपि वेवह ।

[१] शुष्यतीत्यर्थः ।

'इत्था'ऽन्यत्रापि बहुलम्-'यद्यत्ते रोचते' इदम् ।
वाक्यं 'जं जं ते रोइत्था,' ईदृशं संप्रयुज्यते ।
स्यात् चः 'इह-हचोर्हस्य' [४।२६८] सूत्रस्यास्य विशेषकः ।

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यत् तृतीयं त्रिकं भवेत् ।
'मो-मु-माः' स्युस्तदन्त्यस्य, पदयोरुभयोरपि ।
यथा हसामो हसामु हसाम, तुवराम च ।
तुवरामो तुवरामु, तथाऽन्यत्रापि बुध्यताम् ।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ 'एच्, से' इत्येतौ परिकीर्तितौ ।
अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽन्यस्मादिति हि स्थितिः ।
हसए हससे-ऽतः किम् ?, ठाइ ठासि न चेह तौ ।
अदन्ताद् ' एच् से' एवेत्यवधारणवारणः ।
एवकारस्ततोऽदन्तात् सि-इचावपि सिध्यतः ।
अतो 'हसइ हससि' तथा वेवइ वेवसि ।

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेन, सहाऽस्तेः सिर्भवेदिह ।
सिनेति किम ? 'अत्थि तुमं' से आदेशे कृते सति ।

मि-मो-मैर्म्हि-म्हो-म्हा वा ॥ १४७ ॥

अस्तेः स्थाने यथासंख्यं, 'मि-मो-मैः' सह वा त्रयः ।
'म्हि-म्हो-म्ह' इत्यादेशास्तु भवन्ति, तन्निदर्श्यते ।
'एस म्हि' एषोऽस्मीत्यर्थः, गयम्हो च गयम्ह च ।
मुकाराग्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति मन्यताम् ।
पक्षे-अत्थि अहं, अत्थि अम्हे, अम्हो वि अत्थि च ।
ननु सिद्धावस्थायां,'म्हो'इति सिद्धं हि पक्ष्मसूत्र[२।७४]बलात् ?।
प्रायस्तु साध्यमानाऽवस्था मान्या विभक्तिविधौ ।
नो चेत् 'सव्वे, जे, के,' इत्याद्यर्थं बहूनि सूत्राणि ।
न विधेयानि स्युरतोऽङ्गीकार्या साध्यमानाऽत्र ।

अत्थिस्त्यादिना ॥ १४८ ॥

अस्तेः स्थाने भवेद् अत्थि-रादेशस्त्यादिभिः सह ।
अत्थि सो, अत्थि ते, अत्थि तुमं, अत्थि अहं तथा ।
अत्थि तुम्हे, अत्थि अम्हे, रूपवृन्दमुदाहृतम् ।

णेरदेदावावे ॥ १४९ ॥

णेः ' अत् एत् आव आवे ' सन्त्यमी च यथाक्रमम् ।
दरिसइ कारइ करा-वइ च करावेइ, वा हसावेइ ।
हासेइ हसावइ वा, नैवं क्वापीह बाहुलकात् ।
जाणावेइ, न आवे इत्यादेशः प्रवर्त्तेत क्वापि ।
तेन भवेदिह रूपं सिद्धं ' पाएइ ' भावेइ ' ।

गुर्वादेरविर्वा ॥ १५० ॥

गुर्वादेर्णेर् अविर्वा स्यात्, शोषितम्-सोसिअं तथा ।
सोसविअं, तोषितम्-तोसविअं तोसिअं यथा ॥

भ्रमेराडो वा ॥ १५१ ॥

भ्रमेः परस्य णेराड आदेशो वा विधीयते ।
भमाडइ भमाडेइ, पक्षे रूपं निशम्यताम् ।
भमावइ भमावेइ, भामेइ त्रयमिष्यते ।

लुगावी क्त-भाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

णेर्लुग् आवि भवेतां क्ते, प्रत्यये भावकर्मणोः ।
कराविअं कारिअं हासिअं चैव हसाविअं ।

आदेशास्तु निलीङो धातोः षड् वा प्रवर्तन्ते ।
झुक्कइ लिक्कइ लिहक्कइ भवति णिलीअइ तथा णिलुक्कइ च ।
तथा णिरिग्घइ रूपं, पक्षे वेद्यं निलिज्जइ तु ।

विलीङेर्विरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीङेरादेशो वा, विराइ विलिज्जइ ।

रुते रुञ्ज-रुण्टौ ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुञ्ज-रुण्टौ प्रकीर्तितौ ।
रुञ्जइ रुण्टइ ततः, पक्षे रवइ सिध्यति ।

श्रुटेर्हणः ॥ ५८ ॥

शृणोतेर्वा हणो, हण-इ सुणइ सिद्धिमितः ।

धूगेर्धुवः ॥ ५९ ॥

धुनातेर्वा धुवो धुवइ स्याद् धुणइ पाक्षिकम् ।

भुवेर्हो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

' हो हुव हव ' इत्येते भुवः स्थाने विकाल्पिताः ।
'होइ हुवइ हवइ' स्युर्, 'होन्ति हुवन्ति च हवन्ति' बहुवचने ।
पक्षे भवइ भवन्ति च, जविइं पभवइ च परिभवइ ।
क्वचिदन्यदपि यथा-भत्तं, उब्भुअइ स्मृतम् ।

अविति हुः ॥ ६१ ॥

विद्वर्जे प्रत्यये 'हु' स्याद्, भुवः स्थाने विभाषया ।
यथा हुन्ति, भवन् हुन्तो, किम् ? अवितीति, 'होइ' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वडः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कर्त्तरि ' णिव्वडो' भुवः ।
पृथक् स्पष्टो वा भवती-त्यर्थे ' णिव्वडइ ' स्मृतम् ।

प्रभौ हुप्पो वा ॥ ६३ ॥

प्रभुकर्तृकस्य भुवः, स्थाने हुप्पो विकल्प्यते ।
प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्यै-वार्थो ऽत्रेति विभाव्यताम् ।
अङ्ग च्चिअ पहुप्पइ, न, पक्षे पभवेइ च ।

क्ते हूः ॥ ६४ ॥

क्ते भुवो हू' अणुहूअं, पहूअं हूअमीदृशम् ।

कृगेः कुणः ॥ ६५ ॥

कृगः कुणो वा, कुणइ, करइ स्यात्तु पाक्षिकम् ।

काणेक्षिते णिआरः ॥ ६६ ॥

काणेक्षितविषयस्य तु, कृगः पदे वा णिआर आदेशः ।
काणेक्षितं करोतीत्यर्थे वाच्यं 'णिआरइ' हि ।

निष्टम्भावष्टम्भे णिट्ठुह-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवष्टम्भे च निष्टम्भे, कृगः संदाण-णिट्ठुहौ ।
इत्यादेशौ यथासंख्यं, विकल्पनेह बुध्यताम् ।
णिट्ठुहइ तु निष्टम्भं करोती-त्यर्थबोधकम् ।
'संदाणइ' अवष्टम्भं करोतीत्यर्थवाचकम् ।

श्रमे वावम्फः ॥ ६८ ॥

श्रमविषयस्य तु कृगो, वावम्फो वा विधीयते ।
श्रमं करोति इत्यर्थे, 'वावम्फइ' निगद्यते ।

मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मन्युनोष्ठाभिमालिन्ये, 'णिव्वोलइ' कृगोऽस्तु वा ।
मलिनीकुरुते स्वौष्ठं क्रुधा, 'णिव्वोलइ' स्मृतम् ।

शैथिल्यलम्बने पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिल्ये लम्बनेऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कृगो यथा ।
लम्बते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्लइ' ।

निष्पाताच्छोटे णीलुञ्छः ॥ ७१ ॥

आच्छोटेऽर्थे च निष्पाते, 'णीलुञ्छो' वा कृगो भवेत् ;
'णीलुञ्छइ' निष्पतति, वाऽऽच्छोटयति कथ्यते ।

क्षुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

क्षुरार्थस्य कृगः ' कम्म, ' इत्यादेशो विभाषया ।
'क्षुरं करोति' इत्यर्थे, पदं ' कम्मइ ' भण्यते ।

चाटौ गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कृगो, ' गुललो ' वा विधीयते ।
प्रयुज्यते ' गुललइ, ' चाटुकारं करोत्यतः ।

स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहो विम्हरो झूरः पयरः, सुमरो भरः ।
भलो लढो झरो वैते, नवादेशाः स्मरेर्मताः ।
झूरइ झरइ विम्हरइ, सुमरइ पयरइ च पम्हुहइ सरइ ।
भरइ भलइ ढलइ ततः, स्मरेर्भवन्तीह रूपाणि ।

विस्मुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ॥ ७५ ॥

' पम्हुस विम्हर वीसर ' इत्यादेशा भवन्ति विस्मरतेः ।
' पम्हुसइ विम्हरइ वीसरइ ' च सिद्धयन्ति रूपाणि ।

व्याहृगेः कोक्क-पोक्कौ ॥ ७६ ॥

व्याहरतेर्वा स्याता-मादेशौ द्वौ हि 'कोक्क-पोक्कौ' च ।
कोक्कइ, ह्रस्वत्वे कुक्कइ पोक्कइ, ' वाहरइ ' पक्षे ।

प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ ॥ ७७ ॥

उवेल्लश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरतेरिमौ ।
उवेल्लइ पयल्लइ, पक्षे पसरइ स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।
' मालई महमहइ, ' गन्धे किं ? पसरइ च ।

निस्सरेर्णीहर-नील-धाड-वरहाडाः ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर् ' वरहाडो, नीलो धाडो च णीहरो ' वा स्युः ।
वरहाडइ नीलइ णीहरइ च धाडइ च, नीसरइ ।

जाग्रेर्जग्गः ॥ ८० ॥

जागर्तेर् ' जग्ग ' इति तु, स्यादादेशो विभाषया ।
रूपं 'जग्गइ' तेन स्यात्, पक्षे ' जागरइ ' स्मृतम् ।

व्याप्रेराअड्डः ॥ ८१ ॥

धातोर्व्याप्रियतेः स्थाने, ' आअड्डो ' वा विधीयते ।
आअड्डइ तथा 'वावरेइ' रूपं तु पाक्षिकम् ।

संवृगेः साहर-साहट्टौ ॥ ८२ ॥

संवृणोतेस्तु साहर-साहट्टौ वा पदे मतौ ।
साहट्टइ साहरइ, पक्षे 'संवरइ' स्मृतम् ।

आदृङः सन्नामः ॥ ८३ ॥

वाऽऽद्रियतेः स्यात्तु 'सन्नामो,' आदरइ सन्नामइ ।

महगेः सारः ॥ ८४ ॥

सारः प्रहरतेः स्थाने, वा पहरइ सारइ।

अवतरेरोह-ओरसौ ॥ ८५ ॥

'ओह ओरस' इत्येतौ, वाऽवावतरतेर्मतौ।
ओहइ वा ओरसइ, पक्षे 'ओअरइ' स्मृतम्।

शकेश्चय-तर-तीर-पाराः ॥ ८६ ॥

चयस्तरस्तीरपारौ, चत्वारो वा शकेरिमे।
तीरइ पारइ सक्कइ, चयइ तरइ, चयइ च त्यजतेः। [१]
तरतेरपि तु तरइ वा, तीरयतेरपि भवेत् तीरइ।
पारयतेरपि भवेत्, रूपं 'पारेइ' पठ्यते। [२]

फक्कस्थक्कः ॥ ८७ ॥

थक्कस्तु फक्कतेः स्थाने भवेत्, 'थक्कइ' सिध्यति।

श्लाघः सलहः ॥ ८८ ॥

श्लाघतेः सलहादेशो भवेत्, 'सलहइ' स्मृतम्।

खचेर्वेअडः ॥ ८९ ॥

खचतेर् 'वेअडो' वा, 'वेअडइ' 'खचइ' स्मृतम्।

पचेः सोल्ल-पउल्लौ ॥ ९० ॥

वा 'सोल्ल-पउल्लौ' इत्यादेशौ स्तः पचतेः स्थले।
'सोल्लइ' वा 'पउल्लइ,' पक्षे 'पयइ' सिध्यति।

मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडाः ॥ ९१ ॥

मेल्लोऽवहेडो धंसाडो, णिल्लुञ्छोस्सिक्क-रेअवाः।
छड्डश्चैते मुचेः स्थाने, सप्तादेशा विकल्पिताः।
णिल्लुञ्छइ उस्सिक्कइ, अवहेडइ रेअवइ च धंसाडइ।
छड्डइ मेल्लइ, पक्षे-'मुअइ' च रूपं तु भवतीति।

दुःखे णिव्वलः ॥ ९२ ॥

दुःखविषयस्य मुचेर्णिव्वलो वा विधीयते।
'दुःखं मुञ्चति' इत्यर्थे 'णिव्वलेइ' क्रियापदम्।

वञ्चेर्वेहव-वेलव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥

वा वेहव-वेलव-जूरवा उमच्छोऽपि वञ्चतेः स्थाने।
वेहवइ वेलवइ जूरवइ उमच्छइ च, वञ्चइ च।

रचेरुग्गहावह-विडविड्डाः ॥ ९४ ॥

धातोः रचेर् उग्गहावह-विडविड्डास्त्रयो भवन्त्येते।
विडविड्डइ उग्गहइ च अवहइ, पक्षे रयइ भवति।

समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥

समारचेर् उवहत्थः, केलायः सारवः समारो वा।
उवहत्थइ केलायइ, समारयइ सारवइ समारइ च।

सिचेः सिञ्च-सिम्पौ ॥ ९६ ॥

सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतेर्वा पदे स्मृतौ।
सिंचइ सिञ्चइ सिम्पइ, पक्षे सेअइ भण्यते।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥

प्रच्छेः स्थाने भवेत् पुच्छादेशः, पुच्छति सिद्ध्यति।

गर्जेर्बुक्कः ॥ ९८ ॥

गर्जतेर्बुक्क इत्यादेशो वा, बुक्कइ, गज्जइ।

वृषे ढिक्कः ॥ ९९ ॥

वृषे कर्तरि गर्जेर् वा, ढिक्काऽऽदेशो विधीयते।
'ढिक्कइ' 'गर्जति वृषः' इत्यर्थे परिपठ्यते।

राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ १०० ॥

अग्घो रीरो रेहः, छज्जश्च सहो भवन्तु वा राजेः।
अग्घइ छज्जइ रीरइ, रेहइ रायइ च सहइ तथा।

मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः ॥ १०१ ॥

आउड्डश्च णिउड्डो, बुड्डः खुप्पश्च मज्जतेर्वा स्युः।
आउड्डइ च णिउड्डइ, बुड्डइ खुप्पइ च मज्जइ च॥

पुञ्जेरारोल-वमालौ ॥ १०२ ॥

आरोलश्च वमालश्च, पुञ्जेरेतौ विकल्पितौ।
आरोलइ वमालइ, पक्षे-'पुञ्जइ' सिध्यति।

लस्जेर्जीहः ॥ १०३ ॥

जीहो वा लज्जतेः स्थाने, यथा-जीहइ, लज्जइ।

तिजेरोसुक्कः ॥ १०४ ॥

ओसुक्को वा तिजेः स्थाने, ओसुक्कइ च तेअणं।

मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-हुल-
रोसाणाः ॥ १०५ ॥

उग्घुसो रोसणो लुञ्छः, पुञ्छः पुंसः फुसः पुसः।
लुहो हुलो, नवादेशा विकल्पेन मृजेर्मताः।
लुञ्छइ पुञ्छइ पुंसइ, रोसाणइ फुसइ पुसइ तथा लुहइ।
हुलइ उग्घुसइ, पक्षे-'मज्जइ' इति सिद्धिमेति पदम्।

भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-
करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ १०६ ॥

मुसुमूरो विरो मूरः, सूरः सूडश्च वेमयः।
पविरञ्जः करञ्जो नीरञ्जो वा भञ्जतेर्नव।
मूरइ सूरइ सूडइ, मुसुमूरइ वेमयइ च पविरञ्जइ।
नीरञ्जइ च करञ्जइ, विरइ च पक्षे भवेद्-'भञ्जइ'।

अनुव्रजेः पडिअग्गः ॥ १०७ ॥

अनुव्रजेः 'पडिअग्ग' इत्यादेशो विकल्प्यते।
'पडिअग्गइ' पक्षे तु-'अणुवच्चइ' सिध्यति।

अर्जेर् विढवः ॥ १०८ ॥

अर्जधातोर्विकल्पेन, विढवाऽऽदेश इष्यते।
प्रयुज्यते 'विढवइ,' तथा 'अज्जइ' पाक्षिकम्।

युजो जुञ्ज-जुज्ज-जुप्पाः ॥ १०९ ॥

युजः स्थाने 'जुञ्ज-जुज्ज-जुप्पा' एते त्रयो मताः।
जुञ्जइ जुज्जइ तथा, जुप्पइ' सिद्धिमागमत्।

भुजो भुञ्ज-जिम-जेम-कम्माण्ह-समाण-चमढ-चड्डाः ॥ ११० ॥

समाणश्चमढश्चड्डः, कम्मो भुञ्जो जिमस्तथा।
अण्हो जेमो, भुजः स्थानेऽष्टादेशाः परिकीर्तिताः।
'भुञ्जइ जिमइ च जेमइ, चमढइ कम्मेइ चड्डइ समाणइ।
'अण्हइ' इति भुजधातोः, रूपं वेद्यं सुधीभिरतः।

वोपेन कम्मवः ॥ १११ ॥

उपेन युक्तस्य भुजेः, 'कम्मवो' वा विधीयते।
तेन सिद्धं 'कम्मवइ,' 'उवहुञ्जइ' इत्यपि।

[१] हानिं करोति। [२] कर्म समाप्नोति।

घटेर्गढः ॥ ११२ ॥

घटेर्गढो वा, गढइ, घडइ स्यात्तु पाक्षिकम् ।

समो गलः ॥ ११३ ॥

सम्पूर्वस्य घटेः स्थाने, गलादेशो विकल्पनात् ।
ततः सिद्धं 'संगलइ,' पक्षे 'संघडइ' स्मृतम् ।

हासेन स्फुटेर्मुरः ॥ ११४ ॥

हासेन स्फुटनेऽर्थे तु, स्फुटेः स्थाने मुरोऽस्तु वा ।
हासेन स्फुटतीत्यर्थे, रूपं 'मुरइ' कथ्यते ।

मण्डेश्चिञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिल्ल-रीड-टिविडिक्काः ॥११५॥

चिञ्चिल्लश्चिञ्चश्चिञ्चअश्च, रीडष्टिविडिकस्तथा ।
एते मण्डेर् विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।
चिञ्चिल्लइ चिञ्चअइ, टिविडिक्कइ चिञ्चइ ।
रीडइ तथा, 'मण्डइ,' इति रूपं तु पाक्षिकम् ।

तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः ॥ ११६

लुक्कोल्लूरौ तुट्ट-खुट्टौ, णिलुक्कश्च खुडोक्खुडौ ।
तोडोल्लुक्कौ, तुडेः स्थाने, विभाषा स्युरमी नव ।
तोडइ तुट्टइ खुट्टइ, उल्लुक्कइ उक्खुडइ णिलुक्कइ च ।
खुडइ तुडइ उल्लूरइ, लुक्कइ रूपं तुडेरतः ।

घूर्णो घुल-घोल-घुम्म-पहल्लाः ॥ ११७ ॥

घुलो घोलः पहल्लश्च, घुम्मो घूर्णेरमी मताः ।
'घुलइ घोलइ पहल्लइ घुम्मइ' सिद्ध्यति ।

विवृतेर्ढंसः ॥ ११८ ॥

ढंसो वा विवृतेः स्थाने, ढंसइ स्याद् विवट्टइ ।

क्वथेरट्टः ॥ ११९ ॥

क्वथेरट्टो वा, अट्टइ, पक्षे-कढइ सिध्यति ।

ग्रन्थो गण्ठः ॥ १२० ॥

ग्रन्थेर्गण्ठोऽस्तु, गण्ठइ, गण्ठी साद्भिः प्रयुज्यते ।

मन्थेर्घुसल-विरोलौ ॥ १२१ ॥

घुसलश्च विरोलश्च, मन्थेरेतौ विकल्पितौ ।
रूपं घुसलइ विरोलइ, मन्थइ इत्यपि ।

ह्लादेरवअच्छः ॥ १२२ ॥

ह्लादेर्ण्यन्तस्यावअच्छोऽण्यन्तस्यापि स्थले भवेत् ।
ह्लादते ह्लादयति वा,' अवअच्छइ ' उच्यते ।
अत्रकारस्तु ण्यन्तस्यापि ग्रहार्थः प्रयुज्यते ।

नेः सदो मज्जः ॥ १२३ ॥

निपूर्वस्य सदो मज्जः, ' अत्ता एत्थ णिमज्जइ ' ।

छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः ॥ १२४ ॥

वा स्युर् णिच्छल्ल-णिज्झोडौ, णिल्लूरो लूर-णिव्वरौ ।
दुहावश्च षडादेशाः, छिद्-धातोः पदे यथा ।
णिच्छल्लइ णिज्झोडइ, णिल्लूरइ णिव्वरइ दुहावइ च ।
लूरइ इति छिदधातोः, पक्षे ' छिन्दइ ' मतं रूपम् ।

आङा ओअन्दोद्दालौ ॥ १२५ ॥

'ओअन्दोद्दालौ' वा, स्याताम् आङा सहात्र छिद्-धातोः ।
' ओअन्दइ, उद्दालइ ' ' अच्छिन्दइ ' इति विकल्पवशात् ।

मृदो मल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नाडाः ॥१२६॥

खड्ड-चड्डौ च पन्नाडः, परिहट्टो मढो मलः ।
मड्डश्चापि मृदः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।
पन्नाडइ मड्डइ च, परिहट्टइ खड्डइ ।
मढइ चड्डइ तथा, मलइ प्रतिपद्यते ।

स्पन्देश्चुलुचुलः ॥ १२७ ॥

स्पन्देश्चुलुचुलादेशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।
सिद्धं ' चुलुचुलइ ' तु, पक्षे ' फन्दइ ' इत्यपि ।

निरः पदेर्वलः ॥ १२८ ॥

निःपूर्वस्य पदेः स्थाने, वलादेशो विकल्प्यते ।
' निव्वलइ निप्पज्जइ, ' द्वयं सिद्धिमगादिदम् ।

विसंवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः ॥ १२९ ॥

विअट्टश्च विलोट्टश्च, फंसश्चेति त्रयोऽपि वा ।
विसंपूर्वस्य तु वदेः, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।
विअट्टइ ततः सिद्धं, विलोट्टइ च फंसइ ।
विसंवअइ चैतत्तु, पाक्षिकं रूपमिष्यते ।

शदो झड-पक्खोडौ ॥ १३० ॥

शदः स्तो झड-पक्खोडौ, झडइ, वा पक्खोडइ ।

आक्रन्देर्णीहरः ॥ १३१ ॥

आक्रन्देर्णीहरो वा स्याद्, णीहरइ अक्कन्दइ ।

खिदेर् जूर-विसूरौ ॥ १३२ ॥

खिदेर् जूर-विसूरौ द्वौ, स्यातामत्र विकल्पनात् ।
' विसूरइ ' ततः सिद्धं, पक्षे जूरइ, खिज्जइ ।

रुधेरुत्थङ्घः ॥ १३३ ॥

रुधेरुत्थङ्घ इति वा, उत्थङ्घइ च रुन्धइ ।

निषेधेर्हक्कः ॥ १३४ ॥

हक्को निषेधतेर् हक्कइ वा पक्षे निसेहइ ।

क्रुधेर्जूरः ॥ १३५ ॥

क्रुधेर्जूरो विकल्पेन, 'जूरइ' 'कुज्झइ' इत्यपि ।

जनो जा-जम्मौ ॥ १३६ ॥

जा-जम्मौ जायतेः स्थाने, सिद्धं ' जाअइ जम्मइ ' ।

तनेस्तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाः ॥ १३७ ॥

तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाश्चत्वारस्तनः स्थले वा स्युः ।
तड्डइ तडइ तड्डवइ, तथा विरल्लइ, ' तणइ ' पक्षे ।

तृपस्थिप्पः ॥ १३८ ॥

तृप्यतेस्तु पदे थिप्पः, ' थिप्पइ' प्रणिगद्यते ।

उपसर्पेरल्लिअः ॥ १३९ ॥

कृतगुणस्योपसृपेः, स्थाने वा ' अल्लिअः ' मतः ।
ततः सिद्धम् ' अल्लिअइ, ' 'उवसप्पइ' पाक्षिकम् ।

संतपेर्झङ्खः ॥ १४० ॥

संतपेर्झङ्ख इति वा, संतप्पइ च झङ्खइ ।

व्यापेरोअग्गः ॥ १४१ ॥

व्याप्नोतेस्तु विकल्पेनाऽऽदेश ' ओअग्ग ' इष्यते ।

'ओअग्गइ' ततः पक्षे, रूपं 'वावेइ' सिध्यति ।

समापेः समाणः ॥ १४२ ॥

समाप्नोतेः समाणो वा, समावेइ समाणइ ।

क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः ॥ १४३ ॥

सोल्लपेल्लौ परी-घत्तौ, गलत्थश्च छुहो हुलः ।
अड्डक्खो णोल्ल इत्येते, नवादेशाः क्षिपस्तु वा ।
अड्डक्खइ च गलत्थइ, सोल्लइ पेल्लइ छुहइ हुलइ घत्तइ ।
णोल्लइ ह्रस्वत्वे णुल्लइ परीइ, पाक्षिकं खिवइ ।

उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवाः ॥१४४॥

गुलगुञ्छोत्थङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवा वा स्युः ।
उत्पूर्वस्य तु क्षिपेर्, धातोः स्थाने षडादेशाः ।
गुलगुञ्छइ उत्थङ्घइ, अल्लत्थइ हक्खुवइ च उस्सिक्कइ ।
उब्भुत्तइ इति पक्षे, रूपं वेद्यं तु 'उक्खिवइ' ।

आक्षिपेर्णीरवः ॥ १४५ ॥

आङ्पूर्वस्य क्षिपेर्धातोर्णीरवो वा विधीयते ।
ततः सिद्धं 'णीरवइ,' पक्षे 'अक्खिवइ' स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-लिस-लोट्टाः ॥ १४६ ॥

'कमवस-लिस-लोट्टाः' वा, स्युर्मी धातोः स्वपेः स्थले क्रमशः ।
लोट्टइ लिसइ कमवसइ, भवति तु पक्षे 'सुअइ' रूपम् ।

वेपेरायम्बायज्झौ ॥ १४७ ॥

वेपेर् 'आयम्ब आयज्झ' इत्यादेशौ विकल्पनात् ।
आयम्बइ तथा आयज्झइ, पक्षे तु 'वेवइ' ।

विलपेर्झङ्ख-वडवडौ ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन, झङ्खो वडवडश्च वा ।
झङ्खइ वडवडइ, पक्षे विलवइ स्मृतम् ।

लिपो लिम्पः ॥ १४९ ॥

लिम्पस्तु लिम्पतेः स्थाने, ततो लिम्पइ सिध्यति ।

गुप्येर्विर-णडौ ॥ १५० ॥

स्थाने धातोर्गुप्यतेर्वा, भवेतां द्वौ 'विरो, णडः' ।
विरइ णडइ पक्षे, गुप्पइ सिद्धिमश्नुते ।

कृपोऽवहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु कृपेः स्थाने, णयन्तो भवति, तद्यथा ।
'कृपां करोति' इत्यर्थे, 'अवहावेइ' पठ्यते ।

प्रदीपेस्तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काब्भुत्ताः ॥ १५२ ॥

'तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काब्भुत्ता' वा प्रदीप्यतेरेते ।
सन्धुक्कइ अब्भुत्तइ, सन्दुमइ पलीवइ तेअवइ ।

लुभेः संभावः ॥ १५३ ॥

संभावो लुभ्यतेर्वा स्यात, संभावइ च लुब्भइ ।

क्षुभेः खउर-पड्डुहौ ॥ १५४ ॥

खउरः पड्डुहो वा स्तः, क्षुभेर्धातोः पदे यथा ।
खउरइ पड्डुहइ, पक्षे 'खुब्भइ' सिध्यति ।

आङो रभेः रम्भ-ढवौ ॥ १५५ ॥

आङः परस्य तु रभेः स्यातां रम्भो ढवश्च वा ।
आरम्भइ आढवइ, पक्षे 'आरभइ' स्मृतम् ।

उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चार-वेलवाः ॥ १५६ ॥

उपालम्भेस्रयो वा स्युर्झङ्ख-पच्चार-वेलवाः ।
पच्चारइ वेलवइ, उवालम्भइ झङ्खइ ।

अवेर्जृम्भो जम्भा ॥ १५७ ॥

जृम्भेर् जम्भा, न तु वेः परस्य, जम्भाइ भवति जम्भाअइ ।
किम् ? अवेरिति हि निषेधः, 'सुकेलिपसरो विअम्भइ अ' ।

भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढः ॥ १५८ ॥

भाराक्रान्ते तु कर्तरि, णिसुढो वा नमेः स्मृतः ।
णिसुढइ, वा 'णवइ,' आक्रान्तो नमतीत्यतः ।

विश्रमेर्णिव्वा ॥ १५९ ॥

'णिव्वा' विश्राम्यतेर्वा 'णिव्वाइ, वीसमइ' द्वयम् ।

आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः ॥ १६० ॥

आक्रमेः 'छुन्द उत्थार ओहावो' वा त्रयो मताः ।
ओहावइ उत्थारइ, वा अक्कमइ छुन्दइ ।

भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चक्कम्मो भम्मडो झम्पष्टिरिटिल्लो भुमो गुमः ।
ढुण्ढुल्लो भमडो ढण्ढल्लो भमाडः फुमः फुसः ।
तलअण्टस्तथा झण्टो, ढुमो ढुस-परी-पराः ।
इत्यमी भ्रमतेरष्टादशादेशा विकल्पनात् ।
टिरिटिल्लइ ढुण्ढुल्लइ, ढण्ढल्लइ तलअण्टइ च झण्टइ ।
भमडइ चक्कम्मइ भम्मडइ भमाडइ भुमइ झम्पइ ।
गुमइ फुमइ फुसइ ढुमइ, ढुसइ परीइ च परइ भमइ पक्षे ।
भ्रमधातोरिह रूपं, विविधं वेद्यं सुधीभिस्तु ।

गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल्ल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः ॥१६२॥

अई णी पदओऽइच्छोऽणुवज्जोऽवज्जसोऽक्कुसः ।
पच्चड्डो णिवहः पच्छन्दोऽवसेहश्च णिम्महः ।
परिअल्लः परिअलो, णिरिणासस्तथोक्कुसः ।
रम्भो णीणश्च णीलुक्कोऽवहरो वोल इत्यमी ।
एकविंशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मताः ।
अणुवज्जइ पच्चड्डइ, अवज्जसइ अक्कुसइ च पच्छन्दइ ।
णीणइ अईइ रम्भइ, णिरिणासइ णीइ णीलुक्कइ ।
पदअइ णिम्महइ अइच्छइ परिअल्लइ च उक्कुसइ वोलइ ।
अवसेहइ अवहरइ च, णिवहइ परिअलइ वा गच्छइ ॥
[णिहम्मइ आहम्मइ, पहम्मइ णिहम्मइ तु तथा हम्मइ ।
'हम्म गतौ' इति धातोरमूनि रूपाणि वेद्यानि ।]

आङा अहिपच्चुअः ॥ १६३ ॥

आङा सहितस्य गमेः, स्थाने वाऽस्त्वहिपच्चुअः ।
'अहिपच्चुअइ' स्याद् वा, तथा-ऽऽगच्छइ' पाक्षिकम् ॥

समा अब्भिडः ॥ १६४ ॥

समा युक्तस्य तु गमेर्, 'अब्भिडो' वा विधीयते ।
सिद्धं ततो 'अब्भिडइ, 'पक्षे-संगच्छइ स्मृतम् ।

अभ्याङोम्मत्थः ॥ १६५ ॥

उम्मत्थस्तु गमेः स्थानेऽभ्याङ्भ्यां युक्तस्य वा भवेत्।
'उम्मत्थइ' तथा-ऽभ्यागच्छइ' रूपद्वयं ततः।

प्रत्याङा पलोट्टः ॥ १६६ ॥

पल्लोट्टस्तु गमेः प्रत्याङ्भ्यां युक्तस्य पदेऽस्तु वा।
'पलोट्टइ' तथा-'पच्चागच्छइ' स्यात्तु पाक्षिकम्।

शमेः पडिसा-परिसामौ ॥ १६७ ॥

शमेः पदे तु पडिसा-परिसामौ विकल्पितौ।
'परिसामइ समइ, पडिसाइ' त्रयं शमेः।

रमेः संखुड्ड-खेड्डोब्भाव-किलिकिञ्च-कोट्टुम-मोट्टाय-णीसर-वेल्लाः ॥ १६८ ॥

मोट्टायो णीसरो वेल्लः, किलिकिञ्चश्च कोट्टुमः।
खेड्डोब्भावौ च संखुड्डो, रमेर्वा स्युरमी पदे।
संखुड्डइ उब्भावइ, किलिकिञ्चइ कोट्टुमइ च मोट्टायइ।
खेड्डइ तथा णीसरइ, वेल्लइ पक्षे 'रमइ' रूपम्।

पूरेरग्घाडाग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः ॥ १६९ ॥

'अहिरेमोऽग्घवोऽग्घाड उद्धुमाऽङ्गुम' इत्यमी।
पञ्चादेशा विकल्पेन, पूरेः स्थाने प्रकीर्तिताः।
'अग्घाडइ अग्घवइ, अहिरेमइ पूरइ।
उद्धुमाइ अङ्गुमइ,' सविकल्पमुदाहृतम्।

त्वरस्तुवर-जअडौ ॥ १७० ॥

तुवरो जअडश्चेमौ, भवेतां त्वरतेः पदे।
सिद्धं रूपं तुवरइ, तथा जअडइ स्मृतम्।

त्यादिशत्रोस्तूरः ॥ १७१ ॥

त्वरः शतरि त्यादौ च, तूरः,-'तूरन्तो तूरइ'।

तुरोऽत्यादौ ॥ १७२ ॥

त्वरोऽत्यादौ तुरादेशः, तुरन्तो तुरिओ यथा।

क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः ॥१७३॥

णिच्चलो णिट्टुओ पच्चडो झरः पज्झरः खिरः।
क्षरेरेते षडादेशाः, भवन्तीति विभाव्यताम्॥
पज्झरइ पच्चडइ, खिरइ झरइ तथा।
णिच्चलइ णिट्टुअइ, एवं रूपाणि चक्षते॥

उच्छल उत्थल्लः ॥ १७४ ॥

स्याद् 'उत्थल्ल' उच्छलतेः, रूपम् 'उत्थल्लइ' स्मृतम्।

विगलेः थिप्प-णिट्टुहौ ॥ १७५ ॥

धातोर् विगलतेः स्थाने, वा स्यातां 'थिप्प—णिट्टुहौ'।
वा थिप्पइ णिट्टुहइ, पक्षे 'विगलइ' स्मृतम्॥

दलि-वल्योर्विसट्ट-वम्फौ ॥ १७६ ॥

स्यातां विसट्ट-वम्फौ, वा दलि-वल्योः पदे यथासंख्यम्।
ततो 'विसट्टइ वम्फइ,' पक्षे रूपं दलइ वलइ॥

भ्रंशेः फिड-फिट्ट-फुड-फुट्ट-चुक्क-भुल्लाः ॥१७७॥

वा स्युर् भ्रंशेः चुक्क-भुल्लौ, फिट्ट-फुट्टौ फिडः फुडः।
फिट्टइ फुट्टइ चुक्कइ, फिडइ फुडइ भुल्लइ च भवति रूपम्॥
पक्षे 'भंसइ' रूपं, वेद्यं भ्रंशेः सुधीभिरिदम्।

नशेर्णिरणास-णिवहावसेह-पडिसा-सेहावहराः ॥१७८॥

णिरिणासश्च णिवहोऽवसेहः पडिसा तथा।
सेहश्चावहरश्चैते, षडादेशा नशेस्तु वा॥
णिरिणासइ णिवहइ अवसेहइ पडिसाइ अवहरइ सेहइ।
पक्षे 'नस्सइ' इत्यप्यमूनि रूपाणि नशधातोः॥

अवात् काशो वासः ॥ १७९ ॥

अवात् परस्य काशस्तु, 'वासः,' 'ओवासइ' स्मृतम्।

सन्दिशेरप्पाहः ॥ १८० ॥

अप्पाहः संदिशेर् वा स्यात्, अप्पाहइ सन्दिसइ।

दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौअक्खावक्खावअक्ख-पुलोए-पुलए-निआवआस-पासाः ॥ १८१ ॥

वज्जो निअच्छ ओअक्खोऽवयच्छः सव्ववो निअः।
अवयच्छोऽवयज्झः पेच्छो देक्खः पुलअस्तथा॥
अवअक्खः पुलोएश्च पासोऽवक्खो, दृशेर् अमी।
अवअक्खः पुलोएश्च पासोऽवक्खो, दृशेर् अमी।
अवयच्छइ अवयज्झइ, वज्जइ पेच्छइ च सव्ववइ पासइ॥
ओअक्खइ च निअच्छइ, देक्खइ अवअक्खइ पुलोएइ।
अवआसइ अवक्खइ, निअइ च पुलएइ चेदृशं रूपम्॥
'निज्झाअइ' स्वरादत्यन्ते निध्यायतेः सिद्धम्।

स्पृशः फास-फंस-फरिस-छिव-छिहालुङ्खालिहाः ॥१८२॥

आलुङ्खः फरिसः फंसः, छिवः फासः छिहालिहौ।
इत्यमी स्पृशतेः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः।
फासइ फंसइ फरिसइ,छिवइ छिहइ आलिहइ तथाऽऽलुङ्खइ।
इति धातोः स्पृशतेरिह, रूपाणां सप्तकं भवति।

प्रविशेरिअः ॥ १८३ ॥

धातोः प्रविशतेः स्थाने, रिआऽऽदेशो विकल्प्यते।
सिद्धं 'रिअइ' पक्षे तु, रूपं 'पविसइ' स्मृतम्।

प्रान्मृश-मुषोर्म्हुसः ॥ १८४ ॥

प्रात् परस्य तु मुष्णाते-र्मृशतेश्च म्हुसो भवेत्।
'पम्हुसइ' प्रमृशति, वा प्रमुष्णाति कथ्यते।

पिषेर्णिवह-णिरिणास-णिरिणज्ज-रोञ्च-चड्डाः ॥ १८५ ॥

णिरिणासो णिरिणज्जो, रोञ्चश्चड्डश्च वा पिषेर् णिवहः।
रोञ्चइ चड्डइ णिरिणासइ णिरिणज्जइ च पीसइ णिवहइ।

भषेर्भुक्कः ॥ १८६ ॥

भषेर्भुक्को विकल्पेन, सिद्धं भसइ भुक्कइ।

कृषेः कड्ढ-साअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः ॥ १८७ ॥

कड्ढः साअड्ढ आइञ्छोऽयञ्छोऽणच्छोऽञ्छ इत्यमी।
धातोः कृषेः षडादेशाः, विकल्पेन प्रकीर्तिताः।
आइञ्छइ साअड्ढइ, कड्ढइ अञ्छइ अणच्छइ अयञ्छइ।
पक्षे 'करिसइ' रूपं, कृषधातोरत्र संवद्यम्।

असावक्खोडः ॥ १८८ ॥

अक्खोडस्तु कृषेः स्थाने-ऽर्थे कोशात् खड्गकर्षणे।
'अक्खोडइ' असिं कोशात्, कर्षतीति प्रतीतिकृत्।

गवेषेर्ढुण्ढुल्ल-ढण्ढोल-गमेस-घत्ताः ॥ १८९ ॥

घत्तो गमेसो ढण्ढोलो, ढुण्ढुल्लो वा गवेषतेः।
ढुण्ढुल्लइ ढण्ढोलइ, गमेसइ च घत्तइ।[१]

[१] गवेसइ।

श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः ॥ १९० ॥

अवयासः सामग्गः, परिअन्तश्च त्रयः श्लिषेर्वा स्युः ।
अवयासइ सामग्गइ, परिअन्तइ, वा सिलेसइ च ।

म्रक्षेश्चोप्पडः ॥ १९१ ॥

म्रक्षेस्तु चोप्पडो वा स्याद्, वा मक्खइ चोप्पडइ ।

काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्ख-वच्च-वम्फ-मह-सिह-विलुम्पाः ॥ १९२ ॥

अहिलङ्घोऽहिलङ्खो वम्फो विलुम्पो महः सिहः ।
आहो वच्चः काङ्क्षतेर्वाऽष्टावादेशा अमी मताः ।
अहिलङ्घइ अहिलङ्खइ, आहइ वच्चइ महइ विलुम्पइ च ।
वम्फइ सिहइ च, पक्षे-'कङ्खइ' इति सिद्धिमेति पदम् ।

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः ॥ १९३ ॥

परे प्रतीक्षेर्वा स्युः, विरमालः सामयो विहीरश्च ।
विरमालइ च विहीरइ, सामयइ तथा पडिक्खइ वा ।

तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १९४ ॥

तच्छश्चच्छो रम्पो, रम्फश्चैते तु तक्षतेर्वा स्युः ।
तच्छइ चच्छइ रम्पइ, रम्फइ, तक्खइ तु वैकल्यात् ।

विकसेः कोआस-वोसट्टौ ॥ १९५ ॥

कोआसो वोसट्टो, विकसेरेतौ परे तु वा भवतः ।
कोआसइ वोसट्टइ, तथा विकल्पेन विअसइ च ।

हसेर्गुञ्जः ॥ १९६ ॥

हसेर्गुञ्जो विभाषा स्याद्, यथा हसइ गुञ्जइ ।

स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ ॥ १९७ ॥

ल्हसो डिम्भश्च वा स्यातां, स्रंसेर् धातोः परे यथा ।
ल्हसइ डिम्भइ तथा, पक्षे-'संसइ' सिध्यति ।

त्रसेर्डर-वोज्ज-वज्जाः ॥ १९८ ॥

वोज्जो वज्जो डरश्चैते, वा भवन्तु त्रसेः परे ।
सिद्धं वोज्जइ डरइ, तथा तसइ वज्जइ ।

न्यसो णिम-णुमौ ॥ १९९ ॥

न्यस्यतेः स्तो णिम-णुमौ, 'णिमइ णुमइ' यथा ।

पर्यसः पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्थाः ॥२०० ॥

पर्यस्यतेः 'पलोट्टः, पल्लट्टः पल्हत्थ इति सन्तु हि ।
पल्लट्टइ पल्हत्थइ, तथा पलोट्टइ भवति रूपम् ।

निश्वसेर्झङ्खः ॥ २०१ ॥

झङ्खो वा निश्वसेर्, नीससइ झङ्खइ च द्वयम् ।

उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआः ॥२०२॥

ऊसुम्भ ऊसलो गुञ्जोल्लः पुलआअ-णिल्लसौ ।
आरोओ, वा षडादेशाः, उल्लसेस्तु परे मताः ।
पुलआअइ गुञ्जोल्लइ, 'गुञ्जुल्लइ ह्रस्वतस्तु,' ऊसलइ ।
ऊसुम्भइ आरोअइ, तथा णिल्लसइ च उल्लसइ ।

भासेर्भिसः ॥ २०३ ॥

भासेर् भिसो वा, 'भिसइ,' पक्षे-'भासइ' इत्यपि ।

ग्रसेर्घिसः ॥ २०४ ॥

ग्रसेर् घिसो वा, घिसइ, पक्षे 'गसइ' इत्यपि ।

अवाद् गाहेर्वाहः ॥ २०५ ॥

अवाद् गाहेस्तु वाहो वा, ओवाहइ ओगाहइ ।

आरुहेश्चड-वलग्गौ ॥ २०६ ॥

चडो वलग्गश्चामू द्वौ, भवेताम् आरुहेः परे ।
वा वलग्गइ चडइ, तथाऽऽरुहइ पाक्षिकम् ।

मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ ॥ २०७ ॥

वा गुम्म-गुम्मडौ स्यातां, मुहेर्धातोः परे, यथा ।
वा गुम्मइ गुम्मडइ, पक्षे 'मुज्झइ' सिध्यति ।

दहेरहिऊलालुङ्खौ ॥ २०८ ॥

आलुङ्खो वाऽहिऊलश्च, दहेः स्थाने विकल्पितौ ।
अहिऊलइ आलुङ्खइ, पक्षे-डहइ स्मृतम् ।

ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआः ॥२०९॥

वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआ ग्रहेः स्युरमी ।
अहिपच्चुअइ वलइ निरुवारइ गेण्हइ हरइ पङ्गइ ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् ॥ २१० ॥

क्त्वा-तुम-तव्येषु परतो, 'घेद्' आदेशो ग्रहेर्मतः ।
[क्त्वा] स्याद् घेत्तुआण घेत्तूण, कश्चिच्चो-'गेण्हिअ' स्मृतम् ।
[तुम] घेत्तुं [तव्य] घेत्तव्वम्' इत्येतत्, त्रिविधं रूपमीरितम् ।

वचो वोत् ॥ २११ ॥

क्त्वा-तुम-तव्येषु वचेर् 'वोत्', इत्यादेशो विधीयते ।
'वोत्तूण वोत्तुं वोत्तव्वं', अयं चैतदुदाहृतम् ।

रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ २१२ ॥

तः स्याद् रुद-भुज-मुचां, क्त्वा-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।
भोत्तूण भोत्तुं भोत्तव्वं, ज्ञातव्यमनया दिशा ।

दृशस्तेन ट्ठः ॥ २१३ ॥

दृशोऽन्त्यस्य तकारेण, सह ट्ठः प्रभवेद्, यथा ।
दट्ठूण दट्ठुं दट्ठव्वं, संप्रयुक्तं बुधैरिदम् ।

आः कृगो भूत-भविष्यतोश्च ॥ २१४ ॥

क्त्वा-तुम-तव्येषु च तथा, काले भूते भविष्यति ।
कृगोऽन्त्यस्य तु 'आ' इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।
' चकाराकार्षीदकरोत, ' एषु ' काहीअ ' भाष्यते ।
' कर्ता करिष्यतीत्यर्थे, परं ' काहिइ ' पठ्यते ।
क्त्वा-तुम-तव्येषु काऊण, काउं कायव्वमिष्यते ।

गमिष्यमाऽऽसां छः ॥ २१५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्त्यस्य, छकारादेश इष्यते ।
गच्छइ इच्छइ तथा, सिद्धं जच्छइ अच्छइ ।

छिदि-भिदो न्दः ॥ २१६ ॥

न्दः स्यात् छिदि-भिदोर् अन्ते, यथा-छिन्दइ भिन्दइ ।

युध-बुध-गृध-क्रुध-सिध-मुहां ज्झः ॥ २१७ ॥

स्यात् क्रुध-युध-बुध-गृध-सिध-मुहां द्विरुक्तो 'ज्झ' इत्यादेशः ।
कुज्झइ जुज्झइ बुज्झइ, गिज्झइ सिज्झइ च मुज्झइ च ।

रुधो न्ध-म्भौ च ॥ २१८ ॥

रुधो न्ध-म्भौ तु चान्त ' ज्झो ', रुन्धइ रुम्भइ रुज्झइ ।

सद-पतोर्डः ॥ २१९ ॥

अन्ते सद-पतोर्डः स्यात्, सडइ पडइ स्मृतम् ।

क्वथ-वर्धां ढः ॥ २२० ॥

क्वथेर् वर्धेर् अन्तिमस्य, ढः स्यात् कढइ वड्ढइ ।
वृधेः कृतगुणस्येह, वर्धेश्च ग्रहणं समम् ।

वेष्टः ॥ २२१ ॥

' वेष्ट वेष्टने ' इत्यस्य, धातोः 'कगट'-[४ । ७७] सूत्रतः ।
षलोपेऽन्त्यस्य ढो, 'वेढिज्जइ, वेढइ' इत्यपि ।

समो ल्लः ॥ २२२ ॥

संवेष्टतेरन्तिमस्य, ' ल्लः ' स्यात्, 'संवेल्लइ' स्मृतम् ।

वोदः ॥ २२३ ॥

वा ' ल्ल ' उद्वेष्टतेर् 'उव्वेल्लइ, उव्वेढइ' स्मृतम् ।

स्विदां ज्जः ॥ २२४ ॥

स्विदिप्रकाराणां ' ज्जः ' स्याद्, अन्तिमस्य द्विरूपकः ।
सव्वङ्ग-सिज्जिरीए संपज्जइ खिज्जइ स्मृतम् ।
बहुत्वं तु प्रयोगानुसरणार्थमिहेष्यते ।

व्रज-नृत-मदां च्चः ॥ २२५ ॥

अन्तिमस्य व्रज-नृत-मदानां ' च्चो ' भवेदिह ।
वच्चइ नच्चइ तथा, मच्चइ सिद्धिमाययुः ।

रुद-नमोर्वः ॥ २२६ ॥

रुद-नमोर् वो, रुवइ, रोवइ नवइ स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ २२७ ॥

उद्विजतेरन्त्यस्य वः, उव्वेवो च उव्विवइ ।

खाद-धावोर्लुक् ॥ २२८ ॥

खाद-धावोर्लुग् अन्ते स्यात्, खाइ खाअइ खाहिइ ।
स्याद् धाइ धाअ धाहिइ, क्वचिन्नो-' धावइ ' स्मृतम् ।
वर्तमाना-भविष्यद्-विध्याद्येकवचनेषु हि ।
तेनेह नैव ' खादन्ति, धावन्ति ' बहुलग्रहात् ।

सृजो रः ॥ २२९ ॥

सृजो धातोरन्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।
वोसिरामि वोसिरइ, तथा निसिरइ स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ २३० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तद्यथा ।
[शक्] सक्कइ [जिम] जिम्मइ [लग्] लग्गइ,
[मग्] मग्गइ [कुप्] कुप्पइ [त्रुट्] पलोट्टइ च [तुट्] तुट्टइ ।
[नश्] नस्सइ [अट्] परिअट्टइ [नट्] न-
ट्टइ [सिव्] सिव्वइ, अन्यदपि चैवम् ।

स्फुटि-चलेः ॥ २३१ ॥

स्फुटेश्चलेश्च वैकल्प्यं, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।
फुडइ फुट्टइ तथा, रूपं चलइ चल्लइ ।

प्रादेर्मीलेः ॥ २३२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेर्वा, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।
संमिल्लइ तथा संमीलइ, मीलइ तं विना ।

उवर्णस्यावः ॥ २३३ ॥

अवादेशस्तु धातूनामन्त्योवर्णस्य बुध्यताम् ।
[ह्नुङ्] निण्हवइ [द्रु] निहवइ, [कु] कवइ प्रभृति स्मृतम् ।

ऋवर्णस्यारः ॥ २३४ ॥

अरादेश ऋवर्णस्य, भवेद् धात्वन्तवर्तिनः ।
यथा करइ धरइ, हरइ प्रमुखं मतम् ।

वृषादीनामरिः ॥ २३५ ॥

अरिर्वृषादिधातूनाम्, ऋवर्णस्य परे भवेत् ।
वृषो 'वरिसइ' कृषो, तथा 'करिसइ' स्मृतम् ।
एवं मृषो 'मरिसइ', हृषो 'हरिसइ' स्मृतम् ।
अरिः संदृश्यते येषां, वेद्यास्ते हि वृषादयः ।

रुषादीनां दीर्घः ॥ २३६ ॥

रुषप्रभृतिधातूनां, स्वरस्य दीर्घो भवेद्, यथा रूसइ ।
तूसइ सूसइ दूसइ, पूसइ सीसइ, तथाऽन्यदपि ।

युवर्णस्य गुणः ॥ २३७ ॥

इवर्णोवर्णयोर्धातो-र्गुणः क्डित्यपि क्डित्यपि ।
यथा जेऊण नेऊण, नेइ उड्डेइ नेन्ति च ।
क्वचिन्नायं विधिर् नीओ, उड्डीओ सिध्यतो यतः ।

स्वराणां स्वराः ॥ २३८ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, भवन्ति बहुलं स्वराः ।
सद्दहणं सद्दहाण, तथा धुवइ धावइ [१] ।
क्वचिन्नित्यं देइ लेइ, आर्षे 'बेमि' प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनाददन्ते ॥ २३९ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोरन्तेऽकार आगमो भवति ।
भमइ हसइ चुम्बइ उवसमइ कुणइ सिञ्चइ च रुन्धइ ।
शवादीनां प्रयोगश्च, प्रायो नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरादनतो वा ॥ २४० ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्वाऽस्त्वदागमस्त्वन्ते ।
पाअइ पाइ च, धाअइ धाइ, मिलाअइ मिलाइ तथा ।
उव्वाअइ उव्वाइ च, होऊण च होइऊण इति भवति ।
'अनत' इति च किमुक्तम् ?, यथा चिइच्छइ दुगुच्छइ च ।

चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च ॥ २४१ ॥

चिज्यादीनामन्ते भवति णागमः, स्वरस्य ह्रस्वश्च ।
[चि] चिणइ [जि] जिणइ [श्रु] सुणइ [हु] हुणइ,
[स्तु] थुणइ [लू] लुणइ [पू] पुणइ [धूग्] धुणइ तथा ।
बहुलात् क्वापि विकल्पो,जयइ जिणइ उच्चिणइ च उच्चेइ ।
जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

नवा कर्म-भावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥ २४२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तानां, चिज्यादीनां विभाषया ।
व्वोऽन्ते, तत्सन्नियोगे च, क्यस्य लुक् स्यादितीर्यते ।
चिव्वइ चिणिज्जइ, जिव्वइ जिणिज्जइ,
सुव्वइ सुणिज्जइ, हुव्वइ हुणिज्जइ ।
थुव्वइ थुणिज्जइ, लुव्वइ लुणिज्जइ,
पुव्वइ पुणिज्जइ, धुव्वइ-धुणिज्जइ ।
एवं चिव्विहिइत्यादि, रूपं काले भविष्यति ।

म्मश्चेः ॥ २४३ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिगो धातोर् विभाषया ।
म्मोऽन्ते, तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक् स्यादितीर्यते ।
वर्तमाने ' चिणिज्जइ, तथा चिम्मइ चिव्वइ ' ।
' चिव्विहिइ चिणिहिइ, चिम्मिहिइ भविष्यति ।

[१] हुवइ हिवइ । चिणइ चुणइ । रुवइ रोवइ ।

हन-खनोऽन्त्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्वोर् हन-खनोरत्र, भाव-कर्मप्रवृत्तयोः ।
अन्त्यस्य वा स्याद् म्मः, तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[वर्तमाने] यथा हम्मइ खम्मइ, हणिज्जइ खणिज्जइ ।
[भविष्यति] हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ ।
कर्तर्यपि हनोऽयं स्याद्, हन्तीत्यर्थे तु ' हम्मइ ' ।
क्वचिन्न दृश्यते-'हन्तव्वं' 'हन्तूण' 'हओ' यथा ।

ब्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ॥ २४५ ॥

दुह-लिह-वह-रुधधातूनां ब्भो वाऽन्त्यस्य भावकर्मजुषाम् ।
लुक् च तत्सन्नियोगे क्यस्य, भवेद् उद् वहेरस्य ।
स्याद् दुहिज्जइ दुब्भइ, वा लिब्भइ लिहिज्जइ ।
वुब्भइ वहिज्जइ रुब्भइ रुन्धिज्जइ स्मृतम् ।
दुब्भिहिइ दुहिहिइत्यादि काले भविष्यति ।

दहो ज्झः ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दहो धातोर् विभाषया ।
ज्झः स्याद्, अन्त्यस्य तत्सन्नि-योगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
स्याद् वर्तमाने डज्झइ, तथा रूपं डहिज्जइ ।
' डज्झिहिइ डहिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

बन्धो न्धः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, बन्धधातोर्विभाषया ।
ज्झः स्याद् अन्त्ययोस् तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
स्याद् वर्तमाने बज्झइ, तथा बन्धिज्जइ स्मृतम् ।
' बज्झिहिइ बन्धिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

समनूपाद्रुधेः ॥ २४८ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, समनूपाद् रुधेस्तु वा ।
अन्त्यस्य वा ज्झः, तत्सन्नियोगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
संरुज्झइ अणुरुज्झइ, उवरुज्झइ भवति, पाक्षिकं तु यथा ।
संरुन्धिज्जइ अणुरुन्धिज्जइ उवरुन्धिज्जइ भवति ।
संरुज्झिहिइ संरुन्धिहिइत्यादि भविष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विभाषया ।
स्याद् द्वित्वमन्त्यस्य तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[गम्] गम्मइ गमिज्जइ [हस] हस्सइ हसिज्जइ ।
[भण] भण्णइ भणिज्जइ [छुप्] छुप्पइ छुविज्जइ ।
[रुद] रुव्वइ रुविज्जइ [लभ्] लब्भइ लहिज्जइ ।
[कथ्] कत्थइ कहिज्जइ [भुज] भुज्जइ भुंजिज्जइ ।
गम्मिहिइ गमिहिइत्यादि रूपं भविष्यति ।
रुद-[४ । २२६] सूत्रेण कृतवाऽऽदेशोऽत्र रुदिरिष्यते ।

ह-कृ-तृ-ज्रामीरः ॥ २५० ॥

धातूनां ह-कृ-तृ-ज्रां स्याद्, ईरादेशो विभाषया ।
क्यलुक् तत्सन्नियोगे च, भवेदित्युपदिश्यते ।
हीरइ हरिज्जइ, कीरइ करिज्जइ ।
तीरइ तरिज्जइ, जीरइ जरिज्जइ ।

अर्जेर्विढप्पः ॥ २५१ ॥

अर्जेर्विढप्पो वा तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
विढप्पइ, विढविज्जइ, अज्जिज्जइ पाक्षिकम् ।

ज्ञो णव्व-णज्जौ ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेर्भवतः पदे ।
णव्वो णज्जश्च वा, तत्सन्नियोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
णव्वइ णज्जइ, पक्षे-जाणिज्जइ मुणिज्जइ ।
'म्न-ज्ञोर्णः' [२ । ४२] इति णादेशे, णाइज्जइ च सिध्यति ।
नञ्पूर्वकस्य जानातेर् 'अणाइज्जइ' पठ्यते ।

व्याहृगेर्वाहिप्पः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, भवेद् व्याहरतेः पदे ।
वाहिप्पो वाऽत्र तत्सन्नियोगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
वाहिप्पइ तथा वाहरिज्जइ स्यान्निदर्शनम् ।

आरभेराढप्पः ॥ २५४ ॥

आरभेः कर्मभावे स्याद्, वाऽऽढप्पः क्यस्य चास्तु लुक् ।
आढप्पइ भवेत्, पक्षे-' आढवीअइ ' सिध्यति ।

स्निह-सिचोः सिप्पः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिप्पः स्यात् क्यस्य चास्तु लुक् ।
'स्निह्यते, सिच्यते' इत्येतयोरर्थेऽत्र ' सिप्पइ ' ।

ग्रहेर्घेप्पः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे ग्रहेर् घेप्पो, वा भवेत्, क्यस्य चास्तु लुक् ।
यथा ' घेप्पइ ' इत्येतत्, पक्षे गिण्हिज्जइ स्मृतम् ।

स्पृशेश्छिप्पः ॥ २५७ ॥

स्पृशतेः कर्मभावे स्याद्, वा छिप्पः, क्यस्य चास्तु लुक् ।
तेन 'छिप्पइ' संसिद्धं, तथा रूपं ' छिविज्जइ ' ।

क्तेनाप्फुण्णादयः ॥ २५८ ॥

आक्रमिप्रभृतीनां तु, धातूनाम् अप्फुण्णादयः ।
अप्फुण्णो आक्रान्तः, उक्कोसं उत्कृष्टं, लुग्गो रुग्णः ।
वोसीणोऽतिक्रान्तः, पल्हत्थं पल्लोट्टं वा पर्यस्तम् ।
फुडं स्पष्टं, विकसितो वोसट्टो, निमिअं स्थिदम् ।
स्थापितं, चक्खिअं आस्वादितं, क्षिप्तं तु ज्झोसिअं ।
निपातितो निसुट्टो स्याद्, हीसमाणं तु हेषितम् ।
वा प्रमृष्टः प्रमुषितः, परहुट्टो परिपठ्यते ।
लिहक्को नष्टो, जढं त्यक्तं, विढत्तं अर्जितं तथा ।
छित्तं स्पृष्टं, लुअं लूनं, भवेद् निच्छूढम् उद्धृतम् ।
इत्यादयो वेदितव्याः, शब्दा लक्ष्यानुसारतः ।

धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उक्तादर्थात् प्रवर्त्तन्तेऽर्थान्तरेऽपीह धातवः ।
उक्तो बलिः प्राणनेऽर्थे, खादनेऽपि स वर्तते ।
यथा ' बलइ ' खादति, प्राणनं च करोति वा ।
एवं कलिश्च संख्याने, संज्ञानेऽपि स दृश्यते ।
यथा ' कलइ' जानाति, संख्यानं च करोति वा ।
रिगिर्गतौ प्रवेशेऽपि, ' रिगइ ' विशत्यति च ।
काङ्क्षतेः प्राकृते वम्फो, 'वम्फइ' खादतीच्छति ।
फक्कतेः स्थक्क आदेशस्ततः सिध्यति ' थक्कइ ' ।
नीचां गतिं करोतीति वा, विलम्बयतीति वा ।
धात्वोर्विलप्युपालभ्योर् झङ्खादेशे तु ' झङ्खइ ' ।
तस्यार्थ उपालभते, वा विलपति भाषते ।
एवं हि 'पडिवालेइ', वा रक्षति प्रतीक्षते ।
केचित् कैश्चिदुपसर्गैर्नित्यमन्यार्थका मताः ।

'संहरइ' संवृणोति, स्यात् 'पहरइ' युध्यते ।
'अणुहरइ' तु सदृशीभवतीति 'नीहरइ' पुरीषमुत्सृजति ।
क्रीणाति 'विहरइ,' 'आहरइ' च खादति, 'उच्छुपइ' चटति ।
पुनः पूरयति 'पविहरइ,' स्यात् त्यजतीति 'परिहरइ' रूपम् ।
'उवहरइ' पूजयति, 'वाहरइ' तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थे ।
याति विदेशं 'पवसइ,' निःसरतीत्यर्थे 'उच्छुहइ' भवति ।
एवं बहूपसर्गात्, बह्वर्था धातवो ज्ञेयाः ।
इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

॥ अथ शौरसेनी भाषाऽऽरभ्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ २६० ॥
शौरसेन्यां तु भाषायामपदादौ प्रवर्तिनः ।
तकारस्य दकारः स्याद्, न स युक्तो भवेद् यदि ।
तदो मारुदिना पूरिद-पदिञ्जेन मन्तिदो ।
अनादाविति किम ? तस्स, तधा, नेह प्रवर्ततताम * ।
अयुक्तस्येति किम ? मत्तो, अज्जउत्तो, सउन्तले ! ।
अधः क्वचित् ॥ २६१ ॥
शौरसेन्यां तु वर्णाधोवर्तमानस्य तस्य दः ।
यथालक्ष्यं, महन्दो निच्चिन्दो अन्देउरे यथा ।
वाऽऽदेस्तावति ॥ २६२ ॥
तावच्छब्दे तकारस्य दो वा, दाव च ताव च ।
आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः ॥ २६३ ॥
इनो नकारस्याऽऽमन्त्र्ये, वाऽऽकारः सौ परे यथा ।
भो कञ्चुइआ ! कञ्चुइआ ! भो तवस्सि ! मणस्सि ! वा । [१]
मो वा ॥ २६४ ॥
आमन्त्र्ये सौ परे नस्य, मकारो वा विधीयते ।
भो रायं ! भो सुकम्मं !, भो भयवं कुसुमाउह ! ।
पक्षे तु भयव ! अन्तेआरि ! चैवं प्रयुज्यते ।
भवद्भगवतोः ॥ २६५ ॥
भवद्-भगवतोर्नस्य, मकारः सौ परे भवेत् ।
भवं ! चिन्तेदि किं एत्थ, भगवं ! च हुदासणो । [२]
क्वचिदन्यत्रापि यथा-मघवं पागसासणो ।
कयवं, संपाइअवं सीसो, काहं करेमि च ।
न वा र्यो य्यः ॥ २६६ ॥
वा य्यो र्यस्य भवेत् स्थाने, 'अय्या सुय्यो' प्रपद्यते ।
पक्षे कज्जपरवसो, अज्जो पज्जाउलो यथा ।
थो धः ॥ २६७ ॥
थस्य धो वा, यथा-णाधो णाहो वा स्यात् कधं कहं ।
अपदादावेव, 'थामं, थेओ' नेह धकारता ।
इह-हचोर्हस्य ॥ २६८ ॥
इहशब्दे, हचादेशे [३।१४३] च हकारस्य धोऽस्तु वा ।
इध, होध, द्वयं पक्षे-इह, होह निगद्यते ।
भुवो भः ॥ २६९ ॥
भवतेर्हस्य भो वा स्याद्, भोदि होदि यथा द्वयम् ।

* तधा करेध जधा तस्स राइसिणो अणुकंपणीया होमि ।
[१] पक्षे । [२] समणे भगवं महावीरे ।

तथा भुवदि हुवदि, भवदि हवदि स्मृतम् ।
पूर्वस्य पुरवः ॥ २७० ॥
पूर्वशब्दस्य 'पुरव' इत्यादेशो विकल्प्यते ।
यथा-ऽपुरवं नाऽयं, पक्षे'ऽपुव्वं पदं' मतम् ।
क्त्व इय-दूणौ ॥ २७१ ॥
क्त्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम, 'इय-दूणौ' यथाक्रमम् ।
यथा ' भविय ' 'भोदूण, ' पक्षे 'भोत्ता' प्रयुज्यते ।
कृ-गमो डडुअः ॥ २७२ ॥
कृ-गमिभ्यां परस्य क्त्वः, स्थाने वा 'अडुओ'ऽस्तु डित् ।
सिद्धं कडुअ गडुअ, पक्षे रूपं निशाम्यताम् ।
करिदूण गच्छिदूण, तथा करिय गच्छिय ।
दिरिचेचोः ॥ २७३ ॥
दिर् इचेचोः [३।१३९] भवेद्, नेदि देदि भोदि च होदि च ।
अतो देश्च ॥ २७४ ॥
अतः परयोर् इचेचोः, स्थाने 'दे दि' इमौ क्रमात् ।
अच्छदे अच्छदि तथा, सिद्धं गच्छदि गच्छदे ।
अतः किम ? स्याद् 'वसुआदि' 'नेदि, भोदि' यथाऽत्र न ।
भविष्यति स्सिः ॥ २७५ ॥
भविष्यदर्थे विहिते, प्रत्यये स्सिः परे भवेत् ।
हिस्साहामपवादोऽयं, तथा रूपं भविस्सिदि ।
अतो ङसेर्डादो-डादू ॥ २७६ ॥
अतः परस्य तु ङसेः, ' डादो डादु ' इमौ डितौ ।
' दूरादो य्येव ' ' दूरादु ' द्वयं संसिद्धिमृच्छति ।
इदानीमो दाणिं ॥ २७७ ॥
इदानीमः पदे ' दाणिं ' इत्यादेशोऽभिधीयते ।
'अय्यो दाणिं आणवेदु,' व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि च ।
अतस्तत्रापि ' अन्नं च दाणिं बोहिं ' प्रयुज्यते ।
तस्मात् ताः ॥ २७८ ॥
तस्माच्छब्दस्य ' ता ' इत्यादेशो भवति, तद्यथा ।
'माणेण एदिणाऽलं ता,' 'ता जाव पविसामि च' ।
मोऽन्त्याण्णो वेदेतोः ॥ २७९ ॥
इदेतोः परयोर् अन्त्याद्, मात् परो णागमोऽस्तु वा ।
[इकारे]जुत्तं णिमं जुत्तमिणं,[एकारे] किं णेदं वा किमेदं च ।
एवार्थे य्येव ॥ २८० ॥
एवार्थे ' य्येव ' इति तु, निपातोऽभिधीयते ।
मम य्येव बम्भणस्स, ' एसो सो य्येव ' पठ्यते ।
हञ्जे चेट्याह्वाने ॥ २८१ ॥
चेट्याह्वाने भवेद् ' हञ्जे, ' ' हञ्जे चदुरिके ! ' यथा ।
हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे ॥ २८२ ॥
' हीमाणहे ' निपातोऽयं, निर्वेदे विस्मये तथा ।
[विस्मये] जीवन्त-वच्छा जणणी, मे च हीमाणहे, यथा ।
[निर्वेदे] हीमाणहे पलिस्सन्ता, किं दुव्ववसिदेण वा ।
णं नन्वर्थे ॥ २८३ ॥
नन्वर्थे णमिति बुधैर्निपातः संप्रयुज्यते ।
' अय्यमिस्सेहिं आणत्तं, पुढमं य्येव णं ' यथा ।
इदम् आर्षे पदं वाक्यालङ्कारेऽपि च दृश्यते ।

नमोत्थु णं, जया णं च, तया णं, चैवमादयः ।

अम्महे हर्षे ॥ २८४ ॥

' अम्महे ' इति निपातो, हर्षेऽर्थे संप्रयुज्यते ।
'भवं सुपलिगढिदो, सुम्मिलाए च अम्महे' ।

हीही विदूषकस्य ॥ २८५ ॥

हर्षे विदूषकाणां तु, द्योत्ये ' हीही ' निपात्यते ।
'हीही पियवयस्सस्स, भो संपन्ना मणोरधा' ।

शेषं प्राकृतवत् ॥ २८६ ॥

दीर्घ-[१।४]तो दो-[४।२६०]ऽनयोर्मध्ये,सूत्रयोर् यदुदीरितम्।
तत् सर्वं कार्यमत्रापि बोध्यं, भेदस्तु दर्शितः [१]।

इति शौरसेनी भाषा समाप्ता ।

॥ अथ मागधी भाषाऽऽरभ्यते ॥

अत एत् सौ पुंसि मागध्याम् ॥ २८७ ॥

मागध्यां सौ परेऽकारस्यैकारः पुंसि जायते ।
एशे मेशे एष मेषः, एशे च पुलिशे तथा ।
' भो भदन्त ! करोमीति भवेद् 'भन्ते! करेमि भो' ।
अतः किं नु ? 'कली' रूपं, किं पुंसीति ? 'जलं' यथा । [२]

र-सोर्ल-शौ ॥ २८८ ॥

ल-तालव्यशकारौ स्तो, रेफ-दन्त्यसकारयोः ।
[र] नले कले [स] शुदं हंशे (उभयोः) 'शालशे पुलिशे'तथा ।
"लहश-वश-नमिल-शुल-शिल-विअलिद-मन्दाल-लायिदंहि-युगे।
वील-यिणे पक्खालदु, मम शयलमवय्य-यम्बालं" * ।

स-षोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ॥ २८९ ॥

संयोगे स-षयोः सः स्याद्, न तु ग्रीष्मे कदाचन ।
ऊर्ध्वलोपादिसूत्राणामपवादोऽयमीरितः ।
[स] हस्ती बुहस्पदी मस्कली पस्खलदि विस्मये ।
[ष] कस्टं, विस्नुं, शुस्क-दालुं, धनुस्खण्डं च निस्फलं ।
' अग्रीष्मे ' इति किम ? ' गिम्ह-वाशले' नेह सो भवेत् ।

ट्ट-ष्ठयोः स्टः ॥ २९० ॥

द्विरुक्त-टस्य, षाऽऽक्रान्त-ठस्य ' स्टो ' भवति द्वयोः ।
[ट्ट] पस्टे, भस्टालिका, [ष्ठ] 'कोस्टागालं, शुस्टु कदं'यथा ।

स्थर्थयोस्तः ॥ २९१ ॥

' स्थ-र्थ ' इत्येतयोः स्थाने, साक्रान्तस्तो विधीयते ।

[स्थ] उवस्तिदे शुस्तिदे [र्थ] शस्तवाहेऽस्तवदी यथा ।

ज-द्य-यां यः ॥ २९२ ॥

पदाऽवयवभूतानां, ज-द्य-यानां परेऽस्तु यः ।
[ज] अय्युणे दुय्यणे [द्य] मय्यं,अय्ये विय्याहले [य] यदि ।
आदेर्यो ज-[१।२४५] स्य बाधार्थं, यस्य यत्वं विधीयते ।

न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः ॥ २९३ ॥

'न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्ज' अमीषां तु, द्विरुक्तो ञ्ञो विधीयते ।
[न्य] कञ्ञा [ण्य] पुञ्ञं च [ज्ञ] शव्वञ्ञं,
[ञ्ज] अञ्ञली च धणञ्ञए ।

व्रजो जः ॥ २९४ ॥

व्रजे जस्य द्विरुक्तो ञ्ञो, यापवादोऽस्तु, 'वञ्ञदि' ।

छस्य श्चोऽनादौ ॥ २९५ ॥

अनादौ वर्तमानस्य, छस्य श्चः संविधीयते ।
'पिश्चिले, उश्चलदि, पुश्चदि, गश्च' निदर्शनम् ।
अयं लाक्षणिकस्यापि, यथा आपन्नवत्सलः ।
'आवन्नवच्छले' चैतद्, भवेद् 'आवन्नवश्चले' ।
अनादाविति किम ? 'छाले' नेह श्चत्वं भवेद् यथा ।

क्षस्य ≍कः ॥ २९६ ॥

अनादौ क्षस्य ≍को जिह्वामूलीयो, 'ल≍कशे' यथा ।

स्कः प्रेक्षा-चक्षोः ॥ २९७ ॥

प्रेक्षेर् धातोस्तथाऽऽचक्षेः, क्षस्य स्कः ≍कस्य बाधकः ।
आचस्कदि पेस्कदि च, द्वयं सिद्धिं समश्नुते ।

तिष्ठश्चिष्ठः ॥ २९८ ॥

स्थाधातोस् 'तिष्ठ' इत्यस्य, 'चिष्ठो' भवति, चिष्ठदि ।

अवर्णाद्वा ङसो डाहः ॥ २९९ ॥

अवर्णात् परस्य तु ङसः, स्थाने डाहो विकल्प्यते ।
'पलिशाह हगे काली न कम्माह' प्रयुज्यते ।
'भीमशेणस्स पश्चादो हिण्डीअदि' तु पाक्षिकम् ।

आमो डाहँ वा ॥ ३०० ॥

अवर्णाद् उत्तरस्याऽऽमो, विभाषा 'डाहँ' इष्यते ।
शयणाहँ सुहं, पक्षे 'नलिन्दाणं' इति स्मृतम् ।
व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि स्यात्, तदुदाहरणं यथा ।
ताहँ तुम्हाहँ अम्हाहँ, कम्माहँ सरिआहँ च ।

अहं-वयमोर्हगे ॥ ३०१ ॥

'हगे' इत्यमादेशः, परेऽहं-वयमोर् भवेत् ।
'शक्कावदालतित्थ-णिवाशी च धीवले हगे ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३०२ ॥

मागध्यां यदनुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते [१] ।

---

[१] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेन्यां प्राकृतवदेव भवति । ' दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' [१।४] इत्यारभ्य. ' तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ' [४।२६०] एतस्मात् सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि एषु यान्युदाहरणानि तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव शौरसेन्यां भवन्ति, अमूनि पुनरेवंविधानि भवन्तीति विभागः प्रतिसूत्रं स्वयमभ्यूह्य दर्शनीयः । यथा अन्दावेदी । जुवदि-जणो । मणसिला इत्यादि ।

[२] यदपि " पोराणमद्ध-मागह-भासा-निययं हवइ सुत्तं " इत्यादिनाऽऽर्षस्य अर्द्धमागधभाषानियतत्वमाम्नायि वृद्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानान्न वक्ष्यमाणलक्षणस्य । कयरे आगच्छइ । से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिए इत्यादि ।

* रभसवशनम्रसुरशिरोविगलितमन्दारराजितांह्रियुगः ।
वीरजिनः प्रक्षालयतु, मम सकलमवद्यजम्बालम् ॥

[१] 'शेषं प्राकृतवत्' [४-२८६] मागध्यामपि 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ ' [१-४] इत्यारभ्य 'तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ' [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यान्युदाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव मागध्याममूनि पुनरेवंविधानि भवन्तीति विभागः स्वयमभ्यूह्य दर्शनीयः ।

यथा 'हञ्जे'[४।२८१]चदुरिके, हञ्जे चदुलिके, इह ।
इति मागधी भाषा समाप्ता ।

॥ अथ पैशाची भाषाऽऽरभ्यते ॥

ज्ञो ञ्ञः पैशाच्याम् ॥ ३०३ ॥

पैशाच्यां भाषायां, ज्ञस्य पदे ञ्ञो विधीयते, स यथा ।
पञ्ञा सञ्ञा सव्वञ्ञो विञ्ञानं तथा ञ्ञानं ।

राज्ञो वा चिञ् ॥ ३०४ ॥

'राज्ञ' इत्यत्र शब्दे यो, ज्ञकारस्तस्य वाऽस्तु चिञ् ।
राचिञा लपितं, रञ्ञा लपितं, राचिञो धनं ।
रञ्ञो धनं, ज्ञ इत्येव, 'राजा' नेह प्रवर्तते ।

न्य-ण्योर्ञ्ञः ॥ ३०५ ॥

न्यण्योः स्थाने 'ञ्ञ' आदेशः, 'पुञ्ञाहं, कञ्ञका' यथा ।

णो नः ॥ ३०६ ॥

णस्य नः स्यात्, 'गुनगनयुत्तो' यद्वद् 'गुनेन' च ।

तदोस्तः ॥ ३०७ ॥

त-दयोस्तो, [तस्य] भगवती पव्वती च सतं यथा ।
[दस्य] पतेसो सतनं तामोतरो रमतु होतु च ।
तकारस्यापि तादेश आदेशान्तरबाधकः ।
'पताका, वेतिसो' इत्याद्यपि सिद्धं ततः पदम् ।

लो ळः ॥ ३०८ ॥

लस्य ळः स्यात्, कुळं सीळं कमळं सळिळं जळं ।

शषोः सः ॥ ३०९ ॥

श-षयोः सः,[शस्य]ससी सक्को,[षस्य]किसानो विसमो यथा ।
'न कगचेति' [४।३२४] सूत्रस्य, बाधकोऽयं विधिः स्मृतः ।

हृदये यस्य पः ॥ ३१० ॥

हृदये यस्य पत्तेन, सिद्धं 'हितपकं' पदम् ।

टोस्तुर्वा ॥ ३११ ॥

टोः स्थाने तु तुरादेशो, विभाषा संप्रवर्तते ।
कुतुम्बकं ततः सिद्धं, तथा रूपं कुटुम्बकम् ।

क्त्वस्तूनः ॥ ३१२ ॥

तूनः क्त्वाप्रत्ययस्यास्तु, गन्तून हसितून च ।

द्धून-त्थूनौ ष्ट्वः ॥ ३१३ ॥

'ष्ट्वा' इत्यस्य पदे 'द्धून-त्थूनौ' तूनस्य बाधकौ ।
नद्धून नत्थून तद्धून तत्थून इति स्मृतम् ।

र्य-स्न-ष्टां रिय-सिन-सटाः क्वचित् ॥ ३१४ ॥

स्न-र्य-ष्टानां सिन-रिय-सटाः स्युः क्रमतः क्वचित् ।
भार्या तु भारिया वेद्या, सिनातं स्नातमुच्यते ।
कष्टं तु कसटं बोध्यं, अयमेतदुदाहृतम् ।
क्वचिदिति किं ? सुनुसा, सुज्जो तिट्ठो यथा भवेत् ॥

क्यस्येय्यः ॥ ३१५ ॥

क्यप्रत्ययस्य तु स्थाने, इय्यादेशोऽभिधीयते ।
रमिय्यते गिय्यते दिय्यते चैव पठिय्यते ।

कृगो डीरः ॥ ३१६ ॥

कृगः परस्य 'डीरः' तु, क्यस्य स्थाने, विधीयते ।
'सम्मानं कीरते सव्वस्स य्येव' तु निदर्शनम् ॥

यादृशादेर्दुस्तिः ॥ ३१७ ॥

यादृशादिपदे यो 'दृः,' तस्य तिः क्रियते पदे ।
यातिसो तातिसो युम्हातिसो अम्हातिसो तथा ॥
केतिसो एतिसो अञ्ञातिसो चैव भवातिसो ।

इचेचः ॥ ३१८ ॥

'इचे चोः'[३।१३९] तिः, नेति लेति,वसुआति च भोति च ।

आत्तेश्च ॥ ३१९ ॥

अतः परयोर् इचेचोः, पदे 'ते ति' इमौ मतौ ।
गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिति किम् ? नेति होति च ॥

भविष्यत्येय्य एव ॥ ३२० ॥

एय्य एव न तु स्सिः [४।२७५] स्याद्, इचेचोस्तु, भविष्यति ।
तद्धून चिंतितं रञ्ञा, का एसा तं हुवेय्य च ॥

अतो ङसेर्डातो-डातू ॥ ३२१ ॥

अतः परस्य तु ङसेः, 'डातो डातू' इमौ मतौ ।
यथा-तूरातु तूरातो, तुमातो च तुमातु च ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥ ३२२ ॥

सार्धं टा-प्रत्ययेन स्याद्, 'नेनो' तदिदमोः पदं ।
स्त्रीलिङ्गे तु तयोरेव, 'नाए' इत्यभिधीयते ॥
'नेन कत-सिनानेन तत्थ' पुंसि, स्त्रियां पुनः ।
पातग्ग-कुसुम-प्पतानेन नाए च पूजितो ॥
टेति किं ? चिन्तयन्तो नाए समीपं गतो च सो ।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३२३ ॥

पैशाच्यां यदनुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते ॥
विशेषो दर्शितः सर्वः, तथापीषन्निशम्यताम् । [१]

न क-ग-च-जादि-षट्-शम्यन्त-सूत्रोक्तम् ॥ ३२४ ॥

क-ग-चः [१।१७७] षट्-शमी-[१।२६५] इत्ये-
तयोर् मध्येऽपि सूत्रयोः ।
यत् कार्यं दर्शितं सर्वं, न तदत्र प्रवर्तते ।
मकरकेतू, सगरपुत्त-वचनं, लपितं ।
विजयसेनेन, पापं, आयुधं चैव तेवरो ।
अन्येषामपि सूत्राणामेवमूह्यं मनीषया ।

इति पैशाची भाषा समाप्ता ।

॥ अथ चूलिकापैशाचिकभाषा प्रारभ्यते ॥

चूलिका-पैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥ ३२५ ॥

भाषायां चूलिका-पैशाचिकाख्यायां यथाक्रमम् ।
तृतीय-तुर्ययोर् आद्य-द्वितीयौ वर्गवर्णयोः ।

[१] अध ससरीरो भगवं मकरधजो। एत्थ परिब्भमन्तो हुवेय्य। एवंविधाए भगवतीए कधं तापस-वेस-गहनं कतं। एतिसं अतिट्ठपुरवं महाधनं तद्धून। भगवं यदि मं वरं पयच्छसि राजं च दाव लोक। ताव च तीए दूरातो य्येव तिट्ठो सो आगच्छमानो राजा।

नगर नकरं तेन, मेघो मेखः प्रयुज्यते ।
एवं पञ्चसु वर्गेषु, लक्ष्यं बोध्यं मनोषिभिः ।
कचिल्लाक्षणिकस्यापि, पदे कार्यमिदं भवेत् ।
दाढा ताठा ततो बोध्या, पडिमा पटिमा तथा ।

रस्य लो वा ॥ ३२६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गोली' हरो 'हलो' ।
"पनमथ पनय-पकुप्पित-गोली-चलनग्ग-लग्ग-पतिबिम्बं ।
तससु नख-तप्पनेसुं, एकातस-तनु-थलं लुद्दं ।
नच्चन्तस्स य लीला-पातुक्खेवेन कम्पिता वसुधा ।
उच्छल्लन्ति समुद्दा, सइला निपतन्ति तं हलं नमथ" [१]।

नादि-युज्योरन्येषाम् ॥ ३२७ ॥

अन्येषां तु मते, धातौ युजि चाऽऽदिमवर्णयोः ।
तृतीय-तुर्ययोराद्यद्वितीयौ भवतो न तौ ।
यथा ' नियोजितं ' इत्येतद् अत्रापि ' नियोजितं ' ।
गतिर् 'गती' तथा घर्मो, 'घम्मो' विद्वद्भिरुच्यते ।

शेषं प्राग्वत् ॥ ३२८ ॥

अत्रानुक्तं तु यत् कार्यं, तत् पैशाचीवदिष्यते ।
यथा नस्य णत्व न, णस्य नत्वं तु सर्वतः ।
इति चूलिका-पैशाचिकभाषा समाप्ता ।

अथापभ्रंशभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे ॥ ३२९ ॥

अपभ्रंशे स्वराणां तु, स्थाने प्रायः स्वरा मताः ।
यथा-बाहा बाह बाहु, किलिआ च किलिअओ ।
'अत्रापभ्रंश-भाषायां, विशेषो यस्य वक्ष्यते ।
तस्यापि शौरसेनीवत्, कार्यं प्राकृतवत् क्वचित् ' ।
इत्यर्थबोधकः ' प्रायःशब्दः ' सूत्रे नियोजितः ।

स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥ ३३० ॥

प्रायः स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ, स्तो नाम्नोऽन्त्यस्वरस्य तु ।
[सौ] "ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥
[आमन्त्र्ये] ढोल्ला ! मइँ तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु ।
निद्दएँ गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु ॥
[स्त्रियाम्] बिट्टीए ! मइ भणिय तुहुँ, मा करु वङ्की दिट्ठि ।
पुत्ति ! सकण्णी भल्लि जिवँ, मारइ हिअइ पइट्ठि ॥
[जसि] एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ, जो नवि वालइ वग्ग " [२] ॥

अन्यासां च विभक्तीनामेवमूह्यं निदर्शनम् ।

स्यमोरस्योत् ॥ ३३१ ॥

अत उत्वं स्यमोः, 'चउमुहु छंमुहु' सिध्यतः ।
"दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रहवरि चडिअउ ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिँ लाइवि णावइ दइवें घडिअउ" [१]॥

सौ पुंस्योद्वा ॥ ३३२ ॥

नाम्नोऽकारस्य सौ पुंस्योद् वा, ' जो ' 'सो ' यथा भवेत् ।
"अगलिअ-नेह-निवट्टाहं जोअण-लक्खु वि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ" [२] ॥
पुंसीति किम्—
"अङ्गहिं अङ्गु न मिलिउ हलि ! अहरें अहरु न पत्तु ।
पिय जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु" [३] ॥

एट्टि ॥ ३३३ ॥

टायाम एत्वमकारस्य, वमन्तेण वहेण च ।
" जे महु दिण्णा दिअहडा, दइए पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिएँ अङ्गुलिउ जज्जरिआउ नहेण " [४] ॥

ङिनेच ॥ ३३४ ॥

इदेतौ स्तो ङिना साकम्, अकारस्य पदे यथा ।
'तले घल्लइ ' इत्यत्र, ' तलि घल्लइ ' वेष्यते ।
" सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, संमाणेइ खलाइं " [५] ॥

भिस्येद्वा ॥ ३३५ ॥

अत एत्वं वा भिसि स्याद्, 'गुणेहिं गुणहिं' यथा ।
" गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति" [६] ॥

ङसेर् हे-हू ॥ ३३६ ॥

अतः परस्य 'हे हु ' इत्यादेशौ स्तो ङसेः पदे ।
वच्छहे वच्छहु यथा, रूपं वैकल्पिकं मतम् ।
" वच्छहे गिण्हइ फलइं जणु कडुपल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ, ते उच्छङ्गि धरेइ " [७]॥

भ्यसो हुं ॥ ३३७ ॥

अतः परस्य तु पञ्चमी-बहुवचनस्य हुम् एति ।

---

[१] प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम् ।
दशसु नखदर्पणेषु एकादशतनुधरं रुद्रम् ।
नृत्यतश्च लीलापादोत्क्षेपेण कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्राः शैला निपतन्ति तं हरं नमत ।
[२] नायकः श्यामलः प्रिया चम्पावर्णा ।
ज्ञायते सुवर्णरेखा कषपट्टके दत्ता ॥
नायक ! मया त्वं वारितो मा कुरु दीर्घमानम् ।
निद्रया गमिष्यति रात्रिः शीघ्रं भवति विभातम् ॥
पुत्रिके ! मया त्वं भणिता मा कुरु वक्रां दृष्टिम् ।
पुत्रि ! सकर्णी भल्लिर्यथा, मारयति हृदयं प्रविष्टा ॥
एते ते घोटका एषा स्थली एते ते निशिताः खड्गाः ।
अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि वालयति वल्गाम् ॥

[१]दशमुखो भुवनभयङ्करस्तोषितशङ्करो निर्गतो रथवरे चटितः।
चतुर्मुखं षण्मुखं च ध्यात्वैकस्मिँल्लगित्वा ज्ञायते दैवेन घटितः॥
[२] अगलितस्नेहनिवृत्तानां योजनलक्षमपि यातु ।
वर्षशतेनापि यो मिलति सखि ! सौख्यानां स स्थाने ॥
[३] अङ्गैरङ्गं न मिलितं सखि ! अधरेऽधरो न प्राप्तः ।
प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमेव सुरतं समाप्तम् ॥
[४]ये मम दत्ता दिवसा दयितेन प्रवसता ।
तान् गणयन्त्या अङ्गुल्यो जर्जरिता नखेन ॥
[५]सागर उपरि तृणं धरति तले क्षिपति रत्नानि ।
स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति संमानयति खलान् ॥
[६]गुणैर्न संपदः कीर्तिः परं, फलानि लिखितानि भुञ्जन्ति ।
केसरी न लभते कपर्दिकामपि गजा लक्षैर्गृह्यन्ते ॥
[७]वृक्षाद् गृह्णाति फलानि जनो कटुपल्लवान् वर्जयति ।
ततोऽपि महाद्रुमः सुजनो यथा, तान् उत्सङ्गे धरति ॥

"दूरुड्डाणें पडिउ खलु, अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ" [१]।

ङसः सु-हो-स्सवः ॥ ३३८ ॥

अतः परस्य ङसः पदे ' स्सु सु हो ' इमे भवन्ति ।
' तसु सुअणस्सु परस्सु वा, दुल्लहहो ' निगदन्ति ।
" जो गुण गोवइ अप्पणा, पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु "[२]॥

आमो हं ॥ ३३९ ॥

अतः परस्य 'हं' आमः, पदे स्यात्, 'तणहं' यथा ।
" तणहं तइज्जी भङ्गि नवि तें अवड-यडि वसन्ति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति " [३] ॥

हुं चेदुद्भ्याम् ॥ ३४० ॥

इदुद्भ्यां तु परस्याऽऽमो, भवेतां ' हुं हम ' इत्यमू ।
सिद्धं ' सउणिहं ' तेन, ' तरुहुं ' च पदद्वयम ।
प्रायोऽधिकाराद् 'हुं' क्वाऽपि, सुपोऽपि ' दुहुम ' इत्यपि ।
" दइव घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि, कण्णहिं खल-वयणाइं " [४]॥

ङसि-भ्यस्-ङीनां हे-हुं-हयः ॥ ३४१ ॥

इदुद्भ्यां तु परेषां भ्यस्-ङसि-ङीनां ' हि-हुं-हयः ' ।
[ङसेर्हे] तरुहे [भ्यसो हुं] तरुहुं रूपं,
तथा [ङेर्हि] कलिहि सिध्यति ॥
" गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥
तरुहुं वि वक्कलु फलु मुणि वि परिहणु असणु लहंति ।
सामिहुं एत्तिउ अग्गलउं आयरु भिच्चु गृह्णन्ति" [५] ॥

आट्टो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अतः परस्याट्टायास्तु, णानुस्वारौ मतौ, पदे ।
' दइएं पवसन्तेण, ' द्वाविमौ सिद्धिमृच्छतः ।

एं चेदुतः ॥ ३४३ ॥

इदुद्भ्यां टा-पदे ' एं ' चात् णानुस्वारौ, मतास्त्रयः ।
अतः सिध्यन्ति रूपाणि, ' अग्गि अग्गिण अग्गिएं ' ।
" अग्गिएं उण्हउ होइ जगु, वाएं सीयलु तेवँ ।
जो पुण अग्गि सीअला, तसु उण्हत्तणु केवँ " [६] ॥

[१] दूरोड्डानेन पतितः खल आत्मानं जनं मारयति ।
यथा गिरिशृङ्गे पतिता शिला (स्वम) अन्यमपि चूर्णीकरोति ॥
[२] जो गुणान् गोपयति आत्मनः, प्रकटीकरोति परस्य ।
तस्याहं कलियुगे दुर्लभस्य बलिं क्रिये सुजनस्य ॥
[३] तृणानां तृतीया भङ्गी नापि, ततो अवटतटे वसन्ति ।
अथ जनो लगित्वाऽपि उत्तरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति" ॥
[४] दैवो घटयति वने तरुणां शकुन्तानां पक्कफलानि ।
तद् वरं सुखं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि "॥
[५] गिरेः शिलातलं तरोः फलं गृह्णाति निःसामान्यः ।
गृहं मुक्त्वा मनुष्येभ्यः ततोऽपि न रोचतेऽरण्यम् ॥
तरुभ्योऽपि वल्कलं फलं मुनयोऽपि परिधानमशनं लभन्ते ।
स्वामिभ्य इयदर्गलमाधं भृत्या गृह्णन्ति ॥
[६] अग्निनोष्णं भवति जगत् वातेन शीतलं तथा ।
यः पुनरग्निनाऽपि शीतलस्तस्योष्णत्वं कथम् ? ॥

"विप्पिअ-आरउ जइवि पिउ, तोवि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइवि घरु तो ते अग्गि कज्जु " [१] ॥

स्यम् जस्-शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

स्यम-जस्-शसां लुगत्रास्तु, स्यम-जसां स्यम-शसां यथा-
"एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो नवि वालइ वग्ग" ।
[अत्र स्यमजसां लुक्]
"जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सरु खर-पत्थरि तिक्खेइ" [२] ।
[अत्र स्यमशसां लुक्]

षष्ठ्याः ॥ ३४५ ॥

षष्ठ्याः प्रायो लुगत्रास्तु, तदुदाहरणं यथा ।
"संगर-सएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गय-कुम्भइं दारन्तु" [३] ।
पृथग्योगः कृतो लक्ष्यानुरोधार्थोऽत्र सूत्रयोः ।

आमन्त्र्ये जसो होः ॥ ३४६ ॥

आमन्त्र्येऽर्थे जसः स्थाने ' हो ' स्याल्लोपस्य बाधकः ।
स्याद् अप्पहो तरुणिहो, तथा तरुणहो यथा ।

भिस्सुपोर्हि ॥ ३४७ ॥

भिस्सुपोर् 'हिं' भवेत्,[सुप्]'मग्गेहिं'[भिस्]'गुणेहिं' प्रयुज्यते ।

स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥ ३४८ ॥

स्त्रियां लोपापवादौ द्वावुदोतौ जस्-शसोः पृथक् ।
यथा-अङ्गुलिआओ अङ्गुलिउ स्याद् द्वयं जसः ।
'विलासिणीओ सुन्दर-सव्वङ्गाउ' शसः स्मृतम ।
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, भेदोऽत्र वचनस्य तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥

स्त्रियां टायाः पदे स्याद् ' ए ' चन्दिमए च कान्तिए ।
" निअमुहकरहिं वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ॥
ससिमण्डल चन्दिमए पुणु काइं न दूरे देक्खइ ? " [४]॥

ङस्-ङस्योर्हे ॥ ३५० ॥

स्त्रियां 'हे' ङस्-ङस्योः स्याद् , धणहे बालहे यथा ।

भ्यसामोर्हुः ॥ ३५१ ॥

स्त्रियां भ्यसामोः स्थाने हुः, ' वयंसिअहु ' गद्यते ।

ङेर्हि ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां ङेर्हि, यथा 'मह्याम् ' इत्येतत् ' महिहि ' स्मृतम् ।

क्लीबे जस्-शसोरिं ॥ ३५३ ॥

क्लीबे ' इं ' जस्-शसोः स्थाने, ' गयणाइं ' ' कुलइं ' यथा ।

[१] विप्रियकारको यद्यपि प्रियस्तथाऽपि तमानयाद्य ।
अग्निना दग्धं यद्यपि गृहं ततोऽपि तेनाग्निना महत्कार्यम् ॥
[२] यथा यथा वक्रत्वं लोचनानां श्यामला शिक्षते ।
तथा तथा मन्मथो निजशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥
[३] संगरशतेषु यो वर्ण्यते पश्य मदीयं कान्तम् ।
अतिमत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ।
[४] निजमुखकरैरपि मुग्धा करमन्धकारे प्रत्यवेक्षते ।
शशिमण्डलं चन्द्रिकया पुनः कथं न दूरे पश्यति ? ॥

कान्तस्यात उं स्यमोः ॥ ३५४ ॥

क्लीबे ककारान्तनाम्नोऽत ' उं ' स्यात् परयोः स्यमोः ।
पसरिअउं तुच्छउं, भग्गउं चाऽभिधीयते ।

सर्वादेर्ङसेर्हां ॥ ३५५ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, ङसेर्हां स्याद्, जहां तहां ।

किमो डिहे वा ॥ ३५६ ॥

किमोऽदन्ताद् ङसेर् वा स्याद्, ' डिहे,' रूपं ' किहे ' यथा ।

ङेर्हिं ॥ ३५७ ॥

सर्वादीनामकारान्ताद्, ङेः स्थाने ' हिं ' यथा ' जहिं ' ।

यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्नवा ॥ ३५८ ॥

यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्, अदन्तेभ्यो विकल्प्यते ।
जासु तासु तथा कासु, सद्भिरेवं निगद्यते ।

स्त्रियां डहे ॥ ३५९ ॥

यत्तत्किंभ्यो ' डहे ' वाऽस्तु, ङसः स्थाने स्त्रियां यथा ।
जहे तहे कहे चैतत्, अयं सिद्धिं समश्नुते ।

यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ॥ ३६० ॥

यत्तदोस्तु पदे ' ध्रुं ' ' त्रं,' वा स्यातां परयोः स्यमोः ।
नाहु प्रङ्गणि चिट्ठदि, ध्रुं त्रं रणि करदि न ।

इदम इमुः क्लीबे ॥ ३६१ ॥

इमुः स्यादिदमः क्लीबे, स्यमोर्, ' इमु कुलु ' स्मृतम् ।

एतदः स्त्री-पुं-क्लीबे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥

स्त्री-पुं-क्लीबे ' एह एहो, एहु ' स्यादेतदः स्यमोः ।
' कुमारी एह ' वा, 'एहु णरु' 'एहो नरु ' स्मृतम् ।

एइर्जस्-शसोः ॥ ३६३ ॥

एतदो जस्-शसोर् ' एइः, ' एइ चिट्ठन्ति पेच्छ वा ।

अदस ओइ ॥ ३६४ ॥

अदसो जस्-शसोर् ' ओइ, ' ओइ चिट्ठन्ति पेच्छ वा ।

इदम आयः ॥ ३६५ ॥

आयः स्याद्, इदमः स्यादौ, आयहो आयइं यथा ।

सर्वस्य साहो वा ॥ ३६६ ॥

सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्धं ' साहु वि सव्वु वि ' ।

किमः काइं-कवणौ वा ॥ ३६७ ॥

वा किमः 'कवणो काइं, काइं दूरे न देक्खइ ।
' त्रण कज्जें कवणेण, ' पक्षे 'गज्जहि किं खल' ।

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥

युष्मदः सौ 'तुहुं' इत्यादेशः स्यात्, त्वं 'तुहुं' ततः ।

जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥ ३६९ ॥

युष्मदो जस्-शसोस् ' तुम्हे, तुम्हइं ' च पृथक् पृथक् ।
जाणइ तुम्हइं तुम्हे, तुम्हे पेच्छइ तुम्हइं ।
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, भेदोऽत्र वचनस्य तु ॥

टा-ड्यमा पइं तइं ॥ ३७० ॥

' अम टा ङि ' इत्येतैः सार्धं, युष्मदस्तु ' तइं ' ' पइं ' ।
' त्वां त्वया त्वयि ' इत्येषां, स्थाने वाच्यं ' तइं ' ' पइं ' ।

भिसा तुम्हेहिं ॥ ३७१ ॥

युष्मदस्तु भिसा साकं, ' तुम्हेहिं ' इति पठ्यते ।

ङसिङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ॥ ३७२ ॥

ङसि-ङस्भ्यां सह ' तउ, तुज्झ, तुध्र ' च युष्मदः ।
' तव त्वत् ' अनयोः स्थाने, 'तुज्झ' 'तुध्र' 'तउ' त्रयम् ।

भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं ॥ ३७३ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं भ्यसाम्भ्यां, तुम्हहं मतम् ।
युष्मभ्यं तुम्हहं वाच्यं, तथा युष्माकमित्यपि ।

तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥

युष्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'तुम्हासु' पठ्यते ।

सावस्मदो हउं ॥ ३७५ ॥

अस्मदः सौ परे रूपं, 'हउं' इत्यभिधीयते ।
'तुहुं अहो कन्नजुंग हउं तसु' निदर्शनम् ।

जस्-शसोरम्हे अम्हइं ॥ ३७६ ॥

अस्मदो जस्-शसोर् 'अम्हे अम्हइं' च पृथक् पृथक् ।

टा-ड्यमा मइं ॥ ३७७ ॥

' अम टा ङि' इत्येतैः सार्धम्, अस्मदस्तु भवेद् 'मइं' ।
' मां मया मयि' इत्येषां, स्थाने वाच्यं 'मइं' सदा ।

अम्हेहिं भिसा ॥ ३७८ ॥

अस्मदस्तु भिसा साकम्, 'अम्हेहिं' इति पठ्यते ।

महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम् ॥ ३७९ ॥

ङसिङस्भ्यां सह 'महु मज्झु' स्तोऽत्राऽस्मदः पदे ।
'मत् ममेत्यनयोः स्थाने, 'महु मज्झु' यथाक्रमम् ।

अम्हहं भ्यसाम्भ्याम् ॥ ३८० ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं भ्यसाम्भ्याम्, 'अम्हहं' मतम् ।
अस्मभ्यम् 'अम्हहं' वाच्यं, तथा चास्माकमित्यपि ।

सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥

अस्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'अम्हासु' पठ्यते ।

त्यादेराद्यत्रयस्य बहुत्वे हिं नवा ॥ ३८२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदाद्यं त्रिकमुच्यते ।
तद्बहुत्वस्य 'हिं' वा स्याद्, धरन्ति-'धरहिं' स्मृतम् ।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
तदाद्यवचनस्येह, हिरादेशो विकल्प्यते ।
"बप्पीहा ! पिउ पिउ भणवि, कित्तिउ 'रुअहि' हयास ! ।
तुह जलहें महु पुणु वल्लहें, बिहुं वि न पूरिअ आस ।
[आत्मनेपदे] बप्पीहा ! कइं बोल्लिएण, निग्घिण वारइ वार ।
सायरि भरिअइ विमलि-जलि, 'लहहिं' न एक्कइ धार" * ।
एवं 'दिज्जहि' रूपं स्यात, रुअसीत्यादि पाक्षिकम् ।

बहुत्वे हुः ॥ ३८४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
तद्बहुत्वस्य हुर्वा स्याद्, यथा-'इच्छहु इच्छह' ।

अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदन्त्यं त्रिकमुच्यते ।
'उं' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा-'कड्ढामि कड्ढउं' ।

---

* बप्पीह ! प्रिय प्रिय भणित्वाऽपि कियत् रोदिषि हताश ! ।
तव जलधरेण मम पुनर्वल्लभेन द्वयोरपि न पूरिता आशा ।
बप्पीहक ! किं कथनेन निर्घृण ! वारं वारम् ।
सागरे भृते विमलजलेन लभसे नैकामपि धाराम् ॥

बहुत्वे हुं ॥ ३८६ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदन्त्यं त्रिकमुच्यते ।
तद्बहुत्वस्य ' हुं ' वा स्याद्, 'लहुहुं लहिमु' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिदुदेत् ॥ ३८७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर् वा स्युर्, ' इदुदेत ' इमे त्रयः ।
[इत्] "कुञ्जर ! सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ॥
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि
[उत्] भमरा ! एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ॥
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जावँ कयम्बु ।
[एत्] प्रिय ! एम्बहिं करि सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु ॥
जं कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु" । [१]
पक्षे सुमरहीत्यादि, रूपं बोध्यं मनीषिभिः ॥

वर्त्स्यति स्यस्य सः ॥ ३८८ ॥

भविष्यदर्थे त्यादीनां, स्यस्य सो वा निधीयते ।
यथा ' होसइ ' इत्येतत्, पक्षे होहिइ पठ्यते ॥

क्रियेः कीसु ॥ ३८९ ॥

' क्रिये ' क्रियापदं त्वेतत्, वाऽत्र ' कीसु ' निगद्यते ।
पक्षे तु ' किज्जउं बलि सुअणस्सु ' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुच्चः ॥ ३९० ॥

पर्याप्त्यर्थे भुवो धातोः, पदे ' हुच्चः ', ' पहुच्चइ ' ।

ब्रूगो ब्रुवो वा ॥ ३९१ ॥

ब्रूगो धातोर् ब्रुवो वा स्याद्, ' ब्रुवह ब्रोप्पिणु ' स्मृतम् ।

व्रजेर्वुञः ॥ ३९२ ॥

व्रजतेस्तु वुञादेशो, वुञेप्पिणु वुञेप्पि च ।

दृशेः प्रस्सः ॥ ३९३ ॥

दृशेर्धातोः पदे प्रस्साऽऽदेशः, ' प्रस्सदि ' पश्यति ।

ग्रहेर्गृण्हः ॥ ३९४ ॥

गृण्हादेशो ग्रहेः स्थाने, ' पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु '

तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ॥ ३९५ ॥

तक्ष्यादीनां तु धातूनां, पदे छोल्लादयो मताः ।
ये क्रियावाचका देश्या आदिशब्दग्रहा हि ते ॥
"जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥
चूडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानल-जाल-झलक्किअउ वाह-सलिल-संसित्तउ"॥ [२]

[१] कुञ्जर ! स्मर मा सल्लकान् सरलान् श्वासान् मा मुञ्च ।
कवला ये प्राप्ता विधिवशेन तान् चर मानं मा मुञ्च ॥
भ्रमर ! अत्रापि निम्बे कियन्ति दिवसानि विलम्बस्व ।
घनपत्रवान् छायाबहुलः फुल्लति यावत् कदम्बः ॥
प्रिय ! इदानीं करे सेल्लं कुरु मुञ्च त्वं करवालम् ।
यत् कापालिका वराका लान्ति अभग्नं कपालम् ॥
[२] यथा तथा तीक्ष्णान् लात्वा शरान् यदि शशी अतक्ष्यिष्यत ।
ततो जगति गौर्या मुखकमलेन सदृशतां कामपि अलप्स्यत ॥
चूडकश्चूर्णीभविष्यति मुग्धे ! कपोले निहितः ।
श्वासानलज्वालादग्धः वाष्पसलिलसंसिक्तः ॥

"अब्भडवंचिउ बे पयइं पेम्मु निअत्तइ जावँ ।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥
हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।
वासा-रत्ति-पवासुअहं विसमा संकडु एहु ॥
अम्मि ! पओहर वज्जमा निच्चु जे संमुह थन्ति ।
मह कन्तहो समरङ्गणइ गय-घड भज्जिउ जन्ति ॥
पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥
तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलुवि नवि पर धुट्ठुअइ असारु" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः ॥ ३९६ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
'क-ख-त-थ-प-फ-' वर्णानां स्थाने 'ग-घ-द-ध-ब-भाः' प्रायः ॥
[कस्य गः] "जं दिट्ठउं सोम-ग्गहणु असइहिं हसिउ निसङ्कु ।
पिय-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयङ्कु ॥
[खस्य घः] अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिन्तिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥
तथपफानां दधबभाः यथा-
सबधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउं जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु" ॥ [२]

मोऽनुनासिको वो वा ॥ ३९७ ॥

अनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।
स्याद् वोऽनुनासिकस्, तेन कवँलु कमलु द्वयम् ॥
अयं लाक्षणिकस्यापि, जेवँ तेवँ इति स्मृतम् ।

वाऽधो रो लुक् ॥ ३९८ ॥

संयोगाऽधःस्थितस्येह, वा रेफस्य लुगिष्यते ।
' जइ केवइ पावीसु पिउ ' पक्षे ' प्रियेण ' च ॥

अभूतोऽपि कचित् ॥ ३९९ ॥

रेफोऽभाविद्यमानोऽपि कचिद् भवति, दृश्यते ।

[१] अनुवज्य (मुत्काप्य) द्वौ पादौ प्रेम (प्रिया) निवर्तते यावत् ।
सर्वाशनरिपुसंभवस्य कराः परिवृत्तास्तावत् ॥
हृदये शल्यायते गौरी गगने गर्जति मेघः ।
वर्षारात्रिप्रवासिकानां विषमं संकटमेतत् ॥
अम्ब ! पयोधरौ वज्रमयौ नित्यं यौ संमुखौ तिष्ठतः ।
मम कान्तस्य समराङ्गणे गजघटा भङ्क्त्वा यान्ति ॥
पुत्रेण जातेन को गुणः अपगुणः को मृतेन ।
या पैतृकी भूमिराक्रम्यते अपरेण ॥
तत्तावत् जलं सागरस्य स तावान् विस्तारः ।
तृषाया निवारणे पलमपि नापि, परं शब्दायतेऽसारः ॥
[२] यद् दृष्टं सोमग्रहणमसतीभिर्हसितं निःशङ्कम् ।
प्रियमानसविक्षोभकरं गिल गिल राहो ! मृगाङ्कम् ॥
अम्ब ! स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानः ।
प्रिये दृष्टे औत्सुक्येन क आत्मानं चेतयते ॥
शपथं कृत्वा कथितं मया तस्य परं सफलं जन्म ।
यस्य न त्यागो न चारभटी न च प्रमृष्टो धर्मः ॥

"व्यासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिविदिवि गङ्गा-ण्हाणु" ॥ [१]
क्वचिदिति किम् ? ' वक्खाणेण वि जारद-ब्वजि ' च ॥

आपद्विपत्संपदां द इः ॥ ४०० ॥

विपदापत्संपदां स्याद्, दस्येकारः क्वचिद्, यथा- ।
रूपम् ' आवइ ' ' संपइ ' तथा ' विवइ ' इत्यपि ॥
प्रायोऽधिकाराद् ' गुणहिं न किंत्ति पर संपइ ' ।

कथं-यथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ॥ ४०१ ॥

' कथं यथा तथा ' एषां थादेरवयवस्य तु ।
' इह इध एम इम ' इत्यादेशा डितः पृथक् ।
अतः ' कथं ' ' किह किध किम केम ' निगद्यते ।
' यथा ' जिह जिधेत्यादि, ' तथा ' तिह तिधादि च ।

यादृक्-तादृक्-कीदृगीदृशां दादेर्डेहः ॥ ४०२ ॥

' यादृक्तादृक्--कीदृगीदृग् ' इत्येतेषां तु योऽस्ति दः ।
तदाद्यवयवस्येह, डेहादेशो विधीयते ।
"मई भणिअउ बलिराय ! तुहुं केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होइ वढ ! सइं नरायणु एहु" ॥ [२]

अतां डइसः ॥ ४०३ ॥

ईदृश-कीदृश--यादृश--तादृशशब्देषु दादिवर्णस्य ।
डइसाऽऽदेशो, जइसो तइसो कइसोऽइसो च यथा ।

यत्र-तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थवत्तु ॥ ४०४ ॥

' एत्थु अत्तु ' डितौ त्रस्य, शब्दयोर्यत्र--तत्रयोः ।
' जत्तु तत्तु जेत्थु तेत्थु ' सिद्धं रूपचतुष्टयम् ।

एत्थु कुत्रात्रे ॥ ४०५ ॥

कुत्राऽत्रयोस्त्र त्रशब्दस्य, पदे ' एत्थु ' मिदिष्यते ।
केत्थु वि लेप्पिणु सिक्खु, एत्थु जेत्थु वि तेत्थु वि ।

यावत्तावतोर्वाऽऽदेर्म उं महिं ॥ ४०६ ॥

यावत्तावदित्यनयोर्, वाऽऽदेरवयवस्य तु ।
म, उं, महिं चेत्येते स्युर्, आदेशास्तु त्रयो यथा ।
जाउं ताउं, जाम ताम, जामहिं तामहिं तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्डेवडः ॥ ४०७ ॥

अत्वन्तयत्तदोर् यावत्तावतौ यौ, तयोः पुनः ।
वाऽऽदेरवयवस्येह, पदे वा ' डेवड ' ऽस्तु डित् ।
"जेवडु अन्तरु रावण-रामहं तेवडु अन्तरु पट्टण-गामहं" ।
पक्षे रूपं भवति जेत्तुलो, तावच्छब्दस्येह तेत्तुलो ।

वेदं किमोर्यादेः ॥ ४०८ ॥

अत्वन्तेदं-किमोर् ' इयत्-कियतौ ' यौ तयोः पुनः ।
याऽऽदेरवयवस्येह, पक्षे वा ' डेवड ' ऽस्तु डित् ।
एत्तुलो केत्तुलो रूपं, तथा एवडु केवडु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्य, भवेद् आदावद् आगमः ।
' अवरोप्परु ' इत्येतत्, ततः सिद्धं परस्परे ।

कादि-स्थैदोतोरुच्चार-लाघवम् ॥ ४१० ॥

एदोतोर् लघुताऽस्तु, प्रायः स्थितयोः कादिषु हि ।
सुधें चिन्तिज्जइ माणु, तसु हउं कलि-जुगि दुल्लहहो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

' उं-हुं-हिं-हं ' इत्यमीषां, पदान्तानां तु भाषणे ।
कर्तव्यं लाघवं प्रायो, यथा लहहुँ किज्जउँ ।

म्हो म्भो वा ॥ ४१२ ॥

प्राकृते पक्ष्म-[२।७४] सूत्रेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।
तस्य ' म्भो ' वाऽत्र जायेत, ' गिम्भो सिम्भो ' यथा पदम् ।

अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ ॥ ४१३ ॥

स्थाने त्वऽन्यादृशस्यात्राऽन्नाइसः स्तोऽवराइसः ।

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः ॥ ४१४ ॥

' पग्गिम्व-प्राइव-प्राउ-प्राइम्वाः ' प्रायसः पदे ।

वाऽन्यथोऽनुः ॥ ४१५ ॥

' अनुः ' स्याद् वाऽन्यथेत्यस्य, पक्षे स्याद् रूपम् ' अन्नह ' ।

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥ ४१६ ॥

' कहन्तिहु कउ ' स्यातामादेशौ कुतसः पदे ।

ततस्तदोस्तोः ॥ ४१७ ॥

' ततस् तदा ' इत्यनयोस्, ' तो ' इत्यादेश इष्यते ।
"जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि ! मज्झु पियेण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा, तो तें मारिअडेण" ॥ [१]

एवं-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाक् एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं ॥ ४१८ ॥

एवं ' एम्व ' तथा मा ' मं, ' ध्रुवं ध्रुवु, परं पर ।
मनाक् ' मणाउं ' वक्तव्यं, समम अत्र ' समाणु ' च ।

किलाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवइ, दिवा दिवे, नहि नाहिं ।
सह सहुम, इत्यभिधीयते, प्रायो, नैव सदा हि ।
[सहस्य सहुं] "जउ पवसन्तें सहुं न गयअ न मुअ विओएं तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा, दिन्तेहिं सुहय-जणस्सु" । [२]

पश्चादेवमेवैवेदानीं-प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

पश्चात् पच्छइ, एव जि, इत एत्तहे, एवमेव एम्वइ च ।
भवतीदानीम् एम्वहिं, तथा प्रत्युतेति पच्चलिउ ।

विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्चं ॥ ४२१ ॥

उक्तं वुत्तं, वर्त्म विच्चं, विषण्णं वुन्नम् उच्यते ।

शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ॥ ४२२ ॥

शीघ्रादेस्तु वहिल्लादिरादेशोऽत्र निगद्यते ।
शीघ्रं ' वहिल्ल ' इत्युक्तं, झकटो घङ्घलः स्मृतः ।

---

[१] व्यासो महर्षिरेतद्भणति यदि श्रुतिशास्त्रं प्रमाणम् ।
मातॄणां चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गास्नानम् ॥
[२] मया भणितो बलिराज ! त्वं कीदृग् मार्गण एषः ।
यादृक् तादृग् नाऽपि भवति मूर्ख ! स्वयं नारायण ईदृक् ॥

[१] यदि भग्नाः परकीयास्ततः सखि ! मम प्रियेण ।
अथ भग्ना आस्माकीनास्ततस्तेन मारितेन ॥
[२] यत् प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य ।
लज्ज्यते संदेशान् ददतीभिः सुभगजनस्य ॥

[घङ्गलः]"जिवँ सुपुरिस तिवँ घङ्गलइं जिवँ नइ तिवँ वलणाइं।
जिवँ डोङ्गर तिवँ कोट्टरइं हिआ विसूरहि काइं" ।[१]
'विट्टालो'ऽस्पृश्यसंसर्गो, 'द्रवक्को' भयवाचकः ।
आत्मीयो'ऽप्पण, इत्युक्तो ' निच्चट्टो' गाढ ईरितः ।
द्रेहिर् दृष्टौ, रवणस्तु रम्ये, खेड्डस्तु क्रीडने ।
स्यात् कोड्डः कौतुके सद्भलस्त्वसाधारणे तथा ।
अद्भुते ढक्करिः, हेल्लिः हेसखि, नवखो नवे ।
अवस्कन्दे दडवडः, पृथगर्थे जुअंजुअः ।
सम्बन्धयर्थे केर-तणौ, मूढेऽर्थे वढ-नालिऔ ।
मा भैषीरिति मब्भीसा, यद्यर्थे छुडु इष्यते ।
'यद्यद् दृष्टं तत्तद्' इत्यर्थे जाइट्ठिआ स्मृता ।

हुहुरु-घुग्घादयः शब्द-चेष्टानुकरणयोः ॥ ४२३ ॥

स्युर् हुहुरु-प्रभृतयः, शब्दानुकरणे तथा ।
चेष्टाऽनुकरणे घुग्घादयः शब्दा व्यवस्थिताः ।
"मइं जाणिउं बुड्डीसु हउं पेम्म-द्रहि हुहुरु त्ति ।
नवरि अचिन्तिय संपडिअ विप्पिय नाव झडत्ति ।
अज्जवि नाहु महुज्जि घरि सिद्धत्था वन्देइ ।
ताउंजि विरहु गवक्खेहिं मक्कडु-घुग्घिउ देइ" । [२]

घइमादयोऽनर्थकाः ॥ ४२४ ॥

' घइम्' इत्यादयः शब्दाः, निपाताः परिकीर्तिताः ।
वेद्या अनर्थकास्तेऽत्र, 'घइं खाइं' निदर्शनम् ।

तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः ॥ ४२५ ॥

'केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणा' इति पञ्च तु ।
निपाताः संप्रयोक्तव्यास्तादर्थ्ये यत्र गम्यते ।
"ढोल्ला एह परिहासडी अइभ न कवणहि देसि ।
हउं झिज्जउं तउ केहिं पिअ ! तुहुं पुणु अन्नहि रेसि" । [३]

पुनर्विनः स्वार्थे डुः ॥ ४२६ ॥

'पुनर् विना' इत्येताभ्यां, स्वार्थे डुः प्रत्ययो भवेत् ।
पुनरर्थे पुणु तथा, विनाऽर्थे 'विणु' सिध्यति ।

अवश्यमो डें-डौ ॥ ४२७ ॥

अवश्यमः परौ 'डें-डौ,' स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्मृतौ ।
तस्माद् अवश्यम् 'अवसें अवस' स्मर्यते बुधैः ।

एकशसो डिः ॥ ४२८ ॥

स्वार्थे डिर् एकशस् शब्दाद्, रूपम् 'एक्कसि' संस्मृतम् ।

अ-डड-डुल्लाः स्वार्थिक-क-लुक् च ॥ ४२९ ॥

नाम्नः परे-'ऽडड डुल्ल ' इत्यमी स्वार्थिकास्त्रयः ।
तत्सन्नियोगे स्वार्थे क-प्रत्ययश्चेह लुप्यते ।

"विरहानल-जाल-करालिअउ पहिउ पन्थि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वहिं पंथिअहिं सोजि किअउ अग्गिट्ठउ" [१] ॥
ममस्य ' दोसडा ' डुल्लस्य कुडुल्ली निदर्श्यते ।

योगजाश्चैषाम् ॥ ४३० ॥

एषाम् अ-डड-डुल्लानां, योगभेदेन निर्मिताः ।
जायन्ते प्रत्यया येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे क्वचिन्मताः ।
[डडअ] 'फोडेन्ति जे हिअडउं' किसवेति[१।२८६]यमुक्त मतः ।
[डुल्लअ] ' चुन्नीहोइसइ मुद्धडुउ ' कुडुल्लं शृणु-।
[डुल्लडअ]"सामिपसाउ सलज्जुपिउ सीमा-संधिहिं वासु ।
पेक्खिवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु" [२] ॥
आमि 'स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ'-[४।३३०]इति दीर्घोऽत्र बुध्यताम् ।
' बाहु बलुल्ल डउ ' तु, प्रत्ययत्रयसंभवम् ।

स्त्रियां तदन्ताड्डीः ॥ ४३१ ॥

पूर्वसूत्रद्वयोक्तप्रत्ययान्ताद् ङीः स्त्रियां भवेत् ।
"पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
अंसूसासेहिं कञ्चुआ तिंतुव्वाण करन्त" [३]॥

आन्तान्ताड्डाः ॥ ४३२ ॥

स्त्रियाम् अप्रत्ययान्त-प्रत्ययान्ताद् 'डा'ऽस्तु नैव ङीः ।
"पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासंतअहो धूलडिआ वि न दिट्ठ" [४]॥

अस्येदे ॥ ४३३ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽत इत्वं स्याद् आकार प्रत्यये परे ।
' धूलडिआ वि दिट्ठ न ' इति वाक्ये विभाव्यताम् ।

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥ ४३४ ॥

युष्मदादिभ्य ईय प्रत्ययस्य ' डार ' इष्यते ।
"संदेसें काइं तुहारेण जं सङ्गहो न मिलिज्जइ ।
सुइणन्तरि पिएं पाणिएण पिअ ! पिआस किं छिज्जइ" [५]॥
अम्हारा च महारा च, वेद्यं चैवं निदर्शनम् ।

अतोर्डेत्तुलः ॥ ४३५ ॥

इदंकिंयत्तदेतद्भ्योऽतोः स्थाने 'डेत्तुलो' भवेत् ।
एत्तुलो केत्तुलो जेत्तुलो च तेत्तुलो एत्तुलो ।

त्रस्य डेत्तहे ॥ ४३६ ॥

सर्वादेस् त्र-प्रत्ययस्य, पदे स्यात् 'डेत्तहे' यथा- ।
"एत्तहे तेत्तहे वीरघरि लच्छि विसण्ठुल ठाइ ।
पिअ-पब्भट्ठव गोरडी निच्चल कहिंवि न ठाइ " [६]॥

---

[१] यथा सुपुरुषास्तथा भगटका यथा नद्यस्तथा वलनानि ।
यथा गिरयस्तथा कोटराणि हृदय ! खिद्यसे कथम् ? ।
[२] मया ज्ञातं ब्रुडिष्यामि अहं प्रेमह्रदे हुहुरुरिति ।
केवलमचिन्तित्वा संपतिता (संप्राप्ता) विप्रियनौः झटिति ॥
अद्यापि नाथो ममैव गृहे सिद्धार्थान् वन्दते ।
तावदेव विरहो गवाक्षेषु मर्कटचेष्टां ददाति ॥
[३] नायक ! एषा रीतिः अत्यद्भुता न कुत्रापि दृष्टा ।
अहं क्षीये तव कृते प्रिय ! त्वं पुनरन्यस्यार्थे ॥

[१] विरहानलज्वालाकरालितः पथिकः पथि यद् दृष्टः ।
तत् मिलित्वा सर्वैः पथिकैः स एव कृतोऽग्निष्ठः ॥
[२] स्वामिप्रसादः सलज्जप्रियः सीमासंधौ वासः ।
प्रेक्ष्य बाहुबलं नायिका मुञ्चति निश्वासम् ॥
[३] पथिक ! दृष्टा गौरी दृष्टा मार्गं पश्यन्ती ।
अश्रूच्छ्वासाभ्यां कञ्चुकं तीमितोद्वातं कुर्वती ॥
[४] प्रिय आगतः श्रुता वार्ता ध्वनिः कर्णप्रविष्टः ।
तस्य 'विरहस्य नश्यतो' धूलिरपि न दृष्टा ॥
[५] संदेशेन कियत युष्मदीयेन यत् सङ्गाय न मिल्यते ।
स्वप्नान्तरे पीतेन पानीयेन प्रिय ! पिपासा किं छिद्यते ।
[६] अत्र तत्र वीरगृहे लक्ष्मी विसंस्थुला तिष्ठति ।
प्रियप्रभ्रष्टा गौरी निश्चला क्वापि न तिष्ठति ॥

त्व-तलोः प्पणः ॥ ४३७ ॥

प्रत्यययोस् त्व-तलोः स्यात्, 'प्पणः', वड्डप्पणु' स्मृतम्।
प्रायोऽधिकाराद् 'वड्डत्तणहो' इत्यपि सिध्यति।

तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवा ॥ ४३८ ॥

इएव्वउं एव्वउं एवा' तव्यस्य पदे त्रयः।
"एउ गृण्हेप्पिणु ध्रुं मइं, जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउं किं पि णवि, मरिएव्वउं पर देज्जइ।
देसुच्चाडणु सिहिकढणु, घणकुट्टणु जं लोइ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए, सव्वु सहेव्वउं होइ।
सोएवा पर वारिआ, पुप्फवईहिं समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ, जइ सो वेउ पमाणु ?" ॥ [१]

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥ ४३९ ॥

'अवि इवि इउ इ' इतीमे, चत्वारः क्त्वः पदे भवन्ति, यथा।
[इ]जइ [इवि]चुम्बिवि च [अवि] विछोडवि,
[इउ] भज्जिउ रूपाणि सिध्यन्ति।
[अवि] "बाह विछोडवि जाहि तुहुं, हउं तेवँइ को दोसु ?।
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरहि, जाणउं मुञ्ज ! सरोसु ॥" [२]

एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ॥ ४४० ॥

चत्वारः क्त्वः पदे 'एप्पि, एवि एप्पिणुए विणु'।
सूत्रयोर्यः पृथग्योग उत्तरार्थः स इष्यते।
"जेप्पि असेसु कसाय-बलु, देप्पिणु अभउ जयस्सु।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं, झाएविणु तत्तस्सु ॥" [३]

तुम एवमणाणहमणहिं च ॥ ४४१ ॥

'अणहिं अणहं एवं, अण एप्पिणु एविणु।
एप्पि एवि' अमी अष्टौ, प्रत्ययस्य तुमः पदे।
"देवं दुक्करु निअय-धणु, करण न तउ पडिहाइ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहं मणु, पर भुञ्जणहिं न जाइ।
जेप्पि चएप्पिणु सयल धर, लेविणु तवु पालेवि।
विणु सन्ते तित्थेसरेण, को सक्कइ भुवणे वि ?॥" [४]

गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ॥ ४४२ ॥

गम-धातोः परौ यौ स्तः, 'एप्पि एप्पिणु' इत्यमू।
तयोर् एतो लुग् अभास्तु,विभाषेति विधीयते।
"गम्पिणु वाणारसिहिं नर, अह उज्जेणिहिं गम्पि।
मुआ परावहिं परम-पउ, दिव्वन्तरइं म जम्पि"। [५]

[१] एतद् गृहीत्वा यन्मया यदि प्रिय! उद्धार्यते।
मम कर्तव्यं किमपि नापि, मर्तव्यं परं दीयते ॥
देशोच्चाटनं शिखिक्कथनं घनकुट्टनं यल्लोके।
मञ्जिष्ठया अतिरक्तया सर्वं सोढव्यं भवति ॥
स्वपितव्यं परवारिता पुष्पवतीभिः समम्।
जागर्तव्यं पुनः को बिभर्ति यदि स वेदः प्रमाणम् ॥
[२] बाहू विच्छोट्य यासि त्वं भवतु तथा को दोषः ?।
हृदयस्थितो यदि निःसरसि जाने मुञ्ज ! सरोषः ॥
[३] जित्वाऽशेषं कषायबलं दत्त्वाऽभयं जगतः।
लात्वा महाव्रतानि शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥
[४] दातुं दुष्करं निजकधनं कर्तुं न तपः प्रतिभाति।
एवमेव सुखं भोक्तुं मनः परं भोक्तुं न याति ॥
जेतुं त्यक्तुं सकलां धरां लातुं तपः पालयितुम्।
विना शान्तिना तीर्थेश्वरेण कः शक्नोति भुवनेऽपि ? ॥
[५] गत्वा वाराणस्यां नरा अथोज्जयिन्यां गत्वा।
मृताः (म्रियन्ते) प्राप्नुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥

[एते] "गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिव-तित्थ गमेप्पि।
कीलदि तिदसावास-गउ, सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥" [१]

तृनोऽणअः ॥ ४४३ ॥

प्रत्ययस्य तृनः स्थानेऽणआऽऽदेशो विधीयते।
बोल्लणउ वज्जणउ, तथा भसणउ स्मृतम्।

इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥४४४ ॥

अपभ्रंशे ' जणि जणु नाइ नावइ नं नउ '।
इत्यमी षट् प्रयुज्यन्ते, इवार्थे कोविदैः सदा।
[नाइ] "वलयावलि-निवडण-भएण,धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लह-विरह-महादहहो, थाह गवेसइ नाइ ॥" [२]

लिङ्गमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥

अत्र लिङ्गं व्यभिचारि, प्रायो भवति तेन हि।
स्त्रीपुंनपुंसकं लिङ्गं, यथेष्टं संप्रवर्तते।
"अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं, पहिउ रडन्तउ जाइ।
जो एहा गिरि-गिलण-मणु, सो किं धणहे धणाइ॥" [३]
अत्र अब्भेति पुंस्त्वं हि, क्लीबस्य प्रतिपादितम्।
एवमन्यासु गाथासु, स्वयं बुद्ध्या विचार्यताम्।

शौरसेनीवत् ॥ ४४६ ॥

अपभ्रंशे शौरसेनीवत् कार्यं प्रायशः स्मृतम्।

व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥

भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणानि तु यानि हि।
तेषां च व्यत्ययः प्रायो, भवेदित्युपदिश्यते।
तिष्ठश्चिष्ठेति [४।२९८] मागध्यां, यथा कार्य्यं प्रदर्शितम्।
तत् पैशाची-शौरसेनी-प्राकृतेष्वपि जायते।
अपभ्रंशे तु रेफस्याधो वा लुक् स्यादितीरितम्।
मागध्यामपि तत् कार्य्यं, भवतीति निदर्शनम्।
न केवलं हि भाषालक्षणानां व्यत्ययः कृतः।
त्याद्यादेशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः।
वर्तमाने प्रसिद्धा ये, ते भूतेऽपि भवन्ति तु।
भूतकाले प्रसिद्धास्तु, वर्तमानेऽपि वीक्षिताः।
यथा 'पेच्छइ ' इत्येतत् , ' प्रेक्षाञ्चक्रे ' कश्चिन्मतम्।
' आभासइ ' ' आबभाषे, ' इत्यर्थे क्वापि दृश्यते।
एवं ' सोहीअ ' इति तु, शृणोतीत्यर्थकं क्वचित्।
शिष्टप्रयोगतः सर्वं, बोद्धव्यं सूक्ष्मदर्शिभिः।

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥

प्राकृतादिषु भाषासु, यत् कार्य्यं नेह दर्शितम्।
सप्ताध्यायीनिबद्धेन, संस्कृतेन समं हि तत्।
"हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय, छत्तं अहो इव वहन्ती।
जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी"। [४]
यत्राप्यत्र चतुर्थ्यास्तु, नादेशो दर्शितः क्वचित्।
तथाऽपि सोऽतिदेशेन, सिद्धः संस्कृतवत् खलु।

[१] गङ्गां गत्वा यो मृतो यः शिवतीर्थं गत्वा।
क्रीडति त्रिदशावासगतः स यमलोकं जित्वा ॥
[२] वलयावलिनिपतनभयेन नायिका ऊर्ध्वभुजा याति।
वल्लभविरहमहाह्रदस्य स्ताघं गवेषयति इव ॥
[३] अभ्राणि लग्नानि पर्वतेषु पथिको रटन् याति।
य इच्छति गिरिगिलनमनाः स किं नायिकायाः घनानि ? ॥
[४] अधःस्थितसूरनिवारणाय छत्रमध इव वहन्ती।
जयति सशेषा वराहश्वासदूरोत्क्षिप्ता पृथिवी ॥

उक्तं चापि भवत्यत्र, क्वाप्यर्थे संस्कृतवत् क्वचित् ।
'उरे उरम्मि' इत्येतौ, प्रयोगौ प्राकृते मतौ ।
उरसीत्यपि तस्यार्थे, क्वापि संस्कृतवन्मतम् ।
सिरे सिरम्मि सिरसि, सरम्मि सरसि सरे ।
इत्याद्यपि बुधैरेवं, वेद्यं लक्ष्यानुसारतः ।
सिद्धस्य ग्रहणं सूत्रे, मङ्गलार्थे प्रकीर्त्तितम् ।
येन वाचकवृन्दस्य, नित्यमभ्युदयोऽस्त्विति ।

या भाषा भगवद्वचोजिरगमत् ख्यातिं प्रतिष्ठां परां
यस्यां सन्त्यधुनाऽप्यमूनि निखिलान्येकादशाङ्गानि च ॥
तस्याः संप्रति दुःषमारवशतो जातोऽप्रचारः पुनः
संचाराय मया कृते विवरणे पादश्चतुर्थो गतः ॥१॥

इति श्रीबृहत्सौधर्मतपागच्छीय—कलिकालसर्वज्ञ-
श्रीमद्भट्टारक—श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचि-
तायां प्राकृतव्याकृतौ चतुर्थः पादः ।

तत्समाप्तौ समाप्ता चेयं प्राकृतव्याकृतिः ।

अथ प्रशस्तिश्लोकाः—

श्रीसौधर्मबृहत्तपेतिविदिते गच्छे पुरा धर्मराट्
संजातः खलु रत्नसूरिरपरः सूरिः क्षमाऽऽख्यस्ततः ।
देवेन्द्रश्च ततो बभूव विबुधः, कल्याणसूरिर्महान्
आचार्यः सकलोपकारनिरतः सूरिः प्रमोदस्ततः ॥१॥
तच्छिष्यो निजगच्छकृत्यविशदीकर्ता स भट्टारको
राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयने संजातभूरिश्रमः ।
ग्रन्थानां सुविचारचारुचतुरो धर्मप्रचारोद्यतो
जैनाचार्यपदाङ्कितोऽहमधुना राजेन्द्रसूरिर्बुधः ॥२॥
दीपविजयमुनिना वा यतीन्द्रविजयेन शिष्ययुग्मेन ।
विज्ञप्तः पद्यमयीं प्राकृतविवृतिं विधातुमहम् ॥३॥
मोहनविजयेन पुनः प्रधानशिष्येण भूरि विज्ञप्तः ।
सकलजनोपकृतिश्चेदेवं करणे महान् लाभः ॥४॥
अत एव विक्रमाब्दे, भूरसैनवविधुमिते दशम्यां तु ।
विजयाख्यायां चातुर्मास्येऽहं कूकसीनगरे ॥५॥
हेमचन्द्रसंरचितप्राकृतसूत्रार्थबोधिनीं विवृतिम् ।
पद्यमयीं सच्छन्दोवृन्दै रम्यामकार्षमिमाम् ॥६॥
श्रीवीरजिनप्रीत्यै, प्रायो विवृतिः कृताऽवधानेन ।
स्खलनं क्वापि यदि स्यान्मिथ्या मे दुष्कृतं भूयात् ॥७॥

अथ सूत्रनिर्दिष्टानां गणानां नामानि ।

पादे. सूत्रे		पादे. सूत्रे	
२ । १७	अक्ष्यादिः	१ । ७०	मांसादिः
१ । ३५	अञ्जल्यादिः	१ । १०७	मुकुलादिः
४ । २५८	अप्फुण्णादिः	४ । ३१७	यादृशादिः
१ । ५६	अभिज्ञादिः	४ । ४३४	युष्मदादिः
३ । १७२	इजादिः	४ । २३६	रुषादिः
१ । ६७	उत्खातादिः	१ । २६	वक्रादिः
१ । १३१	ऋत्वादिः	१ । ३३	वचनादिः
१ । १२८	कृपादिः	४ । ४२२	वहिल्लादिः
२ । ६	क्ष्वेटकादिः	४ । २३५	वृषादिः
४ । २४९	गमादिः	१ । १५२	वैरादिः
१ । ३४	गुणादिः	१ । २८	विंशत्यादिः
२ । १७४	गोणादिः	४ । २३०	शकादिः
४ । ४२४	घइमादिः	१ । ५७	शय्यादिः
४ । ४२३	घुग्घादिः	१ । १८	शरदादिः
४ । ३९५	छोल्लादिः	४ । ४२२	शीघ्रादिः
४ । ३९५	तच्छादिः	२ । १४५	शीलादिः
२ । ९८	तैलादिः	१ । ७२	सदादिः
१ । ४०	त्यदादिः	१ । ४४	समृद्ध्यादिः
२ । १७२	त्वादिः	३ । ५८	सर्वादिः
१ । १५१	दैत्यादिः	२ । ९९	सेवादिः
२ । ३०	धूर्त्तादिः	३ । १७२	सोच्छादिः
१ । १०१	पानीयादिः	१ । १६०	सौन्दर्यादिः
१ । १६२	पौरादिः	१ । ४६	स्वप्नादिः
२ । २१८	प्यादिः	३ । ३५	स्वस्रादिः
१ । २०६	मत्यादिः	१ । २५४	हरिद्रादिः
१ । २९	मांसादिः	४ । ४२३	हुहुर्वादिः

अथ प्राकृतसूत्राणां सूत्रसङ्ख्या ।

पादे	सूत्रसङ्ख्या
१	२७१
२	२१८
३	१८२
४	४४८
४ ——	१११९

॥ * अर्हम् * ॥

॥ अभिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् २ ॥

॥ अथ प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ॥

। इति प्राकृतसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका ।

॥ * अर्हम् * ॥

॥ श्रीअभिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'वृक्ष' शब्दः ।

विभक्ति,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वच्छो ।	वच्छा ।
द्वितीया	वच्छं ।	वच्छे, वच्छा ।
तृतीया	वच्छेणं, वच्छेण ।	वच्छेहि, वच्छेहिँ, वच्छेहिं ।
चतुर्थी	वच्छाय, * वच्छस्स ।	वच्छाणं, वच्छाण ।
पञ्चमी	वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ)	वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छेहि,
,,	वच्छाहि, वच्छाहिन्तो, वच्छा ।	(वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो, वच्छेसुन्तो ।
षष्ठी	वच्छस्स ।	वच्छाणं, वच्छाण ।
सप्तमी	वच्छम्मि, वच्छे ।	वच्छेसुं, वच्छेसु ।
संबोधनम्	हे वच्छ, हे वच्छो, हे वच्छा ।	हे वच्छा ।

आकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गोपा' शब्दः ।

विभक्ति,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोवो ।	गोवा ।
द्वितीया	गोवं ।	गोवा ।
तृतीया	गोवाणं, गोवाण ।	गोवाहिं गोवाहिँ, गोवाहि ।
चतुर्थी	गोवे, गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
पञ्चमी	गोवत्तो, गोवाओ, गोवाउ)	गोवत्तो, गोवाओ, गोवाउ, गोवाहिन्तो,
,,	गोवाहिन्तो ।	(गोवासुन्तो ।
षष्ठी	गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
सप्तमी	गोवम्मि ।	गोवासुं, गोवासु ।
संबोधनम्	हे गोवो, हे गोवा ।	हे गोवा ।

इकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विभक्ति,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणो, गिरी, गिरउ, गिरओ ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणो, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहिं, गिरीहिँ, गिरीहि ।
चतुर्थी	गिरिणो, गिरिस्स, गिरये ।	गिरीणं, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणो, गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ)	गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ, गिरीहिन्तो,
,,	गिरीहिन्तो ।	(गिरीसुन्तो ।
षष्ठी	गिरिणो, गिरिस्स ।	गिरीणं, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिम्मि ।	गिरीसुं, गिरीसु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणो, हे गिरी, हे गिरउ, हे गिरओ ।

* तादर्थ्यङेर्वा ॥ ८ । ३ । १३२ ॥ तादर्थ्यविहितस्य ङेश्चतुर्थ्येकवचनस्य षष्ठी वा भवति । देवस्स, देवाय, देवार्थमित्यर्थः ।

ईकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गामणी' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गामणी ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
द्वितीया	गामणिं ।	गामणिणो, गामणी ।
तृतीया	गामणिणा ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहिं ।
चतुर्थी	गामणये, गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
पञ्चमी	गामणिणो, गामणित्तो, गामणीओ)	गामणित्तो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिन्तो,
,,	गामणीउ, गामणीहिन्तो ।	(गामणीसुन्तो ।
षष्ठी	गामणिणो, गामणिस्स ।	गामणीणं, गामणीण ।
सप्तमी	गामणिम्मि ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
संबोधनम्	हे गामणि, हे गामणी ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

उकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गुरु' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गुरू ।	गुरुणो, गुरू, गुरओ, गुरउ, गुरवो * ।
द्वितीया	गुरुं ।	गुरुणो, गुरू ।
तृतीया	गुरुणा ।	गुरूहिं, गुरूहिँ, गुरूहि ।
चतुर्थी	गुरवे, गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरूणं, गुरूण ।
पञ्चमी	गुरुणो, गुरुत्तो गुरूओ, गुरूउ)	गुरुत्तो, गुरूओ, गुरूउ, गुरूहिन्तो,
,,	गुरूहिन्तो ।	(गुरूसुन्तो ।
षष्ठी	गुरुणो, गुरुस्स ।	गुरूणं, गुरूण ।
सप्तमी	गुरुम्मि ।	गुरूसुं, गुरूसु ।
संबोधनम्	हे गुरु, हे गुरू ।	हे गुरुणो, हे गुरू, हे गुरउ, हे गुरओ, हे गुरवो ।

ऊकारान्तः पुँल्लिङ्गः 'खलपू' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	खलपू ।	खलपुणो, खलपू, खलपउ, खलपओ, खलपवो ।
द्वितीया	खलपुं ।	खलपुणो, खलपू ।
तृतीया	खलपुणा ।	खलपूहिं, खलपूहिँ, खलपूहि ।
चतुर्थी	खलपवे, खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
पञ्चमी	खलपुणो, खलपुत्तो, खलपूओ)	खलपुत्तो, खलपूओ, खलपूउ,
,,	खलपूउ, खलपूहिन्तो ।	(खलपूहिन्तो, खलपूसुन्तो ।
षष्ठी	खलपुणो, खलपुस्स ।	खलपूणं, खलपूण ।
सप्तमी	खलपुम्मि ।	खलपूसुं, खलपूसु ।
संबोधनम्	हे खलपु, हे खलपू ।	हे खलपुणो, हे खलपू, हे खलपउ, हे खलपओ, हे खलपवो ।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गः 'पितृ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	पिआ, पिअरो ।	पिअरा, पिउणो, पिअउ, पिअओ, पिऊ ।
द्वितीया	पिअरं ।	पिअरा, पिअरे, पिउणो, पिऊ ।
तृतीया	पिउणा, पिअरेणं, पिअरेण ।	पिअरेहिं, पिअरेहिँ, पिअरेहि, पिऊहि, पिऊहिँ, पिऊहिं ।

* 'वोतो डवो' ॥ ८ । ३ । २१ ॥ उदन्तात् परस्य जसः पुंसि डित् अवो इत्यादेशो वा भवति । साहवो ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
चतुर्थी	पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।	पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।
पञ्चमी	पिउणो, पिउत्तो, पिऊओ, पिऊउ, पिऊहि-)	पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,
"	न्तो, पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)	(पिअराहिन्तो, पिअरेहिन्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु-
"	पिअराहिन्तो, पिअरा ।	(न्तो, पिउत्तो, पिऊओ, पिऊउ, पिऊहिन्तो, पिऊसुन्तो ।
षष्ठी	पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।	पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।
सप्तमी	पिअरम्मि, पिअरे, पिउम्मि ।	पिअरेसुं, पिअरेसु, पिऊसुं, पिऊसु ।
सम्बोधनम्	हे पिअ, हे पिअरं ।	हे पिअरा, हे पिऊ, हे पिउणो ।

ऋकारान्तः पुंल्लिङ्गो 'भर्तृ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	भत्ता, भत्तारो ।	भत्तुणो, भत्तू, भत्तउ, भत्तओ, भत्तारा ।
द्वितीया	भत्तारं ।	भत्तुणो, भत्तू, भत्तारे ।
तृतीया	भत्तुणा, भत्तारेणं, भत्तारेण ।	भत्तारेहिं, भत्तारेहिँ, भत्तारेहि, भत्तूहिं, भत्तूहिँ, भत्तूहि ।
चतुर्थी	भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।	भत्तूणं, भत्तूण, भत्ताराणं, भत्ताराण ।
पञ्चमी	भत्तुणो, भत्तुत्तो, भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहिन्तो,)	भत्तुत्तो, भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहिन्तो, भत्तूसुन्तो, भ-
„	भत्तारत्तो, भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भ-)	(त्तारत्तो, भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्तारेहि, भ-
„	त्ताराहिन्तो, भत्तारा ।	(त्ताराहिन्तो, भत्तारेहिन्तो, भत्तारासुन्तो, भत्तारेसुन्तो ।
षष्ठी	भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।	भत्तूणं, भत्तूण, भत्ताराणं, भत्ताराण ।
सप्तमी	भत्तुम्मि, भत्तारम्मि, भत्तारे ।	भत्तूसुं, भत्तूसु, भत्तारेसुं, भत्तारेसु ।
सम्बोधनम्	हे भत्त, हे भत्तार ।	हे भत्तू, हे भत्तुणो, हे भत्तउ, हे भत्तओ, हे भत्तारा ।

नकारान्तस्यापि 'राजन्' शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	राया, रायाणो ।	रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।
द्वितीया	रायाणं, रायं, राइणं ।	रायाणो, राइणो, रायाणे, राए ।
तृतीया	रायाणेणं, रायाणेण, राइणा, रण्णा, राएणं,	रायाणेहिं, रायाणेहिँ, रायाणेहि, राईहिं, राईहिँ, रा-
„	राएण, रायणा ।	(ईहि, राएहिं, राएहिँ, राएहि ।
चतुर्थी	रायाणस्स, रायाणो, रण्णो, राइणो, रायस्स ।	रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राईणं, राईण,
"	"	रायाणं, रायाण ।
पञ्चमी	रायाणत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि,)	राइत्तो, राईओ, राईउ, राईहिन्तो, राईसुन्तो, राया-
„	रायाणाहिन्तो, रायाणा, राइणो, रायाणो, रण्णो,)	(णत्ता, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणेहि,
„	रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो,)	(रायाणाहिन्तो, रायाणेहिन्तो, रायाणासुन्तो, रायाणेसु-
„	राया ।	(न्तो, रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राएहि, राया-
"	"	(हिन्तो, राएहिन्तो, रायासुन्तो, राएसुन्तो ।
षष्ठी	रायाणस्स, राइणो, रण्णो, रायाणो, रायस्स ।	रायाणाणं, रायाणाण, राईणं, राईण, राइणं, राइण,
"	"	(रायाण, रायाण ।
सप्तमी	रायाणम्मि, रायाणे, राइम्मि, रायम्मि, राए ।	रायाणेसुं, रायाणेसु, राईसुं, राईसु, राएसुं, राएसु ।
सम्बो०	हे रायाण, हे रायाणा, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ ।	हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

नकारान्तः पुंल्लिङ्ग 'आत्मन्' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।	अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पा ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया	अप्पाणं, अप्पं।	अप्पाणे, अप्पाणो, अप्पे ।
तृतीया	अप्पाणेणं, अप्पाणेण, अप्पेणं, अप्पेण, अप्प-)	अप्पाणेहिं, अप्पाणेहिँ, अप्पाणेहि, अप्पेहिं, अप्पेहिँ,
"	णा, अप्पणइआ, अप्पणिआ ।	(अप्पेहि ।
चतुर्थी	अप्पाणस्स, अप्पस्स, अप्पणो।	अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।
पञ्चमी	अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि,)	अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि, अप्पा-
"	अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणा, अप्पणो, अप्पत्तो, अप्पा-)	(णेहि, अप्पाणेहिन्तो, अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणेसुन्तो,
"	ओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिन्तो, अप्पा।	(अप्पाणासुन्तो, अप्पत्तो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि,
"		(अप्पेहि, अप्पाहिन्तो, अप्पेहिन्तो, अप्पासुन्तो, अप्पेसुन्तो।
षष्ठी	अप्पाणस्स, अप्पस्स, अप्पणो।	अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।
सप्तमी	अप्पाणम्मि, अप्पाणे, अप्पम्मि, अप्पे ।	अप्पाणेसुं, अप्पाणेसु, अप्पेसुं, अप्पेसु ।
सम्बोधनम्	हे अप्पाणो, हे अप्पो, हे अप्प ।	हे अप्पाणो, हे अप्पाणा, हे अप्पा ।

॥ अथ सर्वादीनां पुँल्लिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सव्वो ।	सव्वे ।
द्वितीया	सव्वं ।	सव्वे, सव्वा ।
तृतीया	सव्वेणं, सव्वेण ।	सव्वेहिं, सव्वेहिँ, सव्वेहि ।
चतुर्थी	सव्वस्स ।	सव्वेसिं, सव्वाणं, सव्वाण ।
पञ्चमी	सव्वत्तो, सव्वाओ, सव्वाउ, सव्वाहिन्तो, स-)	सव्वत्तो, सव्वाओ सव्वाउ, सव्वाहि, सव्वेहि, सव्वा-
"	व्वाहि, सव्वा।	(हिन्तो, सव्वेहिन्तो, सव्वासुन्तो, सव्वेसुन्तो ।
षष्ठी	सव्वस्स ।	सव्वेसिं, सव्वाणं, सव्वाण ।
सप्तमी	सव्वस्सिं, सव्वम्मि, सव्वत्थ, सव्वहिं ।	सव्वेसुं, सव्वेसु ।
सम्बोधनम्	हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्वा ।	हे सव्वे ।

तथाऽकारान्तः पुँल्लिङ्गो' विश्व' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	विस्सो ।	विस्से ।
द्वितीया	विस्सं ।	विस्से, विस्सा ।
तृतीया	विस्सेणं, विस्सेण ।	विस्सेहिं, विस्सेहिँ, विस्सेहि ।
चतुर्थी	विस्सस्स ।	विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।
पञ्चमी	विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, वि-)	विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, विस्सेहि, वि-
"	स्साहिन्तो, विस्सा ।	स्साहिंतो, विस्सेहिंतो, विस्सासुन्तो, विस्सेसुन्तो।
षष्ठी	विस्सस्स ।	विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।
सप्तमी	विस्सस्सिं, विस्सम्मि, विस्सत्थ, विस्सहिं ।	विस्सेसुं, विस्सेसु।
सम्बोधनम्	हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्सा ।	हे विस्से ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग 'उजय' शब्दः

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन।
प्रथमा	उजयो ।	उजये ।
द्वितीया	उजयं।	उभये, उजया।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया	उभयेणं, उभयेण ।	उभयेहिं, उभयेहिँ, उभयेहि ।
चतुर्थी	उभयस्स ।	उभयेसिं, उभयाणं, उभयाण ।
पञ्चमी	उभयत्तो, उभयाओ, उभयाउ, उभयाहि, उ-)	उभयत्तो, उभयाओ, उभयाउ, उभयाहि, उभयेहि, उ-
,,	भयाहिन्तो, उभया ।	(भयाहिन्तो, उभयेहिन्तो, उभयासुन्तो, उभयेसुन्तो ।
षष्ठी	उभयस्स ।	उभयेसिं, उभयाणं, उभयाण ।
सप्तमी	उभयम्मि, उभयस्सिं, उभयत्थ, उभयहिं ।	उभयेसुं, उभयेसु ।
सम्बोधनम्	हे उभय, हे उभयो, हे उभया ।	हे उभये ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'अन्य' शब्दः।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अण्णो ।	अण्णे ।
द्वितीया	अण्णं ।	अण्णे, अण्णा ।
तृतीया	अण्णेणं, अण्णेण ।	अण्णेहिं, अण्णेहिँ, अण्णेहि ।
चतुर्थी	अण्णस्स ।	अण्णेसिं, अण्णाणं, अण्णाण ।
पञ्चमी	अण्णत्तो, अण्णाओ, अण्णाउ, अण्णाहि, अण्णा-)	अण्णत्तो, अण्णाओ, अण्णाउ, अण्णाहि, अण्णेहि, अ-
,,	हिन्तो, अण्णा ।	(ण्णाहिन्तो, अण्णेहिन्तो, अण्णासुन्तो, अण्णेसुन्तो ।
षष्ठी	अण्णस्स ।	अण्णेसिं, अण्णाणं, अण्णाण ।
सप्तमी	अण्णस्सिं, अण्णम्मि, अण्णत्थ, अण्णहिं ।	अण्णेसुं, अण्णेसु ।
सम्बोधनम्	हे अण्ण, हे अण्णो, हे अण्णा ।	हे अण्णे ।

तत्राकारान्तः पुँल्लिङ्गः 'कतर' शब्दः।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	कयरो ।	कयरे ।
द्वितीया	कयरं ।	कयरे, कयरा ।
तृतीया	कयरेणं, कयरेण ।	कयरेहिं, कयरेहिँ, कयरेहि ।
चतुर्थी	कयरस्स ।	कयरेसिं, कयराणं, कयराण ।
पञ्चमी	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि,)	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, कयरेहि, कय-
,,	कयराहिन्तो, कयरा ।	राहिन्तो, कयरेहिन्तो, कयरासुन्तो, कयरेसुन्तो ।
षष्ठी	कयरस्स ।	कयरेसिं, कयराणं, कयराण ।
सप्तमी	कयरस्सिं, कयरम्मि, कयरत्थ, कयरहिं ।	कयरेसुं, कयरेसु ।
सम्बोधनम्	हे कयर, हे कयरो, हे कयरा ।	हे कयरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'अवर' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अवरो ।	अवरे ।
द्वितीया	अवरं ।	अवरे, अवरा ।
तृतीया	अवरेणं, अवरेण ।	अवरेहिं, अवरेहिँ, अवरेहि ।
चतुर्थी	अवरस्स ।	अवरेसिं, अवराणं, अवराण ।
पञ्चमी	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अ-)	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अवरेहि, अ-
,,	वराहिन्तो, अवरा ।	वराहिन्तो, अवरेहिन्तो, अवरासुन्तो, अवरेसुन्तो ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	अवरस्स ।	अवरेसिं, अवराणं, अवराण ।
सप्तमी	अवरंसि, अवरम्मि, अवरत्थ, अवरहिं ।	अवरेसुं, अवरेसु ।
सम्बोधनम्	हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।	हे अवरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग 'इतर' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इयरो ।	इयरे ।
द्वितीया	इयरं ।	इयरे, इयरा ।
तृतीया	इयरेणं, इयरेण ।	इयरेहिं, इयरेहिँ, इयरेहि ।
चतुर्थी	इयरस्स ।	इयरेसिं, इयराणं, इयराण ।
पञ्चमी	इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरा-)	इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरेहि, इयराहि-
,,	हिन्तो, इयरा ।	(न्तो, इयरेहिन्तो, इयरासुन्तो, इयरेसुन्तो ।
षष्ठी	इयरस्स ।	इयरेसिं, इयराणं, इयराण ।
सप्तमी	इयरंसि, इयरम्मि, इयरत्थ, इयरहिं ।	इयरेसुं, इयरेसु ।
सम्बोधनम्	हे इयर, हे इयरा, हे इयरो ।	हे इयरे ।

पुँल्लिङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जो ।	जे ।
द्वितीया	जं ।	जे, जा ।
तृतीया	जेणं, जेण, जिणा ।	जेहिं, जेहिँ, जेहि ।
चतुर्थी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जाहिन्तो, जा,)	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जेहि, जाहिन्तो, जेहिन्तो,
,,	जम्हा ।	(जासुन्तो, जेसुन्तो ।
षष्ठी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
सप्तमी	जंसि, जम्मि, जत्थ, जहिं, जाहे, जाला,)	जेसुं, जेसु ।
,,	जइया ।	,,

पुँल्लिङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सो, णो ।	ते, णे ।
द्वितीया	तं, णं ।	ते, णे, ता, णा ।
तृतीया	तेणं, तेण, तिणा, णेणं, णेण ।	तेहिं, तेहिँ, तेहि, णेहिं, णेहिँ, णेहि ।
चतुर्थी	तास, तस्स, से, णस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, णेसिं, णाणं, णाण ।
पञ्चमी	तम्हा, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, ता, णम्हा,)	तत्तो, ताओ, ताउ, ताहि, तेहि, ताहिन्तो, तेहिन्तो, ता-
,,	णत्तो, णाओ, णाउ, णाहि, णाहिन्तो, णा ।	(सुन्तो, तेसुन्तो, णत्तो, णाओ, णाउ, णाहि, णेहि, णा-
,,	,,	(हिन्तो, णेहिन्तो, णासुन्तो, णेसुन्तो ।
षष्ठी	तास, तस्स, से, णस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, णेसिं, णाणं, णाण ।
सप्तमी	तंसि, तत्थ, तम्मि, तहिं, णंसि, णम्मि, णत्थ,)	तेसुं, तेसु, णेसुं, णेसु ।
,,	णहिं, ताहे, ताला, तइआ, णाहे, णाला, णइआ ।	,,

एकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एक्को ।	एक्के ।
द्वितीया	एक्कं ।	एक्के, एक्का ।
तृतीया	एक्केणं, एक्केण ।	एक्केहिं, एक्केहिँ, एक्केहि ।
चतुर्थी	एक्कस्स ।	एक्केसिं, एक्काणं, एक्काण ।
पञ्चमी	एकत्तो, एक्काओ, एक्काउ, एक्काहि, एक्काहिन्तो,) एक्का ।	एकत्तो, एक्काओ, एक्काउ, एक्काहि, एक्केहि, एक्काहिन्तो, (एक्केहिन्तो, एक्कासुन्तो, एक्केसुन्तो ।
षष्ठी	एक्कस्स ।	एक्केसिं, एक्काणं, एक्काण ।
सप्तमी	एक्कंसि, एक्कम्मि, एक्कत्थ, एक्कहिं ।	एक्केसुं, एक्केसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एगो ।	एगे ।
द्वितीया	एगं ।	एगे, एगा ।
तृतीया	एगेणं, एगेण ।	एगेहिं, एगेहिँ, एगेहि,
चतुर्थी	एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
पञ्चमी	एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिंतो,)	एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो,
,,	एगा ।	(एगेहिन्तो, एगासुन्तो, एगेसुन्तो ।
षष्ठी	एगस्स ।	एगेसिं, एगाणं, एगाण ।
सप्तमी	एगंसि, एगम्मि, एगत्थ, एगहिं ।	एगेसुं, एगेसु ।

प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इक्को ।	इक्के ।
द्वितीया	इक्कं ।	इक्के, इक्का ।
तृतीया	इक्केणं, इक्केण ।	इक्केहिं, इक्केहिँ, इक्केहि ।
चतुर्थी	इक्कस्स ।	इक्केसिं, इक्काणं, इक्काण ।
पञ्चमी	इक्कत्तो, इक्काओ, इक्काउ, इक्काहि, इक्काहिन्तो,)	इक्कत्तो, इक्काओ, इक्काउ, इक्काहि, इक्केहि, इक्काहिन्तो,
,,	इक्का ।	(इक्केहिन्तो, इक्कासुन्तो, इक्केसुन्तो ।
षष्ठी	इक्कस्स ।	इक्केसिं, इक्काणं, इक्काण ।
सप्तमी	इक्कंसि, इक्कम्मि, इक्कत्थ, इक्कहिं ।	इक्केसुं, इक्केसु ।

किंशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	को ।	के ।
द्वितीया	कं ।	के, का ।
तृतीया	केणं, केण, किणा ।	केहिं, केहिँ, केहि ।
चतुर्थी	कस्स, कास ।	केसिं, काणं, काण, कास ।
पञ्चमी	कत्तो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा,)	कत्तो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो.
,,	किणो, कीस ।	कासुन्तो, केसुन्तो ।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
षष्ठी	कस्स, कास।	केसिं, काणं, काण, कास।
सप्तमी	कस्सिं, कम्मि, कत्थ, कहिं, काहे, काला, कइआ।	केसुं, केसु।

एतच्छब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	एसो, एस, इणं, इणमो।	एए।
द्वितीया	एअं।	एए, एआ।
तृतीया	एएणं, एएण, एइणा।	एएहिं, एएहिँ, एएहि।
चतुर्थी	एअस्स, से।	एएसिं, एआणं, एआण, सिं।
पञ्चमी	एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो,)	एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहिन्तो,
,,	एआ, एत्तो, एत्ताहे।	(एएहिन्तो, एआसुन्तो, एएसुन्तो।
षष्ठी	एअस्स, से।	एएसिं, एआणं, एआण, सिं।
सप्तमी	एअस्सिं, एअम्मि, अयम्मि, ईयम्मि, एत्थ।	एएसुं, एएसु।

इदंशब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	अयं, इमो।	इमे।
द्वितीया	इमं, इणं, णं।	इमे, इमा, णे, णा।
तृतीया	इमेणं, इमेण, णेणं, णेण, इमिणा।	इमेहिं, इमेहिँ, इमेहि, णेहिं, णेहिँ, णेहि, एहिं, एहिँ, एहि।
चतुर्थी	इमस्स, अस्स, से।	इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं।
पञ्चमी	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमा।	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमेहि, इमाहिन्तो, इमे-
,,	,,	हिन्तो, इमासुन्तो, इमेसुन्तो।
षष्ठी	इमस्स, अस्स, से।	इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं।
सप्तमी	अस्सिं, इमस्सिं, इमम्मि, इह।	इमेसुं, इमेसु।

अदःशब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	अह, अमू।	अमुणो, अमओ, अमवो, अमउ, अमू।
द्वितीया	अमुं।	अमुणो, अमू।
तृतीया	अमुणा।	अमूहिं, अमूहिँ, अमूहि।
चतुर्थी	अमुणो, अमुस्स।	अमूणं, अमूण।
पञ्चमी	अमुणो, अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो।	अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो।
षष्ठी	अमुणो, अमुस्स।	अमूणं, अमूण।
सप्तमी	अमुम्मि, अयम्मि, इअम्मि।	अमूसुं, अमूसु।

अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः।

आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	रमा।	रमाओ, रमाउ, रमा।
द्वितीया	रमं।	रमाओ, रमाउ, रमा।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया	रमाए, रमाअ, रमाइ * ।	रमाहिं, रमाहिँ, रमाहि ।
चतुर्थी	रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
पञ्चमी	रमाए, रमाअ, रमाइ, रमत्तो, रमाओ, रमाउ,)	रमत्तो, रमाओ, रमाउ, रमाहिन्तो, रमासुन्तो ।
,,	रमाहिन्तो ।	,,
षष्ठी	रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
सप्तमी	रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमासुं, रमासु ।
सम्बोधनम्	हे रमे, हे रमा ।	हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

इकान्तः स्त्रीलिङ्गो रुचिशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	रुई + ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
द्वितीया	रुइं ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
तृतीया	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईहिं, रुईहिँ, रुईहि ।
चतुर्थी	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
पञ्चमी	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुइत्तो, रुईओ, रुईउ,)	रुइत्तो, रुईओ, रुईउ, रुईहिन्तो, रुईसुन्तो ।
,,	रुईहिन्तो ।	,, ,,
षष्ठी	रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
सप्तमी	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईसुं, रुईसु ।
सम्बोधनम्	हे रुई, हे रुइ ।	हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	नई, नईआ × ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
द्वितीया	नइं ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
तृतीया	नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईहिं, नईहिँ, नईहि ।
चतुर्थी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए।	नईणं, नईण ।
पञ्चमी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नइत्तो, नईओ, नईउ,)	नइत्तो, नईओ, नईउ, नईहिन्तो, नईसुन्तो ।
,,	नईहिन्तो ।	,, ,,
षष्ठी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईणं, नईण ।
सप्तमी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईसुं, नईसु ।
सम्बोधनम्	हे नई, हे नइ ।	हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इत्थी, इत्थीआ ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
द्वितीया	इत्थिं ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
तृतीया	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीहिं, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

* "टाङस्ङेरदादिदेद् वा तु ङसेः" ॥ ८ । ३ । २९ ॥ स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परेषां टाङस्ङीनां प्रत्येकम् अत्, आत्, इत्, एत् एते चत्वार आदेशाः सप्राग्दीर्घा भवन्ति, ङसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । 'नात आत्' ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वर्तमानादादन्तान्नाम्नः परेषां टाङस्ङिङसीनामादादेशो न भवति । + 'अक्लीबे सौ' ॥ ८ । ३ । १९ ॥ इदुतोऽक्लीबे नपुंसकादन्यत्र सौ दीर्घो भवति । बुद्धी । × "ईतः सेश्चावा" ॥ ८ । ३ । २८ ॥ स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेर्जस्शसोश्च स्थाने आकारो वा भवति ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
चतुर्थी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
पञ्चमी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए, इत्थित्तो,)	इत्थित्तो, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो इत्थीसुन्तो ।
,,	इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो ।	,,
षष्ठी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
सप्तमी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीसुं, इत्थीसु ।
सम्बोधनम्	हे इत्थी, हे इत्थि,	हे इत्थीओ, हे इत्थीउ, हे इत्थी, हे इत्थीआ ।

प्रकृत्यन्तरेण स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	थी, * थीआ ।	थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
द्वितीया	थिं ।	थी, थीओ, थीउ, थीआ ।
तृतीया	थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीहिं, थीहिँ, थीहि ।
चतुर्थी	थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीणं, थीण ।
पञ्चमी	थीआ, थीअ, थीइ, थीए, थित्तो, थीओ, थीउ,)	थित्तो, थीओ, थीउ, थीहिन्तो, थीसुन्तो ।
,,	थीहिन्तो ।	,,
षष्ठी	थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीणं, थीण ।
सप्तमी	थीआ, थीअ, थीइ, थीए ।	थीसुं, थीसु ।
सम्बोधनम्	हे थी, हे थि ।	हे थीओ, हे थीउ, हे थी, हे थीआ ।

उकारान्तः स्त्रीलिङ्गो धेणुशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	धेणू ।	धेणूउ, धेणूओ, धेणू ।
द्वितीया	धेणुं ।	धेणूउ, धेणूओ, धेणू ।
तृतीया	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूहिं धेणूहिँ, धेणूहि ।
चतुर्थी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूणं, धेणूण ।
पञ्चमी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए, धेणुत्तो, धेणूओ,)	धेणुत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो, धेणूसुन्तो ।
,,	धेणूउ, धेणूहिन्तो ।	,,
षष्ठी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूणं, धेणूण ।
सप्तमी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूसुं, धेणूसु ।
सम्बोधनम्	हे धेणू, हे धेणु ।	हे धेणूओ, हे धेणूउ, हे धेणू ।

ऊकारान्तः स्त्रीलिङ्गो वधूशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वहू ।	वहूउ, वहूओ, वहू ।
द्वितीया	वहुं ।	वहूउ, वहूओ, वहू ।
तृतीया	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूहिं, वहूहिँ, वहूहि ।
चतुर्थी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूणं, वहूण ।
पञ्चमी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए, वहुत्तो, वहूओ, वहूउ,)	वहुत्तो, वहूओ, वहूउ, वहूहिन्तो, वहूसुन्तो ।
,,	वहूहिन्तो ।	,,

* "स्त्रिया इत्थी" ॥ ८।२।१३० ॥ स्त्रीशब्दस्य इत्थी इत्यादेशो वा भवति । पक्षे 'सर्वत्र लवरामवन्द्रे' ॥ ८।२।७९ ॥ इति रलोपे 'स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे' ॥ ८।२।४५ ॥ 'स्तम्बं समस्त च त्यक्त्वा, स्तस्य थादेश इष्यते'। इति 'थी' रूपं निष्पन्नम् ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूणं, वहूण ।
सप्तमी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूसुं, वहूसु ।
सम्बोधनम्	हे वहु, हे वहू ।	हे वहूउ, हे वहूओ, हे वहू ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मातृशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	माआ, माअरा * ।	माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआ-
,,	,,	(ओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।
द्वितीया	माअं, माअरं ।	माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआ-
,,	,,	(ओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।
तृतीया	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)	माअराहिं, माअराहिँ, माअराहि, माआहिं, माआहिँ,
,,	माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	(माआहि, माऊहिं, माऊहिँ, माऊहि ।
चतुर्थी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)	माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-
,,	माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	(ऊण, माईणं, माईण + ।
पञ्चमी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)	माअरत्तो, माअराओ, माअराउ, माअराहिंतो, माअरा-
,,	माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ,)	(सुन्तो, माअत्तो, माआओ, माआउ, माआहिंतो, माआ-
,,	माअरत्तो, माअराओ, माअराउ, माअराहिन्तो,)	(सुन्तो, माऊत्तो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो, माऊ-
,,	माअत्तो, माआओ, माआउ, माआहिंतो, माऊ-)	(सुन्तो ।
,,	त्तो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो ।	,, ,,
षष्ठी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)	माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, मा-
,,	माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	(ऊण, माईणं, माईण ।
सप्तमी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ,)	माअरासुं, माअरासु, माआसुं, माआसु, माऊसुं,
,,	माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	(माऊसु ।
सम्बोधनम्	हे माअ, हे माअरं ।	हे माआ, हे माआउ, हे माआओ, हे माअरा, हे माअ-
,,	,,	(राउ, हे माअराओ, हे माऊ, हे माऊउ, हे माऊओ ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो दुहतृशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	दुहिआ ।	दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।
द्वितीया	दुहिअं ।	दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।
तृतीया	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआहिं दुहिआहिँ, दुहिआहि ।
चतुर्थी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआणं, दुहिआण ।
पञ्चमी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ, दुहिअत्तो, दुहि-)	दुहिअत्तो, दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआहिन्तो, दुहि-
,,	आओ, दुहिआउ, दुहिआहिन्तो ।	(आसुन्तो ।
षष्ठी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआणं, दुहिआण ।
सप्तमी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआसुं, दुहिआसु ।
सम्बोधनम्	हे दुहिअ, हे दुहिआ ।	हे दुहिआओ, हे दुहिआउ, हे दुहिआ ।

* बाहुलकाद् जनन्यर्थे आ, देवतार्थस्य तु अरा इत्यादेशः। माआए कुच्छीए, नमो माअराण। + 'मातुरिद् वा'। ८।१।१३५। मातृशब्दस्य गौणस्य ऋत इद् भवति वा। क्वचिद्गौणस्यापि। माईणं।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जा ।	जाओ, जाउ, जा ।
द्वितीया	जं ।	जाओ, जाउ, जा ।
तृतीया	जाए, जाअ, जाइ ।	जाहिं, जाहिँ, जाहि ।
चतुर्थी	जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जाए, जाअ, जाइ, जत्तो, जाओ, जाउ, जा-)	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहिन्तो, जासुन्तो ।
,,	हिन्तो, जम्हा ।	,,
षष्ठी	जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी	जाए, जाअ, जाइ ।	जासुं, जासु ।

प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जा * ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
द्वितीया	जं ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
तृतीया	जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीहिं, जीहिँ, जीहि ।
चतुर्थी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जित्तो, जीओ, जीउ,)	जित्तो, जीओ, जीउ, जीहिन्तो, जीसुन्तो ।
,,	जीहिन्तो ।	,,
षष्ठी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीसुं, जीसु ।

तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सा, ता, णा × ।	ताओ, ताउ, ता ।
द्वितीया	तं, णं ।	ताओ, ताउ, ता ।
तृतीया	णाए, ताए, ताअ, ताइ ।	ताहिं, ताहिँ, ताहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि ।
चतुर्थी	ताए, ताअ, ताइ, तास + ।	ताणं, ताण, ताम ।
पञ्चमी	ताए,ताअ,ताइ,तत्तो,ताओ,ताउ,ताहिन्तो,तो,तम्हा।	तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तासुन्तो ।
षष्ठी	ताए, ताअ, ताइ, तास ।	ताणं, ताण, तास ।
सप्तमी	ताए, ताअ, ताइ ।	तासुं, तासु ।

प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सा, ता, णा ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
द्वितीया	तं, णं ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
तृतीया	तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।	तीहिं, तीहिँ, तीहि ।
चतुर्थी	तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।	ताणं, ताण ।

* 'किंयत्तदोऽस्यमामि' ॥ ८ । ३ । ३३ ॥ सि अम् आम् वर्जिते स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङीर्वा । जाओ । अस्यमामीति किम् । जा, जं, जाण । × ' तदो णः स्यादौ क्वचित् ' ॥ ८ । ३ । ७० । तदः स्थाने स्यादौ परे ण आदेशो भवति क्वचिद् लक्ष्यानुसारेण । स्त्रियामपि । हत्थुन्नामिअमुही णं तिअटा । तां त्रिजटेत्यर्थः । भणिअं च णाए, तयेत्यर्थः । णाहिं कयं, ताभिः कृतमित्यर्थः ।
+ बहुलाधिकारात् किंतद्भ्यामाकारान्ताभ्यामपि डासादेशो वा । तास धणं । पक्षे ताए ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
पञ्चमी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तित्तो, तीओ, तीउ, ती-	तित्तो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।
,, हिन्तो ।	,,
षष्ठी तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।	ताणं, ताण ।
सप्तमी तीअ तीआ, तीइ, तीए ।	तीसुं, तीसु ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा का ।	काओ, काउ, का ।
द्वितीया कं ।	काओ, काउ, का ।
तृतीया काए, काअ, काइ ।	काहिं, काहिँ, काहि ।
चतुर्थी काए, काअ, काइ, कास ।	काणं, काण, कास, केसिं + ।
पञ्चमी काए, काअ, काइ, कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो,	कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।
,, कम्हा, कीस, किणो * ।	,,
षष्ठी काए, काअ, काइ, कास ।	काणं, काण, कास, केसिं ।
सप्तमी काए, काअ, काइ ।	कासुं, कासु ।

प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा का ।	कीओ, कीउ, कीआ, की ।
द्वितीया कं ।	कीओ, कीउ, कीआ, की ।
तृतीया कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।	कीहिं, कीहिँ, कीहि ।
चतुर्थी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।	काणं, काण, कास, केसिं ।
पञ्चमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, कित्तो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।	कित्तो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।
षष्ठी कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।	काणं, काण, कास, केसिं ।
सप्तमी कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।	कीसुं, कीसु ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एसा, एस, इणं, इणमो × ।	एआओ, एआउ, एआ ।
द्वितीया एअं ।	एआओ, एआउ, एआ ।
तृतीया एआअ, एआइ, एआए ।	एआहिं, एआहिँ, एआहि ।
चतुर्थी एआअ, एआइ, एआए, से ।	एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।
पञ्चमी एआअ, एआइ, एआए, एत्तो ÷, एआओ,	एत्तो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।
,, एआउ, एताहिन्तो ।	,,
षष्ठी एआअ, एआइ, एआए, से ।	एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।
सप्तमी एआअ, एआइ, एआए ।	एआसुं, एआसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एई, एस, इणं, इणमो ।	एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ "आमो डेसिं" । ८ । ३ । ६१ । बहुलाधिकारात् स्त्रियामपि । सव्वेसिं, केसिं । * "किमो डिणोडीसौ" ॥ ८ । ३ । ६८ ॥ × "वैसेणमिणमो सिना" ॥ ८ । ३ । ८५ ॥ एतदः सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति । एस गई । ÷ "त्थे च तस्य लुक्" ॥ ८ । ३ । ८३ ॥ एतदः त्थे त्तो त्ताहे परे तस्य लुक् । एत्थ, एत्तो, एत्ताहे ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया एइं ।	एईओ, एईउ, एईआ, एई ।
तृतीया एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईहिं, एईहिँ, एईहि ।
चतुर्थी एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईणं, एईण, ।
पञ्चमी एईअ, एईआ, एईइ, एईए एइत्तो, एईओ, एईउ,) एईहिन्तो ।	एइत्तो, एईओ, एईउ, एईहिन्तो, एईसुन्तो । ,,
षष्ठी एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईणं, एईण ।
सप्तमी एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईसुं, एईसु ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इमिआ, इमा * ।	इमाओ, इमाउ, इमा ।
द्वितीया इमं, इणं, णं × ।	इमाओ, इमाउ, इमा, णाओ, णाउ, णा ।
तृतीया इमाए, इमाइ, इमाअ, णाए, णाइ, णाअ । ,, ,,	इमाहिं, इमाहिँ, इमाहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि, आहिं, आहिँ, आहि = ।
चतुर्थी इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।	इमाणं, इमाण, सिं ।
पञ्चमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो ।	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो, इमासुन्तो ।
षष्ठी इमाए, इमाइ, इमाअ, से ।	इमाणं, इमाण, सिं ।
सप्तमी इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।	इमासुं, इमासु ।

प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इमिआ, इमी ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
द्वितीया इमिं ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
तृतीया इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीहिं, इमीहिँ, इमीहि ।
चतुर्थी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
पञ्चमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमित्तो, इमीओ,) इमीउ, इमीहिन्तो ।	इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो, इमीसुन्तो । ,,
षष्ठी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
सप्तमी इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीसुं, इमीसु ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा अह, अमू ।	अमूउ, अमूओ अमू ।
द्वितीया अमुं ।	अमूउ, अमूओ, अमू ।
तृतीया अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूहिं, अमूहिँ, अमूहि ।
चतुर्थी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
पञ्चमी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुत्तो अमूओ,) अमूउ, अमूहिन्तो ।	अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो । ,,
षष्ठी अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
सप्तमी अयम्मि, इअम्मि, अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूसुं, अमूसु ।

---

* "पुंस्त्रियोर्न वाऽयमिमिआ सौ" ॥८।३।७३॥ पक्षे 'इदम इमः' ॥८।३।७२॥ × 'अमेणम्' ॥८।३।७८॥ 'णोऽम्शस्टाभिसि' ॥८।३।७७॥ = "ङिस-ङसयोरत्" ॥८।३।७४॥ बहुलाधिकारात् अन्यत्रापि भवति । आहि । + "वेदंतदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ" ॥८।३।८१॥ ÷ "ङेर्मेन हः" ॥८।३।७५॥ इदमः कृतेमादेशात् परस्य ङेः स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति । इह ।

॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	मंगलं ⊛ ।	मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाइँ × ।
द्वितीया	मंगलं ।	मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाइँ ।

शेषं 'वच्छ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो वारिशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	दहिं, दहि, दहिँ * ।	दहीइं, दहीइँ, दहीणि ।
द्वितीया	दहिं ।	दहीइं, दहीइँ दहीणि ।

शेषं पुम्वत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	महुं महु, महुँ ।	महूइं, महूइँ, महूणि ।
द्वितीया	महुं ।	महूइं, महूइँ, महूणि ।

शेषं 'गुरु' शब्दवत् ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जं ।	जाणि, जाइं, जाइँ ।
द्वितीया	जं ।	जाणि, जाइं, जाइँ ।

शेषं पुम्वत् ।

एवं तच्छब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एस, इणं, इणमो, एअं ।	एआणि, एआइं, एआइँ ।
द्वितीया	एअं ।	एआणि, एआइं, एआइँ ।

शेषं पुम्वत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इदं, इणं, इणमो = ।	इमाणि, इमाइँ, इमाइं ।
द्वितीया	इदं, इणं, इणमो ।	इमाणि, इमाइँ, इमाइं ।

शेषं पुम्वत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अह, अमुं ÷ ।	अमूणि, अमूइं, अमूइँ ।

⊛ "क्लीबे स्वरान्म् सेः" । ८ । ३ । २५ ॥ × "जस्शस इँ-इं-णयः सप्राग्दीर्घाः" । ८ । ३ । २६ ॥ + "नामन्त्र्यात्सौ मः" ॥ ८ । ३ । ३७ ॥ * दहि इति सिद्धापेक्षया । केचिदनुनासिकमपीच्छन्ति दहिँ । = "क्लीबे स्यमेदमिणमो च" ॥ ८ । ३ । ७९॥ इति स्यमभ्यां सहितस्य इदम इणमो इणम आदेशाः । ÷ "वाऽदसो दस्य होऽनोदाम्" ॥८।३।८७॥ "मुः स्यादौ" ॥ ८ । ३ । ८८ ॥

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया	अमुं ।	अमूणि, अमूइं, अमूइँ ।

शेषं पुम्वत् ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	किं + ।	काणि, काइं, काइँ ।
द्वितीया	किं ।	काणि, काइं, काइँ ।

शेषं पुम्वत् ।

॥ इति नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

॥ अथ संख्यावाचकशब्दाः ॥

पञ्चशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	०	पंच ।
द्वितीया	०	पंच ।
तृतीया	०	पंचहिं, पंचहिँ, पंचहि * ।
चतुर्थी	०	पंचएहं, पंचएह × ।
पञ्चमी	०	पंचत्तो, पंचाओ, पंचाउ, पंचाहि, पंचेहि, पंचाहिन्तो,
”	”	(पंचेहिन्तो, पंचासुन्तो, पंचेसुन्तो ।
षष्ठी	०	पंचएहं, पंचएह ।
सप्तमी	०	पंचेसुं, पंचेसु ।

एवं छ, सत्त, अट्ठ, नव, दहशब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

द्विशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	०	दुवे, दोण्णि, दुण्णि, वेण्णि, विण्णि, दो, वे ।
द्वितीया	०	दुवे, दोण्णि, दुण्णि, वेण्णि, विण्णि, दो, वे ।
तृतीया	०	दोहिं, दोहिँ, दोहि, वेहिं, वेहिँ, वेहि ।
चतुर्थी	०	दोण्हं, दुण्हं, वेण्हं, विण्हं ।
पञ्चमी	०	दोहिन्तो, वेहिन्तो ।
षष्ठी	०	दोण्हं, दुण्हं, वेण्हं, विण्हं ।
सप्तमी	०	दोसुं, दोसु, वेसुं, वेसु ।

त्रिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	०	तिण्णि ।
द्वितीया	०	तिण्णि ।
तृतीया	०	तीहिं, तीहिँ, तीहि ।
चतुर्थी	०	तिण्हं, तिण्ह ।

+ "किमः किं" । ८ । ३ । ८० । स्यमाभ्यां सह किं ॥ * तृ० भा० ४४६ पृष्ठे २७ पङ्क्तिः ॥ × "संख्याया आमो ण्ह ण्हं" । ८ । ३ । १२३ ॥

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
पञ्चमी	०	तित्तो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।
षष्ठी	०	तिण्हं, तिण्ह ।
सप्तमी	०	तीसुं, तीसु * ।

कतिशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	०	कइ ।
द्वितीया	०	कइ ।
तृतीया	०	कईहिं, कईहिँ, कईहि ।
चतुर्थी	०	कइण्हं, कइण्ह ।
पञ्चमी	०	कइत्तो, कईओ, कईउ, कईहिन्तो, कईसुन्तो ।
षष्ठी	०	कइण्हं, कइण्ह ।
सप्तमी	०	कईसुं, कईसु ।

चतुर्शब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	०	चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
द्वितीया	०	चत्तारो, चउरो, चत्तारि ।
तृतीया	०	चऊहिं, चऊहिँ, चऊहि ।
चतुर्थी	०	चउण्हं, चउण्ह ।
पञ्चमी	०	चउत्तो, चऊओ, चऊउ, चऊहिन्तो, चऊसुन्तो ।
षष्ठी	०	चउण्हं, चउण्ह ।
सप्तमी	०	चऊसुं, चऊसु ।

युष्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	तं, तुं, तुवं, तुह, तुमं ।	भे, तुब्भे, तुम्हे, तुज्झे, तुज्झ, तुम्ह, तुय्हे, उय्हे ।
द्वितीया	तं, तुं, तुमं, तुवं, तुह, तुमे, तुए ।	वो, तुज्झ, तुब्भे, तुम्हे, तुज्झे, तुय्हे, उय्हे, भे ।
तृतीया	भे, दि, दे, ते, तइ, तए, तुमं, तुमइ, तुमए, तुमे,)	भे, तुब्भेहिं, तुज्झेहिं, तुम्हेहिं, उज्झेहिं, उम्हेहिं, तुय्हे-
,,	तुमाइ ।	(हिं, उय्हेहिं ।
चतुर्थी	तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,)	तु, वो, भे, तुब्भ, तुज्झ, तुम्ह, तुब्भं, तुज्झं, तुम्हं,
,,	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुब्भ, तुज्झ, तुम्ह, उब्भ,)	(तुब्भाणं, तुब्भाण, तुज्झाणं, तुज्झाण, तुम्हाणं, तुम्हा-
,,	उज्झ, उम्ह, उय्ह ।	(ण, तुवाणं, तुवाण, तुमाणं, तुमाण, तुहाणं, तुहाण,
,,	,,	(उम्हाणं, उम्हाण ।
पञ्चमी	तइत्तो, तईओ, तईउ, तईहिन्तो, तुवत्तो, तुवा-)	तुब्भत्तो, तुब्भाओ, तुब्भाउ, तुब्भाहि, तुब्भेहि, तुब्भा-
,,	ओ, तुवाउ, तुवाहि, तुवाहिन्तो, तुवा, तुमत्तो,)	(हिन्तो, तुब्भेहिन्तो, तुब्भासुन्तो, तुब्भेसुन्तो, तुम्हत्तो, तु-
,,	तुमाओ, तुमाउ, तुमाहि, तुमाहिन्तो, तुमा,)	(म्हाओ, तुम्हाउ, तुम्हाहि, तुम्हेहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हेहि-
,,	तुहत्तो, तुहाओ, तुहाउ, तुहाहि, तुहाहिंतो,)	(न्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो, तुज्झत्तो, तुज्झाओ, तुज्झाउ,
,,	तुहा, तुब्भत्तो, तुब्भाओ, तुब्भाउ, तुब्भाहि, तु-)	(तुज्झाहि, तुज्झेहि, तुज्झाहिन्तो, तुज्झेहिन्तो, तुज्झासु-
,,	ब्भाहिन्तो, तुब्भा, तुम्हत्तो, तुम्हाओ, तुम्हाउ,)	(न्तो, तुज्झेसुन्तो, तुय्हत्तो, तुय्हाओ, तुय्हाउ, तुय्हाहि,

* "क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा" ।८।१।२७। क्त्वायाः स्यादीनां च यौ णसु तयोरनुस्वारोऽन्तो वा भवति । वच्छेणं वच्छेण, वच्छेसुं वच्छेसु ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
,,	तुम्हाहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हा, तुज्झत्तो, तुज्झा-)	(तुय्हेहि, तुय्हाहिन्तो, तुय्हेहिन्तो, तुय्हासुन्तो, तुय्हेसुन्तो,
,,	ओ, तुज्झाउ, तुज्झाहि, तुज्झाहिन्तो, तुज्झा,)	(उय्हत्तो, उय्हाओ, उय्हाउ, उय्हाहि, उय्हेहि, उय्हा-
,,	तुय्ह, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, तहिन्तो ।	(हिन्तो, उय्हेहिन्तो, उय्हासुन्तो, उय्हेसुन्तो, उम्हत्तो,
,,	,,	(उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हाहिन्तो,
,,	,,	(उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो ।
षष्ठी	तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,)	तु, वो, भे, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, तुब्भं, तुम्हं, तुज्झं,
,,	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, उब्भ,)	(तुब्भाणं, तुब्भाण, तुम्हाणं, तुम्हाण, तुज्झाणं, तुज्झाण,
,,	उम्ह, उज्झ, उय्ह ।	(तुमाणं, तुमाण, तुवाणं, तुवाण, तुहाणं, तुहाण, उम्हा-
,,	,,	(णं, उम्हाण ।
सप्तमी	तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ, तए, तुम्मि, तुवम्मि,)	तुसुं, तुसु, तुवेसुं, तुवेसु, तुमेसुं, तुमेसु, तुहेसुं, तुहेसु, तु-
,,	तुवस्सिं, तुवत्थ, तुमम्मि, तुमस्सिं, तुमत्थ, तुहम्मि,)	(ब्भेसुं, तुब्भेसु, तुम्हेसुं, तुम्हेसु, तुज्झेसुं, तुज्झेसु, तुवसुं,
,,	तुहस्सिं, तुहत्थ, तुब्भम्मि, तुब्भस्सिं, तुब्भत्थ,)	(तुवसु, तुमसुं, तुमसु, तुहसुं, तुहसु, तुब्भसुं, तुब्भसु,
,,	तुम्हम्मि, तुम्हस्सिं, तुम्हत्थ, तुज्झम्मि, तुज्झ-)	(तुज्झसुं, तुज्झसु, तुम्हसुं, तुम्हसु, तुब्भासुं, तुब्भासु,
,,	स्सिं, तुज्झत्थ ।	(तुम्हासुं, तुम्हासु, तुज्झासुं, तुज्झासु ।

अस्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अहं, हं, अहयं, म्मि, अम्हि, अम्मि ।	अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भे ।
द्वितीया	णे, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं अहं ।	अम्हे, अम्हो, अम्ह, णे ।
तृतीया	मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ, णे ।	अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे, णे ।
चतुर्थी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झ, मज्झं, अम्ह, अम्हं ।	णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं, अ-
,,		(म्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्झाणं, मज्झाण ।
पञ्चमी	मइत्तो, मईओ, मईउ, मईहिन्तो, ममत्तो, ममाओ,)	ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममेहि, ममाहिन्तो, ममे
,,	ममाउ, ममाहि, ममाहिन्तो, ममा, महत्तो, महा-)	(हिन्तो, ममेसुन्तो, ममासुन्तो, अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ,
,,	ओ, महाउ, महाहि, महाहिन्तो, महा, मज्झत्तो,)	(अम्हाहि, अम्हेहि, अम्हाहिन्तो, अम्हेहिन्तो, अम्हा-
,,	मज्झाओ, मज्झाउ, मज्झाहि, मज्झाहिन्तो, मज्झा ।	(सुन्तो, अम्हेसुन्तो ।
षष्ठी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झं, मज्झ, अम्हं, अम्ह ।	णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं,
,,	,,	(अम्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्झाणं, मज्झाण ।
सप्तमी	मि, मइ, ममाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हस्सिं,)	अम्हेसुं, अम्हेसु, ममेसुं, ममेसु, महेसुं, महेसु, मज्झेसुं,
,,	अम्हत्थ, ममम्मि, ममस्सिं, ममत्थ, महम्मि, मह-)	(मज्झेसु, अम्हसुं, अम्हसु, ममसुं, ममसु, मज्झसुं, मज्झसु,
,,	स्सिं, महत्थ, मज्झम्मि, मज्झस्सिं, मज्झत्थ ।	(महसुं, महसु, अम्हासुं, अम्हासु ।

॥ इति प्राकृतशब्दरूपावलिः समाप्ता ॥

पठन्तु बालकाः सर्वे जैनानामितरे तथा । तस्मान्मयेयं प्राकृत–शब्दरूपावलिः कृता ॥ १ ॥

* अर्हम् *

अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिवीरवाणी, बुहविबुहनमंसिया या सा ।
वत्तव्वयं से बेमि, समासओ अक्खरक्कमसो ॥ १ ॥

अकार

अ–अ–पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामख्याते वर्णे,एका० । अ इति, आद्याक्षरेण तस्य ग्रहणात् सिद्धे च । अशरीरेति सिद्धवाचकस्याद्याक्षरेण तद्बोधात् । गा० । अवति रक्षति अतति सातत्येन तिष्ठतीति वा अव-अत–वा-ड-विष्णौ, "अकारो विष्णुरुद्दिष्टः" वाच० । शिवे, ब्रह्मणि, वायौ, चन्द्रे, अग्नौ, भानौ, कमठे, अन्तःपुरे, भूषणे, वरणे, कारणे, रणे, अजिने, गौरवे, एका० ।

अ–अव्य० अव प्रीणनादौ, ड स्वरादित्वादव्ययत्वम् अभावे, वाच० । प्रतिषेधे, "अमानोनाः प्रतिषेधे" आ० म० द्वि० । सू० प्र० । अत्रोदाहरणम्, "नियरिसणं अघंडो" अकारस्य तद्भावप्रतिषेधे निदर्शनं यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पदार्थिकः पदार्थ इत्यर्थः । बृ० १ उ० । "नञ्भावे न ञ्नोनः" इत्यमरटीकायां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च आदेशः नञनमुख्यादिभिन्नशब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स तु नञर्थे एव स्थानितुल्यार्थत्वादादेशस्य । वाच० । स्वल्पेऽर्थे, अनुकम्पायां, सम्बोधने, अ अनन्त ! अधिक्षेपे,अ पचसि त्वं जाल्म ! "उपसर्गस्वरविभक्तिप्रतिरूपकाश्चेति" स्वरादिगणसूत्रे अ इति सिद्धान्तकौमुद्यामुदाहृतं मनोरमायां च अ संबोधने, अधिक्षेपे, निषेधे चेति व्याख्यातम् । वाच० । "अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझोसणाहिं" अत्र अपश्चिमाः पश्चात्कालभाविन्यः । अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थ इति । स० ।

अ–अव्य० कगचजतदपयवां प्रायो लुक्, ८ । १ । ७७ । इति सूत्रेण चलोपः । न चाऽनादेरेव सः क्वचिदादेरपि विधानात् । सो अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चशब्दे ।

अअ–अज–पुं० न जायते जन-ड–न० त० ईश्वरे, जीवे, ब्रह्मणि, विष्णौ, हरे, छागे, मेषरूपे प्रथमे राशौ, माक्षिकधातौ च । जनकान्ये गगनादौ, त्रि० । अात् विष्णोर्जायते इति । चन्द्रे, कामे, दशरथपितरि रघुनृपपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यवंश्ये नृपभेदे, वाच० । प्राकृते 'अजातेः पुंसः' ८ । ३ । ३२ इति जातिपर्युदासान्न ङीब्विकल्पः प्रा० । मेषश्रृङ्ग्याम, गा० ।

अअगर–अजगर–पुं० अजं छागं गिरति गिलति गृ-अच् । बृहत्सर्पे, । अजगरमगस्त्यशापात् बृहत्सर्पतामापन्नं नहुषमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अण्–आजगरम् । अजगरकथायाम, न० । वाच० ।

अआवालग–अजापालक–पुं० ६ त० । छागरक्षके, अजारक्षणप्रवृत्ते गृह्यते, वाचकभेदे च । बृ० ३ उ० । (तद्वृत्तं किंयकम्म शब्दे) ॥

अइ–अयि–अव्य० सम्भावने, अइ संभावने ८ । २ । ४ । संभावने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । "अइ दिअर ! किं न पेच्छसि," अयि देवर ! किम्न प्रेक्षसे प्रा० ॥

गम्–धा० सक० पर० ज्वा० गतौ, गमेरइ त्ति ८ । ४ । ६२ । इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइइ–गच्छति प्रा० ।

अति–अव्य० अत्–इ–पूजायाम, उत्कर्षे, अतिक्रमणे, विक्रमे, असुष्ठौ, भृशे, "विक्रमातिक्रमासुष्ठिभृशार्थातिशयेष्वतीति" गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अतिमतिः । असुष्ठौ अतिगहनम् । बुद्धेरविषयः । भृशे अतितप्तम । अतिशये अतिवेगः वाच० । "अति सर्वत्र वर्जयेत्" यतः " अइरोसो अइ तोसो, अइहासो दुज्जणेहिं संवासो । अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुअं पि लहुअं पि " ध० १ अधि० ॥

अ [दि] इ–[ति] इ–अदिति–स्त्री० न दीयते खण्ड्यते बृहत्वाद्–दो-क्तिच् न० त० दातुं छेत्तुमयोग्यायां पृथिव्याम, दितिर्दनुजमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य सुता वाच० । पुनर्वसुनक्षत्रस्याधिपतिर्देवता ज्यो० ६ पाहु० । " पुणव्वसू अइइ देवयाए पण्णत्ते" सू० प्र० १०पाहु० ॥ जं० ॥ " दो अइइ " पुनर्वस्वोर्द्वित्वाददितिद्वित्वम् । स्था० २ ठा० ॥

अइउक्कस–अत्युत्कर्ष–त्रि० उत्कर्षमतिक्रान्तः : उत्कर्षरहिते, "तवस्सी अइउक्कसो" तपस्वी साधुः अत्युत्कर्षः अहं तपस्वीत्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥

अइउब्भड–अत्युद्भट–त्रि० अतिशयितचेतश्चमत्कृतिकृति, "अइउब्भडो अ वेसो " ध० २ अधि० ॥

अइंत–अतियत्–त्रि० प्रविशति, नि० चू० १६ उ० । " पढमं बसभं मुहेणं अइंतं पासइ " कल्प० ॥

अइंदि [य] अ–अतीन्द्रिय–त्रि० अतिक्रान्तमिन्द्रियं तदविषयत्वात् अत्या० स० वाच० । इन्द्रियज्ञानाऽगम्ये, अष्ट० ॥ अतीन्द्रिया अर्था आगमेन उपपत्त्या च ज्ञायन्ते न केवलया युक्त्या तदुक्तम । "आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्णं दृष्टिकारणम । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये" । १ । विशे० । दर्श० ॥ ध० मे० । अनु० । कथ न युक्त्येति चेत् ॥

ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः।
कालेनैतावता प्राज्ञैः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

यदि यावता कालेनातीन्द्रिया इन्द्रियागोचराः पदार्था धर्मास्तिकायादयः हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमूहेन ज्ञायेरन् एतावता कालेन परमात्मभावश्रवणचिन्तननिदिध्यासनादिना स्वात्म-स्वरूपे उपयोगोऽनुभवः कृतः स्यात् तदा तेषु धर्मास्तिकायादिषु मुक्तात्मनि च निश्चयः कृतः स्यात् प्राज्ञैः इत्यनेन परद्रव्यचिन्तनकालमात्रेणात्मस्वरूपचिन्तने स्वपरावबोधो भवति तेन सद्भिः स्वस्वभावभावने मतिः कार्या येन निष्प्रयासतः स्वपरा " जे एगं जाणइ से सव्वं जाणति " इति वचनात् बोधपरिस्थागपरिणतिर्भवति ॥ ४ ॥ अष्ट० ॥ (ननु अतीन्द्रिया अर्था न सन्त्येवेति चेन्न। मधुकश्रमणोपासकेनाऽन्ययूथिकान्प्रतिवातघ्राणसहगतपुद्गलरूपादेरतीन्द्रियार्थस्य सत्त्वप्रसाधनात्। मद्दुग मंद्दुग शब्दे तद् द्रष्टव्यम्) अतीन्द्रियार्थज्ञानं वेदवाक्येभ्य एवेति जैमिनीयाः। साक्षादतीन्द्रियार्थदर्शिनस्तन्मतेऽभावात् यदुक्तम् " अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षाद् द्रष्टा न विद्यते। नित्येभ्यो वेदवाक्येभ्यो, यथार्थत्वविनिश्चयः ॥ १ ॥ गा० (सम्भवत्यतीन्द्रियार्थज्ञानं सर्वज्ञस्येति सव्वण्णु शब्दे उपपादयिष्यते)

अइकंडुइय—अतिकण्डूयित—न० अत्या० स० अतिशयिते मर्कविलेखने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अ [ति] इक्कंत—अतिकान्त—त्रि० अत्या० स० अतिकमणीये, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ४ अ०। समुद्रभेदाधिपतौ च पुं० स्त्री०।

अइकाय—अतिकाय—पुं० अतिकान्तः कायात् अत्या० स० महोरगविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ॥ महोरगेन्द्रे च स्था० ४ ठा०। (अग्रमहिष्यादयः स्वस्वस्थाने) बृहच्छरीरे, त्रि० " अमाविसे चमरवेरविसे महाविसे अइकाये महाकाए " (सर्पवर्णकः) कायान् शरीराणि शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायः अत एव महाकायः। ज्ञा० ६ अ०। अथवाऽतिकायानां मध्ये महाकायोऽतिकायमहाकायः जं० १५ श० १ उ०। अत्युत्कटः कायोऽस्य। विकटदेहे, त्रि० रावणपुत्रे राक्षसभेदे, पुं०। वाच० ॥

अ(ति) इक्कंत—अतिकान्त—त्रि० अति-क्रम-क्त-। अतीते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० " जेय बुद्धा अतिकंता " सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। तीर्णे, विशे०। आ० म० प्र०। पर्यन्तवर्तिनि, जी०३ प्रति०। औ०। त्यक्तवति, "सव्वसिणेहाइक्कंता" औ०।

अ (ति) इक्कंतजोव्वण—अतिकान्तयौवन—त्रि० अत्या० स० अतीततारुण्ये, "अपत्तजोव्वणा अइक्कंतजोव्वणा" स्था०५ ठा०।

अ (ति) इक्कंतपच्चक्खाण—अतिकान्तप्रत्याख्यान—न०अतिक्रान्ते पर्वणि यत् क्रियते तदतिकान्तं तच्च तत्प्रत्याख्यानम्। प्रत्याख्यानभेदे, ध० २ अधि०। आव०। पर्वभेदातीते पर्युषणादौ करणादतिकान्तम्।आह च 'पज्जोसवणाए तवं, जो खलु न करेइ कारणज्जाए। गुरुवेयावच्चेणं, तवस्सिगेलण्णयाए व। १ ॥ सो दाई तवोकम्मं, पडिवज्जइ तं अइच्छिए काले। एवं पच्चक्खाणं, अइक्कंतं होइ नायव्वंति " ॥ २ ॥ स्था० १० ठा०। "अतिकंतं णाम पज्जोसवणाए तवं तेहिं कारणेहिं ण कीरति गुरुतवस्सिगिलाणकारणेहिं सो अतिक्कंतं करेति तहेव विभासा। आ० चू०। आव०।

अइक्कम—अतिक्रम—पुं० अति०क्रम्-घञ् अतिचारे, "पाणाइवायस्स वेरमणे एस वुत्ते अइक्कमे" ध० ३अधि०। सूत्र० अतिलङ्घने, आचा०१श्रु०७अ०। उपा०। विनाशे,आचा०१श्रु०२अ०। साधुक्रियोल्लङ्घने, आव०४अ०।

अतिकमव्यतिकमादयः साधुक्रियोल्लङ्घनरूपास्तत्रातिक्रम— स्याधाकर्माश्रित्य स्वरूपमित्थम्।

आहाकम्म निमंतण, पडिसुणमाणो अतिकमो होई।
पयभेयाइवइकम—गहिए तइओ तरो गिलिए ॥

कोऽपि श्राद्धो नामप्रतिबद्धो ज्ञातिप्रतिबद्धो गुणानुरक्तो वा आधाकर्म्म निष्पाद्य निमन्त्रयति। यथा भगवन्नुष्मन्निमित्तमस्माभिः सिद्धमन्नमास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतामित्यादि। तत्प्रतिशृण्वति अभ्युपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति। स च तावद्यावदुपयोगपरिसमाप्तिः। किमुक्तं भवति। यत्प्रतिशृणोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोत्तिष्ठति पात्राण्युद्गृह्णाति उद्गृह्य च गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति।एष समस्तोऽपि व्यापारोऽतिक्रमः। उपयोगपरिसमाप्त्यनन्तरं च यदाधाकर्म्मग्रहणाय पदभेदं करोति अविशब्दान्मार्गे गच्छति गृहं प्रविशति आधाकर्म्मग्रहणाय पात्रं प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिगृह्णाति एष सर्वोऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः (गहिए तइओत्ति) आधाकर्म्मणि गृहीते उपलक्षणमेतत्। यावद्वसतौ समानीते गुरुसमक्षमालोचिते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च यावन्नाद्यापि गिलति तावत्तृतीयोऽतिचारलक्षणो दोषः। गिलिते त्वाधाकर्म्मग्रनाचारः। एवं सर्वेष्वप्यौद्देशिकादिषु भावनीयम्। पि०। धर्म०। व्य०। स्था०। ध० १०। आतु०। एवं भावना मूलगुणेषु उत्तरगुणेषु च कार्या। अत्रायं विवेकः। मूलगुणेषु अतिक्रमादिभिस्त्रिभिरतिचारैश्चरित्रस्य मालिन्यं तस्य चालोचनप्रतिक्रमणादिभिः शुद्धिश्चतुर्थे तु भङ्ग एव तथा च सति पुनरुपस्थापनैव युज्यते। उत्तरगुणेषु चतुर्भिरपि चरित्रस्य मालिन्यं न पुनर्भङ्ग इत्युक्ता मूलोत्तरगुणातिचाराः। ध०३अधि० (ज्ञानदर्शनचारित्रभेदादतिकमादीनां त्रैविध्यमिति संकिलेस शब्दे)

अइक्कमण—अतिक्रमण— न० अति-क्रम-ल्युट्-लङ्घने, विराधने, ध० २ अधि०। आव०।

अइक्कमणिज्ज—अतिक्रमणीय—त्रि०अतिलङ्घनीये,सूत्र०२श्रु०७अ०

अइक्कमित्तु—अतिक्रम्य— अव्य० अति क्रम—त्वा—ल्यप्—उल्लङ्घ्येत्यर्थे, " तं अइक्कमित्तु न पविसे " दश० ५ अ०।

अइगंभीर—अतिगम्भीर—त्रि० अतीवालुब्धाशये, पंचा०२ विव०।

अइगच्छमाण—अतिगच्छत्— त्रि० अति-गम+शतृ प्रविशति, नि० चू० ए उ०। ज्ञा०।

अइग (य) त अतिगत—त्रि० अति—गम् क्त—प्रविष्टे, " जे भिक्खू गाहावइकुलं अतिगते" नि० चू० ३ उ०। प्राप्ते च। तं०।

अइगम—अतिगम—पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र०।

अइगमण—अतिगमन—न० प्रवेशमार्गे, ज्ञा० १ अ०।

अइगुरु—अतिगुरु—पुं० अतिशयितो गुरुः पूज्यतमत्वात् प्रा०।स० "त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति पिता माताऽऽचार्य्यश्चेति" वाच०।

अइचंद—अतिचन्द्र—पुं० षष्ठे लोकोत्तरमुहूर्ते, कल्प०।

अइचरा—अतिचरा—स्त्री० अतिक्रम्य—स्वस्थानं सरोऽन्तरं चरति गच्छति चर्+अच् पद्मिन्याम, तत्तुल्याकारवत्त्वात् स्थलपद्मिन्यां पद्मचारिण्यां लतायाञ्च। अतिक्रमणकारिणि, त्रि० वाच०।

अइचिंत–अतिचिन्त–त्रि० अतीव चिन्ता यस्मिंस्तदतिचिन्तम्। अतिचिन्तासहिते, ज्ञा० १ अ० ॥

अइच्च–अतीत्य– अव्य० अति-इ-त्वा-ल्यप्-ल्यक्त्वेत्यर्थे, "स-व्वाइं संगाइं अइच्च धीरे " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ॥

अइच्छ–गम्–धा० भ्वा० प० सक० । गमेरइ अइच्छ ।८।४।१६१। इति सूत्रेण गमधातोरइच्छादेशः गतौ, अइच्छइ, गच्छति, प्रा०।

अइच्छंत–गच्छत्–त्रि० व्रिचरति, अतिक्रामति, उत्त० १८ अ०।

अइच्छत्त–अतिच्छत्र– पुं० अतिक्रान्तश्छत्रम् । तुल्याकारेण अत्या० स० । (छातिया) इति प्रसिद्धे स्थलतृणविशेषे, (ताल-मखाना) इति प्रसिद्धे जलतृणभेदे च । क्षीरस्वामिमते छत्रा इत्येव नाम । छत्रातिक्रमकारिणि, त्रि० अतिक्रमेऽव्ययी० छत्रा-तिक्रमे, अव्य० वाच० ॥

अइच्छपच्चक्खाण––अदित्सा (अतिगच्छ) प्रत्याख्यान–– न० प्रत्याख्यानभेदे, " भिक्खाईणमदाणा अइच्छं " भिक्षणं भिक्षा प्राभृतिका आदिशब्दाद्वस्त्रादिपरिग्रहस्तेषामदाने अतिग-च्छेति अदित्सेति वा वचनमतिगच्छप्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्या नं वा। आ० म० प्र० "अइ (च्च) च्छ पच्चक्खाणं बंभणसमणा-णं। अइच्छंति " अदित्साप्रत्याख्यानं हे ब्राह्मण ! हे श्रमण !अदि-त्सेति नाम दातुमनिच्छा न तु नास्ति यद्भवतां याचितं तदथादि त्स्यैव वस्तुनः प्रतिषेधामिकेति कृत्वा प्रत्याख्यातमिति गाथार्थः। आव० ६ अ० ॥

अइजाय–अतिजा (या) त– पुं० पितुः संपदमतिलङ्घ्य जा-तः संवृत्तो वाऽतिक्रम्य वा तां यातः प्राप्तो विशिष्टतरसंपदं स-मृद्धतर इत्यर्थः। इत्यतिजातोऽतियातो वा ऋषभवत । सुतभेदे, स्था० ४ ठा० ॥

अइट्ठिय–अतिष्ठित–त्रि०अतिक्रान्ते, उल्लङ्घितवति, उत्त०७ अ०। अतिष्ठाय– अव्य० अतिक्रम्योल्लङ्घ्येत्यर्थे, उत्त० ७ अ० ॥

अइणिच्चल-अतिनिश्चल-त्रि० अतीव निष्प्रकम्पे, पंचा०१५ विव०

अइणिद्धमहुरत्त–अतिस्निग्धमधुरत्व––न० घृतगुडादिवत् सु-खकारित्वरूपे पञ्चत्रिंशे वचनातिशये, स० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) त–अतीत– त्रि० अति–इ–क्त० अतिक्रान्ते, सूत्र०१ श्रु०१० अ०। आचा०। आ० म० प्र०। दश०। विवक्षितसमयमवधीकृत्य भूतवति समयराशौ, ज्यो० १ पाहु०। प्राकृते, अतिक्रान्तसमयभाविनि, विशे० । आतु० (अतीतवस्तु-नः सत्यविचारः सच्चशुशब्दे) दूरीभूते च उत्त० १५ अ० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) द्धा–अतीताद्धा– स्त्री० अती-तकाले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनन्तेषु पुद्गल-परावर्तेषु, अनु० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तपच्चक्खाण–अतीतप्रत्याख्यान–– न० पूर्वकालकरणीये प्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ४ द्वा० । ध० । प्र०॥

अ (ति) इ (या) ताण––अतियान– न०नगरादौ राजादेः प्रवेशे, स्था० ४ ठा० ॥

अ (ति) इ (या) ताणकहा–अतियानकथा– स्त्री० रा-जादेः नगरादौ प्रवेशकथायाम, यथा " सिय सिंधुरखंधगओ, सियचमरो सेयपत्तछन्नहो । जणनयणकिरणसेओ, एसो पवि-सइ पुरे राया " इति स्था० ४ ठा० । राजकथाभेदे,(व्याख्या-रायकहा शब्दे) ॥

अ (ति) इ (या) ताणगिह–अतियानगृह–न० नगरादि-प्रवेशे यानि गृहाणि तेषु, स्था० २ ठा० ॥

अ (ति) इ (ता) याणिड्ढि–अतियानर्द्धि–स्त्री० राजा-देः नगरप्रवेशे सम्भवन्त्यां तोरणहट्टशोभाजनसम्मर्दादिलक्ष-णायामृद्धौ, स्था० ३ ठा० ॥

अ (ई) इ [ती] [या] ताणागयणाण–अतीतानागतज्ञान– न० अतिक्रान्तानुत्पन्नार्थपरिच्छेदने, द्वा० २६ द्वा० ॥

अइताल–अतिताल–न० उत्ताले गेयदोषे, अनु० ।

अइतिक्खरोस-अतितीक्ष्णरोष–त्रि० ६ ब०। पुनः पुना रोषण-शीले, दीर्घरोषिणि, बृ० २ उ० ।

अइतिव्व-अतितीव्र-त्रि० अत्युत्कटे, पंचा० १ विव० ।

अइतिव्वकम्मविगम-अतितीव्रकर्मविगम-पुं० ६ त० अत्युत्कट-स्य कर्मणो ज्ञानावरणीयमिथ्यात्वादेः विनाशे, पंचा० १विव० ।

अइतुट्टण-अतित्रुट्टण-न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १श्रु०१ अ०

अइतेआ-अतितेजा-स्त्री० चतुर्दश्यां रात्रौ, जं०७ वक्ष०। कल्प०।

अइदंपज्ज-ऐदंपर्य–न० इदं परं प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं तद्भाव ऐदंपर्यम् । वाक्यस्य तात्पर्यशक्तौ,षो०१ विव०। पूर्वोक्त-तात्पर्ये, षो० १६ विव० । भावार्थगर्भे (प्रति०) तत्वे, पञ्चा० १४ विव० ॥

अइदारुण-अतिदारुण-त्रि० महाभयानके, अष्ट० ।

अइदुक्ख-अतिदुःख-न० अतिदुःसहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अइदुक्खधम्म-अतिदुःखधर्म-त्रि० अतीव दुःखमसातवेदनी-यं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, " गा-ढोवणीयं अइदुक्खधम्मं " सूत्र० १ श्रु०५ अ० । अतिदुःखरूपो धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति इदमुक्तं भवति । अक्षिनिमेषमात्र-मपि कालं न दुःखस्य विश्राम इति । सूत्र० १ श्रु०५ अ० ।

अइदुद्दिण-अतिदुर्दिन-न० अतिशयेन मेघतिमिरे, पिं० ।

अइदुल्लह-अतिदुर्लभ-त्रि० अतिशयेन दुष्प्राप्ये, ग० २ अधि० ।

अइदुस्सह-अतिदुस्सह–त्रि० अत्यन्तदुरध्यासे, उत्त०१७ अ०

अइदूर–अतिदूर-त्रि० अतिविप्रकृष्टे, रा० । औ० ।

अइदूसमा-अतिदुष्षमा-स्त्री० दुष्षमदुष्षमाऽऽख्ये अवसर्पि-ण्याः षष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमे अरके, एतद्वर्णनञ्च तत्रैव ति० । जं० । ज्यो० ।

अइदेस–अतिदेश–पुं० अतिक्रम्य स्वविषयमुल्लङ्घ्य अन्यत्र वि-षये देश अतिदेशः अतिदिश्यते वा करणे कर्म्मणि वा घञ् "अ-न्यत्रैव प्रणीतायाः, कृत्स्नाया धर्मसंहतेः । अन्यत्र कार्यतःप्रा-प्ति-रतिदेशः स उच्यते ॥ प्राकृतात् कर्म्मणो यस्मात्तत्समानेषु कर्म्मसु। धर्म्मप्रवेशो येन स्या-दतिदेशः स उच्यते" इत्यधिक-रणमालाधृतात्रियुक्तवाक्योक्ते अन्यत्र प्राप्तेऽन्यधर्म्मे, तत्प्रापके शास्त्रभेदे च । वाच० ।

अइधमंत–अतिधमत्-त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि०चू०१उ०

अइधाडिय-अतिधाडित–त्रि० भ्रामिते, अतिवर्तिते च प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ० ।

अइधुत्त–अतिधूर्त–त्रि० अतीव प्रचुरं धूर्तमष्टप्रकारं कर्म यस्य

सोऽतिधूर्तः । बहुलकर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अइपंडिय-अतिपण्डित-त्रि० अतीव दुर्विदग्धे, सू० १ अ० ।

अइपंडुकंबलसिला-अतिपाण्डुकम्बलशिला-स्त्री० मन्दरपर्वतस्य दक्षिणदिग्गतायामभिषेकशिलायाम्, स्था०२ठा० "दो अइपंडुकंबलसिलाओ" स्था० ४ ठा० । पाण्डुकम्बलशिलेत्यस्या नामान्तरमिति तत्रैव वर्णको वक्ष्यते । जं० ४ वक्ष० ।

अइपडागा-अतिपताका-स्त्री० एकां पताकामतिक्रम्य या पताका साऽतिपताका । ज्ञा० १ अ० । पताकोपरिवर्तिन्यां पताकायाम्, । दशा० । औ० ।

अइपरिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिव्याप्त्या परिणामो यदुक्तार्थपरिणमनं यस्य स तथा व्य०१उ० । नि० चू० । अपवादैकमतौ, बृ० १ उ० । तल्लक्षणम् ॥

अतिपरिणामकमाह ॥

जो दव्वखेत्तकाल-भावकयं जं जहिं जया काले ।
तल्लेसुस्सत्तमई, अइपरिणामं वियाणाहि ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावकृतं यद्वस्तु यस्मिन् विकृष्टाध्वादौ यदा काले आत्यन्तिकदुर्भिक्षादौ भणितम् [तल्लेसुत्ति] तस्मिन् द्रव्यादिकृते अपवादिकवस्तुनि लेश्या यस्य स तल्लेश्यः पश्यामि । तावदत्र किमपि निश्रापदं ततस्तदेवावलम्बयिष्यामीत्यपवादैकमतिरित्यर्थः । तथा सूत्रादपवादश्रुतादुत्प्राबल्येन मतिरस्येत्युत्सूत्रमतिः । श्रुतोक्तापवादादप्यधिकापवादबुद्धिरिति भावस्तमेवंविधं साधुमतिपरिणामकं विजानीहीति बृ० १ उ० ।

अथ प्रसङ्गादत्रैव परिणामकापरिणामातिपरिणामानां सदृष्टान्तं स्वरूपम् दर्श्यते ।

परिणमइ जहत्थेणं, मई उ परिणामगस्स कज्जेसु ।
बिइए न तु परिणमइ, अहिगमइ परिणामे तइओ ॥

परिणामकस्य मतिः कार्येषु याथार्थ्येन यथार्थग्राहकतया परिणमति । अत एवासौ परिणामक उच्यते । द्वितीये द्वितीयस्यापरिणामकस्य मतिर्न तु नैव परिणमते । अत एवासावपरिणामस्तृतीयः पुनरधिकां मतिमधिगच्छतीति परिणामकोऽभिधीयते एतदेव स्पष्टयति ॥

दोसु विपरिणमइ मइ-मुस्सग्गववायओ उ पढमस्स ।
बिइतस्स उ उस्सग्गे, अइअववाए अ तइयस्स ॥

प्रथमस्य परिणामकस्य मतिरुत्सर्गापवादयोरपि परिणमति । किमुक्तं भवति । यः परिणामको भवति तस्योत्सर्गे प्राप्ते उत्सर्ग एव मतिः परिणमते । अपवादे प्राप्तेऽपवाद एव मतिः परिणमते । यत्रोत्सर्गो बलीयान् तत्रोत्सर्गं समाचरति । यत्रापवादो बलवान् तत्रापवादं गृह्णाति । द्वितीयस्यापरिणामकस्य पुनरुत्सर्ग एव मतिः परिणमते । न पुनरपवादे । तृतीयस्य तु अति अत्यर्थम् । अपवादे मतिः परिणमते । स च द्रव्यादिकारणे प्रतिसेवनामनुज्ञातां ज्ञात्वा न किंचित्परिहरति । कारणमन्तरेणापि प्रतिसेवते । अथ यदुक्तमासीत् (अंबाइ दिट्ठंतोत्ति) तदिदानीं भाव्यते । एतेषां परिणामकादीनां त्रयाणामपि जिज्ञासया केचिदाचार्याः स्वशिष्यानित्थमभिदध्युः आर्या ! आम्रैरस्माकं प्रयोजनमस्तीत्युक्ते यः परिणामकः शिष्यः स ब्रूयात् ।

चेयणमचेअणं वि य, केदहछिन्न ओकित्तिया वा वि ।
लद्धा पुणो व वोच्छं, वीणासत्थं च वुत्तोसि ॥

भगवन् ! यैराम्रैः प्रयोजनं तानि किं चेतनानि किं भावितानि लवणादिभिर्वासितानि उताभावितानि (केदहत्ति) किं प्रमाणानि किं महान्ति किं वा लघूनि (छिन्नत्ति) किं पूर्वच्छिन्नानि किं वा इदानीं छित्वा आनीतानि । अथवा (छिन्नत्ति) किं छिन्नानि खण्डीकृतानि किं वा सकलानि (कित्तित्ति) कियन्ति वा गणनायां द्व्यादिसंख्याकान्यनेकानि वा अपिशब्दात् किं बद्धास्थिकानि अबद्धास्थिकानि वा तरुणानि जरठानि वेत्यथापि प्रष्टव्यम् । इत्थं शिष्येणाभिहिते आचार्येण वक्तव्यं सौम्य ! लब्धानि सन्त्यधुनाऽपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासन्निदानीं स्मृतिपथमवतीर्णानीति । यद्वा पर्याप्तं तावदिदानीं प्रयोजने समापतिते पुनर्भवन्तं वदयामि भणिष्यामि । अथवा वत्स ! किं ममाम्रैः कार्यं विमर्शार्थं किमयं विनीतो न वा परिणामको वा न वेति विज्ञानार्थमुक्तोऽसीति । यः पुनरपरिणामकः स ब्रूयात् ।

किं ते पित्तपलावो, मा वयं एरिसाइं जंपाहि ।
मा एं परे वि सोइ, कहं पि नेच्छाम एयस्स ॥

भो आचार्य ! किं ते पित्तप्रलापः समजनि यदेवमुन्मत्तवदसंबद्धं प्रलपसि यद्येकवारं ममाग्रे जल्पितं बहिर्जल्पितं नाम मा पुनर्द्वितीयं वारमीदृशानि सावद्यानि वचनानि जल्पेति । यतो- "मा णमि" त्येतत्त्वदीयं वचनं परोऽप्यन्योऽपि श्रोष्यति । वयं पुनः कथमपि नेच्छाम एतस्यार्थस्याम्रानयनलक्षणस्य किं पुनः कर्तव्यतामित्यपिशब्दार्थः । यः पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालेसि अइवसइ, अम्ह वि इच्छा न भाणिउं तरिमो ।
किं एचिरस्स वुत्तं, अन्नाणि वि किं च आणेमि ॥

क्षमाश्रमणा ! यदि युष्माकमाम्रैः प्रयोजनं तत इदानीमप्यानयामि यतः (सि इत्ति) एषामाम्राणां कालोऽतिवर्त्तते अतिक्रामति । अद्य तावत्तानि तरुणानि वर्तन्ते अत ऊर्ध्वं जरठीभविष्यन्तीत्यर्थः । यद्वा अस्माकमप्याम्राणां ग्रहणे महती इच्छा-परं किं कुर्मो न वयं यौष्माकीणभयभीता भणितुं किमपि (तरिमोत्ति) शक्नुमः । अथवा यद्याम्राण्यपि ग्रहीतुं कल्पन्ते ततः किमियतश्चिरात्कालादुक्तं वञ्चिताः स्मो वयमियन्तं कालमितिभावः । किं वा अन्यान्यपि मातुलिङ्गादीन्यानयामीति । अनयोरपरिणामकातिपरिणामकयोरेवं जल्पतोराचार्येणेदमुत्तरं दातव्यम् ।

नाभिप्पायं गिएहसि, असमत्ते चेव भाससी वयणे ।
भुत्तंबिल्ललोणकए, भिन्ने अहवा वि दोच्चंगे ॥

भो मुग्ध ! त्वं न मदीयमभिप्रायं गृह्णासि किन्तूत्सुकतया मदीये वचने असमाप्त एवेदृशं समयविरुद्धं निष्ठुरं वचनं भाषसे । मया पुनरेतेनाभिप्रायेणाभिहितम् (भुत्तंबिल इत्यादि) भुक्तं काञ्जिकं तदेवात्यम्लं भुक्ताम्लं तेन लवणेन वा कृतानि भावितानि भुक्ताम्ललवणकृतानि भिन्नानि च । किमुक्तं भवति । न मया भवतः पार्श्वादपरिणतान्याम्राण्यानायितानि किं तु चतुर्थरसिकभावितानि वा लवणभावितानि वा द्रव्यतो भावतश्च भिन्नानि परिणतानीति भावः । अथ वा (दोच्चंगत्ति) सामयिकी संज्ञा ओदनादिमूलापेक्षया भोजनस्य द्वितीयाङ्गानि राद्धशाकरूपाणि तानि मया आनायितानीति प्रक्रमः । "अंबाई" इत्यत्रादिशब्दसूचितौ वृक्षबीजदृष्टान्ताविमौ । आचार्यो भणन्ति । आर्या ! "रुक्खेहिं वा पओअणंति" अत्रापि परिणामकादीजल्पस्तथैवावसातव्यः । नवरम् । अपरिणामकातिपरिणामकौ प्रति सूरिणा प्रतिवक्तव्यम् ।

निप्फावकोद्दवाई–णि बेमि रुक्खाणि न हारिए रुक्खे ।
अंबिलविरूढथाणि अ, भणामि न विरोहणसमत्थे ॥

निष्पावा वल्लाः कोद्रवाः प्रतीतास्तदादीनि (रुक्खाणित्ति) रूक्षाणि द्रव्याणि तान्येवाहं ब्रवीमि न हारिताम् तु सचित्तान् वृक्षान् । तथा बीजान्यपि यानि अम्लभावितानि विध्वस्तानि वा व्यवच्छिन्नानि यानि कानि तान्यहं भणामि न विरोहणसमर्थानि पुनरङ्कुरोद्भवनशक्तिकानीत्येष आम्रादिदृष्टान्तः । कथनाचार्येणामीभिः स्थानैः "मुत्तंबिल"इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा एवं परीक्ष्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निद्दाविगहापरिव–ज्जिएण गुत्तिंदिएण पंजलिणा ।
भत्ती बहुमाणेण य, उवउत्तेणं सुणेयव्वं ॥
अभिकंखंतेण सुभा–सियाईं वयणाईं अत्थमहुराईं ।
विम्हियमुहेण हरिसा– गएण हरिसं जणंतेण ॥

निद्रायमाणः सन् न किंचिदप्यवधारयति । विकथायां क्रियमाणायां व्याघातो भवतीत्यतो निद्राविकथापरिवर्जितेन श्रोतव्यम् । गुप्तानि स्वस्वविषयप्रवृत्तिनिरोधेन संवृत्तानीन्द्रियाणि येनासौ गुप्तेन्द्रियस्तेन । तथा प्राञ्जलिना योजितकरयुगलेन भक्त्या बहुमानेन च श्रोतव्यम् । भक्तिर्नाम गुरूणामिति कर्तव्यतायां निषद्यारचनादिकायां बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरूणामुपरि आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्भङ्गी । भक्तिर्नामैकस्य न बहुमानः, बहुमानो नामैकस्य न भक्तिः, एकस्य भक्तिरपि बहुमानोऽपि, एकस्य न भक्तिर्न वा बहुमान इति । अत्र च भक्तिबहुमानयोर्विशेषज्ञापकं शिवव्ययवानमन्तरभक्तयोर्मरुकपुलिन्दयोरुदाहरणं तच्च सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न लिख्यते । यदि च भक्तिं बहुमानं वा न करोति तदा चतुर्लघु । तथोपयुक्तेनानन्यमनसा श्रोतव्यम् । "अभिकंखंतेणं" इत्यादिवचनानि श्रुतव्याख्यारूपाणि सुभाषितानि शोभनभणितानि अर्थमधुराणि प्रायार्थसुस्वादूनि अभिकाङ्क्षता आभिमुख्येन वाञ्छता । तथा विस्मितमुखेनापूर्वापूर्वश्रवणसमुद्भूतविस्मयस्मरवदनेन हर्षगतेन अहो अमी भगवन्तः स्वगलतालुशोषमवगणय्यास्मान्निमित्तमेवंविधं सूत्रार्थव्याख्यानं कुर्वन्ति नानृणी भवेयममीषां परमोपकारिणामहमित्येवंविधं हर्षमागतः प्राप्तो हर्षागतस्तेन । तथा गुरूणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्ललोचनतया च हर्षम् अहो कथमयं संवेगरङ्गतरङ्गिमानसः परमागमव्याख्यानं शृणोतीतिलक्षणं प्रमोदं जनयता श्रोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

आयारियसुत्तत्थो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स ।
सुपरिच्छिता य सुनिच्छि–यस्स इच्छागए पच्छा य ॥

कल्पव्यवहारादेः सूत्रार्थः सविशेषः सापवादः स्वगुरुसकाशादवधारित आगृहीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणामकस्य शिष्यस्य सुपरीक्ष्य पूर्वोक्ताम्रादिदृष्टान्तैः सुष्ठु अविसंवादेन परीक्षां कृत्वा सुनिश्चितस्य प्रारब्धसूत्रार्थे ग्रहीतव्ये कृतनिश्चयस्य । यद्वा ज्ञानदर्शनचारित्राणां यावज्जीवमपि विराधना न कर्तव्येत्येवं सुष्ठु निश्चितो निश्चयवान् यस्सुनिश्चितस्तस्य दीयते (इच्छागए पच्छत्ति) अपरिणामकातिपरिणामकयोः पुनर्यदा सा आत्मीया यथाक्रमं केवलोत्सर्गापवादरुचिलक्षणा इच्छा गता नष्टा भवति तदा पश्चात्तयोः छेदश्रुतानि दातव्यानीति । उक्तं परिणामकद्वारम् । बृ० १ उ० । (अत्रैव मरुकदृष्टान्तः स च पलंबशब्दे कारणिकतद्ग्रहणावसरे वक्ष्यते)

अइपास–अतिपार्श्व–पुं० भरतक्षेत्रजारजिनसमकालजाते ऐरवतजे तीर्थंकरे, " अरजिणवरो य भरहे, अइपासजिणे य एरवए " ति० ।

अइपासंत–अतिपश्यत्–त्रि० अतीव असाधारणं पश्यति, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ अ० ।

अइप्पमाण–अतिप्रमाण–न० धारत्रयाऽतीते भोजने, पिं० । (अइबहुशब्देऽस्य स्वरूपम्) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अत्या० स० प्रमाणातिक्रान्ते, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमाणवति, प्रा०स० । अत्यन्तप्रमाणे, वृहत्प्रमाणे, न० वाच० ।

अइप्पसंग–अतिप्रसङ्ग–पुं० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विव० । अतिव्याप्तिलक्षणायामनिष्टापत्तौ, पञ्चा०६ विव० ॥

अइबल–अतिबल– त्रि० पुरुषान्तरबलान्यतिक्रान्तोऽतिबलः । प्रश्न० अध० ४ अ० । अतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यग्बले, । उपा० २ अ० । अतिशयबले, औ० । राय० । स० । भविष्यति पञ्चमे वासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । ऋषभदेवस्य चतुर्थभवे महाबलनाम्नो राज्ञः पितामहे शतबलस्य पितरि, "गंधसमिद्धे विज्जाहरनगरे अइबलरण्णो णत्ता सयबलरायणो पुत्ते महाबलो नाम राया जातो" । आ० म० प्र० । चूर्ण्यां तु " गंधसमिद्धं णगरं राया राणी च विबुरूणयणो जणवयहितो सतबलस्स रण्णो णगरं नत्तुतो अतिबलसुतो महाबलो नामं । आ० म०द्वि। ०आ० चू० । भरतचक्रिणः प्रपौत्रे च । स्था०८ ठा० । आ० चू० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ ब० । अत्यन्तबलाधायिकायां पीतवर्णायां (बेमियाला) इति ख्यातायां लतायाम, विश्वामित्रेण रामाय दत्ते अस्त्रविद्याभेदे च स्त्री० । अतिशयितं बलम् प्रा० स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य अत्यन्तबलयुक्ते, त्रि० "जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबल" इति रामा० । अतिरथे च । वाच० ।

अइबहुय–अतिबहुक–न० अतिशयेन बहु- निजप्रमाणाऽत्यधिके भोजने, पिं० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्नि तिन्नि य परेणं ।
तं चि य अइप्पमाणं, भुंजइ जं वा अतिप्पंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणात्यधिकमित्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यस्त्रीन् वारान् भुङ्क्ते त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते " अइप्पमाणे " त्यवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रकारान्तरेण व्याख्यानमाह । भुङ्क्ते यद्वा अतृप्यन् एव " अइप्पमाण " इत्यस्य शब्दस्यार्थः । " अइप्पमाण " इत्यत्र च शालप्रत्ययस्ताच्छील्यविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति पिं० ।

अइबहुसो–अतिबहुशस्–अव्य० दिवसमध्ये त्रीन् वारान् त्रिभ्यो वा परतो भोजने, पिं० । (स्वरूपमनन्तरमुक्तम्)

अइबेल–अतिबेल–अ० बेलामतिक्रम्याऽतिबलम् । यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽध्ययनं वा तां वेलामतिलङ्घ्येत्यर्थे, सूत्र०१ श्रु०१४ अ० । " नातिवेलं उवाचरे " न मर्यादोल्लङ्घनमित्यर्थः कुर्यादात आचा० १ श्रु० ८ अ० ।

अइबेला अतिबेला–स्त्री० अन्यसमयातिशायिन्यां मर्यादायाम, साधुमर्यादायाम् उत्त० ३ अ० ।

अइजद्द–अतिभद्र–पुं० कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रे, येन स्त्रीकलहे सति भद्रनामभ्रातुः पृथग्भूय गृहाद्यर्द्धकरणं कृतम् तं० ।

अइभद्दग–अतिभद्रक–त्रि० भद्रदर्शने, प्रति० ।

अइभद्दा–अतिभद्रा–स्त्री० प्रभासनामगणधरस्य मातरि, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अइभय–अतिभय–त्रि० ऐहलौकिकादीनि भयान्यतिक्रान्ते, प्र- श्न० अध्र० १ द्वा० ।

अइभार–अतिभार–पुं० अत्यन्तं भारः । गुरुत्वे, पिं० । वोढुम- शक्ये भारे, प्रव०४ द्वा० । अतीव भरणमतिभारः । प्रभूतस्य पूग- फलादेः स्कन्धपृष्ठादिष्वारोपणरूपे, आव०६ अ० । धर्म० । ध० । र० । प्रव० । तथाविधशक्तिकलानां महाभारारोपणस्वरूपे, ध- पा० १ अ० । प्रथमाणुव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, पंचा० १ विव० "अतिभारो न आरोवेयव्वो पुव्विं चेव जा वाहणाए जीविगा सा मोत्तव्वा न होज्ज अन्ना जीविगा ताहे दुपओ जं सयं उक्खिवइ ओयारेइ वा भारं एवं वहाविज्जइ बइल्लाणं जहा सा- भाविया ओ वि भाराओ ऊणो उ कीरइ हलसगमेसु वि वेलाए मुयइ आसहत्थीसु वि एसेव विही आव० ६ अ० चू० ।

अइभारग–अतिभारग–पुं० अतिभारेण वेगेन गच्छति, गम-म- ड तं० खरे, अश्वतरे, गर्दभाद् वमवायां जाते अश्वभेदे, वाच० ।

अइभारारोवण–अतिभारारोपण–न० अतिशयितो भारोऽति- भारो वोढुमशक्य इति यावत् तस्यारोपणं गोकरभरासभमनु- ष्यादेः स्कन्धे पृष्ठे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाणुव्रतस्य चतु- र्थेऽतिचारे, ध०२ अधि० । प्रश्न० ।

अइभूमि–अतिभूमि–स्त्री० एलुकात्परभागे, अननुज्ञाता गृह- स्थैर्यत्रान्यभिक्षाचरा नायान्तीत्यर्थः दश० ८ अ० । (तत्र गमनं निषिद्धमिति गोयरचरिया शब्दे) अतिशयिता भूमिमर्य्यादा प्रा० । स० । अतिक्रमेऽव्ययी० मर्य्यादातिक्रमे, अव्य० । भूमिं मर्य्यादां वाऽतिक्रान्ते, त्रि० वाच० ।

अइमंच–अतिमञ्च–पुं० मञ्चोपरितने विशिष्टमञ्चे, 'मञ्चाइमञ्च- कलियं' औ० । दशा० । ज्ञा० ॥

अइमट्टिया–अतिमृत्तिका– स्त्री० कर्दमरूपायां मृत्तिकायाम्, जी० ३ प्रति० ।

अइमहल्ल–अतिमहत्– पुं० वयसाऽतिगरिष्ठे, व्य० ३ उ० ॥

अइमाण–अतिमान– पुं० अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादी- नामिव महामाने, सूत्र०१ श्रु०८ अ० । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कषायभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अइमाय–अतिमात्र– त्रि० मात्रामतिक्रान्तः । मात्राऽधिके, उत्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अइमाया–अतिमात्रा– स्त्री० उचितमात्राया अधिकमात्रायाम्, "अइमायाए पाणभोयणं आहारित्ता भवइ" उत्त०१६अ० । प्रश्न० ।

अतिमाया–स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कषायभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अइमुंत (मुत्त) य–अतिमुक्तक–न० मुक्तो भावे क्तः । अतिश- येन मुक्तं बन्धहीनता यस्य कप् वाच० । वक्रादावन्तः ८।१।१६। इति तृतीयस्य अनुस्वाराऽऽगमः आर्षे तु न प्रा० । तिन्दुकवृ- क्षे, तालवृक्षे, वाच० । पुष्पप्रधाने वनस्पतौ, जं०१ वक्ष० । वल्ली- भेदे, प्रज्ञा० १ पद । अतिमुक्तमण्डपकाः जी०३ प्रति० । विशे० । प्रज्ञा० । लताभेदे, आचा०१ श्रु०१ अ० । औ० कंसभ्रातरि, पुं० येन बाल्ये देवकी स्वस्वसा प्रोक्ता 'त्वमष्ट पुत्रान् सदृशान् जन- यिष्यसि' आ० म० द्वि० । आ० चू० । पोलासपुरवास्तव्ये विजयराजस्य श्रीनाम्न्यां देव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० ठा० ।

तद्वक्तव्यता अन्तकृद्दशाङ्गे यथा ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पोलासपुरे णयरे सिरीवणे उज्जाणे तस्स णं पोलासपुरे णयरे विजये नामं राया होत्था । तस्स णं विजयस्स रन्नो सिरी नामं देवी होत्था वण्णओ तत्थ णं विजयस्स रण्णो पुत्ते सिरीए देवीए अत्तत्त अइमुत्ते नामं कुमारे होत्था सुमाल० तेणं कालेणं तेणं समएणं समणं ३ जाव सिरीवणे उज्जाणे विहर- ति । तेणं कालेणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती जहा पण्णत्तीए जाव पोलासपुरे णय- रे उच्च जाव अमति इमं च णं अतिमुत्ते कुमारे ण्हाए जाव विभूसिते बहूहिं दारएहि य डिंभएहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सार्द्धं संपरिवुडे साओ गिहातो पडिनिक्ख- मइ पडिनिक्खमइत्ता जेणेव इंदट्ठाणे तेणेव उवागते तेहिं बहूहिं दारएहि य संपरिवुडे अभिरममाणे अभिरममाणे विहरति । ततेणं भगवं गोयमे पोलासपुरे णयरे उच्चनी- य जाव अममाणे इंदट्ठाणस्स अदूरसामंतेण वीतिवयति । तते णं से अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं वीति वयमाणं पासति पासतित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवा- गते भगवं गोयमं एवं वयासी । के णं भंते ! तुब्भे किं वा अमह तते णं भगवं गोयमं अतिमुत्तं कुमारं एवं वया- सी अम्हे णं देवाणुप्पिया समणा निग्गंथा इरियासमिया जाव बम्भचारी उच्चनीय जाव अममाणे । तते णं अति- मुत्ते कुमारे भगवं गोयमे एवं वयासी । अह णं भंते ! तुब्भे जेणेव अहं तुब्भं भिक्खं दलावेमि त्ति कट्टु भ- गवं गोयमं अंगुलीते गेण्हाति गेण्हातित्ता जेणेव सते गि- हे तेणेव उवागए तते णं सा सिरि देवी भगवं गोयमं एज्जमा- णं पासति पासतित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भु- ट्ठितित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति उवागच्छति- त्ता भगवं गोयमं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदति नमंसति विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पतिलाभति पडिलाभतित्ता पडिविसज्जेति । तते णं से अइमुत्ते कुमारे एवं वयासी । कह णं भंते ! तुब्भे परिवसह । भगवं गो- यमे अतिमुत्तं कुमारं एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पि- या ! मम धम्मायरियत्ते धम्मोवएसए धम्मे नेतारिए सम- णं ३ महावीरे आदिकरे जाव संपाविउकामे इहेव पोला- सपुरस्स नगरस्स बहिया सिरिवणे उज्जाणे य उग्गहं उ- ग्गण्हेत्ता समणेणं जाव भावेमाणे विहरति । तत्थ णं अ- म्हे परिवसामो । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अह तुज्झेहिं सद्धिं समणं ३ पायं वंदति अहासुहं तते णं से अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं सद्धिं जेणेव समणे ३ तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता समणं ३ तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति जाव पज्जुवासति । तते णं भगवं गोयमे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागते जाव पडिदंसेति पडिदंसेतित्ता संजमे तवसा आयाहिणं पयाहिणं विहरति । तेणं समणे ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा कहेइ से अतिमुत्ते समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आपुच्छामि तते णं अहं देवानुप्पिया अंतिते जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागते जाव पव्वतिए तते णं अतिमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी बालेसि ताव तुमं पुत्ता ! असंबुद्धे किराह तुमं जाणासि धम्मं । तते णं से अइमुत्ते कुमारे अम्मापितरो एवं खलु अहं अम्मयाओ जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण जाणामि तं चेव जाणामि । तते णं अइमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी । कह णं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि जाव तं चेव न जाणामि तेसिं अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरे एवं वयासी जाणामि अहं अम्म जाओ जहा जातेण तहा अवस्सं मरियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाओ काहे वा कहं वा कह वा केव चिरेणेव वा कालेण न जाणामि णं अम्मयो मे यातो केहिं कम्मायाणेहिं वा जीवा नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेसु उववज्जंति । जाणामि णं अम्म यातो जहा सत्तेहिं कम्मायाणेहिं जीवा नेरइय जाव उववज्जंति । एवं खलु अहं अम्मं यातो जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि तं इच्छामि णं अम्म यातो तुज्झेहिं अब्भणुण्णाते समाणे जाव पव्वतिए । तते णं से अइमुत्ते कुमारे अम्मापियरो जाहे नो संचाएति बहुहिं आघवति ४ तं इच्छामो ते जाया एगदिवसमवि रायसिरिं पासेति पासेतित्ता । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे अम्मापिउवयणमणुयत्तमाणे तुसिणीए संचिट्ठति । अभिसेओ जहा महाबलस्स निक्खमणं जाव सामाइयाति एकारस अंगाइं अहिज्जति अहिज्जतित्ता बहुहिं वासाति सामण्णपरियागं पाउणेति पाउणित्ता गुणरयणेणं तवोकम्मेणं जाव विपुले पव्वए सिद्धे अन्त० ५ वर्ग० ।

अस्य सिद्धिविषयः स्थविराणां प्रश्नो यथा–

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे पगइभद्दए जाव विणीए । तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे अण्णया कयाइं महा वुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि कक्खपडिग्गहरयहरणमायाए बहिया संपट्ठिए विहाराए । तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे वाहयं वाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्टियपालिं बंधइ बंधइत्ता णाविया मेव नाविओ विव णावमयं पडिग्गहयं उदगंसि पवाहमाणे अभिरमइ । तं च थेरा अदक्खु जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छंतित्ता एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे । से णं भंते ! अइमुत्ते कुमारसमणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति ? अज्जोति समणे भगवं महावीरे ते थेरे एवं वयासी । एवं खलु अज्जो ! ममं अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे पगइभद्दए जाव विणीए से णं अइमुत्ते कुमारसमणे एगेणं चेव भवग्गहणेणं सिज्झिहिइ जाव अंतं करेहिइ । तं मा णं अज्जो ! तुब्भे अइमुत्तं कुमारसमणं हीलह निंदह खिंसह गरिहह अवमन्नह तुब्भे णं देवाणुप्पिया अइमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हह अगिलाए उवगिण्हह अगिलाएणं भत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावडियं करेह । अइमुत्तेणं कुमारसमणे अंतकरे चेव अंतिमसरीरिए चेव । तए णं ते थेरा भगवंतो समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदंति वंदंतित्ता अइमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हंति जाव वेयावडियं करेंति

कुमारसमणेत्ति । षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वादाह च 'छव्वरिसो पव्वइओ णिग्गंथं रोइऊण पावयणंति' एतदेव चाश्चर्यमिहाऽन्यथा वर्षाष्टकादाराम प्रव्रज्या स्यादिति (कक्खपडिग्गहरयहरणमायाएत्ति) कक्षायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादायेत्यर्थः । (णावियामेत्ति) नौका द्रोणिका मे ममेयमिति विकल्पयन्निति गम्यते "नाविओ विव नावंति " नाविक इव नौवाहक इव नावं द्रोणीं (अवंति) असावतिमुक्तकमुनिः प्रतिग्रहकं प्रवाहयन्नभिरमते एवं च तस्य रमणक्रिया बालावस्थाबलादिति (अदक्खुत्ति) अद्राक्षुः दृष्टवन्तस्ते चैतदीयामत्यन्तानुचितां चेष्टां दृष्ट्वा तमुपहसन्त इव भगवन्तं पप्रच्छुः । एतदेवाह "एवं खलु" इत्यादि (हीलहत्ति) जात्याद्युद्घट्टनतः (निंदहत्ति) मनसा (खिंसहत्ति) जनसमक्षम् (गरिहहत्ति) तत्समक्षम् (अवमन्नहत्ति) तदुचितप्रतिपत्त्यकरणेन (परिभवहत्ति) क्वचित्पाठस्तत्र परिभवः समस्तपूर्वोक्तपदकरणेन (अगिलाएत्ति) अग्लान्या अखेदेन (संगिण्हहत्ति) संगृह्णीत स्वीकुरुत (उवगिण्हहत्ति) उपगृह्णीत उपष्टम्भं कुरुत एतदेवाह (वेयावडियंति) वैयावृत्त्यं कुरुतास्येति शेषः (अंतकरे चेवत्ति) भवच्छेदकरः स च दूरतरभवेऽपि स्यादत आह (अंतिमसरीरिए चेवत्ति) चरमशरीर इत्यर्थः भ० ५ श० ४ उ० । अनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्ते च स्था० १० ठा० । (तद्दपर एवायं भविष्यतीति संभाव्यते)

अइमुच्छिय–अतिमूर्च्छित–त्रि० विषयदोषदर्शने प्रत्यभिमूढतामुपगते, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० ।

अइमोह–अतिमोह–त्रि० अतीव मोहो यस्मिंस्तदतिमोहम् । अतिकामाशक्तौ, अतिशयितमोहयुते, ज्ञा० १ अ० ॥

अयंचिय–अत्यञ्च्य–अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, स्था० ५ ठा० ।

अइयच्च–अतिगत्य–अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अइयण–अत्यदन–न० अतिभक्षणे, " अणुकंपा साणाइयण–दुगुंछा " व्य० २ उ० ।

अइया–अजिका–स्त्री० छगलिकायाम्, बृ० १ उ० ।

अइया (य)त–अतियात–त्रि० गते, " अइयाओ णराहिवो " उत्त० २० अ०

अइयायरक्ख–अत्यात्मरक्ष– त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परैः पापकर्मभिः रक्षा यस्यासावत्यात्मरक्षः । अतीवाऽऽत्मानं पापे रक्षति, अइयायरक्खे दाहिणगामिए नेरइए' सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अ (ई) (ति) (ती) इयार–अति (ती) चार–पुं० अतिचरणमतिचारः । लङ्घने, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । तृतीये अपराधे, पो० ११ विव० । आ० चू० । अतिक्रमे, अतिक्रम्य गमने, आव० ४ अ० । ग्रहणतो व्रतस्यातिक्रमणे, व्य० १ उ० । चारित्रस्खलनविशेषे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । देशभङ्गहेतौ आत्मनोऽशुभे परिणामविशेषे, धर्म० २ अधि० । देशभङ्गेऽतिचारता यथा ननु हिंसैव श्रावकेण प्रत्याख्याता ततो वधादिकरणेऽपि न दोषो हिंसाविरतेरखण्डितत्वात् । अथ वधादयोऽपि प्रत्याख्याता–स्तदा तत्करणे व्रतभङ्ग एव विरतिखण्डनात् । किञ्च वधादीनां प्रत्याख्येयत्वे व्रतेयत्ता विशीर्येत प्रतिव्रतमतिचाराणामाधिक्यादिति एवं च न वधादीनामतिचारतेति ? उच्यते–सत्यं हि सैव प्रत्याख्याता न वधादयः केवलं तत्प्रत्याख्यानेऽर्थतस्तेऽपि, प्रत्याख्याता द्रष्टव्या हिंसोपायत्वात् । तेषामेव चेत्तर्हि वधादिकरणे व्रतभङ्ग एव नातिचारो नियमस्यापालनान्नैवं यतो द्विविधं व्रतमन्तर्वृत्त्या बहिर्वृत्त्या च तत्र मारयामीति विकल्पाभावेन यदा कोपाद्यावेशान्निरपेक्षतया वधादौ प्रवर्तते न च हिंसा भवति तदा निर्दयतया विरत्यनपेक्षप्रवृत्तत्वेनान्तर्वृत्त्या तस्य भङ्गः हिंसाया अभावाच्च बहिर्वृत्त्या पालनमिति देशस्यैव भञ्जनाद्देशस्यैव पालनादतिचारव्यपदेशः प्रवर्तते तदुक्तम् " न मारयामीति कृतव्रतस्य, विनैव मृत्युं क इहातिचारः । निगद्यते यः कुपितो वधादीन्, करोत्यसौ स्यान्नियमानपेक्षः । मृत्योरभावान्नियमोऽस्ति तस्य, कोपाद्दयाहीनतया तु भग्नः । देशस्य भङ्गादनुपालनाच्च, पूज्या अतीचारमुदाहरन्ति " । यच्चोक्तं व्रतेयत्ता विशीर्येत इति तदप्ययुक्तं विशुद्धाऽहिंसासद्भावे हि वधादीनामभाव एव तत् स्थितमेतद्वधादयोऽतिचारा एवेति । यद्वा । अनाभोगसहसाकारादिनाऽतिक्रमादिना वा सर्वत्रातिचारता ज्ञेया ध० २ अधि० (आधाकर्माश्रित्यातिचारता अइक्कम शब्दे दर्शिता) अयं चातिचारः संक्षेपत एकविधः संक्षेपविस्तरतस्तु द्विविधस्त्रिविधो यावदसंख्येयविधः संक्षेपविस्तरतः पुनर्द्विविधः त्रिविधं प्रति विस्तर इत्येवमन्यत्रापि योऽयं विस्तरतस्त्वनन्तविधः आव० ४ अ० । स्था० । ध० । आतु० । एतेषु अतिक्रमादिषु उत्तरोत्तरं दोषाधिक्यं प्रायश्चित्ताधिक्यात् आधाकर्मणा निमन्त्रितः सन् यः प्रतिशृणोति सोऽतिक्रमे वर्तते तद्ग्रहणनिमित्तं पदभेदं कुर्वन् व्यतिक्रमे गृह्णानोऽतीचारे भुञ्जानोऽनाचारे । एवमन्यदपि परिहारस्थानमधिकृत्यातिक्रमादयो ज्ञातव्याः एतेषु च प्रायश्चित्तमिदम् । अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु कालगुरु अतीचारे मासगुरु द्वाभ्यां विशेषितं तद्यथा तपोगुरु कालगुरु च । अनाचारे चतुर्गुरु यस्मात् गुरुकातीचारः चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः स चैतत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुकस्तस्मादपि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतरकोऽनाचारः ।

तत इत्थं प्रायश्चित्तविशेषः

तत्थ भवे न उ सुत्ते, अतिकमादी उ वण्णिया केई ।
चोयग ! सुत्त मुत्ते, अतिकमादी उ जोएज्जा ॥

तत्र एवमुक्तेन भवेन्मतिश्चोदकस्य यथा न तु नैव सूत्रे निशीथाध्ययनलक्षणे केचिदतिक्रमादय उपवर्णिताः सन्ति ततः कथं चत्वारोऽतिक्रमादयस्तत्रैवाध्ययने सिद्धा इति । सूरिराह चोदक ! सर्वोऽप्येष प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षादनुक्तानपि सूत्रे सूचितान् अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्थतः सूचितत्वात् व्य० १ उ० ।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह ।

तिन्नि य गुरुगा मासा,
विसेसिया तिण्णि चउगुरू अंते ।
एए चेव य लहुया,
विसोहिकोडीए पच्छित्ता ॥

त्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । कथंभूता इत्याह विशेषितास्तपःकालविशेषिताः । किमुक्तं भवति । अतिक्रमे मासगुरुर्व्यतिक्रमेऽपि मासगुरुरतीचारेऽपि मासगुरुरेते च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः । तथा अन्ते अनाचारलक्षणे दोषे चतुर्गुरु चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्तम् । एते च मासगुर्वादयः प्रायश्चित्ता अविशोधिकोट्यां द्रष्टव्याः विशोधिकोट्यां त्वेत एव मासादयो लघुकाः प्रायश्चित्तानि । तद्यथा अतिक्रमे मासलघु व्यतिक्रमेऽपि मासलघु अतीचारेऽपि मासलघु नवरमेते यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः व्य० १ उ० ।

ज्ञानातिचारादयस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।

उद्देसज्झयणसुय–खंधंगेसु कमसो पमाइस्स ।
कालाइक्कमणाइसु, नाणायरणाइयारेसु ॥ २२ ॥
निव्वीए पुरिमड्ढे, गजत्तमायंबिलं च णागाढे ।
पुरिमाई खमणं तं, आगाढे एवमत्थे वि ॥ २३ ॥

युगलमिह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारपञ्चकगतातीचारचक्रमालोच्यम् । तत्राद्यो ज्ञानाचारस्यातिचारे ज्ञानाचारातिचारः सोऽष्टविधः तद्यथा अकाले स्वाध्यायकरणं कालातिचारः ॥ १ ॥ श्रुतमधिजिगांसोर्जातिमदाद्यवलेपेन गुरुष्वविनयो वन्दनादिरूपाचारस्तस्य प्रयोजनं हीनं वा विनयातिचारः ॥ २ ॥ श्रुते गुरौ वा बहुमानो हार्दः प्रतिबन्धविशेषस्तस्याकरणं बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम् आचामाम्लादि तपसा योगविधानं तस्याऽकरणमुपधानाऽतिचारः ॥ ४ ॥ यत्पार्श्वे श्रुतमधीतं तं निह्नुतेऽपलपति अन्यं वा युगप्रधानमात्मनोऽध्यापकं निर्दिशति स्वयं वाऽधीतमित्याचष्टे एवं निह्नवनाभिधानातिचारः ॥ ५ ॥ व्यज्यते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनमागमसूत्रं तन्मात्राक्षरबिन्दुभिरूनमतिरिक्तं वा करोति संस्कृतं वा विधत्ते पर्यायैर्वा विदधाति यथा " धम्मो मंगलमुक्किट्ठ " मित्यादिस्थाने "पुन्नं कल्लाणमुक्कोसदयो संवर निज्जरेति" व्यञ्जनातिचारः ६ ॥

आगमपदार्थस्यान्यथा परिकल्पनमर्थातिचारः । यथा आचारसूत्रेऽवन्त्यध्ययनमध्ये आवन्तीके "आवंती लोगंसि विप्परामुसंती" ति" यावत् केचित् लोकेऽस्मिन् पापण्डिलोके विपरामृशन्तीति प्रस्तुतेऽर्थे अन्योऽर्थः परिकल्प्यते " आवंति होइ देसो, तत्थ उ अरहट्टकूवजा केया । घट्टी मासा परिहियाहिं, हेउत्त लोगो विपरामुसइ ॥ ७ ॥ यत्र च सूत्रार्थौ द्वावपि विनश्येते स तदुभयातिचारो यथा " धम्मो मंगलमुक्किट्ठो, अहिंसा गिरिमत्थए । देवा वि तं नमंसंति, यस्स धम्मे सया मई" "अहागडेसु रंधंति, कट्ठेसु रहकारओ । रत्तो ज्ञत्तंसि णो जत्थ, गहओ जत्थ दीसिइ " ॥ ८ ॥ अयं च महीयानतिचारो यतः सूत्रार्थोभयनाशे मोक्षाभावस्तदभावे दीक्षावैयर्थ्यमिति । एष चाष्टविधोऽपि । ज्ञानाचारातिचारो द्विधा ओघतो विभागतश्च । तत्र विभागतः उद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिनः प्रमादपरस्य कालातिक्रमणादिष्वष्टसु ज्ञानाचारातिचारेषु जातेषु क्रमशः क्रमेण तपोनिर्विकृतिकं पुरिमार्द्धैकभक्ते आचाम्लं च । अनागाढे दशवैकालिकादिके श्रुते उद्देशकातिचारे अकालपाठादिके निर्विकृतिकम् । अध्ययनातिचारे पुरिमार्द्धम् श्रुतस्कन्धातिचारे एकभक्तमङ्गातिचारे आचाम्लमित्यर्थः । आगाढे तूत्तराध्ययनभगवत्यादिके श्रुते एतेष्वेवातिचारस्थानेषु पुरिमार्द्धादिक्षपणान्तमेव तपो भवति । एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम जीत० । स्था० ।

त्रससमारम्भप्रत्याख्याता पृथिवीसमारम्भे
वर्तमानो व्रतं नातिचरति ॥

समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव तसपाणसमारंभे पच्चक्खाए भवइ पुढवीसमारंभे अपच्चक्खाए भवइ, से य पुढविं खणमाणे अन्नयरं तसपाणं विहिंसेज्जा से णं भंते ! तं वय अइचरइ ? णो इणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टइ । समणोवासयस्स णं भंते ! पुव्वामेव वणप्फइसमारंभे पच्चक्खाए से य पुढविं खणमाणे अन्नयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा से णं भंते ! वयं अतिचरति ? णो इणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टइ ॥

त्रसवधः । (नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टइत्ति) न खल्वसौ तस्य त्रसप्राणस्यातिपाताय वधायावर्तते प्रवर्तते इति न सङ्कल्पवधोऽसौ, सङ्कल्पवधादेव च निवृत्तोऽसौ । न चैवं तस्य संपन्न इति नासावतिचरति व्रतम भ० ७ श० १ उ० । (दैवसिका अतिचाराः काउस्सग्गशब्दे) (मूलगुणातिचारा उत्तरगुणातिचाराश्च मूलातिचारे प्रायश्चित्तमित्यवतरणमाश्रित्य पच्छित्तशब्दे वक्ष्यन्ते)

सर्वेऽप्यतीचाराः संज्वलनकषायोदये भवन्तीत्याह ।

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति ।
मूलच्छेज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ २५० ॥

सर्वेऽप्यालोचनाप्रतिक्रमणोभयादिच्छेदपर्यन्तं प्रायश्चित्तशोध्याः । अपिशब्दात्कियन्तोऽपि च अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्रविराधनाविशेषाः संज्वलनानामेवोदयतो भवन्ति । द्वादशानां पुनः कषायाणामुदयतो मूलच्छेद्यं भवति । मूलेनाष्टमस्थानवर्तिना प्रायश्चित्तेन छिद्यतेऽपनीयते यद्दोषजातं तन्मूलच्छेद्यम् । अशेषचारित्रोच्छेदकारीत्यर्थस्तदेवंभूतं दोषजातं द्वादशानामनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलक्षणानां कषायाणामुदये संजायते । अथवा इदं मूलच्छेद्यं दोषजातं यथासंभवतो योज्यते तद्यथा प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कोदये सर्वविरतिरूपस्य चारित्रस्य मूलच्छेद्यं सर्वनाशरूपं भवति । अप्रत्याख्यानकषायचतुष्कोदये तु देशविरतिचारित्रस्य अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कोदये पुनः सम्यक्त्वस्येति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २५० ॥

भाष्यम् ।

अइआरा छेदंता, सव्वे संजलणहेयवो होंति ।
सेसकसाओदयओ मूलच्छेज्जं वयारुहणं ॥ २५१ ॥

सप्तमस्थानवर्ती प्रायश्चित्तविशेषच्छेदस्ततश्चालोचनादिना छेदान्तेन सप्तविधप्रायश्चित्तेनान्तो येषान्ते एकस्यान्तशब्दस्य लोपाच्छेदान्ताः सर्वेऽप्यतिचाराः संज्वलनकषायोदयजन्या भवन्ति । शेषकषायाणां द्वादशानामुदये मूलच्छेद्यं समस्तचारित्रोच्छेदकारकं दोषजातं भवति । तद्विशुद्धये च प्रायश्चित्तं न पुनरपि व्रतारोपणमिति ।

अथवा यथासंभवं मूलच्छेद्यं योज्यते इत्येतदेवाह ।

अहवा संजममूल-च्छेज्जं तइयकलुसोदये नियमं ।
सम्मत्ताई मूल-च्छेज्जं पुण बारसण्हं पि ॥ २५२ ॥

तृतीयानां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदये संयमस्य सर्वविरतिरूपस्य मूलच्छेद्यं नियतं निश्चितं भवति सम्यक्त्वादिमूलच्छेद्यं तु द्वादशानामप्युदये संपद्यत इति ।

अथ परेमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

मूलच्छिज्जे सिद्धे, पुव्वं मूलगुणघाइगहणेणं ।
इह कीस पुणो गहणं, अइआरविसेसणत्थं ति ॥२५३॥
एगयमहक्खायं ति य, अइआरे तम्मि चेव मा जोए ।
तो मूलच्छिज्जमिणं, सेसचरित्ते निओएइ ॥ २५४ ॥

आह नन्वनन्तरनिर्दिष्टनिर्युक्तिगाथायां " मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुणघाइणो उदये " इत्येतस्मिन्पूर्वार्द्धे मूलगुणघातिग्रहणेन द्वादशकषायाणामुदये मूलच्छेद्यं सिद्धमेवेति किमिह पुनस्तद्ग्रहणमत्रोत्तरमाह । अतिचारविशेषणार्थमिति । अतिचाराणां विशेषव्यवस्थापनार्थमित्यर्थः । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह । (एगयमित्यादि) इदमुक्तं भवति "संजलणाणं उदए न लहइ चरणं अहक्खायमि " त्यनन्तरनिर्युक्तिगाथोत्तरार्द्धादिह यथाख्यातचारित्रं प्रकृतमनुवर्त्तते ततश्च 'सव्वे वि य अइआरा संजलणाणं उदयओ होंति "इत्येतानतिचाराननन्तरानुवर्त्तमाने यथाख्यातचारित्र एव शिष्यो योजयेत्तदेतन्मा भूत्ततस्तेनेह पुनरपि मूलच्छेद्यमेतद्यथाख्यातवर्जिते शेषचारित्रे सामायिकादिके नियोजयति । अस्यां हि मूलगाथायां मूलच्छेद्यग्रहणात्पुनःशब्दविशेषणाच्चायमर्थः संपद्यते संज्वलनानामुदये शेषचारित्रस्य सर्वेऽप्यतिचारा भवन्ति द्वादशकषायाणामुदये पुनर्मूलच्छेद्यं भवति । यस्यैवास्यां गाथायां मूलच्छेद्यमुक्तं तस्यैवातिचारा अपि न तु यथाख्यातचारित्रस्य कषायोदयरहितत्वेन तस्य निरतिचारत्वादिति गाथाचतुष्टयार्थः २५४ । विशे० ३०० पत्र०। आ० म० । आ० चू० । दर्श० ॥

सातिचारस्य चरणस्य विपाककटुकताविचारः ॥

सम्मं वि आरियव्वं, अत्थपदभावणापहाणेणं ।
विसए अ भाविअव्वं, बहु सुअगुरुसयासाओ ॥६५॥

सम्यक् सूक्ष्मेण न्यायेन विचारयितव्यमर्थपदभावनाप्रधा-

नेन सता तस्या एवेह प्रधानत्वात् । तथा विषये च स्थापयितव्यं तदर्थपदं कुत इत्याह बहुश्रुतगुरुसकाशाच्च स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ।

एतदेवाह ।

जइ सुहुमइआराणं, वंजीपमुहाइफलनिआणाणं ।
जं गुरुअं फलमुत्तं, एअं कह घडइ जुत्तीए ॥६६ ॥

यथा सूक्ष्मातिचाराणां लघुचारित्रापराधानां किंभूतानामित्याह । ब्रह्मप्रमुखादिफलनिदानानां प्रमुखशब्दात्सुन्दरीपरिग्रहः आदिशब्दात्तपःस्तेनप्रभृतीनां यद्गुरु फलमुक्तं सूत्रे स्त्रीत्वं किल्बिषिकत्वादिति एतत्कथं घटते युक्त्या कोऽस्य विषय इति गाथार्थः । तथा ।

सइ एअम्मि अ एवं, कहं पमत्ताण धम्मचरणं तु ।
अइआरासयभूआ-ण हंदि मोक्खस्स हेउ त्ति ॥६७॥

सत्येतस्मिंश्चैवं यथार्थ एव कथं प्रमत्तानामयतनसाधूनां धर्मचरणमेवं हन्दि मोक्षस्य हेतुरिति योगः नैवेत्यभिप्रायः किं भूतानामित्याह । अतिचाराश्रयभूतानां प्रभूतातिचारवतामिति गाथार्थः ॥

मार्गानुसारिणां विकल्पमाह ।

एवं च घडइ एवं, पवज्जिउं जो निगिचकमइआरं ।
सुहुमं पि कुणइ सो खलु,तस्स विवागम्मि अइरोद्दो ।६८।

एवं च घटते एतदनन्तरोदितं प्रपद्य यश्चिकित्सां कुष्ठादेरतिचारं तद्विरोधिनं किमित्याह सूक्ष्ममपि करोति स खलु तस्यातिचारे विपाकेऽतिरौद्रो भवति दृष्टमेतदेवं दार्ष्टान्तिकेऽपि भविष्यतीति गाथार्थः ।

अतिचारक्षपणहेतुमाह ।

पडिवक्खज्झवसाणं, पाएणं तस्स खवणहेऊ वि ।
णालोअणाइमित्तं, तेसिं ओहेण तब्भावा ॥६९॥

प्रतिपक्षाध्यवसानं क्लिष्टाच्छुद्धं तुल्यगुणमधिकगुणं वा प्रायेण तस्यातिचारस्य क्षपणहेतुरपि यदृच्छयापि शुचिनादिप्रायोग्रहणं नालोचनामात्रम । तथाविधभावशून्यं कुत इत्याह । तेषामपि ब्रह्मादीनां प्राणिनामोघेन सामान्येन तद्भावादालोचनादिमात्रभावादिति गाथार्थः ।

एवमपत्ताणं पि हु, पइअइआरं विवक्खहेऊणं ।
आसेवणेण दोसो,त्ति धम्मचरणं जहाभिहिअं ॥७०॥

एवं प्रमत्तानामपि साधूनां प्रत्यतिचारमतिचारं प्रति विपक्षहेतूनां यथोक्ताध्यवसायानामासेवने सति न दोषोऽतिचारक्षयात् इत्येवं धर्मचरणं यथाऽभिहितं शुद्धत्वान्मोक्षस्य हेतुरिति गाथार्थः ।

अत्रैवेदं तात्पर्यमाह ।

सम्मंकयपडिआरं, बहुअं पि विसं न मारए जह उ ।
थोवं पिअ विवरीअं, मारइ एसोवमा एत्थ ॥७१॥

सम्यक्कृतप्रतीकारमगदमन्त्रादिना बह्वपि विषं न मारयति । यथा भक्षितं सत्स्तोकमपि च विपरीतमकृतप्रतीकारं मारयति एषोपमाऽत्रातिचारविचारे इति गाथार्थः ।

विपक्षमाह ।

जे पडिआरविरहिआ, पमाइणो तेसि पुण तयं विंति ।
दुग्गहिअसरोहरणा, अणिट्ठफलयं पिमं जाणिअं ।७२।

ये प्रतीकारविरहिता अतिचारेषु प्रमादिनो द्रव्यसाधवस्तेषां पुनस्तद्धर्मचरणं यथोदितं द्विरूपं न भवतीत्यर्थः । एतदेव स्पष्टयति दुर्गृहीतशरोदाहरणाद्यथा दुर्गृहीतो हस्तमेवावकृन्तति श्रामण्यदुष्परामृष्टनरकानुपकर्षतीत्यस्मादनिष्टफलमप्येतद्धर्मचरणं द्रव्यरूपं ज्ञातं मनीषिभिरिति गाथार्थः ।

एतदेव सामान्येन द्रढयन्नाह ।

खुड्डइआराणं वि अ, मणुआइसु असुह मो फलं नेअं ।
इअरेसु अ निरयाइसु, गुरुअं तं अन्नहा कत्तो ॥७३॥

क्षुद्रातिचाराणामेवौघतो धर्मसंबन्धिनां मनुष्यादिष्वशुभफलं ज्ञेयं स्त्रीत्वदारिद्र्यादि आदिशब्दात्तथाविधतिर्यक्परिग्रहः इतरेषां पुनर्महातिचाराणां नरकादिषु गुरुकं तदशुभफलं कालाद्यशुभापेक्षया आदिशब्दात् क्लिष्टतिर्यक्परिग्रहः । इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यं तदन्यथा कुतकस्तस्य हेतुर्महातिचारान्मुक्त्वेति गाथार्थः

उपसंहरन्नाह ।

एवं विआरणाए, सइ संवेगाउ चरणपरिवुड्डी ।
इहरा सम्मुच्छिमप-णितुल्लया दढं होइ दोसा य ॥७४॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विचारणायां सत्यां सदा संवेगाद्धेतोः किमित्याह (चरणपरिवुड्डित्ति) करणतया इतरथा खेचाराणामन्तरेण सम्मूर्च्छनजप्राणितुल्यता दृढतया करणेन असावत्यर्थं दोषाय भवति ज्ञातव्या प्रव्रज्यायामपीति गाथार्थः पं०व०३द्वा० (श्रावकव्रतानामतिचाराः सम्यक्त्वातिचाराश्च स्वस्वस्थाने) यस्याष्टावतीचारगाथा नायान्ति तेनाष्टौ नमस्कारा गण्यन्ते एवं गाथाया उच्छ्वासा द्वात्रिंशद्भवन्ति नमस्कारचतुष्कस्यापि तथैव नमस्काराष्टकस्य तु चतुःषष्टिरुच्छ्वासा भवन्ति तत्कथमिति प्रश्ने? उत्तरं यस्याष्टौ गाथा नायान्ति तस्याष्टनमस्कारकायोत्सर्गः कार्यते न तूच्छ्वासमानमिति श्ये० उल्ला० ६ प्र० । अतिक्रम्य स्वस्वभोगकालमुल्लङ्घ्य चारः राश्यन्तरगमनम् अतिचारः । ज्योतिषोक्तेः भौमादिपञ्चकस्य स्वस्वाक्रान्तराशिषु भोगकालमुल्लङ्घ्य राश्यन्तरगमने, अतिचारस्य-" रविर्मासं निशानाथः सपाददिवसद्वयम " इत्यादिनोक्तभोगकालभेदोल्लङ्घनेन ग्रहणमतिशीघ्रतया अल्पकालेनैव आक्रान्तराशिमुपभुज्य राश्यन्तरगमनम् । वाच० ॥

अइरत्त-अतिरक्त-त्रि० अत्यन्तो रक्तः रक्तवर्णः अनुरागयुक्तो वा अतिलोहितवर्णो, अत्यन्तानुरक्ते च अत्यन्तरक्तवर्णे,पुं०वाच०

अतिरात्र-पुं० अतिशयिता रात्रिस्ततोऽस्त्यर्थे अच् अधिकदिने दिनवृद्धौ, ते च षट् तद्यथा ॥

छ अइरत्ता पएणत्ता तं जहा चउत्थे पव्वे अट्ठमे पव्वे दुवालसमे पव्व सोलसमे पव्वे वीसइमे पव्वे चउवीसइमे पव्वे ।

(अइरत्तत्ति) अतिरात्रोऽधिकदिनं दिनवृद्धिरिति यावत् चतुर्थ पर्व आषाढशुक्लपक्ष एवमिहैकान्तरितमासानां शुक्लपक्षाः सर्वत्र पर्वाणीति, स्था०६ ठा० । संप्रत्यतिरात्रप्रतिपादनार्थमाह " तत्थेत्यादि " तत्र एकस्मिन् संवत्सरे खल्विमे षट् अतिरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा 'चउत्थे पव्वे' इत्यादि इह कर्ममासमपेक्ष्य सूर्यमासचिन्तायामेकैकसूर्यर्तुपरिसमाप्तावेकैकोऽधिकोऽहोरात्रःप्राप्यते तथाहि त्रिंशता अहोरात्रैरेकः कर्ममासः सार्द्धत्रिंशता अहोरात्रैरेकः सूर्यमासो मासद्वयात्मकश्च ऋतुः ततःएकसूर्यर्तुपरिसमाप्तौ कर्ममासद्वयमपेक्ष्य एकोऽधिकोऽहोरात्रः प्राप्यते सूर्यर्तुश्च आषाढादिकस्ततः आषाढादारभ्य चतुर्थे पर्वणि एकोऽधिको

ऽहोरात्रो भवत्यष्टमे पर्वणि गते द्वितीयः तृतीयो द्वादशे पर्वणि चतुर्थः षोडशे, पञ्चमो विंशतितमे, षष्ठश्चतुर्विंशतितमे इति । अवमरात्रश्च कर्म्ममासद्वयमपेक्ष्य चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासा श्च श्रावणाद्यास्ततो वर्षाकालस्य श्रावणादित्युक्तं प्राक् । संप्रति यमपेक्ष्यातिरात्रा यं चापेक्ष्य अवमरात्रा भवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति ॥

छच्चे व य अइरत्ता, आइच्चाओ हवंति माणाहि ।
छच्चेव ओमरत्ता, चंदाहि हवंति माणाहि ॥ १ ॥

अतिरात्रा भवन्ति आदित्यमपेक्ष्य किमुक्तं भवति आदित्यमासानपेक्ष्य कर्म्ममासचिन्तायां प्रतिवर्षं षट् अतिरात्रा भवन्तीति (माणाहि) जानीहि । तथा षट् अवमरात्रा भवन्ति चन्द्रात् चन्द्रमपेक्ष्य चन्द्रमासमधिकृत्य कर्म्ममासचिन्तायां प्रति संवत्सरं षट् अवमरात्रा भवन्तीत्यर्थ इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्ता अवमरात्रा अतिरात्राश्च चं० प्र० १२ पाहु० । ज्यो० । सू० प्र०॥

अइ (ति) रत्तकंबलसिला–अतिरक्तकम्बलशिला–स्त्री०म-न्दरपर्वतस्योत्तरस्यां दिशि वर्तमानायामभिषेकशिलायाम् , " दो अइरत्तकंबलसिलाओ " स्था० २ ठा० ।

अइरा–अचिरा–स्त्री० विश्वसेनभार्य्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मातरि, ती० ए क० । आव० । स० । प्रव० ।

अइ (ए) रावण–ऐरावण–पुं० इन्द्रगजे, को० ।

अइ (ति) रित्त–अतिरिक्त–त्रि० अति–रिच्–क्त–अतिशयिते, श्रेष्ठे, भिन्ने, शून्ये च । तत्र भेदे " अतिरिक्तमथापि यद् भवेदिति " भाषा० । यस्य यावत्प्रमाणं युक्तं ततोऽधिकत्वे, वाच० । आचा० । अधिके, स्था० २ ठा० १ उ० । अतिप्रमाणे, स० । सूत्र० । अतिरेके, प्रश्न० सं० ५ द्वा० । भावे–क्त–अतिशये आधिक्ये च न०वाच० । नि०चू० ।

अइ (ति) रित्तसिज्जासणिय–अतिरिक्तशय्याशनिक–पुं० अतिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्यासनिकः । चतुर्थेऽसमाधिस्थाने, स चाऽतिरिक्तायां शय्यायां घट्टशालादिरूपायामन्येऽपि कीटिकादयः (कार्पटिकादयः) आवासयन्तीति तैः सहाधिकरणत्वादसमाधिस्थानमेव सहाधिकरणसम्भवादात्मपरावसमाधौ योजयतीति स० । दशा० । आ०चू० प्रश्न० ।

अइरुग्गय–अचिरोद्गत–त्रि०क्षणमात्रमुद्गते, रा० । प्रथमोदिते, " अइरुग्गए वि सूरे " उत्त० ३ अ० । " अइरुग्गयसमग-सुणिद्धचंदद्धसंठियणिडाला " तं० ।

अइरूव–अतिरूप–पुं०अतिक्रान्तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेश्वरे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र) भूतभेदे च प्रज्ञा०१ पद ।

अइ (ति) रेग–अतिरेक–पुं० अति–रिच्–घञ्–भेदे, प्राधान्ये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० ३ उ० । आधिक्ये, ज्ञा० १ अ० । " अइरेगरेहंतसरिसे " " अतिरेकेण राजमानस्सन् सदृशः " कल्प० । कर्मणि–घञ् । अधिकतरे,कल्प० ।

अइ (ति) रेगसंठिय–अतिरेकसंस्थित–त्रि० अतिरेकेण संस्थितं यस्य सः अतिशायितया संस्थानवति, "कयलीखंभाइरेगसंठिए " जी० ३ प्रति० ।

अइ [चि] रेण–अचिरेण–अव्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न०त० स्तोके काले, " अचिरेण सिद्धिपासायं " व्य०८उ० । विशे० ।

अइरोस–अतिरोष–पुं० अतिशयितक्रोधे,"अइरोसो अइतोसो अइहासो दुज्जणेहि संवासो । अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुयं पि लहुयं पि " ध० र० ।

अइ [चि] रोववन्नग–अचिरोपपन्नक–त्रि० न० त० अचिरजाते, आव० ४ अ० ।

अइरोहिय–अतिरोहित–त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुटेऽर्थे, अव्यवहिते च वाच० ।

अइ [ति] लोलुय–अतिलोलुप– त्रि० अतीव रसलम्पटे, उत्त० ११ अ० ।

अइ [ति] वइत्ता–अति(व्रज्य)पत्य–अव्य०अति–पत्–व्रज् वा–क्त्वा ल्यप् । अतिक्रम्येत्यर्थे, ज्ञा०१ अ० । प्रविश्येत्यर्थे च प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अइवट्टण–अतिवर्तन–न० उल्लङ्घने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अइ [ति] वाइ [ति] न्–अतिपातिन्– त्रि० अतीव पातयितुं शीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अइवाइत्ता–अतिपातयितृ– त्रि० अति–पत–णिच्–शीलाऽर्थे तृन् । प्राणिनां विनाशनशीले, " णो पाणे अइवाइत्ता भवइ " स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अतिपात्य–अव्य० अति–पत्–क्त्वा–ल्यप्–प्राणिनो विनाश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अइवाइय–अतिपातिक–त्रि० अतिपतनमतिपातस्स विद्यते यस्य सोऽतिपातिकः । प्राण्युपमर्दके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अइवाइया–अतिपातिका–स्त्री० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीभूतायाम्, आचा० १ श्रु० ए अ० ।

अइ [ति] वाएमाण–अतिपातयत्–त्रि० प्राणिन उपमर्दयति, सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

अइ (ति] वाय–अतिपात–पुं० अतिपतनमतिपातः । प्राण्युपमर्दने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विभ्रंशे, स्था० ५ ठा० । विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पा० ।

अतिवाद–पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अइवास–अतिवर्ष–पुं० अतिशयवर्षे, वेगवद्वर्षणे, ज०२ श०६उ०

अइ (ति) वाहग–अतिव्याघ्रात–त्रि० अतीव घ्राते, दुर्गन्धादिविशिष्टे, वृ० ४ उ० ।

अइ [ति) विज्ज–अतिविद्वस्–त्रि० विदितागमसद्भावे, "तम्हा इ (ति) विज्जो णो पडिसंजलिज्जा" आचा०१ श्रु०४ अ० ।

अइ [ति] विसय–अतिविषय–पुं० प्रबलपञ्चेन्द्रियव्यापारे, तं० ।

अइ [ति] विसाया–अति [विस्वादा] [विषयगा] [वृषाका] [विपाचा] विषादा–स्त्री० अतिविषादाः दारुणविषादहेतुत्वात् १ यद्वा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽकार्यकरणे विषादः क्रोधो यासां तास्तथा २ यद्वा अतीति भृशं विषमतिविषम् आसमन्ताद् ददति पुरुषाणां विरक्ताः सत्यः सूर्यकान्तावदिति अतिविषादाः ३ यद्वाऽतीति भृशं वीति नानाविधः स्वादो लाम्पट्यं यासां ता अतिविस्वादास्तथा ४ अतिविषयगा अतिविषयात् प्रबललाम्पट्यात् षष्ठीं नरकपृथिवीं गच्छन्ति अकव

तिंस्त्रीरत्नवत्सुलटमातृवद्वा प्राकृतत्वात्तत्र यद्योपे सन्धिः ५ यद्वा अतिविषादा इष्टपुरुषाप्राप्तौ स्वेन्द्रियविषयाप्राप्तौ वाऽतिविषादो यासां ताः ६ अतिकोपात्पुरुषं विषमदन्ति भक्षयन्ति इति अतिविषादाः ७ अतिवृषं महत्पुण्यं येषां तेऽतिवृषास्साधवः तेषां कायन्ते यम इवाचरन्ति चारित्रप्राणहरणेनेति ८ यद्वा अतिवृषाणां कायन्ति अग्नीयन्ति संयमप्रद्ज्वालनेनेति अतिवृषाकाः ९ यद्वा अतिवृषे लोकानां पुण्यरूपमहद्धने आत्तृशं चायन्ते चौर इवाचरन्ति यास्तास्तथोक्ताः १० एता दश व्युत्पत्तयः । दुष्टस्वभावासु स्त्रीषु, तं० ।

अइ [ति] विसाल–अतिविशाल–त्रि० अत्यन्तविशाले, यमप्रभशैलस्य दक्षिणपार्श्वे वर्त्तमानायाम राजधान्याम्, स्त्री० द्वी० ।

अइ [ति] वुट्टि–अतिवृष्टि–स्त्री० अति–वृष्–क्तिन्–अधिकवर्षे, स० शस्योपघातकोपद्रवविशेषे, दर्श० ।

अइस–ईदृश–त्रि० अयमिव पश्यति इदम् दृश–कर्मकर्त्तरि–किन् इशादेशो दीर्घः । अतांऽइसः दं । ४ । ३ इति सूत्रेणापभ्रंशे ईदृशशब्दस्य अइसाऽऽदेशः । एतत्तुल्ये, प्रा० ।

अइसइय–अतिशयित–त्रि० विशेषिते, को० ।

अइ (ति) संकिलेश–अतिसंक्लेश–पुं० आत्यन्तिके चित्तमालिन्ये, पंचा० १५ विव० ।

अइ [ति] संधाण–अतिसंधान–न० प्रत्यापने, आव० ४ अ० ।

अइ [ति] संधाणपर–अतिसंधानपर–त्रि० असद्भूतगुणं गुणवन्तमात्मानं ख्यापयति, आव० ४ अ० ।

अइ [ति] संपओग–अतिसंप्रयोग–पुं० गार्ध्ये, " अतिशयेन द्रव्येण कस्तूरिकादिना परस्य द्रव्यस्य संप्रयोगः । अतिशयद्रव्येण द्रव्यान्तरस्य संप्रयोगे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अइ [ति] सक्कणा–अतिष्वष्कणा–स्त्री० अग्निरूर्ध्वज्वलितेति इन्धनानां समीरणायाम, नि० चू० २ उ० ।

अइ [ति] सय–अतिशय–पुं० अति–शीङ्–अच्–आधिक्ये, अतिरेके, वाच० । प्रकर्षभावे, नं० । अतिक्रान्तः शयं हस्तम् अत्या० स० हस्तातिक्रमकारके, त्रि० अतिशय–अस्त्यर्थेऽच् । अतिशयवति, वाच० (आचार्योपाध्यायादीनां तीर्थकृतां चातिशयाः अइसेसशब्दे)

अइ [ति] सयणाणि–[न्] अतिशयज्ञानिन्–पुं० अवधिज्ञानादिकलिते, व्य० १ उ० ।

अइ [ति] सयमईयकाल–अतिशयातीतकाल–पुं० अतिशयेन योऽतीतः कालः समयः स तथा (मकरोऽलाक्षणिकः) अतिव्यवहिते काले, स० ।

अइसयसंदोह–अतिशयसंदोह–त्रि० अतिशयान् संदृभ्य प्रपूरयति यत्तदतिशयसंदोहम् । अतिशयसंदोहबद्धे, अतिशयसमूहसंपन्ने, षो० १५ विव० ।

अइसरिअ–ऐश्वर्य–न० ईश्वरस्य भावः । अइदैत्यादौ च ८।१।८ इति सूत्रेणैतः अइ इत्यादेशः । अणिमाद्यष्टविधभूतिभेदे, प्रा० ।

अइ [ति] साइ [न्]–अतिशायिन्–त्रि० ऋद्धिमत्सु, केवलमनःपर्यायाऽवधिमच्चतुर्दशपूर्वेवित्सु, आमर्षौषध्यादिप्राप्तर्द्धिषु, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

अइसिरिहर–अतिश्रीभर–पुं० अतिशयिते श्रीभरे, (शोभासमूहे) " अइसिरिभरपिंजणविसप्पंतकंततोईतकाहककुहं " कल्प० ।

अइ [ति] सीय–अतिशीत–त्रि० अतिशयिते शीते, स्था० ५ ठा० १ उ० । तिशयितं शीतम् प्रा० स० । अत्यन्तशीतलस्पर्शे, तद्विशिष्टे. त्रि० वाच० ।

अइ [ति] सुहुम–अतिसूक्ष्म–त्रि० अतिशयसूक्ष्मबुद्धिगम्ये, षो० ११ वि० ।

अइ [ति] सेस–अतिशेष–पुं० अतिशये, आचार्योपाध्यायगण पञ्च अतिशयाः ।

(सूत्रम्) आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंच अतिसेसा पण्णत्ता तं जहा आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स पाये निगिज्झिय निगिज्झिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा णाइक्कमइ । आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स उच्चारपासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ । आयरियउवज्झाए पभूइच्छावेयावडियं करेज्जा इच्छा णो करेज्जा । आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सयस्स एगराइं वा दुराइं वा एगागी वसमाणे णाइक्कमइ । आयरियउवज्झाए बाहिं उवस्सगस्स एगराइं वा दुराइं वा वसमाणे णाइक्कमइ स्था० ५ ठा० २ उ० । व्य० ६ उ० ॥

आचार्यश्चासावुपाध्यायश्चेत्याचार्योपाध्यायः स हि केषांचिदाचार्यः केषांचिदुपाध्यायस्तत एवमुक्तं यावता पुनः स नियमादाचार्य एव तस्य गणे गणमध्ये पञ्च अतिशेषा अतिशयाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा आचार्योपाध्यायानामुपाश्रयस्यान्तर्मध्ये पादान् निगृह्य निगृह्य तथा पादा यतनया प्रस्फोटयितव्या यथा धूलिः कस्यापि कृपकादेर्न गच्छति एवं शिक्षयित्वा शिक्षयित्वा प्रस्फोटयतः प्रस्फोटको नातिक्रामति एष एकोऽतिशयः । यथा आचार्योपाध्यायान् उपाश्रयस्यान्तरुच्चारं प्रस्रवणं वा विगिञ्चयतो व्युत्सृजतो विशोधक उच्चारादिपरिष्ठापको नातिक्रामति एष द्वितीयस्तथा आचार्योपाध्यायः प्रभुरतो वैयावृत्त्यमिच्छया कारयेत् न बलाभियोगतः " आणा बलाभियोगो निग्गंथाणं न कप्पए काउमिति " वचनात् एष तृतीयः । तथा आचार्योपाध्याय उपाश्रयस्यान्तर्मध्ये एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसेन् नातिक्रामति नातीचारमाप्नयति एष चतुर्थः । आचार्योपाध्याय उपाश्रयाद्बहिरेकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति इत्येष सूत्रसंक्षेपार्थः (व्य० ६ उ०) आचार्योपाध्यायस्य वसतेरन्तः पादप्रस्फोटनप्रमार्जने इत्ययं प्रथमोऽतिशयस्तत्र भाष्यविस्तरः ।

बहिअंतो विवज्जासो, पणगं सागारिचिट्टइ मुहुत्तं ।
विइयपयं विच्छिन्ने, निरुद्धवसहीए यजणाए ॥

बहिरन्तश्च यदि विपर्यासो बहिरप्रस्फोट्यान्तः प्रस्फोटनरूपस्तदा पञ्चकं पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमय बहिः सागारिको वर्तते ततस्तिष्ठति मुहूर्त्तं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरन्तर्मुहूर्त्तमित्यर्थः । अथैतावता कालेन सागारिको नापयाति तर्हि द्वितीयपदमपवादपदमाश्रीयते । बहिः पादा अप्रस्फोटिताऽप्यन्तर्वसते: प्रविश्यते तत्र विस्तीर्णे उपाश्रये अपरिभोगे प्रदेशे आचार्यपादाः प्रस्फोटयितव्याः निरुद्धायां संकटायां वसतौ यथाचार्यसत्कपट्टकावयवकाशस्तत्र यतनया यथा न कस्यापि धूलिर्लगतीत्येवंरूपया प्रस्फोटयितव्याः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुरिदमाह ॥

बाहिं अपमज्जंते. पणिगं गणिणो उ सेसए मासो ।

अप्पमिलेह दुपेहा, पुव्वुत्ता सत्त भंगा उ ॥

आचार्यः कुलादिकार्येण निर्गतः प्रत्यागत उत्सर्गेण तावद्वसतेर्बहिरेव पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति चेत्यर्थः । यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान्न स्फोटयति तदा बहिरप्रमार्जने गणिन आचार्यस्य प्रायश्चित्तं पञ्चकं शेषके साधौ बहिः पादान् अप्रमार्जयति लघुको मासः प्रायश्चित्तम् । तस्मात् बहिः पादान् प्रस्फोट्यान्तः प्रवेष्टव्यं तच्च प्रस्फोटनं विधिना कर्त्तव्यम् । स चायं विधिः प्रत्युपेक्षते ततः प्रमार्जयति । अविधिः पुनरयं न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति ॥ २ ॥ प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति च ॥ ४ ॥ अत्राद्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासिकं चतुर्थे भङ्गे भङ्गाश्चत्वारस्तद्यथा दुष्प्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ १ ॥ दुष्प्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः शेषेषु तु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं पञ्चरात्रिन्दिवम् एतदेवाह ॥ अप्रत्युपेक्षणे उपलक्षणमेतत् अप्रमार्जने च । तथा दुष्प्रेक्षायामत्राप्युपलक्षणं ज्ञेयमिति दुष्प्रमार्जनतायां च पूर्वोक्ताः कल्पाध्ययनोक्ताः सप्त भङ्गाः । तत्र चोक्तः प्रायश्चित्तविधिः ।

बहि अंतो विवज्जासो, पणगं सागारिय असंतम्मि ।
सागारियम्मि उ चले, अत्थंति मुहुत्तगं थेरा ।

यदि सागारिके असति अविद्यमाने बहिरन्तर्विपर्यासो भवति बहिरनास्फोट्यान्तः प्रस्फोटयतीत्यर्थः तदा गणिनः प्रायश्चित्तं पञ्चकम् । अथ सागारिको बहिस्तिष्ठति सोऽपि च चलश्चलो नाम मुहूर्त्तमात्रेण गत्वा तस्मिन्सागारिके चले तिष्ठति मुहूर्त्तंक-स्वल्पार्थे कप्रत्ययोऽल्पं मुहूर्त्तं किमुक्तं भवति सप्ततालातिमात्रं सप्तपदातिक्रमणमात्रं वा कालं स्थविरास्तिष्ठन्ति ।

थिरनिक्खित्ते सागा-रिय अणुवउत्ते पमज्जिउं पविसे ।
निव्विक्खित्तुवउत्ते, अंतो अ पमज्जणा तहि ॥

स्थिरो नाम यत्रावस्थायां ध्रुवकर्म्मिको व्याक्षिप्तः कर्म्मणि कर्त्तव्ये व्याकुलस्तद्विपरीतोऽव्याक्षिप्तः । उपयुक्त आचार्यान् दृष्ट्वा निरीक्षमाणस्तद्विपरीतोऽनुपयुक्तः । तत्र स्थिरे व्याक्षिप्तेऽनुपयुक्ते सागारिके विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रविशेत् स्थिरे निर्व्याक्षिप्ते उपयुक्ते बहिः सागारिके सति वसतेरन्तः प्रमार्जना पादानाम् । अथाचार्यस्य पादाः किं स्वयमेवाचार्येण प्रस्फोटयितव्याः उतान्येन साधुना तत आह ।

आभिग्गहियस्स असति, तस्सेव रओहरेण अण्णयरे ।
पाउंछणाणिपणव, पुस्संति य आणाणुन्नत्तेणं ॥

केनापि साधुना अभिग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य बहिर्निर्गतस्य प्रत्यागतस्य पादाः प्रस्फोटयितव्या इति स यद्यस्ति तर्हि तेन प्रमार्जनायोपस्थातव्यं तत्र चाचार्यस्यात्मीयमन्यदौर्णिकं पादप्रोञ्छनकमन्येन साधुना पादप्रमार्जनेनापरिभुक्तं तेनाचार्यस्य पादान् प्रस्फोटयति । अथाभिग्रहिको न विद्यते तत आभिग्रहिकस्यासत्यभावे अन्यतरेण तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणेन और्णिकेन वा पादप्रोञ्छनकेनानन्यभुक्तेन पादान् प्रोञ्छयति । यदि पुनरव्यापृतोऽपि निष्कारणमाचार्यस्य पादान्न प्रमार्जयति तदा मासलघु । अथात्मीयेन रजोहरणेन पादप्रोञ्छनकेन वाऽन्यपादप्रमार्जनतः परिभुक्तेन प्रमार्जयति तदापि मासलघु । यदि बहिर्वसतेः सागारिकस्तिष्ठतीत्याचार्यस्य पादा न प्रस्फोटितास्तर्हि वसतेरन्तः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्रायं विधिः ।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्पणओ वासए वविट्ठस्स ।
एमेव भिक्खुयस्स वि, नवरिं वाहिं चिरयरं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि तस्यां विपुलायां वसतावपरिभोगे अवकाशे आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः । अथ संकटा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मीयो वण्टकाद्यवकाशस्तत्र ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्योपविष्टस्य पादाः प्रमार्जनीयास्ते च कुशलेन साधुना तथा प्रमार्जनीया यथा अन्ये साधवो धूल्या न भ्रियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेवं भिक्षोरपि द्रष्टव्यं नवरं यदि बहिर्वसतेः सागारिकस्तिष्ठति ततश्चिरतरमपि कालं प्रतीक्षेत यावच्चलसागारिको व्यतिक्रामति । यदि पुनर्भिक्षुर्वसतेर्बहिः सागारिकाभावेऽपि पादावप्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशति तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु ॥

निगिज्झिय पमज्जाहि, अभणंतस्सेव मासियं गुरुणो ।
पायरयक्खमगादी, चोयग कज्जागते दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति कृत्वा वसतेरन्तः पादाः प्रस्फोटयितव्यास्ततः संकटायां वसतौ पादान् प्रमार्जयितुमुपस्थितं साधुमाचार्यो ब्रूते आर्य ! निगृह्य पादान्प्रमार्जय । किमुक्तं भवति तथा यतनया पादान् प्रमार्जय यथा पादधूल्या न कोऽपि साधुर्भ्रियते । अथैवं न ब्रूते तत एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्तं मासलघु । तथा पादरजसा क्षपकादयः खरण्टन्ते तथा सति वक्ष्यमाणाः दोषाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्बहिर्गच्छति । सूरिराह कार्यागते कार्येषु समापतितेष्वगते दोषास्तस्माद्गच्छति । अधुना " पायरयक्खमगादी " इत्येतत् व्याख्यानयति ॥

तवसोसितो व खमगो, इड्ढिमवुड्ढो व कोवितो वा वि ।
मा भंडणखमगादी, इति सुत्त निगिज्झिए जयणा ॥

तपसा शोषितस्तपःशोषितः क्षपकस्तस्य स्वल्पेऽप्यपराधे कोपो जायते ततः स आचार्यपादप्रमार्जनधूल्या विकीर्णः कुपितो भवेत् कुपितश्च सन् भण्डनं कृत्वा अन्यत्र गच्छेत् प्रविशेत् प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि ऋद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रव्रजितः स पादधूल्याऽवकीर्णो रुष्टः सन् भण्डनादि कुर्यात् । कोपितो नाम शैक्षकः कोऽपि रुष्टः प्रतिपद्येत तस्मात्क्षपकादिर्मा भण्डनं कार्षीदिति सूत्रे निगिज्झिय निगिज्झियेत्युक्तमस्याप्ययमर्थो यतनयेति ।

संप्रति " चोयग कज्जागते दोसा " इति व्याख्यानयति ॥

थाणे कुप्पति खमगो, किं चेव गुरुस्स निग्गमो भणितो ।
भण्णइ कुलगणकज्जे, चेइयनमणं च पव्वेसु ॥

स्थाने कुप्यति क्षपकस्तथा हि स पादधूल्या अवकीर्यते ततो मा कोपं कार्षीत् । किं चैवं गुरोराचार्यस्य निर्गमः केन कारणेन भणितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निर्गमनम् । आचार्य आह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते । कुलकार्ये उपलक्षणमेतत् सङ्घकार्ये च बहुविधे समापतिते तथा पर्वसु पाक्षिकादिषु चैत्यानां सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्त्तव्यमिति हेतोश्चाचार्यस्य वसतेर्बहिर्निर्गमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निग्गमणे, भणाति तो बाहि चिट्ठिए पुंछे ।
वुच्चति बहि अत्थंते, चोयग गुरुणो इमे दोसा ॥

चोदको भणति यदि एवं कुलादिकार्यनिमित्तमाचार्यस्य निर्गमनं ततो निर्गमने सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्बहिः सागारिक-

स्ततस्तावद्बहिस्तिष्ठतु यावत्सागारिको व्युत्क्रान्तो भवति ततो बहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति क्षपकादिदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्य आह उच्यते उत्तरं भण्यते हे चोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतेर्बहिः तिष्ठत इमे वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तानेवाह ॥

तण्हुण्हाविअभाविय, वुड्ढा वा अत्थमाणपुच्छादी ।
विणए गिलाणमादी, साहू सड्ढी पडिच्छंतो ॥

कुलादिकार्येण निर्गत आचार्य उष्णेन भाविते तृष्णा जायते ततस्तृष्णाभिभूतो वसतिमागतो यदि बहिर्वसतेः प्रतीक्षते यावत्सागारिकोऽपगच्छति ततस्तृष्णया उष्णेनादिशब्दादनागाढागाढपरितापनापरिग्रहः पीडिते मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्रविष्टस्सन् प्रचुरं पानीयमापिबेत् । ततो भक्ताजीर्णतया ग्लानत्वं भवेदित्यादिपरिग्रहस्तथा वृद्धा उपलक्षणमेतत् बालशैक्षासहायादयश्चाचार्ये तिष्ठति प्रतीक्षन्ते ते च प्रतीक्षमाणाः प्रथमद्वितीयपरिषहाभ्यां पीडिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् क्षपकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीक्षमाणा भोजनमकुर्वन्त औषधादिकं च गुरुणा विना अलभमाना गाढतरं ग्लानत्वाद्याप्नुवन्ति । तथा साधवः केचित्प्राघूर्णका गन्तुमनसस्तथा संज्ञिनः श्रावका अष्टम्यादिषु कृतभक्ताः पारणके भिक्षायामदत्तायामपारयन्त आचार्ये प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति तत्र साधूनां दिवसो गरीयान् वर्द्धते तत्र चोष्णादिपरितापना दोषाः । संज्ञिनां चान्तरायमित्येष गाथासंक्षेपार्थः ॥

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः " तण्हुण्हादिअभाविय " इत्येतद् व्याख्यानयति

तण्हुण्हभावियस्स, पडिच्छमाणस्स मुच्छमादी य ।
भत्तादिए गिलाणे, सुत्तत्थविराहणा चेव ॥

आचार्यः स्वरूपत उष्णेन भावितः कश्चित्कदाचित्प्रयोजनवशतो बहिर्गमनात् ततः कुलादिकार्येषु निर्गतस्तृष्णाभिभूतो वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकमपगच्छन्तं यावत्प्रतीक्षते ततः प्रतीक्षमाणस्य तृष्णया उष्णेन च तापितस्य मूर्च्छादयो भवन्ति आदिशब्दादागाढादिपरितापनापरिग्रहस्तथा वसतिप्रविष्टोऽतीव तृष्णाभिभूतः खरूस्य प्रचुरस्य पानीयस्याध्यानं ग्रहणं कुर्यात् प्रचुरं पानीयं पिबेदित्यर्थः । ततो भक्ताजीर्णतया ग्लानो भवेत् तस्मिंश्च ग्लाने सूत्रार्थपरिहाणिर्विराधना च तस्याचार्यस्य स्यात् ग्लानत्वेनाचार्यो म्रियेतेति भावः । अथवा सूत्रार्थपरिहाण्या अजानतां साधूनां ज्ञानादिविराधना स्यात् । सूत्रार्थाभावतो ऽजानन्तः साधवो ज्ञानादिविराधनां कुर्युरिति भावः ।

अधुना " वुड्ढावेति " व्याख्यानार्थमाह ।

वुड्ढासहसेहादी, खमगो वा पारणे विभुक्खुत्तो ।
चिट्ठइ पडिच्छमाणो, न भुंजेण लोइयमदिट्ठं ॥

वृद्धा वयोवृद्धा असहाः प्रथमद्वितीयपरीषहान् सोढुमसमर्थाः शैक्षका आदिशब्दात् ग्लानाश्चाचार्ये प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति ते च तथा तिष्ठन्तस्तृष्णादिभिः पीडिता मूर्च्छाद्याप्नुवन्ति ग्लानस्य च गाढतरं ग्लानत्वमुपजायते । यदि पुनरागतमात्र एव वसतौ प्रविशति ततो यथायोगं वृद्धादीनामकालहीनं संपद्यते इति न कश्चिद्दोषः अधुना " विणयगिलाणादि" इत्येतद्व्याख्यानयति (खमगो वा इत्यादि) क्षपको वा कोऽपि विकृष्टेन तपसा क्लान्तो विनयेन पारणके बुभुक्षितः प्रतीक्षमाणस्तिष्ठति न तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न दृष्टमिति कृत्वा ।

परितावअंतराया, दोसा होंति अभुंजणे ।
भुंजणे अविणादीया, दोसा तत्थ भवंति य ॥

एवं क्षपकस्य विकृष्टतपसा क्लान्तस्य प्रतीक्षणेनाभोजने महान् परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ भुङ्क्ते तर्हि भोजने तत्राविनयादयो विनयः प्रतीत आदिशब्ददृष्टानालोचितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमधिकृत्याह ।

गिलाणस्सोसहादी उ, न देंति गुरुणो विणा ।
ऊणाहियं व देज्जाहि, तस्स वेला तिगच्छति ॥

ग्लानस्यौषधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिशब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा ऊनमधिकं वा दद्युस्तस्य च ग्लानस्याचार्ये प्रतीक्षमाणस्य वेलातिगच्छति ।

संप्रति "साहूसड्ढी" इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गंतुमणा, वंदिय जो तेसि उण्हसंतावो ।
पारणयपडिच्छंते, सड्ढे वा अंतरायं तु ॥

प्राघूर्णकाः केचित्साधव आगतास्ते गन्तुमनसस्ते यद्याचार्यमवन्दित्वा अनापृच्छ्य गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्ततः प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति आचार्यश्चिरेण वसतिं प्रविष्टस्तावद्दिवस आ समन्तात्ततोऽभवत् ततो गुरुं वन्दित्वा व्रजतां य उष्णसंतापस्तेषां स आचार्यनिमित्तकस्तथा श्राद्धे अष्टम्यादिषु पर्वसु कृताभक्ते पारणके आचार्ये प्रतीक्षमाणे अन्तरायं कृतं भवति।

उपसंहारमाह ।

जम्हा एते दोसा, तम्हा बाहिं चिरं तु वसहीए ।
गुरुणा न चिट्ठियव्वं, तस्स न किं दोस होंते य ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्बहिश्चिरं स्थातव्यं भिक्षुणा पुनश्चिरमपि स्थातव्यं यावत्सागारिको न प्रयाति ततो बहिः पादान्प्रमृज्यान्तर्वसतेः प्रवेष्टव्यम् । अत्र चोदक आह तस्य भिक्षोः किमेते अन्तरोदिता दोषा न भवन्ति ।

आचार्य आह ।

अणेगबहुणिग्गमणे, अब्भुट्ठणभाविया य हिंडंता ।
दसविह वेयावच्चे, सग्गामे बहिं च वायामो ॥
सीउण्हसहा भिक्खू, न य हाणी वायणादिया तेसिं ।
गुरुणो पुण ते नत्थी, तणमज्झितो य खेयसे ॥

अनेकैः कारणैर्बहूनां निर्गमनमनेकबहुनिर्गमनं तस्मिन् तथा गुर्वादीनामभ्युत्थाने आसनप्रदानादौ च तथा भिक्षार्थं हिण्डमाना भाविता व्यायामितशरीराः । यदुक्तमनेकैः कारणैर्बहुवारं निर्गमनं तत्र कारणान्याह दशविधवैयावृत्त्यनिमित्तं स्वग्रामे बहिः परग्रामे अनेकवारमनेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा भिक्षवो न च तेषां भिक्षूणां वाचनादिका वाचनादिविषया हानिर्गुरोः पुनरनेके बहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तृष्णाद्यध्यासितुमसहिष्णव आचार्या वसतेर्बहिः सागारिके तिष्ठति लघु वसतेरन्तः प्रविशन्ति ततः खदइन कुशलेन पादान् प्रमार्जयन्ति ।

इदानीं भिक्षोरपि द्वितीयपदापवादमाह ।

धुवकम्मियं व नाउं, कज्जेणमणेण वा अणातिपातिं ।
अब्भक्खित्तानुत्तं, न उ दिक्खति बाहि भिक्खुं वि ॥

वसतेर्बहिः सागारिकं ध्रुवकर्म्मिकं वा लोहकारादिकमन्येन वा कार्येणान्यमपि सागारिकमनतिपातिनमिच्छन्तं तथा अव्याक्षिप्तमायुक्तं च ज्ञात्वा भिक्षुरपि बहिर्नोदीक्षेत न प्रतोक्षेत किन्तु वसतिं प्रविश्यात्मीयेऽवकाशे यतनयाऽन्यतः पादौ प्रमार्जयेत् । प्रथमोऽतिशयो गतः ।

आचार्योपाध्यायस्य अन्तरुपाश्रयस्य उच्चारप्रस्रवणत्यजननामा द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति द्वितीयं विभावयिषुरिदमाह ।

बहिगमणे चउगुरुगा, आणादी वाणिए य मिच्छत्त ।

पडियरणमणाभोगे, खरिगुहमरुए तिरिक्खादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषाः । तथा "वाणिए य मिच्छित्तमिति " वणिजे अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चादकुर्वति केषाञ्चिन्मिथ्यात्वमुपजायते । इयमत्र भावना । आचार्यं संज्ञाभूमिं व्रजन्तं ततः प्रत्यागच्छन्तं च दृष्ट्वा वणिजो निजनिजापणे स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्तं च तथा वणिजां बहुमानेनाऽभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये मन्यन्ते गुणवानेष आचार्यो येन वणिज एवमेनमभ्युपतिष्ठन्ति तस्मादस्माकमपि पूज्य इति तेऽपि पूजयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजति तदा चतुरो वारान् गमने प्रत्यागमने चोत्थातव्यं ते चालस्यं मन्यमाना अभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा आचार्यं दृष्ट्वाऽन्यतो मुखं कुर्वन्ति तांश्च तथा कुर्वतो दृष्ट्वा अन्ये चिन्तयन्ति नूनमेष प्रमादी जातो ज्ञातोऽपि गुणवानपि यदीदृशः पतति तर्हि न किञ्चिदिति ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति । तथा आचार्यं लोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा मरुके ब्राह्मणस्य मारणबुद्ध्या प्रतिचरणं भवति । ततः संज्ञाभूमिं गतं विजने प्रदेशे मारयेत् तथा खरमुखीं नपुंसकीं दासीं वा प्रापयित्वोड्डाहं कुर्यात् अनाभोगेन वा वनगहने प्रविष्टे तिर्यगादौ च गर्दभ्यादौ कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरोभयसमुत्था दोषाः एष गाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रति " वाणिए य मिच्छत्तमि " त्येतद्विभावयिषुराह ।

सुयवंतं पि परिवा-रवं च वणियंतरव्वजणट्ठाणे ।

दुट्ठाण निग्गमम्मि य, हाणी य परमुहावण्णो ॥

संज्ञाभूमिं व्रजति ततः प्रत्यागच्छति वा तस्मिन्नाचार्ये श्रुतवानेष परिवारवांश्चेति मन्यमाना अन्तरा निजनिजापणेषु स्थिता वणिजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तः तेषां चोत्थानैः लोकस्य च भूयान् बहुमान आसीत् । कदाचिदाचार्यो द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो वारान् गच्छति प्रत्यागच्छति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानस्य हानिं कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य चिकीर्षवोऽभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा तमाचार्यं दृष्ट्वा परमुखा भवन्ति अन्यतो मुखं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अवर्णः स्यात्तथाहि द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं दृष्ट्वा ते वदन्ति नूनमेष आचार्यो द्वौ वारान्समुद्दिशति तेन द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं याति ।

गुणवं तु जओ वणिया, पूयंतसे वि सम्मुहा तम्मि ।

पडियं ति अणट्ठाणे, दुविह नियत्तो अभिमुहाणं ॥

वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये चिन्तयन्ति । गुणवानाचार्यो यतो वणिजः पूजयन्ति एवं चिन्तयित्वा तेऽप्यन्ये तस्मिन्नाचार्ये सम्मुखा भवन्ति वारद्वयसंज्ञाभूमिगमने वणिजामनुत्थाने ते चिन्तयन्ति नूनमेष आचार्यः पतितः कथमन्यथा वणिजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम । तथा च सति तेषामभिमुखानां द्विविधा निवृत्तिस्तथा ये श्रावकत्वं ग्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्तयन्ति यदेषोऽपि प्रधानो ज्ञाता कुशीलत्वं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं सर्वं जिनवचनमसारमिति मन्यमानाः श्रावकत्वाद्व्रतग्रहणाद्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति ।

संप्रति " पडियरणमणाभोगे " इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउट्टो त्ति व लोगे, पडियरिओ उवमारए मरुगो ।

खरियमुहसंगहं वा, लोभेउ तिरिक्खसंगहणं ॥

गुणवानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्यावृतोऽभवत् प्रणतोऽभूत् धिग्जातीयानां केषांचित्पापीयसां तथा पूजामाचार्यस्य दृष्ट्वा महामत्सरो भवेत् मात्सर्येण संज्ञाभूमिगतमाचार्यं प्रतिवर्य छन्ने प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जीविताद्व्यपरोप्य गर्त्तादिषु प्रच्छन्ने प्रदेशे स्थगयेत् । तथा खरिकामुखीं दासीं नपुंसकं वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य संग्रहं कुर्यात् यथा मैथुनमेष सेवमानो गृहीतस्तत उड्डाहः स्यात्तथा अनाभोगेनाचार्यो वनादिगुपिलमवकाशं संज्ञाव्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्यात्तत्र च (तिरिक्खत्ति) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वगता पश्चाद्वा प्रविष्टा भवेत् तां च केचित्प्रत्यनीका दृष्ट्वा उड्डाहं कुर्युः । मूलगाथायां यदुक्तं (तिरिक्खादीति) तत्रादिशब्दव्याख्यानार्थमाह ।

आदिग्गहणा उग्गा,-मिगा व तह अन्नतित्थिगा वावि ।

अहवा वि अण्णदोसा, इमेंमि वादिमादी य ॥

आदिग्रहणादुद्भ्रामिका कुलटा तथा अन्यतीर्थिका वा परिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं गता पश्चाद्वा प्रविष्टाऽभवत् । तत्र चात्मपरोभयसमुत्था दोषाः संग्रहणादयश्च प्रागुक्ताः । अथवा इमे वक्ष्यमाणा अन्ये वाद्यादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव संजिघृक्षुर्द्वारगाथामाह ।

वादीदंमियमादी, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।

आवस्सगदिट्ठंतो, कुमार अकरंतकरंते य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहवो दोषास्तथा सूत्रार्थानां गच्छस्य परिहाणिः । अथवा सूत्रार्थानां परिहाणिर्गच्छे च ज्ञानादीनां परिहाणिस्तथा आवश्यकमुच्चारावश्यकं कुर्वन्नकुर्वंश्च कुमारो दृष्टान्तः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।

सण्णागतो त्ति पिट्ठे, जयातिमारो त्ति चेति परवादी ।

मा होही गिमिवउभा, वच्चामि अलं विवाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुश्रुतमाचार्यं लोकपूजितं श्रुत्वा तेन समं वादं करिष्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संज्ञाभूमिं तदा गतस्तेन चागतेन वसतौ पृष्टं क आचार्यः साधुभिः कथितमाचार्याः संज्ञाभूमिं गता एवं श्रुत्वा स परप्रवादी ब्रूयात् स मम भयेन पलायितो यदि वा मम भयेनातीसारो जातः अथवा मा भवत्वेषां हत्येति व्रजामि अलं पर्याप्तं विवादेन ।

अधुना "दण्डियमादीति " व्याख्यानयति ।

चंदगवेज्झसरिसं, आगमणं एय इड्ढिमंताणं ।

पव्वज्जसावज्जग-इच्चादिगुणाण परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेन कथमपि पुत्तलिकाक्षिचन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सदृशं " काकतालीयवत् " राज्ञः

ऋद्धिमतां चान्येषामाचार्यसमीपे आगमनं आचार्ये च संज्ञाभूमिं गते दण्डिकादिरागतो भवेत् ततः संज्ञाभूमिं गतश्चाचार्य इति श्रुत्वा प्रतिनिवर्तन्ते यदि पुनः संज्ञाभूमिं न गता आचार्या भवेयुस्ततो धर्म्मं श्रुत्वा कदाचित्ते प्रव्रज्यां गृह्णीयुः प्रव्रजितेषु च राजादिषु महती प्रवचनप्रभावना । तथा श्रावकत्वं केचित्कदाचित्प्रतिपद्येरन् यथा भद्रका वा भवेयुस्तथा च चैत्यसाधूनां महानुपग्रहः । संज्ञाभूमिगमने चैतेषां गुणानां हानिः । संप्रति " सुत्तत्थाणं च गच्छे परिहाणी " इत्येतद्व्याख्यानार्थमाह ॥

सुत्तत्थे परिहाणी, वीयारं गंतु जा पुणो एति ।
तत्थेव य वोसरणे, सुत्तत्थेसुं न सीयंते ॥

विचारं विचारभूमिं गत्वा यावत् पुनरेति तावत्सूत्रार्थपरिहाणिः इयमत्र भावना संज्ञाभूमिर्दूरे भवेत्सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां चार्द्धकृतायामाचार्यः संज्ञावान् ज्ञातस्ततो गतः संज्ञाभूमिं तत उद्घाटायां पौरुष्यामर्थपौरुष्यां कालवेलायां समागतस्ततः सूत्रार्थपरिहाणिः तद्भावाच्च शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चान्यं गणं व्रजन्ति ततो गच्छस्यापि परिहाणिस्तत्रैव पुनरुपाश्रये संज्ञाया व्युत्सजने सूत्रार्थेषु साधवो न सीदन्ति । अत्र चावश्यकं कुर्वन्नकुर्वन् कुमारो दृष्टान्तः ॥

एवमेव भावयति ।

तीरगए ववहारे, खीरगते होंति तदिह उट्ठाणे ।
कोसस्स हाणि परचमु-पेल्लण रज्जस्स अपसत्थे ॥

कुमारस्याऽऽस्थाने समुपविष्टस्यार्थिनः प्रत्यर्थिनश्च व्यवहारेणोपस्थितास्तेषां चोत्तरोत्तरेण व्यवहरतां व्यवहारस्तीरं गतः परं नाद्यापि समाप्तिमुपयाति तस्मिश्चासमाप्ते व्यवहारे सति राजकुमारः संज्ञावान् जातस्तत उत्थाय संज्ञाभूमिं गतः स च यावन्नायाति तावदर्थिनः प्रत्यर्थिनश्च क्षीरोदकसंयोगादिवदेकीभूतास्ततो राजकुमारस्य प्रत्यागतस्य ते ब्रुवते वयं परस्परं स्वस्थीभूताः एवं सदा सर्वत्र समस्तादपि लत्तादिप्रमाणाद् दण्डायपदात् परिभ्रष्टास्ततः कोशस्य हानिर्जाता तां च ज्ञात्वा परचमूः परबलमागच्छेत् तया च राज्यस्य प्रेरणमेषोऽप्रशस्ते दृष्टान्तः । प्रशस्ते पुनर्दृष्टान्तः स्वयं भावनीयः । स चायं प्रथमत एवावश्यकमुच्चारादेः कृत्वा आस्थाने समुपविशति उपविष्टो यदि संज्ञावान् भवति ततः प्रच्छन्ने प्रदेशे व्युत्सर्जति एवं तस्य कुर्वतः प्रभूतं प्रभूततरं दण्डायपदं जातं तथा च सति कोशस्य महती वृद्धिस्ततः परबलस्य प्रेरणं राज्यान्तरसंग्रहः । एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः । य आचार्यो बहिस्संज्ञाभूमिं व्रजति तस्य प्रागुक्तप्रकारेण सूत्रार्थपरिहाणिस्तत्परिहाण्या गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रातीच्छिकानां चान्यत्र गणान्तरे गमनात् । यस्तु तत्रैवोपाश्रये व्युत्सृजति तस्य न किञ्चिदपि परिहीयते इति सर्वं सुस्थम् ।

एतदेवाह ।

वेलं सुत्तत्थाणं, न जंजए दंडियादिकहणं वा ।
पच्छण्णअमयकोसे, पुच्छा पुण सोहणा विणए ॥

यथा बहिर्निर्गन्तव्यमेवं ग्रामादीनामन्तरपि सूत्रार्थानामपरिहाणिनिमित्तं दण्डिकादीनामागतानां धर्म्मकथाया अविघ्ननिमित्तं च संज्ञाव्युत्सृजनाय न गन्तव्यं किन्तूपाश्रयस्यान्तर्व्युत्सृजनीयं येन सूत्रार्थवेला न जनक्ति, नापि दण्डिकादीनामागतानां धर्मकथनं विहनयति । पूर्वमेव चोपयोगः कर्त्तव्यः किं मम संज्ञा भवे-

अ वा । तत्र यदि शङ्का तदा कृतावश्यकेन सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां च सूत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तथापि न तावदासितव्यं यावदत्यवश्यमुत्थेयं भवति किन्त्वग्रे । अत्रार्थे निदर्शनमेक आचार्य आवश्यकं शोधयित्वा तिष्ठति दण्डिकश्च धर्म्मश्रवणार्थमागत आचार्येण धर्मकथा प्रारब्धा स च धर्म्मकथाक्षिप्तो राजकुमारो धर्म्मं शृण्वन्नभीक्ष्णमभीक्ष्णं कायिकीव्युत्सृजनायोत्तिष्ठति आचार्यस्य प्रच्छन्नो मूत्रकोशः समर्प्यते प्रच्छन्नं कायिकीमात्रकं साधवः समर्पयन्ति तत्र कायिकीं व्युत्सृजति । ततो विनये लोकोत्तरिके बलवति राज्ञः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव विभावयिषुरिदमाह ॥

निद्धाहारो वि अहं, असइं उट्ठेमि नेस कहयंते ।
पासगतो तं (सम्म) मत्तं, वत्थंतरियं पणामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्निग्ध आहारस्तथाऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय पुनःपुनरुत्तिष्ठामि । आचार्यस्तु कथयन् रूक्षाहारोऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय नोत्तिष्ठति नूनं मध्ये य एष आचार्यस्य पार्श्वे स्थितः क्षुल्लकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छन्नं वस्त्रान्तरितं प्रणमयति समर्पयति तत्र कायिकीमाचार्यो व्युत्सृजति एतच्च यदि पृच्छयते तर्ह्यविनयः कृतो भवति तस्मादुपायेन पृच्छामीति विचिन्त्येदं पृच्छति ॥

विणओ लोइयलोउ-त्तरिओ त्ति य वली ततो गंगा ।
कत्तोमुही अचलंतो, जाणिति निवं आगिति जतो ॥

राजा सूरिमापृच्छति भगवन् ! किं लौकिको विनयो बलीयान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्येणोक्तमयमर्थः परीक्षणां परमेवं ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो बलीयान् तत्र परीक्षा कर्तुमारब्धा आचार्येणोक्तं यस्तव दृष्टिप्रत्ययो यं वा कृत्वा त्वं जानासि न एष विनयभ्रंसी तं प्रेषय । यथा कुतोमुखी गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो राजा य आकृतिमान् यश्च दृष्टप्रत्ययस्तं प्रेषयति व्रज कुतोमुखी गङ्गा वहति सोऽचलन् तत्रैव स्थितो नृपं भणति यथा पूर्वमुखी गङ्गा वहति लोकोऽप्यन्य एतत् जानाति । तत आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये यं त्वं विषमकरणनासादिभिर्विषमं जानासि । उक्तञ्च " विषमसमैर्विषमसमा, विषमैर्विषमाः समैः समाचाराः । करचरणवदननासा कर्णोष्ठनिरीक्षणैः पुरुषाः " विषमत्वाच्च विनयभ्रंसं करिष्यतीति तं प्रेषय ।

रण्णा पयंसितो एस, वयओ अविणीयदंसणो समणो ।
पच्चागय उस्सग्गं, काउं आलोयए गुरुणो ॥

एवमाचार्येणोक्ते राज्ञा यो विषमकरचरणादिना अविनीतदर्शनः श्रमणः प्रदर्शित एष व्रजतु कया दिशा गङ्गा वहतीति आचार्येण संप्रेषितः स आचार्यानापृच्छ्य तत्र गत्वा ततः प्रत्यागत्यैर्यापथिकयाः कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोः पुरत आलोचयति कथमित्याह ।

आदिच्चदिसा लोयण-तरंगतणमाइया य पुव्वमुही ।
मोहो य दिसाए मा होउ, पुट्ठो त्ति जणो तहेव अक्खो वि ॥

हे भगवन् ! युष्मत्पादानापृच्छ्याहं गङ्गातटं गतस्तत्र च गत्वा सूर्यं निर्ध्यातवान् यत आदित्याद्दिग्विभागः सम्यक् ज्ञायते एवमादित्यदिगालोचनं कृतं तथा तरङ्गैस्तृणादीनि पूर्वाभिमुखान्यूह्यमानानि दृष्टानि तत्र कदाचिद्दिग्मोहोऽपि स्यात्ततो मा भूद्दिग्मोह इत्यन्योऽपि जनस्त्रिसंख्याकः पृष्टः सोऽपि तथैवाह यथा पूर्वाभिमुखी गङ्गा वहतीति । एतच्च राज्ञा प्रत्ययि-

कप्रच्छन्नपुरुषैः परि (भावित) भावापितं तैरपि तथैव कथितम् ततो राजा प्राह ।

वहुवंधच्छेयमारण–निव्विसयधणवहारलोगम्मि ।
भवदंडो उत्तरितो, उच्चहमाणस्स तो वलितो ॥

लोके योऽस्माकमाज्ञां भनक्ति तस्य वधं लकुटादिप्रहारैस्ताडनं बन्धं निगडादिभिश्छेदं कर्णच्छेदादिकं केषाञ्चित् मारणं विनाशनमपरेषां निर्विषयकरणमन्येषां धनापहारं कुर्म्मस्तथाऽपि केचिदस्माकमाज्ञां भञ्जन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां भञ्जतामेतानि न भयानि सन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लोकोत्तरिका आज्ञां कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह "भवदंडो" इत्यादि पश्चार्द्धं यस्तीर्थकरगणधरादीनामाज्ञां भनक्ति तस्य परभवे हस्तच्छेदनादीनि भवन्ति एष लोकोत्तरे भवदण्डः अस्माद्भीतस्य साधोरुत्सहमानस्य स्वशक्त्यनिगूहनेनोद्यमं कुर्वतो विनयो वलीयान् । एवं लोकोत्तरिको विनयो वलिकः ।

अत्रैवापवादमाह ।

वितियपयं असतीए, अणाए उवस्सय व सागारो ।
न पवत्तति सन्ने वि, जे य समत्था समं तेहिं ॥
कुपहादीनिग्गमणे, नातिगभीरे अपच्चवायम्मि ।
वोसरियम्मि य गुरुणा, निसिरंति महंतदंडधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य संज्ञाभूमिमाचार्यो व्रजेत् । तदेव द्वितीयपदमाह । उपाश्रये च पश्चात्कृते संज्ञाभूमिर्नास्ति ततस्तस्या असति बहिर्व्रजेत् । (अणाएत्ति) यत्र न ज्ञायते एष आचार्यस्तत्रापि बहिर्व्रजेत् । अथवा उपाश्रये सागारिको विद्यते ततो बहिर्याति कस्यापि पुनरुपाश्रयस्य पश्चात्कृते विद्यमानेऽपि संज्ञा न प्रवर्त्तते सोऽपि बहिर्याति एतैः कारणैर्बहिर्गमनम् तत्र ये समर्थास्तरुणाः साधवस्तैः समं याति । तत्र यानि कुपथादीनि कुरथ्यादीनि तैर्गन्तव्यं तैर्गच्छतोऽपि प्रायः पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तत्रापि यन्नातिगम्भीरं नातिविषरमप्रत्यवायं प्रत्यवायविरहितं तत्राचार्यः संज्ञां व्युत्सृजति । येषां च सहायानां हस्ते महान्तो दण्डकास्ते महादण्डधराश्चतसृष्वपि दिक्षु संरक्षणपरायणास्तिष्ठन्ति व्युत्सृष्टे च गुरुणा पुरीषे ते महादण्डधरास्ततस्तरन्ति कस्मादेवं रक्षा क्रियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च " जम्मि कुलं आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खाहि " इत्यादि कथं पुनः स रक्षितव्य इत्यत आह ।

जह राया तोसलिओ, मणिपडिमा रक्खए पयत्तेण ।
तह होइ रक्खियव्वो, सिरिधरसरिसो य आयरितो ॥

यथा राजा तोसलिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा भवत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसदृश एष आचार्यः ।

अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

पडिमुप्पत्ती वाणिय, उदहिप्पातो उवायणं भीतो ।
रयणद्दुगे जिणपडिमे, करेमि जइ उत्तरे विग्घं ॥
उप्पातवसमउत्तर–मविग्घए एकपडिमं वा ।
देवयछंदेण ततो, जाया वितिए वि पडिमा तो ॥

प्रतिमयोरुत्पत्तिर्वक्तव्या सा चैवमेकस्य वणिजः समुद्रं प्रवहणेनावगाढस्यौत्पात उपस्थितः । ततः स औपयाचितिकं करोति यथा यद्येतदौत्पातिकमुपशाम्यति अविघ्नेनोत्तरामि च ततोऽनयोर्द्वयोर्मणिरत्नयोर्द्वे मणिमय्यौ जिनप्रतिमे कारयिष्यामि एवमौपयाचितिके कृते देवतानुभावेनौत्पातिकमुपशान्तमविघ्नं समुद्रोत्तरणमभूत् स चोत्तीर्णः सन् लोभेन एकस्मिन्मणिरत्ने एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया द्वितीये मणिरत्ने द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । देवताच्छन्देन ततो जाता द्वितीयेऽपि मणिरत्ने प्रतिमा ।

तो भत्तीए वणितो, सुस्सूसइ ता परेण जत्तेणं ।
ता दीवएण पडिमा, दीसंतिहरा उ रयणाई ॥

ततः कारापणानन्तरं ते प्रतिमे वणिको भक्त्या परेण यत्नेन शुश्रूषते ततः तयोश्च प्रतिमयोरिदं प्रातिहार्यं ते प्रतिमे यावद्दीपकः पार्श्वे ध्रियते तावद्दीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्येते इतरथा दीपकाभावे सप्रकाशे अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्येते ॥

सोऊण पाडिहेरं, राया घेत्तूण सिरिहरे छुहति ।
मंगलभत्तीए तो, पूएति परेण जत्तेण ॥

इदमनन्तरोदितं प्रातिहार्यं राजा तोसलिकः श्रुत्वा ते प्रतिमे स्वयमेवात्मीयश्रीगृहके भाण्डारे क्षिपति मुञ्चति ततो मङ्गलबुद्ध्या भक्त्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिंश्च दिवसे ते प्रतिमे श्रीगृहमानीते ततः प्रभृति राज्ञः कोशादिषु वृद्धिरुपजाता । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं तत एवं दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृहं प्रयत्नेन रक्षयति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयस्ततः कथमत्र मणिमयप्रतिमाभ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मंगलभत्ती अहिया, उप्पज्जइ तारिसम्मि दव्वम्मि ।
रयणग्गहणं तेणं, रयणज्जुतो तहायरितो ॥

श्रीगृहे द्रविणं रक्षणीयं मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रविणमप्यतिप्रभूतमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमतीर्थकरभक्तिश्चेति । प्रयत्नेन रक्षणे त्रीणि कारणानि तथा चाह । मङ्गलं मङ्गलबुद्धिर्भक्तिश्चाधिका तादृशे द्रव्ये समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहणं यथा ते रत्नप्रतिमे कारणत्रयवशाद्विशिष्टेन प्रयत्नेन रक्ष्येते शुश्रूष्येते च तथा शिष्यैराचार्यः प्रयत्नेन रक्षणीयः शुश्रूषणीयश्च । अथैवमाचार्ये रक्षिते शुश्रूषिते च को गुण इत्यत आह ।

पूयंति य रक्खयंति य, सीसा सव्वे गणिं सया पयया ।
इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पूयणे जम्हा ॥

गणिनमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजयन्ति शुश्रूषन्ते च यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके च गुणा भवन्ति इह लोके सूत्रार्थं तदुभयमुपयाति परलोके सूत्रार्थाभ्यामधीताभ्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनम् । अथवा पारलौकिका गुणाः "आयरिए वेयावच्चं करेमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति " इत्येवमादयः । गतो द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति तृतीयमाह "इच्छाए पहू वेयावडियं करेज्जा" इत्येवंरूपमतिशयमभिधित्सुराह ।

जेणाहारो उ गणी, सबालवुड्डस्स होइ गच्छस्स ।
तो अतिसेसपउत्तं, ऽमेहिं दारेहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणी आचार्यः सबालवृद्धस्य गच्छस्याधारस्ततस्तस्य भवत्यतिशयप्रभुत्वमतिशायिप्रभुत्वं तच्चेभिर्वक्ष्यमाणैर्द्वारैरवगन्तव्यम् । तान्येवाह ॥

तित्थयरपवयणे नि–ज्जरा य सावेक्खभत्तिवोच्छेतो ।

एएहिं कारणेहिं, अतिसेसा होंति आयरिए ॥

आचार्यस्तीर्थकरस्तीर्थकरानुकारी तथा सूत्रतोऽर्थतश्चाधीती प्रवचने तथा तस्य वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा भवति। तथा शिष्याः प्रातीच्छिका आत्मानुग्रहबुद्ध्या सूरेर्वैयावृत्यं कुर्वन्तः सापेक्षा भवन्ति सापेक्षाणां च भूयान् ज्ञानादिलाभो महती निर्जरा इतरे त्वकुर्वन्तो निरपेक्षास्तेषां महान्संसारस्तथा भक्तावाचार्यस्य क्रियमाणायां सकलस्यापि गच्छस्यानुग्रहकरणात्तीर्थस्याव्यवच्छेदः कृतो भवति। एतैः कारणैराचार्यस्य सूत्रोक्ता अतिशेषा भवन्त्यन्ये च वक्ष्यमाणा इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः। सांप्रतमेषां व्याख्या। तत्र प्रथमं तीर्थकरकल्पद्वारं व्याख्यानयति ॥

देविंद चक्कवट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य ।
अभिगच्छंति जिणिंदे, ते गोयरियं न हिंडंति ॥

जिनेन्द्रा भगवन्त उत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्राः शक्रप्रभृतयश्चक्रवर्त्तिन उपलक्षणमेतत् यथायोगं च बलदेवाश्च तथा माण्डलिकाः कतिपयमण्डलप्रभव ईश्वरास्तलवराश्चाभिगच्छन्ति। ततोऽपि ते गोचरचर्यां न हिण्डन्ते ॥

संखादीया कोडी, सुराण निच्चं जिणे उवासंति ।
संसयवागरणाणि य, मणसा वयसा व पुच्छंते ॥

संख्यातीताः सुराणां कोट्यो नित्यं सर्वकालं जिनान् तीर्थकृत उपासन्ते तथा सततं मनसा वचसा च पृच्छति सुरादिके मनसा वचसा च संशयव्याकरणानि करोति। ततो भिक्षां न हिण्डन्ते ।

उप्पएणणाणा जह नो अडंति,
चोत्तीसबुद्धातिसया जिणिंदा ।
एवं गणी अट्ठगुणोववेतो,
सत्था व तो हिंडइ इड्डिमं तु ॥

यथा उत्पन्ने ज्ञाने जिनेन्द्राश्चतुस्त्रिंशत् बुद्धातिशयाः सर्वज्ञातिशया देहसौगन्धादयो येषां ते तथा भिक्षां न हिण्डन्ते। एवं तीर्थकरदृष्टान्तेन गणी आचार्योऽष्टगुणोपेतोऽष्टविधगणिसंपदुपेतः शास्ता इव तीर्थकर इव ऋद्धिमान् न हिण्डते ॥

गुरुहिंडणम्मि गुरुगा, वसभे लहुया न निवारयंतस्स ।
गीतागीते गुरुलहु, आणादीया बहू दोसा ॥

आचार्ये भिक्षामटामीति व्यवसितं यदि वृषभो न निवारयति तदा तस्यानिवारयतः प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। अथ वृषभेण निवारितोऽपि न तिष्ठति तर्हि वृषभः शुद्धः आचार्यस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। तथा गीतार्थो भिक्षुश्चेन्न निवारयति तदा तस्य मासगुरु अगीतार्थस्य भिक्षोरनिवारयतो मासलघु। आचार्यस्य गीतार्थागीतार्थाभ्यां वारितस्यापि गमने प्रत्येकं चतुर्गुरु। आज्ञादय इमे वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तानेवाह ।

वाते पित्ते गणालोए, कायकिलेसे अचिंतया ।
मेढी अकारगे बाले, गणचिंता वादिइड्डिणो ॥

भिक्षामटतो वातो वा प्रकुपितो भवति तथा अत्युष्णपरितापेन पित्तमूर्च्छा भवति। तथा गणस्य गच्छस्य भिक्षाटनपरिश्रमत आलोकः कर्त्तव्यो न भवति। तथा भिक्षाटने कायक्लेशो भवति तस्माच्च सूत्रार्थपरिहाणिस्तथा सूत्रार्थयोरचिन्ता भवति। तथा मेढीभूत आचार्यस्तस्मिन् भिक्षामटति शिष्याणामात्मद्वाराभावात् प्राघूर्णकादीनां वात्सल्यकरणाभावः। तथा अकारकं चेत् द्रव्यं लभते तस्य भोजने ग्लानत्वमभोजने पारिष्ठापनिकादोषः। तथा भिक्षामटतो व्यालः श्वादिरुपतिष्ठेत तत्र चात्मविराधनादोषस्ततो गणचिन्ता। तथा वादी कोऽपि समागतः स च भिक्षागतमाचार्यं श्रुत्वा हीलयेत् उड्डाहं वा कुर्यात्। तथा ऋद्धिमान् समृद्धः आचार्यो भवतीति न स हिण्डापयितव्य इत्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वातद्वारमाह ॥

भारेण वेयणाए, हिंडंते उच्चनीयसासो वा ।
बाहुकडिवायगहणं, विसमाकारेण सूलं वा ॥

भारेण भक्तभृतभाजनभरेण वेदना भवति। तथा कोऽपि ग्रामो गिरौ निविष्टो भवेत् तत्र च कानिचित् नीचस्थानानि तानि भारेण वेदनायां सत्यां हिण्डमानस्य श्वासो भवति तथा कट्यां वातग्रहणं भवति। तथा ग्रामे विषमाकारेण व्यवस्थिते यत्र तत्र वा तिर्यक्शरीरं कृत्वा गच्छतः शूलं वा भवेत्।

अच्चुएहतावितो उ, खद्धदवाददीय छड्डणाई य ।
अप्पियणे असमाही, गेलने सुत्तभंगादी ॥

तथा अत्युष्णेन परितापितः सन् खद्धं प्रचुरं द्रवं पानीयमतितृषित आददीत। तथा परितापभावतः पुनः पुनः पानीयमापिबेत् तथा चाहारपानीयेन प्लावितः सन् न जीर्येत् अजरणाच्च छर्दनं वमनं भवेत् आदिशब्दात् आहारारुचिर्नोपजायते। अथवा पानीयं प्रभूतं न पिबति ततोऽसमाधिः। आहारारुचौ च पुनर्भोजने ग्लानत्वं ग्लानत्वे च सूत्रभङ्गः सूत्रपौरुषीभङ्गः आदिशब्दादर्थपौरुषीभङ्गश्च। गतं वातद्वारम्।

अधुना पित्तद्वारमाह ॥

बहिया य पित्तमुच्छा, पडणं उएहेण वा वि वसहीए ।
आदियणे छड्डणादी, सो चेव य पोरसीभंगो ॥

उष्णेन परितापितस्य पित्तप्रकृतेर्बहिः पित्तमूर्च्छावशतः पतनं भवेत्। तथा च सति भक्तभृतभाजनसहितस्य उड्डाहः। वसतौ वा पित्तमूर्च्छावशतः पतनं तत्र प्रभूतजलपानानन्तरमपि प्रचुरजलादानं तथा च सति त एव छर्दनादयः प्रागुक्ता दोषाः स एव सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्याश्च भङ्गः। गतं पित्तद्वारम् ॥

अधुना गणालोकद्वारमाह ॥

आलोगो तिन्नि वारे, गोणीण जहा तहेव गच्छे वि ।
नट्ठं न नाहिंति नियद-दीहसोही निसिज्जं च ॥

यथा गोपालस्तिसृषु वेलासु गवामालोकं करोति। तद्यथा प्राक् प्रसरन्तीनां मध्याह्ने छायासु स्थितानां विकालवेलायां गृहं प्रत्यागच्छन्तीनां यदि न करोति तदा न जानाति काचिन्नष्टा का वा गतेति एवमाचार्येणापि तिसृषु वेलासु गच्छेऽप्यालोकः कर्त्तव्यः। तद्यथा प्रातर्मध्याह्ने विकालवेलायां च तत्र यदि प्रातरावश्यके कृते गणालोकं न करोति तदा मासलघु भिक्षावेलायां द्वितीयं वारं गणालोकमकुर्वतो मासलघु तृतीयं वारं विकालवेलायामप्यकुर्वतो मासलघु। तत्राचार्यो यदि भिक्षां नाटयति तदा तिसृषु वेलासु गणालोकं कर्तुं न शक्नोति भिक्षामटन् कथं कुर्यात् गणालोके चाक्रियमाणे इमे दोषाः। कोऽपि साधुर्नष्टो भवेत् स च नष्ट इति ज्ञात्वा प्रत्यानीयते गणालोके पुनरकृते नष्ट इत्येव न ज्ञायते। तथा भिक्षाचर्यागमने कः स-

निवृत्तः को वा नेति न ज्ञायते । तथा गणालोके अक्रियमाणे को बाधं कालं भिक्षाचर्यां करोति को वा नेति केन ज्ञायते । तथा भिक्षामटत्याचार्ये भिक्षाचर्यात आगतानामालोचनायां कः शोधिं करोति । तथा भिक्षां हिण्डमाने सूरौ कोऽपि गृहनिषद्यां वाहयत्येतन्न ज्ञायते ॥

सो आवस्सयहाणिं, करेज्ज भिक्खालसा व अत्थेज्जा ।
तेण तिसंझालोगं, सिस्साण करेइ अत्थंतो ॥

भिक्षामटत्याचार्ये ये आवश्यककर्त्तव्या योगास्तेषां यः प्रमादतो हानिं करोति स न ज्ञायते तथा आचार्य एवास्माकं भिक्षामानेष्यतीति केचित् भिक्षालसा वसतावेव तिष्ठेयुर्न भिक्षामटेयुर्यत एवं गणालोकेऽक्रियमाणे इमे दोषास्तस्मात्तिसृष्वपि संध्यासु शिष्याणामालोकं तिष्ठन् भिक्षामहिण्डमानः करोति । गतं गणालोकद्वारम् ॥

अधुना कायक्लेशद्वारमाह ।

हिंडंतो उव्वातो, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।
नासेहिति हिंडंतो, सुत्तं अत्थं च आणेणं ॥

हिण्डमानः पुनर्भिक्षां महान् कायक्लेश इति (उव्वातोत्ति) परिश्रान्तो भवति परिश्रान्तत्वात्सूत्रमर्थं इति शिष्येषु प्रतीच्छिकेषु च सूत्रार्थानां परिहाणिस्ततो गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रातीच्छिकानां चान्यत्रान्यत्र गणान्तरे संगमात् । तथा हिण्डमानः सूत्रमर्थं चारेकेणाक्षेपेणात्मनो नाशयिष्यति । गतं कायक्लेशद्वारम् ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह ।

जा आससिउं भुंजइ, भुत्तो खेयं च जाव परिणेइ ।
ताव गतो सो दिवसो, नट्ठसती दाहिती किं वा ॥

यावद्भिक्षामर्थयित्वा क्षणमात्रमाश्वस्य भुङ्क्ते भुक्तोऽपि च खेदं भिक्षाटनपरिश्रमं यावत्प्रतिनयति स्फोटयति तावद्दिवसः सकलोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेला यत्र सूत्रस्यार्थस्य वा चिन्तां करोति अचिन्तितं च विस्मृतिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किं दास्यति न किमपीति भावः । वाशब्दो दूषणसमुच्चये । एतदेव सुव्यक्तं भावयति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रत्तिं पि न जग्गते समुग्घातो ।
न य अगुणेउं दिज्जइ, जइ दिज्जइ संकितो हुहतो ॥

नास्ति एको विविक्तोऽवसरो दिवसमध्ये यत्र सूत्रमर्थं वा चिन्तयति रात्रावपि समुद्घातः सम्यक् परिश्रान्तो न जागर्त्ति । न च सूत्रमर्थं वा अगुणयित्वा दीयते यदि पुनर्दीयते तर्हि द्विधातः सूत्रतोऽर्थतश्च शङ्कितो भवति । गतं चिन्ताद्वारम् ।

अधुना मेढिद्वारमाह ।

मेढीभूते बाहिं, भुंजण आदेसमाइ आगमणं ।
विणए गिलाणमादि, अत्थंते मेढिसंदेसा ॥

आचार्यः सर्वस्यापि गच्छस्य मेढीभूतः मेढिरिति वा आधार इति वा चक्षुरिति वा एकार्थे स चेद्भिक्षां गच्छति ततः साधूनां वसतेर्बहिर्यदृच्छया भोजनं स्यादेतदनन्तरमेव भावयिष्यते । तत एवं ज्ञायते केचिदादेशाः प्राघूर्णका आगच्छेयुरादिशब्दात्केचिद्लब्धिका लब्धिपरिहीनास्ततस्तेषामादेशादीनामागमनं ज्ञात्वा कः प्राघूर्णकानां विश्रामणं संदेशं वा कुर्यात् ॥ को वा लब्धिपरिहीनानां यथाऽस्ति तस्य दानं प्राघूर्णकानामितरेषां च वात्सल्याकरणे विनयो न कृतः स्यात्तथा ग्लानस्यादिशब्दात् बालवृद्धासहायानां च कः संदेशप्रदानेन चिन्तां कुर्यात् तिष्ठति भिक्षामनटत्याचार्ये मेढेः संदेशादादेशात् सर्वमादेशादि सुस्थं भवति ।

संप्रति यदुक्तं " बाहिं भुंजणात्ति " तद्भावयति ॥

आलोयदायणं वा, कस्स करेहामु कं च छंदेमो ।
आयरिए य अडंते, को अत्थि उ मुच्छहे अन्नो ॥

शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च भिक्षां प्रविष्टाश्चिन्तयन्ति सूरिरपि भिक्षार्थं निर्गतो भविष्यति ततो वयं संप्रति प्रतिश्रयं गत्वा कस्य पुरतः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दर्शयिष्यामः कं चान्यं साधुं तत्र गताश्छन्दयामो निमन्त्रयामो यतो भिक्षामटत्याचार्ये कोऽन्यः साधुः स्थातुमुत्सहते सर्वोऽपि भिक्षां यातीति भावस्तथाहि सर्वे साधवो भिक्षामटत्याचार्ये चिन्तयन्ति यदि स्वयमाचार्यो भिक्षां हिण्डते काऽस्माकं शक्तिः पश्चात् स्थातुं वयमपि यास्यामः । एवं सर्वस्यापि गमने निमन्त्रणाऽपि कस्य स्यादिति विचिन्त्य बहिरेव समुद्दिश्य वसतावागच्छेयुरिति । गतं मेढिद्वारम् ॥

इदानीमकारकद्वारमाह ॥

णिक्कासिते अकारगम्मि, दव्वे पडिसेहणा हवति दुक्खं ।
रायनिमंतणगहणे, खिंसणवावारणा दुक्खं ॥

भिक्षामटत आचार्यस्य यदकारकं तस्य तत् भिक्षार्थं निष्काशितं तस्मिन् अकारके द्रव्ये भिक्षार्थं निष्काशिते प्रतिषेधनं ममैतदकारकमन्यद्देहीति वक्तुं लज्जितो भवति दुःखं यदि पुनर्लज्जां मुक्त्वा भणति तदाऽनन्तरं वक्ष्यमाणा गाथाद्वयोक्ता दोषास्तथा भिक्षामटत्याचार्ये राज्ञा मत्तवारणकस्थितेन दृष्टस्तत आकारयित्वा भणितो मम गृहे भिक्षां गृहाण स प्राह न कल्पते राजपिण्ड इति एवं निमन्त्रणानन्तरमग्रहणे राज्ञा भण्यते साधो! किं तव पतद्ग्रहे समस्ति ततो दर्शितेऽन्तप्रान्तादिके वासिकादौ च राजा तत् दृष्ट्वा खिंसनं कुर्यात् । तथा आचार्योऽलब्धिको भवेत स चेत् ग्लानादिनिमित्तं शिष्यान् प्रातीच्छिकांश्च व्यापारयेत् तथा ग्लानादीनां योग्यमानयेति ते चालब्धिकं ज्ञात्वा परिभवमुत्पादयन्तीति तेषां व्यापारणे दुःखमेवेति द्वारगाथासमासार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुर्लज्जां मुक्त्वा अकारकद्रव्यप्रतिषेधने दोषास्तानेवाह ॥

जेणेव कारणेणं, सीसमिणं मुंडियं भदंतेण ।
वयणघरवासिणी वि हु, न मुंडिया ते कहिं जीहा ॥

येनैव कारणेन हेतुना भदन्तेन गुरुणा तव शीर्षमिदं मुण्डितं तेनैव कारणेन तव जिह्वाऽपि वदनगृहनिवासिनी ममैतदकारकमन्यद्देहीति ब्रुवाणा कथं न मुण्डिता येनैवं भाषते यथा ।

गयमागमम्मि लोए, सीसा वि तहेव तस्स गच्छंति ।
सयमेव दुट्ठजिब्भा, सीसे विणइस्सती केण ॥

गतागतोऽयं स्वभावतो लोकः पितृस्वभावं पुत्रोऽनुकरोतीति भावः ततो गतागमेऽस्मिन् लोके यथाऽऽचार्यो गच्छति चेष्टते शिष्या अपि तस्य तथैव गच्छन्ति वर्त्तन्ते त्वं च स्वयमेवेत्थं दुष्टजिह्वस्ततः केन प्रकारेण शिष्यान्विनेष्यसि शिक्षयिष्यसि नैव कथञ्चनेति । ततस्तेऽपि त्वत्सदृशा भविष्यन्तीति ।

पडिसेहंतमजोग्गं, असुस्स वि दुल्लहं हवइ भिक्खं ।
सद्धाभंगचियत्तं, जिब्भादोसो अवसो य ॥

अयोग्यमकारकं प्रतिषिध्यमानं महान्तमपगुणं करोति कं

नमित्याह कोऽसावपगुण इत्याह अन्यस्यापि साधोर्दुर्लभं भवति भैक्षं नैते यद्वा तद्वा गृह्णन्तीत्यदानात् । तथा अकारकस्य प्रतिषेधने कस्या अपि महत्या श्रद्धाया भङ्गः अपरस्याः (अचियत्तं) अप्रीतिस्ततस्तद्वशादवर्णो जिह्वादोष उत्पद्यते। संप्रति यदुक्तं राजनिमन्त्रणाग्रहणखिसनमिति तत्र तदेव खिसनमाह ।

पुव्विं अदत्तदाणा, अकोविया इह उ संकलिस्संति ।
काऊण अंतरायं, नेच्छंतिट्ठं वि दिज्जंते ॥

आत्मप्रान्तादौ च दर्शिते राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना यूयं तत इहाकोविदा अदत्तज्ञाः सन्तः क्लिश्यन्ते । तथा च राजपिण्ड इत्यन्तरायं कृत्वा इष्टमपि दीयमानं भवन्तो नेच्छन्ति ।

गहणपडिसेहभुंजणे, अभुंजणे चेव मासियं लहुयं ।
समणुण्णे अझंझे वा, खिंसेज्ज व सेहमादी य ॥

अकारकस्य ग्रहणे सति यद्यन्यैः साधुभिः प्रतिषिध्यमानोऽपि भुङ्क्ते तदा ग्लानत्वमथ न भुङ्क्ते तदा अभोजने पारिष्ठापनिकादोषस्तत्र च प्रायश्चित्तं मासिकं लघु । तथा यद्याचार्योऽलब्धिकस्तदा अमनोज्ञलाभे वा शैक्षकादयः खिंसयुर्न किमपि क्वापि गतो लभते रिक्तमेतस्याचार्यत्वम् ।

वावारिया गिलाणा-दियाण (गेण्हह) जोग्गं ति ते तओ बेंति
तुब्भे कीस न गेण्हह, हिंडंताओ सयं चेव ॥

आचार्यो लब्धिहीनः सन् शिष्यान्प्रातीच्छिकांश्च व्यापारयेत यथा ग्लानादीनां ग्लानप्राघूर्णकप्रभृतीनां योग्यं गृह्णीत न एवं व्यापारिताः सन्तो ब्रुवते यूयं स्वयमेव हिण्डमाना ग्लानादिप्रायोग्यं कस्मान्न गृह्णीत ।

एवाणाए परिभवो, बेंति य दीसति य पाडिरूवं भे ।
आणेह जाणमाणा, खिंसंती एवमादीहिं ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आज्ञायाः परिभव उत्पाद्यते यथा यदि यूयं प्रायोग्यं न लभध्वे वयं कथं लप्स्यामहे एवमुक्ते यद्याचार्यो ब्रूते आर्या उद्यमेन किं न लभ्यते ततः एवमुक्ते रुष्टा ब्रुवते दृश्यते खलु भे भवतां प्रातिहार्यं सातिशयमाचार्यत्वं स्वयमेव जानतः कस्मान्नानयत एवमादिभिरुल्लापवचनैः खिंसयन्ति हीलयन्ति । गतमकारकद्वारम् ।

व्यालद्वारमाह ।

वालो य माणसादी, दिट्ठंतो तत्थ होति छत्तेण ।
होज्ज य अभिओगो, विसे य इत्थीकए वा वि ॥

भिक्षामटतो व्यालः श्वप्रभृतिकः कदाचिल्लगति तदा महत्यपभ्राजना तत्र दृष्टान्तश्छत्रेण यथा छत्रमुपरि ध्रियमाणं शोभते अधः पतितं तु न किमपि एवमाचार्योऽपि बहुभिः परिवारितो गच्छन् शोभते तथा भिक्षाटनप्रवृत्तस्तु श्वादिपरिगृहीतो न किमपि । तथा प्रतिरूपवानाचार्यो भवतीति लोभेन गाथायां सप्तमी तृतीयार्थेऽभियोगो वशीकरणं स्त्रीकृतं स्यात् । विषं वा केनचित्प्रद्विष्टेन दीयेत । एतदेवोत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह ।

मोएउं असमत्था, वद्धं रुद्धं च नचणं कुसिया ।
जुवतिकमणिज्जरूवो, सो पुण मव्वे वि ते सत्तो ॥

युवतिकमनीयरूपतयाऽलीकदोषसंभावनया अन्यथा बद्धं रुद्धं नर्तकं नटानां नायकं कुत्सिता मोचयितुं न समर्थास्तेषां तादृकस्वनायास्स पुनर्युवतिकमनीयरूपस्तान् कुत्सितान्सर्वानपि केनापि दोषेण बद्धान् रुद्धान्वा मोचयितुं शक्तस्ततो यथा स प्रयत्नेन रक्ष्यते एवमाचार्योऽपि रक्षणीयो ऽन्यथा दोषस्तथा चाह ।

एमेवायरियस्स वि, दोसा पडिरूववं च सो होइ ।
दिज्जवि स भिक्खुवासो, अभिजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव नर्तकस्येवाचार्यस्याप्यरक्षितस्य दोषा भवन्ति । तथाहि सोऽपि प्रतिरूपवान् भवति ततः कोऽपि भिक्षुपासको जिनप्रवचनप्रभावनामसहिष्णुर्विषं दद्यात्स्त्री वा काचिद्रूपलुब्धा अभियोगं कुर्यात् वशीकरणादि वा प्रयुञ्जीत यस्मादेते दोषास्तस्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यभावापत्तिस्तथा चाह ।

नच्चणहीणा व नडा, नायगहीणा च रूविणी वा वि ।
चक्कं व तुंबहीणं, न हवति एवं गणो गणिणा ॥

यथा नर्तनहीना नटा यथा नायकहीना रूपवती स्त्री यथा च चक्रं तुम्बहीनं न भवति एवं गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि न भवति तदेवं व्यालद्वारं गतम् । इदानीं गणचिन्ताद्वारमाह ।

लाभालाभद्धाणि, अकारके बालवुड्ढमादेसे ।
सेहखमए न नाहिति, चिट्ठतो नाहिति न सव्वो ॥

केन पर्याप्तं लब्धं केन वा न लब्धमिति न ज्ञास्यति स्वयं भिक्षाटने परिश्रान्तत्वात्तथा अध्वनि मार्गे ये परिश्रान्ताः समागमनप्राघूर्णकाः तेषामिदं वाऽकारकं तथा बालान् वृद्धान् पूर्वान् गतांश्चादेशान् प्राघूर्णकान् तथा शैक्षान् क्षपकांश्च करणीयसाराकरणतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिभ्रमणपरिश्रान्तत्वात् तिष्ठन् पुनः सर्वान् यथौचित्येन ज्ञास्यति परिश्रमाभावात् । गतं गणचिन्ताद्वारम् ।

अधुना वादिद्वारमाह ।

सोऊण गतं खिंसति, पडिच्छिऊण वा य वादिपेल्लेइ ।
अत्थंतिसत्थचित्ते, न होंति दोसा तवादी य ॥

भिक्षामटितुं प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागतस्तेन साधव उक्ताः क्व आचार्याः साधुभिरुक्तं भिक्षाटनाय गतस्ततः स भिक्षार्थं गतं श्रुत्वा खिंसति हीलयति एतावत्तस्य पाण्डित्यं स स्वयं भिक्षामटति । ततः क्षणमात्रं प्रतीक्षितः स आचार्य उद्भ्रान्तः समागतस्तं समागतं दृष्ट्वा वादी प्रेरयति । स च परिश्रान्तत्वादुत्तरं दातुमसमर्थस्तिष्ठति । पुनः स्वस्थचित्ते दोषास्ताऽऽपाद्य आदिशब्दात्तृषितादिपरिग्रहो भवति तथा च सति न वादिना तस्य प्रेरणं किं तु जयति । वादी समागतो भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा यदि गच्छेत्तदुपदर्शयति ॥

पागडियं माहप्पं, विण्णाणं चेव सुट्ठु ते गुरुणो ।
जइ सो विजाणमाणो, न वि तुब्भमणाढितो हुंतो ॥

भिक्षार्थं गत इति ब्रुवाणैर्भवद्भिः सुष्ठु अतिशयेन माहात्म्यं गरिमलक्षणं विज्ञानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाता भवति न चैव युष्माकमनादृतो भवेत् । अधुना " पडिच्छिऊण वा य वादि पिल्लेइ " इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पासाणियाणं च होति परिभूतो ।
सेहादिभत्तगा वि य, दट्ठं अमुहं परिणमंति ॥

स भिक्षाटनपरिश्रान्तः सन् न वि नैव उत्तराणि पश्यति परिश्रमेण बुद्धेः सव्यापादनात्तथा च सति स प्राश्निकानामपि

सभ्यानामपि परिभूतो भवति ततो ये शैक्षकादयो ये च भद्रकादयस्ते तन्मुखं निरुत्तरं दृष्ट्वा परिणमन्ति विपरिणामं भजन्ते ।
भिक्षार्थमटने पुनरिमे गुणाः ।

सुत्तत्थाण गुणणं, विज्जामंता निमित्तजोगाणं ।
वीसत्थे पडिरिक्खे, परिजिणइ रहस्ससुत्ते य ॥

सूत्रार्थानां तथा विद्यानां मन्त्राणां निमित्तशास्त्राणां योगशास्त्राणां च गुणनं परावर्त्तनं भवति । तथा विश्वस्तः सन् प्रतिरिक्ते विविक्ते प्रदेशे रहस्यसूत्राणि परिजयति अत्यन्तं स्वभ्यस्तानि करोति तस्मान्न भिक्षार्थमटितव्यमाचार्येण गतं वाविद्वारम् ।
इदानीमृद्धिमद्द्वारमाह ।

रण्णा वि दुवक्खरको, ठवितो सव्वस्स उत्तमो होति ।
गच्छम्मि वि आयरितो, सव्वस्स वि उत्तमो होइ ॥

राज्ञा द्व्यक्षरको दासो यद्यपि जात्या हीनस्तथाऽपि संस्थापितः सन् सर्वस्याप्युत्तमो भवति । उत्तमत्वाच्च यथा न कश्चन प्रेषणेन हिण्डाप्यते सोऽप्येवं यथा तथा गच्छेऽप्याचार्यः सर्वस्याप्युत्तमो भवतीति स सुतरां भिक्षां न हिण्डापयितव्यः ।

रायामच्चपुरोहिय, सेट्ठी सेणावती तलवरा य ।
अभिगच्छंतायरिए, वहियं च इमं उदाहरणं ॥

यथा तीर्थकरश्छद्मस्थकाले हिण्डमानोऽप्युत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्राद्यभिगमान्न हिण्डते । एवमाचार्यानपि आचार्यपदस्थापितान् राजा अमात्यः पुरोहितः श्रेष्ठी सेनापतिः तलवराश्चाभिगच्छन्ति ततस्तेऽपि भिक्षां न हिण्डन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहरणं तदेवाह ।

सोऊण य उवसंतो, मच्चो रण्णो तगं निवेदेइ ।
राया बितिए दिवसे, तइएऽमच्ची य देवी य ॥

राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः स्वकमाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानतीवाचार्योऽमुकप्रदेशे तिष्ठति ततो द्वितीयदिवसे राजा अमात्येन सह गतः धर्मं श्रुत्वा परितुष्ट आगतो निजाग्रमहिष्याः परिकथयति अमात्येनाप्यात्मीयभार्यायाः कथितं ततोऽमात्यी देवी च तृतीयदिवसे धर्मश्रवणाय समागते आचार्यो भिक्षार्थं गतस्ततः ।

सोउं पडिच्छिऊण, वगया अहवा पडिच्छणे खिसा ।
हिंडंति होंति दोसा, कारण पडिवत्तिकुसलेहिं ॥

भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलयित्वा गते । अथवा क्षणमात्रं प्रतीक्ष्य हीलयन्त्यौ गते । यदि वा यावदाचार्य आगच्छति तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयतः । अथवा प्रस्विन्नशरीरं परिगलत्प्रस्वेदमागतं दृष्ट्वा खिसतो यदि वा क्लमेन सुष्ठु कृतं वन्दनं वा सोमं कथयतो वा परिश्रमेण न सुष्ठु वचनविनिर्गमस्तत उत्थिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इवैष भिक्षामटति किमाचार्यत्वमेतस्य । एते भिक्षां हिण्डमाने दोषाः । यदि पुनः कारणे वक्ष्यमाणे भिक्षार्थं गतो भवेत् राजादयश्च तत्र गतास्ते च पृच्छेयुः क्व गत आचार्यस्तत्र ये प्रतिपत्तिकुशलास्तैर्नेदं प्रतिवक्तव्यं भिक्षार्थं गत इति किंतु चैत्यवन्दननिमित्तं गत इति । यदि राजादय आचार्यमागच्छन्तं प्रतीक्षेरन् तदा येऽतीव दक्षा गीतार्थास्ते सुन्दरं पानकं प्रथमालिकां च सुन्दरं कल्पं चोलपट्टं च गृहीत्वाऽऽचार्यस्य कथयन्ति । तत आचार्यो मुखहस्तपादादि प्रक्षाल्य प्रथमालिकां पानकं च कृत्वा अल्पं प्रावृत्य पात्राण्यन्यस्य समर्प्य तादृशेभ्यो वसतावानीयते यथाऽनाख्यातोऽपि राजादिभिर्ज्ञायते एष आचार्य इति । ततो वसतिं प्राप्तस्य पादप्रोञ्छनं पादप्रमार्जनार्थमादाय साधव उपतिष्ठन्ति । पादप्रमार्जनानन्तरं वसतेरन्तः प्रविश्य पूर्वरचितायां निषद्यायामुपविशति उपविष्टस्य चरणकल्पकरणाय कोऽपि साधुरुपढौकते चरणप्रक्षालनानन्तरं च सर्वे साधवः पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतो वा किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । एतदेवाह ।

कारणभिक्खस्स गते, वि कज्जमक्खं निवस्स साहित्ता ।
निज्जोगनयणपढमा, कमादिधुवणं मणुण्णाइ ॥

कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे समापतिते भैक्षस्य गतेऽप्याचार्ये नृपस्यान्यत्कार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्निर्योगस्य नयनं ततः क्रमादिप्रक्षालनं ततो मनोज्ञप्रथमालिकावितरणम् ।

कयकुरुकुय आसत्थो, पविसई पुव्वरइयनिसेज्जाए ।
पयया य होंति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥

कृतकुरुकुचः कृतकुलकुल आस्वस्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्वरचितायां निषद्यायामुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमीपोपवेशनप्रयतास्तथा भवन्ति यथा राजाऽपि चकितो जायते ।
अत्र परप्रश्नमाह ।

सीसा य परिच्चत्ता, चोयगवयणं कुटुंबिसामणिया ।
दिट्ठंतो दंमिएण, सावेक्खे चेव निरवेक्खे ॥

चोदकवचनमाचार्यं रक्षयित्वा शिष्या भिक्षायां प्रेषितास्तर्हि ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुटुम्बिगृहप्रदीपनदृष्टान्तस्तथा दण्डिकेन दृष्टान्तः सापेक्षो निरपेक्षश्चाचार्ये एष द्वारगाथाक्षरार्थः ।
संप्रत्येनामेव विवरीषुः प्रथमतः " सीसा य परिच्चत्ता "
इति भावयति ।

वायादीया दोसा, गुरुस्स इतरेसि किं न ते होंति ।
रक्खयसिस्सचाए, हिंडणतुल्ले असमता य ॥

वातादयो दोषा गुरोर्भवन्ति इतरेषां साधूनां किं ते न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । ततो हिण्डने हिण्डनदोषे तुल्ये आत्मनो रक्षा क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेदं समञ्जसमित्यर्थः । अन्यच्च ॥

दसविहवेयावच्चे, निच्चं अब्भुट्ठिया असढभावा ।
ते दाणिं परिभूआ-अणुज्जमंताण दंडो य ॥

दशविधे आचार्यादिभेदतो दशप्रकारे वैयावृत्त्ये नित्यं सर्वकालमशठभावाः सन्तोऽभ्युत्थितास्ते संप्रति वातादिदोषान्पश्यद्भिरपि भिक्षाटने प्रेष्यमाणाः परित्यक्तास्तथा दशविधे वैयावृत्त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेषामनुद्यच्छतामाचार्यादिवैयावृत्त्याकरणे यथाऽर्हं प्रायश्चित्तं दण्डो दीयते तदेवं " सीसा य परिच्चत्ता " इति भावितम् ॥
इदानीं कुटुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥

वुट्ठीधन्नसुभरियं, कोट्ठागारं डज्झति कुडुंबिस्स ।
किं अम्ह मुहा देइ, केई तहियं न अल्लीणा ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालान्तररूपया धान्यं ददाति तया च वृद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यसुभृतानि जातानि । अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धिधान्यसुभृतं वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते तत्र केचित्कर्षका विध्यापननिमित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागतास्तत्र केचित्कथयन्ति

किमेष कौटुम्बिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विध्मापनार्थमभ्युद्यता भवामः ॥

एयस्स पजावेणं, जीवा अम्हेति एव नाऊण ।
अन्ने उ समल्लीणा, विज्झविए तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्तः स्म जीव अनुप्रत्ययः जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समालीनास्तत्र समागता विध्मापनाय च प्रवृत्तास्ततो विध्मापिते कोष्ठागारे स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ सहायागत्तं, करेसु तेसिं अवड्ढियं दिन्नं ।
दट्ठंति न दिण्णपरे, अकासगा दुक्खजीवी य ॥

ये विध्मापने सहायकत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं कालान्तरवृद्धिरहितं धान्यं दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दण्डमित्युत्तरं विधाय न दत्तं ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाताः । एष दृष्टान्तः ॥

सांप्रतमुपनयमभिधित्सुराह ॥

आयरिय कुडुंबी वा, सामाणियथाणिया जवे साहू ।
वाताइअग्गितुल्ला, सुत्तत्था जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षकस्थानीयाः साधव आचार्यस्य भिक्षाटने वातादिव्याबाधा अग्नितुल्या सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा ।
हावेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थान्प्रयच्छन्ति ये सन्तूदासीनास्तत्र हापयन्तीति न प्रयच्छन्तीति भावः स चोदासीनो वर्त्तमानः केवलं सूत्रार्थयोग्यो भवति क्लेशभागी च संसारे जायते गतं भापनद्वारम् ।

संप्रति दण्डिकदृष्टान्तं विभावयिषुरिदमाह ॥

उप्पन्नकारणे पुण, जइ सयमेव सहसा गुरू हिंडे ।
अप्पाण गच्छमुभयं, परिचयती तत्थिमं नायं ॥

उत्पन्ने कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरात्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति तत्र चेदं वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदाहरणम् । तदेवाह ।

सोउं परबलमायं, सहसा एक्कागिओ उ जो राया ।
निग्गच्छति सो चयती, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

यो निरपेक्षो राज्ये परबलमागतं श्रुत्वा बलवाहनान्यमेलयित्वा सहसा एकाकी परबलस्य संमुखो निर्गच्छति स आत्मानं राज्यमुभयं च त्यजति बलवाहनव्यतिरेकेण युद्धारम्भे मरणभावात् । एवमाचार्योऽपि निरपेक्षः समुत्पन्नेऽपि कारणे सहसा भिक्षामटन्नात्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति । उक्ता निरपेक्षदण्डिकदृष्टान्तभावना ।

संप्रति सापेक्षदण्डिकदृष्टान्तभावनामाह ।

सावेक्खो पुण राया, कुमारमादीहि परबलं खविय ।
अजिए सयं पि जुज्झइ, उवमा एमेव गच्छे वि ॥

सापेक्षः पुना राजा प्रथमं कुमारादीन् युद्धाय प्रेषयति ततः कुमारादिभिः परबलं क्षपयित्वा यदा कुमारैर्न परबलं क्षपितं तदा तस्मिन्नजिते स्वयमपि राजा युध्यते एषैवोपमा गच्छेऽपि द्रष्टव्या ।

आचार्योऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असंस्तरणे स्वयमपि हिण्डते एवं चात्मानं गच्छमुभयं निस्तारयतीति भावः । संप्रति यैः कारणैराचार्येण भिक्षार्थमटितव्यं तानि कारणान्याह ।

अद्धाणकक्खडासति, गेलण्णादेसमाइएसुं तु ।
संथरमाणे भइतो, हिंडेज्ज असंथरंतम्मि ॥

अध्वानं प्रपन्नः सार्थेन सममाचार्यो गच्छस्तत्र चासंस्तरणे यदि सार्थिका आचार्यस्य गौरवेण प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेवाचार्यो हिण्डते एवं कर्कशेऽपि क्षेत्रे भावनीयं तथा असति सहायानामभावे को भिक्षामानीय ददातीति स्वयं हिण्डते । तथा ग्लाना बहवस्ततस्तेषां सर्वेषामपि गच्छसाधवः प्रायोग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्लानप्रायोग्यमन्यः कोऽपि न लभते तत आचार्यो हिण्डते एवमादेशाः प्राघूर्णका आदिशब्दात् बालवृद्धासहपरिग्रहस्तेष्वपि भावनीयम् । एतेषु विषयेषु असंस्तरति गच्छे नियमादाचार्यो हिण्डते अन्यथा प्रायश्चित्तसंभवात्संस्तरति पुनर्भक्तो विकल्पितः हिण्डते कदाचिन्न अभ्युद्यतविहारपरिकर्म्म कुर्वन् हिण्डते शेषकालं नेत्यर्थः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं संस्तरणे न हिण्डते इति तत्र संस्तरणं त्रिविधं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च तत्र जघन्यमधिकृत्याह ।

पंच वि आयरियादी, अत्थंते जहन्नए वि संथरणे ।
एमेव संथरंते, सयमेव गणी अडति गामे ॥

जघन्येऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपे संस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिस्थविरगणावच्छेदिनस्तिष्ठन्ति जघन्येऽपीत्यपिशब्दः संभावने स चैतत्संभावयति । यदि तावत् जघन्येऽपि संस्तरणे पञ्चाप्याचार्यादयस्तिष्ठन्ति ततो मध्यमे उत्कृष्टे संस्तरणे नियमात्पञ्चभिरपि स्थातव्यम् । एवमपि जघन्येनापि संस्तरणेनासंस्तरति गच्छे स्वयमेव गणी आचार्यो ग्रामे भिक्षामटति स च प्रतिलोमपरिपाट्या पर्यन्ते तथाहि जघन्येनापि असंस्तरति प्रथमं गणावच्छेदको हिण्डते तथाऽप्यसंस्तरणे स्थविरोऽपि हिण्डते एवमप्यसंस्तरणे प्रवर्त्यपि तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथापि चेन्न संस्तरति गच्छस्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उत्कृष्टसंस्तरणमाह ॥

मंडलगयम्मि सूरे, छत्तिसा जाव पट्टवणवेला ।
ता एंति भुत्तसेस-गया च उक्कोससंथरणे ॥

नभोमण्डलस्य मध्यगते सूर्ये मध्याह्न इत्यर्थः भिक्षार्थमवतीर्णास्ततः पर्याप्तं हिण्डित्वा यावत् तृतीयपौरुष्या आदौ स्वाध्यायप्रस्थापनवेला तावत्स निवर्त्तते एतदुत्कृष्टं संस्तरणम् । अथवा तृतीयपौरुष्या आदौ स्वाध्यायप्रस्थापनवेलायां स निवर्त्तते एतदुत्कृष्टं संस्तरणम् ।

मध्यमं जघन्यं चाह ।

सपत्ता आगयाणं, चउपोरिसि मज्झिमं हवति एयं ।
विसुयाविय मत्तादिणे, समतिऽत्थंते जहन्नं तु ॥

मध्याह्नादारभ्य भिक्षार्थमवतीर्णानां पर्याप्तं हिण्डित्वा वसतावागतानां भुक्तानां सञ्ज्ञातः सञ्ज्ञाभूमित आगतानां यदि चतुर्थी पौरुषी अवगाहते एतत् मध्यमं संस्तरणं भवति । मध्याह्नादारभ्य भिक्षामटित्वा भुक्त्वा सञ्ज्ञाभूमितः प्रत्यागतमात्रेषु विसुयावियसु, विशोधितेष्वस्तमये पुनर्दिने समति जघन्यं संस्तरणमवसातव्यं तदेवमुक्तं जघन्यादिभेदभिन्नं संस्तरणम् ।

इदानीं मध्यादिद्वारव्याख्यानार्थमाह ॥

अद्धाणेऽसंथरणे, अकोवियाणं विकरण पलंबे ।

एमेव कक्खडम्मि वि, असति त्ति सहायगा नत्थि ॥

अग्लानि सार्थेन समं व्रजतामसंस्तरणे भिक्षार्थमाचार्यो हिण्डते । अथवा ते सहायाः अकोविदाः सार्थे च प्रलम्बान्यविकरणीकृतान्यखण्डीकृतानि लभ्यन्ते तत आचार्यः स्वयमेव हिण्डमानस्तानि विकरणानि कृत्वा संनिवर्त्तते अथवा ददतामुपदेशं ददाति विकरणानि कृत्वा दद्ध्वमिति । एवमकोविदानां सहायानां भावे प्रलम्बविकरणनिमित्तमाचार्यो गच्छति । एवमेव कर्कशेऽपि क्षेत्रे भिक्षार्थं गमनमाचार्यस्य भवति तत्रान्यसंस्तरणे अकोविदाः सहायभावे प्रलम्बविकरणार्थं वा गच्छन्तीति तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव भिक्षामटति ।

बहुया तत्थ तरंता, अह गिलाणस्स सो परं लहति ।
एमेव य आदेसे, सेसेसु विभासबुद्धीए ॥

बहवस्तत्र गच्छे अतरन्तो ग्लानास्ततः सर्वेषां गच्छसाधवः प्रायोग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्लानस्य परं प्रायोग्यमन्या न लभते किंतु स एवाचार्यस्ततः स हिण्डते । एवमेवादेशेषु प्राघूर्णकेषु शेषेषु च बालवृद्धासहेषु विभाषा विभाषणं तत्र बुद्धया कर्त्तव्यं तथैवं यद्यादेशादयो बहवः सर्वेषां साधवः कर्त्तुं न शक्नुवन्ति यदि वा स एवादेशादिप्रायोग्यं लभते नान्यः कोऽपि ततः स हिण्डते ।

संप्रति " संथरमाणे भइओ इति " व्याख्यानयति ।

अब्भुज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोसिरिति ।
ताव सयं सो हिंमइ, इति भयणे संथरंतम्मि ॥

अभ्युद्यतविहारपरिकर्म्म कुर्वन् यावत् गणं न व्युत्सृजति तावत्स्वयं स आचार्यो हिण्डते इत्येषा भजना संस्तरति गच्छे ।

अद्धाणादिसुवेहं, सुहसीलत्तेण जो करेज्जाहि ।
गुरुगा य जं च जत्थ व, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

अध्वादिषु अध्वकर्कशादिष्वसंस्तरति गच्छेत् सुखशीलत्वेन सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यालम्बनमाधाय य उपेक्षामाचार्यः करोति भिक्षां न हिण्डते इत्यर्थस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । यच्च तत्र वा अनागाढपरितापनादि साधवः प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तं तस्मात्सर्वप्रयत्नेनाध्वादिष्वसंस्तरणे भिक्षाटनं कर्त्तव्यम् ।

सांप्रतमसंस्तरणयतनामाह ।

असती पडिलोमं तु, सग्गामे गमणदाणसड्ढेसु ।
पेसति बितिए दिवसे, आवज्जइ मासियं गुरुयं ॥

असति अवमौदर्यादिना गच्छसंस्तरणाभावे प्रतिलोमं गणावच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमवसातव्यं तद्यथा प्रतिवृषभादिनाऽसंस्तरणे गणावच्छेदकः प्रतिवृषभादिभिः सह हिण्डते तथाप्यसंस्तरणे स्थविरोऽपि तथाप्यसंस्तरणे प्रवर्त्तकोऽपि तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथाप्येवं संस्तरति तर्हि स्वग्रामे दानश्राद्धेषु कुलेष्वाचार्यगमनं भवति तथापि चेदसंस्तरणं तत आचार्योऽन्यान्यपि गृहाणि । तथा केनापि साधुना कस्मिंश्चित्कुले ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं याचितं परं न लब्धम् । अथवा तद्द्रव्यं तस्मिन्गृहे प्रभूतमस्ति अन्यत्र च न विद्यते तत्र यदि द्वितीये दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तमेवाचार्यः प्रेषयति ततो गुरुकं मासिकं प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति । तद्यथा प्रथमं गणावच्छेदकः प्रेष्यस्तेनालब्धे स्थविरस्तेनाप्यलब्धे प्रवर्त्तकस्तेनाप्यलब्धे उपाध्यायस्तेनाप्यलब्धे स्वयमाचार्यो व्रजति । यदि वा स गृहप्रभुर्यस्य गौरवं करोति स प्रेषयितव्यः ।

सांप्रतमस्या एव गाथायाः पूर्वार्द्धं भावयति ।

गणावच्छेदओ पुव्वं, ठवणकुलेसुं व हिंमइ सगामे ।
एवं थेरपवित्ती, अभिसेयं गुरुयपडिलोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वग्रामे स्थापनाकुलेषु हिण्डते एवं गणावच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं वक्तव्यं तद्यथा असंस्तरणे स्थविरोऽपि हिण्डते तथाऽप्यसंस्तरणे अभिषेक उपाध्यायस्तथापि संस्तरणाभावे गुरुरपि । अधुना "पेसति बितिए दिवसे" इत्यादि भावयति ।

ओभासिय पडिसिद्धं, तं चेव न तत्थ पट्ठवेज्जा उ ।
पडिलोमं गणिमादी, गारवं जत्थ वा कुणति ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्कुले अवभाषितं याचितमित्यर्थः । तच्च गृहप्रभुणा प्रतिषिद्धमन्यत्र तत् द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे ततो द्वितीयदिवसे तत्र कुले न तमेव प्रेषयेत्किं तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिकं यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुर्गौरवं करोति तं वा प्रेषयेत् ।

तित्थकर त्ति समत्तं, अहुणा पावयणनिज्जरा चेव ।
वच्चंति दो व समगं, दुवालसंगं पवयणं तु ॥

तीर्थंकर इति द्वारं समाप्तम् । अधुना प्रवचनं निर्जरा चेति द्वे अपि द्वारे समकमेककालं व्रजतस्तत्र प्रवचनं नाम द्वादशाङ्गं गणिपिटकम् ।

तं तु अहिज्जंताणं, वेयावच्चे उ निज्जरा तेसिं ।
कस्स भवे केरिसिया, सुत्तत्थे जहोत्तरं वलिया ॥

ननु द्वादशाङ्गं गणिपिटकमधीयानानां वैयावृत्त्ये क्रियमाणे तेषां वैयावृत्यकराणां महती निर्जरा तदावरणीयस्य कर्मणः क्षयकरणात् महापर्यवसानः पुनरन्यनवकर्मबन्धाभावात् । अत्र शिष्यः प्राह । कस्य कीदृशी निर्जरा भवति । आचार्यः प्राह सूत्रे अर्थे च यथोत्तरं बलिका एतदेव विभावयिषुराह ।

सुत्तावस्सगरादी, चोद्दसपुव्वाण तह जिणाणं च ।
भावे सुद्धमसुद्धं, सुत्तत्थे मंडली चेव ॥

सूत्रमावश्यकादि यावच्चतुर्दशपूर्वाणि एतद्द्वारा यथोत्तरं महती महत्तरा निर्जरा एवमर्थेऽपि भावनीयम् । तथा जिनानामप्येवंविधजिनप्रभृतीनां यथोत्तरं बलिका निर्जरा । इयमत्र भावना । एक आवश्यकसूत्रधरस्य वैयावृत्यं करोति अपरो दशवैकालिकसूत्रधरवैयावृत्यकरस्तस्य आवश्यककरान्महती निर्जरा एवमप्रस्तनाधस्तनतरश्रुतधरवैयावृत्यकरादुपर्युपरितरश्रुतधरवैयावृत्यकरो यथोत्तरं महानिर्जरस्तावद्वक्तव्यो यावत्त्रयोदशपूर्वधरवैयावृत्यकराच्चतुर्दशपूर्वधरवैयावृत्यकरो महानिर्जरः । एवमर्थेऽपि भावनीयं तदुभयचिन्तायां ग्लानवैयावृत्यकरादर्थवैयावृत्यकरो महर्द्धिको नवरं निशीथकल्पव्यवहारार्थधराणां वैयावृत्यकरो महानिर्जरः । तथा श्रुतज्ञानिवैयावृत्यकरः । तथा भावः परिणामस्तस्मिन् शुद्धे अशुद्धे च तदनुसारेण निर्जरा प्रवर्तते । तथा सूत्रार्थे युगपच्चिन्त्यमाने यथोत्तरं बलिका । तथा मण्डलीसूत्रार्थावधिकृत्य विचारणीया । इहार्थः प्रस्तुतस्तमधिकृत्य वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा तामाह ।

पावयणी खलु जम्हा, आयरितो तेण तस्स कुणमाणो ।
महतीए निज्जराए, वट्टति साहू दसविहम्मि ॥

पावयणी प्रावचनिकः खलु यस्मादाचार्यस्तेन तस्य वैयावृत्यं कुर्वन् साधुर्महत्यां निर्जरायां वर्त्तते एवं दशविधेऽपि वैयावृत्ये महानिर्जराकत्वं भावनीयम । संप्रति यदुक्तं भावे शुद्धे अशुद्धे च तदनुसारतो निर्जरा भवतीति तत्र भावो व्यवहारतः शुद्धवस्तुप्रभावाद्भवतीति प्रतिपिपादयिषुराह ।

जारिसगं जं वत्थु, सुयं च तिण्हं च ओहिमादीणं ।
तारिसतो च्चिय भावो, उप्पज्जति वत्थुतो जम्हा ॥

यादृशं यद्वस्तु प्रतिमादिकं यस्य यावच्च श्रुतं त्रयाणां चावधिप्रभृतीनां स्वस्थाने ये विशेषास्तस्माद्वस्तुनः श्रुताद्विशेषात्तादृशात् भावः परिणामो व्यवहारस्तादृश उत्पद्यते तदनुसारेण च निर्जरा ततः पूर्वं श्रुतचिन्तायामर्थचिन्तायां तथा जिनानां च यथोत्तरं बलिका निर्जराका । तथा चैवमेव व्यवहारनयं प्रतिपिपादयिषुराह ।

गुणजुइट्ठे दव्व-म्मि जेण मत्ताहियत्तणं भावे ।
इति वत्थुतो इच्छति, ववहारो निज्जरं विउलं ॥

यस्माद्यतो गुणज्येष्ठे द्रव्ये तस्मिन् येन कारणेन मात्राधिकत्वं परिणाम इति अस्मात्कारणात् वस्तुनः प्रतिमाश्रुतादेर्यथोत्तरं गुणज्येष्ठात् विपुलां निर्जरामिच्छति व्यवहारो व्यवहारनयः । एतदेव स्पष्टतरं भावयति ॥

लक्खणजुत्ता पडिमा, पासादीया समत्तलंकारा ।
पल्हायति जह व मणं, तह निज्जरं मो वियाणाहि ॥

या प्रतिमा लक्षणयुक्ता प्रसादी मनःप्रसादकारणं समस्तालंकारा तां पश्यतो यथैव मनः प्रह्लादते तथा निर्जरां विजानीहि यथाधिकं मनःप्रह्लन्निस्ततो महती निर्जरा मन्दमनःप्रह्लत्तौ तु मन्देति भावः ॥

सुयवं अतिसयजुत्तो, सुहोचितो तह वि तवगुणुज्जुत्तो ।
जो सो मणप्पसातो, जायइ सो निज्जरं कुणति ॥

श्रुतवानेषः अत्राप्यनेके भेदास्तथा अतिशययुक्तो ऽवध्यायतिशयोपेतोऽत्राप्यवध्यादिविषये बहवस्तरतमविशेषाः सुखोचितोऽपि तपसि स बाह्याभ्यन्तरे गुणे ज्ञानादौ उद्युक्तस्तपोगुणोद्यत इत्येवं योऽसौ यादृशो मनःप्रसादो मनःप्रसत्तिपरिणामो जायते स तादृशीं निर्जरां करोति । तस्माद्वस्तुतो निर्जरेति व्यवहारनयः । तदेवमुक्तं व्यवहारनयमतम ।

अधुना निश्चयनयमतमाह ।

निच्छयतो पुण अप्पे, जस्स वत्थुम्मि जायते भावो ।
तत्तो सो निज्जरगो, जिणगोयम सीहआहरणं ॥

निश्चयतः पुनरल्पेऽपि महागुणाः गुणान्तराद्धीनगुणेऽपि वस्तुनि यस्य जायते तीव्रः शुभो भावस्तस्मान्महागुणतरविषयभावयुक्तात् स हीनगुणविषयतीव्रशुभभावो निर्जरको महानिर्जरतरः सद्भावस्यातीव शुभत्वात् । अत्र जिनगौतमसिंह उदाहरणम । तच्चैवम " तिविट्ठत्तणे भयवया वद्धमाणसामिणा सीहो निहतो, अधिति करेइ खुड्डुग्गेण निहतो हमिति परितवतो गोयमेणं सारहित्तणेण सणुसासितो मा अधितिं करेह तुमं पसुसीहो नरसीहेण मारियस्स तुज्झ को परिभवो एवं सो अणुसासितो मतो । ततो संसारं भमिऊण भयवतो वद्धमाणसामिस्स चरमतित्थगरभावे रायगिहे नयरे कविलस्स बंभणस्स य वडुगो जातो सो अण्णया समोसरणे आगतो भयवंतं दट्ठूण धमधम्मेइ । ततो भयवया गोयमसामी पेसितो जहा उवसामेह ततो गतो अणुसासितो य जहा एस महप्पा तित्थंकरो एयम्मि जो पडिनिवसति सो दुग्गइं जाति । एवं सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयमसामीणा दिण्णा ।

एतदेवाह ।

सीहो तिविट्ठनिहतो, भमिउं रायगिहं कविलवडुग त्ति ।
जिणवरकहणमणुवसम, गोयमोवस मे दिक्खा य ॥

सिंहस्त्रिपृष्ठेन निहतः संसारं भ्रमित्वा राजगृहे कपिलस्य ब्राह्मणस्य बटुकोऽभूत् जिनस्य वीरस्य कथनं तथाऽपि तस्यानुपशमो गौतमेन चानुशासने कृतेऽभूत् उपशमो दीक्षा च । अत्र भगवदपेक्षया हीनगुणेऽपि गौतमे तस्य गुरुपरिणामो जायते इति महती निर्जराऽभवदिति ।

संप्रति 'सुत्तत्थे' इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुभए, पुव्विं भणिया जहोत्तरं बलिया ।
मंडलिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ सुयत्थं ॥

सूत्रे अर्थे तदुभयस्मिन् स्वस्थाननिर्जरा पूर्वं यथोत्तरं बलिका बलवती भणिता । संप्रति पुनः सूत्रार्थतदुभयेषु युगपच्चिन्त्यमानेषु यथोत्तरं निर्जरा बलवती । सांप्रतं 'मंडली चेवत्ति' व्याख्यानार्थमाह (मंडलीए पुण इत्यादि) मण्डल्यां पुनर्भजना विकल्पना यदि जानाति तत्र मण्डल्यां सूत्रार्थं सद्भूतमर्थं तदा स महानिर्जरकः । इयमत्र भावना मण्डल्यां पठन्ति पाठयन्ति च तत्रावश्यकादि पठतां यथोत्तरं पठन्तो बलिकाः । अथ जानाति वैयावृत्यकरो यथाऽधस्तनसूत्रग्राहको ज्ञानादिभिर्गुणैरधिकतरस्ततोऽधस्तनश्रुतपाठकस्य वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा इदतां मध्ये य उपरितनश्रुतवाचकः स ज्ञानादिभिरधिकतर इति तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा । अथ जानाति वैयावृत्यकरो यथाऽधस्तनश्रुतवाचको ज्ञानादिभिरधिकतरस्ततोऽधस्तनश्रुतवाचकस्य वैयावृत्यकरणे बलवती निर्जरा । वाचकप्रातीच्छिकानां मध्ये यो वाचकस्तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा अथ वैयावृत्यकरो जानात्येष प्रातीच्छिक आचार्यो वाऽथवा तत्प्रत्युच्चारणमात्रं यावता सर्वमेतस्यायाति सूत्रतोऽर्थतश्चाधिकतर इति तदा तस्य प्रातीच्छिकस्य वैयावृत्यकृते महती निर्जरा । इह सूत्रेऽर्थे तदुभये च यथोत्तरं बलवती निर्जरेत्युक्तम तत्र यथोत्तरं निर्जराया बलवत्तां भावयति ।

अत्थो उ महड्ढित्तो, करणेणं घरस्स निप्पत्ती ।
अब्भुट्ठाणे गुरुगा, रण्णो याणे य देवी य ॥

दृष्टान्तः सूत्रात् केवलात् अर्थाद्वा स सूत्रार्थो महर्द्धिकः किं कारणमिति चेत् उच्यते । अत्र कृतकरणेन गृहस्य निष्पत्तिः इतश्च सूत्रादर्थः स सूत्रो महर्द्धिकः सूत्रमण्डल्यामाचार्यादयः प्राघूर्णकप्रभृतीनामभ्युत्थानं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्यां पुनर्यस्य समीपे अनुयोगं श्रुतवान् तमेकं मुक्त्वा अन्यस्य दीक्षागुरोरभ्युत्थाने चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तं ततः सूत्रादर्थो बलीयान् अत्रार्थे राज्ञः शालवाहनस्य याने निर्गमने देवी दृष्टान्तः । एष गाथाक्षरार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः कृतकरणेन गृहस्य निष्पत्तिरिति दृष्टान्तं भावयति ।

आराहितो नरवती, तिहि उ पुरिसेहिं तेसि संदिसति ।
अमुयपुरे सयसहस्स, घरं व एएसि दायव्वं ॥
पट्टग घेत्तूण गतो, उंभियं वितियो उ तइओ उभयं ।
निष्फलगा दोणि तहिं, मुद्दापट्टे उ सफलो उ ॥

एको नरपतिस्त्रिभिः पुरुषैराराधितस्ततः परितुष्टः स नरपतिस्तेषां प्रत्येकं संदिशति । यथा अमुकपुरे सुन्दरं गृहं शतं सहस्रं च दीनाराणामित्येषां प्रत्येकं दातव्यमिति तत्रैकोऽमुं संदेशं पट्टके गृहीत्वा लेखयित्वा गतो द्वितीयः (उभिरुकां) मुद्रां गृहीत्वा गतस्तृतीय उभयं पट्टके लेखयित्वा गतस्तत्र येन पट्टकं तद्व्यतिरेकेण मुद्राप्रतिबिम्बमात्रं गृहीतं तौ द्वावपि निष्फलौ जातौ । तथाहि ते त्रयोऽपि तन्नगरं गतास्तत्र य आयुक्तस्तस्य समीपमुपागताः । पट्टकं मुद्रामुभयं च दर्शयन्ति तत्रायुक्तेन प्रथमो भणितो मुद्रां न पश्यामि कथं ददामि द्वितीयो भणितो जानामि राज्ञो मुद्रां न पुनर्जानामि राज्ञः संदेशं किं दातव्यमिति । एवं तौ निष्फलौ जातौ यस्य तृतीयस्य मुद्रा पट्टकश्च स सफलस्तस्यायुक्तेन यथाऽऽज्ञप्रदानात् एष दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, सुत्तं अत्थो य उंभियट्ठाणे ।
उस्सग्गववायत्थो, उभयसरिच्छेय तेण वज्जो ॥

एवममुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं सूत्रम् उभिरुका मुद्रा तत्स्थानीयोऽर्थः उत्सर्गापवादस्य उभयसदृक्षत्वेन श्री तस्योभयस्य भावात् ।

संप्रति 'अब्भुट्ठाणे गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

सुत्तस्स मंडलीए, नियमा उट्ठंति आयरियमादी ।
मुत्तूण पवायंतं, न उ अत्थे दिक्खाए गुरुं पि ॥

सूत्रमण्डल्यां वाचयन्त आचार्यादय आचार्योपाध्यायप्रभृतयः प्राघूर्णकादीनामागच्छतां सर्वेषामपि नियमादुत्तिष्ठन्ति अभ्युत्थानं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्यां पुनरुपविष्टः सन् यस्य समीपेऽनुयोगः श्रुतस्तमेकं प्रवाचयन्तं मुक्त्वा अन्यं दीक्षणगुरुमपि नाभ्युत्तिष्ठति यद्यभ्युत्तिष्ठति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। श्रोतारोऽपि यद्याचार्ये अनभ्युत्तिष्ठत्यभ्युत्तिष्ठन्ति तदा तेषामपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगं श्रुतवान् तस्य नाभ्युत्तिष्ठति तर्हि तदाऽपि तस्य चतुर्गुरुकम् । अत्र दृष्टान्तो राज्ञो देवी तं भावयति ।

पतिलीलं करेमाणी, नोट्ठिया सालवाहणं ॥
पुहवी नाम सा देवी, सो य रुट्ठो तहिं निवो ॥

राज्ञः शा(शि)तवाहनस्य पृथिवी नाम अग्रमहिषी अन्यदा सा क्वापि निर्गते राज्ञि शेषाभिरन्तःपुरिकाभिर्देवीभिः संपरिवृता शातवाहनवेषमाधाय राज्ञ आस्थानिकायामुपपतिलीलां विडम्बमानाऽवतिष्ठते । राजा प्रत्यागतः प्रविष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पतिलीलां कुर्वन्ती पृथिवी नाम देवी शातवाहनं राजानमायान्तमपि दृष्ट्वा नोत्थिता तस्या अनुत्थाने शेषा अपि देव्यो नाभ्युत्थितवत्यस्ततः स नृपो राजा तत्र रुष्टो ब्रूते त्वं तावन्महादेवी ततो महादेवीत्वेन नाभ्युत्थिता एताः किं त्वया वारिता यस्मादभ्युत्थानमकार्षुस्ततो न सुन्दरमेतदिति ।

ततो णं आह सा देवी, अत्थाणीए तवागहा ।
दासा वि सामियं एंतं, नोट्ठंति आसे पत्थियं ॥

ततो राज्ञोक्तवचनानन्तरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह । तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि नाथाः संपूर्णगुणाः पार्थिवमपि स्वामिनमागच्छन्तं नाभ्युत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकायाः प्रभाव एवैषः । तथाहि ।

तुंबावि गुरुणो मोत्तुं, न वि उट्ठेमि कस्सइ ।
न ते लीला कया होंती, उट्ठती हं म तोसितो ॥

त्वमप्यस्यामास्थानिकायामुपविष्टो गुरून् मुक्त्वा नान्यस्य कस्यापि महीयसोऽभ्युत्तिष्ठसि अहमपि तवास्थानिकायां त्वदीयां लीलां धरन्ती समुपविष्टा ततो न सपरिवाराऽभ्युत्थिता यदि पुनस्ते तव लीला न कृता स्यात्ततोऽहमभ्युत्तिष्ठेयमित्येवं राजा देव्या तोषितः । एवमत्रापि तीर्थकरस्थानीय आचार्योऽर्थमण्डल्यामुपविष्टः सन् न कस्याप्यभ्युत्तिष्ठति ॥

अमुमेवार्थं गौतमदृष्टान्तेन द्रढयति ।

कहं ते गोयमो अत्थ, पोत्तुं तित्थगरं मयं ।
न वि उट्ठेइ अन्नस्स, तग्गयं चेव गम्मति ॥

न खलु भगवान् गौतमोऽर्थं कथयन् स्वकमात्मीयं तीर्थकरं मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तिष्ठति अभ्युत्थानं कृतवान् तदेतं चेदानीं सर्वैरपि गम्यते तदनुष्ठितं सर्वमिदानीमनुष्ठीयते ततोऽर्थं कथयन् न कस्याप्युत्तिष्ठेत् ।

संप्रति श्रवणविधिमाह ।

सोयव्वे उ विही पुण, अव्वक्खेवादि होइ नायव्वो ।
विक्खेवम्मि य दोसा, आणादीया मुणेयव्वा ॥

श्रोतव्ये पुनरयं विधिरव्याक्षेपादिर्भवति ज्ञातव्य आदिशब्दाद्विकथादिपरिग्रहस्तद्व्याक्षेपे पुनराज्ञादयः । आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपदोषा ज्ञातव्याः । अत एवाभ्युत्थानमपि न क्रियते तस्मिन्सति व्याक्षेपादिसंभवात्तथा चैतदर्थमेव द्वारगाथाद्वयेनाह ।

काउस्सग्गे विक्खे-वया य विकहा वि सोतिया पयते ।
ठवणाय वाउलणा वि य, अक्खेवो चेव आहरणं ॥
आरोवणा परूवण, उग्गह निज्जरा य वाउलणा ।
एएहि कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु पडिकुट्ठं ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कायोत्सर्गे कृते एतैः कारणैरभ्युत्थानं प्रति कुष्टं निराकृतम् । कैः कारणैरत आह । " विक्खेवया य इति " व्याक्षेपस्य व्याक्षेपशब्दस्य भावः प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षेप इत्यर्थः । अभ्युत्थाने क्रियमाणे व्याक्षेपो भवति व्याक्षेपाच्च विकथा चतुर्विधा प्रवर्तते तत्प्रवृत्तौ चेन्द्रियैर्मनसा विश्रोतसिका संयमस्थानप्लावनमिति भावः । तस्मादभ्युत्थानमकुर्वन् प्रयतः शृणुयात् प्रयतो नाम कृताञ्जलिप्रग्रहो दृष्ट्या सूरिमुखारविन्दमवेक्षमाणो बुध्यमानस्तथाऽभ्युत्थाने क्रियमाणे स्थापनस्य विषये व्याकुलना स्थापनयः कस्याप्यर्थो न क्रियेत । स्थापनग्रहणमुपलक्षणं तेन यद्ग्रहणं जातं तत् व्याकुलनात् भ्रश्यति पृच्छा वा कर्तुमारब्धा विस्मृतिमुपयाति कालो वा व्याख्यानस्य त्रुट्यतीति । तथा निरन्तरमविच्छेदेन श्रावमाणेऽस्य शृण्वतो महान्व्याक्षेपस्तीव्रशुभपरिणामरूपो जायते अभ्युत्थाने च तद्व्याघातस्तथा च सति शुभपरिणामभावतो योऽनवस्थादिलाभः संजायते तस्य विनाशोऽत्रार्थे चाहरणं ज्ञातं वक्तव्यम् । तथा आरोपणायाः प्रायश्चित्तप्ररूपणे क्रियमाणे अभ्युत्थाने व्याघातो भवति, व्याघाताच्च सम्यगवग्रहो ग्रहणं न भवति न खलु

व्याक्षिप्तोऽवग्रहीतुं शक्नोति किं त्वव्याक्षिप्त इति प्रतीतमेतत् । तथाऽभ्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलता ततः सम्यक् श्रुतोपयोगो न भवति तदनाभावाच्च ज्ञानावरणीयस्य कर्मणो न निर्जरा। एतैः कारणैरभ्युत्थानं प्रतिकूलम् ।

सांप्रतमेतदेव गाथाद्वयं विवरीषुः प्रथमतः " काउस्सग्गे विक्खेवणा य " इति व्याचयति ॥

उच्चारियाए नंदीए, विक्खेवे गुरुगो भवे ।
अपसत्थे पसत्थे य, दिट्ठंतो हत्थिलावका ॥

अनुयोगारम्भार्थं कायोत्सर्गे कृते नन्द्यां च तपस्वकरूपायामुच्चारितायामभ्युत्थानेनान्येन वा प्रकारेण यो व्याक्षेपं करोति तस्य प्रायश्चित्तं गुरुको मासस्तस्मादु व्याक्षेपो न कर्त्तव्यः । अत्राप्रशस्ते व्याक्षेपकरणे प्रशस्ते च व्याक्षेपकरणे दृष्टान्ता हस्तिलावकाः हस्ती च शालीनां लावकाश्च । तत्राप्रशस्तं प्रतिपादयति ॥

जह सालिं लुणावेंतो, कोइ अत्थारिएहि उ ।
सेयं हत्थिं तु दावेइ, धाविया ते य मग्गओ ॥
न लुना अह सालीओ, वक्खेवेणेव तेण उ ।
वक्खेवावरयाणं तु, पोरिसीए व भज्जइ ॥

यथा कोऽपि कुटुम्बी निजे क्षेत्रे "अत्थारिएहि तु" ये मूल्यप्रदानेन शालिलवनाय कर्मकराः क्षेत्रे क्षिप्यन्ते ते आस्तारिकास्तैर्लावयन्कथमपि सप्ताङ्गप्रतिष्ठितं श्वेतमारण्यहस्तिनमागतं दृष्ट्वा दर्शयति तद्दर्शिते च ते हस्तिनो मार्गतः पृष्ठतो धाविताः । आगतैरपि हस्तिनो रूपेण चित्रैर्हस्तिरूपं वर्णयद्भिस्तेन व्याक्षेपेण ते शालयो न लूना एवमिहापि अभ्युत्थानेन व्याक्षेपरतानां पौरुषीभङ्गो भवति । व्याख्यानं पुनर्न किमपि याति तस्माद् व्याक्षेपो न विधेयः। प्रशस्तं व्याक्षेपाकरणे दृष्टान्तः स्वयं भावनीयः । स चैवं एकः कौटुम्बिकः शालिक्षेत्रं लावयति तस्य सत्कया दास्या शालिं लूनन्त्या सप्ताङ्गप्रतिष्ठितः श्वेतो वनहस्ती चरन् दृष्टो दास्या ज्ञातं यदि शालिलावकानां कथयिष्यामि ततो हस्तिनं दृष्ट्वा हस्तिनो रूपेणाक्षिप्ता हस्तिनो रूपं वर्णयन्त आसिष्यन्ते एष च हस्ती दिनेऽस्मिन्नवकाशे दृश्यते ततः शालिर्न भविष्यते यदा तु शालिः परिपूर्णो लूनोऽभवत् तदा सा दासी स्वामिनः शालिलावकानां चाचकथत् ततस्तैरुक्तं किं तदा न कथितं तदा दासी प्राह शालिलवितव्यव्याघातो भविष्यतीति हेतोस्तत एवमुक्ते कौटुम्बिकः परितुष्टस्तेन च परितुष्टेन मस्तकप्रक्षालनतोऽदासी कृता । एवमिहापि व्याक्षेपो न करणीयस्तथा च सति जगवदाज्ञापरिपालनतः कर्मक्षयेण शिवाभ्रमसुकरथो भवति ।

संप्रति विकथादिपदव्याख्यानार्थमाह ।

विकहा चउव्विहा वुत्ता, इंदिएहिं विसोत्तिया ।
अंजलीपग्गहो चेव, दिट्ठी वुग्गुवजुत्तयां ॥

विकथा स्त्रीकथादिभेदाच्चतुर्विधोक्ता विश्रोतसिका इन्द्रियैरुपलक्षणमेतत् मनसा वाचा प्रयता अञ्जलिप्रग्रहो गुरोर्मुखे दृष्टिर्बुद्ध्युपयुक्तता च ।

उपनयव्याकुलतेति व्याख्यानयति ।

तस्सने वाउलाना मो, अन्नहा वोवणिज्जइ ।
नायं वा करणे वा वि, पुच्छा अद्धाव नस्सइ ॥

अभ्युत्थानेनान्येन वा व्याकुलनायां स दर्शित उपनयो नश्यति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलतया अन्यथोपनीयते ज्ञातं वा व्याकरणं वा पृच्छा वा कर्तुमारब्धा श्रद्धा वा पौरुषीलक्षणा भ्रश्यति आक्षेपव्याख्यानार्थमाह ।

भासतो भावतो वावि, तिव्वं मे जायमाणसो ।
लभंतो ओहिसंजादी, जहा मुमिंवगो मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भावकः श्रावको वा उत्तरविशिष्टावगाहनतस्तीव्रमेजातमानसो जातपरमोत्केषो यद्यभ्युत्थाने व्याक्षेपो नाभविष्यत् ततोऽवधिलाभादिकमलप्स्यत यथा मुडिम्बको मुनिस्तथा मुडिम्बक आचार्यैः परमकाष्ठीभूते शुभध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलब्धिमलप्स्यत यदि तस्य पुष्पमित्रेण ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत परं सर्वसाधुसार्थप्रभृत्याकुलमभवदिति तेन ध्यानव्याघातः कृतः ।

अधुना " आरोवणा परूवणेति " व्याख्यानार्थमाह ।

आरोवणमक्खेवं, दाउं कामो तहिं तु आयरितो ।
वाउलणाए पिट्टइ, उत्थेत्तुजणे न ओगेण्हे ॥

आरोपणां प्रायश्चित्तं तत्राधेमाकल्यामाचार्यो दातुकामः प्रकपयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति ततो व्याकुलनया स्फिटति व्याकुलनेन प्रायश्चित्तप्ररूपणा न तिष्ठतीति भावस्तथा अवग्रहीतुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलनातो नावगृह्णाति ।

एकग्गो ओगिण्हइ, विक्खिप्पंतस्स विस्सुतिं जाइ ।
इंदपुरे इंददत्तो, अज्जुणतेणो य दिट्ठंतो ॥

एकाग्रः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनर्व्याक्षिप्यमाणस्यावगृहीतमपि विस्मृतिं याति कुतोऽनवगृहीतार्थावग्रहणव्याक्षेपाच्च विस्मृतिगमने इन्द्रपुरपत्तने इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुताः दृष्टान्तस्तथा च तेषां कला अध्ययनतां प्रमादविकथादिव्याक्षेपाच्च किमप्यवगृहीतमभूत् यदपि किंचिदवगृहीतं तदपि विस्मृतिमुपगतमत एव ते राधावेधो न कर्तुं शकिताः । तथा अर्जुनस्तेनश्च दृष्टान्तस्तथाहि सोऽर्जुनकस्तेनोऽगडदत्तेन सह युध्यमानो न कथमप्यगडदत्तेन पराजेतुं शक्यते ततो निजजायाऽतीव रूपवती सर्वालंकारविभूषिता रथस्य तुण्डे निवेशिता ततः स्त्रीरूपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरणं विस्मृतिमुपगतमिति सोऽगडदत्तेन विनाशितः । एवमिहापि व्याक्षेपात् श्रुतोपयोगः प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए चेव य दोसा, अब्भुट्ठाणे वि होंति नायव्वा ।
नवरं अब्भुट्ठाणं, इमेहिं तिहिं कारणेहिं तु ॥

यस्मात् श्रवणे कर्तव्ये व्याक्षेपादिषु क्रियमाणेष्वेतेऽनन्तरोक्ता दोषास्तस्माद्व्याक्षेपादिरहितैः श्रोतव्यम् । एते एव च व्याक्षेपादयो दोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे भवन्ति तस्मादभ्युत्थानमपि न कर्तव्यं नवरमभ्युत्थानमेभिर्वक्ष्यमाणैस्त्रिभिः कारणैः कर्तव्यं तान्येवाह ।

पगयसमत्ते काले, अज्झयणुद्देस अंगसुयखंधे ।
एएहिं कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु अणुयोगो ॥

प्रकृते समाप्ते तथा काले समाप्ते अध्ययनोद्देशाङ्गश्रुतस्कन्धेषु वा समाप्तेषु यदि प्राघूर्णकाद्यागमनं भवति तदैतैः कारणैरभ्युत्थानमनुयोगो भवति तत्र कालोऽध्ययनादिकं च प्रतीतं न प्रकृतमिति । कल्पे व्यवहारे च प्रकृतप्रतिपादनार्थमाह ।

कप्पम्मि दोण्णि पगया, पलंबसुत्तं च मासकप्पे य ।

दो चेव य ववहारे, पढमे दसमे य जे भणिया ॥

कल्पे कल्पाध्ययने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बसूत्रं मासकल्पसूत्रं च व्यवहारे द्वे प्रकृते ये भणिते प्रथमे आरोपणासूत्रं दशमे पञ्चविधव्यवहारसूत्रम्। न केवलमेतदेव प्रकृतं किंत्वन्यदपि तथा चाह।

पीढियातो य सव्वातो, चूलियातो तहेव य।
निज्जुत्ती कप्पनामस्स, ववहारस्स तहेव य ॥

सर्वाः प्रकल्पकल्पादिगताः पीठिकास्तथा सर्वाश्चूलिकास्तथा कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा चैवेति वचनादन्येषां च दशवैकालिकप्रभृतीनां च निर्युक्तयः प्रकृताः।

अत्रैवादेशान्तरमाह।

अन्नो वि य आएसो, जो रायणितो य तस्स सोयव्वे।
अणुओगधम्मयाए, किइकम्मं तस्स कायव्वं ॥

अन्योऽपि चादेशो मतान्तरं तत्र श्रोतव्ये यो रत्निको रत्नाधिकोऽनुभाषक इत्यर्थः तस्य नन्द्यामुच्चारितायामनुयोगधर्मतया कृतिकर्म वन्दनं कर्तव्यम्। तथा।

केवलिमादी चोदस, दसनवपुव्वी य उट्ठणिज्जा उ।
जे तीहि ऊणतरगा, समाणे अगुरुं न उट्ठंति ॥

अर्थमपि कथयता समागच्छन् केवली अभ्युत्थानव्यः। आदिशब्दात् मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी च परिगृह्यते तथा ये तेभ्यो नवपूर्वधरादिभ्य ऊनतरास्तैर्नवपूर्वधरादिरभ्युत्थानीयस्तथाहि कथको यदि कालिकश्रुतधारी तर्हि तेनार्थमपि कथयता नवपूर्वी दशपूर्वी चतुर्दशपूर्वी वाऽभ्युत्थातव्यो नवपूर्विणा दशपूर्वी दशपूर्विणा चतुर्दशपूर्वीति। तथा यदि समागच्छन् समानः समानश्रुतोऽगुरुश्च तदा नेतरेऽभ्युत्तिष्ठन्ति। तदेवं प्रवचने निर्जरा चेति द्वारद्वयं गतम्।

इदानीं सापेक्षद्वारमाह।

सावेक्खे निरवेक्खे, गच्छे दिट्ठंतगाममगडेण।
राउलकज्जनिउत्तं, जह गामेणं कयं सगडं ॥
असमावित्तुच्छियाए, पसियं सडियं व न वि य रक्खंति।
रायाणत्ते दंडो, सयं न दीसंति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्यैः प्रातीच्छिकैश्च सर्वं कर्तव्यं ते च तथा कुर्वन्तः सापेक्षा उच्यन्ते ये तु न कुर्वन्ति ते निरपेक्षास्तत्र सापेक्षे निरपेक्षे च गच्छे दृष्टान्तो ग्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन् ग्रामे ग्रामेयकैः पुरुषैः राजकुलकार्यनियुक्तं शकटमेकं कृतं ततो यस्ते राजकुलेनाकार्यन्ते धान्यं घृतघटादि वा नेतव्यमानेतव्यं वाऽस्मिन् शकटे आरोप्य आनयन्ति नयन्ति वा। तथा नास्य कश्चित्स्वामीत्यस्वामिबुद्ध्याऽन्यमनोऽपि कार्याणि तेन कुर्वन्ति अस्वामिबुद्ध्यैव पतितं शटितं वा तस्य शकटस्य नापि रक्षन्ति ततः कालेन गच्छता नष्टम्। अन्यदा राजकुलेन ते आज्ञप्ता धान्यमानय तैः शकटाभावान्नानीतं तत आज्ञाभङ्गोऽकारीति तेषां दण्डः कृतः कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न दृश्यन्ते। एष दृष्टान्तः।

अयमर्थोपनयः।

एवं न करेंति सीमा, कार्हिति परिच्चयन्ति काऊण।
ते वि य सीयन्ति ततो, हिंमणपेहादिसुं पिंगो ॥

एवं ग्रामेयकदृष्टान्तप्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाः करिष्यन्तीति मत्वा न कुर्वन्तीति तेऽपि च प्रातीच्छिकाः शिष्याः करिष्यन्तीति बुद्ध्या न कुर्वते ततः सीदत्याचार्यः स्वयं भिक्षामटति स्वयं चोपकरणप्रेक्षादिकं विधत्ते इति हिण्डने प्रेक्षादौ च निरपेक्षाः शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च शकटनियुक्तभृत्या इव दण्डनीयाः भवन्ति विनाशं चोपयान्ति।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह।

साराविय जेहिं सगडं रण्णा ते उक्करा य कया।
इय जे करेंति गुरुणो, निज्जरलाभो य कित्ती य ॥

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे ग्रामेयकैः राजकुलकार्यनियुक्तं शकटं कृतं तेन राजकीयं धान्यघृतघटाद्यानयन्ति नयन्ति च तच्च शकटं तैः सम्यक् सारापितं ततो न कदाचिदाज्ञाभङ्गः कृत इति परितुष्टेन राज्ञा ते उत्कराः करविहीनाः कृताः। एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनय इति एवमुक्तेन प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाश्चात्मानुग्रहबुद्ध्या ये गुरोः कृत्यं कुर्वन्ति तेषां महान् भूयान् ज्ञानादिलाभः कीर्तिश्च गतं सापेक्षद्वारम्।

संप्रति भक्तिव्यवच्छेदद्वारमाह।

दव्वे भावे भत्ती, दव्वे गणियाउ दिंति जाराणं।
भावम्मि सीसवग्गो, करेति भत्तिं सुयधरस्स।

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणायां तीर्थस्याव्यवच्छेदो भक्तावक्रियमाणायां तु तीर्थव्यवच्छेदः सा च भक्तिर्द्विधा द्रव्ये भावे च। तत्र यन्नाम गणिका भुजङ्गानां भक्तिं कुर्वन्ति दुहितरो वा जाराणां सा द्रव्ये द्रव्यभक्तिर्भावे भावविषया भक्तिः पुनरियं यत् शिष्यवर्गः श्रुतधरस्य भक्तिं करोति। यद्यपि चान्योऽपि गुरोर्भक्तिं करोति तथापि ममापि निर्जरा स्यादित्यात्मानुग्रहबुद्ध्याऽन्येनापि भक्तिः कर्तव्येति लोहार्यगौतमदृष्टान्तेन भावयति।

जइवि य लोहसमाणो, गेण्हइ खीणंतराइणो उंछं।
तह वि य गोयमसामी, पारणए गेण्हए गुरुणो ॥

यद्यपि च लोहसमानो लोहार्यः क्षीणान्तरायस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः सर्वदेवाऽन्वेषणीयभक्तादिकं गृह्णाति। तस्य भगवद्वैयावृत्यकरत्वात् उक्तं च। "धन्नो सो लोहज्जो खंतिखमो पवरलोहसरिवन्नो जस्स जिणो पत्ता तो इच्छइ पाणीहिं भुत्तुं जं" तथापि गौतमः स्वामी स्वपारणके गुरोर्वर्द्धमानस्वामिनो योग्यं गृह्णाति एवमन्येनापि वैयावृत्यकरभावे यथायोग्यं गुरोः कर्तव्यम्। तदेवं भक्तिर्व्याख्याताऽधुना तस्यां क्रियमाणायां यथा तीर्थस्याव्यवच्छेदो भवति तथाह।

गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छो अणुकंपितो महाभागो।
गच्छाणुकंपयाए, अव्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥

गुरोरनुकम्पया अनुग्रहेण गच्छो महाचिन्त्यशक्तिरनुकम्पितो गृहीतो भवति गच्छानुकम्पया चाव्यवच्छित्तिस्तीर्थस्य कृता।

कह तेण नु होइ कयं, वेयावच्चं दसविहं जेण।
तस्स पउत्ता अणुकं-पितो उ थेरो थिरसहावो ॥

कथं तेन दशविधं वैयावृत्यं कृतं येन स्थविर आचार्यः स्थिरस्वभावोऽनुत्सुकस्तस्य दशविधस्य वैयावृत्यस्य प्रयोक्ताऽनुकम्पितोऽनुगृहीतस्तत्करणे कृते तेन दशविधमपि वैयावृत्यं तत्प्रसूपणायास्तदधीनत्वादिति भावः। तदेवमव्यवच्छेदोऽपि भावितः अधुना 'अतिसेसा पंच आयरिए' इति व्याख्यानयति ॥

अन्ने वि अत्थि भणिया, अतिसेसा पंच होंति आयरिए।
जो अन्नस्स न कीरइ, नयातिचारो असति सेसे ॥

अतिशयाः पञ्च भवन्त्याचार्ये इत्यनेन वचनेनान्येऽप्यतिशयाः पञ्चार्थतो भणिताः सन्ति यः पञ्चानामन्यतरोऽप्यन्यस्यानाचार्यस्य न क्रियते न च शेषेऽनाचार्ये पञ्चानामेकतरस्मिन्नप्यक्रियमाणेऽतीचारः । तानेव पञ्चातिशयानाह ॥

भत्ते पाणे धुव्वण, पसंसणा हत्थपायसोए य ।
आयरिए अतिसेसा, अणातिसेसा अणायरिए ॥

उत्कृष्टं भक्तमुत्कृष्टं पानं मलिनोपधिधावनं प्रशंसनं हस्तपादशौचं च । एते पञ्चातिशेषा अतिशया आचार्ये अनाचार्ये त्वनतिशया अनाचार्ये एते न कर्तव्या इति भावः ।

संप्रति भक्तादिव्याख्यानार्थमाह ।

कालसहावाणुमयं, भत्तं पाणं च अच्चितं खेत्ते ।
मलिणमलिणा य जाया, चोलादी तस्स धोवंति ॥

यत् कालानुमतं स्वभावानुकूलं चेत्यर्थः भक्तमाचार्यस्य आदेयमिति प्रथमोऽतिशयः । तथा यत् यत्र क्षेत्रे अर्चितं पानीयं तत्संपाद्यमाचार्यस्येति द्वितीयोऽतिशयस्तथा चोलादीनि मलिनमलिनानि जातानि तस्याचार्यस्य प्रक्षाल्यन्ते । किं कारणमिति चेदत आह ।

परवादीण अगम्मे, नेव अवन्नं करिंति सुइमेहा ।
जह अकहितो वि नज्जइ, एस गणी गुणपरिहीणो ॥

यथा परवादिनामगम्यो भवति यथा च शुचिशैक्षाश्चोक्षशिष्याः अवज्ञानं न कुर्वते यथा चाकथितोऽपि ज्ञायते एष गणी आचार्यस्तथाऽनुपमसौन्दर्यतत्परिहीनो मलिनमलिनवस्त्रप्रक्षालनं कर्तव्यं नन्वेवं विभूषादोषप्रसक्तिरत आह ।

जह उवगरणं सुज्झइ, परिहरमाणो अमुच्छतो साहू ।
तह खलु विसुद्धभावो, विसुद्धवासाण परिभोगो ॥

यथा साधुरुपकरणं कर्मोपकरणममूर्च्छितः सन् परिहरन् परिभोगयन् शुद्ध्यते न परिग्रहदोषेण लिप्यते अमूर्च्छितत्वात्तथाऽऽचार्योऽपि विशुद्धवाससां परिभोगेन विशुद्धभावः सन् शुद्ध्यतीति गतस्तृतीयोऽतिशयः ।

संप्रति प्रशंसनमाह ।

गंभीरो मद्दवितो, अब्भुवगयवच्छलो सिवो सोमो ।
वित्थिण्णकुलुप्पन्नो, दाता य कयण्णुतो सुयवं ॥
खंतादिगुणोवेओ, पहाणणाणतवसंजमावसतो ।
एमाइसत्तगुरुगुण, विकत्थणं संसणातिसये ॥

गम्भीरोऽपरिस्रावी मार्दवितो मार्दवोपेतस्तथा अभ्युपगतस्य शिष्यस्य प्रातीच्छिकस्य वत्सलो यथोचितवात्सल्यकारी तथा शिवोऽनुपद्रवस्तथा सोमः शान्ताकृतिः तथा विस्तीर्णकुलोत्पन्नो दाता कृतज्ञः श्रुतवान् तथा क्षान्त्यादिगुणोपेतः प्रधानज्ञानतपःसंयमानामावसथो गृह एवमादीनां सतां गुरूणां नाविकत्थनं श्लाघनमेवं चतुर्थः प्रशंसनातिशयः अथवा प्रशंसनस्य फलमाह ।

सग्गुणुक्कित्तणाए, अवन्नवादीण चेव पभियातो ।
अवि होज्ज संसइणं, पुच्छाभिगमे दुविहलाभो ॥

सद्गुणोत्कीर्तनायां महती निर्जरा भवति तथा सद्गुणकीर्तनया अवर्णवादिनां प्रतिघातः कृतो भवति । अपि भवेदयं महान् गुणो गुणवन्तमाचार्यं श्रुत्वा बहूनां राजेश्वरतलवरप्रभृतीनां पृच्छार्थमभिगमो भवति । पृच्छानिमित्तमाचार्यसमीपमागच्छन्त आगताश्च धर्मं श्रुत्वा अगारधर्ममनगारधर्मं वा प्रतिपद्यन्ते इति द्विविधलाभः ।

पञ्चमातिशयप्रतिपादनार्थमाह ।

करचरणनयणदसणा, ईधावणपंचमो उ अतिसेसो ।
आयरियस्स उ सययं, कायव्वो होति नियमेण ॥

करचरणनयनदशनादिप्रक्षालनं पञ्चमोऽतिशयः सततमाचार्यस्य नियमेन भवति कर्तव्यः । अत्र पर आह ।

मुहनयणदंतपाया—दिधोवणे को गुणो त्ति ते बुद्धी ।
अग्गिमतिवाणिपडुया, होइ अणोतप्पया चेव ॥

मुखनयनपादादिधावने को गुण इति एषा ते बुद्धिः स्यात् अत्रोच्यते मुखदन्तादिप्रक्षालनेऽग्निपटुता जाठराग्निप्राबल्यं मतिपटुता वाक्पटुता च नयनपादादिप्रक्षालने "अणोत्तप्पया" अलज्जनीयशरीरता भवति । एष गुणो मुखादिप्रक्षालने एते चातिशयाः पञ्च । उपलक्षणमन्यदपि यथायोगमाचार्यस्य कर्तव्यं तथा चाह ॥

असहस्स जेण जोगा-ण संधाणं जह उ होइ थेरस्स ।
तं तं करेंति तस्स उ, जह संजोगा न हायंति ॥

यथा स्थविरस्याशक्तस्य सतो येन येन क्रियमाणेन योगानां सन्धानं भवति तत्तत्तस्याचार्यस्य साधवः कुर्वन्ति तथा (से) तस्याचार्यस्य योगा न हीयन्ते न हानिमुपगच्छन्ति ।

एए पुण अतिसेसे, उवजीवे न यावि को वि दढदेहो ।
निदरिसणं एत्थ भवे, अज्जसमुद्दा य मंगू अ ॥

एतान् पुनरतिशयान् कोऽप्याचार्यो दृढदेहः सन् नोपजीवति यस्त्वदृढदेहः सोऽशक्तो भूत्वा उपजीवति न तु तैरतिशयैर्गर्वं करोति दर्पं वा मनसि मन्यते । अत्र निदर्शनं भवत्यार्यसमुद्रा मङ्ग्वाचार्यश्च ।

एतदेव निदर्शनद्वयं भावयति ।

अज्जसमुद्दा दुब्बल, कितिकम्मा तिण्णि तस्स कीरंति ।
सुत्तत्थपोरिसिसमु—ट्ठियाण तइयं तु चरमाए ॥

आर्यसमुद्राः सूरयो दुर्बला दुर्बलशरीरास्ततस्तेऽतिशयानुपजीवितवन्तोऽनुपजीवने योगसंधानकरणाशक्तेस्तथा च तस्य प्रतिदिवसं त्रीणि कृतकर्माणि विश्रामणारूपाणि क्रियन्ते तद्यथा द्वे सूत्रार्थपौरुषीसमुपस्थितानां तृतीयं कृतकर्म चरमायां पौरुष्यामियमत्र भावना सूत्रपौरुषीसमाप्त्यनन्तरं यावद्विषया क्रियते तावत्प्रथमा विश्रामणा द्वितीयाऽर्थपौरुषीसमाप्त्यनन्तरं तृतीया चरमपौरुषी पर्यन्ते कालप्रतिक्रमणानन्तरम् ।

सड्ढकुलेसु य तेसिं, दो वंगादी उ वीसु घेप्पंति ।
मंगुस्स न किइकम्मं, न य वीसुं घेप्पए किं वि ॥

श्राद्धकुलेषु भक्तेषु तेषामार्यसमुद्राणामाचार्याणां योग्यानि कूरादीनि द्वितीयाद्वादौ भाजनादौ विष्वक् गृह्यन्ते आर्यमङ्गोः पुनराचार्यस्य न कृतिकर्म क्रियते नापि तद्योग्यं पौद्गलिकादि किञ्चित् विष्वक् भाजने गृह्यते किन्तु यद्यपि श्राद्धकुलेष्वपि भक्तेपूत्कृष्टं लभ्यते तदपि गृहीत्वा ज्ञातेरप्यतद्गृहे क्षिप्यते विष्वगानीतमपि न भुङ्क्ते तौ च द्वावप्याचार्यौ विहरन्तावन्यदा सौपारके गतौ तत्र च द्वौ श्रावकावेकः शाकटिकोऽपरो वैकटिको

वैकटिको नाम सुरासन्धानकारी तौ द्वावपि श्रावकावार्यसमुद्राणां योग्यमतिशायिपौद्गलिकप्रभृतिकं विष्वक् मात्रके गृह्यमाणमार्यमङ्गूनां पुनर्योग्यमेकस्मिन्नेव पतद्ग्रहे गृह्यमाणं पश्यतो दृष्ट्वाऽऽचार्यमङ्गुसमीपमागच्छताम् ।

बेंति ततो णं सड्ढा, तुब्भ वि वोसुं न घेप्पए कीस ।
तो बेंति अज्जमंगू, तुब्भे च्चिय इत्थ दिट्ठंतो ॥

ततः समीपागमनानन्तरं तौ श्रावकौ ब्रुवाते किमार्यसमुद्राणामिव युष्माकमपि विष्वक् प्रायोग्यं गृह्यते ततो ब्रुवन्त्यार्यमङ्गवः आचार्या अत्रार्थे यूयमेव दृष्टान्तः कथमित्याह ॥

जा जंभी दुव्वला उ, तं तुब्भे बंधह पयत्तेण ।
न वि बंधह वालियाउ, दुव्वलवलिए व कुंभी वि ॥

अहो शाकटिक! या तव भणमी गन्त्री दुर्बला तां यूयं प्रयत्नेन बध्नीथ । ततः सा वहति यदि पुनरबद्धा वाह्यते तदा विनश्यति या पुनर्बलिका तां नैव बध्नीथ । बन्धनव्यतिरेकेणापि तस्या वहनात् । वैकटिकं प्रति ब्रूते भो वैकटिक ! या तव कुम्भी दुर्बला तां वंशदलैर्बद्ध्वा तत्र मद्यं संधत्थ या तु बलिका कुम्भी तस्या बन्धमकृत्वाऽपि तत्र संधानं कुरुथ "दुव्वलबलिए व कुंभी वि" एवं कुम्भ्यपि दुर्बला बलिका च जम्भीवत् वक्तव्या । उक्तो दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं अज्जसमुद्दा, दुव्वलजंभी व संठवयणाए ।
धारेंति सरीरं तु, वलिभंभीसरिसगत्तयं तु ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्बलभम्भी दुर्बला गन्त्री चात्मीयं शरीरं संस्थापनया धारयति नेतरथा ततस्तेषां योग्यं विष्वक् मात्रके गृह्यते वयं तु बलिकजम्भीसदृशास्ततो न शरीरस्य संस्थापनामपेक्षामहे ।

निप्पडिकम्मो वि अहं, जोगाण तरामि संधणं काउं ।
नेच्छामि य वितियंगे, वीसुं इति बेंति ते मंगू ॥

निष्प्रतिकर्माऽपि योगानां संधानं कर्तुं शक्नोमि ततो नेच्छामि द्वितीये अङ्गे मात्रके विष्वक् गृह्यमाणमिति ते मङ्ग्वाचार्या ब्रुवते ।

न तरंति य तेण विणा, अज्जसमुद्दा उ तेण वीसं तु ।
इय अतिसेसा यरिए, सेसा पंतेण छाडेंति ॥

आर्यसमुद्राः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायोग्यग्रहणेन विना योगानां सन्धानं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्प्रायोग्यं विष्वक् गृह्यते एवं शेषाणामपि इत्यस्मात् कारणात् अतिशेषा अतिशया आचार्ये भवन्ति शेषाः पुनः साधवः प्रान्तेन छादयन्ति आत्मानं यापयन्ति गतस्तृतीयोऽतिशयः। आचार्योपाध्यायस्य वसतेरन्तर्बहिर्वा एकाकित्वेन वास इति चतुर्थपञ्चमावतिशयौ ।

संप्रति चतुर्थपञ्चमावतिशयावाह " अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा" इत्यादिलक्षणं (पूर्वोक्तं) विभावयिषुरिदमाह ।

अंतो बहिं व वीसुं, वसमाणे मासियं तु भिक्खुस्स ।
संजमआयविराहण, सुणे अमुज्जोदतो होइ ॥

यदि भिक्षुरुपाश्रयस्यान्तरपवरके विष्वक् वसति यदि वा बहिरुपाश्रयात् शून्यगृहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासिकं न केवलमिदं प्रायश्चित्तं किन्तु दोषाश्च तानेवाह । अन्तर्बहिर्वा शून्यस्थाने वसतोऽशुभोदयोऽशुभकर्मोदयो भवति तद्भवाच्चात्मविराधना संयमविराधना च । एनामेव भावयति ॥

तब्भावुवयोगेणं, रहिए कम्मादि संजमे भेदो ।
भेरावलंविया मे, वेहाणसमादिनिव्वेदा ॥

तस्य भावस्तद्भावः पुंवेद इत्यर्थः । तस्मिन्नुपयोगस्तेन तद्भावोपयोगेन विजने स्थाने च वर्त्तमानः सहायरहितो हस्तकर्मादि कुर्यात् एवं संयमे संयमस्य भेदो विराधना । तथा कोऽप्यतिप्रबलपुंवेदोदयपीडित एवं चिन्तयेत् यथा मया मर्यादा सकलजनसमक्षं गुरुपादसमीपेऽवलम्बिता संप्रति चाहमतिपीडित आसितुं न शक्नोमि ततो निर्वेदात् वैहानसमुत्कलम्बनमादिशब्दादन्यद्वा आत्मघातादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना । तथा विहरता वा एकाकिना न स्थातव्यमाह यदि संयमान्निर्गतभावस्ततस्तस्य सहाया अपि किं करिष्यन्ति तत आह ॥

जइ वि य निग्गयभावो, तह वि य रक्खिज्जए स अण्णेहिं ।
वंसकडिल्ले छिन्ने, वि वेणुतो पावए न महिं ॥

यद्यपि च स संयमात् निर्गतभावस्तथापि सोऽन्यैर्हस्तकर्मादि वैहानसादि वा समाचरन् रक्ष्यते अत्रैवार्थे प्रतिवस्तूपमामाह । (वंसकडिल्लेत्ति) वेणुको वंशो महीं न प्राप्नोति अन्यैरन्यैर्वंशैरपान्तराले स्खलितत्वात् एवं संयमभावान्निर्गतोऽपि शेषसाधुभिः सर्वथा पतन् रक्ष्यते तदेतद्भिक्षोरुक्तम् ।

इदानीं गणावच्छेदकाचार्ययोराह ॥

वीसु वसंते दप्पा, गणिआयरिए य होंति एमेव ।
सुत्तं पुण कारणियं, भिक्खुस्स वि कारणे सुत्ता ॥

विष्वक् दर्पात् कारणमन्तरेण गणिनि गणावच्छेदके आचार्ये च एवमेव भिक्षोरिव प्रायश्चित्तं संयमात्मविराधने च भवतः । यद्येवं तर्हि सूत्रमनवकाशमत आह । सूत्रं पुनः कारणिकं कारणमधिकृत्य प्रवृत्तं ततो नानवकाशं न केवलं गणावच्छेदकाचार्ययोः कारणे वसतेरन्तर्बहिर्वा वसनमनुज्ञातं किं तु भिक्षोरपि कारणे बहिरन्तर्वा वसनस्यानुज्ञा ।

अथ किं तत्कारणं यदधिकृत्य सूत्रं प्रवृत्तमत आह ।

विज्जाणं परिवाडी, पव्वे पव्वे य देंति आयरिया ।
मासद्धमासियाणं, पव्वं पुण होइ मज्झं तु ॥

आचार्याः पर्वणि विद्यानां परिपाटीं ददति विद्याः परावर्त्तन्ते इति भावः । अथ पर्व किमुच्यते तत आह मासार्द्धमासयोर्मध्यं पुनः पर्व भवति । तदेवाह ।

पक्खस्स अट्ठमी खलु, मासस्स य पक्खियं मुणेयव्वं ।
अण्णं पि होइ पव्वं, उवरागो चंदसूराणं ॥

अर्द्धमासस्य पक्षात्मकस्य मध्यमाऽष्टमी सा खलु पर्व । मासस्य मध्यं पाक्षिकं पक्षेण निर्वृत्तं ज्ञातव्यं तच्च कृष्णचतुर्दशीरूपमवसातव्यं तत्र प्रायो विद्यासाधनोपचारभावात् बहुलादिका मासा इति वचनाच्च न केवलमेतदेव पर्व किंत्वन्यदपि पर्व भवति यत्रोपरागो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोरेतेषु पर्वसु विद्यासाधनप्रवृत्तिर्यद्येवं तत एकरात्रग्रहणं तत आह ।

चउद्दसीगहो होइ, कोई अहवा वि सोलसिग्गहणं ।
वत्त तु अणुज्जंतो, होइ दुरायं तिरायं वा ॥

कोऽपि विद्याया ग्रहश्चतुर्दश्यां भवति अथवा षोडश्यां शुक्लपक्षप्रतिपदि विद्याया ग्रहणम् । किमुक्तं भवति कोऽपि विद्याग्रहश्चतुर्दश्यां कृतः कोऽपि प्रतिपदि क्रियते इत्येवं त्रिरात्रवसनमथ च केन दिवसेन व्यक्तमनुज्ञायमानं वि—

राया ग्रहणं भवति । द्विरात्रं त्रिरात्रं वा विष्वक् वसनमिति। यदुक्तं सूत्रेऽनिशायं चेति तत्र वाशब्दव्याख्यानार्थमाह ।

वासद्देण चिरं पि, महपाणादीसु सो उ अत्यजा ।
ओयविए भरहम्मि, जह राया चक्कवट्टादी ॥

वाशब्देनेदं सूच्यते चिरमपि कालं महा (पाना) प्राणादिषु ध्यानेषु स तिष्ठेत् स हि यावदद्यापि विशिष्टलाभो भवति तावन्न निवर्त्तते ध्यानादत्रैव दृष्टान्तमाह । यथा राजा चक्रवर्त्त्यादिरादिशब्दाद्वासुदेवपरिग्रहः (ओयविए) प्रसाधिते अर्द्धभरते वा न निवर्त्तते यावदद्यापि लाभो न भवतीति।

अथ महाप्राणध्याने कः कियन्तं कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति प्रतिपादनार्थमाह ।

बारसवासा भरहा-हिवस्स छच्चेव वासुदेवाणं ।
तिणि य मंडलियस्स, छम्मासा पागयजणस्स ॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षतो भरताधिपस्य चक्रवर्त्तिनो द्वादश वर्षाणि यावत्षट् वर्षाणि वासुदेवानां बलदेवानामित्यर्थः । त्रीणि वर्षाणि माण्डलिकस्य षण्मासान् यावत् प्राकृतजनस्य ।

जे जत्थ अहिगया खलु, अस्सादच्छक्खमाइया रण्णा ।
तेसि चरणम्मि ऊणे, भुंजति भोए अदंडादी ॥

ये " अस्सादच्छक्खमाइया " महाश्वपत्यादयो यत्राश्वभरणादौ राज्ञा अधिकृता व्यापारितास्ते तेषामश्वादीनां भरणे ऊने सति भोगान् अदण्डादीन् दण्डादिरहितान् भुङ्क्ते न तस्य तथा भोगान् भुञ्जानस्य दण्डोऽपराधो वा अद्याप्यश्वादिभरणाभावात् एष दृष्टान्त उक्तः ।

संप्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ।

इय पुव्वगयाधीते, बाहुसनामेव तम्मि सो पच्छा ।
पियइ त्ति व अत्थपए, मिणइ त्ति य दो वि अविरुद्धा ॥

इत्येवममुना दृष्टान्तप्रकारेण पूर्वगते अधीते "बाहुसनामेव" भद्रबाहुरिव तत् पूर्वगतं पश्चात् महापानध्यानबलेन मिनोति निःशेषमात्मेच्छया तावन्न निवर्त्तते ततश्चिरकालमपि वसति तस्य न कोऽप्यपराधः प्रायश्चित्तं दण्डो वा। संप्रति महापानशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह पिबतीति वा मिनोतीति चेति द्वावपि शब्दावेतावविरुद्धौ तत्त्वत एकार्थावित्यर्थः । तत एव व्युत्पत्तिः पिबति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तत् पानं महच्च तत्पानं च महापानमिति ।

अंतो गणी वा गणो, विक्खेवो मा हु होज्ज अग्गहणं ।
बसतेहिं परिक्खित्तो, उ अत्यते कारणे तेहिं ॥

अन्तर्गणी गणो वा वाशब्दादेवं बहिरपि । इयमत्र भावना । यथाचार्यो वसतेरन्तस्ततो गणो बहिर्वसति अथ गणोऽन्तस्तत आचार्यो बहिः किं कारणमाचार्यो गणश्च विष्वक् वसति तत आह (विक्खेवो) इत्यादि आचार्यस्य विद्यादिगुणादिषु व्याक्षेपो मा भूत् (अग्गहणमिति) अयोग्यानां कर्णापतनतो विद्यादीनामग्रहणं भूयात् एताभ्यां कारणाभ्यां वृषभैः परिक्षिप्तोऽन्तर्बहिर्वा विष्वगाचार्यो वसति । व्य० १ उ० ।

आचार्योपाध्यायस्य गणे सप्त अतिशयाः ।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त अइसेसा पन्नत्ता तं जहा आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सगस्स पाए निगिज्झिय २ पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा नाइक्कमइ एवं जहा पंचठाणे जाव बाहिं उवस्सगस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे नाइक्कमइ उवगरणाइसेसे भत्तपाणाइसेसे ॥

एतद्व्याख्यानमेवेति इदमधिकमुपकरणातिशेषः शेषसाधुभ्यः सकाशात् प्रधानोज्ज्वलवस्त्राद्युपकरणतः उक्तंच । " आयरियगिलाणाणं, मइला मइला पुणो वि धोवंति । मा हु गुरूण अवण्णो, लोगम्मि अजिरणं इयरेत्ति " ॥ १ ॥ ग्लाने इत्यर्थः भक्तपानातिशेषः पूज्यतरभक्तपानतेति उक्तञ्च " कलमोयणो उ पयसा, परिहाणी जाव कोद्दवऽभक्खी । तत्थ उ मिउप्पणरं, जत्थ य जं अचियं दोसु " ॥ १ ॥ (कोद्दवऽभक्खित्ति कोद्दवआउलये दोसुत्ति) क्षेत्रकालयोरिति गुणाश्चैते "सुत्तत्थथिरीकरणं, विणओ गुरुपूय सेय बहुमाणो । दाणवइसद्धबुद्धी, बुद्धीबलवद्धणं चेव त्ति " स्था० ७ ठा० ॥ १ ॥

गणावच्छेदकस्य गणे द्वौ अतिशयौ ।

(सूत्रम्) गणावच्छेयस्स गणंसि णं दो अइसेसा पन्नत्ता तं जहा गणावच्छेइए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ १ गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अतिक्कमइ ॥

" गणावच्छेयस्स गणंसि णं " इत्यादि गणावच्छेदकस्य गणे गणमध्ये द्वावतिशयौ भवतस्तद्यथा गणावच्छेदक उपाश्रयस्यान्तः एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति नातीचारभाग्भवति तथा गणावच्छेदको बहिरुपाश्रयादेकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति । एतौ च द्वावप्यतिशयौ सूत्रोक्तौ गणावच्छेदकस्य द्रष्टव्यौ यो नियमादाचार्यो भविष्यति यः पुनर्गणावच्छेदकत्वे वर्त्तमान आचार्यपदस्यानर्हस्तस्यैतौ द्वावप्यतिशयौ न कल्पेते । भाष्यम् ।

पंचेते अतिसेसा, आयरिए होंति दोण्णि उ गणिस्स ।
भिक्खुस्स कारणम्मि उ, अतिसेसा पंच वा भणिया ॥

एते अनन्तरसूत्रोदिताः पञ्चातिशया आचार्ये भवन्ति । द्वौ गणिनो गणावच्छेदकस्य भिक्षोः पुनः कारणेऽप्यतिशया भणिताः । एतदेवाह ।

जे सुत्ते अतिसेसा, आयरिए अत्थतो व जे भणिया ।
ते कज्जे जयसेवी, भिक्खू वि न बाउसी भवति ॥

येऽतिशेषा आचार्यसूत्रे साक्षादभिहिता ये चान्ये पञ्चार्थतो भणितास्तान् दशाप्यतिशयान् कार्ये कारणे समागते। "कज्जंति ता कारणंति वा एगट्ठमिति" वचनात (जयसेवीति) यतनया सेवमानो भिक्षुरपि न बकुशत्वदोषेण गृह्यते इति भावः किं तत्कार्यमत आह ।

बालासहुमतरंतं, सुइवादि पप्प इड्डिवुड्ढं वा ।
दस वि भइयातिसेसा, भिक्खुस्स जहक्कमं कज्जे ॥

बालमसहमतरन्तं ग्लानं शुचिवादिनं ऋद्धिवृद्धं वा प्राप्य दशाप्यतिशेषा भिक्षोः कार्ये समापतिते यथाक्रमं भजिता विकल्पिता भवन्तीति भावः तथा हि बालस्य हस्तपादादयः प्रक्षाल्यन्ते अन्ये वातिशया यथासंभवं क्रियन्ते तथा असहो नामासमर्थस्तस्यापि यथाप्रयोगमतिशयाः क्रियन्ते । तथाऽतरन् ग्लानः शुचिवादी शौचप्रधानः शिष्य ऋद्धिवृद्धो राजादिः प्रव्रजित इत्येषामपि दशाप्यतिशया यथायोगं विधेयाः । व्य० ६ उ० ।

(जिनकल्पिकस्य द्वौ अतिशयौ) "दुविहो तेसिं" (जिनक-

लिपिकानाम) "अइसओ नाणाइसओ सरीराइसओ य। णाणाइसओ ओहि, मणपज्जवसुत्तत्थ तदुभयं च । निवत्री अभिन्नवच्छा, सारीरा होंति अइसेसा " पं० चू० ॥ (तीर्थकृतः चत्वारः मूलातिशयाः) "अपायापगमातिशयो ज्ञानातिशयः पूजातिशयो वा गतिशयश्च " पं० सू० । १०। स्था० । नं० ।

बुद्धस्य (तीर्थकृतः) चतुस्त्रिंशदतिशयाः ।

चोत्तीसं बुद्धाइसेसा पण्णत्ता तं जहा अवट्ठियकेसमंसुरोमनहे १ निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी २ गोक्खीरपंडुरे मंससोणिए ३ पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे ४ पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा ५ आगासगयं चक्कं ६ आगासगयं छत्तं ७ आगासगयाओ सेयवरचामराओ ८ आगासफालियामयं सपायपीढं सीहासणं ९ आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडियाभिरामो इंदज्झओ पुरओ गच्छइ १० जत्थ जत्थ वि य णं अरहंता भगवंता चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि य णं तक्खणादेव सच्छन्नपत्तपुप्फपल्लवसमाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघंटो सपडागो असोगवरपायवे अभिसंजायइ ११ ईसिं पिट्ठओ मउडट्ठाणम्मि तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधकारे वि य णं दस दिसाओ पभासेइ १२ बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे १३ अहोसिरा कंटया जायंति १४ उऊविवरीया सुहफासा भवंति १५ सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुएणं जोयणपरिमंडलं सव्वओ समंता संपमज्जिज्जइ १६ जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयरयरेणू पकिज्जइ १७ जलथलयभासुरपभूतेणं विंटट्ठाविदसद्धवन्नेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते पुप्फोवयारे किज्जइ १८ अमणुन्नाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं अवकरिसो भवइ मणुन्नाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं पाउब्भाओ भवइ १९ उभओ पासिं च णं अरहंताणं भगवंताणं दुवे जक्खा कडगतुडियथंभियभुया चामरुक्खेवणं करेंति २० पच्चाहरओ वि य णं हिययगमणीओ जोयणनीहारी सरो २१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ २२ सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पयचउप्पयमियपसुपक्खिसरीसिवाणं अप्पप्पणो हियसिवसुहदाए भासत्ताए परिणमइ २३ पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुरनागसुवण्णजक्खरक्खसकिंनरकिंपुरिसगरुलगंधव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसंतचित्तमाणसा धम्मं निसामंति २४ अन्नउत्थियपावयणिया वि य मागया वंदंति २५ आगया समाणा अरहओ पायमूले निप्पडिवयणा हवंति २६ जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवंतो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयणपणवीसाएणं ईती न भवइ २७ मारी न भवइ २८ सचक्कं न भवइ २९ परचक्कं न भवइ ३० अइवुट्ठी न भवइ ३१ अणावुट्ठी न भवइ ३२ दुब्भिक्खं न भवइ ३३ पुव्वुप्पन्ना वि य णं उप्पाइया वाही खिप्पामेव उवसमंति ३४ । स०।३४।

अथ चतुस्त्रिंशत्तमस्थानकं किमपि लिख्यते (बुद्धाइसेसत्ति) बुद्धानां तीर्थकृतामत्यतिशेषाः अतिशयाः बुद्धातिशेषाः अवस्थितमवृद्धिस्वभावं केशाश्च शिरोजाः श्मश्रूणि च कूर्चरोमाणि च शेषशरीररोमाणि नखाश्च प्रतीता इति द्वन्द्वैकत्वमित्येकः १ निरामया नीरोगा निरुपलेपा निर्मला गात्रयष्टिस्तनुरिति द्वितीयः २ गोक्षीरपाण्डुरं मांसशोणितमिति तृतीयः ३ तथा पद्मं च कमलं गन्धद्रव्यविशेषो वा यत्पद्मकमिति रूढमुत्पलं च नीलोत्पलमुत्पलकुष्ठं वा गन्धद्रव्यविशेषस्तयोर्यो गन्धः स यत्रास्ति तत्तथोच्छ्वासनिःश्वासमिति चतुर्थः ४ प्रच्छन्नमाहारनिहारम् अभ्यवहरणमूत्रपुरीषोत्सर्गौ प्रच्छन्नत्वमेव स्फुटतरमाह अदृश्यं मांसचक्षुषा न पुनरवध्यादिलोचनेन इति पञ्चमः ५ एतच्च द्वितीयादिकमतिशयचतुष्कं जन्मप्रत्ययम् । आकाशके चक्रं षष्ठं तथा आकाशगतं व्योमवर्ति आकाशकं वा प्रकाशमित्यर्थः चक्रं धर्मचक्रमिति षष्ठः ६ आकाशके छत्रमिति सप्तमः एवमाकाशगं छत्रं छत्रत्रयमित्यर्थः ७ आकाशके प्रकाशे श्वेतवरचामरे प्रकीर्णके इत्यष्टमः ८ (आगासफालियामयत्ति) आकाशमिव यदत्यन्तमच्छं स्फटिकं तन्मयं सिंहासनं सहपादपीठमिति नवमः ९ (आगासगओत्ति) आकाशगतोऽत्यर्थं तुङ्गमित्यर्थः कुडभित्ति लघुपताकाः संभाव्यन्ते तत्सहस्रैः परिमण्डितश्चासावभिरामश्चातिरमणीय इति विग्रहः (इंदज्झओत्ति) शेषध्वजापेक्षयाऽतिमहत्त्वादिन्द्रश्चासौ ध्वजश्च इन्द्रध्वज इति (पुरओत्ति) जिनस्याग्रतो गच्छतीति दशमः १० " चिट्ठंति वा निसीयंति वेत्ति" तिष्ठन्ति गतिनिवृत्त्या निषीदन्त्युपविशन्ति (तक्खणादेवत्ति) तत्क्षणमेवाकालहीनमित्यर्थः पत्रैः संछन्न इति वक्तव्ये प्राकृतत्वात् संछन्नपत्र इत्युक्तं स चासौ पुष्पपल्लवसमाकुलश्चेति विग्रहः पल्लवा अङ्कुराः सच्छत्रः सध्वजः सघण्टः सपताकोऽशोकवरपादप इत्येकादशः ११ (ईसित्ति) ईषदल्पं (पिट्ठओत्ति) पृष्ठतः पश्चाद्भागे (मउडट्ठाणमिति) मस्तकप्रदेशे तेजोमण्डलं प्रभापटलमिति द्वादशः १२ बहुसमरमणीयो भूमिभाग इति त्रयोदशः १३ (अहोसिरत्ति) अधोमुखाः कण्टका भवन्तीति चतुर्दशः १४ ऋतवो विपरीताः कथमित्याह। सुखस्पर्शा भवन्तीति पञ्चदशः १५ योजनं यावत् क्षेत्रशुद्धिः संवर्तकवातेनेति षोडशः १६ (जुत्तफुसिएणत्ति) उचितबिन्दुपातेनेति (निहयरयरेणुयंति) वातोत्खातमाकाशवर्ति रजो भूवर्ती तु रेणुरिति गन्धोदकवर्षाभिधानः सप्तदशः १७ जलस्थलजं यद्भास्वरं प्रभूतं च कुसुमं तेन वृन्तस्थायिना ऊर्द्धमुखेन दशार्द्धवर्णेन पञ्चवर्णेन जानुनोरुत्सेधस्य उच्चत्वस्य यत्प्रमाणं यस्य स जानूत्सेधप्रमाणमात्रः पुष्पोपचारः पुष्पप्रकर इत्यष्टादशः १८ तथा (कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामे भवइत्ति) कालागुरुश्च गन्धद्रव्यविशेषः प्रवरकुन्दुरुक्कश्च चीडाभिधानं गन्धद्रव्यं तुरुक्कं च शिल्हकाभिधानं गन्धद्रव्यमिति द्वन्द्वस्तत एतल्लक्षणो यो धूपस्तस्य मघमघायमानो बहुलसौरभ्यो यो गन्ध उद्धूत उद्भूतस्तेनाभिराममभिरमणीयं यत्तत्तथा स्थानं निषीदनस्थानमिति । प्रक्रम इत्येकोनविंशतितमः १९ तथा उभयोः "पासिं च णं अरहंताणं भगवंताणं दुवे जक्खा कडयतुडियथंभियभुया चामरुक्खेवणं करेंतित्ति " कटकानि प्रकोष्ठाभरणविशेषास्त्रुटितानि बाह्वाभरणविशेषास्तैरतिबहुत्वेन स्तम्भिताविव स्तम्भितौ भुजौ ययो-

स्तौ तथा यक्षौ देवाविति विंशतितमः २० बृहद्वाचनायामनन्तरोक्तमतिशयद्वयं नाधीयते अतस्तस्यां पूर्वेऽष्टादशैव अमनोज्ञानां शब्दादीनामपकर्षोऽभाव इत्येकोनविंशतितमः १९ मनोज्ञानां प्रादुर्भाव इति विंशतितमः २० (पच्चाहरओत्ति) प्रव्याहरतो व्याकुर्वतो भगवतः (हियययगमणीउत्ति) हृदयङ्गमः (जोयणनीहारीत्ति) योजनातिक्रमी स्वर इत्येकविंशः २१ (अद्धमागहीयात्ति) प्राकृतादीनां षण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा 'रसोलसौ' मागध्यामित्यादिलक्षणवती सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाऽर्द्धमागधीत्युच्यते तया धर्ममाख्याति तस्या एवातिकोमलत्वादिति द्वाविंशः २२ (भासिज्जमाणीत्ति) भगवताऽभिधीयमाना (आरियमणारियाणंति) आर्यानार्यदेशोत्पन्नानां द्विपदा मनुष्याश्चतुष्पदा गवादयः मृगा आटव्याः पशवो ग्राम्याः पक्षिणः प्रतीताः सरीसृपा उरःपरिसर्पा भुजपरिसर्पाश्चेति तेषां किमात्मन आत्मतया आत्मीयस्येत्यर्थः भाषा तया भाषाभावेन परिणमतीति संबन्धः । किं भूताऽसौ भाषेत्याह हितमभ्युदयः शिवं मोक्षः सुखं श्रवणकालोद्भवमानन्दं ददातीति हितशिवसुखदेति त्रयोविंशः २३ पूर्वं भवान्तरेऽनादिकाले वा जातिप्रत्ययबद्धं निकाचितं वैरममित्रभावो येषां ते तथा तेऽपि च आसतां मध्ये देवा वैमानिका असुरा नागाश्च भवनपतिविशेषाः सुवर्णाः शोभनवर्णा एते च ज्योतिष्का यक्षराक्षसकिन्नराः किंपुरुषाः व्यन्तरभेदाः गरुडा गरुडलाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारा भवनपतिविशेषाः गन्धर्वा महोरगाश्च व्यन्तरविशेषा एव एतेषां द्वन्द्वः (पसंतचित्तमाणसत्ति) प्रशान्तानि समङ्गतानि चित्राणि रागद्वेषाद्यनेकविधविकारयुक्ततया विविधानि मानसान्यन्तःकरणानि येषां ते प्रशान्तचित्रमानसा धर्मं निशामयन्ति इति चतुर्विंशः २४ वृद्धवादतया इदमन्यदतिशयद्वयमधीयते यदुत अन्यतीर्थिकप्रावचनिका अपि च णं वन्दन्तो भगवन्तमिति गम्यते इति पञ्चविंशः २५ आगताः सन्तोऽर्हतः पादमूले निष्प्रतिवचना भवन्ति इति षड्विंशः २६ (जओ जओ वि य णंति) यत्र यत्रापि च देशे (तओ तओ त्ति) तत्र तत्राऽपि च पञ्चविंशतियोजनेषु ईतिर्व्याध्याद्युपद्रवकारी प्रचुरमूषकादिप्राणिगण इति सप्तविंशः २७ मारिर्जनमारक इत्यष्टाविंशः २८ स्वचक्रं स्वकीयराजसैन्यं तदुपद्रवकारि न भवतीति एकोनत्रिंशः २९ एवं परचक्रं पराजसैन्यमिति त्रिंशः ३० अतिवृष्टिरधिकवर्षं इत्येकत्रिंशः ३१ अनावृष्टिर्वर्षणाभाव इति द्वात्रिंशः ३२ दुर्भिक्षं दुष्काल इति त्रयस्त्रिंशः ३३ (उप्पाइयावाहित्ति) उत्पाता अनिष्टसूचका रुधिरवृष्ट्यादयस्तद्धेतुका येऽनर्थास्ते औत्पातिकास्तथा व्याधयो ज्वराद्यास्तदुपशमोऽभाव इति चतुस्त्रिंशतमः ३४ अन्यच्च "पच्चाहरओ" इत आरभ्य येऽभिहितास्ते प्रभामण्डलं च कर्मक्षयकृताः शेषा भवप्रत्ययेभ्योऽन्ये देवकृता इति एते च यदन्यथाऽपि दृश्यन्ते तन्मतान्तरमेव मन्तव्यमिति सम० ३४ स० (इदमत्र निगमनं चत्वारो जन्मप्रभृतित एकोनविंशतिः देवकृताः एकादश घातिकर्मणां क्षयाद्भवन्तीति चतुस्त्रिंशदतिशयाः उक्ताः दर्श०)। सत्यवचनस्य पञ्चत्रिंशदतिशयाः।

पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णत्ता ।

पञ्चत्रिंशत् स्थानकं सुगमं नवरं सत्यवचनातिशया आगमे न दृष्टा एते तु ग्रन्थान्तरे दृष्टाः संभावितवचनं हि गुणवद्वक्तव्यं तद्यथा संस्कारवत् १ उदात्तं २ उपचारोपेतं ३ गम्भीरशब्दम् ४ अनुनादि ५ दक्षिणम् ६ उपनीतरागं ७ महार्थं ८ अव्याहतपौर्वापर्यम ९ शिष्टम १० असंदिग्धम् ११ अपहृतान्योत्तरम् १२ हृदयग्राहि १३ देशकालाव्यतीतम् १४ तत्त्वानुरूपम १५ अप्रकीर्णप्रसृतम् १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतम् १७ अभिजातम् १८ अतिस्निग्धमधुरम १९ अपरमर्मविद्धम २० अर्थधर्माभ्यासानपेतम २१ उदारम् २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तम २३ उपगतश्लाघम् २४ अनपनीतम २५ उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलम २६ अद्भुतम् २७ अनतिविलम्बितम् २८ विभ्रमविक्षेपकिलिकिञ्चितादिविमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रम् ३० आहितविशेषम् ३१ साकारम् ३२ सत्त्वपरिग्रहम ३३ अपरिखेदितम् ३४ अव्युच्छेदम् ३५ चेतिवचनम् महानुभावैर्वक्तव्यमिति । तत्र संस्कारवत्त्वं संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वम । उदात्तत्वमुच्चैर्वृत्तिता २ उपचारोपेतत्वमग्राम्यता ३ गम्भीरशब्दं मेघस्येव ४ अनुनादित्वं प्रतिरवोपेतता ५ दक्षिणत्वं सरलत्वं ६ उपनीतरागत्वं मालकोशादिग्रामरागयुक्तता ७ एते सप्त शब्दापेक्षा अतिशयाः । अन्ये त्वर्थाश्रयास्तत्र महार्थत्वम् बृहदभिधेयता ८ अव्याहतपौर्वापर्यत्वम् पूर्वापरवाक्याविरोधः ९ शिष्टत्वम् अभिमतसिद्धान्तोक्तार्थता वक्तुः शिष्टतासूचकत्वं वा १० असंदिग्धत्वम् असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परदूषणाविषयता १२ हृदयग्राहित्वम् श्रोतृमनोहरता १३ देशकालाव्यतीतत्वम् प्रस्तावोचितता १४ तत्त्वानुरूपत्वम् विवक्षितवस्तुस्वरूपानुसारिता १५ अप्रकीर्णप्रसृतत्वम् सुसंबन्धस्य सतः प्रसरणम् अथवाऽसंबद्धाधिकारित्वातिविस्तरयोरभावः १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतत्वम् परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता १७ अभिजातत्वं वक्तुःप्रतिपाद्यस्येव भूमिकानुसारिता १८ अतिस्निग्धमधुरत्वम् घृतगुडादिवत् सुखकारित्वम १९ अपरमर्मवेधित्वम् परमर्मानुद्घट्टनस्वरूपत्वम् २० अर्थधर्माभ्यासानपेतत्वम् अर्थधर्मप्रतिबद्धत्वम २१ उदारत्वम अभिधेयार्थस्यातुच्छत्वगुम्फं गुणविशेषं वा २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्वमिति प्रतीतमेव २३ उपगतश्लाघत्वम् उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघता २४ अनपनीतत्वम् कारककालवचनलिङ्गादिव्यत्ययरूपवचनदोषापेतता २५ उत्पादिताच्छिन्नकौतूहलत्वम् स्वविषये श्रोतृणां जनितमविच्छिन्नं कौतुकं येन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम २६ अद्भुतत्वमनतिविलम्बितत्वं च प्रतीतम् २७---२८ विभ्रमविक्षेपकिलकिञ्चितादिविमुक्तत्वम विभ्रमो वक्तृमनसो भ्रान्तता विक्षेपस्तस्यैवाभिधेयार्थं प्रत्यनासक्तता किलिकिञ्चितं रोषभयाभिलाषादिभावानां युगपदासकृत्करणमादिशब्दान्मनोदोषान्तरपरिग्रहस्तैर्विमुक्तं यत्तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्रत्वम् इह जातयो वर्णनीयवस्तुरूपवर्णनानि ३० आहितविशेषत्वम् वचनान्तरापेक्षया ढौकितविशेषता ३१ साकारत्वम् विच्छिन्नवर्णपदवाक्यत्वेनाकारप्राप्तत्वम् ३२ सत्त्वपरिगृहीतत्वं साहसोपेतता ३३ अपरिखेदितत्वम अनायाससंभवः ३४ अव्युच्छेदित्वं विवक्षितार्थसम्यक्सिद्धिं यावदनवच्छिन्नवचनप्रमेयतेति ३५ सम० ।

सूत्रार्थाद्यतिशयाः ।

सुत्तत्थे अइसेसा, सामायारी य विज्जजोगाइ ।
विज्जाजोगाइ सुए, विसंति दुविहा अओ होंति ॥

इहातिशयास्त्रिविधास्तद्यथा सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यतिशयाः विद्या योगा आदिशब्दान्मन्त्राश्चेति त्रयोऽतिशयास्तत्र विद्या स्त्रीदेवताधिष्ठिता पूर्वसेवादिप्रक्रियासाध्या वा योगाः पादलेपप्रभृतयो गगनगमनादिफलाः । मन्त्राः पुरुषदेवताः,

पंक्तिसिद्धा वा । यथा त्रिधा यागाश्वशब्दान्मन्त्राश्च श्रुते एवं विशन्ति अन्तर्भवन्ति अतो द्विविधा अतिशयाः भवन्ति तत्र सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यतिशयाश्चैतेषामतिशयानामुपलब्धिः प्रवचनाचार्यपर्युपासनया भवति वृ० १ उ० । अवध्यादौ, औ० । कर्म्मणि प्रत्ययः अतिक्रान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० अतिशिष्यते कर्मणि घञ् । स्वल्पाऽवशिष्टे; वाच० ।

अइसेसइड्ढि–अतिशेषर्द्धि–पुं० अतिशेषा अवधिमनःपर्य्यायज्ञानामर्षौषध्यादयोऽतिशयास्ते तैर्वा ऋद्धिर्यस्याऽसौ अतिशेषर्द्धिः। प्रथमे प्रवचनप्रभावके, प्रव० १४ द्वा०। नि० चू० । दशा०

अइसेसपत्त–अतिशेषप्राप्त–त्रि० आमर्षौषध्यादिलब्धीः प्राप्ते, कल्प० ॥

अइसेसपहुत्त-अतिशेषप्रभुत्व-न० अतिशायिप्रभुत्वे, व्य०६उ०।

अइसेसि (न)–अतिशेषिन्–त्रि० स्फाते, ओघ० ।

अइसेसिय–अतिशेषित–त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ (ति) हि–अतिथि–पुं० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विशदैकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिथिः " तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुरित्युक्तलक्षणे (ध० २ अधि०) तिथिपर्वादिलौकिकव्यवहारपरिवर्जके भोजनकालोपस्थायिनि भिक्षुविशेषे, ध० २ अधि । आव० । श्रा० । आतु० । प्रति० । आचा० । आगन्तुके, भ० ११ श० ६ उ० ।

अइ (ति) हिपूआ–अतिथिपूजा–स्त्री० ६ त० आहारादिदानेनातिथेः सत्कारलक्षणे लोकोपचारविनयभेदे, द० ४ अ० " बलिवइस्सदेवं करेइत्ता अतिहिपूयं करेइ करेइत्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेइ" भ०११ श०६ उ०। नि०,

अइ (ति) हिवल–अतिथिवल–न० अतिथेः शक्त्युपचये, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ (ति) हिम–अतिहिम–न० अतिशयितहिमे, पिं० ।

अइ (ति) हिवणीमग–अतिथिवनीपक– पुं० अतिथिमाश्रित्य वनीपकः । अतिथिदानप्रशंसनेन तद्भक्तात् लिप्स्यमाने याचकभेदे, स्था० ५ ठा० ।

सांप्रतमतिथिभक्तानां पुरतोऽतिथिप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा साधुर्विदधाति तथा दर्शयति ।

पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु झुसिए वा ।
नो पुण अद्धाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदि वा अध्युषिते आश्रिते ददाति भक्तादि यः पुनरध्वखिन्नमतिथिं पूजयति तदेवं जगति दानं प्रधानमिति शेषः। पिं० । नि० चू० ।

अइ (ति) हिसंविभाग–अतिथिसंविभाग–पुं० तिथिपर्वादिलौकिकव्यवहारत्यागाद् भोजनकालोपस्थायी श्रावकस्यातिथिः साधुरुच्यते तस्य संगतो निर्दोषो न्यायागतानां कल्पनीयान्नपानादीनां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तः पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहबुद्ध्या दानमतिथिसंविभागः। यथा संविभागापरनामके चतुर्थे शिक्षाव्रते, ध० २ अधि० (तल्ल च)

अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुत्त पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानं स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकव्यवहार्या तेन तादृशा न्यायेनागतानां प्राप्तानामनेनान्यायेनागतानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जितानामनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणामादिग्रहणाद्वस्त्रपात्रौषधभेषजादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्यवच्छेदमाह । देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तं तत्र नानाव्रीहिकोद्रवकङ्गुगोधूमादिनिष्पत्तिभाग्देशः, सुभिक्षदुर्भिक्षादिः कालः, विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा, अभ्युत्थानासनदानवन्दनानुव्रजनादिः सत्कारः, पाकस्य पेयादिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपक्षव्यवच्छेदमाह । परया प्रधानया भक्त्योत्पन्नेन फलप्राप्तौ भक्तिकृतमतिशयमाह । आत्मानुग्रहबुद्ध्येति न पुनर्यत्यनुग्रहबुद्ध्येति तथा ह्यात्मपरानुग्रहपरा एव यतयः संयताः मूलगुणोत्तरगुणसंपन्नाः साधवः तेभ्यो दानमिति सूत्राक्षरार्थः आव० ६ अ० । अत्र वृद्धोक्ता सामाचारी श्रावकेण पौषधं पारयता नियमात्साधुभ्यो दत्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्वा वा पारयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्वा पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यदा देशकालो भवति तदात्मनो विभूषां कृत्वा साधूंस्तत्प्रश्रयं गत्वा निमन्त्रयते भिक्षां गृह्णीतेति । साधूनां का प्रतिपत्तिरुच्यते । तदा एकः पटलकमन्यो मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते मा अन्तरायदोषाः स्थापनदोषा वा भवन्तु स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानीयस्ततस्तद्गृह्यते । अथवा नास्त्यसौ तदा न गृह्यते यतस्तद्वोढव्यं भवति । यदि पुनर्घनं लगेत्तदा गृह्येत संस्थाप्यते च यो वोढाऽपौरुष्यां पारयति पारणकवानन्यो वा तस्मै तद्दीयते पश्चात्तेन श्रावकेण समं संघाटको व्रजत्येको न व्रजेत् प्रेषयितुं साधुपुरतः श्रावकस्तु मार्गतो गच्छति ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासनेनोपनिमन्त्रयेत यदि निविशेते तदा भव्यमथ न निविशेते तथाऽपि विनयः प्रयुक्तो भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा भाजनं धारयत्यथवा स्थित एवास्ते यावद्दत्तं साधू अपि सावशेषं गृह्णीतः पश्चात्कर्मपरिहरणार्थं ततो दत्वा वन्दित्वा च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पदानि ततः स्वयं भुङ्क्ते यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् श्रावकेण न भोक्तव्यम् । यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न सन्ति तदा भोजनवेलायां दिगवलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि साधवोऽभविष्यंस्तदा निस्तारितोऽहमभविष्यमिति विभाषेति गाथार्थः ३१ पंचा० १ विव० । ध०र० । ध० । श्रा० । "एसा विही णाणीसु बंभयारीसु भत्तीए गिही उग्गहं कुज्जा पारिउकामो य वरं इह परलोगे य दाण फलं" आ० चू० ४ अ० ॥

अस्य पञ्चातिचाराः ।

तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स पंच अइआरा जाणियव्वा न समायरियव्वा । तं जहा सचित्तनिक्खेवणया १ सचित्तपेहणया २ कालाइक्कमदाणे ३ परवदेसे ४ मच्छरया ५

यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थोऽशनादेः समितिसङ्गतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरणं यथा सविभागस्तस्य (सचित्तनिक्खेवणे-त्यादि) सचित्तेषु व्रीह्यादिषु निक्षेपणमन्नादेरदानबुद्ध्या मा. तृस्थानतः सचित्तनिक्षेपणमेवं सचित्तेन फलादिना स्थगनम् सचित्तपिधानम् २ कालातिक्रमः कालस्य साधुभोजनकालस्यातिक्रम उल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालमूनमधिकं च ज्ञात्वा साधवो न ग्रहीष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च यथाऽयं ददात्येवं विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीचार इति ३ । तथा परव्यपदेशः परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति साधुसमक्षं भणनं जानन्तु साधवो यद्यस्यैतद्भक्तादिकं भवेत् तदा कथमस्मभ्यं न दद्यादिति साधुप्रत्ययार्थम् अथवाऽस्माद्दानान्ममाम्बादेः पुण्यमस्त्विति भणनमिति ४ मत्सरिता अपरेणेदं दत्तं किमहं तस्मादपि कृपणो हीनो वाऽतोऽहमपि ददामीत्येवंरूपो दानप्रवर्तकविकल्पो मत्सरिता एते चातिचारा एव न भङ्गा दानार्थमभ्युत्थानं दानपरिणतेश्च दूषितत्वात् भङ्गस्वरूपस्य चेदैवमभिधानात् यथा " दाणंतराय दोसा, ण देइ दिज्जंतयं च वारेइ । दिन्ने वा परितप्पइ, इति किवणत्ता भवे भंगो " १ उपा० १ अ० । ध० ।

अई (ति) व–**अतीव**–अ० अति-इव-समासः । अतिशयार्थे, पंचा० १९ विव० । "अईव णिब्बंधयारकालिएसु " प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।"अईव सोमचारुरूवा" अतीव अतिशयेन सोमं दृष्टिसुभगं चारु रूपं येषां तेऽतीव सोमचारुरूपाः जी० ३ प्रति०४ उ०।

अउअ [य]-**अयुत**–न० चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते, अनु० । अयुताङ्गे, स्था० २ ठा० । अनु० । जी० । जं० । दशसहस्रेषु, कल्प० । असंबद्धे, असंयुक्ते च वाच० ।

अउअंग–**अयुताङ्ग**–न० चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते अर्धनिपूरे, जी० ३ प्रति० । जं० । कल्प० । स्था० । अनु० ।

अउअसिद्ध–**अयुतसिद्ध**–त्रि० कारणकपालादेरपृथग्भूततया सिद्धे कार्यद्रव्ये घटादौ, तथाभूते वैशेषिकोक्ते द्रव्याश्रिते गुणे, कर्मणि च वाच० । आ० म० । सम्म० । स्या० ।

अउज्झ–**अयोध्य** –त्रि० परैर्योद्धुमशक्ये, जी० ३ प्रति० । दुर्गत्वात्परबलैः संग्रामयितुमशक्ये, स्था० ४ ठा० ।

अउज्झा–**अयोध्या**–स्त्री० विनीताऽपरनामके पुरीभेदे,

तन्माहात्म्यम् ।

अउज्झाए एगट्ठियाइं जहा अउज्झा अवज्झा कोसला विणीया सा केयं इक्खागुभूमी रायपुरी कोसलत्ति एसा सिरिउसभअजिअअभिनंदणसुमइअणंतजिणाणं तहा नवमस्स सिरिवीरगणहरस्स अयलभाउणो जम्मभूमी रहुवंसजाणं दसरहरामभरहाईणं च रज्जठाणं विमलवाहणाइ सत्त कुलगरा इत्थ उप्पन्ना उसभसामिणो रज्जाभिसेए मिहुणगेहिं भिसीणीपत्तेयं उदयं घित्तुं पाएसुच्छूढं तओ सा हु विणीया पुरिसत्ति भणिअं सक्केण तओ विणीयत्ति सा नयरी रूढा । जत्थ य महासईए सीयाए अप्पाणं साहंतीए निअसीलबलेण अग्गी जलपूरो कओ सो अज्जवि पुरी नयरिं दोलंतो निअमाहप्पेण तीए चेव रक्खिओ जाय अब्भनरहत्थसुद्धागोअस्स मज्झभूआ सया नवजोअणवित्थिण्णा बारसजोअणदीहा य जत्थ चक्केसरी रयणमयायतणट्ठिअपडिमा संघविग्घं हरेइ । गोमुहजक्खो अ जत्थ घग्घरदहो उसरऊ नईए समं मिलित्ता सग्गदुवारंति पसिद्धमावन्नो जीए उत्तरदिसाए बारसहिं जोयणेहिं अट्ठावयनगवरो जत्थ भगवं आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहेसरेण सीहनिसिज्जाययणं ति कोसुअं कारियं नियनियवण्णप्पमाणसंठाणजुत्ताणि अ चउवीसजिणाणं बिंबाइं ठावियाइं तत्थ पुव्वदारे उसभजियाणं दाहिणद्दारे संभवाईणं चउण्हं, पच्छिमदुवारे सुपासाईणं अट्ठण्हं उत्तरदुवारे धम्माईणं दसण्हं थूभसयं च भाउआणं तेण च कारिअं । जीए नयरीए वत्थव्वा जणा अट्ठावयउवच्चयासु किलिसु जओ असेरीसयपुरे नवंगवित्तिकारसाहासमुब्भवेहिं सिरिदेविंदसूरीहिं चत्तारि महाबिंबाइं दिव्वसत्तीए गयणमग्गेण आणीआइं जत्थ अज्जवि नाभिरायस्स मंदिरं जत्थ पासनाहवामिअसीयाकुंडं सहस्सधारं च पायारट्ठिओ मत्तगयंदजक्खो अलाविज्जस्स अग्गे करिणो न संचरंति संचरंति वा ता मरंति गोपयराइणि य अणेगाणि य लोइअतित्थाणि वट्टंति "एसा पुरी अउज्झा, सरउजलाभिसिच्चमाणगढभित्ती । जिणसमयसत्ततित्थी, जत्तपवित्तिअजणा जयइ ॥" कहं पुण देविंदसूरिहिं चत्तारि बिंबाणि अउज्झापुरओ आणियाणित्ति भण्णइ सेरीसयनयरे विहरंता आराहिअपउमावइधरणिंदा लत्तावल्लीयसिरे देविंदसूरिणो उ कुरुमि ऊसए ठाणेकाउसग्गं करिंसु एवं बहुवारं करिंते दट्ठूण सावएहिं पुच्छियं भयवं को विसेसो इत्थ काउसग्गकरणे सूरिहिं भणिअं इत्थ पहाणफलहीं चिट्ठइ जीसे पासनाहपडिमा कीरइ सा य सन्निहिअपाडिहेरा हवइ तओ सावयवयणेणं पउमावई आराहणत्थं उववासतिगं कयं गुरुणा आगया भगवइ तीए आइट्ठं जहा सो पारए अंधो सुत्तहारो चिट्ठइ सा जइ इत्थ आगच्छइ अट्ठमभत्तं च करेइ सूरिए अत्थमिए फलहिअं घडिउमाढवइ अणुदिए पडिपुण्णं संपाडेइ तओ निप्पज्जइ । तओ सावएहिं तदाइवणत्थं सो पारए पुरिसा पट्ठविआ सो आगओ तहेव घडिउमाढत्ता धरणिंदधारिआ निप्पन्ना पडिमा घडितस्स सुत्तहारस्स पडिमाए हिअए मसा पाउब्भूओ । तमुविक्खिऊणा उत्तरकाउं घडिओ पुणो समारिंतेण मसो दिट्ठो टंकिआ वाहिआ रुहिरं निस्सरिउमारद्धं तओ सूरीहिं भणिअं किमेयं तुमए कयं एयम्मि मसे अत्थतं सा पडिमा अईव अब्भुअ अह उसमप्पभवा हुंता। तओ अंगुट्ठेणं चंपिउं थंभिअं रुहिरं एवं तीसे पडिमाए निप्पन्नाए चउवीसं अन्नाणि बिंबाणि खाणीहिंता आणित्ता ठविआणि । तओ दिव्वसत्तीए अउज्झापुरओ तिन्नि महाबिंबाणि रत्तीए गयणमग्गेण आणियाणि । चउत्थे वि आणिज्जमाणे विहाया रयणी खंधारासेणेयगामे खित्तमज्झे बिंबं ठविअं रामासिरिकुमारपालेण चालुक्कचक्कवइणा चउत्थं बिंबं कारित्ता ठविअं एवं सेरीसे महप्पभावो पासनाहो अज्ज वि संघेण पूइज्जइ मिच्छा वि ववहुवं कारिउं न पारेंति कुसुअघडिवेण न तहा ससाघणा अवयवा दीसंति तम्मि अ गामे तं बिंबं अज्ज वि चेईहरे पूइज्जइत्ति । इतिश्री अयोध्याकल्पः समाप्तः ती० १३ कल्प० । गन्धिलावतीविजये वर्तमाने पुरीयुगले च "दो अउज्झाओ" स्था० २ ठा०

अउ (तु) ल–**अतुल**–त्रि० अनन्यसदृशे, आव० ६ अ० । द० । निरुपमे, उत्त० २० अ० । प्रधाने, आ० । नास्ति तुला सुदृताया यस्यामिति तिलकवृक्षे, पुं० । वाच० ।

अओ–**अतस्**–अ० इदम् तसिल्-एतद्धेत्वर्थे, वाच० "अओ सव्वे अहिंसिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अओघण–अयोघन–पुं० लोहघने, अयोमये घने, " सीसंपि भिंदंति अओघणेहिं " सूत्र० ५ अ० २ उ० ।

अओमय–अयोमय–त्रि० लोहमये विकारे, "अओमयणं संडास-यणं गहाय" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अओमुह–अयोमुख–त्रि० अय इव मुखं यस्य लोहमुखे पक्ष्यादौ, "पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं" सूत्र०१ श्रु०५ अ०२ उ०। अयोमुखद्वीपनिवासिनि मनुष्ये, पुं० स्था० ४ ठा० ॥

अओमुहदीव–अयोमुखद्वीप–पुं० गोकर्णनाम्नोऽन्तरद्वीपस्य परतो दक्षिणपश्चिमायां विदिशि पञ्चयोजनशतव्यतिक्रमेण स्थिते पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भे एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोज-नशतपरिक्षेपे पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितबाह्यप्रदेशेऽन्तर-द्वीपविशेषे, नं० । प्रज्ञा० । स्था० ।

अंक–अङ्क–पुं० अङ्क-अच् । शुल्कमणिविशेषे, उत्त० ३४ अ०। रत्नविशेषे, ज्ञा० १ अ०। जं० । ज्ञा० । रा० । सूत्र० । उत्त० । जी० । भ० । आ०म०प्र० । प्रज्ञा० । नि०चू० । " पद्मासनोप-विष्टस्योत्सङ्गरूपे आसनबन्धे, चन्द्र० ४ पाहु० । चन्द्रबिम्बा-न्तर्वर्तिमृगावयवे च । यल्लोके मृगादिव्यपदेशं लभते जं०७वक्ष०। सूर० । चिह्ने, चन्द्र० २० पाहु० । लाञ्छने, औ० । उत्सङ्गे, व्य० ८ उ० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । दृश्यकाव्यभेदे च पुं० न वाच० । दृश्यकाव्यरूपकभेदे, एकत्वादिसंख्याबोधकरेखास-न्निवेशे नवसंख्यायाञ्च पुं० वाच० ।

अंककंड–अङ्ककाण्ड–न० अङ्करत्नमये योजनशतबाहल्ये रत्न-प्रभायाः खरकाण्डस्य चतुर्दशे भागे, स्था० १० ठा० ।

अंककरेलुअ–अङ्ककरेलुक–न० वनस्पतिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अंकट्ठिइ–अङ्कस्थिति–स्त्री० संख्यारेखाविच्छिन्नस्थापनरूपायां त्रयश्चत्वारिंशत्कलायाम्, कल्प० ।

अंकण–अङ्कन–न० अङ्क-ल्युट् । तप्तायःशलाकादिना गवाश्वानां चिह्नकरणे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । भ० । श्वशृगालचरणादिचि-ह्नलाञ्छनकरणे च आच० ४ अ० । अङ्क-करणे ल्युट् । अङ्कसा-धनद्रव्ये " गदागामीति " प्रसिद्धे, वाच० ।

अंकध (ह) र–अङ्कधर–पुं० ६ त० चन्द्रमसि, जी० ३ प्रति० । तं० । जं० ।

अंकधाइ–अङ्कधात्री–स्त्री० उत्सङ्गस्थापिकायां धात्र्याम्, ज्ञा० १ अ० । नि० चू० । आचा० ।

अंकवणिय–अङ्कवणिज् (ज)–पुं० अङ्करत्नवणिजि, रा० ।

अंकमुह–अंकमुख–न० ६ त० पद्मासनोपविष्टस्य उत्सङ्गरू-पासनबन्धाग्रभागे, सूर० ५ पाहु० चं० ।

अंकमुहसंठिय–अङ्कमुखसंस्थित–त्रि० पद्मासनोपविष्टस्योत्स-ङ्गरूप आसनबन्धस्तस्य मुखमग्रभागोऽर्द्धवलयाकारस्तस्येव सं-स्थितं यस्य । अर्द्धवलयाकारसंस्थानसंस्थिते, सूर० ५ पाहु० । चन्द्र० ।

अंकलिवि–अङ्कलिपि–स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्द्वादशे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद० । स० ।

अंकमय–अङ्कमय–त्रि० अङ्करत्नमये, अङ्करत्नविकारे, अङ्क-रत्नप्रचुरे वा "अंकामया पक्खा पक्खवाहा" ओ०। रा०। प्रति०।

अंकावई–अङ्कवती–स्त्री० महाविदेहरम्यविजये वर्तमानायां राजधान्याम् । " रम्मे विजये अंकावई रायहाणी अंजणे वक्खारपव्वए" जं०४ वक्ष० "दो अंकावईओ" स्था० २ ठा० । मन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वर्तमाने वक्षस्का-रपर्वते च स्था० ४ ठा० ।

अंकिअ (य)–अङ्कित–त्रि० लाञ्छिते, आव० ४ अ० । औ० ।

अंकिइल्ल–देशी० नटे, ज्ञा० १ अ० ।

अंकुडग–अङ्कुटक–पुं० नागदन्तके; जं० १ वक्ष० ।

अंकुत्तरपास–अङ्कोत्तरपार्श्व–त्रि० अङ्का अङ्करत्नमया उत्तर-पार्श्वा यस्य तत् अङ्कोत्तरपार्श्वम् । अङ्करत्नमयोत्तरपार्श्वयु-क्ते द्वारे । रा० । जी० ।

अंकुर–अङ्कुर–पुं० न० अङ्क-उरच् । प्ररोहे, सू० १ उ० । शाल्यादिबीजसूचौ, भ० ७ उ० ७ श० । कालकृतावस्थावि-शेषभाजि प्रवाले, जी० ३ प्रति० । स्था० । "दग्धे बीजे यथा-ऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः" ध० २ अधि० । जले, शीघ्रोत्पत्तिसाधर्म्यात् । रुधिरे, लोम्नि, मुकुले च वाच० ।

अंकुस–अङ्कुश–पुं० न० अङ्क उशच् सृणौ, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० । "अंकुसेण जहा णागो धम्मे संपडिवाइओ" उत्त० २२ अ० । अङ्कुशाकारे मुक्तादामावलम्बनाश्रयभूते चन्द्रोपके, जी० ३ प्रति० । स्था० । आ० म० द्वि० । विमानविशेषे, स० । देवार्चनार्थं वृक्षपल्लवाकर्षणार्थं परिव्राजकोपकरणविशेषे, औ० । षष्ठे वन्द-नकदोषे, तत्स्वरूपं च ।

उवगरणे हत्थम्मि व, घित्तं णिवेसेति अंकुसंविति ।

यत्राङ्कुशेन गजमिव शिष्यः सूरिं तूर्ध्वस्थितं शयितं प्रयोजना-न्तरव्यग्रं वोपकरणे चोलपट्टककल्पादौ हस्ते वाऽवज्ञया समाकृ-ष्य वन्दनकदानार्थमासने उपवेशयति तदङ्कुशवन्दनकमुच्यते नहि श्रीपूज्याः कदाचनाप्युपकरणाद्याकर्षणमर्हन्त्यविनयत्वात् किं तु प्रणामं कृत्वा कृताञ्जलिपुटैर्विनयपूर्वकमिदमभिधीयते न्यर्णविशन्तु भगवन्तो येन वन्दनकं प्रयच्छामीत्यतो दोषदुष्टमि-दमिति । आवश्यकवृत्तौ तु रजोहरणमङ्कुशवत् करद्वयेन गृहीत्वा यत्र वन्दते तदङ्कुशमिति व्याख्यातम् । अन्ये तु अङ्कुशाक्रान्तस्य हस्तिन इव शिरोवनमनोन्नमने कुर्वाणस्य यद्वन्दनं तदङ्कुशमित्याहुः एतच्च द्वयमपि सूत्रानुयायि न भव-ति । तत्त्वं पुनर्बहुश्रुता जानन्ति प्रव० २ द्वा० । आव० । ध० । " अंकुसो दुविहो सुत्ते गंतुस्स रयहरणं गहाय भणति निवेस जा ते वंदामि अहवा दोहिं वि हत्थेहिं अंकुसं जधा भा० चू० ३ उ० । प्रतिबन्धे च वाच० ।

अंकुसा–अंकुशा–स्त्री० अनन्तजिनस्य शासनदेवतायाम्, सा च देवी गौरवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा खड्गपाशयुक्तदक्षिणपा-णिद्वया फलकाङ्कुशयुक्तवामकरद्वया च प्रव० २७ द्वा० ॥

अंकेल्लणपहार–अंकेल्लणप्रहार–पुं० अश्ववादीनां तर्जकविशे-षाघाते, अंकेल्लणपहारपरिवज्जियंग अंकेल्लणप्रहारपरिवर्जिताङ्गः अश्ववारमनोऽनुकूलत्वादङ्केल्लणप्रहाररहितशरीरे अश्वादौ, त्रि० जं० ४ वक्ष० ।

अंकोल्ल–अंकोट [ठ] [ल] पुं० अङ्क्यते लक्ष्यते कीला-कारकण्टैः अङ्क-ओट-ओठ-ओल-वा । अंकोठेल्लः ८ । १ । २०० । इति सूत्रात् ठस्य द्विरुक्तो लः प्रा० पीतवर्णसारे गन्धयुक्तपुष्पे दीर्घकण्टकयुक्ते रक्तवर्णफले वृक्षविशेषे, वाच० एकास्थिकवृ-क्षभेदे, गुच्छभेदे च प्रज्ञा० १ पद० । कल्प० ।

अंकोल्लतेल्ल–अंकोट [ठ] तेल्ल– न० अङ्कोठ-तैलम् अनङ्कोठात्तैलस्य डेल्लः ८ । २ । १५५ । इत्यङ्कोठपर्युदासान्न तैलप्रत्ययस्य डेल्लः । अङ्कोठस्नेहे, प्रा० ॥

अंग–अङ्ग–अ० आमन्त्रणे, ज० ७ श० ३३ उ० । दशा० । ज्ञा० । औ० । अलंकारे च । "विमंग पुण अहं अज्झोववगमिश्रो" स्था० ४ ठा० । अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते गर्भोत्पत्तेरारभ्य व्यक्तीभवन्ति जन्मप्रभृतेर्गृह्यन्ते चेत्यङ्गानि । शिरउदरादिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रव० ८ द्वा० । आ० चू० प्रज्ञा० । निचू० । विशे० । उत्त० अङ्गान्यष्टौ शिरःप्रभृतीनि तदुक्तं " सीसमुरोयरपिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा " कर्म० । रा० । " बाहूरुपुट्ठिसिरउरउयरंगा " बाहू भुजद्वयम् ऊरू ऊरुद्वयं पृष्ठिः प्रतीता शिरो मस्तकमुरो वक्षः उदरं पोट्टमित्यष्टावङ्गान्युच्यन्ते इह विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् कर्म० १ क० । आ० म० । गात्रे, औ० । स्था० । उत्त० । अवयवे, स्था० ७ ठा० । " अट्ठंगाइं " ज्ञा० १ अ० । स० । स्था० लौकिकानि वेदस्य षडङ्गानि तद्यथा शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरणं ३ छन्दो ४ निरुक्तं ५ ज्योतिषं ६ चेति आ० चू० २ अ० । अनु० । आ० म० । आव० । लोकोत्तराणि प्रवचनस्य द्वादश अङ्गान्याचाराङ्गादीनि (तानि अंगपविट्ठशब्दे व्याख्यास्यन्ते) कारणे, प्रति० । स्था० ।

अस्य निक्षेपमाह ।

णामंगं ठवणंगं, दव्वंगं चेव होइ भावंगं ।

एसो खलु अंगस्स, णिक्खेवो चउव्विहो होइ उत्त० नि०

नामाङ्गं स्थापनाङ्गं द्रव्याङ्गं चैव भवति भावाङ्गमेव खलु (अंगस्स इति) प्राकृतत्वादङ्गस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथासमासार्थः । अत्र च नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्याङ्गमभिधित्सुराह ।

गंधंगमोसहंगं, मज्जाउज्जं सरीरजुद्धंगं ।

एत्तो एक्केक्कं पि य, णेगविहं होइ णायव्वं ॥

गन्धाङ्गमौषधाङ्गं (मज्जाउज्जं सरीरजुद्धंगं) विन्दोरलाक्षणिकत्वाद् अङ्गशब्दस्य च प्रत्येकमभिसंबन्धात् मद्याङ्गमातोद्याङ्गं शरीराङ्गं युद्धाङ्गमिति षड्विधम् (एत्तोत्ति) सुव्यत्ययादेषु मध्ये एकैकमपि चानेकविधं भवति ज्ञातव्यमिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थं तु विवक्षुराचार्यो "यथोद्देशं निर्देशमिति" न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्गं प्रतिपादयन्नाह ।

जमदग्गिजडा हरेणु–या सबरणिवसणयं सपिण्णियं ।

रुक्खस्स बाहिरा तया, मल्लियवासियकोडिअग्घंती ॥

उसीरहिरिवेराणं, पलं भद्दारुणो करिसो ।

सत्तपुप्फाण भागो य, भागो य तमालपत्तस्स ॥

एयं पण्हाणमयं, विलेवणं एस चेव पडवासो ।

वासवदत्ताकत्तो, उदयणमभिधारयंतीए ॥

तत्र जमदग्निजटा वालको हरेणुका प्रियङ्गुः सबरनिवसनकं तमालपत्रं (सपिण्णियं) पिण्णिका श्यामकाख्यं गन्धद्रव्यं तया सह सपिण्णिकं वृक्षस्य च बाह्या त्वक् चातुर्यातकाङ्गं प्रतीतमेव "मल्लियवासियत्ति" मल्लिका जातिस्तद्वासितमनन्तरोक्तद्रव्यजातं चूर्णीकृतमिति गम्यते कोडिं (अग्घ इत्ति) अर्हति कोटिमूल्यार्हं भवति । महार्घतोपलक्षणं चैतत् तथा उशीरं प्रसिद्धं ह्रीबेरो वालकः पलं पलमनयोस्तथा भद्रदारोर्देवदारोः कर्षः "सयपुप्फाणंति" वचनव्यत्ययात् शतपुष्पाया भागो भागश्च तमालपत्रस्य भाग इह गलिका मात्रा । अस्य माहात्म्यमाह । एतत्स्नानमेतद्विलेपनमेष चैव पटवासः वासवदत्तया चण्डप्रद्योतदुहित्रा कृतो विहित उदयनं वीणावत्सराजमभिधारयन्त्या चेतसि वहन्त्या अनेन परिचित्ताक्षेपकत्वमस्य महात्म्यमुक्तमिति सूत्रार्थः । औषधाङ्गमाह ।

दोण्णि य रयणी महिंद–फलं च तिण्णि य समूसणंगाइं ।

सरसंव कणयमूलं, एसा उदगट्ठमागुलिया ॥

एसा उ हणइ कंडुं, तिमिरं अवहेडगं सिरोरोगं ।

तेइज्जगचाउत्थग–मूसगसप्पावरद्धं च ॥

द्वे रजन्यौ पिण्डदारुहरिद्रे माहेन्द्रफलं चेन्द्रयवा त्रीणि च समूषणं त्रिकटुकं तस्याङ्गानि सुण्ठीपिप्पलीमरिचद्रव्याणि सरसं चार्द्रकनकमूलं विल्वमूलमेषोदकाष्टमेत्युदकमष्टमं यस्यां सा च तथा गुटिका वटिका । अस्याः फलमाह । एषा तु हन्ति कण्डुं तिमिरं (अवहेडयति) अर्द्धशिरोरोगं समस्तशिरोव्यथां (तेइज्जगचाउत्थगत्ति) सुपो लोपे तार्तीयिकचातुर्थिकौ रुक्ष्या ज्वरौ मूषकसर्पापराद्धमुन्दराहिदष्टं चः समुच्चय इति गाथाद्वयार्थः । मद्याङ्गमाह ।

सोलस दक्खाभागा, चउरो भागा य धायतीपुप्फे ।

आढगमो उच्छुरसे, मागहमाणेण मज्जंगं ॥ दारं ॥

(सोलसगाहा) षोडश द्राक्षाभागाश्चत्वारो भागाश्च धातकीपुष्पे धातकीपुष्पविषयाः (आढगमोत्ति) आर्षत्वादाढक इक्षुरसविषयः आढक इह केन मानेनेत्याह । मागधमानेन "दो-असइ" इत्यादिरूपेण मद्याङ्गं मदिराकारणं भवतीति गाथार्थः ।

आतोद्याङ्गमाह ।

एगं मगुंदातूर–मेगं अहिमारुदारुओ अग्गी ।

एगं साल्लियपोंडं, बद्धो आमोलतो होइ ॥

(एगंगाहा) एकं मकुन्दातूर्यमिति । एकैव मकुन्दा वादित्रविशेषो गम्भीरस्वरत्वादिना तूर्यकार्यकारित्वात् तूर्यमनेनास्या विशिष्टमातोद्याङ्गत्वमेवाह । किमेकैव मकुन्दातूर्यं सोपस्कारत्वाद्यथैकमभिमारस्य वृक्षविशेषस्य दारुकं काष्ठमभिमारदारुकमग्निर्विशेषतोऽग्निजनकत्वाद्यथा वा एकं शाल्मलीपोण्डं शाल्मलीपुष्पं बद्धमामोडको भवति । आमोडकं पुष्पोन्मिश्रो बालबन्धविशेषः स्फारत्वादस्येत्थं दृष्टान्ताभिधायितयैव व्याख्यायते प्रसङ्गतो वाऽग्न्यामोडकाङ्गयोरप्यभिधानमिति सूत्रार्थः । शरीराङ्गमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी बाहू य दोण्णि ऊरू य ।

एए होंति अट्ठंगा खलु, अंगोवंगाइं सेसाइं ॥

होंति उवंगा कण्णा, णासच्छीहत्थपायजंघा य ।

णहकेसमंसअंगुलि, ओट्ठा खलु अंगुवंगाइं [दारम्]

शिरश्च उरश्च प्राग्वदुदरं " पिट्ठित्ति " प्राकृतत्वात्पृष्ठं बाहू द्वौ ऊरू च एतान्यष्टाङ्गानि । प्राग्वत् लिङ्गव्यत्ययः खलुरवधारणे एतान्येवाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि शेषाणि नखादीनि उपलक्षणत्वादुपाङ्गानि च कर्णादीनि यत उक्तम् । होंति उवंगा कण्णा नासच्छी जंघहत्थपाया य । नहकेसमंसअंगुलि ओट्ठा खलु अंगुवंगाणि इति गाथार्थः ।

सांप्रतं युद्धाङ्गमाह ।

जाणावरणपहरणे, जुद्धे कुसलत्तणं च णीती य ।
दक्खत्तं ववसाओ, सरीरमारोग्गए चेव ॥

(दारम) (जाणावरणपहरणेत्ति) यानं च हस्त्यादि तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुमत आवरणं च कवचादि सत्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च खड्गादि यानावरणप्रहरणानि यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति किं यानादिनेति युद्धे संग्रामे कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं सत्यप्यस्मिन्नीतिं विना न शत्रुजयनमतो नीतिश्चापक्रमादिलक्षणा सत्यामपि चास्यां दक्षत्वाधीनो जयस्ततो दक्षत्वमाशुकारित्वं सत्यस्मिन्निर्व्यवसायस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरीरमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरमर्थात्परिपूर्णाङ्गं तत्राप्यारोग्यमेव जयायेति (आरोगयात्ति) आरोग्यता चः समुच्चये एवावधारणे ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः

भावाङ्गमाह ।

भावंगं पि य दुविहं, सुतमंगं चेव णोसुतं अंगं ।
सुतमंगं वारसहा, चउव्विहं णोसुयज्जंगं ॥

भावाङ्गमपि च द्विविधम् (सुयमंगं चेवत्ति) श्रुताङ्गं चैव नोश्रुताङ्गं च । श्रुताङ्गं द्वादशधा आचारादि भावाङ्गता चास्य क्षायोपशमिकभावान्तर्गतत्वात् । उक्तं च " भावे खओवसमिए दुवालसंगं पि होति सुयणाणंति" चतुर्विधं चतुष्प्रकारं नोश्रुताङ्गं तु नोशब्दस्य सर्व्वनिषेधार्थत्वादश्रुताङ्गं पुनः मकारश्च सर्वत्राऽऽलाक्षणिक इति गाथार्थः । एतदेवाह ।

माणुस्सं धम्मसुत्ती, सद्धा तवसंजमम्मि विरयं च ।
एए भावंगा खलु, दुल्लभगा होंति संसारे ॥

मानुष्यं मनुजत्वमस्य चादावुपन्यास एतद्भावे शेषाङ्गभावात् धर्मश्रुतिरर्हत्प्रणीतधर्म्माकर्णनं श्रद्धा धर्म्मकरणाभिलाषः । तपोऽनशनादिस्तत्प्रधानः संयमः पञ्चाश्रवविरमणादिस्तपःसंयमो मध्यमपदलोपी समासः । तपश्च संयमश्च तपःसंयममिति समाहारो वा तस्मिन्वीर्यं च वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्था शक्तिः । अस्य च द्विष्ठस्याप्येकत्वेन विवक्षितत्वाद्योक्तसंख्याविरोधः । एतानि भावाङ्गानि खलु निश्चितं दुर्लभकानि भवन्ति संसारे लिङ्गव्यत्ययश्च प्राकृतत्वादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र भावनीयमिति गाथार्थः । इह द्रव्याङ्गेषु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च संयमः प्रधानमिति । तदेकार्थिकान्याह ।

अंगं दसभागभेए, अवयव असगलचुण्णियाखंडे ।
देसे पदेसपव्वे, साहापडलपज्जवखिलं च ॥
दया य संजमे लज्जा, दुगुंछा अच्छलणादि य ।
तितिक्खा य अहिंसा य, हिरी त्ति एगट्ठिया पदा ।

अङ्गदशभागो भेदोऽवयवोऽसकलश्चूर्णः खण्डो देशः प्रदेशः पर्व्व शाखा पाटलं पर्यवः खिलं चेति शरीराङ्गपर्याया इति वृद्धाः । व्याख्यानिकस्त्वविशेषतोऽमी अङ्गपर्यायास्तथा (दसभागत्ति) दशभाग इति च भिन्नावेव पर्यायावित्याह । चः समुच्चये सूत्रत्वाच्च सुपः क्वचिदश्रवणमिति । संयमपर्यायानाह दया च संयमो लज्जा जुगुप्सा अच्छलना । इतिशब्दः स्वरूपपरामर्शकः पर्यन्ते योक्ष्यते तितिक्षा चाहिंसा च ह्रीश्चेत्येकार्थिकान्यभिन्नाभिधेयानि पदानि सुबन्तशब्दरूपाणि पर्यायाभिधानं च नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमिति गाथाद्वयार्थः । उत्त० ३ अ० वृत्ति० । अज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्निति चतुर्विधं नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्याङ्गं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं शिरो बाह्वादि । भावतोऽयमेवाचारः आचाराङ्गम् आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । चिन्हे. अङ्गजे कामे उपाये, प्रधानोपयोगिनि उपकरणे, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति मीमांसा जन्मादिलग्ने, यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गमिति पाणिनिपरिभाषिते प्रत्ययावधिभूते शब्दभूते च वाच० । ऋषभदेवस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प० । नो० । जनपदविशेषे, यत्र चम्पानगरी ज्ञा० ८ अ० । प्रवः । स्था० । वृ० । कल्प० । सूत्र० ।

आङ्ग-पु० अङ्गानां राजा आङ्गः अङ्गदेशाधिपे. बह्वर्थेऽणो लुक् अङ्गा अङ्गदेशास्तद्राजानो वा भक्तिरस्य अण् आङ्गः । अङ्गदेशभक्ते, अङ्गराजभक्ते वा त्रि० । अङ्गादागतम् आङ्गम् । अङ्गनिमित्ते कार्य्ये, वार्णादाङ्गं बलीयः इति परिभाषा वाच० । अङ्गं शरीरावयवस्तद्विकार आङ्गम् । देहावयवविकारे, स्था० ८ ठा० । अङ्गे भवमाङ्गम् । शरीरोत्पन्ने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अङ्गविषयमाङ्गम् । आव० ४ अ० । शिरःस्फुरणादौ, स्था० ८ ठा० । शरीराऽवयवप्रमाणस्पन्दितादिविकारफलोद्भावके महानिमित्तभेदे, स० । अङ्गस्फुरणादिभिः शरीरावयवस्पन्दनप्रमाणादिभिर्यदिह वर्तमानमतीतमनागतं वा शुभं प्रशस्तमशुभं वाऽप्रशस्तमन्यस्मै कथ्यते तद्भण्यते आङ्गं निमित्तं यथा 'मूर्ध्नि स्फुरत्याशु पृथिव्यवाप्तिः, स्थानप्रवृद्धिश्च ललाटदेशे । भ्रूघ्राणमध्ये प्रियसंगमः स्यान्नासान्तिमध्ये च महार्थलाभ' इत्यादि प्रव० २५७ द्वा० "दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमभिधास्ये तत्फलं स्त्रिया वामे । पृथिवीलाभं शिरसि, स्थानविवृद्धिर्ललाटे स्यात्" इत्यादि स्था० ८ ठा० (आङ्गनाम्नो महानिमित्तस्य सूत्रादिमानम) "अंगस्स सयसहस्सं, सुत्तवित्ती य कोडि विन्नेया । वक्खाणं अपरिमियं, इयमेव य वत्तियं जाण" आव० ४ अ० । आ० चू० । स० ।

अंगअ-अङ्गज-पुं० अङ्गाज्जायते जन-ड-पुत्रे, को० । ज्ञा० । आ० चू० । दुहितरि, स्त्री० देहजातमात्रे, त्रि० रुधिरे, न० रोगे, पुं० लोम्नि, न० अङ्गं मनस्तस्माज्जायते कामे, पुं० वाच० ।

अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोधयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे, प्रज्ञा० २ पद० । जी० । ज० । ज्ञा० । स्था० । रा० । औ० । वालिवानरराजपुत्रे, वाच० ॥

अंगइ-अङ्गजित्-पुं श्रावस्तीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, नि० । स्था० । (स च पार्श्वजिनान्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽनशनेन मृत्वा चन्द्रविमाने चन्द्रत्वेनोपपन्न इति चंदशब्दे वक्ष्यते)

अंगइ (रि) सि-अङ्गर्षि-अङ्गऋषि-पुं० चम्पावास्तव्ये कौशिकार्य्यशिष्ये, तस्य भद्रत्वादङ्गर्षिरिति कौशिकार्य्येण नाम कृतम् । आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० । आ० क० । ती० ।
(तेनोपशमे सति सामायिकमवाप्य केवलमधिगतमिति अज्जवशब्दे वक्ष्यते)

अंगचूलिया-अङ्गचूलिका-स्त्री० अङ्गस्याऽऽचारादेश्चूलिका यथाऽऽचारस्यानेकविधा इहानुक्तार्थसंग्राहिका चूलिका । कालिकश्रुतभेदे, पा० । नं० । स्थानाङ्गसूत्रे तु संक्षेपिकादशाया स्तृतीयाऽध्ययनत्वेनेयमुक्ता स्था० १० ठा० ।

सम्प्रत्युपलभ्यमानाङ्गचूलिकाग्रन्थस्येत्थमारम्भादिः ।

नमो सुअदेवयाए भगवईए नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं । तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपाणामं णयरी होत्था

वसओ पुप्फभद्दे चेतिए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसोहम्मे णामं अणगारे । जाइसंपन्ने जहा उववाइए जाव चउणाणसंपन्ने । पंचहिं अणगारसएहिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव पुप्फभद्दे चेइए अहापडिरूवं विहरइ परिसा णिग्गया । धम्मं सोच्चा णिसम्म जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अंतेवासी अज्जजंबूणाम अणगारे । जायसड्ढे जाव जेणेव अज्जसोहम्मे सामी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करइ करित्ता वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जाव पज्जुवासति एवं वयासी । जइ णं भंते समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं इक्कारस अंगाणं अयमट्ठे पन्नत्ते इक्कारस अंगाणं अंगचूलियाए के अट्ठ पन्नत्ते ततेणं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबूअणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमट्ठे पन्नत्ते । जंबूअंगचूलिया अंगचूलियाभूया णायव्वा । जहा कणयगिरिचूलिया सिआ । चत्तालीसं जोअणुच्चा कणयगिरिम्मि रमणिज्जे दीसंति । जहा पुरिसित्थीणमच्छी । जहा य चूलियाए सिरं सोभति मणिरयणमंडियमउडेणं मउलियं दिप्पति तिलयरयणेणं भालं दिप्पति । विविहनाणामणिखचियकुंडलजुअलेणं कण्णे दिप्पंति । तेहिं विलिहिज्जमाणेणं गंडे दिप्पंति । उन्नयनासाए विमलसमुत्ताहलं दिप्पति । कज्जलेणं विसाललोअणे दिप्पंति । पंचसुगंधिएणं तंबोलेणं वयणकमलं दिप्पति । गीवाभरणेणं गीवा दिप्पति । वरमुत्ताहलहारएणं वच्छत्थलं दिप्पति । वरकणगरयणखचियकडिसुत्तएणं कडी दिप्पति । नेउरेणं पाए दिप्पंति । तहा अंगचूलिआए इक्कारसं अंगाणि दिप्पंति । सा अंगचूलिया निग्गंथाणं निग्गंथीणं सम्मं जाणियव्वा फासियव्वा तीरियव्वा किट्टियव्वा भुज्जो भुज्जो अट्ठा सहेउआ सवागरणा गुरुपरंपरागमेण गहियव्वा । तत णं अज्जसुहम्मसामिणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ चित्तमाणंदिए जंबू एवं वयासी । कह णं भंते ! गुरुपरंपरागमो भण्णइ । जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं तओ आगमा पण्णत्ता । तं जहा अत्तागमे अणंतरागमे परंपरागमे अत्तओ अरहंताणं भगवंताणं अत्तागमे । सुत्तओ गणहराणं अत्तागमे । गणहरसीसाणं अणंतरागमे । तओ परं सव्वेसिं परंपरागमे ॥

(अस्य ग्रन्थस्य श्लोकमानमष्टौ शतानीति तत्रैव ग्रन्थसमाप्तौ प्रतिपादितम् ।

अंगच्छहिय–अङ्गच्छिन्न–त्रि० अङ्गेषु छिन्नः । कृत्ताङ्गे, " इमं नक्कओट्ठसीसमुहच्छिण्णयं करेह वेयगच्छहियं अंगच्छहियं इमं पुक्खाफोडियं करेह " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंगच्छे [य] द–अङ्गच्छेद–पुं० दूषितावयवकर्त्तने, " अंगच्छेदो सअट्ठितो सेसरक्खट्ठा " पंचा० १६ विव० ।

अंग [अङ्ग] ण–अङ्गण (न)–न० अगि–गतौ अङ्ग्यते गृहाद्भिःसृत्य गम्यते ल्युट् । पृषोदरादित्वाद्वा णत्वम् । वर्गेऽन्त्यो वा ८।१।३० इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । प्रा० अजिरे, प्रश्न० सं० २ द्वा० ४ अ० । गृहाग्रभागे, कल्प० । "अंगणं मंडवट्ठाणं" नि०चू० ३ उ० ।

अंगणा–अङ्गना–स्त्री० अङ्गे स्वशरीरे पयोधरनितम्बजघनस्मरकूपिकादिरूपे अनुरागो येषां ते अङ्गानुरागास्तान् अङ्गानुरागान् कुर्वन्तीति अङ्गनाः स्त्रीषु, । तं० । आचा० । नि० चू० ।

अंगादिया–अङ्गादिका–स्त्री० तीर्थविशेषे, यत्र श्रीमदजितस्वामिशान्तिदेवताद्वयं श्रीब्रह्मेन्द्रदेवतावसरः ती० ४५ कल्प० ।

अंगप्पभव–अङ्गप्रभव–त्रि० अङ्गाद् दृष्टिवादादेः प्रभव उत्पत्तिरस्येति अङ्गप्रभवः । दृष्टिवादादेरुत्पन्ने, यथोत्तराध्ययने परीषहाध्ययनम् " कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं । सणयं सोदाहरणं, तं चेव इहं पि णायव्वं " उत्त० १ अ० ।

अंगप्पविट्ठ–अङ्गप्रविष्ट–न० इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भवन्ति तद्यथा द्वौ पादौ द्वे जङ्घे द्वे ऊरुणी द्वे गात्रार्द्धे द्वौ बाहू ग्रीवा शिरश्च एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वादशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम् । " पायदुगं जंघोरु गायदुगद्धं तु दो य बाहू य । गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगेसु य पविट्ठो " श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टम् ॥ अङ्गभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेदे, नं० । स्था० । अनु० । पा० । अङ्गप्रविष्टस्यानङ्गप्रविष्टाद् भेद इह प्रदर्श्यते ॥ " अह भगवं तुब्भे चेव सव्वनुमते को विसेसो । जहा इमं अंगप्पविट्ठं इमं अंगबाहिरं ति । आयरिओ आह जे अरहंतेहिं भगवंतेहिं अतीताणागतवट्टमाणदव्वखित्तकालभावजहावत्थितदंसीहिं अत्थपरूविता ते गणहरेहिं परमबुद्धिसन्निवादगुणसंपन्नेहिं सयं चेव तित्थगरसकासातो उवलभिऊण सव्वसत्ताणं हियट्ठताय सुत्तातेण वयणिबद्धा तं अंगप्पविट्ठं आयारादि दुवालसविहं । जं पुण अन्नेहिं विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहिं थेरेहिं अप्पाउयाणं मणुयाणं अप्पबुद्धिसत्ताणं बहुग्गाहकं ति नाऊण तं चेव आयारादि सुयणाणं परंपरागयं अत्थतो गंथतो य अतिबहुं ति काऊण अणुकंपानिमित्तं दसवेयालियमादिपरूवितं अणेगभेदं अणंगप्पविट्ठं " आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

गणधरथेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणओ वा ।
धुवचलविसेसओ वा, अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥

अङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वमेतद् भेदकारणं किमित्याह गणधरा गौतमस्वाम्यादयस्तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपमङ्गप्रविष्टमुच्यते विशे० ॥ गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमुपरचयन्ति तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसंपन्नतया तद्रचयितुमीशत्वान्न शेषाणां ततस्तत्कृतं सूत्रं मूलभूतमित्यङ्गप्रविष्टमुच्यते (नं) यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैः तदेकदेशमुपजीव्य विरचितं तदनङ्गप्रविष्टम (नं) स्थविरास्तु भद्रबाहुस्वाम्यादयस्तद्दृष्टं श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकमनङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यमुच्यते अथवा वारत्रयं गणधरपृष्टस्य तीर्थंकरस्य संबन्धनीय आदेशः

प्रतिवचनमुत्पादव्ययध्रौव्यवाचकं पदत्रयमित्यर्थः तस्माद्यन्निष्पन्नं तदङ्गप्रविष्टं द्वादशाङ्गमेव विपा०२ श्रु०१० अ०। आदेशा यथा "आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति एकभविकं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च। आर्यसमुद्रो द्विविधं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च । आर्यसुहस्ती एकमभिमुखनामगोत्रमिति । बृ० १ उ० । मुक्तं मुत्कलमप्रश्नपूर्वकं यद् व्याकरणमर्थप्रतिपादनम् (वि० २ श्रु० १० अ०) यथा वर्षेदेवकुणालायामित्यादि । तथा मरुदेवी भगवती अनादिवनस्पतिकायिका तद्भवेन सिद्धा इति (बृ० १ उ०) तस्मान्निष्पन्नमङ्गबाह्यमभिधीयते तच्चावश्यकादिकं वाशब्दोऽङ्गानङ्गप्रविष्टत्वे पूर्वोक्तभेदकारणादन्यत्वसूचकः। तृतीयभेदकारणमाह (धुवेत्ति) ध्रुवं सर्वेषु तीर्थकरतीर्थेषु निश्चयभावि (विपा० २ श्रु० १० अ०) सर्वेषु क्षेत्रेषु सर्वकालं चार्थक्रमं चाधिकृत्य एवमेव व्यवस्थितं ततस्तदङ्गप्रविष्टमुच्यते अङ्गप्रविष्टमङ्गभूतं मूलभूतामित्यर्थः । नं० ॥ द्वादशाङ्गमिति यत्पुनश्चलमनियतमनिश्चयभावि तत्तण्डुलवैकालिकप्रकीर्णकादिश्रुतमङ्गबाह्यं वाशब्दोऽपि भेदकारणान्तरत्वसूचकः । इदमुक्तं भवति गणधरकृतं पदत्रयलक्षणतीर्थकरादेशनिष्पन्नं ध्रुवं च यत् श्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते।तच्च द्वादशाङ्गीरूपमेव यत्पुनः स्थविरकृतमुत्कलार्थाभिधानं चलं च तदावश्यकप्रकीर्णादि श्रुतमङ्गबाह्यमिति विशे० ।

अङ्गप्रविष्टश्रुतभेदा यथा ।

से किं तं अंगपविट्ठं अंगपविट्ठं दुवालसविहं पण्णत्तं तं जहा । आयारो १ सुयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपण्णत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अनुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुयं ११ दिट्ठिवाओ य १२ ॥

अथ किं तदङ्गप्रविष्टं सूरिराह अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा आचारं सूत्रकृतमित्यादि नं० आ०म० प्र०। ध०। (आचारादीनामर्थः स्वस्वस्थाने) एतेषां मानं तथा हि 'अट्ठारसपयसहस्सा आयारे १ दुगुणदुगुणसेसेसु । सुयगड २ ठाण ३ समवाय ४ भगवई ५ नायधम्मकहा ६। ११ अंगं उवासगदसा, ७ अंतगडं ८ अणुत्तरोववाइदसा ९ । पण्हवागरणं तहा, १० विवागसुय ११ मिगदसं अंगं' दृष्टिवादे सर्वश्रुतसद्भावेऽपि शेषश्रुतरचनं हेतुः विशे० । आह ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिबध्नाति गणधर इत्यागमे श्रूयते पूर्वकरणादेव चैतानि पूर्वाण्यभिधीयन्ते तेषु च निःशेषमपि वाङ्मयमवतरति अतश्चतुर्दशात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु किं शेषाणामङ्गविरचनेन अङ्गबाह्यश्रुतरचनेन वा इत्याशङ्क्याह ॥

जइ वि य भूतावाए, सव्वस्स वि उगयस्स ओयारो ।
निज्जूहणा तहा वि हु, दुम्मेहे पप्प इत्थीया ॥

अशेषविशेषान्वितस्य समग्रवस्तुस्तोमस्य भूतस्य सद्भूतस्य वादो भणनं यत्राऽसौ भूतवादः । अथवाऽनुगतव्यावृत्तापरिशेषधर्मकलापान्वितानां सभेदप्रभेदानां भूतानां प्राणिनां वादो यत्राऽसौ भूतवादो दृष्टिवादः । दीर्घत्वं च तकारस्यार्षत्वात्तत्र यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि दुर्मेधसां तदवधारणाद्ययोग्यानां मन्दमतीनां तथा स्त्रीणां चानुग्रहार्थं निर्यूहणा विरचना शेषश्रुतस्येति । विशे० १८० पत्र० ।

अंगबाहिर—अंगबाह्य—न० द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य बहिर्व्यतिरेकेण स्थितमङ्गबाह्यम । अङ्गबाह्यत्वेन व्यवस्थिते श्रुतविशेषे, नं० । एतद्भेदा यथा " अंगबाहिरे दुविहे पण्णत्ते तं जहा आवस्सए चेव आवस्सयवइरित्ते चेव" स्था०१ ठा०। नं०। अनु०। आ० चू० । रा० । कर्म० । (अङ्गप्रविष्टादस्य भेदोऽनन्तरमेव अङ्गपविट्ठ शब्दे उक्तः)

अंगबाहिरिया—अङ्गबाह्या—स्त्री० अङ्गान्याचारादीनि तेभ्यो बाह्या अङ्गबाह्याः अनङ्गप्रविष्टायाम, चन्द्रसूरजम्बूद्वीपद्वीपसागरप्रज्ञप्तयः ५ अङ्गबाह्याः । स्था० ४ ठा० ॥

अंगभंजण—अङ्गभञ्जन—न० शरीराऽवयवप्रमोटने, प्रश्न० संव० ५ द्वा० ।

अंगभूय—अङ्गभूत—त्रि० कारणभूते, प्रव० १ द्वा० ।

अंगमंग—अङ्गाङ्ग—न० (प्राकृतेऽलाक्षणिको मकारः) अङ्गप्रत्यङ्गेषु, " रायलक्खणविराइयंगमंगा " रा० । स० । शरीराऽवयवेषु, ज्ञा० ९ अ० ।

अंगमंगिभावचार—अङ्गाङ्गिभावचार—पुं० परिणामपरिणामिभावगमने, द्वा० ।

अंगमंदिर—अङ्गमन्दिर—न० चम्पानगर्यां बहिर्विद्यमाने चैत्ये, " अंगमंदिरंसि चेइयंसि मल्लरामस्स सरीरं विप्पजहामि " । भ० १ श० १ उ० ।

अंगमद्दिया—अङ्गमर्दिका—स्त्री० शरीरमर्दनकारिण्यां दास्याम, " अट्ठ अंगमद्दियाओ अट्ठ उम्मद्दियाओ " इहाङ्गमर्दिकानामुन्मर्दिकानां चाल्पबहुमर्दनकृतो विशेषः । भ० ११ श० ११ उ० ।

अंगरक्ख—अङ्गरक्ष—न० अङ्गं रक्षयति । अङ्ग रक्ष-अच् वर्मणि, ज्ञा० ३ अ० ।

अंगलूहण—अङ्गरूक्षण—न० अंशुकेनाङ्गस्य स्नानजल्लिप्तापनयने, ध० २ अधि० ।

अंगविज्जा—अङ्गविद्या—स्त्री० अङ्गरूपा व्याकरणादिशास्त्ररूपा विद्या ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसंपादके व्याकरणादिशास्त्रे, वाच० । शिरःप्रभृत्यङ्गस्फुरणतःशुभाशुभसूचिकायां विद्यायाम, अङ्गस्फुरणफलशास्त्रे, यथा " शिरसः स्फुरणे राज्यं, हृदयस्फुरणे सुखम् । बाह्वोश्च मित्रसंलापो जङ्घयोर्भोगसंगमः ॥१॥ उत्त०८ अ० । स्वनामख्यातेऽङ्गादिनिमित्तफलदेशके ग्रन्थविशेषे च । स च ग्रन्थः कुतो निर्यूढः कति तत्राध्यायाः कियत्यो वा तत्र विद्या इति तत्रैवादौ प्रदर्शितं । यथा अङ्गानि च विद्याश्च अङ्गविद्या । अङ्गविद्याव्यावर्णितेषु भौमान्तरिक्षादिषु हिलि हिलि मातङ्गिनि स्वाहा इत्यादिषु विद्यानुवादप्रसिद्धासु विद्यासु च। " अंगविज्जं च जे पउंजंति न हु ते समणा " उत्त० ८ अ० ।

अंगवियार—अङ्गविकार—पुं० ६ त० शिरःस्फुरणादौ, शरीरस्फुरणादितः शुभाशुभसूचके शास्त्रे, उत्त० १५ अ० ।

अङ्गविचार—पुं० ६ त० शरीरस्पर्शनस्य नेत्रादीनां स्फुरणस्य वा विचारे । तद्विचारेण फलादेशके शास्त्रे च उत्त० १५ अ० । "अंगवियारं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू" उत्त० १५ अ० ।

अंगसंचाल—अङ्गसंचार—पुं० रोमोद्गमादिषु गात्रविचलनप्रकारेषु, "सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं" आव०५ अ० । ध० । ल० ।

अंगसुहफरिस (फासिय)—अङ्गस्पर्शक—त्रि० अङ्गस्य सुखा सुखकारी स्पर्शो यस्य तत्तथा । क० । देहसुखहेतुस्पर्शयुक्ते भ० ११ श० ११ उ० ।

अंगादाण-आङ्गादान-न० अङ्गं शरीरं शिर आदीनि वा अङ्गानि तेषामादानं प्रभवः प्रसूतिरङ्गादानम् । मेढ्रे, अङ्गादानस्य संचालनादिनिषेधस्तत्र प्रायश्चित्तम् ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं कट्ठेण वा कलिंचेण वा अंगुलियाए वा सिलागाए वा संचालेइ संचालंतं वा साइज्जइ ।२।

अङ्गं शरीरं सिरमादीणि वा अंगाणि तेसिं आदाणं अंगादाणं प्रभवो प्रसूतिरित्यर्थः । तं पुण अंगादाणं मेढ्रं भण्णति तं जो अण्णतरेण कट्ठेण वा कलिंचो वंसकप्पट्टी अंगुली प्रसिद्धा वेत्रमादि सलागाए तेहिं जो संचालेति साइज्जति वा तस्स मासगुरुं पच्छित्तं ॥

इदाणीं णिज्जुत्तीए भण्णति ।

अंगाण उवंगाणं, अंगोवंगाण एयमादीणं ।
एतेणंगा ताणं, अणंतणं वा भवे बितियं ॥ ९५ ॥

अंगाणि अट्ठ सिरादीणि उवंगा कण्णादीणि । अंगोवंगाणक्खपव्वादी एतेसिं सव्वं आदाणं कारणमिति तेण एयं अंगादाणं भण्णति । अहवा अणायत्तणं वा भवे बितियं णाम अंगादाणं ति ॥

अस्य व्याख्या ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी बाहू य दोण्णि ऊरूओ ।
एते अट्ठंगा खलु, अंगोवंगाणि सेसाणि ॥ ९६ ॥

शिरः प्रसिद्धं उरः स्तनप्रदेशः उदरं पोट्टं पिट्ठी पसिद्धा दोण्णि बाहू दोण्णि ऊरू आणि एताणि अट्ठंगाणि खलु अवधारणे भणितं अवसेसा जे ते उवंगा अंगोवंगाय ते इमे य ।

होंति उवंगा कण्णा, णासच्छी जंघहत्थपाया य ।
णह केसु मंसु अंगुलि, तलोवतलअंगुवंगाउ ॥ ९७ ॥

कण्णा नासिगा अच्छी जंघा हत्था पादा य एवमादी सव्वे उवंगा भवंति नहा वाला स्मश्रु अङ्गुली हस्ततलं हत्थतलाओ समंता पासेसु अण्णाया उवतलं भण्णति । एते नखादि अंगोवंगादीत्यर्थः तस्स संचालणसंभवो इमो ।

संचालणं तु तस्स, सणिमित्तं अणिमित्तए वा वि ।
आतपरतदुभए वा, अणंतरं परंपरा चेव ॥ ९८ ॥

तस्यैति मेढ्रस्य संचालणा सणिमित्ते उदग्गाहारे सरीरे य इदमपि प्रथमसूत्र एव व्याख्यातम् (एतच्चाविति) सणिमित्ताणिमित्तवज्जा सामण्णेण सव्वा विचालणा त्रिविधा अप्पणेण परेण वा उभएण वा । एक्केका दुविधा अणंतरा परंपरा वा अणंतरेण हत्थेण परंपरेण कट्ठादिणा एत एवाविति । अस्य व्याख्या ।

उद्धाणिवेसुल्लंघण, उच्चत्तणगमणमादिएसि तए ।
ण य घट्टणवोसिरिउं, चिट्ठति ताणि पज्जलं जाव ॥९९॥

उट्ठेंतस्स णिसीयंतस्स वा लंघणीयं वा उल्लंघेंतस्स सुत्तस्स वा उव्वत्तणादि करेंतस्स स गच्छंतस्स वा आदिसद्दातो पडिलेहणादिकिरिया एवमादि इतरा संचालणा सयं काइयं वा वोसिरिऊण संचालेति काइयपरिसाडणणिमित्तं ताव चिट्ठइ जाव सयं चेव णिप्पगलं अणंतरं परंपरं संचालेमाणस्स मासगुरुं आणादीणो य दोसा भवंति ॥

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं संवाहेज्ज वा पलिमद्देज्ज वा संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा सातिज्जति ॥३॥

जे भिक्खू पूर्ववत् संवाहति एक्कसिं परिमद्दति पुणो पुणो सा संवाहणा सणिमित्ता वा अणिमित्ता वा पूर्ववत् । अणादिविराहणा पूर्ववत् ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मंखेज्ज वा अब्भगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् तेल्लघता पसिद्धा । वसा अयगरमच्छसूकराणं अब्भंगेत्ति एक्कसिं मंखेति पुणो पुणो अहवा थोवेण अब्भंगणं बहुणा मंखणं उव्वट्टणासूत्रे सणिमित्तअणिमित्ता पूर्ववत् साइज्जणा तहेव आणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा लोद्देण वा पउमचुण्णेण वा ण्हाणेण वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा परिवट्टेइ वा उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ५५

कक्कं उव्वलणयं द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते किंचिल्लोद्रं द्रव्यं तेण वा उव्वट्टेति पद्मचूर्णेन वा ण्हाणं ण्हाणमेव । अहवा उवण्णाणयं भण्णति तं पुण मासचूर्णादि सिणाणं गंधियावणे अंगाघसणयं वुच्चति वण्णओ जो सुगंधो चंदनादिचूर्णानि जहा वट्टमाणचुण्णे पडवासादिवासनिमित्तानि निमित्तं तहेव उव्वट्टेत्ति एक्कसिं परिवट्टेति पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा सातिज्जइ ॥ ६ ॥

शीतमुदकं शीतोदकं वियडं ववगयजीवियं उसिणमुदकं उसिणोदकं उच्छोलेति सकृत् पधोवणा पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं णिच्छोल्लइ णिच्छोलंतं वा साइज्जति ॥ ७ ॥

णिच्छल्लेत्ति त्वचं अवणेति महामणिं प्रकाशयतीत्यर्थः ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं जिंघति जिंघंतं वा साइज्जइ ।८।

जे भिक्खू पूर्ववत् जिघ्रन्ति नासिकया आघ्रातीत्यर्थः । हत्थेण वा मलऊणं लवणं सिंघति । एतेसिं संचालणादीणं जिंघणावसाणाणं सत्तण्ह वि सुत्ताणं इमा सुत्तफासनिभासासूत्राणि वक्तव्यानि ।

संवाहणमब्भंगण, उव्वट्टणधोवणे य एस कमो ।
णायव्वो णियमो उ, णिच्छल्लणजिंघणाए य ॥१००॥

संवाहणसूत्रे अब्भंगणासूत्रे उवट्टणासूत्रे धोवणासूत्रे एस गमो त्ति संचालणासूत्रे भणिओ सो चेव य पगारा णायव्वो णियमो अवस्सं णिच्छल्लणासूत्रे जिंघणासूत्रे स । एतेसु चेव सत्तसु वि सुत्तेसु इमो दिट्ठंतो जहक्कमेण ।

सीहासीविसअग्गी, भिल्ली वग्घे य अयगरणरिंदो ।
सत्तसु वि पदेसु ते, अहारणा होंति णायव्वा ॥ १०१॥

संचालणासुत्ते दिट्ठंतो । सीहो सुत्तो संचालितो जहा जीयंतगरो भवति एवं अंगादाणं संचालियं मोहुब्भयं जणयति । ततो चारित्रविराधना इमा आयविराहणा सुक्कक्खएण मारऊण्वेण वा कट्ठाइणा संचालेति तं सणिसं कसुत्तियक्खयं वा खयं वा कट्ठेण हवेज्जा । संवाहणासूत्रे इमो दिट्ठंतो । जो आसीविसं सुहसुत्तं संवोहेति सो विबुद्धो तस्स जीवियंतकरो भवति ।

एवं अंगादाणं पि परिमद्दमाणस्स मोहुब्भवो ततो चारित्रजी- वियविणासो भवति । अब्भंगणासूत्रे इमो दिट्ठंतो इहरह वि ताव अग्गी उज्जलति किं पुण घतादिणा सिच्चमाणो एवं अंगादाणं वि मरिज्जमाणो सुट्ठुतरं मोहुब्भवो भवति। उव्वट्टणासूत्रे इमो दिट्ठंतो जह्वा शस्त्रविशेषः स सत्भावेण तिण्हा किमंग ! पुण णिसिया एवं अंगादाणसमुत्थो सत्भावेण मोहो दिप्पति किमंग ! पुण उव्वट्टिते । उच्छोलणा सुत्ते इमो दिट्ठंतो एगो वग्घो सो अच्छिरोगेण गहिओ संबद्धा य अच्छी तस्स य एगेण वेज्जेण वक्खियाए अक्खीणि अंजऊण पउणीकताणि तेण सो चेव य सज्जो एवं अंगादाणं पि सो इतरं चारित्रावनाशाय भवती- त्यर्थः । णिच्छोलणासुत्रे इमो दिट्ठंतो जहा अयगरस्स सुहप्पसुत्तस्स मुहं वियतेति तं तस्स अप्पवहाय भवति एवं अंगादाणं पि णिच्छलियं चारित्रविनाशाय भवति । जिंघणासुत्रे इमो दिट्ठंतो परिंदेति एगो राया तस्स वेज्जपरिसिद्धे अंबए जिंघमाणस्स अंबट्ठा थाही ज्झाइ सो गंधप्रियेण वा कुमारेण गंधमग्घायमाणेण अप्पा जीवियाउ भंसिओ एवं अंगादाणं जिंघमाणो संजमजीवियाओ छुओ अणाइयं च संसारं भमिस्सति त्ति सत्तसु वि पदेसु एते आहारणा भवंतीत्यर्थः ॥ भणिओ उस्सग्गो । इदाणीं अववातो भणति ॥

तितियपदमणप्पज्भे, अपदंसे मुत्तसक्करपमेहे ।
सत्तसु वि पदेसु ते, वितियपदा होंति णायव्वा ॥१०२॥

वितियपदं अववायपदं मणप्पज्भे अनात्मवशः ग्रहगृहीत इत्यर्थः । सो संचालणादी पदे सव्वे करेज्जा । अपदंसो पित्ताश्लं मुत्तसक्कए पाषाणकः पमेहो रोगो संसत्तं काइयं भरंतं अच्छति एतेसु पदेसु सत्तसु वि जहासंभवं भाणियव्वा भणियं संजयाणं।

इदाणीं संजतीणं।

एसेव गमो णियमा, संचालणवज्जितो उ वज्जाणं ।
संवाहणमादीसुं, उवरिल्लेसुं छसु पदेसु ॥१०३॥

एसेव पगारो सव्वो णियमा संचालणासुत्तविवज्जिओ संवाहणादिसु उवरिल्लेसु छसु वि सुत्तेसु इत्यर्थः ।

[सूत्राणि] जे भिक्खू अंगादाणं अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयगांस अणुपवेसित्ता सुक्कपोग्गले णिग्घाएति णिग्घायंतं वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् अन्नतरं णाम बहूणं परूवियाणं अन्नतरे अचित्तं णाम जीवविरहियं भवतीति श्रोत्र तत्र अंगादाणं पविसऊण सुक्कपोग्गले णिग्घाएति गालयतीत्यर्थः साइज्जइ वा।

इदाणीं णिज्जुत्ती ।

अचित्तं सोत्तं पुण, देहे पडिमा जुतेतरं चेव ।
दुविधं तिविधमणंगे,एक्केक्के तं पुणं कमसो ॥१०४॥

अचित्तं जीवरहितं सोत्तं छिड्डं पुणसद्दो भेदप्पदरिसणे तं अचित्तसोत्तं तिविहं देहजुयं पडिमजुयं चेयरं च । एक्केक्कस्स पुणो इमो भेदो कमसो दट्ठव्वो । देहजुत्तं दुविहं पडिमाजुत्तं तिविहं एगतरं अंगमहा । तत्थ देहे जुअं देहजुयं दुविहं इमं ।

तिरियमणुस्सित्थीणं, जे खलु देहा भवंति जीवजढा ।
अपरिग्गहेतरा वि य, तं देहजुतं तु णातव्वं ॥१०५॥

तिरियमणुस्सित्थीणं जे तहा जीवजढा भवंति खलु अवधारणे ते पुण सरीरा अपडिग्गहा इतरा सपरिग्गहा। सचेतणं सपरिग्गहं उवरिवक्खमाणं भविस्सति । एयं देहजुयं भवतीत्यर्थः ।

इदाणीं पडिमाजुत्तं तिविहं पण्णविज्जति ।

तिरियमणुयदेवीणं, जा य पडिमा असण्णिहितिओ ।
अपरिग्गहेतरा वि य, तं पडिमजुत्तं ति णायव्वं ॥१०६॥

तिरियपडिमा मणुयपडिमा देवपडिमा या असंनिहियाओ संनिहियाओ अ । असंणिहिआओ दुविहा अपरिग्गहा इतरा सपरिग्गहा य । जं एयविहाण तियं तं पडिमाजुत्तंति णायव्वं ।

इदाणीं एतरं अणेगविहं परूविज्जति ।

जुगछिड्डणालियाकर-गविमाति सोतगं जं तु ।
देहच्चा विवरीत, तु एतरं तं मुणेयव्वं ॥१०७॥

जुगं बहिल्लाण खंधे आरोविज्जति लोगपसिद्धं तस्स छिद्दं अण्णतरं वा । णालिआ वंसणलगादीणं छिद्दं करगीयाणीयभंडगं- तस्स गीवा छिद्दं वा एवमादि सोतगं देहं सरीरं अच्चयंति तामिति अच्चा प्रतिमा तेसिं विवरीतं अणंतवुत्तं भवति । इह पुण असणिहियअपरिग्गहेसु अधिकारो जं परिसं तं एतरं मुणेयव्वमित्यर्थः । एतेसि सोआणं अन्नतरे जो सुक्कपोग्गले णिग्घातेति तस्स पच्छित्तं भण्णति ।

मासगुरुगादि छल्लहु, जहण्णए मज्झिमे य उक्कोसे ।
अपरिग्गहितचित्ते, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०८॥

देहजुए अपरिग्गहिते अचित्ते जहण्णए अदिट्ठे मासगुरुं दिट्ठे चउलहु अक्कोकंतीए वारियव्वं मज्झिमे अदिट्ठे चउलहु दिट्ठे चउगुरुं उक्कोसते अदिट्ठे चउगुरुं दिट्ठे छल्लहु । तिरियमणुसामएण देहजुअं अपरिग्गहियं भणियं ।

इदाणीं तिविहं परिग्गहियं भणति ।

चउलहुगादी मूलं, जहण्णगादिम्मि होंति अचित्ते ।
तिविहेहिं पडिजुत्ते, अदिट्ठदिट्ठे य देहजुते ॥१०९॥

इमा वि अक्कोकंती चारणीया देहजुते अचित्ते यावच्च पारिग्गहे जहण्णए अदिट्ठे चउलहुअं दिट्ठे चउगुरुअं कोडुंबियपरिग्गहे जहण्णए अदिट्ठे चउगुरु दिट्ठे अहं दंडियपरिग्गहे जहण्णए अदिट्ठे लहुअं दिट्ठे छगुरुअं एतेण चेव कम्मेण तिपरिग्गहे मज्झिमए चउगुरुगादी छेदे ठाति एतेण चेव कम्मेण तिपरिग्गहे उक्कोसए छल्लहुआदी मूले ठाति णणियं देहजुअं ।

इदाणीं पडिमाजुअं भण्णदि ।

पडिमाजुअं वि एवं, अपरिग्गहएतरे असंणिहिते ।
अचित्तसोयजुत्ते, एसा भणिता भवे सोधी ॥११०॥

पडिमाजुअं पि एवं चेव णाणियव्वं जहा देहजुअं अचित्तं अपरिग्गहं तहा पडिमाजुअं असण्णिहिअं अपरिग्गहियं ॥ जहा देहजुअं अचित्तं सपरिग्गहं तहा पडिमाजुअं असणिणहियं सपरिग्गहं भाणियव्वं । इतरेसु पुण जुगछिड्डणालियादिसु मासगुरुं पत्थ सुत्तणिवातो एसा अचित्तसोयजुत्तेसोही णणिया ।

एते सामण्णतरे, तु सोत्तए जे उदिण्णमोहाओ ।
सागणिमित्तमणिमित्तं वा, कुज्जा णिग्घत्तणादीणि ॥

एतेसिं अचित्तसोआणादिविराहणं पावेइ इमा संजमविराहणा

रागग्गिसंजमिंधण, डाहो अह संजमे विराहणया ।
सुक्कक्खए य मरणं, आकिच्चकारि त्ति उड्डाहे ॥ १११ ॥

राग एव अग्निः रागाग्निः संयम एव इन्धनं संयमेन्धनम्

भतस्तेन रागाग्निना संयमेन्धनस्य दाघो जवति विनाश इत्यर्थः अह इति एषा संयमविराधना इमा आत्मविराधना पुणो पुणो विध्यापमाणस्स सुक्कक्खए मरणं भवति ते वा सुक्कपोग्गले णिग्घाएत्ता अकिच्चकारित्ति काउं अप्पाणं उब्बंधेति उक्कलंबेतोत्ति वुत्तं नवति (अपवादमार्गस्तु ग्रन्थत एवावसेयः) नि० चू० १ उ० । जीतकल्पे नवमपत्रे स्नेहादिना म्रक्षणादिकं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तमुक्तम (मैथुनप्रतिकृया अङ्गादानसंचालन म मेहुण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां दृष्ट्वा जातकौतुकायाः देव्या उदाहरणं पलंब शब्दे दर्शयिष्यते)

अं (इं) गार (ल)–अङ्गार–पुं० न० अङ्ग-आरन् । एकाङ्गारललाटे वा । ८ । १ । ४७ । इति सूत्रेणादेरत इत्वं वा प्रा० । विगतधूमज्वालदह्यमानेन्धनादिके बादरतेजस्कायभेदे, उत्त० ३६ अ० । आचा० । पिं० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । ज०। औ० । स्था० । ज्ञा० ॥ चारित्रेन्धनस्य रागाग्निनाऽङ्गारस्येव करणे, ग० ७ अधि० । स्वाद्वन्नं तद्दातारं वा प्रशंसयतो भोजने आपतति आहारदोषविशेषे, ध० ३ अधि० । पं० व० । प्रव० । उत्त० ॥ आचा० । तत्र च ।

जे णं णिग्गंत्थे वा णिग्गंथी वा फासुयं एसणिज्ज असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गहेत्ता सम्मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णए आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! सइंगाले पाणभोयणे भ० ७ श० १ उ० ।

"रागेण सइंगाले" महा० ३ अ० । एतदेव सव्याख्यानमाह ।

तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो ।
तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ निंदंतो ॥

तद्भवति भोजनं साङ्गारं यत्कृतविशिष्टगन्धरसास्वादवशातो जाततद्विषयमूर्च्छः सन् अहो मिष्टमहो सुसंभृतमहो सस्निग्धं सुपक्वं सरसमित्येवं प्रशंसन्नाहारयति । तत्पुनर्भवति भोजनं सधूमं यत्कृतविरूपरसगन्धास्वादतो जाततद्विषयव्यलीकचित्तः सन्नहो रूपम क्वथितमपक्वमसंस्कृतमलवणं चेति निन्दन्नाहारयति । अयं तत्र भावार्थः । इह द्विविधा अङ्गाराः तद्यथा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः कृशानुदग्धाः खदिरादिवनस्पतिविशेषाः भावतो रागाग्निना निर्दग्धं चरणेन्धनम् । धूमोऽपि द्विधा तद्यथा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धदग्धानां काष्ठानां संबन्धी भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य मानस्य संबन्धी कलुषभावो निन्दात्मकः ततः सहाङ्गारेण यद्वर्त्तते तत्साङ्गारं धूमेन सह वर्त्तते यत्तत्सधूमम् ।

संप्रत्यङ्गारधूमयोर्लक्षणमाह ।

अंगारत्तमपत्तं, जलमाणं इन्धणं सधूमं तु ।
अंगारत्ति पवुच्चइ, तं वि य दड्डुंगए धूमे ॥

अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलदिन्धनं सधूममुच्यते तदेवेन्धनं दग्धे धूमे गते सति अङ्गार इति । एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना निर्दग्धं सत् अङ्गार इत्युच्यते । द्वेषाग्निना तु दह्यमानं चरणेन्धनं सधूमं निन्दात्मककलुषभावरूपधूमसम्मिश्रत्वात् ।

एतदेव भावयति ।

रागग्गिसंपलित्तो, भुंजंतो फासुयं पि आहारं ।
निद्दड्ढंगालनिभं, करेइ चरणिंधणं खिप्पं ॥

प्रासुकमप्याहारं भुञ्जानो रागाग्निना संप्रदीप्तश्चरणेन्धनं निर्दग्धाङ्गारनिभं क्षिप्रं करोति ।

दोसग्गी वि जलंतो, अप्पत्तियधूमधूवियं चरणं ।
अंगारमित्तसरिसं, जो न हवइ निद्दही ताव ॥

द्वेषाग्निरपि ज्वलन् अप्रीतिरेव कलुषभाव एव धूमोऽप्रीतिधूमस्तेन धूमितं चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति तावत् निर्दहति

तत इदमागतम् ।

रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं ।
छायालीसं दोसा, बायव्वा भोयणविहीए ॥

रागेण ध्मातस्य यद्भोजनं तत्साङ्गारं चरणेन्धनस्याङ्गारभूतत्वात् । द्वेषेण ध्मातस्य तु यद्भोजनं तत्सधूमं निन्दात्मककलुषभावरूपधूमसम्मिश्रत्वात् पिं० १०७ पत्र० । पं० चू० । भौमग्रहे, पुं० रक्तवर्णे, न० तद्वति , त्रि० वाच० ।

आङ्गार–त्रि० अङ्गाराणामयमाङ्गारः । अङ्गारसंबन्धिनि, "इंगालं छारियरासिं" दशा० ५ अ० ॥

अं (इं) गार (ल) कड्ढणी–अङ्गारकर्षिणी–स्त्री० अङ्गारोत्थापिकायामीषद्वक्राग्रायां लोहमययष्टौ, भ० १६ श० १ उ० ।

अं [इ] गार [ल] कम्म -अङ्गारकर्मन्--न० अङ्गारविषयं कर्माङ्गारकर्म । अङ्गाराणां करणविक्रयस्वरूपे कर्मादानत्वात्कर्तव्ये कर्मणि, एवमग्निव्यापाररूपं यदन्यदपीष्टकापाकादिकं कर्म तदङ्गारकर्मोच्यते अङ्गारशब्दस्य तदन्योपलक्षणत्वात् ज० ८ श० ५ उ० । समानस्वभावत्वात् उपा० १ अ० । यतो योगशास्त्रे "अङ्गारभ्राष्ट्रकरणं, कुम्भायःस्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टकापाका–विति ह्यङ्गारजीविका ॥ ध० २ अधि० । प्रव० । आव० । "इङ्गाले डहिऊण विक्किणेति तत्थ छक्कायवहो तन्न कप्पति अहवा लोहकारादि" आ० चू० ६ अ० । आ० । ध० । पंचा० ।

अं [इं] गार [ल] कारिया–अङ्गारकारिका–स्त्री० अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका । अग्निशकटिकायाम, ।

इंगालकारिएणं भंते ! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि राइंदियाइं अन्नेवत्थ वाउकाए वक्कमइ ण विणा वाउकाएणं अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका । न केवलं तस्यामग्निकायो भवति (अन्नेवत्थत्ति) अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति यत्राग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा कस्मादेवमित्याह " न विणेत्यादि " । भ० १६ श० १ उ० ।

अं (इं) गार (ल) ग–अङ्गारक–पुं० अङ्गार-स्वार्थे-कन्-अङ्गारे, वाच० । मङ्गलनामके तारग्रहभेदे, स्था० ६ ठा० । औ० । प्रश्न० । आद्ये महाग्रहे च कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । भ० । " दो इंगालगा " स्था० २ ठा० । अङ्गारमिव इवार्थे कन् रक्तवर्णत्वात् । कुरण्टकवृक्षे, भृङ्गराजवृक्षे च पुं० अल्पार्थे कन् रक्तवर्णत्वात् विस्फुलिङ्ग इति विख्याते अङ्गारक्षुद्रांशे, न० वाच० ।

अं (इं) गार (ल) डा (दा) ह–अङ्गारदाह–पुं० अङ्गारा दह्यन्ते यत्र । यत्राङ्गाराणां दाहो भवति तादृशे स्थाने, नि० चू० ३ उ० । आचा० । अङ्गारान् दहतीति अङ्गारदाहः । अङ्गाराणां दाहके, त्रि० (अङ्गारदाहकेन तद्गुणमजानता चन्दनखोटी दग्धेति चन्दनखोटीदृष्टान्तः सच आयरिय शब्दे) (मुक्तिसुखमसदृशमित्यत्राङ्गारदाहदृष्टान्तः सिद्ध शब्दे)

अं (इं) गार (ल) पतावणा—अङ्गारप्रतापना—स्त्री० अङ्गारेषु प्रतापनाऽङ्गारप्रतापना। शरीरस्य शीतकालादौ अङ्गारेषु प्रतापनायाम्, प्रश्न० सं० ५ द्वा०।

अं (इं) गार (ल) मद्दग—अङ्गारमर्दक—पुं० जीवाश्रद्धानतोऽङ्गाराणां मर्दनेनाङ्गारमर्दकेति प्रसिद्धिं गते रुद्रदेवाभिधे अभव्याचार्ये, तत्संविधानकं चैवं श्रूयते।

" सूरिर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारतः।
समायातो महाज्ञागः, पुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥
अथाऽत्र तिष्ठतस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः।
गत्वा विसर्गवेलायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥ २ ॥
कलभानां शतैः भूरैः, शूकरः परिवारितः।
पञ्चभिर्भद्रजातीना—मस्मदाश्रयमागतः ॥ ३ ॥
ततस्ते कथयामासुः, सूरेः स्वप्नं तमद्भुतम्।
सूरिस्तूवाच तस्यार्थं, साधूनां पृच्छतामयुम् ॥ ४ ॥
सुसाधुपरिवारोऽद्य, सूरिरेष्यति कोऽपि वः।
प्राघूर्णकः परं भव्यो, नासाविति विनिश्चयः ॥ ५ ॥
यावज्जल्पत्यसौ तेषां, साधूनां सूरिरग्रतः।
रुद्रदेवाभिधः सूरि—स्तावत्तत्र समागतः ॥ ६ ॥
शनैश्चर इव स्फार—सौम्यग्रहगणान्वितः।
परगन्तरुवत्कान्त—कल्पवृक्षगणान्वितः ॥ ७ ॥
कृता च तस्य तैस्तूर्ण—मभ्युत्थानादिका क्रिया।
आतिथेयी यथायोगं, स गच्छस्य यथागमम् ॥ ८ ॥
ततो विकालवेलायां, कोलाकारस्य तस्य तैः।
परीक्षणाय निक्षिप्ताः, अङ्गाराः कायिकीभुवि ॥ ९ ॥
स्वकीयाचार्यनिर्देशा—त्प्रच्छन्नैश्च तकैः स्थितैः।
वास्तव्यसाधुनिर्दिष्टा—स्ते प्राघूर्णकसाधवः ॥ १० ॥
पादसंचूर्णिताङ्गार—कुशत्कारस्वस्तुतौ।
मिथ्यादुष्कृतमित्येत—द्ब्रुवाणः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥
कुशत्कारस्वस्थाने, कृतचिह्ना इतीच्छया।
दिने निभालयिष्यामः, कुशत्कारः किमुद्भवः ॥ १२ ॥
आचार्यो रुद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकीं भुवम्।
कुशत्कारवं कुर्व—न्नङ्गारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥
जीवाश्रद्धानतो मूढो, वदंश्चैतज्जिनैः किल।
जन्तवोऽमी विनिर्दिष्टाः, प्रमाणैर्व्यक्ता अपि ॥ १४ ॥
वास्तव्यसाधुभिर्दृष्टो, यथादृष्टं च साधितम्।
सूरिर्विजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥ १५ ॥
स एष शूकरो भद्रा—स्त एते वरहस्तिनः।
स्वप्नेन सूचिता ये वो, न विधेयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥
तैः प्रभातेऽथ तच्छिष्या, बाधितास्तूपपत्तिभिः।
यथैवं चेष्टिते नाथ—मभव्य इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥
त्याज्यो योऽयं, यतो घोर—संसारतरुकारणम्।
ततस्तैरप्युपायेन, क्रमेणासौ विवर्जितः ॥ १८ ॥
ते चाकलङ्कसाधुत्वं, विधायाथ दिवं गताः।
ततोऽपि प्रच्युताः सन्तः, क्षेत्रेऽमुत्रैव भारते ॥ १९ ॥
श्रीवसन्तपुरे जाता, जितशत्रोर्महीपतेः।
पुत्राः सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥
अन्यदा तान् सुरूपत्वात्, कलाकौशलयोगतः।
सर्वत्र ख्यातकीर्तित्वा—त्सर्वानाशु न्यमन्त्रयत् ॥ २१ ॥
हस्तिनागपुरे राजा, कनकध्वजसंज्ञितः।
स्वकन्याया वरार्थाय, तान् स्वयंवरमण्डपे ॥ २२ ॥
तत्रायातैः स तैर्दृष्टो, गुरुरङ्गारमर्दकः।
उष्ट्रत्वेन समुत्पन्नः, पृष्ठारूढमहाभरः ॥ २३ ॥
गलावलम्बितस्थूल—कुतुपोऽपेसवं रटन्।
पामनः सर्वजीर्णाङ्गो, गलत्राणोऽतिदुःखितः ॥ २४ ॥
समुष्ट्रमीक्षमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम्।
जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां शुभभावतः ॥ २५ ॥
देवजन्मोद्भवज्ञान—ज्ञातत्वात्तैरसौ स्फुटम्।
करभः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं चाग्रतो गुरुः ॥ २६ ॥
ततस्ते चिन्तयामासु—र्धिक् संसारविचेष्टितम्।
येनैष तादृशज्ञान—मवाप्यापि कुभावतः ॥ २७ ॥
अवस्थामीदृशीं प्राप्तः, संसारं च भ्रमिष्यति।
ततोऽसौ मोचितस्तेभ्य—स्तत्स्वामिभ्यः कृपापरैः ॥ २८ ॥
ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिर्वेदकारणम्।
कामभोगपरित्यागा—त्ते प्रव्रज्यां प्रपेदिरे ॥ २९ ॥
ततः सुगतिसंताना—न्निर्वास्यन्त्यचिरादमी।
अन्यः पुनरभव्यत्वाद्, भवारण्ये भ्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥
(गाथार्थः १२) पंचा० ९ विव० ॥

अं [इं] गार [ल] रासि—अङ्गाररासि—पुं० खदिराङ्गारपुञ्जे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आ० क०। आव०। आ० चू०।

अं [इं] गारवई—अङ्गारवती—स्त्री० धुन्धुमारनृपसुतायाम्, (तद्वक्तव्यता संवेगशब्दे वक्ष्यते)

अं [इं] गार [ल] सहस्स—अङ्गारसहस्र—न० ६ त० अयुतराणामग्निकणानां सहस्रे, स्था० ८ ठा०।

अं (इं) गालसोल्लिय—अङ्गारशू [ल]ल्य—त्रि० अङ्गारैरिव पक्वे, न० ११ श० ९ उ० ॥

अं (इं) गारा [ला] यतण—अङ्गारायतन—न० यत्राङ्गारपरिकर्म्म क्रियते तस्मिन् गृहे, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०।

अं [इं] गारि [लि] य—अङ्गारित—त्रि० विवर्णीभूते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०।

अंगिरस—अङ्गिरस—पुं० गोतमगोत्रविशेषभूताङ्गिरःपुरुषापत्ये, स्था० ७ ठा०।

अंगीकय—अङ्गीकृत—त्रि० अङ्गीतिच्व्यन्तं तत्पूर्वकात् कृञः कः स्वीकृते, स्था० ५ ठा० 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्तीति' चौरपञ्चाशिका वाच०।

अं [इं] गुअ—इङ्गुद—पुं० इगि—उः इङ्गुः रोगः तं द्यति अवखण्डयति दो क "शिथिलेङ्गुदे वा" ८। १। ८९। इति सूत्रेण प्राकृते आदेर्वा इत्वम्। तापसतरौ, प्रा०।

अंगुट्ठ—अङ्गुष्ठ—पुं० अङ्गौ पाणौ प्राधान्येन तिष्ठति स्था—क—षत्वम्। हस्ताऽवयवे, स्था० १० ठा०।

अंगुट्ठपसिण—अङ्गुष्ठप्रश्न—न० विद्याविशेषे, यया ऽङ्गुष्ठे देवतावतारः क्रियते तत्प्रतिपादके प्रश्नव्याकरणानां नवमे ऽध्ययने च परमिदानींतने प्रश्नव्याकरणपुस्तके नेदमुपलभ्यते स्था० १० ठा०।

अंगुम—पूरि—धा० पूर० णिच् पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः ८। ४। १६८। इति सूत्रेण पूरेरङ्गुम इत्यादेशः। पूर्तौ, अङ्गुमेइ पूरयति प्रा०।

अंगुल—अङ्गुल—पुं० अङ्गु उलच्। हस्तपादशाखायाम्, वाच० अध्ययनमध्यात्मके परिमाणभेदे, न० "अट्ठजवमज्झाओ से एगे

अंगुले" भ० ३ श० ७ उ० । ज्यो० । स्था० । अगिरगीत्यादिदण्डके पठितः अगिगत्यर्थो धातुर्गत्यर्था ज्ञानार्था अपि भवन्त्यतोऽङ्ग्यन्ते प्रमाणतो ज्ञायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलम् । मानविशेषे, प्रव० २५४ द्वा० । तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिविहे पएणत्ते तंजहा ।
आयंगुले उस्सेहंगुले पमाणंगुले ॥

अङ्गुलं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा आत्माङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलम् । तत्र ये यस्मिन् काले भरतसगरादयो मनुष्याः प्रमाणयुक्ता भवन्ति तेषां च संबन्धी अत्रात्मा गृह्यते आत्मनामङ्गुलमात्माङ्गुलत एवाह आत्माङ्गुलम् ।

से किं तं आयंगुले आयंगुले जे णं जे णं जया मणुस्सा हवइ तेसि णं तया अप्पणो अंगुलेणं दुवालस अंगुलाइं मुहं नवमुहा पुरिसे पमाणजुत्ते भवइ । दोणिए पुरिसे माणजुत्ते भवइ । अद्धभारं तुल्लमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवइ माणुम्माणप्पमाणजुत्ता लक्खणवंजणगुणेहिं उववेआ उत्तमकुलप्पसूआ उत्तमपुरिसा मुणेअव्वा १ हुंति पुण अहियपुरिसा, अट्ठसयं अंगुलाण उव्विद्धा । छन्नउइ अहमपुरिसा, चउत्तरं मज्झिमिल्लाओ । २ । हीणा वा अहिया वा जे खलु सरसत्तसारपरिहीणा । ते उत्तमपुरिसाणं, अवसा पेसत्तणमुवेंति । ३ । एएणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाइं पादो, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थीओ रयणी, दो रयणीओ कुच्छी, दो कुच्छीओ दंडं, धणुजुगेनालिआ अक्खमुसले, दो धनूसहस्साइं गाउअं । चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं आयंगुलप्पमाणेणं किं पओयणं ? एएणं आयंगुलेणं जे णं जया मनुस्सा हवंति तेसि णं तया णं आयंगुलेणं अगडतलागदहनदी वावि पुक्खरिणी दीहिया गुंजालिआओ सरासरपंतिआओ सरासरपंतिआओ बिलपंतिआओ आरामुज्जाणकाणणवणवणसंडवणराइओ देउलसभापवाथूभखाइअपरिहाओ पागारअट्टालयचरिअदारगोपुरपासायघरसरणलयणआवणसिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहासगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसिविअसंदमाणिआओ लोहीलोहकडाहकडिल्लयभंडमत्तोवगरणमाईणि अज्जकालिआइं च जोअणाइं मविज्जंति से समासओ तिविहे पएणत्ते तंजहा सूइअंगुले पयरंगुले घणंगुले अंगुलायया एगपएसिया सेढी सूइअंगुले सूईसूईगुणिया पयरंगुले पयरं सूइए गुणितं घणंगुले एएसि णं सूइअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा सव्वथोवे सूइअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगुणे सेत्तं आयंगुले ॥

ये भरतादयः प्रमाणयुक्ता यदा भवन्ति तेषां तदा स्वकीयमङ्गुलमात्माङ्गुलमुच्यत इति शेषः । इदं च पुरुषाणां कालादिभेदेनानवस्थितमानत्वादनियतप्रमाणं द्रष्टव्यम् । अतेनैवात्माङ्गुलेन पुरुषाणां प्रमाणयुक्तादिनिर्णयं कुर्वन्नाह (अप्पणो अंगुले णं दुवालसेत्यादि) यद्यस्यात्मीयमङ्गुलं तेनात्मनोऽङ्गुलेन द्वादशाङ्गुलानि मुखं प्रमाणयुक्तं भवत्यनेन च मुखप्रमाणेन नव मुखानि सर्वोऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलैर्नवभिर्मुखैरष्टोत्तरं शतमङ्गुलानां संपद्यते । ततश्चैतावदुच्छ्रयः पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवतीति परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्ततापतिपादनार्थमाह । द्रौणिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति द्रोणी जलपरिपूर्णा महती कुण्डिका तस्यां प्रवेशितो यः पुरुषो जलस्य द्रोणं पूर्वोक्तस्वरूपं निष्काशयति द्रोणजलोनां वा तां पूरयति स द्रौणिकः पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीमेतस्यैवोन्मानयुक्ततामाह । सारपुद्गलोपचितत्वात्तुलारोपितः सन्नर्द्धभारं तुलयन्पुरुष उन्मानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषाः यथोक्तैः प्रमाणमानोन्मानैः अन्यैश्च सर्वैरेव गुणैः संपन्ना एव भवन्तीत्येतद्दर्शयन्नाह (माणुम्माणगाहा) अनन्तरोक्तस्वरूपैर्मानोन्मानप्रमाणैर्युक्ता उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयो ज्ञातव्या इति संबन्धस्तथा लक्षणानि शङ्खस्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि गुणाः क्षान्त्यादयस्तैरुपेतास्तथोत्तमकुलान्युग्रादीनि तत्प्रसूता इति गाथार्थः । अथात्माङ्गुलेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमाणमाह (हुंति पुण गाहा) भवन्ति पुनरधिकपुरुषा उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयोऽष्टशतमङ्गुला (उव्विद्धाउ) वर्षमिता उच्चैस्त्वेन वा पुनःशब्दस्त्वेषामेवाधिकपुरुषादीनामनेकभेदतादर्शकः । आत्माङ्गुलेनैव षण्णवत्यङ्गुलान्यधमपुरुषा भवन्ति (चउरुत्तरमज्झिमिल्लाउत्ति) तेनैवाङ्गुलेन चतुरुत्तरमङ्गुलशतं मध्यमाः तुशब्दो यथानुरूपशेषलक्षणादिभावप्रतिपादनपर इति गाथार्थः । अष्टोत्तरशताङ्गुलमानाद्धीना अधिका वा ते किं भवन्तीत्याह (हीणा वा गाहा) अष्टोत्तरशताङ्गुलहीना वा अधिका वा ये खलु स्वरः सकलजनादेयत्वप्रकृतिगम्भीरतादिगुणालंकृतो ध्वनिः सत्त्वं दैन्यविनिर्मुक्तो मानसोऽवष्टम्भः सारः शुभपुद्गलोपचयजः शारीरशक्तिविशेषस्तैः परिहीना सन्तस्ते उत्तमपुरुषाणां उपचितपुण्यप्राग्भाराणाम् अवशा अनिच्छन्तोऽप्यशुभकर्मवशतः प्रेष्यत्वमुपयान्ति स्वरादिशेषलक्षणवैकल्यसाहाय्यात् यथोक्तप्रमाणाद्धीनाधिक्यमनिष्टफलप्रदायि प्रतिपत्तव्यं तत्केवलमिह लक्ष्यते । भरतचक्रवर्त्यादीनां स्वाङ्गुलतो विंशत्यधिकाङ्गुलशतप्रमाणानामपि निर्णीतत्वात् । महावीरादीनां च केषांचिन्मतेन चतुरशीत्यधिकाङ्गुलप्रमाणत्वाद्भवन्ति विशिष्टाः स्वरादयः प्रधानफलदायिनो यत उक्तम् " अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु । गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितमिति" गाथार्थः । एतेनाङ्गुलप्रमाणेन षडङ्गुलानि पादः पादस्य मध्यतः प्रदेशः षडङ्गुलविस्तीर्णः पादैकदेशत्वात्पादाः द्वौ च युग्मीकृतौ पादौ वितस्तिः द्वे च वितस्ती रत्निर्हस्त इत्यर्थः । रत्निद्वयं कुक्षिः प्रत्येकं कुक्षिद्वयनिष्पन्नास्तु षट्प्रमाणविशेषा दण्डधनुर्युगनालिकाऽक्षमुसललक्षणा भवन्ति । अत्राक्षो धुरी शेषो गतार्थः । द्वे धनुःसहस्रे गव्यूतं चत्वारि गव्यूतानि योजनम् । " एतेणं आयंगुलप्पमाणेणं किं पओअणमिति " गतार्थं नवरं ये यदा मनुष्या भवन्ति तेषां तदा आत्मनामङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकालसंभवीन्यवटतडागादीनि मीयन्त इति संटङ्कः । (अवटादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) अनु० । तदेवमात्माङ्गुलेनात्मीयात्मीयकालसंभवीनि वस्तून्यद्यकालीनानि च योजनानि मीयन्ते । ये यत्र काले पुरुषा भवन्ति तदपेक्षयाऽद्य शब्दो द्रष्टव्यः । इदं चात्माङ्गुलं सूच्यङ्गुलादिभेदात्त्रिविधं तत्र दीर्घेणाङ्गुलायतना बाहल्यस्त्वेकप्रदेशिका नभः

प्रदेशश्रेणिः सूच्यङ्गुलमुच्यते । एतच्च सद्भावतोऽसंख्येयप्रदेशमप्यसत्कल्पनया सूच्याकारव्यवस्थापितप्रदेशत्रयनिष्पन्नं द्रष्टव्यम् । तद्यथा सूची सूच्यैव गुणिता प्रतराङ्गुलम् । इदमपि परमार्थतोऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असद्भावतस्त्वेवैवानन्तरदर्शिता त्रिप्रदेशात्मिका सूचिस्तथैव अतः प्रत्येकं प्रदेशनिष्पन्नं सूचीत्रयात्मकं नवप्रदेशसंख्यं संपद्यते । स्थापना प्रतरश्च सूच्या गुणितो दैर्घ्येण विष्कम्भतः पिण्डतश्च समसंख्यं घनाङ्गुलं भवति दैर्घ्यादिषु त्रिष्वपि स्थानेषु समतात्तुल्यत्वस्यैव समयपरिभाषया घनस्येह रूढत्वात् प्रतराङ्गुलं तु दैर्घ्यविष्कम्भाभ्यामेव समं न पिण्डतस्तस्यैकप्रदेशमात्रत्वादिति भावः । इदमपि वस्तुवृत्त्याऽसंख्येयप्रदेशमानम् । असत्प्ररूपणया तु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकं पूर्वोक्तसूच्या अनन्तरोक्तनवप्रदेशात्मके प्रतरे गुणिते एतावतामेव प्रदेशानां भावात् । एषा च स्थापना अनन्तरनिर्दिष्टा नवप्रदेशात्मकप्रतरस्याध उपरि च नव नव प्रदेशान् दत्वा भावनीया । तथा दैर्घ्यविष्कम्भपिण्डैस्तुल्यमिदमापद्यते " एएसिणं भंते" इत्यादिना सूच्यङ्गुलादिप्रदेशानामल्पबहुत्वचिन्ता यथानिर्दिष्टन्यायानुसारतः सुखावसेयेति तदेतदात्माङ्गुलमिति ॥

उत्सेधाङ्गुलनिर्णयार्थमाह ।

से किं तं उस्सेहंगुले ? उस्सेहंगुले अणगविहे पण्णत्ते तंजहा "परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स । लिक्खा जूआ य जवो अट्ठगुणविवड्ढिआ कमसो " ॥

उत्सेधः "अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणमित्यादि" क्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिनयनं तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् अथ वा उत्सेधो नारकादिशरीराणामुच्चत्वं तत्स्वरूपनिर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् । तच्च कारणस्य परमाणुत्रसरेण्वादेरनेकविधत्वादनेकविधं प्रज्ञप्तम् ॥ (परमाण्वादीनां स्वरूपं स्वस्वस्थाने)

एए णं उस्सेहंगुलेणं किं पओअणं ? एए णं उस्सेहंगुलेणं णेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं सरीरोगाहणा मविज्जंति ॥

(तदेवमेषा ओगाहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अवगाहना सर्वाऽप्युत्सेधाङ्गुलेन मीयते)

से समासओ तिविहे पण्णत्ते तंजहा, सूइअंगुले पयरंगुले घणंगुले एगंगुलायया एगपएसिया सेढी सूइअंगुले सूई सूइए गुणिया पयरंगुले पयरं सूइए गुणितं घणंगुले । एएसिणं सूइअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिं तो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा सव्वथोवे सूइअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगुणे सेत्तं उस्सेहंगुले ॥

एतच्च सूचीप्रतरघनभेदात्त्रिविधमात्माङ्गुलवद्भावनीयम् । उक्तमुत्सेधाङ्गुलम् ।

अथ प्रमाणाङ्गुलम् ।

से किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एगमेगस्स रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ सोवण्णिए कागणीरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिगरणसंठाणसंठिए पण्णत्ते तस्स णं एगमेगा कोडी उस्सेहंगुले विक्खंभा तं समणस्स भगवओ महावीरस्स अद्धंगुलं तं सहस्सगुणं पमाणंगुलं भवइ । एएणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाइं पादो दुवालसंगुलाइं विहत्थी दो विहत्थीओ रयणी दो रयणीओ कुच्छी दो कुच्छीओ धणू दो धणूसहस्साइं गाउअं चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं पमाणंगुलेणं किं पओअणं ? एएणं पमाणंगुलेणं पुढवीणं कंडाणं पातालाणं भवणाणं भवणपत्थडाणं निरयाणं निरयावलीणं निरयपत्थडाणं कप्पाणं विमाणाणं विमाणपत्थडाणं टंकाण कूडाणं सेलाणं सिहरीणं पब्भाराणं विजयाणं वक्खाराणं वासहराणं पव्वयाणं वेलाणं वेइस्सणं वेइयाणं दाराणं तोरणाणं दीवाणं समुद्दाणं आयामविक्खंभोच्चत्तोव्वेहपरिक्खेवा मविज्जंति ॥

सहस्रगुणितादुत्सेधाङ्गुलप्रमाणाज्जातं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलं नातः परं बृहत्तरमङ्गुलमस्तीति भावः । यद्वा समस्तलोकव्यवहारादिराज्यादिस्थितिप्रथमप्रणयनाथेन प्रमाणभूतोऽस्मिन्नवसर्पिणीकाले तावद्युगादिदेवो भरतो वा तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमेतच्च काकणीरत्नस्वरूपपरिज्ञानेन शिष्यव्युत्पत्तिलक्षणं गुणाधिक्यमपश्यंस्तद्वारेण निरूपयितुमाह । " एगमेगस्स णं रण्णो इत्यादि " एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्त्तिनोऽष्टसौवर्णिकं काकणीरत्नं षट्तलादिधर्मोपेतं प्रज्ञप्तं तस्यैकैका कोटिरुत्सेधाङ्गुलविष्कम्भा तत्प्रमाणस्य भगवतो महावीरस्यार्द्धाङ्गुलं तत्सहस्रगुणं प्रमाणाङ्गुलं भवतीति समुदायार्थः तत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रिणां काकणीरत्नतुल्यताप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं निरुपचरितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं दिक्त्रयभेदभिन्नसमुद्रहिमवत्पर्वतपर्यन्तसीमाचतुष्टयलक्षणाश्चत्वारोऽन्तास्तांश्चतुरोऽपि चक्रेण वर्त्तयति पालयतीति चतुरन्तचक्रवर्त्ती तस्य परिपूर्णषट्खण्डभरतभोक्तुरित्यर्थः । चत्वारि मधुरतृणफलान्येकसर्षपः, षोडश सर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जाः एकः कर्म्ममाषकः, षोडश कर्म्ममाषकाः सुवर्णः, एतैरष्टभिः काकणीरत्नं निष्पद्यते । एतानि च मधुरतृणफलादीनि भरतचक्रवर्त्तिकालसंभवान्येव गृह्यन्ते अन्यथा कालभेदेन तद्वैषम्यसंभवे काकणीरत्नं सर्वचक्रिणां तुल्यं न स्यात् तुल्यं चेष्यते तदिति चत्वारि च तान्यपि दिक्षु द्वे ऊर्ध्वाध इत्येवं षट् तलानि यत्र तत् षट्तलम् । अध उपरि पार्श्वतश्च प्रत्येकं चतसृणामश्रीणां भावात् । द्वादश अश्रयः कोटयो यत्र तद् द्वादशाश्रिकं कर्णिकाः कोणास्तेषां च अध उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सद्भावादष्टकर्णिकम् । अधः करणिः सुवर्णकारोपकरणं तत्संस्थानेन संस्थितं तत्सदृशाकारं समचतुरस्रमिति यावत्प्रज्ञप्तं प्ररूपितं तस्य काकणीरत्नस्यैकैका कोटिरुत्सेधाङ्गुलप्रमाणविष्कम्भा द्वादशाप्यश्रय एकैकस्य उत्सेधाङ्गुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थः । अस्य समचतुरस्रत्वादायामो विष्कम्भश्च प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलप्रमाण इत्युक्तं भवति । येन च कोटिरूर्ध्वीकृता आयामं प्रतिपद्यते साऽधस्तिर्यग्व्यवस्थापिता विष्कम्भतामवलम्बते आयामादयस्तयोरेकतरनिर्णयेऽप्यपरनिश्चयः स्यादेवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव ग्रहणं तद्ग्रहणे चायामोऽपि गृहीत एव समचतुरस्रत्वात्तस्य तदेव सर्वत उत्सेधाङ्गुल-

प्रमाणमिदं सिद्धं तदाऽन्यत्र चतुरङ्गुलप्रमाणसुवर्णा वरकाकणी नेयेति श्रूयते तन्मतान्तरं संभाव्यते निश्चयं तु सर्ववेदिनो विदन्तीति । तदेकैककोटिगतमुत्सेधाङ्गुलं श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यार्द्धाङ्गुलं कथमिदमुच्यते श्रीमहावीरस्य सप्तहस्तप्रमाणत्वादेकैकस्य हस्तस्य चतुर्विंशत्युत्सेधाङ्गुलमानत्वादष्टषष्ट्यधिकशताङ्गुलमानो भगवानुत्सेधाङ्गुलेन सिद्धो भवति स एव चात्माङ्गुलेन मतान्तरमाश्रित्य स्वहस्तेन सार्द्धहस्तत्रयमानत्वाच्चतुरशीत्यङ्गुलमानो गीयतेऽतः सामर्थ्यादेकमुत्सेधाङ्गुलं श्रीमन्महावीरात्माङ्गुलापेक्षया अर्द्धाङ्गुलमेव भवति । येषां च मतेन भगवानात्माङ्गुलेनाष्टोत्तरशताङ्गुलमानः स्वहस्तेन सार्द्धहस्तचतुष्टयमानत्वात्तन्मतेन भगवत एकस्मिन्नात्माङ्गुले एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च पञ्च नव भागा भवन्ति अष्टषष्ट्यधिकशतस्य अष्टोत्तरशतेन भागापहारे एतावत एव भावात् यन्मतेन तु भगवान्विंशत्यधिकमङ्गुलशतं स्वहस्तेन पञ्चहस्तमानत्वात्तन्मतेन भगवत एकस्मिन्नात्माङ्गुल एकमुत्सेधाङ्गुलं तस्य च द्वौ पञ्चभागौ भवत । अष्टषष्ट्यधिकशतस्य विंशत्यधिकशतेन भागे हृते इयत एव लाभात्तदेवमिहाद्यमतमपेक्ष्यैकमुत्सेधाङ्गुलं भगवदात्माङ्गुलस्यार्द्धरूपतया प्रोक्तमित्यवसेयमिति । तदुत्सेधाङ्गुलं सहस्रगुणितं प्रमाणाङ्गुलं भवति । कथमिदमवसीयते ? उच्यते भरतचक्रवर्ती प्रमाणाङ्गुलेनात्माङ्गुलेन च किल विंशतिशतमङ्गुलानां भवति भरतात्माङ्गुलस्य प्रमाणाङ्गुलस्य चैकरूपत्वात् उत्सेधाङ्गुलेन तु पञ्चधनुःशतमानत्वात्प्रतिधनुश्च षण्णवत्यङ्गुलसद्भावाद् अष्टचत्वारिंशत्सहस्राण्यङ्गुलानां संपद्यन्तेऽतः सामर्थ्यादेकस्मिन् प्रमाणाङ्गुले चत्वारि शतान्युत्सेधाङ्गुलानां भवन्ति । विंशत्यधिकशतेन अष्टचत्वारिंशत्सहस्राणां भागापहारे एतावतो लाभात् । यद्येवमुत्सेधाङ्गुलात्प्रमाणाङ्गुलं चतुःशतगुणमेव स्यात्ततः कथं सहस्रगुणमुक्तं सत्यं किं तु प्रमाणाङ्गुलस्यार्द्धतृतीयोत्सेधाङ्गुलरूपं बाहल्यमस्ति ततो यदा स्वकीयबाहल्येन युक्तं यथावस्थितमेवेदं चिन्त्यते तदोत्सेधाङ्गुलाच्चतुःशतगुणमेव भवति यदा त्वर्द्धतृतीयोत्सेधाङ्गुललक्षणेन बाहल्येन शतचतुष्टयलक्षणं दैर्घ्यं गण्यते तदा अङ्गुलविष्कम्भा सहस्राङ्गुलदीर्घा प्रमाणाङ्गुलविषया सूचिर्जायते । इदमुक्तं भवति अर्द्धतृतीयाङ्गुलविष्कम्भे प्रमाणाङ्गुले तिस्रः श्रेणयः कल्पन्ते एकाऽङ्गुलविष्कम्भा शतचतुष्टयदीर्घा द्वितीयाऽपि तावन्मानैव तृतीयाऽपि दैर्घ्येण चतुःशतमानैव विष्कम्भतस्त्वर्द्धाङ्गुलं ततोऽस्यापि दैर्घ्यद्वयं गृहीत्वा विष्कम्भोऽङ्गुलप्रमाणः संपद्यते तथा च सत्यङ्गुलशतद्वयदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा इयमपि सिद्धा । ततस्तिसृणामप्येतासामुपर्युपरि व्यवस्थापने उत्सेधाङ्गुलतोऽङ्गुलसहस्रदीर्घा अङ्गुलविष्कम्भा प्रमाणाङ्गुलस्य सूचिः सिद्धा भवति । ततस्तमधिकृत्योत्सेधाङ्गुलात्सहस्रगुणमुक्तं वस्तुतस्तु चतुःशतगुणमेव । अत एव पृथ्वीपर्वतविमानादिमाना अनेनैव चतुःशतगुणेन अर्द्धतृतीयाङ्गुललक्षणस्वविष्कम्भान्वितेन मीयन्ते न तु सहस्रगुणया अङ्गुलविष्कम्भया सूच्येति शेषं भावितार्थं यावत् (पुढवीणंति) रत्नप्रभादीनां (कंडाणंति) रत्नकाण्डादीनां (पातालाणंति) पातालकलशानां (भवणाणंति) भवनपत्यावासादीनां (भवणपत्थडाणंति) भवनप्रस्तटनरकप्रस्तटान्तरे तेषां (निरयाणंति) नरकावासानां (निरयावलियाणंति) नरकावासपङ्क्तीनां (निरयपत्थडाणंति) नैरेकारसनवसत्तपंचतिन्नियनहेव एकाइयादिना प्रतिरचितानां नरकप्रस्तटानां शेषं प्रतीतं भवरम (टंकाणंति) छिन्नटङ्कानां (कूडाणंति) रत्नकूटादीनां (सेलाणंति) मुण्डपर्वतानां (सिहरीणंति) पर्वतानामेव शिखरवतां (पब्भाराणंति) तेषामेवावनतानां (वेलाणंति) जलधिवेलाविषयभूमीनामूर्द्धाधोभूमिमध्येऽवगाहः । तदेवम् "अंगुलविहत्थिरयणी" त्यादिगाथोपन्यस्ताङ्गुलादीनि योजनावसानानि पदानि व्याख्यातानि ।

साम्प्रतं शेषाणि श्रेण्यादीनि व्याचिख्यासुराह ।

से समासओ तिविहे पण्णत्ते तं जहा सेढीअंगुले पयरंगुले घणंगुले असंखेज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ सेढी सेढीए गुणियाणं पयरं पयरं सेढिगुणियं लोगो संखेज्जएणं लोगो गुणओ संखेज्जा लोगा असंखेज्जएणं गुणिओ लोगो असंखेज्जा लोगा अणंतेणं लोगो गुणिओ अ(णंता) लोगा एएसिणं सेढिअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा सव्वथोवे सेढिअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगुणे सेत्त पमाणंगुले ।

अनन्तरनिर्णीतप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासंख्येया योजनकोटीकोट्यः संवर्त्तितसमचतुरस्रीकृतलोकस्यैका श्रेणिर्भवति (सप्तरज्जुप्रमाणत्वं लोकस्य लोगशब्दे) अनु० तदिदं सप्तरज्ज्वायामत्वात्प्रमाणाङ्गुलतोऽसंख्येययोजना कोटिकोट्यायता एकप्रदेशिकी श्रेणिः सा च तयैव गुणिता प्रतरः सोऽपि यथोक्तश्रेण्या गुणितो लोकः अयमपि संख्येयेन राशिना गुणितः संख्येया लोकाः असंख्येयेन तु राशिना समाहतो ऽसंख्येया लोकाः अनन्तैश्च लोकैरलोकः ॥ अनु० ॥ प्रव० । आ० म० प्र० । विशे० । वात्स्यायनमुनौ, पुं० अङ्गौ पाणौ लीयते वा रु-अङ्गुष्ठ, न० वाच० ।

अंगुलपोहत्तिय-अङ्गुलपृथक्त्विक-त्रि० अङ्गुलमुच्छ्रयाङ्गुलं पृथक्त्वं हि द्विप्रभृतिरानवभ्य इति परिभाषा अङ्गुलपृथक्त्वं शरीरावगाहनामानमेषामस्तीति अङ्गुलपृथक्त्विकाः अतोऽनेकस्वरादितीकृ प्रत्ययः जी० १ प्रति० । अङ्गुलद्विकादिशरीरावगाहनामाने, प्रज्ञा० १ पद ।

अंगुलि (ली) अङ्गुलि-(ली)स्त्री० अङ्ग-उलि या ङीप् वा-च० करपादशाखायाम्, तं० । औ० । प्रव० । गजकर्णिकावृक्षे, गजशुण्डाग्रे च पुंस्त्वमपि संवृताधरौष्ठमङ्गुलिनेति शकु०वाच.

अंगुलिकोश-अङ्गुलिकोश-पुं० अङ्गुलीनां रक्षार्थं ध्रियमाणे तदावरणे चर्मादौ, रा० । तत्कारणे "अंगुलिकोसे पणगं" । नि० चू० २ उ० ।

अंगुलि [ले] ज्जग-अङ्गुलीयक-न० अङ्गुलौ भवमङ्गुलीयं ततः कः । अङ्गुल्याभरणविशेषे, औ० । उपा० । प्रव० । आव० । कल्प० । आ० । आ० म० प्र० ।

अंगुलिप्फोडण-अङ्गुलिस्फोटन-न०अङ्गुलीनां परस्परं ताडने, कटिकाकरणे च तं० ।

अंगुलिभमुहा-अङ्गुलिभ्रू-स्त्री० अङ्गुलीभ्रुवौ वा चालयतः कायोत्सर्गस्थितिरूपे उत्सर्गदोषे, । तथा च " अंगुलिभमुहाओ वि य, चालंतो तह य कुणइ उस्सग्गं । आलावगगणणट्ठा, संठवणट्ठं च जोगाणं " आव० ५ अ० । प्रव० । आलाप-

कगणनार्थमङ्गुलीश्चालयन् तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रवौ चालयन् प्रसंज्ञां कुर्वन् चकारादेवमेव वा भ्रूनृत्यं कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलीभ्रूदोषः प्रव० ५ द्वा०।

अंगुलि [ली] विज्जा-अङ्गुलि [ली] विद्या-स्त्री० श्रावस्त्यां नगर्यां बुद्धप्रकाशिते महाप्रभावे विद्याभेदे, " अंगुलीविज्जा य इत्थेव बुद्धेण संपयासिया महप्पभावा " ती०३५पत्र।

अंगोवंग-अङ्गोपाङ्ग-अङ्गानि शिरःप्रभृतीन्यष्टौ उपाङ्गानि अङ्गावयवभूतान्यङ्गुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलीपर्वरेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि अङ्गोपाङ्गस्यादावसंख्येय इत्येकशेषः। इतरेतरयोगः शिरःप्रभृतिषु अङ्गुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रज्ञा०२३ पद०।कर्म०। नहकेसमंसु अंगुलिओट्ठा खलु अंगुवंगाणि" उत्त० ३ अ०।

अंगोवंगणाम-अङ्गोपाङ्गनामन्-न० अङ्गोपाङ्गनिबन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम। नामकर्मभेदे, यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गनाम। कर्म० १ क०। अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधं मन्तव्यं तथाहि औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वान्नास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव इत्युक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम। कर्म० ६ क०। प्रज्ञा०। पं०सं०। प्रव०। आ०। आ०चू०।

अंचि-आञ्चि-पुं० गमने, भ० १५ श० १ उ०।

आञ्चि-पुं० आयमने, १५ श० १ उ०।

अंचिअ (त)-आञ्चित-त्रि० पूज्ये राजमान्ये पितृव्यादौ, व्य० ४ उ०। सकृद्गमने, भ० १५ श०१ उ०। पञ्चविंशतितमे नाट्यभेदे, रा०। आ०म०प्र०। जं०। द्वात्रसन्धौ, नि०चू०१उ०।

अंचिअंचिय-अञ्चिताञ्चिक-पुं० अञ्चिते सकृद्गते अञ्चितेन सकृद्गतेन वा देशेनाञ्चि पुनर्गमनमञ्चिताञ्चि। गतपूर्वदेशे तेन वा पुनर्गमने अच्च्याञ्चि अच्च्या गमनेन सह आञ्चिरागमनमच्च्याञ्चि। गमागमे, "णो कमइ णो पक्कमइ अंचियंचियं करेइ भ० १५ श० १ उ०। स्था०।

अंचिअ [य] रिभिय-अञ्चितरिभित-न०नाट्यभेदे, रा०। आ० म० प्र०।

अंचेइत्ता-अंचयित्वा-अव्य० उत्पाटयित्वेत्यर्थे, आ० म०। ज्ञा०।

अंछ-देशी धा० उ०ऌ०प०आकर्षणे, अंछंति वासुदेवं अगडतडम्मि आ० म० प्र०। विशे०। भ०। कल्प०।

अंछण-देशी० आकर्षणे, औ०। नि० चू०।

अंजण-अञ्जन-न० अञ्ज ल्युट्। नयनयोः कज्जलापादने, सूत्र० १ श्रु० ए अ०। तं०। तत्तायःशलाकया नेत्रयोः स्रोत:स्रोत्पादने, क्षारतैलादिना देहस्य म्रक्षणे च स०। अज्यतेऽनेन अञ्ज-करणे ल्युट् वाच०। कज्जले, ज्ञा० १ अ०। सौवीरादौ, सूत्र० २ श्रु०१ अ०। जं०। आ० म० प्र०। औ०। जी०। प्रज्ञा०। भाव०। रसाञ्जने, दशा० ३ अ०। रत्नविशेषे, आ० म० प्र०। रत्नप्रभायाः खरकाण्डस्य दशमे भागे च। तद्दशयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम् स्था०१० ठा०। वनस्पतिविशेषे, औ०। आ० म०प्र०। चन्द्रसूर्ययोर्णां लेश्यानुबन्धचारिणां पुद्गलानां पञ्चमे पुद्गले, चं०प्र०२० पाहु०। सू० प्र०। मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणेन स्थिते वक्षस्कारपर्वतभेदे, स्था० ५ ठा०। ज०। " दो अंजणा " स्था० २ ठा०। द्वीपकुमारेन्द्रस्य वेलम्बस्य तृतीये लोकपाले, भ० ३ श० ६ उ०। उदधिकुमारेन्द्रस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे लोकपाले, स्था० ४ ठा० मन्दरस्य पुरतो रुचकवरपर्वते, सप्तमे कूटे च पुं०। स्था० ८ ठा०।

अंजणए-अञ्जनिका-स्त्री० वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद०।

अंजणकेसिया-अञ्जनकेशिका-स्त्री० वनस्पतिविशेषे, आ०। म०प्र०। जं०। रा०। प्रज्ञा०।

अंजणग-अञ्जनक-पुं० अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे कप्रत्ययः। कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनकाः उपमाने कप्रत्ययः। जं० २ वक्ष०। नन्दीश्वरद्वीपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु पर्वतभेदेषु, स्था० ४ ठा०। प्रव०।

अथ नन्दीश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वताः उच्यन्ते

णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खंभस्स बहुमज्झदेसभाए चउद्दिसिं चत्तारि अंजणगपव्वया पण्णत्ता तंजहा पुरच्छिमिल्ले अंजणगपव्वए पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए उत्तरिल्ले अंजणगपव्वए दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए ते णं अंजणगपव्वयगा चतुरसीतिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसहस्साइं धरणियले दसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं ततो णंतरं च णं मायाए पदेसपरिहाणीए परिहायमाणा उवरिं एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मूले एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच तेवीसजोयणसते किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं सिहरितले तिण्णि जोयणसहस्साइं एगं च छावट्ठजोयणसतं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता मूले वित्थिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया अच्छा जाव पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया परिक्खेवेणं पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता वण्णओ गोयमा ! तेसि णं अंजणपव्वयाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता से जहानामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव सयंति।

ते अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीतिर्योजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मध्ये सातिरेकाणि दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन धरणितले दश योजनसहस्राणि। तदनन्तरं च मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपरि एकैकं योजनसहस्रं विष्कम्भेन मूले एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशतियोजनानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि (३१६२३) परिक्षेपेण धरणितले एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशतियोजनानि देशोनानि [३१६२३] परिक्षेपेण उपरि त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्टियोजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं [३१६२] परिक्षेपेण ततो मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्तानि उपरि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना अञ्जनमया अञ्जनरत्नात्मकाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् प्रत्येकं पद्मवरवेदिकाः परिक्षिप्ताः प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताः पद्मवरवेदिका वनखण्डवर्णनं प्राग्वत् "तेसिणमित्यादि" तेषामञ्जनपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा इत्यादि' वर्ण-

नं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनभागस्येव तावद्वक्तव्यं यावत् 'तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति जाव विहरंति'

तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहु मज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि सिद्धायतणा एगमेगं जोयणसयं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरि जोयणाति उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसन्निविट्ठा वण्णओ गोयमा ! तेसि णं सिद्धायतणाणं पत्तेयं पत्तेयं चउदिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता तंजहा देवदारे असुरदारे नागदारे सुवण्णदारे तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति तं देवे असुरे नाग सुवण्णे तेणं दारा सोलसजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं पवेसेणं सेता वण्णओ जाव वणमालाओ । तेसि णं दाराणं चउदिसिं चत्तारि मुहमंडवा पण्णत्ता ते णं मुहमंडवा एगमेगं जोयणसयं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं सातिरेगाइं सोलसजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं वण्णओ तेसि णं मुहमंडवाणं चउदिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठजोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेसं तं चेव जाव वणमालाओ । एवं पिच्छाघरमंडवा वि तं चेव पमाणं जे मुहमंडवाण दारा वि तहेव णवरिं बहुमज्झदेसभाए पेच्छाघरमंडवाणं अक्खाडगा मणिपेढियाओ अट्ठजोयणप्पमाणातो सीहासणा सपरिवारा जाव दामा थूभा वि चउद्दिसिं तहेव णवरिं सोलस जोयणप्पमाणा साइरेगाइं सोलस उच्चा सेसं तहेव । जिणपडिमाओ चेइयरुक्खा तहेव चउद्दिसिं तं चेव पमाणं जहा विजयाए रायहाणीए णवरिं मणिपेढियाओ सोलस जोयणप्पमाणाओ तेसि णं चेतियरुक्खाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ अट्ठ जोयणविक्खंभेणं चउजोयणबाहल्लाओ महिंदज्झयाणं चउसट्ठिं जोयणुच्चा जोयणउव्वेहा जोयणविक्खंभा सेसं तहेव एवं चउद्दिसिं चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ नवरिं खोयरसपडिपुण्णाओ जोयणसयं आयामेणं पन्नासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं सेसं तहेव । मणोगुलिया गोमाणसिया अडयालीसं अडयालीसं सहस्साओ पुरच्छिमेण वि सोलस पच्छिमेण वि सोलस सहस्सा दाहिणेण वि अट्ठ सहस्सा उत्तरेण वि अट्ठ सहस्साओ तहेव सेसं उल्लोया भूमिभागा जाव बहुमज्झदेसभूमिभागे मणिपेढिया सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं तेसि णं मणिपेढियाणं उप्पिं देवच्छंदगा सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामया ओ अट्ठ सयं जिणपडिमाणं सव्वो सो चेव गमो जहा वेमाणिया सिद्धाययणस्स ॥

तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकं योजनशतमायामेन पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्ततियोजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि तद्वर्णनं विजयदेवसुधर्मसभावद्वक्तव्यम् (तेसिणमित्यादि) तेषां सिद्धायतनानां प्रत्येकं चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा पूर्वेण पूर्वस्यामेवं दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम । तत्र पूर्वस्यां दिशि द्वारं देवद्वार देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र भावादेवं दक्षिणस्यामसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् (तत्थेत्यादि) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितयः परिवसन्ति तद्यथा (देवेत्यादि) पूर्वद्वारे देवा देवनामा दक्षिणद्वारे असुरनामा पश्चिमद्वारे नागनामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा (तेणं दारा इत्यादि) तानि द्वाराणि षोडशयोजनानि प्रत्येकमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्ट योजनानि विष्कम्भतः (तावइयं चेवत्ति) तावन्त्येव अष्टावेव योजनानीति भावः । प्रवेशेन (सेयावरकणगथूभिया इत्यादिवर्णकः विजयद्वारस्येवेति विजयद्वारशब्दे भावयिष्यते)

तत्थ णं जेसिं पुरच्छिमिल्लाणं अंजणपव्वते तस्स णं चउदिसिं चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ तंजहा णंदोत्तरा य णंदा आणंदा णंदिवद्धणा । ताओ णंदापुक्खरिणीओ एगमेग जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता तत्थ तत्थ जाव तिसोपाणपडिरूवगा तोरणा तासि णं पुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं दहिमुहपव्वए पण्णत्ते ते णं दहिमुहपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सव्वत्थ समा पल्लगसंठाणसंठिता दसजोयणसहस्साइं विक्खम्भेणं एकतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसजोयणसए परिक्खेवेणं पण्णत्ता सव्वरयणामता अच्छा जाव पडिरूवा पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया वणसंडवण्णओ बहुसमरमणीय० जाव आसयंति सिद्धाययणं तं चेव पमाणं तं अंजणपव्वएसु वत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा जाव उप्पिं अट्ठट्ठमंगलया ॥

तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपर्वतेषु मध्ये योऽसौ पूर्वदिग्भावी अञ्जनपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकनन्दापुष्करिणीभावेन चतस्रो नन्दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिषेणा दक्षिणस्याममोघा अपरस्यां गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना ताश्च पुष्करिण्य एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिकत्रीणि गव्यूतानि अष्टाविंशं धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किंचिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः । दश योजनानि उद्वेधेन " अच्छाओ सण्हाओ रययमयकूलाओ इत्यादि " जगत्युपरि पुष्करिणीवर्णनवदशेषं वक्तव्यं नवरं " सहाओ समतीराओ खोदोदगपडि-

पुष्मगाओ " इति विशेषः । ताश्च प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डेन परिक्षिप्ताः । अत्रापीदमन्यदधिकं पुस्तकान्तरे दृश्यते " तासि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा पन्नत्ता तं जहा पुरच्छिमेणं दाहिणेणं अवरेणं उत्तरेणं पुव्वेणं असोगवणं जाव चूयवणं उत्तरे पासे " एवं शेषाञ्जनपर्वतसंबन्धिनीनामपि नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् (तासिणमित्यादि) तासां पुष्करिणीनां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं दधिमुखो दधिमुखनामा पर्वतः प्रज्ञप्तः (तेणमित्यादि) ते दधिमुखपर्वताश्चतुःषष्टियोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वत्र समाः पल्यसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्त्रयोविंशानि त्रयोविंशत्यधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः । सर्वात्मना स्फटिकमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं २ वनखण्डेन परिक्षिप्ताः (तेसिणमित्यादि) तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य च वर्णनं तावद्वक्तव्यं यावद्बहवो " वाणमन्तरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति " (तेसिणमित्यादि) तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं सिद्धायतनवक्तव्यता प्रमाणादिका अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवद्वक्तव्या यावदष्टशतं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपकडुच्छुकानामिति ।

तत्थ णं जे से दक्खिणिल्ले णं अंजणपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ पन्नत्ताओ तंजहा भद्दा य विसाला य कुमुया पुंडरीगिणी तं चेव तहेव दहिमुहपव्वया तं चेव पमाणं जाव सिद्धायतणे ।

[तत्थ णं जे से दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए इत्यादि] दक्षिणाञ्जनकपर्वतकस्यापि पूर्वदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतस्येव निरवशेषं वक्तव्यं नवरं नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्यां नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दिवर्द्धना शेषं तथैव ॥

तत्थ णं जे से पच्चत्थिमेणं अंजणपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि पुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ तं जहा णंदिसेणा य अमोहा य गोत्थुभा य सुदंसणा य तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव सिद्धाययणं तत्थ जे से उत्तरिल्ले अंजणपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ तंजहा विजया वेजयंती जयंती अपराजिता सेसं तहेव जाव सिद्धाययणा सव्वो चेति य वणणा णेयव्वा । तत्थ णं बहवे भवणवइवाणमंतरजोतिसवेमाणिया देवा चाउम्मासियपडिवएसु संवच्छरेसु य अण्णेसु बहुजिणजम्मणनिक्खमणणाणुप्पपातपरिणिव्वाणमादिएसु य देवकज्जेसु य देवसमुदएसु य देवसमतीसु य देवसमवाएसु य देवपओयणेसु य एगंतओ सहिया समुवागया समाणा पमुदितपक्कीलिया अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेमाणा पालेमाणा सुहंसुहेणं विहरंति । कयरसासहरिवाहणा य तत्थ दुवे देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव निच्चे जोतिसं संखेज्जं ॥

पूर्वदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतस्येव पश्चिमदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्यापि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकडुच्छुकानां नवरं नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्यां विशाला अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी शेषं तथैव । एवमुत्तरदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरमत्रापि नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिशि विजया दक्षिणस्यां वैजयन्ती अपरस्यां जयन्ती उत्तरस्यामपराजिता शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकडुच्छुकानामिति षोडशानामपि चामूषां वापीनामपान्तराले प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकरपर्वतौ जिनभवनमण्डितशिखरौ शास्त्रान्तरे अभिहिताविति । सर्वसंख्यया नन्दीश्वरद्वीपे द्वापञ्चाशत्सिद्धायतनानि (तत्थण मित्यादि) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु णमिति पूर्ववत् बहवो भवनपतिवाणमन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवाश्चातुर्मासिकेषु पर्युषणायामन्येषु च बहुषु जिनजन्मनिष्क्रमणज्ञानोत्पादपरिनिर्वाणादिषु देवकार्येषु देवसमितिषु एतदेव पर्यायद्वयेन व्याचष्टे देवसमवायेषु देवसमुदायेष्वागताः प्रमुदितप्रक्रीडिता अष्टाह्निकारूपा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति आसते । (अदुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथान्यत् गौतम ! नन्दीश्वरद्वीपे चक्रवालविष्कम्भेन बहुमध्यदेशभागे चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां विदिशि एकैकभावेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रज्ञप्ताः तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीयो दक्षिणपूर्वस्यां तृतीयो दक्षिणापरस्यां चतुर्थ उत्तरापरस्याम् । (तेणमित्यादि) ते रतिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुच्चैस्त्वेन एकयोजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वत्र समा झल्लरीसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्त्रिंशानि योजनशतानि परिक्षेपेण सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत् प्रतिरूपाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा पश्चिमायामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्णनामिकाया अग्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया उत्तरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा । तत्र योऽसौ दक्षिणपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्यामर्चिमाली उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पद्मायाः पद्मनामिकाया अग्रमहिष्याः सुमनाः शिवायाः सौमनसा सोमाया अर्चिमाली अञ्जुकाया मनोरमा । तत्र योऽसौ दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि भूता दक्षिणस्यां भूतावतंसा अपरस्यां गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अग्रमहिष्या भूता राजधानी अप्सरसोऽश्च भूतावतंसिका नवमिकयागोस्तूपा रोहिण्याः सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोच्चया अपरस्यां सर्वरत्ना उत्तरस्यां रत्नसञ्चया । तत्र रत्नवसुनामिकाया अग्रमहिष्या

रत्ना वसुप्राप्ताया रत्नोच्चया वसुमित्रायाः सर्वरत्ना वसुन्धरायाः सर्वसञ्चया । इयं रतिकरपर्वतचतुष्टयवक्तव्यता । केषुचित् पुस्तकेषु सर्वथा न दृश्यते कैलासहरिवाहननामानौ च द्वौ देवौ तत्र यथाक्रमं पूर्वार्धापरार्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्तत एवं नन्दा समुद्राः पुनरिदसमुद्राश्चेति वचनात् ईश्वरः ख्यातिमान् न तु नाम्नेति नन्दीश्वरः । तथाचाह । सेसं पएपट्टेणमित्यादि उपसंहारवाक्यं प्रतीतं चन्द्रादिसंख्यासूत्रं प्राग्वत् जी० ३ प्रति० । स० । वनस्पतिविशेषे, रा० । द्वाअंजणा स्था०२ठा० । वायुकुमारेन्द्राणां तृतीये लोकपाले, भ०३श०८उ० ।

अंजण [णा] गिरि–अञ्जनगिरि–पुं० कृष्णवर्णपर्वतविशेषे, ज्ञा० ८ अ० । मन्दरपर्वते भद्रशालवने व्यवस्थिते चतुर्थे दिग्धस्तिकूटे, स्था० ८ ठा० तदधिपे देवे च जं० ४ वक्ष० । (वर्णनं दिसाहत्थिशब्दे)

अंजणजोग–अञ्जनयोग–पुं० सर्वविंशकलाभेदे, कल्प० ।

अंजणपुलग–अञ्जनपुलक–पुं० रत्नभेदे, रा० । आ० म० प्र० । रत्नप्रभायाः पृथिव्याः खरकाण्डस्य एकादशे भागे, स्था० १० ठा० । मन्दरस्य पूर्वे रुचकवरे पर्वते व्यवस्थितेऽष्टमे कूटे स्था० ८ ठा० ॥

अंजणमूल–अञ्जनमूल–पुं० रुचकपर्वतस्याष्टमे कूटे, द्वी० ।

अंजणरिट्ठ–अञ्जनरिष्ट–पुं० वायुकुमाराणां चतुर्थे इन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० ।

अंजणसमुग्गग–अञ्जनसमुद्गक–पुं० सुगन्धद्रव्यभाजनाधारे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अंजणसलागा–अञ्जनशलाका–स्त्री० अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंजणसिद्ध–अञ्जनसिद्ध–पुं०अक्ष्णोरञ्जनविशेषप्रक्षेपेणादृश्यतां गते, पिं० । नि० चू० । (यथा सुस्थिताभिधसूरिमुख्याचार्यशिष्याणां मध्ये द्वावञ्जनं श्रुत्वा क्षुल्लकद्वयेनादृश्यं भूत्वा चन्द्रगुप्तागारे भुक्तः इत्यादि सुय शब्दे)

अंजणा–अञ्जना–स्त्री० तृतीयनरकपृथिव्याम्, जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रव० । जम्ब्वाः सुदर्शनाया अपरदक्षिणस्यां व्यवस्थितायां पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० ।

अंजणिया–अञ्जनिका–स्त्री० कज्जलाधारभूतायां नलिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ ।

अंजलि (ली) –स्त्री० पुं० अञ्जलि–पुं०– अञ्ज–अलि– वेमाऽञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ८ । १ । ३५ । इति प्राकृतसूत्रेण वा स्त्रीत्वम् । प्रा० । मुकुलितकमलाकारकरद्वयरूपे (जं० ३ वक्ष०) हस्तन्यासविशेषे, रा० । भ० । चं०प्र० । दो वि हत्था मउलकमलसंठिया अंजली भण्णति नि० चू० १ उ० । मुकुलितहस्तयोर्ललाटसंश्रये, " एगेण वा दोहिं वा मउलियएहिं हत्थेहिं णिडालसंसितेहिं अंजली भण्णति " नि० चू० ५ उ० । द्वयोर्हस्तयोरन्योन्यान्तरिताङ्गुलिकयोः संपुटरूपतया एकत्र मीलने च जी० ३ प्रति० । आ० म० प्र० । प्रश्नादौ क्रियमाणे कायिकविनयभेदे, अञ्जलिप्रणामादौ यदि पुनः कथमप्येको हस्तः क्वणिको भवति तदैकतरं हस्तमुत्पाट्य नमः क्षमाश्रमणेभ्य इति वक्तव्यम् व्य० १ उ० । ज्ञा० । दशा० ।

अंजलिपग्गह–अञ्जलिप्रग्रह–पुं० हस्तजोडने, ज्ञा० १ अ० । अञ्जलिकरणरूपे विनयविशेषे, भ० १४ श० ३ उ० । प्रव० । सम्भोगभेदे च । स० (संभोग शब्दे निरूपणम्)

अंजलिबंध–अञ्जलिबन्ध–पुं० करकुड्मलस्य शिरसि विधाने, दर्श० ।

अंज [स]–अञ्जस्–न० अनक्ति गच्छति मिश्रयति वाऽनेन अञ्जु गतौ मिश्रणे च असुन् वेगे, बले, औचित्ये च 'अञ्जस उपसंख्यानमिति' वार्तिकात् तृतीयायाः अलुक् । अञ्जसाकृतम् वाच० । प्रगुणे, न्याये, विशे० ।

अंजिय–अञ्जित–त्रि० अञ्जि–क्त० कज्जलेन प्रक्षिते, तेअंजियक्खा तिलए य ते कए" नि० चू० १ उ० ।

अंजु–ऋजु–त्रि० प्रगुणे, अकुटिले, " अप्पणो य वियक्काहिं अयमंजूहिं दुम्मइ " आचा० १ श्रु०५ अ० । मायाप्रपञ्चरहितत्वादवक्रे, "अंजुधम्मं जहा तच्चं जिणाणं तं सुणेह मे" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । संयमे प्रगुणे अव्यभिचारिणि सूत्र० १ श्रु० १ अ० । आचा० । व्यक्ते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । निर्दोषत्वात्प्रकटे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अंजुआ–अञ्जुका–स्त्री० अरनाथस्य प्रथमशिष्यायाम् , स० ।

अंजू–अञ्जू–स्त्री० धनदेवसार्थवाहदुहितरि, तद्वक्तव्यता विपाकश्रुते दुःखविपाकानां दशमेऽध्ययने श्रूयते स्था० १० ठा० ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं दसमस्स उक्खेवओ एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वद्धमाणपुरे णामे णयरे होत्था । विजयवद्धमाणे उज्जाणे माणिभद्दे जक्खे विजयमित्ते राया । तत्थ णं धणदेवणामं सत्थवाहे होत्था । अहे पियंगुभारिया अंजूदारिया जाव सरीरा समोसरणं परिसा णिग्गया जाव पडिगया तेणं कालेणं तेणं समएणं जेट्ठे० जाव अडमाणे जाव विजयमित्तस्स रण्णो गिहस्स असोगवणियाए अदूरसामंते णं वीईवयमाणे पासइ पासइत्ता एगं इत्थियं सुक्कं भुक्खं णिम्मंसं किडिकिडियभूयं अट्ठिचम्मावणद्धं णीलसालगणियत्थं कट्ठाइं कलुणाइं विस्सराइं कूवमाणं पासइ पासइत्ता चिंता तहेव जाव एवं वयासी एस णं भंते ! इत्थिया पुव्वभवे का आसी वागरणं एवं खलु गोयमा ! ।

अञ्ज्वाः पूर्वभवः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे इंदपुरे णामं णयरे तत्थ णं इंददत्ते राया पुढविसिरिणामं गणिया वण्णओ तएणं सा पुढविसिरिगणिया इंदपुरे णयरे बहवे राईसर० जाव प्पभिइओ बहुहिं चुण्णप्पओगेहि य जाव अभिओगिता उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ । तए णं सा पुढविसिरिगणिया एए कम्माए य मकम्मा ४ सुबहु पावं समज्जिणित्ता पणतीसं वाससयाइं परमाउसं पालित्ता कालमासे कालं किच्चा छट्ठीए पुढवीए उक्कोसे णेरइयत्ताए उववण्णा । सा णं तओ उव्वट्टित्ता

अञ्जवा वर्त्तमानभवः ।

इहेव वद्धमाणे णयरे धणदेवस्स सत्थवाहस्स पियंगुभारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उप्पन्ना तएणं सा पियंगुभारिया णवण्हं मासाणं दारियंपयाया णामं अंजू सेसं जहा देवदत्ताए । तए णं से विजये राया आसवाहणियाए णिज्जायमाणे जहा वेसमणदत्ते तहा अंजू पासइ णवरं अप्पणो अट्ठाए वरेइ जहा तेतली जाव अंजूए दारियाए सद्धिं उप्पिं जाव विहरइ। तएणं तीसे अंजूदेवीए अन्नया जोणीसूले पाउब्भूए या वि होत्था । तएणं से विजये राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी गच्छह णं देवा वद्धमाणपुरे णयरे सिंघाडग जाव एवं वयह एवं खलु देवा विजए अंजूए देवीए जोणीसूले पाउब्भूए जो णं इच्छसि वा ६ जाव उग्घोसइ तएणं से बहवे वेज्जा वा ६ इमं एयारूवं सोच्चा णिसम्म जेणेव विजए राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अंजूए देवीए बहवे उप्पत्तियाहिं ४ बुद्धिहिं परिणामेमाणा इच्छंति । अंजूए देवीए जोणीसूले उवसामित्ते णो संचाएइ उवसामित्तए तएणं ते बहवे विज्जा य जाहे णो संचाएइ अंजूए देवीए जोणीसूले उवसामित्तए ताहे संता तंता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगया तएणं सा अंजू देवी ताए वेयणाए अभिभूया समाणी सुक्का भुक्खा णिम्मंसा कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं विलवइ । एवं खलु गोयमा ! अंजू देवी पुरा जाव विहरइ अंजू णं भंते ! देवी कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति । गोयमा ! जहा तेयलि त्त ॥

ज्ञाताधर्म्मकथायां यथा तेतलिसुतनामा आमात्यः पोट्टिलाभिधानां कलादस्तपिकादारश्रेष्ठिसुतामात्मार्थे याचयित्वाऽऽत्मनैव परिणीतवानेषमयमपीति दशमाध्ययनविवरणम् ।

अञ्जवा भविष्यद्भवः ।

अंजू णं देवी णउइवासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए णेरइयत्ताए उववन्ना ; एवं संसारो जहा पढमो तहा णेयव्वं जाव वणस्सईसाणं । तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता सव्वओ भद्दे णयरे मयूरत्ताए पच्चायाहिंति से णं तत्थ साउणिएहिं वहिए समाणे तत्थेव सव्वओ भद्दे णयरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति से णं तत्थ उम्मुक्कतहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलिं बोहिं बुज्झिहिति बुज्झिहितित्ता पव्वज्ज सोहम्मे सेणं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं २ कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति गोयमा ! महाविदेहे वासे जहा पढमे जाव सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति । एवं खलु जंबूसमणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते सेवं भंते विपा० १० अ० ।

तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धे कर्मविपाकानां दशमेऽध्ययने च स्था० १० ठा० । शक्रस्य चतुर्थ्यामग्रमहिष्यां च स्था० ८ ठा०। सा च पूर्वभवे हस्तिनापुरे पश्चाद् विजयायामुत्पन्ना पार्श्वार्हतोऽन्तिके प्रव्रजिता शक्रस्याग्रमहिषी जाता । स्थितिः सप्तपल्योपमा महाविदेहेऽन्तं करिष्यति तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः द्वितीयश्रुतस्य नवमवर्गस्य चतुर्थेऽध्ययने च. ज्ञा० २ श्रु० ॥

अंड–अण्ड–न० अमन्ति सम्प्रयोगं यान्ति अनेनेति अम–ड टवर्गादित्वेऽपि डस्य नेत्वम् । पुंसोऽवयवभेदे मुष्के, वाच० । पिपीलिकादीनां डिम्बे, बृ०४ उ०। आचा०। चतुरिन्द्रियकीटविशेषनिर्वर्तितकोशाकारे, विशे०। ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य मयूराण्डकवक्तव्यताप्रतिबद्धे तृतीयेऽध्ययने, ज्ञा० १ अ०। आव०। प्रश्न०। स०। आ० चू०।

तत्कथानकं चैवम् ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था वण्णओ तीसे णं चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे सव्वओ य सुरम्मे णंदणवणे इव सुहसुरभिसीयलच्छायाए समणुबद्धे तस्स णं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसम्मि मालुयाकच्छए होत्था वण्णओ तत्थ णं एगा वणमयूरी दो पुट्ठे परियागते पिट्ठुंडी पंडुरे णिव्वणे निरुवहए भिन्नमुट्ठिप्पमाणे मयूरी अंडए पसवइ सएणं पक्खवाएणं सारक्खमाणी संगोवेमाणी संचिट्ठेमाणी विहरइ । तत्थ णं चंपाए णयरीए दुवे सत्थवाहदारगा परिवसंति तंजहा जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवड्ढियया सह पंसुकीलिया सह दारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणुव्वयया अन्नमन्नच्छंदाणुवत्तया अन्नमन्नहिययइच्छियकारया अन्नमन्नेसु गिहेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। तए णं तेसिं सत्थवाहदारगाणं अन्नया कयाई एगओ सहियाणं समुवागयाणं सन्निसन्नाणं सन्निविट्ठाणं इमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था जेणं देवाणुप्पिया अम्हं सुहं वा दुहं वा पव्वज्जा वा विदेसगमणं वा समुप्पज्जति तेणं अम्हे एगओ समेच्च णित्थरियव्वं तिकट्टु अण्णमण्णं एयारूवं संकयं सुणंति सकम्मसंपउत्ता जाया वि होत्था । तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अड्ढा जाव भत्तपाणा चउसट्ठिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणतीसं विसेसरममाणी एक्कवीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारस देसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा संगयगयहसियभणियविहियविलासललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला ऊसियज्झया सहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरवालवीयणिया क-

एणीरहप्पयारी वि होत्था । बहूणं गणियासहस्साणं आ-
हेवच्चं जाव विहरति । तएणं तेसिं सत्थवाहदारयाणं
अएणया कयाइ पुव्वावरएहकालसमयंसि जिमियभुत्तुत्त-
रागयाणं समाणाणं आयन्ताणं चोक्खाणं परमसुइब्भूयाणं
सुहासणवरगयाणं इमेयारूवे मिहो कहासमुल्लावे समुप्प-
ज्जित्था सेयं खलु देवाणुप्पिया कल्लं जाव जलंते विपुलं
असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता तं विपुलं अस-
णं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंधवत्थं गहाय देवदत्ताए
गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं
पच्चणुब्भवमाणा णं विहरत्तए त्तिकट्टु अप्पमएणस्स एय-
मट्ठं पडिसुणेइ पडिसुणेइत्ता कल्लं पाउब्भूए कोडुंबियपुरिसे
सद्दावेति सद्दावेइत्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिए
विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेह उवक्खडावेत्ता
तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फं गहाय जेणेव
सुभूमिभागे जेणेव णंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उ-
वागच्छइत्ता णंदाए पुक्खरिणीए अदूरसामंते थूणा मंडवं
आहणह आसियसमज्जिओवलित्तं सुगंधं जाव कलियं क-
रेह अम्हे पडिवालेमाणा चिट्ठह । तए णं से सत्थवाहदा-
रगा दोच्चं पि कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावेइत्ता एवं व-
यासी खिप्पामेव लहुकरणजुत्तजोइयं समखुरवालिहा-
णं समलिहियतिक्खपसंगहिएहिं रययामयघंटसुत्त-
रज्जुयपवरकंचणखचियणत्थपग्गहोवग्गहिएहिं नीलोप्प-
लकयामेलएहिं पवरगोणजुवाणएहिं णाणामणिरयणकंच-
णघंटियाजालपरिक्खित्तं पवरलक्खणोववेयं जुत्तामेव
पवहणं उवणेह ते वि तहेव उवणेंति तएणं से सत्थवाह-
दारगा एहाया जाव सव्वसरीरपवहणं दुरुहंति जेणेव दे-
वदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव उवागच्छति । पवहणाओ
पच्चोरुहंति देवदत्ताए गणियाए गेहं अणुपविसंति तएणं सा
देवदत्ता गणिया ते सत्थवाहदारगा एज्जमाणे पासइ पा-
सइत्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठित्ता सत्त-
ट्ठपयाइं अणुगच्छति अणुगच्छइत्ता ते सत्थवाहदारए एवं
वयासी संदिसह णं तुमं देवाणुप्पिया किमागमणप्पओय-
णं तएणं ते सत्थवाहदारगा देवदत्तं गणियं एवं वयासी
इच्छामो णं देवाणुप्पिए तुब्भेहिं सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जा-
णस्स उज्जाणसिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरित्तए । तएणं
सा देवदत्ता गणिया तेसिं सत्थवाहदारगाणं एयमट्ठं पडि-
सुणेति पडिसुणेतित्ता एहाया कयबलिकम्मा किं ते पवर०
जाव सिरिसमाणवेसा जेणेव सत्थवाहदारए तेणेव उवा-
गच्छंति । तए णं से सत्थवाहदारगा देवदत्ताए गणियाए
सद्धिं जाणं दुरुहंति चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेणं जेणेव
सुभूमिभागे उज्जाणे जेणेव नंदापोक्खरिणी तेणेव उवाग-
च्छति उवागच्छंतित्ता पवहणातो पच्चोरुहंति णंदापोक्ख-
रिणी ओगाहंति जलमज्जणं करेंति जलक्कीडं करेंति एहाया
देवदत्ताए सद्धिं पच्चोरुहंति जेणेव थूणामंडवे तेणेव उवाग-
च्छंति उवागच्छंतित्ता अणुप्पविसंति सव्वालंकारविभूसिया
आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए गणियाए
सद्धिं तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंधव-
त्थं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजइ एवं च णं विहरं-
ति जिमियभुत्तोत्तरागया देवदत्ताए गणियाए सद्धिं विपु-
लाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणा विहरंति तएणं से
सत्थवाहदारया पुव्वावरएहकालसमयंसि देवदत्ताए गणि-
याए सद्धिं थूणामंडवाओ पडिनिक्खमंति हत्थसंगालिए
सुभूमिभागे बहूसु आलियघरेसु य कयलीघरेसु य लयाघरे-
सु य अच्छणघरेसु य पेच्छणघरेसु य पासणघरेसु य मोहण-
घरेसु य सालघरेसु य जालघरेसु य कुसुमघरेसु उज्जाणसिरिं
पच्चणुब्भवमाणा विहरंति तए णं ते सत्थवाहदारया जेणेव
से मालुयया कच्छे तेणेव पहारेत्थगमणाए तए णं सा वणम-
यूरी ते सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासति पासतित्ता भीया
तत्थ महया महया सद्देणं केकारवं विणिम्मुयमाणा मालुया
कच्छाओ पडिनिक्खमइ । एगंसि रुक्खडालियं ठिच्चा ते
सत्थवाहदारए मालुयाकच्छेयं च पविसमाणा अणिमिसदि-
ट्ठीए पेहमाणी चिट्ठइ । तए णं ते सत्थवाहदारए अएणमएणं
सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी जहा णं देवाणुप्पिया एसा
वणमयूरी अम्हे एज्जमाणे पासित्ता भीया तत्थ तासिया उ-
व्विग्गा पलाया महया महया सद्देणं जाव अम्हे मालुया
कच्छगं च पेहमाणी पेहमाणी चिट्ठति तं भवियव्वमेत्थका-
रणेणं । त्तिकट्टु मालुया कच्छगं अंतो अणुप्पविसंति । तत्थ
णं दो पुट्ठे परियागए जाव पासेत्ता अएणमएणं सद्दावेति
सद्दावेइत्ता एवं वयासी तं सेयं खलु देवाणुप्पिया अम्हे
इमे वणमयूरी अंडए साणं जाइमंताणं कुक्कडियाणं अंडए
सुपक्खिवावेत्तए तए णं ताओ जाइमंताओ कुक्कडियाओ
एए अंडए य सएणं पक्खवाएणं सारक्खमाणीओ संगो-
वेमाणीओ विहरिस्संति । तए णं अम्ह एत्थ दो कीलावण-
गा मयूरीपोयगा भविस्संति त्तिकट्टु अएणमएणस्स एयमट्ठं
पडिसुणइ पडिसुणेत्ता सए सए दासचेडए सद्दावेइ सद्दा-
वेइत्ता एवं वयासी गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! इमे अंडए
गहाय सयाणं जाइमंताणं कुक्कडीए अंडएसु पक्खिवह
जाव ते वि पक्खिवंति तए णं ते सत्थवाहदारगा देवदत्ता-
ए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण-
सिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरेत्ता तमेव जाणं दुरूढा समा-
णा जेणेव चंपानयरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव
उवागच्छइ उवागच्छइत्ता । देवदत्ताए गिहे अणुप्पविसंति

देवदत्ताए गणियाए विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयति सक्कारेति सम्माणेति देवदत्ताए गिहाओ पडिणिक्खमंति पडि-णिक्खमंतित्ता जेणेव सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति सकम्मसंपउत्ता जाया वि होत्था । तत्थ णं जे से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहे से णं कल्लं जाव जलंते जेणेव से वणमयूरीअंडए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयुरीअंडयंसि संकिए कंखिए वितिगिच्छे समावण्णे भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे किण्णं ममं एत्थ कीलावणमयुरीपोयए भविस्संति उदाहु नो भविस्संति त्तिकट्टु तं मयुरीअंडयं अभिक्खणं अभिक्खणं उव्वत्तेइ परियत्तेति असारेति संसारेति चालेति घट्टेइ खोभेति अभिक्खणं अभिक्खणं कण्णमूलंसि टिट्टियावेति तए णं से मयूरीअंडए अभिक्खणं अभिक्खणं उव्वत्तिज्जमाणे जाव टिट्टियाविज्जमाणे पोचडे जाए या वि होत्था । तए णं से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहदारए अण्णया कयाइं जेणेव से मयूरीअंडए तेणेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता तं मयूरीअंडयं पोचडमेव पासति पासइत्ता अहो णं ममेस कीलावणमयूरीपोयए जाए त्तिकट्टु ओहयमण० जाव झियायति एवामेव समणाउसो जो अम्हं निग्गंथे वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वएसु जाव छज्जीवनिकाएसु निग्गंथे पावयणे संकिए जाव कलुससमावण्णे से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे निंदणिज्जे खिंसणिज्जे गरहणिज्जे परिभवणिज्जे परलोए वि य णं आगच्छइ बहूणि दंडणाणि य जाव अणुपरियट्टति । तए णं से जिणदत्तउत्ते जेणेव से मयूरीअंडए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि निस्संकिए सुवत्तणं ममेत्थ कीलावणमयूरीपोयए भविस्सति त्ति कट्टु तं मयूरीअंडयं अभिक्खणं नो उव्वट्टेइ जाव नो टिट्टियावेइ तए णं से मयूरीअंडए अणुवत्तिज्जमाणे जाव अटिट्टियाविज्जमाणे । तेणं कालेणं तेणं समएणं उज्जिसे मयूरीपोयए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयूरपोययं पासइ पासइत्ता हट्ठतुट्ठयहियए मयूरीपोसए सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी तुब्भे णं देवाणुप्पिया इमं मयूरपोययं बहूहिं मयूरपोसणपाउग्गेहिं दव्वेहि आणुपुव्वेणं संरक्खेमाणे संगोवेमाणे संवट्टेह णट्टल्लगं च सिक्खावेह । तए णं से मयूरपोसगा जिणदत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेति पडिसुणेइत्ता तं मयूरपोयगं गिण्हेति जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं मयूरपोयगं जाव णट्टल्लगं सिक्खावेति । तए णं से मयूरपोयए उम्मुक्कबालभावे विण्णाय जोव्वणलक्खणवंजणमाणुम्माणपमाणपडिपुण्णपक्खपेहुणकलावे विचित्तपिच्छसत्तचंदए नीलकंठए णच्चणसीलए एगाए चप्पुडियाए कयाए समाणीए अणेगाइं णट्टुल्लगसयाइं केगाइं सयाणि य करेमाणे विहरति । तए णं ते मयूरपोसगा तं मयूरपोयगं उम्मुक्कबाल० जाव करेमाणं पासित्ता तं मयूरपोयगं गिण्हंति गिण्हंतित्ता जिणदत्तउत्ते उवणेंति । तए णं से जिणदत्तउत्ते सत्थवाहदारए मयूरपोयगं उम्मुक्क० जाव करेमाणं पासित्ता हट्ठतुट्ठे तेसिं विउलं जीवियारिहपीयदानं दलइ पडिविसज्जेइ । तए णं से मयूरपोयए जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चप्पुडियाए कयाए समाणीए णं गोलाभंगसिरोधरे सेयावगे उत्तरीयपइण्णपक्खे उक्खित्तचंदगाइयकलावे केकाइयसइं य विमुच्चमाणे नच्चइ तए णं से जिणदत्तपुत्ते तं मयूरपोयगं चंपाए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु सएहि य साहस्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य पणियएहिं जयं करेमाणे विहरति एवामेव समणाउसो अम्हं पि णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु महव्वएसु छसु जीवनिकाएसु निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे से णं इह भवे बहूणं समणेणं बहूणं समणीणं जाव वितिवइस्संति एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं तच्चस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि तच्चं णायज्झयणं सम्मत्तं ॥

टीका सुगमत्वान्न गृहीता नवरम् एवमेवेत्यादि उपनयनवचनमिति । भवन्ति चात्र गाथाः "जिणवरभासियभावे, सुभावसव्वेसु भावओ मइमं । नो कुज्जा संदेहं, संदेहो णत्थ हेओ त्ति १ निस्संदेहत्तं पुण, गुणहेऊ जं तओ तयं कज्जं । एत्थं दो सेट्ठिसुया, अंडयगाही उदाहरणं २ (तथा) कत्थइ मइदुब्बलेणं, तव्विहायरियविरहओ वावि । नेयग्गहणत्तणेणं, नाणावरणोदएणं च ३ हेऊदाहरणाणं, भवे य सइसुट्ठु जन बुज्झिज्जा । सव्वण्णुमयमवितहं, तह वि इति चिंतए मइमं ४ अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जुगप्पवरा । जियरागदोसमोहा, य नन्नहा वाइणो तेणं" ५ तृतीयमध्ययनं विवरणतः समाप्तमिति ज्ञा० ३ अ०। पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुक्कुटाद्यनेकविधाण्डजभाण्डव्यवहारिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्रतिपादके कर्मविपाकानां द्वितीयेऽध्यने च स च निन्नको नरकगतस्तत उद्धृत्याभग्नसेननामा पल्लीपतिर्जातः । स च पुरिमतालनगरवास्तव्येन निरन्तरं देशलूषणातिकोपितेन विश्वास्यानीय प्रत्येकं नगरचत्वरेषु तदग्रतः पितृव्यपितृव्यानीप्रभृतिकस्वजनवर्गं विनाश्य तिलशो मांसच्छेदनरुधिरमांसभोजनादिभिः कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा भग्नसेनमितीदमध्ययनमुच्यते स्था० १० ठा० ।

अंडउड–अण्डपुट–न० कर्मधा–स– स्वकीये अण्डके अण्डकस्य पुटम् । अण्डकस्य संबद्धदलद्वये, दशा० ए अ०। स०।

अंडक–अण्डक–न० जन्तुयोनिविशेषे, प्रश्न० आश्र० २ द्वा०।

अंडकड–अण्डकृत–त्रि० अण्डाज्जाते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। अण्डकप्रभूतस्त्रुवनमादिनां मतमित्थमाचक्षते ते " संभूओ

अंडकाउ लोको " संभूतो जातोऽण्डकाज्जन्तुयोनिविशेषाल्लोकः क्षितिजलानलानिलवननरनारकितिर्यग्रूपः प्रश्न० आश्र० २ द्वा०

" पुव्वं आसि जगमिणं, पंचमहब्भूय वज्जियगंभीरं ।
एगण्णवजलेणं, महप्पमाणं तहिं अंडं ॥ १ ॥
वीई परंपरेणं, घोलंतं अत्थिउ सुइरकालं ।
पुट्ठं दुभागजायं, अद्धं भूमी य संवुत्तं ॥ २ ॥
तत्थ सुरासुरनारग-समणुयसचउप्पयं जगं सव्वं ।
उप्पण्णं जणियमिणं, बंभंडपुराणसत्थम्मि ॥ ४ ॥

माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥ १ ॥

ब्राह्मणा द्विजातयः श्रमणास्त्रिदण्डिप्रभृतयः एके केचन पौराणिका न सर्वे एवमाहुरुक्तवन्तो वदन्ति च । यथा जगदेतच्चराचरमण्डेन कृतमण्डकृतम् । अण्डाज्जातमित्यर्थः । तथाहि ते वदन्ति यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत् पदार्थशून्योऽयं संसारस्तदा ब्रह्माऽण्डमप्स्वसृजत्तस्माच्च क्रमेण वृद्धात्पश्चाद् द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधोविभागोऽभूत् तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन् । एवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरनिवेशादिसंस्थितिरभूदिति । तथा चोक्तं " आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ॥ अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः" ॥१॥ एवंभूते चास्मिन् जगत्यसौ ब्रह्मा तस्य भावस्तत्त्वं पदार्थजातं तदण्डादि प्रक्रमेणाकार्षीत् कृतवानिति । ते च ब्राह्मणादयः परमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्ति अन्यथा च स्थितं तत्त्वमन्यथा प्रतिपादयन्तीत्यर्थः (सूत्र० एतदसमीचिनम्) यतो यास्वप्सु तदण्डं निसृष्टं ता यथाऽण्डमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद्बाधा दृश्यते तथाऽसौ ब्रह्मा यावदण्डं सृजति तावल्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति किमनया कष्टया युक्त्यसंगतया चाण्डपरिकल्पनया सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । नि० चू० । भरतस्य तिमिस्रगुहाप्रवेशे सप्तरात्रं वर्षं वर्षति नागकुमारे, भरहो वि चम्मरयणे खंधावारं ठवेऊण उवरं छत्तरयणं ठवेइ मणिरयणं छत्तरयणं वत्थिभाए ठवेइ ततो पभिइ लोगेण अंडसंभवं जगं पणीयं ति ॥ आ० म० प्र० ।

अंडप्पभव–अण्डप्रभव–त्रि० अण्डः प्रभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । अण्डादुत्पन्ने, "जहा य अंडप्पभवा बलागा" उत्त० ३ अ० ।

अंडय–अण्डज–पुं० अण्डाज्जायतेऽण्डजः । हंसादौ, खचरपञ्चेन्द्रिययोनिसंग्रहभेदे, भ० ७ श० ५ उ० । आचा० । विशे० । " अंडया तिविहा पण्णत्ता तंजहा इत्थी पुरिसा णपुंसका" अण्डजास्त्रिविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा स्त्रियः पुरुषा नपुंसकाश्च जी० ३ प्रति० । शकुनिगृहकोकिलसरीसृपादिषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० त्रसभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । आचा० । दशा० । मत्स्यभेदेषु च । स्था० ३ ठा० । अण्डेभ्यो हंसाद्यण्डकेभ्यो यज्जायते तदण्डजम् । सूत्रभेदे, न. यथा कच्चित्पट्टसूत्रम् उत्त० २६ अ० । "अंडयं हंसगब्भादि" अण्डाज्जातमण्डजं हंसपतङ्गश्चतुरिन्द्रियो जीवविशेषो गर्भस्तु तन्निवर्तितः कोशकारो हंसस्य गर्भो हंसगर्भः तदुत्पन्नं सूत्रमण्डजमुच्यते । तर्हि सूत्रे अण्डजं हंसगर्भादीति सामानाधिकरण्यं विरुध्यते हंसगर्भस्य प्रस्तुतसूत्रकारणत्वादिति चेत्सत्यं कारणे कार्योपचारादविरोधः । कोशकारभवं सूत्रं पट्टकसूत्रमिति लोके प्रतीतमण्डजमुच्यत इति हृदयम् । पञ्चेन्द्रियहंसगर्भसंभवम् । अनु० । विशे० । आ० म० प्र० । शणकादिवस्त्रे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । अण्डजो हंसादिर्ममायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति अथवा अण्डकं मयूरादीनामिदं रमणकमयूरादि कारणमिति प्रतिबन्धः स्यादित्यथवा अण्डजं पट्टसूत्रजमिति वा स्था० ६ ठा० । सूत्र० ।

अंडसुहुम–अण्डसूक्ष्म–न० अण्डमेव सूक्ष्मम् । मक्षिकाकीटिकागृहकोकिलाब्राह्मणीकृकलाशाद्यण्डकरूपे सूक्ष्मभेदे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दशा० ।

से किं तं अंडसुहुमे ? अंडसुहुमे पंचविहे पण्णत्ते तंजहा उद्दंसंडे १ उक्कलिअंडे २ पिपीलिअंडे ३ हालिअंडे ४ हल्लोहलिअंडे ५ जे निग्गंथे णं वा जाव पडिलेहियव्वे भवइ सेत्तं अंडसुहुमे ६ ।

" अण्डसुहुम उद्दंसंडे इत्यादि " उद्दंशा मधुमक्षिका मत्कुणाद्यास्तेषामण्डं उद्दंशाण्डम् १ उत्कलिकाण्डं लूतापुटाण्डम् २ पीपिलिकाण्डं कीटिकाण्डम् ३ हलिका गृहकोलिका ब्राह्मणी वा तस्या अण्डम् ४ हल्लोहलिआ अहिलोडीसरडीकिण्डी इत्येकार्थास्तस्या अण्डम् एतानि सूक्ष्माणि स्युः । कल्प० । स्था० ।

अंडु–अण्डु (ण्ड)–न० काष्ठमयेषु लोहमयेषु वा हस्तयोः पादयोर्वा बन्धनविशेषेषु, औ० ।

अंत–अन्त–पुं० अम् गच्छाइसु तस्सेह अमणमंतो वसाणमेगत्थं अम् धातुर्गत्यादिष्वर्थेषु पठ्यते तस्येहान्त इति रूपं भवति । अमनमन्तः । अवसाने, विशे० । स्था० । यस्मात्पूर्वमस्ति न परं सोऽन्तः अनु० । पर्यन्ते, आ० म० प्र० । सूत्र० । निक्षेपोऽस्य षड्विधः तद्यथा नामान्तः स्थापनान्तो द्रव्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भावान्तश्च । तत्र नामस्थापने प्रतीते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादि कालान्तः समयाद्यन्तो भावान्त औदारिकादि आ० म० प्र० । आ० चू० । परमकाष्ठायाम् , सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । परिसमाप्तौ, विशे० । पारे, ज्ञा० १ अ० । समीपे, व्य० १ उ० । न० । स्था० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, स्था० ३ ठा० । प्रज्ञा० । स त्रिविधः ।

तिविहे अंते पण्णत्ते तंजहा लोगंते वेयंते समयंते स्था० ३ ठा० ।

अमइ व अं तेणंतो अमतीति वा यस्मात्तेनान्त इति कर्त्तरि साध्यते । अवसानं गते, विशे० । देशे, " एगंतमंतं अवक्कमंति " एकान्तं विजनमन्तं देशमवक्रामन्ति भ० ३ श० २ उ० । " अम रोगे वा अंतो रोगो भंगो विणासपज्जाओ" अम रोगे रुजो भङ्गे अम्–तन् रोगे, भङ्गे, विनाशे, । अन्तो रोगो भङ्गो विनाश इति पर्यायशब्दा एते विशे० । स्था० । धर्म० । अन्त० । स० । नं० । अन्तहेतुत्वादन्ते रागद्वेषयोश्च आचा० १ श्रु० ३ अ० " दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणो " आचा० १ श्रु० ३ अ० । जीर्णे, अव्यवहरणीये, त्रि० नि० चू० १ उ० । क्षये, भेदे, व्यवच्छेदे, कल्प० ।

अन्त्य–न० दशभिर्गुणिते जलधिसंख्याभेदे, कल्प० ।

अन्त्र–न० अन्त्र्यते देहो बध्यतेऽनेनेति । अति–बन्धने करणे ष्ट्रन् देहबन्धने, " त्रयः सार्द्धास्त्रयो व्यामाः पुंसामन्त्राणि सूरिभिः । अर्द्धव्यामेन हीनानि स्त्रीणामन्त्राणि निर्दिशेदिति वैद्यकोक्तपरिमाणवति नाडीभेदे, वाच० । सूत्र० । उदरमध्याऽवयवविशेषे च तं० ।

दो अंता पंच धामा पन्नत्ता तंजहा थूलंते य तणुयंते य २ तत्थ णं जे से थूलंते तेणं उच्चारे परिणमइ तत्थ णं जे से तणुयंते तेणं पासवणे परिणमइ ॥

द्वे अन्त्रे प्रत्येकं पञ्च पञ्च व्यायामप्रमाणे प्रज्ञप्ते जिनैः तद्यथा स्थूलान्त्रं १ तन्वन्त्रम् २ तत्र यत्स्थूलान्त्रं तेनोच्चारः परिणमति । तत्र च यत्तन्वन्त्रं तेन प्रस्रवणं मूत्रं परिणमति तं० । प्रतिबोधार्थं भगवता वीरेण दृष्टे चतुर्थे स्वप्ने च. आ० म० द्वि० ।

आन्त–न० अन्ते भवमान्तम् । भुक्तावशेषे, पंचा० १० विव० । अरसतया सर्वधान्यान्तवर्तिनि वल्लचणकादौ, प्र० ए श० ३३ उ० । स्था० " णिप्पावमाइ अंतं " निष्पावा वल्लाश्चणकाः प्रतीताः आदिशब्दात्कुल्माषादिकं च आन्तमित्युच्यते वृ० १ उ० । ज्ञा० ।

अंत [र] अन्तर्–अव्य० अम–अरन् तुडागमश्च । वाच० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे न लुक् अन्यत्र लुक् प्रा० । मध्ये, । आ० म० द्वि० । रा० । आचा० । विशे० । "अंतरप्पा" अत्र स्वरपरत्वान्न लुक् । क्वचिद्भवत्यपि " अंतोवरि " प्रा० ।

अंतक (ग)–अन्तक–पुं० अन्तयति अन्तं करोति अन्त-णिच्–ण्वुल् वाच० । मृत्यौ, " समागमं कंखति अंतकस्स " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । पर्य्यन्ते, " जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० । अन्तर्वर्तिनि च. सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

अंतकम्म–अन्तकर्मन्–न० अचलकर्मणि, औ० ।

अंतक(ग)र–अन्तकर–त्रि० अन्तस्य करः । संसारस्य तत्कारणस्य वा क्षयकारिणि, " अंताणि धीरा सेवंति तेणं अंतकरा इह " सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । आ० म० द्वि० । भ० । स्था० ।

अंतकर (गड) भूमि–अन्तकर–(कृद्) भूमि–स्त्री० अन्तं भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकराः (अन्तकृतो वा) तेषां भूमिः कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः । मुक्तिगामिनां काले, सा द्विधा युगान्तकरभूमिः पर्य्यायान्तकरभूमिश्च जं० २ वक्ष० (यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमिः सा तच्छब्दे वक्ष्यते)

अंतकाल–अन्तकाल–पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतकिरिया–अन्तक्रिया–स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यमन्यथाऽऽगमे अन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया । कर्मान्तकरणे, मोक्षे, कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात् प्रज्ञा० १५ पद ।

अन्त्य(न्त)-क्रिया–स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया अन्त्यस्य वा कर्मान्तस्य क्रियाऽन्त्यक्रिया । कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणायां मोक्षप्राप्तौ, भ० १ श० २ उ० । आ० म० प्र० । स० ।

चत्तारि अंतकिरियाओ पन्नत्ता तंजहा तत्थ खलु इमा पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चायाए यावि भवइ से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले लूहे तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी । तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ णो तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियाएणं सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी । पढमा अंतकिरिया ।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीषहादिजनिता तथाविधा वेदना दीर्घेण प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिर्भवति तस्यैका यस्य तु तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिः स्यात्तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेण च पर्यायेण सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेदनस्य ह्रस्वपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया एकस्वरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विध्यमिति समुदायार्थः । अवयवार्थस्त्वयं चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रज्ञप्ता भगवतेति गम्यते तत्रेति सप्तमी निर्द्धारणे तासु चतसृषु मध्य इत्यर्थः । खलुर्वाक्यालङ्कारे इयमनन्तरवक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासन्ना प्रथमा इतरापेक्षया आद्या अन्तक्रिया । इह कश्चित् पुरुषः देवलोकादौ गत्वा ततोऽल्पैः स्तोकैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्यागतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अथवा एकत्र जनित्वा ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायातः स तथा लघुकर्मतयोत्पन्न इत्यर्थः । चकारो वक्ष्यमाणमहाकर्मापेक्षया समुच्चयार्थः । अपिः सम्भावने सम्भाव्यतेऽयमपि पक्ष इत्यर्थः भवति स्यात् स इति । असौ णमिति वाक्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतो रागाद्यपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः संसाराभिनन्दिनां देहिनामावासभूतादविवेकगेहान्निष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारिताम् अगारी गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी संयतस्तद्भावस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः । प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः । अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः किंभूत इत्याह (संजमबहुलेत्ति) संयमेन पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा । संयमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा । एवं संवरबहुलोऽपि नवरमाश्रवनिरोधः संवरः अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादिभेदः । एवं च संयमबहुलग्रहणं प्राणातिपातविरतेः प्राधान्यख्यापनार्थम् । यतः "एक्कं चिय एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहि सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण–मवसेसा तस्स रक्खट्ठत्ति" ॥ १ ॥ एतच्च द्वितयमपि रागाद्युपशमयुक्तचित्तवृत्तेर्भवति । यत आह सामाधिबहुलः समाधिस्तु प्रशमवाहिता ज्ञानादिर्वा समाधिः पुनर्निःस्नेहस्यैव भवतीत्याह (लूहेत्ति) रूक्षः शरीरे मनसि च द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन रूषः लूषयति वा कर्ममलमपनयतीति लूषः कथमसावेवं संवृत्त इत्याह यतः (तीरट्ठी) तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवं शीलस्तीरार्थी तीरस्थायी वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् 'तीरट्ठीति' अत एवाह(उवहाणवंति)उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानं श्रुतविषयस्तप उपचार इत्यर्थस्तद्वान् अत एव च (दुक्खक्खवेत्ति) दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपयतीति दुःखक्षपः । कर्मक्षपणं च तपोहेतुकमित्यत आह । (तवस्सीति) तपोऽभ्यन्तरकर्मेन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षणमस्ति यस्य स तपस्वी (तस्स णं ति) यश्चैवंविधस्तस्य णं वाक्यालङ्कारे नो तथाप्रकारमत्यन्तघोरं वर्द्धमानजिनस्येव तपोऽनशनादिर्भवति । तथा नो तथाप्रकारा अतिघोरैर्वोपसर्गादिसम्पाद्या वेदना दुःखासिका भवति अल्पकर्मप्रत्यायातत्वा-

दिति । ततश्च तत्तथाप्रकारमल्पकर्मप्रत्यायातादिविशेषणकलापोपेतं पुरुषजातं पुरुषप्रकारो दीर्घेण बहुकालेन पर्यायेण प्रव्रज्यालक्षणेन कर्मभूतेन सिध्यति । अणिमाद्यैयोगेन निष्ठितार्थो वा विशेषतः सिद्धिगमनयोग्यो वा भवति सकलकर्मनायकमोहनीयघातात् ततो घातिचतुष्टयघातेन बुध्यते केवलज्ञानभावात् समस्तवस्तूनि ततो मुच्यते भवोपग्राहिकर्मभिः परिनिर्वाति सकलकर्मकृतविकारव्यतिकरनिराकरणेन शीतीभवतीति । किमुक्तं भवतीत्याह सर्वदुःखानामन्तं करोति शारीरमानसानामित्यर्थः । अतथाविधतपोवेदनो दीर्घेणापि पर्यायेण किं कोऽपि सिद्ध इति शङ्कापनोदार्थमाह । " जहासेइत्यादि " यथाऽसौ प्रथमजिनप्रथमनन्दनो नन्दनशताग्रजन्मा भरतो राजा चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिमवल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता तस्या अयं स्वामित्वेनेति चातुरन्तः स चासौ चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्राग्भवे लघुकृतकर्मा सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्वा चक्रवर्तितयोत्पद्य राज्यावस्थ एव केवलमुत्पाद्य कृतपूर्वलक्षप्रव्रज्यः अतथाविधतपोवेदन एव सिद्धिमुपगत इति प्रथमाऽन्तक्रियेति ॥

अहावरे दोचा अंतकिरिया महाकम्मे पच्चाएया वि जवइ से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमबहुले संवरबहुले जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी तस्स णं तहप्पगारे तवे भवइ तहप्पगारा वेयणा जवइ तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ जहा से गजसुकुमाले अणगारे दोच्चा अंतकिरिया ॥

अथानन्तरमपरा पूर्वापेक्षया अन्या द्वितीयस्थानेऽभिधानात् द्वितीया महाकर्मभिर्गुरुकर्मभिः महाकर्मा वा सन् प्रत्यायातः प्रत्याजातो वा यः स तथा " तस्स णमित्यादि " तस्य महाकर्मप्रत्याजातत्वेन तत्क्षपणाय तथाप्रकारं घोरं तपो भवति । एवं वेदनाऽपि कर्मोदयसम्पाद्यत्वादुपसर्गादीनामिति निरुद्धेनेति अल्पेन यथाऽसौ गजसुकुमारो विष्णोर्लघुभ्राता स हि भगवतोऽरिष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य श्मशाने कृतकायोत्सर्गोऽक्षणमहातपाः शिरोनिहितज्वलज्ज्वलमानाङ्गारजनितात्यन्तवेदनोऽल्पेनैव पर्यायेण सिद्धवानिति शेषं कण्ठ्यम् ।

अहावरे तच्चा अंतकिरिया महाकम्मपच्चाएया वि जवइ से णं मुंडे जवित्ता अगाराओ जाव पव्वइए जहा दोच्चा णवरं दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी । तच्चा अंतकिरिया ३ ॥

"अहावरेत्यादि" कण्ठ्यं यथाऽसौ सनत्कुमार इति चतुर्थचक्रवर्ती स हि महातपाः महावेदनश्च सरोगत्वात् दीर्घतरपर्यायेण च सिद्धस्तद्भवे सिद्ध्यभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति ॥

अहावरा चउत्था अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चाएया वि जवइ से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए संजमबहुले जाव तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ नो तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा सा मरुदेवी जगवई चउत्था अंतकिरिया ॥

"अहावरेत्यादि" कण्ठ्यं यथाऽसौ मरुदेवी प्रथमजिनजननी सा हि स्थावरत्वेऽपि क्षीणप्रायकर्मत्वेनाल्पकर्मा अविद्यमानतपोवेदना च सिद्धा गजवरारूढाया एवायुःसमाप्तौ सिद्धत्वादिति । दृष्टान्तश्च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेषणीयं देशदृष्टान्तत्वादेषां यतो मरुदेव्याः "मुण्डे भवित्तेत्यादि" विशेषणानि कानिचित् न घटन्ते । अथवा फलतः सर्वसाधर्म्यमपि मुण्डनादिकार्यस्य सिद्धत्वस्य सिद्धत्वादिति स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अन्तक्रियायाः सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते
तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइयअंतकिरिया, अणंतरं एगसमय उव्वट्टा ।
तित्थगरचक्किबलदे-व वासुदेवमंडलियरयणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतिस्थानेष्वन्तक्रिया । चिन्तनीया ततोऽनन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परागता वेत्येवमनन्तरं चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिभ्योऽनन्तरमागताः कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीति चिन्त्यं तत "उव्वट्टाइति" उद्वृत्ताः सन्तः कस्यां योनावुत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं तथा यत उद्वृत्तास्तीर्थकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा माण्डलिकाश्चक्रवर्तिनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखाणि भवन्ति तत्स्थानानि क्रमेण वक्तव्यानीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः विस्तरार्थं तु सूत्रकृदेव वक्ष्यति तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामभिधित्सुराह ।

जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए करेज्जा अत्थेगइए नो करेज्जा एवं नेरइए जाव वेमाणिए ।

जीवे णमिति वाक्यालंकृतौ भदन्त ! अन्तक्रियामिति अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम् । अन्यत्रागमेऽन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया कर्मान्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः । कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इतिवचनात् तां कुर्याद्भगवानाह । गौतम ! अस्त्येककः यः कुर्यात् अस्त्येकको यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यतस्तथाविधभव्यत्वपरिपाकवशतो मनुष्यत्वादिकामविकलां सामग्रीमवाप्य तत्सामर्थ्यसमुद्भूतातिप्रबलवीर्योल्लासवशतः क्षपकश्रेणिसमारोहणेन केवलज्ञानमासाद्य घातीन्यपि कर्माणि क्षपयेत् स कुर्यात् अन्यस्तु न कुर्याद्विपर्ययादिति । एवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्भावनीया यावद्वैमानिकाः सूत्रतस्त्वेवम् " नेरइयाणं भंते ! अंतओ किरियं करेज्जा गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा अत्थेगइए नो करेज्जा इत्यादि "

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्त्तमानोऽन्तक्रियां करोति किं वा न करोतीति पिपृच्छिषुरिदमाह ॥

नेरइए णं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव वेमाणिएसु णवरं मणुस्सेसु अंतकिरियं करेज्जइ पुच्छा ! गोयमा ! अत्थेगतिए करेज्जा अत्थेगतिए नो करेज्जा एवं असुरकुमारे जाव वेमाणिए । एवमेवं चउवीसं चउवीसा दंडगा भवंति ॥

नेरइएणमित्यादि भगवानाह गौतम ! नायमर्थः समर्थो युक्त्युपपन्न इत्यर्थः कथमिति चेदुच्यते इह कृत्स्नकर्मक्षयः प्रकर्षप्राप्तात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमुदायाद्भवति न च नैरयिकावस्थायां चारित्रपरिणामस्तथा स्वाभाव्यादिति । एवमसुरकुमारादिषु

वैमानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। मनुष्येषु मध्ये समागतः सन् कश्चिदन्तक्रियां कुर्यात् यस्य परिपूर्णा चारित्रादिसामग्री कश्चिन्न कुर्यात् यस्तद्विकल इति एवमसुरकुमारादयोऽपि वैमानिकपर्यवसानाः प्रत्येकं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वक्तव्यास्तत एवमेते चतुर्विंशतिदण्डकाश्चतुर्विंशतयो भवन्ति ।

अथ ते नैरयिकादयः स्वस्वनैरयिकादिभवेभ्योऽनन्तरं मनुष्यभवे समागताः सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यगादिसंव्यवधानेन परम्परागता इति निरूपयितुकाम आह ।

नेरइयाणं भंते ! किं अणंतरागया अंतकिरियं करांति परंपरागया अंतकिरियं करांति ? गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति एवं रयणप्पभापुढविनेरइया वि जाव पंकप्पभापुढविणेरइया धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरांति परंपरागया अंतकिरियं पकरांति जाव अहेसत्तमा पुढविणेरइया असुरकुमारा जाव थणियकुमारा । पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरांति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरांति । तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरेंति परंपरागया अंतकिरियं पकरेंति सेसा अनंतरागया वि अंतकिरियं पकरेंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरेंति ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशर्करावालुकापङ्कप्रभाभ्योऽनन्तरागता अपि धूमप्रभापृथिव्यादिभ्यः पुनः परंपरागता एव तथा स्वाभाव्यादेनमेव विशेषं प्रतिपादयिषुः सूत्रसप्तकमाह । " एवं रयणप्पभापुढविनेरइया वि इत्यादि " सुगमम् असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसानाः पृथिव्यब्वनस्पतयश्चानन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा आगता अपि । उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकरणाविरोधात् तथा केवलचक्षुरुपलब्धेः । तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः परम्परागता एव नत्वनन्तरागतास्तत्र तेजोवायूनामानन्तर्येण मनुष्यत्वस्यैवाप्राप्तेः द्वीन्द्रियादीनां तु तथाभवस्वाभाव्यादिति । शेषास्तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादयो वैमानिकपर्यवसाना अनन्तरागता अपि परम्परागता अपि ।

नैरयिकादिभवेभ्योऽनन्तरमागताः कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवंरूपं तृतीयं द्वारमभिधित्सुराह ।

अणंतरागया णं भंते ! णेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस रयणप्पभा पुढविणेरइया वि एवं चेव जाव वालुयप्पभापुढविणेरइया । अणंतरागयाणं भंते ! पंकप्पभापुढविणेरइया एगसमएणं केवतिया अंतं करंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि। अणंतरागयाणं भंते ! असुरकुमारा एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरंति जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस । अणंतरागयाओ णं भंते ! असुरकुमारीओ एगसमएणं,केवतियाओ अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं पंच एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा थणियकुमारा वि । अणंतरागया णं भंते ! पुढविकाइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एगो वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि एवं आउकाइया वि चत्तारि वणस्सइकाइया छ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस तिरिक्खजोणिणीओ दस मणुस्सा दस मणुस्सीओ वीसं वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पंच जोइसिया दस जोइसिणीओ वीसं वेमाणिया अट्ठसतं वेमाणिणीओ वीसं ॥

" अणंतरागया णं भंते इत्यादि " नैरयिकभवादनन्तरमव्यवधानेन मनुष्यभवमागता अनन्तरागता नैरयिका इति प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः सुरादिप्राग्भवपर्यायप्रतिपत्तिव्युदासार्थः एवमुत्तरत्रापि तत्तत्प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः प्रयोजनं चिन्तनीयं शेषं कण्ठ्यम् ।

सम्प्रति तत उद्वृत्ताः कस्यां योनावुत्पद्यन्ते इति चतुर्थद्वारमभिधित्सुराह ।

णेरइया णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। णेरइएणं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता असुरकुमारेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे एवं निरंतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा जे णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा । जे णं भंते ! केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलबोहिं बुज्झेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए बुज्झेज्जा अत्थेगइए नो बुज्झेज्जा । जे णं भंते ! बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? गोयमा ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा । जे णं भंते ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणिबोहियनाणसुयनाणाइं उप्पाडेज्जा गोयमा ! उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! आभिणिबोहियनाणसुयनाणाइं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा वयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चक्खाणं वा पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए ? गोयमा ! अत्थेगतिए संचाएज्जा अत्थेगइए नो संचाएज्जा। जे णं भंते ! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए से णं ओहिनाणं उप्पाडेज्जा गोयमा! अत्थेगतिए उप्पाडेज्जा अत्थेगतिए णो उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! ओहिनाणं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता आगाराओ

अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मणुस्सेसु उववज्जेज्जा गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उववज्जेज्जा । जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे णं भंते ! ओहिनाणं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! अत्थेगतिए संचाएज्जा अत्थेगतिए नो संचाएज्जा से णं भंते ! मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए से णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पाडेज्जा अत्थेगतिए नो उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पाडेज्जा अत्थेगतिए नो उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! केवलनाणं उप्पाडेज्जा से णं सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा मुच्चेज्जा सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्झेज्जा जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा । नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता वाणमंतरेसु जोइसियवेमाणिएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असुरकुमारा णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असुरकुमारे णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता असुरकुमारेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव थणियकुमारेसु । असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पुढविकाइएसु उववज्जेज्जा हंता गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उववज्जेज्जा । जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं आउवणस्सईसु वि । असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु उववज्जेज्जा गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अवसेसेसु पंचसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियादिसु असुरकुमारेसु जहा नेरइओ एवं जाव थणियकुमारो । पुढविकाइए णं भंते ! पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु । पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पुढविकाइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उववज्जेज्जा । जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । एवं आउकाइयादिसु निरंतरं जाणियव्वं जाव चउरिंदिएसु पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सेसु जहा णेरइयवाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पडिसेहो एवं जहा पुढविकाइओ भणिओ तहा आउकाइओ वि वणस्सइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु वि । पुढविकाइयआउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु अत्थेगतिए उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए णो उवव० जेणं उवव० से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभिज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा जे णं भंते ! केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलिबोहिं बुज्झेज्जा गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणुस्सवाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जहेव तेउकाइए निरंतरं एवं वाउकाइए वि । बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा गोयमा ! जहा पुढविकाइए णवरं मणुस्सेसु जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा जे णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा जे णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलबोहिं बुज्झेज्जा गोयमा ! अत्थेगतिए बुज्झेज्जा अत्थेगतिए नो बुज्झेज्जा । जे णं केवलबोहिं बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा हंता गोयमा ! जाव रोएज्जा । जे णं भंते ! सद्दहेज्जा जाव रोएज्जा से णं आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणाइं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पाडेज्जा जे णं भंते ! जाव उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा जाव पडिवज्जित्तए गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु एगिंदियविगलिंदिएसु जहा पुढविकाइए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु य जहा णेरइयवाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु जहा णेरइएसु उववज्जइ पुच्छा भणिया एवं मणुस्सेसु वि वाणमंतरजोइसियवेमाणिय० जहा असुरकुमारेसु ॥

(इतः पूर्वं टीका सुगमेति न गृहीता) नवरं जे णं भंते ! इत्यादि मुण्डो भूत्वा अनगारतां प्रव्रजितुं शक्नुयान्नवेति प्रश्ने जग-

वानाह नायमर्थः समर्थः तिरश्चां भवस्वभावतः तथारूपपरिणामासंभवात् अनगारतायाः अभावे मनःपर्यवज्ञानस्य चाभावः सिद्ध एव यथा च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषयं सूत्रकदम्बकमुक्तं तथा मनुष्यविषयमपि वक्तव्यं नवरं मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात् मनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानसूत्रे अधिके प्रतिपादयति “ से णं भंते ! संचाएज्जा मुंडे भवित्ता इत्यादि ” सुगमं नवरं सिज्झेज्जा इत्यादि सिध्येत् समस्ताणिमैश्वर्यादिसिद्धिभाक् भवेत् बुध्येत् लोकालोकस्वरूपमशेषमवगच्छेत् मुच्येत् भवोपग्राहककर्मभिरपि । किमुक्तं भवति सर्वदुःखानामन्तं कुर्यात् वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिषेधो वक्तव्यो नैरयिकस्य भवस्वाभाव्यान्नैरयिकदेवभवयोग्यायुर्बन्धाऽसंभवात् तदेवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तितं साम्प्रतमसुरकुमारान् नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति “ असुरकुमाराणं भंते ” इत्यादि प्राग्वत् नवरमेते पृथिव्यब्वनस्पतिष्वप्युत्पद्यन्ते ईशानान्तदेवानां तेषूत्पादाविरोधात् तेषु चोत्पन्ना न केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभन्ते । श्रवणतया श्रवणेन्द्रियस्याभावात् शेषं सर्वं नैरयिकवत् । “एवं जाव थणियकुमारा इति ” एवमसुरकुमारोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमाराः पृथिवीकायिका नैरयिकेषु च प्रतिषिध्यन्ते तेषां विशिष्टमनोद्रव्यासम्भवतस्तीव्रसंक्लेशविशुद्ध्यध्यवसायाभावात् । शेषेषु तु सर्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते तद्योग्याध्यवसायस्थानसम्भवात् । तत्रापि च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु च नैरयिकवद्वक्तव्यमेवमप्कायिकवनस्पतिकायिकाश्च वक्तव्याः तेजस्कायिका वायुकायिकाश्च मनुष्येष्वपि प्रतिषेधनीयास्तेषामानन्तर्येण मनुष्येषूत्पादसंभवात् असम्भवश्च क्लिष्टपरिणामतया मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीमनुष्यायुर्बन्धासम्भवात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषूत्पन्नाः केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रवणतया लभेरन् श्रवणेन्द्रियस्य भावात् । पुनस्तां केवलिकीं बोधिं नावबुध्येरन् संक्लिष्टपरिणामत्वात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः पृथिवीकायिकवत् देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषूत्पद्यन्ते नवरं पृथिवीकायिका मनुष्येष्वागता अन्तक्रियामपि कुर्युस्ते पुनरन्तक्रियां न कुर्वन्ति तथास्वभावत्वात् मनःपर्यवज्ञानं पुनरुत्पादयेयुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च सर्वेष्वपि स्थानेषूत्पद्यन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिका असुरकुमारवद्भावनीया गतं चतुर्थद्वारम । (लेश्याविशेषणेनान्तक्रियाविचारो माकंदिक शब्दे) ।

इदानीं पञ्चमं तीर्थकरत्ववक्तव्यतालक्षणद्वारमभिधित्सुराह ।

रयणप्पभापुढविनेरइए णं भंते! रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा ? गोयमा ! जस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं पट्ठवियाइं णिविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं उदिन्नाइं नो उवसंताइं हवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णं तित्थगरत्तं लभेज्जा जस्स णं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं णो बद्धाइं जाव नो उदिन्नाइं उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं नो लभेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा एवं जाव वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थगरत्तं लभेज्जा । पंकप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! पंकप्पभानेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमप्पभापुढविनेरइए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरतिं पुण लभेज्जा तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरयाविरतिं पुण लभेज्जा अहेसत्तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे सम्मत्तं पुण लभेज्जा असुरकुमारे णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं जाव आउकाइए । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए एवं वाउकाइए वि । वणस्सइकाइए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा बेइंदियतेइंदियचउरिंदिय पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा पंचिंदियतिरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिए णं पुच्छा? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियाए करेज्जा । सोहम्मदेवे णं भंते ! अणंतरं चइत्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा एवं जहा रयणप्पभापुढविनेरइए एवं जाव सव्वट्ठसिद्धगदेवे रयणप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गोयमा ! जहा रयणप्पभापुढविनेरइयतित्थगरत्ते । सक्करप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं लभेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव अहेसत्तमाए पुढविनेरइए तिरियमणुएहिंतो पुच्छा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिएहिंतो पुच्छा ? गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा । एवं च बलदेवत्तं णवरं सक्करापुढविनेरइए वि लभेज्जा एवं वासुदेवत्तं दोहिंतो पुढवीहिंतो वेमाणिएहिंतो य अणुत्तरोववातियवज्जेहिंतो सेसेसु णो इणट्ठे समट्ठे । मंडलियत्तं अहेसत्तमाए तेउवाउवज्जेहिंतो सेणावइरयणत्तं गाहावइरयणत्तं वड्ढइरयणत्तं पुरोहियरयणत्तं इत्थियरयणत्तं च एवं चेव नवरं अणुत्तरोववाइयवज्जेहिंतो आसरयणत्तं हत्थिरयणत्तं च रयणप्पभाओ निरंतरं जाव सहस्सारो अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा । चक्करयणत्तं चम्मरयणत्तं दंडरयणत्तं छत्तरयणत्तं मणिरयणत्तं असिरयणत्तं कागिणिरयणत्तं एएसिं असुरकुमारेहिंतो आरद्धं निरंतरं जाव ईसाणाओ सेसेहिंतो नो इणट्ठे समट्ठे ।

एवं शर्करप्रभावालुकप्रभाविषये अपि सूत्रे वक्तव्ये पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकस्ततोऽनन्तरमुद्वृत्तः संस्तीर्थकरत्वं न लभते अन्तक्रियां पुनः कुर्यात्, धूमप्रभापृथिवीनैरयिकोऽन्तक्रियामपि न करोति सर्वविरतिं पुनर्लभते, तमःप्रभापृथिवीनैरयिकः सर्वविरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभते । अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकस्तामपि देशविरतिं न लभते परं सम्यक्त्वमात्रं लभते । असुरादयो यावद्वनस्पतिकादयोऽनन्तरमुद्वृत्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । वसुदेवचरिते पुनः नागकुमारेभ्योऽप्युद्वृत्त अनन्तरमैरवतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदर्शितः तदर्थतत्त्वं केवलिनो विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्वृत्ता अन्तक्रियामपि न कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामानन्तर्येणोत्पादाभावादपि च ते तिर्यक्षूत्पन्नाः केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रवणतया लभेरन् न तु बोधिमित्युक्तं प्राग्वनस्पतिकायिकाद्यनन्तरमुद्वृत्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । द्वित्रिचतुरिन्द्रिया अनन्तरमुद्वृत्तास्तामपि न कुर्वन्ति मनःपर्यवज्ञानं पुनरुत्पादयेयुः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्वृत्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । सौधर्मादयः सर्वार्थसिद्धपर्यवसाना नैरयिकवद्वक्तव्याः । गतं तीर्थकरद्वारम् । संप्रति चक्रवर्तित्वादीनि द्वाराण्युच्यन्ते तत्र चक्रवर्तित्वं रत्नप्रभानैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेभ्यो न शेषेभ्यः बलदेववासुदेवत्वे शर्करातोऽपि नवरं वासुदेवत्वे वैमानिकेभ्योऽनुत्तरोपपातवर्जेभ्यो माण्डलिकत्वमधःसप्तमतेजोवायुवर्जेभ्यः शेषेभ्यः सर्वेभ्योऽपि स्थानेभ्यः सेनापतिरत्नत्वं वर्द्धकिरत्नत्वं पुरोहितरत्नत्वं स्त्रीरत्नत्वमधःसप्तमपृथिवीतेजोवाय्वनुत्तरोपपन्नदेववर्जेभ्यः शेषेभ्यः स्थानेभ्यः अश्वरत्नत्वं हस्तिरत्नत्वं रत्नप्रभाया आरभ्य निरन्तरं यावत्सहस्राराच्चक्ररत्नत्वं छत्ररत्नत्वं दण्डरत्नत्वमसिरत्नत्वं मणिरत्नत्वं काकिणिरत्नत्वं चासुरकुमारादारभ्य निरन्तरं यावदीशानात् । सर्वत्र विधिवाक्यम् । "अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा" इति वक्तव्यं प्रतिषेधे "नो इणट्ठे समट्ठे" इति तदेवमुक्तानि द्वाराणि प्रज्ञा० २० पद । (तीर्थकृतामन्तक्रिया तित्थयर शब्दे)

उग्रादयोऽस्मिन् धर्मेऽवगाहमाना अन्तक्रियां कुर्वन्ति ।

जे इमे भंते ! उग्गा भोगा राइन्ना इक्खागा णाया कोरव्वा एए णं अस्सिं धम्मे ओगाहइ ओगाहइत्ता अट्ठविहं कम्मरयमलं पवाहिंति पवाहिंतित्ता तओ पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करेंति हंता गोयमा ! जे इमे उग्गा भोगा तं चेव जाव अंतं करेंति अत्थेगइया अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।

(अस्सिं धम्मे त्ति) अस्मिन्नैर्ग्रन्थ्ये धर्मे इति भ०२० श०८उ० ।

[जीवः सदसदमितमेजनादिभावं परिणमन्नान्तक्रियां करोतीति मंडियपुत्त शब्दे]

केवलिन एव अन्तक्रियां कुर्वन्तीति विवक्षुराह ।

छउमत्थेणं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलाहिं पवयणमायाहिं सिज्झिंसु बुज्झिंसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव अंतं करिंसु ? गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंति करिस्संति वा से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु पडुप्पन्ने वि एवं चेव नवरं सिज्झंति भाणियव्वा अणागए वि एवं चेव नवरं सिज्झिस्संति भाणियव्वा जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि तहा परमोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा ॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयो न पुनरकेवलिमात्रमुत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति (केवलेणं ति) असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णेन वा असाधारणेन वा यदाह "केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणमणंतं च" (संजमेणं ति) पृथिव्यादिरक्षणरूपेण (संवरेणं ति) इन्द्रियकषायनिरोधेन "सिज्झिंसु" इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृष्टं यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविशुद्धाः संयमा यतयोऽपि भवन्ति विशुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति (अंतकरे त्ति) भवान्तकारिणस्ते च दीर्घतरकालापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह (अंतिमसरीरिया व त्ति) अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाश्चरमदेहा इत्यर्थः । वाशब्दौ समुच्चये " सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु " इत्यादौ "सिज्झिंसु सिज्झंती" त्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात्सर्वदुःखान्तकरणस्येति (उप्पन्ननाणदंसणधरे त्ति) उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा त्वनादिसंसिद्धज्ञाना अत एव (अरह त्ति) पूजार्हाः (जिणे त्ति) रागादिजेतारस्ते छद्मस्था अपि भवन्तीत्यत आह । केवलीति सर्वज्ञः 'सिज्झंती' त्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमाननिर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् "सिज्झंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति" इत्येवमतीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव "सव्वदुक्खाण" मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । "जहा छउमत्थो" इत्यादिरियं भावना "आहोहिए णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयमित्यादि" दण्डकत्रयं तत्र अधः परमावधेरधस्ताद्योऽवधिः सोऽधोऽवधिस्तेन यो व्यवहरत्यसावाधोऽवधिकः परिमितक्षेत्रविषयावधिकः (परमाहोहिओ त्ति) परम आधोऽवधिकाद्यः स परमाधोऽवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः (परमोहिओ त्ति) क्वचित्पाठो व्यक्तश्च स च समस्तरूपिद्रव्यासंख्यातलोकमात्रालोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः (तिन्नि आलावग त्ति) कालत्रयवेदिनः केवलिनोऽप्येत एव त्रयो दण्डकाः विशेषस्तु सूत्रोक्त एवेति ।

केवली णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करेंसु ? हंता गोयमा ! सिज्झंसु जाव अंतं करिंसु एते तिन्नि आलावगा भाणियव्वा । छउमत्थस्स जहा नवरं सिज्झंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति । से णूणं भंते ! तीतमणंतं सासयं समयं पडुप्पन्नं वा सासयं समयं अणागयमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे

केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करिस्संति वा हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासयं जाव अंतं करिस्संति वा से नूणं भंते ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वंसिया हंता गोयमा ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वंसिया सेवं भंते भंतेत्ति ॥

"से नूण" मित्यादिषु कालत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति (अलमत्थुत्ति) अलमस्तु पर्याप्तं भवतु नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यमस्तीति एतद्वक्तव्यं स्याद् भवेत्सत्यत्वादस्येति भ० १ श० ४ उ० । विनाशे, "दुक्खाणमंतं करिय काही अचिरेण कालेण" ध० २ अधि० । अन्तो भवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया भवच्छेद इत्यर्थस्तद्धेतुर्याऽऽराधना शैलेशीरूपा सा अन्तक्रियेत्युपचारात् केवल्याराधनाभेदे, एषा च क्षायिकज्ञानिकेवलिनामेव भवति स्था० २ ठा० ।

रागद्वेषक्षये एवान्तक्रिया भवितुं शक्नोति ।

से नूणं भंते ! कंखापदोसे खीणे समणे णिग्गंथे अंतकरे भवइ अंतिमसरीरिए वा बहुमोहे वि य णं पुव्विं विहरित्ता अह पच्छा, संवुडे कालं करेइ तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ जाव अंतं करेइ ? हंता गोयमा ! कंखापदोस खीणे जाव अंतं करेइ भ० १ श० ६ उ० ।

(जीवो यावदेजते तावन्नो अन्तक्रियां कर्तुं शक्नोतीति इरियावहिया शब्दे) (आचार्य उपाध्यायो वाऽग्लान्या गणसंग्रहं कुर्वन् कतिभिर्भवैः सिद्ध्यति इति गणसंगहकर शब्दे)

अंतकुल–अन्त्यकुल–न० शूद्रकुले, कल्प० । आ० म० द्वि० ।

अंतक्खरिया–अन्त्याक्षरिका–स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्नवमे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद । अपश्चिमकलायाञ्च. कल्प० ।

अंतग–अन्तक–त्रि० विनाशकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अन्तग–त्रि० अन्तं गच्छत्यन्तगः। दुष्परित्यजे, "चिच्चाण अंतगं सो यं णिरवेक्खो परिव्वए" सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । अन्तयति अन्तं करोति अन्त णिच् एवुल् मृत्यौ, वाच० ।

अंतगड–अन्तकृत(त)–पुं० अन्तो विनाशः स च कर्मणस्तत्फलस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृताः तीर्थकरादिषु, स० । स्था० । पा० । अन्त० । तं० । सूत्र० । अनु० । कल्प० ।

अंतगडदसा–अन्तकृद् (त) दशा–स्त्री० बहु० अन्तो भवान्तः कृतो विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृद् (त) दशा इह चाष्टौ वर्गा भवन्ति तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तानि शब्दव्युत्पत्तेर्निमित्तीकृत्यान्तकृद् (त) दशाः । अष्टमेऽङ्गे, अन्त० । स्था० । स० । पा० । नं० । अनु० ।

आसां वर्गाऽध्ययनानि ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था पुण्णभद्दे चेतिए वनसंडे वण्णओ तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मे समोसरिते परिसा णिग्गया जाव पडिग्गता । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मे अंतेवासी अज्जजंबू जाव पज्जुवासति एवं वयासी जति णं भंते ! समणेणं ३ जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं अयमट्ठे पन्नत्ते । अट्ठमस्स णं भंते ! अंगस्स अंतगडदसाणं समणेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अट्ठ वग्गा पण्णत्ता जति णं भंते ! समणेणं ३ जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अट्ठ वग्गा पण्णत्ता पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स अंतगडदसाणं समणेण ३ जाव संपत्तेण कति अज्झयणा पण्णत्ता एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं पढमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा [अन्त० १ वर्ग०] नमी य मंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे । जमाली य भगाली य, किंकमे पल्लएइय ॥१॥ फाले अ अट्ठपुत्ते य, एमेते दस आहिया । स्था० १० ठा० ।

अन्तगडेत्यादि इह चाष्टौ वर्गास्तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानि तानि चामूनि (नमीत्यादि) सार्द्धं श्लोकमेतानि च नमीत्यादिकान्यन्तकृत्साधुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथमवर्गे अध्ययनसंग्रहे नोपलभ्यन्ते यतस्तत्राभिधीयते "गोयम ! समुद्दसागर, गंभीरे चेव होइ थिमिए य । अयले कंपिल्ले खलु अक्खोभ पसेणई विण्हु त्ति ॥१॥" ततो वाचनान्तरापेक्षाणीमानीति सम्भावयामो न च जन्मान्तरनामापेक्षयैतानि भविष्यन्तीति वाच्यं जन्मान्तराणां तत्रानभिधीयमानत्वादिति ॥

द्वितीये वर्गे इमानि ।

अक्खोभि १ सागरे खलु, २ समुद्द ३ हिमवंत ४ अचलनामे य ५ । धरणे य ६ पूरणे य, ७ अभिचंदे चेव अट्ठमए ॥

तृतीये वर्गे ।

जति णं भंते ! तच्चस्स उक्खेवओ एवं खलु जंबू अट्ठमस्स अंगस्स तच्चस्स वग्गस्स तेरस अज्झयणा पन्नत्ता तंजहा अणीयसेसे १ अणंतसेणे २ अजियसेणे ३ अणिहयरेसिओ ४ देवसेणे ५ सत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए ८ समुद्द ९ दुम्मुहे १० कुवए ११ दारुए १२ अणाहिट्ठी १३ ॥

चतुर्थे वर्गे ।

जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स अंतगडदसाणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा जाली १ मयाली २ उवयाली, ३ पुरिससेणे य ४ वारिसेणे य ५ । पज्जुण्ण ६ संबे ७ अनिरुद्धे, ८ सच्चणेमी य ९ दढनेमी य १० ॥

पञ्चमे वर्गे ।

जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स अंतगडदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पन्नत्ता पउमावतीए गोरी गंधारी लक्खणा सुसीमा य । जंबुवती सच्चभामा य, रुप्पिणी मूलसिरी मूलदत्ता वि ।

षष्ठे वर्गे ।

जति णं भंते! छट्ठस्स उक्खेवतो णवरं सोलस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा " मकायी १ किंकमए चेव २ मोग्गरपाणी य ३ कासव ४ खेमती ५ धितिधरे चेव ६ केलासे ७ हरिचंदण ८ वारत ९ सुदंसणे १० पुण्णभद्दे ११ तह सुमणभद्दे १२ सुपइट्ठे १३ मेहति १४ मुत्ते १५ अलक्खे १६ अज्झयणाण तु सोलसयं ॥ ६ ॥

सप्तमे वर्गे ।

जति णं भंते! समणेणं सत्तमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव तेरस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा "नंदा १ तह नंदवती २ नंदुत्तर ३ नंदिसेणिया ४ चेव मरुता ५ सुमरुता ६ महामरुता ७ मरुदेवा ८ य १ । अट्ठमी भद्दा ९ सुभद्दा य १० सुजया ११ सुमणाइया १२ भूयदिण्णा १३ य बोद्धव्वा सेणियभज्जाण नामानि ७

अष्टमे वर्गे ।

समणेणं भगवया महावीरेणं जाव अट्ठमस्स वग्गस्स उक्खेवओ जाव नवरं दस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा "काली १ सुकाली २ महा-काली ३ कण्हा ४ सुकण्हा ५ य वीरकण्हा य ७ बोद्धव्वा रामकण्हा ८ तहेव य । पउमसेणकण्हा नवमी दसमी महासेणकण्हा य ॥

सर्वसंग्रहेण ।

अंतगडदसाणं अट्ठमस्स अंगस्स एगो सुयक्खंधो अट्ठ वग्गा अट्ठसु चेव दिवसेसु उद्दिसंति तत्थ पढमबिईयवग्गे दस दस उद्देसगा तइयवग्गे तेरस उद्देसगा चउत्थपंचमवग्गे दस दस उद्देसगा छट्ठवग्गे सोलस उद्देसगा सत्तमवग्गे तेरस उद्देसगा अट्ठमवग्गे दस उद्देसगा सेसं जहा नायाधम्मकहाए ॥

विषयोऽन्तकृद्दशानाम् ।

से किं तं अंतगडदसाओ अंतगडदसासु णं अंतगडाणं णगराइं उज्जाणचेइयवणराया अम्मापियरो समोसरणधम्मा धम्मकहा इह लोइअपरलोइअ इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ बहुविहाओ खमा अज्जवं मद्दवं च सोअं च सच्चसहियं सत्तरसविहो य संजमो उत्तमं च बंभं आकिंचिणया तवो किरियाओ समिइगुत्तीओ चेव । तह अप्पमायजोगो सज्झायज्झाणेण य उत्तमाणं दोण्हं पि लक्खणाइं पत्ताण य संजमुत्तमं जियपरीसहाणं चउव्विहकम्मक्खयम्मि जहा केवलस्स लंभो परिया उ जत्तिओ य जह पालिओ मुणीहिं पाओवगओ य जहिं जत्तियाणि भत्ताणि छेअइत्ता अंतगडे मुणिवरो तमरयोघविमुक्को मोक्खसुहमणंतरं च पत्ता एए अन्ने य एवमाइत्थवित्थरेणं परूवेइ । सम० । अंतगडदसाणं परित्ता वायणा, संखिज्जा अणुओगदारा, संखिज्जा वेढा, संखिज्जा सिलोगा, संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे एगे सुयक्खंधे अट्ठ उद्देसणकाला अट्ठ समुद्देसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ सेत्तं अंतगडदसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्राप्तानाञ्च संयमोत्तमं सर्वविरतिजितपरीषहाणाञ्चतुर्विधकर्मक्षये सति यथा केवलस्य ज्ञानादेर्लाभः पर्यायः प्रव्रज्यायाः लक्षणो यावाँश्च यावद्वर्षादिप्रमाणो यथा येन तपोविशेषश्रवणादिना प्रकारेण पालितो मुनिभिः पादपोपगमश्च पादपोपगमाभिधानमनशनं प्रतिपन्नो यो मुनिर्यत्र शत्रुञ्जयपर्वतादौ यावन्ति च भक्तानि भोजनानि छेदयित्वा अनशनिनां हि प्रतिदिनं भक्तद्वयच्छेदो भवति अन्तकृतो मुनिवरो जात इति शेषः । तमोरजओघविप्रमुक्त एवं च सर्वेऽपि क्षेत्रकालादिविशेषिता मुनयो मोक्षसुखमनुत्तरञ्च प्राप्ता आख्यायन्त इति क्रियायोगः । एते अन्ये "चेत्यादि" प्राग्वत् नवरं (दस अज्झयणत्ति) प्रथमवर्गापेक्षयैव घटन्ते नन्द्यां तथैव व्याख्यातत्वात् यच्चेह पठ्यते "सत्त वग्गत्ति" तत्प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्षया यतोऽत्र सर्वेऽप्यष्ट वर्गा नन्द्यामपि तथा पठितत्वात्तद्वृत्तिश्चेयम् (अट्ठवग्गत्ति) अत्र वर्गः समूहः स चान्तकृतानमध्ययनानां वा सर्वाणि चैकवर्गगतानि युगपदुद्दिश्यन्ते ततो भणितं " अट्ठ उद्देसणकाला " इत्यादि इह च दश उद्देशनकाला अधीयन्ते इति नास्याभिप्रायमवगच्छामः । तथा संख्यातानि पदशतसहस्राणि पदाग्रेणेति तानि च किल त्रयोविंशतिर्लक्षाणि चत्वारि च सहस्राणीति (अट्ठवग्गत्ति) वर्गः समूहः स चान्तकृतामध्ययनानां वेदितव्यः सर्वाणि चाध्ययनानि वर्गवर्गान्तर्गतानि युगपदुद्दिश्यन्ते अत आह अष्टौ उद्देशनकालाः अष्टौ समुद्देशनकालाः संख्येयानि पदसहस्राणि पदाग्रेण च तानि च किल त्रयोविंशतिर्लक्षाः चत्वारः सहस्राः शेषं पाठसिद्धं यावन्निगमनम् नं० । " दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला " स० ।

अंतगत (य)–अन्तगत–न० अन्तशब्दः पर्यन्तवाची यथा वनान्ते इत्यत्र ततश्चान्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम् । आनुगामिकाऽवधिभेदे, इहार्थत्रयव्याख्या अन्ते गतमात्मप्रदेशानां पर्यन्ते स्थितमन्तगतम् इयमत्र भावना इहावधिरुत्पद्यमानः कोऽपि स्पर्द्धकरूपतयोत्पद्यते स्पर्द्धकं नामावधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः । तथा चाह जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः स्वोपज्ञभाष्यटीकायां स्पर्द्धकोऽयमवधिर्विच्छेदविशेष इति तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयानि वा भवन्ति । यत उक्तं मूलावश्यकप्रथमपीठिकायाम् " फड्डा वि असंखेज्जा, संखेज्जयावि एगजीवस्सेति " तानि च विचित्ररूपाणि तथाहि कानिचित्पर्यन्तवर्त्तिष्वात्मप्रदेशेषूत्पद्यन्ते तत्रापि कानिचित् पुरतः कानिचित्पृष्ठतः कानिचिदधोभागे कानिचिदुपरितनभागे कानिचिन्मध्यवर्तिष्वात्मप्रदेशेष्ववधिज्ञानमुपजायते तदात्मनोऽन्ते

पर्यन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानाज्ञशेषैरिति । अथवा औदारिकशरीरस्य अन्ते गतं स्थितमन्तगतं कयाश्चिदेकदिशोपशमजात् इदमपि स्पर्द्धकरूपमवधिज्ञानम् । अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरान्ते कयाऽपि दिशा यद्वशादुपलभ्यते तदप्यन्तगतम् । आह यदि सर्वात्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते एकदिशैव क्षयोपशमस्य संभवात् विचित्रो हि क्षयोपशमस्ततः सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानामित्थं भूत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयोपशमः संवृत्तो यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कयाचिद्विवक्षितया एकदिशा पश्यतीति उक्तं च चूर्णौ । "ओरालियसरीरंते हियं गयंति एगट्ठं तं चायप्पएसफड्डगावहिएगदिसोवलंभओ य अंतगडं ओहिनाणं भण्णइ । अहवा सव्वायप्पएसविसुद्धेसु वि ओरालियसरीरगते एगदिसि पासणागयंति अंतगयं भण्णइ " तृतीयोऽर्थः एकदिग्भाविनाऽवधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं तस्यां वर्त्तते तदवधिज्ञानमवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्त्तमानत्वात्ततोऽन्ते एकदिग्रूपस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमन्तगतम् ।

तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंतगयं अंतगयं तिविहं पण्णत्तं तंजहा पुरओ अंतगयं मग्गओ अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरओ अंतगयं ? पुरओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पुरओ काउं पणोल्लेमाणा पणोल्लेमाणा गच्छिज्जा सेत्तं पुरओ अंतगयं । से किं तं मग्गओ अंतगयं मग्गओ अंतगय से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलातं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं मग्गओ अंतगयं । से किं तं पासओ अंतगयं पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं पासओ अंतगयं सेत्तं अंतगयं ॥

अथ किं तत् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रज्ञप्तं तद्यथा पुरतोऽन्तगतमित्यादि । तत्र पुरतोऽवधिज्ञानिनः स्वस्यपेक्षया अग्रभागे अन्तगतं पुरतोऽन्तगतम् । तथा मार्गतः पृष्ठतोऽन्तगतं मार्गतोऽन्तगतम् । तथा पार्श्वतो द्वयोः पार्श्वयोरेकतरपार्श्वतो वाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम् । अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतम्(से जहेत्यादि) स विवक्षितो यथा नाम कश्चित्पुरुषः अत्र सर्वेष्वपि पदेषु एकारान्तत्वमतः सौ पुंसि इमानि मागधिकभाषालक्षणात्सर्वमपीदि प्रवचनमर्द्धमागधिकभाषात्मकम् । अर्धमागधिकभाषया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः । ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिकभाषालक्षणमनुसरणीयम् । (उक्कं वेत्ति) उल्का दीपिका वाशब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः । चडुलीं वा चडुली पर्यन्तज्वलिततृणपूलिका अलातं वा अलातमुल्मुकं च अग्रभागे ज्वलत्काष्ठमित्यर्थः । मणिं वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वा ज्योतिः सपत्राद्याधारो ज्वलदग्निः । आह च चूर्णिकृत् " जोइ त्ति मल्लगाइठिओ अगणी जलंतो इति " प्रदीपं वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽग्रतो वा हस्ते दण्डादौ वा कृत्वा (पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणेत्ति) प्रणुदन् प्रणुदन् हस्तस्थितं दण्डाद्यग्रस्थितं वा क्रमेण स्वगत्यनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एष दृष्टान्तः । उपनयस्तु स्वयमेव भावनीयः । तत उपसंहरति (सेत्तं पुरओ अंतगयं) से शब्दः प्रतिवचनोपसंहारदर्शने तदेतत् पुरतोऽन्तगतम् । इयमत्र भावना । यथा स पुरुषः उल्कादिभिः पुरत एव पश्यति नान्यत्र एवं येनावधिज्ञानेन तथाविधक्षयोपशमभावतः पुरतः एव पश्यति नान्यत्र तदवधिज्ञानं पुरतोऽन्तगतमभिधीयते । एवं मार्गतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रं भावनीयं नवरम् (अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणेत्ति) हस्तगतं दण्डाग्रादिस्थितं वा अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः । तथा (पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणेत्ति) पार्श्वतो दक्षिणपार्श्वतोऽथवा वामपार्श्वतो यद्वा द्वयोरपि पार्श्वयोः उल्कादिकं हस्तस्थितं वा दण्डाग्रादिस्थितं वा परिकर्षन् परिकर्षन् पार्श्वभागे कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः । नं० १९ पत्र० । (मध्यगतादस्य विशेषः आणुगामिय शब्दे)

अन्त्रगत–त्रि० अन्त्रान्तर्वर्तिनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अंतगअ–अन्तर्गत–त्रि० तोऽन्तरि ८।१। ६० इति सूत्रस्य क्वाचित्कत्वाभावात् शब्दे तस्यात एत्वम् । मध्यगते, प्रा० । अभ्यन्तरे, अष्ट० ।

अंतचरय–आन्तचरक–पुं० पार्श्वचारिणि, अभिग्रहविशेषधारके भिक्षाके, स्था० ५ ठा० । यो हि अभिग्रहविशेषात्क्वेत्रान्तरेषु चरति स्था० ४ ठा० ।

अंतचारि [न] आन्तचारिन्-पुं० अन्तेन भुक्तावशेषेण वल्लादिप्रकृष्टेन चरन्तीति । अभिग्रहविशेषधारके भिक्षाके, स्था० १० ठा० । सूत्र० ।

अंतजीवि (न्)–आन्तजीविन्–पुं० आन्तेन जीवितुं शीलमाजन्माऽपि यस्य स तथा । अभिग्रहविशेषधारके भिक्षौ, स्था० ५ ठा० । सूत्र० ।

अंतट्ठ–अन्तःस्थ–पुं० अन्तः स्पर्शोष्मणोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठतीति स्था–क्विप् । यरलवाख्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्पर्शानां शषसहरूपोष्मणां च मध्यस्थाः । वा विसर्गलोपेऽन्तस्था अपि मध्यस्थितमात्रे, त्रि० वाच० ।

अंतद्धाण–अन्तर्धान–न० अन्तर्–धा०–ल्युट् । तिरोधाने,

शक्तिस्तम्भे तिरोधानं, कायरूपस्य संयमात् ।

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्य मास्त्यस्मिन् काये रूपमिति संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वरूपायाः शक्तेः स्तम्भे, भावनावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं भवति चक्षुषः प्रकाशरूपस्य सात्विकस्य धर्मस्य तद्ग्रहणव्यापाराभावात्तथा संयमवान् योगी न केनचिद् दृश्यत इत्यर्थः । एवं शब्दादितिरोधानमपि ज्ञेयम् । तदुक्तं कायरूपसंयमात् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशसंयोगेऽन्तर्द्धानम् । एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति द्वा० २६ द्वा० । अञ्जनविद्यादिनाऽदृश्यीभवने, नि० चू० १ उ० । व्यवधाने च–व्य० २ उ० ।

अंतद्धाणपिंड–अन्तर्धानपिण्ड–पुं० आत्मानमन्तर्हितं कृत्वा गृह्यमाणे पिण्डे, " अप्पाणं अंतरहितं करेत्ता जो पिंडं गेण्हइ सो अंतद्धाणपिंडो भण्णति जो अंतद्धाणपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ" आज्ञादयोऽत्र दोषाश्चतुर्लघु प्रायश्चित्तम् । नि० चू० २ उ० । अशिवादिकारणेऽन्तर्धानपिण्डमुत्पादयेत् (अन्तोहरणं सुण शब्दे)

अंतद्धा (णिया) णी–अन्तर्धानिका–स्त्री० अन्तर्धानकारिणि विद्याविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंतद्धि–अन्तर्द्धि–पुं० व्यवधाने, हैम० ।

अंतद्धाभूय–अन्तर्धाभूत–त्रि० नष्टे, " नट्टेत्ति वा विगयत्ति वा अंतद्धाभूतेत्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ॥

अंतप्पाअ–अन्तःपात–पुं० कगटडतदपशषसxकxपामूर्ध्वं लुक् ८ । २ । ७७ इति ककारादूर्ध्वस्थस्य जीह्वामूलीयस्य लुक् । मध्ये पतने, प्रा० ।

अंतब्भाव–अन्तर्भाव–पुं० प्रवेशे, विशे० ।

अंतर–अन्तर–न० मध्ये, आचा०१श्रु०६अ० विशेषे, ध०१ अधि० अवधौ, परिधानांशुके, अन्तर्धाने, भेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे विशेषे, तादर्थ्ये, छिद्रे, आत्मीये, विनार्थे, बहिरर्थे, सदृशे, वाच० । सूरविशेषे, पानीयान्तरमिति सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते ज्ञा० १ अ० व्यवधाने, जं १ वक्ष० । स्था० । अन्तं राति द-दाति रा–क– । वि० । तं० । अवकाश, भ० ७ श० ८ उ० । प्रव० । सूत्र० । नि० ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

[२] द्वीपपर्वतानां परस्परं व्यवधाने वक्तव्ये ईषत्प्राग्भारायाः अलोकस्यान्तरमुक्तम् ।

[३] क्षुल्लहिमवत्कूटस्योपरितनाच्चरमान्ताद्वर्षधरपर्वतस्य समधरणितलस्यान्तरम् ।

[४] गोस्तूभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद्वडवामुखस्य पाश्चात्यचरमान्तस्यान्तरम

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्ताद्गोस्तूभस्य पाश्चात्यचरमान्तस्यान्तरम ।

[७] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद्वेदिकान्ताद् धातकीखण्डस्य पाश्चात्यचरमान्तस्यान्तरम् ।

[८] जिनान्तराणि ।

[९] ऋषभवीरस्यान्तरम ।

[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरम ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरम ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम ।

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम ।

[१४] धातकीखण्डस्य द्वाराणामन्तरम् ।

[१५] नन्दनवनस्याधस्तनाच्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काण्डस्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम ।

[१६] नरकपृथ्वीनां रत्नप्रभाकाण्डानामन्तरम् ।

[१७] रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेरन्तरम् ।

[१८] रत्नप्रभादीनां परस्परमन्तरम् ।

[१९] निषधकूटस्योपरितनाच्छिखरतलात्समधरणितलस्यान्तरं निरूप्य निषधपर्वतस्य रत्नप्रभायाः बहुमध्यदेशभागो निरूपितः

[२०] पुष्करवरद्वाराणामन्तरम ।

[२१] मन्दराज्जम्बूद्वीपाच्च गोस्तूभस्यान्तरम ।

[२२] मन्दराद्गौतमस्यान्तरम ।

[२३] मन्दरादकभासस्यान्तरं निरूप्य महाहिमवतोऽन्तरं प्रतिपादितम महाहिमवद्रुक्मिकस्यापीति इहैव महाहिमवत्सूत्रे प्रतिपादितम् ।

[२४] लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरम ।

[२५] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम ।

[२६] वडवामुखादीनामधस्तनाच्चरमान्ताद्रत्नप्रभाया अधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

[२७] विमानकल्पानामन्तरम ।

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरं प्रतिपाद्य तस्मिन्नेव सूत्रे सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम ।

[२९] एकेन्द्रियाद्याश्रित्य कालतोऽन्तरम ।

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य कायमाश्रित्यान्तरं निरूपितम ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाश्रित्य जीवानामन्तरमभिहितम ।

[३२] त्रसस्थावरनोत्रसस्थावराणामन्तरम ।

[३३] सम्यग्दृष्टिकमाश्रित्यान्तरम ।

[३४] पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरमभिधाय कायादिपरीतानामन्तरमभिहितम ।

[३५] पुद्गलमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाऽप्रथमसमयविशेषणैकेन्द्रियाणां नैरयिकादीनां चान्तरम ।

[३६] बादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोबादराणामन्तरम ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाश्रित्य जीवानामन्तरं निरूपितम् ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाश्रित्य जीवानामन्तरं निरूपितम ।

[३९] वेदविशिष्टजीवानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदेन वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीपुन्नपुंसकानामन्तरं प्रतिपादितम ।

[४०] औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा संज्ञाविशेषणेन अन्तरं निरूपितम ।

[४१] संयमविशेषणेनान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चान्तरं निरूपितम ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते तं जहा कट्ठंतरे पम्हंतरे लोहंतरे पत्थंतरे एवामेव इत्थिए वा पुरिसस्स वा चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते तं जहा कट्ठंतरसमाणे पम्हंतरसमाणे लोहंतरसमाणे पत्थंतरसमाणे ॥

काष्ठस्य च काष्ठस्य चेति काष्ठयोरन्तरं विशेषो रूपनिर्माणादिभिः एवमेव काष्ठाद्यन्तरमिव पक्ष्मकर्पासरूतादि पक्ष्मणोरन्तरं विशिष्टसौकुमार्यादिभिर्लोहान्तरमत्यन्ताच्छेदकत्वादिभिः प्रस्तरान्तरं पाषाणान्तरं चिन्तितार्थप्रापणादिभिरेवमेव काष्ठाद्यन्तरवत् स्त्रिया वा स्त्र्यन्तरापेक्षया पुरुषस्य वा पुरुषान्तरापेक्षया वाशब्दौ स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विध्यं प्रति निर्विशेषताख्यापनार्थौ काष्ठान्तरेण समानं तुल्यमन्तरं विशेषो विशिष्टपदवियोग्यत्वादिना पक्ष्मान्तरसमानं वचनसुकुमारत्वेन लोहान्तरसमानं स्नेहच्छेदेन परीषहादौ निर्भकत्वादिभिश्च प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तातिक्रान्तमनोरथपूरकत्वेन विशिष्टगुणवत् वन्द्यपदवीयोग्यत्वादिना चेति स्था० ४ । ठा० ।

(२) द्वीपपर्वतादीनां परस्परं व्यवधानं दर्श्यते तत्र ईषत्प्राग्भाराया अलोकस्य यथा

ईसिपब्भाराए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवइए

अवाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसूणं जोअणए अवाहाए अंतरं पण्णत्ते ।

(देसूणं जोयणंति) इह सिद्धलोकयोर्देशोनं योजनमन्तरमुक्तम्, आवश्यके तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्न्यूनताया अविवक्षणान्न विरोधो मन्तव्य इति भ० ४ श० ८ उ० ।

[३] क्षुद्रहिमवत्कूटस्योपरितनाच्चरमान्ताद्वर्षधरपर्वतस्य समधरणितलेऽन्तरम् ।

चुल्लहिमवंतकूडस्स णं उवरिल्लाओ चरमंताओ चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं छ जोयणसयाइं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं सिहरिकूडस्स वि ।

इह भावार्थो हिमवान् योजनशतोच्छ्रितस्तत्कूटं पञ्चशतोच्छ्रितमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति. स० ।

(४) गोस्तुभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् वडवामुखस्य पाश्चात्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरमंताओ वलयामुहस्स महापायालस्स पच्चच्छिमिल्ले चरमंते एस णं बावन्नं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

[गोथूभेत्यादि] गोस्तूभस्य प्राच्यां लवणसमुद्रमध्यवर्तिनो वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादपसृत्य वडवामुखस्य महापातालकलशस्य पश्चात्यश्चरमान्तो येन भवतीति गम्यते [एसणंति] एतदन्तरमध्येऽबाधया व्यवधानलक्षणमित्यर्थः द्विपञ्चाशद्योजनसहस्राणि भवन्तीत्यक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम् इह लवणसमुद्रं पञ्चनवतियोजनसहस्राण्यवगाह्य पूर्वादिषु दिक्षु चत्वारः क्रमेण वडवामुखकेतुकयूपकेश्वराभिधाना महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बूपर्यन्ताद् द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य सहस्रविष्कम्भाश्चत्वार एव वेलन्धरनागराजपर्वताः गोस्तूभादयो भवन्ति । ततश्च पञ्चनवत्यास्त्रिचत्वारिंशत्यपकर्षितायां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्यन्तरं भवति स० ५२ सम० ।

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य केवइए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! अउणासीइं जोअणसहस्साइं बावण्णं च जोअणाइं देसूणं च अद्धजोअणं दारस्स य दारस्स य अवाहाए अंतरे पण्णत्ते जी० ।

जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् भदन्त ! द्वीपस्य संबन्धिनो द्वारस्य २ च कियत् किंप्रमाणम् (अबाहाए अंतरंत्ति) बाधा परस्परं संश्लेषतः पीडनं न बाधा अबाधा तया कियदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः प्रज्ञप्तम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु वर्त्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थमबाधाग्रहणम् अत्र निर्वचनं भगवानाह गौतम ! एकोनाशीतिर्योजनसहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनानि देशोनं चार्द्धयोजनं द्वारस्य द्वारस्य चाबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि जम्बूद्वीपपरिधिः प्राग्निर्दिष्टयोजनानि तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके (३१६२२७) क्रोशत्रयम् (३) अष्टाविंशं धनुःशतं (१२८) त्रयोदशाङ्गुलानि (१३) एकमर्द्धाङ्गुलमिति । अस्माद् द्वारचतुष्कविस्तारोऽष्टादशयोजनरूपोऽपनीयते यत एकैकस्य द्वारस्य विस्तारो योजनानि चत्वारि चत्वारि (४) प्रतिद्वारम् । द्वारशाखाद्वयविस्तारश्च क्रोशत्रयं क्रोशत्रयम् । अस्मिंश्च द्वारस्य शाखयोश्च परिमाणे चतुर्गुणे जातान्यष्टादश योजनानि (१८) ततस्तदपनयने शेषपरिधिसत्कस्यास्य योजनरूपस्य(३१६२०९) चतुर्भागलब्धानि योजनानि एकोनाशीतिः सहस्राणि द्विपञ्चाशदधिकानि (७९०५२) क्रोशश्चैकः । तथा परिधिसत्कस्य क्रोशत्रयस्य धनुष्करणे जातानि धनुषां षट् सहस्राणि (६०००) एष च परिधिसत्कः अष्टाविंशत्यधिकधनुःशतस्य क्षेपे जातानि धनुषामेकषष्टिशतान्यष्टाविंशत्यधिकानि (६१२८) ततोऽस्य चतुर्भिर्भागे लब्धानि पञ्चदश शतानि द्वात्रिंशदधिकानि (१५३२) यानि च परिधिसत्कत्रयोदश अङ्गुलानि(१३) तेषामपि चतुर्भिर्भागे लब्धानि त्रीण्यङ्गुलानि (३) शेषे चैकस्मिन्नङ्गुले यवाः अष्टौ (८) एषु परिधिसत्कयवपञ्चक (५) क्षेपे जातास्त्रयोदश यवाः (१३) एषां च चतुर्भिर्भागे लब्धास्त्रयो यवाः (३) शेषे चैकस्मिन् ये यूकाः अष्टौ (८) आसु परिधिसत्कैकयूकाक्षेपे जाता नव (९) आसां चतुर्भिर्भागे लब्धे द्वे यूके (२) शेषस्याल्पत्वान्न विवक्षा । एतच्च सर्वं देशोनमेकं गव्यूतमिति जातं पूर्वलब्धगव्यूतेन सह देशोनमर्द्धयोजनमिति (जं० १वक्ष०) "इममेवार्थं द्विर्बद्धं सुबद्धमिति" अबद्धसूत्रतो बद्धसूत्र लाघवरुचिसत्त्वानुग्राहकमिति वा गाथयाऽऽह । "कट्टु दुवार पमाणं, अट्ठारस जोयणाइं परिहाए । सोहियचउहिं विभत्ते, इणमो दारंतरं होइ । अउणासीइसहस्सा, बावण्णा अद्ध जोयणं तूणं । दारस्स य दारस्स य, अंतरमेयं विणिद्दिट्ठं" जी० ३ प्रति० । स० ।

[६] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्यचरमान्ताद् गोस्तुभस्य पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरमाह ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ, गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स पच्चच्छिमिल्ले चरमंते एस णं बायालीसं जोयणसहस्साइं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते । एवं चउद्दिसिं पि दगभासे संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिल्लाओ चरिमंताओ त्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपसृत्य गोस्तूभस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंबन्धिनः पाश्चात्यसीमान्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति [एसणंति] एतदन्तरं द्विचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि प्रश्नमन्तरशब्देन विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यत आह [अबाहाएत्ति] व्यवधानापेक्षया यदन्तरं तदित्यर्थः ।

(७] जम्बूद्वीपस्य पौरस्त्याद् वेदिकान्तात् धातकीखण्डस्य पाश्चात्यचरमान्ते अन्तरम् ।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेइयंताओ धायइखंडचक्कवालस्स पच्चच्छिमिल्ले चरमंते सत्तजोयणसयसहस्साइं अवाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

तत्र लक्षं जम्बूद्वीपस्य द्वे लवणस्य चत्वारि धातकीखण्डस्येति सप्त लक्षाण्यन्तरं सूत्रोक्तम्भवतीति [७०००००] ।

(८) जिनान्तराणि ।

जम्मा जम्मो जम्मा, सिवं सिवा जम्ममुक्खओ मुक्खा ४ । इय चउजिणंतराइं, इत्थ चउत्थं तु नायव्वं २६ । सत्त० १६५ द्वा० ।

सांप्रतं यश्चक्रवर्ती वासुदेवो वा यस्मिन् जिने जिनान्तरे वाऽऽसीत् तत् प्रतिपादयत इत्यनेन संबन्धेन जिनान्तरागमनं तत्रापि तावत् प्रसंगत एव कालतो जिनान्तराणि निर्दिश्यन्ते "अ-

सभाओ कोडिलक्खं, ५० अजियाओ कोडिलक्खं ३०। संभवओ कोडिलक्खं १० अभिनंदणओ कोडिलक्खं ९ सुमतिकोडीओ उ णउइसहस्सेहिं ९०पउमप्पभओ कोडीणंनव सहस्सेहिं ९ सुपासो कोडी नवसएहिं ९०० चंदप्पभो कोडीओ णउती ९०पुप्फदंतो कोडीउ णवहिओ ६ सीयलो कोडीकणाऊणा १०० सा [६६२६०००) वरिसाइं सेज्जंसो सागरोपमाइं ५४ वासुपुज्जो तीससागराइं ३० विमलो सागरोवमाइं ४ धम्मो सागरोवमाइं ३ ऊणाइं १ पलियचउभागेहिं ३ संतिपलियदं कुंथुपलियचउभाओ ४ ऊणाओ वासकोडीसहस्सेण १ अरो वासकोडीसहस्सं २ मल्ली वरिसलक्खचउप्पन्ना ५४ मुणिसुव्वओ वरिसलक्खं ६ नमी वरिसलक्खं ५ अरिट्ठनेमि वरिससहस्सं ८३७५० पासो वाससयाइं २५० वद्धमाणो जिणंतराइं " इह व्यासम्मोहार्थं सर्वेषामेव जिनचक्रवर्तिवासुदेवानां यो यस्मिन् कालेऽन्तरे वा चक्रवर्ती वासुदेवो वा भविष्यति वभूव वा तस्यानन्तरव्यावर्णितप्रमाणायुःसमन्वितस्य सुखपरिज्ञानार्थमयं प्रतिपादनोपायः ।

" बत्तीसं घरयाइं, काउं तिरियाय ताहिं रेहाहिं ।
उड्डाययाहिं काउं, पंच घराइं तओ पढमो ॥
पन्नरस जिणनिरंतर-सुन्नडुगं तिजिण सुन्नतिगं च ।
दो जिणसुन्नजिणिंदो, सुन्नजिणो सुन्न दोन्नि जिणा ॥

[बितीयपंतिट्ठवणा]

दो चक्कि सुन्नतेरस, पण चक्की सुन्नचक्कि दो सुन्ना ।
चक्की सुन्नदुचक्की, सुन्नं चक्की दुसुन्नं च ।

(ततीयपंतिट्ठवणा)

दस सुन्न पंच केसव, पण सुन्नं केसि सुन्नकेसी य ।
दो सुन्नकेसवो वि य, सुन्नदुगं केसव तिसुन्नं ॥

स्थापना चेयम् ।

☞ (सा चेहैव सप्त षष्टितमे पत्रे विलिख्यते) ☜

प्रसङ्गादायुः शरीरप्रमाणं च ।

(९) ऋषभाद् वीरस्य ।

उसभस्स भगवओ महावीरस्स य एगा सागरोवमकोडाकोडी अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

प्राकृतत्वेन श्रीऋषभ इति वाच्ये व्यत्ययेन निर्देशः कृतः एकसागरोपमकोटाकोटी द्विचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः किञ्चित्साधिकैरूनाऽप्यल्पत्वाद्विशेषस्याविशेषितोक्तेति स०। कल्प०। वीरमहापद्मयोः " चुलसीइसहस्साइं, वासा सत्तेव पंच मासाइं । वीरमहापउमाणं, अंतरमेयं विणिद्दिट्ठं " ति० ।

[१०] ज्योतिष्काणां चन्द्रमण्डलस्य चान्तरं यथा ।

चंदमंडलस्स णं भंते! चंदमंडलस्स चंदमंडलस्स केवइआए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! पणतीसं पणतीसं जोअणाइं तीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगसट्ठिभागं च एगं सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए चंदमंडलस्स २ अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

चन्द्रमण्डलस्य भदन्त ! चन्द्रमण्डलस्य कियत्या अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं गौतम ! पञ्चत्रिंशद्योजनानि त्रिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्वा चतुरश्चूर्णिकाभागान् एतच्च चन्द्रमण्डलस्य अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् अत्र चत्वारश्चूर्णिका यथा समायान्ति तथाऽनन्तरं व्याख्यातम् जं० ७ वक्ष० ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरमाह ।

चंदातो सूरस्स य, सूरा चंदस्स अंतरं होइ ।
पण्णाससहस्साइं, तु जोयणाणं अणूणाइं ॥ ९७ ॥
सूरस्स य सूरस्स य, ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।
बहीं तु माणुसनगस्स, जोयणाणं सतसहस्सं ॥ ९८ ॥

मानुषनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां शतसहस्रं लक्षम । तथाहि चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्रा व्यवस्थिताश्चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि (५००००) ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं योजनानां लक्षं भवतीति सू० प्र० १९ पाहु० । (द० प०)

बे जोयणाणि सूरस्स, मंडलाणं तु हवइ अंतरिया ।
चंदस्स वि पणतीसं, साहीया होइ नायव्वा ॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तारिका अन्तरमेवान्तर्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे यण्प्रत्ययः ततस्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यये आन्तरी अन्तरमेव आन्तर्येव आन्तारिका भवति द्वे योजने पुनश्चन्द्रस्य आन्तरिका भवति ज्ञातव्या पञ्चत्रिंशद्योजनानि साधिकानि पञ्चत्रिंशत् योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्यर्थः ज्यो० १० पाहु० ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे ताराए अ ताराए अ केवइ अबाहाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! दुविहे अंतरे पण्णत्ते तंजहा वाघाइए अ निव्वाघाइए अ । निव्वाघाइए जहण्णेणं पंचधणुसयाइं उक्कोसेणं दो गाउआइं । वाघाइए जहण्णेणं दोण्णि छावट्ठे जोअणसए उक्कोसेणं बारस जोअणसहस्साइं । दोण्णि अ बायाले जोअणसए तारारूवस्स २ तारारूवस्स अबाहाए अंतरे पण्णत्ते

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे तारायास्तारायाश्च कियद्बाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह । गौतम ! द्विविधं व्याघातिकं निर्व्याघातिकं च । तत्र व्याघातः पर्वतादिस्खलनं तत्र भवं व्याघातिकं निर्व्याघातिकं व्याघातिकान्निर्गतं स्वाभाविकमित्यर्थस्तत्र यन्निर्व्याघातिकं तज्जघन्यतः पञ्चधनुःशतानि उत्कृष्टतो द्वे गव्यूते एतच्च जगत्स्वभावादेवावगन्तव्यं यच्च व्याघातिकं तज्जघन्यतो द्वे योजनशते षट्षष्ट्यधिके एतच्च निषधकूटादिकमपेक्ष्य वेदितव्यं तथाहि निषधपर्वतः स्वभावतोऽप्युच्चैश्चत्वारि योजनशतानि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतोच्चानि कूटानि तानि च मूले पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां मध्ये त्रीणि योजनशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अर्द्धतृतीये द्वे योजनशते तेषां चोपरितनभागसमश्रेणिप्रदेशे तथा जगत्स्वाभाव्यादष्टावष्टौ योजनान्यबाधया कृत्वा ताराविमानानि परिभ्रमन्ति ततो जघन्यतो व्याघातिकमन्तरं द्वे योजनशते षट्षष्ट्यधिके भवतः उत्कर्षतो द्वादशयोजनसहस्राणि द्वे योजनशते द्विचत्वारिंशदधिके । एतच्च मेरुमपेक्ष्य द्रष्टव्यम । तथाहि मेरौ दशयोजनसहस्राणि मेरोश्चोभयतोऽबाधया एकादशयोजनशतान्येकविंशत्यधिकानि ततः सर्वसंख्यामीलने भवन्ति द्वादश योजनसहस्राणि द्वे च योजनशते द्विचत्वारिंशदधिके एतत्तारारूपस्य अन्तरं प्रज्ञप्तमिति जं० ७ वक्ष० । जी० । चं० प्र० ।

उसभो	अजिओ	संभवो	अभिनंदणो	सुमती	पउमप्पभो	सुपासो	चंदप्पहो	पुप्फदंतो	सीयलो	सेज्जंसो	वासुपुज्जो	विमलो	अणंतो	धम्मो	*
भरहो	सागरो	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	मघवं
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	तिविट्ठू	दुविट्ठू	सयंभू	पुरिसो-त्तमो	पुरिस सीहो	०
५००	४५०	४००	३५०	३००	२५०	२००	१५०	१००	९०	८०	७०	६०	५०	४५	४२॥
धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं
८४०००००	७२०००००	६००००००	५००००००	४००००००	३००००००	२००००००	१००००००	२०००००	१०००००	८४०००००	७२०००००	६००००००	३००००००	१००००००	५०००००
पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं

*	संती	कुंथू	अरो	*	*	*	मल्ली	मुणिसु-व्वओ	*	णमी	*	णेमी	*	पासो	वद्धमाणो
सणंकुमारो	संती	कुंथू	अरो	०	सुभूमो	०	०	पउमो	०	हरिसेणो	जयनामा	०	बंभदत्तो	०	०
०	०	०	०	पुरिपुंडो	०	दत्तो	०	०	नारायणो	०	०	कण्हो	०	०	०
४१॥	४०	३५	३०	२९	२८	२६	२५	२०	१६	१५	१२	१०	७	९	७
धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनू	हत्था	हत्था
३०००००	१०००००	९५०००	८४०००	६५०००	६००००	५६०००	५५०००	३००००	१२०००	१००००	३०००	१०००	७००	१००	७२
वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिससतं	वरिससतं	वरिसं

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

ता केवतियं तं दुवे सूरिया अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो छ पडिवत्तिओ पण्णत्ताओ तत्थ एगे एवमाहंसु ता एगं जोयणसहस्सं एगं च तेतीसं च जोयणसतं अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहिताति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । १ । एगे पुण एवमाहंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वइज्जा एगे एवमाहंसु।२। एगे पुण एवमाहंसु । ता एगे जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसयं अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु ।३। एगं दीवं एगं समुद्दं अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु ।४। दो दीवे दो समुद्दे अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति ।५। तिन्नि दीवे तिन्नि समुद्दे अन्नमन्नस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहिएति वदेज्जा एगे एवमाहंसु ।६। वयं पुण एवं वयामो ता पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अण्णमण्णस्स अंतरं अभिवट्टेमाणे वा निवट्टेमाणे वा सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तत्थ णं को हेऊ त्ति वदेज्जा ता अयण्णं जंबूदीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं पण्णत्ते ता जदा णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं णवणउतिजोयणसहस्साइं छ चत्ताले जोयणसते अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति ते णिक्खममाणा सूरिया णवं संवच्छरं अयमीणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जता णं एते दुवे सूरिया अभिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं णवणउति जोयणसहस्साइं छच्च पणताले जोयणसते पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिताति वदेज्जा । तता णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ता राती भवति । दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया ते णिक्खममाणे सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भितरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति ता जता णं दुवे सूरिया अब्भितरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तया णं नवनउई जोयणसहस्साइं छच्च इक्कावण्णे जोयणसए णव य एगट्ठिभागे जोयणस्स अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहिएति वइज्जा । तदा णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राई भवइ चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अधिया । एवं खलु एते णुवायएणं णिक्खममाणा एगे दुवे सूरिया तता णंतरतो तदाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणा संकममाणा पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अण्णमण्णस्स अंतरं अभिवट्टेमाणा अभिवट्टेमाणा सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तता णं एगं जोयणसतसहस्सं छच्च सट्ठिजोयणसते अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे ते य विसमाणे दुवे सूरिया दोच्चे छम्मासे अयमीणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं एगं जोयणसयसहस्सं छच्च चउप्पण्णे जोयणसते छत्तीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तदा णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए ते पविसमाणा सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति ता जता णं एते दुवे सूरिया बाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । तता णं एगं जोयणसयसहस्सं छच्च अडयाले जोयणसते बावण्णं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ । चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए । एवं खलु एते णुवाएणं पविसमाणा एते दुवे सूरिया तताणंतरतो तदाणंतरं मंडलाओ मंडलं संकममाणा पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अण्णमण्णस्स अंतरं णिवट्टेमाणे णिवट्टेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । तता णं णवणउतिजोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसते अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता णं उत्तमं कट्ठं पत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति । एस- णं दोच्चे छम्मासे एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे । एस णं आइच्चे संवच्छरे एस णं आइच्चसंवच्छरस्स पज्जवसाणे चउत्थं पाहुडपाहुडं समत्तं ।

(ता केवइयं एए दुवे सूरिया इत्यादि) ता इति प्राग्वत्

एतौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपगतौ कियत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति भगवान् वदेत् एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति शेषकुमतविषयतत्त्वबुद्धिव्युदासार्थं परमतरूपाः प्रतिपत्तीर्दर्शयति । "तत्थ खलु इमाओ इत्यादि " तत्र परस्परमन्तरचिन्तायां खलु निश्चितमिमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः षट् प्रतिपत्तयो यथास्वरुचिवस्तत्त्वेऽभ्युपगमलक्षणास्तैस्तैस्तीर्थान्तरीयैराश्रीयमाणाः प्रज्ञप्तास्ता एव दर्शयति "तत्थेगे इत्यादि" तेषां षण्णां तत्प्रतिपत्तिरूपकाणां तीर्थकानां मध्ये एके तीर्थान्तरीयाः प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येवमाहुः "ता एगमित्यादि" ता इति पूर्ववद्भावनीयम् एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परस्यान्तरं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चारं चरतश्चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहारमाह । " एगे एवमाहु रिति " । एवं सर्वत्राप्यक्षरयोजना कर्त्तव्या । एके पुनर्द्वितीयास्तीर्थान्तरीया एवमाहुरेकं योजनसहस्रमेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके तृतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसहस्रमेकं च पञ्चत्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनश्चतुर्था एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रौ परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके षष्ठाः पुनरेवमाहुः त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति । एते च सर्वे तीर्थान्तरीया मिथ्यावादिनोऽयथार्थवस्तुव्यवस्थापनात् । तथा चाह (वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरासादितकेवलज्ञानलाभाः परतीर्थिकस्थापितवस्तुव्यवस्थाव्युदासेन एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमुपलभ्य वदामः । कथं वदथ यूयं भगवन्त इत्याह (ता पंचेत्यादि) 'ता इति' आस्तामन्यदुक्तऽयमिदं तावत्कथ्यते द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन्तौ प्रतिमण्डलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणे अभिवर्द्धयन्तौ वाशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये (निवुड्ढेमाणा वा इति) सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्तौ प्रतिमण्डलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं च एकषष्टिभागान् योजनस्य निर्वेष्टयन्तौ पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणात् हापयन्तौ वाशब्दः पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये सूर्यौ चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । एवमुक्ते भगवान् गौतमो निजशिष्यनिःशङ्कितत्वव्यवस्थापनार्थं भूयः प्रश्नयति । (तत्थमित्यादि) तत्र एवंविधाया वस्तुतत्त्वव्यवस्थाया अवगमे को हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेत् भगवानाह (ता अयण्णमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत्परिपूर्णं स्वयं परिभावनीयम् । (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालंकारे एतौ जम्बूद्वीपप्रसिद्धौ भारतैरावतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले द्वयोः सूर्ययोः परस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपो योजनलक्षप्रमाणविष्कम्भस्तत्रैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरति । द्वितीयोऽप्यशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य अशीत्यधिकं च शतं द्वाभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि (३६०) भवन्ति एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाल्लक्षरूपादपनीयन्ते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरे द्वयोरपि सूर्ययोश्चरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षं प्राप्तः उत्कर्षक उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति जघन्या सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः (ते निक्खममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तौ द्वावपि सूर्यौ निष्क्रामन्तौ नवं सूर्यसंवत्सरमाददानौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमे अहोरात्रे (अब्भितराणंतरमिति) सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा एतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्येत्येतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतश्चरन्तावाख्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्य अपरे च द्वे योजने विकम्प्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मण्डले चरति । एवं द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते गुणिते च सति पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति एतावदधिकपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्र प्राप्यते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति द्वाभ्यां (एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ति) मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनः । द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका (ता निक्खममाणा इत्यादि) ततस्तस्मादपि द्वितीयान्मण्डलान्निष्क्रामन्तौ सूर्यौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य द्वितीये अहोरात्रे अभ्यन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा णमिति पूर्ववत् एतौ द्वौ सूर्यौ अभ्यन्तरतृतीयं सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा तस्मिंस्तृतीयमण्डलचारचरणकाले नवनवतियोजनसहस्राणि षट् च शतानि एकपञ्चाशदधिकानि योजनानां नव चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत्, तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरकरणमिति चेदुच्यते इहाप्येकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरद्वितीयमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने विकम्प्य चारं चरति द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजनेऽष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति । एतावत्पूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्राधिकं प्राप्यते इति भवति यथोक्तमत्रान्तरपरिमाणम् (तया णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले चारं चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति चतुर्भिः [एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ति] प्राकृतत्वात्पदव्यत्यासस्ततोऽयमर्थः मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूनः, द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिका (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमेतेनोपायेन प्रतिमण्डलमेकतोऽप्येकः सूर्यो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् विकम्प्य चारं चरत्यपरतोऽप्यपरः सूर्योऽपीत्येवंरूपेण निष्क्रामन्तौ एतौ जम्बूद्वी-

पगतौ द्वौ सूर्यौ पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मण्डले पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणापेक्षया पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमभिवर्द्धयन्तौ नवसूर्यसंवत्सरसत्के ऽशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे प्रथमषण्मासपर्यवसानभूते सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः । (ता जया णमित्यादि) ततो यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा तावेकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि षष्ट्यधिकानि (१००६६०) परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । कथमेतदवसेयमिति चेत् उच्यत इह प्रति मण्डलं पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येत्यन्तरपरिमाणचिन्तायामभिवर्द्धमानं प्राप्यते सर्वाभ्यन्तराच्च मण्डलात्सर्वबाह्यं मण्डलं त्र्यशीत्यधिकशततमं ततः पञ्च योजनानि त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते जातानि नव शतानि पञ्चदशोत्तराणि योजनानामेकषष्टिभागाश्च पञ्चत्रिंशत्संख्यास्त्र्यशीत्यधिकेन शतेन गुण्यन्ते जातानि तेषां चतुःषष्टिशतानि पञ्चोत्तराणि (६४०५) तेषामेकषष्ट्या भागे हृते लब्धं पञ्चोत्तरं योजनशतम् (१०५) एतत्प्राक्तने योजनराशौ प्रक्षिप्यते जातानि दश शतानि विंशत्यधिकानि योजनानि (१०२०) एतत्सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतान्तरपरिमाणे नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि चत्वारिंशदधिकानि (९९६४०) इत्येवंरूपे प्रक्षिप्यते ततो यथोक्तं सर्वबाह्ये मण्डले अन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वबाह्यमण्डलचारचरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता परमप्रकर्षप्राप्ता उत्कृष्टा अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति जघन्यश्च द्वादशमुहूर्तो दिवसः "एसणं पढमे छम्मासे" इत्यादि प्राग्वत् (ते पविसमाणा इत्यादि) तौ ततः सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्तौ द्वौ सूर्यौ द्वितीयषण्मासमाददानौ द्वितीयस्य षण्मासस्य प्रथमे अहोरात्रे बाह्यानन्तरं सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वागनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यानन्तरमर्वाक्तनं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा एकं योजनशतसहस्रं षट् शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि षड्विंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत् कथमेतावतस्मिन्सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये मण्डले परस्परमन्तरकरणमिति चेत् उच्यते इहैकोऽपि सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने अभ्यन्तरं प्रविशन्सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये मण्डले चारं चरति अपरोऽपि ततः सर्वबाह्यगतादन्तरपरिमाणादत्रान्तरपरिमाणं पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्योनं प्राप्यते इति भवति यथोक्तमत्रान्तरपरिमाणम् [तया णमित्यादि] तदा सर्वबाह्यानन्तरादर्वाक्तनद्वितीयमण्डलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति द्वाभ्यां तु मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामूना, द्वादशमुहूर्तो दिवसो द्वाभ्यां मुहूर्तैकषष्टिभागाभ्यामधिकः [ते पविसमाणा इत्यादि] ततस्तस्मादपि सर्वबाह्यमण्डलादर्वाक्तनद्वितीयमण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्तौ तौ द्वौ सूर्यौ द्वितीयस्य षण्मासस्य द्वितीये अहोरात्रे (बाहिरतचंति) सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा एकं योजनशतसहस्रं षट् च योजनशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि द्विपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः प्रागुक्तयुक्त्या पूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्रान्तरपरिमाणमस्य पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य हीनत्वात् [तया णमित्यादि] तदा सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनतृतीयमण्डलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति चतुर्भिर्मुहूर्तैकषष्टिभागैरूना । द्वादशमुहूर्तो दिवसश्चतुर्भिरेकषष्टिभागैर्मुहूर्तैरधिकः [एवं खलु इत्यादि] एवमुक्तप्रकारेण खलु निश्चितमेतेनोपायेन एकतोऽप्येकः सूर्योऽभ्यन्तरं प्रविशन् पूर्वपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादनन्तरे विवक्षिते मण्डले अन्तरपरिमाणस्याष्टाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् द्वे च योजने हापयत्यपरतोऽप्यपरः सूर्य इत्येवंरूपेण एतौ जम्बूद्वीपगतौ सूर्यौ तदनन्तरान्मण्डलात्तदनन्तरमण्डलं संक्रामन्तौ एकैकस्मिन्मण्डले पूर्वपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणात् अनन्तरे अनन्तरे विवक्षिते मण्डले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाणं निर्वेष्टयन्तौ हापयन्तावित्यर्थः । द्वितीयस्य षण्मासस्य त्र्यशीत्यधिकशततमे अहोरात्रे सूर्यसंवत्सरपर्यवसानभूते सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः [ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । अत्र चैवंरूपान्तरपरिमाणे भावना प्रागेव कृता शेषं सुगमम् । सू० प्र० १ पाहु० । चं०प्र० । ज्यो० । मं० । जं० । [मन्दरात् कियत्याऽबाधया ज्योतिष्का इत्यादि अबाहा शब्दे]

(१४) धातकीखण्डस्य द्वाराणामन्तरं यथा ।

धायइसंडस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतिय अबाहए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! दस जोयणसतसहस्साइं सत्तावीसं च जोयणसहस्साइं सत्त य पणतीसे जोयणसते तिण्णि य कोसे दारस्स य दारस्स य आबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

धातकीखण्डस्य भदन्त! द्वीपस्य द्वारस्य च द्वारस्य च परस्परमेतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरितत्वाद् (व्याघातेन) व्यवधानेन प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! दश योजनशतसहस्राणि सप्तविंशतिसहस्राणि सप्त शतानि पञ्चत्रिंशानि द्वारस्य परस्परमन्तरमबाधया प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य द्वारशाखाकस्य जम्बूद्वीपद्वारस्येव पृथुत्वं सार्द्धानि चत्वारि योजनानि । ततश्चतुर्णां द्वाराणामेकत्र पृथुत्वपरिमाणमीलने जातान्यष्टादश योजनानि तान्यनन्तरोक्तात्परिक्षेपपरिमाणात् (४११०९६१) शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातं शेषमिदमेकचत्वारिंशल्लक्षा दश सहस्राणि नव शतानि त्रिचत्वारिंशदधिकानि (४११०९४३) एतेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरम् । उक्तं च " पणतीसा सत्त सया, सत्तावीसा सहस्स दस लक्खा । धायइसंडे दारं–तरं तु अवरं च कोसतियं " जी० ३ प्रति० ।

(१५) नन्दनवनस्याधस्तनाच्चरमान्तात्सौगन्धिकस्य काण्डस्याधस्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

नंदणवणस्स णं हेट्ठिल्लाओ चरमंताओ सोगंधियस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं पंचासीइं जोयणसयाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

नन्दनवनस्य मेरोः पञ्चयोजनशतोच्छ्रितायां प्रथममेखलायां व्यवस्थितस्याधस्त्याच्चरमान्तात् सौगन्धिककाण्डस्य रत्नप्रभापृथिव्याः खरकाण्डाभिधान(प्र)थमकाण्डस्यावान्तरकाण्डभूतस्याष्टमस्य सौगन्धिकाभिधानरत्नमयस्य सौगन्धिककाण्डस्याधस्त्यश्चरमान्तः पञ्चाशीतिर्योजनशतान्यन्तरमाश्रित्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेरोः सम्बन्धीनि प्रत्येकं सहस्रप्रमाणत्वादवान्तरकाण्डानामष्टमकाण्डमशीतिशतानीति । स० ।

(१६) नरकपृथ्वीनां रत्नप्रभाकाण्डानामन्तरम् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! असी उत्तरं जोयणसतसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो खरकंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो रयणस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! एकं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथमस्य खरकाण्डविभागस्य (उवरिल्लाओ इति) उपरितनाच्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनश्चरमान्तश्चरमपर्यन्तः (एस णमित्यादि) एतत्सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं कियद्योजनप्रमाणम् अबाधया अन्तरव्याघातरूपया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाणमन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडस्स उवरिल्लातो चरिमंतातो वइरस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं भंते ! केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! एकं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्य उपरितनाच्चरमान्तात्परतो यो वज्रकाण्डस्योपरितनश्चरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं रत्नकाण्डाधस्तनचरमान्तस्य वज्रकाण्डोपरितनचरमान्तस्य च परस्परसंलग्नतया उभयत्रापि तुल्यप्रमाणभावात् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो वइरस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं भंते ! केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! दो जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते एवं जाव रिट्ठस्स उवरिल्ले पन्नरस जोयणसहस्साइं हेट्ठिल्ले चरिमंते सोलस जोयणसहस्साइं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात् वज्रकाण्डस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतत् अन्तरं कियत् अबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं काण्डे काण्डे द्वौ द्वौ चालापकौ वक्तव्यौ काण्डस्य चाधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने योजनसहस्रपरिवृद्धिः कर्त्तव्या यावत् रिष्टस्य काण्डस्याधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने षोडश योजनसहस्राणि अबाधया प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् जी० ३ प्रति० ।

इमी से ण रयणप्पभाए पुढवीए वइरकंडस्स उवरिल्लाओ चरिमंताओ लोहियक्खकंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं तिन्नि जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अयमिह भावार्थः रत्नप्रभापृथिव्याः प्रथमस्य षोडशविभागस्य खरकाण्डाभिधानकाण्डस्य वज्रकाण्डं नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैडूर्यकाण्डं तृतीयं लोहिताक्षकाण्डं चतुर्थं तानि च प्रत्येकं साहस्रिकाणीति त्रयाणां यथोक्तमन्तरं भवतीति स० ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लाओ चरिमंताओ पंकबहुलस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं अबाधाए केवतियं अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते हेट्ठिल्ले चरिमंते एकं जोयणसयसहस्सं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्य काण्डस्योपरितनश्चरमान्तस्तत् कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! षोडश योजनसहस्राणि अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । [इमी से णमित्यादि] अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनात् चरमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्योपरितनश्चरमान्त एतदन्तरं कियत् अबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! एकं योजनशतसहस्रमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

पंकबहुलस्स णं कंडस्स उवरिल्लाओ चरमंताओ हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं चोरासीइजोयणसयसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

श्रेयांसजिनं पङ्कबहुलं काण्डं द्वितीयं तस्य च बाहल्यं चतुरशीतिः सहस्राणीति यथोक्तसूत्रार्थ इति स० ।

आवबहुलस्स उवरि एकं जोयणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले चरिमंते असीउत्तरं जोयणसयसहस्सं । घणोदधिस्स उवरिल्ले असी उत्तरं जोजणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात् परतोऽब्बहुलस्य योऽधस्तनश्चरमान्त एतदन्तरं कियत् अबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! अशीत्युत्तरं योजनशतसहस्रं घनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्टे एतदेव निर्वचनमशीत्युत्तरयोजनशतसहस्रम् । अधस्तने पृष्टे इदं निर्वचनं द्वे योजनशतसहस्रे अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

(१७) रत्नप्रभादिभ्यो घनवातादेः ॥

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए घणवातस्स उवरिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं हेट्ठिल्ले चरिमंते असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए

पुढवीए तणुवातस्स उवरिल्ले चरिमंते असंखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं अबाधाए अंतरे हेट्ठिल्ले वि संखेज्जाइं जोयणसतसहस्साइं एवं उवासंतरे वि ।

घनवातस्योपरितने चरमान्ते पृष्टे इदमेव निर्वचनं घनोदध्यधस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं संलग्नत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमान्ते एतन्निर्वचनम् । असंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं तनुवातस्योपरितने चरमान्ते अवकाशान्तरस्याप्युपरितने चरमान्ते इत्थमेव निर्वचनं वक्तव्यम् । असंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति । सूत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रापि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिभावनीयः सुगमत्वात् ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! बत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए उवरि घणोदधिस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते? गोयमा ! बावण्णुत्तरं जोयणसयसहस्सं अबाधाए घणवातस्स असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं पण्णत्ताइं एवं जाव उवासंतरस्स वि जाव अहेसत्तमाए । णवरं जीसे जं बाहल्लं तेण घणोदही संबंधेयव्वो बुद्धीए सक्करप्पभाए अणुसारेण घणोदधिसहिताणं इमं पमाणं । वालुयप्पभाए अडयालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं पंकप्पभाए पुढवीए चत्तालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं धूमप्पभाए पुढवीए अट्ठतीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं तमाए पुढवीए छत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं अधेसत्तमाए पुढवीए अट्ठावीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं जाव अहेसत्तमाए । एस णं भंते ! पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो उवासंतरस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसयसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥

द्वितीयस्या भदन्त ! अस्याः पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्तात् परतो योऽधस्तनश्चरमान्त एतत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! द्वात्रिंशदुत्तरं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकं योजनशतसहस्रम् अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं घनोदधेरुपरितने चरमान्ते पृष्टे एतदेव निर्वचनं द्वात्रिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम् अधस्तने चरमान्ते पृष्टे इदं निर्वचनं द्विपञ्चाशदुत्तरं योजनशतसहस्रम् । एतदेव घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि घनवातस्याधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्तव्यमसंख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यमिति भावः (तच्चाए णं भंते इत्यादि) तृतीयस्या भदन्त ! पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्तात् अधस्तनश्चरमान्त एतदन्तरं कियत् अबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह । अष्टाविंशत्युत्तरम् अष्टाविंशतिसहस्राधिकं योजनशतसहस्रमबाधयाऽन्तरं प्रज्ञप्तम् । एतदेव घनोदधेरुपरितनचरमान्तपृच्छायामपि निर्वचनम् अधस्तनचरमान्तपृच्छायामष्टाचत्वारिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् । एतदेव घनवातस्योपरितने चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवातावकाशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्तव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमपृथिवीविषयसूत्राण्यपि भावनीयानि जी० ३ प्रति०

छट्ठीए पुढवीए बहुमज्झदेसभायाओ छट्ठस्स घणोदहिस्स हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं एगूणासीतिजोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

अस्य भावार्थः षष्ठपृथिवी हि बाहल्यतो योजनानां लक्षं षोडश सहस्राणि भवन्ति । घनोदधयस्तु यद्यपि सर्वापि प्रत्येकं विंशतिसहस्राणि स्युस्तथाप्येतस्य ग्रन्थस्य मतेन षष्ठ्यामसावेकविंशतिः संभाव्यते तदेवं षष्ठपृथिवीबाहल्यार्द्धमष्टपञ्चाशत् घनोदधिप्रमाणं चैकविंशतिरित्येवमेकोनाशीतिर्भवति । ग्रन्थान्तरमतेन तु सर्वघनोदधीनां विंशतियोजनसहस्रबाहल्यत्वात्सप्तमीमाश्रित्येदं सूत्रमवसेयं यतस्तद्बाहल्यमष्टादशोत्तरं लक्षमुक्तं यत आह । "पढमा सीइसहस्सा, १ बत्तीसा २ अट्ठवीस ३ वीसा य ४ । अट्ठार ५ सोल ६ अट्ठ य, ७ सहस्सलक्खोवरिं कुज्जत्ति" ॥ १ ॥ अथवा षष्ठ्याः सहस्राधिकोऽपि मध्यभागो विवक्षित एवमर्थसूचकत्वाद्बहुशब्दस्येति ॥ १७ ॥

[१८] रत्नप्रभादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए य पुढवीए केवइयं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते । सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए वालुयप्पभाए य पुढवीए केवइय एवं चेव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्तमाए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवइयं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते । इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए जोइसियस्स केवइयं पुच्छा, गोयमा ! सत्तणउजोअणसए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

" इमी से णमित्यादि " (अबाहे अंतरेत्ति) बाधा परस्परं संश्लेषतः पीडनं न बाधा अबाधा तया अबाधया, अबाधया यदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु वर्त्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थमबाधाग्रहणम् (असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं ति) इह योजनं प्रायः प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं ग्राह्यं " नगपुढविविमाणाइं मिणसु पमाणंगुलेणं तु " इत्यत्र नगादिग्रहणस्योपलक्षणत्वादन्यथा आदित्यप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनाप्रमेयता स्यात्तथा बाधा लोकग्रामेषु तत्प्रकाशाप्राप्तिः प्रामोत्यात्माङ्गुलस्यानियतत्वेनाव्यवहाराङ्गतया रविप्रकाशस्योच्छ्रययोजनप्रमेयत्वात्तस्य चातिलघुत्वेन प्रमाणयोजनप्रमितक्षेत्राणामप्राप्तिरिति । यच्चेषत्प्राग्भारायाः पृथिव्या लोकान्तस्य चान्तरं तदुच्छ्रयाङ्गुलनिष्पन्नयोजनप्रमेयमित्यनुमीयते यतस्तस्य योजनस्योपरितनक्रोशस्य षड्भागे सिद्धावगाहना धनुस्त्रिभागयुक्तत्रयस्त्रिंशदधिकधनुःशतत्रयमानाऽभिहिता भावोच्छ्रययोजनाश्रयणे तु एवं युज्यत इति उक्तं च "ईसिप्पब्भाराए, उवरिं खलु जोअणस्स जो कोसो । कोसस्स य छब्भाए, सिद्धाणोगाहणा भणिय त्ति " भ० १४ श० ७ उ० ।

[१९] निषधकूटस्य उपरितलाच्छिखरतलात्सम-
धरणितलस्यान्तरम् ।

निसढकूडस्स णं उवरिल्लाओ सिहरतलाओ णिसढस्स वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं नवजोयणसयाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं नीलवंतकूडस्स वि ॥

(निसहकूडस्स णमित्यादि) इहायम्भावः निषधकूटं पञ्चशतोच्छ्रितं निषधश्च चतुःशतोच्छ्रित इति यथोक्तमन्तरम्भवतीति । स० ।

निषधपर्वतस्य रत्नप्रभाया बहुमध्यदेशभागो यथा ।

निसढस्स णं वासहरपव्वयस्स उवरिल्लाओ सिहरतलाओ इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए पढमस्स कंडस्स बहुमज्झदेसभाए एस णं नवजोयणसयाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं नीलवंतस्स वि ।

(टीका नास्तीति न गृहीता) स० १६२ पत्र.

[२०] पुष्करवरद्वाराणामन्तरम् ।

पुक्खरवरस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस णं केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! "अडयालसयसहस्सा, बावीसं खलु भवे सहस्साइं । अगुणुत्तराइं चउरो, दारंतरं पुक्खरवरस्स " ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अष्टचत्वारिंशत् योजनशतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि एकोनसप्ततिर्द्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणम् । तथाहि चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश योजनानि तानि पुष्करवरद्वीपपरिरयपरिमाणात् (१९२८९८९४) इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातमिदमेका योजनकोटी द्विनवतिशतसहस्राणि एकोननवतिसहस्राणि अष्टौ शतानि षट्सप्तत्यधिकानि (१९२८९८७६) तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाण (४८२२४६९) मिति जी० ३ प्रति ।

[२१] मन्दराद् गोस्तूभादीनामन्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोथूभस्स आवासपव्वयस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं अट्ठासीइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं चउसु वि दिसासु नेयव्वं स० १४६ पत्र ।

मेरोः पूर्वान्तात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रमानत्वात् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तूभस्य व्यवस्थितत्वात्तस्य च सहस्रविष्कम्भत्वाद्यथोक्तः सूत्रार्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिग्व्यवस्थितान् दकावभासशङ्खदकसीमाख्यान् वेलन्धरनागराजनिवासपर्वतानाश्रित्य वाच्यमत एवाह 'एवं चउसु वि दिसासु नेयव्वमिति' स० ।

जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं बायालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं चउद्दिसिं पि दगभासे संखोदयसीमे य ।

(पुरत्थिमिल्लाओत्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपसृत्य गोस्तूभस्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंबन्धिनः पाश्चात्यसीमान्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति (एसणंति) एतदन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि प्रज्ञप्तमन्तरशब्देन विशेषोऽप्यभिधीयते इत्यत आह (अबाहाएत्ति) व्यवधानापेक्षया यदन्तरं तदित्यर्थः स० १०६ पत्र. ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पच्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं सत्ताणउइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं चउद्दिसिं पि ।

भावार्थोऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चाशत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तूभ इति यथोक्तमेवान्तरमिति स० १५२ पत्र. ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स बहुमज्झदेसभागाओ गोथूभस्स आवासपव्वयस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं बाणउइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं चउण्ह वि आवासपव्वयाणं ॥

भावार्थो मेरुमध्यभागात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यतिक्रम्य गोस्तूभपर्वत इति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति । एवं शेषाणामपि स० १४७ पत्र. ।

[२२] मन्दराद्गौतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोयमद्दीवस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं सत्तसट्ठिं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

मेरोः पूर्वान्ताज्जम्बूद्वीपोऽपरस्यां दिशि जगतीबाह्यान्तपर्यवसानः पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावदस्ति ततः परं द्वादशयोजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमुद्रमध्ये गौतमद्वीपाभिधानो द्वीपोऽस्ति तमधिकृत्य सूत्रार्थः सम्भवति । पञ्चपञ्चाशतो द्वादशानां च सप्तषष्टित्वभावात् । यद्यपि सूत्रपुस्तकेषु गौतमशब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीवाभिगमादिषु लवणसमुद्रे गौतमचन्द्रार्कद्वीपान् विना द्वीपान्तरस्याश्रूयमाणत्वादिति । स० १२५ पत्र. ।

मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोयमद्दीवस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं एगूणसत्तरिं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य द्वादशसहस्रमानः सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भवनेनालंकृतो गौतमद्वीपो नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो मेरोः पश्चिमान्तादेकोनसप्ततिसहस्राणि भवन्ति पञ्चचत्वारिंशतो जम्बूद्वीपसम्बन्धिनां द्वादशानामन्तरसम्बन्धिनां द्वादशानामेवं द्वीपविष्कम्भसम्बन्धिनां च मीलनादिति ।

(२३) मन्दरस्य दकभासस्यान्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स दक्खिणिल्लाओ चरमंताओ दगभासस्स आवासपव्वयस्स उत्तरिल्ले चरमंते एस णं सत्तासीइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं मंदरस्स पच्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ संखस्स वा पुरत्थिमिल्ले चरमंते एवं चेव मंदरस्स उत्तरिल्लाओ चरमंताओ दगसीमस्स आवा-

सपव्वयस्स दाहिणिल्ले चरमंते एस णं सत्तासीइं जोयण-सहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते स० १६० पत्र. ।

महाहिमवतोऽन्तरं यथा ॥

महाहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं सत्तजोयणसयाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं रुप्पि-कूडस्स वि ॥

भावार्थोऽयं हिमवान् योजनशतद्वयोच्छ्रितस्तत्कूटं च पञ्च-शतोच्छ्रितमिति सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति स० १४४ पत्र. ।

महाहिमवंतकूडस्स णं उवरिमंताओ सोगंधियस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं सत्तासीइजोयणसयाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं रुप्पिकूडस्स वि ।

महाहिमवति द्वितीयवर्षधरपर्वते अष्टौ सिद्धायतनकूटमहा-हिमवत्कूटादीनि कूटानि भवन्ति तानि पञ्चशतोच्छ्रितानि तत्र महाहिमवत्कूटस्य पञ्च शतानि द्वे शते महाहिमवद्वर्षधरोच्छ्रयस्य अशीतिश्च शतानि प्रत्येकं सहस्रमानानामष्टानां सौगन्धि-ककाण्डावसानानां रत्नप्रभाखरकाण्डावान्तरकाण्डानामित्येवं मीलिते सप्ताशीतिरन्तरम्भवतीति । (एवं रुप्पिकूडस्सावित्ति) रुक्मिणि पञ्चमवर्षधरे यद् द्वितीयं रुक्मिकूटाभिधानं कूटं तस्या-प्यन्तरं महाहिमवत्कूटस्येव वाच्यं समानप्रमाणत्वाद् द्वयो-रपीति स० १३८ पत्र. ।

महाहिमवतो वर्षधरपर्वतस्यान्तरं यथा ।

महाहिमवंतस्स णं वासहरपव्वयस्स उवरिल्लाओ चरमंताओ सोगंधियस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं बासीइं जोयणसयाइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

महाहिमवतो द्वितीयवर्षधरपर्वतस्य योजनशतद्वयोच्छ्रितस्य (उवरिल्लाओत्ति) उपरितनाच्चरमान्तात् सौगन्धिककाण्डस्या-धस्तनश्चरमान्तो द्व्यशीतिर्योजनशतानि कथं रत्नप्रभापृथिव्यां हि त्रीणि काण्डानि खरकाण्डपङ्ककाण्डाब्बहुलकाण्डानि खर-काण्डं पङ्ककाण्डमब्बहुलकाण्डं चेति । तत्र प्रथमं काण्डं षोडशविधं तद्यथा रत्नकाण्डं १ वज्रकाण्डम् २ एवं वैडूर्य ३ लोहिताक्ष ४ मसारगल्ल ५ हंसगर्भ ६ पुलक ७ सौगन्धिक ८ ज्योतीरसा ९ अञ्जना १० अञ्जनपुलक ११ रजत १२ जातरूप १३ अङ्क १४ स्फटिक १५ रिष्टकाण्डं चेति १६ एतानि च प्रत्येकं सहस्र-प्रमाणानि ततश्च सौगन्धिककाण्डस्याष्टसत्वादशीतिशतानि द्वे च शते महाहिमवदुच्छ्रय इत्येवं द्व्यशीतिशतानीति एवं रुक्मि-णोऽपि पञ्चमवर्षधरस्य वाच्यं महाहिमवत्समानोच्छ्रयत्वा-त्तस्येति स० १६५ पत्र. ।

(२४) लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरं यथा ।

लवणस्स णं समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ पच्च-त्थिमिल्ले चरमंते एस णं पंचजोयणसयसहस्साइं अबा-हाए अंतरे पण्णत्ते ॥

तत्र जम्बूद्वीपस्य लक्षं चत्वारि च लवणस्येति पञ्च । स० १६५ पत्र० ।

(२५) लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरं यथा ।

लवणस्स णं समुद्दस्स दारस्स य दारस्स य केवइयं अबा-हाए अंतरे पण्णत्ते - गोयमा ! तिण्णि जोयणसयसहस्साइं पंचाणउइसहस्साइं दुण्णि य असीए जोयणसए कोसं च दारंतरे लवणे जाव अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

लवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [एसणमिति] एत-त् अन्तरं कियत्या अबाधया अन्तरालत्वाद् व्याघातरूपया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! त्रीणि योजनशतसहस्राणि पञ्चनवति-सहस्राणि अशीती द्वे योजनशते क्रोशश्चैको द्वारस्य द्वारस्याबा-धया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य पृथुत्वं चत्वा-रि योजनानि एकैकस्मिंश्च द्वारे एकैव द्वारशाखा क्रोशबाहल्याद् द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैकस्मिन् द्वारे सामस्त्येन चिन्त्य-माने सार्द्धयोजनचतुष्टयप्रमाणं प्राप्यते चतुर्णामपि च द्वारणा-मेकत्र पृथुत्वमीलने जातान्यष्टादश योजनानि तानि लवणसमु-द्रपरिरयपरिमाणात् पञ्चदशशतसहस्राणि एकाशीतिः सहस्राणि एकोनचत्वारिंशद्योजनशतमित्येवं परिमाणादपनीय च यच्छेषं तस्य चतुर्भिर्भागे हृते यदागच्छति तत् द्वाराणां पर-स्परमन्तरपरिमाणं तच्च यथोक्तमेव । उक्तं च "असीया दोन्नि सया, पणनउइसहस्सतिन्नि लक्खा य । कोसो य अंतरं सा-गरस्स दाराण विन्नेयं" जी० ३ प्रति ।

[२६] वडवामुखादीनामधस्तनाच्चरमान्ताद्रत्न-प्रभाया अधस्तनश्चरमान्तः ।

वलयामुहस्स णं पायालस्स हिट्ठिल्लाओ चरमंताओ इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं एगणासिं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं केउस्स वि जूयस्स वि ईसरस्स वि ।

तत्र [वलयामुहस्सत्ति] वडवामुखाभिधानस्य पूर्वदिग्व्यव-स्थितस्य [पायालस्सत्ति] महापातालकलशस्याधस्तनचरमा-न्ताद्रत्नप्रभापृथ्वीचरमान्त एकोनाशीत्या सहस्रेषु भवति । कथं रत्नप्रभा हि अशीतिसहस्राधिकं योजनानां लक्षं बाहल्यतो भ-वति तस्याश्चैकं समुद्रावगाहसहस्रं परिहृत्याऽधो लक्षप्रमाणा-वगाहो वलयामुखपातालकलशो भवति ततस्तच्चरमान्तात् पृथिवीचरमान्तो यथोक्तान्तरमेव भवति । एवमन्येऽपि त्रयो वाच्या इति स० १३६ पत्र. ।

[२७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

जोइसियस्स णं भंते ! सोहम्मीसाणाण य कप्पाणं केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसहस्साइं जाव अंतरे पण्णत्ते सोहम्मीसाणाणं भंते ! सणंकुमार-माहिंदाण य केवइयं एवं चेव सणंकुमारमाहिंदाणं भंते ! बंभलोगस्स कप्पस्स केवइयं एवं चेव बंभलोगस्स णं भंते ! लंतगस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव लंतगस्स णं भंते ! महासुक्कस्स य कप्पस्स केवइयं एवं चेव महासुक्कस्स य कप्पस्स सहस्सारस्स य एवं सहस्सारस्स आणयपाणयक-प्पाणं एवं आणयपाणयाणं आरणच्चुयाण कप्पाणं एवं आरणच्चुयाणं गेविज्जगविमाणाण य एवं गेविज्जगविमा-णाणं अणुत्तरविमाणाण य एवं अणुत्तरविमाणाणं भंते ! ईसिप्पब्भाराए पुढवीए केवइयं पुच्छा ? गोयमा ! दुवालस जोयणे अबाहाए अंतरे पण्णत्ते भ० १४ श० ८ उ० ।

[टीका सुगमत्वान्न गृहीता]

[विवक्षितस्वभावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावप्राप्तिविरहे आनुपूर्वीद्रव्याणामन्तरम् आणुपुव्वी शब्दे]

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

छउमत्थआहारगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं दो समया। केवलिआहारगस्स णं अंतरं अजहएणमणुक्कोसेणं तिण्णि समया छउमत्थअणाहारगस्स अंतरं जहएणेणं खुड्डगभवग्गहणं दुसमऊणं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं। सिद्धकेवलिअणाहारगस्स सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं द्विसमयोनमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावदङ्गुलस्यासंख्येयो भागः यावानेव हि छद्मस्थस्याहारकस्य कालस्तदेव छद्मस्थानाहारकस्यान्तरं छद्मस्थाहारकस्य च जघन्यतः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयाः उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्येयो भागः एतावन्तं कालं सततमविग्रहेणोत्पादसंभवात् । ततः छद्मस्थानाहारकस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावदन्तरं चेति जी० ३ प्रति० । [अधिकं खुड्डागभवग्गहणशब्दे नवरम्] सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्यान्तरमभिधित्सुराह । " सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स णं भंते " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्तं समुद्घातप्रतिपत्तेरनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीप्रतिपत्तिभावात् नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमवसातव्यमन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् अयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकसूत्रे नास्त्यन्तरमयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एवं सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराभावो भावनीयः जी० ३ प्रति० ॥

[२९] इन्द्रियमाश्रित्यान्तरम् ।

एगिंदियस्स णं भंते ! एगिंदियस्स अंतरं कालतो केव चिरं होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं। बेइंदियस्स णं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो एवं तेइंदियस्स वि चउरिंदियस्स वि णेरइयस्स वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स वि मणूसस्स वि देवस्स वि सव्वेसिं अंतरं भाणियव्वं ॥

अन्तरचिन्तायामेकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां जघन्यतः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः [सर्व० जी० ८ प्रति] "एगिंदियस्स णं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ" इति प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्चैकेन्द्रियादुद्वृत्य द्वीन्द्रियादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यम् । उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके यावानेव हि त्रसकायस्य कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं त्रसकायस्थितिकालश्च यथोक्तप्रमाण एव तथा वक्ष्यति । " तसकाए णं भंते ! तसकायत्ति कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासा अब्भहियाइं" द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसूत्रेषु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तच्च पूर्वप्रकारेण भावनीयमुत्कर्षतः सर्वत्रापि वनस्पतिकालः द्वीन्द्रियादिभ्यः उद्वृत्य वनस्पतिषु यथोक्तप्रमाणमनन्तरमपि कालमवस्थानात् यथैवामूनि पञ्चसूत्राण्यन्तरविषयाण्यौधिकान्युक्तानि तथैव पर्याप्तविषयाणि अपर्याप्तविषयाण्यपि भावनीयानि तानि चैवम्। " एगिंदियअपज्जत्ते "त्यादि एवं पञ्च पर्याप्तसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । जी० ५ प्रति० । [उत्पादमधिकृत्यान्तरम् उववाय शब्दे]

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरम् ।

कोहकसाई–माणकसाई–मायाकसाई णं भंते ! अंतरं ? गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं लोभकसायियस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं कसाई तहेव जहा हेट्ठा ।

क्रोधकषायिणोऽन्तरं जघन्येनैकं समयं तदुपशमसमयानन्तरं मरणे भूयः कस्यापि तदुदयात् उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवं मानकषायिमायाकषायिसूत्रे अपि वक्तव्ये " लोभकसायियस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अकसाई तहेव जहा हेट्ठा "। सर्व० जी० ४ प्रति० ।

कायमाश्रित्यान्तरम् ।

पुढवीकाइयस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं आउतेउवाउकाइयतसकाइयाण वि वणस्सइकायियस्स पुढविकालो एवं पज्जत्तगाण वि वणस्सतिकालो। वणस्सइकाइयाणं पुढविकालो पज्जत्तगाण वि एवं चेव वणस्सतिकालो पज्जत्ताणं वणस्सतीणं पुढविकालो ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं पृथिवीकायादुद्वृत्याऽन्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तकालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः पृथिवीकायादुद्वृत्यैतावन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानसम्भवात् एवमप्तेजोवायुत्रससूत्राण्यपि भावनीयानि वनस्पतिसूत्रे उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं "असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ कालतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा" इति वक्तव्यं वनस्पतिकायादुद्वृत्य पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते च सर्वेष्वप्युत्कर्षतोऽप्येतावत्कालभावात् जी० ६ प्रति० ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं यथा ।

नेरइयस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं मणुयाणं तिरिक्खजोणियवज्जाणं तिरिक्खजोणियाणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं ॥

नैरयिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तच्च नरकादुद्वृत्तस्य तिर्यग्मनुष्यगर्भे एवाशुभाध्यवसायेन मरणतः परिभावनीयं सानुबन्धकर्मफलमेतदिति तात्पर्यार्थः । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स

चानन्तः कालो वनस्पतिकालो नरकादुद्वृत्तस्य पारम्पर्येणानन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानात् तिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तच्च तिर्यग्योनिकभवादुद्वृत्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः तिर्यग्योनिकत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं तिर्यग्योनिकसूत्रे मनुष्यसूत्रे मानुषीसूत्रे देवसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः जी० ७ प्रति० ।

नैरयिकस्य ।

नेरइयमणुस्सदेवाणं य अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं ॥

नैरयिकस्य भदन्त ! अन्तरं नैरयिकत्वात्परिभ्रष्टस्य भूय आ नैरयिकत्वप्राप्तेरपान्तरालं कालतः कियच्चिरं भवति कियन्तं कालं यावद्भवतीत्यर्थः । भगवानाह जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कथमिति चेत् उच्यते नरकादुद्वृत्य मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा अन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो नरकेषूत्पादात् । तत्र मनुष्यभवे भावना इयं कश्चिन्नरकादुद्वृत्य गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतो वैक्रियलब्धिमान् राज्याद्याकाङ्क्षी परचक्रोपद्रवमाकर्ण्य स्वशक्तिप्रभावतश्चतुरङ्गं सैन्यं विकुर्वित्वा संग्रामयित्वा महारौद्रध्यानोपगतो गर्भस्थ एव कालं करोति कृत्वा च कालं भूयो नरकेषूत्पद्यते तत एवमन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्भवे नरकादुद्वृत्तो गर्भव्युत्क्रान्तिकतन्दुलमत्स्यत्वेनोत्पन्नश्च महारौद्रध्यानोपगतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति उत्कर्षतोऽनन्तं कालः परम्परया च वनस्पतिषूत्पादादवसातव्यस्तथाचाह वनस्पतिकालः स च प्रागेवोक्तः तिर्यग्योनिकविषयं प्रश्नसूत्रं पूर्ववत् निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च कस्यापि तिर्यक्त्वेन मुक्त्वा मनुष्यभवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः तिर्यक्त्वेनोत्पद्यमानस्य द्रष्टव्यम् उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथक्त्वं तच्च नैरन्तर्येण देवनारकमनुष्यभवभ्रमणेनावसातव्यं मनुष्यविषयमपि प्रश्नसूत्रं तथैव निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च मनुष्यभवादुद्वृत्य तिर्यग्भवेऽन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो मनुष्यत्वेनोत्पद्यमानस्यावसातव्यम् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तकालः प्रागुक्तो वनस्पतिकालः । देवविषयमपि प्रश्नसूत्रं सुगमं निर्वचनं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कश्चित् देवभवाद् च्युत्वा गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो विशिष्टसंज्ञानोपेतस्तथाविधस्य श्रमणोपासकस्य वा धर्मध्यानोपगतो गर्भस्थ एव कालं करोति कालं च कृत्वा देवेषूत्पद्यते ततः एवमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो यथोक्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः जी० ४ प्रति० । (गुणस्थानकान्याश्रित्यान्तरं गुणठाण शब्दे)

चरिमाणं भंते ! चरिमएत्ति कालतो केव चिरं होति गोयमा ! चरिमे अणादिए सपज्जवसिए अचरिमे दुविहे अणादिए वा अपज्जवसिए सातीए वा अपज्जवसिए दोएहं पि नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्य सपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं चरमस्यापगमे सति पुनश्चरमत्वायोगात् अचरमस्यापि अनाद्यपर्यवसितस्य साद्यपर्यवसितस्य वा नास्त्यन्तरम् विद्यमानचरमत्वात् जी० ४ प्रति० ।

ज्ञानमाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

णाणिस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं णंतं कालं अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं अन्नाणिस्स दोएह वि आदिल्लाणं णत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेकाइं ।

ज्ञानिनो भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति भगवानाह गौतम ! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वेन सदा तद्भावापरित्यागात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमेतावता मिथ्यादर्शनकालेन व्यवधानेन भूयोऽपि ज्ञानभावात् उत्कर्षेण अनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देसोनं सम्यक्त्वेः सम्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य एतावन्तं कालं मिथ्यात्वमनुभूय तदनन्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादनात् "अन्नाणिस्स णं भन्ते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादेवमनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरमभावात्केवलज्ञानस्य प्रतिपाताभावात् सादिपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्य एतावन्मात्रत्वात् उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि एतावतोऽपि कालादूर्ध्वं सम्यग्दर्शनप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् जी. सर्वजी. १ प्रति.

आभिनिबोधिकादेरन्तरम् ।

आभिणिबोहियणाणिस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं एवं सुयणाणिस्स वि ओहिणाणिस्स वि मणपज्जवणाणिस्स वि केवलणाणिस्स णं भंते ! अंतरं सादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । मति अएणाणिस्स णं भंते ! अंतरं अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । अणाइयस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं सातिरेगाइं एवं सुयणाणिस्स वि विभंगणाणिस्स णं भंते ! अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

अन्तरचिन्तायामाभिनिबोधिकज्ञानिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं देशोनम् । एवं श्रुतज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तरं वक्तव्यम् । केवलज्ञानिनः साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं मत्यज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्चानाद्यपर्यवसितस्यानादिसपर्यवसितस्य च नास्त्यन्तरं सादिपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि विभङ्गज्ञानिनः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं वनस्पतिकालः जी. सर्वजी० ७ प्रति० । आ० चू० । न० ।

(३२) त्रसस्थावरनोत्रसस्थावराणामन्तरम् ।

तसस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो थावरस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ ।

सुगमं नवरमसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका इत्येतावत्प्रमाणमन्तरं तेजस्कायिकवायु-

कायिकमध्ये गमनेनावसातव्यमन्यत्र गतावेतावत्प्रमाणस्यान्तरस्यासंभवात् " तस्स णं भंते ! अंतरमित्यादि " सुगमं नवरं " उक्कोसेणं वणस्सइकालो " इति उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वक्तव्यः स चैवम् । " उक्कोसेणं अणंतं कालमणंताओ उस्सप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो " इति एतावत्प्रमाणं चान्तरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यमन्यत्र गतावेतावतोऽन्तरस्याप्राप्यमानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तसस्स णं अंतरं वणस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो तसस्स नो थावरस्स णत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

दर्शनमाश्रित्य जीवानाम् ।

चक्खुदंसणस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अचक्खुदंसणस्स दुविहस्स णत्थि अंतरं ओहिदंसणस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो केवलदंसणस्स णत्थि अंतरं ।

चक्षुर्दर्शनिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं प्रमाणेन अचक्षुर्दर्शनभावेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः अचक्षुर्दर्शनिनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् अनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अचक्षुर्दर्शनत्वापगमे भूयोऽचक्षुर्दर्शनत्वायोगात् क्षीणघातिकर्मणः प्रतिपातासंभवात् अवधिदर्शनिनो जघन्येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयानन्तरसमय एव कस्यापि पुनस्तल्लाभभावात् क्वचिदन्तर्मुहूर्तमिति पाठः स च सुगमः तावता व्यवधानेन पुनस्तल्लाभभावात् । न चायं निर्मूलः पाठो मूलटीकाकारेणापि मतान्तरेण समर्थितत्वात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः तावतः कालादूर्ध्वमवश्यमवधिदर्शनसंभवादनादिमिथ्यादृष्टेरप्यविरोधात् ज्ञानं हि सम्यक्त्वं स चैव न दर्शनमपीति भावना केवलदर्शनिनः साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० ३ प्रति० ।

(३३) दृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

सम्मादिट्ठिस्स अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं मिच्छादिट्ठिस्स अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं अणादियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । सम्मामिच्छादिट्ठिस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।

" सम्मद्दिट्ठिस्सणं भंते इत्यादि " प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सम्यक्त्वात् प्रतिपत्यान्तर्मुहूर्त्तेन भूयः कस्यापि सम्यक्त्वप्रतिपत्तेः । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं मिथ्यादृष्टिसूत्रेऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपरित्यागात् अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरमनादित्वात् अन्यथाऽनादित्वायोगात् । सादिसपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोपमाणि सातिरेकाणि सम्यग्दर्शनकाल एव हि मिथ्यादर्शनस्य प्रायोऽन्तरं सम्यग्दर्शनकालश्च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावानिति । सम्यग्मिथ्यादृष्टिसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्यान्तर्मुहूर्त्तेन भूयः कस्यापि सम्यग्दर्शनभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं यदि सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपतितस्य भूयः सम्यग्मिथ्यादर्शनलाभस्तत एतावता कालेन नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० (निर्ग्रन्थानामन्तरं निग्गंथ शब्दे)

(३४) पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरम् ।

पज्जत्तगस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अपज्जत्तगस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं तइयस्स णत्थि अंतरं

अन्तरचिन्तायां पर्याप्तकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमन्तरम् अपर्याप्तकाल एव हि पर्याप्तकस्यान्तरम् । अपर्याप्तककालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम् अपर्याप्तकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं पर्याप्तककालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोपर्याप्तनोअपर्याप्तस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

परीतानामन्तरम् ।

कायपरित्तस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो संसारपरित्तस्स णत्थि अंतरं कायअपरित्तस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । पुढविकालो संसारअपरित्तस्स अणातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । अणादियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं नोपरित्तणोअपरित्तस्स वि णत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं साधारणेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः प्रत्येकशरीरेष्वागमनात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकालस्तावन्तं कालं साधारणेष्ववस्थानात् । संसारपरीतविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसारपरीतत्वाभावात् मुक्तस्य प्रतिपातासंभवात् । कायापरीतसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं प्रत्येकशरीरेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः कायापरीतेषु कस्याप्यागमनसंभवात् उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरभवभ्रमणकालस्योत्कर्षतोऽप्येतावन्मात्रत्वात् ! तथा चाह । पृथिवीकालः पृथिव्यादिप्रत्येकशरीरकाल इत्यर्थः । संसारापरीतसूत्रे अनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं संसारपरीतत्वापगमे पुनः संसारपरीतत्वस्यासंभवात् । नोपरीतनोअपरीतस्यापि साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं अपर्यवसितत्वात जी० २ प्रति० ।

[३५] पुद्गलमाश्रित्यान्तरम् ।

परमाणुपोग्गलस्स णं भंते ! सव्वेयस्स कालओ केवचिरं अंतरं होइ ? गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । परट्ठाणंतरं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं एवं चेव । णिरेयस्स केवइ० सट्ठाणंतरं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं आव-

लियाए असंखेज्जइभागं, परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं दुपदेसियस्स णं भंते! खंधस्स देसेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ? गोयमा! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं। सव्वेयस्स केवइयं कालं एवं चेव जहा देसेयस्स। णिरेयस्स केवइयं कालं सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं, परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं एवं जाव अणंतपदेसियस्स। परमाणुपोग्गलाणं भंते! सव्वेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ? गोयमा! णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइयं णत्थि अंतरं दुपदेसियाणं भंते! खंधाणं देसेयाणं केवतिकालं णत्थि अंतरं सव्वेयाणं केवइ णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइ णत्थि अंतरं एवं जाव अणंतपदेसियाणं भ० २५ श० ४ उ०।

[टीका नास्तीति न व्याख्याता]

परमाणुपोग्गलस्स णं भंते! अंतरं कालओ केव चिरं होइ? गोयमा! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं दुपएसियस्स णं भंते! खंधस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं एवं जाव अणंतपएसिओ। एगपएसोगाढस्स णं भंते! पोग्गलस्स सेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे। एगपएसोगाढस्स णं भंते! निरेयस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं एवं जाव असंखेज्जपएसोगाढे वएणगंधरसफासमुहुमपरिणयाणं एएसिं जं चेव अंतरं पि भाणियव्वं। सद्दपरिणयस्स णं भंते! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ? गोयमा! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असद्दपरिणयस्स णं भंते! पोग्गलस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं भ० ५ श० ७ उ०।

(टीका सुगमत्वान्न गृहीता)

प्रथमसमयाप्रथमसमयविशेषणैकेन्द्रियाणां नैरयिकादीनां चान्तरं यथा।

पढमसमयएगिंदियाणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति? गोयमा! जहएणेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समयोणाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपढमसमयएगिंदियस्स अंतरं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं सेसाणं सव्वेसिं पढमसमइकाणं जहएणेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समयोणाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपढमसमयियाणं सेसाणं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति भगवानाह गौतम! जघन्यतो द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे समयोने ते च क्षुल्लकद्वीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानतः पुनरेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्यावसातव्ये तथा ह्येकं प्रथमसमयोनमेकेन्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव द्वितीयं सम्पूर्णमेव द्वीन्द्रियाद्यन्यतमक्षुल्लकभवग्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स चानन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता आवलिकाया असंख्येयो भाग इत्येवं स्वरूपं तथाहि एतावन्तं हि कालं सोऽप्रथमसमयः न तु प्रथमसमयस्ततो द्वीन्द्रियादिषु क्षुल्लकभवग्रहणमेवाऽवस्थाय पुनरेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानः प्रथमे समये प्रथमसमय इति भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तथैकेन्द्रियभवगतचरमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र मृतस्य द्वीन्द्रियादिक्षुल्लकभवग्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम्। एतावन्तं कालमप्रथमसमयान्तराभावात् उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके द्वीन्द्रियादिभवग्रहणस्योत्कर्षतोऽपि सातत्येनैतावन्तं कालं संभवात्। प्रथमसमयद्वीन्द्रियस्य जघन्येनान्तरं द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे समयोने तद्यथा एकं द्वीन्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव प्रथमसमयोनं द्वितीयं सम्पूर्णमेकेन्द्रियत्रीन्द्रियाद्यन्यतमं क्षुल्लकभवग्रहणम् एवं प्रथमसमयं त्रीन्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव प्रथमसमयोनं द्वितीयं सम्पूर्णमेवैकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तच्च द्वीन्द्रियभवाद् वृत्त्यान्यत्र क्षुल्लकभवं स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम्। उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता लोका असंख्येयाः पुद्गलपरावर्ता आवलिकाया असंख्येयो भागः एतावांश्च द्वीन्द्रियभवाद्वृत्त्यैतावन्तं कालं वनस्पतिषु स्थित्वा भूयो द्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नस्य प्रथमसमयातिक्रमे भावनीयः एवं प्रथमसमयत्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणामपि जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं भावनाऽप्येतदनुसारेण स्वयं भावनीया जी० १० प्रति०।

पढमसमयणेरइयस्स णं भंते! अंतरं कालतो केव चिरं होइ? गोयमा! जहएणेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपढमसमयणेरइयस्स णं भंते! अंतरं कालओ केव चिरं होइ? गोयमा! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो। पढमसमयतिरिक्खजोणिएण भंते! अंतरं कालओ केव चिरं होति? गोयमा! जहएणेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समऊणाइं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो अपढमसमयतिरिक्खजोणियस्स णं भंते! अंतरं कालओ केव चिरं होइ? गोयमा! जहएणेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं समयाहियं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं। पढमसमय-

मणुस्सस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहस्सेणं दो खुड्डायं भवग्गहणं समयूणाइं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो। अपढमसमयमणुस्सस्स णं भंते ! अंतरं जहस्सेणं खुड्डायं भवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो देवस्स णं अंतरं जहा णेरतियस्स । पढमसमयसिद्धस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अंतरं । अपढमसमयसिद्धस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

प्रथमसमयसिद्धस्य नास्त्यन्तरं भूयः प्रथमसमयसिद्धत्वाभावात् अप्रथमसमयसिद्धस्यापि नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० १० प्रति० ।

(३६) बादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोबादराणामन्तरं यथा—

अंतरं बायरस्स बायरवनस्सतिकातिस्स णिओयस्स बायरणिओयस्स एतेसिं चउएह वि पुढविकालो जाव असंखेज्जा लोया सेसाणं वणस्सतिकालो एवं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण वि अंतरं ओहे य बायरतरू उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीओ एवं बायरनिओए कालमसंखेज्जतरं सेसाणं वणस्सतिकालो ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका यदेव हि सूक्ष्मस्य सतः कायस्थितिपरिमाणं तदेव बादरस्यान्तरपरिमाणं सूक्ष्मस्य च कायस्थितिपरिमाणमेतावति बादरपृथिवीकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्वरूपो वेदितव्यः एवं बादराप्कायिकबादरतेजस्कायिकबादरवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं स चासंख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः स चैवम् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत्सामान्यतो निगोदसूत्रं सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रवत् बादरत्रसकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत् एवमपर्याप्तविषया दशसूत्री पर्याप्तविषया च दशसूत्री यथोक्तक्रमेण वक्तव्या नानात्वाभावात् । जी० ६ प्रति० ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरम् ।

सुहुमस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहस्रेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं कालओ असंखेज्जातो उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जतिभागो एवं सुहुमवणस्सतिकाइयस्स वि सुहुमनिओयस्स वि जाव असंखेज्जतिभागो पुढविकाइयाणं वणस्सतिकालो एवं अपज्जत्तगाणं पज्जत्तगाण वि ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्माद्धृत्य बादरपृथिव्यादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः सूक्ष्मपृथिव्यादौ कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालत एषा मार्गणा क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्येयो भागः किमुक्तं भवति अङ्गुलमात्रक्षेत्रस्यासंख्येयतमे भागे ये आकाशप्रदेशास्ते प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावतीभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्लेपा भवन्ति तावत्य इति "सुहुमपुढविकाइयस्स णं भंते" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तद्भावना प्राग्वत् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं" जाव आवलियाए असंखेज्जइभागा इति" यावत्करणादेव परिपूर्णः पाठः " अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्तलो अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो " अस्य व्याख्या पूर्ववत् भावना त्वेवं सूक्ष्मपृथिवीकायिको हि सूक्ष्मपृथिवीकायिकभवादुद्धृत्यानन्तर्येण पारंपर्येण वा वनस्पतिष्वपि मध्ये गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कालं तिष्ठतीति भवति यथोक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूक्ष्माप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सूक्ष्मवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयकालः पृथिवीकालो वक्तव्यः स चैवम् " असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालतो खेत्तओ असंखेज्जा लोगा " इति । सूक्ष्मवनस्पतिकायउद्धृत्तो हि बादरवनस्पतिषु सूक्ष्मबादरपृथिव्यादिषु चोत्पद्यते तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽप्येतावन्तं कालमवस्थानमिति यथोक्तप्रमाणमेवान्तरमेवं सूक्ष्मनिगोदस्याप्यन्तरं वक्तव्यं यथा चेयमौधिकी सप्तसूत्री उक्ता तथा अपर्याप्तविषया च सप्तसूत्री वक्तव्या नानात्वाभावात् जी० ६ प्रति० ।

सुहुमस्स अंतरं बायरकालो बायरस्स अंतरं सुहुमकालो तितियस्स णत्थि अंतरं ।

सूक्ष्मस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्य संख्येयभागो बादरकालो जघन्यत उत्कर्षतश्च एतावत्प्रमाणत्वात् । बादरस्यान्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका सूक्ष्मस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्कालप्रमाणत्वात् नोसूक्ष्मनोबादरस्य साद्यपर्यवसितस्य हेतौ षष्ठी निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति न्यायात् ततोऽयमर्थः साद्यपर्यवसितत्वान्नास्त्यन्तरमन्यथा अपर्यवसितत्वायोगात् जी० ३ प्रति०

भवसिद्धभवसिद्धिकनोभवसिद्धभवसिद्धिकानामन्तरम्

भवसिद्धियस्स णत्थि अंतरं एवं अभवसिद्धियस्स वि ततियस्स णत्थि अंतरं ।

अभवसिद्धिकोऽनादिसपर्यवसितोऽन्यथा भवसिद्धिकत्वायोगात् । अभवसिद्धिकात् अभवसिद्धिकस्यानादिसपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं भवसिद्धिकत्वापगमे पुनर्भवसिद्धिकत्वायोगात् जी० ३ प्रति ।

भाषामाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

भासगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सतिकालो अभासगस्स सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः अभाषककालस्य भाषकान्तरत्वात् अभाषकसूत्रे साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् अपर्यवसितत्वात् सा-

दिसपर्यवसितस्य जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं भाव-कालस्याभावकान्तरत्वात् तस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चैता-वन्मात्रत्वात् । जी० ९ प्रति० ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरम् ।

मणजोगिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-स्सतिकालो तहेव वयजोगिस्स वि कायजोगिस्स जहण्णेणं एक्कं समय उक्कोसेण अंतोमुहुत्तं अजोगिस्स णत्थि अंतरं ।

अन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं विग्रहसमयादारभ्य औदारिकशरीरपर्याप्तकश्च यावदेवमन्तर्मुहूर्त्तं द्रष्टव्यमिति (अन्यथा टीका उस्सुत्तपरूवणा शब्दे) ।

लेश्यामाश्रित्य जीवानाम् ।

कण्हलेसस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । एव नीलस्स वि काऊलेसस्स वि । तेउलेस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो एवं पम्हलेसस्स वि सुक्कलेसस्स वि दोण्ह वि एवमंतर । अलेसस्स णं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ ? गोयमा ! सादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

कृष्णलेश्याकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्मनुष्याणामन्तर्मुहूर्त्तेन लेश्यापरावर्त्तनात् उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि शुक्ललेश्याकृष्णकालस्य कृष्णलेश्यान्तरोत्कृष्टकालत्वात् । एवं नीललेश्याकापोतलेश्ययोरपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम् । तेजःपद्मशुक्लानामन्तरं जघन्तोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रतीत एवेति । अलेश्यस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् ।

(३९) वेदविशिष्टजीवानामन्तरम् ।

सवेदगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं अणादियस्स सपज्जवसियस्स वि णत्थि अंतरं । सादियस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । अवेदगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण । अणंतं-कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनादिकस्यापर्यवसितस्य सवेदकस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात् अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अनादिसपर्यवसितो ह्यपान्तराले उपशमश्रेणिं प्रतिपद्य भावी क्षीणवेदो न च क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वं प्रतिपाताभावात् । सादिकस्य सपर्यवसितस्य सवेदकस्य जघन्येनैकं समयमन्तरं द्वितीयं वारमुपशमश्रेणिं प्रतिपन्नस्य वेदोपशमसमयानन्तरं कस्यापि मरणसंभवात् उत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तं द्वितीयं वारमुपशमश्रेणिप्रतिपन्नस्योपशान्तवेदकस्य श्रेणिसमाप्तेरूर्ध्वं पुनः सवेदकत्वभावात् । अवेदकसूत्रे सादिकस्यापर्यवसितस्यावेदकस्य नास्त्यन्तरं क्षीणवेदस्य पुनः सवेदकत्वाभावात् वेदानां निर्मूलकाषंकषितत्वात् । सादिकस्य सपर्यवसितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुपशमश्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरन्तर्मुहूर्त्तेनोपशमश्रेणिलाभतोऽवेदकत्वोपपत्तेः उत्कर्षतोऽनन्तं कालम् अनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनमेकं वारमुपशमश्रेणिं प्रतिपद्य तत्रावेदको भूत्वा श्रेणिसमाप्तौ सवेदकत्वे सति पुनरेतावता कालेन श्रेणिप्रतिपत्ताववेदकत्वोपपत्तेः । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

वेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीणां पुंसां नपुंसकानां चान्तरम् ।

इत्थिए णं भंते ! केवतिय कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अनंतं कालं वणस्सतिकालो एवं सव्वासि तिरिक्खत्थीणं मणुसित्थीणं मणुसित्थीए खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो । धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं समओ उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं एवं जाव पुव्वविदेह अवरविदेहियाओ । अकम्मभूमगमणुस्सीणं भंते ! केवातियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जम्मं णं पडुच्च जहण्णेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं वणस्सइकालो संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो एवं जाव अंतरदीवियाओ । देवित्थियाणं सव्वासिं जहण्णेण अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो ।

स्त्रिया भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति स्त्री भूत्वा स्त्रीत्वात् भ्रष्टा सती पुनः कियता कालेन स्त्री भवतीत्यर्थः । एवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कथमिति चेत् उच्यते इह काचित् स्त्री स्त्रीत्वाम्मरणेन च्युत्वा भवान्तरे नपुंसकवेदं पुरुषवेदं वाऽन्तर्मुहूर्त्तमनुभूय स्त्रीत्वेनोत्पद्यते तत एवं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं भवति उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्तात्मको वक्तव्यस्तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियमतः स्त्रीत्वयोगात् । स च वनस्पतिकाल एवं वक्तव्यः " अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो इति " यथामौघिकतिर्यक्स्त्रीणां जलचरस्थलचरखचरस्त्रीणामौघिकमनुष्यस्त्रीणां च जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यमभिलापोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः । कर्म्मभूमिकमनुष्यस्त्रियाः क्षेत्रं कर्म्मभूमिक्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं वनस्पतिकालप्रमाणं यावत् धर्म्मचरणं प्रतीत्य जघन्येनैकं समयं सर्वजघन्यस्य समयत्वात् उत्कर्षेणानन्तं कालं देशोनमपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं यावत् नातोऽप्यधिकतरचरणलब्धिपातकालासंपूर्णस्याप्यपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तस्य दर्शनलब्धिपातकालस्य तत्र प्रतिषेधात् । एवं भरतैरावतमनुष्यस्त्रियाः पूर्वविदेहापरविदेहस्त्रियाश्च क्षेत्रतो धर्मचरणं वा आश्रित्य वक्तव्यम् । अकर्मभूमकमनुष्यस्त्रिया जन्म प्रतीत्यान्तरं जघन्येन दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि कथमिति चेदुच्यते इह काचिदकर्मभूमिका स्त्री मृत्वा जघन्यस्थितिषु देवेषूत्पन्ना तत्र दशवर्षसहस्राण्यायुः परिपाल्य तत्क्षये च्युत्वा कर्मभूमिषु मनुष्यपुरुषत्वेन मनुष्यस्त्रीत्वेन वोत्पद्यते देवेभ्योऽनन्तरमकर्मभूमौ न जन्मेति कर्म्मभूमिषूत्पा-

दिता ततोऽन्तर्मुहूर्तेन मृत्वा भूयोऽप्यकर्मभूमिजस्त्रीत्वेन जायते इति भवन्ति जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्। अकर्मभूमिजस्त्रियाः (कर्मभूमिजस्त्रियाः) कर्मभूमिषु संहृत्य तावता कालेन तथाविधबुद्धिपरावृत्त्या भूयस्तत्रैव नयनात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं तावता कालेन कर्मभूम्युत्पत्तिवत् संहरणमपि नियोगतो भवेत्। तथाहि काचिदकर्मभूमिका कर्मभूमौ संहृता सा च स्वायुःक्षयानन्तरमनन्तं कालं वनस्पत्यादिषु संसृत्य भूयोऽप्यकर्मभूमौ समुत्पन्ना। ततः केनापि संहृतेति यथोक्तं संहरणस्योत्कृष्टकालमानम्। एवं हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकवर्षदेवकुरूत्तरकुर्वन्तरद्वीपिकामपि जन्मतः संहरणतश्च प्रत्येकं जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरं वक्तव्यं सूत्रपाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः। संप्रति देवस्त्रीणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह (देवित्थियाणं भंते इत्यादि) देवस्त्रिया भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति भगवानाह गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कस्याश्चित् देवस्त्रिया देवीभवात् च्युताया गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूत्पद्य पर्याप्तिपरिसमाप्तिसमनन्तरं तथाध्यवसायमरणेन पुनर्देवीत्वेनोत्पत्तिसंभवात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च सुप्रतीत एवमसुरकुमारदेव्या आरभ्य तावदीशानदेवस्त्रिया उत्कृष्टमन्तरं वक्तव्यं पाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः जी० २ प्रति०।

पुरिसस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति? गोयमा! जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं वणस्सइकालो तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो एवं जाव खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसाणं ॥

पुरुषाणामिति पूर्ववत् भदन्त! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति पुरुषः पुरुषत्वात् परिभ्रष्टः सन् पुनः कियता कालेन तदवाप्नोतीत्यर्थः। तत्र भगवानाह गौतम! जघन्येनैकं समयं समयादनन्तरं भूयोऽपि पुरुषत्वमवाप्नोतीति भावः। इयमत्र भावना यदा कश्चित् पुरुष उपशमश्रेणिं गतः उपशान्ते पुरुषवेदे समयमेकं जीवित्वा तदनन्तरं म्रियते तदाऽसौ नियमाद्देवपुरुषेषूत्पद्यते इति समयमेकमन्तरं पुरुषत्वस्य। ननु स्त्रीनपुंसकयोरपि श्रेणिलाभो भवति तत्कस्मादनयोरप्येवमेकः समयोऽन्तरं न भवति उच्यते स्त्रिया नपुंसकस्य च श्रेण्यारूढावेदकभावान्तरं मरणे तथाविधशुभाध्यवसायतो नियमेन देवपुरुषत्वेनोत्पादात्। उत्कर्षतो वनस्पतिकालः। स चैवमभिलपनीयः "अणंता उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पुग्गलपरियट्टा तेणं पुग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो इति" तदेवं सामान्यतः पुरुषत्वस्यान्तरमभिधाय संप्रति तिर्यक्पुरुषविषयमतिदेशमाह " (जं तिरिक्खजोणित्थीणमंतरमित्यादि) यत्तिर्यग्योनिस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव तिर्यग्योनिकपुरुषाणामप्यविशेषितं वक्तव्यं तच्चैवं सामान्यतस्तिर्यक्पुरुषस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तावत्कालस्थितिना मनुष्यादिभवेन व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽसंख्येयपुद्गलपरावर्त्ताख्यः तावता कालेनामुक्तौ सत्यां नियोगतः पुरुषत्वयोगात्। एवं विशेषचिन्तायां जलचरपुरुषस्य स्थलचरपुरुषस्य खचरपुरुषस्यापि प्रत्येकं जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यम्।

सम्प्रति मनुष्यपुरुषत्वविषयान्तरप्रतिपादनार्थमाह।

मणुस्सपुरिसाणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति? गोयमा! खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंता उस्सप्पिणीओ जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं कम्मभूमकाणं जाव विदेहो जाव धम्मचरणे एक्को समओ सेसं जहत्थीणं जाव अंतरदीवकाणं ॥

यन्मनुष्यस्त्रीणामन्तरं प्रागभिहितं तदेव मनुष्यपुरुषाणामपि वक्तव्यं तच्चैवं सामान्यतो मनुष्यपुरुषस्य जघन्यतः क्षेत्रमधिकृत्यान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तच्च प्रागिव भावनीयम्। उत्कर्षतो वनस्पतिकालो धर्मचरणमधिकृत्य जघन्यत एकं समयं चरणपरिणामात्परिभ्रष्टस्य समयानन्तरं भूयोऽपि कस्यचित् चरणप्रतिपत्तिसंभवात् उत्कर्षतो देशोनोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः एवं भरतैरावतकर्मभूमकमनुष्यपुरुषस्य पूर्वविदेहापरविदेहाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य चरणमधिकृत्य च प्रत्येकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं सामान्यतोऽकर्मभूमकमनुष्यपुरुषस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तरं दश वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि। अकर्मभूमकमनुष्यपुरुषत्वेन मृतस्य जघन्यस्थितिषु देवेषूत्पद्य ततोऽपि च्युत्वा कर्मभूमिषु स्त्रीत्वेन पुरुषत्वेन वोत्पद्य कस्याप्यकर्मभूमकत्वेन भूयोऽप्युत्पादात् देवभवात् च्युत्वा अनन्तरमकर्मभूमिषु मनुष्यत्वेन तिर्यक्संज्ञिपञ्चेन्द्रियत्वेन उत्पादाभावादपान्तराले कर्मभूमिषूत्पादाभिधानमुत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमकर्मभूमेः कर्मभूमिषु संहृत्यान्तर्मुहूर्त्तानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावर्त्तादिभावतो भूयस्तत्रैव नयनसंभवात् उत्कर्षतो वनस्पतिकाल एतावतः कालादूर्द्ध्वमकर्मभूमिषूत्पत्तिवत् संहरणस्यापि नियोगतो भावात्। एवं हैमवतहैरण्यवतादिष्वप्यकर्मभूमिषु जन्मतः संहरणतश्च जघन्यतः उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं यावदन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषत्ववक्तव्यता।

संप्रति देवपुरुषाणामन्तरप्रतिपादनार्थमाह।

देवपुरिसाणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो भवणवासिदेवपुरिसाणं ताव जाव सहस्सारो जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो। आनतदेवपुरिसाणं भंते! केवतियं कालं अंतरं होति? गोयमा! जहण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं जाव गेवेज्जगदेवपुरिसाण वि अनुत्तरोववातियदेवपुरिसाणं जहण्णेणं वासपुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं सागरोवमाइं अनुत्तराणं अंतरे एक्को आलावओ ॥

देवपुरुषस्य भदन्त! कालतः कियच्चिरमन्तरं भवति भगवानाह। गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं देवभवात् च्युत्वा गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषूत्पद्य पर्याप्तिसमनन्तरं तथाविधाध्यवसायमरणेन भूयोऽपि कस्यापि देवत्वेनोत्पादसंभवात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः एवमसुरकुमारादारभ्य निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावत्सहस्रारकल्पदेवपुरुषस्यान्तरम् आनतकल्पदेवस्यान्तरं जघन्येन वर्षपृथक्त्वं कस्मादेतावदिहान्तरमिति चेत् उच्यते इह यो गर्भस्थः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः स शुभाध्यवसायोपेतो

मृतः सन् आनतकल्पादारतो ये देवास्तेषूत्पद्यते नाऽऽनतादिषु तस्य तावन्मात्रकालस्य तद्योग्याध्यवसायविशुद्ध्यभावात् ततो य आनतादिभ्यश्च्युतः सन् भूयोऽप्यानतादिषूत्पद्यते स नियमाच्चारित्रमवाप्य चारित्रं चाष्टमे वर्षे तत उक्तं जघन्यतो वर्षपृथक्त्वमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवं प्राणतारणाच्युतकल्पग्रैवेयकदेवपुरुषाणामपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यत उत्कर्षतश्च वक्तव्यम् । अनुत्तरोपपातिककल्पातीतदेवपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तरं वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षतः संख्येयानि सागरोपमाणि सातिरेकाणि तत्र संख्येयानि सागरोपमाणि तदन्यवैमानिकेषु संख्येयवारोत्पत्त्या सातिरेकाणि मनुष्यभवे तत्र सामान्याभिधानेऽप्येतत् अपराजितान्तमवगन्तव्यं सर्वार्थसिद्धे सकृदेवोत्पादत-स्तत्रान्तरसंभवात् । अन्ये त्वित्थमाहुः भवनवासिन आरभ्य आ ईशानादमरस्य जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं सनत्कुमारादारभ्यासहस्रारात् नव दिनानि आनतकल्पादारभ्याच्युतकल्पं यावन्नव मासा नवसु ग्रैवेयकेषु सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जेष्वनुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि ग्रैवेयकान् यावत् सर्वत्रापि उत्कर्षतो वनस्पतिकालः विजयादिषु चतुर्षु महाविमानेषु द्वे सागरोपमे उक्तं च " आ ईसाणादमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तंतो आ सहस्सारे अच्चुयणुत्तरदिणमासवासनवथावरकालुक्कोसो सव्वट्ठवीयओ नव उववाओ दो अयरा विजयादिसु इति "

नैरयिकनपुंसकानामन्तरम् ।

अकम्मभूमकमणुस्सणपुंसए णं भंते ? गोयमा ! जम्म णं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं (अंतोमुहुत्तपुहुत्तं) संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी सव्वेसिं जाव अंतरदीवगाणं । णपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं नेरइयणपुंसगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तरुकालो । रतणप्पभापुढविनेरइयणपुंसगस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तरुकालो एवं सव्वेसिं जाव अहेसत्तमा तिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं ।

णमिति वाक्यालङ्कारे भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति नपुंसको भूत्वा नपुंसकत्वाद् भ्रष्टः पुनः कियता कालेन नपुंसको भवतीत्यर्थः भगवानाह । गौतम ! जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमेतावता पुरुषादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं पुरुषादिकालस्य एतावदेव संभवात् तथा चात्र संग्रहणीगाथा " इत्थिनपुंसा संचि-ट्ठणेसु पुरिसंतरे य समओ । पुरिसनपुंसा संचि-ट्ठणंतरे सागरपुहुत्तं ॥ १ ॥ " अस्याक्षरगमनिका " संचिट्ठणा नाम " सातत्येनावस्थानं तत्र स्त्रिया नपुंसकस्य च सातत्येनावस्थाने पुरुषान्तरे च जघन्यत एकः समयस्तथा च प्रागभिहितम् " इत्थीणं भंते ! इत्थीति कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं इत्यादि " तथा " नपुंसगेणं नपुंसगेत्ति कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयमित्यादि " तथा " पुरिसस्स णं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयमित्यादि " तथा पुरुषस्य च नपुंसकस्य यथाक्रमं (संचिट्ठणं) सातत्येनावस्थानमन्तरं चोत्कर्षतः सागरपृथक्त्वं पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् सागरोपमशतपृथक्त्वं तथा च प्रागभिहितं " पुरिसेणं भंते ! पुरिसत्ति कालतो कियच्चिरं (केव चिरं) होइ गोयमा ! जहण्णेणं (जहन्नेणं) अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं " नपुंसकान्तरोत्कर्षप्रतिपादकं चेदमेवाधिकृतं सूत्रमिति । तथा सामान्यतो नैरयिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सप्तमनरकपृथिव्या उद्धृत्य तन्दुलमत्स्यादिभवेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः सप्तमनरकपृथिवीगमनस्य च श्रवणात् प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम् जी० २ प्रति० ।

तिरश्चामन्तरम् ।

एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं पुढविआउतेउवाऊणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो वणस्सतिकाइयाणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव असंखेज्जा लोया सेसाणं बेंदियादीणं जाव खहयराणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो ।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्यग्योनिकनपुंसकस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकम् । अत्र भावना प्रागिव विशेषचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्यान्तर्मुहूर्त्तं तावता द्वीन्द्रियादिकालेन व्यवधानात् उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके त्रसकायस्थितिकालस्य एकेन्द्रियत्वव्यवधायकस्योत्कर्षतोऽप्येतावत एव संभवात् । पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवमप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानामपि वक्तव्यं वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् स चासंख्येयः कालोऽसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः । किमुक्तं भवत्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशानां प्रतिसमयमेकैकापहारे यावत्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्य इत्यर्थः । वनस्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षत एतावन्तं कालमवस्थानसंभवात् तदनन्तरं संसारिणो नियमेन भूयोऽपि वनस्पतिकायिकत्वेनोत्पादभावात् । द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानां जलचरस्थलचरखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानां सामान्यतो नपुंसकस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो वनस्पतिकालो यथोक्तस्वरूपः प्रतिपत्तव्यः ।

मनुष्यनपुंसकस्य ।

मणुस्सणपुंसकस्स खेत्तं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो धम्मचरणं पडुच्च जहण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । एवं कम्मभूमगस्स वि भरहेरवयस्स पुव्वविदेहअवरविदेहकस्स वि अकम्मभूमकमणुस्सणपुंसकस्स णं भंते ! केवतियं कालं० जम्मणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो संहरणं पडुच्च जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं जाव अंतरदीवगत्ति ।

कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयं यावत् चरणलब्धिपातस्य सर्वजघन्यस्य एकसामयिकत्वात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं तमेवानन्तं कालं निर्धारयति " अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालतो खेत्ततो अणंता लोगा अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणमिति" एवं भरतैरवतपूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामपि क्षेत्रं धर्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कृष्टं चान्तरं प्रत्येकं वक्तव्यम् । अकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेतावता गत्यन्तरादिकालेन व्यवधानभावात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । तच्चैवं कोऽपि कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकेनाप्यकर्मभूमौ संहृतः स च मागधपुरुषदृष्टान्तबलादकर्मभूमक इति व्यपदिश्यते ततः कियत्कालानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावर्त्तनभावतो भूयोऽपि कर्मभूमौ संहृतस्तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं धृत्वा पुनरप्यकर्मभूमावानीतः उत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवं विशेषचिन्तायां हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकवर्षदेवकुरूत्तरकुर्व्यकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । पं० सं० ।

(४०) औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरम् ।

ओरालियसरीरस्स अंतरं जहराणेणं एकं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं वेउव्वियसरीरस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सतिकालो आहारगसरीरस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं तेयगकम्मगसरीरस्स य दुविहा णत्थि अंतरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतः एकः समयः स च द्विसामयिक्यामपान्तरालगतौ भावनीयः । प्रथमे समये कार्मणशरीरोपेतत्वात् उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि उत्कृष्टो वैक्रियकाल इति भावः। वैक्रियशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सकृद्वैक्रियकरणे यावता कालेन पुनर्वैक्रियकरणात् मानवदेवेषु भावात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः प्रकट एव आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं सकृत्करणे एतावता कालेन पुनः करणात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । (संघातपरिशाटकरणयोरन्तरं करण शब्दे)

संज्ञाविशेषणेनान्तरम् ।

संणिस्स अंतरं जहराणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो। असंणिस्स अंतरं जहराणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं ततियस्स णत्थि अंतरं ।

अन्तरचिन्तायां संज्ञिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालम् । स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः । असंज्ञिकालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् । असंज्ञिनोऽन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं संज्ञिकालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोसंज्ञिनोऽसंज्ञिनः साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति.

(५१) संयमविशेषणेनान्तरम् ।

संजयस्स संजयासंजयस्स दोराह वि अंतरं जहराणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। असंजयस्स आदिदुवे णत्थि अंतरं साइयस्स सपज्जवसियस्स जहराणेणं एकं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी चउत्थगस्स णत्थि अंतरं ।

संयतस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तावता कालेन पुनः कस्यापि संयतत्वभावात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनम एतावतः कालादूर्द्ध्वं पूर्वमवाप्तसंयमस्य नियमतः संयमलाभात् । संयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात्। अनादिमपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं तस्य प्रतिपातासंभवात्। सादिसपर्यवसितस्य जघन्यत एकं समयं स चैकसमयः प्राग्व्याख्यातः संयतसमय एवमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी असंयतत्वव्यवधायकस्य संयतकालस्य संयतासंयतकालस्य वा उत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् संयतासंयतस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तद्भावपाते एतावता कालेन तल्लाभसिद्धेः । उत्कर्षतः संयतवत् त्रितयप्रतिषेधवर्तिनः सिद्धस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावापरित्यागात् । जी० सर्वजी० ३ प्रति० । (सामायिकादिसंयतानामन्तरं संजय शब्दे)

सिद्धासिद्धयोः ।

सिद्धस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं। असिद्धस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति? गोयमा ! अणातीयस्स अपज्जवसियस्स अणातीयस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति" न्यायात् हेतौ षष्ठी ततोऽयमर्थो यस्मात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तस्मान्नास्त्यन्तरमन्यथाऽपर्यवसितत्वायोगात् । असिद्धसूत्रे असिद्धस्यानादिकस्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वाप्रच्युतेः अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं भूयोऽसिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अंतरंग–अन्तरङ्ग–पुं० अन्तरं सदृशमङ्गं यस्य । अत्यन्तप्रिये, बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये अन्तर्भूतानि अङ्गानि निमित्तानि यस्य । व्याकरणोक्ते परनित्यबहिरङ्गबाधके कार्य्यभेदे, तद्बोधके शास्त्रे च वाच० । अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्ग एव विधिर्बलवान् आ० म० द्वि० । अभ्यन्तरे, त्रि० तं० । विशे० । (काल शब्दे एतदुदाहरणम्)

अंतरंजिया–अन्तरञ्जिका–स्त्री० नगरीभेदे, यत्र भूतगृहं चैत्यं बलश्री राजा त्रैराशिकानामुत्पत्तिश्चाभूत् , उत्त० ३ अ० । वि० । आ० म० द्वि० । कल्प० । स्था० । आ० चू० ।

अंतरंडगगोलिया–अन्तराण्डकगोलिका–स्त्री० अण्डकोशाभ्यन्तरस्य गोलिकायाम्, महा० ४ अ० ।

अंतरकंद–अन्तरकन्द– पुं० अनन्तजीवात्मकवनस्पतिभेदे , प्रज्ञा० १ पद. ।

अंतर (रा) कप्प–अन्तर (रा) कल्प– पुं० चारित्राणामन्तरस्वरूपे कल्पभेदे, । तद्वर्णनमित्थम् ।

णिव्विसकप्पो एसो, एतो वोच्छामि अंतराकप्पं ।
संखेवपिंमियत्थं, गुरूवएसं जहाकमसो ॥ दारं ॥
पंचट्ठाणमसंखा, बारसगं चेव तिण्हि तितियाणं ।
अज्झत्थकरणाणणट्ठया य एसोंतराकप्पो ॥
सामाइसंजताद्दी, पंचह्वरणं तु तेसि एकेकं ।
संजमठाणमसंखा, एकेके तत्थ ठाणम्मि ॥
होंति अणंता चारि-त्तपज्जवा ताए संखगुणियाणि ।
एकं संजमकम्ग-कंडसंखा य छट्ठाणं ॥
छट्ठाणा संखेज्जा, संजमसेढी तु होति बोधव्वा ।
सामाइयछेदसंजम-ठाणागं तुं असंखेज्जा ॥
परिहारसंजमट्ठाण, ताहे लग्गंति ते असंखागा ।
गंतुं ण होंति छिण्णा, ताहे तत्तो पुणो परतो ॥
वट्टंति जे असंखा, सामाइयछेदसंजमट्ठाणा ।
सामाइयछेदठाणा, ताहे छिन्ना भवंती तु ॥
तो सुहुमएगठाणा, ते वि असंखेज्जगं तु वोच्छिन्ना ।
तस्स अपच्छिमठाणा, अणंतगुणवाड्ढितं णियमा ॥
एकं परमविसुद्धं, होति अहक्खाय संजमट्ठाणं ।
पंचमसंखतिगं तं, बारस गयारपडिमाओ ॥ दारं ॥
सुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि णवमकप्पाठितो ।
एते तिण्हि तिया खलु, एतेसिं एकमेकस्स ॥
अंतरसंजमठाणा, होंति असंखासु तेसि सव्वेसिं ।
होति दुविहा तु सोही, करणे अब्भत्थतो चेव ॥
तो दो वी कायव्वा, णाणट्ठाए वउत्तणं ।
एसो अंतरकप्पो पं०भा० ॥

इयाणिं अंतरकप्पो गाहा-(पंचट्ठाण) अंतरकप्पो नाम पंचविहं चारित्तं सामाइयमाइ एकेकस्स असंखेज्जाइं संजमट्ठाणाइं अंतरं बारसत्ति बारस भिक्खुपडिमाओ तासिं पि तहेव अंतरं तिण्णि तिगतिसु च परिहारिणा एव चत्तारि परिहारिया अणुपरिहारिया वि चत्तारि एसो कप्पट्ठिओ । एएसिं असंखेज्जाइं अंतरा संजमट्ठाणाइं तेसु पुण सव्वेसु वि दुविहा सोही अब्भत्थसोही य करणसोही य । दो वि कायव्वाओ नाणट्ठया एवं नाणनिमित्तं वा नाणोवउत्तो वा जं करेइ तत्थ वि अब्भत्थकरणं पडुच्च निज्जराविसेसो करणविसोहीए वि बाहिरए अब्भत्थओ चेव निज्जराविसेसो एस अंतरकप्पो । पं०चू०।

अंतरकरण-अन्तरकरण-न० यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणभेदभिन्ने सम्यक्त्वौपयिककरणे, पं० सं० १ द्वा०। [तद्वृत्तं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च]

अंतरगय-अन्तर्गत-त्रि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ द्वा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-न० गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं राजदन्तादित्वात् अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृहयोर्वा अन्तराले, बृ० ३ उ० । गृहयोरन्तराले स्थानादि न कर्तव्यम् " गिहंतरणिसिज्जा य त्ति " अनाचारत्वेन तस्य कथनात् ।

(सूत्रम्)नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अंतरागिहम्मि चिट्ठित्तए वा निसीयत्तए वा तुअट्टत्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहारित्तए उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए सज्झायं वा करित्तए झाणं वा झाइत्तए काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह पुण एवं जाणिज्जा वाहिए जराजुण्णो तवस्सी दुव्वले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरागिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरं गृहे गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरे मध्ये राजदन्तादित्वादार्षत्वाद्वा अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः स्थातुं वा निषत्तुं वा यावत्करणात्त्वग्वर्तयितुं वा निद्रापयितुं वा प्रचलायितुं वा असनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा आहर्तुमुच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिष्ठापयितुं स्वाध्यायं वा कर्तुं ध्यानं वा ध्यातुं (काउस्सग्गं ति) कायोत्सर्गलक्षणं वा स्थातुं स्थानं कर्तुं सूत्रेणैवापवादं दर्शयति । अथ पुनरेवं जानीयात् (वाहि इत्यादि) व्याधितो ग्लानो जराजीर्णः स्थविरस्तपस्वी क्षपको दुर्बलो ग्लानत्वादधुनैवोत्थितोऽसमर्थशरीरः एतेषां मध्यादन्यतमस्तपसा भिक्षापर्यटनेन वा क्लान्तः परिश्रान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावत् कायोत्सर्गं वा कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः ।

सब्भावमसब्भावे, दुण्ह गिहाणंतरं तु सब्भावे ।
पासपुरोहडअंगण, मज्झंति य होतसब्भावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सद्भावतोऽसद्भावतश्च । द्वयोर्गृहयोर्यदन्तरं मध्यं तत्सद्भावो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पार्श्वतः पुरोहडे अङ्गणे गृहमध्ये वा तत्सद्भावगृहान्तरं भवति एतस्मिन् द्विविधेऽपि भिक्षाद्यर्थं निर्गतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुड्डंतरभित्तीए, णिवेसणे गिहे तहेव रत्थाए ।
बायंतराणे लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

द्वयोः कुड्ययोरन्तरे (भित्तीए त्ति) सटितपतितस्याभिनवक्रियमाणस्य वा गृहस्य भित्तौ निवेशितखारित्रप्रभृतीनां गृहाणामाभोगे (गिहित्ति) गृहपार्श्वे रथ्यायां प्रतीतायामेतेषु स्थानेषु तिष्ठतश्चतुर्लघुकाः तत्राप्याज्ञादयो दोषा मन्तव्यास्तन्निमित्तं प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति भावः । तथा-

खरिए खरिया सुण्हा, णट्ठे वट्टे खरे व संकिज्जा ।
खिएणे य अगणिकाए, दारे विवि व केण तिरियक्खे ॥

खरको दासः खरिका दासी स्नुषा वधूः मृतखरस्तुरङ्गमः एतेषु नष्टेषु साधुः शङ्क्येत यः श्रमणकः कस्ये अत्र गृहान्तरे उपविष्टः आसीत् तेन हृतं भविष्यति । द्वारे वा श्रमणेन उद्घाटिते स्तेनः प्रविश्य हृतवानिति (वेत्तित्ति) चेत्तं केनचित् खातं दत्तमित्यर्थः अग्निकायो वा केनापि दत्तो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य वृत्तिं वा छित्वा केनापि सुवर्णादिकमपि हृतं स्यात् तिर्यग्योनीया वा गोमहिषीप्रभृतिको मृतो भवेत् तत्रापि शङ्कायां ग्रहणाकर्षणादयो दोषा अत एवमतो गृहान्तरे स्थातव्यम् ।

अथ सूत्रोक्तं द्वितीयपदं भावयति ।

उच्छुद्धसरीरे वा, दुब्बलतपसोसिते व जे होज्ज ।
थेरे जुग्गमहिड्ढे, वीसंभणवेसहतसंके ॥

उच्छुद्धं रोगाघ्रातं शरीरं यस्य स उच्छुद्धशरीरो वाशब्दः उत्तरापेक्षया विकल्पार्थे दुर्बलोऽधुनोत्थितग्लानः तपःशोषितो वा विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहो भवेत् यो वा स्थविरो जीर्णः षष्टिवर्षातिक्रान्तजन्मपर्यायः सोऽपि यदि महान् सर्वेभ्योऽपि वृद्धतर एते विश्रामग्रहणार्थं गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह च व्याधितोदये उत्सर्गतो भिक्षाटनं न कार्यते परमात्मलब्धिकारणापेक्षया भिक्षामटतां प्राकृतस्तत्रावतारो मन्तव्यः स च व्याधितादिर्विश्रम्भणवेषः संविग्नवेषधारी हतशङ्कश्च हास्यादिविकारविकलतया असंभावनीयव्यलीकशङ्कः सन् तत्र स्थानादीनि पदानि कुर्यात् ।

अहवा ओसहहेउं, संखडिसंघाडए व वासासु ।
वाघाए वा तत्थ उ, जयणाए कप्पती ठाउं ॥

सूत्रोक्तस्तावदपवादो दर्शितः । अथार्थतः प्रकारान्तरेणाप्युच्यते इत्यत्र वाशब्दार्थः औषधहेतोर्दातारं गृहे अस्वाधीनं प्रतीक्षते संखडिरूपां वा यावद्वेला भवति संघाटकसाधुर्वा यावद्भक्तपानभृतं भाजनं वसतौ विमोच्य समागच्छति वर्षासु वा गृहं प्रविष्टानां वर्षं निपतेत् वधूवराद्यागमनेन वा रथ्यायां व्याघातो भवेत् तावत्तत्रैव गृहान्तरे यतनया वक्ष्यमाणया स्थातुं कल्पते एष द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुरौषधिसंखडिद्वारे व्याख्यानयति ।

पासंसि ओसहाइं, ओसहदाता व तत्थ असहीणो ।
संखडि असती कालो, उट्ठंते वा पडिच्छंति ॥

ग्लानस्यौषधानि पेष्टव्यानि तत्र पेषणशिला प्रतिश्रये नेतुं न कल्पते अतस्तेषां चागारिणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेषन्ति । औषधमार्गणार्थं वा कस्यापि गृहं गताः स चौषधदाता तदानीं तत्रास्वाधीनोऽतस्तं प्रतीक्षमाणैः स्थातव्यम् । संखडी वा क्वापि वर्तते तत्र वसेत्कालोऽद्यापि देशकालो न भवति गृहस्वामिना चोक्तं प्रतीक्षध्वं क्षणमेकं यावद्वेला भवति ततस्तस्मिन्नन्यस्मिन् वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं गृहाङ्गणमापूर्य भोक्तुमुपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपतिष्ठतः प्रतीक्षते ।

संघाटकद्वारमाह ।

एगयर उभयओ वा, अलंभे अहव्व वा उभयलंभे ।
वसहिं जाणे एगो, ता इअरो चिट्ठई दूरे ॥

एकतरस्य भक्तस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्लभतायामित्यर्थः । [आहच्च] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतरं लब्धं तेन च भाजनमापूरितं ततः संघाटकस्य मध्याद्यावदेकस्तद्भाजनं वसतिं नयति तावदितरः साधुरगारिणां दूरं भूत्वा तिष्ठति एष चूर्ण्यभिप्रायः । पुनरयं भक्तस्य पानकस्य उभयस्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रकं च तस्मिन् दिने अनाभोगेन न गृहीतं ततो यावदेको मात्रकं वसतेरानयति तावदितरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षाद्वारमाह ।

वासासु च वासंते, अणुण्णचित्ताण तत्थ णावाहे ।
अंतरगिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिट्ठंति ॥

वर्षासु वा क्वापि गृहे गतानां वर्षे वर्षति गृहस्वामिनमनुज्ञाप्य तत्रानाबाधे अवकाशे अन्तरगृहे वा गृहे वा द्वावपि संघाटकसाधू यतनया विकथादिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

पडिणीयनिवेपंते, तस्स अंतेउरे गतो फिडिए ।
वुग्गहनिव्वहजावे, वाघातो एवमादीसु ॥

प्रत्यनीकं समागच्छन्तं दृष्ट्वा यावदसौ अतिव्रजति तावदेकान्ते निलीय तिष्ठन्ति नृपो वा सम्मुखेनैति तस्य वा नृपस्यान्तःपुरं गजो वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावदसौ स्फिटितो भवति तावत्तत्रैवासते (वुग्गहत्ति) दण्डकौ द्विजौ वा द्वौ परस्परं विग्रहं कुर्वन्तौ समागच्छतो निर्वहं वधूवरं ततो महता विच्छर्देन समायाति आदिशब्देन गौष्ठिका गीतं गायन्तः समायान्ति एवमादिषु कारणेषु व्याघातस्तत्रैवं प्रतीक्षणलक्षणो भवति । तत्र च तिष्ठतामियं यतना ॥

अयाणगुत्ता विकहाविहीणा,
अच्छणणछाणणे व ठिया पविट्ठा ।
अत्थंति ते संतमुहा णिविट्ठ,
भजंति वा सेसपदे जहुत्ते ॥

आदानैरिन्द्रियैर्गुप्तास्तथा विकथया भक्तकथादिरूपया विशेषेण हस्तसंज्ञादेरपि परिहारेण हीनास्त्यक्तास्तत्र गृहान्तरे अच्छन्ने छन्ने वा प्रदेशे ऊर्द्धस्थिता उपविष्टा वा ते साधवः शान्तमुखा आसते । निवेश्य वोपविश्य शेषाण्यपि स्वाध्यायविधानादीनि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते न च दोषमापद्यन्ते । कथमिति चेदुच्यते ।

थाणं च कालं च तहेव वत्थुं,
आसज्ज जो दोसकरे तु ठाणे ।
तेणेव अन्नस्स अदोसवंते,
भवंति रोगिस्स व ओसहाइं ।

स्थानं च स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तं भूभागादि कालं च ऋतुबद्धादिकं तथैव वस्तु तरुणनीरोगादिकं पुरुषद्रव्यमासाद्य यान्येकस्य गृहान्तरे स्थाननिषदनादीनि स्थानानि दोषकारीणि भवन्ति तान्येवान्यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्थानकालपुरुषवस्तुसान्निध्याददोषवन्ति रोगिण इवौषधानि । यथा किल यान्यौषधान्येकस्य पित्तरोगिणो दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वातरोगिणो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे धर्मकथा न कथनीया ।

[सूत्रम्] नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहम्मि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा विभावित्तए वा किट्टइत्तए वा पवेयइत्तए वा नन्नत्थ एगनाएण वा एगवागरणेन वा एगगाहाए वा एगसिलोएण वा सेविय ठिच्चा नो चेव णं अठिच्चा ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गाथं वा पञ्चगाथं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा । एतदेवापवदन्नाह । "नन्नत्थ" इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः स एकज्ञाताद्वा एकगाथाया वा एकश्लोकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः । सूत्रे च पञ्चम्याःस्थाने तृतीयानिर्देशः प्राकृतत्वात् । अपि च एकगाथादिव्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नवास्थित्वा भिक्षां पर्यटता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।

अत्र विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति ।

संहियकड्ढणमादि–कहणं तु पदच्छेद सो विभागो उ ।
सुत्तत्थोकिट्टणया, पवेतणं तप्फलं जाण ॥

इह संहितायाः अस्खलितपदोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तदाख्यानमुच्यते तच्चेदं व्रतसमितिकषायाणां धारणरक्षणविनिग्रहाः सम्यग्दर्शनेन्द्रियश्चोपरमो धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च एवं भिक्षागते गृहस्थानां धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति । यस्तु पदच्छेदः ' सो ' इति पादपूरणे स विभागो विभावना भण्यते यथा व्रतानां धारणं समितीनां रक्षणं कषायाणां निग्रह इत्यादि । यत्तु सूत्रार्थं कथनं सा उत्कीर्तना सा चेयं व्रतानि प्राणातिपातादिविरमणरूपाणि तेषां सम्यगप्रमत्तेन धारणं कर्त्तव्यम् । समितय ईर्यासमित्यादयस्तासामेकाग्रचेतसा रक्षणं विधेयमित्यादिकस्य धर्मस्य यत्फलमैहिकामुष्मिकलाभलक्षणं तत्प्ररूपणं प्रवेदनं जानीयात् यथा भगवत्प्रणीतममुं धर्ममनुतिष्ठत इहैव भुवनवन्दनीयतायशःप्रवादादयो गुणा उपढौकन्ते परत्र च स्वर्गापवर्गसौख्यप्राप्तिर्भवतीति एवं श्लोकादेराख्यानादिषु भिक्षां गतेन विधीयमानेषु दोषानाह ।

एका वि ता महल्ला, किमंग पुण होंति पंच गाहाओ ।
साहए लहुगा आणा–दिदोसा ते चेविमे अन्ने ॥

एवं संहितादिविस्तारेण व्याख्यायमाना तावदेकाऽपि गाथा महती महाप्रमाणा भवति किमङ्ग पुनः पञ्च गाथाः अतो यथाकामपि गाथां कथयति तदा चतुर्लघुका आज्ञादयश्च दोषाः । तथा चतुरक्रमादिहननएशङ्कादयस्त एवान्तरगृहोक्ता दोषा भवन्ति । इमे च वक्ष्यमाणा अन्ये दोषास्तानेवाह ।

अद्धीकारगपोत्थग–खरडणमक्खरा चेव ।
साहारणपडिणीते, गिलाणलहुगाइ जा चरिमं ॥

भिक्षां पर्यटन् कमप्यगारिणमशुद्धां गाथां पठन्तं श्रुत्वा ब्रवीति विनाशितेयं त्वया गाथा । तथा (अद्धीकारगत्ति) गाथाया अर्द्धमहं करोमि अर्द्धं पुनस्त्वया कर्त्तव्यम् । (पुत्थगत्ति) पुस्तकादेव शास्त्रमधीतं भवता न पुनर्गुरुमुखात् । (खरडणत्ति) किमेवं खर इवारटनं करोषि (अक्खरा चेवत्ति) अक्षराण्येव तावद्भवान्न जानीते अतः पट्टिकामानयाहं भवन्तं तानि शिक्षयामि इत्यादिवचनानि यावत्तत्र व्याक्षेपं करोति तावत् इमे दोषाः (साहारणत्ति) साधारणं सर्वेषु मिलितेषु यन्मण्डल्यां भोजनं तन्निमित्तमितरे साधवः तं प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति (पडणीत्ति) तेन साधुना कश्चित् ग्लानः प्रतिज्ञातः अद्याहं भवतः प्रायोग्यमानेष्यामीति ततस्तेन वेलाविलम्बेन यदसौ ग्लानः परितापादि प्राप्नोति तत्र चतुर्लघुकादि चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेतामेव व्याख्यानयति ।

भग्गविभग्गा गाहा, भणई हीणा व जा तुमे भणिता ।
अह सं करेमि अद्धं, तुम मे अद्धं पसाहेहि ॥

साधुर्भिक्षां गतः सूत्रार्थव्याख्यापनार्थं गृहस्थं पठन्तं श्रुत्वा ब्रवीति येयं त्वया गाथा भणिता सा भग्नविभग्ना इति भग्नातिहीना वा कृता । यद्वा अर्द्धं (से) तस्या गाथाया अहं करोमि अर्द्धं पुनस्त्वं प्रसाधय इत्येवमभिनवा गाथा क्रियते ।

पोत्थगपच्चगपढियं, किं रडसि रासहु व्व अभिलावं ।
अकयमुह ! फलयमाणय, जा ते लिक्खं तु पंचगं ॥

पुस्तकप्रत्ययादेव भवता पठितं न गुरुमुखात् अतः किमेतेन प्रयासेन किं वा त्वमेवं रासभ इव अभिलापं विस्तारमारटसि । यद्वा अकृतमक्षरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं यस्यासावकृतमुखस्तस्यामन्त्रणं हे अकृतमुख ! अपठिताशिक्षित ! एवं भवान्न किमपि ज्ञास्यति अतः फलकं पट्टिकामानय येन तत्र योग्यानि पञ्चाक्षराणि लिख्यन्तामस्माभिः । एवं भिक्षां पर्यटन् यदि विकत्थते तत इदं प्रायश्चित्तम् ।

लहुगादी छग्गुरुगा, तवकालविसेसिया चउगुरुगा ।
अधिकरणमुत्तरुत्तर–एसणसंकाइ फिडियम्मि ॥

गाथायामर्द्धीकारके च चतुर्लघु, पुस्तके चतुर्गुरु, अक्षरशिक्षणे षड्लघु, खरटने षड्गुरु, । अथवा तपःकालविशेषिताश्चतुर्लघुकाः तद्यथा गाथार्द्धीकारकयोस्तपःकालाभ्यां लघुकाः पुस्तके कालेन गुरुका अक्षरेषु तपसा गुरुकाः खरटने तपसा कालेन च गुरुकाः । अधिकरणं च कलहस्तेन समं भवति उत्तरोत्तरा उक्तिप्रत्युक्तीः कुर्वाणस्य च तस्य भिक्षायां देशकालः स्फिटति तस्मिन् स्फिटिते पर्यटनैषणयोः प्रेरणं कुर्यात् अकालचारिणश्च शङ्कादयो दोषा भवन्ति ।

वाणिएहति इय सो जाव, तेण ता गहिय भायणा इयरे ।
अत्थंते अंतरा य, एमेव य जो पडिस्सुत्तो ॥

यावदसौ तेन समनुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वन् व्यापृतस्तिष्ठति व्याक्षेपेण वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहीतभाजनाः सन्तः आसते ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लानः प्रतिश्रुतस्तवयोग्यं प्रायोग्यमद्य मया आनेतव्यमित्यर्थः ततस्तस्मिन्नपि तावन्तं कालं बुभुक्षिते तिष्ठति तस्य साधोरन्तरायं भवति ।

कालाइक्कमदाणे, होइ गिलाणस्स रोगपरिवुड्ढी ।
परितावणमादीणि, चउलहुगा जाव चरिमपदं ॥

कालातिक्रमेण च ग्लानस्य भक्तपानदाने रोगपरिवृद्धिर्भवति ततश्च यदसावनागाढपरितापादिकं प्राप्नोति तत्र चतुर्लघुकादिप्रायश्चित्तं यावत् कालगते चरमपदं पाराञ्चिकम् । द्वितीयपदे गोचरप्रविष्टोऽपि परेण स्पृष्टः सन् कथयेत् । किं कारणमिति चेदुच्यते ।

किं जाणंति य चरगा, हलं जहित्ताण जे उ पव्वइया ।
एवंविधो अवण्णो, मा होहिइ तेण कहयंति ॥

यदा परेण प्रश्निता अपि न कथयन्ति तदा स चिन्तयति किमेते चरका जानन्ति ये हलं परित्यज्य प्रव्रजिताः एवंविधोऽवर्णः प्रवचनस्य मा भूत् तेन कारणेन कथयन्ति । अथ "पगतापणवा" इत्यादिसूत्रपदव्याचिख्यासयाऽऽह ।

एगं नायं उदगं, वागरणमहिंसलक्खणो धम्मो ।
गाहाहिं सिलोगेहि व, समासतो तं पि तिच्चा णं ॥

परप्रश्नितेन विवक्षितार्थसमर्थनार्थमेकं ज्ञातमभिधातव्यं तत्र चोदकदृष्टान्तो भवति व्याकरणं निर्वचनं यथा केनचित् धर्मलक्षणं पृष्टस्ततः प्रतिब्रूयात् अहिंसालक्षणो धर्मः । अथवा गाथाभिः श्लोकैर्वा समासतो धर्मकथनं कर्तव्यं तदपि च स्थित्वा नोपविष्टेन न वा भिक्षां हिण्डमानेनेति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति ।

नज्जइ अणेण अत्थे, णायं दिट्ठंत इति व एगट्ठं ।

वागरणं पुण जा ज−स्स धम्मता होति अत्थस्स ॥

ज्ञायते अनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातं दृष्टान्त इति चैकार्थं व्याकरणं पुनर्यो यस्य मोक्षादेरर्थस्य धर्मता स्वभावस्तस्य निर्वचनम। अथात्र कदृष्टान्तो भाण्यते "एगो साहू अब्भामगभिक्खायरियाए अन्नं गामं वच्चइ तत्थ अंतरा गिहत्थो मिलितो ते दो वि वच्चंता अंतरापहे उदगं उत्तिएणा सो अगारो गामं पविट्ठो तस्स य भगिणी अत्थि तीए घरं पाहुणगो गतो। साहू वि भिक्खं हिंडंतो तं घरं गतो भगिणीए पुरेकम्मं कयं साहुणा पडिसिद्धं। भगिणीए कहियं कीस न गिएहसि। साहू भणइ उदगसमारंभो न वट्टइ। अगारो भणंति जे मए समं पंथे उदगं उत्तिण्णो सि मं किह कप्पइ अहो मायाविणो दुद्दिट्ठधम्माणो त्ति। साहू भणइ न वयं मायाविणो न वा दुद्दिट्ठधम्माणो किं तु "पप्पं खु परिहरामो, अप्पप्पं विवज्जउं ण विज्जति हु। पप्पं खलु सावज्जं, वज्जंतो होइ अणवज्जो।" प्राप्यमेव परिहर्तुं शक्यमेवं वयं परिहरामः अप्राप्यस्य परिहर्तुमशक्यस्य मार्गक्रमायातोदकवाहकादेर्वियर्जकः परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्यं सावद्यं पुरःकर्मादिकं वर्जयन् अनवद्यो निर्दोषो भवति। अपि च नायमेकान्तो यदेकस्थानवद्यतया दृष्टं तदन्यत्र प्राप्यमवद्यमेव भवति। तथाहि ।

चिरपाहुणतो भगिणिं, अवयासिंतो अदोसवं होति ।
तुं चेव मज्झ सक्खी, गरहिज्जइ अएणहिं काले ॥

चिरकालादायातः प्राघूर्णको भगिनीमवकाशमानः सस्नेहमालिङ्गन् अदोषवान् भवति। तथा चात्र त्वमेव मम साक्षी प्रमाणं सांप्रतमेव भवता चिरप्राघूर्णकतया भगिनीपरिष्वक्तस्य कृतत्वादिति भावः। तामेव च भगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वजन् गर्ह्यते निन्द्यते अत्रापि त्वमेव प्रमाणमिति। तथा।

पादेहि अधोतेहि वि, आकमिय तम्मि कीरती अच्चा ।
सीसेण वि संकिज्जति, मच्चेव चितीकया भविओ ॥

अर्चा प्रतिमा सा यावन्नाद्यापि प्रतिष्ठिता तावदधौतैरपि पादैराक्रम्योपरि चढित्वाऽपि क्रियते। सैव प्रतिमा चितीकृता चैत्यत्वेन व्यवस्थापिता शीर्षेणापि स्प्रष्टुं शङ्क्यते। शिरसा स्पृशद्भिरपि शङ्का विधीयत इति भावः।

केइ सरीरावयवा, देहत्था पूइया न पुण विउता ।
सोहिज्जंति वणमुहा, मलम्मि बूढे ण सव्वे उ ॥

केचन शरीरावयवा दन्तकेशनखादयो देहस्थाः सन्तः पूजिताः प्रशस्ता भवन्ति न पुनर्वियुताः शरीरात्पृथग्भूताः। तथा व्रणमुखान्यपि श्रोत्रचक्षुःपायुप्रभृतीनि मले व्यूढे सति न सर्वाण्यपि शोध्यन्ते किंतु कानिचिदेवेति।

जइ एगत्थुवलद्धं, सव्वत्थ वि एवमणमी मोहा ।
भूमीतो होति कणगं, किम्म सुवण्णा पुणो भूमी ॥

यदि नाम एकत्र यदुपलब्धं सर्वत्रापि तेन भवितव्यमित्येवं मोहादज्ञानात् मन्यसे ततः कथय भूमितः कनकमुत्पद्यमानं दृश्यते ततः सुवर्णात्पुनरपि किं न भूमिः समुत्पद्यते।

तम्हा उ अणेगंतो, ण दिट्ठमेगत्थ सव्वहिं होति ।
लोए भक्खमभक्खं, पिज्जमपिज्जं च दिट्ठाई ॥

तस्मादनेकान्तोऽनियमो यः कीदृश इत्याह। नैकत्र दृष्टं सर्वत्रापि भवतीति। तथा च लोके प्राणयङ्गत्वे समानेऽप्योदनपक्वान्नादिकं भक्ष्यं मांसवसादिकमभक्ष्यं तक्रजलादिकं पेयं मद्यरुधिरादिकमपेयमित्यादीनि पृथक् व्यवस्थोत्तराणि दृष्टानि तथात्रापि उदकसमारम्भादौ मन्तव्यानि गतमेकज्ञातम्।

अथैकव्याकरणेन यथा धर्मोऽभिधीयते तथा दर्शयति।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि यं, इत्तियगं जिणसासणयं ॥

यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिकमात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तोरिच्छ आत्मवत् परमपि पश्येति भावः। एतावत् जिनशासनमियन्मात्रो जिनोपदेश इति। गाथया पुनरित्थं धर्म उपदिश्यते।

सव्वारंभपरिग्गह−णिक्खेवो सव्वभूतसमया य ।
एक्कग्गमणसमाहा−णया अह एत्तिओ मोक्खो ॥

सर्वस्य सूक्ष्मबादराद्यशेषजीवविषयस्यारम्भस्य सर्वस्य च सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नस्य परिग्रहस्य यो निक्षेपः स न्यासो यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रमनःसमाधानता, अथैष एतावान् मोक्ष उच्यते। कारणे कार्योपचारादेषो मोक्षोपाय इत्यर्थः। श्लोकेन यथा।

सव्वभूतप्पभूतस्स, सम्मं भूताइ पासउ ।
पिहिया सम्मस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥

पाठसिद्धः। ये तु संस्कृतरुचयस्तेषामित्थं गाथया श्लोकेन वा धर्मकथा क्रियते। "व्रतसमितिकषायाणां, धारणरक्षणविनिग्रहाः सम्यक्। दण्डेभ्यश्चोपरमो, धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च ॥ यत्र प्राणिवधो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम। तत्रात्मनिग्रहो दृष्टः स धर्ममपि रोचयेत्"।

अथ किं कारणं स्थित्वा धर्मः कथनीय इत्याशङ्क्याह।

इरियावहियावसे, मिच्छं ण गिएहए अतो ठिच्चा ।
भद्दिड्डी पडिणीए, अभिओगे चउएह वि परेण ॥

ईर्यापथिकी चंक्रमणक्रिया तां कुर्वन् यदि कथयति तदा लोके अवर्णो भवति दुर्दृष्टधर्माणोऽमी यदेवं गच्छन्तो धर्मं कथयन्ति अपि च शिष्टमपि कथितमपि धर्ममेवं श्रोता न गृह्णाति। अतः स्थित्वा एकश्लोकादि कथनीयम। अथापवाद उच्यते कश्चिद्भद्रको धर्मश्रद्धालुः ऋद्धिमान् धर्मं पृच्छति ततः सत्त्वानुकम्पया प्रवचनोपग्रहकरश्च भविष्यतीति कृत्वा तिस्रश्चतस्रः पञ्च वा बहुतरा वा गाथा उपविश्य कथयितव्याः। प्रत्यनीको वा कश्चिद् व्यतिव्रजति तं प्रतीक्षमाणस्तावद्धर्मं कथयेत् यावदसौ व्यतीतो भवति। यद्वा स प्रत्यनीकः सहसा दृष्टो भवेत् ततो यः सलब्धिकः स उपशमनानिमित्तं बहुविधमुपदेशं दद्यात्। दण्डिकस्य वा अभियोगो बलात्कारो भवेत्। किमुक्तं भवति। एकश्लोकेन धर्मे उपदिष्टे दण्डिको ब्रूयात् कथय कथय मे संप्रति महती श्रद्धा वर्तते ततश्चतुर्णां श्लोकानां परतोऽपि कथयेत्। आह कीदृशी पुनः कथा कथयितव्या कीदृशी वा नेति।

सिंगाररसुत्तेजिया, मोहमई फुंफुका हसहसेति ।
जं पुण मागुस्सकहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥

यां कथां शृण्वतः श्रोतुः स्त्रीसुवर्णकादिश्रवणजनितो रसस्य शृङ्गारो नाम रसस्तेनोत्तेजिता सती मोहमयी फुंफुका (हसहसन्ति) जाज्वल्यते सा कथं श्रमणेन कथयितव्या।

समणेण कहेयव्वा, तवनियमकहा विरागसंजुत्ता ।

जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेगणिव्वेयं ॥

तपोऽनशनादि नियमा इन्द्रियनिग्रहास्तत्प्रधाना कथा तपोनियमकथा विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसंगता श्रमणेन कथयितव्या यां श्रुत्वा मनुष्यः श्रोता संवेगनिर्वेदं व्रजति। संवेगो मोक्षाभिलाषो निर्वेदः संसारवैराग्यम् ।

महाव्रतानि न गृहान्तरे कथनीयानि ।

(सूत्रम्) नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अंतरगिहम्मि इमाइं पंचमहव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा विभावित्तए वा किट्टित्तए वा पवेयत्तए वा नन्नत्थ एगनाएण वा जाव सिलोएण वा सेविय ठिच्चा नो चेव णं अट्ठिच्चा ।

अस्य व्याख्या प्राक्सूत्रवद् द्रष्टव्या। नवरम्-इमानि स्वयमनुभूयमानानि पञ्च महाव्रतानि सभावनानि प्रतिव्रतं भावनापञ्चकयुक्तानि आख्यातुं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा न कल्पते। आख्यानं नाम साधूनां पञ्च महाव्रतानि भावनायुक्तानि षट्कायरक्षणसाराणि भवन्ति। विभावनं तु प्राणातिपाताद्विरमणं यावत्परिग्रहाद्विरमणमिति। भावनास्तु "इरियासमिए सया जए इत्यादि" गाथोक्तस्वरूपाः षट्कायास्तु पृथिव्यादयः कीर्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा सा भगवती सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पूज्या शरणं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि एवं सर्वेषामपि प्रश्नव्याकरणाङ्गोक्तान् गुणान्कीर्त्तयति प्रवेदनं तु महाव्रतानुपालनात् स्वर्गोऽपवर्गो वा प्राप्यत इति सूत्रार्थः । परः प्राह । ननु पूर्वसूत्रेण गतार्थमिदमतः किमर्थमारभ्यते उच्यते ।

गहियागहियविसेसा, गाथासुत्ता तु होंति वयसुत्ते ।
णिद्देसकतो व भवे, परिमाणकतो व विसेसो ॥

गाथासूत्राकृतसूत्रे पठितो ग्रथितः विशेषो मन्तव्यः किमुक्तं भवति अनन्तरसूत्रे चउगाहं वा पंचगाहं वा इत्युक्तं ताश्च गाथा ग्रथिता भवन्ति इमानि तु महाव्रतानि ग्रथितानि अग्रथितानि वा भवेयुर्ग्रथितानि नाम पदपाठबन्धेन वा श्लोकबन्धेन वा बद्धानि कथयति अग्रथितानि तु मुक्तैरेव वचनैर्यान्यभिधीयन्ते यद्वा निर्देशः कृतोऽत्र विशेषो भवति अनन्तरसूत्रे चतुर्गाथं पञ्चगाथं वा कथयितुं न कल्पते इत्युद्देशमात्रमेव कृतम् अत्र तु महाव्रतानि सभावनाकानीत्यनेन तस्यैव विशेषनिर्देशः क्रियते । परिमाणकृतो वा विशेषो विज्ञेयः । यदधस्तनसूत्रे धर्मस्वरूपमुक्तं तदत्र महाव्रतपञ्चकमिति संख्यया विशेषो निरूप्यते ।

अथात्रैव दोषानाह ।

पंचमहव्वयतुंगं, जिणवयणं भावणापिणद्धंगं ।
साहणअणुगा आणाइ-दोसं जं वा णिसिज्जाए ॥

इह जिनवचनं मेरुसदृशं पञ्चभिर्महाव्रतैस्तुङ्गमुच्छ्रितं पञ्चमहाव्रतमयोच्छ्रितमित्यर्थस्तस्यैव महाव्रतोच्छ्रितस्य रक्षणार्थं भावनाभिः पञ्चविंशतिसंख्याकाभिः पिनद्धं गाढतरं नियन्त्रितमीदृशं जिनवचनमन्तरगृहे उपविश्य कथयतश्चतुर्लघुकाः आज्ञादयो दोषाः । यद्वा गृहनिषद्यायां वाहितायां प्रायश्चित्तं यच्च दोषजालं तदापद्यते। तथा महाव्रतपञ्चकविषया दोषा भवन्ति। प्राणवधमापद्यते प्राणवधं वा शङ्क्यते। एवं यावत्परिग्रहमापद्यते परिग्रहे वा शङ्क्यते । तथाहि ।

पाणवहम्मि गुविणी, कप्पट्ठादाणए य संकाओ ।
भणिऊण दाइ कोइ, पोभमियं संकणा साणे ॥

गृहे उपविश्य साधुर्धर्मं कथयति गुर्विणी च तस्यान्तिके उपविश्य शृणोति यावच्चासौ तत्र तिष्ठति तावत्तदीयगर्भस्याहारव्यवच्छेदेन विपत्तिर्भवति । एवं प्राणवधो लगति । तथा धर्मं कथयतः काचिदविरतिका शृण्वत्येवापान्तराले कायिकभूमिं गच्छेत् स च पुनस्तत्रैवास्ते ततः सपत्नी छिद्रं लब्ध्वा तत्तनयं मिषेण साधोरग्रतो निपात्य रोदयति एवं प्राणातिपातविषया शङ्का भवेत् । तथा यत्तीर्थंकरैः प्रतिषिद्धं तन्मया न कर्त्तव्यमिति प्रतिज्ञातैः प्रतिषिद्धां निषद्यां वाहयतो मृषावादो भवति । यद्वा स्वमुखेनैव गृहनिषद्यां निषिध्य पश्चादात्मनैव तां परिभुञ्जानो मृषावादमापद्यते । अथवा स दिने दिने तस्या अविरतिकाया अग्रे धर्मं कथयति ततो गृहस्वामिना भणितो मे मम गृहं नायासीरिति । साधुना भणितम् । आगमिष्यन्ति ते गृहं पाणशुनका एवमुक्त्वाऽपि जिह्वालोलतादिदोषेण तदेव गृहं व्रजन् भणितोऽपि तेन गृहस्थेन वारितोऽपि कश्चिदिति एवं मृषावादमाप्नोति । स च गृहस्थो ब्रूयात् किं पाणशुनकः संवृत्तोऽसीति । यद्वा गृहस्थो भोजनं कुर्वन् धर्मं शृण्वतीमगारीं किमप्युत्कृष्टं द्वितीयाङ्गं याचेत सा ब्रूयात् शुना भक्षितम् । अगारो ब्रूयात् जानाम्यहं तं श्वानं येन भक्षितमिति । एवं मृषावादविषया शङ्का भवेत् । अथास्या एव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे ।

खुहिया पिपासिया वा, मंदक्खेणं न तस्स उट्ठेइ ।
गब्भस्स अंतरायं, वाधिज्जइ संनिरोधेणं ॥

गुर्विणी धर्मकथां शृण्वती क्षुधिता वा पिपासिता वा भवेत् सा च तस्य साधोः संबन्धिना मन्दाक्षेण लज्जमाना तिष्ठति ततो गर्भस्यान्तरायं भवति । तेन चाहारव्यवच्छेदलक्षणेन संनिरोधेन स गर्भो बाध्यते । ततो व्यापत्तिमप्यसौ प्राप्नुयादिति प्राणवधमापद्यते ।

अथ प्राणवधविषयशङ्कां दर्शयति ।

उक्खिवितो सो हत्था, चुत्तो तस्सग्गतो णिवाडित्ता ।
सुणते य वियारगते, हाह त्ति स विलिणी भणति ॥

अविरतिकाया अग्रे स धर्मं कथयति सा चापान्तराले कायिकाद्यर्थं निर्गता ततस्तस्यां शृण्वत्यां कायिकायां विचारभूमौ गतायां सपत्नी तदीयं पुत्रं तस्य साधोरग्रतः उत्क्षिप्य भूमौ सहसैव निपातयति निपात्य च अहो अनेन श्रमणेन अयं पुत्र उत्क्षिप्तः सन्नेतदीयहस्ताच्च्युतो विपन्न इति महता शब्देन हातिपूत्कारं करोति । ततो भूयान् लोको मिलितस्तं साधुं तत्र स्थितं दृष्ट्वा शङ्कां कुर्यात् किमेतत्सत्यमेवेदमिति । मृषावाददोषप्रकाशः सप्रपञ्चमुक्त इति न भूयो भाव्यते ।

अथादत्तादानमैथुनयोर्दोषानाह ।

सयमेव कोइ लुद्धो, अपहरती तं पडुच्च कम्मकरी ।
वाणिगिणी मेहुणए, बहुसो य चिरं च संका य ॥

कश्चिद्धूर्त्तो लुब्धः सन् विजनं मत्वा स्वयमेव सुवर्णकलिकां मुद्रिकामपहरति एवमदत्तादानमापद्यते । तं वा संयतं प्रतीत्य "साधुरत्रार्थं शङ्क्ष्यते नाहमिति" कृत्वा कर्मकारी काचिदपहरेत् । वाणिजिका वा काचित्प्रोषितभर्तृका तया समं मैथुनविषया आत्मपरोभयसमुत्था दोषा भवन्ति । अथवा यत्र प्रोषितपतिकास्तिष्ठन्ति तत्रासौ बहुशो वारं व्रजति चिरं च ताभिः सह कन्दर्पं कुर्वाणस्तिष्ठति ततश्चतुर्थविषये शङ्क्येत ।

अथ परिग्रहदोषमाह ।

धम्मं कहेइ जस्स उ, तम्मि उ वीयारए गए संते ।
सारक्खणपरिग्गहो, परेण दिट्ठम्मि उड्डाहो ॥

यस्य श्रावकादेरग्रे धर्मं कथयति स ब्रूयात् यावदहं कायिकीं व्युत्सृज्य अत्र समागच्छामि तावद्भवता गृहं रक्षणीयमेवमुक्त्वा तत्र विचारभूमौ गते स संयतो यावत्तद्गृहं संरक्षति तावत्परिग्रहदोषमापद्यते तदेवं गृहं रक्षन् परेण दृष्टः स शङ्कां कुर्यात् नूनमेतस्यापि हिरण्यं सुवर्णं वा विद्यते उड्डाहं च स कुर्यात् अहो अयं श्रमणकः सपरिग्रह इति । यत एते दोषा अतो नान्तरगृहे धर्मकथा कर्त्तव्या ।

द्वितीयपदमाह ।

एगं णायं उदगं, वागरणमहिंसलक्खणो धम्मो ।
गाहाहिं सिलोगेहि य, समासतो तं पि ठिच्चा णं ॥

गतार्थम् । बृ० ३ उ० ।

अंतरजाय–अन्तरजात–न० भाषाद्रव्यजातभेदे, यानि द्रव्याणि अन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टानि तानि भाषापरिणामं भजन्ते तान्यन्तरजातमुच्यते आचा० २ श्रु० ४ अ० ।

अंतरणई (दी)–अन्तरनदी–स्त्री० क्षुद्रनदीषु,

यत्र यावत्योऽन्तरनद्यस्तत्प्रतिपादयति ।

जंबूमंदरस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं तओ अंतरणईओ पण्णत्ता तंजहा गाहावई दहवई पंकवई । जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं तओ अंतरणईओ पण्णत्ता तंजहा तत्तजला मत्तजला उम्मत्तजला । जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओदाए महाणईए दाहिणेणं तओ अंतरणईओ पण्णत्ता तंजहा खीरोदा सीहसोया अंतोवाहिणी । जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओदाए महाणईए उत्तरेणं तओ अंतरणईओ पण्णत्ता तंजहा उम्मिमालिणी फेणमालिणी गंभीरमालिणी । एवं धायइखंडदीवपुरच्छिमद्धे वि । अकम्मभूमीओ आढवेत्ता जाव अंतरणईओ त्ति णिरवसेसं भाणियव्वं जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चच्छिमद्धे तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं ।

अन्तरनदीनां विष्कम्भः पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतमिति स्था० ३ ठा० ॥

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उभयकूले छ अंतरणईओ पण्णत्ताओ तंजहा गाहावई दहवई पंकवई तत्तजला मत्तजला उम्मत्तजला । जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महाणईए उभयकूले छ अंतरणईओ पण्णत्ता तंजहा खीरोदा सीहसोया अंतोवाहिणी उम्मिमालिणी फेनमालिणी गंभीरमालिणी स्था० ६ ठा० ॥

संग्रहेण

दो गाहावईओ दो दहवईओ दो पंकवईओ दो तत्तजलाओ दो मत्तजलाओ दो उम्मत्तजलाओ दो खीरोयाओ दो सीहसोयाओ दो अंतोवाहिणीओ दो उम्मिमालिणीओ दो फेणमालिणीओ दो गंभीरमालिणीओ ॥

चित्रकूटपद्मकूटवक्षस्कारपर्वतयोरन्तरे नीलवर्षधरपर्वतनितम्बव्यवस्थितत्वात् ग्राहवतीकुण्डाद्दक्षिणतोरणविनिर्गता अष्टाविंशतिनदीसहस्रपरिवारा शीताधिगामिनी सुकच्छमहाकच्छविजययोर्विभागकारिणी ग्राहवती नदी । एवं यथायोगं द्वयोर्द्वयोर्वक्षस्कारपर्वतयोर्विजययोरन्तरे क्रमेण प्रदक्षिणया द्वादशाप्यन्तरनद्यो योज्यास्तद्द्विकत्वं च पूर्ववदिति स्था० २ ठा० (पूर्वपश्चिमार्द्धापेक्षया द्विगुणत्वादिति)

अंतरदीव–अन्तरद्वीप–पुं० अन्तरशब्दो मध्यवाची अन्तरे लवणसमुद्रस्य मध्ये द्वीपा अन्तरद्वीपाः प्रज्ञा० १ पद. । अथवा अन्तरं परस्परं विभागस्तत्प्रधाना द्वीपा अन्तरद्वीपाः । एकोरुकादिषु अष्टाविंशतिविधद्वीपभेदेषु, स्था० ४ ठा० ।

से किं तं अंतरदीवगा ? अंतरदीवगा अट्ठावीसविहा पण्णत्ता एगोरुया आहासिया वेसाणिया णंगोली १ हयकन्ना गयकन्ना गोकन्ना सक्कुलिकन्ना २ आयंसमुहा मेंढमुहा अयमुहा गोमुहा ३ आसमुहा हत्थिमुहा सीहमुहा वग्घमुहा ४ आसकन्ना सीहकन्ना अकन्ना कण्णपाउरणा ५ उक्कामुहा मेहमुहा विज्जुमुहा विज्जुदंता ६ घणदंता लट्ठदंता गूढदंता सुद्धदंता ७ सेत्तं अंतरदीवगा ।

से किं तमित्यादि सुगमं नवरमष्टाविंशतिविधा इति यादृशा एवं यावत्प्रमाणा यावदपान्तराला यन्नामानो हिमवत्पर्वतपूर्वापरदिग्व्यवस्थिता अष्टाविंशतिविधा अन्तरद्वीपास्तादृशा एव तावत्प्रमाणास्तावदपान्तरालास्तन्नामान एव शिखरिपर्वतपूर्वापरदिग्व्यवस्थिता अपि ततोऽत्यन्तसदृशतया व्यक्तिभेदमनपेक्ष्य अन्तरद्वीपा अष्टाविंशति विधा एव विवक्षिता इति तज्जाता मनुष्या अपि अष्टाविंशतिविधा उक्तास्तानेव नामग्राहमुपदर्शयति " तंजहा एगोरुया इत्यादि " एते सप्त चतुष्का अष्टाविंशतिसंख्यत्वात् एते च प्रत्येकं हिमवति शिखरिणि तत्र हिमवत्तया तावद्भाव्यन्ते (प्रज्ञा० १ पद.) इह एकोरुकादिनामानो द्वीपाः परं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अप्येकोरुकादय उक्ताः यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति । जीवा० ३ प्रति० । एतेषु सप्तसु चतुष्केषु प्रथमश्चतुष्कः । तथा च एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं पिपृच्छिषुराह ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदीवे णामं दीवे पन्नत्ते ? गोयमा ! जंबुदीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदीवे नामं दीवे पण्णत्ते तिन्नि जोयणसयाइं आयामविक्खंभेणं णव एकूणपण्णे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं । से णं एगाए पउमवरवेइयाए एगेणं वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते से णं पउमवरवेइया अद्धजोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंच धणूसयाइं विक्खंभेणं एगोरुयदीवसमंता परिक्खेवेणं पन्नत्ता । तीसे णं पउमवरवेइयाए अयमेयारूवे वन्नावासे पन्नत्ते तंजहा वयरामया निम्मा एवं वेतिया वन्नओ जहा रायपसेणीए तहा भाणियव्वो । से णं पउम–

वरवेइया एगेणं वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता
से णं वणसंडेणं देसूणाइं दो जोयणाइं चक्कवालविक्खं-
भेणं वेइया समए परिक्खेवेणं पन्नत्ते से णं वणसंडे किएहे
किएहोवभासे एवं जहा रायपसेणइज्जे वणसंडवन्नओ त-
हेव निरवसेसं भाणियव्वं । तणाण य वन्नगंधफासो सद्दो
तणाणं वा वीओप्पायपव्वयगा पुढविसिला पट्टगा य भा-
णियव्वा जाव तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ
य आसयंति जाव विहरंति । एगुरुयदीवस्स णं दीवस्स
अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते से जहानामए
आलिंगपुक्खरेइ वा एवं सयणीए भाणियव्वे जाव पुढवि-
सिलापट्टगं ति । तत्थ णं बहवे एगोरुयदीवया मणुस्सा य
मणुस्सीओ य आसयंति जाव विहरंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं बहवे उद्दालका मोद्दालका
कोद्दालगा कतमाला नत्तमाला णट्टमाला सिंगमाला सं-
खमाला दंतमाला सेलमालगा णाम दुमगणा पन्नत्ता सम-
णाउसो ! कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव
वीयमंतो पत्तेहि य पुप्फेहि य अच्छन्नपडिच्छन्ना सिरीए
अईव २ सोभेमाणा ओवसोभेमाणा चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं
दीवे तत्थ तत्थ बहवे हेरुयालवणा भेरुयालवणा मेरुया-
लवणा सेरुयालवणा मालवणा सरलवणा सत्तवण्णवणा
पूयफलिवणा खज्जूरीवणा नालिएरवणा कुसविकुस जाव
चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे तिलयालउच्चा
नग्गोहा जाव रायरुक्खा णंदिरुक्खा कुसविकुस जाव चि-
ट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ पउमलयाओ नागल-
याओ जाव सामलयाओ निच्चं कुसमियाओ एवं लयावन्नओ
जहा उववाइए जाव पडिरूवाओ । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ
बहवे सिरियगुम्मा जाव महाजाइगुम्मा तणगुम्मा दसद्ध-
वन्नं कुसुमं कुसुमेंति जेणं वायविहुलग्गसाला । एगुरुयदी-
वस्स बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं मुक्कपुप्फपुंजोवयारकलियं
करेंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहुओ वणराईओ पन्नत्ता-
ओ ताओ णं वनराईओ किएहाओ किएहोवभासाओ जाव
रम्माओ महामेहणिगुरुंवभूयाओ जाव महता गंधधाणिं मुयं-
ताओ पासाईयाओ । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मत्तंगा
नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से चंदप्पभमणिसि-
लागवरसीधुपवरवारुणिसुजायफलपुप्फचोयणिज्जा संसार-
बहुदव्वजुत्तिसंभारकालसंधिय आसवमहुमेरगरिट्ठाभदुद्धजा-
इपसन्नतेल्लगा स ताओ खज्जूरमुद्दियासारका विसायण-
सुपक्कखोयरसवरसुराववएणरसगंधफरिसजुत्तवलवीरियप-
रिणामा मज्जविधी य बहुप्पगारा तहेव ते मत्तंगया वि दुम-
गणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मज्जविहीए उव-
वेया फलेहिं पुन्ना विव विसट्टंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला
जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे भिंगंगा णाम
दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से वारगघडकरगक-
लसककरिपायकंचणिउस्सूकवद्धणिसुपइट्ठकविट्ठा पारावस-
गा भिंगारा करोडिसरंगपरंगपत्तीथालणिल्लगचवलियअ-
यपलगवालविचित्तवट्टकमणितट्टकसिप्पिखारापिणद्धकंचण-
मणिरयणभत्तिविचित्तविभायणविहिबहुप्पगारा तहेव तेसिं
भिंगंगेया वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परियण-
त्ताए भायणविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विव विसट्टंति
कुसविकुस जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे
तुरुयंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा
से आलिंगपणवदद्दरपडहाडिंडिमाभंभातहोरंभकिणियख-
रमुहिमुयंगसंखियपरिल्लए पव्वगा परिवायणिव्वंसवेणुवी-
गोसुग्घोसगविपंचमहतिकच्छतिरिक्खसतकलाकंसालता-
लकसंपत्ताओ आतोयविधीए णिउणगंधव्वसमयकुस-
लेहिं फंदिया तिट्ठाणकरणसुद्धा तहेव ते तुडियंगा
वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणताए ततवितत-
बंधणसिराए चउव्विहाए आतोज्जविहीए उववेया फलेहिं
पुण्णा विव विसट्टंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूलाओ जाव
चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे दीवसिहा
णाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ? जहा से संझवि-
रागसमए नवनिसीहिपतिणो विदीविया चक्कवालचंदे पभूय-
वट्टिपलित्तजुत्तणेहिं विउज्जलिय तिमिरमद्दए कणगनिकर-
कुसुमियपारिजायघणप्पगासे कंचणमणिरयणविमलमहरि-
हतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहिं दीवियाहिं सहसा पज्जा-
लिओ सवियणिद्धतेयदिप्पंतविमलगहगणसमयप्पदाहिं वि
तिमिरकरकसूरपसरिउज्जोवचिल्लियाहिं जालाउज्जलपह-
सियाभिरामाहिं सोभमाणाहिं सोभमाणा तहेव ते दीवसि-
हा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए उज्जो-
यविहीए उववेया फलेहिं कुसविकुस जाव चिट्ठंति ।
एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे जोइसिया नाम दुमगणा
पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अचिरुग्गयंसरयसूरमंडल-
पडंतउक्कामहस्सादिप्पंतविज्जुज्जलहुयवहनिद्धूमजालि-
निद्धंतधोयतत्ततवणिज्जकिंसुया सोगजासुयणकुसुमविमउ-
लियपुंजमणिरयणकिरणजच्चहिंगुलयतिरयरूवाइरेगरूवा त-
हेव ते जोतिसिहा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा
परिणयाए उज्जोयविहीए उववेया सुहलेसा मंदलेसा मंदा-
तवलेसा कूडाइव ठाणट्ठिया अन्नोन्नसमोगाढाहिं लेसाहिं साए
पभाए तेयसा सव्वओ समंताओ भासंति उज्जोवंति
पभासंति कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं

दीवे तत्थ बहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से पेच्छाघरे व्व चित्ते रम्मे वरकुसुमदाममाला कुज्जलेसा भासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए विरल्लियविचित्तमल्लसिरिसमुदप्पगारंभे गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं मल्लेणं छेयसिप्पियविभागरइएणं सव्वओ समंता चेव समणुबद्धे पविरललंबंतविप्पइट्ठेहिं पंचवन्नेहिं कुसुमदामेहिं सोभमाणा वनमालकतग्गए चेव दिप्पमाणे तहेव ते चित्तंगया वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मल्लविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे चित्तरसा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से सुगंधवरकलमसालितंडुलविसिट्ठणिरुवयदुद्धरद्धे सारयघयगुडखंडमहुमेलिए अइरसे परमन्ने होज्ज उत्तमेगवन्नगंधमंते रन्नो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणेहिं सूयपुरिसेहिं सज्जिए चाउरकप्पसेयसित्ते व ओदणे कलमसालिणिव्वत्तिए विवक्केसव्वप्फमिउविसयसगलसित्थे अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पडिपुन्नदव्वुवक्खडे सुसक्कए वण्णगंधरसफरिसजुत्तबलवीरियपरिणामे इंदियबलवद्धणे खुप्पिवासासहणे पहाणगुलकढियखंडमच्छंडि उवणीय व्व मोयगे सण्हसमितिगब्भे हवेज्जा । परमइट्ठगसंजुत्ते तहेव ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए भायणविहीए उववेया कुसविकुस जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो ! जहा से हारद्धहारवेंटणगमउडकुंडलवासुत्तगहेमजालमणिजालकणगजालगसुत्तगउच्चियकडगखड्डुयएगावलिकंठमुत्तमगरगउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगचूलामणिकणगतिलगफुल्लगसिद्धत्थियकण्णवालिससिसूरउसभचक्कगतलभंगेयतुडियहत्थमालगवलक्खदीनारमालिया चंदसूरमालिया हरिसयकेयूरवलियपालंबअंगुलिज्जगकंचीमेहलाकलावपयरकपायजालघंटियखिंखिणिरयणोरुजालछुद्दियवरनेउरचलणमालिया कणगणिगमालिया कंचणमणिरयणभत्तिचित्तव्व भूसणविही बहुप्पगारा तहेव ते मणियंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए भूसणविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से पागारट्टालगचरियागोपुरपासायागासतलगमंडवएगसालगबिसालगतिसालगचाउसालगगब्भघरमोहणघरवलभिघरचित्तसालगमालियभत्तिघरवहतंसनंदियावत्तसंठियावत्तपंडुरतलमुंडमालहम्मियअहवणं धवलहरअद्धमागहविब्भमसेलद्धसेलसंठियकूडागारसुविहिकोट्ठगअणेगघरसरणलेणआवणविडंगजालचंदनिज्जूहअपवरकचंदसालियविभत्तिकलिया भवणविही बहुविगप्पा तहेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए सुहारुहणसुहोत्ताराए सुहनिक्खमणपवेसाए दद्दरसोपाणपंतिकलियाए पइरिक्काए सुहविहाराए मणाणुकूलाए भवणविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे अणिगणा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अणेगआइणगखोमतणुयकंबलदुगुल्लकोसेज्जकालमियपट्टचीणअंसुयवन्नावरणातवारवाणगपच्छन्नाभरणचित्तसहिणगकल्लाणगभिंगमेहलकज्जलबहुवन्नरत्तपीयसुक्किल्लमक्कयमिगलोमहेमप्फरुल्लगअवरुत्तरगसिंधुउसभदामिलबंगकलिंगनलिणतंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही बहुप्पगारा हवेज्ज वरपट्टणुग्गता वण्णरागकलिया तहेव ते अणियणा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए वत्थविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति ९० । एगुरुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोयमा ! ते णं मणुया अणतिवरसोमचारुरूवा भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा भोगसस्सिरीया सुजायसव्वंगसुंदरंगा सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलतला नगणगरमगरसागरचक्कंकहरंकलक्खणंकियचलणा अणुपुव्वसुसाहयंगुलिया उण्णयतणुयतंबणिद्धणखा संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फा एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघा सामुग्गनिमुग्गगूढजाणू गतससणसुजातसन्निभोरुवरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासितगती सुजातवरतुरगगुज्झदेसा आइन्नहतो व्व णिरुवलेवा पमुइयवरतुरगसीहअइरेगवट्टियकडी साहयसोणिंदमुसलदप्पणणिगरितवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलितमज्झा उज्जुअसमसंहितसुजायजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयरमणिज्जरोमराई गंगावत्तयपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोधियअकोसायंतपउमगंभीरवियडणाभा झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोदरा सुइकरणी पम्हवियडणाभा सन्नतपासा संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितमाइतपीणरइतपासा अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थबत्तीसलक्खणधरा कणगसिलातलुज्जलपसत्थसमतलउवचियविच्छिन्नपिहुलवच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवफलिहवट्टियभुया भुयगीसरविपुलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहबाहू जुगसन्निभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियउवचियघणाथिरसुबद्धसुसिलिट्ठपव्वसंधी रत्ततलोवइतमउयमंसलपसत्थलक्खणसुजायअच्छिद्दजालपाणी पीवरवट्टियसुजायकोमलवरंगुलीआ तंबतलिणसुतिरतिल (रुचिर) निद्धणक्खा (नखा) चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदसूरसंखचक्कदिसासोवत्थियपा-

णिन्नेहा अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुविरइयपाणिलेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलउसभणागवरविउलउत्तमउदखंधा चउरंगुलसुणप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा अवट्ठितसुविभत्तसुजातचित्तमंसुमंसलसंठियपसत्थसद्दूलविउलहणुया उवचितसिलप्पवालबिंबफलसन्निभाधरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलनिम्मलसंखदधिघणगोखीरफेणदगरयमुणालियाधवलदंतसेढी अखंडदंता अफुडियदंता अविरलदंता सुसिणिद्धदंता सुजातदंता एगदंतासेढि व्व अणेगदंता हुतवहनिद्धंतधोततत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगणासा अवदालियपोंडरीयणयणा कोकासितधवलपत्तलच्छा आणामियचावरुइलकिण्हब्भराइयसंठियसंगतआयतसुजाततणुकसिणनिद्धभुमया अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुसवणा पीणमंसलकवोलदेसभागा अइरुग्गयबालचंदसंठियपसत्थविच्छिन्नसमणिडाला उडुवइपडिपुन्नसोमवयणा छत्तागरुत्तिमंगदेसा घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारणिभपिंडियसिरा हुतवहनिद्धंतधोयतत्ततवणिज्जरत्तकेसंतकेसभूमिसामलिपोंडघणणिचियछोडियमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुंदरभुयमोयगभिंगणीलकज्जलपहट्ठभमरगणणिद्धणिकुरुंबणिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसिरिया लक्खणवंजणगुणोववेया सुजायसुविभत्तसूरूवा पासाइया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा। ते णं मणुया ओहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा णंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा मंजुस्सरा मंजुघोसा सुस्सरा निग्घोसा छायाउज्जोइयंगमंगा वज्जरिसहनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिया सिणिद्धछवी निरायंका उत्तमपसत्थअइसेसनिरुवमतणू जल्लमलकलंकसेयरयदोसविवज्जियसरीरा निरुवमलेवा अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कपोतपरिणामा सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणया विग्गहियउन्नयकुच्छी पउमुप्पलसरिसगंधनिस्साससुरहियवयणा अट्ठधणुसयऊसिया तेसिं मणुयाणं चउसट्ठिपिट्ठिकरंडगा पन्नत्ता समणाउसो ! ते णं मणुया पगइभद्दया पगइविणीया पगइउवसंता पगइपयणुकोहमाणमायालोभा मिउमद्दवसंपन्ना अल्लीणा भद्दगा विणीया अप्पिच्छा असंणिहिसंचया अचंडा विडिमंतरपरिवसणा जहिच्छियकामगामिणो य ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! तेसि णं भंते ! मणुयाणं केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ एगुरुयमणुईणं भंते ! केरिसए आगारभावपडोयारे पन्नत्ते ? गोयमा ! ताओ णं मणुईओ सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अच्चंतविसप्पमाणपउमसूमालकुम्मसंठियविसिट्ठचलणा उज्जुमउयपीवरनिरंतरपुमालचलणंगुलीओ अब्भुन्नयरतियतलिणतंबसुसिणिद्धणखा रोमरहियवट्टलट्ठसंठियअजहन्नपसत्थलक्खणअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मियसुगूढजाणू मंसलसुबद्धसंधी कयलीखंभातिरेगसंठिया णिव्वणसुमालमउयकोमलअविरलसमसहितसुजातवट्टपीवरनिरंतरोरुअट्ठावयवीचिपट्टसंठिया पसत्थविच्छिन्नपिहुलसोणिवदणायामप्पमाणदुगुणियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणिउ वज्जविराइयपसत्थलक्खणणिरोदरा तिवलियतणुणमियमज्झियाओ उज्जुयसमसहियजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुविभत्तकंतसुजायसोभंतरुइलरमणिज्जरोमराई गंगावत्तकपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोधियअकोसायंतपउमगंभीरविगडणाभा अणुब्भडपसत्थपीणकुच्छी सन्नयपासा संगयपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायणिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसपमाणसमसहियसुजायलट्ठचूचुयआमेलजमलजुगलवट्टियअब्भुन्नयरतियसंठियपयोधराओ भुजंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहियणमियआएज्जललियबाहाओ तंबणहा मंसलग्गहत्था पीवरकोमलवरंगुलीओ णिद्धपाणिलेहा रविससिसंखचक्कसोत्थियविभत्तसुविरतियपाणिलेहा पीणुन्नयकक्खवक्खवत्थिपदेसा पडिपुन्नगलकवोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुगा दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दधिदगरयचंदकुंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलरत्तपउमसुमालतालुजीहा कणयरमउलअकुडिलअब्भुग्गयउज्जुतुंगणासा सारयनवकमलकुमुदकुवलयविमुक्कदलणिगरसरिसलक्खणअंकियकंतनयणा पत्तलधवलायततंबलोयणाओ आणामितचावरुइलकिण्हब्भराइसंठियसंगयआययसुजायतणुकसिणनिद्धभुमया अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठरमणिज्जगंडलेहा चउरंसपसत्थसमणिडाला कोमुदीरयणीकरविमलपडिपुन्नसोमवयणा छत्तुन्नयउत्तिमंगा कुडिलसुसिणिद्धदीहसिरया छत्तज्झयजूवथूभदामिणिकमंडलुकलसवाविसोत्थियपडागजवमच्छकुम्भरहवरमगरज्झयसुकथालअंकुसअट्ठावयवीइसुपइट्ठकम्मऊरसिरियाभिसेयतोरणमेइणीउदधिवरभवणगिरिवरआयंसललियगयउसभसीहचमरउत्तमपसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ हंससरिसगईओ कोइलमहुरगिरसुस्सराओ कंताओ सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलियावंगदुव्वन्नवाही दोभग्गसोगमुक्काओ उत्तेणय नराण थोवूणमूसियाओ सब्भावसिंगारचारुवेसा संगतगतहसियभणियचिट्ठियविलाससंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणलावण्णरूवजोव्वणविभासकलिया नंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जा पासाइतातो दरिसणिज्जातो अभिरूवाओ पडिरूवाओ

तासि णं भंते ! मणुईणं केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । ते णं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुढवीपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! तीसे णं भंते ! पुढवीए केरिसए आस्साए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए गुलेइ वा खंडेइ वा सक्कराइ वा मच्छंडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पडमोततेति वा पुप्फुत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा अकोसियाति वा विजताति वा महाविजयाति वा पायसोवमाइ वा उवमाइ वा अएणोवमाइ वा चउरके गोखीरे चउट्ठाणे परिणए गुडखंडमच्छंडिउवणीए मंदग्गिकढिए वण्णेणं उववेए जाव फासेणं भवे एतारूवेसि ता नो इणट्ठे समट्ठे । तीसे णं पुढवीए एत्तो इट्ठयराए चेव जाव मणामतराए चेव । आमाएणं भंते ! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणपवरभोयणे सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नेणं उववेए गंधेणं उववेए रसेणं उववेए फासेणं उववेए आसायणिज्जे वीसायणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे वीहिणिज्जे मयणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे भवे ता रूवे सिया नो इणट्ठे समट्ठे । तेसि णं पुप्फफलाणं इत्तो इट्ठतराए चेव जाव अस्साएणं पन्नत्ते । ते णं भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कहिं वसहिं उवेंति ? गोयमा ! रुक्खगेहालयाणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! ते णं भंते ! रुक्खा किंसंठिया पन्नत्ता ? गोयमा ! कूडागारसंठिया पच्छाघरसंठिया छत्तागारसंठिया झयसंठिया थूभसंठिया तोरणसंठिया गोपुरसंठिया पालगसंठिया अट्टालगसंठिया पासायसंठिया हम्मितलसंठिया गवक्खसंठिया वालग्गपोतियसंठिया वलभीसंठिया अएणे तत्थ बहवे वरभवणसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया सुभसीतलच्छाया णं ते दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा णो इणट्ठे समट्ठे रुक्खगेहालया णं मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेसाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । जहत्थियकामगामिणो णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे असीइ वा मसीइ वा किसीति वा विवणीइ वा पणीइ वा वाणिज्जाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे । ववगयअसिमसिकिसीविवणिपणियवाणिज्जवज्जा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे हिरएणेइ वा सुवन्नेइ वा कंसेइ वा दूसेइ वा मणीइ वा मुत्तिएइ वा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालसंतसारसावयज्जे वा हंता ! अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुयाणं तिव्वे ममत्तिभावे समुप्पज्जइ । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा माडंबिएइ वा कोडुंबिएइ वा इब्भेइ वा सेट्ठिएइ वा सेणावईइ वा सत्थवाहेइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयइड्ढिसक्काराएणं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ? अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगाति वा भाइल्लगाइ वा कम्मगाराइ वा भोगपुरिसाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयआभोगिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ? अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे माताति वा पियाइ वा भायाइ वा भयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा सुण्हाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव णं तेसि णं मणुयाणं तिव्वे पेम्मबंधणे समुप्पज्जइ पयणुपेम्मबंधणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अरीइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा वहगाइ वा पडणीइ वा पच्चामित्ताइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे मित्ताइ वा वयंसाइ वा घडियाति वा सुहीति वा सुहीयाइ वा महाभागाति वा संगतियाति वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयपेमाणुरागा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्नाइ वा सड्ढाइ वा थालिपागाइ वा चोलोवणतणाइ वा सीमंतोवणतणाइ वा पितिपिंडनिवेयणाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयआवाहविवाहजन्नसड्ढथालिपागचोलोवणसीमंतोवणतणपितिपिंडनिवेदणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे इंदमहाइ वा रुद्दमहाइ वा खंदमहाइ वा सिवमहाति वा वेसमणमहाति वा मुगुंदमहाति वा नागमहाइ वा जक्खमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तलागमहाइ वा नंदिमहाइ वा इंदमहाइ वा पव्वयमहाति वा रुक्खमहाइ वा चेतियमहाइ वा थूभमहाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयमहातिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे नडपेच्छाइ वा णट्टपेच्छाति वा मल्लपेच्छाति वा मुट्ठियपेच्छाति वा विडम्बगपेच्छाति वा कहकपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्खवाइगपेच्छाति वा लासगपेच्छाति वा लंखपेच्छाति वा मंखपेच्छाति वा तणइल्लपेच्छाति वा तुंववीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा कहगपेच्छाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयकोऊहल्ला णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि

णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे सगमाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिल्लीति वा पल्लीति वा थिल्लाइ वा पवहणाइ वा सीयाइ वा संदमाणियाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे पादचारविहारिणो णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आसाइ वा हत्थीइ वा उट्टाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खराइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गावीइ वा महिसीइ वा उट्टीति वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे सीहाइ वा वग्घाइ वा दीवियाइ वा अत्थाइ वा परस्सराइ वा सियालाइ वा विडालाइ वा सुणगाइ वा कोलसुणगाति वा कोंकतियाइ वा ससगाइ वा चित्तलाति वा चिल्ललगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव णं अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा उप्पायंति छविच्छेयं वा करेंति । पगइभद्दगा णं ते सावयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे सालीइ वा वीहीइ वा गोहूमाइ वा इक्खूइ वा तिलाय वा हंता ! अत्थि नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा घाइ वा घंसीइ वा भिगूइ वा उवाएइ वा विसमेइ वा विजलेइ वा धूलीइ वा रेणूति वा पंकेइ वा चलणीइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । एगुरुयदीवे णं दीवे बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे खाणुइ वा कंटाएइ वा करीसहाइ वा सक्कराइ वा तणकयवराइ वा पत्तकयवराइ वा असुईइ वा पूईइ वा दुब्भिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयखाणुकंटकरीसहसक्करतणकयवरअसुइपूईयदुब्भिगंधमचोक्खवज्जिएणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे दंसाइ वा मसगाति वा पिसुगाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा ढिंकुणाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयदंसमसगपिसुगजूयालिक्खढिंकुणपरिवज्जिए णं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा हंता अत्थि नो चेव णं ते अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आवाहं वा पवाहं वा छविच्छेयं वा पकरेंति पगइभद्दगा णं ते वालगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गहदंडाति वा गहमुसलाइ वा गहगज्जियाइ वा गहजुद्धाइ वा गहसंघाडाइ वा गहअवसव्वा अब्भाइ वा अब्भरुक्खाइ वा संझाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापयाइ वा दिसादाहाइ वा णिग्घाइ वा पंसुविट्ठीइ वा जूयाइ वा जक्खालित्ताइ वा धूमियाइ वा महियाति वा रउग्घायाइ वा चंदोवरागाइ वा सूरोवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सुरपरिवेसाइ वा पडिचंदाइ वा पडिसूराइ वा इंदधणुआइ वा उदगमच्छाइ वा अमोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पडीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेसदाहाइ वा पाणक्खयजणक्खयकुलक्खयधणक्खयवसणभूतमणारियाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे डिंबाइ वा डमराइ वा कलहाइ वा बोलाइ वा खाराइ वा वेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयडिंबडमरकलहबोलखारवेरविरुद्धरज्जविवज्जिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे महाजुद्धाइ वा वा महासंगामाइ वा महासत्थपडणाइ वा महापुरिसपडणाइ वा महारुधिरपडणाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा दुब्भूइयाइ वा कुलरोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा मंडलरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अच्छिवेयणाइ वा कन्नवेयणाइ वा नकवेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा जराइ वा दाहाइ वा कच्छूइ वा खसराइ वा कोट्ठाइ वा कुडाति वा दगोवराइ वा अरिसाइ वा अजिरगाइ वा भगंदलाइ वा इंदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा नागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा भूयग्गहाइ वा उव्वेवग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा एगाहियाइ वा वेयाहियाइ वा तेयाहियाइ वा चाउत्थगाहियाइ वा हिययसूलाइ वा मत्थगसूलाइ वा पाससूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोणिसूलाइ वा गाममारी वा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियं वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयरोगायंका णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अइवासाइ वा मंदवासाइ वा सुवुट्ठीइ वा मंदवुट्ठीइ वा उदवाहीइ वा पवाहाइ वा दगुब्भेयाइ वा दगुप्पीलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयदगोवद्दवा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आयागराइ वा तंवागराइ वा सीसागराइ वा सुवन्नागराइ वा रयणागराइ वा वइरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरण्णवासाइ वा सुवन्नवासाइ वा रयणवासाइ वा वइरवासाइ वा आभरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा वीयं वा सगंधं वा समल्लं वा सवन्नं वा सचुन्नं वा सखीरवुट्ठीइ वा रयणवुट्ठीइ वा

हिरण्णवुट्ठीइ वा सुवन्नं तहेव जाव चुन्नवुट्ठीइ वा सुकालाइ वा दुकालाइ वा सुभिक्खाइ वा दुब्भिक्खाइ वा अप्पग्घाइ वा महग्घाइ वा कयाइ वा विक्कयाइ वा मंणिहीइ वा संचेयाइ वा निधीइ वा निहाणाइ वा चिरपोराणाइ वा पहीणसामियाइ वा पहीणसेउयाइ वा पहीणगोत्तागाइं जाइं इमाइं गामागरनगरखेडकब्बडमंडबदोहमुहपट्टणासमसंबाहसन्निवेसेसु सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु नगरनिद्धमणेसु सुसाणगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु सन्निखित्ता चिट्ठंति नो इणट्ठे समट्ठे एगुरुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहण्णेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं असंखेज्जति भागेणं ऊणगं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं । ते णं भंते ! मणुया कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति गोयमा ! ते णं मणुया छम्मासावसेसाउया मिहुणाइं पसवंति अउणासीइं राइंदियाइं मिहुणाइं सारक्खंति संगोवेंति सारक्खित्ता उस्ससित्ता णिस्ससित्ता कासित्ता छिंकित्ता अकिट्ठा अव्वहिया अपरियाविया सुहं सुहेणं कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति देवलोगपरिग्गहिया णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ॥

एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं विपृच्छिषुराह । कहि णं भंते! इत्यादि क्व भदन्त ! दाक्षिणात्यानामिह एकोरुकादयो मनुष्याः शिखरिण्यपि पर्वते विद्यन्ते ते च मेरोरुत्तरदिग्वर्तिन इति तद्व्यवच्छेदार्थं दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्यत्रासंभवादस्मिन् जम्बूद्वीपद्वीपे इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य क्षुल्लग्रहणं महाहिमवद्वर्षधरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पूर्वस्मात् पूर्वरूपाच्चरमान्तात् उत्तरपूर्वेण उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानामेकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः स च त्रीणि योजनशतान्यायामविष्कम्भेन समाहारो द्वन्द्वः आयामेन विष्कम्भेन चेत्यर्थः । नवैकोनपञ्चाशतान्येकोनपञ्चाशदधिकानि नवयोजनशतानि (९४९) परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः परिक्षेपेण परिमाणगणितभावना विष्कम्भः " वग्गदहगुण-करणीवट्टस्स परिरओ होइ " इति कारणवशात् स्वयं कर्त्तव्या सुगमत्वात् " से णमित्यादि " स एकोरुकनामा द्वीप एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन परिक्षिप्तः । तत्र पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकश्च वक्ष्यमाणजम्बूद्वीपजगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् भावनीयः । स च तावत् यावच्चरममासयतीति पदम् । " एगोरुयदीवस्स णं भंते ! इत्यादि" एकोरुकद्वीपस्य णमिति पूर्ववत् भदन्त ! कीदृशः क इव दृश्यः आकारभावप्रत्यवतारः भूम्यादिस्वरूपसम्भवः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! एकोरुकद्वीपे बहुसमरमणीयः प्रभूतसमः सन् रम्यो भूमिभागः प्रज्ञप्तः " से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा इत्यादि " उत्तरकुरुगमस्ताववदनुसर्तव्यो यावदनुसज्जनासूत्रं नवरमत्र नानात्वमिदं मनुष्याः अष्टौ धनुःशतान्युच्छ्रिता वक्तव्याश्चतुःषष्टिपृष्ठकरण्डकाः पृष्ठवंशा बृहत्प्रमाणानाहिते बहवो भवन्ति एकोनाशीतिं च रात्रिन्दिवानि स्वापत्यान्युपपालयन्ति स्थितिस्तेषां जघन्येन देशोनः पल्योपमासंख्येयभागः एतदेव व्याचष्टे पल्योपमासंख्येयभागन्यून उत्कर्षतः परिपूर्णः पल्योपमासंख्येयभागः जी० ३ प्रति० ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुयाणं आभासियदीवे नामं दीवे पण्णत्ते ? गोयमा ! जंबुदीवे दीवे तहेव चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणपुव्वच्छिमिल्लातो चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणं सेसं जहा एगुरुयाणं निरवसेसं सव्वं ॥

क्व भदन्त ! दाक्षिणात्यानां आभाषिकद्वीपानामन्तरद्वीपः प्रज्ञप्तो भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वेण दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानामाभाषिकमनुष्याणामाभाषिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः शेषवक्तव्यता एकोरुकवद्वक्तव्या यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जंबूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणा सेसं जहा एगुरुयाणं ।

" कहि णं भंते इत्यादि " क्व भदन्त ! दाक्षिणात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्याच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य अत्रान्तरे दाक्षिणात्यानां वैशालिकमनुष्याणां वैशालिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः शेषं यथा एकोरुकाणां तथा वक्तव्यं यावत् स्थितिसूत्रम् ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं नंगोलियमणुस्साणं पुच्छा गोयमा ! जंबुदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं सेसं जहा एगुरुयमणुस्साणं ।

क्व भदन्त ! नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पाश्चात्याच्चरमान्तात् उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतानि अवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि नाङ्गोलिकमनुष्याणां नाङ्गोलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः शेषमेकोरुकवत् वक्तव्यं यावत् स्थितिसूत्रम् । जी० ३ प्रति० । स्था० । नं० । कर्म० ।

द्वितीयश्चतुष्कः ।

कहिं णं भंते ! दाहिणिल्लाणं हयकण्णमणुस्साणं हयकण्णदीवे नामं दीवे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगुरुयदीवस्स उत्तर-

पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोयण-सयाइं उग्गाहित्ता एत्थ णं दाहिणिल्लाणं हयकन्नमणुस्साणं हयकन्नदीवे नामं दीवे पन्नत्ते चत्तारि जोयणसयाइं आ-यामविक्खंभेणं बारससया पन्नट्ठा किंचि विसेसूणाइं परि-क्खेवेणं एगाए पउमवरवेइयाए अवसेसं जहा एगुरुयाणं ॥

क भदन्त ! हयकर्णमनुष्याणां हयकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह । गौतम ! एकोरुकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं चत्वारि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्रायाः उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तादपि चतुर्योजनशतान्तरे दाक्षिणात्यानां हयकर्णमनुष्याणां हयकर्णो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः स च चत्वारि योजनशतान्यायामविष्कम्भेन द्वादश पञ्चषष्ठानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण शेषं यथा एकोरुकमनुष्याणाम् ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं गयकन्नमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! आभासियदीवस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसयाइं सेसं जहा हयकन्नाणं

एवमाभाषिकद्वीपस्य पूर्वस्माच्चरमान्तात् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताद् चतुर्योजनशतान्तरे गजकर्णमनुष्याणां गजकर्णो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः आयामविष्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत् ।

एवं गोकन्नमणुस्साणं पुच्छा ? वेसालियदीवस्स दाहिण-पुव्वच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोय-णसयाइं सेसं जहा हयकन्नाणं ।

नाङ्गोलिकद्वीपस्य पश्चिमान्ताच्चरमान्तात् दक्षिणपश्चिमेन चत्वारि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् चतुर्योजनशतान्तरे गोकर्णमनुष्याणां गोकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः आयामविष्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत् ॥

सक्कुलिकण्णाणं पुच्छा ? गोयमा ! नंगोलियदीवस्स उत्तरपुव्वच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं चत्तारि जोयणसयाइं सेसं जहा हयकन्नाणं ।

नाङ्गोलिकद्वीपस्य पश्चिमाच्चरमान्तात् उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रमवगाह्य चत्वारि योजनशतानि अत्रान्तरं क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि जम्बूद्वीपवेदिकान्ताच्चतुर्योजनशतान्तरे दाक्षिणात्यानां शष्कुलीकर्णमनुष्याणां शष्कुलीकर्णद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः । आयामविष्कम्भपरिधिपरिमाणं हयकर्णद्वीपवत् । पद्मवरवेदिकावनखण्डमनुष्यादिस्वरूपं च समस्तमेकोरुकद्वीपवत् जी० ३ प्रति० । स्था० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तृतीयश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं पंच पंच जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पन्न-त्ता तंजहा आयंसमुहदीवे मेंढगमुहदीवे अओमुहदीवे गोमुहदीवे । तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा भाणियव्वा ।

एतेषामपि हयकर्णादीनां परतः पुनरपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं पञ्च पञ्च योजनशतानि व्यतिक्रम्य पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भा एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्षेपाः पूर्वोक्तप्रमाणपद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितबाह्यप्रदेशाः जम्बूद्वीपवेदिकातः पञ्चयोजनशतप्रमाणान्तरा आदर्शमुख १ मेण्ढमुख २ अयोमुख ३ गोमुख ४ नामानश्चत्वारो द्वीपास्तद्यथा हयकर्णस्य परतः आदर्शमुखो गजकर्णस्य परतो मेण्ढमुखः गोकर्णस्य परतोऽयोमुखः शष्कुलीकर्णस्य परतो गोमुख इति एषमपि भावना कार्या प्रज्ञा० १ पद. । जी० । कर्म० ।

चतुर्थश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं छ छ जो-यणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पन्नत्ता तंजहा आसमुहदीवे हत्थिमुहदीवे सीहमुहदीवे वग्घमुहदीवे तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा ॥

एतेषां मप्यादर्शमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो भूयोऽपि यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं लवणसमुद्रं षट् योजनशतान्यवगाह्य षट् योजनशतायामविष्कम्भाः सप्तनवत्यधिकाष्टादशयोजनपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् षड्योजनशतप्रमाणान्तरा अश्वमुखहस्तिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपा वक्तव्यास्तद्यथा आदर्शमुखस्य परतोऽश्वमुखः मेण्ढमुखस्य परतो हस्तिमुखः आयाममुखस्य परतः सिंहमुखः गोमुखस्य परतो व्याघ्रमुखः ।

पञ्चमश्चतुष्कः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं सत्त सत्त जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा प-ण्णत्ता तंजहा आसकन्नदीवे हत्थिकन्नदीवे अकन्नदीवे कन्नपाउरणदीवे । तेसु णं दीवेसु मणुया भाणिय-व्वा । स्था० ४ ठा० ।

एतेषामप्यश्वमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं सप्त सप्त योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य सप्तयोजनशतायामविष्कम्भास्त्रयोदशाधिकद्वाविंशतियोजनशतपरिरयाः पद्मवरवेदिकावनखण्डसमवगाढा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् सप्तयोजनशतप्रमाणान्तरा अश्वकर्णहस्तिकर्णाकर्णकर्णप्रावरणनामानश्चत्वारो द्वीपा वाच्यास्तद्यथा अश्वमुखस्य परतोऽश्वकर्णः हस्तिमुखस्य परतो हस्तिकर्णः सिंहमुखस्य परतोऽकर्णः व्याघ्रमुखस्य परतः कर्णप्रावरणः जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

षष्ठश्चतुष्कः ।

तेसु णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं अट्ठ अ-ट्ठ जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पन्नत्ता तंजहा उक्कामुहदीवे मेहमुहदीवे विज्जुमुहदीवे विज्जु-दंतदीवे तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा स्था० ४ ठा० ।

तत एतेषामश्वकर्णादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकमष्टौ अष्टौ योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्याष्टयोजनशतायामविष्कम्भा एकोनत्रिंशदधिकपञ्चविंशतियोजनशतपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपरिसरा जम्बूद्वीपवेदिकान्तादष्टयोजनशतप्रमाणान्तरा उल्कामुखमेघमुखविद्युन्मुखविद्युद्दन्ताभिधानाश्चत्वारो द्वीपा वक्त-

ण्यास्तद्यथा अश्वकर्णस्य परत उल्कामुखः हरिकर्णस्य परतो मेघमुखः अकर्णस्य परतो विद्युन्मुखः कर्णप्रावरणस्य परतो विद्युद्दन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तेसु णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं णव णव जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता तंजहा घणदंतदीवे लट्ठदंतदीवे गूढदंतदीवे सुद्धदंतदीवे । तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति तंजहा घणदंता लट्ठदंता गूढदंता सुद्धदंता ।

एतेषामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य नवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्टाविंशतियोजनशतपरिक्षेपाः पद्मवरवेदिकावनखण्डसमवगूढा जम्बूद्वीपवेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्तशुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपास्तद्यथा उल्कामुखस्य परतो घनदन्तः मेघमुखस्य परतो लष्टदन्तः विद्युन्मुखस्य परतो गूढदन्तः विद्युद्दन्तस्य परतः शुद्धदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थं संग्रहगाथाः ।

" चुल्लहिमवंतपुव्वा-वरेण विदिसासु सागरं तिसए ।
गंतूणंतरद्दीवा, तिन्नि सए होंति विच्छिन्ना ॥ १ ॥
अउणापन्ननवसए, किंचूणे परिहिएसिमे नामा ।
एगोरुय आभासिय, वेसाणी चेव लंगूली ॥ २ ॥
एएसिं दीवाणं, परओ चत्तारि जोयणसयाइं ।
ओगाहिऊण लवणं, स पडिद्दिसिं चउसयपमाणा ॥ ३ ॥
चत्तारंतरदीवा, हयगयगोकन्नसंकुलीकन्ना ।
एवं पंच सयाइं, छ सत्त अट्ठ व नव चेव ॥ ४ ॥
ओगाहिऊण लवणं, विक्खंभोगाहसरिसया भणिया ।
चउरो चउरो दीवा, इमेहिं नामेहिं नायव्वा ॥ ५ ॥
आयंसमेंढगमुहा, अओमुहा गोमुहा य चउरंते ।
अस्समुहा हत्थिमुहा, सीहमुहा चेव वग्घमुहा ॥ ६ ॥
तत्तो य अस्सकन्ना, हत्थिअकन्ना अकन्नपाउरणा ।
उक्कामुह मेहमुहा, विज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥
घणदंत लट्ठदंता, निगूढदंता य सुद्धदंता य ।
वासहरे सिहरम्मि वि, एवं चिय अट्ठवीसावि ॥ ८ ॥
अंतरदीवेसु नरा, धणुसयअट्ठूसिया सया मुइया ।
पालिंति मिहुणधम्मं, पल्लस्स असंखभागाओ ॥ ९ ॥
चउसट्ठिं पिट्ठिकरं-डगाणि मणुयाण वच्चपालणया ।
अउणासीइं तु दिणा, चउत्थभत्तेण आहारो त्ति ॥ १० ॥

स्था० ४ ठा० । एतेषामेव द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भपरिरयपरिमाणसंग्रहगाथाषट्कमाह ।

पढमम्मि तिन्नि उ सया, सेसाण सतोत्तरा नव उज्जा य ।
ओगाहण विक्खंभं, दीवाणं परिरयं वोच्छं ॥
पढमचउक्कपरिरया, बीयचउक्कस्स परिरओ अहिओ ।
सोलेहिं तिहिं उ जोयण-सएहिं एमेव सेसाणं ।
एगोरुयपरिक्खेवो, नव चेव सयाइं अउणपण्णाइं ॥
बारसपण्णट्ठाइं, हयकन्नाणं परिक्खेवो ।
पण्णरस एकसीया, आयंसमुहाण परिरओ होइ ।
अट्ठारसनउयाओ, आसमुहाणं परिक्खेवो ।
बावीसं तेराइं, परिक्खेवो होइ आसकण्णाण ॥
पणवीस अउणतीसा, उक्कामुहपरिरओ होइ ।
दो चेव सहस्साइं, अट्ठेव सया हवंति पणयाला ॥
घणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिक्खेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के चिन्त्यमाने त्रीणि योजनशतानि अवगाहना लवणसमुद्रावगाहं विष्कम्भं च विष्कम्भग्रहणादायामोऽपि गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जानीहि इति क्रियाशेषः। शेषाणां द्वीपचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अवगाहनाविष्कम्भं तावज्जानीयात् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के चत्वारि शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त शतानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं द्वीपानामेकोरुकप्रभृतीनां परिरयप्रमाणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति " पढमचउक्केत्यादि " प्रथमचतुष्कपरिरयात् प्रथमद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयद्वीपचतुष्टयस्य परिरयः परिरयपरिमाणमधिकः षोडशैः षोडशोत्तरैस्त्रिभिर्योजनशतैरेवमेवानेनैव प्रकारेण शेषाणां द्वीपानां द्वीपचतुष्काणां परिरयपरिमाणमधिकं पूर्वपूर्वचतुष्कपरिरयपरिमाणादवसातव्यमेतदेव चैतेन दर्शयति (एकोरुयेत्यादि) एकोरुकपरिक्षेप एकोरुकोपलक्षितप्रथमद्वीपचतुष्कपरिक्षेपो नव शतानि एकोनपञ्चाशदधिकानि ततस्त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु "हयकन्नाणमिति" बहुवचनात् हयकर्णप्रमुखाणां द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपो भवति स च द्वादश योजनशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) आदर्शमुखप्रमुखाणां तृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति तच्च पञ्चदशयोजनशतान्येकाशीत्यधिकानि ततो भूयोऽपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) अश्वमुखप्रभृतीनां चतुर्थानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपस्तद्यथा अष्टादशयोजनशतानि सप्तनवत्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आसकण्णाणंति) अश्वकर्णप्रमुखाणां पञ्चमानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपो भवति तद्यथा द्वाविंशतियोजनशतानि त्रयोदशाधिकानि ततो भूयोऽपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु उल्कामुखपरिरयः उल्कामुखप्रमुखषष्ठद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं भवति तद्यथा पञ्चविंशतियोजनशतानि एकोनत्रिंशदधिकानि ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसप्तद्वीपचतुष्कस्य परिक्षेपस्तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि (विसेसमहिओइति) किञ्चिद्विशेषमधिकोऽधिकृतः परिक्षेपः पञ्चचत्वारिंशानि किञ्चिद्विशेषाधिकानीति भावार्थः । इदं पदमन्ते ऽभिहितत्वात्सर्वत्राप्यभिसंबन्धनीयं तेन सर्वत्रापि किञ्चिद्विशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणमवसातव्यम् तदेवमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिः एवं हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणे पद्महदप्रमाणायामविष्कम्भावगाहपुण्डरीकह्रदोपशोभितशिखरिण्यपि पर्वते लवणोदादर्णवजलसंस्पर्शादारभ्य यथोक्तप्रमाणान्तराश्चतसृषु विदिक्षु एकोरुकादिनामानोऽनुष्ठापान्तरालायामविष्कम्भा अष्टाविंशतिसंख्या द्वीपा वेदितव्याः ।

कहि णं भंते ! उत्तरिल्लाणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदी-

वे नामं दीवे पएणत्ता ? गोयमा ! जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं ओगाहित्ता एवं जहा दाहिणिल्लाणं तहा उत्तरिल्लाणं भाणियव्वं णवरं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स विदिसासु एवं जाव सुद्धदंतदीवेत्ति जाव सेत्तं अंतरदीवगा ॥

"कहि णं भंते ! एगुरुयेत्यादि" सर्वं तदेव नवरमुत्तरेण विभाषा कर्त्तव्या सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः । उपसंहारमाह । सेत्तमन्तरदीवगा ते एते अन्तरद्वीपका इति ॥ जी० ३ प्रति० ॥ प्रज्ञा० । स्था० । नं० । कर्म० । एतज्जता मनुष्या अप्येतन्नामान उपचाराद्भवन्ति । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति प्रज्ञा०१ पद.। जी०। स्था०।

अंतरदीवग [य] अन्तरद्वीपग [ज]–पुं० अन्तरद्वीपेषु गता अन्तरद्वीपगाः प्रज्ञा० १ पद.। तेषु जाता वा अन्तरद्वीपजाः। नं०। एकोरुकाद्यन्तरद्वीपवासिगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यभेदेषु, ते च एकोरुकादिनामानोऽष्टाविंशतिर्दाक्षिणात्यौत्तराहभेदेन भिद्यमानाः षट्पञ्चाशत् कर्म० १ क० । स्था० । आ० म० द्वि० । (तद्वर्णकोऽनन्तरमेवअंतरदीवशब्दे दर्शितः)

अंतरदीववेदिया–अन्तरद्वीपवेदिका–स्त्री० द्वीपान्तरवेदिकायाम्, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां द्वाराणि सन्ति न वेति प्रश्ने जगत्यां द्वाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपे तु वेदिका जगत्याः स्थानेऽस्ति अतो वेदिकायामपि द्वाराणि संभाव्यन्ते इयेन० ४ उल्ला० ३८ प्र० ।

अंतरदीविया–आन्तरद्वीपिका–स्त्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य द्वीपा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपास्त एवान्तरद्वीपिकाः। अन्तरद्वीपवास्तव्यमनुष्यस्त्रीषु, स्था० ३ ठा० । जी० । (वक्तव्यता चासामंतरदीवशब्दे दर्शिता) ।

अंतरद्धा–अन्तरद्धा–स्त्री० अन्तरकाले, आचा० १ श्रु०८ अ०। अन्तर्धा–स्त्री० अन्तर्धाने, "सइ अन्तरद्धा" स्मृतेर्भ्रंशोऽन्तर्धानं किं मया परिगृहीतं कया मर्य्यादया व्रतमित्येवमननुस्मरणमित्यर्थः आव० ६ अ० ।

अंतरपल्ली–अन्तरपल्ली–स्त्री० मूलक्षेत्रात्सार्द्धद्विगव्यूतस्थे ग्रामविशेषे, प्रव० ७ द्वा० । वृ० ।

अंतरप्पा–अन्तरात्मन्–पुं० अन्तर्मध्यरूप आत्मा शरीररूप इत्यन्तरात्मेति भ० २० श० २ उ० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४ इति सूत्रेणान्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे लुक् निषिद्धः प्रा० । जीव, प्रश्न० संव० १ द्वा० । अष्ट० । आत्मभेदे, यो हि सकर्मावस्थायामपि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महानन्दस्वरूपे निर्विकारामृताव्याबाधरूपे समस्तपरभावमुक्ते आत्मबुद्धिः (सः) अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकतः क्षीणमोहं यावत् अन्तरात्मा उच्यते अष्ट० ११ अष्ट० ।

अंतरभाव–आन्तरभाव–पुं० परमार्थे, पञ्चा० १८ विव० ।

अंतरभावविहूण–आन्तरभावविहीन–त्रि० परमार्थवियुक्ते, पञ्चा० १८ विव० ।

अंतरभासा–अन्तरभाषा–स्त्री० गुरोर्भाषमाणस्य विचालभाषणे, ध० ३ अधि०। आव० । विहरन् साधुः चौरैः पृष्टः " आयरिए उवज्झाए वा संभासेज्ज वा वियागरेज्ज वा आयरियउवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतराभासं करेज्जा " आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

अंतराहिय–अन्तर्हित–त्रि० व्यवहिते, " अणंतरहियाए पुढवीए " आचा० २ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

अंतरा–अन्तरा–अव्य० अन्तरेति इण्-डा-निकटे, वर्जने, मेदिनी–वाच० । अन्तराले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विशे० । आचा० । मध्ये, " इच्छाइयारमागंतु अंतरायं विसीयइ" सूत्र० श्रु०३अ०। अर्वागर्थे च. कल्प० " अंतरा वि य से कप्पइ नो से कप्पइ " अर्वागपि कल्पते परं न कल्पते कर्म० ५ क० ।

अंतरा (य) इय–अन्तराय–न० पुं० अन्तरा दातृप्रतिग्राहकयोरन्तर्भाण्डागारिकवद् विघ्नहेतुतया अयते गच्छतीत्यन्तरायम् उत्त० ३३ अ० । अन्तरा अय-अच्-प्रव०१५द्वा० । जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यवधानापादनाय एति गच्छतीति अन्तरायम् । अन्तरा-इ-अच्-पं० सं० ३ द्वा० । कर्म० । अन्तर्मध्ये दातृप्रतिग्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायः। जीवस्य दानादिविघ्नकारकेऽष्टमे कर्मभेदे, यथा राजा कस्मैचिद्दातुमुपदिशति तत्र भाण्डागारिकोऽन्तराले विघ्नकृद् भवति तदन्तरायकर्माऽष्टमम् भवति उत्त० ३३ अ० । " जह राया दाणाई, न कुणइ भंडारिए विकूलम्मि । एवं जेणं जीवो, कम्मं तं अंतरायंति " स्था० ।

तद्भेदा यथा–

अंतराइए कम्मे दुविहे पण्णत्ते तंजहा पडुप्पन्नविणासिए चेव पिहतिय आगामिपहं स्था० २ ठा० ।

(पडुप्पन्नविणासिए चेवत्ति) प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं लब्धं वस्तु इत्यर्थो विनाशितमुपहतं येन तत्तथा । पाठान्तरेण प्रत्युत्पन्नं विनाशयतीत्येवं शीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि चैव समुच्चये इत्येकमन्यच्च पिधत्ते च निरुणद्धि च आगामिनो लब्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः आगामिपथः तमिति क्वचिदागामिपथानिति दृश्यते क्वचिच्च (आगमपहंति) तत्र च लाभमार्गमित्यर्थः । स्था० २ ठा० ।

अंतराइए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा दाणंतराइए जाव वीरियंतराइए प्रज्ञा० २५ पद० ।

तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायं यथा यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि दीयमानमर्थजातं याच्ञाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायं तथा यदुदयवशात् सत्यपि विशिष्टाहारादिसंभवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा प्रबलकार्पण्यान्नोत्सहते भोक्तुं तद्भोगान्तरायमेवमुपभोगान्तरायमपि भावनीयम् । नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः सकृत् भुज्यते इति भोगः 'आहारपुप्फमाई उ, उवभोगो उ पुणो पुणो । उवभुज्जइ वत्थविलयाई' तथा यदुदयात्सत्यपि नीरुजि शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति यद्बलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजनेऽपि हीनसत्वतया प्रवर्त्तते तद्वीर्यान्तरायम् प्रज्ञा०२३पद.

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं उत्त० ३३ अ० ॥

एतच भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह ।

सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥

श्रियो गृहं श्रीगृहं भाण्डागारं तद्विद्यते यस्य स श्रीगृहको भाण्डागारिकस्तेन समं तुल्यमेतदन्तरायकर्म यथा तेन श्रीगृहकेण प्रतिकूलेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशब्दात् श्रेष्ठीश्वरतलवरादिपरिग्रहः न करोति कर्त्तुं न पारयति दानादि आदिशब्दाच्च लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । एवममुना श्रीगृहकदृष्टान्तेन विघ्नेनान्तरायकर्मणा जीवोऽपि जन्तुरपि दानादि कर्त्तुं न पारयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्तरायं कर्म । कर्म० १ कर्म० । पं०सं० । श्रा० । (अनुभागादयोऽस्य अणुभागादिशब्देषु) (बन्धोदयसत्ताख्यानान्यस्य कम्म शब्दे) विघ्ने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

योगस्यान्तरायाः ।

प्रत्यूहा बाधयःस्त्यानं, प्रमादालस्यविभ्रमाः ।
संदेहाविरतीजृम्भ्य-लाजनश्चाप्यनवस्थितिः ॥ ए ॥

(प्रत्यूहा इति) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया इति सूत्रम् । द्वा० १६ द्वा० । विघ्नकरणे, स्था०४ठा० । व्यवच्छेदे, " जे अंतराअं चेएइ " स० । शक्त्यभावे च । " नन्नत्थ अंतराएणं परगेहे णिसीयए " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

आन्तरायिक-न० विघ्ने, प्रश्न० संव० ३ द्वा० । बहुप्रत्यवाये, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अंतरापह-अन्तरापथ- पुं० विवक्षितस्थानयोरन्तरालमार्गे, भ० २ श० १ उ० ।

अंतरायबहुल-अन्तरायबहुल-त्रि० विघ्नप्रचुरे, तं० ।

अंतरायवग्ग-अन्तरायवर्ग-पुं०अन्तरायप्रकृतिसमुदाये,क०प्र० ।

अंतराल-अंतराल-न०अन्तरं सीमानमाराति गृह्णाति-आ-रा-क-रस्य लत्वम् वाच० । मध्ये, विशे० । संकीर्णवर्णे च पुं० तद्वर्तिनि त्रि० वाच० ।

अंतरावण-अंतरापण-पुं० अन्तरे ग्रामादीनामर्द्धपथे आपणाः अन्तरापणाः प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । राजमार्गप्रभृतिमध्यभागवर्तिषु हट्टेषु, विपा० १ श्रु० ३ अ० । वीथीषु हट्टमार्गेषु, बृ० १ उ० । " अंतरावणाओ य रूपडए गिण्हंति " परिखोदकमार्गान्तरालवर्तिनो हट्टात् कुम्भकारसम्बन्धिन इत्यर्थः ज्ञा० १२ अ० ।

अंतरावणगिह-अन्तरापणगृह-न० गृहविशेषे, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीसा एगओ व दुहओ वा ।
तत्थ गिहं अंतरावण-गिहं तु सयमावणो चेव ॥

अथेत्यानन्तर्ये अन्तरापणो नाम वीथी हट्टमार्ग इत्यर्थः सा एकतो वा एकपार्श्वेन (दुहओ त्ति) द्वाभ्यां वा पार्श्वाभ्यां भवेत् तत्र यद्गृहं तदन्तरापणगृहमुच्यते बृ० १ उ० ।

अन्तरावास-अन्तरवर्ष-पुं० अन्तरमवसरो वर्षस्य वृष्टेर्यत्रासावन्तरवर्षः । वर्षाकाले, न० १५ श० १ उ० ।

अन्तरावास-पुं० अन्तरेऽपि जिगमिषतः क्षेत्रमप्राप्याऽपि यत्र सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षाकाले, न० १५ श०१ उ० । " अट्टिये गामं नीसाए पढमं अंतरावासं उवागए " कल्प० ।

अंतरि (लि) क्ख-अन्तरि (री) क्ष-न० अन्तः स्वर्गपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते ईक्ष-कर्मणि घञ्--अन्तः ऋक्षाणि अस्य वा पृषोदरादित्वात्पक्षे ह्रस्वः ऋकारस्य रित्वं वा वाच० । अन्तर्मध्ये ईक्षा दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षम् भ० १७ श० १० उ० । आकाशे, विशे० 'अंतलिक्खत्ति णं बूया,गुज्झाणुचरियत्ति य'दश०७अ० ।

आन्तरिक्ष-न० अन्तरिक्षमाकाशं तत्र भवमान्तरिक्षम् । गन्धर्वनगरादौ, स्था० ८ ठा० । उत्त० । मेघादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ग्रहाणामुदयास्तादिपरिज्ञानात्मके, कल्प० । उल्कापातधूमकेतुप्रमुखाणामुदयविचारविद्यालक्षणे, (उत्त० १५ अ०) आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदिके वा चतुर्थे महानिमित्तशास्त्रे, स० । "गहवेहभूअअट्टहासपमुहं जमंतरिक्खंतं " प्रव० २५७ द्वा० । ग्रहवेधभूताट्टहासप्रमुखमान्तरिक्षं निमित्तम् । तत्र ग्रहवेधो ग्रहस्य ग्रहमध्येन निर्गमः । भूताट्टहासोऽतिमहानाकाशे आकिलिकिलारावः यथा " भिनत्ति सोममध्येन, ग्रहेष्वन्यतमो यदा । तदा राजभयं विद्यात्प्रजाक्षोभं च दारुणं " मित्यादि प्रमुखग्रहणाद्गन्धर्वनगरादिपरिग्रहः । यथा "कपिलं शस्यघाताय, माञ्जिष्ठं हरणं गवाम् । अव्यक्तवर्णं कुरुते बलक्षोभं न संशयः । गन्धर्वनगरं ज्ञेयं, सप्राकारं सतोरणम् । सौम्यां दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयंकरमित्यादि " प्रव० २५७ द्वा० । अस्य सूत्रं सहस्रप्रमाणं वृत्तिर्लक्षप्रमाणा वार्त्तिकं कोटिप्रमाणम् स० ७९ पत्र- । आव० ।

अंतरि (लि) क्खजाय-अन्तरिक्षजात-त्रि० स्कन्धमञ्चकप्रासादादौ, भुव उपरिवर्तिपदार्थजाते, आचा० २ श्रु० ५ अ० ।

अंतरि (लि) क्खपडिवण्ण-अन्तरिक्खप्रतिपन्न-त्रि० आकाशगते, उपा० २ अ० । जं० ।

अंतरि (लि) क्खपासणाह-अन्तरिक्षपार्श्वनाथ-पुं० श्रीपुरेऽन्तरिक्षपार्श्वनाथप्रतिमायाम्,

तत्कल्प इत्थम् ।

'पयडपहावनिवासं, पासं पणमित्तु सिरिपुरं नगरं । कित्तेमि अंतरिक्ख-ट्ठिअतप्पडिमाइ कप्पलवं' पुव्विं लंकापुरीए दसग्गीवेण अद्धचक्किणा माली सुमालिनामानो निअगाओ लग्गा केणावि पेसिया तेसिं ठविमाणरूढाइं तह पहे वच्चंताणं समागया भोअणवेला । फुल्लवडुएण चिंतियं मए ताव अज्ज जिणपडिमाकरंडिया ओसग्गचेण घरे विसारिआ एएसिं च दुण्ह वि पुन्नवंताणं देवपूयाए अकयाए न कत्थ वि भोयणं तओ देवयावसरकरंडिअमदट्ठु ममोवरि पकुविस्संति त्ति । तेण विज्जावलेण पवित्तवालुआए अहिणवा भाविजिणपासनाहपडिमा निम्मविआ । मालिसुमालिहिं तं पूइत्ता जोअणं कयं तओ तेसु तह मग्गे पट्ठिएसु सा पडिमा आसन्नसरोवरमज्झे अखंडिअरूवा चेव तत्थ ठिया । कालक्कमेण तस्स सरोवरस्स जलं अप्पिभूअं जलखड्डं खड्डुगं व दीसइ । तओ कालंतरेण विंगउल्लीदेसे विंगउल्लनयरं तत्थ सिरपालो नाम नरवई हुत्था । सो अगादको-ढविदुरिअसव्वंगो अन्नयरेहिं दुऊहिं बाहिं गओ ते तत्थ पि-

वासाए अग्गाए तम्मि खड्डकमेणं पत्तो तत्थ पाणिअं पीअं मुहं हत्था य पक्खालिया । तओ ते अंगावयवा जाया नीरोगा कणयकमलुज्जलच्छाया । तओ घरं गयस्स रन्नो महादेवी तमच्छेरं दट्ठुं पुच्छिच्छा सामि! कत्थ वि तुम्हेहिं अज्ज ण्हाणाइ कयं राएण जहट्ठियं पत्तत्तं देवीए चिंतियं। अहो सामि! सा दिव्वं ति बीयदिणे राया तत्थ नीओ तीए सव्वंगं पक्खालियं जाओ पुण णवसरीरावयवो राया, तओ देवीए बलिपूआइअं काऊण भणिअं जो इत्थ देवया विसिसो चिट्ठइ सो पयडेउ अप्पाणं । तओ घरं पत्ताए देवीए सुमिणंतरे देवयाए जणिअं इत्थ भाविजिणत्थयरपासनाहपडिमा चिट्ठइ तस्स पभावेणं रन्नो आरुग्गं संजायं एअं पडिमं सगडे आरोविऊण सत्तदिणजाए वि णिज्जुत्तित्ता आमसुत्ततंतुमित्तरस्सीए रन्ना मयं सारहिहूएणं सट्ठाणं पइवाले अघाइमा । जत्थेव निवो पच्छा हुत्थं पलोइस्सइ तत्थेव पडिमा ठाहिइ । तओ नरनाहेण तं खड्डगजलमालोइऊण सा पडिमा लद्धा। तेण तहेव काउं पडिमा चालिआ कित्तिअं पि भूमिं गएण रन्ना किं पडिमा एइ न वि त्ति सिंहावलोइअं कयं पडिमा तत्थेव अंतरिक्खे ठिआ । सगडो अग्गओ हुत्तं नीसरिओ रन्ना पडिमा अद्धणि अधिइए गया । तत्थेव य सिरिपुरं नामं नयरं निअनामोवलक्खियं निवेसिअं चेइअं च तहिं कारियं। तत्थ पडिमा अणेगमहूसवपुव्वं ठाविआ पयइत्तं पुहवि पइतिकालं अज्जवि सा पडिमा तहेव अंतरिक्खे चिट्ठइ । पुव्विं किर सा वाहडिअं घडं सिरम्मि वहंती नारी पडिमाए सीहासणवलोसिं वरिसु कालेण भूमीवेगचडणेण वा मिच्छाइदूसिअकालाणुभावेण वा अहो अहो दीसंती जाव संपइ नारी मित्तं पडिमाए हिट्ठे संचरइ पईवपयाहायसीहासणभूमिअंतराले दीसइ जया य सा पडिमा सगडमारोविआ तया देवी खित्तवालो असहेव पडिमाओण सगत्तेण सिद्धबुद्धाणं अन्नयरो पुत्तो अंबाए देवीए गहिओ अओ अए ठाविओ तओ खित्तवालस्स आणत्ती दिन्ना जहा एस दारओ ताए आणेअव्वो तेणावि अइउत्तालं वलं तेण नाणीओ तओ देवीए भुंवएण समत्थइ अह सो अंतवालसीसे दीसइ एवं अंबाए वि खित्तवालेहिं सेविज्जमाणे धरणिंदपउमावईहिं च कयपडिहेरो सा पडिमा सव्वलोएहिं पूइज्जइ अंतरिक्खट्ठिअपासनाहकप्पे जहासुअं किं पि सिरजिणप्पहसूरिहिं लिहिओ सपरोवयारकए अन्तरिक्षपार्श्वनाथकल्पः ती० ५२ क० ।

अंतरि (लि) क्खोदय–अन्तरिक्षोदक–न० अन्तरिक्षे उदक मन्तरीक्षोदकम् । वर्षोदके, नि० चू० १ उ०। यउजलमाकाशात्पततदेव गृह्यते " उपा० १ अ० ।

अंतरिज्ज–अन्तरीय–न० अन्तरे भवं गहादित्वाच्छः " नाभौ धृतं च यद्वस्त्र-माच्छादयति जानुनी । अन्तरीयं प्रशस्तं त-द-च्छिन्नमुभयान्तयो" रित्येवंलक्षणे परिधानवस्त्रे, वाच०। शय्याया अधस्तने वस्त्रे च । " अंतरिज्जं णाम णियंसणं अहवा अंतरिज्जं णाम जं सेज्जाए हेट्ठिल्लं पोत्तं " नि० चू० १५ उ० । आचा० । तदर्थे-वुञ् आन्तरीयकः तद्भवे, त्रि० वाच० ।

अंतरिज्जिया-अन्तरीया-स्त्री० स्थविरात्कामर्द्धेर्निर्गतस्य वेषपातित (वेसवाडिय) गणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० १७१ पत्र. ।

अंतरिय–अन्तरित–त्रि० अन्तर-इण्-कर्त्तरि क्तः । अन्तर्गते, अन्तरं व्यवधानं करोतीति णिचि-कर्मणि-क्तः । व्यवधापिते, तिरस्कृते, अच्छादिते, वाच०। व्यवहिते, विशे०। आ०म० द्वि०।

अन्तरिया–अन्तरिका–स्त्री०अन्तस्य विच्छेदस्य कारणमन्तरिका स्त्रीलिङ्गशब्दः विवक्षितवस्तुनः समाप्तौ, " आणंतरियाए वट्टमाणस्स " आरब्धध्यानस्य समाप्तिरपूर्वस्यानारम्भणमित्यर्थः जं० २ वक्ष० ।

आन्तरिका–स्त्री० अन्तरमेवान्तर्य्यं ष्येषञादित्वात्स्वार्थेष्ठ्यण ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीष् प्रत्यये आन्तरी आन्तर्य्येष आन्तरिका । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० १० पाहु० । लब्ध्वन्तरं च. रा०॥

अंतरुच्छुय–अन्तरिक्षुक–पुं० इक्षुपर्वमध्ये, आचा० २ श्रु० १ अ०"उभयोपेरुरहियं अंतरुच्छुअं होति" नि० चू० १६ उ० ।

अंतरेण–अन्तरेण–अव्य० अन्तरेति इण्-ण-टवर्गादित्वेऽपि णस्य नैत्संज्ञकत्वम् । मध्यार्थे, वाच० । विनार्थे च. उत्त०१ अ०। अहारमंतरेण नाम अहाराभावेन नि० चू० १ उ० ।

अंतव (त्)–अन्तवत्–त्रि० अन्तोऽस्यास्ती अन्तवान् । परिमिते, "अंतवाणिइए लोए इति धीरोति पासइ" अन्तवान् लोकः सप्तद्वीपाः वसुंधरेति परिमाणकेस्ताद्दक्परिमाणेनेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतवाल–अन्तपाल–पुं० अन्तं तत्समीपं प्रदेशं देशस्य सन्धिनं पालयति उपद्रवादिभ्य इत्यन्तपालः । पूर्वदिगादिदेशलोकानां देवादिकृतसमस्तोपद्रवनिवारके, जं० ३ वक्ष०। आ० म० ।

अंतविकड्ढियंतमाल–अन्तविकर्षितान्त्रमाल–त्रि० शृगालादिभिरुत्पाटितोदरमध्यावयवे, तं० ।

अंतसुह–अन्तसुख–न० परिणामसुखे, " मासैरष्टभिरह्ना च पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अंतसो–अन्तशस्–अव्य० अन्त--शस् निरवशेषत इत्यर्थे, "सव्वं कंतति अंतसो" सूत्र० १ श्रु०८ अ० । विपाककाले इत्यर्थः सूत्र० १ श्रु०८ अ० । यावज्जीवमित्यर्थे, "मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो" सूत्र० १ श्रु० ११ अ० कथञ्चित्कार्य्यनिस्तारे, "भत्तपाणे अ अन्तसो" जक्के पाने चान्तशः सम्यगुपयोगवता भाव्यमिति सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतावेइ (ई)–अन्तर्वेदि (दी)–स्त्री० अन्तर्गता वेदिर्यत्र देशे। दीर्घहस्वौ मिथो वृत्तौ ८ । १४ । इति ह्रस्वस्य दीर्घः । ब्रह्मावर्त्तदेशे, प्रा० । वाच० ।

अंताहार–अन्त्याहार–पुं० अन्त्ये भवमन्त्यं जघन्यधान्यं बल्लादि आहारो यस्य । कृतरसपरित्यागे, औ० । सूत्र० । स्था० ।

अंति (न्)–अन्तिन्–त्रि० अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽस्यास्तीत्यन्ती । जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्त्तिनि, स्था० १० ठा० ।

अंतिअ [य]–अन्तिक–न० अन्त्यते संबध्यते सामीप्येन अन्त-घञ् । वाच० । समीपे, तं० । सूत्र० । उत्त० । स्था० । विशे० । उत्त० । " बुद्धाणं अंतिए सया " उत्त० १ अ० । आ० म० द्वि० । नि० । भ० । रा० । पर्य्यवसाने, "अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अंतिया " आचा० १ श्रु० ८ अ० । पार्श्वे च " देवाणंदाए माहणीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा " कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरतीत्यन्तिकः । पर्य्यन्तवासिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंतिम–अन्तिम–त्रि० अन्ते भवमन्तिमम् । चरमे, स्था० १ ठा० । यतः परं न किञ्चिदस्ति विशे० ।

अंतिमराइया–अन्तिमरात्रिका–स्त्री० अन्तिमाऽन्तिमभागरूपाऽवयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरात्रिका । रात्रेरवसाने, स्था० १० ठा० । भ० ।

अंतिमसंघयणतिग–अन्तिमसंहननत्रिक–न० अर्द्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्तसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।

अंतिमसारीरिय–अन्तिमश (शा) रीरिक–त्रि० अन्ते भवमन्तिमं चरमं तच्च तच्छरीरं चेत्यन्तिमशरीरं तत्र भवा अन्तिमशारीरिकी दीर्घत्वं च प्राकृतशैल्या । चरमदेहभवेषु क्रियादिषु, स्था० १ ठा० ।

अंतेआरि (न्) अन्तश्चारिन्–त्रि० अन्तश्चरति अन्तर् चरणिनि । तोऽन्तरि ८।१।६०। इति अत एत्वम् । मध्यगामिनि, प्रा० ।

अंतेउ [पु] र–अन्तःपुर–न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्म वाच० । तोऽन्तरि ८।१।६०। इत्यन्तःशब्दस्यात एत्वम् प्रा० । अवरोधे, राजस्त्रीणां निवासगृहे, रा० । ज्ञा० । " चियअंतेउर घरद्दारपवेसी " औ० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू रायंतेपुरं पविसइ पविसंतं वा साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गाथया व्याख्यानयति ।

अन्तेउरं च तिविधं, जुण्णं णव चेवं कन्नगाणं च ।
एक्केकं पि य दुविधं, सत्थाणत्थं च परत्थाणे ॥१८॥

रण्णो अंतेपुरं तिविधं एहंसियं जोव्वणाओ अपरिभुज्जमाणीओ अत्थति एयं जुण्णंतेपुरं । जोव्वणं पत्ताओ परिभुज्जमाणीओ जत्थ अत्थंति तं णवंतेपुरं । अपत्तजोव्वणाणं रायदुहियाणं संगओ कण्णंतेपुरं । तं खेत्तओ एक्केक्कं दुविधं सट्ठाणे परट्ठाणे य । सट्ठाणत्थं रायघरे चेव परट्ठाणत्थं वसंतादिसु उज्जाणियागयं ।

एते सामण्णतरं, रण्णो अंतेउरं तु जो पविसे ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ १९ ॥

इमे दोषाः ।

दंडारक्खिगदोवा–रिएहिं वरिसवक्खं चुइज्जेहिं ।
णितेहि अनितेहि य, वाघातो होइ भिक्खुस्स ॥२०॥

इमं वक्खाणं ।

दंडधरो दंडरक्खिओ, दोवारिज्जा तु दारिट्ठा ।
वरिसवरट्टात्तिप्पिति, कंचुगिपुरिसा महत्तरगा ॥ २१ ॥

दंडगहियहत्थो सव्वतो अंतेपुरं रक्खइ रण्णा वइण्णेण इत्थि पुरिसं वा अंतेपुरं णीणेति पवेसेति वा एस दंडरक्खितो । दोवारिया दारं चेव जं संमेल्लेति डिक्केति ता तप्पिथा रण्णो आणत्तीए अंतेपुरियसमीवं गच्छंति । अंतेपुरिया णत्तीए वा रण्णो समीवं गच्छंति जे रण्णो समोवं अंतेपुरिया णयंति आणेंति चाइन्नएहायं वा कहकाहिते कुपियं वा पसादेंति कहेंति य रण्णो वित्ते कारणे अणुस्सासो वि जे अग्गतो काउं वयंति ते महत्तरगा । अण्णे य इमे दोसा ॥

अण्णे व होंति दोसा, आइण्णो गुम्मरतणइत्थीओ ।
तण्णीसाए पवेसो, तिरिक्खमणया जवे दुट्ठा ॥ २२ ॥

पूर्ववत् ।

सद्दादिइंदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं सीवे ।
सिंगारकहाकहणे, एगतरुजए य बहु दोसा ॥ २३ ॥

तत्थ गीयादिसद्दोवओगेण इरियं एसणं वा ण सोहेति तहिं वा पुच्छितो सिंगारकहं कहेज्ज । तत्थ य आयपरोजयसमुत्था दोसा एते सट्ठाणत्थे दोसा । इमे परट्ठाणे ।

केहिता वहोंति दोसा, केरिसगा कप्पणगिएहणादीया ।
गव्वो पायसिउत्तं, सिंगाराणं व संजरणं ॥ २४ ॥

उज्जाणादिट्ठियासु कोइ साधू कोउगेण गच्छेज्ज ते चेव पुव्ववण्णिया दोसा सिंगारकहाकहणे वा गण्हणादिया दोसा अंतेपुरे धम्मकहा णाणगव्वं गच्छेज्ज ओरालसरीरो वा गव्वं करेज्ज अंतेचरपवेसे ओज्झातितो मिहह, अत्थे पदादिकप्पं करेंते पाउसद्दोसा भवंति सिंगारे य सोच्चं पुव्वरयकीलिते सुमरेज्ज अहवा पाउ दट्ठु अप्पणो पुव्वसिंगारे संभरेज्ज पच्छा पमिगमणादी दोसा हवेज्ज ।

वितियपदमणाजोगे, विसंधिपरिसेववसेज्जसंथारे ।
इयमादी उट्ठाणे, संघकुलगणाण कज्जे व ॥ २५ ॥

अणाभोगेण पविट्ठो अहवा अंतेपुरं परट्ठाणत्थं साधुणा णातं पयाओ अंतेपुरिअत्ति पुव्वभासेण पविट्ठो अयाणंतो अहवा साधू उज्जाणादिसु ठिता रायंतेपुरं च सव्वओ समंता आगओ परिवेढिय ठियं अण्णवसहिअभावे य तं वसहिं अंतेपुरं मज्झेण अतिंति णिंति वा । अहवा संथारगस्स पच्चप्पणाणट्ठओ पविट्ठो अहवा सीहवग्घमहिसादियाण उट्ठाण परुणीयस्स वा जया रायंतेपुरं पविसेज्जा अण्णतो णत्थि णीसरणो वा तो कज्जेति कुलगणसंघकज्जेसु वा पविसेज्जा तत्थ देवी दव्वसारायणं उपणेति अंतेपुरपविट्ठो रायदव्वो नि० चू० ९ उ० ।

अंतेउरपरिवारसंपरिवुड–अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत–त्रि० अन्तःपुरं च परिवारश्च अन्तःपुरलक्षणो वा परिवारो यः सः । ताभ्यां तेन वा संपरिवृतः । अन्तःपुरलक्षणेन परिवारेण अन्तःपुरेण परिवारेण वा संपरिवृते, ज्ञा० ८ अ० ।

अंतेउरिया–आन्तःपुरिकी–स्त्री० अन्तःपुरे विद्या आन्तपुरिकी । रोगिप्रागुण्यकारके विद्याभेदे, यया आतुरस्य नाम गृहीत्वा आत्मनोऽङ्गमपमार्जयति आतुरश्च प्रगुणो जायते सा आन्तःपुरिकी व्य० ५ उ० ।

अंतेवासि (न्) अन्तेवासिन्–पुं अन्ते समीपे वस्तुं चारित्रक्रियायां वस्तुं शीलं स्वभावो यस्येत्यन्तेवासी । दशा० ४ अ० ।

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी। शिष्ये, स्था० सं० प्र० । जं० । सूर० । रा० । भ० ।

अन्तेवासिनां भेदप्रतिपादनार्थमाह ।

चत्तारि अंतेवासी पन्नत्ता तंजहा उद्देसणंतेवासी नामं एगे नोवायणंतेवासी, वायणंतेवासी नामं एगे नो उद्देसणंतेवासी, एगे उद्देसणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, एगे नो उद्देसणंतेवासी वि नो वायणंतेवासी वि ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धप्रतिपादनार्थमाह ।

पमुच्चायरियं होइ, अंतेवासी उ मेलणा ।
अंतिगमब्भासमासन्नं, समीवं चेव आहियं ॥

अधस्तनानन्तरसूत्रे आचार्याः प्रोक्ताः आचार्यं च प्रतीत्यान्तेवासी भवति ततोऽन्तेवासिसूत्रमित्येषां मेलतः संबन्धः । अत्रान्तेवासी तत्र योऽन्तशब्दस्तद्व्याख्यानार्थमेकार्थिकान्याह । अन्तं नाम अन्तिकमभ्यास आसन्नं समीपं चाख्यातं तत्र वसतीत्येवंशीलोऽन्तेवासी ।

संप्रति भङ्गभावनार्थमाह ।

जह चेव उ आयरिया, अंतेवासीति होंति एमेव ।
अंते य वसति जम्हा, अंतेवासी ततो होइ ॥

यथा चैव आचार्या उद्देशनादिभेदतश्चतुर्द्धा भवन्ति एवमेव अन्तेवासिनोऽपि यस्मादाचार्यस्यान्ते वसति तस्माद्भवत्याचार्यवच्चतुर्द्धोऽन्तेवासी । इयमत्र भावना यो यस्यान्ते उद्देशनमेवाधिकृत्य वसति वर्त्तते स तं प्रत्युद्देशनान्तेवासी । यस्य त्वन्ते वाचनामेवाधिकृत्य वसति तस्य वाचनान्तेवासी । यश्चोद्देशनं वाचनां वाधिकृत्य यस्यान्ते वसति स तं प्रत्युभयान्तेवासी । यस्य त्वन्ते नोद्देशनं नापि वाचनामधिकृत्यान्ते वसति किं तु धर्म्मश्रवणमधिकृत्य स तं प्रत्युभयविकलो धर्म्मान्तेवासी । उद्देशनान्तेवासी वाचनान्तेवासी वा । तत्र कश्चित्त्रिभिरपि प्रकारैः समन्वितो भवति कश्चिद् द्वाभ्यां कश्चिदेकैकेन । व्य० १० उ० ।

चत्तारि अंतेवासी पन्नत्ता तंजहा पव्वावणंतेवासी णो उवट्ठावणंतेवासी, उवट्ठावणंतेवासी, णाममेगे णो पव्वावणंतेवासी, पव्वावणंतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि, एगे णो पव्वावणंतेवासी णो उवट्ठावणंतेवासी ॥

अन्ते गुरोः समीपे वस्तुं शीलमस्येत्यन्तेवासी शिष्यः । प्रव्राजनया दीक्षया अन्तेवासी प्रव्राजनान्तेवासी दीक्षित इत्यर्थः । उपस्थापनान्तेवासी महाव्रतारोपणतः शिष्य इति चतुर्थभङ्गकस्थः क इत्याह धर्म्मान्तेवासीति धर्मप्रतिबोधनतः शिष्यो धर्माथितयोपसम्पन्नो वेत्यर्थः । स्था० ४ ठा० ।

वीरान्तेवासिनां वर्णकः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे समणा भगवंतो अप्पेगइया उग्गपव्वइआ भोगपव्वइया राइण्णणातकोरव्वखत्तिअपव्वइआ भडा जोहा सेणावइपसत्थारो सेट्ठी इब्भे अण्णे बहवे एवमाइणो उत्तमजातिकुलरूवविणयविण्णाणवण्णलावण्णविक्कमपहाण-सोभग्गकंतिजुत्ता बहुधणधण्णणिचयपरियालफिडिआ णरवइगुणाइइच्छिअभोगा सुहसंपलिआ किंपागफलोवमं च मुणिअ विसयसोक्खं जलबुब्बुअसमाणं कुसग्गजलबिंदुचंचलं जीवियं च णाऊण अद्धुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरणं जाव पव्वइआ । अप्पेगइआ अद्धमासपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं दुमासा तिमासा जाव एक्कारस । अप्पेगइया वासपरिआया दुवास तिवासा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे णिग्गंथा भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव केवलणाणी । अप्पेगइआ मणबलिआ वयबलिआ कायबलिआ अप्पेगइआ मणेणं सावाणुग्गहसमत्था ३ अप्पेगइआ खेलोसहिपत्ता एवं जल्लोसहि विप्पोसहि आमोसहि सव्वोसहि अप्पेगइआ कोट्ठबुद्धी एवं बीअबुद्धी पडबुद्धी अप्पेगइया पयाणुसारी अप्पेगइआ संभिन्नसोआ अप्पेगइया खीरासवा अप्पेगइआ महुआसवा अप्पेगइआ सप्पिआसवा अप्पेगइआ अक्खीणमहाणसिआ एवं उज्जुमती अप्पेगइआ विउलमई विउव्विणिड्ढिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासातिवाइणो । अप्पेगइआ कणगावलिं तवोकम्मं पडिवण्णा एवं एकावलिं खुड्डाकसीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा अप्पेगइया महालयं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवण्णा भद्दपडिमं महाभद्दपडिमं सव्वतोभद्दपडिमं आयंबिलवद्धमाणं तवोकम्मं पडिवण्णा मासिअं भिक्खुपडिमं एवं दोमासिअं पडिमं तिमासिअं पडिमं जाव सत्तमासिअं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा पढमं राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा जाव तच्चं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा । अहोराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा इक्कराइंदिअं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा सत्तसत्तमिअं भिक्खुपडिमं अट्ठट्ठमिअं भिक्खुपडिमं णवणवमिअं भिक्खुपडिमं दसदसमिअं भिक्खुपडिमं खुड्डियमोअपडिमं पडिवण्णा महल्लियं मोअपडिमं पडिवण्णा जवमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा वज्जमज्झं चंदपडिमं पडिवण्णा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति औ० ७१पत्र. ।

(मनोबलिकादीनामर्थः स्वस्वशब्दे)

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना बलसंपण्णा रूवसंपण्णा विणयसंपण्णा णाणसंपण्णा दंसणसंपण्णा चरित्तसंपण्णा लज्जासंपन्ना लाघवसंपन्ना उ अंसीतेअंसी वच्चंसी जसंसी जिअकोहा जियमाणा जिअमाया जिअलोभा जिअइंदिआ जिअणिद्दा जिअपरीसहा जीविआसमरणभयविप्पमुक्का वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिग्गहप्पहाणा

निच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विज्जापहाणा मंतप्पहाणा वेअप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोअप्पहाणा चारुवन्ना लज्जातवस्सी जिइंदिआ सोही अणियाणा अप्पसुआ अबहिल्लेस्सा अप्पडिलेस्सा सुसामण्णरया दंता इणमेव णिग्गंथे पावयणं पुरओ काउं विहरंति तेसि णं भगवंताणं आयवादी विदिता भवंति परवादी विदिता भवंति आयावादं जमइत्ता नलवणमिव मत्तमातंगा अच्छिद्दपसिणवागरणं रयणकरंडगसमाणा कुत्तिआवणभूआ परवादिपमद्दणा दुवालसंगिणो समत्तगणिपिडगधरा सव्वक्खरसण्णिवाइणो सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा इव अवितहं वा करेमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे अणगारा भगवंतो इरिआसमिआ भासासमिआ एसणासमिआ आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिआ उच्चारापासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिआ मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी अममा अकिंचणा छिण्णगन्था छिण्णसोआ निरुवलेवा कंसपातीव मुक्कतोआ संख इव निरंगणा जीवो विव अप्पडिहयगती जच्चकणगं पिव जातरूवा आदरिसफलगा विव पगडभावा कुम्मो इव गुत्तिंदिआ पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा गगणमिव निरालंबणा अणिलो इव निरालया चंद इव सोमलेसा सूर इव तेअलेसा सागरो इव गंभीरा विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का मंदर इव अप्पकंपा सायरसलिलं व सुद्धहिअया खग्गविसाणं व एगजाया भारंडपक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव जायत्थामा सीहो इव दुद्धरिसा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहुअहुआसणो इव तेअसा जलंता नत्थि णं तेसि णं भगवंताणं कत्थ य पडिबंधे । से अपडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं सचित्ताचित्तमीसएसु दव्वेसु, खेत्तओ गामे वा णगरे वा रण्णे वा खेत्ते वा खले वा घरे वा अंगणे वा, कालओ समए वा आवलिआए वा जाव आयाणे वा अण्णत्तरे वा दीहकालसंजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा मायाए वा लोहे वा भए वा हासे वा एवं तेसि णं भवइ तेणं भगवंतो वासावासवज्जं अट्ठ गिम्हहेमंतिआणि मासाणि गामे एगराइआ णगरे पंचराइआ वासी चंदणसमाणकप्पा समलेट्ठुकंचणा समसुहदुक्खा इहलोगपरलोगअप्पडिबद्धा संसारपारगामी कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिआ विहरंति ॥ औ० १०१ पत्र. ।

(पदार्थमात्रविन्यासिनी टीकेति न विन्यस्ता) (तेसि णं भगवंताणं एते णं विहारेणं विहरमाणा णं इमेयारूवे अब्भिंतरए बाहिरए तवोवहाणे होत्था तंजहा अब्भिंतरए छव्विहे बाहिरए छव्विहे इत्यादितव आदिशब्देषु प्रदर्शयिष्यते । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो अप्पेगइया आयारधरा इत्याद्यणगारशब्दे) ।

वीरान्तेवासिनः कति सेत्स्यन्तीति पृच्छा ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्काओ कप्पाओ महासग्गाओ विमाणाओ दो देवा महड्ढिया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूया । तए णं ते देवा समणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं पुच्छंति । कइ णं देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे भगवं महावीरे तेहिं देवेहिं मणसा पुट्ठे तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरेइ एवं खलु देवाणुप्पिया मम सत्त अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति तए णं ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्ठेणं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा हट्ठतुट्ठ जाव हियया समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति मणसा चेव सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा जाव पज्जुवासंति भ० ५ श० ४ उ० ।

इहापि टीका प्रसिद्धशब्दार्थमात्रविन्यासिनीति न गृहीता ।

अन्तो–अन्तर्–अव्य० मध्ये, दशा० २ अ० । "अंतो पडिग्गहगंसि" आचा० २ श्रु० ६ अ० । स्था० । ज्ञा० । प्रश्न० । आव० । सूत्र० । "एवामेव मायी मायं कट्टु अंतो अंतोज्झियाइ" अन्तरन्तःक्रियया ध्मायन्ति इन्धनैर्दीप्यन्ते स्था० ८ ठा० ।

अंतोअंत–अन्तोपान्त–पुं० सान्तमध्ये, "तुमं चेव णं संतियं वत्थं अंतोअंतेण पडिलेहिस्सामि" त्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षितं गृह्णीयाम । अन्तःसहितमन्तोपान्तकरपडिलेहादिग्रहणकरे, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

अंतोकरण–अन्तःकरण–न० कृ-करणे- ल्युट् । अन्तरभ्यन्तरस्थं करणं कर्मधा० । तद्वृत्तिपदार्थानां सुखादीनां करणं ज्ञानसाधनम । ज्ञानसुखादिसाधने, अभ्यन्तरे मनोबुद्धिचित्तादिपदाभिलप्यमाने इन्द्रिये, वाच० । तच्चान्तःकरणं स्मृतिप्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पाहंवृत्त्याकारेण चित्तबुद्धिमनोऽहंकारशब्दैर्व्यवह्रियते न० ।

अंतोखरियत्ता–अन्तःखरिका–स्त्री० नगराभ्यन्तरवेश्यायाम्, विशिष्टवेश्यायां च । "दोच्चं पि रायगिहे णयरे अंतोखरियत्ताए उववज्जिहिति" भ० १५ श० १ उ० ।

अंतोगिरिपरिरय–अन्तर्गिरिपरिरय–पुं० गिरेरन्तः परिक्षेपे, जी० ३ प्रति० ।

अन्तोजल–अन्तर्जल–न० जलाभ्यन्तरे, "अन्तो जले वि एवं गुज्झंगं कामलुद्धाणिच्छंते" बृ० १ उ० ।

अंतोणाय–अन्तर्नाद–त्रि० हृदये सदुःखमारटति, "छोपउं मुहं हत्थेणं अंतोणायं गले रवं" आव० ४ अ० ।

अंतोणियसणी–अन्तर्निवसनी–स्त्री० आर्याणामौघिकोपधिभेदे, तत्स्वरूपम् ॥ "अंतोणियंसणी पुण, लीणतरा जाव अद्धजंघातो" । अन्तर्निवसनी पुनरुपरिकटिभागादारभ्याधोऽर्धजङ्घा यावत् भवति सा च परिधानकाले लीनतरा परिधीयते मा भूदनावृता जनोपहास्येति" बृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।

अंतोदहणसील–अन्तर्दहनशील–त्रि० हृदयस्य दुःखाग्निना दाहके, "फुंफुया विव अंतोदहणसीलाओ" (नार्य्यः) फुंफकः करीषाग्निस्तद्वत् अन्तर्दहनशीलाः पुरुषाणामन्तर्दुःखाग्निना ज्वालनत्वात् । उक्तं च "पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विलासकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति कायम्" तं० ४६ पत्र. ।

अंतोदुट्ठ–अन्तर्दुष्ट–पुं०न० क्षुतादिदोषतो नवहीराद्यभावेन सौम्यत्वात् अभ्यन्तरदोषयुते मणिभेदे, शठतया संवृताकारत्वादु हृदयदुष्टे पुरुषभेदे च पुं० स्था० ४ ठा० ।

अंतोधूम–अन्तर्धूम–पुं०अभ्यन्तरधूमे,गृहादिनिरुद्धधूमे. आव०४अ.

अंतोमज्झोवसाणिय–अन्तर्मध्यावसानिक–पुं० लोकमध्यावसानिकाख्ये अभिनयभेदे, नाट्यकुशलेभ्यो ऽयं विशेषतो वेदितव्यः रा० ।

अंतोमुह–अन्तर्मुख–न० अभ्यन्तरद्वारे, "अंतोमुहस्स असती उभयमुहे तस्स बाहिरं पिहए" वृ० १ उ० ।

अंतोमुहुत्त–अन्तर्मुहूर्त–न० मुहूर्त्तस्य घटिकाद्वयलक्षणस्य कालविशेषस्यान्तर्मध्ये ऽन्तर्मुहूर्त्तम् । निपातनादेवात्र अन्तःशब्दस्य पूर्वनिपातः नं० । भिन्नमुहूर्त्ते, आव०५ अ० ।

अंतोलित्त–अन्तर्लिप्त–त्रि० अन्तर्मध्ये लिप्तमन्तर्लिप्तम् । मध्ये लेपेनोपदिग्धे, "घडिमंतोलित्तं" वृ० १ उ० ।

अंतोवट्ट–अन्तर्वृत्त–त्रि० मध्ये वृत्तसंस्थानसंस्थिते, "तेणं णरगा अंतोवट्टा बहिं चउरंसा" बाहुल्यमङ्गीकृत्यान्तर्मध्ये वृत्ता सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंतोवत्ति–अन्तर्व्याप्ति–स्त्री० पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तौ, यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्वस्य तथैवोपपत्तेः र० ६ पत्र ।

अंतोवाहिणी–अन्तर्वाहिनी–स्त्री०मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे प्रवहन्त्यामन्तरनद्याम्, स्था० ३ ठा० । "कुमुए विजए अरजा रायहाणी अंतोवाहिणी णई" जं० ४ वक्ष० ।

अंतोवीसंभ–अन्तोविश्रम्भ–पुं० अन्तर्विश्रम्भः त०स० । तोऽन्तरीत्यस्य क्वाचित्कत्वान्नान्तस्यैत्वम् । चित्तविश्वासे, "अंतोवीसंभनिवेसिआणं" प्रा० ।

अंतोसल्ल–अन्तःशल्य–त्रि० अन्तर्मध्ये शल्यं यस्य अदृश्यमानमित्यर्थः तत्तथा । बहिरनुपलक्ष्यमाणे व्रणभेदे, स्था०४ ठा० । अनुद्धृततोमरादौ, भ० २ श० ५ उ० । अन्तर्मध्ये मनसीत्यर्थः । शल्यमिव शल्यमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशल्यः । अभिमानादिभिरनालोचितातिचारे, स० ५१ पत्र. ।

अंतोसल्लमयग–अन्तःशल्यमृतक–त्रि० अनुद्धृतभावशल्येषु मध्यवर्त्तिभल्लादिशल्येषु वा सत्सु मृतेषु, औ० २५६ पत्र. ।

अंतोसल्लमरण–अन्तःशल्यमरण–न० अन्तःशल्यस्य द्रव्यतोऽनुद्धृततोमरादेर्भावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्यमरणम् । बालमरणभेदे, भ० २ श० १ उ० । स० ।

तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्सुयमयेण वावि दुच्चरियं ।
जेण कहेंति गुरूणं, ण हु ते आराहगा होंति ।
गारवपंकणिवुड्डा, अइयारं जे परस्स ण कहेंति ।
दंसणणाणचरित्ते, ससल्लमरणं हवति तेसिं उत्त० नि० ।

तत्र लज्जया अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकया गौरवेण च सातर्द्धिरसगौरवात्मकेन मा ज्ञून्ममालोचनार्हमाचार्यमुपसर्पतस्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोनुष्ठानासेवनेन च ऋद्धिरससाताभावसंभव इति बहुश्रुतमदेन वा बहुश्रुतोऽहं तत्कथमल्पश्रुतोऽयं मम शल्यमुद्धरिष्यति कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं दास्याम्यपभ्राजना हीयं ममेत्यभिमानेन अपिः पूरणे ये गुरुकर्माणो न कथयन्ति नालोचयन्ति केषां गुरूणामालोचनार्हाणामाचार्यादीनां किं तत् दुश्चरितं दुरनुष्ठितमिति संबन्धः । न हु नैव तेऽनन्तरमुक्तरूपाः आराधयन्त्यविकलतया निष्पादयन्ति सम्यग्दर्शनादीनीत्याराधका भवन्ति । ततः किमित्याह । गौरवपङ्क इव कालुष्यहेतुतया तस्मिन्निबुडा इति प्राकृतत्वान्निमग्ना इव निमग्नास्तत्कोमीकृततया लज्जामदयोरपि प्रागुपादाने यदिह गौरवस्यैवोपादानं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम् । अतिचारमपराधं परस्याचार्यादेर्न कथयन्ति किं विषयमित्याह । दर्शनज्ञानचारित्रे दर्शनज्ञानचारित्रविषयं दर्शनविषयं शङ्कादि ज्ञानविषयं कालातिक्रमादि चारित्रविषयम् । समित्यननुपालनादि शल्यमिव शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधानं प्रत्यवन्ध्यतया सह तेनेति सशल्यं तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणं तच्चान्तःशल्यमरणं भवति । तेषां गौरवपङ्कमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥

अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह ।

एतं ससल्लमरणं, मरिऊण महाभए दुरंतम्मि ।
सुचिरं भमंति जीवा, दीहे संसारकंतारे ॥ उत्त० नि०

एतदुक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथेत्युपस्कारः । सुव्यत्ययाद्वा एतेन सशल्यमरणेन मृत्वा त्यक्त्वा प्राणान् जीवा इति संबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति क्व संसारः कान्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारस्तस्मिन्निति संटङ्कः कीदृशि महद्भयं यस्मिंस्तन्महाभयं तस्मिंस्तथा दुःखेनान्तःपर्यन्तो यस्य तद्दुरन्तं तस्मिन् । तथा दीर्घे अनादौ केषांचिदपर्यवसिते चेति तत्सर्वथा परिहर्त्तव्यमेवेति भाव इति गाथार्थः । प्रव० १५७ द्वा० ।

अंत्रडी–स्त्री०–अन्त्र–न० अपभ्रंशे स्वार्थिकप्रत्यये कृते । लिङ्गमतन्त्रम् ८।४।४५। इति नपुंसकस्याऽपि स्त्रीत्वम् । उदरमध्याऽवयवभेदे, "पाइविलग्गी अंत्रडी" प्रा० ।

अंदू–अन्दू–स्त्री० अन्द्यते बध्यतेऽनेनेति अदि-कू-वाच० । निगडे, "अंदू सुपक्खित्तप्पविहन्न देहे" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंदेउर–अन्तःपुर–न० अधःक्वचित् ८।४।२६० इति शौरसेन्यां तकारस्य दकारः । राजस्त्रीणां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग–आन्दोलक–पुं० यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमान्दोलयन्ति ते आन्दोलकाः । हिण्डोल इति लोकप्रसिद्धेषु, जी० ३ प्रति० । रा० । जं० । दोलनकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

अंदोल (ल्ल) ण—अ (आ) न्दोलन—न० वृक्षशाखादौ खेलने, ध० २ अधि०। करणे-घञ्-हिण्डोल इति प्रसिद्धे आन्दोलनयन्त्रे, सूत्र० १ श्रु०११ अ०। यत्रान्दोलनेन दुर्गमतिलङ्घ्यते तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

अंध—अन्ध—त्रि० अन्ध-अच्-नयनरहिते, द्वा० १२ द्वा०। षो०। पञ्चा०। सूत्र०। स चान्धो द्विधा जात्यन्धः पश्चाद्वा हीननेत्रोऽपगतचक्षुः सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। स चान्धो द्रव्यतो भावतश्च। तत्रैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाः द्रव्यभावान्धाः। चतुरिन्द्रियादयस्तु मिथ्यादृष्टयो भावान्धाः उक्तञ्च "एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम्। एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्वतोऽन्ध-स्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः" सम्यग्दृष्टयस्तूपहतनयना द्रव्यान्धास्त एव सचक्षुषो न द्रव्यतो नापि भावतस्तदेवमन्धत्वं द्रव्यभावभेदभिन्नमेकान्तेन दुःखजननमवाप्नोतीत्युक्तञ्च "जीवन्नेव मृतोऽन्धो, यस्मात्सर्वक्रियासु परतन्त्रः। नित्यास्तमितदिनकर-स्तमोन्धकारार्णवनिमग्नः" "लोकद्वयव्यसनवह्निविदीपिताङ्ग-मन्धं समीक्ष्य कृपणं परयष्टिनेयम्। को नोद्विजेत भयकृज्जननादिवोग्रात्, कृष्णाहिनैकनिचितादिव चान्धगर्तात्" आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। अन्ध इवान्धः। अज्ञाने, ज्ञानरहिते, "एएणं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा" भ० ७ श० ७ उ०। "तिष्ठतो व्रजतो वापि, यस्य चक्षुर्न दूरगम्। चतुष्पदां भुवं मुक्त्वा, परिव्राडन्ध उच्यते" इत्युक्तलक्षणे परिव्राड्भेदे, वाच०। पुं०। अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-चु० प्रेरणे-णिच् अच्। अन्धकरणे, अच् वा अन्धकारे, तमसि, अज्ञाने च। जले, न. मेदि०। वाच०।

अन्ध्र—पुं० अन्ध्र-रक्०। देशभेदे, स च देशः जगन्नाथादूर्ध्वभागादर्वाक् श्रीभ्रमरात्मकात् तावदन्ध्राभिधो देश इत्युक्तः वाच०। तद्देशोत्पन्ने जने च. व्य०७ उ०। स च म्लेच्छत्वेनोक्तः प्रज्ञा० १ पद.। प्रश्न०। प्रव०। सूत्र०। वैदेहेन कारावरस्य स्त्रियामुत्पादिते अन्त्यजभेदे, व्याघ्रभेदे इति काश्यपः वाच०।

अंधकंटइज्ज—अन्धकण्टकीय—न० अन्धस्यावितर्कितकण्टकोपगमनरूपेऽतर्कितोपगमने, आचा० १ श्रु० १ अ०।

अंधकड—आन्ध्यकृत्—त्रि० स्वरूपावलोकनशक्तिविकले, अष्ट० २ अष्ट०। अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्" अष्ट०।

अंधका (या) र—अन्धकार—पुं० न० अन्धं करोति कृ-अण् उप०। वाच०। कृष्णभूतध्वादिभवे, अरुणभवसमुद्भोद्भवतमस्काये च. सं० ४६ पत्र.। बहुलतमोनिकुरम्बे, अनु०। स्था०। ज्ञा०। तच्च तेजोद्रव्यसामान्याभावरूपमिति नैयायिकाः वाच०। "कालं महलं तं पिय वियाण तं अंधयारं ति" इत्युक्तलक्षणः पुद्गलपरिणाम इति समयविदः सूत्र० १ श्रु० १ अ०। अन्यत्रापि "सद्दंधयारउज्जोओ, पहाछायातवेइया। वन्नगंधरसाफासा पोग्गलाणं तु लक्खणं" उत्त० २ अ०। नच तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धं चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत्। अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं प्रतिभासे आलोकमपेक्षते नचैवं तमस्तत्कथं चाक्षुषं मैवम् उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते विचित्रत्वाद्भावानां कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षा इति सिद्धं तमश्चाक्षुषम्। रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते। शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिविडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि स्या० ६ पत्र.।

सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमधिकृत्यान्धकारसंस्थितिं प्रतिपिपादयिषुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह।

तता णं किंसंठिता अंधकारसंठिती आहितातिं वदेज्जा। ता उद्धीमुहकलंबुतापुप्फसंठिता आहितेति वदेज्जा। अंतोसंकुडा बाहिं वित्थडा तं चेव जाव ता से णं दुवे बाहातो अणवट्ठितातो भवंति तं सव्वब्भंतरिता चेव बाहा सव्वबाहिरिता चेव बाहा। तीसे णं सव्वब्भंतरिता बाहा मंदरं पव्वयं तेणं छ जोयणसहस्साइं तिन्नि य चउव्वीसे जोयणसते छ दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं। ता से णं परिक्खेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा। ता जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवेणं तं परिक्खेवं दोहिं गुणिता दसहिं छेत्ता दसहिं भागे हिरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहितातिं वदेज्जा। ता से णं सव्वबाहिरिता बाहा लवणसमुद्दं तेणं तेवट्ठिं जोयणसहस्साइं दोन्नि य पणयाले जोयणसते छच्च दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं ता से णं परिक्खेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा। ता जे णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स परिक्खेवेण परिक्खेवं दोहिं गुणित्ता दसहिं छेत्ता दसहिं भागे हिरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहितातिं० ता मे णं अंधकारे केवतितं आयामेणं आहितातिं० ता अट्ठुत्तरिं जोयणसहस्साइं तिन्नि य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिभागं च आयामेणं आहितेति वदेज्जा तता णं उत्तमकट्ठे उक्कोसे अट्ठारस मुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालस मुहुत्ता राती भवति। ता जता णं सूरिए सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता उद्धीमुहकलंबुता पुप्फसंठिया तावक्खत्तसंठिती अंतो संकुडा बाहिं वित्थडा जाव सव्वब्भंतरिया चेव बाहा सव्वबाहिरिता चेव बाहा। ता से णं सव्वब्भंतरिता बाहा मंदरपव्वतेणं छ जोयणसहस्साइं तिन्नि य चउव्वीसे जोयणसते छच्च दसभागे जोयणस्स एवं जंपमाणं अब्भंतरमंडले अंधकारसंठिते तं इमाए वि तावखेत्त संठिती णेतव्वा। बाहिरमंडले आयामो सव्वत्थ वि एक्को तया णं किंसंठिता अंधकारसंठिती आहितातिं वदेज्जा। ता उद्धीमुहकलंबुता पुप्फसंठिता अंधकारसंठिती आहितातिं वदेज्जा। अंतो संकुडा बाहिं वित्थडा तं चेव जाव सव्वब्भंतरिता बाहा सव्वबाहिरिता आहिता चेव बाहा। ता से णं सव्वब्भंतरिता बाहा मंदरपव्वयं तेणं णव जोयणसहस्साइं चत्तारि य छलसीते जोयणसते णव दसभागे एवं जंपमाणे अब्भं-

तरमंमलठिए सूरिए तावखेत्तसंठितीए तं चेव णेयव्वं जाव आनामो ता जता णं उत्तमउक्कोसा अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति जहएणए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति।

तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले (किं संठिअत्ति) किं संस्थितं संस्थानं यस्याः । यद्वा कस्येव संस्थानं संस्थिति-र्यस्याः सा किंसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत्। भगवानाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्ध्वीकृतकल-म्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत्। सा चान्तर्मेरुदिशि विष्कम्भमधिकृत्य (संकुडा) संकुचिता बहिर्लवणदिशि विस्तृता । तथा अन्तर्मेरोर्दिशि वृत्ता ऊर्ध्व वलयाकारा सर्वतो वृत्ता मेरुगतौ द्वौ देशभागौ व्याप्य तस्या-वस्थितत्वात् । बहिर्लवणदिशि पृथुला विस्तीर्णा एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टयति " अंतो अंकमुहसंठिआ बाहिं स-त्थिमुहसंठिआ " अनयोः पदयोर्व्याख्यानं प्राग्वत् वेदितव्यम्। "उभओपासेणमित्यादि" तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्र-संस्थितेर्द्वैविध्यवशाद् द्विधा व्यवस्थिताया मेरुपर्वतस्योभय-पार्श्वेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगते बाहे ते आयामेन आयामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्त-थथा पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि (४५०००) द्वे च बाहे विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवतस्तद्यथा सर्वाभ्यन्तरा सर्वबाह्या च एतयोश्च व्याख्यानं प्रागिव द्रष्ट-व्यम । ततः सर्वाभ्यन्तराया बाहाया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमा-णमभिधित्सुराह (तासेणमित्यादि)तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाहा मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे सा च षड्योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) षट् दश भागा योजनस्य (६) यावत् परिक्षेपे-णाख्याता इति वदेत् । अमुमेवार्थं स्पष्टावबोधनार्थं पृच्छति (ता से णं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थि-तेर्यथोक्तः परिमाणपरिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषः कृतः । कस्मात्कारणादाख्यातो नोनाधिको वेति भग-वान् वदेत् एवं प्रश्ने कृते भगवानाह । ता इति प्राग्वत् । यो णमिति वाक्यालङ्कारे मन्दरपर्वतस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणः तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वाभ्यां गुणनमिति चेदुच्यते इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्य-योरेकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण दश भागास्त्रयः प्र-काश्या भवन्ति । अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या दश भागास्तत उभयमीलने षट्दश भागा भवन्ति तेषां त्रयाणां दशानां भागानामपान्तराले द्वौ द्वौ दशभागौ रजनी ततो द्वाभ्यां गुणनं तौ च दशभागाविति दशभिर्भागहरणं द-शभिर्भागहरणे यथोक्तं मन्दरस्य समीपे अन्धकारसंस्थिति-परिमाणमागच्छति। तथाहि मेरुपर्वतपरिरयपरिमाणमेकत्रिंश-द्योजनसहस्राणि षट् शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि (३१६२३) एतानि द्वाभ्यां गुण्यन्ते जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते ष-ट्चत्वारिंशदधिके (६३२४६) एतेषां च दशभिर्भागे हृते ल-ब्धानि षट् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिका-नि । षट्दश भागा योजनस्य (६३२४) (६) तत एव एतावान-नन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्दरपरिरयपरि-क्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत । तदेवमुक्तमन्धकार-संस्थितेः सर्वाभ्यन्तराया बाहाया विष्कम्भपरिमाणम्। अधुना सर्वबाह्याया बाहाया आह । " तासेणं इत्यादि" तस्या अन्ध-कारसंस्थितेः सर्वबाह्या बाहा लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्र-समीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरयप-रिक्षेपेणाख्याता त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंश-द्योजनशते षट् दशभागा योजनस्य यावत् (६३२४५) (६) एत-देव स्पष्टं स्वशिष्यानवबोधयितुं भगवान् गौतमः पृच्छति "ता-सेणं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः स एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण (१०) विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो नोनाधिको वेति वदेत् भग-वान् वर्द्धमानस्वामी आह "ता जे णं इत्यादि " ता इति पूर्व-वत् यो णमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपः प्रागुक्त-प्रमाणस्तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा दशभिश्छित्वा दशभिर्वि-भज्य अत्र च करणं प्रागेवोक्तं दशभिर्भागे ह्रियमाणे यथोक्त-मन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपणमागच्छति। तथाहि जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि षोडशसहस्रा-णि द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके (३१६२२८) तद् द्वाभ्यां गुण्यते जातानि षट् लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षट्-पञ्चाशदधिकानि (६३२४५६) तेषां दशभिर्भागे हृते लब्धा-नि त्रिषष्टियोजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके षट् च दशभागा योजनस्य (६३२४५) (६) तत एव एतावाननन्त-रोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपप-रिरयपरिक्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत् । तदेवमुक्तं स-र्वबाह्याया अपि बाहाया विष्कम्भपरिमाणम् । " सम्प्र-ति सामस्त्येनान्धकारस्थितेरायामप्रमाणमाह " । " तासेणं इत्यादि " । इदं चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितिगतायाम-परिमाणवद्भावनीयं समानभावनिकत्वात् । अत्रैव सर्वाभ्यन्त-रे मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययोर्दिवसरात्रिमुहूर्त्तप्रमाणमाह । "तया णं इत्यादि" सुगमं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थि-तिमन्धकारसंस्थितिं चाभिधाय सम्प्रति सर्वबाह्यमण्डले ताम-भिधित्सुराह " ता जया णमित्यादि " ता इति पूर्ववदेव यदा सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति भगवान्वदेत् । भगवानाह । " ता उद्धीमुहेत्यादि " पूर्ववद्व्याख्येया "ता से णं इत्यादि" तस्याश्च तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाहाऽभ्यन्तरमेरुसमीपे सा च परिक्षेपेण मन्दरपरिरयपरिक्षेपणेन षट् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) षट् च दशभागा योजनस्य (६) आख्यातानि मयेति वदेत स्वशिष्येभ्यः । "एवं इत्यादि" एवमुक्ते सति कारणे यदभ्यन्तरमण्डलगतसूर्ये-ऽन्धकारसंस्थितेः प्रमाणमुक्तं तद्बाह्ये बाह्यमण्डलगते सूर्येऽस्या अपि तापक्षेत्रसंस्थितेः परिमाणं भणितव्यम् । तच्चैवम् "ता से णं परिक्खेवविसेसकतो आहिआसि । जेणं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे तं दोहिं भागेहिं हिरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिअत्ति वएज्जा ता जेणं जम्बुद्दीवस्स दीवस्स परिक्खेवं दोहिं गुणिता दसहिं छित्ता दसहिं भागेहिं हिरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिअ त्ति वएज्जा ता से णं तावक्खित्ते केवइयं आयामेणं आहिआसि वएज्जा । तीतेसीइं जोअणसह-स्साइं तिण्णि अ तेतीसइजोअणतिभागं चायामेण आहिआसि वएज्जा" इदं सकलमपि सुगमं नवरं मन्दरपरिरयादेर्यद् द्वाभ्यां गुणनं तत्रेदं कारणम् इह सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरतोः सूर्ययो-

जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र वा प्रदेशे तच्चक्रवालक्षेत्रानुसारेण द्वौ द्वौ दशभागौ तापक्षेत्रम् । एतच्च प्रागेव भावितं ततो मन्दरपरिरयादि द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च दशभिर्भागहरणं तथा सर्वबाह्ये मण्डले सूर्यस्य चारं चरतो लवणसमुद्रमध्ये पञ्चयोजनसहस्राणि तापक्षेत्रं वर्द्धते तनुयशीतियोजनसहस्राणि इत्याद्युक्तम् । शेषाक्षरयोजना तु प्राग्वद्भावनीया तदेवं सर्वबाह्ये मण्डले वर्त्तमाने सूर्ये तापक्षेत्रसंस्थितं परिमाणमभिधाय सम्प्रति तत्रैवान्धकारसंस्थितिपरिमाणमाह । (तया णं किं संठिआ इत्यादि) तदा सर्वबाह्ये मण्डले चारचरणकाले णमिति वाक्यालङ्कारे किंसंस्थिताऽन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत् । भगवानाह "ताउद्धीमुहेत्यादि" सुगमं "ता से णं इत्यादि" तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वाऽभ्यन्तरबाह्या मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे । "ताव जाव परिक्खेवविसेसे आहिअत्ति वएज्जा । ता से णं अंधकारे केवइअं आयामेणं आहिअत्ति वएज्जा ता तेसीइं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तेत्तीसए जोअणस्स जोअणतिभागं च आहिअत्ति वएज्जा" इह यन्मन्दरपरिरयादेस्त्रिनिर्गुणनं हरणं च शेषाक्षरयोजना तु प्राग्वत्कर्त्तव्या । तदेवं सर्वबाह्येऽपि मण्डले तापक्षेत्रसंस्थितिः परिमाणं चोक्तमधुना सर्वबाह्ये मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययो रात्रिन्दिवसमुहूर्त्तपरिमाणमाह । (ता जया णं इत्यादि) तदा सा सर्वबाह्यमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता उत्कृष्टाऽष्टादशमुहूर्त्ता रात्रिर्भवति जघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः तदेवमुक्तं तापक्षेत्रसंस्थितिपरिमाणमन्धकारसंस्थितिपरिमाणं च । चं० प्र० ४ पाहु० । सू० प्र० ॥

उद्योतान्धकारौ दण्डकक्रमेणाह ।

से णूणं भंते ! दिवा उज्जोए राइअंधयारे ? हंता गोयमा ! जाव अंधयारे से केणट्ठेणं ? गोयमा ! दिवा सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे रातिं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे । से तेणट्ठेणं नेरइया णं भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए अंधयारे से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइयाणं असुभा पोग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्ठेणं असुरकुमाराणं भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! असुरकुमाराणं उज्जोए नो अंधयारे । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! असुरकुमाराणं सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्ठेणं जाव एवं वुच्चइ जाव थणियाणं पुढवीकाइया जाव तेइंदिया जहा नेरइया । चउरिंदियाणं भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! उज्जोए वि अंधयारे वि से केणट्ठेणं ? गोयमा ! चउरिंदियाणं सुभासुभा पोग्गला सुभासुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्ठेणं एवं जाव मणुस्साणं वाणमंतरजोइसवेमाणिया जहा असुरकुमारा ॥

"से णूणमित्यादि" (दिवा सुहा पोग्गलत्ति) दिवा दिवसे शुभाः पुद्गला भवन्ति । किमुक्तं भवति शुभपुद्गलपरिणामः स चार्ककरसंपर्कात् (रत्तिंति) रात्रौ (नेरइयाणं असुभा पोग्गलत्ति) तत्क्षेत्रस्य पुद्गलशुभतानिमित्तभूतरविकरादिप्रकाशकवस्तुवर्जितत्वात् । (असुरकुमाराणं सुहा पोग्गलत्ति) तदाश्रयादीनां भास्वरत्वात् (पुढविकाइयेत्यादि) पृथिवीकायिकादयस्त्रीन्द्रियान्ता यथा नैरयिका उक्तास्तथा वाच्या । एषां हि नास्त्युद्योतोऽन्धकारं चास्ति पुद्गलानामशुभत्वात् इह चेयं भावना एतत्क्षेत्रे सत्यपि रविकरादिसंपर्के एषां चक्षुरिन्द्रियाभावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाभावात् । शुभपुद्गलकार्याकरणेनाशुभाः पुद्गला उच्यन्ते ततश्चैषामन्धकार एवेति (चउरिंदियाणं सुभासुभपोग्गलत्ति) एषां हि चक्षुःसद्भावेन रविकरादिसद्भावे दृश्यार्थावबोधहेतुत्वात् शुभाः पुद्गला रविकराद्यभावे त्वर्थावबोधाजनकत्वादशुभा इति भ० ५ श० ९ उ० ।

अधोलोकेऽन्धकारः ।

अहोलोगे णं चत्तारि अंधकारं करेंति तंजहा णरगा णेरइया पावाइं कम्माइं असुभा पोग्गला ॥

"अहेत्यादि" सुगमं किन्तु अधोलोके उक्तलक्षणे चत्वारि वस्तूनीति गम्यते नरका नरकावासा नैरयिका नारका एते कृष्णरूपत्वादन्धकारं कुर्वन्ति पापानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि मिथ्यात्वाज्ञानलक्षणभावान्धकारित्वादन्धकारं कुर्वन्तीत्युच्यते । अथवाऽन्धकारस्वरूपेऽधोलोके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां कर्मणामन्धकारकर्तृत्वमिति तथा अशुभाः पुद्गलास्तमिस्रभावेन परिणता इति । स्था० ४ ठा० । तथा स्थानाङ्गे चतुर्भिः कारणैर्लोके उद्द्योतो भवति तथा अन्धकारमपि अर्हन्निर्वाणेऽर्हत्प्रज्ञप्तधर्मोभावे जाततेजस उच्छेदेऽपि तत्र यथाऽर्हतां निर्वाणे लोकेऽन्धकारं भवति तथा त्रयाणां नाशे समानमुत कश्चिद्विशेषो येन प्रश्ने लोकानुभावादिवार्हदादीनां चतुर्णामप्युच्छेदे द्रव्यान्धकारं समानम् अग्निविनाशे त्रयोच्छेदे भावान्धकारमधिकं स्यादिति विशेषः स्थानाङ्गवृत्त्यनुसारेण ज्ञायत इति १६० श्येन०२ उल्ला० । (अर्हति निर्वाणं गच्छति धर्मे व्युच्छिद्यमाने पूर्वगते वा व्युच्छिद्यमाने लोकान्धकार इत्यर्हच्छब्दे) तमसि, स्था० ३ ठा० । अरुणभवसमुद्रोद्भवतमस्काये च० तं० । तमोरूपत्वात्तस्य भ० । स्था० । अर्शोद्यच् अन्धकारवति, त्रि० ज्ञा० १ अ० । औ० ।

अंधका (या) रपक्ख–अन्धकारपक्ष–पुं० कृष्णपक्षे, सूर० १३ पाहु० ॥

अंधग–अन्हिप–पुं० वृक्षे, भ० १८ श० ४ उ० ॥

अंधगवण्हि–अन्हिपवह्नि–पुं० अन्हिपा वृक्षास्तेषां वह्नयस्तदाश्रयत्वेनेत्यान्हिपवह्नयः । वादरतेजस्कायेषु, भ० १८ श० ४ उ० । अन्धकवह्नि–अन्धका अप्रकाशकाः सूक्ष्मनामकर्मोदयाद्ये वह्नयस्ते अन्धकवह्नयः । सूक्ष्मतेजस्कायेषु, ।

जीवइया णं भंते ! वरा अंधगवण्हिणो जीवा तावइया परा अंधगवण्हिणो जीवा ? हंता ! गोयमा ! जावइया वरा अंधगवण्हिणो जीवा तावइया परा अंधगवण्हिणो जीवा सेवं भंते ! भंतेत्ति ।

तत्परिमाणाः (परात्ति) पराः प्रकृष्टाः स्थितितो दीर्घायुष इत्यर्थः इति प्रश्नः हन्तेत्याद्युत्तरमिति । भ० १८ श० ४ उ० । यदुवंशजनृपभेदे, "वारवतीए णयरीए अंधगवण्हि णामं राया परिवसइ महया हिमवंत वण्णओ तस्स णं अंधगवण्हिस्स रण्णो धारणी णामं देवी होत्था" अन्त० । अन्धकवह्नेर्दश पुत्राः "समुद्दे १ सागरे २ गंभीरे ३ थिमिए ४ अयले ५ कंपिल्ले ६ अक्खोभे ७ पसेणई ८ विण्हुई ९ एते मघ एतेषां प्रथमो गौतम इति दश-अन्त० १ वर्ग० । "अहं व

भोगरायस्स तं स सि अंधगवरिहणो"। त्वं च भवसि अन्धकवृष्णेः समुद्रविजयस्य सुत इति गम्यते " दश०२अ०। ग०।

अंधतम–अन्धतमस–न० अन्धकारे, तत्रान्धतमसस्तेजोरूपान्तरस्य संक्रमे, "असूरियं नाम महाभितावं अंधंतमं दुप्पतरं महंतं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ०। (अत्र प्राकृतत्वादन्धतम इति)

अंधतमस–अन्धतमस–न० अन्धं करोतीत्यन्धयति अन्धयतीत्यन्धं तच्च तमश्चेति अन्धतमसम्। समवान्धात्तमस इत्यप्रत्ययः। निबिडान्धकारे, स्या० ६८ पत्र०।

अंधतामिस्स–अन्धतामिस्र–न० तमिस्रा तमस्सन्ततिः। तमिस्रैव तामिस्रम्। अन्धयतीत्यन्धम् कर्म–स०। निबिडान्धकारे, साङ्ख्यशास्त्रप्रसिद्धे भयविशेषविषयकेऽभिनिवेशे, पुं० स्या० ३१ पत्र.। देहे नष्टे अहमेव नष्ट इत्यज्ञाने च. वाच०।

अंधपुर–अन्धपुर–न० नगरभेदे, यत्र अनन्धो राजाऽन्धभक्तः बृ० ४ उ०।

अंधपुरिस–अन्धपुरुष–पुं जात्यन्धे, यथा मृगापुत्रः वि०१अ०।

अंधल्ल–अन्ध–पुं० प्राकृते "विद्युत्पत्रपीतान्धाल्लः ८।२।७३इति स्वार्थे लः प्रा०। चक्षुर्द्वयहीने, बृ० ४ उ०। नि० चू०(अन्धदृष्टान्तो व्युद्ग्राहितशब्दे—सिक्खाशब्देऽप्यन्धदृष्टान्तः)

अंधारूव–अन्धरूप–त्रि० अन्धाकृतौ, "तए णं सामिया देवी नवा रूपं हुंडं अंधारूवं पासइ" विपा० १ अ०।

अंधिया–अन्धिका–स्त्री० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ०। प्रज्ञा०। जी०।

अंधि (धे) ल्लग–अन्ध–पुं० अन्ध एवान्धिल्लकः। जात्यन्धे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०। चक्षुर्विकले, पिं०। प्रश्न०।

अंधी–अन्ध्री–स्त्री० अन्ध्रदेशजस्त्रियाम्, "अन्ध्रीणां च ध्रुवं लीला-चलितं भूतले मुखे। आसज्य राज्यभारं स्वं, सुखं स्वपिति मन्मथः" आव० ४ अ०।

अंब–अम्ब–पुं० पञ्चदशासुरनिकायान्तर्वर्तिपरमाधार्मिकनिकायानां प्रथमे परमाधार्मिके, यो देवो नारकानम्बरतले नीत्वा निमुञ्चत्यसावम्ब इत्युच्यते भ० ३ श० ६ उ०।

ते चाम्बाभिधाः परमाधार्मिका यादृशीं वेदनां परस्परोदीरणदुःखं चोत्पादयन्ति तां दर्शयितुमाह।

धार्मेंति पहार्मेंति य, हणंति विंधंति तह णिसुंभंति।
मुंचंति अंबरतले, अंबा खलु तत्थ णेरइया ॥ ७० ॥

"धार्मेतीत्यादि" तत्राम्बाभिधानाः परमाधार्मिकाः स्वभवनान्नरकावासं गत्वा क्रीडया नारकान् अत्राणान् सारमेयानिव शूलादिप्रहारैस्तुदन्तो [धार्मेंतित्ति] प्रेरयन्ति। स्थानात् स्थानान्तरं प्रापयन्तीत्यर्थः। तथा (पहार्मेंतित्ति) स्वेच्छयेतश्चेतश्चाऽनाथं भ्रमयन्ति। तथाऽम्बरतले प्रक्षिप्य पुनर्निपतन्तं मुद्गरादिना घ्नन्ति। तथा शूलादिना विध्यन्ति तथा (निसुंभंतित्ति] कृकाटिकायां गृहीत्वा भूमौ पातयन्ति। अधोमुखमथोत्क्षिप्याम्बरतले मुञ्चन्तीत्येवमादिकया विडम्बनया तत्र नरकपृथिवीषु नारकान् कदर्थयन्ति सूत्र० १ श्रु० ५ अ०। आव०।आ० चू०। (अंबरीसशब्देऽपि)

अम्ल–न० अम–ल–तक्रे, रसभेदे, पुं० तद्वति, त्रि० वाच०।

आम्ल–त्रि० तक्रादिसंस्कृते, जं० ३ वक्ष० प्र० ॥

आम्र–पुं० अम गत्यादिषु रन् दीर्घश्च। ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य ८। १। ८४ इति सूत्रेण आदेर्ह्रस्वत्वम्। प्रा०। चूतवृक्षे, स्था०। दर्श० (पार्श्वस्थादिभिः संसर्गे दोषनाशे आम्रकदृष्टान्तः खत्तशब्दे) तस्य फलम् अण् तस्य लुक् आम्रफले नपुं. अनु०।

अप्रासुकाम्रग्रहणनिषेधो यथा।

अह भिक्खू इच्छेज्जा अंबं भोत्तए वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा सअंडं जाव ससंताणं तहप्पगारं अंबं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं अवोच्छिण्णं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अभिकंखेज्जा अंबभित्तगं वा अंबपेसियं वा अंबचोयगं वा अंबसालगं वा अंबदालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं जाव अंबदालगं वा सअंडं जाव संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा ॥

से इत्यादि स भिक्षुः कदाचिदाम्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं याचेत तत्रस्थश्च सति कारणे आम्रं भोक्तुमिच्छेत्तच्चाम्रं साण्डं ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति। किञ्च 'से त्यादि' स भिक्षुर्यत्पुनराम्रमल्पाण्डमल्पसन्तानकं वा जानीयात्किन्त्वतिरश्चीनच्छिन्नं तिरश्चीनमपाटितं तथा व्यवच्छिन्नं न खण्डितं यावदप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयादिति। तथा "सेइत्यादि" स भिक्षुरल्पाण्डमल्पसन्तानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं यावत्प्रासुकं कारणे सति गृह्णीयादिति। एवमाम्रावयवसंबन्धिसूत्रत्रयमपि नेयमिति। नवरम्। "अंबभित्तयं" आम्रार्द्धम् "अंबपेसी" आम्रफाली (अंबचोयगंति) आम्रच्छल्लीसालगं (रसंडालगंति) आम्रशूर्द्धमखण्डानीति। आचा०२श्रु०७ अ०२ उ०।

(सूत्रम्) जे भिक्खू सचित्तं अंबं भुंजइ अंबं भुंजंतं वा साइज्जइ। ५। जे भिक्खू सचित्तं अंबं विडसइ विडसंतं वा साइज्जइ। ६।

एवं सचित्तपइट्ठिते वि दो सुत्ता। एते चउरो सुत्ता एतेसिं इमो अत्थो। सचित्तं णाम सजीवं चतुर्थरसास्वादं गुणणिप्फण्णं णामं अंबं भुज पालनाभ्यवहारयोः इह भोयणे दट्ठव्वो आणादी चउलहुं च पच्छित्तं। एवं वितियसुत्तं पि णवरं विडसणं भिक्खणं विविहेहिं पगारेहिं मसति विडसइ एवं पइट्ठिए वि णवरं चउभंगो। सचित्ते पइट्ठिते पइट्ठितं सचित्तं, अचित्ते अचित्तं सचित्तेसु आदिल्लेसु दोसु भंगेसु चउलहुं। चरिमेसु दोसु मासलहुं। इमो सुत्तफासो।

सचित्तं वा अंबं, सचित्तपइट्ठियं च दुविहं तु।
जो भुंजे विडसे सो, दोसअणाहं पावेति तो भणति। २।

आगाढफरुसमीसग, इमम्मुद्देसम्मि वमियं पुव्वं ।
तं चेव वज्जवत्थो, सो पावति आणमादीणि ॥ ४ ॥

सचित्तं सचित्ते पइट्ठियं वा एयं चेव डुविहं सेसं कंठं ।

अमिलाताभिणवं वा, अपक्कं सचित्तहोति भिण्णं वा ।
तं चिय सयं मिलातं, रुक्खगयं सचेयणपतिट्ठं ॥ ५ ॥

जं अभिणवं भिण्णं अभिलाणं तं सचित्तं भवति । जं च रुक्खे चेव ट्ठितं अच्छिण्णं वरूठियं अवरूट्ठियं वा अपक्कं वा तं पि सचित्तं । तं चिय तहेव अंबादियं पलंबरुक्खे चेव ठियं तुव्वायमादिणा अप्पणा वा अप्पज्झति भावं मिलणं ते सेवयणपतिठियं भण्णति ।

अहवा जं वद्धत्थियं, बाहिर पक्कं तं चिय णपतिट्ठं ।
विविह दमणेय जं वा, अक्खुंदति विडसणे होति ॥६॥

जं वा पलंबं बाहिरं करूाहपक्कं अंतो सचेयणं वीयं तं वा सचित्तपतिठियं भण्णति । अपतीतव्वं अनपतीयव्वं च गुमेन वा सह कप्पूरेण वा सह तथान्येन वा लवणचातुर्जातकवासादिना सह एसा विविहदसणा अक्खुंद इति चक्खित्तं मुंचति अन्यौन्यं णहेहि वा अक्खुंदति नखपदा चि ददातीत्यर्थः एसा वा विरूसणा भण्णति । एवं परित्ते भणियं अणंते वि एयं च नवरं चउगुरुपच्छित्तं । सचित्ते सचित्तं पतिठिते य दोसु वि सुत्तेसु इमो अववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पज्भे, भुंजे अविकोविए य अप्पज्झा ।
जाणंते वावि पुणो गिलाण अद्धाणओमेव ॥७॥

खेत्तादिगो अणप्पज्भो वा भुंजति सेहो वा अविकोवियतणओ अजाणंतो रोगोवसमणिमित्तं वेज्जं वा दसतो गिलाणो वा भुंजे अद्धाणोमेसु वा असंथरंता भुंजंता विसुद्धा इमो दोसुवि विडसमाणसुत्ते अववातो गाहा ।

वितियपदमणप्पज्झे, विडसे अवितेव अप्पज्झे ।
जाणंतेयावि पुणो, गिलाण अद्धाणओमेव ॥८॥

कंठं णवरं चोदग आह-विरूसणा लीला तं अववाते माकरेउ । आचार्य आह । जरटबाहिरकडाहं तं अवणेउं खायंतस्स अववादो ण दोसो । जइ वा पलंबस्स जो उवकारी लवणादिके तेण सह तं भुंजंतस्स ण दोसो । कोमलं जरटं वा इमंति परिग्गाहेउं णहमादीहि वि अक्खुदेज्जा ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबभित्तिं वा अंबसालगं वा अंबचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥७॥ जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबभित्तिं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा अंबचोयगं वा विमसइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥८॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं विमसइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥१०॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा अंबचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥११॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबभित्तिं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा अंबचोयगं वा विडसेइ विडसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

एते छ सुत्तपदा विरूसणाए वि छच्चेव एतेसिं इमो अत्थो अंबं संकलं ण केणइ ऊणं चोदग आह आदिल्लेसु चउसु सुत्तेसु ण पलंबणुसंकलं चेव भणियं । आचार्यआह सच्चं किंतु तत्थ पलंबसणेण पज्जत्तं घेत्थियं गहियं इमं तु पलंबत्तणं अपज्जत्तं अथरूठियं अविपक्कं सव्वादसकलमेवेत्यर्थः । पेसी दीहागारा अद्धभितं वाहिरा छल्ली । सालं भण्णइ । अहोइं वि समचक्कलियागारेण जं खंडंतं गलं भण्णति एहलणिभागारा जे केसरा तं चोयं भण्णति । इमो सुत्तफासो । गाहा ।

एसेव गमओनिदा-डगलेसोल्लेयमिमंपं चोए ।
चउसु वि सुत्तेसु भवे, पुव्वे अवरम्मि य पदे ल ॥ ९ ॥

अंबगं पेसिवज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति सेसं कंठं । अहवा आदिल्लेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो भणितो सो चेव गमो अंबगादिएसु छसु पदेसु सविरूसणेसु भाणियव्वो । चोदगाह णणु पढमसुत्तेसु भणितो चेव अत्थो किं पुणो अंबगादियाणं गहणं । आचार्य आह । गाहा ॥

एवं ताव अभिण्णे, अस्सेव पुणो इमो भेदो ।
डगलंतु होइ खंडं, सालं पुण बाहिरा छल्ली ॥ १० ॥

एवं ताव आदिल्लेसु चउसु सुत्तेसु अभिण्णगहणं । अहवा आदिसुत्तेसु अविसिठं गहणं इह विसिठं गहणं कयं । अहवा मा काइ वि तिहिति अभिण्णभक्खणिज्जं भिण्णं अभक्खणिज्जं भिण्णं पुण भक्खंतेण अंबगपेसिमादिगाधिणि सिज्झंति । मगलंतु पच्चद्धं कंठं । गाहा ।

भित्तं तु होइ अद्धं, चोयं जे तस्स केसरा होंति ।
मुहपणहकरं हारि, तेण तु अंमेकयं सुत्तं ॥

पुव्वद्धं कंठं चोदगाहा किं अणमाओ अंबादिया फला भक्खा जेण अंबं चेव णिसिज्झति । आचार्य आह । एगगहणागहणं तज्जातीयाणंति सव्वे संगहिया । अंबं पुण सुहपणह पच्चद्धं अंबेण सुहं पल्हाति पस्पंदते इत्यर्थः । किंच हारितं जिह्वेन्द्रियप्रीतिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अंबे सूत्रप्रतिबन्धः कृतः । अन्याचार्याभिप्रायेण गाथा ।

अंबे केणतिऊणं, मगलद्धं भित्तगं चउभागो ।
चोयणतया उ भण्णति, सगलं पुण अक्खुयं जाण ॥ १२ ॥

थोवेण ऊणं अंबं भण्णति डगलं अद्धं भण्णति भिण्णं चउभागादितया चोयणं भण्णति नरकादिभिक्खूण सालं भण्णति । अक्खुं अंबसालमित्यर्थः पेसी पूर्ववत् ।

सचित्तं च फलेहिं, अग्गपलंबा तु सुत्तिता सव्वे ।
अग्गपलंबेहि पुणो, मूलं चेव कया सुया य ॥ १३ ॥

नि० चू० १५ उ० ।

अंबक-अम्बक-न० अम्बति शीघ्रं नक्षत्रस्थानपर्यन्तं गच्छति अम्ब ण्वुल् १ नेत्रे, अम्ब्यते स्नेहेनोपशब्द्यते घञ् स्वार्थे क-२ पितरि, वाच० ।

अम्लक ०पुं० अल्पोऽम्लः अल्पार्थे कन् लकुचवृक्षे वाच० ।

आम्रक-न० चूतफले, पिं० ।

अंबगट्ठिया-आम्रकास्थि-न०आम्रकस्य फलविशेषस्यास्थीनि आतपे दत्तेषु शुष्काम्रफलास्थिषु, अनु० ।

अंबगपेसिया-आम्रकपेशिका-स्त्री० आम्रफलखण्डे, अनु० ।

अंबत्तोयग–न० आम्रत्वच्–स्त्री० आम्रच्छल्याम,आचा० २–श्रु० ७ अ० २ उ० ।

अंबट्ठ--अम्बष्ठ--पुं० अम्बाय चिकित्सकत्वाय तत्प्रख्यापनार्थं तिष्ठते अभिप्रैति स्था. क. षत्वम् । चिकित्सके, वाच० । ब्राह्मणेन वैश्यायां जातेऽवान्तरजातीये, सूत्र० १ श्रु० ए अ० । आचा०। अयं जात्याऽऽर्यत्वेनेभ्यजातित्वेन चोपदर्शितः स्था० ६ ठा० । प्रज्ञा० । देशभेदे, हस्तिपके, च । यूथिकायाम् स्त्री० स्वार्थे कन् अत इत्वे अम्बष्ठिकाऽप्यत्र " यामनहारी " इति ख्यातायां लतायाम्, वाच० ।

अंब (म्म) म--अम्ब (म्म) ड--पुं० ब्राह्मणपरिव्राजकभेदे औ० । तद्वक्तव्यता चैवम् ।

अम्बडशिष्याणामनशनेन मृत्वा देवलोके उपपातः ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं अम्मडस्स परिव्वायगस्स सत्त अंतेवासिसयाइं गिम्हकालसमयंसि जेट्ठामूलं मासंसि गंगाए महानईएओ उभओकूले कंपिल्लपुरातो णगराओ पुरिमतालं णगरं संपट्ठिआ विहाराए । तएणं तेसिं परिव्वायगाणं तीसे अगामियाए छिण्णोवायाए दीहमद्धाए अमवीए किंचिदेसंतरमणुपत्ताणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे झीणे तएणं ते परिव्वाया झीणोदका समाणा तण्हाए परिब्भमाणा परिपरिउदगदातारमपस्समाणा अण्णमण्णं सद्दावेंति अण्णमण्णं सद्दावित्ता एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया अम्हं इमीसे अगामिआए जाव अडवी एगंवि देसंतरमणुपत्ताणं से उदए जावज्झीणे तं सेयं खलु देवाणुप्पिया अम्ह इमीसे अगामियाए जाव अडवीए–उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणं गवेसणं करित्तए कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एअमट्ठं पडिसुणंति पडिसुणंतित्ता तीसे अगामियाए जाव अडवीए उदगदातारस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ करित्ता उदगदातारमलभमाणा दोच्चं पि अण्णमण्णं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी इहण्णं देवाणुप्पिया उदगदातारो णत्थि । तं णो खलु कप्पइ अम्ह अदिण्णं गिण्हेत्तए अदिण्णं सतिजित्तए तं माणं अम्हे इदाणिं आवइ कालं पि अदिण्णं गिण्हामो अदिण्णं सादिज्जामो माणं अम्हं तवलोवे भविस्सइ । तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया तिदंडयं कुंडियाओ य कंचणियाओ य करोडियाओ य भिसियाओ य छण्णालए य अंकुसए य केसरीयाओ य पवित्तए य गणेत्तिया ओ य छत्तए य वाहणाओ अ पाउआओ अ धाउरत्ताओ य एगंते पडित्ता गंगामहाणइं ओगाहित्ता वालुअसंथारए संथरित्ता संलेहणाझूसिआणं भत्तपाणपडियाइक्खित्ताणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए त्तिकट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एअमट्ठं पडिसुणंति अण्णमण्णस्स अंतिए पडिसुणित्ता तिदंडए य जाव एगंते पडेइ पडेइत्ता गंगामहाणइं ओगाहेइ ओगाहेइत्ता वेलुआसंथारए संथरंति वालुया संथारयं दुरुहिंति त्ता दुरुहिंति त्ता पुरत्थाभिमुहा संपलियंकनिसण्णा करयल जाव कट्टु एवं वयासी णमोत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोत्थुणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स नमोत्थुणं अंबडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स पुव्विणं अम्हे अम्मडस्स परिव्वायगस्स अंतिए थूलगपाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए मुसावाए अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए सव्वे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए थूलए परिग्गहे पच्चक्खाए जावज्जीवाए । इदाणिं अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामो जावज्जीवाए एवं जाव सव्वं परिग्गहहं पच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं कोहं माणं मायं लोहं पेज्जं दोसं कलहं अब्भक्खाणं पेसुण्णं परपरिवायं अरइरइमायामोसं मिच्छादंसणसल्लं अकरणिज्जं जोगपच्चक्खामो जावज्जीवाए सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं चउव्विहंपि आहारं पच्चक्खामो जावज्जीवाए जंपि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं मणुण्णं मणामं थेज्जं वेसासियं संमतं बहुमतं अणुमतं भंडकरंडकसमाणं माणं सीयं माणं उण्हं माणं खुहा माणं पिवासा माणं वाला माणं चोरा माणं दंसा माणं मसगा माणं वातियं पित्तियं संनिवाइयं विविहा रोगातंकापरीसहोवसग्गा फुसं तु त्तिकट्टु एतं पि णं चरमेहिं ऊसासणीसासेहिं वोसिरामि त्तिकट्टु संलेहणा झूसणा झूसिया भत्तपाणा पडियाइक्खिया पाओवगया कालं अणवकंखमाणा विहरंति तए णं ते परिव्वाया बहुइं भत्ताइं अणसणाए छेतिंति छेतित्ता आलोइयपडिकंतो समाहिपत्ता कालमासे कालंकिच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववण्णा तेहिं तेसिं गई दससागरोवमाइं ठिई पन्नत्ता परलोगस्स आराहगा सेसं तं चेव १३ ॥ औ० ॥

एते च यद्यपि देशविरतिमन्तस्तथापि परिव्राजकक्रियया ब्रह्मलोकं गता इत्यवसेयमन्यथैतद्गणनं वृथैव स्याद्देशविरतिफलं त्वेषां परलोकाराधकत्वमेवेति न च ब्रह्मलोकगमनं परिव्राजकक्रियाफलमेषामेवोच्यते अन्येषामपि मिथ्यादृशां कपिलप्रभृतीनां तस्योक्तत्वादिति । औ० । भ० । अम्बडस्य व्रतग्रहणम् ।

बहुजणेणं भंते ! अण्णमण्णस्स एवमाइक्खंति एवं भासइ एवं परूवेइ एवं खलु अंबडे परिव्वायाए कंपिल्लपुरे णयरे घरसते आहारमाहारेति घरसतेवसहिं उवेइ से कहमेयं भंते! एवं गोयमा ! जण्णं से बहू जणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेति एवं खलु अंबडे परिव्वाए कंपिल्लपुरे जाव घरसते वसहि उवेइ सच्चेणं समट्ठे अहं पि णं गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव एवं परूवेमि एवं खलु अंबडे परिव्वायाए जाव वसहिं उवेइ से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ

अंबडे परिव्वायाए जाव वसहिं उवेइ गोयमा ! अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभद्दयाए जाव विणीयाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहस्स आतावणभूमीए आतावेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं अन्नया कयाइ तदावरणिज्जाणं कम्माणं जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धी समुप्पन्ना । तए णं से अम्मडे परिव्वायए ताए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धीए समुप्पन्नाए । जणविम्हावणहेउं कंपिल्लपुरे घरसते जाव वसहिं उवेइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अंबडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे नगरे घरसए जाव वसहिं उवेंते । पभूणं भंते ! अंबडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए णोतिणट्ठे समट्ठे गोयमा ! अम्मडेणं परिव्वायए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति णवरं ऊसियफलिहे अवंगुदुवारे चियत्तंते पुरघरदारपवेसीणवं ण वुच्चति अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणातिवाते पच्चक्खाते जावज्जीवाए जाव परिग्गहे णवरं सव्वे मेहुणे पच्चक्खाते जावज्जीवाए अम्मडस्स णं णो कप्पइ अक्खसोतप्पमाणमेत्तं पि जलं सयराहं उत्तरहं उत्तरित्तए । णन्नत्थ अद्धाणगमणेणं अम्मडस्सणं णो कप्पइ सगडं एवं चेव भाणियव्वं । जाव णन्नत्थ एगा एगं गामट्टियाए अंबडस्सणं परिव्वायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा उद्देसिए वा मीसजाएति वा अज्झोअरएइ वा पूइकम्मे वा कीयगमेति वा पामिच्चेइ वा णिअणिसिट्ठेइ वा अभिहडेइ वा ठइत्तए वा रइत्तए वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा पाहुणकभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियाभत्तेइ वा भोत्तए वा पाइत्तए वा अंबडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ मूलभोयणे वा जाव बीयभोयणे वा भोत्तए वा पाइत्तए वा अंबडस्स णं परिव्वायगस्स चउव्विहे अणत्थादंडे पच्चक्खाए जावज्जीवाए तंजहा अवज्झाणायरिए पमादायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोवदेसे अंबडस्स कप्पइ मागहए अ आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए सेविय-वहमाणए नो चेव णं अवहमाणए जाव से वि पूए नो चेव णं अपरिपूए से वि य सावज्जेत्ति काऊं णो चेव णं अणवज्जे से विय जीवाई कट्ठ णो चेव णं अजीवा से विय दिन्ने णो चेव णं अदिन्ने से वि य दंतहत्थपायचारुचमसपक्खालणट्ठताए पवित्तए वा णो चेव णं सिणाइत्तए अंबडस्स णं परिव्वायगस्स कप्पइ मागहएय आढए जलसपडिग्गाहित्तए से वि य वयमाणे दिन्ने नो चेव णं अदिन्ने से वि य सिणाइत्तए णो चेव णं हत्थपादचारुचमसपक्खालणट्ठयाए पिवित्तए वा अंबडस्स परिव्वायगस्स णो कप्पइ अन्नउत्थिया वा अन्नउत्थितदेवयाणि वा अन्नउत्थितपरिग्गहियाणि वा चेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा जाव पज्जुवासित्तए वा अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ।

[णणत्थ अरहंतेहिं वत्ति] न कल्पते इह योऽयं नेति प्रतिषेधः सोऽन्यत्राऽर्हद्भ्यः अर्हतो वर्जयित्वेत्यर्थः । स हि किल परिव्राजकवेषधारकोऽतोऽन्ययूथिकदेवतावन्दनादिनिषेधे अर्हतामपि वन्दनादिनिषेधो माभूदिति कृत्वा णण्णत्थेत्याद्यधीतं, औ० । भ० ।

अम्बडस्य मृत्योपपातः ।

कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! अंबडेणं परिव्वायए उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्तए पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववज्जेहिति तत्थ णं अप्पेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता तत्थ णं अम्मडस्स वि देवस्स दससागरोवमाइं ठिती । से णं भंते ! अंबडे देवत्ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चइ चइत्ता कहिं गच्छिहित्ति कहिं उववज्जइत्ति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइकुलाइं भवंति अड्ढाइं दित्ताइं वित्ताइं विच्छिन्नविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुधणजायरूवरययाइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूयाइं तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ता पव्वायाहिंति । तए णं तस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अम्मापिती णं धम्मे दढपतिण्णो भविस्सइ से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीतिकंताणं सुकुमालपाणिपाए जाव ससिसोमाकारे कंतं पियदंसणे सुरूवे दारए पयाहिंति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठिती पडियं काहिंति तइयदिवसे चंदसूरदंसणियं काहिंति छट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति एक्कारसमे दिवसे वीतिकंते णिव्वते असुइ जावइ कम्मं करणे संपत्ते बारसमे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गुणं गुणणिप्पन्नं णामधेज्जं काहिंति जम्हाणं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढपतिण्णा तं होऊणं अम्हं दारए दढपइण्णणामेणं तत्तेणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति "दढपइण्णेत्ति" तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजातगं जाणित्ता सोभ-

णंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्तमुहुत्तंसि कलायरियस्स उवणेहिंति । तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुयपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ सुत्तओ य अत्थओ य करणओ य सेहाविहिति । औ० (कलानामानि कलाशब्दे) सिक्खावेत्ता अम्मापितीणं उवणेहिंति तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विपुलेणं असणपाणखाइमेणं साइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेहिंति सम्माणेहिंति सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइस्सति विपुलं विपुलेत्ता पडिविसज्जेहिंति तए णं से दढपइण्णे दारए बावत्तरिकलापंडिए नवंगसुत्तपडिबोहिये अट्ठारसदेसीभासाविसारए गीतरती गंधव्वणट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी वियालचारी साहसिए अलं भोगसमत्थे आवि भविस्सति तते णं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकलापंडियं जाव अलं भोगसमत्थं वियाणित्ता विपुलेहिं अण्णभोगेहिं लेणभोगेहिं वत्थभोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवणिमंतेहिंति । तए णं से दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अण्णभोगेहिं जाव सयणभोगेहिं णो सज्जिहिंति णो रज्जिहिंति णो गिज्झिहिंति णो अज्झोववज्जिहिंति से जहाणामए उप्पलेइ वा पउमेइ वा कुमुएइ वा नलिणेइ वा सुभगेत्ति वा सुगंधेत्ति वा पोंडरीएत्ति वा महापोंडरीएत्ति वा सत्तपत्तेइ वा सहस्सपत्तेइ वा सतसहस्सपत्तेइ वा पंके जाते जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं णोवलिप्पइ जलरएणं एवमेव दढपइण्णे वि दारए कामेहिं जाते भोगेहिं संवुड्ढे णो वलिप्पहिंति कामरएणं णोवलिप्पहिंति भोगरएणं णोवलिप्पहिंति । मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणेणं सेणं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झिहित्ति । केवलबोहिं बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहित्ति । से णं भविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिते जाव गुत्तबंभयारी तस्स णं भगवंतस्स एते णं विहारेणं विहरमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जेहिंति । ततेणं से दढपइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवली परियागं पाउणिहित्ती पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेएत्ता जस्सट्ठाए कीरए णग्गभावे मुंडभावे अन्हाणए अदंतवणए केसलोए बंभचेरवासे अच्छत्तकं अणोवाहणकं भूमिसेज्जा फलहसेज्जा कट्ठसेज्जा परघरपवेसो लद्धावलद्धं वित्तीए परेहिं हीलणाओ खिंसणाओ णिंदणाओ गरहणाओ तालणाओ तज्जणाओ परिभवणाओ पव्वहणाओ उच्चावया गामकंटका बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासज्जंति । तमट्ठमाराहित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्झिहिंति बुज्झिहिंति मुच्चिहिंति परिणिव्वाहिंति सव्वदुक्खाणमंतं करेहिंति औ० । भ० ।

परिव्राजके विद्याधरश्रमणोपासके च अस्य वक्तव्यता ।

चम्पायां नगर्यामम्बडो विद्याधरश्रावको महावीरसमीपे धर्ममुपश्रुत्य राजगृहं प्रस्थितः स च गच्छन् भगवता बहुसत्वोपकाराय भणितो यथा सुलसाश्राविकायाः कुशलवार्त्तां कथय स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्यास्त्रिलोकनाथः स्वकीयकुशलवार्त्तां प्रेषयति, कः पुनस्तस्या गुण इति तावत्सम्यक्त्वं परीक्षे, ततः परिव्राजकवेषधारिणा गत्वा तेन भणिता सा, आयुष्मति ! धर्म्मो भवत्या भविष्यतीत्यस्मभ्यं भक्त्या भोजनं देहि तया भणितं येभ्यो दत्ते भवत्यसौ ते विदिता एव, ततोऽसावकाशविरचितांबरस्थासनासीनो जनं विस्मापयति स्म, ततस्तं जनो भोजनेन निमन्त्रयामास स तु नैच्छत् । लोकस्तं पप्रच्छ कस्य भगवन् ! भोजनेन भागधेयवतां मासक्षपणकपर्यंतं संवर्द्धयिष्यसि । स प्रतिभणति स्म सुलसायाः । ततो लोकस्तस्या वर्द्धनकं न्यवेदयत् । यथा तव गेहे भिक्षुरयं बुभुक्षुः तयाऽभ्यधायि किं पाखण्डिभिरस्माकमिति लोकस्तस्मै न्यवेदयत् । तेनापि व्यज्ञायि परमसम्यक्दृष्टिरेषा या महातिशयदर्शनेनापि न दृष्टिव्यामोहमगमदिति ततो लोकेन सहासौ तद्गेहे नैषेधिकीं कुर्वन्पञ्चनमस्कारमुच्चारयन् प्रविवेश । साऽप्यभ्युत्थानादिकां प्रतिपत्तिमकरोत् तेनाप्यसावुपबृंहितेति । स्था० ६ ठा० । अयमागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां देवो नाम द्वाविंशस्तीर्थकृद् भूत्वा धर्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यति यावत्सर्वदुःखानामन्तं करिष्यति । स्था० ६ ठा० । ती० । आ० म० द्वि० । नि० चू० । ही० । अयं पूर्वोक्तादम्बडपरिव्राजकादन्य एव । तदुक्तम् । यश्चौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभिधीयते सोऽन्य इति सम्भाव्यते । इति स्था० ६ ठा० । नि० चू० ।

अंबभा(दा)लग–आम्रडालक–न० आम्रसूक्ष्मखण्डेषु, आचा० श्रु० २ अ० ७ ।

अंबत्त–अ (आ) म्लत्व–न० (अम्लरसवत्त्वे) "अंबत्तणेण जीहाए, कूविया होइ खीरमुदगंमि " विशे० ।

अंबदेव–आम्रदेव–पुं० नेमिचन्द्रसूरिकृताऽऽख्यानकमणिकोशस्योपरि टीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, जै० इ० ।

अंबपलंबकोरव–आम्रप्रलम्बकोरक– न० आम्रश्चूतस्तस्य प्रलम्बः फलं तस्य कोरकं तन्निष्पादकं मुकुलमाम्रफलकोरकम् कोरकविशेषे, एवं यः पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकारकफलं जनयत्यसावाम्रप्रलम्बकोरकसमान उच्यते, स्था० ४ ठा० ।

अंबपल्लवपविभत्ति-आम्रपल्लवप्रविभक्ति-न. नाट्यविधिभेदे, रा.

अंबपेसिया-आम्रपेशी-स्त्री० आम्रस्य पेशीव शुष्काम्रकोशे, वाच०

आम्रपेशी–स्त्री० आम्रफल्याम् । आचा० २ श्रु० ७ अ० ७ ।

अंबफल–आम्रफल–न० रसालफले, व्य० ९ उ० । (सागारिकस्याम्रफलानि आम्रवृक्षश्चारोपित इत्येतत्कल्पते न वेति सागारीयपिण्डशब्दे) ।

अंबभित्तय-आम्रभित्तक-न० आम्रार्द्धे आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

अंबर–अम्बर–न० अम्बेव मातेव जननसाधर्म्यादम्बा जलं तस्य राणाद्दानान्निरुक्तितोऽम्बरम् आकाशे । भ०२ श०२ उ०। द्वा० वस्त्रे, नि० चू० १ उ०। आ० म० प्र० । सूत्र० । आव०। प्रश्न० । स्वनामख्याते गन्धकद्रव्ये, अभ्रकधातौ च, वाच० ।

अंबरतल–अम्बरतल–न० आकाशतले, रा० । ज्ञा० ।

अंबरतिलय–अम्बरतिलक– पुं० धातकीखण्डस्थे पर्वतभेदे, यत्र मङ्गलावत्तीविजयवर्त्तिनन्दिग्रामसन्निवेशस्थदरिद्रकुलजातनिर्नामिका नाम कन्या मातुः खाद्यमनवाप्य तद्वचनेन गत्वा पक्कफलानि गृहीतवती । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

अंबरतिलगा–अम्बरतिलका–स्त्री० नगरीभेदे यत्र हसारिदर्पविमर्दनो महाराजः । दर्श० ।

अंबरवत्थ–अम्बरवस्त्र–न० स्वच्छतया अम्बरतुल्यानि वस्त्राणि अम्बरवस्त्राणि स्वच्छवस्त्रेषु । कल्प० ।

अंबरस–अम्बरस–न० अम्बा पूर्वोक्तयुक्त्या जलं तद्रूपो रसो यस्मान्निरुक्तितोऽम्बरसम् आकाशे, ज० २० श० २ उ० ।

अंबरि (री) स–अम्बरि (री) ष–पुं० न० अम्ब्यते पच्यतेऽत्र अम्ब-अरिष नि०वा दीर्घः भर्जनपात्रे, अम्बरीसमपि वाच०। भ्राष्ट्रे, ज०३ श०६ उ०। प्रव०। कोष्ठके, लोहकाराम्बरीषे वा, जी०३ प्रति।

अंबरि (री) स (सि)–अम्बरिष (रीष) ऋषि (र्षि)–पुं० यस्तु नारकान् निहितान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोतीत्यसावम्बरीषस्य भ्राष्ट्रस्य संबन्धादम्बरीष इति द्वितीयपरमाधार्मिकः, प्रव० १८० द्वा० । ज०। स०।

ओहयहयेय तहियं, णिस्सन्ने कप्पणीहिं कप्पंति ।
बिदुलगचडुलगछिन्ने, अंबरिसी तत्थ णेरइए ॥७१॥

(ओहयत्यादि) उप सामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः पुनरप्युपहता एव खड्गादिना हता उपहतहतास्तान्नारकान् तस्यां नरकपृथिव्यां निःसंज्ञकान् नष्टसंज्ञकान् मूर्च्छितान्स्ततः कर्प्पणीभिः कल्पयन्ति छिन्दन्तीतश्चेतश्च पाटयन्ति । तथा छिद्लचटुलकच्छिन्नानिति मध्यपाटितान् खंडशश्छिन्नांश्च नारकांस्तत्र नरकपृथिव्यामंबर्षिनामानोऽसुराः कुर्वन्तीति सूत्र० ५ श्रु० ५ अ०। आव० प्रव० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अंबरिसि–अम्बऋषि (र्षि)–पुं० उज्जयिनीवास्तव्ये ब्राह्मणभेदे, यस्य मालुक्या प्रिया निम्बः सुतः (इति विणओवगय शब्दे वक्ष्यते) आ० क० । आव० । आ० चू० ।

अंबवण–आम्रवण–न० आम्रस्य वनम् । नित्यं णत्वम् । आम्रवृक्षसमुदायात्मके वने, वाच० । आचा० ।

अंबसमाण–अम्लसमान–पुं० "अंबफरिसेहिं अंबो न तेहिं सिद्धि तु ववहारो" येषु वचनेषूक्तेषु परस्य शरीरं विमविमायते तानि अम्लानि अम्लैः परुषैश्च वचनैर्व्यवहारं न सिद्धिं नयति सोऽम्लवचनयोगादम्ल इति इत्युक्तलक्षणे दुर्व्यवहारिणि। व्य० १ उ० ।

अंबसालवण–आम्रसालवन–न० आम्रफले आम्रैः शालैश्चातिप्रचुरतयोपलक्षिते वने तद्योगादामलकल्पाया ईशानकोणस्थे चैत्ये च " आमलकप्पाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए अंबसालवणे णामं चेइए होत्था पोराणे जाव पडिरूवे" पूर्णभद्रचैत्यवद्स्य वर्णकः । रा० । उत्त० । ग० । आ० म० द्वि० । आव० । ज्ञा० । आ० चू० ।

अंबहुंडि–अम्बहुण्डिम– स्त्री० देवीभेदे । महा० २ अ० ।

अंबा–अम्बा–स्त्री० अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते अम्बा । कर्मणि घञ्। वाच०। मातरि । उत्त० ३ अ० । स्था०। श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठातृदेवतायां च सा च, अम्बादेवी कनककान्तरुचिः सिंहवाहना चतुर्भुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वयासिपुत्रांकुशाधिष्ठितवामकरद्वया च। प्रव०२७ द्वा०। तस्याः प्रतिमा यथा-अहिच्छत्राया अविदूरे (सच्छक्रे) पार्श्वस्वामिनश्चैत्यप्राकारसमीपे श्रीनेमिमूर्तिसहिता सिद्धबुद्धकलिता आम्रलुम्बिहस्ता सिंहवाहना अम्बादेवी तिष्ठति, ती०७ कल्प०। प्रतिष्ठानपुरपत्तने ऐरवतमेखलायां कृष्णेन अम्बादेवीप्रतिमा कृता " तत्थय अंबाए सेण ववयासतिगेण " ती० २ कल्प। अम्बष्ठाख्यतायां, काशीराजकन्यायां च,। वाच० ।

अंबाजक्ख–अम्बायक्ष–पुं० यक्षभेदे, " गोयारंमि णिरुद्धा, समणा रोसेण मिसिमिसायंता । अंबाजक्खो य जणति, एवमवाहेहि संघंति" ति० ।

अंबामग–आम्रातक–पुं० आम्र इवातति आम्रात् किञ्चिद्धीनरसफलकत्वात्, अत्-एवुल् (आमडा) १ वृक्षे २ तत्फले, न० आम्रेण तत्फलरसेन तकते प्रकाशते । आ+तक हासे अच् । शुष्काम्ररसनिर्मिते (आमट्) द्रव्यभेदे, तत्करणप्रकारः भाव– प्र० उक्तः । यथा "आम्रस्य सहकारस्य, कटेर्विस्तारितो रसः । घर्मशुष्को मुहुर्दत्त, आम्रातक इति स्मृतः " वाच० । प्रज्ञा० । अनु० । आचा० ।

अंबाडिय–आम्लित–त्रि० आम्ल इव कृतः खरण्टिते, आ० म० द्वि० 'चमढेति खरंटेति अंबाडेत्ति वुत्तं भवति' नि०चू०४उ०।

अंबातव–अम्बातपस्–न० अम्बोद्देशेन कृतं तपः अम्बातपः लौकिकफलप्रदे तपोभेदे, तत्र अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशनादि विधेयं नेमिनाथाऽम्बिकापूजा चेति, पञ्चा० १९ विव० ।

अंबावल्ली–अम्लवल्ली–स्त्री० अम्लरसवती वल्ली त्रि० पर्णिकानामकन्दभेदे, वाच० वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंबिआ (या)–अम्बिका–स्त्री० अम्बैव । कन्, मातरि, दुर्गायां, वाच०। नेमितीर्थाधिपदेवतायां, तस्याः प्रतिमा मथुरायाम् "इत्थं कुबेरो नरवाहणो अंबिआ सीहवाहणा" ती०१० कल्प०। उज्जयन्तशैलशिखरेऽवलोकनशिखरात्प्राक् "अंबियाए भवणं दीसइ" ती०५ कल्प.। टिप्पुर्यामम्बिकामूर्तिः "अत्राम्बिकाद्वारसमीपवर्ती, श्रीक्षेत्रपालो भुजषट्कभास्वरः । सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनालिनौ, संघस्य विघ्नौघमपोहतः क्षणात्" ती० ४४ कल्प०। पञ्चमवासुदेवमातरि च । स० । आव०।

अंबियासमय–अम्बिकासमय–पुं० उज्जयन्तशैले गिरिप्रद्युम्नावतारे स्वनामख्याते तीर्थभेदे । " गिरिपज्जुण्णवयारे, अंबिअसमए य नामेणं । तत्थ वि पीआपुढवी, हिमवाए होइ वरहेमं" ती० ४ कल्प ।

अंबिणी–अम्बिनी–स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमब्राह्मणभार्यायाम् । ती० ५६ कल्प । (कोहंडिदेवकल्पशब्दे)

अंबिल–अम्बिल–अ (आ) म्ल–पुं० अम्–क्तः प्राकृत "लात्" ८।२।१०६ । इति सूत्रेण संयुक्तलकारात्पूर्वमिदागमः, प्रा० । अग्निदीपनादिकृति अम्लिकाद्याश्रिते रसभेदे, " अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धः, शोकपित्तकफावहः । क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवातानुलोमकः " ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । अनु० । जं० ।

एगे अंबिले–आश्रयणक्लेदनकृदम्लः । स्था० १ ठा० । अम्लरस-

वनि, त्रि० तक्रादिसंस्कृते, ज्ञा०१७ अ०। तक्रारनालकादौ, त०। काञ्जिके, स्था०१० ठा०। सौवीरे, स्था०१० ठा०। वाच०। 'कल्लालघरेसु अंबिलं सा...' कल्पपात्रयुद्धेषु किलाम्लशब्दसमुच्चारिते सुरा विनश्यति अनिष्टपरिहारार्थमम्लं स्वादूच्यते, अनु०।

अंबिलणाम-अम्लिलनामन्-न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जीवशरीरमम्लीकादिवदम्लं भवति तदम्लनाम, कर्म० १ कर्म०।

अंबिलरस-अम्लरस-पुं० क० स० अम्ले रसे, तद्वति, त्रि० वाच० अम्लरसश्च तक्रवत्। प्रश्न० संव० ५ द्वा०।

अंबिलरसपरिणय-अम्लरसपरिणत-पुं० अम्लवेतसादिवदम्लरसपरिणामं गते पुद्गले, प्रज्ञा० १ पद।

अंबिलिआ-अम्लिका-स्त्री० अम्लैव स्वार्थे कन् १ तिन्तिडयाम्, अम्लीकेत्यपि सा च २ पलाशीलतायां ३ श्वेताम्लिकायां ४ क्षुद्राम्लिकायाञ्च, राजनि०। जं० ३ वक्ष०।

अंबिलोदग-अम्लोदक-न० काञ्जिकघत्स्वभावत एवाम्लपरिणामे, जले, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

अंबुणाह-अम्बुनाथ-पुं० समुद्रे, व्य० ६ उ०।

अंबुत्थंभ-अम्बुस्तम्भ-पुं० जलनिरोधरूपे मर्यादरो कलाभेदे, कल्प०।

अंबुभक्खि (ण्)-अम्बुभक्षिन्-पुं० जलमात्रभक्षके वानप्रस्थभेदे, औ०। नि०।

अंबुवासि (न्)-अम्बुवासिन्- पुं० अम्बुप्रधाने देशे वसति, वस-णिनि-ङीप्। पाटलावृक्षे, जलवासिमात्रे, त्रि० वाच०। वानप्रस्थभेदेषु, पुं० ये जलनिमग्ना एवासते। औ०।

अंभ-अम्भस्-न० आप्यते। आप्-असुन्। उदके नुम्भौ चेति उणा० अम्भः शब्दे असुन् वा। वाच०। जले, प्रति०। अष्ट०।

अंस-अंश-(स)-पुं० अंश (श) भावे अच्। विभागे, स्था० ३ ठा०। कर्मणि अच्। भागे, विशे०। आ० चू०। प्रति०। आचा० करणे अच्। अवयवे, पञ्चा० ७ विव०। भेदे, विशे०। भेदाः विकल्पा अंशा इत्यनर्थान्तरम्। आ० म० प्र०। आव०। पर्याये, विशे०। स्कन्धे च, ज्ञा० १८ अ०।

अंस (सा) गय-अंश (श) गत-त्रि० स्कन्धदेशमागते, विपा० १ श्रु० ३ अ०। स्कन्धावस्थिते, ज्ञा० १८ अ०।

अंसलग-अंश-पुं० स्कन्धे, तं०।

अंसि-अस्रि-स्त्री०। अस-क्रिः। कोटौ, स्था० ८ ठा०।

अंसिया-अंशिका-स्त्री०। अंश एवांशिका। स्वार्थे कप्रत्ययः। भागे, "सागारियस्स अंसिया अविभत्ता" बृ० ३ उ०। "अंसियाओ गामद्धमाईओ" अंशिका तु यत्र ग्रामस्यार्द्धम्। आदिशब्दात् त्रिभागं वा चतुर्भागं वा गत्वा स्थितः स ग्रामस्यांश एवांशिका, नि० चू० ३ उ०।

अर्शस्-न० वल्लिकाकारे रोगभेदे, "अंसिया आरिसा ता य अहिट्ठाणे णासाए वणेसु वा भवंति" नि० चू० ३ उ०। तस्य (आतापयतः) "अंसिया ओलंबइ तं चेव विज्जो अदक्खु हसिं पाडेइ पाडेइत्ता अंसियाओ छिंदेज्जा" (अंसियाओत्ति) अर्शांसि तानि च नासिकासत्कानीति चूर्णिकारः, भ० १६ श०३ उ०। प्रति० (शेषं अणगारशब्दे)

अंसु-अंशु-पु० अंश मृग-कु किरणे, सूत्रे, सूक्ष्मांशे, प्रकाशे, प्रभायां, वेगे च, वाच०।

अंसु-न० अश्नुते व्याप्नोति नेत्रमदर्शनाय। अश-क्रुन्। प्राकृते। वक्रादावन्तः ८।१।२६ इति सूत्रेण अनुस्वारागमः, प्रा०। नेत्रजले, वाच०। "गुरुदुक्खभरकंतस्स अंसुणि वायण जं जलं गालियं तं अगमतलायणईसमुद्दमाईसु ण वि होज्जा" महा० ६ अ०। "अंसुपुण्णणयणे तित्थयरसरीरयं तिक्खुत्तो" जं० २ वक्ष०। 'अंसुपुण्णेहिं णयणेहिं उरं मे परिसिंचइ' उत्त० २० अ०।

अंसुय-अंशुक-न० चीनविषये बहिस्ताद्भवत्ये सूत्रे, अनु०। आ० म० प्र०। "अब्भंतरहीरे जं उप्पज्जति तं अंसुयं" नि० चू० ७ उ०। आचा०। अंशुकं श्लक्ष्णपट्टस्तश्चिष्पश्रमंशुकम्, बृ० २ उ०। वस्त्रविशेषे, ज्ञा०१ अ०। जं०। जी०। पत्रे च, अंशु स्वार्थे कन्। अंशुशब्दार्थे, पुं०। वाच०।

अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-त्रि०। ७ त०। अंश (स) योः स्कन्धयोरुपसक्तं लग्नं यत् स्कन्धलग्ने, कल्प०।

अकइ (ति)-अकत्ति-त्रि० न कति न संख्याता इत्यकति असंख्यातेषु अनन्तेषु, स्था० ३ ठा०। भ०।

अकइ (ति) संचिय-अकतिसञ्चित-पुं० न कति न संख्याता इत्यकति असंख्याता अनन्ता वा तत्र ये अकत्यकतिअसंख्याता असंख्याता एकैकसमये उत्पन्नाः सन्तस्तथैव संचितास्ते अकतिसञ्चिताः। स्था० ३१ ठा०। एकसमयेऽसंख्यातोत्पादेनानन्तोत्पादेन च पिण्डितेषु नैरयिकादिषु (अत्र दण्डकक्रमेण नैरयिकादीनामकतिसंचितत्वमुपपातशब्दे) भ०२ श० १० उ०।

अकंटग-अकण्टक- त्रि० न० ब०। कण्टकरहितेषु न तेषु मध्ये बब्बूलादिवृक्षाः सन्तीति, जी० ३ प्रति। पाषाणादिद्रव्यकण्टकविकलेषु, आव० ५ अ०। प्रतिस्पर्द्धिगोत्रजे (राज्ये) "ओहयकंटयं मलियकंटयं अकंटयं" ज्ञा० १ अ०। स्था०। सूत्र०।

अकंम-अकाण्ड-न०। न० त०। अप्रस्तावे, अनवसरे, आतु०। "एत्थ मया अकंमे विणासिया तं कारणं सुणह" आ० म० प्र०। अकाले, बृ० १ उ०।

अकंमूयग-अकण्डूयक-पुं० न कण्डूयते इत्यकण्डूयकः स्था० ५ ठा०। अकण्डूयनकारके अभिग्रहविशेषवति, प्रश्न० संव० १ द्वा०।

अकंत-अकान्त-त्रि० कान्तः कान्तियोगात्, स्था०७ ठा०। न कान्तोऽकान्तः। जी० १ प्रति०। स्वरूपेणाकमनीये, उपा० ७ अ०। भ०। प्रश्न०।

अकंततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपतोऽप्यकमनीयतरे, जी० ३ प्रति०। वि०।

अकंतता-अकान्तता-स्त्री० असुन्दरतायाम्, भ०६ श० २ उ०।

अकंतदुक्ख-अकान्तदुःख-त्रि० अकान्तमनभिमतं दुःखं येषान्तेऽकान्तदुःखाः अनभिमतासातेषु सूत्र० १ श्रु० १ अ० "अकंतदुक्खं तसथावरा दुही अलूसए" आचा०२ श्रु० २ अ०। दुःखद्विट्सु, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

अकंतस्सर-अकान्तस्वर- त्रि० ६ ब० अकान्तियुक्तस्वरे, स्था० ७ ठा०।

अकंदप्पि (न्)-अकन्दर्पिन्-त्रि० कन्दर्पोद्दीपनभाषितादिविकले, व्य० १ उ०।

अकंप-अकम्प-त्रि० स्वरूपनिष्ठे, अष्ट०। अक्षोभ्ये, " णाणंमि

दंसणंमि य, तवे चरित्ते य चउसु वि अकंपे " अकम्पोऽक्षोभ्यो देवैरप्यचाल्य इत्यर्थे, आतु० ।

अकंपिय–अकम्पित–पुं० । न० त० । श्रीमहावीरस्याष्टमे गणधरे, स० (अस्यागारपर्य्यायादयो गणधरशब्दे) आ० चू० । आ० म० द्वि० । कल्प० । (अयमकम्पितनामा द्विजोपाध्यायो वीरान्तिकं गतो भगवता नामगोत्राभ्यामाभाष्य) वि० । "आभट्ठो य जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गुत्तेण य, सव्वन्नूसव्वदरिसीणं ॥ किं मन्ने नेरइया, अत्थि नत्थित्ति संसओ तुज्झ, वेदपयाणं अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो " (इत्याद्युक्त इति नारयशब्दे प्रदर्शयिष्यते)

अकक्कसभासा–अकर्कशभाषा–स्त्री० अतिशयोक्त्या ह्यमत्सरपूर्वायां भाषायाम, दश० ७ अ० ।

अकक्कसवेयणिज्ज–अकर्कशवेदनीय–न० अकर्कशेन सुखेन वेद्यन्ते यानि तानि अकर्कशवेदनीयानि भरतादीनामिव सुखवेदनीयेषु कर्मसु ॥ अत्र दण्डकः "अत्थि णं भंते जीवाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? हंता अत्थि कहएणं भंते ! जीवाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ! गोयमा ! पाणाइवायवेरमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं कोहविवेगेणं जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति अत्थिणं भंते ! नेरइयाणं अकक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति णोइणट्ठे समट्ठे एवं जाव वेमाणियाणं णवरं मणुस्साणं जं जीवाणं । भ० ७ श० ६ उ० ।

अकज्ज–अकार्य्य–न० अप्रशस्तं कार्य्यम् अप्राशस्त्येन त० कुत्सितकार्य्ये, निषिद्धकार्य्ये च । कर्त्तव्यभिन्ने, त्रि० वाच० । आचा० ।

अकज्जमाण–अक्रियमाण–त्रि० न० त० वर्त्तमानकाले अनिवर्त्तमाने भ० १ श० १० उ० ।

अकज्जमाणकड–अक्रियमाणकृत–त्रि० क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं चातीतकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं (वर्तमानातीतकालयोरनिर्वर्त्यमानानां निर्वृत्ते) "अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं " भ० १ श० १० उ० ।

अकट्ठ–अकाष्ठ–त्रि० न० ब० काष्ठरहिते अनिन्धने, "जंसीजलंतो अगणी अकट्ठो " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अकड–अकृत–त्रि० न० त० अविहिते । " कडं कडित्ति भासिज्जा, अकडं नो कडित्ति य " उत्त० १ अ० " अकडं करिस्सामित्ति मन्नमणे" यदपरेण न कृतम् । आचा० १ श्रु०२अ० ।

अकडजोगि (न्)–अकृतयोगिन्–पुं० यतनया योगमकृतवति, व्य०३ उ० । अकृतयोगी अगीतार्थः त्रीन् वारान् कल्पमेषणीयं वा परिभाव्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽकल्पमनेषणीयमपि ग्राही । व्य० १० उ० । " अकडजोगित्ति दारं तिगुणं पच्छद्धंति तिसंखा तिण्णि गुणीओ तिगुणो असंथरातीसु तिन्नि वारा एसणीयं सन्निसिओ जाता ततियवाराए वि ण लज्जति तदा चउत्थपरिवाडीए अणेसणीयं घेत्तव्वं एवं तिगुणं जोगं काऊण जोगो व्यापारः वितियवाराएच्चेव अणेसणीयं गेण्हत्ति जो सो अकडजोगी भवति अकडजोगित्ति गयं " नि० चू० १ उ० ।

अकडपायच्छित्त–अकृतप्रायश्चित्त–त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन अननुष्ठितविशोधः " जे भिक्खू साहिगरणं अविउसवियपाहुडं अकडपायच्छित्तं " नि० चू० १० उ० ।

अकडसामायारि–अकृतसामाचारि–पुं० ३ ब० अविनथा मण्डल्युपसंपत्सामाचारीमकुर्वति, वृ० ३ उ० एवंविधां (सामाचारीशब्दे वक्ष्यमाणां उपसम्पन्नमण्डलीविषयां द्विविधामपि सामाचारीं यो न करोति सोऽकृतसामाचारीक उच्यते, वृ० १ उ० ।

अकढिण–अकठिन–त्रि० कोमले, जी० ३ प्रति ।

अकण्ण–अकर्ण–पुं० सिंहमुखद्वीपस्य नैर्ऋतकोणे (अन्तरद्वीपशब्दोक्त) प्रमाणे अन्तरद्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च, स्था० ४ ठा० । प्रज्ञा० । नं० । कर्णरहिते, वाच० ।

अकण्णछिण्ण–अकर्णच्छिन्न–अच्छिन्नकर्णे त्रि० न छिन्नौ कर्णौ यस्य स तथा । अकृतश्रवणे, नि० चू० १४ उ० ।

अकत्तण–अकर्त्तन–त्रि० उच्चस्थं फलं कर्तितुं शीघ्रमस्य । कृत-युच् न० त० । उच्चत्वविरोधिह्रस्वत्ववति खर्वे, कृत-भावे ल्युट् न० ब० छेदनकर्तरि त्रि० वाच० ।

अकत्तिम–अकृत्रिम–त्रि० न कृत्रिमः । न० त० कृत्रिमभिन्ने, स्वजावसिद्धे, वाच० "अकत्तिमेहिं चेव कत्तिमेहिं चेव" जं० २ वक्ष० ।

अकप्प–अकल्प–पुं० कल्पो न्याय्यो विधिराचारश्चरणकरणव्यापार इति यावत् । न कल्पोऽकल्पः अतद्रूप इत्यर्थः । ध० २ अधि० अविधौ चरकादिदीक्षायाम्, अग्राह्ये, पंचा० १२ विव० । आव० । आ० चू० । अकृत्ये, अयोग्ये, "अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि " आव० ४ अ० । दर्पादौ, व्य० १ उ० । अभोज्ये, "जइ कम्मं अकप्पं तत्थिकं " पिं० । "अकप्पं पडिगाहेज्ज, चउत्थाइ जहाजोग कप्पं वा । पडिसेहेइ छवहा–वणं गोयर पविट्ठो य " । महा० ७ अ० । दूषणीये । नि० चू० १५ उ० । अनाचारे, कल्प० । अकल्पः अमर्यादा अनीतिः अनुपदश इत्यनर्थान्तरम्, पं० सू० । पिण्डशय्यावस्त्रपात्ररूपचतुष्टयेऽकल्पनीये, व्य० २ उ० । " वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं " अकल्पः शिक्षकस्थापनाकल्पादिः । दश० ६ अ० । तत्राकल्पो द्विविधः शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्पस्थापनाकल्पश्च तत्र शिक्षकस्थापनाकल्पः अनधीतपिण्डनिर्युक्त्यादिनानीतमाहारादि न कल्पते इत्युक्तं च " अणहीया खलु जेणं, पिंडेसणसेज्जवत्थपाएसा । तेणाणियाणि जतिणो, कप्पंति न पिंडमाईणि ॥ उउबद्धंमि ण अणला, वासावासेउ दो वि णो सेहा । दिक्खिज्जंती पायं, ठवणाकप्पो इमो होइ " अकल्पस्थापनाकल्पं त्वाह ॥

जाइं चत्तारिभुज्जाइ, इसिणा हारमाइणि ।

ताइं विहिणा वज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥४७॥

सूत्रं व्याख्या–यानि चत्वार्यभोज्यानि संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि ऋषीणां साधूनामाहारादीन्याहारशय्यावस्त्रपात्राणि तानि तु विधिना वर्जयन् संयमं सप्तदशप्रकारमनुपालयेत् । तदत्यागे संयमाभावादिति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ।

पिंडसेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।

अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥ ४८ ॥

पिण्डशय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्स्वरूपं प्रकटार्थमकल्पिकं नेच्छेत् प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकं यथोचितमिति सूत्रार्थः । अकल्पिके दोषमाह ।

जे नियागं ममायंति, कियमुद्देसियाहडं ।

वहं ते अणुजाणंति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ४९ ॥

ये केचन द्रव्यसाध्वादयो द्रव्यलिङ्गधारिणः (नियागंति) नित्यमामन्त्रितं पिण्डं (ममायन्तीति) परिगृह्णन्ति । तथा क्रीतमुद्देशिकाहृतम् । एतानि यथा क्षुल्लकाचारकथायां वधं त्रसस्थावरादिघातं ते द्रव्यसाध्वादयोऽनुजानन्ति । दातृप्रवृत्यनुमोदनेनेत्युक्तं च महर्षिणा वर्धमानेनेति सूत्रार्थः । यस्मादेवम् ।

तम्हा असणपाणाइं, कियमुद्देसियाहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो ॥५०॥

तस्मादशनपानादि चतुर्विधमपि यथोदितं क्रीतमौद्देशिकमाहृतं वर्जयति स्थितात्मानो महासत्त्वा निर्ग्रन्थाः साधवो धर्मजीविनः संयमैकजीविनः इति सूत्रार्थः। उक्तोऽकल्पः । दश० ६ अ०। जीत०। पं० चू०। पं० भा०। "अपरिग्गहणा अकप्पंमि हावे पलंबादीसलोम मम जिणादि होति उवहीए सेज्जाए दगसाला अकप्पसेहा य जे अन्ने " पं० क० चू० । पं० भा० ।

एत्तो अकप्पं वोच्छामि णिक्किव णिरणुकंपो पुप्फफलाणं च सारणं कुणति जं च एह एवमादी सव्वं तं जाणसु अकप्पं जो तु किवं ण करेती दुक्खभेसुं तु सव्वसत्तेसुं णिरवेक्खो रीयादिसु पवत्तइ णिक्किवो सोतुं सहसा वयसाए ण व परितावणमादिविंदियादीणं काऊण नाणुतप्पइ णिरणुकंपो हवति एसो सत्तट्ठमठाणेसु सट्ठाणासेवणाए सट्ठाणं गच्छागाढंमि तु कारणंमि वितियं भवे ठाणं सत्तट्ठमट्ठाणाइ उ कप्पो चेव तह अकप्पो य ते निक्कारणसेवी यावति सट्ठाणं पच्छित्तं पत्तंमि कारणे पुण रायदुट्ठादियंमि आगाढे जयणा य करेमाणो होठियकप्पो वि निट्ठाणं दारं । पं० चू० ।

"इयाणिं अकप्पो गाहा नामणिओ नामणी थंभणीओ विज्जाओ पउंजइ अद्धवेयाली नाम जो उट्ठठं नेऊण परिपालेइ वेयाली उट्ठवेइ गब्भादाणं परिसामेइ संगुच्छियं पाडेइ जोणिपाहुडं वा करेइ अणेसु य एवमाइसु पावायपणेसु वट्टइ गाहा तसएगिंदियतसपाणइमसगाइचिच्छिए वा संसेइमे वा संमुच्छावेइ मुच्छाणमरणअभिओगाइहिं माहेसरिं वा आहेव्वणं वा पउंजइ रुद्धा हिंवणं वंभडरुं वा अगणिकायं थंभेइ गाहा निक्कीवो नाम निग्घिणो निरणुकंपो पुप्फफलयाणि य विंछमेइ विज्जाओ परसुमादि पउंजइ एवमाइ कम्मकरो सो अकप्पो एयाणि पुण ओकप्पअकप्पाणि निक्कारणे करेंतो अहागपच्छित्तमावज्जइ । एतदर्थं गाहा सत्तठमठाणेसु गच्छमाइसु पुण कारणेसु य रायदुट्ठमाइसु असिवाइसु य कारणेसु जयणाए करेंतस्स ओकप्पा कप्पा विइयं ठाणं भवति किं पुण तं वितियं ठाणं पकप्पो चेव सो भवइ एस अकप्पो" पं०चू० [अपरिणतादेरकल्पस्याग्राह्यताऽपरिणयादिशब्देषु वक्ष्यते] अस्थितकल्पे च,वृ.४उ.।

अकप्पट्ठावणाकप्प–अकल्पस्थापनाकल्प–पुं० अनेषणीयपिण्डशय्यावस्त्रपात्रग्रहणेऽकल्पभेदे, जीत० ।

अकप्पट्ठिय- अकल्पस्थित–पुं० कल्पे दशविधे आचेलुक्यादौ संपूर्ण न स्थिताः अकल्पस्थिताः चतुर्णामधर्मप्रतिपत्तृषु, वृ० ४ उ० मध्यमद्वाविंशतिजिनसाधुषु महाविदेहजेषु च, जीत० [कल्पस्थितानामर्थाय कृतं कल्पते कल्पस्थितानां तदर्थं कृतं कल्पते कल्पस्थितानां नेतरथा]

जे कडे कप्पट्ठियाणं कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं, नो कप्पइ कप्पट्ठियाणं । जे कडे अकप्पट्ठियाणं नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं । कप्पे ट्ठिया कप्पट्ठिया णो कप्पे ट्ठिया अकप्पट्ठिया ।

यदशनादिकं कृतं विहितं कल्पस्थितानामर्थाय कल्पते तदकल्पस्थितानां, न कल्पते कल्पस्थितानां । इहाचेलुक्यादौ दशविधे कल्पेऽवस्थितास्ते कल्पस्थिता उच्यन्ते पञ्चयामधर्मप्रतिपन्ना इति भावः। ये पुनरेतस्मिन् कल्पे संपूर्णे न स्थितास्ते अकल्पस्थिताश्चतुर्यामधर्मप्रतिपत्तार इत्यर्थः। ततः पाञ्चयामिकानुद्दिश्य कृतं चातुर्यामिकानां कल्पते इत्युक्तं भवति तथा यदकल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामर्थाय कृतं नो स कल्पते कल्पस्थितानां, पाञ्चयामिकानां किन्तु कल्पते तदकल्पस्थितानां चातुर्यामिकानामेव व्युत्पत्तिमाह कल्पे आचेलुक्यादौ दशविधे स्थिताः कल्पस्थिता न कल्पे स्थिता अकल्पस्थिताः । एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः।

कप्पट्ठिपरूवणाता, पंचेव महव्वया चउज्जामा ।
कप्पट्ठियाण पणगं, अकप्पचउज्जाम सेहे वि ॥

कल्पस्थितेः प्रथमतः प्ररूपणा कर्त्तव्या । तद्यथा । पूर्वपश्चिमसाधूनां कल्पस्थितिः पञ्चमहाव्रतरूपा मध्यमसाधूनां महाविदेहसाधूनां च कल्पस्थितिश्चतुर्यामलक्षणा ततो ये कल्पस्थितास्तेषां (पणगंति) पञ्चैव महाव्रतानि भवन्ति अकल्पस्थितानां तु चत्वारो यामाश्चत्वारि महाव्रतानि भवन्ति नापरिगृहीता स्त्री भुज्यत इति कृत्वा चतुर्थव्रतपरिग्रहवतामेव तेषां अन्तर्भवतीति भावः। यश्च पूर्वपश्चिमतीर्थकरसाधूनामपि सम्बन्धी सैक्षस्यापि सामायिकसंयत इति कृत्वा चातुर्यामिकोऽकल्पस्थितश्च मन्तव्यः यदा पुनरुपस्थापितो भविष्यति तदा कल्पस्थित इति प्ररूपिता कल्पस्थितिः। इह " जे कडे कप्पट्ठियाण " इत्यादिना आधाकर्मसूचितमतस्तस्य उत्पत्तिमाह ।

सालीघयगुलगोर–सावसु वल्लीफलेसु जातेसु ।
पणट्ठकरणसड्ढा, आहाकम्मे णिमंतणता ॥

कस्यापि दानरुचेरभिगमश्राद्धस्य वा नवः शालिः भूयान् गृहे समायातस्ततः स चिन्तयति पूर्वं यतीनामदत्वा ममात्मना परिभोक्तुं न युक्त इति परिभाव्याधाकर्म कुर्यात् एवं घृते गुडे गोरसं नवे यवतुम्ब्यादिवल्लीफलेषु जातेषु पुण्यार्थं दानरुचिः श्राद्धः (करणंति) आधाकर्म कृत्वा साधूनां निमन्त्रणं कुर्यात् । तस्य चाधाकर्मणोऽमून्येकार्थकपदानि ।

आहा आहयकम्मे, अत्ताहम्मेय अत्तकम्मे य ।
ते पुण आहाकम्मं, णायव्वं कप्पते कस्स ॥

आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्न, आत्मकर्म, चेति चत्वारि नामानि तत्र साधुनामधेयप्राणिघातेन यत्कर्म षट्कायविनाशेनाशनादिनिष्पादनं तदाधाकर्म । तथाविशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्यात्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदाधः करोति तदधःकर्म। आत्मानं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं विनाशयतीत्यात्मघ्नः । यत्पाचकादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तदात्मनः सम्बन्धि क्रियते, अनेनेत्यात्मकर्म । तत्पुनराधाकर्म कस्य पुरुषस्य कल्पते न वा यद्वा कस्य तीर्थे कथं कल्पते न कल्पते चेत्यर्थाभिर्द्वारैर्ज्ञातव्यं, तान्येव दर्शयति ।

संघस्स पुरिममज्झिम-समणाणं चेव समणीणं ।
चउण्हं उवस्सयाण, कायव्वा मग्गणा होति ॥

आधाकर्मकारी सामान्येन विशेषेण वा संघस्योद्देशं कुर्यात् तत्र सामान्येनाविशेषितं संघमुद्दिशति विशेषेण तु पूर्वं वा मध्यमं वा पश्चिमं वा संघं चेतसि प्रणिधत्ते श्रमणानामप्योघतो विभागतश्च निर्देशं करोति, तत्रौघतो विशेषितश्रमणानां विभागतः पाञ्चयामिकश्रमणानां चातुर्यामिकश्रमणानामेवं श्रमणीनामपि वक्तव्यं तथा चतुर्णामुपाश्रयाणामप्येवमेव सामान्येन विशेषेण च मार्गणा कर्तव्या भवति, तत्र चत्वार उपाश्रया इमे पाञ्चयामिकानां श्रमणानामुपाश्रयमुद्दिशतीत्येकः पाञ्चयामिकानामेव श्रमणानां द्वितीयः, एवं चातुर्यामिकश्रमणश्रमणीनामप्येवं भावयति ।

संघं समुद्दिसित्ता, पढमो बितिओ य समणसमणीओ ।
ततिओ उवस्सए खलु, चउत्थओ एगपुरिसस्स ॥

आधाकर्मकारी प्रथमो दानश्राद्धादिः संघं सामान्येन विशेषेण वा समुद्दिश्याधाकर्म करोति । द्वितीयः श्रमणश्रमणीः प्रणिधाय करोति । तृतीय उपाश्रयानुद्दिश्य करोति । चतुर्थ एकपुरुषस्योद्देशं कृत्वा करोति ।

अत्र यथाक्रमं कल्पाकल्पविधिमाह ।

जदि सव्वं उद्दिसिउं, संघं करेति दोण्ह वि ण कप्पे ।
अहवा सव्वे समणा, समणी वा तत्थ वि तहेव ॥

यदीत्यभ्युपगमे यदि नाम ऋषभस्वामिनोऽजितस्वामिनश्च तीर्थमेकत्र मिलितं भवति पार्श्वस्वामिवर्द्धमानस्वामिनोर्वा तीर्थं मिलितं यदा प्राप्यते तदा तत्कालमङ्गीकृत्यायं विधिरभिधीयते, सर्वमपि संघं सामान्येनोद्दिश्य यदाधाकर्म करोति । यद्वा द्वयोरपि पाञ्चयामिकचातुर्यामिकसंघयोर्न कल्पते अथ सर्वान् श्रमणान् सामान्येनोद्दिशति तथापि श्रमणानामपि सामान्येनोद्देशेन तथैव सर्वेषामपि पाञ्चयामिकानां चातुर्यामिकानां न कल्पते एवं श्रमणीनामपि सामान्योद्देशे सर्वासामकल्प्यम् ।

अथ विभागोद्देशे विधिमाह ।

जं पुण पुरिसं संघं, उद्दिसती मज्झिमस्स तो कप्पो ।
मज्झिमउद्दिट्ठे पुण, दोण्हं पि अकप्पितं होति ॥

यदि पुनः पूर्वमृषभस्वामिसत्कं संघमुद्दिशति ततो मध्यमस्याजितस्वामिसंघस्य कल्पते अथ मध्यमं संघमुद्दिशति तदा द्वयोरपि पूर्वमध्यमसंघयोरकल्पं भवति; एवं पश्चिमतीर्थकरसत्कसंघमुद्दिश्य कृतं मध्यमस्य कल्पते मध्यमस्य कृतं द्वयोरपि न कल्पते ।

एमेव समणवग्गे, समणीवग्गे य पुव्वमुद्दिट्ठे ।
मज्झिमगाणं कप्पे, तेसि कडं दोण्हं वि ण कप्पं ॥

एवमेव श्रमणवर्गे श्रमणीवर्गे पूर्वेषामृषभस्वामिसंबन्धिनां श्रमणानां श्रमणीनां वा यदुद्दिष्टमुद्दिश्य कृतं तन्माध्यमिकानां श्रमणश्रमणीनां कल्पते तेषां मध्यमानामर्थाय कृतमुभयेषामपि पूर्वमध्यमानां साधुसाध्वीनां न कल्पते । एवं पश्चिममध्यमानामपि वक्तव्यम् ।

अथैकपुरुषोद्देशे विधिमाह ।

पुरिमाणं एगस्स वि, कयं तु सव्वेसि पुरिमचरिमाणं ।
चरिमाणं ण वि कप्पे, ठवणामत्तगहणं तहिं नत्थि ॥

पूर्वेषामृषभस्वामिसत्कानामेकस्यापि पुरुषस्यार्थाय कृतं सर्वेषामपि पूर्वपश्चिमानामकल्प्यं पश्चिमानामप्येकस्यार्थाय कृतं सर्वेषां पूर्वपश्चिमानामकल्प्यम् । एतच्च स्थापनामात्रं प्ररूपणामात्रं संज्ञाविज्ञानार्थं क्रियते बहुकालान्तरत्वेन पूर्वपश्चिमसाधूनामेकत्रासंभवात् तत्र परस्परं ग्रहणं नास्ति न घटते मध्यमानां तु यदि सामान्येनैकं साधुमुद्दिश्य कृतं तत एकेन गृहीते शेषाणां कल्पते अथ किमप्येकं विशेष्य कृतं ततस्तस्यैवाकल्प्यं शेषाणां सर्वेषामपि कल्पं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेषामपि तन्न कल्पते ।

अथोपाश्रयोद्देशे विधिमाह ।

एवमुवस्सय पुरिसे, उद्दिट्ठणं तं तु पच्छिमा भुञ्जो ।
मज्झिमगं तु वज्जाणं, कप्पं उद्दिट्ठसम पुव्वे ॥

एवं यदि सामान्येनोपाश्रयाणामुद्देशं करोति तदा सर्वेषामकल्प्यम् । अथ पूर्वेषामाद्यतीर्थकरसाधूनामुपाश्रयानुद्दिशति ततस्तदर्थमुद्दिष्टं पश्चिमानामुपलक्षणत्वात्पूर्वे वा साधवः सर्वेऽपि न भुञ्जते मध्यमानां पुनः कल्पनीयम् । अथ मध्यमसाधूनामुपाश्रयान् सर्वानुद्दिश्य करोति ततो मध्यमानां पूर्वपश्चिमानां सर्वेषामकल्प्यम् । अथ कियत एव मध्यमोपाश्रयानुद्दिशति ततस्तद्वर्जानान्तेषूपाश्रयेषु ये श्रमणास्तान् वर्जयित्वा शेषाणां मध्यमश्रमणश्रमणीनां कल्पते (उद्दिट्ठसमपुव्वेति) पूर्वे साधवः ऋषभस्वामिसत्का भण्यन्ते ते उद्दिष्टसमये साधुमुद्दिश्य कृतं तत्तुल्याः । एकमुद्दिश्य कृतं सर्वेषामकल्पनीयमिति भावः । एवं तावत्पूर्वेषां मध्यमानां च भणितम् ।

अथ मध्यमानां पश्चिमानां वा अभिधीयते ।

सव्वे समणा समणी, मज्झिमगा चेव पच्छिमा चेव ।
मज्झिमगसमणसमणी, पच्छिमगा समणसमणीतो ॥

सर्वे श्रमणाः श्रमण्यो वा यदुद्दिश्यन्ते तदा सर्वेषामकल्प्यं (मज्झिमगा चेवत्ति)अथ मध्यमाः श्रमणाः श्रमण्यो वा उद्दिष्टास्ततो मध्यमानां पश्चिमानां च सर्वेषामकल्प्यम् (पच्छिमा चेवत्ति) पश्चिमानां श्रमणश्रमणीनामुद्दिष्टे तेषां सर्वेषामकल्प्यं मध्यमानां कल्प्यं मध्यमश्रमणानामुद्दिष्टे मध्यमसाध्वीनां कल्पते मध्यमश्रमणीनामुद्दिष्टे मध्यमसाधूनां कल्पते पश्चिमश्रमणीनामुद्दिष्टे पश्चिमसाधुसाध्वीनां न कल्पते मध्यमानामुभयेषामपि कल्पते । एवं पश्चिमश्रमणीनामप्युद्दिष्टे वक्तव्यम् ।

उवसयगणिय विभाइअ, उज्जुगजड्डा य वंकजड्डा य ।
मज्झिमगउज्जुपण्णा, पेच्छासण्णायगागमणं ॥

अथोपाश्रयेषु साधून् गणितविभाजितान् करोति गणितानामियतां पञ्चादिसंख्याकानां दातव्यं विभाजिता अमुकस्यामुकस्येति नामोत्कीर्त्तनेन निर्द्धारिताः अत्र चतुर्भङ्गी यथा गणिता अपि विभाजिता अपि १ गणिता न विभाजिता २ विभाजिता न गणिता ३ न गणिता न विभाजिता ४ अत्र प्रथमभङ्गे मध्यमानां गणितविभाजितानामेवाकल्प्यं शेषाणां कल्पते । द्वितीयभङ्गे यावत् प्रमाणैर्न गृहीतं तावत् सर्वेषामकल्प्यं गणितप्रमाणैर्गृहीते मध्यमानां शेषाणां कल्प्यम् । तृतीयभङ्गे यावत् सदृशनामानस्तेषां सर्वेषां सममकल्प्यं शेषाणां कल्प्यम् । चतुर्थभङ्गे सर्वेषां कल्प्यं पूर्वपश्चिमानां तु सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते (साधूनां कल्पास्थितत्वात् कल्पस्थितत्वकारणं कप्पशब्दे) वृ० एतेन कारणेन चातुर्यामिकपाञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रक्रमः ।

अथ द्वितीयपदमाह ।

आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि गिलाणए य भयणाओ ।
भिक्खुस्सऽडविपवेसे, चउपरियट्टे तओ गहणं ॥

आचार्याभिषेकभिक्षूणामेकतमः सर्वे वा ग्लाना भवेयुः तत्र सर्वेषामपि योग्यमुद्गमादिदोषशुद्धं ग्रहीतव्यम् अलभ्यमाने पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुकं यदा प्राप्तं भवति तदा आधाकर्मणो भजना सेवना भवति अथवा भजना नाम आचार्यस्याभिषेकस्य गीतार्थभिक्षोश्च येन दोषेणाशुद्धमानीतं तत्परिस्फुटमेव कथ्यते । यः पुनरगीतार्थोऽपरिणामको वा तस्य न निवेद्यते । अशिवादिभिर्वा कारणैरटवीमध्वानं प्रवेष्टुमभिलषति तत्र प्रथममेव शुद्धोऽध्वकल्पस्त्रिकृत्वस्त्रीन् वारान् गवेष्यते यदा न लभ्यते तदा चतुर्थे परिवर्ते पञ्चपरिहाण्याधाकर्मिकस्य ग्रहणं करोति ।

अध्वनिर्गतानां चायं विधिः ।

चउरो चउत्थभत्ते, आयंबिलएगठाण पुरिमड्ढं ।
णिव्वीयगदायव्वं, सयं व पुव्वोग्गहं कुज्जा ॥

आचार्यः स्वयमेव चतुष्कल्याणकं प्रायश्चित्तं गृह्णाति तत्र चत्वारि चतुर्थभक्तानि चत्वारि आचामाम्लानि चत्वार्येकस्थानानि एकाशनकानीत्यर्थः चत्वारि पूर्वार्द्धानि चत्वारि निर्विकृतिकानि च भवन्ति । ततः शेषा अप्यपरिणामकप्रत्ययनिमित्तं चतुष्कल्याणकं प्रतिपद्यन्ते । योऽपरिणामिकस्तस्य पञ्चकल्याणकं दातव्यं तत्र चतुर्थभक्तादीनि प्रत्येकं पञ्च पञ्च भवन्ति स्वयं चाचार्यः पूर्वमेव प्रायश्चित्तस्यावग्रहणं कुर्यात् येन शेषाः सुखेनैवं प्रतिपद्यन्ते यत्पूर्वं प्रतिसिद्धं वक्ति एवं भूयोऽनुज्ञायते अनुज्ञातं चेति ।

अतः किमर्थं प्रायश्चित्तं दीयत इत्याह ।

कालशरीरावेक्खं, जगस्स भावं जिणा वियाणित्ता ।
तह तह दिसंति धम्मं, झिज्जति कम्मं जहा अखिलं ॥

कालशरीरापेक्षं कालस्य शरीरस्य च यादृशः परिणामो बलं वा तदनुरूपं जगतो मनुष्यलोकस्य स्वभावं विज्ञाय जिनास्तीर्थकराः तथा तथा विधिप्रतिषेधरूपेण प्रकारेण धर्ममुपदिशन्ति यथा अखिलमपि कर्म क्षीयते यच्चानुज्ञाते प्रायश्चित्तदानं तदनवस्थाप्रसंगवारणाय । बृ० ४ उ० ।

अकप्पिय-अकल्पिक-पुं० अगीतार्थे, " किं वा अकप्पिएणं, गहियं फासुयं तं होइ " व्य० १ उ० अनेषणीये, त्रि० "अकप्पियं ण इच्छिज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं " दश० ५ अ० ॥

जं जम्मि देसकाले, अकप्पियं जेण जेण कालेण ।
वुच्छामि अन्नपाणे, त्ति कारणं सुत्तनिदिट्ठं ॥५॥
मगहाइ मगहसाली-णं ओयणमुण्ह यं हवइ भुज्जं ।
सीयलगं तु अभुज्जं, कुंथुसमाणो रसजोणं ॥६॥
तेसिं तु तंदुलोदं, एगंतेणं भवे अप्पिज्जं तु ।
पिंडालु य पल्लंकं, परिवुच्छा सा त्ति य अभुज्जा ॥७॥
वालग्गकोडिसरिसा, उरपरिसप्पा तहिं सुहुमदेहा ।
संमुच्छिंति अणेगा, दुप्पिक्खा मंसचक्खुणा ॥८॥
तंमि य चेव पएसे, उण्हं सालुअं हवइ भक्खं ।
सीयलगंमि य जलजा, रसया समुच्छंति य अणेगा ॥९॥
सरिसवमागं मुग्गेण, मासायां अंबलेण जं रद्धं ।
एगंतेण अभक्खं, तहिं मंकुडा भवे सुहुमा ॥१०॥
मासा मूलपसिद्धा, परिवुच्छा संजयाणपमिसिद्धं ।
मच्छाय संमुच्छंति, न सरएणूसंठिआ वहे ॥११॥
सो पक्खलजाया ? अय-तक्को उगणियाहिं सिद्धाओ ।
परिमुच्छंसि य विविहा, सव्वे पंचिंदिया हुंति ॥१२॥
आमे तक्के सिद्धे, कुसुंभसुगं अकप्पियं निच्चं ।
बालसरिसा अणेगा, सप्पा संमुच्छिमा तत्थ ॥१३॥
जवसागरवनाले ? परिवुच्छं नेव कप्पियं होइ ।
संमुच्छंति अणेगा, मच्छा जलुआ सहस्साइं ॥१४॥
एगंतेण अपेयं, खीरं दुरजाइयं तहिं देसे ।
संसइमं तत्थ जिया, गंडुलया सप्पमंमुक्का ॥१५॥
दहियं तिरत्तिपुव्वं, अकप्पयंति जलूयसंघाया ।
गुलवाणिअं अपेयं, पहरंमि गए तहिं देसे ॥१६॥
गुलवाणियं अपेयं, अंभाओगजीवसंभवो तत्थ ।
जवपाणियं अपेयं, सेमाण य उण्हतोयाणि ॥१७॥
एगंतेण अभक्खा, परिवुच्छा मासपोलिआ तत्थ ।
सम्मुच्छंति निगोया, तेहिं य जीवा बहुविहा य ॥१८॥
अल्लगपिंडगगब्भा, मंडुकाया परम्परिवुच्छा ।
पुव्वण्हे सा कप्पइ, अवरण्हे तंतुआ जीवा ॥१९॥
भक्खा य पंचरत्तं, तु मोयगा देसमंडले तम्मि ।
एगंतेण न कप्पइ, सीयलकूरो अतुसिणो अ ॥२०॥
आयारो पडिसिद्धो, जीमेतासी ? अलंजई भत्तं ।
आयारियपरिभट्ठा, पाणिवहकरा अ साहूआ ॥२१॥
मूलगलट्ठा चंचु अ, तत्थ य संसज्जए मुहुत्तेणं ।
न हु मूलगसंसत्ता, कंदफलाई उ संसत्ते ॥२२॥
सव्वं तिलगयआमं, गोरसमासं तु रत्तिपज्जसियं ।
लड्डासीईभूया, संसज्जए मुहुत्तेणं ॥२३॥
उत्तरुक्खलगतिगेयं, पत्तेयं तभिरत्तकालेयं ।
विज्जलयणट्ठब्भाइ ? सुहुमुट्ठाईसु संसत्ते ॥२४॥
एवं भुज्जं मगहे, विसए तहेव समासओ भणियं ।
मगहा इव नायव्वं, जाव कलिंगाउ नेपालं ॥ २५ ॥
दविमं वा विमुवासो ? एयंमि य देसमंडले पत्ता ।
पाणाणि य भक्खाणि य, नायव्वाइं पयत्तेणं ॥ २६ ॥
मिरियकुडंगकुसंभी, करमियअग्गे सन्निद्धकामाया ।
एसा निगोयजोणी, परिवुच्छा होइ अब्भक्खा ॥ २७ ॥
कुद्दवतंदुलजाओ, दगकूलं पंचरत्तिपरिवुच्छं ।
एगंतेण अपेयं, जन्नयरपरिनाण जायंति ॥ २९ ॥
पूरियमंडकमिश्रा, मासा वथुला य देसला जाया ।
हुंति अभक्खा कुंथुअ-मक्खिअमसगाण सा जोणी ॥२८॥

कुष्ठ न तंदुलउदगं, कूरो जो होइ रत्तिपरिवुच्छो ।
एगंतेण अपेयं, बहुविहसत्ताण सा जोणी ॥ २९ ॥
गुलपाणियं तु पेयं, मज्झण्हे विच्छुपाणियं चेव ।
सेसं काल न पेयं, तेसु वि जीवा अणेगविहा ॥ ३० ॥
आजारसरट्ठीए, करंवगे छगलतक्कसिद्धो अ ।
एगंतेण अभक्खो, सो कउण्हो अ सन्निलेणं ॥ ३१ ॥
समुच्छंति निगोया, तसा पंचिंदिया अणेगविहा ।
सुहुमा जइहिं दिट्ठा, तज्जोणीया बहू जीवा ॥ ३२ ॥
सूरणकंदो मीसे-हिं सीलिओ ? एगरत्तिपरिवुच्छो ।
एगंतेण अभक्खो, तेसि निगोया य मंडूका ॥ ३४ ॥
छागलतक्के सिद्धो, उगणेहिं किण्हकंगुओ जीओ ।
थूलं करिहिं मासो, परिवुच्छो तत्थ बहुयरया ॥ ३५ ॥
पंचन्नवमुहुत्तकंदा, अकप्पिया सिद्धयारिनिच्चं पी ।
पत्ता कसाणवचयं, सोरट्ठा जारदेसंम्मि ॥ ३६ ॥
चउहिं पयारेहिं सया, न कप्पए कंगुओ तहिं देसे ।
जो अंबलंमि सिद्धो, तत्थयमानविया जीवा ॥ ३७ ॥
उण्हे संमुच्छम्मि य, अणेगजीवा निगोयसंजाणा ।
सीयलयंमि य मच्छा, रहरेणू संनिया दहवे ॥ ३८ ॥
छागलतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरे हि कट्ठेहिं ।
उण्हे निगोयजीवा, सीयलए तंतुया हुंति ॥ ३९ ॥
तक्कं बिलंमि सिद्धो, मासो लएएयरएलमासम्मि ।
उण्हंमि तसा जीवा, सीयलए हुंति य निगोया ॥ ४० ॥
माहिसतक्के छगलेहिं, सिद्धओ जइति कंगुओ होइ ।
समुच्छंति अणेगा, सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४१ ॥
चल्लापत्तंतिल्लं--मि सिद्धयं उण्हयं च अगिणीए ।
उप्पज्जंति अणेगा, सीयलए किण्हया जीवा ॥ ४२ ॥
अंबिलसिद्धविराली, एगंतेणं च सा वि पमिसिद्धा ।
उण्हम्मि तसा जीवा, निगोयजीवा य सीयलए ॥ ४३ ॥
साल्लासरसाकंगुअ, एए तिन्नि च उण्हया कूरा ।
परिहारियव्वा निच्चं सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४४ ॥
छागलतक्के सिद्धो, कंगुओ खायरेहिं कट्ठेहिं ।
तिल्लयसलूणमिस्सो, निगोयपंचिंदिया हुंति ॥ ४५ ॥
निग्गंथाण अभक्खं, मूलगसागं तिरत्ति परिवुच्छं ।
कुंथुतसायनिगोया, उप्पज्जंति य बहुय जीवा ॥ ४६ ॥
मसाविहुपरिवुच्छा, एगंतेण वि हुंति अभक्खा ।
हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिंदिया तत्थ ॥ ४७ ॥
सतु अजक्खा भक्खा, भक्खा परिवुच्छजेसुरहदेसम्मि ।
पेल्लामुहुकुक्कुमिया, पंचिंदियजीवजोणी सा ॥ ४८ ॥
एगं नामं जक्खा, पूवारिया कुंथुआ भवे पच्छा ।
एगंतेण अजक्खा, परिवुच्छा मासपोलीया ॥ ४९ ॥
उप्पज्जंति निगोया, जीवा पंचिंदिया बहुविहा य ।
वुविहेसु मोयगेसुं, परिवुच्छाइसु तहिं देसे ॥ ५० ॥
गोसत्तखाइयाणं, गोणीणं गोरसेण जं मिस्सं ।
संसप्पइ रसएहिं, खणेण वाल्लग्गसरिसेहिं ॥ ५१ ॥
सव्वेसु वि देसेसुं, परिवुसियाइँ अकप्पणिज्जाइँ ।
असणं पाणमजक्खं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५२ ॥
जा परिवुच्छं भुंजइ, एगरसं चउविहं पि आहारं ।
सा बहुविहजीवाणं, करेइ अंतं अयाणंतो ॥ ५३ ॥
जो नाही पडिवत्तिं, णाणादेसेसु सत्तभणिएणं ।
सो संजमं अविकलं, करेइ साहु य परिहरंतो ॥ ५४ ॥
अंकुल्लघाणिए र, वायालट्ठीइ जो य इक्खुरसो ।
मच्छासमुच्छंति अ, तक्कालं सव्वदेसेसु ॥ ५५ ॥
संसत्तयणिज्जुत्ती, एसा साहुहिं चेव पढिअव्वा ।
अत्थो पुण सव्वेहि वि, सोयव्वो साहु पासाओ ॥ ५६ ॥
सं० नि० । आचा० ।

अकल्पित–त्रि० अयोग्ये, ग० १ अधि० ।

अकब्बर–पुं० पारसीकोऽयं शब्दः दिल्लीनगराधिपतौ, म्लेच्छराजे, स हीरविजयप्रतिबोधितः " यो जीवाजयदानडिण्डिमभिषात् स्वीयं यशोडिण्डिम, षण्मासान्प्रतिवर्षमुन्नमखिले भूमण्डलेऽवीवदत् । जज्ञे धार्मिकतामधर्म्मरसिको म्लेच्छाग्रिमोऽकब्बरः, श्रुत्वा यद्वदनादनाविलमतिधर्म्मोपदेशं शुभम् ॥ १ ॥ कल्प० ॥

अकम्म–अकर्मन्–न० न० त० कर्मकरणाभावे, सू० १ उ० आश्रवनिरोधे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न विद्यते कर्मास्येति (क्षीणकर्माणि) पुं० आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणो गतिः ।

अत्थि णं भंते ! अकम्मस्स गई पएणायइ हंता अत्थि कएहं भंते ! अकम्मस्स गई पन्नायइ गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणछेयणयाए निरिंधणयाए पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पएणायइ कहएहं भंते ! निस्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गई पन्नायइ गोयमा ! से जहा नामए केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिद्दं निरुवहयं आणुपुव्वीए परिकम्ममाणे २ दब्भेहिय कुसेहि य वेढेई अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं लिंपइ उण्हं दलयइ भूइं भूइं सुक्कं समाणं अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा से नूणं गोयमा! से तुंबे तेसिं अट्ठएहं मट्टियालेवाणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयसंभारियत्ताए सलिलतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ हंता हवइ अहे णं से तुंबे तेसिं अट्ठएहं मट्टियालेवाणं परिक्खएणं धरणितलमइवइत्ता उप्पिं सलिलपइट्ठाणे भवइ हंता भवइ एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स गइपन्नायइ कएहं भंते ! बंधनछेयणयाए अकम्मस्स गई पन्नत्ता गोयमा ! से जहा नामए कलसिंबलियाइ वा

मुग्गसिंवलियाइ वा मासर्सिवलियाइ वा सिंबलिसिंवलियाइ वा एरंडमिंजियाइ वा उराहे दिराणा सुक्का समाणी फुडित्ताणं एगंतमंतं गच्छइ एवं खलु गोयमा ! कहराणं भंते ! निरिंधणयाए अकम्मस्स गई गोयमा ! से जहा नामए धूमस्स इंधणविप्पमुक्कस्स उद्धं वीससाए निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! कहराणं भंते ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पण्णत्ता गोयमा ! से जहानामए कंमस्स कोदंमविप्पमुक्कस्स लक्खाभिमुहं निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा ! नीसंगयाए निरंगणयाए जाव पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई पवत्तइ ।

(गइ पन्नायइत्ति) गतिः प्रज्ञायतेऽभ्युपगम्यत इति यावत् (निस्संगयाएत्ति) निःसङ्गतया कर्ममलापगमेन (निरंगणयाएत्ति) नीरागतया मोहापगमेन (गइपरिणामेणंति) गतिस्वभावतया अलाबुद्रव्यस्येव (बंधणछेयणयाएत्ति) कर्मबन्धनच्छेदनेन एरएडफलस्येव (निरंधणयाएत्ति) कर्मेन्धनविमोचनेन धूमस्येव (पुव्वप्पओगेणंति) सकर्मतायां गतिपरिणामवत्त्वेन बाणस्येवेति एतदेव विवृण्वन्नाह (कहराहामित्यादि) (निरुवहयंति) वाताद्यनुपहतं (दब्भेहियत्ति) दर्भैः समूलैः (कुसेहियत्ति) कुशैर्दर्भैरेव छिन्नमूलैः (भूइंभूइत्ति) भूयो भूयः (अत्थाहेत्यादि) इह मकारौ प्राकृतप्रभवावतोऽस्ताघेऽत एवातारेऽत एवापौरुषेयेऽपुरुषप्रमाणे (कलसिंवलियाइ वा) कलायाभिधानधान्यफलिका (सिंबलित्ति) वृक्षविशेषः (एरंममिंजियाइ वा) एरएडफलं (एगंतमंतं गच्छइत्ति) एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽतस्तमन्तं भूभागं गच्छति इह च बीजस्य गमनेऽपि यत् कलाय सिम्बलिकादि । तदुक्तं "तत्तयोरभेदोपचारादिति" (उद्धं वीससाएत्ति) उर्ध्वं विस्रसया स्वभावेन (निव्वाघाएणंति) कटाद्याच्छादनाभावात्, भ० ७श०१ उ० (अकम्मस्स ववहारो ण विज्जति) आचा०१ श्रु०२ अ०१उ०। न विद्यते कर्मास्येति अकर्मा कर्मरहिते, वीर्यान्तरायक्षयजनिते जीवस्य सहजे वीर्ये,"किन्तु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई । कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वा वि सुव्वया" सूत्र०१ श्रु०७अ०।

अकम्मओ—अकर्मतस्—अव्य० कर्माणि विनेत्यर्थे, "णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमइ" भ० १२ श० ५ उ० ।

अकम्मंस--अकर्मांश—पुं० न विद्यते कर्मांशो यस्य सोऽकर्मांशः। कर्मलवविप्रमुक्ते " अप्पत्तियं अकम्मंसे, एयमट्ठम्मिगे चुए " सूत्र० १ श्रु०१ अ० २ उ०। विगतघातिकर्मणि स्नातकभेदे, भ० २५ श० ६ उ० ।

अकम्मकारि [न्]—अकर्मकारिन्—त्रि० स्वभूमिकानुचितकर्मकारिणि, प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।

अकम्मग--अकर्मक--त्रि० नास्ति कर्म्म यस्य बहु० कप् । व्याकरणोक्ते कर्मशून्ये धातौ । "लः कर्म्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" ३ । ४ । ६९ इति [पाणिनिः] " फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः" इति हरिः । क्वियां टापि कापि अत इत्वम् अकर्म्मिका "प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्म्मणोऽकर्म्मिका क्रिया" इति हरिः वाच०। अविवक्षितकर्मका अकर्मका भवन्ति । यथा, पश्य मृगो धावति, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकम्मभूमग—अकर्मभूमक—पुं० कर्म कृषिवाणिज्यादि मोक्षानुष्ठानं वा तद्विकला भूमिर्येषान्ते अकर्मभूमास्ते एवाकर्मभूमका आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः । जीवा०१ प्रति । अकर्मभूमिजेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च त्रिंशद्विधाः ।

से किं तं अकम्मभूमिगा ? अकम्मभूमिगा तीसतिविहा पणत्ता तंजहा पंचहिं हेमवएहिं पंचहिं हेरण्णवएहिं पंचहिं हरिवासेहिं पंचहिं रम्मगवासेहिं पंचहिं देवकुरुएहिं पंचहिं उत्तरकुरुएहिं सेत्तं अकम्मभूमिगा।

अथ के ते अकर्मभूमिकाः? सूरिराह अकर्मभूमिकास्त्रिंशद्विधाः प्रज्ञप्ताः । तच्च त्रिंशद्विधत्वं क्षेत्रभेदात् । तथा चाह । "तं जहा पंचहिं हेमवएहिं" इत्यादि । पञ्चभिर्हैमवतैः पञ्चभिर्हैरण्यवतैः पञ्चभिर्हरिवर्षैः पञ्चभिः रम्यकवर्षैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः पञ्चभिरुत्तरकुरुभिर्भिद्यमानास्त्रिंशद्विधा भवन्ति । एषां पञ्चानां त्रिंशत्संख्यात्मकत्वात् तत्र पञ्चसु हैमवतेषु मनुष्या गव्यूतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया पल्योपमायुषो वज्रर्षभनाराचसंहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः चतुष्षष्टिपृष्ठकरण्डकाश्चतुर्थातिक्रमभोजिनः एकोनाशीतिदिनान्यपत्यपालकाः । उक्तं च " गाउयमुच्चापलिओ-वमाउणो वज्जरिसहसंघयणा । हेमवए रन्नवए, अहमिंदनरा मिहुणवासी ॥ १ ॥ चउसट्ठीपिट्ठकरं-डयाणमणुयाण तेसिमाहारो । भत्तस्स चउत्थस्से-गुणासिइदिणवच्चपालणया " ॥ २ ॥ पञ्चसु हरिवर्षेषु पञ्चसु रम्यकेषु द्विपल्योपमायुषो द्विगव्यूतिप्रमाणशरीरोच्छ्रया वज्रर्षभनाराचसंहननिनः समचतुरस्रसंस्थानाः षष्ठभक्तातिक्रमाहारग्राहिणोऽष्टाविंशत्यधिकशतसंख्यपृष्ठकरण्डकाश्चतुष्षष्टिदिनान्यपत्यपालकाः (आह च "हरिवासरम्मएसु, आउपमाणं सरीरमुस्सेहो । पलिओवमाणि दोन्नि य, दोन्नि य कोसुस्सिया भणिया ॥१॥ छट्ठस्स य आहारो, चउसट्ठिदिणाणि पालणा तेसिं । पिट्ठकरंडाणसयं, अट्ठावीसं मुणेयव्वं" ॥२॥ पंचसु देवकुरुषु पंचस्वुत्तरकुरुषु त्रिपल्योपमायुषो गव्यूतित्रयप्रमाणशरीरोच्छ्रयाः समचतुरस्रसंस्थाना वज्रर्षभनाराचसंहननिनः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयप्रमाणपृष्ठकरण्डका अष्टमभक्तातिक्रमाहारिण एकोनपञ्चाशद्दिनान्यपत्यपालकाः । तथोक्तं च "दोसु वि कुरूसु मणुया, तिपल्लपरमाउसो तिकोसुच्चा । पिट्ठकरंडसयाइं, दोछप्पन्नाइ मणुयाणं ॥ १ ॥ सुसमसुसमाणुभावं, अणुभवमाणाणवच्चगोवणया । अउणापन्नदिणाइं, अट्ठमभत्तस्स आहारो " ॥ २ ॥ एतेषु सर्वेष्वपि क्षेत्रेष्वन्तरद्वीपेष्विव मनुष्याणामुपयोगाः कल्पद्रुमसम्पादिताः नवरमन्तरद्वीपापेक्षया पञ्चसु हैरण्यवतेषु मनुष्याणामुत्थानबलवीर्यादिकं कल्पपादपफलानामास्वादो भूमेर्माधुर्यमित्येवमादिका भावाः पर्यायानधिकृत्यानन्तगुणा इष्टव्यास्तेभ्योऽपि पञ्चसु हरिवर्षेषु पञ्चसु रम्यकवर्षेषु अनन्तगुणास्तेभ्योऽपि पञ्चसु देवकुरुषु पञ्चसूत्तरकुरुष्वनन्तगुणाः । प्रज्ञा० १ पद । जी० । भा० म० द्वि० । एषां कल्पवृक्षाः—

अकम्मभूमयाणं मणुआणं दसविहा रुक्खा उवभोगत्ताए उवत्थिया पण्णत्ता । तंजहा-मत्तंगया य भिंगा, तुडिअंगा दीव-जोइ-चित्तंगा । चित्तरसा मणिअंगा, गेहागारा अणगिया य ॥

तथा अकर्मभूमिकानां भोगभूमिजन्मनां मनुष्याणां दशविधा (रुक्खत्ति) कल्पवृक्षाः (उवभोगत्ताएत्ति) उपभोग्यत्वाय

(उवत्थियत्ति) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः। तत्र मत्ताङ्गकाः मद्यकारणभूताः (भिंगत्ति) भाजनदायिनः (तुडियंगत्ति) तुर्याङ्गसम्पादकाः (दीवत्ति) दीपशिखाः प्रदीपकार्यकारिणः (जोइत्ति) ज्योतिरग्निस्तत्कार्यकारिण इति (चित्तंगत्ति) चित्राङ्गाः पुष्पदायिनः चित्ररसाः भोजनदायिनः मणयङ्गा आभरणदायिनः गेहाकाराः भवनत्वेनोपकारिणः अनग्नत्वं सवस्त्रत्वं तद्धेतुत्वादनग्ना इति, स० १० सम०।

अकम्मभूमि-अकर्मभूमि-स्त्री० न० कृष्यादिकर्मरहिताः। कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चकदेवकुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरम्यकपञ्चकैरण्यवतपञ्चकरूपास्त्रिंशदकर्मभूमयः। नं०। इत्येतासु भोगभूमिषु, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा०। स्था०। प्रव०।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तओ अकम्मभूमीओ पमत्ताओ तंजहा-हेमवए हरिवासे देवकुरा। जंबूदीवे दीवे मंदरस्स उत्तरेणं तओ अकम्मभूमिओ पमत्ताओ तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे एरवए (स्था०३ ठा०४ उ०) जम्बुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मभूमीओ पमत्ताओ तंजहा-हेमवए हेरणवए हरिवासे रम्मगवासे, स्था० ४ ठा०।

सर्वसङ्ग्रहे।

जंबुद्दीवे दीवे छ अकम्मभूमीओ पमत्ताओ। तंजहा-हेमवए हेरणवए हरिवासे रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा। धायइखंमदीवपुरच्छिमद्धेणं छ अकम्मभूमीओ पमत्ताओ।तंजहा-हेमवए जहा जंबुद्दीवे तहा जाव अंतरणईओ जाव पुक्खरवरदीवड्ढे पच्चत्थिमद्धे भाणियव्वं (स्था०६ ठा०) कइविहे णं भंते! अकम्मभूमीओ पमत्ताओ? गोयमा! तीसं अकम्मभूमीओ पमत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरणवयाइं। पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तरकुराइं एयासु णं भंते! तीसासु अकम्मभूमीसु अत्थि उस्सप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा? णो इणट्ठे समट्ठे। भ० २० श० ८ उ०।

अकम्मभूमिय-अकर्मभूमिज-पुं० अकर्मभूमिषु जाता अकर्मभूमिजा गर्भजमनुष्यभेदेषु, नं०।

अकम्मभूमिआ-अकर्मभूमिजा-स्त्री० अकर्मभूमिर्भोगभूमिस्तत्र जाता अकर्मभूमिजा भोगभूमिजगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यस्त्रीषु, स्था० ३ ठा० १ उ०।

से किं तं अकम्मभूमियाओ अकम्मभूमियाओ तीसतिविधाओ पमत्ताओ। तंजहा-पंचसु हेमवएसु पंचसु हेरणवएसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरुसु पंचसु उत्तरकुरुसु सेत्तं अकम्मभूमगमणुस्सीओ। जी० १ प्रति०।

अकम्मया-अकर्मता-स्त्री० कर्मणामभावे, अस्याः फलं यथा-

अहाउयं पालइत्ता अंतोमुहुत्तावसेसाउए जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइयं सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए मणजोगं निरुंभइ मणजोगं निरुंभइत्ता वइजोगं निरुंभइ वइजोगं निरुंभइत्ता कायजोगं निरुंभइ कायजोगं निरुंभइत्ता आणापाणनिरोहं करेइ आणापाणनिरोहं करेइत्ता इसि पंच रहस्सक्खरुच्चारद्धाएय णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अणियट्टि सुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोयं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ ॥७२॥ तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढी पत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ॥७३॥

शैलेश्यकर्मताद्वारमर्थतो व्याचिख्यासुराह (अहेति) केवलाऽवाप्त्यनन्तरमायुष्कं जीवितमन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं पालयित्वा अन्तर्मुहूर्त्तपरिमाणः अद्धा कालोऽन्तर्मुहूर्त्ताद्धा तदशेषमुद्धरितं यस्मिंस्तदन्तर्मुहूर्त्ताद्धावशेषम्। तथाविधमायुरस्येति अन्तर्मुहूर्त्ताद्धावशेषायुष्कः सन् पाठान्तरतश्चान्तर्मुहूर्त्तावशेषायुष्कः। पठन्ति च " अंतोमुहुत्तद्धावसेसा " इति प्राकृतत्वादन्तर्मुहूर्त्तावशेषाद्धायाम् (जोगनिरोहं करेमाणित्ति) योगनिरोधं करिष्यमाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपतनशीलमप्रतिपात्यधःपतनाभावात् शुक्लध्यानं "समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते" इति शुक्लध्यानतृतीयभेदं, ध्यायंस्तत्प्रथमतया तदाद्यतया मनसो योगो मनोयोगः मनोद्रव्यसाचिव्यजनितो व्यापारस्तं निरुणद्धि। तत्र च पर्याप्तमात्रस्य संज्ञिनो जघन्ययोगिनो यावन्ति मनोद्रव्याणि तज्जनितश्च यावान् व्यापारस्तदसंख्यगुणविहीनानि मनोद्रव्याणि तद्व्यापारं प्रतिसमयं निरुन्धन् तदसंख्येयसमयैस्तत्सर्वनिरोधं करोति। यत उक्तम् "पज्जत्तमित्तसन्नि-स्सजत्तियाइं जहन्नजोगिस्स। होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो" ॥ तयसंखगुणविहीणे, समए २ निरुंभमाणो सो। मणसो सव्वनिरोहं, कुणइ असंखेज्जसमएहिं " तदनन्तरं च वाचो वाचि वा योगो वाग्योगो भाषाद्रव्यसाचिव्यजनितो जीवव्यापारस्तं निरुणद्धि तत्र च पर्याप्तमात्रद्वीन्द्रियजघन्यवाग्योगपर्यायेभ्योऽसंख्यगुणविहीनांस्तत्पर्यायान्समये २ निरुन्धन्नसंख्येयसमयैः सर्ववाग्योगं निरुणद्धि। यत उक्तम् " पज्जत्तमेत्तबेंदिय, जहन्नवइजोगपज्जवा जे उ। तदसंखगुणविहीणा, समए २ निरुंभंतो ॥ सव्ववइजोगरोहं, संखादीएहिं कुणइ समएहिं। आणापाणनिरोहं, पढमसमओयसुहुमपणगत्ति " आनापानावुच्छ्वासनिःश्वासौ तन्निरोधं करोति सकलकाययोगनिरोधोपलक्षणं चैतत्तं च कुर्वन् प्रथमसमयोत्पन्नसूक्ष्मपनकजघन्यकाययोगतोऽसंख्येयगुणहीनं काययोगमेकैकसमये निरुन्धन् देहत्रिभागं च मुञ्चन्नसंख्येयसमयैरेव सर्वं निरुणद्धि। उक्तं च। " जो किर जहन्नजोगो, संखेज्जगुणहीणम्मि इक्किक्के। समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो ॥ रुंभइ सकायजोगं, संखाइएहिं चेव समएहिं। तो काययोगनिरोहो, सेलेसीभावणामेति " इत्थं योगत्रयनिरोधं विधाय (इसित्ति) ईषदिति स्वल्पप्रयत्नापेक्षया पञ्चानां ह्रस्वाक्षराणां अइउऋऌइत्येवंरूपाणामुच्चारो भणनं तस्याद्धा कालो यावता उच्चार्यन्ते ईषत्पञ्च, ह्रस्वाक्षरोच्चारणाद्धा तस्यां च (णमिति)प्राग्वत् अनगारः समुच्छिन्नोपरता क्रिया मनोव्यापारादिरूपा यस्मिंस्तत् समुच्छिन्नक्रियं न निवर्तते कर्मक्षयात् प्राग्इत्येवंशी-

समनिवर्त्ति शुक्लध्यानं चतुर्थभेदरूपं ध्यायन् शैलेश्यवस्थामनुभवन् इति भावः । ह्रस्वाक्षरोच्चारणं च न विलम्बितं द्रुतं वा किं तु मध्यममेव गृह्यते, यत आह । " हस्सक्खराइँ मज्झे-ण जेण कालेण पंच भण्णंति । अच्छति सेलेसिगतो, तत्तियमित्तं ततो कालं " एवंविधश्च यः कुरुते तदाह वेदनीयं शातादि आयुष्यं मनुष्यायुर्नाम मनुजगत्यादि गोत्रं चोच्चैर्गोत्रम् (एपत्ति) एतानि चत्वार्यपि (कम्मं सेत्ति) सत्कर्म्माणि युगपत् क्षपयति एतत्क्षपणन्यायश्च भाष्यगाथाभ्योऽवसेयस्ताश्चैताः "ते संखेज्जगुणाए, सेढीए य रइयं पुरा कम्मं । समए २ खवयं, कम्मं सेलेसिकालेण ॥ सव्वं खवेइ तं पुण, निल्लेवं किंचिदुचरिमसमए । किंचिच्च होइ चरिमे, सेलेसीएतयं वोच्छं ॥ मणुयगइजायतसबायरं च पज्जत्तसुभगमाएज्जं । अन्नयरवेयणिज्जं, नराउमुच्चं जसो णामं ॥ संभवओ जिणणामं, नराणुपुव्वीयचरिमसमयंमि । सेसा जिणसंताऊ, दुचरिमसमयंमि णिट्ठंति " तत इति वेदनीयादिक्षयानन्तरम् (ओरालियकम्माइं च त्ति) औदारिककार्मणे शरीरे उपलक्षणात्तैजसं च (सव्वाहिं विप्पजहणाहिंति) सर्वाभिरशेषाभिर्विशेषेण विविधं वा प्रकर्षतो हानयस्त्यागो विप्रहाणयो व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनं ताभिः किमुक्तं भवति सर्वथा परिशाटेन न तु यथापूर्वं संघातपरिशाटाभ्यां देशत्यागतः (विप्पजहित्ता) विशेषेण प्रहाय परिशाट्य । उक्तं हि "ओरालियाहिं सव्वा, चयइ विप्पजहणाहिं जं भणियं । नीसेसतयाण जहा, देसच्चाएण सो पुव्विं " चशब्दोऽत्र औदयिकादिभावनिवृत्तिमध्यामनुक्तामपि समुच्चिनोति । यत उक्तम् " तस्सोदयिया-भावा, भव्वत्तं च विणियत्तए जुगवं । सम्मत्तणाणदंसण, सुहसिद्धत्ताणिमोत्तूणं " ऋजुरवक्रा अणिराकाशप्रदेशपङ्क्तिस्तां प्राप्त ऋजुश्रेणिगत इति यावत् (अफुसमाणगइत्ति) अस्पृशद्गतिरिति नायमर्थो यथा सर्वानाकाशप्रदेशान्न स्पृशत्यपि तु यावत्सु जीवोऽवगाढस्तावत एव स्पृशति न तु ततोऽतिरिक्तमेकमपि प्रदेशमूर्ध्वमुपर्येकसमयेन द्वितीयादिसमयान्तराऽस्पर्शनेनाविग्रहेण वक्रगतिरूपविग्रहाभावेन अन्वयव्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः स्पष्टतरो भवतीत्यनुश्रेणिप्राप्त इत्यनेन गतार्थत्वेऽपि पुनरभिधानं तस्येति विवक्षितं मुक्तिपदं इति यावत् (गंतेत्ति) गत्वा साकारोपयुक्तो ज्ञानोपयोगवान् सिध्यतीत्यादि यावदन्तं करोतीत्यादि प्राग्वत् । उक्तं च " ऋजुसेढिं पडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ, अहसागारोवउत्तो सो " इति द्वासप्ततिसूत्रार्थः । इह चूर्णिकृतः "सेलेसीए णं भंते ! जीवे किं जणयइ अकम्मं जणयइ अकम्मयाओ जीवा सिज्झंति" इति पाठः पूर्वत्र च क्वचित् किञ्चित्पाठभेदेनाल्प एव प्रश्ना आश्रिताः अस्माभिस्तु भूयसीषु प्रतिषु यथाव्याख्यातपाठदर्शनादित्थमुन्नीतमिति । उत्त० २१ अ० ।

अकम्हा (म्हा)–अकस्मात्–अव्य० न कस्मात् किञ्चित्कारणाधीनत्वं यत्र । अलुक्समासः । वाच० । 'पक्ष्मश्मष्मस्मह्मां म्हः' ८ । २ । ७४ । इति सूत्रेण स्मेति भागस्य मकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । अथवा मगधदेशे गोपालबालाबलादिप्रसिद्धोऽकस्मादिति शब्दः । स इह प्राकृतेऽपि तथैव प्रयुक्तः । स्था०५ ठा० । कारणानधीने, अतर्कितोपनते वा, बाह्यनिमित्तानपेक्षे, स्था० ७ ठा० । अनभिसन्धे, प्रश्न० संव० ५ द्वा० । आचा०

अकम्हा (म्हा) किरिया–अकस्मात्क्रिया–स्त्री०अन्यस्मै निसृष्टेन शरादिनाऽन्यघातलक्षणे चतुर्थे क्रियास्थाने, ध० ३ अधि० ।

अकम्हा (म्हा) दंड–अकस्माद्दण्ड–पुं० अकस्मादनभिसन्धिनाऽन्यवधार्थप्रवृत्त्या दण्डोऽन्यस्य विनाशोऽकस्माद्दण्डः । स०१३ सम० । अन्यवधार्थप्रहारे मुक्तेऽन्यस्य वधलक्षणे चतुर्थे दण्डे, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रव० । प्रश्न० । आव० ।

अकम्हा (म्हा) दंडवत्तिय–अकस्माद्दण्डप्रत्ययिक–न०अकस्माद्दण्डः प्रत्ययः कारणं यस्य । चतुर्थे दण्डसमादाने,

अहावरे चउत्थे दंडसमादाणे अकम्मादंडवत्तिएत्ति आहिज्जइ से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा जाव वणदुग्गंसि वा मियवत्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एए मियत्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं आयामेत्ता णं णिसिरेज्जा स मियं वहिस्सामित्तिकट्टु तित्तिरं वा वट्टगं वा चडगं वा लावगं वा कवोयगं वा कविं वा कविंजलं वा विंधित्ता भवइ इह खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्मादंडे ॥ १० ॥ से जहा णामए केइ पुरिसे सालीणि वा वीहीणि वा कोद्दवाणि वा कंगूणि वा परगाणि वा रालाणि वा णिलिज्जमाणे अन्नयरस्स तणस्स वहाए सत्थं णिसिरेज्जा से सामगं तणगं कुमुदुगं वीहीऊसियं कलेसुयं तणं छिंदिस्सामित्तिकट्टु सालिं वा वीहिं वा कोद्दवं वा कंगुं वा परगं वा रालयं वा छिंदित्ता भवइ इति खलु से अन्नस्स अट्ठाए अन्नं फुसति अकम्मादंडे एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं आहिज्जइ चउत्थे दंडसमादाणे अकम्मादंडवत्तिए आहिए ॥ ११ ॥

अथापरं चतुर्थं दण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यायते । इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणाप्यागोपालाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्यते इति । तदिहापि तथाभूत एवोच्चारित इति । तद्यथानाम कश्चित्पुरुषो लुब्धकादिकः कच्छे वा यावद् वनदुर्गे वा गत्वा मृगैर्हरिणैरारण्यपशुभिर्वृत्तिर्वर्त्तनं यस्य स मृगवृत्तिकः स चैवंभूतो मृगेषु संकल्पो यस्यासौ मृगसंकल्पः एतदेव दर्शयति । मृगेषु प्रणिधानमन्तःकरणवृत्तिर्यस्यासौ मृगप्रणिधानः क्व मृगान्द्रक्ष्यामीत्येतदध्यवसायी सन् मृगवधार्थं कच्छादिषु गन्ता भवति । तत्र च गतः स दृष्ट्वा मृगानेते मृगा इत्येवं कृत्वा तेषां मध्येऽन्यतरस्य मृगस्य वधार्थमिषुं शरम् (आयामेतत्ति) आयामेन समाकृष्य मृगमुद्दिश्य निसृजति स चैवंसंकल्पो भवति । तथाऽहं मृगं हनिष्यामीति इषुं क्षिप्तवान् । स च तेनेषुणा तित्तिरादिकं पक्षिविशेषं व्यापदयिता भवति, तदेवं खल्वसावन्यस्यार्थाय निक्षिप्तो दण्डो यदान्यं स्पृशति घातयति तदा 'अकस्माद्दण्ड' इत्युच्यते ॥ १० ॥ अधुना वनस्पतिमुद्दिश्याकस्माद्दण्ड उच्यते (से जहेत्यादि) तद्यथानाम कश्चित्पुरुषः कृषीवलादिः शाल्यादेर्धान्यजातस्य श्यामादिकं तृणजातमपनयन् धान्यशुद्धिं कुर्वाणः सन् अन्यतरस्य तृणजातस्यापनयनार्थं शस्त्रं दात्रादिकं निसृजेत् स च श्यामादिकं तृणं छेत्स्यामीति कृत्वाऽकस्माच्छालिं वा रालकं वा छिंद्यात्तृणीयस्यैवासावकस्माच्छेत्ता भवति । इत्येवमन्यस्यार्थायान्यकृतेऽन्यं वा स्पृशति छिनत्ति । यदि वा स्पृशतीत्यनेनापि परितापं करोतीति द-

शयति । तदेवं खलु तस्य तत्कर्तुस्तत्प्रत्ययिकमकस्माद्दण्डनिमित्तं सावद्यमिति पापमाधीयते संबद्ध्यते । तदेतच्चतुर्थदण्डसमादानमकस्माद्दण्डप्रत्ययिकमाख्यातमिति ॥ ११ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अकम्हा (म्हा) भय-अकस्माद्भय-न० अकस्मादेव बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम्, आव० ४ अ० । स्था० । बाह्यनिमित्तनिरपेक्षे स्वविकल्पाज्जाते भयभेदे, स० ७ सम० । आ० चू० । नि० चू० । अकस्मात् सहसैव विश्रब्धस्यातर्ध्वनिश्रवणाद्भयमकस्माद्भयम् । यथा हस्त्यागच्छतीत्यादिश्रवणाद्भुद्भ्रसनम्, दर्श० ।

अकय-अकृत-त्रि० कृ कर्मणि क्तः । न० त० । कृतभिन्ने, अन्यथाकृते, बलपूर्वकृते, ऋणलेख्यपत्रादौ, साक्ष्यर्थ दायकेन पाकतोऽविहिते, प्रश्न० संव० १ द्वा० " अकयमकारियमसंकप्पियमणाहुयं " ज० ७ श० १ उ० । (एकदेशग्रहणेन ग्रहणात्) अकृतकरणे, अगृहीतप्रायश्चित्ते, व्य० १ उ० । भावे क्तः । अभावार्थे, न० त० करणाभावे, निवृत्तौ, वाच० ।

अकयकरण-अकृतकरण-पुं० षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरपरिकर्मितशरीरे, प्रायश्चित्तयोग्ये पुरुषभेदे, व्य० १ उ० । "अकयकरणा य दुविहा, अहिगया अणहिगया य बोधव्वा " व्य० १ उ० । अकृतकरणा द्विविधाः । अधिगता अनधिगताश्च । तत्र ये अगृहीतसूत्रार्थास्ते अनधिगताः । गृहीतसूत्रार्थास्तु अधिगताः, व्य० १ उ० ।

अकयण्णु-अकृतज्ञ-त्रि० कृतमुपकारं परसंबन्धिनं न जानातीत्यकृतज्ञः, स्था० ४ ठा० ४ उ० । द्वा० । क० । असमर्थे स० । कृतोपकारास्मारके कृतघ्ने, वाच० ।

अकयण्णुया-अकृतज्ञता-स्त्री० अकृतज्ञस्य भावस्तत्ता । कृतघ्नतायाम्, "चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा तंजहा-कोहेणं पडिणिवेसेणं अकयण्णुयाए मिच्छत्ताहिणिवेसेणं " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अकयपुण्ण-अकृतपुण्य-त्रि० अविहितपुण्ये, विपा० १ श्रु० ७ अ० " अकयपुण्ण जणमणोरहा विवचिंतिज्जमाणी " ज्ञा० ए अ० ।

अकयप्प (प्पा)-अकृतात्मन्-त्रि० अयतेन्द्रिये, " सुखमात्यन्तिकं यत्तद्, बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । तं हि मोक्षं विजानीयाद् दुष्प्रापमकृतात्मभिः, स्था० ।

अकयमुह-अकृतमुख-त्रि० अकृतमक्षरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं यस्यासावकृतमुखः । अपठितशिक्षिते, " पोत्थयपच्चयपढियं, किं रमसे पस हुव्व अहिलायं । अकयमुहफलगमाणय-जाते लिक्खंतु पंचमगा " बृ० ३ उ० ।

अकयसमायारीय-अकृतसमाचारीक-पुं० उपसंपद्विषयाया मण्डलीविषयायाश्च द्विविधाया अपि समाचार्या अकारके, बृ० १ उ० ।

अकयसुय-अकृतश्रुत-पुं० अगीतार्थे-व्य० ६ उ० । अगृहीतोचितसूत्रार्थे, तदुभये, व्य० ४ उ० ।

अकरंमग-अकरण्मक-त्रि० करण्डको वंशग्रथितः समतलकस्तस्येवाकारो यस्य तत्करण्मकम् न करण्डकमकरण्मकम्, औ० । करण्मकाकाररहिते दीर्घे, समचतुरस्रे, वा " अकरंमयंमि भाणे, हत्थो उडं जइा न घट्टेत्ति " बृ० ३ उ० ।

अकरंमुय-अकरण्मुक-त्रि० अविद्यमानं मांसलतया अनुपलक्ष्यमाणं करण्मकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्यासौ अकरण्मकः । जी० ३ प्रति० । मांसलतयाऽनुपलक्ष्यमाणपृष्ठवंशास्थिके, औ० । मांसोपचितत्वादविद्यमानपृष्ठपार्श्वास्थिके, तं० । प्रश्न० । " अकरंडुयकणगरुयगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेहधारी " जी० ३ प्रति० ।

अकरण-अकरण-न० । कृ० भावे ल्युट् । अर्थाभावे, न० त० अव्यापारे, आचा० १ श्रु० ए अ० । १ उ० । अनासेवने, आव० । ६ अ० । पञ्चा० । परिहरणे, आ० चू० १ अ० । अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः । अकरणं च न्यायादिमते करणाभावः, मीमांसकवेदान्तिमते निवृत्तिः, अकरणीये मैथुने, " जइ सेवंतमकरणं, पंचण्हं विवाहिरा हुंति " व्य० ३ उ० । संस्काररहीनतारूपे, साधन (हेतु) दोषे, यथाऽनित्यः शब्दः कृतकत्वस्मादिति । अत्र कृतकत्वादिति वक्तव्ये कृतकत्वस्मादिति संस्काररहितोऽशुद्ध उक्तः । रत्ना० ८ परि० ।

अकरणया-अकरणता-स्त्री० करणनिषेधरूपतायाम्, भ० १५ श० १ उ० " अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए " न पुनः करिष्यामीत्यभ्युपस्थातुमभ्युपगन्तुमिति, स्था० २ ठा० १ उ० । अनासेवनायाम्, ध० ३ अधि० । " सज्झायस्स अकरणयाए उभओ कालं " आव० ४ अ० ।

अकरणओ-अकरणतस्-अव्य० अकरणमाश्रित्येत्यर्थः । अकुर्वत् इति यावत्, " अकरणओ णं सातुक्खा " भ० १ श० १ उ० ।

अकरणणियम-अकरणनियम-पुं० अनासेवननियमे, " असंप्रज्ञातनामा तु, संमतो वृत्तिसंक्षयः । सर्वतोऽस्मादकरणो, नियमः पापगोचरः " ॥ द्वा० २० द्वा० ॥

अकरणि-अकरणि-स्त्री० नञ् । कृ० आक्रोशे अनिः । करणं मा भूदित्याक्रोशात्मके शापे, 'तस्याकरणिरेवास्तु' इति, वाच० । प्रश्न० ।

अकरणिज्ज-अकरणीय-स्त्री० न० त० सामान्येनाकर्तव्ये, आव० ४ अ० । आ० चू० " इच्छामि पडिक्कमिउं, अकप्पो अविराहिओ अकरणिज्जो " आव० ४ अ० । अकर्त्तव्ये, इहलोकपरलोकविरुद्धत्वादकार्ये, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । " अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावकम्मं तं णो अन्नेसी " आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । असत्ये, " मिच्छत्ति वा वितहत्ति वा असब्भंति वा असब्भयंति वा अकरणीयंति वा एगट्ठा," आ० चू० १ अ० ।

अकरणोदय-अकरणोदय-त्रि० भाविकालमाश्रित्याकरणस्यैवोदयो यस्मिन्निति तत्तथा (अनागते कालेऽकरणत्वेनोदयं प्राप्स्यति) " उत्थाने निर्वेदात्, करणमकरणोदयं सदैवास्याः " षो० १५ विव० ।

अकलंक-अकलङ्क-पुं० विद्वद्भेदे, अकलङ्कोप्याह-द्विविधं प्रत्यक्षज्ञानम् । सांव्यवहारिकं मुख्यं च, इत्यादि न० त० कलङ्करहिते च, त्रि०

अकलुण-अकरुण-त्रि० नास्ति करुणा यस्य यत्र वा, दैन्यशून्ये च, वाच० । निर्दये, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकलुस-अकलुष-त्रि० न० ब० क्रोधादिकालुष्यरहिते, अणु० द्वेषवर्जिते, अन्त० ७ वर्ग० ।

अकसाइ (न)-अकषायिन्-पुं० कषाया विद्यन्ते यस्यासौ कषायी न कषायी अकषायी, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । कषायोदयरहिते, प्रज्ञा० ३ पद ।

अकसाय--अकषाय--त्रि० कषायरहिते, "अकषायं अहक्खायं,

छउमत्थस्स जिणस्स वा"। उत्त० २८ अ०। अकषायाः अशान्तमोहादयश्चत्वारः सिद्धाश्च, स्था० ४ ठा० ।

अकसिण--अकृत्स्न--त्रि० अपरिपूर्णे, प्रति०। पञ्चा०।

अकसिणपवत्तय--अकृत्स्नप्रवर्तक--पुं० अकृत्स्नमपरिपूर्णं संयमं प्रवर्त्तयन्ति विदधति ये ते तथा। देशविरते, "अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थयकूवदिट्ठंतो ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अकसिणसंजम--अकृत्स्नसंयम--पुं० देशविरतौ, प्रति० ।

अकसिणसंजमवंत--अकृत्स्नसंयमवत्--पुं० देशविरतिमति श्राद्धे "किं योऽभ्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या जगुः, प्रति० ।

अकसिणा--अकृत्स्ना--स्त्री० चतुर्थे आरोपणाभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । यस्यां षाण्मासाधिकं क्षोप्यते तस्यां हि तदतिरिक्तझदनेनापरिपूर्णत्वादिति, स्था० ५ ठा० २ उ०। व्य०। नि० चू०।

अकहा--अकथा--स्त्री० मिथ्यादृष्टिना अज्ञानिना लिङ्गस्थेन वा गृहिणा कथ्यमानायां कथायाम्, । तल्लक्षणम् ।

मिच्छत्तं वेयंतो, जं अन्नाणी कहं परिकहेइ ।
लिंगत्थो व गिही वा, सा अकहा देसिया समए ॥२१५॥

मिथ्यात्वमिति । मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदयन् विपाकेन यां कांचित् अज्ञानी कथां कथयति। अज्ञानित्वं चास्य मिथ्यादृष्टित्वादेव यद्येवं नार्थोऽज्ञानिग्रहणेन मिथ्यावेदकस्याज्ञानित्वाव्यभिचारादिति चेन्न प्रदेशानुभववेदकेन सम्यग्दृष्टिना व्यभिचारादिति। किंविशिष्टोऽसावित्याह--लिङ्गस्थो वा द्रव्यप्रव्रजितोऽङ्गारमर्दकादिः गृही वा यः कश्चिदितर एव। सा एवं प्ररूपकप्रयुक्तयुक्त्या श्रोतर्यपि प्रज्ञापकतुल्यपरिणामनिबन्धना कथा देशिता समये। ततः प्रतिविशिष्टकथाफलाभावादिति गाथार्थः ॥२१५॥ दश०३ अ०।

अकाइय--अकायिक--पुं० नास्ति कायः (औदारिकादिः पृथिव्यादिषट्कायस्तदन्यो वा) येषां ते अकायास्त एवाकायिकाः। सिद्धेषु, भ० ८ श० २ उ०।

अकाम--अकाम--पुं० कमनं काम इच्छा, न कामो ऽकामः। अनिच्छायाम्, सूत्र० २ श्रु०६ उ०। उपरोधशीलतायाम् " तं च हुज्ज अकामेणं, विमणेणं पडिच्छियं " दश०५ अ०। ६ ब० । इच्छामदनकामरहिते, आचा०। निर्जराधनभिलाषिणि, निरभिप्राये, भ० १ श०१ उ० । मोक्षे च, तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेः। उत्त०१४ अ०

अकामअण्हाणग--अकामास्नानक--पुं० अकामस्नानरहिते, "अकामअण्हाणगसीयायवदंसमसगसेयजल्लमल्लपंकपरितावं" अकामानामस्नानादिभिर्यः परितापः परिदाहः स तथा। अकामा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा निर्जराधनभिलाषिणामस्नानादिभिः परितापे, औ०। अस्नानादिभिः परिदाहे. निरभिप्राये वा, भ० १ श० १ उ०।

अकामकाम--अकामकाम--त्रि० कामानिच्छामदनकामभेदान् कामयते प्रार्थयते यः स कामकामो न तथा अकामकामः। न विद्यते कामस्य कामोऽभिलाषो यस्य स अकामकामः कामाभिलाषरहिते, अकामो मोक्षाभिलाषस्तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेः, तं कामयते यः स तथा (मोक्षार्थिनि) " संथवं जहेज्ज अकामकामे" उत्त० १५ अ०।

अकामकिच्च--अकामकृत्य--त्रि० कमनं काम इच्छा न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृत्यः। अनिच्छाकारिणि, । सूत्र० २ श्रु० ६ अ०

अकामग--अकामक--त्रि० कर्मणि प्रत्ययः। अनभिलषणीये, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । कर्तरि ण्वुल् । अनिच्छति, " अकामगं परिकम्मं, कोउ ते वारेउ मरिहति" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं पराक्रमन्तं स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवति यदि वा (अकामगंति) वार्द्धक्यावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठाने प्रति कस्त्वामवसरप्राप्तः कर्मणि प्रवृत्तं वारयितुमर्हतीति । सूत्र० १ श्रु०३ अ०२ उ०। द्वा०। विषयादिवाञ्छारहिते, तं०। प्रश्न० ।

अकामछुहा--अकामक्षुधा--स्त्री० निर्जराधनभिलाषिणां प्रथमपरिषहसहने, भ० १ श० १ उ०।

अकामणिगरण--अकामनिकरण--त्रि० अनिच्छाप्रत्यये, तद्यथा।

एए णं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा तमपडलमोहजालपडिच्छण्णा अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वत्तव्वं सिया हंता गोयमा! जे इमे असन्निणो पाणा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा जाव वेयणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया। अत्थि णं भंते ! पभू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ हंता अत्थि कहण्णं भंते! पभू वि अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे णं नो पभू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रूवाइं जे णं णो पभू पुरओ रूवाइं अणिज्झाइत्ताणं पासित्तए जे णं नो पभू मागओ रूवाइं अणवयक्खित्ताणं पासित्तए जे णं नो पभू पासओ रूवाइं अणुलोएत्ता णं पासित्तए एस णं अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ अत्थि णं भंते ! पभूवि पकामनिकरणं वेयणं वेदेइ हंता कहण्णं समुद्दस्स जाव वेदणं वेदेइ जे णं नो पभू समुद्दस्स पारंगमेत्तए जे णं नो पभू पारगयाइं रूवाइं पासित्तए जे णं नो पभू देवलोगं गमित्तए जे णं नो पभू देवलोगगयाइं रूवाइं पासित्तए एस णं गोयमा ! पभू वि पकामनिकरणं वेदणं वेदेइ ।

(अंधत्ति) अन्धा इवान्धा अज्ञानाः (मूढत्ति) मूढास्तत्त्वश्रद्धानंप्रति एत एवोपमयोच्यन्ते (तमप्पविट्ठत्ति) तमःप्रविष्टा इव तमःप्रविष्टाः (तमपडलमोहजालपडिच्छण्णत्ति) तमःपटलमिव तमःपटलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीयं तदेव जालं मोहजालं ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा (अकामनिगरणत्ति) अकामो वेदनानुभवेऽनिच्छा अमनस्कत्वात्मक एव निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भावः। तद्यथा। भवतीत्येवं वेदनां सुखदुःखरूपां वेदनं वा संवेदनं वेदयन्त्यनुभवन्तीति अथासंज्ञिविपक्षमाश्रित्याह (अत्थीत्यादि) अस्त्ययं पक्षो यदुत । (पभूविति) प्रभुरपि संज्ञित्वेन यथावद्रूपादिज्ञाने समर्थोऽप्यास्तामसंज्ञित्वेनाऽप्रभुरित्यपिशब्दार्थः। अकामनिकरणमनिच्छाप्रत्ययमनाभोगात् । अन्ये त्वाहुः अकामेनाऽनिच्छया निकरणं क्रियाया इष्टार्थप्राप्तिलक्षणाया अभावो यत्र वेदने तत्तथा। तद्यथा। भवतीत्येवं वेदनां वेदयन्तीति प्रश्नः, उत्तरन्तु (जेणंति) यः प्राणी संज्ञित्वेनोपायसद्भावेन च हेयादीनां हानादौ समर्थोऽपि (नोपभुत्ति) न समर्थः विना प्रदीपेनान्धकारे रूपाणि (पासित्तएत्ति) द्रष्टुमेषोऽकामप्रत्ययं

वेदयतीति संबन्धः (पुरओत्ति) अग्रतः (अणिज्झाएत्ताणंति) अनिर्ध्याय चक्षुर्व्यापार्य । (मगाउत्ति) । पृष्ठतः (अणवयक्खित्ताणंति) अनवेक्ष्य पश्चाद्भागमनवलोक्येति अकामनिकरणवेदनां वेदयन्तीत्युक्तमथ तद्विपर्ययमाह (अत्थीणमित्यादि) प्रभुरपि संज्ञित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि (पकामनिकरणंति) प्रकाम ईप्सितार्थाप्राप्तितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽभिलाषः । स एव निकरणमिष्टार्थसाधकक्रियाणामभावो यत्र, तत्र प्रकामनिकरणम् । तद्यथा भवति एवं वेदनां वेदयतीति प्रश्नः। उत्तरन्तु (जेणमित्यादि) यो न प्रभुः समुद्रस्य पारं गन्तुं तद्गतद्रव्यप्राप्त्यर्थित्वे सत्यपि तथाविधसत्त्ववैकल्यादत एव च , यो न प्रभुः समुद्रस्य पारगतानि रूपाणि द्रष्टुं स तद्गताऽभिलाषातिरेकात् प्रकामनिकरणवेदनां वेदयतीति । भ० ७ श० ७ उ० ।

अकामणिज्जरा–अकामनिर्जरा–स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जरा कर्मनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यत्सा अकामनिर्जरा । निर्जरानभिलाषिणैव क्षुधादिसहने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । औ० । कर्म० । (अकामनिर्जरया असंयता व्यन्तरेषूपपद्यन्ते इति 'वंतर' शब्दे व्याख्यास्यामि)

अकामतण्हा–अकामतृष्णा–स्त्री० निर्जराद्यनभिलाषिणां सतां तृषि, भ० १ श० १ उ० । औ० ।

अकामबंभचेरवास–अकामब्रह्मचर्यवास–पुं० अकामानां निर्जराद्यनभिलाषिणां सतामकामो वा निरभिप्रायो ब्रह्मचर्य्येण स्त्र्यादिपरिभोगाभावमात्रलक्षणेन वासो रात्रौ शयनमकामब्रह्मचर्य्यवासः। (फलानभिसन्धिनां ब्रह्मचर्य्यसेवने) भ०१ श० १ उ० । औ० ।

अकाममरण–अकाममरण–न० अकामेन अनीप्सितत्वेन म्रियतेऽस्मिन् इति अकाममरणम् । बालमरणे, "बालाणं च अकामं तु, मरणं असइं भवे " उत्त० ५ अ० । ('बालमरण' शब्दे एतद्विवरिष्यते)

अकामिय–अकामिक–त्रि० न० ब० निरभिलाषे, "तहेव संता तंतापरितंता अकामिया " विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया–अकामिका–स्त्री० अनिच्छायाम् । "अकामियाए चिणंति दुक्खं " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकाय–अकाय–पुं० न० ब० पृथिव्यादिषड्विधकायविरहिते, स्था० २ ठा० ३ उ० । औदारिकादिकायपञ्चकविप्रमुक्ते (वा) सिद्धे, प्रव० १४६ द्वा० । आव० । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्वेन कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारग–अकारक–पुं० (न करोति भोजने रुचिम्) भक्तद्वेषरूपे, रोगविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । उपा० । अपथ्ये, औ० । [अकर्त्तरि] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवाइ (ण्)–अकारकवादिन्–पुं० अकारकं वदन्ति तच्छीलाः, आत्मनोऽमूर्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः निष्क्रियत्वमेवाभ्युपगमेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ('णिक्कियवाद' शब्दे चैतेषां मतं तत्खण्डनं च करिष्यते)

अकारण–अकारण–त्रि० नास्ति करणं हेतुरुद्देश्यं वा यस्य हेतुरहिते, उद्देश्यरहिते च । बृ० १ उ० । कारणाभिन्ने, न० वाच० । यदा तपःस्वाध्यायवैयावृत्यादिकारणषट्कं विना बलवीर्य्याद्यर्थं सरसाहारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोष इत्येवंलक्षणे पञ्चमे परिभोगैषणाया दोषे, उत्त० २४ अ० ।

अकारवित–अकारयत्–त्रि० आरम्भकार्यकारणे परमव्यापारयति । "आरम्भनियत्ताणं, अकिणंताणं अकारविंताणं । धम्मट्ठा दायव्वं " बृ० १ उ० ।

अकारिय–अकारित–त्रि० अन्यैरकारिते, प्रश्न० संव० १ द्वा० ।

अकाल–अकाल–पुं० अप्राशस्त्ये, न० त० अप्रशस्तकाले, विहितकर्मसु पर्युदस्ततयाऽभिहिते, गुरुशुक्राद्यस्तकालादौ, अप्रस्तावे, उत्त० १ अ० । कर्तव्याऽनवसरे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । सू० । अवर्षासु, " अकाले वरिसइ " स्था० ७ ठा० । अप्राप्तः कालो यस्य " प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः " इति वा० अन्त्यलोपश्च । अप्राप्तकाले, अनुचितकाले, पदार्थे । अति कालः कृष्णः, न० त० । कृष्णविरुद्धशुभ्रवर्णे, न० ब० । कृष्णत्व विरोधिशुभ्रत्ववति, त्रि० । वाच० ।

अकालपडिबोहि(ण्)–अकालप्रतिबोधिन्–त्रि० (असमये व्याप्रियमाणे) " मिलक्खूणि अणारियाणि दुस्सण्णप्पाणि दुप्पण्णवणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि " अकालप्रतिबोधीनि । न तेषां कश्चित् पर्यटनकालोऽस्ति अर्द्धरात्रावपि मृगयादौ गमनसम्भवात् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० चू० ।

अकालपढण–अकालपठन–न० असमयवाचनायाम्, पञ्चा० १५ विव० ।

अकालपरिहीण–अकालपरिहीण–न० परिहाणिः परिहीणं कालविलम्बः न विद्यते परिहीणं यत्र प्रादुर्भवने तत् कालपरिहीणम् (शीघ्रप्रकटीभवने) " अकालपरिहीणं चेव सूरियाभस्स अंतियं पाउब्भवह " रा० ।

अकालपरिभोगि (ण्) अकालपरिभोगिन्–त्रि० रात्रौ सर्वादरेण भुञ्जाने, " अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि " नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अकालमच्चु–अकालमृत्यु–पुं० अकाल एव जीवितभ्रंशे, " पढमो अकालमच्चू, तहिं तालफलेण दारको हतो " आव० ४ अ० ।

अकालवासि (ण्) अकालवर्षिन्–पुं० अनवसरवर्षिणि मेघे, तद्वदनवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवृत्ते पुरुषे च । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अकालसज्झायकर (कारिन्)–अकालस्वाध्यायकर (कारिन्)–पुं० असमाधिस्थानविशेषे, "अकाले सज्झायकारी य कालियसुयं उग्घाडपोरुसीए पढइयंत[?]देवया असमाहिए योजयति " इत्यसमाधिस्थानत्वं तस्य । आव० ४ अ० । स० ।

अकासि–देशी–पर्याप्ते, दे० ना० ।

अकाहल–अकाहल–त्रि० अमन्मनाक्षरे, प्रश्न० संव० २ द्वा० ।

अकिंचण–अकिञ्चन–त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनकनकादि अस्तीति अकिञ्चनः । निष्परिग्रहे, उत्त० ३ अ० । आव० । आ० चू० । स्था० । औ० । प्रश्न० । आचा० । ज्ञा० । हिरण्यादिमिथ्यात्वादिद्रव्यभावकिञ्चनविनिर्मुक्ते, दश० ६ अ० । "समणा भविस्सामो अ, अणगारा अकिंचणा अपुत्ता य " सूत्र० २ श्रु० १ अ० । दरिद्रे, वाच० ।

अकिंचणकर–अकिञ्चनकर–त्रि० अकिञ्चित्संपादके, अकिञ्चनानां साधूनां प्रयोजनकरे, "ववहारहण्डिए आयए अकिंचणकरे य " योऽपि कश्चित्साधूनां प्रत्यनीकः सोऽपि तेषां राजादि-

कुमारप्रव्रजितानां भयतो न किंचित् करोति । अथवाऽकिञ्चनानां साधूनां यदि कथमपि केनाप्यर्थजाते प्रयोजनमुपजायते तर्हि तत् सर्वं लोके प्रायोऽप्रार्थित एव करोति, व्य० २ उ० ।

अकिंचणया–अकिञ्चनता–स्त्री० न विद्यते किञ्चनद्रव्यजातमस्येत्यकिञ्चनस्तद्भावोऽकिञ्चनता । निष्परिग्रहितायाम्, "चउव्विहा अकिंचणया पण्णत्ता तंजहा मणअकिंचणया वइ अकिंचणया कायअकिंचणया उवकरणअकिंचणया " अकिञ्चनता च मनःप्रभृतिभिरुपकरणापेक्षया च भवतीति चातुर्विध्यम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । चतुर्थस्य द्वितीयोद्देशकः भोगसाधनानामस्वीकारलक्षणे यमभेदे, द्वा० द्वा० २१ ।

अकिंचिकर–अकिञ्चित्कर–पुं० हेत्वाभासभेदे, स च यथा प्रतीते प्रत्यक्षादिनिराकृते च, साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः प्रतीयते । यथा–शब्दः श्रावणः शब्दत्वात् प्रत्यक्षादिनिराकृते । यथानुष्णः कृष्णवर्त्मा द्रव्यत्वात् । परस्य वनिता, सेवनीया पुरुषत्वादित्यादि र० ६ परि० (अस्य हेत्वाभासत्वमयुक्तमिति 'हेउआभास' शब्दे)

अकिच्च–अकृत्य–न० त० । कृ–क्यप् । अप्रशस्ते । अकरणीये, साधूनामविधेये, पञ्चा० १५ विव० । स्था० । प्रश्न० । " अकिच्चमप्पणा काउं कयमेएण भासइ अकिच्चं पराणइवायादि अप्पणा काउं कयमेतेण भासइ अप्पस्स उच्छोइेइ" (समहामोहं प्रकरोति) आव० ४ अ० । न कृत्यमस्य । न० ब० । कर्मरहिते, त्रि० वाच० ।

अकिच्चट्ठाण–अकृत्यस्थान–न० कृत्यस्य करणस्य स्थानमाश्रयः कृत्यस्थानं तन्निषेधोऽकृत्यस्थानम् । मूलगुणादिप्रतिसेवारूपेऽकार्यविशेषे, भ० ८ श० ६ उ० ।

अन्नयरं तु अकिच्चं, मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य ।
मूलं व सव्वदेसं, एमेव य उत्तरगुणेसु ॥

अन्यतरदकृत्यं पुनः सूत्रोक्तं मूलगुणे मूलगुणविषयमुत्तरगुणे वा उत्तरगुणविषयं वा तत्र मूलं मूलगुणविषयं सर्वदेशं वा सर्वथा मूलगुणस्योच्छेदे देशतो वेत्यर्थः । एवमेवानेनैव प्रकारेणोत्तरगुणेष्वपि द्वैविध्यं भावनीयम् । तद्यथा । उत्तरगुणस्यापि सर्वतो देशतो वा उच्छेदेनेति तत्रैव व्याख्यान्तरमाह ।

अहवा पणगादीयं, मासादीयं वि जाव छम्मासा ।
एवं तवोऽरिहं खलु, छेदादिचउण्हमेगयरं ॥

(अहवेत्ति) अकृत्यस्थानस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने पञ्चकादिकं रात्रिंदिवपञ्चकप्रभृति, प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानं यदि वा मासादिकं तच्च तावद्यावत्षण्मासाः एतत् खलु अकृत्यस्थानं तपोऽर्हं तपोरूपप्रायश्चित्तार्हं यदि वा छेदादीनां चतुर्णां प्रायश्चित्तस्थानमकृत्यस्थानम् । व्य० १ उ० ।

अकिज्ज–अक्रेय–त्रि० क्रेयानर्हे "सुकियं वा सुविक्कीयं, अकिज्जं किज्जमेव वा" दश० ७ अ० ।

अकिट्ठ–अकृष्ट–त्रि० अविलिखिते, भ० ३ श० २ उ० ।

अकिणंत–अक्रीणत्–त्रि० वस्त्रादिक्रयमकुर्वाणे, बृ० १ उ० ।

अकित्ति–अकीर्त्ति–स्त्री० सर्वदिग्व्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० दानपुण्यफलप्रवादे, दश० १ चूलि० । दानकृताया एकदिग्गामिन्या वा प्रसिद्धेरभावे, औ० "अकित्ती मे वा सिया" स्था० ७ ठा० ।

अकिरिय–अक्रिय–पुं० । न० ब० । कायिक्याधिकरणिक्यादिक्रियावर्जिते, स्था० ७ ठा० । कायिक्यादिक्रियाभिष्वङ्गवर्जिते, प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । न विद्यन्तेऽनभ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येषान्तेऽक्रियाः । नास्तिकेषु, "अकिरियवाइमुहकुइरिस" नं० । नास्य क्रिया सावद्या विद्यते इत्यक्रियः । संवृतात्मकतया सांपरायिककर्माऽबन्धके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अकिरिया–अक्रिया–स्त्री० नञिह दुः शब्दार्थो यथा अशीला दुःशीलेत्यर्थः ततश्चाक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्वाद्युपहतस्यामोक्षसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति । एषा मिथ्यात्वभेदत्वेन दर्शिता, स्था० ३ ठा० ३ उ० । "अकिरिया तिविहा पण्णत्ता तंजहा पओगकिरिया समुदाणकिरिया अन्नाणकिरिया" अक्रिया हि अशोभना क्रियैवातोऽक्रिया । त्रिविधेत्यभिधायाऽपि प्रयोग इत्यादिना क्रियैवोक्तेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । सूत्र० । क्रियाऽस्तीति रूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी सैव यथा वस्तुविषयतया कुत्सिता अक्रिया नञः कुत्सार्थत्वात् नास्तिकत्वे, स्था० ७ ठा० । नास्तिकवादे; "अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि" ध० ३ अधि० । योगनिरोधे, स्था० ८ ठा० । "एका अकिरिया" एका अक्रिया योगनिरोधलक्षणा, नास्तिकत्वं वा । स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिस्पन्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । सर्वक्रियाविगमे च । ध० २ अधि० । क्रियाया अभावे, भ० २७ श० २ उ० ।

अकिरियाआय अक्रियात्मन्–पुं० अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे ते अक्रियात्मानः । सांख्येषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोगंमि अकीरियाया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति ।
आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥

ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे तेऽक्रियात्मानः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते । तथा चोक्तम् । "अकर्त्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कापिलदर्शने" इति तुशब्दो विशेषणे, स चैतद्विशिनष्टि । अमूर्त्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्यते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमोक्षौ न घटेते इत्यभिप्रायवता मोक्षसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियावाददर्शनेऽपि धूतं मोक्षं तदभावमादिशन्ति प्रतिपादयन्ति । ते तु पचनपाचनादिके स्नानार्थं जलावगाहनरूपे वाऽऽरम्भे सावद्ये सक्ता अध्युपपन्ना लोके मोक्षैकहेतुभूतं धर्मं श्रुतचारित्राख्यं न जानन्ति कुमार्गग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति, सूत्र० १ श्रु० १० अ०

अकिरिय (या) वाइ (न्)–अक्रियावादिन्–पुं० क्रिया अस्तीतिरूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी, सैवाऽयथावस्तुविषयतया कुत्सिता अक्रिया, नञः कुत्सार्थत्वात्, तामक्रियां वदन्तीत्येवंशीला अक्रियावादिनः । यथाऽवस्थितं हि वस्त्वनेकान्तात्मकं, तन्नास्त्येकान्तात्मकमेव वास्तीति प्रतिपत्तिमत्सु नास्तिकेषु, स्था० ८ ठा० । ते चाऽष्ट " अट्ठ अकिरियावाई पण्णत्ता तं जहा एगावाई अणिक्कवाई मितवाई निमित्तवादी सायवादी समुच्छेदवादी णियावादी ण संति परलोगवादी " स्था० ४ ठा० ४ उ० । (एकवाद्यादिपदानामर्थो निजनिजस्थाने) अक्रियां क्रियाया अभावं वदन्ति तच्छीला अक्रियावादिनः न कस्यचित्प्रतिक्षणमनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं वदत्सु, नं० । प्र० । तथा चाहुरेके । क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया " भूतिर्येषां क्रिया

सैव कारकं सैव चोच्यते" नं०। अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषान्तेऽक्रियावादिनः। भ० ३६ श० २ उ०। नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिषु, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। नास्ति माता नास्ति पितेत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, दश० ३ अ०। आचा०। ते चाशीतिः "अकिरियवाई ण होइ चुलसीई" सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

इह जीवाइ पयाइं, पुण्णं पावं विणा ठविज्जंति ।
तेसिमहोभायम्मि, ठविज्जए सपरसद्दुगं ॥ २०८ ॥
तस्स वि अहो लिहिज्जइ, कालजदिच्छाइपयदुगसमेयं ।
नियइस्सहावईसर, अप्पात्ति इमं पयचउक्कं ॥ २०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रक्रमे जीवादीनि पूर्वोक्तानि पुण्यपापवर्जितानि नवसप्तपदानि परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्थाप्यते स्वतः परत इति द्वे पदे न्यस्येते इत्यर्थः। असत्त्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तद्धर्मिसिद्धापत्तेः। तस्यापि च स्वपरशब्दद्विकस्याधस्तात् कालयदृच्छारूपपदद्वयसमेतमेतन्नियतिस्वभावेश्वरात्मलक्षणं पदचतुष्कं लिख्यते, कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मरूपाणि षट् पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः, इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रियावादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपन्यस्ता। अथ विकल्पाभिलापमाह।

पढमे भंगे जीवो, नत्थि सओ कालओ तयणु बीए।
परओ वि नत्थि जीवो, कालाइ य भंगगा दोन्नि ॥२१०॥
एव जइच्छाईहिं वि, पएहिं भंगदुगं दुगं पत्तं ।
मिलियावि ते दुवालस-संपत्ता जीवतत्तेण ॥ २११ ॥

नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो भङ्गः। तदनु नास्ति जीवः परतः कालत इति द्वितीयो भङ्गः। एतौ द्वौ च भङ्गौ कालेन लब्धौ, एवं यदृच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ जायेते। सर्वेऽपि मिलिता द्वादश। अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः। नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मते। अथ गाथा। के ते यदृच्छावादिनः उच्यन्ते। इह ये भावानां सत्तापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति किन्तु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनस्तथा त एवमाहुर्न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् तथाहि-शालूकादपि शालूको जायते गोमयादपि, अग्नेरप्यग्निर्जायते अरणिकाष्ठादपि, धूमादपि जायते धूमः अग्नीन्धनसंपर्कादपि, कन्दादपि जायते कदली बीजादपि, वटादयोऽपि बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः कश्चिदपि कार्यकारणभाव इति। यदृच्छातः क्वचित् किंचिद्भवतीति प्रतिपत्तव्यं, न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मानं प्रेक्षावन्तः परिक्लेशयन्ति। एते च द्वादश विकल्पा जीवतत्त्वेन जीवपदेन संप्राप्ता लब्धाः। एवमजीवादिभिरपि षड्भिः पदैः प्रत्येकं द्वादश विकल्पाः प्राप्ताः। ततो द्वादशभिः सप्त गुणिता जाता चतुरशीतिः। सर्वसंख्यया चाक्रियावादिनामेते भेदा भवन्तीति। प्रव० २०६ द्वा०। सूत्र०। स्था०। ध०। आव०।

साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः गाथापश्चार्द्धमाह।

लवावसंकीय अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी।

लवं कर्म तस्मादपशङ्कितुमपसर्तुं शीलं येषान्ते लवापशङ्किनो लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति। उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः। तद्यथा "बद्धा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः। न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः" तथा बौद्धानामयमभ्युपगमो यथा क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यस्थितानां च कुतः क्रियेत्यक्रियावादित्वम्। योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमभ्युपगमः। तद्यथा विचार्यमाणाः पदार्था न कथंचिदप्यात्मानं विज्ञानेन समर्पयितुमलम्। तथाह्यवयवी तस्वातस्थान्यां विचार्यमाणो न घटां प्राञ्चति नाप्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यन्ते। विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्त्तत्वस्य निराकारतया न स्वरूपं बिभर्ति। तथा चोक्तं " यथा यथार्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा। यद्येतत् स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् " इति प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धास्तत्राऽनागतैः क्षणैः चशब्दादतीतैश्च वर्तमानक्षणस्यासङ्गतेर्न क्रिया नापि च तज्जनितः कर्मबन्ध इति। तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापलापितया लवापशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्वव्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्यास्तदेवं लोकायतिका बौद्धाः सांख्या अनुपसंख्यया अपरिज्ञानेनेत्येतत्पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तस्तथैव तत्त्वाज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः। तद्यथा। अस्माकमेवमभ्युपगमोऽर्थोऽवभासते युज्यमानको भवतीति। तदेवं श्लोकपूर्वार्द्धं काकाक्षिगोलकन्यायेनाक्रियावादिमतेऽप्यायोज्यमिति।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह।

सम्मिस्सभावं व गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ।५।।

स्वकीयया गिरा वाचा स्वाभ्युपगमेनैव गृहीते तस्मिन्नर्थे नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽयातस्यार्थस्य गिरा प्रतिषेधं कुर्वाणाः संमिश्रीभावमस्तित्वं नास्तित्वापगमं ते लोकायतिकादयः कुर्वन्ति, चशब्दात् प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति। तथाहि। लोकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतयात्मानं कर्त्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापन्नांश्च शिष्यानवश्यमभ्युपगच्छेयुः सर्वशून्यत्वे त्वस्य तृतयस्याभावान्मिश्रीभावो व्यत्ययो वा। बौद्धा अपि मिश्रीभावमेवमुपगताः। तद्यथा, " गन्ता च नास्ति कश्चि-द्गतयः षड् बौद्धशासने प्रोक्ताः। गम्यत इति च गतिः स्या-च्छ्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ॥ १ ॥ तथा कर्म च नास्ति फलं चास्तीत्यसति चात्मनि कारके कथं षड् गतयो ज्ञानसन्तानस्यापि सन्तानव्यतिरेकेण संवृतिसत्त्वात् क्षणस्य चास्थितत्वेन क्रियाभावाच्च नानागतिसम्भवः सर्वाण्यपि कर्माण्यबन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे तथा पञ्चजातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तद्यथा "मातापितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य। अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्वा च पञ्चैते ॥१॥ निरन्तरमार्या विनरकं यान्ति एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणयनमयुक्तिसङ्गतं स्यात् तथा जातिजरामरणरोगशोकोत्तममध्यमाधमत्वानि च न स्युः एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवास्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति तथा "गन्धर्वनगरतुल्या, माया स्वप्नोपपातधनसदृशी। मृगतृष्णानीहारा-म्बुचन्द्रिकालातचक्रसमा" इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिश्रीभावोपगमनं बौद्धानामिति। यदि वा नानाविधकर्मविपाकाभ्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति। तथा चोक्तं "यदि शून्यस्तवपक्षो, मत्पक्षनिवारकः कथं भवति। अथ मन्यसे न शून्य-स्तथापि मत्पक्ष एवासौ" इत्यादि, तदेवं

बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति । तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमभ्युपगम्य प्रकृतियोगान्मोक्षसद्भावं प्रतिपादयन्तस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति । ततश्च बन्धमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः संमिश्रीभावं व्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बन्धमोक्षौ घटेते, वाशब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव सक्रियत्वं तेषां स्ववाचा प्रतिपाद्यते, तदेवं लोकायतिकाः सर्वं भावाभ्युपगमेन क्रियाभावं प्रतिपादयन्ति । बौद्धाश्च क्षणिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः संमिश्रीभावं स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते । तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बन्धमोक्षसद्भावं च स्वाभ्युपगमेनैव संमिश्रीभावं व्रजन्ति । व्यत्ययं चैतत्प्रतिपादितम् । यदि वा बौद्धादिः कश्चित्स्याद्वादिना सम्यग्घेतुदृष्टान्तैर्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तरं दातुमसमर्थो यत्किञ्चनभाषितया (मुम्मुई होइत्ति) गद्गदभाषित्वेनाऽव्यक्तभाषी भवति । यदि वा प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः । तद्यथा । मूकादपि मूको मूकमूको भवति । एतदेव दर्शयति । स्याद्वादिनोक्तं साधनमनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी सद्धेतुभिर्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः । अनुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति । तद्यथा । इदमस्मदभ्युपगतं दर्शनम् एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः । इदं चैवंभूतमपि सदित्याह । द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थः । यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव । यदि त्वेतदस्मीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जरणं प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात् । तत्समाश्रयणं चेहामुत्र वेदना चौरपारदारिकादीनामिव । ते हि करचरणनासिकादीनामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विडम्बनामनुभवन्त्यमुत्र च नरकादौ वेदनां समनुभवन्तीति । एवमन्यदपि कर्मोभयवेद्यमभ्युपगम्यते । तच्चेदम् । प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि पूर्ववत् । तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम्, इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् । तच्चेदमविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नादिकं चेति । तदेवं स्याद्वादिनाभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ छलायतनं छलं 'नवकम्बलो देवदत्त' इत्यादिकमाहुरुक्तवन्तः । चशब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति । यदि वा षडायतनानि उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्षडायतनं कर्मेत्येवमाहुरिति ॥ ५ ॥

साम्प्रतमेव तद्दूषणायाह ।

ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरूवरूवाणि अकिरियवाई ।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसारमणोवदग्गं ॥ ६ ॥

(ते एवमक्खंति) ते चार्वाकबौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते । सद्भावमबुध्यमाना मिथ्यामलपटलावृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो विरूपरूपाणि नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररूपयन्ति । तद्यथा । दानेन महाभोगो, देहिनां सुरगतिश्च शीलेन । भावनया च विमुक्ति-स्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥ तथा पृथिव्यापस्तेजोवायुरित्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते नापरः कश्चित्सुखदुःखभागात्मा विद्यते । यदि चैतान्यप्यविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति स्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकानि च यद्विचन्द्रादिभ्रतिभासरूपत्वात्सर्वस्येति । तथा सर्वं क्षणिकं निरात्मकं मुक्तिस्तु शून्यता दृष्टेस्तदर्थाः शेषभावना इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमबुध्यमाना यद्दर्शनमादाय गृहीत्वा बहवो मनुष्याः संसारमनवदग्रमपर्यवसानमरहट्टघटीन्यायेन भ्रमन्ति पर्यटन्ति । तथाहि लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति । तथा चोक्तम् । "तत्त्वान्युपप्लुतानीति, युक्त्यभावेन सिध्यति । नास्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं तत्सिद्धौ सर्वमस्तु सत्" न च तत्प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् । अतीतानागतभावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेस्ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तक्षणिकत्वेन वस्तुत्वाभावः प्रसज्जति । तथाहि । यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत् । न क्षणः क्रमेणार्थक्रियां करोति । क्षणिकत्वहानिर्नापि यौगपद्येन तत्कार्याणामेकस्मिन्नेव क्षणे सर्वकार्योपत्तेर्न चैतद्दृष्टमिष्टं वा । न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य संकलना प्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्तप्रायम् । यच्चोक्तं 'दानेन महाभोग' इत्यादि तदार्हतैरपि कथंचिदिष्यत एवेति न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । अक्रियैव परलोकसाधनायाऽलमित्येवं वदितुं शीलं येषान्तेऽक्रियावादिनः । ज्ञानवादिषु अक्रियावादिनो ये ब्रुवते किं क्रियया चित्तशुद्धिरेव कार्य्या ते च बौद्धा इति, भ०३० श०१ उ० । तेषां हि यथाऽवस्थितवस्तुपरिज्ञानादेव मोक्षः । तथा चोक्तम् । "पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः । शिखी मुण्डी जटी वापि, सिध्यते नात्र संशयः " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् समवसरणविशेषे च । भ०२६ श०२ उ० (अक्रियावादिनः कीदृशा किं किं च प्रकुर्वन्तीति 'वादिसमवसरण' शब्दे द्रष्टव्यं मिथ्यादृष्टिवर्णके) "अकिरियवादी वि भवति नो हियवादी नो हियपण्णे नोहिय दियनोसम्मावादी णो णितियावादी ण संति परलोगवादी" दशा० ६ अ० ।

अकील-अकील--त्रि०न० ब० शङ्कुरहिते, ध०२ अधि० । पञ्चा० ।

अकुओ (तो) भय--अकुतोभय--त्रि० न विद्यते कुतः कस्माद् भयं यस्य तत् कुतश्चिदपिभयशून्ये, "चित्ते परिणतं यस्य चारित्रमकुतोभयम् । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम्" अष्ट० १७ । न विद्यते कुतश्चिद्धेतोः केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽकुतोभयः । संयमे, " अणाए आभिसमेच्चा अकुओभयं" आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अकुंचियाग-अकुञ्चिकाक-त्रि० कुञ्चिकाविरहिते, पिं० ।

अकुंठाइ-अकुण्ठादि-पुं० सम्पूर्णपाण्यादौ, प्रव० ६४ द्वा० ।

अकुक्कुय-अकुक्कुच-त्रि० न० ब० हस्तपादमुखादिविरूपचेष्टारहिते । व्य० ३ उ० । ईषन्मुखविकाररहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ ।
अकुक्कुओ णिसीएज्जा, ण य वित्तासए परं ॥

अकुक्कुचोऽशिष्टचेष्टारहितो निषीदेत् तिष्ठेत्, यद्वा, अकुक्कुचः कुन्थ्वादिविराधनाभयात् कर्मबन्धहेतुत्वेन कुत्सितं हस्तपादादिभिरस्पन्दमानो निषीदेत् । उत्त० २ अ० ।

अकुकूज–त्रि० आर्षत्वात्प्राकृते तथात्वम्, कुत्सितं कूजति पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः, कुत्सितकूजनाकर्त्तरि, उत्त० २१ अ० ।

अकौकुच्य–त्रि० नास्ति कौकुच्यं भाण्डविटचेष्टा यस्य सोऽकौकुच्यः । सम्यक्साधुमुद्रायुक्ते, उत्त० ११ अ० ।

अकुडिल्ल–अकुटिल–त्रि० न० त० अमायिनि, व्य० ३ उ० । अवक्रे, जं० ४ वक्ष० । ऋजौ, आचा० १ श्रु० १ अ०३ उ० ।

अकुऊहल्ल–अकुतूहल–त्रि० न विद्यते कुतूहलं यस्य स अकुतूहलः, कुहकेन्द्रजालभगलविधानाटकादीनामविलोकके । "नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुहले " उत्त० १० अ० ।

अकुमारभूय–अकुमारभूत–त्रि० अकुमारब्रह्मचारिणि, "अकुमारभूए जे केइ कुमारभूए तिहंवए" । स० ३० सम० ।

अकुय–अकुच–त्रि० कुचस्पन्दने, न कुचतीत्यकुचः । इगुपान्त्यलक्षणः कप्रत्ययः । व्य० ८ उ० । निश्चले, नि० चू० १ उ० ।

अकुसल्ल–अकुशल–त्रि०अनभिज्ञे, पं०व०४ द्वा० वक्तव्यावक्तव्यविज्ञानानिपुणे । प्रश्न० आश्र०२ द्वा० । स्थूलमतौ, "तसथावरहिंसाए, जणा अकुसला उलप्पंति" दश०१ अ० । अशोभने च । औ० । न कुशलं मङ्गलमस्य, मङ्गलविरोध्यमङ्गलयुक्ते, न० त० । कुशलविरोधिनि अजल्डे, न० वाच० ।

अकुसल्लकम्मोदय–अकुशलकर्म्मोदय—पुं० अशुभकर्म्मोदये, अकर्मानुभावे च । ध० २ अधि० ।

अकुसलचित्तणिरोह–अकुशलचित्तनिरोध–पुं० आर्त्तध्यानादिप्रतिषेधनाऽकुशलमनोनिरोधे, दश० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिरोह–अकुशलयोगनिरोध–पुं० अकुशलानां मनोवाक्काययोगानां व्यापाराणां निरोधः अकुशलयोगनिरोधः । मनआदित्रिविधकरणैरायुक्ततायाम्, ओघ० ।

अकुसलणिवित्तिरूव–अकुशलनिवृत्तिरूप–त्रि० सपापारम्भोपरमणस्वभावे, पञ्चा० ७ विव० ।

अकुसील–अकुशील–पुं० न कुशीलोऽकुशीलः । कुशीलभिन्ने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अकुहय–अकुहक–त्रि० न० त० । इन्द्रजालादिकुहकरहिते, " अलोलुए अकुहए अमाई, अपीसुणे आवि अदीणवित्ती " दश० ६ अ० ४ उ० ।

अकू (क्रू) र–अक्रूर–पुं० न० त० । अरौद्राकारे । दर्श० । अक्लिष्टाध्यवसाये, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणलम्पटः कलुषमनाः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभाग् न भवतीति (अक्रूरत्वं पञ्चमः श्रावकगुणः) प्रव० २३९ द्वा० । ध० ।

कूरो किलिट्ठभावो, सम्मं धम्मं न साहिउं तरइ ।
इय सो न इत्थ जोगो, जोगो पुण होइ अक्रूरो ॥१२॥

क्रूरः क्लिष्टभावो मत्सरादिदूषितपरिणामः सम्यङ् निष्कलङ्कं धर्मं न नैव साधयितुमाराधयितुं (तरइ त्ति) शक्नोति समरविजयकुमारवत् । इत्यस्माद्धेतोरसौ नैवात्र शुद्धधर्मे योग्य उचितः । पुनरेवकरार्थः । ततो योग्योऽक्रूर एव कीर्तिचन्द्रनृपवदिति । तयोः कथा चैवम्—

बहुसाहारा पुन्ना–गसोहिया उच्चसालरेहिल्ला ।
आरामभूमिसरिसा, चंपा नामेण अत्थि पुरी ॥ १ ॥
तत्थत्थि कित्तिचंदो, नरनाहो सुयणकुमयघणचंदो ।
तस्स कणिट्ठो भाया, जुवराया समरविजउ त्ति ॥ २ ॥
अह हणियरायपसरो, समियरओ मलिणअंबरो सदओ ।
अंगीकयभद्दवओ, पत्तो सुमुणि व्व घणसमओ ॥ ३ ॥
तंमिय समए नीरं–भनीरपूरेण अइबहु वहंती ।
भवणोवरिट्ठिएणं, दिट्ठा सरिया नरिंदेणं ॥ ४ ॥
तो कोऊहलआउल–हियओ बंधवजुओ तहिं गंतुं ।
चडइ निवो इक्काए, तरीइ सेसासु सेसजणो ॥ ५ ॥
जा ते कीलंति तहिं, ता उवरिं जलहरम्मि वुट्ठम्मि ।
सो कोवि नइपवाहो, पत्तो अइतिव्ववेगेण ॥ ६ ॥
निज्जंति कट्ठियाओ, अन्नन्नदिसासु जेण वेडीओ ।
थोवो वि तत्थ न फुरइ, वावारो कन्नधाराणं ॥ ७ ॥
तो सरियामज्झगओ, तडट्ठिओ पुक्करेइ पुरलोओ ।
अह पउपवणहया निव–दोणी उ अदंसणं पत्ता ॥ ८ ॥
लग्गा दीहतमाला–भिहाणअडवीए सा कहिं रुक्खे ।
तत्तो उत्तरइ निवो, कइवयपरिवारबंधुजुओ ॥ ९ ॥
जा वीसमेइ संतो, तत्तीरे ताव पिच्छइ नरिंदो ।
मइपूरखणियकुलम्मि–दरपयडं सुमणिरयणनिहिं ॥ १० ॥
गंतूण तत्थ सम्मं, पासिय दंसेइ समरविजयस्स ।
चलियं च तस्स चित्तं, पासुररयणुच्चयं दट्ठुं ॥ ११ ॥
चिंतइ सहावकूरो, मारित्तु निवं इमं पगिह्लामि ।
तं रज्जं सुहसज्जं, अणिच्छियं रयणनिहिमेयं ॥ १२ ॥
रन्नो मुक्को घाओ, पुरीइ सोयम्मि पुक्करंतम्मि ।
हाहा किमियं ति विचिं–तिऊण वंचाविओ तेण ॥ १३ ॥
भणइ य अक्कूरमणो, निवई बाहाइ तं धरेऊण ।
नियकुलअणुचियमसमं, किं भायतए इमं विहियं ॥ १४ ॥
जइ कज्जं रज्जेणं, निहिणा इमिणा व ता तुमं चेव ।
गिह्लाहि आहिमुक्को, समर धरेमो वयं,तु वयं ॥ १५ ॥
तं सो निसुणिय अमुणिय, कोवविवागो विवेगपरिमुक्को ।
विच्छोडिऊण वाहं, ओसरिओ निवसगासाओ ॥ १६ ॥
जस्स निमित्तं अनिमि–त्तवइरिणो बंधुणो वि इय हुंति ।
अलमिमिणा निहिणामे, तं मुत्तु निवो गओ सपुरं ॥ १७ ॥
समरो भमराल्लिसमा, पुन्नरसाओ पुराट्ठियं पि तयं ।
रयणनिहाणमदट्ठुं, चिंतइ रन्ना धुवं नीयं ॥ १८ ॥
तो जाओ चारहडो, चरमो लुंटेइ बंधुणो देसं ।
सामंतेहिं धरिउं, कयावि नीओ निवसमीवे ॥ १९ ॥
मुक्को अणेण रज्जे, निमंतिओ चिंतिउं गओ एवं ।
गहियव्वं रज्जमिणं, हठेण नहु दिज्ज मेएणं ॥ २० ॥
एवं कयाइ देहे, भंडारे जणवए य सो चुक्को ।
पत्तो निवेण मुक्को, रज्जेण भत्थिओ य दढं ॥ २१ ॥
तो जाओ अणवाओ, नियह अहो सोयराण सविसेसं ।
एगस्स दुज्जणत्तं, असरिसमन्नस्स सुयणत्तं ॥ २२ ॥
गुरुवेरग्गो राया, अह्नविरसे वासरे खिवइ जाव ।
ता तत्थ समोसरिओ, पबोहनामा पवरनाणी ॥ २३ ॥
चलिओ पमोयकलिओ, तव्वंदणत्थं निवो सपरिवारो ।
निसुणिय धम्मं पुच्छइ, समए नियबंधवचरित्तं ॥ २४ ॥
जंपइ गुरु विपेहे–सु मंगले मंगलावई विजए ।
सोगंधिपुरे सागर–कुरंगया मयणसिट्ठिसुया ॥ २५ ॥
पढमवयसमुचियाहिं, कीलाहिं ते कयावि कीलंता ।
पिच्छंति बालगडुगं, तह एगं बालियं रम्मं ॥ २६ ॥

पुट्ठा य तेहिं एए, के तुब्भे ता भणाइ ताणेगो ।
अत्थित्थ मोहनामा, निवई जगतीतलपसिद्धो ॥ २७ ॥
तस्सत्थि वइरिकरिकर-इकेसरी रायकेसरी तणश्रो ।
तप्पुत्तोऽहं सागर, महासश्रो सागरऽभिहाणो ॥ २८ ॥
मम तणश्रो कुडविणओ, एसो उ परिग्गहाऽभिल्लासुत्ति ।
वइसानरस्स धूया, एसा किर कूरयानाम ॥ २९ ॥
इय सुणिय हरिसिया ते, कीलंति परुप्परं तश्रो मित्ति ।
निम्मेइ सागरो सह, सिसुहि न उ कूरयाए वि ॥ ३० ॥
कुणइ कुरंगो मित्ति, तेहिं समं कूरयाइ सविसेसं ।
प्रयाभिहृयसिकमा, पत्ता ते तारतारुन्नं ॥ ३१ ॥
अह मित्तपेरियमणा, दविणोवज्जणकए गहियभंडा ।
पियरेहिं वारिया वि हु, चलिया देसंतरम्मि इमे ॥ ३२ ॥
भिल्लेहिं अंतरा अं-तरायवसओ य गहियजुरिधणा ।
लद्धरियथोवदव्वा, धवलपुरं पट्टणं पत्ता ॥ ३३ ॥
दविएण तेण तहियं, गहिउं हट्टं कुणंति ववसायं ।
दीणारसहस्सदुगं, दुक्खसहस्सेहिं अज्जंति ॥ ३४ ॥
तो वड्डियबहुतण्हा, कप्पासतिल्लाइ भंगसालाओ ।
पकुणंति करिसणं पि हु, उच्छुक्खित्ताइँ कारंति ॥ ३५ ॥
तससंसत्ततिलाणं, निपीलणं गुलियमाइ ववहारं ।
कारंति एव जाया, ताणं दीणारपणसहस्सा ॥ ३६ ॥
तो तहसेणे इच्छा, कमेण लक्खे वि जाव तं मिलियं ।
अह कोडि पूरणिच्छा जाया मित्ताणुभावेण ॥ ३७ ॥
तो गुरुभंतीनिवहा, पहिया देसंतरेसु विविहेसु ।
जलहिम्मि पोयसंघा-यसत्तिया करहमंडलिया ॥ ३८ ॥
गहियाइ निवकुलाओ, पट्टेण बहूणि सुकठाणाइं ।
विहिया धणगणियाओ, बद्धा उ हयाइ हेडाओ ॥ ३९ ॥
इच्चाइ पावकोमिहिं, जा कोमि वि तेसिं संमिलिया ।
तो पावमित्तवसओ, जवमा रयणकोडिच्छा ॥ ४० ॥
अह खिल्लिऊण सव्वं, पोए ते पत्थिया रयणभूमिं ।
ताकूरया विलग्गा, गाढं कण्ठे कुरंगस्स ॥ ४१ ॥
जंपेइ हंत हंतु, अंसहरमिमं करेसु अप्पवसं ।
सयलं दविणमिणं जं, धणिणो सव्वेवि इह सुयणा ॥ ४२ ॥
इय सा जंपइ निच्चं, तहेव तं परिणयं इमस्स तश्रो ।
पक्खिवइ सागरं सा-गरम्मि लहिऊण सो छिद्दं ॥ ४३ ॥
असुहज्झाणोवगश्रो, जलहिजलुप्पीलपीलियसरीरो ।
मरिऊण तइयनरग-म्मिनारश्रो सागरो जाओ ॥ ४४ ॥
काउं मयकिच्चं भा-उगस्स हिट्ठो कुरंगओ हियए ।
जा जाइ किंपि दूरं, ता फुट्टं पयहणं झत्ति ॥ ४५ ॥
बुड्डो लोओ गलियं, कयाणगं फलहयं लहिय एसो ।
कह कहवि तुरियदिवसे, पत्तो नीरनिहितीरम्मि ॥ ४६ ॥
अज्जिणिय धणेणोए, भुंजिस्सं इय विचिंतिरो घणियं ।
भमिरो वणम्मि हरिणा, हणिओ धूमप्पहं पत्तो ॥ ४७ ॥
तो भमिय भवं ते दो, वि कहवि अंजणनगे हरी जाया ।
इक्कगुहत्थं जुज्झिय, चउत्थनरए गया मरिउं ॥ ४८ ॥
तो अहिणो इगनिहिणो, कए कुणंता महत्तयं जुज्झं ।
विउझायसुरुझाणा, पत्ता धूमप्पहं पुढविं ॥ ४९ ॥
अह बहुभवपज्जंते, एगस्स वणिस्स भविय तज्जाओ ।
तम्मि मए विहवकए, जुज्झिय मरिउं गया छट्ठिं ॥ ५० ॥
भमिय भवं पुण जाया, तणया निवइस्स उवरए तम्मि ।
कलहंता रज्जकए, मरिउं पत्ता तमतमाए ॥ ५१ ॥
एवं दव्वनिमित्तं, सहियाओ तेहिं वेयणा विविहा ।
न य तं कस्सइ दिन्नं, परिभुत्तं तं सयं नेव ॥ ५२ ॥
अह पुव्वभवे काउं, अन्नाणतवं तहाविहं किंपि ।
जाओ सागरजीवो, तं निव इयरोउ तुह बंधू ॥ ५३ ॥
तुम्हाणवि पच्चक्खो, इओ परं समरविजयवुत्तंतो ।
सो काही भवसम्मं, इकसि तुह गहियचरणस्स ॥ ५४ ॥
तो कूरयाइ सहिओ, अहिओ तस्स थावराण जीवाणं ।
दुसहदुहदहियदेहो, भमिहीही भवमणंतमिमो ॥ ५५ ॥
इअ सुणिअ गरुयवेर-मपरिग्गहो गिण्हए वयं राया ।
नियभाइणिज्जहरिकुम-रवसहसंकमियरज्जधुरो ॥ ५६ ॥
कमसो अइतव सोसिय, देहो बहुपढिय सुद्ध सिद्धंतो ।
अब्भुज्जयं विहारं, उज्जयचित्तो पवज्जेइ ॥ ५७ ॥
कस्सवि नगरस्स बहिं, पलंबबाहू ठिओ य सो जवणं ।
दिट्ठो पाविट्ठेणं, समरेणं कहिंवि गमिरेणं ॥ ५८ ॥
वइरं सुमरंतेणं, हणिओ खग्गेण कंधराइ मुणी ।
गुरुवेयणाभिभूओ, पडिओ धरणीयले सहसा ॥ ५९ ॥
चिंतइ रे जीव ! तए, अन्नाणवसा विवेगरहिएण ।
वियणाओ श्रयणाओ, नरएसु अणंतसो पत्ता ॥ ६० ॥
गुरुजरवहणंकणदो-हवाहसीउण्हखुहपिवासाइ ।
दुस्सहदुहदंदोली, तिरिएसु वि विसहिया बहुसो ॥ ६१ ॥
ता धीर मा विसीयसु, इमासु अइअप्पवेयणासु तुमं ।
को उत्तरिउं जलहिं, निव्वुडए गुप्पई नीरे ॥ ६२ ॥
वज्जेसु कूरभावं, विसुद्धचित्तो जिएसु सव्वेसु ।
बहुकम्मक्खयसहाओ विसेसओ समरविजयम्मि ॥ ६३ ॥
तं लद्धो इह धम्मो, जं न कया कूरया पुरावि तए ।
इय चिंततो चत्तो, पावेण समं स पाणेहिं ॥ ६४ ॥
सुहसारे सहसारे, सो उववन्नो सुरो सुकयपुन्नो ।
तत्तो चविय विदेहे, लहिही मुत्तिं समुत्तीवि ॥ ६५ ॥

श्रुत्वेत्यमुग्ररूपपरिणामविरामहेतोः,
श्रीकीर्तिचन्द्रनरचन्द्रचरित्रमुच्चैः ।
भव्या नरा जननमृत्युजरादिभीता,
अक्रूरतागुणमगौणधिया दधध्वम् ॥ ६६ ॥ ध० र० ।

अकेवल—अकेवल—त्रि० न विद्यते केवलमस्मिन्नित्यकेवलम् । अशुद्धे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अकोऊहल्ल—अकौतूहल—त्रि० न० ब० स० नटनर्तकादिषु, अकौतुके, " नो भावए नो वि य भाविअप्पा, अकोऊहल्ले य सया सपुज्जो " दश० ९ अ० ३ उ० ।

अकोप्प—अकोप्य—त्रि० अकोपनीये, अदूषणीये, बृ० १ उ० " अकोप्पजंघजुयला " अकोप्यमदूष्यं रम्यं जङ्घायुगलं यासां तास्तथा । प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकोविय—अकोपित—त्रि० अदूषणीये, "आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं" । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अकोविद—पुं० श्रुतेन वयसा चाऽप्राप्तयोग्यताके, व्य० १ उ० । अपरिणते, सच्छास्त्रावबोधरहिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० "आरंजाइ न संकंति, अवियत्ता अकोविया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सम्यग्ज्ञाननिपुणे, " वणे मूढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगामिए । दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । दश० । पिं० ।

अकोवियप्प (ए)–अकोविदात्मन्–पुं० सम्यक्परिज्ञानविकले, बृ० १ उ० ।

अकोहण–अक्रोधन–त्रि० क्रोधरहिते, " एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अक्कंतं–देशी–प्रवृद्धे, दे० ना० ।

अक्कंत–आक्रान्त–त्रि० आक्रम-क्तः । अवष्टब्धे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । अभिभूते, स्वोपरिगत्या व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । भावे क्तः । आक्रमणे, नं० । भ० १ श० ३ उ० । आक्रान्ते, पादादिना भूतलादौ जवति । अचित्तवायुकायिकभेदे, पुं० स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अक्कंतदुक्ख–दुःखाक्रान्त–त्रि० आक्रान्ता अभिभूता दुःखेन शारीरमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः (दुःखाभिभूतेषु) सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " सव्वे अक्कंतदुक्खाय, अओ सव्वे अहिंसिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अक्कंद–आक्रन्द–पुं० आक्रन्द्-घञ् । सार्त्ते रोदने, वाच० । तदात्मके एकचत्वारिंशे उत्कृष्टाऽऽशातनाभेदे, आक्रंदं रुदितविशेषं पुत्रकलत्रादिवियोगे तं विधत्ते । प्रव० ३८ द्वा० । आह्वाने, शब्दे च, कर्मणि घञ् । मित्रे, भ्रातरि च, आधारे घञ् । दारुणे युद्धे, दुःखिनां रोदनस्थाने च । आक्रन्दयति-अच् पार्ष्णिग्राहपश्चाद्वर्त्तिनि नृपभेदे, 'पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दञ्च मण्डले' मनु० ।

अक्कंदण–आक्रन्दन–न० । आ+क्रन्द्-ल्युट् । महता शब्देन विरवणे, आव० ४ अ० । आह्वाने च, वाच० ।

अक्कतूवरी–अर्कतु(तू)वरी–स्त्री० गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अक्कत्थल–अर्कस्थल–न० मथुरास्थस्थलभेदे, ती० ६ कल्प ।

अक्कम–आक्रम–पुं० आक्रम-घञ् । अवृद्धिः । बलेनाऽतिक्रमणे, अभिभवे, व्याप्तौ, आग्रहे च । वाच० । प्राकृते " आक्रमे रोहावोत्थारच्छुंदाः" ४।१।४६। इति सूत्रेणाक्रमेरस्य आदेशाः वा ओहावइ उत्थारइ छुंदइ । अक्कमइ आक्रमते, प्रा० । आक्रमणमाक्रमः । पराजये, उच्छेदे, आ० म० प्र० । बलात्कारे, आव० ४ अ० । आक्रम्यते परलोकोऽनेन । करणे घञ् । परलोकप्राप्तिसाधने विद्याकर्मादौ, कृताक्रमणे, अभिभूते, व्याप्ते, आग्रहे च । वाच० ॥

अक्कमण–आक्रमण–न० अभिभवने, विशे० । पादेनाक्रमणे, आव० ४ अ० ।

अक्कमित्ता–आक्रम्य–अ० आक्रमणं कृत्वेत्यर्थे "भीमकवेहिं अक्कमित्ता दढदाढा गाढं" प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

अक्कशाला–देशी० बलात्कारे, ईषन्मत्तायां स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्का–देशी–भगिन्याम्, दे० ना० ।

अक्कासीदेवी–स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ६ कल्प ।

अक्किट्ठ–अक्लिष्ट–त्रि० न० त० अबाधिते, निर्वेदने, भ० ३ श० २ उ० । स्वशरीरोत्थक्लेशरहिते, औ० ३ प्रति ।

अक्कुडं–देशी० अध्यासिते, दे० ना० ।

अक्कुस–गम-धा० गतौ, " गमेरइ अइच्छाणुवज्जावसज्जोक्कुसाऽक्कुस०" ४।१६१। इति सूत्रेण गमेरक्कुसाऽऽदेशः । अक्कुसइ, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्केज्ज (य)–अक्रेय–त्रि० अक्रयणीये, स्था० ६ ठा० ।

अक्को–देशी–दूते, दे० ना० ।

अक्कोमण–आक्रोमन–न० संग्रहे, विशे० श्रु० अ० ।

अक्कोमो–देशी–छागे, दे० ना० ।

अक्कोस–अक्रोश–न० वर्षायोग्यक्षेत्रविशेषे, यस्य मूलनिवन्धात्परतः षण्णां दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्त्रिसृषु वा दिक्षु अटवीजलश्वापदः सन्ति, तेन पर्वतनदीव्याघातेन च गमनं भिक्षाचर्या च न सम्भवति, तन्मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम् । व्य० १० उ० ।

आक्रोश–पु० आक्रुश-घञ् । दुर्वचने, भ० ८ श० ८ उ० । निष्ठुरवचने, आव० ४ अ० । असभ्यभाषायाम्, उत्त० २ अ० । विरुद्धचिन्तने, शापे, निन्दायां च । वाच० ।

अक्कोसग–आक्रोशक–त्रि० दुर्वचनवादिनि, उत्त० २ अ० ।

अक्कोसणा–आक्रोशना–स्त्री० मृतोऽसि त्वमित्यादिवचनेषु, ज्ञा० १६ अ० ।

अक्कोसपरि (री) सह–आक्रोशपरि (री) षह–पुं० आक्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मकः स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः द्वादशो परीषहे, उत्त० २ अ० । आक्रोशोऽनिष्टवचनं, तच्छ्रुत्वा सत्येतरालोचनया न कुप्येत् किन्तु सहेत आव० ४ अ० । "आक्रुष्टोऽपि हि नाक्रोशेत्, क्षमाश्रमणतां विदन् । प्रत्युताक्रोष्टरि यतिश्चिन्तयेदुपकारिताम् " ध० ३ अधि० । " नाक्रुष्टो मुनिराक्रोशे-त्सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः । अपेक्षेतोपकारित्वं न तु द्वेषं कदाचन " आव० १ अ० । आ० म० द्वि० । तथाहि सत्यं, कः कोपः, शिक्षयति हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति । अनृतं चेत् सुतरां कोपो न कर्त्तव्यः । उक्तं च "आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किमिह कोपेन " इत्यादि परिभाव्य न कोपं कुर्यात् । प्रव० ८६ द्वा० । "चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः, किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा । इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनै-र्नो रुष्टो न हि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ।" पुनर्गालीं, श्रुत्वेति विचिन्तयेत् । "ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तः, वयमपि तदभावात् गालिदानेऽप्यशक्ताः । जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं, ददतु शशविषाणं ये महात्यागिनोऽपि ॥१॥ " इति विचार्य समत्वेन तिष्ठेत् । उत्त० २ अ० । " अक्कोस गहणमारण, धम्मब्भंसाणबालसुलभाणं । लाभं मन्नइ धीरो, जहुत्तराणं अभावम्मि" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । एतदेव सूत्रकृदाह ।

अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं,
न तेसिं पडिसंजले ।
सरिसो होइ बालाणं,
तम्हा भिक्खू न संजले ॥ २४ ॥

आक्रोशेत्तिरस्कुर्यात् । परोऽन्यो धर्मापेक्षया धर्मबाह्य आत्मव्यतिरिक्तो वा भिक्षुं यतिं यथा धिङ् मुण्ड! किमिह त्वमागतोऽसीति (न तेसिंति) सूत्रवचनस्य च व्यत्ययात्तस्मै प्रतिसंज्वलेत् निर्यातनं प्रति । ततश्चाक्रोशदानतो न संज्वलेदेतन्निर्यातनार्थम्, देहदाहलोहितपातप्रत्याक्रोशाभिघातादिभिरग्निवन्न दीप्येत, संज्वलनकोपमपि न कुर्यादिति । संज्वलेदित्युपादानं किमेवमुपदिश्यत इत्याह सदृशः समानो भवति संज्वलन्निति प्रक्रमः । केषां? बालानामज्ञानां, तथाविधक्षपकवत् । यथा कश्चित् क्षपको देवत-

या गुणैरावर्जितया सततमभिवन्द्यते, उच्यते च मम कार्यमावेदनीयम्। अन्यदैकेन धिग्जातिना सह योद्धुमारब्धस्तेन च बलवता क्षुत्क्षामशरीरो भुवि पातितस्ताडितश्च, रात्रौ देवता वन्दितुमायाता क्षपकस्तूष्णीमास्ते। ततश्चासौ देवतयाऽभिहितो, भगवन्! किं मयाऽपराद्धम्। स प्राह। न तस्य त्वया दुरात्मनो ममापकारिणः किंचित्कृतम्। सोऽवादीत् न मया विशेषः कोऽप्युपलब्धः, यथाऽयं श्रमणोऽयं धिग्जातिरिति यतः कोपाविष्टौ द्वावपि समानौ संपन्नाविति। ततः सतीप्रेरणेनेति प्रतिपन्नं क्षपकेणेति। उक्तमेवार्थं निगमयितुमाह। (तम्हत्ति) यस्मात्सदृशो भवति बालानां तस्माद् भिक्षुर्न संज्वलेदिति सूत्रार्थः।

कृत्योपदेशमाह।

सोच्चा णं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटया।
तुसिणीओ उवेहिज्जा, ण ताओ मणसी करे ॥२५॥

श्रुत्वाऽऽकर्ण्य णमिति वाक्यालंकारे परुषाः कर्कशा भाषा गिरः। दारयन्ति मन्दसत्वानां संयमविषयां धृतिमिति दारुणास्ताः ग्राम इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः प्रतिकूलशब्दादयः कण्टकत्वं चैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गप्रवृत्तिविघ्नहेतुतया च तदेकदेशत्वेन च परुषभाषा अपि तथोक्ताः। भाषाविशेषणत्वेऽपि चात्राविष्टलिङ्गत्वात्पुंल्लिङ्गता, तूष्णींशीलेन कोपात्प्रतिपुरुषभाषी एवंविधश्च। " जो सहइ उ गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ त्ति " इत्यागमं परिभावयन्नुपेक्षेतावधीरयेत्। प्रक्रमात्परुषभाषा एव कथमित्याह न ता मनसि कुर्याद्, भाषिणि द्वेषाकरणेनेति सूत्रार्थः। उत्त० २ अ०।

कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाऽऽहंसु पुढोजणा ॥ ६ ॥

पृथक्जनाः प्राकृतपुरुषा अनार्यकल्पा इत्येवमाहुरित्येवमुक्तवन्तः तद्यथा। य एते यतयः जल्लाविलदेहा लुञ्चितशिरसः क्षुधादिवेदनाग्रस्तास्ते एतैः पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्ताः एवं स्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति। यदि वा कर्मभिः कृष्यादिभिरार्तास्तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्ना सन्तो यतयः संवृत्ता इति, तथैते दुर्भगाः सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिकाः सन्तः प्रव्रज्यामभ्युपगता इति।

एते सद्दे अचायंता, गामेसु णगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति, संगामंमिव भीरुया ॥७॥

एतान् पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौरचारकादिरूपान् शब्दान् सोढुमशक्नुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थिताः, तत्र तस्मिन् आक्रोशे सति मन्दा अज्ञानलघुप्रकृतयो विषीदन्ति विमनस्का भवन्ति संयमाद् भ्रश्यन्ति तथा, भीरवः संग्रामे रणशिरसि चक्रकुन्तासिशक्तिनाराचाकुले रटत्पटहशङ्खझल्लरीनादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरुषं परित्यज्याऽयशःपटहमङ्गीकृत्य भज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादसत्त्वाः संयमे विषीदन्ति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

अत्रार्जुनमालाकारर्षिकथा।

रायगिहे मालारो, अज्जुणओ तस्स भज्ज खंदसिरी।
मोग्गरपाणी गोट्ठी, सुदंसणो वंदओणीति ॥ उत्त०नि०।

राजगृहे मालाकारोऽर्जुनकस्तस्य भार्या स्कंदश्रीः मुद्गरपाणियक्षो गोष्ठी सुदर्शनो (वंदणीति) वंदनार्थं निर्गच्छतीति गाथाक्षरार्थः, भावार्थस्तु संप्रदायगम्यः। उत्त० २ अ०। (स च 'अज्जुणग' शब्दे)

जो सहइ हु गामकंटए, अक्कोसपहारतज्जणाओ अ।
भयभैरवसद्दसप्पहासे, समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खू ॥

किंच (जो सहइत्ति) यः खलु महात्मा सहते सम्यग्ग्रामकण्टकान् ग्रामा इन्द्रियाणि, तद्दुःखहेतवः कण्टकास्तान्, स्वरूपत एवाह, आक्रोशान् प्रहारान् तर्जनाश्चेति। तत्राक्रोशो जकारादिभिः, प्रहारः कशादिभिः, तर्जना असूयादिभिः, तथा भैरवभया अत्यन्तरौद्रभयजनकाः शब्दाः सप्रहासा यस्मिन् स्थान इति गम्यते तत्तथा तस्मिन्, वेतालादिकृतार्तनादाट्टहास इत्यर्थः। अत्रोपसर्गेषु सत्सु समसुखदुःखसहश्च योऽचलितभावः स भिक्षुरिति सूत्रार्थः। द० १० अ०।

अक्कोसपरि (री) सहविजय–आक्रोशपरि (री) षहविजय–पुं० मिथ्यादर्शनोदृप्तोदीरितदुर्वचांसि ग्लानिदावदाहीनि क्रोधहुतवहोद्दीपनपरिष्ठानि शृण्वन्तोऽपि तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवन्तो 'दुरन्तः क्रोधादिकषायोदयनिमित्तपापकर्मविपाक' इति चिन्तयतः कषायलवमात्रस्यापि स्वहृदयेऽनवकाशदाने, पंचा १३ विव०।

अक्कोह–अक्रोध–त्रि० न० ब० क्रोधोदयविरहिते,। विफलीकृतक्रोधे, औ०। नञः स्वल्पार्थत्वात् स्वल्पक्रोधे, जं०२ वक्ष०। क्रोधमकुर्वाणे. उत्त० २ अ०। " से णूणं भंते ! अकोहत्तं अमाणत्तं अमायत्तं अलोभत्तं समणाणं निग्गंथाणं पसत्थं ? हंता गोयमा ! अकोहत्तं जाव पसत्थं " भ० १ श० ९ उ०।

अक्खकम्मिअं–देशी–तथेत्यर्थे, दे० ना०

अक्ख–अक्ष–पुं० जीवे, आ० म० प्र०। स्था०। उभयत्रापि "माषाविद्यमिकमिहनिकष्यणी" इत्यादिना औणादिकः सप्रत्ययः। आ० म० प्र०।

जीवो अक्खो अत्थ–व्वावणभोयणगुणण्णिओणण।

अक्षस्तावज्जीव उच्यते, केन हेतुनेत्याह (अत्थवावणेत्यादि) अर्थव्यापनभोजनगुणान्वितो येन तेनाक्षो जीवः। इदमुक्तं भवति "अशूङ् व्याप्तौ" अश्नुते ज्ञानात्मना सर्वार्थान् व्याप्नोतीत्यौणादिकनिपातनादक्षो जीवः। अथवा "अश भोजने" अश्नाति समस्तत्रिभुवनान्तर्वर्त्तिनो देवलोकसमृद्ध्यादीनर्थान् पालयति भुङ्क्ते वेति निपातनादक्षो जीवः। अश्नातेर्भोजनार्थत्वाद्, भुजेश्च पालनाभ्यवहारार्थत्वादिति भावः। इत्येवमर्थव्यापनभोजनगुणयुक्तत्वेन जीवस्याक्षत्वं सिद्धं भवति। विशे०। इन्द्रिये, न० " खमक्षमिन्द्रियं प्रोक्तं, हृषीकं करणं स्मृतम् " इति वचनात्। " अक्खस्स पोग्गलमया, जं दव्वेंदियमणपरा होंति " आ० म० प्र०। प्रज्ञा०। ज्ञा०। विशे०। नि० चू०। दशा०। अश्नाति नवनीतादिकमित्यक्षः। धुरि, (चक्रनाभौ) उत्त० १ अ०। " अक्खभंगम्मि सोयइ " । उत्त० ५ अ०। अनु०। औ०। जं०। भ०। चतुर्भिर्हस्तैर्निष्पन्नेऽवमानविशेषे, अनु०। ज्यो०। व्यावहारिकोऽक्षः षण्णवत्यङ्गुलमानेन भवति। स० ९६ सम०। अक्ष इत्यक्षोपाङ्गदानवच्चेति द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश. १ अ०। चन्दनके, अस्मिन् हि अनाकारवर्ती साध्वादेः स्थापनां कृत्वाऽऽवश्यकक्रियां कुर्वतः स्थापनाऽऽवश्यकं भवति। अनु०। आव०। तद्रूपे उत्कृष्टौपग्रहिकोपधिविशेषे, "अक्खासंथारो वा, एगमणेगंगिओ अउक्कोसो। पोत्थगपणगं फलगं, उक्कोसोवग्गहो सव्वो" ध० ३ अधि०। ग०। पि०। पं० व०। रुद्राक्षफलविशेषे, अणु० ३ वर्गः। पाशके, कपर्दके, "कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। बिभीतके, रावणसुतभेदे, सर्पे,

जातान्धे, गरुडे च, तुत्थे, सौवर्चले, कर्षपरिमाणे च, न० वाच० ।

अक्खइय—अक्षतिक—त्रि० अक्षये, "अक्खइयबीयणं अप्पाणं कम्मबंधणेणं मुहरि" अक्षतिकबीजेन अक्षयेण दुःखहेतुनेत्यर्थः । प्रश्न० आश्र० ९ द्वा० ।

अक्खओदय—अक्षयोदक—त्रि० अक्षयं शाश्वतमविनाश्युदकं जलं यस्य सोऽक्षयोदकः । नित्यसलिलभृते, "जहा से सयंभुरमणे उदही अक्खओदए" उत्त० ११ अ० ।

अक्खचम्म—अक्षचर्मन्—न० जलापकर्षणकोशे, "अक्खचम्मं उच्छंगडेसं" ज्ञा० ६ अ० ।

अक्खणवेल्लं—देशी—सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अक्खणिबद्धा—अक्षनिबद्धा—स्त्री० गल्याम्, पिं० ।

अक्खपाय—अक्षपाद—पुं० अक्षं नेत्रं दर्शनसाधनतया जातं पादेऽस्य न्यायसूत्रकारके गौतममुनौ, स हि स्वमतदूषकस्य व्यासस्य मुखदर्शनं चक्षुषा न करणीयमिति प्रतिज्ञाय पश्चाद् व्यासेन प्रसादितः पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवानिति पौराणिकी कथा । वाच० । अक्षपादमते किल षोडश पदार्थाः "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगमः" इति वचनात् । इत्याद्यन्यत्र प्ररूपयिष्यते । स्या० । "अक्षपादेनोक्ते ग्रन्थे च" विशे० । आ० म० प्र० ।

अक्खम—अक्षम—त्रि० क्षमते क्षमः । अच् । न० त० । असमर्थे, क्षम-भावे अङ्, अभावार्थे, न० त० । क्षमाभावे, ईर्ष्यायाम्, स्त्री० । वाच० । अयुक्तत्वे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनुचितत्वे असमर्थत्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अक्खय—अक्षज—न० अक्षाद् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन—डः । इन्द्रियविषयसन्निकर्षोत्पन्ने प्रत्यक्षज्ञाने, वाच० । "अक्षव्यापारमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्षभवं भवेत्" आ० म० द्वि० ।

अक्षत—पुं० बहु० न क्षताः । अखण्डतण्डुले, दर्श० । प्रव० । पञ्चा० । सस्यमात्रे, । न० क्षययुक्तभिन्ने, उत्कर्षान्विते, अविदारिते, यवे च, त्रि० क्षणभावे, वाच० । परिपूर्णे, स० १ सम० । प्रश्न० । क० न० त० क्षयाभावे, न० वाच० ।

अक्षय—त्रि० नाऽस्य क्षयोऽस्तीत्यक्षयः नं० । अपर्यवसाने, आव० ४ अ० । अप्रणाशिनि, पञ्चा० ४ विव० । स० । "सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तियं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपाविउकामे" अक्षयं क्षयरहितं साद्यनन्तत्वात् । कल्प० । अनाशंसाद्यपर्यवस्थितिकत्वात् भ० १ श० १ उ० । विनाशकारणाभावात् । जी० ३ प्रति० । रा० । ध० । "स पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे" स भगवान् प्रज्ञयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञान इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अक्खयणिहि—अक्षयनिधि—पुं० देवभाण्डागारे, "अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेस्सामि" विपा० १ श्रु० ७ अ० । अव्यये भाण्डागारे । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ॥

अक्खयणिहितव—अक्षयनिधितपस्—न० लौकिकफलप्रदे तपोभेदे, यत्र जिनबिम्बस्य पुरतः स्थापितकलशः प्रतिदिनं प्रक्षिप्यमाणतण्डुलमुष्ट्या यावद्भिर्दिनैः पूर्यते तावन्ति दिनान्येकाशनेनाऽकारि तपोऽक्षयनिधितपः । पञ्चा० ९ विव० ।

अक्खयणीवि—अक्षयनीवि—स्त्री० अक्षया चासौ नीविश्च अक्षयनीविः । षो० ६ विव० । अव्यये मूलधने, येन जीर्णाज्जूनस्य देवकुलस्योद्धारः करिष्यते । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

अक्खयतइया—अक्षयतृतीया—स्त्री० कर्म—स० । वैशाखशुक्लतृतीयायाम्, "वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका । अक्षया सा तिथिः प्रोक्ता, कृत्तिकारोहिणीयुता । तस्यां दानादिकं सर्वमक्षयं समुदाहृतामिति, वाच० । तन्माहात्म्यकथा चैवम्—प्रणिपत्य प्रभुं पार्श्वं श्रीचिन्तामणिसंज्ञकम् । अथाक्षयतृतीयाया व्याख्यानं लिख्यते मया ॥ १ ॥ एतदेवाह श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहुः । "उसभस्स उ पारणए, इक्खुरसो आसि लोगनाहस्स । सेसाणं परमन्नं, अमियरसरसोवमं आसी ॥ १ ॥ घुट्ठं च अहो दाणं, दिव्वाणि आहियाणि तूराणि । देवा वि सन्निवडिआ, वसुहारा चेव वुट्ठीय ॥ २ ॥ भवणं धणेण भुवणं, जसेण भयवं रसेण पडिहत्थो । अप्पा निरुवमसुक्खं, सुपत्तदाणं महग्घविअं ॥ ३ ॥ रिसहेण समं पत्तं, निरवज्जं इक्खुरससमं दाणं । सेयंससमो भावो, हविज्ज जइ मग्गियं हुज्जा ॥ ४ ॥" इति । एतासां गाथानां भावार्थः कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहि—श्रीऋषभदेवस्वामिनो जीवः सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्वाऽऽषाढकृष्णचतुर्थ्यां तिथौ नाभिनाम्नः कुलकरस्य भार्याया मरुदेव्याः कुक्षाववतीर्णः । नव मासान् चत्वारि दिनानि च तत्रोषित्वा चैत्रकृष्णाष्टम्यां निशीथसमये जन्म जगृहे । तदानीं विष्टपत्रयं विद्द्युते । क्षणं नारकैरपि जीवैः शमभ्यगामि । तदनु षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारिकाणामासनानि चकम्पिरे । ताश्चावधिज्ञानेन भगवतो जनिमवगम्य जन्मस्थानमासाद्य च स्वस्वकार्य्यं संपाद्य निजनिकेतनानि प्रत्यगमन् । ततश्चतुष्षष्टिसंख्यकानामिन्द्राणामपि विष्टराश्चेलुः । तेऽप्यवधिज्ञानेनैव भगवतो जनुर्ग्रहणं विदित्वा सौधर्म्मेन्द्रव्यतिरिक्ता अन्ये त्रिषष्टिरिन्द्रा हेमाद्रिं प्रतिजग्मुः । ततः सौधर्म्मेन्द्रोऽपि जन्मस्थानं समागत्य तत्रस्थेभ्यो मातृप्रमुखेभ्यो जनेभ्योऽवस्वापिनीं निद्रां दत्त्वा मातृसन्निधौ स्वशक्त्या रचितं भगवत्प्रतिबिम्बं निधाय भगवन्तमुभाभ्यां पाणिभ्यां गृहीत्वा कनकाद्रिं समाययौ । तत्र च चतुष्षष्टिसंख्यकैरिन्द्रैः संभूय स्नात्रमहोत्सवं कृत्वा ततः सौधर्म्मविरहितैरन्यैरिन्द्रैरष्टमो नन्दीश्वरद्वीपो जग्मे । सौधर्म्मेन्द्रस्तु भगवज्जनन्याः सन्निकृष्टे बालकं पूर्ववत् संस्थाप्य अवस्वापिनीं निद्रां पूर्वनिहितं भगवत्प्रतिबिम्बं चापहृत्य "नमो रत्नकुक्षिधारिण्यै" इत्युक्त्वा मातरं प्रणिपत्य ततो भगवन्तं च नमस्कृत्य नन्दीश्वरद्वीपमव्राजीत् । तत्र सर्वे इन्द्रा अष्टाह्निकमहोत्सवं विधाय निजनिजसुरालयं समासदन् । अथ स भगवान् सौधर्म्मेन्द्रसंचारितामृतवन्तं निजाङ्गुष्ठमेव चुचूष । मातृस्तन्यपानं न चकार आऽऽशनात् तीर्थङ्कराणां तादृशाचरितत्वात् । ततः क्रमेण पिता 'ऋषभ' इति भगवतो नाम विदधे । इन्द्रस्तु तदानीमिक्ष्वाकुवंशमतिष्ठिपत् । विंशतिलक्षपूर्वपर्यन्तं भगवान् कुमारावस्थायामेवातिष्ठत् । वासवो विनीताख्यां नगरीं कारयित्वा भगवते प्रायच्छत् राज्याभिषेकं चाकरोत् । आत्रिषष्टिलक्षपूर्ववर्षं महाराजपदवीमनुबभूव । सुनन्दा सुमङ्गला चेति द्वे पत्न्यौ भगवतो बभूवतुः । तयोर्भरतबाहुबलीप्रमुखं सूनुशतमजनिष्ट । तथा आदित्ययशःसोमयशःप्रभृतयो बहवः पौत्रा अभूवन् । ततो भगवान् अयोध्याराज्यं ज्येष्ठपुत्राय भरताय ददौ, बाहुबलिने च तक्षशिलाराज्यमदात् । अन्येभ्योऽपि तनूजेभ्यो यथार्हं देशनगरादिराज्यं प्रदाय स्वयं चैत्रकृष्णाष्टम्यां दीक्षां जगृहे, आ—

हारार्थं प्रतिग्रामं विजहार च, भद्रपुरुषास्तु साधूनामाहारदानं न विदुस्ततो भिक्षां याचमानाय भगवते मणिमाणिक्यादीन्युत्तमवस्तून्येवोपाजह्रुः । भगवता त्यक्तपरिग्रहत्वात् दीयमानमपि तत्सर्वं न जगृहे, अतः सर्वतः पर्यटन् चतुर्विधाहाररहित एव किञ्चिदधिकमेकं वर्षमतिष्ठत् । अस्मिन्नेवावसरे गजपुरनगरे बाहुबलिनः प्रपौत्रः सोमयशःपुत्रः श्रेयांसकुमारोऽभूत्, तत्र भगवान् ऋषभदेव आहारार्थं विहरन्नाजगाम । तदा नक्तं श्रेयांसकुमारः "मेरुपर्वतः कृष्णीबभूव, मया चामृतकलशैः क्षालयित्वा स शुक्लीकृतः" इतीदृशं स्वप्नमपश्यत् । तस्यामेव निशि तस्मिन्नेव पत्तने सुबुद्धिनामा श्रेष्ठ्यपि "सूर्यस्य किरणसहस्रं भूमौ निपपात श्रेयांसकुमारस्तु तदुत्थाप्य पुनः सूर्यबिम्बे संयुयोज" इति स्वप्नमद्राक्षीत् । पुनः सोमयशा भूपतिरपि "प्रचुररिपुसमवरुद्धो व्याकुलः कश्चन सुभटो यदा तान् स्वरिपून् जेतुं नाशकत्, तदा श्रेयांसकुमारेण तस्य साहाय्यमकारि, येन स तत्क्षणमेव सर्वान् विजिग्ये" इति स्वप्नं निरीक्षाञ्चक्रे । एवं स्वप्नत्रयं त्रयः पुरुषा अद्राक्षुः । ततः प्रभाते सर्वे राजसभामुपसंगम्य यथास्वं स्वप्नं प्रत्यूचुः । तदवधार्य "अद्य श्रेयांसकुमारस्यापूर्वलाभो भविष्यति" इति सर्वे सभ्या व्याजह्रुः । एतस्मिन्नन्तरे सदाऽप्रतिबद्धविहार्यप्रमत्तो भगवान् भिक्षार्थं प्रतिगृहं परिभ्रमन् तत्र श्रेयांसकुमारनिकेतनमुपतस्थे । तमागच्छन्तं भगवन्तं समवलोक्य कुमारोऽतीव जहर्ष । अन्ये च जना अदृष्टचरसाधुमुद्राः पादाभ्यामेव पर्यटन्तं तमवलोक्य हस्त्यश्वप्रभृतीनि विविधवस्तूनि समुपाहरन् । भगवाँस्तु किमपि नोपाददे । तेन ते लोकाः कोलाहलं कृत्वा विषण्णमानसा चिन्तयन्ति स्म, यतो भगवान् अस्मद्दत्तं किमपि नोपादत्ते, जातु अस्मासु क्रुद्ध इवोपलक्ष्यत इति । ते तु युगलत्वावस्थामचिरेणैवाहासिषुरतः साधुभिक्षादानविधिं न विदन्ति । अथ श्रेयांसकुमारो भगवतः साधुमुद्रां समवलोक्य 'ईदृशी मुद्रा मया पूर्वं कुत्रापि निरीक्षिता' इत्येवमूहापोहौ कुर्वन् तदानीं तस्य मतिज्ञानभेदभूतं जातिस्मरणज्ञानं समजनि । तेन ज्ञातेन 'भगवता सार्कं नव भवा मे व्यतीताः' इत्यादि सर्वं सोऽबुध्यत । तत्र "धण १ मिहुण २ सुर ३ महब्बल ४, ललियंग ५ वयरजंघ ६ मिहुणो य ७ । सोहम्म ८ विज्ज ९ अच्चुय १०, चक्की ११ सव्वट्ठ १२ उसभो य १३" ॥ इति गाथोक्तानां त्रयोदशभवानां मध्ये प्रथमे भवे भगवान् सार्थवाहोऽभूत्, द्वितीये युगलिकः, तृतीये देवता, चतुर्थे महाबलनामा राजा, पञ्चमे ललिताङ्गनामको देवोऽभवत् । श्रेयांसकुमारस्तु प्रथमे भवे स्त्रीत्वजातौ धर्मिणीनामिका स्त्री समजनि । एवं क्रमेण ललिताङ्गदेवावस्थायां तस्य भगवतः स्वयंप्रभाख्या देवी बभूव । ततश्च्युत्वा ललिताङ्गदेवजीवः षष्ठे भवे वज्रजङ्घाख्यो राजाऽभवत्, स्वयंप्रभा च तस्य श्रीमतीत्याख्या राजपत्नी बभूव । एवं सप्तमे भवे चोभौ युगलिकौ बभूवतुः । अष्टमे सौधर्मदेवलोके उभौ देवौ समजनिषाताम् । नवमे भगवान् जीवानन्दाभिधो वैद्यः, श्रेयांसजीवस्तु केशवाख्यः श्रेष्ठिपुत्रः संजातः । तत्रापि द्वयोरतीवमित्रता बभूव । ततो दशमे भवेऽच्युतदेवलोके उभौ मित्रदेवौ संजातौ एकादशे भगवान् चक्रवर्ती श्रेयांसश्च सारथिः । द्वादशे चोभौ सर्वार्थसिद्धविमाने देवौ । तत आयुषि क्षीणे सति त्रयोदशे भवे भगवतो जीवोऽयमृषभदेवोऽहञ्च श्रेयांसकुमारोऽस्मि । एवं स श्रेयांसो जातिस्मरणज्ञानेन प्राक्तनानां नवभवानां स्वरूपमवेदीत् तेषु भवेषु पूर्वं साधुक्रियामज्ञासीत्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यचिन्तयत् यत् संसारिजीवानां कीदृशमज्ञानित्वं भवति येन त्रिलोकीप्रभुं राज्यपदवीं तृणवत् विसृज्य विषयभोगरूपं सांसारिकसुखं किंपाकफलमिव विदित्वा साधुत्वं गृहीत्वा च कर्मबन्धनविमोचनाय प्रयतमानं रागद्वेषाद्यनेकानर्थकारणीभूतं परिग्रहं परमाणुमात्रमप्यस्वीकुर्वाणं भगवन्तं नावेदिषुः । यः सर्वथा निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः स कथं पुनर्हस्त्यश्वकन्यास्वर्णमणिमाणिक्यमुक्ताफलादीन् परिग्रहान् ग्रहीष्यति ? । एवं बुद्ध्वा स श्रेयांसकुमारो निजप्रासादगवाक्षात् तूर्णमधः समवतीर्य भगवतश्चरणोपकण्ठं समाययौ भगवन्तं त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धुनिमग्नो ववन्दे च । पुनरञ्जलिं बद्ध्वा भगवन्तं तुष्टाव व्यजिज्ञपच्च । हे स्वामिन् ! मयि कृपा विधीयतामहं संसारतापतप्तोऽस्मि । अतो मे संसाराब्धिस्तारः क्रियताम् । अष्टादशकोटाकोटिसागरोपमपर्यन्तविच्छिन्नो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रकाश्यताम् । मम गृहे उपहाररूपेण समागतान् इक्षुरसपूर्णान् शुद्धाहारभूतान् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समाददातु । इति वचो निशम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिक्षुरसं द्रव्यक्षेत्रकालभावानुकूलं निरवद्याहारं समवगम्य श्रेयांसनिकेतनमुपेत्य निजहस्ताञ्जलौ सर्वं युगपज्जग्राह । यतो भगवता पाणिपात्रलब्धिमता भूयते, तेनैव स निखिलोऽष्टोत्तरशतघटरसोऽञ्जलिं प्रविवेश । रसग्रहणसमये चैकबिन्दुरपि भूमौ न निपपात । यद्यप्ययमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसोऽभूत् यदि च शतसहस्रलक्षपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि प्रविशेत् । एवं भगवते विशुद्धाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य तनौ न ममौ । पुनर्व्यचिन्तयत् त्रिलोकीपूज्योऽनन्तगुणनिधिर्भगवान् ऋषभदेवो यन्मे हस्तेनाहारमाददे तन्मयि परमप्रसादं व्यधत्त । भगवते निर्दोषाहारं ददतो मे सर्वः पापसन्तापः क्षीणः । यावत् स एवं विचिन्तयति तावद्धर्षनिर्भरा देवाः पञ्च दिव्यानि प्रकटीचक्रुः, 'अहोदानमहोदानम्' एवं प्रजल्पन्तो देवदुन्दुभीन् च वादयांचक्रिरे । तिर्यग्जृम्भकाख्यास्त्रिदशाः सार्धद्वादशकोटिसुवर्णदीनाराणां रत्नानां च वृष्टिमकार्षुः । तदा श्रेयांसगृहं सुवर्णदीनारै रत्नैः समृद्ध्यादिभिश्च परिपूर्णं समजनि । विष्टपत्रयं धनधान्यादिभिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्यात्मा निरुपमसुखभाजनं संजातम् । तदारभ्य लोके सर्वे साधूनां भिक्षादानविधिं विदाञ्चक्रुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् देशे विहरति तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापीतयो न भवन्ति स्म, सकलगृहाण्यपि परमोत्तमाहारपूर्णानि बभूवुः, येन अकिञ्चना अपि भगवते परमान्नं प्रयच्छन्ति स्म तस्यातिशयविशिष्टत्वात् । अस्मिन् वैशाखशुक्लतृतीयादिने भगवतः श्रीऋषभदेवस्य पारणा श्रेयांसगृहे इक्षुरसेन निर्वृत्ता । इदं च दानं श्रेयांसस्याक्षयसुखकारणीभूतं संजातमतोऽस्यास्तृतीयायाः 'अक्षयतृतीया' 'इक्षुतृतीया' वा संज्ञा लोके प्रावर्तिष्ट । अत्र कश्चित् प्रश्नं करोति, त्रैलोक्यनाथस्य भगवतो वर्षमेकं भोगान्तरायः कथम् ? । अत्रोच्यते कल्पविवरणे प्रदर्श्यमानमन्तरायनिदानं कर्म । तथाहि । पूर्वभवे भगवान् मार्गे गच्छन् खले धान्यानि खादतो वृषभान् कृषीवलैस्ताड्यमानानवलोक्य सञ्जातकरुणस्तान् प्रावोचत्, अरे रे मूर्खाः कृषाणाः ! एतान् बुभुक्षून् यूयं न ताडयत किन्तु मुखबन्धनीं निर्माय्यैतेषां मुखानि बध्नीत । तदा नैते किमपि भोक्तुं शक्ष्यन्ति । तदा ते प्रत्यूचुः, वयं न तां निर्मातुं जानीमः । ततो भगवान् तत्रोपविश्य स्वहस्तेन तां निर्माय तया च वृषभमु-

स्वं बद्ध्वा तान् प्रादर्शयत् । तदा बद्धमुखो वृषभो महता कष्टेन षष्ट्युत्तरशतत्रयकृत्वः श्वासानमुञ्चत, अतस्तत्रोपार्जितमन्तरायकर्म दीक्षाग्रहणसमये प्रादुर्भूयैकवर्षानन्तरमद्योपशमतामवापेति । अथास्य दानस्य प्रभावेण श्रेयांसो मोक्षपदवीमवाप्स्यति । भगवांश्चैकसहस्रं वर्षाणि छद्मस्थावस्थायामतिष्ठत् । एकसहस्रवर्षोनलक्षपूर्ववर्षावधिकेवलित्वावस्थायां स्थित्वाऽनेकान् भव्यजीवान् प्रतिबोधयन् विचचार । ततोऽष्टापदपर्वतोपरि नश्वरमिमं लोकमपास्य मोक्षमवाप । अतोऽक्षयतृतीयादिने भव्यजीवानां सुपात्रेदानं, शीलपालनं, तपस्याऽऽचरणं, भावनाभावनं, देवपूजनं, स्नात्रमहोत्सवादिकं च कर्म विधीयत इति ॥

गद्यपद्यमयं ह्येतत् पूर्वाचार्यैर्विनिर्मितम् ।
माहात्म्यं लिखितं सारं मया राजेन्द्रसूरिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्टम् । के ऋतवः पूर्वमतिक्रान्ताः को वा सम्प्रति वर्त्तते ? । तत्र प्रथमाया अक्षयतृतीयायाः प्राक् युगस्यादित आरभ्य पर्वाण्यतिक्रान्तानि एकोनविंशतिः । तत एकोनविंशतिर्ध्रियते धृत्वा च पञ्चदशभिर्गुण्यते जाते द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयायां किल पृष्टमिति पर्वणामुपरि तिस्रस्तिथयः प्रक्षिप्यन्ते जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति च कालेऽवमरात्राः पञ्च भवन्ति, ततः पञ्च पात्यन्ते जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२८३) ते द्वाभ्यां गुण्यन्ते जातानि पञ्च शतानि षट्षष्ट्यधिकानि (५६६) तान्येकषष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि षट् शतानि सप्तविंशत्यधिकानि (६२७) तेषां द्वाविंशतिशतेन भागहरणं लब्धाः पञ्च ते च षड्भिर्भागं न सहन्त इति न तेषां षड्भिर्भागहारः, शेषास्त्वंशा उद्धरन्ति सप्तदश, तेषामर्द्धजाताः सार्द्धाष्टौ, आगतं, पञ्च ऋतवोऽतिक्रान्ताः षष्ठस्य च ऋतोः प्रवर्त्तमानस्याष्टौ दिवसा गता नवमो वर्त्तते इति । सू० प्र० १२ पाहु०

अक्खयपूया—अक्षतपूजा—स्त्री० जिनप्रतिमानां पुरतोऽखण्डतण्डुलसमर्पणे, तन्माहात्म्यविषये शुककथानकं विजयचन्द्रचरित्राल्लिख्यते । तद्यथा—

अखंमफुडियचुक्ख-क्खएहिं पुंजत्तयं जिणिंदस्स ।
पुरओ नरा कुणंता, पावंति अखंमियसुहाइं ॥ १ ॥
जह जिणपुरओ चुक्ख-क्खएहिं पुंजत्तयं कुणंतेणं ।
कीरमिहुणेण पत्तं, अखंमियं सासयं सुक्खं ॥ २ ॥
अत्थित्थ भरहवासे, सिरिपुरनयरस्स बाहिरुज्जाणे ।
रिसहजिणेसरभुवणं, देवविमाणं व रमणीयं ॥ ३ ॥
भवणस्स तस्स पुरओ, सहयारमहादुमम्मि सच्छाओ ।
अन्नुन्ननेहरत्तं, सुअमिहुणं तम्मि परिवसइ ॥ ४ ॥
अह अन्नया कयाई, भणिओ सो तीइ अत्तणो भत्ता ।
आणेह मोहलो मे, सीसं इह सालिखित्ताओ ॥ ५ ॥
भणिया सो तेण पिए, एयं सिरीकंतराइणो खित्तं ।
जो एयम्मि वि सीसं, गिह्णइ सीसं निवो तस्स ॥ ६ ॥
भणिओ तीए सामिय !, तुह सरिसो नत्थि इत्थिकापुरिसो ।
जो भज्जं पि य मरणं, इच्छसि नियजीवलोहेण ॥ ७ ॥
इय भणिओ सो तीए, भज्जाए जीवियस्स निरुविक्खो ।
गंतूण सालिखित्ते, आणइ सो सालिसीसाणि ॥ ८ ॥
एवं सो पइदियहं, रक्खंताणं पि रायपुरिसाणं ।
आणेइ मंजरीओ, भज्जाएसेण सो निच्चं ॥ ९ ॥
अह अन्नया नरिंदो, समागओ तम्मि सालिखित्तम्मि ।
पिच्छइ सलक्खविलत्तं, तं खित्तं एगदेसम्मि ॥ १० ॥
पुट्ठो य आयरेणं, पुहवीपालेण सालिया गुत्ति ।
किं इत्थ इमं दीसइ, सउणेहिं विणासियं खित्तं ॥ ११ ॥
सामिय ! इक्को कीरो, गच्छइ सो सालिमंजरी घित्तुं ।
रक्खिज्जंतो वि दढं, चोरुव्व झत्ति नासेइ ॥ १२ ॥
भणिओ सो नरवइणा, मंमियपासेहिं तं गहेऊणं ।
आणेह मज्झपासे, हणेह चोरुव्व तं दुट्ठं ॥ १३ ॥
(आणेयव्वो पासे, सहसो चोरुव्व अइदुट्ठो । इतिपाठान्तरम्)
अह अन्नदिणे कीरो, रायाएसेण तेण पुरिसेणं ।
पासनिबद्धो निज्जइ, सूईए पिच्छमाणीए ॥ १४ ॥
पुट्ठिविलग्गा धावइ, अंसुजला पुन्नलोयणा सूई ।
पत्ता दइएण समं, सुदुक्खिया रायभवणम्मि ॥ १५ ॥
अत्थाणत्थिअ राया, विन्नत्तो तेण सालिपुरिसेणं ।
देवेसो सो सूओ, बद्धो चोरुव्व आणीओ ॥ १६ ॥
तं दट्ठूणं राया, खग्गं गहिऊण जाव पहणेइ ।
ता सहसच्चिय सूई, नियपइणो अंतरे पडिया ॥ १७ ॥
पभणइ सूई पहणसु, निस्संको अज्ज मज्झ देहम्मि ।
मुंचसु सामिय ! एयं, मइजीवियदायगं जीयं ॥ १८ ॥
तुह सालीए उवरिं, संजाओ देव डोहलो मज्झ ।
सो तणसरिसं काउं, नियजीयं मइवि ओयम्मि ॥ १९ ॥
हसिऊण भणइ राया, कीर ! तुमं पंडिओत्ति विक्खाओ ।
महिलाकज्जे जीयं, जो चयसि वियक्खणो कहणु ॥ २० ॥
पभणइ सूई सामिय, ! अच्छउ ता जणणिजणयचित्ताइं ।
नियजीवियं पि उज्झइ, पुरिसो महिलाणुराएण ॥ २१ ॥
तं नत्थि जं न कीरइ, वसणासत्तेहिं कामलुद्धेहिं ।
ता अच्छइ इयरजणो, हरेण देहद्धयं दिन्नं ॥ २२ ॥
जह सिरिदेवीइ कए, देवतुमं जीवियं पि छड्डेह ।
तह अन्नो वि हु उज्झइ, को दोसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥
तीइ वयणेण राया, चिंतइ हियएण विम्हियं हंतो ।
कह एसा पक्खिणिया, वियाणए मज्झ वुत्तंतं ॥ २४ ॥
पभणइ राया भद्दे, दिट्ठंतो कह कओ अहं तुमए ।
साहसु सव्वं एयं, अइगरुयं कोउयं मज्झ ॥ २५ ॥
पभणइ कीरी निसुणसु, दिट्ठंतो इत्थ जह तुमं जाओ ।
आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! परिवायगा एगा ॥ २६ ॥
बहुकूडकवडभरिया, भत्ता जा रुद्दखंददेवाणं ।
सा तुह भज्जाइ चिरं, सिरिया देवीए उवयरिया ॥ २७ ॥
नरवइणोहं भज्जा, बहुभज्जो एस मज्झभत्तारो ।
कम्मवसेणं जाया, सव्वेसिं दूहवा अहयं ॥ २८ ॥
ता तह कुणसु पसायं, जयवइ जह होमि वल्लहा पइणो ।
मइजीविएण जीवइ, मरइ मरंतीइ किं बहुणा ॥ २९ ॥
भणिया एसा वच्छे, गिह्णाइ तुमं ओसहीवलयं ।
तं देसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुह भत्ता ॥ ३० ॥
भयवइ भवणपवेसो, वि नत्थि कइ दंसणं समं तेणं ।
कह ओसहीयवलयं, देमि अहं तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥
जइ एवं ता भद्दे, गहिऊणं अज्ज महसयासाओ ।
साहुसु एगग्गमणा, मंतं सोहग्गसंजणगं ॥ ३२ ॥
भणिऊण सुहमुहुत्ते, दिन्नो पव्वाइयाइ सो मंतो ।
पूअं काऊण पुणो, तीए वि पडिच्छिओ विहिणा ॥ ३३ ॥
जा झायइ सा देवी, तं मंतं पइदिणं पयत्तेण ।
ता सहसा नरवइणा, पडिहारी पेसिया भणइ ॥ ३४ ॥
आणवइ देवि देवो, जह तुमए अज्ज वासभवणम्मि ।

आगंतव्वमवस्सं, कुवियप्पो नेव कायव्वो ॥ ३५ ॥
रयणी-कयसिंगारा, समंतओ रायलोयपरियरिया ।
करिणीखंधारूढा, समागया रायभवणम्मि ॥ ३६ ॥
नरवरकयसम्माणा, दोहग्गं देवि सेसमहिलाणं ।
सोहग्गं गहिऊणं, संजाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥
भुंजइ इच्छियसुक्खं, संतुट्ठा देइ इच्छियं दाणं ।
रुट्ठा पुण सा जेसिं, ताणं च विणिग्गहं कुणइ ॥ ३८ ॥
अह अन्नदिणे पुट्ठा, तीए परिव्वाइयाइ इमा देवी ।
वच्छे तुह संपन्ना, मणोरहा इच्छिया जेउं ॥ ३९ ॥
भयवइ तं नत्थि जए, तुह पयभत्ताण जं न संभवई ।
तह विहु भयवइ अज्ज वि, हिययं दोलायए मज्झ ॥ ४० ॥
जह जीवइ महजीवं, तियाइ अह मरइ महमरंतीए ।
जा जाणिज्जइ नेहो, महउवरिं नरवरिंदस्स ॥ ४१ ॥
जइ एवं ता गिण्हसु, नासं महमूलियाय एयाए ।
जेण तुमं मयजीवा, लक्खीयासि जीवमाणा वि ॥ ४२ ॥
बीयाइ मूलियाए, नासं दाऊण तुह करिस्सामि ।
देहं पुणन्नवं चिय, मा भीयसु मज्झ पासत्था ॥ ४३ ॥
एवंति पभणिऊणं, गहिउं देवीए मूलियावलयं ।
सा वि अ समप्पिऊणं, संपत्ता निययठाणम्मि ॥ ४४ ॥
अह सा नरवइ पासे, सुत्ता गहिऊण ओसही नासं ।
ता दिट्ठा निच्चिट्ठा, नरवइणा विगयजीवव्व ॥ ४५ ॥
एत्तो आकंदरओ, उच्छलिओ झत्ति राइणो भवणे ।
देवी मया मयत्ति य, धाहावइ नरवइ लोओ ॥ ४६ ॥
नरवइआएसेणं, मिलिया बहुमंतविज्जकुसला य ।
तह वि य सा परिचत्ता, मइत्ति दट्ठूण निच्चिट्ठा ॥ ४७ ॥
भणिओ मंतीहिं निवो, किज्जउ एयाइ अग्गिसक्कारो ।
भणिया ते नरवइणा, मज्झ वि किज्जउ सह इमाए ॥ ४८ ॥
चलणविलग्गो लोओ, पभणइ न हु देव एरिसं जुत्तं ।
भणइ सुदुक्खं राओ, नेहस्स न हुन्ति मग्गाओ ॥ ४९ ॥
ता मा कुणह विलंबं, कुणह लहु चंदणिंधणं पउरं ।
इय भणिऊणं राया, संचलिओ पिअयमासहिओ ॥ ५० ॥
वज्जिर तूररवेणं, रोविर नरनारिपउरनिवहेण ।
पूरितो गयणयलं, संपत्तो पेयठाणम्मि ॥ ५१ ॥
जा विरइऊण चिअयं, राया आरुहइ पिअयमासहिओ ।
ता दूराउ रुयंति, पत्ता परिव्वाइया तत्थ ॥ ५२ ॥
भणिओ तीए तुमयं, मा एवं देवसाहसं कुणसु ।
भणियं तुमए भयवइ, महजीयं पिअयमासहियं ॥ ५३ ॥
जइ एवं ता विसहसु, खणमेगं मा हु कायरो होसु ।
जीवावेमि अवस्सं, तुह दइअं लोअपच्चक्खं ॥ ५४ ॥
तं वयणं सोऊणं, ऊससियं तस्स राइणो चित्तं ।
न हु जीवियस्स लाहे जह लाहे तीइ भज्जाए ॥ ५५ ॥
भयवइ कुणसु पसायं, जीवावसु मज्झ वल्लहं दइअं ।
तीए वि हु देवीए, दिन्नो संजीवणी नासो ॥ ५६ ॥
तस्स पभावेणं चिय, सा देवी सयललोयपच्चक्खं ।
उज्जीविया य समयं, नरवइणो जीवियासाए ॥ ५७ ॥
तं जीवियंति नाउं, आणंदजलुल्ललोयणो लोओ ।
नच्चइ उब्भियबाहो, वज्जिरबहुतूलनिवहेण ॥ ५८ ॥
सव्वंगाभरणेहिं, पाए परिव्वाइआइ पूएणं ।
पभणइ अज्जे अज्जं, जं मग्गसि तं पणामेमि ॥ ५९ ॥
भणिओ तीए राया, सुपुरिसमह नत्थि किं पि करणिज्जं ।
भिक्खागहणेण अहं, संतुट्ठा नयरमज्झम्मि ॥ ६० ॥
गयवरखंधारूढं, काऊणं नियपियपमाराया ।
संपत्तो नियभवणे,आणंदमहूसवं कुणइ ॥ ६१ ॥
फलिहमयभित्तिघामिआ, कंचणसोवाणथंभनिम्मविया ।
काराविया निवेणं, मढिया अज्जाइ तुट्ठेणं ॥ ६२ ॥
पव्वइया सा नरवरं-मरिऊणं अट्टझाण दोसेणं ।
संजाया सुहसूई, साहं पत्ता तुह सयासे ॥ ६३ ॥
दट्ठूणं देव ! तुमं, तुह पासपरिट्ठियं महादेविं ।
जायं जाईसरणं, संभरिअं तुह मए चरिअं ॥ ६४ ॥
सोऊण तीइ वयणं, रोवंती भणइ सा महादेवी ।
भयवइ कह मरिऊणं, संजाया पक्खिणी तुमयं ॥ ६५ ॥
मा झूरसि किसोयरि, दुक्खिता अज्जमज्झजम्मेण ।
कम्मवसेणं जीवो, तं नत्थिहं जं न पावेइ ॥ ६६ ॥
तेण तुमं दिट्ठंतो, दिन्नो नरनाहमहिलिया विसए ।
सोऊण इमं राया, संतुट्ठो सूइगं भणए ॥ ६७ ॥
सच्चो दिट्ठंतोहं, दिन्नो तुम एत्थ महिलिया विसए ।
ता तुट्ठोहं पभणसु, जं इट्ठं तं पणामेमि ॥ ६८ ॥
पभणइ सुई निसुणसु, महइट्ठो नाह अत्तणो भत्ता ।
ता तस्स देसु जीयं, न हु कज्जं किं पि अन्नेण ॥ ६९ ॥
हसिऊण भणइ देवी, देव तुमं कुणसु मज्झवयणेण ।
एयाए पीईदाणं, भोयणदाणं च निच्चंपि ॥ ७० ॥
भणिया सा नरवइणा, वच्चसु भद्दे जहिच्छियं ठाणं ।
मुक्कोय एस भत्ता, तुट्ठेणं तुज्झ वयणेण ॥ ७१ ॥
भणिओ य सालिवालो, एयाणं तंदुलाणदाणं च ।
पइदियहं दायव्वं, रासिं काऊण खित्तंते ॥ ७२ ॥
जं आणवेइ देवो, इय भणिए भणइ कीरमिहुणं पि ।
एस पसाओ सामिय, ! इय भणिउं झत्ति उड्डीणं ॥ ७३ ॥
पुव्वुत्ते चूअदुमे, गंतूणं पुव्वकोहला सूई ।
नियनियरुक्खम्मि पसूया, निप्पन्नं अंडयदुगंति ॥ ७४ ॥
अह तम्मि चेव समये, तीए सवक्की वि नियवनीमम्मि ।
तम्मि दुमम्मि पसूया, संपुन्नं अंडगं एगं ॥ ७५ ॥
जा सा चूणि निमित्तं, विणिग्गया तं दुमं पमुत्तूणं ।
ता मच्छरेण पढमा, आणइ तं अंडगं तीए ॥ ७६ ॥
जा पच्छिमा न पिच्छइ, समागया तत्थ अत्तणो अंडं ।
ता सफरिव्व विलोडइ, धरणियले दुक्खसंतत्ता ॥ ७७ ॥
तं विलवंति य दट्ठुं, पच्छायावेण तव्वियहिययाए ।
पढमाए नेऊणं, पुणो वि तत्थेव तं मुक्कं ॥ ७८ ॥
धरणियले लुलिऊणं, अंबं आरुहइ जाव नीडम्मि ।
ता पिच्छइ तं इंडं, सा कीरिय अमयसित्तव्व ॥ ७९ ॥
बद्धं च तं निमित्तं, कम्मं पढमाए दारुणविवागं ।
पच्छायावेण हयं, धरियं चिय एगभवदुक्खं ॥ ८० ॥
तम्मिय अंडयजुयले, संजाया सूइगा य सुअगो अ ।
कीलंति वणनिगुंजे, समयंचिअ अणणिजणगेहिं ॥ ८१ ॥
रइए तंडुलकुंभे, नरवइवयणाउ सालिखित्तम्मि ।
चंचुपुडे गहिऊणं, वच्चइ तं कीरमिहुणं ति ॥ ८२ ॥
अह अन्नया कयाई, चारणसमणो समागओ नाणी ।
रिसहजिणेसरभवणे, वंदणहेउ जिणिंदस्स ॥ ८३ ॥
पुरनरनारिनरिंदो, देवं पुप्फक्खएहिं पूएउं ।
पुच्छइ नमिऊण मुणिं, अक्खयपूयाफलं राया ॥ ८४ ॥
अखंमफुडियचोक्ख-क्खएहिं पुंजत्तयं जिणिंदस्स ।

पुरओ नरा कुणंतो, पावंति अखंडियसुहाइं ॥ ८५ ॥
इय गुरुवयणं सोउं, अक्खयपूआ समुज्जलं लोओ ।
दट्ठूणं सा सूई, पभणइ निअअत्तणो कंतं ॥ ८६ ॥
अह्मे वि नाह ! एवं, अक्खयपुंजत्तएण जिणनाहं ।
पूएमो अचिरेणं, सिद्धिसुहं जेण पावेमो ॥ ८७ ॥
एवं तीए भणिऊ-ण तंमुएमे खिविय चोक्खक्खएहिं ।
रइअं जिणिंदपुरओ, पुंजतिअं कीरमिहुणेण ॥ ८८ ॥
भणिअं सवमजुअलं, जणणीजणएहिं जिणवरिंदस्स ।
पुरओ मुंचह अक्खे, पावह जेणक्खयं सुक्खं ॥ ८९ ॥
इय पइदियहं कालं, अक्खयपूअं जिणिंदभत्तीए ।
आउक्खए गयाइं, चत्तारि वि देवलोगम्मि ॥ ९० ॥
भुत्तूण देवसुक्खं, सो सुअजीवो पुणो वि चविऊण ।
संजाओ हेमपुरे, राया हेमप्पहो नाम ॥ ९१ ॥
सो वि य सूईजीवो, तत्तो चविऊण देवलोगाओ ।
हेमप्पहस्स भज्जा, जाया जयसुंदरी नाम ॥ ९२ ॥
सा पच्छिमा वि सूई, संसारे हिंडिऊण सा जाया ।
हेमप्पहस्स रन्नो, रइनामा नारिया दुइया ॥ ९३ ॥
अन्नाओ वि कमेणं, पंचसया जाव नारिया तस्स ।
जायाओ पुण इट्ठा, पढमा ते भारिया दो वि ॥ ९४ ॥
(संजाया पुण इट्ठा, पढमाओ भारिया दुन्नि) इति पाठान्तरम् ।
अह अन्नया नरिंदो, दूसहजरतावतावियसरीरो ।
चंदणजलुल्लिओ वि हु, लोलइ भूमीइ अप्पाणं ॥ ९५ ॥
एवं असणविहूणो, चिट्ठइ जा तिन्नि सत्तए राया ।
ता मंततंतकुसला, विज्जा वि परं मुहा जाया ॥ ९६ ॥
उग्घोसयई सत्तो, दिज्जंति य बहुविहाइँ दाणाइँ ।
जिणभवणेसु य पूआ, देवयआराहणाओ य ॥ ९७ ॥
रयणी य पच्छिमद्धे, पयडी होऊण रक्खसो भणइ ।
किं सुत्तो सि नरेसर, ! भणइ निवो कह णु मह निद्दा ॥ ९८ ॥
ओआरणं करेउं, अप्पाणं जइ नरिंद ! तुह भज्जा ।
पक्खिवइ अग्गिकुंडे, तो जीअं अन्नहा नत्थि ॥ ९९ ॥
इअ भणिऊण नरिंदं, विणिग्गओ रक्खसो नियट्ठाणं ।
राया विम्हियहियओ, चिंतइ किं इंदजालु त्ति ॥ १०० ॥
किं वा दुक्खत्तेणं, अज्ज मए एस सुविणगो दिट्ठो ।
अहवा न होइ सुविणो, पच्चक्खो रक्खसो एसो ॥ १०१ ॥
इत्तो विनयपसहिया,-वोलीणा जामिणी नरिंदस्स ।
उदयाचलम्मि चढिओ, सूरो वि हु कमलिणीनाहो ॥ १०२ ॥
रयणीए वुत्तंतो, नरवइणा साहिओ सुमंतिस्स ।
तेण वि भणिअं किज्जउ, देव ! इमं जीयकज्जम्मि ॥ १०३ ॥
परजीएणं नियजी-यरक्खणं न हु कुणंति सप्पुरिसा ।
ता होउ मज्झ विहियं, इय भणिओ राइणा मंती ॥ १०४ ॥
सद्दाविऊण सव्वाउ, मंतिणा नरवइस्स भज्जाओ ।
कहिओ रक्खसभणिओ, वुत्तंतो ताण नीसेसो ॥ १०५ ॥
सोऊण मंतिवयणं, सव्वाओ नियजियस्स लोहेण ।
ठाउं अहोमुहीओ, न दिंति मंतिस्स पडिवयणं ॥ १०६ ॥
पप्फुल्लवयणकमला, उट्ठेउं भणइ रई महादेवी ।
मह जीविएण देवो, जइ जीवइ किं न पज्जत्तं ॥ १०७ ॥
इय भणिए सो मंती, भवणगवक्खस्स हिट्ठभूमीए ।
काराविऊण कुंडं, आरोहइ अगरुकट्ठेहिं ॥ १०८ ॥
सा वि य कयसिंगारा, नमिऊणं भणइ अत्तणो कंतं ।
सामिय ! मह जीएणं, जीवसु निवडामि कुंडम्मि ॥ १०९ ॥
भणइ सदुक्खं राया, मज्झ कए देवि ! चयसु मा जीयं ।
अणुहवियव्वं च मए, सयमेव पुराकयं कम्मं ॥ ११० ॥
पभणइ चलणविलग्गा, सामिय ! मा भणसु एरिसं वयणं ।
जं जाइ तुज्झ कज्जे, तं सुलहं जीवियं मज्झ ॥ १११ ॥
ओआरणं करेउं, अप्पाणं सा बला वि नरवइणो ।
भवणगवक्खे ठाउं, जलिए कुंडम्मि पक्खिवई ॥ ११२ ॥
अह सो रक्खसनाहो, तीसे सत्तेण तोसिओ सहसा ।
अप्पत्तं वि य कुंडे, हुयासदूरं समुक्खिवई ॥ ११३ ॥
भणिया रक्खसवइणा, तुट्ठो हं अज्ज तुज्झ सत्तेण ।
मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं तुज्झ किं बहुणा ॥ ११४ ॥
जणणिजणएहिं दिन्नो, हेमपहो महवरो किमन्नेण ।
मग्गसु तह वि हु भद्दे, देवाण न दंसणं विहलं ॥ ११५ ॥
जइ एवं ता एसो, मह भत्ता देव तुह पसाएण ।
जीवउ वाहिविहीणो, चिरकालं होउ एस वरो ॥ ११६ ॥
एवं ति पभणिऊणं, दिव्वालंकारभूसियं काउं ।
कंचणपउमे मुत्तुं, देवो हु अदंसणीहूओ ॥ ११७ ॥
जीव तुमं भणइ जणो, सीसे पुप्फक्खए खिवेऊण ।
नियजीवियदाणेणं, जीए जीवाविओ भत्ता ॥ ११८ ॥
तुट्ठो तुह सत्तेणं, वरसु वरं जंपिए पियं तुज्झ ।
भणिया पइणा पभणइ, देव वरो मह तुमं चेव ॥ ११९ ॥
जीवियमुल्लेण तुए, वसीकओ हं सया वि कमलच्छि ।
ता अन्नं करणीयं, भणसु तुमं भणइ सा हसिउं ॥ १२० ॥
जइ एवं ता चिट्ठउ, एस वरो सामि ! तुह सयासम्मि ।
अवसरवडियं एयं, पच्छिस्सं तुह सयासाओ ॥ १२१ ॥
अह अन्नया रईए, भणिया पुत्तत्थितीइ कुलदेवी ।
जयसुंदरिपुत्तेणं, देमि बलिं होउ मह पुत्तो ॥ १२२ ॥
भवियव्वयावसेणं, जाया दुन्हं पि ताण वरपुत्ता ।
बहुलक्खणसंपुन्ना, सुहजणया जणणिजणयाणं ॥ १२३ ॥
तुट्ठा रई वि चिंतइ, दिन्नो कुलदेवयाइ मह पुत्तो ।
जयसुंदरिपुत्तेणं; कह कायव्वा मए पूआ ॥ १२४ ॥
एवं चिंततीए, लद्धो पूयाइ साहुणो वाओ ।
नरवइवरेण रज्जं, काऊण वसे करिस्सामि ॥ १२५ ॥
इय चिंतिऊण तीए, अवसरपत्ताइ पभणिओ राया ।
जो पुव्विं पडिवन्नो, सो दिज्जउ मह वरो सामि ॥ १२६ ॥
मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं जीवियं पि किं बहुणा ।
जइ एवं ता दिज्जउ, मह रज्जं पंचदियहाइं ॥ १२७ ॥
एव त्ति पभणिऊणं, दिन्नं तुह पिये मए रज्जं ।
पडिवन्नं तं तीए, महापसाउ त्ति काऊणं ॥ १२८ ॥
पालइ सा तं रज्जं, पत्तो रयणीए पच्छिमे जामे ।
जयसुंदरीइ पुत्तं, आणावइ रोयमाणीए ॥ १२९ ॥
तं न्हाविऊण बालं, चंदणपुप्फक्खएहिं पूएउं ।
पडलयउवरिं काउं, ठावइ दासीइ सीसम्मि ॥ १३० ॥
वच्चइ परियणसहिया, उज्जाणे देवयाइ भवणम्मि ।
वज्जिरतूररवेणं, नच्चिर नरनारिलोएण ॥ १३१ ॥
अह विज्जाहरवइणा, कंचणपुरसामिएण सूरेण ।
वच्चंतेण नहेणं, दिट्ठो सो दारगो तेण ॥ १३२ ॥
उज्जोयंतो गयणं, दिणयरतेउ व्व निययतेएण ।
गहिऊण तेण अलक्खं, अन्नं मयबालगं मुत्तुं ॥ १३३ ॥
भणिया सुसा भज्जा, जंघोवरिबालगं ठवेऊण ।
उट्ठह लहुं किसोयरि, पिच्छसु नियदारगं जायं ॥ १३४ ॥

किं हससि तुमं सामिय !, हसिश्रा हं निग्घिणेण देवेण ।
किं कइया वि सुवन्नइ, वंझापुत्तं च पलवेइ ॥ १३५ ॥
पभणइ पहसियवयणो, जइ मह वयणेण नत्थि सद्दहणं ।
ता पिच्छेहि सयं चिय, नियपुत्तं रयणरासिं व ॥ १३६ ॥
इय संसयहिययाए, परमत्थं साहिऊण सा भणिया ।
नियपुत्तविरहियाणं, अम्हाणं एस पुत्तो त्ति ॥ १३७ ॥
पमिक्खिऊण एयं, नीओ नयरम्मि सो य पइदियहं ।
परिवड्ढेइ कलाहिं, सियपक्खगओ मियंकु व्व ॥ १३८ ॥
सा वि य रइमयबालं, सीसोवरि नामिऊण देवीए ।
आफालइ तं पुरओ, वत्थं वसियायले तुट्ठा ॥ १३९ ॥
गंतूण तओ भवणे, संपुन्नमणोरहा सुहं वसइ ।
जयसुंदरी वि दियहा, सुयविरहे दुक्खिया गमइ ॥ १४० ॥
कयविज्जाहरनामो, मयणकुमारु त्ति गहियवरविज्जो ।
वच्चंतो गयणयले, पिच्छइ तं अप्पणो जणणिं ॥ १४१ ॥
भवणगवक्खारूढा, सुयसोयझरंतनयणसलिलेहिं ।
अइनेहनिब्भरेणं, उक्खित्ता मयणकुमरेण ॥ १४२ ॥
तं दट्ठूण कुमारं, हरिसवसड्ढं च नयणसलिलेन ।
सिंचंती अवलोयइ, पुणो पुणो निच्चदिट्ठीए ॥ १४३ ॥
उज्झियवाहो लोओ, धाहावइ पुरवइए मज्झम्मि ।
एसा हरिज्जइ घरिणी, नरवइणो उच्चकंठेणं ॥ १४४ ॥
अइसूरो वि हु राया, पयचारी किं करेइ गयणत्थे ।
खुज्जंउ किं कुणइ फले, तरुसिहरपयट्ठिए दिट्ठे ॥ १४५ ॥
चिंतइ मणम्मि राया, दुक्खं खयखारसन्निहं जायं ।
एगं सुअस्स मरणं, बीअं पुण नारियाहरणं ॥ १४६ ॥
एवं दुक्खियहियओ, चिट्ठइ राया नियम्मि नयरम्मि ।
अहवा घरिणीहरणे, भण कस्स न जायए दुक्खं ॥ १४७ ॥
अवहिविसएण नाउं, पुत्तं तं सुहगाइ देवीए ।
मह जाया नियजणणी, घरिणिबुद्धिइ अवहरए ॥ १४८ ॥
नियपुरपच्चासन्ने, सरवरपालीइ चूयछायाए ।
जणणीसहिओ कुमरो, जा चिट्ठइ ताव सा देवी ॥ १४९ ॥
वानररूवं तह वा-नरीइ काऊण चूयसाहाए ।
पभणइ वानररूवी, कामुयतित्थं इमं भज्जे ॥ १५० ॥
तिरिओ वि एत्थ पडिओ, तित्थपभावेण लहइ मणुअत्तं ।
मणुओ वि हु देवत्तं, पावइ नत्थित्थ संदेहो ॥ १५१ ॥
ता खु पेच्छसु दोन्नि वि म-णुसाइँ पच्चक्खदेवभूआइँ ।
एआइँ मणे काउं, निवडामो इत्थ तित्थम्मि ॥ १५२ ॥
जेण तुमं माणुसिआ, अम्हं पुण एरिसो मणुस्सु त्ति ।
होहामि त्ति पभणिअं, को नामं गिण्हइ इमस्स ॥ १५३ ॥
जो निअजणणिं पि इहं, घरिणीबुद्धीइ नेइ हरिऊण ।
तस्स वि पावस्स तुमं, सामियरूवम्मि अहिलासो ॥ १५४ ॥
सोऊण वानरीए, तं वयणं दो वि विम्हअमणाइं ।
चिंतंति कहं एसा, मह जणणी सा वि कह पुत्तो ॥ १५५ ॥
नेहेणं हरिए वि हु, एसा मह जणइ जणणिबुद्धि त्ति ।
सा वि य चिंतइ एसो, मह पुत्तो उअरजाओ त्ति ॥ १५६ ॥
पुच्छइ संसयहियओ, कुमरो तं वानरिं पयत्तेणं ।
भद्दे ! किं सच्चमिणं, जं तुमए भासियं वयणं ॥ १५७ ॥
ताए भणियं सच्चं, जइ अज्ज वि तुज्झ अत्थि संदेहो ।
ता एयम्मि निगुंजे, पुच्छसु वरनाणिणं साहुं ॥ १५८ ॥
इय भणिऊणं सहसा, वानरजुअलं अदस्सणीहूअं ।
सो वि य विम्हयहियओ, पुच्छइ तं मुणिवरं गंतुं ॥ १५९ ॥
भयवं ! किं तं सच्चं, जं भणियं वानरीइ मह पुरओ ।
मुणिवइणा वि हु भणिओ, सच्चं तं होइ न हु अलिअं ॥ १६० ॥
निच्चं चिट्ठामि इहेओ, कम्मक्खयकारणम्मि झायंतो ।
हेमपुरे सविसेसं, साहिस्सइ केवली तुज्झ ॥ १६१ ॥
इय भणिओ तं नमिउं, सहिओ जणणीइ सो गओ गेहं ।
जणणिजणएहिं दिट्ठो, हरिसियहियएहि सो विमणो ॥ १६२ ॥
एगंते ठविऊणं, चलणवलग्गेण पुच्छिया जणणी ।
अम्मो साहेसु फुडं, कह जणणी मज्झ को जणओ ॥ १६३ ॥
चिंतइ सा सविइक्का, किं एसो अज्ज पुच्छए एयं ।
पभणइ पुत्तय ! अहयं, तुह जणणी एस जणओ त्ति ॥ १६४ ॥
सच्चं अम्मो एयं, तह वि हु पुच्छामि जम्मदायारे ।
तं परमत्थं पुत्तय !, तुह जाणइ एस जणउ त्ति ॥ १६५ ॥
तेण वि परितुट्ठेणं, कहिऊं पच्चलाइवइयरो तस्स ।
तह पुण जणओ पुत्तयं, विन्नाओ किंचि न हु सम्मं ॥ १६६ ॥
भणिओ कुमरेण पुणो, एसा जा ताय आणिया नारी ।
सा वानरीइ सिट्ठा, एसा तुह जम्मजणणि त्ति ॥ १६७ ॥
मुणिणा वि हु पुट्ठेणं, एयं चिय साहिऊण भणिओ हं ।
हेमपुरे गंतूणं, पुच्छसु तं केवलिं एयं ॥ १६८ ॥
तो ताय तत्थ गंतुं, पुच्छामो केवलिं निरवसेसं ।
जेणेसो संदेहो, तुट्टइ मह जुन्नतंतु व्व ॥ १६९ ॥
इय भणिऊणं कुमरो, चलिओ सह नियजणणिजणएहिं ।
(इय भणिऊणं चलिओ सहिओ सह जणणि जणयलोएहिं
इति पाठान्तरम्)
संपत्तो हेमपुरे, केवलिणो पायमूलम्मि ॥ १७० ॥
भत्तिभरनिब्भरंगो, केवलिणो पायपंकयं नमिउं ।
उवविट्ठो धरणियले, सपरियणो सुरकुमारु व्व ॥ १७१ ॥
जयसुंदरी वि देवी, बहुनारिसहस्समज्झयारम्मि ।
नियपुत्तेण समेया, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७२ ॥
हेमपभो वि य राया, नियपुरनरनारिलोयपरियरिओ ।
उवविट्ठो गुरुमूले, निसुणइ गुरुभासियं वयणं ॥ १७३ ॥
पत्थावं लहिऊणं, नरनाहो भणइ केवलिं नमिउं ।
भयवं ! सा मह भज्जा, जयसुंदरि केण अवहरिया ॥ १७४ ॥
भणिओ सो केवलिणो, हरिया नरनाह ! निययपुत्तेण ।
विम्हियहियओ पभणइ, भयवं ! कह तीइ पुत्तु त्ति ॥ १७५ ॥
जो आसि तीइ पुत्तो, सो बालो चेव हयकयंतेण ।
कवलीकओ महायस, बीओ पुत्तो वि से नत्थि ॥ १७६ ॥
अलियं न तुम्ह वयणं, बीओ पुत्तो वि तिय से नत्थि ।
इय विहडियकज्जं पिव, संतावं संसओ कुणइ ॥ १७७ ॥
भणइ मुणिंदो नरवर ! सच्चं मा कुणसु संसयं एत्थ ।
भयवं ! कहसु कहं चिय, अइगरुअं कोउअं मज्झ ॥ १७८ ॥
कुलदेवयपूयाए, वुत्तंतो ताव तस्स परिकहिओ ।
जा वेयड्ढपुराओ, समागओ तम्मि उज्जाणे ॥ १७९ ॥
विप्फारियनयणजुओ, जोयइ नरवइ तमुज्जाणं ।
तो विहडियसंदेहो, कुमरो वि हु नमइ तं जणयं ॥ १८० ॥
आलिंगिऊण पुत्तं, अंसुजलभरियलोयणो राया ।
रोयंतो बहुदुक्खं, दुक्खेण य बोहिओ गुरुणा ॥ १८१ ॥
(रोयंतो वि हु दुक्खं दुक्खेण विबोहिओ गुरुणा
इति पाठान्तरम्)
जयसुंदरी वि पइणो, चलणे गहिऊण तीइ तह रुन्नं ।

जह देवाण वि परिसा, बहुदुक्खसमाउला जाया ॥ १८२ ॥
(जह देवाण वि दुक्खं, परिसा मज्झे समावन्नं इत्यपि)
पुट्ठो य दयंतीए, भयवं ! मह केण ! कम्मणा एसो ।
जाओ पुत्तविओगो, सोलसवरिसाण अइदुसहो ॥ १८३ ॥
सोलसमुहुत्तगाइं, सुरभवे जं सुहड्ढे ठविया ।
अंमं हरिऊण तए, सुअविरहो तेण तुह जाओ ॥ १८४ ॥
जो दुक्खं व सुहं वा, तिलतुसमित्तं पि देइ अन्नस्स ।
सो बीअं व सुखित्ते, परलोए बहुफलं लहए ॥ १८५ ॥
सोउं गुरुणो वयणं, गुरुपच्छायावतावियमणाए ।
जम्मंतरदुच्चरियं, खमाविया सा रई तीए ॥ १८६ ॥
तीए वि उट्ठिऊणं, भणिया जयसुंदरी वि नमिऊणं ।
खमसु तुमं पि महासइ, जं भणियं तुज्झ सुयदुक्खं ॥ १८७ ॥
भणिया गुरुणा दुन्न वि, जं बद्धं मच्छरेण गुरु कम्मं ।
तं अज्ज खामणाए, खवियं तुम्हेहिं नीसेसं ॥ १८८ ॥
भणइ नरिंदो भयवं, ! अन्नभवे किं कयं पावं ।
जेण सह सुंदरीए, कुमरेण य पावियं रज्जं ॥ १८९ ॥
जइ सुगजम्मम्मि तए, जिणपुरओ अक्खएहिं खिविऊण ।
संपत्तं देवत्तं, रज्जं तह साहियं गुरुणा ॥ १९० ॥
जं जम्मंतरविहियं, अक्खयपुंजत्तयं जिणिंदस्स ।
तस्स फलं तुह अज्ज वि, तइयभवे सासयं ठाणं ॥ १९१ ॥
इय भणिए सो राया, रज्जं दाऊण रइयपुत्तस्स ।
जयसुंदरिकुमरजुओ, पव्वइओ गुरुसमीवम्मि ॥ १९२ ॥
पव्वज्जं पालेउं, सहिओ दइआइ तह य पुत्तेण ।
मरिऊण समुप्पन्नो, सत्तमकप्पम्मि सुरनाहो ॥ १९३ ॥
तत्तो चुओ समाणो, लद्धूण स माणुसत्तणं परमं ।
पाविहिसि कम्ममुक्को, अक्खयसुक्खं गओ मुक्खं ॥ १९४ ॥
जह राया तह जाया, कुमरो देवत्तणम्मि जा देवी ।
चत्तारि वि पत्ताइं, अक्खयसुक्खम्मि मुक्खम्मि ॥ १९५ ॥

अक्खयायार–अक्षताचार–पुं० ६ ब० । स्थापितादिपरिहारिणि आचारवति साधौ, "आहाकम्मुद्देसिय, ठवियरइयकीयकारियं छेज्जं । उब्भिण्णाहडमाले, वणीमगाजीवणणिकाए । परिहरति-खणं पाणं, सज्झोवहिपूतिसंकियंमीसं । अक्खयमभिण्णमए, संकिलिट्ठं वासए जुत्तो" एतानि (आधाकर्मादीनि) योऽशनपानादिशय्योपधींश्च परिहरति । तथा पूर्तिं सशंकितं मिश्रम, उपलक्षणमेतत् अध्यवपूरकादिकं च यश्चावश्यके युक्तः सोऽक्षताचारः । व्य० ३ उ० ।

अक्खयायारया–अक्षताचारता–स्त्री० परिपूर्णाचारतायाम् व्य० ३ उ० ।

अक्खयायारसंपन्न–अक्षताचारसंपन्न–त्रि० अक्षतेनाचारेण संपन्नः । अक्षताचारसंपन्ने, व्य० ३ उ० ।

अक्खर–अक्षर–न० न क्षरतीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रच्यवत इति कृत्वाऽक्षरम् परे तत्त्वे, "ज्योतिः परं परस्तात, तमसो यद्गीयते महामुनिभिः । आदित्यवर्णममलं, ब्रह्माद्यैरक्षरं परं ब्रह्म" षो० १५ विव० । न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरम् । केवलज्ञाने, "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ" विशे० । क्षर संचलने, न क्षरतीति अक्षरम् । ज्ञाने, चेतनायाम्, । न खल्विदमनुपयोगेऽपि प्रच्यवते ततोऽक्षरमिति, आ० म० प्र० ।

न क्खरइ अणुवओगे, वि अक्खरं सो य चेयणाभावो ।
अविसुद्धनयाणमयं, सुद्धनयाणक्खरं चेव ।

'क्षर संचलने' न क्षरति न चलत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवत इत्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा च तन्मतानुसारिणो मीमांसका नित्यं शब्दमातिष्ठमानाः प्रतीता एव । बृ० १ उ०) एतच्च नैगमादीनामविशुद्धनयानां मतं शुद्धानां तु ऋजुसूत्रादीनां ज्ञानं क्षरमेव न त्वक्षरमिति ।

कुत इत्याह—

उवओगे चिय नाणं, सुद्धा इच्छंति जम्न तव्विरहे ।
उप्पायभंगुरा वा, जं तेसिं सव्वपज्जाया ॥

यस्माच्छुद्धनया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे, घटादेरपि ज्ञानवत्त्वप्रसङ्गात् । अथवा यस्मात्तेषां शुद्धनयानां सर्वेऽपि मृदादिपर्याया घटादयो भावा उत्पादभङ्गुरा उत्पत्तिमन्तो विनश्वराश्चेत्यर्थः । न पुनः केचिन्नित्यत्वादक्षरा इति भावः । अतो ज्ञानमप्युत्पादभङ्गुरत्वेन क्षरमेवेति प्रकृतम् । अशुद्धनयानां तु सर्वभावानामप्यवस्थितत्वाज्ज्ञानमप्यऽक्षरमिति । एवं तावदभिलापहेतोर्विज्ञानस्याक्षरतानक्षरता चोक्ता ॥

इदानीं साभिलापविज्ञानविषयभूतानामभिलाप्यार्थानामप्यक्षराऽनक्षरते नयविभागेनाह ।

अभिलप्पा वि य अत्था, सव्वे दव्वट्ठयाए जं निच्चा ।
पज्जाएणानिच्चा, तेण खरा अक्खरा चेव ॥

अभिलप्या अप्यर्था घटव्योमादयः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण नित्यत्वादक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्वनित्यत्वात् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मास्तिकायादयः । बृ० १ उ०)

अथ परोऽतिव्याप्तिमुद्भावयन्नाह ।

एवं सव्वं चिय ना–णमक्खरं जमविसेसियं सुत्ते ।
अविसुद्धनयमएणं, को सुयनाणे मइविसेसो ॥

यदि न क्षरतीत्यक्षरमुच्यते एवं सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि ज्ञानमविशुद्धनयमतेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपाविचलनाद्यतश्चाविशेषितं सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । तद्यथा "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियओ त्ति" तत्र ह्यक्षरशब्देनाविशेषितमेव ज्ञानमभिप्रेतं न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुद्धनयाभिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र श्रुतज्ञाने को मतिविशेषो येनोच्यते ' अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतम ' इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना–णमक्खरं तह वि रूढिओ वण्णो ।
भण्णइ अक्खरमिहरा, न खरइ सव्वं सभावाओ ॥

यद्यप्यविशुद्धनयाभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि भावा अक्षरास्तथापि रूढिवशाद्वर्ण एवेहाक्षरं भण्यते इतरथा तु यथा त्वं भणसि तथैवाशुद्धनयमतेन सर्वमपि वस्तुस्वभावान्न क्षरत्येवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः, पङ्के जातं पङ्कजम, इत्याद्यविशिष्टार्थप्रतिपादका अपि शब्दा रूढिवशाद्विशेषा एव वर्त्तन्ते, तथाऽत्राप्यक्षरशब्दो वर्ण एव वर्त्तते । वर्णे च श्रुतमेवेत्यतस्तदेवाक्षरानक्षररूपमुच्यत इति । विशे० । नं० ।

अत्थे य खरइ न य जेणक्खरं तेणं ।

अर्थानभिधेयान् क्षरति संशब्दयतीति निरुक्तिविधिनार्थकारलोपादक्षरम् । अथवा क्षीयत इति क्षरम् । अन्योन्यवर्णसंयोगे अनन्तानर्थान् प्रतिपादयति न च स्वयं क्षीयते तेनाक्षरमिति भावः । वर्णे, स च स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भवति । विशे० । तत्र रूढिवशादक्षरं वर्ण इत्युक्तम् ॥

तच्च त्रिविधं भवतीति दर्शयति ।

से किं तं अक्खरसुयं १ तिविहं पन्नत्तं । तं जहा सन्नक्खरं वंजणक्खरं लद्धिक्खरं । से किं तं सन्नक्खरं २ अक्खरस्स संठाणागिई । सेत्तं सन्नक्खरं । से किं तं वंजणक्खरं वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो सेत्तं वंजणक्खरं । से किं तं लद्धिअक्खरं लद्धिअक्खरं अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ । तं जहा सोइंदियलद्धिक्खरं चक्खिदियलद्धिक्खरं घाणिंदियलद्धिक्खरं रसणिंदियलद्धिक्खरं फासिंदियलद्धिक्खरं नोइंदियलद्धिक्खरं सेत्तं लद्धिअक्खरं सेत्तं अक्खरसुयं ।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तदक्षरश्रुतं ? सूरिराह–अक्षरश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लब्ध्यक्षरम् । तत्र ' क्षर संचलने ' न क्षरति न चलतीत्यक्षरं ज्ञानम् । तद्धि जीवस्वाभाव्यादनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवते । यद्यपि च सर्वज्ञानामेवमविशेषेणाक्षरं प्राप्नोति तथापीह श्रुतज्ञानस्य प्रस्तावादक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषमित्थंभूतभावाक्षरकारणं चाकारादिवर्णजातम्, ततस्तदप्युपचारादक्षरमुच्यते, ततश्चाक्षरं च तच्छ्रुतं च श्रुतज्ञानं चाक्षरश्रुतं भावश्रुतमित्यर्थः । तच्च लब्ध्यक्षरश्रुतं वेदितव्यम् । तथा अक्षरात्मकमकारादिवर्णात्मकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तच्च संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं च द्रष्टव्यम् । अथ किं तत् संज्ञाक्षरम् । अक्षरस्याकारादेः संस्थानाकृतिः संस्थानाकारः । तथाहि–संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा नाम तन्निबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञाक्षरम् । संज्ञा च निबन्धनमाकृतिविशेषः । आकृतिविशेष एव नाम्नः करणात् व्यवहरणाच्च । ततोऽक्षरस्य पट्टिकादौ संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते । तच्च ब्राह्म्यादिलिपिभेदतोऽनेकप्रकारम् । तत्र नागरीलिपिमधिकृत्य प्रदर्श्यते, मध्यस्थापितचुल्लीसन्निवेशसदृशो रेखासन्निवेशविशेषेणकारः । वक्रीभूतश्च सारमेयपुच्छसन्निवेशसदृशो ढकार इत्यादि तदेतत्संज्ञाक्षरम् । अथ किं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । आचार्य आह–व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभिलापः । तथाहि–व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेन घट इव व्यञ्जनम्। व्यकारमकारादिकवर्णजातं तस्य विवक्षितार्थाभिव्यञ्जकत्वात्। व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरं ततो युक्तमुक्तं व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभिलापः । अक्षरस्याकारादेर्वर्णजातस्य व्यञ्जनेन अत्र भावे अनट् । व्यञ्जकत्वेनाभिलाप उच्चारणमर्थव्यञ्जकत्वेनोच्चार्यमाणमकारादिवर्णजातमित्यर्थः (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् लब्ध्यक्षरम् । लब्धिरुपयोगः, स चेह प्रस्तावात् शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी गृह्यते, लब्धिरूपमक्षरं लब्ध्यक्षरं भावश्रुतमित्यर्थः । (अक्खरलद्धियस्सेत्यादि) अक्षरेऽक्षरस्योच्चारणेऽवगमे वा लब्धिर्यस्य सोऽक्षरलब्धिकस्तस्याकाराद्यक्षरानुविद्धश्रुतलब्धिसमन्वितस्येत्यर्थः । लब्ध्यक्षरं भावश्रुतं समुत्पद्यते, शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि ' शङ्खोऽयम् ' इत्याद्यक्षरानुविद्धं विज्ञानमुपजायत इत्यर्थः ।

नन्विदं लब्ध्यक्षरं संज्ञिनामेव पुरुषादीनामुपपद्यते नासंज्ञिनामेकेन्द्रियादीनां तेषामकारादिवर्णानामवगमे उच्चारणे वा लब्ध्यसंभवात् । न हि तेषां परोपदेशे श्रवणं संभवति येनाकारादिवर्णानामवगमादि भवेत् । अथ चैकेन्द्रियादीनामपि भावश्रुतमिष्यते । तथाहि–पार्थिवादीनामपि भावश्रुतमुपवर्ण्यते "दव्वसुयाभावम्मि वि, भावसुयं पत्थिवाईणं " इति वचनप्रामाण्यात् । भावश्रुतं च शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिविज्ञानं शब्दार्थपर्यालोचनं चाक्षरमन्तरेण न भवतीति सत्यमेतत् । किं यद्यपि तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशश्रवणासंभवस्तथापि तेषां तथाविधक्षयोपशमाभावतः कश्चिदव्यक्तोऽक्षरलाभो भवति यद्वशादक्षरानुषक्तं श्रुतज्ञानमुपजायते इत्थं चैतदङ्गीकर्तव्यम् । तथाहि–तेषामप्याहाराद्यभिलाष उपजायते, अभिलाषश्च प्रार्थना, सा च यदीदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानुविद्धैव, ततस्तेषामपि काचिदव्यक्ताक्षरलब्धिरवश्यं प्रतिपत्तव्या ततस्तेषामपि लब्ध्यक्षरं भवतीति न कश्चिद्दोषः । तच्च लब्ध्यक्षरं षोढा । तद्यथा (श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरमित्यादि,) इह यत् श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शङ्खोऽयमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि विज्ञानं तत् श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरं तस्य श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तत्वात् । यत्पुनश्चक्षुषा आम्रफलाद्युपलभ्याम्रफलमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनात्मकं विज्ञानं तच्चक्षुरिन्द्रियलब्ध्यक्षरमेव । शेषेन्द्रियलब्ध्यक्षरमपि भावनीयम् (सेत्तमित्यादि) तदेतत् लब्ध्यक्षरं तदेतदक्षरश्रुतम् । नं० । वृ० । कल्प० । आ० चू० । विशे० ॥

अत्थाभिवंजगं वं–जणक्खरं इच्छितेतरं वदतो ।
रूवं च पगासेणं, विज्जति अत्थो जओ तेणं ॥

इह यद्विवक्षितं तदेव यदि वदति यथा अश्वं भणिष्यामीति तदेवं ब्रूते तदा तदीप्सितमन्यद्विवक्षितादन्यच्चेदुच्चरति तदा तदितरादनीप्सितमीप्सितमितरं वा वदतो यदर्थाभिव्यञ्जकमभिधानं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । अथ कस्माद्व्यञ्जनाक्षरमुच्यते नाभिधानाक्षरमत आह—रूपमिव घटादिकमिव प्रकाशेन दीपादिना तमसि वर्त्तमानम् अर्थो घटादिर्यतो यस्माद्व्यज्यते प्रकटीक्रियते तेन कारणेन व्यञ्जनाक्षरमित्युच्यते ॥

तं पुण जहत्थनियतं, अजहत्थं वा वि वंजणं दुविहं ।
एगमणेगपरियियं, एमेव य अक्खरेसुं पि ॥

तत् पुनर्व्यञ्जनं द्विविधम् यथार्थनियतमयथार्थं च । यथार्थनियतं नामान्वर्थयुक्तं, यथा क्षपयतीति क्षपणः, तपतीति तपन इत्यादि । अयथार्थं यथा–नेन्द्रं गोपयति तथापीन्द्रगोपकः । न पलमश्नाति तथापि पलाश इत्यादि । अथवा तद् व्यञ्जनं द्विधा एकपर्यायमनेकपर्यायं च । एकः पर्यायोऽभिधेयो यस्य तदेकपर्यायम् । यथा अलोकः स्थण्डिलमित्यादि । अलोकशब्देन ह्यलोकत्वलक्षण एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्थण्डिलशब्देन स्थण्डिलस्थमेकमिति । अनेके पर्याया अभिधेया यस्य तदनेकपर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन हि जीवोऽप्युच्यते सत्त्वोऽपि प्राण्यपि भूतोऽपि च । जीवादयश्च प्रतिनियतविशेषाः । तथा चोक्तम् । "प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूताश्च तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः" ततो

भवति सामान्येन जीवशब्दस्यानेकपर्यायाभिधायकत्वमिति । एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेष्वपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—द्विविधं व्यञ्जनमेकाक्षरमनेकाक्षरं च । एकाक्षरं धीः श्रीरित्यादि । अनेकाक्षरं वीणा लता माला इत्यादि ।

सक्कयपाययभासा-विणिउत्तं देसतो अणेगविहं ।
अभिहाणं अभिधेया-तो होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विप्रकारं संस्कृतं प्राकृतभाषाविनियुक्तं च, यथा-वृक्षः रुक्खो इति । देशतो नानादेशानाश्रित्य अनेकविधम्, यथा-मागधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां चौरोऽन्ध्राणामिडा-कुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयाद् भिन्नमभिन्नं च । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावमाह–

खुरअग्गिमोयगुच्चा-रणम्मि जम्हाउ वयणसवणाणं ।
न वि छेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेण भिन्नं तु ॥

यस्मात् क्षुरशब्दोच्चारणे अग्निशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चारणे च यथाक्रमं वदतो वदनस्य शृण्वतः श्रवणस्य न छेदो नापि दाहो नापि पूरणमतो ज्ञायतेऽभिधेयादभिधानं भिन्नम्, अन्यथा तादात्म्यबन्धनात् क्षुरादयोऽपि तत्र सन्तीति वदनस्य श्रवणस्य च छेदादिप्रसङ्गः । अभिन्नत्वं नाम संबद्धत्वम् । तथा च लोकेऽप्यभिन्नशब्दः संबद्धवाची व्यवह्रियते यथाऽयमस्माकं खादनपानेनाभिन्नः संबद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संबद्धत्वं भावयति–

जम्हाउ मोयगे अभि-हियम्मि तत्थेव पच्चओ होई ।
न य होइ सो अणत्ते, तेण अभिन्नं तदत्थातो ॥

यस्मान्मोदके अभिहिते तत्रैव मोदके प्रत्ययो भवति नान्यत्र, न च स नियमेन तत्र प्रत्ययोऽन्यत्वेऽसंबद्धत्वे सति भवति संबद्धाभावतो नियामकाभावेनान्यत्रापि तत्प्रत्ययप्रसक्तेः, तेन कारणेन ज्ञायते तदभिधानमर्थादभिन्नमर्थेन सह वाच्यवाचकभावसंबद्धम् ।

एक्केक्कमक्खरस्स उ, सप्पज्जाया हवंति इयरे य ।
संबद्धमसंबद्धा, एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यक्षराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णस्त्रिधा-ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्च । पुनरेकैकस्त्रिधा-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । पुनरेकैको द्विधा-सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽवर्णः । उक्तं च–"ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च, त्रैस्वर्योपनयेन च । अनुनासिकभेदाच्च, संख्यातोऽष्टादशात्मकः" एते अवर्णस्य स्वयः पर्यायाः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगत एवं यावन्तो घटन्ते संयोगास्तावत्संयोगवशतो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्तदर्थाभिधायकत्वस्वभावास्तेऽपि तस्य स्वपर्याया इतरे तत्रासन्तः परपर्यायाः । एवमिवर्णादीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च वक्तव्याः । येऽपि परपर्यायास्तेऽपि तस्येति व्यपदिश्यन्ते । व्यवच्छेदतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति । ते च स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च एकैके द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-संबद्धा असंबद्धाश्च ।

एतदेव भावयति–

अत्थित्ते संबद्धा, हुंति अकारस्स पज्जया जे उ ।
ते चेव असंबद्धा, नत्थित्ते णं तु सव्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संबद्धा भवन्ति, नास्तित्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंबद्धाः, तत्र तेषां नास्तित्वाभावात् ।

एमेव असंता वि उ, नत्थित्ते णं तु होंति संबद्धा ।
ते चेव असंबद्धा, अत्थित्ते णं अभावत्ता ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेणासन्तः परपर्याया, अपि नास्तित्वेन भवन्ति संबद्धाः । ते चैवं परपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, तेषामस्तित्वस्य तत्राभावत्वात् ।

अत्रैव निदर्शनमाह–

घडसद्दे घडकारा, हवंति संबद्धपज्जया एते ।
ते चेव असंबद्धा, हवंति रहमाइमाईसु ॥

घटशब्दे ये घकारटकाराकारास्तेषां ये पर्यायास्ते एते भवन्ति । तत्रास्तित्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव घकारटकाराकारपर्यायाः रथशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्वेनासंबद्धाः, तेषां तत्राभावात् । तदेवमस्तित्वेन स्वपर्यायास्तत्र संबद्धा अन्यत्र चासंबद्धा उपदर्शिताः । एतदुपदर्शनेनैतदर्थादापन्नम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तित्वेनासंबद्धा अन्यत्र तु संबद्धाः । तथा ये रथशब्दस्य स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न संबद्धास्तेषां तत्रासत्वात् त एव च रथशब्दे नास्तित्वे नासंबद्धा घटशब्दे तु संबद्धा इति । तदेवं स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च प्रत्येकं संबद्धा असंबद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायान् दर्शयति–

संजुत्तासंजुत्तं, इय लभते जेसु जेसु अत्थेसु ।
विणिओगमक्खरं ते-सिं होंति सभावपज्जाया ॥

इत्येवं घटशब्दरथशब्दादिगतेन प्रकारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽक्षरमकारादिकं येषु येष्वर्थेषु विनियोगं लभते ते तेषां स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमायातम् अपरे परपर्याया इति । तदेवमभिहितं व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधानाच्चाभिहितं त्रिविधमप्यक्षरम् । बृ० १ उ० ।

लब्ध्यक्षरमाह–

जो अक्खरोवलंभो, सा लद्धी तं च होइ विण्णाणं ।
इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥

योऽक्षरस्योपलम्भो लाभः सा लम्भनं लब्धिः, तल्लब्ध्यक्षरमित्यर्थः । तच्च किमित्याह–इन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानं श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यश्च तज्ज्ञानोपयोगो यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशम एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति भावार्थः । उक्तं त्रिविधमक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यश्रुतं किं वा भावश्रुतमित्याह–

दव्वसुयं सण्णावं-जणक्खरं भावसुत्तमियरं तु ।
मइसुयविसेसणम्मि वि, मोत्तूणं दव्वसुत्तं ति ॥४॥

संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं चैते द्वे अपि भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतम्, इतरत्तु लब्ध्यक्षरं भावश्रुतम् । अत्र विनेयः प्राह—ननु पूर्वं मतिश्रुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता "सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं । मोत्तूणं दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु त्ति" अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य संग्रहोऽस्ति, श्रुतविचारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यद्यस्ति तर्हि दर्श्यतां कथ-

मसौ ? अथ नास्ति तर्ह्यत्रापि किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः पूर्वापरग्रन्थसंवादं दिदर्शयिषुस्तत्राप्यस्याक्षरत्रयस्य संग्रहमुपदर्शयति (मइसुयेत्यादि) मतिश्रुतविशेषणेऽपि मतिश्रुतभेदविचारेऽपि " सोइंदिओवलद्धी " इत्यादिगाथायां "मोत्तूणं दव्वसुयं" इत्यनेन गाथावयवेन किमित्याह—

दव्वसुयं मणक्खर-मक्खरलंभोत्ति भावसुयसुत्तं ।
सोओवलद्धिवयणे, ण वंजणं भावसुत्तं च ॥

संज्ञाक्षरमुक्तम्, कथंभूतमित्याह-द्रव्यश्रुतं भावकारणत्वात् द्रव्यश्रुतरूपम "अक्खरलंभो य सेसेसु त्ति" अनेन त्ववयवेन लब्ध्यक्षरमुक्तमिति शेषः। कथंभूतमित्याह-भावश्रुतं विज्ञानात्मकत्वात् भावश्रुतरूपं "सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं " इत्यनेन त्ववयवेन श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्य शब्दस्येति बहुव्रीहिसमासाश्रयणात्, व्यञ्जनं व्यञ्जनाक्षरमुक्तम। श्रोत्रेन्द्रियस्योपलब्धिर्विज्ञानमिति षष्ठीसमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि लब्ध्यक्षरं भावश्रुतरूपमभिहितमित्येवं न पूर्वापरविसंवादः।

ननु लब्ध्यक्षरं कथं प्रमाता लभत इत्याह—

पच्चक्खमिंदियमणो-हि लब्भइ लिंगेण वक्खरं कोइ ।
लिंगमणुमाणमण्णे, सारिक्खाई पभासंति ॥

तच्चाक्षरं लब्ध्यक्षरं कश्चित्प्रत्यक्षं लभते प्रत्यक्षरूपतयैव कस्यचिदुत्पद्यत इत्यर्थः । काभ्यां कृत्वा इत्याह- इन्द्रियमनोभ्याम, इन्द्रियमनोनिमित्तं यद् व्यवहारप्रत्यक्षं तत्र कस्यचिल्लब्ध्यक्षरं श्रुतज्ञानरूपमुपजायत इत्यर्थः। अन्यत्तु लिङ्गेन धूमादिना तदुत्पद्यते, धूमादिलिङ्गं दृष्ट्वा अग्न्यादिज्ञानरूपं तत्कस्यचिदुपजायत इत्यर्थः । लिङ्गं किमुच्यते इत्याह-अनुमानमिति । ननु लिङ्गग्रहणं संबन्धस्मरणाभ्यामनु पश्चान्मानमनुमानं लिङ्गजं ज्ञानमुच्यते। कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत्-सत्यम्, किं तु कारणे कार्योपचारादप्यनुमानम, यथा प्रत्यक्षज्ञानजनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति। तदिह तात्पर्यम्-लब्ध्यक्षरं श्रुतज्ञानमुच्यते । तच्चेन्द्रियमनोनिमित्त प्रत्यक्षं वा स्यादनुमानं वा स्यादन्यत, शेषस्यात्मप्रत्यक्षस्यावध्यादिरूपत्वादिति भावः। सादृश्यादिभ्यो जायमानत्वात्तदनुमानं पञ्चविधमिति केचित्प्रभाषन्ते । विशे० ।

सामन्नविसेसेण य, दुविहा लद्धी पढमा अजेया य।
तिविहा य अणुवलद्धी, उवलद्धी पंचहा विइया ॥

लब्धिर्लब्ध्यक्षरं द्विविधं द्विप्रकारम्। तद्यथा-सामान्येन विशेषेण च। सामान्यलब्ध्यक्षरं विशेषलब्ध्यक्षरं चेति भावः । तत्र प्राथमिकी सामान्योपलब्धिः। सामान्योपलब्ध्यक्षरमभेदसामान्ये भेदाभावात्। इहोपलब्धिरनुपलब्ध्यपेक्षातस्तस्या अपि प्ररूपणा कर्त्तव्येत्यत आह-त्रिविधा त्रिप्रकारा अनुपलब्धिर्या पुनर्द्वितीया विशेषोपलब्धिर्विशेषोपलब्ध्यक्षरं सा पञ्चधा पञ्चप्रकारा। बृ० १ उ० ।

सांप्रतमक्षरश्रुताधिकारादेव यदुक्तं सूत्रे "अक्खरअद्धिअस्स लद्धिअक्खरं समुपज्जइ " इति तत्र प्रेर्यमुत्थापयन्नाह—

अक्खरलंभो सण्णी-ण होज्ज पुरिसाइवण्णविण्णाणं ।
कत्तो उ असण्णीणं, भणियं च सुयम्मि तेसिं पि ॥

पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्णविज्ञानरूपोऽक्षरलाभः संज्ञिनां समनस्कजीवानां भवेच्छ्रद्दधामहे एतदसंज्ञिनां चामनस्कानां कुत एतद्वर्णविज्ञानं भवति ? न कुतश्चिदित्यर्थः । अक्षरलाभस्य परोपदेशजत्वान्मनोविकलानां तु तदसंभवात, मा भूत् तेषां तर्हि तदित्याह-भणितं च वर्णविज्ञानं श्रुतं तेषामप्येकेन्द्रियाद्यसंज्ञिनाम् "एगिंदियाणं मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य " इत्यादि वचनात्, न हि श्रुतज्ञानमक्षरमन्तरेण संभवति तदेतत्कथं श्रद्धातव्यमिति ? अत्रोत्तरमाह—

जह चेयणमकित्तिम-मसण्णीण तह होहि नाणं पि।
थोव त्ति नोवलब्भइ, जीवत्तमिव इंदियाईणं ॥

यथा चैतन्यं जीवत्वमकृत्रिमस्वभावमाहारादिसंज्ञाद्वारेणासंज्ञिनामवगम्यते तथा लब्ध्यक्षरात्मकसूक्ष्मज्ञानमपि तेषामवगन्तव्यम, स्तोकत्वात् स्थूलदर्शिभिस्तन्नोपलक्ष्यते जीवत्वमिव पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम। एकशब्दस्य चेह लोपः, भामा सत्यभामेत्यादिदर्शनादिति । यदपि परोपदेशजत्वमक्षरस्योच्यते तदपि संज्ञाव्यञ्जनाक्षरयोरेवावसेयम् । लब्ध्यक्षरं तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न विरुध्यते, तदेव च मुख्यतयेह प्रस्तुतम। तत्तु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरे श्रुतज्ञानाधिकारादिति । दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा सण्णीणमण-क्खराणं असइ नरवसविसाणे ।
लद्धक्खरं ति भण्णइ, किमपि त्ति तहा असण्णीणं ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे नवाक्षराणां केषांचिदतीव मुग्धप्रकृतीनां पुलिन्दबालगोपालगवादीनामसत्यपि नकारादिवर्णविशेषविज्ञाने लब्ध्यक्षरं किमपीष्यते नरादिवर्णोच्चारणे तच्छ्रवणादभिमुखनिरीक्षणदर्शनाच्च। गौरपि हि सबलाबहुलादिशब्देनाकारिता सती स्वनाम जानीते प्रवृत्तिनिवृत्त्यादि च कुर्वती दृश्यते, न चैषां गवादीनां तथाविधपरोपदेशः समस्ति। अथवास्ति लब्ध्यक्षरं नरादिविज्ञानसद्भावात्। एवमसंज्ञिनामपि किमपि तदेष्टव्यमिति। तदेवं साधितमेकेन्द्रियादीनामपि यत्र यावच्च लब्ध्यक्षरम ॥

अथैकैकस्याकाराद्यक्षरस्य यावन्तः पर्याया
भवन्ति तदेतद्विशेषतो दर्शयति—

एक्केक्कमक्खरं पुण, सपरपज्जायभेयओ भिन्नं ।
तं सव्वदव्वपज्जा-यरासिमाणं मुणेयव्वं ॥

इह भिन्नं पृथगेकैकमपि तदकाराद्यक्षरं पुनः स्वपर्यायभेदतः सर्वाणि यानि द्रव्याणि तत्पर्यायराशिमानं ज्ञातव्यम् । इदमुक्तं भवति-इह समस्तत्रिभुवनवर्त्तीनि यानि परमाणुद्व्यणुकादीन्येकाकाशप्रदेशादीनि च यानि द्रव्याणि ये च सर्वेऽपि वर्णास्तदभिधेयाश्चार्थास्तेषां सर्वेषामपि पिण्डितो यः पर्यायराशिर्भवति स एकैकस्याप्यकाराद्यक्षरस्य भवति, तन्मध्ये ह्यकारस्य केचित्स्तोकाः स्वपर्यायास्ते चानन्ताः, शेषास्त्वनन्तगुणाः पर्याया इत्येवं सर्वसंग्रहः। अयं च सर्वोऽपि सर्वद्रव्यपर्यायराशिः सद्भावतोऽनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल लक्षं पदार्थाश्चाकारेकारादयो धर्मास्तिकायादयः सर्वाकाशप्रदेशसहिताः सर्वेऽपि किल सहस्रं तत्रैकस्याकारपदार्थस्य सर्वद्रव्यगतलक्षपर्यायराशिमध्यादस्तित्वेन संबद्धाः किल शतप्रमाणाः स्वपर्यायाः, शेषास्तु नास्तित्वेन संबद्धाः सर्वेऽपि परपर्यायाः। एवमिकारादेः परमाणुद्व्यणुकादेश्चैकैकस्य द्रव्यस्य वाच्यमिति । आह-के पुनः स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्याह—

जे लब्भइ केवलोसु-वण्णसहिओ व पज्जवायारो ।
ते तस्स सपज्जाया, सेसा परपज्जया सव्वे ॥

यानुदात्तानुदात्तसानुनासिकनिरनुनासिकादीनात्मसत्कान्

पर्यायात् केवलोऽन्यवर्णेन संयुक्तोऽन्यवर्णसंयुक्तो वाऽकारो लभतेऽनुभवति तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्तेऽस्तित्वेन संबद्धत्वात्। ते चाऽनन्तास्तद्वाच्यस्य विष्णुपरमाण्वादिद्रव्यस्यानन्तत्वात्तद्द्रव्यप्रतिपादनशक्तेश्चास्य भिन्नत्वात्, अन्यथा तत्प्रतिपाद्यस्य सर्वस्याप्येकत्वप्रसङ्गादेकरूपवर्णवाच्यत्वात्। शेषास्त्विकारादिसंबन्धिनो घटादिगताश्चास्य परपर्यायास्तेभ्यो व्यावृत्तित्वेन नास्तित्वेन संबन्धात्, एवमिकारादीनामपि भावनीयम्। अकारविचारस्य चेह प्रक्रान्तत्वादेकैकमकारं सर्वद्रव्यपर्यायराशिमानमुच्यते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाणुद्व्यणुकघटादिद्रव्याणामिदमेव पर्यायमानं द्रष्टव्यमिति। एवमुक्ते सति परः प्राह—

जइ ते परपज्जाया, न तस्स अह तस्स न परपज्जाया।
जं तम्मि असंबद्धा, तो परपज्जायववएसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता। ये त्वमी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्, ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति विरोधः। तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात्। यस्मात्कारणात्तस्मिन्नकारे काराद्यक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तेन रूपेण तेऽपि संबद्धा एवेत्यतस्तेषामपि व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्वपर्यायत्वं न विरुध्यते। अस्तित्वेन तु घटादिपर्याया घटादिष्वेव संबद्धा इत्यक्षरस्य ते परपर्याया व्यपदिश्यन्त इति भावः। द्विविधं हि वस्तुनः स्वरूपमस्तित्वं नास्तित्वं च। ततो ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन संबद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदख्यापनपरावेव स्वपरशब्दौ, न त्वेकेषां तत्र सर्वथा संबन्धनिराकरणपरौ, अतोऽक्षरघटादिपर्यायाः अस्तित्वेनासंबद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते न पुनः सर्वथा, ते तत्र संबद्धा नास्तित्वेन तत्रापि संबद्धाः। न चैकस्योभयत्र संबन्धो न युक्त एकस्यापि हिमवदादेरंशद्वयेन पूर्वापरसमुद्रादिसंबन्धात्। यदि ह्येकेनैव रूपेणैकस्योभयत्र संबन्ध इष्येत तदा स्याद्विरोधः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र च संबन्धात्। सत्त्वेन तत्र संबन्धादसत्त्वेन त्वकारादिषु। असत्त्वस्याभावत्वाद्वस्तुनो रूपमेव न भवति खरविषाणवदिति चेदयुक्तम् खरविषाणकल्पत्वस्य वस्त्वभावेऽसिद्धत्वात् न हि प्रागभावप्रध्वंसाभावघटाभावपटाभावादिवस्त्वभावविशेषणवत्खरविषाणादिष्वपि विशेषणं संभवति, तेषां सर्वोऽप्याख्याविरहलक्षणे निरभिलप्ये षष्ठभूतवन्नीरूपेऽत्यन्ताभावमात्र एव व्यवहारिभिः संकेतितत्वात्। न च षष्ठभूतवद्वस्त्वभावोऽप्यस्माभिर्नीरूपोऽभ्युपगम्यते, नीरूपस्य निरभिलप्यत्वेन प्रागभावादिविशेषणानुपपत्तेः, किं तु यथैव मृत्पिण्डादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारादिव्यावृत्तिमात्रात् प्रागभाव इति व्यपदिश्यते, यथा वा कपालादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारः परममात्रात् प्रध्वंसाभावोऽभिधीयते, तद्वत्पर्यायान्तरापन्नोऽकारादिभाव एव घटादिवस्त्वभावः प्रतिपाद्यते, न तु सर्वथैवाभावस्तथा, सर्वथा न किञ्चिद्रूपस्यानभिलप्यत्वात्। न च वक्तव्यं खरविषाणादिशब्देन सोऽप्यभिलप्यत एवेति निरभिलप्यताख्यापनार्थमेव संकेतमात्रभाविनां खरविषाणादिशब्दानां व्यवहारिभिस्तत्र निवेशात्। किं च यदि घटादिपर्यायाणामक्षरे नास्तित्वेन संबन्धो नेष्यते तर्ह्यस्तित्वनास्तित्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वादस्तित्वेन तेषां तत्र संबन्धः स्यात्तथा च सत्यक्षरस्यापि घटादिरूपतैव स्यात्, एवं च सति सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयेत्, ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः।

न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादौ व्यवस्थितानां नास्तित्वलक्षणं रूपं कथमक्षरे प्राप्तं, रूपिणामन्तरेण रूपायोगात्। अथ तेऽपि तत्र सन्ति तर्हि विश्वैकत्वमिति घटादिपर्यायाणां घटादीन् विहायान्यत्र नास्तित्वेन व्याप्तेरिष्टत्वात् अन्यथा स्वपरभावायोगादत एव कथंचिद्विश्वैकताऽप्यबाधिकैव। द्रव्यादिरूपतया तदेकत्वस्याप्यभ्युगमादतो गम्भीरमिदं स्थिरबुद्धिभिः परिभावनीयम्, तस्मात् घटादिपर्याया नास्तित्वेनाक्षरेऽपि संबद्धा इति तत्पर्याया अप्येते अस्तित्वेन घटादावेव संबद्धा न त्वक्षरे इति परपर्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरे असंबद्धत्वेन परपर्याया व्यपदिश्यन्ते तर्हि ते तस्य कथमुच्यन्ते इत्याह—

चायसपज्जाया वि–सेसाइणा तस्स जमुवउज्जंति।
सधणमिवासंबद्धं, भवंति तो पज्जया तस्स ॥

ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति यतोऽक्षरस्यापि ते उपयुज्यन्ते उपयोगं यान्ति। केनेत्याह-त्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्यागेन स्वपर्यायविशेषणेन चोपयोगादित्यर्थः। इदमुक्तं भवति-घटादिपर्यायाः सत्त्वेनाक्षरे असंबद्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्यागेनाभावेनोपयुज्यमानत्वात्। यदि हि तत्र तेषामभावो न भवेत्तर्हि तदक्षरं घटादिभ्यो व्यावृत्तं न सिध्येत्तत्रापि घटादिपर्यायाणां भावादिति। ततोऽक्षरस्य त्यागेनाभावेनोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवन्ति तथा स्वपर्यायाणां विशेषणेन विशेषव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया अपि तस्य भवन्ति, न हि परपर्यायेष्वसत्सु स्वपर्यायाः केचिद्भेदेन सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरापेक्षिकत्वात्प्रयोगः। इत्थं यद्यस्योपयुज्यते तद्भेदवत्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा-देवदत्तादेः स्वधनम्। उपयुज्यते च त्यागस्वपर्यायविशेषणादिभावेन घटादिपर्याया अप्यक्षरस्यातस्ते तस्यापि भवन्तीति। एवमक्षरपर्याया अपि घटादेर्वाच्या इति। एतदेव भावयति—

सधणमसंबद्धं पि हु, चेयणं पि व नरे जहा तस्स।
उवउज्जइ त्ति सधणं, भएणइ तह तस्स पज्जाया ॥

इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽत्मनि संबद्धं तथा स्वधनम्, असंबद्धमपि स्वधनं तस्य लोके भएयते। कुत उपयुज्यत इति कृत्वा तथाऽक्षरे असंबद्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षरस्य पर्याया भवन्ति। अमुमेवार्थं दृष्टान्तान्तरेण साधयति—

जह दंसणनाणचरि–त्तगोयरा सव्वदव्वपज्जाया।
सद्धेयनेयकिरिया–फलोवओगि त्ति भिन्ना वि ॥
जइ णो सपज्जया इव, सकज्जनिप्फाइग त्ति सधणं च।
आणायबायफला, तह सव्वे सव्ववणाणं ॥

इह यथा सर्वद्रव्यपर्याया भिन्ना अपि संयतेरेव भवन्ति यतः संबन्धिनो व्यपादिश्यन्ते। कुत इत्याह—स्वकार्यनिष्पादका इति हेतोरेतदपि कुत इत्याह—श्रद्धेयज्ञेयक्रियाफलोपयोगिनो यतेरिति कृत्वा श्रद्धेयत्वेनोपयोगात्, ज्ञेयत्वेनोपयोगात्, त्यागादानादिक्रियारूपं यच्चारित्रज्ञानफलं तदुपयोगित्वाच्चेति। कथंभूतास्ते सर्वद्रव्यपर्याया इत्याह-दर्शनज्ञानचारित्रगोचराः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविषयभूताः, ते हि सम्यग्दर्शनेन श्रद्धीयन्ते ज्ञानेन तु ज्ञायन्ते चारित्रस्याप्याहारवस्त्रपात्राद्युपकरणभैषजशिष्यादिद्वारेणोपष्टम्भहेतवो बहवो भवन्ति 'अव्ववहारी उ नेरइया' इति वचनात्। अथवा 'पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे

य सव्वदव्वाइं । सेसा महव्वया खलु, तदिकदेसेण दव्वाणं" इति वचनादेते सर्वेऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रगोचराः एतासां चारित्रात्मकत्वाच्चारित्रस्य च ज्ञानदर्शनाभ्यां विनाभावाभावात्। च्युत एवैते अक्षयेत्वाद्युपयोगिनमन्तरेण अज्ञानाद्ययोगाद्विषयमन्तरेण विषयिणोऽनुपपत्तेः के यथा स्वकार्यनिष्पादकाः सन्तो यतेर्नैवन्तीत्याह-यथा ज्ञानदर्शनादिरूपाः स्वपर्यायाः स्वधनं वा यथा भिन्नमपि देवदत्तादेर्भवति तथा सर्वेऽपि द्रव्यपर्यायास्त्यागाद्यानफलत्वात्प्रत्येकं सर्वेषामप्यकारादिवर्णानामुपलक्षणत्वात् घटादीनां भिन्ना अपि भवन्तीति ।

न चैतदुत्सूत्रमिति दर्शयति—

एगं जाणं सव्वं, जाणं सव्वं च जाणमेग त्ति ।
इय सव्वमजाणंतो, नागारं सव्वहा मुणइ ॥

इह सूत्रेऽप्युक्तं "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ त्ति" । किमुक्तं भवति, एकं किमपि वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानन्नवबुध्यमानः सर्वलोकालोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति सर्ववस्तुपरिज्ञाने नान्तरीयकत्वादेव वस्तुज्ञानस्य । सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायोपेतं जानात्येकपरिज्ञानस्य नान्तरीयकत्वात् एतच्च प्रागपि भावितमेवेत्यतः सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्त्वजानानो नाकाररूपमक्षरं सर्वप्रकारैः सर्वपर्यायोपेतं जानाति वस्तु, तस्मादशेषसमस्तवस्तुपर्यायैः परिज्ञातैरेव एकमक्षरं ज्ञायते नान्यथेति भावः । यदि नामैवं तथापि प्रस्तुते घटादिपर्यायाणामक्षरपर्यायत्वे किमायातमित्याह—

जेसु अनाएसु तओ, न नज्जए नज्जए य नाएसु ।
किह तस्स ते न धम्मा, घडस्स रूवाइधम्म व्व ॥

तत्तस्माद्येषु घटादिपर्यायेष्वज्ञातेषु यदेकं प्रस्तुतमक्षरं न ज्ञायते, ज्ञातेषु च ज्ञायते ते घटादिपरपर्यायाः कथं न तस्य धर्मा अपि तु धर्मा एव, यथा घटस्य रूपादयः, प्रयोगः-येषामनुपलब्धौ यन्नोपलभ्यते उपलब्धौ चोपलभ्यते तस्य ते धर्मा एव यथा घटस्य रूपादयः नोपलभ्यते च प्रस्तुतमेकमक्षरं समस्तघटादिपरपर्यायाणामनुपलब्धौ, उपलभ्यते च तदुपलब्धाविति ते तस्य धर्मा इति । इह चाक्षरं विचारयितव्यं प्रस्तुतमित्येतावन्मात्रेणैव तत्सर्वपर्यायराशिप्रमाणं साधितं, न चैतदेव केवलमित्थंभूतं द्रष्टव्यं किं त्वस्ति यत्किमपि वस्तु तत्सर्वमित्थंभूतमेव, सर्वस्यापि व्यावृत्तिरूपतया परपर्यायासद्भावादिति ।

नहि नवरमक्खरं पि, सव्वपज्जायमाणमण्णं पि ।
जं वत्थुमत्थि लोए, तं सव्वं सव्वपज्जायं ॥

गतार्थैव । यद्येवं किमक्षरमेवाङ्गीकृत्येदं पर्यायमानमुक्तमिति भाष्यकार एवोत्तरमाह—

इह अक्खराहिगारो, पन्नवणिज्जा य जेण तव्विसओ ।
ते चिंतिज्जंते वं, कइ भागो सव्वभावाणं ॥

इहाक्षराधिकारो यस्मात्प्रस्तुतोऽतस्तस्यैवेदं पर्यायमानमुक्तं द्रष्टव्यम् । उपलभ्यते च सर्वं वस्त्वित्थंमेव, भवत्वेवं किं तु प्रस्तुतस्याक्षरस्य के स्वपर्यायाः के च परपर्याया इत्यादि निवेद्यतामित्याह (पन्नवणिज्जेत्यादि) तस्य सामान्येनाकाराद्यक्षरस्य स्वपर्यायो विषयस्तद्विषयो येन यतः । के इत्याह-प्रज्ञापनीया अभिलाप्याः पर्याया न पुनरनभिलाप्याः अतस्ते एवं चिन्त्यन्ते विचार्यन्ते । कथमित्याह-कतिथो भागस्तेषां भवति, केषां सर्वभावानां सर्वेषामभिलाप्यानभिलाप्यपर्यायाणां समुदितानामित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-अभिलाप्यं वस्तु सर्वमक्षरेणोच्यतेऽतस्तदभिधानशक्तिरूपाः सर्वेऽपि तस्याभिलाप्याः प्रज्ञापनीयाः स्वपर्याया उच्यन्ते, शेषास्त्वनभिलाप्याः परपर्यायाः अतस्ते ऽभिलाप्याः स्वपरपर्यायाः सर्वपर्यायाणां कतिथो भागो भवतीत्येवं विचिन्त्यत इति । कथमित्याह—

पन्नवणिज्जा भावा, बहुण सपज्जया तया थोवा ।
सेसा परपज्जाया, तो णंतगुणा निरभिलप्पा ॥

यतः प्रज्ञापनीया अभिलाप्या भावाः सामान्येन वर्णानामकारादीनां स्वपर्यायास्ततः स्तोका अनन्ततमभागवर्तिनः शेषास्तु निरभिलाप्याः प्रज्ञापयितुमशक्याः सर्वेऽपि परपर्याया इत्यतः स्वपर्यायेभ्योऽनन्तगुणाः सर्वस्यापि हि वस्तुनो लोकालोकाकाशं विहाय स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्त्वनन्तगुणाः, लोकालोकाकाशस्य तु केवलस्याप्यनन्तगुणत्वात् । शेषपदार्थानां तु समुदितानामपि तदनन्तभागवर्तित्वाद्विपरीतं द्रष्टव्यम् । स्तोकाः परपर्यायाः स्वपर्यायास्त्वनन्तगुणाः । अत्र विनेयानुग्रहार्थं स्थापना काचिन्निदर्श्यते—तद्यथा—सर्वाकाशप्रदेशराशेरन्ये सर्वेऽपि धर्मास्तिकायप्रदेशपरमाणुद्व्यणुकादयः पदार्थाः सद्भावतोऽनन्ता अपि कल्पनीयाः किल, देशसर्वाकाशप्रदेशपदार्थास्तु केवला अपि किल शतं प्रतिपदार्थं च पञ्च स्वपर्यायाः । एवं च सति धर्मास्तिकायप्रदेशादीनां सर्वेषामपि पदार्थानां पञ्चाशदेव स्वपर्यायाः, ते च नभसः परपर्यायाः स्तोकाश्च-स्वपर्यायाणां तु पञ्चशतानि, बहवश्चामी परपर्यायेभ्यस्तस्माच्छेषपदार्थानां सर्वेषामपि नभसोऽनन्तभागवर्तित्वान्नभसस्तु केवलस्यापि तेभ्योऽनन्तगुणत्वात् स्वपरपर्यायाल्पबहुत्ववैपरीत्यं द्रष्टव्यमिति । नभसोऽन्यपदार्थानां च तेनैव निदर्शनेन स्वपर्यायाणां स्तोकत्वं परपर्यायाणां तु बहुत्वं परिभावनीयम् । तथाहि-किलैकस्मिन् धर्मास्तिकायप्रदेशे पञ्च स्वपर्यायाः, परपर्यायाणां तु पञ्चचत्वारिंशदधिकानि पञ्च शतानि । एवमक्षरपरमाण्वादावपि वाच्यमित्यलं विस्तरेणेति ।

अथ परो भाष्यस्यागमेन सह विरोधमुद्भावयति—

णणु सव्वागासपए-सपज्जया वण्णमाणमाइट्ठं ।
इह सव्वदव्वपज्जा-यमाणगहणं किमत्थं ति ॥

नन्वित्यसूयायाम्, सर्वस्य लोकालोकवर्तिन आकाशस्य प्रदेशास्तेषां मिलिता ये सर्वेऽपि पर्यायास्ते वर्णस्य पर्यायाणां सूत्रे मानं परिमाणमादिष्टम् । सर्वाकाशप्रदेशानां यावन्तः सर्वेऽपि पर्यायास्तावन्त एकस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति इत्येतावदेवागमे प्रोक्तमित्यर्थः । इह तु " तं सव्वदव्वपज्जायरासिमाणं मुणेयव्वं" इत्यत्र किमिति सर्वद्रव्यपर्यायमानग्रहणं कृतम् । इदमुक्तं भवति-" सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहि अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्पज्जइ त्ति " नन्दिसूत्रे प्रोक्तम् । एतच्च वृत्तौ तत्र व्याख्यातम् । तद्यथा-सर्वं च तदाकाशं च सर्वाकाशं लोकालोकाकाशमित्यर्थः । तस्य च प्रदेशा निर्विभागास्तेषामग्रं परिमाणं सर्वाकाशप्रदेशाग्रम्, सर्वाकाशप्रदेशैः किमनन्तगुणितम् । एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽनन्तानामगुरुलघुपर्यायाणां सद्भावात्पर्यायाक्षरं पर्यायपरिमाणाक्षरं निष्पद्यत इति । तदेवमागमे केवलसर्वाकाशप्रदेशपर्यायराशिप्रमाणमक्षरपर्यायमानमुक्तम् । अत्र तु धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकायकाललक्-

णसर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यत इति कथं न विरोध ? इति । अत्रोत्तरमाह-

थोव त्ति न निद्दिट्ठा, इहरा धम्मत्थियाइपज्जाया ।
के सपरपज्जयाणं, हवंतु किं होतु वाऽभावो ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेभ्योऽनन्तभागवर्त्तिन इति कृत्वा नन्दिसूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्रव्याणां पर्याया न निर्दिष्टा नाऽभिहिताः साक्षात् किन्तु य एवं तेभ्योऽतिबहवोऽनन्तगुणास्त एव सर्वाकाशपर्यायाः साक्षादुक्ताः । अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्याया अपि नन्दिसूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा यद्येतन्नाभ्युपगम्यते तदा ते धर्मास्तिकायादिपर्याया अक्षरस्वपरपर्यायाणां मध्ये के भवन्तु ?, किं स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ?, किं वाऽभावः खरविषाणरूपो भवतु ? इति त्रयी गतिः । त्रिभुवने हि ये पर्यायास्तैः सर्वैरप्यक्षरादेर्वस्तुनः स्वपर्यायैर्वा भवितव्यं, परपर्यायैर्वा, अन्यथाऽभावप्रसङ्गात् । तथाहि-ये केचन क्वचित्पर्यायाः सन्ति तेऽक्षरादिवस्तुनः स्वपरपर्यायाऽन्यतररूपा भवन्त्येव, यथा रूपादयः ये त्वक्षरादेः स्वपर्यायाः परपर्याया वा न भवन्ति ते न सन्त्येव, यथा खरविषाणतैक्ष्ण्यादयः । तस्माद्धर्मास्तिकायादिपर्यायाः सूत्रे स्तोकत्वेनानुक्ता अपि ' जं एगं जाणइ ' इत्यादिसूत्रप्रामाण्यादर्थतोऽक्षरस्य परपर्यायत्वेनोक्ता द्रष्टव्या इति ।

अथान्यत् प्रेरयति-

किमणंतगुणा भणिया, जमगुरुलहुपज्जया पएसम्मि ।
एक्केक्कम्मि अणंता, पन्नत्ता वीयरागेहिं ॥

ननु " सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं " इत्यत्र किमित्याकाशप्रदेशाः सूत्रे अनन्तगुणा भणिताः । अत्रोत्तरमाह-(जमित्यादि) यद्यस्मात्कारणात् एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे, अगुरुलघुपर्याया वीतरागैस्तीर्थकरगणधरैरनन्ताः प्रज्ञप्ताः प्ररूपिताः । तत्रायमभिप्रायः-इह निश्चयमतेन बादरं वस्तु सर्वमपि गुरु लघु सूक्ष्मं चाऽगुरुलघु, तत्राऽगुरुलघुवस्तुसंबन्धिनः पर्याया अप्यगुरुलघवः समयेऽभिधीयन्ते । आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽतस्ते च, तत्पर्याया अप्यगुरुलघवो भण्यन्ते । तेषु प्रत्येकमनन्ताः सन्त्यतः सर्वाकाशप्रदेशाग्रं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणमुक्तमिति भाव इति । न केवलमप्यक्षरं संज्ञाक्षराद्युच्यते किन्तु ज्ञानमपि । तत्र शिष्यः प्रश्नयति- कियत्प्रमाणं तदक्षरमुच्यते, सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणं कथमेतावत्प्रमाणमुच्यते ? । इहैकैक आकाशप्रदेशः खल्वनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तः । ते च सर्वेऽप्यगुरुलघुपर्याया ज्ञाने ज्ञायन्ते । न च येन स्वभावेनैको ज्ञायते तेनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, किन्त्वन्येन स्वभावेन । ततो यावन्तो गुरुलघुपर्यायास्तावन्तो ज्ञानस्वभावाः । उक्तं च- " जावइय पज्जवा ते, तावइया तेसु नाणभेया वि । " इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणः । आह च— बृहद्भाष्ये-" अक्खरमुच्चइ नाणं, पुण होज्जाहि किं पमाणं तु । भण्णइ अणंतगुणियं, सव्वागासप्पएसेहिं ॥ किह होइ अणंतगुणं, सव्वागासप्पएसरासीतो । भण्णइ जं एक्केक्को, आगासस्स प्पदेसो उ ॥ संजुत्तो णं तेहिं, अगुरुलहुपज्जवेहिं नियमेण । तेण उ अणंतगुणियं, सव्वागासप्पएसेहिं ॥ " पुनरपि शिष्यः प्राह-कथमेतदवसीयत एकैक आकाशप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यायैरुपेतः? । उच्यते-इह द्विविधं वस्तु-रूपिद्रव्यमरूपिद्रव्यं च । तत्र रूपिद्रव्यं चतुर्द्धा । तद्यथा-गुरुलघु अगुरुलघु च । एतदप्युच्यते-व्यवहारतो निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव-गुरुलघु अगुरुलघु च । बृ० ।

संप्रति यथा ज्ञानं सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणं भवति तथा दर्शयति-

उवलद्धी अगुरुलहु-संयोगसरादिणो य पज्जाया ।
एतेण हुंतणंता, सव्वागा सप्पएसेहिं ॥

चतुर्णामप्यस्तिकायानां पुद्गलास्तिकायस्य च ये अगुरुलघवः पर्यायाः, उपलक्षणमेतत् बादरस्कन्धानाम् । अगुरुलघुपर्यायाश्च यावन्तश्चाक्षरेषु स्वरूपतोऽभिलापभेदतो वा संयोगा यैश्चोदात्तादिभिः स्वरैरभिलप्यन्ते भावाः, आदिशब्दात् ये चान्ये शकुनरुतादिगताः स्वरविशेषा ये च जीवपुद्गलगताश्चेष्टाविशेषास्ते सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां सर्वेषामप्युपलब्धिर्भवति । न च येन स्वभावेनैकस्य तेनैवान्यस्य, किन्तु भिन्नेन । तदेतेन प्रकारेण ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः । बृ० १ उ० ।

प्रकारान्तरेण प्रेरयन्नाह—

तत्थाविसेसयं ना-णमक्खरं इह सुयक्खरं पगयं ।
तं किह केवलपज्जा-यमाणतुल्लं हविज्जाहि ॥

(तत्थेति) " सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ " इत्यत्र सूत्रे नन्द्यध्ययने अविशेषितं सामान्येनैव (नाणमक्खरं ति) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्, अविशेषाऽभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात्तदेव तत्राक्षरं गम्यते । इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकाराच्छ्रुताक्षरमकाराद्यक्षरशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह-तदकारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेन्न कथंचिदित्यर्थः । अयमभिप्रायः-केवलस्य सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वाद्भवतु सर्वद्रव्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तु तदनन्तभागविषयत्वात्कथं तत्पर्यायमानतुल्यतेति ? । अत्रोच्यते-ननु तत्रापि " अक्खरसण्णीसम्मं साइयं खलु " इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते विचार्यमाणे " सव्वागासपएसग्गं" इत्यादि सूत्रं पठ्यते, अतो यथेह तथा तत्रापि श्रुताधिकारादक्षरमकाराद्येव गम्यते, न तु केवलाक्षरम् । अथ ब्रूये-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते " सव्वजीवाणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडियओ त्ति" एतस्मात्केवलाक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सकलद्वादशाङ्गविदां संपूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य सद्भावात्सर्वजीवानामक्षरस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तेः । अहो ! असमीक्षिताभिधानं, यत एवं सति केवलिनां संपूर्णस्यापि केवलाक्षरसद्भावात्सर्वजीवानामक्षरस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्याऽर्थस्याऽनुपपत्तिरेव । अथ मनुष्ये तत्राऽविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायाऽन्येषामेवाऽक्षरस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इति केवलाक्षरग्रहणेऽविरोधः । हन्त ! तदेतच्छ्रुताक्षरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा समस्तद्वादशाङ्गविदो विहायाऽन्येषामेवास्मदादीनामक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इतीहापि शक्यत एव वक्तुम् । तस्मात्तत्रेह च श्रुताक्षरमकाराद्येव गम्यते । यदि वाऽत्र श्रुताक्षरं, तत्र केवलाक्षरमपि भवतु, न च श्रुताक्षरस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुध्यते । कथमित्याह-

सयपज्जवेहि तं के- वलेण तुल्लं न होज्ज न परेहिं ।
सयपरपज्जाएहिं , तुल्लं तं केवलेणेव ॥

स्वकाः स्वकीया अकारेकारोकारादयोऽनुगताः पर्यायाः श्रुतज्ञान-

स्य स्वपर्याया इत्यर्थः। तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छ्रुताक्षरं केवलेन केवलाक्षरेण तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायानन्तभागवर्त्तित्वात् । तच्छ्रुतज्ञानं स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणं, सर्वेष्वपि तेषु व्यापारात्। तथाहि-लोके समस्तद्रव्याणां पिण्डितः पर्यायराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल लक्षम्, एतन्मध्याच्छ्रुतज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किल शतं, तदूनलक्षं तु परपर्यायाः, केवलज्ञानत्वे तल्लक्षमपि पर्यायाणामुपलभ्यते, सर्वोपलब्धिस्वभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिविशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः, ज्ञेयोपलब्धिस्वभावत्वात् ज्ञानस्य । एवं च सति लक्षपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शतं स्वपर्यायाणाम्, अतस्तैस्तत्केवलपर्यायराशितुल्यं न भवेदिति स्थितम् । तर्हि परपर्यायैस्तत्तस्य तुल्यं भविष्यतीत्याह-न परैर्नापि परपर्यायैस्तत् केवलेन तुल्यं भवेत् । तथाहि-घटादिव्यावृत्तिरूपाः परपर्यायास्तस्य विद्यन्तेऽनन्तानन्ताः, कल्पनया तु शतोनलक्षमानास्तथापि सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्या न भवन्ति, सर्वपर्यायानन्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भावतस्त्वनन्तात्मकेन स्वपर्यायराशिना न्यूनत्वात् केवलस्य तु संपूर्णसर्वपर्यायराशिमानत्वादिति। स्वपरपर्यायैस्तु तत्केवलपर्यायतुल्यमेव । केवलवत्तस्यापि सर्वद्रव्यपर्यायप्रमाणत्वादिति। आह-यद्येवं केवलेन सहाऽस्य को विशेषः? उच्यते, अस्ति विशेषः यतः-

अविसेसकेवलं पुण, सयपज्जाएहि चेव तत्तुल्लं ।
जमेयं पइ तं स-ब्भावावावार विणिजुत्तं ॥

उभयत्र सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणत्वे तुल्येऽपि श्रुतकेवलयोरस्ति विशेष इत्येवं पुनःशब्दोऽत्र विशेषद्योतनार्थः। कः पुनरसौ विशेष इत्याह- अविशेषेण पर्यायसामान्येन युक्तं केवलमविशेषकेवलं स्वपरविशेषरहितैः सामान्यत एवाऽनन्तपर्यायैर्युक्तं केवलज्ञानमविशेषकेवलमित्यर्थः । तदेवंभूतं केवलं स्वपर्यायैरेव तत्तुल्यं, तेन प्रक्रमानुवर्त्तमानसर्वद्रव्यपर्यायराशिना तुल्यं तत्तुल्यं, श्रुतज्ञानं तु समुदितैरेव स्वपरपर्यायैस्तत्तुल्यमिति विशेष इति भावः। कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावन्तः स्वपर्याया इत्याह- (जणेयमित्यादि) यद्यस्मात्तत्केवलज्ञान सर्वद्रव्यपर्यायलक्षणं ज्ञेयं प्रति सर्वभावेषु निःशेषज्ञातव्यपदार्थेषु योऽसौ परिच्छेदलक्षणो व्यापारस्तत्र विनियुक्तं प्रतिसमयं प्रवृत्तिमदित्यर्थः । इदमुक्तं भवति । केवलज्ञानं सर्वानपि सर्वद्रव्यपर्यायान् जानाति। ते च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवादिनयमतेन तद्रूपतया परिणताः, ततो ज्ञानमयत्वात्ते केवलस्य स्वपर्याया एव भवन्ति, अतः केवलज्ञानं तैरेव सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्यं भवति। श्रुतादिज्ञानानि तु सर्वद्रव्यपर्यायराशेरनन्ततममेव भागं जानन्त्यतस्तेषां स्वपर्याया एतावन्त एव भवन्त्यतो न श्रुतज्ञानं स्वपर्यायैस्तत्तुल्यं, तदनन्तभागवर्त्तिस्वपर्यायमानत्वादिति श्रुतकेवलयोर्विशेषः। अत्र पक्षे केवलस्य परपर्यायविवक्षा न कृता। ये हि केवलस्य निःशेषज्ञेयगता विषयभूताः पर्यायास्ते ज्ञानाद्वैतवादिनयमतेन ज्ञानरूपत्वादर्थापत्त्यैव स्वपर्यायाः प्रोक्ता न तु पर्यायाभावः प्रोक्तः। वस्तुस्थित्या पुनरिदमपि स्वपरपर्यायान्वितमेव दर्शयति—

वत्थुसहावं पइ तं, पि सपरपज्जायभेयओ भिन्नं ।
तं जेण जीवभावो, भिन्ना य तओ घडाईया ॥

वस्तुस्वभावं प्रति यथावस्थितं वस्तुस्वरूपमाश्रित्य तदपि केवलं ज्ञानमकाराद्यक्षरवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिन्नमेव न तु यथोक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः। कुत इत्याह-- येन कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवभावः प्रतिनियतो जीवपर्यायो न घटादिस्वरूपं तस्मापि घटादयस्तत्स्वभावाः किन्तु ततो भिन्ना इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया भवेयुः, सर्वसंकरैकत्वादिप्रसङ्गात्। तस्मादमूर्त्तत्वाचेतनत्वसर्वेवस्तुत्वाप्रतिपातित्वनिरावरणत्वादयः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः। घटादिपर्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्यायाः। अन्ये तु व्याचक्षते-सर्वद्रव्यगतान्सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जानाति, येन च स्वभावेनैकं पर्यायं जानाति न तेनैवापरमपि, किन्तु स्वभावभेदेन, अन्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्याः स्वभावभेदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, सर्वद्रव्यपर्यायास्तु परपर्याया इत्येवं स्वपर्यायपरपर्यायाश्चोभयेऽपि परस्परं तुल्याः केवलस्येति। एवं च सति किं स्थितमित्याह-

अविसेसयं पि सुत्ते, अक्खरपज्जायमाणमाइट्ठं ।
सुयकेवलक्खराणं, एवं दोण्हं पि न विरुद्धं ॥

एवं सत्यविशिष्टमपि नन्दिसूत्रे यत्सर्वाकाशप्रदेशाग्रमनन्तगुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमादिष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य वा न विरुद्धं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तन्यायेनार्थतो द्वयोरपि समानपर्यायत्वात्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपरपर्यायास्तावन्निर्विवादं तुल्या एव। स्वपर्यायास्तु 'यद्यप्यन्ये तु व्याचक्षते' इत्यादिनाऽऽगमेनानन्तरमेव केवलस्य भूयांसः प्रोक्तास्तथापि तेभ्यो व्यावृत्तत्ववन्तः श्रुतस्य परपर्याया वर्द्धन्त इति तदेवं द्वयोरपि सामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि ग्रहणं सूत्रे न किमपि श्रूयत इति । नन्वेतत्सर्वपर्यायपरिमाणमक्षरं किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽव्रियते न वेत्याह—

तस्स उ अणंतभागो, निच्चुग्घाडो य सव्वजीवाणं ।
भणिओ सुयम्मि केवलि-वज्जाणं तिविहभेओ वि ॥

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाणाक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाटितः सर्वदैवानावृतः। केवलिवर्जानां सर्वजीवानां जघन्यमध्यमोत्कृष्टत्रिविधभेदोऽपि श्रुते भणितः प्रतिपादित इति।

तत्र सर्वजघन्यस्याऽक्षराऽनन्तभागस्य स्वरूपमाह—

सो पुण सव्वजहन्नो, चेयन्नं नावरिज्जइ कयाइ ।
उक्कोसावरणम्मि वि, जलयच्छन्नक्कभासो व्व ॥

स पुनः सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभाग आत्मनो जीवत्वनिबन्धनं चैतन्यमात्रं, तच्च तावन्मात्रमुत्कृष्टावरणेऽपि सति जीवस्य कदाचिदपि नाव्रियते न तिरस्क्रियते, अजीवत्वप्रसङ्गात्। यथा-सुष्ठ्वपि जलदच्छन्नस्यार्कस्याऽऽदित्यस्य भासः प्रकाशो दिनरात्रिविभागनिबन्धनं किञ्चित्प्रभामात्रं कदापि नाऽऽव्रियते, एवं जीवस्यापि चैतन्यमात्रं कदाचिन्नाऽऽव्रियत इति भाव इति। केषां पुनरसौ सर्वजघन्योऽक्षराऽनन्तभागः प्राप्यत इत्याह--

थीणद्धिसहियनाणा-वरणोदयओ स पत्थिवाईणं ।
बेइंदियाइयाणं, परिवड्ढइ कमविसोहीए ॥

स्त्यानर्द्धिमहानिद्रोदयसहितोत्कृष्टज्ञानावरणोदयादसौ सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभागः पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणां प्राप्यते, ततः क्रमविशुद्ध्या द्वीन्द्रियादीनामसौ क्रमेण वर्द्धत इति। तदुत्कृष्टो मध्यमश्चैव केषां मन्तव्य इत्याह—

उक्कोसो उक्कोसय-सुयणाणविओ तओ वसेसाणं ।

होइ विमज्झो मज्झे छट्टाणगयाण पाएण ॥ ४७ ॥

स एवाक्षराऽनन्तभाग उत्कृष्टो भवत्युत्कृष्टश्रुतज्ञानविदः संपूर्णश्रुतज्ञानस्येत्यर्थः । अत्राह-नन्वस्य कथमक्षराऽनन्तभागो यावता श्रुतज्ञानाऽक्षरं संपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु संलुलितसामान्यश्रुतकेवलाक्षराऽपेक्षयैवास्याऽक्षरानन्तभागो विवक्षितः, " केवलिवज्जाणं तिविहभेओवि " इत्यनन्तरवचनात् । अन्यथा हि यथा केवलिनः संपूर्णकेवलाऽक्षरयुक्तत्वेनाक्षराऽनन्तभागस्त्रिविधोऽपि न संभवतीति तद्वर्जनं कृतम् । एवं संपूर्णश्रुतज्ञानिनोऽपि समस्तश्रुताऽक्षरयुक्तत्वेनाक्षराऽनन्तभागस्त्रिविधोऽपि न संभवतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्मात् संमिलितसामान्याक्षरापेक्षयैवास्याक्षरानन्तभागः प्रोक्तः, सामान्ये चाऽक्षरे विवक्षिते केवलाक्षरापेक्षया श्रुतज्ञानाक्षरस्य संपूर्णस्याप्यनन्तभागवर्तित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्वपर्यायेभ्यः श्रुतज्ञानस्वपर्यायाणामनन्तभागवर्तित्वात् तस्य परोक्षविषयत्वेनास्पष्टत्वाच्चेति । यच्च समुदितस्वपरपर्यायाऽपेक्षया श्रुतकेवलाक्षरयोस्तुल्यत्वं तदिह न विवक्षितमेवेति । अन्ये तु " सो उण सव्वजहन्नो चेयण्णं " इत्यादिगाथायां स पुनरक्षरलाभ इति व्याचक्षते, इदं चाऽनेकदोषाऽन्वितत्वाज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यटीकायां चाऽदर्शनादसङ्गतमेव लक्षयामः । तथा हि-" तस्स उ अणंतभागो निच्चुग्घाडो" इत्याद्यनन्तरगाथायामक्षराऽनन्तभाग एव प्रकृतः, अक्षरलाभस्त्वनन्तरपरामर्शिना तच्छब्देन कुतो लब्धः ? किमाकाशात्पतितः ? । किं च, यद्यऽक्षरलाभ इतीह व्याख्यायते तर्हि " केवलिवज्जाणं तिविहभेओ वि " इत्यत्र किमिति केवलिनो वर्जनं कृतं ?, यथा हि श्रुताक्षरमाश्रित्योत्कृष्टोऽक्षरलाभः संपूर्णश्रुतज्ञानवतो लभ्यते तथा केवलाक्षरमङ्गीकृत्योत्कृष्टोऽसौ केवलिनोऽपि लभ्यत एव, किं तद्वर्जनस्य फलम् ? । क्षमाश्रमणपूज्यैश्च "थोवंमि" इत्यादिगाथायामित्थं व्याख्यातम्-स च किल जघन्योऽनन्तभाग इत्यादि । अथ सामान्यमक्षरं नेह प्रक्रमे गृह्यते किन्तु श्रुताक्षरमेवेति । तदयुक्तम्, चिरन्तनटीकाद्वयेऽप्यक्षरस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च-विशेषतोऽत्र श्रुताक्षरे गृह्यमाणे तस्य श्रुताक्षरस्याऽनन्तभागः सर्वजीवानां नित्योद्घाट इति व्याख्यानमापद्यते । एतच्चाऽयुक्तम्, संपूर्णश्रुतज्ञानिनां ततोऽनन्तभागादिहीनश्रुतज्ञानवतां च श्रुताक्षरानन्तभागवत्त्वानुपपत्तेः । किं च,"सो उण केवलिवज्जाणं तिविहभेओ वि" इत्येतदसंबद्धमेव स्यात्, केवलिनः सर्वथैव श्रुताक्षरस्यासंभवेन तद्वर्जनस्याऽऽनर्थक्यप्रसङ्गाच्चेति, परमार्थं चेह केवलिनो बहुश्रुता वा विदन्तीत्यलं प्रसङ्गेन । विमध्यममक्षरानन्तभागमाह-ततस्तस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानविदोऽवशेषाणामेकेन्द्रियसंपूर्णश्रुतज्ञानिनो मध्ये वर्तमानानां षट्स्थानपतितानामनन्तभागादिगतानां प्रायेण विमध्यो मध्यमाक्षरानन्तभागो भवति, एकस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽवशेषाः केचित् श्रुतमाश्रित्य तुल्या अपि भवन्त्यत उक्तप्रायेणावशेषाणां विमध्यम इति । अयमर्थः-विवक्षितादेकस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽविशेषाणामपि केषांचिदुत्कृष्टश्रुतज्ञानवतां तत्तुल्य एवाऽक्षरानन्तभागो भवति न तु विमध्यम उत्कृष्ट इत्यर्थः । इति सप्तचत्वारिंशद्गाथार्थः । इत्यक्षरश्रुतं समाप्तम् । विशे० ॥

पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोय जत्तिया लोए ।
एवइया सुयनाणे, पयडीओ होंति नायव्वा ॥

एकमेकं प्रति प्रत्येकमक्षराण्यकारादीन्यनेकभेदानि । यथा-अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरेकैकस्त्रिधा-ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चेति । पुनरेकैकस्त्रिविधः-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । इत्येवमकारोऽष्टादशभेदः । एवमिकारादिष्वपि यथासंभवं भेदजालमभिधानीयमिति । तथाऽक्षराणां संयोगा अक्षरसंयोगा द्व्यादयो यावन्तो लोके, यथा-घटः पट इत्यादि, व्याघ्रः स्त्रीत्यादि । एवमेतेऽनन्ताः संयोगाः, तत्राप्येकैकः स्वपरपर्यायापेक्षयाऽनन्तपर्यायः, अत एतावत्यः श्रुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्—

संजुत्तासंजुत्ता-ण ताणमेकक्खराइसंजोगा ।
होंति अणंता तत्थ वि, एकेको णंतपज्जाओ ॥

एकमक्षरमादिर्येषां द्व्यादीनां तान्येकाक्षरादीनि, तेषां संयोगा एकाक्षरादिसंयोगाः, ते अनन्ता भवन्ति । केषां ये एकाक्षरादिसंयोगा इत्याह-तेषामकारककाराद्यक्षराणाम् । कथंभूतानामित्याह-संयुक्तासंयुक्तानाम् । तत्र संयुक्तैकाक्षरसंयोगो यथा-अब्धिः प्राप्त इत्यादिः । असंयुक्तैकाक्षरसंयोगो यथा-घटः पट इत्यादिः । एते चाक्षरसंयोगा अनन्ताः । एकैकश्च संयोगः स्वपरपर्यायैः पूर्वाभिहितन्यायेनाऽनन्तपर्याय इति ॥

अथ परमताशङ्कयोत्तरमाह—

संखिज्जक्खरजोगा, होंति अणंता कहं जमभिधेयं ।
पंचत्थिकायगोयर-मन्नोन्नविलक्खणमणंतं ॥

संख्येयानि च तान्यकाराद्यक्षराणि, तेषां योगाः संयोगाः कथमनन्ता भवन्ति न घटन्त एवेति भावः । अत्रोत्तरमाह-यद्यस्मात्संख्येयानामप्यक्षराणामभिधेयमनन्तम् । कथं भूतमित्याह-अन्योन्यविलक्षणं परस्परविसदृशम् । किं विषयमित्याह-पञ्चास्तिकायगोचरं पञ्चास्तिकायगतस्कन्धदेशप्रदेशपरमाणुकादिकम्, अभिधेयानन्त्याच्चाभिधानस्याप्यानन्त्यमवसेयमिति ।

एतदेव भावयति—

अणुओ पएसवुड्ढी-ए भिन्नरूवाइं धुवमणंताइं ।
जं कमसो दव्वाइं, हवंति भिन्नाभिहाणाइं ॥

इहास्मादणुतः परमाणुतः प्रारभ्य क्रमशः प्रदेशवृद्ध्या पुद्गलास्तिकायेऽपि ध्रुवं सर्वदैवानन्तानि भिन्नरूपाणि द्रव्याणि प्राप्यन्ते भिन्नाभिन्नानि चैतानि, यथा-परमाणुर्द्व्यणुकस्त्र्यणुकश्चतुरणुको यावदनन्तप्रदेशिक इति, प्रत्येकं चानेकाभिधानान्येतानि, तद्यथा-अणुः परमाणुर्निरंशो निरवयवो निःप्रदेश अप्रदेश इति, तथा द्व्यणुको द्विप्रदेशिको द्विभेदो द्व्यवयवः । इत्यादि सर्वद्रव्यसर्वपर्यायेष्वायोजनीयम् । यस्माच्चैवमभिधेयमनन्तं विसदृशरूपं भिन्नाभिधानं च तस्मात्किमित्याह—

तेणाभिहाणमाणं, अभिधेयाणंतपज्जवसमाणं ।
जं च सुयम्मि वि भणियं, अणंतगमपज्जयं सुत्तं ॥

यतोऽभिधेयमनन्तं भिन्नरूपं भिन्नाभिधानं तेन कारणेनाक्षरसंयोगरूपाणामभिधानानां यत्संख्यारूपं मानं परिमाणं तदपि भवति । कियदित्याह-अभिधेयभेदेनाऽभिधानस्यापि भेदात् न हि येनैव रूपेण घटादिशब्दे अकारादिवर्णाः संयुक्तास्तेनैव स्वरूपेण पटादिशब्देऽपि, अभिधेयैकत्वप्रसङ्गात्, एकरूपशब्दाभिधेयत्वात् घटतत्स्वरूपवदिति, अतोऽभिधेयानन्त्यादभिधानानन्त्यमिति यत्ततः सूत्रेऽप्यभिहितम् । " अणंतागमा अणंता पज्जवा " इत्यतः स्थितमेतत् " संजुत्तासंजुत्ताणं" इत्यादीति गाथाचतुष्टयार्थः । विशे० ॥

उत्तयं भावक्खरओ, अणक्खरं होज्ज वंजणक्खरओ ।
मइनाणं सुत्तं पुण, उभयं पि अणक्खरं क्खरं ॥
इहाक्षरं तावद्द्विविधम्-द्रव्याक्षरं भावाक्षरं च । तत्र द्रव्याक्षरं पुस्तकादिन्यस्ताकारादिरूपं, ताल्वादिकारणजन्यः शब्दो वा । एतच्च व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनाक्षरमप्युच्यते, भावाक्षरं त्वतः स्फुरदकारादिवर्णज्ञानरूपम् । एवं च सति (भावक्खरओ त्ति) भावाक्षरमाश्रित्य मतिज्ञानं भवेत् । कथंभूतमित्याह-(उभयं ति) उभयरूपमक्षरवदनक्षरं चेत्यर्थः । मतिज्ञानभेदे-ष्ववग्रहे भावाक्षरं नास्तीति तदनक्षरमुच्यते । ईहादिषु तु तद्भेदेषु तदेतेषु तदस्तीति मतिज्ञानमक्षरवत् प्रतिपादितमिति भावः । (अनक्खरं होज्ज त्ति) व्यञ्जनाक्षरं विद्यते, तस्य द्रव्यश्रुतत्वेन रूढत्वात् द्रव्यमतित्वेनाप्रसिद्धत्वादिति (सुत्तं पुणो त्ति) सूत्रं श्रुतज्ञानं पुनरुभयमपि द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं चेत्यर्थः । विशे० । अकारादिलब्ध्यक्षराणामन्यतरस्मिन्, कर्म०१ कर्म० । क्षरणशून्ये, त्रि० उज्ज्वले, मोक्षे च । न० वाच० ।

अक्खरगुण-अक्षरगुण-पुं० ६ त० स० । अकारादीनामक्षराणां गुणोऽनन्तागमपर्यायवत्त्वमुच्चारणं च, अन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्खरगुणमइसंघणणा-अक्षरगुणमतिसंघटना-स्त्री० अक्षरगुणेन मतेः (मतिज्ञानस्य) संघटना, भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनेऽक्षरगुणस्य मत्या संघटनायां बुद्ध्या रचनायां च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अक्खरपुट्ठिया-अक्षरपृष्ठिका-स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्नवमे लेखविधाने । प्रज्ञा० १ पद ।

अक्खरलंभ-अक्षरलाभ-पुं० पुरुषस्त्रीनपुंसकघटपटादिवर्णविज्ञाने, " अक्खरलंभो सण्णी-ण होज्ज पुरिसाइयम्मिविण्णाणं । कत्तो असण्णीणं, जणियं च सुयम्मि तेसिं पि" विशे० । सूत्र० ।

अक्खरविसुद्ध-अक्षरविशुद्ध-त्रि० पदैरक्षरैर्वाऽलङ्कृते, पं० चू० ।

अक्खरसंबद्ध-अक्षरसंबद्ध-पुं० वर्णव्यक्तिमति, स्था०२ठा०३ उ० । (अस्य व्याख्या 'भासा' शब्दे)

अक्खरसण्णिवाय-अक्षरसन्निपात-पुं० अक्षराणां सन्निपाताः संयोगाः । राय० । अकारादि (वर्ण) संयोगेषु, "अजिणाणं जिणसंका-साणं सव्वक्खरसण्णिवायाणं" स्था० ३ ठा०४ उ० ।

अक्खरसम-अक्षरसम-न० (अक्षरैः समो यत्र) गेयस्वरभेदे, यत्र अक्षरे दीर्घे दीर्घस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः, सानुनासिके सानुनासिकस्तदक्षरसममिति, स्था० ७ ठा० ।

अक्खरसमास-अक्षरसमास-पुं० अकारादिलब्ध्यक्षराणां द्व्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अक्खरवाया-देशी-दिगित्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्खल-देशी-पुं० (अखरोट) इति प्रसिद्धे, वृक्षे, तत्फले च, न० । प्रज्ञा० १६ पद ।

अक्खलिअं-देशी-प्रतिफलिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अक्खलिय-अस्खलित-त्रि० न० त० । अप्रच्युते, स्वकर्तव्ये, अप्रमत्ते, वाच० । उपलशकलाद्याकुलभूभागे, लाङ्गलमिव स्खलति यत्तत्स्खलितं, न तथाऽस्खलितम् । सूत्रगुणभेदे, अनु० । ग० । आ० म० प्र० ।

अक्खलियचरित्त-अस्खलितचारित्र-पुं० अस्खलितमतिचाररहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्यासौ अस्खलितचारित्रः । निरतिचारचारित्रे, ईदृशेन सार्क केवल्यपि विहरेत् । " गीयत्थे जे सुसंविग्गे, अणालस्सी दढव्वए । अक्खलियचरित्ते य, रागदोसविवज्जए " ग० १ अधि० ।

अक्खलियाइगुणजुत-अस्खलितादिगुणयुत-त्रि० अस्खलितममिलमव्यत्याम्रेडितमित्यादिगुणयुक्ते, "अस्खलितादिगुणयुतैः स्तोत्रैश्च महामतिग्रथितैः " पं० ७ विव० ।

अक्खवाडग-अक्षपाटक-पुं० अक्षैर्व्यवहारे पाटयति दीप्यते । पटदीप्ती-ण्वुल् । व्यवहारनिर्णेतरि धर्माध्यक्षे, वाच० । चतुरस्राकारे (आसने,) "तेसि णं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ वइरामया अक्खवाडगा पण्णत्ता " जी० ३ प्रति० ।

अक्खसुत्तमाला-अक्षसूत्रमाला-स्त्री० अक्षा रुद्राक्षाः फलविशेषास्तेषां सम्बन्धिनी सूत्रप्रतिबद्धा माला आवली या सा तथा सैव गणयमानिर्निर्मासनयाऽतिव्यक्तत्वात् । रुद्राक्षमालायाम्, " अक्खसुत्तमाला विव गणिज्जमाणेहिं " अणु० ३ वर्ग ।

अक्खसोय-अक्षस्रोतस्-न० चक्रभूःप्रवेशरन्ध्रे, भ०७ श०६ उ० ।

अक्खसोयप्पमाण-अक्षस्रोतःप्रमाण-त्रि० अक्षस्रोतश्चक्रभूःप्रवेशरन्ध्रं, तदेव प्रमाणमक्षस्रोतःप्रमाणम् । भ०७ श०६ उ० । चक्रनाभिच्छिद्रप्रमाणे, औ० ।

अक्खसोयप्पमाणमेत्त-अक्षस्रोतःप्रमाणमात्र-त्रि० अक्षस्रोतःप्रमाणेन मात्रा परिमाणमवगाहतो यस्य स तथा । (चक्रनाभिच्छिद्रप्रमिताऽवगाहे) " तेणं कालेणं तेणं समएणं गंगासिंधूओ महाणईओ रहपहवित्थराओ अक्खसोयप्पमाणमेत्तं जलं वोज्झिहिंति त्ति " भ० ७ श० ६ उ० ।

अक्खा-आख्या-स्त्री० आ-ख्यायतेऽनया । आ-ख्या-अङ् । वाच० । अभिधाने, " कालो उ दंदक्खा, " लब्धाख्या इत्यभिधानम् । स कालः प्रतिपत्तव्यः । बृ० ३ उ० ।

अक्खाइय-आख्यातिक-न० पचति भुङ्क्ते इत्यादि (आख्यातनिष्पन्ने) वचनभेदे, आ० म० द्वि० । विशे० । धावतीत्याख्यातिकम्, क्रियाप्रधानत्वात् । अनु० । साध्यक्रियापदे, 'यथाऽकरोत् करोति करिष्यति ' प्रश्न० संव० २ द्वा० । ·

अक्खाइयट्ठाण-आख्यायिकास्थान-न० कथानकस्थाने, आ चू० २ श्रु० ११ अ० ।

अक्खाइयाणिस्सिय-आख्यायिकानिश्रित-न० आख्यायिकाप्रतिबद्धेऽसत्प्रलापे, एष नवमो मृषाभेदः । स्था० १० ठा० ।

अक्खाइया-आख्यायिका-स्त्री० आ-ख्या-ण्वुल् । कल्पितकथायाम्, संथा० । यथा तरङ्गवतीमलयवतीप्रभृतयः, बृ० १ उ० ।

अक्खाउं-आख्यातुम्-अव्य० आख्यानं कर्तुमित्यर्थे, " न य दिट्ठं सुयं सव्वं भिक्खू अक्खाउमरिहइ " दश० ८ अ० ।

अक्खाग-आख्याक-पुं० म्लेच्छविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

अक्खामग-आखाटक-पुं० प्रेक्षाकारिजनासनभूते, स्था० ४ ठा० २ उ० । चतुरस्रे लोकप्रतीतेऽर्थे, स्था०३ ठा० ३ उ० "तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं २ वइरामए अक्खाडए" राय० ।

अक्खाण–आख्यान–न० । आ–ख्या, चक्षिङ् वा, ल्युट् । आभिमुख्येनादरेण वा ख्यापनं प्रकथनमभिधानं वा । " अक्खाणं आवणाभिहाणं वा " आभिमुख्येनाऽऽदरेण वा प्रकथनेऽभिधाने च, विशे० । निवेदने, ध० १ अधि० । अभिधाने, पञ्चा० २ विव० । आख्यानकानि धूर्ताऽऽख्यानकादीनि । बृ० २ उ० । नि० चू० ॥

अक्खाय–आख्यात–त्रि० आ–ख्या–क्तः । पूर्वतीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । आव० । " संति मे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणंतिय " ॥ उत्त०५ अ० । समन्तात्कथिते, दश० २ अ० । " सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं " आ मर्यादया जीवाऽजीवलक्षणासंकीर्णतारूपतयाऽभिविधिना वा समस्तवस्तुविस्तारव्यापनलक्षणेन ख्यातं कथितमाख्यातमात्मादिवस्तुजातमिति गम्यते । स्था० १ ठा० । सूत्र० । द०। भणिते, संथा० । तिङ्रूपे प्रत्यये, भाव एव साध्यतया लिङादिरभिधीयते न कर्ता "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातमाचष्टे " इतिवचनात् । सम्म० ।

अक्खायपव्वज्जा–आख्यातप्रव्रज्या–स्त्री० आख्यातेन धर्मदेशनेन आख्यातस्य वा प्रव्रज्येत्यभिहितस्य गुरुभिर्या साऽऽख्यातप्रव्रज्या । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ० । " अक्खायाए जंबू धम्मं अक्खादिपभवस्स " पं० भा० । " अक्खायाय सुदंसणो सेट्ठी सामिणा संबोहिओ " पं० चू०।

अक्खि–अक्षि–न० अश्नुते विषयान्, अश्–क्सि । नेत्रे, वाच०। "अक्खिहि य णासाहि य जिब्भाहि य ओट्ठेहि य " विपा० १ श्रु०२ अ०। " ते अंजिअक्खितिल्लए " नि० चू० १ उ० ।

अक्खिंतर–अक्ष्यन्तर–न० ६ त०। नेत्ररन्ध्रे, (विपा०) " अक्खितरेसु दुवे " (नाड्यौ) विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अक्खित्त–आक्षिप्त–त्रि०। आ–क्षिप्–क्त । कृताक्षेपे, यस्याक्षेपः कृतस्तस्मिन् । वाच०। आकृष्टे, ज्ञा०१ श्रु०१६ अ०। उपलोभिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । आवर्जिते, दश० ३ अ० । उपन्यस्ते च, पंचा० १२ विव० ।

अक्खि (क्खे) त्त–अक्षेत्र–न०। न० त०। क्षेत्राभावे, "मग्गणा खेत्त अक्खेत्ते " एकक्षेत्रस्थितानां मार्गणा कर्तव्या, कस्य क्षेत्रं भवति कस्य वा न भवति क्षेत्रमित्यर्थः । व्य० ४ उ० । क्षेत्रभिन्ने बहिरर्थे, " अक्खेत्तुवस्सए पुच्छमाणे दूरावलिय मासो " अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये उपाश्रयविषया मार्गणा कर्तव्या । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्तव्येत्युक्तं तत्र तावदक्षेत्रमाह- " रहाणाणुजाण अद्धा–पासीसए कुलगणे चउक्के य । गामाइवाणमंतर-महे य उज्जाणमादीसु । इंदकीलमणोग्गाहो जत्थ राया जेहि व पंच इमे । अमच्चपुरोहिया सेट्ठी, सेणावति सत्थवाहो य" व्य०४ उ०। जं दिसं वाघातो तं दिसं अणुण्णाणं जाव खेत्तं भवति परओ अक्खेत्तं" नि० चू०१ उ०।

अक्खित्तणियंसण–आक्षिप्तनिवसन–त्रि० ३ ब० । आकृष्टपरिधानवस्त्रे, " अक्खित्तणियंसणा मलिणडंडिखंडवसणा " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खिराग–अक्षिराग–पुं० अक्ष्णां रागो रञ्जनम् । सौवीरादिकेऽञ्जने, " आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं । उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परियाणिया" ॥१५॥ सूत्र० १ श्रु०९ अ० ।

अक्खिवण-आक्षेपण-न० चित्तव्यग्रतापादने, प्रश्न० आश्र० ३ अ०।

अक्खिविउं–आक्षेप्तुम्–अव्य० आ–क्षिप्–तुमुन् । स्वीकर्तुमित्यर्थे, नि० ।

अक्खिविउकाम-आक्षेप्तुकाम-त्रि० स्वीकर्तुकामे, नि० चू० १ उ०।

अक्खिवेयणा–अक्षिवेदना-स्त्री० नेत्रपीडात्मके रोगभेदे, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

अक्खीण–अक्षीण–त्रि०, न०त०। अत्रुटिते, औ०। क्षयमनुपगते, प्रज्ञा०२६ पद । "अक्षीणा विरलज्वरा हि गृहिणः" प्रति०। "नामगोयस्स वा कम्मस्स अक्खीणस्स अवेइयस्स" अक्षीणस्य स्थितेरक्षयेण । कल्प०। "अक्खीणदव्वसारा" प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०।

अक्खीणपडिभोइ (ण्) अक्षीणपरिभोगिन्–पुं० अक्षीणमक्षीणायुष्कमप्रासुकं परिभुञ्जते इत्येवं शीला अक्षीणपरिभोगिनः । अप्रासुकपरिभोगिषु, इन्प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद्, अनपगताहारशक्तिषु, " आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते अक्खीणपडिभोइणो सव्वसत्ता " भ० ८ श० ५ उ० ।

अक्खीणमहाणसिय–अक्षीणमहानसिक–पुं० महानसमन्नपाकस्थानं तदाश्रितत्वादन्नमपि महानसमुच्यते, ततश्चाक्षीणं पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमभुक्तं सत् तथाविधलब्धिविशेषादत्रुटितं, तच्च तन्महानसं च भिक्षालब्धं भोजनमक्षीणमहानसं तदस्ति येषां ते तथा । औ० । अक्षीणमहानसीं नाम लब्धिमुपपन्नेषु, येषामसाधारणान्तरायक्षयोपशमादल्पमात्रमपि पात्रपतितमन्नं गौतमादीनामिव पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमेवाभुक्तं न क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः । उक्तं च- " अक्खीणमहाणसिओ, भिक्खं जेणाणीयं पुणो तेण । परिभुत्तं चिय खिज्जइ, बहुएहि वि न पुण अन्नेहिं " ॥ १ ॥ ग०२ अधि०। अक्खीणमहाणसियस्स भिक्खं ण अन्नेण णिट्ठविज्जइ, तम्मि जिमिते णिट्ठाति । आ० चू०१ अ०। आ० म० प्र० ।

अक्खीणमहाणसी–अक्षीणमहानसी–स्त्री० लब्धिभेदे, येनानीतं भैक्षं बहुभिरपि लक्षसंख्यैरप्यन्यैस्तृप्तितोऽपि भुक्तं न क्षीयते यावदात्मना न भुङ्क्ते किन्तु तेनैव भुक्तं निष्ठां याति, तस्याक्षीणमहानसी लब्धिः । प्रव० २७० द्वा० । विशे० ।

अक्खीणमहालय–अक्षीणमहालय–पुं० लब्धिविशेषमवाप्तेषु, ते च यत्र परिमितभूप्रदेशेऽवतिष्ठन्ते तत्रासंख्याता अपि देवास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परबाधारहितास्तीर्थकरपर्षदीव सुखमासते इति । ग० २ अधि० ।

अक्खीरमधु (हु) सप्पिय–अक्षीरमधुसर्पिष्क–पुं०। न० ब०। दुग्धक्षौद्रघृतवर्जके अभिग्रहविशेषधारके, प्रश्न० संव० १ द्वा० ।

अक्खुअ—अक्षत— त्रि० आर्षत्वादुकारः । अप्रतिहते, ध० ३ अधि० ।

अक्खुआआरचरित्त–अक्षताकारचरित्र–पुं० अक्षत आकारः स्वरूपं यस्य अक्षताकारमतीचारैरप्रतिहतस्वरूपं चारित्रं येषां ते तथा । निरतिचारचरित्रेषु, " अट्ठारस सीलंगधरा अक्खुआआरचरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि " ध० ३ अधि० ।

अक्खुस–अक्षुस–त्रि०। न० त०। अमर्दिते, नि० चू० १० उ०। " अक्खुसेसु पदेसु पुढवी उदगंमि होइ पुहओ वि " बृ०१ उ०।

अक्खुद्द–अक्षुद्र–पुं०। न० त०। अनुत्तानमतौ, ध० १ अधि०। ध० र०। अकृपणे, कृपणो ह्यौचित्येन द्रव्यव्ययकरणाशक्तत्वात्तत्साधनाय शासनप्रभावनाय चालमिति तद्भिन्नस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम्। पंचा० ७ विव०। अक्रूरे, क्रूरेण हि परोपतापितत्वाज्जनद्वेषेण कृतं तदायतनं तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति (तद्भिन्नस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम्) पंचा० २ विव०। तेन निष्पादितं सर्वानन्ददायितया हितं भवति। दर्श०।

अस्य विस्तरेण प्रतिपादनम्—

खुद्दो त्ति अगंभीरो, उत्ताणमई न साहए धम्मं।
सपरोवयारसत्तो, अक्खुद्दो तेण इह जुग्गो ॥ ८ ॥

यद्यपि क्षुद्रशब्दस्तुच्छक्रूरदरिद्रलघुप्रभृतिष्वर्थेषु वर्त्तते तथापीह क्षुद्र इत्यगम्भीर उच्यते, तुच्छ इति कृत्वा स पुनरुत्तानमतिरनिपुणधिषण इति हेतोर्न साधयति नाराधयति धर्मं, भीमवत्, तस्य सूक्ष्ममतिसाध्यत्वात्। उक्तं च–" सूक्ष्मबुद्ध्या स विज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः। अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव, तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥ गृहीत्वा ग्लानभैषज्यं, प्रदानाभिग्रहं यथा। तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥ गृहीतोऽभिग्रहश्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित्। अहो ! मे धन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादानं, ग्लानभावाभिसन्धिमत्। साधूनां तत्त्वतो यत्तद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः" ॥४॥ इति, एतद्विपरीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः। अक्षुद्रः सूक्ष्मदर्शी सुपर्यालोचितकारी तेन कारणेनेह धर्मग्रहणे योग्योऽधिकारी स्यात्, सोमवत्। तयोः कथा चैवम्—

नरगणकलियं सुजइ–च्छंदं पि व कणयकुरुपुरमत्थि।
तत्थासि वासवो वा–सउ व्व विबुहप्पिओ राया ॥१ ॥
कमला य कमलसेणा, सुलोयणा नाम तिन्नि तरुणीओ।
भूमीवइदुहिआओ, दुस्सहपियाविरहदुहियाओ ॥ २ ॥
अन्नायसरूवाओ, अन्नुन्नं पि हु तहिं रुयंतीओ।
समदुहदुहिय त्ति गिया, एगत्थ गमंति दिवसाइं ॥ ३ ॥
तत्थेगो सुगुणेहिं, अवामणो वामणो उ रूवेण।
सम्मं निययकलाहिं, रंजइ निवपभिइसयलपुरं ॥ ४ ॥
कइया वि निवेणुत्तो, सो जह इह विरहदुहियतरुणीओ।
जइ रंजिहिही नूणं, तो तुह नज्जइ कलुक्करिसो ॥ ५ ॥
थोवमिणं ति स भणिरो, रन्नोऽणुन्नाइ बहुवयंसजुओ।
पत्तो ताणं भवणे, कहेइ विविहे कहाभावे ॥ ६ ॥
एगेण वयंसेणं, वुत्तं किमिमाहि मित्त ! वत्ताहिं।
किं पि सुइसुहयचरियं, कहसु तओ कहइ इयरो वि ॥ ७॥
महिमहिलाभालत्थल–तिलयं व पुरं इहत्थि तिलयपुरं।
तत्थ य पूरियमग्गण–मणोरहो मणिरहो राया ॥ ८ ॥
सुरसुरहिसीलाजियविम–लमालई मालइ त्ति से दइया।
पुत्तो य जुवणअक्कम–णविक्कमो विक्कमो नाम ॥ ९ ॥
नियमंदिरसंनिहिए, गिहम्मि कम्मि वि कया वि संजाए।
सो सुणइ सवणसुहयं, केण वि एवं पढिज्जंतं ॥ १० ॥
नियपुन्नपमाणं गुण–वियक्खिमा सुजणदुज्जणविसेसो।
नज्जइ नेगत्थठिए–हिं तेण निउणा नियंति महिं ॥ ११ ॥
तं सुणिय सुणिय मवगणि–य परियणं देसदंसणसतण्हो।
कुमरो रयणीइ पुरा–उ निग्गओ खग्गवग्गकरो ॥ १२ ॥
सो वच्चंतो संतो, अग्गे मग्गे निएइ कं पि नरं।
निट्ठुरपहारविहुरं, पिवासियं महियले पडियं ॥ १३ ॥
तो सरवराउ सलिलं, गहित्तु वप्पसपुन्नकारुन्नो।
तं पाइत्ता पवण–प्पयाणओ कुणइ पउणतणुं ॥ १४ ॥
पुच्छइ य भो महायस !, कोसि तुमं किं इमा अवत्था ते ?।
सो भणइ सुयणसिररय–ण ! सुणसु सिद्धु त्ति हं जोई ॥१५॥
विज्जावलिपण विप–क्खजोइणा छलपहारिणा अहयं।
एयमवत्थं नीओ, तए पुणो पगुणिओ सगुणो ॥ १६ ॥
तो सो तोसेणं गरुड़--मंतमप्पिसु नरवरसुयस्स।
सट्ठाणं संपत्तो, कुमरो पुण इत्थ नयरम्मि ॥ १७ ॥
निसि मयणगिहे सुत्थो, चिट्ठइ जा सुट्ठु जग्गिरो कुमरो।
ता तत्थेगा तरुणी, समागया पूइउं मयणं ॥ १८ ॥
बहि नीहरिउं जप्पइ, भम्मो वणदेवया सुणइ सम्मं।
इह वासवनरवइणो, सुहिया कमल त्ति हं दुहिया ॥ १९ ॥
मणिरहसुयस्स विक्कम–कुमरस्सुज्जलगुणाणुरायण।
दिन्ना पिउणा सो पुण, इणिह न नज्जइ कहिं पि गओ ॥ २० ॥
जइ मह इह भउ जाओ, सो भत्ता तो परत्थ वि हविज्जा।
इय पभणिअ उल्लंबइ, वडविडविणि जाव सा अप्पं ॥ २१ ॥
मा कुणसु साहसं इय, भणिरो छुरियाइ छिंदिउं पासं।
कमलं कमलसुकोमल–वयणेहिं संठवइ कुमरो ॥ २२ ॥
इत्तो तस्सुक्किकए, भरुचडगरपरिवुडो तहिं पत्तो।
वासवनिवो वि कुमरं, दट्ठुं हिट्ठो भणइ एवं ॥ २३ ॥
तिलयपुरे अम्मेहिं, गएहि मणिरहसमित्तमिलणत्थं।
तं बालत्ते दिट्ठो, दक्खिन्नसुपुन्नवर ! कुमर ! ॥ २४ ॥
निन्नणरत्ता एसा, पइ कमला कमलिणि व्व दिणनाहे।
तुह दाहिणकरमेलण--वसा सुहं लहउ मह उहिया ॥ २५ ॥
इय महुरगहिरभणिईं, पत्थिओ वासवेण नरवइणा।
विक्कमकुमरो कमलं, परिणेइ तिविक्कमु व्व लच्छो ॥ २६ ॥
गोसे तोसेण पुरे, पवेसिओ निवइणा सभज्जो सो।
तीइ समं कीलंतो, चिट्ठइ निवदिन्नपासाए ॥ २७ ॥
तो किं अग्गे कमला–इ जंपिए भणिय रायसेवाए।
समओ त्ति गओ खुज्जो, बीयदिणे कहइ पुण एवं ॥ २८ ॥
कइया वि सुणिय रयणीइ, कलुणसद्दं रुयंतरमणीए।
तस्सद्दणुसारेण य, स गओ कुमरो मसाणम्मि ॥ २९ ॥
दिट्ठा बाहजलाविल–विलोललोयणजुया तहिं जुवई।
तीए पुरओ जोई, तह कुंभं जलिरजलणजुयं ॥ ३० ॥
होउं लयंतरे पच्छ--रपछरिसो जाव चिट्ठए कुमरो।
विसमसरपसरविहुरो, तो जोई भणइ तं बालं ॥ ३१ ॥
पसिय च्चिय सियसयवत्त--पत्तनयणे ममं करिय दइयं।
चूलामणि व्व तं हो--सु सयलरमणीयरमणीणं ॥ ३२ ॥
सा रुयमाणी पभणइ, किं अप्पमणत्थयं कयत्थेसि।
जइसि हरी मयणो वा, तहा वि तुमए न मे कज्जं ॥ ३३ ॥
अह रुट्ठो सो जोई, बला वि जा गिण्हिही करेण तयं।
ता पुक्करियं तीए, हहा ! अणाहा इमा पुहवी ॥ ३४ ॥
जं सिरिपुरपहुजयसे–णनिवइदुहिया अहं कमलसेणा।
दिन्ना पिउणा मणिरह–निवसुयविक्कमकुमारस्स ॥ ३५ ॥
संपइ विज्जावलिओ, अहह ! अखत्तं करेइ को वि इमो।
इय निसुणिय पयडियको–वविब्भमो भणइ कुमरो तं ॥३६ ॥
पुरिसो हवेसु सत्थं, करेसु समरेसु देवयं इट्ठं।
परमहिलमहिलसंतो, रे रे पाविट्ठ ! नट्ठोसि ॥ ३७ ॥

तो खलभलिओ जोई, भणइ परित्थीपसंगवारणओ ।
निवडंतो हं नरप, साहु तप रक्खिओ कुमर ! ॥ ३८ ॥
उवयारओ त्ति दाउं, रूवपराविसिकारिणिं विज्जं ।
पन्नणइ जोगी मज्झ, गुरुविक्कमसाहसगुणेहिं ॥ ३९ ॥
तुह एइ इमीइ दिट्ठी, वक्खेण्णं तंसि विक्कमकुमारो ।
इयरो वि साहइ भद्दो, तुहिंगियागारकुसलत्तं ॥ ४० ॥
तो जोगि परिथओ तं, बालं परिणिनु तं विसज्जेउं ।
तीए जुओ कुमारो, नियभवणुज्जाणमणुपत्तो ॥ ४१ ॥
ता किं जायं तस्समग्ग-ओ त्ति पुट्ठम्मि कमलसेणाए ।
ओलग्गाए वेस त्ति, जंपिउं निग्गओ खुज्जो ॥ ४२ ॥
अथ तइयवासरम्मि, आगंतुं कहइ तत्थ पुण एवं ।
कुमरो जावुज्जाणो, कीलइ सह कमलसेणाए ॥ ४३ ॥
परकज्जसज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कुणसु त्ति ताव तं कोइ ।
आह कुमारो वि भणइ, करेमि जीवियफलं एयं ॥ ४४ ॥
तयणु विमाणारूढो, कुमरो वेयड्ढिकणयपुरपहुणो ।
विजयनिवस्स समीवे, नीओ सो तेण इय भणिओ ॥ ४५ ॥
कुमर ! मह अत्थि सत्तु, भद्दिलपुरसामिधूमकेउनिवो ।
तं अक्कमिउं आरा-हियाइ कुलदेवयाइ मए ॥ ४६ ॥
तव्विजयक्खमो तं, कुमर ! पभणिओ गिण्हता इमा विज्जा ।
आगासगामिणीमा-इयाउ तह चेव सो कुणइ ॥ ४७ ॥
अह साहियबहुविज्जं, हयगयघडसुहडकोडिसंभमियं ।
कुमरं इंतं निसुणिय, संखुद्दो धूमकेउनिवो ॥ ४८ ॥
अणुव्वलच्छिविच्छड्ड-मंडियं उज्झिउं गओ रज्जं ।
तं गहिय महियसत्तु, पत्तो कुमरो वि सट्ठाणं ॥ ४९ ॥
हरिसुक्करिसपरेणं, रन्ना वि सुलोयणं नियययूयं ।
परिणाविओ कुमारो, चिट्ठइ तत्थेव कइ वि दिणे ॥ ५० ॥
दट्ठुं पुव्वपियाओ, कया वि कुमरो सुलोयणासहिओ ।
इत्थेव पुणो नयरे, नियभवणुज्जाणमोइण्णो ॥ ५१ ॥
सो कत्थ गओ त्ति सुलो-यणाइ पुट्ठम्मि वामणो हसिरो ।
नो तुम्हे विव अम्हे, खणिया इय वुत्तु नीहरिओ ॥ ५२ ॥
नियनियचरियसवणओ, नियनियतणुनिउणफुरणओ ताहिं ।
कयरूवपरावत्तो, नियभत्ता तक्किओ खुज्जो ॥ ५३ ॥
अह रायपहे खुज्जो, गच्छंतो सुणिय कम्मि वि गिहम्मि ।
करुणसरं तो कं पि हु, पुच्छइ रोइज्जए किमिह ? ॥ ५४ ॥
सो भणइ तिलयमंति-स्स पुत्तिया सरसइ त्ति नामेण ।
भवणोवरि कीलंती, डक्का कसिणेण उरगेण ॥ ५५ ॥
चत्ता नरिंदविंदा-रएहिं तो तीइ मायपियसयणा ।
उम्मुक्ककंठमुक्क-ठवज्जिया इय रुयंति बहुं ॥ ५६ ॥
तं सोउ भणइ खुज्जो, गच्छामो भद्द मंतिगेहम्मि ।
पिच्छामि तयं बालं, अहमवि उज्जेमि तह किं पि ॥ ५७ ॥
इय वुत्तु मंतिभवण-म्मि वामणो तयणु तेण सह पत्तो ।
पउणेइ पोढमंत-प्पभावओ झत्ति तं बालं ॥ ५८ ॥
नियविन्नाणं व तुमं, सरूवमाविरंससु त्ति सचिवेण ।
सो पत्थिओ खणेणं, नरु व्व जाओ सहावत्थो ॥ ५९ ॥
तस्स पहाणं रूवं, दट्ठुं अइविम्हिओ तिलयमंती ।
जा चिट्ठइ ता पढियं, मागहविंदेण पयरुमिमं ॥ ६० ॥
मणिरहनिवकुलससहर !, हरहारकरेणुधवलजसप्पसर ! ।
पसरियतिहुयणविक्कम !, विक्कमवर ! कुमर ! जय सुचिरं ॥ ६१ ॥
तो मंती वरकुलरू-वविक्कमं विक्कमं निएऊण ।
कुमरीइ पाणिगहणं, कारावइ हट्ठतुट्ठमणो ॥ ६२ ॥
तं सुणिय जाणिउं निय-सुयाइ कमलाइ पिययमं हिट्ठो ।
वासवराया कारइ, महूसवं सव्वनयरम्मि ॥ ६३ ॥
तत्तो मंतिगिहाओ, नीओ नियमंदिरे विभूईए ।
सो सव्वपियाहि जुओ, सुहेण चिट्ठइ सुरु व्व तहिं ॥ ६४ ॥
कइया वि जणयलेहेण पेरिओ पुच्छिउं ससुररायं ।
चउहि वि भज्जाहि समं, कुमरो पत्तो तिलयनयरे ॥ ६५ ॥
पणओ य जणणिजणए, इत्तो उज्जाणपालएण निवो ।
विन्नत्तो सिरिअकलं-कसूरिआगमणकहणेण ॥ ६६ ॥
तो नासुरभूइजुओ, स कुमारो भारसासणु व्व निवो ।
चलिओ गुरुनमणत्थं, रायपहे नियइ नरमेगं ॥ ६७ ॥
अइसलवलंतकिमिबहु-लजालमच्छियमच्छियाच्छन्नं ।
निक्किट्ठकुट्ठसडिर-सिरहरमइदीणदीणसरं ॥ ६८ ॥
तं दट्ठुं मणिरहमरिह-मंमलम्मि व विसायमलिणमुहो ।
पत्तो गुरुवपासे, नमिउं निसुणेइ धम्मकहं ॥ ६९ ॥
जीवो अणाइतणुक-म्मबंधसंजोगओ सया दुहिओ ।
भमइ अणाइवणस्सइ-मज्झगओ णंतपरियट्टे ॥ ७० ॥
तो वायरेसु तत्तो, तसत्तणं कह वि पावए जीवो ।
बहुकम्मो य तओ जइ, पावइ पंचिंदियत्तं च ॥ ७१ ॥
पुन्नविहूणो य तओ, न अज्जखित्ते लहेइ मणुयत्तं ।
लद्धे वि अज्जखित्ते, न कुलं जाइं बलं रूवं ॥ ७२ ॥
एयं पि कहवि पावइ, अप्पाऊ वा हविज्ज वाहिल्लो ।
दीहाउओ निरोगो हविज्ज जइ पुन्नजोएण ॥ ७३ ॥
पत्ते नीरोगत्ते, दंसणनाणस्स आवरणओ य ।
न य पावइ जिणधम्मं, विवेयपरिवज्जिओ जीवो ॥ ७४ ॥
लद्धूण वि जिणधम्मं, दंसणमोहणियकम्मउदएणं ।
संकाइकलुसियमणो, गुरुवयणं नेव सद्दहइ ॥ ७५ ॥
अह निम्मलसंमत्तो, जहट्ठियं सद्दहेइ गुरुवयणं ।
नाणावरणस्सुदए, संसिज्जं तं न बुज्झेइ ॥ ७६ ॥
कह संसियं पि बुज्झइ, सयं पि सद्दहइ बोहए अन्नं ।
चारित्तमोहदोसेण, संजमं न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥
खीणे चरित्तमोहे, विमलतवं संजमं च जो कुणइ ।
सो पावइ मुत्तिसुहं इय भणियं खीणरागेहिं ॥ ७८ ॥
चुल्लगपासगधन्ने, जुए रयणे य सुमिणचक्के य ।
चम्मजुगे परमाणू, दस दिट्ठंता सुयपसिद्धा ॥ ७९ ॥
एएहिं इमं सव्वं, मणुयत्ताई कमेण दुल्लब्भं ।
लद्धुं करेह सहलं, काऊण जिणिंदवरधम्मं ॥ ८० ॥
अह समए भणइ निवो, भयवं ! किं दुक्कयं कयं तेण ? ।
उक्किट्ठकुट्ठिएणं, तो इह जंपेइ मुनिनाहो ॥ ८१ ॥
मणिसुंदरमंदिरर-हिरम्मि मणिमंदिरम्मि नयरम्मि ।
दो सोमभीमनामा, कुलपुत्ता निच्चमविउत्ता ॥ ८२ ॥
पढमो गुणत्ताणमई, अक्खुद्दो भद्दओ विणीओ य ।
तव्विवरीओ बीओ, परपेसणजीविणो दो वि ॥ ८३ ॥
अन्नदिणे दिनमणिकिरणभासुरं सुरगिरिं व उत्तुंगं ।
कत्थ वि वच्चंतेहिं, तेहिं जिणमंदिरं दिट्ठं ॥ ८४ ॥
सुहुममइ सोमो भणइ, भीम ! सुकयं कयं न किं पि पुरा ।
अम्हेहि तेण नूणं, परपेसत्तणमिणं पत्तं ॥ ८५ ॥
जं तुल्ले वि नरत्ते, एगे पहुणो पयाइणो अन्ने ।
तं सुकयदुक्कयफलं, अकारणं हवइ किं कज्जं ॥ ८६ ॥

तो पणमामो देवं, देमो य जलंजलिं दुहसयाणं ।
उत्ताणमई बाया-अभावओ भणइ अह भीमो ॥ ८७ ॥
न य अत्थि नूयपंचगपवं-चअहिओ जिउ च्चिय जयम्मि ।
हे सोम ! खोमकुसुमं, व तयणु देवाइणो किहणु ॥ ८८ ॥
पासंमितुंडअइचंड-तंडवाडंबरेहिं किं मुरू ! ।
देवो देवु त्ति मुहा-कयत्थसे अप्पमप्पमई ॥ ८९ ॥
इय वारिओ वि तेणं, सोमो सोमु व्व सुरूमइजुण्हो ।
गंतुं जिणभवणे भुव-ण बंधवं नमइ समियतमो ॥ ९० ॥
गहिउं रूवगकुसुमे, पुरइ जिणं पराइ भत्तीए ।
तप्पुण्णवसा अज्जइ, स बोहिवीयं नराउज्जुयं ॥ ९१ ॥
मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिरहनरिंद ! तुह पुत्तो ।
पमिपुन्नपुन्नसारो, मारो इव विक्कमकुमारो ॥ ९२ ॥
भीमो उण खुद्दमई, जिणाइनिंदणपरायणो मरिउं ।
जाओ एसो कुट्ठी, पुरओ भमिहि भवमणंतं च ॥ ९३ ॥
अह जायजाइसरणो, कुमरो हरिसुल्लसंतरोमंचो ।
नमिउं गुरुपयकमलं, गिण्हइ गिहिधम्ममइरम्मं ॥ ९४ ॥
मणिरहनिवो वि विक्कम-कुमरे संकमियरज्जपब्भारो ।
गहियवओ उप्पामिय, केवलनाणो गओ सिद्धिं ॥ ९५ ॥
जिणमंदिरजिणपडिमा-जिणरहजत्ताकरावणुज्जुत्तो ।
मुणिजणसेवणसत्तो, दढसंमत्तो विमलचित्तो ॥ ९६ ॥
संपुन्नकलो पमिपु-न्नमंडलो हणियदुरियतमपसरो ।
विक्कमराया राउ-व्व कुवलयं कुणइ सुहकलियं ॥ ९७ ॥
अन्नम्मि दिणे निवई, नियपुत्तनिहित्तगरुयरज्जधुरो ।
अकलंकसूरिपासे, पव्वज्जं संपवज्जेइ ॥ ९८ ॥
अक्खुद्दो गंभीरो, सुहुममई सुयमहिज्जिउं बहुयं ।
विहिणा मरिउं पत्तो, दिवम्मि लहिही कमेण सिवं ॥ ९९ ॥

भुत्वेति गंभीरगुणस्य वैभवं,
महान्तमुत्तानमतेश्च वै भवं ।
अरूाधनाः श्राद्धजनाः समाहिता-
भक्षुद्रतां धत्त सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ ध० र० ।

अक्खुपुरि-अक्षपुरि-स्त्री० नगरीभेदे, यत्र सूर्यप्रभो ग्रहपतिः, सूरश्रीस्तस्य भार्या, तस्याः सूरप्रभाद्या दारिकाः सूर्यस्य अग्रमहिषीत्वेन जाताः । ज्ञा० २ श्रु० ।

अक्खेव-आक्षेप-पुं० आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कायाम्, आ० म० द्वि० । पूर्वपक्षे, विशे० । आ-क्षिप् , क्षिप प्रेरणे मर्यादोपदिष्टमर्थमाक्षिपति न सम्यगेतदिति । किमाक्षिपति ?, आह-द्विविधमेव सूत्रम् । यत्संक्षेपकं, यद्वा विस्तारकं । संक्षेपकं सामायिकम्, विस्तारकं चतुर्दशपूर्वाणि । एवमेष नमस्कारः । नापि संक्षेपेणोपदिष्टः, नापि विस्तरतः । एतावती च परिकल्पना तृतीया नास्ति । "नमो सिद्धाणं ति णिवुया गहिया णमो साहूणं ति संसारत्था गहिया एवं संखेवो वित्थरो, णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो चोद्दसपुव्वीणं २ जाव णमो आयतरगाणं णमो आमोसहिपत्ताणं एवमादि पत्थंतरे णं कायव्वो जेण ण कीरति तेण दुट्ठु त्ति अक्खेवदारं" । आ० चू० १ अ० । "अक्खेवो सुत्तदोसा पुच्छा वा" आक्षेपो नाम यत्सूत्रदोषा उच्यन्ते, पृच्छा वा क्रियते, वृ० १ उ० । परद्रव्याक्षेपस्वरूपे एकोनविंशतितमे गौणचौर्ये, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । भर्त्सने, अपवादे, आकर्षणे, धनादिन्यासरूपे निक्षेपे, अर्थालङ्कारभेदे, निवेशने, उपस्थाने, अनुमाने, यथा जातिशक्तिवादिनामाक्षेपात् व्यक्तेर्बोधः । सतिरस्कारवचने च, वाच० ।

अक्खेवणी-आक्षेपणी-स्त्री० आक्षिप्यते मोहात्तत्वं प्रत्याकृष्यते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी, कथाभेदे, सा चतुर्विधा-" अक्खेवणी कहा चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा-आयारक्खेवणी ववहारक्खेवणी पण्णत्तिक्खेवणी दिट्ठिवायक्खेवणी" स्था० ४ ठा० ।

आयारे ववहारे, पन्नत्ती चेव दिट्ठिवाए य ।
एसा चउव्विहा खलु, कहा उ अक्खेवणी होइ ॥२००॥

आचारो लोचास्नानादिः, व्यवहारः कथंचिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रज्ञप्तिश्चैव संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथनम् । अन्ये त्वभिदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति । एषाऽनन्तरोदिता चतुर्विधा । खलुशब्दो विशेषणार्थः श्रोत्रपेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्यानेकप्रकारेति कथा त्वाक्षेपणी भवति । तुरेवकारार्थः । कथैव प्रज्ञापकेनोच्यमाना नान्येन । आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्वं प्रत्यनया भव्यप्राणीत्याक्षेपणी भवतीति गाथार्थः । इदानीमस्या रसमाह—

विज्जा चरणं च तवो, य पुरिसकारो य समिइगुत्तीओ ।
उवइस्सइ खलु जहियं, कहाइ अक्खेवणीइ रसो ॥२०१॥

विद्या ज्ञानमत्यन्तोपकारि भावतमोभेदकं, चरणं चारित्रं समग्रविरतिरूपम्, तपोऽनशनादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रून् प्रति स्ववीर्योत्कर्षलक्षणः, समितिगुप्तयः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदिश्यते खलु श्रोतृभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र कचिदसावुपदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो निष्यन्दः सार इति गाथार्थः । दश० नि० ३ अ० । ध० । ग० । औ० । ठा० (इयं कस्मै कथयितव्येति ' धम्मकहा ' शब्दे)

अक्खेवि (ण्)-आक्षेपिन्-त्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणादिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः (वशीकरणादिना परद्रव्यमुट्टषु) प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खोड-कृष्-धा० असेः कोशात्कर्षणे, " असावक्खोडः " ८।४।१८७ । इति सूत्रेण असिविषयस्य कृषेरक्खोडादेशः । अक्खोडइ । असिं कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

अक्खोड (य)-पुं० आ+अक्ष-ओट-ओड-शैलपीलुवृक्षे, ' अखरोट् ' इतिलोके प्रसिद्धः । वाच० । तत्फले, न० । प्रज्ञा० १७ पद ।

अक्खोडभंग-अक्षोटभङ्ग-पुं० खोटभङ्गशब्दार्थे, " खोटभंगो त्ति वा उक्कोडभंगो त्ति वा अक्खोडभंगो त्ति वा एगट्ठं " व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अक्खोभ-अक्षोभ-त्रि० । न० ब० । क्षोभवर्जिते, "अक्खोभे सागरो व्व थिमिए" प्रश्न० सम्ब० ५ द्वा० । अचलितस्वरूपे, "पत्थुस्सग्गो अक्खोभो होइ जिणाविस्सो " पंचा० ४ विव० । " अक्खोहस्स भगवओ संघसमुद्दस्स" अक्षोभ्यस्य परीषहोपसर्गसंभवेऽपि निष्प्रकम्पस्य, नं० । अन्धकवृष्णेर्धारिण्यां जाते पुत्रे, स च द्वारावत्यां नगर्यामन्धकवृष्णेर्धारिण्यां देव्यामुत्पन्नोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः शत्रुञ्जये संलेखनां कृत्वा सिद्ध इत्यन्तकृद्दशासु सूचितम् । तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने च । अन्त० १ वर्ग० । स्था० ।

अक्खोवंजण-अक्षोपाञ्जन-न० शकटधूर्म्रक्षणे, " अक्खोवं-

जणवणाणुलेवणभूयं " अक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपनभूतम् (आहारम्) अक्षोपाञ्जनं च शकटधूर्म्रक्षणं, व्रणानुलेपनं च क्षतस्यौषधेन विलेपनम्, अक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपने, ते इव विवक्षितार्थसिद्धिरसादिनिरभिष्वङ्गतासाधर्म्याद्यः सोऽक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपनभूतस्तम्, क्रियाविशेषणं वा । भ०७ श० १ उ० ।

अखंड–अखण्ड–त्रि० । न० ब० । पौर्णमासीचन्द्रबिम्बवत् (स्था०५ ठा०१ उ०) संपूर्णावयवे, आ० म० द्वि०। तं०। ज्ञा०। सर्वधर्मास्तिकायादिकं संपूर्णं देशदैशिककल्पनारहितमखण्डं वस्तु। विशे०। 'सुहगुरुजोगो तव्वय–णसेवणा आभवमखंडा' आभवमखण्डा आजन्माऽऽसंसारं वा । ल० । पञ्चा० । "संघनगरभद्दं ते अक्खंडचारित्तपागारा " अखण्डमविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत्तथा। नं० ।

अखंमणाणरज्ज–अखण्डज्ञानराज्य–त्रि० अप्रूर्णितज्ञानराज्ये, " चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम्" । अष्ट० १७ अष्ट० ।

अखंडदंत–अखण्डदन्त–त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः (जी० ३ प्रति०) परिपूर्णदशनेषु, जं० २ वक्ष० । औ० ।

अखंडिय–अखण्डित–त्रि० परिपूर्णे, पंचा० १८ विव० ।

अखंडियसील–अखण्डितशील–त्रि० अजघ्नचारित्रे, पं० चू०।

अखिल्ल–अखिल–त्रि० न खिलयते न कणश आदीयते, खिलक । न० त० । वाच० । समस्ते, अष्ट० ८ अष्ट० । " अखिले अगिद्धे अणिए य चारी " अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्रैः संपूर्णः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । "अखिलगुणाधिकसद्यो–गसारसद्ब्रह्मयागपरः "। षो० ६ विव० ।

अखिल्लसंपया–अखिलसंपद्–स्त्री० सर्वसंपत्तौ, "आधीनां परमौषध–मव्याहतमखिलसंपदां बीजम्" षो० १५ विव० ।

अखेद–अखेद–पुं० अव्याकुलतायाम्, " अखेदो देवकार्यादावन्यत्राद्वेष एव च " द्वा० २० द्वा० ।

अखेम–अक्षेम–त्रि० सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् क्रोधाद्युपद्रवसहिते पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अखेमरूव–अक्षेमरूप–पुं० आकारेण सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् द्रव्यलिङ्गवर्जिते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अखेयएण–अखेदज्ञ–त्रि० अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अकुशले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग–अग–पुं० न गच्छतीत्यगः । वृक्षे, आ० म० द्वि०। नि० चू०। विशे० । पर्वते, कल्प०। गमनाकर्तरि शूद्रादौ, त्रि०। न गच्छति वक्रगत्या पश्चिममित्यगः । सूर्ये, तस्य हिं वक्रगत्यभावः ज्योतिषप्रसिद्धः । वाच० ।

अगअ–असुर–पुं० "गौणादयः" । ८ । २ । ७४। इति सूत्रेण असुरशब्दस्य ' अगअ ' इति निपातः । दैत्ये, प्रा० ।

अगइसमावण्ण–अगतिसमापन्न–पुं० अगतिं नरकादिं गच्छति । नैरयिकादौ,

दुविहा णेरइया पएणत्ता तं जहा–गइअसमावन्नगा चेव अगइसमावन्नगा चेव जाव वेमाणिया ।

गतिदण्डके गतिसमापन्नका नरकं गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ये गताः। अथवा गतिसमापन्ना नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु द्रव्यनारकाः, अथवा चलस्थिरत्वापेक्षया ते ज्ञेया इति । स्था०२ ठा० २ उ०।

अगंठिम–अग्रन्थिम–न० कदलीफलेषु, खण्डखण्डीकृतेषु वा फलेषु, बृ० १ उ० । अध्वकल्पे, " सक्करघयगुलमीसा खज्जूरअगंठिमा वत्तंम्मि" अगंठिमा णाम कयलया अन्ने भणंति मरहट्ठविसए फलाए कयलकप्पमाणाओ पि मीओ पक्कम्मि रुक्खे बहुक्किआओ भवंताणि फलाणि खंडाखंडाणि कयाणि घेप्पंति । नि० चू० १६ उ० ।

अगंडिगेहो–देशी–यौवनोन्मत्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अगंडूयग–अकण्डूयक–पुं० कण्डूयनाकारकेऽभिग्रहविशेषधारके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगंथ–अग्रन्थ–पुं० न विद्यते ग्रन्थः सबाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः । निर्ग्रन्थे, " पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए " आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अगंध–अगन्ध–त्रि० नञः कुत्सार्थत्वाद्—अतीव दुर्गन्धे, बृ० १ उ० ।

अगंधण–अगन्धन–पुं० नागजातिभेदे, नागानां भेदद्वयम्-गन्धनोऽगन्धनश्च । तत्र अगन्धना नागा मन्त्रैराकृष्टाः "अवि मरणमब्भवस्संति ण य वंतमापिबंति" । "नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे " दश० २ अ० ।

अगच्छमान–अगच्छत्–त्रि० । न गच्छत् न० त० वैशाद्यां न णत्वम् । अचलति , प्रा० ।

अगड–अकृत–पुं० अकृते, "सग्गामे मा वीसुं, वसेज्ज अगमे असुले से" व्य० ६ उ० । गर्त्ते, बृ० ३ उ०।

अगडतड–अवटतट–पुं० कूपतटे, विशे० ।

अगडदत्त–अगडदत्त–पुं० शङ्खपुरे सुन्दरनृपस्य सुलसायां जातेऽगडदत्ते पुत्रे, अथ तत्कथा लिख्यते–शङ्खपुरे सुन्दरनृपः । तस्य सुलसा प्रिया । तत्सुतोऽगडदत्तः । स च सप्त व्यसनानि सेवते स्म । लोकानां गृहेष्वप्यन्यायं करोति स्म । लोकैस्तदुपालम्भा राज्ञे दत्ताः । राज्ञा स निर्वासितो गतो वाराणस्यां पवनचण्डोपाध्यायगृहे स्थितः । द्विसप्ततिकलावान् जातः । गृहोद्याने कलाभ्यासं कुर्वन् प्रत्यासन्नगृहगवाक्षस्थया प्रधानश्रेष्ठिसुतया मदनमञ्जर्या तद्रूपमोहितया च तया प्रक्षिप्तः पुष्पस्तवकः। सञ्जातप्रीतिस्तन्मय एव जातः। अन्यदा तुरगारूढः स नगरमध्ये गच्छन्नस्ति स्म। तावता ईदृशो लोके कोलाहलः श्रुतः, यथा-" किं खलिउ व्व समुद्दो, किं वा जलिओ हुआसणो धीरे। किं पत्ता रिउसेणा, तरुिदंरो निवडिओ किं वा ?॥१॥ मंठेण वि परिचत्तो, मारंतो सुंडिगोयरं पत्तो। सवडं मुहं चलंतं कालु व्व अकारणे कुद्धो " ॥ २ ॥ तावता तेन कुमारेण अश्वं मुक्त्वा स हस्ती गजमदनविद्यया दान्तः। पश्चात्समारुह्य राजकुलासन्नमायातो राज्ञा दृष्ट आकारितो मानपूर्वम् । कुमारेण तं गजमालानस्तम्भे बद्ध्वा राज्ञः प्रणामः कृतः। राज्ञा चिन्तितम्-कश्चिन्महापुरुषोऽयम् , यतोऽत्यन्तविनीतो दृश्यते । यतः-" सालीभरेण तोये-ण जलहरा फलभरेण तरुसिहरा । विणएण य सप्पुरिसा, नमंति नहु कस्सइ भएण " ॥ ततो विनयरञ्जितेन राज्ञा तस्य कुलादिकं पृष्टम्, कियान् कलाभ्यासः कृतः ? इत्यपि पृष्टम् । कुमारस्तु लज्जालुत्वेन न किञ्चिज्जगौ। उपाध्यायेन तस्य

कुलादिकं सर्वविद्यानैपुण्यं च कथितम् । कुमारवृत्तान्तं श्रुत्वा चमत्कृतो नृपतिः। अथ तस्मिन्नेवावसरे राज्ञः पुरो नगरलोकः प्राभृतं मुक्त्वा एवमूचिवान्-हे देव! त्वन्नगरं कुबेरसदृशं कियद्दिनानि यावदासीत् साम्प्रतं घोरपुरतुल्यमस्ति। केनापि तस्करेण निरन्तरं मुष्यते, अतस्त्वं रक्षां कुरु। राज्ञा तलारक्षा आकारिता भृशं वचोभिस्तर्जिताः। तैरुक्तम्-महाराज! किं क्रियते, कोऽपि प्रचण्डस्तस्करोऽस्ति, बहूपक्रमेऽपि न दृश्यते। ततः कुमारेणोक्तम्-राजन्! अहं सप्तदिनमध्ये तस्करकर्षणं चेन्न करोमि ततोऽग्निप्रवेशं करिष्यामीति प्रतिज्ञा कृता। राज्ञा तु पुरलोकप्राभृतं कुमाराय दत्तम्। कुमारस्तत उत्थाय चौरस्थानानि विचारयति स्म। "वेसाणं मंदिरेसु, पाणागारेसु जूयठाणेसु। कुत्तूरियठाणेसु अ, उज्जाणनिवाणसालासु ॥ १ ॥ मठसुन्नदेवलेसु य, चच्चरचउहट्टसुन्नसालासु। एएसु ठाणेसु जओ पाएणं तक्करो होइ" ॥२॥ एवं चौरस्थानानि पश्यतः कुमारस्य षड् दिनानि गतानि। पश्चात्सप्तमदिने नगराद्बहिर्गत्वाऽधः स्थितः चिन्तयति स्म-"छिज्जउ सीसं अह होउ बंधणं चयउ सव्वहा लच्छी। पडिवन्नपालणेसु पुरिसाणं जं होइ तं होउ" ॥ १ ॥ एवं चिन्तयन्नसौ कुमार इतस्ततो दिगवलोकनं करोति स्म। तस्मिन्नवसरे एकः परिहितधातुवस्त्रो मुण्डितशिराःकूर्चच्छिदण्डधारी चामरहस्तः किमपि बुरूबुरू इति शब्दं मुखेन कुर्वाणः परिव्राजकस्तत्रायातः। कुमारेण दृष्टश्चिन्तितश्च-अयमवश्यं चौरः, यतोऽस्य लक्षणानीदृशानि सन्ति-- "करिसुण्डाभुयदण्डो, विसालवच्छत्थलो पुरुसवेसो। नवजुव्वणो रउद्दो, रत्तच्छो दीहजंघो य" ॥१॥ एवं चिन्तयतः कुमारस्य तेन कथितम्-अहो सत्पुरुष! कस्त्वमायातः?, केन कारणेन पृथिव्यां भ्रमसि?। कुमारेण भणितम्-उज्जयनीतोऽहमत्रायातः दारिद्र्यभग्नो भ्रमामि। परिव्राजक उवाच-पुत्र! त्वं मा खेदं कुरु, अद्य तव दारिद्र्यं छिनद्मि, समीहितमर्थं ददामि। ततो दिवसं यावता तत्र स्थितौ। रात्रौ कुमारसहितश्चौरः कस्यचिदिभ्यस्य गृहे गतः। तत्र खात्रं दत्तवान्। तत्र स्वयं प्रविष्टः। कुमारस्तु बहिः स्थितः। परिव्राजकेन द्रव्यभृताः पेटिकास्ततो बहिष्कर्षिताः। ताः खात्रमुखे कुमारसमीपे मुक्त्वा स्वयमन्यत्र क्वचिद्गत्वा दारिद्र्यभग्नाः पुरुषा अनेके आनीताः। तेषां शिरसि ताः पेटिका दत्त्वा कुमारेण समं स्वयं बहिर्गतः। स तापसः कुमारं प्रत्येवमुवाच-कुमार! क्षणमात्रं बहिःस्थिताः, निद्रासुखमनुभवामः। परिव्राजकेनेत्युक्ते सर्वेऽपि पुरुषास्तत्र सुप्ताः, कपटनिद्रया परिव्राजकोऽपि सुप्तः। कुमारोऽपि नो तादृशानां विश्वासः कार्य इति कपटनिद्रयैव सुप्तः। तावता स परिव्राजक उत्थाय तान् सर्वान् कङ्कपत्र्या मारयामास। यावत् कुमारसमीपे समायाति स तावत् कुमार उत्थाय तं खड्गेन जङ्घाद्वये जघान। छिन्ने जङ्घाद्वये स तत्रैव पतितः कुमारं प्रत्येवमुवाच-वत्स! अहं भुजङ्गनामा चौरः। ममेह श्मशाने पातालगृहमस्ति। तत्र वीरमतीनाम्नी मम भगिन्यस्ति। अत्र वटपादपस्य मूले गत्वा तस्याः समीपे शब्दं कुरु। यथा सा भूमिगृहद्वारमुद्घाटयति त्वाञ्च स्वस्वामिनं करोति। सङ्केतदानार्थं मत्खड्गं गृहाणेत्युक्ते कुमारस्तत्खड्गं गृहीत्वा तत्र गतः। स तु तत्रैव मृतः। कुमारेण सा शब्दिताऽऽगता द्वारमुद्घाटयामास। कुमारेण भ्रातुः खड्गं दर्शयित्वा स्वरूपमुक्तम्। तस्या अन्तः खेदो जातः परं न मुखे खेदं दर्शयामास। मध्ये आकारितः कुमारः पल्यङ्के शायितः। उक्तश्च-तव विलेपनाद्यर्थं चन्दनादिकमहमानयामीति। ततो निर्गता। कुमारेण चिन्तितम्-प्रायः स्त्रीणां विश्वासो न कार्यः। यतः-शास्त्रे इमे दोषाः प्रायो निरूपिताः-- "माया अलियं लोभो, मूढत्तं साहसं असोयत्तं। निस्सिया तह च्चिय, महिलाण सहावया दोसा" एतस्यास्तु तथाविधचौरभगिन्या विश्वासो नैव कार्य इति विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुक्त्वाऽन्यत्र गृहकोणे स्थितः। सा बहिर्गत्वा यन्त्रप्रयोगेण शय्योपरि शिलां मुमोच। तया शय्या चूर्णिता। ततः कुमारेण सा सद्यः साक्रोशं केशेषु धृता राज्ञः समीपमानीता। प्रोक्तः सर्वोऽपि वृत्तान्तः। राज्ञा तद्भूमिगृहात् समस्तं वित्तमानाय्य लोकेभ्यो दत्तम्। कुमारेण सा जीवन्ती मोचिता। पश्चान्नृपाग्रहात् कुमारेण नृपसुता कमलसेनानाम्नी परिणीता। नृपेण कुमाराय सहस्रं ग्रामा दत्ताः, शतं गजा दत्ताः, दश सहस्राण्यश्वा दत्ताः, लक्षं पदातयो दत्ताः। ततः सुखेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म। अन्यदा कलाभ्याससमये यया श्रेष्ठिसुतया सह प्रीतिर्जाताऽऽसीत्तया मदनमञ्जर्या कुमारसमीपे दूती प्रेषिता। तया उक्तम्-तव गुणानुरक्ता तवैवेयं पत्नी भवितुं वाञ्छति। कुमारेणाप्युक्तम्-यदाऽहं शङ्खपुरं यास्यामि तदा त्वां गृहीत्वा यास्यामीति तस्यै त्वया वक्तव्यम्। अथान्यदा तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमाराकारणाय समेताः। कुमारस्तु तेषां वचनमाकर्ण्य पितुर्मिलनाय भृशमुत्कण्ठितः श्वशुरं पृष्ट्वा कमलसेनया समं चलितः। चलनसमये च मदनमञ्जरी आकारिता। साऽपि कुमारेण समं चलिता। ताभ्यां प्रियाभ्यां सह सैन्यवृतः कुमारः पथि चलन् बहून् भिल्लान् संमुखमापततो ददर्श। तदा कुमारसैन्येन तैः समं युद्धं कृतम्। भग्नं कुमारसैन्यं भिल्लैर्लुण्ठितमितस्ततो गतम्। भिल्लपतिस्तु कुमाररथे समायातः। उत्पन्नबुद्धिना कुमारेण स्वपत्नी रथाग्रभागे निवेशिता। तस्या रूपेण मोहङ्गतो भिल्लपतिः कुमारेण हतः। पतिते च तस्मिन् सर्वेऽपि भिल्ला नष्टाः। कुमारस्तु तेनैव एकेन रथेन गच्छन्नग्रे महतः सार्थस्य मिलितः। सार्थोऽपि सनाथ इव मार्गे चलति स्म। कियन्मार्गं गत्वा सार्थिकैः कुमाराय एवमुक्तम्-कुमार! इतः प्रध्वरमार्गे भयं वर्तते, ततः प्रध्वरमार्गं विहाय अपरेण मार्गेण गम्यते। कुमारेणोक्तम्-किं भयम्?। ते कथयन्ति स्म-अस्मिन् प्रध्वरमार्गे महत्यटवी समेष्यति, तस्या मध्ये महानेकश्चौरो दुर्योधननामा वर्तते, द्वितीयस्तु गर्जारवं कुर्वन् विषमो गजो वर्तते। तृतीयो दृष्टिविषसर्पो वर्तते। चतुर्थो दारुणो व्याघ्रो वर्तते। एवं चत्वारि भयानि तत्र वर्त्तन्ते। कुमारः प्राह-एतेषां मध्ये नैकस्यापि भयं कुरुत। चलत सत्वरं मार्गे। कुशलेनैव शङ्खपुरे यास्यामः। ततः सर्वेऽपि तस्मिन्नेवाध्वनि चलिताः। अग्रे गच्छतां तेषां दुर्योधनश्चौरस्त्रिदण्डभाग् मिलितः। सोऽपि पान्थोऽहं शङ्खपुरं समेष्यामीति वदन् सार्थेन सार्द्धं चलति स्म। मार्गे चैकः सन्निवेशः समायातः। तदा त्रिदण्डिना उक्तम्-मम उपलक्षितोऽयं सन्निवेशो वर्त्तते। तेनात्र गत्वा मया दध्यादि आनीयते, यदि भवद्भ्यो रुचिः स्यात्। सार्थिकैरुक्तम्-आनीयताम्। ततस्तेन तदन्तर्गत्वा आनीतं दध्यादि विषमिश्रितं कृत्वा सर्वे पायिताः। ततो मृताः सर्वे सार्थिकाः। अगडदत्तेन भार्याद्वययुतेन न पीतमिति न मृतः सः। त्रिदण्डी पुनः सन्निवेशमध्ये गत्वा कियत्परिवारयुतो गृहीतशस्त्रः कुमारमारणायाऽऽयातः। कुमारेण खड्गं गृहीत्वा संमुखं गत्वा घोरसंग्रामकरणेन स हतः। परिवारस्तु नष्टः। भूमौ पतता तेन चौरेणैवमुक्तम्-अहं दुर्योधनश्चौरः प्रसिद्धः, त्वयाऽहं हतो न जीविष्यामि, परं मम बहु द्रव्यं वर्तते, मम भगिनी जयश्रीनाम्नी चैतद्वनमध्येऽस्ति, तत् त्वया गृहीतव्यं सा च पत्नी कार्या। कुमारस्तत्र गतः। साऽऽहूता सामाया-

ता । दृष्टः कुमारः । ज्ञातस्तया भ्रातृवृत्तान्तः । तया कुमारोऽपि गुहामध्ये आकारितः । तत्र गच्छन्मदनमञ्जर्या वारितस्तां तत्रैव मुक्त्वा कुमारोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गं यावद्गतेन कुमारेण प्रचण्डशुण्डादण्डप्रभग्नतरुकोटिनिघृष्टगिरितटः सवेगं संमुखमागच्छन् यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः । ततः कुमारो रथादुत्तीर्य गजाभिमुखं प्रचलितः । उत्तरीयवस्त्रवेष्टिकां कृत्वा गजाग्रे मुमोच । गजस्तत्प्रहारार्थं शुण्डादण्डमधः क्षिपन् यावदीषन्नतस्तावत् कुमारस्तद्दन्तद्वये पादौ कृत्वा तस्य स्कन्धेऽधिरूढः वज्रकठिनाभ्यां स्वमुष्टिभ्यां तत्कुम्भस्थलद्वयं जघान । कुमारेण प्रकामं भ्रमितस्ततो भ्रामयित्वा स गजो वशीकृतः । पश्चात् स गजो गीरिव शान्तीकृतो मुक्तश्च । तत्रैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽग्रे चलितः । कियन्मार्गं यावद्गच्छति कुमारस्तावत् कुण्डलीकृतलाङ्गूलः स्वरवेण गिरिप्रतिशब्दान् विस्तारयन् विद्युच्चञ्चललोचनः सर्पोपमां रसनां स्वमुखकुहरान्निष्कासयन् सिंहः सामायातः । तेनापि समं कुमारो युद्धं कृतवान् । कुमारेण कर्कशप्रहारैर्जर्जरितः सिंहस्तत्रैव पतितः । कुमारस्ततोऽग्रे चलितः । सर्वोऽप्युपद्रवो मार्गे विद्ययैव निवारितः । कुशलेन कुमारः स्त्रीद्वयसंयुतः शङ्खपुरे प्राप्तः । प्रवेशमहोत्सवः प्रकामं पितृभ्यां कृतः । सर्वेषां पौराणां परमानन्दः सम्पन्नः । तत्र सुखेन कुमारस्तिष्ठति स्म । अन्यदा वसन्ते मदनमञ्जर्या सह कुमार एकाक्येव क्रीडावने गतः । तत्र रात्रौ मदनमञ्जरी सर्पेण दष्टा मृतेव सञ्जाता । कुमारस्तु तन्मोहादग्नौ प्रविशन् गगनमार्गेण गच्छता विद्याधरेण वारितः । विद्याबलेन सा जीविता । विद्याधरस्तु स्वस्थानं गतः । कुमारस्तया समं रात्रिवासार्थं कस्मिंश्चिद्देवकुले गतः । तत्र तां मुक्त्वा उद्द्योतकरणाय अग्निमानेतुं कुमारो बहिर्गतः । तदानीं तत्र पञ्च पुरुषाः पूर्वं कुमारहतदुर्योधनचौरभ्रातरः कुमारवधाय पृष्ठ आगताः । इतस्ततो भ्रान्ताः कुमारस्थलमलभमानास्समागताः सन्ति स्म । तैस्तु तत्र दीपको विहितः । मदनमञ्जर्या तेषां मध्ये लघुभ्रातू रूपं विलोकितम् । रूपाक्षिप्ततया तस्यैव प्रार्थना विहिता । त्वं मम भर्त्ता भव, अहं तव पत्नी भवामि । तेनोक्तम्–तव भर्त्तरि जीवति सति कथमेवं भवति ?। सा प्राह-तमहं मारयिष्यामि । तदानीमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः । आगच्छन्तं कुमारं दृष्ट्वा तया तत्रस्थो दीपो विध्यापितः । तत्रायातेन कुमारेण पृष्टम्–अत्रोद्द्योतः कथमभूत् ?। तया उक्तम्–तव हस्तस्थस्याग्नेरेवोद्द्योतः । सरलेन तेन तथैवाङ्गीकृतम् । मदनमञ्जर्या हस्ते खड्गं गृहीतम् । कुमारोऽग्निप्रज्वालनार्थं ग्रीवामधश्चकार । तावता तया कुमारवधार्थं खड्गः प्रतिकोशान्निष्कासितः । तस्याश्चरित्रं दृष्ट्वा चौरलघुभ्रातुर्वैराग्यमुत्पन्नम् । पश्चादस्या हस्तात्तेन खड्गोऽन्यत्र पातितः । पञ्चापि भ्रातरस्ततः कुमारादलक्षिताः शनैः शनैर्निर्गताः कस्मिंश्चिद्वने गताः । तत्र चैत्यमेकमुत्तुङ्गं दृष्टम् । तत्र सातिशयज्ञानी साधुर्दृष्टः । तत्समीपे तैः पञ्चभिरपि दीक्षा गृहीता । तदाज्ञां पालयन्तः संयमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म । कुमारेण नैतत्किमपि ज्ञातम् । अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्जर्या रात्रिमेकामुषित्वा प्रभाते स्वगृहे समायातः । कियद्दिनानन्तरमश्वापहृत एक एवागडदत्तकुमारस्तस्मिन्नेव वने तत्रैव चैत्ये गतः । तत्र देवान्नमस्कृत्य साधवो वन्दिताः । गुरुणा देशना कृता । कुमारेण पृष्टम्- भगवन् ! क एते पञ्चापि भ्रातर इव साधवः,? कथमेषां वैराग्यमुत्पन्नम् ?। कथमेभिर्यौवनभरेऽपि व्रतं गृहीतम् ?। एवं कुमारेण पृष्टे गुरुः प्राह सर्वं तदीयं वृत्तान्तम् । कुमारस्तच्चरित्रं श्रुत्वा युवतीस्वरूपमेवं विचिन्तयति स्म "अणुरज्जंति खणेणं, जुवईओ खणेण पुणो विरज्जंति । अन्नुन्नरागनिरया, हलिद्दरागु व्व चलपेमा " ॥ १ ॥ इति विचिन्त्य कुमारोऽपि वैराग्यात्प्रव्रजितः । यथाऽसौ अगडदत्तः प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्भावासुप्तोऽपि इह लोके परलोके च सुखी जातः । उत्त० ४ अ० । इयं कथोत्तराध्ययनस्य बृहट्टीकावपि दृश्यते । तत्रायं विशेषः (जितशत्रुनामा राजा । तस्य सारथिरमोघरथनामा । अमोघरथस्य स्त्री यशोमतिः, पुत्रश्चागडदत्तः । तस्य पितरि मृते माता भृशं रुरोद । तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोदनहेतुं पप्रच्छ । तदा माता प्रत्युवाच—पुत्र ! अयममोघप्रहारी सारथिस्त्वदीयपितृपदमनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्यास्तदा कथमेवं भवेत् ?। पुत्रोऽन्वयुङ्क्त-को मां कलामध्यापयिष्यतीति ?। माता प्रत्यगादीत्-कौशाम्बीनगर्यां दृढप्रहारीत्याख्यः कलाचार्यो विद्यते, तं त्वमुपतिष्ठस्वेति । स मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र गत्वा कलामध्यगीष्ट । ततो राजसभां प्रविवेश । तं दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः । राजा तु प्रसन्नताविरहित एव केवलमुचिताचारं परिपालयन् तस्मै किमपि दातुमियेष । स तु राज्ञस्तदनादरदानमवगत्य नाहमीदृशं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय न जग्राह । तदानीमनेके नागरिकाः 'चौरोऽस्मान् बाधते' इति राज्ञः पुरो व्यजिज्ञपन् । राजा तलारक्षम [कोट्टपालम्] आहूय न्यगादीत्–भोस्तलारक्ष ! भवता सप्तभिरहोरात्रैश्चौरो निग्रहीतव्यः । इत्याकर्ण्यागडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्चक्रे-महाराज ! अहं सप्तभिर्दिनैस्तं चौरं निग्रहीतुं प्रभवामीति) अन्यत्सर्वं समानम् । उत्त० ।

अगमदद्दुर–अवटदर्दुर–पुं० कूपमण्डूके, ज्ञा० ८ अ० ।

अगममह–अवटमह–पुं० कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अगढिय–अग्रथित–त्रि० अप्रतिबद्धे, आहारे वाऽगृद्धे, " अमाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अविमणे" प्रश्न० १ संव० द्वा० । मुत्कलैरेव वचनैरभिधीयमाने, बृ० ३ उ० ।

अगणि–अग्नि–पुं० अङ्गति ऊर्ध्वं गच्छति । अगि-नि, नलोपः। वाच० । वन्हौ, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । उत्त० । " चत्तारि अगणिओ समारभित्ता जेहिं कूरकम्माभि तवेंति बालं" सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । "अंगारं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं । ण उञ्जिज्जा ण घट्टिज्जा, नो णं णिव्वावए मुणी "। दश० ८ अ० । प्रदीपनके, व्य० १ उ० । (अग्नेः सर्वो विषयः 'तेउकाइय' शब्दे)

अगणिआहिय–अग्न्याहित–पुं० अग्निराहितो यैः । " वाऽऽहिताग्न्यादिषु " २।२।३७। इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपातः । अग्न्याहिता आहिताग्नयः । कृतवन्ह्याधानेषु, श्रीऋषभजिनेशचितायामग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारणेनाहिताग्नय इति तत एव च प्रसिद्धः । आ० म० प्र० ।

अगणिकंमयट्ठाण–अग्निकार्मकस्थान–न० अग्निप्रवेशस्थाने, " अगणिकंडयट्ठाणेसु अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उच्चारं पासवणं वोसिरेज्जा " आचा० २ श्रु० १० अ० ।

अगणिकाय–अग्निकाय–पुं० तेजस्काये, भ० ७ श० १० उ० ।

अनु०। (अस्य विषयः सर्व एव 'तेउअकाइअ' शब्दे) नवरम्-

अगणिकाए णं भंते ! अहुणोज्जालिए समाणे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महस्सवतराए चेव महावेयणतराए चेव भवइ, अह णं समए २ वोकसिज्जमाणे वोच्छिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि इंगालभूए मुम्मुरभूए छारियभूए तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव किरिया आसव अप्पवेयणतराए चेव भवइ ?। हंता, गोयमा ! अगणिकाए णं अहुणोज्जालिए समाणे तं चेव ।

(अगणीत्यादि अहुणोज्जालिए त्ति) अधुनोज्ज्वलितः सद्यः प्रदीप्तः (महाकम्मतराए त्ति) विध्याप्यमानानलापेक्षयाऽतिशयेन महान्ति ज्ञानावरणादीनि बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः। एवमन्यान्यपि। नवरं, क्रिया दाहरूपा । आश्रवो नवकर्मोपादानहेतुः । वेदना पीडा । जावना तत्कर्मजन्या परस्परशरीरसम्बन्धजन्या वा (वोक्कसिज्जमाणे त्ति) व्यपकृष्यमाणोऽपकर्षं गच्छन् (अप्पकम्मतराए त्ति) अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः स्तोकार्थः । क्षारावस्थायां त्वजावार्थः । भ० ५ श० ६ उ० । कालोदायिप्रश्नेन अग्न्युज्ज्वालकविध्यापकयोः कतरो महाकर्मेति विचारितम् । भ० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव–अग्निजीव–पुं० अग्नयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः तेजस्कायिकेषु, विशे० (अग्निजीवानां परिमाणमवधिः 'ओहि' शब्दे उक्तम्) ।

अगणिजीवसरीर–अग्निजीवशरीर–न० तेजस्कायजीवबद्धशरीरे, जीवान्तरशरीराणामग्निजीवशरीरत्वम् ।

अह भंते! उदए कुम्मासे सुराए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ?। गोयमा! उदए कुम्मासे सुराए जे घणे दव्वे एए णं पुव्वजावपएणवणं पडुच्च वणस्सइजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिज्झामिया अगणिज्झुसिया अगणिसेविया अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइवा वत्तव्वंसिया सुराए य जे दव्वे एएणं पुव्वजावपएणवणं पडुच्च आउजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिसरीराइ वत्तव्वं सिया। अह णं भंते! अये तंबे तउए सीसए उवले कसपट्टियाए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया?गोयमा! अये तंबे तउए सीसए उवले कसपट्टियाए एणं पुव्वभावपएणवणं पडुच्च पुढवीजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणिसरीराइ वत्तव्वं सिया । अह भंते ! अट्ठी अट्ठिज्झामे चम्मे चम्मज्झामे रोमे २ सिंगे २ खुरे २ नहे २ किए णं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ?, गोयमा ! अट्ठी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे एए णं तसपाणजीवसरीरा अट्ठिज्झामे चम्मज्झामे रोमज्झामे सिंगखुरणहज्झामे एए णं पुव्वभावपएणवणं पडुच्च तसपाणजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थाईया जाव अगणित्ति वत्तव्वं सिया । अह भंते ! इंगाले छारिए बुसे गोमए एए णं किं सरीराइ वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! इंगाले छारिए बुसे गोमए एए णं पुव्वभावपएणवणं एए एगिंदियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि जाव पंचिंदियजीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि तओ पच्छा सत्थाइया जाव अगणिजीव वत्तव्वं सिया ।

[अहेत्यादि एएणं ति] एतानि णमित्यलङ्कारे (किंसरीर त्ति) केषां शरीराणि किंशरीराणि (सुराए य जे घणे त्ति) सुरायां द्वे द्रव्ये स्याताम्-घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च । तत्र यद् घनद्रव्यम् ,.(पुव्वभावपन्नवणं पडुच्च त्ति) अतीतपर्यायप्ररूपणामङ्गीकृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो वनस्पतयः (तओ पच्छ त्ति) वनस्पतिजीवशरीरत्वाच्यवानन्तरमग्निजीवशरीराणीति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्तीत्याह (सत्थातीय त्ति) शस्त्रेणोदूखलमुशलयन्त्रकादिना, कारणभूतेन अतीतानि अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शस्त्रातीतानि (सत्थपरिणामिय त्ति) शस्त्रेण परिणामितानि कृताभिनवपर्यायाणि शस्त्रपरिणामितानि । ततश्च (अगणिज्झामिय त्ति) वन्हिना ध्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात्, तथा (अगणिज्झुसिय त्ति) अग्निना जोषितानि पूर्वस्वभावक्षपणात् अग्निसेवितानि वा जुषी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् (अगणिपरिणामियाइ त्ति) संजाताग्निपरिणामानि, औष्ण्ययोगादिति । अथवा 'सत्थातीता' इत्यादौ शस्त्रमग्निरेव, 'अगणिज्झामिया' इत्यादि तु तद्व्याख्यानमेवेति । (उवले त्ति) इह दग्धपाषाणः (कसपट्टिय त्ति) कषपट्टः (अट्ठिज्झामे ति) अस्थिध्यामं चाग्निना श्यामलीकृतमापादितपर्यायान्तरमित्यर्थः । (इंगालेत्यादि) अङ्गारो निर्ज्वलितेन्धनम् (छारिए त्ति) क्षारिकं भस्म (बुसे त्ति) बुसम् (गोमय त्ति) छगणम् । इह बुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ ग्राह्यौ, अन्यथा अग्निध्यामितादिवक्ष्यमाणविशेषणानामनुपपत्तिः स्यादिति । एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य एकेन्द्रियजीवैः शरीरतया प्रयोगेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकेन्द्रियशरीराणीत्यर्थः। अपिः समुच्चये। यावत्करणाद् द्वीन्द्रियजीवशरीरप्रयोगपरिणामिता अपीत्यादि दृश्यम् । द्वीन्द्रियादिजीवशरीरपरिणतत्वं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेष्विति । तत्र पूर्वमङ्गारो भस्म चैकेन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकेन्द्रियादिशरीराणामिन्धनत्वात् । बुसं तु यवगोधूमहरितावस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् । द्वीन्द्रियादीनां तु गवादिभिर्भक्षणे द्वीन्द्रियादिशरीरमपि । भ० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्झामिय–अग्निध्मात–त्रि० ३ त० । अग्निना दग्धे, (ज्ञ०)

अग्निध्यामित–त्रि० अग्निनेषद्दग्धे, अग्निना स्वकीयवर्णत्याजनाद् ध्यामीकृते, ज्ञ० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्झुसिय–अग्निजोषित–त्रि० अग्निसेविते, जुषी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । ज्ञ० ५ श० २ उ० ।

अग्निक्षोषित–त्रि० पूर्वस्वभावक्षपणात् (भ० ५ श० २ उ०) अग्निना क्षपिते, भ० १५ श० १ उ० ।

अगणिणिक्खित्त–अग्निनिक्षिप्त–त्रि० अग्नावुपरि निक्षिप्ते, "अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाजे संते णो पडिगाहेज्जा" आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अगणिपरिणामिय–अग्निपरिणमित–त्रि० ३ त० औष्ण्ययो-

णाद् सञ्जाताग्निपरिणामे, भ० ५ श० २ उ० । पूर्वस्वभावत्या-जनेनाऽऽत्मलाभं नीते, भ० १५ श० १ उ० ।

अगणिमुह-अग्निमुख-पुं० अग्निर्मुखमिव यस्य । देवे, हुतद्रव्यं हि देवैरग्निरूपमुखद्वारेणैवाऽद्यते " हव्यं वहति देवानाम " इति श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । " अग्निमुखा वै देवाः " इति च श्रुतिः, इति वेदविदः । वाच० । ऋषभदेवचितायामग्निकुमारा वदनैः खल्वग्निं प्रक्षिप्तवन्तः, तत एव नियन्धनाल्लोके " अग्निमुखा वै देवाः " इति प्रसिद्धम, इति समयविदः । आ० म० प्र० । आ० चू० । अग्निर्मुखं प्रधानमुपास्यो यस्य । अग्निहोत्रिणि द्विजे, वाच० ।

अगत (द) अगद-पुं० नास्ति गदो रोगो यस्मात् ५ ब०, औषधे, नि० चू० ११ उ० । परमौषधे, पं० व० ३ द्वा० । नकुलाद्यौषधे, नि० चू० १ उ० । ६ ब० रोगशून्ये, त्रि० । " गद भाषणे " अच्, न० त० अकथके, त्रि० । वाच० ।

अगत्थि-अगस्ति-पुं० अगं विन्ध्याचलमस्यति । अस्-क्तिच् । शकन्ध्वादिः । अगस्त्यनामके मुनौ, " अगस्त्यस्यापत्यानि, बहुषु यञो लुक्, तद्गोत्रापत्येषु ब० व० । तत्सम्बन्धित्वात् दक्षिणस्यां दिशि, बृहत्संहितायामस्य गगनमण्डले दक्षिणस्यां तारारूपेण स्थितिरुक्ता । वकवृक्षे, वाच० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चचत्वारिंशे महाग्रहे, " दो अगत्थी " स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । जं० । कल्प० ।

अगम-अगम-पुं० न गच्छतीति । गम-अच् । न० त० । वृक्षे, अगन्तरि, त्रि० । वाच० । आकाशे, न०, तद्धि गमनक्रियारहितत्वेनागमम् । भ० २० श० २ उ० ।

अगमिय-अगमिक-न० न गमिकमगमिकम । प्रायो गाथाश्लोकवेष्टकाद्यसदृशपाठात्मके श्रुतभेदे, । तच्चैवंविधं प्रायः [विशे०] आचारादिकालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात् । तथाचाह- " अगमियं कालियसुयं " नं० । आ० म० प्र० । कर्म० । बृ० ।

अगम्म-अगम्य-त्रि० न गन्तुमर्हति । गम-यत् । न० त० । गमनानर्हासु स्नुषादिषु, चाण्डाल्यादिकायां च, " फासेऊण अगम्मं, भणाइ सुमिणे गओ अगम्मं ति " स्पृष्ट्वा कायेनेति गम्यते । अगम्यां स्नुषां चाण्डाल्यादिकां वा स्त्रियमिति शेषः । व्य० १ उ० ।

अगम्मगामि (ण्) अगम्यगामिन्-त्रि० भगिन्याद्यभिगन्तरि, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अगरभा-अगर्भा-स्त्री० न ब०, सुविभक्ताक्षरतया अरहस्यायां वाण्याम्, औ० । " अगरभाए अमम्मणाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए " (जिनवाण्या) तत्र, अगर्भया व्यक्तवर्णघोषयेत्यर्थः । उपा० २ अ० ।

अगरहिय-अगर्हित-त्रि० (आहारविषये) अकृतगर्हे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अगर्ह्य-त्रि० अनिन्द्ये, " से अगरहिए अचेले जे समाहिए " आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

अगरु-अगरु-न० अगरुचन्दनाख्ये गन्धिकद्रव्ये " कुट्ठं तगरं अगरुं संपिट्ठं सम्ममुसिरेणं " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । प्रश्न० । नि-चू० । उपा० । आचा० । "संखतिणिसागुरुचंदणाइं " नि० चू० २ उ० ।

अगरुगंधिय-अगुरुगन्धित-त्रि० अगुरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण जातोऽस्येति अगुरुगन्धितम् । अगुरुचन्दनेन धूपिते, तं० ।

अगरुपुड-अगरुपुट-पुं० ६ त० अगरुनामकगन्धद्रव्यस्य पुटे, " अगरुपुडाण वा लवंगपुडाण वा वासपुडाण वा " । जं० १ वक्ष० ।

अगरुलहुय-अगुरुलघुक-न० न विद्येते गुरुलघुनी यस्मिंस्तदगुरुलघुकम, परिणामोपेतमूर्तद्रव्यत्वादगुरुलघुकम् । परतत्त्वे, " नित्यं प्रकृतिवियुक्तं, लोकालोकावलोकनाभोगम । स्तिमिततरङ्गोदधिसम-मवर्णमस्पर्शमगुरुलघु" । षो० १५ विव० । न गुरुकमधोगमनस्वभावं न लघुकमूर्ध्वगमनस्वभावं यद् द्रव्यं तदगुरुलघुकम । अत्यन्तसूक्ष्मे भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, स्था० १० ठा० १ उ० ।

अथ ' किं गुरुलघु किं वा अगुरुलघु ' इति शङ्कायां तत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-

ओरालियवेउव्विय-आहारगतेय गुरुलहू दव्वा ।
कम्मगमणभासाई, एयाइं अगरुलहुयाइं ॥

इह द्वौ नयौ-व्यवहारनयो निश्चयनयश्च । तत्र व्यवहारनयः प्राह-चतुर्धा द्रव्यं , तद्यथा-किंचिद् गुरु , किंचिल्लघु , किंचिद् गुरुलघु, किंचिदगुरुलघु । तत्र यदूर्ध्वं तिर्यग्वा प्रक्षिप्तमपि पुनर्निसर्गादधो निपतति द्रव्यं तद् गुरु । तद्यथा-लेष्ट्वादि । यत्तु द्रव्यं निसर्गत एवोर्ध्वगतिस्वभावं तल्लघु । यथा-दीपकलिकादि । यत्पुनर्नोर्ध्वगतिस्वभावं नाप्यधोगतिस्वभावं किन्तु स्वभावेनैव तिर्यग्गतिधर्मकं तद् गुरुलघु, यथा-वायुः । यत्पूर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा गच्छति तदगुरुलघु । यथा-व्योम परमाण्वादि । उक्तं च -

गुरुअलहुयं उभयं वि, नोभयमिति वावहारियनयस्स ।
दव्वं लेट्ठुं दीवो, वाऊ वोमं जहासंखं ॥

निश्चयनयः पुनरेवमाह-न सर्वगुर्वेकान्तेन किमपि वस्त्वस्ति, गुरोरपि लेष्ट्वादेः प्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात् । नाप्येकान्तेन सर्वलघ्वप्यस्ति, अतिलघोरपि वाय्वादेः करताडनादिनाऽधोगमनादिदर्शनात । तस्माद् द्विविधमेव वस्तु । तद्यथा-गुरुलघु, अगुरुलघु च । तत्र यद् बादरं भूभूधरादिकं तत्सर्वं गुरुलघु, शेषं तु भाषाप्राणापानमनोवर्गणादिकं परमाणुद्व्यणुकव्योमादिकं च सर्वमगुरुलघु । उक्तं च-

निच्छयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।
बायरमिह गुरुलहुयं, अगुरुलहुं सेसयं दव्वं ॥

तत्रेयं गाथा निश्चयनयमतेन । पदार्थव्याख्या चैवम-औदारिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि अपराण्यपि तैजसद्रव्यप्रत्यासन्नानि तदाभासानि बादररूपत्वाद् गुरुलघूनि गुरुलघुस्वभावानि । कार्मणमनोभाषाद्रव्याणि तु आदिशब्दात्प्राणापानद्रव्याणि भाषाद्रव्यार्वाग्वर्तीनि भाषाभासानि । अपराण्यपि च परमाणुद्व्यणुकादीनि, व्योमादीनि चैतानि अगुरुलघुस्वभावानि । वक्ष्यमाणगाथाद्वयसंबन्धः । एवं पूर्वं किल क्षेत्रकालसंबन्धिनोः केवलयोरङ्गुलावलिकासंख्येयादिविभागकल्पनया परस्परोपनिबन्ध उक्तः । आ० म० प्र० ।

इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह—

जा तेयगं सरीरं, गुरुलहुदव्वाणि कायजोगो य ।
मणसा अगुरुलहूणि अ-रूविदव्वाय सव्वे वि ॥

औदारिकशरीरादारभ्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणि यश्च तेषामेव संबन्धी काययोगः शरीरव्यापारः, एतत्सर्वं गुरुलघुकमिति निर्देशः । यानि तु मनोभाषाप्रयोगाण्युपलक्षणत्वादानपानकार्मणप्रयोगाणि तद्पान्तरालवर्तीनि च द्रव्याणि या-

नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायलक्षणान्यरूपिद्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा बायरबोंदी–कलेवरा गुरुलहू भवे सव्वो ।
सुहुमाणंतपदेसो, अगुरुलहू जाव परमाणू ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने। बादरा बोन्दिः शरीरं येषां ते बादरबोन्दयो बादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो जीवा इत्यर्थः, तेषां सबन्धीनि यानि कलेवराणि यानि वाऽपराण्यपि बादरपरिणतानि तत्तद्धरादीनि शक्रचापगन्धर्वपुरप्रभृतीनि वा वस्तूनि तानि सर्वाण्यपि गुरुलघून्युच्यन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्तिनां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अनन्तप्रादेशिकादीनि परमाणुपुद्गलं यावत् द्रव्याणि तानि सर्वाण्यगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मीसगा चेव ।
लेट्ठुपदीवगमारुय, एवं जीवाण कम्माइं ॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि द्रव्याणि भवन्ति । तद्यथा-गुरुकानि लघुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलघुमिश्राणीत्यर्थः । तत्र यानि तिर्यगूर्ध्वं वा प्रक्षिप्ताण्यपि स्वभावादेवाधो निपतन्ते तानि गुरुकाणि, यथा-लेष्टुप्रभृतीनि । यानि तूर्ध्वगतिस्वभावानि तानि लघुकानि , यथा–प्रदीपकादीनि । यानि तु नाधोगतिस्वभावानि नवा ऊर्ध्वगतिस्वभावानि किं तर्हि तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि , यथा-मारुतो वायुस्तत्प्रभृतीनि । एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधानि भवन्ति–गुरूणि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र यैरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते तानि गुरुकाणि, यैस्तु त एवोर्द्धगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि, यैः पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरुलघुकानीति । तदेवं व्यवहारनयाभिप्रायेण समर्थितः कर्मणां गुरुत्वलघुत्वपरिणामः । बृ० १ उ० ।

एतदेव सर्वमभिप्रेत्य सूत्रकृदाह–

सत्तमे णं भंते ! उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुयलहुए?। गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तणुवाए य लहुए?। गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । एवं नो अगुरुयलहुए । सत्तमे घणवाए सत्तमे घणोदही सत्तमा पुढवी उवासंतराइं सव्वाइं जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तणुवाए एवं गुरुयलहुए घणवायघणउदहिपुढवीदीवा य सागरावासा । नेरइयाणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुलहुया ?। गोयमा ! नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुलहुया वि । से केणट्ठेणं?। गोयमा ! वेउव्वियतेयाइं पडुच्च नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया नो अगुरुयलहुया । जीवं च कम्मं च पडुच्च नो गुरुया नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया, से तेणट्ठेणं एवं जाव वेमाणिया, नवरं णाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं धम्मत्थिकाए जाव जीवत्थिकाए चउत्थपएणं । पोग्गलत्थिकाए णं भंते ! किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुयलहुए?। गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए वि अगुरुयलहुए वि । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! गुरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहुए, अगुरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए, समया कम्माणि य चउत्थपएणं । कण्हलेस्साणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ?। गोयमा ! नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च तइयपएणं भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपएणं, एवं जाव सुक्कलेस्सा । दिट्ठीदंसणनाणअन्नाणसण्णाओ चउत्थपएणं णेयव्वाइं हेट्ठिल्ला चत्तारि सरीरा नायव्वा, तइएणं कम्मयं चउत्थएणं पएणं मणजोगे वइजोगे चउत्थएणं पदेणं कायजोगो तइयएणं पएणं सागारोवओगो अणागारोवओगो चउत्थपएणं सव्वदव्वाओ सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ । अतीतद्धा अणागयद्धा सव्वद्धा चउत्थएणं पएणं ।

(सत्तमेणमित्यादि) इह चेयं गुरुलघुव्यवस्था—

निच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।
ववहारओ उ जुज्जइ, बायरखंधेसु णाणेसु ॥ १ ॥
अगुरुलहुं चउ फासा, अरूविदव्वा य होंति नायव्वा ।
सेसा उ अट्ठ फासा, गुरुलहुया निच्छयणयस्स" ॥ २ ॥

(चउ फास त्ति) सूक्ष्मपरिणामानि (अट्ठ फास त्ति) बादराणि गुरुलघुद्रव्यं रूपि अगुरुलघुद्रव्यं त्वरूपि रूपि चेति । व्यवहारतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनानि-गुरुर्लोष्ठोऽधोगमनात्, लघुर्धूम ऊर्ध्वगमनात् , गुरुलघुर्वायुस्तिर्यग्गमनात्, अगुरुलघ्वाकाशं तत्स्वभावत्वादिति । एतानि चावकाशान्तरादिसूत्राण्येतद्गाथानुसारेणावगन्तव्यानि । तद्यथा–"उवासवायघणउदहि-पुढवीदीवा य सागरावासा । नेरइयाइ अत्थिय, समयाकम्माइं लेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणणाणे, सन्नसरीरा य जोगउवओगे । दव्वपएसा पज्जव, तीया आगामिसंबद्ध त्ति" ॥२॥

(वेउव्वियतेयाइं पडुच्च त्ति) नारका वैक्रियतैजसशरीरे प्रतीत्य गुरुकलघुका एव । यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मके ते , एताश्च गुरुकलघुका एव । यदाह-" ओरालियवेउव्विय–आहारगतेय गुरुलहू दव्व त्ति" । (जीवं च कम्मं च पडुच्च त्ति) जीवापेक्षया कार्म्मणशरीरापेक्षया च नारका अगुरुलघुका एव, जीवस्यारूपित्वेन गुरुलघुत्वात् । कार्मणशरीरस्य च कार्मवर्गणात्मकत्वात्कार्मणवर्गणायां चागुरुलघुत्वात् । आह च—"कम्मणमणभासाई, एयाइं अगुरुलहुयाइं ति" (नाणत्तं जाणियव्वं सरीरेहिं ति) यस्य यानि शरीराणि भवन्ति तस्य तानि ज्ञात्वा असुरादिसूत्राण्यध्येयानीति हृदयम् । तत्रासुरादिदेवा नारकवद्वाच्याः । पृथिव्यादयस्तु औदारिकतैजसे प्रतीत्य गुरुलघवः, जीवं कार्म्मणं च प्रतीत्यागुरुलघवः । वायवस्तु औदारिकवैक्रियतैजसानि प्रतीत्य गुरुलघवः । एवं पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चोऽपि मनुष्यास्त्वौदारिकवैक्रियतैजसाहारकाणि प्रतीत्येति (धम्मत्थिकाये त्ति) इह यावत्करणात्,"अहम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए "इति दृश्यम् (चउत्थपएणं ति) एते अगुरुलघु इत्यनेन पदेन वाच्याः । शेषाणां तु निषेधः कार्यः, धर्मास्तिकायादीनामरूपितया अगुरुलघुत्वादिति । पुद्गलास्तिकायसूत्रे उत्तरं निश्चयनयाश्रितम्, एकान्तगुरुलघुनोस्तन्मतेनाभावात्(गरुयलहुय दव्वाइं ति) औदारिकादीनि ४ (अगुरुयलहुयदव्वाइं ति)कार्म-

णादीनि (समया कम्माणि य चउत्थपएणं ति) समया अमूर्ताः कर्माणि च कार्मणवर्गणात्मकानीत्यगुरुलघुत्वमेषाम् । (दव्वलेसं पडुच्च तइयपएणं ति)द्रव्यतः कृष्णलेश्या औदारिकादिशरीरवर्णः, औदारिकादिकञ्च गुरुलघ्विति कृत्वा गुरुलघ्वित्यनेन तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्यः। भावलेश्या तु जीवपरिणतिः,तस्याश्चामूर्त्तत्वादगुरुलघ्वित्यनेन व्यपदेश इत्यत आह (भावलेसं पडुच्च चउत्थपएणं ति) (दिट्ठीदंसणेत्यादि) दृष्ट्यादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वादगुरुलघुलक्षणेन चतुर्थपदेन वाच्यानि । अज्ञानपदं त्विह ज्ञानविपक्षत्वादधीतम् , अन्यथा द्वारेषु ज्ञानपदमेव दृश्यते (हेट्ठिल्ले त्ति) औदारिकादीनि । (तइयपएणं ति)-गुरुलघुपदेन गुरुलघुवर्गणात्मकत्वात् । (कम्मणा चउत्थपएणं ति) अगुरुलघुद्रव्यात्मकत्वात् कार्मणशरीराणां मनोयोगवाग्योगौ चतुर्थपदेन वाच्यौ, तद्द्रव्याणामगुरुलघुत्वात् , काययोगः कार्मणवर्जस्तृतीयेन गुरुलघुत्वात्तद्द्रव्याणामिति। (सव्वदव्वेत्यादि) सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि सर्वप्रदेशास्तेषामेव निर्विभागा अंशाः सर्वपर्यवा वर्णोपयोगादयो द्रव्यधर्माः, एते पुद्गलास्तिकायवद् व्यपदेश्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन वेत्यर्थः । यतः सूक्ष्माण्यमूर्तानि च द्रव्याण्यगुरुलघूनि, इतराणि तु गुरुलघूनि । प्रदेशपर्यवास्तु तत्तद्द्रव्यसम्बन्धत्वेन तत्तत्स्वभावा इति । भ० १ श० ९ उ० । संप्रति गुरुलघुद्रव्याणामगुरुलघुद्रव्याणां चाल्पबहुत्वेन वर्गणाश्चिन्त्यन्ते--तत्र बादरस्कन्धेषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नेष्वेकोत्तरवृद्ध्या प्रवर्द्धमाना वर्गणा अनन्ता भवन्ति। ताश्च तावद् द्रष्टव्या यावत्सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्धः।

तत्तो य वग्गणाओ, सुहुमाण जवंत णंतगुणियाओ ।
परमाणूण य एका, संखेरपदेसंखाता ।

ताभ्यः समस्तबादरस्कन्धगताभ्यो वर्गणाभ्यः सूक्ष्माणां सूक्ष्मानन्तप्रदेशकस्कन्धानामनन्तगुणिता वर्गणास्तथा परमाणूनां समस्तानामेका वर्गणा। (संखेर त्ति) संख्येयप्रदेशेषु द्व्यादिप्रभृत्युत्कृष्टं संख्यातं यावत् संख्याताः संख्यातस्य संख्यातभेदभावात् । इतरस्मिन्नसंख्येयप्रदेशे असंख्येया वर्गणाः, असंख्यातस्य संख्यातभेदभिन्नत्वात् ।

इय पोग्गलकायम्मि य, सव्वत्थोवा उ गुरुलहू दव्वा ।
उभयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदर्शितेन प्रकारेण पुद्गलकाये पुद्गलास्तिकाये गुरुलघुद्रव्याणि सर्वस्तोकानि उभयप्रतिषेधितानि संजातगुरुलघुप्रतिषेधानि अगुरुलघूनीत्यर्थः । पुनर्द्रव्याणि अनन्तकल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुद्रव्येष्वप्यस्ति, तत आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि। संप्रति पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन चिन्त्यते--इह पञ्चराशयः क्रमेण स्थाप्यन्ते। तद्यथा-परमाणुराशिः, संख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, सूक्ष्मानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिः, बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिश्च। तत्र बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशौ योऽन्तिमः सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्धस्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगुरुलघुपर्यायाः, इह बादरस्कन्धेष्वप्यगुरुलघवः पर्यायाः सन्ति परमुत्कलिता गुरुलघुपर्याया इति । त एवं तत्र शेषकालं गण्यन्ते, संप्रति तु वस्तुस्थितिश्चिन्त्यते । इत्यल्पबहुत्वचिन्तायां ते चिन्तिताः। तत्सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धाद् येऽधस्तना बादरस्कन्धास्तेषु गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहान्या द्रष्टव्याः। अगुरुलघुपर्यायाः पुनरनन्तगुणवृद्ध्या। एवं च तावद् ज्ञातव्यं यावत्सर्वजघन्यो बादरस्कन्धः। उक्तं च-- " परमाणुसंखसंखा, सुहुमाण ताण बायराणं च । एएसिं रासीतो, कमेण सव्वे ठवेऊणं ॥ तेसिं जो अंतिमओ, सव्वुक्कोसो य बायरो खंधो। तस्स बहू गुरुलहुया, अगुरुलहू पज्जवा थोवा ॥ तत्तो हिट्ठा हुत्ता, अणंतहाणिए गुरुलहुवुड्ढी । एवं ता जाव जहन्नो त्ति " ॥

एतदेवाह--

ते गुरुलहुपज्जाया, पच्छाच्छेदेण वोगसित्ताणं ।
जा बायरो जहन्नो, अणंतहाणिए हायंता ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः पश्चाच्छेदनकेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्क्रम्य पृथक्कृत्वा सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धादधस्तनेषु बादरस्कन्धेष्वनन्तगुणहान्या हीयमानास्तावद् द्रष्टव्या यावद् जघन्यो बादरस्कन्धः। अगुरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमानाः, ततः परं सूक्ष्मानन्तप्रदेशादिषु स्कन्धेषु केवला अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमाना द्रष्टव्याः। ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- " तेण परं सुहुमाओ, अणंतवुड्ढिए नवर वड्ढंता। अगुरुलहु च्चिय केवल, जा परमाणू य तो नेया " तदेवं पर्यायपरिमाणमप्यल्पबहुत्वेन चिन्तितम्। सांप्रतमरूपि द्रव्यं चिन्त्यते- तच्चतुर्द्धा, तद्यथा- धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायश्च ।

तेषां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह--

केण हविज्ज विरोहो, अगुरुलहुपज्जवाण उ अमुत्ते ।
अच्चंतमसंजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स ॥

यत्रामूर्ते धर्मास्तिकायादौ तद्विपक्षस्य गुरुलघुपर्यायजातस्यात्यन्तमेकान्तेनासंयोगोऽघटना तत्रागुरुलघुपर्यायाणां केन विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित्। ततः केनापि विनाशाभावात्सदैव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

तथाचाह--

एवं तु अणंतेहिं, अगुरुलघुपज्जवेहिं संजुत्तं ।
होइ अमुत्तं दव्वं, अरूविकायाण चाउण्हं ॥

एवं तु सति चतुर्णामप्यरूपिकायानामरूपिणामस्तिकायानां धर्मास्तिकायप्रभृतीनामेकैकाख्यं यदमूर्तं द्रव्यं तद् भवति प्रत्येकमनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तम्। तदेवंभावित एकैक आकाशप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यवैरुपेतः। बृ० १ उ०।

अगरुलहुचउक्क-अगुरुलघुचतुष्क-- न० अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणनामकर्मप्रकृतिचतुष्टये , कर्म० १ कर्म ।

अगरुलहुणाम-अगुरुलघुनामन्-- न० नामकर्मभेदे , यदुदयादगुरुलघु स्वयं शरीरं जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगरुलहुउदया ।

अगुरुलघूदयादगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य अङ्गं शरीरं न गुरु न लघु जायते भवति, किन्तु अगुरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे हि वोढुमशक्यं स्यात्, एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाणं धारयितुं न पार्येत, यदुदयाज्जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि गुरुलघु किन्तु अगुरुलघुपरिणामपरिणतं भवति, तदगुरुलघुनामेत्यर्थः। कर्म० १ कर्म०। प्रव०। आ०। पं०सं०।

अगरुलहुयपरिणाम–अगुरुलघुकपरिणाम–पुं० अगुरुलघुकमेव परिणामः, परिणामपरिणामवतोरभेदादगुरुलघुकपरिणामः । अजीवपरिणामभेदे, स्था० १० ठा०। अगुरुलघुपरिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अगरुलहुपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

अगुरुलघुपरिणामो भावादिपुद्गलानां "कम्मपमणभासाई पयाई अगुरुलहुयाइं" इतिवचनात्। तथा अमूर्तद्रव्याणां चाकाशादीनाम्। अगुरुलघुपरिणामग्रहणमुपलक्षणम्, तेन गुरुलघुपरिणामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौदारिकादिद्रव्याणां तैजसद्रव्यपर्यन्तानामवसेयः । " ओरालियवेउव्वियआहारगतेय गुरुलहू दव्वा । " इति वचनात् । प्रज्ञा० १३ पद ।

अगरुवर–अगुरुवर–पुं० कृष्णागरौ, ज्ञा० १७ अ० ।

अगलंत–अगलत्–त्रि० अस्राविणि, " असती मोयमहीए कयकप्प अगलंत ससए णिसिरे " व्य० ७ उ०।

अगलिय–अगलित–त्रि० अपतिते, " अगलिअणेहणिवट्टा-हं जोअण लक्खु विज्जाउ। वरिससएण वि जो मिल-इ स हि सोक्खहं सो ठाउं य"। प्रा० १ पाद ।

अगविठ–अगवेषित–त्रि० गवेषणया अपरिभाविते, "अगविठस्स उ गहणं, न होइ न य अगहियस्स परिभोगो।" पिं०। "अगविट्ठा य गविट्ठा, णिप्पण्णा धारणदिसासु" व्य० ४ उ० ।

अगहणवग्गणा–अग्रहणवर्गणा–स्त्री० अल्पपरमाणुरूपत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावाज्जीवानां ग्रहेऽसमागच्छन्तीषु वर्गणासु, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (आसां स्पष्टं स्वरूपं 'वग्गणा' शब्दे दर्शयिष्यते)

अगहिय–अग्रहीत–त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० १७ विव०।

अगहियगहण–अगृहीतग्रहण–न० साधुभिरस्वीकृतभक्तादिदातव्यद्रव्ये, "पडिबंधणिरागरणं, केइ अण्णे अग्गहियगहणस्स" पञ्चा० १७ विव० ।

अगहिल्लगराय–अग्रहिलकराज–पुं० राजभेदे, (ती०) तत्कथा चैवम्–केइ पुण अगहिल्लगरायअक्खाणगविहीए कालाइदोसा वि अप्पाणं निव्वाहइस्संति, तं च अक्खाणयमेवं पन्नवंति पुव्वायरिया-पुव्विं किर पुहवीपुरीए पुण्णो नाम राया । तस्स मंती सुबुद्धी नाम। अन्नया लोगदेवो नाम नेमित्तिओ आगओ। सो य सुबुद्धिमंतिणा आगमेसि कालं पुट्ठो । तेण भणियम्–मासाणंतरे इत्थ जलहरो वरिसिस्सइ । तस्स जलं जो पाहिइ सो सव्वो वि गहिलीभूओ भविस्सइ । कित्तए वि काले गए सुवुट्ठी भविस्सइ । तज्जलपाणेण पुणो जणा सुत्थीभविस्संति। तओ मंतिणा तं रायणो विन्नत्तं। रण्णा वि पडहग्घोसेण वारिसंगहत्थो जणो आइट्ठो। जणेण वि तस्संगहो कओ। मासेण वुट्ठो मेहो । तं च संगहियं नीरं कालेण निट्ठविअं लोएहिं नवोदगं चेव पाउमाढत्तं । तओ गहिलीभूआ सव्वलोआ सामंताइ गायंति नच्चंति सिज्झाए वि चिट्ठंतो । केवलं राया अमच्चो अ संगहिअं जलं न निट्ठियं ति । तं चेव दो वि सुत्था चिट्ठंति। तओ सामंताईहिं विसरिसं चिट्ठे रायअमच्चेहिं निरिक्खिऊण परप्परं मंतिअं। जहा गहिल्लो राया मंती य। एए अम्हाहिंतो वि विसारसीयारा । तओ एए अवसारिऊण अवरे अप्पतुल्लायारे रायाणं ठवायिस्सामो। मंती ऊण तेसिं मंतं नाऊण रायणो विन्नवेइ । रण्णा वुत्तं–कह मे एहुंतो अप्पा रक्खियव्वो विदेहनरिंदतुल्लं हवइ। मंतिणा भणियं-महाराय ! अगहिल्लेहिं पि अम्हेहिं गहिल्लीहोऊण ठायव्वं। न अन्नहा मुक्खो। तओ कित्तिमगहिल्लीहोउं ते रायमच्चा तेसिं मज्झे निअसंपयं रक्खंता चिट्ठंति । तओ ते सामंताइ तुट्ठा, अहो ! रायमच्चा वि अम्हसरिसा संजाय त्ति। उवाएण तेण तेहिं अप्पा रक्खिओ। तओ कालंतरेण सुहवुट्ठी जाया। नवोदगे पीए सव्वे लोगा पगइमावण्णा सुत्था संवुत्ता । एवं दूसमकाले गीयत्थकुलिंगीहिं सह सरिसा होऊण वट्टंता अप्पणो समयं भाविणं पडिवालिंता अप्पाणं निव्वाहइस्संति । ती० २१ कल्प० ।

अगाढ–अगाढ–त्रि० अवगाढे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगाढपण्ण–अगाढप्रज्ञ–त्रि० अगाढा तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य सोऽगाढप्रज्ञः । परमार्थपर्यवसितबुद्धौ, " अगाढपण्णेसु वि भावियप्पा, अन्नं जणं सपन्न परिहवेज्जा । " सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

अ (आ) गार–अगार–न० गृहे, दश० १ अ० । अगैर्द्रुमदृषदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् । दशा० १० अ० । विशे० । स्था० ॥ अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । आ०म०, द्वि० । (अगारनिक्षेपः) अगारं द्विविधं द्रव्यभावभेदात्। तत्र द्रव्यागारमगैर्द्रुमदृषदादिभिर्निर्वृत्तम् । भावागारं पुनरगैर्विपाककालेऽपि जीवविपाकितया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहितैरनन्तानुबन्धादिभिर्निर्वृत्तं कषायमोहनीयम् । " समरेसु य अगारेसु, संधीसु य महापहे " अगारेषु शून्यगृहेषु । उत्त० १ अ० । " अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। विशे० । अगारं द्विविधम्-खातमुच्छ्रितं च । तत्र खातं भूमिगृहादि, उच्छ्रितमुच्छ्रयेण कृतम्, उभयं भूमिगृहस्योपरि प्रासादः। पञ्चा० १ विव० । स्थाने च । " सिंगारागारचारुवेसा " औ० । अगारं गृहं तद्योगाद् । विशे० । अगारं गृहं तदेषां (वा) विद्यते इत्यर्शादिगणत्वादच्प्रत्ययः। गृहस्थे, पुं० । दश० १ अ० ।

अगारत्थ–अगारस्थ–पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगारस्थाः । गृहस्थेषु, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ॥

अ (आ) गारधम्म–अगारधर्म–पुं० न गच्छन्तीत्यगा वृक्षास्तैः कृतमा समन्ताद्राजत इत्यगारं गृहम् । तत्र स्थितानां धर्मोऽगारधर्मः । शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । देशविरतौ, आ० म० द्वि० ।

पंच य अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च होंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइ चउरो, गिहिधम्मो बारसविहो य । १३ ।

पञ्चाणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरत्यादीनि गुणव्रतानि च भवन्ति, त्रीण्येव दिग्व्रतादीनि शिक्षापदानि चत्वारि सामायिकादीनि, गृहिधर्मो द्वादशविधस्तु एष एवाणुव्रतादिः। अणुव्रतादिस्वरूपं चावश्यके चर्चितत्वान्नोक्तमिति गाथार्थः ।। दश० नि० ६ अ० । ध० । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः, चकार उक्तसमुच्चय इति । तत्राद्यं भेदं दशभिः श्लोकैर्दर्शयति—

" तत्र सामान्यतो गृह्य-धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।
वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥
शिष्टाचारप्रशंसाऽरि-षड्वर्गत्यजनं तथा ।
इन्द्रियाणां जय उपप्लुतस्थानविवर्जितम् ॥ ६ ॥

सुप्रातिवेश्मिके स्थाने, नातिप्रकटगुप्तके ।
अनेकनिर्गमद्वार-गृहस्य विनिवेशनम् ॥ ७ ॥
पापभीरुकताख्याता, देशाचारप्रपालनम् ।
सर्वेष्वनपवादित्वं, नृपादिषु विशेषतः ॥ ८ ॥
आयोचितव्ययो वेषो, विभवाद्यनुसारतः ।
मातृपित्रर्चनं सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९ ॥
अजीर्णेऽभोजनं काले, भुक्तिः सम्पदलोलता ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धार्हा, गर्हितेष्वप्रवर्त्तनम् ॥ १० ॥
भर्त्तव्यभरणं दीर्घ-दृष्टिर्धर्मश्रुतिर्दया ।
अष्टबुद्धिगुणैर्योगः, पक्षपातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
सदाऽनभिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्वहम् ।
यथार्हमतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥
अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम् ।
अदेशकालाचरणं, बलाबलविचारणम् ॥ १३ ॥
यथार्हलोकयात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।
ह्रीः सौम्यता चेति जिनैः, प्रज्ञप्तो हितकारिभिः " ॥ १४ ॥
(दशभिः कुलकम्)

तत्र तयोः सामान्यविशेषरूपयोर्गृहस्थधर्मयोर्वक्तुमुपक्रान्तयोर्मध्ये समान्यतो गृहिधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिःपरोपकरणशीलैर्जिनैरर्हद्भिः प्रज्ञप्तः प्ररूपित इत्यनेन संबन्धः॥ ध०१अधि०।

(न्यायार्जितधनादिपदानामर्थः 'णायज्जिय' शब्दे)

अगारबंधण-अगारबन्धन-न० क०स०। पुत्रकलत्रधनधान्यादिरूपे गृहपाशे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ॥ " एवं समुट्ठिए भिक्खू , वोसिज्जा गारबंधणं " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अगारव-अगौरव-त्रि०। न० ब०। ऋद्ध्यादिगौरववर्जिते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अगारवास-अगारवास-पुं० गृहवासे, " अगारवासमज्झे वसित्ता " न० १५ श० १ उ० ।

इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं ।
विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ?॥ १०॥

(इहलोग इत्यादि) इहाऽस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति, (विऊ त्ति) विद्याः जानीहि । तथाहि- "अर्थानामर्जने दुःख-मर्जितानां च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम् "॥१॥ तथाहि- " रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां विन्ध्योपकण्ठविपिनं स्वकुलं च हित्वा । किं ताम्यसि द्विप ! गतोऽसि वशं करिण्याः स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः " ॥ १॥ परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मजं दुःखं भवति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादानकर्मोपादानादिति भावः। तथैतदुपार्जितमपि विध्वंसनधर्मं विशरारुस्वभावं गत्वरमित्यर्थः, इत्येवं विद्वान् जानन् कः सकर्णोऽगारवासं गृहवासमावसेत्,गृहवासं वाऽनुबध्नीयादिति? । उक्तं च"दाराः परिभवकाराःबन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः। कोऽयं जनस्य मोहो?, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा "॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

अगारमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः (अणुपुव्वं ति) आनुपूर्व्या श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग् यतः संयतस्तदुपमर्दान्निवृत्तः, किमिति?, यतः समता समभावः आत्मपरतुल्यता, सर्वत्र यतौ गृहस्थे च यदि चैकेन्द्रियादौ श्रयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां लोकं स्थानं गच्छेत् , किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति । " सेओ अगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए " उत्त० २ अ० ।

अगारि (ण्) अगारिन्-पुं० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । आचा०। क०। "अगारिणो वि समणा भवंतु, सेवंति उ ते वि तह प्पगारं" सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अगारिकम्म-अगारिकर्मन्-न० अगारिणां कर्माऽनुष्ठानम्। गृहस्थानां सावद्य आरम्भे, जातिमदादिके च। "णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, ण पारए होइ विमोयणाए" सूत्र० १ श्रु०१३अ०।

अगारियंग-अगार्यङ्ग-न० अगारिणां गृहस्थानामङ्गं कारणम् । जात्यादिके मदस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगारी-अगारी-स्त्री० गृहस्थस्त्रियाम्, व्य० १ उ० ।

अगारीपडिबंध-अगारीप्रतिबन्ध-पुं०अगार्याः प्रतिबन्धोऽगारिप्रतिबन्धः। यत्रागार्या विषये आत्मपरोभयसमुत्था दोषा इत्येवंरूपे गृहियोषित्प्रतिबन्धे , व्य० ४ उ० ।

अगाह-अगाध-त्रि० गम्भीरे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अगिज्झ-अग्राह्य-त्रि० हस्तादिना ग्रहीतुमशक्ये " तओ अगिज्झा पण्णत्ता , तं जहा-- समए पएसे परमाणू " स्था० ३ ठा० २ उ० । अनाश्लेष्ये, " अणेगगणरज्जुयाऽगिज्झे " औ० । अप्रमेये, रा० ।

अगिण्हियव्व-अग्रहीतव्य-त्रि०। न ग्रहीतव्योऽग्रहीतव्यः। हेये, उपेक्षणीये च। उभयोरपि कार्य्यासाधकत्वात्। " गज्झो जो कज्जसाहगो होइ" इति कार्य्यसाधकस्यैव ग्राह्यत्वोक्तेः "णायम्मि गेण्हियव्वम्मि, अगेण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि" उत्त० १ अ०। आव० ।

अगिद्ध-अगृद्ध-त्रि०। न० त०। अनध्युपपन्ने अमूर्छिते, "अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० " उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे अण्णायउंछं पुलणिप्पुलाए " अगृद्धः प्रतिबन्धाभावेन। दश० १० अ० ।

अगिलाइ-अग्लानि-स्त्री० अखेदे, स्था० ७ ठा०। भ०। " अगिलाइ अणाजीवी, णायव्वो वीरियायारो " पंचा० १५ विव०। अगिलाणाम णो मनोवाक्कायर्हि अजज्जरमाणेत्यर्थः" नि० चू०१ उ०।

अगिला-अग्लानि-स्त्री० निर्जरार्थमात्मोत्साहे, व्य०४उ०। गिलाव्याख्यानार्थमाह--"निववेट्ठिं व कुणंतो, जो कुणई परिसा गिला होइ। पडिलेहुट्ठवणाई, वेयावच्चियं तु पुव्वुत्तं" यो नाम नृपवेष्टिं राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्त्यं करोति एतादृशी भवति गिलाग्लानिस्तस्याः प्रतिषेधोऽगिला। तया करणीयं वैयावृत्त्यम्, किं तदित्यत आह-प्रतिलेखोत्थापनादिकं भाण्डस्य प्रत्युपेक्षणमुपविष्टस्योत्थापनमादिशब्दात् भिक्तानयनादिपरिग्रहः,एतत्पूर्वोक्तं वैयावृत्त्यम् । व्य० १ उ० । " अगिलाएणं भत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावडियं करेइ "भ० ५ श० ४ उ० ।

अगिलाय-अग्लान-पुं० अग्लाने, " कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए " भिक्षुः साधुर्ग्लानस्य वैयावृत्त्यमग्लानोऽपरिश्रान्तः कुर्यात्, सम्यक् समाधिना ग्लानस्य

या समाधिमुत्पादयेदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अगीय-अगीत-पुं० अगीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अगीयत्थ-अगीतार्थ-पुं० । न० ब० । अनधिगताचारप्रकल्पादिनिशीथान्तश्रुतार्थे, जी० १ प्रति० (अगीतार्थो येन छेदश्रुतार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा परं विस्मारितः । बृ० १ उ० ।

अथागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखावहो भवतीत्याह-

अगीअत्थस्स वयणेण, अमिअं पि न घुंटए ।
जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसिअं ॥४६॥
परमत्थओ न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।
न तेण अजरामरो हुत्था, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्व्याख्या-अगीतार्थस्य (संविग्गए नाम एगे नो गीयत्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २, संविग्गा नाम एगे गीयत्था वि ३, नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४) पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थभङ्गतुल्यस्य वचनेन अमृतमपि (न घुंटए त्ति) न पिबेत् । अगीतार्थोपदेशेनामृतवद् दृश्यमानं सुन्दरमप्यनुष्ठानं न कुर्यादिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भवेत् यदगीतार्थदेशितमगीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तद् विषं हालाहलं (खु त्ति) निश्चितं, न तेन अजरामरो मोक्षसुखभाग् भवेत् । तत्क्षणादेव निधनं विनाशमनन्तजन्ममरणलक्षणं व्रजेत् प्राप्नुयात्, अगीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसंसारहेतुत्वात् । उक्तं च-" जं जयइ अगीयत्थो, जं च अगीयत्थनिस्सिओ होइ । वट्टावेइ य गच्छं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥ कह उ जयंतो साहू, वट्टावेई य जो उ गच्छं तु । संजमजुत्तो होउं, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ २ ॥ दव्वं खित्तं कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाओ य । न वि जाणई अगीओ, उस्सग्गववाइयं चेव ॥ ३ ॥ जहट्ठियदव्वं ण जाणइ, सच्चित्ताचित्तमीसिअं चेव । कप्पाकप्पं च तहा, जोगं वा जस्स जं होइ" ॥४॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विषमाक्षरेति गाथाच्छन्दसी । ग०२अधि० । महा० । "अबहुस्सुए अगीय-त्थेणिस्सिए वा धारए व गणं । तद्देवसियं तस्स, मासा चत्तारि भारिया होंति" बृ०१ उ० । (इत्यगीतार्थस्य गच्छधारणनिषेधो ' गणहर ' शब्दे) "अगीयत्थो दायव्वस्स धारेयव्वस्स वा अकप्पिओ " उच्यते नर्त्तकीदृष्टान्तेन गाहा-' जह नट्टे जह नटिया, अयाणंतिया विवज्जासं । करेइ गिज्झमाणे, नट्टे णटिया य गरहिया य "।१। भवइ एवमगीयत्थो अगीयत्थी य न सक्केइ समायरिउं पडिलेहणाइ उवदिसिउं वा परेसुं ' पं० चू० । बृ० नि० चू० । (अगीतार्थो गच्छसारणां कर्तुं न शक्नोतीति 'गच्छसारणा' शब्दे) अगीतार्थो दुस्त्याज्यस्तत्सङ्गेन दुःखप्राप्तिः " अगीयत्थत्तदोसेणं, गोयमा ! ईसरेण उ । जंपत्तं तं निसामेत्ता, लहु गीयत्थो मुणी भवे " महा०६ अ० । ('ईसर' शब्दे अभि० राजेन्द्र-द्वि० भा० पृ० ६४५ तत्कथानकम्) " सारासारमयाणित्ता, अगीयत्थत्तदोसओ । वितियमेत्तेणाविरज्जाए, पावगं जं समज्जियं । तेणं तीए अहं ताए, जा जा होहि नियंतणा ! नारयतिरियकुमाणु--सत्तं सोच्चा को धिइं लभे ? ।" (रज्जादिया" शब्दे कथानकम्) "अगीयत्थत्तदोसेणं, भावसुद्धिं ण पावए । विणा भावसुद्धीए, सकलुसमाणसो मुणी भवे । अणुथोवकलुसहियय-त्तं अगीयत्थत्तदोसओ । काऊणं लक्खणज्जाए, पत्ता दुक्खपरंपरा । तम्हा तं णाउ बुद्धीहिं, सव्वभावेण सव्वहा । गीयत्थेहिं भविसाणं, कायव्वं निकलुसं मणं" (महा० ६ अ०)"शाल्यादिबीजयुतोपाश्रये न स्थेयमिति निषेध्य द्वितीयपदे ' विइयपयकारणम्मि पुव्विं वसभा पमज्ज जतणाए ' इत्याद्युक्त्वा, "अगीयत्थस्स न कप्प-इ तिविहं जयणं तु सो न जाणाइ । अणुन्नवणाए जयणाए, जयणं सपक्खपरपक्खजयणं च " (बृ० २ उ०) इत्यगीतार्थस्य त्रिविधयतनाऽज्ञानप्रदर्शनं ' वसइ ' शब्दे । अगीतार्थेन साकं न विहरेत् । " गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थणिस्सिओ होइ " इत्यनेन ' विहार ' शब्दे दर्शयिष्यमाणेन निषेत्स्यमानत्वात्)

अणहीयपरमत्था वि, गोयमा ! संजए भवे ।
तम्हा ते वि विवज्जिज्जा, दुग्गईपंथदायगे ॥ ४३ ॥

हे गौतम ! ये संयता अपि संयमवन्तोऽपि (अणहीयपरमत्थे त्ति) अनधीता अनभ्यस्ताः परमार्था आगमरहस्यानि यैस्ते अनधीतपरमार्थाः, अगीतार्था इत्यर्थः । ते यस्मात् अज्ञातद्रव्यक्षेत्रकालभावौचित्या भवन्तीति शेषः । तस्मात्तानगीतार्थान् विवर्जयेत् । विहारे एकत्र निवासे वा दूरतस्त्यजेत् । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजित एव । किंभूतान् दुर्गतिपथदायकान् तिर्यग्नारककुमानुषकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापकानित्यर्थः । ग० २ अधि० । अगीतार्थेन सह सङ्गो न करणीयः । "अगीयत्थस्स कुसीलेहिं, संगं तिविहेण वज्जए । मोक्खमग्गंसिमे विग्घे, पहम्मी तेणगे जहा ॥ पज्जलियं हुयवहं दट्ठुं, णीसंको तत्थ पविसिओ । अत्ताणं पि डहिज्जासि, नो कुसीलं समल्लिए ॥ वासलक्खं पि सूलीए, संभिन्नो अच्छियासुहं । अगीयत्थेण समं एक्कं, खणद्धं पि न से वसे ॥ विणा वि तंतमंतेहिं, घोरदिट्ठीविसं अहिं । डसंतं पि समल्लीया, णागीयत्थं कुसीलगं ॥ विसं खाएज्ज हालाहलं तं, किर मारेइ भक्खणं । ण करे गीयत्थसंसग्गिं, विढवे लक्खं जइ तहिं ॥ सीहं वग्घं पिसायं च, घोररूवं भयंकरं । ओगिलमाणं पि लीएज्जा, ण कुसीलमग्गं गीयत्थे । सत्तजम्मंतरं सत्तुं, अवमन्निज्जा सहोयरं । वयनियमं जो विराहेज्जा, जणयं पि क्खेतयं तिओ ॥ महा० । ६ अ० । अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारेऽनन्तसंसारितैकान्तिकयनाथा वेति प्रश्नः १४ । अत्रोत्तरम्-अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्यविहारेऽनन्तसंसारिता प्रायिकीति ज्ञायते, कर्मपरिणतेर्वैचित्र्यादिति । सेन० १ उल्ला० ।

अगुण-अगुण-पुं० दोषे, नं० । गुणविरोधिनि दोषे, गुणरहिते, त्रि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पुं० अगुणे एव कस्यचिद् गुणत्वेन विपरिणममाणे, स वक्रविषयः यथा गौर्गलिरसञ्जातकिणस्कन्धो गोगणस्य मध्ये सुखेनैवास्ति । तथा च " गुणानामेव दौर्जन्याद्धुरि धुर्यो नियुज्यते । असंजातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्गलिः " ॥१॥ आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्व-न० अविद्यमानगुणोऽगुणस्तद्भावस्तत्त्वम् । गुणाभावे, " अज्झयणगुणी भिक्खू, न सेस इइ णो पइन्न को हेऊ । अगुणत्ता इइ हेऊ, को दिट्ठंतो सुवण्णमिव " दश० १०अ० ।

अगुणपेहि (न्)-अगुणप्रेक्षिन्-त्रि० अगुणान् प्रेक्षते तच्छीलश्च यः । अगुणदर्शनशीले, दश० ५ अ० ।

अगुणवज्ज - अगुणवर्ज-त्रि० अगुणान् दोषान् वर्जयति सतोऽपि न गृह्णाति इत्यगुणवर्जकः । सतामप्यगुणानामग्राहके, नं० ।

अगुत्त-अगुप्त-त्रि० गुप्तिरहिते, "केवलमेव अगुत्तो, सहसा णाजोगपच्चयप्पेहिं" व्य० १ उ० । "असमिओ मित्ती कीस सहसा अगुत्तो वा" अगुप्तो गुप्तिप्रमत्तः । पञ्चा० १६ विव० ।

अगुत्ति-अगुप्ति-स्त्री०। मनःप्रभृतीनां कुशलानां निवर्त्तनेऽकुशलानां प्रवर्त्तने, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तओ अगुत्तीओ पम्मत्ताओ,तं जहा-मणअगुत्ती वयअगुत्ती कायअगुत्ती। एवं णेरइयाणं जाव थणियकुमाराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं असंजयमणुस्साणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं ।

तओ इत्यादि कण्ठ्यम।विशेषनश्चतुर्विंशतिदण्डके पता अतिदिशन्नाह-एवमित्यादि (एवमिति) सामान्यसूत्रवन्नारकादीनां तिस्रो गुप्तयो वाच्याः, शेषं कण्ठ्यम्,नवरम्,इहैकेन्द्रियविकलेन्द्रिया नोक्ताः, वाङ्मनसयोस्तेषां यथायोगमसम्भवात् । संयतमनुष्या अपि नोक्तास्तेषां गुप्तिप्रतिपादनादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । इच्छाया अगोपनरूपे अर्थविशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० । नि० चू० ।

अगुरुलहुचउक्क-अगुरुलघुचतुष्क-न० । नामकर्मप्रकृतिचतुष्टये, कर्म० १ क० (व्याख्या चास्य 'कम्म' शब्दे)

अगुरुलहुणाम-अगुरुलहुनामन्-न०। नामकर्मभेदे, कर्म० १ क० (निरूपणमस्य 'अगुरुलहुणाम' शब्दे) ।

अगुरुलहुय-अगुरुलघुक-न० अत्यन्तसूक्ष्मे भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, स्था०१० ठा० (स्पष्टमेतद् 'अगुरुलहुय' शब्दे) ।

अगुरुलहुयपरिणाम-अगुरुलघुकपरिणाम-पुं० अजीवपरिणामभेदे,स्था०१०ठा०(प्ररूपणा चास्य 'अगुरुलहुयपरिणाम' शब्दे)

अगुरुवर-अगुरुवर-पुं० कृष्णागरौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अगोविय-अगोपित-त्रि० प्रकटे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अगोरसव्वय-अगोरसव्रत-पुं० गोरसमात्राऽभक्षके, 'पयोव्रतो न दध्यत्ति,न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्" ॥१॥ आव० ४ अ० ।

अग्ग-अग्र-न० अङ्ग-रक् , नलोपः । उपरिभागे, शेषभागे, आलम्बने, पूर्वभागे, वाच० ।

इदाणिं अग्गे त्ति दारं दसभेदं भणति-

दव्वो १ गाहण २ आए-
स ३ काल ४ कम ५ गणण ६ संचए ७ जावे ८ ।
अग्गं भावो ९ तु पहा-
णबहुय उपचारतो तिविहं १० ॥ ४९ ॥

णामठवणाओ गताओ । दव्वग्गं दुविहं-आगमओ णो आगमओ य । आगमओ जाणए अणुवउत्ते, णो आगमओ जाणगसरीरं भव्वसरीरं जाणगभव्वसरीरवइरित्तं तिविहं तं दिसंति ।

तिविहं पुण दव्वग्गं, सचित्तं मीसगं च अचित्तं ।
रुक्खग्गं दस उवचित-अवचित तस्सेव कुंतग्गं ॥ ५० ॥

(तिविहं ति) तिभेयं, पुणसद्दो दव्वग्गावधारणत्थं । सचित्तं मीसगं च अचित्तं । पच्छद्धेणं जहासंखं उदाहरणा-सचित्ते वृक्षाग्रं । से मीसे देसो । उवचियं णाम देसो सचित्तो, अवचियं णाम देसो अचित्तो, जहा सीयमी, ईसिं दट्ठमित्तं रुक्खग्गं च । अचित्तं कुंतग्गं गतं ॥ १ ॥

इदाणिं ओगाहणग्गं—

ओगाहणग्गं साम-त्तणगाण उस्सुअचउत्थभागो णं ।
मंदरवित्तज्जिताणं, जं चोगाढं तु जावतियं ॥ ५१ ॥
अंजणगदहिमुखाणं, कुंतलरुयगवरमंदराणं च ।
ओगाहो उ सहस्सं, सेसा पादं समो गाढा ॥ ५२ ॥

अवगाहनमवगाहः, अधस्तात्प्रवेश इत्यर्थः । तस्सग्गं अवगाहणग्गं। शाश्वद्भवन्तीति शाश्वताः, णगा पव्वता । ते य जं जंबुद्दीवे वेयड्ढाणो ते घेप्पंति ण सेसदीवेसु, तासिं उस्सुअचउत्थभागो अवगाहो नवति। जहा वेयड्ढे पणुवीसं जोयणाणुस्सुओ तेसिं चउत्थभागेण छज्जोयणाणि सणताणि । तस्स चेवावगाहो नवति, सो अवगाहो वेयड्ढस्स भवति। एवं सेसाण वि णेयं । मंदरो मेरू तं वज्जेऊण एवं चउब्भागावगाहलक्खणं भणितं तस्स उ सहस्समेवावगाहो । जं वा अणदिहस्स वत्थुणो जावतियं ओगाढं तस्स अग्गं ओगाहणग्गं । गयं ओगाहणग्गं ॥ २ ॥

इदानीं आएसग्गं—

आदेसग्गं पंचं-गुलादि जं पच्छिमं तु आदिस्सं ।
तं पुरिसाण व जोजय, भोयणकम्मादिकज्जेसु ॥ ५३ ॥

(आदेसग्गं ति) आदेशो निर्देश इत्यर्थः । तेण आदेसेण अग्गं आदेसग्गं । तत्थुदाहरणं-पंचंगुलादि पंचण्हं अंगुलिदव्वाणं कम्मट्ठिताणं जदि पच्छिमं आदिस्सति तं आदेसग्गं नवति । आदेसकारणं इमं-भोयणकाले जहा सत्तट्ठाणे बहुआण कम्मट्ठिताण इमं बहुयं भोजयसु त्ति आदिसति । एवं कम्माइकज्जेसु वि नेयं । गयं आदेसग्गं ॥ ३ ॥

कालग्ग-कमग्गे एगा गाहा । ते भणति—

कालग्गं सव्वद्धा, कमग्गचतुधा तु दव्वमादीयं ।
खंधोगाहठितीसु य, जावेसु य अंतिमा जे ते ॥ ५४ ॥

कलनं कालः तस्स अग्गं कालग्गं, सव्वद्धा, कहं ? समयो आवलिया लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खो मासो उऊ अयणं संवच्छरो जुगपलिओवमं सागरोवमं ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पुग्गलपरियट्टो तीतऽणागतद्धा सव्वद्धा एवं सव्वेसिं अग्गं भवति । बृहत्त्वात् कालग्गं गयं ॥ ४ ॥ इदाणिं कमग्गं-कमो परिवाडी, परिवाडीए अग्गं कमग्गं , तं चउव्विहं दव्वकमग्गं आदिसद्दातो खेत्तकमग्गं कालकमग्गं भावकमग्गं चेति । पच्छद्धेण जहासंखेण उदाहरणा-खंध इति दव्वग्गं । ओगाह इति खित्तग्गं । ठितीसु य त्ति कालग्गं । भावेसु य त्ति भावग्गं । एतेसिं चउण्ह वि अंतिमा जे ते अग्गं भवति । उदाहरणं जहा-दुपएसिओ चउपंचछसत्तट्ठणवदसपएसिओ असंखं, एवं जाव णंताणंतपएसितो खंधो । ततो परं अण्णो बृहत्तरो न नवति सो खंधो दव्वग्गं । एवं एगपएसोगाढादि जाव असंखेयपदेसावगाढो सुहुमखंधो सव्वलोगे ततो परं अण्णो उक्कोसावगाहणंतरो न नवति । स एव खेत्तग्गं । एवं एगसमयठितियं दव्वं दुसमयठितियं जाव असंखेज्जसमयठितियं जं तो परं अण्णं उक्कोसतरट्ठितिजुत्तं ण नवति तं कालग्गं । चसद्दो जातिभेयमवेक्ख उदाहरणं, जहा-पुढविकाइयस्स अंतो मुहुत्तादारब्भ जाव वावीसंवरिससहस्सठितिओ कालजुत्तो भवति , एवं सेसेसु वि णेयं । चिंतेसु परमा-

णुसु एगसमयादारब्भ जाव असंखकालट्ठिती जाता । परमाणु-ट्ठितीतो परं अणो परमाणू उक्कोसतरट्ठितीओ ण भवति, तं परमाणुं जाणीत कालग्गं । एवं जीवाजीवेसु उवउज्जं णेयं,एवं च-सद्दो अवक्खेति , भावग्गं एगगुणकालम्मि ति जाव अणंतगुणका-लगम्मि त्ति भावजुत्तं तं भावग्गं जवति । ततो परं अण्णो उक्कोस-सतरो ण जवति, एतं भावग्गं । गतं कमग्गं ॥ ५ ॥ इदाणिं गण-णग्गं-एगादी जाव सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पयट्टति तेण गणणा ते सीसपहेलिया अग्गं । गतं गणणग्गं ॥ ६ ॥

संचय-जावग्गा, दो वि जणंति—

तणसंचयमादीणं, जं उवरि पहाण खाइगो जावो ।
जीवादिछक्कए पुण, बहुयग्गं पज्जवा होंति ॥ ५५ ॥

तणाणि दब्जादीणि तेसिं चलपिंडनेत्यर्थः । तस्स चयस्स उवरिं जा पूली तं तणग्गं भण्णति, आदिसद्दातो कट्ठपब्लालाती दट्ठव्वो । गयं संचणग्गं ॥ ७ ॥ इदाणिं जावग्गं मूलदारगाहाए भणियं ॥ ८ ॥ (अग्गं भावो तु त्ति) तं पवं वत्तव्वं भावो अग्गं । किमुक्तं भवति-भाव एव अग्गं जावग्गं बन्धानुलोम्यात् । (अग्गं जावो उ) तं भावग्गं दुविहं-आगमओ णोआगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते,णो आगमओ । इमं तिविहं-पहाणभावग्गं बहुयजावग्गं उवचारजावग्गं, एवं तिविहं । तुशब्दोऽर्थज्ञापनार्थः । ज्ञापयति-जहा एतेण तिविहभावग्गेण सहितो दशविहग्गाणिक्खेवो जवति , तत्थ पहाणभावग्गं उदइयादीण जावाण समीवओ पहाणे खातिगो भावो पहाणो त्ति गयं । इदाणिं बहुयग्गं भण्णति—

जीवा पोग्गलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।
थोवा णंताणंता, विसेसमहिया दुवे णंता ॥ ५६ ॥

जीवो आदी जस्स छक्कगस्स तं जीवाइछक्कगं, तं चिमं पोग्गला जीवा समया दव्वा पदेसा पज्जया चेति । एयंमि छक्के सव्वत्थो वा जीवा जीवेहिंतो पोग्गला अणंतगुणा पोग्गलेहिंतो समया अनंतगुणा समएहिंतो दव्वा विसेसाहिता दव्वेहिंतो पदेसा अणंतगुणा । जहासंखेण तेण भण्णति-बहुयग्गं पज्जवा होंति बहुत्तेण अग्गं बहुयग्गं बहुत्वेनाग्रं पर्याया भवन्तीति वाक्यशेषः।पुणसद्दो बहुत्तावधारणत्थो दट्ठव्वो । गतं बहुयग्गं । इयाणिं उवचारग्गं-उवचरणं उवचारो नामग्रहणम् , अधिगममित्यर्थः । स च जीवाजीवभावेसु संभवति । जीवाजीवेसु औदयिकादिसु अजीवभावेसु वर्णादिसु । तत्थ जीवाजीवजावाणं पिट्ठिमो जो घेप्पइ सो उवचारग्गं भावग्गं जवति । इह तु जीवसुत्तभावोवचारग्गं दुविहं-सगलसुत्तजावोवचारग्गं देससुत्तजावोवचारग्गं च । तत्थ सगलसुयजावोवचारग्गं दिट्ठिवातो दिट्ठिवातचूडा वा देससुत्तभावोवचारग्गं पकुच्च भण्णति । तं चिमं चेव पकप्पज्झयणं । कहं ?, जओ भण्णति—

पंचण्ह वि अग्गा णं, उवयारेणिदं पंचमं अग्गं ।
जं उवचरित्तु ताइं, तस्सुवयारो ण इहरा तु ॥ ५७ ॥

(पंचण्ह वि इति) पंच संखा (अग्गाणं ति) आयरग्गाणं ते य पंच चूडाओ । अविसद्दो पंचग्गावहारणत्थे भण्णति । णकारो देसिवयणेण पायपूरणे।जहा-समणे णं रुक्खा णं गुच्छा णं ति।उपचरणं उपचारः, तेण उवचारेण करणभूतेण (इदमिति) अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अग्गं ति) पंचमं अग्गं उपचारेण अग्गं न भवति । एवं बितियततियचउरग्गा वि भवन्ति। पंचमचूलग्गं उवयारग्गं अग्गं जवति, तेण जण्णति पंचमं अग्गं। शिष्य आह-कथम्?। आचार्य आह-(जमिति) जं यस्मात् कारणात् (उवचरित्तु त्ति) उवचरित्तु गृहीत्वा (ताइं ति) चउरो अग्गाइं (तस्से ति) आचारप्रकल्पस्य उपचारो ग्रहणं । ण इति प्रतिषेधे (इहरहा तु) तेष्वगृहीतेषु सीसो पुच्छति-एत्थ दसविहवक्खाणे कयमेण अग्गेणाहिकारो भण्णति ? ।

उपचारणे तु एगतं, उवचारितार्धीतगमितमेगट्ठा ।
उवचारमेत्तमेयं, केसिंचि ण तं कमो जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खातो । एगतं अहिगारः, प्रयोजनेनेत्यर्थः । तुशब्दो अवधारणे पादपूरणे वा, उवयारसद्दसंपच्चयत्थं एगठ्ठिया भण्णंति । उवचारो त्ति वा अहितंति वा आगमियं ति वा गृहीतं ति वा एगट्ठं (उवचारमेत्तमेयं ति) जमेयं पंचमं अग्गं अमात्तेणोवचरिज्जति,एतं उपचारमात्रं । उवचारमेत्तं नाम कल्पनामात्रं। कहं?, जेण पढमचूलाए वि अग्गसद्दो पवत्तइ, एवं वितियचउसु वि अग्गसद्दो पवत्त त्ति, तम्हा सव्वाणि अग्गाणि । सव्वगापसंगे य एगगा कप्पणा जा सा उपचारमात्रं जवति । केषांचिदाचार्याणामेवमाद्यगुरुप्रणीतार्थानुसारी गुरुराह-(ण तं कमो जम्हा इति) ण त्ति पडिसेहे (तं ति) केइ मयकप्पणा ण घडतीति वक्कसेसं । कमो त्ति नाम परिवाडी, अनुक्रम इत्यर्थः (जम्हे त्ति) चउसु वि चूलासहितासु परीहय पंचमी चूला दिज्जति, तम्हा कमोवचारा पंचमी चूडा अग्गं भवति ।उवचारेण अग्गाण वि अग्गं वक्कसेसं दट्ठव्वमिति । गतं मूलग्गदारं ॥ ६॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे ।

अग्रं भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयम् । मूलं घातिकर्मचतुष्टयं, यदि वा मोहनीयं मूलम् । शेषाणि त्वग्रं, यदि वा मिथ्यात्वं मूलं, शेषं त्वग्रम् । तदेवं सर्वमग्रं मूलं च (विगिंच इति) त्यजापनय पृथक्कुरु । तदनेनेदमुक्तं जवति-न कर्मणः पौद्गलिकस्यात्यन्तिकक्षयोऽपि-त्वात्मनः पृथक्करणम्, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्वमिति चेत्तद्दशाच्छेषप्रकृतिबन्धः । यत उक्तम्-" न मोहयति वृत्यबन्ध उदितस्त्वया कर्मणां , न चैकविधबन्धनं प्रकृतिबन्धतो यो महान् । अनादिजवहेतुरेष न च बध्यते नासक्तं, त्वयाऽतिकुटिला गतिः कुशलकर्मणां दर्शिता" ॥१॥ तथा चागमः-"कहं जंते ! जीवा अट्ठकम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ, दरिसणावरणिज्जकम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं नियच्छइ । दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ । मिच्छत्तेणं उदिएणेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ" क्षयोऽपि मोहनीयक्षयाविनाभावी । उक्तञ्च-"णायगम्मि हए सन्ते, जहा सेणा विणस्सति । एवं कम्मा विणस्सन्ति, मोहणिज्जे खयं गए" ॥१॥ इत्यादि । अथवा, मूलमसंयमः कर्म वा, अग्रं संयमतपसी मोक्षो वा, ते मूलाग्रे, धीरोऽक्षोभ्यो धीविराजितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । परिमाणे, नं० । विशे० । सू० प्र० । स्था० । " अग्गं ति वा परिमाणं ति वा एगट्ठा " । आ० चू० १ अ० । उत्त० । "अन्ते जेणेव देसग्गे तेणेव उवागए । देसग्गं देशान्तम् । ज्ञा० १५ अ० । उत्कर्षे, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । त्रि० ऋषिभेदे, पुं० । वाच० ।

अग्ग्य–त्रि० अग्रे भवमग्र्यम् । प्रधाने, अन्त० ७ वर्ग० । षो० । नि० चू० । भ० । ज्ञा० । सूत्र० । अत्यन्तोत्कृष्टे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जं० । अग्रे जातो यः । जेष्ठे भ्रातरि, त्रि० । वाच० ।

अग्गओ–अग्रतस्–अव्य० । अग्रे अग्राद् वा । अग्र-तसिल् । प्राकृते "अतो मो विसर्गस्य" । ८ । १ । ३७ । इति सूत्रेण अतः स्थाने मो इत्यादेशः, ड इत् । प्रा० । पूर्ववृत्तौ, पूर्वभागाद्यधिके च । वाच० ।

अग्गंथ–अग्रन्थ–पुं० निर्ग्रन्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अग्गकेस--अग्रकेश--पुं० अग्रभूतेषु केशेषु, भ० ए श० ३३ उ० ।

अग्गक्खंधो–देशी--रणमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गजाय–अग्रजात–न० । वनस्पतीनामग्रभागे जाते, "अग्गजायाणि मूलजायाणि वा खंधजायाणि वा" आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अग्गजिब्भा--अग्रजिह्वा–स्त्री० अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा । जिह्वाग्रे, "सज्जं च अग्गजिब्भाए, उरेण रिसहं सरं" (सज्जमित्यादि) चकारोऽवधारणे । षड्जमेव प्रथमस्वरलक्षणं ब्रूयात् । कयेत्याह-अग्रभूता जिह्वा अग्रजिह्वा, जिह्वाग्रमित्यर्थस्तया । इह यद्यपि षड्जभणने स्थानान्तराण्यपि कण्ठादीनि व्याप्रियन्ते, अग्रजिह्वा च स्वरान्तरेषु व्याप्रियते, तथापि सा तत्र बहुव्यापारवतीति कृत्वा तया तमेव ब्रूयादित्युक्तम् । इदमत्र हृदयम्–षड्जस्वरोऽग्रे जिह्वां प्राप्य विशिष्टां व्यक्तिमासादयति तदपेक्षया सा स्वरस्थानमुच्यते । एवमन्यत्रापि भावना कार्या । अनु० ।

अग्गतावसग--अग्रतापसक--पुं० । ऋषिभेदे, यद्गोत्रे धनिष्ठानक्षत्रम् । "धणिट्ठाणक्खत्ते किं गोत्ते पण्णत्ते ? । अग्गतावसगोत्ते पण्णत्ते" । सू० प्र० १० पाहु० । चं० । जं० ।

अग्गदारणिज्जामग--अग्रदारनिर्य्यामक–पुं० अग्रद्वारमूलावस्थापके, ग्लानप्रतिचारिणि च । प्रव० ७२ द्वा० ।

अग्गद्ध–अग्रार्ध–न० । पूर्वार्द्धे, नि० चू० १ उ० ।

अग्गपलंब--अग्रप्रलम्ब--पुं० न० । प्रलम्बानामग्रभागे, इमे अग्गपलंबा–"तलणालिपरिलओए, कविट्ठं अंबाड अंबए चेव । एयं अग्गपलंबं, णेयव्वं आणुपुव्वीए" ॥ १४ ॥ जणपदसिद्धा एते । (आणुपुव्वि त्ति) एसे च तलादिगा । नि० चू० १५ उ० ।

अग्गबीय–अग्रबीज–पुं० अग्रे बीजं येषामुत्पद्यते ते तथा । तलतालीसहकारादिषु शाल्यादिषु च अग्रचाण्येवोत्पत्तौ कारणतां प्रतिपद्यन्ते येषां कोरण्टकादीनां ते अग्रबीजाः । कोरण्टकादिषु बीजप्रकारेषु वनस्पतिषु, सूत्र० २ सू० ६ अ० । स्था० । विशे० । आ० म० द्वि० । अग्गबीया १ मूलबीया २ पोरबीया ३ खंधबीया ४ इत्यादयो वनस्पतिभेदाः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गपिंड–अग्र (ग्र्य) पिण्ड–पुं० तत्क्षणोत्तीर्णौदनादिस्थाल्या अव्यापारितायाः शिखायाम्, (उपरितने भागे) प्रव० २ द्वा० । शाल्योदनादेः प्रथममुद्धृत्य भिक्षार्थं व्यवस्थाप्यमाने पिण्डे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

से भिक्खू वा २ जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा, अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं णिक्खिप्पमाणं पेहाए, अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभाइज्जमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिभुज्जमाणं पेहाए, अग्गपिंडं परिट्ठवेज्जमाणं पेहाए, पुरा असिणाइ वा अवहाराति वा पुरा जत्थण्णे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा खद्धं २ उवसंकमंति, से हंता अहमवि खद्धं उवसंकमामि, माइट्ठाणं संफासे णो एवं करेज्जा ।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयात् । तद्यथा-अग्रपिण्डमो निष्पन्नस्य शाल्योदनादेराहारस्य देवताद्यर्थं स्तोकस्तोकोद्धारस्तमुत्क्षिप्यमाणं दृष्ट्वा तथाऽन्यत्र निक्षिप्यमाणं तथा ह्रियमाणं नीयमानं देवतायतनादौ तथा परिभज्यमानं विभज्यमानं स्तोकस्तोकमन्येभ्यो दीयमानं तथा परिभुज्यमानं तथा त्यज्यमानं देवतायतनाच्चतुर्दिक्षु क्षिप्यमाणं तथा (पुरा असिणाइ वंति) पुरा पूर्वमन्ये श्रमणादयो येषु अग्रपिण्डमशितवन्तस्तथा पूर्वमपहृतवन्तो व्यवस्थयाऽव्यवस्थया वा गृहीतवन्तः । तदभिप्रायेण पुनरपि पूर्वमिव वयमत्र लप्स्यामह इति । यत्राग्रपिण्डादौ श्रमणादयः (खद्धं खद्धं ति) त्वरितमुपक्रामन्ति स भिक्षुरेतदपेक्षया कश्चिदेवं कुर्यादालोचयेद्यथा-हंतेति वाक्योपन्यासार्थः । अहमपि त्वरितमुपसंक्रमामि । एवं च कुर्वन् भिक्षुर्मातृस्थानं संस्पृशेदित्यतो नैवं कुर्यादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० । काकपिण्डयाम् " अग्गपिंडम्मि वा वायसा संथमा सन्निवइया " अग्रपिण्डे काकपिण्डयां वा बहिःक्षिप्तायां वायसाः सन्निपतिता भवेयुः । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

जे भिक्खू णितियं अग्गपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ३१ ।

णितियं धुवं सासतमित्यर्थः । अग्रं वरं प्रधानं अहवा जं पढमं दिज्जति सो पुण भत्तट्ठो भिक्खामेत्तं वा होज्जा । एस सुत्तत्थो । अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

णितिए तु अग्गपिंडे, णिमंतणो वीलना य परिमाणे ।
साभाविए गिही दो, तिण्णि य कप्पंति तु कमेण । २१३ ।

णितियग्गा सुत्ते वक्खाया । गिहत्थो णिमंतेत्ति, साहू उ वीलणं करेति, साहू चेव परिमाणं करेति. साभावियं गिहत्थो दो तिण्णि आदव्वाण कप्पंति, साभावियं कप्पति । णिमंतणो वीलणपरिमाणाणं । इमाओ तिण्णि वक्खाणगाहातो—

भगवं ! अणुग्गहं ता, करेहि मज्झ त्ति भणति आमंति ।
किं दाहिसि जेणिट्ठो, गयस्स तं दाहिसि ण व त्ति । २१४ ।
दाहामि त्ति य भणिते, तं केवतियं व केचिरं वा वि ? ।
दाहिसि तुमं ण दाहिसि, दिण्णेऽदिण्णे व किं तेण ? । २१५ ।
जावतिएणिट्ठो ते, जच्चिरकालं च रोयए तुब्भा ।
तं तावतियं तच्चिरं, दाहामि अहं अपरिहीणं ॥ २१६ ॥

गिही णिमंतेति-भगवं ! अणुग्गहं करेह मज्झ, घरे भत्तं गेण्हह । साहू भणति-करेम अणुग्गहं, किं दाहिसि ? । गिही भणति-जेण भे इट्ठो । साहू उ वीलणं करेति, माहणो भणति-घरं गयस्स तं दाहिसि वा ण वा ? । गिहिणो दाहामि त्ति य भणिते, साहू परिमाणं कारवेंतो भणति-तं परिमाणओ केवतियं केव चिरं वा कालं दाहिसि ? । प्रथमपादोत्तरं साहू आह-दाहिसि तुमं

ण दाहिसि । दत्तमपि तत् अदत्तवद् द्रष्टव्यम्, स्वल्पत्वाद् । गृहस्थो द्वितीयपादोसग्गमाह-जावतिएण भत्तेण इट्ठो जे जावतियं वा कालं तुब्भिट्ठो, गिही पुणो भणति-किं बहुणा भणिएण, जं तुब्भं रोयते दव्वं जावतियं जत्तियं वा कालं, तमहं अपरिहीणं अपरिस्संतो दाहामि त्ति । णिमंतणो पीलणपरिमाणेसु वि मासलहुं पच्छित्तं । चोदग आह—

साभावितं च उचियं, चोदगपुच्छाए पेच्छिमो को त्ति ।
दोसो चतुव्विधम्मि,णितियम्मि य अग्गपिंडम्मि॥२१७॥
साभावि णितिय कप्पति, अणिमंतणा बीत्त अपरिमाणे य ।
जं वा वि य समुदाणी, संनिक्खं दिज्ज साधूणं ॥२१८॥

साभावियं जं अप्पणो छहारक्कं उचियं दिणे दिणे जतियं रद्धं तं चोक्खो भणति । परिसेसा भाविए णिमंतणापीलणादिहिं भिक्खामेति एमवि अकप्पं।अण्णहा साहूण कप्पोसाभावियउचिए वि णिमंतणादिएहिं इमे दोसा-

निप्पसे वि सअट्ठा, उग्गमदोसा उ उचितगादीया ।
उप्पं जंबे जम्हा, तम्हा सा य वज्जणिज्जा उ ॥२१९॥

अप्पणट्ठा वि निप्पसे उग्गमादिदोसा भवन्ति । निकाचितोऽहमिति अवश्यं दातव्यम । कुंभगादिसु स्थापयति तस्मान्निमंतणादिपिण्डो वर्ज्यः ।

उक्कोसए अहिसक्कण, अज्झोयरए तहेव णेकंती ।
अणत्थ भोयणम्मि य, कीते पामिच्च कम्मे य ॥ २२० ॥

अवस्सदायव्वे अतिप्पए साहुणो आगच्छंति उवियपुव्वस्स उसक्कण करेज्जा,उस्सूरे आगच्छंति अतिहिसक्कणं करेज्ज,अज्झोयरयं वा करेज्ज । णिकातिओ त्ति काउं जतिते अण्णत्थ णिमंतिया तहा वि तदट्ठाए किणेज्ज वा पामिच्चेज्ज वा आहाकम्मं वा करेज्ज । कारणे पुण णिकायणा पिंडं गेण्हेज्ज। इमे कारणा—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीतत्थे ॥ २२१ ॥

असिवग्गाहितो ण लब्भति णिमंतणाइएसु वि गेण्हेज्ज। अथवा असिवे कारणट्ठितो असिवगाहियकुलाणि य परिहरंतो अगाहियकुलेसु अपावंतो णिमंतणो पीलणादिसु वि गेण्हेज्ज, ओमे वि अपावंतो। एवं रायदुट्ठे भएसु वि अत्थंतो गच्छंतो वा गिलाणपाउग्गं वा णिमंतणातिएसु गेण्हेज्जा । अद्धाणे रोहए वा अपावंतो गीतत्थो पणगपरिहाणीए जयणाए जाहे मासलहुं पत्ते ताहे णीयगा पिंमे गेण्हति । नि० चू० १ उ०।

अग्गपूया—अग्रपूजा—स्त्री० " गंधव्वणट्टवाइय-लवणजलारत्तियाइ दीवाइ । जं किच्चंतं सव्वं, पि ओअरइ अग्गपूयाए" इत्येवं लक्षणे जिनप्रतिमापुरतः पूजाभेदे, ध० १ अधि० ।

अग्गप्पहारि (ण्)—अग्रप्रहारिन्—पुं० । पुरः प्रहरणशीले, " चोरपल्लिं गतो तत्थ अग्गप्पहारि णिसंसो य चोरसेणावतिमतो " आव० १ अ० । आ० म० द्वि० ।

अग्गमहिसी—अग्रमहिषी—स्त्री० अग्रभूता प्रधाना महिषी, राजभार्यायाम् , स्था०४ ठा०१ उ०। प्रधानभार्य्यायाम्, उपा० २ अ० । पट्टराज्ञ्याम् , जी० ३ प्रति० । स्था० । अथ देवेन्द्राणामग्रमहिष्यः प्रदर्श्यन्ते—

तत्र भुवनपतीन्द्राणामग्रमहिष्यः—

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काली रायी रयणी विज्जू मेहा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए अट्ठट्ठदेवीसहस्सपरिवारो पण्णत्तो, पभू णं ताओ एगमेगाए देवीए अण्णाइं अट्ठट्ठदेवीसहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वावरेणं चत्तालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुडिए। पभू णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि तुडिएणं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए ? । णो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, णो पभू ! चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरित्तए। अज्जो!चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए माणवए चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो अण्णेसिं च बहूणं असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति । तेसिं पणिहाणे णो पभू ! से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ—णो पभू चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरित्तए पभू णं ! अज्जो ! चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अण्णेहिं च बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाहय जाव भुंजमाणे विहरित्तए केवलं परियारिड्ढीए णो चेव णं मेहुणवत्तियं ॥ भ० १० श० ५ उ० ॥

आसां पूर्वभवः—

तेणं कालेणं तेणं समए णं रायगिहे णामं नयरी होत्था। वण्णओ तस्स-णं रायगिहस्स नगरस्स बहिआ उत्तरपुरच्छिमे दिसिभागे तत्थ णं गुणसिले चेइए नामं चेइए होत्था। वण्णओ—तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे नामं थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव चउद्दसपुव्वी चउनाणोवगया पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुमा पुव्वाणुपुव्विं चरमाणा गामाणुगामं दूइज्जमाणा सुहं सुहेणं जेणेव रायगिहे नयरे गुणसिलए चेइए जाव संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति। परिसा निग्गया। धम्मो कहिओ, परिसा जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसिं पमि-

गया। तेणं काले णं तेणं समए णं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अंतेवासी अज्जजंबू नामं अणगारे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं छट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खन्धस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, दोच्चस्स णं भंते ! सुयक्खन्धस्स धम्मकहाणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते, एवं खलु जंबू ! धम्मकहा णं दसवग्गा पण्णत्ता । तं जहा-चमरस्स अग्गमहिसीणं पढमवग्गे ॥ १ ॥ बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयरन्नो अग्गमहिसीणं बीए वग्गे ॥ २ ॥ असुरिंदवज्जियाणं दाहिणिल्लाणं इंदाणं तइए वग्गे ॥ ३ ॥ उत्तरिल्लाणं असुरिंदवज्जियाणं भवणवासिइंदाणं अग्गमहिसीणं चउत्थे वग्गे ॥ ४ ॥ दाहिणिल्लाणं वाणमंतराणं इंदाणं अग्गमहिसीणं पंचमे वग्गे ॥ ५ ॥ उत्तरिल्लाणं वाणमंतराणं इंदाणं अग्गमहिसीणं छट्ठे वग्गे ॥ ६ ॥ चंदस्स अग्गमहिसीणं सत्तमे वग्गे ॥ ७ ॥ सूरस्स अग्गमहिसीणं अट्ठमे वग्गे ॥ ८ ॥ सक्कस्स अग्गमहिसीणं नवमे वग्गे ॥ ९ ॥ ईसाणस्स अग्गमहिसीणं दसमे वग्गे ॥ १० ॥ जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं दसवग्गा पन्नत्ता । पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-काली १ राई २ रयणी ३ विज्जा ४ मेहा विज्जा ५ । जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पन्नत्ता । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पन्नत्ते ?। एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए, सेणिए राया, चिल्लणाए देवीए, सामी समोसरिए, परिसा निग्गया । जाव परिसा पज्जुवासति तेणं काले णं तेणं समए णं काली देवी चमरचंचाए रायहाणीए कालवडिंसगभवणे कालंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं मयहरियाहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणीयाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहिं य बहुएहिं कालवडिंसयभवणवासीहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडा महयाहय जाव विहरइ, इमं च णं केवलकप्पं जंबूद्दीवे दीवे णं विउलेणं ओहिणा आभोएमाणी पासइ । जत्थ समणं भगवं महावीरं जंबूद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए अहापडिरूवं ओगाहइ, ओगाहइत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमण जाव हियया सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता करयल जाव कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स । वंदामि णं भगवं ! तत्तत्थ गयं इह गया तिकट्टु वंदइ णमंसइ सीहासणवरगंसि पुरत्थाभिमुहे सुहनिसन्ने तए णं तीसे कालीए देवीए इमेया रूवे जाव समुप्पज्जित्था । सेयं खलु समणं भगवं महावीरं वंदित्ता जाव पज्जुवासित्तए तिकट्टु एवं संपेहइ, संपेहइत्ता आभिओगिअदेवं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया समणे भगवं महावीरे एवं जहा सूरियाभे तहेव आणत्तियं देइ जाव दिव्वं सुरवराभिगमणं जोगं करेइ, करेइत्ता जाव पच्चुप्पिणह ते वि तहेव करेत्ता जाव पच्चुप्पिणंति, नवरं, जोयणसहस्सविच्छिन्नं जाणं, सेसं तहेव नाम गोयं साहेइ, तहेव नट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता जाव पडिगया (भंतेत्ति) भगवं गोयमे ! समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-कालीए णं भंते ! देवी सा दिव्वा देवड्ढीओ कहिं गया कूडागारसालादिट्ठंतो ?। अहो णं भंते ! कालीदेवी महड्ढिया कालीए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देवड्ढीए किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता अभिसमन्ना गया-एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेणं काले णं तेणं समए णं इहेव जंबूद्दीवे भारहे वासे आमलकप्पा नामं नयरी होत्था । अंबसालवणे चेइए जियसत्तुराया । तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए काले नामं गाहावती होत्था । अड्ढे जाव अपरिभूए तस्स णं कालस्स गाहावइस्स कालसिरीए नामं भारिया होत्था सुकुमाला जाव सुरूवा । तस्स णं कालस्स गाहावतिस्स धूया कालसिरीए भारियाए अत्तया काली णामं दारिया होत्था । वड्ढा वड्ढकुमारी जुण्णा जुण्णकुमारी पडियपूयत्थणी निव्विन्नवरा वरगपरिवज्जिया वि होत्था । तेणं काले णं तेणं समए णं पासे अरहा पुरिसादाणिए आइगरे जहा वद्धमाणसामी, णवरं, णवुस्सेहे सोलसहिं समणसाहस्सिहिं अट्ठत्तीसाए अज्जिआसाहस्सिहिं सद्धिं संपरिवुडे जाव अंबसालवणे समोसढे, परिसा णिग्गया जाव पज्जुवासति । तते णं सा काली दारिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठ तुट्ठ जाव हियया जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयल जाव-एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ पासे अरहा पुरिसादाणीए आइगरे जाव विहरइ । तं इच्छामि णं अम्मयाओ तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स पायवंदणगमित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह । तस्स णं सा काली दारिआ अम्मापिईहिं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हियया ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता

सुद्धप्पावेसातिं मंगल्लातिं वत्थातिं पवरपरिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा चेमिश्रा चक्कवालपरिकिन्ना साओ गिहातो पमिनिक्खमइ, पमिणिक्खमइत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मियजाणपवरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता धम्मियजाणपवरं दुरूढा। तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा देवाणंदाए जहापज्जुवासइ। तए णं पासे अरहा पुरीसादाणीए कालीए दारियाए तीसे महइ, महइत्ता महालियाए परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ जाव हियया पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह जं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आपुच्छामि तएणं अहं देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव पव्वयामि। अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तए णं सा कालिदारिया पासेणं अरहा पुरिसादाणीए णं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हियया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जाणपवरं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पासस्स णं अरहो पुरसादाणीए अंतियाओ अंबसालवणचेइयाओ पमिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव आमलकप्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आमलकप्पं नयरिमज्झं मज्झेणं जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता धम्मियं जाणपवरं ठावइ, ठावइत्ता धम्मियाओ जाणपवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहिअं एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ मए पासस्स णं अरहओ अंतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए। तए णं अहं अम्मयाओ संसारभउव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स णं अरहओ अंतिए मुंडा भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया मा पमिबंधं करेह। तए णं काले गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, उवक्खडावेतित्ता मित्तनातिनियगसयणसंबंधीपरियणं आमंतेइ। आमंतइत्ता ततो पच्छा एहाए जाव विपुलेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारित्ता संमाणित्ता तस्सेव मित्तणातिणियगसयणसंबंधिपरियणस्स पुरओ कालीदारियं सेयापीएहिं कलसेहिं एहवेइ, एहवेइत्ता सव्वालंकारविभसियं करेइ, करेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरुहइ, दुरुहइत्ता मित्तनाति जाव परियणसद्धिं संपरिवुडे सव्वड्ढीए जाव रवेणं आमलकप्पानयरिं मज्झं मज्झेणं निगच्छइ, निगच्छइत्ता जेणेव अंबसालवणे चेइए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता छताइए तित्थयराइं पासइ २ सीयं ठवेइ, ठवेइत्ता कालिया दारिया सीयातो पच्चोरुहाति, पच्चोरुहइत्ता तते णं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ काउं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया कालियदारिया अम्हं धूया इट्ठा कंता जाव किमंग! पुण पासणयाए एस णं देवाणुप्पिया संसारभिउव्विग्गा इच्छइ देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता, जाव पव्वइत्तए तं एयन्नं देवाणुप्पियाणं सिसिणिं भिक्खं दलयामो पमिच्छंतु णं देवाणुप्पिया सिसिणिं भिक्खं। अहासुहं देवाणुप्पिया मा पमिबंधं करेह। तए णं सा काली देवी कुमारी पासं अरिहं वंदइ, वंदइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमति, अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारा मुयति, मुयतित्ता सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणिए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पासं अरहं तिक्खुत्तो वंदंति नमंसंति, एवं वयासी-आलि! तेणं भंते! लोए एवं जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासे अरिहा पुरिसादाणीए कालीए सयमेव पुप्फचूलाए अज्जाए सिसिणियत्ताए दलयइ। तए णं सा पुप्फचूला अज्जा कालिं कुमारिं सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरति, तते णं सा काली अज्जया इरिया समिता जाव गुत्तबंभचारिणी। तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाए अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता बहुहिं चउत्थं जाव विहरति। तए णं सा काली अज्जा अन्नया कयाइं सरीरपासिओसिआ जाया वि होत्था। अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थं धोवइ, पाए धोवेइ, सीसं धोवेइ, मुहं धोवेइ, थणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा य धोवेइ. गुज्झंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ वियट्ठाणं वा सेज्जं वा निसीहियं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अब्भुक्खित्ता तओ पच्छा आसइ वा, सयइ वा तएणं सा पुप्फचूला अज्जा कालिं अज्जिं एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणीणं *निग्गंथीणं सरीरपाउसीयाण होंतए* तुमं च णं देवाणुप्पिया सरीरपाउसिया जाया वि होत्था। अभिक्खणं अभिक्खणं हत्था धोवसि, जाव आसयाहि वा सयाहि वा, तं तुमं देवाणुप्पिआ एयस्स ठाणस्स आलोएहिं जाव पायच्छित्तं पमिवज्जाहि। तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाअज्जाए एयमट्ठं नो आढाइ जाव तुसिणीया संचिट्ठइ, तएणं ताओ पुप्फचूलाओ अज्जाओ कालिं अज्जं अभिक्खणं २ हीलेंति, निंदंति, खिसंति, गरहंति, अवमाणंति, अभिक्खणं २ एयमट्ठं निवारेंति, तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणीहिं

निग्गंथीहिं अभिक्खणं २ हीलिज्जमाणीए जाव विहरिज्जमाणीए इमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था, जया णं अहं अगारवासमज्झे वसित्ता तया णं अहं सयंवसा, जप्पभिरिं च णं अहं मुंमा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया तप्पभिरिं च णं अहं परवसा जाया । तं सेयं खलु मम कल्लं पाउ पजायाए रयणीए जाव जलंते पाभिक्कयं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए तिकट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं जाव जलंते पाभिक्कयं उवस्सयं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तत्थ णं अणावारिआ अणोहट्टिआ सच्छंदमती अभिक्खणं २ हत्थे धोवेइ, जाव आसयइ वा सयइ वा तए णं सा काली अज्जा पासत्था पासत्थविहारी कुसीला कुसीलविहारी अहाछंदा अहाछंदविहारी संसत्ता संसत्तविहारी बहूणि वासाणि सामन्नपरियागं पाउणित्ता अद्धमासीयाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, झूसेइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता काले मासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए कालिं वडिंसए भवणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिआ अंगुलस्स असंखेज्जइ भागमेत्ताए ओगाहणाए काली देवी देवित्ताए उववन्नाए । तए णं सा काली देवी अवहुणोववन्ना समाणी पंचविहाए पज्जत्तीए जहा सूरियाभे जाव भासामणपज्जत्तीए । तए णं सा काली देवी चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव अन्नेसिं च बहूणं काली वडिंसगभवणवासीणं असुरकुमाराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव विहरइ, एवं खलु गोयमा ! कालीए देवीए सा दिव्वा देवड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णा गया । कालीए णं भंते ! देवीए केवतियं कालं ठिची पण्णत्ता ? । गोयमा ! अड्ढाइज्जा तिपलिओवमाइं ठिती पन्नत्ता, कालीए णं भंते ! देवी ताओ देवलोगाओ अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छहिंति कहिं उववज्जिहिंति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पढमज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि[पढमं अज्झयनं सम्मत्तं]।१। जति णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं पढमस्स वग्गस्स पढमज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, वितियस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणे णं जाव संपत्ते णं केअट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए सामी समोसढे परिसा निग्गया जाव पज्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समए णं राई देवी चमरचंचाए रायहाणीए, एवं जहा काली तहेव आगया नट्टविहिं उवदंसेत्ता जाव पडिगया [भंते त्ति] भगवं गोयमे ! पुव्वभवपुच्छा । एवं खलु गोयमा ! तेणं काले णं तेणं समए णं आमलकप्पा नयरी अंबसालवणे चेइए जियसत्तू राया, राई गाहावई रायसिरी भारिया राई दारिया पासस्स समोसरणं राई दारिया जहेव काली तहेव णिक्खित्ता तहेव सरीरपाउसिया, तं चेव सव्वं जाव अंतं काहिति, एवं खलु जंबू ! बीयज्झयणस्स निक्खेवओ ॥२॥ जति णं भंते ! तइयस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ, एवं खलु जंबू ! रायगिहे नयरे गुणसिले चेइए० एवं जहेव राई तहेव रयणी। वि, नवरं, आमलकप्पा नयरी, रयणी गाहावती रयणसिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव, जाव अंतं काहिति ॥३॥ एवं विज्जू वि, आमलकप्पा नयरी, विज्जू गाहावती विज्जुसिरी भारिआ विज्जू दारिया, सेसं तहेव ॥४॥ एवं मेहा वि आमलकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ मेहा दारिआ, सेसं तहेव । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं पढमस्स वग्गस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । ज्ञा० २ श्रु० १ वर्ग।

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा- कणगा कणगलया चित्तगुत्ता वसुंधरा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं परिवारो पण्णत्तो । पभू ! णं ताओ एगमेगा देवी अन्नं एगमेगं देवीसहस्सपरिवारं विउव्वित्तए ? एवामेव सपुव्वावरे णं चत्तारि देवीसहस्सा सेत्तं तुडिए । पभू णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमे महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि तुडिए णं अवसेसं जहा चमरस्स, णवरं, परियारो जहा सूरियाभस्स, सेसं तं चेव, जाव णो चेव णं मेहुणवत्तियं । चमरस्स णं भंते ! जाव रण्णो जमस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ ? । एवं चेव, णवरं, जमाए रायहाणीए०, सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, णवरं, वरुणाए रायहाणीए०, एवं वेसमणस्स वि, णवरं, वेसमणाए रायहाणीए०, सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । बलिस्स णं भंते ! वइरोयणिंदस्स पुच्छा । अज्जो ! पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सुंभा णिसुंभा रंभा निरंभा मदणा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए अट्ठट्ठ०, सेसं जहा चमरस्स, णवरं, बलिचंचाए रायहाणीए परिवारो जहा मोओद्देसए, सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । बलिस्स णं भंते ! वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सोमस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-मीणगा सुभद्दा विज्जुआ असणी । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, सेसं जहा चमरस्स । एवं जाव वेसमणस्स । भ० १० श० ५ उ०।

आसां पूर्वभवः—

जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं दोच्चस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा-सुंभा १ निसुंभा २ रंभा ३ निरंभा ४ मदणा ५ । जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पन्नत्ता । दोच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स पढमज्झयणस्स केअट्ठे पन्नत्ते ?। एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समए णं रायगिहे गुणसिले चेइए, सामी समोसढे, परिसा० जाव पज्जुवासति, तेणं काले णं तेणं समए णं सुंभा देवी बलिचंचाए रायहाणीए सुंभवडिंसए भवणे सुंभंसि सिंहासणंसि कालिगमए णं जाव णट्टविहिं उवदंसेत्ता जाव पडिगया पुव्वभवपुच्छा। सावत्थी नयरी, कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया, सुंभे गाहावई, सुंभसिरी भारिआ, सुंभा दारिया, सेसं जहा कालीए, नवरं, अद्धुट्ठाति पलिओवमाइं ठिती, एवं खलु जंबू ! उक्खेवगो पढमस्स अज्झयणस्स, एवं सेसा वि चत्तारि अज्झयणा सावत्थीए, नवरं, माया पिया धूयसिरितिनामया । एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ बीयस्स वग्गस्स । ज्ञा०२श्रु०१अ०

धरणस्य—

धरणस्स णं भंते ! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ?। अज्जो ! छ पण्णत्ताओ । तं जहा-अला सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया। तत्थ णं एगमेगाए देवीए छ छ देवीसहस्सपरिवारो पण्णत्तो। पभू! णं ताओ एगमेगा देवी अण्णाइं छ छ देवीसहस्साइं परियारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वावरेणं छत्तीसं देविसहस्साइं, सेत्तं तुडिए। पभू ! णं भंते ! धरणे, सेसं तं चेव, णवरं, धरणाए रायहाणीए धरणंसि सीहासणंसि सओ परिवारो, सेसं तं चेव । धरणस्स णं भंते ! णागकुमारिंदस्स कालवालस्स लोगवालस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ?। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-असोगा विमला सुप्पभा सुदंसणा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरलोगपालाणं, सेसाणं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

भूयाणंदस्स णं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूया रूयंसा सुरूवा रूयगावई रूयकंता रूयप्पभा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा धरणस्स। भूयाणंदस्स णं भंते ! णागकुमारस्स चित्तस्स पुच्छा । अज्जो! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सुनंदा सुभद्दा सुजाया सुमणा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरलोगपालाणं । एवं सेसाण वि तिण्हि वि लोगपालाणं तहा, दाहिणिल्ला इंदा, तेसिं जहा धरणस्स । लोगपालाण वि, तेसिं जहा धरणलोगपालाणं । उत्तरिंदाणं जहा भूयाणंदस्स । लोगपालाणं वि, तेसिं जहा भूयाणंदस्स लोगपालाणं, णवरं, इंदाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, परिवारो जहा मोओद्देसए, लोगवालाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि परिवारो जहा चमरलोगपालाणं । भ० १० श० ५ उ० ॥

भूतानन्दसूत्रे-(एवमिति) यथा कालपालस्य तथाऽन्येषामपि, नवरं, तृतीयस्थाने चतुर्थो वाच्यः । धरणस्य दक्षिणनागकुमारनिकायेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्यो यथा २ यन्नामिकास्तथा २ तन्नामिका एव सर्वेषां दाक्षिणात्यानां शेषाणामष्टानां वेणुदेवहरिकान्ताग्निशिखपूर्णजलकान्तमितगतिवेलम्बघोषाख्यानामिन्द्राणां ये लोकपालाः सूत्रे दर्शितास्तेषां सर्वेषामिति । यथा च भूतानन्दस्यौदीच्यनागराजस्य तथा शेषाणामष्टानामौदीच्येन्द्राणां वेणुदालिहरिसहाग्निमाणववासिष्ठजलप्रभामितवाहनप्रभञ्जनमहाघोषाख्यानां ये लोकपालास्तेषामपीति । एतदेवाह—जहा धरणस्सेत्यादि ।

आसां पूर्वभवः—

उक्खेवओ तइयवग्गस्स । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं तइयस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे अज्झयणे जाव चउप्पन्नतिमे अज्झयणे । जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं तइयस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्झयणा पन्नत्ता । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणे णं जाव संपत्ते णं केअट्ठे पन्नत्ते ?। एवं खलु जंबू! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए सामी समोसढे, परिसा निग्गया जाव पज्जुवासति । तेणं काले णं तेणं समए णं अला देवी धरणा रायहाणीए अलावडिंसए भवणे अलंसि सिंहासणंसि, एवं कालीगमए णं जाव नट्टविहे उवदंसेत्ता पडिगया पुव्वभवपुच्छा । वाणारसीए काममहावणे चेइए अले गाहावती अलसिरी भारिआ अला दारिया, सेसं जहा कालिए, नवरं, धरणस्स अग्गमहिसित्ताए उववाओ साइरेगं अद्धपलियोवमं ठिती, सेसं तहेव। एवं खलु निक्खेवओ पढमज्झयणस्स । एवं कमा सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गमहिसीओ । एते छ अज्झयणा वेणुदेवस्स अवसेसा भाणियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्झयणा । एए चेव दाहिणिल्लाणं इंदाणं चउप्पन्नं अज्झयणा भवंति, सव्वाओ वि वाणारसीए काममहावणे चेइए तइयवग्गस्स निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे अज्झयणे जाव चउप्पन्न इमे अज्झयणे, पढमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समए णं रूया देवी रूयाणंदा रायहाणीए रुयगवडिंसए भवणे रुयगंसि

सीहासणंसि जहा कालिए तहा, नवरं, पुव्वजवे चंपाए पुन्न-जद्दे चेइए रूए गाहावती रूयगसिरी जारिआ रूया दारिया, सेसं तहेव, नवरं, भूयाणंदा अग्गमहिसित्ताए उववाओ देसूणं पलिओवमट्ठिती निक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! सुरूवा वि रूयंसा वि रूअगावई वि रूअकंता वि रूयप्पजा वि, एयाए चेव उत्तरिल्लाणं इंदाणं भाणियव्वाओ जाव महाघोसस्स। निक्खेवओ चउत्थस्स वग्गस्स । ज्ञा०२ श्रु०१ वर्ग ।

व्यन्तरेन्द्राणां कालस्य—

कालस्स णं भंते ! पिसायइंदस्स पिसायरण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ?। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-कमला कमलप्पजा उप्पला सुदंसा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चमरलोगपालाणं, परिवारो तहेव, णवरं, कालाए रायहाणीए कालंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं महाकालस्स वि।

सुरूपस्य—

सुरूवस्स णं जंते ! जूइंदस्स जूयरण्णो पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूयवई बहुरूवा सुरूवा सुभगा । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा कालस्स, एवं पडिरूवस्स वि ।

पुण्यभद्रस्य—

पुण्णजद्दस्स णं भंते ! जक्खिंदस्स पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—पुण्णा बहुपुत्तिया उत्तमा तारया । तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं जहा कालस्स, एवं माणिजद्दस्स वि ।

भीममहाभीमयोः—

जीमस्स णं जंते ! रक्खसिंदस्स पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—पउमा पउमावई कणगा रयणप्पभा । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं जहा कालस्स, एवं महाजीमस्स वि ।

किन्नरस्य—

किण्णरस्स णं जंते ! पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—वडिंसा केतुमई रइसेणा रइप्पिया । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं किंपुरिसस्स वि ।

सुपुरुषस्य—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुप्फवई । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं तं चेव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिकायस्य—

अइकायस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—जुयगा जुयगवई महाकच्छा फुमा । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं महाकायस्स वि ।

गीतरतेः—

गीयरइस्स णं जंते ! पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा—सुघोसा विमला सुस्सरा सरस्सई । तत्थ णं०, सेसं तं चेव। एवं गीयजसस्स वि। सव्वेसिं एएसिं जहा कालस्स, णवरं, सरिसनामगाओ रायहाणीओ सीहासणाणि य, सेसं तं चेव । भ०१०श०५ उ० ।

आसां पूर्वभवः—

पंचमवग्गस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! जाव बत्तीसं अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा—

कमला कमलप्पभा, उप्पला य सुदंसणा ।
रूववई बहुरूवा, सुरूवा सुभगा वि य ॥ १ ॥
पुन्ना बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य ।
पउमावती सुमई, कणगा कणगप्पभा ॥ २ ॥
वडेंसा केउमई च, रइसेणा रइप्पिया ।
रोहिणी नवमिआ वि, हिरी पुप्फवई इय ॥ ३ ॥
जुयगा जुयगावती, महाकच्छा फुडाइया ।
सुघोसा विमला चेव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उक्खेवओ पढमज्झयणस्स । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे समोसरणं जाव पज्जुवासइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं कमला देवी कमलाए रायहाणीए कमलवडिंसए जवणे कमलंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा कालीए तहेव, नवरं, पुव्वजवे नागपुरे णगरे सहसंबवणे उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्स कमलसिरी भारिया कमला दारिया पासस्स णं अंतिए निक्खंता, कालस्स पिसायकुमारिंदस्स अग्गमहिसीओ अद्धपलिओवमट्ठिती, एवं सेसा वि अज्झयणा। दाहिणिल्लाणं वाणमंतरिंदाणं भाणियव्वाओ सव्वाओ, नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे मायापियरो धूयासिरिसनामया ठिती अद्धपलितोवमं। पंचमो वग्गो सम्मत्तो ।।५।। छट्ठो वि वग्गो पंचमसरिसो, नवरं, महाकालिंदाणं उत्तरिल्लाणं इंदाणं अग्गमहिसीओ पुव्वजवे साएए णयरे उत्तरकुरुउज्जाणे मायापियरो धूयसिरिणामया सेसं तं चेव । छट्ठो वग्गो सम्मत्तो । ज्ञा० २ श्रु० ६ व० ।

ज्योतिष्केन्द्राणाम्—

चंदस्स णं जंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरत्रो कति अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ?। चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-चंदप्पभा जोसिणाजा अच्चिमाली पभंकरा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्सीओ परिवारो पण्णत्तो। पभू ! णं ततो एगमेगा देवी अन्नाइं चत्तारि चत्तारि देवसाहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वावरेणं सोलसदेवीसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, सेत्तं तुडिए।

(चंदस्स णं भंते ! इत्यादि) चन्द्रस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य कति कियत्संख्याका अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह—गौतम ! चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-चन्द्रप्रभा (जोसिणाभेत्ति) ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली, प्रभङ्करा ।

(तत्थ णमित्यादि) तत्र तासु चतसृष्वग्रमहिषीषु मध्ये एकैकस्या देव्याश्चत्वारि २ देवीसहस्राणि परिवारः प्रज्ञप्तः । किमुक्तं भवति । एकैका अग्रमहिषी चतुर्णां चतुर्णां देवीसहस्राणां पट्टराज्ञीनामेकैका च सा इत्थंभूताऽग्रमहिषी, परिचारणावसरे तथाविधां ज्योतिष्कराजस्य चन्द्रदेवेच्छामुपलभ्य प्रभुरन्यानि आत्मसमानरूपाणि चत्वारि देवीसहस्राणि विकुर्वितुं स्वाभाविकानि, पुनरेवमेव उक्तप्रकारेणैव पूर्वापरमीलनेन षोडशदेवीसहस्राणि चन्द्रदेवस्य भवन्ति । "सेत्तं तुमिए"-तदेव तावत् त्रुटिकमन्तःपुरं व्यपदिश्यते ।

सभायामभोगः-

पभू ! णं भंते ! चंदे जोतिसिंदे जोतिसराया चंदवर्डिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुडिएण सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठे णं भंते! एवं वुच्चइ ? नो पभू! चंदे जोइसराया चंदवर्डिसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुडिए णं सद्धिं विपुलं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए ?। गोयमा ! चंदस्स णं जोतिसिंदस्स जोइसरण्णो चंदवर्डिसए विमाणे सभाए सुधम्माए माणवगंसि चेतियखंभंसि वइरामयेसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहुयाओ जिणसकहाओ चिट्ठंति, जाओ णं चंदस्स जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो अण्णेसिं च बहूणं जोतिसयाणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ तासिं णं पणिहाए नो पभू ! चंदे जोइसराया चंदवर्डिसए जाव चंदंसि सीहासणंसि भुंजमाणे विहरित्तए, से तेणट्ठेणं गोयमा !। नो पभू ! चंदजोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुधम्माए चंदंसि सीहासणंसि तुडिएण सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए अदुत्तरं च णं गोयमा !। नो पभू ! चंदजोतिसिंदे जोतिसराया चंदवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसहस्सीहिं जाव सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं जोतिसिएहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाहयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुमियघणमुइंगपडुप्पवाइयरवेणं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए केवलपरियारतुमिएण सद्धिं भोगभोगाइं चोसट्ठिए बुद्धिए नो चेव णं मेहुणवत्तियं ।

(पभू णं भंते! इत्यादि) प्रभुर्भदन्त ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने त्रुटिकेनान्तःपुरेण सार्द्धं दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जमानो विहर्तुमासितुं भगवानाह- गौतम ! नायमर्थः समर्थः । अत्रैव कारणं पृच्छति- (से केणट्ठेणमित्यादि) तदेव भगवानाह— गौतम ! चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य चन्द्रावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां माणवकचैत्यस्तम्भे वज्रमयेषु गोलवृत्तसमुद्गकेषु ते च यथा तिष्ठन्ति तथा विजयराजधानीगतसुधर्मासभायामिव द्रष्टव्यम् । बहूनि जिनसक्थीनि सन्निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति यानि । सूत्रे स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । चन्द्रस्य ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य अर्चनीयानि पुष्पादिभिर्वन्दनीयानि विशिष्टैः स्तोत्रैः स्तोतव्यानि पूजनीयानि वस्त्रादिभिः सत्कारणीयानि आदरप्रतिपत्त्या सम्माननीयानि जिनोचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मंगलं चैत्यमिति पर्युपासनीयानि (तासिं पणिहाए त्ति) तेषां प्रतिभिया तानि आश्रित्य नो प्रभुश्चन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने यावद्विहर्त्तव्यमिति । (पभू णं गोयमा ! इत्यादि) प्रभुर्गौतम ! चन्द्रो ज्योतिषेन्द्रो ज्योतिषराजश्चन्द्रावतंसके विमाने सभायां सुधर्मायां चन्द्रे सिंहासने चतुर्भिः सामानिकसहस्रैश्चतसृभिरग्रमहिषीभिः सपरिवाराभिस्तिसृभिः पर्षद्भिः सप्तभिरनीकाधिपतिभिः षोडशभिरात्मरक्षकदेवसहस्रैरन्यैश्च बहुभिर्ज्योतिषैर्देवैर्देवीभिश्च सार्द्धं संपरिवृतो महयाहयेत्यादि पूर्ववद् दिव्यान् भोगभोगान् भुञ्जानो विहर्तुमिति न पुनर्मैथुनप्रत्ययं मैथुननिमित्तं दिव्यान् स्पर्शादीन् भोगान् भुञ्जानो विहर्तुं प्रभुरिति ।

सूर्यस्याग्रमहिष्यः-

सूरस्स णं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरन्नो कति अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सूरप्पभा आतपाभा अच्चिमाली पभंकरा । एवं अवसेसं जहा चंदस्स, णवरिं , सूरिवडिंसके विमाणे सूरंसि सीहासणंसि तहेव ।

(सूरस्स णं भंते ! इत्यादि) सूरस्य भदन्त ! ज्योतिषेन्द्रस्य ज्योतिषराजस्य कति अग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! चतस्रोऽग्रमहिष्यः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-सूरप्रभा आतपाभा अर्चिमाली प्रभंकरा । 'तत्थ णं एगमेगाए देवीए' इत्यादि चन्द्रवत् तावद् वक्तव्यं, यावद् नो चेव णं मेहुणवत्तियं,नवरं, सूर्यावतंसके विमाने सूर्यसिंहासने इति वक्तव्यम् , शेषं तथैव। जी० ४ प्रति० । स्था० ।

अङ्गारकादीनाम्-

इंगालस्स णं भंते ! महागहस्स कति अग्गमहिसीओ ? पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विजया वेजयंती जयंती अपराजिता । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०,सेसं तं चेव, जहा चंदस्स, णवरं, इंगालवडिंसए विमाणे इंगालगंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं वियालस्स वि । एवं अट्ठासीए वि महागहाणं वत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा जाव भावकेउस्स, णवरं, वडिंसगा सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, सेसं तं चेव । भ० १० श० ५ उ० । जीवा० । स्था० ।

आसां पूर्वभवः-

सत्तमवग्गस्स उक्खेवो । एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-सूरप्पभा आयंवा अच्चिमाली पभंकरा । पढमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासति । तेणं कालेणं तेणं समएणं सूरप्पभा देवी सूरंसि विमाणंसि सूरप्पभंसि सीहासणंसि सेसं जहा कालिए तहा,नवरं, पुव्वभवो अक्खुपुरीए नयरे सूरप्पभस्स

गाहावइस्स सूरसिरिए भारियाए सूरप्पभा दारिया सूरस्स अग्गमहिसी ठिती अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं अब्भहियं, सेसं जहा कालिए। एवं सेसाओ वि सव्वाओ अक्खुपुरीए नयरीए [सत्तमवग्गो सम्मत्तो]॥७॥ अट्ठमस्स वग्गस्स उक्खेवो। एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्झयणा पन्नत्ता। तं जहा–चंदप्पभा दीतिप्पभा अच्चिमाली पहंकरा। पढमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ। तेणं काले णं तेणं समए णं चंदप्पभा देवी चंदप्पभंसि सीहासणंसि, सेसं जहा कालिए,नवरं, पुव्वभवे महुराए नयरीए भंभीवर्डिसए उज्जाणे चंदप्पभे गाहावई चंदसिरी भारिया चंदप्पभा दारिआ चंदस्स अग्गमहिसी ठिती अद्धपलिओवमं पन्नासं वाससहस्सेहिं अब्भहियं, सेसं जहा कालीए , एवं सेसाओ वि महुराए नयरीए मायापियरो धूयसिरीनामया [अट्ठमो वग्गो सम्मतो] ज्ञा० २ श्रु० ।

वैमानिकानां शक्रस्य—

सक्कस्स णं भंते! देविंदस्स देवरण्णो पुच्छा। अज्जो ! अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–पउमा सिवा सेवा अंजू अमला अच्छरा नवमिया रोहिणी। तत्थ णं एगमेगाए देवीए सोलस २ देवीसहस्सपरिवारो पण्णत्तो। पभू! णं ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं सोलस २ देविसहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए। एवामेव सपुव्वावरणं अट्ठावीसुत्तरं देवीसयसहस्सं परिवारो विउव्वित्तए, सेत्तं तुडिए। भ० १० श० ५ उ० ।

उपासकदशाङ्गटीकायां कामदेववक्तव्यतायामभयदेवसूरिणा अग्रमहिषीपरिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि , सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणीति लिखितम , तच्चिन्त्यम । उं० । स्था० ।

भोगः—

पभू ! णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोहम्मवर्डिसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि तुडिए णं सद्धिं, सेसं जहा चमरस्स, णवरं, परियारो जहा मोओद्देसए ।

शक्रलोकपालानाम्—

सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ ? पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–रोहिणी मदणा चित्ता सोमा। तत्थ णं एगं०,सेसं जहा चमरलोगपालाणं,णवरं, सयंपभे विमाणे सभाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि,सेसं तं चेव,एवं जाव वेसमणस्स, णवरं,विमाणाइं जहा तइयसए। भ० १०श० ५ उ० । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो वरुणस्स महारन्नो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। स्था० ७ ठा० ।

ईशानस्य—

ईसाणस्स णं भंते ! पुच्छा। अज्जो ! अट्ठ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–कण्हा कण्हराती रामा रामरक्खिया वसू वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा। तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं जहा सक्कस्स। भ० १० श० ५ उ०। स्था० ।

ईशानलोकपालानाम्–

ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो कति अग्गमहिसीओ ? पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–पुढवी राई रयणी विज्जू। तत्थ णं०, सेसं जहा सक्कस्स लोगपालाणं। एवं जाव वरुणस्स, णवरं, विमाणा जहा चउत्थसए, सेसं तं चेव जाव णो चेव णं मेहुणवत्तियं। भ० १० श० ५ उ०। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारण्णो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महारन्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। स्था० ६ ठा०। ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स महारण्णो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। स्था० ७ ठा०। ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारन्नो नव अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ। स्था० ९ ठा० ।

आसां पूर्वभवः–

नवमस्स० उक्खेवो। एवं खलु जंबू ! जाव अट्ठ अज्झयणा पन्नत्ता। तं जहा-पउमा सिवा सुई अंजू रोहिणी नवमिया इय अचला अपच्छरा। पढमज्झयणस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा जाव पज्जुवासइ। तेणं काले णं तेणं समएणं पउमावई देवी सोहम्मे कप्पे पउमवर्डिसए विमाणे सभाए सुहम्माए पउमंसि सीहासणंसि, जहा कालीए, एवं अट्ठ वि अज्झयणे कालीगमए णं नेयव्वा, नवरं,सावत्थिए दो जणीओ हत्थिणाउरे दो जणीओ कंपिल्लपुरे दो जणीओ सागए दो जणीओ पउमे पियरो विजया मायरो सव्वाओवि पासस्स अंतिए पव्वइया सक्कस्स अग्गमहिसीओ ठिई सत्तपलिओवमाइं महाविदेहे अंतं काहिति [नवमो वग्गो सम्मत्तो]॥ ९॥ दसमस्स० उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! जाव अट्ठ अज्झयणापन्नत्ता। तं जहा–कण्हा य कण्हराई रामा तहा रामरक्खिया वसुया वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा चेव। ईसाणे पढमज्झयणस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा पज्जुवासइ। तेणं काले णं तेणं समए णं कण्हा देवी ईसाणे कप्पे कण्हवर्डिसए विमाणे सभाए सुहम्माए कण्हंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा कालीए। एवं अट्ठ वि अज्झयणा काली–

गमए णं नेयव्वा, नवरं, पुव्वभवे वाणारसीए नयरीए दो जणीओ रायगिहे नगरे दो जणीओ सावत्थीए दो जणीओ कोसंबीए दो जणीओ रामेपिया धम्मा माया सव्वा- वि पासस्स अरहओ अंतिए पव्वइयाओ पुप्फचूलाए अ- ज्जाए सिस्सिणीयत्ता ईसाणस्स अग्गमहिसीओ ठिती नव- पलिओवमाइं महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ जाव सव्वदुक्खा- णं अंतं काहिइ । एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ [दसमो वग्गो सम्मत्तो] ज्ञा० २ श्रु० ।

कृष्णस्याग्रमहिष्यः—

कएहस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिसीओ०, अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अंतियं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारि- यं पव्वइत्ता सिद्धाओ जाव सव्वदुक्खप्पहीणाओ । तं जहा–पउमावई य गोरी,गंधारी लक्खणा सुसीमा य । जंबू- वइ सच्चभामा रुप्पिणी अग्गमहिसीओ ॥ १ ॥ स्था०८ ठा० । अन्यत्रासां कथानकम् (आसां राजधान्यो ' रइकरपव्वय ' शब्दे दर्शिताः)

अग्गरस–अग्र्यरस–पुं० अग्र्यः प्रधानो रसो येऽन्यस्ते अग्र्यरसाः। शृङ्गाररसोत्पादकेषु रत्यादिषु, शृङ्गाररसे च । उत्त० १४ अ०। रसाग्र–न० रसानां सुखानामग्रम् । प्राकृतत्वादग्रशब्दस्य पूर्व- निपातः । सुखप्रधाने, उत्त० १४ अ० ।

सुसंभिया कामगुणा इमे ते, संपिंडिया अग्गरसप्पभूआ

कीदृशाः कामगुणाः ? । अग्र्यरसप्रभूताः-अग्र्यः प्रधानो रसो येऽन्यस्ते अग्र्यरसाः,शृङ्गाररसोत्पादका इत्यर्थः । यदुक्तम्-"र- तिमाल्यालङ्कारैः, प्रियजनगन्धर्वकामसेवाभिः । उपवनगमनवि- हारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति " ॥ १ ॥ अग्र्यरसाश्च ते प्रभू- ताश्च अग्र्यरसप्रभूताः, प्रचुरा इत्यर्थः । अथवाऽग्र्यरसेन शृ- ङ्गाररसेन प्रचुरास्तान् कामगुणान् (अग्गरस त्ति) चशब्दस्य गम्यमानत्वात् अग्र्या रसाश्च प्रधाना मधुरादयश्च प्रभूताः प्रचु- राः कामगुणान्तर्गतत्वेऽपि रसानां पृथगुपादानमतिगृद्धिहेतुत्वा- च्छब्दादिष्वपि चैषामेव प्रवर्त्तकत्वात् । कामगुणविशेषणं वा, अग्र्या रसास्त एव शृङ्गारादयो वा येषु ते तथा । वृद्धास्त्वाहुः- रसानां सुखानामग्रं रसाग्रं ये कामगुणाः । सूत्रे च प्राकृतत्वा- दग्रशब्दस्य पूर्वनिपातः । उत्त० १४ अ० ।

अग्गल–अर्गल–न० षडशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । अर्ज–कलच्–न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । कपाटमध्यस्थे रोधके, क- ल्लोले, कपाटे च । वाच० । " अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए । अवलंबिया ण चिट्ठिज्जा, गोअरग्गगओ मुणी "॥१॥ अर्ग- लं गोपादिसंबन्धिनम् । दश० ५ अ० २ उ० ।

अग्गलपासग–अर्गलपाशक–पुं० यत्रार्गला निक्षिप्यन्ते तेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अग्गलपासाय–अर्गलाप्रासाद–पुं० स्त्री० । यत्रार्गला निक्षिप्यन्ते तेषु, जी० ३ प्रति० । जं० । आह च जीवाभिगमसूत्रटीकाकारः– अर्गलाप्रासादो यत्रार्गला नियम्यन्ते । रा० ।

अग्गला–अर्गला–स्त्री० अर्ज–कलच् । न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । क्षुद्रार्गले, गौरादित्वाद् ङीष्, स्वार्थे कन्, अर्गलिकाऽप्यत्रार्थे, विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री०न० । वाच० । "अग्गला अग्ग- लपासाया य वइरामईओ " रा० ।

अग्गबीय–अग्रबीज–न० । अग्रे बीजं येषां ते तथा, को- रण्टकादयः । अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रबीजाः । व्रीह्यादिषु, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अग्गवेओ–देशी–नदीपूरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गसिर–अग्रशिरस्–न० शिरोऽग्रे, " घणनिचियसुबद्धलक्ख- णुन्नयकूडागारणिभपिंडियग्गसिरा " तं० ।

अग्गसिहर–अग्रशिखर–न० वनस्पत्यादीनां शिखराग्रे, "सो हियवरं कुरग्गसिहरा " । औ० । रा० ।

अग्गसुयक्खन्ध–अग्रश्रुतस्कन्ध–पुं० आचाराङ्गस्य द्वितीये श्रुत- स्कन्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अग्गसोएमा–अग्रशुक्ला–स्त्री० शुक्लाग्रे, उपा० २ अ० ।

अग्गह–आग्रह–पुं० आ-ग्रह-अच् । ममताऽभिनिवेशे, प्रति० । मिथ्याभिनिवेशे, षो० १२ विव० । आवेशे, आसक्तौ, आक्रमे, अनुग्रहे, ग्रहणे च । वाच० ।

अग्गहच्छेयकारि (ण्)–आग्रहच्छेदकारिन्–त्रि० मूर्गाच्छि- च्छेदके, "समाधिराज एतच्च, तदेतत्तत्त्वदर्शनम् । आग्रहच्छेद- कार्य्येतत, तदेतदमृतं परम्" ॥ १ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

अग्गहण–अग्रहण–न० अनादरे, "भद्दा पुण अग्गहणं, जाणं- तो वा विपरिणमेज्जासो" बृ० ३ उ० । अनुपादाने, उत्त० २ अ० । "पसणमणेसणिज्जं, तिपदं अग्गहणभोयणणयाणं" । उत्त० नि० १ खं० ।

अग्गहणवग्गणा–अग्रहणवर्गणा–स्त्री० । वर्गणाभेदे, कर्म०६कर्म।

अग्गहत्थ–अग्रहस्त–पुं० अग्रश्चासौ हस्तश्चेति गुणगुणिनोर- भेदात् । क० स० । हस्तस्याग्रभागे, वाच० । हस्ताग्रे, अनु० ।

अग्गहि (ण्)–आग्रहिन्–त्रि० अभिनिवेशिनि, " आग्रही बत ! निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपात- रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्" ॥१॥ सूत्र०१ श्रु०१ अ० ३ उ० ।

अग्गाणीअ–अग्राणी (नी) क–न० अग्रञ्च तदनीकं चेति गुण- गुणिनोरभेदात् । क०स०,णत्वम् । वाच० । सैन्याग्रभागे, 'जेणेव भरहस्स रएणो अग्गाणिअं तेणेव उवागच्छंति' जं० ३ वक्ष० ।

अग्गा (ग्गे) णीअ–अग्रायणीय–न० अग्रं परिमाणं, तस्या- यनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वद्रव्या- दिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि द्वितीयपूर्वे, तत्र हि–द्वितीयम- ग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं, परिच्छेद इत्य- र्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदका- रीति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वद्रव्याणां सर्वपर्यायाणां सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । यत उक्तं चूर्णिकृ- ता-"बीइयं अग्गेणीयं तत्थ सव्वदव्वाण पज्जवाण य सव्वजी- वाण य अग्गं परिमाणं वण्णिज्जइ त्ति"। अग्गेणीयं तस्य पदपरि- माणं षएणवतिपदशतसहस्राणि । नं० । संथा० । "अग्गेणीयपु- व्वस्स णं चोद्दसवत्थुदुवालसचूलिया वत्थू पण्णत्ता " । नं० ।

अगि–अग्नि–पुं० अङ्गत्यूर्ध्वं गच्छति, अगि-नि, नलोपः । " स्नेहाग्न्योर्वा " ८ । २ । १०२ । इति प्राकृतसूत्रेण वाऽनयोर्म-

ध्येऽकारः । अगणि, अग्गी । प्रा० । वैश्वानरे, पुं० । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चोभयेषामपि परस्परदर्शनेन बहवो दोषा भवन्तीति दर्शनायाग्निदृष्टान्तप्ररूपणे अग्निनिक्षेप उक्तः । यथा-

दुविहो य होइ अग्गी, दव्वग्गी चेव तह य भावग्गी ।
दव्वग्गिम्मि अगारी, पुरिसो व घरं पलीवेंतो ॥

द्विविधश्च भवत्यग्निः, तद्यथा—द्रव्याग्निश्चैव भावाग्निश्च । द्रव्याग्नौ चिन्त्यमाने अगारी अविरतिकापुरुषो वा गृहं प्रदीपयन् यथा सर्वस्वं दहति, एवं साध्वी वा साधुर्वा सर्जीवगृहं सदनं सस्वामिना प्रदीपयन् चारित्रसर्वस्वं दहतीति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः । अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्द्रव्याग्निं विवृणोति-

तत्थ पुण होइ दव्वे, दहणादिगुणलक्खणा अग्गी ।
नामोदयपच्चइयं, दिप्पइ देहं समासज्ज ॥

तत्र तयोर्द्रव्याग्निभावाग्न्योर्मध्ये द्रव्याग्निः पुनरयं भवति—यः खलु दहनाद्यनेकलक्षणोऽग्निः, दहनं भस्मीकरणं तल्लक्षणः । आदिशब्दात् पचनप्रकाशनलक्षणश्च । देहमिन्धनकाष्ठादिकं समासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुष्णस्पर्शादिनामकर्मोदयाद् दीप्यते, स द्रव्याग्निरुच्यते ।

किमर्थं पुनरयं द्रव्याग्निरिति चेदत आह—

दव्वाइसन्निकरिसा, उप्पन्नो ताणि चेव डहमाणो ।
दव्वग्गि त्ति उ वुच्चइ, आदिमभावाइजुत्तो वि ॥

द्रव्यमूर्ध्वाधो व्यवस्थितमरणिकाष्ठं, तस्य, आदिशब्दात् पुरुषप्रयत्नादेश्च यः सन्निकर्षः समायोगस्तस्मादुत्पन्नः, तान्येव काष्ठादीनि द्रव्याणि दहन् यद्यप्यादिमेनौदयिकलक्षणेन भावेन युक्तोऽग्निनामकर्मोदयेनेत्यर्थः, आदिशब्दात्पारिणामिकादि—भावेन च युक्तो वर्त्तते तथापि द्रव्याग्निः प्रोच्यते, द्रव्यादुत्पन्नो द्रव्याणां वा दाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाश्रयणात् ।

स पुनः कथं दीप्यत इत्याह—

सो पुणिंधणमासज्ज, दिप्पति सीदती य तदभावा ।
नाणत्तं पि य लभए, इंधणपरिमाणतो चेव ॥

स पुनर्द्रव्याग्निरिन्धनं तृणकाष्ठादिकमासाद्य दीप्यते, सीदति च विनश्यति, तदभावादिन्धनाभावात् । नानात्वं विशेषस्तदपि च लभते, इन्धनतः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा-तृणाग्निः काष्ठाग्निरित्यादि । परिमाणतो यथा-महति तृणाद्यन्धने महान् भवति, अल्पे चेन्धने स्वल्प इत्युक्तो द्रव्याग्निः ।

अथ भावाग्निं निर्युक्तिगाथापर्यन्तं व्याचष्टे-

भावम्मि होइ वेदो, इत्तो तिविहो नपुंसगादी उ ।
जइ तासि तदं अत्थि, किं पुण तासिं तयं नत्थि ?॥

भावे भावाग्निर्वेदाख्य इत ऊर्द्धं वक्तव्यो भवति । स च वेदस्त्रिविधो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अत्र परः प्राह-यदि तासां संयतीनां तकं मोहनीयं स्यात् तर्हि युष्मदुक्तोऽग्निदृष्टान्तोऽपि सफलः स्यात, किं पुनः परं तासां तकं मोहनीयं नास्ति, अतः कुतस्तासां भावाग्नेः संभवो भवेदिति भावः । एतत्सूत्रं भावयिष्यते । अथानन्तरोक्तभावाग्निस्वरूपं स्पष्टयति-

उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओगेणं ।
भावो चरित्तमादी, तं डहई तेण भावग्गी ॥

वेदः स्त्रीवेदादिकदयं प्राप्तः सन्, तस्य स्त्रीवेदादिसंबन्धी य उपयोगः पुरुषाभिलाषादिलक्षणस्तेन हेतुभूतेन भावाग्निर्भवति । कुत इत्याह-भावश्चारित्रादिकपरिणामस्तं भावं येन कारणेन दहति तेन भावाग्निरुच्यते । भावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरिति व्युत्पत्तेः । कथं पुनर्दहतीति चेदुच्यते-

जह व सहीणरयणे, भवणे कस्सइ पमायदप्पेणं ।
मज्झंति समादित्ते, अनिच्छमाणस्स वि वसूणि ॥
इय संदंसणसंभा-सणेहि संदीवित्रो मयणवन्ही ।
बम्भादीगुणरयणे, डहइ अनिच्छस्स वि पमाया ॥

यथा वा स्वाधीनरत्ने पद्मरागादिबहुरत्नकलिते भवने प्रमादेन दर्पेण वा समादीप्ते प्रज्वालिते सति कस्यचिदिच्छतोऽप्यनिच्छतोऽपि वसूनि रत्नानि दह्यन्ते (इय त्ति) एवं संदर्शनमवलोकनं, संभाषणं मिथःकथा, ताभ्यां संदीपितः प्रज्वालितो मदनवह्निरनिच्छतोऽपि साधुसाध्वीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्नानि ब्रह्मचर्यतपःसंयमप्रभृतयो ये गुणास्त एव दौर्गत्यदुःखापहारितया रत्नानि प्रमादाद्दहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं द्रढयति-

सुक्किंधणवातबला-भिदीवितो दिप्पते ऽहियं वन्ही ।
दिट्ठिंधणरागानिल-समीरितो वि इय भावग्गी ॥

शुष्केन्धनेन वायुबलेन वाऽभिदीपितो यथा वह्निरधिकं दीप्यते (इय त्ति) एवं दृष्टिरूपं यदिन्धनं यश्च रागरूपोऽनिलो वायुस्ताभ्यां समीरित उद्दीपितो भृशं भावाग्निरपि दीप्यते । बृ० १ उ० । कल्प० । (अग्नेर्वर्णको 'वीर' शब्दे) (अग्नेः प्रथमोत्पादादयः 'उसह' शब्दे) वह्निनामके लोकान्तिकदेवे, आ० म० प्र० । कृत्तिकानक्षत्रस्य देवतायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । "कत्तिया अग्गिदेवयाए" ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । "दो अग्गीओ" स्था० २ठा० ३ उ० । "चत्तारि अग्गी जाव जमा" । अग्निरिति कृत्तिकानक्षत्रस्य देवता यावद्यम इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अग्गि (अ) य-अग्निक-पुं० यमशिष्ये यमदग्निनामके तापसे, "यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत् । प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः ॥ यमशिष्योऽग्निक इति यमदग्निरिति श्रुतः" आ० क० । आव० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । (अस्य कथानकं 'कोह' शब्दे)

अग्गिओ-देशी-इन्द्रगोपकीटविशेषे, मन्दे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गिकज्ज-अग्निकार्य-न० यागादिविधौ, स्था० ।

अग्गिकारिया-अग्निकारिका-स्त्री० अग्निकर्मणि, साधूनां द्रव्याग्निकारिकाव्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता । प्रति० । ('अग्गिहोत्त' शब्दे चैतद् द्रष्टव्यम्)

अग्गिकुमार-अग्निकुमार-पुं० अग्निश्चासौ कुमारश्च कुमारवच्चेष्टमान इति भुवनपतिदेवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (अन्तराग्रमहिष्यादवक्तव्यता 'भवणवइ' शब्दे एव द्रष्टव्याः) ('भुवणवइ' शब्दे चाऽस्य वर्णादिकम्)

अग्गिकुमाराहवण-अग्निकुमाराह्वान-न० तैजसदेवसंकीर्तने, "अग्गिकुमाराहवणे धूवं पगे इहं वेंति" पञ्चा० २ विव० ।

अग्गिच्च-आग्नेय-पुं० उत्तरयोः कृष्णराज्ययोर्मध्ये आग्नेयाभविमानवास्तव्येऽष्टमे लोकान्तिकदेवे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० । भ० । ज्ञा० । ('लोगंतिग' शब्देऽस्य सर्वं वृत्तम्)

अग्गिच्चाभ-आग्नेयाभ-न०। उत्तरयोः कृष्णराज्योर्मध्ये वर्त्तमाने आग्नेयनामलोकान्तिकदेवविमाने, स्था०५ठा०३उ०।भ०।स०।

अग्गिजस-अग्नियशस्-पुं० द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० ।

अग्गिज्जोय-अग्निद्योत-पुं० श्रीवीरस्याष्टमे भवे विप्रभेदे, श्रीवीरस्याष्टमे भवे चैत्यसन्निवेशे च। पष्टिलक्षपूर्वायुष्कोऽग्निद्योतो नाम विप्रस्त्रिदण्डीभूत्वा मृतः। कल्प०। आ०चू०।

अग्गिदत्त-अग्निदत्त-पुं० भरतक्षेत्रजपार्श्वजिनसमकालजाते ऐरवतक्षेत्रजे तीर्थकरे, ति०। भद्रबाहोर्द्वितीये शिष्ये, कल्प०।

अग्गिदहण-अग्निदहन-न० वह्नौ शरीरभस्मीकरणलक्षणे शारीरदण्डे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०।

अग्गिदेव-अग्निदेव-पुं० द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी०।

अग्गिभीरु-अग्निभीरु-पुं० चण्डप्रद्योतनृपतेः रथरत्ने, आ०क०।

अग्गिभूइ-अग्निभूति-पुं० मन्दरसन्निवेशजाते ब्राह्मणभेदे, श्रीवीरस्य दशमभवे, मन्दरसन्निवेशे षट्पञ्चाशल्लक्षपूर्वायुष्कोऽग्निभूतिर्नामा ब्राह्मणस्त्रिदण्डीभूत्वा मृतः। कल्प०। आ० चू०। आ० म० प्र०। श्रीमतो महावीरस्य द्वितीये गणधरे, (अस्याऽऽयुरादिः 'गणहर' शब्दे, नवरमिन्द्रभूतौ प्रव्रजिते)

तं पव्वइअं सोउं, बीओ आगच्छई अमरिसेणं ।
वच्चामि णमाणेमि, पराजिणित्ता ण तं समणं ॥

तमिन्द्रभूतिं प्रव्रजितं श्रुत्वा द्वितीयोऽग्निभूतिनामा तत्सोदर्यबन्धुरत्रान्तरेऽमर्षेणाकुलितचेताः समागच्छति भगवत्समीपम्। केनाभिप्रायेणेत्याह-(वच्चामि णमिति) व्रजामि णमिति वाक्यालङ्कारे। आनयामि निजभ्रातरमिन्द्रभूतिम्। तत इति गम्यते, णेत्ययमपि वाक्यालङ्कारे। तं श्रमणमिन्द्रजालिकं कमपि पराजित्येति।

पुनरपि किं चिन्तयन्नसावागत इत्याह—

छलिओ छलाइणा सो, मन्ने माइंदजालिओ वा वि ।
को जाणइ कह वत्तं, ताहे वट्टमाणी से ॥

दुर्जयस्त्रिभुवनस्यापि मद्भ्रातेन्द्रभूतिः, केवलमहमिदं मन्ये छलादिना छलितोऽसौ तेन धूर्त्तेन छलजातिनिग्रहस्थानग्रहणनिपुणेन, येन केनापि कुप्रेन भ्रामितो मद्बन्धुरित्यर्थः। अथवा मायेन्द्रजालिकः कोऽपि निश्चितमसौ, येन तस्यापि जगद्गुरोर्मद्भ्रातुर्भ्रामितं चेतः। तस्मात्किं बहुना, को जानाति तद्वादस्थानकं तयोस्तत्र कथं वृत्तं, मत्परोक्षत्वात्। इत ऊर्ध्वं पुनर्मयि तत्र गते (से)तस्य तदिन्द्रजालव्यतिकरभ्रमितमानसस्य खचरनरामरभ्रातवन्दनमात्रबृंहितचेतसः श्रमणकस्य (वट्टमाणि त्ति) या काचिद्वार्त्ता वर्तनी वा भविष्यति, तां द्रक्ष्यत्ययं समग्रोऽपि लोक इति। किं च तेन तत्र गच्छता प्रोक्तमित्याह—

सो पक्खंतरमेगं, पि जाइ जइ मे तओ मि तस्सेव ।
सीसत्तं होज्ज गओ, तत्तो पत्तो जिणसगासे ॥

को जानाति तावदिन्द्रभूतिस्तेन कथमपि तत्र निर्जितो न। किंतु एकमपि पक्षान्तरं पक्षविशेषं मे स यदि यात्यवबुध्यते, मद्विहितस्य सहेतूदाहरणस्य पक्षविशेषस्य स यद्युत्तरप्रदानेन कथमपि पारं गच्छतीति हृदयम्। ततः, मीति वाक्यालङ्कारे। तस्यैव श्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति निश्चयः। तत इत्यादिवाग्गर्जितं कृत्वा जिनस्य श्रीमन्महावीरस्यान्तिकं प्राप्त इति। ततः किमित्याह—

आभासियो जिणेणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णु सव्वदरिसीणं ॥

आभाषितश्च संलपितश्च जातिजरामरणविप्रमुक्तेन सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना च जिनेन। कथं?, नाम्ना च हे अग्निभूते! गोत्रेण च हे गौतमसगोत्र! इति। इत्थं च नामगोत्राभ्यां संलपितस्य तस्य चिन्ताऽभूत्। अहो! नामापि मम विजानाति, अथवा जगत्प्रसिद्धोऽहं, कः किल मां न वेत्ति? यदि हि मे हृद्गतं संशयं ज्ञास्यत्यपनेष्यति वा तदा भवेन्मम विस्मय इति चिन्तयति तस्मिन् भगवानाह—

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणियो तेसि मो अत्थो ॥

हे अग्निभूते गौतम! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत क्रियते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवेनेति कर्म ज्ञानावरणादिकं तत्किमस्ति न वेति? नत्वयमनुचितस्तव संशयः। अयं हि भवतो विरुद्धवेदपदनिबन्धनो वर्तते, तेषां च वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि। तेषां च वेदपदानामयं वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति। विशे०।(इति विरुद्धवेदपदानामर्थव्याख्यापुरस्सरमसौ यथा ज्ञानावरणादिकं कर्म ग्राहितस्तथा चास्मिन्नेव ग्रन्थे 'कम्म' शब्दे तृती० २४६ पृष्ठे वक्ष्यते)

तं च प्रव्रजितं श्रुत्वा, दध्यौ तद्बान्धवोऽपरः ।
अपि जातु द्रवेदद्रि-र्हिमानी प्रज्वलेदपि ॥ १ ॥
वह्निः शीतः स्थिरो वायुः, संभवेन्न तु बान्धवः ।
हारयेदिति पप्रच्छ, लोकानश्रद्धधद् भृशम् ॥ २ ॥
ततश्च निश्चये जाते, चिन्तयामास चेतसि ।
गत्वा जित्वा च तं धूर्तं, वालयामि सहोदरम् ॥ ३ ॥
सोऽप्येवमागतः शीघ्रं, प्रभुणा भाषितस्तथा ।
संदेहं तस्य चित्तस्य, व्यक्तीकृत्यावदद्विभुः ॥ ४ ॥
हे गौतमाग्निभूते! कः, संदेहस्तव कर्मणः ?।
कथं वा वेदतत्त्वार्थं, विभावयसि न स्फुटम ? ॥५॥

स चायं "पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यादि। तत्र ग्नि इति वाक्यालङ्कारे, यद् भूतमतीतकाले, यच्च भाव्यं भाविकाले, तत्सर्वमिदं पुरुष एव आत्मैव। एवकारः कर्मेश्वरादिनिषेधार्थः। अनेन च वचनेन यन्नरामरतिर्यक्पर्वतपृथिव्यादिकं वस्तु दृश्यते तत्सर्वमात्मैव। ततः कर्मनिषेधः स्फुट एव। किं च। अमूर्त्तस्यात्मनो मूर्त्तेन कर्मणाऽनुग्रह उपघातश्च कथं भवति?। यथा आकाशस्य चन्दनादिना मण्डनं खड्गादिना खण्डनं च न संभवति; तस्मात् कर्म नास्ति इति तव चेतसि वर्त्तते। परं हे अग्निभूते! नायमर्थः समर्थः। यत इमानि पदानि पुरुषस्तुतिपराणि। यथा-त्रिविधानि वेदपदानि-कानिचिद्विधिप्रतिपादकानि। यथा-"स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादीनि। कानिचिदनुवादपराणि। यथा-"द्वादश मासाः संवत्सरः" इत्यादीनि। कानिचित् स्तुतिपराणि। यथा-"इदं पुरुष एव" इत्यादीनि। ततोऽनेन पुरुषस्य महिमा प्रतीयते न तु कर्माद्यभावः। यथा 'जले विष्णुः स्थले विष्णु-र्विष्णुः पर्वतमस्तके। सर्वभूतमयो विष्णु-स्तस्माद्विष्णुमयं जगत्'॥ १॥ अनेन हि वाक्येन विष्णोर्महिमा प्रतीयते, नत्वन्यवस्तूनामभावः। किं च, अमूर्तस्यात्मनो मूर्तेन कर्मणा कथमनुग्रहोपघातौ?। तदप्ययुक्तम्, यदमूर्त्तस्यापि ज्ञानस्य मद्यादिनोपघातो ब्राह्म्या-

चौपधेन चानुग्रहो दृष्ट एव । किं च । कर्म विना एकः सुखी,अन्यो दुःखी, एकः प्रभुः,अन्यः किङ्कर इत्यादि प्रत्यक्षं जगद्वैचित्र्यं कथं नाम संभवतीति श्रुत्वा गतसंशयः प्रव्रजितः। इति द्वितीयो गणधरः। कल्प०। आ०म०प्र. (अन्यद् 'गणहर' शब्दे द्रष्टव्यम) पावकविभूत्यां, वीर्य्ये च । स्त्री०।६ ब०। वह्निसम्भवे, त्रि०।वाच०।

अग्गिमाणव–अग्निमानव–पुं० दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था०२ ठा०३ उ०। भ०। (अग्रमहिषीलोकपालादयश्चास्य 'अग्गमहिसीलोगपालादि' शब्देषु निरूपिताः)

अग्गिमाली–अग्निमाली–स्त्री० । रतिकरपर्वतस्योत्तरेण स्थितायां शक्राग्रमहिष्याम, द्वी० ।

अग्गिमित्ता-अग्निमित्रा-स्त्री०। पोलासनगरवास्तव्यस्याजीविकमतोपासकस्येभ्यकुम्भकारस्य सद्दालपुत्रस्य भार्यायाम्, उपा० ७ अ० ('सद्दालपुत्त' शब्देऽस्या वक्तव्यता)

अग्गिमेह–अग्निमेघ–पुं० । अग्निवद्दाहकारिजले मेघे , भ० ७ श० ६ उ० ।

अग्गिय-अग्निक-पुं०। भस्मकाभिधाने वायुविकारे, विपा०१ श्रु०१ अ० । इन्द्रदत्तेन राज्ञा स्वमन्त्रिसुतायामुत्पादितस्य सुरेन्द्रदत्तस्य दास्यां जाते पुत्रे, ('मणुस्स' शब्दे चैतद्विवृतिः) आ० चू०१ अ० । आ० क० । वत्सगोत्रावान्तर्गतगोत्रे, स्था० ७ ठा० ।

अग्गिलिय–अग्रिम–पुं०। अग्रे भवः। अग्र–डिमच्। ज्येष्ठभ्रातरि, श्रेष्ठे, वाच० । "अग्गिलिया पच्छिलिया सेसं साहूण पाउग्गं"। पं० व० २ द्वा० ।

अग्गिल्लय–अग्नि–पुं० । पञ्चपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । चं०प्र० । " दो अग्गिल्ला " स्था० २ ठा० । उ० ।

अग्गिवेस-अग्निवेश–पुं० । लोकप्रसिद्धे ऋषिभेदे, नं० ।

अग्निवेश्म–पुं०। पक्षस्य चतुर्दशे दिने, जं० १ वक्ष०। कल्प० । जो० । दिवसस्य द्वाविंशतितमे मुहूर्त्ते, चं० प्र० । १० पाहु० ।

अग्गिवेसायण-अग्निवेश्यायन–पुं० । अग्निवेशस्यापत्यमाग्निवेश्यः । गर्गादित्वाद्यञ् इति यञ्प्रत्ययः । तस्याऽपत्यमग्निवेश्यायनः । अग्निवेशर्षिपौत्रे, नं० । तद्गोत्रजाते च । यथा–सुधर्मा गणधरः। आ० म० द्वि० । कल्प० । गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य पञ्चमे दिक्चरे, भ० १५ श० १ उ०। द्वाविंशे दिवसमुहूर्त्ते, स० ३०सम०।

अग्गिसक्कार–अग्निसंस्कार–पुं०। अग्निना संस्कारो मन्त्रपूर्वकदाहः । विधानेन अग्निकृतदाहे, वाच० । " झावणया अग्गिसक्कारो " ध्यापना नामाग्निसंस्कारः, स च भगवत ऋषभस्य निर्वाणप्राप्तस्याऽन्येषां च साधूनामिक्ष्वाकूनामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पश्चाल्लोकेऽपि संजातः । आ० म० द्वि० ।

अग्गिसप्पभा–अग्निसप्रभा–स्त्री० । अवसर्पिण्यां द्वादशतीर्थकरस्य वासुपूज्यस्य दीक्षासमय उपयुक्तशिबिकायाम, स० ।

अग्गिसम्म (ण्) अग्निशर्मन्–पुं० । तीव्रकोपान्विते ऋषिभेदे, वाच० । यमुपहसता गुणसेनेन नवभवानुषङ्गि वैरं वर्द्धितम् । स्वनामख्याते ब्राह्मणभेदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । (अस्य कथानकं ' सीओसणिज्ज ' शब्दे द्रष्टव्यम)

अग्गिसाहिय-अग्निसाधिक–त्रि० । अग्नेर्दायभाक्त्वेन साधारणे, यथा-" हिरण्णे य सुवण्णे य जाव सावएज्जे अग्गिसाहिए चोरसाहिए रायसाहिए मच्चुसाहिए " इत्यादि । भ० ९ श० ३३ उ० । द्वा० ।

अग्गिसिह–अग्निशिख–पुं० । अग्नेरिव अग्निरिव वा शिखा यस्य। कुङ्कुमवृक्षे, कुसुम्भवृक्षे च। वाच०। अवसर्पिण्याः सप्तमदत्तनामकवासुदेवनन्दननामकबलदेवयोः पितरि, ति० । स० । आव० । औत्तराणामग्निकुमाराणामिन्द्रे , स्था० २ ठा० । ज्वलनशिखनाम्नो राज्ञो मित्रे च । उत्त० १३ अ० । अग्नितुल्यजटावति, त्रि०। अग्निशिखेव शिखाग्रमस्य लाङ्गलिकावृक्षे, स्त्री० । अग्नितुल्याग्रभागे , त्रि० । स्वर्णे , कुसुम्भपुष्पे च । न० । ६ त० । अग्निज्वालायाम, स्त्री० । वाच० । स्था० ।

अग्गिसिहाचारण–अग्निशिखाचारण–पुं०। अग्निशिखामुपादाय तेजस्कायिकानविराधयत्सु स्वयमदह्यमानेषु पादविहारनिपुणेषु चारणभेदेषु, प्रव० ६८ द्वा० ।

अग्गिसेण–अग्निषेण–पुं०। वर्तमानायामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रसम्भवजिनसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे, " भरहे य संभवजिणो, एरवए अग्गिसेणजिणचंदो " ति० । भारतजारिष्टनेमिसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे च, " भरहे अरिट्ठनेमि, एरवए अग्गिसेणजिणचंदो" ति० । प्रव० ।

अग्गिहोत्त–अग्निहोत्र–न०। अग्नये हूयतेऽत्र। हु-त्र। ४ त०।मन्त्रकरणकवह्निस्थापनानन्तरं तदुद्देश्यकहोमे, वाच०। तत्स्वरूपं च समये वर्णितात् लौकिकप्रतिदिनकृत्याद्वगन्तव्यम् । यथा 'सिव' शब्दे शिवराजर्षिचरित्रोपाख्याने वर्णितम । तच्च नित्यं काम्यं च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं,तज्जरामर्य्यमेव, यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति' [आ०म० द्वि० । विशे०] श्रुत्या, 'नित्यस्य उपसन्निधारित्वा मासमेकमग्निहोत्रं जुहोतीति' श्रुत्या च, काम्यस्य विधानमुक्तम । वाच०।

एतच्चाकिञ्चित्करमिति सिद्धान्ते दर्शितम्—

हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥ १९ ॥

एके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति । ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा घृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षार्थाग्निहोत्रं जुह्वति, शेषास्त्वभ्युदयायेति । युक्तिं चात्र त आहुः-यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनामलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ।

इति पूर्वपक्षमुद्भाव्य—

हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति
सायं च पायं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा
अग्गिं फुसंताण कुकम्मिणं पि ॥ १८ ॥

"अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः" इत्यस्माद्वाक्याद् ये केचन मूढा हुतेनाऽग्नौ हव्यप्रक्षेपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिकां स्वर्गावाप्तिलक्षणामुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति । कथंभूताः, सायमपराह्णे विकाले वा,प्रातः प्रत्यूषे वाऽग्निं स्पृशन्तो यथेष्टैर्हव्यैरग्निं तर्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिलषन्ति । आहुश्चैवं ते–यथा अग्निकार्यात्स्यादेव सिद्धिरिति । तत्र च यद्येवमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्भवेत, ततस्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये भस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि भस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति । यदप्युच्यते–अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि

युक्तिविकलत्वाद् वाङ्मात्रमेव । विष्ठादिभक्षणेन चाग्नेस्तेषां बहुतरदोषोत्पत्तेरिति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । यदप्यभिहितम्-देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषाय इति । तदपि वितथम् । यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलरसास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदावर्जितजुगुप्सितपशुमांसाद्याहुतिप्रतिगृहीताविच्छैव दुःसंभवा, औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः । न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । "चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता" इति जैमिनिवचनप्रामाण्यात् । तथा च मृगेन्द्रः- "शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु । न सा प्रयाति सान्निध्यं, मूर्त्तत्वादस्मदादिवत्" ॥१॥ इति । सेति देवता । हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात् तदुपभोगजनिता देवतानां प्रीतिः प्रलापमात्रम् । अपि च । योऽयं त्रेताऽग्निः स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्, "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः । ततश्चोत्तममध्यमाधमदेवानामेकेनैव मुखेन भुञ्जानानामन्योन्योच्छिष्टभुक्तिप्रसङ्गः । तथा च ते तुरुष्केभ्योऽप्यतिरिच्यन्ते । तेऽपि तावदेकत्रैवामत्रे भुञ्जते, न पुनरेकेनैव वदनेन । किंच । एकस्मिन् वपुषि वदनबाहुल्यं क्वचन श्रूयते, यत् पुनरनेकशरीरेष्वेकं मुखमिति महदाश्चर्यम् । सर्वेषां च देवानामेकस्मिन्नेव मुखेऽङ्गीकृते यदा केनचिदेको देवः पूजादिनाऽऽराद्धोऽन्यश्च निन्दादिना विराद्धस्ततश्चैकेनैव मुखेन युगपदनुग्रहनिग्रहवाक्योच्चारणसंकरः प्रसज्यते । अन्यच्च । मुखं देहस्य नवमो भागस्तदपि येषां दाहात्मकं तेषामेकैकशः सकलदेहस्य दाहात्मकत्वं त्रिभुवनभवनभस्मीकरणपर्यवसितमेव संभाव्यते, इत्यलमतिचर्चया । यश्च कारीरीयज्ञादौ वृष्ट्यादिफलाव्यभिचारस्तत्प्रीणितदेवताऽनुग्रहहेतुक उक्तः । सोऽप्यनैकान्तिकः । क्वचिद्व्यभिचारस्यापि दर्शनात् । यत्रापि न व्यभिचारस्तत्रापि न तदाहिताहुतिभोजनजन्मा तदनुग्रहः, किं तु स देवताविशेषोऽतिशयज्ञानी स्वोद्देशनिर्वर्तितं पूजोपचारं यदा स्वस्थानावस्थितः सन् जानीते तदा तत्कर्त्तारं प्रति प्रसन्नचेतोवृत्तिस्तत्तत्कार्याणीच्छावशात्साधयति । अनुपयोगादिना पुनरजानानो जानानोऽपि वा पूजाकर्तुरभाग्यसहकृतः सन्न साधयति, द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसहकारिसाचिव्यापेक्षस्यैव कार्योत्पादस्योपलम्भात् । स च पूजोपचारः पशुविशसनव्यतिरिक्तैः प्रकारान्तरैरपि सुकरः, तत्किमनया पापैकफलया शौनिकवृत्त्या ? । यच्च छगलजाङ्गलहोमात् परराष्ट्रवशीकृतिसिद्ध्या देव्याः परितोषानुमानम् । तत्र कः किमाह ? । कासांचित् क्षुद्रदेवतानां तथैव प्रत्यङ्गीकारात् । केवलं तत्रापि तद्वस्तुदर्शनज्ञानादिनैव परितोषो न पुनस्तद्भुक्त्या । निम्बपत्रकटुकतैलाऽऽरनालधूमादीनां हूयमानद्रव्याणामपि तद्भोज्यत्वप्रसङ्गात् । परमार्थतस्तु तत्तत्सहकारिसमवधानसचिवाराधकानां भक्तिरेव तत्तत्फलं जनयति, अचेतने चिन्तामण्यादौ तथा दर्शनात् । स्या० ११ श्लो० ॥ ननु "न वि जाणसि वेयमुहं न वि जन्नाण जं मुहं ति" जयघोषेण पृष्टो विजयघोषोऽशक्त उत्तरदाने "वेयाणं च मुहं बूहि, बूहि जन्नाण जं मुहं ति" जयघोषमेवं जिज्ञासमानः "अग्गिहोत्तमुहा वेया जन्नट्ठी वेयसां मुहं" । इति तथ्यमुत्तरमवाप्तो विजयघोषः प्रवव्राज । उत्त० २५ अ० । इत्थमग्निहोत्रस्य सिद्धान्तेऽपि कर्त्तव्यत्वमभ्युपगतं कथं दूष्यते ? । सत्यम् । न तत्र प्राणिवधप्रधानं द्रव्याग्निहोत्रं गृह्यते, किं तर्हि ध्यानाग्निहोत्रम् । तथा च तट्टीका-अग्निहोत्रमग्निकारिका, सा चेह "कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका" ॥१॥ इत्यादिरूपा परिगृह्यते । तदेव मुखं प्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुखा वेदाः । वेदानां हि दध्यादेरिव नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि-"नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव । औषधेभ्योऽमृतं यद्वद्वेदेष्वारण्यकं तथा" ॥२॥ तत्र च दशप्रकार एव धर्म उक्तः । तथा च तद्वचः-"सत्यं तपः संतोषः संयमश्चारित्रमार्जवं क्षमा धृतिः श्रद्धा अहिंसेत्येतद्दशविधमिह धामेति" । तत्र च धामशब्देन धर्म एव विवक्षितः । एतदनुसारि चोक्तरूपमेवाग्निहोत्रमिति । उत्त० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं हारिभद्राष्टके—

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः ।
धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽष्टप्रकारं, तदेव दाह्यत्वादपनेयत्वादिन्धनमिवेन्धनं कर्मेन्धनं तत्समाश्रित्याङ्गीकृत्याग्निकारिका कार्येति योगः । किंविधा ?, दृढा कर्मेन्धनदाहं प्रति प्रत्यला । तथा सद्भावना शुभरूपा या जीवस्य वासना सैवाहुतिर्घृतादिप्रक्षेपलक्षणा यस्यां सा तथा । केन करणभूतेनेत्याह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वाच्छुक्लध्यानं तच्चाग्निरिवाग्निर्धर्मध्यानं च तदग्निश्च धर्मध्यानाग्निस्तेन कार्या विधेया । केनेत्याह-दीक्षितेन प्रव्रजितेन । काऽसौ ?, अग्निकारिका अग्निकर्मेति । इत्थं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्—दीक्षितस्य द्रव्याग्निकारिका अनुचिता, तस्या भूतोपमर्दरूपत्वात्, तस्य च तन्निवृत्तत्वेन तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनसंस्थितिरिति प्रागुक्तम् । गृहस्थस्य तु सर्वथा भूतोपमर्दानिवृत्तत्वेनाधिकारित्वात्तां करोत्यपि । अत एव धूपदहनदीपप्रबोधादिना प्रकारेण द्रव्याग्निकारिकामपि कुर्वन्त्यार्हतगृहस्था इति । अनेन श्लोकेनेदमुक्तं भवति-यदि हे कुतीर्थिकाः ! यूयं दीक्षितास्तदा कर्मलक्षणाः समिधः कृत्वा धर्मध्यानलक्षणमग्निं प्रज्वाल्य सद्भावनाहुतिप्रक्षेपतोऽग्निकारिका कार्या, नत्वन्या, तस्या दीक्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हन्त ! गृहस्थास्तत्तुल्या वा, ततः कुरुध्वं द्रव्याग्निकारिकामिति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेति परसिद्धान्तेनैव प्रसाधयन्नाह—

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च ।
शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं, शिवधर्मोत्तरं ह्यदः ॥ २ ॥

दीक्षा प्रव्रज्या, मोक्षार्थं सकलकर्मनिर्मुक्तिनिमित्तमाख्याता तत्स्वरूपज्ञैर्निगदिता । यत एवं ततस्तां प्रतिपन्नेन मोक्षसाधकमेवानुष्ठानमाश्रयणीयं न पुनर्द्रव्याग्निकारिकेति हृदयम् । द्रव्याग्निकारिकैव साधनं मोक्षस्येत्याशङ्क्य निराकरणायाह-(ज्ञानध्यानफलं स चेति) स पुनर्मोक्षो विज्ञप्तिशुभैकाग्र्यत्वयोः साध्यो वर्त्तते न पुनर्द्रव्याग्निकारिकाया इति भावना । कथमिदमवसितं प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वात्तस्येति चेदत आह-शास्त्रे उक्तः आगमे ज्ञानध्यानफलतयाऽभिहित इत्यर्थः । यद्यपि हि प्रत्यक्षानुमानयोरसावतीन्द्रियत्वेनागोचरस्तथाऽप्यागमाभिहितत्वात् ज्ञानफलतयाऽसौ प्रतिपत्तव्यः । आगमश्च प्रमाणतया सर्वमोक्षवादिभिरभ्युपगत एव । यद्यपि च बौद्धैः स तथा नेष्यते, तथापि संशयविशेषनिबन्धनतया प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुत्वात् तैः कथंचिदभ्युपगत एवेति । अथ कथमवसितमिदं यदुत शास्त्रेऽसौ

तत्फलतयाऽभिहित इत्याशङ्कयाह–यतो यस्मात्कारणात् सूत्रमर्थसूचकं वाक्यं शिवधर्मोत्तरे शिवधर्माभिधाने पराभिमते शैवागमविशेषे, हिरिति वाक्यालंकारे । अद एतद्वक्ष्यमाणमिति । अतो भवदभ्युपगतशास्त्रे मोक्षस्य ज्ञानादिफलतयोक्तत्वान्न मोक्षार्थिना दीक्षितेनानधिकृता द्रव्याग्निकारिका कार्येति भावार्थ इति ॥ २ ॥

तदेव सूत्रं दर्शयन्नाह—

पूजया विपुलं राज्य–मग्निकार्येण संपदः ।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥३॥

पूजया देवतायाः पुष्पाद्यर्चनलक्षणया न तु तदन्यया, तदन्यस्यास्तपोज्ञानरूपत्वेन पापविशुद्धिमोक्षयोरेव संपादकत्वात् । विपुलं विस्तीर्णं राज्यं राजभावो भवति, तत्कारकस्येति गम्यते । तथा अग्निकार्येण अग्नावग्निना वा कार्यं कृत्यमग्निकार्यम्, तेन द्रव्याग्निकारिकयेत्यर्थः, न भावाग्निकारिकया, तस्या ध्यानरूपत्वेन मुक्तिसाधकत्वात् । संपदः समृद्धयो भवन्तीति गम्यम् । तथा तपोऽनशनादि , पापविशुद्ध्यर्थमशुभकर्मक्षयाय भवति । तथा ज्ञानमवबोधविशेषः, ध्यानं च शुभचित्तैकाग्रतालक्षणम्, चशब्दः समुच्चये, मुक्तिदं मोक्षप्रदं भवतीति शिवधर्मोत्तरग्रन्थसूत्रार्थ इति ॥ ३ ॥

एवं तावत् पराभ्युपगमेनैव द्रव्याग्निकारिकाकरणं दीक्षितस्य दूषितम् , अथ तस्यैव पूजां पुनरग्निकारिकां च प्रकारान्तरेण दूषयन्नाह–

पापं च राज्यसंपत्सु, संभवत्यनघं ततः ।
न तद्धेत्वोरुपादान–मिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥४॥

न केवलं मुमुक्षोरग्निकारिकाकरणमपार्थकम्, पापं चाशुभं कर्म च, राज्यसंपत्सु नरपतित्वसमृद्धिषु पूजाग्निकारिकाकरणानन्तरं फलभूतासु सतीषु, संभवति संजायते । यत एवं ततस्तस्मादनघं निरवद्यं ते नैव भवति, तद्धेत्वोः राज्यसंपत्कारणयोः पूजाग्निकारिकारूपयोरुपादानमाश्रयणमिति । एतदनन्तरं पूजाग्निकारिकयोरुपादानस्य सपापत्वं सम्यक् स्वसिद्धान्ताविरोधेन विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । सुपर्यालोचितकारिणो हि भवन्ति मुमुक्षव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्सु पापं भवतीत्युक्तं तदेवाश्रित्याक्षेपः क्रियते,
ननु राज्यसंपद्भावे भवतु नाम पापम्, दानादिना तु
तस्य शुद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह–

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।
तदियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

विशोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादिजन्यपापस्य तपसा, अवधारणस्येह संबन्धात्तपसैव अनशनादिनैव, तपः पापविशुद्ध्यर्थमिति वचनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना, दानेन भोगानाप्नोतीति वचनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पूजाग्निकारिके युक्ते इति । इह च द्रव्याग्निकारिकाया एव मुख्यं दूषणं, पूजायास्तु प्रासङ्गिकमित्यग्निकारिकाया एव निगमनमाह–(तदियं नान्यथा युक्तेति) यस्मात् मुमुक्षोर्द्व्येयं पापसाधनसंपद्धेतुभूता च, तत्तस्मादियमग्निकारिका, नैव, अन्यथा धर्मध्यानाग्निकारिकायाः प्रकारान्तरापन्ना, द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, युक्ता संगतेति । विशोधनार्हपापसंपादकसंपन्निमित्तत्वेन द्रव्याग्निकारिकाया अकरणीयत्वं व्यासस्यापि न्यायतः संमतमिति दर्शयन्नाह-तथा चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽस्मदुक्तार्थसंवादो भवति, तथैव उक्तमभिहितं, महात्मना परमस्वभावेन, व्यासेनेति शेषः । इह च यन्मिथ्यादृष्टेरपि व्यासस्य महात्मत्वाभिधानमाचार्येण कृतं, तत्परसंमतानुकरणमात्रमात्मनो माध्यस्थ्याविष्करणार्थमिति न दुष्टम् । संमतश्च परस्य माहात्म्यतया व्यासः। अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परप्रतीतिजननायोपन्यस्तमिति ॥५॥

तदेवाह–

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मार्थं धर्मनिमित्तं, यस्य पुंसः, वित्तेहा द्रव्योपार्जनचेष्टा कृषिवाणिज्यादिका, तस्य पुरुषस्य, अनीहा अचेष्टा वित्तानुपार्जनमेव, गरीयसी श्रेयसितरा, सङ्गततरेत्यर्थः। अयमभिप्रायः-वित्तार्थं चेष्टायामवश्यं पापं भवति, तच्चोपार्जितवित्तवितरणेनावश्यं शोधनीयं भवति । एवं च वित्तार्थमचेष्टैव वरतरा, वित्तवितरणविशोध्यपापाभावात्, परिग्रहारम्भवर्जनात्मकत्वेन चेष्टाया एव च धर्मत्वादिति । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-प्रक्षालनाद्धावनात् सकाशाद् हि यस्मात्, पङ्कस्याशुचिरूपकर्दमस्य दूराद् विप्रकर्षादस्पर्शनमश्लेषणमेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति-यदि पङ्के करचरणादिरवयवः लिप्त्वा ऽपि प्रक्षालनीयस्तदा वरमक्षिप्त एव, एवं यद्यग्निकारिकां विधाय संपद उपार्जनीयास्तज्जन्यपातकं च पुनर्दानेन शोधनीयं, तदा सैवाग्निकारिका वरमकृतेति । प्रयोगश्चेह–न विधेया मुमुक्षुणा द्रव्याग्निकारिका, तत्संपाद्यस्य कर्मपङ्कस्य पुनः शोधनीयत्वात्, पादादेः पङ्कक्षेपवदिति । एवं तर्हि गृहस्थेनापि पूजादि न कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्था न राज्यादिनिमित्तं पूजां कुर्वन्ति । न च राज्याद्यावर्जितमवद्यं दानेन शोधयिष्याम इति मन्यन्ते , मोक्षार्थमेव तेषां पूजादौ प्रवृत्तेः । मोक्षार्थितया च विहितस्यागमानुसारिणो वीतरागपूजादेर्मोक्ष एव मुख्यं फलम्, राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणः पूजादिकं नाविधेयम्, दीक्षितेतरयोश्च अनुष्ठानस्यानन्तर्यपारंपर्यकृत एव फले विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितस्यापि संपदर्थित्वे सति युक्ता द्रव्याग्निका-
रिकेत्याशङ्कानिराकरणायाह—

मोक्षाध्वसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा भुवि ।
जायन्ते ह्यनपायिन्य–इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

मोक्षो निर्वाणम्, तस्याध्वा मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचरणलक्षणस्तस्य सेवाऽनुष्ठानं मोक्षाध्वसेवा, तया, चशब्दः पुनःशब्दार्थः । ततश्चाग्निकारिकायाः कार्यभूताः संपदः पापहेतुतया अशुभाः, मोक्षाध्वसेवया पुनः शुभतरा भवन्तीत्यर्थो लभ्यते । अवधारणार्थो वा चशब्दः, तेन मोक्षाध्वसेवयैव, नाग्निकारिकाकरणत एता अनन्तरोदिता अग्निकारिकाफलभूताः संपदः, प्रायो बाहुल्येन । प्रायोग्रहणं च कस्यापि मोक्षाध्वसेवाजय एव निर्वाणभावाच्च जायन्त एवेति ज्ञापनार्थम् । शुभतरा अग्निकारिकाकरणेभ्यः सकाशात्प्रशस्ततराः। भुवि पृथिव्यां, जायन्ते भवन्ति । हिशब्दो यस्मादर्थः , अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मान्मोक्षाध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च संपदो जायन्ते, तस्मादियमग्निक्रिया नान्यथा युक्तेति प्रक्रमः । मोक्षाध्वसेवया शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्कायामाह–इदेयमनन्तरोदिता सच्छास्त्रसंस्थितिरविसंवादकागमव्यवस्था; यदाह–"मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य, महाभ्युदयलब्धयः । संजायन्तेऽनुषङ्गेण, पलालं सत्कृषाविव " ॥१॥ मुमुक्षूणां च शास्त्रं प्रमाणमेव । यदाऽऽह–" न मानमागमादन्यद्, मुमुक्षूणां हि विद्यते । मोक्षमार्गे ततस्तत्र, यतितव्यं मनीषिभिरिति " ॥ ७ ॥

अथ परसमयसमाश्रयणेनैव द्रव्याग्निकारिकाकरणं निराकुर्वन्नाह–

इष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गं, सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्योक्ता, सैव न्याय्याऽग्निकारिका ॥ ८ ॥

इज्यते दीयते स्मेतीष्टम्, पूर्यते स्मेति पूर्त्तम्, इष्टं च पूर्त्तं चेतीष्टापूर्त्तमिति समाहारद्वन्द्वः छान्दसत्वाश्चेष्टापूर्त्तम् । तत्स्वरूपं चेदम्–"अन्तर्वेद्यां तु यद्दत्तं, ब्राह्मणानां समक्षतः । ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारै-रिष्टं तदभिधीयते ॥ वापीकूपतडागानि, देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामाः, पूर्त्तं तदभिधीयते ॥२॥" तदेवमुक्तस्वरूपमिष्टापूर्त्तम्, न नैव, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इदायमभिप्रायः–अग्निकारिका न मोक्षाङ्गमिष्टकर्मरूपत्वात् । तथा यतोऽन्तर्वेद्यामाहुतिप्राधान्येन कर्माण्याप्यन्त इति । कुतस्तत्र मोक्षाङ्गमित्याह–सकामस्याभ्युदयाभिलाषिणः, यस्मात्तद्विशेषवाक्यशेषो इष्टयः । उपवर्णितमुपदिष्टम्, भवदभिप्रायान्त एव यतः श्रूयते–"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुतिवचनम् । तथा "इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य पृष्ठे सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" इति । अथाकामस्य का वार्तेत्याशङ्क्याह–अकामस्य स्वर्गपुत्राद्यनाशंसावतो मुमुक्षोः, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थस्य विशेषाभिधायकः । योक्ता कर्मेन्धनमित्यादिना प्रतिपादिता, सैव, नान्या परान्युपगता, न्याय्या न्यायादनपेता । न्यायश्च दर्शित एव । अग्निकारिकाऽग्निक्रियेति ॥८॥ इति चतुर्थाष्टकविवरणम् ॥ द्वा० ४ अष्ट० । अग्निहोत्रसम्बन्धित्वाद् हविषि, स्त्रौ च । पुं० । वाच० ।

अग्गिहोत्तवाइ (ण्) अग्निहोत्रवादिन्–पुं० । अग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छति, तत्सिद्धये युक्तिवादिनि, " जे अग्गिहोत्तवादी जलसोयं जे य इच्छंति " इत्यग्निहोत्रवादिनां कुशीलत्वं दर्शितम् । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अग्गुज्जाण–अग्र्योद्यान–न० । नगरादेर्बहिः प्रधानोद्याने, " हत्थिसीसे अस्स नयरस्स बहिया अग्गुज्जाणे सत्थसंनिवेसं करेति " । ज्ञा० १७ अ० । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अग्गेअ–आग्नेय–त्रि० अग्नेरिदम्, अग्निर्देवताऽस्य वा ढक् । अग्निदेवताके हविरादौ, वाच० । शाखाभेदे च । न० । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अग्गेइ (यी) आग्नेयी–स्त्री० अग्निर्देवता यस्याः सा आग्नेयी । दक्षिणपूर्वस्यां विदिशि, ('दिसा' शब्दे वक्तव्यता) भ० १ श० १ उ० । स्था० । आ० म० द्वि० ।

अग्गेणीय–अग्रायणीय–न० । चतुर्दशपूर्वाणां मध्ये द्वितीयपूर्वे, (अस्य विस्तरस्तु 'अग्गाणीय' शब्दे) नं० । स्था० ।

अग्गेत (य)ण–अग्रेतन–त्रि० । अग्रे भवति, अग्रे-ट्यु । पौरस्त्ये, आ० म० प्र० ।

अग्गोदय–अग्रोदक–न० । उपरितन उदके, "लवणस्स णं समुद्दस्स सर्ट्टि णागसाहस्सीओ अग्गोदयं धारेंति " अग्रोदकमिति-षोडशसहस्रोच्छ्रिताया वेलाया यदुपरि गव्यूतिद्वयमानं वृद्धिहानिस्वभावं तदग्रोदकम् । जीवा० ३ प्रति० ।

अग्घ–राज–धा० दीप्तौ, भ्वादि०, उभ०, अक०, सेट्, फणादिः । वाच० । " राजेरग्घछज्जसहरीररेहाः " ८ । ४ । १०० । इति राजेरग्घः । अग्घइ, राजति, राजते । प्रा० ।

अग्घ–पुं० अर्ह-घञ् । रजतादिद्रव्यरूपे मूल्ये, वाच० । संथा० । आव० । मत्स्यभेदे, " लवणसमुद्दे अत्थिबेले धरंति वा आगराया अग्घसिंहा तिज्झाइ वा " अर्घादयो मत्स्यकच्छपविशेषाः । जी० ३ प्रति० ।

अर्घ्य–करणे घञ्, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । पूजोपचारे दूर्वाक्षतादौ, वाच० । पुष्पादिषु पूजाद्रव्येषु, ज्ञा० १६ अ० ।

अग्घ–त्रि० अर्घाय देयं यत्तद्द्रव्यम् । पूजार्थे देये जलादौ, अर्घद्रव्याणि च "आपः क्षीरं कुशाग्रं च, दधि सर्पिः सतण्डुलम् । यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्तितः " ॥ १ ॥ वाच० ।

अग्घाड–पूर–धा० पूर्त्तौ, प्रीणने च । दिवा०, आत्म०, सक०, सेट् । चुरा०, उभ०, सक०, सेट् । वाच० । प्राकृते "पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमांगुमाहिरेमाः" ८ । ४ । १६८ । इति पूरेरग्घाडादेशः । अग्घाडइ, पूर्यते, पूरयति वा । प्रा० ।

अग्घाडग–आघाटक–पुं० । गुच्छवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अग्घाडो–देशी, अपामार्गे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्घाण–देशी, तृप्तार्थे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्घाय–आघ्राय–अव्य० । नासिकया गन्धं गृहीत्वेत्यर्थः । "सुरभिगंधाणि वा अग्घाय से तत्थ आसाय वडियाए मुच्छिए" आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । आ० म० प्र० ।

अग्घायमाण–आजिघ्रत्–त्रि० । जिघ्रति गन्धं नासिकया गृह्णाति, "महया गंधद्धणिं मुयंतं अग्घायमाणीओ दोहलं विणिंति " ज्ञा० ८ अ० । आ० म० द्वि० ।

अग्घिय–अर्घित–त्रि० । अर्घ-क्त, अर्घः संजातोऽस्य इतच् वा । बहुमूल्ये, " अग्घियं नाम बहुमोल्लं " नि० चू० २ उ० ।

अघ–अघ–न० । अघ-भावेऽच् । पापे, वाच० । "ब्राह्मणो लिप्यते नाघै-र्नियागप्रतिपत्तिमान्" अष्ट० २८ अष्ट० । कर्त्तरि अच् । पापकारके, त्रि० । व्यसने, दुःखे च । न० । पूतनाबकासुरयोर्भ्रातरि असुरभेदे, पुं० । वाच० ।

अघण–अघन–त्रि० । न० त० । अदृढे, ओ० । विरले, पिं० ।

अघाइणी–अघातिनी–स्त्री० ज्ञानदर्शनादिगुणानां मध्ये न किञ्चिद् गुणं घ्नन्तीत्येवंशीला अघातिन्यः ज्ञानादिगुणानामघातनामकरणशीलासु कर्मप्रकृतिषु, अघातिन्यः प्रकृतयः ज्ञानादिगुणं न घ्नन्ति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्वभावोऽपि तस्करैः सह वर्त्तमानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः सह विद्यमानास्तद्दोषा इव भवन्ति । यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिप्रवराः–"अवसेसा पयडीओ, अघाइयाहिं पडियभागा" पलियभाग त्ति । सातत्वं घातित्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विज्ञेयम् (ताश्च पञ्चसप्ततिसंख्याका अभिधीयन्ते, इत्यादि ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २६५ पत्रे प्रतिपादितम्)

अघाइरस–अघातिरस–पुं० ज्ञानादिगुणस्य स्वकार्यसाधनं प्रत्यसामर्थ्यकारके रसस्पर्द्धकसङ्घाते, पं० सं० ३ द्वा० ।

अघातिरसस्वरूपमाह–

जाण न विसओ घाइ–त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।

जायइ घाइसगासे–ण चोरया वेव चोराणं ॥ ३६ ॥

यासां प्रकृतीनां घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयो न किमपि ज्ञानादिगुणं घातयन्तीत्यर्थः, तासामपि घातिसकाशेन सर्वघातिप्रकृतिसंपर्कतो जायते सर्वघातिरसः । अत्रैव निदर्शनमाह–यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता । पं० सं० ३ द्वा० ।

अघुणित (य)--अघुणित--त्रि० घुणैरविद्धे, बृ० १उ० ।

अचं (च) कारियभट्टा-अचङ्कारितभट्टा--स्त्री० धन्यश्रेष्ठिनो भद्रायां भार्यायामुत्पादितायामुपायलब्धत्वादतिस्नेहेन न केनचिदेषा चङ्कारयितव्येति स्वनामख्यातायां सुतायाम,ग०२ अधि० । अमानफले अचंकारितभट्टोदाहरणम् । यथा-खितिपतिट्ठियं नगरं । जियसत्तू राया धारिणी देवी । सुबुद्धी सचिवो । तत्थ य नगरे धणो नाम सेट्ठी । तस्स भद्दा णाम भारिया । तस्स य धूया भद्दा । सा य मापियभाउयाण य बहुयावल्लहा । मायपितीहिं य सव्वपरिजणं भणति-एसा ए य केण वि किंचि चंकारेयव्व त्ति । ताहे लोगेण से कयं णामं अचंकारियभट्ट त्ति । सा य अतीव रूववती बहुसु वणियकुलेसु वरिज्जति । धणो य सेट्ठी भणइ-जो पयं ण चंकारेहिति तस्सेसा दिज्जिहिति त्ति, एवं वरगे परिसेहति । अण्णया य सचिवेण वरिया । धणेण भणियं-जइ ण किंचि वि अवराहे चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो । तेण य पडिसुयं । तस्स दिणा भारिया । सो तं न चंकारेति । सो य अमच्चो रातीए जामे गए रायकज्जाणि समाणेउं आगच्छति । सा तं दिणे खिसति-सवेलाए नागच्छसि त्ति । ततो सवेलाए एतुमारद्धो । अण्णया रण्णा चिंता जाया-किमेसो मंती सवेलाए गच्छति ? । रणो अण्णेहिं कहियंएस भारियाए आणाभंगं ण करेति त्ति । अण्णया रण्णा भणियं-इमं एरिसं तारिसं च कज्जं सवेलाए तुमे ण गंतव्वं । सो उस्सुयन्तो वि रायाणुवत्तीए ठितो । सा य रुट्ठा दारं बन्धेउं ठिआ । अमच्चओ आगओ । उस्सूरो दारमुग्घाडेहि त्ति बहुभणिये वि जाहे ण उग्घाडेति, ताहे तेण चिरं अच्छिऊण भणिया-तुमं ण चेव सामिणी होज्जासि त्ति । अहो ! मे आलो अंगीकओ, ताहे सा अइमाणेहि त्ति भणिया दारमुग्घाडिउं पिउघरं गया, सव्वालंकारविभूसिआ अंतरा चोरेहिं गहिया । तीसे सव्वालंकारे घेत्तु चोरेहिं सेणावतिस्स उवणीया । तेण सा भणिया-मम महिला होहि त्ति । सो तं बलेण ण भुंजति । सा वि तं णेच्छति । ताहे तेण वि सा जलूगवेज्जस्स हत्थे विक्किया । तेण वि सा भणिया-मम भज्जा भवाहि त्ति । तं पि अणिच्छंती तेणावि रूसिएण भणिया-पाणीयातो जलूगा गेण्हाहि त्ति । सा अप्पाणं णवणीएण मंखिउं जलमवगाहइ । एवं जलूगाओ गिण्हति । सा तं अणणुरूवं कम्मं करेति, ण य सीलभंगं इच्छति । सा तेण रुहिरस्सावेण विरूवलावण्णा जाया । इतो य तस्स भाया दूयकिच्चेण तत्थागओ । तेण सा अणुसरिसि त्ति काउं पुच्छिया । तीए कहियं । तेण दव्वेण मोयाविया । आणिया य वमणविरेयणेहिं पुण णवसरीरा जाया । अमच्चेण पच्छा णियघरमाणिया, सव्वसामिणी ठविया । ताहे कोहपुरस्सरस्स माणस्स दोसं दट्ठुं अभिग्गहो गहियो । ण मए कोहो माणो वा कायव्वो । तस्स घरे सयसहस्सपागं तेल्लमत्थि । तं च साहुणा वणसंरोहणत्थं ओसहं मग्गियं । तीये दासचेडी आणत्ता-आणेहि त्ति । तीए आणंतीए सह तेल्लणगं भायणं भिण्णं । एवं तिण्णि भायणाणि भिण्णाणि, ण य सा रुट्ठा । तिसु सयसहस्सेसु विणट्ठेसु चउत्थवाराए अप्पणा उट्ठेऊण दिण्णं । जइ तीए कोहपुरस्सरो मेरुसरिसो माणो निज्जिओ । साहूणीहिं सुट्ठुतरं णिहंतव्वो त्ति । ग० २ अधि० ।

अचंचल--अचञ्चल--त्रि० । वशीकृतेन्द्रिये, प्रव० ६४ द्वा० । 'चंचल' शब्दे प्रतिपादयिष्यमाणे चञ्चलविपरीते अनुयोगश्रवणार्हे, बृ०१ उ० ।

अचंड--अचण्ड--त्रि० । न० त० । अतीव्रकोपे, तं० । निष्कारणप्रबलकोपरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । स० । सौम्ये, "मा अचंडालियं कासी " उत्त० १ अ० ।

अचक्कि (ण्)--अचक्रिन्--पुं० न चक्री । नञः पर्युदासवाचकत्वेन सदृशग्राहकत्वात् सामान्यपार्थिवे, बृ० १ उ० ।

अचकिय--अचकित--त्रि० । अत्रासिते, " समुद्दगंभीरसमा दुरासया, अचक्किया केणइ दुप्पहंसया " उत्त० ११ अ० ।

अचक्ख--दृश्--धा० चाक्षुषज्ञाने, भ्वादि०, पर०, सक०, अनिद् । वाच० । " दृशो निअच्छपेच्छावयच्छावयज्झवज्जसव्ववदेक्खो अक्खावक्खा " ।८।४।१८१। इत्यादिना सूत्रेणाचक्खादेशः । अचक्खइ, पश्यति । प्रा० ।

अचक्खु--अचक्षुष्--न० । न० त० । चक्षुर्वर्जेशेषेन्द्रियचतुष्टये, मनसि च । कर्म० १ कर्म० । जी० । उत्त० । न० ब० । चक्षुर्दर्शनवर्जिते, कर्म० ४ कर्म० ।

अचक्खुदंसण--अचक्षुर्दर्शन--न० । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा वा दर्शनं यत्तदचक्षुर्दर्शनम् । स्था० ६ ठा० । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिः स्वस्वविषयस्य सामान्यग्रहणस्वरूपे दर्शनभेदे, पं० सं० १ द्वा० । कर्म० । स्था० । (" दंसण " शब्दे वक्ष्यते सर्वम्)

अचक्खुदंसणावरण--अचक्षुर्दर्शनावरण--न० । अचक्षुर्दर्शनस्यावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, स्था० ६ ठा० ।

अचक्खुफास--अचक्षुःस्पर्श--पुं० । अन्धकारे, " पुरओ पवाए पिट्ठओ हत्थिभयदुहओ अचक्खुफासो मज्झे सरा णिवयंति " ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

अचक्खुय--अचक्षुष्क--त्रि० । अन्धे, "अचक्खुओवनेयारं, बुद्धिं अन्नेसए गिरा " व्य० १ उ० ।

अचक्खुविसय--अचक्षुर्विषय--पुं० । ६ त० । चक्षुरगोचरे, " अचक्खू विसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहया " अचक्षुर्विषयो यत्र न चक्षुषो व्यापारो यत्रेत्यर्थः । दश० ५ अ० ४ उ० ।

अचक्खुस--अचाक्षुष--त्रि० । चक्षुषाऽदृश्ये, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अचक्खुस्स--अचक्षुष्य--त्रि० । द्रष्टुमनिष्टे, बृ० ३ उ० ।

अचयंत--अशक्नुवत्--त्रि० । असमर्थे, "चोइया भिक्खचरिया, अचयंता जविक्षए " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अचर--अचर--पुं० । न० त० । पृथिव्यादिषु स्थावरेषु, दर्श० । चलनशून्ये, त्रि० । ज्योतिषोक्तवृषसिंहवृश्चिककुम्भराशिसंज्ञेषु स्थिरराशिषु, वाच० ।

अचरग--अचरक--त्रि० । अनुपभोक्तरि, "चारिचरकसंजीविन्यचरकचारणविधानलक्षरमे" षो० ११ विव० ।

अचर (रि) म--अचरम--त्रि० । न० त० । प्रान्तिममध्यवर्त्तिनि, तच्चापेक्षिकं, तस्य चरमापेक्षाभावात् । यथातथाविधान्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरम् । प्रज्ञा० ६ पद० । (सर्वेषां चरमाचरमत्वं 'चरम' शब्दे दर्शयिष्यते) चरमभिन्नेषु नारकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु जीवेषु, ते हि अचरमाः येषां भव्यत्वे सत्यपि चरमो भवो न भविष्यति, न निर्वास्यन्तीत्यर्थः । स्था० २ ठा० २ उ० । " दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता-चरमा चेव अचरमा चेव " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अचरिमे दुविहे पएणत्ते। तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा अपज्जवसिए।
अचरमो द्विविधः-अनाद्यपर्यवसितः साद्यपर्यवसितश्च। तत्राऽनाद्यपर्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्यवसितः सिद्धः। प्रज्ञा० १६ पद।

अचर (रि) मंतपएस–अचरमान्तप्रदेश–पुं०अचरम एव कस्याप्यपेक्षयाऽन्तवर्तित्वादन्ते, प्रज्ञा० ए पद। ('चरम' शब्देऽचरमान्तप्रदेशत्वपृच्छा करिष्यते)।

अचर(रि) मसमय–अचरमसमय–पुं० चरमसमयादन्यस्मिन् यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमये, नं०।

अचर (रि) मावट्ट–अचरमावर्त्त–चरमपुद्गलपरावर्तादर्वाक् समये, अष्ट० १८ अष्ट०।

अच (य) ल–अचल–त्रि०। न० त०। निष्प्रकम्पे, "अयले भवभेरवाणं" कल्प०। "अणिहे अचले चले अबहिल्लेस्से परिव्वए"। न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गवातेरितोऽपि। आचा० १ श्रु० ६ अ०५ उ०। "अचले जे समाहिए" यद्यप्यसाविङ्गितप्रदेशे स्वतः शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणान्न चलतीत्यचलः। आचा० १ श्रु० ८ अ०८ उ०। "अचले जगवं! रीइज्जा" आचा०१श्रु० ६ अ०३ उ०। 'अचले जह मंदरे गिरिवरे' अचलो निश्चलः परीषहादिभिः। प्रश्न० ५ संव० द्वा०। "सिवमयलमरुयमक्खयमणंतमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपत्ताणं" अचलम, स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात्। जी० ३ प्रति०। स०। ल०। भ०। औ०। स्पन्दनादिवर्जितत्वात्। प्रश्न० ४ संव० द्वा०। रा०। ध०। दशार्हाणां षष्ठे दशार्हपुरुषे, अन्त०१वर्ग। पूर्वभवे मल्लिनाथजीवस्य महाबलनाम्नो बालवयस्ये, स च तेन सह प्रव्रजितो विपुलं तपः कृत्वाऽनशनेन मृत्वा जयन्तविमाने उपपन्नो देशोनानि ३० सागरोपमाणि स्थितिं परिपाल्य च्युतः प्रतिबुद्धो नामेक्ष्वाकुराजो जातः। मल्लिनाथेन च सह प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धः। ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। ('मल्ली' शब्दे चैतद् विस्तरेण) अवसर्पिण्यां प्रथमे बलदेवे, प्रव० २०ए द्वा०। आव०। स०। (स च प्रजापतेर्भद्रानाम्न्यां भार्य्यायां जातः, तस्य भगिनी मृगावती। तां तस्य पिता प्रजापतिश्चकमे, इति जायात्वेन कल्पयित्वा तस्यां त्रिपिष्टनामानं दशमं वासुदेवं जनयामास। अचलश्च माहिष्मतीं नाम पुरीं सह मात्राऽऽख्यया मात्रा गतः। इति 'वीर' शब्दे न्यक्षेण दर्शयिष्यते) गृहे, दे० ना० १ वर्ग। तद्वक्तव्यता समासेन–

पुत्तो पयावतिस्स, जद्दा अयलो वि कुच्छिसंभूओ।
गेरुयपडिक्खमहणे, तिविट्ठु अयलो त्ति दो वि जणा॥७२॥
अयलं तिविट्ठ दोन्न वि, संगामे आसि दो वि रायाणं।
हंतूण मच्चदाहि ण, दाहिणत्तरहं अइजणं ति॥७३॥
उप्पएणरयणविहवा, कोमिसिलाए बलं तुलेऊणं।
अध्दजरहाहिसेयं, अह अयल तिविट्ठुणो पत्ता॥७४॥
चक्कं सुदरिसणं मे, संखो वि य पत्र पंचजण्णामो त्ति।
नंदयनामो आसी, रिवुसोणियमंसितो आसी॥७५॥
माला य वेजयंती, विचित्तरयणोवसोहियारंजा।
सारिक्खा मा जाणियं, पणसमए इंदरायस्स॥७६॥
सत्तुजणस्स जयकरं, जावं दवियारिजीवकच्छावं।
जीवानिग्घोसेणं, सत्तू सहसा पमइ जस्स॥७७॥
कोत्थुभमणी य दिव्वो, वच्छत्थलभूसणो तिविट्ठस्स।
लच्छीए परिगहिओ, रयणुत्तमसारसंगाहिओ॥७८॥
अमरपरिग्गहियाई, संत वि रयणाइ अह तिविट्ठस्स।
अमरेसु भूसणेसु य, एयाइं अजिअपुव्वाइं॥७९॥
वहइ हली वि हलं जो, पणयजिब्भं व तिक्खवइरवउं।
पवरं समरमहाभम–विढत्तकित्तीए जीवहरं॥८०॥
माणंदं वा णंदिय, आसं पि य सत्तुमुक्कसयपदलं।
मुसलं से जे महपुर–भंजणकुसलं वइरसारं॥८१॥
सव्वो उ पंचमालं, कुसमासवलोलछप्पयं विउलं।
मणिकुंमलं च वामं, कुवेरघरआमरारामं॥८२॥
अचलस्स वि अमरपरि–ग्गहाइँ एयाइँ पवररयणाइं।
मत्तूणं अजियाइं, समरगुणपहाणगेयाइं॥८३॥
बद्धमउडाण निच्चं, रज्जधुरवहणधोरवसभाणं।
जोइनरिंदाजाणं, सोलसरातीसहस्साइं॥८४॥
बायालीसं लक्खा, हयाण रहगयवराण पेडिसुमा।
अडयदेवसहस्सा, अभिजग्गा सव्वकज्जेसु॥८५॥
अडयालाकोडीओ, पाइक्कमयाण रणसमत्थाणं।
सोलसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवराणं॥८६॥
पणणासं विज्जाहर–नगराण सजणवयाइँ रम्माणं।
पव्वंतरालवासी, नेगो य फणगधरमउमो॥८७॥
नेगाइँ सहस्साइं, गामागरनगरपट्टणादीणं।
वेयड्ढदाहिणेण उ, पुव्वावरअंतरालियाणं॥८८॥
दुरियाभुमाणमहणं, अवसे वसमाणइतु नरवइणो।
दाहिणभरहं सयलं, भुंजति तिन्नाण परिवक्खा॥८९॥
सोलससाहस्सीतो नरवइतणयाण रूवकलियाणं।
तवेइ य चिय जणवइ–कन्नाणीतो तिविट्ठस्स॥९०॥
इय बत्तीसइस्सा, चारुपत्तीण ता तिविट्ठस्स।
धारिणिपामोक्खाण य, अट्ठसहस्साइ अयलस्स॥९१॥
ऊसियमगरवयाणं, विदिणणवरछत्तचालवियणाणं।
सोलसगणियसहस्सा, वसंतसेणापहाणाणं॥९२॥
एवं तु मए जणियं, अयलतिविट्ठाण दोएहवि जणाणं। ति०।

"अयले बलदेवे, असीइं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था" स० ८ सम०। मनोहरीपुत्रे, (स चापरविदेहे शलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्यां जितशत्रोः राज्ञो मनोहरीभार्यायामुत्पन्नो बलदेवो जातः। पितर्य्युपरते मातरि प्रव्रज्यां गृहीत्वा मृतायां लान्तके कल्पे देवत्वेनोपपन्नायामदद्यौ गत्वा साश्वे विभी–षणनाम्नि भ्रातरि मृते तत्रैवागत्य तद्रूपं विकुर्व्य देवरूपया मात्रा मिलित उक्तश्चानित्यां मनुजर्द्धिं ज्ञात्वा परलोकहितं कुर्विति। ततः प्रव्रजितो मृत्वा ललिताङ्गको देवो जात इति, एतत्सर्वं व्यासेनाऽऽत्मनोऽग्रजयसम्बन्धं प्राकूपयत् श्रेयांसः,

इति 'उसभ' शब्दे द्वि० भा० ११३३ पृष्ठे वक्ष्यति) आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० । निर्भयपुराधीश्वरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते, स च स्वगवेषितकपटयोगिनो वधं दृष्ट्वा संवेगमापद्य प्रव्रजितो मुनीश्वरो जातः । तच्चरितं चैवम्—

भयरहिए निभयपुर-म्मि पुन्नजणविहियगरुयहरिसो वि ।
रायासि रामचंदो, सलक्खणो रामचंदु व्व ॥ १ ॥
तस्स गुरुगउरवपयं, अयलो नामेण अत्थि सामंतो ।
नयसच्चसोयसोंडी-रयाइगुणरयणरयणनिही ॥ २ ॥
कइया वि सो नरिंदो, सभागओ भूरिसारपरिवारो ।
दुक्खभरसूइगाए, गिराइ पउरेहिँ इय भणिओ ॥ ३ ॥
देव ! न दीसइ चोरो, न य खत्तो न वि य चरणसंचारो ।
केण वि तह वि मुसिज्जइ, अदिट्ठरूवेण पुरमेयं ॥ ४ ॥
तं सोउं कुविएणं, भणियं रन्ना अहो सुहडसंघा ! ।
किं को वि तक्करं तं, निग्गहिउं मे समत्थु त्ति ? ॥ ५ ॥
जा किं पि न बिंति भडा, ता अयलो आह देव ! मह देसु ।
आएसं नणु कित्तिय—मित्त एसो वराओ त्ति ॥ ६ ॥
रन्ना सहत्थतंबो-लदाणपुव्वं पयंपिओ स इमं ।
तह कुणसु भद्द ! सिग्घं, जह लब्भइ तक्करो एसो ॥ ७ ॥
जइ पक्खंतो चोरं, न लहेमि अहं विसामि तो जलणं ।
इय काउ पइन्नं सो, विणिग्गओ रायभवणाओ ॥ ८ ॥
परिभमिओ पुरमज्झे, सिंघाडगतिगचउक्कमाईसु ।
लद्धो न को वि चोरो, नीहरिओ तयणु नयराओ ॥ ९ ॥
करकलियखग्गदंडो, निविडीकयपरियरो दढपइन्नो ।
सो रयणिपढमपहरे, पत्तो कुंडाभिहमसाणे ॥ १० ॥
तत्थ अइकडुयकक्कस-रुरुंतघूयडकुडुंबदुप्पिच्छे ।
भल्लुक्कचक्कपरिक्क-पिक्कापिक्कारवे व रुद्दे ॥ ११ ॥
एगत्थ कालवेया-लजालसंजणियकिलकिलारावे ।
अन्नत्थ मुक्कपुट्ट-ट्टहासपरिभामियभूयउले ॥ १२ ॥
जा अखुहिओ अयलो, अयलो इव जाइ किं पि भूभागं ।
ता साहगगहणपरं, पिसायमेगं स पिच्छेइ ॥ १३ ॥
तं पइ भणइ महायस ! साहगपुरिसं हणेसि किं एयं ? ।
आह पिसाओ इमिणा, पसाइओ हं दिणे सत्त ॥ १४ ॥
संपइ अइलुद्धिएणं, मए इमो मग्गिओ महामंसं ।
न तरइ दाउं खुद्दो, ता एयं लहु हणिस्सामि ॥ १५ ॥
परउवयारपहाणो, अयलो पच्चाह मुंच नरमेयं ।
तुह देमि महामंसं, अइमिट्टं मन्नइ पिसाओ वि ॥ १६ ॥
तो छुरियाए छित्तुं, नियमंसं स तस्स वियरेइ ।
असइ पिसाओ वि अहो ! , अभुत्तपुव्वं ति जंपंतो ॥ १७ ॥
उक्कित्तिऊण जह जह, अयलो से देइ मंसखंडाइं ।
तह तह दिव्वोसहिविहि-कयं व्व वुड्ढिं छुहा जाइ ॥ १८ ॥
नीसेसमंसवियलं, निए वि सयलं कलेवरं अयलो ।
अह जीवियनिरविक्खो, सीसं पि हु छित्तुमारद्धो ॥ १९ ॥
धरिऊण पिसाएणं, दाहिणहत्थेण सत्ततुट्ठेण ।
भणिओ सो अलमेए-णं साहसेणं वरेसु वरं ॥ २० ॥
अयलो भणेइ साहग-इट्ठं पकरेसु जइ सि तुट्ठो मे ।
एवं कयं चिय मए, मग्गसु अन्नं पि आह सुरो ॥ २१ ॥
अयलो जंपइ तुज्झ वि, किं सीसइ अमरमुणियकज्जस्स ।
नाउं ओहिबलेणं, तं कज्जं आह इय अमरो ॥ २२ ॥
तं अयल ! गच्छ सगिहे, वीसत्थो होसु मुंचसु विसायं ।
एसो चोरपबंधो, गोसे सयलो फुडो होही ॥ २३ ॥
इय भणिय गओ अमरो, अयलो वि विसिट्ठदेहलावन्नो ।
निययावासे पत्तो, निच्चिंतो लहइ निद्दं च ॥ २४ ॥
ववगयनिद्दो अयलो, पए पिसाएण पभणिओ भद्द ! ।
तं तक्करवुत्तंतं, निसुणसु सो आह कहसु फुडं ॥ २५ ॥
एयस्स पुरस्स बहिं पुव्वदिसाआसमे वसइ जोगी ।
पव्वयओ से सिद्धो, कविलक्खो चेडओ अत्थि ॥ २६ ॥
तेणं हरेइ नयरे, सो सारं रमइ निसि जहिच्छाए ।
काऊण जोगिरूवं, दिवसे पुण कहइ धम्मकहं ॥ २७ ॥
तस्सासमभूमिहरे, चिट्ठइ अवहारयदव्वसव्वस्सं ।
मा काहिसि इह संसय-मिय भणिय तिरोहिओ देवो ॥ २८ ॥
अह काउ गोसकिच्चं, अयलो कइवयजणाणुगो पत्तो ।
सुरकहियआसमे त-त्थ तेण दिट्ठो कवडजोगी ॥ २९ ॥
गंतूण य तत्थ खणं, अयलो पत्तो नरिंदपयमूले ।
निवपुट्ठो एगंते, कहेइ तं चोरवुत्तंतं ॥ ३० ॥
को इत्थ पच्चओ इय, नरवरपुट्ठो पयंपए अयलो ।
तस्सासमभूमिगिह-म्मि मोसजायं सयलमत्थि ॥ ३१ ॥
तो सिरविहियनिसवस-विसज्जियासेसपरियणो राया ।
सुत्तो तयणु जणेणं, पारद्धा विविहउवयारा ॥ ३२ ॥
जाओ न य को वि गुणो, आहूया मंतवाइपमुहजणा ।
ते वि अकयपडियारा, गया विलक्खा सठाणेसु ॥ ३३ ॥
तो सुविसन्नमणेण व, सो जोगी वाहराविओ रन्ना ।
संभासिउमारद्धो, सायरदिन्नासणो य तयं ॥ ३४ ॥
पुरिसे य पेसिऊणं, खणाविओ तस्स आसमो झत्ति ।
निग्गयमसेसमोसं, आणीयं रायभवणम्मि ॥ ३५ ॥
आहूओ तव्वेलं, महायणो दंसियं तयं मोसं ।
उवलक्खिऊण जं ज-स्स आसि तं तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥
अह वुत्तो सो जोगी, रे रे पासंडियाहम ! भणसु ! ।
को एसो वुत्तंतो, सो भीओ जंपइ न किं पि ॥ ३७ ॥
चेडो दूरीहूओ, सिरूवयम्मि ठुंठयु व्व लहुं ।
सुबहुं विडंबिउं सो, जोगी माराविओ रन्ना ॥ ३८ ॥
इय दट्ठु तस्स मरणं, अयलो चिंतेइ फुरियवेरग्गो ।
हा ! कह जीवा धणलव-विमोहिया जंति इह निहणं ॥ ३९ ॥
धणलोभेणं जीवो, हणेइ जीवे सया मुसं वयइ ।
पियपुत्तमित्तसुकल-त्तपमुहलोयं पि वंचेइ ॥ ४० ॥
इह लोइयतुच्छपओ-यणत्थमित्थं अकिच्चलक्खं पि ।
काउं कंखइ जीवो, न य पिच्छइ तक्कडुं दुक्खं ॥ ४१ ॥
अइगरुयलोहमुग्गर-पहारभरगाढविहुरियसरीरा ।
हा ! किह णु डुभाडुमाइ अवडे निवडंतिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥
ता सयललोहसंखोह-निब्भरसरघोरणीखलणदक्खं ।
कवयं पिव पव्वज्जं, संपइ गिण्हामि दढसत्तो ॥ ४३ ॥
इय जा अचलो अच्चब्भिय-संवेगभरो विचिंतए चित्ते ।
ता तत्थ समोसरिओ, सूरी गुणसुंदरो नाम ॥ ४४ ॥
सुच्चा गुरुणो तक्खण, स आगमो आगओ गुरुसगासे ।
पणमियतप्पयपउमं, आसीणो उचियदेसम्मि ॥ ४५ ॥
तयणु भवपरमनिव्वेय-कारिणी लोहमोहनिम्महिणी ।
विसयाणुरागपायव-करिणी संवेयसंजणणी ॥ ४६ ॥
संसारसमत्थसमत्थ-वत्थुविगुणत्तपयडणपहाणा ।
सुइसुहकरेहि वयणे-हिं देसणा सूरिणा विहिया ॥ ४७ ॥
तं सोउं पडिबुद्धो, अयलो पुच्छे वि कह वि नरनाहं ।
गुरुणो तस्स समीवे, संविग्गो गिण्हए दिक्खं ॥ ४८ ॥

पमिवस्रङ्कविहीसिक्खो, गुरुणा सह विहरए महीवलए ।
अरहंते अरिहंते आराहइ सम्ममरुहंते ॥ ४९ ॥
पवयणवच्छलपरो, झायइ सिद्धे सया सुदंसमिद्धे ।
सिवफलतरुणो गुरुणो, सेवइ दंसणविणयजुत्तो ॥ ५० ॥
सुयवयपज्जायथेरे, थेरे सुबहुस्सुए तवस्सी य ।
जह उचियं आराहइ, अभिक्खनाणोवओगपरो ॥ ५१ ॥
सीलव्वएसु आव-स्सएसु परिहरइ दूरमइयारे ।
अपुव्वनाणग्गहणं, सुयभत्तिपरायणो कुणइ ॥ ५२ ॥
तवसा निकाइयाणं, कम्माण खउ त्ति कुणइ गरुयतवं ।
खणलवझाणवउत्तो, मुणीण भत्ताइ वियरेइ ॥ ५३ ॥
पमिभग्गस्स मयस्स व, नासइ चरणं सुयं अगुणणाए ।
न हु वेयावच्चचियं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥ ५४ ॥
इय चिंततो वेया-वच्चं पकुणइ अतिप्पमाणमणो ।
पवयणपभावणपरो, कुणइ समाहिं च संघस्स ॥ ५५ ॥
एवमणुत्तरदंसण-नाणचरित्ते अतिप्पमाणस्स ।
उग्गतवकारिणो सु-ज्झमाणसुपसत्थलेसस्स ॥ ५६ ॥
अज्जियतित्थंकरना-मकम्मणो तस्स अचलसाहुस्स ।
सव्वोसहिपमुहाओ, जायाओ विविहलद्धीओ ॥ ५७ ॥
इत्तो निभयपुरे रा-मचंदरन्नो विसिट्ठविज्जेहिं ।
पयडिज्जंतेसु वि स व-हुभेसज्जो सहएओगेसु ॥ ५८ ॥
बहुमंततंतवाई-हिं कारमाणासु अवि सुकिरियासु ।
रोगेण मरंति करी-तो आदन्नो निवो जाओ ॥ ५९ ॥
अह गुरुणा णुन्नाओ, अचलमुणी तत्थ आगओ तइया ।
पत्तो निवो मुणिं तं, नमिय निसन्नो उचियदेसे ॥ ६० ॥
मुणिणा वि निवइजुम्मो, सद्दंसणथूलमूलपरिकलिओ ।
पंचाणुव्वयखंधो, तिगुणव्वयगरुयसाहीयो ॥ ६१ ॥
सिक्खावयपरिसाहो, निम्मलबहुनियमकुसुमसंकिन्नो ।
सुरमणुयसमिद्धिफलो, कहिओ गिहिधम्मकप्पतरू ॥ ६२ ॥
इय सोउ निवो जंपइ, पहु ! धम्ममिमं समीहिमो काउं ।
किं तु अकाले सिंधुर-संदोहं दट्ठु मरमाणं ॥ ६३ ॥
न गिहे न बहिं न वणे, न काणणे न य दिणे न रयणीए ।
मह संपइ संपज्जइ, रई मणागं पि मुणिपवरा ! ॥ ६४ ॥
तो कहसु किं पि जेणं, सुत्थमणो हं करेमि धम्ममिमं ।
इय रन्ना पुणरुत्तं, वुत्तो वि हु सुमुणिसद्दूलो ॥ ६५ ॥
सावज्जकज्जवज्जी, सन्नाणो वि हु न किं पि जा भणइ ।
ता मुणिसमीवठियखे-यरेण एवं निवो वुत्तो ॥ ६६ ॥
बहुलद्धिसमिद्धिसम-न्नियस्स एयस्स समणसीहस्स ।
पयरेणूहिं संफुसि-य कुणसु सज्जं करिसमूहं ॥ ६७ ॥
तं सुणिय निवो तुट्ठो, मुणिपयसंफुसियरेणुनियरेण ।
करिनियरं सव्वं पि हु, आमरिसावेइ तिक्खुत्तो ॥६८॥
विसमिव पीऊसहयं, तमं व दिवसयरकिरणपडिरुद्धं ।
वेगेण रोगजायं, तं नट्ठं कुंजरकुलाओ ॥६९॥
तं पिच्छिय वि अच्छरियं, अणंतहरिसो इमं भणइ राया ।
भयवं ! वारणवाही, केण निमित्तेण संजाओ? ॥ ७० ॥
मुणिणा भणियं नरवर ! जो जोई घाइओ तया तुमए ।
मरिउं अकामनिज्जर-वसेण सो रक्खसो जाओ ॥७१॥
सरिऊण पुव्ववइरं, स तुह सरीरम्मि अप्पभवमाणो ।
एयं पि होउ दुक्खं, ति कासि दंतीण रोगभरं ॥७२॥
मह चरणरेणुपुट्ठा, संपइ ते वाहिणो समुवसंता ।
सो रक्खसो पणट्ठो, सज्जं जायं करिकुडंबं ॥७३॥
मुणिमाहप्पमणप्पं, दट्ठूणं गहियसुद्धगिहिधम्मो ।
तुट्ठो राया पवयण-पभावगो सावओ जाओ ॥७४॥
अयलो वि अतिप्पंतो, चरणाइसु काउ अणसणं सुमणो ।
सोहम्मे उववन्नो, तत्तो य चुओ विदेहम्मि ॥७५॥
कच्छाविजए, सिरिजय-पुरीइ रन्नो पुरंदरजसस्स ।
देवी सुदंसणाए, चउदसवरसुमिणकयसूओ ॥७६॥
गब्भे पाउब्भूओ, समुचियसमए य जम्ममणुपत्तो ।
अहिसित्तो स सुरासुर-वग्गेण सुमेरुसिहरम्मि ॥७७॥
कयजयमित्तभिहाणो, उचिए समयम्मि पव्वइउकामो ।
लोगंतियतियसेहिं, सविसेसवुड्ढिउच्छाहो ॥७८॥
लोगाणं संवच्छर-मच्छिन्नविदिन्नविहवसंभारो ।
चउसट्ठिसुरेसरविहिय-गरुयनिक्खमणवरमहिमा ॥७९॥
तिजयं एगजयं पि व, एगत्थागयसुरासुरनरेहिं ।
कुणमाणो पडिवन्नो, निस्सामन्नं ससामन्नं ॥८०॥
तो सुक्कज्झाणानल-समूलनिद्दद्धघाइकम्मदुमो ।
उप्पन्नकेवलालोय-लोइयासेसतइलुक्को ॥८१॥
सीहासणोवविट्ठो, सिरउवरिं धरिय सेयछत्ततिगो ।
नियदेहदुवालसगुण-महल्लकंकिल्लिकयसोहो ॥८२॥
चालियसियवरचमरो, पुरओ पक्खित्तकुसुमवरपयरो ।
निज्जियदिणयरमंडल-भामंडलखंभियतमोहो ॥ ८३ ॥
सुरपहयदुंदुहिस्सर-पयमियदुज्जेयभावरिउविजओ ।
सव्वसभासाणुगदि-व्ववाणिहयतिजयसंदेहो ॥ ८४ ॥
पायडियसुगइमग्गो, पडिबोहियभूरिभव्वभवियजणो ।
विहरित्ता चिरकालं, अणंतसुहसंपयं पत्तो ॥ ८५ ॥
श्रीजैनशासननवीननवनीरदस्य
श्रुत्वेति वृत्तमत्रलस्य मुनीश्वरस्य ।
सज्ज्ञानदर्शनतपश्चरणादिकेषु
श्रद्धामतृप्तमनसो मुनयो विधत्त ॥८६॥ ध० र० ॥

अच (य) लट्ठाण–अचलस्थान–न०। अचलो निष्प्रकम्पः परमाण्वादिर्भवति, तस्य स्थानमचलस्थानम्। निरेजःकाले, अचलं च तत्स्थानं चावस्थानमचलस्थानमिति व्युत्पत्तेर्वा। निरेजःकालश्च परमाण्वादीनामयम्–" परमाणुपोग्गले णं भंते ! णिरेए कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उसप्पिणी ओसप्पिणीतो " स्था० १ ठा०। नि० चू०। अचलस्थानं तु चतुर्धा, सादिसपर्यवसानभेदात्। तद्यथा–सादिसपर्यवसानं परमाण्वादेरेकस्यैकप्रदेशादाववस्थानं जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतश्चासंख्येयकालमिति; साद्यपर्यवसानं सिद्धानां भविष्यदद्धारूपम्, अनादिसपर्यवसानमतीताद्धारूपस्य शैलेश्यवस्थान्त्यसमये कार्मणतैजसशरीरत्र्यत्वानां चेति; अनाद्यपर्यवसानं धर्माधर्माकाशानामिति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अच (य) लपुर–अचलपुर–न०। आभीरदेशान्तर्गते ब्रह्मद्वीपासन्ने पुरभेदे, कल्प०। ('बंभदीविया' शब्दे कथा चास्य) "अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणुओगिए धीरे "। नं०।

अच (य) लभाया–अचलभ्राता–पुं०। श्रीमहावीरस्य नवमे गणधरे, विशे०। आ० म० द्वि०। कल्प०। (तस्य पुरादिकं ' गणहर ' शब्दे वक्ष्यते)

अच(य)ला–अचला–स्त्री०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य सप्तम्यामग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु०। (तत्कथा प्र० ज्ञा० १७३ पृष्ठे 'अग्गमहिसी' शब्दे)

अच (य) लिय–अचलित–न०। वस्त्रं शरीरं वा न चलितं

कृतं यत्र तदचलितम । अप्रमादप्रत्युपेक्षणभेदे, स्था० ६ ठा० । ध० । ओघ० । अत्र चतुर्भङ्गी यथा—"वत्थं अचलियं अप्पाणं अचलियं; तथा वत्थं चलियं अप्पाणं अचलियं; तथा वत्थं चलिअं अप्पाणं चलिअं; तथा वत्थं अचलिअं अप्पाणं चलिअं । एत्थ पढमो भंगो सुद्धो" । ६ त० । अनारब्धचलनक्रिये, त्रि० । "अचलियभावो पवत्तो य" । प० व० ४ द्वा० । नि० चू० ।

अचवचव—अचवचव—त्रि० । चवचवेति शब्दरहिते, प्रश्न० १ संव० द्वा० । " असुरसुरं अचवचवं आहारमाहारेइ" । भ० ७ श० १ उ० ।

अचवल—अचपल—त्रि० । न० त० । स्थिरस्वभावे, व्य० ३ उ० । " गतिठाणजासभावा-दिएहि ण वि कुणति चंचलत्तं तु । गाणं गणिताण भवे, अचवलो सो उ मुणेयव्वो " पं० भा० । पं० चू० । अचपलत्वं चतुर्धा भवति—गत्याऽचपलः १, स्थित्याऽचपलः २, भाषयाऽचपलः ३, भावेनाऽचपलः ४ । गत्याऽचपलः शीघ्रचारी न भवति १ । स्थित्याऽचपलस्तिष्ठन्नपि शरीरहस्तपादादिकमचालयन् स्थिरस्तिष्ठति २ । भाषयाऽचपलोऽसत्यादिभाषी न स्यात् ३ । भावेनाऽचपलः सूत्रेऽर्थेऽनागतेऽसमाप्ते सत्येवाऽग्रेतनं गृह्णाति ४ । (एवंभूतः शिष्यः) " णीयावित्ती अचवले, अमाई अकुतूहले " उत्त० १० अ० । कायिकादिचापल्यरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " अतुरियमचवलमसंभंते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ " अचवलं मानसचापल्यरहितम । भ० २ श० ५ उ० । " अतितिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे " अचपलो भवेत् सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः । दश० ८ अ० । विशे० । रा० । ' अचवलाए ' गत्या कायचापल्यवर्जितया । कल्प० । " अचवला " अचपला मनोवाक्कायस्थैर्यात् । स० ।

अचाइय—अशक्त—त्रि० । असमर्थे , सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । " जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउँ मण्णमाणं । तमचाइयं तरुणमपत्तजातं ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा " ॥१४॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अचाएंत—अशक्नुवत्—त्रि० । असमर्थे, "अव्वाबाध अचाएंतो नेच्छइ अप्पचेतए एए " व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

अचाग—अत्याग—पुं० । त्यागपरिहारे, ध० २ अधि० ।

अचारुया—अचारुता—स्त्री० । असुन्दरत्वे, "बुधविज्ञेयं त्वचारुतया " षो० १ विव० ।

अचालणिज्ज—अचालनीय—त्रि० । स्थैर्यादभ्रंशनीये, " अभिगयजीवाजीवा, अचालणिज्जाउ पवयणाओ " दर्श० ।

अचिंत—अचिन्त्य—त्रि० । चिन्तयितुमनुमापकहेत्वभावेन तर्कयितुमशक्ये, शक्यार्थे कर्मणि यत् । न० त० । वाच० । अनिर्वचनीये, द्वा० १६ द्वा० ।

अचिंतगुणसमुदय—अचिन्त्यगुणसमुदय—न० । अचिन्त्यो गुणसमुदयो ज्ञानादिसमुदयो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदयम । परतत्त्वे, "तनुकरणादिविरहितं, तच्चाचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम" षो० १५ विव० ।

अचिंतचिंतामणि—अचिन्त्यचिन्तामणि—पुं० । चिन्ताऽतिक्रान्ताऽपवर्गविधायकत्वेन चिन्तामणिरत्नकल्पे तीर्थकरे, पं० सू० ३ सू० ।

अचिंतण—अचिन्तन—न० । न० त० चिन्तनाभावे, यत्कदाचिद्रूपादिकं दृष्टं तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः । " अचिंतणं चेव अकित्तणं च " उत्त० ३२ अ० ।

अचिंतसत्ति—अचिन्त्यशक्ति—स्त्री० । अनिर्वचनीयस्ववीर्योल्लासे, "अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते" द्वा० १६ द्वा० ।

अचिट्ठ—अचेष्ट—त्रि० । अविद्यमानचेष्टे, आव० ३ अ० ।

अचित्त—अचित्त—त्रि० । न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तमचेतनम । जीवरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० । आव० । अनु० । नि० चू० । सूत्र० । सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः—प्रायः सर्वाणि धान्यानि । धानकजीराऽजमकविरहालीसूआराईखसखसप्रभृतिसर्वकणाः सर्वाणि फलपत्राणि लवणखारीक्षारकः रक्तसैन्धवसूर्यलादिरकृत्रिमः क्षारो मृत्खटीवर्णिकादि आर्द्रदन्तकाष्ठादि च व्यवहारे सचित्तानि । जले निष्वेदिताश्चणकगोधूमादिकणाश्चणकमुद्गादिदालयश्च क्लिन्ना अपि कश्चिन्नखिकासंभवान्मिश्राः, तथा पूर्वं लवणादिप्रदानं वाष्पादिप्रदानं बालुकादिक्षेपं वा विना सेकिताश्चणका गोधूमयुगंधर्य्यादिधानाः क्षारादिप्रदानं विना लोलितिला ओलकउंबिकाः पृथुकसेकितफलिकाः पर्पटकादयो मरिचराजिकावघारादिमात्रसंस्कृतचिर्भटिकादीनि सचित्तान्तर्बीजानि सर्वपक्वफलानि च मिश्राणि । यद्दिने तिलकुट्टिः कृता तद्दिने मिश्रा, मध्ये अन्नसेटिकादिक्षेपे तु मुहूर्त्तादनुप्रासुका, दक्षिणमालवादौ प्रभूततरगुडक्षेपेण तद्दिनेऽपि तस्याः प्रासुकत्वव्यवहारः । वृक्षात्तत्कालगृहीतं गुंदलाक्षाद्याल्यादि, तात्कालिको नालिकेरनिम्बूकनिम्बाम्रेदवादीनां रसस्तात्कालिकं तिलादितैलं, तत्कालभग्नं निर्बीजीकृतं नालिकेरशृङ्गाटकपूगीफलादि, निर्बीजीकृतानि पक्वफलानि, गाढमर्दितं निष्कणं जीरकाजमकादि च मुहूर्तं यावन्मिश्राणि, मुहूर्तादूर्ध्वं तु प्रासुकानीति व्यवहृतः । अन्यदपि प्रबलाग्नियोगं विना यत्प्रासुकीकृतं स्यात्तन्मुहूर्तावधि मिश्रं, तदनु प्रासुकं व्यवह्रियते । यथा प्रासुकं नीरादि, तथा कच्चफलानि, कच्चधान्यानि, गाढं मर्दितमपि लवणादि च प्रायोऽन्यादिप्रबलशस्त्रं विना न प्रासुकानि । योजनशतात्परत आगतानि हरीतकीखारिकीकिसिमिसिद्राक्षाखर्जूरमरीचपिप्पलीजातिफलबदामवायमाखोटकनमिजापिस्ताचिणीकबावस्फटिकानुकारिसैन्धवादीनि सार्जिकाविरूलवणादिः कृत्रिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमृदादिकम, पलालवल्कजाविश्रीशुष्कमुस्ताकोङ्कणादिपक्वकदलीफलान्युत्कलितशृङ्गाटकपूगादीनि च प्रासुकानीति व्यवहारो दृश्यते । उक्तमपि श्रीकल्पे—

जोअणसयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भंडसंकंती ।
वायागणिधूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई ॥ १ ॥

लवणादिकं तु स्वस्थानाद् गच्छत् प्रत्यहं बहुबहुतरादिक्रमेण विध्वस्यमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वथैव विध्वस्तमचित्तं भवति । शस्त्राभावे योजनशतगमनमात्रेणैव कथमचित्तीभवतीत्याह—अनाहारेण यदुत्पत्तिदेशादिकं साधारणं तत् ततो व्यवच्छिन्नं सोपष्टम्भकाहारविच्छेदाद् विध्वस्यते । तथा लवणादिकं भाण्डसंक्रान्त्या पूर्वस्मात् २ भाजनादपरभाजनेषु । यद्वा । पूर्वस्या भाण्डशालाया अपरस्यां भाण्डशालायां संक्रम्यमाणं विध्वस्यते तथा वातेन वा अग्निना वा महानसादौ धूमेन वा लवणादिकं विध्वस्तं भवति ' लोणाई ' इति । अत्रादिशब्दादमी द्रष्टव्याः—

हरियालमणोसिलपि–प्पली अ खज्जूर मुद्दिआ अभया।
आइन्नमणाइन्ना, ते वि हु एमेव नायव्वा ॥ २ ॥

हरितालं मनःशिला पिप्पली च खर्जूर एते प्रसिद्धाः, मृद्वीका द्राक्षा, अभया हरीतकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनशतगमनादिभिः कारणैरचित्तीभवन्तो ज्ञातव्याः । परमेकेऽप्याचीर्णा अपरेऽनाचीर्णाः । तत्र पिप्पलीहरीतकीप्रभृतय आचीर्णा इति गृह्यन्ते। खर्जूरमृद्वीकादयः पुनरनाचीर्णा इति न गृह्यन्ते ।२।

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह–

आरुहणे ओरुहणे, णिसिअण गोणाइणं च गाउम्हा ।
भोमाहारच्छेए, उवक्कमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शकटादिषु लवणादीनां यदि भूयो भूय आरोहणमवरोहणं च तथा यत् तस्मिन् शकटादौ लवणादिभारोपरि मनुष्या निषीदन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि पिण्डादिगात्रोष्मा, तेन वा परिणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिकः पृथिव्यादिक आहारस्तद्व्यवच्छेदे तस्य परिणामः,उपक्रमः-शस्त्रम् , तच्च त्रिधा-स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा-लवणोदकं मधुरोदकस्य, कृष्णभूमं पाण्डुभूमस्य । परकायशस्त्रं यथा-अग्निरुदकस्य, उदकं चाग्नेरिति । तदुभयशस्त्रं यथा–उदकं शुद्धोदकस्येत्यादि । एवमादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणानि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उप्पलपउमाई पुण, उण्हे दिन्नाइं जाम न धरिंति ।
मोग्गरगजूहिआओ, उण्हे छूढा चिरं हुंति ॥ ४ ॥
मगदंतिअपुप्फाइं, उदकच्छूढाइं जाम न धरिंति।
उप्पलपउमाई पुण, उदए छूढा चिरं हुंति ॥ ५ ॥

उत्पलानि पद्मानि च उदकयोनिकत्वादुष्णे आतपे दत्तानि यामं प्रहरमात्रं कालं न धियन्ते नावतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहरादर्वागेवाचित्तीभवन्ति । मुद्गरकानि-मगदन्तिकापुष्पाणि यूथिकापुष्पाणि च उष्णयोनिकत्वादुष्णे क्षिप्तानि चिरमपि कालं भवन्ति, सचित्तान्येव तिष्ठन्तीति भावः । मगदन्तिकापुष्पाणि उदके क्षिप्तानि याममपि न धियन्ते, उत्पलपद्मानि पुनरुदके क्षिप्तानि चिरमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पत्ताणं पुप्फाणं, सरडुफलाणं तहेव हरिआणं ।
विंटंमि मिलाणम्मि य, णायव्वं जीवविप्पजढं ॥ ६ ॥

पत्राणां पुष्पाणां शरडुफलानामबद्धास्थिकफलानां वास्तुलादीनां सामान्यतस्तरुणवनस्पतीनां वृन्ते मूलनाले म्लाने सति ज्ञातव्यं जीवविप्रयुक्तमेतत्पत्रादिकमिति (श्रीकल्पवृत्तौ शाल्यादिधान्यानां तु श्रीपञ्चमाङ्गे षष्ठशतकसप्तमोद्देशके सचित्ताचित्तत्वविभाग एवमुक्तः, स च 'ओणि' शब्दे दर्शयिष्यते) कर्पासस्याचित्तता त्रिवर्षानन्तरं स्यात्। यदुक्तं श्रीकल्पबृहद्भाष्ये–

सेडुगं तिवरिसाइ गिण्हंति ।

सेडुकं त्रिवर्षातीतं विध्वस्तयोनिकमेव कल्पते । सेडुकः कर्पास इति । तद्वृत्तौ पिष्टस्य तु मिश्रताद्येवमुक्तं पूर्वसूरिभिः–"पणदिनमीसो लुट्टो, अचालिओ सावणे अ भद्दवए । चउ आसोए कत्तिअ-मगसिरपोसेसु तिन्नि दिणा ॥ १ ॥ पणपहर माह फग्गुण, पहरा चत्तारि चेत्तवेसाहे । जिट्ठासाढे तिपहर, तेण परं होइ अचित्तो " ॥ २ ॥ चालितस्तु मुहूर्त्तादूर्ध्वमचित्तः, तस्य चाचित्तीभूतानन्तरं विनशनकालमानं तु शास्त्रे न दृश्यते, परं वर्णादिविशेषेण वर्णादिविपरिणामभवनं यावत् कल्पते । उष्णनीरं तु त्रिदण्डोत्कलितावधि मिश्रम। यदुक्तं पिण्डनिर्युक्तौ-

उसिणोदगमणुवत्ते, दंडे वासे य पडिअमित्तम्मि ।
मोत्तूणादेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥

अनुद्वृत्तेषु त्रिदण्डेषूत्कालेषु जलमुष्णं मिश्रं,ततः परमचित्तम। तथा वर्षे वृष्टौ पतितमात्रायां ग्रामादिषु प्रभूतमनुष्यप्रचारभूमौ यज्जलं तद् यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम्, अरण्यभूमौ तु यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चान्निपतत् सचित्तम।आदेशत्रिकं मुक्त्वा तन्दुलोदकमबहुप्रसन्नं मिश्रम्, अतिस्वच्छीभूतं त्वचित्तम् । अत्र त्रय आदेशाः ।यथा केचिद्वदन्ति-तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डादन्यत्र भाण्डे क्षिप्यमाणे त्रुटित्वा भाण्डपार्श्वे लग्ना विन्दवो यावन्न शाम्यन्ति तावन्मिश्रम्। अपरेतथैव याता यावद्बुद्बुदा न शाम्यन्ति तावत् । अन्ये तु-यावत्तण्डुला न सिद्ध्यन्ति तावत्। एते त्रयोऽप्यादेशा रूक्षेतरभाण्डपवनाग्निसम्भवादिभिः, एषु कालनियमस्याभावात् , ततोऽतिस्वच्छीभूतमेवाचित्तम ।

तिव्वोदगस्स गहणं, केइ भाणेसु असुइ पडिसेहो ।
गिहिभायणेसु गहणं, ठिअवासे मीसगं छारो ॥ २ ॥

तीव्रोदकं हि धूमधूम्रीकृतदिनकरकरसम्पर्कसोष्मतीव्रसम्पर्कादचित्तम्, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना। केचिदाहुः-स्वभाजनेषु तद् ग्राह्यम । अत्राचार्यः प्राह–अशुचित्वात्स्वपात्रेषु ग्रहणप्रतिषेधः, ततो गृहभाजने कुण्डिकादौ ग्राह्यम। वर्षति मेघे च तन्मिश्रम्, ततः स्थिते वर्षेऽन्तर्मुहूर्त्तादूर्ध्वं ग्राह्यम। जलं हि केवलं प्रासुकीभूतमपि प्रहरत्रयादूर्ध्वं भूयः सचित्तं स्यादतस्तन्मध्ये क्षारः क्षेप्यः,एवं स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ तन्दुलधावनोदकानि प्रथमद्वितीयतृतीयान्यचिरकृतानि मिश्राणि, चिरं तिष्ठन्ति त्वचित्तानि, चतुर्थादिधावनानि तु चिरं स्थितान्यपि सचित्तानि । प्रासुकजलादिकालमानमेवमुक्तं प्रवचनसारोद्धारादौ-"उसिणोदगं तिदंडु-क्कालिअं फासुअ जलं जइ कप्पं ।नवरि गिलाणाइकए, पहरतिगोवरि विधरिअव्वं ॥१॥ जायइ सचित्तया से, गिम्हासु उ पहरपंचगस्सुवरिं । चउपहरुवरिं सिसिरे,वासासु जलं तिपहरुवरिं " ॥ २ ॥ तथाऽचेतनस्यापि कङ्कटुकमुद्गहरीतकीकुलिकादेरविनष्टयोनिरक्षणार्थं निःशूकतादिपरिहारार्थं च न दन्तादिभिर्भज्यते । यदुक्तं श्रीओघनिर्युक्तिपञ्चसप्ततितमगाथावृत्तौ--अचित्तानामपि केषाञ्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गुडूचीमुद्गादीनाम । तथाहि--गुडूची शुष्काऽपि जलसेकात्सात्म्यं भजतीति दृश्यते, एवं कङ्कटुकमुद्गादिरपि, अतो योनिरक्षणार्थमचेतनयतना न्याय्यैवेति । ध० २ अधि० । बृ० । नि० चू० । पिं०।

एतदेवाऽन्यत्र सङ्ग्रहेण—

अह एयाणं जं जं, कालपमाणं भणामि सव्वेसिं ।
भत्तं सिद्धं वियलं, कट्ठुदलं हिंगुसहियं जं ॥ ६२ ॥
पुप्फफलपत्तसायं, बीयच्छाली विणा य आमफलं ।
मंडपूवाइयं जल-लप्पसीवडीयपप्पडया ॥ ६३ ॥
चउपहरमाणमेसिं, ओयणमंमवारजामजगराए ।
तह तक्करवञ्जुभिए, अहियं परिमाणमवि वुत्तं ॥ ६४ ॥
दहितक्कराईणं, कयसागाण सोलजामं च ।
वासासु पक्ख हेमं-त मासुसिणेसु वीसदिणमाणं ॥ ६५ ॥
पक्कन्नयकालो विउ, विसेसओ कुसिकाए पक्को ।

वासासु एगदिणं वा, चलियरसं जत्थ जं जाइ ॥ ६६ ॥
निव्विगयं पक्कन्नं, असणजुयं तस्सिमेव परिमाणं ।
उच्चुवियारगयाणं, चलियरसे तं तहा जाए ॥ ६७ ॥
घयतिल्लगुलाईणं, वन्नरसगंधपमुहपज्जासे ।
कालपरिमाणमुत्तं, जाणिज्जा नो तहा पायं ॥ ६८ ॥
इत्थ य चलियरसम्मि, जीवा बेइंदिया समुच्छंति ।
पुव्विए पणिंदिया, वट्टंति दुवे वि समगं वा ॥ ६९ ॥
अचित्तजले सचित्ती-भवणे एगेंदिया समुच्छंति ।
अरणं सुज्झियमिलिए, पणिंदी समुच्छिमा हुंति ॥ ७० ॥
तिलमुग्गमसूरचवलय-मासकुलत्थयकलायतुबरीणं ।
बल्लाण वट्टचणयाण, पंचगवरिसप्पमाणं च ॥ ७१ ॥
सालिविहिजवजुगंधरि-गोहुमतिणधन्नतिलकपासाणं ।
वासातियं परिमाणं, तत्तो विद्धंसए जोणी ॥ ७२ ॥
मुट्ठा कंगू अयसी, सणकोद्दुसगवरट्टसिद्धत्था ।
पलयकुद्दवमेही, मूलगबीया चवहा य ॥ ७३ ॥
पहियाणं खत्ताणं, उक्कोसठिई सत्तवासाइं ।
होइ जहन्नेण पुणो, अंतमुहुत्तं समग्गाणं ॥ ७४ ॥
पिप्परिखज्जूरमिरी-मुद्दिय अभया बदाम खारिक्का ।
एला जाइफलं पुण, कंकोलं चारु कुलिया य ॥ ७५ ॥
विद्धंसिज्जइ जोणी, एएसिं जलथलोवभोगेहिं ।
संधारुयजलफलाइ, घाणं जोणी तहा चित्ता ॥ ७६ ॥
जोयणसयं जलम्मि, थलम्मि सट्ठीइ भंडसंकंती ।
वायागणिधूमेहिं, पविद्धजोणी हवइ तेसिं ॥ ७७ ॥
हरियाललवणमणसिल-पूगसेवालनालिकेरा य ।
एमेव अणाइन्ना, विद्धत्था अवि मुणेयव्वा ॥ ७८ ॥
सीयासिंधवपासक-रणीकयहिंगुलजाइवंगिगनागाई ।
अच्चित्तजोणिया कं-दासणोद्दयमिढलमजिट्ठा ॥ ७९ ॥
पिट्ठं मिस्समसुद्धं, पणचउतियदिणपमाणमापक्खं ।
सावणासोयपोसे-सु जुयलम्मि वए अणुओगो ॥ ८० ॥
पन्नचउतियजामाए, माहुंग चित्तजुयलजिट्ठदुगे ।
तह भज्जियधन्नाणं, दालीण विपज्जए पायं ॥ ८१ ॥
चालियअगियतुसरहिय, सुक्कं जा ताव मिस्सियं नेयं ।
लोणजुयं जं सागं, भज्जियतलिएण तं सुद्धं ॥ ८२ ॥
अन्ने भणंति भज्जिय-धन्नाणं पक्कतलियमिव कालो ।
सत्तपणदसदसदिणं, वासाइसु मिस्सलोणस्स ॥ ८३ ॥
अंतमुहुत्तं मोद-स्स चोवीसजाम धाउपत्तगयं ।
गोमुत्तं जइ केवल-महिसा इमं रसाविवज्जासे ॥ ८४ ॥
खइमितले विच्चासे, तिचउपन्नजामसुसिणनीरस्स ।
वासाइसु प्पमाणं, फासुजलस्सावि एमेव ॥ ८५ ॥

उस्सेइम १ संसेइम, २
तंदुलनीरं ३ तिलोदगं ४ वा वि ।
तुस ५ जव ६ आयामं ७ वा
सोवीरं ८ सुद्धवियडं च ९ ॥ ८६ ॥
अंब १० कविट्ठा ११ मनगं १२,
अंबामग १३ माउलिंग १४ खज्जूरं १५ ।
दक्खा १६ दामिम १७ कैरं १८,
चिंचा १९ नारिअर २० कोलजलं २१ ॥८७॥

पुव्वातियं भत्तट्ठे, छट्ठे तिलतुसजवोदगं भणियं ।
आ जामं सोवीरं, अट्ठमे उसिणं नीरं च ॥ ८८ ॥
मत्थमसित्थं गलियं, तियदंडुक्कलियपरिमियमलेवं ।
एरकडजई ण कप्पइ, न कप्पई अप्पमत्तदेसे ॥ ८९ ॥
उस्सेइम संसेइम, तंदुलतिलतुसजवाण नीरं च ।
आ जामं सोवीरं, सुद्धं वियडं जलं भवहा ॥ ९० ॥
तिहला तमालपत्तं, मुत्थयकुट्ठं च खयरमाईहिं ।
फासुकयं खज्जाइहि, कारणओ कप्पणिज्जं तु ॥ ९१ ॥
जिट्ठ तवे भत्तट्ठे, पडिमुवहासु अभिग्गहायामे ।
सट्ठाणं जियकप्पए, उण्हजले अणसणे वि तहा ॥ ९२ ॥
फलचिंचोदगमिगजा-ममाजामं धन्ननीरमुद्दुत्तिगं ।
उच्छुरसे सोवीरे जामदुगं धोयणं तिमुहू ॥ ९३ ॥
वन्नरसगंधपज्जव-भेयविमिस्सं खु हवइ फासुजलं ।
सक्करगुडखंडाइं, वत्थुविभेएहि परिणामियं ॥ ९४ ॥
गोएलगमहिसीणं, खीरं पण अट्ठदसदिणाणुवरि सुद्धं ।
तिदिणाणुवरि बलद्धी, नवप्पसूयाण एमेव ॥ ९५ ॥
चउपहरोवरि जायं, दहि सुद्धं हवइ कप्पणिज्जं च ।
तक्करजुयखीरेयी, बीयदिणे होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥
निक्खीरं तिलमिस्सं, संधाणं तह वियारियफलाणं ।
अचित्तभोइणो पुण, कप्पइ तक्करमणुग्गलियं ॥ ९७ ॥
निव्वल्लिनिच्छियफलं, जामगमामुहुत्तमुवरि कयं ।
वियलं तक्करमिस्सं, न कप्पमुसिणीकएण विणा ॥ ९८ ॥
मोयाफलं पलोली, धोसामोलं च रुक्खगुंदाइं ।
तणमिस्सइं जं नो, हवइ तं देवईचिट्ठी ॥ ९९ ॥
उक्किट्ठजहन्नमज्झिम-भेएहिं होइ तिविहमभत्तट्ठं ।
चउहा सचित्तपरि-वायणुक्किट्ठभेएण ॥ १०० ॥
तिविहम्मि अभिग्गहे खलु, न कप्पइ सचित्तवावारो ।
तत्थाणाहारवत्थू, कप्पइ सव्वावि रयणीए ॥ १०१ ॥
आयंबिलमवि तिविहं, उक्किट्ठजहन्नमज्झिमवएहिं ।
तिविहं जं वियलं पु-याइं पकप्पए वि तत्थ ॥ १०२ ॥
सियसिंधवसुंठिमिरी, मेही सोवच्चलं च विडलवणं ।
हिंगुसुगंधिसुयाइ य, पकप्पए साइमं वत्थू ॥ १०३ ॥
कारणजाएण जइ ण, असणे सिद्धं हविज्ज ठिमियं वा ।
पिट्ठं जलेण रद्धं, घुघेरिट्टाइ सिद्धेणं ॥ १०४ ॥
पप्पडचरुया रुक्खा, सिद्धा तिगपीकया हवइ कप्पा ।
भज्जियधणं तिणधन्न. कट्ठुदलं सिणेहवियलं जं ॥ १०५ ॥
सव्वाणं धन्नाणं, पिहुया ठुद्धेण सिद्धिसाइमयं ।
वेसन्नत्थाए इह, लिट्ठया तीइ अकप्पं च ॥ १०६ ॥ ल० प्र० ।
अचित्र–त्रि० अकर्बुरे, बृ०५ उ० ।

अचित्तदवियकप्प–अचित्तद्रव्यकल्प–पुं०। अचित्तद्रव्याणामाहारादीनामुपयोगविधिविशेषे, " अचित्तदवियकप्पं, एत्तो वोच्छं समासेणं । आहारे उवहिम्मि य, ओवसणे तह य पस्सवणे ॥ १ ॥ पयसं निसज्जठाणे, दंमे चंमे चिअमिलिली अवलेहणिया वत्थाणं सो-चणे दंतसोहणे चेव ॥ २ ॥ पिप्पलगसूतिणक्खा -णछेदणे चेव सोलसं मज्झा । हारो खलु दुविहो लो-इयलोउत्तरे णायव्वो ॥३॥ तिविहो तु लोइओ खलु, तत्थ इमो होति णायव्वो" । पं० भा० । पं० चू० ('आहार' प्रभृतिशब्देषु विवृतिः)

अचित्तदव्वखंध–अचित्तद्रव्यस्कन्ध–पुं० । अविद्यमानचित्तोऽचित्तः, स चाऽसौ द्रव्यस्कन्धः । द्विप्रदेशिकादिपुद्गलस्कन्धरूपे अचेतने द्रव्यस्कन्धभेदे, अनु० ।

अचित्तदव्वचूला–अचित्तद्रव्यचूला–स्त्री० । चूमामणिकुन्ताग्रसिंहकर्णप्रासादपादपाग्रे, नि० चू० १ उ० ।

अचित्तमंत–अचित्तवत्–त्रि० । न विद्यते चित्तमुपयोगो ज्ञानं यस्य । कनकरजतादावचेतने, सूत्र० १श्रु० १अ० १उ० । 'चित्तमंतमचित्तं वा खेव सयं अदिन्नं गिएहेज्जा' । दश० ४ अ० । पा० । आचा० ।

अचित्तमहाखंध–अचित्तमहास्कन्ध–पुं० । उत्कृष्टावगाहनेऽनन्तप्रदेशिके स्कन्धे, (तत्स्वरूपं 'खंध' शब्दे वक्ष्यते) विशे० ।

अचित्तसोय (ग)–अचित्तस्रोतस् (क)–न० । जीवरहितच्छिद्रे, (अचित्तस्रोतसो भेदास्तत्र शिश्नं प्रवेश्य शुक्रपुद्गलनिष्कासनं च 'अंगादाण' शब्देऽदर्शि) ॥ नि० चू० १ उ० ।

अचियत-देशी-त्रि० अप्रीतिकरे, 'अचियंति वा अणियतंति वा एगट्ठं' इति वचनात् । व्य०२ उ० । पिं० । अप्रीतौ च । व्य०१ उ० । सूत्र० । देशीपदमेतत् । बृ० १ उ० । स्त्री० अप्रीतिमत्याम्, व्य० ७ उ० ।

अचियंतेउरपरघरप्पवेस–अचियतान्तःपुरपरगृहप्रवेश– पुं० अचियतोऽनभिमतोऽन्तःपुरप्रवेशवत् परगृहप्रवेशोऽन्यतीर्थिकप्रवेशो येषां ते तथा । अनभिमतपरमतप्रवेशेषु सम्यक्त्विषु, यथा राज्ञामन्तःपुरे गन्तुं नेष्यते, एवं परतीर्थिकेष्वपि यैः प्रवेशो नेष्यते, ते श्रावकाः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "ऊसियफलिहा अवंगुयदुवारा अचियंतेउरपरघरप्पवेसा चाउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुराणमासिणीसु पडिपुन्नं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरंति " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अचु (चो) क्ख–अचोक्ष–त्रि० । न० त० । अशुद्धे, तं०।जी०।

अचिट्ठण–अचेष्टन–न० । न० त० । चेष्टाभावे, सर्वथा चेष्टानिरोधे, ध० ३ अधि० ।

अचेयकम–अचेतस्कृत–त्रि०। अचैतन्यकृते. भ०१६ श०२ उ०। (जीवानामचेतस्कृतकर्मकत्वं ' चेयकड ' शब्दे)

अचेयण–अचेतन–त्रि० । न० त० । चेतनाविकले, आव० ४ अ० । ' अचेयणा ' नराधमाः , विशिष्टचैतन्याभावात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अचेयरा–अचैतन्य–न० । न० त० । चेतनावैकल्ये, " अचैतन्यमजीवता " द्रव्या० ११ अध्या० ।

अचेल–अचेल–न०। अव्य० । चेलस्याभावोऽचेलम् । जिनकल्पिकादीनामन्येषां सुयतीनां भिन्ने स्फुटितेऽल्पमूल्ये च चेले, प्रव० ११३ द्वा० । वस्त्राणां वासगन्धनवीनावदातसुप्रमाणानां सर्वेषां वा ऽभावे, स० २२ सम० ।

अचेल्ल (ग)–अचेल्ल (क)– पुं० । न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । नञ् कुत्सार्थे, कुत्सितं वा चेलं यस्यासावचेलकः । प्रव० ७८ द्वा० । अल्पकुत्सितचेले, जिनकल्पिके च । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सदसच्चेलत्वेन तस्य द्वैविध्यम्–

दुविहो होति अचेलो, संताचेलो असंतचेलो य ।
तित्थगर असंतचेला, संताचेला भवे सेसा ॥

द्विविधो भवत्यचेलः–सदचेलो असदचेलश्च । तत्र तीर्थकरा असदचेला देवदूष्यपतनानन्तरं सर्वदैव तेषां वस्त्राभावात् । शेषाः सर्वेऽपि जिनकल्पिकादिसाधवः सदचेलाः, जघन्यतोऽपि रजोहरणमुखवस्त्रिकासम्भवात् । बृ० १ उ० ।

आह–यद्येवं ततः कथममी अचेला भएयन्ते ?, सत्यम् । सति च चेलेऽचेलकत्वस्यागमे लोके च रूढत्वात् ।

एतदेवाह–

सदसंतचेलगोऽचे–लगो य जं लोगसमयसंसिद्धो ।
तेणाचेला मुणिओ, संतेहि जिणा असंतेहिं ॥

सच्चासच्च सदसती चेले यस्यासौ सदसच्चेलो यद्यस्माल्लोके समये चाऽचेलकः संसिद्धः प्रसिद्धः । चशब्दः प्रस्तावनायाम् , सा च कृतैव । तेन तस्मादिह मुनयः सामान्यसाधवः सद्भिरेव चेलैरुपचारतोऽचेला भएयन्ते । जिनास्तु तीर्थंकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्या अचेला व्यपदिश्यन्ते । इदमुक्तं भवति-इहाचेलत्वं द्विविधम्-मुख्यमुपचरितं च । तत्रेदानीं मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवत्यत औपचारिकं गृह्यते, मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमेवौपचारिकमचेलत्वं भावयति–

परिसुद्ध जुन्नकुत्थी–यं थोवाऽनिययभोगभोगेहिं ।
मुणिओ मुच्छारहिया, संतेहिं अचेलया होंति ॥

मुनयः साधवो मूर्च्छारहिताः सद्भिरपि चेलैरुपचारतोऽचेलका भवन्ति । कथम्भूतैश्चेलैरित्याह-परिसुद्धेति लुप्तविभक्तिकदर्शनात् परिशुद्धैरेषणीयैः,तथा जीर्णैर्बहुदिवसैः,कुत्सितैरसारैः, स्तोकैर्गणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा(अनियतभोगभोगेहिं ति) अनियतभोगेन कादाचित्कसेवनेन भोगः परिभोगो येषां तानि तथा तैरेवंभूतैश्चेलैः सद्भिरप्युपचारतोऽचेलका मुनयो भएयन्ते । तथा 'अन्नभोगभोगेहिं ति' इत्येवमपि योज्यते, ततश्च लोकरूढप्रकारादन्यप्रकारेण भोगः आसेवनं,प्रकारलक्षणस्य मध्यमपदस्य लोपादन्यभोगः,तेनान्यभोगेन भोगः परिभोगो येषां तानि तथा,तैरप्येवंभूतैश्चेलैरचेलकत्वं लोके प्रसिद्धमेव, यथा कटीवाससा वेष्टितशिरसो जलावगाढपुरुषस्य साधोरपि कच्छाबन्धाभावात्कूर्पराभ्यामग्रभागः, एवं चोलपट्टकस्य धारणान्मस्तकस्योपरि प्रावरणाद्यभावाच्च लोकरूढप्रकारादन्यप्रकारेण चेलभोगो दृष्टव्यः । तदेवं ' परिसुद्धजुन्नकुत्थिय' इत्यादिविशेषणविशिष्टैः सद्भिरपि चेलैस्तथाविधवस्त्रकार्याकरणाच्चेषु मूर्च्छाभावाच्च मुनयोऽचेलका व्यपदिश्यन्त इतीह तात्पर्यम् ।

आह–ननु चेलस्यान्यथापरिभोगेण किमचेलत्वव्यपदेशः क्वापि दृष्ट इत्याशङ्क्य तदुपदर्शनार्थमाह–

जह जलमवगाहंतो, बहुचेलो विसिरवेढियकडिल्लो ।
भएणइ नरो अचेलो, तह मुणिओ संतचेलो वि ॥

जीर्णादिभिरपि वस्त्रैरचेलकत्वं लोके रूढमेवेति भावयति—

तह थोव जुन्नकुत्थिय–चेलेहिं विजन्नए अचेलो त्ति ।
जह तुर सालिय ! अप्पय, मे पोत्तिं नग्गिया वत्ते ॥

इयमपि सुगमा, नवरं, जह तुरेत्यादिदृष्टान्तः । यथेह क्वापि योषित् कटीवेष्टितजीर्णबहुच्छिद्रैकशाटिका कञ्चित्कोलिकं वदति-त्वरस्व भोः शैलिक ! शीघ्रो भूत्वा मदीयपोत्तां शाटिकां निर्माय ददस्व समर्पय, नग्निका वर्तेऽहम्, तदिह सवस्त्रायामपि योषिति नाम्न्यवाचकशब्दप्रवृत्तिः । विशे० ।

अथ तत्रैवोपनयमाह—

जुएऐहि खंडिएहि य, असव्वतणुपाउतेहि ण य णिच्चं ।
संतेहि विणिग्गंथा, अचेलगा होंति चेलेहिं ॥

एवं जीर्णैः पुराणैः, खण्डितैश्छिन्नैः, असर्वतनुप्रावृतैः स्वल्पप्रमाणतया सर्वस्मिन् शरीरे अप्रावृतैः, प्रमाणैः हीनैरित्यर्थः। न च नित्यं सदैव प्रावृतैः किन्तु शीतादिकारणसद्भावे एवंविधैश्चेलैः, सद्भिरपि विद्यमानैरपि, निर्ग्रन्था अचेला भवन्ति ।

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

एवं दुग्गतपहिया, अचेलगा होंति ते भवे बुद्धी ।
ते खलु असंततीए, धारंति ण धम्मबुद्धीए ॥

यदि जीर्णखण्डितादिभिर्वस्त्रैः प्रावृतैः साधवोऽचेलकास्तत एवं दुर्गताश्च दरिद्राः पथिकाश्च पान्था दुर्गतपथिकास्तेऽप्यचेलका भवन्तीति ते भवेद् बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ते खलु दुर्गतपथिका असत्तया नवस्यूतसदशकादीनां वस्त्राणामसम्पत्त्या परिजीर्णादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धर्मबुद्ध्या । अतो भावतस्तद्विषयमूर्च्छापरिणामस्यानिवृत्तत्वान्नैतेऽचेलकाः । साधवस्तु सति लाभे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णखण्डितादीनि धर्मबुद्ध्या धारयन्तीत्यचेला उच्यन्ते ।

यद्येवमचेलास्ततः किमित्याह—

आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
मज्झिमगाण जिणाणं, होति अचेलो सचेलो वा ॥

अचेलकस्य भाव आचेलक्यम्, तदस्यास्तीत्याचेलक्यः । अभ्रादेराकृतिगणत्वादप्रत्ययः । एवंविधो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थे भवति । मध्यमकानां तु जिनानामचेलः सचेलो वा भवति ।

इदमेव भावयति—

पडिमाए पाउत्ता, णातिक्कमंते उ मज्झिमा समणा ।
पुरिमचरिमाण अमहद्धणाइ भिण्णाइँ मोमोत्तुं ॥

मध्यमा मध्यतीर्थकरसत्काः साधवः प्रतिमया वा नग्नतया प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहामूल्यादिभिर्वासोभिराच्छादितवपुषो नातिक्रामन्ति, भागवतीमाज्ञामिति गम्यते । पूर्वचरमाणां तु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधूनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि, भिन्नानि वा कृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदशकानि चेत्यर्थः । परमिमानि कारणानि मुक्त्वा तान्येवाह—

आसज्ज खेत्तकप्पं, वासावासे अभावितो असहू ।
काले अद्धाणम्मि य, सागरि तेणो व पाउरणं ॥

क्षेत्रकल्पं देशविशेषाचारमासाद्याभिन्नान्यपि प्रावियन्ते, यथा सिन्धुविषये तादृशानि प्रावृत्य हिण्डन्ते । वर्षावासे वा वर्षाकल्पं प्रावृत्य हिण्डन्ते । अभावितः शैक्षः कृत्स्नानि प्रावृत्य हिण्डते यावद्भावितो भवति । असहिष्णुः शीतमुष्णं वा नाधिसोढुं शक्नोति ततः कृत्स्नं प्रावृणुयात् । काले वा प्रत्यूषे भिक्षार्थं प्रविशन् प्रावृत्य निर्गच्छेत् । अध्वनि वा प्रावृता गच्छन्ति । यत्सागारिकप्रतिबद्धप्रतिश्रये स्थितास्ततः प्रावृताः सन्तः कायिकादिभुवं गच्छन्ति, स्तेना वा पथि वर्तन्ते, तत उत्कृष्टोपधिं स्कन्धे कक्षायां वा विण्टिकां कृत्वोपरि सर्वाङ्गीणप्रावृता गच्छन्ति । एतेषु कारणेषु कृत्स्नस्योपधेः प्रावरणं कर्तव्यम् । तथा—

निरुवहयलिंगभेदे, गुरुगा कप्पंति कारणज्जाए ।
गेलण्णलोयरोगे, सरीरवेतावडियमादी ॥

निरुपहतो नाम नीरोगस्तस्य लिङ्गभेदं कुर्वतश्चतुर्गुरुकाः । अथवा निरुपहतं नाम यथाजातलिङ्गं तस्य भेदे चतुर्गुरु । तस्य च लिङ्गभेदस्येमे भेदाः—

खंधे दुवार संजति, गरुलद्धंसे य पट्टलिंगदुवे ।
लहुगो लहुगो य तिसु वि, चउगुरुओ दोसु मूलं तु ॥

स्कन्धे कल्पं शीर्षद्वारिकां वा करोति, मासलघु संयती प्रावरणं करोति, चतुर्लघु गरुडपाक्षिकं प्रावृणोति, अर्धांशकृतं करोति, कटीपट्टकं बध्नाति, एतेषु त्रिष्वपि चतुर्गुरु गृहस्थलिङ्गं परलिङ्गं वा करोति, द्वयोरपि मूलम् । द्वितीयपदे तु कारणजाते लिङ्गभेदोऽपि कर्तुं कल्पते । कुत्रेत्याह-ग्लानत्वं कस्यापि विद्यते । तस्योद्वर्त्तनमुपदेशनमुत्थापनं वा कुर्वन् कटीपट्टकं बध्नीयात् । लोचं वा अन्यस्य साधोः कुर्वाणः पट्टकं बध्नाति । (रोगि त्ति) कस्यापि रोगिणोऽर्शांसि लम्बन्ते, द्वौ वृषणौ वा शूनौ, स कटीपट्टकं बध्नीयात् । गृहलिङ्गान्यलिङ्गयोरयमपवादः—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे व वादिदुट्ठे वा ।
आगाढ अन्नलिंगं, कालक्खेवो व गमणं वा ॥

स्वपक्षप्रान्ते आगाढे अशिवे अन्यलिङ्गं कृत्वा तत्रैव कालक्षेपं कुर्वन्ति, अन्यत्र वा गच्छन्ति । एवं राजद्विष्टे राज्ञि साधूनामुपरि द्वेषमापन्ने, वादिद्विष्टे वा वादपराजिते कापि वादिनि व्यपरोपणादिकं कर्तुकामे एवंविधे कारणे आगाढे अन्यलिङ्गमुपलक्षणत्वाद्गृहिलिङ्गं कृत्वा कालक्षेपो वा गमनं वा विधेयम् । बृ० ६ उ० । पं० भा० । पं० चू० । पंचा० । पं० सं० । आव० । कल्प० । जीत० । प्रव० । स्था० । (तिन्दुकोद्याने केशीकुमारेण चातुर्यामपञ्चयामधर्मभेदहेतुप्रश्नकारकेण " अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो । देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महायसा " (उत्त० २३ अ०) इत्याचेलक्यधर्मस्य कथं वीरतीर्थे सत्त्वं पार्श्वतीर्थेऽसत्त्वमिति पृष्टो गौतमो विभेदकारणं ' गोयमकेसिज्ज' शब्दे वक्ष्यते) महापद्मस्य भविष्यत्प्रथमतीर्थकरस्य समयेऽप्यचेलकधर्मो भविष्यति । स्था० ९ ठा० ।

पञ्चभिः प्रकारैरचेलकः प्रशस्तो भवति—

पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ । तं जहा—अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुण्णाए, विउले इंदियनिग्गहे ॥

(पञ्च हीत्यादि) प्रतीतम्, नवरं, न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः, स च जिनकल्पिकविशेषः, तदभावादेव । तथा स्थविरकल्पिकश्चाल्पाल्पमूल्यसप्रमाणजीर्णमलिनवसनत्वादिति प्रशस्तः, प्रशंसितस्तीर्थकरादिभिरिति गम्यते । अल्पा प्रत्युपेक्षा अचेलकस्य स्यादिति गम्यं प्रत्युपेक्षणीयं, तथाविधोपधेरभावात् । एवं च न स्वाध्यायादिपरिमन्थ इति । तथा लघोर्भावो लाघवं तदेव लाघविकं, द्रव्यतो भावतोऽपि रागविषयाभावात् प्रशस्तमनिन्द्यं स्यात् । तथा रूपं नेपथ्यं वैश्वासिकं विश्वासप्रयोजनमलिप्सुतासूचकत्वात् स्यादिति । तथा तप उपकरणसंलीनतारूपमनुज्ञातं जिनानुमतं स्यात् । तथा विपुलो महानिन्द्रियनिग्रहः स्यात्, उपकरणं विना स्पर्शनप्रतिकूलशीतवातातपादिसहनादिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । (प्रतिमां प्रतिपन्नो वस्त्रत्रयवान् चतुर्थं वस्त्रमन्वेष्यन् लब्ध्वा च तद् हेमन्ते तस्मिन् जीर्णे, "अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमण्णागते भवति त्ति" 'मरण' शब्दे दर्शयिष्यते) ॥ (अचेलस्य निर्ग्रन्थस्य सचेलिकाभिर्निर्ग्रन्थीभिः संवासः 'संवास' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अचेलगधम्म—अचेलकधर्म—पुं० । अविद्यमानानि जिनकल्पि-

कविशेषापेक्षया असत्त्वादेव, स्थविरकल्पिकापेक्षया तु जीर्णमलिनखण्डितश्वेताल्पत्वादिना चेलानि वस्त्राणि यस्मिन् स तथा, धर्मश्चारित्रम्, स चासौ धर्मश्चाचेलकधर्मः । आचेलक्याख्ये द्वाविंशतितीर्थकरापकृष्टे ऋषभवीरतीर्थसम्मते साध्वाचारे, स्था० ६ ठा०। (यथा चैष धर्मस्तथाऽनन्तरम् 'अचेलग' शब्दे दर्शितः)

अचेलपरि (री) सह–अचेलपरि (री) षह–पुं० । अचेलं चेलाभावो जिनकल्पिकादीनाम्, अन्येषां तु भिन्नमल्पमूल्यं च चेलमप्यचेलम, अवस्त्राशीलवत्, तदेव परीषहोऽचेलपरीषहः । उत्त० २ अ० । अचेलतायां जीर्णापूर्णमलिनादिचेलत्वे लज्जादैन्याऽऽकाङ्क्षाद्यकरणेन परिषह्यमाणत्वादिति । भ० ८ श० ८ उ० । षष्ठे परीषहे, प्रश्न०५ संव० द्वा०। स०। अमहामूल्यानि खण्डितानि जीर्णानि च वासांसि धारयेत्। आव० ४ अ० । न च तथाविधवस्त्रः सन् मम प्राक् परिगृहीतं वस्त्रं नास्ति, नापि तथाविधो दातेति दैन्यं गच्छेत ; अन्यलाभसम्भावनया प्रमुदितमानसश्च न भवेदिति । प्रव० ८६ द्वा० । यथा- "नाऽस्ति वासोऽशुभं चैतत्, तन्नेच्छेत्साध्वसाधु वा । नाग्न्येन विप्लुतो जानन्, लाभाऽलाभविचित्रताम्" ॥१॥ ध० ३ अधि० । "शीतार्जितापेऽपि यति-स्त्वग्वस्त्रत्राणवर्जितः । वासोऽकल्पं न गृह्णीया-दग्निं नोज्ज्वालयेदपि " ॥ १ ॥ आव० १ अ०।

एतदेव सूत्रकार आह—

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामिति अचेलए ।
किंवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥

परिजीर्णैः समन्ताद् हानिमुपगतैर्वस्त्रैः शाटकादिभिः (होक्खामिति) इतिभिन्नक्रमः, ततो भविष्याम्यचेलकश्चेलकविकलोऽल्पदिनभावित्वादेषामिति भिक्षुर्न चिन्तयेत्। अथवा सचेलकश्चेलान्वितो भविष्यामि, परिजीर्णवस्त्रं हि मां दृष्ट्वा कश्चित् श्राद्धः सुन्दरतराणि वस्त्राणि दास्यतीति भिक्षुर्न चिन्तयेत् । इदमुक्तं भवति-जीर्णवस्त्रः सन्नसमः प्राक् परिगृहीतं न परं वस्त्रमस्ति, न च तथाविधो दातेति न दैन्यं गच्छेद्, नचान्यलाभसंभावनया प्रमुदितमानसो भवेदिति सूत्रार्थः । इत्थं जीर्णादिवस्त्रतयाऽचेलं स्थविरकल्पिकमाश्रित्याचेलपरीषह उक्तः । संप्रति तमेव सामान्येनाह–

एगयाऽचेलए होइ, सचेले वा वि एगया ।
एयं धम्महियं णच्चा, णाणी णो परिदेवए ॥ १३ ॥

एकदैकस्मिन्काले जिनकल्पप्रतिपत्तौ, स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन, सति वा चेले विना वर्षादीनि तमप्रावरणेन, जीर्णादिवस्त्रतया वा अचेलक इत्यवस्त्रो भवति । पठ्यते च-' अचेलए सयं होति ' तत्र, स्वयमेवात्मनैव न पराभियोगतः सचेलः सवस्त्रश्चाप्येकदा स्थविरकल्पिकत्वे तथाविधालम्बनेनावरणे सति। यद्येवं ततः किमित्याह–एतद्द्व्यवस्थौचित्येन सचेलत्वमचेलत्वं च धर्मो यतिधर्मस्तस्मै हितमुपकारकं धर्महितं, ज्ञात्वाऽवबुध्य , तत्राचेलकत्वस्य धर्महितत्वमल्पप्रत्युपेक्षादिभिः। यथोक्तम्-" पंचहिं ठाणेहिं पुरिमपच्छिमाणं अरहंताणं भगवंताणं अचेलए पसत्थे भवति । तं जहा-अप्पापडिलेहा वेसासिए रूवे १ तवे २ अणुमए ३ लाघवपसत्थे ४ विउले इंदियणिग्गहे ५ त्ति"। सचेलत्वस्य तु धर्मोपकारित्वमन्याद्यारम्भनिवारकत्वेन संयमफलत्वात् । ज्ञानी नग्ना एव प्रायस्तिर्यग्नारकास्तद्द्वयजयादेव च मया सन्त्यपि वासांस्यवासयन्त इत्येवंबोधत्वान्न परिदेवयेत् । किमुक्तं भवति-अचेलः सन् किमिदानीं शीतादिपीडितस्य मम शरणमिति न दैन्यमालम्बेत इति सूत्रार्थः । उत्त० २ अ० ।

अत्र ' एवं धम्महियं णच्चेति' सूत्रसूचितं दृष्टान्तमाह–

वीतभये देवदत्ता, गंधारं सावगं पडियरित्ता ।
लभइ सयंगुलियाणं, पज्जोतेणाणि उज्जेणिं ॥
दट्ठूण चेडिमरणं, पभावई पव्वइत्तु कालगया ।
पुक्खरकरणं गहणं, दस पुरपज्जोयमुयणं च ॥
माया य रुद्दसोमा, पिया य णामेण सोमदेवो त्ति ।
भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिया ॥
सीहगिरिभद्दगुत्ते, वइरक्खमणा पढित्तु पुव्वगयं ।
पव्वावितो य भाया, रक्खियक्खमणेहिं जणओ य ॥
उत्त० नि० ॥

गाथाचतुष्टयम् । वीतभये देवदत्ता गन्धारं श्रावकं प्रतिजागर्य्या लभते शताङ्गुलिकानां, प्रद्योतेनानीता उज्जयिनीं, दृष्ट्वा चेटीमरणं प्रभावती प्रव्रज्य कालं गता, पुष्करकरणं, ग्रहणं, दशपुरप्रद्योतमोचनं च, माता च रुद्रसोमा, पिता च नाम्ना सोमदेव इति, भ्राता च फल्गुरक्षितः, तोसलिपुत्राश्चाचार्याः । सिंहगिरिभद्रगुप्ताच्यां वज्रक्षमणः पठित्वा पूर्वगतं प्रव्राजितश्च भ्राता रक्षितक्षमणैर्जनकश्चेति गाथाचतुष्टयाक्षरार्थः । भावार्थस्तु-वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायं (जीवितस्वामिप्रतिमावक्तव्यता आर्यरक्षितसूरिणां दशपुरमागमनावधि 'अज्जरक्खिय'शब्दे वक्ष्यते)उत्त० ३ अ० । अथार्यरक्षितसूरिणा तत्र स्वमातृभगिनीप्रमुखः सर्वसांसारिकवर्गो दीक्षां ग्राहितः । पिता तु प्रतिबोधितोऽपि साधुलिङ्गं न गृह्णाति । स्वज्ञातीयजनानां लज्जां च वहति । आचार्या दीक्षाग्रहणाय तस्य बहु कथयन्ति । ततः स कथयति-पृथुलवस्त्रयुगलयज्ञोपवीतकमण्डलुच्छत्रिकोपानद्भिः समं चेद् दीक्षां ददासि तदा लामि । ततो लाभं दृष्ट्वा तादृशमेव तं गुरुः प्रव्राजितवान् । ग्राहितश्चरणकरणस्वाध्यायम् । अन्यदा चैत्यवन्दनार्थं गता आचार्यास्तत्र साधुशिक्षिता गृहस्थडिम्भका वदन्ति—एनं छत्रिणं मुक्त्वा सर्वान् साधून् वन्दामहे । ततः स वृद्धो वक्ति–मम पुत्रनप्त्रादय एते वन्दिताः , अहं कस्मान्न वन्दितः?; किं मया दीक्षा न गृहीता ?। त आहुः-किं दीक्षितस्य छत्रकमण्डल्वादीनि स्युः। ततो गुरुष्वागतेषु स वृद्धो वक्ति-पुत्र ! मम डिम्भका अपि हसन्ति , ततो न कार्यं छत्रेण । एवं प्रयोगेण क्रमतो धौतिकवस्त्रं मुक्त्वा सर्वं त्याजितः। बहुशस्तथा प्रयोगकरणेऽपि धौतिकं न मुञ्चति स्म। अन्यदा एकः साधुर्गृहीतानशनः स्वर्गं गतः। तत आचार्यैर्वृद्धस्य धौतिकत्याजनाय साधून् प्रत्येवमुक्तम्–य एनं मृतसाधुं व्युत्सृष्टं स्कन्धेन वहति, तस्य महत् पुण्यम् । ततः स स्थविरो वक्ति-पुत्राऽत्र किं बहुनिर्जरा ?। आचार्या आहुः-बाढम् । ततः स वक्ति–अहं वहामि । आचार्या वदन्ति-अत्रोपसर्गा जायन्ते, चेटकरूपाणि लगन्ते, यदि शक्यतेऽधिसोढुं तदा वरं, यदि क्षोभो भविष्यति तदा शुभमस्माकं भविष्यति, एवं स्थिरीकृत्य स तत्र नियोजितः, साधुसाध्वीसमुदायः पृष्ठे स्थितः। यावत्तेन साधुशवं स्कन्धे समारोप्य वोढुमारब्धं, तावत्तस्य धौतिकं गुरुशिक्षितडिम्भकैराकर्षितम, स लज्जया यावत्तत्साधुशवं स्कन्धान्मुञ्चति तावदन्यैरुक्तम्–मा मुञ्च २, एकेन चोलपट्टको दवरकेन कृत्वा कटौ बद्धः। स तु लज्जया तत्साधुश-

वं द्वारभूमिं यावदुद्रूह्य तत्र व्युत्सृज्य पश्चादागतो वक्ति-पुत्र ! अद्य महानुपसर्गो जातः । आहुराचार्याः-आनीयतां धौतिकं, परिधाप्यताम् । ततः स वक्ति-अथाऽलं धौतिकेन, यद् द्रष्टव्यं तद् दृष्टमेव । अथ चोलपट्ट एवास्तु । पूर्वं तेनाऽचेलपरीषहो न सोढः, पश्चात् सोढः । उत्त० २ अ० ।

एतदेवाचेलतासहनं प्रत्यपादि यथा—

एयं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति, परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि सुत्तं जाइस्सामि सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवं आगममाणे, तवे से अभिसमण्णागए भवति, जहेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो, सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया, एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं आगयपण्णाणाणं किसा बाहा भवंति । पयणुए मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिण्णाए एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ।

एतद्यत् पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा, खुर्वाक्यालङ्कारे, आदीयत इत्यादानं कर्म, आदीयत इति वाऽनेन कर्मोत्पादनं कर्मोपादानम् । तच्च धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिर्झोषयितेति संबन्धः। किंभूतः ? सदा सर्वकालं सुष्ठ्वाख्यातो धर्मोऽस्येति स्वाख्यातधर्मा संसारजीरुत्वाद्यथारोपितभारवाहीत्यर्थः, तथा विधूतः क्षुण्णः सम्यक् स्पृष्टः कल्प आचारो येन स तथा, स एवंभूतो मुनिरादानं झोषयित्वा आदानमपनेष्यति । कथं पुनस्तदादानं वस्त्रादि स्याद् येन तद् झोषयितव्यं भवेदित्याह-(जे अचेले इत्यादि) अल्पार्थे नञ् , यथा-अयं पुमानज्ञः स्वल्पज्ञान इत्यर्थः। यः साधुर्नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यतोऽचेलोऽल्पचेल इत्यर्थः। संयमे पर्युषितो व्यवस्थित इति तस्य भिक्षोर्नैतद्भवति नैतत्कल्पते । यथा परिजीर्णं मे वस्त्रमचेलकोऽहं भविष्यामि, न मेऽत्र त्वक्त्राणं भविष्यति, ततश्च शीताद्यर्दितस्य किं शरणं मे स्याद् वस्त्रं विनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्येत्य वस्त्रं याचिष्ये, तस्य वा जीर्णस्य वस्त्रस्य संधानाय सूत्रं याचिष्ये, सूचीं याचिष्ये वा, आभ्यां सूचीसूत्राभ्यां जीर्णवस्त्ररन्ध्रं संधास्यामि, पाटितं सीविष्यामि, लघु वा सदपरशकललगनत उत्कर्षयिष्यामि, दीर्घं वा सत् खण्डापनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि । एवं च कृतं सत्परिधास्यामि, तथा प्रावरिष्यामीत्याद्यार्तध्यानोपहतः सत्यपि जीर्णादिवस्त्रसद्भावे यद्भाविष्यत्ताध्यवसायिनो धर्मैकप्रवणस्य तु भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति । यदि वा जिनकल्पिकाभिः प्रायेणैवेतत् सूत्रं व्याख्येयम् । तद्यथा-(जे अचेले इत्यादि) नास्याचेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः छिद्रपाणित्वात्पाणिपात्रः । पाणिपात्रत्वात्पात्रादिसप्तविधतन्नियोगरहितोऽभिग्रहविशेषात् त्यक्तकल्पत्रयः। केवलं रजोहरणमुखवस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैतद् भवति, यथा परिजीर्णं मे वस्त्रं सच्छिद्रं पाटितं चेत्येवमादिवस्त्रागतमपध्यानं न भवति, धर्मिणोऽभावाद्धर्माभावः । सति च धर्मिणि धर्मान्वेषणं न्याय्यमिति सत्यं वचस्तथेदमपि तस्य न भवत्येव । यथा परं वस्त्रमहं याचिष्य इत्यादि पूर्ववन्नेयम् । योऽपि छिद्रपाणित्वात्पात्रनिर्योगसमन्वितः कल्पत्रयान्यतरयुक्तोऽसावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्गतमपध्यानं न विधत्ते, यथा कृतस्याल्पपरिकर्मणो ग्रहणात् सूचिसूत्रान्वेषणं न करोति । तस्य चाचेलस्याल्पचेलस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्विधेयं तदाह-(अदुवा इत्यादि) तस्य ह्यचेलतया परिवसतो जीर्णवस्त्रादिकृतमपध्यानं न भवति, अथचैतत् स्यात्तत्राचेलत्वे पराक्रममाणं (भुज्जो) पुनस्तं साधुमचेलं क्वचिद् ग्रामादौ त्वक्त्राणाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः परुषास्तृणैर्वा जनिताः स्पर्शा दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृशन्ति, तांश्च सम्यगदीनमनसाऽतिसहत इति संबन्धः । तथा शीतस्पर्शाः स्पृशन्त्युपतापयन्ति, तेजउष्णस्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति । तेषां तु परीषहाणामेकतरे विरूपा दंशमशकतृणस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णादिपरीषहाणां वा परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादुःष्युः । प्रत्येकं बहुवचननिर्देशश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्थासंसूचक इति । एतदेव दर्शयति-विरूपं बीभत्सं मनोनयनानाह्लादि विविधं वा मन्दादिभेदाद्रूपं येषां ते विरूपरूपाः। के ते?, स्पर्शा दुःखविशेषास्तदापादकास्तृणादिस्पर्शा वा, तान् सम्यक्करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसौ?, अचेलोऽपगतचेलोऽल्पचेलो वाऽचेलस्वरूपो वा सम्यक् तितिक्षते । किमभिसन्धाय परिषहानधिसहत इत्यत आह-(लाघवमित्यादि) लघोर्भावो लाघवं, द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो ह्युपकरणलाघवं, भावतः कर्मलाघवम् । आगमयन्नवगमयन्नवबुध्यमान इति यावदधिसहते परीषहोपसर्गानिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" एवं खलु से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खयकारणं करेति " एवमुक्तक्रमेण भावलाघवार्थमुपकरणलाघवं तपश्च करोतीति भावार्थः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणलाघवेन कर्मलाघवमागमयन्तं कर्मलाघवेन चोपकरणलाघवमागमयतस्तृणादिस्पर्शानधिसहमानस्य तपः कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिसमन्वागतं भवति । सम्यगाभिमुख्येन सोढुं भवति । एतच्च न मयोच्यत इत्येतद्दर्शयितुमाह-(जहेयं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणेदमिति यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्, भगवता वीरवर्धमानस्वामिना, प्रकर्षेणाऽऽदौ वा वेदितं प्रवेदितमिति। यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः किमित्याह-(तमेव इत्यादि) तदुपकरणलाघवमाहारलाघवं वाऽभिसमेत्य ज्ञात्वा, एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघवं ज्ञात्वेत्यर्थः। कथमिति चेदुच्यते-सर्वत इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत आहारोपकरणादौ, क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतोऽहनि रात्रौ वा, दुर्भिक्षादौ वा। सर्वात्मनेति । भावतः कृत्रिमकल्काद्यभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रशस्तं शोभनमेकं सङ्गतं वा तत्त्वं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्-"प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः संगत एव च । इत्येतैरुपसृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते"॥१॥ तदेवंभूतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिमुख्येन जानीयात् परिच्छिन्द्यात् तथा ह्यचेलोऽप्येकचेलादिकं नावमन्येत, यत उक्तम्-"जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ। ण हु ते हीलेंति परं, सव्वे वि हु ते जिणा णाए ॥१॥" तथा-"जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधियादिकारणं भाणियं। पप्पणवमण्णइहीणं, अप्पाणं मण्णई तेहिं ॥१॥ सव्वे वि जिणा णाए, जहाविहिं कम्म-

लवणमद्दाए । विहरंति बज्जुया खलु , सम्मं अभिजाणई एवं " ॥२॥ इति । यदि वा तदेव लाघवमभिसमेत्य सर्वतो द्रव्यादिना सर्वात्मनादिना सम्यक्त्वमेव सम्यगभिजानीयात् तीर्थकरगणधरोपदेशात् सम्यक् कुर्यादिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाशक्यानुष्ठानम् । ज्वरहरतक्षकचूडालङ्काररत्नोपदेशवद् भवतः केवलमुपन्यस्यते , अपि त्वन्यैर्बहुभिश्चिरकालमासेवितमित्येतद्दर्शयितुमाह- (एवमित्यादि) एवमित्यचेलतया पर्युषितानां तृणादिस्पर्शानधिसहमानानां तेषां महावीराणां सकललोकचमत्कृतिकारिणां चिररात्रं ... नकालं यावज्जीवमित्यर्थः । तदेव विशेषतो दर्शयति-पूर्वाणि प्रभू...नि रीयमाणानां संयमानुष्ठाने गच्छतां, पूर्वस्य तु परिमाणं वर्ष...ं सप्ततिः कोटिलक्षाः पञ्च वा शतकोटिसहस्रास्तथा प्रभूतानि वर्षाणि रीयमाणानां तत्र नाभेयादारभ्य शीतलं दशमतीर्थङ्करं यावत्पूर्वसंख्यासद्भावात् पूर्वाणीत्युक्तम् । तत आरभ्य श्रेयांसादारभ्य वर्षसंख्याप्रवृत्तेर्वर्षाणीत्युक्तमिति । तथा द्रव्याणां भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां पश्याव-धारय, यत्तृणस्पर्शादिकं पूर्वमभिहितं,तदभिषोढव्यमिति सम्यक्करणेन स्पर्शातिसहनं कृतमतस्त्ववगच्छेति । एतच्चापि सहमानानां यत्स्यात्तदाह-(आगय इत्यादि) आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा, तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परीषहातिसहनेन च कृशा बाहवो भुजा भवन्ति । यदि वा सत्यपि महोपसर्गपरीषहादावपगतप्रज्ञानत्वाद्बाधाः पीडाः कृशा भवन्ति, कर्मक्षपणायोत्थितस्य शरीरमात्रपीडाकारिणः परीषहोपसर्गान् सहायानिति मन्यमानस्य न मनःपीडोत्पद्यत इति । तदुक्तम्—"निम्माणेइ परोच्चिय, अप्पाणओ न वियणं सरीराणं । अप्पाणोच्चिय हियस्स, न उण दुक्खं परो देसि" ॥१॥ इत्यादि । शरीरस्य तु पीडा भवत्येवेति दर्शयितुमाह-(पयणुए इत्यादि) प्रतनुके च, मांसं च शोणितं च मांसशोणिते, द्वे अपि । तस्य हि रूक्षाहारत्वादल्पाहारत्वाच्च प्रायशः खलत्वेनैवाहारः परिणमति, न रसत्वेन कारणाभावाच्च प्रतनुकं च शोणितं तत्तनुत्वात् मांसमपीति, ततो मेदोऽस्थ्यादीन्यपि । यदि वा प्रायशो रूक्षं वातलं भवति वातप्रधानस्य च प्रतनुतैव मांसशोणितयोरचेलतया च तृणस्पर्शादिप्रादुर्भावेन शरीरोपतापात्प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति संबन्धः । तथा संसारश्रेणीं संसारावतरणीं रागद्वेषकाषायसंततिस्तां क्षान्त्यादिना विश्रेणिं कृत्वा तथा परिज्ञात्वा च समत्वभावनया । तद्यथा—जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वौ त्रीन् वा बिभर्ति, स्थविरकल्पिको वा मासार्द्धमासक्षपकस्तथा विकृष्टाविकृष्टतपश्चारी प्रत्यहं भोजी कूरगडुको वा । एते सर्वेऽपि तीर्थकृद्वचनानुसारतः परस्परानिन्दया संस्तुण्वन्ति सम्यक्त्वदर्शन इति । उक्तं च— " जो वि दुवत्थतिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ । न हु ते हीलेति परं, सव्वे वि हु ते जिणाणाए" ॥१॥ तथा जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नो वा कश्चित्कदाचित्कमपि मासानात्मकल्पेन भिक्षां न लभेत तथाऽप्यसौ कूरगडुकमपि यथोदनमुण्डस्त्वमित्येवं न हीलयति तदेवं समत्वदृष्टिप्रज्ञया विश्रेणीकृत्यैष उक्तलक्षणो मुनिस्तीर्णः संसारसागरम्, एष एव मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो विरतः सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो व्याख्यातो नापर इति ब्रवीमि । इतिशब्दः पूर्ववत् । आचा०१श्रु०६अ०२उ० ।

अचेलपरि(री)सहविजय-अचेलपरि(री)षहविजय-पुं० । उत्तमधृतिसंहननादिविकलानामिदानीन्तनसाधूनां तृणग्रहणानलसेवापरिहारतः संयमरक्षानिमित्तं खण्डितात्पमूल्यपरिजीर्णासर्वजीर्णानि वस्त्राणि धारयतामाचेलक्यपरीषहसहने, पं० सं० ।

संजमजोगनिमित्तं, परिजुन्नाईणि धारयंतस्स ।

कह न परीसहसहणं, जइ णो सइ निम्ममत्तस्स ॥

आचेलक्यमुक्तप्रकारेण तावदौपचारिकं ततस्तथारूपाचेलक्यासेवनं परीषहसहनमप्यौपचारिकमेव स्यात् । तथा च सति कुतो मोक्षावाप्तिरुपचरितस्य निरुपचरितार्थक्रियाकारित्वायोगात्, न हि माणवको दहनोपचाराद्दाधीयते पाके इति यद्येवं तर्हि कल्पनीयमाहारमपि भुञ्जानस्य न सम्यक् क्षुत्परीषहसहनं भवेत् भवदुक्तन्यायेन सर्वथा आहारपरित्यागत एव तत्सहनोपपत्तेः । एवं च सति भगवानप्यर्हन् क्षुत्परीषहजेता न भवेत् । सोऽपि हि भगवान् छद्मस्थावस्थायां भवन्मतेनापि कल्पनीयमाहारमुपभुङ्क्ते । न च स तथा कल्पनीयमाहारमुपभुञ्जानोऽपि क्षुत्परीषहजेता नेष्टः, ततो यथाऽनेषणीयाकल्पनीयभोजनपरित्यागतः क्षुत्परीषहसहनमिष्टं, तथा महामूल्यानेषणीयाकल्पनीयवस्त्रपरित्यागत आचेलक्यपरीषहसहनमेष्टव्यम् । न च वाच्यम्—एवं तर्हि कमनीयकामिनीजनपरिभोगपरिहारतः कारुण्यक्षणविरूपवामनेत्रापरिभोगमपि कुर्वतः स्त्रीपरीषहसहनप्रसङ्ग इति, स्त्रीपरिभोगस्यान्यत्र सर्वात्मना सूत्रान्तरेण प्रतिषिद्धत्वात् । न चैवं परिजीर्णाल्पमूल्यवस्त्रपरिभोगः सूत्रान्तरेण प्रतिषिद्धः, ततो नातिप्रसङ्गावाप्तिः, कृतं प्रसङ्गेन । विस्तरेण तु धर्मसंग्रहणीटीकायामपवादः प्रपञ्चित इति तत एवावधार्यः । पं० सं० ४ द्वा० ।

अचेलिआ—अचेलिका—स्त्री० । वस्त्ररहितायां स्त्रियाम्, निर्ग्रन्थ्याऽचेलिकया न भावितव्यम् । बृ० ५ उ० ।

नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए हुंतए ।

नो कल्प्यते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकया वस्त्ररहितया भवितुमेष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

वुत्तो अचेलधम्मो, इति काइ अचेलगतणं ववसा ।

जिनकप्पो वज्जाणं, निवारिओ होइ एवं तु ॥

अचेलको धर्मो भगवता प्रोक्त इति परिभाव्य काचिदचेलकत्वं व्यवस्येत कर्तुमभिलषेत, अतस्तन्निषेधार्थमिदं सूत्रं कृतम्, अचेलकत्वप्रतिषेधेन आचार्याणां जिनकल्पोऽप्येवमनेनैव सूत्रेणैव निवारितो मन्तव्यः । कुत इत्याह—

अजिअम्मि साहसम्मि, इत्थी ण वए अचेलिआ होउं ।

साइसमत्थं पि करे, तेणेव अइप्पसंगेणं ॥

कुलभाविताविणेच्छति, अचेलयं किमु सई कुले जाया ?।

धिक्कारवुक्किआणं, तित्थुच्छेओ दुलभवित्ती ॥

साध्वसे भये तरुणादिकृतोपसर्गसमुत्थे अजिते सति अचेलिका भवितुं स्त्री निर्ग्रन्थी न शक्नुयात् । अथ भवति ततस्तेनैवातिप्रसङ्गेनाचेलतालक्षणेनान्यदपि चतुर्थसेवादिकं साहसं कुर्यात्, तथा कुलटाऽपि तावद् नेच्छत्यचेलतां किं पुनः कुले जाता सती साध्वी । अचेलतां प्रतिपन्नानां चार्यिकाणां(धिक्कारबुक्किआणं ति) लोकापवादजुगुप्सितानां तीर्थोच्छेदः, दुर्लभा च वृत्तिर्भवति, न कोऽपि प्रव्रजति, न वा भक्तपानादिकं ददातीत्यर्थः ॥

गुरुगा अचेलिगाणं, सपलं व दुगंछियं गरहियं च ।

होइ परपत्थणिज्जा, विइयं अच्चाणमाईसु ॥
अत एव यथार्थिका अचेलिका न भवन्ति, यतस्तासां चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः। तथा चेलरहितां संयतीं समग्रां मग्नादिग्धदेहां दृष्ट्वा लोको जुगुप्सितं जुगुप्सां कुर्यात्। अतः कष्टमिहलोक एतादृश्यवस्था, परलोके तु पापतरा भविष्यति। गर्हितं च गर्हां प्रवचनस्य कुर्यात्-असारं सर्वमेतद्दर्शनमिति । अचेलिका च परस्य प्रार्थनीया भवति। अत्र द्वितीयपदमध्वादिषु विविक्तानां मन्तव्यम्। अपि च-

पुणरावित्तिनिवारण-उद्दिस्समोहो व दट्ठु पेलेज्जा।
पडिबंधो समणाई, र्मिमियदोसा य नगिणाए ॥

अचेलामार्यां दृष्ट्वा प्रव्रज्याभिमुखानामपि कुलस्त्रीणां पुनरावृत्तिर्भवति, प्रव्रज्यां न प्रहीयुरित्यर्थः। अन्यो वा कश्चिन्निवारणं कुर्यात्, किमेतासां कापालिनीनां समीपे प्रव्रजितेनेति। यद्वा-कश्चिदुदीर्णमोहस्तामप्रावृतां दृष्ट्वा कर्मगुरुकतया प्रेरयेत्, साऽपि तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्यात्, प्रतिगमनादीनि वा विदध्यात्। क्रिमिरमदोषाश्च भवेयुः, यत एते नग्नाया दोषा अतोऽचेलया न भवितव्यम्। द्वितीयपदे संयत्या अध्वनि स्तेनैर्विविक्तायास्ततो न किमपि वस्त्रं भवेत्। आदिशब्दात् क्षिप्तचित्ता यक्षाविष्टा वा वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमचेलाऽपि भवतीति। बृ०५ उ०।नि०चू०।

अचोइय-अचोदित-त्रि०। अप्रेरिते, "वित्तो अचोइओ णिच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए" उत्त० १ अ०।

अचोप्पडा-अचोपडा-स्त्री०। निस्तुपाख्ये अलेपकृते पेयद्रव्ये, ध० ३ अधि०।

अचोरिय-अचौर्य-न०। अस्त०। चोरताभावे, "अचोरियं करेंतं" अचौर्यं कुर्वन्तं, चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः। प्रश्न०२ आश्र०द्वा०।

अच्च-अर्च-धा० पूजायाम्, उभ०,भ्वादि०,सक०, सेट्। अर्चति, अर्चते, आनर्च, आनर्चे, आर्चीत्, आर्चिष्ट। चुरा०, उभ०, सक०, सेट्। अर्चयति, अर्चयते। वाच०। "अच्चे मुले महाभागा, एति किंचण अच्चिमो" उत्त० १२ अ०।

अच्च-त्रि०। अर्चति यः सः। अर्च-अच्। "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ८। १। ७७। इत्यसंयुक्तस्यैव सुग्विधायकत्वेन न लुक्। पूजके, प्रा०। कालविशेषात्मकलवभेदे च, यस्मिन् हि श्रमणो भगवान् महावीरो निर्वृतः। कल्प०।

अच्च्य-त्रि०। पूज्ये, स्था० ३ ठा० १ उ०।

अच्चंग-अत्यङ्ग-न०। अतिशायिषु कारणेषु, "वज्जणमणंतगुंबरि, अच्चंगाणं च भोगओ माणं"। अत्यङ्गानीत्यतिशायीनि भोगस्य कारणान्यवयवा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिभोजनस्रक्चन्दनाङ्गनादीनि च। पञ्चा० १ विव०।

अच्चंतकाल-अत्यन्तकाल-त्रि०। अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः, अत्यन्तः कालो यत्र सोऽत्यन्तकालः। असीमकालिके, "अच्चंतकालस्स समूलयस्स, सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो" उत्त० ३२ अ०।

अच्चंतथावर-अत्यन्तस्थावर-पुं० स्त्री०। अनादिस्थावरे, "मरुदेवा अच्चंतथावरा सिद्धा" मरुदेवा अत्यन्तस्थावरा अनादिवनस्पतिराशेरुद्धृत्य सिद्धाः। आ० म० द्वि०।

अच्चंतपरम-अत्यन्तपरम-त्रि०। अधिकोत्कृष्टे, "अच्चंतपरमो आसी, अउलो रूवविम्हिओ" उत्त० २० अ०।

अच्चंतभावसार-अत्यन्तभावसार-त्रि०। अतीवप्रशस्ताध्यवसायप्रधाने, पञ्चा० १४ विव०।

अच्चंतविसुद्ध-अत्यन्तविशुद्ध-त्रि०। सर्वथा निर्दोषे, स्था० ७ ठा०। "अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूय" अत्यन्तविशुद्धः सर्वथा निर्दोषो दीर्घश्च पुरुषपरम्परापेक्षया यो राज्ञां भूपालानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसूतो जातो यः स तथा। स्था० ७ ठा०।

अच्चंतसंकिलेस-अत्यन्तसंक्लेश-पुं०। अतिनिविडतया रागद्वेषपरिणामे, ध० १ अधि०।

अच्चंतसुपरिसुद्ध-अत्यन्तसुपरिशुद्ध-त्रि०। अतिनिर्मलतरे, पञ्चा० १४ विव०।

अच्चंतसुहि (ण्)- अत्यन्तसुखिन्-त्रि०। निरतिशयसुखाऽऽप्लुते, "तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो" उत्त० ३२ अ०।

अच्चंताभाव-अत्यन्ताभाव-पुं०। अत्यन्तोऽन्तमतिक्रान्तो नित्योऽभावः। क० सं०। नास्तीति वाक्याभिलप्यमाने नाशप्रागभावभिन्ने संसर्गाभावे, वाच०। अत्यन्ताभावमुपादिशन्ति- कालत्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव इति। अतीतानागतवर्त्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते। निदर्शयन्ति-यथा चेतनाचेतनयोरिति, न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुद्गलात्मकतामचकलत्कलयति कलयिष्यति वा, तत्तत्त्वविरोधात्। नाप्यचेतनं पुद्गलतत्त्वं, चेतनस्वरूपमचेतनत्वविरोधात्। रत्ना० ३ परि०।

अच्चंतिय-आत्यन्तिक-त्रि०। अत्यन्त-भवार्थे ठञ्। अतिशयेन जाते, वाच०। सर्वकालभाविनि, "नेगंतणच्चंतिय ऊदए वं, वयंति ते दोवि गुणोदयम्मि" सूत्र०२ श्रु०६ अ०। सोऽत्यन्तिको दुःखविगमः सोऽपवर्गः। अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीत्यात्यन्तिको दुःखविगमः। ध० १ अधि०।

अच्चंतोसण्ण-अत्यन्तावसन्न-पुं०। अवसन्नेष्वेव प्रव्राजितेषु, संविग्नैः प्रव्राजितमात्रेष्वेवावसन्नतया विहृतेषु च। "अच्चंतोसण्णेसु य, परलिंगदुगे य मूलकम्मे य। भिक्खुम्मि य विहियतवोऽणवट्ठपारंचियं पत्ते ॥" जीत०।

अच्चक्खर-अत्यक्षर-त्रि०। एकादिभिरक्षरैरधिके, "अनत्यक्षरत्वं हि सूत्रगुणः" इत्ययं दोषः। अनु०। विशे०। आव०। आ० म० प्र०। आ० चू०। ध०।

अच्चण-अर्चन-न०। पुष्पादिभिः सत्करणे, "अच्चणं रयणं चेव, मणसा वि ण पत्थए"। उत्त० ३५ अ०।

अच्चणा-अर्चना-स्त्री०। अर्च-युच्। पूजायाम्, वाच०। "गन्धैर्माल्यैर्विनिर्यद्बहलपरिमलैरक्षतैर्धूपदीपैः, सान्नाय्यैः प्राज्यभेदैश्चरुभिरुपहृतैः पाकपूतैः फलैश्च। अम्भःसम्पूर्णपात्रैरिति हि जिनपतेरर्चनामष्टभेदां, कुर्वाणा वेश्मभाजः परमपदसुखस्तोममाराल्लभन्ते" ॥ १ ॥ ध० २ अधि०।

अच्चणिज्ज–अर्चनीय–त्रि० । अर्च–अनीयर् । चन्दनगन्धादिभिः सत्करणीये, " अच्चणिज्जे वंदणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं । " औ० । उपा० । जी० । भ० । ज्ञा० ।

अच्चणिआ–अर्चनिका–स्त्री० । सिद्धायतने जिनप्रतिमाद्यर्चने, भ० ४ श० १ उ० ।

अच्चत्थ–अत्यर्थ–न० । अतिक्रान्तमर्थमनुरूपत्वरूपम् । अतिशये, तद्वति च । त्रि० । अत्यये, अव्य० स० । अर्थाभावे, अव्य०स० । वाच० । " अंगारपलित्तककप्पअच्चत्थसीयवेयणा " प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अच्चत्थत्त–अत्यर्थत्व–न० । महार्थत्वाऽपरपर्याये परिपुष्टार्थाभिधायिताऽपरेऽष्टमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अच्चय–अत्यय–पुं० । अति–इण्–अच् । अतिक्रमे, अभावे, विनाशे, दोषे, कृच्छ्रे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽवश्यंभावाभावे, वाच० । प्रत्यवाये, बृ० ३ उ० । आत्यन्तिके विनाशे च । बृ० ४ उ० ।

अच्चल्लीण–अत्यालीन–त्रि० । अतीवात्यर्थमालीने आसक्ते, प्रा० ।

अच्चसण–अत्यशन–न० । अतिशयितमशनम् । अतिभोजने, वाच० । प्रतिपदादीनां पञ्चदशदिवसानां (तिथीनां) लोकोत्तरसंज्ञया द्वादशे दिवसे, पुं० । चं० प्र० १० पाहु० ।

अच्चा–अर्चा–स्त्री० । अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारादिभिरित्यर्चा । देहे, आचा० १ श्रु०१ अ०६ उ० । सूत्र० । स्था० । "दुविहआ पडिमेयरसन्निहितेतर अचित्तसचित्ते" अर्चा द्विविधा । तद्यथा–सचित्ता अचित्ता च । तत्राचित्ता द्विविधा–प्रतिमा इतरा च । इतरा नाम स्त्रीशरीरं निर्जीवम् । एकैकं पुनर्द्विधा–सन्निहिता, असन्निहिता च । व्य० ६ उ० । " एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति " एके पुनरेकयाऽर्चयैकेन शरीरेणैकस्माद् भवात् सिद्धिगतिं गन्तारो भवन्ति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । क्रोधाध्यवसायात्मिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । स्था० । लेश्यायाम्, " इओ विद्धंसमाणस्स , पुणो संबोहिदुल्लहा । दुल्लभाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे" अर्चा लेश्याऽन्तःपरिणतिः, 'अर्चा मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । पूजायां च, " मध्याह्नेऽर्चा सत्पात्र–दानपूर्वन्तु भोजनम् " ध० ३ अधि० ।

अच्चाइण्ण–अत्याकीर्ण–त्रि० । जनसंकुलत्वादतीवाकीर्णे, " अच्चाइण्णा वित्ती णो परस्स णिक्खमणपवेसाए " आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अच्चाउर–अत्यातुर–त्रि० । भृशं ग्लाने, " अच्चाउरं वा वि समिक्खिऊणं, खिप्पं तओ घेत्तु दलित्तु तस्स " बृ० १ उ० ।

अच्चागाढ–अत्यागाढ–न० । अत्यन्तम्लेच्छादिभये, "अच्चागाढे वसिया, णिक्खित्तो जइ व होज्ज जयणाए "बृ० २ उ० ।

अच्चावेढण–अत्यावेष्टन–न० । अतीवाऽऽवेष्टनेन परितापने, नि० चू० १२ उ० ।

अच्चासणया–अत्यासनता–स्त्री० । अत्यन्तं सततमासनमुपवेशनं यस्य सोऽत्यासनस्तद्भावस्तत्ता । सततमुपवेशने, स्था० ९ ठा० ।

अत्यशनता–स्त्री० । अतिमात्रमशनमत्यशनं तद्वाऽत्यशनता । दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । प्रमाणाधिकभोजने, स्था० ९ ठा० ।

अच्चासण्ण–अत्यासन्न–त्रि० । अतिनिकटे, "णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे " भ० १ श० १ उ० । रा० । सू० प्र० ।

अच्चासाइत्तए–अत्याशातयितुम्–अव्य० । गायाया भ्रंशयितुमित्यर्थे, "तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया सक्कं देविंदं सयमेव अच्चासाइत्तए । भ० ३ श० २ उ० ।

अच्चासाइय–अत्याशातित–त्रि० । उपसर्गिते, "से य अच्चासाइए समाणे परिकुविए" स्था० १० ठा० ।

अच्चासाएमाण–अत्याशातयत्–त्रि० । उपसर्गं कुर्वति, स्था० १० ठा० ।

अच्चासायणा–अत्याशातना–स्त्री० । साध्वादीनां जात्याद्युद्घाटनादिहीलारूपायाम्, कर्म० १ कर्म० । आत्यन्तिक्यामाशातनायाम्, स्था० १० ठा० ।

जे भिक्खू भदंत ! अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासाइए अच्चासाएंतं वा साइज्जइ त्ति । नि० चू० १० उ० ।
(अ० रा० २ भा० ४९८ पृष्ठे 'आसायणा' शब्दे वक्ष्यते)

अच्चाहार–अत्याहार–पुं० । प्रभूताऽऽहारे, "अच्चाहारेण सहइ अइणिद्धेण विसया उइज्जंति " । आव० ४ अ० ।

अच्चि–अर्चि–स्त्री० । अर्च–इन् । अर्चिस्–न० । अर्च–इसि । वाच० । किरणे, रा० । ज्ञा० । शरीरस्थरत्नादितेजोज्वालायाम् , " अच्चीए तेएणं लेसाए दसदिसाए उज्जोएमाणे " भ० २ श० ५ उ० । प्रज्ञा० । जी० । उपा० । औ० । शरीरनिर्गततेजोज्वालायाम्, स्था० ८ ठा० । लेश्यायाम्. सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दाह्यप्रतिबद्धे ज्वालाविशेषे, आचा० १ श्रु०१ अ० ४ उ० । ज्ञा० । स्था० । अनलविच्छिन्नायां ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । " एष बादरतेजसो भेदः " प्रज्ञा० १ पद । दश० । दीपशिखायाम्, उत्त० ३ अ० । प्रथमकृष्णराजेरभ्यन्तरपूर्वयोरवकाशान्तरे स्थिते लोकान्तिकविमाने, भ० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालि (ण्)–अर्चिर्मालिन्–त्रि० । अर्चींषि किरणास्तेषां माला, सा अस्यास्तीति अर्चिर्माली । सर्वतः किरणमालापरिवृते, " अच्चिमालिभासरासिवण्णाभे " (सौधर्मकल्पः) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रज्ञा० । आदित्ये, पुं० । सूत्र० १ श्रु०६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरवकाशान्तरे (स्थिते) लोकान्तिकविमानभेदे, भ० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालिप्पभ–अर्चिर्मालिप्रभ–त्रि० । अर्चिर्माली आदित्यस्तद्वत्प्रभान्ति शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्मालिप्रभाणि सूर्यवत् किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अच्चिमालिणी–अर्चिर्मालिनी–स्त्री० । सूर्याचन्द्रमसोस्तृतीयायामग्रमहिष्याम् , भ० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । जं० । जी० । स्था० । (अनयोर्भवद्वयकथाऽत्रैव १७२ पृष्ठे 'अग्गमहिसी ' शब्दे प्रोक्ता) दक्षिणपौरस्त्यरतिकरपर्वतस्य पश्चिमदिशि, शक्रस्य देवानाम्न्यास्तृतीयाया अग्रमहिष्या लक्षयोजनप्रमाणायां राजधान्यां च । स्था० ४ ठा०१ उ० ।

अच्चिय–अर्चित–त्रि० । चन्दनादिना चर्चिते, ज्ञा०१ श्रु०१ अ० । महार्घ्ये, बृ० ३ उ० । प्रमाणीकृते, नि० चू० २ उ० । मान्ये, " जं जस्स अच्चियं तस्स पूयणिज्जं तमस्सिया लिंगं " । ना-

वे कप्रत्यय इति चिन्त्यम्, भावप्रत्यये लिङ्गविशेषणानुपपत्तेः। व्य० १ उ०। "अर्चितं यत् तत् पूर्वं निपतति। यथा-मातापितरौ, वासुदेवार्जुनाविति "। नि० चू० १ उ०।

अच्चिसहस्समालणिज्ज--अर्चिःसहस्रमालनीय--त्रि०। अर्चिषां किरणानां सहस्रैर्मालनीयं परिवारणीयम् । ज्ञा० १ अ०। रा०। मणिरत्नप्रभाज्वालानां सहस्रैः परिवारणीये, किमुक्तं भवति। एवं नाम अत्यद्भुतैर्मणिरत्नप्रभाजालैराकलितमवभाति, यथा-नूनमिदं न स्वाभाविकं किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषप्रभावितमिति। "अच्चिसहस्समालणिज्जं रूवगसहस्सकलियं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं " आ० म० प्र०। रा०। जी०।

अच्चिसहस्समाला-अर्चिःसहस्रमाला--स्त्री०। दीप्तिसहस्राणामावलीषु, ज० १० श० ५ उ०।

अच्चिसहस्समालिणीया-अर्चिःसहस्रमालिनिका--स्त्री०। अर्चिःसहस्रमाला दीप्तिसहस्राणामावल्यः सन्ति यस्यां सा तथा। स्वार्थिककप्रत्यये च अर्चिःसहस्रमालिनिका। दीप्तिसहस्रपरिवृतायाम्, ज० १० श० ५ उ०।

अच्चीकरण--अर्चीकरण--न०। अकर्तव्या अर्चा अनर्चा, अनर्चाया-अर्चाकरणमर्चीकरणम् । अभूततद्भावे च्विः । राजादीनां गुणवर्णनेन, नि चू० ४ उ० ।

जे भिक्खू रायरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।३। जे भिक्खू णगररक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।४। जे भिक्खू णिगमरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।५। जे भिक्खू सव्वारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।६।(नि०चू०) जे भिक्खू गामरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू देसरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू सीमरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू रण्णो रक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू रण्णो रक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरंतं वा साइज्जइ। नि० चू० ५ उ०।

अच्चीकरणं रण्णो, गुणवयणं तं समासओ दुविधं ।
संतमसंतं च तहा, पच्चक्खपरोक्खमेक्केक्कं ॥ १५॥

रण्णो अच्चीकरणं किं गुणवक्खणं सौन्दर्यादि तं दुविधं संतं असंतं च एक्केक्कं पच्चक्खं परोक्खं ।

एत्तो एगतरेणं, अच्चीकरणेण जो तु रायाणं ।
अच्चीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥१६॥

इमं गुणवयणं-

एकत्तो हिमवंतो, अण्णतओ सालवाहणो राया ।
समभारतरोकंता, तेण ण वल्हत्थए पुहई ॥ १७ ॥
राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तसुहिणो वा ।
भिक्खुस्स व संबंधी, सबंधे सुही तवं सोच्चा ॥ १८ ॥
संजमविग्घकरे वा, सरीरबाधाकरे व भिक्खुस्स ।
अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गो ॥ १९॥
गेलण्णरायदुट्ठो, वेरज्जविरुद्धरोहमद्धाणे ।
उवमुज्झावणणिक्खम-णुवएसकज्जमत्थेसु वि य ॥२०॥
एतेहिं कारणेहिं, अच्चीकरणं तु होति कातव्वं ।
रायारक्खियणागर-णेगमसव्वे वि एस गमा ॥ २१ ॥

नि० चू० ५ उ० ।

अच्चुक्कड--अत्युत्कट--त्रि०। अत्यन्त उत्कटः। अत्यन्तोग्रे, वाच०। अत्युन्नते, आ० म० प्र०।

अच्चुग्गकम्म--अत्युग्रकर्मन्--न०। कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव० २२४ द्वा०।

अच्चुग्गकम्मदहण--अत्युग्रकर्मदहन--त्रि०। अत्युग्रं कर्कशवेदनीयं यत्कर्म तस्य दहनोऽपनायकः। कर्कशवेदनीयस्य कर्मणोऽपनायके, " संकेपान्निरपेक्षाणां, यतीनां धर्म ईरितः । अत्युग्रकर्मदहनो, गहनोऽप्रविहारतः " ॥ १ ॥ ध० ४ अधि० ।

अच्चुचिय--अत्युचित--त्रि०। लोकानामतिश्लाघनीये, "गर्भयोगेऽपि मातृणां, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया " द्वा० १४ द्वा०।

अच्चुट्ठिय-अत्युत्थित--त्रि०। अतीवाकार्यकरणं प्रत्युत्थिते, "दासीत्वेनाऽत्यन्तमुत्थिता" इति। दास्या अपि दास्याम्, स्त्री०। "अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा अगारिणं वा समयाणुसिट्ठि" सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

अच्चुण्ह--अत्युष्ण--त्रि०। अतीवोष्ण उष्णधर्मो यत्र सोऽत्युष्णः। अतिशयितोष्णस्वभावे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अच्चुदय--अत्युदक--न०। महामहति वर्षे, "सभए वा ससत्ताणं, अच्चुदए सुक्खतरुण वा णेइ " ओ०। प्रभूतजले, जी०३ प्रति०।

अच्चुय--अच्युत--पुं०। सौधर्मावतंसकादिसकलविमानप्रधानाच्युतावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षिते द्वादशे देवलोके, अनु०। दर्श०। नि० चू०। प्रव०। स०। आरणाच्युतयोरेकादशद्वादशयोः कल्पयोरिन्द्रे च। स्था० २ ठा० ३ उ०।

अच्चुया--अच्युता--स्त्री०। श्रीपद्मप्रभस्य शासनदेव्याम्, सा च मतान्तरेण श्यामा (नाम्नी) देवी श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदबाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकाभययुतवामपाणिद्वया च। श्रीकुन्थोः शासनदेव्यां च, सा च मतान्तरेण बलाभिधाना कनकच्छविर्मयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणपाणिद्वया भुसुण्ढिपद्मान्वितवामपाणिद्वया च। प्रव० २७ द्वा०।

अच्चुव्वाय--अत्युद्वात--त्रि०। अतीवोद्वातः परिश्रान्तः। भृशं श्रान्ते, "अच्चुव्वाया वसुवेत्ति" बृ० ३ उ०। नि० चू०।

अच्चुसिण--अत्युष्ण--त्रि०। अतीव तप्त ओदनादिके, "अच्चुसिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा" आचा० २ श्रु०१ अ०७उ०।

अच्छ--आस्--धा० उपवेशने। अदादि०, आ०, अक०, सेट्। प्राकृते "गमिष्यमासां छः" ८।४।२१५। इति प्राकृतसूत्रेण अन्त्यस्य छः। अच्छइ, आस्ते। प्रा०। " अच्छति अवलोएति य सहुणा"। (अच्छति त्ति) प्रतीक्षते। व्य०१उ०। "अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा" ।आसीत सामान्यतः। सं०। भ०। अधिपूर्वः अधिरोहणे, सक०। गगनमध्यमध्यास्ते, वाच०।

अच्छ--अव्य०। न छयति दृष्टिं, सम्मुखत्वात्। छो-क। न० त०। अभिमुखे, "अच्छ गत्यर्थवदेषु" १।४।६९। इति पाणिनिसूत्रे

अच्छगत्य, अच्छोद्य इत्युदाहृत्य, अभिमुखं गत्वा अभिमुखमुक्त्वेति व्याकृतम् । सि० कौ० त० स०।

अच्छ–त्रि० । न छ्यति दृष्टिम् । छो—क । न० त०। आकाशस्फटिकरत्नवद्गतिस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पद। जी० । आ० म०प्र०। भ० । औ० । स्था० । रा० । जं०। निर्मले, ज्ञा० १ श्रु०१२ अ०। पञ्चा० । भ० । अनाविले, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्बहिर्निर्मलप्रदेशे, जी०३ प्रति०। "अच्छा सण्हा लट्ठा णीरया णिप्पंका" मेरौ, पुं० । सुनिर्मलजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात्तस्य " ता अच्छंसि णं पव्वयंसि" चं० प्र०५ पाहु० सू० प्र० । जी० । आर्यदेशभेदे, स्फटिके च । पुं० प्रव० २७५ द्वा०। न छ्यति भक्षयति नाशितसत्त्वम् । छो—भक्षणे—क । न० त० । वाच० । भल्लूके, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जी० । प्रज्ञा० । ज्ञ० । पथ सनखपदभेदः । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स–त्रि०। अपः सनोति । सन–मा । प्राकृते "ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले ८ । २ । २१ । इति प्सभागस्य च्छः । प्रा० । अपां विशेषगुणीभूते रसे, वाच० ।

अच्छं–देशी–अत्यर्थे, शीघ्रे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छंद–अच्छन्द–त्रि० । नास्ति छन्दो यस्याः । अस्ववशे । " अच्छंदा जे ण भुंजंति ण से चाइत्ति वुच्चई" दश० २ अ० । अभिप्रायशून्ये च । वाच० ।

अच्छंदग–अच्छन्दक–पुं०। मोराकग्रामसन्निवेशस्थे पाखण्डिनि, " मोराए सक्कारं सक्को अच्छिंदए कुविओ " आ० क० । (स मोराके वसन्नज्ञतञ्छो लोकपूजितस्तत्र समागतस्तत्र समागतस्य श्रीवीरस्य पुरतः सिद्धार्थव्यन्तरेणाऽच्छेद्यमिदमिति प्रतिज्ञाय गृहीतं तृणं छिन्दन् शक्रेण वज्रं प्रक्षिप्य छिन्नदशाङ्गुलीकृतो जनैरुपहसित इति ' वीर ' शब्दे वक्ष्यते) आ० चू० । आ० म० द्वि० ।

अच्छण–आसन–न०। अवस्थाने, ग०२ अधि० । ज्ञा०। पर्युपासने, बृ०३ उ०। प्रतिश्रवणे, "अच्छण अवलोगणे वा" व्य०१ उ०।

अक्षण–पुं०। अहिंसायाम्, दश० ८ अ०।

अच्छणघरग–आसनगृहक–न०। अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा तदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकयाऽवतिष्ठन्ते। जी०३प्रति०।जं०।

अच्छणजोय–अक्षणयोग–पुं०। अहिंसाव्यापारे, "तेसिं अच्छणजोयणं णिच्चं होयव्वं " तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनाहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० ८ अ० ।

अच्छणत्थ–अच्छस्थ–त्रि०। अच्छप्रदेशे स्थिते,बृ०३ उ०।

अच्छाति (दि) त–आच्छादित–त्रि०। निरुद्धे, "संणद्धवरुच्छादित व्व " प्रश्न० ४ संव० द्वा०।

अच्छत्तय–अच्छत्रक–त्रि०।न०ब०। छत्ररहिते,वीरमहापद्मयोरछत्रको धर्मो मतः "अदंतवणे अच्छत्तए अणुवाणहए" स्था०९ठा०।

अच्छदव–अच्छद्रव–पुं०। स्वच्छोदके, पं० व० २ द्वा० ।

अच्छधी–अच्छधी–त्रि० । ६ ब० । विमलबुद्धौ, " विष्णुः प्रातः प्रभुं नत्वा, साधूंश्चापृच्छदच्छधीः " आ० क० ।

अच्छभल्ल–अच्छभल्ल–पुं०। ऋक्षे, व्य० १० उ० । व्याघ्रविशेषे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अच्छमाण–आसीन–त्रि०। तिष्ठति, " सुचिरमपि अच्छमाणो " पं०व० ३ द्वा० । ज्ञा० ।

अच्छरगणसंघसंविइण्ण–अप्सरोगणसंघसंविकीर्ण–त्रि०। अप्सरोगणानां संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा व्याप्ता अप्सरोगणसंघसंविकीर्णा । अप्सरोयूथसंपरिवृते, "अच्छरगणसंघसंविकिण्णा दिव्वतुडियमधुरसद्दसंपइण्णा" । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस–अच्छरस–त्रि०। अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः। प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतेष्विवाऽतिनिर्मलेषु, जी०३प्रति० ।

अच्छरसा–अप्सरस्–स्त्री० । ब० व० । अद्भ्यः सरन्ति उद्गच्छन्ति । सृ–असन् । अप्सरसः " ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले" ८ । २ । २१ । इति सूत्रेण प्राकृते 'प्स ' भागस्य ' च्छ ' आदेशः । प्रा० । "आयुरप्सरसोर्वा" ८ । १ । २० । इति सूत्रेण च अन्त्यव्यञ्जनस्य वा सः। प्रा० । देवीमात्रे, रूपेण देवीकल्पायां स्त्रियां च। "णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओ उत्तरकुरुमाणसच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जाओ तिण्णि पलिओवमाइं परमाउं पालयित्ता ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं" प्रश्न०४ आश्र० द्वा०। औ०। (आसां वर्णकम् 'उत्तरकुरु' शब्दे वक्ष्यामः)

अच्छरसातंदुल–अच्छरसतण्डुल–न०। अच्छो रसो येषु तेऽच्छरसाः प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूता इवातिनिर्मला इत्यर्थः। अच्छरसाश्च ते तण्डुलाः अच्छरसतण्डुलाः । पूर्वपदस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । श्वेतेषु दिव्यतण्डुलेषु, रा० । "अच्छेहिं सेएहिं रययामएहिं अच्छरसतंदुलेहिं अट्ठट्ठमंगले आलिहइ" रा० । जी० । आ० म० प्र० ।

अच्छरा–अप्सरा–स्त्री०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य षष्ठ्यामग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ठा० । भ० । ती० । (तस्याः पूर्वाऽपरभवकथा एतस्मिन्नेव भागे१७३ पृष्ठे 'अग्गमहिसी' शब्देऽदर्शि)

अच्छराणिवाय–अप्सरोनिपात–पुं०। चप्पुटिकायां, तत्करणकाले च। यावता कालेन चप्पुटिका क्रियते तावान् कालोऽप्सरोनिपातशब्देनाभिधीयते " अच्छराणिवातेहिं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियत्ताणं हव्वमागच्छेज्जा " जी० ३ प्रति । सूत्र० । ज्ञ० ।

अच्छवि–अच्छवि–पुं० । न० ब०। योगनिरोधेनाविद्यमानशरीरे स्नातकाख्यनिर्ग्रन्थभेदे, अत्र चत्वारोऽनुवादार्थाः–' अव्यथक' इत्येके। छवियोगाच्छविः शरीरं तद्योगनिरोधेन यस्य नास्त्यसौ 'अच्छविक ' इत्यन्ये । क्षपा सखेदो व्यापारस्तस्या अस्तित्वात् क्षपी, तन्निषेधात् 'अक्षपी' इत्यन्ये । घातिकर्मचतुष्टयक्षपणानन्तरं वा तत्क्षपणाभावादक्षपीत्युच्यते । भ० २५ श० ६ उ० ।

अच्छविकर–अक्षपिकर पुं०। न क्षविः स्वपरयोरायासो यः सः, तत्करणशीलो न भवति सोऽक्षपिकरः। ज्ञ० २५ श० ७ उ० । व्ययविशेषस्याऽकारके प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ८ ठा० ।

अच्छविमलसलिलपुण्ण–अच्छविमलसलिलपूर्ण–त्रि० । अच्छेन स्वरूपतः स्फटिकवच्छुद्धेन विमलेनाऽऽगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णः। स्फटिककल्पस्वच्छनिर्मलजलभृते, रा०।जी०।

अच्छा–अच्छा–स्त्री०। वरणदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, आर्यदेशगणनायां वरणा अच्छा । वरुणा नगरी, अच्छा देशः । अन्ये तु वरुणा देशः, अच्छा पुरीत्याहुः । प्रव २७५ द्वा० । सूत्र० ।

अप्सा–त्रि०। अपां जलानि सनति ददाति । सन्–विच् । जलदातरि, वाच०।

अच्छादणा–आच्छादना–स्त्री०। स्थगने,"संतस्स अच्छायणाए मग्गस्स"। व्य० ३ उ०।

अच्छि–अक्षि–न०। अश्नुते विषयान्। अश्-क्सि। "गोऽक्ष्यादौ" ८।२।२१७। इति सूत्रेण संयुक्तस्य क्षभागस्य छः। प्रा०। "द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः" ।८।२।९०। इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः। प्रा०। लोचने, तं०। दशा०। "वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ८।१।३३। इति वा पुंस्त्वम् "अज्ज वि सासइ ते अच्छी नवा वि आइ तणम्ह अच्छीइं" मञ्जल्यादिपाठादक्षिशब्दः स्त्रीलिङ्गेऽपि। प्रा०। "एसा अच्छी" उपा० २ अ०। (अक्ष्णोऽप्राप्यकारित्वम 'इंदिय' शब्दे द्वि० भा० ५५७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अच्छायणा--आच्छादना–स्त्री० । स्थगने , ('अच्छादणा' शब्दसमानार्थः)

अ (आ) च्छिंदण–आच्छेदन–न०। एकवारमीषद् वा छेदने, "एककसि ईषद् वा आच्छिंदणं" नि० चू० ३ उ०। "पायपुंछणमाच्छिंदइ वा" आच्छिनत्ति बलादुद्दालयतीति। स्था०५ ठा० १उ०। "आच्छिंदिहि त्ति-ईषच्छेत्स्यतीति। भ० १५ श० १ उ० ।

अ (आ) च्छिंदित्ता (य)–आच्छिद्य–अव्य० । आ–छिद्-ल्यप्। हस्तादुद्दालनेनापहृत्येत्यर्थे, उपा०७अ०। " अच्छिंदिय जं भिक्खसामिमाईणं" पञ्चा० १३ विव०। आचा०।

अ (आ) च्छिंदमाण–आच्छिन्दत्–त्रि०। ईषत्सकृद् वा छिन्दति ("सत्थजाए णं आच्छिंदमाणे" भ० ८ श० ३ उ० ।

अच्छिक्क--देशी-अस्पृष्टे, "अच्छिक्कोवहिपेहे" व्य० १ उ०।

अच्छिचमढण–अक्षिचमढन--न०। चक्षुषोर्मलने, बृ० २ उ०।

अच्छिज्ज--अच्छेद्य--न०। न० त०। छेत्तुमशक्ये, (स्था०)

तओ अच्छेज्जा पण्णत्ता। तं जहा-समए पएसे परमाणू। एवमभेज्जा अडज्झा अगिज्झा अणड्ढा अमज्झा अपएसा तओ अविभाइमा।

छेत्तुमशक्या बुद्धया छुरिकादिशस्त्रेण वेत्यच्छेद्या, अच्छेद्यत्वे समयादित्वायोगादिति । समयः कालविशेषः , प्रदेशो धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां निरवयवोऽशः परमाणुरस्कन्धः पुद्गल इति। उक्तं च- " सत्थेण सुतिक्खेण वि, छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्कं। तं परमाणुं सिद्धा, वयंति आइं पमाणाणं" ॥१॥ एवमिति। पूर्वसूत्राभिलापसूचनार्थ इति, अभेद्याः सूच्यादिना, अदाह्या अग्निज्वालादिना, अग्राह्या हस्तादिना, न विद्यते अर्द्धं येषामित्यनर्द्धाः,विभागद्वयाभावात्,अमध्या विभागत्रयाभावात् । अत एवाह--अप्रदेशा निरवयवाः, अत एवाविभाज्या विभक्तुमशक्याः। अथवा विभागेन निर्वृत्ता विभागिमास्तन्निषेधादविभागिमाः। स्था० ३ ठा० २ उ०। "सोगे अच्छिज्जभेज्जो " छेद्यः शस्त्रादिना, तन्निषेधादच्छेद्यः। द्रव्यपरमाणौ, भ० २० श० ६ उ० ।

आच्छेद्य–न०। आच्छिद्यते अनिच्छतोऽपि भृतकपुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय परिगृह्यते यत्तदाच्छेद्यम् । पिं०। " अच्छेज्जं चा छिंदिय, जं सामी भिक्खमाईणं " । आच्छेद्यं वाऽऽच्छेद्यास्यः पुनर्दोषः। आच्छिद्यापहृत्य यद् भक्तादिकं स्वामी प्रभुः भृत्यादीनां कर्मकरादीनां सत्कं ददाति तदिति । पञ्चा० १४ विव० । चतुर्दशोद्गमदोषदुष्टे, तद्भेदोपचारात् चतुर्दशे उद्गमदोषे च । ग० १ अधि० ।

तद्भेदाः—

अच्छेज्जं पि य तिविहं, पभू य सामी य तेणए चेव ।
अच्छेज्जं पडिकुट्ठं, समणाण न कप्पए घेत्तुं ॥

आच्छेद्यमपि प्रागुक्तशब्दार्थं त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा-प्रभौ प्रभुविषयं प्रभुरूपकर्त्राश्रितमित्यर्थः । एवं स्वामिनि स्वामिविषयं, स्तेनकविषयं च । एतच्च त्रिविधमप्याच्छेद्यं तीर्थकरगणधरैः प्रतिकुष्टं निराकृतमतः श्रमणानां तत्तद् गृहीतुं न कल्पते।

तत्र प्रथमतः प्रभुविषयं भावयति—

गोवालए य भयए-ऽक्खरए पुत्ते य धूय सुण्हाए ।
अचियत्तसंखडाई, केइ पओसं जहा गोवो ॥

प्रभुकर्तृकमाच्छेद्यं गोपालके गोपालविषयं, तथा भृतकः कर्मकरस्तद्विषयम्। अक्षरको ह्यक्षरको ह्यक्षरकाभिधानो दास इत्यर्थः, तद्विषयम्। पुत्रविषयं, दुहितृविषयं, स्नुषाविषयम्। उपलक्षणमेतद् भार्यादिविषयं च। अत्रैव दोषमाह- (अचियत्तेत्यादि) अचियत्तमप्रीतिः, संखडं कलहः, आदिशब्दादात्मघातादिपरिग्रहः। केचित् पुनः प्रद्वेषमपि साधौ गच्छन्ति। यथा—गोपो गोपालकः।

एतमेव दृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

गोवपयं अच्छेत्तुं, दिन्नं तु जइस्स भद्द दिणे पहुणा ।
पयभा णूणं दट्ठुं, खिसइ भोई रुवे चेडा ॥
पडियरण पओसे णं, भावं नाउं जइस्स आलावो ।
तन्निब्बंधा गहियं, हंदि उ मुक्कोसि मा बीयं ॥

वसन्तपुरं नगरम्। तत्र जिनदासो नाम श्रावकः। तस्य भार्या रुक्मिणी। जिनदासस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः। स चाष्टमेऽष्टमे दिने सर्वासामपि गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, तथैव तस्य प्रथमतो धृतत्वात्। अन्यदा च साधुसंघाटको भिक्षार्थं तत्रागमत्। इतश्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धादानवारकः, ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यो दुग्ध्वा महती पारिदुग्धेनाऽऽपूर्णा। जिनदासश्च जिनवचनभावितान्तःकरणतया साधुसंघाटकं परमपात्रभूतमायातमवलोक्य भक्तितो यथेच्छं भक्तपानादिकं तस्मै दत्तवान्। ततो दुग्धान्तानि भोजनानीति परिभाव्य भक्तितरलितमनस्कतया गोपालस्य दुग्धं बलेनाच्छिद्य कतिपयं ददौ। ततः स गोपालो मनसि साधोरुपरि मनाक् प्रद्वेषं ययौ, परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः। ततस्तत्पयोभाजनं कतिपयन्यूनं स्वगृहे नीतवान्। तच्च तथाभूतं न्यूनमवलोक्य भार्या सरोषं पृष्टवती-किमिति न्यूनमिदं पयोभाजनमिति?। ततो गोपेन यथावस्थिते कथिते साऽपि साधूनाक्रोष्टुं प्रावर्त्तत। चेटरूपाणि च दुग्धं स्तोकमवलोक्य किमस्माकं भविष्यतीति रोदितुं प्रवृत्तानि। तत इत्थं सकलमपि स्वकुटुम्बमाकुलमवेत्य स गोपः संजातसाधुविषयमहाकोपः साधून् व्यापादयितुं चलितवान्। दृष्टश्च भिक्षार्थं परिभ्रमन् क्वापि प्रदेशे साधुः। ततः प्रधावितो लकुटमुत्पाट्य साधोः पृष्ठतः । साधुरपि कथमपि पश्चादवलोकेन तं गोपं तथाभूतं कोपारुणनयनमालोक्य परिभावयामास-नूनमेतस्य दुग्धं बलादाच्छिद्य जिनदासेन मह्यं दत्तं, तेन मारणार्थमेव कुपित एष समागच्छन्नुपलक्ष्यते। ततः साधुर्विशेषतः प्रसन्नवदनो भूत्वा तस्यैव संमुखं प्रत्यागन्तुं प्रवर्तते स्म। बभाण च—यथा भो भोः क्षीरगृहनियुक्तक ! तव प्रभुनिर्बन्धेन मया तदानीं दुग्धमात्रं गृहीतम् , संप्रति तु गृहाण त्वमात्मीयं दुग्धमिति। एवं चोक्ते सत्युपशान्तकोपः साधुं प्रति स्वस्वभावं प्रकटितवान्—यथा भोः साधो !

सुविहित! तव मारणार्थमहमिदानीमागतः, परं संप्रति त्वद्वचनामृतपरिषेकेन उपशशाम मे सर्वोऽपि कोपानलः। ततो गृहाण त्वमेवेदं दुग्धम, मुक्तश्चाकृतप्रापणो मया, परं भूयोऽप्येवमाच्छेद्यं न ग्रहीतव्यमिति निवृत्तो गोपः स्वस्थानं च गतः साधुरिति। सूत्रं सुगमं, नवरं (पयसा ऊणं ति) विभक्तिलोपात् पयोभाजनं न्यूनं दृष्ट्वा (भोई इति) भोग्या भार्या इत्यर्थः (रुवे त्ति) रुदन्ति । हंदीत्यामन्त्रणे। तन्निर्बन्धात् तदीयजिनदासाख्यप्रभुनिर्बन्धाद् गृहीतम् । ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि संप्रति मा द्वितीयं वारमेवं गृह्णीथाः ।

संप्रति गोपालविषय एव 'अचियत्तसंखडाइ' इत्येतद्व्याचिख्यासुराह—

नानिच्छिट्ठं लब्भइ, दासी वि न भुज्जए रिते भत्ता ।
दोन्नेगयर पओसं, जं काही अंतरायं च ॥

प्रभुणा बलादाच्छिद्यमाने दुग्धे कोऽपि गोपो रुष्टः प्रभोः संमुखमेवमपि ब्रुवाणः संभाव्यते । यथा-किमिति मदीयं दुग्धं बलादाद्गृह्णासि न खल्वनिर्विण्णमनुपार्जितमिह किमपि लभ्यते, ततो मया स्वशरीरायासबलेनेदं दुग्धमुपार्जितम, अतः कथमत्र प्रभवसि ?। न हि दास्यपि, आस्तामुत्तमवेश्यादिकमित्यपिशब्दार्थः । भक्तमृते भक्तदानमृते भरणपोषणमृत इत्यर्थः। भुज्यते भोक्तुं लभ्यते । ततो मदीयं भोजनमिदमतो न ते तत्र प्रभुत्वावकाशः । एवं चोक्ते सति कदाचित् द्वयोरपि प्रभुगोपालकयोः परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रद्वेषो वर्तते । प्रद्वेषे प्रवर्धमाने यत् करिष्यति धनहरणमारणादिकं तत्स्वयमेव आच्छेद्यादाने दोषत्वेन विज्ञेयम्। तथा यच्चान्तरायं गोपालकस्य तत्कुटुम्बस्य च, तदपि दोषत्वेन विज्ञेयमिति । तदेवं 'गोवालए' इत्यादि व्याख्यातम् । एतदनुसारेण च भृतकादावपि यथायोगमप्रीत्यादिकं संभावनीयमिति ।

संप्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विभावयिषुराह--

सामी चारभडा वा, संजय दट्ठूण तेसि अट्ठाए ।
कलुणाणं अच्छेज्जं, साहूण न कप्पए घेत्तुं ॥

इह स्वगृहमात्रनायकः प्रभुः; ग्रामादिनायकः स्वामी । चारभटा वा स्वामिभटा वा; तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते । संयतान् दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां दरिद्रकौटुम्बिकादीनां संबन्ध्याच्छिद्य यद्ददाति तत्साधूनां न कल्पते । एतदेव व्यक्तं भावयति—

आहारोवहिमाई, जइ अट्ठाए उ केइ अच्छिज्जे ।
संखमिअसंखडीए, तं गेण्हंते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी भटो वा यतीनामर्थाय केषांचित्संबन्धि आहारोपध्यादिकं संखड्या कलहकरणेन,असंखड्या अकलहभावेन।कोऽपि हि तत्संबन्धिनि बलादाछिद्यमाने कलहं करोति, कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति । तत उक्तं संखड्या असंखड्या वेति ।बलादाच्छिद्य यतिभ्यो यद् ददाति तद्यतीनां न कल्पते । यतस्तद्गृह्णतामिमे दोषाः।

तानेवाह—

अचियत्तमंतरायं, तेनाहडं एगणेगवोच्छेओ ।
निच्छरणाई दोसा, तस्स अलंभे य जं पावे ॥

येषां सत्कमाच्छिद्य बलात् स्वामिना दीयते तेषामचियत्तमप्रीतिरूपं जायते । तथा तेषाम् (अंतरायं) दीयमानवस्तुपरिभोगहानिः कृता भवति । तथा इत्थं साधूनामाददानानां स्तेनाहृतं भवति, दीयमानवस्तुनायकेनाननुज्ञातत्वात् । तथा येषां संबन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते ते कदाचित् प्रद्विष्टाः सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधोर्भक्तपानव्यवच्छेदं कुर्वन्ति, यथा-अनेन संप्रति बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं ततः कालान्तरेऽप्यस्मै न किमपि दातव्यमस्माभिरिति । अथवा सामान्यतः प्रद्वेषमुपयान्ति, यथा-अनेन संयतेन बलादस्माकं भक्तादि गृह्यते तस्मात् कालान्तरे न कस्मायपि संयताय दातव्यमित्यनेकसाधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः । तथा ते रुष्टाः सन्तो यः पूर्वमुपाश्रयो दत्तः तस्मान्निष्काशयन्ति । आदिशब्दात् खरपरुषाणि भाषन्ते इति परिगृह्यते । तथा तस्योपाश्रयस्याऽलाभे यत्किमपि कष्टं प्राप्नुवन्ति तदप्याच्छेद्यादाननिमित्तमिति दोषः।

संप्रति स्तेनाच्छेद्यं भावयति—

तेणा व संजयट्ठा, कलुणाणं अप्पणो व अट्ठाए ।
ते य पओसं जे वा, न कप्पई कप्प गुन्नायं ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति भद्रका भवन्ति । संयता अपि क्वापि दरिद्रसार्थेन सह व्रजन्ति । ततस्तान् भिक्षावेलायां भिक्षामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा संयतार्थाय संयतानामर्थाय, यद्वा-स्वस्यात्मनोऽर्थाय तेषां करुणानां कृपणस्थानानां दरिद्रसार्थमानुषाणां सकाशादाच्छिद्य यद्ददति स्तेनास्तत्स्तेनाच्छेद्यं द्रष्टव्यम। तच्च साधूनां न कल्पते, यतस्तस्मिन् गृह्यमाणे येषां संबन्धि तद् द्रव्यं ते पूर्वोक्तप्रकारेण एकानेकसाधूनां भक्तव्यवच्छेदं कुर्वन्ति । यद्वा-प्रद्वेषं रोषमुपयान्ति । तथा च सति सार्थान्निष्काशनम, कालान्तरेऽपि तेषां पार्श्वे उपाश्रयाप्रतिलम्भ इत्यादयो दोषाः । यदि पुनस्तेऽपि सार्थिका वक्ष्यमाणप्रकारेणानुजानते तर्हि कल्पते।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभद्दा तेणा, आयंते वा असंथरे जइणं ।
जइ देंति न घेत्तव्वं, निच्छुभ वोच्छेउ मा होज्जा ॥
घयसत्तुयदिट्ठंतो, समणुन्नाया व घेत्तुणं पच्छा ।
देंति जइ गतेसि वि य, समणुन्नाया य भुंजंति ॥

इह स्तेना अपि केचित संयतभद्रका भवन्ति , साधवश्च कदाचित् दरिद्रसार्थेन सह क्वापि व्रजन्ति । ततस्तेषां साधूनां भिक्षावेलायामसंस्तरे अनिर्वाहे ते स्तेनाः स्वग्रामाभिमुखं प्रत्यागच्छन्तः, वाशब्दात् स्वग्रामादन्यत्र गच्छन्तो वा, यदि तेषां दरिद्रसार्थमानुषाणां बलादाच्छिद्य भक्तादि प्रयच्छन्ति, तर्हि न ग्राह्यं, यद् मा भूत निष्कोशः सार्थानाम् , एकानेकसाधूनां तेभ्यो भक्तादिव्यवच्छेदो वा । यदि पुनस्तेऽपि सार्थिकाः स्तेनैर्बलाद्बाध्यमाना एवं ब्रुवते-यथाऽस्माकमिह घृतशक्तुदृष्टान्त उपातिष्ठत। घृतं हि सक्तुमध्ये प्रक्षिप्तं विशिष्टसंयोगाय जायते, एवमस्माकमप्यवश्यं चौरैर्गृहीतव्यम, ततो यदि चौरा अपि युष्मभ्यं दापयन्ति ततो महानस्माकं समाधिरिति । तत एवं सार्थिकैरनुज्ञाताः साधवो दीयमानं गृह्णन्ति । पश्चाच्चौरेष्वपगतेषु भूयोऽपि तद् द्रव्यं गृहीतं ते समर्पयन्ति । तदानीं चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संप्रति ते गतास्तत एतदात्मीयं द्रव्यं यूयं गृह्णीथ इति । एवं चोक्ते सति यदि तेऽपि समनुजानते। यथा-युष्मभ्यमेतदस्माभिर्दत्तमिति तर्हि भुञ्जते, कल्पनीयत्वादिति । अनेन कप्प गुन्नायमित्यवयवो व्याख्यातः । पिं० । नि०

चू०। आच्छेद्ये प्रायश्चित्तम्-'अच्छिज्जे अणिसिट्ठे य चउलहुं' पं० चू० । सर्वस्मिन्नाच्छेद्ये आचामाम्लम् । जीत० । दशा० । ध० । प्रश्न० । दर्श० । बृ० । पं० व०। व्य०। पंचा० । स्था० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । (आच्छेद्याहारग्रहणनिषेधः 'एसणा' शब्दे, आच्छेद्यपात्रग्रहणनिषेधः 'पत्त' शब्दे, आच्छेद्यवसतौ स्थाननिषेधो 'वसइ' शब्दे द्रष्टव्यः)

अच्छिज्जंती-आच्छिद्यमाना-स्त्री० । तुम्बवीणादिवादनप्रकारेण वाद्यमानायाम्, "तुन्नकाणं तुंबवीणाणं वाइज्जंताणं" आव०१अ०।

अच्छिणिमीलिय-अक्षिनिमीलित-न० । अक्षिनिकोचे, जी० ३ प्रति० ।

अच्छिणिमीलियमेत्त-अक्षिनिमीलितमात्र-न०। अक्षिनिकोचकालमात्रे, "अच्छिणिमीलियमेत्तं, णत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं । णरए णेरइयाणं, अहोणिसं पच्चमाणाणं" ॥ १ ॥ जी० ३ प्रति० ।

अच्छिण्ण-अच्छिन्न-त्रि०। छिद्-कर्मणि क्त। अपृथग्भूते, स्था० १० ठा०। अस्खलिते, अनवरते च । पं० व० १ द्वा० । (छिन्नमच्छिन्नं चेत्यौद्देशिकस्य भेदद्वयं कृत्वाऽच्छिन्नस्य व्याख्यानम् 'उद्देसिअ' शब्दे द्वि० भा० ८११ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

आच्छिन्न-त्रि० । आ-छिद्-क्त । बलेन गृहीते, सम्यक्छिन्ने च । वाच० । प्रतिनियतकालविवक्षारहिते. बृ० १ उ० ।

अच्छिण्णच्छेदणय-अच्छिन्नच्छेदनय-पुं०। सूत्रमच्छिन्नं छेदेनेच्छति। नयभेदे, यथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इति श्लोकोऽर्थतो द्वितीयादिश्लोकमपेक्षमाणः । स० २२ सम० ।

अच्छिण्णच्छेदणइय-अच्छिन्नच्छेदनयिक-न० । अच्छिन्नच्छेदनयवति सूत्रे, "अच्छिण्णच्छेयणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए" स० २२ सम० ।

अच्छित्तिणय-अच्छित्तिनय-पुं० । नित्यवादिनि द्रव्यास्तिके, विशे० । प्रव० ।

अच्छिद्द-अच्छिद्र-त्रि० । न छिद्रं तत्तत्कार्येषु प्रमादादिना स्खलनं रन्ध्रं वा यत्र । प्रमादादिना स्खलनरहिते, "अच्छिद्रं च भवत्वेतत्सर्वेषां च शिवाय नः" रन्ध्ररहिते, वाच० । अविरले, जं० २ वक्ष० " गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य षण्णां दिक्चराणां चतुर्थे दिक्चरे, पुं० । भ० १५ श० १ उ०।

अच्छिद्दजाल-अच्छिद्रजाल-न० । अविवरे, यत्किञ्चिद्वस्तुसमूहे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अच्छिद्दजालपाणि-अच्छिद्रजालपाणि-पुं०। अच्छिद्रजालौ विवक्षिताङ्गुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी हस्तौ यस्य स तथा । अविवराङ्गुलिसमुदयवद्धहस्तके, " अच्छिद्दजालपाणी पीवरकोमलवरांगुली " इति करयोः सुलक्षणम् । औ० । प्रश्न० ।

अच्छिद्दपत्त-अच्छिद्रपत्र-त्रि०। अच्छिद्राणि पत्राणि यस्य सः। नीरन्ध्रपर्णे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। औ०। "अच्छिद्दपत्ता अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणईइपत्ता णिद्धुयजरढपंडुपत्ता" (इति पत्रवर्णनाद् वृक्षवर्णकः) अच्छिद्राणि पत्राणि येषां ते अच्छिद्रपत्राः। किमुक्तं भवति। न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोषतो वा गड्डरिकादिरीतिरुपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्राण्यभविष्यन्, इत्यच्छिद्रपत्राः । अथवा एवं नामान्योन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागप्यपान्तरालरूपं छिद्रं नोपलक्ष्यत इति । तथा चाह-"अविरलपत्ताइं ति" रा० । जी० । जं० ।

अच्छिद्दपसिणवागरण-अच्छिद्रप्रश्नव्याकरण-पुं०। अच्छिद्राण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा । अविरलप्रश्नोत्तरेषु, निर्दुष्टप्रश्नोत्तरेषु च । भ०२श०५उ०।औ०।

अच्छिद्दविमलदसण-अच्छिद्रविमलदशन-पुं०स्त्री०। अच्छिद्रा विमला दशना यासां तास्तथा । अविरलस्वच्छरदनायाम्, जं० २ वक्ष० ।

अच्छिपत्त-अक्षिपत्र-न०। अक्षिपक्ष्मणि, भ० १४ श० ८ उ० ।

अच्छिवेहग-अक्षिवेधक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० । जीवा० ।

अच्छिमल-अक्षिमल-पुं०। दूषिकादौ, तं०। नेत्रमले, "अच्छिमलो दूसिकादि" नि० चू० ३ उ० ।

अच्छिरोडय-अक्षिरोडक-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० । जी० ।

अच्छिल-आक्षिल-पुं०। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त० ३६ अ० ।

अच्छिवडणं-देशी-निमीलने, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छिविअच्छि-देशी-परस्परमाकर्षणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० । ७ त० । लोचनयोर्दुःखानुभवने, उत्त० २ अ० । "षोडशानां रोगानां द्वादशोऽयम्" उपा० ४ अ० । ज्ञा० ।

अच्छिहरुल्लो-देशी-द्वेष्ये, वेषे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छी-आच्छी-स्त्री० । अच्छनामकदेशोद्भवायां स्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।

अच्छुय-अप्सुज-त्रि०। अप्सु जले तद्धेतौ अन्तरिक्षे वा जायते । जन-ड, अलुक् स० । जलजाते, वाच० ।

आस्तृत-त्रि०-आच्छादिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अच्छुरण-आस्तरण-न० । प्रस्तरणे, नि० चू० १५ उ० । दावानलादिभये, यद् भूमावास्तीर्यते प्रलम्बादिवितरणाय वा यत्तदास्तरणम् । एतत्प्रायश्चर्ममयं भवति । साधूनामौपग्रहिकोपधावन्तर्भवति । बृ० ३ उ० ।

अच्छुरिय-आच्छुरित-न० । आ-छुर-क्त । सशब्दहासे, नखाघाते, नखवाद्ये च । आस्तीर्णे, बृ० १ उ० ।

अच्छुल्लूढ-अच्छोल्लूढ-त्रि० । स्वस्थानं त्याजिते, बृ० १ उ० ।

अच्छेज्ज-अच्छेद्य-न० । छेत्तुमशक्ये, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अच्छेद-अच्छेद-न० । "जम्हा तु अव्वोच्छित्ती, सो कुणती णाणचरणमादीणं । तम्हा खलु अच्छेदं, गुणप्पसिद्धं हवति णामं" ॥ १७ ॥ गौणानुज्ञायाम्, पं० भा० ।

अच्छेर (ग)-आश्चर्य-न० । आ विस्मयतश्चर्य्यन्तेऽवगम्यन्ते इत्याश्चर्याणि । आ-चर-यत् ; सकारः कारस्करादित्वात् । स्था० १० ठा०। प्राकृते "ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले" ८ । २ । २१ । इति श्चभागस्य छः, तुक् च । प्रा०। ओत्तरस्याऽकारस्य वा एत्वम् । तत "आश्चर्ये" ८ । २ । ६६ । इति एतः परस्य र्यस्य रः, अच्छेरं । एत्वाभावे "अतो रिआररिज्जरीअं" ॥ ८ । २ । ६७ ॥ इति अकारात् परस्य र्यस्य रिअ अर रिज्ज रीअ इत्येत आदेशाः । अच्छरिअं, अच्छअरं, अच्छरिज्जं, अच्छरीअं। प्रा० । अद्भुतेषु, "रिच्छरिअं, अच्छअरं, अच्छरिज्जं, भारहवासं जिणिंदकालम्मि । बहुअच्छेरयरूत्थमियसमिद्धं,..." उसन्नाओ जाव वीरजिणो" । १ । दससु विवासे सेवं, दस पुण्णं,

दस अच्छेरगाइ जायाइं । उस्सप्पिणिए एवं , तित्थुगालीए भणियाइं " ॥ १ ॥ ति० ॥

दस अच्छेरगा पन्नत्ता । तं जहा-" उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थी तित्थं अभाविया परिसा । कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंदसूराणं ॥ १ ॥ हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा । अस्संजएसु पूया, दस वि अणंतेण कालेणं " ॥ २ ॥

उपसृज्यते क्षिप्यते च्याव्यते प्राणी धर्मादेरित्युपसर्गाः, देवादिकृतोपद्रवाः ते च भगवतो महावीरस्य छद्मस्थकाले केवलिकाले च नरामरतिर्यक्कृता अभूवन्। इदं च किल न कदाचिद्भूतपूर्वम् । तीर्थकरा हि अनुत्तरपुण्यसंभारतया नोपसर्गभाजनम्, अपि तु सकलनरामरतिरश्चां सत्कारादिस्थानमेवेत्यनन्तकालभाव्ययमर्थो लोकेऽद्भुतोऽभूद् इति ।१। तथा गर्भस्य उदरसत्त्वस्य हरणमुदरान्तरसंक्रामणं गर्भहरणम्। एतदपि तीर्थकरापेक्षयाऽभूतपूर्वं सद्भगवतो महावीरस्य जातम्। पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमेषिदेवेन देवानन्दाभिधानब्राह्मण्युदरात्त्रिशलाऽभिधानाया राजपत्न्या उदरसंक्रामणात्।एतदप्यनन्तकालजातत्वादाश्चर्यमेवेति२ तथा स्त्री योषित्, तस्यास्तीर्थकरत्वेनोत्पन्नायास्तीर्थं द्वादशाङ्गं, सङ्घो वा, स्त्रीतीर्थं हि पुरुषसिंहाः पुरुषवरगन्धहस्तिनस्त्रिभुवनेऽप्यव्याहतप्रभुभावाः प्रवर्त्तयन्ति। इह त्ववसर्पिण्यां मिथिलानगरीपतेः कुम्भकमहाराजस्य दुहिता मल्लयभिधाना एकोनविंशतितमतीर्थकरस्थानोत्पन्ना तीर्थं प्रवर्तितवतीत्यनन्तकालजातत्वादस्य भावस्याश्चर्यतेति । ३ । तथा अभव्या अयोग्या चारित्रधर्मस्य, पर्षत् तीर्थङ्करसमवसरणश्रोतृलोकः । श्रूयते हि-भगवतो वर्द्धमानस्य जृम्भिकग्रामनगराद् बहिरुत्पन्नकेवलस्य तदनन्तरमिलितचतुर्विधदेवनिकायविरचितसमवसरणस्य भक्तिकुतूहलाकृष्टसमायातानेकनरामरविशिष्टतिरश्चां स्वस्वभाषानुसारिणाऽतिमनोहारिणा महाध्वनिना कल्पपरिपालनयैव धर्मकथा बभूव, यतो न केनापि तत्र विरतिः प्रतिपन्ना, न चैतत् तीर्थकृतः कस्यापि भूतपूर्वमितीदमाश्चर्यमिति ॥ ४ ॥ तथा कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य 'अपरकङ्का' राजधानी गतिविषया जातेत्यप्यजातपूर्वत्वादाश्चर्यम् । श्रूयते हि-पाण्डवभार्या द्रौपदी धातकीखण्डभरतक्षेत्रापरकङ्काराजधानीनिवासिना पद्मराजेन देवसामर्थ्येनापहृता । द्वारावतीवास्तव्यश्च कृष्णो वासुदेवो नारदादुपलब्धतद्व्यतिकरः समाराधितसुस्थिताभिधानलवणसमुद्राधिपतिदेवः पञ्चभिः पाण्डवैः सह द्वियोजनलक्षप्रमाणं जलधिमतिक्रम्य पद्मराजं रणविमर्देन विजित्य द्रौपदीमानीतवान्। तत्र च कपिलवासुदेवो मुनिसुव्रतजिनात् कृष्णवासुदेवागमनवार्त्तामुपलभ्य सबहुमानं कृष्णदर्शनार्थमागतः। कृष्णश्च तदा समुद्रमुल्लङ्घयति स्म। ततस्तेन पाञ्चजन्यः पूरितः । कृष्णेनापि तथैव ; ततः परस्परं शङ्खशब्दश्रवणमजायतेति ॥ ५ ॥ तथा भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवतरणमाकाशात्समवसरणभूम्यां चन्द्रसूर्ययोः शाश्वतविमानोपेतयोर्बभूव । इदमप्याश्चर्यमेवेति ॥ ६ ॥ तथा हरेः पुरुषविशेषस्य वंशः पुत्रपौत्रादिपरम्परा हरिवंशस्तल्लक्षणं यत् कुलम् । तस्योत्पत्तिकुलं ह्यनेकधा, ततो हरिवंशेन विशेष्यते। एतदप्याश्चर्यमेवेति । श्रूयते हि-भरतक्षेत्रापेक्षया यत् तृतीयं हरिवर्षाख्यं मिथुनकक्षेत्रं, ततः केनापि पूर्वविरोधिना व्यन्तरसुरेण मिथुनकमेकं भरतक्षेत्रे क्षिप्तम् , तच्च पुण्यानुभावाद्राज्यं प्राप्तम्, ततो हरिवर्षजातहरिनाम्नः पुरुषाद्यो वंशः स तथेति ॥ ७ ॥ तथा चमरस्यासुरकुमारराजस्योत्पतनमूर्ध्वगमनं चमरोत्पातः, सोऽप्याकस्मिकत्वादाश्चर्यमिति । श्रूयते हि-चमरचञ्चाराजधानीनिवासी चमरेन्द्रोऽभिनवोत्पन्नः सन्नूर्ध्वमवधिनाऽऽलोकयामास । ततः स्वशीर्षोपरि सौधर्मेऽव्यवस्थितशक्रं ददर्श । ततो मत्सराध्मातः शक्रतिरस्काराहितमतिरिहागत्य भगवन्तं महावीरं छद्मस्थावस्थमेकरात्रिकीं प्रतिमां प्रतिपन्नं सुसुमारनगरोद्यानवर्त्तिनं सबहुमानं प्रणम्य भगवंस्त्वत्पादपङ्कजवनं मे शरणमरिपराजितस्येति विकल्पविरचितघोररूपो लक्षयोजनमानशरीरः परिघरत्नप्रहरणं परितो भ्रामयन् गर्जन्नास्फोटयन् देवांस्त्रासयन्नुत्पपात। सौधर्मावतंसकविमानवेदिकायां पादन्यासं कृत्वा शक्रमाक्रोशयामास । शक्रोऽपि कोपाज्ज्वल्यमानस्फारस्फुलिङ्गशतसमाकुलं कुलिशं तं प्रति मुमोच । स च भयात्प्रतिनिवर्त्य भगवत्पादौ शरणं प्रपेदे । शक्रोऽप्यवधिज्ञानावगततद्व्यतिकरस्तीर्थकराशातनाभयाच्छीघ्रमागत्य वज्रमुपसंजहार । बभाण च--मुक्तोऽस्यहो ! भगवतः प्रसादान्नास्ति मत्तस्ते भयमिति ॥ ८ ॥ तथाष्टाभिरधिकं शतमष्टशतम् , अष्टशतं च ते सिद्धा निर्वृत्ता अष्टशतसिद्धाः । इदमप्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यमिति । तथा असंयता असंयमवन्त आरम्भपरिग्रहप्रसक्ता अब्रह्मचारिणस्तेषु पूजा सत्कारोऽसंयतपूजा। सर्वदा हि किल संयता एव पूजार्हाः, अस्यां त्ववसर्पिण्यां विपरीतं जातमित्याश्चर्यम्।१०। अत एवाह दशाप्येतानि अनन्तेन कालेनानन्तकालात्संवृत्तान्यस्यामवसर्पिण्यामिति । स्था० १० ठा०।

से भयवं! अत्थि केई जेण मिणमो परमगुरूणं पि अलंघणिज्जं परमसरणफुमं पयमं पयडपयडं परमकल्लाणं कसिणकम्मट्ठदुक्खनिट्ठवणं पवयणं अइक्कमेज्ज वा पइक्कमेज्ज वा खंडेज्ज वा विराहिज्ज वा आसाइज्ज वा से मणसा वा वयसा वा कायसा वा जाव णं वयसि गोयमाणं तेणं काले णं पवित्तमाणे णं सयं दस अच्छेरगे भविंसु । तत्थ णं असंखेज्जे अभव्वे असंखेज्जे मिच्छादिट्ठे असंखेज्जे सासायणदव्वलिंगं मासीय सढत्ताए। मंभेणं सक्कारिज्ज ते एत्थए धम्मे गत्ति काऊणं बहवे अदिट्ठकल्लाणे जइ णं पवयणमब्भुवगमंति । तत्थुवगमियं रसलोलुत्ताए विसयलोलुत्ताए दुदंतियदोसेणं अणुदियेहिं जहट्ठियं मग्गं निट्ठवंति । उम्मग्गं च ऊसप्पियंति सव्वे तेणं काले णं इमं परमगुरूणं पि अलंघणिज्जं पवयणं जाव णं आसायंति। से भयवं! कयरेणं तेणं काले णं दस अच्छेरगे भविंसु। गोयमा! णं इमे तेणं काले णं दस अच्छेरगे भवंति । तं जहा-तित्थयराणं उवसग्गा,गब्भसंकमणे,वामा तित्थयरे, तित्थयरस्स णं देसणाए अभव्वसमुदाए णं परिसा, वंदियसविमाणाणं चंदाइच्चाणं तित्थयरसमवसरणे, आगमणं वासुदेवाणं, संखेज्जणीए अम्मयरेणं वा रायकउहेणं परोप्परमेलावगो । इह इंतु भारहे खेत्ते हरिवंसकुलुप्पत्तीए, चमरुप्पाए एगसमए णं अट्ठसयासिद्धिगमणं, असंजयाणं

पूया कारगे त्ति। महा० ४ अ०। कल्प०। प्रव०। पं० व०। धणो णाम सत्थवाहो, तस्स य दुवे अच्छेरगाणि चउसमुद्दसारजूया मुत्तावली, भूया। आ० म० द्वि०।

अच्छेरपेच्छणिज्ज-आश्चर्यप्रेक्षणीय-त्रि०। अहो! किमिदमिति कौतुकेन सौष्ठवाद्दर्शनीये, जी० २ प्रति०।

अच्छेरवंत-आश्चर्यवत्-त्रि०। चमत्कारवति, "वकुमाश्चर्यवान् भवेत्" अष्ट० ४ अष्ट०।

अच्छोमण-आस्फोटन-न०। आ-स्फुट्-ल्युट्-पृ०। अङ्गुलिमोटने, वाच०। वस्त्राणां रजकैरिव शिलायामास्फालने, पिं०।

अच्छोमणं-देशी-मृगयायाम्, दे० ना० १ वर्ग।

अच्छोदग-अच्छोदक-न०। स्वच्छपानीये, रा०।

अच्छोदगपडिहत्थ-अच्छोदकप्रतिहस्त-त्रि०। स्वच्छपानीयपरिपूर्णे, "ताउ णं पाइओ अच्छोदगपडिहत्थाओ" रा०।

अजंगम-अजङ्गम-त्रि०। गमनशक्तिविकले, व्य० १ उ०। जङ्घाबलपरिहीने, "बुड्ढो खलु समधिगतो, अजंगमो सो य जंगमविसेसो" व्य० ८ उ०।

अजज्जर-अजर्जर-त्रि०। जरारहिते, जी० ३ प्रति०।

अजणियकम्मिया-अजनितकन्यिका-स्त्री०। केनचिदजनितस्य प्रव्रज्यायाम्, "उद्दायणसंबोही, पउमावती देवसरणहत्ति; वच्छ अणुबंधी मणको; कम्माए अजणिओ तु केणइ वि पुत्तो जाय त्ति; जो तूसो होति अजणियकम्मी तु णिवतिसुता त्ति दोसि वि निक्खंताइं तु मातुभंमाइं। अन्नदा रायसुओ तु णिसाए ओयप्पणो कुणति ... पभाते चलणाहो कातुं कालपमियरत्तो पोग्गलभेदागमए। अह णिव्वातिएसु बालेसु वीसरिया, ते तस्स य सिरोरुहा तंमि नेव ठाणंमि। तत्थ य पवत्तिणीए य अहागता गामं गंतुमणा। अह तीए रायदुहिया न वंदितुं संपदेसे। अह तम्मि उवचिट्ठुणवरितीए पमोत्तुगं सह समोगाढं तज्जाए सह स घेत्तुं तेसिं रज्जे सुक्कपोग्गलाइएहे तुज्झम्मि सण्णिवेसे। अह सुक्कं जोणिमोगाढंतो गब्भो आसूतो। अह पोट्टं वंदिउं पयत्तं च सुणिया य सुविहिया हि पुच्छा वेती तु न वि जाणे अतिसयणाणी थेरा य पुच्छिता तेहिं सिट्ठा जहावुत्तं होही जुगप्पहाणो रक्खह णं अप्पमादेणं जं मं सड्ढकुलेसु संवड्ढितो गोत्तणामकतकेसीए। सा तु अजणकम्मी पव्वज्जा होति णायव्वा" पं० भा०। पं० चू०।

अजमेरु-अजमेरु-पुं०। प्रियग्रन्थसूरिप्रतिष्ठाधिष्ठानसुभटपालनृपालपालितहर्षपुरनिकटस्थे 'अजमेर' इतीदानीं प्रसिद्धे नगरभेदे, कल्प०।

अजय-अयत-पुं०। न विद्यते यतं यतिर्यस्येति सर्वसावद्यविरतिहीने, कर्म० ४ कर्म। गृहस्थकल्पे साधौ, ग० १ अधि०। अविरतसम्यग्दृष्टौ, कल्प०। कर्म०। द०। अयत्नवति च, ओ०। यतनाऽभावे, नं०। "अजयं चरमाणो य पाणभूयाइं हिंसइ" अयतमनुपदेशं न सूत्राज्ञयेति क्रियाविशेषणमेतत्, चरन् गच्छन्। दश० ४ अ०।

अजयचउ-अयतचतुर्-पुं० अविरतसम्यग्दृष्टिनोपलक्षितेषु अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तलक्षणेषु चतुर्षु तृतीयादिगुणस्थानवर्त्तिषु, "मिच्छ अजयचउआऊ" कर्म० ५ कर्म।

अजयणकारि(ण्)-अयतनकारिन्-पुं०। अयतनया कार्यकारिणि, "अजयणकारिस्सेवं, कज्जे परदव्वलिंगकारिस्स" अजयणं जो करेत्ति सो भण्णत्ति अजयणकारी "णिक्कारणपडिसेवी, अजयणकारी व कारणे साहू"। नि० चू० १ उ०।

अजयणा-अयतना-स्त्री०। यतनाऽभावे ईर्याद्यशोधने, "अजयणाए पकुव्वंति, पाहुणगाणं अवच्छला" ग० ३ अधि०।

अजयदेव-अजयदेव-पुं०। दाउलताबादनामकात् म्लेच्छनगराद्गच्छतां जिनप्रभसूरीणां प्रष्टारके राज इति प्रतिष्ठितनामदातरि त्रयोदशशतनवाशीतितमवर्षकालिके नरेश्वरभेदे, ती० ४१ कल्प०।

अजयभाव-अयतभाव-त्रि०। ६ ब०। असंयताध्यवसाये, "परस्स तं देइ सगगे होइ अहिगरणमजयभावस्स" अयतभावस्य अयतोऽशुद्धाऽऽहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितो भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा। पिं०।

अजयसेवि(ण्)-अयतसेविन्-त्रि०। अयतनया प्रतिसेवके, "बीयं समियंमि य अजयसेविम्मि" व्य० १ उ०।

अजर-अजर-पुं०। नास्ति जरा यस्य। देवे, जराशून्ये, त्रि०। वाच०। "सव्वदुक्खकम्मकवया अजरा अमरा असंगया" सिद्धा अजराः, वयसोऽभावात्। औ०। नास्ति जराऽस्याः, घृतकुमारीवृक्षे, तस्य जराऽभावात्तत्त्वम्। वाच०। वृन्दारकवृक्षे, पुं०। गृहगोधिकायाम्, स्त्री०। न विद्यते जरा यस्य तदजरम्। आ० म० प्र०।

अजरामर-अजरामर-न०। जरा वयोहानिः, मरणं मरः, स्वरात्वादच्प्रत्ययः। न विद्येते जरामरौ यत्र तदजरामरम्। मोक्षे, विशे०। जं०। तं०। ६ ब०। वार्धक्यमृत्युरहिते, त्रि० "अहोयराओ परितप्पमाणे, अट्ठे सुमूढे अजरामरे व्व" अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया" सूत्र० १ श्रु० १० अ०। "णत्थि कोइ जगम्मि अजरामरो"। महा० ७ अ०। मम्मणाख्ये वणिग्भेदे, पुं०। (तत्कथा 'मम्मण' शब्दे द्रष्टव्या)

अजस-अयशस्-न०। विरोधे, न०त०। अश्लाघायाम्, असद्वृत्ततया निन्दायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। ग०। सर्वदिग्गामिन्याः प्रसिद्धेरभावे, भ० ९ श० ३३ उ०। अपराक्रमकृते, न्यूनत्वे च। "इहेव धम्मो अजसो अकित्ती"। दश० १ चूलि०। अवर्णवादभाषायाम्, नि० चू० ११ उ०।

अजसकारग-अयशःकारक-त्रि०। सर्वदिग्गामिन्याः प्रसिद्धेः प्रतिषेधके, भ० ९ श० ३३ उ०।

अजसकित्तिणाम-अयशःकीर्त्तिनामन्-न०। नामकर्मभेदे, यदुदयाद्यशःकीर्ती न भवतस्तदयशःकीर्त्तिनाम। कर्म० १ कर्म०। यदुदयवशान्मध्यस्थजनस्याप्यप्रशस्यो भवति तदयशःकीर्त्तिनाम। कर्म० ६ कर्म०। प्रव०। आ०।

अजसजणग-अयशोजनक-त्रि०। निन्दनीयतादिकारके, ग० २ अधि०।

अजसबहुल-अयशोबहुल-त्रि०। अयशोऽश्लाघाऽसद्वृत्ततया निन्दा तद्बहुलः, यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनादिषु अयशोभाजि, "णियडिबहुले साइबहुले अजसबहुले, उस्सण्णतसपाणघाती" सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अजससयविसप्पमाणहियय-अयशःशतविसर्पद्धृदय-त्रि०। न यशःशतानि अयशःशतानि, तेषु विसर्पद् विस्तारं गच्छद्

हृदयं मानसं यस्य स तथा, प्रभूताश्लाघाविस्तृतमनस्के, " अजससयविसप्पमाणहिययाणं कइयवपयत्तीणं" (स्त्रीणां) तं०।

अजस्स–अजस्र–न०।न०त०। जस्-र। अनवरते, "आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा " पञ्चा० ८ विव०। त्रिकालावस्थायिनि वस्तुमात्रे, त्रि०। वाच०।

अजहएणुक्कोस–अजघन्योत्कृष्ट–त्रि०। न जघन्योत्कृष्टा स्थितिर्यस्य सः, एवं स्थितिशब्दलोपात् तथा। मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने, आ० म० द्वि०।

अजहएणुक्कोसपएसिय–अजघन्योत्कर्षप्रदेशिक–पुं०। जघन्याश्चोत्कर्षाश्च जघन्योत्कर्षाः, न तथा ये तेऽजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः, ते प्रदेशाः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः। मध्यमप्रदेशनिष्पन्नेषु, स्था० १ ठा० १ उ०।

अजहत्थ–अयथार्थ–न०। पलाशादावयथावदर्थके नामभेदे, स्था० १ ठा० १ उ०।

अजाइय–अयाचित–त्रि०। अयाच्ञया लब्धे, अदत्तादाने च। "मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं। सत्था दाणाइ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया" ॥१॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतम्। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

अजाणंत–अजानत्–अजानान–त्रि०। अनवबुध्यमाने, " अजाणंता मुसं वदे " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। कल्पाऽकल्पमजानति अगीतार्थे, पुं०। बृ० ३ उ०।

अजाणय–अज्ञ–त्रि०। न जानाति। ज्ञा-क। न० त०। स्वल्पज्ञाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। " एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। ज्ञानशून्ये, मूर्खे, वेदान्तिमतसिद्धाज्ञानरूपपदार्थवति च। वाच०।

अजाणिय–अज्ञात्वा–अव्य०। अविज्ञायेत्यर्थे, नि० चू० १ उ०।

अजाणिया–अज्ञिका–स्त्री०। न-ज्ञिका, ज्ञिकाविलक्षणायां सम्यक् परिज्ञानरहितायां पर्षदि, " अजाणिया जहा जा होइ पगइमहुरा मियछावयसीहकुक्कुडयभूया रयणमिव असंठविया अजाणिया सा भवे परिसा " या ताम्रचूडकण्ठीरवकुरङ्गपोतवत्प्रकृत्या मुग्धस्वभावा असंस्थापितजात्यरत्नमिवान्तर्गुणविशिष्टगुणसमृद्धा सुखप्रज्ञापनीया पर्षत् सा अज्ञिका। उक्तं च–" पगई मुद्धअयाणिय, मिगछावगसीहकुक्कुडगभूया। रयणमिव असंठविया, सुहसएणप्पागुणसमिद्धा " ॥ १ ॥ नं०।

अजाणु–अज्ञा–स्त्री०। अज्ञस्य हिंसादेर्हेतुस्वरूपफलाविदुषो ज्ञानाद् व्यावृत्तौ, स्था० २ ठा० ४ उ०।

अजाय–अजात–त्रि०। न० त०। अनिष्पन्ने, श्रुतसम्पदनुपेततयाऽलब्धात्मलाभे साधौ, तद्व्यतिरेकात्कल्पभेदे च। पुं०। "गीयत्थ जायकप्पो, अगिओ खलु भवे अजाओ अ" अगीतः खल्वगीतार्थयुक्ते विहारः पुनर्भवेदजातोऽजातकल्पः, अव्यक्तत्वेन जातत्वात्। ध० ३ अधि०। पञ्चा०।

अजायकप्पिय–अजातकल्पित–पुं०। अगीतार्थे, "एगविहारी अजायकप्पिओ जो भवे लवणकप्पे" ग० १ अधि०।

अजिअ–अजित–त्रि०। न० त०। अपराजिते, "अजियं महत्थं" (जिनाज्ञाम्) अजितामशेषपरप्रवचनाज्ञाभिरपराजिताम्, दर्श०। आव०। जिधातोर्द्विकर्मकत्वादनिर्जितशत्रौ, अपराजितदेशादौ चास्य प्रवृत्तिः, एकस्य कर्मणोऽविवक्षायामन्यस्य विवक्षायां, तत्रैव कर्मणि क्तः। भूरिप्रयोगस्तु-अनिर्जितशत्रावेव। तथा च 'गौणे कर्मणि दुह्यादेः' इत्युक्तेः, गौणकर्मण एवाभिधाननियमात् तस्यैव जयकर्मतायां क्तेनाऽभिधातुं योग्यत्वम्, न च नास्त्येषामजितो देश इत्यादौ गौणकर्मणोऽविवक्षयैव जयप्राप्तदेशादौ जिनशब्दप्रयोगात्, ततो नञ्समास इति भेदः। रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च। वाच०। परीषहादिभिरनिर्जितो गर्भस्थे भगवति जननीद्यूते राज्ञा न जित इत्यजितः। ध० २ अधि०। अवसर्पिण्या द्वितीये तीर्थकरे, "अक्खेसु जेण अजिया, जणणी अजितो जिणे तम्हा" अक्षेषु अक्षविषयेण कारणेन भगवतो जननी अजिता गर्भस्थे भगवत्यभूत्तस्मादजितो जिनः। अत्र वृद्धसंप्रदायः– "भगवतो अम्मापियरो जूयं रमंति, पढमं राया जिणिया इतो जाहे भयवं आयाओ ताहे देवी जिणाइओ राया ततो अक्खेसु कुमारप्रभावात् देवी अजिय त्ति, अजिओ से नामं कयं"। आ० म० द्वि०। आ० चू०। ध०। स०। कल्प०। (अन्तरायुरादिकमस्य 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) भाविनि द्वितीये बलदेवे, ती० २१ कल्प०। श्रीसुविधिजिनस्य यक्षे च। स च श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो मातुलिङ्गाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुन्तकलितवामपाणिद्वयश्च। प्रव० २७ द्वा०।

अजिअदेव–अजितदेव–पुं०। मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, विजयसिंहस्य गुरौ, "जातौ तस्य (गुरुचन्द्रस्य) विनयौ, सूरियशोभद्रनेमिचन्द्राह्वौ। ताभ्यां मुनीन्द्रचन्द्रः श्रीमुनिचन्द्रो गुरुः समभूत ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसूरिः प्राच्यस्तस्माद् बभूव शिष्यवरः। वादीति देवसूरिर्द्वितीयशिष्यस्तदीयोऽभूत् ॥ २ ॥ तत्राऽऽदिमाद् बभासे गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपसिंहः"। ग० ३ अधि०। अन्योऽप्येतन्नामा (वि० सं० १२७३ वर्षे) आसीत्। स च भानुप्रभसूरेः शिष्यः, योगविधिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता। जै० इ०।

अजिअप्पभ–अजितप्रभ–पुं०। स्वनामख्याते गणिनि। स च (वि० सं० १२८२ वर्षे) गुर्जरधरित्र्यां विद्यापुर (बीजापुर) प्रान्ते व्यहार्षीत्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामानं ग्रन्थं च व्यरीरचत्। जै० इ०।

अजिअबला–अजितबला–स्त्री०। श्रीअजितस्य शासनदेव्याम्, सा च गौरवर्णा लोहासनाधिरूढा चतुर्भुजा वरदपाशकाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया बीजपूरकाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च। प्रव० २७ द्वा०।

अजिअसीह–अजितसिंह–पुं०। स्वनामख्यातेऽञ्चलगच्छीये सूरौ, स च (वि० सं० १२८३ वर्षे) जिनदेवेन पित्रा जिनदेव्यां नाम मातरि जन्म लब्ध्वा सिंहप्रभसूरिपादमूले प्रवव्राज, देवेन्द्रसिंहनामानं च शिष्यं प्राव्राजयत्। जै० इ०।

अजिअसेण–अजितसेन–पुं०। जम्बूद्वीपे भारतवर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुलकरे, स्था० १० ठा०। कौशाम्ब्या अधिपतौ धारणीवल्लभे नृपतिभेदे, " कौशाम्बीत्यस्ति पूस्तत्राजितसेनो महीपतिः। धारणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवसुर्गुरुः" ॥१॥ आ० क०। आव०। आ० चू०। (तत्कथा 'अणाय' शब्दे वक्ष्यते) श्रावस्तीनगरीं समवसृते यशोभद्रायाः कीर्तिमत्या महत्तरिकायाः प्रव्राजके आचार्यभेदे, ('अलोद' शब्दे कथा द्रष्टव्या) आ० चू०। आव०। दर्श०। अजितसेनो नाम अभयदेवसूरिशिष्यः राजगच्छीयवादमहार्णवनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्ता, यत्समये (वि० सं० १२१३ वर्षे) अञ्चलगच्छः समजनि। जै० इ०। आ० क०। भद्दिलपुरनगरे नागस्य गृहपतेः सुलसानाम्न्यां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, स चाऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्धः। अन्त० ४ वर्ग।

अजिआ-अजिता-स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दनजिनस्य प्रवर्तिन्याम्, " अभिणंदणस्स अजिआ, कासवी सुमतीजिणिंदस्स " ति०।

अजिइंदिय-अजितेन्द्रिय-त्रि० । न जितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि येन स तथा । इन्द्रियावशे, " अजिइंदियसोवहिया, वहगा जइ ते णाम पुज्जंति " दश० नि० १ अ० । असर्वज्ञत्वे, स्था० ५ ठा० ।

अजिण-अजिन-न०। अजति क्षिपति रज आदि आवरणेन । अज-इनच्, न व्यादेशः । वाच० । मृगादिचर्मणि, उत्त० ५ अ० । आचा० । सूत्र० । चर्मधारित्वे, " चीराजिणं नगिणिणं, जडीसंघाडिमुंडिणं" उत्त०५ अ०। न जिनोऽजिनः । न० त०। अवीतरागे, भ० १५ श० १ उ० । असर्वज्ञे , पुं० । "अजिणा जिणसंकासा जिणाइ वाऽवितहं वागरेमाणा " । औ० । कल्प० । स्था० ।

अजिण्ण-अजीर्ण-न०। अजरणे परिपाकमनागते, त्रि० । अजीर्णेऽभोजनम् । एतदपि गृहिभिर्धर्मोऽयमस्माकमिति बुद्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णेऽजरणे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णे परिपाकमनागते पूर्वभोजनेऽर्धजीर्णे इत्यर्थः । अभोजनं भोजनत्यागः । अजीर्णभोजने हि सर्वरोगमूलस्य वृद्धिरेव कृता भवति । यदाह-" अजीर्णप्रभवा रोगाः " इति । तत्राजीर्णं चतुर्विधम्-" आमं विदग्धं विष्टब्धं, रसशेषं तथा परम् । आमे तु द्रवगन्धित्वं, विदग्धे धूमगन्धिता ॥१॥ विष्टब्धे गात्रभङ्गोऽत्र, रसशेषे तु जाड्यता" द्रवगन्धित्वमिति । द्रवस्य गुथस्य कुथिततक्रादेरिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा, तद्भावस्तत्त्वमिति। "मलवातयोर्विगन्धो, विड्भेदो गात्रगौरवमरोच्यम् । अविशुद्धश्चोद्गारः, षडजीर्णव्यक्तिलिङ्गानि"॥१॥"मूर्च्छा प्रलापो वमथुः, प्रसेकः सदनं भ्रमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं वाऽप्यजीर्णतः"॥१॥प्रसेक इत्यधिकनिष्ठीवनप्रवृत्तिः,सदनमित्यङ्गग्लानिरिति । ध० १ अधि० । "जिण्णाजिण्णे अभोयणं बहुसो" जीर्णाजीर्णे च भोजने बहुशः; एष आयुष उपक्रमः । अस्माद् म्रियन्ते प्राणिन इत्यर्थः । आव० १ अ० । जी० । एतत्प्रतीकारो यथा-" भवेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का, स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले । पूर्वं स शुण्ठीमभयामशङ्कः, संप्राश्य भुञ्जीत हितं हि पथ्यम्"॥१॥ इति चक्रः। "अजीर्णे भोजने वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम् " इति वैद्यके । कर्त्तरि क्तः । जीर्णो-वृद्धः, तद्भिन्ने, त्रि० । वाच० ।

अजिम्मकंतणयणा-अजिह्मकान्तनयना-स्त्री०। अजिह्मेऽमन्दे भद्रभावतया निर्विकारत्वपल इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां तास्तथा । सुभगत्वयतत्त्वसहजचपलत्वभाजनलोचनासु, "अजिम्मकंतणयणा पत्तलधवलायतआयतंबलोअणाओ " जं० २ वक्ष० ।

अजिय-अजित-त्रि०। अपराजिते,('अजिअ'शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियदेव-अजितदेव-पुं०। मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये,(निरूपणमस्य 'अजिअदेव ' शब्दे)

अजियप्पज-अजितप्रज-पुं०। स्वनामख्याते गणिनि,(विशेषोऽस्य ' अजिअप्पभ ' शब्दे)

अजियबला-अजितबला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव्याम्, ('अजिअबला' शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह-अजितसिंह-पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्चलगच्छीये सूरौ, ('अजिअसीह ' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः)

अजियसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपस्थचतुर्थे कुलकरे, (स्पष्टोऽयं ' अजिअसेण ' शब्दे)

अजिया-अजिता-स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दनजिनस्य प्रवर्तिन्याम्,(अस्मिन् विषये 'अजिआ' शब्दो द्रष्टव्यः)

अजीर-अजीर्ण-न०।आहारस्याऽजरणे, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः। व्य० १ उ० । जं० । ज्ञा० । वि० । उपा० ।

अजीव-अजीव-पुं०। न जीवा अजीवाः । जीवविपरीतस्वरूपेषु धर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायाद्धासमयेषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च चतुर्द्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः, यदा पुद्गलद्रव्यमजीवरूपं सकलगुणपर्यायविकलतया कल्प्यते, तदा तद्व्यतिरिक्तो द्रव्याजीवः, भावे चाजीवद्रव्यस्य पुद्गलस्वरूपस्य दशविधपरिणामोऽजीव इति प्रक्रमः । ततः शब्दादयः पञ्च शुभाशुभतया भेदेन विवक्षिताः । तथाच संप्रदायः-शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः शुभाश्चाशुभाश्चेति । उत्त० ३५ अ० ।

एतेषां द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च व्याख्या—

रूविणो य अरूवी य, अजीवा दुविहा भवे ।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो वि चउव्विहा ॥ ४ ॥

अजीवा द्विविधा भवेयुः, एके अजीवा रूपिणो रूपवन्तः, च पुनरन्ये अजीवा अरूपिणोऽरूपवन्तः । तत्र रूपं स्पर्शाद्याश्रयभूतं मूर्तं तदस्ति येषु ते रूपिणः, तद्व्यतिरिक्ता अरूपिण इत्यर्थः। तत्रारूपिणोऽजीवा दशधा उक्ताः, रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधत्वमाह—

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरूपी अजीव एवं दशधा भवेदिति द्वितीयगाथायामन्वयः । प्रथमं धर्मास्तिकायः-धरति जीवपुद्गलौ प्रतिगमनोपकारित्वेनेति धर्मस्तस्याऽस्तयः प्रदेशसङ्घातास्तेषां कायः समूहो धर्मास्तिकायः, सर्वदेशानुगतसमानपरिणतिमद् द्रव्यमिति भावः ॥ १ ॥ पुनस्तद्देशस्य धर्मास्तिकायस्य कतमो विभागो देशस्तृतीयचतुर्थादिभागस्तद्देशो धर्मास्तिकायदेशः ॥ २ ॥ तथा पुनस्तत्प्रदेशस्तस्य धर्मास्तिकायविभागस्य अतिसूक्ष्मो निरंशोऽशः प्रदेशो धर्मास्तिकायप्रदेशस्तीर्थकरैराख्यातः कथितः ॥ ३ ॥ एवमधर्मो जीवपुद्गलयोः स्थिरकारी धर्मास्तिकायाद्विरुद्धोऽधर्मास्तिकायः ॥ ४ ॥ पुनस्तस्य अधर्मास्तिकायस्यापि देशस्तद्देश एकः कश्चिद्भागोऽधर्मास्तिकायदेशः ॥ ५ ॥ एवं पुनस्तस्याधर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽशस्तत्प्रदेश आख्यातोऽधर्मास्तिकायप्रदेश इत्यर्थः ॥ ६ ॥ इत्यनेन षड् भेदा अरूपिणोऽजीवद्रव्यस्य । अथ शेषाश्चत्वार उच्यन्ते-आकाश इति सप्तमो भेदः। आकाशमाकाशास्तिकायः, जीवपुद्गलयोरवकाशदायि आकाशम् ॥ ७ ॥ तस्याऽऽकाशस्य देशः कतमो विभाग आकाशास्तिकायदेशः ॥ ८ ॥ तस्य आकाशास्तिकाय-

स्य निरंशो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेशः ॥ ६ ॥ दशमो भेदश्चाद्धासमयः; अद्धा कालो वर्त्तमानलक्षणस्तद्रूपः समयोऽद्धासमयः। अस्यैक एव भेदो निर्विभागत्वात्। देशप्रदेशावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अरूपिणो ज्ञेयाः ॥ ६ ॥

एतान् अरूपिणः क्षेत्रत आह--

धम्माधम्मे य दो एए, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखित्तिए ॥ ७ ॥

धर्माधर्मौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोकमात्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणो लोकास्तावत्परिमाणौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ। चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्ताविति अनेनालोके धर्माधर्मौ न स्तः। आकाशं लोकालोके वर्त्तते इत्यनेनाऽऽकाशास्तिकायः चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्य स्थितः, ततो बहिर्लोकमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः । समयः समयादिकः कालः समयक्षेत्रिको व्याख्यातः । समयोपलक्षितं क्षेत्रं सार्द्धद्वयद्वीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्रं, तत्र भवः समयक्षेत्रिकः । सार्द्धद्वयद्वीपेभ्यो बहिस्तु समय आवलिकादिवसमासादिकालभेदो मनुष्यलोकाभावान्न विवक्षितः ॥ ७ ॥

पुनरेतानेव कालत आह---

धम्माधम्मागासा ति-न्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

धर्माधर्माकाशानि एतानि त्रीण्यपि सर्वाद्धं इति सर्वकालं सर्वदा स्वस्वरूपापरित्यागेन नित्यानि अनादीनि च पुनरपर्यवसितानि अन्तर्हितानि व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह----

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिया।
आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥

समयोऽपि कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्माधर्माकाशानि अनाद्यनन्तानि; तथा कालोऽपि अनाद्यनन्त इत्यर्थः । किंकृत्वा ? सन्ततिं प्राप्य, अपरापरोत्पत्तिरूपप्रवाहात्मिकामाश्रित्य, कोऽर्थः?, यदा हि कालस्योत्पत्तिर्विलोक्यते तदा कालस्याऽऽदिरपि नास्ति, अन्तोऽपि नास्तीत्यर्थः । पुनरादेशं प्राप्य कार्यारम्भमाश्रित्य कालः सादिक आदिसहितः, तथा सपर्यवसितोऽवसानसहितो व्याख्यातः । यदा च यत् किञ्चित् कार्यं यस्मिन् काल आरभ्यते तदा तत्कार्यारम्भवशात् कालस्याप्युपाधिवशादादिः, एवं कार्यारम्भसमाप्तौ कालस्याऽप्यन्तो व्याख्यात इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ रूपिणोऽजीवाश्चतुर्विधाश्चतुर्भेदा उच्यन्ते—

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य ।
परमाणवो य बोधव्वा, रूविणो वि चउव्विहा ॥ १० ॥

रूपिणोऽप्यजीवाश्चतुर्विधाश्चतुःप्रकाराः। के ते भेदास्तानाह- स्कन्धाः-यत्र पुञ्जे परमाणवो विचटनाद् मिलनाच्च न्यूना अधिका अपि भवन्ति, एतादृशाः परमाणुपुञ्जाः स्कन्धाः १, स्कन्धदेशाः २, तथा तत्प्रदेशाः-तेषां स्कन्धानां निर्विभागा अंशाः स्कन्धप्रदेशाः ३; तथैवेति पूर्ववत्; च पुनः परमाणवो बोद्धव्याः, परमाणव एव परस्परमभिलिता इत्यर्थः । ४ । एवं चत्वारो रूपिणश्चतुर्विधा बोद्धव्या इति भावः । अत्र च मुख्यवृत्त्या परमाणुद्रव्यस्य द्वौ भेदौ-परमाणवः स्कन्धाश्च । देशप्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणूनां लक्षणमाह-

एगत्तेण पहुत्तेण, खंधा य परमाणुओ ।
लोएगदेसे लोए य, भइव्वा ते उ खित्तओ ॥
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः पृथक्त्वेन लोकैकदेशे च पुनर्लोके क्षेत्रतो भक्तव्याः। तत्र केचित् स्कन्धाः परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणतिरूपेण लक्ष्यन्ते। अथ च स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणवन्तरैरसङ्घातरूपेण लक्ष्यन्त इत्यध्याहारः । इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम् । अथ च क्षेत्रत आह-ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति तत्स्कन्धपरमाणूनां ग्रहणेऽपि परमाणूनामेवैकप्रदेशावस्थानत्वात् ते परमाणवः स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र भक्तव्या भजनीया दर्शनीया इति यावत् । ते हि विचित्रत्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे तिष्ठन्ति । इतः क्षेत्रप्ररूपणातोऽनन्तरं तेषां स्कन्धानां परमाणूनां चतुर्विधं कालभेदं वक्ष्ये, साद्यनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदेन कथयिष्यामि । इदं च सूत्रं षट्पादं गाथेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्ततिमपरापरोत्पत्तिप्रवाहरूपां प्राप्याऽनादय आदिरहितास्तथाऽपर्यवसिता अन्तरहिताः स्थितिं प्रतीत्य क्षेत्रावस्थानरूपां स्थितिमङ्गीकृत्य सादिकाः, सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वेऽपि कियत्कालमेषां स्थितिरित्याह-

असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणूनां चोत्कृष्टाऽसंख्यकालं स्थितिः जघन्यिका एकसमया स्थितिः । एषाऽजीवानां रूपिणां पुद्गलानां स्थितिर्व्याख्याता ॥ १४ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर्गतमन्तरमाह-

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं, अंतरे यं वियाहियं ॥ १४ ॥

अजीवानां रूपिणां पुद्गलानां स्कन्धदेशप्रदेशपरमाणूनामन्तरं विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्तत्क्षेत्रप्राप्तेर्व्यवधानमन्तरमुत्कृष्टमनन्तकालं भवति । जघन्यकमेकसमयं यावद्भवति । इदमन्तरं तीर्थकरैर्व्याख्यातम्-पुद्गलानां हि विवक्षितक्षेत्रावस्थितितः प्रच्युतानां कदाचित्समयावलिकादिसंख्यातकालतो वा पल्योपमादेर्यावदनन्तकालादपि तत्क्षेत्रत्वावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १४ ॥

अथ भावतः पुद्गलानाह—

वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा ।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥ १५ ॥

तेषां पुद्गलानां परिणामो वर्णतो गन्धतो रसतः स्पर्शतस्तथा संस्थानतश्च पञ्चधा पञ्चप्रकारो ज्ञेयः । यतो हि पूरणगलनधर्माणः पुद्गलास्तेषामेव परिणतिः सम्भवति । परिणमनं स्वस्वरूपावस्थितानां पुद्गलानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानादेरन्यथाभवनं परिणामः । स पुद्गलानां पञ्चप्रकार इत्यर्थः । (उत्त०)

पुद्गलानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानानां भेदान् वक्ष्ये। अथ तेषां क्रमेण प्रत्येकं संख्यां वदति । तद्यथा-एकस्मिन्नेकस्मिन् पुद्गलाश्रितवर्णे गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च, एवं सर्वेऽपि विंशतिर्विंशतिर्भेदा भवन्ति । कृष्णनीललोहितपीतशुक्लानां पञ्चवर्णानां प्रत्येकं २ विंशतिभेदमीलनात् शतं भेदा वर्णपुद्गलस्य। अथ गन्धयोर्द्वयोः षट्चत्वारिंशद्भेदाः भवन्ति। तद्यथा-वर्णाः पञ्च,रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च। एवं सर्वे त्रयोविंशतिसंख्याकाः।ते च सुगन्धदुर्गन्धतस्त्रयोविंशतिस्त्रयोविंशतिप्रमिताः । उभयमीलने षट्चत्वारिंशद्भवन्ति। अथ रसपुद्गलानां शतं भेदा भवन्ति। तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च। एवं विंशतिर्भेदाः । प्रत्येकं २ तिक्तकटुकषायाम्लमधुरादिपञ्चभिर्भेदाः सन्तः शतं भेदा भवन्ति । अथ स्पर्शभेदाः षट्त्रिंशदधिकशतम् । तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, संस्थानानि पञ्च। एवं सप्तदश भेदाः। ते च खरमृदुगुरुलघुरूक्षस्निग्धशीतोष्णपुद्गलैरष्टाभिर्गुणिताः षट्त्रिंशदधिकं शतं भेदा भवन्ति । प्रज्ञापनायां स्पर्शपुद्गलानां चतुरशीत्यधिकशतं भेदा उक्ताः सन्ति। तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः षट्, एवं गृह्यन्ते । यतो हि यत्र खरस्पर्शः पुद्गलो गण्यते, तत्र तदा मृदुः पुद्गलो न गण्यते । यत्र स्निग्धो गण्यते, तदा तत्र रूक्षो न गण्यते। परस्परविरोधिनौ हि एकत्र न तिष्ठतः, तस्मात् स्पर्शाः षट्, संस्थानानि पञ्च, एवं सर्वे मिलितास्त्रयोविंशतिर्भवन्ति। ते त्रयोविंशतिभेदाः प्रत्येकं खरमृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णाद्यष्टाभिः पुद्गलैर्गुणिताः चतुरशीत्यधिकशतं भेदा भवन्ति । वीतरागोक्तं वचः प्रमाणम्, येन यादृशं ज्ञातं तेन तादृशं व्याख्यातम् , तत्त्वं केवली वेद ।

अथोपसंहारेणोत्तरग्रन्थसम्बन्धमाह--

एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया ।

एषाऽजीवविभक्तिः समासेन संक्षेपेण व्याख्याता। उत्त० ३६ अ०। दश०। न०। प्रज्ञा०। जी०। आ०। आ० चू०। नं०। सूत्र०। दर्श०। स्था०। "णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सण्णं णिवेसए" सूत्र०। ('अत्थिवाय' शब्दे व्याख्यास्यामः)

अजीवआणवणिया-अजीवाज्ञापनिका-स्त्री०। आज्ञापनिकाजन्यः कर्मबन्धोऽप्याज्ञापनिका। अजीवविषयाऽऽज्ञापनिका अजीवाज्ञापनिका। 'अजीवमाज्ञापयत' इत्यादेशनरूपाया आज्ञापनिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवानायनी-स्त्री०।अजीवविषया आनायनी, "अजीवमानायनम्। आनायनरूपायाः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवआरंभिया-अजीवारम्भिका-स्त्री० । या चाजीवान् जीवकलेवराणि पिष्टादिमयाजीवाकृतींश्च वस्त्रादीन् वाऽऽरभमाणस्य सा अजीवारम्भिका । आरम्भिकयाः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवकाय-अजीवकाय-पुं०। अजीवाश्च तेऽचेतनाः कायाश्च राशयोऽजीवकायाः । जीवविपरीतेषु धर्माधर्माकाशपुद्गलेषु, भ० ७ श० १० उ०।

अजीवकायअसंजम-अजीवकायासंयम-पुं०। पुस्तकादीनामजीवकायानां ग्रहणपरिभोगानुपरमेण तत्समाश्रितजीवविघाते, स्था० ७ ठा०।

अजीवकायअसमारंभ-अजीवकायासमारम्भ-पुं० । पुस्तकादीनां ग्रहणपरिभोगतस्तदाश्रितजीवानां परितापकरणे, स्था० ७ ठा०।

अजीवकायआरंभ-अजीवकायारम्भ-पुं०। पुस्तकादीनां ग्रहणपरिभोगतस्तदाश्रितजीवानामुपद्रवणे, स्था० ७ ठा०।

अजीवकायसंजम-अजीवकायसंयम-पुं०। पुस्तकादीनामजीवकायानां ग्रहणपरिभोगोपरमे, स्था० ७ ठा०। आव०। प्रश्न०।

अजीवकिरिया-अजीवक्रिया-स्त्री०। अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मेर्यापथ्यं तया परिणमनं साऽजीवक्रिया। "अजीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-इरियावहिया चेव, संपराइया चेव" स्था०२ ठा० १ उ०।

अजीवणिस्सिय-अजीवनिःश्रित-त्रि०। अजीवाश्रिते,स्था०७ठा०।

अजीवनिःसृत-त्रि०। अजीवेभ्यो निर्गते, स्था० ७ ठा०।

अजीवदव्वविभत्ति-अजीवद्रव्यविभक्ति-स्त्री०। अजीवद्रव्याणां विभागरूपे विभक्तिभेदे, अजीवद्रव्यविभक्तिस्तु रूप्यरूपिद्रव्यभेदाद् द्विधा । तत्र रूपिद्रव्यविभक्तिश्चतुर्धा। तद्यथा-स्कन्धाः, स्कन्धदेशाः, स्कन्धप्रदेशाः, परमाणुपुद्गलाश्च। अरूपिद्रव्यविभक्तिर्दशधा । तद्यथा-धर्मास्तिकायो धर्मास्तिकायस्य देशो धर्मास्तिकायस्य प्रदेशः । एवमधर्माकाशयोरपि प्रत्येकं त्रिभेदता द्रष्टव्या । अद्धासमयश्च दशम इति । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अजीवदिट्ठिया-अजीवदृष्टिका (जा)-स्त्री०। अजीवानां चित्रकर्मादीनां दर्शनार्थं गच्छतो गतिक्रियारूपे दृष्टिकायाः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवदेस-अजीवदेश-पुं०। धर्माधर्मास्तिकायादिदेशेषु, भ० १६ श० ८ उ०।

अजीवधम्म-अजीवधर्म-पुं०। अचेतनानां मूर्तिमतां द्रव्याणां वर्णगन्धरसस्पर्शेषु, अमूर्तिमतां द्रव्याणां धर्माधर्माकाशानां गत्यादिकेषु धर्मेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अजीवपज्जव-अजीवपर्याय-पुं०। अजीवानां पर्यायेषु, प्रज्ञा०। पर्याया गुणा विशेषा धर्मा इत्यनर्थान्तरम्। प्रज्ञा० ५ पद।

अजीवपज्जवा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-रूविअजीवपज्जवा य अरूविअजीवपज्जवा य । अरूविअजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता ? । तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा । आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा। अद्धासमए। रूविअजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला। ते णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?। गोयमा ! नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा,

अणंता । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ, नो संखिज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता ?। गोयमा ! अणंता परमाणुपोग्गला, अणंता दुपएसिया खंधा, जाव अनंता दसपएसिया खंधा, अणंता संखिज्जपदेसिया खंधा, अनंता असंखिज्जपदेसिया खंधा, अणंता अणंतपदेसिया खंधा, से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ; ते णं नो संखेज्जा, नो असंखिज्जा, अणंता । प्रज्ञा० ५ पद ।

अजीवपण्णवणा–अजीवप्रज्ञापना–स्त्री०। अजीवानां प्रज्ञापनाऽजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञापनाभेदे, प्रज्ञा० ।

से किंतं अजीवपण्णवणा ?। अजीवपण्णवणा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-रूविअजीवपण्णवणा, अरूविअजीवपण्णवणा य । से किंतं अरूविअजीवपण्णवणा ?। अरूविअजीवपण्णवणा दसविहा पण्णत्ता । तं जहा–धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पएसा । अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पएसा । आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा, अद्धासमए । सेत्तं अरूविअजीवपण्णवणा । से किंतं रूविअजीवपण्णवणा ?। रूविअजीवपण्णवणा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–खंधा, खंधदेसा, खंधप्पएसा, परमाणुपोग्गला । ते समासओ पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–वण्णपरिणया, गंधपरिणया, रसपरिणया, फासपरिणया, संठाणपरिणया । जे वण्णपरिणया ते समासओ पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–कालवण्णपरिणया, नीलवण्णपरिणया, लोहियवण्णपरिणया, हालिद्दवण्णपरिणया, सुक्किल्लवण्णपरिणया ।

अमीषामित्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनम् ?। उच्यते-इह धर्मास्तिकाय इति पदं मङ्गलभूतम्, आदौ धर्मशब्दान्वितत्वात्। पदार्थप्ररूपणा च सम्प्रति प्रथमत उत्क्रान्ता वर्तते, ततो मङ्गलार्थमादौ धर्मास्तिकायस्योपादानम्। धर्मास्तिकायप्रतिपक्षभूतश्चाधर्मास्तिकायस्ततस्तदनन्तरमधर्मास्तिकायस्य। द्वयोरपि चानयोराधारभूतमाकाशमिति तदनन्तरमाकाशास्तिकायस्य। ततः पुनरजीवसाधर्म्याद्द्धासमयस्य। अथवा इह धर्माधर्मास्तिकायौ विभू न भवतस्तद्विभुत्वे तत्सामर्थ्यतो जीवपुद्गलानामस्खलितप्रचारप्रवृत्तौ लोकालोकव्यवस्थाऽनुपपत्तेः। अस्ति च लोकालोकव्यवस्था; तत्र तत्र प्रदेशे सूत्रे साक्षाद्दर्शनात्। ततो यावति क्षेत्रेऽवगाढौ (धर्माधर्मौ) तावत्प्रमाणो लोकः, शेषस्त्वलोक इति सिद्धम्। उक्तं च-

" धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात् ।
नालोकः कश्चित्स्यात्, न च सम्मतमेतदार्याणाम् ॥ १ ॥
तस्माद्धर्माधर्मा–ववगाढौ व्याप्य लोककं सर्वम् ।
एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तदविभुत्वात् " ॥ २ ॥

तत एव लोकालोकव्यवस्थाहेतू धर्माधर्मास्तिकायावित्यनयोरादावुपादानम्। तत्रापि माङ्गलिकत्वात् प्रथमतो धर्मास्तिकायस्य, तत्प्रतिपक्षत्वात्ततोऽधर्मास्तिकायस्य, ततो लोकालोकव्यापित्वादाकाशास्तिकायस्य, तदनन्तरं लोके समयासमयक्षेत्रव्यवस्थाकारित्वादद्धासमयस्य । एवमागमानुसारेणान्यदपि युक्त्यनुपाति वक्तव्यमित्यलं प्रसङ्गेन । प्रकृतोपसंहारमाह-(सेत्तं अरूविअजीवपन्नवणा) सैषा अरूप्यजीवप्रज्ञापना । पुनराह विनेयः-(से किंतमित्यादि) अथ का सा रूप्यजीवप्रज्ञापना ?। सूरिराह-रूप्यजीवप्रज्ञापना चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा–स्कन्धाः–स्कन्दन्ति शुष्यन्ति, धीयन्ते च पुष्यन्ते पुद्गलानां विघटनेन चटनेन चेति स्कन्धाः । पृषोदरादित्वाद् रूपनिष्पत्तिः । अत्र बहुधा वचनं पुद्गलस्कन्धानामानन्त्यख्यापनार्थम् । नचानन्त्यमनुपपन्नम्, आगमेऽभिधानात्। तथा चाजीवशब्दे उक्तम्–"दव्वतो णं पुग्गलत्थिकाए णंता दव्वा" इत्यादि । स्कन्धदेशाः स्कन्धानामेव स्कन्धत्वपरिणाममजहन्तो बुद्धिपरिकल्पिता द्व्यादिप्रदेशात्मका विभागाः । अत्रापि बहुवचनमनन्तप्रादेशिकेषु तथाविधेषु स्कन्धेषु प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम् । स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशा निर्विभागा भागाः, परमाणव इत्यर्थः, स्कन्धप्रदेशाः । अत्रापि बहुवचनं प्रदेशानन्तत्वसम्भावनार्थम्। (परमाणुपुद्गला इति) परमाश्च ते अणवश्च परमाणवो निर्विभागद्रव्यरूपाः, ते च ते पुद्गलाश्च परमाणुपुद्गलाः स्कन्धत्वपरिणामरहिताः केवलाः परमाणव इत्यर्थः। (ते समासओ इत्यादि) ते स्कन्धादयो यथासम्भवं समासतः सङ्क्षेपेण पञ्चविधाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथा–वर्णपरिणता वर्णतः परिणताः, वर्णभाज इत्यर्थः । एवं गन्धपरिणताः, रसपरिणताः, स्पर्शपरिणताः, संस्थानपरिणताः । परिणता इत्यतीतकालनिर्देशो वर्तमानानागतकालोपलक्षणम् । वर्तमानानागतत्वमन्तरेणातीतत्वस्यासम्भवात् । तथाहि—यो वर्तमानत्वमतिक्रान्तः सोऽतीतो भवति । वर्तमानत्वं च सोऽनुभवति योऽनागतत्वमतिक्रान्तवान् । उक्तञ्च–" भवति स नामातीतो, यः प्राप्तो नाम वर्त्तमानत्वम् । एष्यंश्च नाम स भवति , यः प्राप्स्यति वर्तमानत्वम् " ॥ १ ॥ ततो वर्णपरिणता इति वर्णरूपतया परिणताः परिणमन्तीति परिणमिष्यन्तीति वा द्रष्टव्यम् । एवं गन्धरसपरिणता इत्याद्यपि परिभावनीयम् । प्रज्ञा० १ पद ।

अजीवपरिणाम–अजीवपरिणाम–पुं० । ६ त० । पुद्गलानां परिणामे, "दसविहे अजीवपरिणामे पण्णत्ते । तं जहा–बंधणपरिणामे, गइपरिणामे, ठाणपरिणामे, भेदवण्णरसपरिणामे, गंधपरिणामे, फासपरिणामे, अगरुयलहुयसद्दपरिणामे"। (बन्धनपरिणामादीनां व्याख्याऽन्यत्र) स्था० १० ठा० ।

अजीवपाउसिया–अजीवप्राद्वेषिकी–स्त्री० । अजीवे पाषाणादौ स्खलितस्य प्रद्वेषादजीवप्राद्वेषिकी । स्था० २ ठा० १ उ० । अजीवस्योपरि प्रद्वेषाद्याः क्रियाः, प्रद्वेषकरणमेव वा । प्राद्वेषिक्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ० ।

अजीवपाडुच्चिया–अजीवप्रातीतिकी–स्त्री०। अजीवं प्रतीत्य यो रागद्वेषोद्भवस्तज्जो यो बन्धः सा अजीवप्रातीतिकी । प्रातीतिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवपुट्ठिया–अजीवपृष्टिका (जा) (स्पृष्टिका) –स्त्री० । अजीवं रागद्वेषाभ्यां पृच्छतः स्पृशतो वा क्रियात्मके, पृष्टिका- (जा) (स्पृष्टिका) याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवमिस्सिया-अजीवमिश्रिता-स्त्री०। सत्यमृषाभेदे, यदा यदा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शङ्खादिषु एवं वदति–अहो! महानयं मृतोऽजीवराशिरिति तदा सा अजीवमिश्रिता, अस्या अपि सत्यमृषात्वम्, मृतेषु सत्यत्वात् , जीवत्सु मृषात्वात् । प्रज्ञा० ११ पद ।

अजीवरासि–अजीवराशि–पुं० । राशिभेदे, स० ।

अजीवरासी दुविहा पन्नत्ता । तं जहा–रूवी अजीवरासी, अरूवी अजीवरासी य । से किं तं अरूवी अजीवरासी ?। अरूवी अजीवरासी दसविहा पन्नत्ता । धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए । रूवी अजीवरासी अणेगविहा ।

तत्राजीवराशिर्द्विविधः, रूप्यरूपिभेदात् । तत्रारूप्यजीवराशिर्दशधा–धर्मास्तिकायस्तद्देशस्तत्प्रदेशश्चेति । एवमधर्मास्तिकायाकाशास्तिकायावपि वाच्यौ । एवं नव । दशमोऽद्धासमय इति । रूप्यजीवराशिश्चतुर्धा–स्कन्धाः, देशाः, प्रदेशाः, परमाणवश्चेति । ते च वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानभेदतः पञ्चविधाः । संयोगतोऽनेकविधा इति । स० ।

अजीवविजय–अजीवविचय–पुं० न० । धर्माऽधर्माकाशकालपुद्गलानामनन्तपर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तने, सम्म० ४ ख० ।

अजीववेयारणिया–अजीववैदारणिका–अजीववैक्रयणिका–अजीववैचारणिका–अजीववैतारणिका–स्त्री० । अजीवं विदारयति स्फोटयति, अजीवमसमानभागेषु विक्रीणाति, द्वैभाषिको विचारयति, पुरुषादिविप्रतारणबुद्ध्याऽजीवं भणत्येतादृशमेतदिति यस्सा तथा । अजीववैदा– (वैक्रय–) (वैचा–) (वैता–) रणिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवसामंतोवणिवाइया–अजीवसामन्तोपनिपातिकी–स्त्री० । कस्यापि रथो रूपवानस्ति, तं च जनो यथा यथा प्रलोकयति प्रशंसति च, तथा तथा तत्स्वामी हृष्यतीति । रथादौ हृष्यतः क्रियात्मके सामन्तोपनिपातिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवसाहत्थिया–अजीवस्वाहस्तिका–स्त्री० । स्वहस्तगृहीतेनैवाजीवेन खड्गादिनाऽजीवं मारयति सा अजीवस्वाहस्तिकी, स्वहस्तेनाजीवं ताडयतोऽजीवस्वाहस्तिका । स्वाहस्तिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवापच्चक्खाणकिरिया–अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया–स्त्री० । अजीवेषु मद्यादिषु अप्रत्याख्यानात्कर्मबन्धनरूपेऽप्रत्याख्यानक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अजीवाभिगम–अजीवाभिगम–पुं० । ६त० । गुणप्रत्ययावध्यादिप्रत्ययतः पुद्गलास्तिकायाद्यभिगमे, स्था० ३ ठा० २ उ० । "से किं तं अजीवाभिगमे ?। अजीवाभिगमे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा–रूविअजीवाभिगमे य, अरूविअजीवाभिगमे य । से किं तं अरूविअजीवाभिगमे ?। अरूविअजीवाभिगमे दसविहे पन्नत्ते । तं जहा-धम्मत्थिकाए एवं जहा पन्नवणाए जाव । सेत्तं अरूविअजीवाभिगमे० " । जी० १ प्रति० ।

अजीवुब्भव–अजीवोद्भव–त्रि० । अजीवप्रभवे, दश० १ अ० ।

अजु–अयु–त्रि० । युक् मिश्रणे इत्ययं परैरमिश्रणे चेत्यर्थेऽभिधीयते । अतो यौति पृथग्भवति इति यु–विच्, छान्दसत्वाद् गुणाभावः । न युरयुः । अपृथग्भूते, " धियोऽयो नः प्रचोदयात् " जैनगायत्री ।

अजुअलवण्णा–देशी–अम्लिकावृक्षे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुअलवण्णो–देशी–सप्तच्छदनामके वृक्षविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुओ–देशी–सप्तच्छदवृक्षविशेषे, दे० ना० १ वर्ग ।

अजुगलिअ–अयुगलित–त्रि० । असमश्रेणिस्थे, "अजुगलिआ, अतुरंता, विगहरहिआ वयंति पढमं तु " ध० ४ अधि० । पं० व० । ओ० ।

अजुण्णदेव–अजीर्णदेव–पुं० । अलावुद्दीनाऽऽगमनसमयात्प्राग्भाविनि जैननरेन्द्रभेदे, ती० २७ कल्प० ।

अजुत्त–अयुक्त–त्रि० । युज–क्त । न० त० । विषयान्तरासक्ततया कर्तव्येष्वनवहिते, अनुचिते, आपद्गते, असंयुक्ते, " अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः " अयुक्तोऽनवहितः । अयोग्ये, बहिर्मुखे, युक्तिशून्ये, अनियोजिते च । वाच० । बुद्ध्या चिन्त्यमाने अनुपपत्तिक्षमे सूत्रदोषविशेषदुष्टे, न० । यथा–" तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः । प्रावर्तत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी " ॥१॥ इत्यादि । विशे० । आ० म० द्वि० । अनु० । बृ० ।

अजुत्तरूव–अयुक्तरूप–त्रि० । न० ब० । असंगतरूपे, अनुचितवेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अजूरणया–अजीर्णता–(अजरणता)-स्त्री० । शरीरजीर्णत्वाऽविधाने, पा० । ध० । शरीरापचयकारिशोकानुत्पादने, " बहूणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए असोयणयाए अजूरणयाए " । भ० ७ श० ६ उ० ।

अजोग-अयोग-पुं० । न० त० । शैलेशीकरणे, सकलयोगचापल्यरहिते योगे च । " प्रीतिभक्तिवचोऽसङ्गैः, स्थानाद्यपि चतुर्विधम् । तस्मादयोगयोगाप्तेर्मोक्षयोगः क्रमाद् भवेत् " ॥१॥ अष्ट० २७ अष्ट० । " तत्रायोगाद्योगमुख्याद्, भवोपग्राहिकर्मणाम् । क्षयं कृत्वा प्रयात्युच्चैः, परमानन्दमन्दिरम् " ॥१॥ द्वा० २५ द्वा० "अतस्त्वयोगो योगानां, योगः पर उदाहृतः । मोक्षयोजनभावेन, कर्मसंन्यासलक्षणः " ॥१॥ ल० । अव्यापारे, द्वा० २५ द्वा० । असम्भवे च । द्वा० १० द्वा० । अप्राशस्त्ये, न० त० । ज्योतिषोक्ते तिथिवारादीनां दुष्टे योगे, " अयोगः सिद्धियोगश्च, द्वावेतौ भवतो यदि । अयोगो हन्यते तत्र, सिद्धियोगः प्रवर्तते " ॥१॥ राजमार्तण्डः । न० ब० । विधुरे, कूटे, कठिनोद्यमे, सुश्रुतोक्ते वमनापशमनीये रोगभेदे च । यत्राध्मानं हृदयग्रहस्तृष्णा मूर्च्छा दाहश्च भवति तमयोगमित्याचक्षते, तमाशु वमयेदिति । वाच० ।

अजोगया-अयोगता–स्त्री० । योगनिरोधोत्तरं शैलेशीकरणात्प्राग्वर्तमानायामवस्थायाम् , औ० " योगणिरोहं करेइ, करेइत्ता अजोगत्तं पाउणइ, अजोगत्तं पाउणित्ता ईसिं रहस्स० " औ० ।

अजोगरूव-अयोगरूप-त्रि० । ६ ब० । अघटमानके, " अजोगरूवं इह संजयाणं, पावं तु पाणाण य संभकाउं " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अजोगि (ण्)–अयोगिन्–पुं० । न सन्ति योगा यस्य । स्था० २ ठा० १ उ० । बहुव्रीहेर्मत्वर्थीय इति । यथा-सर्वधनी । सर्वधनादेराकृतिगणत्वात् । दर्श० । न योगीति वा योऽसावयोगी । स्था० २ ठा० १ उ० । निरुद्धयोगे , स्था० ४ ठा० ४ उ० । शैलेश्यवस्थायम्, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । आव० । कर्म० । कथमयोगित्वमसावुपगच्छतीति चेत् ?, उच्यते–स भगवान् सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं विहृत्य कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति, यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशादधिकतरं भवति, अन्यस्तु न करोति । (' केवलिसमुग्घाय ' शब्दे चैतद् वक्ष्यामः) भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं

प्रतिपित्सुर्योगनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम् । ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगं, तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं च । सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्त्ति शुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि , अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽसत्त्वात् । तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविशति ।कर्म०२कर्म०।

अजोगिकेवलि (ण्)–अयोगिकेवलिन्–पुं०। अयोगी चाऽसौ केवली च अयोगिकेवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते, स्था० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यानं ध्यातवांश्चायोगिकेवली निःशेषितमलकलङ्कोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामः स्वाभाव्यान्निवातप्रदेशप्रदीप्तशिखावदूर्ध्वं गच्छत्येकसमयेनाऽऽलोकान्तात् । सम्म०४खण्ड०। कर्म० । अयं च शैलेशीकरणं चरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वादपगतमृत्तिकालेपि लिप्ताधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेप – जलतलमर्यादोर्ध्वगामि तथाविधाऽलाबुवदूर्ध्वलोकान्ते गच्छति, नापरतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पं गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत् स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशादूर्ध्वमवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृशन् गच्छति । तदुक्तमावश्यकचूर्णौ-"जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ न वंकं बीयं च समयं न फुसइ त्ति" । दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्रगणिपूज्या अप्याहुः-"उज्जुसेढीपडिवन्नो, समये समयंतरं अफुसमाणो । एगसमयेण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो" ॥ १॥ कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवलिगुणट्ठाण–अयोगिकेवलिगुणस्थान–न०।६त०। चतुर्दशे गुणस्थाने, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली । तस्य गुणस्थानमयोगिकेलिगुणस्थानम , तस्मिंश्च वर्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्ति ध्यानमारोहति । आह च- " स ततो देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्तसर्ववस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्नक्रियमतमस्कं परं ध्यानम् ।१। एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संभवन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया वा वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विकचरमसमयः , तस्मिंश्च द्विचरमसमये देवगतिदेवानुपूर्वीशरीरपञ्चकबन्धनपञ्चकसंघातपञ्चकसंस्थानषट्काङ्गोपाङ्गत्रयसंहननषट्कवर्णादिविंशतिपराघातोपघातागुरुलघूच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिस्थिरास्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वरदुर्भगप्रत्येकानादेयायशःकीर्तिनिर्माणापर्याप्तकनीचैर्गोत्रसातासातान्यतरानुदितवेदनस्वरूपाणि द्विसप्ततिसंख्यानि स्वरूपसत्तामधिकृत्य क्षयमुपगच्छन्ति । चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये संक्रम्यमाणत्वात् । संक्रमश्च सर्वोऽप्युक्तस्वरूपो मूलप्रकृत्यभिन्नासु परप्रकृतिषु द्रष्टव्यः । "मूलप्रकृत्यभिन्नाः, संक्रमयति गुणत उत्तराः प्रकृतीः" इति वचनात् । चरमसमये च सातासातान्यतरवेदनीयमनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीमनुष्यायुःपञ्चेन्द्रियजातित्रससुभगादेययशःकीर्तिपर्याप्तबादरतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः । अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमये व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकतया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन भवस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंभवाच्चायोग्यवस्था द्विचरमसमये एव, मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मतेन द्विचरमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः , चरमसमये द्वादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसंबन्धनिर्मोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते गच्छति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावदेव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । तदुक्तं चाऽऽवश्यकचूर्णौ-"जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ, न वंकं बीयं च समयं न फुसइ त्ति " तत्र च गतः सन् भगवान् शाश्वतं कालमवतिष्ठते । पं० सं० १ द्वा० ।

अजोगिभवत्थ–अयोगिभवस्थ–पुं० । अयोगी चासौ भवस्थश्चायोगिभवस्थः । शैलेश्यवस्थामुपगते, नं० ।

अजोगिभवत्थकेवलणाण–अयोगिभवस्थकेवलज्ञान–न०।६त० । शैलेशीकरणव्यवस्थितस्य केवलज्ञाने, नं० । ('केवलणाण' शब्दे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अजोगिसंतिगा–अयोगिसत्ताका–स्त्री० । अयोगिकेवलिनि सत्ता यासां ता अयोगिसत्ताकाः । चतुर्दशगुणस्थानिनि लब्धसत्ताकासु प्रकृतिषु, पं० सं० १ द्वा० ।

अजोग्ग–अयोग्य–त्रि० । अनुचिते, पञ्चा० १० विव० ।

अजोणिब्भूय–अयोनिभूत–न० । विध्वस्तयोनौ प्ररोहासमर्थे, दश० ।

अजोणिय–अयोनिक–पुं०। न० ब०। सिद्धे, स्था०२ठा०१ उ०।

अजोसिय–अजुष्ट–त्रि०। असेविते, "जे विण्णवणा अजोसिया" सूत्र० १ श्रु०२ अ०१ उ० ।

अज–अर्ज–धा० प्रतियत्ने । भ्वादि०, पर०, सक०, सेट् "अर्जेर्विढवः" ८।४।१०८। इति प्राकृतसूत्रेण विढवादेशाभावे, अज्जइ , अर्जति । आनर्ज । आर्जीत् । प्रा० । अर्जिज्जइ, अर्ज्यते । प्रा०। अर्ज संस्कारे, चुरा०,उभ०, सक०, सेट् । अर्जयति-ते । आर्जिजत्-त । " अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं, श्रमेण यदुपार्जयेत्" स्मृतिः । वाच० ।

अज्ञ–त्रि० । न० त० । " ज्ञो ञः " ८ । २ । ८३ । इति ञलोपे द्वित्वं जस्य । ज्ञानरहिते मूर्खे, प्रा० ।

अद्य–अव्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपातः सप्तम्यर्थे । उत्त०३अ० । सूत्र०। वर्तमानदिने, नि० चू० ९उ०। "अज्जो! अज्जम्ह सफलं जीअं" प्रा० । अद्यतया चाऽधुनातनतया वर्तमानकाल इत्यर्थः । भ० १४ श० ९ उ० । वैभारपर्वतस्याऽधःस्थे ह्रदे, पुं०। भ० २ श० ५ उ० ।

अब्ज–न०। अप्सु जायते । जन-ड । ७ त०। पद्मे, शङ्खे, पुं०न०।

निचुलवृक्षे, तस्य जलप्रायप्रभवत्वात् तथात्वम् । चन्द्रे, धन्वन्तरौ च (पुं०) तयोः समुद्रजातत्वात् तथात्वम् । चन्द्रनामके कर्पूरे, पुं० । जलजातमात्रे, (त्रि०) वाच० । दशार्बुदसंख्यायां, शतकोटिसंख्यायां, तत्संख्येये च (न०,) कल्प० ।

अर्य--त्रि० । ऋ-यत् । "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" ३। १। १०३। इति पाणिनिसूत्रात् स्वामिनि वैश्ये च वाच्ये यतोऽपवादो यत् । स्वामिनि, भ०३ श० २ उ० ।

आर्य-त्रि०। आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः। प्रश्न० १पद । नं०। आव० । पापकर्मबहिर्भूतत्वेनापापे, स्था० ४ ठा०२ उ०। ज०। साध्वी, कल्प०। वृ०। "अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा "दश० ६अ० । चारित्रार्हे, आचा०१ श्रु०५ अ० २ उ०। आर्य्यकर्मकारिणि अजुगुप्सितकारिणि, व्य०१उ०। सुजने, वृ०१उ०। आमन्त्रणे आर्यशब्दप्रयोगः "अज्जो ! सामाइयं जाणामो" हे आर्य्य !, ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात् ।भ०१श० ६उ० । "एस णं अज्जो कण्हे वासुदेवे" अज्जो ति आमन्त्रणवचनम् । भगवान् महावीरः किल साधूनामन्त्रयति-हे आर्य्याः !। स्था० ६ठा०। "अज्जो ति समणे भगवं महावीरे गोयमाइसमणे णिग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी "। स्था० ३ ठा० २ उ० । मातामहे , नि० । पितामहे , ज्ञा० ८ अ० । गोत्रप्रवर्तके ऋषिभेदे, पुं० । यद्गोत्रे जीतधरः, "वंदे संभिल्लं अज्जजीयधरं" शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरन्नामा सूरिरासीत् । नं० ।

अज्जइसिवालिय--आर्यर्षिपालित--पुं० स्त्री०। आर्यशान्तिश्रेणिकस्य माठरसगोत्रस्य चतुर्थे यथापत्ये अन्तेवासिनि,कल्प०। आर्यर्षिपालितान्निःसृतायां शाखायाम, स्त्री०। "थेरेहिंतो अज्जइसिवालियहिंतो इत्थ णं अज्जइसिवालिया साहा णिग्गया"; कल्प०।

अज्जउत्त--आर्यपुत्र--पुं० । ६ त० । अपापकर्मवतोर्मातापित्रोः पुत्रे, स्था० ८ ठा० ।

अज्जओ--देशी-- सुरसगुरेटयोस्तृणभेदयोः, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्जकण्ह--आर्यकृष्ण--पुं०। दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवभूतेर्गुरौ, आ० म० द्वि० । उत्त० । विशे० । आ० चू० । ('बोडिय ' शब्दे किञ्चित् विशेषं वक्ष्यामः)

अज्जकम्म--आर्यकर्मन्--न०। आर्यं हेयधर्मेभ्यो नृशंसतादिभ्यो दूरयातं कर्म । शिष्टजनोचिते अनुष्ठाने, " जइ तंसि भोए चइउं असत्तो अज्जाइं कम्माइं करेह रायं" उत्त० १३ अ० ।

अज्जकालग--आर्यकालक--पुं०। स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे श्यामार्य्यापरनामके आचार्य्ये, नं० । ('सम्मवाय' शब्देऽस्य तत्कारित्वं द्रष्टव्यम्) आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अज्जखउड--आर्यखपुट--पुं० । विद्यासिद्धे आचार्यभेदे, आ० म० द्वि० । आ० चू० । ('विज्जासिद्ध' शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अज्जग--आर्यक--पुं०। पितामहे; व्य० १ उ० । ज्ञा० । आ० म० प्र०। "अज्जए पज्जए वा वि बप्पचुल्ल पिउ त्ति य । माउला भाइणिज्जे त्ति पुत्तो नत्त पइत्तिय " ॥ १ ॥ दश० ७ अ० । " अज्जयपज्जयपिउपज्जयागए य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य " भ० ६ श० ३३ उ० ।

आधक--पुं० भ्रूणे, नि० चू० ११ उ० ।

अज्जगंग--आर्यगङ्ग--पुं०। द्वैक्रियनिह्नवमतप्रवर्तके निह्नवाऽऽचार्यभेदे, "उल्लुकातीरक्षेत्रे महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम । अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्याः पूर्वतटे,तदाऽऽचार्यास्त्वपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गानदीमुत्तरति स्म । स च खल्वाटः । ततस्तस्योपरिष्टादुष्णेन दह्यते स्म खल्ली, अधस्तात्तु नद्याः शीतलजलेन शैत्यमुत्पद्यते स्म । ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयादसौ चिन्तितवान्-अहो ! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्ण्यं च वेद्मि । अतोऽनुभवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति विचिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास । ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञापितोऽसौ यदा स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वान्न किंचित्प्रतिपद्यते स्म , तदा उद्घाट्य बाह्यः कृतः। स विहरन् राजगृहनगरमागतः। तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रस्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति। तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्षत्पुरःसरं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तमवादीत्--अरे दुष्ट शिष्यक ! किमेवं प्रज्ञापयसि,? यतोऽत्रैव प्रदेशे समवसृतेन श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम्,तत्रेह स्थितेन मयाऽपि श्रुतम्। तत्किं ततोऽपि लष्टतरः प्ररूपको भवान् येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयति ?; तत्परित्यजैनां कूटप्ररूपणाम्; अन्यथा नाशयिष्यामीत्यादि। तत्कृतभयवाक्यैर्युक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति । अत्र भाष्यम्—"नइमुल्लगमुत्तरओ, सपरसीय जलमज्जगंगस्स । सूराभितत्तसिरसो, उसिणवेयणोभयउ लभो॥१॥ (अ) यमसमाहो जुगवं, उभयकिरियाय उवओगो त्ति । जं द्दो वि समयमेव य, सीओसिणवेयणाओ मे " ॥२॥ गतार्थैव । विशे० । ('दोकिरिय' शब्दे एतन्मतम)

अज्जघोस-आर्यघोष-पुं०। पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स्था० ८ ठा० । कल्प० ।

अज्जचंदणा--आर्यचन्दना--स्त्री०। भगवतो महावीरस्य प्रथमशिष्यायाम , कल्प० । आ० चू० । आ० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चैवम—

" इतश्च नगरी चम्पा नरेन्द्रो दधिवाहनः ।
तामादातुं शतानीको, नौसैन्येन स्म गच्छति ॥ २४ ॥
निशैकया गतश्चम्पा-मवेष्टयदचिन्तिताम ।
चम्पापतिः पलायिष्ट, तदानीं दधिवाहनः ॥ २५ ॥
यदृग्राहो घोषितस्तत्र, शतानीकमहीभुजा ।
तदनीकभटाश्चम्पां, स्वेच्छया मुमुषुस्ततः ॥ २६ ॥
औष्ट्रिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवल्लभाम् ।
वसुमत्या समं पुत्र्या, नश्यन्तीं धारिणीं तदा ॥ २७ ॥
कृतकृत्यः शतानीको, निजं नगरमागमत् ।
औष्ट्रिकोऽप्याह लोकानां, पत्न्येषा मे भविष्यति ॥ २८ ॥
विक्रेष्ये कन्यकां चैतां, राज्ञी श्रुत्वेति दुःखिता ।
मृता हृदयसंघट्टात्, स्वशीलभ्रंशशङ्कया ॥ २९ ॥
दध्यिवानौष्ट्रिकोऽथा-न्तर्युक्तं नोक्तमिदं मया ।
सुताऽथ रुदती तेन, नीता संबोध्य चाटुभिः ॥ ३० ॥
चतुष्पथेऽथ विक्रेतुं, दत्त्वा मूर्ध्नि तृणं धृताम ।
कन्यामनन्यसामान्यां, दृष्ट्वा श्रेष्ठी धनावहः ॥ ३१ ॥
दध्यौ राज्ञः सुता कस्या-पीश्वरस्याथवा भवेत् ।

तस्माऽऽपदापदमसौ, क्वापि हीनकुलं गता ॥ ३२ ॥
याश्चेयं स्वजनैर्जातु, मिलेदस्मद्गृहे स्थिता ।
पत्यर्थितमथ द्रव्यं, दत्त्वा तामग्रहीद्धनः ॥ ३३ ॥
नीत्वा सा स्वगृहं पृष्टा, कन्ये ! काऽसीति नावदत् ।
सुतेत्यथ प्रपन्ना सा, श्रेष्ठिना मूलयाऽपि च ॥ ३४ ॥
विवेश स्वेच्छया श्रेष्ठि-गेहे स्वे वेश्मनीव सा ।
सुवाग्विनयशीलाद्यै-र्गृहलोको वशीकृतः ॥ ३५ ॥
स लोकस्तां ततोऽवादीत्, तैर्गुणैश्चन्दनेत्यसौ ।
ततो द्वितीयमेवैत-न्नामाऽनूद्धिश्वविश्रुतम् ॥ ३६ ॥
ग्रीष्मेऽन्यदा मध्यमाह्ने, श्रेष्ठी मन्दिरमागमत् ।
कोऽप्यङ्घ्रिक्षालको नासीत्, तदाऽढौकिष्ट चन्दना ॥ ३७ ॥
श्रेष्ठिना वार्यमाणाऽपि, बलादक्षालयत् पदौ ।
क्षालयन्त्यास्तदा तस्याः, त्रुटिता केशवल्लरी ॥ ३८ ॥
पतन्ती पाणियष्ट्यैव, धृत्वा श्रेष्ठी बबन्ध ताम् ।
सार्द्रायां मा पतेद् भूमौ, मूलैक्षत गवाक्षगा ॥ ३९ ॥
अचिन्तयत्ततो मूला, मया कार्यं विनाशितम् ।
यद्येतामुद्वहेत् श्रेष्ठी, तदाऽहं पतिता बहिः ॥ ४० ॥
व्याधिर्यावत्सुकुमारस्तावदेनं छिनद्म्यहम् ।
गते श्रेष्ठिन्यथाऽऽहूय, नापितं तामभुण्डयत् ॥ ४१ ॥
निगडैर्यन्त्रयित्वाऽङ्घ्री, क्षिप्ता क्वापि गृहान्तरे ।
श्रेष्ठिनोऽवादि कथयन्, सर्वः परिजनोऽन्यथा ॥ ४२ ॥
मूला मूलगृहे ऽयासीद्, भोक्तुं श्रेष्ठी गृहाऽऽगतः ।
क्व चन्दनेति पप्रच्छ, मूलाभीतो न कोऽप्यवक् ॥ ४३ ॥
सोऽज्ञासीद्रममाणा सा, भविष्यत्यथवोपरि ।
पृष्टा निश्यपि नाऽऽख्याता, ज्ञातं सुप्ता भविष्यति ॥ ४४ ॥
द्वितीयेऽप्यह्नि नादर्शि, तृतीयेऽप्यनवेक्ष्य ताम् ।
क्वचे श्रेष्ठी न यो जानन्नाख्याता स हनिष्यते ॥ ४५ ॥
ततः स्थविरया दास्यै-कया मज्जीवितेन सा ।
जीवत्वित्याचचक्षेऽस्य, चन्दनाचारकक्रियाम् ॥ ४६ ॥
दृषदा तालकं भङ्क्त्वा, तद्द्वारमुदघाटयत् ।
क्षुत्तृषार्त्तां निरीक्ष्यैता-माश्वास्याथ धनावहः ॥ ४७ ॥
पश्यन्, भोज्यं कृते तस्याः, नापश्यत् किंचनापि सः ।
कुल्माषान् वीक्ष्य दत्त्वाऽऽस्यै, सूर्पकोणे निधाय तान् ॥४८॥
निगडानां भञ्जनाया-ऽगात्कर्मारगृहे स्वयम् ।
तदा सा कुलमस्मार्षीद्, दुःखपूरेण दुःखिता ॥४९॥
क्व मे राजकुलं तादृग्, दुर्दशा केयमीदृशी ? ।
किं मया प्राक् कृतं कर्म, विपाकोऽयं यतोऽभवत् ? ॥५०॥
स्वीकलि द्व्याासनस्यापि, तपसः पारणादिने ।
साधर्मिकाणां वात्सल्यं, कृत्वा पारणकं व्यधाम् ॥५१॥
कस्याप्यदत्त्वा किमपि, षष्ठे पारणके कथम् ? ।
अश्नामीत्यतिथेर्मार्गे, पश्यन्त्याऽऽस्तेऽस्ति सा न तु ॥५२॥
मध्येऽह्निमेकं देहल्याः, बहिष्कृत्वा द्वितीयकम् ।
द्वारशाखाविलग्नाऽऽस्ते, रुदती मन्दमुन्मनाः ॥५३॥
तदाऽगाद्भगवान् वीरो, भिक्षार्थं तमवेक्ष्य सा ।
अहो ! पात्रं मया प्राप्तं, किञ्चित्पुण्यं ममास्त्यपि ॥५४॥
नोचितं वः प्रभो ! देयं, परं कृत्वा कृपां मयि ।
कल्पते चेदादद्ध्वं, ज्ञात्वाऽथावधिना प्रभुः ॥५५॥
पूर्णोऽद्याभिग्रह इति, पाणिपात्रमधारयत् ।
कुल्माषांस्तान् ददौ सर्वान्, धन्यं मत्वाऽतिभक्तितः ॥५६॥
सार्द्धद्वादशकोट्यस्तु, पतन्स्वर्णस्य तद्गृहे ।
चेलोत्क्षेपः पुष्पगन्ध-वृष्ट्यौ दुन्दुभिध्वनिः ॥५७॥
केशपाशस्तथैवाभू-न्निगडानि च पादयोः ।
स्वर्णनूपुरतां भेजु-र्वपुःकान्तिर्नवाऽभवत् ॥५८॥
तल्लक्षणाच्चन्दना चक्रे, सुरैः सर्वाङ्गभूषिता ।
आययौ देवराट् शक्रः, प्रमोदभरनिर्भरः ॥५९॥
दुन्दुभिध्वनिमाकर्ण्य, ज्ञात्वा पारणकं प्रभोः ।
शतानीकः सपत्नीको-ऽप्यागमद्धनवेश्मनि ॥६०॥
धाऽयानीतः संपुलोऽभूद्, दधिवाहनकञ्चुकी ।
सोऽप्यागात् तत्र तां वीक्ष्य, तदङ्घ्र्योः प्रणिपत्य च ॥६१॥
मुक्तकण्ठं रुदन् सोऽथ, कैवेत्यप्रच्छि भूभुजा ? ।
सोऽवक् चम्पेशपुत्रीयं, वसुमत्यभिधानतः ॥६२॥
तादृश्यपि कथं प्रेष्य-भावं प्राप्तेति रोदिमि ? ।
मृगावती तदाकर्ण्या-वोचन्मेऽसौ स्वसुः सुता ॥६३॥
अमात्योऽपि सपत्नीक-स्तत्रैत्यावन्दत प्रभुम् ।
पञ्चाहन्यूनषण्मास्याः, कृत्वा पारणकं प्रभुः ॥६४॥
निर्ययौ कनकं गृह्णन्, भूपः शक्रेण वारितः ।
यस्मै दास्यत्यसौ स्वर्णं-मेतत्तस्य भविष्यति ॥६५॥
सा पृष्टा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठी तदाददे ।
शक्रेणाऽभाणि राजाऽथ, स गोप्या चन्दना त्वया ॥६६॥
आस्वामिज्ञानमेषा यत्, शिष्याऽऽद्या भाविनी प्रभोः ।
चन्दनाऽस्थाद्गृहे राज्ञः, शक्राद्याः स्वालयं ययुः ॥६७॥
लोकनिन्द्याऽभवन्मूला, स्तुता चन्दनया पुनः ।
दुर्दशैवं न चेन्मे स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ? ॥६८॥
धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रभोः ।
बभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥ ६९ ॥ आ० क० । स्था० । अनयैव काली-(अन्त० ८ वर्ग) देवानन्दाप्रभृतयः प्रव्राजिताः । भ० ९ श० ३३ उ० । उपालम्भे, दश० १ अ० ।

अज्जजंबु–आर्यजम्बू–पुं० । सुधर्मस्वामिनः शिष्ये, " अज्जसुहम्मं अंतेवासी अज्जजंबू जाव पज्जुवासति " अन्त० १ वर्ग ।

अज्जजक्खिणी–आर्ययक्षिणी–स्त्री० । अरिष्टनेमेः प्रथमशिष्यायाम्, कल्प० ।

अज्जजयंत–आर्यजयन्त–पुं० । आर्यवज्रसेनस्य तृतीये शिष्ये, कल्प० ।

अज्जजयंती–आर्यजयन्ती–स्त्री० । स्थविरादार्यरथान्निर्गतायां शाखायाम्, " थेरेहिंतो णं अज्जरहेहिंतो णं इत्थ णं अज्जजयंती साहा निग्गया " कल्प० । आर्यजयन्तान्निर्गतायां शाखायां च । " थेराओ अज्जजयंताओ अज्जजयंती साहा निग्गया" । कल्प० ।

अज्जजीयध (ह) र–आर्यजीतधर–पुं० । आरात्सर्वहेयधर्मेभ्योऽर्वाग् यातमार्यम्, जीतमिति सूत्रमुच्यते । जीतं, स्थितिः, कल्पः, मर्यादा, व्यवस्था, इति हि पर्यायाः । मर्यादाकरणं च सूत्रमुच्यते । ' धृञ् धारणे ' ध्रियते, धारयतीति वा धरः । लिहादित्त्य इत्यच्प्रत्ययः । आर्यजीतस्य धर आर्यजीतधरः । सूत्रसम्पन्ने, आर्यश्चासौ जीतधरः । आर्यगोत्रे शाण्डिल्यशिष्ये जीतधरनामके सूरौ, "वंदे कोसियगुत्तं, संडिल्लं अज्जजीयधरं" इत्यत्राऽऽर्यजीतधरशब्दस्य प्रदर्शितार्थद्वयपरतया व्याख्यानात् । नं० ।

अज्जण–अर्जन–न० । अर्ज–ल्युट् । ग्रहणे, विशे० ।

आव० । सम्पादने, स्वामित्वसंपादके व्यापारभेदे च । वाच० ।

अज्जणक्खत्त--आर्यनक्षत्र--पुं०। आर्यनन्दस्य शिष्ये, कल्प० ।

अज्जणंदिल- आर्यनन्दिल--पुं०। आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनागहस्तिगुरौ,

नाणम्मि दंसणम्मि य, तवविणयणिच्चकालमुज्जुत्तं ।
अज्ञानंदिलखमणं, सिरसा वंदे य संतमणं ॥

आर्यमङ्गोरपि शिष्यमार्यनन्दिलक्षपणं प्रसन्नमनसं शमरिक्तद्विषान्तःकरणं शिरसा वन्दे । कथंभूतमित्याह-ज्ञाने श्रुतज्ञानदर्शने, सम्यक्त्वे, चशब्दाच्चारित्रे च, तथा तपसि यथायोगमनशनादिरूपे,विनये ज्ञानविनयादिरूपे, नित्यकालमुद्युक्तमप्रमादिनम । नं० । अननैवार्यनन्दिलेन धरणेन्द्रपत्न्या नागेन्द्राया 'नमिऊण त्ति' शब्दादि स्तोत्रं कृतम् । जै० इ० ।

अज्जणाइल--आर्यनागिल--पुं० । आर्यवज्रसेनस्य प्रथमेऽन्तेवासिनि, कल्प० ।

अज्जणाइला--आर्यनागिला--स्त्री०।स्थविरादार्यनागिलान्निर्गतायां शाखायाम, " थेराओ अज्जणाइलाओ अज्जणाइला साहा णिग्गया " कल्प० ।

अज्जणाइली--आर्यनागिली--स्त्री० । आर्यवज्रसेनान्निर्गतायां शाखायाम, " थेरेहिंतो अज्जवइरसेणिएहिंतो इत्थ णं अज्जणाइली साहा णिग्गया " कल्प० ।

अज्जणित्ता--अर्जयित्वा--अव्य०। उपादायेत्यर्थे, " एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अज्जतावस--आर्यतापस--पुं०। आर्यवज्रसेनस्य चतुर्थेऽन्तेवासिनि, कल्प० ।

अज्जतावसी--आर्यतापसी--स्त्री० । आर्यतापसान्निःसृतायां शाखायाम् , "थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा णिग्गया " कल्प० ।

अज्जत्ता--अद्यता--स्त्री० । वर्त्तमानकालतायाम् , " अज्जकालिना अज्जत्तया वा " कल्प० ।

आर्यता--स्त्री०। पापकर्मबहिर्भूततायाम , " जे इमे अज्जताए समणा णिग्गंथा विहरंति " अष्ट० २ अष्ट०। कल्प० । भ० ।

अज्जथूलभद्द--आर्यस्थूलभद्र--पुं०। आर्यसंभूतविजयस्य शिष्ये महागिरिसुहस्तिनोर्गुरौ, कल्प० । आव० ।

अज्जदिन्न--आर्यदत्त--पुं०। पार्श्वनाथस्य प्रथमगणधरे, स० । "पासस्स अज्जदिएणो पढमो अट्ठेव गणहरा " ति० । इन्द्रदत्तस्य काश्यपगोत्रस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिश्रेणिकः सिंहगिरिश्च । कल्प० ।

अज्जद्दय-आर्यार्द्रक-पुं०। आर्यार्द्रकनाम्नि वीरशिष्ये, ('अद्दय' शब्दे कथा चास्य) सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अज्जधम्म-आर्यधर्म-पुं०। आर्यमङ्गोः शिष्ये भद्रगुप्तगुरौ, " वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्ते य"। नं०। आर्यसिंहस्य शिष्ये आर्यशाण्डिल्यस्य गुरौ, कल्प० ।

अज्जपउम--आर्यपद्म--पुं०।आर्यवज्रस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अज्जपउमा--आर्यपद्मा-स्त्री०। आर्यपद्माद् विनिःसृतायां शाखायाम, " थेरेहिंतो अज्जपउमेहिंतो इत्थ णं अज्जपउमा साहा णिग्गया " कल्प० ।

अज्जपुंगल-आर्यपुङ्गल--पुं०। बौद्धपरिभाषितेषु बाह्यार्थाभावात् केवलबुद्ध्यात्मसु अर्थेषु, अने० ४ अधि० ।

अज्जपूसगिरि-आर्यपुष्पगिरि-पुं०। आर्यरथस्य शिष्ये, कल्प०।

अज्जपोमिल-आर्यपोमिल-पुं०। आर्यवज्रसेनस्य द्वितीये शिष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिला--आर्यपोमिला--स्त्री० । आर्यपोमिलान्निर्गतायां शाखायाम, "थेराओ अज्जपोमिलाओ अज्जपोमिला साहा णिग्गया " कल्प० ।

अज्जप्पभव--आर्यप्रभव--पुं०। आर्यजम्बूनाम्नः काश्यपगोत्रस्य शिष्ये, कल्प० । ('पभव' शब्दे वक्तव्यता चास्य)

अज्जप्पभिइ--अद्यप्रभृति--अव्य० । इतो वर्त्तमानदिनादारभ्येत्यर्थे, " णो खलु भंते ! कप्पइ, अज्जप्पभिइ अण्णउत्थियं वा" उपा० १ अ० । प्रति० ।

अज्जफग्गुमित्त--आर्यफल्गुमित्र--पुं० । आर्यपुष्पगिरेः शिष्ये आर्यधनगिरेर्गुरौ, कल्प० ।

अज्जम (ण्)--अर्यमन--पुं० अर्यं श्रेष्ठं मिमीते । मा-कनिन् । सूर्ये, आदित्यभेदे, पितॄणां राजनि, वाच० । अर्यमनामके देवविशेषे, जं० ७ वक्ष० । अनु० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्यार्यमा देवतेति । ज्यो० ६ पाहु० । अर्यमदेवोपलक्षिते उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रे, ज्यो० १५ पाहु० । चं० प्र० । सू० प्र०। ग० । " दो अज्जमा " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अज्जमंगु--आर्यमङ्गु--पुं० । आर्यसमुद्रस्य शिष्ये,

भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥

भणगमित्यादि । आर्यसमुद्रस्यापि शिष्यमार्यमङ्गुं वन्दे । किंभूतमित्याह-भणकं कालिकादिसूत्रार्थमनवरतं भणति प्रतिपादयतीति भणः, भण एव भणकः । "कश्च" इति प्राकृतलक्षणसूत्रात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तम । तथा कारकं कालिकादिसूत्रोक्तमेवोपधिप्रत्युपेक्षणादिरूपक्रियाकलापं करोति कारयतीति वा कारकः, तम । तथा धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता , तं ध्यातारम् । इह यद्यपि सामान्यतः कारकमितिवचनेन ध्यातारमिति विशेषणं गतार्थम, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधानं ध्यानस्य प्रधानपरलोकाङ्गताख्यापनार्थमिति । यत एव भणकं कारकं ध्यातारं चा, अत एव प्रभावकम् । ज्ञानदर्शनगुणानाम, एकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया राजते इति धीरः, तम । तथा श्रुतसागरपारगम् । नं०। "तेन प्रमादेनातिलोभतो यक्षत्वं नावाप्तम " ध० र० ।

इह अज्जमंगुसूरी, ससमयपरसमयकणयकसवट्टो ।
बहुभत्तिजुत्तसुस्सु-ससिस्ससुत्तत्थदाणपरो ॥ १ ॥
सद्धम्मदेसणाए, पमिबोहियभवियलोयसंदोहो ।
कइया वि विहारेणं, पत्तो महुराइ नयरीए ॥ २॥
सो गाढपमायपिसाय-गहियहियये विमुक्कतवचरणो ।
गारवतिगपडिबद्धो, सड्ढेसु ममत्तसंजुत्तो ॥ ३ ॥
अणवरयभत्तजणदि-ज्जमाणरुइरन्नवत्थलोभेण ।
सुत्थो तहिं चिय चिरं, दूरुज्झियउज्जुयविहारो ॥ ४ ॥

इहसिढिलयसामन्नो, निस्सामन्नं पमायमचइत्ता ।
कालेण मरिय जाओ, जक्खो तत्थेव निद्धमणे ॥ ५ ॥
मुणिउं नियनाणेणं, पुव्वभवं सो विचिंतए एवं ।
हा हा पावेण मए, पमायमयमत्तचित्तेण ॥ ६ ॥
पडिपुन्नपुन्नलब्भं, दोगच्चहरं महानिहाणं व ।
लद्धं पि जिणमयमिणं, कहं नु विहलत्तमुवणीयं ? ॥ ७ ॥
माणुस्सखित्तजाई-पमुहं लद्धं पि धम्मसामग्गिं ।
हा हा पमायवसओ, इत्तो कत्तो लहिस्सामि ? ॥ ८ ॥
हा जीव ! पाव तइया, इड्ढीरससायगारवावसत्तं ।
सुत्तत्थजाणगेण वि, इयाणिं तु लक्खियं तइया ॥ ९ ॥
चउदसपुव्वधरा वि हु, पमायओ जंति णंतकायेसु ।
एयं पि ह हा हा पाव ! जाणंतए तया सरियं ॥ १० ॥
धिद्धी मइसुहमरं, धिद्धी गारवपमायपडिबद्धं ।
धिद्धी परोवएस-प्पहाणपंडिच्चमच्चत्थं ॥ ११ ॥
एवं पमायदुब्भिल-सियं निर्यं आयपरमनिव्वेओ ।
निंदंतो दिवसाइं, गमेइ सो गुत्तिखित्तु व्व ॥ १२ ॥
अह तेण पएसेणं, वियारभूमीइ गच्छमाणा ते ।
दट्ठूण नियविणेए, तेसिं पडिबोहणनिमित्तं ॥ १३ ॥
जक्खपडिमामुहाओ, दीहं निस्सारिउं ठिओ जीहं ।
तं च पलोइय मुणिणो, आसन्नीहोउ इय विंति ॥ १४ ॥
जो कोइ इत्थ देवो, जक्खो रक्खो व किंनरो वा वि ।
सो पयडं चिय पभणउ, न किंपि एवं वयं मुणिमो ॥ १५ ॥
तो सविसायं जक्खो, जंपइ भो भो तवस्सिणो ! सोहं ।
तुम्ह गुरू किरियाए, सुपमत्तो अज्जमंगु त्ति ॥ १६ ॥
साहू हिं वि पडिभणियं, विसमाहियपरिहा सुयनिहाण ! ।
किह देव ! दुग्गइमिमं, पत्तोसि अहो ! महच्छरियं ॥ १७ ॥
जक्खो वि आह न इमं, सुकं इह साहुणो महाभागा ! ।
एस च्चिय होइ गई, पमायवससिढिलचरणाणं ॥ १८ ॥
ओसन्नविहारीणं, इड्ढीरससायगारवगुरूणं ।
सम्मुक्कसाहुकिरिया-भराण अम्हारिसाण फुडं ॥ १९ ॥
इय मज्झ कुदेवत्तं, भो भो मुणिणो ! वियाणिउं सम्मं ।
जइ सुगईए कज्जं, जइ भीया कुगइगमणाओ ॥ २० ॥
ता गयसयलपमाया, विहारकरणुज्जुया चरणजुत्ता ।
गारवरहिया अममा, होह सया तिव्वतवकलिया ॥ २१ ॥
भो भो देवाणुप्पिय !, सम्मं पडिबोहिया तए अम्हे ।
इय जंपिय ते मुणिणो, पडिवन्ना संजमुज्जोयं ॥ २२ ॥
इति सूरिरार्यमङ्गु-र्मङ्गुलफलमलभत प्रमादवशात् ।
तद्यतयः शुभमतयः !, सदोद्यता भवत चरणभरे ॥ २३ ॥
(इत्यार्यमङ्गुकथा) दर्श० । तं० । आ० चू० । नि० चू० ।

अज्जमणग—आर्यमणक—पुं० । श्रीशय्यम्भवसूरिपुत्रे ,

छहि मासेहिं अहिअं, अज्झयणमिणं तु अज्जमणगेणं ।
छम्मासा परियाओ, अह कालगओ समाहीए ॥ ३९ ॥

षड्भिर्मासैरधीतं पठितमध्ययनमिदं तु अधीयत इत्यध्ययनम्, इदमेव दशवैकालिकाख्यं शास्त्रम् । केनाधीतमित्याह-आर्यमणकेन भावाराधनयोगात् , आराद् यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यः। आर्यश्चासौ मणकश्चेति विग्रहः । तेन षण्मासाः पर्याय इति , तस्यार्यमणकस्य षण्मासा एव प्रव्रज्याकालः , अल्पजीवितत्वात् । अत एवाह-अथ कालगतः समाधिनेति यथोक्तशास्त्राध्ययनपर्यायानन्तरं कालगतः । आगमोक्तेन विधिना मृतः, समाधिना शुभलेश्याध्यानयोगेनेति गाथार्थः । अत्र चैवं वृद्धवादः-यथा तेनैतावता श्रुतेनाराधितम्, एवमन्येऽप्येतदाराधनानुष्ठानत आराधका भवन्त्विति ।

आणंदअंसुपायं, कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा ।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा अ विआलणा संघे ॥ ४० ॥

आनन्दाश्रुपातमहो ! आराधितमनेनेति हर्षाश्रुमोक्षणमकार्षुः कृतवन्तः, शय्यम्भवाः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपाः तत्र तस्मिन् कालगते स्थविराः श्रुतपर्यायवृद्धाः प्रवचनगुरवः । पूजार्थं बहुवचनमिति । यशोभद्रस्य च शय्यम्भवप्रधानशिष्यस्य गुर्वश्रुपातदर्शनेन किमेतदाश्चर्यमिति विस्मितस्य सतः पृच्छा-भगवन् ! किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता । कथना च भगवतः-संसारस्नेह ईदृशः स्वतो ममायमित्येवंरूपा । चशब्दादनुतापश्च यशोभद्रादीनाम्-अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति,न तत् कृतमिदमस्माभिरित्युक्तप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थं मया न कथितं,नात्र भवतां दोषो गुरुपरिसंस्थापनं च विचारणासङ्घ इति शय्यम्भवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्व्यूढं किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणासङ्घ कालहासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंभूता स्थापना चेति गाथार्थः ।

अज्जमहागिरि—आर्यमहागिरि—पुं० । आर्यस्थूलभद्रस्य एलापत्यसगोत्रे शिष्ये, नं० । अयञ्च जिनकल्पिकवत्प्रविहारः राजपिण्डोपभोजिन आर्यसुहस्तिनः स्वगुरुशिष्यादपि सतः विसंभोगमुत्पाद्य पृथग्गच्छं कृत्वा विजहार । तदाप्रभृत्येव गच्छपृथक्त्वमागमीत् । ('संभोग' शब्दे चैतद् वक्ष्यामि)

अज्जरक्ख-आर्यरक्ष—पुं० । आर्यनक्षत्रस्य शिष्ये,"थेरस्स णं अज्जणक्खत्तस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे अंतेवासी कासवगोत्ते" अयं रक्षितार्याद् भिन्नोऽभिन्नो वेत्यत्र कल्पसूत्रसुबोधिकाटीकाकृतां विप्रतिपत्तयः—' थेरे अज्जरक्ख त्ति ' अहो ! बत किरणावलीकारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धिभाजोऽप्यनाभोगविलसितम्, यतो येन श्रीतोसलिपुत्राचार्यशिष्याः श्रीवज्रस्वामिपार्श्वेऽधीतसाधिकनवपूर्वा नाम्ना च श्रीआर्यरक्षितास्ते भिन्नाः, एते च श्रीवज्रस्वामिभ्यः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया नवमस्थानभाविनो नाम्ना चार्यरक्षा इत्येवमनयोरार्यरक्षितार्यरक्षयोः स्फुटं भेदं विस्मृत्याऽऽर्यरक्षस्थाने आर्यरक्षितव्यतिकरं लिखितवान् । कल्प० ।

अज्जरक्खिय—आर्यरक्षित—पुं० । सोमदेवद्विजेन रुद्रसोमायां भार्यायामुत्पादिते तोसलिपुत्राचार्यशिष्ये वज्रस्वामिसमीपेऽधीतसाधिकनवपूर्वे स्थविरभेदे, " वंदामि अज्जरक्खिय, खमणे रक्खियचरित्तसव्वस्से । रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं " ॥ १ ॥ नं० । तदुत्पत्तिस्त्वेवम्—

" माया य रुद्दसोमा, पिआ य नामेण सोमदेवु त्ति ।
भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ॥ ७४ ॥
निक्खमणभद्दगुत्ते, वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं ।
पव्वाविओ अ भाया, रक्खिअखमणेहि जणओ त्ति" ॥ ७५ ॥
"आस्ते पुरं दशपुरं, सारं दशदिशामिव ।
सोमदेवो द्विजस्तत्र, रुद्रसोमा च तत्प्रिया ॥ १ ॥
तस्यार्यरक्षितः सूनुरनुजः फल्गुरक्षितः " ।
(दशपुरोत्पत्तिः 'दसउर' शब्दे द्रष्टव्या) आ० क० ।
उत्पन्नो रक्षितस्तत्र, शास्त्रं यावज्जनुःपितुः ।
तत्रैवाधीतवांस्ताव-द्ययागात् पाटलिपुरम् ॥ ७६ ॥

चतुर्दशापि तत्रासौ, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
अथागच्छद्दशपुरं, राज्ञाऽगाऽस्य संमुखम् ॥ ७७ ॥
उत्तम्भितपताकेऽत्र, ब्रह्मोति ब्राह्मणैः स्तुतः ।
अधिरूढः करिस्कन्धे, प्रविवेशोत्सवेन सः ॥ ७८ ॥
स्वगृहे बाह्यशालायां, स्थितो लोकार्थमग्रहीत् ।
पुरोधसः सूनुरिति, न वा कैः कैरपूज्यत ? ॥ ७९ ॥
सुवर्णरत्नवस्त्राद्यै-स्तद्गृहं प्राभृतैर्भृतम् ।
अथान्तर्भवनं गत्वा, जननीमन्यवादयत् ॥ ८० ॥
वत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, मध्यस्थैव स्थिता प्रसूः ।
सोऽवदत् किं न ते मात- स्तुष्टिर्मद्विद्ययाऽभवत् ? ॥ ८१ ॥
सत्त्वानां वधकृत्तत्सा-ऽधीतं बह्वपि पाप्मने ।
तुष्याम्यहं दृष्टिवादं, पठित्वा चेत्त्वमागमः ॥ ८२ ॥
स दध्यौ तमधीत्याम्बां, तोषये किं ममापरैः ? ।
दृष्टिवादस्य नामापि, तावदाह्लादयत्यलम् ॥ ८३ ॥
अस्य काध्यापका मातः !, साऽऽख्यदिक्षुगृहे निजे ।
सन्ति तोसलिपुत्राख्याः, आचार्याः श्वेतवाससः ॥ ८४ ॥
तं प्रगेऽध्येतुमारप्स्ये, मातर्मैवाधृतिं कृथाः ।
अथोत्थाय प्रभातेऽपि, नत्वाऽम्बां प्रस्थितः सुधीः ॥ ८५ ॥
रक्षितं द्रष्टुमागच्छत्, ग्रामात्प्रियसुहृत्पितुः ।
नवेक्षुयष्टिकाः सार्द्धा, विभ्रत्प्राभृतहेतवे ॥ ८६ ॥
पुरस्तं प्रेक्ष्य सोऽप्राक्षीत्, कस्त्वं भोः! रक्षितोऽस्म्यहम् ।
तमयाश्लिष्य सस्नेह-मूचे त्वां द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥
सोऽवदद्याम्यहं कार्या-द्यायास्त्वं मद्गृहे पुनः ।
रक्षितः प्रेक्षतादौ मा-मिति मातुर्निवेदयेः ॥ ८८ ॥
तेन तत्कथितं गत्वा, माता दध्याविदं ततः ।
नवपूर्वाणि सार्द्धानि, मत्पुत्रोऽध्येष्यते स्फुटम् ॥ ८८ ॥
सोऽपि दध्यौ नवाऽध्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
अध्येष्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञायते शकुनादतः ॥ ९० ॥
ततः सेक्षुगृहे यातो, दध्यौ यामि किमज्ञवत् ? ।
एतद्भक्तेन केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥
इति यावद् बहिः सोऽस्थात्, तावदागाद्गुपाश्रयम् ।
ढड्ढरश्रावको गाढं, व्यधान्नैषेधिकीत्रयम् ॥ ९२ ॥
ईर्यादिवंदनं सर्वं, स चकार खरस्वरम् ।
अनुगस्तस्य तत्सर्वं, मेधावी सोऽपि निर्ममे ॥ ९३ ॥
श्राद्धेनावन्दि तेनेति, ज्ञातो नव्यः स सूरिभिः ।
पृष्टोऽथ भोः! कुतो धर्मा-ऽऽप्तिस्ते सोऽब्रवीदिति ॥ ९४ ॥
साधुभिः कथितं पूज्याः !, रक्षितः श्राविकासुतः ।
ह्यः प्रवेशोऽभवद्यस्य, विमर्देन महीयसा ॥ ९५ ॥
आचार्याः स्माहुरस्माकं, दीक्षयाऽधीयते हि सः ।
परिपाट्या च सोऽवादी-दस्त्वेवं नाहमुत्सुकः ॥ ९६ ॥
किं त्वत्र स्थास्य मे पूज्याः !, प्रव्रज्या यन्नृपादयः ।
बलान्मां मोचयेयुस्तां, यामो देशान्तरं ततः ॥ ९७ ॥
अथाऽऽख्यद्रक्षितस्तेषां, जनन्या प्रेषितः प्रभो ! ।
युष्माकं संनिधौ दृष्टि-वादमध्येतुमागमम् ॥ ९८ ॥
सोऽदीक्ष्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽसौ शिष्यचौरिका ।
तेनाथैकादशाङ्गानि, पठितान्यचिरादपि ॥ ९९ ॥
दृष्टिवादो गुरोः पार्श्वे, योऽभूत्तमपि सोऽपठत् ।
सोऽथाध्येतु दशपूर्वी, वज्रस्वाम्यन्तिकेऽचलत् ॥ १०० ॥
याते तेनान्तराले च, श्रीभद्रगुप्तसूरयः ।
अवन्त्यां वन्दितास्तैः स, धन्य इत्युपबृंहितः ॥ १०१ ॥
तैरुक्तं मम निर्यामो, नास्त्यन्यस्त्वं ततो भव ।
स तत्प्रतिशृणोति स्म, नोल्लङ्घ्यं गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥
कालं कुर्वद्भिरूचे तै-र्मा वात्सीर्वज्रसंनिधौ ।
वसेद्यस्तैः सहैकाम-प्युषां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥
पृथगेभिराश्रयस्थस्त-त्तथेति स्वीचकार सः ।
तेषां स्वर्गमने सोऽगात्, श्रीवज्रस्वामिसंनिधौ ॥ १०४ ॥
दृष्टश्च तैरपि स्वप्नः, किंचित् क्षिन्तूद्धृतं पयः ।
सावशेषश्रुतग्राही, तत्प्रतीच्छ समेष्यति ॥ १०५ ॥
इति यावद्विमृष्टं तैः, रक्षितस्तावदागतः ।
पृष्टस्तोसलिपुत्राणां, किं शिष्योऽस्म्यार्यरक्षितः ॥ १०६ ॥
एवमुक्तेऽवदद्वज्रः, स्वागतं तव वत्स ! किम् ? ।
क्व स्थितोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिः स्थोऽध्येष्यसे कथम् ? १०७
स ऊचे भगवन् ! भद्र-गुप्ताऽऽदेशाद्बहिः स्थितः ।
वज्रस्वाम्युपयुज्योचे, गुरूक्तं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥
ततोऽध्येतुं प्रवृत्तो द्राक्, नव पूर्वाण्यधीतवान् ।
प्रारेभे दशमं पूर्व-मार्यवज्रस्ततोऽभणत् ॥ १०९ ॥
यविकानि त्रिशत्युक्त-परिकर्मसमान्यहो ! ।
पठाऽऽदौ जिनसंख्यानि, कष्टात्तान्यथ सोऽपठत् ॥ ११० ॥
इतस्तन्मातापितरौ, शोकार्त्ताविति दध्यतुः ।
उद्योते कर्त्तुमिष्टे चे-दन्धकारान्तरं ह्यदः ॥ १११ ॥
यत्नेऽद्यापि नः पुत्रोऽ-थाहूतोऽप्यागमेत्तु सः ।
अथानुजं तमाह्वातुं, प्राहैषां फल्गुरक्षितम् ॥ ११२ ॥
सोऽप्यधाह्वातरागच्छ, व्रतार्थी ते जनोऽखिलः ।
स ऊचे सत्यमेतच्चे-त्त्वमादौ परिव्रज ॥ ११३ ॥
लघुः प्रव्रज्य सोऽध्येतु-मधीयन् रक्षितोऽग्रतः ।
यविकैर्घूर्णितोऽप्राक्षीत्, शेषमस्य कियत्प्रभो ! ? ॥ ११४ ॥
स्वाम्यूचे सर्षपं मेरो-र्बिन्दुमब्धेस्त्वमग्रहीः ।
ततो दध्यौ विषण्णात्मा, कुत्रापि पारमस्य मे ॥ ११५ ॥
अथापृच्छत्प्रभो ! यामि, भ्राता मामाह्वयत्यलम् ।
आहुस्तेऽधीष्व तस्याथ, पौनःपुन्येन पृच्छतः ॥ ११६ ॥
उपयुज्य गुरुर्ज्ञेज्ञे, पूर्वं स्थास्यत्यदो मयि ।
व्यसृजत्तं दशपुरं, सानुजः सोऽथ जग्मिवान् ॥ ११७ ॥
वज्रस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणापथम् ।
श्लेष्मार्त्याऽऽनायितां शुण्ठी-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥
मुखे क्षेप्स्यामि भुक्त्वेति, भोजनान्ते स्मृता न सा ।
विकाले च प्रतिक्रान्तौ, मुखपोतीहताऽपतत् ॥ ११९ ॥
उपयोगादथ ज्ञात-माः ! प्रमादोऽन्तिके मृतिः ॥
प्रमादे संयमो नास्ति, युज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥
द्वादशाब्दं च दुर्भिक्षं, तदा सन्नवहाः पथाः ।
विद्यापिण्डं तदानीय, वज्रः साधूनभोजयत् ॥ १२१ ॥
अथोचे तान् भिक्षाऽस्ति, विद्यापिण्डेन वर्त्तनम् ।
ऊचुस्ते व्रतहान्या किं, क्रियतेऽनशनं न भोः ! ? ॥ १२२ ॥
वज्रसेनोऽन्तिषद् ज्ञात्वा, प्राक् प्रैषीत्यनुशिष्य तु ।
यत्र त्वं लभसे भिक्षां, लक्षजात्तत्तदा मुने ! ॥ १२३ ॥
गतं दुर्भिक्षमित्येत-द्विज्ञाय स्थानमाचरेः ।
वज्रस्वामी पुनर्भक्तं, विमोक्तुं सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥
लघुः क्षुल्लक एकस्तु, तिष्ठत्युक्तोऽपि साधुभिः ।
नाख्यादाख्याय भव्याना-मथ व्यामोह्य तं गतः ॥ १२५ ॥
शैलमेकमयारुक्षत्, क्षुल्लकोऽप्यनु तत्पदैः ।
नितम्बे तद्गिरेः स्थित्वा, पादपोपगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥
तापेन तु क्षणमिव, विलीय द्यां स जग्मिवान् ।

सुरैस्तन्महिमा चक्रे, किमिदं मुनयोऽवदन् ? ॥ १२७ ॥
आचख्युर्गुरवस्तेषां, क्षुल्लः स्वार्थमसाधयत् ।
ऊचुस्ते दुष्करं तर्हि, नास्माकं स्वार्थसाधनम् ॥१२८॥
प्रत्यनीकाऽमरी तत्र, श्राविका रूपभाग् मुनीन् ।
न्यमन्त्रयन्द्रक्तपानैः, पारणं क्रियतामिति ॥ १२९ ॥
प्रत्यनीकेति तां ज्ञात्वा, गुरवोऽन्यं गिरिं ययुः ।
कायोत्सर्गमधिष्ठात्र्यै, चक्रुः साऽऽगत्य तानवक् ॥ १३० ॥
पूज्याः सन्तु सुखेनात्र, ततस्तत्र समाश्रिता ।
चक्रुः कालं रथेनैत्य, शक्रस्ताननमत् ततः ॥ १३१ ॥
प्रदक्षिणां रथस्थोऽदा-द्वृक्षादीनप्यनामयत् ।
ते तथैवास्थुरद्रिः स, तद्रथावर्त्त इत्यभूत् ॥ १३२ ॥
(तम्मि भगवंते अद्धनारायं दसपुव्वा वुच्छिन्ना । आ० म० द्वि०)
वज्रसेनस्तु यः प्रैषि, स सोपारं पुरं गतः ।
धान्यमादाय लक्षेणा-ऽयाक्षीत्तत्रेश्वरी तदा ॥ १३३ ॥
दध्यौ चात्र विषं क्षिप्त्वा, स्मृत्वा पञ्चनमस्कृतम् ।
कुर्मः समाधिना काल-मिति तत्प्रगुणीकृतम् ॥ १३४ ॥
स चागात्तद्गृहे साधु-स्तेन तं प्रतिलाभ्य सा ।
स्वमाख्याच्चिन्तितं तस्य, सोऽब्रवीन्मा कृथा इदम् ॥ १३५ ॥
यत्र लक्षात्तभिक्षाऽऽप्तिः, स्यात्तत्राऽऽशु सुभिक्षता ।
वज्रस्वामीदमूचे मां, नान्यथा भावि तद्वचः ॥ १३६ ॥
तण्डुलानां तदैवास-पोतास्तत्र समागमन् ।
सुभिक्षं सहसा जातं, कुटुम्बं प्रत्यबोधि तत् ॥ १३७ ॥
चन्द्रनागेन्द्रविद्याभृ-दसुरैः सममीश्वरीभ्र ।
अदीक्षयद्वज्रसेन-स्तेभ्योऽभूद्व्रतसन्ततिः ॥ १३८ ॥
इतश्च रक्षिताचार्यैः, गतैर्दशपुरं तदा ।
प्रव्राज्य स्वजनान् सर्वान्, सौजन्यं प्रकटीकृतम् ॥ १३९ ॥
स्नेहात् पिताऽपि तैः सार्द्ध-मास्ते गृह्णाति तद् व्रतम् ।
श्रुते सुतास्नुषादीनां, पुरो नावसरत्त्रपे ॥ १४० ॥
उक्तः पुत्रेण सोऽवादीत्, प्रव्राजिष्याम्यहं परम् ।
उपानत्कुण्डिकाच्छत्र-वस्त्रयुग्मोपवीतभृत् ॥ १४१ ॥
इदिरे पितुराचार्य्याः, प्रपद्येदमपि व्रतम् ।
स च तत्पालयामास, ब्रह्मवेषं तु नामुचत् ॥ १४२ ॥
अथोचुः शिक्षिता डिम्भाः, सर्वान् वन्दामहे मुनीन् ।
मुक्त्वा छत्रिणमेकं तु, तत्पराभवतोऽथ सः ॥ १४३ ॥
ऊचे पुत्रेण पुत्राऽलं, गुरुरप्याह साम्प्रतम् ।
तापे दद्याः पटीं मौला-वेवं सर्वाण्यमोचयत् ॥ १४४ ॥
अन्यदोपगते साधौ, साधवः पूर्वसंश्रिताः ।
अहंपूर्विकया वोढुं, गुरुमूलमुपस्थिताः ॥ १४५ ॥
स्थविरोऽप्यूचिवान् पुत्र!, श्रेयश्चेत्तद्वहाम्यहम् ।
गुरुः स्माहोपसर्गः स्यात्, स सह्यो मेऽन्यथा क्षितिः ॥१४६॥
तत्रोत्क्षिप्ते स संघानां, गच्छतां पथि डिम्भकैः ।
कट्यंशुके हृतेऽप्यस्थात्, तूष्णीं माऽभूद् गुरोः क्षितिः ॥१४७॥
साधुभिश्च तदैवास्य, बद्धश्चोलपट्टः पुरः ।
अथाऽऽगतानां गुरवः, शाटकानायनेऽवदन् ॥ १४८ ॥
द्रष्टव्यं दृष्टमेवेदं, स्याच्चोलपट्ट एव तत् ।
पितुर्भिक्षाटनार्थं च, गुरुः साधून् रहोऽन्वधात् ॥ १४९ ॥
भिक्षामानीय भुञ्जीध्वं, मा स्म दत्त पितुर्मम ।
भक्तिः कार्या पितुर्मद्वत्, साक्षादुक्त्वा मुनीनिति ॥ १५० ॥
आपृच्छ्यार्यमगाद् ग्राम-मागन्तास्मि पितः ! प्रगे ।
सर्वेऽप्याद्धुनं तस्यादु-र्विहृत्यैकैकशोऽथ ते ॥ १५१ ॥
दध्यौ रुष्टोऽथ संप्राप्ते, सुनावाक्यास्यतेऽखिलम् ।
आचार्याः प्रातरायाताः, पृष्टस्तातोऽखिलं जगौ ॥ १५२ ॥
किं च त्वं नाजविष्यश्चे-न्नाजीविष्यमहोऽप्यहम् ।
ततः सर्वेऽपि गुरुभि-र्निरभर्त्स्यन्त साधवः ॥ १५३ ॥
पात्रमानय तातात्र-मानेष्यामि स्वयं तव ।
अहमप्येतदानीतं, भोक्ष्ये नैवाऽद्य हे पितः ! ॥ १५४ ॥
सोऽथ दध्यौ लोकपूज्यो, भिक्षां यास्यत्यसौ कथम् ?।
ततोऽहमेव यास्यामी-त्युक्त्वा भैक्ष्याय सोऽगमत् ॥ १५५ ॥
सोऽथैकत्र गृहेऽविक्ष-दपद्वारेऽवदद् गृही ।
साधो ! द्वारेण किं नैषि, सोऽवदद् मूर्ख ! वेत्सि नो ॥१५६॥
किं द्वारं किमपद्वारं, प्रविशन्त्या गृहे श्रियः ।
तं गृही शकुनं मत्वा, ददौ स्थालेन मोदकान् ॥ १५७ ॥
आगत्यालोचयत्तान् स, तत्संख्यान् वीक्ष्य सूरयः ।
ऊचुः शिष्या भविष्यन्ति, द्वात्रिंशन्निजसन्ततौ ॥ १५८ ॥
कुटुम्बमिति साधूनां, लाजं स प्रथमं ददौ ।
आनीयादात्स्वयं पश्चात्, सखण्डाज्यं सपायसम् ॥ १५९ ॥
स एवं लब्धिसम्पन्नो-ऽभूद् बालाद्युपकारकः ।
तदा दुर्बलिकापुष्पः, पुष्पौ च घृतवस्त्रयोः ॥ १६० ॥
गुर्विण्या धिग् यया षण्मा-सीर्येन्नीलितं घृतम् ।
घृतपुष्पस्य तद्दद्यात्, साऽपि तल्लब्धिरीदृशी ॥ १६१ ॥
निर्वीरा काऽपि कष्टेन, कर्त्तनात् शाटकं व्यधात् ।
वस्त्रपुष्पस्य तद्दद्यात्, साऽप्यन्येषां किमुच्यते ? ॥ १६२ ॥
तत्र दुर्बलिकापुष्पो-ऽधिगतां नवपूर्विकाम् ।
दुर्बलोऽभूत्स्मरंश्चेत्थं, विस्मारयति चास्मरन् ॥ १६३ ॥
सौगतैर्भावितास्तस्य, स्वजना गुरुमूचिरे ।
अस्माकं भिक्षवो ध्यान-परा न ध्यानमस्ति वः ॥ १६४ ॥
ध्यानाद् दुर्बलिकापुष्पो, दुर्बलोऽयं गुरुर्जगौ ।
तान्याहुर्गृहवासेऽभूत्, स्निग्धाहारादसौ बली ॥ १६५ ॥
न स वोऽस्ति गुरुः स्माह, घृतपुष्पाद्ददुः स नः ।
प्रत्ययश्चेत्स वो नीत्वा, स्वगृहे पोष्यतामथम् ॥ १६६ ॥
ततस्तैः पोषितोऽत्यन्तं, पूर्वध्यानात्तथैव सः ।
अथाध्यानः कृतः पूज्यैः, प्रान्तभोज्योऽप्यभूद् बली ॥ १६७ ॥
ततस्तानि प्रबुद्धानि, श्रावकत्वं प्रपेदिरे ।
तत्र गच्छे च चत्वारो, मुख्यास्तिष्ठन्ति साधवः ॥ १६८ ॥
आद्यो दुर्बलिकापुष्पो, द्वितीयः फल्गुरक्षितः ।
विन्ध्यस्तृतीयको गोष्ठा-माहिलश्च चतुर्थकः ॥ १६९ ॥
विन्ध्यस्तेष्वपि मेधावी, सूत्रग्रहणधारणे ।
गुरूनुवाच मण्डल्या-मालापाऽऽसिश्चिरान्मम ॥ १७० ॥
गुरुर्दुर्बलिकापुष्पं, ततोऽस्यालापकं ददौ ।
दिनानि कतिचिद्दत्त्वा, वाचनां तस्य सोऽन्वधात् ॥ १७१ ॥
वाचनां ददतोऽमुष्य, पूर्वं मे नवमं प्रभो ! ।
विस्मरिष्यत्यतः पूज्या-देशोऽस्तु मम कीदृशः ? ॥ १७२ ॥
अथैनं दध्युराचार्य्याः, यद्यमुष्यापि विस्मृतिः ।
भविष्यति ध्रुवं प्रज्ञा-दीनां हानिरतः परम् ॥ १७३ ॥
चतुर्ष्वेकैकसूत्रार्था—स्थाने स्यात्कोऽपि न क्रमः ।
ततोऽनुयोगांश्चतुरः, पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः ॥ १७४ ॥

चातुर्विध्यमाह—

"कालिअसुअं च इसिभा-सिआइँ तइओ अ सूरपन्नत्ती ।
सव्वो अ दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो" ॥

कालिकश्रुतमेकादशाङ्गरूपं करणचरणानुयोगः, ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनानि धर्मकथानुयोगः, सूर्यप्रज्ञप्त्यादीनि गणितानुयोगः, दृष्टिवादश्च, सर्वोऽपि द्रव्यानुयोगः; दृष्टिवादादुद्धृत्य ऋषिभिर्भाषितत्वात्। कल्पादीनामपि तर्हि धर्मकथाऽनुयोगत्वम् । तत्रेत्याह–

"जं च महाकप्पसुअं, जाणि अ सेसाणि छेअसुत्ताणि ।
चरणकरणाणुओगो–त्ति कालिअत्थे उवगयाणि " ॥ १ ॥

यच्च महाकल्पश्रुतमेकादशाङ्गरूपम , यानि च शेषाणि निशीथादीनि छेदसूत्राणि, चरणकरणानुयोग इति चरणकरणानुयोगप्रक्रमे कालिकार्थे कालिकश्रुतसत्केऽर्थे उपगतानि सम्बद्धानीत्यर्थः ।

अथार्यरक्षिताचार्याः, मथुरां नगरीं गताः ।
तत्र यक्षगुहायां च, व्यन्तरायतने स्थिताः ॥ १७५ ॥
ततः शक्रो विदेहान्तः, श्रीसीमन्धरसन्निधौ ।
निगोदजीवानप्राक्षी–द्भगवान् व्याचकार तान् ॥ १७६ ॥
अथोचे भरतेऽप्येवं, निगोदान् वक्ति कश्चन ?।
भगवानूचिवानार्य–रक्षिताः सन्ति सूरयः ॥ १७७ ॥
भिक्षार्थे साधुवृन्दे च, वृद्धब्राह्मणरूपभाक् ।
शक्रोऽभ्यागत्य पप्रच्छ, कियदायुः प्रभो ! मम ॥ १७८ ॥
भणितं यवकेष्वायु–ज्याथ भ्रातेषु तेषु ते ।
यावत्तदायुरीक्षन्ते, तावद् द्वे सागरे गते ॥ १७९ ॥
अथोत्पाट्य भ्रुवावूचे, शक्रस्त्वं सोऽवर्षीत्ततः ।
हेतुं स्वागमने तेऽथ, निगोदान् स्वामिवज्जगुः ॥ १८० ॥
ततस्तुष्टः प्रणम्योचे, शक्रो यामीति तेऽभ्यधुः ।
तावदागमयस्व त्वं, यावद्यान्ति साधवः ॥ १८१ ॥
ये चला निश्चलास्ते स्यु–र्येन त्वां वीक्ष्य दीक्षिताः ।
स ऊचेऽल्पाः करिष्यन्ति, निदानं वीक्ष्य मामपी ॥ १८२ ॥
तेऽभ्यधुः कुरु तच्चिह्न–मथ यक्षगुहामुखम् ।
शक्रोऽन्यथा विधायागा–दाजग्मुश्च तपोधनाः ॥ १८३ ॥
ते च द्वारं न वीक्षन्ते, गुरवस्तानथाभ्यधुः ।
शक्रो द्वारं व्यधादित्थ–मित एव ततोऽधुना ॥ १८४ ॥
ऊचुस्ते किं मुहूर्त्तं न, धृतोऽस्माकं निरीक्षितुम् ?।
शक्रोक्तमथ ते तेषा–माख्यन् दुःखमथ स्थिताः ॥ १८५ ॥
अथान्यदा दशपुरं, यान्ति स्म गुरवः क्रमात् ।
मथुरां नास्तिकस्त्वागात्, सर्वं नास्तीति स ब्रुवन् ॥ १८६ ॥
सङ्घः सङ्घाटकं प्रैषीद् , गुरुं ज्ञापयितुं ततः ।
तैर्गोष्ठामाहिलः प्रैषि, न्यग्रहीत्तं स वादिनम् ॥ १८७ ॥
श्रावकैरथ तत्रैव, चतुर्मासीं स कारितः ।
इतश्चायुर्निजं ज्ञात्वा, गुरवो गच्छमूचिरे ॥ १८८ ॥
आचार्यः कोऽस्तु वः स्माहुः, स्वजनाः फल्गुरक्षिताः ।
स्याद्गोष्ठामाहिलो वाऽपि, पुष्पस्त्वभिमतो गुरोः ॥ १८९ ॥
शब्दयित्वा च निःशेषान्, गुरुर्दृष्टान्तमूचिवान् ।
निष्पावतैलहव्यानां, क्रियन्तेऽधोमुखाः कुटाः ॥ १९० ॥
सर्वे निर्यान्ति निष्पावा–स्तैलांशाः सन्ति केचन ।
तिष्ठत्याज्यं पुनः प्राज्य–मेवमेतेष्वहं त्रिषु ॥ १९१ ॥
पुष्पं प्रति श्रुतेनाहं , निष्पावकुटसन्निभः ।
घृतकुम्भः पुनर्गोष्ठा–माहिलं मातुलं प्रति ॥ १९२ ॥
फल्गुरक्षितमाश्रित्य, तैलकुम्भसमस्तथा ।
तदाचार्योऽस्तु वः पुष्प–स्तैरपि प्रत्यपद्यत ॥ १९३ ॥
नवाऽऽचार्यं तथा साधून्–नुशिष्य यथोचितम् ।
विधायानशनं शुद्धं, स्वर्गलोकमगाद् गुरुः ॥ १९४ ॥
तद् गोष्ठामाहिलेनापि, श्रुतं यद् धाममगाद् गुरुः ।
निष्पावकुटदृष्टान्तात्, पुष्पश्च स्वपदे कृतः ॥ १९५ ॥
स गोष्ठामाहिलोऽथैत्य, पृथक् तस्थौ तदाश्रयात् ।
कर्मबन्धविचारेऽभू–न्निह्नवः सोऽन्यथोक्तितः ॥१९६॥ आ०क०।

देविंदवंदिएहिं, महाणुभावेहि रक्खियज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥

देवेन्द्रवन्दितैर्महानुभावैरार्यरक्षितैर्दुर्बलिकापुष्पमित्रप्राज्ञमप्यतिगुपिलतयाऽनुयोगस्य विस्मृतसूत्रार्थमवलोक्य युगमासाद्य प्रवचनहिताय विभक्तः पृथग् व्यवस्थापितोऽनुयोगः, ततः कृतश्चतुर्धा, चतुर्षु स्थानेषु नियुक्तः चरणकरणानुयोगादिरिति। आ० म० द्वि० । उत्त० । आ० चू० । ध० र० । दर्श० । ती० । विशे० । स्था० । अञ्चलगच्छस्थापके आचार्ये च । अयं च (विक्रमसं० ११३६ वर्षे) दन्ताणीनामग्रामे द्रोणश्रेष्ठिनो देदीनाम्न्या भार्यायाः जातः , (विक्रमसं० ११४२ वर्षे) प्रव्रजितः, (विक्रमसं० ११६९ वर्षे) विधिपक्ष–(अञ्चल–) गच्छमस्थापयत् , (विक्रमसं० १२२६ वर्षे) ९१ वर्षजन्मपर्यायो मृत्वा देवलोकं गतः। जै० इ० ।

अज्जरक्खियमीस–आर्यरक्षितमिश्र–पुं०। अनुयोगचातुर्विध्यकारके रक्षिताचार्ये, सूत्र० १ अ० १ उ० ।

अज्जरह–आर्यरथ–पुं०। आर्यवज्रस्वामिनस्तृतीये शिष्ये,कल्प०।

अज्जल्ल–आद्यल्ल–पुं०। म्लेच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अज्जव–आर्जव–न०। ऋजोः रागद्वेषवक्रत्ववर्जितस्य सामायिकवतः कर्म भावो वा आर्जवम्। संवरे, स्था० ५ ठा० १ उ०। ऋजुभाव आर्जवम् । आव०। मनोवाक्कायविक्रियाविरहे मायाराहित्ये, ध० ८ अधि०। प्रव०। व्य०। पंचा०। आचा०। कल्प०। आव०। ज्ञा० । परस्मिन्निकृतिपरेऽपि मायापरित्यागे, दश० १० अ० । एतच्च वीरेणाऽभ्यनुज्ञातम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । एतत्तृतीयश्रमणधर्मः । स्था० ४ ठा० १ उ० । दशमो योगसंग्रहः । स० ३१ सम० । आव० । " चंपाए कोसिअज्जो , अंगिरसो रुद्दए अ आणत्ती । पंथगज्जो इजसा वि अ, अब्भक्खाणे असंबोही "॥१॥

चम्पायां कौशिकार्योऽभू–दुपाध्यायो महामतिः ।
तस्याद्योऽङ्गऋषिः शिष्यो, ग्रन्थिच्छिद्रुद्रकोऽपरः ॥ १ ॥
उपाध्यायेन दार्वर्थं, द्वावपि प्रेषितौ वने ।
दारुभारं गृहीत्वैति, सायमङ्गऋषिर्वनात् ॥ २ ॥
रुद्रो रन्त्वा दिवा सायं, स्मृत्वा बहिरधावत ।
दध्यौ वीक्ष्य तमायान्तं,गुरुर्निःसारयत्यमुम् ॥ ३ ॥
इतो ज्योतिर्यशा वत्स–पाल्नी नीत्वाऽन्नमात्मनः ।
पुत्रस्य पन्थकस्यार्थे, वलन्ती दारुकाष्ठभृत् ॥ ४ ॥
दृष्टा तेनाथ तां हत्वाऽऽ–दाय तद्दारुभारकम् ।
शीघ्रं मार्गान्तरेणैत्य, गुरोरग्रे करौ धुनन् ॥ ५ ॥
आख्यद्यः प्रियशिष्येण, ज्योतिर्यशा व्यनाश्यत ।
आगतः सोऽथ गुरुणा, ययौ निस्सारितोऽटवीम् ॥ ६ ॥
तत्र शुद्धा मनोध्यानात्, जातजातिस्मृतिर्व्रतम् ।
सोऽवाप केवलं चाथ, महिमानं व्यधुः सुराः ॥ ७ ॥
देवैः कथितमेतस्या–ऽभ्याख्यानं प्रददेऽमुना ।
रुद्रको हीलितो लोके, दध्यौ सत्यं मया ददे ॥ ८ ॥
अभ्याख्यानमिति ध्यायन्, सोऽगात्प्रत्येकबुद्धताम् ।
उपाध्यायः सपत्नीकः, प्रव्रज्य प्राप केवलम् ॥ ९ ॥

चत्वारोऽपि ययुः सिद्धि-मेवं कर्त्तव्यमार्जवम्। आ० क०। आ० चू०। आव०।

अज्जवइर-आर्यवज्र-(वैर)-पुं०। आरात्सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यर्थः, स चासौ वज्रश्च। आ० म० द्वि०। धनगिरेः सुनन्दायां भार्यायामुत्पादिते पुत्रे आर्यसिंहगिरेः शिष्ये। के ते आर्यवैरा इति स्तवद्वारेण तदुत्पत्तिमाह—

तुंबवणसंनिवेसा-उ निग्गयं पिउसगासमल्लीणं।
छम्मासिअं छसु जुअं, माउ अ समन्निअं वंदे ॥ १ ॥

तुम्बवनसन्निवेशान्निर्गतं पितृसकाशमालीनं षाण्मासिकं षट्सु जीवनिकायेषु युतं प्रयत्नवन्तं मात्रा च समन्वितं वन्दे। एष गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथातोऽवगन्तव्यः।

कथा चेयम्—

शक्रस्य लोकपः श्रीद-स्तस्य सामन्तिकः पुनः।
अनूद्धवविभोर्जीवः, प्राग्भवे जृम्भकामरः ॥ २ ॥
इतश्च पृष्ठचम्पायां, श्रीवीरः समवासरत्।
सुभूमिभाग उद्याने, शालस्तत्र नृपः पुरि ॥ ३ ॥
युवराजो महाशाल-स्तयोर्यामिर्यशोमती।
पिठरो रमणस्तस्याः, गागलिस्तनयः पुनः ॥ ४ ॥
शालः श्रुत्वा प्रभोर्धर्म, व्रतायानुजमूचिवान्।
राज्ये त्वं विश सोऽवादीद्, न व्रतेऽप्यस्मि ते नु किम् ? ॥ ५॥
समानीयाथ काम्पिल्या, गागलिं स्वस्वसुः सुतम्।
राज्येऽभिषिच्य तं तौ द्वौ, पार्श्वे प्राव्रजतां प्रभोः ॥ ६॥
साऽपि तद्भगनी जाता, श्रमणोपासिका ततः।
तावप्येकादशाङ्गान्य-ध्यगीषातां महाऋषी ॥ ७ ॥
विहरन्नन्यदा स्वामी, ययौ राजगृहे पुरे।
ततोऽपि चम्पां नगरीं, प्रति प्रातिष्ठत प्रभुः ॥ ८ ॥
मुनी शालमहाशालौ, प्रभुं पप्रच्छतुस्तदा।
आवां यावः पृष्ठचम्पां, कोऽपि स्यात्तत्र धर्मवान् ॥ ९॥
ज्ञात्वाऽवबोधं तौ तत्र, प्रैषयद्गौतमान्वितौ।
ततः स्वामी ययौ चम्पां, पृष्ठचम्पां च गौतमः ॥ १० ॥
समातापितृकस्तत्र, गागलिर्गौतमान्तिके।
श्रुत्वा धर्मं सुतं राज्ये, निवेश्य व्रतमग्रहीत् ॥ ११ ॥
यातां मार्गेऽथ चम्पायां, स्वजनव्रतहर्षतः।
प्रापतौ शालमहाशालौ, निधानमिव केवलम् ॥ १२ ॥
समातापितृकस्याथ, गागलेरपि केवलम्।
अत्रामुत्रार्थदावेतौ, ममेति ध्यायतोऽभवत् ॥ १३ ॥
अथ चम्पां ययौ स्वामी, गौतमस्तत्परिच्छदः।
प्रभुं प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणिनंसुः पुरोऽभवत् ॥ १४ ॥
इत एव प्रभुं नन्तुं, तानित्याचष्ट गौतमः।
प्रभुर्गौतममूचे मा, केवल्याशातनां कृथाः ॥ १५ ॥
गौतमोऽथ प्रभुं नत्वा, क्षमयामास तान् क्षमी।
गौतमं केवलाऽऽनाप्ति-खिन्नं मत्वाऽदिशत्प्रभुः ॥ १६ ॥
अष्टापदं तपोलब्ध्या-ऽऽरोहेद्यः स्यात्स केवली।
तद्रुच्छत्ताश्चैत्यद्वेव-मुखात् श्रुत्वाऽथ तां गिरम् ॥ १७ ॥
अष्टापदोपकण्ठस्था-स्तापसास्तपसा कृशाः।
कौण्डिन्यदत्तशैवाला, एकद्वित्र्यन्तरेऽहनि ॥ १८ ॥
आर्द्रकन्दशुष्ककन्द-शुष्कशैवालभोजनाः।
आरुरुक्षन् पदिका एक-द्वित्रास्तेऽपि तपःक्रमात् ॥ १९ ॥
गौतमोऽपि प्रभुं पृष्ट्वा-ऽष्टापदाद्रिमुपेयिवान्।
दृष्ट्वा ते तं मिथः प्राहुः, स्थूलोऽप्येषोऽधिरोक्ष्यति ॥ २० ॥
तपःकृशा अपि वयं, न शक्नुमः इतः परम्।
गौतमस्तावदर्कांशु-निश्रां कृत्वाऽऽरुरोह तम् ॥ २१ ॥
तद्वृत्तविस्मितास्तेऽथ, दध्युर्यद्येवमेष्यति।
ततोऽमुष्य वयं शिष्याः, भविष्यामो महाऋषेः ॥ २२ ॥
नत्वाऽर्हतः प्रभुश्चैत्यां, विश्वशोकतरोस्तले।
तत्र पृथ्वीशिलापट्टे, तामवात्सीद्विभावरीम् ॥ २३ ॥
आगादष्टापदं नन्तुं, तत्र वैश्रवणस्तदा।
जृम्भकेण समं सख्या, नत्वा सर्वान् जिनानथ ॥ २४ ॥
स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽभ्येत्य गौतममानमत्।
कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगीर्व्यधात् ॥ २५ ॥
अन्ताहारपन्ताहारे-त्यादिकं साधुवर्णनम्।
तच्छ्रुत्वा मुखमालोक्य, मिथस्तौ हसितौ सुरौ ॥ २६ ॥
एवं साधुगुणानाह, स्वयमीदृक् पुनः प्रभुः।
ज्ञात्वाऽऽर्यस्तन्मनः पुण्ड-रीकाध्ययनमूचिवान् ॥ २७ ॥
न दौर्बल्यं बलित्वं वा, सत्कृत्यै किं तु भावना।
श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानात्, प्रीतो नत्वा प्रतीयवान् ॥ २८ ॥
जृम्भकस्तु प्रतिबुद्धः, शुद्धं सम्यक्त्वमाददे।
सर्वं च प्रज्ञया पुण्ड-रीकाध्ययनमग्रहीत् ॥ २९ ॥
गौतमस्तु द्वितीयेऽह्नघ-ष्टापदाद्रेरवातरत्।
भीतास्ते प्रभुमाहुर्नः, शिष्यं कुरु गुरुर्भव ॥ ३० ॥
स्वाम्यथादाद् व्रतं तेषां, वेशान् शासनदेवताः।
पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टास्ते प्रभुमभ्यधुः ॥ ३१ ॥
इष्टासिश्चेत्तदस्त्वद्य, पायसं घृतखण्डयुक्।
तदैवानीय तत्स्वामी, तानूचे भोक्तुमास्यत ॥ ३२ ॥
दध्युस्ते नो भविष्यन्ति, नेयतां तिलकान्यपि।
परं गुरुवचः कार्यं, न विचार्यं नृपोक्तवत् ॥ ३३ ॥
आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यक्षीणमहानसः।
आतृप्ति भोजयित्वा ता-नश्नाति स्म स्वयं ततः ॥ ३४ ॥
शतानां तेषु पञ्चानां, भुञ्जानानां महाशिनाम्।
ध्यायतां गौतमीं लब्धिं, जज्ञे केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥
गच्छतां च प्रभुपार्श्वे, विलोक्य प्राभवीं श्रियम्।
पञ्चशत्या द्वयहस्पृशां, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥
एकान्तरभुजां चासीत्, श्रीवीरजिनदर्शने।
गौतमस्तैः समं भर्तु-र्ददौ तिस्रः प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥
नवीनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलिपर्षदम्।
गौतमः स्माह तानेवं, नमत त्रिजगत्पतिम् ॥ ३८ ॥
स्वाम्याहाशातनामिन्द्र-भूते ! केवलिनां व्यधाः।
नत्वा प्रभुं ददौ मिथ्या-दुष्कृतं तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥
गौतमेऽथाधृतिं सुष्ठु, प्रपन्ने स्वाम्यवोचत।
अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्षीर्गौतमाऽधृतिम् ॥ ४० ॥
तृणच्छिदद्दलचर्मोर्णा-कटवत्कस्यचित्पुनः।
कोऽपि क्वापि भवेत्स्नेहो, मेषोर्णाकटवत्स्तु ते ॥ ४१ ॥
तत्र स्नेहे चिरजये, प्रावृषीव व्यपेयुषि।
केवलज्ञानहंसस्ते, हृत्सरस्यां स रंस्यते ॥ ४२ ॥
उद्दिश्य गौतमं लोक-प्रतिबोधकृते तथा।
आदिशद्द्रुमपत्रीया-ध्ययनं भगवांस्तदा ॥ ४३ ॥
इतश्चावन्तिदेशोर्वी-हृदि हारतटोपमः।
सन्निवेशस्तुम्बवन-नामा धामाद्भुतश्रियाम् ॥ ४४ ॥
तत्रेभ्यसूर्धनगिरि-व्रतार्थी पितरौ पुनः।
तत्कृते वृणुतः कन्यां, यस्य तं संन्यषेधयत् ॥ ४५ ॥

स्वयम्वराऽथ तस्याभूत्, सुनन्दा धनपालसूः ।
विवाहिताऽथ सा तेन, तया रुद्धोऽथ स व्रतात् ॥ ४६ ॥
अथान्यदा स्वतः स्थानात्, स च्युत्वा जृम्भकामरः ।
सुनन्दाकुक्षिकासारे-ऽवातरत्कलहंसवत् ॥ ४७ ॥
तवाधारोऽभवद्भावी-त्युक्त्वा धनगिरिः प्रियाम् ।
अभूत्सिंहगिरेः शिष्यः, शालकात्समितादनु ॥ ४८ ॥
जाते च तनये जन्मो-त्सवे स्फूर्जति काऽप्यवक् ।
पिता चेत् प्राव्रजिष्यन्ना-स्यात्तविष्यदरं तदा ॥ ४९ ॥
स संज्ञी तद्वचः श्रुत्वा-ऽज्ञासीन्मे व्रतभूत्पिता ।
एवं चिन्तयतस्तस्य, जाता जातिस्मृतिः शिशोः ॥ ५० ॥
अहर्निशं ततोऽरोदीत्, माता निर्विद्यते यथा ।
प्रव्रज्याभिमुखं पश्चा-देवं षण्मासिकाऽगमत् ॥ ५१ ॥
अन्यदा समवासार्षीत्, तत्र सिंहगिरिर्गुरुः ।
समितौ धनगिरिश्च, पश्यावः स्वजनानिति ॥ ५२ ॥
यावद्यातो गुरुं पृष्ट्वा, शकुनस्तावदूचिवान् ।
ततस्तौ सूरयोऽवोचन्, भावी लाभोऽद्य वां महान् ॥ ५३ ॥
सचित्तं चाप्यचित्तं वा, ग्राह्यं तत् तौ ततो गतौ ।
सुनन्दा ससखीवृन्दा, दृष्ट्वा तावित्यवोचत ॥ ५४ ॥
कान्तेयन्ति दिनान्यर्भः, पाल्यते स्म मया तव ।
त्वमेनं गोपयेदानीं, रुदतोद्वाटिताऽमुना ॥ ५५ ॥
तेनोचे माऽस्तु ते पश्चा-त्तापः सोचेऽत्र निःस्पृहा ।
कृत्वाऽथ साक्षिणोऽग्राहि, सोऽब्दार्ह्यः पात्रबन्धने ॥ ५६ ॥
व्रतप्राप्तं च तत्कालं, रोदनाद्विरराम सः ।
अथायातो मुनेर्दोष्णा-ऽदायीतोऽधः करं गुरुः ॥ ५७ ॥
अतिभाराच्चथाऽऽहैवं, साधो ! वज्रं किमानयः ? ।
आकृष्यालोक्य तं बालं, बाल्यमाप्तमिव स्मरम् ॥ ५८ ॥
भाव्येष शासनाधारो, वज्रस्वामी गुरुस्ततः ।
साध्वीशय्यातरीणां तं, नीविवर्द्धातुमार्पयत् ॥ ५९ ॥
प्रहृष्यन्प्रासुकाहार-स्नानमण्डनखेलनैः ।
तत्रावर्द्धिष्ट वज्रः स, सार्द्धं गुरुमनोरथैः ॥ ६० ॥
बहिर्व्याहार्षुराचार्याः, सुनन्दाऽमार्गयत्सुतम् ।
उचुस्ता एष निक्षेपो, गुरूणां नार्प्यते परैः ॥ ६१ ॥
आगमन्गुरवस्तत्र, वज्रे जाते त्रिवार्षिके ।
सुनन्दा याचते सूनुं, गुरवस्त्वर्पयन्ति न ॥ ६२ ॥
विवादोऽथाभवद्राज-कुले जातश्च निर्णयः ।
यदग्रतः सुतस्तस्याऽऽहूतो याति यदन्तिके ॥ ६३ ॥
ससंघो गुरुरेकत्र, नन्दाऽन्यत्र सनागरा ।
अविक्षदभितो भूपं, वज्रस्तु नृपतेः पुरः ॥ ६४ ॥
राजोचे शब्दयत्वादौ, पिता स्त्रीपाक्षिका जगुः ।
स्वामिन्नम्बाऽऽह्वयत्वादौ, दयास्थानमियं यतः ॥ ६५ ॥
प्राग् राज्ञोक्ताऽह्वयन्माता, खाद्यखेलनचाटुभिः ।
वीक्ष्याप्यम्बां परं सोऽस्थात्, नाचालीत्किन्त्वचिन्तयत् ॥६६॥
पालनस्थोऽप्युपश्रुत्या, योऽधीतैकादशाङ्गकः ।
सोऽहं मोहं जनन्याः किं, यामि सङ्घं विलङ्घ्य तत् ?॥ ६७॥
व्रतस्थे मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।
राज्ञा प्रोक्तः पिताऽवोचत्, वचस्तं प्रति तद्यथा ॥ ६८ ॥
" जइसि कयज्झवसाओ, धम्मज्झयमूसिअं इमं वइरं ।
गिण्ह लहुं रयहरणं, कम्मरयप्पमज्जणं धीर !" ॥ ६९ ॥
तच्छ्रुत्वा तत्क्षणादेत्य, स रजोहृतिमाददे ।
तदैवादीक्षि गुरुणा, सपौरोऽप्यबुधन्नृपः ॥ ७० ॥
दध्यावथ सुनन्दाऽपि, भ्राता भर्त्ता सुतश्च मे ।
प्राव्रजन्निक ममान्येम, साऽपि प्रव्रजिता ततः ॥ ७१ ॥
वज्रं तत्रैव संस्थाप्य, साधुभिः पञ्चषैर्वृतम् ।
व्यहार्षुर्गुरवोऽन्यत्र, यत्रैकत्र यतिस्थितिः ॥ ७२ ॥
अथाष्टवर्षो वज्रर्षि-र्व्यहरद्गुरुभिः समम् ।
जग्मुश्च गुरवोऽवन्त्यां, वृष्टिश्च प्रावृतत्तदा ॥ ७३ ॥
तस्य प्राग्नवमित्राणि, व्रजन्तो जृम्भकामराः ।
दृष्ट्वा तं तत्र तैः सार्द्धं, कृत्वा तस्थुः परीक्षितुम् ॥ ७४ ॥
रान्ध्वा न्यमन्त्रयद्वज्रं, विप्रुषो वीक्ष्य संस्थिताः ।
पुनराह्वन् स्थिते वर्षे, गतस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥
द्रव्यतः पक्वकूष्माण्डं, क्षेत्रतस्तूज्जयन्यसौ ।
कालतः प्रथमं वर्षा, भावतो दायकाः पुनः ॥ ७६ ॥
अभूस्पृशो निर्निमेषा, देवा इत्याददे न तत् ।
तेऽथ तुष्टा निवेद्य स्वं, विद्यां वैकुर्विकीं ददुः ॥ ७७ ॥
भूयोऽवन्त्यां पुरि ज्येष्ठे, वज्रे बाह्यभुवं गते ।
प्राग्वद्विधाय सार्द्धं ते, घृतपूर्णैर्न्यमन्त्रयन् ॥ ७८ ॥
द्रव्यादिकोपयोगेन, ज्ञात्वा नात्तेषु तेष्वपि ।
तस्याकाशगमां विद्यां, दत्त्वाऽगुः स्वं निरूप्य ते ॥ ७९ ॥

निर्युक्तिकारोऽप्येतदेवाह-

" जो गुज्झगेहिं बालो, निमंतिओ भोअणेण वासंते ।
नेच्छइ विणीअविणओ, तं वयररिसिं नमंसामि " ॥ १ ॥

गुह्यकैर्देवैः वासंते वर्षति नेच्छति विनीतविनयोऽभ्यस्तविनयः ।

तथा—

" उज्जेणीए जो जं-भगेहिं आणक्खिऊण थुअमहिअं ।
अक्खीणमहानसिअं, सीहगिरिपसंसिअं वंदे " ॥ १ ॥

आणक्खिऊण परीक्ष्य, स्तुतो वचनैः, महितो विद्यादानेन ।

तच्छिक्ष्यान् पठतः श्रुत्वै-कादशाङ्गी स्थिराऽभवत् ।
श्रुतं पूर्वगमप्यात्तं, यत्किञ्चित्पठता श्रुतम् ॥ ८० ॥
पठेत्युक्तोऽपठन् नित्यं, तमेवालापकं मुहुः ।
अपरान्पठतः शृण्वन्, गृह्णानश्च ततः श्रुतम् ॥ ८१ ॥
भिक्षार्थमन्यदा साधु-व्राते याते हि मध्यमे ।
बहिर्भूमौ गुरौ प्राप्ते, तस्थौ वज्रः प्रतिश्रये ॥ ८२ ॥
अथान्यस्य स मण्डल्या, मध्ये व्रियतिवेण्टिकाः ।
मध्ये स्थितः स्वयमदात्, क्रमेणाङ्गादिवाचनाम् ॥ ८३ ॥
आयाताः सूरयो दध्यु-र्मुनयो द्राक् किमाययुः ? ।
स्वरमाकर्ण्य गम्भीरं, ज्ञातं वज्रविजृम्भितम् ॥ ८४ ॥
अपसृत्य क्षणं स्थित्वा, व्यधुर्नैषेधिकीं ध्वनिम् ।
यथास्थानेऽपि मुक्त्वा ताः, प्रामाक्षीत्स गुरोः पदौ ॥ ८५ ॥
ज्ञातं त्वमुं श्रुतधरं, माऽवजानन्तु साधवः ।
इत्याचार्या विहारार्थं, चलिताः पञ्चषान् दिनान् ॥ ८६ ॥
योगिनः स्माहुरस्माकं, भावी को वाचनागुरुः ? ।
गुरवो वज्रमादिक्ष-स्ते तथेति प्रपेदिरे ॥ ८७ ॥
साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासयित्वाऽऽसने प्रगे ।
योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशन् ॥ ८८ ॥
वाचनां स तथाऽऽदत्त, मन्दा अप्यपठन् यथा ।
अधीतमपि तैः स्पष्टी-कर्तुं पृष्टं स शिष्टवान् ॥ ८९ ॥
अथ ते साधवो दध्यु-र्गुरूणां बहवो दिनाः ।
चेल्लगन्ति तदाऽस्माकं, श्रुतस्कन्धः समाप्यते ॥ ९० ॥
गुरोरधीयतेऽह्नाय, तत्पौरुष्याऽपि वज्रतः ।
इत्येवं सर्वसाधूनां, वज्रो बहुमतोऽभवत् ॥ ९१ ॥

ज्ञापितास्ते वज्रगुणा-नित्याचार्याः समाययुः ।
आप्राघुर्यतिनो जज्ञे, स्वाध्यायो यस्त ऊचिरे ॥ ९२ ॥
जज्ञे किं त्वेष एवास्तु, स्वामिन् ! नो वाचनागुरुः ।
गुरूचेऽमुनोपात्तं, कर्णाघातात् श्रुतं ततः ॥ ९३ ॥
युज्यते वाचनां दातुं, नास्य स्वयमतद्ग्रहे ।
ज्ञातुं वो वज्रमाहात्म्यं, वाचनाऽदाप्यपीयती ॥ ९४ ॥
यत्स्वस्थाऽऽसीद् गुरुः सर्वं, श्रुतं वज्रस्य तद्ददौ ।
विहरन्नन्यदाऽऽयासीत्, पुरं दशपुराह्वयम् ॥ ९५ ॥
वृद्धावासे सन्त्यवन्त्यां, श्रीभद्रगुप्तसूरयः ।
तेभ्योऽन्यश्रुतमादातुं, वज्रः प्रैषि द्विसाधुयुक् ॥ ९६ ॥
तदा च भद्रगुप्तार्याः, स्वप्नेऽपश्यन् यथा मम ।
पतद्ग्रहं क्षीरभृतं, पीत्वाऽऽगन्तुः समाश्वसीत् ॥ ९७ ॥
साधूनां प्रातराचख्यु-स्तेऽन्योन्यफलमूचिरे ।
गुरूचे प्रतीच्छोमे, ह्यास्यत्येत्याखिलं श्रुतम् ॥ ९८ ॥
वज्रोऽप्यस्थाद्बहिर्नैक-मद्दर्श्यायात एव हि ।
ज्ञात्वोद्देशाद्गुरुर्वज्रं, माहात्म्ये तव गूढवान् ॥ ९९ ॥
तेषां पार्श्वेऽथ वज्रर्षि-र्दशपूर्वीमधीतवान् ।
यत्रोद्देशस्तत्रानुज्ञे-त्यागाद्दशपुरेऽनु सः ॥ १०० ॥
तत्रानुयोगानुज्ञायां, वयस्यैस्तस्य जृम्भकैः ।
इन्द्राद्यैर्गौतमादीना-मिव चक्रे महान्महः ॥ १०१ ॥

अमुमेवार्थं ग्रन्थकृदाह—

" जस्स अणुन्नाए वा-यगत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि ।
देवेहि कया महिमा, पयाणुसारिं नमंसामि" ॥ १ ॥
यस्याऽनुज्ञाते वाचकत्वे आचार्यत्वे, शेषं स्पष्टम् ।
अथान्यदा सिद्धगिरि-र्दत्वा वज्रमुनेर्गणम् ।
विधायानशनं धीमान्, ययौ स्वर्गं समाधिना ॥ १०२ ॥
वज्रस्वाम्यथ संयुक्तः, साधूनां पञ्चभिः शतैः ।
सर्वतः प्रसरत्कीर्ति-र्व्यहरद्बोधयन् जनम् ॥ १०३ ॥
इतश्च पाटलीपुत्रे, श्रेष्ठः श्रेष्ठी धनी धनः ।
तत्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुलोमजा ॥ १०४ ॥
साध्व्यस्तद्यानशालास्था-श्चक्रुर्वज्रगुणस्तुतिम् ।
वज्रमेव पतीयन्ती, श्रुत्वा तं रुक्मिणी स्थिता ॥ १०५ ॥
आगच्छतोऽप्यनेकान् सा, वरकान् प्रत्यषेधयत् ।
साध्व्योऽप्यधुर्न हे जडे !, व्रती परिणयत्यसौ ॥ १०६ ॥
साऽवदत् मां न वज्रर्षिः, परिणेष्यति चेत्ततः ।
प्रव्राजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो हि पतिवर्त्मगाः ॥ १०७ ॥
विहरन् पाटलीपुत्रे, वज्रोऽप्यन्येद्युरागमत् ।
निर्ययौ संमुखस्तस्य, नगरेशः सनागरः ॥ १०८ ॥
दृष्ट्वाऽऽयातो वृन्दवृन्दै-र्दिव्यरूपान् बहून्मुनीन् ।
राजोचे सैष वज्रस्ते-ऽप्यधुस्तस्यैकशिष्यकः ॥ १०९ ॥
मा भूत्पौरजनक्षोभः, इति वज्रगुरुस्तदा ।
कृत्वा वपुःपरावृत्ति-मागच्छन्नस्तिशस्तधीः ॥ ११० ॥
पश्चिमस्यार्धके दृष्टो, वज्रः स्वल्पपरिच्छदः ।
सानन्दं वन्दितो राज्ञा, तत उद्यानवेश्मनि ॥ १११ ॥
धर्ममाख्यत्प्रभुः क्षीरा-श्रवलब्धिर्जिनोदितम् ।
तेनाक्षिप्तमनाः क्ष्माभृत, नाऽविदत् क्षुत्तृषं तथा ॥ ११२ ॥
अन्तःपुरे तदाचख्यौ, वन्दितुं तं तदप्यगात् ।
श्रुत्वा श्रेष्ठिसुता लोकात्, रुक्मिणी जनकं ययौ ॥ ११३ ॥
आयातोऽस्त्यत्र वज्रः सः, तात ! तस्मै प्रदेहि माम् ।
सोऽथ शृङ्गारयित्वा तां, निन्ये सार्द्धं स्वकोटिभिः ॥ ११४ ॥
भगवान् धर्ममाचख्यौ, लोकः सर्वोऽपि रञ्जितः ।
दध्यौ चास्य यथाऽनेके, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥
ज्ञात्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमम्बुजम् ।
कृत्वाऽन्येद्युः स्वरूपस्थः, केवलीवोपविष्टवान् ॥ ११६ ॥
तं वीक्ष्योवाच लोकोऽस्य, सहजं रूपमीदृशम् ।
प्रार्थ्योऽङ्गनानां मा भूव-मित्यास्ते मध्यरूपभाक् ॥ ११७ ॥
नृपोऽपि विस्मितः स्माह, शक्तिरेषाऽपि वोऽस्ति किम् ? ।
लब्धीरनेकाः साधूनां, तदाख्यन्नृपतेर्गुरुः ॥ ११८ ॥
श्रेष्ठिना मन्त्रिपुत्र्यार्थे-स्तानुपास्थज्जगौ च सः ।
मद्भक्ता चेद्व्रतिन्यस्तु, जगृहे साऽपि तद्व्रतम् ॥ ११९ ॥

अमुमेवार्थमाह—

" जो कन्नाइ धणेण य, निमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा ।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं वयररिसिं नमंसामि " ॥ १२० ॥
पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।
महापरिज्ञाध्ययना-द्विद्योद्दध्रे नभोगमा ॥ १२१ ॥
" जेणुद्धरिआ विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १२२ ॥
भणइ अ आहिंडिज्जा, जंबुद्दीवं इमाइ विज्जाए ।
गंतूण माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ ॥ १२३ ॥
भणइ अ धारेअव्वा, न हु दायव्वा मए इमा विज्जा ।
अप्पड्डिआ य मणुआ, होहिंति अओ परं अन्ने" ॥ १२४ ॥
वज्रोऽथाऽगात् पूर्वदेशा-द्विहरन्नुत्तरापथम् ।
अभूच्च तत्र दुर्भिक्षं, पन्थानोऽपथिकाः स्थिताः ॥ १२५ ॥
ततः सङ्घ उपागत्याऽ-वादीन्निस्तारयेति तम् ।
पटेऽथ विद्यया सङ्घ-मारोप्य प्रस्थितः प्रभुः ॥ १२६ ॥
शय्यातरस्तु चार्यर्थं, गतोऽन्यायाद्विलोक्य तान् ।
शिखां छित्वाऽवदद्वज्रं, प्रभो ! साधर्मिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥
अथेदं स्मरता सूत्रं, सोऽप्यध्यारोपितः पटे ।
(" साहम्मिअवच्छल्ल-म्मि उज्जुया य सज्झाए ।
चरणकरणम्मि अ तहा, तित्थस्स पभावणाए य " ॥ १ ॥)
पश्चाद्उत्पतितः स्वामी, प्राप्तो नाम्ना पुरीं पुरीम् ॥ १२८ ॥
सुभिक्षं वर्त्तते तत्र, श्रावकास्तत्र भूरयः ।
तत्र ताथागतः श्राद्धो, राजा तेऽहं यवस्ततः ॥ १२९ ॥
आर्हतानां च तेषां च, चैत्येषु स्पर्धया पुनः ।
कुर्वतां स्नात्रपूजादि, जैनेभ्यस्तत्पराभवः ॥ १३० ॥
न्यवार्यन्ताथ तैः पुष्पा-ण्यर्हतां राजवर्चसा ।
श्राद्धाः पर्युषणायां च, पुष्पाभावं गुरुं जगुः ॥ १३१ ॥
प्रभो ! जैनेषु युष्मासु, शासनं वोऽभिभूयते ।
अथोत्पत्य ययौ वज्रः, क्षणान्माहेश्वरीं पुरीम् ॥ १३२ ॥
हुताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भः प्रजायते ।
भगवत्पितृमित्रं च, तद्भक्तस्तस्य चिन्तकः ॥ १३३ ॥
प्रभुं दृष्ट्वाऽवदत्तोषा-त्किं वोऽऽगमकारणम् ? ।
स्वाम्यूचे पुष्पसम्प्राप्तिः, स स्माहानुग्रहो मम ॥ १३४ ॥
स्वाम्यूचे सुमनसोऽभि-मेलयेर्यावदेम्यहम् ? ।
क्षुद्रे हिमवति स्वामी, ययौ श्रीसन्निधौ ततः ॥ १३५ ॥
देवार्चार्थोपात्तपद्मा, पद्मा पद्मद्रदात्तदा ।
प्रेक्ष्य प्रभुं प्रमोदेन, प्रणुन्ना प्राणमत्प्रधीः ॥ १३६ ॥
कृत्येऽथादिश्यतां स्वामी, सोऽवदत्पद्ममर्पय ।
साऽर्पयत्तं गृहीत्वा स, हुताशनगृहेऽगमत् ॥ १३७ ॥
विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निधाय च ।

जृम्भकैः कृतसंगीतः, पद्ममूले स्वयं स्थितः ॥ १३४ ॥
व्योम्ना पुर्यां उपयान्ता-वूचिरे सौगतास्ततः ।
अहो ! अस्मत्प्रातिहार्य्यं, देवा अप्यापयुर्दिवः ॥ १३५ ॥
तद्विहारमथोल्लङ्घ्य, गतास्ते चैत्यमर्हतः ।
तन्माहात्म्यं नृपः प्रेक्ष्य, सपौरोऽप्यार्हतोऽभवत् १३६ ॥

उक्तमेवार्थमाह—

"माहेसरीउ सेसा, पुरिअं नीआ हुआसणगिहाओ ।
गयणतलमइवइत्ता, वइरेण महाणुभावेण" ॥ १ ॥

माहेश्वर्या नगर्याः सकाशात् सस्वामिकात् नत्वरण्यादेरस्वामिकात् प्रस्तावात्पुष्पसंपदिति ज्ञेयम् । वज्रेण महानुभावेन हुताशनव्यन्तरगृहभूताऽऽरामात् गगनतलमतिव्यतीत्य अतिशयेन उल्लङ्घ्य पुरिकां पुरीनाम्नीं नगरीं नीता, एवं विहरन् वज्रस्वामी श्रीमालपुरं गतः । इयन्तं कालं यावदनुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, ततः पृथक्त्वमभूदित्याह—

" अपुहत्ते अनुओगो, चत्तारि दुवारभासए एगो ।
पुहत्ताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ अवुच्छिन्ना " ॥ १ ॥

आ०क०। आ० म०। आ०चू०। विशे०। पंचा०। ओघ०। ध० र०। कल्प० । तं० । (अस्य वज्रस्वामिनोऽनशनं कृत्वा देवलोकगमनं 'अज्जरक्खिय' शब्देऽत्रैवभागे २१२ पृष्ठे उक्तम्) अस्य वज्रस्वामिनो जन्म (वि० सं० २६) (सर्वायुः ८८) (वि० सं० ११४ वर्षे) स्वर्गे गतः जै० इ०॥ अत्र काव्यानि—"मोहाब्धिरशुशुकीचक्रे, येन बालेन लीलया । स्त्रीनदीस्नेहपूरस्तं वज्रर्षिं प्लावयेत्कथम् ?" ॥१॥ आ०क०। "वंदामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च । तत्तो य अज्जवइरं, तवनियमगुणेहिं वयरसमं " । नं० । " समजनि वज्रस्वामी, जृम्भकदेवार्पितस्फुरद्विद्यः । बाल्येऽपि जातजाति-स्मृतिः प्रभुरभवद्दशपूर्वी " ॥१॥ ग० ४ अधि० । अस्याचार्यस्य शिष्यसम्पद्—" थेरस्स णं अज्जवइरस्स गोयमसगोत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्जवइरसेणे उक्कोसियगोत्ते" । "थेरे अज्जपउमे थेरे अज्जरहे" । कल्प० । (तीर्थोद्गालिकमत एतन्मरणे स्थानाङ्गव्युच्छेदः)
"तेरसवरिससएहिं, पएणासासमहिएहि वोच्छेदो ।
अज्जवइरस्स मरणे, ठाणस्स जिणेहिं निद्दिट्ठो" ॥ १ ॥ ति० ।

अज्जवइरसेण—आर्यवज्रसेन—पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये, कल्प० ।

अज्जवइरी—आर्यवज्री—स्त्री० । आर्यवज्राद्विःसृतायां शाखायाम्, " थेरेहिंतो णं अज्जवइरेहिंतो णं गोयमसगोत्तेहिंतो इत्थ णं अज्जवइरी साहा णिग्गया" । कल्प० ।

अज्जवट्ठाण—आर्जवस्थान—न० । आर्जवं सम्वरस्तस्य स्थानानि भेदा आर्जवस्थानानि । साध्वार्जवादिषु सम्वरभेदेषु,

पंच अज्जवट्ठाणा पएणत्ता । तं जहा-साहुअज्जवं साहुमद्दवं साहुलाघवं साहुखंती साहुमोत्ती ।

साधु सम्यग्दर्शनपूर्वकत्वेन शोभनमार्जवं मायानिग्रहस्ततः कर्मधारयः, साधोर्वा यतेरार्जवं साध्वार्जवम् । एवं शेषाण्यपि । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अज्जवप्पहाण-आर्जवप्रधान-त्रि० । मायोदयनिग्रहप्रधाने, औ० ।

अज्जवभाव—आर्जवभाव—पुं० । अशठतायाम् , " मायं चज्जवभावेणं " द० ८ अ० ।

अज्जवया—आर्जवता—स्त्री० । मायावर्जनात्मके श्रमणभेदे, पा० ।

अस्याः फलम्—

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अकिंचणाए णं काउज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ । अविसंवायणसंपएणयाए जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ४२

लोभाविनाभाविनी च मायेति तदभावेऽवश्यं भावार्जवमतस्तदाह-(अज्जवयाए त्ति) सूत्रत्वाद् ऋजुरवक्रस्तद्भाव आर्जवम्, तेन मायापरिहाररूपेण कायेन, ऋजुरेव ऋजुकः कायऋजुकस्तद्भावस्तत्ता, कुब्जादिवेषभ्रूविकाराद्यकरणतः प्राञ्जलिता, ताम् तथा भावोऽभिप्रायस्तस्मिंस्तेन वा ऋजुकता भावऋजुकता, यदन्यद्विचिन्तयन् लोके भक्त्यादिनिमित्तमन्यद्वाचा कायेन वा समाचरति तत्परिहाररूपा, एवं भाषायामृजुकता भाषर्जुकता, यदुपहासादिहेतोरन्यदेशभाषया भाषणं तत्परित्यागात्मिका, तथाऽविसंवादनं पराविप्रतारणं जनयति, तथा विधिश्चाविसंवादनसम्पन्नतयोपलक्षणत्वात् कायर्जुकतादिसम्पन्नतया च जीवो धर्मस्याराधको भवति, विशुद्धाध्यवसायत्वेनान्यजन्मन्यपि तदवाप्तेः । उत्त० २९ अ० ।

अज्जविय—आर्जव—न० । मायावक्रतापरित्यागात् (आचा०) अमायित्वे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अज्जवेडय—आर्य्यवेटक—न० । श्रीगुप्ताद्धारीतसगोत्रान्निःसृतस्य चारणगणस्य षष्ठे कुले, कल्प० ।

अज्जसमिय—आर्य्यसमित—पुं० । आर्य्यवज्रस्वामिमातुः सुनन्दाया भ्रातरि आर्यसिंहगिरिशिष्ये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । येन योगप्रभावादचलपुरासन्नब्रह्मद्वीपे पादलेपेन जलोपरि गच्छन्तं तापसं जित्वा तं सानुगं प्रव्राज्य ब्रह्मद्वीपिका शाखा निर्गमिता । कल्प० । (' बंभदीविया ' शब्दे वक्ष्यामि)

अज्जसमुद्द—आर्य्यसमुद्र—पुं० । उदधिनामनि आचार्य्यभेदे, जङ्घाबलपरिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्य्यसमुद्राणामपराक्रमं मरणमभूदिति वृद्धप्रसिद्धिः । आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम—आर्य्यश्याम—पुं० । आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्य्यः, स चासौ श्यामश्च आर्य्यश्यामः । प्रज्ञापनाकृतिकालकाचार्य्यनामके आचार्य्ये, प्रज्ञापनासूत्रकरणप्रयोजनादि तदुपक्रम एवोक्तम्-" वायगवरवंसाओ, तेवीस इमेण धीरपुरिसेण । दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमिद्धबुद्धीणं " ॥३॥ " सुयसागरा विणेऊण जेण सुयरयणमुत्तमं दिएणं । सीसगणस्स भगवओ, तस्स णमो अज्जसामस्स " ॥४२॥ (' पएणवणा ' शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

अज्जसुहत्थि (ण्)—आर्य्यसुहस्तिन्—पुं० । आर्य्यस्थूलभद्रस्य शिष्ये स्थविरे, आव० ४ अ० । थैरार्य्यसुहस्तिभिर्दीक्षितो द्रमको मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । (' संपइ ' शब्देऽस्य कथानकम्)

अज्जसुहम्म (ण्)—आर्य्यसुधर्मन्—पुं० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्स्वरूपं चेदम्-कुल्लागसन्निवेशे धम्मिल्लविप्रस्य भार्य्या भद्दिला, तयोः सुतश्चतुर्दशविद्यापात्रम् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रव्रजितः । त्रिंशद्वर्षाणि वीरसेवा कृता वीरनिर्वाणाद् द्वादशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च केवलम् । ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्वं परिपाल्य शतवर्षायुषं जम्बूस्वामिनं स्वपदे संस्थाप्य शिवं गतः । अन्त० १ वर्ग । अणु० । स० ।

अज्जसेणिय—आर्यसैनिक—पुं० । आर्यशान्तिसैनिकस्य द्वितीये शिष्ये, कल्प० ।

अज्जसेणिया–आर्यसैनिकी–स्त्री०।आर्यसैनिकाभिर्गतायां शाखायाम्, " थेरेहिंतो णं अज्जसेणिएहिंतो इत्थ णं अज्जसेणिया साहा णिग्गया " कल्प०।

अज्जा–आद्या–स्त्री० । आदौ भवा, दिगादित्वात् यत् । वाच० ' गवि ' इति केचित् । अम्बिकायाम्, दे० ना० १ वर्ग० ।

आर्या–स्त्री०। ऋ–एयत्। प्रशान्तरूपायां दुर्गायाम्, ज्ञा० ८ अ०, ग० । सप्तचतुष्कलगणादिव्यवस्थानिबद्धे मात्राछन्दसि, जं० २ वक्ष० । आर्यैव संस्कृतेतरभाषासु गाथासंज्ञा । ग० १ अधि०, आर्यारचनं हि एकविंशतिरूपायां कलायां गण्यते (तत्र 'कला' शब्दे तृ० भा० पृष्ठे ३७७ द्रष्टव्यम्) ज्ञा० १ अ० । साध्व्याम्, ग० ३ अधि० । आर्यासामाचार्याः सूचनिकामात्रमत्र दृश्यते विस्तरस्तु यथास्थानम् ('एक्काणि'शब्दे एकाकित्वनिषेधो वक्ष्यते)

आर्याया गृहिसमक्षं दुष्टभाषणे दोषमाह—

जत्थ जयारमयारं, समणी जंपइ गिहत्थपच्चक्खं ।
पच्चक्खं संसारे, अज्जा पक्खिवइ अप्पाणं ॥११०॥

यत्र गच्छे (जयारमयारमिति) अवाच्यदुष्टगालिरूपं जकारमकारसहितं वचनं या श्रमणी गृहस्थप्रत्यक्षं गृहिसमक्षं जल्पति । हे गौतम ! तत्र गच्छे सा आर्या आत्मानं संसारे प्रत्यक्षं साक्षात् प्रक्षिपतीति ॥ ११० ॥ (' गारत्थियवयण ' शब्दे दोषं प्रायश्चित्तं च वक्ष्यामः)

अथार्याया विचित्रवस्त्रपरिधाने दोषमाह–

गणि ! गोअम ! जा उचिअं, सेअवत्थं विवज्जिउं ।
सेवए चित्तरूवाणि, न सा अज्जा विआहिआ ॥११२॥

हे गणिन् गौतम ! याऽऽर्या उचितं श्वेतवस्त्रं विवर्ज्य चित्ररूपाणि विविधवर्णानि विविधानि चित्राणि वा वस्त्राणि सेवते, उपलक्षणात्पात्रदण्डाद्यपि चित्ररूपं सेवते, सा आर्या न कथितेति । विषमाक्षरेति गाथाछन्दः ॥ ११२ ॥

अथार्याया गृहस्थादीनां सीवनादिकरणे दोषमाह—

सीवणं तुन्नणं भरणं, गिहत्थाणं तु जा करे ।
तिल्लमुव्वट्टणं चावि, अप्पणो य परस्स य ॥११३॥

या आर्या गृहस्थानां तुशब्दादन्यतीर्थिकादीनां च वस्त्रकम्बलचीनांशुकादिसंबन्धि सीवनं,तुन्नं, [भरणमिति] भरणं करोति,तथा या आत्मनश्च स्वस्य परस्य च गृहस्थडिम्भादेः (तिल्लं ति) तैलाभ्यङ्गम् (उव्वट्टणंति) सुरभिचूर्णादिनोद्वर्तनं च अपीतिशब्दान्नयनाञ्जनमुखप्रक्षालनमण्डनादिकं च करोति, न सा आर्या व्याहृतेति पूर्वगाथात आकर्षणीयम् । तस्याः पार्श्वस्थादित्वसमासादनात् । ग० ३ अधि०। (अत्र सुभद्रा काली चेत्युदाहरणे ' बहुपुत्तिआ " काली ' शब्दयोः गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्या)

अथ गाथात्रयेण गच्छप्रत्यनीकाऽऽर्याः दर्शयति·

गच्छइ सविलासगई, सयणीयं तूलिअं सविब्बोअं ।
उव्वट्टेइ सरीरं, सिणाणमाईणि जा कुणइ ॥ ११४ ॥
गेहेसु गिहत्थाणं, गंतूण कहा कहेइ काही आ ।
तरुणाइ अहिवडंते, अणुजाणे साइ पडिणीया ॥११५॥

याऽऽर्या सविब्बोकं यथा स्यात्तथा सविलासा गतिर्यस्याः सा सविलासगतिर्गच्छति, तथा शयनीयं पल्यङ्कादि वा तूलिकां च संस्कृतरुतादिभृतामर्कतूलादिभृतां वा, तथा या शरीरमुद्वर्तयति, तथा या स्नानादीनि च करोति । अथवा सविलासगतिर्गच्छति तथा शयनीयं तूलिकां च (सविब्बोअं ति) उच्छीर्षकसहितां सेवते । शेषं तथैव । तथा गृहस्थानां गृहेषु गत्वा उपलक्षणत्वात् उपाश्रयेऽपि स्थिता संयमयोगान् मुक्त्वा या काथिका कथिकलक्षणोपेता आर्या कथा धर्मविषयाः संसारव्यापारविषया वा कथयति, तथा या तरुणादीन् पुरुषान् अभिपतत अभिमुखमागच्छतोऽनुजानाति सुन्दरमागमनं भवतां पुनरागमनं विधेयम्, कार्यं ज्ञाप्यमित्यादिप्रकारेण 'ई जे राः पादपूरणे' ८।२।२१७।इति प्राकृतसूत्रोक्तेरकारः पादपूरणार्थः। गच्छस्य प्रत्यनीका शत्रुतुल्या स्यात्, भगवदाज्ञाविराधकत्वादिति ॥ १५ ॥

वुड्ढाणं तरुणाणं, रत्ति अज्जा कहेइ जा धम्मं ।
सा गणिणी गुणसायर ! पडिणीया होइ गच्छस्स २१६

वृद्धानां स्थविराणां, तरुणानां यूनां, पुरुषाणां (रत्ति ति) "सप्तम्या द्वितीया " ८।३।१३७। इति प्राकृतसूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् । रात्रौ या आर्या गणिनी (धम्मं ति) धर्मकथां कथयति, उपलक्षणाद् दिवसेऽपि या केवलपुरुषाणां धर्मकथां कथयति , हे गुणसागर ! हे इन्द्रभूते ! सा गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । अत्र च गणिनीग्रहणेन शेषसाध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्वमवसेयमिति ॥ २१६ ॥

अथ यथा श्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधानत्वं–
स्यात् तथा दर्शयति–

जत्थ य समणीणमसं–खडाइँ गच्छम्मि नेव जायंति ।
तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासाउ नो जत्थ ॥ ११७ ॥

यत्र च गणे श्रमणीनां परस्परम् (असंखडानि) कलहा नैव जायन्ते नैवोत्पद्यन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां भाषाः 'मामा आई बाप भाई' इत्यादिका अथवा गृहस्थैः सह सावद्यभाषा गृहस्थभाषास्ता नोच्यन्ते, स गच्छः गच्छवरः सकलगच्छप्रधानः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ स्वच्छन्दाः श्रमण्यो यत् प्रकुर्वन्ति
तद्गाथापञ्चकेन प्रकटयति—

जो जत्तो वा जाओ, नाऽऽलोअइ दिवसपक्खिअं वा वि ।
सच्छन्दा समणीओ, मयहरिआए न ठायंति ॥ ११८॥

यो यावान् वा अतिचार इति शेषः । जातः उत्पन्नः, तं तथा दैवसिकं पाक्षिकं वा अपिशब्दाच्चातुर्मासिकं सांवत्सरिकं वाऽतीचारं नाऽऽलोचयन्ति । अत्र वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्वेच्छाचारिण्यः श्रमण्यः, तथा महत्तरिकाया साध्व्या आज्ञायामिति शेषः । न तिष्ठन्ति इति ॥ ११८ ॥

विंटलियाणि पउंजति, गिलाणसेहीण नेव तप्पंति ।
अणगाढे आगाढं, करंति आगाढि अणगाढं ॥ ११९ ॥

विण्टलिकानि निमित्तादीनि।विण्टलं निमित्तादीत्योघनिर्युक्तिवृत्त्यादौ व्याख्यानात्। तानि प्रयुञ्जते।अत्रापि वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वादेव।तथा ग्लानाश्च रोगिण्यः शैक्ष्यश्च नवदीक्षिता इति द्वन्द्वः। अतस्ता नैव तर्पयन्ति-औषधभेषजवस्त्रपात्रान्नदानादिना नैव प्रीणयन्तीत्यर्थः । अत्र सूत्रे " क्वचिद् द्वितीयादेः " ८।३।१३४। इति प्राकृतसूत्रेण द्वितीयास्थाने षष्ठी । यथा-"सीमाधरस्स वंदे-त्ति " तथा आगाढमवश्यकर्त्तव्यं ग्लानप्रतिजागरणादिकं, न आगाढं अनागाढं तस्मिन् अनागाढे, कार्ये इति शेषः। आगाढमवश्यकर्त्तव्यमिति कृत्वा कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा आगाढेऽवश्यकर्त्तव्ये कार्येऽनागाढं कार्यं,येन कृतेन विनाऽपि सरति तत्कार्यं कुर्वन्ती

त्यर्थः । अथवा अनागाढयोगानुष्ठाने वर्तमाने आगाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा आगाढयोगानुष्ठानेऽनागाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति कर्तृपदं पूर्वगाथात आकर्षणीयम् । एवमग्रेतनगाथात्रिकेऽपीति ॥ ११९ ॥

अजयाए पकुव्वंति, पाहुणगाण अवच्छला ।
चित्तलयाणि अ सेवंति, चित्ता रयहरणे तहा ॥१२०॥

अयतनया ईर्यापथशोधनेन प्रकुर्वन्ति गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राघूर्णकानां ग्रामान्तरादागतसाध्वीनामवत्सला निर्दोषिशुद्धाशनपानादिना भक्तिं न कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा चित्रलानि, सूत्रे च कप्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात् । चकारः समुच्चये । विचित्राणि वस्त्राणि इति शेषः। सेवन्ते परिदधति, तथा चित्राणि पञ्चवर्णगुल्लादिरचनोपेतानि रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति। स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति, विषमाक्षरेति गाथाछन्दः ॥ १२० ॥

गइविब्भमाइएहिं अगार-विगार तह पयासंति ।
जह वुड्ढगाण मोहो, समुईरइ किं तु तरुणाणं ? ॥१२१॥

स्वछन्दाः श्रमण्यो गतिविभ्रमादि (अगारविगार त्ति) अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनाद्याकृतिं, विकारं च मुखनयनादिविकृतिं, यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाकृतेर्विकारो विकृतिस्तं तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृद्धानाम्, अपेर्गम्यमानत्वात् स्थविराणामपि, मोहः कामानुरागः, समुदीर्यते समुत्पद्यते, किं पुनस्तरुणानाम् ?, तेषां सुतरां समुत्पद्यत एवेत्यर्थः । तुः पुनरर्थे ॥ १२१ ॥

बहुसो उच्छोलंती, मुहनयणे हत्थपायकक्खाओ ।
गिण्हेइ रागमंडल, सोइंदिअ तह य कव्वट्ठे ॥ १२२ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकक्षाश्च बहुशो वारं वारं उच्छालयन्ति स्वछन्दाः श्रमण्यः, तथा रागमण्डलं वसन्तादिरागसमूहं अग्रेतनं 'तह य त्ति' पदस्य 'गिण्हेइ' इतिपदेन सह संबन्धात् (तह य गिण्हेइ त्ति) तथैव गृह्णन्ति तथैव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कवट्ठे त्ति) कल्पस्थाः समयपरिभाषया बालकास्तेषामपि श्रोत्रेन्द्रियं श्रवणेन्द्रियम् , 'गिण्हेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धाद् गृह्णन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणे कार्योपचारात् रागो रागोत्पत्तिहेतुर्वस्तु, यथा-मुखे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽञ्जनादि, मस्तके सीमन्तादि, ललाटे तिलकादि, कण्ठे कुसुममालादि, अधरे ताम्बूलरागादि, शरीरे चन्दनलेपादि; तस्य मण्डलं समूहं तथा गृह्णन्ति यथा बालानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुपलक्षणत्वादन्यदिन्द्रियचतुष्कं मनश्च गृह्णन्ति हरन्ति । अत्रोत्तरार्द्धे पाठान्तरम् । यथा-"ण्हाण रामण मंडण, भोयंति व ताव कव्वट्ठे"। अस्यार्थः-गृहस्थबालकानां ग्रहणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जाकीमनं, मण्डनं वा प्रसाधनम्;यदि वा ताः कल्पस्थान् गृहस्थबालकान् भोजयन्ति। अत्रापि गाथायां विभक्तिलोपविभक्तिव्यत्ययवचनव्यत्ययाः प्राकृतत्वादेवेति ॥ १२२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्थ य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी य अंतरे सुयई ।
गोअम ! तं गच्छवरं, वरनाणचरित्तआहारं ॥ १२३ ॥

यत्र च गणे स्थविरा, ततस्तरुणी, पुनः स्थविरा, ततस्तरुणीत्येवमन्तरिताः साध्व्यः स्वपन्तीति भावार्थः । तरुणीनां निरन्तरशयने हि परस्परजङ्घाकरस्तनादिस्पर्शनेन पूर्वक्रीडितस्मरणादिदोषः स्यादतः स्थविरान्तरिता एव ताः शेरते। हे गौतम ! वरज्ञानचारित्राधारं तं गच्छवरं आनीहीति ॥ १२३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथात्रयेण दर्शयति-

धोअंति कंठिआओ, पोअंती तह य दिंति पोत्ताणि ।
गिहिकज्जचिंतगाओ,न हु अज्जा गोअमा ! ताओ ॥१२४॥

कण्ठिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण क्षालयन्ति, तथा (पोअंति त्ति) मुक्ताफलविद्रुमादीनि प्रोतयन्ति, गृहस्थानामिति गम्यते। तथा च (पोत्ताणि त्ति) बालकाद्यर्थं वस्त्राणि ददति, चकारादीषद् धर्जटिकादिकमपि ददति । अथवा 'पोत्ताणि त्ति' जलार्द्रीकृतवस्त्राणि ददति, मलस्फोटनाय शरीरे घर्षयन्तीत्यर्थः । तथा गृहिकार्यचिन्तिका अगारकृत्यकारणतत्पराः, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या 'न हु' नैव भवन्तीति गाथार्थः॥१२४॥

खरघोडाइट्ठाणे, वयंति ते ना वि तत्थ वच्चंति ।
वेसत्थीसंसग्गी, उवस्सयाओ समीवम्मि ॥१२५॥

खरा गर्दभाः, घोटकास्तुरङ्गमाः, आदिशब्दाद् हस्त्यादयः, तेषां स्थाने या व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके-"तह चेव हत्थिसाला, घोडगसाला न चेव आसन्ना । जंति तह जंतसाला, कोहीयसं च कुव्वन्ति"।१। अथवा [खर त्ति] खरका दासाः, घोटा भट्टाः, अयं चानयोः शब्दयोरर्थः, आदिशब्दात् द्यूतकारादयः, तेषां स्थाने व्रजन्ति, ते वा गर्दभाश्वादयो दासभट्टादयो वा, तत्राऽऽर्यिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तीत्यर्थः। श्रीव्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके त्विदं प्रथमपदस्य पाठान्तरम्-'थलिघोडाइट्ठाणे त्ति' तत्र स्थाल्या देवद्रोण्यः, तत्र घोटा भिक्षराः, अत्रादिशब्दस्तेषामेव देवडिङ्गराणामनेकभेदस्थापनार्थः, तेषां स्थाने व्रजन्ति । तथा स्थलीघोटादेवडिङ्गरापरपर्यायास्तत्रार्यिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेश्यास्त्रीसंसर्गी पुमान् सदैव यासां समीपे वसति, यदि वा वेश्यागृहसमीपे यासामुपाश्रयः, ता आर्यिका न भवन्तीति शेषः ॥ १२५ ॥

सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकहाविकहपेसण गिहीणं ।
गिहिनिस्सिज्जं वाहिं-ति संथवं तह करंतीओ ॥१२६॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयोगाः। 'छक्कायजोग त्ति' पाठे तु षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनालक्षणो व्यापारो याभिस्ताः षट्कायमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो गृहिणा धर्मकथानामाख्याने, विकथानां च स्त्रीकथादीनां करणे, प्रेषणे प्रेरणे च नानारूपे गृहिणामुक्ताः, तथा या गृहिनिषद्यां वाधन्ते गृहे निषद्यामुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः संस्तवं परिचयं गृहस्थैः सह कुर्वन्त्यो वर्तन्ते, ताः साध्व्यो न भवन्तीति ॥ १२६ ॥ ग० ३ अधि० ।

अथ गाथात्रयेण वचनगुप्तिमाश्रित्य साध्व्याचारं दर्शयति-

जत्थुत्तरपडिउत्तर, वुड्ढिआ अज्जा उ साहुणा सद्धिं ।
पलवंति सुरुट्ठा वा, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥१२९॥

यत्र गणे आर्या साधुना सार्द्धमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा (वुड्ढिअ त्ति) वृद्धा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनात् , तथा सुरुष्टा अपि भृशं सरोषा अपि प्रलपन्ति प्रकर्षेण वदन्ति । हे गौतम ! तेन गच्छेन किम् ?, न किमपीत्यर्थः ॥ १२९ ॥

जत्थ य गच्छे गोयम !, उप्पन्ने कारणम्मि अज्जाओ ।
गणिणीपिट्ठिठिआओ, भासंती मउअसद्देण ॥१३०॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारणे उत्पन्ने (अज्जाओ त्ति) आर्याः साध्व्यो गणिनीपृष्ठिस्थिता मृदुकशब्देन भाषन्ते स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ १३० ॥

माऊए दुहियाए, सुण्हाए अहव जइणिमाईणं ।

जत्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविभेयं तयं गच्छं ॥१३१॥

यत्र गच्छे आर्या मातुः दुहितुः स्नुषाया अथवा भगिन्यादीनां सबन्धि (गुत्तिविभेयं ति) गुप्तेर्वचनगुप्तेर्भेदो भङ्गो यस्मात्तद् गुप्तिभिन्नेदम्, नात्रकोद्घाटकमित्यर्थः । वचनमिति शेषः । नाख्याति । इदमुक्तं भवति-हे मातः ! हे स्नुषे ! हे भगिनि ! इत्यादिनात्रकोद्घाटकवचनेन मात्रादीनालापयति । यदुक्तं श्रीदशवैकालिके सप्तमाध्ययने-" अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउसिय त्ति अ । पिउस्सिए भायणिज्ज त्ति, धूए नत्तुणियत्तिय" ॥१॥ ॥ १५ ॥ तथा-"अज्जए पज्जए वा वि, बप्पचुल्ल पिउ त्ति अ । माउला भायणिज्ज त्ति, पुत्ते नत्तुणियत्तिय" ॥१८॥ अथवा ममेयं माता ममेयं दुहितेत्यादि, अहमस्या वा माता अहमस्या वा दुहिता अहमस्या वा वधूरित्यादि वा नात्रकोद्घाटनवचनं कारणं विना न जल्पति । अथवा मात्रादीनामपि ' गुत्तिविभेयं ति ' गोपनीयमर्थं न कथयति; स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

अथ गाथात्रयेण साध्वीस्वरूपवक्तव्यताशेषमाह-

दंसणियारं कुणई, चरित्तनासं जणेइ मिच्छत्तं ।

दुण्ह वि वग्गाणऽज्जा, विहारभेयं करेमाणा ॥१३२॥

दर्शनातिचारं करोति, चारित्रनाशं, मिथ्यात्वं च जनयति, द्वयोरपि वर्गयोः साधुसाध्वीरूपयोः, आर्याः किं कुर्वाणाः?, विहार-आगमोक्तविधिना विचरणम, तस्य भेदो मर्यादोल्लङ्घनम्, तं कुर्वाणाः ॥१३२॥ ग० ३ अधि० ।

आर्याणां जापनप्रकारः—

तम्मूलं संसारं, जणेइ अज्जा वि गोयमा ! नूणं ।

तम्हा धम्मुवएसं, मुत्तुं अन्नं न भासिज्जा ॥ १३३ ॥

तद् धर्मोपदेशव्यतिरिक्तं वाक्यं, मूलं कारणं यत्र संसारजनने तत्तन्मूलं, तद्यथा स्यात्तथा हे गौतम ! आर्याऽपि साध्व्यपि नूनं निश्चितं संसारं जनयति विवर्द्धयति, यस्मात् इति शेषः । तस्माद्धर्मोपदेशं मुक्त्वा अन्यदर्थमार्या न जल्पेत ॥१३३॥

मासे मासे उ जा, अज्जा एगसित्थेण पारए कलहे ।

गिहत्थभासाहिं, सव्वं तीइ निरत्थयं ॥ १३४ ॥

' मासे मासे उ ' इत्यत्र "क्रियामध्येऽध्वकाले पञ्चमी च" इति सूत्रेण सप्तमी । वीप्सायां द्विर्वचनम् । तुशब्देवकारार्थः । ततश्च मासे मासे एव नत्वर्द्धमासादौ या आर्या साध्वी एकासिक्थेन एककणेन पारयेत पारणकं कुर्यात् । (कलहे त्ति) कलहयेच्च कलहं कुर्यात् गृहस्थभाषाभिर्मर्मोद्घाटनशापप्रदानजकारमकारादिवचनैरित्यर्थः । अथवा कलहे राटौ गृहस्थभाषाभिः क्रियमाणे सतीति शेषः । सर्वं तपः प्रभृति धर्मानुष्ठानं तस्याः निरर्थकं निष्फलमिति । विषमाक्षरोति गाथाच्छन्दः ॥१३४॥ ग०२अधि० ।

अन्यच्च साध्वीनामनाचरितम्—

जत्थ य तेरसहत्थे, अज्जाओ परिहरंति नाणधरे ।

मणसा सुयदेवमिव, सव्वमवि त्थी परिहरंति ॥

इतिहासखेड्डकंद-प्पणाहवादणं कीरए जत्थ ।

धावणडेवणलंघण-ममारजयारउच्चरणं ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।

दिट्ठीविसदित्तग्गी, विसं व वज्जिज्जइ स गच्छे ॥

जत्थित्थीकरफरिसं, लिंगी अरहा वि सयमवि करेज्जा ।

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुणवाहा ॥

मूलगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकलियं पि लद्धिसंपन्नं ।

उत्तमकुले वि जायं, निद्धाडिज्जइ जहि तहिं गच्छं ॥

जत्थ हिरन्नसुवण्णे, जणधन्ने कंसदोसफलिहाणं ।

सयणाण आसणाण य, नयपरिभोगो तयं गच्छं ॥

जत्थ हिरन्नसुवन्नं, हत्थेण परागयं पि नोच्छिप्पे ।

कारणसमप्पियं पि हु, खणनिमिसद्धं पि तं गच्छं ॥

दुद्धरबंभवयपाल-णट्ठ अज्जाण चवलचित्ताणं ।

सत्तसहस्सं परिहरे-ज्ज ण वी जत्यत्थि तं गच्छं ॥

जत्युत्तरपच्चुत्तरि-उत्तरेहिं अज्जा उ साहुणा सद्धिं ।

पलवंति सकुद्धा वि य, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥

जत्थ य गोयम ! बहुवि-प्पकप्पोल्लचंचलमणाणं ।

अज्जाणमणुट्ठिज्जइ, जाणियं तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्थ क्खंगसरीरो, साहू अणसाहु णिच्च हत्थमया ।

उट्ठं गच्छेज्ज वहिं, गोयम ! गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्थ य अज्जाहि समं, संलावुल्लावमाइ ववहारं ।

मोत्तुं धम्मुवएसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ? ॥

भवमणियत्थविहारं, णिययविहारं ण ताव साहूणं ।

कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का वत्ता ? ॥

निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते नाणदंसणचरित्ते ।

सयलारंभविमुक्के, अप्पडिबद्धे सदेहे वि ॥

आयारमायरंते, एगखेत्ते वि गोयमा ! मुणिणो ।

वासस्सयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे भणिए ॥

जत्थ समुद्देसकाले, साहूणं मंडलीइ अज्जाओ ।

गोयम ! ठवंति पादे, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥

जत्थ य हत्थसए वि य, रयणीचारं चउण्हमूणाओ ।

उड्ढं दसण्हमसई, करेत्ति अज्जाउ णो तयं गच्छं ॥

अववाएण वि कारण-वसेण अज्जा चउण्हमूणाओ ।

गोयम ! वीपरिसक्क-ति जत्थ तं केरिसं गच्छं ? ॥

जत्थ य गोयम ! साहू, अज्जाहि समं पहम्मि अट्ठण ।

अववाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ गच्छम्मि का मेरा ? ॥

जत्थ य तिसाइभेयं, चक्खूरागग्गुदीराणिं साहू ।

अज्जाओ निरिक्खेज्जा, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिग्गहमादि विविहउवगरणं ।

परिभुंजइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥

अइ दुलहं भेसज्जं, बलबुद्धिविवड्ढणं वि पुट्ठिकरं ।

अज्जालद्धं भुंजइ का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥

साऊण गइ सुकुमालि-याए तह ससगभसगभइणीए ।

ताव न वीससियव्वं, सेयट्ठी धम्मिओ जाव ॥

दढचारित्तं मोत्तुं, आयरियं मयहरं च गुणरासिं ।

अज्जा वज्जावेई, तं अणगारं न तं गच्छं ॥

घणगज्जिय कुहुकुहुय, विज्जुदुगेज्ज गूढहिययाओ ।

होज्ज वावारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
पच्चक्खा सुयदेवी, ते च लद्धीइ सुराहि अणुया वि ।
जत्थ एरिसए कुज्जा, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
गोयम ! पंचमहव्वय–गुत्तीणं दसविहस्स धम्मस्स ।
एकं कह वि खलिज्जइ, इत्थी रज्जं न तं गच्छं ॥
दिणदिक्खियस्स दमग–स्स अभिमुहा अज्जवंदणा अज्जा ।
निच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सव्वअज्जाणं ॥
वाससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू ।
जत्तिभरनिब्भराए, वंदणविणएण सो पुज्जो ॥ महा० ५ अ. ।
(उपध्यादिकम ' जबहि ' आदिशब्देषु द्वि० भा० १०६० पृष्ठे द्रष्टव्यम) नि० चू० । ग० ।

अज्जाकप्प–आर्य्याकल्प–पुं० । आर्य्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्य्याकल्पः । साध्व्यानीताऽऽहारे, ग० ।

अथार्य्याव्यतिकरेण गच्छस्वरूपमेव गाथादशकेनाह–
जत्थ य अज्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोरदुब्भिक्खे ।
न य परिभुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥ ६१ ॥
यत्र च गणे आर्य्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः, साध्व्यानीताहार इत्यर्थः । प्राणत्यागेऽपि मरणागमनेऽपि, रोरदुर्भिक्षे दारुणदुष्काले, नच नैव, परिभुज्यते साधुभिरिति शेषः । कथम्?, सहसेति । अविमृश्य संयमस्य विराधनाविराधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षेत्, संयमे च तिष्ठति आत्मानमेव रक्षेत्, आत्मानं च रक्षन् हिंसादिदोषाद् मुच्यते । मुक्तस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसादिदोषप्रतिसेवनकालेऽप्यविरतिः , तस्याशये विशुद्धतया विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं चौघनिर्युक्तौ गाथायाम्–"सव्वत्थ संजमं सं–जमाउ अप्पाणमेव रक्खंता । मुच्चइ वायाओ पु–णो विसोही न याविरई" ॥ १ ॥ ततो विमृश्य परिभुज्यतेऽपि अग्निकापुत्राचार्यैरिव । यदाह–'अग्नियपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए । उवणीयं भुंजंतो, बंभवयेण सो अलंगज्जा' ॥ १ ॥ हे गौतम ! स गच्छो भणितः । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादिति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । (अग्निकापुत्राचार्यसंबन्धश्च ' अग्निआउत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जाणंदिल–आर्यनन्दिल–पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनागहस्तिगुरौ, नं० । (व्याख्याऽस्य 'अज्जणंदिल ' शब्दे द्रष्टव्या)

अज्जालद्ध–आर्य्यालब्ध–त्रि० । साध्वीं प्राप्ते, ग० २ अधि० ।
जत्थ य अज्जालद्धं, पडिगहमाई वि विविहउवगरणं ।
परिभुज्जइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥ ६१ ॥
यत्र च गणे आर्य्यालब्धं साध्वीप्राप्तं पतद्ग्रहादिकं विविधमुपकरणमपि किं पुनराहारादिकमित्यपिशब्दार्थः । कारणं विना साधुभिः परिभुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छः?, न कीदृशोऽपि । नन्वत्राऽऽर्यालब्धत्वं पतद्ग्रहाद्युपकरणस्य कथं संभवति?, आर्याणां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपात्रस्यैव ग्रहणनिषेधात्, ग्रहणे च प्रायश्चित्तम्, अनेके दोषाश्च । उक्तं च यतिजीतकल्पप्रकरणे–"गुरुउवहिअ पमिलेहे, छप्पइयअसोहिकामितग्गहणे । लहुगा गुरुगज्जाणं, सयमेव वत्थपायगिहे " ॥ १ ॥ अस्याः किंचिदूनपश्चार्द्धवृत्तिलेशो यथा–आर्याणां संयतीनां गृहस्थसकाशात् स्वयमेव वस्त्रपात्रग्रहणे चतुर्गुरुकाः । यतः संयतीनां गृहस्थेभ्यः स्वयमेव वस्त्रादिग्रहणेऽनेके दोषाः संभवन्ति । तथाहि–संयतीं गृहस्थाद्वस्त्राणि गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽप्यजिनवचनाद्रो मिथ्यात्वं गच्छेत्, निर्ग्रन्थोऽपि भाटीं गृह्णातीति शङ्केत वा । गृहस्थो वा वस्त्राणि दत्त्वा मैथुनमवभाषेत, प्रतिषिद्धे चैषामेव वस्त्राणि गृहीत्वोक्तं न करोतीत्युड्डाहं कुर्यात् । स्त्री च स्वभावेनाल्पसत्त्वा, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽल्पेनापि लोभेन लाभिता चाकार्यमपि करोति, बहुमोहा च स्त्री, ततः पुरुषैः सह संलापं कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णन्त्याश्च तस्याः पुरुषसंपर्कतो मोहो दीप्यते, उदाररूपां वा संयतीं दृष्ट्वा कार्मणादिना कश्चिद्वशीकुर्यात् । वशीकृता च चारित्रविराधनां करोति, तस्मान्निर्ग्रन्थीभिर्गृहस्थेभ्यः स्वयं वस्त्राणि न ग्राह्याणि, किन्तु तानि गणधरेण दातव्यानि । तत्रायं विधिः–संयती प्रायोग्यमुपधिमुत्पाद्य सप्तदिनानि स्थापयति, ततः कल्पं कृत्वा स्थविरं स्थविरां वा परिधापयति, यदि नास्ति विकारस्ततः सुन्दरम् । एवं परीक्षामकृत्वा यदि ददाति, तदा चतुर्गुरुकम् । तं च परीक्षितमुपधिमाचार्यो गणिन्याः प्रयच्छति, गणिनी च संयतीनां विधिना ददाति । अथाचार्यः स्वयं न तासां ददाति तदा चतुर्गुरुकम्, यतः काचिन्मन्दधर्मा भणेदस्याश्चोत्तरं दत्तं तेनैषाऽस्येष्टा यौवनस्था च प्रथमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येण प्रवर्त्तिन्या एव हस्ते दातव्यमित्यादि । एतच्च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावपि सविस्तरमस्तीति । अत्रोच्यते–यदुक्तं भवता, तत् सत्यं, परं संजत्येव, श्रमणाभावादौ आर्यालब्धत्वमुपकरणस्य श्रमणासद्भावादौ निर्ग्रन्थीनामपि स्थविरादिक्रमेण स्वयमेव वस्त्रग्रहणस्यानुज्ञानात् । उक्तं च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावेव–यथा चोयग आह–यद्येवं, सूत्रस्य नैरर्थक्यं प्रसज्यते । आयरिओ आह–
'असइ समणाण चोअग ! , जायंते निमंतणे तह चेव ।
जायंति थेरिय सती, व मीसगा मोत्तुमे ठाणो' ॥ १ ॥
हे चोदग ! समणाणं असति थेरियाओ वत्थे जायंते, निमंतणे वत्थं वा गेण्हंति, जहा साहू तहा ताओ वि, थेरीणं असति तरुणी व ति मिस्साउ जायंति इमे ठाणे मोत्तुमित्यादि । अत्र वस्त्रग्रहणवत्पात्रग्रहणमनुक्तमपि श्रमणाभावादावनुज्ञातं संभाव्यते ॥ ६१ ॥
अइदुल्लह–भेसज्जं, बलबुद्धिविवड्डणं पि पुट्ठिकरं ।
अज्जालद्धं भुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ६२ ॥
यत्र गणे , अपिशब्दस्य प्रतिविशेषणं संबन्धात् अतिदुर्लभमपि अतिशयेन दुष्प्राप्यमपि । अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । समासो वा भैषज्यशब्देन सह । तथा बलबुद्धिविवर्धनमपि, तत्र बलं शरीरसामर्थ्यं, बुद्धिर्मेधा, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपचयकार्यपि, भैषज्यमौषधमार्यालब्धं साध्व्यानीतं भुज्यते, साधुभिरिति शेषः । हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा तत्र गच्छे ?, न काचिदपीत्यर्थः । मेरेति मर्यादावाची देशीशब्दः । ॥ ६२ ॥
एगो एगित्थिए सद्धिं, जत्थ चिट्ठिज्ज गोअमा ! ।
संजईए विसेसेण, निमेरं तं तु भासिमो ॥ ६३ ॥
एक एकाकी साधुरेकाकिन्या स्त्रिया सार्धं हे गौतम ! यत्र तिष्ठेत् तं गच्छं निर्मेरं निर्मर्यादं भाषामहे वयम् । संयत्या च एकाकिन्या एकाकी यत्र साधुस्तिष्ठेत् तं तु गच्छं विशेषेण निर्मेरं भाषामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्व्या च सार्धमेकाकिनः साधोर्यदेकत्र स्थानवर्जनं तत्तेषामेकान्ते परस्परमङ्गप्रत्यङ्गादिदर्शनाऽऽलापादिकरणतो दोषोत्पत्तेः संभवात् । किं-

च-प्रतीतमेकान्तेऽपि श्रेणिकचेल्लणयोः रूपादिदर्शनेन श्रीमन्महावीरसाधुसाध्वीनां निदानकरणादिदोषोत्पत्तिः संजातेति श्रीदशाश्रुतस्कन्धे तथोपलम्भादिति। अनुष्टुप्छन्दः ॥७३॥ ग०२अधि०। महा०। आव०। ('अग्निआउत्त' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)

अज्जावेयव्व--आज्ञापयितव्य--त्रि०। आज्ञाप्ये समाज्ञापयितव्ये, "अहं णं अज्जावेयव्वो अम्हे अज्जावेयव्वा" सूत्र०२ श्रु०२ अ०।

अज्जासंसग्गी--आर्यासंसर्गी--स्त्री०। साध्वीपरिचये, ग०।

आर्यासंसर्गवर्जने कारणमाह—

वज्जेह अप्पमत्ता, अज्जासंसग्गि अग्गिविससरिसी ।
अज्जाणुचरो साहू, लहइ अकित्तिं खु अचिरेण ॥६३॥

वर्जयत मुञ्चत, अप्रमत्ताः प्रमादवर्जिताः सन्तो भोः साधवः! यूयम् काः?, आर्यासंसर्गीः साध्वीपरिचयान्। अत्र शसो लोपः प्राकृतत्वात्। उपसर्गेऽग्निविषसदृशीरुपलक्षणत्वात् व्याघ्रविषधरादिसदृशीश्च, खुर्यस्मादर्थे। ततोऽयमर्थः—यस्मात्कारणात् आर्यानुचरः साधुर्मुनिर्लभते प्राप्नोति अकीर्तिमसाधुवादमचिरेण स्तोककालेनेति ॥ ६३ ॥

थेरस्स तवस्सिस्स, बहुस्सुअस्स व पमाणभूयस्स ।
अज्जासंसग्गीए, जणजंपणयं हविज्जाहि ॥ ६४ ॥

स्थविरस्य वृद्धस्य तपस्विनो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वाऽधीतबह्वागमस्य प्रमाणभूतस्य वा सर्वजनमान्यस्य एवंविधस्यापि साधोः आर्यासंसर्ग्या साध्वीपरिचयेन (जणजंपणयं ति) जनवचनीयता जनापवाद इत्यर्थः, भवेदिति ॥ ६४ ॥

अथ यद्येवंविधस्यार्यासंसर्ग्या जनापवादः स्यात्तर्हि—

एतद्विपरीतस्य का कथेत्याह—

किं पुण तरुणो अबहु-स्सुअ न य विगिट्ठतवचरणो ।
अज्जासंसग्गीए, जणवंचणयं न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

तरुणो युवा अबहुश्रुतआगमपरिज्ञानरहितः, न चापि बहुविकृष्टतपश्चरणो न दशमादितपःकर्ता; एवंविधो मुनिरार्यासंसर्ग्या जनवचनीयतां किं पुनर्न प्राप्नुयात्?, अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः । ६५ । ग० २ अधि० ।

अज्जासाढ-आर्याषाढ-पुं० । श्रीवीरसिद्धेः चतुर्दशाधिकद्विशतद्वयेऽतिक्रान्ते तृतीयाव्यक्तदृष्टीनां गुरौ, ते चाऽऽर्याषाढाभिधा आचार्याः श्वेताम्ब्यां नगर्यां समवसृत्य तत्रैव हृदयशूलरोगतो मृत्वा सौधर्मे उपपद्य पुनः शरीरमधिष्ठाय कञ्चित्स्वशिष्यमाचार्यं कृत्वा दिवं गता इति । तच्छिष्याश्चाऽव्यक्तदृष्टयोऽभवन्। आ०क०। उत्त०।आ०म०।('अव्वत्तिय' शब्देऽस्य विस्तरः)

अज्जिअ-अर्जित-त्रि०। उत्पादिते; उत्त० १ अ० । उपार्जिते, " धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया " उत्त० १ अ० । संश्लिष्टे, " अट्ठविहं कम्ममूलं, बहुएहि भवेहि अज्जियं पावं " संथा० । नि० चू० । उत्त० ।

अज्जिआलाभ-आर्यिकालाभ-पुं० । आर्यिकाभ्यो लाभः आर्यिकालाभः। साध्व्यानीतवस्त्रपात्रादौ, आव०।

अज्जिअलाभे गिद्धा, सएण लाभेण जे असंतुट्ठा ।
भिक्खायरियाभग्गा, अन्नियपुत्तं ववइसंति ॥ ११७ ॥

आर्यिकाभ्यो लाभः तस्मिन् गृद्धा आसक्ताः, स्वकीयेनात्मीयेन लाभेन ये असन्तुष्टा मन्दधर्मा भिक्षाचर्यया भग्नाः भिक्षाटनेन निर्विण्णा इत्यर्थः । ते हि सुसाधुना चोदिताः सन्तः अभद्रयोऽयं तपस्विनामिति अन्निकापुत्रमाचार्यो व्यपदिशन्त्यालम्बनत्वेनेति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

कथम् ?—

अन्नियपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।
उवणीयं भुंजंतो, तेणेव भवेण अंतगडो ॥ ११८ ॥

अक्षरार्थो निगदसिद्धः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (तच्च ' अन्नियाउत्त ' शब्दे वक्ष्यते) तेन मन्दमतय इदमालम्बनं कुर्वन्तः सन्तः, इदमपरं नेक्षन्ते । किमत आह—

गयसीसगणा ओमे, भिक्खायरिआ अपच्चलं थेरं ।
निग्गमंति सहो विसढो, अज्जिअलाभं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तम्, (ओमे) दुर्भिक्षे भिक्षाचर्यायाम्, (अपच्चलो) असमर्थः, भिक्षाचर्यायामपच्चलं असमर्थस्तं स्थविरं वृद्धमेवंगुणयुक्तं न गणयन्ति नालोचयन्ति, सहा विसढाः समर्थाः, अपिशब्दात् सहायादिगुणयुक्तेऽपि सतमायाविन आर्यिकालाभं येषं गवेषयन्ति अन्वेषन्त इति गाथार्थः ॥ ११९ ॥ आव० ३ अ० ।

अज्जिआ-आर्यिका-स्त्री०। मातुर्मातरि, दश०७ अ० । पितामह्याम्, बृ०१उ०। ग०। साध्व्यां च। "जानीते जिनवचनं, श्रद्धत्ते चार्यिकासकलम् । नास्यास्त्यसम्भवोऽस्या-नादृष्टविरोधगतिरस्ति" ॥ १ ॥ ध० २ अधि० ।

अज्जु-अद्य-अव्य०। अपभ्रंशे उकारान्तत्वम् । अस्मिन्नहनि, "विप्पियआरउ जइवि, पिउतो वि तं आणहि अज्जु" प्रा० ।

अज्जुण-अर्जुन-पुं० । अर्ज-उनन् । ककुभपर्याये, औ० । बहुबीजकवृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । ज्ञा० । रा० । तत्पुष्पे, तच्च सुरभि भवति। ज्ञा०१श्रु० ९ अ०। तृणविशेषे, प्रज्ञा०१ पद० । आचा० । स्वनामख्याते पाण्डुरस्वर्णे, जं० ३ वक्ष० । गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य षष्ठे गौतमपुत्रे दिक्चरे, भ०१५ श०१ उ०। "अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि" भ० १४ श० १ उ० । हैहयवंश्ये कृतवीर्याऽपत्ये नृपभेदे, भूतावमानी हैहयश्चार्जुनः । ध० १ अधि० । पाण्डुराजस्य तृतीये आत्मजे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । (विवाहादि चास्य 'दोवइ' शब्दे द्रष्टव्यम्) " अज्जुणगुट्ठं व तस्स जाणइ " उपा० २ अ० ।

अज्जुणग-अर्जुनक-पुं०। मालाकारभेदे, अन्त०। तत्कथा चैवम्-

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे णयरे गुणसिलए चेइए, सेणिए राया, चेल्लणा देवी, तत्थ णं रायगिहे णयरे अज्जुणए नामा मालागारे परिवसति । अड्ढे जाव अपरिभूते तस्स णं अज्जुणयस्स मालागारस्स बंधुमती-नामं भारिया होत्था। सुमालस्स तस्स णं अज्जुणयस्स मालागारस्स रायगिहस्स नगरस्स बहिया। एत्थ णं महं एगे पुप्फारामे होत्था, किन्हे जाव निकुरंबभूते दसद्धवण्णकुसुमेइ पासा ते तस्स णं पुप्फारामस्स अदूरसामंते एत्थ णं अज्जुणयस्स मालागारस्स अज्जयपज्जयपिइपज्जयागते अणेगकुलपरीसं परंपरागते मोग्गरपाणस्स जक्खाययणे होत्था, पोराणे दिव्वे सच्चे सच्चवातिए जहा पुण्णभद्दे तत्थ

णं मोग्गरपाणिस्स एगं महं पलसहस्सनिप्फण्णअओमयमोग्गरं गहाय चिट्ठति, तस्सेव अज्जुणए मालागारे बालप्पभिंतिं चेव मोग्गरपाणिजक्खस्स भत्तेया वि होत्था, कल्लाकल्लिं पच्छियपमिया ति गेएहोवेति, गेएहोवेतित्ता रायगिहातो णगराओ पमिनिक्खमति, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव पुप्फारामे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता पुप्फचयं करेति, करेतित्ता अग्गाइं वराइं पुप्फाइं गहाय जेणेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता मोग्गरपाणिजक्खस्स महरिहं पुप्फच्चणं करेति, करेतित्ता जाणुपाते पमिते पणामं करेति, करेतित्ता ततो पच्छा रायमग्गंसि वितिं कप्पेमाणे विहरति, तत्थ णं रायगिहे नगरे ललितनामं गोट्ठी परिवसति, अड्ढा जाव अपरिभूया जकयसुकया या वि होत्था, तं रायगिहे णयरे अएणया कयाइं पमोये घुट्ठे या वि होत्था,तस्सेव अज्जुणए मालागारे कल्लपभुयतराएहिं पुप्फेहिं कज्जंमि तिकट्टु पच्चूसकालसमयंसि बंधुमतीए भारियाए सद्धिं पच्छिय पडियाइं गेएहति, गेएहतित्ता सयाउ गिहातो पमिनिक्खमति, पमिनिक्खवितित्ता रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं निगच्छइ, निगच्छइत्ता जेणेव पुप्फारामे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता बंधुमतीए भारियाए सद्धिं पुप्फच्चयं करेति, तीसे ललियाए गोट्ठी; तत्थ गोट्ठिल्ला पुरिसा जेणेव मोग्गरपाणिस्स जक्खायतणे तेणेव उवागया अभिरममाणा चिट्ठंति, तस्सेव अज्जुणए मालागारे बंधुमतीए भारियाए सद्धिं पुप्फच्चयं करेति, करेतित्ता पच्छीयं भरेति अग्गाइं पुप्फाइँ गिहाइं जेणेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायअणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता ते छ गोट्ठील्ला पुरिसा अज्जुणए मालागारे बंधुमतीभारियाए सद्धिं एज्जमाणं पासंति,पासंतित्ता अएणमएणं एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! अज्जुणमालागारे बंधुमतीए भारियाए सद्धिं हव्वमागच्छति, हव्वमागच्छतित्ता तं सेयं खलु देवाणुप्पिय ! अहं अज्जुणयं मालागारं अओमयबंधणयं करेति, करेतित्ता बंधुमतीए भारियाए सद्धिं विपुलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणाणं विहरित्तए तिकट्टु एयमट्ठं अएणमएणस्स पडिसुणति, पडिसुणतित्ता कवाडंतरेसु निलुक्कति, निच्चला निप्फंदा तुसिणी एया पच्छन्ना चिट्ठति, तस्से अज्जुणए मालागारे बंधुमतीए भारियाए सद्धिं जेणेव मोग्गरजक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता आलोए पणामं करेति, करेतित्ता महरिहं पुप्फच्चणं करेति, जाणुपायं परणामं करेति, तत्ते णं ते छ गोट्ठिल्ला पुरिसा दवदव्वस्स कवाडंतरेहिंतो निग्गच्छंति, निगच्छंतित्ता अज्जुणयं मालागारं गेएहंति, गेएहंतित्ता अवकुगं बंधणं करेति, बंधुमतीए मालागाराए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति, तस्स अज्जुणयस्स मालागारस्स अयं अप्पसत्थीए । एवं खलु अहं बालप्पभितिं चेव मोग्गरपाणिस्स भगवतो कल्लाकल्लिं जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जयणं इहं सन्निहिते सुव्वत्तेणं एस कट्ठे तत्तेणं से मोग्गरपाणिजक्खे अज्जुणयस्स मालागारस्स अयमेयारूवं अवत्थियं जाव वियाणित्ता अज्जुणयस्स मालागारस्स सरीरयं अणुपविसाति, अणुपविसतित्ता तमतमतडसंबद्धाइं छिंदति, छिंदतित्ता तं पलसहस्सनिप्फएणं अओमयं मोग्गरं गेएहति, ते इत्थी सत्तमे छ पुरिसे घाएइ तसे अज्जुणए मालागारे मोग्गरपाणिएणं जक्खेणं अणाइट्ठे समाणे रायगिहस्स णगरस्स परिपेरं तेणं कल्लाकल्लिं छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे विहरति, तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग जाव महापहेसु बहुजणो अएणमएणस्स एवमाइक्खति०४ । एवं खलु देवाणुप्पिय ! अज्जुणए मालागारे मोग्गरपाणिणा अणाइट्ठे समाणे रायगिहे णयरे बहिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घायमाणे २ विहरति, तत्ते णं से सेणिए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे कोमुंबिए सद्दावेति,सद्दावेतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! णं अज्जुणमालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तं माणं तुज्झे केइकट्ठस्स वा तणस्स वा पाणियस्स वा पुप्फफलाणं वा अट्ठाए संतिरं निग्गच्छउमाणं तस्स सरीरयस्स वावत्ती भविस्सति, तिकट्टु दोच्चं पि तच्चं पि घोसणघोसेहाति, घोसणघोसेहतित्ता खिप्पा मम एयं माणत्तियं पच्चप्पिणंति, तए णं कोमुंबिय जाव पच्चपिणंति, तत्थ णं रायगिहे णगरे सुदंसणे नामे सेट्ठी परिवसति, अड्ढे तस्से सुदंसणे समणो वासए या वि होत्था,अभिगयजीवाजीवे जाव विहरति । ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे जाव विहरति, तं रायगिहे णयरे सिंघाडगबहुजणो अएणमएणस्स एवमाइक्खति जाव किमंग ! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणताए ते तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सुच्चा निसम्म अब्भत्थिते० ५। एवं खलु समणे णं जाव विहरति, तं गच्छामि, णं वंदामि,एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता करयल० एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ समणे जाव विहरति, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जुवासामि, तत्ते णं ते सुदंसणं सेट्ठी अम्मापियरो एव वयासी–एवं खलु पुत्ता अज्जुणए मालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तं माणं तुमं पुत्ता समणं जगवं महावीरं वंदंति, पज्जुवासंति, निग्गच्छाहि- माणं तवसरीरस्स वा विति भविस्सति,तुमणं इह गए चेव समणं भगवं महावीरं वंदाहि,तए णं से सुदंसणे सेट्ठी अम्मापि-

यरो एवं वयासी-किं णं अम्मयातो समणं भगवं महावीरं इह-
मागते इह पत्तं इह समोसढं इह गते चेव वंदिस्सामि, तं गच्छा-
मि, णं अहं अम्मयाउ तुज्भोहिं अब्भणुन्नाते समाणे समणं
भगवं महावीरं वंदति,तं सुदंसणं सेट्ठी अम्मापियरो जा से नो
संचाएति, बहुहिं आघवणेहिय ४ जाव परूवेहिं संता तंता
परितंता तीहे एवं वयासी—अहासुहं तत्ते णं से सुदंसणे अ-
म्मापितीहिं अब्भणुन्नाते समाणे ण्हाति, सुद्धप्पा वेसाइं जाव
सरीरे सयातो गिहातो पडिनिक्खमति, पडिणिक्खमतित्ता
पायविहारचारेणं रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति,
निगच्छतित्ता मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे अऊर-
सामंते णं जेणेव गुणसीलए चेतिए जेणेव समणे भगवं तेणेव
पहारेत्थगमणाए तत्ते णं से मोग्गरपाणी जक्खे सुदंसणं स-
मणो वासयं अदूरसामंते णं वीयीवयमाणे पासति, पासतित्ता
आसुरुत्ते४ तं पलसहस्सनिप्फन्नं अओमयमोग्गरं उल्लालेमाणे
जेणेव सुदंसणे समणो वासए तेणेव पहारेत्थगमणाए तत्ते
णं से सुदंसणे समणो वासए मोग्गरपाणिं जक्खं एज्जमाणं
पासति, पासतित्ता अभीते अतत्थे अणुव्विग्गे अक्खुभिते
अचलिए असंभंते वत्थंतेणं भूमी पमज्जति, पमज्जतित्ता
करयल०एवं वयासी-णमोत्थु णं अरहंताणं जाव संपत्ताणं;
नमोत्थु णं समणस्स भगवं जाव संपाविउकामस्स पुव्वं पि
णयए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए थूलए
पाणातिवातं पच्चक्खाए जावजीवाए थूलए मूसावाए
थूलए अदिण्णादाणे सदारसंतोसे करे जावजीवाए तं
इदाणिं पि णं तस्सेव अंतिअं सव्वं पाणातिवायं पच्च—
क्खामि जावजीवाए, मूसावायं अदत्तादाणं मेहुणपरिग्गहं
पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं कोहं जाव मिच्छादंसणस-
ल्लं पच्चक्खामि जावजीवाए, सव्वं असणं पाणं खाइमं
साइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावजीवाए, जति
णं एत्तो उवसग्गातो मुच्चिस्सामि, तो मे कप्पइ पारे तत्त ।
अह णं एत्तो उवसग्गातो न मुच्चिस्सामि, तो मे तहा
पच्चक्खाए त्ति तिकट्टु सागारं पडिमं पडिवज्जति । से
मोग्गरपाणी जक्खे तं पलसहस्सनिप्फण्णं अओमयं मोग्ग-
रं उल्लालेमाणे २ जेणेव सुदंसणे समणो वासए तणेव
उवागते नो चेव णं संचाएति सुदंसणं समणोवासयं तेयसा
समभिपडिताते। तत्ते णं से मोग्गरपाणी जक्खे सुदंसणं सम-
णोवासयं सव्वओ समंताओ परिघोलमाणे२ जाहे नो संचा-
एति सुदंसणं समणो वासयं तेयसा समभिपडितते ताहे सुदं-
सणस्स समणो वासयस्स पुरतो सपक्खिं सपडिदिसिं ठिच्चा
सुदंसणं समणोवासयं आणिमिसाए दिट्ठीए सुचिरं निरिक्ख-
ति,निरिक्खतित्ता अज्जुणयस्स मालागारस्स सरीरं विप्प-
जहति । तं पलसहस्सनिप्फण्णं अओमयं मोग्गरं गहाय जामे-
व दिसिं पाउब्भूते तामेव दिसिं पडिगते। तए णं अज्जुणए
मालागारे मोग्गरपाणिणा जक्खेणं विप्पमुक्किस्समाणे ध-
सति धरणीयलंसि, सव्वं गेहं निवाडिए ते सुदंसणे समणो
वासए निरुवसग्गम्मि तिकट्टु पडिमं पारेति, तत्ते णं से
अज्जुणए मालागारे ततो मुहुत्तंतरेण आसत्थे समाणे उट्ठेति,
उट्ठेतित्ता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी—तुज्भेणं
देवाणुप्पिया ! कहिं वासं पथिया ?। तत्ते णं से सुदंसणे समणो
वासए अज्जुणयं मालागारं एवं वयासी—एवं खलु देवाणु-
प्पिया ! अहं सुदंसणे नाम समणो वासए अभिगयजीवाजीवे
गुणसिले चेइए समणं भगवं महावीरस्स वंदते, सपत्थिए
तसे अज्जुणए मालागारे सुदंसणं समणो वासयं एवं वया
सी—तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया !अहमवि तुमए सद्धिं समणं
भगवं महावीरस्स वंदिए जाव पज्जुवासिए। अहासुहं देवाणु-
प्पिया ! तत्ते णं से सुदंसणे समणो वासए अज्जुणएणं माला-
गारेणं सद्धिं जेणेव गुणसिलए चेतिए जेणेव समणे भगवं
महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छितित्ता अज्जुणएणं
मालागारेणं सद्धिं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो जाव पज्जु-
वासति । तत्तेणं से समणे भगवं महावीरे सुदंसणं समणो वा-
सए अज्जुणयस्स मालागारस्स तिसयद्धम्मकहासुदंसणे सम-
णोवासए पडिगते तसे अज्जुणए मालागारे समणस्स भगवतो
महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठा सद्दहामि, णं भंते !
निग्गंथं पावयणं जाव अब्भुट्ठेमि, अहासुहं तसे अज्जुणए
उत्तरपुरच्छिमे य सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, करेतित्ता
जाव अणगारे जाते जाव विहराति, तत्ते णं से अज्जुणए अ-
णगारे जं चेव दिवसं मुंडे०जाव पव्वइए तं चेव दिवसं सम-
णं भगवं महावीरं महावीरस्स वंदति, वंदतित्ता इमं एया-
रूवं उग्गहं उगिण्हेति, कप्पति, मं जावजीवाए छट्ठं छट्ठेणं
अनिक्खित्तेण तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स विहरित्तए
तिकट्टु अयमेयारूवं उग्गहं उगिण्हेति, जावजीवाए विह-
रति, तत्ते णं अज्जुणए अणगारे छट्ठक्खमणपारणयंसि
पढमपोरसीए सज्भायं करेति, जहा गोयमसामी जाव अ-
डति, तत्ते णं से अज्जुणयं अणगारं रायगिहे णयरे उच्च-
नीचं च जाव अडमाणं बहवे इत्थी उ य पुरिसा य डहरा
य महला य जुवाणा य एवं वयासी—इमे णं मे पितामातरा
इमे णं मे मा मारिया भायभगिणीभज्जा पुत्ते धूया सुण्हा मा
मारिया, इमे णं मे अन्ने य सयणसंबंधे परियणं मा मारेति,ति-
कट्टु अप्पेगइया अक्कोसंति,अप्पेगइया हीलंति,अप्पे०निंदंति,
अप्पे० खिंसति, अप्पेगइया गरहंति, अप्पे० तज्जेति, तत्ते-
णं से अज्जुणए अणगारे तेहिं बहुहिं पुरसेहिं महल्ले
य जाव अक्कोसिज्जमा जाव तालेणेते संमणसा वि अ पउ-

सहसमाणे समं सहति, समं खमति, तितिक्खइ, अहिज्जमाणे अहियासेइ, समं सहमाणे खमतो तितिक्खति, अहियासेति, रायगिहे णयरे ऊंचनीचमज्झिमकुलाइं अडमाणे जइ भत्तं लभति, तो पाणं न लभति, जइ पाणं लभइ, तो भत्तं न लभइ, तत्ते णं से अज्जुणए अणगारे अदीणे अविमणे अकलुसे अणाइले अविसादी अपरितत्तजोगी अमति, अमतित्ता रायगिहातो नगरातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता, जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे जहेव गोतमसामी जाव पडिदंसेते २ समणं भगवं महावीरे अब्भणुण्णाते समाणे अमुच्छिते ४ बिलमिव पण्णगभूतेण अप्पाणेण तमाहारं आहारेति, आहारेतित्ता तत्ते णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाति, कयातित्ता रायगिहाओ पडिणिक्खमति, पमिणिक्खमतित्ता वहिया जणविहं विहारं विहरति, तत्ते णं से अज्जुणए अणगारे तेणं उरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुन्ने छम्मासे सामण्णपरियागं पाउणाति, अद्धमासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसेति, तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, छेदेतित्ता जस्सट्ठाते कीरति, कीरतित्ता जाव सिद्धे ॥ अंत० ६ वर्ग० ३ अ० ।

स्वनामख्याते तस्करभेदे, आचा० १ श्रु०२ अ०१ उ० । (तस्य शब्दासकत्वात् ' सह ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अज्जुणसुवराण–अर्जुनसुवर्ण–न० । श्वेतकाञ्चने, औ० ।

अज्जोग–अयोग–पुं० । "सेवादौ वा" ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति प्राकृतलक्षणाज्जस्य वा द्वित्वम् । योगवर्जिते, पं० सं० १ द्वा० ।

अज्जोगि (ण्)–अयोगिन्–पुं० । सेवादित्वाद् जद्वित्वम् । अयोगिकेवलिनि, " अज्जोगो अज्जोगी, संमत्तसजोगंमि होति जोगाउ " पं० सं० १ द्वा० ।

अज्झओ–देशी–प्रातिवेश्मिके, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्झत्त–अध्यात्म–न० । अधि आत्मनि वर्त्तते इत्यध्यात्मम् । चेतसि, दश०१ अ० । आचा० । प्रव० । स्था० । ध्याने, आव०४अ० । सम्यग्धर्मध्यानादिभावनायाम, सूत्र०१श्रु०८ अ० । आत्मानमधिकृत्य यद्वर्त्तते तदध्यात्मम । सुखदुःखादौ, "जे अज्झ(त्तं)त्थं जाणइ से वहिया जाणइ, जे वहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ" आचा०१ श्रु०१ अ०७उ० । (आत्मनि इति अध्यात्मम, 'अव्ययं विभ०' ॥२।१।६॥ इति पाणिनिसूत्रेण समासः) आत्मनीत्यर्थे, उत्त०१अ० । अध्यात्मस्थ–न० । अध्यात्मं मनस्तस्मिन् तिष्ठत्यध्यात्मस्थम, प्राकृतत्वाद्वर्णलोपः, इष्टसंयोगानिष्टसंयोगादिहेतुभ्यो जाते सुखदुःखादौ, उत्त० । " अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्समाणे पियायए " उत्त० ६ अ० ।

अज्झत्तजोग–अध्यात्मयोग–पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायाम्, धर्मध्याने च । सूत्र०१ श्रु०१६अ० । योगभेदे च, तल्लक्षणम्–तत्राऽनादिपरजाव औदयिकभावरमणीयतां धर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टिहेतुं क्रियां कुर्वन् अधर्मे धर्मबुद्ध्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामयनिःसंगशुद्धात्मभावनाभावितान्तःकरणस्य स्वभाव एव धर्म इति योगवृत्त्याऽध्यात्मयोगः । अष्ट० ८ अष्ट० ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिभावसंयुक्त-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ २ ॥

(औचित्यादिति) औचित्यादुचितप्रवृत्तिलक्षणाद् वृत्तयुक्तस्याऽणुव्रतमहाव्रतसमन्वितस्य वचनाज्जिनागमात्तत्त्वचिन्तनं जीवादिपदार्थसार्थपर्यालोचनं मैत्र्यादिभावैर्मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षालक्षणैः समन्वितं सहितमध्यात्मं तद्विदोऽध्यात्मज्ञातारो विदुर्जानते । द्वा० १८ द्वा० । " अज्झत्थजोग गयमाणस्स " आचा० १ श्रु० ।

अज्झत्तजोगसाहणजुत्त–अध्यात्मयोगसाधनयुक्त–पुं० । अध्यात्मं मनस्तस्य योगा व्यापारा धर्मध्यानादयस्तेषां साधनान्येकाग्रतादीनि तैर्युक्तोऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । चित्तैकाग्रताऽऽदिभाजि, उत्त० २६ अ० । " निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झत्तजोगसाहणजुत्ते या वि भवइ " उत्त० २६ अ० ।

अज्झत्तजोगसुद्धादाण–आध्यात्मयोगशुद्धादान–त्रि० अध्यात्मयोगेन सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धमवदातमादानं चरित्रं यस्य स तथा । शुभचेतसा विशुद्धचारित्रे, " अज्झत्तजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खू ति वच्चे " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्तकिरिया–अध्यात्मक्रिया–स्त्री० । केनापि कथञ्चनाप्यपरिभूतस्य दौर्मनस्यकरणरूपेऽष्टमे क्रियास्थाने, स्था० ५ ठा० २ उ० । कोङ्कणसाधोरिव यदि सुताः सम्प्रति क्षेत्रखल्लराणि संज्वलयन्ति तदा भव्यमित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया । ध० ३ अधि० ।

अज्झत्तज्झाणजुत्त–अध्यात्मध्यानयुक्त–त्रि० । अध्यात्मना शुभमनसा ध्यानं यत्तेन युक्तो यः स तथा । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्तदंड–अध्यात्मदण्ड–पुं० । शोकाद्यभिभवेऽष्टमक्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्तदोस–अध्यात्मदोष–पुं० । कषाये, सूत्र० ।

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एआणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥२६॥

(कोहं चेत्यादि) निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कारणमत एतानध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान् वान्त्वा परित्यज्याऽसौ भगवानर्हत्तीर्थकृद् जातः । तथा महर्षिश्च । एवं परमार्थतो महर्षित्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भवन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः पापं सावद्यमनुष्ठानं करोति, नाप्यन्यैः कारयतीति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झत्तमयपरिक्खा–अध्यात्ममतपरीक्षा–स्त्री० । नामानुरूपाभिधेये, शतग्रन्थीकृता नयविजयशिष्येण यशोविजयवाचकेन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० । द्वा० ।

अज्झत्तरय–अध्यात्मरत–त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झत्तवत्तिय–अध्यात्मप्रत्ययिक-(पुं०)-आध्यात्मिकप्रत्ययिक-न० । आत्मनि अधि अध्यात्मम् । तत्र भव आध्यात्मिको द-

एडस्तत्प्रत्ययिकम । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते । सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

एतदेव सूत्रकारो व्यस्यन्नाह—

अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थवत्तिए त्ति आहिज्जइ से जहा णामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किं विसंवादेंति सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठिए झियाइं तस्स णं अज्झत्थया आसंसइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ, तं कोहे माणे माया लोहे अज्झत्थमेव कोहमाणमायालोहे एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्थवत्तिए त्ति आहिए ॥ १६ ॥

अथापरमष्टमं क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवमाख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषश्चित्तोपेक्षाप्रधानस्तस्य च नास्ति कश्चिद्विसंवादयिता न तस्य कश्चिद्विसंवादेन परिभवेन वा सद्भूतोद्भावनेन वा चित्तदुःखमुत्पादयति, तथाप्यसौ स्वयमेव वर्णापसदवद् हीनो दुर्गतवद्दीनो दुश्चित्ततया दुष्टो दुर्मनास्तथोपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । चिन्तैव शोक इति सागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकश्चिन्ताशोकः सागर इव चिन्ताशोकसागरः । तथाभूतश्च यदवस्थो भवति तद्दर्शयति-करतले पर्यस्तं मुखं यस्य स तथा अहर्निशं भवति, तथाऽऽर्त्तध्यानोपगतोऽपगतसद्विवेकतया धर्मध्यानदूरवर्ती निर्निमित्तमेव द्वन्द्वोपहतवद्ध्यायति । तस्यैवं चिन्ताशोकसागरावगाढस्य सत आध्यात्मिकान्यन्तःकरणोद्भवानि मनःसंसृतान्यसंशयितानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि भवन्ति, तानि चैवं समाख्यायन्ते; तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मानस्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं क्रोधमानमायालोभा आत्मनोऽधि भवन्त्याध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्टं मनो भवति । तदेव तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमायालोभवत एवमेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्तं सावद्यं कर्माऽऽधीयते संबध्यते । तदेवमेतत्क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमाख्यातमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्झत्तवयण–अध्यात्मवचन–न० । आत्मन्यधि अध्यात्मम्, तच्च तद्वचनम् । हृदयगते वचनभेदे, षोडशवचनानां सप्तममिदम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । आत्मन्यधि अध्यात्मं हृदयं तं तत्परिहारेणान्यद् भणिष्यतस्तदेव । सहसा पतिते वचने, विशे० । आचा० ।

अज्झत्तविंदु–अध्यात्मबिन्दु–पुं० । यथार्थनामधेये ग्रन्थभेदे, "ये यावन्तोऽध्वस्तबन्धा अभूवन्, भेदज्ञानाभ्यास एवात्र मूलम् । ये यावन्तो ध्वस्तबन्धा भवन्ति, भेदज्ञानाभाव एवात्र बीजम्" ॥१॥ इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झत्तविसीयण–अध्यात्मविषीदन–न० । संयमकष्टमनुभूय मनसि विषण्णीभवने, सूत्र० ।

जहा संगामकालम्मि, पिट्ठतो भीरु वेहइ ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ? ॥ १ ॥

(जहेत्यादि) दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भवत्यत आदावेव दृष्टान्तमाह–यथा कश्चिद्भीरुरकृतकरणः संग्रामकाले परानीकयुद्धाऽवसरे समुपस्थितः पृष्ठतः प्रेक्षते आदावेवाऽऽपत्प्रतीकारहेतुभूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति । तदेव दर्शयति-(वलयमिति) यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितमुदकरहिता वा गर्त्ता दुःखनिर्गमप्रवेशास्तथा गहनं धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयम(णूमं ति)प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम । किमित्यसावेवमवलोकयति ? । यत एवं मन्यते तत्रैवंभूते तुमुले संग्रामे सुभटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति ? । यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः स्तोकैरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥

किञ्च-

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजिया वसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥२॥

मुहूर्त्तानामेकस्य वा मुहूर्त्तस्यापरो मुहूर्त्तः कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग्भवति यत्र जयः पराजयो वा संभाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयमपसर्पामो नश्याम इत्येतदपि संभाव्यते, अस्मद्विधानामिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमपेक्षते ॥२॥

श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह–

एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चा ण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स, अ विकंपंति मं सुयं ॥३॥

यथा सङ्ग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति, एवमेव श्रमणाः प्रव्रजिता एके केचनाऽदृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानमबलं यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं दृष्ट्वोत्प्रेक्ष्य । तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानावस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य विकल्पयन्ति परिकलयन्ति मन्यन्ते, इदं व्याकरणं, गणितं, ज्यौतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममाऽयमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥

एतच्चैते विकल्पयन्तीत्याह–

को जाणइ विउवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

अल्पसत्त्वाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहूनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानाति कः परिच्छिनत्ति व्यापातं संयमजीविताद् भ्रंश्यन्तम् । केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति । किं स्त्रीतः स्त्रीपरीषहाद् उतोदकात् स्नानाद्यर्थमुदकासेवनाभिलाषादित्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न नोऽस्माकं किंचन प्रकल्पितं पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति, यत्तस्यामवस्थायामुपयोगे समेत्य यास्यति, अतश्चोद्यमानाः परेणापृच्छ्यमानाः हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं वा प्रवक्ष्यामः कथयिष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः संप्रधार्य व्याकरणादौ श्रुते प्रयतन्त इति । न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थावाप्तिर्भवतीति । तथा चोक्तम्—"उपशमफलाद्विद्याबीजात्फलं धनमिच्छताम्, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम् ? । न नियतफलाः कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यवाङ्कुरम्" ॥१॥

उपसंहारार्थमाह—

इच्चेवं पमिलेहंति, वलया पमिलेहिणो ।

वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥ ५ ॥

इत्येवमिति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः। यथा भीरवः संग्रामे प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रत्यपेक्षिणो भवन्तीत्येवं तेऽपि प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्व्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन प्रत्यपेक्षन्ते परिकल्पयन्ति। किंभूताः विचिकित्सा चित्तविप्लुतिः, किमेनं संयमभारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्थाः, उत नेतीत्येवंभूताः। तथा चोक्तम्–" लुक्खमणुण्हमणिययं, कालाइक्कंत भोयणं विरसं। भूमीसयणं लोओ, असिणाणं बंभचेरं च " ॥ १ ॥ तां समापन्नाः समागताः। यथा पन्थानं प्रत्यकोविदा अनिपुणाः–किमयं पन्था विवक्षितं भूभागं यास्यत्युत नेति?, इत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्यपेक्षन्त इति ॥ ५ ॥

साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—

जे उ संगामकालम्मि, नाया सूरपुरंगमा ।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ? ॥ ६ ॥

ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः, संग्रामकाले परानीकयुद्धावसरे ज्ञातारो लोकविदिताः, कथम्?, शूराणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, एवंभूताः संग्रामं प्रविशन्तो न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते न दुर्गादिकमापत्त्राणाय पर्यालोचयन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयोऽपि त्वेवं मन्यन्ते–किमपरमस्माकं भविष्यति, यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतम्, यशःप्रवाहमिच्छतामस्माकं स्तोकं वर्तत इति। तथा चोक्तम्—" विशरारुभिरविनश्वर-मतिचपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम्। प्राणैर्यदि च सुराणां, भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? " ॥ ६ ॥

तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह–

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु, आतत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

एवमित्यादि। यथा–सुभटा ज्ञातारो नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च, तथा सन्निबद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति। एवं भिक्षुरपि साधुरपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकषायादिकमरिवर्गं जेतुं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः। तथा चोक्तम्–"कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचेंदियाणि य। दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं"॥१॥ किं कृत्वा समुत्थितः? इति दर्शयति–व्युत्सृज्य त्यक्त्वा, अगारबन्धनं गृहपाशम्, तथा आरम्भं सावद्यानुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्वाऽपहस्तयित्वाऽऽत्मनो भाव आत्मत्वमशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय। यदि वा आत्मा मोक्षः, संयमो वा, तद्भावस्तस्मै तदर्थं, परि समन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥७॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अज्झत्तविसुद्ध–अध्यात्मविशुद्ध–त्रि०। सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

अज्झत्तविसोहिजुत्त–अध्यात्मविशोधियुक्त–त्रि०। ३ त०। विशुद्धभावे, "जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्तविसोहिजुत्तस्स"॥१॥ ओ०।

अज्झत्तवेइ (ण्) –अध्यात्मवेदिन्–त्रि०। सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

अज्झत्तसंवुम–अध्यात्मसंवृत–त्रि०। अध्यात्मं मनस्तेन संवृतः। क्षीणोगादसमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च। "वसुत्ते अज्झत्तसंवुडे परिवज्जए सया पावं" आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। सूत्र०।

अज्झत्तसम–अध्यात्मसम–त्रि०। अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ०।

अज्झत्तसुइ–अध्यात्मश्रुति–स्त्री०। चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा०।

अज्झत्तसुद्धि–अध्यात्मशुद्धि–स्त्री०। चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशुद्धिरेव फलदा न बाह्यशुद्धिः, भरतचक्रवर्तिनः बाह्यकरणस्य रजोहरणादेरभावेऽपि अध्यात्मशुद्ध्यैव केवलोत्पत्तेः। प्रसन्नचन्द्रस्य च बाह्यकरणवतोऽपि आभ्यन्तरकरणविकलस्य सप्तमपृथिवीप्रायोग्यकर्मबन्धात् पश्चाद्वर्तिन्या अध्यात्मशुद्ध्यैव मोक्षगमनात्। आ० चू० १ अ०।

अज्झत्तसोहि–अध्यात्मशोधि–त्रि०। चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ०। (वर्णनमस्य 'अज्झत्तसुद्धि' शब्दे कृतम्)

अज्झत्तिय–आध्यात्मिक–त्रि०। आत्मनि अधि-अध्यात्मम्, तत्र भव आध्यात्मिकः। आत्मविषये, आ० म० प्र०। भ०। वि० ।ज्ञा०। नि०। " अज्झत्थिए चिंतिए" आत्मनि क्रियमाणे, " परकिरियं अज्झत्थियं संसेइयं णो तं सातिए " आचा० २ श्रु० १३ अ०। आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, आध्यात्मिकं दुःखं द्विविधम्–शारीरं मानसं च। शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्; मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम्। सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति साङ्ख्याः। स्या०। अध्यात्मनि मनसि भव आध्यात्मिकः। बाह्यनिमित्तानपेक्षे शोकाभिभवे; " अष्टमं क्रियास्थानमेतत् " स० ।

अज्झत्तियवीरिय–आध्यात्मिकवीर्य–न०। आत्मन्यधि इति अध्यात्मम्, तत्र भवमाध्यात्मिकम्। आन्तरशक्तिजनितं सात्त्विकमित्यर्थः। तच्च वीर्यं चेति। " उज्जमधितिधीरत्तं; सोंडीरत्तं खमा य गंभीरं। उवओगयोगतव सं–जमादि य होइ अज्झप्पो " ॥१॥ इत्युक्तेः उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

अज्झत्थ–अध्यात्म–न०। अधि आत्मनि वर्तत इत्यध्यात्मम्। सम्यग्धर्मध्यानादिभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

अज्झत्थओग–अध्यात्मयोग–पुं०। सुप्रणिहितान्तःकरणतायाम्, धर्मध्याने च। सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। (निरूपणमस्य ' अज्झत्तओग ' शब्दे कृतम्)

अझत्थओगसाहणजुत्त–अध्यात्मयोगसाधनयुक्त–पुं०। चित्तैकाग्रतादिभाजि, उत्त० २६ अ०।

अज्झत्थओगसुद्धादाण–अध्यात्मयोगशुद्धादान–त्रि०। प्रसन्नचेतसा विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

अज्झत्थजोग–अध्यात्मयोग–पुं०। योगभेदे, अष्ट० ६ अष्ट०। (वक्तव्यताऽस्य 'अज्झत्तओग' शब्दे)

अज्झत्थजोगसाहणजुत्त–अध्यात्मयोगसाधनयुक्त–पुं०। चित्तैकाग्रतादिभाजि, उत्त० २६ अ०।

अज्झत्थजोगसुद्धादाण–अध्यात्मयोगशुद्धादान–त्रि०। प्रसन्नचेतसा विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

अज्झत्थज्झाणजुत्त–अध्यात्मध्यानयुक्त–त्रि०। प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा०।

अज्झत्थदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झत्थबिंदु-अध्यात्मबिन्दु-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, द्वा० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थमयपरिक्खा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयवाचकेन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झत्थरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झत्थवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

अज्झत्थवयण-अध्यात्मवचन-न० । षोडशवचनानां सप्तमे वचने, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुभूय मनसि विषण्णीभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (विवृतिरस्य 'अज्झत्थविसीयण' शब्दे निरूपिता)

अज्झत्थविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अज्झत्थविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धभावे, श्रो० ।

अज्झत्थवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झत्थसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगाऽदत्तमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

अज्झत्थसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्थसुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थसोहि-अध्यात्मशोधिन्-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० म० प्र० । आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, स्था० ।

अज्झत्थियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झत्थोवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपाधिसम्बन्ध-पुं० । आत्मनि प्राप्तपुद्गलसंसर्गजकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति" ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।

अज्झप्प-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आव० ५ अ० ।

अज्झप्पओग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणशुद्धे धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पओगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभचेतसा विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पओगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शुद्धचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । अष्टमे क्रियास्थाने, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अज्झप्पजोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायां धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । चितैकाग्रतादि त्राजि, उत्त० २७ अ० ।

अज्झप्पजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । शुभभावेन विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पज्झाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झप्पदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । शोकाद्यभिभवरूपे अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झप्पदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झप्पबिंदु-अध्यात्मबिन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनामख्याते ग्रन्थे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झप्पमयपरिक्खा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयकृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झप्परय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झप्पवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्झप्पवयण-अध्यात्मवचन-न० । हृदयगते वचनभेदे, षोडशवचनानां सप्तममिदम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झप्पविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुभूय मनसि विषण्णीभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अज्झप्पविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अज्झप्पविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धभावे, ओघ० ।

अज्झप्पवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झप्पसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादत्तमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

अज्झप्पसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झप्पसुइ-अध्यात्मश्रुति-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झप्पसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झप्पसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० । भावशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झप्पिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि क्रियमाणे आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, आचा० २ श्रु० १३ अ० ।

अज्झप्पियवीरिय–आध्यात्मिकवीर्य–न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झयण–अध्ययन–न०। अधीयते ह्यावन्ते याभिरित्यध्ययनानि। नामसु (वाचकशब्देषु), "ता कधं देवताणं अज्झयणं आहिताति वएज्जा" चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० । अधीयते विनेयादिक्रमेण गुरुसमीप इत्यध्ययनम् । विशिष्टार्थध्वनिसंदर्भरूपे श्रुतभेदे, औ० १ प्रति० । "अज्झयणं पिय तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव" विशे० । तन्निक्षेपो यथा–

से किंतं अज्झयणे?। अज्झयणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा- णामज्झयणे, ठवणज्झयणे, दव्वज्झयणे, भावज्झयणे । णामट्ठवणाओ पुव्ववण्णिआओ। से किंतं दव्वज्झयणे?। दव्वज्झयणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगमओ अ, णोआगमओ अ। से किंतं आगमओ दव्वज्झयणे?। आगमओ दव्वज्झयणे जस्स णं अज्झयणे त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं जाव एवं जावइआ अणुवउत्ता आगमओ तावइआइं दव्वज्झयणाइं। एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्झयणे। से किंतं णो आगमओ दव्वज्झयणे?। णो आगमओ दव्वज्झयणे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा- जाणगसरीरदव्वज्झयणे, भविअसरीरदव्वज्झयणे, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे। से किंतं जाणगसरीरदव्वज्झयणे?। जाणगसरीरदव्वज्झयणे अज्झयणपदत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं जीवविप्पजढं जाव अहोणं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं अज्झयणे त्ति पदं आघवितं जाव उवदंसितं जहा-को दिट्ठंतो-अयं घयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झयणे । से किंतं भवियसरीरदव्वज्झयणे?। भवियसरीरदव्वज्झयणे जे जीवे जोणिजम्मणणिक्खंते इमेणं चेव आदत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं अज्झयणेत्ति पदं से अकाले सिक्खिस्सति, न ताव सिक्खति, जहा-को दिट्ठंतो-अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सइ, सेत्तं भविअसरीदव्वज्झयणे। से किंतं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे?। जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे पत्तयपोत्थयलिखितं, सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे। सेत्तं णो आगमओ दव्वज्झयणे। से किंतं भावज्झयणे?। भावज्झयणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-आगमओ अ णो आगमओ अ। से किंतं नो आगमओ भावज्झयणे?।। अज्झप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचओ उवचिआणं। अणुवचउ न वियाणं, तह्मा अज्झयणमिच्छइ ॥ १ ॥ सेत्तं णो आगमओ भावज्झयणे, सेत्तं भावज्झयणे, सेत्तं अज्झयणे।

(से किंतं अज्झयणे इत्यादि) नामस्थापना, द्रव्यभावभेदात् । चतुर्विधोऽप्यध्ययनशब्दस्य निक्षेपः। तत्र नामादिविचारः सर्वोऽपि पूर्वोक्तद्रव्यावश्यकानुसारेण वाच्यः, यावन्नो आगमतो भावाध्ययने। अज्झप्पस्साणयणमित्यादिगाथाव्याख्या-अस्य सचित्तस्य आणयणं, इह निरुक्तविधिना प्राकृतस्वाभाव्याच्च पकारस्य कारा ऽऽकारणकारलक्षणमध्यगतवर्णचतुष्टयलोपे अज्झयणमिति भवति, अध्यात्मं चेतस्तस्यानयनमध्ययनमुच्यत इति भावः। आनीयते च सामायिकाद्यध्ययने शोभनं चेतोऽस्मिन् सत्यशुभकर्मप्रबन्धमात् । अत एवाह-कर्मणामुपचितानां प्रागुपनिबद्धानां यतोऽपचयो ह्रासोऽस्मिन् सति विद्यते नवानां चानुपचयो बन्धो यस्तस्मादिदं यथोक्तशब्दार्थप्रतिपत्तेः 'अज्झयणं' प्राकृतभाषायामिच्छन्ति सूरयः, संस्कृते त्विदमध्ययनमुच्यत इति। सामायिकादिकं चाध्ययनं ज्ञानक्रियासमुदायात्मकम् । ततश्चागमस्यैकदेशवृत्तित्वान्नो आगमतोऽध्ययनमिदमुक्तमिति गाथार्थः । अनु०। "जेण सुहप्पज्झयणं, अज्झप्पाणयण महियणयणं वा । बोहस्स संजमस्स व, मोक्खस्स व जं तमज्झयणं"।१। इह नैरुक्तेन विधिना प्राकृतस्वाभाव्याच्च सिद्धम् । विशे०। आ०म०द्वि०।

निरुक्त्यन्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह–

अधिगम्मंति व अत्था, अणेण अधिगं व णयणमिच्छंति।
अधिगं व साहु गच्छति, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ।उत्त० नि०

अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वाऽर्था जीवादयोऽनेनाधिकं वा नयनं प्रापणं मर्यादात्मनि ज्ञानादीनामनेनेतीच्छन्ति, विद्वांस इति शेषः । अधिकमनर्गलं शीघ्रतरमिति यावत्, वा सर्वत्र विकल्पार्थः । (साहु त्ति) साधयति पौरुषेयीभिर्विशिष्टक्रियाभिरपवर्गमिति साधुर्गच्छति यानर्थान् मुक्तिम्, अनेनेत्यत्रापि योज्यते, यस्मादेवमेवं च ततः किमित्याह–तस्मादध्ययनमिच्छन्ति, निरुक्तिविधिनाऽर्थनिर्देशपरत्वाद् वा । अस्यायतेरेतैर्वा अधिपूर्वस्याध्ययनमिच्छन्तीति वाऽभिधानम् । सर्वत्र सूत्रार्थावाधया व्याख्याविकल्पानां पूर्वाचार्यसंमतत्वेनादुष्टत्वख्यापनार्थमिति गाथार्थः । उत्त० १ अ० । अनु० । आ० म० । दश० स्था० । सूत्र० । अधीयत इत्यध्ययनम् । कर्मणि ल्युट् । पठ्यमाने, आव० ४ अ० । धर्मप्रज्ञप्तौ, दश० ४ अ० । "अध्ययनानि द्युलोकच्युतानि"

चोयालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियालोगचुया भासिया ।

चतुश्चत्वारिंशतं (इसिभासिय त्ति) ऋषिभाषिताध्ययनानि कालिकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयचुयाभासिय त्ति) देवलोकच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभाषितानि । क्वचित्पाठस्तु-" देवलोयचुयाणं चोयालीसं इसिभासियज्झयणा पण्णत्ता " । सम० ४२ सम० । अधि-इङ्-भावे ल्युट् । पुनः पुनर्ग्रन्थाभ्यासे, विशे० । स्वाध्याये, षो० १३ विव० । पठने, गुरुमुखोच्चारणानुसारिणि उच्चारणे च। वाच० । (पठनवक्तव्यताऽखिला 'उद्देस' 'वायणा' 'उवसंपया' इत्यादिशब्देषु द्रष्टव्या)

अज्झयणकप्प–अध्ययनकल्प–पुं०। योग्यताऽनुसारेण वाचनादानसामाचार्याम्, पं० भा० ।

वक्खातो सुतकप्पो, एत्तो वोच्छामि अज्झयणकप्पं ।
दायव्वं जेण विहिणा, जग्गुणजुत्तस्स वा तं तु ।।
जोए परियाए अण–रिहे अरहे य तिण्णपमिवक्खे ।
सुत्तत्थ तदुभएसुं, जे अज्झयणेसु अणुभागा ।।
जस्सागाढो जोगो, तं आगाढे ण चेव दायव्वं ।
अणगाढे अणगाढं, एत्तो वोच्छामि परियागं ।।
जं संखपरीमाणं, भणितं सुत्तम्मि तिवरिसादीयं ।

तं तेणं माणेणं, उद्दिसियव्वं भवे सुत्तं ॥
खुड्डियविमाणपविभत्ति–त्तिमादि दीहे च जूयमायाए।
एत्ति दिज्जंति अणरिहे, अणरिहत्ते तु इमो होंति ॥
तिंतिणिए चलचित्ते, गाणं गणिए य दुब्बलचरित्ते ।
आयरिय पारिभावी, वामावट्टे य पिसुणे य ॥
आदी अदिट्ठभावे, अकमसमायारिए तरुणधम्मे ।
गव्वितपइण्णहणिएहइ, छेदसुत्ते वज्जितो अउंमहूरो ॥
अकुलीणो ति य दुम्मे–हो दमगे मंदबुद्धि त्ति ।
अवियप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवइ आयरिए ॥
सो वि य सीसो दुविहो, पव्वावियतो य सिक्खवउ चेव।
सो सिक्खितो वि तिविहो, सुत्ते अत्थे य तदुभयएणं ॥
एतेसिं अणरिहाणं, जे पडिवक्खाउ होंति सव्वेसिं ।
परिणामगा य जे तु, ते अरिहा होंति णायव्वा ॥
एतारिसे विणीतो, सुत्ते अत्थे य जत्तिया भेदा।
अज्झयणा वेसजुया, सेणा असेसए देज्जा ॥ पं०भा० ।
('सुय' शब्देऽस्य विस्तरो द्रष्टव्यः)

अज्झयणगुणणिउत्त–अध्ययनगुणनियुक्त–त्रि० । प्रकान्तशास्त्रनिष्पन्दभूते प्रक्रान्ताध्ययनाभिहितगुणसमन्विते, दश० ए अ० ४ उ० ।

अज्झयणगुणि (ण्)–अध्ययनगुणिन्–त्रि० । प्रक्रान्ताध्ययनोक्तगुणवति, दश० १० अ० ।

अज्झयणछक्क–अध्ययनषट्क–न० । आवश्यकनामश्रुते, तस्य सामायिकादिषडध्ययनकलापात्मकत्वात् । विशे० ।

अज्झयणछक्कवग्ग–अध्ययनषट्कवर्ग–पुं० । आवश्यके, षडध्ययनकलापात्मकत्वात्तस्य । विशे० । अनु० ।

अज्झवसाण–अध्यवसान–न० । अतिहर्षविषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानम् । विशे० । रागस्नेहभयात्मकेऽध्यवसाये, स्था० ७ ठा० । रागभयस्नेहभेदात् त्रिविधमध्यवसानम् । (तन्निमित्तक आयुर्भेदो द्वि० भा० १० पृष्ठे 'आउ' शब्दे वक्ष्यते) अन्तःकरणप्रवृत्तौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मानस्यापरिणतौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । उत्त० । "मणसंकप्पेत्ति वा अज्झवसाणंति वा एगट्ठा" नि०चू० १० उ० । प्रकर्षतोऽपि प्रयत्नभेदे, अनु० । विशे० । औ० ।

णेरइयाणं भंते ! केवतिया अज्झवसाणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! असंखिज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता । ते णं भंते ! किं पसत्था, अपसत्था ?। गोयमा ! पसत्था वि अपसत्था वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

अध्यवसायचिन्तायां प्रत्येकनैरयिकादीनामसंख्येयाध्यवसानानि प्रत्येकं प्रायोऽन्यान्याध्यवसायभावात् । प्रज्ञा० ३४ पद । अन्तःकरणे, भा० म० द्वि० । उपा० । प्रज्ञा० । आव० ।

अज्झवसाणजोगणिव्वत्तिय–अध्यवसानयोगनिर्वर्तित–त्रि० । अध्यवसानं जीवपरिणामः, योगाश्च मनःप्रभृतिव्यापारास्तान्यां निर्वर्तितो यः स तथा । परिणामेन मनोयोगादिना चासाधिते, भ० २५ श० ८ उ० ।

अज्झवसाणणिव्वत्तिय–अध्यवसाननिर्वर्तित–त्रि० । मनःपरिणतिसाध्ये, " अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं से य काले तं ठाणं विप्पजहित्ता " अध्यवसाननिर्वर्तितेन उत्प्लोतव्यं मयेत्येवंरूपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । भ० २५ श० ८ उ० ।

अज्झवसाणावरणिज्ज–अध्यवसानावरणीय–न० । अध्यवसानस्याऽऽवरणरूपे कर्मभेदे, भ० ६ श० ३१ उ० ।

अज्झवसाय–अध्यवसाय–पुं० । अधि–अव–षो–घञ् । इदमेवेति विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्म इति नैयायिकाः । बुद्धिधर्म इति वेदान्तिनः । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृत्तौ सत्यां बुद्धेः रजस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽयमध्यवसाय इति वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति साङ्ख्याः । उत्साहे, वाच० । संकल्पे, आव०३अ० । सूक्ष्मेषु आत्मनः परिणामविशेषेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अनुभागबन्धस्थाने, "अनुभागबंधठाणं, अज्झवसाया य एगट्ठा" पं० सं० २ द्वा० । पं० चू० ।

अज्झवसायट्ठाण–अध्यवसायस्थान–न० । परिणामस्थाने, तानि करणत्रयेऽसंख्यानि । अष्ट० ५ अष्ट० । (' करण ' शब्दे तृ० भा० ३६१ पृष्ठे द्रष्टव्यानि चैतानि)

अज्झवसिअ–निवापिते, मुख्ये च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्झवसिय–अध्यवसित–न० । अध्यवसाये, अनु० ।

अज्झस्स–देशी–आक्रुष्टे, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्झहिय–आत्महित–न० । आत्मनां हितमात्महितम् । स्वहिते, प्रश्न० १ संब० द्वा० ।

अज्झा–देशी–असत्याम, शुभायाम, नववध्वाम, तरुण्याम, एतस्यां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्झाय–अध्याय–पुं० । आ मर्य्यादया प्रवचनोक्तेन प्रकारेण पठनमध्यायः । स्वाध्यायकरणे, प्रश्न० । अध्ययने, आव० ४ अ० । स्था० । कर्मणि घञ् । वेदादिशास्त्रस्यैकार्थकविषयसमाप्तिद्योतके विश्रामस्थानरूपे अंशविशेषे, वाच० ।

अज्झारुह–अध्यारुह–पुं० । उपर्युपर्य्यध्यारोहन्तीति अध्यारुहाः । वृक्षोपरिजातेषु वृक्षाभिधानेषु कामवृक्षाभिधानेषु वा वनस्पतिषु, सूत्र० । ते च वल्लीवृक्षाभिधाना इति वृक्षाणां शाखाप्ररोहे च । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । प्रज्ञा० । आचा० (अध्यारुहतयोत्पन्नानां जीवानामाहारशरीरवर्णादिव्यवस्था 'वणस्सइ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्झारोव–अध्यारोप–पुं० । अधि–आ–रुह–णिच्–पान्तादेशः–घञ् । अतस्मिन् तद्बुद्धौ, यथा–रज्जौ सर्पधीः । वाच० । भ्रान्तौ, षो० ४ विव० ।

अज्झारोवण–अध्यारोपण–न० । अधि–रुह–णिच् । पान्तादेशः, ल्युट् । अतिशयेनाऽऽरोपणे धान्यादेर्वपने, वाच० । पर्य्यनुयोजने, विशे० ।

अज्झारोवमंडल–अध्यारोपमण्डल–न० । अध्यारोपो भ्रान्तिस्तया मण्डलं मण्डलाकारम् । मिथ्याज्ञानेन वृत्ताऽऽकाराऽऽरोपणे, " आगमदीपेऽध्यारोपमण्डलं तत्त्वतोऽसदेव " षो० ४ विव० ।

अज्झारोह–अध्यारोह–पुं० । वृक्षाणां शाखाप्ररोहे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अज्झावय–अध्यापक–पुं० । अध्यापयति । अधि–इङ–णिच्,

एवुल् । अध्ययनकारयितरि, वाच० । उपाध्याये च, "अज्झावयाणं पडिकूलभासी " उत्त०१२अ० । आ० म० । आ०चू०।

अज्झावसत–अध्यावसत्–त्रि०। मध्ये वर्त्तमाने, "गिहमज्झावसंतस्स " गृहमध्यावसतः-गृहे वर्तमानस्य । उपा० १ अ०।

अज्झावसित्ता–अध्युष्य–अव्य०। मध्ये वर्तयित्वेत्यर्थे, " पंचतित्थगरा कुमारवासमज्झावसित्ता " स्था० ५ ठा० ३ उ०। अधिष्ठायेत्यर्थे च । वाच० ।

अज्झासणा–अध्यासना–स्त्री०। सहने, उत्त० २ अ०। (परीषहाणामध्यासहना ' परीसह ' शब्दे द्रष्टव्या)

अज्झाहार–अध्याहार–पुं०। अध्याह्रियते अनायाऽनुसन्धीयते । अधि-आ-हृ-घञ् । आकाङ्क्षाविषयपदानुसन्धाने, ऊहे, तर्के, अपूर्वोत्प्रेक्षणे च । वाच० । व्याख्याऽक्रमेषः। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अज्झीण–अक्षीण–न०। अर्थिभ्योऽनवरतं दीयमानमपि वर्द्धत एव, न तु क्षीयत इत्यक्षीणम् । अथवा व्यवच्छित्तिनयमतेन सर्वदैव व्यवच्छेदादलीकवदक्षीणम् । विशे० । आ० म०। सामयिकचतुर्विंशतिस्तवात्मक अध्ययने, अनु० ।

अस्य निक्षेपः-

से किंतं अज्झीणे ?। अज्झीणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-णामज्झीणे,ठवणज्झीणे,दव्वज्झीणे, भावज्झीणे । नामठवणाओ पुव्वं वणिअओ । से किंतं दव्वज्झीणे?। दव्वज्झीणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ,णोआगमओ अ।से किंतं आगमओ दव्वज्झीणे ?। दव्वज्झीणे जस्स णं अज्झीणे त्ति पदं सिक्खितं जितं मितं परिजितं जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्झीणे । से किंतं नो आगमओ दव्वज्झीणे ? । नोआ० दव्वज्झीणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्झीणे, भविअसरीरदव्वज्झीणे, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे। से किंतं जाणगसरीरदव्वज्झीणे?। जाणगसरीरदव्वज्झीणे अज्झीणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं जहा दव्वज्झयणे तहा भाणिअव्वं जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झीणे । से किंतं भविअसरीरदव्वज्झीणे?। भविअसरीरदव्वज्झीणे जे जीवे जोणिजम्मणणिक्खंते जहा दव्वज्झीणे जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वज्झीणे । से किंतं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे ? । दव्वज्झीणे सव्वागाससेढी सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे, सेत्तं नो आगमओ दव्वज्झीणे, सेत्तं दव्वज्झीणे । से किंतं भावज्झीणे ? । भावज्झीणे दुविहे पण्णत्ते ।तं जहा-आगमओ अ, नोआगमओ अ। से किंतं आगमतो भावज्झीणे?। भावज्झीणे जाणए उवउत्ते। सेत्तं आगमओ भावज्झीणे । से किंतं नो आगमओ भावज्झीणे ? । जह दीवा दीवसतं, पइप्पए दिप्पए अ सो दीवो। दीवसमा आयरिआ, दिप्पंति परं च दीवंति ॥ १ ॥ सेत्तं नो आगमओ भावज्झीणे, सेत्तं भावज्झीणे, सेत्तं अज्झीणे ॥

अत्रापि तथैव विचारः, या तु (सव्वागाससेढी ति) सर्वाकाशं लोकालोकनभःस्वरूपम्, अस्य संबन्धिश्रेणिः प्रदेशापहारतोऽपह्रियमाणाऽपि न कदाचित् क्षीयते, अतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्यता चास्याऽऽकाशद्रव्यान्तर्गतत्वादिति । अत्र वृद्धा व्याचक्षते-यस्माच्चतुर्दशपूर्वविद आगमोपयुक्तस्यान्तर्मुहूर्त्तमात्रोपयोगकाले येऽर्थोपलम्भोपयोगपर्यायास्ते प्रतिसमयमेकैकापहारेणानन्ताभिरप्युत्सर्पिणीभिर्नापह्रियन्ते, अतो भावाक्षीणतेहावसेया। नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिष्येभ्यः सामायिकादिश्रुतप्रदानेऽपि स्वात्मन्यनाशादित्येतदेवाह— (जह दीवा) यथा दीपादवधिभूताद्दीपशतं प्रदीप्यते प्रवर्त्तते, स च मूलभूतो दीपस्तथापि तेनैव रूपेण प्रवर्तते, न तु स्वयं क्षयमुपयाति। प्रकृते संबन्धयन्नाह-एवं दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते स्वयं विवक्षितश्रुतत्वेन तथैवावतिष्ठन्ते, परं च शिष्यवर्गं दीपयन्ति-श्रुतसम्पदं लम्भयन्ति । अत्र नो आगमतो भावाक्षीणता श्रुतदायकाचार्योपयोगस्यागमत्वाद्, वाक्काययोगयोश्चागमत्वाद्भावनीयेति वृद्धा व्याचक्षते इति गाथार्थः। अनु०। यथा दीपाद् दीपशतं प्रदीप्यते ज्वलति,सोऽपि च दीप्यते दीपः, न पुनरन्यान्यदीपोत्पत्तावपि क्षीयते। तथा किमित्याह- दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते समस्तशास्त्रार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिष्यं दीपयन्ति शास्त्रार्थप्रकाशनशक्तियुक्तं कुर्वन्ति। इह च तारस्थ्यात्तद्व्यपदेश इत्याचार्यशब्देन श्रुतज्ञानमेव चोक्तम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुतत्वात्, तस्यैव चाक्षयत्वसंभवादिति गाथार्थः । उत्त० १ अ० ।

अज्झीणझंझय–अक्षीणझञ्झाक– त्रि० । अक्षीणकलहे, आव० ४ अ० ।

अज्झुववण्ण–अध्युपपन्न–त्रि०। अधिकमत्यर्थमुपपन्नस्तच्चित्तस्तदात्मकः । विषयपरिभोगायतजीविते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । स्था० । भ० । अधिकं तदेकाग्रतां गते, ज्ञा० २ अ० । वि० । भ० । जातानुरागे, व्य०२ उ० । मूर्च्छिते, आचा०२ श्रु०१ अ०७ उ०। गृद्धे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । "मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झुववण्णे य " इति एकार्थाः । वि० । " अज्झोववण्णा कामेहिं, चोइज्जंता गया गिहं " अध्युपपन्नाः कामगतिचित्ताः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अज्झोववण्णा कामेहिं मुच्छिया " अध्युपपन्ना गृद्धाः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पौनःपुन्येनाभिलषमाणे, सूत्र० १ श्रु०१० अ० । आधिक्येन भोगेषु लग्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । स्था० ।

अज्झुसिर–अशुषिर–त्रि० । न० ब० । श्लक्ष्णशुषिररहिते, रा० । " अज्झुसिरं जत्थ कोट्टरं नत्थि " नि० चू० २ उ० । तृणाद्यनवच्छिन्ने, ध० ३ अधि० । कुशवनतृणादौ, संस्तारकभेदे च । नि० चू० २ उ० ।

अज्झुसिरतण–अशुषिरतृण–न० । दर्भादौ, शुषिररहिते तृणे च । जीत० ।

अज्झेसणा–अध्येषणा–स्त्री०। अधि-इष्-युच्-टाप्। सत्कारपूर्वकनियोगे, सम्म०। अधिका एषणा प्रार्थना। अधिकमर्थने, स्त्री० । वाच० ।

अज्झोयरय-अध्यवपूरक-पुं० । अधि आधिक्येनाध्यवपूरणं स्वार्थदत्ताधिश्रयणादेः साध्वागमनमवगम्य तद्योग्यभक्तसिद्ध्यर्थं प्राचुर्येण भरणमध्यवपूरः । स एव स्वार्थिककप्रत्ययविधानादध्यवपूरकः, तद्योगाद्भक्ताद्यप्यध्यवपूरकः । प्रव० ६७

द्वा०। स्वार्थमूलाद् ग्रहणे कृते साध्वाद्यर्थमधिकतरकणप्रक्षेपणेन भक्तादौ संपादिते सति, तत्र सम्भवति षोडशे उद्गमदोषे, भ०१ श० ३३ उ०। "सहायणे मूलम्गहणे, अज्झोयरं होइ पक्खेवो" स्था० ६ ठा० । द० । ध० । आचा० । पं०व० । पंचा० ।

अधुनाऽध्यवपूरकमाह-

अज्झोयरओ तिविहो, जावंतिय सघरमीस पासंडे ।
मूलम्मि य पुव्वकए, ओयरई तिण्ह अट्ठाए ॥

अध्यवपूरकस्त्रिप्रकारः। तद्यथा-(जावन्तिय इति) स्वगृहमिश्रयोः शब्दयोरत्रापि संबन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः (सघरमीस त्ति) अत्र साधुशब्दोऽध्याह्रियते, स्वगृहसाधुमिश्रः । (पासंडे इति) अत्रापि यथायोगं स्वगृहमिश्रशब्दसंबन्धः । स्वगृहपाषण्डमिश्रः। स्वगृहश्रमणमिश्रः स्वगृहपाषण्डमिश्रेऽन्तर्भावितः पृथग् नोक्तः । त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्षणमाह-(मूलम्मीत्यादि) मूले आरम्भेऽग्निसंधुक्षणस्थालीजलप्रक्षेपादिरूपे, पूर्वं यावदर्थिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं निष्पादिते पश्चात् यथासंभवं त्रयाणां यावदर्थिकादीनामर्थायावतारयति, अधिकतरान् तण्डुलादीन् प्रक्षिपति, एषोऽध्यवपूरकः । अत एव चास्य मिश्रजाताद्भेदः । यतो मिश्रजातं तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च मिश्रं निष्पाद्यते, यत् पुनरारभ्यते स्वार्थं, पश्चात्प्रभूतानर्थिनः पाषण्डिनः साधून् वा समागतानवगम्य तेषामर्थायाधिकतरजलतण्डुलादि प्रक्षिप्यते, सोऽध्यवपूरकः, इति मिश्रजातादस्य भेदः ।

अमुमेव भेदं दर्शयति-

तंदुल जल आयाणे, पुप्फफले सागवेसणे लोणे ।
परिमाणे णाणत्तं, अज्झोयर मीसजाए य ॥

इह 'व्यत्ययोऽप्यासाम्' इति वचनात् सप्तमी यथायोगं षष्ठ्यर्थे तृतीयार्थे वेदितव्या। ततोऽयमर्थः-अध्यवपूरकस्य मिश्रजातस्य च परस्परं नानात्वं हि तण्डुलपुष्पफलशाकवेशनलवणादानकाले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम् । तथाहि-मिश्रजाते प्रथमत एव स्थाल्यां प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च तण्डुलाः कण्डनादिनिरुपक्रम्यन्ते, फलादिकमपि च प्रथमत एव प्रभूततरं संरभ्यते । अध्यवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोकतरं तण्डुलादि गृह्यते, पश्चाद् यावदर्थिकादिनिमित्तमधिकतरं तण्डुलादि प्रक्षिप्यते, तस्मात्तण्डुलादीनामादानकाले यद् विचित्रं परिमाणं तन्मिश्राध्यवपूरके विशोधिकादौ नानात्वमवसेयम् ।

संप्रत्यध्यवपूरकस्य कल्पविधिमाह-

जावंतिए विसोही, सघरपासंडिमीसए पूई ।
छिन्ने विसोहि दिन्न-म्मि कप्पइ न कप्पई सेसं ॥

यावदर्थिके स्वगृहयावदर्थिकमिश्रेऽध्यवपूरके शुद्धभक्तमध्यपतिते यदि तावन्मात्रमपनीयन्ते ततो विशोधिर्भवति । अत एव स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरको विशोधिकोटौ वक्ष्यते । स्वगृहपाषण्डिमिश्रे, उपलक्षणत्वात् स्वगृहसाधुमिश्रे च शुद्धभक्तमध्यपतिते पूतिर्भवति, न कल्पते तद्भक्तम्, पूतिदोषदुष्टं भवतीत्यर्थः । तथा विशोधौ विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकाध्यवपूरके छिन्ने यावन्तः कणाः कार्पटिकाद्यर्थं पश्चात् क्षिप्तास्तावन्मात्रे स्थाल्याः पृथक्कृते, कार्पटिकादिभ्यो वा दत्ते सति, शेषमुद्धरितं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । शेषं पुनः स्वगृहपाषण्डिमिश्रस्वगृहसाधुमिश्राध्यवपूरकं न कल्पते । किमुक्तं भवति ?। गृहीतं तत्तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृतं दत्तं वा पाषण्ड्यादिभ्यस्तथापि यत् शेषं, तन्न कल्पत इति ।

' जावंतिए विसोही ' इत्यवयवं विशेषतो व्याख्यानयति-

छिन्नम्मि तओ उक्क-ड्डियम्मि पुहकए कप्पइ सेसं ।
आहवणाए दिन्नं, व तत्तियं कप्पए सेसं ॥

विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकेऽध्यवपूरके यावदर्थिकं पश्चात् प्रक्षिप्तं तावन्मात्रे छिन्ने पृथक्कृते, तत्र भेदो रेखयाऽपि भवति, तत आह-(तओ उक्कड्डियम्मि) तत्स्वस्थाद्युत्कर्षितं उत्पाटिते, उद्धोत्कर्षितं स्वस्थानादुत्पाट्य शेषभक्तस्योपरि भिक्षिप्तमपि भण्यते, ततो विशेषणान्तरमाह-पृथक्कृते स्थाल्या बहिर्निष्काशिते, शेषं यद्भक्तं तत्साधूनां कल्पते । अथवा आभवनया उद्देशेन, न तु भिक्षादिपरिगणनेन यदि तावन्मात्रं कार्पटिकादिभ्यो दत्तं स्यात् ततः शेषं कल्पते । पिं० । तत्र प्रायश्चित्तं प्रत्येकं मासगुरु । बृ० १ उ० । " जावंतियअज्झोयरए मासलहु, सघरपासंडअज्झोयरए मासगुरु" । पं० चू० । अध्यवपूरकान्तभेदद्वये एकाशनकम् । जीत० । पंचा० ।

अज्झोलिआ-देशी-क्रोडाभरणे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्झोववज्जणा-अध्युपपादना-स्त्री० । कश्चिदिन्द्रियार्थेऽध्युपपत्तौ, अभिष्वङ्गे च । " तिविहा अज्झोववज्जणा-जाणू, अजाणू, वितिगिच्छा " तत्र जानतो विषयजन्यमर्थं या तत्राध्युपपत्तिः सा जाणू। या त्वजानतः सा अजाणू। या तु संशयवतः सा विचिकित्सा। स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अज्झोववण्ण-अध्युपपन्न--त्रि० । विषयपरिभोगायत्तजीविते, आचा० ।

अज्झोववाय-अध्युपपात-पुं० । अहमैकाग्रचित्ततायाम, "परस्स अज्झोववायलोभजणणाई " पात्राणि परस्यान्यस्य अध्युपपातं च महमैकाग्रचित्ततां लोभं मूर्च्छां जनयन्ति यानि तानि अध्युपपातलोभजननानि । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अञ्छ-कृष्-धा० आकर्षणे, विलेखने च । तुदा०,आत्म०,सक०, अनिट् । "कृषेः कड्डसाअड्डाञ्छाणच्छायञ्छाइञ्छाः" ॥८।४।१८७॥ इति कृषेरञ्छादेशः । अञ्छइ, कृषते । प्रा० ।

अञ्चिअ-अञ्चित-त्रि० । अञ्च-क्त । वर्गेऽन्त्यो वा । ८ । १। ३० । इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । पूजिते, आकुञ्चिते च । प्रा०।

अञ्ञ-अज्ञ-त्रि० । "न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञः" ॥ ८। ४।२९३ ॥ इति सूत्रे मागध्यां ज्ञस्य ञ्ञः, द्विरुक्तो ञकार इत्यर्थः । मूर्खे, प्रा० ।

अन्य-त्रि० । न्यस्य स्थाने द्विरुक्तो ञकारः । भिन्ने, सदृशे च । एवमेतदुपरिता अप्युदाहार्याः । प्रा० ।

अञ्ञलि-अञ्जलि-पुं० । अञ्ज-अलि, "न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञः" ।८। ४ । २९२ । इति मागध्यां ञ्ज इतिभागस्य ञ्ञः । संयुतकरपुटे, प्रा० ।

अट्ट-अट्-धा० गतौ । भ्वा०, सक०, पर०, सेट् । "शकादीनां द्वित्वम् " ।८।४।२३०। इति टद्वित्वम् । परिअट्टइ, पर्यटति । प्रा०।

अट्ट-क्वथ-धा० निष्पाके । भ्वा०, पर०, सक०, सेट् । "क्वथेरट्टः" ८।४।११९। इति क्वथेरट्ट इत्यादेशः । अट्टइ, क्वथति । प्रा० ।

अट्ट-अट्ट-पुं० । अट्टयति नाडियतेऽन्यद् यत्र । अट्ट-आधारे घञ् । प्रासादस्योपरि गृहे, प्राकारोपरिस्थसैन्यगृहे च । यत्र स्थिता हि नरा अन्यान् हीनतया नाडियन्ते । यस्मिन् वसतश्चा-

ग्योत्कर्षेऽनादरः । वाच० । " अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा " आचा० २ श्रु० ११ अ० । अट्यतेऽतिकम्यतेऽनेनेत्यट्टः । आकाशे, ज०२० श० ५ उ०।

आर्त—त्रि०। अर्तिः शारीरमानसी पीमा, तत्र भव आर्त्तः । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । पीमिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दुःखिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । मोहोदयेन आर्त्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, औ० । मोहोदयादगणितकार्याकार्यविवेके च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अस्य निक्षेपः—" अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए" । आचा०१ श्रु० १ अ०१ उ०। ('पुढविकाय' शब्दे एतत्सूत्रव्याख्यानं वक्ष्यते)

अट्टे चउव्विहे खलु, दव्वे नदिमादि जत्थ तणकट्ठा ।
आवत्तंते पमिया, से व सुवएणादि आवट्टे ।।

आर्त्तः खलु चतुर्विधः। तद्यथा-नामार्त्तः, स्थापनार्तः, द्रव्यार्त्तः, भावार्तश्च। तत्र नामस्थापने सुप्रतीते। द्रव्यार्तोऽपि नोआगमतो ज्ञशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि आवर्त्तन्ते, यच्च वा सुवर्णाद्यावर्त्तते, स द्रव्यः। आ सर्वतः परिभ्रमणेन ऋतानि गतानि यत्र यो वा स आर्त्त इति व्युत्पत्तेः ।

अहवा अत्तीभूतो, सचित्तादिहिं होइ दव्वम्मि ।
भावे कोहादीहिं, उ अभिभूतो होति अट्टो उ ।।

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्त्तः स द्रव्यार्तः, द्रव्यैरार्तो द्रव्यार्त इति व्युत्पत्तेः । क्रोधादिभिरभिभूतो नो आगमतो भावार्त्तः। तदेवमार्त्तशब्दार्थ उक्तः। व्य०४ उ० । आचा० । ऋतस्य पीमितस्येदं वचनमिति कृत्वा षोमशे गौणालीके, प्रश्न०२ आश्र० द्वा० । ऋतं दुःखं, तत्र भवमार्तम् । यदि वा अर्तिः पीमा, यातनं च, तत्र भवमार्त्तम्" ध० २ अधि० । प्रव० । क्लिष्टे, आव० ४ अ०। विषयानुरञ्जिते, ध० ३ अधि० । इष्टविषयसंयोगाभिलाषे, प्रश्न०४ सम्ब० द्वा०। एतदात्मके शोकाक्रन्दविलेपनादिलक्षणे वा ध्यानभेदे, आव० ४ अ० । ज्ञा० ।

अट्ट—देशी-कृशे, दुर्बले, गुरौ, महति, शुकपक्षिणि, सुखे, सौख्ये, धृष्टे, विपाते, अलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनौ, असत्ये च । दे० ना० १ वर्ग।

अट्टइ—देशी-कथने, दे० ना० १ वर्ग।

अट्टक—अट्टक-पुं० (आदमो) कुष्टितलेपरूतरूपे पात्रछिद्रपूरके द्रव्ये, बृ० १ उ० ।

अट्टज्झाण—आर्तध्यान—न०। ऋतं दुःखम । उक्तं हि-ऋतशब्दो दुःखपर्यायवाच्याश्रीयते । ऋते भवमार्त्तम् , उत्त० ३० अ०। ऋतं दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम । ऋते वा पीमिते भवमार्त्तम । स्था०४ ठा०१ उ०। आव०। तच्च तद् ध्यानं च । आर्त्तभावं गत आर्त्तः, आर्त्तस्य वा ध्यानमार्त्तध्यानम । आ० चू० ४ अ० । मनोज्ञामनोज्ञवस्तुवियोगसंयोगादिनिबन्धनचित्तविप्लवलक्षणे ध्यानभेदे, स० १ सम० । " राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु, स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु । इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहा-द्ध्यानं तदार्त्तमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः" ॥१॥ दश०१ अ०। " भवकारणमट्टरुद्दाइ " । आर्त्तध्यानं स्वविषयलक्षणभेदतश्चतुर्धा । उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन—आर्त्तममनोज्ञानां संप्रयोगे, तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः, वेदनायाश्च विपरीतम्, मनोज्ञानां निदानं चेत्यादि । आव० ४ अ० ।

"अट्टज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते" चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा।

अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ ।।

अमनोज्ञस्यानिष्टस्य 'असमणुन्नस्स त्ति' पाठान्तरे अस्वमनोज्ञस्यानात्मप्रियस्य शब्दादिविषयस्य, तत्साधनवस्तुनो वा संप्रयोगः संबन्धस्तेन संप्रयुक्तः संबद्धोऽमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तोऽस्वमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति, अमनोज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयोगाय वियोगार्थं स्मृतिश्चिन्ता, तां समन्वागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सोऽभेदोपचारादार्त्तमिति । वाऽपीतिशब्दः विकल्पापेक्षया समुच्चयार्थः । अथवा मनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो यः प्राणी, तस्य प्राणिनः विप्रयोगे प्रक्रमादमनोज्ञशब्दादिवस्तूनां वियोजने, स्मृतिश्चिन्तनम, तस्याः समन्वागतः समागमनं समन्वाहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतं वाऽपीति तथैव भवति, आर्त्तध्यानमिति प्रक्रमः । अथवाऽमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्ते प्राणिनि, तस्येति अमनोज्ञशब्दादेर्विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतमार्त्तध्यानमिति ।

अमणुन्नाणं सद्दा-इविसयवत्थूण दोसमइलस्स ।
धणिअं विओगचिंतण-मसंपओगाणुसरणं च ।।६।।

अमनोज्ञानामिति । मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि, इष्टानीत्यर्थः। न मनोज्ञानि अमनोज्ञानि, तेषाम, केषामित्यत आह-शब्दादिविषयवस्तूनामिति । शब्दादयश्चैते विषयाश्च, आदिशब्दाद्वर्णादिपरिग्रहः। विषीदन्त्येतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषयाः इन्द्रियगोचराः, वस्तूनि तु तदाधारभूतानि रासभादीनि । ततश्च शब्दादिविषयाश्च, वस्तूनि चेति विग्रहः । तेषाम, किंसंबन्धिनाम ? धणियमत्यर्थम, वियोगचिन्तनं विप्रयोगचिन्तनेति योगः । कथं नु नामैभिर्वियोगः स्यादिति भावः । अनेन वर्तमानकालग्रहः। तथा सति च वियोगेऽसंप्रयोगानुस्मरणं, कथमेभिः सहैव संप्रयोगाभाव इत्यनेन चाऽनागतकालग्रहः। चशब्दात्पूर्वमपि वियुक्तासंप्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगचिन्तनादि ? अत आह-द्वेषमलिनस्य, जन्तोरिति गम्यते । तत्राप्रीतिलक्षणो द्वेषः, तेन मलिनस्य, तदाक्रान्तमूर्त्तेरिति गाथार्थः । इति प्रथमो भेदः ।

साम्प्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह—

तह सूलसीसरोगा-इवेअणाए विओगपणिहाणं ।
तयसंपओगचिंता, तप्पडिआराउलमणस्स ।।७।।

तथेति धणियमत्यर्थमेव । शूलशिरोरोगादिवेदनाया इत्यत्र शूलशिरोरोगौ प्रसिद्धौ । आदिशब्दाच्छेषरोगातङ्कपरिग्रहः । ततश्च शूलशिरोरोगादिभ्यो वेदना । वेद्यत इति वेदना । तस्याः किम् ?, वियोगप्रणिधानम, वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः अनेन वर्त्तमानकालग्रहः । अनागतमधिकृत्याह-तदसंप्रयोगचिन्तेति, तस्या वेदनायाः कथंचिदभावे सति असंप्रयोगचिन्ता, कथं पुनर्ममानयाऽऽयत्या संप्रयोगो न स्यादिति चिन्ता चार्तध्यानमेव गृह्यते । अनेन वर्त्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि कृत एव वेदितव्यः। तत्र भावनाऽनन्तरगाथायां कृतैव । किं विशिष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानादि ? अत आह-तत्प्रतीकारे वेदनाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुलं व्यग्रं मनोऽन्तःकरणं यस्य स तथाविधस्तस्यावियोगप्रणिधानाद्यार्त्तध्यानमिति गाथार्थः । उक्तो द्वितीयो भेदः । आव० ४ अ० ।

अधुना तृतीयमुपदर्शयन्नाह–

आयंकसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ ॥

आतङ्को रोगः इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

इट्ठाणं विसयाई–ण वेअणाए अ रागरत्तस्स ।
अविओगज्झवसाणं, तह संजोगाभिलासो अ ॥८॥

इष्टानां मनोज्ञानां विषयादीनामिति। विषयाः पूर्वोक्ताः। आदिशब्दाद्वस्तुपरिग्रहः। तथा वेदनायाश्च इष्टाया इति वर्तते। किम्?, अवियोगाध्यवसानमिति योगः । अविप्रयोगदृढाध्यवसाय इति भावः । अनेन च वर्तमानकालग्रहः, तथा संयोगाभिलाषश्चेति, तत्र तथेति । धणियत्तमित्यनेनात्यर्थप्रकारोपदर्शनार्थः । संयोगाभिलाषः-कथं ममैभिर्विषयादिभिरायत्यां संबन्धः ?, इतीच्छा। अनेन च अनागतकालग्रह इति वृद्धा व्याचक्षते। चशब्दात्पूर्ववदतीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदमवियोगाध्यवसानादि । अत आह–रागरक्तस्य, जन्तोरिति गम्यते । तत्राभिष्वङ्गलक्षणो रागः, तेन रक्तस्य तद्भावितमूर्तेरिति गाथार्थः । उक्तस्तृतीयो भेदः । आव० ४ अ० ।

साम्प्रतं चतुर्थमभिधित्सुराह—

परिझुसिय कामभोगसंपओगसंपउत्ते तस्स अविप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ ॥

(परिझुसिय त्ति) निषेविता ये कामाः कमनीया भोगाः शब्दादयः । अथवा कामौ शब्दरूपे, भोगा गन्धरसस्पर्शाः । कामभोगाः कामानां वा शब्दादीनां यो भोगस्तैस्तेन वा संप्रयुक्तः । पाठान्तरे तु तेषां तस्य वा संप्रयोगस्तेन संप्रयुक्तो यः स तथा । अथवा (परिझुसिय त्ति) परिक्षीणो जरादिना, स चासौ कामभोगसम्प्रयुक्तश्च यस्तस्य,तेषामेवाविप्रयोगस्मृतेः समन्वागतं समन्वाहारस्तदपि भवत्यार्त्तध्यानमिति । स्था०४ठा०

देविंदचक्कवट्टि–त्तणाइ गुणरिद्धिपत्थणामइयं ।
अहमं निआणचिंतणमन्नाणाणुगयमच्चंतं ॥९॥

दीव्यन्तीति देवा भवनवास्यादयस्तेषामिन्द्राः प्रभवो देवेन्द्राश्चमरादयः ।तथा चक्रं प्रहरणं, तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलमेषामिति चक्रवर्तिनो भरतादयः । आदिशब्दाद् बलदेवादिपरिग्रहः । अमीषां गुणर्द्धयो देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिगुणर्द्धयः । तत्र गुणास्तु रूपादयः, ऋद्धिस्तु विभूतिः, तत्प्रार्थनात्मकं तद्याच्ञामयमित्यर्थः। किं तद्?, अधमं जघन्यं, निदानचिन्तनं निदानाध्यवसायः, अहमनेन तपस्त्यागादिना देवेन्द्रः स्यामित्यादिरूपः। आह-किमिति तदधममुच्यते?,तस्मादज्ञानानुगतम, अत्यन्तम, तथा च नाज्ञानिनो विहाय सांसारिकसुखेऽन्येषामभिलाष उपजायते । उक्तं च- " अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्तं भवति हि महन्मोक्षकाङ्क्षैकतानं, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्तिं गजेन्द्रः"॥१॥ इति गाथार्थः। उक्तश्चतुर्थो भेदः। आव० ४ अ०। द्वितीयं चक्षुर्भधनादिविषयं, चतुर्थं तत्संपाद्यशब्दादिभोगविषयमिति भेदोऽनयोर्भावनीयः । शास्त्रान्तरे (आवश्यके) तु द्वितीयचतुर्थयोरेकत्वेन तृतीयत्वमं, चतुर्थं तत्र निदानमुक्तम । उक्तं च-"अमणुण्णाणं सद्दाणं" इत्यादि । स्था०४ ठा०१उ०। साम्प्रतमिदं यथाभूतस्य भवति यद्वर्धनं चेदमिति तदेतदभिधातुकाम आह–

एयं चउव्विहं रा-गदोसमोहंकिअस्स जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संसा–रवद्धणं तिरिअगइमूलं ॥१०॥

एतदनन्तरोदितं चतुर्विधं चतुःप्रकारं रागद्वेषमोहम, किं तस्य?, रागादिक्लाङ्कितस्येत्यर्थः। कस्य ?, जीवस्य आत्मनः । किम्?, आर्त्तध्यानमिति । तथा चतुष्टयमपि किं विशिष्टम् ?, इत्यत आह–संसारवर्द्धनम, ओघतस्तिर्यग्गतिमूलं विशेष इति गाथार्थः । आह-साधोरपि शूलवेदनाभिभूतस्यासमाधानादार्त्तध्यानप्राप्तिरित्यत्रोच्यते, रागादिवशवर्त्तिनो भवत्येव, न पुनरन्यस्येति । आह च ग्रन्थकारः–

मज्झत्थस्स उ मुणिणो, सकम्मपरिणामजणिअमेअं ति ।
वत्थुस्सहावचिंतण–परस्स सम्मं सहंतस्स ॥ ११ ॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, रागद्वेषयोरिति गम्यते । तस्य मध्यस्थस्य, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे । मध्यस्थस्यैव नेतरस्य । मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः,तस्य मुनेः, साधोरित्यर्थः। स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् शूलादि, यच्च प्राक्कर्मविपरिणामिदैवादशुभमापतति न तत्र परिताप्या भवन्ति सन्तः। उक्तं च परममुनिभिः–" पुव्विं च खलु भो कडाणं कम्माणं दुचिन्नाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता मोक्खो नत्थि, अवेइत्ता तवसा वा झोसइत्ता" इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वभावचिन्तनपरस्य सम्यक्शोभनाध्यवसायेन सहमानस्य सतः कुतोऽसमाधानम?, अपि तु धर्मनिदानमिति वक्ष्यतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ परिहृताऽऽशङ्का, गतः प्रथमपक्षः ।

द्वितीयतृतीयावधिकृत्याह—

कुणओ व पसत्थालं–बणस्स पडिआरमप्पसावज्जं ।
तवसंजमपडिआरं, च सेवओ धम्ममणिआणं ॥ १२ ॥

कुर्वतो वा, कस्य ?, प्रशस्तं ज्ञानाद्युपकारकम्, आलम्ब्यत इत्यालम्बनं प्रवृत्तिनिमित्तं शुभमध्यवसानमित्यर्थः । उक्तं च–" काहं अच्छित्तिमित्यादि " प्रशस्तमालम्बनं कृतं यस्यासौ प्रशस्तालम्बनः,तस्य । किं कुर्वतः?,इत्यत आह-प्रतीकारं चिकित्सालक्षणम्, किंविशिष्टम्?, अल्पसावद्यम्, अवद्यं पापं, सहावद्येन सावद्यम् । अल्पशब्दोऽभाववाचकः स्तोकवचनो वा । अल्पं सावद्यं यस्मिन्नसावल्पसावद्यस्तं धर्ममनिदानमेवेति योगः । कुतः?, निर्दोषत्वात् । निर्दोषत्वं च वचनप्रामाण्यात् । उक्तं च–"गीयत्थो जयणाए कडजोगी कारणम्मि निद्दोसो" । इत्याद्यागमस्योत्सर्गापवादरूपत्वात् । अन्यथा परलोकस्य साधयितुमशक्यत्वात्, साधु चैतदिति। तथा तपःसंयमप्रतीकारं च सेवमानस्येति । तपःसंयमावेव प्रतीकारः, सांसारिकदुःखानामिति गम्यते । तं च सेवमानस्य, चशब्दात् पूर्वोक्तप्रतीकारं च । किम्?, धर्मं धर्मध्यानमेव भवति, कथम्?, सेवमानस्यानिदानमिति क्रियाविशेषणम् ,देवेन्द्रादिनिदानरहितमित्यर्थः। आह -कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षो भवत्वितीदमपि निदानमेव उच्यते, सत्यम। तदपि निश्चयतः प्रतिषिद्धमेव। कथम?,"मोक्षे भवे च सर्वत्र, निस्पृहो मुनिसत्तमः । प्रकृत्याभ्यासयोगेन, यत उक्तो जिनागमे"॥१॥ इति। तथापि तु भावनायामपरिणतं सत्त्वमङ्गीकृत्य व्यवहारत इदमदुष्टमेव। अनेनैव प्रकारेण तस्य चित्तशुद्धेः, क्रियाप्रवृत्तियोगाच्चेत्यत्र बहु वक्तव्यम, तत्तु नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति गाथार्थः॥१२॥ अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयं चतुर्भेदमप्यार्त्तध्यानमधिकृत्य साधोः प्रतिषेधरूपतया व्याचक्षते. न च तदत्यन्तसुन्दरम, प्रथमतृतीयपक्षद्वये सम्यगाशु-

ङ्गाया एवानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आर्तध्यानं संसारव-र्द्धनमिति, तत्कथमुच्यते ?, बीजत्वात् ।

बीजत्वमेव दर्शयन्नाह-

रागो दोसो मोहो, जेणं संसारहेअवो भणिआ ।

अट्टंमि अ ते तिन्नि वि, तो तं संसारतरुबीअं ॥ १३ ॥

रागो द्वेषो मोहश्च येन कारणेन संसारहेतवः संसारकारणानि भणिता उक्ताः, परममुनिभिरिति गम्यते । आर्त्ते चार्त्तध्याने च त्रयोऽपि ते रागादयः संभवन्ति यत एवं, ततस्तत्संसारतरुबीजं भववृक्षकारणमित्यर्थः । आह—यद्येवमोघत एव संसारतरुबीजं ततश्च तिर्यग्गतिमूलमिति किमर्थमभिधीयते ?। उच्यते-तिर्यग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव संसारतरुबीजमिति। अन्ये तु व्याचक्षते-तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसंभवात्स्थितिबहुत्वाच्च संसारोपचार इति गाथार्थः ॥१३॥

इदानीमार्त्तध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकाला, लेसाओ णाइसंकिलिट्ठाओ ।

अट्टज्झाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥१४॥

कापोतनीलकृष्णा लेश्याः।किंभूताः?,नातिसंक्लिष्टा रौद्रध्यानलेश्यापेक्षया नातीवाशुभानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत-आह-आर्त्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते । किंनिबन्धना एताः?, इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः।तत्र-"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते" ॥१॥ एताश्च कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ आव० ४ अ० ।

आह-कथं पुनरोघत एवार्त्तं ध्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गेभ्यः; तान्येवोपदर्शयन्नाह-

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता । तं जहा-कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

लक्ष्यते निर्णीयते परोक्षमपि चित्तवृत्तिरूपत्वात् आर्त्तध्यानमेभिरिति लक्षणानि।तत्र क्रन्दनता-महता शब्देन विरवणम्,शोचनता-दीनता, तेपनता-तिपेः क्षरणार्थत्वादश्रुविमोचनम, परिदेवनता-पुनः पुनः क्लिष्टभाषणमिति । एतानि चेष्टवियोगानिष्टसंयोगरोगवेदनाजनितशोकरूपस्यैवार्त्तस्य लक्षणानि । (स्था० ४ ठा० १ उ०) यत आह-

तस्स कंदणसोअणपरिदेवणताडणाइँ लिंगाइं ।

इट्ठाणिट्ठविओगा-विओगविअणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

तस्यार्त्तध्यायिनः, आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि।तत्राक्रन्दनं महता शब्देन विरवणम्,शोचनं त्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेवनं पुनः २ क्लिष्टभाषणम , ताडनमुरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनादि, एतानि लिङ्गानि चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवेदनानिमित्तानि। तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगनिमित्तानि, वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थः ॥ १५ ॥

किं चान्यत्-

निंदइ निअयकयाइं, पसंसई विम्हिओ विभूईओ ।

पत्थेइ तासु रज्जइ, तयज्जणपरायणो होई ॥ १६ ॥

निन्दति च कुत्सति च निजकृतानि आत्मकृतानि अल्पफलविफलानि, कर्मशिल्पकलावाणिज्यादीन्येतद्गम्यते । तथा प्रशंसति स्तौति बहु मन्यते सविस्मयः साश्चर्यः विभूतीः परसंपद इत्यर्थः । तथा प्रार्थयते अभिलषति, परविभूतीरिति । तथा तासु रज्यते-तास्विति प्राप्तासु विभूतीषु रागं गच्छति, तथा तदर्जनपरायणो भवति-तासां विभूतीनामर्जनं उपादाने परायण उद्युक्तस्तदर्जनपरायण इति । ततो यश्चैवंभूतो भवत्यसावार्त्तं ध्यायतीति गाथार्थः ॥ १६ ॥

किञ्च—

सद्दाइविसयगिद्धो, सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।

जिणमयमणविक्खंतो, वट्टइ अट्टम्मि झाणम्मि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु गृद्धो मूर्च्छितः, काङ्क्षावानित्यर्थः । तथा सद्धर्मपराङ्मुखः प्रमादपरः। तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः, क्षान्त्यादिकश्चरणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराङ्मुखः । प्रमादपरो मद्यादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्त्ते ध्यान इति।तत्र जिनास्तीर्थकरास्तेषां मतमागमरूपम्, प्रवचनमित्यर्थः। तदनपेक्षमाणस्तन्निरपेक्ष इत्यर्थः।किम्?, वर्त्तते, आर्त्तध्याने। इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतमिदमार्त्तध्यानसंभवमधिकृत्य यदनुगतं यदर्हं च वर्तते तदेतदभिधित्सुराह—

तयविरयदेसविरय—पमायपरसंजयाणुगज्झाणं ।

सव्वं पमायमूलं, वज्जेअव्वं जइजणेणं ॥ १८ ॥

तदार्त्तध्यानमिति योगः । अविरतदेशविरतप्रमादपरसंयतानुगतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरता एकव्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठाश्च, ते संयताश्च,ताननुगच्छतीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तः संयतानामिति भावः । इदं च स्वरूपतः सर्वं प्रमादमूलं वर्त्तते, यतश्चैवमतो वर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन?, यतिजनेन साधुलोकेन, उपलक्षणत्वात् श्रावकजनेन च । परित्यागार्हत्वादेवास्येति गाथार्थः ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । ध० । प्रव० । ग० । द्वा० ।

अट्टज्झाणवियप्प-आर्त्तध्यानविकल्प- पुं० । अशुभध्यानभेदे, " जो एत्थ अभिस्संगो, संतासंतेसु पावहेउ त्ति । अट्टज्झाण-वियप्पो, स इमीए संगओ रुवं " ॥१॥ पं० १ द्वा० ।

अट्टज्झाणवेरग्ग-आर्तध्यानवैराग्य-न० । आर्त्तध्यानं च तद् वैराग्यम् । वैराग्यभेदे, द्वा० । तल्लक्षणम्-

इष्टेतरवियोगादि—निमित्तं प्रायशो हि यत् ।

यथाशक्त्यपि हेयादा—वप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥१॥

उद्वेगकृद्विषादाढ्य—मात्मघातादिकारणम् ।

आर्त्तध्यानं ह्यदो मुख्यं, वैराग्यं लोकतो मतम् ॥ २ ॥

इष्टश्च प्रियः, इतरश्चानिष्टः, इष्टेतरौ विषयाविति गम्यते। तयोर्यथासङ्ख्येन यो वियोगादिर्विरहसंप्रयोगौ, स निमित्तं कारणं यस्य तदिष्टेतरवियोगादिनिमित्तम, प्रायशो बाहुल्येन न पुनरिष्टेतरवियोगादिनिमित्तमेव, स्वविकल्पनिमितस्यापि तस्य संभवात् । हिशब्दो यस्मादर्थे । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः । यदिति वैराग्यमद एतदार्त्तध्यानमेवेति संबन्धः । कुतस्तदार्त्तध्यानमेव न पुनर्यथावद्वैराग्यमित्याह—यस्माद्यथाशक्त्यपि सामर्थ्यानुरूपमप्यास्तां श्रद्धाऽतिशयाच्छक्त्यतिक्रमतः हेयादौ हेयोपादेयवस्तुविषये क्रमेणाप्रवृत्त्यादिवर्जितं निवर्तनाविरहितं यत्किल यथावद्वैराग्यं भवति तत्रेन्द्रियार्थेषूपादेयेषु च तपोध्या-

नादिषु यथाशक्ति निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात्। इदं तु तद्वर्जितं यस्मात् तस्मादार्त्तध्यानमेवेति भावः। तथा उद्वेगं मनःस्वास्थ्यचलनं करोतीति उद्वेगकृत्, तथा विषादो दैन्यं, तेनाऽऽढ्यं परिपूर्णं विषादाऽऽढ्यम्, अनेन मनोदुःखहेतुताऽस्योक्ता। अथ शारीरदुःखहेतुतामस्यैवाह--आत्मेह कथितः स्वशरीरम्, तस्य घातादि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुरात्मघातादिकारणम्, आर्त्तध्यानम्। हिशब्दस्यैवकारार्थत्वादार्त्तध्यानमेव अद इति संबन्धितमेव। किंभूतमित्याह-मुख्ये मत्वं मुख्यं प्रधानम्, निरुपचरितमित्यर्थः। ननु यद्यार्त्तध्यानमेतत्तदा कस्माद्वैराग्यतयोक्तमित्याह-वैराग्यमुक्तनिर्वचनं लोकतो, लोकं पृथग्जनमाश्रित्य तद्धदयेत्यर्थो न पुनस्तत्त्वतो मतं संमतं तत्त्वविदुषामिति। हा० १० अष्ट०।

अट्टज्झाणोवगय–आर्त्तध्यानोपगत–त्रि०। अपगतसद्विवेकतया धर्मध्यानदुर्वर्तिनि आर्त्तध्यानध्यायिनि, "अट्टज्झाणोवगए, भूमिगयदिट्ठिए झियाइ" सूत्र० २ श्रु० ४ अ०।

अट्टट्टहास–अट्टट्टहास–पुं०। उच्चैर्हसनरूपे हासविशेषे, उपा० २ अ०। "भीमं अट्टट्टहासं मुयंतो वीहावेइ" आ०म०द्वि०। आव०।

अट्टट्टी–देशी–याते, दे० ना० १ वर्ग।

अट्टण–अट्टन–न०। अट्यते परिभूयते रिपुरनेन। अट्ट–करणे ल्युट्। चक्राकारफलकास्त्रे, भावे ल्युट्। अनादरे, न०। वाच०। स्वनामख्याते मल्ले, पुं०। उत्त० ४ अ०। तत्कथा चैवम्-उज्जयिन्यां जितशत्रुनृपस्य अट्टनमल्लो वर्त्तते स्म। स च प्रतिवर्षं सोपारके गत्वा सिंहगिरे राज्ञः सभायां मल्लान् विजित्य जयपताकां लाति स्म। अन्यदा राज्ञा एवं चिन्तितम्---परदेशीयोऽयमट्टनमल्लो मत्सभायां जित्वा बहु द्रव्यं प्राप्नोति, मदीयः कोऽपि मल्लो न जयति, नैतद्वरम्, एवं हि ममैव महत्त्वक्षतिर्जायते। इति मत्वा कश्चिद्बलवन्तं मत्स्यीनरं दृष्ट्वा स्वमल्लं चकार। तस्य त्वरितमेव मल्लविद्या समायाता। 'मत्स्यी मल्ल' इति नाम तस्य कृतम्। अन्यदा अट्टनमल्लः सोपारके समायातस्तेन समं राज्ञा मत्स्यीमल्लस्य युद्धं कारितम्, जितो मत्स्यीमल्लः। अट्टनः पराजितः स्वनगरे गत एवं चिन्तयति स्म-मत्स्यीमल्लस्य तारुण्येन बलवृद्धिः, मम तु वार्द्धक्येन बलहानिः, ततोऽन्यं स्वपक्षपातिनं मल्लं करोमि। ततोऽसौ बलवन्तं पुरुषं विलोकयन् भृगुकच्छदेशे समागतः। तत्र हरिणीग्रामे एकः कर्षक एकेन करेण हलं वाहयन् द्वितीयेन फलहीमुत्पाटयन् दृष्टः। स भोजनाय स्वस्थानके सार्द्धं नीतः। तस्य बहु भोजनं दृष्टम्। उत्सर्गसमये च सुदृढमलं पुरीषं दृष्ट्वा मल्लविद्या ग्राहिता। 'फलहीमल्ल' इति तस्य नाम कृतम्। अट्टनः सोपारके फलहीमल्लं गृहीत्वा गतः। राज्ञा मत्स्यीमल्लेन समं फलहीमल्लस्य युद्धं कारितम्। प्रथमे दिवसे द्वयोः समतैव जाता। अट्टनेन सोपारके फलहीमल्लः पृष्टः—पुत्र! तवाङ्गे क प्रहारा लग्नाः?। तेन स्वाङ्गप्रहारस्थानानि दर्शितानि। अट्टनेनौषधिरसेन तानि स्थानानि तथा मर्दितानि यथाऽसौ पुनर्नवीभूतः। मत्स्यीमल्लस्यापि राज्ञा पृष्टम्-क्व तवाङ्गे प्रहारा लग्नास्तथा तान् दर्शय?, फलहीमल्लः पुनर्नवीभूतः श्रूयते। मत्स्यीमल्लोऽभिमानात् स्वस्थानं न दर्शयति स्म, वक्ति स्म च–अहं पुनर्नवीभूतः फलहीमिनरं जयामि। द्वितीयदिवसे पुनर्युद्धावसरे द्वयोरपि साम्यमेव जातम्। तृतीयदिवसे मत्स्यीमल्लो जितः फलहीमल्लेन। अट्टनेन स्वपराजयः स्मारितः। ततो मत्स्यीमल्लेनान्याययुद्धाचरणेन फलहीमल्लस्य मस्तकं भिन्नम्। खिन्नोऽट्टनमल्लो गत उज्जयिनीम्। तत्र विमुक्तयुद्धव्यापारः स्वगृहे तिष्ठति स्म। परं जराक्रान्त इति न कस्मैचित् कार्याय क्षम इति स्वजनैः पराभूयते स्म। अन्यदा स्वजनापमानं दृष्ट्वाताननापृच्छ्यैव कौशाम्बीं नगरीं गतः। तत्र वर्षमेकं यावद्रसायनं भक्षितवान्। ततोऽत्यन्तबलवान् जातः। उज्जयिन्यां राजपर्वदि मल्लमहे प्रवर्त्तमाने पुनर्नवागतयौवनेन अट्टनमल्लेन समागत्य राज्ञो नीरङ्कणनामा महामल्लो जितः। राज्ञा तु मदीयोऽयं आगन्तुकेनानेन जित इतिकृत्वा न प्रशंसितः। लोकोऽपि राजप्रशंसामन्तरेण मौनवान् जातः। अट्टनस्तु स्वस्वरूपज्ञापनाय सभापक्षिणः प्रत्याह–भो भोः पक्षिणः?, ब्रूत–अट्टनेन नीरङ्कणो जितः। ततो राज्ञा उपलक्षितः। मदीय एवायमट्टनमल्ल इतिकृत्वा सत्कृतः। बहु द्रव्यं चास्मै राज्ञा दत्तम्। स्वजनस्तं तथाभूतं श्रुत्वा सम्मुखमागत्य मिलितः। सत्कारादि चकार। अट्टनेन चिन्तितम्-द्रव्यलोभादेते मम साम्प्रतं सत्कारं कुर्वन्ति, पश्चाच्चिरं व्यं मामपमानयिष्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चित् त्राणाय भविष्यति, यावदहं सावधानबलोऽस्मि तावत्प्रव्रजामीति विचार्य गुरोः समीपेऽट्टनेन दीक्षा गृहीतेति। "जरोवणीअस्स हु नत्थि ताणं" उत्त० ४ अ०। आ० चू०। आव०।

आटन–न०। गमने, ध० ३ अधि०। व्यायामे, औ०।

अट्टणसाला–अट्टनशाला–स्त्री०। व्यायामशालायाम्, ज्ञा०।

तद्वर्णकः—

जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अट्टणसालं अणुप्पविसति, अणेगवायामजोगवग्गणवामद्दणमल्लयुद्धकरणेहिं संते परिसंते सयपागसहस्सपागेहिं सुगंधवरतेल्लमाईएहिं पीयणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मदणिज्जेहिं विंहणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भिंगेहिं अब्भिंगिए समाणे तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहिं पट्ठेहिं य कुसलेहिं मेहावीहिं निउणेहिं निउणसिप्पोवगतेहिं जियपरिस्समेहिं अब्भिंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणनिम्माएहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे नरिंदे अट्टणसालातो पडिनिक्खमेति। ज्ञा० १ अ०। आ० चू०। औ०।

अट्टणियट्टियचित्त–आर्त्तनिवर्तितचित्त–त्रि०। आर्त्तं निवर्त्तितं चित्तं यैस्त आर्त्तनिवर्त्तितचित्ताः। आर्त्ताद्वा निवर्त्तितं चित्तं यैस्ते आर्त्तनिवर्त्तितचित्ताः। क्लिष्टाध्यवसायिषु, औ०। "अट्टणियट्टियचित्ता, जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति" भ० ४ श० १ उ०।

आर्त्तनिरर्दितचित्त–त्रि०। क्लिष्टपरिणामे, आर्त्तेन नितरामर्दितमनुगतं चित्तं येषां ते तथा। औ०।

अट्टतर–आर्त्ततर–न०। अतिशयिते आर्त्तध्याने, "पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अट्टदुहट्ट–आर्त्तदुर्घट–त्रि०। ६ त०। आर्त्तनाम्नो ध्यानविशेषस्य दुर्घट, उपा० ४ अ०।

आर्त्तदुःखार्त्त–त्रि०। ३ त०। आर्त्तेन दुःखपीडिते, उपा० ४ अ०। आर्त्तश्चासौ दुःखार्त्तः। मनसा देहेन च दुःखिते, विशे०।

अट्टदुहट्टवसट्ट–आर्त्तदुर्घटवशार्त्त–त्रि०। आर्त्तस्य ध्यानविशेष-

वस्य यो दुर्घटो दुःस्थगो दुर्निरोधो वशः पारतन्त्र्यं, तेनार्त्तः पीडित आर्त्तदुर्घटवशार्त्तः । असमाधिप्राप्ते, ज्ञा० ८ अ० ।

आर्त्तदुःखार्त्तवशार्त्त–त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्त आर्त्तदुःखार्त्तस्तथा वशेन च विषयपारतन्त्र्येण ऋतः परिगतो ,वशार्त्तः । ततः कर्मधारयः । क्लिष्टाध्यवसायेन विषययन्त्रणया च दुःखिते, उपा० २ अ० । आर्त्तो मनसा दुःखितः, दुःखार्त्तो देहेन, वशार्त्तस्तु इन्द्रियवशेन पीडितः । ततः कर्मधारयः । विपा० १ श्रु० १ अ० । मनसा, देहेनेन्द्रियवशेन च पीडिते, "जहा णं तुणं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जइ" उपा० २ अ० ।

अट्टदुहट्टियचित्त–आर्त्तदुःखार्दितचित्त–त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्दितं चित्तं येषां ते तथा । क्लिष्टाध्यवसायतो दुःखितमनस्केषु, औ० ।

अट्टदुहट्टोवगय–आर्त्तदुर्घटोपगत–त्रि० । आर्त्तमार्त्तध्यानं, दुर्घटं दुःस्थगनीयं दुर्वार्यमित्यर्थः, उपगतः प्राप्तो यः स तथा । दुर्निवार्यार्त्तध्यानवति, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अट्टमइय–आर्त्तमतिक–पुं० । आर्त्ते आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्तमतिकाः । आर्त्तध्यानोपयुक्ते, आतु० ।

अट्टवस–आर्त्तवश–पुं० । आर्त्तध्यानवश्यतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्टवसट्टदुहट्ट–आर्त्तवशार्त्तदुःखार्त्त–त्रि० । आर्त्तवशमार्त्तध्यानवश्यतामृतो गतो, दुःखार्त्तश्च यः स तथा । आर्त्तध्यानविवशीभूतदुःखिते, "अट्टवसट्टदुहट्टे काले मासे कालं किच्चा" ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्टवसट्टोवगय–आर्त्तवशार्त्तोपगत–त्रि० । आर्त्तवशार्त्तश्च स उपगतश्चेति समासः । आर्त्तध्यानसामर्थ्येनार्त्ते, ध्या० ।

अट्टस्सर–आर्त्तस्वर–त्रि० । दुःखेन शब्दायमाने, "अट्टस्सरे ते कलुणं रसंते" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अट्टहास–अट्टहास–पुं० । अट्टेनातिशयेन हासः । ३ त० । हसघञ् । उच्चहासे, वाच० "अट्टहासजीसणो" आव० ४ अ० ।

अट्टालग–अट्टालक–पुं० न० । अट्ट इव प्रासादगृहमिव अलति पर्याप्तो भवति । अल–अच् । वाच० । प्राकारोपरिवर्त्याश्रयविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । जं० । स० । जी० । ज्ञा० । नि० चू० । न० । प्रज्ञा० । आचा० । रा० । अनु० । प्राकारकोष्ठकोपरिवर्तिनि मन्दिरे, "पागारं कारवित्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य" उत्त० ६ अ० ।

अट्टि–आर्त्ति–स्त्री० । शारीरमानस्यां पीडायाम्, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । यातनायाम्, ध० २ अधि० ।

अट्टियचित्त–आर्त्तितचित्त–त्रि० । आर्त्तिना आर्त्तीव वा ध्यानविशेषाद्याकुलं चित्तं येषां ते आर्त्तितचित्ताः । शोकादिपीडिते, "अट्टा अट्टियचित्ता" उपा० २ अ० ।

अट्ठ–अर्थ–पुं० । भावकर्मादौ यथायथमच् । "स्त्यानचतुर्थार्थे वा" ८ । २ । ३३ । इति संयुक्तस्य वा ठः । प्रा० । प्रयोजने, नि० चू० १ उ० । कल्प० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । स्था० । ज्ञा० । आव० । "अरहं अप्पणो अट्ठाए चेइयाइं भवंति" आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रयोजन एव ठः, यदा तु धनमुच्यते तदा ठो न स्यात् । अत्थो धनम् । आर्षे तु भवति–"अट्ठा वयं न सिक्खिज्जा, वेहाइयं न णो भए" इत्यत्र अर्थेन इत्यर्थो धनधान्यहिरण्यादिक इति व्याख्यानात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । प्राप्तिप्रयोजने, "अट्ठं वा हेउं वा समणस्सउ विरहिए कहेमो" व्य० २ उ० । धर्मविषयेऽर्थित्वे, उत्त० ३ अ० । कार्ये, स्था० ५ ठा० ३ उ० । मोक्षे, तत्कारणभूते संयमे च । "अट्ठे परिहायती बहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निवृत्तौ, ज्ञा० १ अ० । सूत्राभिधेये, प्राकृतत्वाद् नपुंसकत्वमप्यर्थशब्दस्य । पा० । अभिधेये (वाच्ये), सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । वस्तुनि, "से नूणं कामदेवा अट्ठे समट्ठे हंता ! अट्ठि" अस्त्येषोऽर्थ इत्यर्थः । अथवा मर्यादितं वस्तु समर्थः संगतः । उपा० २ अ० । "छव्विहे अट्ठे पन्नत्ते । तं जहा–संसयअट्ठे, वुग्गहअट्ठे, अणुजोगी, अणुलोमे, तहणाणे, अतहणाणे" स्था० ६ ठा० । (टीकाऽस्य 'पट्ठ' शब्दे द्रष्टव्या) अर्थ्यते गम्यते इत्यर्थः । अर्त्तेरौणादिकः थन् । हेये उपादेये वा वस्तुनि, उभयस्याप्यर्थ्यमानत्वात् । उत्त० १ अ० । आ० चू० । नि० । विषयभोगादिके, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सूत्र० । (अष्टस्वरूपतामप्राप्तस्यार्थशब्दस्य अर्था 'अत्थ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अष्टन्–त्रि० । ब० व० । अश्–व्याप्तौ कनिन्, तुट् च । सङ्ख्याभेदे, तत्संख्यान्विते च । वाच० । प्रज्ञा० ।

अट्ठंग–अष्टाङ्ग–त्रि० । अष्टावङ्गानि यस्य तदष्टाङ्गम् । यमनियमादायष्टाङ्गयोगे, वाच० ।

अट्ठंगणिमित्त–अष्टाङ्गनिमित्त–न० । भौमम् १, उत्पातम् २, स्वप्नः ३, आन्तरिक्षम् ४, आङ्गं ५, स्वरं ६, लक्षणं ७, व्यञ्जनम् ८; इत्येवं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गते सुखदुःखादिसूचके निमित्ते, सूत्र० ।

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च,
निमित्त देहं च उपाइयं च ।
अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता,
लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥ ९ ॥

सांवत्सरमिति ज्यौतिषम्, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तमधीत्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । चशब्दादान्तरबाह्यभेदभिन्नम् । निमित्तं वाक्प्रशस्तशकुनादिकम् । देहे भवं दैहम्, मषकतिलकादि । उत्पाते भवमौत्पातिकमुल्कापातदिग्दाहनिर्घातभूमिकम्पादिकम् । तथाऽष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य । तद्यथा–भौममुत्पातमान्तरिक्षमाङ्गं स्वरं लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपम् । नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुविनिर्गतं सुखदुःखजीवितमरणलाभाऽलाभादिसंसूचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अनागतानि च जानन्ति परिच्छिन्दन्ति । न च शून्यादिवादेष्वेतद् घटते, तस्मादप्रमाणिकमेव तैरभिधीयत इति । एवं व्याख्याते सति आह परः–ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते । तथाहि–चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वमागमे उद्घुष्यते, किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् । अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशास्त्राणामानुपूर्व्येण च्छन्दसा त्रयोदशशतानि सूत्रम्, तावन्त्येव सहस्राणि वृत्तिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिभाषेति । अङ्गस्य त्रयोदशसहस्राणि सूत्रम्, तत्परिमाणलक्षणा वृत्तिः, अपरिमितं वार्त्तिकमिति ॥

तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः षट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह–

केई निमित्ता तहिया भवंति,
केसिं च तं विप्पडिएति णाणं ।

ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा,
आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥ १० ॥

छान्दसत्वात्प्राकृतशैल्या वा लिङ्गव्यत्ययः। कानिचिन्निमित्तानि तथ्यानि सत्यानि भवन्ति। केषांचित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा बुद्धिवैकल्यात्तथाविधक्षयोपशमाभावेन तन्निमित्तज्ञानं विपर्यासं व्यत्ययमेति। आर्हतानामपि निमित्तव्यभिचारः समुपलभ्यते, किं पुनस्तीर्थिकानाम् ?, तदेवं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपलभ्यते। अक्रियावादिनो विद्यासद्भावमनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा, ते (आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव) विद्यायाः श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोक्षं परित्यागमाहुरुक्तवन्तः। यदि वा क्रियाया अभावाद् विद्यया ज्ञानेनैव मोक्षं सर्वकर्मच्युतिलक्षणमाहुरिति। क्वचिच्चरमपादस्यैवं पाठः-"जाणासु लोग सि वयंति मंदा" विद्यामनधीत्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोके भावान् स्वयं जानीमः, एवं मन्दा जडा वदन्ति। न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहि-कस्य चित्क्वचित्क्षुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनात्, क्वचित् शकुनसद्भावेऽपि कार्यविघातदर्शनात्, अतो निमित्तबलेनादेशविधायिनां मृषावाद एव केवलमिति। नैतदस्ति। नहि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विसंवादोऽस्ति। यदपि षट्स्थानपतितत्वमुद्घोष्यते, तदपि पुरुषाश्रितक्षयोपशमवशेन। न च प्रमाणाभासव्यभिचारे सम्यक्प्रमाणव्यभिचाराशङ्कां कर्तुं युज्यते। तथाहि--मरुमरीचिकानिचये जलग्राहि प्रत्यक्षं व्यभिचरतीति कृत्वा किं सत्यजलग्राहिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंगतो भवति ?। न हि मशकवर्तिरग्निसिद्धावुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि व्यभिचारः। न हि सुविवेचितं कार्यकारणं व्यभिचरतीति। ततश्च प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्यैव। सुविवेचितं निमित्तं क्षुतमपि न व्यभिचरतीति। यश्च क्षुतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन व्यभिचारः शङ्क्यते, सोऽनुपपन्नः। तथाहि-कार्याकृतात् क्षुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिः साऽपान्तरालेऽन्तरशोभननिमित्तबलात्संजातेत्येवमवगन्तव्यम्। शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतरनिमित्तबलात्कार्यव्याघात इति। तथा च श्रुतिः--किल गुरुः स्वशिष्यनाहूयोक्तवान्। यथा-द्वादशवार्षिकमत्र दुर्भिक्षं भविष्यतीत्यतो देशान्तराणि गच्छत यूयम्। ते तद्वचनाच्छन्तस्तेनैव प्रतिषिद्धाः यथा-मा गच्छत यूयमिहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः संजातस्तत्प्रभावात्सुभिक्षं भविष्यति। न तदेवमन्तरापरनिमित्तसद्भावाद्व्यभिचाराशङ्केति स्थितम् ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। " अट्ठनिमित्तंगाइं, दिव्वुप्पातंतलिक्ख भोमं च। अंगं सरलक्खण वं-जणं च तिविहं पुणेक्केक्कं " ॥१॥ भ०११ श०११उ०।

अट्ठंगतिलय--अष्टाङ्गतिलक--पुं०। अष्टस्वङ्गेषु पुण्ड्रेषु, भ० ११ श० ११ उ०।

अट्ठंगमहाणिमित्त--अष्टाङ्गमहानिमित्त-न०। अष्टाङ्गानि यत्र, एवंविधं यद् महानिमित्तं शास्त्रम्। आङ्गस्वप्नेत्याद्यष्टावयवे भाविपदार्थसूचके स्वप्नादिफलव्युत्पादके ग्रन्थे, कल्प०।

अट्ठंगमहाणिमित्तसुत्तत्थधारय--अष्टाङ्गमहानिमित्तसूत्रार्थधारक--त्रि०। अष्टाङ्गमष्टावयवं यन्महानिमित्तं परोक्षार्थप्रतिपत्तिकारणव्युत्पादकं महाशास्त्रम्, तस्य यौ सूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये ते तथा। अधीताष्टभेदमहानिमित्तशास्त्रसूत्राभिधेयेषु; ज्ञा० १ श्रु०: म०।

अट्ठंगिया--अष्टाङ्गिकी--स्त्री०। अष्टभिरङ्गैर्निर्वृत्तायाम्, "प्रवृत्तिरष्टाङ्गिकी तत्त्वे" षो० १६ विव०।

अट्ठकणिय--अष्टकार्णिक--त्रि०। ब० स०। अष्टकोणविभागे, स्था० ८ ठा०।

अट्ठकम्मगंठीविमोयग--अष्टकर्मग्रन्थिविमोचक--त्रि०। अष्टकर्मरूपो यो ग्रन्थिस्तस्य विमोचकः। ज्ञानावरणीयादिकर्मणां क्षपके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा०।

अट्ठकम्मतंतुघणबंधण--अष्टकर्मतन्तुघनबन्धन--न०। ३ त०। अष्टकर्मलक्षणैस्तन्तुभिर्घने बन्धने, "वेढंता कोसिकारकीडो व्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतुघणबंधणेणं" प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अट्ठकम्मसूरणतव--अष्टकर्मसूदनतपस्--न०। अष्टानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां सूदनं विनाशनं यस्मात्तदष्टकर्मसूदनं तपः। तपोभेदे, प्रव० २७१ द्वा०। पंचा०।

अट्ठकर--अर्थकर--पुं०। अर्थान् हिताहितप्राप्तिपरिहारादीन् राजादीनां दिग्यात्रादौ तथोपदेशतः करोतीति अर्थकरः। मन्त्रिणि, नैमित्तिके च। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अट्ठग-अष्टक-न०। अष्टौ परिमाणमस्य प्रत्येकमष्टाध्यायात्मके ऋग्वेदांशभेदे, पाणिनेरष्टाध्यायीसूत्रे च। वाच०। अष्टपद्यात्मके प्रकरणे, तादृशैर्द्वात्रिंशता घटिते ग्रन्थे च। यथा हरिभद्रसूरिविरचितमष्टकम्, तस्य जिनेश्वराचार्यकृता तच्छिष्यश्रीमदभयदेवसूरिप्रतिसंस्कृता च वृत्तिः। द्वात्रिंशदष्टकानि, तेषु-प्रथमं महादेवाष्टकम्, द्वितीयं स्नानाष्टकम्, तृतीयं पूजाष्टकम्, चतुर्थमग्निकारिकाष्टकम्, पञ्चमं भिक्षाष्टकम्, षष्ठं पिण्डविशुद्ध्यष्टकम्, सप्तमं भोजनाष्टकम्, अष्टमं प्रत्याख्यानाष्टकम्, नवमं ज्ञानाष्टकम्, दशमं वैराग्याष्टकम्, एकादशं तपोऽष्टकम्, द्वादशं वादाष्टकम्, त्रयोदशं धर्माष्टकम्, चतुर्दशं द्रव्यास्तिकाष्टकम्, पञ्चदशं पर्यायाष्टकम्, षोडशमनेकान्तवादाष्टकम्, सप्तदशं मांसभक्षणाष्टकम्, अष्टादशं मांसभक्षणदूषणाष्टकम्, एकोनविंशं मद्याष्टकम्, विंशतितमं मैथुनाष्टकम्, एकविंशं सूक्ष्मबुद्ध्यष्टकम्, द्वाविंशं भावशुद्ध्यष्टकम्, त्रयोविंशं शासनमालिन्याष्टकम्, चतुर्विंशं पुण्यापुण्यविचाराष्टकम्, पञ्चविंशमौचित्यप्रवृत्त्यष्टकम्, षड्विंशं तीर्थकरदानाष्टकम्, सप्तविंशं तीर्थकृतां महादानयुक्तत्वाष्टकम्, अष्टाविंशं तीर्थकृतां राज्याष्टकम्, एकोनत्रिंशं सामायिकाष्टकम्, त्रिंशत्तमं केवलाष्टकम्, एकत्रिंशं तीर्थकृतां धर्मदेशनाष्टकम्, द्वात्रिंशं सिद्धाष्टकम्, अन्ते च "अष्टकाख्यं प्रकरणं, कृत्वा यत्पुण्यमर्जितम्। विरहात्तेन पापस्य, भवन्तु सुखिनो जनाः" ॥ १ ॥ हा०। यथा वा श्रीमद्यशोविजयोपाध्यायेन ज्ञानसाराख्यो द्वात्रिंशदष्टकप्रमाणो ग्रन्थो विरचितः, तस्य देवचन्द्रगणिना ज्ञानमञ्जरी नाम टीका कृता, तस्य च द्वात्रिंशतोऽष्टकानां नामाभिधेयौ तत्रैवान्ते दर्शितौ। " पूर्णो मग्नः स्थिरो मोहो, ज्ञानी शान्तो जितेन्द्रियः। त्यागी क्रियापरस्तृप्तो, निर्लेपो निस्पृहो मुनिः ॥ १ ॥ विद्याविवेकसंपन्नो, मध्यस्थो भयवर्जितः। अनात्मशंसकस्तत्त्व--दृष्टिः सर्वसमृद्धिमान् ॥२॥ ध्याता कर्मविपाकानामुद्विग्नो भववारिधेः। लोकसंज्ञाविनिर्मुक्तः, शास्त्रदृग् निष्परिग्रहः ॥ ३ ॥ " अष्ट० ३२ अष्ट०।

अट्ठगुणोववेय--अष्टगुणोपपेत--न०। अष्टभिर्गुणैरुपपेतमष्टगुणोपपेतम्। पूर्णादिगुणाष्टकयुते गेये। ते चाष्टावमी गुणाः-पूर्णं रक्तमलंकृतं व्यक्तमविघुष्टं मधुरं समं सललितं च। तथा

चोक्तम्—"पुष्णं रत्तं च अलं-कियं च वत्तं तहेव अविघुट्ठं । महुरं समं सललियं, अट्ठगुणा होंति गेयस्स" ॥१॥ जी० ३ प्रति० ।

अट्ठचक्कवालपइट्ठाण—अष्टचक्रवालप्रतिष्ठान—त्रि० । अष्टचक्रप्रतिष्ठिते, "एगमेगेणं महाणिही अट्ठचक्कवालपइट्ठाणे अट्ठ अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं" जी० ३ प्रति० ।

अट्ठजाय—अष्टजात—न० । जातशब्दो भेदवाचकः । अर्थभेदे, नि० चू० १ उ० । धनार्थिनि, व्य० २ उ० ।

सूत्रम्—

अट्ठजायं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ । तस्स गणावच्छेदयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव रोगातंकातो विप्पमुक्के, ततो पच्छा अहा लहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया ॥

साम्प्रतमर्थजातं भिक्षुं ग्लायन्तमित्यत्र योऽर्थजातशब्दस्तद्व्युत्पत्तिप्रतिपादनार्थमाह—

अत्थेण जस्स कज्जं, संजातं एस अट्ठजातो य ।

सो पुण संजमभावा, चालिज्जंतो परिगिलाई ॥

अर्थेनार्थितया जातं कार्यं यस्य । संबन्धविवक्षायामत्र षष्ठी, येनेत्यर्थः । सोऽर्थजातः । गमकत्वादेवमपि समासः । उपलक्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिरवसातव्या—अर्थः प्रयोजनं जातोऽस्येत्यर्थजातः । पक्षद्वयेऽपि क्तान्तस्य परनिपातः, सुखादिगणे दर्शनात् । स पुनः कथं ग्लायतीति चेदत आह—स पुनः प्रथमतः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितः संयमभावाद् चाल्यमानः निष्कास्यमानः परिग्लायति । द्वितीयव्युत्पत्तिपक्षे प्रयोजनानिष्पत्त्या ग्लायति, तस्योभयस्यापि अग्लिया प्रागुक्तस्वरूपया वक्ष्यमाणं वैयावृत्त्यं करणीयम्, यावद् रोगातङ्कादिव रोगातङ्कात् संयमभावचलनात् प्रयोजनानिष्पादनाच्च विप्रयुक्तः स्यात् । ततः पश्चाद्यत्किमप्याचरितं भीषणादि, तद्विषये यथा लघुस्वको व्यवहारः प्रस्थापितः स्यादिति ।

सम्प्रति निर्युक्तिकृत् येषु संयमस्थितस्याप्यर्थजातमुत्पाद्यते, तान्यभिधित्सुराह—

सेवगपुरिसो ओमे, आवन्न अणत्त बोहिगे तेणे ।

एएहि अट्ठजातं, उप्पज्जइ संजमठियस्स ॥

सेवकपुरुषे सेवकपुरुषविषये, एवमवमे दुर्भिक्षे, तथाऽऽपन्ने दासत्वं समापन्ने, तथा विदेशान्तरगमने उत्तमर्णेनानाते, तथा बोधिकैरपहरणे, स्तेनैरपहरणे च । बोधिकाः—अनार्यम्लेच्छाः, स्तेना आर्यजनपदजाता अपि शरीरापहारिणः । एतैः कारणैरर्थजातं प्रयोजनजातमुत्पद्यते, संयमस्थितस्यापीति । एष निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥

साम्प्रतमेनामेव विवरीतुकामः प्रथममाह—

अपरिग्गहगणियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ आलत्तो ।

सा तं अतिरागेणं, पणयए हु अट्ठजाया य ॥

सा रूविणि त्ति काउं, रण्णाऽऽणीया उ खंधवारेण ।

इयरो तीए विउत्तो, दुक्खत्तो चेव निक्खंतो ॥

पच्चागय तं सोउं, निक्खंतं वेइ गंतु णं तहियं ।

बहुयं मे उवउत्तं, जइ दिज्जइ तो विसज्जामि ॥

न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा, सा चासौ गणिका च अपरिग्रहगणिका, तया, कोऽपि राजादीनां सेवकः पुरुष आलपितः संभाषितः । आलप्य च स्वगृहमानीतः । सा अर्थजाता सती तं पुरुषमतिरागेणाऽतिरागवशात्प्रणयते प्रसादयति । अन्यदा सा गणिका रूपिणी अतिशयेन रूपवतीति कृत्वा राज्ञा स्कन्धावारेण कटकेन गच्छता आत्मना सहानीता । इतरोऽपि च सेवकपुरुषस्तया गणिकया वियुक्तो दुःखार्त्तः । प्रियाविप्रयोगपीडितो निष्क्रान्तस्तथारूपाणामन्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः । सा च वेश्या राज्ञा सह प्रत्यागता तं पुरुषं न पश्यति स्म, गवेषयितुमारब्धः । ततः कस्यापि पार्श्वे निष्क्रान्तं श्रुत्वा यत्र स तिष्ठति स्म, तस्यां वसतौ गत्वा तान् स्थविरान् ब्रूते—बहुकं प्रभूतं मम तु द्रव्यमनेनोपयुक्तमात्मोपयोगं नीतम्, भुक्तमित्यर्थः ; तद्यदि दीयते ततो विसृजामि ॥

एवमुक्ते यत् कर्तव्यं स्थविरैस्तदाह—

सरजेयवण्णभेयं, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि ।

वरधणुयपयत्तेम पुस्स—भूती कुसलो सुहुमे य झाणम्मि ॥

गुटिकाप्रयोगतस्तस्य स्वरभेदं वर्णभेदं वा स्थविराः कुर्वन्ति, यथा सा तं न प्रत्यभिजानाति, यदि वा ग्रामान्तरादिप्रेषणेनान्तर्धानं व्यवधानं क्रियते । अथवा तथाविधौषधप्रयोगतो विरेचनं कार्यते येन स ग्लान इव लक्ष्यते, कृच्छ्रेणैष जीवतीति ज्ञात्वा सा तं मुञ्चति । अथवा शक्तौ सत्यां यथा ब्रह्मदत्तहिण्ड्यां धनुःपुत्रेण वरधनुना मृतकवेषः कृतस्तथैव निश्चलो निरुच्छ्वासः सूक्ष्ममुच्छ्वसन् तिष्ठति, येन मृत इति ज्ञात्वा तया विसृज्यते । यदि वा पुष्पभूतिराचार्यः सूक्ष्मे ध्याने कुशलः सन् ध्यानवशाद् निश्चलो निरुच्छ्वासोऽप्यतिष्ठत् तथा तेनापि सूक्ष्मध्यानकुशलेन तथा स्थातव्यं येन सा मृत इत्यवगम्य विमुञ्चति ।

एषां प्रयोगाणामभावे—

अणुसिट्ठिं उच्चरती, गमेंति णं मित्तणायगादीहिं ।

एवं पि अट्ठजायं, करेंति मुत्तम्मि जं वुत्तं ॥

तस्या गणिकाया यानि मित्राणि, ये च ज्ञातयः, आदिशब्दात्तदन्यतथाविधपरिग्रहः । तैः स्थविरास्तां गमयन्ति बोधयन्ति, येनानुशिष्टिमुच्चरति, मुत्कलनं करोतीति भावः । एवमपि अतिष्ठन्त्यां तस्यां यदुक्तं सूत्रे तत्कुर्वन्ति, "स मोचयितव्यः" इति सूत्रे मोचनस्याभिधानात् । तथा चोक्तम्—" ताहे सो मोक्खेयव्वो एवं सुत्ते भणियं " इति । गतं सेवकपुरुषद्वारम् ।

अधुनाऽवमद्वारमाह—

सकुडुंबो निक्खंतो, अव्वत्तं दारगं तु निक्खिविउं ।

मित्तस्स घरे सो वि य, कालगतो ताऽवमं जायं ॥

तस्य अणादिजंतो, तस्स उ पुत्तेहि सो तओ चेमो ।

घोलंतो आवण्णो, दासत्तं तस्स आगमणं ॥

मथुरायां क्वचित् नगर्यां कोऽपि वणिक् अव्यक्तं बालं, दारकं पुत्रं, मित्रस्य गृहे निक्षिप्य सकुटुम्बो निष्क्रान्तः, सोऽपि च मित्रभूतः पुरुषः कालं गतः । (तो त्ति) तस्मात्तस्य कालगमनादनन्तरमवमं दुर्भिक्षं जातम् । तत्र च दुर्भिक्षे तस्य मित्रस्य पुत्रैः स चेमोऽनाद्रियमाणोऽन्यत्रान्यत्र घोलति परिभ्रमति, स च तथा परिभ्रमन् कस्यापि गृहे दासत्वमापन्नः । तस्य च पितुर्यथाविहारक्रमं विहरतस्तस्यामेव मथुरायामागमनं जातम् । तेन च सर्वं तज्ज्ञातम् ।

सम्प्रति तन्मोचने विधिमभिधित्सुराह—

अणुसासण ... भीसण ववहार लिंग जं जत्थ ।

दूराभोग गवेसण, पंथे जयणा य जा जत्थ ॥

पूर्वमनुशासनं तस्य कर्तव्यम्, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापत्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यन्निष्क्रामता स्थापितं द्रव्यं तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्याभावे निजकानां तस्य वा भीषणमुत्पादनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिष्ठति यतो यत्र लिङ्गं पूज्यते, ततस्तत्र परिगृह्य स मोचनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दूरेणाच्छिन्नस्वामिकतया, दूरदेशव्यवधानेन वाऽपि निधानं तस्याभोगः कर्तव्यः, तदनन्तरं तस्य गवेषणया च गमने पथि मार्गे यतना यथौघनिर्युक्तावुक्ता तथा कर्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासूत्रमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह–

निच्छिण्णो तुज्झघरे, रिसिपुत्तो मुंच होहिई धम्मो ।
धम्मकहापसंगेणं, कहणं थावच्चपुत्तस्स ॥

एष ऋषिपुत्रस्तव गृहेऽवमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णोऽधुना व्रतग्रहणार्थमुद्यत इत्यमुं मुञ्च, तथापि प्रभूतो धर्मो भविष्यतीति । एतावता गतमनुशासनद्वारम् । तदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च कथनं स्थापत्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापत्यापुत्रो व्रतं जिघृक्षुर्वासुदेवेन महता निष्क्रमणमहिम्ना निष्काश्य पार्श्वस्थितेन व्रतग्रहणं कारितः, एवं युष्माभिरपि कर्तव्यम् ।

तह वि य अठंते ठाविंयं, भीसण ववहार निक्खमंतेण ।
तं घेत्तूणं देज्जइ, तस्सासइए इमं कुज्जा ।

तथापि च, अनुशासने कथने च कृते इत्यर्थः । अतिष्ठति स्थापितं देयम्, भीषणं वा करणीयम्, व्यवहारे वा समाकर्षणीयः । तत्र स्थापितं भावयति–तेन पित्रा निष्क्रामता यत्किमपि स्थापितं द्रव्यमस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपलक्षणमेतत् । तेनेदमपि द्रष्टव्यम्–अभिनवः कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य यत्किमप्यर्थजातं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छान्तरे यः कोऽपि शैक्षक उपस्थितस्तस्य हस्ते यद् द्रव्यमवतिष्ठते, तद् गृहीत्वा तस्मै दीयते, तस्य द्रव्यस्यासत्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह–

नीयल्लगाण तस्स व, भीसणं रायउले सयं वावि ।
अविरिक्कामो अम्हे, कहं व लज्जा न तुज्झ त्ति ।
ववहारेणं अहयं, भागं पेच्छामि बहुतरागं भे ।
अच्चियलिंगं च करे, पण्णवणा दावणट्ठाए ॥

निजकानामात्मीयानां स्वजनानां, तस्य वा भीषणं कर्तव्यम् । यथा वयमविरिक्ता अविभक्तरिक्था वर्त्तामहे, ततो मोचयत मदीयं पुत्रं, कथं वा केन युष्माकं न लज्जाऽभूद् यदेवं मदीयपुत्रो दासत्वमापन्नोऽद्यापि धृतो वर्त्तते इह । अथैवमुक्ते ते द्रव्यं न प्रयच्छन्ति तत इदमपि वक्तव्यम्–राजकुलं गत्वा व्यवहारेणाप्यहं भागं बहुतरकं प्रभूततरकं ग्रहीष्यामि (भे) भवतां पार्श्वे; तद् वरमिदानीं स्तोकं प्रयच्छथ । एवं तेषां भीषणं कर्तव्यम् । यदि वा येन गृहीतो वर्त्तते तस्य भीषणं विधेयम्, यथा यदि मोचनीयं तर्हि मोचय, अन्यथा भवतस्तं शापं दास्यामि येन न त्वम्, नेदं वा तव कुटुम्बकमिति । एवं भीषणेऽपि कृते यदि न मुञ्चति, यदि वा ते स्वजना न किमपि प्रयच्छन्ति, तदा स्वयं राजकुले गत्वा निजकैः सह व्यवहारः करणीयः, व्यवहारं च कृत्वा भाग आत्मीयो गृहीत्वा तस्मै दातव्यः । यद्वा–स एव राजकुले व्यवहारेणाकृष्यते; तत्र च गत्वा वक्तव्यम्–यथाऽयमृषिपुत्रो व्रतं जिघृक्षुः केनापि कपटेन धृतस्तं न वर्त्तते, यूयं च धर्मव्यापारनिषण्णास्ततो यथाऽयं धर्ममाचरति, यथा चाभीषामृषीणां समाधिरुपजायते तथा यतध्वमिति । अस्यापि प्रकारस्याभावे यत्र लिङ्गमर्चितं तत्परिगृह्य दापनार्थम्, विवक्षितदासकमोचनार्थमित्यर्थः । तल्लिङ्गधारिणां मध्ये ये महान्तस्तेषां प्रज्ञापना कर्त्तव्या, येन ते मोचयन्ति ।

सम्प्रति दूराभोगेत्यादि व्याख्यानार्थमाह–

पुट्ठा व अपुट्ठा वा, चुयसामिनिहिं कहिंति ओहाई ।
घेत्तूण जावदट्ठा, पुणरवि सा रक्खणा जयणा ॥

यदि वा अवध्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दाद्विशिष्टश्रुतज्ञानिपरिग्रहः । पृष्टा वा अपृष्टा वा तथाविधं तस्य प्रयोजनं ज्ञात्वा च्युतस्वामिकं निधिमुत्सन्नस्वामिकं निधिं कथयन्ति, तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्योचितत्वात् । ततो यावदर्थः, यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरपि तस्य निधिसंरक्षणं कर्तव्यम् । प्रत्यागच्छता च यतनाविधिर्या, सा चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यते ।

सोऊण अट्टजायं, अट्टं पडिजग्गए य आयरिओ ।
संघाडयं वि देंति य, पडिजग्गइ णं गिलाणं पि ॥

निधिग्रहणार्थं मार्गे गच्छन्तमर्थजातं साधुं श्रुत्वा सांभोगिको वाऽऽचार्योऽर्थे प्रतिजागर्ति उत्पादयति । यदि पुनस्तस्य द्वितीयः संघाटको न विद्यते, ततः संघाटकमपि ददाति । अथ कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागर्ति न तूपेक्षते, जिनाज्ञाविराधनप्रसक्तेः ॥

यदुक्तमनन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्तव्या, तामाह–

काउं निसीहियं जा–ट्ठजायमावेयणं च गुरुहत्थे ।
दाऊण पडिक्कमणं, मा पेहंता मिगा पेसो ॥

यत्रान्यगणे स प्राघूर्णक आयाति, तत्र नैषेधिकीं कृत्वा, 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' इत्यादित्वा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य च यदर्थजातं तद्गुरुभ्य आवेदयति कथयति । आवेद्य च तदर्थजातं गुरुहस्ते दत्त्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थित इति वेदयत आह–मा प्रेक्षमाणा मृगा इव मृगा अगीतार्थाः क्षुल्लकादयः पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थितं तद् निरीक्षन्ते, अस्मद्गुरूणां समर्पितमिति विरूपसंकल्पेऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जत्थेति' तद्व्याख्यानार्थमाह–

सण्णी व सावओ वा, निरूविए देज्ज अट्टजातस्स ।
पच्चुप्पन्ननिहाणे, कारणजाए गहणसोही ॥

यत्र संज्ञी सिद्धपुत्रः श्रावको वा वर्त्तते तत्र गत्वा तस्मै स्वरूपं निवेदनीयं, प्रज्ञापना च कर्त्तव्या । ततो यस्तत्र तेन प्रत्युत्पन्नं तव निधानं गृहीतं वर्त्तते तस्यार्थजातस्य मध्यात्कतिपयान् भागान् दद्यात् । स्वयं तदानीं प्रज्ञापनातो वा गीतार्थत्वात् । अस्य प्रकारस्याभावे यन्निधानं दूरमवगाढं वर्त्तते, ततस्तेन उत्खन्य दीयमानमधिकृते कारणजाते गृह्णानोऽपि शुद्धः, भगवदाज्ञावर्त्तनात् । गतमवमद्वारम् ।

इदानीमापन्नद्वारमाह––

थोवं पि धरेमाणो, कप्पइ दासत्तमेव अदलंते ।
परदेसम्मि वि लब्भति, वाणियधम्मो ममेस त्ति ॥

स्तोकमपि ऋणं शेषं धारयन् कस्मिंश्चिद्देशे कोऽपि पुरुषः, ततः (अदलंते त्ति) अददानः कालक्रमेण प्रवृद्ध्या, दासत्वमेव प्रतिपद्यते । तस्यैव दासत्वमापन्नस्य, स्वदेशे दीक्षा न दातव्या । अथ कदाचित्परदेशे गतः सन्नविदितस्वरूपोऽशिवादिकारणतो वा दीक्षितो भवेत् । तत्र च वणिजा वाणिज्यार्थं गतेन दृष्टो भवेत् । तत्रायं किल न्यायः--परदेशमपि गता वणिज आत्मीयं लभन्ते, तत एवं वणिग्धर्मे व्यवस्थिते स एवं ब्रूयात् ' मम एष दास ' इति न मुञ्चाम्येऽमुमिति ।

तत्र यत्कर्त्तव्यं तत्प्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह--

नाहं विदेसआहर-णमाइ विज्जा य मंत जोगा य ।
नेमित्त राय धम्मे, पासंड गणे धणे चेव ॥

परस्य दासत्वमापन्नो वर्त्तते, न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्विदेशे जातः, त्वं तु सदृक्षतया विप्रलब्धोऽसि, अथ सम्भूतजनविदितो वर्तते तत एवं न वक्तव्यं, किं तु स्थापत्यापुत्राद्याहरणं कथनीयम, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणतः प्रतिबुद्धो मुत्कलयति । आदिशब्दात् गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्त्तव्यमिति प्रहः । एतेषां प्रयोगाणामभावे विद्या मन्त्रो योगो वा, ते प्रयोक्तव्याः; यैः परिगृहीतः सन् मुत्कलयति । तेषामप्यभावे निमित्तेनातीतानागतविषयेण राजा, उपलक्षणमेतत्, तदन्यो वा नगरप्रधान आवर्जनीयः, येन तत्प्रभावात्स प्रेर्यते, धर्मो वा कथनीयो राजादीनाम, येन त आवृताः सन्तस्तं प्रेरयन्ति । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे पाषण्डान् सहायान् कुर्यात् । यद्वा- यो गणः सारस्वतादिको बलीयान् तं सहायं कुर्यात् । तदभावे दूराभोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन मोचयेत् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुराह--

सारक्खएण जंपसि, जातो अन्नत्थ ते वि आमंति ।
बहुजणविन्नायम्मि उ, थावच्चसुयादिआहरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अयं तद्देशे जात इति, तत एवं ब्रूयात् । अहमन्यत्र विदेशे जातस्त्वं तु सादृश्येन विप्रलब्ध एवमसमञ्जसं जल्पसि । एवमुक्ते तेऽपि तत्रत्या आमेवमेतद् यथाऽयं वदतीति साक्षिणो जायन्ते, अथ तद्देशजाततया प्रभूतजनविदितो वर्त्तते, ततस्तस्मिन्बहुजनविज्ञाते पूर्वोक्तं न वक्तव्यम, किन्तु प्रबोधनाय स्थापत्यापुत्राद्याहरणं कथनीयम् ।

विज्जा मंता जोगा, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि ।
वरधणु य पुस्सभूती, गुलिया सुहुमे य झाणम्मि ॥

विद्यादयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन तैरभियोजितः सन् मुत्कलयति । आहरणमादीत्यत्रादिशब्दव्याख्यानार्थमाह- गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतत् । वर्णभेदं कारयेत्, यदि वा अन्तर्धानं ग्रामान्तरप्रेषणेन व्यवधानम, विरेचनं वा ग्लानतोपदर्शनाय कारयितव्यो यत्कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञात्वा विसृज्यते । यदि वा वरधनुरिव गुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिराचार्य इव सूक्ष्मध्यानवशतो निश्चलो निरुच्छ्वासः तथा स्याद् येन मृत इति ज्ञात्वा परित्यज्यते ।

असतीए विणवेंती, रायाणं सो व होज्ज अ भिन्नो ।
तो से कहिज्ज धम्मो, अणिच्छमाण इमं कुज्जा ॥

एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं विज्ञापयन्ति । यथा- तपस्विनमिह परलोकनिःस्पृहमेनं बलाद्धापयतीति; अथासौ राजा तेन भिन्नो व्युद्ग्राहितो वर्त्तते । ततः स तस्य राज्ञः प्रतिबोधनाय धर्मः कथ्यते, अथ स धर्मं नेच्छति, ततस्तस्मिन् धर्म्ममनिच्छति, उपलक्षणमेतत्, निमित्तेन वाऽतीतानागतरूपेणावार्यमाणे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह-

पासंडे व सहाए, गेण्हइ तुज्झं पि एरिसं हुज्जा ।
होहामोह सहाया, तुज्झ वि जो वा गणो बलिओ ॥

पाषण्डान् वा सहायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न भवन्ति, तत इदं तान् प्रति वक्तव्यम्-युष्माकमपीदृशं प्रयोजनं भवेद् भविष्यति तदा युष्माकमपि वयं सहाया भविष्यामः । एवं तान्सहायान् कृत्वा तद्बलतः स प्रेरणीयः, यदि वा यो गणो बलीयान् तं सहायं परिगृह्णीते ।

एएसिं असतीए, संता वि जया न होंति उ सहाया ।
ठवणा दूराभोगे, लिंगेण व एसिउं देंति ॥

एतेषां पाषण्डानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टास्ते सहायाः कर्त्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न भवन्ति, तदा (ठवण त्ति) निष्कामता या द्रव्यस्य स्थापना कृता तद्दानतः स मोचयितव्यः । यदि वा दूराभोगेन प्रागुक्तप्रकारेण, अथवा यद्यत्र निक्षिप्तमर्जितं, तेन धनमेषित्वा उत्पाद्य ददति, तस्मै वरवृषभाः । गतमापन्नद्वारम् ।

इदानीमनाप्तद्वारमाह--

एमेव अणत्तस्स वि, तवतुलणा नवरि एत्थ नाणत्तं ।
जं जस्स होइ भंडं, सो देति मपंतिगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनैव दासत्वापन्नगतेन प्रकारेण अनाप्तस्यापि प्रागुक्तशब्दार्थस्य मोक्षणे यतना द्रष्टव्या, नवरम, अत्र धनदानचिन्तायां नानात्वम । किं तदित्याह--तपस्तुलना कर्त्तव्या । सा चैवं भण्यते-साधवस्तपोधना अहिरण्यसुवर्णाः, लोकेऽपि यद्यस्य भाण्डं भवति, स तत्तस्मै उत्तमर्णाय ददाति । अस्माकं च पार्श्वे धर्मस्ततस्त्वमपि धर्मं गृहाण ।

एवमुक्ते स प्राह-

जोऽणेण कतो धम्मो, तं देउ न एत्तियं समं तुलइ ।
हीणं जावेताहिं, तावइयं विज्जथंभणया ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सर्वं मह्यं ददातु, एवमुक्ते साधुभिर्वक्तव्यम, नैतावद्ब्रूमः, यतो नैतावत्समं तुलति । स प्राह-एकेन संवत्सरेण हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिषेधनीयं चेद् द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां हीनं दत्त । एवं तावत् विभाषा कर्तव्या--यावदेकेन दिवसेन कृतो योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो वक्तव्यम्-नाप्यधिकं दद्मः किन्तु यावत्तद् गृहीतं मुहूर्तादिकृतेन धर्मेण तोल्यमानं समं तुलति तावत्प्रयच्छामः । एवमुक्ते यदि तोलनाय ढौकते, तदा विद्यादिभिस्तुला स्तम्भनीया, येन क्षणमात्रकृतेनापि धर्मेण न समं तोलयतीति । धर्मतोलनं च धर्माधिकरणिकनीतिशास्त्रप्रसिद्धमस्ति, ततोऽवसातव्यम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तवं, वाणियधम्मेण ताहे सुद्धो उ ।
को पुण वाणियधम्मो, सामुद्दे संजमे इणमो ॥
वत्थाणाभरणाणि य, सव्वं छड्डित्तु एगवत्थेणं ।
पोयम्मि विवन्नम्मि उ, वाणियधम्मे हवइ सुद्धो ॥

एयं इमो वि साहू, तुज्झं नियगं च सारमुत्तूणं ।
निक्खंतो तुज्झ घरे, करेइ इणिंह तु वाणिज्जं ॥

यदि पुनरुक्तप्रकारेण क्षणमात्रकृतस्यापि धर्मस्यालाभेन नेच्छेत् तपो ग्रहीतुम् । ततो वक्तव्यम्–वणिग्धर्मेण वणिग्न्यायेन एष शुद्धः। स प्राह–कः पुनर्वणिग्धर्मो येनैष शुद्धः क्रियते ?। साधवो वदन्ति–समुद्रे संभ्रमे गमनेऽयं वक्ष्यमाणः। तमेवाह–(वत्थाणाभरणेत्यादि) यथा वणिक् ऋणं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमवगाढः, तत्र पोते प्रवहणे विपन्ने आत्मीयानि परकीयानि च प्रभूतानि वस्त्राण्याभरणानि, चशब्दात्क्षेपमपि च नानाविधं क्रयाणकं सर्वं छर्दयित्वा परित्यज्य,एकवृन्देन,भावप्रधान एकशब्दः–एकतैव वृन्दं, तेनैकाकी उत्तीर्णो, वणिग्धर्मे वणिग्न्याये शुद्धो भवति, न ऋणं दाप्यते । एवमयमपि साधुस्तव सत्कमात्मीयं च सारं सर्वं तव गृहे मुक्त्वा निष्क्रान्तः संसारसमुद्रादुत्तीर्ण इति शुद्धः, न धनिका ऋणमात्मीयं याचितुं लभन्ते, तस्मान्न किञ्चिदत्र तवाऽऽदेयमस्तीति । करोत्विदानीमेष स्वेच्छया तपोवाणिज्यम्, पोतभ्रष्टवणिगिव निर्द्धनो वाणिज्यमिति। गतमनाभद्वारम् ।

अधुना बोधिकस्तेनद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

बोहियतेणेहि हिए, विमग्गणा साहुणो नियमसो य ।
अणुसासणमादीतो, एसेव कमो निरवसेसो ॥

बोधिकाः स्तेनाश्च प्रागुक्तस्वरूपाः, तैर्हृते साधौ नियमशो नियमेन साधोर्विमार्गणं कर्त्तव्यम्, तस्मिंश्च विमार्गणे कर्त्तव्येऽनुशासनादिकोऽनुशिष्टिप्रदानादिको धनप्रदानपर्यन्त एष पश्चान्तरोदितः क्रमो निरवशेषो वेदितव्यः ।

संप्रत्युपसंहारव्याजेन शिक्षामपवादं चाह—

तम्हा अपरायत्ते, दिक्खिज्जाऽणारिए वज्जेज्जा ।
अद्धाण अणाभोगा, विदेस असिवादिसुं दो वि ॥

यस्मात्परायत्तदीक्षणेऽनार्यदेशगमने चैते दोषास्तस्मादपरायत्तान् दीक्षयेत, अनार्यांश्च देशान् वर्जयेत् । अत्रैवापवादमाह–(अद्धाण त्ति) अध्वानं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेते करिष्यन्तीति हेतोः परायत्तानपि दीक्षयेत। यदिवाऽनाभोगतः प्रव्राजयेत् । विदेशस्थान् वा स्वरूपमजानतो दीक्षयेत । पुनरशिवादिषु कारणेषु (दो वि त्ति) द्वे अपि परायत्तदीक्षणानार्यदेशगमनेऽपि कुर्यात् । किमुक्तं भवति–अशिवादिषु कारणेषु समुपस्थितेषु परायत्तानपि गच्छोपग्रहनिमित्तं दीक्षयेत, अनार्यानपि देशान् विहरेदिति । व्य० २ उ० । एतत्पुरुषस्यार्थजातत्वमुपदर्शितम् ।

अथ संयत्याऽर्थजातत्वमुच्यते–

अट्ठजायं णिग्गंथे णिग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥

अर्थः कार्यमुत्प्रव्राजनतः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जातं यया साऽर्थजाता पतिचौरादिना संयमाच्चाल्यमानेत्यर्थः । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

इह गाथा–

अट्ठेण जायकज्जं, संजायं एस अट्ठजाया उ ।
तं पुण संयमभावा, चालिज्जंती समवलंबे ॥ १ ॥

अर्थेनार्थितया संजातं कार्यं यया। यद्वा-अर्थेन द्रव्येण जातमुत्पन्नं कार्यं यस्याः सा अर्थजाता । गमकत्वादेवमपि समासः । उपलक्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिः कर्तव्या । अर्थः प्रयोजनं जातमस्या इत्यर्थजाता । कथं पुनरस्या अवलम्बनं क्रियत इत्याह-तां पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितां, संयमभावाच्चाल्यमानाम्। द्वितीयतृतीयव्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याभावेन प्रयोजनानिष्पत्त्या वा सीदन्तीं समवलम्बेत-साहाय्यकरणेन सम्यग्धारयेत्; उपलक्षणत्वाद् गृह्णीयादपि । बृ० ६ उ० ।(संयमस्थिताया निर्ग्रन्थ्या अर्थजातवक्तव्यता निरवशेषा निर्ग्रन्थस्येव भावनीया, केवलं स्व्यभिलापः कार्यो भवतीति बृहत्कल्पोक्ता साऽत्र नोपन्यस्ता) ।

अट्ठजुत्त–अर्थयुक्त–त्रि०। अर्थेन हेयोपादेयात्मकेन युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । हेयोपादेयाभिधायकेषु आगमवचनादिषु, अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्षे उपादेयतया सक्तेषु वचनादिषु, " अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा, निरट्ठाणि उ वज्जए " उत्त० १ अ० ।

अट्ठट्ठमिका–अष्टाष्टमिका–स्त्री० । अष्टावष्टमानि दिनानि यस्यां साऽष्टाष्टमिका । यस्यां हि अष्टौ दिनाष्टकानि भवन्ति तस्यामष्टौ अष्टमानि भवन्त्येवेति । चतुष्षष्टिदिननिष्पन्नायां भिक्षुप्रतिमायाम्, स० ।

अट्ठट्ठमियाणं भिक्खूपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासीएहिं, भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव भवइ ।

भिक्षुप्रतिमाऽभिग्रहविशेषः। अष्टावष्टकानि यतोऽस्यां भवन्त्यतश्चतुष्षष्ट्या रात्रिंदिवैः सा पालिता भवति, तथा प्रथमेऽष्टके प्रतिदिनमेकैका भिक्षा, एका दत्तिर्भोजनस्य पानकस्य च, एवं द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टावष्टाविति संकलनया द्वे शते भिक्षाणामष्टाशीत्यधिके भवतः। अत उक्तं द्वाभ्यां चेत्यादि यावत्करणात् । " अहाकप्पं अहामग्गं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया सम्मं आणाए आराहिया वि भवइ " इति दृश्यम् । स० ६४ सम० । स्था० । अष्टाष्टकिकायामष्टक आदिरष्टक उत्तरमष्टको गच्छः । तत्राष्टलक्षणो गच्छ उत्तरेणाष्टकेन युतः क्रियते, जाता चतुष्षष्टिः, सा उत्तरहीना आदियुता क्रियते, तथापि सैव चतुष्षष्टिः एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतदादिनाऽष्टकेन युतं क्रियते, जाता द्वासप्ततिः ७२। सा गच्छार्द्धेन चतुष्केण गुण्यते, जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके । व्य० ९ उ० । प्रव० । अन्त० ।

अट्ठट्ठाण–अष्टस्थानक–न० । प्रज्ञापनाया अष्टमे स्थाने, " एवं जहा अट्ठट्ठाणे " स्था० १० ठा० ।

अट्ठणाम–अष्टनामन्–न० । अष्टविधपदार्थनामनि, " से किं तं अट्ठणामे ? । अट्ठणामे अट्ठविहा वयणविभत्ती" अनु० ('वयणविभत्ति' शब्दे निरूपितमेतत्)

अट्ठदंसिण–अर्थदर्शिन्–त्रि० । यथावस्थितमर्थं यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थं प्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी । सत्पदार्थवेत्तरि, " समालवेज्जा पडिपुन्नभासी, निसामिया सामिय अट्ठदंसी " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अट्ठदुग्ग–अर्थदुर्ग–त्रि० । अर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमम् । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । परमार्थतो विचार्यमाणे गहने दुर्विज्ञेय, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परमार्थतो दुरुत्तरे, " इओ चुतेसु दुहमट्ठदुग्गं " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ९ उ० ।

अट्ठपएसिय–अष्टप्रदेशिक–त्रि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन्नित्यष्टप्रदेशिकः । स्वार्थिककप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशाष्टकनिष्पन्ने, " एत्थ णं अट्ठपएसिए रुयगे " स्था० १० ठा०

अट्ठपद (य) चिंतण–अर्थपदचिन्तन–न० । अर्थ्यमाणं विचार्यमाणं यत्पदं वाक्यादि; पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः। तस्य चिन्तनं भावनं विचारणं, स्वविषये स्थापनमिति यावत् । विचारणीयस्य वाक्यादेरर्थपर्य्यालोचने, ध०। अयं भावः-सूक्ष्मेक्षिकया भावनाप्रधानेन सताऽर्थपदं विचारणीयं, विचार्य च बहुश्रुतसकाशात्स्वविषये स्थापयितव्यम्। अर्थपदचिन्तनं विना सम्यग्धर्मश्रद्धानमेव न घटते । तथा च परमार्षे " सुच्चा य धम्मं अरहंतभासिअं, समाहिअं अट्ठपओवसुद्धं " इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्य स्वविषये स्थापयितव्यम् । तद्यथा–यदि सूक्ष्मोऽप्यतिचारो ब्राह्मीसुन्दर्यादीनामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां कथं चारित्रं मोक्षहेतुत्वेन घटते?, प्रभूतातिचारवत्त्वात् । अत्रेयं समाधानभावना–यः प्रव्रजितः सूक्ष्ममप्यतिचारं करोति, तस्य विपाकोऽतिरौद्र एव, परं प्रतिपक्षाध्यवसायः प्रायस्तस्य क्षपणहेतुर्नालोचनादिमात्रम्; ब्राह्म्यादीनामपि तद्भावात् । प्रतिपक्षाध्यवसायश्च-क्रोधादिषु क्षमादिः संवरभावनात्मकः । एवं च प्रमत्तानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणाधिकगुणप्रतिपक्षाध्यवसायवतां धर्मचरणमविरुद्धम्, सम्यक्कृतप्रतीकारस्य विषस्येवातिचारस्य स्वकार्याक्षमत्वात् । नन्वेवं प्रतिपक्षाध्यवसायस्यैवातिचारप्रतीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उच्छिद्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्तादियतनाव्यवहारे तुल्यतामप्राप्नुवति प्रतिपक्षाध्यवसायस्य विशेषणस्य ध्रौव्यात् । तदुत्कर्षकेणैव च विशेष्यस्य साफल्यात् । विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽयत्तो दुष्परिहर एव । तथाप्यसकृत्प्रमादाचरणकृतमतिक्रमजातं प्रतिपक्षाध्यवसायेन कथं परिह्रियेत?, असकृत्कृतस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्यविषयत्वादिति चेन्नैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसायस्यैव ग्रहणात् । एकेनापि बलवता प्रतिपक्षेण परिभूयते बहुलमप्यनर्थजातं, कर्मजनिताश्चातिचारादेरात्मस्वभावसमुत्थस्य स्तोकस्यापि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य बलवत्त्वमुपदेशपदादिप्रसिद्धमेव । स्यादेतत् । मनसो विकाराः प्रतिपक्षाध्यवसायनिवर्त्या भवन्तु, कायिकप्रतिसेवनारूपा अतिचारास्तु कथं तेन निवर्त्तेरन् ?। इति चेन्नैवम्, संज्वलनोदयजनितत्वेनातिचाराणामपि मानसविकारत्वात्, द्रव्यरूपकायिकप्रतिसेवनादीनां तु अदूरविप्रकर्षेणैव निवृत्तिरिति दिक् । ध० ३ अधि० ।

अट्ठपद (य)परूवणया–अर्थपदप्ररूपणता–स्त्री० । अर्थरूपगुणकस्कन्धादि, तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं, तस्य प्ररूपणं कथनं, तद्भावोऽर्थपदप्ररूपणता । इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा, अयञ्च तदभिधेयत्र्यणुकादिरर्थः संज्ञी, इत्येवं संज्ञासंज्ञिसंबन्धकथने " से किंतं णेगमववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?। पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठपदपरूवणया " (इत्यादि सर्वं द्वितीयभागे १३१ पृष्ठे ' आणुपुव्वी ' शब्दे वक्ष्यामः) अनु० ।

अट्ठपदोवसुद्ध–अर्थपदोपशुद्ध–त्रि० । अर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातम् । सयुक्तिके, सहेतुके च । अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचके, " सोच्चा य धम्मं अरहंतभासिअं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अट्ठपिट्ठणिट्ठिया–अष्टपिष्टनिष्ठिता–स्त्री० । अष्टभिः शास्त्रप्रसिद्धैः पिष्टैर्निष्ठिताऽष्टपिष्टनिष्ठिता । प्रज्ञा० १७ पद० । अष्टवारपिष्टप्रदानानिष्पन्ने सुराभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अट्ठपुप्फी–अष्टपुष्पी–स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्यष्टपुष्पी । पूजार्थके पुष्पाष्टके, पुष्पाष्टकनिष्पाद्यायां पूजायां च । हा० ।

अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अशुद्धेतरभेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पूजायां साऽष्टपुष्पी । नदादिदर्शनाच्च ईप्रत्ययः । इयं च जघन्यपदमाश्रित्योच्यते, न द्वित्रिचतुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । यद्वक्ष्यति–" स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि " इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजने कारणत्वं वक्ष्यति । द्विधेत्यस्येह संबन्धात् द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा द्विप्रकारा समाख्याता सम्यगभिहिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरितीह संबध्यते । तत्त्वभूता अर्था जीवादयस्तान्, तत्त्वेन वा परमार्थवृत्त्याऽर्थान् पश्यन्तीत्येवंशीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विधेत्याह–अशुद्धेतरभेदेन, अशुद्धा च सावद्यतया, इतरा च निरवद्यतया, अशुद्धेतरे, ताभ्यां कृत्वा तयोर्वा भेदो विलक्षणता अशुद्धेतरभेदस्तेन, इह चेतरशब्दस्य पुम्वद्भावः, "वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भावः" इति वचनात् । फलतस्तां निरूपयन्नाह—स्वर्गमोक्षप्रसाधनी; आद्या देवलोकसाधनी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पाठान्तरे तु-स्वर्गमोक्षप्रसाधनाद्धेतोर्द्विधा । एतदेव कथम्?, अशुद्धेतरभेदेन इत्येवं पदयोजना कार्येति ॥ १ ॥

अशुद्धां श्लोकद्वयेन तावदाह—

शुद्धागमैर्यथालाभं, प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्जात्यादिसंभवैः ॥ २ ॥
अष्टापायविनिर्मुक्त–तदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय, या सा शुद्धेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

शुद्धो निर्दोष आगमः प्राप्त्युपायो येषां तानि शुद्धागमानि, न्यायोपात्तवित्तेनाचौर्येण वा गृहीतानीत्यर्थः । पुष्पैर्दीयते देवदेवाय या सा शुद्धेत्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्याह—लाभस्थानातिक्रमेण यथालाभं, प्रवचनप्रभावनार्थमुदारभावेन मालिकादयथालाभगृहीतैर्देशकालापेक्षया चोत्तममध्यमजघन्येषु यानि लब्धानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्रैरपरिम्लानैः, शुचिभाजनैः पवित्रपटलकाद्याधारैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि न मनोनिर्वृत्तिमापादयेदिति; स्तोकैरल्पैः, प्रत्यपायापगमं पुष्पदानादष्टभिरित्यर्थः । बहुभिर्भूरिभिस्तदुद्देशेनादानात् । वाशब्दौ स्तोकबहुपुष्पपूजयोर्बहुमानप्रधानस्य फलं प्रत्यविशेषप्रतिपादनार्थौ । अपिशब्दस्तु समुच्चयार्थ इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादिसंभवैर्मालतीप्रभृतिप्रभवैः, आदिशब्दाद्विचकिलादिपरिग्रहः । इह कश्चिदाह–जात्यादिग्रहणं सुवर्णादिसुमनसां निषेधार्थम् । जात्यादिकुसुमानि हि सकृदारोपितानि निर्माल्यमिति कृत्वा न पुनः पुनरारोप्यन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि भवन्ति, निर्माल्यारोपणदोषश्चैवं प्रसज्यत इति । एतच्चायुक्तम्–" कंचणमोत्तियरयणा–इदामएहिं च विविहेहिं " इत्यनेन तेषामनुज्ञातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः किमाह ? । किन्तु यदा नोत्तार्यन्ते तदा निर्माल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् । जात्यादिकुसुमानि हि कालातिक्रमेण विगन्धानि भवन्तीत्यवश्यमुत्तारणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेति नावश्यमुत्तारणीयानि, तथाविधविगन्धत्वाभावादेव । तेषां पुनरारोपणेऽपि न तथाविधो दोष इति मन्यते । यदपि कैश्चिदुच्यते—अलङ्कारारोपणमयुक्तं, वीतरागाकारस्याभावप्राप्तेः । तदपि न युक्तम् । पुष्पारोपणेऽपि तथाप्रसङ्गात् । यथा हि आभरणानि

वीतरागस्य नोपपद्यन्ते, एवं पुष्पाण्यपि, तज्जयेषामपि सरागैराचरितत्वादिति । अष्टपुष्पीविधाने कारणमाह-अपायोऽनर्थस्तद्धेतुत्वादपाया ज्ञानावरणादयः, अष्टावपायाः समाहृताः अष्टापायम्, तस्माद्विशेषेण प्रकारान्तरेणैव, दग्धरज्जुकल्पकरणतः भवोपग्राहिभ्यश्चतुर्भ्य इत्यर्थः । नितरां निःसत्ताकतया चतुर्भ्य एव घातिकर्मभ्यो मुक्तः अपेतः । धात्वर्थमात्रवृत्ती वा विशब्दनिःशब्दाविति । विनिर्मुक्त इव विनिर्मुक्तः, अष्टापायविनिर्मुक्तस्तथा, तस्मादष्टापायविनिर्मोक्षणाद्भुत्था उत्थानं यस्याः सा तद्भुत्था, गुणा अनन्तज्ञानदर्शनादयस्तेषां भूतिः प्रादुर्भावः, त एव वा भूतिर्लक्ष्मीर्गुणभूतिः, तदुत्था गुणभूतिर्यस्य स तथा । अष्टापायविनिर्मुक्तस्तदुत्थगुणभूतिश्च यः स तथा, तस्मै । यद्यपीह गुणीभूतं विनिर्मोचनं, क्तप्रत्ययार्थस्यैव प्रधानत्वात्, तथापि तच्छब्देन तदेव परामृश्यते, वक्त्रा तथैव विवक्षितत्वात् । दृष्टश्चायं न्यायः । यथा--सम्यग्ज्ञानपूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति तद्व्युत्पाद्यत इत्यादाविति । दीयते वितीर्यते, देवदेवाय स्तुत्यस्तुत्याय, याऽष्टपुष्पी सा शुद्धाऽसावद्या, उदाहृता सर्वज्ञैरभिहितेति । नन्वष्टापायविनिर्मुक्तोत्था एतद्विनिर्मोक्षणोत्था गुणभूतिर्यस्येत्यनेनैवाष्टपुष्पीनिबन्धनस्यावसीयमानत्वात्किं तच्छब्दोपादानेनेति । नैवम्, अष्टापायविनिर्मुक्ताय दीयते इत्यनेनाष्टपुष्पीनिबन्धनमाह । तदुत्थगुणभूतये इत्यनेन चतुःपुष्पिकाया अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यचतुष्टयरूपत्वादष्टकर्मविनिर्मुक्तिप्रभवगुणानाम, अष्टापायविनिर्मुक्तायेत्यनेनैवावसितमिदमिति चेन्न, सिद्धानां हि कैश्चित् प्रकृतिवियोगाद् ज्ञानाभावः, शरीरमनसोरभावाद्वीर्याभावः, विषयाभावाच्च सुखाभावो भाष्यते, तन्मतव्युदासार्थत्वादित्थमुपन्यासः, तदाऽऽवारकक्षये हि तेषां न्यायप्राप्तत्वात् । यद्येवं ज्ञानावरणपञ्चकक्षये केवलिनो ज्ञानपञ्चकप्रसङ्गः, न चेष्यते, " नट्ठम्मि छाउमत्थिए नाणे " इतिवचनादिति । नैवम् । केवलज्ञानेनैव शेषज्ञानज्ञेयस्य प्रकाशितत्वेन तेषामनर्थकत्वादभावमुपादिश्यत इति । एतेन तु पूर्वार्द्धेन ये मन्यन्ते जिनबिम्बप्रतिष्ठायामवस्थात्रयम्, कल्प्यते तेन बाल्यावस्थाश्रयं स्नानम्, निष्क्रमणावस्थोचितं रथारोपणपुष्पपूजादिकम्, कैवल्यावस्थाश्रयं च वन्दनं प्रवर्तत इति, तन्मतमपाकरोति । नह्यष्टापायविनिर्मुक्तिद्वारेण पूजा क्रियमाणा गृहस्थावस्थां विषयीकरोति, किन्तु कैवल्यावस्थामेव । ननु चिन्तनीयमिदं यदष्टापायविनिर्मुक्तिमालम्ब्य कैवल्यावस्थायां पूजा कार्येति, यतो न चारित्रिणः स्नानादयो घटन्ते । तद्वत्साधूनामपि तत्प्रसक्तेः । न च तच्चरितं सताऽऽलम्बनीयम्, अन्यथा परिणताप्कायादिपरिहार आचरणनिषेधार्थः कथं स्यात्? श्रूयते हि-एकदा स्वभावतः परिणतं तडागोदरस्थाप्कायं तिलराशिं स्थण्डिलदेशं च दृष्ट्वाऽपि भगवान् महावीरस्तत्प्रयोजनवतोऽपि साधून् तत्सेवनार्थं न प्रवर्तितवान् । मा एतदेवास्मच्चरितमालम्ब्य सूरयोऽन्यांस्तेषु प्रवर्तयन्तु, साधवश्च मा तथैव प्रवर्त्तन्तामिति । सत्यम्, किन्तु बिम्बकल्पोऽयं इति मन्यते, यथैव भावार्हति च वर्तितव्यं न तथैव स्थापनार्हत्यपीति भावः । अत एव भगवत्समीपे गौतमादयः साधवस्तिष्ठन्ति स्म । तद्बिम्बसमीपावस्थाने तु तेषां निषेध उक्तः । यदाह-"जइ वि न आहाकम्मं, भत्तिकयं तह वि वज्जयंतेहिं । भत्ती खलु होइ कया, इहरा आसायणा परमा" ॥१॥ तथा-"दुब्भिगंधमलस्सावि, तणुरपि सण्हाणि य । उभओ वहो चेव, ते णट्ठंति न चेइए" ॥१॥ तेनैवार्यिका दण्डकं स्थापनाचार्ये स्थापयन्ति । अन्यथा यथा भावाचार्यसमीपे नावश्यकं कुर्वन्ति, तथा स्थापनाचार्यसमीपेऽपि न कुर्युः, न च ताः प्रवर्तिनीं स्थापयन्तीति वाच्यम् । प्रतिक्रमणकाले एव चैत्यवन्दनावसरे महावीरादेरवश्यं कल्पनीयत्वेन तद्दोषस्य समानत्वात्, नह्याचार्य एव पुरुषो न भगवान् । नच वीतरागत्वेऽपि भगवत्समीपे आर्यचन्दनाद्यार्यिका रात्रौ तस्थुः । ननु प्रतिक्रमणादिकालेऽर्हत्स्थापनां कृत्वा चैत्यवन्दने क्रियमाणे आशातनादोषप्रसङ्ग इति । नैवम् । जिनायतनेऽपि चैत्यवन्दनस्यानुज्ञातत्वात् । यदाह-" निस्सकडमनिस्सकडे वा, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि । वेलं व चेइयाणि व, नाउं एक्केक्किया वा वि " ॥ १ ॥ इत्यलं प्रसङ्गेनेति ॥ ३ ॥

अशुद्धाऽष्टपुष्पी स्वरूपत उक्ता, सैव स्वर्गप्रसाधनीति
यदुक्तं तदधुना प्रदर्शयन्नाह--

संकीर्णैषा स्वरूपेण, द्रव्याद्भावप्रसक्तितः ।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वा-द्विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥ ४ ॥

संकीर्णा अवद्येन व्यामिश्रा, एषाऽनन्तरोक्ताऽष्टपुष्पी, स्वरूपेण स्वभावेन । कथमित्याह-द्रव्यात् पुष्पादेः सकाशाद् भावप्रसूभितो भगवति चित्तप्रसादोत्पत्तेः । इदमुक्तं भवति-पुष्पादिद्रव्योपयोगादवद्यं, शुभभावश्च स्यातामिति संकीर्णत्वम् । इदं च न कर्मक्षपणनिमित्तमपि तु पुण्यबन्धनिमित्तमेवेत्यत आह-पुण्यस्य शुभकर्मणो बन्धो बन्धनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्यबन्धनिमित्तं तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्पुण्यबन्धनिमित्तत्वाद्धेतोर्विज्ञेयाऽवसेया, स्वर्गसाधनी देवलोकप्राप्तिहेतुः । उपलक्षणत्वात् सुमानुषत्वसाधनी, पारम्पर्येण भावपूजानिबन्धनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधनी चेति द्रष्टव्यमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधातुमाह-

या पुनर्भावजैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः ।
परिपूर्णत्वतोऽम्लानै-रत एव सुगन्धिभिः ॥५॥

याऽष्टपुष्पी, पुनःशब्द उक्तवक्ष्यमाणार्थयोर्विशेषद्योतनार्थः । भावजैरात्मपरिणतिसंभवैः, पुष्पैरिव पुष्पैर्वक्ष्यमाणलक्षणैरात्मधर्मविशेषैः, किंभूतैः?, शास्त्रोक्तिगुणसंगतैः, शास्त्रमागमस्तस्योक्तिर्भणितिराज्ञेत्यर्थः । अथवा शास्त्रोक्तिरेव गुणो दवरकस्तत्संगतैः । एतेनैषां मालारूपतोक्ता, तथा च द्रव्यपुष्पाण्यपि यदा मालां कृत्वाऽऽरोप्यन्ते तदाऽष्टावपायापगमान् स्मृत्वा रोपणीयानीति दर्शितम् । पाठान्तरे तु-शास्त्रोक्तगुणसङ्गतैरिति, तथा शास्त्रीयसमित्यादिगुणोपेतैरित्यर्थः । पुनः किंभूतैस्तैरित्याह-परिपूर्णत्वतोऽम्लानैः परिपूर्णतया सकलजीवमृषावादादिविषयत्वेन निरतिचारतया वाऽम्लानैर्म्लानिमनुपगतैः । अत एव च परिपूर्णत्वादेव, सुगन्धिभिः सद्गन्धोपेतैः, परिपूर्णताधर्मं एवैषामम्लानिसुगन्धितालक्षणौ पुष्पधर्मौ द्रष्टव्याविस्यर्थः । विधीयते सा शुद्धेत्येवंरूपः श्लोकावसाने वाक्यशेषो द्रष्टव्य इति ॥ ५ ॥

नामतस्तान्येवाह—

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥ ६ ॥

प्रमत्ततायोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तद्भावोऽहिंसा, सैकं पुष्पम् । तथा सद्भ्यो हितं सत्यम्, अनृताभावो द्वितीयम् । तथा स्तेनस्य चोरस्य कर्म भावो वा स्तेयं चौर्यं तदभावोऽस्तेयमिति तृतीयम् । तथा ब्रह्म कुशलं कर्म तदेव चर्यते सेव्यत इति चर्यम् । ब्रह्मचर्यं, मनोवाक्कायैः कामसेवनवर्जनमित्यर्थः, तच्चतुर्थम् । तथा नास्ति सङ्गोऽभिष्वङ्गो यस्य सोऽसङ्गस्तद्भावो-

ऽसक्तता, धर्मोपकरणातिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरणस्यापरिग्रहत्वात् । यदाह- " जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥१॥ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥ " इतरथा शरीराहाराद्यपि परिग्रहः स्यादिति पञ्चमम् । तथा गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः । आह च-" धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते" ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमानश्च, गुरुभक्तिरिति षष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनशनादि । आह च-" रसरुधिरमांसमेदो-ऽस्थिमज्जशुक्राण्यनेन तप्यन्ते । कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम नैरुक्तम्" ॥१॥ इति सप्तमम् । तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानम्, सम्यक्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुभूतो बोध इत्यष्टमम् । इह समुच्चयाभिधायी चशब्दो द्रष्टव्यः । सत्पुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तेन च विवक्षितार्थसाधकतया द्रव्यपुष्पापेक्षया सन्ति शोभनानि पुष्पाणीव पुष्पाणि, भावपुष्पाणीत्यर्थः । प्रचक्षते शुद्धाष्टपुष्पीस्वरूपज्ञाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥

उक्तमेवार्थं वाक्यान्तरेणाह-

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्सरा ।
दीयते पालनाद् या तु, सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥ ७ ॥

एभिरनन्तरोदितैर्भावपुष्पैः, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देवः पूज्यत्वाद् देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमानः प्रीतियोगः पुरस्सरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्सरा, दीयते वितीर्यते । कथमित्याह-पालनादहिंसादिपुष्पाणां परिरक्षणद्वारेण, तत्पालने हि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आज्ञाकरणमेव च सर्वथा कृतकृत्यस्य तस्य पूजाकरणम्; तदाज्ञां विराधयता शेषपूजोद्यतेनाप्यसावाराधितो भवति, आज्ञेश्वरमहाराजवदिति । या तु यैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, शुद्धा निरवद्या, इतिरेवंप्रकारार्थः, उदाहृता तत्त्ववेदिभिरभिहितेति ॥ ७ ॥

अथ शुद्धाया एव मोक्षसाधनीयत्वं दर्शयन् विशेषेण सत्संमतत्वं प्रतिपादयन्नाह—

प्रशस्तो ह्यनया भाव-स्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।
कर्मक्षयाच्च निर्वाण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

प्रशस्तः प्रशस्यः शुद्धः, हिशब्दो यस्मादर्थे, ततश्च यस्मात्प्रशस्तोऽनयाऽनन्तरोदितत्वेन प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्द्रव्याष्टपुष्प्या जीवोपमर्दाश्रितत्वात्तस्याः । ततः प्रशस्तभावात्, कर्मक्षयो ज्ञानावरणादिकर्मविलयो भवति, ध्रुवोऽवश्यंभावी, कर्मक्षयान्मोक्षस्वरूपात् । चशब्दः पुनरर्थः । निर्वाणं मोक्षो भवतीति मोक्षसाधनीयमतः प्रशस्तभावजन्यकर्मक्षयसाध्यनिर्वाणसाधनत्वादेषा शुद्धाऽष्टपुष्पी, सतां विदुषां, यतीनामित्यर्थः, मता विधेयत्वेनेष्टा, न पुनर्द्रव्याष्टपुष्पी । ततो हे कुतीर्थिकाः ! यदि यूयं यतयस्तदा भावपूजामेव कुरुतेत्युक्तं भवति । अथवा यतो अनया निर्वाणमतः सतां विदुषामेषा संमतेति ॥ ८ ॥ इति तृतीयाष्टकविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अट्ठबुद्धिगुण-अष्टबुद्धिगुण-पुं० । क० स० । शुश्रूषादिषु अष्टसु बुद्धिगुणेषु, तैरष्टबुद्धिगुणैर्योगः समागमः कर्तव्यः । (एष सामान्यगृहिधर्मः) बुद्धिगुणाः शुश्रूषादयः, ते त्वमी—" शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा । ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः " ॥ १ ॥ शुश्रूषादिभिर्हि उपहितप्रकर्षः पुमान्न कदाचिदकल्याणमाप्नोति, एते च बुद्धिगुणा यथासम्भवं प्राह्याः । ध० १ अधि० ।

अट्ठभाइया-अष्टभागिका-स्त्री० । अष्टमे भागे वर्तते इत्यष्टभागिका । षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपलमानायां माणिकायाम्, माणिकाया (षट्कपर्यायायाः) अष्टमभागवर्तित्वात्, द्वात्रिंशत्पलप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु० । भ० ।

अट्ठमइय-अष्टमदिक-त्रि० । अष्टौ मदस्थानानि येषां तेऽष्टमदिकाः । अष्टसु मदस्थानेषु प्रमत्तेषु, " जे पुण अट्ठमईओ, पत्थियपसत्थाऽपसत्था य " आतु० ।

अट्ठमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टगुणितानि अष्ट वा मङ्गलानि । स्वनामख्यातेषु श्रीवत्सादिषु, " तस्स णं असोगवरपायवस्स उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता । तं जहा-सोत्थिय १ सिरिवत्था २ णंदियावत्त ३ वद्धमाणग ४ भद्दासण ५ कलस ६ मच्छ ७ दप्पण ८ ।" तत्र अष्टावष्टाविति वीप्साकरणात् प्रत्येकं तेऽष्टाविति वृद्धाः । अन्ये त्वष्टाविति संख्या, अष्टमङ्गलानीति च संज्ञा । औ० । ज्ञा० । आ० चू० । आ० म० प्र० । भ० । जं० । रा० । लोकेऽपि च-"मृगराजो वृषो नागः, कलशो व्यजनं तथा । वैजयन्ती तथा भेरी, दीप इत्यष्ट मङ्गलम् ॥१॥ लोकेऽस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ, ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य-आपो राजा तथाऽष्टमः " ॥ २ ॥ वाच० ।

अट्ठमभत्त-अष्टमभक्त-न० । एकैकस्मिन् दिने द्विवारं भोजनौचित्येन दिनत्रयस्य षण्णां भक्तानामुत्तरपारणकदिनयोरेकैकस्य भक्तस्य च त्यागेनाष्टमभक्तं त्याज्यं यत्र तत्तथा, इति व्युत्पत्त्या समयपरिभाषया वा उपवासत्रये, "तए णं से भरहे राया अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ" जं० ३ वक्ष० । पंचा० ।

अट्ठमभत्तिय-अष्टमभक्तिक-त्रि० । दिनत्रयमनाहारिणि, जं० ३ वक्ष० ।

अट्ठमयमहण-अष्टमदमथन-त्रि० । अष्टमदस्थाननाशके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अट्ठमहापाडिहेर-अष्टमहाप्रातिहार्य-न० । अर्हतां पूजौपयिकेषु अशोकवृक्षादिषु, "अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-र्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च । भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्" ॥१॥ नं० ।

अट्ठमिपोसहिय-अष्टमीपौषधिक-त्रि० । अष्टम्याः पौषध उपवासादिकोऽष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमीपौषधिकाः । अष्टम्याः पौषधव्रते क्रियमाणेषूत्सवेषु, आचा० ७ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अट्ठमी-अष्टमी-स्त्री० । अष्टानां पूरणी षोडशकलात्मकचन्द्रस्याष्टमकला । क्रियारूपायां स्वनामख्यातायां तिथौ, वाच० । " चाउद्दसि पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थि बा-रसिं च सेसासु देज्जाहिं ॥१॥ " विशे० । वृद्धवैयाकरणसंमते विभक्तिभेदे, " अट्ठमी आमंतणी भवे " अष्टमी संबुद्धिरामन्त्रणी भवेत्, आमन्त्रणार्थे विधीयत इत्यर्थः । अनु० । "अष्टम्यामन्त्रणी भवेत्" इति । सु औ जसिति प्रथमाऽपीयं विभक्तिरामन्त्रणलक्षणस्यार्थस्य कर्मकरणादिवत् लिङ्गार्थमात्रातिरिक्तस्य प्रतिपादकत्वेनाष्टम्युक्ता । स्था० ८ ठा० । "आमंतणे भवे अट्ठमी उ जहा हे जुवाण ! त्ति" आमन्त्रणे भावे अष्टमी तु यथा-हे युवन्निति, वृ-

स्त्वैयाकरणदर्शनेन चेयमष्टमी गण्यते, ऐदंयुगानां त्वसौ प्रथमैवेति मन्तव्यमिति । अनु० । अष्टसंख्यापूरण्यां च, अश्-क । अष्टं संघातं व्याप्तिं वा माति, मा-क, गौरा०-ङीष् । कोटाम्रतायाम, वाच० ।

अट्ठमुत्ति-अष्टमूर्ति-पुं० । अष्टौ भूम्यादयो मूर्त्तयोऽस्य । शिवे, " क्षितिजलपवनहुताशन--यजमानाऽऽकाशचन्द्रसूर्याख्याः । इति मूर्त्तयो महेश्वर-सम्बन्धिन्यो भवन्त्यष्टौ " ॥१॥ स्था०६ ठा०।

अट्ठरससंपउत्त-अष्टरससंप्रयुक्त-त्रि० । ३ त० । अष्टभिः श्रृङ्गारादिभी रसैः सम्यक् प्रकर्षेण युक्ते, जी० ३ प्रति० ।

अट्ठविह--अष्टविध--त्रि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्टप्रकारे, भ० १५ श० १ उ० । ध० । पञ्चा० । " अट्ठविहकम्मतमपडलपडिच्छन्ने " अष्टविधकर्मैव तमःपटलमन्धकारसमूहस्तेन प्रत्यवच्छिन्नानि तथा " विशे० ।

अट्ठसइया--अर्थशतिका- स्त्रि० । अर्थशतानि यासु सन्ति ता अर्थशतिकाः । अथवा-अर्थानामिष्टकार्याणां शतानि याभ्यस्ता अर्थशतास्ता एवार्थशतिकाः । स्वार्थे कप्रत्ययः । अर्थशतोत्पादिकासु वागादिषु, " अपुणरुत्ताहिं अट्ठसइयाहिं वग्गूहिं अणवरयं अभिणंदंता य " जं० २ वक्ष० । भ० ।

अट्ठसंघाड-अष्टसङ्घाट--पुं० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तलतासु, " संघाडो त्ति वा लयत्ति वा पगारो त्ति वा एगट्ठं " इति वचनात् । बृ० १ उ० ।

अट्ठसय-अष्टशत-न० । अष्टाभिरधिकं शतम् । अष्टोत्तरशते, स्था० १० ठा० ।

अट्ठसयसिद्ध--अष्टशतसिद्ध--पुं० । अष्टशतं च ते सिद्धाश्च निर्वृत्ता अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये ऋषभस्वामिना सह निर्वृत्तिं गतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इदञ्चाऽनन्तकालजातमिति नवममाश्चर्यमुच्यत इति । स्था० १० ठा० । कल्प० । अत्र गुणविजयगणिना कृतस्य प्रश्नस्य हीरविजयसूरिदत्तमुत्तरम् । ऋषभस्वामी अष्टाष्टशतेनैकस्मिन्नेव समये सिद्धः । इदं चाश्चर्यम्-तत्र बाहुबल्याद्यायुराश्रिता का गतिः ?। इदं च तत्प्रतिपादकग्रन्थानामप्रसाधनपूर्वं निर्णयकारि प्रसाध्यमिति ॥ ४ ॥ उत्तरम्-अत्र 'अट्ठसयसिद्धा' अस्मिन्नेवाश्चर्ये बाहुबलेरायुषोऽपवर्त्तनमन्तर्भवति । यथा-हरिवंसकुलुप्पत्ति" त्ति, आश्चर्ये हरिवर्षक्षेत्रानीतस्य युगलस्यायुरपवर्तनं शरीरलघुकरणं नरकगमनादि चान्तर्भवतीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अट्ठसहस्स-अष्टसहस्र--न० । अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्येषु, "वइरामयवत्थणिउणजोइयअट्ठसहस्सं वरकंचणं सलणिम्मिएण" औ० ।

अट्ठसामइय-अष्टसामयिक-त्रि० । अष्टौ समया यस्मिन्सोऽष्टसमयः, स एवाष्टसामयिकः । समयाष्टकोद्भवे, स्था० ८ ठा० । " केवलिसमुग्धाए अट्ठसामइये पण्णत्ते " औ० ।

अट्ठसेण-अष्टसेन-पुं० । वत्सगोत्रजे पुरुषभेदे, तदपत्येषु च । स्था० ७ ठा० ।

अर्थसेन-पुं० । पुरुषविशेषे, स्था० ७ ठा० ।

अट्ठसोवण्णिय-अष्टसौवर्णिक-त्रि० । षोडशकर्षमात्रात्मकसुवर्णमानाष्टकमिते, " एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवण्णिए कागिणिरयणे " स्था० ८ ठा० ।

अट्ठहत्तरि-अष्ट (ष्टा) सप्तति-त्रि० । अष्टाधिकायां सप्ततिसंख्यायाम, " अट्ठहत्तरीए सुवण्णकुमारदीवकुमारावाससयसहस्साणं " स० ।

अट्ठा--अष्टा-स्त्री० । प्रव्रजितोः स्तोककेशग्रहणे, " गिण्हइ गुरुवउत्तो, अट्ठा से तिन्नि अच्छिन्ना " । पं० व० १ द्वा० । मुष्टौ, " चउहिं अट्ठाहिं लोयं करेइ " जं० २ वक्ष० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमात्रे । प्रतिष्ठायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ-स्था-अङ् । आलम्बने, अपेक्षायां, श्रद्धायां, स्थितौ, यत्ने, आदरे, सभायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अट्ठाण-अस्थान--न० । अनुचिते स्थाने, स्था०६ ठा० । वेश्यापाटकादौ कुस्थाने, व्य० २ उ० । प्र० । अयुक्ते, " अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, दगेण जे सिद्धिमुदाहरंति " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अट्ठाणट्ठवणा--अस्थानस्थापना--स्त्री० । गुर्वधग्रहादिके अस्थाने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमादप्रत्युपेक्षणाभेदे, स्था० ७ ठा० ।

अट्ठाणमंडव--आस्थानमण्डप--पुं० । उपस्थानगृहे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अट्ठाणिय--अस्थान (नि) क-न० । अभाजने, अनाधारे, " अट्ठाणिए होइ बहू गुणाणं, जेणणाण संकाइ मुसं वएज्जा " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अट्ठादंड-अर्थदण्ड-पुं० । अर्थेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोजनेन दण्डो हिंसा अर्थदण्डः । स० ए सम० । त्रसानां स्थावराणां वाऽऽत्मनः परस्य वोपकाराय हिंसायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अट्ठादंडवत्तिय-अर्थदण्डप्रत्यय-पुं० न० । आत्मार्थाय स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रियास्थाने, सूत्र० । तत्स्वरूपं च—

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहा णामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा आगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिंति, अण्णेण वि णिसिरावेंति, अण्णेण वि णिसिरितं समणुजाणइ,एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति, आहिज्जइ,पढमे दंडसमादाणे अट्ठा अट्ठादंडवत्तिए ति आहिज्जइ ॥५॥

यत्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्डमित्येवमाख्यायते, तस्यायमर्थः—तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः ; पुरुषग्रहणमुपलक्षणार्थम् । सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राण्यात्मनिमित्तमात्मार्थं तथाऽभिज्ञातिनिमित्तं स्वजनार्थं तथाऽगारं गृहं तन्निमित्तं, तथा परिवारो दासकर्मकरादिकः परिकरो वा गृहादेर्भृत्यादिकस्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभूतयक्षाद्यर्थं, तथाभूतं स्वपरोपघातरूपं दण्डं त्रसस्थावरेषु स्वयमेव निसृजति निक्षिपति, दण्डमिव दण्डमुपरि पातयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोतीत्यर्थः । तथाऽन्येनापि कारयत्यपरं दण्डं निसृजति, निसृजन्तं समनुजानीते । एवं कृतकारितानुमतिभिरेव तस्याऽनात्मकस्य तत्प्रत्ययिकं सावद्यक्रियोपात्तं कर्माभिधीयते संबध्यत इति । एतत्प्रथमदण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातमिति ॥ ५॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आ० चू० । आव० ।

अट्ठायमाण–अतिष्ठत्–त्रि०। स्थितिमकुर्वति, " तह वि य अट्ठायमाणं गोणं " पञ्चा० १६ विव०।

अट्ठार-अष्टादशन्–त्रि०। प्राकृतत्वादन्त्यलोपः। अष्टाधिकेषु दशसु, " एए सव्वे वि अट्ठारा " पञ्चा० ३ विव०।

अट्ठारस–अष्टादशन्–त्रि०। अष्टौ च दश च, अष्टाधिका वा दश अष्टादशन्। (अठारह) सङ्ख्यायां, तत्सङ्ख्येये च। वाच०। "पढमे छम्मासे अत्थि अठारसमुहुत्तारात्ती" सू० प्र० १ पाहु०।

अट्ठारसकम्मकारण–अष्टादशकर्मकारण–न०। अष्टादशचौरप्रसूतिहेतौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अट्ठारसट्ठाण--अष्टादशस्थान--न०। क० स०। प्रतिसेवनीयेषु अष्टादशसु स्थानेषु, दश०।

इह खलु भो पव्वइएणं उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सिगयंकुसपोयपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं हवंति। तं जहा–हंभो दुस्समाइ दुप्पजीवी। १।

इह खलु भोः प्रव्रजितेन, इहेति जिनप्रवचने, खलुशब्दोऽवधारणे। स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामः। भो इत्यामन्त्रणे। प्रव्रजितेन साधुना, किंविशिष्टेनेत्याह–उत्पन्नदुःखेन संजातशीताद्विशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन, संयमे व्यावर्णितस्वरूपे, अरतिसमापन्नचित्तेनोद्वेगगताभिप्रायेण, संयमनिर्विण्णभावेनेत्यर्थः। स एव विशेष्यते–अवधावनोत्प्रेक्षिणा–अवधावनमपसरणं, संयमादुत्प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य स तथाविधस्तेन, उत्प्रव्रजितुकामेनेति भावः। अनवधावितेनैवानुत्प्रव्रजितेनैव, अमूनि वक्ष्यमाणलक्षणान्यष्टादशस्थानानि, सम्यग्भावसारं संप्रत्युपेक्षितव्यानि सुष्ठ्वालोचनीयानि, भवन्तीति योगः। अवधावितस्य तु प्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति। तान्येव विशेष्यन्ते–हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताकाभूतानि अश्वखलीनगजाङ्कुशबोहित्थसितपटतुल्यानि। एतदुक्तं भवति–यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवस्तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां भावसत्त्वानामिति। यतश्चैवमतः सम्यक् सम्प्रत्युपेक्षितव्यानि भवन्ति। खलुशब्दावधारणयोगात् सम्यगेव सम्प्रत्युपेक्षितव्यान्येवेत्यर्थः। (तं जहेत्यादि) तद्यथेत्युपन्यासार्थः। हंभो दुःषमायां दुष्प्रजीविन इति, 'हंभो' शिष्यामन्त्रणे। दुःषमायामधमकालाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितुं शीलं येषां ते, दुष्प्रजीविनः प्राणिन इति गम्यते, नरेन्द्रादीनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्शनात्। उदारभोगरहितेन च विडम्बनाप्रायेण कुगतिहेतुना किं गृहाश्रमेणेति, सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम्। १।

लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा। २। भुज्जो अ सायबहुला मणुस्सा। ३। इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई। ४। ओमजणपुरक्कारे। ५। वंतस्स य पडिआयणं। ६। अहरगइवासोवसंपया। ७। दुल्लहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिपासमज्झे वसंताणं। ८। आयंके से वहाय होइ। ९। संकप्पे से वहाय होइ। १०। सोवक्केसे गिहवासे। ११। निरुवक्केसे परिआए। १२। बंधे गिहवासे। १३। मुक्के परिआए। १४। सावज्जे गिहवासे। १५। अणवज्जे परिआए। १६। बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा। १७। पत्तेअं पुन्नपावं। १८। अणिच्चे खलु भो मणुस्साणं जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले, बहुं च खलु भो पावं कम्मं पगडं, पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेइत्ता, मुक्खो नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता अट्ठारसमं पयं भवइ। भवइ अ इत्थ सिलोगो–

तथा-लघव इत्वरा गृहिणां कामभोगाः, दुःषमायामिति वर्तते। सन्तोऽपि लघवस्तुच्छाः। प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः, इत्वरा अल्पकालाः गृहिणां गृहस्थानां कामभोगा मदनकामप्रधानाः शब्दादयो विषयाः विपाककटवश्च न देवानामिव विपरीताः अतः किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं स्थानम्। २। तथा-भूयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः; दुःषमायामिति वर्तत एव। पुनश्च स्वातिबहुला मायाप्रचुराः, मनुष्या इति प्राणिनः, न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानां च कीदृशं सुखम् ?, तथा मायाबन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति किं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम्। ३। तथा-इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति, इदं चानुभूयमानं, मम श्रामण्यमनुपालयतो, दुःखं शारीरमानसं कर्मफलं परीषहजनितं, न चिरकालमुपस्थातुं शीलं भविष्यति, श्रामण्यपालनेन परीषहनिराकृतेः, कर्मनिर्जरणात्संयमराज्यप्राप्तेः, इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाश्रमेणेति ?। संप्रत्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम्। ४। तथा-(ओमजण त्ति) न्यूनजनपूजा, प्रव्रजितो हि धर्मप्रभावाद्राजामात्यादिभिरभ्युत्थानासनाञ्जलिप्रग्रहादिभिः पूज्यते। उत्प्रव्रजितेन तु न्यूनजनस्यापि स्वव्यसनगुप्तयेऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा वेष्टिप्रयोक्तुः खरकर्मणो नियम्यत एव, इहैवेदमधर्मफलमतः किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम्। ५। एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया। तथा वान्तस्य प्रत्यापानम्, भुक्तोज्झितपरिभोग इत्यर्थः। अयं च श्वशृगालादिक्षुद्रसत्त्वाचरितः सतां निन्द्यो व्याधिदुःखजनकः। वान्ताश्च भोगाः; प्रव्रज्याङ्गीकरणेनैतत् प्रत्यापानमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम्। ६। तथाऽधरगतिवासोपसंपत्, अधोगतिर्नरकतिर्यग्गतिस्तस्यां वसनमधोगतिवासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसंपत्सामीप्येनाङ्गीकरणं यदेतदुत्प्रव्रजनमेवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम्। ७। तथा दुर्लभः खलु भोः गृहिणां धर्म इति प्रमादबहुलत्वाद् दुर्लभ एव, 'भो' इत्यामन्त्रणे। गृहस्थानां परमनिर्वृतिजनको धर्मः। किंविशिष्टानामित्याह– गृहपाशमध्ये वसतामित्यत्र गृहपाशशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्मध्ये वसतामनादिभवाभ्यासादकारणं स्नेहबन्धनमेतच्चिन्तनीयमित्यष्टमं स्थानम्। ८। तथाऽऽतङ्कस्तस्य वधाय भवति; आतङ्कः सद्योघाती विसूचिकादिरोगः, तस्य गृहिणो धर्मबन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति। तथा वधश्चानेकवधहेतुरेवं चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम्। ९। तथा संकल्पस्तस्य वधाय भवति; संकल्प इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानस आतङ्कः, तस्य गृहिणः, तथाचेष्टायोगाद् मिथ्याविकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय भवत्येतच्चिन्तनीयमिति

दशमं स्थानम् । १० । तथा-सोपक्लेशो गृहवास इति; सहोपक्लेशैः सोपक्लेशो गृहवासो गृहाश्रमः । उपक्लेशाः-कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः पण्डितजनगर्हिताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेत्येवं चिन्तनीयमित्येकादशं स्थानम् ।११। तथा-निरुपक्लेशः पर्याय इति; एभिरेवोपक्लेशैः रहितः प्रव्रज्यापर्यायोऽनारम्भी कुचिन्तापरिवर्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्थानम् । १२ । तथा-बन्धो गृहवासः, सदा तद्धेत्वनुष्ठानात् कोशकारकीटवदित्येतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदशं स्थानम् ।१३। तथा-मोक्षः पर्यायोऽनवरतकर्मनिगडविगमनाद् मुक्तवदित्येवं चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानम् । १४ । अत एव सावद्यो गृहवास इति; सावद्यः सपापः, प्राणातिपातमृषावादादिप्रवृत्तेरेतच्चिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् ।१५। एवमनवद्यः पर्याय इति; अपाप इत्यर्थः; अहिंसादिपालनात्मकत्वादेतच्चिन्तनीयमिति षोडशं स्थानम् ।१६। तथा-बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति; बहुसाधारणाश्चौरजारराजकुलादिसामान्याः, गृहिणां गृहस्थानां, कामभोगाः पूर्ववदित्येतच्चिन्तनीयमिति सप्तदशं स्थानम् । १७ । तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति; मातापितृकलत्रादिनिमित्तमप्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं पृथग् २, येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव तदिति भावार्थः; एवमष्टादशं स्थानम् ।१८। एतदन्तर्गतो वृद्धाभिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽपि ॥ अन्ये तु व्याचक्षते- सोपक्लेशो गृहवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृह्यते । एवं च बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति चतुर्दशं स्थानम् । प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशं स्थानम् । शेषाण्यभिधीयन्ते-तथाऽनित्यं खल्वनित्यमेव नियमतः, ' भो ' इत्यामन्त्रणे, मनुष्याणां पुंसां, जीवितमायुः एतदेव विशेष्यते-कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलं सोपक्रमत्वादनेकोपद्रवविषयत्वादत्यन्तासारम्, तदलं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति षोडशं स्थानम् । तथा-बहु च खलु भोः पापं कर्म प्रकृतं; बहु चेत्यत्र चशब्दात् क्लिष्टं, ' खलु ' शब्दोऽवधारणे, बह्वेव, पापं कर्म चारित्रमोहनीयादि, प्रकृतं निर्वर्तितं, मयेति गम्यते । श्रामण्यप्राप्तावप्येवं कुबुद्धिप्रवृत्तेः, नहि प्रभूतक्लिष्टकर्मरहितानामेवमकुशला बुद्धिर्भवति, अतो न किंचिद् गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति सप्तदशं स्थानम् । तथा-पापानां चेत्यादि; पापानां चापुण्यरूपाणां चशब्दात्पुण्यरूपाणां च, खलु भोः कृतानां कर्मणाम्; खलुशब्दः कारितानुमतविशेषणार्थः; ' भो ' इति शिष्यामन्त्रणे, कृतानां मनोवाक्काययोगैरोघतो निर्वर्तितानां कर्मणां ज्ञानावरणीयाद्यसातवेदनीयादीनां, प्राक् पूर्वम्, अन्यजन्मसु दुश्चरितानां प्रमादकषायजदुश्चरितजनितानि दुश्चरितानि, कारणे कार्योपचारात् । दुश्चरितहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात् । एवं दुष्पराक्रान्तानां मिथ्यादर्शनाविरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात् । दुष्पराक्रान्तहेतूनि वा दुष्पराक्रान्तानि, फले हेतूपचारात् । इह च दुश्चरितानि-मद्यपानाश्लीलानृतभाषणादीनि, दुष्पराक्रान्तानि-वधबन्धनादीनि । तदमीषामेवंभूतानां कर्मणां वेदयित्वाऽनुभूय फलमिति वाक्यशेषः । किं मोक्षो भवति, प्रधानपुरुषार्थो भवति ?, नास्त्यवेदयित्वा न भवत्यननुभूय, अनेन सकर्मकमोक्षव्यवच्छेदमाह । इष्यते च स्वल्पकर्मोपेतानां कैश्चित् सहकारिनिरोधस्तत्फलादानवादिभिः, तत्तदपि नास्त्यवेदयित्वा मोक्षस्तथारूपत्वात्कर्मणः स्वफलदाने कर्मत्वायोगात्, तपसा वा क्षपयित्वा, अनशनप्रायश्चित्तादिना वा विशिष्टक्षायोपशमिकशुभभावरूपेण तपसा प्रक्षयं नीत्वा, इह च वेदनमुदयप्राप्तस्य व्याधेरिवानारब्धोपक्रमस्य क्रमशोऽनन्यनिबन्धनपरिक्लेशेन, तपःक्षपणं तु सम्यगुपक्रमेणानुदीर्णोदीरणदोषक्षपणवदन्यानिमित्तम्, अक्रमेणापरिक्लेशमित्यतस्तपोनुष्ठानमेव श्रेय इति, न किंचिद् गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमित्यष्टादशं पदं भवति-अष्टादशं स्थानं भवति । भवति चात्र श्लोकः, अत्रेत्यष्टादशस्थानार्थव्यतिकरे उक्तानुकार्थसंग्रहपर इत्यर्थः । श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः । ततः श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रभूतश्लोकोपन्यासेऽपि न विरोधः ।

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।

से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ ॥ १ ॥

यदा चैवमप्यष्टादशसु व्यावर्तनकारणेषु सत्स्वपि त्यजति जहाति, धर्मं चारित्रलक्षणम्, अनार्य इत्यनार्य इवानार्यो म्लेच्छचेष्टितः । किमर्थमित्याह-भोगकारणात् शब्दादिभोगनिमित्तं सद् धर्मत्यागी, तत्र तेषु भोगेषु, मूर्च्छितो गृद्धो, बालोऽज्ञः, आयतिमागामिकालं, नावबुध्यते न सम्यगवगच्छतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

एतदेव दर्शयति—

जया ओहाविओ होई, इंदो वा पडिओ छमं ।

सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥

यदा चावधावितोऽपसृतो भवति संयमसुखविभूतेः, उत्प्रव्रजित इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव, पतितः क्ष्मां गतः, स्वविभवभ्रंशेन भूमौ पतित इति भावः । क्ष्मा भूमिः । सर्वधर्मपरिभ्रष्टः सर्वधर्मेभ्यः क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रतिक्रमणानुपालनात्, लौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः, परिभ्रष्टः सर्वतः च्युतः, स पतितो भूत्वा पश्चान्मनाग् मोहापगमे, परितप्यते, किमिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः । दश० १ चूलि० । (अग्रेतनगाथा भू०भा०१३४पृष्ठे 'ओहावण' शब्दे विन्यस्ता)

समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं सखुड्डय वियत्ताणं अट्ठारसट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं । पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं" ॥ १ ॥ स० १८ सम० ।

(व्रतषट्कादीनि विस्तरतोऽन्यत्र स्वस्वस्थाने लिखितानि) एषु व्रतषट्कं, शोभावर्जनं चेति विधेयं, शेषं प्रतिषेधनीयम् । व्य०-१० उ० ।

अट्ठारसहिं ठाणेहिं जो होति अपतिट्ठितो नलमत्थो तारिसो होइ ववहारं ववहरित्तए । अट्ठारसहिं ठाणेहिं जो होति पतिट्ठितो अलमत्थो तारिसो होइ ववहारं ववहरित्तए । "व्य० १० उ० । (इति व्यवहारिलक्षणं ' ववहार ' शब्दे वक्ष्यते)

अट्ठारसपावट्ठाण-अष्टादशपापस्थान (क)-न० । पापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि, अष्टादश च तानि स्थानकानि । प्राणातिपातादिषु अष्टादशसु पापोपादानहेतुषु स्थानेषु, प्रव० ।

सव्वं पाणाइवायं, अलियमदत्तं च मेहुणं सव्वं ।

सव्वं परिग्गहं तह, राईभत्तं च वोसिरिमो ॥ १ ॥

सव्वं कोहं माणं, मायं लोभं च रागदोसे य ।

कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं परपरीवायं ॥ २ ॥
माया-मोसं मिच्छा-दंसणसल्लं तहेव वोसिरिमो ।
अंतिमऊसासम्मि य, देहं पि जिणाइपच्चक्खं ॥ ३ ॥

सर्वं सप्रभेदं प्राणातिपातं, तथा-सर्वमलीकं मृषावादं, तथा-सर्वमदत्तमदत्तादानं, तथा-सर्वं मैथुनं, तथा-सर्वं परिग्रहं, तथा-सर्वं रात्रिभक्तं रजनिभोजनं, व्युत्सृजामः परिहरामः । तथा—सर्वं क्रोधं, मानं, मायां, लोभं च, रागद्वेषौ च, तथा—कलहं, अभ्याख्यानं, पैशुन्यं, परपरिवादं, मायां, मृषा, मिथ्यादर्शनशल्यं च, तथैव सप्रतिक्रं व्युत्सृजामः । एतान्यष्टादशपापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न केवल-मेतान्येव किन्तु अन्तिमे उच्छ्वासे, परलोकगमनसमय इत्यर्थः, देहमपि निजशरीरमपि, व्युत्सृजामः, तत्रापि ममत्वमोचनाद् जिनादिप्रत्यक्षं तीर्थकरसिद्धानां समक्षमिति। प्रव० २३७द्वा० ।

अट्ठारसवंजणाउल-अष्टादशव्यञ्जनाकुल-त्रि० । अष्टादश-भिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनतक्रादिभिराकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवा अष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम्, शाकपार्थिवादिदर्शनाद्भेदशब्दलोपः । सूपाद्यष्टादशव्यञ्जनसङ्कीर्णे, चं०प्र०। अष्टादश च भेदा इमे—"सूओ १ दणो २ जवन्नं, ३ तिन्नि य मंसाइ ६ गोरसो ७ जूसो ८ । भक्खा ९ गुललावणिया, १० मूलफला ११ हरियगं १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसालू य १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चेव १७। अट्ठारसमो सागो १८, णिरुवहओ लोइओ पिंडो " ॥ २ ॥ चं० प्र० २० पाहु० । स्था० । भ० ।

अट्ठारसविहिप्पयारदेसीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रकारदेशीभाषाविशारद-पुं०स्त्री०। अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टादशभिर्वा विधिभिर्भेदैः प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्याः सा तथा, तस्यां देशीभाषायां देशभेदेन वर्णावलीरूपायां विशारदः पण्डितो यः स तथा । अष्टादशधाभिन्नदेशीभाषापण्डिते, " अट्ठारसविहिप्पयारदेसीभासाविसारए गीयरइगंधव्वणट्टकुसले हयजोही " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्ठारससीलंगसहस्स-अष्टादशशीलाङ्गसहस्र-न० । शीलभेदानामष्टादशसहस्रेषु, पञ्चा० ।

तानि चैवम्-

नमिऊण वद्धमाणं, सीलंगाइं समासओ वोच्छं ।
समणाण सुविहियाणं, गुरूवएसाणुसारेण ॥१॥

नत्वा प्रणम्य, वर्द्धमानं महावीरं, शीलाङ्गानि चारित्रांशरूपाणि, तत्कारणानि वा, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये भणिष्यामि। केषां संबन्धीनि इत्याह-श्रमणानां यतीनां, सुविहितानां सदनुष्ठानानां, गुरूपदेशानुसारेण जिनादिवचनानुवृत्त्येति गाथार्थः ॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

सीलंगाण सहस्सा, अट्ठारस एत्थ होंति णियमेणं ।
भावेणं समणाणं, अखंडचारित्तजुत्ताणं ॥ २ ॥

शीलाङ्गानां चारित्रांशानां, सहस्राण्यष्टादश, अत्र-श्रमणधर्मे, प्रवचने वा, भवन्ति स्युः। नियमेनावश्यतया, न न्यूनान्यधिकानि वेति भावः। कथमित्याह-भावेन परिणामेन, बहिर्वृत्त्या तु कल्पप्रतिसेवया न्यूनान्यपि स्युरिति भावः । केषामित्याह-श्रमणानां यतीनां न तु श्रावकाणां, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसंख्यातां संभवात् । अथवा भावेन श्रमणानां न तु द्रव्यश्रमणानाम्, तेषामपि किंविधानामित्याह-अखण्डचारित्रयुक्तानां सकलचरणोपेतानां, न तु दर्पप्रतिसेवया खण्डितचरणांशानाम् । नन्वखण्डचरणा एव सर्वविरता भवन्ति, तत्खण्डनेऽसर्वविरतत्वप्रसंगात्, तथा 'पडिवज्जइ अइक्कमइ पंच' इत्यागमप्रामाण्यात् सर्वविरतः पञ्चापि महाव्रतानि प्रतिपद्यतेऽतिक्रामति च पञ्चाप्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतेर्देशखण्डनमिति?। अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, किं तु प्रतिपत्त्यपेक्षं सर्वविरतत्वं, परिपालनापेक्षया त्वन्यथापि संज्वलनकषायोदयात्स्यात् । अत एवोक्तम्-"सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं उदयओ होंति" इति । अतिचारा हि चरणदेशखण्डनरूपा एवेति । तथैकव्रतातिक्रमे सर्वातिक्रम इति यदुक्तं, तदपि नैश्चयिकम् । विवक्षा चेयम्-"छेयस्स जाव दाणं, ताव अइक्कमइ नेव एगं पि । एगं अइक्कमंतो, अइक्कमे पंचमूलेणं"॥१॥ एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफलं स्यात् । अन्यथा मूलाद्येव, तस्माद्व्यवहारनयतश्चातिचारसंभवः, निश्चयतस्तु सर्वविरतितया अङ्ग एवेत्यलं प्रसंगेनेति गाथार्थः ।२।

कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि

भवन्तीत्याह—

जोए करणे सण्णा-इंदियभूमादि समणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं, अट्ठारसगस्स णिप्पत्ती ॥ ३ ॥

योगे व्यापारे विषयभूते, करणे योगस्यैव साधकतमे, संज्ञादीनि चत्वारि पदानि द्वन्द्वैकत्ववन्ति । तत्र संज्ञासु चेतनाविशेषभूतासु, इन्द्रियेष्वक्षेषु, भूम्यादिषु पृथिव्यादिजीवकायेष्वजीवकाये च, श्रमणधर्मे च क्षान्त्यादौ, शीलाङ्गसहस्राणां प्रस्तुतानाम्, अष्टादशपरिमाणमस्य वृन्दस्येत्यष्टादशकं, तस्य, निष्पत्तिः सिद्धिर्भवतीति गाथार्थः ॥ ३ ॥

योगादीनेव व्याख्यातुमाह—

करणादि तिण्णि जोगा, मणमादीणि उ हवंति करणाइं ।
आहारादी सण्णा, चउ सण्णा इंदिया पंच ॥ ४ ॥
भोमादी णव जीवा, अजीवकाओ य समणधम्मो उ ।
खंतादि दसपगारो, एवं ठिए भावणा एसा ॥ ५ ॥

(करणाइ त्ति) सूत्रत्वात्करणादयः, करणकारणानुमतयस्त्रयो योगा भवन्ति। तथा मन आदीनि तु मनोवचनकायरूपाणि, पुनर्भवन्ति स्युः, करणानि त्रीण्येव; तथा आहारादयः आहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाः वेदनीयभयमोहवेदमोहलोभकषायोदयसंपाद्याध्यवसायविशेषरूपाः संज्ञाः, (चउ त्ति) चतस्रः संज्ञा भवन्ति। तथा-श्रोत्रादीनि श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानीन्द्रियाणि पञ्च भवन्तीति। तथा-भूम्यादयः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया नव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्तु अजीवराशिः पुनर्दशमो यः परिहार्यतयोक्तः। स च महाधनानि वस्त्रपात्राणि विकटहिरण्यादीनि च, तथा-पुस्तकानि तूलाद्यप्रत्युपेक्षितानि प्रावारादिदुष्प्रत्युपेक्षितानि. कोद्रवादितृणान्यजादिचर्माणि चागमप्रसिद्धानीति। तथा-श्रमणधर्मस्तु यतिधर्मः। पुनः क्षान्त्यादिः क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यरूपो दशप्रकारो दशविध इति । (एवं ति) एवमुक्तन्यायेन, स्थिते औत्सर्गिकरुचिर्येण पट्टकादौ व्यवस्थिते, द्वित्रिचतुष्पञ्चदशसंख्येयमूलपदकलापभावना भङ्गकप्रकाशना, एषा अनन्तरवक्ष्यमाणलक्षणेति गाथाद्वयार्थः ॥ ५ ॥

तामेवाह-

ण करति मणेण आहा-रसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण ।
सोइंदियसंवुडो पु-ढविकायारंभ खंतिजुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणलक्षणः प्रथमयोग उपात्तः । मनसेति प्रथमकरणम् । (आहारसण्णाविप्पजढगो उ त्ति) आहारसंज्ञाविप्रहीणः। अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा-नियमेनावश्यंतया श्रोत्रेन्द्रियसंवृतो निरुद्धरागादिमच्छ्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियम् । एवंविधः सन् किं करोतीत्याह-पृथिवीकायारम्भं पृथ्वीजीवहिंसाम्, अनेन च प्रथमजीवस्थानम् । क्षान्तियुतः क्षान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमश्रमणधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्भावितमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ शेषाणि तान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह-

इय मद्दवादिजोगा, पुढवीकाए हवंति दस भेया ।
आउक्कायादीसु वि, इय एते पिंडियं तु सयं ॥ ७ ॥
सोइंदिएण एयं, सेसेहिं वि जे इमं तओ पंचो ।
आहारसण्णजोगा, इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥ ८ ॥
एयं मणेण वइमा-दिएसु एयं ति छस्सहस्साइं ।
ण करइ सेसेहिं पि य, एए सव्वे वि अट्ठारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्ताभिलापेन, मार्दवादियोगान् मार्दवार्जवादिपदसंयोगेन,पृथिवीकाये पृथिवीकायमाश्रित्य, पृथिवीकायसमारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः।भवन्ति स्युः,दश भेदा दश शीलविकल्पाः, अप्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येह संबन्धनार्थ इति । अनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः । (पिंडियं तु त्ति) प्राकृतत्वात्पिण्डिताः पुनः सन्तः, अथवा पिण्डितं पिण्डमाश्रित्य,शतं शतसंख्याः स्युरिति,श्रोत्रेन्द्रियेणैतच्छतं लब्धम् , शेषैरपि चक्षुरिन्द्रियादिभिः,यच्चस्मादिदं शतं प्रत्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः। एतानि चाहारसंज्ञायोगाल्लब्धानि इति। एवं शेषाभिस्तिसृभिः पञ्च पञ्चशतानि स्युः,एवं च सर्वमीलने सहस्रद्वयं स्यादिति। एतत् सहस्रद्वितीयं मनसा लब्धं (वइमाएसु त्ति) वागादौ वचनकाययोः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एवं,षट्सहस्राणि न करोतीति अत्र करणपदे स्युः । शेषयोरपि च कारणानुमत्योरित्यर्थः । षट् षट् सहस्राणि स्युः । एते अनन्तरोक्ताः, सर्वेऽपि शीलभेदाः पिण्डिताः सन्तः,(अट्ठार त्ति)प्राकृतत्वादष्टादशसहस्राणि भवन्तीति गाथात्रयार्थः॥९॥ नन्वेकयोग एवाष्टादशसहस्राणि स्युर्यदा तु द्व्यादिसंयोगजन्या इह क्षिप्यन्ते तदा बहुतराः स्युः । तथाहि-एकद्व्यादिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः, एवं करणेषु, संज्ञासु पञ्चदश,इन्द्रियेष्वेकत्रिंशद्, भौम्यादिषु त्रयोविंशत्यधिकं सहस्रम्, एवं क्षमादिष्वपि । इत्येषां च राशीनां परस्पराभ्यासे द्वे कोटिसहस्रे,त्रीणि कोटीशतानि, चतुरशीतिकोटीनामेकपञ्चाशल्लक्षाणि, त्रिषष्टिसहस्राणि, द्वे शते,पञ्चषष्टिश्चेति [२३८४५१६३२६५]; ततः किमष्टादशैव सहस्राण्युक्तानि ?। उच्यते-यदि श्रावकधर्मवदन्यतरभङ्गकेन सर्वविरतिप्रतिपत्तिः स्यात्, तदा युज्येत, तद्भङ्गेन तत्रैवमेकतरस्यापि शीलाङ्गकल्पस्य शेषसद्भाव एव भावात्। अन्यथा सर्वविरतिरेव न स्यादित्येतदेवाह-

एत्थ इमं विसेयं, अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं ।
एक्कंपि सुपरिसुद्धं, सीलंगं सेससब्भावे ॥१०॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विज्ञेयं ज्ञातव्यम्। (अइदंपज्जं ति)इदं परं प्रधानमस्मिन्नितीदंपरं,तद्भाव ऐदंपर्यं तत्त्वम्।तुशब्दः पुनःशब्दार्थः। तद्भावना चैवम्-शीलाङ्गसहस्राण्यष्टादश भवन्ति। ऐदंपर्यं पुनरेष्विदं ज्ञेयं,बुद्धिमद्भिर्बुधैः। किं तदित्याह-एकमपि। अपिशब्दाद् बहून्यपि,सुपरिशुद्धं निरतिचारं, शीलाङ्गं चरणांशः, शेषसद्भावे तदन्यशीलाङ्गसत्तायामेव,तदेवं समुदितान्येवैतानि भवन्तीति न द्व्यादिसंयोगभङ्गकोपादानमपि तु सर्वपदान्त्यभङ्गस्यैवमष्टादशसहस्रांशतोक्ता ।यथा त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य नवांशतेति । इह च सुपरिशुद्धमिति विशेषणाद्व्यवहारनयमतेनापरिशुद्धानि पालनायामन्यतरस्याभावेऽपि स्युरिति दर्शितम्। एवं हि संज्वलनोदयश्चरितार्थो भवेदिति; चरणैकदेशभङ्गहेतुत्वात् तस्य । अत एव यो मन्यते लवणं भक्षयामीति तेन(मुनिना) मनसा न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसनेन्द्रियसंवृतः पृथिवीकायसमारम्भमुक्तिसंपन्न इत्येतदेकं तद्भग्नम्। तद्भङ्गे च प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तेन शुद्धिः स्यात्,अन्यथा मूलेनैव स्यादिति गाथार्थः।१०।

अनन्तरगाथार्थं समर्थयन्नाह-

एक्को वाऽऽयपएसोऽसंखेयपएससंगओ जह तु ।
एतं पि तहा णेयं, सततच्चाओ इहरहा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि,आस्तामनेकः।आत्मप्रदेशो जीवांशः; असंख्येयप्रदेशसंगत एव संख्यातीतांशसमन्वित एव भवति, तस्य तथास्वभावत्वात्। यथा यद्वत् ,तुशब्द एवकारार्थः। तत्प्रयोगश्च दर्शित एव। एतदपि शीलाङ्गमपि,तथा तद्वच्छेषशीलाङ्गसमन्वितमेव,ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, शेषानपेक्षत्वे तस्य को दोष इत्याह- स्वतत्त्वत्यागः सर्वविरतिलक्षणशीलाङ्गहानिः स्यात् । इतरथा तु एकतायां पुनरित्यर्थः। समुदितान्येतानि सर्वविरतिशीलाङ्गतामापद्यन्ते । अन्यथा पुनः सर्वविरतिशीलाङ्गतां त्यजन्तीति भावनेति गाथार्थः ॥११॥

इदमेव समर्थयन्नाह-

जम्हा समग्गमेयं, पि सव्वसावज्जजोगविरई उ ।
तत्तेणेगसरूवं, ण खंमरूवत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणात्समग्रं परिपूर्णमेव,सदा त्रैकालिकमित्यर्थः। एतदपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः सदात्मा स्यात् । सर्वसावद्ययोगविरतिः समस्तपापव्यापारनिवृत्तिर्भवति,तत्स्वभावमित्यर्थः। तुशब्द एवकारार्थः । योजितश्च-तथा च-तत्त्वेन सर्वनिवृत्तिरूपत्वेन हेतुना एकस्वरूपमष्टादशसहस्रांशमेव । अन्यथा सर्वविरतित्वायोगाद् , न खण्डरूपत्वमेकाद्यंशवैकल्यम्, उपैत्युपयातीति। प्रयोगोऽत्र-यद्यदपेक्षया स्वतत्त्वं लभते तत् तन्न्यूनतायां तन्न भवति। यथा- प्रदेशहीन आत्मा, यथा वा शतमेकाद्यभावे, लभते च सर्वस्वापेक्षया सर्वविरतिः स्वतत्त्वम्, अत एकादिशीलाङ्गविकलोऽसौ न भवतीति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तार्थ एव विशेषाभिधानायाह-

एयं च एत्थ एवं, विरतीभावं पडुच्च दट्ठव्वं ।
न उ बज्झं पि पवित्तिं,जं सा भावं विणावि भवे ।१३।

एतच्च एतत् पुनः शीलम्, अत्र शीलाङ्गप्रक्रमे, एवमखण्डरूपं, विरतिभावं सावद्ययोगविरमणपरिणामं,प्रतीत्याश्रित्य, द्रष्टव्यं ज्ञेयम्। न तु न पुनः,बाह्यमपि कायवाक्संबन्धिनीमपि, अपिशब्दः समुच्चये; प्रवृत्तिं चेष्टाम् ; कुत एतदेवमित्याह-यद् यस्मात्,सा बाह्या प्रतिपत्तिः,भावमध्यवसायं,विनाऽपि अन्तरेणापि। अपिशब्दाद्भावेन सहापि,भवेत् स्यादिति गाथार्थः॥१३॥ पंचा० १४ विव०। आव० । ध० । पं० व० । द० ।

अट्ठारससेणि—अष्टादशश्रेणि—स्त्री०। कुम्भकारादिषु अष्टादशसु राज्ञः प्रजासु, जं०। अष्टादशश्रेणयश्चेमाः-"कुंभार१पट्टइल्ला२, सुवण्णकारा य ३ सूवकारा य ४। गंधव्वा ५ कासवगा ६, मालाकारा य ७ कच्छकरा ८ ॥१॥ तंबोलिआ ९ य एए, नवप्पयारा य णारुआ भणिआ। अह णं णवप्पयारे, कारुअवण्णे पवक्खामि ॥ २ ॥ चम्मयर १ जंतपीलग २, गंछिअ ३ छिंपय ४ कंसकारा य ५। सीवग ६ गुआर ७ भिल्ला ८, धीवण ९ वण्णाइ अट्ठदस" ॥३॥ चित्रकारादयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति। "तए णं ताओ अट्ठारससेणिप्पसेणीओ भरहेणं रण्णा एवं वुत्ता समाणीओ हट्ठाओ" जं० ३ वक्ष०।

अट्ठारसय—अष्टादशक—त्रि०। अष्टादशवर्षप्रमाणे, "ते वरिसा होइ णवा, अट्ठारसिया उ हरिया होइ" अष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा। व्य० ४ उ०।

अट्ठालोभि (ण्)—अर्थालोभिन्—त्रि०। अर्थोऽत्र कुप्यादिस्तत्र आ समन्ताल्लोभः अर्थलोभः स विद्यते यस्येति समन्ततो धनलुब्धे, "अहोयराओ परियप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी" आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अट्ठावण्ण—अष्ट (ष्टा) पञ्चाशत्—स्त्री०। अष्टाधिका पञ्चाशत् अष्टपञ्चाशत्; अष्ट च पञ्चाशच्च अष्टपञ्चाशदिति वा। 'अट्ठावन' इति प्रसिद्धायां संख्यायां, तत्संख्येये च। "पढमदोच्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्ठावण्णं णिरयावाससयसहस्सा" स० ५८ सम०।

अट्ठावय—अर्थपद—न०। अर्थ्यत इत्यर्थो धनधान्यहिरण्यादिकः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपदम्। चाणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

अष्टापद—न०। द्यूतक्रीडाविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। द्यूतफलके, जं० २ वक्ष०। प्रश्न०। द्वासप्ततिकलासु चेयं त्रयोदशी कला। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। स०। द्यूतसामान्ये, जं० २ वक्ष०। नि० चू०। "अट्ठावयं ण सिक्खिज्जा" सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। अथवा-अष्टौ अर्थाः पदानि यस्य वस्य। वृत्तौ संख्याशब्दस्य वीप्सार्थत्वाद्वीकारः, आत्वम्, अर्द्धर्चादिः। शारीफलके; अष्टसु धातुषु पदं प्रतिष्ठा यस्य, स्वर्णे; उपचारात् स्वर्णमयेऽपि, शरभे, लूतायां च। (पुं०) तयोरष्टपदत्वात्। अष्टं यथा स्यात्तथा पद्यते, क्रमौः अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीलके; अष्टाभिः सिद्धिभिरापद्यते। (आपद्-अप्। ३ त०) अणिमाद्यष्टसिद्धियुक्तत्वे, कैलासे च। पुं०। वाच०। स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, यत्र ऋषभदेवः सिद्धः। पञ्चा० १९ विव०। आ० म० प्र०। कल्प०। "अट्ठावयम्मि सेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं। दसहिं सहस्सेहिं समं, णिव्वाणमणुत्तरं पत्तो" ॥ १ ॥ आ० क०। जं०। संथा०। नं०। (गौतमस्याष्टापदगमनं तत्र तापसप्रव्राजनम् 'अज्जवइर' शब्देऽत्रैव भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आ० क०। भ०। आ० म० द्वि०। एतस्मादेव चास्य तीर्थत्वम्। तन्माहात्म्यं यथा—

वरधर्मकीर्तिऋषभजो, विद्यानन्दाश्रितः पवित्रयुतः।
देवेन्द्रवन्दितो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १ ॥
ऋषभसुता नवनवति-र्बाहुबलिप्रभृतयः प्रवरयतयः।
यस्मिन्नभजन्नमृतं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २ ॥
अयुजानिवृत्तिवियोगं, वियोगभीरव इव प्रभोः समकम्।
यत्रर्षिदशसहस्राः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ३ ॥
यत्राष्ट पुत्रपुत्राः, युगपद् वृषभेण नवनवतिपुत्राः।
समयैकेन शिवमगुः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ४ ॥
रत्नत्रयमिव मूर्त्तं, स्तूपत्रितयं चितित्रयस्थाने।
यत्रास्थापयदिन्द्रः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ५ ॥
सिद्धायतनप्रतिमं, सिंहनिषद्येति यत्र सुचतुर्द्वा।
भरतोऽरचयच्चैत्यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ६ ॥
यत्र विराजति चैत्यं, योजनदीर्घं तदर्द्धपृथुमानम्।
क्रोशत्रयोच्चमुच्चैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ७ ॥
यत्र भ्रातृप्रतिमाः, व्यधाच्चतुर्विंशतिर्जिनप्रतिमाः।
भरतः स्वात्मप्रतिमाः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ८ ॥
स्वस्वाकृतिमितिवर्णाङ्क-वर्णितान् वर्तमानजिनबिम्बान्।
भरतो वर्णितवानिह, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ९ ॥
सप्रतिमा नवनवतिं, बन्धुस्तूपांस्तथाऽर्हतस्तूपम्।
यत्रारचयच्चक्री, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १० ॥
('भरत' शब्दे द्वि० भा० ११५१ पृष्ठे वक्तव्यताऽस्य वक्ष्यते)
भरतेन मोहसिंहं, हन्तुमिवाष्टापदः कृताष्टपदः।
शुशुभेऽष्टयोजनो यः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ ११ ॥
यस्मिन्ननेककोट्यो, महर्षयो भरतचक्रवर्त्याद्याः।
सिद्धिं साधितवन्तः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १२ ॥
('भरह' शब्देऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)
सगरसुताश्च सर्वा-र्थशिवगतीन् भरतराजवंशर्षीन्।
यत्र सुबुद्धिरकथयत्, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १३ ॥
परिखासागरमकर-न्त सागराः सागराऽऽशया यत्र।
परितो रक्षातिकृतये, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १४ ॥
क्लावयितुमिव स्वैनो, जैनो यो गङ्गया श्रितः परितः।
संततमुल्लोलकरैः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १५ ॥
('गंगा' शब्दे कथाऽस्य द्रष्टव्या)
यत्र जिनतिलकदाना-द्दमयन्त्याऽऽपे कृतानुरूपफलम्।
भालस्वज्ञावतिलकं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १६ ॥
('दमयंती' शब्दे कथैषा निरूपयिष्यते)
यत्रकुपारे कोपात्, क्षिपन्नलं बालिना ऽङ्घ्रिणाऽऽक्रम्य।
आराविरावणोऽरं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १७ ॥
भुजतन्त्र्या जिनमहकृ-ल्लङ्केन्द्रोऽवाप यत्र धरणेन्द्रात्।
विजयामोघां शक्तिं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १८ ॥
('रावण' शब्दे कथेयं प्ररूपयिष्यते)
चतुरश्चतुरोऽष्टादश, द्वौ प्राच्यादिदिक्षु जिनबिम्बान्।
यत्रावन्दत गणभृत्, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ १९ ॥
अचलेऽत्रोद्यममचलं, स्वशक्तिवन्दितजिनो जनो भजते।
धीरोऽवर्णयदिति यं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २० ॥
प्रभुभणितपुण्डरीका-ध्ययनाध्ययनात् सुरोऽत्र दशमोऽभूत्।
दशपूर्विपुण्डरीकः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २१ ॥
यत्र स्तुतजिननाथो-ऽदीक्षत तापसशतानि पञ्चदश।
श्रीगौतमगणनाथः, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥ २२ ॥
('अज्जवइर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१६ पृष्ठे कथेयं निरूपिता)
इत्यष्टापदपर्वत इव योऽष्टापदमपि चिरस्थायी।
व्यावर्णि महातीर्थं, स जयत्यष्टापदगिरीशः ॥२३॥ ती० १८ कल्प०।

भरतचक्रवर्तिकारितचैत्यानामिदानीं सत्त्वे प्रश्नोत्तरे—
नन्वष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारिताः सिंहनिषद्याप्रमुखप्रासादास्तत्कृतबिम्बानि चाद्ययावत्कथं स्थितानि सन्ति?, तथा श्रीशत्रुञ्जयपर्वतेऽपि भरतकारितानि तान्येव प्रासादबिम्बानि कथं न स्थिता-

नि ?। यतस्तत्राऽसंख्याता उद्धारा जाताः श्रूयन्ते, तेनाष्टापदे कस्य-सांनिध्यं, शत्रुञ्जये च कस्य न ?, यदेतावान् भेद इति व्यक्तया प्रसाध्यमिति । उत्तरम्-अष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारितप्रासादादीनां स्थानस्य निरपायत्वाद्, देवादिसांनिध्यात् च "केवइयं पुण कालं आययणं अवसिज्झिस्सइ ?। तओ तेण भगवया भणिअं-जाव इमाओ ओसप्पिणि त्ति मे केवलिजिणाण अंतिए सुयं" इत्यादि वसुदेवहिण्ड्यक्षरसद्भावाच्चाव्ययावदवस्थानं युक्तिमदेव। शत्रुञ्जये तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधदेवादिसांनिध्याभावाच्च, भरतकारितप्रासादादीनामव्ययावदवस्थानाभाव इति संभाव्यते । तत्त्वं तु तत्त्वविद्वेद्यमिति । ही०४ प्रका० । किञ्च-अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता ?, कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति ?, विष्णुऋषिगणिप्रश्नः। तदुत्तरम्-अत्र अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा श्रीऋषभदेवशिष्येण कृतेति श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यमध्ये कथितमस्तीति । (ही०) अष्टापदगिरौ स्वकीयलब्ध्या ये जिनप्रतिमां वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगामिन इत्यक्षराणि सन्ति, तथा च सन्ति ये विद्याधरयमिनस्तथा राक्षसवानरचारणभेदभिन्ना अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तुं शक्तास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा का लब्धिः?, यया तत्र गम्यते, तथा गौतमादिवत्तद्भवसिद्धिगामिनो भवन्तीति । तथाऽष्टापदगिरौ ये तपःसंयमोत्थलब्ध्या यात्रां कुर्वन्ति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ताक्षरानुपलम्भात् । ही० १ प्रका० ।

अट्ठावयवाइ (ण्)-अष्टापदवादिन्-पुं० । इन्द्रभूतिना सह वीरजिनसमीपं समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अट्ठावीस-अष्टाविंशति-स्त्री० । अष्टाऽधिका विंशतिः । अष्ट च विंशतिश्चाऽष्टाविंशतिः । ' अट्ठावीस ' अष्टाधिकविंशतिसंख्यायाम्, "तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं" जं०१ वक्ष० ।

अट्ठाह-अष्टाह-न० । अष्टानामह्नां समाहारे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ० ।

अट्ठाहिया-अष्टाह्निका-स्त्री० । अष्टानामह्नां समाहारोऽष्टाहम्, तदस्ति यस्यां महिमायां साऽष्टाह्निका । महिमामात्रे, व्युत्पत्तेः प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । ज्ञा०१ श्रु०८ अ० । अष्टदैवसिक्यां च । "अट्ठाहिया य महिमा, सम्मं अणुबंधसाहिगा केइ" पञ्चा० ८ विव० । आ० म० प्र० । (अष्टाह्निकाया रथयात्रायाः स्वरूपम् 'अणुजाण' शब्दे वक्ष्यते)

अट्ठि-अस्थि-न० । अस्यते । अस-क्थिन् । "ठोऽस्थिविसंस्थुले" ॥८।२।३२॥ इति संयुक्तस्य थस्य ठः । प्रा० । कीकसे, प्रश्न०१ आश्र० द्वा० । औ० । कुलके, आचा०२ श्रु०१ अ०८ उ० । कुल्ये पञ्चमे धातौ, तं० । स्था० । सास्थिके सरजस्के कापालिके, "अट्ठी विज्जा कुच्छिकृतभिक्खू" बृ० १ उ० ।

अट्ठि (न्)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थोऽस्याऽस्तीत्यर्थी । प्रयोजनवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अट्ठिअगाम-अस्थिकग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, तत्र वीरजिनः समवासरत् । तदेतत्सर्वमुक्तम्—

'अस्थिकग्राम' इत्याख्या, कथं जातेति कथ्यते ।
ग्रामोऽयं वर्धमानोऽन्ते, वेगवत्यस्य नद्यभूत् ॥ १२ ॥
भाण्डादिपण्यपूर्णाना-मनसां पञ्चभिः शतैः ।
धनदेवो वणिक् तत्रा-यातः प्रेक्ष्य महानदीम् ॥ १३ ॥
महोक्षमेकं सर्वेषु, शकटेषु नियोज्य सः ।
वामतो दक्षिणेनान्यां-स्तां नदीमुदतारयत् ॥ १४ ॥
अतिभाराकर्षणेन, सोऽथान्तस्त्रुटितो वृषः ।
तस्य छायां विधायाथ, ग्राम्यानाकार्य तत्पुरः ॥ १५ ॥
चारिवारिकृते तस्य, तेषां द्रविणमार्पयत् ।
पाल्योऽयमिति चोक्त्वा तान्, साश्रुदृक् स वणिग् ययौ ॥१६॥
ग्राम्या विभज्य तद् द्रव्यं, सर्वे जगृहिरे स्वयम् ।
तस्यासौ निर्दयो ग्राम-श्चारिं वारि न कोऽप्यदात् ॥ १७ ॥
आस्तां किंचित्करिष्यन्ति, दयया मे प्रतिक्रियाम् ।
मत्स्वामिद्रव्यद्रव्येणा-प्येते किंचिन्न कुर्वते ॥ १८ ॥
ततः प्रद्वेषमापन्न-स्तद्ग्रामोपरि सत्वरः ।
सोऽकामनिर्जरायोगात्, क्षुत्तृषाबाधितो मृतः ॥ १९ ॥
यक्षोऽभूत् शूलपाण्याख्यो, ग्रामेऽत्रैव पुरो वने ।
उपयुक्तोऽथ सोऽज्ञासीत्, तद्वपुः स्वं ददर्श च ॥ २० ॥
मारिं तद्ग्रामलोकस्य, स विचक्रे ततः क्रुधा ।
तल्लोका मर्त्तुमारेभि-ऽभूवंस्तैरस्थिसंचयाः ॥ २१ ॥
कारितैरपि रक्षाद्यै- र्मारिर्नोपशशाम सा ।
ग्रामान्तरेष्वगुर्लोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥
अचिन्तयंस्ते तत्रस्थैः, कोऽप्यस्माभिर्विराधितः ।
यामस्तत्रैव तद्ग्रामे, तत्प्रसादनहेतवे ॥ २३ ॥
अथागतास्तदर्थं ते, प्रचक्रुर्विपुलां बलिम् ।
समन्ततः क्षिपन्तोऽथ, ग्रामस्याऽऽयुधकमुखाः ॥२४॥
देवो वा दानवो वाऽपि, यः कश्चित्कुपितोऽस्ति नः ।
शरणं नः स एवास्तु, क्षाम्यत्वागः प्रसीदतु ॥ २५ ॥
यक्षोऽन्तरिक्षे सोऽवादीत्, क्षामणां कुरुताधुना ।
वणिग्दत्तधनेनापि, तदा गोर्न तृणाद्यदुः ॥ २६ ॥
बलीवर्दः स मृत्वाऽहं, शूलपाणिः सुरोऽभवम् ।
तेन वैरेण वः सर्वान्, मारयामि ततोऽधुना ॥ २७ ॥
तेऽथ तं भक्तिनम्राङ्गाः, दैन्यात् प्रज्ञपयन्निदः ।
कृतोऽस्माभिरयं मन्तुः, शान्त्यै कर्त्तव्यमादिश ॥ २८ ॥
तद्दैन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-नूचे मन्मारितास्थिभिः ।
कृत्वा कूटं तदुपरि, कुरुतायतनं मम ॥ २९ ॥
मध्ये विधाय मे मूर्त्तिं, बलीवर्दस्य चैकतः ।
पूजयेयुर्मम स्येयु-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥
तथैव विदधुस्ते च, मारिश्चापि न्यवर्त्तत ।
इन्द्रशर्मा भृतिं दत्त्वा, ग्राम्यैस्तस्यार्चकः कृतः ॥ ३१ ॥
वीक्ष्यास्थिकूटं पथिकै-रस्थिग्राम इतीरितः ।
' अस्थिकग्राम ' इत्याख्या ग्रामस्यास्य तदाऽभूत् ॥ ३२ ॥
आ० क० । कल्प० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । स्था० ।

अट्ठिकच्छव-अस्थिकच्छप-पुं० । अस्थिबहुले कच्छपभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अट्ठिकठिण-अस्थिकठिन-त्रि० । अस्थिभिः कठिनम् । कीकशैरमृदुनि, तं० ।

कठिनास्थिक-त्रि० । कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथा । अमृदुकीकशके, " अट्ठियकढिणे सिरण्हारुबंधणे " तं० ।

अट्ठिग-अस्थिक-न० । हड्डुके, प्रश्न०३ आश्र० द्वा० । कापालिके, पुं० । व्य० २ उ० । अबद्धबीजे अनिष्पन्ने फले, न० । बृ० १ उ० ।

आ (अ) र्थिक-न० । अर्थ्यत इत्यर्थो मोक्षः, स प्रयोजनमस्येत्यार्थिकम् "तदस्य प्रयोजनम्" इति ठक् । अथवाऽर्थः स एव प्रयोजनरूपोऽस्यास्तीति अर्थिकम् "अत इनिठनौ" ५।२। ११५ । इति ठन् । दश० १ अ० । मोक्षोत्पादके, " एसणा क्ष-

जइस्संति, विउलं अट्ठियं सुयं " उत्त० १ अ० । अभिलाषिणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अट्ठिग (य) कट्ठुट्ठिय–अस्थिककाष्ठोत्थित–त्रि० । अस्थिकान्येव काष्ठानि, काठिन्यसाधर्म्यात्, तेभ्यो यदुत्थितं तत्तथा। कठिनकीकशेभ्यः समुत्थिते देहे, जं० ६ श० ३३ उ० ।

अट्ठिचम्मसिरत्ता–अस्थिचर्मशिरावत्ता–स्त्री० । अस्थीनि च चर्म च शिराश्च स्नायवो विद्यन्ते यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता। अस्थिचर्मशिरामात्रशालित्वे, (धनानगारस्य) 'अट्ठिचम्मसिरत्ताए पण्णायंति णो चेव णं मंससोणियत्ताए धणं अणगारं" अस्थिचर्मशिरावत्तया प्रज्ञायेते तत्पादावेताविति, न पुनर्मांसशोणितवत्तया, तयोः क्षीणत्वादिति। अणु० २ वर्ग० ।

अट्ठिचम्मावणद्ध–अस्थिचर्मावनद्ध–त्रि० । अस्थीनि चर्मावनद्धानि यस्य सोऽस्थिचर्मावनद्धः । कृशत्वाच्चर्मलग्नकीकशके, " अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडिभूए किसे धम्मणिसंतए यावि होत्था " जं० २ श० १ उ० ।

अट्ठिजुद्ध–अस्थियुद्ध–न० । योधप्रतियोधयोरस्थिभिः संप्रहारे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्ठिज्झाम–अस्थिध्याम–न० । अस्थि च तद् ध्यामं चाग्निना श्यामलीकृतम् । आपादितपर्यायान्तरेऽस्थनि, भ०५ श०२ उ०।

अट्ठिदामसय–अस्थिदामशत–न० । हड्डमालाशते, तं० ।

अट्ठिधमणिसंताणसंतय–अस्थिधमनिसन्तानसन्तत–त्रि०। अस्थिधमन्यः सन्तानेन परम्परया सन्ततं व्याप्तं यत्तदस्थिधमनिसन्ततम् । अस्थधमनिपरम्परया व्याप्ते, "अट्ठिधमणिसंताणसंतयं सव्वओ समंता परिसमंतं च " तं० ।

अट्ठिभंजण–अस्थिभञ्जन–न०। कीकशभञ्जनरूपे शरीरदण्डे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अट्ठिमिंजा–अस्थिमिञ्जा–स्त्री० । अस्थिमध्यरसे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । तं० ।

अट्ठिमिंजाणुसारि(ण्)–अस्थिमिञ्जानुसारिन्–त्रि०। अस्थिमिञ्जान्तधातुव्यापके, स्था० ६ ठा० ।

अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्त–अस्थिमिञ्जाप्रेमानुरागरक्त–त्रि० । अस्थीनि च कीकशानि मिञ्जा च तन्मध्यवर्तिधातुरस्थिमिञ्जास्ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भादिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा। अथवाऽस्थिमिञ्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा। भ० २ श० ५ उ०। सम्यक्त्ववासितान्तःसु, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । "अयमाउसो णिग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे" इत्येवमुल्लेखेन सम्यक्त्विषु, ज्ञा० ५ अ० । दशा० । दर्श० । रा० ।

अट्ठिय–अर्थित–त्रि० । वाञ्छिते, उत्त० १ अ० ।

अस्थित–त्रि० । अव्यवस्थिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अट्ठियकप्प–अस्थितकल्प–पुं० । क० स० । अनवस्थितसमाचारे, पञ्चा० ।

अस्थितकल्पाभिधानायाह-

दसु अट्ठिओ उ कप्पो, एसो मज्झिमजिणाण विण्णेओ ।
णो सययसेवणिज्जो, अणिच्चमेरासरूवो त्ति ॥ ७ ॥

षट्सु वक्ष्यमाणरूपेषु पदेषु, अस्थितस्तु अनवस्थितः, पुनः कल्पः समाचारः, (एसो त्ति) एतेभ्य एव दशभ्यः पदेभ्यो, मध्यानां मध्यमजिनानां, तत्साधूनामित्यर्थः; विज्ञेयो ज्ञातव्यः । कुतोऽस्थितोऽयमित्याह—नो नैव, सततसेवनीयः सदाविधेयो, दशस्थानकापेक्षया । एतदपि कुत इत्याह—अनित्यमर्यादास्वरूपोऽनियतव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा । ते हि दशानां स्थानानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति भाव इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

षट्स्ववस्थितः कल्प इत्युक्तमथ तानि दर्शयन्नाह—

आचेलक्कुद्देसिय–पडिक्कमणरायपिंडमासेसु ।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

आचेलक्योद्देशिकप्रतिक्रमणराजपिण्डमासेषु प्रतीतेषु विषयभूतेषु , पर्युषणाकल्पे च वर्षाकालसमाचारे, चः समुच्चये । अस्थितकल्पोऽभिहितार्थो (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एषामपि शेषपदापेक्षया स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह–

सेसेसु ट्ठियकप्पो, मज्झिमगाणं पि होइ विण्णेओ ।
चउसु ठिता छसु अठिता, एत्तो च्चिय भणियमेयं तु ॥९॥

शेषेषु तु प्रागुक्तेभ्यः षड्भ्योऽन्येषु पुनः शय्यातरपिण्डादिषु, स्थितकल्प उकार्थः, मध्यमकानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमाणां, भवति स्याद्, विज्ञेयो ज्ञातव्यः। उक्तमेवार्थमागमेन समर्थयन्नाह-चतुर्षु स्थानकेषु शय्यातरपिण्डादिषु, स्थिताः परिहारादितोऽवस्थिताः, षट्सु आचेलक्यादिषु अस्थिता अनवस्थिताः कादाचित्कपरिहारादितो मध्यमजिनसाधवः, अत एव पूर्वोक्तार्थवशादेव, भणितमुक्तमागमे, एतत् इदम्, अनन्तरोक्तम् । तुशब्दः पूरणे, इति गाथार्थः ॥९॥

शेषेषु स्थितः कल्प इत्युक्तमथैतदेव स्पष्टयन्नाह-

सिज्जायरपिंडम्मि य, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
कितिकम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणं पि ।१०।

शय्यातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्भूतब्रह्मचर्यत्वेन चतुःसंख्यानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्यामम्, तत्र च, पुरुष एव ज्येष्ठः पुरुषज्येष्ठस्तत्र च, कृतिकर्मणश्च वन्दनकस्य; चशब्दाः समुच्चयार्थाः । करणे विधाने, स्थितकल्पः प्रतीतः, मध्यमानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमाणामिति गाथार्थः ॥१०॥ पंचा० १७ विव० । पं० भा० । पं० चू० । ('अचेल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८ पृष्ठे अस्थितकल्पो व्यक्तविस्तरः)

..........अहुणा वोच्छामि अट्ठितं कप्पं ।
संखेवपिंडियत्थं, जह भणियमणंतणाणीहिं ॥
वत्थे पाए गहणे, उक्कोसजहण्णगम्मि भणिओ तु ।
ठियमट्ठिते विसेसो, परूविता सत्त कप्पम्मि ॥
वत्थाणि य पाताणि य, मज्झिमतित्थंकराण कप्पम्मि ।
वत्थप्पमाण वेगे, अट्ठियकप्पो समक्खाओ ॥
मोल्लगरुयं पि वत्थं, अट्ठारसपत्तं रूवगजहण्णं ।
एत्तो य सतसहस्सं, उक्कोसमोल्लं तु णायव्वं ॥
जहणग अट्ठारसगं, वत्थं पुण साहुणो अणुण्णातं ।
एत्तो अतिरित्तं पुण, णाणुण्णातं भवे वत्थं ॥
जिणथेराणं कप्पं, अहुणा वोच्छामि आणुपुव्वीए ।

जं जत्थ जहा णिवयति, समासतो तं जहा सुणसु ॥
जिणथेराणं कप्पं, जम्हा उट्ठितंम्मि अट्ठिए चेव ।
ठितअट्ठितकप्पाणं, तम्हा अंतग्गता एते ॥
जो तु विसेसो एत्थं, तं तु समासेण णवरि वक्खामि ।
जिणथेराणं कप्पे, जिणकप्पे ता इमं वोच्छं ॥
दुयसत्तगे तियचउ–ककेगस्स अच्छच्छएगछेदेणं ।
अवि होज्ज कालकरणं, पुणरावत्ती ण वि य तेसिं ॥
पिंडेसणा उ सत्त उ, हवंति पाणेसणा उ सत्तेव ।
चउ सेज्ज वत्थ पाते, तिसे ते चउकगा होंति ॥
दोल्लादिमाउ सत्तसु, अवणेउं सेसमायं च ।
अच्छद्द होति छेदो, दो दो अवणे चउक्केसु ॥
गेएहंति उवरिमासुं, तत्थ अवि घेत्तु अप्रतरियाए ।
हेट्ठिला पुण गेएहति, जदि विकरे कालकिरियं तु ॥
अणजिग्गहेण णविता, गिएहंति विट्ठी तु एस जिणकप्पे ।
अहुणा उ थेरकप्पो, वोच्छामि विहिं समासेणं ॥
गहणे चउव्विहम्मि, वितिए गहणं तु परमजत्तेणं ।
जं पाणवीयरहियं, हवेज्ज तरमाणए सोहीं ॥
गहणं चउव्विहंती, वत्थं पातं च सेज्ज आहारो ।
एतेसिं असतीए, गहणं पढमं तु बीयस्स ॥
वितियं पातं असति, किं कारणं तस्स गहण पढमं तु ।
तेण वि ण वोसिपडिमा–गिहिभायणभोगहाणी य ॥
अहवा चउव्विहं तु, असणादी तत्थ ओज्जगहणं तु ।
तत्थ तु वितियं पाणं, तस्स तु गहणं पढमताए ॥
असतीए फासुयस्स, वसहिए एकं ठविय सहिए वा ।
किं कारण तेण विणा, आसुं पाणक्खओ होज्जा ॥
तरमाणे गेएहंती, सुच्छं अतरो प्रेछेय संथरे ।
संथरं तो तु गेएहति, पावति सट्ठाणपच्छित्तं ॥
सेत्तं दुए दसए व, अणेण ठाणेण वा भत्तगहणं ।
एत्तो त्ति गादिरित्तं, उग्गमउप्पायणेसणासुद्धं ॥
जणियं ति कप्पति त्ती, तस्स असतीए असुद्धं पि ।
एसो तु थेरकप्पो, पं० भा० ॥

इयाणिं अट्ठियकप्पो । तत्थ गाहा-'वत्थे पाए' त्ति । वत्थाणि सयसहस्समोल्लाणि वि घेप्पंति, मज्झिमाणं तित्थगराणं, सेसं पुण जं ठियकप्पियाणं भणियं तं भाणियव्वं । जहा-सत्तविहकप्पे ताओ चेव, गओ एस ठियकप्पो । इयाणिं जिणकप्पो । तत्थ गाहा-'दुयसत्तगे' त्ति । सत्त पिंडेसणाओ, सत्त पाणेसणाओ अहवा पिंडचउग्गहपडिमाओ य, तियचउक्के सेज्जपडिमाओ य ४ वत्थपडिमाओ ४ पायपडिमाओ ४ एयासिं अच्छच्छेओ दो आइ उवणेऊणं सेसाहिए संति आहाराइ एयासु एसमाणा जइ न लभंति तो अविकालकिरिया होज्जा, न य हेट्ठिल्लासु गेएहंति, एस जिणकप्पो । इयाणिं थेरकप्पो । गाहा-'गहणे चउव्विहम्मि' ति । वत्थं पायं आहारो सेज्जा चउएहावि असइ, पढमं पायं घेप्पइ, किं कारणं?, तेण वि पडिमा चेव, अहवा असणाई पढमं, तत्थ विइयं पाणगहणं परमपयत्तेणं मयमाणो, पढमं संथरमाणो तसपाणबीयरहिया कंदमूलरहिए गेएहइ, अंतरंतो पुण तसपाणसहिए वा बीयकंदमूलसहिए वा गेएहइ, किं कारणं?, तेण विणा आसुं पाणक्खओ होज्जा, तरमाणो सुद्धं गेएहेज्जा, अतरंतो पेल्लेज्जा । गाहा-'सत्त दुय तिथि पिंडेसणपाणेसणाओ दसए' त्ति । दस एसणादोसा । 'अणेगठाणे त्ति' उग्गमाइअं न दस सोलस । 'एत्तो त्ति' गादिरित्तं नाम उग्गमउप्पायणएसणासुद्धं, तव्विवरीयं जं एतेहिं चेव उग्गमाईहिं असुद्धं, तं गेएहेज्जा गच्छसारक्खणहेउं, गच्छवासीहिं भणियं नामकारणे कप्पइ, इयरहा न कप्पइ । एस थेरकप्पो । पं०चू० । (अस्थितकल्पप्रसङ्गाद् जिनस्थविरकल्पावप्युक्तौ)

अट्ठियप्प (ण्) अस्थितात्मन्–त्रि० । चञ्चलचित्ततयाऽस्थिरस्वभावे, " अट्ठियप्पा भविस्ससि " उत्त० २२ अ० ।

अट्ठिसरक्ख–अस्थिसरजस्क–पुं० । कापालिके, व्य० ७ उ० ।

अट्ठिसुहा–अस्थिसुखा–स्त्री० । अस्थ्नां सुखहेतुत्वादस्थिसुखा । औ० । अस्थ्नां सुखकारिण्यां संबाधनायाम्, कल्प० ।

अट्ठुत्तर–अष्टोत्तर–त्रि० । ६ त० । अष्टाभिरधिके, "अट्ठुत्तर सयसहस्सं पीइदाणं दलयंति " अष्टोत्तरं शतसहस्रं सङ्कं रजतस्य तुष्टिदानं ददाति स्मेति । औ० ।

अट्ठुत्तरसयकूड–अष्टोत्तरशतकूट–पुं० । शत्रुञ्जयपर्वते, तस्य तावत्प्रमाणकूटत्वात् । ती० १ कल्प० ।

अट्ठुप्पत्ति–अर्थोत्पत्ति–स्त्री० । अर्थस्योत्पत्तिर्यस्मात् । व्यवहारे; अर्थो व्यवहारादुत्पद्यते इति तस्य तथात्वम् । व्य० २ उ० ।

अट्ठुस्सास–अष्टोच्छ्वास–पुं० । पञ्चनमस्कारे, "अट्ठुस्सासे अहवा अणुग्गहाई उड्डाएज्जा " पं० व० २ द्वा० ।

अट्ठुस्सेह–अष्टोत्सेध–त्रि० । अष्टौ योजनान्युत्सेध उच्छ्रयो येषां ते तथा । अष्टयोजनोच्चे, "चक्कट्ठपइट्ठाणा अट्ठुस्सेहा य " स्था० ६ ठा० ।

अड–अट–धा० गतौ, । भ्वादि०, सक०, पर०, सेट् । वाच० ।
'अडंति संसारे ' प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।
अट–पुं० लोमपक्षिभेदे, जीव० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।
अवट–पुं० । अव–अटन् । " यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवेवः " ८ । १ । २७१ । इति सूत्रेण अन्तर्वर्त्तमानस्य वस्य लोपः । कूपे , प्रा० ।

अडउज्झिअं–देशी-पुरुषायिते , विपरीतरते च । दे० ना० १ वर्ग ।

अडज्झ–अदाह्य–त्रि० । अग्निकारादिना भस्मयत्करणीये, "तओ अच्छेज्जा पण्णत्ता । तं जहा–समए पएसे परमाणु" स्था०२ ठा० ४ उ० । " अरुज्झकुच्छि अट्ठसुवण्णे य गुणा भणिया " दश० १० अ० ।

अडड–अटट–न० । चतुरशीतिलक्षैर्गुणितेऽटटाङ्गे, स्था० २ ठा० ४ उ० । " चउरासीइं अडडंगसयसहस्साइं से एगे अडडे " अनु० । जी० । भ० । जं० । कर्म० ।

अडडंग–अटटाङ्ग–न० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते त्रुटिते, "चउरासीइं तुडियसयसहस्साइं से एगे अडडंगे" अनु० । वाचनान्तरमतेन चतुरसीतिलक्षगुणिते महात्रुटिते, ज्यो० २ पाहु० । भ० ।

अमण–अटन–न०। चरणे, गमने च। स्था० ६ ठा०। आम०। घ०।

अमणी–देशी–मार्गे, दे० ना० १ वर्ग।

अमपल्लाण–देशी–न०। लाटेषु स्वनामप्रसिद्धेऽन्यत्र थिल्लिरिति ख्याते वाहनभेदे, जी० ३ प्रति०।

अममाण–अटत्–त्रि०। गच्छति, "अणाढसो संयच्छरमणांसि अममाणे " आ० म० प्र०।

अमया–देशी–असत्याम, दे० ना० १ वर्ग।

अमयणा–देशी–असत्याम, दे० ना० १ वर्ग।

अडयाल–अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्–त्रि०। अष्ट च चत्वारिंशच्च, अष्टाधिका वा चत्वारिंशत्। (अडतालिस) द्व्यूनपञ्चाशति, आव०।

अमयाल–देशी–प्रशंसायाम, प्रज्ञा० २ पद। जं०। स०। जी०। प्रव०।

अमयालकयवणमाल–अष्ट(ष्टा) चत्वारिंशत्कृतवनमाल–त्रि०। अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्ना विच्छित्तयः कृता वनमाला येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि। अष्टचत्वारिंशद्विधविच्छेदवद्वनमालायुतेषु, जी० ३ प्रति०।

अमयालकृतवनमाल–देशी–' अडयाल ' शब्दो देशीवचनत्वात्प्रशंसावाचीत्यनुपदमेव निरूपितम्। तेन कृता वनमाला येषु तानि। प्रशस्तकृतवनमालेषु, जं० ३ प्रति०। प्रज्ञा०।

अडयालकोट्ठगरइय–अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचित–त्रि०। अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविच्छित्तिकलिताः कोष्ठका अपवरका रचिताः स्वयमेव रचनां प्राप्ता येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचितानि। सुखादिगणे दर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः। " अडयाल " शब्दो देशीवचनत्वात्प्रशंसावाची वा। प्रज्ञा० २ पद। अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविचित्रच्छन्दोगोपुररचितेषु, " अडयालकोट्ठरइया अमयालकयवणमाला " स०। जं०। जी०।

अडवि–अटवि (वी)–स्त्री०। अटन्ति मृगयार्थिनो यत्र। अट्–अवि, वा ङीप्। कान्तारे, स्था० ५ ठा० २ उ०। अरण्ये, तं०।

तद्भेदाः सव्याख्याकाः–

" अडविं सपच्चवायं, वोलेउं देसिओवएसेणं।
पाविंति जहिट्ठपुरं, भवाडविं पी तहा जीवा ॥ १ ॥
पाविंति निव्वुइपुरं, जिणोवइट्ठेण चेव मग्गेणं।
अडवीइ देसिअत्तं, एवं नेअं जिणिंदाणं ॥ २ ॥

इहाटवी द्विधा–द्रव्याटवी, भावाटवी च। तयोः कथा—

इहास्ति हास्तिकाश्वीय-रथपादातिसंकुलम्।
वसन्तपुरमुर्वीस्थ-मध्यधःकारि यद्दिवः ॥ १ ॥
सार्थवाहो धनस्तत्र, गन्तुं देशान्तरं प्रति।
प्रस्थितः कारयामास, घोषणां पुरि सर्वतः ॥ २ ॥
यः कोऽप्यस्ति यियासुः स, सर्वोऽप्येतु मया सह।
मिलितानां च सर्वेषा-माख्यन्मार्गगुणागुणान् ॥ ३ ॥
तत्रैकः सरलोऽन्यस्त्वन्यो, वक्रस्तेन गम्यते।
मनाक् सुखेन किं त्विष्ट-पुरावाप्तिश्चिरात्क्रमेण ॥ ४ ॥
यः पुनः सरलः पन्था, अन्ते मिलति सोऽपि च।
गम्यते सत्वरं तेन, कष्टेन महता परम् ॥ ५ ॥
तत्राद्यितोऽपि मार्गे स्तः, सिंहव्याघ्रौ चिर्जीवणौ।
भीतानां वक्रमार्गाणां, तावनर्थाय नान्यथा ॥ ६ ॥
दृष्टपूर्वदर्शनं यावत्, तावत्तौ चानुधावतः।
तत्रैके तरवः सन्ति, पत्रपुष्पफलाकुलाः ॥ ७ ॥
तच्छायास्वपि विश्रान्ति-र्न कार्या मृत्यवे हि ताः।
ये जीर्णशीर्णपर्णाढ्याः, स्थेयमीषत्तदाश्रये ॥ ८ ॥
मनोज्ञरूपलावण्या, मनोहरगिरो नराः।
भूयांसो मार्गपार्श्वस्था–स्तत्राऽऽह्वयन्ति वत्सलाः ॥ ९ ॥
श्रव्यं न तद्वचो मांच्या, न मच्छिन्ना कदाचन।
दावाग्निः प्रज्वलन् मार्गे, विध्याप्यः सततोद्यतैः ॥ १० ॥
अविध्यातः पुनः सर्वे, नियमाग्निर्दहत्यसौ।
अग्रेऽतिदुर्गः शैलोऽस्ति, सोपयोगैः स लङ्घ्यते ॥ ११ ॥
अन्यथा लङ्घने तु स्यात्, स्खलनाद्धिर्मृतिः क्वचित्।
पुरस्तादस्ति गुपिल–गह्वरा वंशजालिका ॥ १२ ॥
सा विलङ्घ्या झगित्येव, तत्रस्थानां महापदः।
अल्पीयानास्ति गर्तोऽग्रे, सर्वदा तत्समीपगः ॥ १३ ॥
द्विजो मनोरथाभिख्यो, वक्त्येनं पूरयेति सः।
वचस्तस्यावमन्तव्यं, पूर्यः स्तोकोऽपि नैव सः ॥ १४ ॥
वर्द्धते पूर्यमाणः स, खनित्रैः खन्यमानवत्।
तथा पञ्चप्रकाराणि, स्निग्धमुग्धानि वर्णतः ॥ १५ ॥
न प्रेक्ष्याणि न भक्ष्याणि, किंपाकानां फलानि च।
द्वाविंशतिः करालास्तु, वेताला विरूवन्ति च ॥ १६ ॥
न गण्यास्ते तथासारा, आहारास्तत्र दुर्लभाः।
द्वौ यामौ निश्यपि स्वापः, सर्वदाऽपि प्रयाणकम् ॥ १७ ॥
गच्छद्भिरेवमश्रान्त–मटवी लङ्घ्यते लघु।
प्राप्यते पुरमिष्टं च, तत्र चाऽऽसाद्यते सुखम् ॥ १८ ॥
तत्र केचित् समं तेन, प्रवृत्ताः सरलाध्वना।
इतरेण पुनः केचित्, स प्रशस्तेऽह्नि निर्ययौ ॥ १९ ॥
पृष्ठानुगामिलोकानां, शिलादौ वर्त्म वेदितुम्।
गतागताध्वमानं च, लिखन् वर्णान् जगाम सः ॥ २० ॥
तन्निर्देशकृतो येऽत्र, लिखितानुसृताश्च ये।
ते सर्वेऽपि समं तेन, संप्राप्ताः पुरमीप्सितम् ॥ २१ ॥
निषिद्धकारिणो ये च, याता यास्यन्ति वा न ते।
जिनेन्द्रः सार्थवाहोऽत्र, घोषणा धर्मदेशना ॥ २२ ॥
पान्थाः संसारिणो जीवा, भवो जाताटवी पुनः।
ऋजुमार्गः साधुधर्मो, गृहिधर्मस्ततोऽपरः।
सिंहव्याघ्रौ रागद्वेषौ, वासनार्थानुगामिनौ ॥ २३ ॥
वसत्यः स्त्र्यादिसंसक्ताः, सद्वृक्षच्छायया समाः।
जरद्वृक्षोपमानास्तु, निरवद्याः प्रतिश्रयाः ॥ २४ ॥
पार्श्वस्थाद्याः पुनः पार्श्व–स्थाह्वातृपुरुषोपमाः।
ज्वलद्दावानलः क्रोधो, मानो दुर्गमहीधरः ॥ २५ ॥
वंशजालिः पुनर्माया, लोभो गर्तस्तु दुर्भरः।
फलप्रायाश्च विषया, वेतालास्तु परीषहाः ॥ २६ ॥
दुर्लभं वैषणीयान्नं, ध्यानं द्वौ प्रहरौ निशि।
प्रयाणे तूद्यमो नित्यं, मोक्षश्चेप्सितपत्तनम् ॥ २७ ॥
शिलादौ वर्णलिखनं, सिद्धान्तग्रन्थनिर्मितिः।
पश्चाद्गामिमुनीन्द्राणां, गतगम्याध्वसंविदे ॥ २८ ॥
इष्टपूःप्राप्तिसाहाय्या–ल्लभ्यते सार्थपो यथा।
एवं मोक्षपुरावाप्त्यु–पकारी नम्यते जिनः ॥ २९ ॥ आ० क०।

अडविजम्मण–अटविजन्मन्–न०। कान्तारजन्मलक्षणे दुःखे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०।

अडविदेसदुग्गवासि(ण्)–अटविदेशदुर्गवासिन्-पुं०। अटवीदेशे जलस्थलदुर्गरूपेषु दुर्गेषु वसति चौरादौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अडवि (वी) वास–अटवि (वी) वास-पुं०। अरण्यवसने, " छविभाअप्पया असरणं अडवीवासं उवेति " प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अडसट्ठि–अष्ट (ष्टा) षष्टि–स्त्री०। अष्ट च षष्टिश्च, अष्टाधिका वा षष्टिः । (अडसठ) अष्टाधिकषष्टिसंख्यायाम्, " विमलस्स णं अरहओ अडसट्ठिं समणसाहस्सीओ" स०६८ सम०।

अडाडो–देशी-तथेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अडिल्ल–अटिल-पुं०। चर्मपक्षिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी० ।

अडो–देशी-कूपे, दे० ना० १ वर्ग ।

अडोलिका–अटोलिका-स्त्री०। यवनाम्नो राज्ञः पुत्र्यां गर्दभराजस्य भगिन्याम्, बृ० १ उ० ।

अड्डक्ख–क्षिप-धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, अनिट् "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख"० ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इति सूत्रेण अड्डक्खादेशः । अड्डक्खइ, क्षिपति । प्रा० ।

अड्डिया–अड्डिका–स्त्री०। उपदेशमात्ररूपे शास्त्रानिबद्धे मल्लानां करणविशेषे, विशे० । आ० म० ।

अड्ढ–अर्ध-न०। ऋध-घञ् । "अर्द्धर्द्धिमूर्धार्धेऽन्ते वा" ॥ ८ । २ । ४१ ॥ इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा ढः । प्रा० ।

आढ्य–त्रि० । आ-ध्यै-क; पृषो० । युक्ते, विशिष्टे च । वाच० । अड्ढा परिपूर्णे, नि० । औ० । धनधान्यादिभिः परिपूर्णे, भ० २ श० ५ उ० । समृद्धे, भ० ७ श० ३२ उ० । स्था० । धनवति, स्था० ७ ठा० । महति च । संथा० ।

अड्ढअक्कली–देशी–कट्यां हस्त (पाणि) निवेशे, दे० ना० १ वर्ग ।

अड्ढक्खेत्त–अर्धक्षेत्र–न०। अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्य चन्द्रेण सह योगमनुवत्सु नक्षत्रेषु, चं० प्र०। अर्द्धक्षेत्राणि नक्षत्राणि षट्। तद्यथा–उत्तराभाद्रपदा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराऽऽषाढा, रोहिणी, पुनर्वसु, विशाखा चेति। चं० प्र० १० पाहु० ।

अड्ढग–आढ्य–त्रि० । युक्ते , परिपूर्णे च । पंचा०१२ विव०। "संजमतवड्ढगस्स उ, अविगप्पेणं तहक्कारो " आ० म० द्वि० ।

अड्ढरत्त–अर्धरात्र–पुं०। अर्द्धं रात्रेः। अत्र समा० । निशीथे, "अड्ढरत्ते आगतो दारं मग्गइ " आ० म० द्वि० ।

अड्ढाइज्ज–अर्द्धतृतीय–त्रि०।ब० व०।अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयाः । अवयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः। (अढाई) सार्द्धद्वयोः, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । " अड्ढाइज्जंगुलमाहणमुस्सेहं " मं० । रा० । आ० म० ।

अड्ढाइज्जदीव–अर्द्धतृतीयद्वीप–पुं०। अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयाः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः। अर्द्धतृतीयद्वीपाः । जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धलक्षणे सार्द्धद्वीपद्वये, भ० ९ श० ३ उ० ।

अड्ढाइज्जदीवसमुद्दतदेक्कदेसभाग–अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभाग–पुं०। जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धद्वीपलवणसमुद्रकालोदधिसमुद्राणां विवक्षिते भागे, "साहारणं पडुच्च अड्ढाइज्जदीवसमुद्दतदेक्कदेसभाए होज्जा " भ० ९ श० ३ उ० ।

अड्ढापक्कंति–अर्द्धापक्रान्ति–स्त्री० । अर्द्धस्याऽसमप्रविभागरूपस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्यापक्रमणमपसरणं, यो यस्य तु द्व्यादिपदसङ्घातरूपस्यैकदेशस्योर्द्ध्वं गमनं यस्यां रचनायां सा समयपरिभाषयाऽर्द्धापक्रान्तिरुच्यते। इत्युक्तमिहार्द्धिमत्यां तपोरचनायाम्, विशे० ।

अड्ढेज्ज–आढ्यत्व–न० । धनपतित्वे, तस्य सुखकारणत्वात् सुखभेदे च । स्था० १० ठा० ।

आढ्येज्या–स्त्री०। आढ्यैः क्रियमाणा इज्या पूजा आढ्येज्या, प्राकृतत्वात् 'अड्ढेज्जं' ति । धनिकृतसत्कारे, स्था० १० ठा० ।

अड्ढोरुग–अर्द्धोरुक–पुं० । अर्धं ऊरुकाद् विभजतीति निरुक्तादर्द्धोरुकः साध्वीनामौपग्रहिकोपधिविशेषे, ध० ३ अधि० । "अड्ढोरुगो उ दोविहि वि गिण्हिउ छायए कडीभागं " अर्द्धोरुकोऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तकपट्टावुपरिष्टाद् गृहीत्वा सर्वं कटीभागमाच्छादयति । स च मल्लचलनाकृतिः केवलमुपरि ऊरुद्वये च कशाबद्धः । बृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० व० ।

अण–अव्य०। नञर्थे, "अण णाइं नञर्थे" । ८ । २ । १९० । एतौ नञर्थे प्रयोक्तव्यौ । "अण चिंतिअममुणंति" प्रा० ।

अण–अण–न० । कुत्सिते, कुत्सितत्वादणन्ति कुत्सितानि करणानि शब्दयन्ति; अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्वा। पापे, विशे० । आ० म० । अण धणेति दण्डकधातुः । अणति गच्छति तासु तासु योनिषु जीवोऽनेनेति । पापे, आ० म० द्वि० । भ० । शब्दकरणमात्यादिप्रदाने, तं०। अणन्त्यनेन जन्तुश्चतुर्गतिकं संसारामित्यणम् । कर्मणि, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। शब्दे, गतौ च । विशे० । अण रणेत्यादि दण्डकधातुः । अणन्त्यवाऽविकलहेतुत्वेनासातवेद्यं नरकाद्यायुष्कं शब्दयन्तीत्यणाः । क्रोधादिषु चतुर्षु कषायेषु, विशे० ।

अन–न० । एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादनन्तानुबन्धिषु क्रोधादिषु चतुर्षु कषायेषु, विशे० । "अण दस नपुंसित्थी–वेयं छक्कं च पुरिसवेयं च " विशे० । आ० म० प्र० ।

अनस्–न०। शकटे, अन इव अनः। शरीरे, तस्याऽन्तरात्मसारथिना प्रवर्तनीयत्वात् । जै० गा० ।

ऋण–न०। व्यवहारकदेयद्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु०१८ अ० । अष्टप्रकारे कर्मणि, उत्त० १ अ० । आव० ।

अणइ–अनति–अव्य० । अतीति अव्ययमतिक्रमार्थे, न अति अनति । अनतिक्रान्ते, तं० ।

अणइक्कमणिज्ज–अनतिक्रमणीय–त्रि० । व्यभिचारयितुमशक्ये, " अणइक्कमणिज्जाइं वागरणाइं " भ० १५ श० १ उ० ।

अणइप्पगम–अनतिप्रकट–त्रि० । अनतिप्रकाशे, ध० १ अधि० ।

अणइवत्तिय–अनतिपत्य–अव्य० । अनतिक्रम्येत्यर्थे, "अणइवत्तिय सव्वेसिं पाणाणं " आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

अणइवर–अनतिवर–न० । प्रधाने, न विद्यतेऽतिवरं यस्मात्तदनतिवरम् । सर्वश्रेष्ठे, औ० ।

अणइवरसोमचारुरूव–अनतिवरसोमचारुरूप–त्रि० । अतीव अतिशयेन सोमं दृष्टिसुभगं चारु रूपं येषां ते तथा । यद्वा -अतीति अव्ययमतिक्रमार्थे, न अति अनति; सौम्यं च तच्चारु च सौम्यचारु, सौम्यचारु च तद्रूपं च सौम्यचारुरूपम्, वरं च तत्सौ-

स्वचारुरूपं च वरसौम्यचारुरूपम् । अनतीति अनतिक्रान्तं वरसौम्यचारुरूपं येषां ते अनतिवरसौम्यचारुरूपाः । देवमनुष्यादिभिः स्वलावण्यगुणादिभिरजितरूपेषु, तं० । " तेणं मणुया अणइवरसोमचारुरूवा भोगुत्तमा " तं०। औ० ।

अणइवाएमाण—अनतिपातयत्—त्रि० । प्राणातिपातमकुर्वति, " अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा " आचा०१श्रु०८अ०३उ० ।

अणइविलंबियत्त—अनतिविलम्बितत्व—न० । सत्यवचनातिशये, रा० ।

अणइसंधाण—अनतिसन्धान—न० । न अतिसन्धानमनतिसन्धानम् । दर्श० । अवञ्चने, "भियगाऽणइसंधाणं सासयबुद्धी य जयणा य " पञ्चा० ७ विव० ।

अणं—देशी—ऋणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणंग—अनङ्ग—न० । नास्ति अङ्गमाकारो यस्य । आकाशे, चित्ते च । वाच० । अङ्गानि मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं च, तद् व्यतिरिक्तान्यनङ्गानि । कुचकक्षोरुवदनादिषु, पञ्चा० १ विव० । आहार्ये लिङ्गादौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । मोहोदयोद्भूततथाविधमैथुनाध्यवसायाख्ये कामे, आव० ६ अ० । स च पुंसः-स्त्रीपुंनपुंसकसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा, वेदोदयात् । तथा-स्त्रियोऽपि पुरुषनपुंसकस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । नपुंसकस्यापि-नपुंसकपुरुषस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । प्रव०६द्वा० । ध० । कामदेवे, पुं० । एका० कोश । आनन्दपुरे नगरे जितारिराजस्य विश्वस्तायां भार्यायां जाते पुत्रे, ग० २ अधि० । बृ० ।

अणंगकिड्डा (कीडा) —अनङ्गक्रीडा—स्त्री० । अनङ्गानि कुचकक्षोरुवदनादीनि तेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा । योनिमेहनयोरन्यत्र रमणे, पञ्चा० ३ विव० । आव० । अनङ्गो मोहोदयोद्भूतस्तीव्रो मैथुनाध्यवसायाख्यः कामो भण्यते, तेन तस्मिन् वा क्रीडा अनङ्गक्रीडा । समाप्तप्रयोजनस्यापि स्वलिङ्गेनाऽऽहार्यैः काष्ठपुस्तफलमृत्तिकाचर्मादिघटितप्रयोजनैर्योषिद्वाच्यप्रदेशासेवने, आव० ६ अ० । पञ्चा० । स्वलिङ्गेन कृतकृत्योऽपि योषितामवाच्यदेशं भूयो भूयः कुथ्नाति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्तनखकदर्थनादिप्रकारैश्च मोहनीयकर्मवशात्तथा क्रीडति यथा प्रबलो रागः समुज्जृम्भते इति तत्त्वम् । प्रव० ६ द्वा० । ध० । अनङ्गः कामस्तत्प्रधाना क्रीडा, परदारेषु अधरदशनाऽऽलिङ्गनादिकरणे, वात्स्यायनोक्तचतुरशीतिकरणासेवने च । ध० २ अधि० । अनङ्गक्रीडनमन्यत्र । पञ्चा०१ विव० । अयं च स्वदारसंतुष्टस्तृतीयश्चतुर्थो वाऽतिचारः श्रावकेण न समाचरितव्यः । अतिचारताऽस्य स्वदारेभ्योऽन्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादालिङ्गनादि व्रतमालिन्यादिति । उपा० १ अ० । ध० र० । श्रा० । अस्याद्यर्थक्रियालक्षणे रूप्यप्राप्तकामभेदे, प्रव० १६९ द्वा० । ' अग्रावर्के गा ह्यस्तां यस्याः साऽनङ्गक्रीडा ' इत्युक्तलक्षणे मात्रावृत्तभेदे, वाच० ।

अणंगपडिसेविणी—अनङ्गप्रतिसेविनी—स्त्री० । मैथुने प्रधानमङ्गं मेहनं भगश्च, तत्प्रतिषेधो ऽनङ्गम्, तेनाऽनङ्गेनाहार्यलिङ्गादिना, अनङ्गे वा मुखादौ, प्रतिसेवाऽस्ति यस्याः। अनङ्गं वा कामम्परापरपुरुषसंपर्कतोऽतिशयेन प्रतिसेवत इत्येवंशीला अनङ्गप्रतिसेविनी तथाविधवेश्यावत् आहार्यलिङ्गादिना, मुखादौ वा, बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायाम्; एतादृशी स्त्री गर्भं न धारयति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अणंगपविट्ठ—अनङ्गप्रविष्ट—न० । त० स० । स्थविरैर्जम्बूस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिबद्धे आवश्यकनिर्युक्त्यादौ श्रुतविशेषे, आ० म० प्र० । नं० । बृ० । विशे० । ('अंगपविट्ठ' शब्देऽत्रैव भागे ३७ पृष्ठेऽस्य विशेषस्वरूपमुक्तम्)

अणंगमंजरी—अनङ्गमञ्जरी—स्त्री० । पृथिवीभूरनराजस्य देव्यायां सुतायाम्, दर्श० ।

अणंगसेण—अनङ्गसेन—पुं० । सुवर्णकारभेदे, ' कुमारनन्दी ' इति तस्य नामान्तरम् । बृ० ४ उ० । (तत्कथा 'दसउर' शब्दे दर्शयिष्यते) ग० ३ अधि० । नि० । तं० ।

अणंगसेणा—अनङ्गसेना—स्त्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजातायां प्रधानगणिकायाम्, आ०चू० । नि० । अन्त० । आ० म० ।

अणंत—अनन्त—त्रि० । नाऽस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । निरन्वयनाशेनानश्यमाने, अपरिमिते, निरवधिके च । " अणंते निइए लोए सासए ण विणस्सति " नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं जयतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । न० । अक्षये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अपर्यवसाने, दर्श० । सूत्र० । नाऽस्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम् । केवलज्ञानत्वात् । स० । रा० । प्रश्न० । अनन्तार्थविषयत्वाद् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अपर्यवसितत्वात् । दशा० १० अ० । स्था० । अनन्तार्थविषयज्ञानस्वरूपत्वात् । स० १ सम० । अविनाशित्वात् । जं० २ वक्ष० । केवलज्ञाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आकाशे च, (न०) तस्यान्तवर्जितत्वात् । भ० १२ श० १० उ० । भरतक्षेत्रे अवसर्पिण्याश्चतुर्दशे तीर्थकरे, अनन्तकर्मांशजयादनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञानादीनि अस्येति । "सव्वेहिं वि अणंता कम्मंसा जिया सव्वेसिं च अणंताणि णाणाईणि वि रयणविचित्तमणंतं दामं सुमिणे ततो अणंतो" रत्नविचित्रं रत्नखचितमनन्तमति महाप्रमाणं दाम स्वप्ने जनन्या दृष्टमतो मतोऽनन्त इति । आ० म० द्वि० । अनन्तान् कर्मांशान् जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित् । तथा गर्भस्थे अनन्याऽनन्तरत्नदाम्नि दृष्टे जयति च त्रिभुवनेऽप्यनन्तजित्, भीमो भीमसेन इतिवदनन्त इति । ध० २ अधि० । (अनन्तक्रियाऽन्तरादि ' तित्थयर ' शब्दे वक्ष्यते) साधारणजीवे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणंतइ—अनन्ताजित्—पुं० । अवसर्पिण्याश्चतुर्दशे तीर्थकरे, ध० २ अधि० ।

अणंतंस—अनन्तांश—पुं० । अनन्ततमोऽंशो भागोऽनन्तांशः । अनन्ततमे भागे, विशे० ।

अणंतकर—अनन्तकर—त्रि० । संसारपारगमनाऽसमर्थे,"तेणावि संजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंतकरा भवंति" । कायोपगास्तद्दुपमर्दारम्भप्रवृत्ताः संसारस्यानन्तकराः स्युः, संसारस्यान्तकरा न भवन्तीत्यर्थः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अणंतकाइय—अनन्तकायिक—पुं० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे वनस्पतिभेदे, ध० २ अधि० । पं० व० । (लक्षणादि चास्य ' अणंतजीव ' शब्दे वक्ष्यते)

अणंतकाय—अनन्तकाय—पुं० । अनन्तजीवे वनस्पतौ, पं०व०४द्वा० ।

अणंतकाल—अनन्तकाल—पुं० । अपर्यवसितकाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणंतकित्ति—अनन्तकीर्त्ति—पुं० । धर्मदासगण्यपरनामके उपदेशमालाकृति आचार्ये, जै० इ० ।

अणंतखुत्तो—अनन्तकृत्वस्—अव्य० । अनन्तवारानित्यर्थः । "अ-ह णं भंते ! जीवे णेरइयत्ताए उववन्नपुव्वे हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतक्खुत्तो " भ० १२ श० ६ उ० ।

अणंतग (य) अनन्तक—न० । गणनासंख्याभेदे, स्था० ।

तच्च पञ्चधा—

पंचविहे अणंतए पएणत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणंतए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए ॥ अहवा पंचविहे अणंतए पएणत्ते । तं जहा—एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ॥

पंचविहेत्यादिसूत्रद्वयं प्रतीतार्थम्, नवरं, नाम्ना अनन्तकं नामानन्तकम्, अनन्तकमिति यस्य नाम यथासमयज्ञाथवाऽस्वस्थमिति । स्थापनैव स्थापनया वा अनन्तकं स्थापनाऽनन्तकम्, अनन्तकमिति कल्पनयाऽक्षादिन्यासः ज्ञशरीरादिव्यतिरिक्तम्, द्रव्याणामणुप्रभृतीनां गणनीयानामनन्तकं द्रव्यानन्तकं, गणना संख्यानं तल्लक्षणमनन्तकमविवक्षिताऽणवादिसंख्येयविषयः संख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां संख्येयानामनन्तकं प्रदेशानन्तकमिति । एकत एकेनांशेनायामलक्षणेनानन्तकमेकतोऽनन्तकम्-एकश्रेणीकं क्षेत्रम्, द्विधा आयामविस्ताराभ्यामनन्तकं द्विधाऽनन्तकं-प्रतरक्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो रुचकापेक्षया पूर्वाद्यन्यतरदिग्लक्षणो देशस्तस्य विस्तारो विष्कम्भस्तस्य प्रदेशापेक्षयाऽनन्तकं देशविस्तारानन्तकम्, सर्वाकाशस्य तु चतुर्थम्, शाश्वतं च तदनन्तकं च शाश्वतानन्तकमनाद्यपर्यवसितं यज्जीवादिद्रव्यम्, अनन्तसमयस्थितिकत्वादिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दसविहे अणंतए पएणत्ते । तं जहा—णामाणंतए, ठवणाणंतए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए, एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ।

नामानन्तकम्-अनन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा सचेतनादेर्वस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थापनानन्तकं-यदक्षादावनन्तकमिति स्थाप्यते । द्रव्यानन्तकं-जीवद्रव्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदनन्तकम्, गणनाऽनन्तकं-यदेको द्वौ त्रय इत्येवं संख्याता असंख्याता अनन्ता इति संख्यामात्रव्यपेक्षं संख्यामात्रतया संख्यातमात्रं व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्तकम्—आकाशप्रदेशानां यदानन्त्यमिति । एकतोऽनन्तकम्, अतीताऽद्धा अनागताऽद्धा वा द्विधाऽनन्तकम्, सर्वाद्धा देशविस्तारानन्तकम्-एक आकाशप्रतरः । सर्वविस्तारानन्तकं सर्वाकाशास्तिकाय इति । शाश्वतानन्तकमक्षयं जीवादि द्रव्यमिति । स्था० १० ठा० ।

से किंतं अणंतए ? । अणंतए तिविहे पएणत्ते । तं जहा—परित्ताणंतए, जुत्ताणंतए, अणंताणंतए । से किंतं परित्ताणंतए ? । परित्ताणंतए तिविहे पएणत्ते । तं जहा—जहएणए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए । से किंतं जुत्ताणंतए ? । जुत्ताणंतए तिविहे पएणत्ते । तं जहा—जहएणए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए । से किंतं अणंताणंतए ? । अणंताणंतए दुविहे पएणत्ते । तं जहा—जहएणए, अजहएणमणुक्कोसए ।

अनन्तकमपि-परीत्तानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकम् । अत्राद्यनन्तभेदद्वये जघन्यादिभेदात् प्रत्येकं त्रैविध्यम् । अनन्तानन्तकं तु-जघन्यमजघन्योत्कृष्टमेव भवतीति । उत्कृष्टानन्तानन्तकस्य क्वाप्यसंभवादिति सर्वमपीदमष्टविधम् । अनु० ।

जहएणयं परित्ताणंतयं केवइअं होइ ? । जहएणयं असंखेज्जासंखेज्जगमेत्ताणं रासीणं अएणमएणब्भासो पडिपुएणो जहएणयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए असंखेज्जासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहएणयं परित्ताणंतयं होइ, तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्ताणंतयं ण पावइ । उक्कोसयं परित्ताणंतयं केवइयं होइ ? । जहएणयं परित्ताणंतयमेत्ताणं रासीणं अएणमएणब्भासो रूवूणो उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा जहएणयं जुत्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ । जहएणयं जुत्ताणंतयं केवइयं होइ ? । जहएणयं परित्ताणंतयमेत्ताणं रासीणं अएणमएणब्भासो पडिपुएणो जहएणयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहएणयं जुत्ताणंतयं होइ, अभवसिद्धिआ वि तत्तिआ होइ, तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतयं ण पावइ । उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केवइअं होइ ? । जहएणएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिआ गुणिता अएणमएणब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा जहएणयं अणंताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ । जहएणयं अणंताणंतयं केवइअं होइ ? । जहएणएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिआ गुणिआ अएणमएणब्भासो पडिपुएणो जहएणयं अणंताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहएणयं अणंताणंतयं होइ, तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं ।

जघन्यपरीत्तानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावत्संख्येयानां राशीनां प्रत्येकं जघन्यपरीत्तानन्तकप्रमाणानां पूर्ववदन्योन्याभ्यासरूपेऽनुत्कृष्टं परीत्तानन्तकं भवति । 'अहवा जहएणयं जुत्ताणंतयमित्यादि' स्पष्टम् । 'जहएणयं जुत्ताणंतयं केत्तियमित्यादि' व्याख्यातार्थमेव । 'अहवा उक्कोसयं परित्ताणंतयं' इत्यादि सुबोधम् । जघन्ये च युक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्त्यभवसिद्धिका अपि जीवाः केवलिना तावन्त एव दृष्टान्तः । 'तेण परमित्यादि' कण्ठ्यम् । 'उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केत्तियमित्यादि; जघन्येन युक्तानन्तकेनाभव्यराशिर्गुणितो रूपोनं सन्नुत्कृष्टं युक्तानन्तकं भवति, तेन तु रूपेण सह जघन्यमनन्तानन्तकं सम्पद्यते । अत एवाह—'अहवा जहएणयं अणंताणंतयमित्यादि' गतार्थम् । 'जहएणयं अणंताणंतयं केत्तियमित्यादि' भावितार्थमेव । 'अहवा उक्कोसए जुत्ताणंतए इत्यादि' प्रतीतमेव । 'तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं इत्यादि' जघन्यादनन्तानन्तकादारतः सर्वाण्यपि अजघन्योत्कृष्टान्येवानन्तानन्तकस्य स्थानानि भवन्ति, उत्कृष्टमनन्तानन्तकं नास्त्येवेत्यभिप्रायः । अन्ये त्वाचार्याः प्रतिपादयन्ति-अजघन्यमनन्तानन्तकं वारत्रयं पूर्वं वर्ग्यते, ततश्चैते षडनन्तकाः प्रक्षेपाः प्रक्षिप्यन्ते । तद्यथा—

"सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगागासं, छप्पेतेऽणंत पक्खेवा" ॥ १ ॥

अयमर्थः-सर्वे सूक्ष्मबादरनिगोदजीवाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे वनस्पतिजन्तवः सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, सर्वपुद्गलद्रव्यसमूहः, सर्वालोकाकाशप्रदेशराशिः। एते च प्रत्येकमनन्तस्वरूपाः षट् प्रक्षेप्याः, एतैश्च प्रक्षिप्तैर्यो राशिर्जायते, स पुनरपि वारत्रयं पूर्ववद्वर्ग्यते, तथाऽप्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं न भवति; ततश्च केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायाः प्रक्षिप्यन्ते। एवं च सत्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं सम्पद्यते, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य संगृहीतत्वात्। अतः परं वस्तु सर्वस्यैव संख्याविषयस्याभावादिति भावः। सूत्राभिप्रायस्तु-इत्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते; अजघन्योत्कृष्टस्थानानामेव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति। तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति भावः। सूत्रे च यत्र कुत्राऽपि अनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्राजघन्योत्कृष्टं द्रष्टव्यम्, तदेवं प्ररूपितमनन्तकम्। अनु०।

इदानीं नवविधमसंख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं
निरूपयितुमिच्छुर्गाथायुगमाह—

रूवजुयं तु परित्ता-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।
जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं संख्येयकं, रूपयुतं तु रूपेणैकेन सर्षपेण पुनर्युक्तं सल्लघु जघन्यं परीत्तासंख्यं परीत्तासंख्येयकं भवति। इदमत्र हृदयम्-इह येनैकेन सर्षपरूपेण रहितोऽनन्तरोद्दिष्टो राशिरुत्कृष्टसंख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते तदा तदेवोत्कृष्टं संख्यातकं जघन्यं परीत्तासंख्यातकं भवतीति। इह च जघन्यपरीत्तासंख्येयकेऽभिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीत्तयुक्तनिजपदभेदत्रिभेदानामप्यसंख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टभेदौ पश्चादल्पवक्तव्यत्वात्प्ररूपयिष्येते। अतोऽधुना जघन्ययुक्तासंख्यातकं तावदाह-(अस्स रासि अब्भासे इत्यादि) अस्य राशेर्जघन्यपरीत्तासंख्येयकगतराशेः, अभ्यासे परस्परगुणने सति, लघु जघन्यं, युक्तासंख्येयकं भवति, तच्चावलिकासमयपरिमाणम्। आवलिका-"असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं" इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा, तस्याः समया निर्विभागाः कालविभागाः, तत्परिमाणमावलिकासमयपरिमाणम्; जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमाणा आवलिका इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति-जघन्यपरीत्तासंख्येयकसंबन्धीनि यावन्ति सर्षपलक्षणानि रूपाणि तान्येकैकशः पृथक् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीत्तासंख्यातकप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते। तेषां च राशीनां परस्परमभ्यासो विधीयते। इहैवं भावना-असत्कल्पनया किल जघन्यपरीत्तासंख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते; तानि विभियन्ते-जाताः पञ्चैककाः ११११ १ एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते। तद्यथा- $\frac{१\ १\ १\ १\ १}{५\ ५\ ५\ ५\ ५}$ -अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता जाता पञ्चविंशतिः। साऽपि पञ्चभिरभ्यासे जातं पञ्चविंशं शतम्। इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्पराभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि ३१२५। एवं कल्पनया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसंख्येयरूपो जघन्ययुक्तासंख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघन्यासंख्यातासंख्यातकभेदस्य जघन्यपरीत्तानन्तकादिस्वरूपाणां त्रयाणां जघन्यानन्तकभेदानां च स्वरूपमतिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह-

वि ति चउ पंचम गुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्ता-
ऽणंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥७९॥

इह 'संखिज्जेगमसंखमित्यादि' गाथोपन्यस्तमुत्कृष्टं संख्यातकम् १ उत्कृष्टसंख्यातकादिभौक्तसप्तपदापेक्षया संख्यातकाद्यभेदाधिकानि यानि परीत्तासंख्यातकादीनि षट्पदानि तानि परीत्तासंख्यातकानन्तानन्तकभेदरूपविकल्पानि द्वित्रिचतुःपञ्चसंख्यात्वेन प्रोक्तानि, ततो द्वित्रिचतुःपञ्चमगुणने द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योन्याभ्यासे सति, क्रमात् क्रमेण, (सगासंख त्ति) प्राकृतत्वात् सप्तमासंख्यातम्। स्थापनापेक्षया जघन्यासंख्यातासंख्यातकम्। (पढमचउसत्ताऽणंत त्ति) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि, तत्र प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकं चतुर्थानन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवतीति। इह जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदतोऽसंख्येयानन्तकयोः प्रत्येकं नवविधत्वात् प्रदर्शितभेदानां सप्तमप्रथमादिसंख्यानं संगच्छत एव। इदमत्रैदंपर्यम्-द्वितीये युक्तासंख्यातकपदवाच्ये जघन्ययुक्तासंख्यातकलक्षणे राशौ विसृते सति यावन्ति रूपाणि तावत्सु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासंख्यातकमाना राशयोऽभ्यसनीयास्ततस्तेषां राशीनां परस्परताडने यो राशिर्भवति, तत् सप्तमासंख्येयकं मन्तव्यम्। तृतीये त्वसंख्येयकासंख्येयकपदवाच्ये जघन्यासंख्येयकासंख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावतामेव जघन्यासंख्येयकासंख्येयकराशीनामन्योन्यगुणने सति यो राशिः संपद्यते तत्प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकमवसेयम्। चतुर्थे तु परीत्तानन्तकपदवाच्ये जघन्यपरीत्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्संख्यानां जघन्यपरीत्तानन्तकराशीनां परस्परमभ्यासे यावान् राशिर्भवति तच्चतुर्थमनन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति। पञ्चमे युक्तानन्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणने यावान् राशिः संपद्यते तत्सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवति। आह—परीत्तासंख्यातक १ युक्तासंख्यातक २ असंख्यातासंख्यातक ३ परीत्तानन्तक ४ युक्तानन्तक ५ अनन्तानन्तक ६ लक्षणाः षडपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टाः, मध्यमा उत्कृष्टाश्चैते कथं मन्तव्या इत्याह-(ते रूवजुया इत्यादि) ते अनन्तरोद्दिष्टा जघन्याः षडपि राशयो रूपेणैककलक्षणेन युताः समन्विताः। रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—मध्या मध्यमाः, जघन्योत्कृष्टा इति यावत्। तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीत्तासंख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रक्षिप्ते मध्यमो भवति। उपलक्षणं चैतत्—नैकरूपप्रक्षेप एव मध्यमत्वं, किन्त्वेकैकरूपनिक्षेपेऽयं तावन्मध्यमो मन्तव्यो यावदुत्कृष्टपरीत्तासंख्येयकराशिर्न भवतीत्येवमनया दिशा जघन्ययुक्तासंख्यातकादयोऽपि

परी०सं० २	युक्तासं० ३	असंख्यासं० ४
परी०अ० ५	युक्तानं० ६	अनन्तानन्त० ७

जघ० सं० १	मध्य० सं० २	उत्कृ० सं ० ३
परी०अ०ज०१	परी०अ०म०२	प० अ० उ० ३
यु० अ० ज०४	यु०अ० म०५	यु० अ० उ०६
अ०अ०ज०७	अ०अ० म०८	अ०अ० उ०९
प०अ०ज० १	प० अ० म० २	प० अ० उ० ३
यु० अ० ज०४	यु०अ० म०५	यु० अ० उ० ६
अ०अ०ज०७	अ०अ०म० ८	अ०अ०उ०९

राशय एकैकस्मिन् रूपे निक्षिप्ते मध्यमाः संपद्यन्ते, तदनु चैकैकरूपवृद्ध्या तावन्मध्यमा अवसेया यावत् स्वस्वमुत्कृष्टपदं नासादयन्तीति। तर्ह्येते एमपि किंस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्तीत्याह-(रूवेण गुरुपच्छ त्ति) रूपेणैककलक्षणेनोना न्यूना रूपोनाः सन्तस्ते एव प्रागभिहिता जघन्या राशयः, तेशब्द आवृत्त्येहापि संबन्धनीयः । किं भवतीत्याह-गुरव उत्कृष्टाः, पाश्चात्याः पश्चिमराशय इत्यर्थः । इयमत्र भावना-जघन्ययुक्तासंख्यातकराशिरेकेन रूपेण न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तासंख्येयकस्वरूपो भवति । जघन्यासंख्यातासंख्यातकराशिस्तु एकेन रूपेण न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासंख्यातकस्वरूपो भवति । जघन्यपरीत्तानन्तकराशिः पुनरेकेन रूपेण न्यूनः पाश्चात्य उत्कृष्टसंख्यातकस्वरूपो भवति । जघन्ययुक्तानन्तकराशिस्त्वेकरूपोनः पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तानन्तकस्वरूपो भवति । जघन्यानन्तानन्तकराशिरेकरूपरहितः पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तानन्तकस्वरूपो भवतीति ॥ ७९ ॥

इदं च संख्येयकानन्तकभेदानामित्थंप्ररूपणमागमाभिप्रायत

उक्तम् । कैश्चिदन्यथाऽपि चोच्यते, अत एवाह—

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमिक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण यदसंख्यातकानन्तकस्वरूपं प्रतिपादितं, तत्सूत्रेऽनुयोगद्वारलक्षणे सिद्धान्ते उक्तं निगदितम्। कर्म०४कर्म (अत्र मतान्तरम् 'असंखिज्ज' शब्दे व्याख्यास्यते)। मृताच्छादनसमर्थे वस्त्रे, आव०४अ०। नवप्रवचनप्रसिद्धे अनन्तकाये, पंचा०४ विव०।

अनन्तग-त्रि० । अन्तं गच्छतीत्यन्तगः, नाऽन्तगः अनन्तगः । अविनाशिनि, " चिच्चा अणंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतगुणिय-अनन्तगुणित-त्रि० । अनन्तगुणिते, विशे० ।

अणंतघाइ (ण्)-अनन्तघातिन्-पुं०। अनन्तविषयतया अनन्ते ज्ञानदर्शने हन्तुं विनाशयितुं शीलं येषां तेऽनन्तघातिनः । ज्ञानदर्शनविनाशनशीलेषु ज्ञानावरणीयादिकर्मपर्यवेषु, " एसत्थजोगपरिवज्जे य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ " उत्त० २६ अ० ।

अणंतचक्खु-अनन्तचक्षुष्-पुं०। अनन्तं ज्ञेयानन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः केवलं ज्ञानं यस्य, अनन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया वा चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अनन्तमपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद् वाऽनन्तं चक्षुरिव केवलज्ञानं यस्य स तथा। केवलज्ञानिनि, "तरिउं समुद्दं च महाभवोघं, अभयंकरे वीर अणंतचक्खू" सूत्र०१ श्रु०६अ०।

अणंतजिण-अनन्तजिन-पुं०। अनन्तश्चासौ ज्ञानात्मतया नित्यतया वा जिनश्च रागद्वेषजयनादनन्तजिनः । अवसर्पिण्याश्चतुर्दशे तीर्थंकरे, आचा० । कल्प० । प्रव० ।

अणंतजीव-अनन्तजीव-पुं० । अनन्तकायिके वनस्पतिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अनन्तजीवस्य भेदास्तल्लक्षणं चेत्थम्—

तणमूलकंदमूलो, वंसीमूलि त्ति याऽवरे उ ।
संखेज्जमसंखिज्जा, बोधव्वा णंतजीवा य ॥ १ ॥
सिंघाडगस्स गुच्छो, अणेगजीवो उ होति णायव्वो ।
पत्ता पत्तेय जीवा, दोणि य जीवा फले भणिया ॥२॥

जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसए ।
अणंतजीवे उ से मूले, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १ ॥
जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे उ से कंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ २ ॥
जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे उ से खंधे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ३ ॥
जस्स तयाए भग्गाए, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवा तया सा उ, जे यावन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥
जस्स सालस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे उ से साले, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ५ ॥
जस्स पवालस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे पवाले से, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ६ ॥
जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंजीवे उ से पत्ते, जे यावन्ने तहाविहा ॥७ ॥
जस्स पुप्फस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे उ से पुप्फे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ८ ॥
जस्स फलस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे फले से उ, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ९ ॥
जस्स बीयस्स भग्गस्स, समो भंगो य दीसई ।
अणंतजीवे उ से बीए, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १० ॥

तृणमूलं कन्दमूलं यच्चापरं वंशीमूलम्, एतेषां मध्ये कश्चिज्जातिभेदतो देशभेदतो वा सङ्ख्याता जीवाः, कश्चिदसंख्याताः, कश्चिदनन्ताश्च ज्ञातव्याः । (सिंघाडगस्सेत्यादि) शृङ्गाटकस्य यो गुच्छः सोऽनेकजीवो भवतीति ज्ञातव्यः; त्वक्शाखादीनामनेकजीवात्मकत्वात् । केवलं तत्रापि यानि पत्राणि तानि प्रत्येकजीवानि, फले पुनः प्रत्येकमेकैकस्मिन् द्वौ २ जीवौ भणितौ । (जस्स मूलस्सेत्यादि) यस्य मूलस्य भग्नस्य सतः समः एकान्तरूपश्चक्राकारो भङ्गः प्रकर्षेण दृश्यते, तन्मूलमनन्तजीवमवसेयम् । (जे यावन्ने तहा इति) यान्यपि चान्यानि अभग्नानि तथाप्रकाराणि अविकलमूलभग्नसमप्रकाराणि तान्यप्यनन्तजीवानि ज्ञातव्यानि। एवं कन्दस्कन्धत्वक्शाखाप्रवालपत्रपुष्पफलबीजविषया अपि नव व्याख्येयाः ॥१०॥ प्रज्ञा० १ पद ।

अधुना मूलादिगतानां वल्कलरूपाणां छल्लीनामनन्तजीवत्वपरिज्ञानार्थं लक्षणमाह—

जस्स मूलस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवन्ना तहाविहा ॥१॥
जस्स कंदस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवन्ना तहाविहा ॥२॥
जस्स खंधस्स कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवन्ना तहाविहा ॥३॥
जस्स सालाइ कट्ठाओ, छल्ली बहलतरी भवे ।
अणंतजीवा उ सा छल्ली, जा याऽवन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥

यस्य मूलस्य काष्ठाद् मध्यसाराद् छल्ली वल्कलरूपा बहलतरा

भवति, सा अनन्तजीवा ज्ञातव्या । (जा याऽवन्ना तह इति) याऽपि चान्या, अधिकृतया अनन्तजीवत्वेन निश्चितया समानरूपा छल्ली, साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका, ज्ञातव्या । एवं कन्दस्कन्धशाखाविषया अपि तिस्रो गाथाः परिभावनीयाः। प्रज्ञा० १ पद ।

यदुक्तं ' जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भंगो य दीसई ' इत्यादि तदेव लक्षणं स्पष्टं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

चक्कागं भज्जमाणस्स, गंठी चुन्नघणो नवे ।
पुढवीसरिसभेदेण, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ १ ॥

चक्रकं चक्राकारमेकान्तेन समं भङ्गस्थानं यस्य भज्यमानस्य मूलकन्दस्कन्धत्वकशाखापत्रपुष्पादेर्भवति, तन्मूलादिकमनन्तजीवं विजानीहि इति सम्बन्धः। तथा 'गंठीचुन्नघणो नवे' इति। ग्रन्थिः पर्व सामान्यतो भङ्गस्थानं वा स यस्य भज्यमानस्य चूर्णेन रजसा घनो व्याप्तो भवति, अथवा यस्य पत्रादेर्भज्यमानस्य चक्राकारं भङ्गरजसा ग्रन्थिस्थाने व्याप्तिं च विना पृथिवीसदृशेन भेदेन भङ्गस्थानं भवति, सूर्यकरनिकरप्रतप्तकेदारतरिकाप्रतरखण्डस्येव समो भङ्गो भवतीति भावः; तमनन्तकायं विजानीहि ।१।

पुनरपि लक्षणान्तरमाह–

गूढसिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं ।
जं पि य पणट्ठसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २ ॥

यत्पत्रं सक्षीरं निःक्षीरं वा गूढसिराकमलक्ष्यमाणशिराविशेषं, यदपि च प्रणष्टसन्धिः सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाणपत्रार्द्धद्वयसन्धिः, तदनन्तजीवं विजानीहि ॥ २ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगतं विशेषमभिधित्सुराह–

पुप्फा जलया थलया, विंटबद्धा य णालिबद्धा य ।
संखिज्जमसंखेज्जा, बोधव्वा णंतजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा-जलजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थलजानि कोरण्टकादीनि, एतान्यपि च प्रत्येकं द्विधा। तद्यथा-कानिचिद् वृन्तबद्धानि-अतिमुक्तकप्रभृतीनि, कानिचिन्नालबद्धानि-जातिपुष्पप्रभृतीनि, अत्रैतेषां मध्ये कानिचित्पत्रादिगतजीवापेक्षया सङ्ख्येयजीवानि, कतिचिदसङ्ख्येयजीवानि, कानिचिदनन्तजीवानि यथागमं बोधव्यानि ॥ ३ ॥

अत्रैव किञ्चिद्विशेषमाह–

जे केइ नालिया बद्धा, पुप्फा संखेज्जजीविया ।
णिहुया अणंतजीवा, जे याऽवन्ने तहाविहा ॥४॥
पउमुप्पलिणी कंदे, अंतरकंदे तहेव झिल्ली य ।
एते अणंतजीवा, एगो जीवो भिस मुणाले ॥ ५ ॥

यानि कानिचिद् नालिकाबद्धानि पुष्पाणि जात्यादिगतानि तानि सर्वाण्यपि सङ्ख्यातजीवकानि भणितानि तीर्थकरगणधरैः । स्निहू स्निहूपुष्पं पुनरनन्तजीवम्, यान्यपि चान्यानि स्निहूपुष्पकल्पानि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि ज्ञातव्यानि । (पउमुप्पलिनी कंदत्यादि) पद्मिनीकन्द, उत्पलिनीकन्दः, अन्तरकन्दो जलजवनस्पतिविशेषः कन्दः, झिल्लिका वनस्पतिविशेषरूपा, एते सर्वेऽप्यनन्तजीवाः, नवरं पद्मिन्यादीनां बिशे, मृणाले च; एकजीवात्मके बिसमृणाले इति भावः ॥ ५ ॥ प्रज्ञा० १ पद ।

सप्फाए सज्झाए, उव्वेहलिया य कुहणकुंदुक्के ।
एए अणंतजीवा, कुंदुक्के होइ भयणाओ ॥ १३ ॥

एते कुहनादिवनस्पतिविशेषा लोकतः प्रत्येतव्याः । एते च अनन्तजीवात्मकाः, नवरं कन्दुक्के भजना; स हि कोऽपि देशविशेषादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक इति ॥ १३ ॥

किं बीजजीव एव मूलादिजीवो भवति, उतान्यस्तस्मिन्नपक्रान्ते उत्पद्यते इति परप्रश्नमाशङ्क्याह–

जोणिब्भूए बीए, जीवो वक्कमइ सो व अन्नो वा ।
जो वि अ मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए ॥१४॥

बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते, योनिपरिणाममुज्झतीति भावः। बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था। तद्यथा-योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च। तत्र यदा बीजं योन्यवस्थानं जहाति, अथ चोज्झितं जन्तुना तदा तत् योनिभूतमित्यभिधीयते । उज्झितं च जन्तुना निश्चयतो नावगन्तुं शक्यते, ततोऽनतिशायिना सम्प्रति सचेतनमचेतनं वा अविध्वस्तयोनि योनिभूतमिति व्यवह्रियते । विध्वस्तयोनि तु नियमादचेतनत्वादयोनिभूतमिति । अथ योनिरिति किमभिधीयते? उच्यते-जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविध्वस्तशक्तिकं तत्रस्थजीवपरिणमनशक्तिसम्पन्नमिति भावः । तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो व्युत्क्रामति उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वा आगत्य तत्रोत्पद्यते । किमुक्तं भवति–तदा बीजनिर्वर्तकेन जीवेन स्वायुषः क्षयाद् बीजपरित्यागः कृतो भवति । तस्य च बीजस्य पुनरम्बुकालाऽवनिसंयोगरूपसामग्रीसम्भवस्तदा कदाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मूलादिनामगोत्रं निबद्ध्य तत्रागत्य परिणमति; कदाचिदन्यः पृथिवीकायिकादिजीवः । 'योऽपि च मूले जीव इति' य एव मूलतया परिणमते जीवः 'सोऽपि पत्रे प्रथमतयेति' स एव प्रथमपत्रतयाऽपि च परिणमते, इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । आह–यद्येवं " सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ " इत्यादि वक्ष्यमाणं कथं न विरुध्यते ? । उच्यते–इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्छूनावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयावस्थां नियमतो ऽनन्ता जीवाः कुर्वन्ति । पुनश्च तेषु स्थितिक्षयात्परिणतेषु असावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनुं स्वशरीरतया परिणमय्य तावद्वर्द्धते यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः । अन्ये तु व्याचक्षते-प्रथमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य समुच्छूनावस्था, तेन एकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति । किमुक्तं भवति–मूलसमुच्छूनावस्थे एकजीवकर्तृके, एतच्च नियमप्रदर्शनार्थमुक्तम् । मूलसमुच्छूनावस्थे एकजीवपरिणमिते एव। शेषं तु किसलयादिनाऽवश्यं मूलजीवपरिणामाविर्भावितमिति। ततः 'सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ ' इत्यादि वक्ष्यमाणमविरुद्धम्। मूलसमुच्छूनावस्थानिर्वर्तनाऽऽरम्भकाले किसलयत्वाभावादिति । आह-प्रत्येकशरीरे वनस्पतिकायिकानां सर्वकालशरीरावस्थामधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुत कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्तजीवत्वमपि सम्भवति? । तथा साधारणवनस्पतिकायिकानामपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमुत कदाचित्प्रत्येकशरीरत्वमपि भवति ? ।

तत आह–

सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ।
सो चेव विवड्ढंतो, होइ परित्तो अणंतो वा ॥ १५ ॥

इह सर्वशब्दः परिशेषवाची । सर्वोऽपि वनस्पतिकायः प्रत्येकशरीरः साधारण एव किसलयावस्थामुपगतः सन् अनन्त

कायस्तीर्थकरगणधरैर्भणितः । स एव किसलयरूपः अनन्तकायिकः प्रवृद्धिं गच्छन् अनन्तो वा भवति परीत्तो वा । कथम् ? । उच्यते-यदि साधारणं शरीरं निर्वर्त्यते तदसाधारण एव भवति, अथ प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येक इति । कियतः कालादूर्ध्वं प्रत्येको भवति इति चेदुच्यते-अन्तर्मुहूर्त्तात् । तथाहि-निगोदाना-मुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् स्थितिरुक्ता, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो विवर्त्तमानः प्रत्येको भवतीति । प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साविषयत्वादनन्तजीवस्य च अनन्तजन्तुसन्ताननिपातननिमित्तत्वात् भक्षणं वर्ज्यम् । यतः-"नृभ्यो नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्चाक्षतिर्यग्गणो, द्व्यक्षाद्या ज्वलनो यथोत्तरममी संख्यातिगा भाविताः । तेभ्यो भूजलवायवः समधिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रमं, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितास्तेभ्योऽप्यनन्ता नगाः " ॥ १ ॥ तानि आर्यदेशप्रसिद्धानि द्वात्रिंशत् । तदाहुः-

सव्वा य कंदजाई, सूरणकंदो अ वज्जकंदो अ ।
अल्ल हलिद्दा य तहा, अल्लं तह अल्लकच्चूरो ॥ १ ॥
सत्तावरी विराली, कुंआरि तह थोहरी गलोई अ ।
लसुणं वंसकरिल्ला, गज्जर लूणो अ तह लोढा ॥ २ ॥
गिरिकन्नि किसलिपत्ता, खरिंसुआ थेग अल्ल मुत्था य ।
तह लूणरुक्खछल्ली, खिल्लहडो अमयवल्ली य ॥ ३ ॥
मूला तह भूमिरुहा, विरुहा तह ढक्कवत्थुलो पढमो ।
सूअरवल्लो अ तहा, पल्लंको कोमलंबिलिआ ॥ ४ ॥
आलू तह पिंडालू, हवंति एए अणंतनामेणं ।
अन्नमणंतं नेअं, लक्खणजुत्तीइ समयाओ ॥ ५ ॥

सर्वैव कन्दजातिरनन्तकायिका इति सम्बन्धः । कन्दो नाम भूमध्यगो वृक्षावयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव ग्राह्याः, शुष्काणां तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहेमसूरिरप्येवमेव 'आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः । शुष्कस्य तु निर्जीवत्वादनन्तकायित्वं न सम्भवति' इति योगशास्त्रसूत्रवृत्त्योराह । अथ तानेव कांश्चित्कन्दान् व्याप्रियमाणत्वान्नामत आह-सूरणकन्दोऽर्शोघ्नः कन्दविशेषः १, वज्रकन्दोऽपि कन्दविशेष एव २, आर्द्रा अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतैव ३, आर्द्रकं शृङ्गवेरम् ४, आर्द्रकचूरस्तिक्तद्रव्यविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी ६ विराली ७ वल्लीभेदौ । कुमारी मांसलप्रणालाकारपत्रा प्रतीतैव ८, थोहरी स्नुहीतरुः ९, गुरूची वल्लीविशेषः प्रतीत एव १०, लशुनं कन्दविशेषः ११, वंशकरिल्लानि कोमलातिनववंशावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गर्जरकाणि सर्वजनविदितान्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः-येन दग्धेन सर्जिका निष्पद्यते १४, लोढकः पद्मिनीकन्दः १५, गिरिकर्णिका वल्लीविशेषः १६, किशलयरूपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादर्वाक् बीजस्योच्छूनावस्थालक्षणानि सर्वाण्यप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचिदेव १७, खरिंशुकाः कन्दभेदाः १८, थेगोऽपि कन्दविशेष एव १९, आर्द्रा मुस्ता प्रतीता २०, लवणापरपर्यायस्य भ्रमरनाम्नो वृक्षस्य छल्लिस्त्वक्, न त्वन्येऽवयवाः २१, खिल्लहडो लोकप्रसिद्धः कन्दः २२, अमृतवल्ली वल्लीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः २४, भूमीरुहाणि छत्राकाराणि वर्षाकालभवानि भूमीस्फोटकानीति प्रसिद्धानि २५, विरूढान्यङ्कुरितानि द्विदलधान्यानि २६, ढक्कवास्तुलः शाकविशेषः, स च प्रथमोद्गत एवानन्तकायिको न तु छिन्नप्ररूढः २७, शूकरसंज्ञको वल्लः, स एवानन्तकायिको न तु धान्यवल्लः २८, पल्यङ्कः शाकभेदः २९, कोमलाम्लिका अबद्धास्थिका चिञ्चिणिका ३०, आलुक ३१, पिण्डालुकौ ३२ कन्दभेदौ । एते पूर्वोक्ताः पदार्था द्वात्रिंशत्संख्याका अनन्तकायनामभिर्भवन्तीत्यर्थः । न चैतावन्त्येवानन्तकायिकानि किन्त्वन्येऽपि, तथाऽऽह-'अन्यदपि' पूर्वोक्तातिरिक्तमनन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणविचारणया, समयात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा-

घोसकरीरंकुर तिं-दुयं अइकोमलंबगाईणि ।
वरुणवडनिंबयाई-ण अंकुराइं अणंताइं ॥ १ ॥

घोषातकीकरीरयोरङ्कुराः, तथाऽतिकोमलान्यबद्धास्थिकानि तिन्दुकाम्रफलादीनि, तथा वरुणवटनिम्बादीनामङ्कुरा अनन्तकायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्-"गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहिरुहं च छिन्नरुहं । साहारणं सरीरं, तव्विवरीअं च पत्तेअं" ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः स्युः, ते हेयाः । यतश्च-"चत्वारो नरकद्वाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् । परस्त्रीसंगमश्चैव, संधानानन्तकायिके " ॥ १ ॥ उक्तमनन्तकायिकम् । ध० २ अधि० । (अनन्तकायिकस्यादाने प्रायश्चित्तं ' पलंब ' शब्दे प्रदर्शयिष्यते) ।

अह भंते ! आलुए मूलए सिंगबेरे हरिली सिरिली सिसिरली किट्टिया निरिया छीरविरालिया कण्हकंदे वज्जकंदे सूरणकंदे खेल्लूडे अद्दमुत्था पिंडहलिद्दा लोहाणि हूथिहूविजागा अस्सकण्णी सीहकण्णी सादंसी मुसुंढी जे यावऽण्णे तहप्पगारा सव्वे ते अणंतजीवा विविहसत्ता ? । हंता गोयमा ! आलुए मूलए०जाव अणंतजीवा विविहसत्ता ॥ भ० ७ श० ३ उ० । प्रज्ञा० ।

जे भिक्खू अणंतकायसंमिस्सं जुत्तं आहारं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ ५ ।

जे भिक्खू अणंतकातो मूलकंदो अल्लगफमादि वा एवमादि संमिस्सं जो भुंजति तस्स चउगुरु ॥

जे भिक्खू असणादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ५३ ॥

आणादिया दोसा हवंति; इमे दोसा—

तं कायपरिच्चयओ, तेण य वत्तेण समं वयति ।
अतिखद्ध अणुचित्ते,ण य विसूतिकादीणि आयाए ॥४४॥

इमा आयविराहणा-तेण रसालेण अतिखद्धेण अणुसेण य विसूतिकादी भवे मरेज्ज वा अजीरंतो वा अण्णतरो रोगातंको भवेज्ज, एवं आयविराहणा, जम्हा एते दोसा तम्हा ण भोतव्वं; कारणे तु भुंजेज्जा ।

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जयणा इमा तत्थ कायव्वा ॥५५॥

पूर्ववत् इमे वक्खमाणजयणा—

ओमं तिभागमद्धे, तिभाग आयंबिले चउत्थादी ।
निम्मिस्से मिस्सेया, परित्तणं ते य जा जतणा ॥५६॥

जह णव सुत्ते वक्खमाणो जहा वा पेढे भणिया तहा वत्तव्वा ।

इमो से अक्खरत्थो-ओमं पसणिज्जं भुंजति, तिभागेण वा ऊणं पसणिज्जं भुंजति, अद्धं वा पसणिज्जं, तिभागं वा पसणिज्जं, आयंबिलेण वा अत्थति। चउत्थं वा करेति, ण य अणंतकायं तम्मिस्सं भुंजति जाहे णिम्मिसं लब्भति, जाहे णिम्मिस्सं ण लब्भति ताहे परीत्तकायमिस्सं गेण्हति, जाहे तं पि न लब्भति ताहे अणंतकायमिस्सं गेण्हति, जा य पणगादिजयणा सा दट्ठव्वा। नि० चू० १० उ०।

अणंतजीविअ–अनन्तजीविक–पुं०। अनन्तकायिकवनस्पतौ, भ० ८ श० ३ उ०।

अणंतणाण–अनन्तज्ञान–न०। अनन्तं स्वपरपर्यायापेक्षया वस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम्। केवलज्ञाने, दश० ४ अ०।

अणंतणाणदंसि–(ण्)अनन्तज्ञानदर्शिन्–पुं०। अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी। केवलज्ञानिनि, सूत्र०१श्रु०६अ०।

अणंतणाणि (ण्) अनन्तज्ञानिन्–पुं०। अनन्तमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं विशेषग्राहकं यस्यासावनन्तज्ञानी। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। उत्पन्नकेवलज्ञाने तीर्थंकरे, ज्यो० ६ पाहु०। स०।

अणंतदंसि (ण्) अनन्तदर्शिन्–पुं०। अनन्तमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं दर्शनं सामान्यार्थपरिच्छेदकं यस्य स अनन्तदर्शी। उत्पन्नकेवलदर्शने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

अणंतपएसिय–अनन्तप्रदेशिक–पुं०। अनन्तपरमाण्वात्मके स्कन्धे, ज० ८ श० २ उ०।

अणंतपार–अनन्तपार–स्त्री०। अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य कालस्य स अनन्तपारः। अन्तविरहितपर्यन्ते, "केण अणंतं पारं, संसारं हिंडई जीवो?" आतु०। "से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

अणंतपासि (ण्) अनन्तदर्शिन्–पुं०। ऐरवते भविष्यति विंशतितमे तीर्थकृति, ति०।

अणंतमिस्सिया–अनन्तमिश्रिता–स्त्री०। मूलकादिकमनन्तकायं, तस्यैव सत्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनाचित् प्रत्येकवनस्पतिना मिश्रमवलोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति वदतः सत्यमृषाभाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद। ध०।

अणंतमीसय–अनन्तमिश्रक–न०। अनन्तविषयकं मिश्रकमनन्तमिश्रकम्। सत्यमृषाभेदे, यथा मूलकन्दादौ परीतपत्रादिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः। स्था० १० ठा०।

अणंतमोह–अनन्तमोह–त्रि०। अनन्तोऽपर्यवसितस्तद्भावापेक्षया प्रायस्तस्याऽनपगमाद् मुह्यते येनाऽसौ मोहो ज्ञानावरणदर्शनमोहनीयात्मकः। ततश्चानन्तो मोहोऽस्येत्यनन्तमोहः। उत्त० ४ अ०। अविनाशिदर्शनावरणमोहनीयकर्मणि, 'दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव' उत्त०४ अ०।

अणंतर–अनन्तर–त्रि०। न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं यस्य। ६ अ०। अव्यवहिते, नं०। पञ्चा०। निर्व्यवधाने, "अणंतरं देवलोए अणंतरं मणुस्सए भवे किं परं"। भ० १४ श० ७ उ०। कल्प०। "अणंतरं चयं चइत्ता" अव्यवहितं च्यवनं कृत्वेत्यर्थः। (आ० ८ अ०) देवभवसम्बन्धिनं देहं त्यक्त्वेत्यर्थः। अथवाऽनन्तरम्–आयुःक्षयाद्यनन्तरं (चयं ति) च्यवनं (चइत्त ति) च्युत्वा, महाविदेहे अनन्तरं शरीरं त्यक्त्वा, च्यवनं वा कृत्वा। विपा० १ श्रु० १ अ०। न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः। वर्त्तमानसमये, स्था० १० ठा०।

अणंतरखेत्तोगाढ–अनन्तरक्षेत्रावगाढ–त्रि०। आत्मशरीरावगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढे, 'नो अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेति'। ज० ६ श० १० उ०।

अणंतरखेदोववण्णग–अनन्तरखेदोपपन्नक–त्रि०। अनन्तरं समयाद्यव्यवहितं खेदेन दुःखेनोपपन्नमुत्पादक्षेत्रप्राप्तिलक्षणं येषां तेऽनन्तरखेदोपपन्नकाः। खेदप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तिषु नैरयिकादिषु, ज० १४ श० १ उ०। (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्बन्धश्च 'आउ' शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरगंठिय–अनन्तरग्रन्थित–त्रि०। ३ त०। प्रथमग्रन्थीनामनन्तरव्यवस्थितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिते, ज० ५ श० ३ उ०।

अणंतरच्छेय–अनन्तरच्छेद–पुं०। स्वाङ्गैनैव द्वैधीकरणे, "णहदंतादि अणंतरं णहेहिं दंतेहिं वा जं छिंदति तं अणंतरच्छेयो भण्णति" नि० चू० १ उ०।

अणंतरणिग्गय–अनन्तरनिर्गत–त्रि०। निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या गतं गमनं निर्गतम्। अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां तेऽनन्तरनिर्गताः। प्रथमसमये नगरादेरुद्वृत्तेषु स्थानान्तरप्राप्तेषु, भ० १४ श० १ उ०। (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्बन्धश्च 'आउ' शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरदिट्ठंतय–अनन्तरदृष्टान्तक–पुं०। यः खल्वनन्तरप्रयुक्तोऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायालं न भवति तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ०।

अणंतरपज्जत्त–अनन्तरपर्याप्त–पुं०। न विद्यते पर्याप्तत्वेऽन्तरं येषां तेऽनन्तराः, ते च ते पर्याप्तकाश्चेत्यनन्तरपर्याप्तकाः। प्रथमसमयपर्याप्तकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ठा०।

अणंतरपच्छाकम–अनन्तरपश्चात्कृत–त्रि०। अनन्तरं व्यवधानेन पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतः। व्यवधानेन पश्चात्कृते, चं० प्र० ८ पाहु०।

अणंतरपरंपरअणिग्गय–अनन्तरपरम्परानिर्गत–पुं०। प्रथमसमयानिर्गतेषु, ये हि नरकादुद्वृत्ताः सन्तो विग्रहगतौ वर्तन्ते न तावदुत्पादक्षेत्रमासादयन्ति, तेषामनन्तरभावेन परम्परभावेन चोत्पादक्षेत्रप्राप्तत्वेन निश्चयेनानिर्गतत्वात्। ज० १४ श० १ उ०। (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्बन्धश्च 'आउ' शब्दे द्वि०भा० १५ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरपरंपरअणुववण्णग–अनन्तरपरम्परानुपपन्नक–पुं०। अनन्तरमव्यवधानं परम्परं च द्वित्र्यादिसमयरूपमविद्यमानमुपपन्नमुत्पादो येषां ते तथा। विग्रहगतिकेषु, विग्रहगतौ हि द्विविधस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति। ज० १४ श० १ उ०।

अणंतरपरंपरखेदाणुववण्णग–अनन्तरपरम्परखेदानुपपन्नक–पुं०। अनन्तरं परम्परं खेदेन नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा। विग्रहगतिवर्तिषु, भ० १४ श० १ उ०।

अणंतरपुरक्खड–अनन्तरपुरस्कृत–त्रि०। स्वाव्यवहितोत्तरवर्तिनि, "अणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि" अनन्तरमव्यवधानेन पुरस्कृतोऽग्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः। अनन्तरं द्वितीय इत्यर्थः। सू० प्र० ८ पाहु०। चं० प्र०।

अणंतरसमुदाणकिरिया–अनन्तरसमुदानक्रिया–स्त्री०। नास्त्यन्तरं व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहिता। सा च

समुदानक्रिया च । क० स० । प्रथमसमयवर्तिसमुदानक्रियायाम, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अणंतरसिद्ध–अनन्तरसिद्ध–पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानमर्थात् समयेन येषां तेऽनन्तराः, ते च सिद्धाश्चानन्तरसिद्धाः। सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमानेषु सिद्धेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

अणंतरहिय–अनन्तरहित–त्रि० । अव्यवहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सचित्ते, आय० ३ अ० । "जे भिक्खू माउग्गामस्स मेहुणवडियाए अणंतरहियाए पुढवीए णिसियावेज्ज वा" अनन्तरहितया, अनंतरहिया णाम सचित्ता । नि० चू० ७ उ० ।

अणंतरागम–अनन्तरागम–पुं० । आगमभेदे, अर्थापेक्षया गणधराणामनन्तरागमः । सूत्रापेक्षया गणधरशिष्याणामनन्तरागमः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणंतराहारग–अनन्तराहारक–पुं० । अनन्तरानव्यवहितान् जीवप्रदेशैराक्रान्ततया स्पृष्टतया वा पुद्गलानाहारयन्तीत्यनन्तराहारकाः । जीवप्रदेशैः स्पृष्टानां पुद्गलानामाहारकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ठा० । अनन्तरमुपपातक्षेत्रप्राप्तिसमयमेव आहारयन्ति इत्यनन्तराहाराः । प्रज्ञा० ३४ पद । प्रथमसमयाहारकेषु, स्था० १० ठा० । ('आहार' शब्दे अनन्तराहारग्रहणं शरीरस्य निष्पत्तिरित्येवमादिक्रमो द्वि० भागे वक्ष्यते)

अणंतरिय–अनन्तरित–त्रि० । न० त० । अव्यवहिते, विशे० ।

अणंतरोगाढग–अनन्तरावगाढक–पुं० । अनन्तरं संप्रत्येव समये कचिदाकाशदेशेऽवगाढा आश्रितास्त एवानन्तरावगाढकाः । प्रथमसमयावगाढकेषु विवक्षितं क्षेत्रं द्रव्यं वाऽपेक्ष्याव्यवधानेनावगाढेषु नैरयिकादिर्जीवेषु, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणंतरोवणिहा–अनन्तरोपनिधा–स्त्री० । उपनिधानमुपनिधा, धातूनामनेकार्थत्वान्मार्गणमित्यर्थः । अनन्तरेणोपनिधाऽनन्तरोपनिधा । अनन्तरयोगस्थानमधिकृत्य उत्तरस्य योगस्थानस्य मार्गणे, पं० सं० ५ द्वा० । क० प्र० ।

अणंतरोववण्णग–अनन्तरोपपन्नक–पुं० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः वर्तमानः समयः । तत्रोपपन्नकाः, स्था० १० ठा० । न विद्यतेऽन्तरं समयादिव्यवधानमुपपन्ने उपपाते येषां ते अनन्तरोपपन्नकाः । प्रथमसमयोत्पन्नेषु, भ० १३ श० १ उ० । येषामुत्पन्नानामेकोऽपि समयो नातिक्रान्तस्ते एते । स्था० १० ठा० । एकस्मादनन्तरमुत्पन्नेषु नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अणंतवग्गभइय–अनन्तवर्गभक्त–त्रि० । अनन्तवर्गापवर्तिते, " सोऽणंतवग्गभइओ सव्वागासेण मीपज्जा " औ० ।

अणंतवत्तियाणुप्पेहा–अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा–स्त्री० । अनन्ता अत्यन्तं प्रभूता वृत्तिर्वर्तनं यस्यासावनन्तवृत्तिः, तस्या अनुप्रेक्षा अनन्तवृत्तिताऽनुप्रेक्षा । भवसन्तानस्यानन्तवृत्तिताऽनुचिन्तनरूपायां शुक्लध्यानस्य प्रथमानुप्रेक्षायाम्, यथा-'एस अणाई जीवो, संसारसागरो व्व दुत्तारो । नारयतिरियनरामरभवेसु परिहिंडए जीवो ' ॥१॥ स्था० ४ ठा० १ उ० । औ० । भ० । अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा–स्त्री० । अनन्ततया वर्तते इति अनन्तवर्ती, तद्भावस्तत्ता, भवसन्तानस्येति गम्यते; तस्या अनुप्रेक्षा । शुक्लध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणंतविजय–अनन्तविजय–पुं० । भरतक्षेत्रे भविष्यति चतुर्विंशे तीर्थंकरे, स० । ति० । युधिष्ठिरशङ्खे, वाच० ।

अणंतविण्णाण–अनन्तविज्ञान–पुं० । अनन्तमप्रतिपाति, विशिष्टं सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वेनोत्कृष्टं, केवलाख्यविज्ञानं ततोऽनन्तं विज्ञानं यस्य सोऽनन्तः । केवलिनि, स्या० १ श्लो० ।

अणंतवीरिय–अनन्तवीर्य–पुं० । जमदग्निभार्याया रेणुकायाः स्वसुःपत्यौ कार्तवीर्यपितरि, आ० चू० १ अ० । आ० म० । आ० क० । दर्श० । भरतक्षेत्रे भविष्यति त्रयोविंशे तीर्थकरे, ती० २१ कल्प० ।

अणंतसंसारिय–अनन्तसंसारिक–पुं० । अनन्तश्चासौ संसारश्चानन्तसंसारः, सोऽस्यास्तीत्यनन्तसंसारिकः । 'अतोऽनेकस्वरात्' इतीकप्रत्ययः । अपरिमितसंसारे, रा० । प्रति० । नैरयिकादिवैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अथ केनार्जितमनन्तसंसारित्वम् ? इति प्रश्ने उत्तरमाह—

जे पुण गुरुपडिणीया, बहुमोहा ससबला कुसीला य ।
असमाहिणा मरंति उ, ते हुंति अणंतसंसारी ॥५६॥

(जे पुण) ये पुनः, गृणात्यभिधत्ते तत्त्वमिति गुरुः, तं प्रति, ज्ञानाद्यवर्णवादभाषणादिना प्रत्यनीकाः प्रतिकूलाः, तथा बहुमोहाः त्रिंशन्मोहनीयस्थानवर्तिनः, सह शबलैरेकविंशत्या शबलस्थानैर्वर्तन्ते ये ते सशबलाः, कुत्सितं शीलमाचारो येषां ते कुशीलाः । चः समुच्चये । एवंविधा येऽसमाधिनाऽऽर्त्तरौद्रभावे वर्त्तमाना म्रियन्ते, तेऽनन्तसंसारिणो भवन्तीति । आतु० ।

अणंतसमयसिद्ध–अनन्तसमयसिद्ध–पुं० । अनन्तेषु समयेषु एकैकसिद्धे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणंतसेण–अनन्तसेन–पुं० । तृतीयायामवसर्पिण्यां जाते चतुर्थकुलकरे, स० । भद्दिलपुरवास्तव्यस्य नागगृहपतेः सुरसानाम्न्यां भार्यायां जाते पुत्रे; तत्कथा अन्तकृद्दशायास्तृतीये वर्गे द्वितीयाध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽणीयस्येव भावनीया (अन्त०) । अस्य द्वात्रिंशद्भार्याः, द्वात्रिंशत्क एव दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्, शत्रुञ्जये सिद्धिः । वस्तुतस्तु अयं वसुदेवदेवकीसुतः । अन्त० ४ वर्ग ।

अणंतसो–अनन्तशस्–अव्य० । बहुवारमित्यर्थे, निरवधिककालमित्यर्थे च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । " गब्भमेस्संति णंतसो " इति । अनन्तशो निर्विच्छेदमिति वृत्तिकारः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणंतहियकामुय–अनन्तहितकामुक–त्रि० । मोक्षकामुके, दश० ६ अ० २ उ० ।

अणंताणंत–अनन्तानन्त–त्रि० । अनन्तेन गुणिता अनन्ताः । अनन्तगुणितेषु अनन्तेषु, भ० १४ श० २ उ० ।

अणंताणुबंधि [ण्]–अनन्तानुबन्धिन्–पुं० । अनन्तं संसारं भवमनुबध्नाति अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी । अनन्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी । सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमास्वरूपोपशमादिचरणलवनिबन्धिनि क्रोधादिकषाये, स्था० ४ ठा० १ उ० । यदवाचि–"यस्मादनन्तं संसार–मनुबध्नन्ति देहिनः । ततोऽनन्तानुबन्धीति, संज्ञा तेषु निवेशिता" ॥१॥ ते च चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । यद्यपि चैतेषां शेषकषायोदयरहितानामुदयो नास्ति, तथाऽप्यवश्यमनन्तसंसारमूलकारणमिथ्यात्वो-

द्यावऽऽक्षेपकत्वादेषामेवानन्तानुबन्धित्वव्यपदेशः । शेषकषाया श्चावश्यं मिथ्यात्वोदयमाक्षिपन्त्यतस्तेषामुदययौगपद्ये सत्यपि नायं व्यपदेश इत्यसाधारणमेवैतन्नामेति । कर्म० १ कर्म० । ('कसाय' शब्देऽपि तृ०भा०३६७पृष्ठे भावितमेतद् विस्तरतः)

अणंताणुबंधिविसंजोयणा--अनन्तानुबन्धिविसंयोजना-स्त्री०। अनन्तानुबन्धिनां कषायाणां विषमयोजनायाम्, (विनाशे)। अनन्तानुबन्धिनां कषायाणामुपशमनास्थाने विसंयोजना भवति । क० प्र०। (तत्प्रकार 'उवसम' शब्दे द्वि०भा०१०२० पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतिय--अनन्तिक--न०। अन्तिकमासन्नं तन्निषेधादनन्तिकम्, नञोऽल्पार्थत्वात् । अनासन्ने, भ० ५ श० ४ उ० ।

अणंदमाण--अनन्दमत्--त्रि०। सौख्यमनुभ्वजाति, तं० ।

अणंदिय--अनान्दित--त्रि० । अधोलोकवासिन्यामष्टम्यां दिक्कुमार्याम्, आ० क० ।

अणंध--अनन्ध--पुं०। अन्धपुरनगरेश्वरे राज्ञि, "अंधपुरं नगरं तत्थ अणंधो राया" सू० ४ उ० । नि० चू० ।

अणंबिल--अनाम्ल--त्रि०। न० त०। स्वस्वादादचलिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । अनाम्लीभूते जीवितविप्रमुक्ते पानकादौ, नि० चू० १६ उ० ।

अणंसुवाइ [ण्]--अनश्रुपातिन्--पुं० । न अश्रु पातयतीति मार्गादिखेदेष्वपि अनश्रुपातनशीले ग्रुभाश्वादौ , " जं अचंरूपाफि अदंरूपाफि अणंसुवाइ" जं० ३ वक्ष० ।

अणकम्म-अनःकर्मन्-न०।अनः शकटम्,तत्कर्म अनःकर्म।शकटशकटाङ्गघटनखेटनविक्रयादौ,ध०। एतच्च पापप्रकृतीनां कारणमिति कृत्वा श्रावकेण त्यक्तव्यम् । यदाह-"शकटानां तदङ्गानां, घटनं खेटनं तथा । विक्रयश्चेति शकटा-जीविका परिकीर्तिता"॥१॥ तत्र शकटानामिति चतुष्पदवाह्यानां वाहनानां, तदङ्गानां चक्रादीनां घटनं स्वयं परेण वा निष्पादनं, खेटनं वाहनं च शकटानामेव सम्भवति, स्वयं परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तदङ्गानां चेदं कर्मापि सकलभूतोपमर्दजननं गवादीनां च वधबन्धादिहेतुः । ध० २ अधि० ।

अणकर--ऋणकर--पुं०। ऋणं पापं करोतीति ऋणकरः। चतुर्विंशे गौणप्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणक [क्ख] अनक्ष-पुं० । म्लेच्छभेदे , प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणक्कमिय--अनाक्रमित--त्रि० । अनस्तिते बलीवर्दादौ, " अणिलंछिएहिं अणक्कमिएहिं गोणेहिं तसपाणविवज्जिएहिं खित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति " भ० ८ श० ५ उ० ।

अणक्खरसुय--अनक्षरश्रुत--न० । द्वेङ्कितशिरःकम्पनादिनिमित्ते मामाह्वयति वारयति वेत्यादिरूपे अभिप्रायपरिज्ञानस्वरूपेऽक्षरश्रुतविपक्षभूते श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

से किं तं अणक्खरसुयं ? अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं । तं जहा--"ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च । निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं" ॥१॥ सेत्तं अणक्खरसुयं ॥

अथ किं तदनक्षरश्रुतम्-अनक्षरात्मकं श्रुतमनक्षरश्रुतम् । आचार्य आह-अनक्षरश्रुतमनेकविधम्-अनेकप्रकारं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-(ऊससियमित्यादि) उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम्, भावे निष्ठाप्रत्ययः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम्, निष्ठीवनं निष्ठ्यूतम्, काशनं काशितम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । छिक्का क्षुतम् , एषोऽपि । चशब्दः समुच्चयार्थः, परमस्य व्यवहितः प्रयोगः । सेण्टिकादिकं चेत्येवं द्रष्टव्यम् । तथा निःसिङ्घितम् । अनुस्वारवत्-अनुस्वारमित्यर्थः । तथा सेण्टितादिकं चानक्षरं श्रुतम् । नं० ।

अथ भाष्यम्-

ऊससियाई दव्वसु--यमेत्तमहवा सुओवउत्तस्स ।
सव्वो वि य वावारो, सुयमिह तो किं न चेट्ठा वि ? ॥

इहोच्छ्वसितादि अनक्षरश्रुतं, द्रव्यश्रुतमात्रमेवावगन्तव्यम्; शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च भावश्रुतस्य कारणमेव; यच्च कारणं तद्द्रव्यमेव भवतीति भावः । भवति च तथाविधोच्छ्वसितनिःश्वसितादिश्रवणे शशकोऽयमित्यादि ज्ञानम् । एवं विशिष्टाभिसन्धिपूर्वकनिष्ठ्यूतकासितक्षुतादिश्रवणेऽप्यात्मज्ञानादि ज्ञानं वाच्यमिति । अथवा श्रुतज्ञानोपयुक्तस्यात्मनः सर्वात्मनैवोपयोगात्सर्वोऽप्युच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेह प्रतिपत्तव्यमित्युच्छ्वसितादयः श्रुतं भवन्त्येवेति । आह-यद्येवं ततो गमनागमनवल्गनस्पन्दनादिरूपाऽपि चेष्टा व्यापार एव, ततः श्रुतोपयुक्तसंबन्धिनी एषाऽपि किं श्रुतं न भवति ? । उच्यते-कः किमाह ? । प्राप्नोत्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुतं, किन्तु--

रूढी य तं सुयं सु-व्वइ त्ति चेट्ठा न सुव्वइ कयाइ ।
अहिगमया वण्णा इव, जमणुस्साराइओ तेणं ॥

उक्तन्यायेन श्रुतत्वप्राप्तौ समानायामपि तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतं, न शिरोधूननकरचलनादिचेष्टा ; यतः शास्त्रलोकप्रसिद्धा रूढिरियं यत उच्छ्वसितादेव श्रुतं रूढं, न चेष्टेत्यर्थः । श्रूयते इति श्रुतमिति चान्वर्थवशात् । तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतम्, न चेष्टेत्येवं चशब्दः पक्षान्तरसूचको भिन्नक्रमश्च । करादिचेष्टा तु दृश्यत्वात्कदापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुतं स्यात् ?, इत्यर्थः । अनुस्वारादयस्त्वकारादिवर्णा इवार्थस्याभिगमका, एवेति तेन कारणेन ते निर्विवादमेव श्रुतमिति गाथार्थः । इत्यनक्षरश्रुतमिति । विशे० ।

टिट्टि त्ति नंदगोव-स्स बालि वत्थे निवारेइ ।
टिट्टि त्ति य मुद्धइए, सेसा लट्ठीनिवाएण ॥

नन्दगोपस्य बालिका क्षेत्रादिकं रक्षन्ती वत्सकान् बालगोरूपान् टिट्टि इत्यनुकरणानुरूपमनुकार्यमुच्चरन्ती निवारयति । तथा ये मुग्धा हरिणादयस्तानपि टिट्टि इत्येवं निवारयति । शेषास्तु सूकरप्रभृतीन् यष्टिनिपातेन निवारयति । अत्र टिट्टि इत्येतदनक्षरमपि वत्सादीनां प्रतिषेधलक्षणार्थप्रतिपत्तिहेतुरूपं जायते, इत्यनक्षरश्रुतम् । बृ० १ उ० । कर्म० । विशे० ।

अणगरहिय--अगर्हित--त्रि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवितत्वात् सामायिके, आ० म० द्वि० ।

अणगार--अनगार--पुं० । अनगारशब्दो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नश्च । अव्युत्पन्नः साधौ, " अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती । श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः"॥१॥ इति । उत्त० । व्युत्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यागारमगैर्द्रुमदृषदादिभिर्निर्वृत्तम्, भावागारं पुनरगैर्विपाककालेऽपि जीवविपाकितया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिरहितैरनन्तानुबन्ध्यादिभिर्निर्वृत्तं कषायमोहनीयम् । तत्र द्रव्यागारपक्षे नञ्-तु निषेधे । अविद्यमानगृहे; भावागारपक्षे स्वल्पकषायमोहनीये;

कषायमोहनीयं हि कर्म । न च कर्मणः स्थित्यादिभूयस्त्वे विरतिसम्भवः । यत आगमः-" सत्तएहं पयडीणं, अब्भिंतरओ य कोडकोडीए। काऊण सागराणं, जइ लहइ चउएहमसयरं" ॥१॥ इत्यादि । उत्त० १ अ० ।

(१) एतन्निक्षेपः—

अणगारे निक्खेवो, चउव्विहो दुविहो होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, आगमतो होइ सो तिविहो ॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य णिएहवाईसु ।
भावे सम्मद्दिट्ठी, अगारवासा विणिम्मुक्को ॥ उत्त०नि०।

स्पष्टमिदं गाथाद्वयम्, नवरं, तद्व्यतिरिक्तश्च निह्नवादिषु, आदिशब्दादन्येष्वपि चारित्रपरिणामं विना गृहाभाववत् । निर्द्धारणे सप्तमी । ततश्च यस्तेषु मध्ये अनगारत्वेन लोके रूढ इत्युपस्कारः स तद्व्यतिरिक्तो द्रव्यानगारो, भावे सम्यग् दृष्टिः सम्यग्दर्शनवान्, निश्चयतो यत्सम्यक्त्वं तन्मौनमिति । चारित्री च अगारवासेनानगारवासेन वा, प्राकृतत्वात् तृतीयार्थे पञ्चमी । विशेषेण तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण, निर्मुक्तस्त्यक्तः, विनिर्मुक्तोऽनगार इति प्रक्रमः । उत्त० ३४ अ० । भ० । प्रश्न० । स० । सूत्र० । नि० चू० । द्वा० । सु० प्र० । रा० । जं० । आचा० । परित्यक्तद्रव्यभावगृहे, नं० । सामान्यसाधौ, भ० १५ श० १ उ० । गृहरहिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । त्यक्तगृहव्यापारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । द्वा० । पुत्रदुहितृस्नुषाज्ञातिधात्र्यादिरहिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । भिक्षौ, स्था० ६ ठा० १० उ० ।

(२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः—

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो अप्पेगइआ आयारधरा जाव विवागसुअधरा (तत्थ तत्थ) तहिं तहिं देसे देसे गच्छागच्छं गुम्मागुम्मं फुड्डाफुड्डं अप्पेगइआ वायंति, अप्पेगइया पडिपुच्छंति, अप्पेगइया परियट्टंति, अप्पेगइया अणुप्पेहंति, अप्पेगइआ अक्खेवणीओ विक्खेवणीओ संवेअणीओ णिव्वेअणीओ चउव्विहाओ कहाओ कहंति । अप्पेगइआ उड्ढं जाणू अहो सिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति संसारभउव्विग्गा भीआ जम्मणजरमरणकरणं गंभीरदुक्खपक्खुभिअपउरसलिलं संजोगविओगवीचीचिंतापसंगपसरिअवहबंधमहल्लविउलकल्लोलकलुणविलविअलोभकलकलंतबोलबहुलं अवमाणणफेणतिव्वखिंसणपुलंपुलप्पभूअरोगवेअणपरिभवविणिवायफरुसधरिसणासमावडिअकढिणकम्मपत्थरतरंगरंगंतनिच्चमच्चुभयतोअपट्ठं कसायपायालसंकुलं भवसयसहस्सकलुसजलसंचयं पतिभयं अपरिमिअमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणदगरयरयंधआरवरफेणपउरआसापिवासधवलं मोहमहावत्तभोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंतपच्चोणिपत्तपाणियपमायचंडबहुदुट्ठसावयसमाहयुद्धायमाणपब्भारघोरकंदियमहारवरवंतभेरवरवं अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थअणिहुतिंदितमहामगरतुरिअचरियखोखुब्भमाणनच्चंतचवलचंचलचलंतघुम्मंतजलसमूहं अरतिभयविसायसोगमिच्छत्तसेलसंकडं अणाइसंताणकम्मबंधणकिलेसचिक्खल्लसुदुत्तारं अमरासुरनरतिरियनिरयगइगमणकुडिलपरिवत्तविउलवेलं चउरंतमहंतमणवदग्गरुद्दसंसारसागरं भीमदरिसणिज्जं तरंति, धीईधणिअनिप्पकंपेण तुरियं चवलं संवरवेरग्गतुरंगकूवयसुसंपउत्तेणं णाणसितविमलमूसिएणं सम्मत्तविसुद्धलद्धणिज्जामएणं धीरा संजमपोएण सीलकलिआ पसत्थज्झाणतववायपणोल्लिअपहाविएण उज्जमववसायग्गहियणिज्जरणजयणउवओगणाणदंसणविसुद्धवयभंडभरिअसारा जिणवरवयणोवदिट्ठमग्गेण अकुडिलेण सिद्धमहापट्टणाभिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुइसुसंभाससुपएहसासा गामे गामे एगरायं णगरे णगरे पंचरायं दूइज्जया जिइंदिया णिब्भया गयभया सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु विरागइंगया संजया विरया मुत्ता लहुआ णिरवकंखा साहू णिहुआ चरंति धम्मं ॥

'अप्पेगइया आयारधरेत्यादि' प्रतीतम् । क्वचित् दृश्यते (तत्थ तत्थं ति) उद्यानादौ (तहिं तहिं ति) तदंशोक्तमेवाह-देशे देशे अवग्रहभागी वीप्साकरणं वाऽऽधारबाहुल्येन साधुबाहुल्यप्रतिपादनार्थम् (गच्छागच्छं ति) एकाचार्यपरिवारो गच्छः गच्छे गच्छे गत्वा गच्छागच्छि, वाचयन्तीति योगः । दण्डादण्ड्यादिवच्छब्दसिद्धिः । एवं गुम्मागुम्मि फुड्डाफुड्डि च; नवरं, गुल्मं गच्छैकदेशः उपाध्यायाधिष्ठितः, फुड्डकं लघुतरो गच्छदेश एव गणावच्छेदिकाधिष्ठित इति । अथ प्राकृतवाचना-(वायंति) सूत्रवाचनां ददति (पडिपुच्छंति त्ति) सूत्रार्थं पृच्छन्ति (परियट्टंति) परिवर्त्तयन्ति तावेव (अणुप्पेहंति त्ति) अनुप्रेक्षन्ते तावेव चिन्तयन्ति (अक्खेवणीओ त्ति) आक्षिप्यते मोहात् तत्त्वं प्रत्याकृष्यते श्रोता यकाभिरित्याक्षेपण्यः (विक्खेवणीओ त्ति) विक्षिप्यते कुमार्गविमुखो विधीयते श्रोता यकाभिस्ता विक्षेपण्यः (संवेयणीओ त्ति) संवेद्यते मोक्षसुखाभिलाषी विधीयते श्रोता यकाभिस्ता संवेदन्यः (निव्वेयणीओ त्ति) निर्वेद्यते संसारनिर्विण्णो विधीयते श्रोता यकाभिस्ता निर्वेदन्यः । तथा (उड्ढं जाणू अहो सिर त्ति) शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभावाच्चोत्कुटुकासनाः सन्तोऽपदिश्यन्ते ऊर्द्ध्वं जानूनी येषां ते ऊर्द्ध्वजानवः, अधः शिरसोऽधोमुखाः, नोर्द्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टय इत्यर्थः । (झाणकोट्ठोवगय त्ति) ध्यानरूपो यः कोष्ठस्तमुपगता ये ते तथा, ध्यानकोष्ठप्रवेशनेन संवृतेन्द्रियमनोवृत्तिध्याना इत्यर्थः, संयमेन तपसाऽऽत्मानं भावयन्तो विहरन्तीति । प्रकारान्तरेण स एवोच्यते-(संसारभउव्विग्ग त्ति) प्रतीतम् । (जम्मणजरमरणेत्यादि)जन्मजरामरणान्येव करणानि साधनानि यस्य तत्तथा तच्च तद्गम्भीरदुःखं च तदेव प्रक्षुभितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा; तं संसारसागरं तरन्तीति योगः । (संजोगविओगेत्यादि) संयोगवियोगा एव वीचयस्तरङ्गा यत्र स तथा, चिन्ताप्रसङ्गश्चिन्तासातत्यमित्यर्थः, स एव प्रसृतं प्रसरो यस्य स तथा, वधाः हननानि, बन्धाः संयमनानि, तान्येव महान्तो दीर्घा विपुलाश्च विस्तीर्णाः कल्लोला महोर्मयो यत्र स तथा, करुणानि विलपितानि यत्र स तथा, स चासौ लोभश्च स एव कलकलायमानो यो बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा-ततः संयोगादिपदानां कर्मधारयः अतस्तम्, (अवमाणणेत्यादि) अपमानमवपूजनमेव,

फेनो यत्र स तथा। तीव्रखिसनं चात्यर्थनिन्दा, पुलुम्पुलप्रभूता अनवरतोद्भूता या रोगवेदना । पाठान्तरे-तीव्रखिसनप्रलुम्पितानि च, प्रभूतरोगवेदनाश्च; परिभवविनिपातश्च पराभिभवसम्पर्कः । परुषधर्षणाश्च निष्ठुरवचननिर्भर्त्सनानि, समापतितानि समापन्नानि बद्धानि यानि कठिनानि कर्कशोदयानि, कर्माणि ज्ञानावरणादीनि, तानि चेति द्वन्द्वः; ततः एतान्येव ये प्रस्तराः पाषाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गैः रिङ्खद्वीचिभिश्चलद्, नित्यं ध्रुवं, मृत्युभयमेव मरणभीतिरेव, तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो यत्र स तथा. ततः कर्मधारयः। अथवा अपमानफेनमिति तोयपृष्ठस्य विशेषणमतो बहुव्रीहिरेवास्तु, तम्, [कसायेत्यादि] कषाय एव पातालाः पातालकषायास्तैः संकुलो यः स तथा तम्,[भवसयसहस्सेत्यादि]भवशतसहस्राण्येव कलुषा जलानां संचयो यत्र स तथा तम्, पूर्वं जननादिजन्यदुःखस्य सलिलतोक्ता, इह तु भवानां जननादिधर्मवतां जानिविशेषसमुदायतोक्तेति न पुनरुक्तत्वमिति। [पइभयं ति]व्यक्तम्,[अपरिमियेत्यादि]अपरिमिता अपरिमाणा या महेच्छा बृहदभिलाषा सा येषां ते लोकास्तेषां कलुषा मलिना या मतिः सैव वायुवेगस्तेन 'उद्धुम्ममाणं उद्धुव्वमाणं वा' उत्पाट्यमानं यदुदकरज उदकरेणुसमूहः, तस्य रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा, वरफेनेनेव प्रचुराशापिपासाभिः, तत्र प्रचुरा बह्व्य आशाः अप्राप्तार्थानां प्राप्तिसम्भावनाः, पिपासास्तु-तेषामेवाकाङ्क्षाः, अतस्ताभिर्धवल इव धवलो यः स तथा, ततः कर्मधारयः; अतस्तम्; [मोहमहावत्तेत्यादि] मोहरूपे महावर्त्ते भोगरूपं भ्राम्यन्मण्डलेन भ्रमद् गुप्यद्व्याकुलीभवत्,उच्छलत् उत्पतत्,प्रत्यवनिपतच्चाधःपतत् , पानीयं जलं यत्र स तथा,प्रमादा मद्यादयस्त एव चण्डबहुदुष्टश्वापदाः रौद्रभूरिक्षुद्रव्यालास्तैर्ये समाहताः प्रहता उद्धावन्तश्च उत्तिष्ठन्तो वा विविधं चेष्टमानाः; समुद्रपक्षे मत्स्यादयः, संसारपक्षे पुरुषादयः, तेषां प्राग्भारः पूरो वा समूहो यत्र स तथा, तथा घोरो यः क्रन्दितमहारवः स एव रवन् प्रतिशब्दकरणतः शब्दायमानो भैरवरवो भीमघोषो यत्र स तथा,तत्पदत्रयस्य कर्मधारयः,ततस्तम्,[अण्णाणभमंतेत्यादि] अज्ञानान्येव भ्रमन्तो मत्स्याः (परिहत्थं ति) दक्षा यत्र स तथा, अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (खोखुब्भमाणे ति) भृशं क्षुभ्यमाणो, नृत्यन्निव नृत्यंश्च चपलानां मध्ये चञ्चलश्चास्थिरत्वेन, चलंश्च स्थानान्तरगमनेन, घूर्णश्च भ्राम्यन् जलसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र जलसमूहो यत्र स तथा; ततः कर्मधारयः,ततस्तम्,[अरतिभयेत्यादि]अरतिभयविषादशोकमिथ्यात्वानि प्रतीतानि, तान्येव शैलास्तैः संकटो यः स तथा, तम्। (अणाइसंताणेत्यादि) अनादिसन्तानमनादिप्रवाहं यत् कर्मबन्धनं तच्च, क्लेशाश्च रागादयस्तल्लक्षणं यच्चिक्खिल्लं कर्दमस्तेन सुष्ठु दुस्तारो यः स तथा,तम्,(अमरासुरेत्यादि)अमरासुरतिर्यङ्निरयगतिषु यद्गमनं तदेव कुटिलपरिवर्त्तावर्तपरिवर्त्तना विपुला च विस्तीर्णा वेला जलवृद्धिलक्षणा यत्र स तथा,तम्, (चउरंतमहंत त्ति) चतुर्विभागं द्विभेदगतिभेदाभ्यां महान्तं च महायामम् ,(अणवदग्गं ति) अनवदग्रमनन्तमित्यर्थः, विस्तीर्णं संसारसागरमिति व्यक्तम्। (भीमदरिसणिज्जं ति) भीमो दृश्यत इति भीमदर्शनीयस्तं, तरन्ति लङ्घयन्ति संयमपोतेनेति योगः । किम्भूतेन (धीईधणिअणिप्पकंपेण त्ति) धृतिरज्जुबन्धनेन, धनिकमत्यर्थं;निष्प्रकम्पोऽविचलो यः सः,मध्यमपदलोपाद् धृतिधनिकनिष्प्रकम्पस्तेन,त्वरितं,चपलमतित्वरितं यथा भवतीत्येवं तरन्ति। (संवरवेरग्गेत्यादि) संवरः प्राणातिपातादिविरतिरूपः, वैराग्यं कषायनिग्रहः,एतल्लक्षणो यस्तुङ्ग उच्चः कूपकस्तम्भविशेषस्तेन, सुष्ठु संप्रयुक्तो यः स तथा, तेन [णाणेत्यादि] ज्ञानमेव सितः सितपटः स विमल उच्छ्रितो यत्र स तथा तेन; णकारश्चेह प्राकृतशैलीप्रभवः [सम्मत्तेत्यादि]सम्यक्त्वरूपो विशुद्धो निर्दोषो लब्धोऽवाप्तो निर्यामकः कर्णधारो यत्र स तथा,तेन,धीराः अक्षोभाः, संयमपोतेन शीलकलिता इति च प्रतीतम्। (पसत्थेत्यादि) प्रशस्तं ध्यानं धर्म्मादि तद्रूपं यत्तपः स एव वातो वायुस्तेन यत् प्रणोदितं प्रेरणं तेन प्रधावितो वेगेन चलितो यः स तथा, तेन;संयमपोतेनेति प्रकृतम्। (उज्जमववसायेत्यादि)उद्यम अनालस्यं,व्यवसायो वस्तुनिर्णयः, सद्व्यापारो वा, ताभ्यां मूल्यकल्पाभ्यां यद् गृहीतं क्रीतं निर्जरणयतनोपयोगज्ञानदर्शनविशुद्धव्रतरूपं भाण्डक्रयाणकं तस्य भरितः संयमपोतभरणेन पिण्डितः सारो यैस्ते तथा;श्रमणवरसार्थवाहा इति योगः। तत्र निर्जरणं तपः, यतना बहुदोषत्यागेनाल्पदोषाश्रयणम्, उपयोगः सावधानता, ज्ञानदर्शनाभ्यां विशुद्धानि व्रतानि, अथवा ज्ञानदर्शने च विशुद्धव्रतानि चेति समासः। व्रतानि च महाव्रतानि । पाठान्तरे-(णाणदंसणेत्यादि)तत्र ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव विशुद्धवरभाण्डं, तेन भरितः सारो यैस्ते तथा। [जिणवरेत्यादि]व्यक्तम्। (सुसुइ इत्यादि)सुश्रुतयः सम्यक्श्रुतग्रन्थाः,सत्सिद्धान्ता वा, सुश्रुचयो वा,सुखः सम्भाषो येषां, सुखेन वा सम्भाष्यन्त इति सुसम्भाषाः,शोभनाः प्रश्नाः,सुखेन वा प्रश्न्यन्ते ये ते सुप्रश्नाः. शोभना आशाः वाञ्छा येषां ते स्वाशाः । अथवा सुखेन प्रश्न्यन्ते शास्यन्ते च शिक्ष्यन्ते ये ते सुप्रश्नशास्याः. शोभनानि वा प्रश्नशास्यानि पृच्छाधान्यानि येषां ते तथा, अथवा सुप्रश्नाः शस्याश्च प्रशंसनीयाः,ततः कर्मधारय इति । (दूइज्जय त्ति) द्रवन्तो व्रसन्तः, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् । (णिब्भय त्ति) भयमोहनीयोदयनिषेधात् । (गयभय त्ति) उदयविफलताकारणात् । (संजय त्ति) संयमवन्तः । कुत इत्याह-(विरय त्ति) यतो निवृत्ताः हिंसादिभ्यः, तपसि वा विशेषेण रता विरताः ' विरया ' वा निरौत्सुक्याः विरजसो वा अपापाः । 'संचयाओ विरय त्ति' क्वचिद् दृश्यते, तत्र सन्निधेर्निवृत्ता इत्यर्थः। (मुत्त त्ति) मुक्ताः ग्रन्थेन, (लहुअ त्ति)लघुकाः अल्पोपधित्वात् , (णिरवकंख ति) अप्राप्तार्थाकाङ्क्षावियुक्ताः (साहू)मोक्षसाधनात,(णिहुआ)निभृताः प्रशान्तवृत्तयः,चरन्ति। [धम्मं ति] व्यक्तम । अत्र साधुवर्णके जितेन्द्रियत्वादीनि विशेषणानि बहुशोऽधीतानि, तानि च गमान्तरतया निरवद्यानि, यत पुनरत्रैव गमे पुनरुक्तमवभासते,तत् स्तवत्वान्न दुष्टम्। यदाह-"सज्झायज्झाणतवओ-सहेसु उवएसथुइपयाणेसु । संतगुणकित्तणासु य, न हुंति पुनरुत्तदोसाओ"॥१॥औ०। "तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीईवएज्जा । तं जहा-अणिदाणयाए दिट्ठिसंपन्नयाए जोगवाहियाए " स्था० ३ ठा० । (सर्वेषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

(३) पृथिवीकायिकादिहिंसकानामनगारत्वं न भवति-

पवयंति य अणगारा, ण य तेसिं गुणेहि जेहि अणगारा ।
पुढविं विहिंसमाणा, न होंति वायाइ अणगारा ॥९८॥
अणगारवाइणो पुढ-विहिंसगा निग्गुणा अगारिसमा ।
निद्दोस त्ति य मइला, विरइ दुगुंछाइ मइलतरा ॥१००॥
आचा० नि० ।

इह लोके कुतीर्थिका यतिवेषमास्थाय एवञ्च प्रवदन्ति-वयमनगाराः प्रव्रजिताः। न च तेषु गुणेषु निरवद्यानुष्ठानरूपेषु वर्तन्ते येष्वनगराः। यथा चानगारगुणेषु न वर्तन्ते तद्दर्शयति-यतस्तेऽहर्निशं पृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणो दृश्यन्ते गुदपाणिपादप्रक्षालनार्थम्, अन्यथाऽपि निर्लेपनिर्गन्धत्वं कर्तुं शक्यम्। अतश्च ते गुणकलापशून्याः, न वाङ्मात्रेण युक्तिनिरपेक्षेणानगारता भवतीत्यनेन प्रयोगः सूचितः। तत्र गाथापूर्वार्धेन प्रतिज्ञा, पश्चार्धेन हेतुः, उत्तरगाथाऽर्धेन साधर्म्यदृष्टान्तः। स चायं प्रयोगः-तीर्थिका यत्यभिधानवादिनोऽपि यतिगुणेषु न वर्तन्ते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तत्वात्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न वर्तन्ते, गृहस्थवत्। साम्प्रतं दृष्टान्तगर्भं निगमनमाह-[अणेत्यादि] अनगारवादिनः-वयं यतय इति वदनशीलाः पृथिवीकायविहिंसकाः सन्तो निर्गुणाः, यतोऽगारिसमा गृहस्थतुल्या भवन्ति। अभ्युच्चयमाह-'सचेतना पृथिवी' इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन तत्समारम्भवर्तिनः सदोषा अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुखत्वान्मलिनाः कलुषितहृदयाः, पुनश्चातिप्रगल्भतया साधुजनाश्रिताया निरवद्यानुष्ठानात्मिकाया विरतेः जुगुप्सया निन्दया मलिनतरा भवन्ति। अनया च साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्वं प्रदर्शितं भवतीति। आचा०१ श्रु० १ अ० २ उ०। "अणगारे पासंडी, चरगे तह बंभणे चेव" इति। दश० १० अ०। "बुद्धः प्रव्रजितो मुक्तो-ऽनगारश्चरकस्तथा"। द्वा० २७ द्वा०।

(४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिध्यति, किन्तु संवृत इति सावतारमाह-ननु सत्यपि ज्ञानादेर्मोक्षहेतुत्वे दर्शन एव यतितव्यम, तस्यैव मोक्षहेतुत्वात्। यदाह-"भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं। सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया ण सिज्झंति" ॥१॥ इति यो मन्येत तं शिक्षयितुं प्रश्नयन्नाह—

असंवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिणिव्वाति सव्वदुक्खाणमंतं करेति ?।

प्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरमाह—

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठे णं भंते ! जाव अंतं न करेति ?। गोयमा ! असंवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालट्ठितीयाओ दीहकालट्ठितीयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपदेसगाओ बहुपदेसगाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टति, से तेणट्ठे णं गोयमा ! असंवुडे अणगारे णो सिज्झइ ॥

एतदपि कण्ठ्यम्। नवरं (नो इणट्ठे समट्ठे त्ति) नो नैव, अयमनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षोऽर्थो भावः, समर्थो बलवान्, वक्ष्यमाणदूषणमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वात्। [आउयवज्जाओ त्ति] यस्मादेकत्र भवग्रहणे सकृदेव अन्तर्मुहूर्तमात्रकाल एव, आयुषो बन्धः, तत उक्तम्-आयुर्वर्जा इति। [सिढिलबंधणबद्धाओ त्ति] श्लथबन्धनं स्पृष्टता वा, बद्धता वा, निधत्तता वा, तेन बद्धा आत्मप्रदेशेषु सम्बन्धिताः, पूर्वावस्थायामशुभतरपरिणामस्य कथञ्चिदभावादिति शिथिलबन्धनबद्धाः। एताश्चाशुभा एव द्रष्टव्याः, असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात्। ताः किमित्याह-[धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ त्ति] गाढतरबन्धनबद्धावस्था वा, निधत्तावस्था वा, निकाचितावस्था वा प्रकरोति। प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वात्कर्तुमारभ्यते, असंवृतत्वस्य शुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात्। आह च-'जो गायपडिपएसं ति' पौनःपुन्यभावे त्वसंवृतत्वस्य ताः करोतीत्येवेति। तथा-ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिरुपात्तस्य कर्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः; असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वेन स्थितिबन्धहेतुत्वात्। आह च-'ठिइमणुभागं कसायओ कुणइ त्ति'। तथा [मंदाणुभावेत्यादि] इहानुभावो विपाकः, रसविशेष इत्यर्थः; ततश्च मन्दानुभावाः परिपेलवरसाः सतीर्गाढरसाः प्रकरोति। असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वादेवानुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति। [अप्पपएसेत्यादि] अल्पं स्तोकं प्रदेशाग्रं कर्मदलिकपरिमाणं यासां तास्तथा, ताः बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्ययत्वादसंवृतत्वस्य च योगरूपत्वादिति। [आउयं चेत्यादि] आयुः, पुनः, कर्म, स्यात् कदाचित्, बध्नाति, स्याच्च बध्नाति। यस्मात्त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति, अन्यदा न बध्नातीति तथा। [असाय इत्यादि] असातवेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म पुनर्भूयोभूयः पुनरुपचिनोति उपचितं करोति। ननु कर्मसप्तकान्तर्वर्तित्वादसातवेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किमेतद्ग्रहणेन ?। इत्यत्रोच्यते--असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीतिप्रतिपादनेन भयजननादसंवृतत्वपरिहारार्थमिदमित्यदुष्टमिति। [अणाइयं ति] अनादिकं अविद्यमानादिकम्, अज्ञातिकं वा अविद्यमानस्वजनम, ऋणं वा अतीतम, ऋणशब्दस्य दुःखताऽतिक्रान्तदुःस्थतानिमित्ततयेति ऋणातीतम। अणं वा अणकं पापमतिशयेनेतं गतम्--अणातीतम [अणवयग्गं ति] 'अवयग्गं ति' देशीवचनोऽन्तवाचकस्ततस्तन्निषेधात् 'अणवयग्गं' अनन्तमित्यर्थः। अथवा अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य तत्तथा, तन्निषेधादनवनताग्रमेतदेवर्णनाशादनवताग्रमिति। अथवा अनवगतमपरिच्छिन्नमग्रं परिमाणं यस्य तत्तथा। अतएव [दीहमद्धं ति] दीर्घार्द्धं दीर्घकालं, दीर्घाध्वं वा दीर्घमार्गम्। [चाउरंत त्ति] चतुरन्तदेवादिगतिभेदात्पूर्वादिदिग्भेदाच्च चतुर्विभागं तदेव स्वार्थिकाणप्रत्ययोपादानाच्चातुरन्तम्। [संसारकंतारं ति] भवारण्यम [अणुपरियट्टइ त्ति] पुनःपुनर्भ्रमतीति ॥

असंवृतस्य तावदिदं फलं, संवृतस्य तु यत्स्यात्तदाह-

संवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झइ ?। हंता सिज्झइ जाव अंतं करेइ। से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! संवुडे णं अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठितियाओ हस्सकालट्ठितियाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपदेसगाओ अप्पपदेसगाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं न बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणादीयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीईवयइ। से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ।

(संवुडे णमित्यादि) व्यक्तम्, नवरं, संवृतोऽनगारः प्रमत्तसंयतादिः, स च चरमशरीरः स्यादचरमशरीरो वा, तत्र यश्चरमशरीरस्तदपेक्षयेदं सूत्रम्, यस्त्वचरमशरीरस्तदपेक्षया परम्परया सूत्रार्थोऽवसेयः । ननु पारम्पर्येणासंवृतस्यापि सूत्रोक्तार्थस्यावश्यंभावः; यतः शुक्लपाक्षिकस्यापि मोक्षोऽवश्यंभावी, तदेवं संवृतासंवृतयोः फलतो भेदाभाव एवेति । अत्रोच्यते-सत्यम्, किन्तु यत्संवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतः सप्ताष्टभवप्रमाणम् । यतो वक्ष्यति-"जहन्नियं चारित्ताराहणं आराहित्ता सत्तट्ठभवग्गहणेहिं सिज्झइ त्ति"। यच्चाऽसंवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तमानमपि स्यात्, विराधनाफलत्वात् तस्येति। (वीईवयइ त्ति) व्यतिव्रजति, व्यतिक्रामतीत्यर्थः। भ०१ श०१उ०।

(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगाहना--

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं भंते ! भावियप्पा असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ?। हंता ओगाहेज्जा । से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । एवं जहा पंचमसए परमाणुपोग्गले वत्तव्वया जाव । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा उदावत्तं वा जाव । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ ।

[रायगिहे इत्यादि] इह चानगारस्य क्षुरधारादिषु प्रवेशो वैक्रियलब्धिसामर्थ्यादवसेयः । [एवं जहा पंचमसए इत्यादि] अनेन च यत्सूचितं तदिदम्-'अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा ?, हंता वीईवएज्जा , से णं तत्थ ज्झियाएज्जा ?। नो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ " इत्यादि । भ० १८ श० १० उ० ।

[६] अनगारस्य भक्तप्रत्याख्यातुराहारः—

भत्तपच्चक्खायए णं भंते ! अणगारे मुच्छिए अज्झोववण्णे आहारमाहारेइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिए अगिद्धे जाव अणज्झोववण्णे आहारमहारेति ?। हंता गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारं तं चेव । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ भत्तपच्चक्खायए णं तं चेव ?। गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे मुच्छिए जाव अज्झोववण्णे आहारे भवइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिए जाव आहारे भवइ, से तेणट्ठे णं जाव आहारमाहारेइ ॥

(भत्तेत्यादि) तत्र (भत्तपच्चक्खाए णं ति) अनशनी मूर्च्छितः संजातमूर्च्छः जाताहारसंरक्षणानुबन्धस्तद्दोषविषये वा मूढः 'मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः ' इति वचनात् ; यावत्करणादिदं दृश्यम्-(गढिए) ग्रथित आहारविषयस्नेहतन्तुभिः सन्दर्भितः , ' ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे ' इति वचनात् । (गिद्धे) गृद्धः प्राप्ताहारे आसक्तः, अतृप्तत्वेन वा तदाकाङ्क्षावान् , 'गृधु' अभिकाङ्क्षायाम्' इति वचनात् । (अज्झोववण्णे त्ति) अध्युपपन्नोऽप्राप्ताहारचिन्तायामाधिक्येनोपपन्नः । आहारं वायुतैलाभ्यङ्गादिकम्, ओदनादिकं वाऽभ्यवहार्यं तीव्रक्षुद्वेदनीयकर्मोदयादसमाधौ सति तदुपशमनाय प्रयुक्तमाहारयत्युपभुङ्क्ते । (अहे णं ति) अथाहारानन्तरं विस्रसया स्वभावत एव, (कालं ति) कालो मरणं, काल इव कालो मारणान्तिकसमुद्घातः, तं करोति याति । (तओ पच्छ त्ति) ततो मारणान्तिकसमुद्घातादनन्तरं तस्माद्विनिवृत्त इत्यर्थः । अमूर्च्छितादिविशेषणविशेषित आहारमाहारयति, प्रशान्तपरिणामसद्भावादिति प्रश्नः। अत्रोत्तरम्-[हंतागोयमेत्यादि] अनेन तु प्रश्नार्थ एवाभ्युपगतः, कस्यापि भक्तप्रत्याख्यातुरेवंभूतभावस्य सद्भावादिति । भ० १४ श० ७ उ० ।

[७] शैलेशीप्रतिपन्नस्यानगारस्य एजना—

सेलेसिपडिवन्नए णं भंते ! अणगारे सया समियं एयति वेयति जाव तं तं भावं परिणमइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थेगेणं परप्पओगेणं ॥

(नो इणट्ठे समट्ठे ति) योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयोगादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि भवति, न करणान्तरेणेति भावः । भ० १७ श० ३ उ० ।

[८] अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेश्याशरीरं जानाति–

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस्सं ण जाणइ, ण पासइ, तं पुण जीवसरूविं सकम्मलेस्सं जाणइ, पासइ ?। हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो जाव पासइ ।

(अणगारे णमित्यादि) अनगारो भावितात्मा संयमभावनया वासितान्तःकरणः, आत्मनः संबन्धिनी कर्मणो योग्या लेश्या कृष्णादिका, कर्मणो वा लेश्या , " लिश श्लेषणे " इति वचनात् । संबन्धः कर्मलेश्या, तां न जानाति विशेषतो न पश्यति च, सामान्यतः कृष्णादिलेश्यायाः, कर्मद्रव्यश्लेषणस्य चातिसूक्ष्मत्वेन छद्मस्थज्ञानागोचरत्वात् । (तं पुण जीवं ति) । यो जीवः कर्मलेश्यावांस्तं पुनर्जीवमात्मानं (सरूविं ति) सह रूपेण रूपरूपवतोरभेदोपचाराच्छरीरेण वर्त्तते योऽसौ [समासान्तविधिः] सरूपी, तं सरूपिणम्–सशरीरमित्यर्थः । अत एव सकर्मलेश्यं कर्मलेश्यया सह वर्त्तमानं जानाति शरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वात् जीवस्य च कथंचिच्छरीराव्यतिरेकादिति "सरूविं सकम्मलेसं ति" । भ० १४ श०९ उ० । (अनगारस्य अनायुक्तं गच्छतः क्रियाः ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

(९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया-

रायगिहे जाव एवं वयासी—अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोते वा वट्टापोते वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, णो संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ ?। जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए जाव अट्ठो णिक्खित्तो सेवं भंते ! भंतेत्ति जाव विहरइ । तए णं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ ॥

(पुरओ त्ति) अग्रतः (दुहओ त्ति) द्विधाऽन्तराऽन्तरा पार्श्वतः पृष्ठतश्चेत्यर्थः (जुगमायाए त्ति) यूपमात्रया दृष्ट्या (पेहाए त्ति) प्रेक्ष्य (रीयं ति) गतं गमनं, (रीयमाणस्स त्ति) कुर्वत इत्यर्थः । (कुक्कुडपोए त्ति) कुक्कुटडिम्भः (वट्टापोए त्ति) इह वर्त्तका पक्षिविशेषः । (कुलिंगच्छाए व त्ति) पिपीलिकादिसदृशः (परियावज्जेज्ज त्ति) पर्यापद्येत म्रियेत, (एवं जहा सत्तमसए इत्या-

दि) अनेन च यत्सुचितं तस्यार्थलेश एवम्-अथ केनार्थेन भदन्तैवमुच्यते ?। गौतम ! यस्य क्रोधादयो व्यवच्छिन्ना भवन्ति तस्यैर्यापथिक्येव क्रिया भवतीत्यादि । [जाव अट्ठो निक्खित्तो ति] "से केणट्ठे णं भंते !" इत्यादिवाक्यस्य निगमनं यावदित्यर्थः। तच्च [से तेणट्ठे णं गोयमेत्यादि] इति प्रागागमनमाश्रित्य विचारः कृतः । अथ तदेवाश्रित्यान्ययूथिकमतनिषेधतः स एवोच्यते-[तएणमित्यादि] भ० १० श० ७ उ० ।

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो छट्ठं छट्ठे णं अणिक्खित्ते णं जाव आयावेमाणस्स तस्स णं पुरच्छिमेणं अवड्ढं दिवसं णो कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव ऊरुं वा आउंट्टावेत्तए वा पसारेत्तए वा पच्चच्छिमे णं अवड्ढं दिवसं कप्पइ, हत्थं वा पादं वा जाव ऊरुं वा आउंट्टावेत्तए वा पसारेत्तए वा तस्स य अंसिआओ लंबइ तं चेव विज्जे अदक्खु, ईसिं पाडेइ, पाडेइत्ता अंसियाओ छिंदेज्जा, से णूणं भंते ! जे छिंदेज्जा,तस्स कइ किरिया कज्जइ ?, जस्स छिज्जइ णो तस्स किरिया कज्जइ ? , णणत्थेगेणं धम्मंतराइएणं ? । हंता गोयमा ! जे छिंदइ जाव धम्मंतराइए णं से एं भंते ! भंते त्ति ।

(पुरच्छिमेणं ति) पूर्वभाग पूर्वाह्ण इत्यर्थः । (अवड्ढं ति) अपगतार्द्धमर्द्धदिवसं यावद् न कल्पते हस्ताद्याकुण्टयितुं, कायोत्सर्गव्यवस्थितत्वात् । (पच्चच्छिमेणं ति) पश्चिमभागे (अवड्ढं दिवसं ति) दिनार्द्धं यावत् कल्पते हस्ताद्याकुण्टयितुं,कायोत्सर्गाभावात् । तदेतच्च चूर्ण्यनुसारितया व्याख्यातम्। [तस्स य त्ति] तस्य पुनः साधोरेवंकायोत्सर्गाभिग्रहवतः (अंसियाओ त्ति) । अर्शांसि, तानि च नासिकासत्कानीति चूर्णिकारः । (तं च त्ति) तं चानगारं कृतकायोत्सर्गं लम्बमानार्शसम,(अदक्खु त्ति) अद्राक्षीत् । ततश्चार्शसां छेदार्थम (ईसिं पाडेइ त्ति) मनागनगारं भूम्यां पातयति, नापातितस्यार्शच्छेदः कर्तुं शक्यत इति । (तस्स त्ति) वैद्यस्य, क्रिया व्यापाररूपा, सा च शुभा धर्म्मबुद्ध्या । छिन्दानस्य लोभादिना क्रियेत त्वशुभा भवति (जस्स छिज्जइ त्ति) यस्य साधोरर्शांसि छिद्यन्ते नो तस्य क्रिया भवति, निर्व्यापारत्वात् । किं सर्वथा क्रियाया अभावः?,नैवम् । अत आह-(नन्नत्थेत्यादि) न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्माद्धर्मान्तरायाद्धर्मान्तरायलक्षणा क्रिया, तस्यापि भवतीति भावः । धर्मान्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदादर्शश्छेदानुमोदनाद् वेति । भ० १६ श० ३ उ० ।

(१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया-

रायगिहे जाव एवं वयासी-संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स वीइपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स मग्गओ रूवाइं अवयक्खमाणस्स पासओ रूवाइं अवलोएमाणस्स उड्ढं रूवाइं उल्लोएमाणस्स अहे रूवाइं आलोएमाणस्स तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! संवुडस्स अणगारस्स वीइपंथे ठिच्चा जाव तस्स णं णो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठे णं भंते! एवं वुच्चइ, संवुड०जाव संपराइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा एवं जहा सत्तमसए पढमुद्देसए जाव से णं उस्सुत्तमेव रीयइ । से तेणट्ठे णं जाव संपराइया किरिया कज्जइ । संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स अवीइपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं निज्झायमाणस्स जाव तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, पुच्छा। गोयमा ! संवुड०जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, णो संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठे णं भंते ! जहा सत्तमसए सत्तमुद्देसए जाव से णं अहासुत्तमेव रीयइ, से तेणट्ठे णं जाव णो संपराइया किरिया कज्जइ।

(रायगिहे इत्यादि) तत्र (संवुडस्स त्ति) संवृतस्य सामान्येन प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारसंवरोपेतस्य(वीइपंथे ठिच्च त्ति) वीचिशब्दः सम्प्रयोगे । स च सम्प्रयोगो द्वयोर्भवति । ततश्चेह कषायाणां जीवस्य च सम्बन्धो वीचिशब्दवाच्यः, ततश्च वीचिमतः कषायवतः, मतुप्प्रत्ययस्य षष्ठ्याश्च लोपस्य दर्शनात् । अथवा " विचिर् पृथग्भावे " इति वचनाद् विविच्य पृथग्भूय यथाख्यातसंयमात्कषायोदयमनपवार्य्येत्यर्थः । अथवा विचिन्त्य रागविकल्पावित्यर्थः । अथवा विरूपा कृतिः क्रिया सरागत्वाद् यस्मिन्नवस्थाने तद्विकृति यथा भवतीत्येवं स्थित्वा (पंथे त्ति) मार्गे (अवयक्खमाणस्स त्ति) अवकाङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य वा, पथिग्रहणस्य चोपलक्षणत्वादन्यत्राप्याधारे स्थित्वेति द्रष्टव्यम । (नो इरियावहिया किरिया कज्जइ त्ति) न केवलयोगप्रत्यया कर्म्मबन्धक्रिया भवति, सकषायत्वात्तस्येति(जस्स णं कोहमाणमायालोभा) इह-एवं जहेत्याद्यतिशयादिदं दृश्यम-(वोच्छिन्ना भवन्ति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिन्ना भवंति तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ, अहासुत्तं रियं रीयमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रीयं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ त्ति) व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (से णं उस्सुत्तमेव त्ति) स पुनरुत्सूत्रमेवागमातिक्रमणत एव (रीयइ त्ति) गच्छति 'संवुडस्सेत्यादि' इत्युक्तविपर्ययसूत्रम्, तत्र च[अवीइ त्ति]अवीचिमतोऽकषायसम्बन्धवतोऽविविच्य वा अपृथग्भूय यथाऽऽख्यातसंयमात् अविचिन्त्य वा रागविकल्पाभावेनेत्यर्थः । अविकृतिर्वा यथा भवतीति । भ० १० श० २ उ० ।

संवुडस्स णं भंते ! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव आउत्तं वत्थपडिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?। संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ संवुडस्स णं जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ, से णं अहासुत्तमेव रीयइ, से

तेणट्ठे णं गोयमा ! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ । भ० ७ श० ७ उ० ।

(११) अनगारस्य गत्युपपादौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं देवावासं वीइक्कंते परमं देवावासं असंपत्ते एत्थ णं अंतरालं कालं करेज्जा, तस्स णं भंते ! कहिं गई कहिं उववाए पन्नत्ते ?। गोयमा ! जे से तत्थ परिस्सओ तल्लेस्सा देवावासा तहिं तस्स गई, तहिं तस्स उववाए पण्णत्ते। से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पडिवडइ, से य तत्थ गए नो विराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

[चरमं देवावासं वीइक्कंते परमं देवावासं असंपत्ते त्ति] चरममर्वाग्भागवर्तिनं स्थित्यादिभिर्देवावासं सौधर्मादिदेवलोकं व्यतिक्रान्तो लङ्घितस्तदुपपातहेतुभूतलेश्यापरिणामापेक्षया परमं परभागवर्तिनं स्थित्यादिभिरेव देवावासं सनत्कुमारादिदेवलोकमसंप्राप्तोऽप्राप्तस्तदुपपातहेतुभूतलेश्यापरिणामापेक्षयैव । इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषूत्तरोत्तरेषु वर्तमान आराद्भागस्थितसौधर्मादिगतदेवस्थित्यादिबन्धयोग्यतामतिक्रान्तः परभागवर्तिसनत्कुमारादिगतदेवस्थित्यादिबन्धयोग्यतां चाप्राप्तः । [एत्थ णं अंतर त्ति] इहावसरे [कालं करेज्ज त्ति] म्रियते यस्तस्य कोत्पाद इति प्रश्नः?। उत्तरं तु-[जे से तत्थ त्ति] अथ ये तत्रेति तयोश्चरमदेवावासपरमदेवावासयोः परि पार्श्वतः समीपे सौधर्मादेरासन्नाः सनत्कुमारादेर्वा आसन्नास्तयोर्मध्यभागे ईशानादौ इत्यर्थः। [तल्लेस्सा देवावास त्ति] यस्यां लेश्यायां वर्तमानः साधुर्मृतः सा लेश्या येषु ते तल्लेश्या देवावासाः [तहिं ति] तेषु देवावासेषु तस्यानगारस्य गतिर्भवतीति, यत उच्यते-'जल्लेस्से मरइ जिए, तल्लेस्से चेव उववज्जे' इति । [से य त्ति] स पुनरनगारस्तत्र मध्यभागवर्तिनि देवावासे गतः [विराहेज्ज त्ति] येन लेश्यापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्तं परिणामं यदि विराधयेत् तदा [कम्मलेस्सामेव त्ति] कर्मणः सकाशाद्या लेश्या जीवपरिणतिः सा कर्मलेश्या, भावलेश्येत्यर्थः । तामेव प्रतिपतति-तस्या एव प्रतिपतति अशुभतरतां याति, न तु द्रव्यलेश्यायाः प्रतिपतति । सा हि प्राक्तन्येवास्ते द्रव्यतोऽवस्थितलेश्यात्वाद्देवानामिति पक्षान्तरमाह--[से य तत्थेत्यादि] सोऽनगारस्तत्र मध्यमदेवावासे गतः सन् यदि न विराधयेत् तं परिणामं, तदा तामेव लेश्यां ययोत्पन्न उपसंपद्याश्रित्य विहरत्यास्त इति। इदं सामान्यं देवावासमाश्रित्योक्तम् ।

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह--

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं असुरकुमारावासं वीइक्कंते, परमं असुर० एवं चेव० एवं जाव थणियकुमारावासं जोइसियावासं एवं वेमाणियावासं जाव विहरति ॥

ननु यो भावितात्माऽनगारः स कथमसुरकुमारेषूत्पत्स्यते, विराधितसंयमानां तत्रोत्पादादिति ?। उच्यते-पूर्वकालापेक्षया भावितात्मत्वमन्त्यकाले च संयमविराधनासद्भावादसुरकुमारादितयोपपाद इति न दोषः । बालतपस्वी वाऽयं भावितात्मा द्रष्टव्य इति । भ० १४ श० १ उ० ।

(१२) असंवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा-

असंवुडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असंवुडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ! एगवण्णं एगरूवं जाव । हंता । पभू ! से भंते ! किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, तत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, अन्नत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ ?। गोयमा ! इह गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, नो तत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, नो अन्नत्थ गए पोग्गले जाव विउव्वइ, एवं एगवण्णं अणेगरूवं चउभंगो जहा छट्ठसए नवमे उद्देसए तहा इहावि भाणियव्वं, नवरं अणगारे इह गए य पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, सेसं तं चेव जाव लुक्खपोग्गलं णिद्धपोग्गलत्ताए परिणामेत्तए ?। हंता । पभू ! से भंते ! किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता जाव नो अन्नत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ ।

असंवृतः प्रमत्तः (इह गए त्ति) इह प्रच्छको गौतमः, तदपेक्षया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इहगतान् नरलोकव्यवस्थितान् (तत्थ गए त्ति) वैक्रियं कृत्वा तत्र यास्यति तत्र व्यवस्थितानित्यर्थः। (अन्नत्थ गए त्ति) उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रितानित्यर्थः। (नवरं ति) अयं विशेषः-(इह इति) इह गत, अनगार इति , इहगतान् पुद्गलानिति च वाच्यम् ; तत्र तु देवइति, तत्र गतानिति चोक्तमिति । भ० ७ श० ९ उ० ।

[१३] केयाघटिकालक्षणकृत्यादिविकुर्वणा—

रायगिहे जाव एवं वयासी-से जहाणामए केइ पुरिसे केयाघडियं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा केयाघडियाकिच्चहत्थगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा?। हंता गोयमा ! जाव समुप्पएज्जा। अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! केयाघडियं किच्चहत्थगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहाणामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थं एवं जहा तइयसए पंचमोद्देसए जाव णो चेव णं संपत्तीए विउव्विसु वा विउव्विति वा विउव्विस्संति वा से जहाणामए केइ पुरिसे हिरण्णपेडिं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा हिरण्णपेडिं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं सेसं तं चेव। एवं सुवण्णपेडिं एवं रयणपेडिं वयरपेडिं वत्थपेडिं आभरणपेडिं, एवं वियडकिडं सुंबकिडं चम्मकिडं कंबलकिडं, एवं अयभारं तंबभारं तउयभारं सीसगभारं हिरण्णभारं सुवण्णभारं वइरभारं से जहाणामए वग्गुली सिया दोवि पाए उलंबिय उलंबिय उड्ढं पाया अहो सिरा चिट्ठेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वग्गुली किच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं । एवं जण्णो वइयवत्तव्वया भाणियव्वा जाव विउव्विस्संति वा से जहाणामए जलोया सिया

उदगंसि कायं वि उव्विहिय उव्विहिय गच्छेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए से जहाणामए वीयं वियगसउणे सिया दोवि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए पक्खिविरालए सिया रुक्खाओ रुक्खं डेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए जीवं जीवगसउणे सिया, दो वि पाए समतुरंगेमाणे समतुरंगेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे, सेसं तं चेव । से जहाणामए हंसे सिया तीराओ तीरं अभिरममाणे अभिरममाणे गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे हंसकिच्चगएणं अप्पाणेणं, सेसं तं चेव । से जहाणामए समुद्दवायसए सिया वीईओ वीई डेवेमाणे गच्छेज्जा, एवामेव तहेव । से जहाणामए केइ पुरिसे चक्कं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे भावियप्पा चक्ककिच्चहत्थगएणं अप्पाणेणं, सेसं जहा केयाघडियाए, एवं छत्तं, एवं चम्मं, से जहा केइ पुरिसे रयणं गहाय गच्छेज्जा एवं चेव । एवं वइरं वेरुलियं जाव रिट्ठं एवं उप्पलहत्थगं पउमहत्थगं कुमुदहत्थगं एवं जाव । से जहाणामए केइ पुरिसे सहस्सपत्तगं गहाय गच्छेज्जा, एवं चेव । से जहाणामए केइ पुरिसे भिसं अवदालिय अवदालिय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भिसंकिच्चगएणं अप्पाणेणं तं चेव, से जहाणामए मुणालिया सिया उदगंसि कायं उम्मज्जिअ उम्मज्जिअ चिट्ठेज्जा, एवामेव सेसं जहा वग्गुलीए, से जहाणामए वणखंडे सिया किण्हे किण्होभासे जाव निकुरुंबभूए पासादीए ४, एवामेव अणगारे भावियप्पा वणखंडकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा, सेसं तं चेव । से जहाणामए पुक्खरिणी सिया चउक्कोणा समतीरा अणुपुव्वसुजाय जाव सद्दुन्नइयमहुरसरणादिया पासादीया ४ एवामेव अणगारे वि भावियप्पा पोक्खरिणीकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ? । हंता उप्पएज्जा अणगारेणं भंते ! भावियप्पा केवयाइं पभू ! पोक्खरिणीकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?। सेसं तं चेव जाव विउव्विस्संति वा । से भंते ! किं मायी विउव्वइ, अमायी विउव्वइ ?। गोयमा ! मायी विउव्वइ, णो अमायी विउव्वइ, मायीणं तस्स ठाणस्स अणालोइय एवं जहा तइयसए चउत्थुद्देसए जाव अत्थि तस्स आराहणा ॥

(रायगिहेत्यादि) (केयाघडियं ति) रज्जुप्रान्तबद्धघटिका केयाघडिया (किच्चहत्थगएणं ति) केयाघटिकालक्षणं यत्कृत्यं कार्यं तद्धस्ते गतं यस्य स तथा, तेनात्मना [वेहासं ति] विभक्तिविपरिणामाद्विहायस्याकाशे केयाघडिया [किच्चहत्थ गयाइं ति] केयाघटिकालक्षणं कृत्यं हस्ते गतं येषां तानि तथा [हिरण्णपेडं ति] हिरण्यमञ्जूषां (वियलकिडं ति) विदलानां वंशार्द्धानां यः कटः स तथा तं (सुंबकिडं ति] वीरणकटं [चम्मकिडं ति] चर्मव्यूतं खट्वादिकं [कंबलकिडं ति] और्णामयं कंबलं जीनादि [वग्गुली ति] चर्मपक्षः पक्षिविशेषः । [वग्गुलिकिच्चगए ति] वग्गुलीलक्षणं कृत्यं कार्यं गतं प्राप्तं येन स तथा, तद्रूपतां गत इत्यर्थः । [एवं जण्णोवइयवत्तव्वया भाणियव्वा] इत्यनेनेदं सूचितम् । "हंता उप्पएज्जा, अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! वग्गुलिरूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थं गिण्हेज्जेत्यादि " [जलोय त्ति] जलौका जलजो द्वीन्द्रियजीवविशेषः । [उव्विहिय त्ति] उद्व्यूह्य २ उत्प्रेर्य २ इत्यर्थः । [वीयं वीयगसउणे त्ति] बीजं बीजकाभिधानः शकुनिः स्यात् [दोवि पाए त्ति] द्वावपि पादौ । [समतुरंगेमाणे त्ति] समौ तुल्यौ तुरङ्गस्याश्वस्य समुत्क्षेपणं कुर्वन् समतुरङ्गयमाणः समकमुत्पाटयन्नित्यर्थः । (पक्खिविरालए त्ति) जीवविशेषः [डेवेमाणे त्ति] अतिक्रामन्नित्यर्थः [वीईओ वीइं ति] कल्लोलात्कल्लोलम् – वेरुलियम् । इह यावत्करणादिदं दृश्यम् – "लोहियक्खं मसारगल्लं हंसगब्भं पुलगं सोगंधियं जोईरसं अंकं अंजणं रयणं जायरूवं अंजणपुलगं फलिहं ति" । 'कुमुदहत्थगं' इत्यत्र तु एवं यावत्करणादिदं दृश्यम् – " नलिणहत्थगं सुभगहत्थगं सोगंधियहत्थगं पुंडरीयहत्थगं महापुंडरीयहत्थगं सयवत्तहत्थगं ति" । [भिसं ति] बिशं मृणालं [अवदालिय त्ति] अवदार्य दारयित्वा [मुणालिय त्ति] नलिनीकायं [उम्मज्जिय त्ति] कायमुन्मज्ज्य उन्मग्नं कृत्वा [किण्हे किण्होभासे त्ति] कृष्णः कृष्णवर्णो ऽञ्जनवत्स्वरूपेण कृष्ण एवावभासते द्रष्टॄणां प्रतिभातीति कृष्णावभासः । इह यावत्करणादिदं दृश्यम् – " नीले नीलोभासे हरिए हरिओभासे सीए सीओभासे निद्धे निद्धोभासे तिव्वे तिव्वोभासे किण्हे किण्हच्छाए नीले नीलच्छाए हरिए हरियच्छाए सीये सीयच्छाए तिव्वे तिव्वच्छाए घणकडिच्छाए रम्मे महामेहनिउरंबभूए त्ति" तत्र च [नीले नीलोभासे त्ति] प्रदेशान्तरे, [हरिए हरिओभासे त्ति] प्रदेशान्तर एव । नीलश्च मयूरगलवत्, हरितस्तु शुकपिच्छवत्, हरितालाभ इति च वृद्धाः । [सीए सीओभासे त्ति] शीतः स्पर्शापेक्षया, वल्ल्याद्याक्रान्तत्वादिति च वृद्धाः [निद्धे निद्धोभासे त्ति] स्निग्धो रूक्षत्ववर्जितः [तिव्वे तिव्वोभासे त्ति] तीव्रो वर्णादिगुणप्रकर्षवान् [किण्हे किण्हच्छाए त्ति] इह कृष्णशब्दः कृष्णच्छाय इत्यस्य विशेषणमिति न पुनरुक्तता । तथाहि – कृष्णः सन् कृष्णच्छायः, छाया चादित्यावरणजन्यो वस्तुविशेषः । एवमुत्तरपदेष्वपि [घणकडियच्छाए त्ति] अन्योन्यं शाखानुप्रवेशाद्बहलनिरन्तरच्छाय इत्यर्थः । 'अणुपुव्वसुजाय' इत्यत्र यावत्करणादेवं दृश्यम् – "अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीयलजला " आनुपूर्व्येण सुजाता वप्रा यत्र, गम्भीरं शीतलं च जलं यत्र सा तथा इत्यादि । [सद्दुन्नइय महुरसरणादिय त्ति] इदमेवं दृश्यम् – " सुयबरहिणमयणसालकोइलकोकभिंगारककोंडलकजीवंजीवकनंदीमुहकविलपिंगलक्खगकारंडचक्कवायकलहंससारससअणेगसउणगणमिहुणविरइयसद्दुन्नइयमहुरसरणाइय त्ति " तत्र शुकादीनां सारसान्तानामनेकेषां शकुनगणानां मिथुनैर्विरचितं शब्दोन्नतिकं चोन्नतशब्दकं मधुरस्वरं च नादितं लपितं यस्याः सा तथेति । भ० १३ श० ६ उ० ।

[१४] अनगारस्य भावितात्मनो विकुर्वणा बाह्यं पुद्गलापर्यादानपूर्वकं स्त्रीरूपस्य —

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू ! एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं

वा विकुव्वित्तए ?। गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। अणगारे णं भंते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू! एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विकुव्वित्तए ?। हंता। पभू! अणगारे णं भंते! भावियप्पा केवइयाइं पभू! इत्थिरूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा! से जहानामए जुवइ जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगा उत्ता सिया, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ जाव पभू! णं?। गोयमा! अणगारे णं भावियप्पा केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं इत्थिरूवेहिं आयन्नं वितिकिण्णं जाव एस णं गोयमा! अणगारस्स भावियप्पाणे अयमेयारूवं विसए विसयमेत्ते बुइए नो चेव णं संपत्तीए विकुव्विसु वा ३, एवं परिवाडिए नेयव्वं जाव संमाणिया। से जहानामए केइ पुरिसे असिचम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा असिचम्मपायं हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पइज्जा। अणगारे णं भंते! भावियप्पा केवइयाइं पभू! असिचम्महत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा! से जहानामए जुवई जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा तं चेव जाव विउव्विसु वा ३, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पडागं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे भाविअप्पा एगओ पडागा हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा?। हंता गोयमा!। अणगारे णं भंते! भावियप्पा केवइयाणं पभू! एगओ पडागा हत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए, एवं जाव विकुव्विसु वा ३, एवं दुहओ पडागं पि से जहानामए केइ पुरिसे एगओ जण्णोवइ तं काउं गच्छेज्जा। एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओ जण्णोवइ य किच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा। अणगारे णं भंते! भावियप्पा केवइयाइं पभू! एगओ जण्णोवइयं किच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए, तं चेव जाव विकुव्विसु वा ३। एवं दुहओ जण्णोवइयं पि। से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पल्हत्थियं काउं चिट्ठेज्जा, एवामेव अणगारे भावियप्पा तं चेव जाव विउव्विसु वा ३। एवं दुहओ पल्हत्थियं पि, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पलियंकं काउं चिट्ठेज्जा, तं चेव विकुव्विसु वा ३। एवं दुहओ पलियंकं पि। अणगारे णं भंते! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू! एगं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीहरूवं वा वग्घवगदीविय अच्छतरच्छपरासररूवं वा अभिजुंजित्तए ?। णो इणट्ठे समट्ठे। अणगारे णं एवं बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू! अणगारे णं भंते! भावियप्पा एगं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?। हंता। पभू! से भंते! किं आइड्ढीए गच्छइ, परिड्ढिए गच्छइ ?। गोयमा! आयड्ढीए गच्छइ नो परिड्ढीए। एवं आयकम्मुणा परकम्मुणा आयप्पओगेणं परप्पयोगेणं उस्सिओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ। से णं भंते! किं अणगारे आसे ?। गोयमा! अणगारे णं से नो खलु से आसे, एवं जाव परासररूवं वा। से भंते! किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ?। गोयमा! मायी विकुव्वइ, नो अमायी विकुव्वइ। मायीणं भंते! तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ कहिं उववज्जइ ?। गोयमा! अण्णयरेसु आभियोगेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ। अमायीणं तस्स ठाणस्स आलोइय पडिक्कंते कालं करेइ, कहिं उववज्जइ ?। गोयमा! अण्णयरेसु अणाभियोगिएसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जइ, सेवं भंते! भंतेत्ति। गाहा –" इत्थी असीपडागा, जण्णोवइए य होइ बोधव्वो। पल्हत्थि य पलियंके, अभियोगविकुव्वणा मायी ॥१॥" तइयसए पंचमोद्देसो सम्मत्तो। अणगारे णं भंते! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ। से भंते! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ। से केणट्ठे णं भंते! एवं वुच्चइ–नो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा! तस्स णं एवं भवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेणट्ठे णं जाव पासइ, अणगारे णं भंते! मायी मिच्छद्दिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ, एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेणट्ठे णं जाव अण्णहाभावं जाणइ पासइ, अणगारे णं भंते! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउ[illegible]लद्धीए विभंगलद्धीए वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतरए एगं महं जणवयवग्गं समोहए समोहएत्ता वाणारसिं नगरिं रायगिहं तं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ। से भंते! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ। से केणट्ठे णं जाव पासइ ?। गोयमा! तस्स खलु एवं भवइ, एस खलु वाणारसीए नयरीए एस खलु रायगिहे नगरे एस खलु अंतरा एगं महं

जणवयवग्गं नो खलु एस महं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी विभंगनाणलद्धी इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए, सेसे दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेणट्ठे णं जाव पासइ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ?। हंता जाणइ पासइ। से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ?। गोयमा ! तहाभावं जाणइ पासइ, नो अन्नहाभावं जाणइ पासइ। से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ?। गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि पासामि। सेसे दंसणे अविवच्चासे भवइ, से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ। बीओ वि आलावगो एवं चेव, णवरं वाणारसीए नयरीए समोहणा णेयव्वो । रायगिहे नयरे रूवाइं जाणइ पासइ अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अमायी सम्मद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे वाणारसिं नगरिं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं समोहए समोहणित्ता रायगिहं नगरं वाणारसिं च नगरिं तं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तहाभावं जाणइ पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ पासइ । से केणट्ठे णं ?। गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ, नो खलु एस रायगिहे णो खलु एस वाणारसी नगरी नो खलु एस अंतरा एगे जणवयवग्गे एस खलु ममं वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी ओहिणाणलद्धी इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए सेसे दंसणे अविवच्चासे भवइ, से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ, तहाभावं जाणइ पासइ, नो अण्णहाभावं जाणइ पासइ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू ! एगं महं गामरूवं वा नगररूवं वा जाव सन्निवेसरूवं वा विकुव्वित्तए ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। एवं बितिओ वि आलावओ, नवरं बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता । पभू ! अणगारे णं भंते ! केवइयाइं पभू ! गामरूवाइं विकुव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेण हत्थे गेण्हेज्जा तं चेव जाव विकुव्विंसु वा ३ । एवं जाव सन्निवेसरूवं वा ३ ।

[असिचम्मपायं गहाय त्ति] असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा असिश्च खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशको वा, असिचर्मपात्रं तद् गृहीत्वा । [असिचम्मपायहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं ति] असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा कृत्यं संघादिप्रयोजनं गत आश्रितः कृत्यगतः; ततः कर्मधारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा असिचर्मपात्रं कृत्यं हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृतः, तेन, प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । अथवा असिचर्मपात्रस्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । [पलियंकं ति] आसनविशेषः प्रतीतश्च [विग त्ति] वृकः । [दीविय त्ति]चतुष्पदविशेषः । [अच्छ त्ति] । ऋक्षः । [तरच्छ त्ति] व्याघ्रविशेषः । [परासर त्ति] शरभः । तथाऽन्यान्यपि शृगालादिपदानि वाचनान्तरे दृश्यन्ते । [अभिजुंजित्तए त्ति] अभियोक्तुं विद्याऽऽदिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च स्वस्यानुप्रवेशनेनाभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्तबाह्यपुद्गलान् विना न स्यादिति कृत्वोच्यते [नो बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्त त्ति] [अणगारेणं से ति] अनगार एवासौ तत्त्वतोऽनगारस्यैवाऽश्वाद्यनुप्रवेशेन व्याप्रियमाणत्वात [मायी अभिजुंजइ त्ति] कषायवानभियुक्त इत्यर्थः । अधिकृतवाचनायां ' मायीविउव्वइ त्ति ' दृश्यते । तत्र चाभियोगोऽपि विकुर्वणेति मन्तव्यम, विक्रियारूपत्वात्तस्येति । [अन्नयरेसु त्ति] आभियोगिकदेवा अच्युतान्ता भवन्तीति कृत्वा अन्यतरेष्वित्युक्तम्, केषुचिदित्यर्थः । व्युत्पद्यते चाभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु करोति च विद्यादिलब्ध्युपजीवकोऽभियोगभावनाम । यदाह-"मंता जोगं काउं, भूईकम्मं तु जे पउंजंति । साऽऽरससाइड्ढिहेउं, अभिओगं भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इत्थीत्यादिसङ्ग्रहगाथा गतार्था (इति तृतीयशतके पञ्चमः) विकुर्वणाधिकारसम्बद्ध एव षष्ठ उद्देशकः, तस्य चाद्यसूत्रम् । (अणगारे णमित्यादि) अनगारो गृहवासत्यागाद्भावितात्मा स्वसमयानुसारिप्रशमादिभिर्मायीत्युपलक्षणत्वात् कषायवान् । सम्यग्दृष्टिरप्येवं स्यादित्याह-मिथ्यादृष्टिरन्यतीर्थिक इत्यर्थः । वीर्यलब्ध्यादिभिः करणभूताभिर्वाराणसीं नगरीं (समोहए त्ति) विकुर्वितवान् राजगृहे नगरे रूपाणि पशुपुरुषप्रासादप्रभृतीनि जानाति पश्यति विभङ्गज्ञानलब्ध्या (नो तहा भावं त्ति) यथा वस्तु तथा भावोऽभिसंधिर्यत्र ज्ञाने तत्तथाभावम् । अथवा यथैव संवेद्यते तथैव भावो बाह्यं वस्तु यत्र तत्तथाभावम, अन्यथा भावो यत्र तदन्यथाभावम । क्रियाविशेषणे चेमे । स हि मन्यतेऽहं राजगृहं नगरं समवहतो वाराणस्या रूपाणि जानामि पश्यामीत्येवम । (से त्ति)तस्याऽनगारस्य [से त्ति] असौ दर्शने विपर्यासो विपर्ययो भवति; अन्यदीयरूपाणामन्यदीयतया विकल्पितत्वात् । दिङ्मोहादिव पूर्वामपि पश्चिमां मन्यमानस्येति क्वचित् [सेसे दंसणे विवरीए विवच्चासे त्ति] दृश्यते तत्र च तस्य तद्दर्शनं विपरीतं क्षेत्रव्यत्ययेनेति कृत्वा विपर्यासो मिथ्येत्यर्थः । एवं द्वितीयसूत्रमपि । तृतीये तु [वाणारसीं नगरीं रायगिहं नयरं अंतराए एगं महं जणवयग्गं समोहए त्ति] वाराणसीं राजगृहं तयोरेव चान्तरालवर्तिनं जनपदवर्गं देशसमूहं समवहतो विकुर्वितवान्, तथैव च तानि विभङ्गतो जानाति पश्यति केवलं नो तथाभावम,यतोऽसौ वैक्रियाण्यपि तानि मन्यते स्वाभाविकानीति [जस्से ति] यशोहेतुत्वाद्यशः [नगररूवं वा]इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" निगमरूवं वा, रायहाणिरूवं वा, खेडरूवं वा, कब्बडरूवं वा, मडंबरूवं वा, दोणमुहरूवं वा, पट्टणरूवं वा आगररूवं वा, आसमरूवं वा, संवाहरूवं व त्ति" भ० ३ श० ६ उ० ।

[१५] अनगारस्य भावितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदर्शनम्—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ, बाहिं पासइ चउभंगो ?, एवं किं मूलं पासइ, कंदं पासइ चउभंगो, मूलं पासइ, खंधं पासइ चउभंगो । एवं मूलेणं बीजं संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं जोएयव्वं जाव बीयं । एवं जाव पुप्फेण समं बीयं संजोएयव्वं । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पासइ, बीयं पासइ चउभंगो ॥

[अंतो त्ति] मध्यं काष्ठसारादि, [बाहिं ति] बहिर्वर्तित्वक्पत्रसञ्चयादि । [एवं मूलेणमित्यादि] एवमिति मूलकन्दसूत्राभिलापेन मूलेन सह कन्दादिपदानि वाच्यानि, यावद् बीजपदम् । तत्र च मूलं १, कन्दः २, स्कन्धः ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रवालं ६, पत्रं ७, पुष्पं ८, फलं ९, बीजं १० चेति दश पदानि । एषां च पञ्चचत्वारिंशद्द्विकसंयोगाः । एतावन्त्येवेह चतुर्भङ्गीसूत्राण्यध्येयानीति । एतदेव दर्शयितुमाह–[एवं कंदेण वीत्यादि] भ० ३ श० ४ उ० ।

[१६] अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुद्गलादानपूर्वके उल्लङ्घनप्रलङ्घने—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू ! वेभारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ! वेभारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा ? । हंता । पभू ! अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं एवइयाइं विउव्वित्ता वेभारपव्वयं अंतो अणुप्पविसित्ता पभू ! समं वा विसमं करेत्तए, विसमं वा समं करेत्तए ? । गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, एवं चेव बितिओ वि अलावगो, णवरं परियाइत्ता । पभू ! से भंते ! किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा ! मायी विकुव्वइ, णो अमायी विकुव्वइ । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ? । गोयमा ! मायीणं पणीयं पाणभोयणं भोच्चा भोच्चा वामेइ, तस्स णं तेणं पणीएणं पाणभोयणेणं अट्ठि अट्ठि मिंजा बहली भवंति, पयणुए मंससोणिए भवइ, जे वि य से अहा बायरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति । सोइंदियत्ताए जाव फासिंदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिंजकेसमंसूरोमनहत्ताए सुक्कत्ताए सोणियत्ताए अमायीणं लूहं पाणभोयणं भोच्चा भोच्चा णो वामेइ, तस्स णं तेणं लूहेणं पाणभोयणेणं अट्ठिअट्ठिमिंजापयणुभवंति बहले मंससोणिए जे वि य से अहा बादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति । तं जहा—उच्चारत्ताए जाव सोणियत्ताए से तेणट्ठे णं जाव नो अमायी विकुव्वइ । मायीणं तस्स ठाणस्स अणालोइय पडिक्कंते कालं करेइ, नत्थि तस्स आराहणा, अमायीणं तस्स ठाणस्स आलोइय पडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा, से वं भंते ! भंते त्ति ।

[बाहिरए त्ति] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्यर्थः । [वेभारं ति] वैभारभिधानं राजगृहक्रीडापर्वतं [उल्लंघित्तए वेत्यादि] तत्रोल्लङ्घनं सकृत्, प्रलङ्घनं पुनःपुनरिति [नो इणट्ठे समट्ठे त्ति] वैक्रियपुद्गलपर्यादानं विना वैक्रियकरणस्यैवाभावात् । बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु सति पर्वतस्योल्लङ्घनादौ प्रभुः स्यात्, महतः पर्वतातिक्रामिणः शरीरस्य सम्भवादिति । [जावइयाइं इत्यादि] यावन्ति रूपाणि पशुपुरुषादिरूपाणि [एवइयाइं ति] एतावन्ति [विउव्वित्त त्ति] वैक्रियाणि कृत्वा वैभारं पर्वतं समं सन्तं विषमं, विषमं तु समं कर्तुमिति सम्बन्धः । किं कृत्वेत्याह–अन्तर्मध्ये वैभारस्यैवानुप्रविश्य [मायी ति] मायावानुपलक्षणत्वादस्य सकषायप्रमत्त इति यावत् । प्रमत्तो हि न वैक्रियं कुरुत इति । [पणीयं ति] प्रणीतं गलत्स्नेहबिन्दुकम् [भोच्चा २ वामेइ त्ति] वमनं करोति विरेचनं वा करोति, वर्णबलाद्यर्थं यथाप्रणीतभोजनं तद्वमनं च विक्रियास्वभावं मायित्वाद् भवति, एवं वैक्रियकरणमपीति तात्पर्यम् । [बहली भवंति त्ति] घनीभवन्ति, प्रणीतसामर्थ्यात् [पयणुए त्ति] अघनम् [अहाबायर त्ति] यथोचितबादरा आहारपुद्गला इत्यर्थः । 'परिणमंति' श्रोत्रेन्द्रियादित्वेन, अन्यथा शरीरदार्ढ्याऽसंभवात् । [लूहं ति] रूक्षमप्रणीतम् [णो वामेइ त्ति] अकषायितया विक्रियायामनर्थित्वात् 'पासवणत्ताए' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्–"खेलत्ताए सिंघाणत्ताए वंतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए त्ति" रूक्षभोजिन उच्चारादितयैवाहारादिपुद्गलाः परिणमन्ति, अन्यथा शरीरस्यासारताऽनापत्तेरिति । माय्यमायिनोः फलमाह–[मायीणमित्यादि][तस्स ठाण त्ति] तस्मात् स्थानात् विकुर्वणाकरणात्, प्रणीतभोजनलक्षणाद् वा [अमायीणमित्यादि] परममायित्वाद्वैक्रियं प्रणीतभोजनं वा कृतवान्, पश्चाद् जातानुतापोऽमायी सन् तस्मात् स्थानात् आलोचितप्रतिक्रान्तः सन् कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनेति । भ० ३ श० ४ उ० ।

[१७] वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ १ । अत्थेगइए णं जाणं पासइ, नो देवं पासइ २ । अत्थेगइए देवं पि जाणं पि पासइ ३ । अत्थेगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४ । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देविं विउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणिं जाणइ पासइ ? । गोयमा ! एवं चेव । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं सदेवियं वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए देवं सदेवियं पासइ, नो जाणं पासइ । एएणं अभिलावेणं चत्तारि भंगा ॥

तत्र भावितात्मा संयमतपोभ्यामेवंविधानामनगाराणां हि प्रायोऽवधिज्ञानाधिलब्धयो भवन्तीति कृत्वा भावितात्मेत्युक्तम्; विहितोत्तरवैक्रियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण शिबिकाद्याका-

रवता, वैक्रियविमानेनेत्यर्थः । यान्तं गच्छन्तं, ज्ञानेन दर्शनेन । उत्तरमिह चतुर्भङ्गीविचित्रत्वादवधिज्ञानस्येति । भ० ३ श० ३ उ० । [अगारस्य भावितात्मनः केवलीसमुद्घातसमवहतस्य, मारणान्तिकसमुद्घातसमवहतस्य वा चरमपुद्गलाः सर्वलोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठन्ति इति 'केवलिसमुग्घाय' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते]

(१) अनगारस्य निक्षेपः ।
(२) अनगारत्वं वीरान्तेवासिनां वर्णकः ।
(३) पृथ्वीकायिकादिहिंसकानामनगारत्वं न भवति ।
(४) क्रियाऽसंवृतोऽनगारो न सिद्ध्यति ।
(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगाहना ।
(६) अनगारस्य भक्तप्रत्याख्यातुराहारः ।
(७) शैलेशीप्रतिपन्नस्यानगारस्य एजना ।
(८) अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेश्याशरीरं जानाति ।
(९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया ।
(१०) संवृतस्यानगारस्य क्रिया ।
(११) अनगारस्य गत्युपपादौ ।
(१२) असंवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा ।
(१३) केयाघटिकालक्षणकृत्यादिविकुर्वणा ।
(१४) अनगारस्य भावितात्मनः स्त्रीरूपस्य बाह्यपुद्गलादानपूर्वकं विकुर्वणा ।
(१५) अनगारस्य भावितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदर्शनम् ।
(१६) अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुद्गलादानपूर्वकमुल्लङ्घनप्रलङ्घने ।
(१७) वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति ।

ऋणकार-पुं० । ऋणमिव कालान्तरक्लेशानुभवहेतुतया ऋणमष्टप्रकारं कर्म, तत्करोतीति कोऽर्थः-तथा २ गुरुवचनविपरीतप्रवृत्तिभिरुपचिनोतीति ऋणकारः । दुःशिष्ये, उत्त० १ अ० ।

अणगारगुण-अनगारगुण-पुं० । ६ त० । साधोः व्रतषट्केन्द्रियाभिग्रहादिषु सप्तविंशतिगुणेषु, उत्त० ३१ अ० ।

सत्तावीसं अणगारगुणा पण्णत्ता । तं जहा-पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं सोइंदियनिग्गहे चक्खिंदियनिग्गहे घाणिंदियनिग्गहे जिब्भिंदियनिग्गहे फासिंदियनिग्गहे कोहविवेगे माणविवेगे मायाविवेगे लोभविवेगे भावसच्चे करणसच्चे जोगसच्चे खमाविरागया मणसमाहरणया वयसमाहरणया कायसमाहरणया णाणसंपन्नया दंसणसंपन्नया चरित्तसंपन्नया वेयणअहियासणया मारणंतियअहियासणया ॥

अनगाराणां साधूनां, गुणाश्चारित्रविशेषाः अनगारगुणाः, तत्र महाव्रतानि पञ्च (५) पञ्चेन्द्रियानिग्रहाश्च पञ्च (१०) क्रोधादिविवेकाश्चत्वारः (१४) सत्यानि त्रीणि । तत्र भावसत्यं-शुद्धान्तरात्मना, करणसत्यं-यत्प्रतिलेखनादिक्रियाः । तां यथोक्तं सम्यगुपयुक्तः कुरुते । योगसत्यं-योगानां मनःप्रभृतीनामवितथत्वम् [१७] क्षमाऽनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपस्य द्वेषसंज्ञितस्याप्रीतिमात्रस्याभावः । अथवा क्रोधमानयोरुदयनिरोधः, क्रोधमानविवेकशब्दाभ्यां तदुदयप्राप्तयोर्निरोधः, प्रागेवाभिहित इति न पुनरुक्तताऽपीति (१८) विरागता-अभिष्वङ्गमात्रस्य भावः । अथवा मायालोभयोरनुदयो मायालोभविवेकशब्दाभ्यां तूदयप्राप्तयोस्तयोर्निरोधः प्रागभिहित इतीहापि न पुनरुक्ततेति (१९) मनोवाक्कायानां समाहरणता, पाठान्तरतः-'समन्वाहरणता' अकुशलानां निरोधास्त्रयः (२२) ज्ञानादिसंपन्नतास्तिस्रः (२५) वेदनाऽतिसहनता शीताद्यतिसंहनम् (२६) मारणान्तिकातिसहनता-कल्याणमित्रबुद्ध्या मारणान्तिकोपसर्गसहनमिति (२७) स० २७ सम० । उत्त० । प्रश्न० । जीत० । आ० चू० । संथा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् दर्शयितुमाह-

से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया एसणासमिया आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपरिट्ठावणियासमिया मणसमिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभचारी अकोहा अमाणा अमाया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा अणासवा अग्गंथा छिन्नसोया निरुवलेवा कंसपाइ व मुक्ततोया संख इव णिरंजणा जीव इव अपडिहयगती गगणतलं पि व निरालंबणा वाउरिव अपडिबंधा सारदसलिलं इव सुद्धहियया पुक्खरपत्तं इव निरुवलेवा कुम्मो इव गुत्तिंदिया विहग इव विप्पमुक्का खग्गिविसाणं व एगजाया भारंडपक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव जातत्थिमा सीहो इव दुद्धरसा मंदरो इव अप्पकंपा सागरो इव गंभीरा चंदो इव सोमलेसा सूरो इव दित्ततेया जच्चकंचणगं व इव जातरूवा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहुयहुयासणो विव तेयसा जलंता णत्थि णं ॥ ७० ॥ तेसिं भगवंताणं कत्थवि पडिबंधे भवइ, से पडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-अंडएइ वा (वोंडजेइ वा) पोयएइ वा उग्गहेइ वा पग्गहेइ वा जन्नं जन्नं दिसं इच्छंति तन्नं तन्नं दिसं अपडिबद्धा सुइभूया अप्पलहुभूया अप्पग्गंथा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरंति ॥ ७१ ॥ तेसि णं भगवंताणं इमा एतारूवा जाया माया वित्ती होत्था । तं जहा-चउत्थे भत्ते छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते दसमे भत्ते दुवालसमे भत्ते चउदसमे भत्ते अद्धमासिए भत्ते मासिए भत्ते दोमासिए तिमासिए चाउम्मासिए पंचमासिए छम्मासिए अदुत्तरं च णं उक्खित्तचरया णिक्खित्तचरया उक्खित्तणिक्खित्तचरगा अंतचरगा पंतचरगा लूहचरगा समुदाणचरगा संसट्ठचरगा असंसट्ठचरगा तज्जातसंसट्ठचरगा दिट्ठलाभिया अदिट्ठलाभिया पुट्ठलाभिया अपुट्ठलाभिया भिक्खुलाभिया अभिक्खुलाभिया अन्नायचरगा अन्नायओमचरगा उवनिहिया संखादत्तिया परिमितपिंडवाइया सुद्धेसणिया अंताहारा पंताहारा अरसाहारा विरसाहारा लूहाहारा तुच्छाहारा अंतजीवी पंतजीवी आयंबिलिया पुरिमड्ढिया निव्विगइया अमज्जमंसा ससिणो णोणियामरसभोइट्ठाणाइया पडिमाठाणाइया उक्कडुआस-

णिया णेसज्जिया वीरासणिया दंमायतिया लगंमसाइणो अप्पाउमा अगत्तया अकंडुया अणिट्टुहा धुतकेसमंसरोमनहा सव्वगा य पडिकमविप्पमुक्का चिट्ठंति ॥ ७२ ॥ तेणं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामन्नपरियागं पाउणंति बहु बहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहुइं जत्ताइं पच्चक्खाइ, पच्चक्खाइत्ता बहुइं वासाइं अणसणाइं छेदिंति, अणसणाइं छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंमभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धा अलद्धमाणा अमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गं अहियासिज्जंति, तमट्ठं आराहंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुन्नं केवलवरणाणदंसणसमुप्पाडेंति, समुप्पाडेंतित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति ॥ ७३ ॥

तद्यथा नाम केचनोत्तमसंहननधृतिबलोपेता अनगारा भगवन्तो भवन्तीति । ते पञ्चभिः समितिभिः समिताः, एवमित्युपदर्शने । औपपातिकमाचाराङ्गसंबन्धिप्रथममुपाङ्गं तत्र साधुगुणाः प्रबन्धेन व्यावर्ण्यन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण द्रष्टव्यमित्यतिदेशः । यावल्लूनमपनीतं केशश्मश्रुरोमनखादिकं यैस्ते, तथा सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्ता निष्प्रतिकर्मशरीरास्तिष्ठन्तीति ॥७०॥ ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ते चोग्रविहारिणः प्रव्रज्यामनुपाल्य बाधारूपे रोगातङ्के समुत्पन्नेऽनुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यानं विदधति, किं बहुनोक्तेन-यत्कृतेऽयमयोगोलकवन्निरास्वादः करवालधारामार्गवद् दुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपाल्यते, तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमाराध्य, अव्याहतमनन्तं मोक्षकारणं केवलज्ञानमाप्नुवन्ति, केवलज्ञानावाप्तेरूर्ध्वं सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षमवाप्नुवन्तीति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणगारचरित्तधम्म-अनगारचारित्रधर्म-पुं० । अगारं नास्ति येषां तेऽनगाराः साधवः, तेषां चारित्रधर्मः। महाव्रतादिपालनरूपे चारित्रधर्मभेदे, "अणगारचरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सरागसंजमे, वीयरागसंजमे" स्था० २ ठा० १ उ० । [व्याख्या चास्य स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या]

अणगारधम्म-अनगारधर्म-पुं०। ६ त० । सर्वविरतिचारित्रे यतिधर्मे, औ० ।

अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंमे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्स सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायअदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहराईभोअणाओ वेरमणं अयमाउसो ! अणगारसामइए धम्मे पण्णत्ते। एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरेमाणे आणाए आराहए भवति ॥

अथाधिकृतवाचना-इह खलु-इहैव, मर्त्यलोके, [सव्वओ सव्वयाए त्ति] सर्वतः-द्रव्यतो भावतश्चेत्यर्थः । सर्वात्मना सर्वान् क्रोधादीनात्मपरिणामानाश्रित्येत्यर्थः । एते च मुण्डीभूत्वेत्यस्य विशेषणे, अनगारिता प्रव्रजितस्येत्यन्तस्य वा [अयमाउसो त्ति] अयमायुष्मन् ! [अणगारसामइए त्ति] अनगाराणां समये समाचारे, सिद्धान्ते वा भवोऽनगारसामयिको, अनगारसामयिकं वा [सिक्खाए त्ति] शिक्षायामभ्यासे [आणाए त्ति] आज्ञया विहरन् आराधको भवति ज्ञानादीनाम् । अथवा आज्ञाया जिनोपदेशस्याराधको भवतीति । औ० ।

साधुधर्ममाह—

खंती य मद्दवज्जव, मुत्ती तवसंजमे अ बोधव्वे ।
सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जइधम्मो ॥ १४ ॥

क्षान्तिश्च, मार्दवम, आर्जवम, मुक्तिः, तपःसंयमौ च बोद्धव्यौ; सत्यं, शौचम, आकिञ्चन्यं, ब्रह्मचर्यं च यतिधर्म इति गाथाक्षरार्थः॥ १४ ॥ दश० नि० ६ अ० ।

सापेक्षो निरपेक्षश्च, यतिधर्मो द्विधा मतः ।
सापेक्षस्तत्र शिक्षायै, गुर्वन्तेवासिताऽन्वहम ॥

यतिधर्म उक्तलक्षणः मुनिसंबन्ध्यनुष्ठानविशेषः, द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, मतः प्ररूपितः, जिनैरिति शेषः । द्वैविध्यमेवाह-सापेक्षो निरपेक्षश्चेति । तत्र गुरुगच्छादिसाहाय्यमपेक्षमाणो यः प्रव्रज्यां परिपालयति स सापेक्षः । इतरस्तु निरपेक्षो यतिः, गच्छाद्यपेक्षारहित इत्यर्थः। तयोर्धर्मोऽपि क्रमेण गच्छवासलक्षणो जिनकल्पादिलक्षणश्च सापेक्षो निरपेक्षश्चोच्यते, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् । तत्र तयोः सापेक्षनिरपेक्षयतिधर्मयोर्मध्यात् अयं सापेक्षयतिधर्मो भवतीति क्रियासंबन्धः । एवमग्रेऽपि योज्यम् । स च यथा शिक्षाया इत्यादि । तत्र शिक्षा अभ्यासः । सा च द्विधा—ग्रहणशिक्षाऽऽसेवनाशिक्षा चेति । तत्र ग्रहणशिक्षा—प्रतिदिनसूत्रार्थग्रहणाभ्यासः । आसेवनाशिक्षा- प्रतिदिनक्रियाऽभ्यासः । तस्यैतदर्थं न तूदरपूर्त्याद्यर्थमिति भावः । ध० ३ अधि० ।

अणगारमग्गगइ-अनगारमार्गगति-स्त्री० । ६ त० । सम्यग्दृष्टेस्तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण निर्मुक्तस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु, सिद्धिगतौ च । उत्त० ।

एषां चोत्तराध्ययनानां पञ्चत्रिंशेऽध्ययने दर्शितानि सूत्राणि-

सुणेह मेगग्गमणे, मग्गं बुद्धेहि देसियं ।
जमायरंतो भिक्खू य, दुक्खाणंतकरो भवे ॥ १ ॥

शृणुत आकर्णयत, मे मम, कथयत इति शेषः। एकाग्रमनसः कोऽर्थः-अनन्यगतचित्ताः सन्तः, शिष्या इति शेषः। किं तदित्याह-मार्गमुक्तरूपं प्रक्रमान्मुक्तेर्बुद्धैरवगतयथाकथितवस्तुभिरुत्पन्नकेवलैरर्हद्भिः श्रुतकेवलिभिर्गणधरादिभिर्वेत्युक्तं भवति । देशितं प्रतिपादितम् । अर्थतः सूत्रतश्च । तमेव विशेषयितुमाह-[जमिति] मार्गमाचरन् आसेवमानो, भिक्षुरनगारो, दुःखानां शारीरमानसानामन्तः पर्यन्तः तत्करणशीलोऽन्तकरो, भवेत् स्यात्, सकलकर्मनिर्मूलनन इति भावः । तदनेनाभिधेयमेवकसंबन्धेनाऽनगारसंबन्धिमार्गो, तत्फलं च मुक्तिगतिरिति दर्शितम्। ततश्चानगारमार्गं, तद्गतिं च शृणुत इत्यर्थं उक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह —

गिहवासं परिच्चज्ज, पव्वज्जामस्सिओ मुणी ।

इमे संगे वियाणिज्जा, जेहिं सज्जंति माणवा ॥ २ ॥

गृहवासं गृहावस्थानं, यदि वा गृहमेव पारवश्यहेतुतया पाशो गृहपाशस्तं, परित्यज्य परिहृत्य, प्रव्रज्यां सर्वसङ्गपरित्यागलक्षणां भागवतीं दीक्षाम्,आश्रितः प्रतिपन्नः, मुनिः, इमान् प्रतिप्राणिप्रतीततया प्रत्यक्षान्, सङ्गान् पुत्रकलत्रादींस्तत्प्रतिबन्धान् वा , विजानीयाद् भवहेतवोऽमीति विशेषेणावबुध्येत, निश्चयतो निष्फलस्याऽसत्त्वात ज्ञानस्य च विरतिफलत्वात् प्रत्याचक्षीतेत्युक्तं भवति । संगशब्दव्युत्पत्तिमाह-[जेहिं ति] सुब्व्यत्ययाद् येषु,सज्जन्ते प्रतिबध्यन्ते, अथवा ये संगैः सज्जन्ते संबध्यन्ते, ज्ञानावरणादिकर्मणेति गम्यते । के ते ? । मानवा मनुष्याः , उपलक्षणत्वादन्येऽपि जन्तवः ॥ २ ॥

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबंभसेवणं ।

इच्छाकामं च लोहं च, संजओ परिवज्जए ॥ ३ ॥

तथेति समुच्चये । एवेति पूरणे । हिंसा प्राणव्यपरोपणम्, अलीकमनृतभाषणम् , चौर्यमदत्तादानम् , अब्रह्मसेवनं मैथुनाचरणम्,इच्छारूपः काम इच्छाकामस्तं चाप्राप्तवस्तुकाङ्क्षारूपं, लोभं च लब्धवस्तुविषयगृद्ध्यात्मकम्, अनेनोभयेनापि परिग्रह उक्तः । परिग्रहं च संयतो यतिः, परिवर्जयेत् परिहरेत् । अनेन मूलगुणा उक्ताः । एतद्व्यवस्थितस्यापि च शरीरिणोऽवश्यमाश्रयाहाराभ्यां प्रयोजनं, तयोश्च तदतिचारहेतुत्वमपि कयोश्चित्स्यादिति मन्वानस्तत्परिहाराय सूत्रषट्केन तावदाश्रयचिन्तां प्रतियतते ॥ ३ ॥

मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं ।

सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसा वि न पत्थए ॥ ४ ॥

[मनोहरं ति] चित्ताक्षेपकं, किं तत् ,? चित्रप्रधानं गृहम् । तदपि कीदृशम् ?, माल्यैर्ग्रथितपुष्पैर्धूपनैश्च कालागुरुतुरुष्कादिसम्बन्धिभिर्वासितं सुरभीकृतं, माल्यधूपनवासितं, सह कपाटेन वर्तत इति सकपाटम् , तदपि पाण्डुरोल्लोचं श्वेतवस्त्रविभूषितं, मनसापि, आस्तां वचसा , न प्रार्थयेत् नाभिलषेत् , किं पुनस्तत्र तिष्ठेदिति भावः ॥ ४ ॥

किं पुनरेवमुपदिश्यत इत्याह—

इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए ।

दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि , तुरिति यस्माद्, भिक्षोरनगारस्य तादृशे तथाभूते उपाश्रये, दुःखेन क्रियन्ते-करोतेः सर्वधात्वर्थत्वाल्लक्ष्यन्ते दुष्कराणि, दुःशकानीत्यर्थः। तुरेवकारार्थः। दुष्कराण्येव धारयितुमुन्मार्गप्रवृत्तिनिषेधतो मार्ग एव व्यवस्थापयितुम् । पठ्यते च-'दुक्कराणि निवारिउं ति'। तत्रापि निवारयितुमिति नियन्त्रितुं, स्वस्वविषये प्रवृत्तेरिति गम्यते। कीदृशीम्?, काम्यमानत्वात् कामा मनोज्ञा इन्द्रियविषयास्तेषु रागोऽभिष्वङ्गस्तस्य विवर्द्धने विशेषेण वृद्धिहेतौ कामरागविवर्धने, तथाविधचित्तव्याक्षेपसंभवात् । कस्यचिन्मूलगुणस्य कथंचिदतिचारसंभवे दोष इत्येवमुपदिश्यत इति भावः ॥ ५ ॥

एवं तर्हि क कीदृशं स्थातव्यम् ? —

सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगए ।

पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए ॥ ६ ॥

श्मशाने प्रेतभूमौ, शून्यागारे उद्वसितगृहे, वा विकल्पे, वृक्षमूले वा पादपसमीपे, एकके इत्येकस्मिंस्तथाविधकाले । पठ्यते चैवमपि-'एगगो त्ति' एकको रागद्वेषवियुक्तोऽसहायो वा,तथाविधयोग्यतायां,पारक्ये वा परसम्बन्धिनि तथाविधप्रतिबन्धेनास्वीकृते । पाठान्तरतः- " पतिरिक्के " देशीभाषयैकान्ते स्त्र्याद्यसंकुले, परकृते-परैरन्यैर्निष्पादितं, स्वार्थमिति गम्यते । वा समुच्चये । वासमवस्थानं, तत्र श्मशानादौ, अभिरोचयेत् प्रतिभासयेत् । अर्थादात्मनो भिक्षुरित्युत्तरेण योगः ॥ ६ ॥

फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणभिहुए ।

तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए ॥ ७ ॥

प्रासुके अचित्तीभूतभूभागरूपे,तथा-अविद्यमाना बाधा, आत्मनः परेषां वाऽऽगन्तुकसत्त्वानां गृहस्थानां च यस्मिंस्तत्तथा तस्मिन्, तथा-स्त्रीभिरङ्गनाभिः, उपलक्षणत्वात् षण्ढकादिभिश्चानभिद्रुते, तदुपद्रवरहित इत्यर्थः। एतानि हि मुक्तिपथप्रतिपन्थित्वेन तत्प्रवृत्तानामुपद्रवहेतुभूतानीत्येवमभिधानम् । तत्रेति प्रागुक्तविशेषणविशिष्टे श्मशानादौ सम्यक्कल्पयेत् कुर्यात् । किम्? वासम्,भिक्षणशीलो भिक्षुः। स च शाक्यादिरपि स्यादत आह-परमः प्रधानः, स चेह मोक्षस्तदर्थं सम्यक् यतते परमसंयतः, जिनमार्गप्रतिपन्न इत्युक्तं भवति । तस्यैव मुक्तिमार्गं प्रति वस्तुतः सम्यग् यत्नसंभवात् । प्राग्वासं तत्राभिरोचयेदित्युक्ते, रुचिमात्रेणैव कश्चित्तुष्येदिति । तत्र संकल्पयेद्वासमित्यभिधानम् ॥७॥

ननु किमिह परकृत इति विशेषणमुक्तमित्याशङ्क्याह—

न सयं गिहाइ कुव्वेज्जा, नेव अन्नेहिं कारए ।

गिहकम्मसमारम्भे, भूयाणं दिस्सए वहो ॥ ८ ॥

न स्वयमात्मना, गृहाणि उपाश्रयरूपाणि,कुर्वीत विदधीत, नैवाऽन्यैर्गृहस्थादिभिः, कारयेद्विधापयेत्, उपलक्षणत्वान्नापि कुर्वन्तमनुमन्येत् । किमिति ?,यतो गृहनिष्पत्त्यर्थं कर्म गृहकर्म, इष्टकामृदानयनादि, तदेव समारम्भः, प्राणिनां परितापकरत्वात् । उक्तं हि-'परितावकरो भवे समारंभो त्ति'। यद्वा-तस्य समारम्भः प्रवर्तनं गृहकर्मसमारम्भः, तस्मिन् , भूतानामेकेन्द्रियादिप्राणिनां, दृश्यते प्रत्यक्षत एवोपलभ्यते, कोऽसौ ?, वधो विनाशः ।८।

भूतानां वध इत्युक्तं तत्र मा भूत् केषांचिदेवासावित्याशङ्क्याह—

तसाणं थावराणं च, सुहुमाणं बायराण य ।

तम्हा गिहसमारंभं, संजओ परिवज्जए ॥ ९ ॥

त्रसानां द्वीन्द्रियादीनां, स्थावराणां पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम्, चः समुच्चये । तेषामपि सूक्ष्माणामतिश्लक्ष्णानां शरीरापेक्षया; जीवप्रदेशापेक्षया तस्यामूर्तत्वेनैवं प्रायो व्यवहारायोगाद्, बादराणां चैवमेव, स्थूलानाम् । यद्वा-सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्माणां, तेषामपि प्रमादतो भावहिंसासंभवात् । बादरनामकर्मोदयाच्च बादराणाम् । उपसंहर्तुमाह-[तम्ह त्ति]यस्मादेवंभूतवधस्तस्माद् गृहसमारम्भं संयतः सम्यग्हिंसादिभ्य उपरतः, अनगार इत्यर्थः । परिवर्जयेत परिहरेत् ॥ ९ ॥

इत्थमाश्रयचिन्तां विधायाहारचिन्तामाह—

तहेव भत्तपाणेसु, पयणे पयावणेसु य ।

पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए ॥ १० ॥

तथैव तेनैव प्रकारेण, भक्तानि च शाल्योदनादीनि, पीयन्त इति पानानि च पयःप्रभृतीनि, भक्तपानानि; तेषु पचनानि च स्वयं विक्लेदापादनकथनानि, पाचनानि च तान्येवान्यैः पचन-

पाचनानि, तेषु च भूतवधो दृश्यत इति प्रक्रमः । ततः किमित्याह--प्राणा द्वीन्द्रियादयः, भूतानि पृथिव्यादीनि, तेषां दया रक्षणम्, प्राणभूतदया । तदर्थम्-तद्धेतोः। किमुक्तं भवति-पचनपाचनप्रवृत्तानां यः संभवी जीवोपघातः स मा भूदिति न पचेत्, स्वतो भक्तादीनिति प्रक्रमः । नापि पाचयेत्, तदेवान्यैरिति ॥ १० ॥

अमुमेवार्थं स्पष्टतरमाह--

जलधन्ननिस्सिया जीवा, पुढवीकट्ठनिस्सिया ।
हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए ॥११॥

जलं च पानीयं, धान्यं च शाल्यादि, तन्निःश्रितास्तन्धान्यं च उत्पत्य ये तन्निःश्रयाः स्थिताः-पूतरकभुजगेलिकापिपीलिकाप्रभृतयः । उपलक्षणत्वात् तद्रूपाश्च जीवाः प्राणिनः । एवं पृथ्वीकायनिःश्रिता एकेन्द्रियादयो हन्यन्ते, भक्तपानेषु प्रक्रमात् पच्यमानादिषु । यत एवं तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् । अत्र अपेर्गम्यमानत्वात् पाचयेदपि न, किं पुनः स्वयं पचेत् । अनुमतिनिषेधोपलक्षणं चैतत् ॥ ११ ॥

अपरं च--

विसप्पे सव्वओ धारे, बहुपाणिविणासणे ।
नत्थि जोइसमे सत्थे, तम्हा जोइं न दीवए ॥ १२ ॥

विसर्पतीति विसर्पम्, स्वल्पमपि बहु भवति । यत उक्तम्-" अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं " इत्यादि । सर्वतः सर्वासु दिक्षु, धारेव धारा जीवविनाशिका शक्तिरस्येति सर्वतो धारम्, सर्वदिगवस्थितजन्तूपघातकत्वात् । उक्तं च-" पाईणपडिणं वा वि " इत्यादि । अतएव बहुधा प्राणविनाशनमनेकजीवजीवितव्यपरोपकं नास्ति न विद्यते, ज्योतिःसमम्-अग्नितुल्यम्, शस्यन्ते हिंस्यन्तेऽनेन प्राणिन इति शस्त्रं प्रहरणम्, अन्यदिति गम्यते । तस्याविसर्पित्वात्सर्वतोधारत्वादल्पजन्तूपघातत्वाच्चेति भावः । सर्वत्र लिङ्गव्यत्ययः प्राग्वत् । यस्मादेवं तस्माद्, ज्योतिर्वैश्वानरम्, न दीपयेत् न ज्वालयेत् । अनेन च पचनस्याग्निज्वलनाऽविनाभावित्वात् तत्परिहार एव समर्थितः । इत्थं च विशेषप्रक्रमेऽपि सामान्याभिधानं प्रसक्ततः शीतापनोदादिप्रयोजनेनापि तदारम्भनिषेधार्थम्, आधाकर्मादिका विशुद्धकोटिरनेनैवार्थतः परिहार्योक्ता, तदपरिहारे ह्यवश्यंभाविपचनानुमत्यादिप्रसङ्ग इति ॥१२॥

नन्वेवं जीववधनिमित्तत्वमेव पचनादेर्निषेधे निबन्धनम्, तच्च नास्ति क्रयविक्रययोरिति, युक्तमेवाऽऽभ्यां निर्वहणमिति कस्यचिदाशङ्का स्यात्, अतस्तदपनोदनाय हिरण्यादिपरिग्रहपूर्वकत्वात्तयोस्तन्निषेधपूर्वकत्वे सूत्रत्रयेण तत्परिहारमाह—

हिरन्नं जायरूवं च, मणसा वि न पत्थए ।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए ॥ १३ ॥

हिरण्यं कनकम्, जातरूपं रूप्यम् । चकारोऽनुक्ताशेषधनधान्यादिसमुच्चये । मनसाऽपि चित्तेनापि, आस्तां वाचा, न प्रार्थयेद्-ममामुकं स्यादिति । अपेर्गम्यमानत्वात्प्रार्थयेदपि न, किं पुनः परिगृह्णीयात् । कीदृशः सन्?, समे कोऽर्थः-प्रतिबन्धाभावतस्तुल्ये, लेष्टुकाञ्चने मृत्पिण्डखण्डकनके यस्येति समलेष्टुकाञ्चनः, एवंविधश्च सन् भिक्षुर्विरतो निवृत्तः, स्यादिति शेषः । कुतः?, क्रयो-मूल्येनान्यसंबन्धिन तथाविधवस्तुनः स्वीकारः, विक्रयश्च-तस्यैवात्मीयस्य तथाविधवस्तुजातेनान्यस्य दानम्, क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयमिति समाहारः, तस्मात् । पञ्चम्यर्थे सप्तमी, विषये सप्तमी वा । तत्र च क्रयविक्रयविषये विरत इति-विरतिमानित्यर्थः ॥ १३ ॥

किमित्येवमत आह-

किणंतो कइओ होइ, विक्कणंतो य वाणिओ ।
कयविक्कयम्मि वट्टंतो, भिक्खू न हवइ तारिसो ॥ १४ ॥

क्रीणन् परकीयं वस्तु मूल्येनाददानः, क्रयोऽस्यास्तीति क्रयिको भवति, तथाविधेतरलोकसदृश एव भवति । विक्रीणानश्च स्वकीयं वस्तु तथैव परस्य ददद् वणिग्भवति, वाणिज्यप्रवृत्तत्वादिति भावः, अत एव क्रयविक्रये उक्तरूपे, वर्तमानः प्रवर्त्तमानो, भिक्षुर्न तादृशो भवति, गम्यमानत्वाद् यादृशः सूत्राभिहितो भावभिक्षुरिति ॥ १४ ॥

किमित्याह—

भिक्खियव्वं न केयव्वं, भिक्खुणा भिक्खुवित्तिणा ।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा ॥ १५॥

भिक्षितव्यं याचितव्यम्, तथाविधं वस्त्विति गम्यते । न नैव, क्रेतव्यं मूल्येन ग्रहीतव्यम्, केन?, भिक्षुणा । कीदृशा?, भिक्षयैव वृत्तिर्वर्तनं निर्वहणं यस्यासौ भिक्षावृत्तिस्तेन । उक्तं हि-' सव्वं से जाइयं होइ, नत्थि किंचि अजाइयं" । क्रयविक्रयवद् भिक्षाऽपि सदोषैव भविष्यतीति मन्दधीर्मन्येत, तत आह-क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयम्, व्यवच्छेदफलत्वादस्य, तदेव महादोषः उक्तन्यायतः, लिङ्गव्यत्ययश्च प्राग्वत् इति । भिक्षाया वृत्तिः शुभमिहलोकपरलोकयोः कल्याणं, सुखं वा तदावहति समन्तात् प्रापयतीति शुभावहा, सुखावहा वा । एतेन क्रीतदोषपरिहार उक्तः, स चाशेषविशुद्धकोटीगतदोषपरिहारोपलक्षणम् ॥ १५ ॥

भिक्षितव्यमित्युक्तं, तच्च दानश्राद्धादिवेश्मनि क्वचिदेकत्रैव स्यादत आह-

समुयाणं उंछमेसेज्जा, जहासुत्तमणिंदियं ।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी ॥ १६॥

समुदानं भैक्ष्यम्, न त्वेकभिक्षामेव, तच्चोञ्छमिवोञ्छम्-अन्यान्यवेश्मतः स्वल्पस्वल्पमात्राणां मीलनान्मधुकरवृत्त्या हि भ्रमत इहैव भवतीत्येवमुक्तम्, एषयेद्गवेषयेत् । एतच्चोत्सूत्रमपि स्यात् । अत आह-सूत्रमागमस्तदनतिक्रमेण यथासूत्रमागमाभिहितोद्गमैषणाद्यबाधात् । इत्युक्तं भवति-तत एवानिन्दितं शिष्टानिन्द्येन स्वपरप्रशंसादिहेतुनोत्पादितं जात्यादिजुगुप्सितजनसंबन्धिवाद् भवति । तथा लाभश्च अलाभश्च लाभालाभं, तस्मिन्, संतुष्ट ओदनादेः प्राप्ताप्राप्तौ च संतोषवान्, न तु वाञ्छाविधुरितचित्त इति भावः । इह च लाभेऽपि वाञ्छा-उत्तरोत्तरवस्तुविषयत्वेन भावनीया । पिण्ड्यत इति पिण्डो भिक्षा, तस्य पातः पतनम्, प्रक्रमात् पात्रेऽस्मिन्निति पिण्डपातं भिक्षाटनम्, तद् चरेदासेवेत, मुनिरिति तपस्वी । पाठान्तरतः-पिण्डमस्य पातः पिण्डपातस्तं गवेषयेदन्वेषयेत् । उभयत्र च वाक्यान्तरविषयत्वादपौनरुक्त्यम् ॥ १६॥

इत्थं च पिण्डमवाप्य यथा भुञ्जीत तथाऽऽह-

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए ।
न रसट्ठाए भुंजेज्जा, जवणट्ठाए महामुणी ॥ १७॥

अलोलः सरसान्ने प्राप्ते लाम्पट्यवान् न, रसे स्निग्धमधुरादौ गृद्धोऽप्राप्तेऽभिकाङ्क्षावान्, कथं चैवंविधः? । यतो [जिब्भादंते त्ति] प्राकृतत्वाद्दान्ता वशीकृता जिह्वा रसना येनासौ दान्तजिह्वः, अत एवासूर्च्छितः सन्निधेरकरणेन तत्काले वाभिष्वङ्गा-

भावेन। उक्तं हि-"णो वामातो हणुयाओ, दाहिणं दाहिणाउ वा। वामं संचालए-" एवंविधश्च सन् नैव [रसट्ठाए त्ति] रसार्थं सरसमिदमहमास्वादयामीति, धातुविशेषो वा रसः। स च शेषधातूपलक्षणं, ततस्तदुपचयः स्यादित्येतदर्थं न भुञ्जीत नाभ्यवहरेत्। किमर्थं तर्हि ?, यापना-निर्वाहः, स चार्थात्संयमस्य, तदर्थं महामुनिः प्रधानतपस्वी। अनेन पिण्डविशुद्धिरुक्ता। तदेवमादौ मूलगुणान् विधेयतयाऽभिधाय तत्प्रतिपालनार्थमाश्रयाहारचिन्ताद्वारेण उत्तरगुणाश्च उक्ताः ॥ १७ ॥

संप्रति तदवस्थितस्तत एवात्मन्युत्पन्नबहुमानः कश्चिदर्चनादि प्रार्थयेदिति तन्निषेधार्थमाह--

अच्चणं सेवणं चेव, वंदणं पूयणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसा वि न पत्थए ॥ १८ ॥

अर्चनां पुष्पादिभिः पूजाम्, सेवनां निषद्यादिविषयां, स्वस्तिकादिन्यासात्मिकां वा। चः समुच्चये; एवोऽवधारणे, नेत्यनेन संभन्त्स्यते। वन्दनं नमस्तुभ्यमित्यादि वाचाऽभिष्टवनम्, पूजनं विशिष्टवस्त्रादिभिः प्रतिलाभनम्। तथेति समुच्चये। ऋद्धिश्च श्रावकोपकरणादि संपद्, आमर्षौषध्यादिरूपा वा, सत्कारश्चार्थप्रदानादि, संमानश्च अभ्युत्थानादि, ऋद्धिसत्कारसंमानम्, ततो मनसाऽपि, आस्तां वाचा, नैव प्रार्थयेत्-ममैवं स्यादित्यभिलषेत् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह--

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥ १९ ॥

शुक्लध्यानमुक्तरूपं यथा भवत्येवं ध्यायेच्चिन्तयेत्। अनिदानोऽविद्यमाननिदानः, अकिञ्चनः प्राग्वत्, व्युत्सृष्ट इव व्युत्सृष्टः कायः शरीरं येन स तथा, विहरेत्; अप्रतिबद्धविहारतयेति गम्यते। यावदिति मर्यादायाम्, कालस्येति मृत्योः, [पज्जओ त्ति] पर्यायः परिपाटी, प्रस्ताव इति यावत्। यावन्मरणसमयः क्रमप्राप्तो भवतीति भावः ॥ १९ ॥

एवंविधोऽनगारगुणस्थश्च यावदायुर्विहृत्य मृत्युसमये यत्कृत्वा यत्फलमवाप्नोति तदाह--

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए।
चइऊण माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खे विमुच्चइ ॥ २० ॥

(निज्जूहिऊण त्ति) परित्यज्य, आहारमशनादि, तत्परित्यागश्च संलेखनाक्रमेणैव, झगिति तत्करणे बहुतरदोषसंभवात्। तथा चागमः-" देहम्मि असंलिहिए, सहसा धातूहि खिज्जमाणेहिं। जायइ अट्टज्झाणं, सरीरिणो चरिमकालम्मि"॥१॥ कदा?; कालधर्मे आयुःक्षयलक्षणे मृत्युस्वभावे, उपस्थिते प्रत्यासन्नीभूते, त्यक्त्वाऽपहाय, [माणुसं ति] मानुषीं मनुष्यसम्बन्धिनीम्, बोन्दिं शरीरम्, प्रभुः-वीर्यान्तरायक्षयतो विशिष्टसामर्थ्यवान्, [दुक्खे त्ति] दुःखैः शारीरमानसैः, विमुच्यते-विशेषेण मुच्यते, तन्निबन्धनकर्मापगम इति भावः ॥ २० ॥

कीदृशः सन्नित्याह--

निम्ममो निरहंकारो, वीयरागो अणासवो।
संपत्तो केवलं नाणं, सासए परिनिव्वुडे ॥ २१ ॥-त्ति बेमि ॥

निर्ममोऽपगतममकारः, निरहंकारोऽहममुकजातीय इत्याद्यहंकाररहितः, ईदृक्कुतः?, वीतरागः प्राग्वद्विगतरागद्वेषः, तथाऽनाश्रवः कर्माश्रवरहितः, मिथ्यात्वादिहेत्वभावात्। संप्राप्तः, केवलज्ञानम्-उक्तरूपम्। शाश्वतम्, कदाचिदप्यव्यवच्छेदात्। परिनिर्वृतोऽस्वास्थ्यहेतुकर्माभावतः सर्वथा स्वस्थीभूतः, इत्येकविंशतिसूत्रभावार्थः ॥ २१ ॥ उत्त० ३५ अ०। स०।

अणगारमहेसि-अनगारमहर्षि-पुं०। अनगाराश्च ते महर्षयश्चेति। अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु, स०।

अणगारवाइ(ण्)-अनगारवादिन्-पुं०। यतिवेषमास्थितेषु अनगारगुणरहितेषु अनगारंमन्येषु शाक्यादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ०२ उ०। ['अनगार' शब्देऽत्रैव भागे २७० पृष्ठे भावितं चैतद् यथा शाक्यादयो नानगाराः]

अणगारसामाइय-अनगारसामायिक-त्रि०। अनगाराणां समये भव इति। अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा भवे, औ०। स्था०।

अनगारसीह-अनगारसिंह-पुं०। मुनिसिंहे, "एवं थुणित्ताण स रायसीहं परमाइ भत्तीए" उत्त० २० अ०।

अनगारसुय-अनगारश्रुत-न०। आचारश्रुतापरनामके सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चमाऽध्ययने, सूत्र०। ('आयारसुय' शब्दे द्वि० भा० ३६१ पृष्ठेऽस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्)।

अणगारि (ण्)-अनगारिन्-पुं०। अगारी गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी। संयते, प्रश्न०।

अणगारिय-अनगारिक-त्रि०। न विद्यते अगारं यस्येत्यनगारः साधुस्तस्येदमिति। अनगारसम्बन्धिनि सर्वविरतिसामायिकादौ, विशे०।

अणगारिया-अनगारिता-स्त्री०। अगारी गृही असंयतः, तत्प्रतिषेधादनगारी संयतः, तद्भावस्तत्ता। साधुतायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ०।

अणगाल-अनगाल-पुं०। दुष्काले, वृ० ३ उ०।

अणगिण-अनग्न-पुं०। सुषमसुषमायां भरतवर्षे कर्मभूमिषु च सदा भवति कल्पवृक्षभेदे, ति०। अनग्नेषु कल्पपादपेषु अत्यर्थं बहुप्रकाराणि वस्त्राणि विश्रसा त एवातिसूक्ष्मसुकुमाराणि देवबहुमानुकाराणि मनोहराणि निर्मलानि उपजायन्ते। तं०। जी०। आदिगम्बरे, आच्छादनविशिष्टे च। वाच०।

अणग्घ-अनर्घ्य-त्रि०। सर्वोत्तमत्वादविद्यमानमूल्ये, आव० ४ अ०। अर्घगोचरातीते, संथा०। "सव्वे वि य सिद्धंता, सद्दव्वरयणासया सतेलोक्का। जिणवयणस्स भगवओ, न तुल्लमियत्तं अणग्घेयं" ॥१॥ यथाऽवस्थितार्थप्रकाशकत्वेन सकलपरप्रणेतृशास्त्रार्थादविद्यमानमूल्यमनर्घ्यम्। अथवा ऋणघ्नमिति, तत्र ऋणं पूर्वभवपरम्परोपात्तमष्टप्रकारं कर्म, तद् हन्ति यत्तत् ऋणघ्नम्। दर्श०।

अणग्घरयणचूड-अनर्घरत्नचूड-पुं०। भृगुपत्तने श्रीमुनिसुव्रते देवे, भृगुपत्तने अनर्घ्यरत्नचूडः श्रीमुनिसुव्रतः। ती० ४४ कल्प।

अणघ-अनघ-त्रि०। नास्ति अघं पापं दुःखं व्यसनं कालुष्यं वा यस्य। पापशून्ये, मलशून्ये, स्वच्छे, वाच०। शोभने, पं०व० १ द्वा०। दर्श०। व्यावृत्ततत्त्वप्रतिपत्तिबाधकमिथ्यात्वमालिन्ये, "संविग्नस्तत्त्वश्रुतेरेवं, ज्ञाततत्त्वो नरानघः" ध० १ अधि०।

अणघमय-अनघमत-त्रि०। ६ त०। अवदातबुद्धौ, पं०व०४ द्वा०।

अणचउक्क-अनन्तानुबन्धिचतुष्क-न०। अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाख्ये कषाये, कर्म० २ कर्म।

अणच्चंतिय–अनात्यन्तिक–पुं० । सहायिनं मुक्त्वाऽप्रतिनिवर्तिष्यति सहायभेदे, बृ० ४ उ० ।

अणच्चक्खर–अनत्यक्षर–न० । एकादिभिरक्षरैरधिकमत्यक्षरं, न तथा अनत्यक्षरम् । अनु० । एकेनाप्यक्षरेणानधिके, आ०म०प्र० ।

अणच्चाविय–अनर्तित–न० । वस्त्रमात्मानं वा न नर्तितं न नृत्यवदिव कृतं यत्र तदनर्तितं प्रत्युपेक्षणम् । अप्रमादप्रत्युपेक्षणाभेदे, स्था० । वस्त्रं नर्तयत्यात्मानं चेत्येवमिह चत्वारो भङ्गाः–" वत्थे अप्पाणम्मि य चउहं अणच्चावियं " स्था०६ ठा०१ उ० । पं० व० । औ० । " णच्चणं सरीरे वत्थे वा, सरीरे उक्कंपणं, वत्थे वि विकारा करेति, ण णच्चावियं अणच्चावियं" नि० चू० ८ उ० ।

अणच्चासायणासील–अनत्याशातनाशील–पुं० । अतीवायं सम्यक्त्वादिलाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना, तस्याः शीलं तत्करणस्वभावात्मकमस्येत्याशातनाशीलः, न तथाऽनत्याशातनाशीलः गुरुपरिवारादिकृतिः । आचार्यादीनामभक्तिनिन्दाहीलावर्णवादाद्याशातनानिवारके, उत्त० २९ अ० ।

अणच्चासायणाविणय–अनत्याशातनाविनय–पुं० । अत्याशातनं शातना, तन्निषेधरूपो विनयोऽनत्याशातनाविनयः । भ० २५ श० ७ उ० । दर्शनविनयभेदे, औ० ।

से किं तं अणच्चासायणाविणए ? । अणच्चासायणाविणए पणयालीसविहे पन्नत्ते । तं जहा-अरहंताणं अणच्चासायणया अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया आयरियाणं अणच्चासायणया उवज्झायाणं अणच्चासायणया थेराणं अणच्चासायणया कुलस्स अणच्चासायणया गणस्स अणच्चासायणया संघस्स अणच्चासायणया किरियाए अणच्चासायणया संभोगस्स अणच्चासायणया आभिणिबोहियणाणस्स अणच्चासायणया जाव केवलणाणस्स अणच्चासायणया एएसिं चेव भत्तिबहुमाणे णं एएसिं चेव वन्नसंजलणया, सेत्तं अणच्चासायणाविणए, सेत्तं दंसणाविणए ॥

(किरियाए अणच्चासायणय त्ति) इह क्रिया-अस्ति परलोकोऽस्त्यात्माऽस्ति च सकलक्लेशाकलङ्कितं मुक्तिपदमित्यादिप्ररूपणात्मिका गृह्यते । (संभोगस्स अणच्चासायणय त्ति) सम्भोगस्य समानधार्मिकाणां परस्परेण भक्त्यादिदानग्रहणरूपस्यानत्याशातनाविपर्यासवत्करणपरिवर्जनम् (भत्तिबहुमाणे णं ति) इह णंकारो वाक्यालङ्कारे, भक्त्या सह बहुमानो भक्तिबहुमानः , भक्तिश्चेह बाह्या परिशुद्धिः; बहुमानश्चान्तरः प्रीतियोगः (वन्नसंजलणय त्ति) सद्भूतगुणवर्णनेन यशोदीपनम् । भ० २५ श० ७ उ० ।

अणच्छ–कृष्–धा० । आकर्षणे, विलेखने च । तुदा०, आत्म०, सक०, अनिट् । भ्वादि०, पर०, सक०, अनिट् । "कृषेः कड्डसाअड्ढाअणच्छायञ्छाइञ्छाः " ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति कृषेरणच्छादेशः । अणच्छइ-कृषते, कर्षति वा । प्रा० ।

अणच्छिआरं–देशी–अच्छिन्ने, दे० ना० १ वर्ग ।

अणच्छेय–ऋणच्छेद–पुं० । उत्तमर्णाद् गृहीतद्रव्यस्योच्छेदे, ध० । ऋणच्छेदे च न विलम्बनीयम् । तदुक्तम्–"धर्मारम्भे ऋणच्छेदे, कन्यादाने धनागमे । शत्रुघातेऽग्निरोगे च, कालक्षेपं न कारयेत्" ॥१॥ स्वनिर्वाहाक्षमतया ऋणदानाशक्तेन तूत्तमर्णगृहे कर्मकरणादिनाऽपि ऋणमुच्छेद्यम्, अन्यथा भवान्तरे तद्गृहे कर्मकरमहिषवृषभकरभरासभादित्वस्यापि संभवात् । उत्तमर्णेनाऽपि सर्वथा ऋणदानाशक्तो न याच्यः, मुधाऽऽर्तध्यानक्लेशपापवृद्ध्यादिप्रादुर्भावात्, किन्तु यदा शक्नोषि तदा दद्याः नो चेदिदं मे धर्मपदे भूयादिति वाच्यः, न तु ऋणसंबन्धश्चिरं स्थाप्यः, तथा सत्यायुःसमाप्तौ भवान्तरे द्वयोर्मिथःसंबन्धवैरवृद्ध्याद्यापत्तेः । ध० २ अधि० ।

अणज्ज–अनार्य–पुं० । आराद्यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यम्, न आर्यमनार्यम् । आव० ४ अ० । आर्येतरे, क्रूरे च । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । पापकर्मणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । अनार्य इवानार्यः । म्लेच्छचेष्टिते, दश० १ चू० । अनार्यलोककरणात्, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । अनार्यप्रयुक्ते, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अन्याय्य–त्रि० । अन्यायोपेते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणज्जधम्म–अनार्यधर्म–पुं० । अनार्याणामिव धर्मः स्वभावो येषां ते तथा, अनार्यकर्मकारित्वात् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । क्रूरकर्मकारिषु, " इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मं, अणारिया बालरसेसु गिद्धा " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अणज्जजाव–अनार्यजाव–पुं० । क्रोधादिमति पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अणज्झवसाय–अनध्यवसाय–पुं० । आलोचनामात्रे अध्यवसायाभावे, रत्ना० ।

अथानध्यवसायस्वरूपं प्ररूपयन्ति—

किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ॥ १३ ॥

अस्पृष्टविशिष्टविशेषं किमित्युल्लेखेनोत्पद्यमानं ज्ञानमात्रमनध्यवसायः । प्रोच्यते-समारोपरूपत्वं चास्यौपचारिकम्, अतस्मिंस्तदध्यवसायस्य तल्लक्षणस्याभावात् । समारोपनिमित्तं तु यथार्थापरिच्छेदकत्वम् । उदाहरन्ति—

यथा–गच्छतस्तृणस्पर्शज्ञानम् ॥ १४ ॥

गच्छतः प्रमातुस्तृणस्पर्शविषयं ज्ञानमन्यत्रासक्तचित्तत्वादेवंजातीयकमेवंनामकमिदं वस्त्वित्यादिविशेषानुल्लेखि किमपि मया स्पृष्टमित्यालोचनमात्रमित्यर्थः । प्रत्यक्षयोग्यविषयश्चायमनध्यवसायः । एतदुदाहरणादिशा च परोक्षयोग्यविषयोऽप्यनध्यवसायोऽवसेयः । यथा-कस्यचिदपरिज्ञातगोजातीयस्य पुंसः क्वचन वननिकुञ्जे सास्नामात्रदर्शनात् पिण्डमात्रमनुमाय को नु खलु अत्र प्रदेशे प्राणी स्यादित्यादि । रत्ना० १ परि० ।

अणज्झोववन्न–अनध्युपपन्न–त्रि० । अमूर्च्छिते, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणट्टाकित्ति–अनार्तकीर्ति–त्रि० । अनार्ता कीर्तिर्यस्य । सकलदोषविगमतोऽबाधितकीर्तिके, " तहेव विजओ राया, अणट्टाकित्तिपव्वए " आर्षत्वादनार्ते आर्तध्यानविकलः । कीर्त्यादिनाऽनाथादिदानोद्भूया प्रसिद्धयोपलक्षितः । उत्त० १८ अ० ।

अणट्ठ–अनर्थ–पुं० । अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । अर्थस्याभावोऽनर्थः । अ० । अप्रयोजने, आव० ६ अ० । निष्प्रयोजने, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । गुणहानौ, ज्ञा० ६ अ० । उपघाते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्था० ।

अणट्ठग–अनर्थक–पुं० । अष्टाविंशे गौणपरिग्रहे, तस्य परमार्थवृत्त्या निरर्थकत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणट्ठकारग–अनर्थकारक–त्रि० । पुरुषार्थोपघातके. प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । अनार्ते, पुं०। आर्तध्यानरहिते, उत्त० ३ अ० ।

अणट्ठपगड–अन्यार्थप्रकृत–त्रि० । साधुनिमित्ते निवर्तिते, "अ नट्ठं पगडं लेणं, भइज्ज सयणासणं" दश० ८ अ० ।

अणट्ठादंड–अनर्थदण्ड–पुं० । अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तुधनधान्यं शरीरपरिपालनादिविषयं तदर्थं आरम्भो भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः। दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः॥ अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः, स चैवंभूत उपमर्दनलक्षणो दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते, तद्विपरीतोऽनर्थदण्डः । आव० ४ अ० । निष्प्रयोजनं हिंसादिकरणे, आतु०। इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभूतोपमर्देनात्मनो निग्रहे, पंचा० १ विव० । स च रूढ्यतः–यदकारणे राजकुले दण्ड्यते । भावतस्तु–निष्कारणं ज्ञानादीनां हानिः । सू० १ उ० । आव० । "जो पुण सरडाईणं, थावरकायं च वणलयाईयं । मारेतु छिंदिऊ ण य, छंमे एसो अणट्ठाए" ॥ १ ॥ प्रव० २७४ द्वा० ।

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भवंति, ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सोणियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए बालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हारुणिए अट्ठीए अट्ठिमंजाए णो हिंसिंसुमेत्ति णो हिंसिंतिमेत्ति णो हिंसिस्संतिमेत्ति णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणयाए णो अगारपरिवूहणताए णो समणमाहणवत्तणाहेउं णो तस्स सरीरगस्स किंचिविप्परिया दित्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवंति अणट्ठादंडे ॥६॥ से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा–इक्कडाइ वा कडिणाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्छगाइ वा पप्पगाइ वा पलालाइ वा ते णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो आगारपरिवूहणयाए णो समणमाहणपोसणयाए णो तस्स सरीरगस्स किंचि वि परियाइत्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दविइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी अणट्ठादंडे ॥७॥ से जहाणामए केइ पुरिसे कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरिंति, अण्णेण वि अगणिकायं णिसिरावेंति, अण्णं पि अगणिकायं णिसिरिंतं समणुजाणइ अणट्ठादंडे, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जेंति आहिज्जइ, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिए ॥८॥

अथापरं द्वितीयं दण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्यभिधीयते । तदधुना व्याख्यायते । तद्यथा नाम–कश्चित्पुरुषो निर्निमित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति । तदेव दर्शयितुमाह–[जे इमे इत्यादि] ये केचनामी संसारान्तर्वर्तिनः प्रत्यक्षा अम्बष्ठादयः प्राणिनस्तांश्चासौ हिंसन्नर्चा शरीरं, नो नैव, अर्चार्थं हिनस्ति, तथाऽजिनं चर्म, नापि तदर्थमेव, नैव मांसशोणितहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानखस्नाय्वस्थिमज्जा इत्येवमादिकं कारणमुद्दिश्य, नैव हिंसिषुर्नापि हिंसयिष्यति मां मदीयं चेति कारणमुद्दिश्य, तथा नो पुत्रपोषणायेति–पुत्रादिकं पोषयिष्यामीत्येतदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय, तथाऽगारं गृहं तस्य परिबृंहणमुपचयस्तदर्थं वा न हिनस्ति, तथा न श्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतु, तथा यत्नेन पालयितुमारब्धं नो तस्य शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणव्यपरोपणं भवति, इत्येवमादिकं कारणमनपेक्ष्यैवासौ क्रीडया तच्छीलतया, व्यसनेन वा प्राणिनां हन्ता भवति दण्डादिभिः । तथा छेत्ता भवति कर्णनासिकाविकर्तनतः, तथा भेत्ता शूलादिना, तथा लुम्पयिताऽन्यतराङ्गावयवविकर्तनतः, तथा विलुम्पयिता अक्ष्युत्पाटनचर्मविकर्तनकरपादादिच्छेदनतः, परमाधार्मिकवत्प्राणिनां निर्निमित्तमेव नानाविधोपायैः पीडोत्पादको भवति, तथा जीविताद्व्यपद्रावयिता भवति । स च सद्विवेकमुज्झित्वा, आत्मानं वा परित्यज्य, बालवद्बालोऽज्ञोऽसमीक्षितकारितया जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य भागी भवति ॥ ६ ॥ तदेवं निर्निमित्तमेवं पञ्चेन्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति, तथा प्रतिपादितम् । अधुना स्थावरानधिकृत्योच्यते—(से जहेत्यादि) यथा कश्चित्पुरुषो निर्विवेकः पथि गच्छन् वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादिना प्रध्वंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया व्रजति । एतदेव दर्शयति–(जे इमे इत्यादि) ये केचनामी प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिकायाः प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा–इक्कडादयो वनस्पतिविशेषा उक्तार्थाः; तानिहैकः समानया प्रयोजनमित्येवमभिसंधाय न छिनत्ति, केवलं तत्पत्रपुष्पादिनिरपेक्षस्तच्छीलतया छिनत्तीत्येतत्सर्वत्र योजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय, नागारप्रतिबृंहणाय, न श्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य किंचित् त्राणं भविष्यतीति केवलमेवासौ वनस्पतिहन्ता छेत्तेत्यादि यावद् जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य भागी भवति । अयं वनस्पत्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽभिहितः ॥ ७ ॥ सांप्रतमन्याश्रितमाह—(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम–कश्चित्पुरुषः सदसद्विवेकविकलतया कच्छादिकेषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गपर्यन्तेषु तृणानि कुशेषीकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वाधःस्थाने कृत्वाऽग्निकायं हुतभुजं निसृजति प्रक्षेपयति, अन्येन वाऽग्निकायं बहुसत्त्वापकारी दवार्थं निसर्जयति प्रक्षेपयति, अन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते, तदेवं योगत्रिकेण कृतकारितानुमतिभिस्तस्य यत्किंचनकारिणस्तत्प्रत्ययिकं द्वयदाननिमित्तं सावद्यं कर्म महापातकमाख्यातं, द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातमिति ॥ ८ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आ० चू० ।

अणट्ठादंडवेरमण–अनर्थदण्डविरमण–न० । अर्थः प्रयोजनम्, तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दण्ड्यते आत्माऽनेनेति दण्डो निग्रहः, अनर्थेन दण्डोऽनर्थदण्डः। इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभूतोपमर्देनात्मनो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्तस्य वा विरमणं विरतिः । तृतीये गुणव्रते, पंचा० १ विव० । उपा० । "तया णंतरं च णं अणट्ठदंडे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा–अवज्झाणायरिए पमायायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोवएसे । तस्स णं अणट्ठा-

दंडवेरमणस्स समणोवासगस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा-"एहाणावट्टणवन्नग-विलेवणे सद्द-रूवरसगंधे। वत्थासणआभरणे, पडिक्कमणे देवसियं सव्वं ॥१॥ कंदप्पे १ कुक्कुइए २, मोहरिए असंजुत्ताहिकरणे ४ य। उवभोगपरिभोगातिरित्ते-"। उपा०१ अ०। अस्यानर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन अमी पञ्चातीचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः। आव०६ अ०। (व्याख्या 'कंदप्प' आदिशब्देषु द्रष्टव्या)

अणट्ठाबंधि-अनर्थबन्धिन्-पुं०। पक्षमध्ये अनर्थकं निष्प्रयोजनमेकवारोपरि द्वौ त्रीन् चतुरो वा वारान् कल्पासु बन्धान् ददाति, चतुरुपरि बहूनि अट्टकानि वा बध्नाति, तथा च स्वाध्यायविघ्नपलिमन्थादयो दोषाः, यदि चैकाङ्गिकं चम्पकादिपट्टे लभ्यते तदा तदेव ग्राह्यम्, बन्धनादिपलिमन्थपरिहारात्। कल्प०।

अणमण-अनटन-न०। अभ्रमणे, पंचा० १३ विव०।

अणमो-देशी। जारे, दे० ना० १ वर्ग।

अणाणिप्पित्तु-अनर्प्य-अव्य०। प्रतीपमनर्प्येत्यर्थे, "अपमिह-ट्ठुमणणिप्पित्तु संवच्चए" 'अणणिप्पित्तु'-न प्रतीपं अर्पयतीत्यर्थः। नि० चू० २ उ०।

अणणुओग-अननुयोग-पुं०। अनुयोगविपर्यस्ते अननुरूपे योगे, विशे०।

नामादिभेदात्सप्तविधमनुयोगं व्याख्याय तद्विपक्षभूतमननुयोगं विभणिषुरुक्तोपसंहारं प्रस्तावनां चाह--

एसोऽणुरूवजोगो, गओऽणुओगो इओ विवज्जत्थं।
जो सो अणणुओगो, तत्थे-मे हौंति दिट्ठंता ॥१॥

तदेवं गतो भणित एषोऽनुरूपयोगोऽनुयोगः सप्तविधोऽपि। अथ विपर्यस्तमेतद्विपर्ययेण योऽयमननुयोगः, स उच्यते, तत्र चैते वक्ष्यमाणदृष्टान्ता भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तेऽननुयोगदृष्टान्ता इत्याह--

वच्छगगोणी खुज्जा, सज्झाए चेव बाहिरुल्लावे।
गामल्लए य वयणे, सत्ते यं हौंति भावम्मि ॥ २ ॥
सावगभज्जा सत्तव-इए य कोंकणगदारए नउले।
कमलामेला संब-स्स साहसं सेणिए कोवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदात्सप्तविधस्तथाऽननुयोगो यथासंभवं वक्तव्यः। तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यानुयोगस्तत्प्रसंगतः। द्रव्यानुयोगे च वत्सगौरुदाहरणम्। क्षेत्रे त्वननुयोगानुयोगयोः कुब्ज उदाहरणम्। काले स्वाध्यायः। वचने पुनरुदाहरणद्वयम्, तद्यथा-बधिरोल्लापः, ग्रामेयकश्च। भावे तु सप्तोदाहरणानि भवन्ति, तद्यथा--श्रावकभार्या १ साप्तपदिकः पुरुषः २ कोङ्कणकदारकः ३ नकुलः ४, कमलामेला ५, शम्बस्य साहसम्, ६ श्रेणिककोप ७ श्चेति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ ३ ॥

अथ विस्तरतो वत्सगोण्युदाहरणं भाष्यकारः प्राह-

खीरं न देइ सम्मं, परवच्छनिओयओ जहा गावी।
छड्डेज्ज व परदुद्धं, करेज्ज देहोवरोहं वा ॥

यथा काचिच्छबलादिका गौरन्यस्या बहुलादिकायाः संबन्धिनि गोदोहकेन वत्से नियुक्ते सत्यननुयोगोऽयमिति कृत्वा तन्नियोगतः क्षीरं दुग्धं सम्यग् न ददाति। अथवा न तावता तिष्ठेत् किन्तु परदुग्धम्-अन्यस्या अपि गोः सत्कं दुग्धमग्रेऽपि गोदोहनिकायां व्यवस्थितमुच्छलन्ती छर्दयेत् त्याजयेत्, यदि वा देहोपरोधं लत्ताप्रहारादिभिर्गोनुगलादिना देहबाधामपि कुर्यादित्यर्थः।

तथा किमित्याशङ्क्य प्रस्तुते योजयन्नाह-

तह न चरणं पसूते, परपज्जायविणिओगओ दव्वं।
पुव्वचरणोवघायं, करेइ देहोवरोहं वा ॥
जिणवयणासायणाओ, उम्मायातंकमरणवसणाइं।
पावेज्ज सव्वलोवं, स बोहिलाभोवघायं वा ॥
दव्वविवज्जासाओ, साहणभेओ तओ चरणभेओ।
तत्तो मोक्खाभावो, मोक्खाभावेऽफला दिक्खा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या-यदा जीवादिद्रव्यमजीवादिधर्मैः प्ररूपयति, अजीवादिद्रव्यं वा जीवादिधर्मैः प्ररूपयति, तदित्थं प्ररूप्यमाणं तद् द्रव्यमनुयोगतो दुग्धस्थानीयं चरणं चारित्रं न प्रसूते। परपर्यायविनियोगतो विपर्यासात्तद्धेतुः, तत्र भवतीत्यर्थः। न चैतावता तिष्ठति, किन्त्वित्थमननुयोगं कुर्वतः पूर्वप्राप्तचरणोपघातं च करोति, तथेत्थमत्राधिप्ररूपणप्रवृत्तस्य रोगाद्युत्पत्तेर्देहस्याप्युपरोधं बाधां विदधाति। किञ्चेत्थं जिनवचनाशातनोत्पत्तेरुन्मादातङ्कमरणव्यसनान्यपि प्राप्नुयात्, तथा सर्वव्रतलोपं, बोधिलाभोपघातं च प्राप्नुयादिति। ननु कथंचित्पर्यायप्ररूपणामात्रादेवैतावन्तो दोषा स्युरित्याह-"(दव्वविवज्जासत्यादि) विपरीतप्ररूपणे हि द्रव्यस्य विपर्यासो भवति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्भेदोऽन्यथाभावो जायते, ततः साधनभेदाच्चरणभेदस्तद्भेदात् तत्साध्यस्य मोक्षस्याभावप्रसङ्गः, उपायाभावे उपेयासिद्धेः। ततो मोक्षाभावे निष्फलैव दीक्षा, मोक्षार्थमेव तत्प्रतिपत्तिस्ततस्तदभावे निरर्थकैव सेति। तदेवं द्रव्याननुयोगे निर्दिष्टा दोषाः।

अथ द्रव्यस्य सम्यगनुयोगे गुणानाह-

सम्मं पयं पयच्छइ, सवच्छविणिओगओ जहा धेणू।
तह सपज्जवजोया, दव्वं चरणं तओ मोक्खो ॥

यथा परवत्सपरिहारेण स्ववत्सविनियोगतो गौः सम्यक् पयः प्रयच्छति तथा स्वकपर्याययोगाद् द्रव्यं, ततश्चरणं, ततो मोक्षः प्राप्यत इति। तदेवं द्रव्याननुयोगे च दोषगुणयोर्वत्सगोदृष्टान्त उक्तः।

अथ क्षेत्राद्यननुयोगे दोषांस्तदनुयोगे तु
गुणान्सोदाहरणानतिदिशन्नाह-

एवं खेत्ताईसु वि, सधम्मविणिओगओऽणुओग त्ति।
विवरीए विवरीओ, सोदाहरणोऽणुगंतव्वो ॥

एवमुक्तानुसारेण, क्षेत्रकालवचनभावेष्वपि स्वधर्मविनियोगतः आत्मोचितधर्मयोजनात्, अनुयोगः। विपरीते तु-विपरीतधर्मयोजने तु, विपरीतोऽननुयोगः सोदाहरणः स्वबुद्ध्या, ग्रन्थान्तराद्वाऽनुगन्तव्यो ज्ञातव्यः।

तत्रेत्थमतिदिष्टेऽपि मुग्धविनेयानुग्रहार्थं किञ्चिदुच्यते-तत्र क्षेत्रतोऽननुयोगेऽनुयोगे च कुब्जोदाहरणमभिधीयते-प्रतिष्ठाननगरे शालिवाहनो नाम राजा। स च प्रतिवर्षं समागत्य भृगुकच्छे नभोवाहननृपं रुणद्धि स्म। ऋतुबद्धे च काले तत्र स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं गच्छति स्म। अन्यदा च रोहक समागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभामण्डपिकायां पतद्ग्रहकमन्तरेणापि भूमौ निष्ठ्यूतम्। तस्य च राज्ञः पतद्ग्रहधारिणी कुब्जा समस्ति स्म। तया चातीवभावज्ञतया लक्षितम्-नूनं परिजिहासुरिदं स्थानं नरपतिर्यास्यति प्रभाते स्वनगरं, तेनेत्थमिह निष्ठीवतीति संचिन्त्य निगदितं कथ-

मध्यात्मपरिचितस्य यानशालिकस्य। ततस्तेन प्रगुणीकृत्य यानान्यवगच्छत एव राज्ञः पुरतोऽपि प्रवर्तितानि, तत्पृष्ठतश्च सर्वोऽपि स्कन्धावारः प्रवृत्तो गन्तुम्। व्याप्तं च तत्तामण्डलं कटकधूलिनिकरेण। ततश्चिन्तितं विस्मितमनसा नराधिपेन-ननु कस्यापि प्रयाणके न कथितं धूलीभयात्किलाहं स्वल्पपरिच्छदो भूत्वा सैन्यस्य पुरत एव यास्याम्येतच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथमिदं कटकलोकेन विज्ञातमिति। परम्परया शोधयता विज्ञाता कुब्जा। पृष्टया च तया कथितं सर्वमपि यथावृत्तम्। तदत्र सनामण्डपिकादिक्षेत्रेण निष्ठीवनस्य अननुयोगः, निष्ठीवनादिरक्षणप्रमार्जनोपक्षेपणादिकस्त्वनुयोगः। एवमेकान्तनित्यमेकमप्रदेशं चाकाशं प्ररूपयतोऽननुयोगः, स्याद्वादलाञ्छितं तु तदेव प्ररूपयतोऽनुयोग इति।

कालानुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायदृष्टान्तः-तद्यथा-एकः साधुः प्रादोषिककालग्रहणानन्तरं कालिकश्रुतमतीतामपि तद्गुणनवेलामजानानः परावर्तयते स्म। ततः सम्यग्दृष्टिदेवतया चिन्तितम्-बोधयाम्यमुं, मा क्षुद्रमिथ्यादृष्टिदेवताच्छलमस्य, ततो मथितकारूपेण मथितभृतमेव घटं मस्तके निधाय तस्यैव साधोरन्तिके गतागतानि कुर्वती 'मथितं गृह्यते' इति महता शब्देन पुनः पुनर्घोषयन्ती परिभ्रमति स्म। ततोऽप्युद्वेजितेन साधुना प्रोक्तम्-अहो! तवाद्यास्तक्रविक्रयवेला?। ततो मथितकारिकयाऽप्युक्तम्-अहो! तवापि स्वाध्यायवेला?। ततो विस्मितः साधुरुपयुज्य मिथ्यादुष्कृतं ददाति स्म। ततोऽकालस्वाध्यायविधानेन मिथ्यादृष्टिदेवताविहितच्छलानि भवन्त्यतः पुनरप्येवं मा कार्षीस्त्वमित्यादि साधुर्देवतयाऽनुशासितः। इत्येष स्वाध्यायस्य कालानुयोगः, कालेऽनुपालनतस्तदनुयोगः, प्रस्तुतेऽपि कालधर्माणां वैपरीत्यावैपरीत्यप्ररूपणे अननुयोगाऽनुयोगौ वाच्याविति।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोरुदाहरणद्वयमुच्यते-तत्र प्रथमं बधिरोल्लापः। तत्र चैकस्मिन् ग्रामे बधिरकुटुम्बं परिवसति स्म। स्थविरः, स्थविरा, पुत्रो, वधूश्च। अन्यदा च पुत्रः क्षेत्रे हलं वाहयन् पथिकैर्मार्गं पृष्टो बधिरतया ब्रवीति-गृहजातौ मम बलीवर्दाविमौ, न पुनरन्यस्य सत्कौ। ततो बधिरोऽयमिति विज्ञाय गताः पथिकाः। ततो भक्तं गृहीत्वा वधूः समायाता। शृङ्गितौ पथिकैर्बलीवर्दावित्यादि निवेदितं तेन तस्याः। तया च प्रोक्तम्-क्षारमलवणं वेति न जानाम्यहम्, एतत्त्वदीयजनन्यैव हि संस्कृतम्। ततो गृहं गतया तयाऽपि क्षारादिभणनव्यतिकरो निवेदितः स्थविरायाः। तया च कर्तयन्त्या प्रोक्तम्-स्थूलं सूक्ष्मं वा भवत्विदं, स्थविरस्य परिधानं भविष्यतीति। निवेदितं चैतत्सानुशयचित्तया स्थविरया गृहमागतस्य स्थविरस्य। तेनाऽपि चिन्त्यता प्रोक्तम्-तव जीवितं पिबामि, यद्येकमपि तिलमहं भक्षयामीति। एवमेकवचनादिकमप्युक्तम्। द्विवचनादितया यः शृणोति तथैव चान्यस्य प्ररूपयति, तस्याननुयोगः, यथावस्तुवचननिरूपणे त्वनुयोग इति॥ वचनानुयोगस्यैवेह प्राधान्यख्यापनार्थं वचनविषयमेव द्वितीयं ग्रामेयकोदाहरणमुच्यते-तत्र चैकस्मिन्नगरे कस्याश्चिन्महिलाया भर्ता मृतः, तत्रेन्धनजलादिकष्टेन बाधिता निर्वहन्ती लघुना निजतनयेन सह ग्रामं गताऽसौ। ततो वृद्धिं गतेन पुत्रेण सा पृष्टा-मदीयपितुः का जीविका आसीत्?। तया प्रोक्तम्-राजसेवा। तेनोक्तम्-अहमपि तां करोमि?। तया प्रोक्तम्-पुत्र! दुष्कराऽसौ, महता विनयेन क्रियते। कीदृशः पुनरसौ विनयः?। तया प्रोक्तम्-सर्वस्यापि दृष्टस्य प्रणामः कार्यः, नीचैर्वृत्त्या सर्वस्यापि प्रवर्तितव्यम्, परच्छन्दानुवृत्तिपरेण सर्वत्र भवितव्यम्। एवं करिष्यामीत्यभ्युपगम्य चलितोऽयं राजधानीम्। सम्मुखे मार्गे च हरिणेष्वागच्छत्सु वृक्षमूलेष्वाकृष्टधनुर्धरो निलीना व्याधा दृष्टाः। तेषां च तेन महता शब्देन योत्कारः कृतः, ततस्त्रस्ताः प्रपलाय्य गता हरिणाः। ततो व्याधैः कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ। ततस्तेनोक्तम्-जनन्याऽहं शिक्षितः-दृष्टस्य सर्वस्यापि योत्कारः कर्तव्य इत्यादि। ततश्च ऋजुरयमिति ज्ञात्वा मुक्तस्तैः, शिक्षितश्च-यथा-ईदृशे दृष्टे निलीनैरवनतैः शब्दमकुर्वद्भिः शनैर्वा जल्पद्भिर्निभृतमागम्यते। तदभ्युपगम्य पुरतो गन्तुं प्रवृत्तोऽसौ। दृष्टाश्च वस्त्राणि क्षालयन्तो रजकास्तेषां च वस्त्राणि तस्करैर्नित्यमपह्रियन्ते स्म, ततस्तत्र दिने लगुडादिव्यग्रपाणयो रजकाः प्रच्छन्नोपविष्टा हेरयन्तस्तिष्ठन्ति स्म। आगतश्चाऽजल्पन्नवनतगात्रो निलीयमानः शनैः सः तत्र ग्रामेयकः। स एष चौर इति कृत्वा कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ रजकैः। सद्भावे च कथिते मुक्तस्तैः शिक्षितश्च-यथेदृशे कस्मिंश्चिद् दृष्टे एवमुच्यते, यथा-ऊषक्षारोऽत्र पततु, शुक्लं च भवत्विति। इदं चाभ्युपगम्य प्रवृत्तः पुरतो गन्तुम्। ततो दृष्टं क्वचिद्ग्रामे बहुभिर्मङ्गलैः प्रथमं हलवाहनस्य दिवसकरणं क्रियमाणम्। तत उक्तम्-ऊषेत्यादि। ततस्तैरपि कृषीवलैः पिट्टितो बद्धश्च, सद्भावे ज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशे क्वापि दृष्टे प्रोच्यते, यथा-गन्त्र्योऽत्र ध्रियन्तां, बन्द्वत्र भवतु, सदैव चेदमस्त्विति। अभ्युपगतं च तेनेदम्। अन्यत्र च मृतके बहिर्नीयमाने प्रोक्तमिदम्। तथापि कुट्टितो बद्धश्च, सद्भावकथने च मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशं मा भूद्भवतां कदाचिदपि वियोगश्चेदृशो नास्त्विति। एतच्चान्यत्र विवाहे प्रोक्तम्-तत्रापि तथैव बद्धः, सद्भावे परिज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशे प्रोच्यते-सदैवं पश्यन्त्वीदृशानि भवन्तः, शाश्वतश्च भवत्वेतत्सम्बन्धः, मा भूदिह वियोग इति। इदं चाऽन्यत्र क्वचिन्निगडबद्धं राजानमवलोक्य पुत्राणस्तथैव कदर्थयित्वा मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशो वियोगः शीघ्रं भवत्वनेन, एवं च मा भूत्कदाचिदपीत्यभिधीयते। एतच्चान्यत्र क्वचिद्राज्ञां सन्धौ जल्प्यमाने प्रोक्तं, ततस्तत्रापि तथैव कदर्थितः। एवं स्थाने २ कदर्थ्यमानोऽन्यदा कस्यापि विभवतः प्रमुक्तस्य ठक्कुरस्य सेवां विधातुमारब्धः, तत्र चान्यदा गृहे आम्लखलिकायां सिद्धायां ग्रामसभाजनसमूहमध्ये उपविष्टस्य ठक्कुरस्य शीतलीभूता एषा भोक्तुमयोग्या भविष्यतीति भार्यया तदाकारणाय प्रेषितो ग्रामेयकः। तेनापि तस्य जनसमूहस्य शृण्वतो महता शब्देन प्रोक्तम्-आगच्छ ठक्कुर! शीघ्रमेव गृहं, भुङ्क्ष्व, आम्लखलिका शीतलीभवति स्थिताऽसौ, ततो लज्जितठक्कुरो गृहं गतस्ततो वाढं ताडयित्वा शिक्षितोऽसौ, यथा नेत्थं कुर्वाणैर्गृहप्रयोजनानि भण्यन्ते, किं तु वस्त्रेण मुखं स्थगयित्वा कर्णाभ्यर्णे च स्थित्वा शनैः कथ्यन्ते। ततोऽन्यदा वह्निदीप्ते गृहे गतो ग्रामसभायां, शनैरग्रतः स्थित्वा वस्त्रं च मुखद्वारे दत्त्वा कथितं तत्तस्य कर्णे। ततः संभ्रमाद् धावितो गृहाभिमुखः ठक्कुरो, दग्धं च सर्वस्वं सर्वमपि गृहं, ततः कुपितेन वाढं ताडितोऽसौ ठक्कुरेण, भणितश्च निर्लक्षण! प्रथममेव धूमे निर्गते जलाचाम्लधूलिभस्मादिकं किमिति त्वया न निक्षिप्तं, महता च शब्देन किमिति त्वया न पूत्कृतम्?। तेनोक्तम्-अन्यदा इत्थं करिष्यामीति। ततः कदाचिद्विहितस्नानो धूपनायोपविष्टः ठक्कुरः, निर्गतां च प्रच्छादनपटस्योपरि अगरुधूमशिखां दृष्ट्वा च ग्रामेयकेन क्षिप्ता चोत्पाट्य तदुपर्याम्लस्रुतमहास्थाली, जलधूलीभस्मादिकं च, तथा च पूत्कृतं महद्भिः शब्दैरिति। ततोऽयोग्योऽयमिति निष्कासितो गृहात्। एवं शिष्योऽपि यावन्मात्रं वचनं गुरुः कथयति तावन्मात्रमेव स्वयं ऊहय-

क्षेत्रकालपराभिप्रायौचित्यपरिज्ञानशून्यो यो वक्ति, तस्य वचनाननुयोगः, यस्तु द्रव्यक्षेत्राद्यौचित्येन वक्ति तस्य तदनुयोग इति ।

भावाननुयोगानुयोगयोः सप्तोदाहरणानि—

तत्र श्रावकभार्योदाहरणमाह—एकेन गृहीताणुव्रतेन तरुणश्रावकेण श्रावकभार्याऽतीवरूपवती कृतोद्भटरूपशृङ्गारा निजपत्न्या एव सखी कदाचिद् दृष्टा । गाढमभ्युपपन्नश्च तस्यां, परं लज्जादिना किमपि वक्तुमशक्नुवंस्तत्प्राप्तिचिन्तया च प्रतिदिनमतीव दुर्बलो भवन्निर्बन्धेन पृष्टं कारणं स्वभार्यया, कथितं च कथं कथमपि तेन । तया चातीवदक्षतया प्रोक्तम्-एतावन्मात्रेऽप्यर्थे किं खिद्यसे? प्रथममेव ममैतत्किं न कथितम्?, स्वाधीना हि मम सा, आनयामि सत्वरमेवेति । ततोऽन्यदिने भणितो भर्त्ता-तया अभ्युपगतं सहर्षया तया युष्मत्समीहितं, प्रदोष एवागमिष्यति, परं लज्जालुतया वासभवनप्रविष्टमात्राऽपि प्रदीपं विध्यापयिष्यति । तेनोक्तम्-एवं भवतु, किमित्थं विनश्यति, ततो वयस्यायाः सकाशात्किंचिन्निमित्तमुद्भाव्य याचितानि तया तदीयानि स्वभर्तृदृष्टपूर्वाणि प्रधानवस्त्राण्याभरणानि च, ततो गुटिकादिप्रयोगतो विहितसखीसदृशस्वरादिस्वरूपा तथैव कृतशृङ्गारा तत्सदृशाललितविलासैश्चान्विता तस्यैव श्रावकस्य भार्या सन्निहितवरकुसुमताम्बूलश्रीखण्डागुरुकर्पूरकस्तूरिकादिसमस्तभोगाङ्गे विहितमङ्गप्रदीपालोके रमणीये वासभवने सविलासमन्वविशत् । ततो दृष्टा सोत्कण्ठविस्फारितदृशा त्रिदशकल्लोलिनीपुलिनप्रतिस्पर्धिपल्यङ्कोपविष्टेन झगित्येव नयनमनसोऽमृतवृष्टिमिवादधाना तेनैषा । तया च दृष्टमात्रया विध्यापितः प्रदीपः । क्रीडितं विविधगोष्ठीप्रबन्धपूर्वकं तया सह निर्भरं तेन । गतायां च तस्यां प्रत्युषसि चिन्तितमनेन-"सयलसुरासुरपणमिय-चलणेहिं जिणेहि जं हियं भणियं । तं परजवसंबलयं, अहह ! मए हारियं सीलं " ॥ १ ॥ इत्यादिसंवेगवशोत्पन्नपश्चात्तापमहानलप्लुष्यमाणान्तःकरणः प्रतिदिनमधिकतरं दुर्बलीभवत्यसौ । ततो निर्बन्धेन भार्यया पृष्टो निःश्वस्य सखेदं ब्रवीति स्म-प्रिये ! बताहं चिरकालानुपार्जितस्वर्गापवर्गनिबन्धनव्रतखण्डनमनेनामुना कृतं मया तदकर्तव्यं यद् बालिशानामप्यविधेयम् । ततः कृशीभवाम्यहमनया चिन्तया । ततो भार्यया संवेगवशीभूतं व्याकुलचित्तं च तं ज्ञात्वा विज्ञाय कथितः सर्वोऽपि यथावृत्तः । सद्भावसाभिज्ञानकथनादिभिश्च समुत्पादिता प्रतीतिस्तस्य, ततः स्वस्थीभूतोऽयमिति । तदेवं स्वकलत्रमपि परकलत्राभिप्रायेण भुञ्जानस्य तस्य भावाननुयोगः, यथाऽवस्थितावगमे भावानुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् स्वरूपवैपरीत्येन प्ररूपयतो भावाननुयोगः, यथावस्थिततत्प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।

सप्तभिः पदैर्व्यवहरतीति साप्तपदिकस्तदुदाहरणमुच्यते— एकस्मिन्प्रत्यन्तग्रामे कोऽपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च साध्वादिदर्शनिनां संबन्धिनं धर्मं कदाचिदपि न शृणोति स्म । न च तदन्तिके कदाचिदपि व्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयं ददाति स्म । यतो दयालुतां परधनपरकलत्रनिवृत्त्यादिगुणप्रतिपत्तिं चैते उपदेक्ष्यन्ति, न च पालयितुमहं शक्नोमीति । अन्यदा च वर्षासु समायातास्तत्र कथमपि साधवः, तेषां च तत्र वसतिमन्वेषयतां कौतुकादिदृक्षुभिः सेवकनरमित्रैर्ग्रामीणैरुक्तम्-अत्रेत्थं भूतो भवतामतीव भक्तोऽमुकगृहे श्रावकास्तिष्ठति, वसत्यादिना न किञ्चिन्न्यूनं करिष्यति; तद्गच्छत तत्रेति; कृतं तत्तथैव तैः । स च तेषां पुरतोऽपि स्थितानां संमुखमपि नावलोकयति स्म । तत एकेन साधुना शेषसाधूनामभिमुखमुक्तम्-स एव न भवति, प्रवञ्चिता वा तैर्ग्रामेयकैर्वयम् । ततस्तेन संभ्रान्तेनोक्तम्-किं किं भणथ यूयम्? । ततस्तैः कथितं सर्वमपि भाषितम्, ततस्तेन चिन्तितम्-अहो ! मत्तोऽपि ते निकृष्टा यैरेतेऽपि प्रवञ्चिताः, तस्माद् मा भूदमी अहं च तदुपहासपात्रम् । अतोऽनिष्टमपि करोम्येतदिति विचिन्त्योक्तम्-तिष्ठत मम निराकुलशालायामेतस्याम्, परं मम धर्माक्षरं न कथनीयम् । प्रतिपन्नमेतत्तैः । स्थिताश्च सुखेन तत्र चतुर्मासकालस्य यावत् । ततो विजिहीर्षुभिस्तैरनुव्रजनार्थमागतस्य शय्यातरस्य कल्पोऽयमिति दत्ताऽनुशास्तिः । ततो मद्यमांसजीवघातादिविरतिं कर्तुमशक्नुवतस्तस्यातिशयज्ञानितयाऽग्रे प्रतिबोधगुणं पश्यद्भिर्गुरुभिः साप्तपदिकं व्रतं दत्तम् । किंचित्पञ्चेन्द्रियप्राणिनं जिघांसुना यावता कालेन सप्तपदान्यवष्वष्क्यन्ते, तावन्तं कालं प्रतीक्ष्य हन्तव्योऽसाविति । प्रतिपन्नमेतत्तेन । गताश्च साधवोऽन्यत्र । अन्यदा चासौ सेवकनरश्चौर्यार्थं गतः क्वापि, ततोऽपशकुनादिकारणेन स्वल्पेनैव कालेन प्रतिनिवृत्तः, कीदृशो मत्परोक्षे मदीयगृहे समाचार इति जिज्ञासुर्निशीथे प्रच्छन्न एव प्रविष्टो निजगृहे, तस्मिंश्च दिने तदीयभगिनी ग्रामान्तरादागता, तया च केनचिद् हेतुना विहितपुरुषनेपथ्यया नटा नृत्यन्तो निरीक्षिताः । ततोऽसौ प्रचलनिद्रावशीकृतपुरुषवेषैव भ्रातृजायायाः समीपे प्रदीपालोकादिरम्यवासभवनगतपल्यङ्क एव निर्भरं प्रसुप्ता । तेनाऽपि च तद्बन्धुना अकस्मादेव गृहप्रविष्टेन दृष्टं तत्तादृशम् । ततश्चिन्तितमनेन-अहो ! विनष्टं मद्गृहम् । विटः कोऽप्ययं मद्भार्यासमीपे प्रसुप्तस्तिष्ठतीति कोपावेशादात्तकृपाणः, ततः स्मृतं व्रतं, विलम्बितं च सप्तपदापसरणकालम् । अत्रान्तरे तद्भगिनीबाहुलतिका निद्रावशेन तद्भार्यया मस्तकेनाक्रान्ता, ततः पीड्यमानया तद्भगिन्या प्रोक्तम्-हले ! मुञ्च मम बाहुं, दूयेऽत्यर्थमहम् । ततः स्वरविशेषेण ज्ञाताऽनेन स्वभगिनी । अहो ! निकृष्टोऽहं, मनागेव मया न कृतमिदमकार्यम् । तत उत्थिते ससंभ्रमं भगिनीभार्ये । कथितश्च सर्वैः स्वव्यतिकरः परस्परम् । ततो यथोक्ताभिग्रहमात्रस्याप्येवंभूतं फलमुद्वीक्ष्य संविग्नः प्रव्रजितोऽसाविति । तदत्र स्वभगिनीमपि परपुरुषाभिप्रायेण जिघांसोस्तस्य भावाननुयोगः ; यथाऽवस्थितावगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुतयोजना तु श्रावकभार्योदाहरणवदिति ।

कोङ्कणकदारकोदाहरणम्—

यथा कोङ्कणकविषये एकस्य पुरुषस्य लघुदारकोऽस्ति स्म । भार्या तु मृता, अन्यां च परिणेतुमिच्छतोऽपि सपत्नीपुत्रोऽस्यास्तीति न कोऽपि ददाति स्म । अन्यदा च सहैव तेन दारकेणासावरण्ये काष्ठानां गतः, तत्र च कस्यापि विशा काण्डं मुक्तं, तदानयनाय च दारकः प्रेषितः, गतश्चायम्, अत्रान्तरे दुष्पितुस्तस्य चलितं चित्तं, यदस्य दारकस्य सत्कारणेनान्यां भार्यां मम न कोऽपि ददाति । ततोऽन्यत्काण्डं क्षिप्त्वा विद्धोऽसौ दारकः, ततो महता स्वरेणोक्तं बालकेन-तात ! किमेतत्काण्डं त्वया मुक्तम्, विद्धो ह्यनेनाहम् । ततो निर्घृणेन पित्राऽन्यत् काण्डं मुक्तम् । ततो ज्ञातं दारकेण-हन्त ! बुद्ध्या मारयत्येष मामिति विस्वरं रुदन्निकृष्टेन तेन मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यस्य बाणं मुञ्चताऽपिऽनाभोगत एवाहं विद्ध इत्येवमवबुध्यमानस्य भावाननुयोगः, पश्चाद्यथावस्थितावगमे तस्य भावानुयोगः । अथवा संरक्षार्हमपि तं बालकं मारयामीत्यध्यवस्यतः पितुर्भावाननुयोगः, तद्रक्षाध्यवसाये तु भावानुयोगः । एवं विपरीतभावप्ररूपणे भावाननुयोगः, अविपरीतभावप्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।

अथ नकुलोदाहरणम्—

यथा पदातेः कस्यचिद् भार्या गुर्विणी जाता, नकुलिका च

काचिद् गृहवृत्त्याद्याश्रिता गुर्विणी, पदातिजायया सह एकस्यां रजन्यां प्रसूता। तस्या नकुलो जातः, इतरस्यास्तु पुत्रः, ततोऽस्य समीपे नकुलः सदैव तिष्ठति स्म। अन्यदा च पदातिजायया द्वारे कण्डयन्त्या मध्ये मञ्चिकायां स्थापितो बालकः सर्पेण दष्टो मृतश्च। ततो मञ्चिकाया उत्तरं नकुलेन दृष्टो विषधरः खण्डशः कृत्वा मारितश्च; ततो द्वारे पदातिभार्यायाः समीपे गत्वा शोणितलेपलिप्तवदनस्तदग्रतोऽसौ चाटूनि कर्तुमारब्धः, दृष्टश्च तया। ततो नूनं मदीयपुत्रं मारयित्वा भक्षितोऽनेनेति विचिन्त्य कोपावेशान्मुशलेन हत्वा मारितो नकुलः। गता च गृहमध्ये; दृष्टश्च पुत्रेण सह विनष्टः सर्पः, ज्ञातं च तथा सर्पो निकृन्तनो हन्तेत्थं निरपराधोऽप्युपकार्यपि मया निकृष्टया हतो वराको नकुलः, इति विचिन्त्य द्विगुणतरं शोकमापन्ना। पूर्वमपराधिनं विज्ञाय नकुलं घ्नन्त्यास्तस्या भावाननुयोग इति; यथावस्थितावगमे त्वनुयोगः। प्रस्तुतयोजना त्वनन्तरोक्तवदिति।

अथ कमलामेलोदाहरणम्–

तत्र द्वारावत्यां नगर्यां बलदेवपुत्रो निषधः, तस्यापि सूनुः सागरचन्द्रः, स च रूपेणातीवोत्कृष्टः, शाम्बादीनां च कुमाराणां सर्वेषामप्यतिप्रियः, तस्यामेव च द्वारावत्यां नगर्यामन्यस्य राज्ञो दुहिता कमला नाम समस्ति स्म। सा चोग्रसेनतनयस्य नभःसेनकुमारस्य दत्ता वृता च तिष्ठति स्म। अन्यदा च तत्र नारदः सागरचन्द्रस्य समीपं गतः। तेनाप्युत्थाय उपवेश्य प्रणम्य च पृष्टः-दृष्टं भगवन्! आश्चर्यं किमपि क्वापि?। नारदेनोक्तम्-दृष्टं कमलामेलाभिधानराजपुत्रिकाया न खलु ममैव किन्तु भुवनत्रयस्याप्याश्चर्यकारि रूपम्। सागरचन्द्रेणोक्तम्-किं दत्ता कस्यचित्सा?। नारदेनोक्तम्-दत्ता परं नाद्यापि परिणीता। कथं पुनर्मम सा संपत्स्यते? इति सागरचन्द्रेणोक्ते, न जानाम्येतदहमित्यभिधाय गतो नारदः। सागरचन्द्रस्तु तद्दिनादारभ्य न शयानो नाप्यासीनः क्वापि रतिं लभते, तामेव कन्यकां फलकादिष्वालिखन्, तन्नाममात्रजापं चानवरतं कुर्वन्नास्ते स्म। नारदोऽपि कमलामेलाऽन्तिकं गतः। तयाऽपि तथैवाश्चर्यं किमपि दृष्टम्?, इति पृष्टः। कलहदर्शनप्रियतया स प्राह-दृष्टमाश्चर्यद्वयं मया-सागरचन्द्रे सुरूपत्वं, नभःसेने तु कुरूपत्वम्। ततो झगित्येव सा विरक्ता नभःसेने, अनुरक्ता च सागरचन्द्रे। तत्प्राप्तिचिन्ताऽऽतुरा च समाश्वासिता नारदेन सा-वत्से! स्थिरीभव संपत्स्यते अचिरादेव तवायमित्युक्त्वा गतः सागरचन्द्रसमीपे। इच्छति त्वां सेत्यभिधाय गतः। ततो विरहावस्थाव्यथिते प्रलपति च सागरचन्द्रे, आर्तः सर्वोऽपि मात्रादिस्वजनवर्गः, खिद्यन्ते यादवाः, तदवान्तरे समायातः कथमपि सागरचन्द्रसमीपे शाम्बकुमारः, दृष्टश्च तेनासौ तदवस्थः, ततः पृष्ठतस्तस्य स्थित्वा हस्तद्वयेनाच्छादिते तदक्षिणी शाम्बेन। सागरचन्द्रेणोक्तम्-किं कमलामेला?। शाम्बेनोक्तम्-नाहं कमलामेला, किन्तु कमलामेलोऽहम्। ततः सागरचन्द्रेण शाम्बोऽयमिति ज्ञात्वा प्रोक्तम्-सत्यमेव कमलसमदीर्घलोचनां कमलामेलां मेलयिष्यसि, कोऽन्योऽर्थेऽन्यः समर्थ इति। ततोऽन्यैर्यदुकुमारैः पीतमद्यः परवशीभूतः शाम्बो ग्राहितस्तद्दापनप्रतिज्ञाम्। उत्तीर्णे च मदभावे विचिन्तितं शाम्बेन-अहो! अलं मयाऽभ्युपगतम्, अशक्यं ह्येतद्वस्तु, कथमियं प्रतिज्ञा निर्वाहयिष्यते, ततः प्रद्युम्नपार्श्वात्प्रज्ञप्तिविद्या याचिता शाम्बेन। विवाहदिवसे च बहुभिर्यादवकुमारैः परिवृतेन तेन सुरङ्गां पातयित्वा पितृगृहादाकृष्य नीता बहिरुद्याने कमलामेला। नारदं च साक्षिणं कृत्वा कारितस्तत्पाणिग्रहणसंबन्धः सागरचन्द्रस्य। ततः सर्वेऽपि कृतविद्याधररूपाः क्रीडन्तस्तिष्ठन्ति स्म। उद्याने पितृश्वसुरपाक्षिकैश्चान्वेषयद्भिर्दृष्टा कृतविद्याधररूपा नवपरिणीतवेषधारिणी च क्रीडन्ती कमलामेला। विद्याधरैरपहृत्य परिणीता कमलामेलेति कथितं तैर्वासुदेवस्येति। निर्गतश्च विद्याधरोपरि कुपितः सबलवाहनोऽसौ, लग्नं च महदायोधनं तावद्यावत्पश्चाच्छाम्बः परिहृतवैक्रियरूपः पतितो जनकस्याङ्घ्रियुग्मे। ततश्चोपसंहृतः सङ्ग्रामः दत्ता च कृष्णेन कमलामेला सागरचन्द्रस्यैव। गताश्च सर्वे स्वस्वस्थानम्। तत्र सागरचन्द्रस्य शाम्बं कमलामेलां मन्यमानस्य भावाननुयोगः, यथावस्थितावगमे तु भावानुयोगः। विपरीतादिप्ररूपणायोजना तु प्रस्तुता पूर्ववदिति।

शाम्बसाहसोदाहरणमिति वचनान्तरे शाम्बस्योदाहरणम्-वासुदेवाच्छेयजाश्च सदैव शृणोति जाम्बवती-समस्तानामप्यालीनां मन्दिरं त्वत्पुत्रः शाम्ब इति। ततो जाम्बवत्या विष्णुरभिहितः-मया पुत्रस्त्वेकोऽप्यालीने दृष्टः। विष्णुना प्रोक्तम्-आगच्छ येनाद्य दर्शयामि। ततो जाम्बवती उत्कृष्टलावण्यमाभीरीरूपं कारिता, स्वयं पुनराभीररूपं कृत्वा दण्डहस्तः स्वयं पृष्ठे व्यवस्थितः। अग्रतस्तु मस्तकन्यस्तदधिहण्डिका जाम्बवती कृता, प्रविष्टोऽथ दधिविक्रयार्थं नगरीमध्ये। दृष्टा च शाम्बेन माता। तदुत्कृष्टरूपा आभीरीति विज्ञाय प्रोक्ता शाम्बेनैषा-आगच्छ मद्गृहं सर्वस्यापि त्वदीयदध्नो यावन्मात्रं मूल्यं याचसे तदहं दास्यामीत्यग्रतः स्वयं पृष्ठतस्त्वाभीरी पश्चात्त्वाभीरः। स्वतः शून्यदेवकुलिकायामेकस्यां गत्वा प्रोक्ता शाम्बेनाभीरी-प्रविश एतन्मध्ये, मुञ्च दधि। तया च विरूपाभिप्रायं विज्ञाय प्रोक्तम्-नाहमत्र प्रविशामि, द्वारस्थिताया एव गृहाण दधि, प्रयच्छ मूल्यम्। बलादपि प्रवेशयिष्यामीत्यभिधाय गृहीता शाम्बेन सा बाहौ, ततो धावित्वा द्वितीयबाहौ लग्न आभीरः। द्वयोरपि चाकर्षणं विकर्षणं कुर्वतोर्भग्नं भाण्डम्। ततः कृतं सहजरूपमात्मनो, जाम्बवत्या च विष्णुना। तच्च दृष्ट्वा लज्जितो नष्टः शाम्बः, नागच्छति चावसरेऽपि लज्जया राजकुले। ततोऽन्यदिने विष्णुनियुक्तवृद्धपुरुषैः कष्टेनानीयमानः क्षुरिकया वंशकीलकं घट्टयन्नागच्छत्यसौ। प्रणामे च कृते पृष्टो वासुदेवेन शाम्बः-किमेतत्क्षुरिकया घट्यते। तेनोक्तम्-कीलकोऽयम्। किमर्थं पुनरसौ?। यः पर्युषितामतीतजल्पान्वदिष्यति तन्मुखे आहननार्थमिति। तदत्र शाम्बस्य मातरमप्याभीरीं मन्यमानस्य भावाननुयोगः, पश्चाद्यथावदवगमे तु भावानुयोगः। प्रस्तुतयोजना तु पूर्ववदिति।

अथ श्रेणिककोपोदाहरणम्—

राजगृहे नगरे समवसृतस्य भगवतः श्रीमन्महावीरस्य श्रेणिकनराधिपो राज्ञ्या चेल्लणया सह माघमासे हिमकणप्रवर्षिणि महाशीते पतति वन्दनार्थं गतः। ततो निवर्तमानस्य च तस्य, राज्ञ्या चेल्लणया मार्गासन्नः तपःकर्षितशरीरः सर्वथाऽप्यनावरणो मेरुशिखरमिव निष्प्रकम्पः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽजिनककायोत्सर्गे स्थितः संध्यायां दृष्टः कोऽपि तपस्वी। गताऽसौ तद्गुणानेव मनसि ध्यायन्ती गृहम्, सुप्ता च रजन्यामनेकशीतापहर्तृप्रावरणप्रावृता पल्यङ्के, निर्गतश्च प्रावरणेभ्यो बहिस्तात्कथमप्येकः करः, शीताभिभूतश्चायमतीव स्तब्धीभूतः, तदनुसारेण च समस्तमपि शरीरं तथा व्याप्तं शीतेन यथा निद्रान्तरेऽपि जागरितं तया। ततः क्षिप्तो हस्तः प्रावरणमध्ये, स्थितश्च हृदये स तथा कायोत्सर्गस्थायी महामुनिः, तद्गुणोत्पन्नातुच्छबहुमानया विस्मितया च प्रोक्तं तया-स तपस्वी किं करिष्यतीति, यदेकेनाप्यावरणबहिर्निर्गतेन हस्तेनाहमेतावतीं शीतबाधां प्राप्ता, तदरण्ये निरावरणे उग्रतपःकर्षितश्चैवंविधमहाशीतबाधितः स तपस्वी किं

करिष्यतीति तस्याश्चित्ताभिप्रायः, अयं चेर्ष्यालुतया श्रेणिकनृपस्यान्यथापरिणतः-नूनमनया कस्यापि सङ्केतो दत्तस्तदन्तिके च मयि सन्निहिते गन्तुमशक्ता, ततस्ताश्चित्तखेदं चेतसि निधाय एतदुक्तम्। ततो महता खेदेन तस्य विभाता रजनी। चलितः श्रीमन्महावीरस्यान्तिकम्। गच्छता चातिकोपावेशान्निरूपितोऽभयकुमारः-सर्वाभिरेवान्तःपुरिकाभिः सह प्रदीपय सर्वाण्यन्तःपुरगृहाणि। ततोऽभयकुमारेण चिन्तितम्-केनाप्याभिनवोत्पन्नकोपावेशेनैवमसौ वक्ति, प्रथमकोपे च यदुच्यते तत्क्रियमाणं न खलु परिणतौ सुखयति। अथवाऽनुवर्तनीयं गुरूणां वचनमतः शून्यां हस्तिशालामेकां प्रदीप्य प्रस्थितः सोऽपि भगवद्वन्दनार्थम्। इतश्च भगवान्पृष्टः श्रेणिकराजेन-भगवन्! चेल्लणा किमेकपत्नी, अनेकपत्नी वा?। भगवता प्रोक्तम्-एकपत्नीति। ततो निवृत्तः सत्वरमेव गृहाभिमुखमभयकुमारनिवारणाय। मार्गे चागच्छन्नीक्षितोऽसौ पृष्टश्च-किं दग्धमन्तःपुरम्?। तेनोक्तम्-दग्धम्। राज्ञा प्रकुपितेनाऽप्यधायि-त्वमपि तत्रैव प्रविश्य किं न दग्धोऽसि?। कुमारेणोक्तम्-किं ममाग्निप्रवेशेन?, व्रतमेव ग्रहीष्याम्यहम्, ततो मा भूद्स्य महान् खेद इति कथितं यथावदेवेति। तदत्र सुशीलामपि चेल्लणां कुशीलां मन्यमानस्य राज्ञो भावाननुयोगः, यथावदवगमने च तदनुयोगः। एवमौदयिकादिभावान् विपरीतस्वरूपान् प्ररूपयतो भावाननुयोगः, यथाऽवस्थितस्वरूपांस्तु तान् प्ररूपयतो भावानुयोग इति। विशे०। विपा०।

अणणुचीइय-अननुचित-त्रि०। शास्त्राननुज्ञाते, "जो तु अकारणसेवा सा सव्वा अणणुचीयातो होति, जा अकारणतो पडिसेवा गुणदोसे अचिंतिऊण सा अणणुचीति" नि०चू०१उ०।

अणणुपालण-अननुपालन-न०। न० त०। अनासेवने, आव० ६ अ०। पंचा०। "पोसहोववासस्स सम्ममणणुपालणया" पोषधोपवासातिचारः। उपा० १ अ०।

अणणुवाइ (ण्)-अननुपातिन्-त्रि०। सिद्धान्तेन सहाऽघटमानके, व्य० १ उ०।

अणणुवाय-अननुपात-पुं०। अनागमने, पंचा० ७ विव०।

अणणुसासणा-अननुशासना-स्त्री०। शिक्षाया अभावे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०।

अणण्ण-अनन्य-त्रि०। अभिन्ने, विशे०। "अणण्णं अभिण्णं" अपृथगित्यर्थः। नि० चू० १ उ०। मोक्षमार्गादन्योऽसंयमः, नान्योऽनन्यः। ज्ञानादौ, "अणण्णं चरमाणे से ण छणे ण छणावए" आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

अणण्णणेय-अनन्यनेय-त्रि०। अन्येन नेयाऽनेतव्ये, "णेतारो असि अणण्णणेया बुद्धा हु ते अंतकडा हवंति" न च स्वयं बुद्धत्वादन्येन नीयन्ते तत्त्वावबोधं कार्यन्ते इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

अणण्णदंसि (ण्) अनन्यदर्शिन्-पुं०।अन्यद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा, नासावनन्यदर्शी। यथावस्थितपदार्थद्रष्टरि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अणण्णपरम-अनन्यपरम-पुं०। न विद्यतेऽन्यः परमः प्रधानो यस्मादित्यनन्यपरमः। संयमे, "अणण्णपरमं णाणी, णो पमाए कयाइ वि"। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अणण्णमण-अनन्यमनस्-त्रि०। न विद्यते अन्यद् धर्मध्यानलक्षणान्मनो यस्य सो ऽनन्यमनाः। एकाग्रचित्ते, संथा०। भगवन्मनसि, औ०।

अणण्णहावाइ (ण्) अनन्यथावादिन्-पुं०। सत्यवक्तरि,"अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा। जिअराग-दोसमोहा, अनन्नहावाइणो तेण" ॥ १ ॥ आव० ४ अ०।

अणण्णाराम-अनन्याराम-त्रि०। मोक्षमार्गादन्यत्रारममाणे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अणण्हय-अनाश्रव-पुं०। न० त०। नवकर्माऽनादाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०। स्था०।

अणण्हयकर-अनाश्रवकर-पुं०। प्राणातिपाताद्याश्रवकरणरहिते पञ्चमे प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ०। स्था०।

अणण्हयत्त-अनंहस्कत्व-न०। न विद्यते अंहः पापं यस्मिन् तत् अनंहस्कम्, तस्य भावोऽनंहस्कत्वम्। अविद्यमानकर्मत्वे, "संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ" उत्त० १ अ०।

अणतिक्कमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि०। न० त०। अचालनीये, भ० २ श० ५ उ०। दश०।

अणतिक्कमणिज्जवयण-अनतिक्रमणीयवचन-त्रि०। अनतिक्रमणीयं वचनं येषां ते। वचनानतिक्रामकेषु, "अम्मापिउणं अणइक्कमणिज्जवयणा" अम्बापित्रोः सत्कमनतिक्रमणीयं वचनं येषां ते तथा। औ०।

अणतियार-अनतिचार-त्रि०। न विद्यन्ते अतिचारा यस्मिन्। अतिचाररहिते, ध० ३ अधि०।

अणतिवाइ(ण्)-अनतिपातिन्-पुं०। अतिपतनमतिपातः प्राण्युपमर्दनं, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपातिकः। अहिंसके, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अणतिविलंबियत्त-अनातिविलम्बितत्व-न०। अतिविलम्बराहित्यरूपे वचनातिशये, औ०।

अणत्त-ऋणार्त्त-पुं० स्त्री०। राजादीनां हिरण्यादिकधारके, ग० १ अधि०। ऋणपीडिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०। स न दीक्षणीयः। ध० ३ अधि०। पं० भा०। पं० चू०।

अनात्त-अपरिगृहीते, ध० २ अधि०। स्था०।

इयाणिं अणत्ते—

सचित्तं अचित्तं, वा मीसगजोयगं तु धारेंति ।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसं दिक्खा ४११

कंठा। इमे दोसा—

अथ सो य अकित्ती या, तम्मूला गंतहिं पवयणस्स ।
आणपोव्वरभंभकिया, सव्वे एयारिसा मणा ।४१२।

अणं रिणं. पोव्वरं महल्लं, चक्कवरायपरिजवे अणणाणुपोव्वडो, (ऊंऊकिय त्ति) झंऊकिया रिणे आदजंति वणिएहिं अणेगप्पगारे रोउ दुव्वयणेहिं उद्धियाझंऊडियालत्तकसादिएहिं वा ऊकित्ता सव्वे एआरिसा। एते गेण्हणकड्ढणादिया दोसा।

इमं वितियपदं गाहा—

दाणेण से तोसितो, अहवा वीसज्जितो पहु णं ।
अद्धाणपरविदेसे, दिक्खा से उत्तमाऽव्वदो ॥४१३॥

अद्धपदके दाणेण तोसिएण धणिएण विसज्जितो (पभु त्ति)

धणितो सव्वम्मि अदिट्ठे तेण विसज्जितो पव्वाविज्जति, सेसं कंठं। अणत्ते गतमिति । नि० चू० ११ उ० ।

अणत्त–देशी । निर्माल्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अणत्तट्ठिय–अनात्मार्थिक–त्रि०। नात्मार्थ एव यस्यास्त्यसावनात्मार्थिकः। परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणत्तपएण–अनात्मप्रज्ञ–त्रि०। नात्मने हिताय प्रज्ञा येषां ते अनात्मप्रज्ञाः। व्यर्थबुद्धिषु, " एगे विसीयमाणे अणत्तपएणे " आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणत्तव–अनात्मवत्–त्रि०। अकषायो ह्यात्मा भवति, स्वस्वरूपावस्थितत्वात्, तद्वान्न भवति यः सोऽनात्मवान् । सकषाये, स्था० ६ ठा० ।

अणत्तागमण–अनात्तागमन–न०। अनात्ता अपरिगृहीता वेश्या, स्वैरिणी, प्रोषितभर्तृका, कुलाङ्गना वाऽनाथा, तस्यां गमनम् । अपरिगृहीतागमने स्वदारसन्तोषातिचारे, ध० २ अधि० ।

अणत्थ–अनर्थ–पुं० । अनर्थहेतुत्वाद् गौणे एकविंशे परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अणत्थक–अनर्थक–पुं० । परमार्थवृत्त्या निरर्थके अष्टाविंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा०। निष्प्रयोजने, पंचा० ६ विव०।

अणत्थकारग–अनर्थकारक– त्रि० । पुरुषार्थोपघातकारके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणत्थंतर–अनर्थान्तर–न०। अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्, न विद्यतेऽर्थान्तरं यस्य पर्याये। एकार्थे शब्दे, "योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम्" आ० म० द्वि० ।

अणत्थगंथ–अनर्थग्रन्थ–पुं०। न० त०। जावधनयुक्ते, औ० ।

अणत्थचूल–अनर्थचूल–पुं० । निजगुणोपार्जितनामके रत्नव्याः सुते, दर्श० ।

अणत्थदंडज्झाण–अनर्थदण्डध्यान–न०। अनर्थदण्डो निष्प्रयोजनं हिंसादिकरणं तस्य ध्यानम्। दुर्दान्तमत्ततया द्वीपायनं दृष्टीकुर्वतां शाम्बादीनामिव, वक्रमण्डलीं सर्पविशेषरूपां घ्नतो गङ्गदत्तस्येव, विष्णुश्रीदेवीस्वर्गसंदेशकथननिपुणस्य वा बालस्येव, ध्याने, आतु० ।

अणत्थफलद–अनर्थफलद–त्रि०। स्वपरयोरपकाररूपफलदायके, पञ्चा० ३ विव० ।

अणत्थमियसंकप्प–अनस्तमितसंकल्प–पुं०। अनस्तमिते सूर्ये संकल्पो भोजनाभिलाषो यस्य । अनिष्टरात्रिभोजने दिवाजोजिनि, सू० १ उ० ।

अणत्थवाय–अनर्थवाद–पुं० । निष्प्रयोजने जल्पे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अणत्थादंड–अनर्थदण्ड–पुं०। निष्प्रयोजनहिंसाकरणे, आतु० । (' अणट्ठादंड ' शब्देऽत्रैव भागे २८४ पृष्ठे चास्य विवृतिः)

अणत्थादंडवेरमण–अनर्थदण्डविरमण–न०। तृतीये गुणव्रते, पंचा० १ विव० (' अणट्ठादंडवेरमण ' शब्देऽत्रैव भागे २८५ पृष्ठेऽस्य विस्तरः)

अणधारग–ऋणधारक–पुं०। ऋणं व्यवहारकदेयं द्रव्यं, तद्धारयति । अधमर्णे, ज्ञा० १७ अ० ।

अणप्पचोद–अनःप्रचोद–पुं० । अनः शकटं प्रचोदयति प्रेरयति । विष्णौ, शैशवे हि विष्णुना चरणेन शकटं पर्यस्तमिति श्रुतेः । " धियो योऽनः प्रचोदयात् " जै० गा० ।

अणप (प्प) ज्ज–अनात्मज्ञ–त्रि०। अनात्मवशे ग्रहगृहीते, क्षिप्तचित्तादौ च । नि० चू० १ उ० ।

अणधिकारि(ण्)–अनधिकारिन्–पुं०। अधिकारिविरुद्धे, ल०।

अणद्ध–अनर्द्ध–त्रि० । न विद्यतेऽर्द्धं येषामित्यनर्धाः । निर्विभागेषु, " समयः प्रदेशः परमाणव एते अनर्धाः " स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अणपन्निय–अणपर्णिक–पुं० । व्यन्तरनिकायोपरिवर्तिनि व्यन्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । स्था० । औ० । ते च रत्नप्रभाया उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्रे अध उपरि च दशयोजनशतरहिते वसन्ति । प्रव० १९४ द्वा० ।

अणप्पगंथ–अनर्घ्यग्रन्थ–त्रि०। अनर्घ्योऽनर्पणीयोऽढौकनीयः परेषामाध्यात्मिकत्वाद् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादिर्यस्य सोऽनर्घ्यग्रन्थ इति । परेभ्योऽदातव्यज्ञानादिके, स्था० ६ ठा०। अनल्पग्रन्थ–त्रि० । न० ब० । बह्वागमे, औ० ।

अनात्मग्रन्थ–त्रि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी ग्रन्थो हिरण्यादिर्यस्य । अपरिग्रहे, औ० । सूत्र० ।

अणप्पिय–अनर्पित–न० । अविशेषिते , यथा जीवद्रव्यं संसारी, संसार्यपि त्रसरूपं, त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियं, नदपि नररूपमित्यादि तु अर्पितं विशेषितं विशेषः । स्था० १० ठा० ।

अणप्पियणय–अनर्पितनय–पुं० । अनर्पितमविशेषितं सामान्यमुच्यते, तद्वादी नयोऽनर्पितनयः। सामान्यमेवास्ति न विशेष इत्येवं वादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशे० । आ० चू० ।

अणबल–ऋणबल–पुं० । ऋणे ग्रहीतव्ये बलं यस्येति। बलवत्युत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणबलभणिय–ऋणबलभणित–पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्यं देहीत्येवमभिहिते अधमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणब्भ–अनभ्र–त्रि० । अभ्ररहिते, द्वा० २४ द्वा० ।

अणब्भय–अनभ्रक–त्रि० । अभ्रकरहिते, तं० ।

अणब्भुवगय–अनभ्युपगत–त्रि० । श्रुतसंपदानुपसंपन्ने अनिवेदितात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणभंजग–ऋणभञ्जक–पुं०। ऋणं देयं द्रव्यं भञ्जन्ति न ददति ये ते। उत्तमर्णेभ्य ऋणं गृहीत्वाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अणभिओग–अनभियोग–पुं० । न अभियोगोऽनभियोगः । अनभियोक्तव्ये, औ० ।

अणभिक्कंत–अनभिक्रान्त–त्रि० । न अभिक्रान्तो जीविताद् नभिक्रान्त इति। सचेतने, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०। अनतिलङ्घिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०। अन्यैरनभिक्रान्तायामपरिभुक्तायां दोषविशेषविशिष्टायां वसतौ, स्त्री०। ग० १ अधि०। आचा०।

अणभिक्कंतकिरिया–अनभिक्रान्तक्रिया–स्त्री०। चरकादिभिरनवसेवितपूर्वायां वसतौ , सा चानभिक्रान्तत्वादेवाऽकल्पनीया। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणभिक्कंतसंजोग–अनभिक्रान्तसंयोग–पुं० । अनभिक्रान्तोऽनतिलङ्घितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतोऽसंयम-

संयोगो वा येनाऽसावनभिक्रान्तसंयोगः । परिग्रहग्रस्तेऽसंयते, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणभिगम-अनभिगम-पुं०। न० त०। विस्तरबोधाभावे, भ०२ श० १ उ० । सम्यगप्रतिपत्तौ, ध० ३ अधि० । पा० ।

अणभिग्गहिय-अनभिग्रहिक-न०। अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः स यत्रास्ति तदभिग्रहिकं, तद्विपरीतमनभिग्रहिकम् । मिथ्यात्वभेदे, स्था० २ ठा०१उ० । तच्च प्राकृतजनानां सर्वे देवा वन्द्या न निन्दनीयाः, एवं सर्वे गुरवः, सर्वे धर्मा इत्याद्यनेकविधम्। ध०२ अधि०। "अणभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सपज्जवसिए चेव अपज्जवसिए चेव" अनभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्यवसितमितरस्यापर्यवसितमिति । स्था० २ ठा० १ उ०।

अनभिग्रहित-पुं०। अभिग्रहिकमिथ्यात्वरहिते , बृ० १ उ० ।

अणभिग्गहियकुदिट्ठि-अनभिगृहीतकुदृष्टि-पुं० । अनभिगृहीता अनङ्गीकृता कुदृष्टिर्बौद्धमतादिरूपा येन सोऽनभिगृहीतकुदृष्टिः । संक्षेपरुचौ , येन मिथ्यादृष्टीनां कुमतमङ्गीकृतं नास्तीत्यर्थः । उत्त० २८ अ० ।

अणभिग्गहियसिज्जासणिय-अनभिगृहीतशय्यासनिक-पुं०। न अभिगृहीते शय्यासने येन सोऽनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकप्रत्ययः । शय्यासनविषयकाभिग्रहरहिते, " नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अणभिग्गहियसिज्जासणियं हुत्तए " कल्प० ।

अणभिग्गहीयपुण्णपाव-अनभिगृहीतपुण्यपाप-त्रि०। अनधिगतपुण्यपापे, अविदितपुण्यपापकर्महेतौ च । प्रश्न०२ आश्र० द्वा०।

अणभिग्गहिया-अनभिगृहीता-स्त्री० । अर्थानभिग्रहेण क्रियमाणायां भाषायाम्, " अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहं मि बोधव्वा " । भ० १० श० ३ उ०।

अणभिणिवेस-अनभिनिवेश-पुं०। अतत्त्वेऽभिनिवेशाभावे, अनाभोगे च । पंचा०११ विव०। अभिनिवेशरहितत्वे, अभिनिवेशश्च नीतिपथमनागतस्यापि पराभिभवपरिणामेन कार्य्यस्यारम्भः । ध० १ अधि० ।

अणभिप्पेग-अनभिप्रेत-पुं० । अनभिप्रेतार्थविषये संयोगे, उत्त० १ अ० । पं० सं० ।

अणभिभूय-अनभिभूत-त्रि०। नाभिभूतोऽनभिभूतः । अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परतीर्थिकैर्वाऽजाताभिभवे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ।

अणभिलप्प-अनभिलाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनायोग्ये, आ० म० प्र० । " पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० ।

अणभिस्संग—अनभिष्वङ्ग—पुं०। निष्प्रतिबन्धे, पंचा०१४विव०।

अणभिय-अनभीत-पुं० । अण वणेति दण्डकधातुः , अणति गच्छति तासु तासु योनिषु जीवोऽनेनेत्यणं पापं, तस्माद् भीतः । असावद्ययोगे, आ० म० द्वि० ।

अणभिस्संगओ-अनभिष्वङ्गतस्-अव्य० । अभिष्वङ्गाभावादित्यर्थे, पंचा० ४ विव० ।

अणभिहिय-अनभिहित-न०। आत्मनः स्वेच्छयाऽभणितलक्षणे, बृ० १ उ० । स्वसिद्धान्तानुपदिष्टरूपे सूत्रदोषभेदे, यथा-सप्तमः पदार्थो वैशेषिकस्य, प्रकृतिपुरुषाभ्यधिकं वा सांख्यस्य, दुःखं समुदायमार्गनिरोधलक्षणं, चतुरार्यसत्यादानादिरिक्तं वा बौद्धस्येत्यादि । अनु० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

अणराय-अराजक-न० । राज्ञोऽभावे, प्राक्तनस्य राज्ञो मरणे संजाते सति यावदद्यापि राजा युवराजश्चैतौ द्वावपि नाभिषिक्तौ तावदराजकं भण्यते, बृ० १ उ० । ('विहार' शब्दे व्याख्या)

अणरिक्क-देशी-न० । दधिक्षीरादौ, नि० चू० १६ उ० ।

अणल-अनल-पुं०। नास्ति अलः पर्याप्तिर्यस्य, बहुदाह्यदहनेऽपि तृप्तेरभावात् । न० ब०। वन्हौ, अनलदैवतत्वात् कृत्तिकानक्षत्रे, चित्रकवृक्षे, पुं०। तस्य सर्वतः पर्याप्तत्वेऽपि पर्याप्तेः सीमाभावात्तत्त्वम् । भल्लातके वृक्षे च । वाच० । प्रश्न० । स्था० । आव० । न अलोऽनलः । अप्रत्यले अपर्याप्ते अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । असमर्थे, आ० म० द्वि० ।

अनलमित्यस्य—

काम खलु अलसद्दो, निविट्ठो पज्जत्तिहिं पगतं ।
अणलो अपचलो त्ति य, होंति अजोगो व एगट्ठा ॥२२१॥

चोदक आह-ननु अलशब्दः त्रिष्वर्थेषु दृष्टः, तद्यथा-पर्याप्ते, भूषणे, वारणे च । आचार्य आह-यद्यपि त्रिष्वप्यर्थेषु दृष्टः तथापि अर्थवशादत्र पर्याप्ते द्रष्टव्यः, न अलोऽनलः, अप्रचलः अयोग्यश्च एते एकार्थाः । नि० चू० ११ उ० ।

अणलंकिय-अनलङ्कृत-त्रि०। न० त० । मुकुटादिभिरविभूषिते, भ० ५ श० १ उ० ।

अणलंकियविभूसिय-अनलङ्कृतविभूषित-त्रि०। न०त०। अनलङ्कृतं मुकुटादिभिः, विभूषितं वस्त्रादिभिः, तन्निषेधादनलङ्कृतं विभूषितम् । मुकुटादिभिर्वस्त्रादिभिर्वा शोभामप्रापिते, ज० २ श० १ उ० ।

अणलगिरि-अनलगिरि-पुं० । चण्डप्रद्योतनृपतेर्हस्तिरत्ने, उत्त० ९ अ० । " स्त्रीरत्नं च शिवा देवी , गजोऽनलगिरिः पुनः" । आ० क० ।

अणलस-अनलस-त्रि०। उत्साहवति, दशा० १ अ०।

अणलाणिलतणवणस्सइगणणिस्सिय-अनलानिलतृणवनस्पतिगणनिःश्रित-त्रि०। अनलस्तेजस्कायोऽनिलो वायुकायस्तृणवनस्पतिगणो बादरवनस्पतीनां समुदायः , एतन्निःश्रिताः । तेजस्कायाद्युपजीवकेषु त्रसेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणलिय-अनलीक-न०। सत्ये, बृ० १ उ०।

अणल्लियणिज्ज-देशी-त्रि० । अनाश्रयणीये अयोग्ये, " विसवल्लीअणल्लियणिज्जाओ " । स्त्रियः विषवल्लीवद् हालाहलविषप्रतानवत् अनाश्रयणीयाः सर्वथा सङ्गादिकर्तुमयोग्याः तत्कालप्राणप्रयाणहेतुत्वात् । पर्वतकस्य राज्ञो नन्दपुत्रीविषकन्यावत् । तं० ।

अणव-ऋणवत्-पुं० । दिवसस्य षष्ठिंशे लोकोत्तरमुहूर्ते, कल्प० । चं० प्र० ।

अणवकंखमाण-अनवकाङ्क्षत्-त्रि० । विहर्तुमिच्छति, कल्प० । स्था० ।

अणवकंखवत्तिया-अनवकाङ्क्षप्रत्यया-स्त्री० । अनवकाङ्क्षा स्वशरीराद्यनपेक्षत्वं सैव प्रत्ययो यस्याः साऽनवकाङ्क्षप्रत्यया इहलोकपरलोकापायानपेक्षस्य क्रियाभेदे, स्था०२ ठा०१ उ०

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पन्नत्ता । आयशरीरअणवकंखवत्तिया चेव, परसरीरअणवकंखवत्तिया चेव ।

तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षप्रत्यया सा स्वशरीरक्षतिकारिकर्माणि कुर्वतः, तथा परशरीरक्षतिकराणि तु कुर्वतो द्वितीयेति । स्था० २ ठा० १ उ० । "अणवकंखवत्तिया इहलोगे परलोगे य । इहलोगे अणवकंखवत्तिया लोगविरुद्धाणि चिन्तोरिक्कादीणि करेति जेण वहबंधादीणि इहेव पावति, परलोगे अणवकंखवत्तिया अट्टरुद्दज्झाती इंदियपराभूतो हिंसादिकम्माणि करेमाणो परलोगं नावकंखति " आ० चू० ४ अ० ।

अणवकंखा–अनवकाङ्क्षा–स्त्री० । अनाकाङ्क्षायां स्वशरीराद्यनपेक्षत्वे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणवगय–अनवगत–त्रि० । अपरिज्ञाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणवगल्ल–अनवकल्प–पुं० । जरसा पीडिते, अनु० । अत्यन्तवृद्धे, पं० व० १ द्वा० । ध० ।

अणवगुय–अनवगुत–त्रि० । न० त० । अपृथग्भूते, व्य० ७ उ० ।

अणवज्ज–अनवद्य(अणवर्ज्य)–न० । अवद्यं पापं, नास्मिन्नवद्यमस्तीत्यनवद्यम् । सामायिके, विशे० । आ० चू० । सावद्ययोगप्रत्याख्यानात्मकत्वात्तस्य । आ० म० द्वि० ।

पावमवज्जं सामा–इयं अपावं ति तो तदणवज्जं ।
पावमणं ति व जम्हा, वज्जिज्जइ तेण तदसेसं ॥

अणशब्दस्य कुत्सितार्थत्वादणन्ति कुत्सितानि करणानि शब्दयन्ति, अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेर्वा, अणं पापमुच्यते । तदशेषं सर्वमपि वर्ज्यते परिह्रियते यस्मात्तेन सामायिकेन अणं वर्जयतीति वा, ततः सामायिकमणवर्ज्यमुच्यते इति शेषः । विशे० ।

इदानीमनवद्यद्वारम् । तत्र कथानकम्-वसन्तपुरे नगरे जियसत्तू राया । धारिणी देवी । तीसे पुत्तो धम्मरुई । सो य राया थेरो । अन्नया तावसो पव्वइउकामो धम्मरुइस्स रज्जं दाउमिच्छइ । सो मायरं पुच्छइ-कीस तातो रज्जं परिच्चयइ ? । सा भणइ-रज्जं संसारवद्धणं । सो भणइ-मम वि न कज्जं । ततो सो वि सह पियरेण तावसो जाओ । तत्थ अमावसा होहि त्ति गडओ घोसेइ आसमसु–कल्लं अमावसा होहि इतो पुप्फफलाणं संगहं करेह । कल्लं नट्टइ छिंदिउं । धम्मरुई चिंतेइ–जइ सव्वकालं न छिंदिज्जा तो सुंदरं होज्जा । अन्नया साहू अमावसाए तावसासमस्स अदूरेण वोलंति । ते धम्मरुई पेच्छिऊण भणति–भयवं ! किं तुब्भे अणाकुट्टी नत्थि तो अडविं जाह । ते भणंति अम्हं जावज्जीवं अणाकुट्टी । सो संभंतो चिंतिउमारद्धो–साहू वि गया जाईसंभरिया पत्ते य–बुद्धो जातो ।

अमुमेवार्थमभिधित्सुराह–

सोऊण अणाउट्टिं, अणाभितो वज्जियाण अणगंतुं ।
अणवज्जयं उवगतो, धम्मरुई नाम अणगारो ॥

श्रुत्वा आकर्ण्य, आकुट्टनमाकुट्टिः छेदनं हिंसेत्यर्थः । न आकुट्टिरनाकुट्टिः, तां सर्वकालिकीमाकर्ण्य अणभीतः अण वणेति दण्डकधातुः, अणति गच्छति तासु तासु योनिषु जीवो अनेनेति अणं पापं, परित्यज्य सावद्ययोगमित्यर्थः । अणस्य वर्ज्यं अणवर्ज्यस्तद्भावस्तामणवर्ज्यतामुपगतः प्राप्तः साधुः संवृत इति भावः । धर्मरुचिर्नाम अनगारः । गतमनवद्यद्वारम् । आ० म० द्वि० । निर्दोषे, भ० ५ श० ६ उ० । उत्त० । पापाभावे कर्मोपचयाभावे, "अणवज्जमतहं तेसिं" कुतोऽपि हेतोः केवलमनसः प्रद्वेषेऽपि अनवद्यं पापाभावः, कर्मोपचयाभावो वा भवतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । कामादिपापव्यापाराप्ररूपके, विशे० । गुणविशेषविशिष्टे सूत्रे, अनवद्यामगर्ह्यमहिंसाप्रतिपादकम् । यतः "षट्शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः" ॥१॥ इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० द्वि० । अनु० । पीडानुत्पादके, अपापे वाक्ये " सव्वेसु वा अणवज्जं वयंति " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ('सव्व' शब्देऽस्य विवृतिः)

अणवज्जंगी- अनवद्याङ्गी-स्त्री० । सुदर्शनापरनामिकायां भगवतो महावीरस्य दुहितरि जमालिगृहिण्याम्, विशे० । उत्त० ।

अणवज्जजोग–अनवद्ययोग–पुं० । कुशलानुष्ठाने, "अणवज्जजोगमेगं" अनवद्यं योगं कुशलानुष्ठानमेकं सकलकुशलानुष्ठानानामनवद्ययोगत्वाव्यभिचारात् । पा० ।

अणवज्जया–अणवर्ज्यता–स्त्री० । अणस्य पापस्य वर्ज्योऽणवर्ज्यस्तद्भावोऽणवर्ज्यता । संवरे, आ० म० द्वि० ।

अणवट्ठ–अनवस्थ–पुं० । अनवस्थाप्ये, व्य० १ उ० ।

अणवट्ठप्प-अनवस्थाप्य-न० । अवस्थाप्यत इत्यवस्थाप्यस्, तन्निषेधादनवस्थाप्यम् । दुष्टतापरिणामस्याऽकृततपोविशेषस्य व्रतानामनारोपणे, ध० ३ अधि० । ग० । औ० । यो हि आसेवितातिचारविशेषः सन्नाचरिततपोविशेषः, तद्दोषोपरतो महाव्रतेषु नावस्थाप्यते नाधिक्रियते इति; तदतिचारजाते तच्छुद्धिरूपे, नवमे प्रायश्चित्ते च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । यत्र प्रतिसेवते उत्थापनायामप्ययोग्यत्वेन यावदनाचीर्णतपाः पश्चाच्चीर्णतपाः पुनर्महाव्रतेषु स्थाप्यते तत् । जीत० । व्य० ।

अनवस्थापनीयाः—

ततो अणवट्ठप्पा पन्नत्ता तं जहा-साहम्मियाणं तेन्नं करेमाणे ।
अन्नधम्मियाणं तेन्नं करेमाणे, हत्थादालं दलेमाणे ॥

त्रयोऽनवस्थाप्यास्तत्करणादेव व्रतेष्वनवस्थापनीयाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-साधर्म्मिकाः साधवस्तेषां सत्कस्योत्कृष्टोपधेः शिष्यादेर्वा स्तैन्यं चौर्यं कुर्वाणः । अन्यधार्मिकाः शाक्यादयो गृहस्था वा, तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा हस्तेन तालनं हस्तातालं, सूत्रे च तकारस्य दकारश्रुतिः, आर्षत्वात्, तं ददमाणो वदन् यष्टिमुष्टिलकुटादिभिरात्मनः परस्य वा प्रहरन्निति भावः । अथवा हस्तालम्बेति पाठः । हस्तालम्ब इव हस्तालम्बोऽशिवादिप्रशमनार्थमभिचारकमन्त्रादिप्रयोगस्तं ददमाणः कुर्वन् । यद्वा-'हत्थादाणं दलमाणे त्ति' पाठः । सूत्रार्थादानमर्थोपादानकारणमष्टाङ्गनिमित्तं ददत्प्रयुञ्जानः । एष सूत्रसंक्षेपार्थः । बृ० ४ उ० । जीत० ।

अथ विस्तरार्थं विभणिषुराह—

आसायणपडिसेवी, अणवट्ठप्पो वि होति दुविहो तु ।
एक्केक्को वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥

आशातनाऽनवस्थाप्यः, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्चेत्यनवस्थाप्यो द्विविधो भवति । न केवलं पाराञ्चिक इत्यपिशब्दार्थः । पुनरेकैकोऽपि द्विविधः–सचारित्रोऽचारित्रश्चेति । एतौ द्वावपि भेदौ पाराञ्चिकवद्वक्तव्यौ ।

अथाशातनाऽनवस्थाप्यमाह—

तित्थयरपवयणसुत्ते, आयरिये गणहरे महिड्ढीए ।

एते आसादेंते, पच्छित्ते मग्गणा होई ॥

तीर्थकरप्रवचनं श्रुतम्, आचार्यः, गणधरः, महर्द्धिकश्चेति। एतानाशातयतः प्रायश्चित्तमार्गणा भवति । अमीषां चाशातनाः पाराञ्चिकवद्भावनीयाः ।

प्रायश्चित्तमार्गणा पुनरियम्–

पढमबितिएसु नवमं, सेसे एकेक चउगुरू होंति ।
सव्वे आसादेंतो, अणवट्ठप्पो उ सो होइ ॥

प्रथमद्वितीयायास्तीर्थकरस्याशातनायामुपाध्यायस्य नवममनवस्थाप्यं भवति , शेषेषु श्रुतादिषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्नाशात्यमाने चतुर्गुरवो भवन्ति । अथ सर्वाणि चतुर्ष्वपि श्रुतादीनि आशातयति, ततोऽसावनवस्थाप्यो भवति । उक्त आशातनाऽनवस्थाप्यः ।

अथ प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यमाह–

पडिसेवणअणवट्ठो, तिविहो सो होइ आणुपुव्वीए ।
साहम्मियऽन्नधम्मिय, हत्थादालं च दलमाणे ॥

यः प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः सूत्रे साक्षादुक्तः स आनुपूर्व्या त्रिविधो भवति–साधर्मिकस्तैन्यकारी , अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी, हस्तातालं ददत् ।

तत्र साधर्मिकस्तैन्यं तावदाह–

साहम्मि तेण्ण उवधि–वावारणझामणा य पट्ठवणा ।
सेहे आहारविही, जा जहिं आरोवणा भणिता ॥

साधर्मिकाणामुपधेर्वस्त्रपात्रादिलक्षणस्य स्तैन्यं करोति [वावारण त्ति]गुरुभिरुपधेरुत्पादनाय व्यापारणा प्रेषणा कृता, अतस्तमुत्पाद्य गुरूणामनिवेद्यान्तराल एव स्वयमेवाधितिष्ठति [झामणा य त्ति] उपकरणं सद्भावेनाऽसद्भावेन वा ध्यामितं दग्धं भवेत, तद्व्याजेन श्रावकमभ्यर्थ्य वस्त्रादिकं गृहीत्वा स्वयमेव भुङ्क्ते [पट्ठवण त्ति] केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्तेऽपराचार्यस्य ढौकनाय प्रतिग्रहः प्रेषितस्तमसावन्तरा स्वयमेव स्वीकरोति [सेह त्ति] शैक्षविषयं स्तैन्यं करोति [आहारविहि त्ति] दानश्राद्धादिषु स्थापनाकुलेषु गुरुभिरननुज्ञात आहारविधिमशनादिकमाहारेप्रकरं गृह्णाति । एतेषु स्थानेषु साधर्मिकस्तैन्यं भवति। अत्र च या यत्र स्थाने आरोपणा प्रायश्चित्तापरपर्याया भणिता,सा तत्र वक्तव्या। एष निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह–

उवहिस्स आसियावण सेहमसेहे य दिट्ठदिट्ठे य ।
सेहे मूलं भणितं, अणवट्ठप्पा य पारंची ॥

इहोपधेः,'आसियावण' स्तैन्यमित्येकार्थः। तच्च शैक्षो वा कुर्यादशैक्षो वा। उभावपि-दृष्टं वा स्तैन्यं कुर्यात्, अदृष्टं वा। तत्र शैक्षे मूलं यावत्प्रायश्चित्तं भणितम् ; उपाध्यायस्यानवस्थाप्यपर्यन्तम् ; आचार्यस्य पाराञ्चिकान्तम् ।

एतदेव भावयति–

सेहो त्ति अगीयत्थो, जो वा गीतो अणिड्डिसंपन्नो ।
उवही पुण वत्थादी, सपरिग्गह एतरो तिविहो ॥

शैक्ष इतिपदेनागीतार्थो भण्यते । यो वा गीतार्थोऽपि अनृद्धिसंपन्न आचार्यपदादिसमृद्धिमप्राप्तः, सोऽपि शैक्ष इहोच्यते। उपधिः पुनर्वस्त्रादिकः, आदिशब्दात्पात्रपरिग्रहस्तत्परिगृहीतः स्यात्, इतरो वाऽपरिगृहीतः स्यात् । पुनरेकैकस्त्रिविधः–जघन्यो मध्यम उत्कृष्टश्च ।

अथ 'सेहे मूलं' इत्यादि पश्चार्धं व्याख्यानयति–

अंतो बहिं निवेसण–वाडगमुज्जाणसीमतिक्कंते ।
मास चउ छ लहु गुरू, छेदो मूलं तह दुगं वा ॥

अन्तः प्रतिश्रयाभ्यन्तरे साधर्मिकाणामुपधिमदृष्टं शैक्षः स्तेनयति तदा मासलघु, वसतेर्बहिरदृष्टमेव स्तेनयति तदा मासगुरु, निवेशनस्यान्तर्मासगुरुकं,बहिश्चतुर्लघुकं, वाटकस्यान्तश्चतुर्लघुकम, बहिश्चतुर्गुरुकम, उद्यानस्यान्तः षड्लघु, बहिः षड्गुरु, सीमाया अन्तः षड्गुरु , अतिक्रान्तायां तु तस्यां बहिः छेदः (मूलं तह दुगं व त्ति) मूलं, तथा द्विकं वा–अनवस्थाप्यपाराञ्चिकयुगम् ।

एतदेव भावयति–

एवं ताव अदिट्ठे, दिट्ठे पढमं पदं परिहवेत्ता ।
तं चेव असेहे वी, अदिट्ठ दिट्ठे पुणो एकं ॥

एवं तावददृष्टे स्तैन्ये क्रियमाणे शैक्षस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । दृष्टे तु प्रथमं मासलघुलक्षणं पदं परिहाप्य परिहृत्य मासगुरुकादारब्धं मूलं यावद्वक्तव्यम् । अशैक्ष उपाध्यायस्तस्यापि अदृष्टे तान्येव मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि भवन्ति । दृष्टे पुनरेकं मासगुरुलक्षणं पदं ह्रसति, चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्ये निष्ठां यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यदृष्टेऽनवस्थाप्यान्तमेव। दृष्टे तु चतुर्गुरुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति । गतं साधर्मिकोपधिस्तैन्यद्वारम् ।

अथ व्यापारणाद्वारमाह––

वावारिय आणेहा, बाहिं घेतूण उवहि गिण्हंति ।
लहु णा आदात लहुगा, अणवट्ठप्पो य आदेसा ॥

व्यापारिता नाम गुरुभिः प्रेषिताः, यथा–[आणेह त्ति] उपधिमुत्पाद्यानयत । ते चैवमुक्ता अनेकविधमुपधिं गृहिभ्यो गृहीत्वोत्पाद्य बहिरेवाचार्यसमीपमप्राप्ता उपधिं गृह्णन्ति-इदं तव, इदं ममेति विभज्य स्वयमेव स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः । एवं गृह्णतां मासलघु, आगता आचार्यस्य न ददति, तदा चतुर्लघवः। प्रस्तुतसूत्रादेशाद्वा स स्वच्छन्दवस्तुग्राहकः साधुवर्गोऽनवस्थाप्यो भवति । गतं व्यापारणाद्वारम् ।

अथ ध्यामनाद्वारम्–सा च ध्यामना द्विविधा–सती, असती च । तत्र सतीं तावदाह––

दड्ढु निमंतण लुद्धो–ऽणापुच्छा तत्थ गंतु तं भणति ।
झामिय उवधी अहमह, तेहिँ पेसितो गहित णातो य ॥

आचार्याः केनापि विरूपरूपैर्वस्त्रैर्निमन्त्रितास्तैश्च तानि प्रतिषिद्धानि, एकश्च साधुस्तां निमन्त्रणां श्रुत्वा तानि च सुन्दराणि वस्त्राणि दृष्ट्वा लुब्धो लोभं गतः । तत आचार्यमनापृच्छ्य (तमिति) तं श्रावकं तत्र गत्वा भणति––अस्माकमुपधिर्ध्यामितो दग्धः, ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकाशे वस्त्रार्थं प्रेषितः, एवमुक्ते दत्तस्तेनोपधिः, स च गृहीत्वा गतः, अन्ये च साधव आगताः। श्राद्धेन भणितम्–युष्माकमुपधिर्दग्ध इति कृत्वा यो भवद्भिः साधुः प्रेषितस्तस्य नूतनोपधिर्दत्तो विद्यते, यदि न पर्याप्तं ततो भूयोऽपि ददामीति । साधवो ब्रुवते-नास्माकमुपधिर्दग्धः, नवा वयं कमपि प्रेषयामः, एवं स लोभाभिभूतः साधुस्तेन श्रावकेण ज्ञातः यथा–गुरूणां पृच्छामन्तरेणायं गृहीतवान् ।

ततश्च किं भवतीत्याह्–

लहुगा अणुग्गहम्मी, गुरुगा अप्पित्तियम्मि कायव्वा ।

मूलं वा जणमज्झे, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥

एवं तेन साधुना स्तैन्येन वस्त्रेषु गृहीतेषु यद्यप्यसौ श्राद्धोऽनुग्रहं मन्यते-यद्यपि तथापि ददामीति साधव इति, तथापि चतुर्लघवः । अथवाऽप्रीतिकं करोति, ततश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तं कर्तव्याः । अथासौ स्तेनोऽयमिति शब्दं जनमध्ये विस्तारयति, तदा मूलम् । यच्च शेषद्रव्याणां शेषसाधूनां वा व्यवच्छेदं (पसज्जण त्ति) प्रसंगतः करोति; तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ सर्ती ध्यामनां दर्शयति–

मुव्वत्तकामिओऽवधि–पेसण गहिते य अंतरा लुद्धो ।
लहुगो अदेंत गुरुगा, अणवट्ठप्पो य आदेसे ॥

अथ गुव्यक्तं सत्यमेव ध्यामितोपधिर्गुरुभिस्तथैव प्रेषणं कृतम, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निमन्त्रितास्तस्मादन्यस्याद्वा श्रावकाद् वस्त्रादिकमुपधिं गृहीत्वा अन्तरा लुब्धो लोभाभिभूतो यदि गृह्णाति, तदा लघुको मासः । आगते यदि गुरूणां न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरवः । तेऽत्रादेशा अनवस्थाप्या भवन्ति । गतं ध्यामनाद्वारम् ।

अथ प्रस्थापनाद्वारमाह–

उक्कोस सनिज्जोगो, पमिग्गहो अंतरा गहण लुद्धो ।
लहुगा अदेंति गुरुगा, अणवट्ठप्पो व आदेसा ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य ढौकनहेतोः प्रतिग्रहः प्रेषितः । स चोत्कृष्ट उत्कृष्टोपधिरूपः, यद्वा वृत्तसमचतुरस्रवर्णाढ्यतादिगुणोपेतः, तथा सह निर्योगेन पात्रकबन्धादिना यः स सनिर्योगः । एवंविधस्य प्रतिग्रहस्यान्तराल एवासौ लुब्धो ग्रहणं स्वीकरणं करोति, तत्र चतुर्लघु । तत्र गतस्तेषां सूरीणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरवः । तत्रादेशेन वा अनवस्थाप्योऽसौ द्रष्टव्यः । गतं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैक्षद्वारमाह–

पव्वावणिज्ज बाहिं, ठवेत्तु भिक्खुस्स अतिगते संते ।
सेहस्स आसियावण, अभिधारेंते य पावयणी ॥

कोऽपि साधुः प्रव्राजनीयं सशिखाकं शैक्षं गृहीत्वा प्रस्थितः, तं भिक्षाकाले क्वापि ग्रामे बहिः स्थापयित्वा भैक्षार्थमतिगतः-प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् परः साधुस्तं शैक्षं दृष्ट्वा विप्रतार्य च तस्य 'आसियावणं' अपहरणं करोति, साधुविरहितो वा एकाकी कमपि साधुमभिधारयन् शैक्षो व्रजेत्, तमपरः साधुर्विप्रतार्य प्रव्राजयेत; एतौ द्वावपि यदा प्रावचनिकौ जातौ, तदा द्वावपि शैक्षौ स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति–

सण्णादिगओ अद्धा–णिओ व वंदणग पुच्छ से होमि ।
सो कत्थ मज्झ कज्जे, छातपिवासिस्स वा अडति ॥

संज्ञाभूमिगत आदिशब्दाद्भक्तादिपरिष्ठापनिकार्थं निर्गतः कोऽपि साधुः शैक्षं दृष्टवान्, अथवा अध्वनिकः पथिकोऽसौ साधुस्ततः पथि गच्छन् शैक्षं दृष्टवान् । तेन च वन्दनके कृते सति, साधुः पृच्छति-कोऽसि त्वं, कुत आगतः, क्व वा प्रस्थितः? । शैक्षः प्राह-अमुकेन साधुना सार्द्धं प्रस्थितः प्रव्रजितुकामः, शैक्षोऽस्म्यहम् । साधुः पृच्छति-स साधुः संप्रति क्व गतः? । शैक्षो भणति-स मम कार्ये बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भक्तपानार्थं पर्यटति ।

मज्झ मिणमन्नपाणं, उवजीवऽणुकंपणा य सुद्धो उ ।
पुट्ठमपुट्ठे कहणा, एमेव य इहरहा दोसो ॥

ततः स साधुर्मदीयमिदमन्नपानमुपजीव भुङ्क्ष्वेति कुर्वाणो यदि साधर्मिकोऽयमित्यनुकम्पया ददाति, तदा शुद्धः । शैक्षेण पृष्टो अपृष्टो वा यद्ययमेवानुकम्पया धर्मकथां करोति, तदा शुद्धः । इतरथा अपहरणार्थं भक्तपानं ददतो धर्मं च कथयतो दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति–

भत्ते पण्णवण निगू–हणा य वावार झंपणा चेव ।
पत्थावण सयहरणा, सेहे अव्वत्त वत्ते य ॥

अपहरणार्थं भक्तपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति । तत्र स शैक्ष आदृतः सन् भणति-भवत एव सकाशेऽहं प्रव्रजामीति किन्तु न शक्नोमि येनानीतस्तत्पुरतः स्थातुं ततो मां गुपिले प्रदेशे निगूहत । ततोऽसौ तं व्यापारयति-अमुकत्र निलीय तिष्ठेति । ततस्तं तत्र निलीनं साधुः पलालादिना झम्पयति, स्थगयतीत्यर्थः । अन्यैः सार्धमन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एकाकिनं वा प्रेषयति, अमुकत्र ग्रामादौ व्रज, अहमप्यमुष्मिन्दिवसे तत्रागमिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृहीत्वा तमपहरति, एतानि षट् पदानि भवन्ति । तद्यथा–भक्तप्रदानं १, धर्मकथा २, निगूहनावचनं ३, व्यापारणं ४, झम्पनं ५, प्रस्थानं स्वयंहरणं ६ चेति । एतेषु षट्सु शैक्षे व्यक्तेऽव्यक्ते च प्रायश्चित्तमिदं भवति–

गुरु चउलहु चउगुरु छलहु छगुरुगमेव छेदो य ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥

भिक्षुर्यद्यव्यक्तशैक्षस्यापहरणार्थं भक्तं ददाति, तदा मासगुरु; धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु; निगूहनवचने चतुर्गुरु; व्यापारणे षड्लघु, झम्पने षड्गुरु, प्रस्थापने स्वयं हरणे वा छेदः । एवमव्यक्तशैक्षे भणितम् । अव्यक्तो नाम–यस्याद्यापि श्मश्रु न संजातम् । यस्तु व्यक्तः संजातश्मश्रुः, तस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावत् भिक्षोः प्रायश्चित्तम्, गणिन उपाध्यायस्य चतुर्लघुकादारब्धमनवस्थाप्यं तिष्ठति । आचार्यस्य चतुर्गुरुकादारब्धं पाराञ्चिकं पर्यवस्यति । एवं ससहाये शैक्षे भणितम् ।

यः पुनरसहायोऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह—

अभिधारं पव्वयंतो, पुच्छो पव्वामहं अमुगकुलं ।
पण्णवणभत्तदाणे, तहेव सेसा पदा णत्थि ॥

कोऽपि शैक्ष एकाकी कमप्याचार्यमभिधारयन् प्रव्रज्याभिमुखो व्रजति, तेन क्वचिद् ग्रामे पथि वा साधुं दृष्ट्वा वन्दनकं कृतम् । साधुना पृष्टः-क्व गच्छसि?। स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पादमूले प्रव्रजनार्थं व्रजामि । एवमुक्ते यदि भिक्षुरव्यक्तशैक्षकस्य भक्तदानं करोति, तदा मासगुरु, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु, व्यक्तशैक्षस्य भक्तदाने चतुर्लघु, धर्मकथायां चतुर्गुरु, उपाध्यायाचार्ययोर्यथाक्रमं षड्गुरुकं च भवति । अधस्तनमेकैकं पदं ह्रसतीति भावः । शेषाणां तु निगूहनव्यापारणझम्पनादीनि पदानि न सन्ति, असहायत्वात् । तदभावात्प्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एते चाऽपरे दोषाः—

आणादणंतसंसा–रियत्तं बोहियदुल्लभत्तं वा ।
साहम्मियतेणम्मी, पमत्त छलणाऽधिकरणं च ॥

शैक्षमपहरत आज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति, अनन्तसंसारिकत्वं च भगवतामाज्ञाभङ्गाद्भवति । बोधेश्च दुर्लभत्वं जायते, साधर्मिकस्तैन्यं च कुर्वाणः प्रमत्तो भवति; प्रमत्तस्य च प्रान्ते देवतया छलना भवति । यस्य च संबन्धी सोऽपह्रियते , तेन सममधिकरणं कलह उपजायते । एवं तावत्पुरुषविषयादयो दोषा उक्ताः ।

अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

एमेव य इत्थीए, अभिधारेंतिए तह वयंतीए ।
वत्तव्वत्ताए गम, जहेव पुरिसस्स नायव्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैक्षकाया अभिधारयन्त्याः,तथा (वयंतीए त्ति) ससहायायाः प्रव्रजितुं व्रजन्त्याः, व्यक्ताया अव्यक्तायाश्च गमः स एव ज्ञातव्यो यथा पुरुषस्योक्तः ।

अथ प्रावचनिकपदं व्याचष्टे—

एवं तु सो अवहिओ, जाहे जाओ सयं तु पावयणी ।
निक्कारणे य गहिओ, पव्वयति ताहे पुरिल्लाणं ॥

एवमनन्तरोक्तैः प्रकारैः स शैक्षोऽपहृतः सन् यदा स्वयमेव प्रावचनिको जातः , अन्यो वा निष्कारणे यः केनापि गृहीतः, स आत्मनो दिक्परिच्छेदं कृत्वा भूयोऽपि बोधिलाभाभावात् पूर्वेषामेवाचार्याणामन्तिके प्रव्रजति ।

असस्स व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जएगतरजुत्ते ।
धारेंति तमेव गणं, जाव हरो कारणज्जाते ॥

येन स शैक्षो निष्कारणमपहृतस्तस्यार्थे अपरः कोऽप्याचार्यः पदयोग्यो न विद्यते , ततोऽन्यस्याभावे , यद्वा—गुरावाचार्येऽभ्युद्यतस्यैकतरेण युक्त अभ्युद्यतमरणमभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्तेषां निष्पन्नो नास्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति , यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः , सोऽपि तमेव गणं धारयति ।

किं पुनस्तत्कारणमित्याह—

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे णं ।
अज्जा कारणजाते, कप्पति सेहाऽवहारो उ ॥

कोऽप्याचार्यो बहुश्रुतः, तस्य पूर्वगते किंचिद्वस्तु प्राभृतं वा, कालिकानुयोगेऽपि श्रुतस्कन्धोऽध्ययनं वा, विद्यते, तच्चान्यस्य नास्ति, ततो यद्यन्यस्य न संक्राम्यते,तदा तद् व्यवच्छिद्येत। एवं पूर्वगते कालिकानुयोगे च व्यवच्छेदं ज्ञात्वा तं च संप्रस्थितं शैक्षं ग्रहणधारणसमर्थं विज्ञाय भक्तादानधर्मकथादिभिर्विपरिणामकल्पनादीन्यपि कुर्वाणः शुद्धः । यद्वा—तस्याचार्यस्य नास्ति कोऽप्यार्याणां प्रवर्तकस्ततस्तासामपि कारणजाते शैक्षमपहरेत , एवं कल्प्यते शैक्षापहारः कर्तुम् ।

तस्य च कारणे ऽपहृतस्य को विधिरित्याह—

कारणजाए अवहिअ, गण धारेंतो तु अवहरंतस्स ।
जा एगो निष्फण्णो, पच्छा से अप्पणो इच्छा ॥

यः कारणजातेऽपहृतः स तदीये गणे धारयन् अपहरत एव विनेयो भवति । अथ येन कारणेनापहृतस्तत्कारणं न पूरयति तदा पूर्वेषामेव भवति, नापहरतः । स च कारणापहृतस्तस्मिन्गणे तावदास्ते यावदेको गीतार्थो निष्पन्नः, पश्चात्तस्यात्मीया इच्छा-तत्र वा तिष्ठति पूर्वेषां वा सकाशे गच्छति । यस्तु निष्कारणे अपहृतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमात्पूर्वेषामन्तिके गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैक्षद्वारम् ।

अथाहारविधिद्वारमाह—

ठवणाघरम्मि लहुगो, मायी गुरुगो अणुग्गहे लहुगा ।
अपितियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥

दानश्राद्धादिकुलं स्थापनागृहं भण्यते, तस्मिन् य आचार्यैरसंदिष्टोऽननुज्ञातो वा प्रविशति,तस्य मासलघु । अथवा प्राघूर्णकग्लानार्थमहमिहायात इति तेषां श्राद्धानां पुरतो मायां करोति, ततो मायिनो मासगुरुकम्, एवमुक्ते यदि ते श्राद्धा अनुग्रहोऽयमिति मन्यन्ते,तदा चतुर्लघु । अथाप्रीतिकं कुर्वन्ति,ततश्चतुर्गुरवः, यच्च तद्द्रव्यव्यवच्छेदादि शषदोषाणां प्रसज्जनाप्रसङ्गात् तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

अज्ज अहं निद्दिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व साहई एवं ।
पाहुणगगिलाणट्ठा, तं च पओजेति तो वितियं ॥

कश्चिदाचार्यैरसंदिष्टः स्थापनाकुलेषु प्रविश्य पृष्टोऽपृष्टो वा इदं भणति-अद्याहं गुरुभिः संदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासलघु । यदि च पूर्वं संदिष्टसंघाटकप्रविष्ट आसीत्, श्राद्धैश्च तस्यासंदिष्टस्याग्रे इदं भणितं भवेत्-संदिष्टसंघाटकस्य दत्तमिति । ततो यदि ब्रूयात्-प्राघूर्णकार्थं ग्लानार्थं वा साम्प्रतमहमागत इति, एवं तं श्राद्धजनं मायया यदि प्रयोजयति; ततो द्वितीयं मासगुरु । ते च श्राद्धा विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाचार्यादीनां प्रायोग्यं न दद्युः, ततः शुद्धं गुरुकेनाप्येतत्प्रायश्चित्तं भाव्यम् ।

आयरिगिलाण गुरुगा, लहुगा य हवंति खमगपाहुणए ।
गुरुगो य बालवुड्ढे, सेसे सव्वेसु मासलहु ॥

आचार्यस्य ग्लानस्य च प्रायोग्यमददानेषु श्राद्धेषु चतुर्गुरवः। क्षपणकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्यमददानेषु चतुर्लघवः । बालवृद्धानां प्रायोग्ये अलभ्यमाने गुरुमासः । शेषाणामेतद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोग्ये अलभ्यमाने मासलघु । गतं साधर्मिकस्तैन्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्तैन्यमाह—

परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य ।
तेसिं तेणं तिविहं, आहारे उवधि सचित्ते ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः । ते च द्विविधा-लिङ्गप्रविष्टाः, गृहस्थाश्च । लिङ्गप्रविष्टाः शाक्यादयः, गृहस्थाः प्रतीताः , तेषामुभयेषामपि स्तैन्यं त्रिविधम्-आहारविषयमुपधिविषयं सचित्तविषयं चेति ।

तत्राहारविषयं तावदाह—

भिक्खूण संखडीए, विकरणरूवेण भुंजई लुद्धे ।
आभोगणमुद्धंसण-पवयणहीला दुरप्पाओ ॥

भिक्षवो बौद्धास्तेषां संखड्यां कश्चिल्लुब्धो विकरणरूपेण लिङ्गविवेकेन भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं भुञ्जानं यदि कोऽप्याभोगयति उपलक्षयति, तदा चतुर्लघवः । एवमुपलक्ष्य यद्यसावुद्धर्षणं कोऽर्थः निर्भर्त्सनं करोति,ततश्चतुर्गुरुकाः। प्रवचनहीलां वा ते कुर्युः- यथा बुभुक्षामारोऽमी भोजननिमित्तमेव प्रव्रजिता इति ।

अपि च-

गिहवासे विं वरागा, धुवं क्खु एते अदिट्ठकल्लाणा ।

गमए णावरि ण वलितो, एएसिं सत्थुणा चेव ॥

गृहवासेऽप्येते वराका ध्रुवं निश्चितमेवादृष्टकल्याणाः, एतेषां च यां तीर्थकृता दुश्चरितामाहारशुध्याविचर्यामुपदिशता गमकः एव नवरं न वलितः,शेषं तु सर्वमपि कृतमिति भावः। गतमाहारविषयं स्तैन्यम् ।

अथोपधिविषयमाह-

उवस्सए उवहिं ठवे-त्तुं गतभिक्खुम्मि गिण्हती लहुगा ।

गेण्हणकट्टणववहा-रपच्छकडदुड्डहणणिव्विसए ॥

उपाश्रये नवे, उपधिमुपकरणं, स्थापयित्वा कश्चिद्भिक्षुको बौद्धो भिक्षां गतस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति, तदा चतुर्लघवः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य ग्रहणं करोति, तदा चतुर्गुरवः । राजकुलाभिमुखमाकर्षणे षड् गुरवः । व्यवहारं कारयितुमारब्धे छेदः । पश्चात्कृते सति मूलम् । उड्डहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयाज्ञापने पाराञ्चिकम् ।

अथ सचित्तविषयं स्तैन्यमाह-

सचित्ते खुड्डादी, चउरो गुरुगा य दोस आणादी ।

गेण्हणकट्टणववहा-रपच्छकडुड्डाहनिव्विसए ॥

सचित्तस्तैन्ये चिन्त्यमाने भिक्षुकादेः सम्बन्धिनं क्षुल्लकम्, आदिशब्दात्क्षुल्लकं वा यद्यपहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः,आज्ञादयश्च दोषाः। ग्रहणकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोड्डाहनिर्विषयाज्ञापनादयश्च दोषाः प्राग्वन्मन्तव्याः ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

गहणे गुरुगा छमास, कट्टणे छेओ होइ ववहारे ।

पच्छा कडम्मि मूलं, उड्डहणविरंगणे नवमं ॥ १ ॥

उद्दावणनिव्विसए, एगमणेगे य दोस पारंची ।

अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु उ पारंचिओ होइ ॥ २ ॥

गाथाद्वयं गतार्थम् ।

खुड्डं व खुड्डियं वा, णेंति अवत्तं अपुच्छियं तेसिं ।

वत्तम्मि णत्थि पुच्छा, खेत्तठाणं च नाऊणं ॥

क्षुल्लको वा क्षुल्लिका वा योऽव्यक्तः, स यस्य शाक्यादेः सम्बन्धी, तमपृष्ट्वा यदि तं क्षुल्लकं क्षुल्लिकां वा नयति, ततः स्तेनः अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी स मन्तव्यः, चतुर्गुरुकं च तस्य प्रायश्चित्तम् । यस्तु व्यक्तस्तत्र नास्ति पृच्छा। तामन्तरेणापि स प्रव्रजनीयः किं सर्वथैवानेनेत्याशङ्कयाह-क्षेत्रस्थानं च ज्ञात्वा । किमुक्तं भवति-यदि विवक्षितं क्षेत्रं शाक्यादिभावितं राजवल्लभत्वादिकं वा तेषां तत्र बलं,तदा पृच्छामन्तरेण व्यक्तोऽपि प्रव्राजयितुं न कल्पते, अन्यथा तु कल्पत इति । एवं तत्र लिङ्गप्रविष्टानां स्तैन्यमुक्तम् ।

अथ गृहस्थानां तदेवाह-

एमेव होंति तेसिं, तिविहं गारत्थियाण जं वुत्तं ।

गहणादिगा य दोसा, सविसेसतरा भवे तेसु ॥

एवमेवागारस्थानामपि त्रिविधम्-आहारादिभेदात्त्रिप्रकारं, स्तैन्यं भवति, यदनन्तरमेव परतीर्थिकानामुक्तम् । तेषु च गृहस्थेषु आहारादिकं स्तेनयतां ग्रहणादयो दोषाः सविशेषतरा भवेयुः । ते हि राजकुले करादिकं प्रयच्छन्ति, ततस्तद्बलेन समधिकतरान् ग्रहणाकर्षणादीन् कारयेयुः ।

कथं पुनरमीषामाहारादिकं स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिट्ठादी, तंतुण खुड्डादियं भणितपुव्वं ।

पिट्ठम्मि य कप्पट्ठी, संभमण परिग्गहे कुसला ॥

आहारे, पिष्टादिकं बहिर्विराद्धितं दृष्ट्वा क्षुल्लकः स्तेनयति, उपधौ, [तंतु त्ति] सूत्राञ्चिकाम्,उपलक्षणत्वाद्वस्त्रादिकं वा, अपहरति, सचित्ते, क्षुल्लकं वा स्तेनयति । एतं यदेव पूर्वं परतीर्थिकानां भणितं, तदेवात्रापि मन्तव्यम् । कथं पुनः पिष्टं स्तेनयति-(पिट्ठम्मीत्यादि) काचित्कुट्टिका भिक्षामटन्त्यः किंचिद् गृहं प्रविष्टास्तत्र च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तच्च दृष्ट्वा तासां मध्यादेका कल्पस्थिका पिष्टपिण्डिकां गृहीत्वा पतद्ग्रहे प्रक्षिपवती । सा चाविरतिकया दृष्टा । ततो भणितम्-एनां पिष्टपिण्डिकामत्रैव स्थापय, ततस्तया क्षुल्लिकया कुशलत्वेनान्यस्याः संघटिकाया अन्तरे प्रक्षिप्ता । एवं सूत्राञ्चिकामपि दक्षत्वेनापहरेत् ।

अथ सचित्तविषयं विधिमाह-

नीएहिं अविदिन्नं, अप्पत्तवयं पुमं ण दिक्खत्ती ।

अपरिग्गहो उ कप्पति, विजढो जो सेसदोसेहिं ॥

निजकैर्मातृपितृप्रभृतिभिः स्वजनैरवितीर्णमथ तमप्राप्तवयसमव्यक्तं पुमांसं न दीक्षयति । यदि पुनरपरिगृहीतोऽव्यक्तः स शेषदोषैर्बालजडव्याधितादिभिर्विमुक्तस्तर्हि प्रव्राजयितुं कल्प्यते ।

अपरिग्गहा उ नारी, ण भवति तो सा ण कप्पति अदिन्ना।

सा वि य हु काचि कप्पति, जह पउमा खुड्डमाता य ॥

नारी स्त्री सा प्रायेणापरिग्रहा न भवति; पितृपतिप्रभृतीनामन्यतरेण परिगृहीता भवतीति भावः । ततो नासावदत्ता सती कल्पते प्रव्राजयितुम् । साऽपि च काचिददत्ताऽपि कल्पते । यथा पद्मावती देवी-करकण्डुमाता प्रव्राजिता , यथा वा क्षुल्लककुमारमाता योगसंग्रहाभिहिता यशोभद्रा नाम्नी प्रव्राजिता ।

अथ द्वितीयपदमाह-

विइयपयं आहारे, अध्दाणे हंसमादिणो उवही ।

उवउज्जिऊण पुव्विं, होहिंति जुगप्पहाण त्ति ॥

द्वितीयपदमाहारादिषु त्रिष्वप्यभिधीयते । तत्राहारेऽध्वानं प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा उपलक्षणत्वादशिवादौ वर्त्तमाना असंस्तरणे अदत्तमपि भक्तपानं गृह्णीयुः । आगाढे कारणे उपधिमपि हंसादेः सम्बन्धिना प्रयोगेणोत्पादयेत् । सचित्तविषयेऽपि भविष्यन्त्यमी युगप्रधाना इत्यादिकं दृढालम्बनं पूर्वं प्रथममेवोपयुज्य परिभाव्य गृहस्थक्षुल्लकान् अन्यतीर्थिकक्षुल्लकान् वा हरेत ।

इदमेव भावयति-

असिवं ओम विहं वा, पविसिउकामो ततो व उत्तिन्ना ।

नियलिंगिअसति तिरियग, जायइ अदिन्ने तु गेण्हंति ॥

अशिवगृहीते विषये स्वयं वा साधवोऽशिवगृहीता भक्तपानलाभाभावाच्च संस्तरेयुः । अवमं दुर्भिक्षं तत्र वा भक्तपानं न लभेरन् । विहमध्वानं वा प्रवेष्टुकामास्ततो वा उत्तीर्णा न संस्तरेयुः । ततः स्वलिङ्गिनो या व्रतिका-देवद्रोणिः, तस्यां याचन्ते,यदि ते न प्रयच्छन्ति तदा बलादपि गृह्णन्ति । अथ बल-

चन्तस्ते, दारुणप्रकृतयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु याच्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं, प्रच्छन्नं वा गृह्णीयुः । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमलभमानाः स्वयमपि गृह्णन्ति । असंस्तरणे उपधिरप्येवमेव स्तैन्यप्रयोगेण ग्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।
गिहि अन्नतित्थियं वा, हरेज्ज एतेहिँ हेतूहिं ॥

पूर्वगते कालिकानुयोगे वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा यो गृहस्थक्षुल्लकोऽन्यतीर्थिकक्षुल्लको वा ग्रहणधारणमेधावी, स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि गृह्णीयात् । एतैरेवमादिभिर्हेतुभिः कारणैर्गृहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् । गतमन्यधार्मिकस्तैन्यम् ।

अथ 'हत्थादालं दलमाणे' इत्यादिपदत्रयं विवरीषुराह–

हत्थाताले हत्था–लंबेऽत्थादाणे य बोधव्वो उ ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामी आणुपुव्वीए ॥

हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति त्रिधा पाठोऽत्र बोद्धव्यः । एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्याऽहम् ।

तत्र हस्तातालं तावद्विवृणोति–

उक्खिणम्मि य गुरुगो, दंमो पडियम्मि होइ भयणा उ ।
एवं खु लोइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणत्वात् खड्गादिभिश्च यदा ताडनं, स हस्तातालः । स च द्विधा-लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके हस्तातालो पुरुषवधाय खड्गादावुत्कीर्णे गुरुको रूपकाणामशीतिसहस्रलक्षणो दण्डो भवति । पतिते तु प्रहारे यदि कथमपि न मृतस्तदा भजना देशे देशे अपरापरदण्डलक्षणा भवति । अथ मृतस्तदेवाशीतिसहस्रं दण्डः । एवं खुरवधारणे, लौकिकानां दण्डो भवति । लोकोत्तरिकाणां तु दण्डमतः परं वक्ष्यामि ।

हत्थेण व पादेण व, अणवट्ठप्पो उ होति उग्गिण्णे ।
पमियम्मि होति भयणा, उद्दवणे होति चरिमपदं ॥

हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यष्टिमुष्ट्यादिभिर्वा यः साधुः स्वपक्षस्य परपक्षस्य च प्रहारमुत्क्षिपति सोऽनवस्थाप्यो भवति, पतिते तु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य एव । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपदं पाराञ्चिकं भवति ।

अत्रेदं द्वितीयपदम्–

आयरिय विणयगाहण, कारणजाते व वोधिकादीसु ।
करणं वा पडिमाए, तत्थ तु भेदोपसमणं वा ॥

आचार्यः क्षुल्लकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि दद्यात् । कारणजाते वा गुरुगच्छप्रभृतीनामात्यन्तिके विनाशे प्राप्ते, वोधिकस्तेनादिष्वपि हस्तातालं प्रयुञ्जीत । पश्चार्द्धेन हस्तालम्बमाह–(करणं वा इत्यादि) अशिवपुरावरोधादौ तत्प्रशमनार्थं प्रतिमां पुत्तलिकां करोति, तत्र अभिचारिकमन्त्रं परिजपन् तत्रैव प्रतिमाया भेदं करोति; ततस्तस्योपद्रवस्य प्रशमनं भवति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अत एनां विवृणोति–

विणयस्स उ गाहणया, कण्णामोडणखड्डुगचवेडाहिँ ।
सावेक्ख हत्थतालं, दलाति मम्माणि फेडंतो ॥

इह विनयशब्दः शिक्षायामपि वर्तते । यत उक्तम्–'विनयः शिक्षाप्रणत्योरिति' । ततोऽयमर्थः–विनयस्य ग्रहणशिक्षायां आसेवनाशिक्षायां वा कर्णामोटकेन खड्डुकाभिश्चपेटाभिर्वा सापेक्षो जीवनापेक्षां कुर्वन्, अत एव मर्माणि स्फेटयन्-येषु प्रदेशेष्वाहताः सन्तो म्रियन्ते तानि परिहरन् आचार्यः क्षुल्लकस्य हस्तातालं ददाति । अत्र परः प्राह–ननु परस्य परितापे क्रियमाणे असातवेदनीयकर्मबन्धो भवति तत्कथमसावनुज्ञायते ? । उच्यते–

कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिँ पण्णत्तो ।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले खलु उ ॥

काममनुमतमस्माकं परपरितापो जिनैरसातहेतुः प्रज्ञप्तः, परं परपरितापो दुःशीले मारुवके शिक्षया दुर्ग्राहे दुर्विनीते शिष्ये खलु निश्चितमिष्यत एव । कुत इत्याह–(आतपरहियकरो त्ति) हेतौ प्रथमा, भावप्रधानश्च निर्देशः । ततोऽयमर्थः-आत्मनः परस्य च हितकरत्वात्, तत्रात्मनः शिष्यशिक्षां ग्राहयतः कर्मनिर्जरालाभः । परस्य तु सम्यग्गृहीतशिक्षस्य यथावच्चरणकरणानुपालनादयो भूयांसो गुणाः । पुनःशब्दो विशेषणम् । स चैतद्विशिनष्टि-यो दुष्टाध्यवसायतया परपरितापः क्रियते स एवासातहेतुः प्रज्ञप्तः, यस्तु शुद्धाध्यवसायेन आत्मपरहितकरः क्रियते स नैवासातहेतुरिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति–

सिप्पं णेउणियट्ठा, घाते वि सहंति लोइया गुरुणो ।
ण य मधुरणिच्छया ते, ण होंति एसेविहं उवमा ॥

शिल्पानि रथकारकर्मप्रभृतीनि, नैपुण्यानि च लिपिगणितादिकलाकौशलानि, तदर्थं लौकिकाः शिष्का गुरोराचार्यस्य घातान् परिसहन्ते, नच तथा ते, तदानीं दारुणा अपि मधुरनिश्चयाः, तैः सुन्दराः क्रियन्ते, तेनैवापरिणामा न भवन्ति, किन्तु शिल्पादिपरिज्ञाने वृत्तिलाभजनपूजनीयतादिना परिणामस्तेषां सुन्दरो भवतीति भावः । एषैवोपमा इह प्रस्तुतार्थे मन्तव्या, यथा तेषां ते घाता हितास्तथा प्रस्तुतस्यापि दुर्विनीतस्य शिष्यस्यैति भावः ।

अत्रायं बृहद्भाष्ये उक्तः सोपमेयोऽपरो दृष्टान्तः—

अहवा वि रोगियस्सा, ओसह निउँजेहि दिज्जए पुव्विं ।
पच्छा तालेतुमवी, देहाहियट्ठा पडिज्जइ से ॥
इय नवरोगिणस्स वि, अणुकूलं ण तु सारणा पुव्विं ।
पच्छा पमिकूलेण वि, परलोगहियट्ठ कायव्वा ॥

(ओसह त्ति) विभक्तिलोपादौषधमिति मन्तव्यम् । अत एव साधुरेवंविधो भवेत्–

संविग्गो मद्दविओ, अमुई अणुवत्तओ विसेसन्नू ।
उज्जुत्त अपरिहंतो, इच्छियमत्थं लहइ साहू ॥

संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दविकः स्वभावकोमलः, अमोची गुरूणाममोचनशीलः, अनुवर्तकस्तेषामेव छन्दोऽनुवर्ती, विशेषज्ञो वस्त्ववस्तुविभागवेदी, उद्युक्तः स्वाध्यायादौ, अपरितान्तो वैयावृत्त्यादौ, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च लभते ।

अथ कारणजाते ' वोहिगाइमुत्ति ' पदं व्याचष्टे—

वोहिकतेणभयादिसु, गणस्स गणिणो य अच्चए पत्ते ।
इच्छंति हत्थतालं, कालातिचरं च सज्जं वा ॥

बोधिकस्तेनभये, आदिशब्दात् श्वापदादिभयेषु वा यदि

गणस्य गच्छस्य गणिनो वा आचार्यस्य अत्यय आत्यन्तिको विनाशः प्राप्तः, तदा कालातिचारं वा कालातिक्रमेण, सद्यो वा तत्कालमेव, हस्ततालमभिच्छन्ति, गीतार्था इति गम्यते ।

अथ हस्तालम्बं व्याख्यानयति—

असिवे पुरोवरोधे, एमादी वइससेसु अभिभूता ।
संजायपच्चया खलु अन्नेसु य एवमादीसु ॥
मरणभयेणऽभिभूते, ते णातुं देवतं चुवासंते ।
पडिमं काउं मज्झे, विंधति मंते परिजवंतो ॥

अशिवेन लोको भूयान् म्रियते, परबलेन वा पुरं समन्तादुपरुद्धं, तत्र बहिः कटकयोधेराज्यन्तराणां कटकमर्दः क्रियते, अन्नक्रयाद्वा क्षुधा म्रियते, आदिशब्दाद् गलमारुतादिभिर्वा रोगार्दितः प्रभूतो जनो मरणमश्नुते । एवमादिभिर्वैशसैर्दुःखैरभिभूतास्ते पौरजनाः संजातप्रत्यया योऽत्र पुरे आचार्यो बहुश्रुतो गुणवांस्तपस्वी स शक्तो वैशसमिदं निरोद्धुं नान्यः कश्चिदिति । (सामिति) सम्यग् जातः प्रत्ययो येषां ते तथा, न केवलमेवमेव किन्तु अन्येष्वप्येवमादिषु संजातप्रत्ययास्ते संभूय तमाचार्यमुपासते-शरणमुपगताः प्राञ्जलिपुटाः पादपतितास्तिष्ठन्ति । ततः स एवाचार्यस्तान् पौरजनान् मरणभयेनाभिभूतान् देवतामिवात्मानं पर्युपासीनान् ज्ञात्वा तदनुकम्पापरीतचित्तः प्रतिमां कृत्वा तत आभिचारिकमन्त्रान् परिजपन् तां प्रतिमां मध्यभागे विध्यति, ततो नष्टा सा कुलदेवता, प्रशमितः सर्वोऽप्युपद्रवः । एवंविधहस्तालम्बदायी यदा अभ्युत्तिष्ठति तदा तत्कालमेव नोपस्थाप्यते किन्तु कियन्तमपि कालं गच्छ एव वसन् व्यामर्दनं कार्यते ।

अथार्थदानमाह——

अणुकंपणा निमित्तं, जायण पडिसेहणा सउणि मे ना ।
वणिय पुच्छा य तहा, सारण उब्भावण विणासे ॥

कस्याप्याचार्यस्य भागिनेयो व्रतं परित्यज्य मुत्कलापयति । तत्र आचार्यस्य अनुकम्पा-कथमयं द्रव्यमन्तरेण गृहवासमध्यासिष्यते इत्येवंरूपा बभूव । स च निमित्तेऽतीवकुशल इति तेनैवावर्जितयोर्द्वयोर्वणिजोरन्तिके भागिनेयं रूपकयाचनाय प्रेषितवान्, स च तत्रैकेन वणिजा- किं मम शकुनिका रूपकान् हरते, एवमुक्त्वा निषिद्धः, द्वितीयेन तु रूपकनवलकानां दर्शना कृता । द्वितीये च वर्षे द्वाभ्यामपि वणिग्भ्यां पृच्छा कृता, तत आचार्येण सारणा क्रयाणकग्रहणविषया शिक्षा दत्ता, ततो येन रूपका न दत्तास्तस्य सर्वस्वविनाशः समजनि, येन तु दत्तास्तस्योद्भावनं महर्धिकतासंपादनं कृतवान् । एष निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः । बृ० ४ उ० ।

भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्-

"वणिजावुज्जयिन्यां द्वौ, प्रायः पृष्ट्वा गुरुं सदा ।
पणायमानौ पण्यौघैः, परमामृद्धिमीयतुः ॥ १ ॥
औज्झद् गुरूणां जामेयो, भोगार्थी व्रतमन्यदा ।
ततस्तैः कृपयोचे स, विनाऽर्थैः किं करिष्यसि ? ॥ २ ॥
तथाहि वणिजौ तौ त्वं, भणाऽर्थं मे प्रयच्छतम् ।
गुर्वादेशात्ततः सोऽपि, गत्वा तौ भणति स्म तत् ॥ ३ ॥
अथैकः स्माह भोः ! कस्मा-दस्माकं द्रव्यसंचयः ।
शकुनी रूपकान् भद्र !, कुत्रापि हरतेऽत्र किम् ? ॥ ४ ॥
अढौकयद् द्वितीयस्तु, तस्याग्रे द्रविणं बहु ।
ऊचे देव ! गृहाण त्वं, यथेच्छं सोऽपि नाग्रहीत् ॥ ५ ॥
द्वितीयेऽब्दे स तद्द्रव्य-प्रदः पृच्छन्नजल्पत ।
क्रीणीहि तृणकाष्ठानि, स्थापयेश्च पुराद् बहिः ॥ ६ ॥
द्वितीयकस्तु तेनोक्तः क्रीत्वा स्नेहं गुडं कणान् ।
तूलकार्पासकाष्ठादीन्, पुरमध्ये निधेहि भोः ! ॥ ७ ॥
वर्षारम्भे समस्तेषु, छगणादिष्वथ वेश्मसु ।
दग्धं सर्वं पुरं जज्ञे, तृणकाष्ठमहर्घता ॥ ८ ॥
प्राज्यं तदाऽर्जयद्वित्तं, गुरुजामेयवित्तदः ।
दग्धं सर्वं द्वितीयस्य, सोऽथाभ्येत्याऽवदद् गुरुम् ॥ ९ ॥
किं न ज्ञातमिदं पूज्याः, गाढं प्लुष्टोऽहमेनमः ।
निमित्यूचे निमित्तं नः शकुनी हरतेऽत्र किम् ? ॥ १० ॥
तथाऽन्यथाऽपि वा किंचित्, स्यात्कथंचन मे धनम् ।
ततो रुष्टं गुरुं ज्ञात्वाऽत्यर्थं क्षमयति स्म सः ॥ ११ ॥ जीत० ।

उज्जेणीओसन्नं, दो वणिया पुच्छियं ववहरंति ।
भोगाभिलास तव्वय, मुंचंति ण रूवए सउणी ॥ १ ॥
एगो व णवलदायए, वितिएणं जत्तिए तहिं एक्को ।
अण्णम्मि हायणम्मि य, गेण्हामो किंति पुच्छंति ॥ २ ॥
तणकट्ठनेहधण्णे, गिण्हह कप्पासदूसगुलमादी ।
अंतो बहिं च ठवणा, डग्गी सउणी ण य निमित्तम् ॥ ३ ॥

इति तिस्रोऽपि व्याख्यातार्थाः, नवरं, मित्रकेण वणिजा भागिनेय उच्यते-[जत्तिए तहिं एक्को त्ति] यावन्तो युष्मभ्यं रोचन्ते तावतो नवलकान् गृहीत, एवं द्वितीयेन वणिजा भणितम् ; तत्र तेषां मध्ये एको नवलको गृहीतः । अन्यस्मिन् हायने वर्षे इत्यर्थः । दूष्यं वस्त्रमुच्यते , (सउणी न य निमित्तं ति) न च नैव मम शकुनिका निमित्तं हरते ।

एयारिसो य पुरिसो, अणवट्ठप्पो उ सो सुदेसम्मि ।
नेऊण अण्णदेसं, चिट्ठ उवट्ठावणा तस्स ॥

एतादृशोऽर्थदानकारी यः पुरुषोऽभ्युत्तिष्ठते स स्वदेशेऽनवस्थाप्यो न महाव्रतेषु स्थाप्यते, किं तु तमन्यदेशं नीत्वा तस्य च तत्र तिष्ठत उपस्थापना कर्तव्या ।

कुत इति चेदुच्यते—

पुव्वब्भासा भासे-ज्ज किंचि गोरवसिणेहभयतो वा ।
न सहइ परीसहं पि य, णाणं कंडुव्व कच्छुल्लो ॥

तं नैमित्तिकं लोकः पूर्वाभ्यासान्निमित्तं पृच्छेत्, सोऽपि ऋद्धिगौरवतः स्नेहाद्वा भयाद् वा किंचिद्व्याकरणादिकं तत्र स्थितो भाषते । अपि च स ज्ञानविषयं परीषहं तत्र न सहते, सोढुं न शक्नोतीत्यर्थः । यथा कच्छूः पामा तद्वान् पुरुषः, कण्डूं खर्जितं विनाशितुं न शक्नोति ; एवमेषोऽपि तत्र निमित्तकथनमन्तरेण न स्थातुं शक्त इति भावः ।

अथ पूर्वोक्तमप्यर्थं विशेषज्ञापनार्थं भूयोऽप्याह—

तइयस्स दोण्णि मोत्तुं, दव्वे भावे य सेस भयणा उ ।
पडिसिद्धालिंगकरणं, करणा अमत्थ तत्थेव ॥

इह 'साधर्मिकस्तैन्यं कुर्वाणे' इत्यादिसूत्रक्रमप्रामाण्येन हस्तातालस्तृतीय उच्यते । स च त्रिधा-हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति । तत्राद्ये द्वे पदे मुक्त्वा यच्छेषमर्थादानाख्यं तृतीयं पदं तत्र द्रव्यतो भावतश्च लिङ्गप्रदाने भजना भवति । कथमित्याह-(पडिसिद्ध इत्यादि) उत्तरत्र कारणे इत्यभिधास्यमानत्वादिह निष्कारणमिति गम्यते । ततो निष्कारणे प्रतिषिद्धमर्थादा-

नकारिणो लिङ्गकरणं द्रव्यलिङ्गस्य भावलिङ्गस्य वा तत्र क्षेत्रे प्रदानम्, कारणं तु भक्तप्रत्याख्यानप्रतिपत्तिलक्षणे अन्यत्र वा तत्र वा अनुज्ञातमेव । एषा पुरातनी गाथा ॥

अत एनां विवरीषुराह—

हत्थातालो जणिओ, तस्स उ दो आइमे पदे मोत्तुं ।
अत्थादाणे लिंगं न दिंति तत्थेव विसयम्मि ॥

हस्तातालसूत्रक्रमप्रामाण्यात् तृतीयम्, अर्थात् तस्य द्वे आदिमे हस्तातालहस्तालम्बलक्षणे पदे मुक्त्वा यदर्थादानाख्यं पदं तत्र वर्तमानस्य तत्रैव विषये देशे लिङ्गं न ददति । स च अर्थादानकारी गृही लिङ्गी वा । तत्र—

गिहिलिंगस्स उ दोन्नि वि, आसन्ने न दिंति जावलिंगं तु ।
दिज्जंति दोवि लिंगा, ओवत्थिय उत्तमट्ठस्स ॥

यो गृहिलिङ्गी प्रव्रज्यार्थमभ्युत्तिष्ठति तस्य द्वे अपि-द्रव्यभावलिङ्गे तस्मिन्देशे न दीयेते । यः पुनरवसन्नस्तस्य द्रव्यलिङ्गं विद्यत एव, परं भावलिङ्गं तत्र तस्यैव ददति । यदा पुनरसावुत्तमार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थमुपतिष्ठते तदा तस्मिन्नपि देशे द्वयोरपि गृहस्थावसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे दीयेते ।

अथवेदं करणम्—

ओमासिवमाईहि व, सप्पिस्सति तेण तस्स तत्थेव ।
न य असहाओ मुच्चइ, पुट्ठो य भणिज्ज वीसरियं ॥

अवमाशिवराजद्विष्टादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य प्रतिसर्पिष्यति उपग्रहं करिष्यति, तेन कारणेन तत्रैव क्षेत्रे तस्य लिङ्गं प्रयच्छन्ति । तत्र चेयं यतना-[न य असहाओ इत्यादि] स तत्रारोपितमहाव्रतः सन्नसहाय एकाकी न मुच्यते, लोकेन च निमित्तं पृष्टो भणति-विस्मृतं मम सांप्रतं तन्निमित्तमिति ।

अथ साधर्मिकादिस्तैन्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

साहम्मियअन्नधम्मिय-तेणेसु उ तत्थ होति (इ)मा भयणा ।
चउलहुगा चउ गुरुगा, अणवट्ठप्पो य आएसा ॥

साधर्मिकस्तैन्यान्यधार्मिकस्तैन्ययोस्तावदियं भजना प्रायश्चित्तरचना भवति-आहारं स्तेनयतश्चतुर्लघु, सचित्तं स्तेनयतश्चतुर्गुरवः, आदेशेन वा अनवस्थाप्यम् ।

अहवा अणुवज्झाओ, एएसु पएसु पावती तिविहं ।
तेसुं चेव पएसुं, गणिआयरियाण णवमं तु ॥

अथवा अनुपाध्यायो य उपाध्यायो न भवति किं तु सामान्यभिक्षुः स एतेषु आहारोपधिसचित्तरूपेषु यथाक्रमं त्रिविधं लघुमासं चतुर्लघु चतुर्गुरु वक्ष्यमाणं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तेष्वेव चाहारादिषु पदेषु गणिन उपाध्यायस्याचार्यस्य च नवममनवस्थाप्यं भवति । अत्र परः प्राह-ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्य एव भणितो न पुनर्लघुमासादिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तत्कथमिदमर्थेनाभिधीयते ? । उच्यते-आर्हतानामेकान्तवादः क्वापि न भवति । तथाहि—

तुल्लम्मि वि अवराहे, तुल्लमतुल्लं व दिज्जए दोण्हं ।
पारंचिके पि नवमं, गणिस्स गुरुणो उ तं चेव ॥

तुल्यः सदृशोऽपराधो द्वाभ्यामपि आचार्योपाध्यायाभ्यां सेवितः, तत्र द्वयोरपि तुल्यमतुल्यं वा प्रायश्चित्तं दीयते, तत्र तुल्यदानं प्रतीतमेव । अतुल्यदानं पुनरिदम्-पाराञ्चिके पाराञ्चिकापत्तियोग्येऽप्यपराधपदे सेविते गणिन उपाध्यायस्य नवममनवस्थाप्यमेव दीयते, न पाराञ्चिकम्, गुरोराचार्यस्य पुनस्तदेव पाराञ्चिकं दीयते, ततो यद्यपि सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्यमुक्तं तथापि तत् पुरुषविशेषापेक्षं प्रतिपत्तव्यम्, यद्वा-अभीक्ष्णसेवानिष्पन्नम् । तथा चाह—

अहवा अभिक्खसेवी, अणुवरयं पावई गणी नवमं ।
पावंति मूलमेव उ, अभिक्खपडिसेविणो सेसा ॥

अथवा साधर्मिकस्तैन्यादेरभीक्ष्णसेवी पुनः २ प्रतिसेवां यः करोति स ततः स्थानादनुपरमन् अनिवर्तमानो गणी उपाध्यायो नवमं प्राप्नोति । शेषास्तु ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तास्ते अभीक्ष्णप्रतिसेविनोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति, नानवस्थाप्यम् ।

अत्थादाणो ततिओ, अणवट्ठो खेत्तओ समक्खाओ ।
गच्छे चेव वसंतो, निज्जूहज्जंति सेसाओ ॥

अष्टाङ्गनिमित्तप्रयोगेणार्थं द्रव्यमादत्ते इति अर्थादानाख्यो यस्तृतीयोऽनवस्थाप्यः, स क्षेत्रतः समाख्यातः, तत्र क्षेत्रे नोपस्थाप्यत इत्यर्थः । शेषास्तु हस्तातालकारिप्रभृतयो गच्छ एव वसन्तो निर्यूह्यन्ते आलोचनादिभिः पदैर्बहिः क्रियन्ते इत्यर्थः । बृ० ४ उ० ।

उक्कोसं बहुसो वा, पउट्ठचित्तो व तेणियं कुणइ ।
पहरइ जो य सपक्खे, निरवेक्खो घोरपरिणामो ॥
अभिसेओ सव्वेसु वि, बहुसो पारंचियाऽवराहेसु ।
अणवट्ठप्पावत्तिसु, पसज्जमाणो अणेगासु ॥

उत्कृष्टं वस्तुविषयं बहुशो वा पौनःपुन्येन प्रदुष्टचित्तो वा संक्लिष्टमनाः क्रोधलोभादिकलुषितमनसो यत् स्तैन्यं साधर्मिकस्तैन्यमन्यधार्मिकस्तैन्यं वा करोति । जी० । एवंविधार्थोपादानकारी । आचार्यः स्वस्य महाव्रतान्यारोपयितुमभ्यर्थ्यमानो तद्दोषकरणनिवृत्तोऽपि तत्र क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, तथा हस्तालम्ब इव हस्तालम्बस्तं ददानः, अशिवे पुररोधादौ तत्प्रशमनार्थमभिचारमन्त्रादीन्प्रयुञ्जान इत्यर्थः । तथा हस्तेन ताडनं हस्ततालस्तं ददानः यष्टिमुष्टिलगुडादिभिरात्मनः परस्य च मरणभयनिरपेक्षः, स्वपक्षे, चशब्दात्परपक्षे च, घोरपरिणामो निर्दयो यः प्रहरति । एते त्रयोऽप्यनवस्थाप्याः क्रियन्ते । यदि वाऽऽचार्यादीन् कोऽपि हिनस्ति ततस्तन्मारणेनापि तान् रक्षेत् । यदाह-"आयरियस्स विणासे, गच्छे अहवा वि कुलगणे संघे । पंचिंदियवरमणं, काउं नित्थारणं कुज्जा ॥ १ ॥ एवं तु करितेणं, अच्छुच्छित्ती कया उ तित्थंमि । जइ वि सरीरावाओ, तह वि य आराहओ सो उ ॥ २ ॥ " यस्तु समर्थोऽप्यागाढेऽपि प्रयोजने न प्रगल्भते स विराधकः । कृताभिषेक उपाध्यायः स येषु येष्वपराधेषु पाराञ्चिकमापद्यते तेषु बहुशः पाराञ्चिकापराधेषु सर्वेष्वपि शुद्धिनिमित्तमनवस्थाप्यः क्रियते । यथा भिक्षोरनवस्थाप्यपाराञ्चिकेऽपि प्राप्तस्य मूलमेव चरमं प्रायश्चित्तं भवति, एवमुपाध्यायस्याप्यनवस्थाप्यमेव परमं, तथा अनवस्थाप्यापत्तिषु उपचारादनवस्थाप्याख्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिण्यतिचारप्रतिसेवास्वनेकासु प्रसज्जनं प्रसक्तिं कुर्वाणोऽनवस्थाप्यः क्रियते ।

स चानवस्थाप्यः क्रियमाणः कस्मिन्कस्मिन्विषये क्रियते इत्याह—

कीरइ अणवट्ठप्पो, सो लिंगखित्तकालओ तवतो ।
लिंगेण दव्वभावो, भणिओ पव्वावणाऽणरिहो ॥

क्रियते तथाविधापराधकारित्वान्महाव्रतेषु लिङ्गे वा नाऽवस्थाप्य इत्यनवस्थाप्यः । स चतुर्धा-लिङ्गतः, क्षेत्रतः, कालतः, तपोविशेषतश्चेति । लिङ्गं द्विधा-द्रव्ये च भावे च । तत्र द्रव्यलिङ्गं रजोहरणादि, भावलिङ्गं महाव्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन चानवस्थाप्य इत्येको भङ्गः । द्रव्यलिङ्गेनानवस्थाप्यो न भावलिङ्गेनेति द्वितीयः । भावलिङ्गेनानवस्थाप्यो न द्रव्यलिङ्गेनेति तृतीयः । उभाभ्यामप्यनवस्थाप्य इति चतुर्थः । इह द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन चाऽनवस्थाप्यः प्रथमभङ्गस्थः प्रव्राजनाऽनर्हो भणितः ।

लिङ्गानवस्थाप्यादिचातुर्विध्यमेव वितन्वन्नाह-

अप्पडिविरतोसन्नो, न भावलिंगारिहोऽणवट्ठप्पो ।
जो जत्थ जेण दूसइ, पडिसिद्धो तत्थ सो खित्ते ॥

अप्रतिविरतः साधर्मिकान्यधार्मिकस्तैन्यात्प्रदुष्टचित्तत्वेनानिवृत्तः स्वपक्षपरपक्षप्रहरणोद्यतश्च निरपेक्षानुपशान्तवैरो यः स द्रव्यभावलिङ्गाभ्यामनवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथमभङ्गवर्ती क्रियते । हस्तालम्बदायी अर्थादानकरो वाऽवसन्नादिकश्च तत्तद्दोषानिवृत्तो न भावलिङ्गार्हः । अयं भावः-स द्रव्यलिङ्गी भवति न भावलिङ्गमर्हति, भावलिङ्गमपेक्ष्यानवस्थाप्यतृतीयभङ्गवर्ती भवतीत्यर्थः । द्वितीयचतुर्थभङ्गौ पुनर्न संभवतः, क्षेत्रतोऽनवस्थाप्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कर्मणा दूष्यते स तद्दोषकरणानिवृत्तोऽपि क्षेत्रे प्रतिषिद्धो महाव्रतेषु स्थापने निराकृतो यथार्थादानकारी । तत्रैव क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वाभ्यासात् तं लोको निमित्तं पृच्छेत्, स च तं निमित्तज्ञानजमृद्धिगौरवं सोढुमक्षमः कदाचित् कथयेत्, ततोऽन्यत्र नीत्वोपस्थाप्य उत्तमार्थप्रतिपन्नस्य पुनस्तत्रापि स्वस्थानेऽपि स्थितस्य महाव्रतारोपः कार्य एव । उक्तौ लिङ्गक्षेत्राऽनवस्थाप्यौ । जीत० ।

जत्तियमित्तं कालं, तवसा उ जहन्नएण छम्मासा ।
संवच्छरमुक्कोसं, आसायइ जो जिणाईणं ॥ ९१ ॥

यो यावन्तं कालं दोषान्नोपरमते तावन्तं कालमनवस्थाप्यः क्रियते । तपसा त्वनवस्थाप्यो द्विधा-आशातनाऽनवस्थाप्यः, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थकरसङ्घश्रुताचार्यमहर्द्धिकगणधराणामाशातनां यः कुर्यात् । यथा-तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि गृहवासत्यागादिकाऽतिकर्कशा देशना कृता; यदि च गृहवासो न श्रेयान् ततः किमिति स्वयं गृहवासे वसन्ति स्म, भोगांश्च भुक्तवन्त इत्येवं कृतोऽधिक्षेपः । सङ्घं च दृष्ट्वाऽवज्ञया वदेत्-हुं ! दृष्टा मयाऽरण्येऽपि सङ्घाः शृगालश्वानवृकचित्रकादीनामिति । श्रुतं चैवमधिक्षिपति यथा- "कायावयाय निच्चिय, पुणो वि तिच्चिय पमायपया । मुक्खस्स देसणाए, जोइसजोणीहिं किं कज्जं ॥१॥" आचार्यं च जात्यादिभिरधिक्षिपति । महर्द्धिकाश्च गणभृतो गौतमादयः, ये वा यस्मिन् युगे प्रधानभूताः, तान् ऋद्धिरसगौरवप्रसक्ताः कथका इव लोकावर्जनीयता इत्यादिवाक्यैरधिक्षिपति । स आशातनाकारित्वादाशातनयाऽनवस्थाप्यः । स जघन्येन षण्मासान् उत्कर्षतः संवत्सरं यावत् तपः कुर्वन् कर्तव्यः, तावता च तपसा क्षपिताऽऽशातनाजनितकर्मण्यादूर्ध्वं महाव्रतेषु स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्चोत्तरगाथायां वक्ष्यते ।

सा चेयम्—

वासं बारसवासा, पडिसेवी कारणाउ सव्वो वि ।
थोवं थोवतरं वा, वहिज्ज मुंचिज्ज वा सव्वं ॥ ९२ ॥

प्रतिसेवी प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः साधर्मिकान्यधार्मिकस्तेनान्यां हस्ततालादिभिश्च भवति, स च जघन्यतो वर्षम्, उत्कृष्टतो द्वादश वर्षाणि, तदनन्तरं व्रतेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः संहननादिगुणयुक्त एव क्रियते, अन्यस्य तु मूलमेव दीयते ।

अथ कीदृशगुणयुक्तस्यानवस्थाप्यं दीयत इत्याह—

"संहणणविरियआगम-सुत्तत्थविहीइ जो समग्गो य ।
तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे य गहियत्थो ॥ १ ॥
तिलतुसमतिभागमित्तं, वि जस्स असुभो न विज्जई भावो ।
निज्जूहणारिहो सो, सेसे निज्जूहणा नत्थि ॥ २ ॥
एयगुणसंपउत्तो, पावइ अणवट्ठमुत्तमगुणोहो ।
एइयगुणविप्पहूणे, तारिसगम्मी भवे मूलं ॥ ३ ॥"

[तवसी] तपश्चरणवान् [निग्गहजुत्तो] जितेन्द्रियः [निज्जूहणारिहो] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादतस्त्वनन्यसाध्यकुलगणसङ्घकार्यकारी, बहुजनसाध्यं च कार्यं शृङ्गवादितमुच्यते, तत्साधकश्चायमित्यतः कारणात्सर्वोऽपि द्विप्रकारोऽपि आशातनेनावस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुमुखात् सङ्घादेशात् स्तोकं स्तोकतरं वा, मासद्वयं मासैकमात्रं वा अनवस्थाप्यतपो वहेत् । सङ्घो वा सार्थोपष्टम्भादिकमेवायमनवस्थाप्यशोध्यमतीचारमलं क्षालयिष्यतीति सर्वं मुञ्चेत्, अनवस्थाप्यतपो न कारयेदित्यर्थः । जीत० । बृ० ।

यस्त्वनवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह–

आसायणा जहन्ने, छम्मासुक्कोस बारस उ मासा ।
वासं बारसमासे, पडिसेवओ कारणे भणिओ ॥
इत्तिरियं निक्खेवं, काउं वन्नं गणं गमित्ताणं ।
दव्वाइ सुहे वियडण, निरुवस्सग्गह उवस्सग्गो ॥
अप्पच्चय निब्भयया, आणाभंगो य जंतणा सगणे ।
परगणे न होंति एए, आणा थिरया भयं चेव ॥

गाथाषट्कं यथा पाराञ्चिके व्याख्यातं तथैवात्र मन्तव्यम्, नवरं, [दव्वाइसुहे वियडण त्ति] द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु; द्रव्यतो वटवृक्षादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रत इक्षुक्षेत्रादौ, कालतः पूर्वाह्णे, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रताराबलेषु, गुरूणां विकटनामालोचनां ददाति । तत आचार्या भणन्ति- "एयस्स साहुस्स अणवट्ठप्पतवस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि काउसग्गं ति । अन्नत्थूससिएणं" इत्यादि वोसिरामीति यावत् । ततश्चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वाचार्या भणन्ति-एष तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्भिः सार्धमालापादिकं विधास्यति, स्वयमप्येतेन सार्धमालापादिकं परिहरध्वमिति । बृ० ४ उ० ।

वंदइ नइ वंदिज्जइ, परिहारतवं सुदुच्चरं चरइ ।
संवासो से कप्पइ, नालवणाईणि सेसाणि ॥ ९३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरणकालं यावत् स्वगणं गीतार्थं निक्षिप्याचार्य उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु, तत्र द्रव्यतो वटादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रतः इक्षुशालिक्षेत्रकुसुमितवनखण्डप्रदक्षिणावर्तजलपद्मसरश्चैत्यगृहादिषु, कालतः पूर्वाह्णे, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रताराबलेषु, संध्यागतादिनक्षत्रवर्जमालोचनां प्रयुङ्क्ते स्वातिचारं प्रकाशयति । आलोचनाऽनन्तरं जघन्येन मासमुत्कर्षतः षण्मासादिकमनवस्थाप्यतपःप्रपद्यमाने आलोचनादायकः कायोत्सर्गं करोति । "एयस्स आयरियस्स अणवट्ठप्पतवस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि

काउस्सग्गं अन्नत्थ उस्ससिएणं, इत्यादि 'वोसिरामि' इति यावत् चतुर्विंशतिस्तवमनुचिन्त्य पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमुच्चार्याऽऽचार्यो वक्ति-"एस तवं पडिवज्जइ, न किंचि आलवइ माइ आलवह । अत्तट्ठचिंतगस्स उ, वाघाओ भे न कायव्वो ।" एष युष्मान्नालपिष्यति, युष्माभिरपि नालाप्यः, एष सूत्रार्थे शरीरवार्तां वा न प्रक्ष्यति , युष्माभिरपि न प्रष्टव्यः । खेलमल्लकमात्रादिकं वा नास्य ग्राह्यमर्पणीयं वा, उपकरणं परस्परं न प्रतिलेख्यं, भक्तपानं परस्परं न ग्राह्यम् । संघाटकोऽस्य न मेलनीयः। अनेन सहैकमण्डल्यां न भोक्तव्यम् , किमप्यनेन सार्धं न कार्यं कार्यमिति । अधुना गाथाऽक्षरार्थः-प्रतिपन्नाऽनवस्थाप्यतपः शैक्षादीनपि वन्दते, न चासौ वन्द्यते । परिहारतपश्च पारिहारिकसाधूनां तपः ग्रीष्मे चतुर्थषष्ठाष्टमानि, शिशिरे षष्ठाष्टमदशमानि, वर्षास्वष्टमदशमद्वादशानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि, पारणके च निर्लेपः, भक्तमित्येवं रूपं सुदुश्चरं चरति । संवासः सहवासो गच्छेनास्य एकक्षेत्रे एकोपाश्रये एकस्मिन् पार्श्वे शेषसाधुपरिभोग्यप्रदेशे कल्पते, नालपनादीनि शेषाणि; इत्येष संक्षेपतोऽनवस्थाप्यविधिः । उक्तमनवस्थाप्यार्हम् । जीत० ।

एवंविधं तपः प्रतिपद्य यदसौ विदधाति तदुपदर्शयति—

सेहाई वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।
विहरइ बारसवासे, अणवट्ठप्पो गणे चेव ॥

शैक्षादीनपि वन्दमानो जिनकल्पिक इव प्रगृहीतमहातपाः पारणके निर्लेपं भक्तपानं ग्रहीतव्यमित्याद्यनेकाभिग्रहयुक्तं चतुर्थषष्ठादिकं विपुलं परिहारतपः कुर्वन्निति भावः । एवंविधो ऽनवस्थाप्यो गण एव गच्छान्तर्गत एवोत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि विहरति ।

इदमेव भावयति—

अणवट्ठं वहमाणो, वंदइ सो सेहमाइणो सव्वे ।
संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥

परगणेऽनवस्थाप्यं वहमानः स उपाध्यायादिः शैक्षादीनपि सर्वान् साधून् वन्दते, तस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाश्रये एकस्मिन् पार्श्वे शेषसाधुजनापरिभोग्ये प्रदेशे संवासं कर्तुं कल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्पन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह---

आलावणपडिपुच्छण-परियट्टणवंदणग मत्ते ।
पडिलेहणसंघाडग-भत्तदाणसंभुंजणा चेव ॥ १०१ ॥

आलापनं स साधुभिः सह न कार्यते , सर्वेषामपि स करोति, तस्य पुनः साधवो न कुर्वन्ति, (मत्ते त्ति) खेलमात्रादिप्रत्यर्पणं तस्य न क्रियते, सोऽपि तेषां न करोति । उपकरणं परस्परं न प्रत्यपेक्षन्ते, संघाटकेन परस्परं न भवन्ति । भक्तदानमन्योन्यं न कुर्वन्ति । एकत्र मण्डल्यां न संभुञ्जते । यच्चान्यत् किंचित्करणीयम्, तत्तेन सार्धं न कुर्वन्ति । 'संघो न लभइ कज्जं' इत्यादिगाथाः पाराञ्चिकवद्द्रष्टव्याः। बृ० ४ उ०। (अनवस्थाप्यस्य गृहिभूतस्यागृहिभूतस्य चोपस्थापना 'उवट्ठावणा' शब्दे द्वि० भा० ८८० पृष्ठे वक्ष्यते) तपोऽनवस्थाप्यश्च चतुर्दशपूर्वधरे श्रीभद्रबाहुस्वामिनि व्युच्छिन्नः । " अणवट्ठप्पो तवसा, तव पारंचिय दोवि वुच्छिन्ना । चउद्दसपुव्वधरम्मि, धरंति सेसाउ जा तित्थं " ॥ १ ॥ जीत० ।

अणवट्ठप्पया-अनवस्थाप्यता-स्त्री० । येन पुनः प्रतिसेवितेन उत्थापनाया अप्ययोग्यः सन् कञ्चित्कालं न व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थाप्यताऽर्हत्वादनवस्थाप्यता प्रायश्चित्तम् । यद्वा-यथोक्तं तपो यावन्न कृतं तावन्न व्रतेषु लिङ्गे वाऽवस्थाप्यत इत्यनवस्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यता । नवमप्रायश्चित्ते, प्रव० ९८ द्वा० । आव० । पंचा० ।

अणवट्ठप्पारिह-अनवस्थाप्यार्ह-न० । नवमप्रायश्चित्ते, स्था० । यस्मिन्नासेविते कञ्चन कालं व्रतेष्वनवस्थाप्यं कृत्वा पश्चाच्चीर्णतपास्तद्दोषोपरतो व्रतेषु स्थाप्यते तदनवस्थाप्यार्हम् । स्था० १० ठा० ।

अणवट्ठप्पावत्ति-अनवस्थाप्यावर्त्ति-स्त्री० । (उपचारात्) अनवस्थाप्याख्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीषु प्रतिसेवासु, जीत० ।

अणवट्ठाण-अनवस्थान-न० । न० त० । सामायिककालावधेरपूरणे यथा कथञ्चिद्वाऽनादृतस्य करणे, एष सामायिकस्य पञ्चमोऽतिचारः । उपा० १ अ० । धर्म० ।

अणवट्ठिय-अनवस्थित-त्रि० । अनियतप्रमाणे, " अणवट्ठित्ताणं तत्थ खलु राइंदिया पण्णत्ता " चं० प्र० ८ पाहु० । अस्थिरे कल्पानुयोगाश्रवणानर्हभेदे, बृ० ।

तत्रानवस्थितं तावदाह–

दुविहो लिंगविहारो, एक्केक्को चेव होइ दुविहो उ ।
चउरो य अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

अनवस्थितो द्विविधः । तद्यथा-लिङ्गानवस्थितो विहारानवस्थितश्च । एकैकः पुनरपि द्विविधो भवति । तदुभयमपि द्वैविध्यमनन्तरगाथायां वक्ष्यते । चत्वारश्च मासा अनुद्धाता गुरवः , उपलक्षणत्वाल्लघुमासादिकं वा अत्र यत् प्रायश्चित्तं भवति, तत्तु यथास्थानमेव भावयिष्यते । तत्राऽपि लिङ्गानवस्थितविहारानवस्थितयोरप्याज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः ।

अथैनामेव गाथां व्याख्यानयति–

गिहिलिंग अन्नलिंगं, जो उ करेइ स लिंगओ दुविहो ।
चरणे गणे अ अथिरो, विहार अणवट्ठिओ एसो ॥

गृहिलिङ्गं गृहस्थानां वेषम् , अन्यलिङ्गमतीर्थिकानां नेपथ्यम् । यः साधुः, तुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि? । दर्पेण यो लिङ्गद्वयं करोति, स एष लिङ्गतो द्विविधोऽनवस्थितः । अस्य च द्विविधस्यापि मूलं यथा चोलपट्टकं बध्नत एकत उभयतो वा स्कन्धोपरि कल्पाञ्चलानामारोपणरूपं गरुडपाक्षिकं प्रावृण्वत उत्तरासङ्गरूपमर्द्धासन्न्यासं कुर्वतः प्रत्येकं चत्वारो गुरुमासाः, द्वावपि बाहू छादयित्वा संयती प्रावरणमातन्वानस्य चत्वारो लघवः, कल्पेन शिरःस्थगनरूपां शीर्षद्वारिकां कुर्वतो मासलघु, चतुष्कलं मुत्कलं वा कल्पं स्कन्धोपरि कृत्वा गोपुच्छवदधोलम्बमानं कुर्वतो मासलघु । एतेऽपि लिङ्गाऽनवस्थितेऽन्तर्भवन्ति । तथा चरणे चारित्रे अस्थिरो यः पुनः पुनश्चारित्रात्प्रतिपतति , तस्य यदि सूत्रं ददाति तदा चतुर्लघु, अर्थं ददाति तदा चतुर्गुरु, गणे गच्छे अस्थिरः पुनर्गणाद्गणं संक्रामति । एष द्विविधोऽपि विहारानवस्थितः। एतद्विपरीतस्य स्वलिङ्गावस्थितस्य संविग्नविहारावस्थितस्य च दातव्यं यदि न ददाति, तदा तथैव सूत्रे चतुर्लघु, अर्थे चतुर्गुरु। गतमनवस्थितद्वारम् । बृ० १ उ० । स्था० ।(आचेलक्यादयः षडनवस्थितकल्पाः 'कप्प' शब्दे तृ० भा० २२६ पृष्ठे वक्ष्यन्ते) "अणवट्ठियस्स करणया " अनवस्थितस्याल्पकालीनस्यानियतस्य सामायिकस्य करणमनवस्थितकरणमल्पकालकरणान-

न्तरमेव त्यजति, यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा० १ अ० । पंचा० । आ० । आव० ।

अणवट्ठियचित्त-अनवस्थितचित्त-त्रि० । एकत्र स्थापितान्तःकरणत्वरहिते, नि० चू० १ उ० ।

अणवट्ठि (त) यसंठाण-अनवस्थितसंस्थान-न०। सततचारप्रवृत्त्या सम्यगवस्थाने, जी० ३ प्रति० ।

अणवणीयत्त-अनपनीतत्व-न० । कारककालवचनलिङ्गादिव्यत्ययरूपवचनदोषापेततारूपे पञ्चविंशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ स्थ० । रा० । औ० ।

अणवतप्पया-अनवत्राप्यता-स्त्री० । अपत्रापयितुं लज्जयितुमर्हः शक्यो वा अपत्राप्यो लज्जनीयः, न तथाऽनवत्राप्यस्तद्भावोऽनवत्राप्यता । हीनसर्वाङ्गत्वे, उत्त० १ अ० । अलज्जनीयाङ्गतायाम, स्था० ८ ठा० ।

अणवतारण-अनवतारण-न० । न० त० । अनुपस्थापने, ध० २ अधि० ।

अणवत्था-अनवस्था-स्त्री० । अव-स्था-अङ् । अवस्थितिः । न० त० । अवस्थाभावे, तर्कदोषविशेषे च । उपपाद्यस्य समर्थनाय उपपादकस्यानुसरणं तर्कः, यत्र तर्के उपपाद्योपपादकयोर्विश्रान्तिर्नास्ति तादृशतर्कस्यानवस्थादोषः । तत्र स तर्को न ग्राह्यः । वाच० । अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावर्तनरूपा प्रसिद्धैव, इह तु अनवस्थाचक्रयोर्नामकृत एव विशेषो लभ्यते न पुनरर्थकृतः । कश्चिद् यद्वक्ष्यति-सामान्यविशेषवादे चक्रकमनवस्थानिवृत्तेरिति । अत्र हि चक्रके साध्ये अनवस्थानिवृत्तिलक्षणो हेतुरुपन्यस्तः । अतो ज्ञायतेऽनवस्थैव चक्रवत् पुनः पुनर्भ्रमणा च चक्रकमित्युच्यते इति । अने०१अधि० । क्वचिदव्यवस्थानाऽप्राप्तौ, विशे० । अनाश्वासे, दर्श० । किञ्चिदकार्यं कुर्वन्तं दृष्ट्वाऽन्येषामपि तथाकरणे, व्य० ७ उ० । यथा किमयमेवंविधं करोति किमहमेतन्न करिष्यामीत्येवंरूपा । (तत्स्वरूपं च 'पलंब' शब्दे वक्ष्यते)

अणवदग्ग-अनवताग्र-त्रि० । अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य तत्तथा । तन्निषेधादनवनताग्रम, तदेव वर्णनाशादनवताग्रमिति । आसन्नाग्रं अनवगतमपरिच्छिन्नमग्रं परिमाणं यस्य तत्तथा । अपरिच्छिन्नान्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अनवदग्र-त्रि० न विद्यतेऽवदग्रं पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदग्र इति । अपर्यन्ते अनन्ते, सूत्र० २ श्रु० २अ० । सम० । ज्ञा० । ज० । प्रश्न० । अपर्यवसाने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । अपरिमिते, नि० चू० २ उ० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अणवयक्खित्ता-अनवेक्ष्य-अव्य० । पश्चाद् भागमनवलोक्येत्यर्थे, "जेणं नो पभू मग्गओ रूवाइं अणवयक्खित्ताणं पासित्ताए " भ० ७ श० ७ उ० ।

अणवयग्गं-देशी-अवयग्गं इति देशीवचनोऽन्तवाचकः, ततस्तन्निषेधादणवयग्गं । अनन्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अणवयमाण-अनपवदत्-त्रि० । अपवदन् अन्यथैव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथावदन्नपवदन् । न अपवदन् अनपवदत् । प्राकृतत्वादार्षत्वाद् वा पकारलोपः । मृषावादमकुर्वति, व्य०३ उ० ।

अणवरय-अनवरत-त्रि० । अव-रम-भावे क्तः । अवरतं विरामस्तन्नास्ति यस्य । ब० । निरन्तरे, विश्रामशून्ये च । वाच० । निरन्तरे, कल्प० । सतते, भ० ६ श० ३३ उ० । पंचा० । आचा० । जं० । सकलकाले, आ० म० द्वि० ।

अणववाइत्त-अनपवादित्व-न० । सर्वेषु जघन्योत्तममध्यमभेदेषु जन्तुषु अपवादमश्लाघां करोतीत्येवं शीलोऽपवादी, नापवादी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्तत्त्वम् । अपवादभाषणे, परापवादे हि बहुदोषः । यदाह वाचकचक्रवर्ती-"परपरिभवपरिवादा-दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म । नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम्" ॥१॥ इति । तदेवं सकलजनगोचरोऽप्यवर्णवादो न श्रेयान्, किं पुनर्नृपामात्यपुरोहितादिषु बहुजनमान्येषु । नृपाद्यवर्णवादात्तु प्राणनाशादिदोषादिति । ध०१ अधि०

अणवाय-अनपाय-त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, " आगमवचनपरिणति-र्भवरोगसदौषधं यदनपायम् " षो० ५ विव० ।

अणविक्खया-अनपेक्षता-स्त्री० । शिक्षारहितत्वे, ग०१ अधि० ।

अणवेक्खमाण-अनपेक्षमाण-त्रि० । शरीरनिरपेक्षे, " धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणे " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणवे (वि) क्खा-अनपेक्षा-स्त्री० । स्वपरविशेषाकरणे, व्य० ३ उ० ।

अणसण-अनशन-न० । अश्यते भुज्यते इत्यनशनम् । अशेषाहारप्रत्याख्याने, उत्त० । एकस्माडुपवासादारभ्य षाण्मासिकपर्यन्ते, उत्त० ३० अ० । पा० । आहारत्यागरूपे बाह्यतपोभेदे, स्था० ६ ठा० । ग० ।

से किं तं अणसणे ?। अणसणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-इत्तरिए य, आवकहिए य । से किं तं इत्तरिए ?। इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा-चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चउद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, तिमासिए भत्ते, जाव छम्मासिए भत्ते, सेत्तं इत्तरिए। से किं तं आवकहिए ?। आवकहिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-पाओवगमणे य,भत्तपच्चक्खाणेण य । भ० २५ श० ७ उ० ।

अनशनं द्विधा-इत्वरं, यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरं चतुर्थादि षण्मासान्तमिदं तीर्थमाश्रित्येति, यावत् कथिकं त्वाजन्मभावि त्रिधा-पादपोपगमनेङ्गितमरणभक्तपरिज्ञाभेदात् । एतच्च प्रायो व्याख्यातमिति । स्था० ६ ठा० । तत्रेत्वरं परिमितकालम्, तत्पुनःश्रीमहावीरतीर्थे नमस्कारसहितादिषण्मासान्तं,श्रीनाभेयतीर्थङ्करतीर्थे संवत्सरपर्यन्तं, मध्यमतीर्थकरतीर्थे अष्टौ मासान्, यावत्कथिकं पुनराजन्मभावि । तत्पुनश्चेष्टाभेदोपधिविशेषतस्त्रिधा । यथा-पादपोपगमनम्, इङ्गितमरणम्, भक्तपरिज्ञा चेति । प्रव० ६ द्वा० ।

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिया सावकंखा, निरवकंखउ बेइज्जिया ॥ ९ ॥

(इत्तरिय त्ति) इत्वरमेव इत्वरकं स्वल्पकालं नियतकालावधिकमित्यर्थः , मरणावसानः कालो यस्य तन्मरणकालम् । प्राग्वन्मध्यमपदलोपी समासः । यावज्जीवमित्यर्थः । यद्वा-मरणं का-

लोऽवसरो यस्य तन्मरणकालम्। चः समुच्चये। अश्यते भुज्यत इत्यशनम्, अशेषाहाराभिधानमेतत्। उक्तं हि-"सव्वो वि य आहारो, असणं सव्वो वि वुच्चए पाणं। सव्वो वि खाइमं चिय, सव्वो वि य साइमं होइ"॥१॥ ततश्चाविद्यमानं देशतः सर्वतो वाऽशनमस्मिन्नित्यनशनं, द्विविधं द्विः प्रकारं भवेत्, तत्र [इत्तरिय त्ति] इत्वरकं सहावकाङ्क्षया घटिकाद्वयाद्युत्तरकालं भोजनाभिलाषरूपया वर्तत इति सावकाङ्क्षम्, निष्क्रान्तमाकाङ्क्षातो निराकाङ्क्षम्, तज्जन्मनि भोजनाशंसाभावात्, तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्। द्वितीयं पुनर्मरणकालम्। पाठान्तरतश्च निरवकाङ्क्षं द्वितीयम्।

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो।
सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गे य ॥ १० ॥
तत्तो य वग्गवग्गो, पंचम छट्ठओ पइन्नतवो।
मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥ ११ ॥

यथोद्देशं निर्देश इति न्यायतः इत्वरकानशनस्य भेदानाह— यत्तदित्वरकं तपः इत्वरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तत्समासेन संक्षेपेण षड्विधं विस्तरेण तु बहुतरभेदमिति भावः। षड्विधत्वमेवाह-(सेढितवो इत्यादि) अत्र च श्रेणिः पङ्क्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपस्तच्चतुर्थादिक्रमेण क्रियमाणमिह षण्मासान्तं परिगृह्यते, तथा श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तदुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चाव्यामोहार्थं चतुर्थषष्ठाष्टमदशमाख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिर्विवक्ष्यते। सा च चतुर्भिर्गुणिता षोडशपदात्मकः प्रतरो भवति। अयं च आयामतो विस्तरतश्च तुल्य इति। अस्य स्थापनोपाय उच्यते-

"एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्तयोऽत्र यथाक्रमम्।
एकादींश्च निवेश्यान्ते, क्रमात्पङ्क्तिं प्रपूरयेत्" ॥

अस्यार्थः-एकः आदिर्येषां ते एकादयः एककद्विकत्रिकचतुष्कास्त आद्या यासु ता एकाद्याद्याः, व्यवस्थाप्या न्यसनीयाः, पङ्क्तयः श्रेणयो, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण, कोऽर्थः-प्रथमा एकाद्या एककादारभ्य संस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारभ्य, तृतीया त्रिकाद्या, त्रिकादारभ्य, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारभ्य। आह-एवं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति, द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्त एव, तत्कथं पूरणीयाः ?। उच्यते-एकादींश्च निवेश्य व्यवस्थाप्य, अन्त इत्यग्रे, क्रमादिति क्रममाश्रित्य, पङ्क्तिमपूर्यमाणां श्रेणीं, पूरयेत् परिपूर्णां कुर्यात्। तत्र च द्वितीयपङ्क्तौ द्विकत्रिकचतुष्कानामग्रे एककः; तृतीयपङ्क्तौ त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको द्विकश्च; चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्कावसाने एकद्वित्रिकाः स्थाप्यन्ते। स्थापना चेयम्—

चतुर्थ०	षष्ठ०	अ०	द०
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

प्रक्रमाद् घन इति घनतपः, चः पूरणे, तथेति समुच्चये, भवतीति क्रिया प्रतितपोभेदं योजनीया। अत्र च षोडशपदात्मकः प्रतरः पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति आगतं चतुःषष्टि ६४, स्थापना तु पूर्विकैव, नवरं, बाहुल्यतोऽपि पदचतुष्टयात्मकत्वं विशेष एतदुपलक्षितं तपो घनतप उच्यते। चः समुच्चये। तथा भवति वर्गश्चेतीहापि प्रक्रमाद्वर्ग इति वर्गतपः, तत्र च घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुष्षष्टिश्चतुष्षष्ट्यैव गुणिता जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि, एतदुपलक्षितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपसाऽनन्तरं वर्ग २ इति वर्ग २ तपः, तुः समुच्चये। पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम्, अत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्ग वर्गो भवति, तथा च चत्वारि सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि तावतैव गुणितानि जातैककोटिः, सप्तषष्टिलक्षाः, सप्तसप्ततिसहस्राणि, द्वे शते षोडशाधिके। अङ्कतोऽपि १६७७७२१६। एतदुपलक्षितं तपो वर्गवर्गतप इत्युच्यते। एवं पदचतुष्टयमाश्रित्य श्रेण्यादितपो दर्शितम्। एतदनुसारेण पञ्चादिपदेष्वप्येतत्परिभावना कार्या। षष्ठकं प्रकीर्णकतपो यत् श्रेण्यादिनियतरचनादिरहितं स्वशक्त्यपेक्षं यथा कथंचिद्विधीयते, तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषचरितं यवमध्यवज्रप्रतिमादि च। इत्थं भेदानभिधाय उपसंहारमाह-(मणइच्छियचित्तत्थो त्ति) मनसश्चित्तस्य ईप्सितं इष्टश्चित्रोऽनेकप्रकारोऽर्थः स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात् तन्मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवतीत्वरकं प्रक्रमादनशनाख्यं तपः। उत्त० ३ अ०। (कियत्कालिकेनाऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति 'अग्घइलाय' शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया।
सवियारमवीयारा, कायचेट्ठं पई भवे ॥ १२ ॥

(जा सा अणसणाइ त्ति) प्राकृतत्वादत्र स्त्रीत्वम्, यदनशनं मरणे मरणावसरे द्विविधं, तद्विशेषेणाख्यातं कथितं व्याख्यातं, तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते। द्वैविध्यमेवाह—सह विचारेण चेष्टात्मकेन वर्तते यत्तत्सविचारं, तद्विपरीतमविचारम्। विचारश्च कायवाङ्मनोभेदात् त्रिविधमिति। तद्विशेषपरिज्ञानार्थमाह-कायचेष्टाम्, उद्वर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रित्य, भवेत् स्यात्। तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं च। तथाहि—भक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्ती गुरुदत्तालोचनो मरणायोद्यतो विधिना संलेखनां विधाय ततस्त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याचष्टे; स च समास्तृतमृदुसंतारकं समुत्सृज्य शरीराद्युपकरणममत्वः स्वयमेवोच्चारितनमस्कारः समीपवर्तिसाधुदत्तनमस्कारो वा सत्यां शक्तौ स्वयमुद्वर्तते, परिवर्तते च, शक्तिविकलतायां चापरैरपि किंचित्कारयति। यत उक्तम् "चियमणमब्भुट्ठाणं, उचियं संलेहणं च काऊणं। पच्चक्खति आहारं, तिविहं च चउव्विहं वा वि॥ उव्वत्तइ परयत्तइ, सयमेणावि कारए किंचि। जत्थ समत्थो नवरं, समाहिजणयं अपडिबद्धो॥" इङ्गिनीमरणमप्युक्तन्यायतः प्रतिपद्य शुद्धस्थण्डिलस्थानामेकाक्येव कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्स्थण्डिलस्थानच्छायात उष्णमुष्णाच्छायां स्वयं संक्रामति। तथा चाह- "इंगियमरणविहाणं, आपव्वज्जं तु वियडणं दाउं। संलेहणं च काउं, जहासमाही महाकालं॥१॥ पच्चक्खति आहारं, चउव्विहं नियमओ गुरुसगासे। इंगियदेसम्मि तहा, चिट्ठंपि हु इंगियं कुणइ॥ उव्वत्तइ परियत्तइ, काइयमाईसु होइ उ विभासो। किच्चं पि अप्पणच्चिय, हुंजइ नियमेण धीवलिओ" ॥ अविचारं तु पादपोपगमनं तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते। तथा च तद्विधिः- "अभिवंदिऊण देवे, जहाविहिं सेसए य गुरुमाई। पच्चक्खाइत्तु तओ, तयंतिए सव्वमाहारं॥ सब्भावम्मि ठियप्पा, सम्मं सिद्धंतभणियमग्गेणं। गिरिकंदरं तु गंतूं, पायवगमणं अह करेति॥ सव्वत्थापडिबद्धो, दंडो य पमायठाणमिह नाउं।

जावज्जीवं चिट्ठइ, निचिट्ठो पायवसमाणो ॥"
पुनरपि द्वैविध्यं प्रकारान्तरेणाह—

अहवा सपरिकम्मा, अपरिकम्मा य आहिया ।
नीहारिमनीहारी, आहारच्छेओ य दोसु वि ॥ १३ ॥

अथवेति प्रकारान्तरसूचने, सह परिकर्मणा स्थाननिषदनत्वग्वर्तनादिना विश्रामणादिना च वर्त्तते यत्तत्सपरिकर्म, अपरिकर्म च तद्विपरीतमाख्यातं कथितम् । तत्र सपरिकर्म भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं चैकत्र स्वयमन्येन वा कृतस्य अन्यत्र तु स्वयं विहितस्य, उद्वर्तनादिचेष्टात्मकपरिकर्मणोऽनुज्ञानात् । तथा चाह-"आयपरपरिकम्मं, भत्तपरिन्नाइ दो अणुन्नाया । परवज्जिया य इंगिणि, चउव्विहाहारविरती य ॥ ठाणनिसीय तुयट्टइ, तिरियाहिं जहा समाहीए । सयमेव य सो कुणइ, उवसग्ग परीसहहियासे" । अपरिकर्म च पादपोपगमनम्, निष्प्रतिकर्मताया एव तत्राभिधानात् । तथा चागमः-"समविसममिम य पडिओ, अच्छइ जह पायवोव निक्कंपो । निच्चलनिप्पडिकम्मो, निक्खिवइ जं जहिं अंगं ॥ तं चिय होइ तहच्चिय, णवरं चलणं परप्पओगाओ । वायाईहिं तरुस्स व, पमिणीयाईहिं तहिं तस्स" ॥ यद्वा परिकर्म संलेखना सा यत्रास्ति तत्सपरिकर्म, तद्विपरीतमपरिकर्म । तत्र च व्याघाते श्रयमप्येतत्सूत्रार्थोभयनिष्ठितो निष्पादितशिष्यः संलेखनापूर्वकमेव विधत्ते, अन्यथा आर्त्तध्यानसंभवात् । उक्तं च-"देहम्मि असंलिहिए, सहसा धाऊहि खिज्जमाणेहिं । जायति अट्टज्झाणं, सरीरिणो चरिमकालम्मि" ॥ इति सपरिकर्मोच्यते । यत्पुनर्व्याघाते गिरिभित्तिपतनाभिघातादिरूपे संलेखनामविधायैव भक्तप्रत्याख्यानादि क्रियते, तदपरिकर्म । उक्तं चागमे-" अभिघाउ वा विज्जुगिरि-भित्तिकोणगा य वा होज्जा । संवट्टहत्थपाया, दायावायए होज्जाहि ॥ एयाहि कारणेहिं, वाघातिममरण होइ नायव्वं । परिकम्ममकाऊणं, पच्चक्खाती तओ भत्तं" । तथा निर्हरणं निर्हारो गिरिकन्दरादिगमनेन ग्रामादेर्बहिर्निर्गमनं, तद्विद्यते यत्र तन्निर्हारि, तदन्यदनिर्हारि, यद्युत्थातुकामेन वृजिकादौ विधीयते, एतच्च प्रकारद्वयमपि पादपोपगमनविषयम्, तत्प्रस्ताव एवागमेऽस्याभिधानात् । तेषां चागमः "पच्चक्खाती काउं, णेयव्वं जाव होइ वोच्छित्ती । पंचतले क्रणय सो, पाओवगमं परिणओ य ॥ तं दुविहं नायव्वं, नीहारिं चेव तह अणीहारिं । बहिया गामादीणं, गिरिकंदरमाइ नीहारिं ॥ वइयाइसु जं अंतो, उट्ठेओ मणाणगाइ अणहारिं । तम्हा पायवगमणं, जं उवमा पायवेणेत्थं" । आहारोऽशनादिस्तच्छेदस्तन्निराकरणमाहारच्छेदः । द्वयोरपि सपरिकर्मापरिकर्मणोर्निर्हारिनिर्हारिणोश्च सम इति शेषः । उभयत्र तद्व्यवच्छेदस्य तुल्यत्वादिति सूत्रपञ्चकार्थः । उत्त० ३० अ० । स्था० । औ० (अनशनविधानं, येन येनाऽनशनं कृतं तत्तच्छब्देऽपि द्रष्टव्यम्, यथा 'खंदग' शब्दे 'मेघकुमार' शब्दे 'मरण' शब्दे च विशिष्टो विधिः) अपरिभोगे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । तथा दाघज्वरी कश्चिदनशनं कृत्वा रजन्यामपि जलपानं विधत्ते । यद्वाहियाऽनशनमेव न करोतीत्यत्र रात्रौ सर्वथा जलत्यागाशक्तेन तेनाहारत्यागरूपमनशनं तु विधेयमेवेति ज्ञातमस्ति । तथाऽनशनिना श्राद्धेनाऽचित्तमेव जलं पेयं, तदप्युष्णमेवेति । ही० १ प्रका० । "नंदे भद्दे सुभद्दे य, वे पुव्वेऽणसणं करे" (इति तन्मुहूर्तम्) गणि० प्र० ।

अणसिय-अनशित-त्रि० । न अशितोऽनशितः । अभुक्ते, "न-

एवं पदीणमणसो, संवच्छरमणसिओ विहरमाणो" आ० म० प्र० ।

अणसूआ-देशी-आसन्नप्रसवे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणह-अनघ-त्रि० । नाऽघमस्याऽस्तीति अनघः । निरवद्यानुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । अपापे, आव० ४ अ० । निर्दोषे, औ० । प्रश्न० । अक्षते, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० ।

अणहप्पणयं-देशी-अनष्टे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहवीय-अनघबीज-पुं० । अविनष्टबीजे, बृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अणहसमग्ग-अनघसमग्र-त्रि० । अनघमक्षतं न पुनरपान्तराले केनापि चौरादिना विलुप्तं समग्रं द्रव्यं भाण्डोपकरणादि यस्य स तथा । तस्कराद्विनाऽलुण्ठितसर्वस्वे, चं० प्र० २० पाहु० । निर्दूषणे, अहीनपरिवारे, " लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे णियगं घरं हव्वमागए" अनघत्वं निर्दूषणतया समग्रत्वमहीनधनपरिवारतया । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अणहारओ-देशी-खल्ले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणहिक्खट्ठ-अनभिख्यादनार्थ-पुं० । अविषमसमुद्देशनार्थे, "तासिं पच्चयहेउं अणिहिक्खट्ठा अ कलहो अ" बृ० १ उ० ।

अणहिगय-अनधिगत-त्रि० । अगीतार्थे, व्य० १ उ० । अनन्तरभाविनि, विशे० । अविज्ञाते, व्य० १ उ० ।

अणहिगयपुण्णपाव-अनधिगतपुण्यपाप-त्रि० । सूत्रार्थकथनेऽप्यविज्ञातपुण्यपापे, " अणहिगयपुण्णपावं उवट्ठावेंतस्स चउ गुरू होंति " व्य० ४ उ० ।

अणहिज्जमाण-अनधीयमान-त्रि० । अपठति, " ते विज्जमाणा अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जा परिमोक्खमेव " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणहिणिविट्ठ-अनभिनिविष्ट-त्रि० । अतत्त्वाभिनिवेशवर्जिते, पंचा० ३ विव० ।

अणहियास-अनधिसह-पुं० । असहिष्णौ, बृ० १ उ० ।

अणहिलपा (वा) डगणयर-अनहिलपाटकनगर-न० । गुर्जरधरित्र्यां सरस्वतीनदीतीरे ' पाटण ' इतीदानीं ख्याते नगरे, यत्रारिष्टनेमिः पूज्यते । "पणमिअ अरिट्ठनेमी, अणहिलपुरपट्टणावयंसस्स । धंधाण गच्छणिस्सिय, अरिट्ठनेमिस्स किंचिमो कप्पं " ती० २६ कल्प । [' अरिट्ठणेमि ' शब्दे दर्शयिष्यतेऽयं कल्पः] यत्र अजयदेवसूरिभिर्ग्रन्था विरचिताः । यथोक्तं पञ्चाशके-"चतुरधिकविंशतियुते, वर्षसहस्रे शते च सिद्धेयम् । धवलकपुरे वसत्यां, धनपत्योर्बकुलचन्द्रिकयोः । अणहिलपाटकनगरे, सङ्घवरैर्वर्तमानबुधमुख्यैः । श्रीद्रोणाचार्याद्यैर्विद्वद्भिः शोधिता चेति " पञ्चा० १९ विव० । भगवतीवृत्त्यन्ते- " अष्टाविंशतियुक्ते, वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके । अणहिलपाटकनगरे, कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ " भ० ४१ श० १ उ० ।

अणही-अनघी-स्त्री० । पालित्तानकनगरे कपर्दिनामधेयस्य ग्राममहत्तरस्य भार्यायाम्, ती० ३३ कल्प ।

अणहीय-अनधीत-त्रि० । अनभ्यस्ते, ग० १ अधि० ।

अणहीयपरमत्थ-अनधीतपरमार्थ-पुं० । अनधीता अनभ्यस्ता

:परमार्था आगमरहस्यानि यैस्तेऽनधीतपरमार्थाः । अगीतार्थे, " जे अणहीयपरमत्थे गोयमा ! संजए भवे " ग० १ अधि० ।

अणाइ-अनादि-त्रि० । न विद्यते आदिः प्राथम्यमस्येत्यनादिः। उत्त० १ अ० । अप्राथम्ये, दशा० १० अ० । पं० सं० । आदिविकले, उत्त० १ अ० । द्रव्या० । आ० म० । नास्याऽऽदिरस्त्यनादिः । संसारे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । आदिरहिते, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अणाइज्जणाम[ण]-अनादेयनामन्-न० । नामकर्मभेदे; कर्म० १ कर्म० । प्रव० । आ० । यदुदयवशाद्युपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याऽभ्युत्थानादि समाचरति । पं० सं० ३ द्वा० ।

अणाइ (ए) ज्जवयणपच्चायाय-अनादेयवचनप्रत्याजात-त्रि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचनजन्मसु, भ० ७ श० ६ उ० ।

अणाइणिहण-अनादिनिधन-त्रि० । आदिः प्रथमं निधनं पर्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स अनादिनिधनः । दर्श० । सम्म० । अनाद्यपर्यवसिते, अनुत्पन्नशाश्वते च । आव० ४ अ० ।

अणाइण्ण-अनाचीर्ण-त्रि० । अनासेविते, महापुरुषैरनाचीर्णम् [नाऽऽचरणीयम्] बृ० १ उ० । तदेवाशङ्क्य परः प्राह-यदि यद्यत्प्राचीनगुरुभिराचीर्णं तत्पाश्चात्यैरप्याचरितव्यं, तर्हि तीर्थकरैः प्राकारत्रयछत्रत्रयप्रभृतिकाप्राभृतिका तेषामेवार्थाय सुरैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तद्वद् वयमपि अस्मन्निमित्तकृतं किं नोपजीवामः ? । सूरिराह-

काम खलु अणुगुरुणो, धम्मा तह वि हु न सव्वसाहम्मा ।
गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडियाई समुपजीवे ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं यदनुगुरवो धर्माः, तथापि न सर्वथा साधर्म्याच्चिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधर्म्यादेव । तथाहि-गुरवस्तीर्थकराः, यत्तु यत्पुनरतिशयान् प्राभृतिकादीन् कोऽर्थः प्राभृतिका सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना, आदिशब्दादवस्थितनखरोमाधोमुखकण्टकादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः, तान्, समुपजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्मता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृतामितरेषां च साधूनां सामान्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा चेयमनाचीर्णेति दृश्यते ।

सगरूदहसमभोमे, अवि अ विसेसेण विरहियतरं से ।
तह वि खलु अणाइण्णं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स ॥

यदा स भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगरादुदायननरेन्द्रप्रव्राजनार्थं सिन्धुसौवीरदेशावतंसं वीतभयं नगरं प्रस्थितस्तदा किलापान्तराले बहवः साधवः क्षुधार्तास्तृषार्दिताः संज्ञाबाधिताश्च बभूवुः,यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलभृतानि शकटानि, पानीयपूर्णश्च ह्रदः,समभौमं च गर्ताबिलादिवर्जितं स्थण्डिलमभवत् । अपि च-विशेषेण तत्तिलोदकस्थण्डिलजातं विरहिततरम्, अतिशयेनाऽऽगन्तुकैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः । तथापि खलु भगवताऽनाचीर्णं, नानुज्ञातं च, एषोऽनुधर्मः प्रवचनस्य तीर्थस्य, सर्वैरपि वचनमध्यमध्यासीनैः शस्त्रोपहतपरिहारलक्षण एष च धर्मोऽनुगन्तव्य इति भावः ।

अथैतदेव विवृणोति-

वकंतजोणि थंडिल-अतसा दिन्ना ठिई अवि छुहाई ।
तह वि न गेण्हंसु जिणो, माहु पसंगो असत्थहए ॥

यत्र भगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावासितान्यासन्, तेषु च तिला व्युत्क्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहता अप्यायुःसंक्षयेणाचित्तीभूताः।ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पेरन्नित्यत आह-स्थण्डिले स्थिताः । एवंविधा अपि त्रसैः संसक्ता भविष्यन्तीत्याह-अत्रसास्तदुद्भवागन्तुकत्रसविरहिताः, तिलशकटस्वामिभिश्च गृहस्थैर्दत्ताः । एतेन चाऽदत्तादानदोषोऽपि तेषु नास्तीत्युक्तं भवति । अपि च-ते साधवः क्षुधापीडिता आयुषः स्थितिक्षयमकार्षुः तथापि जिनो वर्द्धमानस्वामी नाग्रहीत्, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः। तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मदीयमालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानवर्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहतमग्रहीषुरिति भावः । युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम् । यत उक्तम्—"प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः। विषीदन्ति प्रमाणानि प्रमाणस्थैर्विसंस्थुलैः " ॥ १ ॥

एमेव य निज्जीवे, दहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने ।
समभोमे अ अवि ठिती, जिमिताऽऽसन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च ह्रदे निर्जीवे यथाऽऽयुष्कक्षयादचित्तीभूते अचित्तपृथिव्यां च स्थिते त्रसवर्जिते च उदके पानीये ह्रदस्वामिना च दत्ते तृषार्दितानां स्थितिक्षयकारणेऽपि भगवान्नानुजानीते स्म,मा भूत्प्रसंग इति, तथा स्वामी तृतीयपौरुष्यां जिमितमात्रैः साधुभिः सार्द्धमेकामटवीं प्रपन्नः सन्नतिसंज्ञाया आबाधा, यद्वा-[आसन्न त्ति]नावासन्नता साधूनां समजनि। तत्र समभौमं गर्तगोष्पदबिलादिवर्जितं यथा स्थितिक्षयं व्युत्क्रान्तयोनिकपृथिवीकं त्रसप्राणविरहितं स्थण्डिलं वर्तते, अपरं च शस्त्रोपहतं स्थण्डिलं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञाबाधिताः स्थितिक्षयं कुर्वन्ति, तथापि भगवान्नानुज्ञां करोति, यथाऽत्र व्युत्सृजतेति, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः, इत्येषोऽनुधर्मः प्रवचनस्येति सर्वत्र योज्यम् । बृ० १ उ० । नि० चू० । [फलविषयाऽऽचीर्णताऽऽनाचीर्णता च 'पलम्ब' शब्दे वक्ष्यते]

अणाइबंध-अनादिबन्ध-पुं० । यस्त्वनादिकालात् सन्तानभावेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिबन्धः । कर्मबन्धभेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाइभव-अनादिभव-पुं० । निष्प्राथम्यसंसारे, पंचा० ३ विव० ।

अणाइभवदव्वलिंग-अनादिभवद्रव्यलिङ्ग-न० । अनादिभवे निष्प्राथम्यसंसारे यानि द्रव्यलिङ्गानि भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजितादिनेपथ्यचरणलक्षणानि तानि तथा । संसारे परतीर्थकप्रव्रजितेषु, " एतो उ विभागओ अणाइभवदव्वलिंगओ चेव " पंचा० ३ विव० ।

अणाइय-अज्ञातिक-त्रि० । अविद्यमानस्वजने, भ० १ श० १ उ० ।

अणातीत-त्रि० । अणमणकं पापमतिशयेनेतं गतमणातीतम् । पापं प्राप्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अनादिक-त्रि० । अविद्यमानादिके, भ० १ श० १ उ० । स्था० । नास्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्यनादिकः । चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके, धर्माऽधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

ऋणातीत-त्रि० । ऋणमतीतम्, ऋणजन्यदुःस्थतानिमित्ततया संसारे, भ० १ श० १ उ० ।

अणाइल-अनाविल-त्रि०। अकलुषे, "अणाइलेया अकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिवई जुईमं" यथा चासौ सागरोऽनाविलोऽकलुषजल एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशाभावादकलुषज्ञान इति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। "णीवारो वणलोप्पेज्जा, छिन्नसोए अणाविले। अणाइले सया दंते, संधि पत्ते अणेलिसं" यथाऽनाविलोऽकलुषो रागद्वेषाऽसंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा, विषयाप्रवृत्तेः। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। लाभादिनिरपेक्षे, "णो तुच्छए णो य विकंपइज्जा, अणाइलेया अकसाइ भिक्खू" अनाविलो लोभादिनिरपेक्षः। सूत्र० १ श्रु० १४ अ०।

अणाइसंजुत्तय-अनादिसंयुक्तक-पुं०। न विद्यते आदिः प्रथममस्येत्यनादिः। स चेह प्रक्रमात् संयोगस्तेन संमिते, "अणाइणाणुगयाणं, इमं च तं च तिविभयणमजुत्तं" इत्यागमाद्विभागाभावेन युक्तः श्लिष्टोऽनादिसंयुक्तः स एवानादिसंयुक्तकः। यद्वा-संयोगः संयुक्तस्ततोऽनादिसंयुक्तमस्येत्यनादिसंयुक्तकम्। कर्मणाऽनादिसंयोगसंयुक्ते जीवे, भक्त० १ अ०।

अणाइसंताण-अनादिसन्तान-पुं०। अनादिप्रवाहके, औ०। "अणाइसंताणकम्मबंधणकिलेसचिक्खिल्लसुदुत्तारं" अनादिः सन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा। प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अणाइसिद्धंत-अनादिसिद्धान्त-पुं०। अमनमन्तो वाच्यवाचकरूपतया परिच्छेदोऽनादिसिद्धश्चासावन्तश्चानादिसिद्धान्तः। अनादिकालादारभ्येदं वाचकमिदं तु वाच्यमित्येवं सिद्धे प्रतिष्ठिते परिच्छेदे, अनु०।

अणाउ-अनायुष्-पुं०। न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः। दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तिविरहे जिने, "अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अपगतायुःकर्मणि सिद्धे, "तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्सं" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। जीवभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अणाउट्टी-अनाकुट्टी-पुं०। 'कुट्ट च्छेदने' आकुट्टनमाकुट्टः, स विद्यते यस्यासावाकुट्टी, नाकुट्टी अनाकुट्टी। अहिंसायाम्, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ०। आ० म० द्वि०। "जाणं काएण णाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति। पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। ('कम्म' शब्दे चैतद् तृतीयभाग ३३० पृष्ठे स्पष्टीभविष्यति)।

अणाउट्टिया-अनाकुट्टिका-स्त्री०। अनुपेत्य करणे, पंचा० १६ विव०।

अणाउत्त-अनायुक्त-त्रि०। न० त०। अनाभोगवति अनुपयुक्ते, स्था० ४ ठा० १ उ०। उत्त०। असावधाने, औ०। आलस्यभाजि प्रत्युपेक्षाऽनुपयुक्ते, उत्त० १७ अ०।

अणाउत्तआइणया-अनायुक्तादानता-स्त्री०। अनायुक्तोऽनाभोगवाननुपयुक्त इत्यर्थः। तस्यादानता अनायुक्तादानता। अनायुक्तस्य वस्त्रादिविषये ग्रहणतायाम्, अनाभोगप्रत्ययक्रियाभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अणाउत्तपमज्जणया-अनायुक्तप्रमार्जनता-स्त्री०। ६ त०। अनायुक्तस्य पात्रादिविषयप्रमार्जनतारूपे अनाभोगप्रत्ययक्रियाभेदे, इह द्वयोः शब्दयोः ताप्रत्ययः स्वार्थिकः। प्राकृतत्वेन अतादीनां भावविवक्षयैवेति। स्था० २ ठा० १ उ०।

अणाउल-अनाकुल-त्रि०। समुद्भवप्रक्रादिभिः परीषहोपसर्गैरकुल्यति, "जत्थत्थमिए अणाउले, समविसमाइं मुणी हियासए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। सूत्रार्थादनुसरति, "सव्वं अणट्ठ परिवज्जयंते, अणाउलेया अकसाइ भिक्खू" सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। "एवंपि अणाउलो संवच्छरखमणंसि" आ० म० प्र०। अन्त०। क्रोधादिरहिते, दशा० १ अ०। औत्सुक्यरहिते, बृ० १ उ०।

अणाउलया-अनाकुलता-स्त्री०। निराकुलतायाम्, "सर्वतानाकुलता-यतिभावाऽव्ययपरसमासेन" षो० १३ विव०।

अणाएस-अनादेश-पुं०। आङिति मर्यादया विशेषरूपानतिक्रमात्मिकया दिश्यते कथ्यते इत्यादेशो विशेषः, न आदेशोऽनादेशः। सामान्ये, उत्त० १ अ०। (सोदाहरणोऽयं 'संजोग' शब्दे एव प्रदर्शयिष्यते)

अणागइ-अनागति-स्त्री०। न० त०। अनागमने, अशेषकर्मच्युतिरूपायां लोकाग्राऽऽकाशदेशस्थानरूपायां वा सिद्धौ, "गइं च जो जाणइ णागइं च" सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

अणागंता-अनागत्य-अव्य०। आगमनमकृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अणागत (य)-अनागत-त्रि०। न आगतोऽनागतः। वर्तमानत्वमप्राप्ते भविष्यति, स्था० ३ ठा० ४ उ०। समयादौ पुद्गलपरावर्तान्ते काले भविष्यत्कालसम्बन्धिनि, सम्म०। सूत्र०। "अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा। ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे" अनागतमेष्यत्कामानिवृत्तानां नरकादियातनास्थानेषु महादुःखमपश्यन्तोऽपर्यालोचयन्तः। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। "तेतिय उप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं" अनागतानि च भवान्तरभावीनि सुखदुःखादीनि। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। "जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया" अनागता भविष्यदनन्तकालभाविनः। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

अणागत (य) काल-अनागतकाल-पुं०। विवक्षितं वर्तमानं समयमवधीकृत्य भाविनि समयराशौ, ज्यो० १ पाहु०।

अणागतद्धा-अनागताद्धा-स्त्री०। आगामिषूत्पन्नपुद्गलपरावर्तेषु, कर्म० ५ कर्म०।

अणागत (य) कालग्गहण-अनागतकालग्रहण-न०। भविष्यत्कालग्राह्यस्य वस्तुनः परिच्छेदात्मके विशेषदृष्टानुमानभेदे, अनु०।

से किं तं अणागयकालग्गहणं? । अणागयकालग्गहणं-

अब्भस्स निम्मलत्तं, कसिणायगिरी सविज्जुआ मेहा।
थणियं वाउब्भामो, संज्झारत्तापणद्धा य ॥१॥

वारुणं वा महिंदं वा अण्णयरं वा उप्पायं पसत्थं पासित्ता तेण साहिज्जइ। जहा-सुवुट्ठी भविस्सइ। सेत्तं अणागयकालग्गहणं ॥

गाथा सुगमा, नवरं, स्तनितं मेघगर्जितं (वाउब्भामो त्ति) तथाविधो दृष्टाव्यभिचारी प्रदक्षिणं दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वातः (वारुणं ति) आर्द्रामूलादिनक्षत्रप्रभवं, माहेन्द्ररोहिणीज्येष्ठादिनक्षत्रसंभवम्, अन्यतरमुत्पातमुल्कापातदिग्दाहादिकं, प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनुमीयते, यथा-सुवृष्टिरत्र भविष्यति, तदव्यभिचारिणामभ्रनिर्मलत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्श-

नान्यथाऽन्यवदिति । विशिष्टा ह्यत्र निर्मलत्वादयो वृष्टिं न व्यभिचरन्ति, अतः प्रतिपत्त्रैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति । अनु० ।

अणागम-अनागम-पुं० । अनागमने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । अपौरुषेयादौ आगमे, आगमलक्षणविहीनत्वात्तस्य । स्था० १० ठा० ।

अणागमणधम्म-अनागमनधर्मन्-त्रि० । अनागमनं धर्मो येषां ते यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वात् । न पुनर्गृहप्रत्यागमने-प्सुषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अणागयपच्चक्खाण-अनागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यानभेदे भविष्यति प्रत्याख्याने, आव० । अनागतकरणादनागतपर्युषणादावाचार्यादिवैयावृत्यकरणान्तरायसद्भावादारत एव तत्तपःकरणे, स्था० ।

उक्तं च—

होही पज्जोसवणा, ममयतया अंतराइयं होज्जा ।
गुरुवेयावच्चेणं, तवस्सिगेलन्नया एव ॥ ५ ॥
सो दाइ तवोकम्मं, पडिवज्जइ तं अणागए काले ।
एवं पच्चक्खाणं, अणागयं होइ नायव्वं ॥ ६ ॥

भविष्यति पर्युषणा मम च तदाऽन्तरायं भवेत् । केन हेतुनेत्यत आह-गुरुवैयावृत्त्येन तपस्विग्लानतया वेत्युपलक्षणमिति गाथासमासार्थः (सो दाइ त्ति) स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्यते तदनागते काले एतत्प्रत्याख्यानमेवंभूतमनागतकरणादनागतं ज्ञातव्यं भवतीति गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ "इमो पुण एत्थ भावत्थो-अणागयं पच्चक्खाणं, जहा अणागयं तवं करेज्जा पज्जोसवणागहणेण एत्थ विसिट्ठं कीरइ, सव्वजहन्नो अट्ठमं, जहा पज्जोसवणाए तहा चाउम्मासिए छट्ठं पक्खिए अब्भत्तट्ठं अन्नेसु य एहाणाणुजाणादिसु तहिं ममं अंतराइयं होज्जा, गुरुआयरिया तेसिं कायव्वं, ते किं ण करेति असहू होज्जा अहवा अन्ना काइ आणत्तिया होज्जा कायव्विया गामंतरादि सेहस्स वा आणेयव्वं सरीरवेयावडिया वा ताहे सो उववासं करेइ, गुरुवेयावच्चं न सक्केइ जो अन्नो दोण्हवि समत्थो सो करेउ, जो वा अन्नो समत्थो उववासस्स सो करेउ नत्थि न वा लभेज्जा एयणि० जाव विधि ताहे सो चेव पुव्वं उववासं काऊणं पच्छा तद्दिवसं भुंजेज्जा तवस्सी नाम खमओ तस्स कायव्वं होज्जा तो किं तदा न करेइ सो तीरं पत्तो पज्जोसवणा ऊसारिया (असहु त्ति) वा सयं पाराविओ ताहे य सयं हिंडिउमसमत्थो जाणि अब्भासे ताणि वच्चओ नत्थि लभइ सेसं जहा गुरुम्मि विभासा गेलन्नं जाणइ जहा तहिं दिवसे असहू होइ विज्जेण वा भणियं अमुगं दिवसं (कारहत्ति) अहवा सयं चेव जाणाति सगरुरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असहू होइ (सामित्ति) सेसं विभासा जहा गुरुम्मि कारणकुलगणसंघआयरियगच्छे वा तहेव विभासा पच्छा सो अणागते काले काऊण पच्छा भुंजेज्जा पज्जोसवणादिसु तस्स जा किर निज्जरा पज्जोसवणादिहिं तहेव सा अणागते काले भवति ॥ गतमनागतद्वारम् । आव० ६ अ० । आतु० । ध० । ल० प्र० ।

अणागलिय-अनर्गलित-त्रि० । अनिवारिते, भ० १५ श० १ उ० ।

अनाकलित-त्रि० । अप्रमेये, भ० १५ श० १ उ० । उपा० ।

अणागलियचंडतिव्वरोस-अनर्गलितचण्डतीव्ररोष-त्रि० । अनिवारितचण्डतीव्रक्रोधे, भ० १५ श० १ उ० ।

अनाकलितचण्डतीव्ररोष-त्रि० । अनाकलिताप्रमेयचण्डतीव्रक्रोधे, "अनागलियचंडतिव्वरोसं समुहसुरियं च बलं धम्मं तं दिट्ठिविसं सप्पं संघट्टेति" । भ० १५ श० १ उ० । उपा० । ज्ञा० ।

अणागाढ-अनागाढ-त्रि० । अनभिगृहीतदर्शनविशेषे, बृ० १ उ० । आगाढभिन्ने कारणे, व्य० ३ उ० । ['आगाढ' शब्दे द्वितीयभागे ८६ पृष्ठे व्याख्यास्यते] अथ किमिदमागाढं किं वा अनागाढम् ? । उच्यते-"अहिडक्कविसविसूइय-सज्जक्खयसूलमागाढं ।" अहिना सर्पेण दष्टः कश्चित्, विषं वा केनचिद् भक्तादिमिश्रं दत्तं, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम् । एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुब्जादिरोगात्मकमनागाढम् । बृ० १ उ० । नि० चू० । अनागाढे योगे भवे उत्तराध्ययनादौ श्रुते, नि० चू० ४ उ० ।

अणागार-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्तराकारादयो विच्छिन्नप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तुर्यस्मिंस्तदनाकारम् । स्था० १० ठा० । अविद्यमानमहत्तराद्याकार, प्रव० ४३ द्वा० । अविद्यमानाकारे प्रत्याख्यानभेदे, यत्तिविशिष्टप्रयोजनसम्भवाभावे कान्तारदुर्भिक्षादौ महत्तराद्याकारमनुच्चारयद्भिर्विधीयते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसहसाकारावुच्चारयितव्यावेव काष्ठाङ्गुल्यादेर्मुखे प्रक्षेपणतो भङ्गो मा भूदिति । अतोऽनाभोगसहसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । भ० ७ श० २ उ० । ध० प्र० । अनाकारं नाम तत् किन्तु केवलमिहानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च द्वावाकारौ भणितव्यौ, येन कदाचिदनाभोगतोऽज्ञानतः सहसा वा रभसेन तृणादि मुखे क्षिपेत्क्षिपेत्स्या कुतोऽपि इति कृताकारद्विकमपि शेषैर्महत्तराकारादिभिराकारैः रहितमनाकारमभिधीयते । इदं चानाकारं कदा विधीयते ? । अत्राह-"दुब्भिक्खवित्तिकंता-रगाढरोगाइए कुज्जा" दुर्भिक्षे वृष्ट्यभावे हिण्डमानैरपि भिक्षा न लभ्यते, तत इदं प्रत्याख्यानं कृत्वा म्रियते । वृत्तिकान्तारे वा, वर्त्तते शरीरं यया सा वृत्तिर्भिक्षादिका तद्विषये कान्तारमिव कान्तारं तत्र यथाऽटव्यां भिक्षा न लभ्यते तथा सिणवल्ल्यादिषु स्वनावाऽऽदातृद्विजाकीर्णेषु शासनद्विष्टैर्वाऽधिष्ठितेषु भिक्षादि नाऽऽसाद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्याद्यप्रतिविधेये गाढतररोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारे केशरिकिशोरादिजन्यमानायामापदि कुर्यादिति । प्रव० ४ द्वा० । अविद्यमान आकारो भेदो प्राप्तस्यास्येत्यनाकारम् । सम्म० । अतिक्रान्तविशेषसामान्यालम्बिनि दर्शने, "साकारे सेणाणे अणागारे दंसणे" सम्म० । "मइसुयवहिमणकेवल-विहंगमइसुयणाणसागारा" सह आकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण "आगारो उ विसेसा" इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्त इति साकाराणि । अयमर्थः-वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनानि अनाकाराणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यविशेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव हि शालतमालबकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्यक्तिरूपतयाऽनवधारितं तरुनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृक्षमात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति, तत्सामान्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, 'निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शनमुच्यते' इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं, तमेव महीरुहमुत्पश्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति, तद्विशेषरूपं साकारं ज्ञानमभिधेयम् । प्रमा च पारमेश्वरप्रवचनप्रवीणचेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति

कृत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात्सर्वमपि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति। कर्म० ४ कर्म० । "चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसणअणागारा" दर्शनशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चक्षुर्दर्शना १ ऽचक्षुर्दर्शना २ ऽवधिदर्शन ३ केवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा वस्तुसामान्यांशात्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तदचक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यांशात्मकमवधिदर्शनम् ३, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति । किंरूपाण्येतानि दर्शनान्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्तत्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकाराणि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अणाजीव--अनाजीविक--पुं०। निःस्पृहे, दश० ३ अ० । "अगिलाइ अणाजीवे नायव्वो सो तवायारो " ग० १ अधि० ।

अणाजीवि (ण्)—अनाजीविन्-त्रि०। न आजीवी अनाजीवी। अनाशंसिनि, नि० चू० १ उ० ।

अणामो--देशी—जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणाढायमाण—अनाद्रियमाण--त्रि० । अनादरयति, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अणाढिय-अनादृत-न०। न० त०। आ–दृ--भावे–क्त। अनादरे संभ्रमरहिते, आव० ३ अ०। "आयरकरणं आढा, तव्विवरीयं अणाढियं होइ"। आदरः संभ्रमस्तत्करणमादृतता, सा यत्र न भवति तदनादृतमुच्यते । इत्येवंरूपे वन्दनदोषाणां प्रथमे दोषे , वृ० ३ उ०। आव०। आ० चू० । ध०। आदरः संभ्रमः, तत्करणमादृतम् । आर्षत्वादाढियं तद्विपरीतं तद्रहितमनादृतं भवति। प्रव० २ द्वा०। अनादरेण वन्दने, एष वन्दनकस्य प्रथमदोषः। आ० चू० ३ अ०। तिरस्कृते, त्रि० । काकन्दीनगरीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, पुं०। तत्कथा निरयावल्याः ३ वर्गे १० अध्ययने सूचिताऽस्ति। तत्रैव पञ्चमाऽध्ययनोक्तपूर्णभद्रस्येव भावनीया । सारार्थस्तु--अणाढियगृहपतिः काकन्द्यां नगर्यां समवसृतानां स्थविराणामन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा श्रुतमधीत्य तपः कृत्वा श्रामण्यमनुपाल्य अनशनेन कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे अणाढियविमाने द्विसागरोपमायुष्कतया देवत्वेनोपपन्नः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे सेत्स्यति । नि० । आदृता आदरक्रियाविषयीकृताः, शेषा जम्बूद्वीपगता देवा येनात्मना इत्यद्भुतं महर्द्धिकत्वमीक्षमाणेन सोऽनादृतः। जी० ३ प्रति०। अनर्द्धिक–पुं० । जम्बूद्वीपाधिष्ठातृदेवे, वस० ११ अ० । "जम्बूद्दीवाहिवई अणाढिओ" द्वी०। जी० । स्था०। ('जंबूसुदंसण' शब्देऽस्य वक्तव्यता)

अणाढिया—अनादृता—स्त्री०। अनादृतादनादराद्या सा अनादृता, नन्दिषेणस्येव अनादृतस्य वा शिथिलस्य या सा तथा। स्था० १० ठा० । "रागनियए सादिक्खा अणाढिया रामकण्हपुव्वभवे " पं० भा०। पं० चू० । अनादृतस्य जम्बूद्वीपाधिपतेः राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० ।

अणाणा—अनाज्ञा—स्त्री० । आज्ञाप्यते इत्याज्ञा हिताहितप्राप्तिपरिहारतया सर्वज्ञोपदेशस्तद्विपर्ययोऽनाज्ञा । तीर्थकरानुपदिष्टे स्वमनीषिकया आचरितेऽनाचारे, आचा० ।

अणाणाए एगे सोवट्ठाणा, आणाए एगे निरुवट्ठाणा,
एवं ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं ।

इह तीर्थङ्करगणधरादिनोपदेशगोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते-यदि वा सर्वभावसंभवित्वाद् भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अनाज्ञाऽनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितोऽनाचारस्तयाऽनाज्ञया तस्यां वा एकेन्द्रियवशगा दुर्गतिं जिगमिषवः स्वाभिमानग्रहग्रस्ताः। सह उपस्थानेन धर्मचरणाभ्यासोद्यमेन वर्तन्त इति सोपस्थानाः, किल वयमपि प्रव्रजिताः सदसत्कर्मविशेषविवेकविकलाः सावद्यारम्भतया वर्तन्ते । एके तु न कुमार्गवासितान्तःकरणाः किन्तु आलस्यावर्णस्तम्भाद्युपबृंहितबुद्धय आज्ञायां तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानमुद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः, सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः। एतत्कुमार्गानुष्ठानं सन्मार्गावसीदनं च द्वयमपि ते तव गुरुविनेयोपगतस्य दुर्गतिहेतुत्वान्मा भूदिति सुधर्मस्वामी स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह-(एवमित्यादि) । एतद्यत्पूर्वोक्तं यदि वा अनाज्ञायां निरुपस्थानत्वमाज्ञायां च सोपस्थानत्वमित्येतत्कुशलस्य तीर्थकृतो दर्शनमभिप्रायः, यदि वैतद् वक्ष्यमाणं कुशलस्य दर्शनम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ०।

अणाणत्त—अनानात्व—न० । भेदवर्जिते , स्था० १ ठा० ।

अणाणय—अनाज्ञक—तीर्थकरोपदेशशून्ये स्वैरिणि , आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणाणुगामिय—अनानुगामिक—त्रि० । न अनुगच्छति इति कालान्तरमुपकारित्वेनाननुयातरि, स्था० ५ ठा० १ उ०। अशुभानुबन्धे, स्था० ६ ठा०। न आनुगामिकमनानुगामिकम् । शृङ्खलाप्रतिबद्धप्रदीपसदृशो गच्छन्तमननुगच्छति अवधिज्ञानविशेषे, नं० । तत्र—

से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ?। अणाणुगामियं ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परि पेरंतेहिं २ परिघोलेमाणे परिघोलेमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अण्णत्थगए नो पासइ, एवामेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ, तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ अणत्थगए न पासइ, सेत्तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ।

अथ किं तत् अनानुगामिकमवधिज्ञानम् ?। सूरिराह-अनानुगामिकमवधिज्ञानं स विवक्षितः, यथा नाम-कश्चित्पुरुषः पूर्णः सुखदुःखानामिति। पुरुषः पुरि शयनाद्वा पुरुष एकं महज्ज्योतिःस्थानमग्निस्थानं कुर्यात् कस्मिंश्चित्स्थाने, अनेकज्वालाशतसंकुलमग्निप्रदीपं वा स्थूलवर्तिज्वालाऽनुरूपमुत्पादयेदित्यर्थः । ततस्तत्कृत्वा तस्यैव ज्योतिःस्थापनस्य परि पर्यन्तेषु २ परितः सर्वासु दिक्षु पर्यन्तेषु परिपूर्णान् परिभ्रमन् इत्यर्थः। तदेव ज्योतिःस्थानं ज्योतिःस्थानप्रकाशितक्षेत्रं पश्यति, अन्यत्र गतो न पश्यति । एष दृष्टान्तः। उपनयमाह–एवमेव अनेनैव प्रकारेणानानुगामिकमवधिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् सङ्ख्येयानि असङ्ख्येयानि वा योजनानि स्वावगाढक्षेत्रेण सह संबद्धानि असंबद्धानि वा अवधिप्रसिद्धिकोऽपि जायमानः स्वावगाढदेशादारभ्य निरन्तरं प्रकाशयति कोऽपि पुनरपान्तराले अन्तरं कृत्वा परतः प्रकाशयति, तत उच्यते-सम्ब-

कान्यसंबद्धानि धेति जानाति विशेषाकारेण परिच्छिनत्ति, पश्यति सामान्याकारेणावबुध्यते, अन्यत्र देशान्तरगतो नैव पश्यति; अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य तत्क्षेत्रसापेक्षत्वात् । तदेव-मुक्तमनानुगामिकम् । नं० । कर्म० ।

अणाणुगिद्ध-अनानुगृद्ध-त्रि०। अनासक्ते, 'से पसणं जाण मपेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे' सूत्र०१ श्रु०१३ अ० ।

अणाणुताविं-(ण्)-अनानुतापिन्-पुं०। अपवादपदेन कायानामुपद्रवेऽपि कृते पश्चादनुतापरहिते, व्य० २ उ०। हा ! दुष्टु कृतमित्यादि पश्चात्तापमकुर्वति निःशङ्के, निर्दये च प्रवर्तमाने, बृ० ३ उ० ।

अणाणुताविं त्ति द्वारम्—

वितियपदे जो तु परं, तावेत्ता णाणुतप्पते पच्छा।
सो होति अणणुतावी, किं पुण दप्पेण सेवित्ता ? ॥४९२॥

वितियं अववातपदं, तेण अववातपदेण जो साहू परा पुढविकाया तेजोसंघट्टणपरितावणउद्दवणेण वा तावणं करेत्ता, पच्छा णाणुतप्पति, जहा-हा ! दुट्ठु कयं, सो होति अणणुतावी-अपच्छत्तावीत्यर्थः। कारणवितियपदेण जयणाए परिसेविऊण अपच्छत्ता वियाणो अणाणुतावी परिसेवा भवति, किं पुण जो दप्पेण परिसेवित्ता नानुतप्यते इत्यर्थः ! अणाणुतावि त्ति गतम् । नी० चू०१ उ० ।

अणाणुपुव्वी-अनानुपूर्वी-स्त्री०। न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी, आनुपूर्वीपश्चानुपूर्वीरूपप्रकारद्वयातिरिक्तस्वरूपायामपरिपाटौ, अनु० । (अनानुपूर्व्या आनुपूर्व्या सह सम्मिलितो विषयः 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीयभागे १३१ पृष्ठे वक्ष्यते, लोकालोकादीनां पूर्वपश्चाद्भावोऽनानुपूर्वीत्यादि च ' रोहा ' शब्दे वक्ष्यते)

अणाणुबंधि (ण्)-अननुबन्धिन्-न०। नानुबन्धोऽननुबन्धः, सोऽस्त्यस्मिन्निति । न विद्यतेऽनुबन्धः सातत्यं प्रस्फोटकादीनां यत्र तदनुबन्धि, इन् समासान्तोऽत्र द्रष्टव्यः । नानुबन्धि अननुबन्धि । स्था० ६ ठा० । अप्रमादप्रत्युपेक्षणविधिभेदे, प्रत्युपेक्षणं च न निरन्तरमाखोटादि, किं तर्हि, सान्तरं सविच्छेदमिति तत्त्वम्। धर्म० ३ अधि० । औ० । नि० चू० । उत्त० ।

अणाणुवत्ति [ण्]-अननुवर्त्तिन्-त्रि०। प्रकृत्यैव निष्ठुरे, बृ०१उ०।

अणाणुवाइ [ण्]-अननुवादिन्-पुं० । वादिनोक्तं साधनमनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी, तत्प्रतिषेधादननुवादी । व्याकुलमनस्त्वेनानुवादमपि कर्तुमशक्ते, " से मुम्मुई होइ अणाणुवाई " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणाणुवीइत्तु-अननुविचिन्त्य-अव्य० । पश्चादविचार्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणातावय-अनातापक-त्रि० । संस्तारकपात्रादीनामातपेऽदातरि, [साध्वी] कल्प० ।

अणातीय-अनातीत-पुं० । आ समन्तादतीव इतो गतोऽनाद्यनन्तसंसारे आतीतः, न आतीतोऽनातीतः । संसारार्णवपारगामिनि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणादि-अनादि-त्रि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उत्त० ४ अ० । आ० म० द्वि० । भ० ।

अणादिय-अनादृत-पुं० । जम्बूद्वीपाधिपतौ व्यन्तरसुरे, उत्त० १० अ० ।

अनादिक-पुं०। नास्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्यनादिकः। चतुर्दशरज्ज्वात्मके धर्माधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । दोषविशेषे, बृ० ३ उ० [व्युत्पत्तिस्तु 'अणाढिय' शब्दे निरूपिता] प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, । त्रि०। न० व०। प्रश्न०१ आश्र० द्वा० ।

अणादिक-त्रि० । अणं पापकर्म आदिकारणं यस्य सोऽणादिकः। पापकार्ये , प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

ऋणातीत-त्रि०। अधमर्णेन देयद्रव्यमतिक्रान्ते, "पंचविहो पन्नतो जिणेहिं इह अण्हवो अणादियो " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणापुच्छियचारि (ण्)-अनापृच्छ्यचारिन्-पुं० । गणमनापृच्छ्य चरति क्षेत्रान्तरसंक्रमादि करोतीत्येवंशीलोऽनापृच्छ्यचारी । नो आपृच्छ्य चारिणि पञ्चमं विग्रहस्थानं प्राप्ते, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणाबाह—अनाबाध-पुं० । अवकाशे, बृ० ३ उ० । बाधावर्जिते, दश० ६ अ० । न विद्यते आबाधा जन्मजरामरणक्षुत्पिपासादिका यत्र तदनाबाधम् । स्वाभाविकबाधापगमतो मोक्षसुखे, स्था०१० ठा०। स्वाध्यायाद्यन्तरायकारणरहिते, उत्त० ३५अ०। "होइ अणाबाहणिमित्त-मचेयणमणाउलो निहओ" अनाबाधानिमित्तमनाबाधाकार्यम्, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः। तथा लोके वक्तारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन मयेदं कार्यमारब्धमनेन कार्येणेत्यर्थः । आ० म० द्वि० ।

अणाबाहसुहाभिकंखि (ण्)-अनाबाधसुखाभिकाङ्क्षिन्-पुं०। मोक्षसुखाभिलाषिणि, दश० १ अ० ।

अणाभिग्गह-अनभिग्रह-न० । न विद्यते अभिग्रह इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपो यत्र तदनभिग्रहम् । मिथ्यात्वभेदे, यद्वशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीषत्साधर्म्यमवलम्बते । पं० सं० १ द्वा० ।

अणाभोग-अनाभोग-पुं० । आभोगनमाभोगः, न आभोगोऽनाभोगः । पं० व० २ द्वा० । अत्यन्तविस्मृतौ, आतु० । पंचा० । जीत० । नि० चू० । व्य० । एकान्तविस्मृतौ, आ० चू० ६ अ० । अज्ञाने, नि० चू० २ अ० । आभोगनमाभोगः, उपयोगविशेष इत्यर्थः । अनुपयोगे, आव० ४ अ० । असावधानतायाम्, ध० २ अधि० । न विद्यते आभोगः परिभावनं यत्र तदनाभोगम् । तच्चैकेन्द्रियादीनामिति । पं० सं० ३ द्वा० । विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादेर्वा विशेषज्ञानविकलस्य भवति । इदं सर्वांशविषयाव्यक्तबोधस्वरूपं विवक्षितं किञ्चिदंशाव्यक्तबोधस्वरूपं चेत्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । दर्श० । कर्म० ।

अणाभोगझाण-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्तविस्मृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्मृतव्रतप्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने, आतु० । [' पसण्णचंद ' शब्दे चैतत् कथानकम्]

अणाभोगकय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृतं जनितम् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाभोगकिरिया-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगप्रत्यये क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदाननिक्षेपणाऽनाभोगक्रिया, उत्क्रमणानाभोगक्रिया च । तत्राऽऽदानं रजोहरणपात्रचीवरादिकानामप्रत्युपेक्षिता , अप्रमार्जितानामनाभोगेनाऽऽदाननिक्षेपः । उत्क्रमणानाभोगक्रिया-लङ्घनप्लवनधावनासमीक्षागमनागमनादि । आ० चू० ४ अ० ।

अणाभोगणिव्वत्तिय-अनाभोगनिर्वर्तित-पुं० । अज्ञाननिर्वर्तिते, स्था० ।

अणाभोगपडिसेवणा-अनाभोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अनाभोगो विस्मृतिस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे, स्था० १० ठा० । (अनाभोगप्रतिसेवनायाः स्वरूपं ' पडिसेवणा ' शब्दे दर्शयिष्यते)

अणाभोगभव-अनाभोगभव-पुं० । विस्मरणसद्भावे, " इय चरणम्मि ठियाणं, होइ अणाभोगभावओ खलणो " पंचा० १७ विव० ।

अणाभोगया-अनाभोगता-स्त्री० । आभोगराहिततायाम्, कर्म० ४ कर्म० ।

अणाभोगव-अनाभोगवत्-त्रि० । अनाभोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं ग्रन्थार्थादिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु, स विद्यते यस्य स तथा । श्रुतार्थापरिज्ञातरि, " यो निरनुबन्धदोषा-च्छूद्रोऽनाभोगवान् वृजिनभीरुः " षो० १२ विव० । संमूर्च्छनजप्राये अज्ञानिनि, द्वा० १० द्वा० ।

अणाभोगवत्तिया-अनाभोगप्रत्यया-स्त्री० । अनाभोगोऽज्ञानादि । अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । स्था० २ ठा० १ उ० । पात्राद्याददतो निक्षिपतो वा सम्भवति क्रियाभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । " अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-अणाउत्तआयणया चेव, अणाउत्तपमज्जणया चेव " स्था० ५ ठा० २ उ० । आ० चू० । आव० ।

अणामंतिय-अनामन्त्र्य-अव्य० । अनापृच्छ्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ९ उ० ।

अणामियावाही-अनामिकव्याधि-पुं० । नामरहिते व्याधौ, अनामिको नामरहितो व्याधिरसाध्यरोगः । तं० ।

अणायंबिल-अनाचामाम्ल-त्रि० । आचामाम्लविरहिते, आव० ६ अ० ।

अणायग-अनायक-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽस्येत्यनायकः । स्वयंप्रभे चक्रवर्त्यादौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अज्ञातक-त्रि० । अस्वजने, नि० चू० ८ उ० । अप्रज्ञापने, नि० चू० ११ उ० ।

अणायर्यण-अनायतन-न० । न आयतनमनायतनम् । अस्थाने, वेश्यासामन्तादिरूपे दश० १ अ० । साधूनामनाश्रये, प्रश्न० ४ सम्व० द्वा० । नाट्यशालायाम्, अश्वपतितजन्तुगुणशालायाम्, पं० चू० । पार्श्वस्थाद्यायतने, आव० ३ अ० । पशुपण्डकसंसक्ते वा स्थाने, ओ० ।

इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह--

सावज्जमणाययणं, असोहिठाणं कुसीलसंसग्गि ।
एगट्ठा होंति पया, एए विवरीय आययणा ॥ १०८६ ॥

सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुशीलसंसर्गि एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति । एतान्येव च विपरीतानि आयतनं भवन्ति । कथम् ?, असावद्यमायतनं शोधिस्थानं सुशीलसंसर्गीति । अत्र चानायतनं वर्जयित्वा आयतनं गवेषणीयम् ।

एतदेवाह--

वज्जित्तु अणाययणं, आययणगवेसणं सदा कुज्जा ।
तं तु पुण अणाययणं, नायव्वं दव्वभावेण ॥ १०८७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषणं सदा सर्वकालं कुर्यात् । तत्पुनरनायतनं द्रव्यतो भावतश्च विज्ञेयम् ।

तत्र द्रव्यानायतनं प्रतिपादयन्नाह--

दव्वे रुद्दाइघरा, अणाययणं भावओ दुविहमेव ।
लोइय लोउत्तरियं, तत्थ पुण लोइयं इणमो ॥ १०८८ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयमनायतनं रुद्रादिगृहम् । इदानीं भावतोऽनायतनमुच्यते । तत्र भावतो द्विविधमेव-लौकिकं, लोकोत्तरं च । तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते--

खरिया तिरिक्खजोणी, तालायर समण माहण सुसाणे ।
वागुरिय वाह गुम्मिय-हरिएस पुलिंदमच्छिबंधा य ॥ १०८९ ॥

खरिकेति द्व्यक्षरिका यत्राऽऽस्ते तदनायतनम्, तथा तिर्यग्योनयश्च यत्र तदप्यनायतनम्, तालाचराश्चारणास्ते यत्र तदनायतनम्, श्रमणाः शाक्यादयस्ते यत्र, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतनं, श्मशानं चानायतनम्, तथा वागुरिका व्याधा गुल्मिका व्युत्पन्नवालाः हरिएसा पुलिन्दा मत्स्यबन्धाश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतेष्वनायतनेषु क्षणमपि न गन्तव्यम्, तथा चाह--

खणमवि न खमं गंतुं, अणाययणसेवणा सुविहियाणं ।
जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ वाइ ॥ १०९० ॥

क्षणमपि न क्षमं न योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना च अनायतनस्य सुविहितानां कर्तुं न क्षमा न युक्ता । यतोऽयं दोषो भवति-" जं गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाइ " । सुगमम् ।

जे अन्न एवमाई, लोगम्मि दुगुंछिया गरहिया य ।
समणाण व समणीण व, न कप्पई तारिसो वासो ॥ १०९१ ॥

येऽन्ये एवमादयः लोके जुगुप्सिता गर्हिताश्च द्व्यक्षरिकाद्यनायतनविशेषाः, तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते तादृशो वास इति । उक्तं लौकिकं भावानायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तरं भावानायतनं प्रतिपादयन्नाह--

अह लोगुत्तरियं पुण, अणाययणं भावओ मुणेयव्वं ।
जे संजमजोगाणं, करिंति हाणिं समत्था वि ॥ १०९२ ॥

अथ लोकोत्तरं पुनरनायतनं भावत इदं ज्ञातव्यम् । ये प्रव्रजिताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्तः, तल्लोकोत्तरमनायतनम् । तैश्च एवंविधः संसर्गो न कर्तव्यः । (कुशीलसंसर्गे दोषाः ' किइकम्म ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यन्ते)

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उवघाओ ।
वज्जिज्जऽवज्जभीरू, अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥ ११०० ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च यत्रायतने भवति उपघातस्तं वर्जयेदवद्यभीरुः साधुः, किंविशिष्टः ?, अनायतनं वर्जयतीति अनायतनवर्जकः । स एवंविधः क्षिप्रं अनायतनमुपघातरूपं वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनप्रदर्शनायाह--

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
मूलगुणप्पडिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ ११०१ ॥

सुगमा, नवरं, मूलगुणाः प्राणातिपातादयस्तान्प्रतिसेवन्त इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते यत्र निवसन्ति तदनायतनमिति ।

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
उत्तरगुणपडिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ ११०२ ॥

सुगमा, नवरं, उत्तरगुणाः 'पिंडस्स जा विसोही ' इत्यादि तत्प्रतिसेविनो ये ।

जत्थ साधम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
लिंगवेसपडिच्छन्ना, अणाययणं तं वियाणाहि ॥११०३॥

सुगमा, नवरं, लिङ्गवेषमात्रेण प्रतिच्छन्ना बाह्यतः, आभ्यन्तरतः पुनर्मूलगुणसेविन उत्तरगुणसेविनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति । उक्तं लोकोत्तरं भावानायतनं तत्प्रतिपादनायोक्तमनायतनस्वरूपम् । ओ० ।

अणाययणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।
होज्ज वयाणं पीला, सामन्नम्मि य संसओ ॥ १० ॥

अनायतने अस्थाने वेश्यासामन्तादौ, चरतो गच्छतः, संसर्गेण सम्बन्धेन, अभीक्ष्णं पुनः २। किमित्याह-भवेद् व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदा क्षिप्तचेतसो भावविराधना, श्रामण्ये च श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः कदाचिदुन्निष्क्रामत्येवेत्यर्थः । तथा च वृद्धव्याख्या-" वेसादिगयभावस्स, मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुन्नायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीला । दव्वसामन्ने पुण संसओ उण्णिक्खमणेण त्ति " सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणाययणपरिहार-अनायतनपरिहार-पुं० । आयतनं पार्श्वस्थादिकुतीर्थिवेश्याविटखड्गादिकुस्थानवर्जने, दर्श० ।

अणाययणसेवण-अनायतनसेवन-न० । पार्श्वस्थाद्यायतनजने, आव० ३ अ० ।

अणायर-अनादर-पुं० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहात्मिके सामायिकव्रतातिचारभेदे, स च प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणं, यथाकथंचिद्वा करणानन्तरमेव पारणं च । यदाहुः-"काऊण तक्खणं चिय, पारेइ करेइ वा जहिच्छाए । अणवट्ठिअसामाइअ-अणायराओ न तं सुद्धं"॥१॥ धर्म०२ अधि०। प्रव०।

अणायरंत-अनाचरत्-त्रि० । विवर्जयति, " पावमणायरंते " पापमागमनिषिद्धं कर्म, अनाचरन् विवर्जयन् । पंचा०११ विव०।

अणायरणजोग्ग-अनाचरणयोग्य-त्रि० । आसेवनाऽनर्हे, " सिक्खावेउ अणायरणजोग्गो " पञ्चा० १० विव० ।

अणायरणया-अनाचरणता-स्त्री० । गौणमोहनीयकर्मणि, सम्म० ।

अणायरिय-अनार्य-पुं० । आराद् याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, तद्विपर्ययादनार्याः । क्रूरकर्मसु, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । शकयवनादिदेशोद्भवेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणायस-अनायस-त्रि० । अलोहमये, नि० चू० १ उ० ।

अणाया-अनात्मन्-पुं० । न आत्मा अनात्मा । घटादिपदार्थे, 'एगे अणाया ' सप्रदेशार्थतयाऽसंख्येयानन्तप्रदेशोऽपि तथाविधैकपरिणामरूपद्रव्यार्थापेक्षया एक एव, सन्तानापेक्षयाऽपि, तुल्यरूपापेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकस्वभावयुक्तत्वात्कथञ्चिद्भिन्नस्वरूपाणामपि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयमिति । स० १ सम० । परस्मिंश्च " अणायाए अवक्कमइ " भ० १ श० ४ उ० ।

अणायाण-अनादान-न० । अकारणे, "अणायाणमेयं अभिग्गहियसिज्जासणियस्स " कल्प० ।

अणायार-अनाचार-पुं० । आचरणमाचारः, आधाकर्मादिपरिहरणपरिष्ठापनरूपोऽनाचारोऽनाचारः । आधाकर्मादिग्रहणे, आतु० । साध्वाचारस्य परिभोगतो ध्वंसे, व्य० १ उ०। आव० । ध० । (अनाचारव्याख्याऽऽधाकर्माऽऽश्रित्य 'अइक्कम' शब्दे अत्रैव भागे २ पृष्ठे कृता) आचरणीयः श्रावकाणामाचारः, न आचारोऽनाचारः । अनाचरणीये " अणायारे अणिच्छियव्वे " ध० २ अधि० । शास्त्रविहितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० ३ अधि० ।

अथ साधूनां यद्यदनाचरितं तत्तत्समासेन व्यासेन च प्रदर्शयामः । तत्र दशवैकालिके द्वितीयाध्ययने—

संजमे सुट्ठि अप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

इह संहितादिक्रमः क्षुण्णः । भावार्थस्त्वयम्-संयमे द्रुमपुष्पिकाध्यायवर्णितस्वरूपे शोभनेन प्रकारेणाऽऽगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण भावसारेण मुक्ताः परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ताः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-त्रायन्ते आत्मानं परमुभयं चेति त्रातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः, परं तीर्थकराः, स्वतस्तीर्णत्वादुभयं स्थविरा इति । तेषामिदं वक्ष्यमाणलक्षणमनाचरितमकल्प्यम् । केषामित्याह- निर्ग्रन्थानां साधूनामभिधानमेतत् । महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयो यतय इत्यर्थः । अथवा महान्तमेषितुं शीलं येषां ते महैषिणस्तेषाम् । इह च पूर्वपूर्वभाव एवोत्तरोत्तरभावो नियतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः । यत एव संयमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ताः। संयमसुस्थिताऽऽत्मनिबन्धनत्वाद्विप्रमुक्तेः । एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति-यत एव महर्षयः अत एव निर्ग्रन्थाः । एवं शेषेष्वपि द्रष्टव्यमिति सूत्रार्थः ।

साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥ २ ॥

(उद्देसियं ति) उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्र भवमौद्देशिकम् (१), क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः । साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते । तेन कृतं निर्वर्तितं क्रीतकृतम् (२), नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं तत्त्वनामन्त्रितस्य (३), (अभिहडाणि य त्ति) स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम्, बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामनिशीथादिभेदख्यापनार्थम् (४), तथा रात्रिभक्तं रात्रिभोजनं दिवसगृहीतदिवसभुक्तादिचतुर्भङ्गलक्षणम् (५), स्नानं च देशसर्वभेदभिन्नं देशस्नानमधिष्ठानशौचातिरेकेणाक्षिपक्ष्मप्रक्षालनमपि । सर्वस्नानं तु प्रतीतम् (६), तथा गन्धं माल्यं च, गन्धग्रहणात्कोष्ठपुटादिपरिग्रहः ; माल्यग्रहणाच्च ग्रथितवेष्टितादेर्माल्यस्य (७), वीजनं व्यजनं तालवृन्तादिना घर्मे एव, इदमनाचरितम् (८), दोषाश्चौद्देशिकादिष्वारम्भप्रवर्त्तनादयः स्वधियाऽवगन्तव्या इति सूत्रार्थः ॥२॥

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणं दंतपहोवणं य, संपुच्छणे देहपलोयणा य ॥३॥

इदं चानाचरितमित्याह–(संनिहि त्ति) संनिधीयतेऽनेनाऽऽत्मा दुर्गताविति संनिधिः । घृतगुडादीनां संचयक्रिया (६), गृह्यमत्रं गृहस्थभाजनं च (१०), तथा राजपिण्डा नृपाहारः (११), किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन (१२), तथा संवाधनमस्थिमांसत्वग्रोमसुखतया चतुर्विधं मर्दनम् (१३), दन्तप्रधावनं चाङ्गुल्यादिना क्षालनम् (१४), तथा संप्रश्नः सावद्यो गृहस्थविषयः, राद्धार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः (१५), देहप्रलोकनं चादर्शादौ (१६), अनाचरितम्। दोषाश्च संनिधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणातिपातादयः स्वधियैव वाच्या इतिसूत्रार्थः ॥३॥

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं द्यूतम् , अर्थपदं वा;गृहस्थमधिकृत्य निमित्तादिविषयम (१७), अनाचरितम्। तथा नालिका चेति द्यूतविशेषलक्षणा,यत्र माऽभूत्कलयाऽन्यथापाशकपातनमिति नालिकया पात्यन्त इति। इयं चानाचरिता अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं भेदत उपादानम; अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधते। अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणमष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति (१८), तथा छत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं प्रति वाऽनर्थायेत्यागाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वाऽनाचरितम्। प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारनकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथा श्रुतिप्रामाण्यादिति (१९), तथा(तेगिच्छं ति)। चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं व्याधिप्रतिक्रियारूपम [२०], तथोपानहौ पादयोरनाचरिते। पादयोरिति साभिप्रायकम । न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन[२१], तथा समारम्भश्च समारम्भणं च ज्योतिषोऽग्नेः [२२], तदनाचरितम। दोषा अष्टापदादीनां क्षुण्णा एवेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

सिज्जायर पिंडं च, आसंदी पलिअंकए ।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥

किञ्च––शय्यातरपिण्डोऽप्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तया तरति संसारमिति शय्यातरः साधुवसतिदाता, तत्पिण्डः [२३], तथा आसंदकपर्यङ्कौ अनाचरितौ। एतौ च लोकप्रसिद्धावेव [२४], तथा गृहान्तरनिषद्याऽनाचरिता। गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं, तत्रोपवेशनं, चशब्दात्पाटकादिपरिग्रहः[२५] तथा गात्रस्य कायस्योद्वर्तनानि चानाचरितानि। उद्वर्तनानि पङ्कापनयनरूक्षणानि । चशब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः [२६], इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

गिहिणो वेआवडिअं, जा य आजीववत्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

तथा (गिहिणो त्ति) गृहिणो गृहस्थस्य वैयावृत्यं व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्यं, गृहस्थं प्रत्यन्नादिसंपादनमित्यर्थः [२७], एतदनाचरितमिति। तथा चाजीववृत्तिता जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनमाजीवस्तेन वृत्तिस्तद्भाव आजीववृत्तिता । जात्याद्याजीवनेनात्मपालनेत्यर्थः [२८], इयं चानाचरिता। तथा तप्तानिर्वृतभोजित्वं-तप्तं च तदनिर्वृतं च अत्रिदण्डोद्वृत्तं चेति विग्रहः। उदकमिति विशेषणमन्यथाऽनुपपत्त्या गम्यते। तद्भोजित्वं मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थः [२९], इदं चानाचरितम्। तथाऽऽतुरस्मरणानि च क्षुधाद्यातुराणां पूर्वोपभुक्तस्मरणानि च अनाचरितानि । आतुरशरणानि वा दोषाऽऽतुराश्रयदानानि (३०), इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥ ७ ॥

किञ्च (मूलए त्ति) मूलको लोकप्रतीतः (३१), शृङ्गबेरं चार्द्रकम (३२), तथेक्षुखण्डं च लोकप्रतीतम (३३), अनिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसंबध्यते। अनिर्वृतमपरिणतमनाचरितमिति ; इक्षुखण्डं चापरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते; तथा कन्दो वज्रकन्दादिः (३४), मूलं च सट्टामूलादि सचित्तमनाचरितम (३५), तथा फलं त्रपुष्यादि (३६), बीजं च तिलादि [३७], आमकं सचित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च (सोवच्चले त्ति) सौवर्चलम (३८), सैन्धवम (३९), लवणं च साँभरलवणम (४०), रुमालवणं च (खानिलवणम) (४१), आमकमिति सचित्तमनाचरितम । सामुद्रं लवणमेव (४२), पांसुक्षारश्चोषरलवणम् (४३), कृष्णलवणं च (४४), सैन्धवलवणं पर्वतैकदेशजम, आमकमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य, गायाब्भंग विभूसणे ॥ ९ ॥

किञ्च (धूवणे त्ति) धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्। प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते (४५), वमनं मदनफलादिना (४६), वस्तिकर्म पुटकेनाधिष्ठाने स्नेहदानम (४७), विरेचनं दन्त्यादिना (४८), तथाऽञ्जनं रसाञ्जनादिना (४९), दन्तकाष्ठं च प्रतीतम् (५०), तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना (५१), विभूषणं गात्राणामेवेति (५२), सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि अ जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥ १० ॥

(सव्वमेयं ति) सर्वमेतदौद्देशिकादि यदनन्तरमुक्तं तदनाचरितम । केषामित्याह–निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्याह। त एव विशेष्यन्ते–संयमे चशब्दात्तपसि युक्तानामभियुक्तानां, लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो वायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणस्तेषाम्। निगमनक्रियापदमेतदिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त एवंभूता भवन्तीत्याह—

पंचासव परिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

(पंचासव त्ति) पञ्चाश्रवा हिंसादयः परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया–ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च। परि समन्ताद् ज्ञाता येस्ते पञ्चाश्रवपरिज्ञाताः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वान्न निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासो युक्त एव। परिज्ञातपञ्चाश्रवा इति वा। यत एव चैवंभूता अत एव त्रिगुप्ता मनोवाक्कायगुप्तिभिः। षट्संयताः षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु साम–

स्त्येन यताः [पंच निग्गहणा इति] निगृह्णन्तीति निग्रहणाः, कर्त्तरि ल्युट् । पञ्चानां निग्रहणाः, पञ्चानामतीन्द्रियाणाम् । धीरा बुद्धिमन्तः स्थिरा वा । निर्ग्रन्थाः साधवः । ऋजुदर्शिन इति । ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वाद् संयमः, तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः संयमप्रतिबद्धा इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

ते च ऋजुदर्शिनः कालमधिकृत्य यथाशक्त्येतत्कुर्वन्ति—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउमा ।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

(आयावयंति त्ति) आतापयन्त्यूर्द्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति, ग्रीष्मेषूष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु शीतकालेष्वप्रावृता इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसंलीना इत्येकाश्रयस्था भवन्ति । संयताः साधवः, सुसमाहिता ज्ञानादिषु यत्नपराः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीसहरिऊ दंता, धूअमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥

(परीसह त्ति) मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः क्षुत्पिपासादयः, त एव रिपवस्तत्तुल्यधर्मत्वात्परीषहरिपवः, ते, दान्ता उपशमं नीता यैस्ते परीषहरिपुदान्ताः । समासः पूर्ववत् । तथा धूतमोहा विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहोऽज्ञानम् । तथा जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः । त एवंभूताः सर्वदुःखप्रक्षयार्थं शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्तं, प्रक्रामन्ति प्रवर्तन्ते । किंभूताः ? ; महर्षयः साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमेतेषां फलमाह—

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य ।
केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥

(दुक्कराइं ति) एवं दुष्कराणि कृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि, तथा दुःसहानि सहित्वा तापनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु सौधर्मादिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः । तथा केचन सिद्ध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वज्ञापनार्थः । नीरजस्का इत्यष्टविधकर्मविप्रमुक्ता न त्वेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

येऽपि चैवंविधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, तेऽपि ततश्च्युता आर्यदेशेषु सुकुले जन्मावाप्य शीघ्रं सिद्ध्यन्त्येवेत्याह—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिणिव्वुमे । १५ त्ति बेमि ।

(खवित्त त्ति) ते देवलोकच्युताः, क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि । केनेत्याह—संयमेनोक्तलक्षणेन, तपसा च ; एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः सन्तस्त्रातारः आत्मादीनां परिनिर्वान्ति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति । अन्ये तु पठन्ति-(परिनिव्वुड त्ति) तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायानिति । ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ दश० ३ अ० । उक्तं समासतोऽनाचरितम् । अथ विशेषतस्तदुच्यते- " आसूणी मक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं । उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिआ " ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्या व्याख्या ' धम्म ' शब्दे द्रष्टव्या)

आदर्शादौ मुखदर्शनादि करोति—

जे भिक्खू मंतए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥
जे भिक्खू अद्दाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥
जे भिक्खू असाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥
जे भिक्खू मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥
जे भिक्खू उडुयाणाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ । ३३ ।
जे भिक्खू तेल्ले अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे भिक्खू फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥
जे भिक्खू वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

मत्तगो दप्पणस्स भरितो तत्थ अप्पणो मुहं पलोएति जो, एतस्स आणादिया दोसा । चउलहुं वा से पच्छित्तं । एवं पडिग्गहादिसु विसेसपदाणं इमा संगहणी गाहा—

दप्पण मणि आभरणे, सत्थु दए भायणऽन्नतरए य ।
तेल्ल महु सप्पि फाणित—मज्ज वसा सुत्तमादीसु ॥ ५९ ॥

दर्पणमादर्शः, स्फटिकादि मणिः, स्थानकादि आभरणं, खड्गादि शस्त्रं, दकं पानीयम्, तच्च अन्यतरे कुण्डादिभाजने स्थितं, तिलादिजं तैलं, मधु प्रसिद्धं, सर्पिर्घृतं, फाणितं द्रवगुडो, मज्जं मत्स्यादीणं, वसा, सुत्तं, मज्जे कज्जति इक्खुरसं वा गुडिया सुत्तं सव्वे सुत्तेसु जहासंभवं अप्पणो अचक्खुविसयत्था णयणादिया देहावयवा पलोएइ कोऽर्थः-तत्थ स्वरूपं पश्यति । चोदक आह-किं तत् पश्यति ? । आचार्य आह—आत्मच्छायां पश्यति । पुनरप्याह चोदकः—कथमादित्यादिभास्वरद्रव्यजनितच्छायादिभोगं प्रमुक्त्वा अन्यतोऽपि दृश्यते ? । आचार्य आह—अत्रोच्यते यथा-पद्मरागेन्द्रनीलप्रदीपशिखानामात्मस्वरूपानुरूपा प्रभा छाया स्वत एव सर्वतो भवति, तथा सर्वपुद्गलद्रव्याणामात्मप्रभाऽनुरूपा छाया सर्वतो भवत्यनुपलक्षा वा इत्यतोऽन्यतोऽपि दृश्यते । पुनरपि चोदक आह—जति अप्पणो च्छायं देहति, तो कहं अप्पणो सरीरसरिसं वण्णरूवं पिच्छति ? ।

अत्रोच्यते—

भासा तु दिवा छाया, अभासरगता णिसिं तु कालाभा ।
से सव्वे भासरगत, सदेहवण्णा मुणेयव्वा ॥ ६० ॥

आदित्येनावभासितो दिवा अभास्वरे अदीप्तिमति भूम्यादिके द्रव्ये वृक्षादीनां निपतिता छाया छायैव दृश्यते । अनिर्व्यञ्जिताऽवयवा वर्णतः श्यामाऽऽभा तस्मिन्नेवाभास्वरे द्रव्ये भूम्यादिके रात्रौ निपतिता छाया वर्णतः कृष्णा भवति । जया पुण सव्वे व छाया दीप्तिमति दर्पणादिके द्रव्ये निपतिता दिवा रात्रौ वा तदा वर्णतः शरीरवर्णतः शरीरवर्णव्यञ्जितावयवा च दृश्यते । सा च छाया सदृशी न भवति । चोदक आह—यदि छाया सदृशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तत्पश्यन्ति ? ।

अत्रोच्यते—

उज्जोयकुसम्मि तु द—प्पणम्मि संजुज्जते जया देहो ।
होति तथा पडिबिंबं, छाया जइ भाससंजोगो ॥ ६१ ॥

उज्जोयकुसो दर्पणः निर्मलः श्यामादिविरहितः तम्मि जदा सरीरं अस्सं वा किंचि घटादि संयुज्यते तदा स्पष्टं प्रतिबिम्बं प्रतिनिभं भवति घटादीनाम्, यदा पुण स दर्पणो सामए आवरितो, मगणं वा अञ्जणादिहिं आवरितं तदा, तम्मि चेव आयरिसे पगासट्ठिते देहादिसंजुत्ते छायामात्रं दिस्सइ । इदाणीं सीसो पुच्छति—तं पडिबिंबं छायं वा को पासति ? । तत्थ भण्णति—ससमयपरसमयवत्तव्वयाए—

आदरिसपामिहयाओ–ऽवलभंति रस्सी सरूवमन्नेसिं ।
तं तु न जुज्जति जम्हा, पस्सति अत्ता ण रस्सीओ ॥६२॥

आत्मनः शरीरस्य या रश्मयः षड्दिशं विनिर्गताः तासां या आदर्शे अवष्टब्धाः प्रतिहता रश्मयः, ता रश्मयो बिम्बादिस्वरूपमुपलभन्ते । एषोऽभिप्रायोऽन्येषां परतन्त्राणाम् । जैनतन्त्रव्यवस्थिता आहुः–न युज्यते एतत्, यस्मात्सर्वप्रमाणानि आत्माधीनानि तस्मादात्मा पश्यति न रश्मयः । इदानीं पराभिप्राये तिरस्कृते स्वपक्षः स्थाप्यते–'उज्जोयफुडम्मि त्ति' गाहा ।

एषोऽर्थस्तस्यार्थस्य स्थिरीकरणार्थं पुनरप्याह–

जुज्जति हु पगासफुडे, पडिबिंबं दप्पणम्मि पस्संतो ।
जस्सेव जया चरणं, सो छाया होति बिंबं वा ॥ ६३ ॥

जुज्जते घटते फुडप्पगासे दप्पणे अप्पाणं पलोएंतो पडिबिंबं प्रतिरूपं णिव्वंजितावयवं पस्सति । तं च पस्संतस्स जया अब्भादीहिं अप्पगासीभूतं भवति तदा तमेव बिंबं छाया दीसति [बिंब त्ति]यं वा पेक्खंतस्स अब्भादी आवरणावगमे तमेव छायं बिंबं पस्सति णिव्वंजितावयवं प्रतिरूपमित्यर्थः ।

सीसो पुच्छति–कम्हा सव्वे देहावयवा आदरिसे ण पेच्छति अतो भवति–

जे आदरिसं पत्ता, देहावयवा हवंति णयणादी ।
तेसिं तदुवलद्धी, पगासजोगा ण इतरेसिं ॥ ६४ ॥

छद्दिसि सरीरतेयरस्सिसु पधावितासु जं दिसि आदरिसो ठितो ततो जे णयणहत्थादी सरीरावयवादी । जे य आदरिसे ण वसिया तेसिं तम्मि आदरिसे ण उवलद्धी भवति । जदि य आदरिसो अब्भासगो सव्वागासेण संजुत्तो न अंधकारव्यवस्थित इत्यर्थः । [इतरेसिं ति] जे आदरिसेण सह न संजुत्ता ते न तत्रोपलभ्यन्ते ।

एमेव य परबिंबं, जं आदरिसे ण होइ संजुत्तं ।
तत्थ विहो उवलद्धी, पगासजोगा अदिट्ठे वि ॥ ६५ ॥

एवमित्यवधारणे । किमहं अवधारयितव्यम्?, यदेतदुपलब्धिकारणमुक्तम् । अनेन उपलब्धिकारणेन यद् व्यज्यते घटादिस्वप्रतिबिम्बमादर्शे सेयुज्यते । तत्रानुपलब्धिर्भवत्यात्मनोऽपश्यतोऽपि घटादिकम् । एवं मणिमादिसु विभावेयव्वं, णवरं, तेलुदगादिसु जारिसं बिंबं आगासमंतरेति तारिसमेव दीसते ।

एएसामण्णतरे, अप्पाणं जे उ देहते भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ६६ ॥

दप्पणमणिमादीयाणं अण्णयरे जो अप्पाणं जोएति तस्स आणादिया य दोसा, चउलहुं वा से पच्छित्तं । आयसंजमं विराहणा य भवति, इमे य अण्णे य दोसा ।

गमणादीया रूवम–रूवं तु कुज्जा णिदाणमादीणि ।
बाउस-गारवकरणं, खित्तादि निरत्थगुड्डाहो ॥ ६७ ॥

आदरिसादिसु अप्पाणं रूववंतं दट्ठुं विसए भुंजामि त्ति पडिगमणं करेति, अण्णतित्थिएसु वा पविसति', सिद्धपुत्तो भवति. सिद्धपुत्तिं वा सेवति, सलिंगेण वा भुंजति पडिसेवति । विरूवं वा अप्पाणं दट्ठुं णियाणं करेज्जा । आदिसद्दातो देवताराहणादि वसीकरणजोगादि वा अधिज्जेज्ज, सरीरपाउसत्तं वा करेज्जा । आदरिसे वा अप्पणो रूवं दट्ठुं सोभामि त्ति गारवं करेज्जा रूवेण हरिसिउं, विरूवो वा विसादेण खित्तादिचित्तो भवेज्ज, तं कम्मखवणवेज्जियं निरत्थकं सागारियं दिट्ठे उड्डाहो ण एव तस्सी कामीए स अजिइंदिउ त्ति उड्डाहं करेज्जा । बितीयगाहा–

बितियपदमणप्पज्झो, सेहो अवि कोवितो व अप्पज्झो ।
विस आयंका मज्जण–मोहतिगिच्छाए नाणमावि ॥ ६८ ॥

अणप्पज्झो पराधीणत्तणं ते, सेहो अवि कोविदो अजाणत्तणतो जो पुण अप्पज्झो जाणगो से इमेहिं कारणेहिं अप्पाणं आदरिसे देहति, सप्पादिविसेण अभिभूते आलागद्दभलूतातंके वा उवट्ठिते आदरिसविज्जाए मज्जियव्वं, तत्थ आदरिसे अप्पणो पडिबिंबं गिलाणस्स वाउ मज्जति, ततो पच्छा पति मोहतिगिच्छाए वा देहति । अहवा इमे कारणा–

पुप्फग गलगंडं वा, मंडल दंतरोय जीह उट्ठे य ।
ऽचक्खुविसयट्ठिय वु–ट्टिहाणि जाणट्ठ वा पेहो ॥ ६९ ॥

अक्खिम्मि फुल्लगं गले वा गंडं पसुत्ति मंडलं वा दंते वा कोतिघुणदंतगादिरोगो अहवा जिब्भाए उट्ठे वा किंचि उट्ठियं पिलगादि एवमादि अचक्खुविसयट्ठियं अपिक्खंतो तिगिच्छाणिमित्तं वुड्ढिहाणि जाणणिमित्तं वा उद्दाए देहंति अप्पसागारिए ण दोसो । नि० चू० १३ उ० ।

उपानहादिधारणम्–

" पाणहाओ य छत्तं च, णालीअं बालवीअणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिआ " ॥१॥

सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ('धम्म शब्देऽस्या व्याख्या ')

कपाटोद्घाटनादिकरणम्–

" णो पिहे ण यावपंगुणे, दारं सुण्णघरस्स संजए ।
पुट्ठेण उदाहरे वयं, ण समुत्थे णो संथरे तणं " ॥१३॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । (' ठाणट्ठिय ' शब्दे व्याख्याऽस्या वक्ष्यते) (अचित्तप्रतिष्ठितं सचित्तप्रतिष्ठितं वा गंधं जिघ्रति इति ' गंध ' शब्दे वक्ष्यते)

गात्रप्रमार्जनम्–

जे भिक्खू लहुसयं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा कण्णाणि वा अच्छीणि दंताणि नहाणि मुहाणि वा उच्छोलेज्ज वा पधोलेज्ज वा उच्छोलंतं वा साइज्जइ ॥ ७० ॥

लहुसं स्तोकं याव तिण्णि य पसती सीतोदकं सीतलं उसिणोदगं उण्हं वियडं पयगतजीवं एत्थ सीतोदगवियडेहिं सपडिवक्खेहिं चउभंगेसु, ते य पढमततिया भंगा गहिया, दो हत्था हत्थाणि वा, दो पादा पादाणि वा, बत्तीसं दंता दंताणि वा, आसए पोसए य अण्णे य इंदियमुहा मुहाणि वा, उच्छोलणं धोवणं । तं पुण दोसे सव्वे य णिज्जुत्तिवित्थारा इमो–

तिण्णि य पसती य लहुसं, वियडं पुण होति विगतजीवं तु ।
उच्छोलणा तु तेणं, देसे सव्वे य णायव्वा ॥८०॥

गतार्था ।

आइण्णमणाइण्णा, दुविधा देसम्मि होति णायव्वा ।
आयण्णं वि य दुविहा, णिक्कारणया य कारणया ॥ ८१ ॥

देसे उच्छोलणा दुविहा–आइण्णा अणाइण्णा य । साधुभिराचर्यते या सा आचीर्णा, इतरा तद्विपरीता । अणाइण्णा दुविहा–कारणे णिक्कारणे य । जा कारणे सा दुविधा–

भत्ता मासे लेवे, कारण णिकारणे य विवरीयं ।
मणिबंधादि करेसुं, जत्तियमित्तं ति लेवेणं ॥ ८२ ॥

तत्थ जत्ता मासे मणिबंधाओ करेसुं ति असणाइणा लेवाडेण हत्था लेवाभिया ते मणिबंधातो जाव धोवति, एसा भत्ता, मासे इमा, लेवे-जत्तियमेत्तं तु लेवेणं तिअसज्झा तिय मुत्तपुरीसादिणा जति सरीराऽवलेवणादि गातं लेवामितं तस्स तत्तियमेत्तं धोवे, एसा कारणओ भणिता । णिक्कारणे तव्विवरीय त्ति ।

एतं खलु आइन्नं, तव्विवरीतं भवे अणाइन्नं ।
चलणादी जाव सिरं, सव्वं चिय धोतिऽणाइन्नं ॥८३॥

भत्ता मासे लेवे य इमं आइएणं, तव्विवरीयं देसे सव्वे वा सव्वं अणाइन्नं ।

मुहणयणचलणदंता-णक्कसिरा बाहुवत्थिदेसो य ।
परियट्टाइ दुगुंछो, पत्तय उच्छोलणा देसे ॥ ८४ ॥

मुहणयणादिया ण केसिं वि दुगुंछप्रत्ययं वा देसे सव्वे वा उच्छोलणं करोतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणषोडशभङ्गमध्यादमी अष्टौ घटमानाः, शेषा अघटमानाः ।

आइएण लहुसएणं, कारण णिक्कारणे वऽणाइन्नो ।
देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अट्ठ पदा ॥ ८५ ॥

आइन्नलहुसएणं देसे एव प्रथमः । एष एव णिक्कारणसहितो द्वितीयः, अणाचीर्णग्रहणात् तृतीयचतुर्थौ गृहीतौ, लहुसणिक्कारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थे विशेषः सर्वमिति वक्तव्यम्; जहा लहुस पदे चतुरो भंगा तहा बहुएण वि चउरो सव्वे अट्ठ । एवशब्दग्रहणात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठभङ्गविपर्यासः प्रदर्शितः । वक्ष्यमाणषोडशभङ्गक्रमेण घटमानाघटमानभङ्गप्रदर्शनार्थं लक्षणम् ।

जत्थाऽऽइन्नं सव्वं, जत्थ व करणे अणाइएणं ।
भंगाण सोलसण्हं, ते वज्जा सेसगा गेज्झा ॥ ८६ ॥

यस्मिन् भङ्गे आचीर्णग्रहणं दृश्यते तत्रैव यदि सर्वत्र ग्रहणं दृश्यते ततः पूर्वापरविरोधान्न दृश्यते घटते अमी भङ्गाः । यत्र वा कारणग्रहणे दृष्टे अनाचीर्णं दृश्यते असावपि न घटते । एतान् वर्जयित्वा शेषा ग्राह्याः ।

सोलसभंगरयण गाहा इमा-

आइन्न लहुस कारण, देसेतरे भंग सोलस हवंति ।
एत्थं पुण जे गेज्झा, ते पुण वोच्छं समासेणं ॥८७॥

इतरग्रहणात् आइन्नबहुसणिक्कारणसव्वमिति-एते पदा दट्ठव्वा अमी ग्राह्याः ।

पढमे तति एक्कारो, वारो तह पंचमो य सत्तमओ ।
पन्नर सोलसमो वि य, परिवामी होति अट्ठण्हं ॥८८॥

पढमो ततिओ एक्कारसो वारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा य यथोद्दिष्टक्रमेण स्थापयित्वा इमं ग्रन्थमनुसरेज्ज ।

आइन्नलहुसएणं, कारण णिक्कारणे व तत्थेव ।
आइन्न देससव्वे, लहुसे तहिँ कारणं णत्थि ॥८९॥

आइन्नलहुसएण कारणे इति प्रथमः । निक्कारणे तत्थेवेति आइन्नलहुसे अनुवर्तमाने निक्कारणं द्रष्टव्यं द्वितीयो भङ्गः । पढमबितीएसु देसम्मि अर्थो द्रष्टव्यः । पश्चार्धेन तृतीयचतुर्थभङ्गौ गृहीतौ । अणाइन्नं तृतीये देसे, चतुर्थे सव्वं लहुसमित्यनुवर्तते, ततियचउत्थेसु कारणं णत्थि ।

इदाणीं पञ्चमादिभङ्गप्रदर्शनार्थं गाथा-

आइन्नं बहुएणं, कारण णिक्कारणे वि तत्थेव ।
अणाइन्न देससव्वे, बहुणा तहिँ कारणं णत्थि ॥९०॥

पंचमे बहुएणं आइन्नं कारणं तत्थेव त्ति आइन्न बहु एस अणुवट्टमाणेसु छट्ठे निक्कारणं द्रष्टव्यमिति । पंचमछट्ठेसु देसमिति अर्थाद् द्रष्टव्यमिति । सत्तमाष्टमेसु अणाइन्नं सत्तमे देशम्, अष्टमे सव्वं बहुसमित्यनुवर्तते, कारणं नास्त्येवेत्यर्थः ।

प्रथमभङ्गानुज्ञानार्थं शेषभङ्गप्रतिषेधार्थं चेदमाह-

आइन्न लहुसएणं, कारणतो देसतं अणुन्नातं ।
सेसाणाणुन्नाया, उवरिल्ला सत्त वि अदातुं ॥९१॥

आइन्नलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गो अणुन्नातो उवरिमा सत्त वि पडिसिद्धा भंगा ।

द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनार्थमिदमाह-

आइन्नलहुसएणं, णिक्कारणदेसओ भवे वितिउं ।
णाइन्नलहुसएणं, णिक्कारणदेसओ तइओ ॥९२॥
णाइन्नलहुसएणं, णिक्कारणसव्वतो चउत्थो उ ।
एवं बहुणा वि अन्ने, भंगा चत्तारि णायव्वा ॥ ९३॥

पढमं सुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवलहू य अट्ठमए ।
णत्थित्ते परिवामी, अट्ठसु भंगेसु एएसु ॥९४॥

दुगं आइन्नलहुसे णिक्कारणे सव्वतो चउत्थभंगो, एवं बहुणा वि अन्ने चउरो भंगा णायव्वा । पढमभंगो सुद्धो, सेसेसु इमं पच्छित्तं—

सुत्तणिवातो बितिए, ततियपदम्मि पंचमे चेव ।
छट्ठे य सत्तमे वि य, तं सेवंताणमादीणि ॥

वितियततियपंचमछट्ठसत्तमेसु भंगेसु सुत्तणिवातो मासलहु, चउत्थट्ठमेसु चउलहुं तमिति । नि० चू० २ उ० । "परमत्ते अन्नपाणं, ण भुंजिज्ज कयाइ वि । परवत्थमचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिआ" ॥२०॥ सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्या व्याख्या 'धम्म' शब्दे द्रष्टव्या)

मद्यमांसादिसेवनम्--

अमज्जमंसासि अमच्छरी य,
अभिक्खणं निव्विगयं गया य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी,
सिज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥

अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात् । एते च मद्यमांसे लोकागमप्रतीते एव । ततश्च यत् केचनाभिदधत्यारनालाऽरिष्टाद्यपि संधानादोदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात् त्याज्यमिति । तदसत् । अमीषां मद्यमांसत्वायोगात् । लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राण्यङ्गतुल्यत्वचोदना त्वसाध्वी, अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वस्त्रीत्वतुल्यतया मूत्रपानमातृगमनादिप्रसङ्गात्, इत्यलं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात् । तथा अमत्सरी च न परसंपद्द्वेषी च स्यात् । तथा अभीक्ष्णं पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे, निर्विकृतिकश्च निर्गतविकृतिपरिभोगश्च भवेत् । अनेन परिभोगोचितविकृतीनामप्यकारणे प्रतिषेधमाह-तथा अभीक्ष्णं गमनागमनादिषु विकृतिपरिभोगेऽपि चाम्ये । किमित्याह-कायोत्सर्गकारी भवेत् । इर्यापथ

प्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धतापत्तेरिति । तथा स्वाध्याययोगे वाचनाद्युपचारव्यापारे आचामाम्लादौ प्रयत्नोऽतिशयप्रयत्नपरो भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वाद्विपर्यय- उन्मादादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

किञ्च—

ण पडिण्णविज्जा सयणासणाई,
सिज्जं निसिज्जं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्तभावं न कहिं वि कुज्जा ॥ ८ ॥

[ण पडिण्णविज्जे त्ति] न प्रतिज्ञापयेन्मासादिकल्पपरिसमाप्तौ गच्छन् भूयोऽप्यागतस्य ममैवैतानि दातव्यानीति न प्रतिज्ञां कारयेद् गृहस्थम् । किमाश्रित्येत्याह-शयनाशने शय्यां निषद्यां तथा भक्तपानमिति । तत्र शयनं संस्तारकादि, आसनं पीठकादि, शय्या वसतिः, निषद्या स्वाध्यायादिभूमिः, तथा तेन प्रकारेण तत्कालावस्थौचित्येन भक्तपानं खण्डखाद्यकद्राक्षापानकादि न प्रतिज्ञापयेत् । ममत्वदोषात् सर्वत्रैतन्निषेधमाह । ग्रामे शालिग्रामादौ, कुले वा श्रावककुलादौ, नगरे साकेतादौ, देशे वा मध्यदेशादौ, ममत्वभावं ममेदमिति स्नेहं मोहं न कचिदुपकरणादिष्वपि कुर्यात्, तन्मूलत्वाद् दुःखादीनामिति सूत्रार्थः ॥८॥ दश०२चूलि०। (रोमकृन्तनम् 'रोम' शब्दे निषेत्स्यते) "सीसे परो दीहाइ वालाइं दीहाइ रोमाइं दीहाइ भमुहाइं दीहाइ कक्खरोमाइं दीहाइ वत्थिरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा णो तं साइए णो तं नियमे" आचा० (वमनविरेचनादिकरणं 'वमन' शब्दे वक्ष्यते)

वस्त्रधावनादिकरणम्–

" धोअणं रयणं चेव, वत्थीकम्म विरेयणं ।
वमणं जणपलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिआ ॥ १२ ॥
गन्धमल्लसिणाणं च, दंतपक्खालणं तहा ।
परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिआ" ॥ १३ ॥

सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अनयोर्व्याख्या 'धम्म' शब्दे)

विपर्ययदर्शने-

आदाय बंभचेरं च, आसुपन्ने इमं वयं ।
अस्सि धम्मे अणायारं, नायरेज्ज कयाइ वि ॥ १ ॥

आदाय गृहीत्वा, किं तद् ?, ब्रह्मचर्यं सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनिरोधलक्षणम् । तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिंस्तन्मौनीन्द्रप्रवचनं ब्रह्मचर्यमित्युच्यते । तदादायाऽऽशुप्रज्ञः पटुप्रज्ञः, सदसद्विवेकज्ञश्च । क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षित्वात् तामाह-इमां समस्ताध्ययनेनाभिधीयमानां प्रत्यक्षासन्नभूतां वाचमिदं शाश्वतमेवेत्यादिकां कदाचिदपि नाचरेद् नाभिदध्यात्, तथाऽस्मिन् धर्मे सर्वज्ञप्रणीते व्यवस्थितः सन् अनाचारं सावद्यानुष्ठानरूपं न समाचरेन्न विदध्यादिति संबन्धः । यदि वा ऽऽशुप्रज्ञः सर्वज्ञः प्रतिसमयं केवलज्ञानदर्शनोपयोगित्वात् तत्सम्बन्धिनि धर्मे व्यवस्थित इमां वक्ष्यमाणां वाचमनाचारं च कदाचिदपि नाचरेत् । इति श्लोकार्थः । तत्रानाचारं नाचरेदित्युक्तम् । अनाचारश्च मौनीन्द्रप्रवचनात् अपरोऽभिधीयते । मौनीन्द्रप्रवचनं तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकम्, सम्यग्दर्शनं तु तत्त्वार्थश्रद्धानुरूपं, तत्त्वं तु जीवाजीवपुण्यपापाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षात्मकम् । तथा धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवकालात्मकं द्रव्यं नित्यानित्यस्वभावं, सामान्यविशेषात्मकोऽनाद्यपर्यवसानश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकस्तत्त्वमिति । ज्ञानं तु मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलस्वरूपं पञ्चधा । चारित्रं सामायिकं छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीयसूक्ष्मसंपराययथाऽऽख्यातरूपं पञ्चधैव । मूलोत्तरगुणभेदतो वाऽनेकधेत्येवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्वाऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचारप्रतिपक्षभूतमनाचारं दर्शयितुकाम आचार्यो यथावस्थितलोकस्वरूपोद्घाटनपूर्वकमाह—

अणादियं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।
सासयमसासते वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥२॥

(अणादियमित्यादि) नास्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य धर्माधर्मादिकस्य वा द्रव्यस्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्यनादिकस्तमेवंभूतं परिज्ञाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, तथाऽनवदग्रमपर्यवसानं च परिज्ञायोभयात्मकव्युदासेनैकनयदृष्ट्याऽवधारणात्मकं प्रत्ययमनाचारं दर्शयति-शश्वद्भवतीति शाश्वतं नित्यम्, सांख्याभिप्रायेणाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावम् । स्वदर्शने चानुयायिनं सामान्यांशमवलम्ब्य धर्माधर्माकाशादिष्वनादित्वमपर्यवसानत्वं चोपलभ्य, सर्वमिदं शाश्वतमित्येवंभूतां दृष्टिं नावधारयेदिति; एवं पक्षं न समाश्रयेत् । तथा विशेषपक्षमाश्रित्य वर्तमाननारकाः समुत्स्येत्स्यन्तीति एतच्च सूत्रमङ्गीकृत्य यत्तत्सर्वमनित्यमित्येवंभूतबौद्धदर्शनाभिप्रायेण च सर्वमशाश्वतमनित्यमित्येवंभूतां च दृष्टिं न धारयेदिति । किमित्येकान्तेन शाश्वतमशाश्वतं वाऽस्तीत्येवंभूतां दृष्टिं न धारयेदित्याह—

एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति ।
एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

(एताहिं द्वाभ्यामित्यादि) सर्वं नित्यमेवानित्यमेव चैताभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामभ्युपगम्यमानाभ्यामनयोर्वा पक्षयोर्व्यवहरणं व्यवहारो लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो न विद्यते । तथाहि-अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं सर्वं नित्यमित्येवं न व्यवह्रियते । प्रत्यक्षेणैव नवपुराणादिभावेन प्रध्वंसाभावेन वा दर्शनात्तथैव च लोकस्य प्रवृत्तेरामुष्मिकेऽपि नित्यत्वान्मनोबन्धमोक्षाद्यभावेन दीक्षायमनियमादिकमनर्थकमिति न व्यवह्रियते, तथैकान्तानित्यत्वेनापि न लोको धनधान्यघटपटादिकमनागतभोगार्थं संगृह्णीयात् । तथाऽऽमुष्मिकेऽपि क्षणिकत्वादात्मनः प्रवृत्तिर्न स्यात् । तथा च दीक्षाविहारादिकमनर्थकम् तस्मान्नित्यानित्यात्मकस्याद्वादे सर्वव्यवहारप्रवृत्तिः, अत एव तयोर्नित्यानित्ययोरेकान्तत्वेन समाश्रियमाणयोरैहिकामुष्मिककार्यविध्वंसरूपमनाचारमौनीन्द्रागमबाह्यरूपं विजानीयात् । तुशब्दो विशेषणार्थः । कथञ्चिन्नित्यानित्ये वस्तुनि सति व्यवहारो युज्यत इत्येतद्विशिनष्टि । तथाहि-सामान्यमन्वयिनमंशमाश्रित्य 'स्यान्नित्यम्' इति भवति । तथा विशेषांशं प्रतिक्षणमन्यथा च नवपुराणादिदर्शनतः 'स्यादनित्यम्' इति भवति । तथोत्पादव्ययध्रौव्याणि चार्हद्दर्शनाश्रितानि व्यवहाराणि भवन्ति । तथा चोक्तम्–"घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥" इत्यादि । तदेवं नित्यानित्यपक्षयोर्व्यवहारो न विद्यते, तथाऽनयोरेवानाचारं विजानीयादिति स्थितमिति ।

तथाऽन्यमप्यनाचारं प्रतिषेद्धुकाम आह—

समुच्छिहिंति सत्थारो, सव्वे पाणा अणेलिसा ।
गंठिगा वा भविस्संति, सासयं ति य णो वदे ॥ ४ ॥

[समुच्छिज्जिहिंतीत्यादि] सम्यग्निरवशेषतयोच्छेत्स्यन्त्युच्छेदं यास्यन्ति क्षयं प्राप्स्यन्ति, सामस्त्येनोरुप्राबल्येन सेत्स्यन्ति वा सिद्धिं यास्यन्ति। के ते?, शास्तारस्तीर्थकृतः सर्वज्ञाः, तच्छासनप्रतिपन्ना वा, सर्वे निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्याः, ततश्चोत्सन्नभव्यं जगत्स्यादिति शुष्कतर्काभिमानग्रहगृहीतां युक्तिं चाभिदधति। जीवसद्भावे सत्यप्यपूर्वोत्पादाभावादभव्यस्य च सिद्धिगमनसंभवात्, कालस्य चाऽऽनन्त्यादनारतसिद्धिगमनसंभवेन तद्यथोपपत्तेरपूर्वाभावादभव्योच्छेद इत्येवं नो वदेत्। तथा सर्वेऽपि प्राणिनो जन्तवोऽनीदृशा विसदृशाः सदा परस्परविलक्षणा एव, न कथञ्चित्तेषां सादृश्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो वदेत्। यदि वा सर्वेषां भव्यानां सिद्धिसद्भावे विशिष्टाः संचारेऽनीदृशा अभव्या एव भवेयुरित्येवं च नो वदेत्। युक्तिं चोत्तरत्र वक्ष्यति। तथा कर्मात्मको ग्रन्थो येषां विद्यते ते ग्रन्थिका इति, ग्रन्थिकाः सर्वे प्राणिनः कर्मग्रन्थोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत्। इदमुक्तं भवति—सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव, कर्मावृता वा सर्वे भविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्षमैकान्तिकं नो वदेत्। यदि वा ग्रन्थिका इति। ग्रन्थिकसत्त्वा भविष्यन्तीति ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत्। तथा शाश्वता इति। शास्तारः सदा सर्वकालं स्थायिनस्तीर्थकरा भविष्यन्ति, न समुच्छेत्स्यन्ति नोच्छेदं यास्यन्तीत्येवं नो वदेदिति।

तदेवं दर्शनाचारवादनिषेधं वाङ्मात्रेण प्रदर्श्याधुना युक्तिं दर्शयितुकाम आह—

एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति ।
एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

(एएहिँइत्यादि) एतयोरनन्तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानयोस्तद्यथा शास्तारः क्षयं यास्यन्तीति शाश्वता वा भविष्यन्तीति। यदि वा सर्वे शास्तारस्तद्दर्शनप्रतिपन्ना वा सेत्स्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति। यदि वा सर्वे प्राणिनो ह्यनीदृशाः विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्रहिता वा भविष्यन्तीत्येवमनयोः स्थानयोर्व्यवहरणं व्यवहारस्तदस्तित्वे युक्तेरभावान्न विद्यते। तथाहि-यत्तावदुक्तं, सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्त्येव इति। एतदयुक्तम्। क्षयनिबन्धनस्य कर्मणो भावात्सिद्धानां क्षयाभावो न, भवस्थकेवल्यपेक्षयेदमभिधीयते। तदप्यनुपपन्नम्। यतोऽनाद्यनन्तानां केवलिनां सद्भावात् प्रवाहापेक्षया तदभावाभावः। यदप्युक्तम्-अपूर्वाया भावे सिद्धिगमनसद्भावेन च व्ययसद्भावाद्भव्यशून्यं जगत् स्यात्; इत्येतदपि सिद्धान्तपरमार्थाविदिनो वचनम्। यतो भव्यराशेरानन्त्ये भविष्यत्कालस्य चाऽऽनन्त्यमुक्तम्, तच्चैवमुपपद्यते-यदि क्षयो न भवति, सति च तस्मिन्नानन्त्यं न स्यात्, नापि चावश्यं सर्वस्यापि भव्यस्य सिद्धिगमनेन भाव्यमित्यानन्त्याद्भव्यानां तत्सामग्र्यभावात् योग्यदलिकप्रतिमावत्तदनुपपत्तिरिति। तथा नाऽपि शाश्वता एव, भवस्थकेवलिनां शास्तॄणां सिद्धिगमनसद्भावात्, प्रवाहापेक्षया शाश्वतत्वमेव। अतः कथञ्चित् शाश्वताः कथञ्चिदशाश्वता इति। तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावान्नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः, तथोपयोगासंख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चित्सदृशा इति। तथोल्लसितसद्वीर्यतया केचिद्भिन्नग्रन्थयोऽपरे च तथाविधपरिणामाभावाद् ग्रन्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते नैकान्तेनैकान्तपक्षो भवतीति प्रतिषिद्धः। तदेवमेतयोरेव द्वयोः स्थानयोरुक्तनीत्या नानाऽऽचारं विजानीयादिति स्थितम्। अपि च। आगमेऽनन्तानन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते। यदा चैवंभूतं तदाऽऽनन्त्यं, तत्कथं तेषां क्षयः?। युक्तिरप्यत्र संबन्धिशब्दावेतौ-मुक्तिः संसारं विना न भवति, संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते-नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति।

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया ।
सरिसं तेहिँ ति वेरंति, असरिसं ती य णो वदे ॥ ६ ॥

(जे केइ इत्यादि) ये केचन क्षुद्रकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रियाः। अथवा महालया महाकायाः सन्ति विद्यन्ते, तेषां क्षुद्रकाणामल्पकायानां कुन्थ्वादीनां, महानालयः शरीरं येषां ते महालयाः हस्त्यादयः तेषां च, व्यापादने सदृशं वैरमिति वज्रं कर्म, विरोधलक्षणं वा वैरं, सदृशं समानं तुल्यप्रदेशत्वात्सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत्। तथा विसदृशमसदृशं तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मबन्धो वा इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात्सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं वैरमित्येवमपि नो वदेत्। यदिह वध्यापेक्ष एव कर्मबन्धः स्यात्ततः तत्सदृशात्कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्यते, न च तद्वशादेव बन्धः, अपि त्वध्यवसायवशादपि। ततश्च तीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति।

एतदेव सूत्रेण दर्शयति--

एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ ।
एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

(एएहिँ इत्यादि) आभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां स्थानाभ्यामनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायसत्त्वव्यापादनापादितकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते। तथाहि-न वध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं चैकमेव कर्मबन्धस्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञानभावोऽज्ञानभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि। तदेवं वध्यवधकयोर्विशेषात् कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यते इति। तथा तयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयादिति। तथाहि-यज्जीवसाम्यात्कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते। तदयुक्तम्। यतो नहि जीवव्यापत्त्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या। तथा चोक्तम्—"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता-स्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥" इत्यादि। अपि च-भावसव्यपेक्षस्यैव कर्मबन्धोऽभ्युपेतुं युक्तः। तथाहि-वैद्यस्यागमसव्यपेक्षस्य क्रियां कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति, तथापि न वैरानुषङ्गो भवेद्, दोषाभावात्। अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भावदोषात्कर्मबन्धः, तद्रहितस्य तु न बन्ध इति। उक्तं चागमे-"उच्चालियम्मि पाए" इत्यादि। तन्दुलमत्स्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव। तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात् सदृशत्वं, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति।

पुनरपि चारित्रमङ्गीकृत्याऽऽहारविषयानाचाराचारौ प्रतिपाद-

यितुकाम आह--

आहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा।
उवलित्ते त्ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते त्ति वा पुणो ॥ ८॥

साधुप्रधानकारणमाधायाऽऽश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि, तानि तु वस्त्रभोजनवसत्यादीन्युच्यन्ते। एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जते एतैरुपभोगं ये कुर्वन्ति, अन्योन्यं परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणोपलिप्तान् विजानीयादित्येवं नो वदेत्, तथाऽनुपलिप्तानिति वा नो वदेत्। एतदुक्तं भवति--आधाकर्मापि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुञ्जानः कर्मणा नोपलिप्यते, तदाऽऽधाकर्मोपभोगेनावश्यतया कर्मबन्धो भवतीत्येवं नो वदेत्। तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहारगृद्ध्याऽऽधाकर्म भुञ्जानस्य तन्निमित्तकर्मबन्धसद्भावासद्भावयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते। तथाहि--न वध्यस्य सदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युक्तं सदृशत्वम्, अतोऽनुलिप्तानपि नो वदेत्। यथाऽवस्थितमौनीन्द्रागमज्ञस्य त्वेवं युज्यते वक्तुमाधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्मबन्धः, स्यान्नेति। यत उक्तम्--"किञ्चिच्छुद्धं कल्पमकल्पं वा स्यादकल्पमपि कल्पम्। पिण्डः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥ १॥" तथाऽन्यैरप्यभिहितम्--"उत्पद्येत हि साऽऽवस्था, देशकालामयान् प्रति। यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत्" ॥ २॥ इत्यादि ॥ ८॥

किमित्येवं स्याद्वादः प्रतिपाद्यते इत्याह--

एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई।
एएहिँ दोहिँ ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९॥

(एएहिं दोहिमित्यादि) आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यामाश्रिताभ्यामनयोर्वा स्थानयोराधाकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभावाभावभूतयोर्व्यवहारो न विद्यते। तथाहि--यद्यवश्यमाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्येत, एवं चाहाराभावेनापि क्वचित्सुतरामनर्थोदयः स्यात्। तथाहि--क्षुत्प्रपीडितो न सम्यगीर्यापथं शोधयेत्, ततश्च व्रजन् प्राण्युपमर्दमपि कुर्यात्। मूर्च्छादिसद्भावतया देहपाते सति अवश्यंभावी त्रसादिव्याघातोऽकालमरणे चाविरतिरङ्गीकृता भवति, आर्तध्यानापत्तौ च तिर्यग्गतिरिति। आगमश्च--"सव्वत्थ संजमं संजमाओ अप्पाणमेव रक्खेज्जा" इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मबन्धाभाव इति। तथाहि--आधाकर्मण्यपि निष्पाद्यमाने षड्जीवनिकायवधः, तद्वधे च प्रतीतः कर्मबन्ध इत्यतोऽनयोः स्थानयोरेकान्तेनाश्रीयमाणयोर्व्यवहरणं व्यवहारो न युज्यते। तथाऽऽभ्यामेव स्थानाभ्यां समाश्रिताभ्यां सर्वमनाचारं विजानीयादिति स्थितम्।

पुनरप्यन्यथा दर्शनं प्रति चागमानाचारं दर्शयितुमाह--

यदि वा योऽयमनन्तरमाहारः प्रदर्शितः स सति शरीरे भवति। शरीरं च पञ्चधा, तस्य चौदारिकादेः शरीरस्य भेदाभेदं प्रतिपादयितुकामः पूर्वपक्षद्वारेणाह--

जमिदं उरालमाहारं, कम्मगं च तहेव य।
सव्वत्थ वीरियं अत्थि, णत्थि सव्वत्थ वीरियं ॥ १०॥

(जमिदमित्यादि) यदिदं सर्वजनप्रत्यक्षमुदारैः पुद्गलैर्निर्वृत्तमौदारिकमेतदेवोरालं निस्सारत्वात्। एतच्च तिर्यङ्मनुष्याणां भवति। तथा चतुर्दशपूर्वविदा क्वचित्संशयादावाह्रियत इत्याहारकम्। एतद्ग्रहणाच्च वैक्रियोपादानमपि द्रष्टव्यम्। तथा कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणम्, एतत् सहचरितं तैजसमपि ग्राह्यम्। औदारिकवैक्रियाहारकाणां प्रत्येकं तैजसकार्मणाभ्यां सह युगपदुपलब्धेः कस्यचिदेकत्वाशङ्का स्यादतस्तदपनोदार्थं तदभिप्रायमाह--तदेव तच्चदेवौदारिकं शरीरं, त एव तैजसकार्मणे शरीरे। एवं वैक्रियाहारकयोरपि वाच्यम्। तदेवंभूतां संज्ञां नो निवेशयेदित्युत्तरश्लोके क्रिया। तथैतेषामात्यन्तिको भेद इत्येवंभूतामपि संज्ञां नो निवेशयेत्। युक्तिश्चात्र--यद्येकान्तेनाभेद एव, तत इदमौदारिकमुदारपुद्गलनिष्पन्नं, तथैतत्कर्मणा निर्वर्तितं कार्मणं, सर्वस्यैतस्य संसारचक्रवालस्य भ्रमणस्य कारणभूतं तेजोद्रव्यैर्निष्पन्नं तेज एव तैजसम्, आहारपक्तिनिमित्तं तैजसलब्धिनिमित्तं चेत्येवं भेदेन संज्ञानिरुक्तं कार्यं च न स्यात्। अथात्यन्तिको भेद एव, ततो घटवद्भिन्नयोर्देशकालयोरप्युपलब्धिः स्यात्। न नियता युगपदुपलब्धिरित्येवं च व्यवस्थिते कथञ्चिदेवोपलब्धेरभेदः, कथञ्चिच्च संज्ञाभेदाद्भेद इति स्थितम्। तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां भेदाभेदौ प्रदर्श्याधुना सर्वस्यैव द्रव्यस्य भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः पूर्वपक्षं श्लोकपश्चार्द्धेन दर्शयितुमाह--(सव्वत्थ वीरियमित्यादि) सर्वं सर्वत्र विद्यत इति कृत्वा साङ्ख्याभिप्रायेण सत्त्वरजस्तमोरूपस्य प्रधानस्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, अतः सर्वं सर्वात्मकमित्येवं व्यवस्थिते घटपटाद्यवयवस्य व्यक्तस्य वीर्यं शक्तिर्विद्यते। सर्वस्यैव हि व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्कार्यकारणयोश्चैकत्वादतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्। ('अणेगंतवाय' शब्देऽत्रैव भागे अग्रेतनी साङ्ख्यमतनिरासनपरा युक्तिः वक्ष्यते) सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। ("णत्थि लोए अलोए वा, ऽणेवं सण्णं णिवेसए" इत्यादि सूत्राणि 'अत्थिवाय' शब्देऽग्रे प्रदर्शयिष्यन्ते)

आघतोऽभोगानाभोगसेवितार्थमाह--

से य जाणमजाणं वा, कट्टुं आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणे, वीयं तं न समायरे ॥ ३१ ॥

स साधुर्जानन्नजानन् वा आभोगतोऽनाभोगतश्चेत्यर्थः। कृत्वा अधार्मिकं पदम्, कथञ्चिद्रागद्वेषाभ्यां मूलोत्तरगुणविराधनामिति भावः। संवरेत् क्षिप्रमात्मानं भावतो निवर्त्यालोचनादिना प्रकारेण, तथा द्वितीयं पुनस्तन्न समाचरेदनुबन्धदोषादिति सूत्रार्थः।

एतदेवाह--

अणायारं परक्कम्म नेव गूहे न निन्हवे।
सुइं सया वियडभावे, असंसत्ते जिइंदिए ॥ ३२ ॥

अनाचारं सावद्ययोगं पराक्रम्याऽऽसेव्य गुरुसकाशे आलोचयन्नैव गूहयेत, न निह्नुवीत। तत्र गूहनं किञ्चित्कथनम्, निह्नव एकान्ताऽपलापः। किंविशिष्टः सन्नित्याह--शुचिरकलुषमतिः, सदा विकटभावः प्रकटभावः, असंसक्तोऽप्रतिबद्धः, क्वचिज्जितेन्द्रियो जितेन्द्रियप्रमादः सन्निति। दश० ८ अ०। (सिद्धान्तपाठको न कदाचिदप्यनाचारीति 'नंदिसेण' शब्दे उदाहरणरूपतया वर्णयिष्यते। तथा त्रिविधोऽनाचारः 'संकिलेस' शब्दे वक्ष्यते)

अणायारज्झाण-अनाचारध्यान--न०। न आचारोऽनाचारः। नञः कुत्सार्थत्वाद् दुष्टाचारस्य ध्यानमनाचारः। दुर्ध्याने, वल्लरदावं ध्यायतः कोङ्कणसाधोरिव, देवानामनागमनाद्धुतप्रव्रजितुकामस्यापाठसूरेरिव वा कुध्याने, आतु०।

अणायावाइ (ण्) अनात्मवादिन्--पुं०। आत्मानं वदितुं शीलमस्येति। यः पुनरेवंभूतमात्मानं नाभ्युपगच्छति सोऽनात्मवादी। आत्मानमनभ्युपगन्तरि नास्तिके, सर्वव्यापिनं नित्यं क्षणिकं वाऽऽत्मानमनभ्युपगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अणायावि (ण्)-अनातापिन्-पुं०। न आतापयति । आतापनां शीतादिसहनरूपां करोतीत्यनातापी। मन्दश्रद्धत्वात्परीषहासहिष्णौ, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अणारंभ-अनारम्भ-पुं०। जीवानुपघाते, भ० ८ श० १ उ० । जीवानुपद्रवे,"सत्तविहे अणारंभे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअणारंभे जाव अजीवकायअणारंभे " स्था० ७ ठा० । न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा । सावद्ययोगरहितेषु, " अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणारंभजीवि (ण्)-अनारम्भजीविन्-पुं० । आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, तद्विपर्ययेण त्वनारम्भः, तेन जीवितुं शीलं येषां ते अनारम्भजीविनः । समस्तारम्भनिवृत्तेषु यतिषु, आचा० ।

आवंतिए आवंतिलोयंसि अणारंभजीविए तेसु चेव-मणारंभजीवी एत्थोवरए तं झोसमाणे ॥

यावन्तः केचन लोके मनुष्यलोकेऽनारम्भजीविनः, आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा । उक्तं च-" आयाणे णिक्खेवे, जासु सगोयगाणगमणादि । सव्वो पमत्तजोगो, समणस्स वि होइ आरंभो " ॥ १ ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलमेषामित्यनारम्भजीविनो यतयः । समस्तारम्भानिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजीविनो भवन्ति । एतदुक्तं भवति-सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनः साधवः पङ्काधारपङ्कजवन्निर्लेपा एव भवन्ति । यद्येवं ततः किमित्याह-(एत्थोवरए इत्यादि) अत्रास्मिन्सावद्यारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकोचितगात्रः । अत्र चार्हते धर्मे व्यवस्थितः उपरतः पापारम्भात् किं कुर्यात् ?, स तत्सावद्यानुष्ठानायान्तकर्म झोषयन् क्षपयन् मुनिभावं भजत इति । आचा० ।

अणारंभट्ठाण-अनारम्भस्थान-न० । असावद्यारम्भस्थाने, " एगंतमिच्छे असाहू तत्थ णं जा सा सव्वतो विरई एसट्ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणारद्ध-अनारब्ध-त्रि० । केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वाऽनाचीर्णे, " आरंभे जं चऽणारंभे अणारद्धं च ण आरभे" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणाराहय-अनाराधक- त्रि० । विराधके, " अणायावी अस्सामिए धम्मस्स अणाराहए भवइ" । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अणारिय-अनार्य-पुं० । न आर्योऽनार्यः । अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पापात्मके, भ० ३ श० ६ उ० । सूत्र० । अकार्यकर्मकारिणि, नि० चू० १७ उ० । धर्मसंज्ञारहिते, शिष्टसंमतनिखिलव्यवहारे वा क्षेत्रे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । तत्र—

सग जवण सवर बब्बर-कायमुरुंडुड्डगोड्डपक्कणया ।
अरवागहूणरोमय-पारसखसखासिया चेव ॥ १ ॥
डुंबिलयलउसबोक्कस-भिल्लंधपुलिंदकोंचभमररुआ ।
कावोयचीणचुंचुय-मालवदमिला कुलत्था य ।
केक्कयकिरायहयमुह-खरमुहगयतुरगमिंढयमुहा य ।
हयकन्ना गयकन्ना, अन्ने वि अणारिया बहवे ॥ ३ ॥

शकाः, यवनाः, शबराः, बर्बराः, कायाः, मुरुण्डाः, उड्डाः, गोड्डाः, पक्कणकाः, अरवागाः, हूणाः, रोमकाः, पारसाः, खसाः, खासिकाः, दुम्बिलकाः, लकुशाः, बोक्कसाः, भिल्लाः, आन्ध्राः, पुलिन्दाः, क्रौञ्चाः, भ्रमररुताः, कापोतकाः, चीनाः, चुञ्चुकाः, मालवाः, द्रविडाः, कुलार्थाः, कैकेयाः, किराताः, हयमुखाः, खरमुखाः, गजमुखाः, तुरङ्गमुखाः, मिण्ढकमुखाः, हयकर्णाः, गजकर्णाश्चेत्येते देशा अनार्याः । अन्येऽपि देशा अनार्याः । प्रव० २७४ द्वा० । न केवलमेत एव किन्त्वपरेऽप्येवं प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश्नव्याकरणादिग्रन्थोक्ता विज्ञेयाः ।

तथा च सूत्रम्--

बहवे मिलिक्खुजाई, किं ते ?, सका जवणा सबरबब्बरगा य मुरुंडोड्डभडगभित्तिय पक्कणिया कुलक्खा गोंडसिंहलपारसकोंचअंधदविलचिल्ललपुलिंदआरोसडोंवपोक्काणगंधहारगबहलीयजल्ला रोसा मासा बउसमलया य चुंचुया य चूलियकोंकणगामेयपल्हवमालवमहुरआभासिया अणक्कचीणलासियखसखासियनेट्ठरमरहट्ठमुट्ठियआरबडोंविलगकुहणकेकयहूणरोमगरुरुमरुगचिलायविसयवासी य पावमइणो ।

(इमे बहवे मिलिक्खुजाइ त्ति) म्लेच्छजातीयाः । किं ते इति ?। तद्यथा-शकाः १, यवनाः २, शबराः ३, बर्बराः ४, कायाः ५, मुरुण्डाः ६, उड्डाः ७, भण्डाः ८, भित्तिकाः ९, पक्कणिकाः १०, कुलाक्षाः ११, गौडाः १२, सिंहलाः १३, पारसाः १४, क्रौञ्चाः १५, अन्ध्राः १६, द्रविडाः १७, चिल्वलाः १८, पुलिन्दाः १९, आरोषाः २०, डोंबाः २१, पोक्काणाः २२, गन्धहारकाः २३, बहलीकाः २४, जल्लाः २५, रोसाः २६, माषाः २७, बकुशाः २८, मलयाश्च २९, चुञ्चुकाश्च ३०, चूलिकाः ३१, कोङ्कणगाः ३२, मेदाः ३३, पह्लवाः ३४, मालवाः ३५, महुराः ३६, आभाषिकाः ३७, अणक्काः ३८, चीनाः ३९, लासिकाः ४०, खसाः ४१, खासिकाः ४२, नेष्ठुराः ४३, (मरहट्ठ त्ति) महाराष्ट्राः ४४, (पाठान्तरे पामुट्ठी ४५,) मौष्टिकाः ४६, आरबाः ४७, डोम्बिलिकाः ४८, कुहणाः ४९, केकयाः ५०, हूणाः ५१, रोमकाः ५२, रुरवः ५३, मरुकाः ५४, इति । एतानि च प्रायो लुप्तप्रथमाबहुवचनानि पदानि, तथा चिलातविषयवासिनश्च म्लेच्छदेशवासिनः । एते च पापमतयः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह-

पावा य चंडकम्मा, अणारिया निग्घिणा णिरनुतावी ।
धम्मो त्ति अक्खराई, सुइणे वि न नज्जए जेसु ॥

एते सर्वेऽप्यनार्यदेशाः पापाः । पापमपुण्यप्रकृतिरूपम्, तद्बन्धनत्वात् पापाः । तथा चण्डं कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरसविशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते चण्डकर्माणः, तथा न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा येषां ते निर्घृणाः, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चात्तापभाज इति भावः । किञ्च-येषु ' धर्मः ' इत्यक्षराणि स्वप्नेऽपि सर्वथा न ज्ञायन्ते केवलमपेयपानाभक्ष्यभक्षणागम्यगमनादिनिरताः शास्त्राद्यप्रतीतवेषभाषादिसमाचाराः सर्वेऽप्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रव० २७४ द्वा० ।

आर्यानार्यक्षेत्रव्यवस्था चेत्थम्-

जत्थुप्पत्ति जिणाणं, चक्कीणं रामकण्हाणं ।

यत्र तीर्थकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं, शेषमनार्यमिति । आवश्यकचूर्णौ पुनरित्थमार्यानार्यव्यवस्था उक्ता-" जेसु केसु वि पएसेसु, मिहुणगाणि पइट्ठिएसु हक्काराइया नीई पारूढा ते आयरिया, सेसा अनारिया" इति । प्रव० २७५ द्वा० । (अनार्यक्षेत्रे न विहर्तव्यमिति ' विहार ' शब्दे वक्ष्यते) "भयंसि वा महत्ता वा अणारिएहिं " विभक्तिव्यत्ययादनार्य्यैर्म्लेच्छादिभिर्जीवितचारित्रापहारिभिरभिभूतानामिति शेषः । स्था० ५ ठा० २ उ० । स० । अनार्य्या म्लेच्छास्ततश्च साधुनिन्दादिना अनार्य्या इव अनार्य्याः । साधुप्रत्यनीकेषु, उत्त० ३ अ० ।

अणारियट्ठाण-अनार्य्यस्थान-न० । सावद्याऽऽरम्भाश्रये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अणारोहग-अनारोहक-त्रि० । न० ब० । योधवर्जिते, "अणासए अणारोहिए अणारोहए " भ० ७ श० ९ उ० ।

अणालंबण-अनालम्बन-न० । न विद्यते आलम्बनं यस्य तदनालम्बनम् । स्वोपादानक्षणमात्रादुत्पद्यमाने कस्यापि विषयस्याऽनवगमके बुद्धज्ञाने, अने० ४ अधि० ।

अणालंबणजोग-अनालम्बनयोग-पुं० । परतत्त्वविषये ध्यानविषये, षो० ।

कः पुनरनालम्बनयोगः कियन्तं कालं भवतीत्याह-

सामर्थ्ययोगतो या, तत्र दिदृक्षेत्यसङ्गशक्त्याढ्या ।
साऽनालम्बनयोगः, प्रोक्तस्तददर्शनं यावत् ॥८॥

(सामर्थ्येत्यादि) शास्त्रोक्तात् क्षपकश्रेणीद्वितीयाऽपूर्वकरणभाविनः सकाशात् । सामर्थ्ययोगस्वरूपं चेदम्-"शास्त्रसंदर्शितोपाय-स्तदतिक्रान्तगोचरः । शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण, सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः" ॥१॥ या तत्र परतत्त्वे द्रष्टुमिच्छा दिदृक्षा इत्येवंस्वरूपा, असङ्गा चासौ शक्तिश्च निरभिष्वङ्गानवरतप्रवृत्तिस्तयाऽऽढ्या परिपूर्णा, दिदृक्षा, सा परमात्मविषये दर्शनेच्छा अनालम्बनयोगः प्रोक्तः, तद्वेदिभिस्तस्य परतत्त्वस्यादर्शनमनुपलम्भः, तद् यावत् परमात्मस्वरूपे दर्शने तु केवलज्ञानेन अनालम्बनयोगो न भवति, तस्य तदालम्बनत्वात् ।

कथं पुनरनालम्बनोऽयमित्याह-

तत्राप्रतिष्ठितोऽयं, यतः प्रवृत्तश्च तत्त्वतस्तत्र ।
सर्वोत्तमानुजः खलु, तेनानालम्बनो गीतः ॥९॥

(तत्रेत्यादि) तत्र परतत्त्वेऽप्रतिष्ठितोऽलब्धप्रतिष्ठितः अयमनालम्बनः, यतो यस्मात्प्रवृत्तश्च ध्यानरूपेण तत्त्वतो वस्तुतस्तत्र परतत्त्वे सर्वोत्तमानुजः खलु सर्वोत्तमस्य योगस्यानुजः प्रागनन्तरवर्तिना कारणेनानालम्बनो गीतः कथितः ॥ ९ ॥

किं पुनरनालम्बनाद्भवतीत्याह-

द्रागस्मात्तद्दर्शन-मिषुपातज्ञानमात्रतो ज्ञेयम् ।
एतच्च केवलं तद् , ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः ॥ १० ॥

(द्रागित्यादि) द्राक् शीघ्रमस्मात्प्रस्तुतादनालम्बनात्तद्दर्शनं परतत्त्वदर्शनमिषोः पातस्तद्विषयं ज्ञातमुदाहरणं तन्मात्रादिषुपातज्ञानमात्रतो ज्ञेयं तद्दर्शनम् । एतच्च परतत्त्वदर्शनं केवलं संपूर्णम् । तदिति तत्प्रसिद्धं ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । यत्तत्केवलज्ञानं परं प्रकृष्टं ज्योतिः प्रकाशरूपम्, इषुपातोदाहरणं च यथा-केनचिद्धनुर्धरेण लक्ष्याभिमुखे बाणे तदभिसंधादिनि प्रकल्पिते यावत्तस्य बाणस्य न विमोचनं तावत्प्रगुणतामात्रेण तदविसंवादित्वेन च समानोऽनालम्बनो योगः, यदा तु तस्य बाणस्य विमोचनं लक्ष्याविसंवादि पतनमात्रेण लक्ष्यवेधकं तदा आलम्बनोत्तरकालभावी तत्पातकल्पः सालम्बनः केवलज्ञानप्रकाश इत्यनयोः साधर्म्यमङ्गीकृत्य निदर्शनम् । षो० १५ विव० । अष्ट० ।

अणालंबणपइट्ठाण-अनालम्बनप्रतिष्ठान-त्रि० । अविद्यमानमालम्बनं प्रतिष्ठानं त्राणकारणं यत्र स तथा । आलम्बनरक्षकरहिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणालत्त-अनालपित-त्रि० । अभाषिते, " पुव्विं अणालत्तेणं आलविंत्तए वा संलवित्तए वा" प्रति० । उपा० ।

अणालस्स-अनालस्य-न० । अनुत्साहे, तं० । ब० स० । कृतोद्यमे, व्य० ७ उ० ।

अणालस्सणिलय-अनालस्यनिलय-पुं० । अनालस्यमुत्साहस्तस्य गृहम्, अकार्यादौ सादरं प्रवृत्तिहेतुत्वात् । योषिति, तं० ।

अणालाव-अनालाप-पुं० । नञः कुत्सार्थत्वादशीलेत्यादिवत् कुत्सित आलापोऽनालाप इति । वचनविकल्पभेदे, स्था० ७ ठा० ।

अणालिद्ध-अनाश्लिष्ट-त्रि० । अकृताऽऽश्लेषे, प्रव० २ द्वा० । आव० ।

अणालोइय-अनालोचित-त्रि० । न० त० । अनिवेदिते, न० ब० । गुरूणां समीपेऽकृतालोचने, औ० । सादरमवीक्षिते, "मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुर-न्मोहोन्माद घनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता" अनालोकिता सादरमवीक्षितेत्यर्थः । अनालोकितपदस्य सादरमनालोकितत्वेऽर्थान्तरसंक्रमिततया वाच्यत्वाद्, अन्यथा चक्षुष्मतः पुरःस्थितवस्तुनोऽनालोकितत्वानुपपत्तेः, प्रति० ।

अणालोइयअपडिकंत-अनालोचिताऽप्रतिक्रान्त-त्रि० । अनालोचितश्चासौ अप्रतिक्रान्तश्च । गुरूणां समीपेऽकृतालोचने दोषाद्वानिवृत्ते, औ० ।

अणालोइयभासि (ण्)-अनालोचितभाषिन्-पुं० । सम्यग्ज्ञानपूर्वकमपर्यालोच्य भाषके, प्रव० ७२ द्वा० ।

अणालोय-अनालोक-पुं० । न० त० । अद्रे, " चुलसीइजोणिसयसह—स्स गुविलं अणालोकमंधयारं ति" । (संसारसागरवर्णकः) अनालोको नामाज्ञानान्धकारो यस्य स तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अणावाय-अनापात-न० । न आपातोऽन्यागमः परस्य अन्यस्य स्वपरपक्षस्य वा यस्मिन् स्थण्डिले तदनापातम् । प्रव० ८१ द्वा० । जनसंपातरहिते, वर्जिते, भ० ८ श० ६ उ० । ध० । पं० व० । विजने, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । लोकानामुपागमनरहिते, उत्त० २४ अ० । स्वपक्षाद्यापातरहिते स्थण्डिले, आव० ४ अ० । ध० ।

अणाविल-अनाविल-त्रि० । न० त० । अकलुषे, रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहिते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

ऋणाविल-त्रि० । ऋणेन कलुषे, आतु० ।

अणाविलज्झाण-अनाविलध्यान-न० । ऋणमृणं तेनाऽऽविलः कलुषः ऋणाविलः, तस्य ध्यानम् । तैलकर्षलाया यतित्रगिन्या इव दुर्ध्याने, आतु० ।

अणाविलप्प (ण्)-अनाविलात्मन्-पुं० । अनाविलो विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा । निष्कषायिनि,

" अभयंकरे भिक्खू अणाविलप्पा " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणावुट्ठि–अनावृष्टि–स्त्री० । वर्षणाऽभावे, स० ।

अणासंसि (ण्)–अनाशंसिन्–पुं० । न०त० । श्रोतृभ्यो वस्त्राद्यनाकाङ्क्षिणि प्रवचनसारपरिकथनयोग्ये, सू० १ उ० । आचार्याद्याराधनाशंसारहिते, सांसारिकफलानपेक्षे वा, आलोचनाप्रदानयोग्ये, आशंसिनो हि समग्रातिचारालोचनासंभवात् आशंसाया एवातिचारत्वात् । धर्म० २ अधि० । ग० । प्रव० । पञ्चा० ।

अणासग–अनश्वक–त्रि० । अश्वरहिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

अणासच्छिण्ण–अच्छिन्ननाम–त्रि० । अकृत्तघ्राणे, नि०चू०४उ० ।

अणासण्ण–अनासन्न–त्रि० । अनिकटवर्तिनि, उत्त० २० अ० ।

अणासत्ति–अनासक्ति–स्त्री० । अप्रतिबद्धतायाम, स्वजनादिषु स्नेहाभावे, भ० १ श० ६ उ० ।

अणासय–अनाशय–त्रि० । न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो यस्यासावनाशयः । द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादके तीर्थकृति , तद्गतगार्ध्याभावात् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

अणासव–अनाश्रव–पुं० । न विद्यन्ते आश्रवा हिंसादयो यस्य । ३४ पापकर्मबन्धरहिते हिंसाद्याश्रवद्वारविरते , क० प्र० । उत्त० । प्राणातिपातादिरहिते, औ० । "अणासवे अममे अकिंचणे " औ० । अविद्यमानपापकर्मबन्धे, औ० । आश्रवति तान् २ शोभनत्वेन अशोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवः, नाऽऽश्रवोऽनाश्रवः । मध्यस्थे रागद्वेषरहिते, द्वं० ।

सद्दाणि सोचा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।

शब्दान् वेणुवीणादिकान्मधुरान् श्रुतिपेशलान् , श्रुत्वा समाकर्ण्य, अथ भैरवान् भयावहान्, कर्णकटूनाकर्ण्य, तेष्वनुकूलेषु प्रतिकूलेषु श्रवणपथमुपागतेषु शब्देष्वनाश्रवो मध्यस्थो रागद्वेषरहितो भूत्वा परि समन्ताद् व्रजेत्परिव्रजेत्, इति । सू० २ उ० । नवकर्मानुपादाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अनाश्रवेणैव सर्वथा कर्मक्षय इति यथाऽसौ भवति तथाह–

पाणवह मुसावायं, अदत्त मेहुण परिग्गहाविरओ ।
राईभोयण विरओ, जीवो होई अणासवो ॥
पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइंदिओ ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो ॥

सूत्रद्वयं प्रायः प्रतीतार्थमेव, नवरं , विरत इति प्राणवधादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । तथा भवत्यनाश्रव इति अविद्यमानकर्मोपादानहेतुः । द्वितीयसूत्रेऽप्यनाश्रवः समित्यादिविपर्ययाणां कर्मोपादानहेतुत्वेनाश्रवरूपत्वात्, तेषां चाविद्यमानत्वादिति सूत्रद्वयार्थः । एवंविधश्च यादृशं कर्म यथाऽसौ क्षपयत्याशंसनाय ।

पुनः शिष्याभिमुखीकरणपूर्वकं दृष्टान्तद्वारेण तदाह–

एएसिं तु विवच्चासे, रागदोससमज्जियं ।
खवेइ तवसा भिक्खू, एगग्गमणो सुणो ॥
जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए, कम्मेण सोसणा भवे ॥
एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसंचियं कम्मं, तवसा णिज्जरिज्जइ ॥

सूत्रत्रयम्–एतेषां तु प्राणिवधविरत्यादीनां समित्यादीनां चानाश्रवहेतूनां (विवच्चासे त्ति) विपर्यासे प्राणिवधादावशमितत्वादौ च रागद्वेषाभ्यां समार्जितमुपार्जितरागद्वेषसमार्जितं, कर्मेति गम्यते, तन्मे कथयतेति शेषः । एकमेकत्र वस्तुनि अभिनिविष्टत्वेन मनो यस्याः सा एकमनाः, शृणोति शिष्याभिमुखीकरणम्, सन्निरुद्धे पाल्यादिना निषिद्धे, जलागमे जलप्रवेशे, (उस्सिंचणाए त्ति) सूत्रत्वादुत्सेचनेनारघट्टघटीनिवहादिभिरुदश्चनेन (तवणाए त्ति) प्रागवत्तपनेन रविकरनिकरसन्तापरूपेण क्रमेण परिपाट्या शोषणा जलाभावरूपा भवेत् । पापकर्मनिराश्रवे पापकर्मणामाश्रवाभावे, भवकोटीसञ्चितमित्यत्र कोटिग्रहणमुपतिबहुत्वोपलक्षणम्, कोटिनियमासंभवात्, कर्म तपसा निर्जीर्यते आधिक्येन क्षयं नीयते, शेषं स्पष्टमिति सूत्रत्रयार्थः । उत्त० ३० अ० । पञ्चत्रिंशे गौणप्राणातिपातविरमणे, तस्य कर्मबन्धनिरोधोपायत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । आ समन्तात् शृण्वन्ति गुरुवचनमाकर्णयन्तीति आश्रवाः । न तथा प्रतिज्ञाविषयस्य तस्याश्रवणादनाश्रवः । गुरुवचनेऽस्थिते, "अणासवा थूलवया कुसीला, मिउंपि चंमं पकरेंति सीसा" इति दुर्विनीतलक्षणम् । उत्त० १ अ० । आश्रवः व्रतविशेषे , आचा० ।

अणासाइज्जमाण–अनास्वाद्यमान–त्रि० । न०त० । केवलं रसनेन्द्रियविषये, भ० १ श० १ उ० ।

अणासाएमाण–अनाशयमान–त्रि० । आशाविषयमकुर्वाणे , उत्त० २७ अ० ।

अनास्वादयत्–त्रि० । अभुञ्जाने, उत्त० २६ अ० ।

अणासायणा–अनाशातना–स्त्री० । न० त० । तीर्थकरादीनां सर्वथाऽहीलनायाम्, दश० ६ अ० १ उ० । द्वा० । मनोवाक्कायैः प्रतीपवर्जने, उत्त० १ अ० ।

अणासायणाविणय–अनाशातनाविनय–पुं० । अनुचितक्रियानिवृत्तिरूपे दर्शनविनयभेदे, अयं च पञ्चदशविधः । आह च– " तित्थगरधम्मआयरिअ–वायगे थेरकुलगणे संघे । संभोगिअकिरियाए, मइनाणाईण य तहेव " सांभोगिका एकसमाचारिका किया आस्तिकता । अत्र भावना–तीर्थकराणामनाशातनायां तीर्थकरप्रज्ञप्तधर्मस्यानाशातनायां च वर्तितव्यमित्येवं सर्वत्र द्रष्टव्यमिति । "कायव्वा पुण भत्ती, बहुमाणो तह य वण्णवाओ य । अरहंतमाइयाणं, केवलनाणावसाणाणं " ॥ १ ॥ स्था० ७ ठा० । ध० । द० ।

अणासिय–अनाशित–त्रि० । बुभुक्षिते, " अणासिया णाम महासियाला, या गब्भिणो तत्थ सयासको वा " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणासेवणा–अनासेवना–स्त्री० । आसेवनाविरहे , आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अणाह–अनाथ–त्रि० । अशरणे, नि० चू० ३ उ० । निःस्वामिनि, विपा० १ श्रु० ७ अ० । योगक्षेमकारिविरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । रङ्के, ज्ञा० ८ अ० । आत्मनोऽनाथत्वपरिज्ञापयितरि मुनिभेदे, पुं० । यथा मुनिना श्रेणिकं प्रति आत्मनोऽनाथता दर्शिता–कोऽर्थः ?, अनाथत्वसनाथत्वं च विचारितं । तथोक्तम्—

सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ ।
अत्थधम्मगइं तत्थं, अणुसट्ठिं सुणेह मे ॥ १ ॥

भोः शिष्याः ! मे मम अनुशिष्टिं शिक्षां यूयं शृणुत । किं

कृत्वा ? सिद्धान् पञ्चदशप्रकारान् नमस्कृत्य, च पुनर्जावतो ज-क्तितः, संयतान् साधून् आचार्योपाध्यायादिसर्वसाधून् नमस्कृत्य। कीदृशीं मे अनुशिष्टिम् ?। अर्थधर्मगताम् । अर्थ्यते प्रार्थ्यते धर्मार्थिभिः पुरुषैरिति अर्थः, स चासौ धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य गतिर्ज्ञानं यस्यां सा अर्थधर्मगतिः, ताम्, डव्यवद्यो दुष्प्राप्यो धर्मस्तस्य धर्मस्य प्राप्तिकारिकाम्, यया मम शिक्षया दुर्लभधर्मस्य प्राप्तिः स्यादिति जावः । पुनः कीदृशीं मेऽनुशिष्टिम् ?, तथ्यां सत्याम् । अथवा 'तच्चं' तत्त्वरूपां वा, इह चानुशिष्टिरभिधेया, अर्थधर्मगतिः प्रयोजनम् । अनयोश्च परस्परमुपायोपेयजावलक्षणः सम्बन्धः सामर्थ्यादुक्त इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

सम्प्रति धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य धर्मकथाकथनव्याजेन प्रतिज्ञातमुपक्रमितुमाह—

पजूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो ।
विहारजत्तं निज्जाओ, मंमिकुच्छिसि चेइए ॥ २ ॥

श्रेणिको नाम राजा एकदा मण्डितकुक्षिनाम्नि चैत्ये उद्याने विहारयात्रया उद्यानक्रीडया निर्यातः, नगरात् क्रीडार्थं मण्डितकुक्षिवने गत इत्यर्थः । कीदृशः श्रेणिको राजा ?, मगधाधिपः मगधानां देशानामधिपो मगधाधिपः । पुनः कीदृशः ? , प्रजूतरत्नः प्रचुरप्रधानगजाश्वमणिप्रमुखपदार्थधारी ॥ २ ॥

तदेव विशिनष्टि—

नाणादुमलयाइम्नं, नाणापक्खिनिसेवियं ।
नाणाकुसुमसंछन्नं, उज्जाणं नंदणोवमं ॥ ३ ॥

अथ मण्डितकुक्षिनाम उद्यानं कीदृशं वर्त्तते तदाह । कीदृशं तद्वनम् ?, नानाद्रुमलताकीर्णं विविधवृक्षवल्लीभिर्व्याप्तम् । पुनः कीदृशम् ?, नानापक्षिनिषेवितं विविधविहङ्गैरतिशयेनाश्रितम् । पुनः कीदृशम् ?, नानाकुसुमसंछन्नं बहुवर्णपुष्पैर्व्याप्तम् । पुनः कीदृशं तत् उद्यानम् ?, नागरिकजनानां क्रीडास्थानम् । नगरसमीपस्थं वनमुद्यानमुच्यते । पुनः कीदृशम् ?, नन्दनोपमं नन्दनं देववनं तदुपमम् ॥ ३ ॥

तत्थ सो पासई साहुं, संजयं सुसमाहियं ।
निसन्नं रुक्खमूलम्मि, सुकुमालं सुहोइयं ॥ ४ ॥

तत्र वने स श्रेणिको राजा साधुं पश्यति । कीदृशं साधुम् ?, संयतं सम्यक्प्रकारेण यतं यत्नं कुर्वन्तम् । पुनः कीदृशम् ?, सुसमाधितं सुतरामतिशयेन समाधियुक्तम् । साधुः सर्वोऽपि शिष्ट उच्यते, तद्व्यवच्छेदार्थं संयतमित्युक्तम्, सोऽपि च बहिः संयमवान् निह्नवादिरपि स्यात् इति सुष्ठु समाहितो मनःसमाधानवान् सुसमाहितस्तमित्युक्तम् । पुनः कीदृशम् ?, वृक्षमूले निषण्णं स्थितम् । पुनः कीदृशम् ? सुकुमालम् । पुनः कीदृशम् ?, सुखोचितं सुखयोग्यम्, शुजोचितं वा ॥ ४ ॥

तस्स रूवं तु पासित्ता, राइणो तम्मि संजए ।
अच्चंतपरमो आसी, अउलो रूवविम्हिओ ॥ ५ ॥

राज्ञः श्रेणिकस्य तस्मिन् संयते साधौ अत्यन्तः परमोऽतिशयप्रधानोऽधिकोत्कृष्टः, अतुलो निरुपमोऽनन्यसदृशो रूपविस्मयो रूपाश्चर्यमासीत् । किं कृत्वा ?, तस्य साधोः, रूपं दृष्ट्वा । तुशब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ ५ ॥

अहो ! वन्नो अहो ! रूवं, अहो ! अज्जस्स सोम्मया ।
अहो ! खंती अहो ! मुत्ती, अहो ! जोगे असंगया ॥ ६ ॥

तदा राजा मनसि चिन्तयति स्म—अहो ! इत्याश्चर्ये आश्चर्यकारी अस्य शरीरस्य वर्णो गौरत्वादिः । अहो ! आश्चर्यकृत, अस्य साधो रूपं लावण्यसहितम् । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य आर्यस्य सौम्यता चन्द्रवच्चक्षुःप्रियता । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य क्षान्तिः क्षमा । अहो ! आश्चर्यकारिणी चास्य मुक्तिर्निर्लोभता । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य भोगे असङ्गता-विषये निस्पृहता ॥ ६ ॥

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं ।
नाइदूरमणासन्ने, पंजली परिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ वन्दित्वा, पुनः प्रदक्षिणां कृत्वा, राजा नातिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ?, नातिदूरवर्त्ती, नातिनिकटवर्त्ती वा सन्, प्राञ्जलिपुटो बद्धाञ्जलिः पृच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणोसि अज्जो ! पव्वइओ, जोगकालम्मि संजया ! ।
उवट्ठिओसि सामन्ने, एयमट्ठं सुणामि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पृच्छति-हे आर्य हे साधो !, त्वं तरुणोऽसि युवाऽसि । हे संयत ! हे साधो ! तस्माद् भोगकाले जोगसमये, प्रव्रजितो गृहीतदीक्षः, तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति न तु दीक्षायाः समयः । हे संयत ! तारुण्ये भोगयोग्यकाले त्वं श्रामण्ये दीक्षायामुपस्थितोऽसि, आदरसहितोऽसि । एतदर्थं एतन्निमित्तं, त्वत्तः शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ?, कस्मान्निमित्तात् दीक्षा त्वया गृहीता ?, तत्कारणं त्वन्मुखात् श्रोतुमिच्छामीत्यर्थः ।

(पाईटीका)

तरुणोत्यादिना प्रश्नस्वरूपमुक्तम् । इह च यत एव तरुणोऽत एव प्रव्रजितो जोगकाले इत्युच्यते, तारुण्यस्य भोगकालत्वात् । यद्वा-तारुण्येऽपि रोगादिपरिभावितो न जोगकालः स्यात्, इत्येवमभिधानम् । सोऽपि कदाचित्संयमेऽनुद्यत एव स्यात् । त्वं पुनरुपस्थितश्च । पठन्ति च-[उवट्ठिओसि त्ति] एतमर्थं निमित्तं येनाथेन त्वमीदृश्यामप्यवस्थायां प्रव्रजितः, शृणोमि, 'ता' इति तावत, पश्चात्तु यत्त्वं जणिष्यसि तदपि श्रोष्यामीति जावः । इति श्लोकसप्तकार्थः ॥ ८ ॥

इत्थं राज्ञोक्ते मुनिराह—

अणाहोमि महाराय !, नाहो मज्झ न विज्जइ ।
अणुकंपयं सुहिं वा वि, कंची णाहि तुमे महं ॥ ९ ॥

अनाथोऽस्वामिकोऽस्मीत्यहं महाराज ! प्रशस्यनृपते ! किमित्येवम् । यतः-नाथो योगक्षेमविधाता, मम न विद्यते । तथा (अणुकंपयं ति) आर्षत्वादनुकम्पकः यो मामनुकम्पते (सुहिं ति) तत एव सुहृत (कंचि त्ति) कश्चिन्न विद्यते, ममेति सम्बन्धः [नाहि त्ति] प्रक्रमादनन्तरोक्तमर्थं जानीहि [तुमे त्ति] त्वम् । पठ्यते-" किंचि णाभिसमे महं " किंचिदनुकम्पकं सुहृदं वापि नाभिसमे नाभिसंगच्छामि न केनाचिदनुकम्पनेन, सुहृदा च संगतोऽहमित्यादिनाऽर्थेन तरुणेऽपि प्रव्रजित इति जावः । इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥ एवं मुनिनोक्ते-

तओ पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो ।
एवं ते इड्ढिमंतस्स, कहं नाहो न विज्जई ? ॥ १० ॥
होमि नाहो भयंताणं, भोगे जुंजाहि संजया ! ।
मित्तनाईपरिवुडो, माणुस्सं खलु दुल्लहं ॥ ११ ॥

[पाईटीका]

ततस्तदनन्तरं श्रेणिको मगधाधिपो राजा प्रहसितः । हे महाजाग ! एवं तव ऋद्धिमतः ऋद्धियुक्तस्य कथं नाथो न विद्यते ? । नुवरम् , एवमिति दृश्यमानप्रकारेण , ऋद्धिमतो वि-

स्मयनीयवर्णादिसंपत्तिमतः, कथमिति केन प्रकारेण, नाथो न विद्यते ?, तत्कालापेक्षया सर्वत्र वर्तमाननिर्देशः। "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति, तथा गुणवति धनम्, ततः श्रीः, श्रीमत्याज्ञा, ततो राज्यम्" इति हि लोकप्रवादः। तथा च न कथञ्चिदनाथत्वं भवतः संभवतीति भावः। यदि वाऽनाथतैव भवतः प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुः, ततः हे पूज्याः ! अहं (भयंताणं इति) भदन्तानां पूज्यानां युष्माकं नाथो भवामि, यदा भवतां कोऽपि स्वामी नास्ति तदा अहं भवतां स्वामी भवामि, यद्वा अनाथत्वाद् युष्माभिर्दीक्षा गृहीता तदाऽहं नाथोऽस्मीति भावः। हे संयत ! हे साधो ! भोगान् भुङ्क्ष्व। कीदृशः सन् ?, मित्रज्ञातिभिः परिवृतः सन्, हे साधो ! खलु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्लभं वर्तते, तस्मान्मनुष्यत्वं दुर्लभं प्राप्य भोगान् भुक्त्वा सफलीकुरु। ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराह—

अप्पणा वि अणाहोसि, सेणिया ! मगहाहिवा ! ।
अप्पणा अणाहो संतो, कस्स णाहो भविस्ससि ? ॥१२॥

हे राजन् ! श्रेणिक ! मगधदेशाधिपस्त्वमात्मनाऽपि अनाथोऽसि, आत्मना अनाथस्य सतस्तवापि अनाथता, तदा त्वमपरस्य कथं नाथो भविष्यसीति ? ॥ १२ ॥

एवं च मुनिनोक्ते—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ ।
वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयं निओ ॥ १३ ॥

स नरेन्द्रः साधुना एवमुक्तः सन् विस्मयं नीत आश्चर्यं प्रापितः। कीदृशो नरेन्द्रः ?, सुसंभ्रान्तोऽत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्तः। पुनः कीदृशः ?, सुविस्मितः पूर्वमेव तद्दर्शनात् संजाताश्चर्यः पुनरपि तद्वचनश्रवणात् विस्मयवान् जातः, यतो हि तद्वचनमश्रुतपूर्वं, श्रेणिकाय अनाथोऽसि त्वमिति वचनं पूर्वं केनापि नो आश्रितम् ॥ १३ ॥

यदुक्तवांस्तदाह—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे ।
भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥
एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए ।
कहं अणाहो भवइ, मा हु भंते ! मुसं वए ? ॥ १५ ॥

द्वाभ्यां गाथाभ्यां श्रेणिको राजा वदति–हे भदन्त ! पूज्य ! हु इति निश्चयेन, मृषा मा ब्रूहि असत्यं मा वद। एतादृशे संपदग्र्ये सति सम्पत्प्रकर्षे सति, अहं कथमनाथो भवामि ?, कीदृशोऽहम् ?, सर्वकामसमर्पितः–सर्वे च ते कामाश्च सर्वकामाः, तेभ्यः सर्वकामेभ्यः समर्पितः शुभकर्मणा ढौकितः। अथ राजा स्वसंपत्प्रकर्षं वर्णयति–अश्वा घोटकाः बहवो मम सन्ति, पुनर्हस्तिनोऽपि प्रचुराः सन्ति, तथा पुनर्मनुष्याः सुभटाः सेवका बहवो विद्यन्ते, तथा मम पुरं नगरमप्यस्ति, च पुनर्मे मम अन्तःपुरं राज्ञीवृन्दं वर्तते। पुनरहं मानुष्यान् भोगान् मनुष्यसम्बन्धिनो विषयान् भुनज्मि। च पुनराज्ञैश्वर्यं वर्तते आज्ञा अप्रतिहतशासनस्वरूपं प्रभुत्वं वर्त्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मदीयामाज्ञां न खण्डयतीत्यर्थः।

यतिस्तमुवाच–

न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा ! ।
जहा अणाहो हवइ, सणाहो वा नराहिवा ! ॥१६॥

हे पार्थिव ! हे राजन् ! त्वम्। 'अणाहस्स' अनाथस्य अर्थम् अभिधेयम्, चशब्दः पुनरर्थे, च पुनरनाथस्य प्रोत्थां न जानासि, प्रकर्षेणोत्थानं मूलोत्पत्तिः प्रोत्था, तां प्रोत्थाम्, केनाभिप्रायेणायमनाथशब्दः प्रोक्त इत्येवंरूपां न जानासि। हे राजन् ! यथाऽनाथोऽथवा सनाथो भवसि तथा न जानासि, कथमनाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति ? ॥ १६ ॥

सुणेह मे महाराय !, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
जहा अणाहो भवइ, जहा मेय पवत्तियं ॥१७॥

हे महाराज ! मे मम कथयतः सतः त्वमव्याक्षिप्तेन स्थिरेण चेतसा शृणु। यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममानाथत्वं प्रवर्त्तितम्। अथवा (मे य इति) मे एतदनाथत्वं प्रवर्तितं तथा त्वं शृणु इत्यनेन स्वकथाया उट्टङ्कः कृतः ॥ १७ ॥

कोसंबी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।
तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥१८॥

हे राजन् ! कौशाम्बी नगरी आसीत्। कीदृशी कौशाम्बी ?, पुराणपुरभेदिनी जीर्णनगरभेदिनी, यादृशानि जीर्णनगराणि भवन्ति तेभ्योऽधिकशोभावती। कौशाम्बी हि जीर्णपुरी वर्त्तते जीर्णपुरस्था हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनवन्तश्च बहुज्ञा विवेकवन्तश्च भवन्तीति हार्दम्। तत्र तस्यां कौशाम्ब्यां मम पिताऽऽसीत्। कीदृशो मम पिता ?, प्रभूतधनसञ्चयः। नाम्नाऽपि धनसंचयः, गुणेनाऽपि बहुलधनसंचय इतिवृद्धसंप्रदायः ॥१८॥

पढमे वए महाराय !, अउला मेऽच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ॥ १९ ॥

हे महाराज ! प्रथमे वयसि यौवने एकदा अतुलोत्कृष्टा, अस्थिवेदना अस्थिपीडा, (अहोत्था इति) अभूत्। अथवा "अच्छिवेयणा" इतिपाठे अक्षिवेदना नेत्रपीडा अभूत्। ततश्च हे पार्थिव ! हे राजन् ! सर्वगात्रेषु विपुलो दाहोऽभूत् ॥ १९ ॥

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरंतरे ।
पाविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥ २० ॥

हे राजन् ! यथा कश्चिदरिः क्रुध्यन् क्रुद्धः सन्, शरीरविवरान्तरे नासाकर्णचक्षुःप्रमुखरन्ध्राणां मध्ये परमतीक्ष्णं शस्त्रं प्रपीडयेद् गाढमवगाहयेत्, एवं मे ममास्थिवेदनाऽभूत्। (शरीरविवरंतरेति)

(पाईटीका)

शरीरविवराणि कर्णरन्ध्रादीनि, तेषामन्तरं मध्यं शरीरविवरान्तरं तस्मिन् (पाविसिज्ज त्ति) प्रवेशयेत् प्रक्षिपेत्। शरीरविवरग्रहणमतिसुकुमारत्वादान्तरत्वं चागाढवेदनोपलक्षणम्। पठ्यते च–शरीरवीर्यान्तरेण "आवीलिज्ज त्ति" पाठान्तरे शरीरवीर्ये सप्त धातवस्तदन्तरे तन्मध्य आपीडयेद् गाढमवगाहयेत्। एवमित्यापीड्यमानस्य शस्त्रवद् मे ममाक्षिवेदना, कोऽर्थः ?, यथा तदत्यन्तबाधाविधायि तथैषाऽपीति ॥ २० ॥

तियं मे अंतरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई ।
इंदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन् ! सा परमदारुणा वेदना मे मम त्रिकं कटिपृष्ठविभागम्। च पुनरन्तरिच्छाम्–अन्तर्मध्य इच्छा अन्तरिच्छा, तामन्तरिच्छाम्। भोजनपानरमणाभिलाषरूपाम्। च पुनरुत्तमाङ्गं मस्तकं पीडयति। कीदृशी वेदना ?, इन्द्राशनिसमा घोरा, इन्द्रस्याशनिर्वज्रं तत्समाऽऽतिदाहोत्पादकत्वात् तुल्या, घोरा भयदा ॥२१॥

किं न कश्चित्त्वां प्रतिकृतवानित्याह—

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामंततिगिच्छगा ।

अधीया सत्थकुसला, मंतमूलविसारया ॥ २२ ॥

हे राजन् ! तदेत्यध्याहारः । आचार्या वैद्यानां शास्त्राध्यापकाः मे उपस्थिताश्चिकित्सां कर्तुं लग्नाः, कीदृशा आचार्याः ?, विद्यामन्त्रचिकित्सकाः विद्यया मन्त्रेण च चिकित्सन्ति चिकित्सां कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्सकाः, प्रतिक्रियाकर्त्तारः। पुनः कीदृशा आचार्याः ?, अधीताः सम्यक् पठिताः । 'अबीया' इति पाठे न विद्यते अन्यो द्वितीयो येऽन्यस्तेऽद्वितीया असाधारणाः। पुनः कीदृशास्ते ?, शास्त्रकुशलाः शास्त्रेषु विचक्षणाः। पुनः कीदृशास्ते ?, मन्त्रमूलविशारदाः, मन्त्राणि देवाधिष्ठितानि, मूलानि जटिकारूपाणि, तत्र विचक्षणाः मन्त्रमूलिकानां गुणज्ञाः ॥ २२ ॥

ते मे तिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं ।

न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२३॥

ते वैद्याचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथा हितं भवेत्तथा कुर्वन्ति । कीदृशं चैकित्स्यम ?, चातुष्पादं चत्वारः पादाः प्रकारा यस्य तच्चतुष्पदम, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्यमित्यर्थः । वैद्य १ औषध २ रोगि ३ प्रतिचारक ४ रूपम । अथवा-वमन १ विरेचन २ मर्दन ३ स्वेदन ४ रूपम । अथवा-अञ्जन १बन्धन२ लेपन ३मर्दनरूपम । शास्त्रोक्तं गुरुपारंपर्यागतम। चकारिति स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम , ते वैद्या मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वाद्भूतार्थे वर्त्तमानार्थः प्रत्ययः , एषा ममानाथता वर्तते ॥ २३ ॥

अन्यच्च—

पिया मे सव्वसारं पि, देज्जाहि समकारणा ।

न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२४॥

हे राजन् ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे यत्सारं सारवस्तु तत्सर्वमपि वैद्येभ्योऽदात, तथापि वैद्या मां दुःखाद् न विमोचयन्ति स्म । एषा मम अनाथता ज्ञेयेति शेषः ॥ २४ ॥

माया वि मे महाराय !, पुत्तसोगदुहट्टिया ।

न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२५॥

[पाईटीका]

तथा माताऽपि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा कथमित्थं दुःखी मत्सुनो जात इत्यादिरूपः, ततो दुःखम,तेन [अट्टिय त्ति] आर्ता। अथवा [अट्टिय त्ति] अर्दिता, उभयत्र पीडितेत्यर्थः । ततः पुत्रशोकदुःखार्त्ता पुत्रशोकदुःखार्दिता वा ज्ञेया ॥ २५ ॥

भायरा मे महाराय !, सगा जिट्ठ कणिट्ठगा ।

न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२६॥

हे महाराज ! मे मम भ्रातरोऽपि स्वका आत्मीयाः, ज्येष्ठकनिष्ठका वृद्धा लघवश्च मां न च दुःखाद्विमोचयन्ति स्म । एषा ममानाथता ज्ञेया ।

(पाईटीका)

[सग त्ति] शोकरूढित सोदर्याः स्वका वा आत्मीयाः ॥२६॥

भइणीओ मे महाराय !, सगा जिट्ठ कणिट्ठगा ।

न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥२७॥

हे महाराज ! मे मम भगिन्योऽपि स्वका एकमातृजाः । ज्येष्ठाः कनिष्ठाश्च मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म,एषा मम अनाथता ज्ञेया ॥ २७ ॥

भारिया मे महाराय ! , अणुरत्ता अणुव्वया ।

अंसुपुण्णेहि नयणेहिं, उरं मे परिसिंचइ ॥ २८ ॥

अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गंधमल्लविलेवणं ।

मए नायमनायं वा, सा बाला नोवभुंजइ ॥ २९ ॥

खणं पि मे महाराय !, पासाओ वि न फिट्टइ ।

न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥

हे महाराज ! मे मम भार्या कामिन्यऽपि दुःखान्मां न मोचयति स्म । कथम्भूता भार्या ?, अनुरक्ता अनुरागवती । पुनः कथम्भूता ?, अनुव्रता पतिव्रता पतिमनुलक्षीकृत्य व्रतं यस्याः सा अनुव्रता । एतादृशी भार्या मे ममोरो हृदयमश्रुपूर्णाभ्यां लोचनाभ्यां सिञ्चति स्म ।

(पाईटीका)

अपरञ्च भार्या पत्नी अनुरक्ताऽनुरागवती [अणुव्वय त्ति] अन्विति कुलानुरूपं व्रतमाचारोऽस्या अनुव्रता: पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा । पठ्यते च-(अणुत्तरमणुव्वय त्ति) इह च मकारोऽलाक्षणिकः । अनुत्तरा अति प्रधाना (उरं ति) उरो वक्षः, परिषिञ्चति समन्तात् प्लावयति ॥ २८ ॥

पुनः सा बाला मत्कामिनी अन्नमशनं मोदकादिकं भक्ष्यं, पानं शर्करोदकादिकं, पुनः स्नानं कुङ्कुमादिपानीयैरञ्जितैलचोषकमेदजन्याधिप्रमुखैर्गात्रार्चनं मया ज्ञातं वा अज्ञातं स्वभावेनैव एतत्सर्वं भोगाङ्गं नोपभुङ्क्ते नानुभवति । मम दुःखात्सर्वाण्यपि भोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

(पाईटीका)

स्नानं स्नात्यनेनेति स्नानम्-गन्धोदकादि, मया ज्ञातमज्ञातं वेत्यनेन सद्भावसारतामाह। पठ्यते च-"तारिसं रोगमावन्ने त्ति" तादृशमुक्तरूपं रोगमक्षिरोगादिकम, 'आवन्ने' प्राप्ते मयीति गम्यते । (से ति) भार्या बालेव बालाऽभिनवयौवना नोपभुङ्क्ते नासेवते ॥ २९ ॥

(खणं वि त्ति) पुनर्हे महाराज ! सा बाला मम पार्श्वान्निकट्यात् (न विफिट्टति) न अपयातीत्यर्थः । परं दुःखान्मां न मोचयति, एषा ममानाथता ज्ञेया ।

[पाईटीका]

[पासाओ वि ण फिट्टइ त्ति] अपिश्चशब्दार्थः, ततः पार्श्वाच्च नापयाति सदा सन्निहितैवाऽऽस्ते ॥ ३० ॥

अनेन तस्या अपि वत्सलत्वमाह–

तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो ।

वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणंतए ॥३१॥

ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेसु जातेषु अहमेवमवादिषम। एवमिति किम् ?, हु इति निश्चयेन या वेदना अनुभवितुं दुःक्षमा भोक्तुमसमर्थास्ता वेदनाः संसारे पुनः पुनर्भुक्ता इति शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सह्यते इति दुःक्षमा दुस्सहा, कीदृशे संसारे ?, अनन्तकेऽपारे ॥

[पाईटीका]

तत इति रोगप्रतिकार्यतान्तरमहमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण [आहंसु त्ति] उक्तवान्, यथा [दुक्खमा हु त्ति] हुरेवकारार्थः । ततो दुःक्षमैव दुःसहैव पुनःपुनर्वेदना उक्तरूपा रोगव्यथा अनुभवितुम, 'जे' इति निपातः पूरणे ॥ ३१ ॥

सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला उ मे ।

खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइए अणगारियं ॥३२॥

अहं किमवादिषम ?, तदाह–यदि सकृदप्येकवारमप्यहं वेद-

नाया विमुच्ये, तदाऽहं क्षान्तो भूत्वा, पुनर्दान्तो जितेन्द्रियो भूत्वा निरारम्भः सन् अनगारत्वं साधुत्वं,प्रव्रजामि दीक्षां गृह्णामीति भावः। कथम्भूताया वेदनायाः?, विपुलाया विस्तीर्णायाः॥

[पाईटीका]

यतश्चैवमतः [सईच त्ति] चशब्दोऽपिशब्दार्थः । ततः सकृदप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते। कुतः?, [वियण त्ति] वेदनाया [विउल त्ति] विपुलाया विस्तीर्णायाः । इत्यनुभूयमानायाः। ततः किमित्याह-क्षान्तः क्षमावान्, दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन [पव्वए अणगारियं ति] प्रव्रजेयं गृहाभिष्क्रामेयम। ततश्चाऽनगारितां भावभिक्षुतामङ्गीकुर्यामिति शेषः। यद्वा-प्रव्रजेयं प्रतिपद्येयानगारितं मं, येन संसारोच्छित्तितो मूलत एव न वेदनासंभवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं च चिंतइत्ताणं, पसुत्तोमि नराहिवा ! ।

परियट्टंति य राईए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥

एवं पूर्वोक्तं चिन्तनं चिन्तयित्वा हे नराधिप ! यावदहं सुप्तोऽस्मि तावत्तस्यामेव रात्रौ प्रवर्त्तमानायाम्-अतिक्रामन्त्यां, मे मम, वेदना क्षयं गता ; वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

(पाईटीका)

एवं च चिन्तयित्वा जल्पन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वा चैवं (पसुत्तोमि त्ति) प्रसुप्तोऽस्मि (परियट्टंति य त्ति) परिवर्त्तमानायामतिक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बंधवे ।

खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइओ अणगारियं ॥ ३४ ॥

(पाईटीका)

ततो वेदनोपशमनानन्तरं (कल्ल त्ति) कल्यो नीरोगः सन् प्रभाते प्रातः। यद्वा-[कल्लइ त्ति] चिन्ताऽऽदिनाऽपेक्षया द्वितीयदिने प्रकर्षेण व्रजितो गतः प्रव्रजितः, कोऽर्थः? प्रतिपन्नवाननगारितामिति। ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तरं (कल्ये इति) नीरोगे जाते सति प्रभातसमये बान्धवान् स्वज्ञातीनापृच्छ्याहमनगारित्वं साधुत्वं प्रव्रजितः, साधुधर्ममङ्गीकृतवान्। कीदृशोऽहम्?, क्षान्तः पुनर्दान्तः, पुनरहं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तओ हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।

सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाण थावराण य ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो दीक्षाग्रहणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्य नाथो योगक्षेमकरत्वेन स्वामी जातः। आत्मनो हि नाथः, शुद्धप्ररूपणत्वात्। अपरस्य च, हितचिन्तनात्। एवं निश्चयेन सर्वेषां भूतानाम्, त्रसानां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः॥ ३५ ॥ किमिति प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं नाथत्वं जातः, पुरा तु नेत्याह—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।

अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ ३६ ॥

(आत्मेति) व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यस्यात्मैव नान्यः कश्चिदित्याह--नदी सरित्। वैतरणीति नरकनद्या नाम। ततो महानर्थहेतुतया नरकनदी वा। अत एव आत्मैव कूटमिव जन्तुयातनाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्भवा । तथा आत्मैव कामानभिलाषान् दोग्धि प्रापकतया प्रपूरयति कामदुघा, धेनुरिव धेनुः इयं रूढित उक्ता। एतदुपमात्वमभिलषितस्वर्गापवर्गावाप्तिहेतुतया आत्मैव मे मम, नन्दनं नन्दननामकं वनमुद्यानम्। एतदौपम्यं चास्य चित्तप्रह्लत्तिहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेवं तथाऽऽह—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।

अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

आत्मैव कर्त्ता विधायको दुःखानां सुखानां चेति योगः प्रक्रमाच्च आत्मन एव विकर्त्ता च विक्षेपकश्चात्मैव तेषामेव । अतश्च आत्मैव मित्रमुपकारितया सुहृत्, (अमित्रं चेति) अमित्रश्चापकारितया दुर्हृत। कीदृक् ? (दुप्पट्ठियं सुप्पट्ठितो त्ति) दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति विषादिकल्पः, सुष्ठु प्रस्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकल्पः । तथा च प्रव्रज्याऽवस्थायामेव सुप्रस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगक्षेमकरणे समर्थत्वान्नाथत्वमिति सूत्रगर्भार्थः ॥ ३७ ॥

पुनरन्यथा नाथत्वमाह—

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !,

तमेकचित्तो निहुओ सुणेहि ।

नियंठधम्मं लभियाण वी जहा,

सीदंति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

(पाईटीका)

इयमनन्तरमेव वक्ष्यमाणा । हु पूरणे, अन्या परा, अपिः समुच्चये। अनाथताऽस्वामिता, यदभावतोऽहं नाथो जात इत्याशयः । निवृत्तिरूपतामित्यनाथतामेकचित्त एकाग्रमनाः, निभृतः स्थिरः, शृणु । का पुनरसावित्याह-निर्ग्रन्थानां धर्म आचारो निर्ग्रन्थधर्मस्तम् [लभियाण वि त्ति] लब्ध्वाऽपि। यथेत्युपदर्शने। सीदन्ति तदनुष्ठानं प्रति शिथिलीभवन्ति। एके केचन,ईषदपरिसमाप्ताः कातरा निःसत्त्वा बहुकातराः "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" ॥ पाणि०-५।३।६८ ॥ इत्यतः प्राग् बहुच्प्रत्यये हि सर्वथा निःसत्त्वाः, ते मूलत एव न निर्ग्रन्थमार्गं प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते। यदि वा कातरा एव बहवः संभवन्तीति, बहुशब्दो विशेषणम्। नराः पुरुषाः सीदनश्च नात्मानमन्यांश्च रक्षयितुं क्षमाः । इतीयं सीदनलक्षणा पराऽनाथतेति भावः ॥ ३८ ॥

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,

सम्मं च ना फासइ से पमाया ।

अणिग्गहप्पा य रसेसु गिध्दे,

न मूलओ छिंदइ बंधणं से ॥ ३९ ॥

हे राजन्! यो मनुष्यः प्रव्रज्य दीक्षां गृहीत्वा, महाव्रतानि प्रमादात् सम्यग्विधिना न स्पृशति न सेवते, [से इति] स प्रमादवशवर्ती बन्धनं कर्मबन्धनं रागद्वेषलक्षणं संसारकारणं मूलतो मूलाद् न छिनत्ति मूलतो नोत्पाटयति । सर्वथा रागद्वेषौ न निवारयतीत्यर्थः।

[पाईटीका]

नो स्पृशतीति नाऽऽसेवते प्रमादान्निद्रादेरनिग्रहोऽविद्यमानविषयनियन्त्रणे आत्मा यस्य सोऽनिग्रहात्मा । अत एव रसेषु मधुरादिषु गृद्धो गृद्धिमान्। बध्यतेऽनेन कर्मेति बन्धनम रागद्वेषात्मकं [से इति] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तया जस्स य नत्थि काई,

इरियाइ भासाइ तहेसणाए ।

आयाण-निक्खेव-दुगंछणाए,

न धीरजायं अणुजाइ मग्गं ॥ ४० ॥

हे राजन् ! स साधुर्धीरयातं मार्गं नानुयाति , धीरैर्महापुरुषैस्तीर्थकरैर्गणधरैश्च यातं प्राप्तम् , अर्थान्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति । स कः?, यस्य साधोरीर्यायां गमनागमनसमितौ, तथा भाषायां, तथा एषणायामाहारग्रहणसमितौ, पुनरादाननिक्षेपणसमितौ, वस्तूनां ग्रहणमोचनविधौ, तथा [दुगंछणाए इति] उच्चारप्रश्रवणश्लेष्मजलसिङ्घाणादीनां परिष्ठापनसमितावाऽऽयुक्तता काचिन्नास्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता,
अथिरव्वए तवनियमेहिँ भट्टे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,
न पारए होइ हु संपराए ॥ ४१ ॥

स पूर्वोक्तः पञ्चसमितिरहितो मुन्याभासश्चिरं मुण्डरुचिर्भूत्वाऽऽत्मानमपि चिरं क्लेशे पातयित्वा, हु इति निश्चयेन, संपराये संसारे पारगो न भवति । कीदृशः सः? अस्थिरव्रतोऽस्थिराणि व्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः। पुनः कीदृशः सः?, तपो नियमभ्रष्टः। यः कदापि तपो न करोति, तथा पुनर्नियममभिग्रहादिकं च न करोति, केवलं द्रव्यमुण्डो भवति, स संसारस्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स चैवंविधः—

पोल्लेव मुट्ठी जह से असारो,
अयंतिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डरुचिरसारो भवति। अन्तःकरणे धर्माभावात् रिक्तोऽकिञ्चित्करो भवति। स क इव ?। पोल्लो मुष्टिरिव। यथा-रिक्तो मुष्टिरसारो मध्ये सुषिर एव,तथा स मुण्डरुचिः कूटकार्षापण इवासत्यनाणकमिवायन्त्रितो भवति,न यन्त्रितोऽयन्त्रितोऽनादरणीयो निर्गुणत्वादुपेक्षणीयः स्यादित्यर्थः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन दृढयति-हु यस्मात्कारणात् राढामणिः काचमणिः [जाणएसु इति] ज्ञातृकेषु मणिपरीक्षकनरेषु वैडूर्यप्रकाशोऽमर्घको भवति बहुमूल्यो न भवति। वैडूर्यमणिवत् प्रकाशो यस्य स वैडूर्यमणिप्रकाशः , वैडूर्यमणिसदृकतेजाः । महान् अर्घो यस्य स महार्घः , महार्घ एव महार्घकः। न महार्घकोऽमहार्घकः । अबहुमूल्य इत्यर्थः । यथा—मणिज्ञेषु वैडूर्यमणिर्बहुमूल्यः स्यात् , तथा काचमणिर्बहुमूल्यो न स्यादेवं धर्महीनो मुनिः साधुगुणज्ञेषु यथा सद्धर्माचारयुक्तः साधुर्वन्दनीयः स्यात्तथा स मुण्डरुचिर्वन्दनीयो न स्यादिति भावः ॥

(पाईटीका)

"पोल्लमुट्ठी जह त्ति" पाठान्तरम् । इह "पोल्लर त्ति" सुषिरा, असारत्वं चोभयोरपि सदर्थशून्यतया ॥ ४२ ॥

कुसीललिंगं इह धारयित्ता,
इसिज्झयं जीविय वूहयित्ता ।
असंजये संजय लप्पमाणे,
विणिहायमागच्छइ से चिरं पि ॥ ४३ ॥

(से इति) स साध्वाचाररहितः,इह संसारे चिरं चिरकालं यावद्विघातमागच्छति पीडां प्राप्नोति । किंकृत्वा ?, कुशीललिङ्गं पार्श्वस्थादीनां चिह्नं धारयित्वा । पुनर्जीविकायै आजीविकार्थमृषिध्वजं रजोहरणमुखपोत्तिकादिकं बृंहयित्वा वृद्धिं प्रापय्य, विशेषेण निघातं विनिघातं विविधपीडाम् । स किं कुर्वाणः ?, असंयतः सन् अहं संयत इति लालप्यमानः— असाधुरपि साधुरहमिति ब्रुवाणः ॥ ४३ ॥

अत्रैव हेतुमाह—

विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एमेव धम्मो विसओववण्णो,
हणाइ वेयाल इवाविवण्णो ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा कालकूटो महाविषः पीतः सन् [हणाइ त्ति] हन्ति । पुनर्यथा कुगृहीतं विपरीतवृत्त्या गृहीतं शस्त्रं हन्ति। एवमेव अनेनैव दृष्टान्तेन विषयैरिन्द्रियसुखैरुपपन्नो विषयसुखाभिलाषयुक्तो धर्मोऽपि हन्ति। पुनः स विषयो धर्मोऽविपन्नवेताल इव हन्ति । मन्त्रादिभिरकीलितः। यथा स्फुरद्बलो मन्त्रयन्त्रैरनिवारितबलो वेतालो महापिशाचो मारयति, तथा विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[पाईटीका]

[वेयाल इवाविवन्नो त्ति] यस्य गम्यमानत्वाद्वेताल इवाऽविपन्नोऽप्राप्तविपत्, मन्त्रादिभिरनियन्त्रित इत्यर्थः। पठ्यते च-[वेयाल इवाविबंधणो त्ति] इह वा विबन्धनोऽविद्यमानमन्त्रादिनियन्त्रणः। उभयत्र साध्यकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ४५ ॥

यः साधुर्लक्षणं प्रयुञ्जानः सामुद्रोक्तं स्त्रीपुरुषशरीरचिह्नं शुभाशुभसूचकं प्रयुङ्क्ते, गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः साधुः सुविणं स्वप्नविद्यां प्रयुञ्जानो भवति-स्वप्नानां फलाफलं वक्ति । पुनर्यः साधुर्निमित्तकौतूहलसम्प्रगाढो भवति-निमित्तं च कौतूहलं च निमित्तकौतूहले तयोः सम्प्रगाढोऽत्यन्ताशक्तः स्यात् । तत्र निमित्तं भूकम्पोल्कापातकेतूदयादि। कौतूहलं कौतुकं पुत्रादिप्राप्त्यर्थं स्नानभेषजौषधादिप्रकाशनम् । उभयत्र संरक्तो भवति। पुनर्यः साधुः कुहेटविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी भवति-कुहेटका विद्याः कुहेटकविद्याः । अलीकाऽऽश्चर्यविधायिमन्त्रतन्त्रयन्त्रज्ञानात्मिकास्ता एवाश्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं शीलं यस्य स कुहेटकविद्याऽऽश्रवद्वारजीवी, एतादृशो यो भवति । हे राजन् ! परं तस्मिन् काले लक्षणस्वप्ननिमित्तकौतूहलकुहेटकविद्याश्रवद्वारोपार्जितपातकफलोपभोगकाले स साधुः शरणं न गच्छति,न प्राप्नोति । तं साधुं कोऽपि दुःखान्नरकतिर्यग्योन्यादौ न त्रायत इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह—

तमंतमेणेव उ से असीले,
सया दुही विप्परियासमुवेइ ।
संधावइ नरगं तिरिक्खजोणी,

मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥

न पुनः स द्रव्यमुण्डः साधुरूपो मौनं विराध्य साधुधर्मं दूषयित्वा, नरकतिर्यग्योनिं संधावति सततं गच्छति। पुनः अशीलः कुशीलो विपर्यासमुपैति–तत्त्वेषु वैपरीत्यं प्राप्नोति, मिथ्यात्वमूढो भवतीति भावः। कीदृशः सः?, तमस्तमसैव सदा दुःखी अतिशयेन तमस्तमस्तमः, तेन तमस्तमसैव अज्ञानमहान्धकारेणैव संयमविराधनाजनितदुःखसहितः ॥ ४६ ॥

कथं पुनर्मौनं विराध्य कथं वा नरकतिर्यग्गती सन्धावतीत्याह–

उद्देसियं कीयगडं नियागं,
न मुच्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता,
इओ चुओ गच्छइ कट्टुपावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यः साधुपाशः उद्देशिकं दर्शनिनं उद्दिश्य कृतं उद्देशिकमाहारम्। पुनः साधुनिमित्तं क्रीतं मौल्येन गृहीतम्। पुनराहृतं साधुसंमुखमानीतं साधुस्थान एव गृहस्थेन आनीतं तदाहृतम्। पुनर्यदाहारं नित्यकं नित्यपिण्डं गृहस्थगृहे नियतपिण्डमतादृशं सदोषमाहारमनेषणीयं साधुना अग्राह्यं न मुञ्चति। जिह्वालम्पटत्वेन किमपि न त्यजति, सर्वमेव गृह्णाति। सोऽग्निरिव सर्वभक्षीभूय हरितशुष्कप्रज्वालको वैश्वानर इव भूत्वा प्रासुकाहारं भुक्त्वा इतश्च्युतो मनुष्यभवाच्च्युतः कुगतिं व्रजति। किं कृत्वा?, पापं कृत्वा संयमविराधां विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिय दुरप्पया ।
से नाहई मच्चुमुहं ति पत्ते,
पच्छाऽणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४८ ॥

(पाईटीका)

यतश्चैवं सुदुश्चरितैरेव दुर्गतिप्राप्तिः, अतोऽनेनैव (तमिति) प्रस्तावादनर्थकरणछेत्ता प्राणहर्त्ता (से) तस्य (दुरप्पयेति) प्राकृतत्वाद् दुरात्मतां दुष्टाचारप्रवृत्तिरूपां नचैनामाचरन्नपि जन्तुरत्यन्तमूढतया वेत्ति। तत्किमुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह–स दुरात्मा कर्त्ता ज्ञास्यति। प्रक्रमाद् दुरात्मतां मृत्युमुखं तु मरणसमयम्, पुनः प्राप्तः पश्चादनुतापेन हा दुष्टं मयाऽनुष्ठितमिति, एवंरूपेण दया संयमसत्याद्युपलक्षणमहिंसा वा तद्विहीनः सन्। मरणसमये हि प्रायोऽतिमन्दधर्मस्यापि धर्माभिप्रायोत्पत्तिरेवमभिधानम्। यतश्चैवं महानर्थहेतुः पश्चात्तापहेतुश्च दुरात्मता तदादित एव मूढतामपहाय परिहर्तव्येयमिति भावः॥४८॥

यस्तु मृत्युमुखं प्राप्तोऽपि न तं वेत्स्यतीति
तस्य का वार्त्तेत्याह–

निरट्ठिया निप्परुई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठे विवज्जासमेइ ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए,
दुहओ वि से झिज्झइ तत्थ लोगे ॥ ४९ ॥

(पाईटीका)

निरर्थिका तुशब्दस्यैवकारार्थस्येह सम्बन्धान्निरर्थकैव निष्फलैव। नाग्न्ये श्रामण्ये रुचिरिच्छा नाग्न्यरुचिस्तस्य [जे उत्तमट्ठं ति] सुब्व्यत्ययादपेक्षं गम्यमानत्वादुत्तमार्थेऽपि पर्यन्तसमयाराधनारूपे आस्तां पूर्वमित्यपिशब्दार्थः। विपर्यासं दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपमेति गच्छति, इतरस्य तु कथञ्चित्स्यादपि किञ्चित्फलमिति भावः। किमेवमुच्यते?, यतः [इमे वि त्ति] अयमपि प्रत्यक्षो लोक इति सम्बन्धः। [से इति] तस्य नास्ति न विद्यते। न केवलमयमेव परोऽपि लोको जन्मान्तरलक्षणः। तत्रेह लोकाऽभावः शरीरक्लेशहेतुलोचनादिसेवनात्, परलोकाभावश्च कुगतिगमनतः शारीरमानसदुःखसम्भवात्। तथाच [दुहओ वि त्ति] द्विधाऽप्यैहिकपारत्रिकार्थे भावेन [झिज्झइ त्ति] स ऐहिकपारत्रिकार्थसंपत्तिमतो जनानवलोक्य धिग्मामपुण्यभाजनमुभयभ्रष्टमेति चिन्तया क्षीयते। तत्रेत्युभयलोकाभावे सति लोके जगति ॥ ४९ ॥

यदुक्तं स ज्ञास्यति पश्चादनुतापेनेति तत्र यथाऽसौ परितप्यते तथा दर्शयन्नुपसंहारमाह–

एमेव हा छंदकुसीलरूवे,
मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररीविवा भोगरसाणुगिद्धा,
निरट्ठसोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

(पाईटीका)

एवमेवोक्तरूपेणैव महाव्रतस्पर्शादिना प्रकारेण यथाछन्दाः स्वरुचिविरचिताचाराः कुशीलाः कुत्सितशीलास्तद्रूपास्तत्स्वभावाः, कुररीव पक्षिणीव [निरट्ठसोय त्ति] निरर्थो निष्प्रयोजनः शोको यस्याः सा निरर्थशोका, परितापं पश्चात्तापरूपम्, एति गच्छति। यथा चैषाऽऽमिषगृद्धा पक्षान्तरेभ्यो विपत्प्राप्तौ शोचनेन च ततः कश्चिद्विपत्प्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसगृद्ध ऐहिकामुष्मिकानर्थप्राप्तौ ततोऽस्य स्वपरपरित्राणासमर्थत्वेऽनाथत्वमिति भावः ॥ ५० ॥

एतच्छ्रुत्वा यत्कृत्यं तदुपदेष्टुमाह—

सोच्चाण मेहावि ! सुभासियं इमं,
अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं,
महानियंठाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधाविन्! हे पण्डित! हे राजन्! इदं सुभाषितं सुष्ठु भाषितं सुभाषितम्, अनुशासनम्-उपदेशवचनं, श्रुत्वा सर्वं कुशीलानां मार्गम्। [जहाय इति] त्यक्त्वा महानिर्ग्रन्थानां महासाधूनां, पथि मार्गे, चरेत् व्रजेत्। कीदृशमनुशासनम्?, ज्ञानगुणोपपेतं ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैरुपपेतं ज्ञानगुणोपपेतम् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह—

चरित्तमायारगुणन्निए तओ,
अणुत्तरं संजमपालियाणं ।
निरासवे संखवियाण कम्मं,
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणान्महानिर्ग्रन्थमार्गगमान्निराश्रवो मुनिर्महाव्रतपालकः साधुर्विपुलमनन्तसिद्धानामवस्थानादसंकीर्णमुत्तमं सर्वोत्कृष्टं पुनर्ध्रुवं निश्चलं शाश्वतमेतादृशं मोक्षस्थानमुपैति प्राप्नोति। कीदृशः साधुः?, चारित्राचारगुणान्वितः चारित्रस्याचारश्चारित्राचारश्चारित्रसेवनं, गुणा ज्ञानशीलादयः, चारित्राचारश्च गुणाश्च चारित्राचारगुणास्तैरन्वितश्चारित्राचारगुणान्वितः। अत्र

मकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा साधुर्मोक्षं प्राप्नोति ?; अनुत्तरं प्रधानं भगवदाज्ञायुक्तं संयमं सप्तदशविधं पालयित्वा । पुनः किं कृत्वा ?, कर्माण्यष्टावपि संक्षेप्य क्षयं नीत्वैतावता चारित्राचारज्ञानादिगुणयुक्तः, अत एव निरुद्धाश्रवः प्रधानसंयमं प्रपाल्य, सर्वकर्माणि संक्षयं नीत्वा मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अथोपसंहारमाह–

एवुग्गदंते वि महातवोहणे,
महामुणी महापइण्णे महायसे ।
महानियंठिज्जमिणं महासुयं,
से कहिए महया वित्थरेणं ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण, श्रेणिकेन राज्ञा, पृष्टः सन् स महामुनिर्महासाधुः, महता विस्तरेण बृहता व्याख्यानेन, महानिर्ग्रन्थीयं महाश्रुतमकथयत, महान्तश्च ते निर्ग्रन्थाश्च महानिर्ग्रन्थास्तेभ्यो हितं महानिर्ग्रन्थीयं, महामुनीनां हितमित्यर्थः । कीदृशः सः ?, उग्रः कर्मशत्रुहनने बलिष्ठः । पुनः कीदृशः सः ?, दान्तो जितेन्द्रियः। पुनः कीदृशः ?, महातपोधनः महच्च तत्तपश्च महातपः महातपो धनं यस्य स महातपोधनः। पुनः कीदृशः?, महाप्रतिज्ञः व्रते दृढप्रतिज्ञाधारकः । पुनः कीदृशः ?, महायशाः महाकीर्त्तिः ॥ ५३ ॥

ततश्च–

तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहा भूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

श्रेणिको राजा तुष्टः। हु इति निश्चयेन। इदम, 'उदाहु' इदमवादीत् । कीदृशः श्रेणिकः?, कृताञ्जलिः बद्धाञ्जलिः। इदमिति किम्?, हे मुने ! यथाभूतं यथावस्थितमनाथत्वं, मे मम, सुष्ठूपदर्शितं सम्यग्दर्शितम, त्वयेति शेषः ॥ ५४ ॥

किं श्रेणिक आह–

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं,
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुम्हे सणाहा य सबंधवा य,
जं भे ठिया मग्गजिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! खु इति निश्चयेन सुलब्धं सफलं त्वदीयं मानुषं जन्म । हे महर्षे ! तवैव लाभाः रूपवर्णविद्यादीनां लाभाः सुलब्धाः रूपलावण्यादिप्राप्तयः सुप्राप्तयः । हे महर्षे ! यूयमेव सनाथा आत्मनो नाथत्वात् नाथसहिताः च पुनर्यूयमेव सबान्धवा ज्ञातिकुटुम्बसहिताः । यद् यस्मात्कारणात् (भे इति) भवन्तः जिनोत्तमानां तीर्थंकराणां मार्गे स्थिताः ॥ ५५ ॥

तं सि णाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया ! ।
खामेमि ते महाभागा !, इच्छामि अणुसासिउं ॥ ५६ ॥

हे संयत! त्वम, अनाथानां सर्वभूतानां त्रसानां स्थावराणां च जीवानां नाथोऽसि। हे महाभाग! हे महाभाग्ययुक्त! (ते इति) त्वामहं क्षमामि, मया पूर्वं यस्तवापराधः कृतः स क्षन्तव्य इत्यर्थः । अथ भवतोऽनुशासयितुं त्वत्तः शिक्षयितुमात्मानमिच्छामि । मदीय आत्मा तवाज्ञाऽनुवर्ती भवत्वितीच्छामीत्यर्थः ।

(पाईटीका)

(तं सीति) पूर्वार्द्धेन रूपबृंहणा कृता , उत्तरार्द्धेन तु क्षमणोपसंपन्नता दर्शिता । इह (तुब्भे त्ति) त्वम (अणुसासयं ति) अनुशासयितुं शिक्षयितुमात्मानं भवतेति गम्यते ॥ ५६ ॥

पुनः क्षमणामेव विशेषत आह–

पुच्छिऊणं मए तुज्झं, झाणविग्घो य जो कओ ।
निमंतियो य भोएहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥ ५७ ॥

हे महर्षिन् ! मया तुभ्यं पृष्ट्वा प्रश्नं कृत्वा यस्तव ध्यानविघ्नः कृतः च पुनर्भोगैः कृत्वा निमन्त्रितः–भोः स्वामिन् ! भोगान् भुङ्क्ष्वेत्यादिप्रार्थना तव कृता तं सर्वं मे ममापराधं क्षन्तुमर्हसि, सर्वं ममापराधं क्षमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाध्ययनार्थोपसंहारमाह—

एवं थुणित्ताणं स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
सावरोहो सपरियणो सबंधवो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥ ५८ ॥

राजसिंहः श्रेणिको राजा । एवममुना प्रकारेण, तमनगारसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, विमलेन निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽभूदिति शेषः। कीदृशः श्रेणिकः?, सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः। पुनः कीदृशः?, सपरिजनः सहपरिजनैर्वर्तते इति सपरिजनो भृत्यादिवर्गसहितः । पुनः कीदृशः?, सबान्धवः सह बान्धवैर्भ्रातृप्रमुखैर्वर्तत इति सबान्धवः । पुराऽपि वनवाटिकायां सर्वान्तःपुरपरिजनबान्धवकुटुम्बसहित एव क्रीडां कर्तुमागात् , ततः मुनेर्वाक्यश्रवणात्सर्वपरिकरयुक्तो धर्मानुरक्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

उस्ससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं ।
अभिवंदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिओ ॥ ५९ ॥

नराधिपः श्रेणिकोऽतियातो गृहं गतः। किं कृत्वा ?, शिरसा मस्तकेन, अभिवन्द्य मुनिं नमस्कृत्य । पुनः किं कृत्वा ?, प्रदक्षिणां कृत्वा प्रदक्षिणां दत्त्वा । कथम्भूतो नराधिपः ?, (उस्ससियरोमकूवो त्ति) उच्छ्वसितरोमकूपः साधोर्दर्शनाद्वाक्यश्रवणादुच्छ्वसितरोमकूपः ॥

(पाईटीका)

उच्छ्वसिता इवोच्छ्वसिता उद्भिन्ना रोमकूपा रोमरन्ध्राणि यस्य स उच्छ्वसितरोमकूपः। (अइयाओ त्ति) अतियातो गतः स्वस्थानमिति गम्यते ॥ ६० ॥

इयरो वि गुणसमिद्धो,
तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य ।
विहंग इव विप्पमुक्को,
विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥ ६० ॥ त्ति बेमि ॥

अथेतरोऽपि श्रेणिकापेक्षयाऽपरोऽपि मुनिरपि वसुधां पृथिवीं विहरति विहारं करोति । कीदृशः सन्?, विमोहः सन् मोहरहितः सन्–अर्थात् केवली सन्, कीदृशो मुनिः,? गुणसमृद्धः सप्तविंशतिसाधुगुणसहितः। पुनः कीदृशः?, त्रिगुप्तिगुप्तः गुप्तित्रयसहितः। पुनः कीदृशः?, त्रिदण्डविरतः त्रिदण्डेभ्यो मनोवाक्कायानामशुभव्यापारेभ्यो विरतः । पुनः कीदृशः ?, विहङ्ग इव विप्रमुक्तः पक्षीव क्वचिदपि प्रतिबन्धरहितो निष्परिग्रह इत्यर्थः । इति सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामिनं प्रति वदति, अहमिति ब्रवीमीति ॥ ६० ॥ उत्त० २० अ० ।

अणाहपव्वज्जा–अनाथप्रव्रज्या–स्त्री०। विंशतितमे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० । तच्च महानिर्ग्रन्थीयमिति नाम्ना प्रसिद्धम् । उत्त० २० अ० ।

अणाहरण–अनाधरण–न० । आध्रियतेऽनेनेत्याधरणमाधारः। तन्निषेधोऽनाधरणम् । आधर्तुमक्षमे , भ० १८ श० ३ उ० ।

अणाहसाला–अनाथशाला–स्त्री० । आरोग्यशालायाम् , व्य० ४ उ० ।

अणाहार–अनाहार–पुं० । न० त० । आहारविपरीतेऽभ्यवहार्ये, तल्लक्षणं चाऽऽहारभिन्नस्वमित्याहारानाहारयोः स्वरूपमत्रैव प्रदर्श्यते–

परिवासिअआहार–स्स मग्गणा को भवे अणाहारो ?।
एगंगिओ चउविहो, जं वा अणमइज्जाइ तहिं ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गणा विचारणा कर्त्तव्या । तत्र शिष्यः प्राह–वयं तावत् एतदेव न जानीमः को नाम आहारः को वा अनाहारः? इति। सूरिराह–एकाङ्गिकः शुद्ध एव यः क्षुधां शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अनशनादिकश्चतुर्विधः। यद्वा–तत्राहारेऽन्यद् लवणादिकमतियाति प्रविशति, तदप्याहारो मन्तव्यः ।

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे–

कूरो नासेइ छुहं, एगंगि तक्कउदगमज्जाइ ।
खाइम फलसंसाइ, साइम महुफाणियाईणि ॥

अशने कूर एकाङ्गिकः शुद्ध एव क्षुधं नाशयति। पाने तक्रोदमन्थादिकमेकाङ्गिकमपि तृषं नाशयति, आहारकार्यं च करोति, खादिमे फलमांसादिकं,स्वादिमे मधुफाणितादीनि केवलान्यप्याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

'जं वा अईइ तहिं ति' [मूलसूत्रस्थं]पदं व्याख्यानयति–

जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई ।
तं पि होइ आहारो, आहारजुयं व विज्जुतवा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिकं क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारे उपयुज्यते तदप्याहारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽऽहारो भवति, तच्च लवणादिकम् । तत्राशने लवणहिङ्गुजीरकादिकमुपयुज्यते ।

उदए कप्पूराई, फलसुत्ताईणि सिंगबेर गुले।
न य ताणि खविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते , आम्रादिफलेषु सूक्तादीनि द्रव्याणि, शृङ्गबेरं च शुण्ठ्यां गुरु उपयुज्यते । न चैतानि कर्पूरादीनि क्षुधां क्षपयन्ति , परमुपकारित्वादाहार उच्यते , शेषः सर्वोऽप्यनाहारः ।

अहवा जं भुक्खत्तो, कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्ठे ।
सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो भइतो ॥

अथवा बुभुक्षया आर्त्तोय कर्दमोपमया मृदादिकं कोष्ठे प्रक्षिपति । कर्दमोपमानामपि कर्दमपिण्डानां कुर्यात् कुक्षिं निरन्तरं स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिकं पुनर्भक्तं विकल्पितं किञ्चिदाहारः किञ्चिदनाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषधमाहारः, सर्पदष्टादेर्मृत्तिकादि औषधमनाहारः ।

जं वा भुक्खत्तस्स उ, संकममाणस्स देइ अस्सादं ।
सव्वो सो आहारो, अकामऽणिट्ठं चऽणाहारो ॥

यद्वा–द्रव्यमुभुक्षाऽऽर्तस्य संक्रमतो ग्रसमानस्य कवलप्रक्षेपं कुर्वत इत्यर्थः; आस्वादं रसनाह्लादकं स्वादं प्रयच्छति स सर्व आहारः । यत्पुनरकाममभ्यवहरामीत्येवमनभिलषणीयम् , अनिष्टं च जिह्वाया अरुच्या, ईदृशं सर्वमनाहारो भण्यते ।

तच्चानाहारिममिदम्–

अणहार मोय छल्ली, मूलं च फलं च होति ऽणाहारो ।
सेस तयभूइतोयं, बिंदुम्मि व चउगुरू आणा ॥

मोकं कायिकी,छल्ली निम्बादित्वक्, मूलं च पञ्चमूलादिकं, फलं चाऽऽमलकहरीतकबिभीतकादिकमेतत्सर्वमनाहारो भवतीति चूर्णिः । निशीथचूर्णौ तु या निम्बादीनां छल्ली त्वक् तच्च,तेषामेव निम्बोलिकादिकं फलं, यच्च तेषां मूलम् , एवमादिकं सर्वमप्यनाहार इति व्याख्यातम् । बृ० ५ उ० । नि० चू० ।

चउहारे रयणीए, कप्पिज्जइ जाणि ताणि वत्थूणि ।
समभागकया तिहला, भूनिंबोसीरचंदणयं ॥ ५६ ॥
गोमुत्तं कडु रोहिणि, वग्घी अभया य रोहिणी तुग्गा ।
मुग्गव्व वया करीरय, लिंबं पंचगभासगणो ॥ ५७ ॥
नह आसगंधि बंभी, चीड हलिद्दा य कुंदरू कुट्ठा ।
चिसनाई य धमासो, बोलयबीया अरिट्ठा य ॥ ५८ ॥
मिरूलमँ जिडकंके–ल्लिकुमारिकं थेर बेर कुट्ठा य ।
कप्पास बीय पत्तय, अगुरुतुरुक्का य तंतुवडा ॥ ५९ ॥
धवखयरपलासाई, कंडकरुक्खाण छल्लिया साणा ।
जं कडुयरसपरिगयं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥
इच्छाइ जं अणिट्ठं, पंकुवमं तं भवे अणाहारं ।
जं इच्छाए भुंजइ, तं सव्वं हवइ आहारं ॥ ६१ ॥ " ल० प्र० ।

यथा पञ्चाङ्गनिम्बगुडूचीकम्‌'किरिआतुं ' 'अतिविसचोकि'– 'सुकडि'–रक्षा–हरिद्रा– रोहिणी 'कपज्ञोढ' वज–त्रिफला– वाउत्रछल्लीत्यन्ये धमासो–नाहि–आसंधि–रिंगणी–एलीओ–गुग्गुल–हरडां–बहु–बउणि–बदरी–कंथेरि–करीर–मूलं–पूँवाड़–मंजीठ बोलबिओ–कुंआरि– चित्रक–कुन्दरुप्रभृतयोऽनिष्टास्वादानि रोगाद्यापदि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्प्यानीति। ध० २ अधि०। त्रिफलाद्यनाहारवस्तुद्रव्यमध्ये गण्यते, न वा ?। तत्रैवं प्रतिजानीत–यदनाहारवस्तु प्रायो द्रव्यमध्ये गण्यते, यदि च प्रत्याख्यानावसरे तद्गणनमेव विवक्षितम्, तदा न गण्यतेऽपि। यथा सचित्तविकृत्योर्द्रव्यमध्ये ग्रन्थेऽगणनेऽभिहितेऽपि संप्रति बहवो जनाः प्रायस्तयोर्द्रव्यमध्ये गणनां कुर्वाणा उपलभ्यन्ते इति । ही० ३ प्रका० । न विद्यते आहारो यस्येत्यनाहारः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । अविद्यमानाहारे, दशा० १ अ० ।

अ्रणाधार–पुं० । ऋणधारके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणाहारग–अनाहारक–पुं० । न० त० । आहारमकुर्वति विग्रहगत्यापन्ने समुद्घातगतकेवलिनि, अयोगिसिद्धे च । भ० ६ श० ३ उ० । " णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–आहारगा चेव अणाहारगा चेव; एवं जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा० १ उ० । भ० ।

अनाहारकाश्चत्वारः—

विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥

विग्रहगतिर्भवाद् भवान्तरे विश्रेण्या गमनम्, तामापन्नाः सर्वेऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुद्धताः कृतसमुद्घाताः, तथाऽ–

योगिनः शैलेश्यवस्थां प्राप्ताः, तथा सिद्धाः क्षीणकर्माष्टकाः । सर्वेऽप्येतेऽनाहाराः, एतद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परभवे गच्छतां जन्तूनां गतिर्द्वेधा-ऋजुगतिः, विग्रहगतिश्च । तत्र यदा जीवस्य मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां प्राञ्जलमेव भवति तदा ऋजुगतिः। सा चैकसमया समश्रेणिव्यवस्थितत्वेनोत्पत्तिदेशस्याद्यसमय एव प्राप्तो नियमादाहारकश्चास्या हेयग्राह्यशरीरमोक्षग्रहणान्तरालाभावेनाहाराद्यवच्छेदात् । यदा तु मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं वक्रं भवति तदा विग्रहगतिः, वक्रश्रेण्यामन्तरारम्भरूपेण विग्रहेणोपलक्षिता गतिर्विग्रहगतिरिति कृत्वा तत्र विग्रहगत्यापन्ना उत्कर्षतस्त्रीन् समयान् यावदनाहारकाः। तथाह्यस्यां वक्रगतौ स्थितो जन्तुरेकेन द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा वक्रैरुत्पत्तिदेशमायाति, तत्रैकवक्रायां द्वौ समयौ तयोश्च नियमादाहारकः। तथाह्याद्यसमये पूर्वशरीरमोक्षस्तस्मिन् समये तच्छरीरयोग्याः केचित् पुद्गलाः जीववीर्ययोगाल्लोमाहाराः तत्सम्बन्धमायान्ति। औदारिकवैक्रियाहारकपुद्गलादीनां चाहारः, तत आद्यसमये आहारकः, द्वितीये च समये उत्पत्तिदेशे तद्भवयोग्यशरीरपुद्गलादानादाहारकः, द्विवक्रायां गतौ त्रयः समयाः । तत्राद्येऽन्त्ये च प्राग्वदाहारको मध्यमे त्वनाहारकः। त्रिवक्रायां चत्वारः समयाः, ते चैवं त्रसनाड्या बहिरधस्तनभागादूर्ध्वमुपरितनभागादधो वा आयमानो जन्तुर्विदिशो दिशि दिशो वा विदिशि यदोत्पद्यते तदैकेन समयेन विदिशो दिशि याति,द्वितीयेन त्रसनाडीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते। दिशो विदिशि उत्पादे त्रसनाडीं प्रविशति, तृतीयेनोपर्यधो वा याति, चतुर्थेन बहिरुत्पद्यते; दिशो विदिशि उत्पादे त्वाद्ये समये त्रसनाडीं प्रविशति, द्वितीये उपर्यधो वा याति, तृतीये बहिर्गच्छति, चतुर्थे विदिशि उत्पद्यते। अत्राद्यन्तयोः प्राग्वदाहारको मध्यमयोस्त्वनाहारकः। चतुर्वक्रायां पञ्च समयाः, ते च त्रसनाड्या बहिः, एवं विदिशो दिश्युत्पादे प्रागवद्भावनीयः । अत्राप्याद्यन्तयोराहारकस्त्रिषु त्वनाहारकः। प्रव० २३३ द्वा० । चतुःसमयोत्पत्तिश्चैवं भवति-त्रसनाड्या बहिरुपरिष्टादधोऽधस्ताद्वा पर्युत्पद्यमानो दिशो विदिशि विदिशो वा दिशि यदुत्पद्यते तदा लभ्यते। तत्रैकेन समयेन त्रसनाडीप्रवेशः, द्वितीयेनोपर्यधो वा गमनम्,तृतीयेन च बहिर्निःसरणम्,चतुर्थेन तु विदिगुत्पत्तिदेशप्राप्तिरिति । पञ्च समयास्त्रसनाड्या बहिरेव विदिशो विदिगुत्पत्तौ लभ्यन्ते। तत्र च मध्यवर्तिषु अनाहारक इत्यवगन्तव्यम् । आद्यन्तसमययोस्त्वाहारक इति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। तथा केवलिनः समुद्घातेऽष्टसामयिके तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपान् केवलकार्मणयोगयुतांस्त्रीन्समयान् अयोगिनः शैलेश्यवस्थायां ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणमात्रम् । सिद्धास्तु सादिमपर्यवसितं कालमनाहारका इति । प्रव० २३३ द्वा० । केवलिसमुद्घातेऽपि कार्मणशरीरवर्तित्वात् तृतीयचतुःपञ्चसमयेष्वनाहारको द्रष्टव्यः । शेषेषु त्वौदारिकादितन्मिश्रशरीरवर्तित्वात् आहारक इति । (मुहुत्तमद्धं च त्ति) अन्तर्मुहूर्तं गृह्यते । तच्च केवलीक्यायुषः क्षये सर्वयोगनिरोधे सति ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालं यावदनाहारक इत्येवमवगन्तव्यम् । सिद्धजीवास्तु शैलेश्यवस्थाया आदिसमयादारभ्यानन्तमपि कालमनाहारका इति ।

साम्प्रतमेतदेव स्वामिविशेषविशेषिततरमाह-

एक्कं च दो व समए, केवलिपरिवज्जिया अणाहारा ।
पंचम्मि दोन्नि लोए, य पूरिए तिन्नि समयाओ ॥ ७ ॥

केवलिपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एको द्वौ वा अनाहारका भवन्ति । ते च द्विविग्रहत्रिविग्रहोत्पत्तौ त्रिचतुःसामयिकायां द्रष्टव्याः । चतुर्विग्रहपञ्चसमयोत्पत्तिस्तु स्वल्पसत्त्वाश्रितेति न साक्षादुपात्ता । तथाऽन्यत्राप्यभिहितम्-एको द्वौ वाऽनाहारकः । वाशब्दात्त्रीन् वा आनुपूर्व्या अभ्युदय उत्कृष्टतो विग्रहगतौ चत्वारः समया नाऽऽगमेऽभिहिताः। ते च पञ्च समयोत्पत्तौ लभ्यन्ते,नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्घातमप्येतत्करणोपसंहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयौ द्वौ लोकपूरणचतुर्थसमयेन सहितास्त्रयः समया भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं कालमनाहारकं दर्शयितुमाह—

अंतो मुहुत्तमद्धं, सेलेसीए भवे अणाहारा ।
सादीयमनिहणं पुण, सिद्धायणाहारगा होंति ॥८॥

शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथाऽनाहारकः सिद्धावस्थाऽप्राप्तावनन्तमपि कालं यावदिति पूर्वं तु कावलिकाख्यव्यतिरेकेण प्रतिसमयमाहारकः । कावलिकेन तु कदाचित्क इति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । नि० । आ० । कर्म० । [कं समयमनाहारकः " जीवे णं भंते ! कं समयमणाहारए भवइ त्ति " 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०० पृष्ठे वक्ष्यते]

अणाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० चू० ११ उ० ।

अणाहारिय-अनाहृत-त्रि० । अतीताहरणक्रिययाऽपरिणामिते, भ० १ श० १ उ० ।

अणाहिट्ठ-अनाधृष्ट-पुं० । वसुदेवस्य धारण्यां जाते पुत्रे, तद्वक्तव्यता गजसुकुमारस्येवेत्यन्तकृद्दशानां तृतीये वर्गे त्रयोदशाध्ययने सूचिता । अन्त० ३ वर्ग० ।

अणिइय-अनितिक-पुं० । इतिशब्दो नियतरूपोपदर्शनपरः, तच्च न विद्यते इतिर्यत्रासावनितिकः । अविद्यमाननियतस्वरूपे, ईश्वरादेरपि दारिद्र्यादिभावात् संसारे, भ० ९ श० ३३ उ० ।

अणिइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । ईतिविरहितच्छदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिउं (उँ) तय-अतिमुक्तक-न० । मुचो-भावे-क्त । अतिशयेन मुक्तं बन्धनं यस्य । प्राकृते ' गर्भितातिमुक्तके णः ' ८ । १ । २०८ । इति तस्य णः। प्रा०। 'यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च'॥ १ । १ । १७८ ॥ इति मस्य लुक्, तत्स्थाने चाऽनुनासिकः । प्रा० । ' वक्रादावन्तः ' ॥ ८ । १ । २६ ॥ इति तृतीयस्याऽनुस्वारः । प्रा० । तस्य णत्वेऽकृते-'अइमुंतयं अइमुत्तयं' इति रूपद्वयम् । तिन्दुकवृक्षे तालवृक्षे च । प्रज्ञा० १ पद ।

अणिउण-अनिपुण-त्रि० । न निपुणोऽनिपुणः । अकुशले, आव० ४ अ० । नि० चू० । दर्श० ।

अणिएअचारि (ण्)-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्याऽसावनियतचारी । अप्रतिबद्धविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " स भूइपन्ने अणिए अचारी, ओहंतरे धीर अणंतचक्खू " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । " अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणिएअवास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिनाऽनिकेतवासे अगृहे उद्यानादौ वासे, " अणिएयवाससमुयाण चरि-

या, अणणाय वच्चं पइ तिरिकया य " दश० २ चू० ।
अणिओग–अनियोग–पुं० । नियोगादन्योऽनियोगः । विपर्य्ययान्नियोगे, पं० सू० ४ सू० ।
अणिंगाल–अनङ्गार–त्रि० । रागपरिहारेणाङ्गारदोषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।
अणिंद–अनिन्द्र–त्रि० । नास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्द्रः । इन्द्रविरहिते प्रजास्वामिके, ज० ३ श० १ उ० ।
अनिन्द्य–त्रि० । अजुगुप्सिते, सामायिके च । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।
अणिंदणिज्ज–अनिन्दनीय–त्रि० । गीतार्थादिजनादूष्ये , जी० १ प्रति० ।
अणिंदिय–अनिन्दित–त्रि० । शुभानुबन्धितयाऽगर्हणीये, ध० १ अधि० । सप्तमकिन्नरेषु, प्रज्ञा० १ पद ।
अनिन्द्रिय–पुं० । सिद्धे , अपर्याप्तके , उपयोगतः केवलिनि, स्था० १० ठा० । " णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सिइंदिया चेव, अणिंदिया चेव जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा०२उ० ।
अणिंदिया–अनिन्दिता–स्त्री० । पश्चिमरुचकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम, स्था० ८ ठा० । आ० चू० । आ०म० प्र० । ति० ।
अणिक्खित्त–अनिक्षिप्त–न० । अविश्रान्ते, औ० । भ० ।
अणिकंप–अनिष्कम्प–त्रि० । अनिश्चले, आचा०२श्रु०२अ०३उ० ।
अणिकाम–अनिकाम–न० । परिमिते, बृ० १ उ० ।
अणिकाय–अनिकाय–पुं० । लघुमृषावादे, नि० चू० १ उ० । (' मुसावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः) ।
अणिकेय–अनिकेत–पुं० । न विद्यते निकेतो गृहं यस्य । उत्त० २ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र बद्धास्पदे, उत्त० १ अ० ।
अणिकट्ठ–अनिष्कृष्ट–त्रि० । न० त० । द्रव्यतोऽकृशशरीरे, भावतोऽवशीकृतकषाये, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।
अणिकावाइ (ण्)–अनेकवादिन्–पुं० । सत्यपि कथञ्चिदेकत्वे भावानां सर्वथाऽनेकत्वं वदतीत्यनेकवादी । परस्परविलक्षणा एव भावाः, तथैव प्रतीयमानत्वात् । यथा रूपं रूपतयेति । अभेदे तु भावानां जीवाजीवबद्धमुक्तसुखितदुःखितादीनामेकत्वप्रसङ्गात् दीक्षादिवैयर्थ्यमिति । किञ्च-सामान्यमङ्गीकृत्यैकत्वं विवक्षितं परैः । सामान्यं च भेदेभ्यो भिन्नाभिन्नतया चिन्त्यमानं न युज्यते । एवमवयवेभ्योऽवयवी धर्मेभ्यश्च धर्मी इत्येवमनेकवादी । इत्युपदर्शितस्वरूपे अक्रियावादिनि, स्था० ८ ठा० ।
अणिक्खित्त–अनिक्षिप्त–त्रि० । अनुज्झितेऽप्रत्याख्याते, भ० १७ श० २ उ० । अविश्रान्ते, औ० ।
अणिगामसोक्ख–अनिकामसौख्य–त्रि० । अपकृष्टसुखे तुच्छसुखे, उत्त० १४ अ० ।
अणिगण–अनग्न–पुं० । न विद्यन्ते नग्नास्तत्कालीना जना येभ्यस्तेऽनग्नाः । जं० २ वक्ष० । सवस्त्रत्वहेतुषु कल्पवृक्षेषु, स० १० सम० ।
अणिगूहण–अनिगूहन–न० । अगोपने, पंचा० १५ विव० ।
अणिगूहियबलवीरिय–अनिगूहितबलवीर्य–पुं० । अनिगूहितेऽगोपिते बलवीर्ये देहप्राणचित्तोत्साहरूपे येन स तथा । पंचा० १५ विव० । अनिहृतबाह्याभ्यन्तरसामर्थ्ये, ग० १ अधि० । दश० । आचा० । पं० चू० । " अणिगूहियबलवीरिओ, परिक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ जहा थामं, नायव्वो वीरियायारो " दश० ३ अ० । पं० चू० । पञ्चा० ।
अणिग्गह–अनिग्रह–पुं० । अविद्यमानो निग्रह इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणात्मकोऽस्येति । उत्त०१७ अ० । अवशीकृतेन्द्रिये, उत्त० ११ अ० । स्वैरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । उच्छृङ्खले, दश० ८ अ० । प्रक्रमादसौ गौणान्यब्रह्माणि, तत्राऽनिग्रहोऽनिषेधो मनसो विषयेषु प्रवर्त्तमानस्येति गम्यते । एतत्प्रभवत्वाच्चास्याऽनिग्रह इत्युक्तम् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।
अणिच्च–अनित्य–त्रि०न०त० । नित्यभिन्ने सर्वदा स्थायिनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थं नित्यत्वेन व्यवस्थितं सन्नित्यं नैवं यत्तदनित्यम् । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं हि नित्यमतोऽस्य प्रतिक्षणविशरारु अनित्यम् । आचा० १ श्रु०५अ०५उ० । अनु० । उत्त० । अशाश्वते, उत्त० २ अ० । अनित्यमस्थिरत्वात् । प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।
अणिच्चजागरिया–अनित्यजागरिका–स्त्री० । अनित्यचिन्तायाम्, " अणिच्चजागरियं जागरेति " भ० १५ श० १ उ० ।
अणिच्चभावणा–अनित्यभावना–स्त्री० । अनित्यत्वचिन्तनात्मके प्रथमभावनाभेदे, प्रव० । तत्स्वरूपं च—

" ग्रस्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽप्यनित्यत्वरक्षसा ।
किं पुनः कदलीगर्भ-निःसारा नेह देहिनः ? ॥ १ ॥
विषयसुखं दुग्धमिव, स्वादयति जनो बिडाल इव मुदितः ।
नोत्पाटितलगुडमिवो-त्पश्यति यममहह ! किं कुर्मः ? ॥ २ ॥
धराधरधुनीनीर-पूरपारिप्लवं वपुः ।
जन्तूनां जीवितं वात-धूतध्वजपटोपमम् ॥ ३ ॥
लावण्यं ललनालोक-लोचनाञ्चलचञ्चलम् ।
यौवनं मत्तमातङ्ग-कर्णतालचलाचलम् ॥ ४ ॥
स्वाम्यं स्वप्नावलीसाम्यं, चपलाचपलाः श्रियः ।
प्रेम द्वित्रक्षणस्थेम, स्थिरत्वविमुखं सुखम् ॥ ५ ॥
सर्वेषामपि भावानां, ज्ञात्वैवमनित्यताम् ।
प्राणप्रियेऽपि पुत्रादौ, विपन्नेऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
सर्ववस्तुषु नित्यत्व-ग्रहग्रस्तस्तु मूढधीः ।
जीर्णतृणकुटीरेऽपि, भग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥ ७ ॥
ततस्तृष्णाविनाशेन, निर्ममत्वविधायिनीम् ।
शुद्धधीर्भावयेन्नित्यमित्यनित्यत्वभावनाम् " ॥८॥ प्रव०६७द्वा० ।

तत्रानित्यत्वभावनैवम्-

" यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थनिबन्धनम् ।
प्रचण्डपवनोद्धूत-घनाघनविनश्वरम् ॥ २ ॥
कल्लोलचपलं लक्ष्मीः, संगमाः स्वप्नसंनिभाः ।
वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्त-तूलतुल्यं च यौवनम् ॥ ३ ॥
तथा ध्यायन्ननित्यत्वं, मृतं पुत्रं न शोचति ।
नित्यतां गृहमूढस्तु, कुड्यभङ्गेऽपि रोदिति ॥ ४ ॥
एतच्छरीरधनयौवनबान्धवादि,
तावन्न केवलमनित्यमिहाऽसुभाजाम् ।

विश्वं सचेतनमचेतनमप्यशेष-
मुत्पत्तिधर्मकमनित्यमुशन्ति सन्तः ॥ ५ ॥
इत्यनित्यं जगद्वृत्तं, स्थिरचित्तः प्रतिक्षणम् ।
तृष्णाकृष्णाहिमन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥६॥ ध०३अधि०।

अणिच्चया-अनित्यता-स्त्री०। अनश्वरतायाम्, सूत्र०।

अधुना सर्वस्थानाऽनित्यतां दर्शयितुमाह-

देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा ।
राया नर सेट्ठि माहणा, ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ।५।

देवा ज्योतिष्कसौधर्माद्याः, गन्धर्वराक्षसयोरुपलक्षणत्वादष्टप्रकारा व्यन्तरा गृह्यन्ते। तथा-असुरा दशप्रकारा भवनपतयः। ये चाऽन्ये भूमिचराः सरीसृपाद्यास्तिर्यञ्चः। तथा-राजानश्चक्रवर्तिनो बलदेववासुदेवप्रभृतयः। तथा-नराः सामान्यमनुष्याः, श्रेष्ठिनः पुरमहत्तराः, ब्राह्मणाश्च, एते सर्वेऽपि स्वकीयानि स्थानानि दुःखिताः सन्तस्त्यजन्ति। यतः-सर्वेषामपि प्राणिनां प्राणपरित्यागे महद् दुःखं समुत्पद्यत इति ॥ ५ ॥

किञ्च—

कामेहि य संथवेहि य,
गिद्धा कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधणच्चुए,
एवं आउक्खयम्मि तुट्टति ॥ ६ ॥

कामैरिच्छामदनरूपैः, तथा संस्तवैः पूर्वापरभूतैः,गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तः (कम्मसह त्ति) कर्मविपाकसहिष्णवः। कालेन कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति। इदमुक्तं भवति-भोगेप्सोर्विषयाऽऽसेवनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र क्लेश एव केवलं न पुनरुपशमावाप्तिः। तथाहि- "उपभोगोपायपरो, वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम्। धावत्याऽऽक्रमितुमसौ पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम्" ॥१॥ न च तस्य मुमूर्षोः कामैः संस्तवैश्च त्राणमस्तीति दर्शयति-यथा तालफलं बन्धनाद्वृन्तात् च्युतमत्राणमवश्यं पतति, एवमसावपि स्वायुषः क्षये त्रुट्यति जीवितात् च्यवत इति ॥ ६ ॥

जे या वि बहुस्सुए सिया,
धम्मियमाहणभिक्खुए सिया ।
अभि णूमकडेहिँ मुच्छिए,
तिव्वं से कम्मेहिँ किच्चती ॥ ७ ॥

ये चापि बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिका धर्माचरणशीलाः। तथा ब्राह्मणाः, तथा भिक्षुका भिक्षाटनशीलाः, स्युर्भवेयुः, तेऽप्याभिमुख्येन (णूमं ति) कर्म माया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानैर्मूर्च्छिता गृद्धास्तीव्रमत्यर्थम्। अत्र च छान्दसत्वाद् बहुवचनं द्रष्टव्यम्। एवम्भूताः कर्मभिरसद्वेद्यादिभिः कृत्यन्ते छिद्यन्ते पीड्यन्ते इति यावत् ॥ ७ ॥

साम्प्रतं ज्ञानदर्शनचारित्रमन्तरेण नाऽपरो मोक्षमार्गोऽस्तीति त्रिकालविषयत्वात् सूत्रस्याऽऽगामितीर्थिकधर्मप्रतिषेधार्थमाह-

अह पास विवेगमुट्ठिए,
अवितिन्ने इह भासई धुवं ।
णाहिसि आरं कओ परं,
वेहासे कम्मेहिँ किच्चती ॥ ८ ॥

अथेत्यधिकारान्तरे बहूद्देशे एकादेश इति। अथेत्यनन्तरं पश्य यस्तीर्थिको विवेकं परित्यागं गृहस्य परिज्ञानं वा संसारस्याऽऽश्रित्योत्थितः प्रव्रज्योत्थानेन ?। स च सम्यक्परिज्ञानाभावादवितीर्णः संसारसमुद्रमतितीर्षुः केवलमिह संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वाद् ध्रुवो मोक्षस्तं तदुपायं वा संयमं भाषत एव न पुनर्विधत्ते, तत्परिज्ञानाभावादिति भावः। तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं ज्ञास्यसि ? आरमिदं भवं, कुतो वा परं परलोकम् ?। यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं, परमिति प्रव्रज्यापर्यायम्। अथवा आरमिति संसारं, परमिति मोक्षम्, एवंभूतश्चाऽन्योऽप्युभयभ्रष्टः (वेहासि त्ति) अन्तराले उभयाभावतः स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीड्यत इति ॥ ८ ॥

ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्टप्तदेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह-

जइ वि य णिगणे किसे चरे,
जइ वि य भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायादि मिज्जइ,
आगंता गब्भाय ऽणंतसो ॥ ९ ॥

यद्यपि तीर्थिकः कश्चित्तापसादिस्त्यक्तबाह्यगृहवासादिपरिग्रहत्वाद् निष्किञ्चनतया नग्नस्त्वक्त्राणाभावाच्च कृशश्चरेत्; स्वकीयप्रव्रज्याऽनुष्ठानं कुर्यात्। यद्यपि च षष्ठाष्टमदशमद्वादशादि तपोविशेषं विधत्ते। यावदन्तशो मासं स्थित्वा भुङ्क्ते, तथाऽपि आन्तरकषायाऽपरित्यागान्न मुच्यते इति दर्शयति—यस्तीर्थक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणार्थत्वात् कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते असौ गर्भाय गर्भार्थमा समन्ताद् गन्ता यास्यत्यनन्तशो निरवधिकं कालमिति। एतदुक्तं भवति-अकिञ्चनोऽपि तपोनिष्टप्तदेहोऽपि कषायाऽपरित्यागान्नरकादिस्थानात् तिर्यगादिस्थानं गर्भाद्गर्भमनन्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारे पर्यटतीति ॥ ९ ॥

यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतो मदुक्त एव मार्गे स्थेयमेतद्गर्भमुपदेशं दातुमाह-

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणा असदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षितस्तत्राऽसकृत् प्रवृत्तत्वात्, तस्मादुपरम निवर्तस्व। यतः पुरुषाणां जीवितं सुबह्वपि त्रिपल्योपमान्तं,संयमजीवितं वा पल्योपमस्यान्तर्मध्ये वर्तते, तदप्यूनां पूर्वकोटिमिति यावत्। अथ वा-परि समन्तात् अन्तोऽस्येति पर्यन्तं सान्तमित्यर्थः। तदेवं तत्कृतमेवाऽवगन्तव्यम्। तदेव मनुष्याणां स्तोकं जीवितमवगम्य यावत्तन्न पर्येति तावद्धर्मानुष्ठानेन सफलं कर्तव्यम्। ये पुनर्भोगस्नेहपङ्केऽवसन्ना मग्ना इह मनुष्यभवे संसारे वा कामेष्विच्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अध्युपपन्नास्ते नरा मोहं यान्ति, हिताहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति मोहनीयं वा कर्मोपचिन्वन्तीति संभाव्यते। एतदसंवृत्तानां हिंसादिस्थानेभ्यो निवृत्तानामसंयतेन्द्रियाणां चेति ॥ १० ॥

एवं च स्थिते यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।
अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं च सम्मं पवेइयं ॥ ११ ॥

स्वल्पं जीवितमवगम्य विषयांश्च क्लेशप्रायानवबुध्य छित्वा गृहपाशबन्धनं यतमानो यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन

विहर युक्तविहारी भव। एतदेव दर्शयति-योगवानिति-संयमयोगवान्, गुप्तः समितिगुप्त इत्यर्थः। किमित्येवम्?, यतोऽणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु ते। तथा चैवंभूताः पन्थानोऽनुपयुक्तैर्जीवानुपमर्द्देन दुस्तरा दुर्गमा इत्यनेन ईर्यासमितिरूपा क्रिया। अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वात् अन्यास्वपि समितिषु सततोपयुक्तेन भवितव्यम्। अपि च-अनुशासनमेव यथाऽऽगममेव सूत्राऽनुसारेण संयमं प्रक्रमेत्। एतच्च सर्वैरेव वीरैरर्हद्भिः सम्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाऽऽख्यातमिति ॥ ११ ॥

अथ क एते वीरा इत्याह—

विरया वीरा समुट्ठि-या कोहकायरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरिया अभिनिव्वुमा १२

हिंसाऽनृताऽऽदिपापेभ्यो ये विरताः, विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ते, एवंभूताश्च क्रोधकातरीकादिपीषणाः, तत्र क्रोधग्रहणाद् मानो गृहीतः, कातरीका माया, तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः। आदिग्रहणात् शेषमोहनीयपरिग्रहः। तत्पीषणास्तदपनेतारः, तथा प्राणिनो जीवान् सूक्ष्मतरभेदभिन्नान् सर्वशो मनोवाक्कायकर्मभिर्न घ्नन्ति न व्यापादयन्ति। पापाच्च सर्वतः सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरता निवृत्ताः, ततश्चाऽभिनिवृत्ताः क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः। यदि वाऽभिनिवृत्ता मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अणिच्चाणुप्पेहा-अनित्यानुप्रेक्षा-स्त्री०। "कायः सन्निहितापायः, सम्पदः पदमापदाम्। समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्" ॥१॥ इत्येवं जीवितादेरनित्यस्यानुप्रेक्षा। धर्मरूपे धर्मध्यानस्यानुप्रेक्षाभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

अणिच्छा-अनिच्छा-स्त्री०। इच्छाभावलक्षणायामात्मपरिणतौ, "अनिच्छा ह्यत्र संसारे, स्वेष्टालाभादनुत्कटा।" द्वा० ६ द्वा०। पं० सू०।

अणिच्छियत्ता-अनीप्सितता-स्त्री०। प्राप्तुमवाञ्छितत्वे, भ० ६ श० ३ उ०।

अणिच्छियव्व-अनेष्टव्य-त्रि०। मनागपि मनसाऽपि अप्रार्थनीये, आव० ४ अ०। ध०। "दुर्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो" आव० ४ अ०।

अणिजिण्ण-अनिर्जीर्ण-त्रि०। जीवप्रदेशेभ्यः परिशटितप्रदेशे, औ०। कल्प०।

अणि (ण्णि) ज्जमाण-अन्वीयमान-त्रि०। अनुगम्यमाने, विपा० १ श्रु० १ अ०।

अणि (ण्णि) ज्जमाणमग्ग-अन्वीयमानमार्ग-त्रि०। अनुगम्यमानमार्गे, "मच्छिया चडगरहपहकरेणं अणिज्जमाणमग्गे मियागामे णयरे" इत्यादि। विपा०१ श्रु० १ अ०।

अणिजूहित्ता-अपोह्य-अव्य०। अदत्त्वेत्यर्थे, "वत्थं अणिजूहित्ता" अपोह्य दत्त्वा हस्ताद्यावृतमुखस्य। प्रति०। ज०।

अणिज्जाएत्ता-अनिर्धार्य-अव्य०। चक्षुरव्यापार्येत्यर्थे, भ० ७ श० ७ उ०।

अणिज्जावणत्तिया-अनिर्यापणात्मिका-स्त्री०। वाचनासंपद्भेदे, उत्त० १ अ०।

अणिज्जूढ-अनिर्यूढ-त्रि०। महतो ग्रन्थात् सुखावबोधाय सङ्क्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिरनुद्धृते, भ० १ श० ९ उ०।

अणिट्ठ-अनिष्ट-त्रि०। इष्यते स्मेति प्रयोजनवशात् इष्टम्, न इष्टमनिष्टम्। भ० १ श० ५ उ०। 'ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे' ॥ ८। २। ३४॥ इति सूत्रेण ष्टस्य ठः। प्रा०। मनस इच्छामतिक्रान्ते, जी० १ प्रति०। उपा०। स्था०। भ०। अवाञ्छिते, भ० ९ श० ३३ उ०। सतामनभिलषणीये, "सद्दाइविसयसाहण-धणसंरक्खणपरायणमणिट्ठं" आव० ४ अ०। "अणिट्ठा, अकंता, अप्पिया, अमणुन्ना, अमणामा, एते एकार्थाः। विपा० १ श्रु० १ अ०। "अणिट्ठा भवंति णादिज्जे दुव्विणीया" अनिष्टा जनस्येति गम्यते। प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०। इष्टस्य सुखादेर्विरोधिनि प्रतिकूलवेदनीये दुःखे, तत्साधने पापे, विषादौ, अपकारे च। नागवलायाम्, स्त्री०। यज-क्त। न० त०। अकृतयागे देवादौ, वाच०। स्था०।

अणिट्ठतर-अनिष्टतर-त्रि०। अतिशयेन कमनीये, जी० ३ प्रति०। विपा०।

अणिट्ठफल-अनिष्टफल-न०। अशुभे कर्मणि, उपा० २ अ०। अनभिमतफले दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव०। अनभिमतप्रयोजनेऽनर्थफले, पञ्चा० ३ विव०।

अणिट्ठवयण-अनिष्टवचन-न०। आक्रोशवाचि, "अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा" प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अणिट्ठविय-अनिष्ठापित-त्रि०। असमापिते, "अणिट्ठावियसव्वकालसंठप्पयं" अनिष्ठापिताऽसमापिता सर्वकालं सदा संस्थाप्यता तत्कृत्यकरणं यस्य तत्तथा। भ० ९ श० ३३ उ०।

अणिट्ठस्सर-अनिष्टस्वर-पुं०। प्रयोजनवशादपीच्छाऽविषये, स्था० ८ ठा०।

अणिट्ठिउच्छाह-अनिष्ठितोत्साह-पुं०। अहतोत्साहे, "स च सर्वसत्कथाऽनुष्ठानेषु यथाशक्त्योद्यमं करोति" दर्श०।

अनिट्ठुर-अनिष्ठुर-त्रि०। प्रस्तरागमनवत्कार्कश्यरहिते, ग० २ अधि०।

अणिट्ठुह-अनिष्ठीवक-त्रि०। मुखश्लेष्मणाऽपरिष्ठापके, प्रश्न०१ सम्ब० द्वा०। सूत्र०।

अणिड्ढिपत्त-अनृद्धिप्राप्त-पुं०। आमर्षौषध्यादिलक्षणामृद्धिं प्राप्ते, नं०। प्रज्ञा०।

अणिड्ढिमंत-अनृद्धिमत्-त्रि०। अनृद्धिप्राप्ते, "णवविहा अणिड्ढिमंता मणुस्सा पण्णत्ता। तं जहा-हेमवंतगा हिरण्णवंतगा हरिवंसगा रम्मगवंसगा कुरुवासिणो अंतरदीवगा" स्था० ६ ठा०।

अणिड्ढिय-अनर्द्धिक-पुं०। अनीश्वरप्रव्राजिते, आ० म० द्वि०।

अणिण्हव-अनिन्हव-पुं०। न० त०। अनपलापे, ग०१ अधि०। ध०। व्य०। दशा०। (निह्नवशब्दे वक्ष्यमाणेन) निह्नवत्वेन रहिते, बृ० १ उ०।

अणिण्हवण-अनिह्नवन-न०। निह्नवनमपलपनम्, न निह्नवनमनिह्नवनम्। यतोऽधीतं तस्याऽनपलापे, एष ज्ञानाचारस्य पञ्चमो विषयः। यतोऽनिह्नवेनैव पाठादिसूत्रादेर्विधेयं, न पुनर्मानादिवशादात्मनो लाघवाद्याशङ्कया श्रुतगुरूणां श्रुतस्य वाऽपलापेनेति। प्रव० ६ द्वा०। ध०। द०। ग०।

णिएहवणं अवलावो,
कस्स सगासे अधितमणं चउगुरुगा ।
एहावित विरुखुरघरए,
दाण तिदंडे ऽणिएहवयं ॥ १६ ॥

को वि साहू विसुद्धक्खरपदम्मि दुमपत्तादिए पढंतो पढबंतो अन्नेण साहुणा पुच्छिओ-कस्स सगासे अहीयं ?, सागारहिगाराणं संघिप्पओगेण आगारो लब्भति, ततो अहीतं भवति, तेण य जस्स सगासे सिक्खियं सो पुण सुकृतक्कसद्दसिद्धंतेसु पवीणो, जच्चादिसु वा हीणतरो अतो तेण लज्जति । अन्नं जुगप्पहाणं कहयति तगारणगाराणं संधिप्पओगओ लब्भति, तेण अधीमिति भवति । एवं णिएहवणं भवति । इत्थं से पच्छित्तं । अहवा सुत्तहू अत्थेहू वायणायरियं णिएहवंतस्स इह परलोए य णत्थि कल्लाणं उयाहरणं " नि० चू० १ उ० ।

गृहीतश्रुतेनानिह्नवः कार्यः । यद्यस्य सकाशेऽधीतं तत्र स एव कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेरिति ।

अत्र दृष्टान्तः—

एगस्स एहावियस्स खुरभंडविज्जासामत्थेण आगासे अच्छति । तं च एगो परिव्वायगो बहुहिं उवसंपज्जणाहिं उवसंपज्जिऊण, तेण सा विज्जा लद्धा, ताहे अन्नत्थ गंतु तिदंडेणागासगएण महाजणेण पूइज्जति त्ति । रन्ना य पुच्छिओ-भगवं ! किं मे स विज्जातिसओ उय तवातिसओ ?। सो भणति-विज्जातिसओ । कस्स सयासाओ गहिओ ?। सो भणति-हिमवंते फलाहारस्स रिसिणो सयासे अधिज्जिओ । एवं तु वुत्ते समाणे संकिलेसदुट्ठयाए तं तिदंडं खमत्ति पडितं । एवं जो अप्पागमं आयरियं निण्हवेऊण अन्नं कहति, तस्स चित्तसंकिलेसदोसेण सा विज्जा परलोगए हवति त्ति, अनिएहवण त्ति गतं । दश० ३ अ० ।

अणिएहवमाण–अनिह्नुवान–त्रि० । अनपलपति, आ० १ श्रु० १ अ० ।

अणितिय–अनित्य–त्रि० । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेनाऽव्यवस्थिते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणित्थंथ–अनित्थंस्थ–त्रि० । अमुं प्रकारमापन्नमित्थम्, इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम्, न इत्थंस्थमनित्थंस्थम् । केनचिल्लौकिकेन प्रकारेणास्थिते, औ० । आव० । पं०सू० । परिमण्डलादिसंस्थानरहिते, भ० २४ श० १२ उ० । अनियताकारे, जी० १ प्रति० ।

अणित्थंथसंठाणसंठिय–अनित्थंस्थसंस्थानसंस्थित– त्रि० । इत्थं तिष्ठतीति इत्थंस्थम्, न इत्थंस्थमनित्थंस्थम्, अनियताकारमित्यर्थः । तच्च तत्संस्थानम्, तेन संस्थानेन अनियतसंस्थानसंस्थिते, जी० १ प्रति० ।

अणित्थंथसंठाणा–अनित्थंस्थसंस्थाना–स्त्री० । अनित्थंस्थं संस्थानं यस्याः अरूपिण्याः सत्तायाः सा । अनियताकारायां सत्तायाम्, पं० सू० ५ सू० ।

अणिदा (या)–अनिदा–स्त्री० । निदानं निदा, न निदाऽनिदा, प्राणिहिंसा नरकादिदुःखहेतुरिति परिज्ञानविकलेन सता क्रियमाणे प्राणिनिर्वहणे, स्वपुत्रादिकमन्यं वा विभागेनाऽविविच्य सामान्येन विधीयमाने, अजानतो वा व्यापाद्यस्य सत्त्वस्य व्यापादने च । "जाणं तु अजाणंतो, तहेव उद्दिसिय उ वहवो वा वि । जाणग अजाणगं वा, वहेइ अणिया निदा एसा " पिं० । अनिर्धारणायाम्, "पुढविकाइया सव्वे, असण्णिभूया अणिदाए वेयणं वेदेंति " भ० १ श० २ उ० । चित्तविकलायां सम्यग्विवेकविकलायाम्, प्रज्ञा० ३४ पद । अनाभोगवत्यां हिंसायाम्, भ० १६ श० ५ उ० ।

अणिदा (या) ण–अनिदान–त्रि० । नाऽस्य स्वर्गावाप्त्यादिनिदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न विद्यते निदानमस्येत्यनिदानः, निराकाङ्क्ष अशेषकर्मक्षयार्थिनि, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहिते, ज्ञा० ५ ज्ञा० । निदानवर्जिते, आतु० । प्रार्थनारहिते, भ० २ श० १ उ० । पञ्चा० । आचा० । भाविफलाशंसारहिते, " अणियाणे अकोउहले य जे स भिक्खू " दश० १० अ० । पञ्चा० । प्रश्न० । ध० । स्वर्गावाप्त्यादिलक्षणनिदानरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यस्यासावनिदानः । सावद्यानुष्ठानरहिते अनाश्रवे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । भोगर्द्धिप्रार्थनास्वभावमार्तध्यानम् । तद्वर्जितेऽनिदानेऽर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अणिदा (या) णभूय–अनिदानभूत–त्रि० । सावद्यानुष्ठानरहितेऽनाश्रवभूते कर्मोपादानरहिते अनिदानकल्पे ज्ञानादौ, सूत्र० ।

अप्पपिण्डासि णिक्खू समाहिपत्ते अणियाणभूते सुपरिव्वएज्जा ।

न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु जन्तुषु यस्याऽसावनिदानः । स एवम्भूतः सावद्यानुष्ठानरहितः परि समन्तात्संयमानुष्ठाने मजेत्पच्छेदिति । यदि वा अनिदानभूतोऽनाश्रवभूतः कर्मोपादानरहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत् । यदि वा–अनिदानभूतान्यनिदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत् । अथवा–निदानं हेतुः कारणं दुःखस्यान्तो निदानभूतः कस्यचिद् दुःखमनुत्पादयन् संयमे पराक्रमेदिति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणिदा (या) णया--अनिदानता--स्त्री० । निदायते लूयते ज्ञानाद्याराधना लता आनन्दरसोपेतमोक्षफला येन परशुनेव देवेन्द्रादिगुणर्द्धिप्रार्थनाऽध्यवसानेन तन्निदानमनिदानं तदस्य सोऽनिदानः, तद्भावस्तत्ता । निरुत्सुकतायाम्, एतस्याश्च फलमागमिष्यद्भद्रतया कर्मप्रकरणम् । स्था० १० ठा० । निदानं भोगर्द्धिप्रार्थनास्वभावमार्तध्यानं, तद्वर्जितताऽनिदानता । भोगर्द्धिप्रार्थनायाम्, एतस्याः फलं संसारव्यतिव्रजनम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । " सव्वत्थ भगवया अणिदाणता पसत्था " स्था० ६ ठा० ।

अणिदिट्ठ--अनिर्दिष्ट–त्रि० । प्रागकृतनिर्देशे, नि० चू० १ उ० ।

अणिद्देस–अनिर्देश--पुं० । अप्रमाणे, उत्त० १ अ० ।

अनिर्देश्य–त्रि० । केनाऽपि शब्देनाऽनभिलप्ये, विशे० ।

अणिद्देसकर--अनिर्देशकर--पुं० । अप्रमाणकर्त्तरि, " आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए" उत्त० १ अ० ।

अणिप्पण्ण–अनिष्पन्न–त्रि० । अतीतकाले निष्पत्तिरहिते, औ० ।

अणिमंतेमाण–अनिमन्त्रयत्--त्रि० । निमन्त्रणमददति, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणिमा--अणिमन्–पुं० । परमाणुरूपतापत्तिरूपे सिद्धिभेदे, आ० २६ आ० ।

अणिमिस–अनिमिष–पुं० । न० ब० । मत्स्ये, "बहुअट्ठियं पोग्गलं, अणिमिसं बहुकंटयं" दश० १ अ० । निश्चलनयने, आव० ४ अ० ।

अणिमिसणयण–अनिमिषनयन–पुं० । न विद्यते निमेषो येषां तानि अनिमेषाणि, अनिमेषाणि नयनानि येषां तेऽनिमेषनयनाः । देवेषु, "अमिलाणमल्लदामा, अणिमिसणयणा य नीरजसरीरा । चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहइ" ध० १ अ० । आ० म० द्वि० । निर्निमेषलोचने, पञ्चा० १७ विव० ।

अणिय–अनीक–न० । सैन्ये, कल्प० ।

देवेन्द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररन्नो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पन्नत्ता। तं जहा–पायत्ताणिए, पीढाणिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गंधव्वाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिवई । एवं जहा पंचट्ठाणे जाव किन्नरे रहाणियाहिवई रिट्ठे नट्ठाणियाहिवई गीयरई गंधव्वाणियाहिवई । बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पन्नत्ता । तं जहा–पायत्ताणियं जाव गंधव्वाणियं । महद्दुमे पायत्ताणियाहिवई जाव किंपुरिसे रहाणियाहिवई महारिट्ठे णट्टाणियाहिवई गीयजसे गंधव्वाणियाहिवई । धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पन्नत्ता । तं जहा–पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए । भद्दसेणे पायत्ताणियाहिवई जाव आणंदे रहाणियाहिवई णंदणे णट्टाणियाहिवई तेतले गंधव्वाणियाहिवई । भूयाणंदस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पन्नत्ता । तं जहा–पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए दक्खे पायत्ताणियाहिवई जाव णंदुत्तरे रहाणियाहिवई रई णट्टाणियाहिवई माणसे गंधव्वाणियाहिवई । एवं जाव घोसमहाघोसाणं णेयव्वं । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पन्नत्ता । तं जहा–पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए । हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई जाव माढरे रहाणियाहिवई सेए णट्टाणियाहिवई तुंबरुगंधव्वाणियाहिवई । ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पन्नत्ता । तं जहा–पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए लहुपरक्कमे पायत्ताणियाहिवई जाव महासेए णट्टाणियाहिवई णारए गंधव्वाणियाहिवई । सेसं जहा–पंचट्ठाणे एवं जाव अच्चुअस्सेति नेयव्वं । स्था० ७ ठा० ।

अनृत–न० । वितथे, मिथ्याविलथमनृतमिति पर्यायाः । स्था० १० ठा० । आ० म० द्वि० । विशे० । आव० ।

अणियट्ट–अनिवर्त्त–पुं० । मोक्षे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणियट्टगामिन्–अनिवर्त्तगामिन्–पुं० । अनिवर्त्तो मोक्षस्तं गन्तुं शीलं यस्य स तथा । निर्वाणयायिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अणियट्टि (ण्)–अनिवर्तिन्–न० । न निवर्तते न व्यावर्त्तते इत्येवंशीलमनिवर्ति । प्रवर्धमानतरपरिणामात्व्यावर्त्तनशीले, "सुहुमकिरिए अणियट्टी" इति शुक्लध्यानस्य तृतीये भेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । अशीतितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति विंशतितमे तीर्थकरे, स० ।

अणियट्टिकरण–अनिवृत्तिकरण–न० । निवर्त्तनशीलं निवर्ति, न निवर्ति अनिवर्ति, आ सम्यग्दर्शनलाभान्न निवर्त्तत इत्यर्थः । न निवर्तते नापैति मोक्षतरुबीजकल्पं सम्यक्त्वमनासाद्येत्येवं शीलमनिवर्ति । पञ्चा० ३ विव० । अनिवृत्तिकरणमित्यन्योन्यं नातिवर्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तच्च तत्करणं च अनिवृत्तिकरणं सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धतराध्यवसायरूपे भव्यानां करणभेदे, "अणियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे" आ० म० द्वि० ।

अणियट्टिबायर–अनिवृत्तिबादर–पुं० । न विद्यते अन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासौ बादरश्चेति । कर्म० २ कर्म । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, स च कषायाष्टकक्षपणारम्भान्नपुंसकवेदोपशमने यावद् भवति निवृत्तिबादरसमयादूर्ध्वं लोभखण्डवेदनां यावदनिवृत्तिबादरः । आव० ४ अ० । अवासाणिमादिभावे, पं० व० १ द्वा० ।

अणियट्टिबायरसंपरायगुणट्ठाण–अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान–न० । नवमगुणस्थाने, व्याख्या चैवम्–युगपदेतद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्नास्त्यस्येति अनिवृत्तिः, समकालमेतद्गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थानं विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्त्यवेत्यर्थः । संपरैति पर्यटति संसारमनेनेति संपरायः कषायोदयः बादरः सूक्ष्मकिट्टीकृतसंपरायापेक्षया स्थूलसंपरायो यस्य स बादरसंपरायः । अनिवृत्तिश्चासौ बादरसंपरायश्च तस्य गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम् । इदमप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमेव । तत्र चान्तर्मुहूर्त्ते यावन्तः समयास्तत्प्रविष्टानां तावन्त्येवाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । एकसमयप्रविष्टानामेकस्यैवाध्यवसायस्थानस्यानुवर्तनादिति स्थापना००००० प्रथमसमयादारभ्य प्रतिसमयमनन्तगुणविशुद्धं यथोत्तरमध्यवसायस्थानं भवतीति वदितव्यम् । स चानिवृत्तिबादरो द्विधा–क्षपक उपशमकश्च । क्षपयति उपशमयति वा मोहनीयादि कर्माणि वा इत्वा । कर्म० २ कर्म । प्रव० । आ० चू० ।

अणियग्ग–अनग्न–पुं० । विचित्रवस्त्रादायित्वान्न विद्यन्ते नग्ना निवासिनो जना येभ्यस्तेऽनग्नाः । मंज्ञाशब्दो वाऽयमिति । विशिष्टवस्त्रदायिषु कल्पद्रुमभेदेषु, स्था० ७ ठा० । प्रव० आव० ।

अणियत (य)–अनियत–त्रि० । अप्रतिबद्धे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उत्त० । अनिश्चिते, अष्ट० ८ अष्ट० । अनेकस्वरूपे, दशा० १० अ० । न० त० । अनियमवति अनवस्थिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । ह्र० । अवश्यंभाव्युदयाऽप्रापिते आत्मपुरुषेश्वरस्वभावकर्मादिकृते सुखादिके, "नियमानियमं संतं, अयाणंता अबुद्धिया" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । "अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि

येद च । देवासुरमनुष्याणा-मृद्धयश्च सुखानि च । " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । इदं शरीरमनियतं सुरूपादेरपि कुरूपादिदर्शनात् इ-रितिलकराजसुतविक्रमकुमारशरीरवत् । तं० । " अणियओ वासो " अनियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणम् । व्य० १ उ० ।

अणियत (य) चारिण्-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्रतिबद्धं परिग्रहयोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी । अप्रतिबद्ध-विहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणियत (य) प्प (ण्)-अनियतात्मन्-पुं० । असंयते, अनिश्चितस्वरूपे च । अष्ट० ८ अष्ट० ।

अणियत (य) वट्टि-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतविहारे, उत्त० १ अ० ।

अणियत (य) वास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिना-ऽनिकेतवासे गृहे, उद्यानादौ वासे, दश०२ चूलि० । "अणिय-ओ वासो णिप्पत्तियविहारो" अस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्य-स्यानियतो वासः क्रियते । ग्रामनगरसन्निवेशादिष्वनियतवासे-न । विशे० । देशदर्शनं कार्यते ततः स आचार्यपदे स्थाप्यते । बृ० १ उ० ।

अणियत (य) वित्ति-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतचारिणि अनियतविहारे, स्था० ८ ठा० । ध० । अनियताऽनिश्रिता वृ-त्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिः । "गामे एगराइं नगरे पंच राइं" इत्यादिप्रकारेण । दशा० ४ अ० ।

अणियत्त-अनिवृत्त-त्रि० । अनिवृत्ते, उत्त० २ अ० ।

अणियत्तकाम-अनिवृत्तकाम-त्रि० । अनुपरतेच्छौ, उत्त०१४ अ० ।

अणियाहिवइ-अनीकाधिपति-पुं० । ६ त० । गजादिसैन्यप्र-धाने ऐरावतादौ, स्था० ३ ठा० १ उ० । रा० । (यस्य यावन्त्य-नीकानि अनीकाधिपतयश्च ते सर्वे 'अणिय' शब्दे उक्ताः)

अणिरिक्ख-अनिरीक्ष्य-अव्य० । चक्षुषाऽदृष्ट्वेत्यर्थे, आ० ।

अणिरुद्ध-अनिरुद्ध-त्रि० । क्वचिदप्यस्खलिते, सूत्र० १ श्रु०१२ अ० । कृष्णवासुदेवपुत्रस्य प्रद्युम्नस्य वैदर्भ्यामुत्पन्ने पुत्रे, स च अरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य शत्रुञ्जये सिद्धः । अन्त०४ वर्ग । प्रश्न० ।

अणिरुद्धपण्ण-अनिरुद्धप्रज्ञ-त्रि० । अनिरुद्धा क्वचिदप्यस्ख-लिता प्रज्ञा, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्ध-प्रज्ञाः । क्वचिदप्यस्खलितज्ञानेषु तीर्थकृत्सु, सूत्र०१ श्रु०१२अ० ।

अणिल-अनिल-पुं० । वायौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । कर्म० । दश० । आव० । एकोनविंशे भारतातीतजिने, द्वाविंश-जिनस्य प्रवर्तिन्यां च । ती० । प्रव० ६ द्वा० । ति० ।

अणिलामइ (ण्)-अनिलामयिन्- त्रि० । वातरोगिणि, बृ० २ उ० ।

अणिल्लं-देशी-प्रभाते, दे० ना० १ वर्ग ।

अणिल्लंछिय-अनिर्लाञ्छित-त्रि० । अवर्धितके अखण्डीकृते, भ० ८ श० ५ उ० ।

अणिवारिय-अनिवारित-त्रि० । निषेधकरहिते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अणिवारिया-अनिवारिका-स्त्री० । नास्ति निवारको मैवं कार्षीरित्येवं निषेधको यस्याः साऽनिवारिका । प्रतिषेधकर-हितायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

अणिव्वत-अनिर्वृत-त्रि० । न० त० । कदाचिदनुपशान्ते, "अ-णिव्वते घातमुवेति बाले" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप-रिणते, दश० १ अ० ।

अणिव्वाणमादि-अनिर्वाणादि-त्रि० । अनिवृत्त्यर्थहान्यर्था-सिद्धिप्रभृतिषु दोषेषु, पञ्चा० ७ विव० ।

अणिव्वाणि-अनिर्वाणि-पुं० । असुखे, व्य० १ उ० ।

अणिव्वुइ-अनिर्वृति-स्त्री० । पीडायाम, आ० म० द्वि० ।

अणिव्वुड-अनिर्वृत-त्रि० । अपरिणते, दश० ३ अ० ।

अणिव्वेय-अनिर्वेद-पुं० । उद्योगाद्यनुपरमे, दश० ३ अ० । (तद्विषया अर्थकथा ' अत्थकहा ' शब्देऽत्रैव भागे वक्ष्यते)

अणिसिट्ठ-अनिसृष्ट-त्रि० । न निसृष्टं सर्वैः स्वामिभिः साधु-दानार्थमनुज्ञातं यत् तदनिसृष्टम् । पिं० । एकेनैव दीयमाने बहुसाधारणे, "अणिसिट्ठं सामन्नं गोट्ठियभत्ताइ देइ एगस्स" प्रश्न० ५ संव० द्वा० । पञ्चा० । दश० । ध० । अनिसृष्टं स्वा-मिनाऽनुत्संकलितं निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम् । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । यदा द्वित्राणां पुरुषाणां साधारणे आहारे एकोऽन्याननापृच्छ्य साधवे ददाति तदा पञ्चदशोऽनिसृष्टो दोष उद्गमस्य । उत्त० २४ अ० ।

अथानिसृष्टद्वारमाह-

अणिसिट्ठं पडिकुट्ठं, ऽणुन्नायं कप्पए सुविहियाणं ।
लड्डुग चोल्लग जंते, संखडि खीराऽऽवणाईसु ॥

निसृष्टमुक्तमनुज्ञातं, तद्विपरीतमनिसृष्टमननुज्ञातमित्यर्थः। तत्प्र-तिकुष्टं निराकृतं तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातं पुनः कल्पते सुविहि-तानाम् । तच्चानिसृष्टमनेकधा । तद्यथा-लड्डुकविषयं मोदकवि-षयं, तथा चुल्लकविभोजनविषयम् । (यन्त्र इति) कोल्हकादि-प्राणकविषयं, तथा संखडिविषयं विवाहादिविषयं, तथा क्षी-रविषयं दुग्धविषयं, तथा आपणादिविषयम् । आदिशब्दात् गृहादिविषयमवसेयम् । इयमत्र भावना-इह सामान्येनानि-सृष्टं द्विधा । तद्यथा-साधारणानिसृष्टं, भोजनानिसृष्टं च । तत्र भोजनानिसृष्टं चुल्लकशब्देनोक्तम्, साधारणानिसृष्टं तु शे-षभेदैरिति ।

तत्र मोदकविषयं साधारणानिसृष्टोदाहरणं गाथाचतुष्टयेनो-पदर्शयति—

बत्तीसा सामन्ने, ते कहि एहाउं गय त्ति इइ बुब्बइ ।
परसत्तिएण पुन्नं, न तरसि काउं ति पच्छाऽऽह ॥
अवि य हु बत्तीसाए,दिन्ने हि तवेगो मोयगो न भवे ।
अप्पवयं बहुआयं, जइ जाणसि देहि तो मज्झं ॥
झाणिय निंतो पुट्ठो, किं लद्धं पेच्छ मोदए ।
इयरो वि अहो नाहं, देमि त्ति सहोढचोरत्तं ॥
गेण्हणकड्ढणववहा-रपच्छकडुड्डाह तहय निव्विसए ।
आयम्मि भवे दोसा, पहुम्मि दिन्ने तउ गहणं ॥

रत्नपुरे माणिभद्रप्रमुखा द्वात्रिंशद्वयस्याः,ते कदाचिदुद्यापना-निमित्तं साधारणान् मोदकान् कारितवन्तः । कारयित्वा च समुदायेनोद्यापनिकायां गताः । तत्र चैको मोदकरक्षको मुक्तः शेषास्त्वेकत्रिंशत् नद्यां स्नातुं गताः। अत्रान्तरे च कोऽपि लोलु-पतासुर्भिक्षार्थमुपागतः,दृष्टाश्च तेन मोदकाः, ततो जातलाम्प-

ऽयो धर्मं ज्ञापयित्वा तं पुरुषं मोदकान् याचितवान् । स प्राह-भगवन् ! न ममैकाकिनोऽधीना एते मोदकाः किन्त्वेन्येषामप्ये-कत्रिंशज्जनानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि ?। एवमुक्ते साधुराह-ते (कहिं ति) कुत्र गताः ?। स प्राह-नद्यां स्नातुमिति । तत एव-मुक्ते भूयोऽपि साधुस्तं प्रत्याह-परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पुण्यं कर्तुं न शक्नोषि ?, यदेवं याचितोऽपि न ददासि । महानुभा-वमूढस्त्वं यः परसत्कानपि मोदकान् मह्यं दत्वा पुण्यं नोपा-र्जयसि । अपि च-द्वात्रिंशतमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि तथापि तव भागे एक एव मोदको यात्रितः । एवमल्पव्ययं ब-ह्वायं दानं यदि जानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वा-नपि मोदकानिति । एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोदकाः, भृतं साधुभाजनम्, ततः संजातहर्षः साधुस्तस्मात् स्थानाद् विनि-र्गन्तुं प्रवृत्तः । अत्रान्तरे च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभद्रादयः। पृष्टश्च तैः साधुः-भगवन् ! किमत्र त्वया लब्धम् ?। ततः साधु-ना चिन्तितम्-यथा एते मोदकस्वामिनस्ततो यदि मोदका लब्धा इति वक्ष्ये तर्हि भूयोऽपि ग्रहीष्यन्ति । तस्मान्न किम-पि लब्धमिति ब्रवीमीति । तथैवोक्तवान् । ततस्तैर्माणिभद्रप्र-मुखैर्भाराक्रान्तं साधुमवलोक्य संजातशङ्कैरभाणि-दर्शय निजं भाजनं साधो ! येन प्रेक्षामहे । साधुश्च न दर्शयति । ततो बलात्प्र-लोकितम् । दृष्टा मोदकाः । ततः कोपारुणलोचनैः साधिक्षेपं रङ्क-कपुरुषः पृष्टः-यथा किं भोः त्वयाऽस्मै सर्वेऽपि मोदका दत्ताः ?। स भयेन कम्पमानोऽवदत्-न मया दत्ताः । एवं चोक्ते माणिभ-द्रादिभिः साधुरूचे-चौरस्त्वं पापः साधुवेषविडम्बक ! सहोढ इति इदानीं प्राप्तोऽसि, कुतस्ते मोक्ष इति गृहीतो वस्त्राञ्च-ले कर्षितो बाहुना । ततः पश्चात् कुट्टित इति गृहीत्वा सकल-मपि पात्ररजोहरणादिकमुपकरणं गृहस्थीकृतः, तत उड्डाह इ-ति । नीतो राजकुलम्, कथितो धर्माधिकरणिकानाम् । पृष्टश्च तैः। साधुश्च न किमपि लज्जया वक्तुं शक्तवान् ?। ततः परिभावितम्-नूनमेष चौर इति, परं साधुवेषधारीति कृत्वा प्राणैर्मुक्तो नि-र्विषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रभावनायके दातरि एतेऽनन्तरोक्ता ग्रहणकर्षणादयो दोषा भवन्ति । (एहुम्मि त्ति) तृतीयार्थे सप्तमी । यथा-" तिसु अलंकियपुहवी " इत्यत्र । ततोऽयमर्थः-तस्मात्प्र-भुणा नायकेन दत्ते सति साधुना ग्रहणं भक्तादेः कर्त्तव्यम् ; त-भाव्याच्छेद्यादिकं सम्यक् परिहर्त्तव्यमिति । उक्तं सोदाहरणं मोदकद्वारम् ।

अधुना शेषाण्यपि द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति—

एमेव य जंतम्मि वि, संखडिं खीरआवणाईसु ।
सामन्नं पडिकुट्ठं, कप्पइ घेत्तुं अणुन्नायं ॥

एवमेव मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि संखड्यामपि क्षीरे च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामिभिः सर्वैरप्यनिसृष्टं,तत् प्रतिकुष्टं तीर्थकरगणधरैः अनुज्ञातम्, पुनः सर्वैरप्यस्वामिभिः कल्पते ग्रहीतुम्, तत्र दोषाभावात् ।

संप्रति चुल्लकद्वारस्य प्रस्तावनां चुल्लकस्य भेदं च प्रतिपादयति–

चुल्लु त्ति दारमहुणा, बहुवत्तव्वं ति तं कयं पच्छा ।
वन्नेई गुरु सो पुण, सामिय हत्थीण विन्नेओ ॥

अधुना चुल्लकद्वारं व्याख्येयम् । अथोच्यते मूलगाथायां द्वि-तीये स्थाने निर्दिष्टमपि कस्माद् व्याख्यावेलायां पश्चात्कृतम् ?। तत आह-बहुवक्तव्यमिदं द्वारम्, अतः व्याख्यावेलायां पश्चा-त्कृतम् । तत्र गुरुस्तीर्थकरादिर्वर्णयति प्ररूपयति यथा स चुल्लको द्विधा । तद्यथा-स्वामिनो हस्तिनश्च ।

तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं चुल्लकमाह—

छिन्नमछिन्नो दुविहो, होइ अछिन्नो निसिट्ठ अणिसिट्ठो ।
छिन्नम्मि चुल्लगम्मि य, कप्पइ घेत्तुं निसिट्ठम्मि ॥

इह द्विधा चुल्लकः । तद्यथा-छिन्नोऽछिन्नश्च । इयमत्र भावना-इह कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्यापि पार्श्वे कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोग्यं पृथक् पृथक् भाजने कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स चुल्लकश्छिन्नः, यदा तु सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्यामेव स्थाल्यां कृत्वा प्रेष-यति, तदा सोऽछिन्नः । एवमन्यत्राप्युद्यापनिकादौ छिन्नाऽछि-न्नत्वं चुल्लकस्य भावनीयम् । अछिन्नोऽपि द्विधा । तद्यथा-नि-सृष्टोऽनिसृष्टश्च । तत्र निसृष्टः कौटुम्बिकेन येषां च हालिकानां योग्यः स चुल्लकस्तैश्च साधुभ्यो दानाय मुत्कालितः । इतरस्तु मुत्कलितोऽनिसृष्टः । तत्र यस्य निमित्तं छिन्न स एव चेत्-स्यात्मीयस्य छिन्नस्य दाता तर्हि तस्मिन् छिन्ने चुल्लके तत्स्वा-मिना दीयमाने साधूनां ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात्, तत्तथा छिन्नेऽपि सर्वैरपि तत्स्वामिभिरनुज्ञाते तं ग्रहीतुं कल्पते, त-त्रापि दोषाभावात् ।

एनमेवार्थं सविशेषितमाह—

छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो, याय निसिट्ठो इ छिन्नो य ।
सो कप्पइ इयरो उ ण, अदिट्ठदिट्ठो अणुन्नाओ ।

यश्चुल्लको यस्य निमित्तं छिन्नः स तेन दीयमानो मूलस्वा-मिना कुटुम्बिकेनादृष्टो दृष्टो वा कल्पते । तथा यश्चाछिन्नः योऽपि च यस्य निमित्तं छिन्नः स स्वस्वामिभिरनुज्ञातोऽन्येन दीयमानः स्वस्वामिभिरदृष्टो दृष्टो वा कल्पते (इयरो उण त्ति) इतर एतद्व्यतिरिक्तः, तुः पुनरर्थे । छिन्नोऽछिन्नो वा स्वस्वामिभिरननुज्ञातोऽदृष्टो दृष्टो वा न कल्पते, प्रागुक्तग्रहणा-दिदोषसंभवात् । अयं च विधिः साधारणाऽऽदिसृष्टेऽपि वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथार्द्धेन प्रतिपादयति–

अणुसिट्ठमणुन्नायं, कप्पइ घेत्तुं तहेव अदिट्ठे ।
गजयस्स य आनसिट्ठं, न कप्पई कप्पइ अदिट्ठं ॥

अनिसृष्टं पूर्वं स्वस्वामिभिः सर्वैरननुज्ञातमपि यदि पश्चादनुज्ञा-तं भवति तर्हि कल्पते तद्ग्रहीतुं, तेषामनुज्ञातं सर्वैः स्वामिभि-रन्यत्र गतत्वादिना कारणेनादृष्टमपि ग्रहीतुं कल्पते, तद्दोषाभा-वात् । संप्रति हस्तिनश्चुल्लकानिसृष्टे गाथोत्तरार्द्धेन भावयति-(गजयस्स त्ति) हस्तिनो भक्तं मिण्ठेनानुज्ञातमपि राज्ञा गजेन वाऽनिसृष्टमज्ञातं न कल्पते, वक्ष्यमाणादिदोषसंभवात् । तथा-मिण्ठेन स्वलभ्यं भक्तं दीयमानं गजेनादृष्टं कल्पते, गजदृष्ट-ग्रहणे तु वक्ष्यमाणोपाश्रयभङ्गादिदोषप्रसङ्गः ।

अस्यैव विधेरन्यथाकरणे दोषानाह—

निवपिंडो गजभत्तं, गहणाईयंतराइयमदिन्नं ।
डुंबस्स संतिए वि हु, अभिक्ख वसहीइ फेडणया ॥

इह यद् गजस्य भक्तं तद् राज्ञः पिण्डो राज्ञो भक्तं ततो राज्ञा अननुज्ञातस्य ग्रहणे ग्रहणादयो ग्रहणाकर्षणादयो दोषा भवेयुः, तथा-अन्तरायिकम् अन्तरायनिमित्तं पापं साधोः प्रसज्जते । राजा हि मदीयाज्ञामन्तरेणैव साधवे पिण्डं

ददातीति रुष्टः सन् कदाचिद् मिण्ठं स्वाधिकाराद् भ्रंशयति, ततो मिण्ठस्य वृत्तिच्छेदः साधुनिमित्त इति साधोरान्तरायिकं कल्पते । तथा (अदिन्नं ति) अदत्तादानदोषः, राज्ञाऽननुज्ञातत्वात् । तथा कुम्बस्य मिण्ठेन स्वयं दीयमानेऽभीक्ष्णं प्रतिदिवसं यदि साधुस्तं पिण्डं गजस्य पश्यतो गृह्णाति, तदा मदीयकवलमध्यादनेन मुण्डेन पिण्डो गृह्यते इत्येवं कदाचित् रुष्टः सन् यथायोगं मार्गे परिभ्रमन् उपाश्रये साधुं दृष्ट्वा तं सुण्डं प्रसार्य स्फोटेत् साधुं च कथमपि प्राप्य मारयेत्, तस्माद गजस्य पश्यतो मिण्ठस्यापि सत्कं गृह्णीयात्, तदेवमुक्तमनिसृष्टद्वारम् । पिं० । प्रव० । आचा० । जीत० । पं० व०। 'अणिसिट्ठ चउ लहुं' पं० चू० । वृ० । सूत्र० । (अनिसृष्टं रजोहरणादि शब्देष्वेव द्रष्टव्यम्) " अणिसिट्ठं ण कप्पति अणुरणायं " नि० चू० १४ उ०। शय्यातरेणाननुज्ञातप्रवेशे, निसृष्टो नाम यस्य शय्यातरेण प्रवेशोऽनुज्ञातः, तदितरोऽनिसृष्टः । वृ० २ उ० ।

अणिसिद्ध–अनिषिद्ध–त्रि० । अनुमते, कल्प० । सावद्यानुष्ठानानिवृत्ते, पञ्चा० १२ विव० ।

अणिसीह–अनिशीथ–न० । प्रकाशपाठात्प्रकाशोपदेशाद् वा निशीथमिति श्रुतभेदे, आ० म० ।

सांप्रतमनिशीथनिशीथयोरेव स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह—

भूआपरिणयविगयं, सद्दकरणं तहेव मानिसीहं ।
पच्छन्नं तु निसीहं, निसीहनामं जयज्झयणं ॥

भूतमुत्पन्नम्, अपरिणतं नित्यं, विगतं विनष्टं, भूतापरिणतविगतम्, समाहारत्वादेकवचनम् । किमुक्तं भवति ?–'उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' इत्यादि । किंविशिष्टम् ?–शब्दकरणं–शब्दः क्रियते यस्मिन् तत् शब्दकरणम् । उक्तं च–" उच्चीअ सद्दकरणं, पगासपाठं व सरविसेसो वा" स निशीथो भवति। इयमत्र भावना-यदुत्पादाद्यर्थप्रतिपादकः, तथा महताऽपि शब्देन प्रतिपाद्यं, तत् प्रकाशपाठात् प्रकाशोपदेशाद्वा निशीथ इति । आ० म० द्वि० ।

अणिस्सकम–अनिश्राकृत–न० । सर्वगच्छसाधारणे चैत्ये, "णिस्सकमं जं गच्छं, संति अ तव्विअरं अणिस्सकडं । सिद्धायतणं च इमं, चेइयपणगं विणिद्दिट्ठं ॥" ध० २ अधि० । ये रजोहरणादिवेषधारिणः मत्पितृतुल्यास्तेभ्यो दास्यामीति संकल्पं विनैवाऽवढौकनाय, बलिनिष्पादने, स्थापत्रादिजक्तिमात्रकृते भक्ते च । पिं० ।

अणिस्सिओवस्सिय--अनिश्रितोपाश्रित--पुं० । निश्रितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः। अथवा–निश्रितमाहारादिलिप्सा , उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा, तद्वर्जितो यः सोऽनिश्रितोपाश्रितः । रागद्वेषवर्जनेन, आहारशिष्यकुलाद्यपेक्षाराहित्येन च मध्यस्थभावं गते, " साहम्मियाणं अहिगरणंसि उप्पण्णंसि तत्थ अणिस्सिओवस्सिओ अपक्खगाही " स्था० ८ ठा० ।

अणिस्सिओवस्सियं, सम्मं ववहरमाणे समणे णिग्गंथे,
आणाए आराहए भवइ ।

अनिश्रितैः सर्वाशंसारहितैरुपाश्रितोऽङ्गीकृतोऽनिश्रितोपाश्रितस्तम् । अथवा–निश्रितश्च शिष्यत्वादिप्रतिपन्नः, उपाश्रितश्च स एव वैयावृत्यकरत्वादिना प्रत्यासन्नतरस्तौ । अथवा–निश्रितं रागः, उपाश्रितश्च द्वेषस्तम् । अथवा–निश्रितश्चाहारादिलिप्सा, उपाश्रितं च शिष्यप्रतीच्छककुलाद्यपेक्षा, ते न स्तो यत्र तत्तथेति क्रियाविशेषणम् । सर्वथा पक्षपातरहितत्वेन यथावदित्यर्थः । इह पूज्यव्याख्या–"रागो य होइ निस्सा, उवस्सिओ दोससंजुत्तो । अहव ण आहाराई, दाही मज्झं तु एस निस्साओ ॥१॥ सो सो पडिच्छए वा, होइ उवस्साकुलाई य त्ति । " भ० ८ श० ८ उ० ।

अणिस्सिओवहाण–अनिश्रितोपधान–न०। न निश्रितमनिश्रितं द्रव्योपधानम्–उपधानकमेव, भावोपधानं तपः। आव० ४ अ० । आ० चू० । शुभयोगसङ्ग्रहाय परसाहाय्याऽनपेक्षे तपसि , स० ३२ सम० । ऐहिकफलाऽनपेक्षतपःकारितायाम्, एष चतुर्थो योगसङ्ग्रहः ।

इह परत्र च केन कृत इत्यत्रोदाहरणम्–

" पाडलिपुत्त महागिरि, अज्जसुहत्थी अ सेट्ठि वसुभूई ।
वइ दिसि उज्जेणीए, जिणपडिमा एलकच्छं च" ॥ १ ॥
शिष्यौ द्वौ स्थूलभद्रस्य, महागिरिसुहस्तिनौ ।
महागिरिर्महासत्त्वो, गणं दत्त्वा सुहस्तिनः ॥ १ ॥
जिनकल्पे व्यवच्छिन्ने–ऽप्यभ्यासे तस्य वर्तते ।
विहारेणान्यदाऽगातां, पाटलीपुत्रपत्तनम् ॥ २ ॥
तत्र श्रेष्ठी वसुभूतिः, सुहस्तिप्रतिबोधितः ।
श्रावकोऽभूदथावादी–द्बोध्यन्तां स्वजना मम ॥ ३ ॥
ततः सुहस्ती तद्गेहे, गत्वा धर्ममुपादिशत् ।
महागिरिस्तदा तत्रा–यासीद्भिक्षाकृतेऽथ तान् ॥ ४ ॥
दृष्ट्वोत्तस्थौ सुहस्ती द्राग्, वसुभूतिरथाब्रवीत् ।
गुरवो वोऽप्यमी तेऽथ, चक्रुस्तद्गुणसंस्तवम् ॥ ५ ॥
एवमावेद्य तेषां ते, प्रदायाणुव्रतान्ययुः ।
वसुभूतिर्द्वितीयेऽह्नि, स्वजनानूचिवानिति ॥ ६ ॥
तदोज्झका भवेताग्रे, दृष्ट्वाऽऽयान्तं महागिरिम् ।
दृष्ट्वा तमुज्झनारम्भं, महागिरिरथागतः ॥ ७ ॥
तदशुद्धमिति ज्ञात्वा, वलित्वोचे सुहस्तिनम् ।
अभ्युत्थानगुणाख्याने–रशुद्धिर्विदधे त्वया ॥ ८ ॥
अथ द्वावपि वैदेशी, सगच्छौ जग्मतुर्गुरुम् ।
तत्राजितप्रतिनिधिं, वन्दित्वा श्रीमहागिरिः ॥ ९ ॥
गजाग्रपदवन्दारु–रेलकच्छपुरे ययौ ।
तद्दशार्णपुरं पूर्व–मासीत् तस्मिन्नुपासिका ॥ १० ॥
चक्रे वैकालिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म चाथ सा ।
उपाहसत्पतिस्तस्याः, सायं भुक्तपरोऽपि किम् ? ॥ ११ ॥
निशयात् सोऽपि भुक्त्वाऽऽह, प्रत्याख्यास्यहमप्यतः ।
भङ्क्ष्यसि त्वं तयेत्यूचे, न भङ्क्ष्यामीति सोऽवदत् ॥ १२॥
देवताऽचिन्तयच्छ्राद्धा–मसावुपहसत्यदः ।
निशीथे स्वसुरूपेणाऽऽ–ऽभ्यागादादाय लाभनम् ॥ १३ ॥
खादन्निषिद्धः पत्न्योचे, किमेतैर्बालजालकैः ? ।
देवता तं प्रहृत्याथ, दृग्गोलौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥
मा भून्ममायशः श्राद्धाः, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता ।
देवता स्माह तां श्राद्धाऽ–प्युवाचैवं ममायशः ॥ १५ ॥
साऽथानीयाद्भ्रौ सद्यो, मारितैमस्य चक्षुषी ।
एडकाक्षस्ततः ख्यातः, स श्राद्धः प्रत्ययादभूत् ॥ १६ ॥
लोकः समेति तं द्रष्टु–मेडकाक्षं कुतूहलात् ।
एडकाक्षं पुरमपि, तन्नाम्ना तदभूत् ततः ॥ १७ ॥
गजाग्रपदतोऽपारितः, शैलस्यैवमभूत् पुनः ।
गर्वं दशार्णभद्रस्य, हर्तुं शक्रः समागतः ॥ १८ ॥

गजेन्द्रारूढ एवाथ, त्रिः प्रादक्षिणयत् प्रभुम् ।
ततो दशार्णकूटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यगे ॥ १९ ॥
देवानुभावात् ख्यातोऽथ , गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
तस्मिन् महागिरिर्भक्तं, प्रत्याख्याय दिवं ययौ ॥ २० ॥
सुहस्तिसूरयोऽन्येद्युर्जग्मुरुज्जयिनी पुरीम् ।
सुभद्रा यानशालायां, विशालायां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥
एकदा नलिनीगुल्माऽध्ययनं पर्यवर्त्तयन् ।
सुभद्राभूस्तदाऽवन्तिसुकमालो महर्द्धिकः ॥ २२ ॥
पत्नीद्वात्रिंशता सार्द्धं, सौधे सप्ततलेऽललत ।
सुप्तबुद्धः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्मृतिः क्षणात् ॥ २३ ॥
आगत्याऽवोचतावन्ति-सुकुमालोऽस्म्यहं प्रभो ! ।
अभूवं नलिनीगुल्मे, देवः प्राच्यतमे भवे ॥ २४ ॥
कथं तद्वित्थ यूयं किं, यूयमप्यागतास्ततः ? ।
गुरवोऽप्यवग्यधुर्भद्र ! तद्विदो वयमागमात् ॥ २५ ॥
तत्कथं लभ्यते स्वामिन्नूचुस्ते भद्र ! संयमात् ।
सोऽवक् न संयमं कर्तुं, चिरं शक्तोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥
तदर्थी व्रतमादाय, करिष्यामीङ्गिनीमृतिम् ।
अपृच्छ्यजननीं, नैच्छ-ल्लोचं सोऽथाकृत स्वयम् ॥ २७ ॥
लिङ्गं गुरुर्ददौ सोऽगात्, ततः कन्थारिकावने ।
तस्थौ प्रतिमया तत्र, श्मशानेऽनशनी मुनिः ॥ २८ ॥
स्फुटत्पादासृग्गन्धेना-कृष्टा तत्र शिवाऽभ्यगात् ।
एकतः सा शिवाऽखादत्, तदपत्यानि चान्यतः ॥ २९ ॥
प्रथमे प्रहरे जानू , ऊरुस्तम्भौ द्वितीयके ।
तृतीये जठरं तुर्ये, मृत्वा स्थानेऽजनीप्सिते ॥ ३० ॥
गन्धाम्बुपुष्पवर्षाणि, तस्योपरि सुरा व्यधुः ।
आचार्यास्तज्जनैः पृष्टास्तमिष्टगतिगं जगुः ॥ ३१ ॥
सुभद्रा सस्नुषा तत्र, वीक्ष्य तं कृतदुष्करम् ।
प्रवव्राज स्थितैका तु, गुर्विणी तत्सुता ततः ॥ ३२ ॥
अचीकरद्देवकुलं श्मशानेऽद्भुतमुच्छ्रितम् ।
तदिदानीं महाकालं , जातं लोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥
आर्यमहागिरीणामनिश्रितं तपः । आ० क० ।

अणिस्सिय–अनिश्रित–त्रि० । निश्रयेनाऽऽधिक्येन च श्रितो-निश्रितः। न निश्रितोऽनिश्रितः । क्वचिच्छरीरादावप्रतिबद्धे, "ए-त्थ वि समणे अणिस्सिए अणियाणे " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । " अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए " आर-म्भेषु सावद्यानुष्ठानरूपेष्वनिश्रितोऽसम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु०६ अ० । आचा०। कुलादिष्वप्रतिबद्धे , दश०१ अ० इह परलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ते , " जाव जीवाए अणिस्सिओ-हं नेव सयं पाणे अइवाएज्जा " पा० । ध० । भ० । द्रव्यभाव-निश्रया रहिते प्रतिबन्धविप्रमुक्ते, दश० ९ अ०१ उ० । कीर्त्या-दिनिरपेक्षे वैयावृत्त्यादौ , प्रश्न० १ संब० द्वा० । अलिङ्गे अवग्रहे , " अणिस्सियमोगिण्हइ " निश्रितो लिङ्ग-प्रमितोऽभिधीयते–यथा यूथिकाकुसुमानामत्यन्तशीतमृदु-स्निग्धादिरूपः प्राक् स्पर्शोऽनुभूतस्तेनाऽनुमानेन लिङ्गेन तं विषयमपरिच्छिन्दत् यदा ज्ञानं प्रवर्तते तदाऽनिश्रितमलिङ्ग-मवगृह्णातीत्यभिधीयते । स्था० ६ ठा० । अनिश्रितं नाम पुस्त-कादिनिरपेक्षमेवावगृह्णाति च । अथवा–एकवारं श्रुतं पुन-र्यदा कश्चिदनूद्य वदति तदैव वक्तुं समर्थो नाऽन्यदा । एवं विधाने किन्तु स्मरणनिरपेक्ष एव भवतीति । दश० ४ अ० । निश्रारहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाञ्छति, उत्त० १९ अ० ।

अणिस्सियकर–अनिश्रितकर–त्रि० । रागद्वेषपरिहारतो य-थाऽवस्थितव्यवहारकारिणि, व्य० ३ उ० ।

अणिस्सियप्प (ण्)–अनिश्रितात्मन्–पुं० । अनिदाने, "अ-णिस्सियप्पा अपडिबद्धा " आव० ६ अ० ।

अणिस्सियवयण–अनिश्रितवचन–त्रि० । रागादिना वाक्य-कालुष्यवर्जिते, दशा० ४ अ० ।

अणिस्सियवयणया–अनिश्रृतवचनता–स्त्री०। निश्रितं क्रोधा-दीनाम्, अथवा रागद्वेषाणां निश्रामुपगतम् । न निश्रितमनि-श्रितम् । व्य० ३ उ० । मध्यस्थ वचनतायाम् , स्था० ८ ठा० । रागाद्यकलुषवचनतायाम् , उत्त० १ अ० ।

अणिस्सियववहारि (ण्)–अनिश्रितव्यवहारिन्–पुं० । नि-श्रा रागः, निश्रा संजाता अस्येति निश्रितः । न निश्रितोऽ-निश्रितः । स चाऽसौ व्यवहारश्चाऽनिश्रितव्यवहारः, तत्क-रणशीला अनिश्रितव्यवहारिणः । अरागेण व्यवहारका-रिणि , व्य० १ उ० ।

अणिह–अनिह–पुं० । निहन्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । क्रोधादिभिरपीडिते , तपःसंयमसहने वा, निगूहितबलवीर्य्ये च । "अणिहे से पुट्ठे अहियासए" सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ० । परीसहोपसर्गै, निहन्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । उपस-र्गैरपराजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " अणिए सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा माया । न विद्यते सा यस्याऽसावनिहः । मायाप्रपञ्चरहिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । दश० । " असिं सुतिमा अणिहे चरेज्जा " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अनिहत–पुं० । निश्चयेन निहन्यत इति निहतः । न निहि-तोऽनिहतः । भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिरनिहते, " अ-णिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सिरीरं " आचा० १ श्रु० ४ अ०४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणिहण–अनिधन–त्रि० । अन्तरहिते, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणिहतय–अनिहतक–त्रि० । निरुपक्रमायुष्कत्वात् उरो युद्धे च, भूम्यामपातित्वाद् घातमप्रापिते, स० ।

अणिहयरिउ–अनिहतरिपु–पुं० । भद्दिलपुरवास्तव्यनागगृह-पतेः सुलसानाम्न्यां भार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, तत्कथाऽन्त-कृद्दशासु ३ वर्गे ४ अध्ययने सूचिता । तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्ताऽ-णीयसकुमारस्येव भावनीया । यथा–द्वात्रिंशद् भार्याः द्वात्रिंश-त्क एव दानम्, विंशतिवर्षाणि पर्यायः, चतुर्दशपूर्वाणि श्रुतम्, शत्रुञ्जये सिद्धिः, तत्त्वतस्त्वयं वसुदेवदेवकीसुतः । अन्त० ३ वर्ग० ४ अ० ।

अणिहुत (य)–अनिभृत–त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० ३ आ-श्र० द्वा० । औ० । त्रिदशिरुनि, बृ० ३ उ० । " अणिहुआ य संलावा " अनिभृताश्च संलापा गुर्वादिनाऽपि निष्ठुरवक्रो-क्त्यादयः । पं० व० ४ द्वा० । प्रश्न० । बृ० ।

अणिहुत (य) परिणाम–अनिभृतपरिणाम–त्रि० । अनि-भृतोऽनुपशमपरः परिणामो येषां ते, अनुपशमपरपरिणामेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणिहुतिंदिय-अनिभृतेन्द्रिय-त्रि० । अनुपशान्तेन्द्रियेषु देहेषु, ध० स० । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अणीइपत्त-अनीतिपत्र-त्रि० । न विद्यते ईतिर्गन्धुरिकादिरूपा येषु तान्यनीतीनि । अनीतीनि पत्राणि येषां ते तथा । ईतिविरहितवृक्षेषु, जं० १ वक्ष० ।

अणीय-अनीक-न० । हस्त्यश्वरथपदातिवृषभनर्त्तकगाथकजनरूपे सैन्ये, औ० । प्र० ।

अणीयस-अणीयस-पुं० । भद्दिलपुरवास्तव्यनागगृहपतेः सुलसानाम्न्यां भार्यायां जातेऽन्यतमे पुत्रे, अन्त० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं भद्दिलपुरे णामं णगरे होत्था । वण्णओ । तस्स णं भद्दिलपुरस्स उत्तरपुरच्छिमेणं दिसिभाए सिरिवणे णामं उज्जाणे होत्था । वण्णओ । जियसत्तू राया, तत्थ णं भद्दिलपुरे णयरे नागे नामं गाहावती होत्था । अड्ढे जाव अपरिभूए तस्स णं णागस्स गाहावतिस्स सुलसा णामं भारिया होत्था । सुकुमाला जाव सुरूवा, तस्स णं णागस्स गाहावतिस्स सुलसाए भारियाए अत्तए अणीयसे नामं कुमारे होत्था । सुकुमाले जाव सुरूवे पंचधातिपरिक्खित्ते । तं जहा-खीरधाती जहा दढपइण्णे जाव०[गिरिकंदरमल्लीणे व्व चंपगवरपायवे सुहं सुहेणं परवड्ढते । तते णं से अणीयसं कुमारं] सातिरेगं अट्ठवासजायं अम्मा पियरो कलायरियाओ जाव भोगसमत्थे जाते यावि होत्था । तते णं ते अणीयसं कुमारं उम्मुक्कबालभावं जाणित्ता अम्मापियरो सरिसयाणं० जाव बत्तीसाए रायवरकण्णगाणं एगदिवसेणं पाणी गिण्हावेति । तते णं से नागे गाहावती अणीयस्स कुमारस्स इमे एयारूवे पीइदाणं दलयति । तं जहा-बत्तीसं हिरण्णकोडीओ जहा महब्बलस्स जाव उप्पिं पासा फुट्ट विहरति । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी जाव समोसढे सिरीवणे उज्जाणे अरहा जाव विहराति, परिसा णिग्गया । तते णं तस्स अणीयस्स कुमारस्स । तं जहा-गोयमा ! तहा णवरं सामाइयमाइयाति चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जति । वीसं वासाति परियाओ सेसं तहेव । जाव सत्तुंजए पव्वए मासियाते संलेहणाते जाव सिद्धि एवं खलु जम्बू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं ।

यथा (दढपइण्ण त्ति) दृढप्रतिज्ञो राजप्रश्नकृते यथा वर्णितस्तथाऽयं वर्णनीयो यावत् 'गिरिकंदरमल्लीणो व्व चंपगवरपायवे सुहं सुहेणं परिवड्ढइ, तए णं तमणीयसं कुमारं' इत्यादि सर्वमप्यूह्य वक्तव्यम् ; अभिधानमात्ररूपत्वात् । पुस्तकस्य सरिसियाणमित्यादौ यावत्करणात् 'सरिसयाणं सरिसलावण्णरूवजोव्वणगुणोववेयाणं सरिसेहिंतो कुलेहिंतो अणिपल्लियाणमिति दृश्यम् । 'जहा-महब्बलस्स त्ति' भगवत्यभिहितस्य तथा तस्यापि दानं सर्वं वाच्यम् । ' उप्पिं पासावरगए फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ त्ति' । 'सत्तुंजयपव्वए मासियाए संलेहणाए सिद्धे एवं अन्यत्रेति सुगमम् । अन्त० ३ वर्ग० ४ अ० ।

अणीसट्ठ-अनिसृष्ट-त्रि० । हस्तप्रमाणादवग्रहादस्फोटिते, बृ० ३ उ० ।

अणीसाकड-अनिश्राकृत-न० । सर्वगच्छसाधारणे चैत्ये, ध० २ अधि० ।

अणीहड-अनिर्हृत-त्रि० । अनिष्कासिते, बृ० १ उ० । अबहिर्निर्गते, अनात्मीकृते च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणीहारिम-अनिर्हारिम-न० । गिरिकन्दरादौ विधीयमाने पादोपगमनमरणे, कलेवरस्यानिर्हरणीयत्वात् तत्त्वम् । भ० १३ श० ८ उ० । स्था० ।

अणु-अणु-त्रि० । प्रमाणतः स्तोके, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० । पं० व० । आ०म०द्वि० । सूत्र० । सूक्ष्मे लघौ, विशे० । आतु० । स्था० । लघीयसि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । परमाणौ, आव० ४ अ० । अणुः परमाणुर्निरंशो निरवयवो निष्प्रदेशोऽप्रदेश इति । विशे० । अनु-अव्य० । पश्चादर्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । पश्चाज्जाते, त्रि० । स्था० १ ठा० । अनुरूपे, उत्त० १२ अ० । समीपे, बृ० ३ उ० । अवधारणे, बृ० १ उ० ।

अणुअ-अणुक-त्रि० । तनुके, "अणुअसुकुमालसोमणिद्धच्छवि" अणुकानां तनुकानामतिसूक्ष्माणां सुकुमालानां लोम्नां स्निग्धा छविर्येषु तत्तथा । जं० ३ वक्ष० । प्रियङ्गुवाच्ये धान्यभेदे, इति हैमप्राकृतवृत्तिः । सुगन्धयाम, स्त्री० । ध० २ अधि० । बृ० ।

अणुअंतत-अनुवर्त्तमान-त्रि० । उत्तरदेशकालमागते, नि० चू० ५ उ० ।

अणुअल्ल-देशी-क्षणरहिते, निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुआ-देशी-यष्टौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुइओ-देशी-चणके, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुइण्ण-अनुचीर्ण-त्रि० । आगते, "कायसंफासमणुचिण्णाए" कायः शरीरं तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः कायसंगमागताः । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

अणुउद-अनृत-पुं० । अस्वकाले, "विसमं पवालिणो परिणमंति अणुदुसुदैति पुप्फफलं " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अणुओइय-अनुयोजित-त्रि० । प्रवर्तिते, सं० ।

अणुओग-अणु(नु)योग-पुं० । अणु सूत्रं महानर्थस्ततो महतोऽर्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽणुयोगः । अनुयोजनमनुयोगः । अनुरूपो योगोऽनुयोगः । अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः । औ० । व्याख्याने विधिप्रतिषेधाभ्यामर्थप्ररूपणे, विशे० । द्वा० । जिनेनाभिधेयेन सार्धमनुरूपे सम्बन्धे , स० । जी० । स्था० । अनु० । आ० म० प्र० । आव० ।

(१) अनुयोगाधिकारे द्वारनामनिदर्शनम् ।
(२) निक्षेपद्वारम् ।
(३) सप्तविधानुयोगे नामस्थापनानुयोगौ ।
(४) द्रव्यानुयोगः ।
(५) द्रव्यानुयोगभेदस्वरूपनिरूपणम् ।
(६) क्षेत्रानुयोगनिरूपणम् ।
(७) कालानुयोगप्ररूपणम् ।
(८) वचनाऽनुयोगकथनम् ।
(९) भावानुयोगस्य षण्णां प्रकाराणां प्रदर्शनम् ।

(१०) एषां चानुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं यस्य यत्र समावेशो भजना वा तन्निरूपणम् ।
(११) एकार्थिकानां वक्तव्यता ।
(१२) अनुयोगशब्दार्थनिर्वचनम् ।
(१३) अनुयोगविधिः ।
(१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
(१५) गुरुशिष्ययोश्चतुर्भङ्गीनिरूपणम् ।
(१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
(१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
(१८) पञ्चज्ञानेषु श्रुतज्ञानस्यानुयोगः ।
(१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
(२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य कोऽर्हे इत्यनेन संबन्धेन तदर्हद्वारम् ।
(२१) कथाधिकारः ।
(२२) चरणकरणाद्यनुयोगचातुर्विध्यनिरूपणम् ।
(२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमार्यरक्षितात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स चैतैर्द्वारैरनुगन्तव्यः—

निक्खेवेगट्ठ णिरुत्त–विहि पवित्ती य केण वा कस्स ?।
तद्दारभेयलक्खण–तदरिह परिसा य सुत्तत्थो ॥

अनुयोगस्य निक्षेपो नामादिन्यासो वक्तव्यः , तदनन्तरं तस्यैकार्थिकानि, तदनु निरुक्तं वक्तव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे कर्तव्य इति विधिर्वक्तव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसवोऽनुयोगस्य वक्तव्यः । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति वक्तव्यम् । ततः परं कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वाराण्युपक्रमादीनि वक्तव्यानि । तत्र तेषामेव भेदः, ततः परं सूत्रस्य लक्षणम् , तदनन्तरं सूत्रस्यार्हा योग्याः , ततः परं परिषत् , ततः सूत्रार्थः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थस्तु प्रति द्वारं वक्ष्यते । बृ० १ उ० । स्था० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

(२) तत्र प्रथमतो निक्षेपद्वारमाह—

निक्खेवो नासो त्ति य, एगट्ठं सो उ कस्स निक्खेवो ?।
अणुओगस्स भगवओ, तस्स इमे वन्निया भेया ॥

निक्षेपो न्यास इत्येकार्थः । पर आह –स निक्षेपः कस्य कर्त्तव्यः ? । सूरिराह–अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निक्षेपस्य इमे वक्ष्यमाणा वर्णिता भेदाः । बृ० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभवन्तं नामादिनिक्षेपमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य वयणभावे य ।
एसो अणुओगस्स उ, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥१३८९॥

नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, द्रव्यानुयोगः, क्षेत्रानुयोगः, कालानुयोगः , वचनानुयोगः , भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य सप्तविधो निक्षेपः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

(३) विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारो नामस्थापनानुयोगस्वरूपं तावदाह–

नामस्स जोऽणुओगो, अहवा जस्साभिहाणमणुओगो ।
नामेण व जो जोओ, जोगो नामाणुओगो सो ॥
ठवणाए जोऽणुओगो-ऽणुओग इति वा ठविज्जए जं च ।
जावेह जस्स ठवणा, जोग ठवणाणुओगो सो ॥

नाम्न इन्द्रादेर्योऽनुयोगो व्याख्यानमसौ नामानुयोगः । अथवा यस्य वस्तुनोऽनुयोग इति नाम क्रियते तन्नाममात्रेणानुयोगो नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह यः कश्चिद्योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुरूपोऽनुकूलो योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा–दीपस्य दीपनाम्ना सह, तपनस्य तपननाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलननाम्ना सह इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानं स्थापनानुयोगः । अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाचार्यादिर्यत्र काष्ठादौ स्थाप्यते तत्स्थापनानुयोगः । यावदिहानुयोगकर्तुराचार्यादेस्तदाकारवति लेप्यकर्मादौ योग्याऽनुरूपा स्थापना क्रियते, स स्थापनानुयोगः । स्थापनाया अनुरूपोऽनुकूलो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति व्युत्पत्तेः । इति निक्षेपद्वारम् । विशे० ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह–

सामित्त करण अहिगरण, एहिँ एगत्ते य बहुत्ते य ।
नामं ठवणा मोत्तुं, इति दव्वादीण छब्भेया ॥

स्वामित्वं संबन्धः, करणं साधकतमम्, अधिकृतम्, अधिकरणमाधारः, एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादीनामनुयोगो वक्तव्य इति । एवं नामस्थापनां मुक्त्वा द्रव्यादीनामनुयोगस्य प्रत्येकं षड्भेदा भवन्ति । बृ० १ उ० ।

तथाहि–

दव्वस्स जोऽणुओगो, दव्वे दव्वेण दव्वहेउस्स ।
दव्वस्स पज्जवेण व, जोगो दव्वेण वा जोगो ॥
बहुवयणओ वि एवं, नेओ जो वा कहेइ अणुवउत्तो ।
दव्वाणुओग एसो, एवं खेत्ताइयाणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेष द्रव्यानुयोग इति द्वितीयगाथायां संबन्धः । तथा द्रव्ये निषद्यादावधिकरणभूते स्थितस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा क्षीरपाषाणशकलादिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोर्वा शिष्यद्रव्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्यस्य वस्त्रादेः कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः,स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणाम्लीकादिना कृत्वा यस्यैव वस्त्रादेस्तेनैव कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः । एवं बहुवचनतोऽपि ज्ञेयो द्रव्यानुयोगः। तद्यथा–द्रव्याणां द्रव्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनुयोगो द्रव्यानुयोगः, द्रव्याणां पर्यायैः सह द्रव्यैर्वा करणभूतैरनुरूपो योगो द्रव्यानुयोग इति॥ यो वाऽनुपयुक्तः कथयत्यनुपयुक्तोऽनुयोगं करोति, स द्रव्यानुयोगः। एवं क्षेत्रादीनामपि क्षेत्रकालवचनभावेष्वपि यथासंभवमित्थमेवायोज्य इत्यर्थः । तद्यथा–क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्राणां क्षेत्रैः क्षेत्रेष्वनुयोगः क्षेत्रानुयोगः, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुज्ञापनाय देवेन्द्रचक्रवर्त्यादीनामनुयोगो व्याख्यानं यत्क्रियत इत्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्वा करणभूतैः पर्यायेण पर्यायैर्वा सहानुरूपोऽनुकूलो योगः क्षेत्रानुयोगः। एवं कालवचनभावविषयेऽप्येकवचनबहुवचनाभ्यां सुधिया यथासंभवं वाच्यम्, नवरं, कालादिष्वभिलापः कार्य इति द्रव्यस्यानुयोगो व्याख्यानं द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशे० ।

(५) तत्र कतिभेदं तद्द्रव्यं किंस्वरूपञ्च तस्यानुयोग इत्याशङ्क्याह–

दव्वस्स उ अणुओगो, जीवदव्वस्स वा अजीवदव्वस्स ।
एक्केक्कम्मि य भेया, हवंति दव्वाइया चउरो ॥

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकस्मिन् योगे द्रव्यादिकाश्चत्वारो भेदा भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादित आह-

दव्वेणेकं खेत्ते, संखातीतप्पदेसमोगाढं ।
काले अनादिऽनिहणं, भावे नाणाइया ऽणंता ॥

द्रव्यतो जीवद्रव्यमेकं, क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढं, कालतोऽनाद्यनिधनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ताः । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताश्चारित्रपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

अधुना द्रव्यादिभिरजीवद्रव्यस्यानुयोगमाह-

एमेव अजीवस्स वि, परमाणू दव्वमेगदव्वं तु ।
खेत्ते एगपएसे, ओगाढो सो भवे नियमा ॥
समयाइ ठिति असंखा, ओसप्पिणिओ हवंति कालम्मि ।
वण्णादि भावऽणंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण,अजीवद्रव्यस्याप्यनुयोगो वक्तव्यः, तद्यथा-परमाणुर्द्रव्यत एकं द्रव्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढम् कालतो जघन्यतः स्थितिः समयादिरेको द्वौ त्रयो वा । समयानुकर्षतोऽसंख्यावगाढम् । असंख्येया उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्यश्च भवन्ति । भावतो अनन्ता वर्णादिपर्यायाः। तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यवाः, अनन्ता गन्धपर्यवाः, यावदनन्ताः स्पर्शपर्यवा इति । एवं द्विप्रदेशादेरपि । द्विप्रदेशकस्य यावदनन्तप्रदेशिकस्योपयुज्य वक्तव्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्कन्धो द्रव्यतः एकं द्रव्यं, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढः, द्विप्रदेशावगाढो वा । कालतो जघन्यतः स्थितिः, समयादिरुत्कर्षत असंख्या उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्य एव इत्यादि ।

अथ द्रव्याणामनुयोग इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

दव्वाणं अणुओगो, जीवमजीवाण पज्जवा नेया ।
तत्थ वि य मग्गणाओ, ऽणेगा सट्ठाणपरठाणे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । किंरूपोऽसावित्याह ?—पर्यायाः प्ररूप्यमाणा ज्ञेयाः । तथाहि-कतिविधा भदन्त ! पर्यायाः प्रज्ञप्ताः ? । गौतम ! द्विविधाः । तद्यथा—जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । तत्राप्यनेकाः स्वस्थाने च परस्थाने च मार्गणाः । ताश्चैवम्-नैरयिकाणामसुरकुमाराणां च कति पर्यायाः प्रज्ञप्ताः ?। गौतम ! अनन्ताः । अथ केनार्थेनेदमुच्यते ?। गौतम ! नैरयिकोऽसुरकुमारस्य द्रव्यार्थतया तुल्यः, प्रत्येकमेकद्रव्यत्वात्, प्रदेशार्थतयाऽपि तुल्यः, प्रत्येकं लोकाकाशप्रदेशत्वात् । स्थित्या चतुःस्थानपतितः, भावतः षट्स्थानपतितः, ततो भवन्ति नैरयिकाणामसुरकुमाराणां प्रत्येकं पर्याया अनन्ताः । एवमजीवद्रव्याणां पर्याया अपि, एवं स्वस्थाने परस्थाने च मार्गणा । ('परमाणुपोग्गलाणं भंते !' इत्यादि 'पज्जव' शब्देऽभिधास्यते) ततो भवन्ति द्रव्यानामपि प्रत्येकमनन्ताः पर्यायाः । एवमनेकधा जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां चाऽनुयोगः, सूत्रे तत्र तत्र प्रदेशेऽभिहितो भावनीयस्तदेवं द्रव्याणां चेति स्वामित्वं गतम् ।

इदानीं करणे एकत्वबहुत्वाभ्यामनुयोगमाह-

वत्तीए अक्खेण व, करंगुलादीण वा वि दव्वेण ।
अक्खेहिँ तु दव्वेहिं, अहिगरणे बहुसु कप्पेसु ॥

वर्तिर्नाम खटिका, तत्र या कृता शलाका तया, अक्षेण वा, कराङ्गुल्या वा, आदिशब्दात्प्रलेपकादिना वा यः क्रियतेऽनुयोगः स द्रव्येणानुयोगः। द्रव्यैरनुयोगो यद् बहुभिरक्षैः क्रियतेऽनुयोगः। अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा एकस्मिन् कल्पे स्थितोऽनुयोगं करोति, यदा तु बहुषु कल्पेषु स्थितस्तदा द्रव्येषु अनुयोगः । उक्तो द्रव्यानुयोगः षड्भेदः । बृ० १ उ० । विशे० । स्था० । ('दसविहे दवियाणुओगे' इति ' दव्वानुओग ' शब्दे व्याख्यासहितं सूत्रम्)

(६) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वाऽनुयोगमाह-

पण्णति-जंबूदीवे, खेत्तस्सेमाइ होइ अणुओगो ।
खेत्ताणं अणुओगो, दीवसमुद्दाण पन्नती ॥

क्षेत्रस्याऽनुयोगः क्षेत्रानुयोग एवमादिको भवति । क इत्याह ?-[पण्णतिजम्बूदीवे त्ति] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरित्यर्थः । जम्बूद्वीपलक्षणकक्षेत्रव्याख्यानरूपत्वात्तस्याः । बहूनां तु क्षेत्राणामनुयोगो द्वीपसागरप्रज्ञप्तिर्भवति । बहूनां द्वीपसमुद्रक्षेत्राणां तत्र व्याख्यानादिति । तदेवं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग इत्युक्तम् ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रैरनुयोग इत्येतदाह-

जंबूदीवपमाणं, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काउं ।
एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥
खेत्तेहिं बहुदीवे, पुढविजिवाणं तु पत्थयं काउं ।
एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

इह जम्बूद्वीपप्रमाणं प्रस्थकं पल्यं कृत्वा पुनस्तद्भरणविरेचनक्रमेण यदा सर्वेऽपि सूक्ष्मबादरपृथ्वीकायिका जीवा मीयन्ते तदा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशसंख्योपेता जम्बूद्वीपप्रमाणाः प्रस्था भवन्तीत्येष क्षेत्रेण जम्बूद्वीपरूपेणानुयोगोऽभिधीयत इति । क्षेत्रैस्त्वनुयोगोऽयं द्रष्टव्यः। तद्यथा-बहुद्वीपप्रस्थकं कृत्वाऽभीक्ष्णं तद्भरणविरेचनक्रमेण समस्तपृथ्वीकायिकजीवा मीयमाना असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा बहुद्वीपमानप्रस्था भवन्ति । एतदसंख्येयकं पूर्वस्माल्लघुतरं द्रष्टव्यम् । प्रस्थस्येह बृहत्तरत्वादेष बहुद्वीपलक्षणैः क्षेत्रैरनुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु चानुयोगमाह—

खेत्तम्मि उ अणुओगो, तिरियं लोगम्मि जम्मि वा खेत्ते ।
अड्ढाइयदीवेसुं, अद्धछवीसाइ खेत्तेसुं ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिर्यग्लोकक्षेत्रे योऽनुयोगः प्रवर्त्तते यत्र वा ग्रामनगरादौ व्याख्यानसभादौ वा क्षेत्रे स्थितोऽनुयोगकर्त्ताऽनुयोगं करोत्येष क्षेत्रेनुयोगः क्षेत्राऽनुयोग उच्यते । क्षेत्रेष्वनुयोगः क इत्याह-योऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्तिक्षेत्रेषु वर्तते, सार्द्धषड्विंशतिजनपदरूपेषु वा आर्यक्षेत्रेष्विति । उक्तः षड्विधः क्षेत्रानुयोगः ।

(७) अधुना कालस्य कालानां चानुयोगमाह-

कालस्स समयरूवण , कालाण तदाइ जाव सव्वद्धा ।
कालेणऽनिलऽवहारो, कालेहिँ उ सेसकायाणं ॥

कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-(समयरूवण त्ति) उत्पलपत्रशतभेदपट्टशाटिकापाटनादिदृष्टान्तैः समयस्य प्ररूपणेत्यर्थः । कालानां त्वनुयोगः-(तदाइ जाव सव्वद्ध त्ति) समयमादौ कृत्वा यावत् सर्वाद्धायाः प्ररूपणेत्यर्थः। कालेणानुयोगोऽनिलापहारः। इदमुक्तं भवति-बादरपर्याप्तवायुकायिका वैक्रियशरीरे वर्त्तमा-

ना अर्धपल्योपमस्यासंख्येयभागेनापह्रियन्त इत्येवं प्ररूपणा, स कालेनानुयोग इति कोट्याचार्यटीकायां विवृतम्। अन्यत्र त्व-नुयोगद्वारादिषु वैक्रियशरीरिणो वायवः क्षेत्रपल्योपमासंख्येय-भागप्रदेशपरिमाणा दृश्यन्ते। तत्वं तु केवलिनो विदन्ति। शेषा-णां तु पृथिव्यादिकायानां यथासंभवं कालैरनुयोगः। तद्यथा—

" पज्जत्तबायरानल-असंखया होंति आवलियवग्गा त्ति "।

आवलिकायां यावन्तः समयास्तेषां वर्गः क्रियते-तथाविधेषु चासंख्यातेषु वर्गेषु यावन्तः समयास्तत्प्रमाणाः बादरपर्याप्ततेज-स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नत्रसकायिका असंख्येयाभिरु-त्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते। एवं पृथिव्यादिष्वपि यथासं-भवं वाच्यमिति।

अथ काले कालेषु चानुयोगमाह—

कालम्मि बीयपोरिसि, समासु तिसु दोसु वा वि कालेसु।

प्रथमपौरुष्यां किल सूत्रमध्येतव्यम्, द्वितीयपौरुष्यां तु तस्यानु-योगः प्रवर्त्तते, अत इह कालस्य प्राधान्येन विवक्षणात्काले द्वितीयपौरुषीलक्षणेऽनुयोगः कालानुयोग इत्युच्यते। तथाऽ-वसर्पिण्यां सुषमदुःषमादुःषमसुषमादुःषमारूपासु तिसृषु (समासु त्ति) त्रिष्वरकेषु अनुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र। उत्सर्पिण्यां तु दुःषमसुषमासुषमदुःषमारूपयोर्द्वयोः समययोर्द्वयोरेकयोरे-नुयोगः प्रवर्त्तते नान्यत्र। अयं च कालेष्वनुयोगः कालानुयोगो-ऽभिधीयते। तदेवं भणितः षड्विधः कालानुयोगः।

(८) संप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुयोगमाह—

वयणस्सेगत्तयाई, वयणाणं सोलसण्हं तु ।

(वयणस्सेत्यादि) इत्थंभूतमेकवचनं भवत्येवंभूतं वा द्विव-चनमीदृशं वा बहुवचनमेवंस्वरूप एकवचनाद्यन्यतरवचनस्य योऽनुयोगः, स च वचनस्यानुयोग उच्यते। वचनानां त्वनुयोगः षोडशवचनानुयोगः[षोडशवचनानि 'वयण' शब्दे वक्ष्यन्ते] वचनानामनुयोगः-प्रथमैकवचनादीनामेकविंशतिवचनानां व्या-ख्येति वचनानामित्युक्तम् ।

अथ वचनेन वचनैर्वचनेऽनुयोग इत्येतदाह—

वयणेणायरियाई, एक्केणुत्तो बहूहिँ वयणेहिं ।

वयणे खओवसमिए, वयणे पुण नत्थि अणुओगो ॥

वचनेनानुयोगो यथा-कश्चिदाचार्यादिः साध्वादिना सकृदेके-नापि वचनेनाभ्यर्थितोऽनुयोगं करोति। वचनैस्त्वनुयोगो-यदा स एवासकृद् बहुभिर्वचनैरभ्यर्थितस्तं करोति। क्षायोपशमिके व-चने स्थितस्यानुयोगो वचनानुयोगः। वचनेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः, वचनस्य क्षायोपशमिकत्वेनैकत्वासंभवात्। अन्ये तु मन्यन्ते-व्य-क्तिविवक्षया तेष्वेव क्षायोपशमिकेषु बहुषु वचनेष्वनुयोग इत्य-प्यविरुद्धमेवेति। तदेवं पञ्चविधः षड्विधो वा निर्दिष्टो वचनानु-योगः। वृ० । १ उ०

शुद्धवागनुयोगः—

दसविहे सुद्धावायाणुजोगे पण्णत्ते । तं जहा-चंकारे मं-कारे पिंकारे सेयंकारे सायंकारे एगत्ते बहुत्ते संजूहे सं-कामिए भिन्ने॥

शुद्धा अनपेक्षितवाक्यार्था,या वाक् वचनं, सूत्रमित्यर्थः,तस्या अ-नुयोगो विचारः शुद्धवागनुयोगः। सूत्रे चाऽनुस्वाराभावः प्राकृतत्वा-त्, तत्र चकारादिकायाः शुद्धवाचो योऽनुयोगः स चकारादिरेव व्यपदेश्यः। (तत्र चकारादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने वक्ष्यते) (भि-न्नमिति) क्रमकालभेदादिभिर्भिन्नं विसदृशम्। तदनुयोगो यथा-

'तिविहं तिविहेणमिति' संग्रहमुक्त्वा पुनर्मणेणमित्यादिना तिवि-हेण त्ति विवृतमिति क्रमभिन्नम्, क्रमेण हि तिविहमित्येतन्न करो-मीत्यादिना विवृत्य ततस्त्रिविधेनेति विवरणीयं भवतीति। अस्य च क्रमभिन्नस्यानुयोगोऽयम्, यथा-क्रमाविवरणे हि यथासंख्यं दोषः स्यादिति तत्परिहारार्थं क्रमो भेदः। तथाहि-न करोमि मन-सा न कारयामि वाचा कुर्वन्तं नानुजानामि, कायेनेति प्रसज्यते, अनिष्टं चैतत्,प्रत्येकपक्षस्यैवेष्टत्वात्। तथाहि-मनःप्रभृतिभिर्न क-रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव नानुजानामीति। तथा कालतो भेदोऽतीतादिनिर्देशे प्राप्ते वर्तमानादिनिर्देशः। यथा-जम्बूद्वी-पप्रज्ञप्त्यादिषु ऋषभस्वामिनमाश्रित्य ' सक्के देविंदे देवराया वंदइ नमंसइ त्ति ' सूत्रे। तदनुयोगश्चायं वर्तमाननिर्देशः, त्रि-कालभाविष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थं इति। इदं च दोषादिसूत्रत्रयमन्यथापि विमर्शनीयं, गम्भीरत्वादस्येति वाग-नुयोगतस्त्वर्थानुयोगः प्रवर्तत इति। स्था० १० ठा०।

[९] सम्प्रति भावानुयोगं षट्प्रकारमाह—

भावेण संगहाई-ण ऽन्नयरेणं दुगाइभावेहिं ।

भावे खओवसमिए, भावेसु उ नत्थि अणुओगो ॥

अहवा आयाराइसु, भावेसु वि एस होइ अणुओगो ।

सामित्तं आसज्ज व, परिणामेसुं बहुविहेसुं वा ॥

संग्रहादीनां पञ्चानामध्यवसायानामन्यतरेण शिष्याध्यवसा-येन योऽनुयोगः क्रियते स भावेनानुयोगः। ते चामी पञ्चाभि-प्रायाः। यदाह स्थानाङ्गे—

" पंचहिं ठाणेहिं सुयं वाएज्जा। तं जहा-संगहट्टयाए उवग्ग-हट्टयाए निज्जरट्टयाए सुयपज्जवजाएणं अव्वोच्छित्तीए " ॥

अयमर्थः-कथं नु नामैते शिष्याः सूत्रार्थसंग्रहकाः संपत्स्य-न्ते?, तथा कथं नु नाम गीतार्थीभूत्वाऽमी वस्त्राद्युत्पादनेन ग-च्छस्योपग्रहकरा भविष्यन्ति?, ममाप्येतां वाचयतः कर्मनिर्जरा भविष्यति?,तथा श्रुतपर्यवजातं श्रुतपर्यायराशिर्ममाऽपि वृद्धिं या-स्यति ?, श्रुतस्य चाऽव्यवच्छित्तिर्भविष्यतीत्येवं पञ्चभिरभिप्रायैः श्रुतं सूत्रार्थतो वाचयेदिति। एषामेव संग्रहादिभावानां मध्याद् द्वित्र्यादिभिर्भावैः सर्वैर्वाऽनुयोगं कुर्वतो भावैरनुयोगः। क्षायो-पशमिके भावे स्थितस्य व्याख्यां कुर्वतो भावानुयोगः । भावेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः, क्षायोपशमिकत्वेन तस्यैकत्वात् । अथवा ए-कोऽपि क्षायोपशमिको भाव आचारादिशास्त्रलक्षणविषयभेदा-द्भिद्यते, ततश्च आचारादिशास्त्रविषयभेदभिन्नेषु क्षायोपशमि-कभावेषु अप्येषु भवत्यनुयोगो न कश्चिद्विरोधः। वा इत्यथवा स्वामित्वमासाद्यानुयोगकर्तुः स्वामिनो बहून् प्रतीत्य क्षायोपश-मिकपरिणामेषु बहुष्वनुयोगप्रवृत्तेर्भावेष्वनुयोगो न विहन्यते। इत्युक्तः षड्विधो भावानुयोग इति।

[१०] एषां चाऽनुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं यस्य यत्र समावेशो भजना वा तदेवाह—

दव्वे नियमा भावो, न विणा ते यावि खेत्तकालेहिं ।

खेत्ते तिण्ह वि भयणा, कालो भयणाइ तीसुं पि ॥

द्रव्ये तावन्नियमाद् भावः पर्यायोऽस्ति, पर्यायविरहितस्य द्रव्य-स्य क्वापि कदाचिदप्यभावात्। तौ चापि द्रव्यभावौ क्षेत्रकालाभ्यां विना न संभवतः। द्रव्यभावयोर्हि नियमवान् सहभावो द-र्शित एव, द्रव्यं चावश्यकं क्वचित्क्षेत्रेऽवगाढमन्यतरस्थितिमद्-च भवति, अतः सिद्धमिदं द्रव्यभावावपि क्षेत्रकालाभ्यां विना

क्वाऽपि न भवतः । क्षेत्रे तु त्रयाणामपि द्रव्यकालभावानां भजना विकल्पना, क्वाऽपि तत्र ते प्राप्यन्ते क्वाऽपि नेत्यर्थः ; लोकक्षेत्रे त्रयाणामपि भावात्, अलोकक्षेत्रेऽभावादिति । आह–अलोकक्षेत्रेऽप्याकाशलक्षणं द्रव्यमस्ति, वर्त्तनादिरूपस्तु कालोऽगुरुलघवश्चानन्ताः पर्यायाः सन्त्येव, तत्कथं तत्र द्रव्यकालभावानामभावः ? । सत्यम्, किन्त्वाकाशलक्षणं द्रव्यं यत् तन्नोच्यते । तद्युक्तम्, तस्य क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वात्, कालस्यापीह समयादिरूपस्य चिन्तयितुं प्रस्तुतत्वात्, तस्य च समयक्षेत्रादन्यत्राभावाद्वर्त्तनादिरूपस्य त्वत्राविवक्षितग्रहणेनैव तत्र तस्य गृहीतत्वाच्च । पर्यायाश्चेह धर्माधर्मपुद्गलजीवास्तिकायद्रव्यसम्बन्धिनो विवक्षिताः, ते चालोके न सन्ति । एवमाकाशसम्बन्धिनस्त्वगुरुलघुपर्यायाः क्षेत्रग्रहणेनैव गृहीतत्वान्नेह विवक्षिता इत्यतो लोकत्रयाणामपि द्रव्यकालभावानामभावः । (कालो भयणाइ तीसु वि त्ति) द्रव्यक्षेत्रभावेषु त्रिष्वपि कालो भजनया विकल्पनया भवति, समयक्षेत्रान्तर्वर्त्तिषु तेषु तस्य भावात्, तद्बहिस्त्वभावादिति । एवं च स्थितानाममीषां द्रव्यादीनां यथासंभवमनुयोगः प्रवर्तत इति ।

अपरमपि द्रव्यादिगतं किञ्चित् स्वरूपं प्रसङ्गतः प्राह—

आहारो आहेयं, च होइ दव्वं तहेव भावो य ।
खेत्तं पुण आहारो, कालो नियमाउ आहेओ ॥

द्रव्यमाधारो भवति पर्यायाणाम्, आधेयं च भवति क्षेत्रे; तथा भावश्चाधारो भवति, कालस्य कालवर्णादीनां समयादिस्थितित्वादिति आधेयश्च भवति द्रव्ये; क्षेत्रमाकाशं पुनः सर्वेषामपि धर्माधर्मपुद्गलजीवकालद्रव्याणामगुरुलघुपर्यायाणां चाऽऽधार एव न त्वाधेयम्, सर्वस्यापि वस्तुनस्तत्रैवावगाढत्वात्, तस्य च स्वप्रतिष्ठितत्वेनान्यत्राऽऽधेयत्वायोगादिति । (कालो नियमाइ आहेओ त्ति) कालो नियमादाधेय एव भवति, नत्वाधारः, तस्य द्रव्यपर्यायेष्ववस्थितत्वात्, तत्र चान्यस्यास्थितत्वादिति । तदेवं व्याख्यातो नामादिभेदतः सप्तविधोऽप्यनुयोगः । विशे० । (' वच्छगगोणीत्यादि ' गाथाभिर्यान्यनुयोगाऽननुयोगसाधारणान्युदाहरणानि दत्तानि तानि अत्रैव भागे २८५ पृष्ठे 'अणणुओग' शब्देऽस्माभिर्दर्शितानि)

[११] संप्रत्येकार्थिकानि वक्तव्यानि—तानि द्विधा सूत्रस्याऽर्थस्य च । (तत्र सूत्रस्य 'सुय' शब्दे वक्ष्यन्ते)

साम्प्रतमर्थैकार्थिकान्याह—

अणुयोगो य नियोगो, भास विभासा य वत्तियं चेव ।
एए अणुओगस्स उ, नामा एगट्ठिया पंच ॥

अनुयोगो, नियोगो, भाषा, विभाषा, वार्त्तिकं च, एतानि पञ्चानुयोगस्यैकार्थिकानि । तत्रानुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः, निश्चितो योगो नियोगः, अर्थस्य भाषा, विविधप्रकारेण भाषणं विभाषा, वृत्तौ भवं वार्त्तिकम् । यदेकस्मिन् पदे यदर्थापन्नं तस्य सर्वस्यापि भाषणम् । उक्तान्येकार्थिकानि । सू० १३ उ० । विशे० । अनु० । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

[१२] अनुयोग इति कः शब्दार्थः ?, इत्याह–

अणुओयणमणुओगो, सुयस्स नियएण जमभिहेएण ।
वावारो वा जोगो, जो अणुरूवोऽणुकूलो वा ॥
अहवा जमत्थओ थो–व पच्छ भावेहिँ सुयमणुं तस्स ।
अभिधेये वावारो, जोगो तेणं च संबंधो ॥

यत् सूत्रस्य निजेनाऽभिधेयेनाऽनुयोजनमनुसंबन्धनमसावनुयोग इत्यर्थः । अथवा–योऽनुरूपोऽनुकूलो वा घटमानः संबध्यमानो व्यापारः प्रतिपादनलक्षणः सूत्रस्य निजार्थविषयेऽयमनुयोगः । अथवा–यद्यस्मादर्थतोऽर्थात् सकाशादणु सूक्ष्मं लघु सूत्रं काभ्यामित्याह । स्तोकं पश्चाद्भावाभ्यामेकस्यापि सूत्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थात्स्तोकत्वम् । तथा प्रथममुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणं तीर्थकरोक्तमर्थं चेतसि व्यवस्थाप्य पश्चादेव सूत्रं रचयन्ति गणधरा इत्येवमर्थात्पश्चाद्भावाच्च सूत्रमण्वेति भावः । तस्मात्तस्याणोः सूत्रस्य यः स्वकीयस्याऽभिधेये योगो व्यापारस्तेन चाऽणुना सूत्रेण सह यः सबन्धो योगोऽसावनुयोग इति । विशे० ।

तत्र सामान्येन प्रागुक्तमपि विशेषोपदर्शनार्थमाह—

अणुणा योगोऽणुयोगो, अणु पच्छाभावओ य थोवे य ।
जम्हा पच्छाऽभिहियं, सुत्तं थोवं च तेणाणु ॥

इह अणुयोग इति वा शब्दसंस्कारः, तत्र अनुना पश्चाद्भूतेन योगोऽनुयोगः, अथवा अणुना स्तोकेन योगोऽणुयोगः । तथा चाह-अणु इति पश्चाद्भावे, स्तोके च । यस्मात्पश्चादभिहितं कृतं सूत्रं स्तोकं च, तेन 'अणु' इति भण्यते । अर्थः पुनरननुः, पूर्वमुक्तत्वात्, बादरश्च, बहुत्वात् । एवमाचार्येणोक्ते शिष्यः प्राह-

पुव्वं सुत्तं पच्छा–य पगासो लोइया वि इच्छंति ।
पेलासरिसे सुत्ते, अत्थपया हुंति बहुया वि ॥

ननु पूर्वं सूत्रं पश्चात्प्रकाशोऽर्थः, तान् तान् भावान् प्रकाशयतीति प्रकाश इति व्युत्पत्तेः । सूत्राभावे तु स कस्य स्यात् ? । अपि च–लौकिका अप्येवमेवेच्छन्ति । तथा चोक्तं तैरेव- " पूर्वं सूत्रं ततो वृत्ति-र्वृत्तेरपि च वार्तिकम् । सूत्रवार्तिकयोर्मध्ये, ततो भाष्यं प्रवर्तते" ॥१॥ ततो यद्भवद्भिः पूर्वं-पूर्वमर्थः पश्चात् सूत्रमिति तन्न घटां प्राञ्चति । यदपि च प्रथ-सूत्रमणु अर्थो बादर इति । तदपि न सम्यक् । यत एकस्यां पेटायां बहूनि वस्त्राणि सन्ति, तत्र पेटाया एव बादरत्वं युज्यते, तद्वशाद् बहूनि वस्त्राणि मान्ति स्म । एवमत्रापि पेटासदृशे पेटास्थानीये सूत्रे बहून्यर्थपदानि वर्त्तन्ते, तत्र सूत्रमेव बादरीभवितुमर्हति नार्थ इति ।

न च महत्त्वमेकान्तेनार्थस्य; कस्मादित्याह–

इक्कं वा अत्थपयं, सुत्ता बहुगा वि संपयंसंति ।
उक्खित्तनाइमाइसु, अयमवि तम्हा अणेगंतो ॥

एकमर्थपदं, बहूनि सूत्राणि संप्रदर्शयन्ति । यथा-उत्क्षिप्तज्ञाते अनुकम्पा कर्त्तव्येत्यर्थे बहुभिः सूत्रैर्वर्णितः, आदिशब्दात् संघटादिषु ज्ञातेषु न बलहेतोराहारयितव्यमित्यादिपरिग्रहः । तस्मादयमनेकान्तः यदर्थो महानिति ।

आचार्यः प्राह–यत्त्वयोक्तं पूर्वं सूत्रं पश्चादर्थ इति, तन्न भवति, कथमित्याह–

अत्थं भासइ अरिहा, तमेव सुत्तीकरेंति गणधारी ।
अत्थं च विणा सुत्तं, अणिस्सियं केरिसं होइ ? ॥

अर्थं भाषतेऽर्हन्, तमेवार्हद्भाषितमर्थं सूत्रीकुर्वन्ति गणधारिणः । अर्थं च विना सूत्रमिति अनिश्रितं निश्रारहितं कीदृशं स्यात् ?, असंबद्धं 'दश दाडिमेत्यादि' वाक्यवदिति भावः । अपि च–लौकिका अपि शास्तारः प्रथमतोऽर्थं दृष्ट्वा सूत्रं कुर्वन्ति, अर्थमन्तरेण सूत्रस्यानिष्पत्तेः । यदप्युक्तम्-पेटावद् बादरं सूत्रमर्थोऽणुरिति । तदप्यश्लीलम् । यतस्तस्या एव पेटाया एकं वस्त्रमादाय तेनानेकाः पेटा बध्यन्ते, तथैकस्मादर्थाद् बहूनि सूत्राण्यर्वाक् तेनैव बध्यन्ते । एवं वस्त्रस्थानीयस्यार्थस्यामहत्त्वम्, पेटास्थानीयस्य तु

सूत्रस्याणुत्वमेव। यदप्युक्तम्-न च महत्त्वमेकान्तेनार्थस्येत्यादि, तदप्यपरिभावितपरिभाषितम् । यदुक्तिप्रज्ञातादिषु सत्त्वानुकम्पादिकोऽर्थस्तावन्मात्रस्य सूत्रस्य, अशेषस्य तु शेषोऽर्थः । उक्तोऽनुयोगः। बृ०१ उ०। स्वाभिधायकसूत्रेण सहार्थस्यानुगीयतेऽनुकूलो वा योगोऽस्येदमभिधेयमित्येवं संयोज्य शिष्येभ्यः प्रतिपादनमनुयोगः, सूत्रार्थकथनमित्यर्थः । अथवा एकस्याऽपि सूत्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थो महान्, सूत्रं त्वणु, ततश्चाणुना सूत्रेण सहार्थस्य योगोऽणुयोगः । तदुक्तम्-" निययाणुकूलजोगो, सुत्तस्सऽत्थेण जो य अणुओगो । सुत्तं च अणुं तेण, जोगो अत्थस्स अणुओगो " अनु० । दश० । नं० । आ० म० प्र० । जं० । आचा० ।

(१३) अधुना विधिद्वारावसरः; तत्र येन विधिना-ऽनुयोगः कर्त्तव्यस्तमाह-

सुत्तत्थो खलु पढमो, बिइओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही भणिय अणुओगे ॥

प्रथमस्य श्रोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थः कथनीयः-

यथा नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने, पडिगाहित्तए ॥

अस्यार्थः-नो इति प्रतिषेधे, न कल्पते न वर्त्तत इत्यर्थः। नैषां ग्रन्थो विद्यते इति निर्ग्रन्थाः, तेषां, वा विभाषायाम्, निर्ग्रन्थीनां वा, आममपक्वं, तालो वृक्षस्तालजवं तालं, तालफलमित्यर्थः । प्रलम्बं मूलं, तदपि तस्यैव तालवृक्षस्य प्रतिपत्तव्यम् । ततः समाहारः। अभिन्नमव्यपगतजीवं, प्रतिग्रहीतुमिति । एवं तावत् कथयितव्यं यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्ततो द्वितीयस्यां परिपाट्यां निर्युक्तिमिश्रितः पीठिकया सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या च समन्वितः, सोऽपि यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्तावत्कथनीयः । तृतीयस्यां परिपाट्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, पदपदार्थचालनाप्रत्यवस्थानादिभिः सप्रपञ्चं समस्तं कथयितव्यमिति भावः। एष विधिरनुयोगे ग्रहणधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वेदितव्यः ।

मन्दमतीन्प्रति प्रकारान्तरेणानुयोगविधिमाह-

मूयं हुंकारं वा, बाढक्कार पडिपुच्छ मीमंसा ।
तत्तो पसंग पारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥

प्रथमतः शृणुयात् । किमुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे संयतगात्रस्तूष्णीमासीत, ततो द्वितीये श्रवणे हुंकारं दद्यात, वन्दनं कुर्यादित्यर्थः। तृतीये बाढक्कारं कुर्यात्, बाढमेवमेतद् नान्यथेति प्रशंसेदित्यर्थः । चतुर्थे गृहीतपूर्वापरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात; यथा कथमेतदिति ?। पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजिज्ञासां कुर्यात् । षष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणे प्रसङ्गः, पारगमनं चाऽस्य भवति । ततः सप्तमे परिनिष्ठां गुरुवदनुभाषत इत्यर्थः। यत एवं मन्दमेधसां श्रवणपरिपाट्या विवक्षिताऽध्ययनार्थावगमः, तत-स्तान् प्रति सप्त वारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति कर्त्तव्यः ।

अत्र परावकाशमाह-

चोइए रागदोसा, समत्थ परिणामगे परूवणया ।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

शिष्यो नोदयति प्रश्नयति समर्थे ग्रहणधारणासमर्थे, तथा परिणामके । उपलक्षणमेतत्-ग्रहणधारणासमर्थेऽतिपरिणामके च या प्ररूपणा तथा युष्माकं रागद्वेषौ प्रसज्यतः। तथाहि-तिसृभिः परिपाटीभिरेकान् ग्राहयतो रागोऽपरान् सप्तभिः परिपाटीभिर्ग्राहयतो द्वेषः। तथा परिणामकान् ग्राहयतो रागः, इतरानतिपरिणामकान् परिहरतश्च द्वेषः । एतेषां ग्रहणधारणासमर्थासमर्थानां परिणामकादीनां च यथानुपूर्व्या क्रमेण नानात्वं वक्ष्ये, तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयेत ।

प्रथमतो ग्रहणधारणासमर्थासमर्थान्प्रति रागद्वेषावाह-

मच्छरया अविमुत्ती, पूया सक्कार गच्छइ अ खिन्नो ।
दोसा गहणसमत्थे, इयरे रागो उ वुच्छेयो ॥

ग्रहणधारणासमर्थे शिष्यं तिसृभिः परिपाटीभिर्ग्राहयत एतावन्ति कारणानि स्युः-एष बहुशिक्षितो मम प्रसन्नो भविष्यति ततो मत्सरतया परिवारत्वेन वर्त्तेत इत्यविमुक्तिकारणम् । अथवा-गृहीतसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति। खिन्नो वा परिश्रान्तोऽन्यगणं गमिष्यति।(वुच्छेय त्ति) मद्गतस्तौ वाऽनुयोगस्य व्यवच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधशिष्यस्याभावात् । एवं कारणानि संभाव्य ग्रहणधारणासमर्थे तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोगं वदतो द्वेषः । इतरस्मिन् जडे रागः, यथा-तदवबोधमनुयोगस्य प्रवर्त्तनात् । अत्राचार्य आह-

निरवयवो नहु सक्को, सयं पयासो उ संपयंसेउं ।
कुंभजले विहु तुरि उ-ज्झियम्मि नहु तिम्म पम्हिल्लव्वू ॥

नहु नैव सूत्रस्य प्रकाशोऽर्थः सकृदेकया परिपाट्या निरवयवः समस्तः संप्रदर्शयितुं शक्यः, तस्य ग्रहणधारणासमर्थो नैकया परिपाट्याऽवधारयितुमीश इति तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोगकथनमित्यदोषः ।

सांप्रतमतिपरिणामकानपरिणामकान् परिहरतो द्वेषाभावमाह-

सुत्तत्थं कहयंतो, पारोक्खी सिस्सभावमुवलब्भइ ।
अणुकंपाइ अपत्ते, निज्जूहइ मा विणासिज्जा ॥

पारोक्षी परोक्षज्ञानोपेतः शिष्येभ्यः सूत्रार्थौ कथयन् विनयाविनयकरणादिना तेषां शिष्याणां भावमभिप्रायमुपलभ्य, अपात्राणि अपात्रभूतान् शिष्यान् अनुकम्पया निर्यूहयति अपवदति । न तेभ्यः सूत्रार्थौ कथयति । श्रुताशातनादिना मा विनश्येयुरिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह--

दारुं धाउं वाही-वीए कंकडुय लक्खणं सुविणं ।
एगंतेण अजोग्गे, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनायोग्ये अपरिणामके च दारु धातुर्व्याधिर्बीजानि कांकटुको लक्षणं स्वप्न इत्येवमादीनि उदाहरणानि दृष्टान्ताः ।

तत्र दारुदृष्टान्तमाह-

को दोसो एरंडे, जं रहदारुं न कीरए तत्तो ।
को वा तिणिसे रागो, उवजुज्जइ जं रहंगेसु ॥

एरण्डे एरण्डद्रुमे को द्वेषः ?, यत्तस्मात् रथयोग्यं दारु न क्रियते ?, को वा तिनिशे रागो यदुपयुज्यते स रथाङ्गेषु ? ।

जं पि य दारुं जोग्गं, जस्स उ वत्थुस्स तं पि हु न सक्का ।
जोएउमणिम्मविउं, तच्छणदलवेहकुसेहिं ॥

यदपि वस्तुनोऽङ्गादेर्योग्यं दारु तदपि तक्षणदलवेधकुशैरनिर्माप्य योजयितुमशक्यम्, किं तु निर्माप्य, एवमिहापि योग्योऽपि यावदर्वाक्तनैः सूत्रैः न परिकर्मितस्तावन्न कल्पं व्यवहारं वाऽध्यापयितुं योग्यः। तत्र तक्षणं प्रतीतम्, दलानि द्विधा त्रिधा वा काष्ठस्य पाटनं, वेधः प्रतीतः, कुशो यो वेधे प्रोतः प्रवेश्यते ।

संप्रति धातुदृष्टान्तमाह-

एमेव अधाउं उ-ज्झिऊणं कुणइ धाऊण आयाणं ।

न य अक्कमेण सक्का, धाउम्मि वि इच्छियं काउं ॥
एवमेव रागद्वेषौ विना अधातुं त्यक्त्वा धातूनामादानं करोति। न च धातानप्यक्रमेणेप्सितं कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण। एवमिहाप्ययोग्यानपि क्रमेण ग्राहयतो न द्वेषः।

अधुना व्याधिदृष्टान्तमाह–

सुहसज्झो जत्तेणं, जत्तासज्झो असज्झवाही उ ।
जह रोगे पारिच्छा, सिस्ससजावाण वि तहेव ॥

यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एष सुखसाध्यः, एष यत्नेन साध्यः, एष वाऽसाध्यव्याधिर्यत्नेनाप्यसाध्यः। परीक्षाऽनन्तरं च रागद्वेषौ विना तदनुरूपा प्रवृत्तिः। एवं शिष्यस्वभावानामपि तथैव रागद्वेषाभावेन परीक्षा क्रियते, तदनुरूपा च प्रवृत्तिः।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह–

बीयमबीयं नाउं, मोत्तुमबीए उ करिसओ सालिं ।
ववइ विरोहणजोग्गो, न यावि से पक्खवाओ उ ॥

यथा कर्षको बीजमबीजं च ज्ञात्वा अबीजानि मुक्त्वा शालिं शालिबीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयोग्ये बीजे (से) तस्य कर्षकस्य पक्षपातो रागः। एवमत्रापि भावनीयम्।

संप्रति काकंकुकदृष्टान्तमाह–

को कंकडुए दोसो, जं अग्गी तं न पायएइ दित्तो ।
को वा इयरे रागो, एमेव य अत्थ जाविज्जा ॥

को द्वेषोऽग्नेः कांकमुके ('कोरमू' इति ख्याते) यदग्निर्दीप्तोऽपि तं न पचति, को वा इतरस्मिन् रागो यत्पाचयति?, नैव कश्चित्। एवमत्रापि भावनीयम्।

अधुना लक्षणदृष्टान्तमाह–

जे उ अलक्खणजुत्ता, कुमारगा ते निसिहिउं इयरे ।
रज्जारिहे अणुमन्नइ, सामुद्दो नेय विसमो उ ॥

यथा सामुद्रलक्षणपरिज्ञाता राज्ञो व्यपगते तस्य ये कुमारा अलक्षणयुक्तास्तान् निषिध्य इतरान् लक्षणोपेतान् राज्यार्हाननुमन्यते। न च स तयाऽनुमन्यमानो विषमो रागद्वेषवान्। एवमत्रापि द्रष्टव्यम्।

स्वप्नदृष्टान्तमाह–

जे जह कहेइ सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी ।
रत्तो वा दुट्ठो वा, नया वि वत्तव्वयमुवेइ ॥

यो यथा स्वप्नं कथयति तस्य तथा तज्ज्ञानी स्वप्नफलं कथयति, न च स तथा कथयन् रक्त इति वा द्विष्ट इति वा वक्तव्यतामुपैति। एवमत्रापि एकान्तेनायोग्या ये शिष्याः तेषां परिहारे रागद्वेषाभावे दृष्टान्ता अभिहिताः।

संप्रति कालान्तरयोग्यानपरिणतान् क्रमेण परिणामयतो-रागद्वेषाभावे दृष्टान्तमाह–

अग्गी बाल गिलाणे, सीहे रुक्खे करीलमाईया ।
अपरिणए जह एए, सप्पडिवक्खा उदाहरणा ॥

अपरिणते जातकालान्तरयोग्ये, एतानि सप्रतिपक्षाणि, पूर्वमयोग्यतायां पश्चाद्योग्यतायामित्यर्थः। उदाहरणानि, तद्यथा–अग्निर्बालो ग्लानः। सिंहो वृकः। करीलं वंशकरीलम्। आदिशब्दाद् वक्ष्यमाणहस्त्यादिदृष्टान्तपरिग्रहः।

तत्र प्रथममग्निदृष्टान्तमाह–

जह अरणीनिम्मविओ, थोवो विउलिंधणं नया दहिउं ।
सक्कइ सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥

यथा अरणिनिर्मापितः स्तोको वह्निर्विपुलमिन्धनं न दग्धुं शक्नोति, स एव पश्चात्प्रज्वलितः सर्वस्यापीन्धनजातस्य दहने प्रत्यलः समर्थः।

एवं खु थूलबुद्धी, निउणं अत्थं अपच्चलो घेत्तुं ।
सो चेव जणियबुद्धी, सव्वस्स वि पच्चलो पच्छा ॥

एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः स्थूलबुद्धिः सन् निपुणमर्थं ग्रहीतुमप्रत्यलः; पश्चात् स एव शास्त्रान्तरैर्जनितबुद्धिरुत्पादितबुद्धिः सर्वस्यापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यलो भवति।

बालदृष्टान्तमाह–

देहे अभिवड्ढंते, बालस्स उ पीहगस्स अभिवुड्ढी ।
अइबहुएण विणस्सइ, एमेव हु गुड्डियगिलाणे ॥

बालस्य देहे अभिवर्द्धमाने तदनुसारेण दातव्यस्य पीथकस्याहारस्यापि वृद्धिर्भवति। देहवृद्ध्यनुसारतः पीथकमपि क्रमशो वर्द्धमानं दीयत इति भावः। यदि पुनरतिबहु दीयते तदा स विनश्यति। ग्लानदृष्टान्तमाह–एवमेव बालगतेन प्रकारेण अधुनोत्थितेऽपि ग्लाने वक्तव्यम्, यथा-ग्लानोऽप्यधुनोत्थितः क्रमेणाभिवर्द्धमानमाहारं गृह्णाति, एकवारमतिप्रभूतग्रहणे विनाशप्रसङ्गात्। एवं शिष्योऽपि क्रमेण योग्यताऽनुरूपं शास्त्रमादत्ते, प्रथमत एवातिनिपुणार्थशास्त्रग्रहणे बुद्धिभङ्गप्रसक्तेः।

सिंहादिदृष्टान्तानाह–

खीरमिउपोग्गलेहिं, सीहो पुट्ठो उ खाइ अट्ठी वि ।
रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिल्लो य नहछिज्जो ॥
तं चेव विवड्ढंता, हुंति अछेज्जा कुहाडमाईहिं ।
तह कोमलाभिबुद्धी, भज्जइ गहणेसु अत्थेसु ॥

सिंहः प्रथमतः क्षीरमृदुपुद्गलैः स्वमात्रा पोष्यते, ततः पुष्टः सन् अस्थीन्यपि स खादति। तथा वृक्षो द्विपर्णो, वंशकरीलम्, एतौ द्वावपि प्रथमतो नखच्छेद्यौ, ततः पश्चादभिवर्द्धमानौ यतस्ततः कुठारादिभिरच्छेद्यौ भवतः। प्रथमतः कोमला बुद्धिर्भवति, ततः सा गहने ष्वर्थेषु भज्यते भङ्गमुपयाति; क्रमेण तु शास्त्रान्तरदर्शनतोऽभिवर्द्धमाना कठोरात्कठोरतरोपजायते इति न कचिदपि भङ्गमुपयाति।

एतदेवोपदिशन्नाह–

निउणे निउणं अत्थं, थूलत्थं थूलबुद्धिणो कहए ।
बुद्धीविवड्ढणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो ॥

निपुणे निपुणमर्थं कथयेत, कथंभूतमित्याह-बुद्धिविवर्द्धनकरम्। एवं सति स कालेन निपुणो भवति। अन्यथा बुद्धिभङ्गप्रसक्तो न स्यात्।

सांप्रतमादिशब्दसूचितान् हस्त्यादीन् दृष्टान्तानाह–

सिद्धत्थए वि गिएहइ, हत्थी थूलगहणे सुनिम्माओ ।
सरवेहपत्तछिज्ज-प्पत्र धमपडचित्त तह धमए ॥

हस्ती स्थूलग्रहणे सुनिर्मातः सन् पश्चात्सिद्धार्थकानपि गृह्णाति। तथा हि-नवको हस्ती शिक्ष्यमाणः प्रथमं काष्ठानि ग्राह्यते, तदनन्तरं क्षुल्लकान् पाषाणान्, ततो गोलिकाः, ततो बदराणि, तदनन्तरं सिद्धार्थकानपि, यदि पुनः प्रथमत एव सिद्धार्थकान् ग्राह्यते, ततो न शक्नोति ग्रहीतुमिति। एवं स्वरवेधपत्रच्छेद्यप्लवकघटकारकपटकारकचित्रकारकधमकाश्च दृष्टान्ता भावनीयाः। ते चैवम्-प्रथमं

धानुष्कः स्थूलं द्रव्यं व्यद्धुं शिक्षति, पश्चात् सवाल पटुत्वाद-तिसुनिपुणमतिः स्वरेणाऽपि विध्यति । तथा पत्रच्छेद्यकार्थे प्रथममकिञ्चित्करैः पत्रैः शिक्ष्यते, ततो यदा निर्मातो भवति तदा ईप्सितं पत्रच्छेद्यं कार्यते, तथा प्लवकोऽपि प्रथमं वंशे लगयित्वा प्लाव्यते, ततः पश्चादस्पृशन् आकाशेऽपि तानि तानि करणानि करोति। घटकारोऽपि प्रथमतः शरावादीनि कार्यते, पश्चाच्छिक्षितो घटानपि करोति । पटकारोऽपि प्रथमतः स्थूलानि चीवराणि शिक्ष्यते, ततः सुशिक्षितः शोभनानपि पटान् वयति । चित्रकारोऽपि प्रथमं मुखरूक्कं चित्रयितुं शिक्ष्यते, ततः शेषानवयवान्, पश्चात् सुशिक्षितः सर्वं चित्रकर्म सम्यक् करोति । धमकोऽपि पूर्वं श्टङ्गादीन् धमयते, पश्चात् शङ्खम ।

अत्रैवोपनयमाह-

जत्थ मई ओगाहइ, जोग्गं जं जस्स तस्स तं कहए।
परिणामागमसरिसं, संवेगकरं सनिव्वेयं ॥

यथैते हस्त्यादयः क्रमेण निर्माप्यन्ते, एवं शिष्यस्यापि यत्र मतिरवगाहते, यस्य च यद्योग्यं शास्त्रं तस्य तत्कथयति । कथंभूतमित्याह-परिणामागमसदृशं यस्य यादृशः परिणामो यस्य च यावानागमस्तत्सदृशं यथेदृशपरिणामस्येदमेतावदागमस्य पुनरिदमिति । पुनः किंविशिष्टं कथयितव्यमत आह-संवेगकरं-सिद्धिर्देवलोकः सुकुलोत्पत्तिरित्यादेरभिलाषः संवेगः, तत्करणशीलं संवेगकरं, तथा नरकस्तिर्यग्योनिः कुमानुषत्वमित्यादेर्विरक्तता निर्वेदः, तत्करणशीलं निर्वेदकरम । तदेवं योग्येऽपि क्रमेण दाने रागद्वेषाभाव उक्तः । संप्रति शिष्येष्वाचार्येण परिणामकत्वं परीक्ष्यानुयोगः कर्त्तव्यः, शिष्यैरप्याचार्यं परीक्ष्य तस्य सकाशे श्रोतव्यमिति ।

शिष्याचार्ययोः परस्परविधिमतिदेशत आह—

गेहंत गाहगाणं, आइसूएसु विहि समक्खाओ ।
सा चेव य होइ इयं, उज्जोगो वन्निओ नवरं ॥

गृह्णतां शिष्याणां ग्राहकस्याचार्यस्य आदिसूत्रेषु सामायिकादिषु यो विधिः समाख्यातो गोणीचन्दणेत्यादिलक्षणः स एवेह निरवशेषो वक्तव्यः । यस्तु-शिष्याणामनुयोगकथने उद्योग उद्यमो यथा-तिसृभिः परिपाटीभिरथवा सप्तभिः कर्त्तव्यः सः, नवरं, सप्रपञ्चमुपवर्णितः । बृ० १ उ० ।

इदानीमनुयोगविधिरुच्यते-तत्रानुयोगो वक्ष्यमाणशब्दार्थः,स यदाऽधीतसूत्रस्याचार्यप्रस्थापनयोग्यस्य शिष्यस्यानुज्ञायते,तदाऽयं विधिः, प्रशस्तेषु तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्त्तेषु, प्रशस्ते च जिनायतनादौ क्षेत्रे भुवं प्रमार्ज्य एका गुरूणामेका शिष्याणामिति निषद्याद्वयं क्रियते, ततः प्राभातिककाले प्रवेदिते निषद्यानिषण्णस्य गुरोश्चोलपट्टकरजोहरणमुखवस्त्रिकामात्रोपकरणो विनेयः पुरतोऽवतिष्ठते,ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्षयतः, पुनस्तया च समग्रं शरीरं प्रत्युपेक्षयतः; ततो विनेयो गुरुणा सह द्वादशावर्तवन्दनकं दत्त्वा वदति—इच्छाकारेण संदिशत स्वाध्यायं प्रस्थापयामि । ततश्च द्वावपि स्वाध्यायं प्रस्थापयतः, ततः प्रस्थापिते स्वाध्याये गुरुर्निषीदति । ततः शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनकं ददाति । ततो गुरुरुत्थाय शिष्येण सहानुयोगप्रस्थापननिमित्तं कायोत्सर्गं करोति, ततो गुरुर्निषीदति, ततः स शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनकेन वन्दते, ततो गुरुरक्षानभिमन्त्र्योत्तिष्ठत्युत्थाय च निषद्यां पुरतः कृत्वा वामपार्श्वीकृतशिष्यश्चैत्यवन्दनं करोति, ततः समाप्ते चैत्यवन्दने त्रिर्गुरुरूर्द्धस्थित एव नमस्कारपूर्वं नन्दिमुच्चारयति, तदन्ते चाभिधत्ते-मां साधोरनुयोगमनुजानीत, क्षमाश्रमणानां हस्तेन द्रव्यगुणपर्यायैरनुज्ञातस्ततो विनयस्थो वन्दनकेन वन्दते । उत्थितश्च ब्रवीति-संदिशत किं भणामि ?। ततो गुरुराह-वन्दित्वा प्रवेदय । ततो वन्दते शिष्यः। उत्थितस्तु ब्रवीति-भवद्भिर्ममानुयोगोऽनुज्ञात इच्छाम्यनुशास्तिम् । ततो गुरुर्वदति-सम्यगवधारय, अन्येषां च प्रवेदय; अन्येषामपि व्याख्यानं कुर्वित्यर्थः । ततो वन्दते असौ, वन्दित्वा च गुरुं प्रदक्षिणयति, प्रदक्षिणान्ते च भवद्भिर्ममानुयोगोऽनुज्ञात इत्याद्युक्तिप्रत्युक्तीः करोति । द्वितीयप्रदक्षिणा च तथैव, पुनस्तृतीयाऽपि तथैव, ततस्तृतीयप्रदक्षिणान्ते गुरुर्निषीदति । तत्पुरःस्थितश्च विनेयो वदति-युष्माकं प्रवेदितं संदिशत, साधूनां प्रवेदयामीत्यादिशेषमुक्तविधिवद्वक्तव्यम, यावदनुयोगानुज्ञानिमित्तं कायोत्सर्गं करोति । तदन्ते च सनिषद्यः शिष्यो गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च वन्दन्ते, पुनः प्रदक्षिणयति, एवं त्रीन् वारान्, ततो गुरोर्दक्षिणभुजाऽऽसन्ने निषीदति । ततो गुरुपारंपर्यं एतानि मन्त्रपदानि गुरुः त्रीन् वारान् शिष्यस्य कथयति, तदनन्तरं प्रवर्द्धमानाः प्रवरसुगन्धमिश्रास्तिस्रोऽक्षमुष्टीस्तस्मै ददाति । ततो निषद्याया गुरुरुत्थाय शिष्यं तत्रोपवेश्य यथासन्निहितसाधुभिः सह तस्मै वन्दनकं ददाति । ततो विनेयो निषद्यास्थित एव " नाणं पंचविहं पएणत्तं " इत्यादि सूत्रमुच्चार्य यथाशक्ति व्याख्यानं करोति । तदन्ते च साधुभ्यो वन्दनकं ददाति, ततः शिष्यो निषद्यात उत्तिष्ठति । गुरुरेव पुनस्तत्र निषीदति । ततो द्वावप्यनुयोगविसर्गार्थं कालप्रतिक्रमणार्थं च प्रत्येकं कायोत्सर्गं कुरुतः । ततः शिष्यो निरुद्धं प्रवेदयति, निरुद्धं करोतीत्यर्थः । अनु० ।

शिष्यं प्रति आचार्येण—

एवं वएसु ठवणा, समणाणं वन्निआ समासेणं ।
अणुओगगणाणुन्नं, अओ परं संपवक्खामि ॥ ३१ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना श्रमणानां साधूनां वर्णिता समासेन संक्षेपेण अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टामतः परम; किमित्याह-संप्रवक्ष्यामि सूत्रानुसारतो ब्रवीमीति गाथार्थः ॥३१॥

किमित्ययं प्रस्ताव इत्याह-

जम्हा वयसंपन्ना, कालोचिअगहिअसयलसुत्तत्था ।
अणुओगाणुन्नाए, जोगा भणिआ जिणिंदेहिं ॥ ३२ ॥

यस्माद् व्रतसंपन्नाः साधवः कालोचितगृहीतसकलसूत्रार्थास्तदनुयोगवन्त इत्यर्थः । अनुयोगानुज्ञाया आचार्यस्थापनारूपाया योग्या भणिता जिनेन्द्रैर्नान्य इति गाथार्थः ॥३२॥

कस्मादित्याह—

इहराओ मुसावाओ, पवयणखिंसा य होइ लोगम्मि ।
सिस्साण वि गुणहाणी, तित्थुच्छेओ अ भावेण ॥३३॥

इतरथा अनीदृशानुयोगानुज्ञायां मृषावादः, गुरोस्तमनुजानतः प्रवचनखिंसा च भवति लोके, तथाऽनृतप्ररूपणात् । ततः शिष्याणामपि गुणहानिः, सम्यग्ज्ञायकाभावात । तीर्थोच्छेदश्च भवेत् ततः, सम्यग्ज्ञानाद्यप्रवृत्तेरिति द्वारगाथार्थः ॥३३॥

व्यासार्थं त्वाह—

अणुओगो वक्खाणं, जिणवरवयणस्स तस्सऽणुन्ना उ ।
कायव्वमिणं भवया, विहिणा सइ अप्पमत्तेणं ॥३४॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते जिनवरवचनस्यागमस्य, तस्यानु-

क्वा पुनरियम, यदुत कर्तव्यमिदं व्याख्यानं भवता विधिना, न यथाकथञ्चित ; सदाऽप्रमत्तेन ; सर्वत्र समवसरणादिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

कालोचिअतयभावे, वयणं निव्विसयमेवमेयं ति ।
दुग्गयसुअम्मि जहिमं, दिज्जइ इमाइँ रयणाइं ॥ ३५ ॥

कालोचिततदभावे अनुयोगाभावे,वचनं निर्विषयमेवैतदिति। तदनुभावचनदृष्टान्तमाह–दुर्गतसुते दरिद्रपुत्रे यथेदं वचनम– 'यदुत दद्यास्त्वमेतानि रत्नानि' रत्नाभावान्निर्विषयं, तथेदमप्यनुयोगाभावादिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

असत्प्रवृत्तिनिमित्तापोहायाह–

किं पि अ अहिअं पि इमं,आलंवण नो गुणेहिँ गुरुआणं ।
एत्थं कुसाइतुल्लं, अइप्पसंगा मुसावाओ ॥३६॥

किमपि यावत्तावदधीतमित्येतदालम्बनं न तत्त्वतो भवति गुणैर्गुरूणाम् । अत्र व्यतिकरे कुशादितुल्यमनालम्बनमित्यर्थः। कस्मात् ?, अतिप्रसङ्गात् । स्वल्पस्य श्रावकादिभिरप्यधीतत्वादतो मृषावादो गुरोस्तदनुज्ञानत इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अणुओगी लोगाणं, किल संसयणासओ दढं होइ ।
तं अल्लिअंति तो ते, पायं कुसलाहिगमहेओ ॥३७॥

अनुयोगी आचार्यः लोकानां किल संशयनाशको दृढमत्यर्थं भवति। तम,'अल्लियंति'उपयान्ति ततस्ते लोकाः प्रायः। किमर्थमित्याह-कुशलाधिगमहेतोः धर्मपरिज्ञानायेति गाथार्थः ॥३७॥

ततः किमित्याह–

सो थोवो अ वराओ, गंभीरपयत्थजणिइमग्गम्मि ।
एगंतेणाकुसलो, किं तेसिं कहेइ सुहुमपयं ? ॥ ३८ ॥

स स्तोको वराकश्चाल्पश्रुत इत्यर्थः । गम्भीरपदार्थभणितिमार्गे बन्धमोक्षतत्त्ववचनलक्षणे एकान्तेनाऽकुशलोऽनभिज्ञः किं तेभ्यः कथयति लोकेभ्यः तस्य सूक्ष्मपदं बन्धादिगोचरमिति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

ततश्च–

जं किंचि भासगं तं, दट्ठूण वुहाण होइ अवण त्ति ।
पवयणधरो उ तम्मी, इअ पवयणखिंसणा णेआ ॥३९॥

यत्किञ्चिद्भाषकं तमसंबद्धप्रलापिनमित्यर्थः,दृष्ट्वा बुधानां विदुषां भवत्यवज्ञेति । कथं केत्यत्राह-प्रवचनधरोऽयमिति कृत्वा तस्मिन् प्रवचने य एवं, प्रवचनखिंसना अवज्ञा ज्ञातव्या– अहो ! असारोऽयमतश्चेदयमेतदभिज्ञः सन्नेवमाहेति गाथार्थः।

सीसाण कुणइ कह सो, तहाविहो हंदि ! नाणमाईणं ।
अहिआहिअसंपत्तिं, संसारुच्छेअणं परमं ॥४०॥

शिष्याणामिति-शिष्येषु करोति । कथमसौ ?, तथाविधोऽज्ञः सन् हंदीत्युपदर्शने, ज्ञानादीनां गुणानां ज्ञानादिगुणानामधिकाधिकसंप्राप्तिं वृद्धिमित्यर्थः । किंभूतामित्याह-संसारोच्छेदिनीं संप्राप्तिं, परमां प्रधानामिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तथा–

अप्पत्तणओ पायं, हेआऽविवेगविरहिओ वा वि ।
नहु अन्नओ वि सो तं, कुणइ अ मिच्छाऽभिमाणाओ ।४१।

अल्पत्वात् तुच्छत्वात्कारणात् प्रायो बाहुल्येन, न हि तुच्छोऽसतीं गुणसंपदमारोपयति । तथा–हेयादिविवेकविरहितो वाऽपि । हेयोपादेयपरिज्ञानाभावत इत्यर्थः । न ह्यन्यतोऽपि बहुश्रुतादसावज्ञस्तां प्राप्तिं करोति तेषु । कुत इत्याह-मिथ्याऽभिमानादहमप्याचार्य एव, कथं मच्छिष्या अन्यसमीपे शृण्वन्तीत्येवंरूपादिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

तो ते वि तहाभूआ, कालेण वि होंति नियमओ चेव ।
सीसाण वि गुणहाणी, इअ संताणेण विन्नेआ ॥४२॥

ततस्तेऽपि शिष्यास्तथाभूता मूर्खा एव कालेन बहुनाऽपि भवन्ति नियमत एव,विशिष्टसंपर्काभावाच्छिष्याणामप्यगीतार्थशिष्यसत्त्वानां गुणहानिरियम, एवं सन्तानेन प्रवाहेण विज्ञेयेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

नाणाईणमभावे, होइ विसिट्ठाणऽणत्थगं सव्वं ।
सिरतुंममुंमणाइ वि, विवज्जयाओ जहऽन्नेसिं ॥४३॥

ज्ञानादीनामभावे सति भवति विशिष्टानाम् । किमित्याह-अनर्थकं सर्वं निरवशेषम् । शिरस्तुण्डमुण्डनाद्यपि, आदिशब्दाद्भिक्षाऽटनादिपरिग्रहः। कथमनर्थकमित्याह-विपर्ययात्कारणाद् यथाऽन्येषां वराकादीनामिति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ण य समइविगप्पेणं, जहा तहा कयमिणं फलं देइ ।
अवि आगमाणुवाया, रोगतिगिच्छाविहाणं व ॥ ४४ ॥

न च स्वमतिविकल्पेनागमशून्येन यथा तथा कृतमिदं शिरस्तुण्डमुण्डनादि फलं ददाति स्वर्गापवर्गलक्षणम् । अपि चागमानुपातादागमानुसारेण कृतं ददाति। किमिवेत्याह-रोगचिकित्साविधानवत्, तदेकप्रमाणत्वात् परलोकस्येति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इय दव्वलिंगमित्तं, पायमगीआउ जं अणत्थफलं ।
जायइ ता विन्नेओ, तित्थच्छेओ य भावेणं ॥४५॥

(इय) एवं द्रव्यलिङ्गमात्रं भिक्षाटनादिफलं प्रायोऽगीतार्थाद् गुरोः सकाशाद् यद्यस्मादनर्थफलं विपाके जायते, तत्तस्माद्विज्ञेयस्तीर्थोच्छेद एव, भावेन परमार्थेन, मोक्षलक्षणतीर्थफलाभावादिति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

कालोचिअसुत्तत्थे, तम्हा सुविणिच्छियस्स अणुओगो ।
निअमाऽणुजाणिअव्वो,न सवणओ चेव जह भणिअं।४६।

कालोचितसूत्रार्थे अस्मिन्विषये तस्मात्सुविनिश्चितस्य ज्ञाततत्त्वस्यानुयोग उक्तलक्षणः नियमादेकान्तेनानुज्ञातव्यः, गुरुणा न श्रवणत एव श्रवणमात्रेणैव । कथमित्याह–यतो भणितं संमत्यां सिद्धसेनाचार्येणेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

किमित्याह–

जह जह बहुस्सुओ सं–मओ अ सीसगणसंपरिवुडो अ ।
अविणिच्छिओ अ समये,तह तह सिद्धंतपडणीओ।४७।

यथा यथा बहुश्रुतः श्रवणमात्रेण संमतश्च तथाविधलोकस्य, शिष्यगणसंपरिवृतश्च बहुमूढपरिवारश्च, अमूढानां तथाविधापरिग्रहणात् , अविनिश्चितश्चाज्ञाततत्त्वश्च समये सिद्धान्ते तथा तथाऽसौ वस्तुस्थित्या सिद्धान्तप्रत्यनीकः सिद्धान्तविनाशकः, तल्लाघवापादनादिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

एतदेव भावयति–

सव्वण्णूहिँ पणीयं, सो उत्तममइसएण गंभीरं ।
तुच्छकहणाइ हिट्ठा, सेसाण वि कुणइ सिद्धंतं ॥ ४८ ॥

सर्वज्ञैः प्रणीतं सोऽविनिश्चित उत्तमं प्रधानमतिशयेन गम्भीरं ज्ञातार्थसारं,तुच्छकथनयाऽपरिणतदेशनयाऽधः शेषाणामपि सिद्धान्तानां करोति,तथाविधलोकं प्रति सिद्धान्तमिति गाथार्थः ।४८।

तथा–

अविणिच्छिओ ए समं, उस्सग्गाववायजाणओ होइ ।
अविसयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥४९॥

अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादज्ञो भवति सर्वत्रैव, ततश्चाविषयप्रयोगतोऽनयोरुत्सर्गापवादयोः, तथाविधः स्वपरविनाशको नियमात्, कूटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥४९॥

ता तस्सेव हिअट्ठा, तस्सीसाणमणुमोअगाणं च ।
तह अप्पणो अ धीरो, जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ ५० ॥

तत्तस्मात् तस्यैवाधिकृतानुयोगधारिणः हितार्थं परलोके, तथा तच्छिष्याणां भाविनामनुमोदकानां च तथाविधाऽन्यप्राणिनां, तथाऽऽत्मनश्च हितार्थमाज्ञाराधनेन धीरो गुरुर्योग्याय विनेयाय अनुजानाति एवं वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति गाथार्थः ॥५०॥

तिहिजोगम्मि पसत्थे, गहिए काले निवेइए चेव ।
ओसरणमह णिसिज्जा–रयणं संघट्टणं चेव ॥ ५१॥

तिथियोगे प्रशस्ते संक्रान्तिपूर्णिमादौ, गृहीते काले, विधिना निवेदिते चैव गुरोः समवसरणम्। अथ निषद्यारचनमुचितभूमावपि गुरुनिषद्याकरणमित्यर्थः। संघट्टनं चैवाऽनिक्षेप इति गाथार्थः ॥ ५१ ॥

तत्तो पवेइआए, उवविसइ गुरुओ णिअनिसिज्जाए ।
पुरओ चिट्ठइ सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥

ततस्तदनन्तरं रचकेन साधुना प्रवेदियां कथितायां सत्यामुपविशति गुरुराचार्य एव, न शेषसाधवः। केत्याह?–निजनिषद्यायां या तदर्थमेव रचितेति। पुरतश्च शिष्यस्तिष्ठति प्रक्रान्तः, सम्यगसंभ्रान्तः, यथाजातोपकरणो रजोहरणमुखवस्त्रिकादिधरः, इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तओ पोत्तिं, तीए अ स सीसगं पुणो कायं ।
बारसवंदण संदिस, सज्झायं पट्ठवामो त्ति ॥ ५३ ॥

प्रत्यवेक्षेते तदनन्तरं मुखवस्त्रिकां द्वावपि, तया च मुखवस्त्रिकया स शिरः पुनः कायं प्रत्यवेक्षेते इति । ततः शिष्यो द्वादशावर्त्तवन्दनपुरस्सरमाह–संदिशत यूयं स्वाध्यायं प्रस्थापयामः, प्रकर्षेण वर्त्तयाम इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

पट्ठवणाऽणुण्णाए, तत्तो दुअगा वि पट्ठवेइ त्ति ।
तत्तो गुरू निसीअइ, इअरो वि णिवेअई तं ति ॥ ५४ ॥

प्रस्थापयेत्यनुज्ञाते सति गुरुणा, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ प्रस्थापयत इति। ततस्तदनन्तरं गुरुर्निषीदति स्वनिषद्यायाम्, इतरोऽपि शिष्यो निवेदयति तं स्वाध्यायमिति गाथार्थः ॥५४॥

तत्तो वि दोवि विहिणा, अणुओगं पट्ठविंति उवउत्ता ।
वंदित्तु तओ सीसो, अणुजाणावेइ अणुओगं ॥ ५५ ॥

ततश्च द्वावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तेनाऽनुयोगं प्रस्थापयतः उपयुक्तौ सन्तौ वन्दित्वा ततस्तदनन्तरं शिष्यः। किमित्याह?–अनुज्ञापयत्यनुयोगं, गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

अभिमंतिऊण अक्खे, वंदइ देवं तओ गुरू विहिणा ।
ठिअ एव नमोक्कारं, कड्ढइ नंदिं च संपुन्नं ॥ ५६ ॥

अभिमन्त्र्य आचार्यमन्त्रेणाक्षांश्चन्दनकान् वन्दते देवांश्चैत्यानि ततो गुरुर्विधिना प्रवचनोक्तेन । ततः किमित्याह–स्थित एवोर्ध्वस्थानेन नमस्कारं पञ्चमङ्गलकमाकर्षयति, त्रिः पठति नन्दीं च संपूर्णग्रन्थपद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

इअरो वि ठिओ संतो, सुणेइ पोत्तीइ ठइअमुहकमलो ।
संविग्गो उवउत्तो, अच्चंतं सुद्धपरिणामो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्नूर्ध्वस्थानेन शृणोति मुखवस्त्रिकया विधिगृहीतया स्थगितमुखकमलः सन्निति। स एव विशेष्यते-संविग्नो मोक्षार्थी उपयुक्तः सूत्रैकाग्रतया, अनेन प्रकारेणात्यन्तं शुद्धपरिणामः शुद्धाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

तो कड्ढिऊण नंदिं, जणइ गुरू अहमिमस्स साहुस्स ।
अणुओगं अणुजाणे, खमासमणाण हत्थेणं ॥ ५८ ॥

तत आकृष्य पठित्वा नन्दीं भणति गुरुराचार्यः—अहमस्य साधोरुपस्थितस्यानुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्षमाश्रमणानां प्राकृतऋषीणां हस्तेन, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥५८॥

कथमित्याह—

दव्वगुणपज्जवेहिँ अ, एस अणुन्नाउ वंदिउं सीसो ।
संदिसह किं जणामो, वंदणमिह जहेव सामइए ॥५९॥

द्रव्यगुणपर्यायैर्व्याख्याङ्गरूपैरेषोऽनुज्ञात इत्यवान्तरे वन्दित्वा शिष्यः–संदिशत यूयं किं भणामीत्यादि वन्दनं जातं यथैव सामायिके तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

यदत्र नानात्वं तदभिधातुमाह–

नवरं सम्मं धारय, अन्नेसिं तह पवेयह भणाइ ।
इच्छामणुसट्ठीए, सीसेण कयाइ आयरिओ ॥ ६० ॥

नवरम्, अत्र सम्यग्धारय, आचारसेवनेनेत्यर्थः। अन्येभ्यस्तथा प्रवेदय सम्यगेवेति भणति । कदेत्याह–इच्छाम्यनुशास्तौ शिष्येण कृतायां सत्यामाचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

तिपयक्खणीकए तो, उवविसए गुरु कए अनुस्सग्गे ।
सणिसज्जे तियपक्खिण, वंदण सीसस्स वावारो ॥ ६१ ॥

त्रिः प्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरुः, अत्रान्तरेऽनुज्ञाकायोत्सर्गः, कृते च कायोत्सर्गे तदनु सनिषद्ये गुरौ त्रिःप्रदक्षिणं वन्दनं ज्ञानसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः ॥६१॥

उवविसइ गुरुसमीवे, सो साहइ तस्स तिन्नि वाराओ ।
आयरियपरंपरए–ण आगए तत्थ मंतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तन्निषद्यायामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः स गुरुं कथयति। तस्य त्रीन् वारान्। किमित्याह-आचार्यपारम्पर्येणागतानि पुस्तकादिष्वलिखितानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना सर्वार्थसाधकानीति गाथार्थः ॥६२॥

तथा—

देइ तओ मुट्ठीओ, अक्खाणं सुरभिगंधसहिआणं ।
वड्ढंत सो वि सीसो, उवउत्तो गिण्हई विहिणा ॥ ६३ ॥

ददाति ततः त्रीन् मुष्टीनाऽऽचार्योऽक्षाणां चन्दनकानां सुरभिगन्धसहितानां, वर्द्धमानान् प्रतिमुष्टि सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः सन् गृह्णाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

एवं व्याख्याङ्गरूपानक्षान् दत्त्वा—

उट्ठेति निसिज्जाओ, आयरिओ तत्थ उवविसइ सीसो ।
तो वंदई गुरू तं, सहिओ सेसेहिँ साहूहिं ॥ ६४ ॥

उत्तिष्ठति निषद्याया आचार्योऽत्रान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

नुयोगी, ततो वन्दते गुरुस्तं शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सन्निहितैरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

भणइ अ कुरु वक्खाणं, तत्थ ठिओ चेव सो तओ कुणइ ।
णंदाइ जहासत्ती, परिसं नाऊण वा जोग्गं ॥ ६५ ॥

भणति च-कुरु व्याख्यानमिति तमभिनवाचार्यं, तत्र स्थित एव ततोऽसौ करोति तद्व्याख्यानमिति नन्द्यादि यथाशक्त्येति तद्विषयमित्यर्थः। पर्षदं च ज्ञात्वा योग्यमन्यदपीति गाथार्थः ।

आयरिअनिसज्जाए, उवविसणं वंदणं च तह गुरुणो ।
तुल्लगुणख्खावणट्ठा, न तया दुट्ठं दुविण्हं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिषद्यायामुपवेशनम्, अभिनवाचार्यस्य वन्दनं च तथा गुरोः, प्रथममेमाचार्यस्य तुल्यगुणख्यापनार्थं लोकानां, न तदा दुष्टं द्वयोरपि शिष्याचार्ययोर्यथोक्तमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

वंदंति तओ साहू, उत्तिट्ठइ अ तओ पुणो णिसिज्जाओ ।
तत्थ निसीअइ अ गुरू, उववूहण पढमपक्खे उ ॥ ६७ ॥

वन्दन्ते ततः साधवः, व्याख्यानसमनन्तरमुत्तिष्ठति च ततः पुनर्निषद्याया अभिनवाचार्यः, तत्र निषद्यायां निषीदति च गुरुर्मौलः, उपबृंहणमत्रान्तरे प्रथमम् । अन्ये तु व्याख्यानादिति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

धन्नोऽसि तुमं णायं, जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं ।
तं सम्ममिणं भवया, पओजिअव्वं सयाकालं ॥ ६८ ॥

धन्योऽसि त्वं सम्यग् ज्ञातं जिनवचनं येन भवता सर्वदुःखहरं मोक्षहेतुस्तत्सम्यगिदं भवता प्रवचननीत्या प्रयोक्तव्यं सदा सर्वकालमनवरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

इहरा उ रिणं परमं, असंमजोगे अजोगओ अवरो ।
ता तह इह जइअव्वं, जह एत्तो केवलं होइ ॥ ६९ ॥

इतरथा तु रिणं परममेतदसम्यग्योगे सुखशीलतया। असम्यग्योगश्च अयोगतोऽप्यपरः पापीयान् ऋणम्यः। तत्तथेह यतितव्यमुपयोगतो यथाऽतः केवलं भवति, परमज्ञानमिति गाथार्थः ।६९।

परमो अ एस हेऊ, केवलनाणस्स अन्नपाणीणं ।
मोहावणयणओ तह, संवेगाइसयभावेणं ॥ ७० ॥

परमश्चैव जिनवचनप्रयोगहेतुः केवलज्ञानस्य, अनन्य इत्यर्थः । कुत इत्याह-अन्यप्राणिनां मोहापनयनान्मोहपसरणकारणात्, तथा संवेगातिशयभावेनोभयोरपीति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उव्वूहेउं, अणुओगविसज्जणट्ठमुस्सग्गो ।
कालस्स पडिक्कमणं पवेअणं संघविहिदाणं ॥ ७१ ॥

एवमुपबृंह्य तमाचार्यमनुयोगविसर्जनार्थमुत्सर्गः क्रियते । कालस्य प्रतिक्रमणं, तदात्वे प्रवेदनं, निरुद्धस्य संघविधिदानं यथाशक्ति नियोगत इति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

पच्छा य सोऽणुओगी, पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो ।
जोगाणं वक्खाणं, करिज्ज सिद्धंतविहिणा उ ॥ ७२ ॥

पश्चाच्च सोऽनुयोगी आचार्यः प्रवचनकार्ये नित्यमुद्युक्तः सन् योगेभ्यो विनेयेभ्यः व्याख्यानं कुर्याद् गुर्वादेशाज्ञासिद्धान्तविधिनैवेति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

योग्यानाह-

मज्झत्था बुद्धिजुआ, धम्मत्थी ओघओ इमो जोग्गा ।
तह चेव पसत्थाई, सुत्तविसेसं समासज्ज ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वत्रारक्तद्विष्टाः, बुद्धियुक्ताः प्राज्ञाः, धर्मार्थिनः परलोकभीरवः, ओघतः सामान्येनैते योग्याः सिद्धान्तश्रवणस्य । तथैव प्रशस्तादयो योग्याः आदिशब्दात्परिणामकादिपरिग्रहः, सूत्रविशेषमङ्गचूडादिरूपं समाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिपदानां गुणानाह--

मज्झत्थाऽसग्गाहं, एत्तो वि अ कत्थइं न कुव्वंति ।
सुद्धासया य पायं, होंति तहाऽऽसन्नभव्वा य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं तत्त्वावबोधशत्रुम्, अत एव कचिद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिमतय एव भवन्ति, तथा शुद्धाशयाश्च मायादिदोषरहिताः प्रायो भवन्ति मध्यस्थाः, तथाऽऽसन्नभव्याश्च, तेषु सफलः परिश्रमः, इति गाथार्थः ।७४।

बुद्धिजुआ गुणदोसे, सुहुमे तह वायरे य सव्वत्थ ।
संमत्तकाभिमुद्धे, तत्तट्ठिईए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुद्धियुक्ताः प्राज्ञा गुणदोषान् पर्युगतान् सूक्ष्मांस्तथा बादरांश्च सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकोटिशुद्धान् कषच्छेदतापशुद्धांस्तत्त्वस्थित्याऽतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते साध्विति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

धम्मत्थी दिट्ठत्थं, दढो व्व पंकम्मि अपडिबंधाओ ।
उत्तारिज्जंति सुहं, धन्ना अन्नाणसलिलाओ ॥ ७६ ॥

धर्मार्थिनः प्राणिनः दृष्टार्थे ऐहिके दृढ इव पङ्केऽप्रतिबन्धात्कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते सुखं, धन्याः पुण्यभाजः ; कुतः ?, अज्ञानसलिलान्मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

पत्तो अ कप्पिओ इह, सो पुण आवस्समाइसुत्तस्स ।
जा सूअगडं ता जं, जेणा ऽधीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

प्राप्तश्च कल्पिकोऽत्र भण्यते, स पुनरावश्यकादिसूत्रस्य यावत् सूत्रकृतं द्वितीयमङ्गं तावद्येनाधीतमिति पठितमित्यर्थः । तस्यैव तान्यस्येति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

छेअसुआईएसु अ, ससमयभावे वि भावजुत्तो जो ।
पिअधम्मऽवज्जभीरू, सो पुण परिणामगो णेओ ॥ ७८ ॥

छेदसूत्रादिषु च निशीथादिषु स्वसमयभावेऽपि स्वकालभावेऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणवान् प्रियधर्मस्तीव्ररुचिरवद्यभीरुः पापभीरुः स पुनरयमेवंभूतः परिणामको ज्ञेयः; उत्सर्गापवादविषयप्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

एतदेवाह—

सो उस्सग्गाईणं, विसयविभागं जहट्ठिअं चेव ।
परिणामेइ हियं ता, तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गापवादयोर्विषयविभागमौचित्येन यथाऽवस्थितमेव सम्यक् परिणमयत्येवमेव हितं तत्तस्मात्कारणात्तस्येदं भवति व्याख्यानं सम्यग्बोधादिहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥७९॥

अइपरिणामगऽपरिणा-मगाण पुण चित्तकम्मदोसेणं ।
उदियं विसियं दो-सुदए ओसहसमाणं उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकापरिणामकयोः पुनः शिष्ययोश्चित्रकर्मदोषेण हेतुनोदितमेव विज्ञेयं व्याख्यानं, दोषोदये औषधसमानं विपर्ययकारीति गाथार्थः ॥ ८० ॥

तेसिं तच्चिय जायइ, जओ अणत्थो तओ ण सइमं ।
तेसिं चेव हियट्ठा, करिज्ज पुज्जा तहा वाहु ॥ ८१ ॥

तयोरतिपरिणामकाऽपरिणामकयोः तत एव व्याख्यानाज्जायते

यतोऽनर्थो विपर्यययोगात्, ततो न तद्व्याख्यानं मतिमान् गुरुस्तयोरेवातिपरिणामकापरिणामकयोर्हितायानर्थप्रतिघातेन कुर्यात्। नेति वर्त्तते, पूज्याः पूर्वगुरवः तथा चाहुरिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घमं विणासेइ ।
इअ सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ ८२ ॥

आमे घटे निक्षिप्तं सद् यथा जलं तं घटमामं विनाशयति,इत्येवं सिद्धान्तरहस्यमप्यल्पाहारं प्राणिनं विनाशयतीति गाथार्थः ॥

न परंपरया वि तओ, मिच्छाभिनिवेसजाविअमईओ ।
अन्नेसिं पि अ जायइ, पुरिसत्थो सुद्धरूओ अ ॥ ८३ ॥

न परम्परयाऽपि ततोऽतिपरिणामकादेर्मिथ्याऽभिनिवेशभावितमतेः सकाशादन्येषामपि श्रोतॄणां जायते पुरुषार्थः, शुद्धरूपो वा, मिथ्याप्ररूपणादेवेति गाथार्थः ॥८३॥

एतदेवाह—

अविवत्तओ वि पायं, तब्भावोऽणाइमं ति जीवाणं ।
इअ मुणिऊण तयत्थं, जोगाण करिज्ज वक्खाणं ॥८४॥

अविवर्तक एव अतिपरिणामादिक एव, प्रायो मिथ्याऽभिनिवेशभावितमतेः सकाशात् तस्य च भावः तद्भावो मिथ्याऽभिनिवेशभावोऽनादिमानिति कृत्वा जीवानां भावनासहकारिविशेषादियमेवं मत्वा तदर्थं तद्विनाशायैव योगेभ्यो विनेयेभ्यः कुर्याद् व्याख्यानं विधिनेति गाथार्थः ॥८४॥

उवसंपण्णाण जहा–विहाणओ एव गुणजुआणं पि ।
सुत्तत्थाइकमेणं, सुविणिच्छिअमप्पणा सम्मं ॥८५॥

उपसंपन्नानां सतां यथाविधानतः सूत्रनीत्या,एवं गुणयुक्तानामपि नान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात्। कथं कर्त्तव्यमित्याह–सूत्रार्थादिक्रमेण यथाबोधं सुविनिश्चितमात्मना सम्यक्,न शुकप्रलापप्रायमिति गाथार्थः ॥८५॥ पं० व० ४ द्वा० । (अङ्गाद्यनुयोगविधिः ' जोगविहि ' शब्दे वक्ष्यते)

(१४) अधुना प्रवृत्तिद्वारं वक्तव्यम्–

प्रवृत्तिः, प्रवाहः, प्रसूतिरित्येकार्थाः। प्रथममनुयोगः प्रवर्त्तते इति। सा च प्रवृत्तिर्द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः प्रवृत्तिमाह–

अणिउत्तो अणिउत्ता, अणिउत्तो चेव होइ उ निउत्ता ।
नीउत्तो अणिउत्ता, निउत्तो चेव उ निउत्ता ॥
निउत्तोऽणिउत्ताणं, पवत्तइ अहव ते वि उ निउत्तो ।
दव्वम्मि होइ गोणी, जावम्मि जिणादयो हुंति ॥

द्रव्यतः प्रसवे गौर्दृष्टान्तो भवति, भावे जिनादयः, तत्र गवि गोदोहकेन सह चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा–दोहकोऽनियुक्तो गौरप्यनियुक्ता १। दोहकोऽनियुक्तो गौर्नियुक्ता २। दोहको नियुक्तो गौरनियुक्ता ३। दोहको नियुक्तो गौरपि नियुक्ता ४। एवमाचार्यशिष्येष्वपि भङ्गचतुष्टयं योजनीयं, तच्चाग्रे योद्यते। तत्र तृतीये भङ्गे नियुक्त आचार्यो बलादप्यनियुक्तानां शिष्याणामनुयोगं प्रवर्त्तयति । अथवा द्वितीये भङ्गे तेऽपि शिष्या नियुक्ता अनियुक्तमाचार्यमनुयोगे प्रवर्त्तयन्ति; एवं हि तृतीये द्वितीये च भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः। प्रथमे तु सर्वथा न भवति। चतुर्थे प्रवृत्तिर्निष्प्रतिपक्षैव।

तत्र गोदृष्टान्तविषयं भङ्गचतुष्टयं व्याख्यानयति–

अप्पण्हुया य गोणी, नेव य दोद्धा समुज्जओ दोद्धुं ।
खीरस्स कुओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू ॥
बीए वि नत्थि खीरं, थोवं च हविज्ज एव तइए वि ।
अत्थि चतुत्थे खीरं, एसुवमा आयरियसीसे ॥

गौरप्रस्नुता नैव च दोग्धा वा दोग्धुं समुद्यतः, ततो यद्यपि सा क्षीरदा धेनुस्तथाऽप्यस्मिन् प्रथमभङ्गे कुतः क्षीरस्य प्रसवः?, नैव कुतश्चित्। द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहेकोऽनियुक्तो गौर्नियुक्तेत्येवं रूपे नास्ति क्षीरम्, दोहकस्यानियुक्तत्वात्; अथवा गौः प्रस्नुतेति स्तनेषु गलत्सु स्तोकं क्षीरं भवेत् । एवं तृतीयेऽपि भङ्गे दोहको नियुक्तो गौरनियुक्तेत्येवं लक्षणे नास्ति क्षीरप्रसवः, स्तोकं वा स्याद्दोहकगुणेन । चतुर्थे पुनर्भङ्गे गौरपि प्रस्नुता दोहकोऽपि नियुक्त इत्यस्ति क्षीरप्रसवः। एषा उपमा भङ्गचतुष्टयात्मिका आचार्यशिष्ययोरप्यनुयोगस्य प्रसवे वेदितव्या । तथाहि–आचार्योऽप्यनियुक्तः, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमभङ्गे नास्त्यनुयोगस्य प्रवृत्तिः । अनियुक्त आचार्यः शिष्या नियुक्ता इति द्वितीयेऽपि भङ्गे नानुयोगः, आचार्यस्यानियुक्तत्वात् ।

अहवा अणिच्छमाणं, अवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति ।
तइए सारिंते वा, होज्ज पवित्ती गुणिंते वा ॥

अथवा अनियुक्तमाचार्यमनिच्छन्तमपि उद्योगिनः शिष्याः किञ्चित्प्रवृत्तिपृच्छादिभिरनुयोगं कर्तुं प्रवर्तयन्ति, ततो भवति द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः। तृतीये–आचार्यो नियुक्तः, शिष्या अनियुक्ता इत्येवंरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः, अथवा पुनःपुनः सारयत्याचार्ये, अथवा श्रोतुमनिच्छन्तमपि शैलसमानं किञ्चित् श्रोतारं पुरतो विन्यस्यमानस्य स्वनुयोग इति गुणयति गुणननिमित्तमनुयोगं कुर्वति भवेदनुयोगः।

अत्र दृष्टान्तः कालिकाचार्यः, तमेवाह–

सागारियमप्पाहण–सुवन्नसुयसिस्सखंतलक्खेण ।
कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च ॥ १ ॥

उज्जयणीए नयरीए अज्जकालगा नामं आयरिया सुत्तत्थोववेया बहुपरिवारा विहरंति, तेसिं अज्जकालगाणं सीसस्स सीसो सुत्तत्थोववेओ सागरो नामं सुवन्नभूमीए विहरइ, ताहे अज्जकालया चिंतेंति–एए मम सीसा अणुओगं न सुणंति, तओ किमेएसिं मज्झे चिट्ठामि, तत्थ जामि जत्थ अणुओगं पवत्तेमि, अविय एए वि सिस्सा पच्छा लज्जिआ सोच्छिहिंति, एवं चिंतिऊण सेज्जायरमापुच्छंति–कहं अन्नत्थ जामि, तओ मे सिस्सा सुणेहिंति, तुमं पुण मा तेसिं कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निब्बंधं करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा,जहा सुवन्नभूमीए सागराणं सगासं गया, एवं अप्पाहित्ता (संदिश्य) रत्तिं चेव पसुत्ताणं गया सुवण्णभूमिं, तत्थ गंतुं खंतखक्खेण पविट्ठा सागराणं गच्छं, तओ सागरायरिया खंत त्ति काउं तं नाढाइआ अब्भुट्ठाईणि,तओ अत्थ पोरिसीवेलाए सागरायरिएणं भणिया-खंता तुब्भं एयं गमइ ?। आयरिया भणंति–आमं तो खाइ सुणेहात्ति एकाहिया गव्वायंता य कहिंति। इयरे वि सीसाए पभाए संते संभंता आयरियं अपस्संता सव्वत्थ मग्गिओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न कहेइ, भणइ य तुब्भं अप्पणो आयरिओ न कहेइ, मम कहं कहेइ ?, तओ आउरीभूए-

हिं गाढनिब्बंधकए कहियं-जहा-तुब्भ निब्बेएण सुवन्नजूमीए सागराणं सगासं गया, एवं कहित्ता ते खरिंटिया। तओ ते तह चेव उच्चालिया सुवन्नजूमिं गंतुं, पंथे लोगो पुच्छइ एस कयरो आयरिओ जाइ। ते कहिंति-अज्जकालगा, तओ सुवन्नजूमीए सागराणं लोगेण कहियं-जहा अज्जकालगा नाम आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा इहागंतुकामा पंथे वट्टंति- ताहे सागरो सिस्साणं पुरओ भणति-मम अज्जया इंति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छीहामि त्ति । अचिरेणं ते सीसा आगया, तत्थ अग्गिल्लेहिं पुच्छिज्जति-किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठंति, नत्थि, नवरं अन्ने खंता आगया, केरिसा वंदिए नायं एए आयरिया?,ताहे सागरो लज्जिओ बहुं,मए इत्थं पलाविय-खमासमणा य वंदाविया, ताहे अवरण्हवेलाए मिच्छादुक्कडं करेइ, आसाइय त्ति। भणियं चाणेण-केरिसं खमासमणो अहं वागरेमि?। आयरिया जणंति-सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि। ताहे धूलीपुंजादिटुंतं करेंति, धूली हत्थेण घेत्तुं तिसट्ठाणेसु उयारेंति, जहा-एस धूली ठविज्जमाणी ओखिप्पमाणी य सव्वत्थ परिसडइ एवं अत्थो वि तित्थगरेहिंतो गणहराणं गणहरेहिंतो जाव अम्हं आयरियं उवज्झायाणं परंपरएण आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया ?, तो मा गव्वं काहिसि, ताहे मिच्छादुक्कडं करित्ता आढत्ता अज्जकालिया सीसपसीसाणं अणुओगं कहेउं ।

संप्रत्यक्षरगमनिका-सागारिका शय्यातरस्तस्य 'अप्पाहणं'संदेशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुवर्णभूमौ श्रुतशिष्यस्यापि शिष्यस्य सागराभिधानस्य 'खंतलक्खेण' वृद्धव्याजेन गमनं, पश्चात् शिष्याणां सागरिकेण कथना-यथाऽऽचार्याः सुवर्णभूमौ सागरस्यान्तिकं गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमनं, सागरं गर्वमुद्वहन्तं प्रति धूलीपुञ्जोपमानमिति ।

चतुर्थभङ्गमधिकृत्याह-

निउत्तो उजयकालं , भयवं कहणाइ वद्धमाणाओ ।
गोयममाई त्रिसया. सोयव्वे हुंति उ निउत्ता ।। १ ।।

नियुक्त उभयकालमनुयोगं करोति , नियुक्ता उभयकालं शृण्वन्ति । अत्र कथनायां दृष्टान्तो--जगवान् वर्द्धमानस्वामी , श्रोतव्ये सदा नियुक्ता दृष्टान्ता जवन्ति गौतमादयः। (' वायणा ' शब्दे चैतद् विस्तरतो वक्ष्यते) गतं प्रवृत्तिद्वारम् । बृ० १ उ० । अनु० ।

(१५) उद्यमी सूरिरुद्यमिनः शिष्याः, उद्यमी सूरिरनुद्यमिनः शिष्याः, अनुद्यमी सूरिरुद्यमिनः शिष्याः, अनुद्यमी सूरिरनुद्यमिनः शिष्याः, इति चतुर्भङ्गी ।

अत्र प्रथमजङ्गे अनुयोगस्य प्रवृत्तिर्भवति, चतुर्थे तु न भवति, द्वितीयतृतीययोस्तु कदाचित्कथञ्चिद्भवत्यपि । अनु० ।

"एत्थं पुण अहिगारो, सुयणाणेणं जओ सुएणं तु ।
सेसाणमप्पणो वि य, अणुओगपईवदिट्ठंतो ॥

श्रुतस्य चोद्देशादयः प्रवर्त्तन्त इति । उक्तं च-'सुयणाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुष्मा अणुओगो पवत्तइ' तत्रादावेवोद्दिष्टस्य समुद्दिष्टस्य समनुज्ञातस्य च ततोऽनुयोगो भवतीति । अतो निर्युक्तिकारेणाऽभ्यधायि श्रुतज्ञाने अनुयोगेनाधिकृतमिति ।

(१६) इदानीं केनाऽनुयोगः कर्त्तव्य इति द्वारमाह-

देसकुलजाइरूवी, संहणणी धिइजुओ अणासंसी ।
अविकत्थणो अमाई, थिरपरिवामी गहियवक्को ।।
जियपरिसो जियनिद्दो, मज्झत्थो देसकालजावन्नू ।
आसन्नलद्धपइजो, नाणाविहदेसजासन्नू ।।
पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थ-तदुजयविहिन्नू ।
आहरण हेउ उवयण-नयनिउणो गाहणाकुसलो ।।
ससमयपरसमयविऊ गंजीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ।।

युतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । देशयुतः कुलयुत इत्यादि । तत्र यो मध्यदेशे जातो यावदर्द्धषड्विंशतिषु जनपदेषु स देशयुतः, स ह्यार्यदेशजणितं जानाति, ततः सुखेन तस्य समीपे शिष्या अधीयते इति । तदुपादानम्, कुलं पैतृकं, तथाच लोके व्यवहारः, इक्ष्वाकुकुलजोऽयं,नाग (ज्ञात) कुलजोऽयमित्यादि । तेन युतः प्रतिपन्नार्थनिर्वाहको जवति । जातिर्मातृकी तया युतो विनयादिगुणवान् भवति । रूपयुतो लोकानां गुणविषयबहुमानभाग् जायते, " यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति " इति प्रवादात् । संहननयुतो व्याख्यायां न श्राम्यति । धृतियुतो नाऽतिगहनेष्वर्थेषु भ्रममुपयाति, अनाशंसी श्रोतृभ्यो वस्त्राद्यनाकाङ्क्षी । अविकत्थनो नातिबहुभाषी । स्थिरोऽतिशयेन निरन्तराऽभ्यासतः स्थैर्यमापन्ना अनुयोगपरिपाट्यो यस्य स स्थिरपरिपाटी, तस्य हि सूत्रमर्थो वा न मनागपि गलति । गृहीतवाक्य उपादेयवचनः, तस्य ह्यल्पमपि वचनं महार्थमिव प्रतिजाति । जितपरिषत् महत्यामपि पर्षदि न क्षोभमुपयाति । जितनिद्रो रात्रौ सूत्रमर्थं वाचयन् परिजावयन् वा न निद्रया बाध्यते। मध्यस्थः सर्वेषु शिष्येषु समचित्तः । देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः । स हि देशं कालं जावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शिष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखेनानुवर्त्तयति । आसन्नलब्धप्रतिभः परवादिना समाक्षिप्तः शीघ्रमुत्तरदायी । नानाविधानां देशानां जाषां जानातीति नानाविधदेशजाषाज्ञः , स हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि ग्राहयति । पञ्चविध आचारो ज्ञानाचारादिरूपस्तस्मिन् युक्तः स्वयमाचारेष्वस्थितस्यान्यानाचारेषु प्रवर्तयितुमशक्यत्वात् । सूत्रार्थग्रहणेन चतुर्भङ्गी सूचिता । एकस्य सूत्रं नार्थः १। द्वितीयस्यार्थो न सूत्रम् २। तृतीयस्य सूत्रमप्यर्थोऽपि ३। चतुर्थस्य न सूत्रं नाऽप्यर्थः ४। तत्र तृतीयभङ्गग्रहणार्थं तदुभयग्रहणं सूत्रार्थे तदुभयविधीन् जानातीति सूत्रार्थतदुजयविधिज्ञः । आहरणं दृष्टान्तः । हेतुश्चतुर्विधो ज्ञापकादिर्यथा-दशवैकालिकनिर्युक्तौ, यदि वा द्विविधो हेतुः-कारको ज्ञापकश्च । तत्र कारको-घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः। ज्ञापको यथा--तमसि घटादीनामभिव्यञ्जकः प्रदीपः । उपनय उपसंहारः, नया नैगमादयः, एतेषु निपुण आहरणहेतूपनयनिपुणः , स हि श्रोतारमपेक्ष्य तत्प्रतिपत्त्यनुरोधतः क्वचित् दृष्टान्तोपन्यासं क्वचिद्धेतूपन्यासं करोति । उपसंहारनिपुणतया सम्यगधिकृतमुपसंहरति । नयनिपुणतया नयवक्तव्यताऽवसरे सम्यक् प्रपञ्चं विविक्त्येन नयानभिधत्ते । ग्राहणाकुशलः

प्रतिपादनशक्त्युपेतः , स्वसमयं परसमयं वेत्तीति स्वसमय-परसमयविद्ः ; स च परेणाक्षिप्तः सुखेन स्वपक्षं परपक्षं च निर्वाहयति। गम्भीरोऽतुच्छस्वभावः।'दीप्तिमान् परवादिनामनुद्धर्षणीयः । शिवोऽकोपनः। यदि वा यत्र तत्र वा विहरन् कल्याणकरः । सोमः शान्तदृष्टिः । गुणा मूलगुणा उत्तरगुणाश्च, तेषां शतानि तैः कलितो गुणशतकलितः। युक्तः समीचीनप्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य सारमर्थं कथयितुम् ।

कस्माद् गुणशतकलित इष्यते इति चेदत आह—

गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥

यो मूलगुणादिषु गुणेषु सुस्थितस्तस्य वचनं घृतपरिसिक्तपावक इव भाति दीप्यते। गुणहीनस्य तु न शोभते वचनम् , यथा स्नेहेन विहीनः प्रदीपः। उक्तं च-" आयारे वट्टंतो, आयारपरूवणाअसंकंतो । आयारपरिभट्ठो, सुद्धचरणदेसणे भइओ ॥ " गतं केन चेति द्वारम् ।

(१७) अधुना कस्येति द्वारमाह-

जइ पवयणस्स सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो ।
एवं गुणन्निएणं, सव्वसुयस्सा उ देसस्सा ? ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्तर्हि स तेनैवंगुणान्वितेन कस्य कर्तव्यः ?। किं सर्वश्रुतस्य, उत देशस्य श्रुतस्कन्धादेरिति।

अत्र सूरिराह-

को कल्लाणं नेच्छइ , सव्वस्स वि एरिसेण वत्तव्वो ।
कप्पव्ववहारेण उ, पगयं सिस्साण थिज्जत्थं ॥

को नाम जगति कल्याणं नेच्छति । ततः सर्वस्यापि श्रुतस्यानुयोग ईदृशेन वक्तव्यः, केवलं कल्पो व्यवहारश्चापवादबहुलत्वेन तयोरनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतमधिकारः, एवं गुणयुक्तेनैव कल्पव्यवहारयोरनुयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः। कस्मादेवमुच्यते ?-शिष्याणां स्थिरीकरणार्थम् ।

तदेवं स्थिरीकरणं भावयति-

एसुस्सग्गठियप्पा, जयणाऽणुन्ना ता दरिसंयतो वि ।
तासु न वट्टइ नूणं , निच्छयओ ता वि अकरिज्जा ॥

यदा नाम यथोक्तगुणशतकलितः कल्पव्यवहारयोरनुयोगं करोति तदा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते-एष स्वयमुत्सर्गस्थितात्मा, अथ च कल्पे व्यवहारे च यतनया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया प्रतिसेवनाः अनुज्ञाताः प्रदर्शयति। ततः प्रतिसेवनायतनया अनुज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्त्तते, किंतु केवलमुत्सर्गमाचरति, तदेवं ज्ञायते नूनम्, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि प्रतिसेवना अकरणीया न समाचरितव्याः ।

किञ्च—

जो उत्तमेहिँ पहओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।
आयरियम्मि जयंते, तदणुचरा केण सीइज्जा ? ॥

य उत्तमैर्गुरुभिः प्रहतः क्षुण्णो मार्गः पन्थाः स शेषाणां दुर्गमो न भवति, किं तु सुगमः; तत्र आचार्ये यतमाने यथोक्तसूत्रनीत्या प्रयतवति,तदनुचरास्तदाश्रिताः शिष्याः केन हेतुना सीदेयुः ? , नैव सीदेयुरिति भावः । तत एतेन कारणेन कल्पव्यवहारयोरनुयोगे विशेषत एतादृशेन प्रकृतम् ।

अणुओगम्मि य पुच्छा, अंगाइ अ कप्पछक्कनिक्खेवो ।
सुयखंधे निक्खेवो, इक्केके चउविहो होई ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पृच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य षट्के निक्षेपः, ततः श्रुतस्कन्धे च एकैकस्मिन् निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति वक्तव्यः । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः पृच्छामाह-

जइ कप्पाइऽणुओगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो ।
अज्झयणं उद्देसो, पडिवक्खंगादिणो बहवो ॥

यदि कल्पादेरादिशब्दाद् व्यवहारस्य ग्रहणमनुयोगस्ततः किं सोऽङ्गमुताहो श्रुतस्कन्धोऽध्ययनमुद्देशो वा। अमीषां चाङ्गानां प्रतिपक्षा बहवोऽङ्गादयो द्रष्टव्याः । इयमत्र भावना-यदि नामैतादृशेनाऽऽचार्येणानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कर्त्तव्यः , स कल्पो व्यवहारो वा किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुतस्कन्धाः , अध्ययनमध्ययनानि , उद्देश उद्देशाः ।

अत्र सूरिराह-

सुयखंधो अज्झयणा, उद्देसा चेव हुंति निक्खिप्पा ।
सेसाणं पडिसेहो, पंचएह वि अंगमाईणं ॥

श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि उद्देशा एते त्रयः पक्षा भवन्ति निक्षेप्याः स्थाप्या आदरणीया इत्यर्थः । शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्रतिषेधः । तद्यथा-कल्पो व्यवहारो वा-नाङ्गं नाङ्गानि , श्रुतस्कन्धो नो श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं नाध्ययनानि, नो उद्देश उद्देशाः।

तम्हा उ निक्खिविस्सं, कप्प व्ववहार सो सुयक्खंधं ।
अज्झयणं उद्देसं, निक्खिवियव्वं तु जं जत्थ ॥

यस्मादेवं तस्मात्कल्पं निक्षेप्स्यामि,व्यवहारं निक्षेप्स्यामि,स्कन्धं निक्षेप्स्यामि, अध्ययनं निक्षेप्स्यामि,उद्देशं निक्षेप्स्यामि, यत्र यन्त्र निक्षेप्तव्यं नामादिचतुःप्रकारं षट्प्रकारं च तत्र वक्ष्यामि,तत्र कल्पस्य षड्विधो नामादिको निक्षेपः। यत उक्तं प्राग्द्वारगाथायाम्-'कप्पछक्कनिक्खेवो' व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्षेपः।

एतयोः स्वस्थानमाह-

आइल्लाणं दुएह वि, सट्ठाणं होइ नामनिप्फन्ने ।
अज्झयणस्स चउविहे, उद्देसस्सऽणुगमे भणिओ ॥

आद्ययोर्द्वयोः कल्पव्यवहारयोर्यथाक्रमं षट्कस्य चतुष्कस्य निक्षेपस्य स्थानं भवति नामनिष्पन्ने निक्षेपे , ततः स तत्र वक्तव्यः तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे , व्यवहारस्य पीठिकाया अध्ययनस्य चतुष्प्रकारो निक्षेप ओघनिष्पन्ने निक्षेपेऽभिधास्यते । उद्देशस्य चानुगमे उपोद्घाते निर्युक्त्यनुगमे भणितः ।

संप्रति 'सुयखंधे निक्खेवो' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह—

नामसुयं ठवणसुयं, दव्वसुयं चेव होइ भावसुयं ।
एमेव होइ खंधे, पन्नवणा तेसिँ पुव्वुत्ता ॥

श्रुतस्य चतुष्प्रकारो नामादिको निक्षेपः । तद्यथा-नामश्रुतं स्थापनाश्रुतं द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं च । एवमेव अनेनैव प्रकारेण, स्कन्धेऽपि चतुष्प्रकारो निक्षेपः। तद्यथा-नामस्कन्धः,स्थापनास्कन्धः, द्रव्यस्कन्धः, भावस्कन्धश्च । एतेषां प्रज्ञापना पूर्वमावश्यके कृताऽवधारणीया ॥ गतं कस्येति द्वारम् ॥ बृ० १ उ० ।

(१८) इदमेव सप्तमं द्वारं चेतसि निधाय सूत्रकृदाह—

नाणं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा-आभिणिबोहियनाणं, सुयनाणं, ओहियणाणं, मणपज्जवणाणं, केवलनाणं ॥

यदि नाम ज्ञानं पञ्चविधं प्रज्ञप्तं ततः किमित्याह-

तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिस्संति, णो समुद्दिस्संति, णो अणुण्णविज्जंति । सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ॥

(तत्थेत्यादि) तत्र तस्मिन् ज्ञानपञ्चके आभिनिबोधिकावधिमनःपर्यायकेवलाख्यानि चत्वारि ज्ञानानि (ठप्पाइं ति) स्थाप्यान्यसंव्यवहार्याणि । व्यवहारनये हि यदेव लोकस्योपकारे वर्तते तदेव संव्यवहार्यं मन्यते । लोकस्य च हेयोपादेयेष्वर्थेषु निवृत्तिप्रवृत्तिद्वारेण प्रायः श्रुतमेव साक्षादत्यन्तोपकारि । यद्यपि केवलादिदृष्टमर्थं श्रुतमभिधत्ते तथापि गौणवृत्त्या तानि लोकोपकारीणीति भावः । यदुक्तन्यायेनासंव्यवहार्याणि तानि ततः किमित्याह-(ठवणिज्जाइं ति) ततः स्थापनीयानि एतानि तथाविधोपकाराभावतोऽसंव्यवहार्यत्वात्तिष्ठन्ति, न तैरिहोद्देशसमुद्देशाद्यवसरेऽधिकार इत्यर्थः। अथवा स्थाप्यान्यमुखराणि स्वस्वरूपप्रतिपादनेऽप्यसमर्थानि, नहि शब्दमन्तरेण स्वस्वरूपमपि केवलादीनि प्रतिपादयितुं समर्थानि । शब्दश्चानन्तरमेव श्रुतत्वेनोक्त इति स्वपरस्वरूपप्रतिपादने श्रुतमेव समर्थम्, स्वरूपकथनं चेदम्, अतः स्थाप्यानि अमुखराणि यानि चत्वारि ज्ञानानि तानीहानुयोगद्वारविचारप्रक्रमे । किमित्याह--अनुपयोगित्वात्स्थापनीयान्यनधिकृतानि; यत्रैव ह्युद्देशसमुद्देशानुज्ञादयः क्रियन्ते तत्रैवाऽनुयोगस्तद्द्वाराणि चोपक्रमादीनि प्रवर्तन्ते । एवंभूतं त्वाचारादिश्रुतज्ञानमेवेत्यत उद्देशाद्यविषयत्वादनुपयोगीनि शेषज्ञानानि इत्यतोऽत्रानधिकृतानि । अत्राह-अनुयोगो व्याख्यानम्, तच्च शेषज्ञानचतुष्टयस्यापि प्रवर्तत एवेति कथमनुपयोगित्वम्? । ननु समयचर्याऽनभिज्ञतासूचकमेवेदं वचः, यतस्तत्राऽपि तज्ज्ञानप्रतिपादकसूत्रसंदर्भ एव व्याख्यायते, स च श्रुतमेवेति, श्रुतस्यैवानुयोगप्रवृत्तिरिति । अथवा स्थाप्यानि गुर्वनधीतत्वेनोद्देशाद्यविषयभूतानि । एतदेव विवृणोति-स्थापनीयानीत्येकार्थौ द्वावपि । इदमुक्तं भवति-अनेकार्थत्वादतिगम्भीरत्वाद् विविधमन्त्राद्यतिशयसम्पन्नत्वाच्च प्रायो गुरूपदेशापेक्षं श्रुतज्ञानम्, तच्च गुरोरन्तिके गृह्यमाणं परमकल्याणकोशत्वादुद्देशादिविधिना गृह्यत इति । तस्योद्देशादयः प्रवर्तन्ते, शेषाणि तु चत्वारि ज्ञानानि तदावरणकर्मक्षयोपशमाभ्यां स्वत एव जायमानानि नोद्देशादिप्रक्रममपेक्षन्ते । यतश्चैवमत आह-'नो उद्दिस्सिज्जंतीत्यादि' । नो उद्दिश्यन्ते नो समुद्दिश्यन्ते नो अनुज्ञायन्ते । अनु० एवं श्रुतस्यैव उद्देशादयःप्रवर्तन्ते न शेषज्ञानानाम्। अत्र चाऽनुयोगेनैवाधिकारो न शेषैः, अनुयोगद्वारविचारस्यैवेह प्रक्रान्तत्वात् । अत्र यथाऽभिहितमुपजीव्याह शिष्यः--

जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ, किं अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ?। अंगपविट्ठस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ, अणंगपविट्ठस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ । इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च अणंगपविट्ठस्स अणुओगो । जइ अणंगपविट्ठस्स अणुओगो, किं कालिअस्स अणुओगो, उक्कालिअस्स अणुओगो?। कालिअस्स वि अणुओगो, उक्कालिअस्स वि अणुओगो । इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च उक्कालिअस्स अणुओगो। जइ उक्कालिअस्स अणुओगो, किं आवस्सगस्स अणुओगो, आवस्सगवितिरित्तस्स अणुओगो ?। आवस्सगस्स वि अणुओगो, आवस्सगवितिरित्तस्स वि अणुओगो ॥

(यदीत्यादि) यद्युक्तक्रमेण श्रुतज्ञानस्योद्देशः समुद्देशोऽनुज्ञाऽनुयोगश्च प्रवर्तते तर्हि किमसावङ्गप्रविष्टस्य प्रवर्तते, उताङ्गबाह्यस्येति ?। तत्राङ्गेषु प्रविष्टमन्तर्गतमङ्गप्रविष्टं श्रुतमाचारादि, तद्बाह्यमुत्तराध्ययनादि । अत्र गुरुर्निर्वचनमाह-(अंगपविट्ठस्स वीत्यादि) अपिशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ । अङ्गप्रविष्टस्याप्युद्देशादि प्रवर्तते, तद्बाह्यस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रतीत्याङ्गबाह्यस्य प्रवर्तते नेतरस्य; आवश्यकं यत्र व्याख्यास्यते तच्चाङ्गबाह्यमेवेति भावः । अथाङ्गबाह्यस्येति सामान्योक्तौ सत्यां संशयानो विनेय आह-[जइ अंगबाहिरस्सेत्यादि] यद्यङ्गबाह्यस्योद्देशादिः, किमसौ कालिकस्य प्रवर्तते उत्कालिकस्य वा ?; द्विधाऽप्यङ्गबाह्यस्य संभवादिति भावः। तत्र दिवसनिशाप्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालेऽधीयते नान्यत्रेति कालिकमुत्तराध्ययनादि । यत्तु कालवेलामात्रवर्जं शेषकालानियमेन पठ्यते तदुत्कालिकमावश्यकादि । अत्र गुरुः प्रतिवचनमाह-(कालियस्स वीत्यादि) कालिकस्याप्यसौ प्रवर्तते, उत्कालिकस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रतीत्य उत्कालिकस्य मन्तव्यम् । आवश्यकमेव ह्यत्र व्याख्यास्यते, तच्चोत्कालिकमेवेति हृदयम् । उत्कालिकस्येति सामान्यवचने विशेषजिज्ञासुः पृच्छति-[जइ उक्कालियस्सेत्यादि] यद्युत्कालिकस्योद्देशादिस्तत्किमावश्यकस्यायं प्रवर्तते ?, अथवाऽऽवश्यकव्यतिरिक्तस्य ?; उभयथाऽप्युत्कालिकस्य संभवादिति। परमार्थस्तत्र श्रमणैः श्रावकैश्चोभयसन्ध्यमवश्यंकरणादावश्यकं सामायिकादिषडध्ययनकलापः । तस्मात्तु व्यतिरिक्तं भिन्नं दशवैकालिकादि । गुरुराह-[आवस्सगस्स वीत्यादि] द्वयोरप्येतयोः सामान्येनोद्देशादिः प्रवर्तते किन्त्विदं प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारम्भं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोगो नेतरस्य, सकलसामाचारीमूलत्वादस्यैवेह शेषपरिहारेण व्याख्यानादिति भावनीयम् । उद्देशसमुद्देशानुज्ञास्त्वावश्यके प्रवर्तमाना अप्यत्र नाधिकृताः, अनुयोगावसरत्वात् । अतस्तत्परिहारेणोक्तम्-(अणुओगो त्ति) अनु०।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च आवस्सगस्स अणुओगो । जइ आवस्सगस्स अणुओगो, किं अंगं अंगाइं सुअखंधो सुअखंधा अज्झयणं अज्झयणाइं उद्देसो उद्देसा ? आवस्सयस्स णं नो अंगं नो अंगाइं नो सुअखंधो नो सुअखंधा नो अज्झयणं नो अज्झयणाइं नो उद्देसो नो उद्देसा ।

इदं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोग इति पुनरपि आह-(जइ आवस्सगस्सेत्यादि) यद्यावश्यकस्य प्रस्तुतोऽनुयोगस्तर्हि, किम्?। णमिति वाक्यालङ्कारे, किमिति परिप्रश्ने, किमेकं द्वादशाङ्गान्तर्गतमङ्गमिदमुत बहून्यङ्गानि । अथैकः श्रुतस्कन्धो बहवो वा श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं चैकं बहूनि वाऽध्ययनानि, उद्देशको वा एको बहवो वा उद्देशकाः?, इत्यष्टौ प्रश्नाः। तत्र श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि चेदमिति प्रतिपत्तव्यम् । षडध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूपत्वादस्य। शेषास्तु षट् प्रश्ना अनादेयाः, अनङ्गादिरूपत्वात् । इत्येतदेवाह-(आवस्सयस्स णमित्यादि) अत्राह-नन्वावश्यकं किमङ्गमङ्गानीत्येतत् प्रश्नद्वयमनवकाशमेव, नन्द्यध्ययन एवास्यानङ्गप्रविष्टत्वेन निर्णीतत्वात् । तथात्राऽप्यङ्गबाह्योत्कालिकक्रमेणानन्तरमेवोक्तत्वादिति । अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तं नन्द्यध्ययन एवे-

त्यादि । तदयुक्तम् । यतो नावश्यकमन्यध्ययनं व्याख्याय तदिदं व्याख्येयमिति नियमोऽस्ति , कदाचिदनुयोगद्वारव्याख्यानस्यैव प्रथमं प्रवृत्तेः। अनियमज्ञापकश्चायमेव सूत्रोपन्यासः, अन्यथा ह्यङ्गबाह्यत्वेऽस्य तत्रैव निश्चितः, किमिहाङ्गानङ्गप्रविष्टचिन्तासूत्रोपन्यासेनेति ? ।

अधुना तद्द्वारं वक्तव्यम् । यदाह—

तस्स णं इमे चत्तारि अणुओगदारा भवंति । तं जहा उवक्कमे १ णिक्खेवे २ अणुगमे ३ णए ४ ॥ अनु० ।

इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वाराणामानुपूर्वी नाम प्रमाणादिकोऽशेषोक्तस्वरूपो भेदो वक्तव्यः ।

(१९) तथाऽनुयोगस्य लक्षणं वाच्यम्-

यदाह-

" संहियायपदं चेव, पयत्थो पयविग्गहो ।
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं " ॥

प्रश्ने कृते सति (पसिद्धि त्ति) चालनायां सत्यां प्रसिद्धिः समाधानम्,(विद्धि त्ति)जानीहि । व्याख्येयसूत्रस्य च "अलियमुवघायजणयमित्यादि " द्वात्रिंशद्दोषरहितत्वादिकं लक्षणं वक्तव्यम् । अनु० ।

(२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽर्ह इत्यनेन संबन्धेन तदर्हद्वारमापतितम् । तत्र सोऽर्ह उण्डिकादिदृष्टान्तस्योपनयभूतस्तत आह-

उंडिय भूमी पेढिय, पुरिसग्गहणं तु पढमओ काउं ।
एवं परिक्खियम्मी, दायव्वं वा न वा पुरिसे ॥

नवे नगरे निवेश्यमाने प्रथमत उण्डिकापातस्य योग्या भूमिस्तस्य तत्प्रदानार्थमुद्रा पात्यते, ततो भूमिशोधनं,तदनन्तरं पीठिका; एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषग्रहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा कर्त्तव्या-किमयमपरिणामकोऽतिपरिणामकः,परिणामको वेति ?। एवं पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामके अतिपरिणामके वा न दातव्यम्, परिणामके दातव्यमिति गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह-

अभिनवनगरनिवेसे, समभूमिविरेयणऽक्खरविहिन्नू ।
पाडेइ उंमियाओ, जा जस्स ठाणसोहणया ॥
खणणं कुट्टण ठवणं, पीढं पासाय रयण सुहवासो ।
इअ संजमनगरंमिय-लिंगं मिच्छत्तसोहणगं ॥
वरि इट्टगठवणनिभा, पेढं पुण होइ जाव सूयगडं ।
पासाय जहिं पगयं, रयणनिभा हुंति अत्थपया ॥

अभिनवे नगरे निवेश्यमाने प्रथमतो भूमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य च तस्याः समभूमिविरेचनं विधीयते । तदनन्तरमक्षरविधिज्ञो या यस्य योग्या भूमिस्तस्य तस्याः प्रदानार्थमुण्डिका अक्षरसंहिताः मुद्रिकाः पातयति । ततः स्वस्थानस्य शोधनता-शोधनम् । ततः स्वस्याः २ भूमेः खननं, तदनन्तरं प्रघणीरिष्टकाशकलानि प्रक्षिप्य तेषां कुट्टनं, ततस्तस्योपरि इष्टकानां स्थापनं, तदनन्तरं यावत् सूत्रं तावत् पीठं,ततस्तस्य पीठकस्योपरि प्रासादकरणं, तदनन्तरं तेषां प्रासादानां रत्नैरापूरणं, ततः सुखेन वासः परिवसनम् । एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः-भूमीग्रहणस्थानीयं पुरुषग्रहणं, शुद्धं पुरुषं परीक्ष्य तस्य प्रव्रज्यादानमित्यर्थः। तत 'इति' एवमुक्तप्रकारेण नगरस्थानीये संयमे स्थाप्यते , तत उण्डिकास्थानीयं रजोहरणादि लिङ्गं दीयते , तदनन्तरं मिथ्यात्वस्य ज्ञानस्य च कचवरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोधयित्वा मिथ्यात्वं समूलमुत्खन्य स्थिरीकरणनिमित्तं सम्यक्त्वप्रघणीयेष्टकोपमत्रतिष्ठते मिथ्यात्वपुञ्जात्मकवत् कुट्टयित्वा भस्मच्छगणमिव कृत्वा । तत उपरि इष्टकास्थापननिभानि व्रतानि दीयन्ते,तत आवश्यकमादिं कृत्वा यावत् सूत्रकृतं तावत्पीठं भवति, ततो यकाभ्यां प्रकृतं तौ कल्पव्यवहारौ प्रासादस्थानीयौ दीयेते,तत्रार्थपदानि यानि तानि रत्ननिभानि । गतं तदर्हद्वारम् । बृ० १ उ०। तथा तस्यैवानुयोगस्य परिषद् वक्तव्या । (सा च ' सेलघणकुडग 'इत्यादिदृष्टान्तैः परीक्षितव्येति ' सीस ' शब्दे , ज्ञापिकादिका च त्रिविधा पर्षत् ' परिसा ' शब्दे वक्ष्यते)

(२१) संप्रति कयाऽधिकार इति प्रतिपादयति—

उत्तंतिआए पगयं, जइ पुण सा होज्जिमेहिँ उववेया ।
तो देंति जेहिँ पगयं, तदभावे ठाणमादीणि ॥

अत्र उत्तान्तिकया पर्षदा प्रकृतमधिकारः, शेषाः पर्षद उच्चरितसदृशा इति प्ररूपिताः । तत्र यदि सा उत्तान्तिका पर्षद् एभिर्वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तत्कौ व्यवहारौ सूरयो ददति, तदभावे वक्ष्यमाणगुणाभावे स्थानादीनि, आदिग्रहणेन प्रकीर्णकानां परिग्रहः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह-

बहुस्सुए चिरपव्वइए, कप्पिए य अचंचले ।
अवट्ठिए य मेहावी, अपरिजाविओ विउ ॥
पत्ते य अणुण्णाते, भावतो परिणामगे ।
एयारिसे महाभागे, अणुओगं सोउमरिहइ ॥

बहुश्रुतश्चिरप्रव्रजितः, कल्पिकोऽचञ्चलः, अवस्थितो, मेधावी, अपरिस्रावी, यश्च विद् विद्वान् प्रभूताशेषशास्त्रपरिमलितबुद्धिः, (पत्ते य त्ति) पात्रं प्राप्तो वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परिणामकः , एतादृशो महाभागोऽनुयोगं श्रोतुमर्हति, सामर्थ्यात् कल्पव्यवहारयोः । एष द्वारगाथाद्वयसंक्षेपार्थः । बृ० १ उ० । (बहुश्रुतादीनां तिन्तिणिकादीनां च व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) एतत्सर्वमभिधाय ततः सूत्रार्थो वक्तव्यः ।

(२२) सोऽनुयोगश्चतुर्विधो भवति-

सुयनाणे अणुओगे-णऽहिगयं सो चउव्विहो होइ ।
चरणकरणाणुयोगे, धम्मं काले य दविए य ॥

कथम्?,चरणकरणानुयोगः, चर्यत इति चरणं व्रतादि, यथोक्तम्- " वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च बंभ गुत्तीओ । णाणाइतियं तवको-हनिग्गहादी चरणमेयं" ॥१॥ क्रियत इति करणं-पिण्डविशुद्ध्यादि । उक्तं च-"पिंडविसोही समिई, भावणपडिमाइ इंदियनिरोहो ॥ पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु" ॥ १ ॥ चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । अनुरूपो योगोऽनुयोगः-सूत्रस्यार्थेन सार्द्धमनुरूपः संबन्धो व्याख्यानमित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा "कयरे आगच्छइ दित्तरूवे" इत्यादि । धर्म इति धर्मकथानुयोगः । काले चेति कालाऽनुयोगश्च गणितानुयोगश्चेत्यर्थः । द्रव्यं चेति द्रव्यानुयोगश्च । तत्र कालिकश्रुतं चरणकरणानुयोगः , ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि धर्मकथानुयोगः, सूर्यप्रज्ञप्त्यादिर्गणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्याऽनुयोगः

इति । उक्तं च-" कालियसुयं च इसिभा-सियाइँ तइयो य सूरपन्नत्ती । सव्वो य दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो " इति गाथार्थः । इह चौघतोऽनुयोगो द्विधा-अपृथक्त्वानुयोगः पृथक्त्वानुयोगश्च । तत्रापृथक्त्वानुयोगो यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्ररूप्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात्सूत्रस्य । पृथक्त्वानुयोगश्च यत्र क्वचित् सूत्रे चरणकरणमेव, क्वचित्पुनर्धर्मकथा चेत्यादि । दश० १ अ० । चरणकरणाद्यनुयोगाः "ओहेण उ णिज्जुत्तिं, वोच्छं चरणकरणाणुओगाओ " इति निर्युक्तिगाथाया- श्चरणकरणस्येति वक्तव्ये शेषीं त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्नाचार्य एतज्ज्ञापयति-सन्त्यन्येऽप्यनुयोगा इति। तदप्याह-'चरणकरणानुयोगाद्धन्ये नान्यानुयोगेभ्यः' इति । तथा षष्ठी द्विविधा दृष्टा-भेदषष्ठी , अभेदषष्ठी च । तत्र भेदषष्ठी यथा-देवदत्तस्य गृहम् । अभेदषष्ठी यथा-तैलस्य धारा, शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति। तद् यदि षष्ठ्या उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते, किं चरणकरणानुयोगस्य भिन्नामोघनिर्युक्तिं वक्ष्ये, यथा-देवदत्तस्य गृहमिति, आहोस्विदभिन्नां वक्ष्ये, यथा तैलस्य धारेत्यस्य संमोहस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति। एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह-अस्तीत्येकवचनम् , अनुयोगा बहवश्च , तत्कथं बहुत्वं प्रतिपादयति ?। उच्यते-अस्तीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् । अव्ययं च-" सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम्"। ततो बहुत्वं प्रतिपादयत्येवेत्यदोषः। अथ वा-व्यवहितः संबन्धोऽस्तिशब्दस्य,कथमिदम्?, चोदकवचनम्। षष्ठी सम्बन्धे किमिति न भवति विभक्तिः?। आचार्य आह-अस्ति षष्ठीविभक्तिः । पुनरप्याह-यद्यस्ति ततः पञ्चमी भणिता किम् ?। आचार्य आह-अन्येऽप्यनुयोगाश्चत्वारः, अतः षष्ठी विद्यमानाऽपि नोक्तेति भावना पूर्ववत् ।

अन्येऽपि अनुयोगाः सन्तीत्युक्तम्, न च ज्ञायन्ते

कियन्तोऽपिते इत्यत्र प्रतिपादयन्नाह—

चत्तारि उ अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य।
दवियऽणुओगे य तहा, जहक्कमं ते महड्डीया ॥ ७ ॥

चत्वार इति संख्यावचनः शब्दः, अनुकूला अनुरूपा वा योगा अनुयोगाः । तुशब्द एवकारार्थः । चत्वार एव ते । अन्ये तु तुशब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति । किं विशेषयन्तीति चत्वारोऽनुयोगाः, तुशब्दाद् द्वौ च; पृथक् २ भेदात् । कथं चत्वारोऽनुयोगा इत्याह-(चरणे धम्मगणियाणुओगे य) चर्यत इति चरणं, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयोगस्तस्मिन् चरणानुयोगे । अत्र चोत्तरपदलोपादित्थमुपन्यासः,अन्यथा चरणकरणानुयोग इत्येवं वक्तव्यम् । स च एकादशाङ्गरूपः । (धम्मे ति) धारयतीति धर्मः दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वमिति,तस्मिन् धर्मे, धर्मविषयो द्वितीयोऽनुयोगो भवति । स चोत्तराध्ययनप्रकीर्णकरूपः । (गणियाणुयोगे य त्ति)गण्यत इति गणितम्, तस्यानुयोगो गणितानुयोगः, तस्मिन्, गणितानुयोगविषयस्तृतीयो भवति । स च सूर्यप्रज्ञप्त्यादिरूपः। चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः। (दवियाणुयोगेयत्ति)द्रवतीति द्रव्यम्-तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः, सदसत्पर्यायालोचनारूपः,स च दृष्टिवादः। चशब्दादनार्षः सम्मत्यादिरूपश्च तथेति क्रमप्रतिपादकः , आगमोक्तेन प्रकारेण यथाक्रमं यथापरिपाट्येति चरणकरणानुयोगाद्या महर्द्धिकाः प्रधाना इति यदुक्तं भवति। एवं व्याख्याते सत्याह-(चरणे धम्मगणियाणुओगे य दवियऽणुओगे य त्ति) यद्येतेषां भेदेनोपन्यासः क्रियते तत्किमर्थं चत्वार इत्युच्यते?, विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति । तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ?, धर्मगणितानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या, पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभक्त्येति,तथाऽनुयोगशब्दश्च एक एवोपन्यसनीयः,किमर्थं द्रव्यानुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ?। अत्रोच्यते-यत्तावदुक्तं चतुर्ग्रहणं न कर्त्तव्यं,विशिष्टपदोपन्यासात् । तदसत् । यतो न विशिष्टपदोपन्यासे विशिष्टसङ्ख्याऽवगमो भवति,विशिष्टपदोपन्यासेऽपि कुतश्चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्तीति , अन्यान्यपि सन्तीति संशयो मा भूत्कस्यचिदित्यतश्चतुर्ग्रहणं क्रियत इति । तथा यच्चोक्तम्-भिन्नया विभक्त्या चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तं, तत्रैतत् प्रयोजनम्, चरणकरणानुयोग एवाऽत्राधिकृतप्राधान्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति । तथा धर्मगणितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ; अत्र प्रक्रमे अप्रधानावेताविति। तथा द्रव्यानुयोगे च भिन्नविभक्त्योपन्यासे प्रयोजनम्। अयं हि एकैकानुयोगे मीलनीयः, न पुनर्लौकिकशास्त्रवद्युक्तिभिर्विचारणीय इति। तथाऽनुयोगे शब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्यते । यत् त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथक्त्वाऽनुयोगप्रतिपादनार्थम् ; यच्च द्रव्यानुयोग इति तत्पृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह परः इह गाथाः, तत्र पर्यायत इदमुक्तम्-'यथाक्रमं ते महर्द्धिकाः' इति। एवं तर्हि चरणकरणानुयोगस्य लघुत्वं , तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः क्रियते ?, अपि तु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुम् , सर्वेषामेव प्रधानत्वात् । एवं चोदकेनाक्षेपे कृते सत्युच्यते—

सविसयबलवत्तं पुण, जुज्जइ तह वि य महड्डियं चरणं।
चारित्तरक्खणट्ठा, जेणियरे तिन्नि अणुओगा ॥ ८ ॥

स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये,बलवत्त्वं पुनर्युज्यते घटते । एतदुक्तं भवति-आत्माऽऽत्मीयविषये सर्व एव बलवन्तो वर्तन्त इति। एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह-यद्येवं सर्वेषामेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तम्,आत्मात्मीयविषये सर्वेषामेव बलवत्त्वात्; तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्त्तव्येति। एवं चोदकेनाऽऽशङ्किते सत्याह गुरुः-(तह वि य महड्डियं चरणं) तथाऽप्येवमपि स्वविषये बलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं चरणमेव, शेषानुयोगानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानतः पूर्वोऽत्यन्तसंरक्षणार्थं पूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च। शेषाऽनुयोगा अप्येवंवृत्तिभूताः। यथा हि कर्पूरखण्डमार्थं वृत्तिरुपादीयते,तत्र हि कर्पूरखण्डं प्रधानं न पुनर्वृत्तिः । एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषाऽनुयोगानामुपन्यासः। तथा चाह—[चारित्तरक्खणट्ठा जेणियरे तिन्नि अणुओगा] चरित्रमेव चारित्रं, तस्य रक्षणं, तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं, येन कारणेन इतर इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति ॥

एवं व्याख्याते सत्याह-कथं चारित्ररक्षणमिति चेत् तदाह—

चरणपडिवत्तिहेउ, धम्मकहा कालदिक्खमाईया।
दविए दंसणसुद्धी, दंसणसुद्धी अ चरणं तु ॥ ९ ॥

चर्यत इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः । चरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः । किं तदाह-धम्मकथा, दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः, तस्य कथा कथनं , कथाचरणप्रतिपत्तिहेतुः धर्मकथा । तथाहि-आक्षेपण्यादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रं प्राप्नुवन्ति (काले दिक्खमादी य त्ति) कलनं कालः, कलासमूहो वा कालः,तस्मिन् काले,दीक्षादयः-दीक्षणं दीक्षा प्रव्रज्याप्रदानम्,आदिशब्दादुपस्थानादिपरिग्रहः। तथा च शोभनतिथिनक्षत्रमुहूर्त-

योगादौ प्रव्रज्याप्रदानं कर्तव्यम् । अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति (दविय त्ति) द्रव्ये द्रव्यानुयोगे किं भवतीत्यत आह-(दंसणसुद्धि त्ति) दर्शनं सम्यग्दर्शनमभिधीयते, तस्य शुद्धिर्निर्मलता दर्शनशुद्धिः। एतदुक्तं भवति-द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुद्धिर्भवति, युक्तिभिर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदात् । तदत्र चरणमपि गुरुपत्नुगतमेव ग्रहीतव्यं न पुनरागमादेव केवलादित्याह-दर्शनशुद्धस्यैव । किं तदाह ?-दर्शनशुद्धस्य-दर्शनं शुद्धं यस्याऽसौ दर्शनशुद्धस्तस्य, चरणं चारित्रं भवतीत्यर्थः । तुशब्दो विशेषणे । चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति । अथवा-प्रकारान्तरेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपद्यते । आदिभूतस्याऽपीति ।

तच्च दृष्टान्तबलेनाचलं भवति नान्यथेत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह-

जह रन्नो विसएसुं, वइरकणगरययलोहे य ।
चत्तारि आगरा खलु, चउण्ह पुत्ताण ते दिन्ना ॥ १० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे, राज्ञो विषयेषु जनपदेषु (वइर त्ति) वज्राकरो भवति, वज्राणि रत्नानि तेषामाकरः खनिर्वज्राकरः। 'चिंतालोहागरिए' इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं संबध्यते । एतेन कारणेन 'होइ हुंति' स्याद् भवति क्रिया सर्वत्र मीलनीयेति । कनकं सुवर्णं तस्याऽऽकरो भवति तथा द्वितीयः। रजतं रूप्यं तद्विषयश्च तृतीय आकरो भवति । चशब्दः समुच्चये । अनेकभेदभिन्नरूपानाकरान् समुच्चिनोति (लोहे य त्ति) लोहम्-अयः, तस्मिन् लोहे, लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति । चशब्दो मृदुकठिनमध्यलोहसमुच्चायकः ' चत्तारि ' इति संख्या । आक्रियन्त एतेष्वित्याकराः, तथा च मर्यादया अभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि येष्विति । खलुशब्दो विशेषणे । किं विशिनष्टि ?-स्वविषयाः सहस्रादयश्चातः पुत्रेभ्यो दत्तश्चतुर्णां पुत्राणां सुतानां त इत्याकराः , दत्ता विभक्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

अधुना प्रधानोत्तरकालं यत्तेषां तदुच्यते—

चिंता लोहागरिए, पडिसेहं कुणइ सो उ लोहस्स ।
वइरादीहिँ य गहणं, करेंति लोहस्स ते इतरे ॥ ११ ॥

लोहाऽऽकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः तस्मिन् लोहाकरिके चिन्ता भवति-'राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो दत्त, । एवं चिन्तायां सत्यां सुबुद्ध्यभिधानेन मन्त्रिणाऽभिहितः-देव ! मा चिन्तां कुरु , भवदीय एव प्रधान आकरो न शेषा आकरा इति । कुत एतदवसीयते ?। यदि भवत्संबन्धिलोहाकरो न भवति तदानीं शेषाकराप्रवृत्तिः-लोहोपकरणाभावाच्च प्रवृत्तिरिति । ततो निर्वाहं भवान् कारयतु कतिचिद्दिनानि , यावदुपक्षयं प्रतिपद्यते तेषूपकरणजातं, पुनः सुमहार्घमपि ते लोहं ग्रहीष्यन्ते इत्यत आह-[पडिसेहमित्यादि] प्रतिषेधोदाहरणात्स प्रतिषेधं करोत्यसौ, लोहं प्रतीतमेव, तस्य लोहस्य । तुशब्दो विशेषणेन केवलमनिर्वाहं करोति, अपूर्वोत्पादनिरोधं च । ततश्चैवंकृते शेषाकरेषूपस्करः क्षयं प्रतिपन्नः, ततस्तेऽवज्ञादिभिः ग्रहणं कुर्वन्ति । कस्येत्यत आह-लोहस्य। के कुर्वन्ति ? । इतरे वज्राकरिकादयः चशब्दात् केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च । अत्र कथानकं स्पष्टत्वान्न लिखितम् । अयं दृष्टान्तः। सांप्रतं दार्ष्टान्तिकयोजना क्रियते-यथाऽसौ लोहाकर आधारभूतः शेषाकराणाम्, तत्प्रवृत्तौ शेषाणामपि प्रवृत्तेः । एवमन्यत्राऽपि, चरणकरणानुयोगे सति शेषानुयोगसद्भावः । तथाहि-चरणव्यवस्थितः शेषानुयोगग्रहणे समर्थो भवति, नान्यथेत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं गाथामाह-

एवं चरणम्मि ठिओ, करेइ गहणं विहिय इयरेसिं ।
एएण कारणेणं, चरणाणुओगो महड्ढीओ ॥ १२ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः (चरणम्मि ति) चर्यत इति चरणं, तस्मिन्, व्यवस्थितः करोति विधिना ग्रहणमितिरेषामिति द्रव्यानुयोगादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महर्द्धिकम्, तुशब्दादन्येषां च गुणानां समर्थो भवतीति । ओ० । दश० ।

(२३) कियन्तं कालं यावत्पुनरिदमपृथक्त्वमासीत् , कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमभूदित्याह-

जावंति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।
तेणारेण पुहत्तं, कालियसुयदिट्ठिवाए य ॥ २७७ ॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकश्रुतानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्, तदा व्याख्यातृणां श्रोतृणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यथेत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्न वेति तदाऽऽरतस्त्वार्यरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूदिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २७७ ॥

भाष्यम्—

अपुहत्तमासि वइरा, जावंति पुहत्तमारओऽभिहिए ।
के ते आसि कया वा, पसंगओ तेसिमुप्पत्ती ॥ २७८ ॥

आर्यवैरा यावदपृथक्त्वमासीत, तदाऽऽरतस्तु पृथक्त्वमुक्तम् । एतस्मिंश्चाभिहिते क एते आर्यवैराः कदा च ते आसन्निति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गत आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यते । इति गाथार्थः ॥ २७८ ॥ (एतच्चरितं तु ' अज्जवइर ' शब्देऽत्रैव भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

सविशेषमाह-

अपुहत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहत्तऽणुओगकरणे, ते य तओ वावि वोच्छिन्ना ॥ २७९ ॥

आर्यवैरा यावदपृथक्त्वे सति सूत्रव्याख्यारूप एकोऽप्यनुयोगः क्रियमाणः प्रतिसूत्रं चत्वारि द्वाराणि भाषते; चरणकरणादींश्चतुरोऽप्यर्थान् प्रतिपादयतीत्यर्थः । पृथक्त्वानुयोगकरणे तु ते चरणकरणाद्योऽर्थाः ततोऽपि पृथक्त्वानुयोगकरणादेव, व्यवच्छिन्नाः, तत्प्रभृत्येक एव चरणकरणादीनामन्यतरोऽर्थः प्रतिसूत्रं व्याख्यायेत, न तु चत्वारोऽपीत्यर्थः। इति निर्युक्तिगाथार्थः॥२७९॥

अथ यैरनुयोगाः पार्थक्येन व्यवस्थापितास्तेषामार्यरक्षितसूरीणामुत्पत्तिमभिधित्सुर्भाष्यकारः सम्बन्धगाथामाह-

किं वइरेहिँ पुहत्तं, कयमह तदणंतरेहिँ भणियम्मि ।
तदणंतरेहिँ तदभिहि-यगहियसुत्तत्थसारेहिं ॥ २८० ॥

विनेयः पृच्छति-नन्वार्यवैरा यावदपृथक्त्वमित्युक्तं ततः किमार्यवैरैरेव कृतं तत्, किं वा तदनन्तरैरार्यरक्षितसूरिभिरित्येवमुभयथाऽपि यावच्छब्दार्थोपपत्तेः। इति शिष्येण भणिते गुरुराह-तदनन्तरैरेवार्यरक्षितसूरिभिरनुयोगानां पृथक्त्वमकारि । कथंभूतैस्तैः? आर्यवैरेणाऽभिहितः प्रतिपादितो गृहीतः सूत्रार्थसारो यैस्ते तथा, तैरार्यवैरसमीपेऽधीतसूत्रोभयैरित्यर्थः। इति गाथार्थः ।२८०।

पुनरपि कथंभूतैः किंनामकैश्च तैरित्याह-

देविंदवंदिएहिं, महाणुभावेहिँ रक्खियज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥ २८१ ॥

देवेन्द्रवन्दितैर्महानुभावैरार्यरक्षितैः दुर्बलिकपुष्पमित्रं प्राक्रमव्यतिगुपिलतयाऽनुयोगस्यं विस्मृतसूत्रार्थमवलोक्य वर्तमानकालककर्ण युगं चाऽऽसाद्य प्रवचनहितायानुयोगो विभक्तः-पृथक् २ व्यवस्थापितः । ततश्चतुर्धाकृतश्चतुर्थकालिकश्रुतादिज्ञानेषु नियुक्तम् । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २८१ ॥

"माया य रुद्दसोमा" इत्यादि पूर्वं मूलावश्यकटीकास्यलेखादार्यरक्षितकथानकमवसेयमिति । (एतच्च 'अज्जरक्खिय' शब्दे-ऽत्रैव भागे २१२ पृष्ठे विन्यस्तं द्रष्टव्यम)

भाष्यकारोऽपि "देविंदवंदिएहिमित्यादि" गाथाभावार्थमाह-

नाऊण रक्खियज्जो, मइमेहाधारणासमग्गं पि ।
किच्छेण धरेमाणं, सुयण्णवं पूसमित्तं पि ॥
अइसयकयउवओगो, मइमेहाधारणाइपरिहीणो ।
नाऊण-मेसपुरिसे, खेत्तंकालाणुरूवं च ॥
साणुग्गहोऽणुओगे, वीसुं कासी य सुयविभागेण ।
सुहगहणाइनिमित्तं, नए वि सुनिगूहिय विभागो ॥

स देवेन्द्रवन्दितः श्रीमानार्यरक्षितसूरिर्निजशिष्यं दुर्बलिकापुष्पमित्रमपि कृच्छ्रेण श्रुतार्णवं धारयन्तं ज्ञात्वा विनेयवर्गे सानुग्रहो वक्ष्यमाणकालिकादिश्रुतविभागेन विष्वक् पृथक् चरणकरणाद्यनुयोगानकार्षीदिति सम्बन्धः । कथंभूतं दुर्बलिकापुष्पमित्रम्?, मतिमेधाधारणासमग्रमपि । तत्र 'मनु बोधने' मननं मतिरेव,बोधशक्तिः मेधा, धारणा अवधारणाशक्तिः, ताभिः समग्रयुक्तमपि, तथा अतिशयज्ञानकृतोपयोगतया पश्चात् भविष्यतः पुरुषांश्च ज्ञात्वा, कथंभूतान्?, मतिमेधाधारणादिपरिहीणान्, तथा क्षेत्रकालानुरूपं च ज्ञात्वा,न केवलमनुयोगान् पृथगकार्षीत्, तथा नयांश्च नैगमादीन्, अकार्षीदिति वर्तते । कथंभूतान् ?, सुष्ठ्वतिशयेन निगूहितो व्याख्यानिरोधेन अङ्गीकृतो विभागो व्यक्ततापादानरूपो येषां ते निगूहितविभागास्तांस्तथाभूतान् । किमर्थम ?, सुखग्रहणादिनिमित्तम् । आदिशब्दाद्धारणादिपरिग्रहः । विशे० । (चरणकरणाद्यनुयोगभेदेनानुयोगचातुर्विध्यमार्यरक्षितसूरिभिः कृतमिति 'अज्जरक्खिय' शब्देऽत्रैव भागे २१४ पृष्ठे दर्शितम, इहापि उपयुक्तो भागो दर्शितः) अनुरूपोऽनुकूलो वा योगोऽनुयोगः । सूत्रस्य स्वेनाभिधेयेन साकमनुरूपसंबन्धे तद्रूपे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, स० । स्था० ।

स च द्विधा-

से किं तं अणुओगे ? । अणुओगे दुविहे पण्णत्ते ।
तं जहा-मूलपढमाणुओगे, गंडियाणुओगे य ॥

स च द्विधा-मूलप्रथमानुयोगः,गण्डिकानुयोगश्च । इह मूलं धर्मप्रणयनात्तीर्थकरास्तेषां प्रथमं सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणपूर्वभवादिगोचरोऽनुयोगो मूलप्रथमानुयोगः । इक्ष्वाकादीनां पूर्वापरपरिच्छिन्नो मध्यभागो गण्डिका,गण्डिकेव गण्डिका,एकार्थाधिकारा ग्रन्थपद्धतिरित्यर्थः । तस्यानुयोगो गण्डिकानुयोगः । नं० । स० (प्रथमानुयोगगण्डिकानुयोगयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

अणुओगगअ-अनुयोगगत-पुं० । अनुयोगः प्रथमानुयोगः-तीर्थकरादिपूर्वभवादिव्याख्यानग्रन्थः, गण्डिकाऽनुयोगश्च भरतनरपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुत्तरविमानगमनलक्षणव्याख्यानग्रन्थ इति द्विरूपेऽनुयोगे गतोऽनुयोगगतः । दृष्टिवादांशभेदे दृष्टिवादान्तर्गतेऽधिकारे, अवयवे समुदायोपचाराद् दृष्टिवादे च । स्था० १० ठा० ।

अणुओगगणाणुण्णा-अनुयोगगणानुज्ञा-स्त्री० । अनुयोगोऽर्थव्याख्यानम्, गणो गच्छः, तयोरनुज्ञाऽनुमतिः । घ० ३ अधि० । अनुयोगगणयोः प्रवचनोक्तेन विधिना स्वतन्त्रानुज्ञाने, पं० व० १ द्वा० ।

अणुओगतत्तिल्ल-अनुयोगतृप्त-त्रि० । अनुयोगग्रहणैकनिष्ठे, बृ० १ उ० ।

अणुओगत्थ-अनुयोगार्थ-पुं० । व्याख्यानभूतेऽर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुओगदायय-अनुयोगदायक-पुं० स्त्री० । सुधर्मस्वामिप्रभृतावनुयोगदायिनि, " वंदित्तु सव्वसिद्धे, जिणे य अणुओगदायए सव्वे । आयारस्स भगवओ, निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि" ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुओगदार-अनुयोगद्वार-न० । ब० व० । अध्ययनार्थकथनविधिरनुयोगः । द्वाराणीव द्वाराणि, महापुरस्येव सामायिकस्याऽनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वाराण्यनुयोगद्वाराणि । उपक्रमादिषु व्याख्यानप्रकारेषु, अत्र नगरदृष्टान्तं वर्णयन्त्याचार्याः । अनु० । उत्त० । यथा हि अकृतद्वारं नगरं नगरमेव न भवति; कृतैकद्वारमपि हस्त्यश्वरथजनसंकुलत्वाद् दुःखसंचारं कार्यातिपत्तये च जायते; कृतचतुर्मूलप्रतोलीद्वारं तु सप्रतिद्वारं सुखनिर्गमप्रवेशं कार्यानतिपत्तये च । सामायिकपुरमप्यर्थाधिगमोपायद्वारशून्यमशक्याधिगमं भवति; कृतैकानुयोगद्वारमपि कृच्छ्रेण द्राघीयसा च कालेनाधिगम्यते; विहितसप्रभेदोपक्रमादिद्वारचतुष्टयं सुखाधिगममल्पीयसा च कालेनाधिगम्यते , ततः फलवाननुयोगद्वारोपन्यासः । उक्तं च—

"अणुओगद्दाराइं, महापुरस्सेव तस्स चत्तारि ।
अणुओगो त्ति तदत्थो, दाराइं तस्स उ मुहाइं ॥
अकयद्दारमनगरं, कयगदारं पि दुक्खसंचारं ।
चउमूलद्दारं पुण, सप्पडिदारं सुहाहिगमं ॥
सामाइयपुरमेवं, अकयद्दारं तहेगदारं वा ॥
दुरहिगमं चउदारं, सप्पडिदारं सुहाहिगमं" ॥

आ० म० प्र० । विशे० । स्था० । आचा० ।
(चत्वारि अनुयोगद्वाराणि 'अणुओग' शब्दे ३५५ पृष्ठेऽनुपदमेवोक्तानि)

नन्वादौ उपक्रमः , तदनन्तरं निक्षेपः , तदनन्तरं चानुगमः , ततोऽप्यनन्तरं नय इत्यमीषामनुयोगद्वाराणामित्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनमित्याशङ्क्य 'कमप्पओअणाइं च वच्छा' इत्यमुं क्रमप्रयोजनद्वारमभिधित्सुराह-

दारक्कमोऽयमेव उ, निक्खिप्पइ जेण नासमीवत्थं ।
अणुगम्मइ नाणत्थं, नाणुगमो नयमयविहूणो ॥
संबंधोवक्कमओ, समीवमाणीय नत्थनिक्खेवं ।
सत्थं तओऽणुगम्मइ, नएहिँ नाणाविहाणेहिं ॥

एषामनुयोगद्वाराणामयमेवोपन्यासक्रमः, येन नासमीपस्थमनुपक्रान्तं निक्षिप्यते, न च नामादिभिरनिक्षिप्तमर्थतोऽनुगम्यते, नापि नयमतविकलोऽनुगमनियतश्च संबन्धरूप उपक्रमः संबन्धोपक्रमस्तेन संबन्धकर्त्रा उपक्रमेण समीपमानीय न्यासयोग्यं विधाय न्यस्तनिक्षेपं विहितनामस्थापनादिनिक्षेपं सच्छास्त्रं ततोऽर्थतोऽनुगम्यते व्याख्यायते नानाविधैर्नानाभेदैर्नयैस्तस्मादयमेवानुयोगद्वारक्रम इति क्रमप्रयोजनद्वारं समाप्तमिति । ओ० । नं० । बृ० । नि० चू० । व्य० । आ० म० द्वि० । स्था०

कर्म०'। सत्पदप्ररूपणतादिषु, विशे० । ' संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्स्वरूपप्रतिपादकाध्ययनविशेषोऽभेदोपचारादनुयोगद्वाराणीत्युच्यते । पा० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० ।

अस्यादावेतट्टीकाकृत्—

" सम्यकसुरेन्द्रकृतसंस्तुतिपादपद्म—
मुद्दामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।
सद्धर्मदेशकवरं वरदं नतोऽस्मि,
वीरं विशुद्धतरबोधनिधिं सुधीरम् ॥ १ ॥
अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् ।
निष्कारणबन्धूनां, विशेषतो धर्मदातॄणाम् ॥ २ ॥
यस्याः प्रसादमतुलं, संप्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः ।
अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ "

इहातिगम्भीरमहानीरधिमध्यनिपतितानर्घ्यरत्नमिवातिदुर्लभं प्राप्य मानुषं जन्म ततोऽपि लब्ध्वा त्रिभुवनैकहितश्रीमज्जिनप्रणीतबोधिलाभं समासाद्य विरत्यनुगुणपरिणामं प्रतिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिवत् सूत्रं समधिगम्य तत्परमार्थं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्यं तथाविधकर्मक्षयोपशमसंभाविनीं चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतितव्यम् ; तस्यैव सकलमनोऽभिलषितार्थसार्थसंसाधकत्वेन यथोक्तसमग्रसामग्रीफलत्वात् । स चाऽनुयोगो यद्यप्यनेकग्रन्थविषयः संभवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्रं प्रत्यध्ययनं प्रत्युद्देशकं प्रतिवाक्यं प्रतिपदं चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ विधेयः। जिनवचने ह्याचारादिश्रुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वारैर्विचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येवोपक्रमादिद्वाराण्यभिधास्यन्ते, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनवचनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोपकारित्वात्प्रकृतशास्त्रस्यैव प्रथममनुयोगो विधेयः । स च यद्यपि चूर्णिटीकाद्वारेण वृद्धैरपि विहितस्तथापि तद्वचसामतिगम्भीरत्वेन दुरधिगमत्वाद् मन्दमतिनाऽपि मयाऽसाधारणश्रुतभक्तिजनितौत्सुक्यभावतोऽविचारितस्वशक्तित्वादल्पधियामनुग्रहार्थं स्वाक्ष कर्तुमारभ्यते । अनु० ।

" सोलससयाणि चतुरु-त्तराणि होंति उ इमम्मि गाहाणं ।
दुसहस्समणुट्ठभंछं-दवित्तप्पमाणओ भणिओ ॥ १ ॥
णगरमहादाराईं, चउवक्कमाणुओगवरदारा ।
अक्खराबिंदुमत्ता, लिहिआ दुक्खक्खयट्ठाए ॥ २ ॥
गाहा १६०४; अनुष्टुप्छन्दसा ग्रन्थसंख्या २००५ ।

ग्रन्थान्ते च टीकाकृत्—

प्रायोऽन्यशास्त्रदृष्टः, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र संकलितः ।
न पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिदिह वितथम् ॥ १ ॥
सुप्रमतिलङ्घ्य लिखितं, तच्छोध्यं मय्यनुग्रहं कृत्वा ।
परकीयदोषगुणयो-स्त्यागोपादानविधिकुशलैः ॥ २ ॥
छद्मस्थस्य हि बुद्धिः, स्खलति न कस्येह कर्मवशगस्य ? ।
सद्बुद्धिविरहितानां, विशेषतो मद्विधासुमताम् ॥ ३ ॥
कृत्वा यद्वृत्तिमिमां, पुण्यं समुपार्जितं मया तेन ।
मुक्तिमचिरेण लभतां, क्षपितरजाः सर्वभव्यजनः ॥ ४ ॥
श्रीप्रश्नवाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतः,
क्षोणीतलप्रथितकीर्त्तिरुदीर्णशाखः ।
विश्वप्रसाधितविकल्पितवस्तुरुच्चै–
श्छायाशतप्रचुरनिर्वृतभव्यजन्तुः ॥ ५ ॥
ज्ञानादिकुसुमनिचितः, फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः ।
कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥
एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधि—
स्तुङ्गत्वानुकृतक्षमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः ।
सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतपःस्वाचारचर्यानिधिः,
शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवन्निःसङ्गचूडामणिः ॥ ७ ॥
रत्नाकरादिवैतस्मा-च्छिष्यरत्नं बभूव तत् ।
स वागीशोऽपि नामाऽन्यो, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥
श्रीवीरदेवविबुधैः, सन्मन्त्राद्यतिशयप्रवरतोयैः ।
द्रुम इव यः संसिक्तः, कस्तद्गुणवर्णने विबुधः ? ॥ ९ ॥
तथाहि–आज्ञा यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,
यं दृष्ट्वाऽपि मुदं व्रजन्ति परमां प्रायोऽपि दुष्टा अपि ।
यद्वक्राम्बुधिनिर्यदुज्ज्वलवचःपीयूषपानोद्यतै–
र्गीर्वाणैरिव दुग्धसिन्धुमथने तृप्तिर्न लेभे जनैः ॥ १० ॥
कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो–
स्तीर्थे सर्वविदः प्रभावितमिदं, तैस्तैः स्वकीयैर्गुणैः ।
शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहरं भव्यैर्निबद्धस्पृहै–
र्यस्याऽऽशास्वनिवारितं विचरते श्वेतांशुगौरं यशः ॥ ११ ॥
यमुनाप्रवाहविमल–श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसंपर्कात् ।
अमरसरितेव सकलं, पवित्रितं येन भुवनतलम् ॥ १२ ॥
विस्फूर्जत्कलिकालदुस्तरतमःसंतानलुप्तस्थितिः,
सूर्येणेव विवेकिभूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।
सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिक्षुण्णः समुद्द्योतितो,
मार्गः सोऽभयदेवसूरिरभवत्तेभ्यः प्रसिद्धो भुवि ॥ १३ ॥
तच्छिष्यलवप्रायै–रवगीतार्थाऽपि शिष्यजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभि-रियमनुरचिता प्रकृतवृत्तिः ॥ १४ ॥ अनु० ।

अणुओगदारसमास–अनुयोगद्वारसमास-पुं० । अनुयोगद्वाराणां द्व्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अणुओगधर–अनुयोगधर–पुं० । अनुयोगिके, व्य० ३ उ० । "अणुओगधरो अप्पणो गारवाणि रिहरणत्थं सो ताराण य लक्खाणि रिहरणत्थं" आह अनुयोगकथाम् । नि० चू० २० उ० ।

अणुओगपर–अनुयोगपर–त्रि० । सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, जी० १ प्रति० ।

अणुओगाणुण्णा–अनुयोगानुज्ञा–स्त्री० । आचार्यपदस्थापनायाम्, पं० व० ४ द्वा० । (' अणुओग ' शब्देऽत्रैव भागे ३४७ पृष्ठे चैतद्रूपं व्याख्यातम्)

अणुओगि (ण्)–अनुयोगिन्–पुं० । अनुयोगो व्याख्यानं प्ररूपणेति यावत्, स यत्राऽस्ति। व्याख्यानार्थे क्रियमाणे प्रश्नभेदे, यथा–" चउहिं समएहिं लोगो " इत्यादिप्ररूपणाय 'कइहिं समएहिं ' इत्यादि । स्था० ६ ठा० । आचार्ये, " अणुओगी लोगाणं, किल संसयणासओ दढं होइ " पं० व० ४ द्वा० ।

अणुओगिय–अनुयोगिक–त्रि० । प्रव्रजिते, नं० । " अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे " नं० ।

अणुंधरी–अणुन्धरी–स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यस्यार्हन्मित्रस्य भार्यायाम्, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषोपसंहारे कथा । आव० ४ अ० । आ० चू० ।

अणुकंप–अनुकम्प–त्रि० । अनुशब्दोऽनुरूपार्थे, ततश्चानुरूपं

कम्पते चेष्टत इत्यनुकम्पः। अनुरूपक्रियाप्रवृत्तौ, उत्त० १२ अ०। अनुकम्प्य–त्रि०। अनुकम्पनीये, सू० ६ उ०।

अणुकंपण–अनुकम्पन–न०। दुःखार्तानां बालवृद्धाऽसहायानां यथादेशकालमनुकम्पाकरणे, व्य० ३ उ०।

अणुकंपधम्मसवणादिया–अनुकम्पाधर्मश्रवणादिका–स्त्री०। जीवदयाधर्मशास्त्राकर्णनप्रभृतिकायाम्, पञ्चा० १० विव०।

अणुकंपय–अनुकम्पक–त्रि०। भगवतो भक्ते, अनुकम्पायाश्च भक्तिवाचित्वम्, "आयरियऽणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनात्। कल्प०। आत्महिते प्रवृत्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

अणुकंपा–अनुकम्पा–स्त्री०। अनुकम्पनमनुकम्पा। दयायाम्, नि० चू० १ उ०। अनुकम्पा, कृपा, दयेत्येकार्थाः। ओ०। अनुकम्पा कृपा। यथा–सर्व एव सत्त्वाः सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च, ततो नैषामल्पाऽपि पीडा मया कार्येति। ध० २ अधि०। अनुकम्पा दुःखितेष्वपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा सम्यक्त्वलिङ्गम्। पक्षपातेन तु करुणा पुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येवेति न तादृश्याः कृपायास्तत्त्वम्। सा चानुकम्पा द्रव्यतो भावतश्चेति द्विधा। द्रव्यतः सत्यां शक्तौ दुःखप्रतीकारेण। भावतश्चार्द्रहृदयत्वेन। यदाह–"दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसागरम्मि दुक्खत्तं। अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणइ"॥१॥ ध० २ अधि०। आ०। प्रव०। दर्श०। संथा०। अन्नादिदानरूपायाम्, ध० २ अधि०। भक्तौ, आ० क०। (अनुकम्पया श्रुतसामायिकलाभे उदाहरणानि 'धन्वंतरि' शब्दे वक्ष्यन्ते) भक्तपानादिभिरुपष्टम्भे च, भ० ८ श० ८ उ०। 'अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्यात्' अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, द्वा० १ द्वा०। स्था०।

अणुकंपं पडुच्च तओ पडिणीया पन्नत्ता। तं जहा–तवस्सिपडिणीए गिलाणपडिणीए सेहपडिणीए॥

अनुकम्पामुपष्टम्भं प्रतीत्याश्रित्य तपस्वी क्षपकः, ग्लानो रोगादिभिरसमर्थः, शैक्षोऽभिनवप्रव्रजितः, एते ह्यनुकम्पनीया भवन्ति, तत्करणाकरणाभ्यां च प्रत्यनीकतेति। अनुकम्पातो यद्दानं तदनुकम्पैवोपचारात्। दानभेदे, उक्तं च वाचकमुख्यैरुमास्वातिपूज्यपादैः–"कृपणेऽनाथदरिद्रे, व्यसनप्राप्ते च रोगशोकहते। यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पात् तद्भवेद्दानम्" स्था० १० ठा०।

अणुकंपादाण–अनुकम्पादान–न०। अनुकम्पया कृपया दानं दीनानाथविषयमनुकम्पादानम्। स्था० १० ठा०। रङ्कदाने, प्रति०।

अनुकम्पादानं जिनैरप्रतिकुष्टम्—

अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्याद्–भक्तिः पात्रे तु संगता।
अन्यथाधीस्तु दातृणा–मतिचारप्रसञ्जिका ॥ २ ॥

(अनुकम्पेति) अनुकम्पाऽनुकम्प्ये विषये, भक्तिस्तु पात्रे साध्वादौ संगता स्यात् समुचितफलदा स्यात्। अन्यथाधीस्तु–अनुकम्प्ये सुपात्रत्वस्य, सुपात्रे चानुकम्प्यत्वस्य बुद्धिस्तु दातृणामतिचारप्रसञ्जिकाऽतिचारापादिका। अत्र यद्यपि सुपात्रत्वधियोऽनुकम्प्ये संयतादौ मिथ्यारूपतयाऽतिचारापादकत्वं युज्यते, सुपात्रेऽनुकम्प्यत्वधियस्तु न कथंचित्, तत्र ग्लानत्वादिदशायामन्यदाऽपि च स्वेष्टोद्धारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपाऽनुकम्प्यत्वधियः प्रमात्वात्। तथापि स्वापेक्षयाऽहीनत्वे सति स्वेष्टोद्धारप्रतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपमनुकम्प्यत्वं तत्राप्रामाणिकमेवेति न दोषः। अपरे त्वाहुः–तत्र प्रागुक्तं निर्विशेषणमनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यादिदोषेण यदा हीनत्वबुद्धिं जनयति तदैवातिचारापादकं नान्यदा, अन्यथाधियोर्हीनोत्कृष्टयोरुत्कर्षापकर्षबुद्ध्याधानद्वारैव दोषत्वात्। अत एव नचानुकम्पादानं साधुषु न संभवति। "आयरियऽणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनादित्यष्टकवृत्त्यनुसारेणाचार्यादिष्वप्युत्कृष्टत्वधियोऽप्रतिरोधेऽनुकम्पाऽव्याहतेति। एतन्मये च सुपात्रदानमपि महीतृदुःखोद्धारोपायत्वेनेष्यमाणमनुकम्पादानमेव, साक्षात्स्वेष्टोपायत्वेनेष्यमाणं चान्यथेति बोध्यम् ॥ २ ॥

तत्राद्या दुःखिनां दुःखो–द्दिधीर्षाऽल्पासुखश्रमात्।
पृथिव्यादौ जिनार्चादौ, यथा तदनुकम्पिनाम् ॥ ३॥

(तत्रेति) तत्र भक्त्यनुकम्पयोर्मध्ये आद्याऽनुकम्पा दुःखिनां दुःखार्त्तानां पुंसां दुःखोद्दिधीर्षा दुःखोद्धारेच्छा अल्पानामसुखं यस्मादेतादृशो यः श्रमस्तस्मात्। इत्थं च वस्तुगत्या बलवदनिष्टाननुबन्धी यो दुःखिदुःखोद्धारस्तद्विषयिणी स्वस्येच्छाऽनुकम्पेति फलितम्। उदाहरति, यथा–जिनार्चादौ कार्ये पृथिव्यादौ विषये तदनुकम्पिनामित्थंभूतभगवत्पूजाप्रदर्शनादिना प्रतिबुद्धाः सन्तः षट्कायान् रक्षन्त्विति परिणामवतामित्यर्थः। यद्यपि जिनार्चादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि तस्य सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थत्वात्तस्य चानुकम्पालिङ्गकत्वात्तदर्थकत्वमप्यविरुद्धमेवेति पञ्चलिङ्ग्यादावित्थं व्यवस्थितेरस्माभिरप्येवमुक्तम् ॥ ३ ॥

अल्पासुखश्रमादित्यस्य कृत्यमाह -

स्तोकानामुपकारः स्या–दारम्भाद्यत्र भूयसाम्।
तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्त्तकर्मसु ॥ ४ ॥

(स्तोकानामिति) स्पष्टम्, नवरम्, इष्टापूर्त्तस्वरूपमेतत्–"ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारै–र्ब्राह्मणानां समक्षतः। अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्त–मिष्टं तदभिधीयते ॥ १ ॥ वापीकूपतडागानि, देवताऽऽयतनानि च। अन्नप्रदानमेतत्तु, पूर्त्तं तत्त्वविदो विदुः" ॥ २ ॥

नन्वेवं कारुणिकदानशालादिकर्मणोऽप्युच्छेदापत्तिरित्यत आह—

पुष्टालम्बनमाश्रित्य, दानशालादि कर्म यत्।
तत्तु प्रवचनोन्नत्या बीजाधानादिभावतः ॥५॥

(पुष्टालम्बनमिति) पुष्टालम्बनं सद्भावकारणमाश्रित्य यद्दानशालादि कर्म प्रदेशिसंप्रतिराजादीनां, तत्तु प्रवचनस्य प्रशंसादिनोन्नत्या बीजाऽऽधानादीनां भावतः सिद्धेर्लोकानाम् ॥ ५ ॥

बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्तताम्।
अतिक्रामति तेनाऽत्र, मुख्यो हेतुः शुभाशयः॥ ६ ॥

(बहूनामिति) ततो निर्वृतिसिद्धेर्बहूनामुपकारेणानुकम्पा निमित्ततां नातिक्रामति, तेन कारणेनात्रानुकम्पोचितफले, मुख्यः शुभाशयो हेतुः। दानं तु गौणमेव, वेद्यसंवेद्यपदस्थ एव तादृगाशयपात्रं, तादृगाशयानुगम एव च निश्चयतोऽनुकम्पेति फलितम् ॥ ६ ॥

एतदेव नयप्रदर्शनपूर्वं विवेचयति–

क्षेत्रादिव्यवहारेण, दृश्यते फलसाधनम्।
निश्चयेन पुनर्भावः, केवलः फलभेदकृत् ॥ ७ ॥

व्यवहारेण पात्रादिभेदात्फलभेदो, निश्चयेन तु भाववैचित्र्यादेवेति तत्त्वम् ॥ ७ ॥

कालावलम्बनस्य पुष्टत्वं स्पष्टयितुमाह–

कालेऽल्पमपि लाभाय, नाकाले कर्म बह्वपि ।
वृष्टौ वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्वृथाऽन्यथा ॥ ८ ॥

(काल इति) स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अवसरानुगुण्येनानुकम्पादानस्य प्राधान्यं भगवद्दृष्टान्तेन समर्थयितुमाह—

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्त्तुं, दानस्य भगवानपि ।
अत एव व्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥

(धर्माङ्गत्वमिति) अत एव कालेऽल्पस्यापि लाभार्थत्वादेव, दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं भगवानपि व्रतं गृह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मावसरे तुष्टितं सर्वस्याप्यवस्थौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीभवतीति भावः । तदाह–" धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः। अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया " इति ॥ ९ ॥

नन्वेवं साधोरप्येतदापत्तिरित्यत आह–

साधुनाऽपि दशाभेदं, प्राप्यैतदनुकम्पया ।
दत्तं ज्ञानाद्भगवतो, रङ्कस्येव सुहस्तिना ॥ १० ॥

साधुनाऽपि महाव्रतधारिणाऽपि दशाभेदं प्राप्य पुष्टालम्बनमाश्रित्यैतद्दानमनुकम्पया दत्तं सुहस्तिनेव रङ्कस्य तदाऽऽह । श्रूयते चागमे-आर्यसुहस्त्याचार्यस्य रङ्कदानमिति । कुत इत्याह–भगवतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनो ज्ञानात् । तदुक्तम्–"ज्ञापकं चात्र–भगवान्, निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने । देवदूष्यं ददद्धीमा-ननुकम्पाविशेषतः"॥१॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशाविशेषे यतेरसंयताय दानमदुष्टम्, अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, भगवद्द्विजन्मदानवदित्याहुः १०॥

न चाधिकरणं ह्येत–द्विशुद्धाशयतो मतम् ।
अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ११ ॥

(न चेति) नचैतत्कारणिकं यतिदानमधिकरणं मतम् । अधिक्रियते आत्माऽनेनासंयतसामर्थ्यपोषणत इत्यधिकरणम् । कुत इत्याह?–विशुद्धाशयतोऽवस्थौचित्येनाऽऽशयविशुद्धेः, भावभेदेन कर्मभेदात् । अनर्थासंभवमुक्तार्थप्राप्तिमप्याह-अपि त्विति अभ्युच्चये । अन्यदधिकृतगुणस्थानकाद् मिथ्यादृष्टित्वादेरपरमविरतसम्यग्दृष्ट्यादिकं गुणानां ज्ञानादीनां स्थानं मतं, गुणान्तरस्य सर्वविरत्यादेर्निबन्धनम् ॥ ११ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

नेव दारं पिहावेइ, भुंजमाणो सुसावओ ।
अणुकंपा जिणिंदेहिं, सड्ढाणं न निवारिआ ॥ १ ॥
दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसायरम्मि दुक्खत्तं ।
अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणई ॥ २ ॥

(दुहा वित्ति) द्रव्यभावाभ्यां द्विधा । द्रव्यतो यथा-अन्नादिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्त्तनेन, श्रीपञ्चमाङ्गादावपि श्राद्धवर्णनाधिकारे ' अभंगुदुवारा ' इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांवत्सरिकदानेन दीनोद्धारः कृत एव, न तु केनापि प्रतिषिद्धः ॥२॥

सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं ।
अणुकंपादाणं स–ड्ढयाण न कहिं वि पडिसिद्धं ॥ ३ ॥

न कस्मिन् सूत्रे प्रतिषिद्धं, प्रत्युत देशनाद्वारेण राजप्रश्नीयोपाङ्गे केशिनोपदेशितम् । तथाहि– " माणं तुमं पएसी पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि" इत्यादि । ध० २ अधि० ।

दाणं अणुकंपाए, दीणाणाहाण सत्तिओ णेयं ।
तित्थंकरणातेणं, साहूण य पत्तबुद्धीए ॥ ६ ॥

दानं वितरणमन्नादेरनुकम्पया दयया दीनानाथेभ्यः, तत्र दीनाः क्षीणविभवत्वाद् दैन्यप्राप्तास्त एव सानाथ्यकारिरहिता अनाथाः, अतस्तेभ्यः शक्तितो वित्तगतं सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः, ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । अथ दीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगतं तद्दानमित्याशङ्कयाह–तीर्थंकरज्ञातेन जिनोदाहरणेन । तथाहि–संगतं दीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् जिनस्यैव । अथवा तीर्थंकरन्यायेन निर्विशेषतयेत्यर्थः, तीर्थंकरप्रमाणतो वा । तथाहि-न दीनादिदानमविधेयं, जिनाचरितत्वाद्, महाव्रतानुपालनवदिति । दीनादीनामनुकम्पया तावद्दानम् । अथ साधूनामपि किं तथैवेत्याशङ्कायामाह-साधूनां च संयतेभ्यः पुनः पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नभाजनमेतदिति धिया भक्त्येति गाथार्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अणुकंपासय–अनुकम्पाशय–पुं० । अनुकम्पाप्रधानमाशयोऽनुकम्पाशयः । अनुक्रोशप्रधाने चित्ते, स० । "अणुकंपासयपओगतिकालमइविसुद्धभत्तपाणाई " अनुकम्पा अनुक्रोशस्तत्प्रधान आशयश्चित्तं तस्य प्रयोगो व्यापृतिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स० ॥

अणुकंपि (ण्)–अनुकम्पिन्–त्री० । अनुकम्पयमाने तच्छीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । कृपावति, प्रति० ।

अणुकड्डि–अनुकृष्टि–स्त्री० । अनुकर्षणमनुकृष्टिः । अनुवर्त्तने, पं० सं० ५ द्वा० । (अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानां तीव्रमन्दतापरिज्ञानार्थमनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुत्कृष्टिः ' बन्ध ' शब्दे वक्ष्यते)

अणुकड्ढमाण– अनुकर्षत्–त्रि० । अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् । पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षति, नं० ।

अणुकप्प–अनुकल्प–पुं० । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवृद्धानां पूर्वाचार्य्याणां ज्ञानग्रहणेन च तपोविधानेषु च अनुकृतिकरणे, पं० चू० ।

........................एत्तो वोछं अणुकप्पं ।
अणुसद्दो भूतद्दियं, पच्छाभावे मुणेयव्वो ।
णाणचरणड्ढगाणं, पुव्वायरियाण अणुकित्ति ॥
कुणई अणुगच्छइ गुण–धारी अणुकप्पं तं वियाणाहि ।
गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतरं च अभिलसंताणं ॥
जे खेत्तकालभावा, आसज्ज जोगहाणिभवे ।
गुणसतकालिअसंजमो, मोक्खो य गुणंतरो मुणेयव्वो ।
नाणाइसु परिहाणी, तुजोगहाणी मुणेयव्वो ॥
खेत्ताण संति अच्छा–ण उच्चक्खेत्तम्मि काल दुब्भिक्खे ।
भावे गेलण्णादी, सुच्छाभावे उ जदसुद्धं ॥
गेण्हेज्जाऽऽहारादी, णाणादिसु उज्जमण कुज्जा ।
अणसणमादी य तवं, अकरेमाणस्स साहुस्स ॥
एगंतणिज्जरा से, जइ जाणिता सासणे जिणवराणं ।
जोगनियुत्तमतीणं, सुद्दसीलाणं तवोच्छेदो ॥
सुहसीलदुड्ढसीला, तेसिं अफ्फासु गेण्हमाणाणं ।
जं आवज्जे तहियं, तवं च छेदं च तं पावे ॥ पं० भा० ।

स्थानि अणुकम्पो-(गाहा) (नाणचरणहु त्ति) जो नाणद्-रिसणचरित्तवऽऽङ्कुगाणं पुव्वायरियाणं नाणग्गहणेण य त-वोविहाणेसु य अणुकिई करेइ, सो अणुकम्पो। (गाहा) (गु-णसय त्ति) जा पुण गुणसयसहस्सकलियाणं, अलंकृतानामि-त्यर्थः। गुणंतरं चेव अभिलसंताणं नाणाइसु परिहाणी होज्जा, खेत्ते अद्धाणाइसु, काले ओमाइसु, भावे गिलाणाइसु। (गाहा) एगंतनिज्जरा तहेव तेसिं एगंतनिज्जरा चेव। यथा-भगवद्भिरप-दिष्टं प्रणीतमित्यर्थः। जो पुण संजमजोगनियतमई चंदलाति-या सिरी सुहसीलो दुहसीलो त्ति भणइ तेसिं तवोच्छेओ वा। एस अणुकम्पो ॥

अणुकरण-अनुकरण-न०। सीवनलेपनादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा ब्रूते-इच्छा-कारेण तवेदमहं करिष्यामीत्युक्त्वा तथाकरणे, व्य० १ उ०।

अणुकरणकारावणणिसग्ग-अनुकरणकारापणनिसर्ग-पुं०। अ-नुकरणं नाम यत्सीवनलेपादि कुर्वन्तं दृष्ट्वा ब्रूते-इच्छाकारेण त-वेदमहं करिष्यामि, कुरुते च, कारापणं तद् यत्स्वयं करणे कु-शलोऽन्यानपीच्छाकारेण कारापयति, तस्मिन् निसर्गः स्व-भावो यस्य सोऽनुकरणकारापणनिसर्गः, इत्थंभूतस्तस्य स्व-भावो यदि अनभ्यर्थित एव करोति कारयतीति भावः। अनभ्य-र्थनेनैव कुर्वन्ति कारयन्ति च। भावसङ्ग्रहविशेषे, व्य० ३ उ०।

अणुकहन-अनुकथन-न०। आचार्यप्ररूपणातः पश्चात् कथ-ने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

अणुकारि [ण्]-अनुकारिन्-त्रि०। अनुकरोति । अनु+कृ-णिनि। स्त्रियां ङीप्। गुणक्रियाऽऽदिभिः सदृशीकारके, वाच०। विवक्षितवस्तुनः सदृशे, अष्ट० ७ अष्ट०।

अणुकुइय-अनुकुचित-त्रि०। अनुकुंचिते; नि० चू० ७ उ०।

अणुकुड्ड-अनुकुड्य-अव्य०। अनुशब्दस्य समीपार्थद्योतकत्वा-त्, अनुकुड्यमुपकुड्यम्। बृ० ३ उ०। कुड्यसमीपवर्तिनि प्रदे-शे, बृ० ३ उ०।

अणुकूल-अनुकूल-त्रि०। अनुलोमे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०। स्था०। नि०। अनुरूपे, आ० म० प्र०। "अणुकूलेणं धम्मे कुमार-बंभचारी" आव० ४ अ०। अप्रतिकूले, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा०। आचार्याणामन्येषां वा पूज्यानां वैयावृत्यादिना हितकारिणि वस्सारकल्पिकयोग्यतावति, बृ० १ उ०।

अणुकूलवयण-अनुकूलवचन-न०। अप्रतिकूलवचने, यथा हे महाभाग ! नेदं तवोचितं वक्तुं कर्तुं वेति। दर्श०।

अणुकूलवाय-अनुकूलवात-पुं०। आघ्रातकविवक्षिते पुरुषाणां पवने, जी० १ प्रति०।

अणुक्कंत-अनुक्रान्त-त्रि०। अनुष्ठिते आसेवनापरिज्ञया सेविते, आचा०। "एस विही अणुक्कंते माहणेणं मईमया बहुसो"। आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ०।

अन्वाक्रान्त-त्रि०। अनुचीर्णे, आचा० १ श्रु० ९ अ० ३ उ०।

अणुक्कम-अनुक्रम-पुं०। अनुपरिपाट्याम, आ० चू०। आनुपूर्वी अनुक्रमोऽनुपरिपाटीति पर्यायाः। अनु०। आचा०। "अणु-परिवाडित्ति वा अणुक्कमेति वा एगट्ठा"। आ० चू० १० अ०।

अणुक्कसाइ (ण्)-अनुत्कशायिन्-पुं०। उत्क उत्कण्ठितः स-त्कारादिषु शेते इत्येवंशील उत्कशायी, न तथा अनुत्कशायी। प्राकृतत्वाद्वाऽनुकषायी। सर्वधनादित्वादिनिः। सत्कारादिकम-कुर्वते कुप्यति, तत्संपत्तौ वाऽनहंकारयति, उत्त० ३ अ०।

अणुकषायिन्-त्रि०। अणवः स्वल्पाः संज्वलननामान इति यावत्। कषायाः क्रोधादयोऽस्येति सर्वधनत्वादिनिप्रत्ययेऽणु-कषायी। प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम्। संज्वलनकषायवि-शिष्टे, उत्त० १५ अ०।

अनुत्कषायिन्-त्रि०। उत्कषायी प्रबलकषायी, न तथा अनु-त्कषायी। अप्रबलकषाये, उत्त० १५ अ०। सत्कारादिना हर्ष-रहिते, "अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाए सी अलोलुए" उत्त० २ अ०।

अणुक्कस्स-अनुत्कर्षवत्-पुं०। अष्टमदस्थानानामन्यतमेनाप्युत्से-कमकुर्वति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "अणुक्कस्से अप्पलीणे, मज्झेण मुणिजावए" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अणुक्कोस-अनुत्कर्ष-पुं०। आत्मनः परेभ्यः सकाशाद् गुणैरु-त्कर्षणमुत्कृष्टताभिधानम्। गौणमोहनीयकर्मणि, भ० १२ श० ५ उ०। स०। आत्मगुणाभिमाने, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

अनुक्रोश-पुं०। दयायाम, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

अणुक्खित्त-अनुक्षिप्त-त्रि०। पश्चादुत्पाटिते, "अणुक्खित्तंसि धुगंसि" हा० ८ अ०।

अणुगंतव्व-अनुगन्तव्य-त्रि०। अनुसर्त्तव्ये, स्था० ५ ठा० १ उ०।

अणुगच्छण-अनुगमन-न०। आगच्छतः प्रत्युद्गमनरूपे काय-विनयभेदे, दश० १ अ०।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छत्-त्रि०। अनुवर्त्तमाने, " अणुगच्छ-माणे वि तहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं " सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। आचा०।

अणुगम-अनु (णु) गम-पुं०। अनुगमनमनुगमः, अनुगम्य-तेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः। सूत्रानुकूले परिच्छेदे, स्था० १ ठा०। निक्षिप्तसूत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, अर्थे, कथने च। जं० १ वक्ष०। सूत्रस्यानुरूपेऽर्थाख्याने, व्य० १ उ०। आ० म० प्र०। आचा०। संहितादिव्याख्यानप्रकारप्ररूपके, उद्देशनिर्देशनिर्ग-मादिद्वारकलापके वा। स०। अनुयोगद्वारे, अनु०।

अथाऽनुगमनिरुक्तिमाह-

अनुगम्मइ तेण तहिं, तओ व अणुगमणमेव वाऽणुगमो।
अणुणोऽणुरूवओ वा, जं सुत्तत्थाणमणुसरणं ॥

अनुगम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनाऽस्मिन्नस्माद्वा इत्यनुगमः, वाच्यार्थविवक्षा तथैव। अथवा अनुगमनमेवानुगमः। अणुनो वा सूत्रस्य गमो व्याख्यानमित्यनुगमः। यदि वा अनुरूपस्य घट-मानस्यार्थस्य गमनं व्याख्यानमनुगमः। सर्वत्र किमुक्तं भवती-त्याह-यत्सूत्रार्थयोरनुकूलं सम्बन्धकारणमित्यनुगम इति । विशे०।

अनुगमभेदाः—

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुविहे पण्णत्ते ।
तं जहा-सुत्ताणुगमे अ निज्जुत्तिअणुगमे अ ॥

(से किं तं अणुगमे इत्यादि) अनुगमः पूर्वोक्तशब्दार्थः। स च द्विधा-सूत्रानुगमः सूत्रव्याख्यानमित्यर्थः। निर्युक्त्यनुगमश्च नितरां युक्ताः सूत्रेण सह लोलीभावेन संबद्धा निर्युक्ता अर्थास्ते-षां युक्तिः स्फुटरूपताऽऽपादनम्, एकस्य युक्तशब्दस्य लोपान्निर्यु-

त्तिर्णामस्थापनादिप्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थः । तद्रूपोऽनुगमस्तस्य वा अनुगमो व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः । अनु० । (सूत्रानुगमनिर्युक्त्यनुगमयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) व्याख्याने, संगृहीते, सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशे० । यत्र साधनं तत्र साध्यमित्येवंलक्षणे साध्यस्य साधनेन सहान्वये, विशे० । पश्चाद्गमने , सहायीभवने च । वाच० ।

अणुगम्म–अनुगम्य–अव्य० । बुद्ध्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुगय–अनुगत–त्रि० । पूर्वमवगते , विशे० । अव्यवच्छिन्नतयाऽनुवृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । 'मतिसहितं ति वा मतिअणुगतं ति वा एगट्ठा'। आ० चू०१ अ० । पितृविभूत्याऽनुयाते पितृसमे पुत्रे , पुं० । स्था० ८ ठा० ३ उ० । आनुकूल्ये , न० । स० ।

अणुगवेसेमाण–अनुगवेषयत्–त्रि० । सामायिकपरिसमाप्त्यनन्तरं गवेषयति, " तं भंडं अणुगवेसेमाणे किं सयं भंडं अणुगवेसइ ? " भ० ८ श० ५ उ० ।

अणुगा (ग्गा) म–अनुग्राम–पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः। व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गानुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एकस्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे, उत्त० ३ अ० । एकग्रामाल्लघुपश्चाद्भावाख्यं स्थिते ग्रामे, स्था० ५ ठा० २ उ० । विवक्षितग्रामादनन्तरे ग्रामे , " गामाणुगा (ग्गा) मं दूइज्जमाणे " औ० । ध० ।

अणुगामि (ण्)–अनुगामिन्–त्रि० । साध्यमसाध्यमन्वादिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो धूमादिर्हेतुः सोऽनुगामी । अदुष्टहेतौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनुयातरि, आव० ५ अ० । मोक्षायाऽनुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अणुगामिय–अनुगामिक–त्रि० । उपकारित्सत्कालान्तरमनुयाति तदनुगामिकम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । अनुगमनशीले भवपरम्परानुबन्धिसुखजनके, पा० । स्था० । अनुगमनशीलेऽवधिज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति अनुगामिकः । अनुचरे , सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । अकर्तव्यहेतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र०२ श्रु०२ अ०२ उ०।

अणुगामियत्त–अनुगामिकत्व–न० । भवपरम्परासु सानुबन्धसुखे, औ० ।

अणुगिद्ध–अनुगृद्ध–त्रि० । प्रत्याशक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुगिद्धि–अनुगृद्धि–स्त्री० । अभिकाङ्क्षायाम, उत्त० ३ अ० ।

अणुगिलइत्ता–अनुगीर्य–अव्य० । भक्षयित्वेत्यर्थे, आ० ७ अ० ।

अणुगीय–अनुगीत–त्रि० । मूलाचार्यात्पाश्चात्यशिष्यैः कृते ग्रन्थे, " महत्थरूवा वयणप्पभूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्झे" अन्विति तीर्थकृद्गणधरादिभ्यः पश्चाद् गीता अनुगीता । कोऽर्थः?-तीर्थकरादिभ्यः श्रुत्वा प्रतिपादिता , स्थविरैरिति शेषः । अनुलोमं वा गीताऽनेन श्रोत्रानुकूलैव देशना क्रियते इति ख्यापितं भवति । उत्त० १३ अ० ।

अणुगुरु–अनुगुरु–त्रि० । यद्यथा पूर्वगुरुभिराचरितं तत्तथैव पाश्चात्यैरपि आचरणीयमिति गुरुपारम्पर्ये व्यवस्थया व्यवहरणीये, बृ० १ उ० ।

अणुग्गह–अनुग्रह–पुं० । उपकारे, औ० । ज्ञानाद्युपकारे, स्था०

तिविहे अणुग्गहे पण्णत्ते । तं जहा–आयाणुग्गहे, पराणुग्गहे, तदुभयाणुग्गहे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽध्ययनादिप्रवृत्तस्य, परानुग्रहो वाचनादिप्रवृत्तस्य , तदुभयानुग्रहः शास्त्रव्याख्यानशिष्यसङ्ग्रहादिप्रवृत्तस्येति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । "सर्वज्ञोक्तोपदेशेन, यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् " आ० म० प्र० । प्रश्ना० । यो० बिं० । अनुपघाते, उज्ज्वालने, नि० चू० १ उ० । देहस्य स्रक्चन्दनाङ्गनावसनादिभिर्भोगैरुपष्टम्भे, ध० १ अधि० ।

अणुग्गहट्ठ–अनुग्रहार्थ–पुं० । अनुग्रह उपकारस्तल्लक्षणो योऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा । अनुग्रहप्रयोजने, " सपरोसिमणुग्गहट्ठाए " स्वपरयोरात्मतदन्ययोरनुग्रह उपकारस्तल्लक्षणो योऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थः, तस्मै अनुग्रहार्थाय । तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभावात् परोपकारद्वारा यौनकर्मक्षयावाप्तेश्च । परानुग्रहस्तु परेषां निर्मलबोधतत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परम्परया निर्वाणसंपादनात् । पञ्चा० ६ विव० ।

अणुग्गहत्ता–अनुग्रहता–स्त्री० । अनुगृह्णात इति,अनुग्रहः । कर्मण्यनट् । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहणे, व्य० १ उ० ।

अणुग्गहतापरिहार–अनुग्रहतापरिहार–पुं० । अनुग्रहतया परिहारोऽनुग्रहतापरिहारः । खोडादिभङ्गरूपे परिहारभेदे, व्य० १ उ० ।

अणुग्घाइम–अनुद्घातिम–न० । उद्घातो भागपातस्तेन निर्वृत्तमुद्घातिमं लघ्वित्यर्थः । यत उक्तम्–" अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं । दिज्जइ लहुयदाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेव " इति । ('उग्घाइअ' शब्देऽस्या व्याख्या द्वि० भा० ७३० पृष्ठे द्रष्टव्या) एतन्निषेधादनुद्घातिमम् । तपोगुरुणि प्रायश्चित्ते, तद्योगात् तद्वत्सु साधुषु च । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अणुग्घाइय–अनुद्घातिक–पुं० । न विद्यते उद्घातो लघुकरणलक्षणो यस्य तपोविशेषस्य तदनुद्घातम्, यथाश्रुतदानमित्यर्थः, तदेषां प्रतिसेवाविशेषतो ऽस्ति तेऽनुद्घातिकाः । स्था० ५ ठा० २ उ० । उद्घातो नाम भागपातः, सान्तरदानं वा, स विद्यते येषु ते उद्घातिकाः; तद्विपरीता अनुद्घातिकाः । तपोगुरुप्रायश्चित्तार्हेषु, बृ० ५ उ० ।

अथोऽनुद्घातिकाः—

तओ अणुग्घाइया (मा) पण्णत्ता । तं जहा–हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं सेवमाणे, राइभोयणं भुंजमाणे । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अथत्रिसंख्याका अनुद्घातिकाः । उद्घातो नाम–' अद्धेण छिन्नसेसं ' इत्यादिविधिना भागपातः, सान्तरदानं वा; स विद्यते येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः, प्रज्ञप्तास्तीर्थकरादिभिः प्ररूपिताः, तद्यथोपदर्शनार्थः । हन्ति हसति वा मुखमावृत्यानेनेति हस्तः शरीरैकदेशो निक्षेपादानादिसमर्थः,तेन यत्कर्म क्रियते तद्धस्तकर्म, तत् कुर्वन्; तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुनमुच्यते, तस्य भावः कर्म वा मैथुनं, तत्प्रतिसेवमानः; तथा रात्रौ भोजनमशनादिकं भुञ्जानः । एष सूत्रार्थः । बृ० ४ उ० । निक्षेपपुरस्सरं विशेषव्याख्यानम् ।

अथानुद्घातिपदं व्याख्यातुमाह–

उग्घातमणुग्घाते, निक्खेवो छव्विहो उ कायव्वो ।
नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ॥

इह ह्रस्वत्वदीर्घत्वमहत्त्वादिकादनुद्घातिकस्य प्रसिद्धिरिति कृत्वा द्वयोरुद्घातिकानुद्घातिकयोः षड्विधो निक्षेपः कर्त्तव्यः । तद्यथा–नामनि स्थापनायां द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे चेति । तत्र नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्यादिविषयमुद्घातिकमनुद्घातिकं च दर्शयति–

उग्घायमणुग्घाया, दव्वम्मि हलिद्दराग किमिरागा ।
खेत्तम्मि कण्हभूमी, पत्थरभूमी य हलमादी ॥

द्रव्ये द्रव्यत उद्घातिको हरिद्रारागः, सुखेनैवापनेतुं शक्यत्वात् । अनुद्घातिकः कृमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । क्षेत्रत उद्घातिका कृष्णभूमिः अनुद्घातिका प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह–(हलमादि त्ति) हलकुलिकादिभिः कृष्णभूमिरुद्घातयितुं क्षोदयितुं शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा–

कालम्मि संतर णिरं–तरं तु समयो य होतऽणुग्घातो ।
भव्वस्स अट्ठ पयमी, उग्घाति पएतरा इयरे ॥

कालत उद्घातिकं सान्तरप्रायश्चित्तस्य दानम्, अनुद्घातिकं निरन्तरदानं, तुशब्दात् लघुमासादिकमुद्घातिकं, गुरुमासादिकमनुद्घातिकम् । अथवा–कालतः समयोऽनुद्घातिको भवति, खण्डशः कर्तुमशक्यत्वात् । आवलिकादय उद्घातिकाः, खण्डितुं शक्यत्वात् । भावत उद्घातिका भव्यस्याष्टौ कर्मप्रकृतयः, उद्घातयितुं शक्यत्वात्, इतरस्याभव्यस्य प्रकृतास्ता एवेतरा अनुद्घातिकाः ।

कुत ? इति चेदुच्यते–

जेण खवणं करिस्सति, कम्माणं तारिसो अभव्वस्स ।
ण य उप्पज्जइ भावो, इति भावो तस्सऽणुग्घातो ॥

येन शुभाध्यवसायेन कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षपणमसौ करिष्यति स तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नोत्पद्यते, इत्यतस्तस्य भावोऽनुद्घातः कर्मणाऽनुद्घातं कर्तुमसमर्थः । अत एव तस्य कर्माणि अनुद्घातिकानि भण्यन्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्तानुद्घातिकेनाधिकारः । तच्च कुत्र भवतीत्याह–

हत्थे य कम्म मेहुण, रत्तीभत्ते य होंतऽणुग्घाता ।
एतेसिं तु पदाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥

हस्ते हस्तकर्मकरणे, मैथुनसेवने, रात्रिभक्ते एतेषु त्रिषु सूत्रोक्तपदेषु अनुद्घातिकानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तत्र हस्तकर्मणि मासगुरुकं, मैथुनरात्रिभक्तयोश्चतुर्गुरुकाः । एतच्च प्रायश्चित्तं यदा यत्र स्थाने भवति तत्पुरस्ताद् व्यक्तीकरिष्यते । बृ० ४ उ० । (अथैतेषां हस्तकर्ममैथुनरात्रिभोजनानां व्याख्याऽन्यत्र स्वस्वस्थान एव द्रष्टव्या) ।

उपसंहरन्नाह–

अत्थं पुण अधिकारो–ऽणुग्घाता जेसु जेसु ठाणेसु ।
उच्चारियसरिसाइं, सेसाइ विकोवणट्ठाए ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतसूत्रे हस्तकर्ममैथुनरात्रिभक्तविषयैः स्थानैरधिकारः प्रयोजनम् । कैरित्याह–येषु येषु स्थानेषु अनुद्घातानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरेवाधिकारः । शेषाणि पुनरुच्चारितार्थसदृशानि शिष्याणां विकोपनार्थमुक्तानि । बृ० ४ उ० । उद्घातिके अनुद्घातिकमनुद्घातिके वा उद्घातिकं पञ्चानुद्घातिकाः । "पंच अणुग्घाइमा पण्णत्ता । तं जहा–हत्थकम्मं करेमाणे मेहुणं पडिसेवमाणे राईभोयणं भुंजमाणे सागारियपिंडं भुंजमाणे रायपिंडं भुंजमाणे" स्था० ५ ठा० २ उ० । उद्घातिके अनुद्घातिकमनुद्घातिके उद्घातिकं ददतः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खू उग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे भिक्खू उग्घाइयहेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू उग्घाइयसंकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू उग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू अणुग्घातियहेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयसंकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू उग्घातियं वा अणुग्घाइयं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू उग्घातियहेउं अणुग्घाइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू उग्घातियसंकप्पं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू उग्घाइयं वा अणुग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयं वा उग्घाइयं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयहेउं वा उग्घाइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयसंकप्पं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयं वा अणुग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा उग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एवं अणुग्घातिए वि सुत्तं । उग्घाताणुग्घायहेउए वि दो सुत्ता । उग्घायाणुग्घायसंकप्पे वि दो सुत्ता ।

एते छ सुत्ता–

उग्घातियं वहंते, आवण्णुग्घायहेउगे होति ।
उग्घातियसंकप्पिय–सुद्धे परिहारियं तहेव ॥ २६० ॥

उग्घातियं णाम जं संतरं वहति, लघुमित्यर्थः । अणुग्घातियं णाम जं णिरंतरं वहति, गुरुमित्यर्थः । सोच्चं ति अण्णसगा–

साओ, गुरुं ति सयमेव जाणित्ता, संभुजेति एगओ भोजनम्; उग्घायहेउं संकप्पाए अणुग्घातियाए तिरिह वि इमं वक्खाणं। उग्घातियं पायच्छित्तं वहंतस्स पायच्छित्तमावन्नस्स जाव मणालोइयं ताव हेउं भवति, आलोइए अ गुरूदिरो तुज्झे य पच्छित्तं विच्छिहिति त्ति संकप्पियं भणति, एयं पुण दुविधं पि दुविहं वहति-सुद्धतवेण वा परिहारतवेण वा इत्तविसुद्धस्स तवस्स वा परिहारतवस्स वा संकप्पियं पि सुद्धतवेण वा परिहारतवेण अणुग्घायहेयहेउं संकप्पाए अणुग्घातियाए तिएह इमं वक्खाणं।

अणुघातियं वहंते, आवएणुग्घातहेउगे होति ।
अणुघातियसंकप्पिय-सुद्धे परिहारियं तहेव ॥ २६१॥

पूर्ववत्, णवरं, अणुग्घातिए त्ति वत्तव्वं, जे सगच्छे सुद्धपरिहारतवा ण अरुह ते एज्जंति चेव। जे परगच्छातो आगता ते पुच्छिज्जंति।

को भंते ! परियाओ, सुत्तत्थअभिग्गहो तवो कम्मा ।
कक्खडमकक्खडएसु य, सुद्धतवे मंडवादो त्ति ॥२६२॥

इमा पढमा पुच्छा ।

गीयमगीओ गीओ, महत्ति कं वत्थु कस्स वसि जोग्गो ? ।
अगीउ त्ति य भणिते, थिरमथिरतवे य कयजोग्गो ॥२६३॥

सो पुच्छिज्जति-किं तुमं गीयत्थो अगीयत्थो ?। जदि सो भणति-गीतोऽहमिति, तो पुणो पुच्छिज्जति-किं आयरिओ ? उवज्झाओ ? पवत्ती ? थेरो ? गणवच्छेओ ? नेता ? वसभो ?। एतेसिं एगतरे अक्खाए पुच्छिज्जति-कयमस्स तवजोग्गा सुजस्स परिहारस्स, अह सो अगीतोऽहमिति भणिज्जति, तओ पुच्छिज्जति-थिरो अथिरो त्ति। थिरो दढो तवकरणे बलवानित्यर्थः। अथिरो अन्तर एव भज्जते, नान्तं नयतीत्यर्थः। पुण थिरो अथिरो वा पुच्छिज्जति-ताव कयजोग्गो तवकारणेनाभ्यस्ततवो।

सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अन्नगणादागयं च जं जाणे ।
परियायजम्मदिक्खा, उणतीसा वीसकोडी वा ॥२६४॥

सगणे एया उ णत्थि पुच्छा उ, जओ सगणवासिणो सव्वे णज्जंति। जो जारिसो अन्नगणागतं पि जं जाणे तं नो पुच्छेअ भंते ! आमंतणवयणं परियाए त्ति। परियाओ दुविहो-जम्मपरियाओ, पव्वज्जापरियाओ य। जम्मपरियाओ जहन्नेण जस्स एगूणतीस वीसा कहं ? जम्मछवरिसो पव्वति। तो णवमवरिसो पव्वति, तो णवमवरिसे पव्वति, तो ते णवमवरिसे पढलीओ विसतिवरिसस्स वरिसेण सम्मत्तो। एवं वरिसेण सम्मत्तो। एवं वरिसेण समत्ती। एते अ उणतीसं वीसो उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी पव्वज्जा उणवीसस्स दिट्टिवातो उद्दिट्ठो वरिसेण सम्मत्तो। एते वीसं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी।

इदाणिं सुत्तत्थमिति—

नवमस्स ततियवत्थू, जहएणउक्कोसनूणग दसमं ।
सुत्तत्थअभिगहे पुण, दव्वादितवो रयणमादी ॥२६५॥

णवमस्स पुव्वजहन्नेणं ततिआयारवत्थूकाले णाणं भणिज्जति, जादे तं अधीयं उक्कोसेण जाहे ऊणगा दसपुव्वा अधीता संमत्तदसपुव्विणो परिहारतवो ण दिज्जति, सुत्तत्थस्स एयं पमाणं (अभिग्गहे त्ति) अभिग्गहा दव्वक्खेत्ते कालभावे हि तवो तवोकम्मं पुण (रयणमादि त्ति) रयणावली आदिसद्दातो कणगावली, 'सीहविक्कीलियं जवमज्झं वइरमज्झं चंदाणयं' कक्खडेसु य पच्छइं। अस्य व्याख्या-सुद्धपरिहारतवाणं कतमो कक्खडो, कयमो वा अक्खडो ?, एत्थ सेलए मंडवेहिं दिट्ठंतो कज्जति ।

जं मायति तं छुब्भति, सेलमए मंमवे ण एरंडे ।
उभयपलियम्मि एवं, परिहारो दुब्बले सुद्धो ॥२६६॥

सेलमंडवे जं मायइ तं छुब्भति ण सो भज्जति, एरंडमए पुण जावतियं छुब्भति, एवं उभयवलिए तिविधे संघयं णोवजुत्तो जं आवज्जति इमेरिसाणं सव्वकालं सुद्धतवो तं परिहारतवेण दिज्जति, सो पुण विसिसंघयणे हि दुब्बलोऽतिहीणो तस्स सुद्धतवो वा हीणतरं पि दिज्जति। सीसो पुच्छति-किं सुद्धपरिहारतवाण एगावली उत भिन्ना ?।

उच्यते—

अविसिट्ठा आवत्ती, सुद्धतवे संहयणपरिहारे ।
वत्थुं पुण आसज्ज, दिज्जत्ते तत्थ एगतरो ॥२६७॥

सुद्धपरिहारतवाणं अविसेसी आवत्ती आरियादिवत्ती। संघयणोवजुत्तं जाणिऊणं परिहारतवो दिज्जति, इतरो वा सुद्धतवो एगं एगतरा दिज्जति, इमेरिसाणं सव्वकालं सुद्धतवो दिज्जति ।

सुद्धतवो अज्जाणं, अगियत्थे दुब्बले असंघयणे ।
धितियवलिए समत्ता-गए य सव्वेसिं परिहारो ॥२६८॥

अज्जाणं गीयत्थस्स वितीयदुब्बलस्स संघयणहीणे एतेसिं सुद्धतवो दिज्जति, धितिवलजुत्तो संघयणसमधिए य पुरिसे परिहारे तवं पडिवज्जते। इमो विही—

विउसग्गो जाणट्ठा, ववणा जंए य दोसु वी तेसु ।
आगम य दीयराया, दिट्ठंतो जीय आमत्थे ॥२६९॥

परिहारतवं पडिवज्जंते दव्वादि अप्पसत्थवज्जेत्ता पसत्थेसु दव्वादिसु काउस्सग्गो कीरइ, सेससाहू जाणणट्ठा आलावणादिपदाण ठवणा ठविज्जति, तेसु अ ठविएसु जदि भीता तो आसासो कीरइ ति, इमेहिं से वीहे पायच्छित्तं सुज्झति महती य णिज्जरा भवति, कप्पट्ठियअणुपरिहारिया य दो सहाया ठविता इमेहिं अगडतिराइदिट्ठंतेहिं भीतस्स आसासो कीरइ, अगडे पडियस्स आसासो कीरति, एस जणो धावति, रज्जूआ णिज्जाति अधिरा उत्तारेज्जसि, मा विसादं गेण्हसु, एवं जतिणा सासिज्जति, तो कयातिभावए तत्थ चेव मारेज्ज, णदीपूरेण हीरमाणो भणति-तडं अवलवाहिए संसारगो दतिगादि घेत्तुमतरिओ मुत्तारेहिसि, मा विसादं गेण्हसु। रायगहिओ वि भण्णति-एस राया जदि वि दुट्ठो तहवि विण्णविज्जंतो पुरिमादिएसु आयारं पस्सति, अइरुट्ठं न करेति; एवं आसासिज्जंतो आससाति; दढवेत्तो य भवति ।

काउस्सग्गो य किं कारणं कीरइ ?, उच्यते—

नीरुवसग्गणिमित्तं, भयजणणट्ठा य सेसगाणं तु ।
तस्सऽप्पणो य गुरुणो, पसाहए होति पभिवत्ती २७०

साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्तं सेससाहूण य भयाजणणट्ठा काउस्सग्गो कीरइ, सो य दव्वओ वडमादि खीररुक्खेत्तओ जिणघरादिसु कालओ पुव्वसूरे पसत्थादिदिणेसु य भावतो चंदताराबलेसु तस्सऽप्पणो य गुरुणो य साहूएसु पडियत्ती भवति। सो य जहन्नेण मासो, उक्कोसेण छम्मासा, तम्मि परिहारतवं पडिवज्जंति। आयरियो भणाति-एय साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्तं ठामि काउस्सग्गं जाव वोसिरामि, लोगस्सुज्जोयगरं अणुपेहेत्ता णमोऽरिहंताणं ति पारेत्ता लोगुस्सवं करं कड्डित्ता आयरियो भणति—

कप्पट्ठिओ अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीओ।
पुव्विं कयपरिहारो, तस्स य सयणो वि ददढदेहो ॥२७१॥

आयरिओ आयरिया णिउत्तो वा नियमगीयत्थो तस्स आयरियाए पदाणुपालगो कप्पट्ठितो भवति। सो भणति-अहं ते कप्पट्ठिती परिहारियं गच्छंतं सव्वत्थ अणुगच्छति जो सो अणुपरिहारितो सो वि णियमा गीयत्थो। सो से विज्जति एस ते अणुपरिहारी, सो पुण पुव्वकयपरिहारियस्स असति अण्णो वि अकयपरिहाराविति संघयणजुत्तो ददढदेहो गीयत्थो अणुपरिहारितो ठविज्जति। एवं दोसु ठविएसु इमं भवति—

एस तवं पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा हु आलवह।
अत्तट्ठचिंतगस्सा, वाघाओ भे न कायव्वो ॥ २७२ ॥

एस आयविसुद्धकारओ परिहारतवं पडिवज्जति। एस तुज्झे ण किंचि आलवति, तुज्झे वि एयं मा आलवह। एस तुज्झे सुत्तत्थेसु सरीरं वट्टमाणी वा ण पुच्छति, तुज्झे वि एयं मा पुच्छह। एवं परियट्टणादिपदा सव्वे भाणियव्वा। एवं आलवणादिपदे आत्मार्थं चिन्तकस्य ध्यानपरिहारक्रियाव्याघातो न कर्तव्यः। इमा ते आलवणादिपदा-

आलावणपडिपुच्छण-परियट्टुट्ठाणवंदणगमत्तो।
पडिलेहणसंघाडग-भत्तदाणसंभुंजणे चेव ॥ २७३॥

आलावो देवदत्तादिपुच्छादिएसु पुच्छा घीतसुतस्स परियट्टणं कालजिक्खादियाण उट्ठाणं। सओ सुतुट्ठितेहिं खमणमादीयं वा वंदणं खेलकाइयसण्णासंसत्तो मत्तगो वा ण सोहिति तस्स तिओ वा ण घेप्पति उवकरणं, परोप्परं ण पडिलेहेति संघाडगा परोप्परं ण भवंति, भत्तदाणं परोप्परं ण करेंति। एवं मंडलीए ण भुंजंति। यच्चान्यत्किञ्चित्करणीयं तत्तेन सार्द्धं न कुर्वन्तीत्यर्थः। इमं गच्छवासीणं पच्छित्तं-

संघाडगतो जो वा, लहुगो मासो दसण्ह तु पदाणे।
लहुगा य भत्तदाणे, सभुंजणे होंतऽणुग्घाया ॥२७४॥

जदि गच्छिल्लगा परिहारियं आलवंति तो ताणं मासलहुं। एवं जाव संघाडगपदं अट्ठमं सव्वेसु मासलहुं। जदि गच्छल्लया भत्तं गेण्हसु तो चउलहुं, एगट्ठं भुंजताण चउगुरुं, परिहारियस्स अट्ठसु पएसु मासगुरुं, भत्तदाणसभुंजणेसु चउगुरु, कप्पट्ठियस्स अणुपरिहारियस्स दोण्ह वि एगसंभोगो, एते दोन्नि गच्छिल्लएहिं समाणं आलावं करेंति। वंदामो त्ति य भणंति सेसं ण करेंति। कप्पट्ठियपरिहारियाण इमं परोप्परं करणं-

कितिकम्मं च पडिच्छति, परिण्ण पडिपुच्छगं पि से देति।
सो वि य गुरुमुवचिट्ठति, उदंतमवि पुच्छितो कहति॥ २७६॥

कप्पट्ठिती परिहारियवंदणं पडिच्छति, परिण्णति पच्चक्खाणं देति। सुत्तत्थेसु पडिपुच्छं दिति, सो वि परिहारियओ कप्पट्ठियं अणुचिट्ठति अब्भुट्ठाणादि किरियं सुत्तमं करेति। सण्णादिगच्छंतो अत्थेइ पुच्छितो कप्पट्ठियेण ओदंत इति सरीरवट्टमाणी कहेति-

उट्ठिज्ज णिसीएज्जा, भिक्खं गेण्हेज्ज भंडगं पेहे।
कुविए पि वंधवस्स व, करेति इतरो च तुसिणीओ॥२७७॥

परिहारितो तवकिलामितो जइ दुब्बलयाए उट्ठेउं ण सक्केइ, ताहे अणुपरिहारियस्स अंगातो भवति। उट्ठेज्जामि णिसीएज्जामि भिक्खं हिंडिउं ण सक्केमि, तोऽणुपरिहारिओ परिहारियजायणेहिं हिंडिउं देति। जइ ण सक्केइ भंडगं पडिलेहेउं ताहे अणुपरिहारितो से पडिलेहणियं करेइ, जइ ण सक्केति सण्णाकाइयभूमिं गंतुं, तत्थ परिहारिओ भणति-काइयसण्णा भूमिं गच्छेज्जामि, ताहे अंसे अणुपरिहारिओ करेति।

सुत्तणिवाओ इत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधम्मि।
सोवा वा णवा वा, संभुंजंतस्स आणादी ॥ २७८ ॥

एत्थ सुत्तं निवाओ, जो परिहारतवं दुविधं उग्घायं अणुग्घायं वहइ तं सोवा णवा वा जो संभुंजति तस्स आणादिदोसा भवंति।

वितियपदे साहुवंद-ण उभओ गेलण्णथेरअसती य।
आलोयणादि तु पए, जयणाए समायरे भिक्खू॥ २७९॥

साधुवंदणात्ति अण्णत्थं साधुसंठिता अण्णो साधू ते दट्ठुं भणाति-अमुगसाहुस्स वंदणं करेज्जा, सो परिहारतवं पडिवण्णो जस्स परिजाति यं हत्थो ते आयाणंतो वंदिउं वंदणकयं कथेति तस्स णं दोसो, उभओ गेलण्णं वि कप्पट्ठिय अणुपरिहारिय परिहारिओ य एते जदि तिण्णि वि गिलाणा, ताहे गच्छेल्लया सव्वं जयणाए करेंति। का जयणा भण्णति? गच्छिल्लया परिहारियभाणेहिं हिंडित्ता कप्पट्ठियस्स पणामेति। सो अणुपरिहारियस्स पणामेति, सो वि परियस्स पणामेति। सो वि परिहारियकप्पट्ठिय अणुपरिहारिया पणामेउं पि ण वएति। सोयमेव गच्छिल्लया सव्वे गिलाणा तो ते कप्पट्ठिया दिया तिण्णि जयणाए सव्वं पि करेज्जा, परिहारियं गच्छिल्लयभायणेसु आणिओ अणुपरिहारियस्स पणावेति, सो कप्पट्ठियस्स, सो वि गच्छिल्लयाणं थेरअसतीए थेरा आयरिया तेसिं वेयावच्चकरस्स असत। वेयावच्चकरवाघाए वा अण्णो य सलद्धीओ णत्थि, ताहे परिहारिओ वि करेज्ज जयणा, एसो भायणेसु हिंडिउं अणुपरिहारियस्स पणावति। कप्पट्ठियस्स वासो आयरियाणं देति, एवमादिकज्जेसु आलावणादिपदे जयणाए भिक्खू समाचरेदित्यर्थः। सुत्ताणि हु इदाणिं एतेसिं चेव छण्हं सुत्ताणं दुगादिसंगसुत्ता वत्तव्वा। तत्थ दुगसंजोगे पण्णरस सुत्ता भवंति। तत्थ पढमं दसमं च एते तिण्णि दुगं संजोगसुत्ता सुत्तं णेव गाहिया। सेसा बारसऽत्थतो वत्तव्वा। तिगसंजोगेण वीसं सुत्ता भवंति। तत्थ छट्ठ पन्नरसमं च होंति सुत्ता सुत्तेणेव गाहिता। सेसा अट्ठारस अत्थेणेव वत्तव्वा। चउसंजोगेण पन्नरस, ते अत्थेण वत्तव्वा। छक्कगसंजोगे एक्के तं सुत्तेणेव भणियं। एवं एते सत्तावण्णं संजोगसुत्ता भवंति। एतेसिं अत्थो पुव्वसमो दुगसंजोगेण उग्घातियं अणुग्घातियं वा कहं संभवति? भण्णति-आवत्ती से उग्घातिया कारणे उ दाउं अणुग्घातियं, एवं उग्घाय अणुग्घायसंभवो। अहवा तवेण अणुग्घातकालतो उग्घातियं एवं वज्जिऊणं भावेतव्वं। नि० चू० १० उ०।

अणुग्घाय-अनुद्घात-पुं० । न विद्यते उद्घातो लघूकरण-लक्षणो यस्य तदनुद्घातम् । यथाश्रुतदाने, स्था० ५ ठा० २ उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

अणुग्घायण-अणोद्घातन-न० । अणत्यनेन जन्तुगणश्चतुर्गतिकं संसारमित्यणं कर्म, तस्योत्प्राबल्येन घातनमपनयनमणोद्घातनम् । कर्मण उद्घातने, " से मेहावी जे अणुग्घायणस्स खेयणे जे य बंधप मोक्खमप्पेसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के " आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणुग्घासंत-अनुग्रासयत्-त्रि० । आत्मना गृहीत्वा पश्चाद् ग्रासं ददति, " जे भिक्खू मा उग्गामस्स मेहुणवडियाए अणुग्घासेज्ज वा अणुपाएज्ज वा अणुग्घासंतं वा अणुपायंतं वा साइज्जइ " नि० चू० ७ उ० । (' मेहुण ' शब्दे ऽस्य व्याख्या)

अणुच (य) र-अनुचर-त्रि० । अनुचरन्ति । अनु-चर-ट । स्त्रियां ङीप् । सहचरे, पश्चाद्गामिनि च । वाच० । अनुपरिहारिकपदस्थितानां यावत् षाण्मासकल्पस्थितानां सेवाकारके, उत्त० २८ अ० ।

अणुचरित्ता-अनुचर्य-त्रि० । आसेव्ये, स० ।

अणुचिंतण-अनुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, आव० ४ अ० ।

अणुचिंता-अनुचिन्ता-स्त्री० । अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसैवाविस्मरणनिमित्ते सूत्रानुस्मरणे, आव० ४ अ० ।

अणुचिऊण-अनुच्युत्वा-अव्य० । पश्चाच्च्युत्वेत्यर्थे, " अणुचिऊणेहागओ तिरियपक्खीसु " महा० ६ अ० ।

अणुचिणवं-अनुचीर्णवत्-त्रि० । अनुष्ठितवति, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अनुचित-त्रि० । असंभावितशैके, बृ० १ उ० । अयोग्ये, षो० ७ विव० ।

अणुचीइ-अनुचिन्त्य-अव्य० । औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया बुद्ध्या पर्यालोच्येत्यर्थे, आव० ४ अ० । जी० । सूत्र० । " अणुचीइ भासए सयाणमज्झे लहइ पसंसणं " अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषमाणः सतां साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनम् । दश० ७ अ० । सूत्र० ।

अणुचीइभासि (ण्)-अनुविचिन्त्यभाषिन्-त्रि० । अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवं शीलोऽनुविचिन्त्यभाषी । व्य० १ उ० । आलोचितवक्तरि, दश० ६ अ० ।

अणुचरिय-अनुचरित-त्रि० । अशब्दिते, महा० १ चू० ।

अनुचार्य-अव्य० । निन्दास्वाकाङ्क्षायामुच्चारयितुमयोग्ये, " अभिग्गहियमिच्छदिट्ठी अणुच्चरियणामधेज्जे सुज्झसिवे " महा० १ चू० ।

अणुचसद्द-अनुच्चशब्द पुं० । अनुच्चस्वरे, " तं पुण अणुच्चसद्दं वोच्छिन्नमियं पभासेइ " न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तदनुच्चशब्दः, तदुच्यवच्छिन्नं शब्दं विविक्तममिलिताक्षरमित्यर्थः; तस्मिन् । व्य० १ उ० ।

अणुच्चाकुइय-अनुच्चाकुचिक पुं० । उच्चा हस्तादि यावत् येन पिपीलिकादेर्वधो न स्यात् सर्पादेर्वा दंशो न स्यात्; अकुचाकुचपरिस्पन्द इति वचनात् । परिस्पन्दरहिता निश्चलेति यावत्; ततः कर्मधारये उच्चा कुचा शय्या कम्बादिमयी सा नो विद्यते यस्य स अनुच्चाकुचिकः । नीचसपरिस्पन्दशय्याके, कल्प० ।

अणुजाइ (ण्)-अनुयायिन् पुं० । सेवके, को० ।

अणुजाण-अनुयान-न० । रथयात्रायाम्, बृ० १ उ० ।

तद्विधिश्चैवम्—

नमिऊण वद्धमाणं, सम्मं संखेवओ पवक्खामि ।
जिणजत्ताएँ विहाणं, सिद्धिफलं सुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्धमानं महावीरं, सम्यग्भावतः, संक्षेपतः समासेन, प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, जिनयात्राया अर्हदुत्सवस्य विधानं विधिं, सिद्धिफलं मोक्षप्रयोजनं, सूत्रनीत्या आगमन्यायेनेति गाथार्थः ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रवक्ष्यामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैवाह–

दंसणमिह मोक्खंगं, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारे ।
णिस्संकादा भणितो, पभावणंतो जिणिंदेहिं ॥ २ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्गं सिद्धिकारणं, परमं प्रधानम्, आदिकारणत्वात्, तस्यानन्तरकारणतया तु परमं चारित्रमेव, 'सारो चरणस्स निव्वाणमिति' वचनादिति । एतस्य दर्शनस्य, पुनरष्टधाऽष्टाभिः प्रकारैः, आचारो व्यवहारो यः सम्यग्दर्शनिनामाचारः स दर्शनस्याचार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदात् । तमेवाह-शङ्का संशयः, तदभावो निःशङ्को निःशङ्कितत्वं, तदादिर्यस्य स निःशङ्कादिः, भणितोऽभिहितः, प्रभावनान्तो जिनशासनोद्भावनाऽवसानः, जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः । तथाहि-"निस्संकियनिक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य । उववूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणा अट्ठ" इति गाथार्थः ॥२॥

ततः किम् ?, अत आह–

पवरा पभावणा इह, असेसभावम्मि तीएँ सब्भावा ।
जिणजत्ता य तयंगं, जं पवरं ता पयासोऽयं ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रभावना जिनशासनोद्भावना, इहाष्टप्रकारे सम्यग्दर्शनाचारे । कुत एवमित्याह- अशेषाणां समस्तानां निःशङ्कितादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भावः सत्ता अशेषभावस्तस्मिन् सति, तस्याः प्रभावनायाः, सद्भावात् संभवान्निःशङ्कितादिगुणयुक्त एव हि प्रभावको भवतीति । ततोऽपि किमित्याह- जिनयात्रा च जिनोद्देशमहः, पुनस्तदङ्गं जिनप्रवचनप्रभावनाकारणं, यद्यस्माद्धेतोः, प्रवरं प्रधानं, तत्तस्माद्धेतोः, प्रयासः प्रयत्नोऽयमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गाथार्थः ॥३॥

अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यस्यां जिज्ञासायामाह–

जत्ता महूसवो खलु, उद्दिस्स जिणे स कीरई जो उ ।
सो जिणजत्ता भणई, तिए विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-महोत्सवः खलु महामह एव, नतु देशान्तरगमनम् । ततः किमत आह-उद्दिश्याश्रित्य जिनानर्हतः स इति महोत्सवः 'जिणे उ' इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनांस्तु जिनानेवेति व्याख्येयम्, क्रियते विधीयते । यस्तु य एव स इत्यसावेव महोत्सवो जिनयात्रेति भण्यते अभिधीयते, तस्याः जिनयात्राया विधानं तु कल्पः पुनर्दानादिविश्राणनप्रभृतिः । आदिशब्दात्तपःप्रभृतिग्रह इति गाथार्थः ॥४॥

एतदेवाह-

दाणं तवोवहाणं, सरीरसक्कारमो जहासत्ति ।
उचितं च गीतवाइय, थुतिथोत्तापेच्छणादीय ॥ ५ ॥

दानं वितरणं, तथा तपउपधानं तपःकर्म, तथा शरीरसत्कारो देहभूषा, मशब्दः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्ति सामर्थ्यानतिक्रमेण, इदं च क्रियाविशेषणम्, प्रत्येकं दानादिषु संबध्यते। उचितं योग्यम् । चशब्दः समुच्चये । गीतं च गेयं, वादितं च पटहादिनादितं , गीतवादितम् । अनुस्वारलोपश्चात्र द्रष्टव्यः, प्राकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोकरूपाणि, प्रेक्षणादि च प्रेक्षणकप्रभृति च । आदिशब्दात्काव्यकथारथभ्रमणादिपरिग्रहो जिनयात्राविधानं च भवतीति प्रक्रमः; इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥ ५ ॥ पञ्चा० ९ विव० । (यात्राविषयं दानद्वारम 'अणुकंपा' शब्देऽत्रैव भागे २६० पृष्ठे उक्तम) ।

अथ तपोद्वारमाह—

एकासणाइ णियमा, तवोवहाणं पि एत्थ कायव्वं ।
तत्तो भावविसुद्धी, णियमा विहिसेवणा चेव ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रभृति, आदिशब्दाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, नियमादवश्यंतया, उपधीयते अनेनेत्युपधानं चरित्रोपष्टम्भनहेतुः, तप एवोपधानं तपउपधानं, तदपि न केवलं दानमेव। अत्र जिनयात्रायां कर्त्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादिदं कर्तव्यमित्याह-ततस्तपउपधानाद् भावविशुद्धिरध्यवसायनैर्मल्यं नियमादवश्यंतया भवति, भावविशुद्धिरेव धर्मार्थिनामुपादेयेति, तथा विधिसेवना जिनयात्रानीत्यनुपालना चैवेति समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्तं तपोद्वारम ।

अथ शरीरसत्कारद्वारमाह-

वत्थविलेवणमल्ला-दिएहिँ विविहो सरीरसक्कारो ।
कायव्वो जहसत्ती, पवरो देविंदणाएण ॥ ८ ॥

वस्त्रविलेपनमाल्यादिभिर्वासोऽनुलेपनपुष्पप्रभृतिभिरादिशब्दादलङ्कारपरिग्रहः। विविधो बहुविधः, शरीरसत्कारो देहभूषा, कर्तव्यो विधेयो, यथाशक्ति शक्त्यनतिक्रमेण, प्रवरः सर्वोत्तमः। कथम् ?। देवेन्द्रज्ञातेन सुरराजोदाहरणेन, यथाहि-भगवतामर्हतां जन्ममहादिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वादरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते , तद्वदन्यैरप्यसौ विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसत्कारः ।

अथोचितं गीत्याद्याह-

उचियमिह गीयवाइय-मुचियाण वयाइएहिँ जं रम्मं ।
जिणगुणविसयं सद्ध-म्मवुड्ढिजणगं अणुवहासं ॥ ९ ॥

उचितं योग्यमिह जिनयात्रायां, गीतवादितं गेयवाद्यम । किंविधमित्याह-उचितानां योग्यानां स्वभूमिकापेक्षया वय आदिकैः कालकृतावस्थाप्रभृतिभिर्वयोवैलक्षण्यरूपसौभाग्यौदार्यैश्वर्या-दिभिर्गीतैर्यद्रम्यं रमणीयं जिनगुणविषयं वीतरागत्वादितीर्थकरगुणगोचरं न राजादिगुणविषयं , तदपि सद्धर्मवृद्धिजनकं सुन्दरधर्ममत्युत्पादकं, तदप्यनुपहासमविद्यमानोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥

स्तुतिस्तोत्रद्वाराभिधानायाह-

थुइथोत्ता पुण ओचिय , गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
संवेगवुड्ढिजणगा, समा य पाएण सव्वेसिं ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः। उचितानि योग्यानि । किंविधानीत्याह-गम्भीरैरतुच्छत्वात्सूक्ष्मबुद्धिगम्यैः पदार्थैः शब्दाभिधेयैर्विरचितानि विहितानि गम्भीरपदार्थैर्विरचितानि, यानि तु यान्येव तान्यपि संवेगवृद्धिजनकानि मोक्षाभिलाषातिशयकारीणि , समानि च तुल्यानि च अविषमाणि वा सुबोधानीत्याह-प्रायेण बाहुल्येन सर्वेषां स्तोतॄणामतुल्यादिस्तोत्रादिपाठे हि कोलाहल एवेति न पुनस्तच्छ्रोतॄणां भावोत्कर्ष इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षणकादिद्वारमाह—

पेच्छणगा वि णमादी, धम्मियणाडयजुआइँ इह उचिया ।
पत्थावो पुण णेओ, इमेसिमारंभमादीओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणकान्यपि प्रेक्षाविषयः। अपिशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये । किं स्वरूपाणि;'नमा' इति नटः शैलूषः तत्प्रवर्त्तितं यत्प्रेक्षणकं तन्नट एवोच्यते-नटप्रेक्षणकमित्यर्थः ; तदादि येषां प्रेक्षणकानां तानि नटादीनि। आदिशब्दात्तदितरपरिग्रहः । तानि चेह किंविधान्युचितानीत्याह—धार्मिकनाटकयुतानि जिनजन्माभ्युदयभरतनिष्क्रमणादिधर्मसंबद्धनाटकोपेतानि, इह जिनयात्रायामुचितानि योग्यानि, भव्यश्रोतॄणां संवेगोत्पादकत्वात् । प्रस्तावोऽवसरः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । ज्ञेयो ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षणकानामारम्भादिर्यात्रारम्भादिरादिशब्दाद्यात्रामध्यादिरिति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षणकानामारम्भादिप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानस्य कः प्रस्ताव इत्याशङ्कायामाह—

आरंभे च्चिय दाणं, दीणादीणमणुतुट्ठिजणणत्थं ।
रण्णाऽमाघायकारण-मणहं गुरुणा स सत्तीए ॥ १२ ॥

(आरंभे च्चिय) यात्रारम्भकाल एव, दानं वितरणं विधेयं भवति । किमर्थमित्याह-दीनादीनां रङ्कप्रभृतीनां मनस्तुष्टिः दीनानाथचित्ततोषविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा लक्ष्मीः। सा च द्वेधा-धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च; अतस्तस्या घातो हननं तस्याभावोऽमाघातोऽमारिरद्रव्यापहारश्चेत्यर्थः । तस्य करणं विधानममाघातकरणमनघं निर्दोषं बन्धमुक्तभोजनवृत्तिमात्रसंपादनेन, अन्यथा तद्वृत्युच्छेदापत्तेर्गुरुणा प्रावचनिकेन स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह-

विसयपवेसे रण्णो, उ दंसणमोग्गहादिकहणा य ।
अणुजाणावणविहिणा, तेणाणुण्णायसंवासो ॥ १३ ॥

विषयप्रवेशे मण्डलप्रवेशने,राज्ञो नृपतेः,तुशब्दः समुच्चयार्थः। तेन तदभावे तन्मान्ययुवराजमहामात्यादेश्च दर्शनं मीलकः कार्यः, दर्शने च सति ' किमागमनकारणम ? ' इति च तेन पृष्टे अवग्रहस्य ' देविंदरायगहवइ-सागरसाहम्मिओ उग्गहो चेव ' इत्येवंविधस्य , आदिशब्दाद्राजरक्षितास्तपस्विनो भवन्तीत्यादेश्च। यदाह-"क्षुद्रलोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते?। क्षान्तदान्ताऽरिहन्तारस्तांश्चेद्राजा न रक्षतीति" कथना प्ररूणा अवग्रहादिकथना , चशब्दः समुच्चये , कार्येति शेषः । ततश्चानुज्ञापनं मुत्कलनं कार्यम, अवग्रहस्य विधिनाऽऽगमनीत्या,ततस्तेन राज्ञा राजसंमतेन वा अनुज्ञाते मुत्कलितेऽवग्रहे संवासो निवासः तद्देशे विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेवं विधीयते इत्याह-

एसा पवयणणीती , पवसंताण. णिज्जरा विउला ।
इहलोयम्मि वि दोसा, ण होंति णियमा गुणा होंति॥१४॥

एषाऽनन्तरोक्ता प्रवचननीतिरागमन्यायो वर्त्तते । अथानया को गुण इत्याह-एवमनन्तरोक्तनीत्या वसतां तद्देशे विवसतां निर्जरा कर्मक्षयः, विपुला बह्वी, अदत्तादानव्रतस्य निरतिचारस्यानुपालनादाज्ञाराधनाच्च । नचैतावदेवात्र फलमित्याह-इह लोकेऽप्यत्रापि जन्मनि, आस्तां परलोके, दोषाः प्रत्यनीककृतोपद्रवलक्षणाः, न भवन्ति न जायन्ते । नियमादवश्यंभावेन गुणाः पुना राजपरिग्रहाल्लोके मान्यतादयो, भवन्ति जायन्ते । यदाह-" गन्तव्यं राजकुले , द्रष्टव्या राजपूजिता लोकाः । यद्यपि न भवन्त्यर्थाः, भवन्त्यनर्थप्रतीघाताः" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ।१४।

ये गुणा भवन्ति तानेवाह-

दिट्ठो पवयणगुरुणा राया अणुसासिओ य विहिणा उ ।
तं नत्थिजं ण वियरइ,किंत्तियमिह आमघाओ त्ति॥१५॥

दृष्टोऽवलोकितः, प्रवचनगुरुणा प्रधानाचार्येण, राजा नृपतिः, अनुशासितोऽनुशिष्टश्च,विधिना तु प्रवचननीत्यैव तत्प्रकृत्यनुवर्तनादिलक्षणया। यदाह-"बालादिभावमेवं,सम्यग्विज्ञाय देहिनां गुरुणा। सद्धर्मदेशनाऽपि हि,कर्त्तव्या तदनुसारेण" ॥१॥ एवं चासौ प्रमुदितमना तद्वस्तु नास्ति न विद्यते यन्न वितरति न ददाति, सर्वमेव ददातीत्यर्थः। कियत् किंपरिमाणम् ?, अल्पमिति कृत्वा ददात्येवेत्यर्थः । इह यात्राऽवसरे अमाघातः प्राणिघातनिवारणम् , इतिशब्द उपप्रदर्शनार्थः । इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

अनुशासित इत्युक्तमतस्तदनुशासनविधिं प्रस्तावयन्नाह-

एत्थमणुसासणविही, भणिओ सामण्णगुणपसंसाए ।
गंभीराहरणेहिँ, उत्तीहिँ य भावसाराहिँ ॥ १६ ॥

अत्र राजविषये , अनुशासनविधिरनुशास्तिविधानं, भणित उक्तः,सूरिभिः।कथम्?, सामान्यगुणप्रशंसया लोके लोकोत्तराविरुद्धविनयदाक्षिण्यसौजन्यादिगुणस्तुत्या, तथा गम्भीरोदाहरणैरतुच्छज्ञातैः, महापुरुषगतैरुक्तिभिश्च भणितिभिश्च , भावसाराभिर्भावगर्भाभिर्नतु वञ्चिकलाभिरिति गाथार्थः ॥ १६॥

अनुशासनविधिमेवाह--

सामण्णे मणुजत्ते, धम्माओ नरीसरत्तणं णेयं ।
इय मुणिऊणं सुंदर !,जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥ १७ ॥

सामान्ये बहूनां प्राणिनां साधारणे मनुजत्वे नरत्वे धर्मात् कुशलकर्मणो नरेश्वरत्वं नृपत्वं भवतीति ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । इति एतद् ज्ञात्वाऽवगम्य, सुन्दर !नरप्रधान ! यत्न उद्यमोऽत्र धर्मे कर्त्तव्यो विधेयो भवतीति गाथार्थः ॥ १७॥

इड्ढीण मूलमेसो, सव्वासिं जणमणोहराणं ति ।
एसो य जाणवत्तं, णेओ संसारजलहिम्मि ॥ १८ ॥

ऋद्धीनां संपदां मूलमिव मूलं कारणम् , एष धर्मः सर्वासां नरामरसंबन्धिनीनां जनमनोहरणां लोकचेतोहारिणीनाम्। इति शब्दो लोकप्रसिद्धस्य संपदां जनमनोहरत्वस्योपदर्शनार्थः । अनेन च सांसारिकफलसाधकत्वमस्योपदर्शितम्। अथ निर्वाणफलसाधकत्वमस्याह-एष चायमेव यानपात्रं बोधित्थ इव ज्ञेयो ज्ञातव्यः, संसारजलधौ भवोदधौ तरीतव्य इति गाथार्थः।

कथं पुनरेष भवतीत्याह--

जायइ य सुहो एसो, उचियत्थापायणेण सव्वस्स ।
जत्ताए वीयरागा-ण विसयसारत्तओ पवरो ॥१९॥

जायते संपद्यते, चशब्दः पुनरर्थः, शुभः कुशलानुबन्धः, शुभनिमित्तत्वादेव धर्मः, उचितार्थापादनेनानुरूपवस्तुसंपादनेन,सर्वस्य समस्तजनस्य । इहैव विशेषमाह-'जत्ताए' इत्यादि ।काका चेदमवधेयम्-यात्रयोत्सवेन,पुनर्यात्रायां वा उचितार्थापादनेनेति प्रकृतम्। केषाम् ?, वीतरागाणां जिनानां,विषयसारत्वतः प्रधानगोचरत्वात् ।वीतरागा एव हि निखिलभुवनजनातिशायिगुणत्वेन यात्रागोचरोऽनुपचरितो भवतीति प्रवरः प्रधानतरः शेषजनोचितार्थसंपादनोद्भवधर्मापेक्षया एष जायत इति प्रकृतमिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अधिकृतराजानुशासनविधौ यो भावस्तं प्रकटयन्नाह-

एतीएँ सव्वसत्ता, सुहिया खु अहेसि तम्मि कालम्मि ।
एण्हिं पि आमघाए-ण कुणसु तं चेव एतेसिं ॥ २० ॥

एतया वीतरागयात्रया एतस्या वा,सर्वसत्त्वाः समस्तदेहिनः, सुखिता एवानन्दवन्त एव, 'खु' शब्दोऽवधारणार्थः । (अहेसि त्ति) अभूवन्, तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्यभवत् । ततश्चेदानीमप्यधुनाऽपि,यथाऽतीतकाल इत्यपिशब्दार्थः। [आमघाएणं ति] प्राकृतत्वादमाघातेन,अमारिप्रदानेन, कुरुष्व विधेहि, त्वं महाराज !देव ! सुखितत्वमेव। एतेषां सर्वसत्त्वानामिति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, दट्ठव्वा सावगेहिँ वि कमेण ।
कारेयव्वो य तहा, दाणेण वि आमघाओ त्ति ॥ २१॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यविद्यमाने, उपलक्षणत्वाद्राजदर्शनाद्यसमर्थे वा , राजा नरपतिर्द्रष्टव्यो दर्शनीयः, श्रावकैरपि श्रमणोपासकैरपि , न तु न द्रष्टव्य इत्येतदर्थसंसूचनार्थोऽपिशब्दः । क्रमेण नीत्या तद्राजकुलप्रसिद्धया, कारयितव्यो विधापयितव्यो राज्ञा । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योपक्षेपमात्रार्थः । तथा कारयितव्यश्चेत्येवं चास्य प्रयोगः इति नेच्छति चेद्राजा तं कारयितुं तदा दानेनापि द्रव्यवितरणतोऽपि न केवलं वचनेनेत्यपिशब्दार्थः। (आमघाओ त्ति) अमाघातः प्राणिनाममारिः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थ इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

किं चान्यत्-

तेसिं पि घायगाणं, दायव्वं सामपुव्वगं दाणं ।
तत्तियदिणाण उचियं, कायव्वा देसणा य सुहा ।२२।

तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दार्थः । घातकानां प्राणिवधोपजीविनां मत्स्यबन्धादीनां , दातव्यं देयं, सामपूर्वकं प्रेमोत्पादकवचनपुरस्सरं, दानमन्नादिवितरणं, तावद्दिनानां यात्रापरिणामदिवसानामुचितं योग्यम्;कर्त्तव्या विधेया, देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवद्या। यथा-भवतामप्येवं धर्मावाप्तिर्भविष्यतीत्यादिरूपा, इत्यनेन च परोपतापपरिहारो धर्मार्थिनां श्रेयानित्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एवं क्रियमाणे को गुण इत्याह--

तित्थस्स वण्णवाओ, एवं लोगम्मि बोहिलाभो य ।
केसिं वि होइ परमो, अण्णेसिं बीयलाभो त्ति ॥ २३ ॥

तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य, वर्णवादः श्लाघा, एवममुना प्रकारेण दानपूर्वकाऽमाघातकारणलक्षणेन, लोके जने , भवति । ततश्च किमित्याह-बोधिलाभः सम्यग्दर्शनप्राप्तिः, चशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च । केषांचिल्लघुकर्मणां प्राणिनां, भवति जायते, परमः प्रधानोऽक्षेपेण मोक्षसाधकत्वादन्येषां पुनरपरेषां, पुनर्बीजलाभः सम्यग्दर्शनबीजस्य जिनशासनपक्षपातरूपशुभाध्यवसायलक्-

णस्य प्राप्तिः । इतिशब्दः समाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

कथं तीर्थवर्णवाद एव बोधिबीजं भवत्यत आह–

जच्चिय गुणपमिवत्ती, सव्वएणुमयम्मि होइ पमिसुद्धा ।
सा चिय जायति बोही–ए तेण णाएण चोराणं ॥ २४ ॥

चियशब्द एवकारार्थः, स चापिशब्दार्थः। ततश्च याऽपि काचि-दल्पाऽपीत्यर्थः । गुणप्रतिपत्तिर्गुणाभ्युपगतिः, सर्वज्ञमते जिन-शासनविषये, भवति जायते, परिशुद्धा भावगर्भा, साऽपि गुण-प्रतिपत्तिः, जायते संपद्यते, बीजहेतुबोधये, सम्यग्दर्शनप्रतिप-त्तेः, तेन ज्ञातेन, चौरोदाहरणेन तच्च प्रागुक्तमिति गाथार्थः ॥२४॥

यदि श्रावका अपि राजदर्शनासमर्थास्तदा को विधिरित्याह-

इय सामत्थाभावे, दोहि वि वग्गेहिँ पुव्वपुरिसाणं ।
इयसामत्थजुआणं, बहुमाणो होति कायव्वो ॥ २५ ॥

इत्युक्तरूपे राजदर्शनद्वारेणामाघातकारणे यत्सामर्थ्यं बलं तस्य योऽभावः स तथा तस्मिन्, द्वाभ्यामपि, आस्तामेकेन, वर्गाभ्यां समुदायाभ्यां, प्रवचनगुरुश्रावकलक्षणाभ्यां पूर्वपुरुषा-णामतीतमानवानाम्, इतिसामर्थ्ययुतानाममाघातकारणबलयु-क्तानां,बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्यो विधेय इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव स्वरूपत आह–

ते धण्णा सप्पुरिसा, जे एयं एवमेव णीसेसं ।
पुव्विं करिंसु किच्चं, जिणजत्ताए विहाणेणं ॥ २६ ॥

ते पूर्वपुरुषाः,धन्याः श्लाघ्याः, सत्पुरुषा महापुरुषाः, वर्त्तन्ते ये, एतदनन्तरोक्तं कृत्यमिति योगः। एवमेवोक्तन्यायेनैव,निःशेषं सर्वं, पूर्वकाले (करिंसु त्ति) अकार्षुः,कृत्यं करणीयं,दानपूर्वामाघात-लक्षणं,जिनयात्रायां जिनोत्सवे,विधानेन विधिनेति गाथार्थः॥२६॥

अम्हेउ तह अधण्णा, धण्णा उण एतिएण जं तेसिं ।
बहु मण्णामो चरियं, सुहावहं धम्मपुरिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु वयं पुनस्तथा तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयविधान-संपादनसामर्थ्याभावलक्षणेनाऽधन्या अश्लाघ्याः, धन्याः पुनः श्लाघ्याः,पुनरियता एतावता, यत्तेषां पूर्वपुरुषाणां, बहु मन्यामहे पक्षपातविषयीकुर्मः, चरितं चेष्टितं सुखावहं सुखकारणं शुभाव-हं वा, धर्मपुरुषाणां धर्मप्रधाननराणाम् । वीरपुरुषाणामिति च पाठान्तरमिति गाथार्थः ॥२७॥

एतद्बहुमानस्य फलमाह–

इय बहुमाणा तेसिं, गुणाणमणुमोयणा णिओगेण ।
तत्तो तत्तुल्लं चिय, होइ फलं आसयविसेसा ॥ २८ ॥

इत्यादिबहुमानादनन्तरोक्तपक्षपाताद्धेतोस्तेषां पूर्वपुरुषाणां सत्कानां गुणानां धर्मचरणादीनामनुमोदनाऽनुमतिर्नियोगेनाव-श्यंतया भवति (तत्तो त्ति) ततश्च गुणानुमोदनातः, तत्तुल्यमेव पूर्वपुरुषानुष्ठानफलसममेव भवति । जायते । फलं कर्मक्षयादिको गुणः। यदाह–"अप्पडियमायरंतो, अणुमोयंतो य सम्मई लहइ । रहकारदाणअणुमो यगो मिगो जह य बलदेवो" ॥१॥ अथ कथं कलानुष्ठानवतां सकलानुष्ठानवद्भिस्तुल्यं फलं भवतीत्याह-आशयविशेषादध्यवसायभेदात् । अध्यवसाय एव हि परं का-रणं शुभाशुभकर्मबन्धादि प्रति । यदाह–"परमरहस्समिसीणं, सम्मतगणिपिमगज्झरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयम-वलंबमाणाणं " ॥१॥ इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

'आरंभेच्चिय दाणं' इत्यादि यदुक्तं तदुपसंहरन्नाह–

कयमेत्थ पसंगेणं, तवोवहाणादिया वि णियसमए ।
अणुरूवं कायव्वा, जिणाण कल्लाणदियहेसुं ॥ २९ ॥

कृतमलमत्र दानामाघातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या तप उपधानादिका अपि तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिका अपि आवान केवलं दान-मित्यपिशब्दार्थः । निजसमये स्वकीयावसरे रूढिगम्ये अनुरूपम् औचित्येन कर्त्तव्या विधेया । कदेत्याह-जिनानामर्हतां कल्याण-दिवसेषु पञ्चमहाकल्याणप्रतिबद्धदिनेष्विति गाथार्थः ॥ २९ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह–

पंच महाकल्लाणा, सव्वेसिं जिणाण होंति णियमेण ।
भुवणच्छेरयभूया, कल्लाणफला य जीवाणं ॥ ३० ॥
गब्भे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणणिव्वाणे ।
भुवणगुरूण जिणाणं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥३१॥

पञ्चेति पञ्चैव महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकाल-निखिलनरलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति नियमेनावश्यंभा-वेन, तथावस्तुस्वभावत्वात् । भुवनाश्चर्यभूतानि निखिलभुवना-द्भुतभूतानि, त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात् । तथा कल्याणफलानि च निःश्रेयससाधनानि । चः समुच्चये । जीवानां प्राणिनामिति । गर्भे गर्भाधाने,जन्मन्युत्पत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योप-क्षेपे । निष्क्रमणे अगारवासान्निर्गमे,चैवेति समुच्चयावधारणा-र्थाविव्युत्क्रमेण संबन्त्स्येते । ज्ञाननिर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवल-ज्ञाननिर्वृत्योरेव च । केषां गर्भादिष्वित्याह-भुवनगुरूणां जगज्ज्ये-ष्ठानां जिनानामर्हताम् । किमित्याह–कल्याणानि श्वःश्रेयसानि, भवन्ति वर्तन्ते,ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति गाथाद्वयार्थः ॥ ३०-३१ ॥

ततश्च–

तेसु य दिणेसु धण्णा, देविंदाई करिंति भत्तिणया ।
जिणजत्तादि विहाणा, कल्लाणं अप्पणो चेव ॥ ३२ ॥

(तेसु य त्ति) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्भादयो बभूवुर्ध-न्या धर्मधनं लब्धारः, पुण्यभाज इत्यर्थः। देवेन्द्रादयः सुरेन्द्र-प्रभृतयः, कुर्वन्ति विदधति, भक्तिनता बहुमाननम्राः। किमित्या-ह?–जिनयात्राऽऽदि-अर्हदुत्सवपूजास्नात्रप्रभृतिम् । कुत इत्याह-विधानाद्विधिना। अथवा जिनयात्रादिविधानानि । किंभूतं जिन-यात्रादीत्याह-कल्याणं श्वःश्रेयसम । कस्येत्याह-आत्मनः स्वस्य, चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां वेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

यत एवम्—

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिं पि तेसु कायव्वं ।
जिणजत्तादि सहरिसं, ते य इमे वद्धमाणस्स ॥३३ ॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्तजीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणात्ते इति, येषु जिनगर्भाधानादयो भवन्ति, दिना दिवसाः, दिनशब्दः पुंलि-ङ्गोऽप्यस्ति । प्रशस्ताः श्रेयांसः। ततः किमित्याह–(ता इति) य-स्मादेवं तस्मात् शेषैरपि देवेन्द्रादिव्यतिरिक्तैर्मनुष्यैरपि, न के-वलमिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः । तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु, कर्त्तव्यं विधेयं, जिनयात्रादि वीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं वस्तु, सहर्षं सप्रमोदं यथाभवति । कानि च तानि दिनानीत्यस्यां जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनां तेषां च वक्तुमशक्यत्वाद्वर्त्तमान-तीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य, तानि वि-वक्षुराह–(ते य त्ति) तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि वक्ष्यमा-

माणानि वर्द्धमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः॥३३॥

तान्येवाह–

आसाढसुद्धछट्ठी, चेत्ते तह सुद्धतेरसी चेव ।
मग्गसिरकिण्हदसमी, वइसाहे सुद्धदसमी य ॥ ३४ ॥
कत्तियकिण्हे चरिमा, गब्भाइदिणा जहक्कमं एते ।
हत्थुत्तरजोएणं, चउरो तह सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आषाढशुक्लषष्ठी आषाढमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठी तिथिरित्येकं दिनम् । एवं चैत्रमासे । तथेति समुच्चये । शुक्लत्रयोदश्येवेति द्वितीयम् । चैवेत्यवधारणे । तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम् । वैशाखं शुक्लदशमीति चतुर्थम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्त्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । एतानि किमित्याह–गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसाः, यथाक्रमं क्रमेणैव, एतान्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलक्षिता वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्यः ताभिर्योगः संबन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगः, तेन करणभूतेन, चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्तः । (चरमो त्ति) चरमकल्याणकदिनमिति, प्रकृतत्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३४—३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्यत्राह—

अधिगयतित्थविहाया, भगवं ति णिदंसिया इमे तस्स ।
सेसाण वि एवं चि य, णियणियतित्थेसु विण्णेया ॥ ३६ ॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्त्तमानप्रवचनकर्ता, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निदर्शितान्युक्तानि, इमानि कल्याणकदिनानि, तस्य वर्द्धमानजिनस्य, अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह–शेषाणामपि, न वर्द्धमानस्यैव। ऋषभादीनामपि, वर्त्तमानावसर्पिणीभरतक्षेत्रापेक्षया एवमेवेह तीर्थे वर्द्धमानस्यैव, निजनिजतीर्थेषु स्वकीयप्रवचनावसरेषु, विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि, मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति। इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपभरतानामृषभादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव एतेषामस्यामवसर्पिण्यां तान्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६॥

अथ किमेवं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह–

तित्थगरे बहुमाणो, अब्भासो तह य जीतकप्पस्स ।
देविंदाइअणुकित्ती, गंभीरपरूवणा लोए ॥ ३७ ॥
वण्णो य पवयणस्सा, इय जत्ताए जिणाण णियमेण ।
मग्गाणुसारिभावो, जायइ एत्तो च्चि य विसुद्धो ॥३८ ॥

तीर्थंकरे जिनविषये, बहुमानः पक्षपातः तदिदं दिनं यत्र भगवान् अजनीत्यादि विकल्पितः कृतो भवतीति सर्वत्र गम्यमिति । यात्रयेत्यनेन योगः । तथेति वाक्योपक्षेपार्थोऽत्र द्रष्टव्यः । अभ्यासोऽभ्यसनम् । चशब्दः समुच्चये । जितकल्पस्य पूर्वपुरुषाचरितलक्षणाचारस्येति । तथा देवेन्द्राद्यनुकृतिः देवाधिपदेवदानवप्रभृत्याचारानुकरणम् । तथा गम्भीरप्ररूपणा गम्भीरं साभिप्रायमिदं यात्राविधानं न यादृच्छिकमित्यस्य प्ररूपणा प्रकाशना गम्भीरप्ररूपणा कृता भवतीति, तथा लोके जनमध्ये; वर्णः प्रसिद्धिर्जायत इति योगः । चशब्दः समुच्चये । कस्य ?, प्रवचनस्य जिनशासनस्य, दीर्घत्वं प्राकृतत्वादिति । यात्रया अनन्तरोक्तविधानोत्सवेन, क्रियमाणयेति गम्यम् । केषाम्? जिनानां वीतरागाणां, नियमेन नियोगेन, (एत्तो च्चिय त्ति) यत एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव हेतोर्मार्गानुसारिभावो मोक्षपथानुकूलाध्यवसाय आगमानुसारी वा, जायते भवति । असौ किंभूतः? विशुद्धोऽनवद्यः । स्वतो विशुद्धोऽसौ जायते, विशुद्धत्वादित्यर्थ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७—३८ ।

यद्यसौ जायते ततः किमित्याह–

तत्तो सयलसमीहिय–सिद्धी णियमेण अविकलं जं से ।
कारणमिणीएँ भणिओ, जिणेहिँ जियरागदोसेहिं ॥३९॥

ततो विशुद्धमार्गानुसारभावात्सकलसमीहितसिद्धिर्निखिलेप्सितार्थनिष्पत्तिर्नियमेन नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह–अविकलमवन्ध्यं यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकलसमीहितसिद्धेर्भणितोऽभिहितो, जिनैरर्हद्भिः । जिनाश्च नामजिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह–जितरागद्वेषैर्विगतासत्यवादकारणैरित्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मार्गानुसाराभावः सकलसमीहितसिद्धेः कारणं भणित इत्यत्रोच्यते, शुभचेष्टानिमित्तत्वेन; एतदेव दर्शयन्नाह–

मग्गाणुसारिणो खलु, तत्ताभिणिवेसओ सुभा चेव ।
होइ समत्ता चेट्ठा, असुभा वि य णिरणुबंध त्ति ॥४०॥

मार्गानुसारिणो मोक्षपथानुकूलभावस्य जीवस्य, खलुर्वाक्यालङ्कारे, शुभैव चेष्टेति संबन्धः । कुत एवमित्याह–तत्त्वाभिनिवेशतो वस्तुस्वरूपनिर्णीयातिशयात्, शुभैव प्रशस्तैव, नेतरा । चैवशब्दोऽवधारणार्थः । भवति जायते, समस्ता निःशेषा, चेष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यस्यामाशङ्कायामाह–अशुभाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । चेष्टेति वर्त्तते । अपि चेति समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धनरहिता–पुनः पुनरभाविनीत्यर्थः । इतिशब्दः समाप्ताविति गाथार्थः ॥४०॥

कुतो निरनुबन्धा सेत्याह—

सो कम्मपारतंता, वट्टइ तीए ण भावओ जम्हा ।
इय जत्ता इय वीयं, एवंभूयस्स भावस्स ॥ ४१ ॥

स मार्गानुसारी जीवः कर्मपारतन्त्र्याच्चारित्रमोहनीयकर्मवशादेव, वर्त्तते प्रवर्त्तते, तस्यामशुभचेष्टायां, न भावतो न पुनर्भावेनान्तःकरणेन तत्त्वाभिनिवेशादेव यस्मात्कारणात्तस्माद् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राफलनिगमनायाह–इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्तन्यायेन शुभचेष्टाहेतुलक्षणेन बीजं कारणम्, एवंभूतस्यानन्तरोक्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मार्गानुसारिपरिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

उत्सवविशेषस्यान्यस्यापि कल्याणकदिनेष्वेव विधेयतां दर्शयन्नाह–

ता रहणिक्खमणादि वि, एतेसु दिणेसु पमुच्च कायव्वं ।
जं एसो च्चि य विसओ, पहाणमो तीएँ किरियाए ।४२।

तदिति यस्मात्तीर्थंकरबहुमानादयोऽनन्तराभिहितगुणाः कल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्माद्रथस्य जिनबिम्बाधिष्ठितस्य स्यन्दनस्य, जिनगृहान्निष्क्रमणं निर्गमो नगरपरिभ्रमार्थं रथनिष्क्रमणं तदाद्यपि तत्प्रभृतिकर्म, आदिश-

ष्टाह्निकविकाचित्रपटनिष्क्रमणादिमहः । न केवलं यात्रैत्यपि शब्दार्थः । एतेषु च तान्येव कल्याणकरूपाणि दिवसान् प्रतीत्याश्रित्य, कर्त्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादेवमित्याह-यद्यस्मात्कारणादेष एव कल्याणदिनलक्षणो विषयो गोचरः प्रधानः शोभनः । मकारस्तु प्राकृतशैलीप्रभवः । तस्या रथनिष्क्रमणादिकायाः क्रियायाः चेष्टायाः, इदं चावधारणमनागमोक्तदिनव्यवच्छेदार्थमेव द्रष्टव्यम, आगमोक्तदिनानां त्वागमप्रामाण्यादेव प्रधानत्वात् । अभिधीयते चागमे- "संवच्छरचाउम्मा-सएसु अट्ठाहियासु य तिहीसु । सव्वायरेण लग्गइ, जिणवरपूया तवगुणेसु "॥ १ ॥ तथा प्रतिष्ठानन्तरमष्टाह्निकाया इहैव विधेयतयोपदिष्टत्वादिति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

ननु कल्याणकदिनेष्वेव यात्रायाः कथं प्राधान्यम ?, बहुफलत्वादिति ब्रूमः , एतदेवाह—

विसयप्पगरिसभावे, किरियामेत्तं पि बहुफलं होई ।
सक्किरिया वि हु ए तहा, इयरम्मि अवीयरागि व्व ॥४३॥

विषयस्य क्रियाविशेषगोचरस्य प्रकर्षभाव उत्कृष्टताविषयप्रकर्षभावः तत्र, क्रियामात्रमपि अविशेषवत् क्रियाऽपि,आस्तां विशिष्टा, बहुफलं प्रभूतेष्टफलं भवति जायते । एतस्यैव व्यतिरेकमाह-सत्क्रिया विशिष्टचेष्टाऽपि आस्तां क्रियामात्रम । हुशब्दोऽलङ्कृतौ । न तथा न तत्प्रकारा, न बहुफला जवति । इतरस्मिन् विषयस्य प्रकर्षाभावे, उक्तमर्थं दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह-अवीतरागे इव पुरुषमात्रवत् । यथाऽस्य वीतरागे गुणोत्कर्षाभावेन विषयप्रकर्षाजावेन महत्यपि पूजादिका चेष्टा बहुफला न भवति, तथा कल्याणकदिनेभ्योऽन्यत्रेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ कल्याणकयात्रामेव पुरस्कुर्वन्नुपदेशमाह-

लद्धूण दुल्लहं ता, मणुयत्तं तह य पवयणं जइणं ।
उत्तमणिदंसणेसुं, बहुमाणो होइ कायव्वो ॥ ४४ ॥

लब्ध्वा प्राप्य,दुर्लभमसुलभं (ता इति) यस्मादिन्द्रादिभिः कृता बहुफला च कल्याणकयात्रा तस्मात्कारणान्मनुजत्वं नरत्वम । तथाचेति समुच्चयार्थः । प्रवचनं शासनं , जैनं सर्वज्ञरचितं, जिनमतप्राप्तियुक्तस्यैव विशिष्टोपदेशयोग्यता तत्सफलताकरणे सामर्थ्यं च भवतीति कृत्वा मनुजत्वमित्याद्युक्तम । उत्तमनिदर्शनेषु प्रधानसत्त्वज्ञातेष्विन्द्रादिलक्षणेषु । तद्यथा कल्याणकयात्रा विधेया देवप्रभुप्रभृतिप्रवर्तितेयं , यत इति बहुमानः पक्षपातो, भवति जायते, कर्त्तव्यो विधेयो, न तु मोहोपहतसत्त्वनिदर्शनेषु यथा यथाऽमुनाऽमुना वाऽस्मत्पितृपितामहादिनाऽन्येन चेदं विहितमिति विधेयमिति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अधिकृतयात्रागतमेवोपदेशान्तरमाह—

एसा उत्तमजत्ता, उत्तमसुयवणिणआ सइ बुहेहिं ।
सेसा य उत्तमा खलु, उत्तमरिद्धीए कायव्वा ॥ ४५ ॥

एषाऽनन्तरोक्ता कल्याणकयात्रा उत्तमयात्रा प्रधानयात्रा,तदन्यस्याः का वार्त्तेत्याह-उत्तमश्रुतवर्णिता प्रधानागमाभिहिता या सा, शेषा च कल्याणकव्यतिरिक्ताऽपि,उत्तमा खलु प्रधानैवाउत्तमश्रुतवर्णिता तु, लोकरूढिकृता तु नेति । अतश्चोत्तमत्वात्सदा बुधैर्विद्वद्भिरुत्तमर्द्ध्या प्रधानविभवेन , न यथाकथंचित्कर्तव्या विधेयेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

उक्तव्यतिरेके यदापद्यते तदाह-

इयरा वाऽबहुमाणो ऽवन्ना य इमीए णिउणबुद्धीए ।
एयं विचिंतियव्वं , गुणदोसविहावणं परमं ॥ ४६ ॥

इतरथाऽन्यथा उत्तमर्द्ध्या तदकरणे । अथवोत्तमयात्राया अकरणे तत्र यात्राविशेषाभिधायके उत्तमश्रुते उत्तमनिदर्शनेषु वा बहुमानः प्रीतिस्तद्बहुमानस्तत्प्रतिषेधोऽतद्बहुमानः स भवति । तदुक्तयात्राविशेषस्याकरणात् तथाऽवज्ञा आवधीरणा च कृता भवति । अस्यामुत्तमयात्रायामिति निपुणबुद्ध्या सूक्ष्मधिया । एतदनन्तरोक्तमनर्थद्वयं विचिन्तयितव्यं परिभावनयिम, यतो गुणदोषविभावनमर्थानर्थालोचनं सर्वस्यानुष्ठानस्य परमं प्रधानम, ततः प्रवृत्तिनिवृत्तिभावादिति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उत्तमश्रुतोक्तयात्राऽवज्ञानेन लोकरूढयात्राकरणमयुक्तमिति-दर्शयन्नाह-

जेट्ठम्मि विज्जमाणे, उचिय अणुजेट्ठपूयणमजुत्तं ।
लोगाहरणं च तहा, पयमे जगवंतवयणम्मि ॥ ४७ ॥

ज्येष्ठे वृद्धतरे पुत्राद्यपेक्षया पित्रादौ विद्यमाने सति उचिते निर्दोषत्वेन पूजायोग्ये,अनुज्येष्ठस्य लघोः पुत्रादेः, पूजनं सत्कारोऽयुक्तमसंगतम, यथेति शेष इति दृष्टान्तः । दार्ष्टान्तिकमाह-(लोगाहरणं च) लोकोदाहरणमपि पित्राद्युद्देशेनामुष्मिन्त्रा मासादौ अमुना च क्रियते यात्राऽतस्तथैव सा नो विधेयेत्येवं लक्षणं,तथा तद्वद्युक्तमेवानुज्येष्ठपूजनवत् , प्रकटे स्पष्टे भगवद्वचने जिनागमे सकलजगज्जनज्येष्ठे सतीति गाथार्थः ॥४७॥

अयुक्तत्वमेव लोकोदाहरणस्य भावयन्नाह-

लोगो गुरुतरगो खलु, एवं सति जगवतो वि इट्ठो त्ति ।
मिच्छत्तमो य एयं, एसा आसायणा परमा ॥ ४८ ॥

लोक एव सामान्यजन एव, गुरुतरको गरीयान् । खल्ववधारणे, तस्य च दर्शित एव प्रयोगः । एवमुक्तनीत्या, भगवद्वचनसद्भावेऽपि लोकप्रमाणीकरणलक्षणे वस्तुनि सति, भगवतोऽपि सकलजगज्ज्येष्ठाजिनादपि सकाशादिष्टोऽभिमतः । इतिः समाप्तौ । ततः किमित्याह-मिथ्यात्वं मिथ्यादृष्टित्वम । ओकारो निपातः पूरणार्थः। चशब्दः पुनरर्थकः। एतद्भगवदपेक्षया लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमनं विपरीतबोधत्वात् , तथा एषा लोकस्य गुरुतरत्वाभिगमनलक्षणा , आशातना सर्वज्ञावमानना , परमा प्रकृष्टा,अनन्तसंसारावहेत्यर्थः। सर्वज्ञवचनमेव प्रमाणतयाऽङ्गीकर्त्तव्यम । लोकस्तु तद्विरुद्धानुष्ठान एवेति गाथार्थः ॥४८॥

अथ सर्वज्ञमुपदेशमाह-

इय अन्नत्थ वि सम्मं, णाउं गुरुलाघवं विसेसेण ।
इट्ठे पयट्टियव्वं, एसा खलु जगवतो आणा ॥ ४९ ॥

इत्येवं कल्याणकयात्रावत्,अन्यत्रापि यात्राव्यतिरिक्ते दानादावपि , सम्यगवैपरीत्येन , ज्ञात्वा विज्ञाय , गुरुलाघवं सारेतरत्वं, विशेषेण परस्परापेक्षयाऽधिक्येन, इष्टेऽभिमते वैयावृत्यादौ, प्रवर्तितव्यं यतितव्यं, यत एषा खलु इयमेवानन्तरोक्तभगवतो जिनस्याज्ञा आदेश इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथोपसंहरन्नाह—

जत्ताविहाणमेयं, णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं ।
एवं वि य कायव्वं, अविरहियं भत्तिमंतेहिं ॥ ५० ॥

यात्राविधानं जिनोत्सवविधिः , एतदनन्तरोक्तं ज्ञात्वा विज्ञाय, गुरुमुखात् सूरिवदनाद् ,धीरैर्धीमद्भिः,(एवं वि य त्ति)एवमेवोक्तविधिनैव,कर्त्तव्यं विधेयम्,अविरहितं सन्ततं भक्तिमद्भिर्बहुमान-

वद्भिरिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् । पञ्चा० ९ विव० । (अथानुयाने यथा साधवोऽकल्पं परिहरन्ति तथा 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अथानुयानविषयो विधिरुच्यते—

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमप्पाए ।
एवं ता वच्चंते, दोसा पत्ते अणेगविहा ॥

निष्कारणेऽनुयानं गच्छत आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो भवति । एवं तावद् व्रजतो मार्गे दोषाः, तत्र प्राप्तानां पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिमा उस्सुयभूए, इरियादी न य विसोहए तत्थ ।
अप्पा वा काया वा, न सुत्तं नेव पमिलेहणा ॥

महिमा नाम भगवतः प्रतिमायाः पुष्पारोपणादिपूजात्मकः सातिशय उत्सवः, तस्य दर्शनार्थमुत्सुकभूत ईर्यादिसमितिर्न विशोधयति । आदिशब्दादेषणादिपरिग्रहः। तत्र चर्यादिनामशोधने आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्मविराधना कण्टकस्थाण्वाद्युपघातेन, संयमविराधना षण्णां कायानामुपमर्दादिना, तथा त्वरमाणत्वादेव न सूत्रं गुणयति, उपलक्षणत्वादर्थं च नानुप्रेक्षते, नैव प्रतिलेखनां वस्त्रपात्रादेः करोति, अथवा अकालेऽविधिना स करोति । एवमेव मार्गे गच्छतां दोषा अभिहिताः ।

अथ न तत्र प्राप्तानां ये दोषास्तानभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

चेइय आहाकम्मं, उग्गमदोसा य सेह इत्थीओ ।
नामगसंफासणतं–तुखुड्डनिद्धम्मकज्जा य ॥

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतो वक्तव्यं, तत आधाकर्म, तत उद्गमदोषाः, ततः शैक्षाणां पार्श्वस्थेषु गमनं, ततः स्त्रीदर्शनसमुत्था दोषाः, ततो नाटकावलोकनप्रभवः, ततः संस्पर्शनसमुत्थाः, तदनन्तरं तन्तवः कोलिकजालं तद्विषयाः, तदनु (खुड्डु त्ति) पार्श्वस्थादिक्षुल्लकदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धर्मणां लिङ्गिनां यानि कार्याणि तदुत्थिताश्च दोषा वक्तव्याः । इति द्वारगाथासमासार्थः । बृ० १ उ० । (चैत्यव्याख्या 'चेइय' शब्दे द्रष्टव्या) (वसतिविषयमाधाकर्म 'आधाकम्म' शब्दे द्वि० भागे २३० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अथोद्गमदोषशैक्षद्वारद्वयमाह—

ठविए संछोभादी, दुसोहया होंति उग्गमे दोसा ।
वंदिज्जंते दट्ठुं, इयरे सेहा तहिं गच्छे ।

बहवः संयताः समायाता इति कृत्वा धर्मश्रद्धावान् लोकः संयतार्थं स्थापितं भक्तपानादेः स्थापनां कुर्यात् । गृहमागतानामल्पेनैव दास्याम इति कृत्वा (संछोभ त्ति) यानि गृहाणि साधुभिरनेषणीयदाने अशङ्कनीयानि तेषु शाल्योदनतण्डुलधावनादिकं भक्तपानं, मोदकशोकवर्तिप्रभृतीनि वा खाद्यकविधानानि निक्षिपेयुः, साधूनामागतानां दातव्यानीति । आदिशब्दात् क्रीतकृतप्राभृतिकादिपरिग्रहः । एते उद्गमदोषाः, तत्र दुःशोध्या दुष्परिहार्या भवन्ति; तथा इतरान् पार्श्वस्थादीन् बहुजनेन वन्द्यमानान् पूज्यमानांश्च दृष्ट्वा शैक्षास्तत्र पार्श्वस्थादिषु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वारद्वयमाह—

इत्थी विउव्विया वि हु, भुत्ताणं दट्ठु दोसाओ ।
एमेव नाडईया, सविब्भमा नच्चिगीयाए ।

स्त्रीः विकुर्विता वस्त्रविलेपनादिभिरलङ्कृताः दृष्ट्वा भुक्तानां दोषाः स्मृतिकौतुकप्रभवाः भवन्ति । एवमेव नाटकीया नाट्ययोषितः, सविभ्रमाः सविलासाः, नर्त्तितगीतयोः प्रवृत्ता विलोक्य, श्रुत्वा च भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा विज्ञेयाः ।

संस्पर्शनद्वारमाह—

इत्थिपुरिसाण फासे, गुरुगा लहुगा सई य संघट्टे ।
अप्पासंजमदोसा–ऽणुभावणं पच्छकम्मादी ।

समवसरणे पुष्पारोपणादिकौतुकेन भूयांसः स्त्रीपुरुषाः समायान्ति, तेषां संमर्देन स्पर्शो भवति, ततः स्त्रीणां स्पर्शे चत्वारो गुरवः, पुरुषाणां स्पर्शे चत्वारो लघवः, स्मृतिश्च संघट्टे भुक्तभोगिनां भवति, चशब्दादभुक्तभोगिनां कौतुकम् । आत्मसंयमविराधनादोषाश्च भवन्ति । आत्मविराधना संमर्दे सति हस्तपादाद्युपघातः। संयमविराधना संमर्दे पृथिव्यां प्रतिष्ठिता षट्काया नावलोक्यन्ते, न च परिहर्त्तुं शक्यन्ते) अनुभावणपच्छकम्मादी त्ति) साधुना कोऽपि शौचवादी पुरुषः स्पृष्टः संस्नायात्, संस्नान्तं निरीक्ष्यापरः पृच्छति-किमर्थं स्नासीति ?। स प्राह–संयतेन स्पृष्ट इति । एवं परम्परया साधूनां जुगुप्सोपजायते–यथा 'अहो ! मलिना एते' एवमनुभावना, पश्चात्कर्म च भवति । आदिशब्दादसंखमादयो दोषाः ।

अथ तन्तुद्वारमाह—

लूयाकोलिगजालग–कोत्थलकारीए उवरि गेहे य ।
सांमिंतमसांमिंते, लहुगा गुरुगा अभत्तीए ॥

असंमार्ज्यमाणे चैत्ये भगवत्प्रतिमाया उपरिष्टादेता नाम भवेयुः, लूता नाम कोलिकपुटकानि । कोलिकजालकानि तु जालकाकाराः कोलिकानां लालातन्तुसंतानाः, कोत्थलकारी भ्रमरी, तस्याः संबन्धि गृहोपरि भवेत् । यद्येतानि लूतादीनि शाटयति तदा चत्वारो लघवः । अथ न शाटयति ततो भगवतां भक्तिः कृता न भवति, तस्यां चाभक्त्यां चत्वारो गुरुकाः ॥

अथ क्षुल्लकद्वारं, निर्धर्मकायद्वारं च व्याख्यानयति—

घट्ठाइ इयरखुड्डे, दट्ठुं ओगुंठिया तहिं गच्छे ।
उक्कुट्ठघरधणाई, ववहारा चेव ति लिंगीणं ॥
छिदंतस्स अणुमई, अमिलंत अछिंद उक्खिवणा ।
छिद्दाणि य पेहंती, नेव य कज्जेसु साहिज्जं ॥

इतरे पार्श्वस्थास्तेषां ये क्षुल्लका घृष्टा, आदिग्रहणाद् 'मट्ठामुप्पेट्ठा पंमुरपमवाउरण' इत्यादि, तानित्थंभूतान् दृष्ट्वा संविग्नक्षुल्लका अवगुण्ठिता मलदिग्धदेहाः परिभग्नाः सन्तः, तत्र तेषां लिङ्गिनामन्तिके गच्छेयुः,तेषां च तत्र मिलितानां परस्परमुत्कृष्टगृहधनादिविषया व्यवहारा विवादा उपढौकन्ते,ते च व्यवहारच्छेदनाय तत्र संविग्नान् आकारयन्ति, ततो यदि तेषां व्यवहारश्छिद्यते तदा भवति स्फुटस्तेषां गृहधनादिकं ददतः साधोरनुमतिदोषः । उपलक्षणमिदम्, तेन येषां यद् गृहधनादिकं न दीयते तेषामप्रीतिकप्रद्वेषगमनादयो दोषाः । अथ लिङ्गिनामेतद्दोषभयात् प्रथमत एव न मिलन्ति, न वा व्यवहारपरिच्छेदं कुर्वन्ति, तत उत्क्षेपणा उद्घाटना साधूनां भवति, संघाद्बहिष्करणमित्यर्थः । छिद्राणि च दूषणानि, ते आकारिताः सन्तः साधूनां प्रेक्षन्ते, नैव च ते कार्येषु राजद्विष्टग्लानत्वादिषु साहाय्यं

तन्निस्तरणक्रममुपष्टम्भं कुर्वते, यत एते दोषाः, अतो निष्कारणे न प्रवेष्टव्यमनुयानमिति स्थितम्, कारणेषु च समुत्पन्नेषु प्रवेष्टव्यं, यदि न प्रविशति तदा चत्वारो लघवः।

कानि पुनस्तानीत्युच्यते–

चेइयपूया राया–निमंतणं सन्नि वाइ धम्मकहा ।
संकिय पत्त पभावण, पवित्ति कज्जाइ उड्डाहो ॥

अनुयानं गच्छता चैत्यपूजा स्थिरीकृता भवति; राजा वा कश्चिदनुयानमहोत्सवकारकः संप्रतिनरेन्द्रादिवत् तस्य निमन्त्रणं भवति, संज्ञी श्रावकः, स जिनप्रतिष्ठायाः प्रतिष्ठापनां चिकीर्षति, तथा वादी क्षपको, धर्मकथा च तत्र प्रभावनार्थं गच्छति, शङ्कितयोश्च सूत्रार्थयोस्तत्र निर्णयं करोति, पात्रं वा तत्राव्यवच्छित्तिकारकं प्राप्नोति, प्रभावना वा राजप्रव्रजितादिभिस्तत्रगतैर्भवति, प्रवृत्तिश्चाचार्यादीनां कुशलवार्त्तारूपा तत्र प्राप्यते, कार्याणि च कुलादिविषयाणि साधयिष्यन्ते । उड्डाहश्च तत्रगतैर्निवारयिष्यते। इत्येतैः कारणैर्गन्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थं विजाणिषुश्चैत्यपूजाराजनिमन्त्रणद्वारे विवृणोति–

सम्द्धावुड्ढी रण्णो, पूयाए थिरत्तणं पभावणयं ।
पडिघातो य अणत्थे, अत्था य करावई तित्थे ॥

कोऽपि राजा रथयात्रामहोत्सवं कारयितुमनास्तन्निमन्त्रणे गच्छद्भिः तस्य राज्ञः श्रद्धावृद्धिः कृता भवति, चैत्यपूजायां स्थिरत्वं, प्रभावना च तीर्थस्य संपादिता भवति, ये च जैनप्रवचनप्रत्यनीकाः शासनावर्णवाद्महिमोपघातादिकमनर्थं कुर्वन्ति, तस्य प्रतिघातः कृतो भवति, तीर्थे च आस्था स्वपरपक्षयोरादरबुद्धिरुत्पादिता भवतीति।

अथ संज्ञिद्वारं चाह–

एमेव य सन्नीए वि, जिणाण पडिमासु पढमपट्ठवणे।
मा परवाई विग्घं, करिज्ज वाई अओ विसई ॥

संज्ञिनः श्रावकाः केचित् जिनानां प्रतिमासु प्रथमतः (पढवण त्ति) प्रतिष्ठापनं कर्तुकामाः, तेषामप्येवमेव, राज्ञ इव श्रद्धावृद्ध्यादिकं कृतं भवति, तथा मा परवादी प्रस्तुतोत्सवस्य विघ्नं कार्षीदतो वादी प्रविशति ।

परवादिनिग्रहे च क्रियमाणे गुणानुपदर्शयति–

नवधम्माण थिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।
अभिगच्छंति य विदुसा, अविग्घपूया य सेयाए ॥

नवधर्मिणामभिनवश्रावकाणां स्थिरत्वं स्थिरीकरणं, शासनस्य च प्रभावना भवति। यथा आह–"प्रतिपत्तिपारमेश्वरं प्रवचनं यत्रेदृशा वादलब्धिसंपन्ना" इति। बहुमानश्चान्येषामपि शासने भवति, तथा च वादिनमभिगच्छन्ति अभ्यायान्ति विद्वांसः सहृदयाः तद्वादिनः कौतुकाकृष्टचित्ताः, तेषां च सर्वविरत्यादिप्रतिपत्त्या महान् लाभो भवति, परवादिना च निगृहीतेन अविघ्नं निष्प्रत्यूहं पूजा कृता सती स्वपक्षपरपक्षयोरिह परत्र च श्रेयसे भवति ।

अथ क्षपकद्वारमाह–

आयावेंति तवस्सी, ओभावना गया परपवाईण ।
जइ एरिसा वि महिमं, उविंति कारिंति सड्ढा य ॥

तत्र तपस्विनः षष्ठाष्टमादिक्षपका आतापयन्ति, ततश्चापभावना लाघवं परप्रवादिनां परतीर्थिकानां भवति, तेषां मध्ये ईदृशानां तपस्विनामभावात् । श्राद्धाश्चिन्तयन्ति–यदि तावदीदृशा अपि भगवन्तोऽस्माभिः क्रियमाणां महिमां चैत्यपूजां द्रष्टुमायान्ति, तत इत ऊर्ध्वं विशेषत एतस्यां यत्नं विधास्याम इति प्रवर्द्धमानश्रद्धाका महिमां कुर्वन्ति कारयन्ति च ।

अथ कथिकद्वारमाह–

आयपरसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंते ।
अन्नाऽभिगमणे य, पूयाथिरया य बहुमाणो ॥

क्षीराश्रवादिलब्धिसंपन्न आक्षेपणीविक्षेपणीसंवेगजननीनिर्वेदनीभेदाच्चतुर्विधां धर्मकथां कथयन् धर्मकथेत्युच्यते । तस्मिन् धर्मं कथयति आत्मनः परस्य च संसारसागरात् समुत्तारो निस्तरणं भवति , तीर्थविवृद्धिश्च भवति, प्रभूते लोकस्य प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः । तथा देशनाद्वारेण पूजाफलमुपवर्ण्यान्यान्याभिगमने अन्यान्यश्रावकबोधने च पूजायां स्थिरता बहुमानश्च कृतो भवति ।

अथ शङ्कितपात्रद्वारे व्याख्याति–

निस्संकियं च काहिइ, उभए जं संकियं सुयहरे वि ।
अह वोच्छिचिकरं वा, लभिमात्ति पत्तं दुपक्खाओ ॥

उभये सूत्रे अर्थे च, यत्तस्य शङ्कितं तत्तत्र श्रुतधरेभ्यः पार्श्वात्तन्निःशङ्कितं करिष्यति । अथ व्यवच्छित्तिकरं वा पात्रं द्विपक्षात् लप्स्यते। द्वौ पक्षौ समाहृतौ द्विपक्षम्, गृहस्थपक्षः संयतपक्षश्चेत्यर्थः ।

अथ प्रभावनाद्वारमाह—

जाऽकुलरूवधणबल—संपन्ना इड्ढिमंत निक्खंता ।
जयणाजुत्तो य जई, समेच्च तित्थं पभावेंति ॥

जातिर्मातृकपक्षः, कुलं पैतृकपक्षः, रूपमाकृतिः, धनं गणिमधरिममेयपारिच्छेद्यभेदाच्चतुर्द्धा भवति । प्रभूतं गृहस्थावस्थायामासीत्, बलं सहस्रयोधिप्रभृतीनामिव सातिशयं शारीरवीर्यम् , एतैर्जात्यादिभिर्गुणैः संपन्नाः, ये च ऋद्धिमन्तः निष्क्रान्ता राजप्रव्रजितादयो, ये च यतनायुक्ता यथोक्तसंयमयोगकलिता यतयः, ते समेत्य तत्रागत्य तीर्थं प्रभावयन्ति ।

अपि च–

जो जेण गुणेण हिओ, जेण विणा वा न सिज्झए जं तु।
सो तेण तंमि कज्जे, सव्वत्थाणं न हावेइ ॥

य आचार्यादिर्येन प्रावचनिकत्वादिना गुणेनाधिकः सातिशयः, येन वा विद्यासिद्ध्यादिना विना यत्प्रवचनं प्रत्यनीकशिक्षणादिकार्यं न सिद्ध्यति, स तेन गुणेन तस्मिन् कार्ये सर्वस्थानं सकलमपि वीर्यं न हापयति, किं तु सर्वथा शक्त्या तत्र गत्वा प्रवचनं प्रभावयतीति भावः। उक्तं च-"प्रावचनी धर्मकथा, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च। जिनवचनज्ञश्च कविः, प्रवचनमुद्भावयन्त्येते' ॥

प्रवृत्तिद्वारमाह–

साहम्मियायगाणं, खेमसिवाणं च लभिइ पवित्तिं ।
गच्छिहिंति जहिं तीइं, होहिंति न वा वि पुच्छति सो ॥

तत्रान्येषां साधर्मिकाणां चिरदेशान्तरगतानां वाचकानां वा आचार्याणां तत्र प्राप्तः प्रवृत्तिं लप्स्यते, तथा क्षेमं परचक्राद्युपद्रवाभावः, शिवं व्यन्तरकृतोपद्रवाभावः , तयोरुपलक्षणत्वात् सुभिक्षदुर्भिक्षादीनां चागामिसंवत्सरभाविनां प्रवृत्ति

तत्र नैमित्तिकसाधूनां सकाशाज्ज्ञास्यते । यदि वा यत्र देशे स्वयं गमिष्यति तत्र तानि क्षेमादीनि भविष्यन्ति नवेति साधर्मिकादीन् पृच्छति ।

कार्योत्साहद्वारद्वयमाह-

कुलमाई कज्जाइं, साहिस्सं लिंगिणो य सासिस्सं ।
जे लोगविरुद्धाइं, करिंति लोगुत्तराइं च ॥

कुलादीनि कुलगणसंघसत्काणि, कार्याणि तत्र गतः शाधयिष्यामि लिङ्गिनश्च तत्र गतः शासिष्यामि हितोपदेशदानादिना शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिनो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरविरुद्धानि च प्रवचनोड्डाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।

आह-यद्येतानि कारणानि भवन्ति,ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-

एएहिँ कारणेहिं, पुव्वं पडिलेहिऊण अइगमणं ।
अद्धाणनिग्गयादी, लग्गा सुद्धा जहा खवओ ॥

एतैश्चैत्यपूजादिभिः कारणैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गतास्ते अध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दादपूर्वोत्सवादिवक्ष्यमाणकारणपरिग्रहः । एवंविधैः कारणैः प्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गताः सन्तो यथोक्तां यतनां कुर्वाणा अपि यदि लग्ना अशुद्धभक्तादिग्रहणदोषमापन्नास्तथापि शुद्धाः , यथा क्षपकः पिण्डनिर्युक्तौ प्रतिपादितचरितः शुद्धं गवेषयन्नपि निगूढबाह्याकारया तथाविधश्राद्धिकया छलितः सन्नाधाकर्मण्यपि गृहीते शुद्धोऽशठपरिणामत्वादिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैतदेव भाष्यते-

नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिउं कज्जे ।
लत्तसय भिक्खाचरिया, बाहिं उब्भामरादीया ॥
सब्भाविक इयरे वि य, जाणंती मंमवाइणो गीया ।
सेहादीण य थेरा, वंदणजुत्तिं बहिं कहए ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्ने अनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गीतार्थान् प्रेषयति,ततो ज्ञात्वा सम्यक् क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्त्तव्यम् । किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह—मौलग्रामे उपाश्रयो बहिर्बाह्यग्रामेषु च उद्भ्रामकाख्या भिक्षाचर्या । आदिशब्दात्तस्यां गच्छतामपान्तराले विश्रामस्थानं, मौलग्रामे च भिक्षाविचारभूमिप्रभृतिकं प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सद्भाविका नितरांश्च मण्डपादीन् गीतार्था जानन्ति । यथा अमी सद्भावतः स्वार्थं मण्डपाः कृताः, अमी तु संयतार्थं परं कैतवप्रयोगेणास्मानित्थं प्रत्याययन्ति , आदिग्रहणात् पीठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युप्रेक्षिते सूरयः सबालवृद्धगच्छसहिता अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्थविराश्च बहिरेव वर्त्तमानाः शैक्षादीनां वन्दनयुक्तिं पार्श्वस्थादिवन्दनविधिं कथयन्ति, मा भूदन्यथा तद्वन्दने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनाविधिमाह-

निस्सकममनिस्सकमे , वि चेइए सव्वेहिँ थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइयाणि य, नाउं इक्किक्किया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति ।

अथ समवसरणविषयं विधिमाह-

निस्सकमे चेइए गुरु, कइवयसहिए य एयरावसहिं ।
जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिंति तहिं समोसरणं ॥

निश्राकृते चैत्ये गुरुराचार्यः कतिपयैः परिणतसाधुभिः सहितैश्चैत्यमहिमावलोकनाय तिष्ठति । इतरे शैक्षादयस्ते मा पार्श्वस्थादीन् भूयसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्षुरिति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसतिं व्रजेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिश्राकृतं चैत्यं तत्राऽऽचार्यः समवसरणं पूरयन्ति, सज्जामापूर्य धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह-किं संविग्नैस्तत्र धर्मकथा , आहो-
स्विदसंविग्नैरपि ?, उच्यते—

संविग्गेहिँ य कहणा, इयरेहिं अपच्चओ न ओवसमो।
पव्वज्जाभिमुहा वि य, तेसु वए सेहमादीया ॥

संविग्नैरुद्यतविहारिभिः कथना धर्मस्य कर्त्तव्या । कुत इत्याह-इतरे असंविग्नास्तैर्धर्मकथायां क्रियमाणायां श्रोतृणामप्रत्ययो भवति, नैते यथा वादिनस्तथा कारिण इति । नच तेषामुपशमः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रव्रज्याभिमुखाः शैक्षादयो वा अद्याप्यपरिणतजिनवचनाः तेऽपि तेषु व्रजेयुः ; शोभनं खल्वेतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह-निश्राकृतचैत्ये यदि तदानीमसंविग्ना न भवन्ति ततः कोविधिरित्याह—

पूरिंति समोसरणं, अन्नासइनिस्सचेइएसुं पि ।
इहरा लोगविरुद्धं, सद्धाभंगो य सड्ढाणं ॥

अन्येषामसंविग्नानामसतिनिश्राकृतेष्वपि चैत्येषु समवसरणं पूरयन्ति, इतरथा लोकविरुद्ध लोकापवादो भवति-अहो ! अमी मत्सरिणो यदेवमन्यदीयं चैत्यमिति कृत्वा नात्रोपविश्य धर्मकथां कुर्वन्ति, श्रद्धाभङ्गश्च श्राद्धानां भवति, तेषामभ्यर्थमभ्यर्थयमानानामपि तत्र धर्मकथाया अकरणात् ।

अथ भिक्षाचर्यायां यतनामाह—

पुव्वपविट्ठेहिँ समं, हिंमंती तत्थ ते पमाणं तु ।
साभाविकभिक्खाओ, विदंतऽपुव्वा य ठवियादी ॥

पूर्वप्रविष्टानामपूर्वं ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितास्तैः समं भिक्षां हिण्डन्ते, तत्र च भिक्षामटतां त एव प्रमाणं गन्तुं कैस्तत्र शुद्धाशुद्धगवेषणा कर्त्तव्या, ते च पूर्वप्रविष्टा इदं विदन्ति-यदेताः स्वाभाविकभिक्षाः स्वार्थनिष्पादिताः, एतास्तु अपूर्वाः संयतार्थं स्थापिता निक्षिप्तादयः ।

स्त्रीसंकुलनाटकशीतयोर्यतनामाह-

वंदे ण इंति तंति य, जुवमज्झे थेर इत्थिओ तेणं ।
चिट्ठंति न नामएसुं, अह तंति न पेह रागादी ॥

स्त्रीसंकुलवृन्दे नायान्ति निर्गच्छन्ति च , ये च युवानस्ते मध्ये क्रियन्ते, यतः स्त्रियस्तेन पार्श्वेन स्थविरा वृद्धा भवन्ति, मा भूवन् भुक्ताभुक्तसमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणतस्तिष्ठन्ति, ततो (न पेह त्ति) नर्त्तक्यादिरूपाणि न प्रेक्षन्ते , सहसा दृष्टिगोचरागतेषु रागादीन् न कुर्वन्ति, तेभ्यश्च प्राग् दृष्टिं निवर्तयन्ति ।

तन्तुजालादिषु विधिमाह—

सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।
अभिजोजयंति तिसु य, अणिच्छि फेहंतऽदीसंता ॥

इतरे असंविग्ना देवकुलिका इत्यर्थः, तान् तन्तुजालभूताकोलिकादिषु सत्सु, ते साधवो नोदयन्ति-यथा शीलयत परिकर्मयत मङ्खफलकानीव मङ्खफलकानि । मङ्खो नाम चित्रफलकव्यग्रहस्तस्तस्य च यदि फलकमुज्ज्वलं भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं पूजयति । एवं यदि यूयमपि देवकुलानि भूयो भूयः संमार्जनादिना सम्यगुज्ज्वालयत, ततो भूयान् लोको भवतां पूजासत्कारं कुर्यात् । अथ ते देवकुलिकाः सवृत्तिकाश्चैत्यप्रतिबद्धगृहक्षेत्रादिवृत्तिभोगिनस्ततस्तान्नियोजयन्ति निर्भर्त्सयन्ति-यथा एकं तावद्देवकुलानां वृत्तिमुपजीवथ द्वितीयमेतेषां संमार्जनादिसारामपि न कुरुथ। इत्थं युक्ता अपि यदि तन्तुजालादीन्यपनेतुं नेच्छन्ति ततो अदृश्यमानाः स्वयमेव स्फेटयन्ति, अपनयन्तीत्यर्थः।

क्षुल्लकविपरिणामसंभवे यतनामाह-

उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइ चोक्खे य ।
नो मुचंतऽसहाए, दिंति मणुन्ने य आहारे ॥

क्षुल्लकान् उज्ज्वलवेषान् पाण्डुरपट्टचोलपट्टधारिणः उद्वर्त्तनप्रक्षालनादिना च चोक्षान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते क्षुल्लका असहाया एकाकिनो मुच्यन्ते, वृषभाश्च तेषां मनोज्ञान् स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति । उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञापयन्ति । बृ० १ उ० । (स च दृष्टान्तः ' उरब्भ ' शब्दे द्वि० भा० ८५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ निर्द्धर्मकार्येषु यतनामाह—

न मिलंति लिंगिकज्जे, अत्थंति च मेलिया उदासीणा ।
विंति य निब्बंधम्मि, करेसु तिव्वं खु णे दंमं ॥

यत्र लिङ्गिनामाकृष्टगृहधनादिकार्याण्युपढौकन्ते तत्र प्रथमत एव न मिलन्ति। अथ तैर्बलाद् मोटिकया मील्यन्ते ततो मेलिता अप्युदासीना आसते । अथ ते ब्रुवीरन्-कुरुतास्मदीयस्य व्यवहारस्य परिच्छेदम्। तत एवं निर्बन्धे तैः क्रियमाणे साधवो ब्रुवते-यद्यस्माकं पार्श्वे व्यवहारपरिच्छेदं कारयिष्यथ तत उभयेषामपि भवतां तीव्रदण्डमागमोक्तप्रायश्चित्तलक्षणं कुर्मः करिष्याम इति ।

' अद्धाणनिग्गयादी ' इति पदं व्याख्यानयति-

अद्धाणनिग्गयादी, ठाणुप्पाइयमहूसवो कुणगो ।
गेलन्नसत्थवसगा, महानई तत्तिया वा वि ॥

अध्वनिर्गता अध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दादन्यदप्येवंविधं कारणं गृह्यते, स्थानोत्पातिकमहोत्सवं नाम तत्रापूर्वः कोऽप्युत्सवविशेषः, सहसैव श्राद्धं कर्तुमारब्धः तं वा श्रुत्वा, यदि वा क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं प्रेष्यन्ते, तदानीं ग्लानाग्लानप्रतिचरणव्यापृता वा । अथवा सार्थवशगास्ते तत्र सार्थमन्तरेण गन्तुं न शक्यन्ते। महानदी वा काचिदपान्तराले, तामभीक्ष्णमुत्तरतां बहवो दोषाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो यावतां मध्यादेकस्याप्यन्यत्र प्रेषणं न संगच्छते, अत एतैः कारणैरप्रत्युपेक्षितेऽपि प्रविशतां न कश्चिद्दोषः ।

अत्र यतनामाह-

समणुन्ना सह अन्ने, वि दट्ठुं दाणमाइ वज्जंति ।
दव्वाई पेहंता, जइ लग्गंती तहवि सुद्धा ॥

यदि समनोज्ञाः सांभोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह भिक्षामटन्ति । अथ न सन्ति समनोज्ञास्ततोऽन्यानप्यन्यसांभोगिकानपि दृष्ट्वा दानश्राद्धकादिकुलानि वर्जयन्ति ते, आधाकर्मादिदोषसंभवात् । शेषेषु कुलेषु पर्यटन्तो (दव्वादी पेहंत त्ति) द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च शुद्धमन्वेषयन्तो, यद्यपि किमपि स्थापनादिकं दोषं लगन्ति प्राप्नुवन्ति, तथा शुद्धाः कृपकवदशठपरिणामतया श्रुतज्ञानोपयोगप्रवृत्तत्वादिति । गतं परिहरणानुयानद्वारम् । बृ० १ उ० ।

अणुजाणण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । स्था० ।

अणुजाणावणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । मुत्कालने, पञ्चा०६विव० ।

अणुजाणाहिगार-अनुयानाधिकार-पुं० । रथस्य पृष्ठतोऽनुव्रजनेन प्रतिष्ठाधिकारे, जी० १ प्रति० ।

अणुजाणित्तए-अनुज्ञातुम्-अव्य० । तथैव सम्यगेतद्वारयाऽन्येषां च प्रवेदयेत्येवमभिधातुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणुजात (य)-अनुयात-त्रि० । अनुगते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " सरिसे वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सदृशवचनः । वृषभस्य अनुजातः सदृशो वृषभानुजातः। सू० प्र०१२ पाहु० । अनुरूपः सम्पदा पितुस्तुल्यो जातोऽनुयातः, अनुगतो वा पितृविभूत्याऽनुयातः। पितृसमे सुतभेदे, यथा महायशाः, आदित्ययशसा पित्रा तुल्यत्वात् । स्था० ४ ठा० १ उ०।

अणुजुत्ति-अनुयुक्ति-स्त्री० । अनुगतयुक्तौ, "सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए" सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरशक्नुवन्तः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । "सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया" सर्वाभिः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः साधनानि, यदि वा सिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगता युक्तयस्ताभिर्मतिमान्। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुजेट्ठ-अनुज्येष्ठ-त्रि० । अनुगतो ज्येष्ठम् । प्रा० । स० । ज्येष्ठानुरूपे ज्येष्ठानतिक्रमे च । वाच० । पञ्चा० । जेष्ठसमीपे वर्तमाने यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः त्रिकस्यानुज्येष्ठः; चतुष्कादीनां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः । आ० म० प्र० । अनु० ।

अणुज्जया-अनूद्यता-स्त्री० । उद्देश्यतारूपे विषयताविशेषे, ध० १ अधि० ।

अणुज्जियत्त-अनूर्जितत्व-न० । वराकत्वे, बृ० ३ उ० ।

अणुज्जुय-अनृजुक-त्रि० । असरले कथञ्चित् सरलं कर्तुमशक्ते, उत्त० ३४ अ० । वक्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणुज्झाण-अनुध्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।

अणुज्झाविता-अनुध्याय-अव्य० । चिन्तयित्वेत्यर्थे, "कम्मगरसालाए अणुज्झाविता पविसमिस्सो" आ० म० द्वि० ।

अणुट्ठाण-अनुष्ठान-न० । आचारे, स्था० ७ ठा०। चैत्यवन्दनादिके आचरणे, पञ्चा० ३ विव० । आचा० । क्रियायाम्, पञ्चा० १६ विव० । क्रियाकलापे, ग० १ अधि० । कालाध्ययनादौ, भ० २ श० १ उ० ।

फलवद्द्रुमसद्बीज-प्ररोहसदृशं तथा ।
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं, सानुबन्धं महर्षिभिः ॥ २४३ ॥

फलवतः फलप्राग्भारभाजो द्रुमस्य न्यग्रोधादेः सदवन्ध्यं यद्बीजं, तस्य यः प्ररोहोऽङ्कुरोद्भेदरूपस्तेन सदृशं समं यत्त-

तथा, तथेति वक्तव्यान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, साधु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमादिरूपमित्यनेन प्रकारेणोक्तं, शास्त्रेषु सानुबन्धमुत्तरोत्तरानुबन्धवद् महर्षिभिः परममुनिभिः, शुद्धाधिकारिसमारब्धत्वात्तस्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंभूतं, शान्तदान्तमविप्लुतम् ।
नाग्रोद्भवलताप्रायं, बहिश्चेष्टाधिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंभूतम, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंवेदननाम्ना संभूतं प्रवृत्तं, शान्तदान्तं, शान्तदान्तपुरुषारब्धत्वाद्, अत एवाविप्लुतं सर्वथा विप्लवरहितम्। व्यवच्छेद्यमाह–न नैव, अग्रोद्भवलताप्रायम–अग्रात् क्रमान्तादुद्भवो यस्याः, सा चासौ लता च तत्प्रायम्। सा हि लता अग्रोद्भवत्वेन न लतान्तरमनुबन्द्धुं क्षमा। इदं चानुष्ठानमनुत्तरोत्तरानुबन्धप्रधानमित्यत उक्तं नाग्रोद्भवलताप्रायमिति। तथा बहिश्चेष्टायां चैत्यवन्दनादिरूपायामधिमुक्तिः शुद्धा यत्र तत्तथा ॥ २४४ ॥

इत्थं विषयस्वरूपानुबन्धशुद्धिप्रधानमनुष्ठानत्रयमभिधाय साम्प्रतं त्रयस्याप्यवस्थाभेदेन संमतत्वमाविश्चिकीर्षुराह—

इष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।
निदर्शितमिदं तावत् पूर्वमत्रै। लेशतः ॥ २४५ ॥

इष्यते मन्यते मतिमद्भिः। चः समुच्चये। एतदपि प्रागुक्तमत्र योगचिन्तायां, विषयोपाधिर्विषयशुद्धमनुष्ठानं, किंपुनः स्वरूपशुद्धानुबन्धशुद्धे इत्यपिशब्दार्थः। कीदृशमित्याह-संगतं युक्तमेव, निदर्शितं निरूपितमिदं संगतत्वम, तावच्छब्दः क्रमार्थः, पूर्वं प्रागत्रैव शास्त्रे लेशतः संक्षेपेण "मुक्ताविच्छाऽपि या श्लाघ्या, तमःक्षयकरी मता" इत्यादिना ग्रन्थेन। विस्तरतस्तु विशेषग्रन्थादवसेयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमधिकृत्याह–

अपुनर्बन्धकस्यैवं, सम्यग्नीत्योपपद्यते ।
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल–मवस्थाभेदसंश्रयात ॥ २४६ ॥

कापिलसौगतादिशास्त्रप्रणीतं मुमुक्षुजनयोग्यमनुष्ठानमखिलं समस्तम्। कुत इत्याह–अवस्थाभेदसंश्रयात्। अपुनर्बन्धकस्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणात्। अनेकस्वरूपाभ्युपगमे हि अपुनर्बन्धकस्य किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थायामवतरतीति ॥२४६॥ यो० बिं०।

प्रीतिभक्त्यनुष्ठानादिभेदाः–

सूक्ष्माश्च विरलाश्चैवा–तिचारा वचनोदये ।
स्थूलाश्चैव घनाश्चैव, ततः पूर्वममी पुनः ॥ ९ ॥

(सूक्ष्माश्चेति) सूक्ष्माश्च लघवः,प्रायशः कादाचित्कत्वात्। विरलाश्चैव सन्तानाभावात्। अतिचारा अपराधा वचनोदये भवन्ति; ततो वचनोदयात्। पूर्वममी अतिचाराः पुनः स्थूलाश्च बादराश्च, घनाश्च निरन्तराश्च भवन्ति। तदुक्तम्–"चरमाद्यायां सूक्ष्माः, अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च। आद्यत्रये त्वमी स्युः, स्थूलाश्च तथा घनाश्चैव" ॥ ६ ॥ द्वा० १८ द्वा०।

सदनुष्ठानमतः खलु, बीजन्यासात् प्रशान्तवाहितया ।
संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥
तत्प्रीतिभक्तिवचना–संगोपपदं चतुर्विधं गीतम् ।
तत्त्वाभिज्ञैः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥
यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।
शेषत्यागेन करो–ति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥
गौरवविशेषयोगाद्, बुद्धिमतो यद्विशुद्धितरयोगम् ।
क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

(सदनुष्ठानमित्यादि)सदनुष्ठानं प्रागुक्तमतः खलु बीजन्यासाद्स्मात् पुण्यानुबन्धिपुण्यनिक्षेपात्, प्रशान्तवाहितया प्रशान्तं वोढुं शीलं यस्य तत प्रशान्तवाहि, तद्भावस्तया चित्तसंस्काररूपया, संजायते निष्पद्यते। नियोगान्नियमेन, पुंसां मनुष्याणां, पुण्योदयसहायं पुण्यानुभावसहितम ॥१॥ तदेव भेदद्वारेणाह–(तदित्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च वचनं चासङ्गश्चेते शब्दा उपपदमुपोच्चारिपदं यस्य सदनुष्ठानस्य तत्तथा, चतुर्विधं चतुर्भेदं,गीतं शब्दितं, प्रीत्यनुष्ठानम ॥२॥ आदरः प्रयत्नातिशयोऽस्ति परमः, प्रीतिश्चाऽभिरुचिरूपा, हितोदया हित उदयो यस्याः सा तथा भवति। कर्तुरनुष्ठातुः, शेषत्यागेन शेषप्रयोजनपरित्यागेन, तत्काले करोति यच्चातीव धर्म्मादरात्। तदेवंभूतं प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम ॥३॥ द्वितीयस्वरूपमाह–गौरवेत्यादि। गौरवविशेषयोगात, गौरवं गुरुत्वं पूजनीयत्वं तद्विशेषयोगात् तदधिकसंबन्धात, बुद्धिमतः पुंसो यदनुष्ठानं विशुद्धतरयोगं विशुद्धतरव्यापारं, क्रियया करणेन, इतरतुल्यमपि प्रीत्यनुष्ठानतुल्यमपि, ज्ञेयं तदेवंविधं भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह–कः पुनः प्रीतिभक्त्योर्विशेषः?, उच्यते—

अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वद्धिता च जननीति ।
तुल्यमपि कृत्यमनयो–र्ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥५॥

[अत्यन्तेत्यादि] अत्यन्तवल्लभा खलु अत्यन्तवल्लभैव,पत्नी भार्या, तद्वत् पत्नीवदत्यन्तेष्टैव हिता च हितकारिणीति कृत्वा जननी प्रसिद्धा, तुल्यमपि सदृशमपि, कृत्यं भोजनाच्छादनादि, अनयोर्जननीपत्न्योर्ज्ञातमुदाहरणं स्यात्, प्रीतिभक्तिगतं प्रीतिभक्तिविषयमिदमुक्तं भवति, प्रीत्या पत्न्याः क्रियते, भक्त्या मातुरितीयान् प्रीतिभक्त्योर्विशेषः ॥५॥

तृतीयस्वरूपमाह–

वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु ।
वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि)वचनात्मिका आगमात्मिका,प्रवृत्तिः क्रियारूपा सर्वत्र सर्वस्मिन् धर्मव्यापारे क्षान्तिप्रत्युपेक्षादौ, औचित्ययोगतो या तु देशकालपुरुषव्यवहाराद्यौचित्येन वचनानुष्ठानमिदमेवं प्रवृत्तिरूपं चारित्रवतः साधोर्नियोगेन नियमनं नान्यस्य भवतीति ॥ ६ ॥

तुर्यस्वरूपमाह—

यत्त्वभ्यासातिशयात्, सात्मीभूतमिव चेष्ट्यते सद्भिः ।
तदसङ्गानुष्ठानं, भवति त्वेतत्तदा वेधात् ॥ ७ ॥

(यत्त्वित्यादि यत्तु यत् पुनरभ्यासातिशयादभ्यासप्रकर्षाद् भूयो भूयस्तदासेवनेन, सात्मीभूतमिवात्मसाद्भूतमिव, चन्दनगन्धन्यायेन चेष्ट्यते क्रियते, सद्भिः सत्पुरुषैर्जिनकल्पिकादिभिस्तदेवंविधमसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेतज्जायते, पुनरेतत्तदा वेधाद् वचनवेधादागमसंस्कारात् ॥ ७ ॥

वचनासङ्गानुष्ठानयोर्विशेषमाह—

चक्रभ्रमणं दण्डा–त्तदभावे चैव यत् परं भवति ।
वचनासङ्गानुष्ठा–नयोस्तु तद्ज्ञापकं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(चक्रेत्यादि) चक्रभ्रमणं कुम्भकारचक्रपरावर्त्तनं, दण्डाद्दण्डसंयोगात्, तदभावे चैव दण्डसंयोगाभावे चैव, यत्परमन्यद्भवति, वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, ज्ञापकमुदाहरणं ज्ञेयम्। यथा चक्रभ्रमणमेकं दण्डसंयोगाज्जायते प्रयत्नपूर्वकमेवं वचनानुष्ठानमप्यागमसङ्गात् प्रवर्त्तते । तथा चान्यच्चक्रभ्रमणं दण्डसंयोगाभावे केवलादेव संस्कारादापरिक्षयात् संभवति । एवमागमसंस्कारमात्रेण वस्तुतो वचननिरपेक्षमेव स्वाभाविकत्वेन यत् प्रवर्तते तदसङ्गानुष्ठानमितीयान् भेद इति भावः ॥ ८ ॥

एषामेव चतुर्णामनुष्ठानानां फलविभागमाह—

अभ्युदयफले चाद्ये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।
एतदनुष्ठानानां, विज्ञेये इह गतापाये ॥ ९ ॥

अभ्युदयफले चाभ्युदयनिर्वर्त्तके च, आद्ये प्रीतिभक्त्यनुष्ठाने, निःश्रेयससाधने मोक्षसाधने, तथा चरमे वचनासङ्गानुष्ठाने, एतेषामनुष्ठानानां मध्ये, विज्ञेये, इह प्रक्रमे, गतापाये अपायरहिते निरपाये ॥ ९ ॥

एतेष्वेव चतुर्ष्वनुष्ठानेषु पञ्चविधक्षान्तियोजनमाह–

उपकार्यपकारिविपा–कवचनधर्मोत्तरा मता क्षान्तिः ।
आद्यद्वये त्रिभेदा, चरमद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपेत्यादि) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः विपाकः कर्म्मफलानुभवनमनर्थपरम्परा वा, वचनमागमः, धर्मः प्रशमादिरूपः, तदुत्तरा तत्प्रधाना मता संमता पञ्चविधा, क्षान्तिः क्षमा, आद्यद्वये आद्यानुष्ठानद्वये, त्रिभेदा त्रिप्रकारा। चरमद्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विभेदेति द्विविधा, तत्रोपकारिणि क्षान्तिरुपकारिक्षान्तिः, तदुक्तकटुकवचनाद्यपि सहमानस्य, तथा अपकारिणि क्षान्तिरपकारिक्षान्तिः, मर्मकटुवचनाद्यसहमानस्वायमपकारी भविष्यति इत्यभिप्रायेण क्षमां कुर्वतः । तथा विपाके क्षान्तिः विपाकक्षान्तिः, कर्म्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपश्यतो दुःखभीरुतया मनुष्यभावमेव वा अनर्थपरम्परामालोचयतो विपाकदर्शनपुरःसरा संभवति। तथा वचनक्षान्तिरागमेवावलम्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते न पुनरुपकारित्वापकारित्वविपाकाख्यमालम्बनत्रयं सा वचनपूर्वकत्वादन्यनिरपेक्षत्वात्तथोच्यते । धर्म्मोत्तरा तु क्षान्तिश्चन्दनस्येव शरीरस्य छेददाहादिषु सौरभादिस्वधर्मकल्पा परोपकारिणी न क्रियते, सहजत्वेनावस्थिता सा तथोच्यते॥ १० ॥ षो० १० विव० । अष्ट० । देवपूजनादिके, द्वा० १३ द्वा० । कर्मणि, आ० म० द्वि० ।

अणुट्ठिय--अनुष्ठित--त्रि० । अनुक्रान्ते, आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । द्वा० म० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ विव० । "अहवा अवितहं णो अणुट्ठिअं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अनुत्थित--त्रि० । द्रव्यतो निषण्णे, भावतो ज्ञानदर्शनचारित्रोद्योगरहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुणंत--अनुनयत्–त्रि० । स्वाभिप्रायेण शनैः २ प्रज्ञापयति, "पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं, णिमंतयंतं च सुए धणेणं." उत्त० १४ अ० ।

अणुणाइ(ण्)--अनुनादिन्–त्रि० । अनुनदति । अनु–नद्–णिनि। प्रतिरूपशब्दकारके, "गम्भीरेणानुनादिना" वाच० । "गज्जिवसद्दस्स अणुणाइणा" अनुनादिना सदृशेन । कल्प० ।

अणुणाइत्त–अनुनादित्व–न० । प्रतिरवोपेततारूपे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

अणुणाय--अनुनाद–पुं० । मेघस्वनादौ, "अणुणादे पयाहिणञ्जे जिणघरे वा" आ० म० द्वि० ।

अणुणास--अनुनाश–पुं० । अनु-नश-घञ् । अनुमरणे. अदूरदेशादावर्थे । संकाशादित्वात् ण्यः । वाच० ।

आनुनाश्य–त्रि० । तददूरदेशादौ, वाच० । अनुनासिके नासाकृतस्वरे, स्था० ७ ठा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते गेयदोषभेदे, जं० ७ वक्ष० । अनु० । जी० ।

अणुणिज्जमाण–अनुनीयमान–त्रि० । प्रार्थ्यमाने, "अह एवं पि अणुणिज्जमाणो गच्छति " नि० चू० १ उ० ।

अणुण्णुत (ण्य) अनुन्नत–त्रि० । अनुच्छ्रिते मदरहिते, "एत्थ वि भिक्खू अणुण्णए विणीए" न उन्नतोऽनुन्नतः शरीरेणोच्छ्रितः, भावोन्नतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरामदमपि न विधत्ते । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । "अणुण्णए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले " अनुन्नतो द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो नाकाशदर्शी, भावतो न जात्याद्यभिमानवान् । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणुण्णवणा–अनुज्ञापना–स्त्री० । अनुमोदने, "आयप्पमाणमित्तो, चउद्दिसिं होइ उग्गहो गुरुणो । अणणुण्णायस्स सया, न कप्पई तत्थ पविसेउं" इदानीमनुज्ञापना, साऽपि नामादिभिः षड्भेदैव । नामस्थापने सुगमे । द्रव्याऽनुज्ञापना त्रिधा-लौकिकी, लोकोत्तरा, कुप्रावचनिकी च । तत्र लौकिकी सचित्ताचित्तमिश्रभेदैस्त्रिधा-अश्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । मुक्ताफलवैडूर्याद्यनुज्ञापना द्वितीया । विविधाभरणविभूषितवनिताद्यनुज्ञापना तृतीया । लोकोत्तराऽपि सचित्तादिभेदात् त्रिधा—शिष्याद्यनुज्ञा प्रथमा । वस्त्राद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितवस्त्रादिशिष्याद्यनुज्ञा तृतीया । एवं कुप्रावचनिक्यपि त्रेधाऽवगन्तव्या । क्षेत्रानुज्ञापना यावतो क्षेत्रस्यानुज्ञापनं विधीयते, यस्मिन्वा क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्यायते वा । एवं कालानुज्ञाऽपि । भावानुज्ञा आचाराद्यनुज्ञा, एषा चात्र प्राह्या । प्रव० २ द्वा० । (अवग्रहविषयाऽनुज्ञापना 'उग्गह' शब्दे द्वि० भा० ६६८ पृष्ठे; वसतिविषया च 'वसह' शब्दे द्रष्टव्या)

अणुण्णवणी–अनुज्ञापनी–स्त्री० । अवग्रहस्यानुज्ञापनीयायां भाषायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अणुण्णवित्ता–अनुज्ञाप्य–अव्य० । अनुमोद्येत्यर्थे, "जिणवरमणुण्णवित्ता, अंजणघणरुयगविमलसंकासा" आ० म० द्वि० ।

अणुण्णवियपाणभोयणभोइ(ण्)–अनुज्ञाप्यपानभोजनभोजिन्–पुं० । आचार्यादीननुज्ञाप्य पानभोजनादिविधातरि, अदत्तादानविरतेर्द्वितीयायां भावनां प्रतिपन्ने, आचा० २ श्रु० २ अ० ६ उ० । भाव० ।

अणुण्णवेमाण--अनुज्ञापयत्--त्रि० । अनुज्ञां ददति, स्वजनादीन् तत्कालगतसाधर्मिकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतो नातिक्रामन्ति" स्था० ६ ठा० ।

अणुण्णा–अनुज्ञा–स्त्री० । अनुज्ञानमनुज्ञा । अधिकारदाने,

स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ज्ञा० ।

निक्षेपोऽस्य—

से किं तं अणुण्णा ?। अणुण्णा छव्विहा पन्नत्ता । तं जहा— नामाणुण्णा १, ठवणाणुण्णा २, दव्वाणुण्णा ३, खेत्ताणुण्णा ४, कालाणुण्णा ५, भावाणुण्णा ६ । से किं तं नामाणुण्णा ? । नामाणुण्णा जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुभयाणं वा अणुण्ण त्ति नामं कीरइ, सेत्तं नामाणुण्णा । से किं तं ठवणाणुण्णा ? । ठवणाणुण्णा जेणं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खए वा वराडए वा एगओ वा अणेगओ वा, सब्भाववट्ठवणाए वा असब्भावठवणाए वा अणुण्ण त्ति ठवणा ठविज्जइ, सेत्तं ठवणाणुण्णा । नामट्ठवणाणं को पइविसेसो ?। नामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा हुज्जा आवकहिया वा, सेत्तं ठवणाणुण्णा । से किं तं दव्वाणुण्णा ? । दव्वाणुण्णा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा—आगमओ य, नो आगमओ य । से किं तं आगमओ य दव्वाणुण्णा ?। आगमओ दव्वाणुण्णा जस्स णं अणुण्ण त्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चामेलियं पडिपुन्नं पडिपुन्नघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए नो अणुप्पेहाए कम्हाए अणुवउगो दव्वमिति कट्टु नेगमस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ य इक्का दव्वाणुन्ना दुन्नि अणुवउत्ता आगमओ दुन्नि दव्वाणुण्णाओ तिन्नि अणुवउत्ता आगमओ तिण्णि दव्वाणुण्णाओ, एवं जावइया अणुवउत्ताओ तावइयाओ दव्वाणुण्णाओ । एवामेव ववहारस्स वि संगहस्स एगो वा अणेगो वा उवउत्ता वा अणुवउत्ता वा दव्वाणुण्णा वा सा एगा दव्वाणुण्णा उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगा दव्वाणुण्णा पुहत्तं नत्थि इतिएहं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थकम्हा जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए ण भवइ, सेत्तं आगमओ दव्वाणुन्ना । से किं तं नो आगमओ दव्वाणुण्णा ? । नो आगमओ दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-जाणगसरीरदव्वाणुण्णा, भवियसरीरदव्वाणुण्णा, जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुण्णा । से किं तं जाणगसरीरदव्वाणुण्णा ? । जाणगसरीरदव्वाणुन्ना अणुण्ण त्ति पयत्थाहिगारं जाणगस्स जं सरीरं ववगयचुयचावियचत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागयं वा संथारगयं वा निसीहियागयं वा सिद्धसिलागयं वा अहोणं इमेणं सरीरसमुस्सएणं अणुण्ण त्ति य पयं आघवियं पन्नवियं परूवियं दंसियं निदंसियं उवदंसियं जहा । को दिट्ठंतो ?। अयं घयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्त जाणगसरीरदव्वाणुण्णा । से किं तं भवियसरीरदव्वाणुन्ना ?। जे जीवजोणीजम्मनिक्खंते इमेणं चेव सरीरसमुस्सएणं आइत्तेणं जिणदिट्ठे णं भावे णं अणुण्ण त्ति पयं सियकाले सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को दिट्ठंतो ?। अयं घयकुंभे भविस्सइ, अयं महुकुंभे भविस्सइ, सेत्तं भवियसरीरदव्वाणुण्णा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुण्णा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-लोइया, कुप्पावणिया य, लोउत्तरिया । से किं तं लोइया दव्वाणुण्णा ? । लोइया दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा—सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं सचित्ता ? । सचित्ता से जहा णामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरे वा तलवरे वा माडंबिएइ वा कोडुंबिएइ वा सेट्ठीइ वा इब्भेइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वा चलयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता । से किं तं अचित्ता ?। से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा कोडुंबिएइ वा माडंबिएइ वा इब्भेइ वा सेट्ठीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा छत्तं वा चामरं वा पडं वा मउडं वा हिरण्णं वा सुवण्णं वा कंसं वा मणिमुत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइयं संतसारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं अचित्ता दव्वाणुण्णा । से किं तं मीसिया दव्वाणुण्णा ? । मीसिया दव्वाणुण्णा से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा माडंबिएइ वा कोडुंबिएइ वा इब्भेइ वा सेट्ठीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे हत्थिं वा मुहभंडगमंडियं आसं वा थासगं वा मरमंडियं सकंडियं दासं वा दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणेज्जा, सेत्तं मीसिया दव्वाणुण्णा । सेत्तं लोइया दव्वाऽणुण्णा । से किं तं कुप्पावणिया दव्वाणुण्णा ?। कुप्पावणिया दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । जे जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं सचित्ता ? । से जहा नामए आयरियाए वा उवज्झाइए वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडं वा अयं वा एलगं वा चलयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता कुप्पावणिया दव्वाणुण्णा । से किं तं अचित्ता ? । अचित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा

छत्तं वा चामरं वा पट्टं वा मउडं वा हिरणं वा सुवणं वा कंसं वा दूसं वा मणिमुत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइयं संतसारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं अचित्ता कुप्पावणिया दव्वाणुएणा। से किं तं मीसिया ? । मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे हत्थिं वा मुहभंडगमंडियं वा आसं वा घासगं वा चामरमंमियं वा सकंमियं वा दासं वा दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणिज्जा,सेत्तं मीसिया कुप्पावणिया दव्वाणुसा। सेत्तं कुप्पावणिया दव्वाणुसा। से किं तं लोउत्तरिया दव्वाणुएणा ?। लोउत्तरिया दव्वाणुसा तिविहा पसत्ता। तं जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं सच्चित्ता ?। सच्चित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा पव्वत्तएइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेयएइ वा सीसस्स वा सीस्सिणीएइ वा कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे सीसं वा सिस्सिणीयं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सच्चित्ता । से किं तं अच्चित्ता ?। अच्चित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा पव्वत्तएइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेइए वा सीसस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि य कारणे तुट्ठे समाणे वत्थं वा पायं वा पमिग्गहं वा कंबलं वा पायपुञ्छणं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं अच्चित्ता । से किं तं मीसिया ?। मीसिया से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा पवत्तएइ वा थेरे वा गणावच्छेइएइ वा सिस्सस्स वा सिस्सिणीए वा कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे सिस्सं वा सिस्सिणीयं वा सभंमभत्तोवगरं अणुजाणिज्जा,सेत्तं मीसिया। सेत्तं लोगोत्तरिया । सेत्तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुसा। सेत्तं नो आगमओ दव्वाणुसा। सेत्तं दव्वाणुसा। से किं तं खेत्ताणुन्ना ?। खेत्ताणुन्ना जो णं जस्स खेत्तं अणुजाणइ जत्तियं वा खेत्तं जम्मि वा खेत्ते, सेत्तं खेत्ताणुसा। से किं तं कालाणुसा ?। कालाणुएणा जो णं जस्स कालं अणुजाणइ जत्तिया वा कालं अणुजाणइ जम्मि वा काले अणुजाणइ, तं तीतं पमुप्पन्नं वा अणागतं वा वसंतहेमंतपाउमं वा अवत्थयणहेउं, सेत्तं कालाणुसा । से किं तं भावाणुसा ?। भावाणुसा तिविहा पसत्ता । तं जहा-लोगइया, कुप्पावणिया, लोगुत्तरिया। से किं तं लोगइया भावाणुसा ?। से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा जाव रुट्ठे समाणे कस्सइ कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं लोइया भावाणुसा। से किं तं कुप्पावणिया भावाणुएणा ?। कुप्पावणिया से जहा नामए केइ आयरिए वा जाव कस्स वि कोहाइभावं अणुजाणिज्जा, सेत्तं कुप्पावणिया। से किं तं लोगुत्तरिया भावाणुसा ? । लोगुत्तरिया भावाणुन्ना से जहा नामए आयरिए वा जाव कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे कालोचियं नाणाइ गुणजोगिणो विणयस्स खमाइप्पहाणस्स सुसीलस्स सीसस्स तिविहेणं तिगरणविसुद्धेणं भावेणं आयारं वा सूयगमं वा ठाणं वा समवायं वा विवाहप्पसत्ती वा णायाधम्मकहा णं वा उवासगदसा उ वा अंतगडदसा उ वा अणुत्तरोववाइदसा उ वा पएहा वा गरणं वा विवागसुयं वा दिट्ठिवायं वा सव्वदव्वगुणपज्जवेहिं सव्वाणुओगं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं लोगुत्तरिया भावाणुसा ॥

किमणुसा कस्सऽणुसा, केवइ कालं पवित्तिआऽणुसा ।
आइगरपुरिमताले, पवत्तिया उसहसेणस्स ॥ १ ॥
अणुसा उणमणी णमणी, नामणि ठवणा पभावो य ।
पभवण पयर तदुभयं, मज्जाया नाउ मग्गो कप्पो य ॥२॥
संगहसंवरनिज्जर, ठिइकारणं चेव जीववुड्ढिपयं ।
पय पवरं चेव तहा, वीसमणुसाइँ नामाइं ॥ ३ ॥ नं०॥
अणुणुव्कइत्तऽणुएणा, उएणामि य जस्सियं वि उसमणी ।
गिहिसाधूहिँ णमिज्जति, तम्हा जा होति णमण त्ति ॥
सुतधम्मचरणधम्मो, णामयती जेण णामती तम्हा ।
ठविओ य आरियत्ते, जम्हा तो तेण ठवण त्ति ॥
ठवितो गणाधिवत्ते, होति पभूतेण पभवो य ।
सव्वेसिं णामादी-ण होति पभवो पसूइ त्ति ॥
एगट्ठा आयरिया-दीणं रूवं पभावित्ते ।
जेण विणा णो सिज्झति,तेण वियारो तु भिज्जति गणो से।
तदुभयहियंति भसति, इह परलोगे य जेण हितं ॥
गणधरमेव वरेती, जम्हा जत्तेण होति मज्जादा ।
करणेज्जो कप्पो त्ति य, कप्पो गणकप्पकरणेणं ॥
णाणादिमोक्खमग्गो,सो तम्मि ठितो त्ति तो भवति मग्गो।
जम्हा तु णायकारी, णाओ वा एस तो णातो ।
दव्वे भावे सग्गह, दव्वे आहारवत्थमादीहिं ॥
भावे णाणादीहिं, संगेण्हति संगहो तेणं ।
दुविहेण संवरेणं, इंदिय-णोइंदिएसु जम्हा उ ॥
अप्पाण गणं व तहा, संवरयति संवरो तम्हा ॥
गणवारणाभगिलाए, कुणमाणे णिज्जरेति कम्माइं ।
अन्ने य णिज्जरावे, तम्हा तो णिज्जरा होति ॥
वातेरिता णई इव, एक पमाणाए तरुणमादीणं ।
होत्ति थिरा वहंतो, तरुव्व थिरकरणतेणं तु ॥
जम्हा तु अवोच्छित्ती, सो कुणती णाणचरणमादीणं ।
तम्हा खलु अच्छेदं, गुणप्पसिद्धं हवति णामं तु ॥
तित्थकरेहिँ कयमिणं, गणधारीणं तु तेहिँ सीसाणं ।
तत्तो परंपरेणं, आयमिणं तेण जीयं तु ॥
वड्ढइ य णाणचरणं, गणं तु तम्हा उ तेण वुड्ढिपदं ।

पवरं पहाणमेत्तं, सव्वेसिं रायदेवाणं ॥
एस अणुमाकप्पो, जहाविही वरिणतो समासेणं । पं०भा०।

तिविहाऽणुन्ना पन्नत्ता । तं जहा–आयरियत्ताए, उव–
ज्झायत्ताए, गणित्ताए । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

परं प्रति सूत्रार्थदानानुमतौ, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थयोरन्यप्रदानं प्रत्यनुगमने, व्य०१ उ० । गुरोर्निवेदिते, सम्यगिदं धारयाऽन्याँश्चाऽध्यापयेति गुरुवचनविशेषे, अनु० । अन्त० । अनुज्ञाविधिस्तु योगोत्क्षेपकायोत्सर्गवर्जः सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्वक्तव्यः, नवरं, प्रवेदिते गुरुर्वदति-सम्यग् धारयान्येषां च प्रवेदय, अन्यानपि पाठयेत्यर्थः । आवश्यकादिषु तण्डुलविचारणादिप्रकीर्णकेष्वपि चैष एव विधिः, नवरं, स्वाध्यायप्रस्थापनं योगोत्क्षेपकायोत्सर्गश्च न क्रियते । एवं सामायिकाद्यध्ययनेषूद्देशकेषु च चैत्यवन्दनप्रदक्षिणात्रयादिविशेषक्रियारहितसप्तवन्दनकप्रदानादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकारालिखिता सामाचारी । सांप्रतं पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलभ्यन्ते, न च तथोपलभ्य संमोहः कर्त्तव्यः, विचित्रत्वात्सामाचारीणामिति । अनु० । अन्त० । आ० म० द्वि० । (व्यतिकृष्टदेशकालादौ उद्देशनिषेधः द्वि० भा० ८११ पृष्ठे 'उद्देस' शब्दे; पञ्चानां ज्ञानानां मध्ये श्रुतस्यैवाऽनुज्ञा प्रवर्तत इति 'अणुओग' शब्दे ऽत्रैव भागे ३५३ पृष्ठे समुक्तम) धनिष्ठाशतभिषकस्वातीश्रवणपुनर्वसुषु अनुज्ञा कार्य्या । द० प० ।

अणुण्णाय–अनुज्ञात–त्रि० । जिनानुमते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । दत्ताज्ञे, उत्त०२३ अ० । आ० क० ।

अणुण्णाकप्प–अनुज्ञाकल्प–पुं० । कस्मिन् काले वस्त्राद्यनुज्ञातमित्येवंविधौ, पं० भा० ।

·················अहुणा वोच्छं अणुसकप्पं तु ।
कएही काले गहणं, वत्थाईणं अणुमातं ॥
वत्थप्पायग्गहणे, वासावासासुणिग्गमो सरदे ।
तिरण पणग सत्त तत्तुगा, उयम्मि कप्पोदगं जाणे ॥
वत्थादीणं गहणं, णऽणुण्णातं होति वासासु ।
वासादीएँ परेणं, दुमास अण्णेसु गिरहंति ॥
तेसिं पुण णेंताणं, सरदे जदि दोएहगा उयाएंतो ।
दगसंघट्टजहन्ने, ण तिण्हि यं चेव मज्झिमगा ॥
सत्ते चउ उक्कोसा, गिम्हम्मि तिरिण पंच हेमंते ।
वासासु य सत्तऽवे, परेण खेत्तं णऽणुण्णातं ।
अप्पोदग त्ति मग्गा, जं तीरीयासु वरिणतं पुव्विं ॥
तं अच्छद्धजोयणे, दगघट्टा जाव सत्त वा ।
वत्थप्पायग्गहणे, ण व संथरणम्मि पढमठाणम्मि ॥
एत्तोऽवतिकमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा सुद्धी ।
पढमं ताऽणुस्सग्गो, तेणं तू णवम होति खेत्तेसु ॥
वत्थादीणं गहणं, तत्थेव य होति उ विहारो ।
णवठाणातिकमे पुण, हवई सट्ठाणतो विसुद्धो तु ॥
किं पुण तं सट्ठाणं, अपवादो अमति ते होति ।
अथवा एणं गहणं, उस्सग्गो चेव होइ सो ताहे ॥
गेएहंतस्स तु करणे, सुद्धी तह चेव बोधव्वा ।
जइ गेएहतुवसग्गे, सुद्धीओ बहिस्स एव वितिएणं ।
गेएहंतस्स विसद्धी, सट्ठाणं एवमक्खायं ।
अहवा वि इमे अएणे, णव तु ठाणा वियाहिता ॥
दव्वादीया इणमो, वोच्छामी आणुपुव्वी सो ।
दव्वे खेत्ते काले, वसही भिक्खमंतरे णेयं ॥
सेज्झाई गुरुजोगी, एते ठाणा णिवोहिता ।
दव्वाणाहारादी–णि जाति सुलभाइँ तम्मि खेत्तम्मि ॥
खेत्तं तिरियिएहं खलु, वत्तंत ब्रुणंत गगणस्स ।
वत्तणपरियट्टंती, सुणेंति अत्थं गणो तु बालादी ॥
तस्स पहुवति खेत्त, आहारादीहिँ संथरणं ।
तत्तियकाले चेल्लो, वसही जाग्गा तु तिक्खुसु लब्भंति ।
न विगिट्ठमंतरंती, सज्झाउ सुज्झ जहिं च सुलभं च ।
आयरिआण जाग्गं, विएणेयं चेव णियमेणं ।
एते ते णव ठाणा, जहिँ उसग्गेण गहण तु ॥
उस्सग्गण विहारो, संथरमाणेण णवसु खेत्तेसु ।
ते सं बुधदुवहीणं, विप्पल्लिया वि दगघट्टे य ॥
णवि दूरं गच्छंती, णवमस्स असंजवे वितियठाणं ।
दगघट्टे बहुए वी, पेल्ले दूरं पि गच्छेज्जा ॥
दुलहम्मि वत्थपादे, जण वि एसुं वि णवसु गच्छेज्जा ।
एमेव विहारो वि हु, खेत्ताण सती मुणेयव्वो ॥
आलंबणे विसुद्धे, दुगुणं तिगुणं चउग्गुणं वा वि ।
खेत्तं कालातीयं, समणुएणातं पकप्पम्मि ॥
एस अणुरणाकप्पो ॥ पं० भा० ॥

इयाणिं अणुरणाकप्पो-(गाहा)(वत्थे पाए)अणुरणायम्मि काले वत्थपायाणि घेत्तव्वाणि वासरत्ते ठायं तेसु घेत्तव्वाणि, पच्छा-ठयाणं नाणुनायाणि निग्गयाणं पुण सरए अन्नेसु खेत्तेसु, जत्थ गीयत्थसंविग्गेसु वासो न कओ तत्थ गेएहंति, जत्थ वा गीयत्थेहिं संविग्गेहिं कओ तेहिं गएहिं वीरे पच्छा गेएहंति, तेसिं पुण निगच्छत्ताणं जइ अद्धं जोयणस्स अंतो तिएिह पंच सत्त दगसंघट्टा, दगसंघट्टो नाम जाणुहेट्ठा तहवि अणुएणायं परेण नाणुन्नायं जंति अप्पोदगा मग्गा तिरियाए भणियं जाव सत्तसंघट्टा,एवं अद्धे जोयणे (गाहा)(वत्थे पाए) एवं वत्थपायग्गहणे वा तणसंथारए य पढमठाणं तु उसग्गेण गहणं नवसु ठाणेसु पढमट्ठाणांति उस्सग्गेण वुत्तं होइ नवठाणवइक्कमे पुण सट्ठाण-विसोही भवइ उवहिमाइ । किंच । तं सट्ठाणं आवाए ठाइ उस्सग्गो ताहे अववायओ गहणं । काणि पुण ताणि नव ठाणाणि ?–तत्थ (गाहा)(दव्व खेत्ते) दव्वाणि जइ आहारोवकरणाणि लब्भंति तम्मि खेत्ते उग्गमाइ सुद्धाणि (खेत्त त्ति) खेत्तं विच्छिन्नं महाजणपाउग्गं अन्नं च तारिसं नत्थि खेत्तं (काले त्ति) तइयाए पोरिसीए भिक्खवेला (वसहि त्ति) वसहिया उग्गा इत्थिसंसिग्गदासपाउग्गा नत्थि नपुंसगाइ दोसरहिया भिक्खा सुल-

भा, गुरुमाइया उग्गा भिक्खा गामंतराणि अविकिट्ठाणि अत्थ-त्थ असज्झाइयं गुरूण सुत्तं पाउग्गं जोगीण व अगाढेतराणं सुत्तं पाउग्गं, पयाणि णव सुणेति, अत्थं सुणांति, साहवो अभिणवं गुणेति वा साहेति वा उज्जुयारिति वा सुत्तं गेण्हंति परियट्टेति उज्जुयारेति वा सबालवुड्ढाउलस्स वा गच्छस्स नत्थि तारिसं अण्णं खेत्तं कारणं बहुव्वातिसंथरं ताण चेव विसोहिठाणे पेल्लंति वा न दूरं गच्छंति मासकप्पं करंता चेव चवहिं कप्पायंयति अह पुण दव्वं वत्थं पायं दुल्लभं खेत्तं वा न पहुप्पइ, ताहे बहुए वि दगसंघट्टे पेल्लइ, दूरं पि गच्छइ, अज्झोयणपरेण वि(गाहा)(आलंबणे)ते च आलंबणे विसुद्धे सव्वं पि अणुण्णायं दुगणं खेत्तकालं दुगुणतिगुणचउगुणबहुगुणे वा खेत्तकालाइक्कमाणुण्णाया पकप्पम्मि । एस अणुण्णाकप्पो । पं० चू० ।

अणुण्हसंवट्टियकक्कसंग–अनुष्णसंवर्त्तितकर्कशाङ्ग–त्रि० । भिक्षापरिभ्रमणाभावादुष्णलगनाभावेन संवर्त्तितानि वर्तुलीभूतानि अत एवाऽकर्कशानि अङ्गानि पाणिपादपृष्ठोदरप्रभृतीनि येषां ते अनुष्णसंवर्त्तितकर्कशाङ्गाः। भिक्षाणामभावादुष्णसंबन्धाभावेन शीतीभूताङ्गेषु, " अणुण्हसंवट्टियकक्कसंगा, गिण्हंति जं अम्हि न तं सहामो " बृ० ३ उ० ।

अणुतमज्जेद–अनुतटजेद–पुं० । वंशस्येव द्रव्यभेदे, स्था० १० ठा० ।

अणुतडियाभेय–अनुतटिकाभेद–पुं० । इक्षुत्वगादिवद् द्रव्यभेदे, प्रज्ञा० ११ पद । (तद्भेदाः 'सद्दव्वभेय' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अणुतप्पि (ण्)–अनुतापिन्–त्रि० । अकल्पं किमपि प्रतिसेव्य अनु पश्चाद् हा ! दुष्ठु कारितमित्यादिरूपेण तपति सन्तापमनुभवति, इत्येवंशीलोऽनुतापी । अकल्पप्रतिसेवनाऽनन्तरं पश्चात्तापविशिष्टे, व्य० १ उ० ।

अणुताव–अनुताप–पुं० । पश्चात्तापे, आव० ४ अ० । ज्ञा० ।

अणुतावि (ण्)–अनुतापिन–पुं० । पुरः कर्मादिदोषदुष्टाहारग्रहणात् पश्चाद् 'हा ! दुष्ठु कृतं मया' इत्यादिमानसिकतापधारणशीले, बृ० ३ उ० ।

अणुताविया–अनुतापिका–स्त्री० । अनुतापयतीति अनुतापिका । परस्यानुतापकारिकायां भाषायाम, " अणुताविय खलु ते भासं भासंति " सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अणुतप्पया–अनुत्रप्यता–स्त्री० । 'त्रपूष् लज्जायाम्' उत्प्राबल्येन त्रप्यते लज्ज्यते येन तत् उत्त्रप्यं, न उत्त्रप्यमनुत्त्रप्यमलज्जनीयं यथा च शरीरशरीरमतोरभेदमधिकृत्य । अहीनसर्वाङ्गे शरीरसंपद्भेदे, " वपुलज्जाए धाऊ, अलज्जणीओ अहीणसव्वंगो । होई अणुतप्पे सो, अविगलइंदियपडिपुण्णो " त्ति । व्य० २ उ० । उत्त० । वृ० ।

अणुत्त–अनुक्त–त्रि० । अकथिते, ध० ३ अधि० । अभाषिते, पं० सं० ५ द्वा० ।

अणुत्तर–अनुत्तर–त्रि० । उत्तरः प्रधानो नास्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तरः । स्था० १० ठा० । सूत्र० । अविद्यमानप्रधानतरे, भ० ६ श० ३३ उ० । अनन्यसदृशे, आ० म० द्वि० । आचा० । ध० । अनुपप्रधाने, विशे० । सर्वोत्कृष्टे, अष्ट० १४ अष्ट० । प्रश्न० । कल्प० । आ० म० प्र० । दशा० । उत्त० । औ० ।

केवलिनो दशानुत्तराणि—

केवलिस्स णं दस अणुत्तरा पण्णत्ता । तं जहा–अणुत्तरे नाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए, अणुत्तरा खंती, अणुत्तरा मुत्ती, अणुत्तरे अज्जवे, अणुत्तरे मद्दवे, अणुत्तरे लाघवे ॥

तत्र ज्ञानावरणक्षयाद् ज्ञानमनुत्तरम, एवं दर्शनावरणक्षयाद् दर्शनम, मोहनीयक्षयाद्वा दर्शनं, चारित्रमोहनीयक्षयाच्चारित्रं, चारित्रमोहक्षयादनन्तवीर्यम, अनन्तवीर्यत्वाच्च तपः शुक्लध्यानादिरूपं, वीर्यान्तरायक्षयाद्वीर्यम, इह च तपःक्षान्तिमुक्त्यार्जवमार्दवलाघवानि चारित्रभेदा एवेति चारित्रमोहनीयक्षयादेव भवन्ति । सामान्यविशेषयोश्च कथंचिद्भेदाद्भेदेनोपात्तानीति । स्था० १० ठा० । वृद्धिरहिते च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । नास्त्यस्योत्तरं सिद्धान्त इत्यनुत्तरम । यथाऽवस्थितसमस्तवस्तुप्रतिपादकत्वादुत्तमे, आव० ४ अ० । सूत्र० । सर्वोत्कृष्टे श्रीजिनधर्मे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणुत्तरगइ–अनुत्तरगति–त्रि० । सिद्धिगतिप्राप्ते, " एस करेमि पणामं, तित्थयराणं अणुत्तरगईणं " । द० प० ४ प० ।

अणुत्तरग्गा–अनुत्तराग्र्या–स्त्री० । अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वादग्र्या च लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराग्र्या । ईषत्प्राग्भारायां पृथिव्याम, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणुत्तरण–अनुत्तरण–न० । न विद्यते उत्तरणं पारगमनं यस्मिन् सति इत्यनुत्तरणः । पारगमनप्रतिबन्धके, उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणवास–अनुत्तरणवास (पाश)–पुं० । न विद्यते उत्तरणं पारगमनमस्मिन् सतीत्यनुत्तरणः । स चाऽसौ वासश्चावस्थानमनुत्तरणवासः । अनुत्तरणवासहेतुत्वाद् आयुर्घृतमित्यादिवदनुत्तरणवासः । यद्वा–आत्मनः पारतन्त्र्यहेतुतया पाशयतीति पाशः, ततोऽनुत्तरणश्चासौ पाशश्चाऽनुत्तरणपाशः । उभयत्र च सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । संसारावस्थितौ, पारवश्ये वा । एतच्च सम्बन्धनसंयोगस्यार्थतः फलम । उत्त० १ अ० ।

अणुत्तरणाणदंसणधर–अनुत्तरज्ञानदर्शनधर–त्रि० । कथञ्चिद् भिन्नज्ञानदर्शनाधारे, " एवं से उदाहु अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरणाणि (ण्)–अनुत्तरज्ञानिन्–त्रि० । नास्योत्तरं प्रधानमस्तीत्यनुत्तरम , तच्च तज्ज्ञानं च अनुत्तरज्ञानम, तद्स्यास्तीत्यनुत्तरज्ञानी । केवलिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणुत्तरधम्म–अनुत्तरधर्म–पुं० । नास्योत्तरः प्रधानो धर्मो विद्यते इति अनुत्तरः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । श्रुतचारित्राख्ये धर्मे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुत्तरपरक्कम–अनुत्तरपराक्रम–पुं० । परे शत्रवः । ते च द्विधा–द्रव्यतो मत्सरिणः, भावतः क्रोधादयः । इह भावशत्रुभिः प्रयोजनं, तेषामेवोच्छेदतो मुक्तिभावात् । आक्रमणमाक्रमः, पराजय उच्छेद इति यावत् । परेषामाक्रमः पराक्रमः । सोऽनुत्तरोऽनन्यसदृशो यस्येति, "जिने तित्थयरे भगवंते अणुत्तरपरक्कमे अमियणाणी" । अत्र आह–ये खल्वैश्वर्यादिभगवन्तः ते

ऽनुत्तरपराक्रमा एव, तमन्तरेण विवक्षितभगासंभवात्, ततोऽनुत्तरपराक्रमानित्येतदतिरिच्यते । नैव दोषः-अस्य अनादिसिद्धैश्वर्यादिसमन्वितपरमपुरुषप्रतिपादनपरनयवादनिषेधपरत्वात् । तथाहि-कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमन्तरेणैव हिरण्यगर्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च-"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम्" ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुण्णसंभार-अनुत्तरपुण्यसंभार-पुं० । अनुत्तरः सर्वोत्तमहेतुत्वात् तत्कार्यात्पुण्यसंभारः तीर्थकरनामकर्मलक्षणो येषां ते तथा । तीर्थकृत्सु, पं० सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाण-अनुत्तरविमान-न० । नैषामन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि । चतुर्दशदेवलोकवास्तव्यानुत्तरोपपातिकदेवविमानेषु, अनु० । (अत्र वक्तव्यं 'विमान' शब्दे वक्ष्यते) "कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा य ? । गोयमा ! संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य" । भ० १३ श० २ उ० । "कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । तं जहा-विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे य" । भ० ६ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोववाइय-अनुत्तरोपपातिक-पुं० । अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः ; स विद्यते येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः । अ० । उत्तरः प्रधानः । नास्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तरः । उपपतनमुपपातो जन्मेत्यर्थः, अनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः ; सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः । सर्वार्थसिद्धादिविमानपञ्चकोपपातिषु, । स्था० १० ठा० । विजयाद्यनुत्तरविमानवासिनि, स० १ सम० ।

अनुत्तरोपपातिकानामनुत्तरोपपातिकत्वम्-

अत्थि णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा । हंता ! अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? । गोयमा ! अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सद्दा अणुत्तरा रूवा जाव अणुत्तरा फासा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा ॥

(अत्थि णमित्यादि) (अणुत्तरोववाइय त्ति) अनुत्तरः सर्वप्रधानोऽनुत्तरशब्दादिविषययोगादुपपातो जन्मानुत्तरोपपातः, सोऽस्ति येषां ते अनुत्तरोपपातिकाः । भ० १४ श० ७ उ० ।

भेदा अनुत्तरोपपातिकस्य-

से किं तं अणुत्तरोववाइया ? । अणुत्तरोववाइया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-विजया, वैजयंता, जयंता, अपराजिया, सव्वट्ठसिद्धा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । प्रज्ञा० १ पद ।

(अन्तक्रियादयोऽस्य स्वस्थान एव द्रष्टव्याः)

उच्चत्वम्-

अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं एगा रयणी उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता ।

(एगा रयणि त्ति) हस्तं यावत्, क्रोशं कौटिल्येन नदी इतिवदिह द्वितीया । (उड्ढं उच्चत्तेणं त्ति) वस्तुनो ह्यनेकधोच्चत्वमूर्ध्वस्थितस्यैकम्, अपरं तिर्यक्स्थितस्य, अन्यद् गुणोन्नतिरूपम् । स्था० १ ठा० । विजयादिविमानेषूपपत्तिमत्सु साधुषु, स्था० ८ ठा० ।

अणुत्तरोववाइया णं भंते ! देवा केवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवत्ताए उववण्णा ? । गोयमा ! जावइयं छट्ठभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवत्ताए उववण्णा ॥

(जावइयं छट्ठभत्तिए इत्यादि) किल षष्ठभक्तिकः सुसाधुर्यावत्कर्म क्षपयति, एतावता कर्मावशेषेणानिर्जीर्णेनाऽनुत्तरोपपातिका देवा उत्पन्ना इति । भ० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोववाइयदसा-अनुत्तरोपपातिकदशा-स्त्री० । ब० व० । अनुत्तरोपपातिकवक्तव्यताप्रतिबद्धा दशा दशाऽध्ययनोपलक्षिता दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशा ग्रन्थविशेषोऽनुत्तरोपपातिकदशा । स्था० १० ठा० । अनु० । नवमेऽङ्गे, नं० । पा० । स० ।

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंडाइं रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोगपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं परियागो पडिमाओ संलेहणाओ भत्तपाणपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाओ सुकुलपच्चाओ पुण बोहिलाहो अंतकिरियाओ आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयदसासु णं तित्थकरसमोसरणाइं परममंगल्लजगहियाइं जिणातिसेसा य बहुविसेसा जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेण्णरिउबलपमद्दणाणं तवदित्तचरित्तणाणसम्मत्तसारविविहप्पगारपसत्थगुणसंजुयाणं अणगारमहरिसीणं अणगारगुणाण वण्णओ उत्तमवरतवविसिट्ठणाणजोगजुत्ताणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इड्ढिविसेसा देवासुरमाणुसाणं परिसाणं पाउब्भावा य जिणसमीवं जह य उवासंति जिणवरं, जह य परिकहंति धम्मं, लोगगुरू अमरनरसुरगणाणं सोऊण य तस्स भासियं अवसेसकम्मविसयविरत्ता नरा जहा अब्भुवेंति, धम्ममुदालं संजमं तवं वा वि बहुविहप्पगारं जह बहूणि वासाणि अणुचरित्ता आराहियनाणदंसणचारित्तजोगा जिणवयणमणुगयमहियसुभासियत्ता जिणवराण हियएण मणुणेत्ता जे य जहिं जत्तियाणि भत्ताणि छेअइत्ता लद्धूण य समाहिमुत्तमज्झाणजोगजुत्ता उववन्ना मुणिवरोत्तमा, जह अणुत्तरएसु पावंति जह अणुत्तरं तत्थ विसयसोक्खं तओ य चुआ कमेण काहिंति संजया जहा य अंतकिरियं एए अन्ने य एवमाइत्था वित्थरेण ॥

अनुत्तरोपपातिकदशासु तीर्थकरसमवसरणानि । किंभूतानि ? परममाङ्गल्यजगद्धितानि, जिनातिशेषाश्च बहुविशेषाश्च "देहं विमलसुयं" इत्यादयश्चतुस्त्रिंशदधिकतरा वा, तथा जिनशि-

ष्याणां चैव गणधरादीनाम् । किंभूतानामत आह-श्रमणगणप्रवरगन्धहस्तिनां, श्रमणोत्तमानामित्यर्थः । तथा स्थिरयशसां, तथा परीषहसैन्यमेव परीषहवृन्दमेव, रिपुबलं परचक्रं, तत्प्रमर्दनानां, तथा दववद्दावाग्निरिव,दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण 'तपोदीप्तानि' यानि चारित्रज्ञानसम्यक्त्वानि, तैः साराः सफलाः, विविधप्रकारविस्तारा अनेकविधप्रपञ्चाः । प्रशस्ताश्च ये क्षमादयो गुणाः तैः संयुतानाम् । क्वचित् 'गुणध्वजानामिति' पाठः । तथा अनगाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षयः, तेषामनगारगुणानां वर्णकः श्लाघा, आख्यायत इति योगः । पुनः किंभूतानां जिनशिष्याणाम् ?, उत्तमाश्च ते जात्यादिभिर्वरतपसश्च ते च ते विशिष्टज्ञानयोगयुक्ताश्चेत्यतस्तेषामुत्तमवरतपोविशिष्टज्ञानयोगयुक्तानाम् । किञ्च । अपरे यथा च जगद्धितं भगवत इत्यत्र जिनस्य शासनमिति गम्यते । यादृशाश्च ऋद्धिविशेषा देवासुरमानुषाणां, रत्नोज्ज्वलसहस्रयोजनमानविमानरचनं सामानिकाद्यनेकदेवदेवीकोटिसमवायनं, मणिस्वर्णरत्नमयमतदण्डरूपद्रुप्रचलत्पताकिकाशतोपशोभितमहाध्वजपुरःप्रवर्तिनं, विविधाऽऽतोद्यनादगगनाभोगपूरणं, चैवमादिलक्षणाः, प्रतिकल्पितगन्धसिन्धुरस्कन्धारोहणं चतुरङ्गसैन्यपरिवारणं छत्रचामरमहाध्वजादिमहाराजचिह्नप्रकाशनं, चैवमादयश्च सस्यग्विशेषाः समवसरणगमनप्रवृत्तानां, वैमानिकज्योतिष्काणां भवनपतिव्यन्तराणां, राजादिमनुजानां च । अथवा अनुत्तरौपपातिकसाधूनाम् , ऋद्धिविशेषा देवादिसम्बन्धिनस्तादृशा ' आख्यायन्ते ' इति क्रियायोगः । तथा पर्षदां ' संजयवेमाणित्थी संजइपुव्वेण पविसिओ वीरं ' इत्यादिनोक्तस्वरूपाणां प्रादुर्भावाश्च आगमनानि , क ?- (जिणवरसमीव त्ति) जिनसमीपे, यथा च येन प्रकारेण, पञ्चविधाभिगमादिना (उपासमीवंति) उपासते सेवन्ते राजादयः, जिनवरं तथा ' ख्यायते ' इति योगः । यथा च परिकथयति धर्मं, लोकगुरुरिति जिनवरः , अमरनरासुरगणानां श्रुत्वा च 'तस्येति ' जिनवरस्य भाषितं, अवशेषाणि क्षीणप्रायाणि, कर्माणि येषां ते तथा । ते च ते विषयविरक्ताश्चेति, अवशेषकर्मविषयविरक्ताः।के?,नराः।किम् ? , यथा अभ्युपयन्ति धर्ममुदारम् । किंस्वरूपमत आह-संजमं तपश्चापि । किम्भूतमित्याह-बहुविधप्रकारं तथा, यथा बहूनि वर्षाणि (अणुचरिय त्ति) अनुचर्य आसेव्य, संयमं तपश्चेति वर्त्तते । तत आराधितज्ञानदर्शनचारित्रयोगाः। तथा (जिणवयणमणुगयमहियभासिय त्ति) जिनवचनमाचारादि , अनुगतं संबद्धं नादेवितर्दमित्यर्थः ; महितं पूजितम, अधिकं वा भाषितं यैरध्यापनादिना ते तथा । पाठान्तरे-जिनवचनमनुगत्याऽऽनुकूल्येन सुष्ठुभाषितं यैस्ते जिनवचनानुगातिसुभाषिताः । तथा [जिणवराण हियएण मणुएणेत्त त्ति] इति षष्ठी द्वितीयार्थे । तेन जिनवरान् हृदयेन मनसा अनुनीय प्राप्य ध्यात्वेति यावत् । ये च यत्र यावन्ति च भक्तानि छेदयित्वा लब्ध्वा च समाधिमुत्तमध्यानयोगयुक्ता उपपन्ना मुनिवरोत्तमाः यथा अनुत्तरेषु, तथा ' ख्यायते ' इति प्रक्रमः । तथा प्राप्नुवन्ति यथाऽनुत्तरं (तत्थ त्ति) अनुत्तरविमानेषु विषयसुखं, तथा ख्यायन्ते (तत्तो य त्ति) अनुत्तरविमानेभ्यश्च्युताः क्रमेण करिष्यन्ति, संयता यथा चान्तः क्रियन्ते तथा ख्यायन्ते । स० ॥

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयदसाएसु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंमाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गसंलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाइ त्ति उववत्तीसु कुलपच्चायाइओ पुण बोहिलाभा अंतकिरियाओ य आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयदसाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे एगे सुयखंधे तिन्नि वग्गा तिन्नि उद्देसणकाला तिन्नि समुद्देसणकाला संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंताऽऽगमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ॥

(अणुत्तरोववाइयदसासु णमित्यादि)पाठसिद्धं यावन्निगमनम्, नवरम्, अध्ययनसमूहो वर्ग । वर्गे च वर्गे च दश दशाध्ययनानि, वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यते इति । त्रय एव उद्देशनकालाः, त्रय एव समुद्देशनकालाः, संख्येयानि च पदसहस्राणि, सहस्राग्राधिकषट्चत्वारिंशल्लक्षप्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ नं० ।

अणुदत्त–अनुदात्त–पुं० । न उदात्तः , विरोधे नञ् । ' नीचैरनुदात्तः'पा०॥१।२।३०॥ इति लक्षिते ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्ने स्वरभेदे, यथा नीचैःशब्देन 'जे भिक्खू हत्थकम्मं करेइ' इत्यादि । बृ० १ उ० ।

अणुदय–अनुदय–पुं० । वेलाप्राक्काले, द्वा० ७ द्वा० ।

अणुदयबंधुक्किट्ठा–अनुदयबन्धोत्कृष्टा–स्त्री० । यासां विपाकोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिः; तासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० । ताश्च ' नारयतिरिउरलदुगं ' इत्यादिगाथया 'कम्म' शब्दे तृ० भा० २७६ पृष्ठे दर्शिताः)

अणुदयवई–अनुदयवती–स्त्री० । " चरिमसमयम्मि दलियं, जासिं अन्नत्थ संकमे ताओ । अणुदयवई " यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्त्यसमये, अन्यत्राऽन्यप्रकृतिषु, स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयेत् , संक्रमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभावतः स्वोदयेन तावत्युदयः योऽनुदयवती संज्ञा । इत्युक्तलक्षणासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० ।

अणुदयसंकमुक्किट्ठा–अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा–स्त्री० । यासामनुदयसंक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाभः तासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० । ('कम्म'शब्दे तृ०भा०२३०पृष्ठे चासां स्वरूपमावेदयिष्यते)

अणुदरंभरि–अनुदरंभरि–पुं० । अनात्मम्भरौ, द्वा० ६ द्वा० ।

अणुदवि–देशी–क्षणरहिते, निरवसरे च । दे०ना० १वर्ग ।

अणुदहमाण–अनुदहत्–त्रि० । निसर्गानन्तरमुपतापयति, स्था० १० ठा० ।

अणुदिएण–अनुदीर्ण–न०। न० त०। अनागतकाले उदीरणारहिते चिरेण भविष्यदुदीरणेऽभविष्यदुदीरणे वा कर्मणि, भ० १ श० ३ उ०।

अणुदिसा–अनुदिक्–स्त्री०। आग्नेयादिकायां विदिशि, कल्प०। आचा०। "पाइणपडिणयं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि" दश० ६ अ०। आचार्योपाध्यायपदद्वितीयस्थानवर्त्तित्वे, व्य० २ उ०। ('उद्देश' शब्दे द्वि० भा० ८०८ पृष्ठे तदुद्देशो वक्ष्यते)

अणुद्दिट्ठ–अनुद्दिष्ट–त्रि०। यावान्तिकादिनिर्देशवर्जिते, प्रश्न० १ संव० द्वा०।

अणुद्धरिकुंथु–अनुद्धरिकुन्थु–पुं०—स्त्री०। अनुद्धरिनामके कुन्थुजीवे, बृ० १ उ०। स्था०। स हि चलन्नेव विभाव्यते न स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति। स्था०ए ठा०। "जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं कुंथु-अणुद्धरीनामं समुप्पन्ना, जा ठिया अचलमाणा णिग्गंथाण य णिग्गंथीण य नो चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ, जा ठिया चलमाणा छउमत्थाणं णिग्गंथाण य णिग्गंथीण य चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ"। कल्प०। ('वीर' शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

अणुद्धुय–अनुद्धूत–त्रि०। अनुरूपेण वादनार्थमुत्क्षिप्तोऽनुद्धूतः। वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ते मृदङ्गादौ, ज्ञा० १ अ०। विपा०। जं०। "अणुद्धुअमुइंगा" अनुद्धूताऽनुरूपेण वादनार्थमुत्क्षिप्ता, अनुद्धूता वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ता, मृदङ्गा मर्दला यस्यां सा तथा। ज्ञा० १ अ०। विपा०। भ०। कल्प०। यत्र आनुरूप्येण यथामार्दङ्गिकाविधिरुद्धूता वादनार्थमुत्क्षिप्ता मृदङ्गा मर्दलाः सन्ति। जं० ३ वक्ष०।

अणुधम्म–अणुधर्म–पुं०। बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽणुरल्पो धर्मोऽणुधर्मः। देशविरतौ, विशे०। आ० म० द्वि०।

अनुधर्म–पुं०। अनुगतो मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः। अहिंसालक्षणे, परीषहोपसर्गसहनलक्षणे वा धर्मे, "एसो ऽणुधम्मो मुणिणा पवेइओ" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। अनु पश्चाद् धर्मोऽनुधर्मः। तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं चर्य्यमाणे धर्मे, "एसो ऽणुधम्मो इह संजयाणं" सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। नि० चू०। (स यथा पूर्वैराचीर्णे तथाऽनुचरणीयमिति 'अणाइण्ण' शब्दे ऽत्रैव भागे ३०४ पृष्ठे उक्तम्)

अणुधम्मचारि (ण्)–अनुधर्मचारिन्–पुं०। तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनि, "जंसी विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्मचारिणो" काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा संबन्धी यो धर्मः, तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिन इत्यर्थः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

अणुपंथ–अनुपथ–पुं०। मार्गान्तर्ये, बृ० २ उ०।

अणुपत्त–अनुप्राप्त–त्रि०। पश्चात्प्राप्ते, उत्त० ३ अ०।

अणुपयाहिणीकरेमाण–अनुप्रदक्षिणीकुर्वाण–त्रि०। आनुकूल्येन प्रदक्षिणीकुर्वाणे, रा०।

अणुपरियट्टण–अनुपरिवर्त्तन–न०। पौनःपुन्येन भ्रमणे, भ०१ श०ए उ०। पार्श्वतो भ्रमणे, सूत्र०१ श्रु०६ अ०। घटीयन्त्रन्यायेन भ्रमणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। नं०। "दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति"। दुःखानां शारीरमानसानामावर्त्तः पौनःपुन्यभवनमनुपरिवर्त्तते, दुःखावर्त्तामग्नो बम्भ्रम्यते। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अनुपर्य्यटन–न०। भूयोभूयस्तत्रैवागमने, "संसारपारकंखी ते संसारं अणुपट्टंति"। संसारमेव चतुर्गतिकसंसरणरूपम, अनुपर्यटन्ति। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

देवे णं भंते! महिड्ढिए जाव महेसक्खे पभू! लवणसमुद्दं अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छित्तए ?। हंता। पभू ! देवे णं भंते ! महिड्ढिए एवं धायइ संमदीवं जाव हंता पभू ! एवं जाव रुयगवरं दीवं जाव हंता पभू ! तेण परं वीईवएज्जा णो चेव णं अणुपरियट्टिज्जा ॥

(वीईवएज्ज त्ति) एकया दिशा व्यतिक्रामेत (नो चेव णं अणुपरियट्टिज्ज त्ति) नैव सर्वतः परिभ्रमेत, तथाविधप्रयोजनाभावादिति संभाव्यते। भ० १८ श० ७ उ०।

अणुपरियट्टमाण–अनुपरिवर्त्तमान–त्रि०। एकेन्द्रियादिषु पर्यटति, जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवति। सूत्र०१ श्रु०७ अ०। अरघट्टघटीन्यायेन वर्तमाने, आचा०१ श्रु० २ अ० ३ उ०। जी०।

अणुपरियट्टित्ता–अनुपरिवर्त्य–अव्य०। सामस्त्येन परिभ्रम्येति प्रादक्षिण्येन परिभ्रम्येति वार्थः, जी० ३ प्रति०।

अणु (नु) पारिहारि (ण्)–अ (णु) नुपरिहारिन्–पुं०। परिहारिणः अणु स्तोकं प्रतिलेखनादिषु साहाय्यं करोतीति अणुपरिहारी। यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारी गच्छति तत्र तत्र अनु पश्चात् पृष्ठतो लग्नः सन् गच्छतीत्यनुपरिहारी। व्य० १ उ०। पारिहारिकाणामनुचरे, विशे०। (यथा च अनुपारिहारिकाणां पारिहारिकसेवा कर्त्तव्या तथा 'परिहार' शब्दे वक्ष्यते) निर्विष्ट, आसेवितविवक्षितचारित्रे च। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अणुपविसंत–अनुप्रविशत्–त्रि०। अनु पश्चाद्भावे चरकादिषु निर्वृत्तेषु पश्चात्पाककरणकालतो वा पश्चाद् भिक्षार्थं प्रवेशं कुर्वति, नि० चू० २ उ०।

अणुपविसित्ता–अनु(णु)प्रविश्य–अव्य०। अनुकूलं स्तोकं वा प्रविश्येत्यर्थे, नि० चू० ७ उ०।

अणुपवेस–अनु (णु) प्रवेश–पुं०। अनुकूले स्तोके वा प्रवेशे, नि० चू० ७ उ०।

अणुपस्सि (ण्)–अनुदर्शिन्–पुं०। अनु द्रष्टुं शीलमस्येत्यनुदर्शी। पर्य्यालोचके, "एयाणुपस्सी णिज्झोसइत्ता" एतदनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति यावत्। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अणुपस्सिय–अनुदृश्य–अव्य०। पर्यालोच्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

अणुपाण–अणुप्राण–त्रि०। अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु ते अणुप्राणाः। सूक्ष्मजन्तुयुक्ते, "जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अणुपा (वा) यकिरिया–अनुपातक्रिया–स्त्री०। प्रमत्तसंयतानामापतत्पातं प्रत्येयंगुणसंपातिमसत्त्वानां विनाशात्मके क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ०।

अणुपा (वा) यण-अनुपातन-न० । अनु-पत-णिच्-ल्युट् । अवतारणे, ध० २ अधि० ।

अणुपालंत-अनुपालयत्- त्रि० । अनुभवति, " साया सोक्ख-मणुपालंतेणं " शातं सुखमनुपालयताऽनुभवता । सुखास-क्तमनसेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आचा०१ श्रु०५अ०२उ० ।

अणुपा (वा)लण-अनुपालन-न० । शिष्यगणरक्षणे,तच्चाकु-र्वतो दोषः । ध०३अधि० ।अननुपालने तु शासनप्रत्यनीकत्वादि-दोषा एव । यतः पञ्चवस्तुप्रकरणे-" इत्थं पमायखलिया, पु-व्वब्भासेण कस्स व ण होंति । जो तेण देइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥१॥ को णाम सारहीणं, सहोज्ज जो भद्दवाइणो दमए । दुट्ठे वि अ जे आसे, दमेइ तं आसिअं विंति ॥२॥ जो आयरेण पढमं, पुव्वा वेऊण नाणुपालेइ । सेहे सुत्तविहीए, सो पवयणपच्चणीओ त्ति ॥३॥ अवि को वि अपरमत्था, विरु-द्धमिह परभवे असेवं वा । जं पाविंति अणत्थं, सो खलु तप्प-च्चओ सव्वो " त्ति ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

अणुपा (वा) लणाकप्प-अनुपालनाकल्प-पुं० । आचार्ये कथञ्चिद् विपन्ने गच्छरक्षणविधौ, पं० भा० ।

स चैवम्-

....................अहुणा अणुपालणाकप्पं ।
संखेवसमुद्दिट्ठं, वोच्छामि अहं समासेणं ॥
मोहतिगिच्छाएँ गते, णट्ठे खेत्तादि अह व कालगते ।
आयरिए तम्मि गणे, पालणदीरक्खणट्ठाए ॥
कोवि गणी ठवणिज्जो, सगाति जंति तस्स कोवि सीसो तु ।
सुत्तत्थतदुभएहिं, णिम्माओ सो ठवेयव्वो ॥
असती य तस्स ताहे, ठवेयव्वा कमेण मेरा तु ।
पव्वज्ज कुले गणे, खेत्ते सुहदुक्खसुतसीसो ॥
गुरु गुरुणं तं तू वा, गुरुसज्झिलउ व्व तस्स सीसो तु ।
पव्वज्ज एगपक्खी, एमादी होति णायव्वो ॥
असतीएँ कुलव्वो वी, तस्स सतीएसु एगपक्खीओ ।
खेत्ते उवसंपन्ने, तस्स सतीए ठवेयव्वो ॥
सुहदुक्खियस्स असती, तस्स सतीए सुतोवसंपन्नो ।
एवं ठियाण तेहिं, सीसम्मि तु मग्गणा णत्थि ॥
पामिच्छ गणधरं पुण, ठविए तहियं तु मग्गणा इणमो ।
सुत्तत्थमहिज्जंते, अणहिज्जंते इमे जाणा ॥
साहारणं तु पढमे, वितिए खेतम्मि ततिएँ सुहदुक्खे ।
अणहिज्जंते सीसे, सेसे एक्कारस विजाणा ॥
पुव्वुद्दिट्ठगणस्स तु, एत्थुद्दिट्ठं पवाइयंतस्स ।
पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वगणस्स आहवति ।
पुव्वुद्दिट्ठगणस्सा, पच्छुद्दिट्ठं पवाइयंतस्स ॥
संवच्छरम्मि वितिए, सीसम्मि तु जं तु सच्चित्तं ।
पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, सीसम्मि तु जं तु होति सच्चित्तं ॥
संवच्छरम्मि ततिए, एतं सव्वं पवाइयंतस्स ।
पुव्वुद्दिट्ठं गच्छे, पच्छुद्दिट्ठं पवाइयंतस्स ॥
संवच्छरम्मि पढमे, सिस्सिणिए जं तु सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि वितिए, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥
पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पाभिच्छियाए उ जं तु सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥
खेत्तुवसंपायरिओ, सुहदुक्खी चेव जति तु सो ठविओ ।
कुलगणसंघिच्चो वा, तस्स वि सइ होति उ विवेगो ॥
संवच्छराणि तिण्णि उ, सीसम्मि पडिच्छियम्मि तद्दिवसं ।
एककुलगणिवे, संवच्छर संघ छम्मासो ॥
तस्सेव य णिम्माए, अणिम्माए णिम्मए इमा मेरा ।
सकुले तिण्हि तियाइं, गणे दुगं वच्छरं संघे ॥
ओमादिकारणेहिं, दुम्मेहत्तेण वा ण णिम्मातो ।
काउण कुलसम्मायं, कुलथेरे वा उवट्ठेंति ॥
णव हायणाइँ ताहे, कुलं तु सिक्खावए पयत्तेणं ।
ण य किंचि तेसिँ गेण्हति, गणो दुगं एगसंघो तु ॥
एवं तु दुवालसहिं, समाहिँ जदि तत्थ कोवि णिम्मातो ।
तो णिंति अणिम्माए, पुण वि कुलादी उवट्ठाणा ॥
तेणेव कमेणं तु, पुणो समाओ हवंति वारस तू ।
णिम्माए विहरंती, इहरकुलादी पुणोवट्ठा ॥
तह वि य वारसमासो, सीसस्स वि गणधरो होइ ।
तेण परमनिम्माए, इमा विही होइ तेसिं तु ॥
छत्तीसातिकंते, पंचविहु व्व संपदा पत्तो ।
पच्छा पत्तं तुवसं-पदे पवज्जएसु एगपक्खम्मि ॥
पव्वज्जाएँसु तेण य, चउभंगो होति एगपक्खम्मि ।
पुव्वाहित वीसरिए, पढमा सति ततियभंगेणं ॥
सव्वस्स वि कायव्वं, णिच्छयओ कंकुलं व अकुलं वा ।
कालसभावममत्ते, गारवलज्जाएँ काहिंति ॥
एसऽणुपालणकप्पो । पं० भा० ।

आयरिया णट्ठाघए, आयरिए नट्ठे वा, मोहतिगिच्छाए वा, प-क्खित्तचित्ते वा, कालगए वा, तस्स य सबालवुड्ढाओ तस्स ग-च्छस्स को गणधारी कायव्वो ?, तत्थ(गाहा)(पव्वज्जा)जो जस्स सीसो निम्माएल्लओ तस्स सइ जो पव्वज्जेगपक्खओ पित्तिय-ओ पित्तियपुत्तो वा तस्स सइ कुलव्वओ तस्स सइ नाणेगप-क्खिओ एगवायणिओ तस्स जो तम्मि खेत्ते उवसंपन्नओ आ-यरिओ सुहदुक्खिओ वा सुयनिमित्तं वा जो तत्थ एगल्लओ पडिच्छओ एएसिं ठवियाणं अहिज्जंताणं कस्स किंवा नवइ, सीसे ताव ठविएल्लए का कहा ?, सेसेसु अणहिज्जंतेसु पडि-च्छए ठविए आयरिएण निम्माविएल्लए कुलगणसंघत्तिए वा जो सो आयरिओ ठविओ नाऊण य वोच्छेयं सो कुलिव्व पाइत्तम्मि अन्थं ते चेव आयरिया कालगया ते वि आयरियेण तं निमित्तं चेव सीसवरूवावरं तम्मि ममत्तं करेंता एस अम्हं सज्झंतिओ सो वि एए मम सज्झंति त्ति काऊण ममत्तं करेइ, एवं सो निम्मा-

ओ आयरिया कालगया सो तं गच्छं न मुयइ, एत्था भवंतं वक्ते दं, तत्थ जे ताव आयरियस्स पडिच्छया तेसिं तद्दिवसमेव गेएहइ, सचित्ताइ जे आयरियसीसा ते न सज्झायंति तस्स सकासे तेण चोइयव्वा तेसु अणाहिज्जंते सुत्तं तत्थ लभइ सचित्ताइ तं सामएहं पढमवरिसे, बिइए खेत्तोवसंपन्नओ जं लभइ ते तं न लभंति । खेत्तोवसंपयाए नाइवग्गं दुविहं मेत्तवए स य लज्जंति । तइए वरिसे जं सुहपुच्छोवसंपन्नओ लभइ तं तेसिं लाभं सुहदुक्खियस्स लाभो पुव्वसंथवो पच्छा संथवो य चउत्थे वरिसे सव्वं गेएहइ । एवं अणाहिज्जंते पुण इमे पकारस विभागा–तस्सायरियस्स सीसा सीसियाओ पडिच्छियाओ जं जीवं तेणायरियजणस्स उद्दिट्ठं अज्झायं तस्स पढमवरिसे सचित्तमचित्तं वा लभइ, तं सव्वं गुरुणो कालगयस्स वि एगो विभागो अह इमेण उद्दिट्ठं पढमवरिसे, तो पवाइयंतस्स जं सचित्ताइ बितिओ विभाओ बिइए वरिसे पुव्वं उद्दिट्ठं, पच्छोवदिट्ठं वा, सव्वं पवाइयंतस्स तइओ विभाओ, एवं पडिच्छए सीसस्स पढमवरिसे आयरिएण वा उद्दिट्ठं तेण वा पडिच्छएण उद्दिट्ठं तं सव्वं गुरुणो विभाओ, बिइए वरिसे आयरिएण उद्दिट्ठं पढंतस्स सचित्तचित्तं लभइ । तं सव्वं गुरुणो विभाओ पंचमो इमेण उद्दिट्ठं पवाइयंतस्स छट्ठो विभाओ, तइए वरिसे आयरिएण वा उद्दिट्ठं इमेण वा सव्वं पवाइयंतो गेएहइ वा पयंतो एवविभागो सत्तमो, सीसणीयाए जहा पडिच्छयस्स तिण्णि गमा एए दस गमा, पडिच्छयाए । आयरिएण वा उद्दिट्ठं इमेण वा पढमवरिसे चेव गेएहइ वाययंतो, एए एकारस विभागा । एवं उभए भणियं । पं० चू० ।

संयतिपालनं विस्तरम्—

....................वोच्छं अणुवालणाएँ कप्पं तु ।
अणुपालंति सुविहिगा, गच्छं विहिणा उ जेणं तु ॥
परिकड्ढी परिकड्ढं, तओ य दुविहो पुणो वि एक्केक्को ॥
उवसग्गखेत्तकाल–व्वसेण अज्जाण परिवड्डी ॥
परियट्टियव्वयं खलु, परियट्टी चेव होति एगट्ठं ।
समणा समणीओ वा, दुविहं परियट्टिव्वं तु ॥
समणपरियट्ट दुविहो, आयरिओ वीयओ उवज्झाओ ।
संजतिपरियट्टो पुण, तिविहो तु पवत्तणी तइया ॥
समणिपरियट्ट दुविहा, विहिपरियट्टी य अविहिते चेव ।
जतिणि परियट्टियव्वा, नियमेण य कारणा णिमिणा ॥
ताओ बहूवसग्गा, तेणादिदुसंचराणि खेत्ताणि ।
कालवसेण य संजति, जायति लोगस्स जं तत्तं ॥
तम्हा सव्वपयत्ते–ण रक्खियव्वा उ ताउ णियमेणं ॥
ण वि सरती सोतव्वा, मा होज्ज तासि तु विणासो य ।
संवेगगतिपरिणतो, तासिं परियट्टओ अणुण्णातो ॥
होति पुण अणरिहो खलु, परिकड्डी तु इमो तासिं ।
अबहुस्सुए अगीय–त्थे तरुणे य मंदधम्मिए ॥
कंदप्पसीलणट्ठा, अविही दोणे य गहणे य ॥
बहुसुयगीतजहएणो, आवासगमादि जाव आयारो ।
तेयग्गी य बहुस्सुय–तिल्हसमाणा रतो तरुणे ॥

जो उज्जोगं न कुणति, चरणे सो होति मंदधम्मो तु ।
अणिहुयणल्लावादी, सरीरकिरिआ य कंदप्पी ॥
णिकारणे अणट्ठा, संजाति वसही तु वच्चए जो तु ।
णिक्कारणमविहीए, जो देती गिएहती वा वि ॥
एयारिसे तु अज्जा–ण परिकड्डी तु ण कप्पत्ति ।
कारणेहिं इमेहिं तु, गम्मत ऽज्जाणवस्सयं ॥
उवस्सए य गेलएहे, उवही संघपाहुणे ।
सेहट्ठवणुद्देसे, अणुनाजेहणे गणे ॥
अणपज्जअगलियाओ, वीयारे पुत्तसंगमे ।
संलेहणवोसिरिणे, वोसट्ठाणिट्ठिए तेहिं ॥
अरिहो ऽणरिहो वा वी, परिगड्डी एवमाहिओ । पं०भा० ।

इयाणिं अणुपालणाकप्पो (गाहा) (परियट्टियव्वयं) परियट्टतव्वओ भाणियव्वो परियट्टंतओ ताव आयरियउवज्झाओ साहूणं संजइणं आयरियउवज्झाओ पवत्तिणी परियट्टियव्वयं दुविहं साहू साहुणीओ जतीणं पुण एक्केक्को दुविहो विहिपरियट्टिओ अविहिपरियट्टिओ य तत्थं संजइओ नियमा परियट्टियव्वाओ, किं कारणं बहूवसग्गं तारिसिं तेथाणि सुखेत्ताणि य दुसंचाराणि कालवसेणं संपयं पडुच्च लोगोपंतो जाओ, पयाओ जरहाइभि पुव्वपरिपालियाओ ते दुट्ठे निवारेंति । तम्हा नियमा परिपालेयव्वाओ । साहू भइया केरिसो पुण परियट्टंतओ ?(गाहा) (अबहुस्सुए अबहुस्सुएण) न कप्पइ अगीयत्थेण वा गीयत्थो जो तरुणो मंदधम्मो वा नाणुणाओ धम्मसड्ढिओ वि जो कंदप्पसीलो सो वि णाणुण्णाओ अणट्ठाए जाइ संजइणं वसहिं अविहिदायगो नाम निक्कारणे देइ, गिएहइ वा, परिसो न कप्पइ गणधरो अज्जियाणं[गाहा] [उवस्सए] अणट्ठागमओ नाम जो इमाइं कारणाइं मोत्तूण जाइ काइं पुण ताइं कारणाइं उवस्सए य गेलएहे उवस्सओ संजायिणं संजएहिं पडिलेहेत्तु दायव्वो तमुवस्सयं गणधरो दाउं वज्जेज्जा, निद्दोसो गिलाणाइ अज्जाए ओसहो सज्जपत्थजोयणं वा दाउं वच्चेज्जा उवदिसिउं वा, जहा वा अगिलाणियाए गिलाणियाए संजइए ओहनिज्जुत्तिगमए णं उवस्सए वा चिलिमिणिअंतरीए वसंतो निद्दोसो कयही उस्सग्गेण संजइणं गणधरो उग्गमेउं पवित्तिणीए दाउं वच्चेज्जा संघपाहुणए कुलथेराइओ गया इड्ढिमंतो वा पव्वइओ रायसेणावई अमच्चसेट्ठिगणनायगगामाउरउओरमाइए तज्जणनिमित्तं सेज्जायराइएएहयणनिमित्तं विहिणा वच्चेज्जा सेहट्ठवणं वा रायपुत्तो पव्वइओ मोयपढणीएहिं निच्छुगाईहिं कहिओ मा एयासिं महिड्ढियो होज्जासि अमच्चाईण मग्गंताण कहिए ताहे आहावेंति इवदव्वस्स ताहे अंतट्ठाणिए वेज्जाए पव्वावेंति, असइवेज्जाए गेलएहनियडिं काऊण संजईण पडिस्सयमुवेंति, ताहे तत्थ अमणुण्णसंघाडीए कंजियाइपडियाइपरिसेयं काऊण सएहाओ आसढेइं संति अएहाओ अड्ढिं करेंति । जहा संजइपडिअग्गति खरकम्माइ आगयाणं मा चोयं करेहामि, पडिसेहं करेंति ; एवं नाइक्कमइ उद्दिसिउं वा गणधरो अंगसुयखंधज्झयणं वच्चेज्जा समुद्दिसिउं अणुजाणियं वा वि वच्चेज्जा घरं खुड्डियाइगोरवेणं आयरिएण उद्दिट्ठंति काऊण भंरुणे वा संजईण उप्पएणे गणधरो उवसामेउं वच्चेज्जा पवत्तिणी वा कालगया तत्थ अणुसासणनिमित्तं, अएणं वा पवत्तिणिं ठवेउं वच्चेज्जा अणुण्णवेउं ए वा खित्तवित्तजक्खाइए ताए पुच्छणानि-

मित्तं ओसहं वा दाउं वच्चेज्जा, अगणिकाए वा उट्ठिओ संजईण उवस्सओ मा डज्झिहिइ, उज्झे वा अन्न–उवस्सयं काउं वच्चेज्जा, आउकाए वा नईपूरिए उट्ठिएसु जयणं उवकरणं संजईओ वा मा वुज्झेज्जा, आउक्काएण वालमाए वसहिं संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, वियारभूमिं वा धणभग्गा उट्ठा वा संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, सुतो माया वा अज्जाए पव्वइओ, सो य अन्नदेसं गंतूण पुव्वगए कालियाणुओगे व निम्माओ आगओ तं गणधरो घेत्तुं वच्चेज्जा, संलेहं वा करेउकामो तत्थेव एसं दाउं संलीढाए वा वोसिरणे वोसट्टाए वा अणुसट्ठिं दाउं वच्चेज्जा, एसा विही, तव्विवरीया अविही । पं० चू० ।

अणुपा (वा) लणासुद्ध–अनुपालनाशुद्ध–न० । प्रत्याख्यानभेदे, आव० ।

कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने ।
जं पालिअं न भग्गं, तं जाणऽणुपालणासुद्धं ॥ ३२ ॥

कान्तारे अरण्ये, दुर्भिक्षे कालविभ्रमे, आतङ्के महति समुत्पन्ने सति यत्पालितं न भग्नं तज्जानीह्यनुपालनाशुद्धमिति । " एत्थ उग्गमदोसा सोलस, उप्पायणाए वि दोसा सोलस, एसणाए दोसा दस, एए सव्वे बायालीसं दोसा निच्चपडिसिद्धा; एए कंतारदुब्भिक्खाइसु न भंजइत्ति" इति गाथार्थः ॥३२॥ आव० ६ अ० । स्था० । आ० चू० ।

अणुपालित्ता–अनुपाल्य–अव्य० । यथा पूर्वैः पालितं तथा पश्चात्परिपाल्येत्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय–अनुपालित–त्रि० । आत्मसंयमानुकूलतया पालिते, स्था० ७ ठा० । दशा० ।

अणुपासमाण–अनुपश्यत्–त्रि० । भूयः पश्यति, " किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वा हं खलियं न विवज्जयामि । इच्चेव सम्मं अणुपासमाणा, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा " दश० २ चू० ।

अणुपिट्ठ–अनुपृष्ठ–न० । आनुपूर्व्याम, 'अणुपिट्ठसिद्धाइं' सम० ।

अणुपुव्व–अनुपूर्व–न० । क्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । स्था० । आनुपूर्व्य–न० । मूलादिपरिपाट्याम्, औ० । "अणुपुव्वसुजायदीहलंगुले " अनुपूर्वेण परिपाट्या सुष्ठु जात उत्पन्नो यः सोऽनुपूर्वसुजातः । स्वजात्युचितकालक्रमजातो हि बलरूपादिगुणयुक्तो भवति, स चासौ दीर्घलाङ्गूलो दीर्घपुच्छश्चेति स तथा, अनुपूर्वेण वा स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरलक्षणेन सुजातं दीर्घलाङ्गूलं यस्य स तथा । "मधुगुलियपिंगलक्खो, अणुपुव्वसुजायदीहलंगूलो " स्था० ४ ठा० ४ उ० । " अणुपुव्वसुजायरुइलवट्टभावपरिणया" आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाताः आनुपूर्वीसुजाताः, रुचिराः स्निग्धतया देदीप्यमानच्छविमन्तः, तथा वृत्तभावपरिणताः । किमुक्तं भवति—एवं नाम सर्वासु दिक्षु च शाखाभिश्च प्रसृता यथा वर्तुलाः संजाता इति । आनुपूर्वीसुजाताश्च ते रुचिराश्च आनुपूर्वीसुजातरुचिराः वृत्तभावपरिणताः । रा० । श्रा० । जी० । " अणुपुव्वसुजायवप्पगम्भीरसीयलजलाओ " आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचैस्तरां भावरूपेण सुष्ठु अतिशयेन यो जातवप्रः केदारो जलस्थानं तत्र गम्भीरमलब्धतलं शीतलं जलं यासु ताः आनुपूर्व्यसुजातवप्रगम्भीरशीतलजलाः । रा० । श्रा० । जी० । " अणुपुव्वसुसंहयंगुलीए " आनुपूर्व्येण क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । औ० । जी० । पूर्वस्या अनु, लघव इति गम्यन्ते, अनुपूर्वाः । किमुक्तं भवति–पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः, ' णह णहेण हीणाउ ' इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात् । अथवा--आनुपूर्व्येण परिपाट्या वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा येषां ते तथा । अत्रानुपूर्व्येति विशेषणात्पादाङ्गुलीग्रहणं, तासामेव नखं, नखेन हीनत्वात् । जं० २ वक्ष० ।

अणुपुव्वसो–अनुपूर्वशस्–अव्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुप्पइय–अनुत्पतित–त्रि० । उड्डीने, " आगासेऽणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरीडी " उत्त० ६ अ० ।

अणुप्पगंथ–अनु (णु) प्रग्रन्थ–पुं० । अनुरूपतयौचित्येन विरतेः न त्वपुण्योदयाद्, अणुरपि वा सूक्ष्मोऽप्यल्पोऽपि प्रगतो ग्रन्थो धनादिर्यस्य यस्माद् वाऽसावनुप्रग्रन्थः । अपेर्लुप्त्यन्तर्भूतत्वादणुप्रग्रन्थो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ ठा० ।

अणुप्पन्न–अनुत्पन्न–त्रि० । वर्त्तमानसमयेऽविद्यमाने, नि० चू० ५ उ० । अलब्धे, ग० १ अधि० । (' नमोक्कार ' शब्दे तदुत्पन्नानुत्पन्नत्वं दर्शयिष्यते)

अणुप्पदाउं–अनुप्रदातुम्–अव्य० । पुनःपुनर्दातुमित्यर्थे, प्रति० । उपा० ।

अणुप्पदा (या) ण–अनुप्रदान–न० । पुनःपुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परम्परकेण प्रदाने, व्य० २ उ० । गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातके दाने,

जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परियाणिया ॥ आचा० १ श्रु० ९ अ० ।

(' धम्म ' शब्दे अस्या व्याख्या)

अणुप्पज्जु–अनुप्रभु–पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० चू० २ उ० ।

अणुप्पवाएत्ता–अनुप्रवाचयितृ–त्रि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । "आयरियउवज्झाए गणंसि सम्मं अणुप्पवाएत्ता भवइ" तृतीयं संग्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुप्पवाएमाण–अनुप्रवाचयत्–त्रि० । वर्णानुपूर्वीक्रमेण पठति, जं० ३ वक्ष० ।

अणुप्पवाय–अनुप्रवाद–पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिप्रकर्षेण प्रवदतीति । नं० । नवमपूर्वे, स्था० ९ ठा० । विशे० । आ० म० द्वि० । 'विद्याऽनुप्रवादम्' इत्यपरं नाम । नं० ।

अणुप्पवेसण–अनुप्रवेशन–न० । मनसि लब्धाऽऽस्पदीभवने, उत्त० ३ अ० ।

अणुप्पवेसेत्ता–अनुप्रवेश्य–अव्य० । "अन्नयरंसि अचित्तंसि सोयगंसि अणुप्पवेसेत्ता" नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पसूय–अनुप्रसूत–त्रि० । जाते, आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अणुप्पाइ (ण)–अनुपातिन्–पुं० । अनुपततीत्यनुपाती । घटमाने युज्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पिय–अनुप्रिय–त्रि०। प्रियानुकूले, "अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे" अनुप्रियं भाषते यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु पश्चाद् भाषते अनुभाषते। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

अणुप्पेहा–अनुप्रेक्षा–स्त्री०। अनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा। चिन्तनिकायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ०। अर्थचिन्तने, ध० ३ अधि०। ग्रन्थार्थानुचिन्तने, ग० २ अधि०। सूत्रार्थानुचिन्तनिकायाम्' उत्त० २ अ०। दश०। अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः। स तु मनसस्तत्रैव नियोजनाद् भवति। उत्त० २९ अ०। प्रव०। अवधाने, प्रति०। तद् विधिरसौ–"जिणवरपवयणपायरूणयउण गुरुवयणओ सुणियपुव्वे। एगग्गमणो धणियं, चित्ते चिंतेइ सुपवियारे" ॥१॥ ध० र०।

एतस्याः फलम्–

अणुप्पेहाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?। अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पयडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं खिप्पामेव वीईवयइ॥

हे भदन्त! स्वामिन्! अनुप्रेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकया, जीवः किं जनयति?। गुरुराह–हे शिष्य! अनुप्रेक्षया कृत्वा जीवः सप्त कर्मप्रकृतीर्ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां सप्तानां कर्म्मणां प्रकृतयः एकशतचतुःपञ्चाशत्प्रमाणाः सप्तकर्म्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतीर्धणियबन्धनबद्धाः गाढबन्धनबद्धाः, निकाचितबद्धाः, शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति। यतो हि अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोजनाद्भवति, स चानुप्रेक्षा। स्वाध्यायो हि आभ्यन्तरं तपः, तपस्तु निकाचितकर्मापि शिथिलीकर्तुं समर्थं भवत्येव। कथंभूताः सप्त कर्मप्रकृतीः?, आयुर्वर्जाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वर्जयन्तीत्यायुर्वर्जाः। पुनर्हे शिष्य! अनुप्रेक्षया कृत्वा, जीवस्ता एव कर्मप्रकृतीर्दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगात् स्थितिखण्डानामपहारेण ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति। प्रचुरकालभोग्यानि कर्माणि स्वल्पकालभोग्यानि करोतीत्यर्थः। पुनस्तीव्रानुभावाः कर्मप्रकृतीर्मन्दानुभावाः प्रकरोति, तीव्रः उत्कटोऽनुभावो रसो यासां तास्तीव्रानुभावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतीर्मन्दो निर्बलोऽनुभावो यासां ता मन्दानुभावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकर्षेण विदधाति, पुनर्बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति। बहुप्रदेशाग्रं कर्मदलिकप्रमाणं यासां ताः बहुप्रदेशाग्राः, एतादृशीः कर्मप्रकृतीरल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति। इत्यनेन अनुप्रेक्षयाऽशुभश्चतुर्विधोऽपि बन्धः–प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धः, शुभत्वेन परिणमतीत्यर्थः। अत्र च आयुर्वर्जमित्युक्तम्। तत्तु–एकस्मिन् भवे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तकाले एव आयुर्जीवो बध्नाति। च पुनः आयुःकर्माऽपि स्याद् बध्नाति, स्याच्च बध्नाति, संसारमध्ये तिष्ठति चेत्तर्हि अशुभमायुर्न बध्नाति। जीवेन तृतीयभागादिशेषायुष्केन आयुःकर्म बध्यते, अन्यथा न बध्यते। तेन आयुःकर्मबन्धे निश्चयो नोक्तः, इत्यनेन मुक्तिं व्रजति तदा आयुर्न बध्नातीत्युक्तम्।

पुनरनुप्रेक्षया कृत्वा जीवोऽसातावेदनीयं कर्म शारीरादिदुःखहेतु च कर्म। चशब्दादन्याश्चाऽशुभप्रकृतीर्नो भूयो भूय उपचिनोति। अत्र भूयोभूयोग्रहणेन एवं ज्ञेयम्–कश्चिद्यतिः प्रमादस्थानके प्रमादं भजेत् तदा बध्नात्यपि इति हार्दम्। पुनरनुप्रेक्षया कृत्वा जीवश्चातुरन्तसंसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीईवयइ इति) व्यतिव्रजति। चत्वारश्चतुर्गतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्य तत् चातुरन्तं, तदेव संसारकान्तारं संसारारण्यं, तत् शीघ्रमुल्लङ्घयति। कीदृशं संसारारण्यम्?, अनादिकम्–आदेरभावाद् आदिरहितम्। पुनः कीदृशं संसारकान्तारम्?, अनवदग्रम्–नागच्छत् अग्रं परिमाणं यस्य तद् अनवदग्रम्, अनन्तमित्यर्थः। प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम्। पुनः कीदृशम्?, दीर्घाध्वं दीर्घकालं, 'दीहमद्धम्' इत्यत्र मकारो लाक्षणिकः, प्राकृतत्वात्॥ उत्त० २९ अ०। तत्रानुप्रेक्षा चिन्तनिका, तया प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिनिबन्धनतया आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः, (घणियं ति) गाढं बन्धनं श्लेषणं, तेन बद्धाः, निकाचिता इत्यर्थः। शिथिलबन्धनबद्धाः किञ्चिन्मुक्ताः। कोऽर्थः?, अपवर्त्तनादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वादस्याः। तपसश्च निकाचितकर्मक्षपणेऽपि क्षमत्वात्। उक्तं हि–"तवसा उ निकाइयाणं च त्ति" दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति, शुभाध्यवसायवशात्। स्थितिखण्डकापहारेणेति भावः। एतच्चैवं, सर्वकर्मणामपि स्थितेरशुभत्वात्। यत उक्तम्–"सव्वासिं पि ठिईओ, सुभासुभाणं पि होंति असुभाओ। माणुसतेरिच्छदेवा–उयं च मोत्तूण सेसाओ" ॥१॥ तीव्रानुभावाश्चतुःस्थानिकरसत्वेन, मन्दानुभावास्त्रिस्थानिकरसत्वाद्यापादनेन प्रकरोति। इह चाशुभप्रकृतय एव गृह्यन्ते। शुभभावस्य शुभासु तीव्रानुभावहेतुत्वात्। उक्तं हि–"सुभपयडीण विसोहिए तिव्वमसुभाण संकिलेसं ति" अत्र हि–'विसोहिए त्ति' शुभभावेन तीव्रमित्यनुभागं बध्नातीति प्रक्रमः। क्वचिदिदमपि दृश्यते–'बहुप्पएसग्गाओ पकरेति' ननु केनाभिप्रायेणायुष्कवर्जाः सप्तेत्यभिधानम्, शुभायुष्क एव संयतस्य संभवात्तस्यैव चानुप्रेक्षा तात्त्विकी। न च शुभभावेन शुभप्रकृतीनां शिथिलतादिकरणं, संक्लेशहेतुकत्वात् तस्य। आह–शुभायुर्बन्धोऽप्यस्याः किं न फलमुक्तम्। उच्यते–आयुष्कं च कर्म स्याद्बध्नाति, स्याच्च बध्नाति। तस्य त्रिभागादिशेषायुष्कतायामेव बन्धसंभवात्। उक्तं हि–"सिय तिभागतिभागे" इत्यादि। ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन विवक्षितत्वात्। तद्भवश्च कस्यचिद् मुक्तिप्राप्तेः तद्बन्धानभिधानमिति भावः। अपरं चाशातावेदनीयं शरीरादिदुःखहेतुं कर्म। चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीर्नैव भूयोभूय उपचिनोति। भूयोभूयोग्रहणं त्वन्यतमप्रमादतः, प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्तितायां तद्बन्धस्याऽपि संभवात्। अन्ये त्वेवं पठन्ति–"सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणोति" इह च शुभप्रकृतिसमुच्चयार्थश्चशब्दः, शेषं स्पष्टम्। अनादिकर्मादेरसंभवात्। चः समुच्चयार्थो योद्यते। (अणवदग्ग त्ति) अनवगच्छदग्रं परिमाणं यस्य सदाऽवस्थितानन्तपरिमाणत्वेन सोऽयमनवदग्रोऽनन्त इत्यर्थः, तम्। प्रवाहापेक्षं चैतत्। अत एव (दीहमद्धं ति) मकारो लाक्षणिकः। दीर्घाध्वं दीर्घकालं, दीर्घो वाऽऽध्वा तत्परिभ्रमणहेतुकर्मरूपो मार्गो यस्मिंस्तत्तथा। चत्वारः चतुर्गतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्मिंस्तच्चतुरन्तम्, संसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीईवयइ त्ति) व्यतिव्रजति,

विशेषेणातिक्रामति । किमुक्तं भवति-मुक्तिमवाप्नोति । उत्त० २६ अ० । अनु पश्चात् प्रेक्षणमनुप्रेक्षा । धर्मध्यानादेः पश्चात्पर्यालोचने, भ० २५ श० ८ उ० । स्था० । आव० । उत्त० । (" धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ " इत्यादि धर्मध्यानादिशब्देष्वेव दृश्यम्) अर्हद्गुणानां मुहुर्मुहुरनुस्मरणे च । " अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं " ध० २ अधि० । आचू० । तत्त्वार्थानुचिन्तायाम्, ल० ।

अणुप्पेहियव्व-अनुप्रेक्षितव्य-त्रि० । अन्वाख्यानविधिना परिभावनीये, पं० सू० १ सू० ।

अणुफास-अनुस्पर्श-पुं० । अनुभावे, " लोहस्सेवऽणुफासो, मन्ने अन्नयरामवि " दश० ६ अ० ।

अणुबंध-अनुबन्ध-पुं० । सातत्ये, स्था० ६ ठा० । अनुबन्धः संतानः प्रवाहोऽविच्छेद इत्यनर्थान्तरम् । षो० १ विव० । अव्यवच्छिन्नसुखपरम्परया देवमनुजजन्मसु कल्याणपरम्पराऽपे सन्ताने, षो० १३ विव० । तत्परिणामाविच्छेदतः प्रकर्षयापितायाम्, पञ्चा० १६ विव० ।

अणुबंधचउक्क-अनुबन्धचतुष्क-न० । प्रयोजनादिकारिसंबन्धाभिधेयचतुष्टये, तच्च ग्रन्थादावभिधातव्यम् । आव० १ अ० । अत्र कश्चिदाह-नन्वधिगतशास्त्रार्थानां स्वयमेव प्रयोजनादिपरिज्ञानं भविष्यतीति निरर्थक एव शास्त्रादौ प्रयोजनाद्युपन्यास इति चेद् । न । अनधिगतशास्त्रार्थानां प्रवृत्तिहेतुतया सफलत्वात् । अथ प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्निश्चयपूर्विका भवति । न च प्रयोजनादावुक्तेऽपि अनधिगतशास्त्रार्थानां तन्निश्चयोपपत्तिः, वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावात् । न च संशयतः प्रवृत्तिरुपपन्ना, प्रेक्षावतां क्षतिप्रसङ्गात्, ततः कथं सार्थकता अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य ? । तदेतदपरिलोचितभाषितम् । वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्याभावात्, अन्यथा सकलव्यवहारोच्छेदप्रसक्तेः । विजृम्भितं चात्र प्रपञ्चतो धर्मसङ्ग्रहणीटीकादाविति ततः परिभावनीयम् । अथ यदि वचनस्य बाह्यार्थं प्रति प्रामाण्यं तर्हि तत एव सम्यगभिधेयादिपरिज्ञानभावान्निरर्थिका शास्त्रे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, फलाभावात् । प्रवृत्तौ हि फलमभिधेयादिपरिज्ञानं , तच्चाधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासत एव सिद्धमिति । तदेतद्बालिशविजृम्भितम् । अधिकृतेन हि प्रयोजनाद्युपन्यासेन प्रयोजनादीनामधिगतिर्भवति , सामान्येन नाशेषविशेषपरिज्ञानपुरस्सरा, अधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासस्य सामान्येन प्रवृत्तत्वात् । सामान्यनिष्ठं हि वचः सामान्यं प्रतिपादयति, विशेषनिष्ठं विशेषम् । अतो वचनप्रामाण्यादधिकृतप्रयोजनाद्युपन्यासवाक्यतः सामान्येन प्रयोजनादिकेऽधिगते कथं तु नामास्माकं सविशेषं सामायिकादिपरिज्ञानं स्यादिति विशेषपरिज्ञानाय भवति प्रेक्षावतां शास्त्रे प्रवृत्तिः । अन्यच्च यदि वचनस्य न प्रामाण्यमभ्युपगम्यते तथापि न काचिद्विवक्षितार्थक्षतिः । आ० म० प्र० ।

अणुबंधच्छेयणाइ-अनुबन्धच्छेदनादि-पुं० । अनुबन्धं छिनत्तीति अनुबन्धच्छेदनः, सदादिः । निरनुबन्धनाऽऽपादनादौ कर्मक्षपणोपाये, "त्तिस्साणं कम्माणं, चित्तोचिय होइ खवणुवाओ वि । अणुबन्धच्छेयणाई, सो उण एवं ति णायव्वो" ॥१॥ पञ्चा० १७ विव० ।

अणुबंधभाव-अनुबन्धभाव-पुं० । अनुभावस्य सत्तायाम् , पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधभावविहि-अनुबन्धभावविधि-पुं० । प्रत्याख्यातपरिणामाविच्छेदभावस्य विधाने, पञ्चा० ५ विव० ।

अणुबंधववच्छेद-अनुबन्धव्यवच्छेद-पुं० । भवान्तरारम्भकाणामितरेषां च कर्मणां बन्ध्यभावकरणे, द्वा० १७ द्वा० ।

अणुबंधसुद्धिभाव-अनुबन्धशुद्धिभाव-पुं० । सातत्येन कर्मक्षयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसद्भावे, पञ्चा० ७ विव० ।

अणुबंधावणयण-अनुबन्धापनयन-न० । अशुभभावजातकर्मानुबन्धव्यवच्छेदे, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुबन्धिअं-देशी-हिक्कायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुबंधि (न्)-अनुबन्धिन्-त्रि० । अनु-बन्ध-णिनि । हेतौ, ध० २ अधि० । प्रस्फोटकादीनां सातत्यविशिष्टे अनुबन्धिदोषरहिते प्रतिलेखने, स्था० ६ ठा० ।

अणुबद्ध-अनुबद्ध-त्रि० । सदानुगते, जी० ३ प्रति० । आ० म० । गृहीते, नि० चू० १ उ० । निरन्तरमुपचिते, जी० ३ प्रति० । सतते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । स्था० । अव्यवच्छिन्ने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । प्रतिबद्धे, द्वा० २ अ० । व्या०, द्वा० २ अ० । पूर्वोपार्जितद्वेषबन्धनबद्धे, उत्त० ४ अ० ।

अणुबद्धखुहा-अनुबद्धक्षुध्-स्त्री० । सततबुभुक्षायाम्, " अणुबद्धखुहापरद्धस्स ओरहतण्हवेयणादुग्घट्टघट्टियविवण्णमुहविच्छविया" प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणुबद्धणिरंतर-अनुबद्धनिरन्तर-त्रि० । अत्यन्तनिरन्तरे, "अणुबद्धनिरन्तरवेयणासु" अनुबद्धनिरन्तराः अत्यन्तनिरन्तरा वेदना येषु ते तथा । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणुबद्धतिव्ववेर-अनुबद्धतीव्रवैर-त्रि० । अव्यवच्छिन्नोत्कटवैरभावे, " अणुबद्धतिव्ववेरा, परोप्परं वेयणं उदीरेंति " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणुबद्धधम्मज्झाण-अनुबद्धधर्मध्यान-त्रि० । अनुबद्धं सततं धर्मध्यानमाज्ञाविचयादिलक्षणं येषां तेऽनुबद्धधर्मध्यानाः । सततप्रवृत्तधर्मध्याने, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अणुबद्धरोसप्पसर-अनुबद्धरोषप्रसर-त्रि० । अनुबद्धः सततमव्यवच्छिन्नो रोषस्य प्रसरो विस्तारो यस्य सोऽनुबद्धरोषप्रसरः । निरन्तरक्रुद्धे, ग० २ अधि० ।

अणुबद्धविग्गह-अनुबद्धविग्रह-त्रि० । सदा कलहशीले, पं० व० ३ द्वा० ।

निच्चं विग्गहसीलो, काऊण य नाणुतप्पए पच्छा ।
न य खामिउं पसीयइ, सपक्खपरपक्खओ वा वि ॥

नित्यं सततं विग्रहशीलः कलहकरणस्वभावः, कृत्वा च कलहं नानुतप्यते पश्चात् । यथाह-किं कृतं मया पापेनेति । तथा क्षमितोऽपि, क्षम्यतां ममायमपराध इति भणितोऽपि स्वपक्षपरपक्षयोरपि, न च नैव, प्रसीदति प्रसन्नतां व्रजति, तीव्रकषायोदयत्वात् । अत्र च स्वपक्षे साधुसाध्वीवर्गः, परपक्षे गृहस्थवर्गः । एषोऽनुबद्धविग्रह उच्यते । बृ० १ उ० ।

अणुवेलंधर-अनुवेलन्धर-पुं० । महतां वेलन्धराणामादेशप्रती-

ऽनुकतयाऽनुयायिनो वेलन्धरा अनुवेलन्धराः । स्वनामख्यातेषु नागराजेषु,, जी० ३ प्रति० ।

तद्भेदा , तदावासपर्वताश्च यथा—

कहि णं भंते ! अणुवेलंधरणागरायाणो पमत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि अणुवेलंधरणागरायाणो पमत्ता । तं जहा- ककोडए, कद्दमए, कइलासे, अरुणप्पभे। एतेसिं णं भंते ! चउण्हं अणुवेलंधरणागराईणं कति आवासपव्वया पएणता ?। गोयमा ! चत्तारि आवासपव्वया पएणत्ता । तं जहा-ककोडए, कद्दमए, कइलासे, अरुणप्पभे। कहि णं भंते! कक्कोडगस्स अणुवेलंधरराइस्स ककोडए णामं आवासपव्वते पमत्ते ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसयाइं उग्गाहित्ता एत्थ णं कक्कोडयस्स णागरायस्स कक्कोडए णाम आवासे पएणत्ते, सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं, तं चेव पमाणं गोथूजस्स, णवरिं सव्वरयणामए अच्छे जाव निरवसेसं जाव सीहासणं सपरिवारं अट्ठो स बहूइं उप्पलाइं कक्कोडगपभाइं , सेसं तं चेव , णवरिं कक्कोडगपव्वतस्स उत्तरपुरच्छिमेणं, एवं चेव सव्वं कद्दमगस्स वि सो चेव गमओ अपरिसेसिओ , णवरिं दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो विज्जुजिब्भा रायहाणी, दाहिणपुरच्छिमेणं कति जासे वि एवं चेव , णवरिं दाहिणपच्चच्छिमेणं कइलासा वि रायहाणी, ताए चेव दिसाए अरुणप्पभे वि उत्तरपुरच्छिमेणं रायहाणी वि,ताए चेव दिसाए चत्तारि वि एगपमाणा सव्वरयणामया य ॥

(कहि णमित्यादि) कति भदन्त ! अनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! चत्वारोऽनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा- कर्कोटकः, कर्दमकः, कैलासः अरुणप्रभश्च । (एएसिं णमित्यादि) एतेषां भदन्त ! चतुर्णामनुवेलन्धरराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन चत्वारोऽनुवेलन्धरराजानामावासपर्वताः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-कर्कोटकः, विद्युत्प्रभः, कैलासः, अरुणप्रभश्च । कर्कोटकस्य कर्कोटकः, कर्दमस्य विद्युत्प्रभः, कैलासस्य कैलासः, अरुणप्रभस्यारुणप्रभ इत्यर्थः । ' कहि णं भंते !' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्वाचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य, अत्र एतस्मिन्नवकाशे कर्कोटकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य कर्कोटको नाम आवासपर्वतः प्रज्ञप्तः। (सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं) इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यतोक्ता, सैवेहापि अहीनातिरिक्ता भणितव्या । नवरं सर्वरत्नमय इति वक्तव्यं नामनिमित्तचिन्तायामपि , यस्माच्च क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीसु, यावद् विलपङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि कर्कोटप्रभाणि कर्कोटकाकाराणि ततस्तानि कर्कोटकानीति व्यवह्रियन्ते । तद्योगात्पर्वतोऽपि कर्कोटकः । तथा कर्कोटकनामा देवस्तत्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति । ततः कर्कोटकस्वामित्वात् कर्कोटकः राजधान्यपि । कर्कोटकस्यावासपर्वतस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य कर्कोटकाभिधाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपत्तव्या । एवं कर्दमककैलासारुणप्रभवक्तव्यताऽपि भावनीया, नवरं जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपूर्वस्यां कर्दमकः, दक्षिणापरस्यां कैलाशः , अपरोत्तरस्यामरुणप्रभः । नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात् कर्दमके आवासपर्वते उत्पलादीनि कर्दमप्रभाणि ततः कर्दमकः। भावना प्रागिव । अन्यच्च कर्दमके विद्युत्प्रभो नाम देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्वभावाद् यक्षकर्दमप्रियः । यक्षकर्दमो नाम कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरिकाचन्दनमेलापकः । उक्तं च-" कुङ्कुमागुरुकर्पूर-कस्तूरीचन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्त-नामको यक्षकर्दमः " ॥ १ ॥ ततः प्राचुर्येण यक्षकर्दमसंभवादसौ पूर्वपदलोपे सत्यभामेतिवत् कर्दम इत्युच्यते । कैलाशे कैलाशप्रभाणि उत्पलादीनि, कैलाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, ततः कैलाशः । एवमरुणप्रभेऽपि वक्तव्यम् । कर्दमका राजधानी कर्दमकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वया कैलाशा, कैलाशस्यावासपर्वतस्य दक्षिणाऽपरया अरुणप्रभा , अरुणप्रभस्यावासपर्वतस्यापरोत्तरायां तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजया राजधानीव वक्तव्या । जी०३प्रति० ।

अणुब्भम-अनुद्भट-त्रि० । अनुल्वणे, जी० ३ प्रति० । अभिमानरहिते, उत्त० २ अ० ।

अणुब्भमपसत्थकुक्खि-अनुद्भटप्रशस्तकुक्षि-त्रि० । अनुद्भटोऽनुल्बणः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणः पीनः कुक्षिर्यासां ताः अनुद्भटप्रशस्तपीनकुक्षयः । जी० ३ प्रति० ।

अणुब्भडवेस-अनुद्भटवेष-पुं० । शिष्टजनोचितनेपथ्यवर्जिते स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।

संप्रत्यनुद्भटवेष इति तृतीयं भेदं प्रचिकटयिषुर्गाथापूर्वार्द्धमाह—

सहइ पसंतो धम्मी, उब्भडवेसो न सुंदरो तस्स ।

(सहइ त्ति) राजते शोभते, प्रशान्तः प्रशान्तवेषो, धर्मी धर्मवान् धार्मिको, भावश्रावक इत्यर्थः । अतः कारणादुद्भटवेषः विटगजनोचितनेपथ्यः । " लंखस्स व परिहाणं, गसइ व अंगे तहंगिया गाढा । सिरवेढो ढमरेणं, वेसो एसो सिडंगाणं ॥ १ ॥ सिहिणेण मगदेसो, उच्चाओ नाहिमंडलं तह य । पासाय अदपिहिया, कंचुयओ एस वेसाणं " ॥२॥ इत्यादिरूपो न सुन्दरो नैव शोभाकारी तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुतरामुपहासस्थानं स्यात् । "नाकामी मण्डनप्रियः" इति लोकोक्तेरिह लोकेऽपि कदाचिदनर्थं प्राप्नुयाद्, बन्धुमतीवत् । अन्ये पुनराहुः- "संतलयं परिहाणं, जलं च चोवाइयं च मज्झिमयं । सुसिलिठमुत्तरीयं, धम्मं लच्छि जसं कुणइ ॥ १ ॥ परिहाणमणुब्भडलच्छ-णकोडिमज्झाय मणुसरंतं तु । परिहाणमक्कमंतो, कंचुयओ होइ सुसिलिट्ठो" ॥२॥ इत्यादि । एतदपि संगतमेव । किन्तु क्वचिदेव देशे कुले वा घटते; श्रावकास्तु नानादेशेषु च संभवन्ति, तस्माद्देशकुलाविरुद्धो वेषोऽनुद्भट इति व्याख्यानं व्यापकमिह संगतमिति ।

बन्धुमतीज्ञातं त्वेवम्—

अत्थि इह तामलित्ती, नयरी न अरीहिं कहवि परिभूया ।

अइगरुयविहवभारो, सिट्ठी तत्थासि रइसारो ॥ १ ॥
सारयससिनिम्मलसी-लबंधुला बंधुला पिया तस्स ।
ताणं धूया रूया-इगुणजुया बंधुमइ नाम ॥ २ ॥
सा पुण कंचणभूसय-मंडियबाहा अलंकियसरीरा ।
पगईए उब्भडवे-सपरिगया चिट्ठइ सया वि ॥ ३ ॥
अन्नदिणे सा पिउणा, भणिया वयणेहिँ पणयपवणेहिं ।
एवं उब्भमवेसो, वच्छे ! पच्छो न सच्छाए ॥ ४ ॥

यदुक्तम्—

"कुलदेसाण विरुद्धो, वेसो रम्मो वि कुणइ नहु सोहं ।
वणियाण विसेसेणं, विसेसओ ताण इत्थीणं ॥ ५ ॥
अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहिँ संवासो ।
अइउब्भमो य वेसो, पंच वि गरुयं पि लहुयंति" ॥ ६ ॥
इच्चाइजुत्तिजुत्तं, सुत्ता वि न मन्नए इमा किंपि ।
चिट्ठइ तहेव निच्चं, पिउपायपसायदुल्ललिया ॥ ७ ॥
तरुयरुचवासिणा वि-मलसिट्ठिपुत्तेण बंधुदत्तेण ।
सा गंतु तामलित्तिं, महाविभूईइ परिणीया ॥ ८ ॥
मुत्तूण जणयभवणे, बंधुमइं बंधुपरियणसमेओ ।
जलहिम्मि बंधुदत्तो, संचलिओ जाणवत्तेण ॥ ९ ॥
जा किंचि भूमिभागं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएणं ।
पमिकूलपवणलहरी-पणुल्लियं जलहिमज्झम्मि ॥ १० ॥
सत्थं व विणयहीणे, थिमालियसीले विसुद्धदाणं व ।
तं पवहणं विणट्ठं, घणधणपडिपुण्णपमिपुण्णं ॥ ११ ॥
सो कहकहमवि फलहे-ण दुत्तरं उत्तरित्तु नीरनिहिं ।
जा पिच्छइ दिसिचक्कं, ता तं निच्छेइ ससुरपुरं ॥ १२ ॥
तो अप्पं जाणावइ, केण वि पुरिसेण नियससुरस्स ।
तं सुणिय हा, किमेयं ति, जंपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥
अइउब्भडवेसविसे-सरयणलंकारसारभूसाए ।
बंधुमईए सहिओ, जा से पासे स मल्लिपइ ॥ १४ ॥
वररयणकणयभूसय-विभूसियं ताव रुइरकरजुयलं ।
बंधुमईए छिन्नं, केण वि जूयारचोरेण ॥ १५ ॥
तत्तो सो आरक्खिय-भीओ नासित्तु झत्ति संपत्तो ।
पइपरिसमवससुत्त-स्स बंधुदत्तस्स पासम्मि ॥ १६ ॥
तेणं च धुत्तयाए, चिंतिय मिणमेव पत्तकालं मे ।
इय मुत्तु तस्स पासे, करजुयलं तक्करो नट्ठो ॥ १७ ॥
पच्छा गयतलवरसुभ-ससवणक्खुरो सलुद्धओ पत्तो ।
चोरु त्ति काउ तेहिं, सूलाए झत्ति पक्खित्तो ॥ १८ ॥
अह रइसारो सिट्ठी, नियपुत्तिए मिहत्तु तमवत्थं ।
बहु झूरिकण पत्तो, जा जामाउयसमीवं पि ॥ १९ ॥
ता तं सूलाभिन्नं, सहसा पिच्छित्ति बहु च पलवित्ता ।
अंसुभरपुन्ननयणो, दुहिओ से कुणइ मयकिच्चं ॥ २० ॥
इत्तो य सुजसनामा, चउनाणी तत्थ आगओ तं च ।
नमिउं पत्तो सिट्ठी, गुरू वि इय कहइ से धम्मं ॥ २१ ॥
भो भविया ! उब्भमवे-सवज्जणं कुणह चयह परुसगिरं ।
चिंतह भवस्स रूवं, जेण न पावेह दुक्खाइं ॥ २२ ॥
तो सोउं संविग्गो, सिट्ठी पणमित्तु पुच्छए भयवं ! ।
मह जामाउयदुहिया-हिँ किं कयं दुक्कयं पुव्विं ? ॥ २३ ॥
भणइ गुरू अभिरामे, सालिग्गामे पि इत्थिया एगा ।
आसि अडवि व्व बहूमय-बाउसुया दुग्गया विहवा ॥ २४ ॥
सा नयरकंदरापू—रणत्थमीसरगिहेसु निच्चं पि ।
कम्मं करेइ पुत्तो, उ चारए वच्छरूवाइं ॥ २५ ॥
सा ठविय भोयणं सि-क्कगम्मि पुत्तट्ठमन्नथा पत्ता ।
कस्सइ गेहे कम्म-त्थमागओ तम्मि आमाऊ ॥ २६ ॥
सा तस्स तप्पणएहा-णमाइकम्मसु निउत्तया पढमं ।
पच्छा खंडणपीसण-रंधणदलणाइ कारविया ॥ २७ ॥
जाया महई वेला, तेण गिहत्थेण वाउलत्तणओ ।
नहु सा जिमाविया तो, भुक्खियतिसिया गया सगिहं ॥२८॥
तं दट्ठु सुएण छुहा-इएण भणिया सनिट्ठुरं एसा ।
किं तत्थ तुमं खित्ता-सूलाए जं न बहु पत्ता ॥ २९ ॥
तीइ वि अणत्थभरिया-इ जंपियं किंकरा तुहं छिन्ना ।
जं सिक्कगाउ गहिऊ-ण भोयणं नेव भुत्तोसि ॥ ३० ॥
इय फरुसवयणजणियं, कम्मं दोहिँ वि निकाइयं तेहिं ।
अइनिबिडमभिमभावे-ण नेव आलोइयं तं च ॥ ३१ ॥
तेसिं दारुणरयाणं, संजमरहियाण मज्झिमगुणाणं ।
किंचि सुहभावणाए, वट्टंताणं गलियमाउं ॥ ३२ ॥
तो सो बालो जाओ, जामाऊ तुज्झ बंधुदत्त त्ति ।
सा पुण दुग्गयनारी, बंधुमई तुह सुया जाया ॥ ३३ ॥
भवियव्वया निओगा, विचित्तयाए य कम्मपगईए ।
माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥
तक्कम्मविवागेणं, बंधुमई पाविया करच्छेयं ।
पत्तो य बंधुदत्तो, सूलापक्खिवणवसणमिणं ॥ ३५ ॥
इय सोउं रइसारो, सिट्ठी संजायगरुयसंवेओ ।
गिण्हिय गुरूण पासे, दिक्खं सुहभायणं जाओ ॥ ३६ ॥

इत्युद्भटं वेषमतिश्रयन्त्याः,
श्रुत्वा विपाकं खलु बन्धुमत्याः ।
भव्या जना निर्मलशीलभाज-
स्तद्धत्त देशाद्यविरुद्धमेनम् ॥ ३७ ॥ ध० र० ।

अणुब्भामग–अनुद्भ्रामक–पुं० । मौलग्रामे भिक्षापरिमाणशीले, बृ० १ उ० ।

अणुभव–अनुभव–पुं० । अनु–भू–अप् । स्मृतिभिन्ने ज्ञाने, विषयानुरूपभवनाद् बुद्धिवृत्तेरनुभवत्वम् । अनुभवश्च-प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्तिनो मीमांसकाश्च अर्थापत्त्युपलब्धिरूपमधिकं भेदद्वयमुररीचक्रुः । वैशेषिकाः सौगताश्च प्रत्यक्षानुमानरूपमेवानुभवद्वयं स्वीचक्रुः, अन्येषां सर्वेषामनयोरन्तर्भावात् । सांख्यादयः प्रत्यक्षानुमानशाब्दा एवेति भेदत्रयीमङ्गीचक्रुः । चार्वाकाः प्रत्यक्षमात्रमिति भेदः । वाच० । स्वसंवेदने, पञ्चा० ५ विव० । आ० । आव० । प्रश्न० ।

अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारेण लिख्यते-
यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावारमणस्वरूपरमणतदास्वादैकत्वमनुभवः ।

तदुक्तम्—

संध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्टः, केवलार्कारुणोदयः ॥ १ ॥
व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्प्रदर्शनमेव हि ।
पारं तु प्रापयत्येको-ऽनुभवो भववारिधेः ॥ २ ॥
अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं विना ।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता माङ्गैः, कुतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥
केषां न कल्पनादर्व्वी, शास्त्रक्षीरान्नगाहिनी ।
विरलास्तद्रसास्वाद-विदोऽनुभवजिह्वया ॥ ५ ॥
पश्यन्तु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
कथं लिपिमयी दृष्टि-र्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥
न सुषुप्तिरमोहत्वा-न्नापि च स्वापजागरौ ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्ते-स्तुर्यो वाऽनुभवो दशा ॥ ७ ॥
अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवेनाधिगच्छति ॥ ८ ॥
अष्ट० २६ अष्ट० ।

स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदने, विशे० ।

अणुभवण–अनुभवन–न० । कर्मविपाकवेदनेऽनुभावे, आव० ४ अ० ।

अणुभविउं–अनुभवितुम्–अव्य० । भोक्तुमित्यर्थे, " वेयणा अणुभविउं जे संसारम्मि अणंतए" उत्त० १९ अ० ।

अणुभवित्ता–अनुभूय–अव्य० । अनुभवं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न १ आश्र० द्वा० ।

अणुभाग (व)–अनुभाग(व)–पुं० । वैक्रियकरणादिकायामचिन्त्यशक्तौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । आव० । चं०प्र० । माहात्म्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वर्णगन्धादिगुणे, विशे० । शापाद्यनुग्रहविषये सामर्थ्ये, प्रज्ञा० ३ पद । अनु पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भजनं सेवनमनुभजनम्, अनुभागः । कर्म० ६ कर्म० । कर्मणां विपाके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उदये, रसे च । स्था० ७ ठा० । दर्श० । तीव्रादिभेदे रसे, स० । "अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसंचयः" कर्म० ५ कर्म० । अनुभागः, रसः, अनुभाव इति पर्यायाः ।

अनुभागस्य किञ्चित्तावत् स्वरूपमुच्यते–

इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमध्यविपरिवर्ती, रागादिसचिवो जन्तुः पृथक्सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्तगुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति । तत्र च प्रतिपरमाणुकषायविशेषान् सर्वजीवानन्तगुणान् अनुभागस्याविभागपलि(रि)च्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परमनिकृष्टोऽनुभागांशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्द्धं न ददाति सोऽविभागपलिच्छेद उच्यते । उक्तं च–"बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागं सो न देइ जो अद्धं । अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि" । तत्र चैकैककर्मस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसभागान् प्रयच्छति ; अन्यस्तु परमाणुः तानविभागपलिच्छेदानेकाधिकान्प्रयच्छति; अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान् ; अन्यस्तु तानपि चतुरधिकमित्यादिवृद्ध्या तावन्नेयं यावदन्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मौलराशेरनन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च जघन्यरसा ये केचन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वप्यसत्कल्पनया शतरसांशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते । अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया वर्गणा । अपरेषां तु द्व्युत्तरशतरसांशयुक्तानामणूनां समुदायस्तृतीया वर्गणा । अन्येषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायश्चतुर्थी वर्गणा । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणूनां समुदायरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्तगुणा वाच्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्पर्द्धकमित्यभिधीयते । स्पर्द्धन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्गणाः । अत्रेति कृत्वा एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणाः । अथ सत्कल्पनया

षट् स्थाप्यन्ते- इदमेकं स्पर्द्धकम् । इत ऊर्द्धमेकोत्तरया
निरन्तररस– वृद्ध्या, वृद्धो रसो न लभ्यते, किं तर्हि
सर्वजीवानन्त- गुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यते । इति तेनैव
क्रमेणारभ्यते । ततस्तेनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि यावद-
नन्तानि रस- स्पर्द्धकानि उत्तिष्ठन्ते ।

१०५
१०४
१०३
१०२
१०१
१००

तीव्रमन्दतया द्विविधोऽनुभागः–

अयं चानुभागः शुभाशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां तीव्रमन्दरूपतया द्विविधो भवति ।

अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो
लभ्यते, येन च मन्दः तन्निरूपणार्थमाह–

तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरय-जलरेहासरिकसाएहिं ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत्तीव्रमन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादक्षरार्थः । इह घोषातकीपिचुमन्दाद्यशुभवनस्पतीनां सम्बन्धी सहजोऽर्द्धावर्त्तो द्विभागावर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिशयकटुकतमश्च; तथेक्षुक्षीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी सहजोऽर्द्धावर्त्तो द्विभागावर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथासंख्यं मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जलाद्यसम्बन्धाद्यथा तीव्रो भवति तथैतेषामेव पिचुमन्दादीनां क्षीरादीनां च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जललवबिन्दुर्द्धचुलुकचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणादिसम्बन्धाद्यथा यथा बहुभेदं मन्दतरादित्वं प्रतिपद्यते तथा अर्द्धावर्त्तादयोऽपि रसाः । यथा जललवादिसम्बन्धान्मन्दमन्दतरमन्दतमादित्वं प्रतिपद्यन्ते तथैवाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसास्तादृशतादृशकषायवशात्तीव्रत्वं मन्दत्वं चानुविदधतीति । अक्षरार्थोऽधुना विवियते· तीव्रो रसो भवति । कासामित्याह–(असुहसुहाणं ति) अशुभाश्च शुभाश्चाशुभशुभाः, तासामशुभशुभानाम्, अशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां चेत्यर्थः । कथमित्याह?–(संकेसविसोहिओ त्ति) संक्लेशश्च विशुद्धिश्च संक्लेशविशुद्धी, ताभ्यां संक्लेशविशुद्धितः, आद्यादेराकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः । यथासंख्यमशुभप्रकृतीनां संक्लेशेन शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्येत्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-अशुभप्रकृतीनां द्व्यशीतिसंख्यानां संक्लेशेन तीव्रकषायोदयेन तीव्र उत्कटो रसो भवति । सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्बन्धविधायिनां जन्तूनां मध्ये यो य उत्कृष्टसंक्लेशो जन्तुः स स तीव्ररसं बध्नातीत्यर्थः । शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृतिबन्धकानां मध्ये यो यो विशुद्ध्यमानपरिणामः स स तासां तीव्रमनुभागं बध्नातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः । सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधीयते—(विवज्जयओ । मंदरसो त्ति) विपर्ययेण विपर्ययत उक्तवैपरीत्येन मन्दोऽनुत्कटो रसो भवति । अयमर्थः–सर्वप्रकृतीनामशुभानां विशुद्ध्या मन्दो रसो जायते, शुभानां तु मन्दः संक्लेशेनेति । उक्तः संक्लेशविशुद्धिवशादशुभशुभप्रकृतीनां तीव्रो मन्दश्चानुभागः । (एकस्थानिकादिकश्चतुर्विधोऽनुभावः) अयं चैकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदा-

चतुर्धा भवत्यत एकस्थानिकादिरसो यैः प्रत्ययैर्यासां प्रकृतीनां भवति तदाह-(गिरिमहिरय इत्यादि) गिरिश्च पर्वतः, मही च पृथिवी, रजश्च वालुका, जलं च पानीयं, गिरिमहीरजोजलानि, तेषु रेखाराजयस्ताभिः सदृशास्तुल्यगिरिमहीरजोरेखासदृशास्ते च ते कषायाश्च सम्परायास्तै रसो भवतीति प्रक्रमः ।६३।

कीदृगित्याह-

चउठाणाइ असुहसुह-न्नहा विग्घदेसघाइआवरणा ।
पुमसंजलणिगदुतिचउ-ठाणरसा सेसदुगमाई ॥ ६४ ॥

चतुःस्थानिक आदिर्यस्य रसस्य, त्रिस्थानिकद्विस्थानिकएकस्थानिकपरिग्रहः । स चतुःस्थानादिः । कासामित्याह-(असुभ त्ति) इह षष्ठ्यर्थे प्रथमा । ततः शुभानामशुभप्रकृतीनाम । इयमत्र भावना-इह रेखाशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धाद् गिरिरेखाशब्देन प्रभूतकालव्यपेक्षयातितीव्रत्वं कषायाणां प्रतिपाद्यते।ततश्च गिरिरेखासदृशैः कषायैः,अनन्तानुबन्धिभिरित्यर्थः। सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकरसबन्धो भवति। आतपशोषिततडागमहीरेखासदृशैः कषायैरप्रत्याख्यानावरणैर्मनाग्मन्दोदयैरशुभप्रकृतीनां त्रिस्थानिकरसबन्धो भवति। वालुकारेखासदृशैः कषायैः प्रत्याख्यानावरणैरशुभप्रकृतीनां द्विस्थानिकरसबन्धः । जलरेखासदृशैः कषायैरतिमन्दोदयैः संज्वलनाभिधैर्विघ्नपञ्चकादिवक्ष्यमाणसप्तदशाऽशुभप्रकृतीनामेवैकस्थानिकरसबन्धो भवति, न शेषाणां शुभप्रकृतीनामशुभप्रकृतीनामिति हि वक्ष्यामः। उक्तोऽशुभानां रसस्य बन्धप्रत्ययः । इदानीं शुभानां रसप्रत्ययविभागमाह-(सुहन्नह त्ति) शुभप्रकृतीनाम-अन्यथा तद्वैपरीत्येन हेतुविपर्ययाच्चतुःस्थानिकादिरसस्य बन्धो भवति । तत्र वालुकाजलरेखासदृशैः कषायैश्चतुःस्थानिको रसबन्धो भवति । महीरेखासदृशैः कषायैस्त्रिस्थानिको रसबंधो भवति । गिरिरेखासदृशैः कषायैर्द्विस्थानिको रसबन्धः शुभप्रकृतीनां भवति । शुभप्रकृतीनां त्वेकस्थानिको रस एव नास्तीति पूर्वमेवोक्तम् । अथ यासां प्रकृतीनामेकद्वित्रिचतुःस्थानिकभेदाच्चतुर्विधोऽपि रसबन्धः संभवति, यासां चैकस्थानिकवर्जस्त्रिविध एवेत्येतच्चिन्तयन्नाह-(विग्घदेसघाइआवरणा इत्यादि) विघ्नानि दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदादन्तरायाणि पञ्च । देशघात्यावरणा देशघात्यावारिकाः सप्त प्रकृतयः । तद्यथा-मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानमनःपर्यायज्ञानावरणाश्चतस्रः । चक्षुर्दर्शनाचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनावरणास्तिस्रः, इत्येताः (पुम त्ति) पुंवेदः । संज्वलनाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः, इत्येताः सप्तदश प्रकृतयः। किमित्याह-(इगदुतिचउठाणरस त्ति) स्थानशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् एकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानचतुस्थाना रसा यासां ता एकद्वित्रिचतुःस्थानरसाः । एताः सप्तदशापि प्रकृतयः एकद्वित्रिचतुःस्थानिकरूपेण चतुर्विधेनापि रसेन संयुक्ता बध्यन्त इति तात्पर्यम् । तत्रानिवृत्तिबादरे गुणस्थाने संख्येयेषु भागेषु गतेष्वासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनामेकस्थानिको रसः प्राप्यते, शेषस्थानिकास्तु रसास्त्रयोऽप्यासां संसारस्थान् जीवानाश्रित्य प्राप्यन्त इति । शेषाः प्रकृतयस्तर्हि किंरूपा भवन्तीत्याह-(सेसदुगमाइ त्ति) शेषाः भणितसप्तदशप्रकृतिभ्य उद्धरिताः, सर्वाः शुभा अशुभाश्च प्रकृतयो बध्यन्ते । 'दुगमाइ त्ति' सूचनात्सूत्रमिति न्यायाद् द्विस्थानादिरसाः, आदिशब्दात् त्रिस्थानरसाश्चतुःस्थानरसाश्च । शेषाः प्रकृतयो द्विस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थानिकरसयुक्ता भवन्ति, न त्वेकस्थानिकरसयुक्ता इति भावः । अयमत्राशयः-सप्तदशप्रकृतिष्वेवैकस्थानिको रसो बध्यते, न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिको रसो यदि लभ्यते तदाऽनिवृत्तिबादरसंख्येयभागेभ्यः परत एव। तत्र च सप्तदश प्रकृतीर्वर्जयित्वा शेषाणामशुभप्रकृतीनां बन्ध एव नास्त्यतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको रसो न भवति । येऽपि केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणलक्षणे द्वे अपि प्रकृती तत्र बध्येते तयोरपि सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव रसो निर्वर्त्यते, नैकस्थानिक इति । शुभानां तु सर्वासामप्येकस्थानिको रसो न भवति , यत इहासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि संक्लेशस्थानानि भवन्ति। विशुद्धिस्थानान्यप्येतावन्त्येव, यथा यान्येव संक्लेशस्थानान्यारोहति तेष्वेव विशुद्ध्यमानोऽवतरति, ततश्च यथा प्रासादमारोहतां यावन्ति सोपानस्थानान्यवतरतामपि तावन्त्येव तथाऽत्रापीति भावः। केवलं विशुद्धिस्थानानि विशेषाधिकानि। कथमिति चेदुच्यते-क्षपको येष्वध्यवसायस्थानकेषु क्षपकश्रेणिकामारोहति न तेषु पुनरपि निवर्तते, तस्य संक्लेशाभावात्, अतस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव भवन्ति न संक्लेशस्थानानीति, तैरध्यवसायस्थानैर्विशुद्धिस्थानान्यधिकानि । एवं च स्थितेऽत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानः शुभप्रकृतीनां चतुःस्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति । अत्यन्तसंक्लेशेऽनुवर्त्तमानस्य शुभप्रकृतयो बन्ध एव नागच्छन्ति। या अपि वैक्रियतैजसकार्मणाद्याः शुभा नरकप्रायोग्याः संक्लिष्टोऽपि बध्नाति तासामपि स्वभावात्सर्वसंक्लिष्टोऽपि द्विस्थानिकमेव रसं विदधाति। येषु तु मध्यमाध्यवसायस्थानेषु शुभप्रकृतयो बध्यन्ते तेषु तासां द्विस्थानिकपर्यन्त एव रसो बध्यते नैकस्थानिकः, मध्यमपरिणामत्वादेवेति न क्वापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरससंभव इति कृता चतुर्विधस्यापि रसस्य प्रत्ययप्ररूपणा।६४।

सम्प्रति शुभाऽशुभरसस्यैव विशेषतः किञ्चित् स्वरूपमाह-

निंबुच्छुरसो सहजो, दुतिचउभागकढिइक्कभागंतो ।
इगठाणाई असुहो, असुहाणं सुहो सुहाणं तु ॥६५॥

इहैवमक्षरघटना-अशुभानामशुभप्रकृतीनां रसोऽशुभः, अशुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात्। क इवेत्याह-निम्बवत्पिचुमन्दवत् । वत्शब्दस्य लुप्तस्येह प्रयोगो द्रष्टव्यः । तथा शुभानां शुभप्रकृतीनां रसाः शुभाः, शुभाध्यवसायनिष्पन्नत्वात्। क इवेत्याह-इक्षुवत् इक्षुयष्टिवत् । तथा डमरुकमणिन्यायान्निम्बेक्षुरसशब्द एवमप्यावर्त्यते,यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहजः स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते, स एवैकस्थानिकरसो द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग्विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथितैकभागान्तो द्विस्थानिकादिर्भवति। कोऽर्थः?-द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्च द्वित्रिचत्वारस्ते च ते भागाश्च द्वित्रिचतुर्भागाः, द्वित्रिचतुर्भागाश्च ते पृथग्विभिन्नेष्वाश्रयेषु क्वथिताश्च द्वित्रिचतुर्भागक्वथितास्तेषामेक एकसंख्यो भागोऽन्तेऽवसाने यस्य सहजरसस्य स द्वित्रिचतुर्भागक्वथितैकभागान्तः । स किमित्याह-एकस्थानिकादिः। आदिशब्दाद् द्विकस्थानिकत्रिस्थानिकचतुःस्थानिकरसपरिग्रहः। इत्यक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-इह यथा निम्बघोषातकीप्रभृतीनां कटुकद्रव्याणां सहजोऽक्वथितः कटुको रस एकस्थानिक उच्यते, स एव भागद्वयप्रमाणः स्थाल्यां क्वथितोऽर्द्धावृत्तितः कटुकतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः स्थाल्यां क्वथितस्त्रिभागान्तः कटुकतमस्त्रिस्थानिक , स एव भागचतुष्टयप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिकटुकतमश्चतुःस्थानिकः । तथा इक्षुक्षीरादीनां सहजो मधुररस एकस्थानिक उच्यते, स एव सहजो भागद्व-

यप्रमाणः पृथग्भाजने कथितोऽर्द्धावर्त्तितो मधुरतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां कथितस्त्रिभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्कप्रमाणो विभिन्नस्थाने कथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः । एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकषायनिष्पाद्यः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतीनां मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुःस्थानिको भवति । एवं च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः, शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुशब्दो विशेषणे । स चैवं विशिनष्टि-यथा सत्त्वशाऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्द्धकान्यसंख्येयव्यक्तिव्यक्तत्वादसंख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघन्यस्पर्द्धकरसस्येयं निम्बाद्युपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलिच्छेदेष्वतिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्द्धकं भवति । एवमुत्तरोत्तरक्रमेण प्रवृद्धवृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्द्धकान्यपि भवन्ति । एवं शेषाः शुभप्रकृतीनामपि द्वित्रिचतुःस्थानिकरसस्पर्द्धकान्यसंख्येयव्यक्तिव्यक्तानि प्रत्येकमसंख्येयानि भवन्ति। तान्यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परमनन्तगुणरसानि । अत उत्तरोत्तरस्पर्द्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभानां द्वित्रिचतुःस्थानिका रसा इति । तथाहि-अशुभानां निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्मादनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिकस्ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिकस्तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति । शुभप्रकृतीनां पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति। यश्च शुभानामिक्षूपमो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्द्धक एव द्रष्टव्यः। तदुत्तरस्पर्द्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति । एतत्सर्वं पञ्चसंग्रहाभिप्रायतो व्याख्यातम्। किञ्च-केवलज्ञानावरणादिरूपाणां सर्वघातिनीनां विंशतिसंख्यानां प्रकृतीनां सर्वाण्यपि रसस्पर्द्धकानि सर्वघातीन्येव । देशघातिनीनां पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्द्धकानि कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । तत्र यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्द्धकानि तानि नियमतः सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः कानिचिद्देशघातीनि कानिचित्सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव। उक्तं च-रसस्पर्द्धकानि सकलमपि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं घ्नन्ति । तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनवन्निश्छिद्राणि घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, द्राक्षावत्तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवच्चातीव निर्मलानि । उक्तं च"-जो घाएइ नियगुणं, सयलं सो होइ सव्वघाइरसो । सो निच्छिद्दो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो " ॥ १ ॥ यानि च देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि तानि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं देशतो घ्नन्ति, तदुदयेऽवश्यं क्षायोपशमसंभवात् । तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसंकुलानि । तथाहि-कानिचित्कट इवातिस्थूरच्छिद्रशतसंकुलानि, कानिचित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलानि, कानिचित्पुनरतिसूक्ष्मविवरनिकरसंकुलानि, यथा वासांसि । तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति, वैमल्यरहितानि च । उक्तं च-"देसविघाइत्तणओ, इयरो कमकंबलं सुसंकासो । विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अ विमलो य " ॥ १ ॥ इति प्ररूपितः सप्रपञ्चमनुभागबन्ध इति । कर्म० ५ कर्म० । (अघातिरसस्वरूपमत्रैव भागे १८० पृष्ठे ' अघाइरस ' शब्देऽभिहितम्)

इदानीं तु अनुभागः कस्य कर्मणः कतिविध इत्यभिधित्सुराह—तत्रादौ ज्ञानावरणीयस्य—

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स पुट्ठस्स बद्धफासपुट्ठस्स संचियस्स चियस्स उवचियस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जीवेणं कयस्स जीवेणं निव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामियस्स सयं वा उदिन्नस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठिइं पप्प भवं पप्प पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?। गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा-सोतावरणे सोयविण्णाणावरणे नेत्तावरणे नेत्तविण्णाणावरणे घाणावरणे घाणविण्णाणावरणे रसावरणे रसविण्णाणावरणे फासावरणे फासविण्णाणावरणे जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं न जाणइ, जाणिउ कामे न जाणइ, जाणित्ता वि न जाणइ, उच्छन्ननाणीया वि भवति नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पण्णत्ते ॥

ज्ञानावरणीयस्य । णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! जीवेन बद्धस्य रागद्वेषपरिणामवशतः कर्मरूपतया परिणमितस्य स्पृष्टस्यात्मप्रदेशैः सह संश्लेषमुपगतस्य (बद्धफासपुट्ठस्सेति) पुनरपि गाढतरं बद्धस्यातीव स्पर्शेन स्पृष्टस्य च। किमुक्तं भवति-आवेष्टनपरिवेष्टनरूपतयाऽतीव सोपचयगाढतरं च बद्धस्येति संचितस्य आबाधाकालातिक्रमेणोत्तरकालवेदनयोग्यतया निषिक्तस्य चितस्य उत्तरोत्तरस्थितिषु प्रदेशहान्या रसवृद्ध्याऽवस्थापितस्य उपचितस्य समानजातीयप्रकृत्यन्तरदलिककर्मणोपचयं नीतस्य आपाकप्राप्तस्य ईषत्पाकाभिमुखीभूतस्य विपाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव फलप्राप्तस्य फलं दातुमभिमुखीभूतस्य। ततः सामग्रीवशादुदयप्राप्तत्वादयः क्रमधर्माः, यथा आम्रफलस्य। तथाहि-आम्रफलं प्रथमत ईषत्पाकाभिमुखं भवति, ततो विशिष्टं पाकमुपागतं, तदनन्तरं तृप्तिप्रमोदादि फलं दातुमुचितम्, ततः सामग्रीवशादुपयोगप्राप्तं भवति । एवं कर्माऽपीति। ततः पुनर्जीवेन कथं बद्धमित्यत आह-(जीवेणं कयस्स) जीवेन कर्मबन्धनबद्धेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो ह्युपयोगस्वभावस्ततोऽसौ रागादिपरिणतो भवति, न शेषः, रागादिपरिणतश्च सन् कर्म करोति। सा च रागादिपरिणतिः कर्मबन्धनबद्धस्य भवति, न तद्वियोगे; अन्यथा मुक्तानामप्यवीतरागत्वप्रसक्तेः। ततः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति द्रष्टव्यम् । उक्तं च-"जीवस्तु कर्मबन्धन-बद्धो वीरस्य भगवतः कर्त्ता। संतत्याऽनाद्यं च, तदिष्टकर्मात्मनः कर्तुः" ॥१॥ तथा जीवेन निर्वर्त्तितस्य इह बन्धसमये जीवः प्रथमतो विशिष्टान् कर्मवर्गणाऽन्तःपातिनः

पुद्गलान् गृह्णन् अनाभोगिकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये ज्ञानावरणीयादितया व्यवस्थापनं तन्निर्वर्त्तनमित्युच्यते । तथा, जीवेन परिणामितस्य विशेषप्रत्ययैः प्रद्वेषनिह्नवादिभिस्तत-स्तमुत्तरोत्तरं परिणामं प्रापितस्य स्वयं वा विपाकप्राप्ततया पर-निरपेक्षमुदीर्णस्य उदयप्राप्तस्य, परेण वा उदीरितस्य उदयमु-पनीतस्य, तदुभयेन स्वपररूपेणोभयेन उदीर्यमाणस्य उदयमुप-नीयमानस्य गतिं प्राप्य किंचिद्धि कर्म काञ्चिद् गतिं प्राप्य तीव्रानु-भावं भवति। यथा नरकगतिं प्राप्याऽसातवेदनीयम्। असातोदयो हि यथा नारकाणां तीव्रो भवति , न तथा तिर्यगादीनामिति। तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टानुभावमिति शेषः। सर्वोत्कृष्टां हि स्थितिमुपगतमशुभं कर्म तीव्रानुभावं भवति । यथा मिथ्यात्वं भवं प्राप्य इह किमपि किञ्चिद्भवमाश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसम-र्थम् । यथा निद्रा मनुष्यभवतिर्यग्भवं प्राप्येत्युक्तम् । एतावता किल स्वत उदयस्य कारणानि दर्शितानि। कर्म हि तां तां गतिं स्थितिं भवं वा प्राप्य स्वयमुदयमागच्छतीति । सम्प्रति परत उदयमाह-पुद्गलं काष्ठलेष्टुखड्गादिलक्षणं प्राप्य । तथा-हि-परेण क्षिप्तं काष्ठलेष्टुखड्गादिकमासाद्य भवत्यसातवेदनी-यम् । क्रोधादीनामुदयस्तथा पुद्गलपरिणामं प्राप्य इह किञ्चित्क-र्म कमपि पुद्गलमाश्रित्य विपाकमायाति । यथाऽभ्यवहृतस्या-ऽऽहारस्याजीर्णत्वपरिणामत्वमाश्रित्य असातवेदनीयम् ; ज्ञा-नावरणीयं तु सुरापानमिति। ततः पुद्गलपरिणामं प्राप्येत्युक्तम्। कतिविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः?, इत्येष प्रश्नः। अत्र निर्वचनम्-दशवि-धोऽनुभावः प्रज्ञप्तः। तदेव दशविधमनुभावं दर्शयति-(सोयाव-रणे इत्यादि) इह श्रोत्रशब्देन श्रोत्रेन्द्रियविषयः क्षयोपशमः परि-गृह्यते (सोयविन्नाणावरणे इति) श्रोत्रविज्ञानशब्देन श्रोत्रेन्द्रियो-पयोगः, यत्तु निर्वृत्युपलक्षणं द्रव्येन्द्रियं यदङ्गोपाङ्गं नाम नामकर्म निर्वर्त्यं न ज्ञानावरणविषय इति, न श्रोत्रशब्देन गृह्यते । एवं नेत्रावरणे इत्याद्यपि भावनीयम । तत्रैकेन्द्रियाणां रसनघ्राणच-क्षुःश्रोत्रविषयाणां लब्ध्युपयोगानां प्राय आवरणम्। प्रायोग्रहणं च बकुलादिव्यवच्छेदार्थम् । बकुलादीनां हि यथायोगं पञ्चाना-मपीन्द्रियाणां लब्ध्युपयोगाः फलतः स्पष्टा उपलक्ष्यन्ते। आगमे पि च प्रोच्यन्ते-"पंचिंदियो व्व बउलो, नरो व्व पंचिंदिओवओ-गाओ। तह वि न भन्नइ पंचि-दिओ त्ति दव्विंदिया भावा" ॥ १॥ तथा-"जह सुहुमं भावेंदिय-नाणं दव्विंदियावराहे वि।दव्व-सु य भावम्मि वि, भावसुयं पत्थिवाईणं " ॥ १ । इति। ततः प्राय इत्युक्तम् । द्वीन्द्रियाणां घ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियविषयाणां लब्ध्युपयोगानां त्रीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रविषयाणां चतुरि-न्द्रियाणां श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्युपयोगावरणं स्पर्शनेन्द्रियलब्ध्यु-पयोगावरणं कुष्ठादिव्याधिभिरुपहतदेहस्य द्रष्टव्यम् । पञ्चेन्द्रि-याणामपि जात्यन्धादीनां पश्चाद्वा अन्धबधिरीभूतानां चक्षुरादी-न्द्रियलब्ध्युपयोगावरणं भावनीयम् । कथमेवमिन्द्रियाणां च लब्ध्युपयोगावरणमिति चेत् ?। उच्यते-स्वयमुदीर्णस्य परेण वा उदीरितस्य ज्ञानावरणीयस्ये कर्मण उदयेन । तथा चाह— (जं वेएइ इति) यद्वेदयते परेण क्षिप्तं काष्ठलेष्टुखड्गादिलक्षणं पुद्गलं तेनाभिघातजननसमर्थेन (पुग्गले वा इति) यावद् बहू-न् पुद्गलान् काष्ठादिलक्षणान् परेण क्षिप्तान् वेदयते, तैरभि-घातजननसमर्थैः पुद्गलपरिणाममभ्यवहृताहारपरिणामरूपं पानीयरसादिकमतिदुःखजनकं वेदयते ; तेन वा ज्ञानपरिणत्यु-पहननात् ! तथा (वीससा वा पोग्गलाण परिणाममिति) विस्र-सया यत्पुद्गलानां परिणामं शीतोष्णातपादिरूपस्वं वेदयते यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननद्वारेण ज्ञानपरिणतावुपहतायां ज्ञातव्यम् । एकेन्द्रियः किमपि सद्वस्तु न जानाति, ज्ञानपरिण-तेरुपहतत्वात् । अयं सापेक्ष उदय उक्तः । निरपेक्षस्य तु विषये सूत्रमिदम्-(तेसिं वा उदएणं ति) ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानां विपाकप्राप्तानामुदयेन ज्ञातव्यं न जानाति । (जाणिउकामे न जाणइ त्ति) ज्ञानपरिणामेन परिणामितुमिच्छन्नपि ज्ञानपरिण-त्युपघातान्न जानाति । (जाणित्ता वि न जाणइ त्ति) प्राग् ज्ञात्वाऽपि पश्चान्न जानीते, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गला-नामुदयात् (उच्छन्ननाणी या वि भवइ इत्यादि) ज्ञानावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नज्ञान्यापि भवति । उच्छन्नं च तज्ज्ञानं च उच्छन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छन्नज्ञानी, सद्धनादिपरा-गाभ्युपगमादिभिः यावत् शक्तिप्रच्छादितज्ञान्यापि भवतीत्यर्थः। " एस णं गोयमा! नाणावरणिज्जे कम्मे " इत्याद्युपसंहारवाक्यं कण्ठ्यम् । प्रज्ञा० । ज० ।

दर्शनावरणीयस्य—

दरिसणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पन्नत्ते ?। गोयमा! नवविहे अणुभावे पन्नत्ते । तं जहा-निद्दा निद्दानिद्दा पयला पयलापयला थीणद्धी। चक्खुदंस-णावरणे अचक्खुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंस-णावरणे जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पुग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलपरिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा न पासइ,पासिउकामे न पासइ, पासित्ता वि न पासइ, उच्छन्नदंसणी या वि भवइ दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदए णं, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प नवविहे अणुभावे पन्नत्ते।

प्रश्नसूत्रं पूर्ववत्। निर्वचनमाह-गौतम! नवविधः प्रज्ञप्तः। तदेव नवविधत्वं दर्शयति-'निद्दा' इत्यादि । निद्राशब्दार्थमग्रे व-क्ष्यामः। भावार्थस्त्वयम्-"सुहपडिबोहा निद्दा, दुहपडिबोहा य निद्दनिद्दा य । पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला य चंकमओ ॥ १ ॥ थीणद्धी पुण अइसं, किलिट्ठकम्माण वेयणे होइ। मह-निद्दादि ण चिंतिय-वावारपसाहणी पायं "॥ २ ॥ चक्षुर्दर्शना-वरणं चक्षुःसामान्योपयोगावरणम् । एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । (जं वेयइ इत्यादि) यं वेदयते पुद्गलमृदुशयनीयादिकं (पुग्गले वा इति) यान् पुद्गलान् बहून् मृदुशयनीयादीन् वेदयते पुद्गलपरिणामं माहिषदध्याद्यभ्यवहृताहारपरिणाममित्यर्थः,(वी-ससा वा पोग्गलाण परिणाममिति) वर्षास्वभ्रसंस्तृतनभोरूपं, धाराम्बुनिपातरूपं वा यं वेदयते तेन निद्राद्युदयात्कृपतो दर्श-नपरिणत्युपघाते । एतावता परत उक्तः। सम्प्रति स्वत उदय-माह-(तेसिं वा उदएणं त्ति) तेषां वा दर्शनावरणीयकर्मपुद्गला-नामुदयेन परिणतिविघातेन द्रष्टव्यं न पश्यति। तथा कश्चिद्दर्श-नपरिणामेन परिणमितुमिच्छन्नपि जात्यन्धत्वादिना दर्शनपरिण-त्युपघातान्न पश्यति-प्राग् दृष्ट्वाऽपि पश्चान्न पश्यति , दर्शना-वरणीयकर्मपुद्गलानामुदयात् । किं बहुना?, दर्शनावरणीयस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नदर्शन्यपि यावच्छक्तिप्रच्छादित-दर्शन्यापि भवति । "एस णं गोयमा !दरिसणावरणिज्जे कम्मे" इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

सातासातावेदनीयस्य—

सातावेयणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?। गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स जीवेण बद्धस्स जाव अट्ठ विहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा—मणुन्ना सद्दा, मणुन्ना रूवा, मणुन्ना गंधा, मणुन्ना रसा, मणुन्ना फासा, मणोसुहता, वयसुहता, कायसुहता। जं वेएइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं सातावेदणिज्जं कम्मं वेदेइ । एस णं गोयमा ! सातावेयणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते । असायावेयणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं अमणुन्ना सद्दा जाव वयदुहिता एस णं गोयमा ! असातावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह—गौतम ! अष्टविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः। अष्टविधत्वमेव दर्शयति—(मणुन्ना सद्दा इत्यादि) मनोज्ञाः शब्दा आगन्तुका वेणुवीणादिसंबन्धिनः। अन्ये 'आत्मीया' इत्याहुः। तदयुक्तम्। आत्मीयशब्दानां वाक्सुखेनेत्यनेनैव गृहीतत्वात्। मनोज्ञा रसा इक्षुरसप्रभृतयः, मनोज्ञा गन्धाः कर्पूरादिसम्बन्धिनः, मनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्वस्त्रीचित्रादिगतानि, मनोज्ञाः स्पर्शाः हंसतूल्यादिगताः, (मणोसुहया इति) मनसि सुखं यस्यासौ मनःसुखस्तस्य भावो मनःसुखिता, सुखितं मन इत्यर्थः। वाचि सुखं यस्यासौ वाक्सुखस्तस्य भावो वाक्सुखिता। सर्वेषां श्रोत्रमनःप्रह्लादकारिणी वागिति तात्पर्यार्थः। काये सुखं यस्यासौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखिता, सुखितः काय इत्यर्थः। एते चाष्टौ पदार्थाः सातावेदनीयस्योदयेन प्राणिनामुपतिष्ठन्ते ।

मोहनीयस्य—

मोहणिजस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव कइविहे अणुभावे पण्णत्ते ? । गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा--सम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे नो कसायवेयणिज्जे जं वेदेइ पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलपरिणामं तेसिं वा उदएणं मोहणिज्जं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा ! मोहणिज्जकम्मे, एस णं गोयमा ! मोहणिज्जस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते ।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः। तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—सम्यक्त्ववेदनीयमित्यादि। सम्यक्त्वरूपेण यद्वेद्यं तत्सम्यक्त्ववेदनीयम् । एवं शेषपदेष्वपि शब्दार्थो भावनीयः। भावार्थस्त्वयम्—यदिह वेद्यमानं प्रशमादिपरिणामं करोति तत्सम्यक्त्ववेदनीयं, यत् पुनरदेवादिबुद्धिहेतुस्तन्मिथ्यात्ववेदनीयं मिश्रपरिणामहेतुः सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयं क्रोधादिपरिणामकारणम्। कषायवेदनीयं हास्यादिपरिणामकारणम्। नो कषायवेदनीयम्। (जं वेदेइ पुग्गलमित्यादि) यं वेदयते पुद्गलं विषयप्रतिमादिकं पुद्गलान् वा यान् वेदयते बहून् प्रतिमादीन् यं पुद्गलपरिणामं देशाद्यनुरूपाहारपरिणामं कर्म पुद्गलविशेषोपादानसमर्थं भवति, आहारपरिणामविशेषादपि कदाचित्कर्मपुद्गलविशेषो यथा-ब्राह्मयोषधाद्याहारपरिणामात् ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानां प्रतिविशिष्टः क्षयोपशमः। उक्तञ्च- "उदयक्खयखओवसमो-वसमाविजयं च कम्मणो भणिया। दव्वं खेत्तं कालं, भवं च भावं च संपप्पे" ॥१॥ विस्रसया वा यत् पुद्गलानां परिणाममभ्रविकारादिकं यद्दर्शनादेवं विवेक उपजायते-" आयुः शरज्जलधरप्रतिमं नराणां, संपत्तयः कुसुमितद्रुमसारतुल्याः। स्वप्नोपभोगसदृशा विषयोपभोगाः, संकल्पमात्ररमणीयमिदं हि सर्वम्"॥१॥ इत्यादि। अन्यं वा प्रशमादिपरिणामनिबन्धनं यं वेदयते तत्सामर्थ्यान्मोहनीयं सम्यक्त्ववेदनीयादिकं वेदयते, सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मफलं प्रशमादि वेदयते इति भावः। एतावता परत उदय उक्तः। सम्प्रति स्वतस्तमाह—(तेसिं वा उदएणं ति) तेषां च सम्यक्त्ववेदनीयादिकर्मपुद्गलानामुदयेन प्रशमादि वेदयते 'एस णं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

आयुषः—

आउयस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तहेव पुच्छा। गोयमा ! आउयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउव्विहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—नेरइयाउए तिरियाउए मणुयाउए देवाउए जं वेदेइ, पोग्गलं वा पोग्गले पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं वा, तेसिं वा उदएणं आउयं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा ! आउयस्स कम्मस्स जाव चउविहे अणुभावे पण्णत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्—चतुर्विधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः। तदेव चतुर्विधत्वं दर्शयति-(नेरइयाउए इत्यादि) सुगमम्। 'जं वेएइ पुग्गलं वा' इत्यादि, यं वेदयते पुद्गलं शस्त्रादिकमायुरपवर्तनसमर्थं बहून् पुद्गलान् शस्त्रादिरूपान् यान् वेदयते यं वा पुद्गलपरिणामं विषान्नादिपरिणामरूपं विस्रसया वा यं पुद्गलपरिणामं शीतादिकमेवायुरपवर्तनक्षमं तेनोपयुज्यमानभवायुषोऽपवर्तनान्नारकाद्यायुःकर्म वेदयते। एतावता परत उदयोऽभिहितः। स्वत उदयस्य सूत्रमिदम्-[तेसिं वा उदए णं ति] तेषां वा नारकायुःपुद्गलानामुदयेन नारकाद्यायुर्वेदयते, 'एस णं' इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

तत्र नामकर्म द्विधा–शुभनामकर्म, अशुभनामकर्म च। तत्र शुभनामकर्माधिकृत्य सूत्रमाह—

सुभणामस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा। गोयमा ! सुभनामस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउदसविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा—इट्ठा सद्दा इट्ठा रूवा इट्ठा गंधा इट्ठा रसा इट्ठा फासा इट्ठा गई इट्ठा ठिई इट्ठं लावण्णं इट्ठा जसोकित्ती इट्ठे उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमे इट्ठस्सरता कंतस्सरता पियस्सरता मणुन्नस्सरता जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पुग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं सुभनामं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा ! सुभनामकम्मे, एस णं गोयमा ! सुभनामस्स कम्मस्स जाव चउदसविहे अणुभावे पण्णत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्–चतुर्दशविधोऽनुभावः । तदेव चतुर्दशविधत्वं दर्शयति–(इट्ठा सद्दा इत्यादि) एते शब्दादय आत्मीया एव परिगृह्यन्ते, नामकर्मविपाकस्य चिन्त्यमानत्वात् । तत्र वादित्राद्युत्पादिता इत्येके । तदयुक्तम् । तेषामन्यकर्मोदयनिष्पाद्यत्वात् । इष्टा गतिर्मत्तवारणाद्यनुकारिणी शिबिकाद्यारोहणतश्चेति एके, इष्टा स्थितिः सहजा सिंहासनादौ च अन्ये, इष्टं लावण्यं छायाविशेषलक्षणं कुङ्कुमाद्यनुलेपनजमिति अपरे, इष्टा यशःकीर्त्तिर्यशसा युक्ता कीर्त्तिः । यशःकीर्त्त्योश्चायं विशेषः-दानपुण्यकृता कीर्तिः, पराक्रमकृतं यशः, (इट्ठे उट्ठाणकम्मबलवीरियपुरिसक्कारपरिक्कमे इति) उत्थानं देहचेष्टाविशेषः, कर्म रेचनभ्रमणादि, बलं शारीरसामर्थ्यादिविशेषः, वीर्यं जीवप्रभवः, स एव पुरुषाकारोऽभिमानविशेषः, स एव निष्पादितस्वविषयपराक्रमः । इष्टस्वरता वल्लभस्वरता । तत्र इष्टाः शब्दा इति सामान्योक्तावियं विशेषोक्तिस्तदन्यबहुमतत्वापेक्षाऽवगन्तव्या । कान्तस्वरतेति । कान्तः कमनीयः सामान्यतोऽभिलषणीय इत्यर्थः । कान्तः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः कान्तस्वरता । प्रियस्वरतेति । प्रियो भूयोऽभिलषणीयः ; प्रियः स्वरो यस्य स तथा तद्भावः प्रियस्वरता (मणुन्नस्सरया इति) उपरतभावोऽपि स्वावलम्बनप्रीतिजनको मनोज्ञः स स्वरो यस्य स मनोज्ञस्वरता (जं वेएइ इत्यादि) यं वेदयते पुद्गलं वीणावर्णकगन्धताम्बूलपट्टशिबिकासिंहासनकुङ्कुमदानराजयोगगुलिकादिलक्षणम् । तथा च वीणादिसम्बन्धाद् भवन्तीष्टाः शब्दादय इति परिभावनीयमेतत् सूक्ष्मधिया मार्गानुसारिण्या । (पुग्गले वा इति) यतो बहून् पुद्गलान् वेणुवीणादिकान् वेदयते यं पुद्गलपरिणामं ब्राह्म्याद्याहारपरिणामं विस्रसया वा यं पुद्गलानां परिणामं शुभजलदादिकं तथा चोन्नतान् कज्जलसमप्रभान्मेघानवलोक्य प्रहर्षमनसो गायन्ति मत्तयुवतयो रेणुकानिष्टस्वरानित्यादि, तत्प्रभावात् शुभनामकर्म वेदयते शुभनामकर्मफलमिष्टस्वरतादिकमनुभवतीति भावः । एतावता परत उक्तः । इदानीं स्वतस्तमाह– [तेसिं वा उदएणं ति] तेषां वा शुभानां कर्मपुद्गलानामुदयेन इष्टशब्दादिकं वेदयते “ एस णं गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । उक्तोऽष्टविधसातवेदनीयस्यानुभावः । परतः सातवेदनीयस्योदयमुपदर्शयति-[जं वेएइ पुग्गलमित्यादि] यद् वेदयते पुद्गलं स्रक्चन्दनादि यान् वा वेदयते पुद्गलान् बहून् स्रक्चन्दनादीन् यं वा वेदयते पुद्गलपरिणामं देशकालवयोवस्थाऽनुरूपाहारपरिणामम् [वीससा वा पुग्गलाण परिणामं] विस्रसया वा यं पुद्गलानां परिणामकालेऽभिलषितं शीतोष्णादिवेदनाप्रतीकाररूपं तेन मनसः समाधानसम्पादनात् सातवेदनीयं कर्मानुभवति । सातवेदनीयकर्मफलं सातं वेदयते इत्यर्थः । उक्तः परत उदयः । सम्प्रति स्वत उदयमाह–[तेसिं वा उदएणं ति] तेषां वा सातवेदनीयपुद्गलानामुदयेन मनोज्ञशब्दादिव्यतिरेकेणापि कदाचित्सुखं वेदयते, यथा नैरयिकास्तीर्थकरजन्मादिकाले । “एस णं गोयमा !” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । प्रश्नसूत्रं सुगमं, निर्वचनं पूर्ववत् । तथा चाह–“तहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं” इत्यादिना पूर्वसूत्रादस्य विशेषमुपदर्शयति–[अमणुन्ना सद्दा इत्यादि] अमनोज्ञाः शब्दाः खरोष्ट्राश्वादिसम्बन्धिन आगन्तुकाः, अमनोज्ञा रसाः स्वस्याप्रतिभासिनो दुःखजनकाः, अमनोज्ञा गन्धा गोमहिषादिमृतकलेवरादिगन्धाः, अमनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्त्रीगतादीनि, अमनोज्ञाः स्पर्शाः कर्कशादयः [मणोदुहया इति] दुःखितं मन इति [वयदुहिया इति] अनया वागिति भावार्थः [कायदुहिया इति] काये दुःखं यस्यासौ कायदुःखस्तद्भावः कायदुःखिता, दुःखितं काय इत्यर्थः [जं वेएइ इत्यादि] यं वेदयते पुद्गलं विषशस्त्रकण्टकादि [पुग्गले वा इति] यान् वा पुद्गलान् बहून् विषशस्त्रकण्टकादीन् वेदयते यं वा वेदयते पुद्गलपरिणाममन्याहारलक्षणं विस्रसया वा यं वेदयते पुद्गलपरिणाममकालेऽनभिलषितं शीतोष्णादिपरिणामं तेन मनसोऽसमाधानसम्पादनात् असातवेदनीयं कर्मानुभवति । असातवेदनीयकर्मफलमसातं वेदयत इति भावः । एतेन परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वत उदयमाह–[तेसिं वा उदएणं ति] तेषां वा असातवेदनीयकर्मपुद्गलानामुदयेनासातं वेदयते ‘ एस णं गोयमा ’ इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

अशुभनाम्नः–

दुहनामस्स णं भंते ! पुच्छा । गोयमा ! एवं चेव, नवरं अणिट्ठा सद्दा जाव हीणस्सरता दीणस्सरता अणिट्ठस्सरता अकंतस्सरता जं वेदेइ, सेसं तं चेव जाव चउद्दसविहे अणुभावे पएणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रं प्रागुक्तार्थवैपरीत्येन भावनीयम् । गोत्रं द्विधा–उच्चैर्गोत्रं वा नीचैर्गोत्रं वा । तत्रोच्चैर्गोत्रविषयं सूत्रमाह–

उच्चागोयस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा ! उच्चागोयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पएणत्ते । तं जहा–जातिविसिट्ठता कुलविसिट्ठता बलविसिट्ठता रूवविसिट्ठता तवविसिट्ठता सुयविसिट्ठता लाभविसिट्ठया इस्सरियविसिट्ठया जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविहे अणुभावे पएणत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्–अष्टविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः । तदेवाष्टविधत्वं दर्शयति–[जाइविसिट्ठया इत्यादि] जात्यादयः सुप्रतीताः । शब्दार्थस्त्वेवम्–जात्या विशिष्टो जातिविशिष्टस्तद्भावो जातिविशिष्टता इत्यादिकम् । वेदयते पुद्गलं बाह्यद्रव्यादिलक्षणम् । तथाहि–द्रव्यसम्बन्धाद्राजादिविशिष्टपुरुषसम्परिग्रहाद्वा नीचजातिकुलोत्पन्नोऽपि जात्यादिसम्पन्न इव जनस्य मान्य उपजायते । बलविशिष्टताऽपि मल्लानामिव लकुटिभ्रमणवशाद् । रूपविशिष्टता प्रतिविशिष्टवस्त्रालङ्कारसम्बन्धात् । तपोविशिष्टता गिरिकूटाद्यारोहणेनातापनां कुर्वतः । श्रुतविशिष्टता मनोज्ञभूदेशसंबन्धात् स्वाध्यायं कुर्वतः । लाभविशिष्टता प्रतिविशिष्टरत्नादियोगात् । ऐश्वर्यविशिष्टता धनकनकादिसम्बन्धादिति । (पुग्गले वा इति) यान् बहून् पुद्गलान् वेदयते पुद्गलपरिणामं दिव्यफलाद्याहारपरिणामरूपं विस्रसया वा यं पुद्गलानां परिणाममकस्मादभिहितजलदागमसंवादादिलक्षणं तत्प्रभावादुच्चैर्गोत्रं वेदयते उच्चैर्गोत्रकर्मफलं जातिविशिष्टत्वादिकं वेदयते । एतेन परत उदय उक्तः । सम्प्रति स्वतस्तमाह–[तेसिं वा उदएणं ति] तेषां वा उच्चैर्गोत्रकर्मपुद्गलानामुदयेन जातिविशिष्टत्वादिकं भवति “ एस णं गोयमा ! ” इत्याद्युपसंहारवाक्यम् ।

नीचैर्गोत्रस्य—

नीयागोयस्स णं भंते! पुच्छा। गोयमा! एवं चेव, नवरं जातिविहीणता जाव इस्सरियविहीणता जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविहे अणुभावे पन्नत्ते ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्—अष्टविधोऽनुभावः। तमेवाष्टविधमनुभावं दर्शयति—[जाइविहीणया इत्यादि] सुप्रतीतम्। [जं वेदेइ पुग्गलमिति] यं वेदयते पुद्गलं नीचकर्मासेवनरूपं, नीचपुरुषसम्बन्धलक्षणं वा। तथाहि—उत्तमजातिसम्पन्नोऽपि उत्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचैः कर्मवशाद् यथा जीविकारूपमासेवते, चाण्डालीं वा गच्छति तदा भवति चाण्डालादिरिव जनस्य निन्द्यः। बलहीनता, सुखशयनीयादिसम्बन्धात्। तपोविहीनता पार्श्वस्थादिसंसर्गात्, श्रुतविहीनता विकथाऽपरसाध्वाभासादिसंसर्गात्, लाभविहीनता देशकालानुचितकुक्रियाणां सम्पर्कतः, ऐश्वर्यविहीनता कुगृहकुकलत्रादिसम्पर्कत इति। [पुग्गले वा इति] यान् बहून् पुद्गलान् वेदयते, यथा—पुद्गलपरिणामं धुन्ताकीफलं ह्यन्यबहुतकृत्मृत्युत्पादनेन रूपविहीनतामापादयतीत्यादि। विस्रसया वा पुद्गलानां परिणाममभिहतजलदागमविसंवादलक्षणं वेदयते, तत्प्रभावाद् नीचैःकर्म वेदयते, नीचैः कर्मफलं जात्यादिविहीनतारूपं वेदयते इत्यर्थः। एतावता परत उदय उक्तः। सम्प्रति स्वत उदयमाह—(तेसिं वा उदएणं ति) तेषां वा नीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलानामुदयेन जात्यादिविहीनतामनुभवति। "एस णं गोयमा!" इत्याद्युपसंहारवाक्यम्।

अन्तरायस्य—

अंतराइयस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा। गोयमा! अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पन्नत्ते। तं जहा—दाणंतराए लाभंतराए भोगंतराए उवभोगंतराए वीरियंतराए जं वेदेति पोग्गलं वा जाव वीससा वा तेसिं वा उदएणं अंतराइयं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा! अंतराइए कम्मे, एस णं गोयमा! जाव पंचविहे अणुभावे पन्नत्ते।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्—पञ्चविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः। तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—(दाणंतराए इत्यादि) दानस्यान्तरायो विघ्नः दानान्तरायः। एवं सर्वत्र भावनीयम्। तत्र दानान्तरायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलम्। लाभान्तरायो लाभान्तरायादिकर्मणामिति। (जं वेदेइ पुग्गलं वा इत्यादि) यं वेदयते पुद्गलं विविधविशिष्टरत्नादिसम्बन्धाद् दृश्यते तद्विषये एव दानान्तरायोदयः सन्धिच्छेदनाद्युपकरणसम्बन्धाल्लाभान्तरायकर्मोदयः, प्रतिविशिष्टाहारसम्बन्धादनर्थार्थसम्बन्धाद्वा लोभतो भोगान्तरायोदयः। एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि भावनीयः। तथा लकुटाद्यभिघाताद् वीर्यान्तरायकर्मोदय इति। पुद्गलान् वा बहून् तथाविधान् यान् पुद्गलान् वेदयते यं वा पुद्गलपरिणामं तथाविधाहारौषध्यादिपरिणामरूपम्। तथाहि—दृश्यते तथाविधाऽऽहारौषधपरिणामाद्वीर्यान्तरायकर्मोदयः। मन्त्रोपसिक्तवासादिगन्धपुद्गलपरिणामाद् भोगान्तरायोदयः। यथा सुबन्धुसचिवस्य विस्रसया वा पुद्गलानां परिणामं चित्रं शीतादिलक्षणम्। तथाहि—दृश्यन्ते वस्त्रादिकं दातुकामा अपि शीतादिनिपतन्तमालोक्य दानान्तरायोदयात् तस्यादातारः, इति तत्प्रभावात् एष परत उदय उक्तः। स्वतस्तमाह—(तेसिं उदएणं ति) तेषां वा अन्तरायकर्मपुद्गलानामुदयेन अन्तरायकर्मफलं दानान्तरायादिकं वेदयते। "एस णं" इत्याद्युपसंहारवाक्यम्। प्रज्ञा० २३ पद। "तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागे वियाणिए। एएसिँ संवरे चेव, खवणे य जए बुहे" ॥१॥ उत्त० ३३ अ०। कर्मणः स्वभावे, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ—"अणुभागो त्ति सहाओ" क० प्र०। (कर्मणां करणानां बन्धनसंक्रमादीनामनुभागबन्धादिभेदाः बन्धादिशब्देषु दृश्याः)।

अणुभागअप्पाबहुय—अनुभागाल्पबहुत्व—न०। अनुभागं प्रत्यल्पबहुत्वे, यथा "सव्वत्थोवाइं अणंतगुणवुड्ढिठाणाणि असंखेज्जगुणवुड्ढिट्ठाणाणि असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणवुड्ढिठाणाणि असंखिज्जगुणाइं जाव अणंतभागवुड्ढिठाणाणि असंखिज्जगुणाणि" प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा—"अट्ठविहबंधगस्स य आउयभागो थोवो नामगोयाणं तुल्लो विसेसाहिओ नाणदंसणावरणंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहिओ वेयणिज्जस्स विसेसाहिओ त्ति"। स्था० ४ ठा० २ उ०।

अणुभागउदीरणोवक्कम—अनुभागोदीरणोपक्रम—पुं०। प्राप्तोदयेन रसेन सहाऽप्राप्तोदयस्य रसस्य वेदनाऽऽरम्भे, स्था० ४ ठा० १ उ०।

अणुभागकम्म—अनुभागकर्मन्—न०। अनुभागरूपं कर्मानुभागकर्म। रसात्मके कर्मभेदे, भ० १ श० ४ उ०।

अणुभागणामनिहत्ताउय—अनुभागनामनिधत्तायुष्—न०। अनुभाग आयुष्कर्मद्रव्याणां तीव्रादिभेदो रसः, स एव तस्य वा नाम परिणामोऽनुभागनाम, अथवा गत्यादीनां नामकर्मणामनुभागबन्धरूपो भेदोऽनुभागनाम, तेन सह निधत्तमायुरनुभागनामनिधत्तायुरिति। आयुर्बन्धभेदे, स०। भ०। स्था०।

अणुभाग (व) बंध—अनुभाग (व) बन्ध—पुं०। अनुभागो विपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः, तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः। बन्धभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०। ('बंध' शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुभागबंधज्झवसायट्ठाण—अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान—न०। कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषे, कर्म० १ कर्म०। सकषायोदया हि कृष्णादिलेश्यापरिणामविशेषाः अनुभागबन्धहेतव इतिवचनात्। क० प्र०।

अणुभाग (व) बंधट्ठाण—अनुभाग (व) बन्धस्थान—न०। तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुभागबन्धस्य स्थानमनुभागबन्धस्थानम्। एकेन काषायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवक्षितैकसमयबद्धरससमुदायपरिणामे तन्निष्पादकेषु कषायोदयरूपेषु अध्यवसायविशेषेषु, प्रव० १६२ द्वा०।

एगसमयम्मि लोए, सुहुमगणिजिया उ जे उ पविसंति।
ते हुंतऽसंखलोय—प्पएसतुल्ला असंखेज्जा ॥
तत्तो असंखगुणिया, अगणिकाया उ तेसिँ कायठिई।
तत्तो संजमअणुभा—गबंधट्ठाणसंखाणि वा ॥

लोके इह जगति एकस्मिन् समये पृथिवीकायिकादयो जीवाः (सुहुमगणिजिया उ त्ति) सप्तम्यर्थत्वात्प्रथमायाः, सूक्ष्माग्निजी·

येषु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिषु तेजस्कायिकजीवेषु प्रविशन्ति स्पद्यन्ते । संख्येयत्वमेवाह—असंख्यलोके प्रदेशतुल्या असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । इह च विजातीयजीवानां जात्यन्तरतयोत्पत्तिः प्रवेश उच्यते । इत्थमेव प्रज्ञप्ती प्रवेशनकशब्दार्थस्य व्याख्यातत्वात् । ततस्ते जीवाः पृथिव्यादिभ्योऽप्कायेभ्यो बादरतेजस्कायेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायतयोत्पद्यन्ते, इह गृह्यन्ते, ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्मृत्वा तेनैव पर्यायेणोत्पद्यन्ते न गृह्यन्ते, तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वस्तोका एकसमये समुत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकाः । (तत्तो त्ति) ततस्तेभ्य एकसमयोत्पन्नसूक्ष्माऽग्निकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणिता असंख्येयगुणा अग्निकायाः पूर्वोत्पन्नाः सर्वेऽपि सूक्ष्माग्निकायिकजीवाः। कथमिति चेत्? उच्यते—एकः सूक्ष्माग्निकायिको जीवः समुत्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तं जीवति, एतावन्मात्रायुष्कत्वात् । तेषां तस्मिश्चान्तर्मुहूर्ते ये समयास्तेषु प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रमाणाः सूक्ष्माग्निकायिकाः समुत्पद्यन्ते, अतः सिद्धमेकसमयोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकेभ्यः सर्वेषां पूर्वोत्पन्नसूक्ष्माग्निकायिकानामसंख्येयगुणत्वम् । तेभ्योऽपि सर्वसूक्ष्माग्निकायिकेभ्यस्तेषामेव प्रत्येकं कायस्थितिः पुनः पुनस्तत्रैव काये समुत्पत्तिलक्षणा संख्यातगुणा एकैकस्यापि सूक्ष्माग्निकायिकस्य संख्येयोत्सर्पिणीप्रमाणायाः कायस्थितेरुत्कर्षतः प्रतिपादितत्वादिति । तस्या अपि कायस्थितेः सकाशात् संयमस्थानान्यनुभागबन्धस्थानानि च प्रत्येकमसंख्येयगुणानि कायस्थितावसंख्येयानां स्थितिबन्धानां भावादेकैकस्मिंश्च स्थितिबन्धे असंख्येयानामनुभागबन्धस्थानानां सद्भावादिति । संयमस्थानान्यप्यनुभागबन्धस्थानैस्तुल्यान्येवेति । तेषामुपादानं तत्स्वरूपं चाऽग्रे वक्ष्यामः । अथाऽनुभागबन्धस्थानानीति कः शब्दार्थः? । उच्यते । तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम् । अनुभागबन्धस्य स्थानमनुभागबन्धस्थानम् । एकेन काषायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवक्षितैकसमयबद्धरससमुदायपरिमाणमित्यर्थः । तानि चानुभागबन्धस्थानान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि, तेषां चाऽनुभागबन्धस्थानानां निष्पादकाः कषायोदयरूपाः अध्यवसायविशेषास्तेऽप्यनुभागबन्धस्थानानीत्युच्यन्ते, कारणे कार्योपचारात् । तेऽपि चानुभागबन्धाध्यवसाया असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा इति । प्रव० १६२ द्वा० । क० प्र० । पं० सं० । " अणुभागबंधठाणा अज्झवसायट्ठाणा य एगट्ठा " पं०सं० ५ द्वा० ।

अणुभाग (व) संकम—अनुभाग (व) संक्रम—पुं० । अनुभागविषये संक्रमभेदे, क० प्र० ।

तत्स्वरूपं च—

" तत्थऽट्ठपयं उव्व-ट्टिया व ओवट्टिया व अविभागा ।
अणुभागसंकमो ए-स अन्नपगई निया वा वि " ॥ १ ॥ त्ति ।

(अट्ठपयं ति) अनुभागसंक्रमस्वरूपनिर्धारणम् (अविभाग त्ति) अनुभागाः (निय त्ति) नीता इति । क० प्र० । पं० सं० । ('संकम' शब्दे चास्य विस्तृता व्याख्या)

अणुभागसंतकम्म—अनुभागसत्कर्मन्—न० । अनुभागविषयायां कर्मणः सत्तायाम्, क० प्र० । पं० सं० । ('सत्ता' प्रकरणे व्याख्यास्यामि)

अणुभागुदीरणा—अनुभागोदीरणा—स्त्री० । प्राप्तोदयेन रसेन सहाप्राप्तोदये वेद्यमाने रसे, स्था० ४ ठा० २ उ० । क०प्र० । पं० सं० ।(' उदीरणा ' शब्दे द्वि० भा० ६५१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभागोदय—अनुभागोदय—पुं० । अनुभागविषये कर्मणामुदये, पं० सं० ५ द्वा० । क० प्र० । (' उदय ' शब्दे द्वि० भा० ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभाव—अनुभाव—पुं० । शुभानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणोपात्तानां प्रकृतिस्थितिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभावतयाऽनुभवने, भ०१श०२श०१उ० । स० । अचिन्त्यायां वैक्रियकरणादिकायां शक्तौ च । स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रभावे च । व्य० २ उ० ।

अणुभावकम्म—अनुभावकर्मन्—न० । अनुभागतो वेद्यमाने कर्मणि, यस्य हि अनुभावो यथा बद्धरसो वेद्यते । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अणुभावग—अनुभावक—त्रि० । चिन्तापके, आ० म० द्वि० ।

अणुभासण—अनुभाषण—न० । आचार्यभाषणात्पश्चाद् भाषणे, आचार्येण भाषिते पश्चात् भाषणं न पुनः प्रधानीभूयाचार्यभाषणादग्रे भाषते । " साहूणं अणुभासइ, आयरियणं तु भासिए संते । " व्य० ३ उ० । आ० चू० ।

अणुभासण (णा) सुद्ध—अनुभाषण (णा) शुद्ध—न० । गुरूच्चारितस्य शनैः शुद्धोच्चारणरूपे भावविशुद्धिभेदे, आ० चू० ६ अ० । अनुभाषणाशुद्धं यथा-

" अणुभासइ गुरुवयणं, अक्खरपयवंजणेहिं परिसुद्धं ।
पंजलिउडो अभिमुहो, तं जाणऽणुभासणासुद्धं " ॥ १ ॥

नवरं गुरुर्भणति—(वोसिरइ त्ति) शिष्यस्तु—(वोसिरामि त्ति) स्था० ५ ठा० ३ उ० । कृतकृतिकर्मप्रत्याख्यानं कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचनं लघुतरेण शब्देन भणतीत्यर्थः । कथमनुभाषते ?, अक्षरपदव्यञ्जनैः परिशुद्धमननानुभाषणायत्नमाह । नवरं गुरुर्भणति-(वोसिरइ त्ति)'इमो वि भणति-(वोसिरामि त्ति) सेसं गुरुभणियसरिसं भाणियव्वं' । किंभूतः सन् ? कृतप्राञ्जलिरभिमुखस्तज्जानीहि अनुभाषणाशुद्धमिति । आव० ६ अ० ।

अणुभूइ—अनुभूति—स्त्री० । अनुभवनमनुभूतिः । अनुभवे , विशे० । आ० म० प्र० । दश० ।

अणुमइ—अनुमति—स्त्री० । अनुमोदने , आव० ४ अ० । सूत्र० । तत्स्वरूपं च—"काउं सयं परिणते, अणुधारणअनुमती होति एवं भणति तुमं अप्पणो य अण्णस्स वा इत्थकम्मं करेहिंति" । आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्यैवम्—" इच्छस्स वा अणिच्छस्स वा बलाभिओगा इत्थकम्मं कारावयतो कारावणा अणुणति " नि० चू० १ उ० । आनुकूल्ये , प्रव० ६ द्वा० ।

अणुमइया—अनुमतिका—स्त्री० । उज्जयिन्यां देवलासुतस्य राज्ञो भार्याया अनुरक्तलोचनाया दास्याम्, आ० चू० ११ उ० । आव० ।

अणुमणण—अनुमनन—न० अनुमोदने , प्रति० । (द्रव्यस्तवानुमोदनं साधोः कल्पत इति 'चेइय' शब्दे वक्ष्यते)

अणुमत (य)—अणुमत—त्रि० । अणोरपि मन्तरि , " अणुमयाइं कुलाइं भवंति" अणुरपि क्षुल्लकोऽपि मतो येषु सर्वसाधुसाधारणत्वान्न तु मुग्धं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वन्तीति । कल्प० ।

अनुमत-त्रि०। अभीष्टे, आ० म० द्वि०। दानमनुज्ञाते, कल्प०। अनु पश्चादपि मतोऽनुमतः। ज्ञा० १ अ०। विप्रियकरणस्यापि (ज्ञा० १ अ०) वैगुण्यदर्शनस्याऽपि (औ०) कार्यविघातस्य (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, भ० ५ श० १ उ०। अभिप्रेते, बृ० १ उ०। अभिरुचिते, पथ्ये च। औ०। आनुकूल्येन सम्मते, जी० १ प्रति०। बहुमते, पञ्चा० ६ विव०।

अणुमहत्तर-अनुमहत्तर-पुं०। मूलमहत्तराभावे तत्कार्यकारिणि, "मूलमहत्तरे असण्णिहिते जो पुच्छणिज्जो धुरे ठायति सो अणुमहत्तरः। नि० चू० ६ उ०। मूलमहत्तरे असन्निहिते यस्तत्र सर्वैरपि प्रच्छनीयः, धुरि च प्रथमं तिष्ठति सोऽनुमहत्तरः। बृ० २ उ०।

अणुमाण-अणुमान-पुं०। अणुश्चासौ मानः। स्तोकाहङ्कारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। "अणुमाणं च मायं च तं परिणाय पंडिए" चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेनाणुरपि स्तोकोऽपि मानोऽहङ्कारो न विधेयः, किमुत महान्?। यदि वोत्तममरणोपस्थितेनोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा, 'अहो! अहमित्येवंरूपः' स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः। सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

अनुमान-न०। अनु इति लिङ्गदर्शनसंबन्धानुस्मरणयोः पश्चान्मानं ज्ञानमनुमानम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०। अविनाभावनिश्चयाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञाने, आ० चू० १ अ०। नं०। अनु पश्चात् लिङ्गलिङ्गिसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम्। स्या०। प्र०। अनु०। "साध्याविनाभूताल्लिङ्गात्, साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानं तदभ्रान्तं, प्रमाणत्वात् समक्षवत्" ॥१॥ इति लक्षणलक्षिते प्रमाणभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ०। अनुमानस्य प्रामाण्यम्-(अनुमानं न प्रमाणमिति सिषाधयिषया प्रत्यक्षस्यैवैकस्य प्रामाण्यमङ्गीकृत्याह चार्वाक इति 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

साम्प्रतमक्रियावादिनां लौकायतिकानां मतं सर्वाधमत्वादन्ते
उपन्यस्यन् तन्मतमूलस्य प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादि-
प्रमाणान्तरानङ्गीकारे अकिञ्चित्करत्वप्रदर्शनेन
तेषां प्रज्ञायाः प्रमादमादर्शयति—

विनाऽनुमानेन पराभिसंधि-
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य।
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा,
क्व दृष्टमात्रं च हहा! प्रमादः ॥ २० ॥

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति मन्यते चार्वाकः। तत्र संनह्यते-अनु पश्चाल्लिङ्गलिङ्गिसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम्। प्रस्तावात् स्वार्थानुमानम्, तेनानुमानेन लैङ्गिकप्रमाणेन विना पराभिसंधिं पराभिप्रायमसंविदानस्य सम्यगजानानस्य, तुशब्दः पूर्ववादिभ्यो भेदद्योतनार्थः। पूर्वेषां वादिनामास्तिकतया विप्रतिपत्तिस्थानेषु क्षोदः कृतः। नास्तिकस्य तु वक्तुमपि नौचिती, कुत एव तेन सह क्षोदः?, इति तु शब्दार्थः। नास्ति परलोकः पुण्यं पापमिति वा मतिरस्य "नास्तिकास्तिकदैष्टिकम्" ॥६।४।६६॥ इति हैमसूत्रेण निपातनान्नास्तिकः। तस्य लौकायतिकस्य वक्तुमपि न साम्प्रतं, वचनमप्युच्चारयितुं नोचितम्। ततः तूष्णींभाव एवास्य श्रेयान्, दूरे प्रामाणिकपरिषदि प्रविश्य प्रमाणोपन्यासगोष्ठी। वचनं हि परप्रत्यायनाय प्रतिपाद्यते, परेण चाप्रतिपित्सितमर्थं प्रतिपादयन्नसौ सतामवधेयवचनो न भवतीत्युन्मत्तवत्। ननु कथमिव तूष्णींकतैवाऽस्य श्रेयसी?, यावता चेष्टाविशेषादिना प्रतिपाद्यस्याऽभिप्रायमनुमाय सुकरमेवानेन वचनोच्चारणमित्याशङ्क्याह-"क्व चेष्टा क्व दृष्टमात्रं च" इति। क्वेति बृहदन्तरे, चेष्टा इङ्गितं पराभिप्रायरूपस्यानुमेयस्य लिङ्गम्। क्व च दृष्टमात्रम्-दर्शनं दृष्टं, भावे क्तः, दृष्टमेव दृष्टमात्रम्, प्रत्यक्षमात्रम्, तस्य लिङ्गनिरपेक्षप्रवृत्तित्वात्। अत एव दूरमन्तरमेतयोः। न हि प्रत्यक्षेणातीन्द्रियाः परचेतोवृत्तयः परिज्ञातुं शक्याः, तस्यैन्द्रियकत्वात्। मुखप्रसादादिचेष्टया तु लिङ्गभूतया पराऽभिप्रायस्य निश्चयेऽनुमानप्रमाणमनिच्छतोऽपि तस्य बलादापतितम्। तथाहि-मद्वचनश्रवणाऽभिप्रायवानयं पुरुषस्तादृग्मुखप्रसादादिचेष्टाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति। अतश्च 'हहा प्रमादः' हहा इति खेदे, अहो! तस्य प्रमादः प्रमत्तता, यदनुभूयमानमप्यनुमानं प्रत्यक्षमात्राङ्गीकारेणापह्नुते। अत्र च संपूर्वस्य वेत्तेरकर्मकत्वे एवात्मनेपदम्, अत्र तु कर्माऽस्ति, तत्कथमत्रानश्?। अत्रोच्यते-अत्र संवेदितुं शक्तः संविदान इति कार्यम्, 'वयःशक्तिशीले' ॥५।२।२४॥ इति शक्तौ शानविधानात्। ततश्चायमर्थोऽनुमानेन विना पराभिसंहितं सम्यग्वेदितुमशक्तस्येति। एवं परबुद्धिज्ञानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याऽयमनुमानं हठादङ्गीकारितः। तथा प्रकारान्तरेणाप्ययमङ्गीकारयितव्यः। तथाहि-चार्वाकः काश्चिज्ज्ञानव्यक्तीः संवादित्वेनाव्यभिचारिणीरुपलभ्याऽन्याश्च विसंवादित्वेन व्यभिचारिणीः, पुनः कालान्तरे तादृशीतराणां ज्ञानव्यक्तीनामवश्यं प्रमाणेतरते व्यवस्थापयेत्। न च संनिहितार्थबलेनोत्पद्यमानं पूर्वापरपरामर्शशून्यं प्रत्यक्षं पूर्वापरकालभाविनीनां ज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं निमित्तमुपलक्षयितुं क्षमते। न चायं स्वप्रतीतिगोचराणामपि ज्ञानव्यक्तीनां परं प्रति प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा व्यवस्थापयितुं प्रभवति। तस्माद् यथादृष्टज्ञानव्यक्तिसाधर्म्यद्वारेणेदानींतनज्ञानव्यक्तीनां प्रामाण्याप्रामाण्यव्यवस्थापकं परप्रतिपादकं च प्रमाणान्तरमनुमानरूपमुपासीत, परलोकादिनिषेधश्च न प्रत्यक्षमात्रेण शक्यः कर्तुम्, संनिहितमात्रविषयत्वात्तस्य। परलोकादिकं चाप्रतिषिध्य नाऽयं सुखमास्ते; प्रमाणान्तरं च नेच्छतीति डिम्भहेवाकः। किञ्च-प्रत्यक्षस्याप्यर्थाव्यभिचारादेव प्रामाण्यम्। कथमितरथा स्नानपानावगाहनाद्यर्थक्रियासमर्थे मरुमरीचिकानिचयचुम्बिनि जलज्ञाने न प्रामाण्यम्?। तच्चार्थप्रतिबद्धलिङ्गशब्दद्वारा समुन्मज्जतोरनुमानागमयोरप्यर्थाव्यभिचारादेव किं नेष्यते?। व्यभिचारिणोरप्यनयोर्दर्शनादप्रामाण्यमिति चेत्, प्रत्यक्षस्याऽपि तिमिरादिदोषान्निशीथिनीनाथयुगलावलम्बिनोऽप्रमाणस्य दर्शनात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गः। प्रत्यक्षाभासं तदिति चेत्, इतरत्रापि तुल्यम्, एतदन्यत्र पक्षपातात्। स्या०। ये तु तथागताः प्रामाण्यमूहस्य नोहाञ्चक्रिरे, तेषामशेषशून्यत्वपातकाऽऽपत्तिः। आः किमिदमकाण्डकूष्माण्डाडम्बरोड्डामरमभिधीयते?। कथं हि तर्कप्रामाण्यानुपगममात्रेणेदृशमसमञ्जसमापनीपद्येत?। शृणु, श्रावयामि किल, तर्काप्रामाण्ये तावन्नानुमानस्य प्राणः, प्रतिबन्धप्रतिपत्त्युपायापायात्। तदभावे न प्रत्यक्षस्यापि। प्रत्यक्षेण हि पदार्थान् प्रतिपद्य प्रमाता प्रवर्तमानः क्वचन संवादादिदं प्रमा-

णमिति, अन्यत्र तु विसंवादादिदमप्रमाणमिति व्यवस्थाग्रन्थिमाबध्नीयात्। न खलूत्पत्तिमात्रेणैव प्रमाणाप्रमाणविवेकः कर्तुं शक्यः, तदवस्थायामुभयोः सौसदृश्यात् । संवादविसंवादापेक्षायां च तन्निश्चये निश्चित एवानुमानोपनिपातः; न चेदं प्रतिबन्धप्रतिपत्तौ तर्कस्वरूपोपायापाये अनुमानाध्यक्षप्रमाणाभावे च प्रामाणिकमानिनस्ते कौतुस्कुती प्रमेयव्यवस्थाऽपीत्यायाता त्वदीयहृदयस्येव सर्वस्य शून्यता । साऽपि वा न प्राप्नोति, प्रमाणमन्तरेण तस्या अपि प्रतिपत्तुमशक्यत्वादिति । अहो ! महति प्रकटकष्टसंकटे प्रविष्टोऽयं तपस्वी किं नाम कुर्यात् ?। अथ "धूमाधीर्वह्निविज्ञानं, धूमज्ञानमधीस्तयोः । प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्या-मिति पञ्चभिरन्वयः ॥ १ ॥" निर्णीयते, अनुपलम्भोऽपि, प्रत्यक्षविशेष एवेति प्रत्यक्षमेव व्याप्तितात्पर्यपर्यालोचनचातुर्यवर्यं किं तर्कोपक्रमेणेति चेत् ?, न तु प्रत्यक्षं तावन्नियतधूमाग्निगोचरतया प्राक् प्रावृतत्; तद् यदि व्याप्तिरपि तावन्मात्रैव स्यात्तदाऽनुमानमपि तत्रैव प्रवर्तेतेति कुतस्त्यं धूमान्महीधरकन्धराधिकरणाशुशुक्षणिलक्षणं तद्बलाद्भूतान्विकल्पः । सार्वत्रिकीं व्याप्तिं पर्याप्नोति निर्णेतुमिति चेत्, को नामैवं नामंस्त ?। तर्कविकल्पस्योपलम्भानुपलम्भसम्भवत्वेन स्वीकारात् । किन्तु व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव प्रमाणं कक्षीकरणीयः । अथ तथा प्रवर्तमानोऽयं प्राक् प्रवृत्तप्रत्यक्षव्यापारमेवाऽभिमुखयतीति तदेव तत्र प्रमाणमिति चेत् । तर्ह्यनुमानमपि लिङ्गग्राहिप्रत्यक्षस्यैव व्यापारमामुखयतीति तदेव वैश्वानरवेदने प्रमाणं, नानुमानमिति किं न स्यात् ?। अथ कथमेवं वक्तुं शक्यम् ?, लिङ्गप्रत्यक्षं हि लिङ्गगोचरमेव, अनुमानं तु साध्यगोचरमिति कथं तत्तद् व्यापारमामुखयेत् ?, तर्हि प्रत्यक्षं पुरोवर्तिस्वलक्षणेक्षणक्षुण्णमेव । तर्कविकल्पस्तु साध्यसाधनसामान्यावमर्शमनीषीति कथं सोऽपि तद्व्यापारमुद्दीपयेत् ?। अथ सामान्यममान्यमेव, असत्त्वादिति कथं तत्र प्रवर्तमानस्तर्कः प्रमाणं स्यादिति चेदनुमानमपि कथं स्यात् ?, तस्याऽपि सामान्यगोचरत्वाऽव्यभिचारात् । " अन्यत्सामान्यलक्षणं सोऽनुमानस्य विषयः " इति धर्मकीर्तिना कीर्तनात् । तत्त्वतोऽप्रमाणमेवैतद्, व्यवहारेणैवास्य प्रामाण्यात्; सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेनेति वचनादिति चेत्, तर्कोऽपि तथाऽस्तु । अथ नाऽयं व्यवहारेणाऽपि प्रमाणम्, सर्वथा वस्तुसंस्पर्शपराङ्मुखत्वादिति चेत्, अनुमानमपि तथाऽस्तु । अवस्तुनिर्भासमपि परम्परया पदार्थे प्रतिबन्धात् प्रमाणमनुमानमिति चेत्, किं न तर्कोऽपि । अवस्तुत्वं च सामान्यस्याद्याऽपि केशरिकिशोरवक्त्रकोटरदंष्ट्राङ्कुराकर्षणायमानमास्ते । सदृशपरिणामरूपस्यास्य प्रत्यक्षादिपरिच्छेद्यत्वादिति तस्मात एवानुमानम्, तर्कश्च प्रमाणं प्रत्यक्षवदिति पाषाणरेखा ॥ ७ ॥

अत्रोदाहरन्ति-

यथा यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येव ॥ ८ ॥

अत्राद्यमुदाहरणमन्वयव्याप्तौ, द्वितीयं तु व्यतिरेकव्याप्ताविति ॥८॥ रत्ना० ३परि०। सम्म०। (प्रामाण्यमनुमानतो न ग्रहीतुं शक्यम्, तस्य प्रमाणत्वाऽसंभवादिति 'प्रमाण' शब्दे वक्ष्यते।परलोकासिद्धावप्यनुमानप्रामाण्यखण्डनम्, अनुमानप्रमाण्यव्यवस्थितिः, शाबरमतानुमाननिरासश्च सम्मतिप्रकरणग्रन्थतोऽवसेयः)

अथाऽनुमानस्य लक्षणार्थं तावत्प्रकारौ (स्वार्थपरार्थानुमाने) प्रकाशयन्ति-

अनुमानं द्विप्रकारं, स्वार्थं परार्थं च ॥ ९ ॥

नन्वनुमानस्याध्यक्षस्येव सामान्यलक्षणमनाख्यायैव कथमादित एव प्रकारकीर्तनमिति चेत् । उच्यते-परमार्थतः स्वार्थस्यैवानुमानस्य भावात्, स्वार्थमेव ह्यनुमानं कारणे कार्योपचारात्परार्थं कथ्यते । यद्वक्ष्यन्ति तत्रभवन्तः-"पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात्" इति। न हि गोरुपचरितगोत्वस्य च वाहीकस्यैकं लक्षणमस्ति, यत्पुनः स्वार्थेन तुल्यकक्षतयाऽस्योपादानम्, तद्वादे शास्त्रे चाऽनेनैव व्यवहाराल्लोकेऽपि च प्रायेणास्योपयोगात्तद्वत्प्राधान्यख्यापनार्थम् । तत्र अनु हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणयोः पश्चान्मीयते परिच्छिद्यते ऽर्थोऽनेनेत्यनुमानम् । स्वस्मै प्रमातुरात्मने इदं, स्वस्य वाऽर्थोऽनेनेति स्वार्थम्, स्वावबोधनिबन्धनमित्यर्थः । एवं परार्थमपि । अत्र चार्वाकश्चर्वयति-नाऽनुमानं प्रमाणम्, गौणत्वात् । गौणं ह्यनुमानम्, उपचरितपक्षादिलक्षणत्वात् । तथाहि-" ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे, पक्षो धर्म्यभिधीयते । व्याप्तिकाले भवेद् धर्मः, साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम् " ॥ १ ॥ इति । अगौणं हि प्रमाणं प्रसिद्धम्, प्रत्यक्षवदिति । तत्रायं वराकश्चार्वाकः स्वारूढां शाखां खण्डयन्नियतं भौतमनुकरोति । गौणत्वादिति हि साधनमभिदधानो ध्रुवं स्वीकृतवानेवायमनुमानं प्रमाणमिति कथमेतदेव दलयेत् ?। न च पक्षधर्मत्वं हेतुलक्षणमाचक्ष्महे, येन तत्सिद्धये साध्यधर्मविशिष्टे धर्मिणि प्रसिद्धमपि पक्षत्वं धर्मिण्युपचरेम; अन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणत्वाद् हेतोः। नापि व्याप्तिं पक्षेणैव ब्रूमहे, येन तत्सिद्धये धर्मे तदारोपयेमहि; साध्यधर्मेणैव तदभिधानात्। नन्वानुमानिकप्रतीतौ धर्मविशिष्टो धर्मी, व्याप्तौ तु धर्मः साध्यमित्यभिधास्यत इत्येकत्र गौणमेव साध्यत्वमिति चेत् । नैवम् । उभयत्र मुख्यतल्लक्षणभावेन साध्यत्वस्य मुख्यत्वात् । तत्किमिह द्वयं साधनीयम् ?। सत्यम् । न हि व्याप्तिरपि परस्य प्रतीता, ततस्तत्प्रतिपादनेन धर्मविशिष्टं धर्मिणमयं प्रत्यायनीय इत्यसिद्धं गौणत्वम् । अथ नोपादीयत एव तत्सिद्धौ कोऽपि हेतुः, तर्हि कथमप्रमाणिकाप्रामाणिकस्यार्थसिद्धिः स्यादिति नानुमानप्रामाण्यप्रतिषेधः साधीयस्तां दधाति । "नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुः स चेत्, क्वानुमामानताबाधनं स्यात्तदा । नानुमानं प्रमेत्यत्र हेतुर्न चेत्, क्वानुमामानताबाधनं स्यात्तदा ॥१॥" इति संग्रहश्लोकः। कथं वा प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यनिर्णयः ?। यदि पुनरर्थक्रियासंवादात्तत्र तन्निर्णयस्तर्हि कथं नानुमानप्रामाण्यम् ?। प्रत्यपीपदाम च-" प्रत्यक्षेऽपि परोक्षलक्षणमते-र्येन प्रमारूपता । प्रत्यक्षेऽपि कथं त्वधिष्यति मते, तस्य प्रमारूपता ॥ १ ॥ " इति ॥ ९ ॥

तत्र स्वार्थं व्यवस्थापयन्ति—

तत्र हेतुग्रहणसंबन्धस्मरणकारकं साध्यविज्ञानं स्वार्थमिति ॥ १० ॥

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणत्वाद् गमयति परोक्षमर्थमिति हेतुः, अनन्तरमेव निर्देक्ष्यमाणलक्षणस्तस्य ग्रहणं च प्रमाणेन निर्णयः । संबन्धस्मरणं च यथैव संबन्धो व्याप्तिनामा प्राक् तर्केणातर्कि, तथैव परामर्शस्ते कारणं यस्य तत्तथा । साध्यस्याख्यास्यमानस्य विशिष्टं संशयादिशून्यत्वेन ज्ञानं स्वार्थमनुमानं मन्तव्यम् ॥ १० ॥ रत्ना० ३ परि० ।

अधुना परार्थानुमानं प्ररूपयन्ति—

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थोऽनुमानमुपचारात् ॥ २३ ॥

पक्षहेतुवचनात्मकत्वं च परार्थानुमानस्य व्युत्पन्नमतिप्रतिपा-

द्यापेक्षयाऽत्रोक्तमतिव्युत्पन्नम। अतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु धूमोऽत्र दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रात्मकमपि तद्भवति। बाहुल्येन तत्प्रयोगाभावात् तु नैतत्साक्षात्सूत्रे सूत्रितम्, उपलक्षितं तु द्रष्टव्यम, मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु दृष्टान्तादिवचनात्मकमपि तद्भवति । यद्वदयन्ति-" मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि " इति । पक्षहेतुवचनस्य च जडरूपतया मुख्यतः प्रामाण्यायोगे सत्युपचारादित्युक्तम्, कारणे कार्योपचारादित्यर्थः । प्रतिपाद्यगतं हि यत् ज्ञानं तस्य कारणं पक्षादिवचनम, कार्ये कारणोपचाराद्वा । प्रतिपादकगतं हि यत्स्वार्थानुमानं तस्य कार्यं तद्वचनमिति ॥ २३ ॥

संप्रति व्याप्तिपुरस्सरं पक्षधर्मतोपसंहारं तत्पूर्विकां वा व्याप्तिमाचक्षाणान् भिक्षून्पक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाहुः-

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसंबन्धिताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत्पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमध्वज इति हेतोः सामान्येनाऽऽधारप्रतिपत्तावपि, पर्वतादिविशिष्टधर्मिधर्मताऽधिगतये धूमश्चात्रेत्येवंरूपमुपसंहारवचनमवश्यमाश्रीयते सौगतैः। तथा साध्यधर्मस्य नियतधर्मिधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते—

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः
कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥ २५ ॥

त्रिविधं कार्यस्वभावानुपलम्भभेदात्। तस्य साधनस्य समर्थनमसिद्धतादिव्युदासेन स्वसाध्यसाधनसामर्थ्योपदर्शनम् । नह्यसमर्थितो हेतुः साध्यसिद्ध्यङ्गम,अतिप्रसङ्गात् । ततः पक्षप्रयोगमनङ्गीकुर्वता तत्समर्थनरूपं हेतुमनभिधायैव तत्समर्थनं विधेयम-"हन्त हेतुरिह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः?। तर्हि पक्ष इह जल्प्यते न चे-दस्तु कुत्र स समर्थनाविधिः? ॥१॥ प्राप्यते ननु विवादतः स्फुटं, पक्ष एव किमतस्तदाख्यया। तर्हि हेतुरपि लभ्यते ततो-ऽनुक्त एव तदसौ समर्थ्यताम ॥२॥ मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, सौगत ! हेतुमथाभिदधीथाः । मन्दमतिप्रतिपत्तिनिमित्तं, तर्हि न किं परिजल्पसि पक्षम ? ॥३॥ " ॥ २५ ॥ रत्ना० ३ परि० । तच्चानुमानं त्रिविधम्-पूर्ववत्, शेषवत् , अदृष्टसाधर्म्यवच्चेति-

से किं तं पुव्ववं ?। पुव्ववं-माया पुत्तं जहा नट्ठं, जुवाणं पुणरागयं । काई पच्चाभिजाणेज्जा, पुव्वलिंगेण केणइ ॥१॥ तं जहा-खत्तेण वा वणेण वा लंछणेण वा मसेण वा तिलएण वा, सेत्तं पुव्ववं ॥

विशिष्टं पूर्वोपलब्धं चिह्नमिह पूर्वमुच्यते, तदेव निमित्तरूपतया यस्यास्ति तत्पूर्ववत् , तद्द्वारेण गमकमनुमानं पूर्ववदिति भावः। तथा चाह-'मायापुत्तं' इत्यादिश्लोकः । यथा माता स्वकीयं पुत्रं बाल्यावस्थायां नष्टं युवानं सन्तं कालान्तरेण पुनः कथमप्यागतं काचित्तथाविधस्मृतिपाटववती न सर्वा पूर्वदृष्टेन लिङ्गेन केनचित् क्षतादिना प्रत्यभिजानीयात् , मत्पुत्रोऽयमिति अनुमिनुयादित्यर्थः। केन पुनर्लिङ्गेनेत्याह-(खत्तेण वेत्यादि)। स्वदेहोद्भवमेव क्षतम्, आगन्तुकस्तु-श्वदंष्ट्रादिकृतो व्रणः, लाञ्छनमषतिलकास्तु प्रतीताः। तद्यमत्र प्रयोगः-मत्पुत्रोऽयम, अनन्यसाधारणक्षतादिलक्षणविशिष्टलिङ्गोपलब्धेः,इति साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तयोः सत्त्वेतराभावादयमहेतुरिति चेत्। नैवम् । हेतोः परमार्थेनैकलक्षणत्वात्तद्भावेनैव गमकत्वोपलब्धेः। उक्तं च न्यायवादिना पुरुषचन्द्रेण-अन्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रं हेतोः स्वलक्षणम, सत्त्वाऽसत्त्वे हि तद्धर्मौ। दृष्टान्तद्वयलक्षणे। न च धर्मिसत्तायां धर्म्माः सर्वेऽपि सर्वदा भवन्त्येव. पटादेः शुक्लत्वादिधर्म्मैर्व्यभिचारात्। ततो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्म्मौ यद्यपि क्वचिद् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिस्वरूपमन्यथाऽनुपपन्नं भविष्यतीति न कश्चिद्विरोध इति भावः। यत्राऽपि धूमादौ दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वं हेतोर्दृश्यते,तत्रापि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वस्यैव प्राधान्यात् , तस्यैवैकस्य हेतुलक्षणताऽवसेया। तथा चाह—"धूमादेर्यद्यपि स्यातां, सत्त्वाऽसत्त्वे च लक्षणे। अन्यथाऽनुपपन्नत्व-प्राधान्याल्लक्षणैकता " ॥ १ ॥ किं च-यदि दृष्टान्ते सत्त्वाऽसत्त्वदर्शनाद्धेतुर्गमक इष्यते, तदा लोहलेख्यं वज्रं,पार्थिवत्वात्काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् । अभ्यधायि च-"दृष्टान्ते सदसत्त्वाभ्यां, हेतुः सम्यम्प्रदीप्यते । लोहलेख्यं भवेद्वज्रं, पार्थिवत्वाद् द्रुमादिवत् " ॥२॥ इति । यदि च पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षाऽसत्त्वलक्षणं हेतोस्त्रैरूप्यमभ्युपगम्यापि यथोक्तदोषभयात्साध्येन सहान्यथाऽनुपपन्नत्वमन्वेषणीयं,तर्हि तदेवैकं लक्षणतया वक्तुमुचितम्; किं रूपत्रयेणेति । आह च-"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं,यत्र तत्र त्रयेण किम् ?। नाऽन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?" ॥२॥ इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थगहनताप्रसङ्गात्, अन्यत्र यत्नेनोक्तत्वाच्चेति । आह-प्रत्यक्षविषयत्वादेवात्रानुमानप्रवृत्तिरयुक्ता । नैवम। पुरुषपिण्डमात्रप्रत्यक्षतायामपि मत्पुत्रो न वेति ? संदेहाद् युक्त एवानुमानोपन्यास इति कृतं प्रसङ्गेन।

से किं तं सेसवं ?। सेसवं पंचविहं पणत्तं। तं जहा-कज्जेणं कारणेणं गुणेणं अवयवेणं आसएणं ॥

'से किं तं सेसवमित्यादि' पुरुषार्थोपयोगिनः परिजिज्ञासितात् तुरगादेरर्थादन्यो हेषितादिरर्थः शेष इहोच्यते । स गमकत्वेन यस्याऽस्ति तच्छेषवदनुमानम ।

तच्च पञ्चविधम्, तद्यथा-

से किं तं कज्जेणं?। कज्जेणं संखं सद्देणं भेरिं ताडिएणं वसभं ढिक्किएणं मोरं किंकाइएणं हयं हेसिएणं गयं गुलगुलाइएणं रहं घणघणाइएणं, सेत्तं कज्जेणं ॥

(कज्जेणत्यादि) तत्र कार्येणाऽनुमानम । यथा हयमश्वं हेषितेन, अनुमिनुते इत्यध्याहारः । हेषितस्य तत्कार्यत्वात् , तदाऽऽकर्ण्य हयोऽत्रेति या प्रतीतिरुत्पद्यते तदिह कार्येण कार्यद्वारेणोत्पन्नं शेषवदनुमानमुच्यते इति भावः । क्वचित्तु प्रथमतः शङ्खशब्देनेत्यादि दृश्यते, तत्रोक्तानुसारतः सर्वोदाहरणेषु भावना कार्या ॥

से किं तं कारणेणं ?। कारणेणं तंतवो पडस्स कारणं, ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं, ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिंडो घडस्स कारणं, ण घडो मिप्पिंडकारणं, सेत्तं कारणेणं ॥

(से किं तं कारणेणमित्यादि) इह कारणेन कार्यमनुमीयते । यथा विशिष्टमेघोन्नतिदर्शनात् कश्चित् वृष्ट्यनुमानं करोति । यदाह-"रोलम्बगवलव्याल-तमालमलिनत्विषः । वृष्टि

व्यभिचरन्तीह नैवं प्रायाः पयोमुचः" ॥ १ ॥ इति । एवं चन्द्रोदयाज्जलधेर्वृद्धिरनुमीयते, कुमुदविकासश्च । मित्रोदयाज्जलरुहप्रबोधः, घूकमदमोक्षश्च । तथाविधवर्षणात्सस्यनिष्पत्तिः, कृषीबलमनःप्रमोदश्चेत्यादि । तदेवं कारणमेवेहानुमापकं साध्यस्य नाकारणम् । तत्र कार्यकारणभाव एव केषांचिद्विप्रतिपत्तिपदवीमत्तमेव तावन्नियतं दर्शयन्नाह-तन्तवः पटस्य कारणम्, न तु पटस्तन्तूनां कारणम् । पूर्वमनुपलब्धस्य तस्यैव तद्भावे उपलम्भात् । इतरेषां तु पटाभावेऽप्युपलम्भात । अत्राह-ननु यदा कश्चिन्निपुणः पटभावेन संयुक्तानपि तन्तून् क्रमेण वियोजयति, तदा पटोऽपि तन्तूनां कारणं भवत्येव । नैवम् । सत्त्वेनोपयोगाभावात् । यदेव हि लब्धसत्ताकं सत् स्वस्थितिभावेन कार्यमुपकुरुते तदेव तस्य कारणत्वेनोपदिश्यते । यथा मृत्पिण्डो घटस्य । ये तु तन्तुवियोगतोऽभावीभवता पटेन तन्तवः समुत्पद्यन्ते, तेषां कथं पटः कारणं निर्दिश्यते, न हि ज्वराऽभावेन भवत आरोगितासुखस्य ज्वरः कारणमिति शक्यते वक्तुम् । यद्येवं पटेऽप्युत्पद्यमाने तन्तवोऽभावीभवन्तीति तेऽपि तत्कारणं न स्युरिति चेत् । नैवम् । तन्तुपरिणामरूप एव हि पटः, यदि च तन्तवः सर्वथाऽभावीभवेयुस्तथा मृद्भावे घटस्येव पटस्य सर्वथैवोपलब्धिर्न स्यात्, तस्मात्पटकालेऽपि तन्तवः सन्तीति सत्त्वेनोपयोगात् ते पटस्य कारणमुच्यन्ते । पटवियोजनकाले त्वेकैकतन्त्ववस्थायां पटो नोपलभ्यते । अतस्तत्र सत्त्वेनोपयोगाभावान्नासौ तेषां कारणम् । एवं वीरणकटादिष्वपि भावना कार्या । तदेवं यद्यस्य कार्यस्य कारणत्वेन निश्चितं तत्तस्य यथासम्भवं गमकत्वेन वक्तव्यमिति ।

से किं तं गुणेणं ?। गुणेणं-सुवण्णं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मइरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, सेत्तं गुणेणं ॥

(से किं तं गुणेणमित्यादि) निकषः कषपट्टगता कषितसुवर्णरेखा, तेन सुवर्णमनुमीयते । यथा पञ्चदशादिवर्णकोपेतमिदं सुवर्णं, तथाविधनिकषोपलम्भात, पूर्वोपलब्धोभयसंमतसुवर्णवत् । एवं शतपत्रिकादिपुष्पमत्र, तथाविधगन्धोपलम्भात, पूर्वोपलब्धतद्वस्तुवत् । एवंलवणं मदिरावस्त्रादयोऽनेकभेदसंभवतोऽनियतस्वरूपा अपि प्रतिनियततथाविधरसास्वादस्पर्शादिगुणोपलब्धेः, इति नियतस्वरूपाः साधयितव्याः ।

से किं तं अवयवेणं ?। अवयवेणं-महिसं सिंगेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थिं विसाणेणं, वाराहं दाढाए, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्घं नहेणं, चवरिं बालग्गेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउप्पयं गवमादि, बहुपयं गोमिआमादि, सीहं केसरेणं, वसहं कुक्कुहेणं, महिला वलयबाहाए । परिअरबंधेण भडं, जाणिज्जा महिलिअं निवसणेणं । सित्थेण दोणपागं, कविं च एकाएँ गाहाए ॥१॥ सेत्तं अवयवेणं ॥

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवदर्शनेनावयवी अनुमीयते । यथा महिषोऽत्र, तदविनाभूतशृङ्गोपलब्धेः, पूर्वोपलब्धोभयसंमतप्रदेशवत् । अयं च प्रयोगो वृत्तिवरण्डकाद्यन्तरितत्वादप्रत्यक्ष एवावगविनि द्रष्टव्यः, तत्प्रत्यक्षतायामध्यक्षत एव तत्सिद्धेः, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । एवं शेषोदाहरणान्यपि भावनीयानि; नवरं द्विपदं मनुष्यादीत्यादि । मनुष्योऽयम्, तदविनाभूतपदद्वयोपलम्भात्, पूर्वदृष्टमनुष्यवत् । एवं चतुष्पदबहुपदेष्वपि गोमही, कर्णशृगाली । "परियरबंधेण भडं" इत्यादिगाथा पूर्वं व्याख्यातैव । तदनुसारेण भावार्थोऽप्यूह्य इति ।

से किं तं आसएणं ?। आसएणं-अग्गिं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, वुट्टिं अब्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं, सेत्तं आसएणं, सेत्तं सेसवं ॥

(से किं तं आसएणमित्यादि) आश्रयतीत्याश्रयो धूमबलाकादिस्तत्र धूमादग्न्यनुमानं प्रतीतमेव । आकारेङ्गितादिभिश्चाप्यनुमानं भवति । तथा चोक्तम्-"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥१॥ अत्राह-ननु धूमस्याग्निकार्यत्वात् पूर्वोक्तकार्यानुमान एव गतत्वात्किमिहोपन्यासः ?। सत्यम् । किन्त्वग्न्याश्रयत्वेनापि लोके तस्य रूढत्वादत्राप्युपन्यासः कृत इत्यदोषः । तदेतद् दृष्टवदनुमानम् ।

से किं तं दिट्ठसाहम्मवं ?। दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पण्णत्तं । तं जहा-सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च ॥

[से किं तं दिट्ठसाहम्मवमित्यादि] दृष्टेन पूर्वोपलब्धेनार्थेन सह साधर्म्यं दृष्टसाधर्म्यम्, तद्गमकत्वेन विद्यते यत्र तद् दृष्टसाधर्म्यवत् । पूर्वदृष्टश्चार्थः कश्चित्सामान्यतः कश्चित्तु विशेषतो दृष्टः स्यादतस्तद्भेदादिदं द्विविधम्-सामान्यतो दृष्टार्थयोगात्सामान्यदृष्टम्, विशेषतो दृष्टार्थयोगाद्विशेषदृष्टम् ॥

से किं तं सामण्णदिट्ठं ?। सामन्नदिट्ठं-जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा, जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो, जहा एगो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा, जहा बहवे करिसावणा तहा एगो करिसावणो, सेत्तं सामण्णदिट्ठं ॥

[से किं तं सामन्नदिट्ठमित्यादि] तत्र सामान्यदृष्टं यथा एकः पुरुषस्तथा बहवः पुरुषा इत्यादि । इदमुक्तं भवति-नालिकेरद्वीपादायातः कश्चित् तत्प्रथमतया सामान्यत एकं कञ्चन पुरुषं दृष्ट्वाऽनुमानं करोति । यथा-अयमेकः परिदृश्यमानः पुरुष एतदाकारविशिष्टस्तथा बहवोऽत्रापरिदृश्यमाना अपि पुरुषा एतदाकारसम्पन्ना एव, पुरुषत्वाविशेषात्, अन्याकारत्वे पुरुषत्वहानिप्रसङ्गाद्, गवादिवत् । बहुषु तु पुरुषेषु तत्प्रथमतो वीक्षितेष्वेवमनुमिनोति-यथाऽमी परिदृश्यमानाः पुरुषा एतदाकारवन्तस्तथाऽपरोऽप्येकः कश्चित्पुरुषः एतदाकारवानेव, पुरुषत्वात्, अपराकारत्वे तद्धानिप्रसङ्गात्, अश्वादिवत् । इत्येवं कार्षापणादिष्वपि वाच्यम् ।

विशेषतो दृष्टमाह—

से किं तं विसेसदिट्ठं ?। विसेसदिट्ठं से जहा णाम केइ पुरुसे, बहूणं पुरिसाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं पच्चभिजाणेज्जा-अयं से पुरिसे बहूणं करिसावणाणं मज्झे पुव्वदिट्ठं करिसावणं पच्चभिजाणिज्जा-अयं से करिसावणे ॥

(से जहा नाम इत्यादि) अत्र पुरुषाः सामान्येन प्रतीता एव केवलं यदा कश्चित् क्वचित् कञ्चित् पुरुषविशेषं दृष्ट्वा तद्दर्शनाहितसंस्कारोऽसञ्जाततत्प्रमेयः समयान्तरे बहुपुरुषसमाजमध्ये तमेव पुरुषविशेषमासीनमुपलभ्यानुमानयति-यः पूर्वं मयोपलब्धः स एवायं पुरुषः, तथैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, उभयाभिमतपु-

रूपवत्। अथैतत् तदा विशेषदृष्टमनुमानमुच्यते, पुरुषविशेषविषयत्वात्। एवं कार्षापणादिष्वपि वाच्यम्।

तदेवमनुमानस्य त्रैविध्यमुपदर्श्य साम्प्रतं तस्यैव कालत्रयविषयतां दर्शयन्नाह—

तस्स समासओ तिविहं गहणं भवइ। तं जहा—अतीयकालग्गहणं, पडुप्पन्नकालग्गहणं, अणागयकालग्गहणं ॥

(तस्सेति) सामान्येनानुवर्तमानमनुमानमात्रं संबध्यते, तस्याऽनुमानस्य त्रिविधं ग्रहणं भवति। तद्यथा—अतीतकालविषयग्रहणं ग्राह्यस्य वस्तुनः परिच्छेदोऽतीतकालग्रहणम्। प्रत्युत्पन्नो वर्तमानः कालस्तद्विषयं ग्रहणं प्रत्युत्पन्नकालग्रहणम्। अनागतो भविष्यत्कालस्तद्विषयग्रहणमनागतकालग्रहणम्। कालत्रयवर्तिनोऽपि विषयस्यानुमानात्परिच्छेदो भवतीत्यर्थः।

से किं तं अतीयकालग्गहणं ?। अतीयकालग्गहणं उत्तणाणि वणाणि निप्पण्णं सव्वं वा मेइणिं पुण्णाणि अ कुंडसरणईदीहिआतडागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा सुवुट्ठी आसी, सेत्तं अतीयकालग्गहणं ॥

तत्र (उत्तिणाइं ति) उद्गतानि तृणानि येषु वनेषु तानि तथा। अथात्र प्रयोगः—सुवृष्टिरिहाऽऽसीद्, तृणवननिष्पन्नसस्यपृथ्वीतलजलपरिपूर्णकुण्डादिजलाशयप्रभृतितत्कार्यदर्शनाद्, अभिमतदेशवत्, इत्यतीतस्य वृष्टिलक्षणविषयस्य परिच्छेदः।

से किं तं पडुप्पन्नकालग्गहणं ?। पडुप्पन्नकालग्गहणं साहुगोअरग्गगयं विच्छड्डियपउरभत्तपाणं पासित्ता, तेणं साहिज्जइ, जहा सुभिक्खे वट्टइ। सेत्तं पडुप्पन्नकालग्गहणं ॥

साधुं च गोचराग्रगतं भिक्षाप्रविष्टं विशेषेण छर्दितानि गृहस्थैर्दत्तानि प्रचुरभक्तपानानि यस्य स तथा तं तादृशं दृष्ट्वा कश्चित् साधयति। सुभिक्षमिह वर्तते, साधूनां तद्धेतुकप्रचुरभक्तपानलाभदर्शनात्, पूर्वदृष्टप्रदेशवदिति।

से किं तं अणागयकालग्गहणं ?। अणागयकालग्गहणम्-अब्भस्स निम्मलत्तं, कसिणा य गिरी सविज्जुआ मेहा। थणिअं वाउब्भामो, संझा रत्ता पणिद्धा य ॥ १ ॥ वारुणं वा महिंदं वा अण्णयरं वा पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा सुवुट्ठी भविस्सइ। सेत्तं अणागयकालग्गहणं ॥

(अब्भस्स निम्मलत्तं ति) गाथा सुगमा, नवरं स्तनितं मेघगर्जितं (वाउब्भामो त्ति) तथाविधो दृष्ट्यव्यभिचारी प्रदक्षिणं दिक्षु भ्रमन् प्रशस्तो वातः (वारुणं ति) आर्द्रामूलादिनक्षत्रप्रभवं माहेन्द्ररोहिणीज्येष्ठादिनक्षत्रसम्भवम्। अन्यतरमुत्पातमुल्कापातदिग्दाहादिकं प्रशस्तं वृष्ट्यव्यभिचारिणं दृष्ट्वाऽनुमीयते—यथा—सुवृष्टिरत्र भविष्यति, तदव्यभिचारिणामभ्रनिर्मलत्वादीनां समुदितानामन्यतरस्य वा दर्शनाद्, यथाऽन्यवदिति। विशिष्टा ह्यत्र निर्मलत्वादयो वृष्टिं न व्यभिचरन्त्यतः प्रतिपत्त्यैवं तत्र निपुणेन भाव्यमिति।

एएसिं चेव विवज्जासे तिविहं गहणं भवइ। तं जहा अतीयकालग्गहणं, पडुप्पन्नकालग्गहणं, अणागयकालग्गहणं। से किं तं अतीयकालग्गहणं ?। अतीयकालग्गहणं नित्तिणाइं अनिप्फण्णं वा सव्वं वा मेइणी सुक्काणि अ कुंडसरनईदीहिआतडागाइं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुट्ठी आसी। सेत्तं अतीयकालग्गहणं। से किं तं पडुप्पन्नकालग्गहणं ?। पडुप्पन्नकालग्गहणं साहुगोयरग्गगयं भिक्खं अलभमाणं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा दुब्भिक्खे वट्टइ। सेत्तं पडुप्पन्नकालग्गहणं। से किं तं अणागयकालग्गहणं ?। अणागयकालग्गहणम्—धूमायंति दिसाओ, संविअमेइणी अपडिबद्धा। वाया नेरइआ खलु, कुवुट्ठिमेवं निवेयंति ॥ १ ॥ अग्गेयं वा वायव्वं वा अण्णयरं वा अप्पसत्थं उप्पायं पासित्ता तेणं साहिज्जइ, जहा कुवुट्ठी भविस्सइ। सेत्तं अणागयकालग्गहणं, सेत्तं विसेसदिट्ठं, सेत्तं दिट्ठसाहम्मवं, सेत्तमणुमाणे।

(एएसिं चेव विवज्जासे इत्यादि) एतेषामेवोत्तृणवनादीनामतीतवृष्ट्यादिसाधकत्वेनोपन्यस्तानां हेतूनां व्यत्यासे व्यत्यये साध्यस्यापि व्यत्ययः साधयितव्यः। यथा कुवृष्टिरिहासीन्निस्तृणवनादिदर्शनादित्यादिर्व्यत्ययः सूत्रसिद्धः। नवरम्—अनागतकालग्रहणे माहेन्द्रवारुणपरिहारेणाग्नेयवायव्योत्पाता उपन्यस्ताः, तेषां वृष्टिविघातकत्वात्, इतरेषां सुवृष्टिहेतुत्वादिति। "सेत्तं विसेसदिट्ठं, सेत्तं दिट्ठसाहम्मवं" इत्येतन्निगमनद्वयं दृष्टसाधर्म्यलक्षणानुमानगतभेदत्रयस्य समर्थनानन्तरं युज्यते। यदि तु सर्ववाचनास्वत्रैव स्थाने दृश्यते तदा दृष्टसाधर्म्यवतोऽपि समदस्यानुमानमविशेषत्वात् कालत्रयविषयता योजनीयैव। अतस्तामप्यभिधाय ततो निगमनद्वयमिदमकारीति प्रतिपत्तव्यम्। तदेतदनुमानमिति। अनु०।

तच्च कश्चित्पञ्चावयवेन वाक्येन, कश्चिद्दशाऽवयवेन वाक्येन परं प्रति दर्श्यते—तत्र पञ्चाऽवयवाः—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि" अत्र च—"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो। देवा वि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो" ॥१॥ इति श्लोकमधिकृत्य निदर्श्यते—

कत्थइ पंचावयवं, दसहा वा सव्वहा न पडिसिद्धं।
न य पुण सव्वं भण्णइ, हंदी सवियारमक्खायं ॥ ५१ ॥

श्रोतारमेवाङ्गीकृत्य कश्चित्पञ्चावयवं, दशधा वेति—क्वचिद्वाक्यम्। सर्वथा गुरुश्रोत्रपेक्षया न प्रतिषिद्धमुदाहरणाद्यभिधानमिति वाक्यशेषः। यद्यपि च न प्रतिषिद्धं तथाऽप्यविशेषेणैव च न पुनः सर्वं भण्यते उदाहरणादि। किमित्यत आह—(हंदी सवियारमक्खायं ति) हंदीत्युपप्रदर्शने। किमुपदर्शयति ?, यस्मादिहान्यत्र शास्त्रान्तरे सविचारं सप्रतिपक्षमाख्यातम्, साकल्येन उदाहरणाद्यभिधानमिति गम्यते। पञ्चावयवाश्च प्रतिज्ञादयः। यथोक्तम्—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः"। दश पुनः प्रतिज्ञाविभक्त्यादयः। वक्ष्यति च—"ते उ पइण्णविभत्ती हेउविभत्ती।" इत्यादिप्रयोगाश्चैतेषां लाघवार्थमिहैव स्वस्थाने दर्शयिष्याम इति गाथार्थः। दश० १ अ०।

दशावयवाः पुनरित्थम्—

प्रतिज्ञा १ विभक्तिः २ हेतुः ३ विभक्तिः ४ विपक्षः ५ प्रतिषेधः ६ दृष्टान्तः ७ आशङ्का ८ तत्प्रतिषेधः ९ निगमनम् १०। इह च दशावयवाः प्रतिज्ञादिशुद्धिसहिता भवन्ति। अवयवत्वं च

तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिव भावनीयमित्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रत्वात्प्रारम्भस्येति। दश० १ अ०। (प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं सोदाहरणं स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

इदानीं भूयोऽपि भङ्ग्यन्तरभाजा दशावयवेनैव वाक्येन सर्वमध्ययनं व्याचष्टे निर्युक्तिकारः—

ते उ पइन्नविभत्ती, हेउविभत्ती विवक्ख पडिसेहो।
दिट्ठंतो आसंका, तप्पडिसेहो निगमणं च ॥ ४२ ॥

(त इति) अवयवाः। तु पुनःशब्दार्थः। ते पुनरमी प्रतिज्ञादयः। तत्र प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा, वक्ष्यमाणस्वरूपेत्येकोऽवयवः। तथा विभजनं विभक्तिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः। तथा हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुस्तृतीयः। तथा विभजनं विभक्तिरिति पूर्ववच्चतुर्थकः। तथा विसदृशः पक्षो विपक्षः, साध्यादिविपर्यय इति पञ्चमः। तथा प्रतिषेधनं प्रतिषेधः, विपक्षस्येति गम्यत इत्ययं षष्ठः। तथा दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्त इति सप्तमः। तथा आशङ्कनमाशङ्का, प्रक्रमाद् दृष्टान्तस्यैव इत्यष्टमः। तथा तत्प्रतिषेधः अधिकृताशङ्काप्रतिषेध इति नवमः। तथा निश्चितं गमनं निगमनम्, निश्चितोऽवसाय इति दशमः। चशब्द उक्तसमुच्चयार्थ इति गाथासमासार्थः। व्यासार्थं तु प्रत्यवयवं वक्ष्यति ग्रन्थकार एव ॥ १४२ ॥

तथा चाह—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं-ति पइन्ना अत्तवयणनिद्देसो।
सो य इहेव जिणमए, नऽन्नत्थ पइन्न पविभत्ती ॥ १४३ ॥

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति पूर्ववदियं प्रतिज्ञा। आह—केयं प्रतिज्ञेत्युच्यते?, आप्तवचननिर्देश इति। तत्राप्त अप्रतारकः। अप्रतारकश्चाशेषरागादिक्षयाद्भवतीति। उक्तं च—"आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्" ॥१॥ तस्य वचनमाप्तवचनम्, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः। आह—'अयमागम' इति। उच्यते—विप्रतिपन्नसंप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वेनैव एव प्रतिज्ञेति नैष दोषः। पाठान्तरं वा-'साध्यवचननिर्देश' इति। साध्यत इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थः यस्मात्स एवोच्यते। साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनम्, साध्यार्थ इत्यर्थः। तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तः प्रथमोऽवयवः। अधुना द्वितीय उच्यते—स चाधिकृतो धर्मः किमिहैव जिनशासने अस्मिन्नेव मौनीन्द्रे प्रवचने नान्यत्र कपिलादिमतेषु ?; तथाहि—प्रत्यक्षत एवोपलभ्यन्ते वस्त्रादिपूतप्रभूतोदकाद्युपभोगेषु परिव्राट्प्रभृतयः प्राण्युपमर्दं कुर्वाणाः, ततश्च कुतस्तेषु धर्म ?, इत्याद्यत्र बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्भावितत्वाच्चेति। प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरियम्—प्रतिज्ञाविषयविभागकथनेति गाथार्थः। उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ १४३ ॥

अधुना तृतीय उच्यते। तत्र—

सुरपूइओ त्ति हेऊ, धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे।
हेउविभत्ती निरुवहि-जियाण अवहेण य जियंति ॥ १४४ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः। सुरग्रहणमिन्द्राद्युपलक्षणम्। इति शब्द उपदर्शने। कोऽयम् ?, हेतुः पूर्ववद् हेत्वर्थसूचकं चेदं वाक्यम्। हेतुस्तु सुरेन्द्रादिपूजितत्वादिति द्रष्टव्यः। अस्यैव सिद्धतां दर्शयति—धर्मः पूर्ववद्। तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, धर्मश्चासौ स्थानं च धर्मस्थानम्, स्थानमालयः, तस्मिन् स्थिताः। तुरयमेवकारार्थः, स चावधारणे, अयं चोपरिष्टात् क्रियया सह योक्ष्यते। यद् यस्मात्, किंभूते धर्मस्थाने?, परमे प्रधाने, किम्?, सुरादिभिः पूज्यन्त एवेति वाक्यशेषः। इति तृतीयोऽवयवः। अधुना चतुर्थ उच्यते-हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभागकथनम्। अथ क एते धर्मस्थाने स्थिता इत्यत आह—निरुपधयः उपधिश्छद्म माया इत्यनर्थान्तरम्। अयं च क्रोधाद्युपलक्षणम्। ततश्च निर्गता उपध्यादयः सर्व एव कषाया येभ्यस्ते निरुपधयो निष्कषायाः, जीवानां पृथिवीकायिकादीनामवधेनापीडया, चशब्दात्तपश्चरणादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्थिता नान्य इति गाथार्थः ॥ १४४ ॥

उक्तश्चतुर्थोऽवयवः। अधुना पञ्चममभिधित्सुराह—

जिणवयणपदुट्ठे वि हु, ससुराईए अधम्मरुइणो वि।
मंगलबुद्धीइ जणो, पणमइ आइदुयविवक्खो ॥ १४५ ॥

इह विपक्षः पञ्चम इत्युक्तम्। स चायम्-प्रतिज्ञाविभक्त्योरिति। जिनास्तीर्थकरास्तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रद्विष्टा अप्रीता इति समासः, तान्। अपिशब्दादप्रद्विष्टानपि। हु इत्ययं निपातोऽवधारणार्थः। अस्थानप्रयुक्तश्च स्थाने च दर्शयिष्यामः। श्वशुरादीन्। श्वशुरो लोकप्रसिद्धः—आदिशब्दात्पित्रादिपरिग्रहः। न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां ते अधर्मरुचयस्तान्। अपिशब्दाद्धर्मरुचीनपि। किम् ?, मङ्गलबुद्ध्या मङ्गलप्रधानया धिया। मङ्गलबुद्ध्यैव नामङ्गलबुद्ध्येत्येवकारोऽवधारणार्थः। किम्? जनो लोकः। प्रकर्षेण नमति प्रणमति। आद्यद्वयविपक्ष इति। अत्राद्यद्वयं प्रतिज्ञा तच्छुद्धिश्च। तस्य विपक्षः साध्यादेर्विपर्यय इत्याद्यद्वयविपक्षः। तत्राधर्मरुचीनपि मङ्गलबुद्ध्या जनः प्रणमतीत्यनेन प्रतिज्ञाविपक्षमाह—तेषामधर्माव्यतिरेकाद्, जिनवचनप्रद्विष्टानपीत्यनेन तु तच्छुद्धेस्तत्राऽपि हेतुप्रयोगप्रवृत्त्या धर्मसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

बिइयदुयस्स विवक्खो, सुरेहिँ पुज्जंति जण्णजाई वि।
बुद्धाई वि सुरनया, वुच्चंते णायपडिवक्खो ॥ १४६ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्द्वयं च द्वितीयद्वयम्-हेतुस्तच्छुद्धिः, इदं च प्रागुक्तद्वयापेक्षया द्वितीयमुच्यते। तस्यायं विपक्षः इह सुरैः पूज्यन्ते यज्ञयाजिनोऽपि। इयमत्र भावना—यज्ञयाजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्ति, अथ च सुरैः पूज्यन्ते, ततश्च सुरपूजितत्वमकारणमित्येष हेतुविपक्षः। तथा-अजितेन्द्रियाः सोपधयश्च यतस्ते वर्तन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने स्थिताः परम इत्यादिकाया हेतुविभक्तेरपि विपक्ष उक्तो वेदितव्य इति। उदाहरणे विपक्षमधिकृत्याह-बुद्धादयोऽप्यादिशब्दात् कापिलादिपरिग्रहः। ते किम्?, सुरनता देवपूजिता उच्यन्ते भण्यन्ते, तच्छासनप्रतिपन्नैरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गाथार्थः। आह-ननु दृष्टान्तमुपरिष्टाद्वक्ष्यत्येवं ततश्च तत्स्वरूपे उक्ते च तत्रैव विपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च वक्तुं युक्तः, तत् किमर्थमिह विपक्षस्तत्प्रतिषेधश्चाभिधीयते? उच्यते-विपक्षसाम्यादधिकृत एव विपक्षद्वारे लाघवार्थमभिधीयते, अन्यथेदमपि पृथग्द्वारं स्यात्। तथैव तत्प्रतिषेधोऽपि द्वारान्तरं प्राप्नोति, तथा च सति ग्रन्थगौरवं जायते। तस्माल्लाघवार्थमत्रैवोच्यत इत्यदोषः। आह-'दिट्ठंतो आसंका, तप्पडिसेहो' त्ति वचनात् उत्तरत्र दृष्टान्तमभिधाय पुनराशङ्कां तत्प्रतिषेधं च वक्ष्यत्येव। तदाशङ्का च तद्विपक्ष एव। तत्किमर्थमिह पुनर्विपक्षप्रतिषेधावभिधीयेते ?। उच्यते-अनन्तरपरम्पराभेद-

न दृष्टान्तद्वैविध्यस्थापनार्थम, यः खल्वनन्तरप्रयुक्तोऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वाद्दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायाऽलं न भवति, तत्प्रसिद्धये विपक्षसिद्धो योऽन्य उच्यते, स परम्परादृष्टान्तः। तथा च तीर्थकरास्तथा साधवश्च द्वावपि भिन्नावेतावुत्तरत्र दृष्टान्तावभिधास्येते। तत्र तीर्थकृल्लक्षणं दृष्टान्तमङ्गीकृत्येह विपक्षप्रतिषेधावुक्तौ। साधूंस्त्वधिकृत्य तत्रैवाऽऽशङ्कातत्प्रतिषेधौ दर्शयिष्येते इत्यदोषः। स्यान्मतं प्रागुक्तेन विधिना लाघवार्थमनुक्त एव दृष्टान्तः, उच्यतां काममिहैव दृष्टान्तविपक्षस्तत्प्रतिषेधश्च स एव दृष्टान्तः, किमित्युत्तरत्रोपदिश्यते,येन हेतुविभक्तेरनन्तरमिहैव न भण्यते?। तथाह्यत्र दृष्टान्ते भण्यमाने प्रतिज्ञादीनामिव द्विरूपस्यापि दृष्टान्तस्यार्हत्साधुलक्षणस्यैतावेव विपक्षतत्प्रतिषेधावुपपद्येते। ततश्च साधुलक्षणस्य दृष्टान्तस्याशङ्का तत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ भवतः। तथा च सति ग्रन्थलाघवं जायते। तथा प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपाः सविशुद्धिकास्त्रयोऽप्यवयवाः क्रमेणोक्ता भवन्तीत्यत्रोच्यते-इहाऽभिधीयमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिज्ञादीनामपि प्रत्येकमाशङ्कातत्प्रतिषेधौ वक्तव्यौ स्तः। तथा च सत्यवयवबहुत्वे दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिव विपक्षतत्प्रतिषेधाभ्यां पृथगाशङ्कातत्प्रतिषेधौ न वक्तव्यौ स्याताम्। एवं सति दशावयवा न प्राप्नुवन्ति। दशावयवं चेदं वाक्यं भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपिपादयिषितमस्याऽपि न्यायस्य प्रदर्शनार्थमत एव यदुक्तं साधुलक्षणदृष्टान्तस्याशङ्कातत्प्रतिषेधावुत्तरत्र न पृथग्वक्तव्यौ स्यातामित्यादि, तदपाकृतं वेदितव्यमित्यलंप्रसङ्गेन। एवं प्रतिज्ञादीनां प्रत्येकं विपक्षोऽभिहितः ॥१४६॥

अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञादिविपक्षः पञ्चमोऽवयवो वर्तत इत्येतद्दर्शयन्निदमाह—

एवं तु अवयवाणं, चउण्ह पडिवक्खु पंचमोऽवयवो ।
एत्तो छट्ठोऽवयवो, विवक्खपडिसेह तं वोच्छं ॥ १४७ ॥

एवमित्ययमेवकार उपप्रदर्शने। तुरवधारणे। अयमेवाऽवयवानां प्रमाणाऽङ्गलक्षणानां चतुर्णां प्रतिज्ञादीनां प्रतिपक्षो विपक्षः पञ्चमोऽवयव इति। आह-दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव,तत्किमर्थं चतुर्णामित्युक्तम्?। उच्यते। हेतोः सपक्षविपक्षाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्तद्विपक्ष एव चास्यान्तर्भावाददोष इत्युक्तः पञ्चमोऽवयवः। अधुना षष्ठ उच्यते-तथा चाह-इत उत्तरत्र षष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिषेधस्तं वक्ष्येऽभिधास्य इति गाथार्थः ॥ १४७ ॥

इत्थं सामान्येनाभिधायेदानीमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधमभिधातुकाम आह—

सायं सम्मत्त पुमं, हासरई आउनामगोयसुहं ।
धम्मफलं आइदुगे, विवक्खपडिसेह मो एसो ॥१४८॥

(सायं ति) सातवेदनीयं कर्म (सम्मत्तं ति) सम्यक्त्वं सम्यग्भावः सम्यक्त्वं मोहनीयं कर्मैव(पुमं ति) पुंवेदमोहनीयम्। (हासं ति) हस्यतेऽनेनेति हासस्तद्भावो हास्यम्; हास्यमोहनीयम्। रम्यतेऽनयेति रतिः,क्रीडाहेतू रतिमोहनीयं कर्मैव।(आउनामगोयसुहं ति) अत्र शुभशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अन्ते वचनात्। ततश्च आयुःशुभं, नामशुभं, गोत्रशुभम, तत्रायुःशुभं तीर्थकरादिसंबन्धि, नामगोत्रे अपि कर्मणी शुभे तेषामेव भवतः। तथाहि-यशोनामादि शुभं तीर्थकरादीनामेव भवति। तथोच्चैर्गोत्रं तदपि शुभं तेषामेवेति। (धम्मफलं ति) धर्मस्य फलं धर्मफलम्; धर्मेण वा फलं धर्मफलम, एतदहिंसादेर्जिनोक्तस्यैव धर्मस्य फलम्। अहिंसादिना जिनोक्तेनैव च धर्मेणैव फलमवाप्यते। सर्वमेव चैतत् सुखहेतुत्वाद् हितम्। अतः स एव धर्मो मङ्गलं, न श्वशुरादयः। तथाहि—मङ्गयते हितमनेनेति मङ्गलम्। तच्च यथोक्तधर्मेणैव मङ्ग्यते नान्येन, तस्मादसावेव मङ्गलं, न जिनवचनबाह्याः श्वशुरादय इति स्थितम्। आह-मङ्गलबुद्ध्यैव जनः प्रणमतीत्युक्तं,तत्कथमित्युच्यते मङ्गलबुद्ध्याऽपि गोपालाऽङ्गनाऽऽदिमोहतिमिरोपप्लुतबुद्धिलोचनो जनः प्रणमन्नपि न मङ्गलत्वनिश्चयायालम्। तथाहि न तैमिरिकाद्विचन्द्रोपदर्शनं सचेतसां चक्षुष्मतां द्विचन्द्राऽऽकारायाः प्रतीतेः प्रत्ययतां प्रतिपद्यते। अतद्रूप एव तद्रूपाध्यारोपद्वारेण तत्प्रवृत्तेरिति। (आइदुगे ति) आद्यद्वयं प्रागुक्तं, तस्मिन्नाद्यद्वयविषये विपक्षप्रतिषेधः। मो इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः। एष इति यथा वर्णित इति गाथार्थः। इत्थमाद्यद्वयविपक्षप्रतिषेधः प्रतिपादितः ॥१४८॥

संप्रति हेतुतच्छुद्ध्योर्विपक्षप्रतिषेधप्रतिपिपादयिषयेदमाह—

अजिइंदिय सोवहिया, वहगा जइ ते वि नाम पुज्जंति ।
अग्गी वि होज्ज सीओ, हेउविभत्तीण पडिसेहो ॥१४९॥

न जितानि श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि यैस्ते तथोच्यन्ते। उपधिश्छद्म मायेत्यनर्थान्तरम्। उपधिना सह वर्तन्त इति सोपधयो मायाविनः, परव्यंसका इति यावत्। अथवा उपदधातीत्युपधिर्वस्त्राद्यनेकरूपः परिग्रहः, तेन सह वर्तन्ते ये ते तथाविधाः, महापरिग्रहा इत्यर्थः। (वहगा इति) वधन्तीति वधकाः प्रत्युपमर्दकर्त्तारः (जइ ते वि नाम पुज्जंति त्ति) यदीति पराभ्युपगमसंसूचकः, त इति याज्ञिकाः। अपिः संभावने। नाम इति निपातो वाक्यालङ्कारार्थः। येऽजितेन्द्रियत्वादिदोषदुष्टा यज्ञयाजिनो वर्तन्ते, यदि तेऽपि नाम पूज्यन्ते, एवं तर्ह्यग्निरपि भवेच्छीतः। न च कदाचिदप्यसौ शीतो भवति। तथा यदीन्दीवरस्रजोऽपि वान्ध्येयोरःस्थशशोनामादधीरन्, न चैतद्भवति। यथैवमादिरत्यन्तोऽभावस्तथेदमपीति मन्यते। अथापि कालदौर्गुण्यात् कथंचिदविवेकिना जनेन पूज्यन्ते, तथाऽपि तेषां न मङ्गलत्वसंप्रसिद्धिरप्रेक्षावतामतद्रूपेऽपि वस्तुनि तद्रूपाध्यारोपेण प्रवृत्तेः,तथाह्यकलङ्कधियामेव प्रवृत्तिर्वस्तुनस्तद्भावं गमयति। अतथाभूते वस्तुनि तद्बुद्ध्या तेषामप्रवृत्तेः। सुविशुद्धबुद्धयश्च दैत्याऽमरेन्द्रादयः, ते चाहिंसादिलक्षणं धर्ममेव पूजयन्ति, न यज्ञयाजिनः। तस्माद्दैत्यामरेन्द्रादिपूजितत्वाद्धर्म एवोत्कृष्टं मङ्गलं, न याज्ञिका इति स्थितम्। (हेउविभत्तीणं ति) एष हेतुतद्विभक्त्योः (पडिसेहो त्ति) विपक्षप्रतिषेधः। विपक्षशब्द इहानुक्तेऽपि प्रकरणाद् द्रष्टव्य इति गाथार्थः। एवं हेतुतच्छुद्ध्योर्विपक्षप्रतिषेधो दर्शितः।

सांप्रतं दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधं दर्शयन्नाह—

बुद्धाई उवयारे, पूयाठाणं जिणा उ सब्भावं ।
दिट्ठंते पडिसेहो, छट्ठो एसो अवयवो उ ॥१५०॥

बुद्धादयः, आदिशब्दात्कापिलादिपरिग्रहः। उपचार इति सुपां सुपो भवन्तीति न्यायादुपचारेण किञ्चिदतीन्द्रियं कथयन्तीति कृत्वा न वस्तुस्थित्या पूजायाः स्थानं पूजास्थानम्। जिनास्तु सद्भावं परमार्थमधिकृत्येति वाक्यशेषः। सर्वज्ञत्वाद्यसाधारणगुणयुक्तत्वादिति भावना। दृष्टान्तप्रतिषेध इति। विपक्षशब्दलोपाद् दृष्टान्तविपक्षप्रतिषेधः। किम्?, षष्ठ एषोऽवयवः। तुर्विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि?, सर्वोऽप्ययमनन्तरोदितः प्रति-

क्षादिविपक्षप्रतिषेधः पञ्चप्रकारोऽप्येक एवेति गाथार्थः ॥१५०॥
षष्ठमवयवमभिधायेदानीं सप्तमं दृष्टान्तनामानमभिधातुकाम आह—

अरहंत मग्गगामी, दिट्ठंतो साहुणो वि समचित्ता ।
पागरएसु गिहेसु ज, एसंते अवहमाणा उ ॥ १५१ ॥

पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः न रुहन्तीति वा अरुहन्तः किम् ?, दृष्टान्त इति सम्बन्धः । तथा मार्गगामिन इति । प्रक्रमात्तदुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं येषां त एव गृह्यन्ते। के च ते? इत्यत आह-साधवः साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधवः, तेऽपि दृष्टान्त इति योगः। किंभूताः ?, समचित्ता रागद्वेषरहितचित्ता इत्यर्थः । किमिति तेऽपि दृष्टान्त इति ?। अहिंसादिगुणयुक्तत्वात् । आहे च-पाकरतेष्वात्मार्थमेव पाकसक्तेषु गृहेष्वगारेष्वेषन्ते गवेषयन्ति पिण्डपातमित्यध्याहारः । किं कुर्वाणा इत्यत आह-(अवहमाणा उ त्ति) न घ्नन्तोऽघ्नन्तः । तुरवधारणार्थः । ततश्चाघ्नन्त एव, आरम्भाकरणेन पीडामकुर्वाणा इत्यर्थः । एवं द्विविधोऽपि दृष्टान्त उक्तः । दृष्टान्तवाक्यं चेदम्। स तु संस्कृत्य कर्त्तव्योऽर्हदादिवदिति गाथार्थः ॥ १५१ ॥ उक्तः सप्तमोऽवयवः ।

सांप्रतमष्टममभिधित्सुराह-

तत्थ भवे आसंका, उद्दिस्स जई वि कीरए पागो ।
तेण र विसमं नायं, वासतणा तस्स पमिसेहे ॥ १५२ ॥

तत्र तस्मिन् दृष्टान्ते भवेदाशङ्का भवत्याक्षेपः यथोद्दिश्याऽङ्गीकृत्य यतीनपि संयतानपि । अपिशब्दादप्रत्याऽऽर्त्यापि । क्रियते निर्वर्त्यते पाकः । कैः ?, गृहिभिरिति गम्यते । ततः किमित्यत आह-तेन कारणेन । र इति निपातः किलशब्दार्थः । विषममतुल्यम्, ज्ञातमुदाहरणं वस्तुतः पाकोपजीवित्वेन साधूनामनघघातृत्वभावादिति भावितमेवैतत् पूर्वमित्यष्टमोऽवयवः । इदानीं नवममधिकृत्याह-वर्षातृणानि तस्य प्रतिषेध इत्येतच्च भाष्यकृता प्राक्प्रपञ्चितमेवेति न प्रतन्यत इति गाथार्थः ॥१५२॥ उक्तो नवमोऽवयवः ।

साम्प्रतं चरममभिधित्सुराह--

तम्हा उ सुरनराणं, पुज्जत्तं मंगलं सया धम्मो ।
दसमो एस अवयवो, पइन्नहेऊ पुणो वयणं ॥ १५३ ॥

यस्मादेवं तस्मात् सुरनराणां देवमनुष्याणां पूज्यस्तद्भावस्तस्मात् पूज्यत्वान्मङ्गलं प्राग्निरूपितशब्दार्थं सदा सर्वकालं धर्मः प्रागुक्तः । दशम एषोऽवयव इति संख्याकथनम् । किंविशिष्टोऽयमित्यत आह-प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं पुनर्हेतुप्रतिज्ञावचनमिति गाथार्थः । उक्तं द्वितीयं दशावयवम् । साधनाऽङ्गता चावयवानां विनेयाऽपेक्षया विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वेन भावनीयेत्युक्तोऽनुगमः ॥१५३॥ दश० नि० १ अ० ।

प्रासङ्गिकमभिधाय पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमिति प्रागुक्तं समर्थयन्ते-

पक्षहेतुवचनलक्षणमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरङ्गं न दृष्टान्तादिवचनम् ॥ २८ ॥

आदिशब्देनोपनयनिगमनादिग्रहः । एवं च यद् व्याप्त्युपेतं पक्षधर्मतोपसंहाररूपं सौगतैः, पक्षहेतुदृष्टान्तस्वरूपं भाट्टप्राभाकरकापिलैः, पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनलक्षणं नैयायिकवैशेषिकाभ्यामनुमानमाम्नायि । तदपास्तम् । व्युत्पन्नमतीन्प्रति पक्षहेतुवचनयोरेवोपयोगात् ॥ २८ ॥

पक्षप्रयोगं प्रतिष्ठाप्य हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति-

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥२९॥

तथैव साध्यसंभवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः । अन्यथा साध्याभावप्रकारेणानुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥२९॥

अमू एव स्वरूपतो निरूपयन्ति-

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

निगदव्याख्यानम् ॥३०॥

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१ ॥

एतदपि तथैव ॥३१॥

अमुयोः प्रयोगौ नियमयन्ति-

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्राऽनुपयोगः ॥ ३२ ॥

अयमर्थः-प्रयोगयुग्मेऽपि वाक्यविन्यास एव विशिष्यते,नार्थः।स चान्यतरप्रयोगेणैव प्रकटीबभूवेति किमपरप्रयोगेण? इति।३२।
अथ यदुक्तं "न दृष्टान्तादिवचनं परप्रतिपत्तेरङ्गम्" इति तत्र दृष्टान्तवचनं तावन्निराचिकीर्षवस्तद्धि ।किं परप्रतिपत्त्यर्थं परैरङ्गीक्रियते ?, किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये ?, यद्वाऽविनाभावस्मृतये?, इति विकल्पेषु प्रथमं विकल्पं तावद्दूषयन्ति-

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

प्रतिपन्ना अविस्मृतसंबन्धस्य हि प्रमातुरग्निमानयं देशो धूमवत्त्वान्यथाऽनुपपत्तेरित्येतावतैव भवत्येव साध्यप्रतीतिरिति।३३।

द्वितीयं विकल्पं परास्यन्ति-

न च हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥३४॥

अत्रैवोपपत्त्यन्तरमुपवर्णयन्ति--

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तराऽपेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५ ॥

प्रतिनियतव्यक्तौ हि व्याप्तिनिश्चयः कर्त्तुमशक्यः । ततो व्यक्त्यन्तरेषु व्याप्त्यर्थं पुनर्दृष्टान्तान्तरं मृग्यम् । तस्याऽपि व्यक्तिरूपत्वेनाऽपरदृष्टान्तापेक्षायामनवस्था स्यात् ॥ ३५ ॥

तृतीयविकल्पं पराकुर्वन्ति-

नाऽप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तवचनं प्रभवतीति योगः ॥३६॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्ते-

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अयमर्थः-"अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ, बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं

न्वयमेव । अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ,बाह्यव्याप्तेर्वर्णनं व- न्ध्यमेव" ॥१॥ मत्पुत्रोऽयं बहिर्वक्ति,एवंरूपस्वरान्यथानुपपत्तेः,इ- त्यत्र बहिर्व्याप्त्यभावेऽपि गमकत्वस्य 'स श्यामः,तत्पुत्रत्वात्, इत- रतत्पुत्रवत्, इत्यत्र तु तद्भावेऽप्यगमकत्वस्योपलब्धेरिति ॥ ३७॥ रत्ना० ३परि०।(धर्मिणं साधयन्नेकान्तवादी साधर्म्यतो वैधर्म्यत- श्च न शक्नोतीति 'अणेगंतवाय' शब्देऽत्रैव भाग वक्ष्यते) अनुमितं साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाऽप्युपचाराद् हेतुविशेषे,स्था.४ठा०३ उ०। ननु लिङ्गग्रहणं संबन्धस्मरणाभ्यामनु पश्चान्मानमनुमानम, लिङ्गजं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत ?, सत्यम, किन्तु कारणे कार्योपचाराद्ध्यनुमानम् । यथा–प्रत्यक्षज्ञान- जनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । विशे०। दृष्टान्ते , आकाशपदानु- मानादत्राऽनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः । दशा० १ अ० ।

अणुमाणइत्ता–अनुमान्य–अव्य० । अनुमानं कृत्येर्थे, व्य० १ उ० । लघुतरापराधनिवेदनेन मृदुदण्डादित्वमाचार्यस्याकल- य्येत्यर्थे,ध० २ अधि० । म० ।

अणुमाणणिराकिय–अनुमाननिराकृत–त्रि० । अनुमानबाह्ये, यथा नित्यः शब्दः । वस्तुदोषविषये विशेषे, स्था० १० ठा० ।

अणुमाणाजास–अनुमानाभास–पुं०। पक्षाभासादिसमुत्थे ज्ञा- नेऽयथार्थाऽनुमाने , रत्ना० ६ परि० ।

अणुमाय–अणुमात्र–त्रि० । स्तोकमात्रे , दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिइ–अनुमिति–स्त्री०। अनु–मा–क्तिन् । अनुमाने व्याप्तिवि- शिष्टस्य पक्षधर्मताज्ञानाधीनेऽनुभवभेदे, अनुमोदने च । प्रति०।

अणुमु (म्मु) क–अनुमुक्त–त्रि०। अविमुक्ते, प्रश्न०४ आश्र० द्वा०।

अणुमोइय–अनुमोदित-त्रि० । अनु-मुद्-णिच् । कर्मणि क्तः। कृता- ऽनुमोदने स्वानुमतत्वज्ञापनेन प्रोत्साहिते, "भवता यद् व्यव- सितं तन्मे साध्वनुमोदितम् । प्रार्थ्यमानोऽर्थिना यत्र, हार्थो नैव विघातिताः ॥ १ ॥ दानकालेऽथवा तूष्णीं, स्थितः सोऽर्थानुमो- दितः " इति । उक्तेऽर्थे च , वाच० । यत् त्वया शत्रुहननादि- कार्यं भव्यं कृतमित्यादिवदने , आतु० ।

अणुमोयग–अणुमोदक–त्रि० । दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यां प्र- शंसके संप्रदाने , विशे० ।

अणुमोयण (णा)–अनुमोदन (ना)–न०—स्त्री० । अ- नुमतौ, पञ्चा० ७ विव० । आव० । अनुज्ञाने , सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । आधाकर्मप्रभृतिकर्तृप्रशंसायाम , अप्रतिषेधने च । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति विद्वत्प्रवादात् । पिं० । "इणंतं णा- णुजाणइ " घ्नन्तं नानुजानाति । अनुमोदनेन तस्य वा दीयमा- नस्याप्रतिषेधनेनाप्रतिषिद्धमनुमतमिति वचनाद्धननप्रसङ्गजन- नाच्च । आह च–"कामं सयं न कुव्वइ , जाणंतो पुण तहा वि त- ग्गाही । वड्ढेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ" ॥१॥ स्था०७ठा०। जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणायामनुमतौ,पञ्चा० ६ विव० ।

अणुमोयणकम्मजोयगप्पसंसा–अनुमोदनकर्मभोजकप्रशंसा— स्त्री० । अनुमोदनादाधाकर्मभोजकप्रशंसायाम, अकृतपुण्याः सुलब्धिका एते , ये इत्थं सदैव लभन्ते यतेतेत्येवंरूपा । पिं० ।

अणुयत्तणा–अनुवर्तना–स्त्री० । आनुकूल्याऽनुपघाते , जी० १ प्रति० । ग्लानोपचारे, बृ० १ उ० । (ग्लानस्याऽनुवर्तना ' गि- लाण ' शब्दे द्रष्टव्या)

अणुयत्तणाइजुत्त–अनुवर्तनादियुक्त–त्रि० । आनुकूल्याऽनुप- घातसहिते, " अणुयत्तणाइजुत्तो, पासत्थाईसु ता खित्ते" जी० १ प्रति० ।

अणुयत्तमाण–अनुवर्तमान–त्रि० । अनुगच्छति, विशे०। "सद्- दइ समत्थेइ य, कुणइ करावेइ गुरुजणाभिमयं । छंदमणुयत्त- माणो, गुरुजणाराहणं कुणइ ॥ १ ॥ आ० म० प्र० ।

अणुयरिय–अनुचरित–न० । आसेविते , आ० १ श्रु० १ अ० ।

अणुया–अनुज्ञा–स्त्री० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणुयास –अनुकाश–पुं० । विकाशप्रसरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अणुरंगा–अनुरङ्गा–स्त्री० । गन्त्र्याम , घंसिकायां च । "अ- णुरंगाइ जाणे " बृ० १ उ० ।

अणुरंजिएल्लय–अनुरञ्जित–त्रि० । अनु–रञ्ज–क्त । प्राकृते स्वार्थिक इल्लकप्रत्ययः । संप्रदायक्रमरञ्जिते, जं० ३ वक्ष० ।

अणुरत्त-अनुरक्त–त्रि० । अनुरज्ये , औ० । आतु० । अत्यन्त- स्नेहभाजि, उत्त० १४ अ० । ज्ञा० । अनुरागवत्याम , भ० १२ श० ६ उ० । पतिरक्तायां भर्तारं प्रति रागवत्याम , ज्ञा० १६ अ० । स्त्रियाम, " अणुरत्ता अविरत्ता, इट्ठे सद्दफरिसरसरूव- गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहर- ति " अनुरक्ताऽविरक्ता अनुरज्या भर्तरि प्रतिकूले सत्यपि , न विप्रियेऽपि विरक्ततां गतेत्यर्थः । औ० । वर्णवादिनि प्रतीच्छके, "........अणुयत्ततो विसेसएहं। उज्जुत्तमपरितंतो,इच्छति मत्थं लज्जाति साधू। जो तु अवाइज्जंतो, ण रूसती जद ममं ण वा एति॥ सो होति अणुरत्तो..............." पं० भा० ।

अणुरत्तलोयणा–अनुरक्तलोचना–स्त्री० । उज्जयिनीपुरीश्व- रस्य देवलासुतस्य राज्ञोऽग्रमहिष्याम, आ० क० । आव० ।

अणुरसिय–अनुरसित–न० । शब्दायिते, ज्ञा० ६ अ० ।

अणुराग–अनुराग–पुं० । अनु–रञ्ज–घञ् । प्रीतिविशेषे, आ०। परस्परस्यात्यन्तिक्यां प्रीतिमत्याम् , बृ० १ उ० । (त्रिवि- धोऽभिष्वङ्गरूपः, तद्यथा–दृष्ट्यनुरागो,विषयाऽनुरागः,स्नेहा- नुरागश्चेति 'राग' शब्दे वक्ष्यते) विशे० । यथावस्थितगुणो- त्कीर्तने तदनुरूपोपचारलक्षणे तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणे , प्रव० १० द्वा० ।

अणुरागय–अन्वागत–त्रि० । अनु आ–गम्–क्त । रेफ आ- गमिकः । अनुरूपे आगमने, भ० २ श० १ उ० ।

अणुराहा–अनुराधा–स्त्री० । अनुगता राधां विशाखाम् । वाच० । मित्रदेवताके नक्षत्रभेदे , अनु० । जं० । स्था० । "अणुराहाणक्खत्ते चउतारे " पं० सं० । सू० प्र० । ज्यो० । ('णक्खत्त ' शब्देऽस्यास्तत्त्वं व्याख्यास्यामः)

अणुरुज्झंत–अनुरुध्यमान–त्रि० । अनु–रुध्–यक्—शानच् । प्राकृते " समनुपाद् रुधेः " ॥८।४।२४८॥ इति अनोः परस्य रुधेः कर्मभावे ज्झो वा । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरुंधिज्जंत–अनुरुध्यमान–त्रि० । अनु–रुध्–यक् शानच् । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूव–अनुरूप–त्रि० । अविषमे, स्था० ६ ठा० । अनुकूले, आ० म० प्र० । घटमानेऽर्थे, विशे० । सदृशे, उत्त० १ अ० । उचिते, ज्ञा० १६ अ० । अनुरिति सादृश्यरूपमिति अव्ययीभावः । स्वस्वभावसदृशे, सम्म० ।

अणुलाव–अनुलाप–पुं० । पौनःपुन्यभाषणे, " अनुलापो मुहुर्भाषा " इति वचनात् । स्था० ७ ठा० । ज्ञा० ।

अणुलिंपण–अनुलेपन–न० । सकृल्लिप्ताया भूमेः पुनर्लेपने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अणुलित्त–अनुलिप्त–त्रि० । चन्दनादिना कृतानुलेपे, औ० ।

अणुलित्तगत्त–अनुलिप्तगात्र–त्रि० । अन्विति अतिशयेन लिप्तं विलेपनरूपकृतं गात्रं शरीरं यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, तं० ।

अणुलिहंत–अनुलिखत्–त्रि० । अभिलङ्घयति, " गगणतलमणुलिहंतसिहरे" सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । तं० । स० । जी० । चं० प्र० ।

अणुलेवण–अनुलेपन–न० । श्रीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ ठा० । ज्ञा० । प्रव० । सकृल्लिप्तस्य पुनः पुनरुपलेपने, प्रश्ना० २ पद ।

अणुलेवणतल–अनुलेपनतल–न० । अनुलेपनप्रधाने तले, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पुनरुपलिप्तभूमिकायाम्, " मेयवसापूयरुधिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला " प्रश्ना० २ पद ।

अणुलोम–अनुलोम–त्रि० । अविपरीते, पं० चू० । अनुकूले, औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, जं० २ वक्ष० । मनोहारिणि, दश० १ अ० । अनुलोमनार्थद्रव्यानुयोगोऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणाय परस्य यो विधीयते यथा क्षेमं भवतामित्यादिरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० ६ ठा० ।

अणुलोमइत्ता–अनुलोम्य–अव्य० । विवादाऽध्यक्षान् सामनीत्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव वा पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेन अनुलोमे कृत्वेत्यर्थे, " अणुलोमइत्ता पढे " स्था० ६ ठा० ।

अणुलोमवाउवेग–अनुलोमवायुवेग–त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजवो येषां तेऽनुलोमवायुवेगाः । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशेषु, तं० । जी० । युगलमनुष्यादिषु । आह च टीकाकारः– उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां ते तथा, तदभावाच्च तेषामनुलोमो भवति, वायुवेगो मिथुनानाम् इति । जी० १ प्रति० ।

अणुलोमविलोम–अनुलोमविलोम–पुं० । गतेप्रत्यागतौ, पञ्चा० ११ विव० ।

अणुल्लग–अनुल्लक–पुं० । कन्दविशेषे, द्वीन्द्रियजीवभेदे च । उत्त० ३ अ० ।

अणुल्लण–अनुल्लण–त्रि० । अगर्विते, बृ० ३ उ० ।

अणुल्लाव–अनुल्लाप–पुं० । कुत्सिते काका वर्णने, स्था० ३ ठा० ।

अणुल्लोय–अनुल्लक–पुं० । द्वीन्द्रियजविविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

अणुवइट्ठ–अनुपदिष्ट–त्रि० । आचार्यपरम्पराऽनागते, " उस्सुत्तमणुवइट्ठं नाम जं नो आयरियपरंपरागयं मुक्तव्याकरणवत् " । नि० चू० ११ उ० । व्य० ।

अणुवउत्त–अनुपयुक्त–त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगशून्ये, नि० ।

अणुवएस–अनुपदेश–पुं० । स्वभावे, निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरम् । स्था० २ ठा० १ उ० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितोपदेशे, आगमबाधितार्थानुशासने, पञ्चा० १२ विव० ।

अणुवओग–अनुपयोग–पुं० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव० ६ अ० । शक्तेरनुपयोजने अव्यापारणे, पञ्चा० १४ विव० । उपयोजनमुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विवक्षितेऽर्थे चित्तस्य विनिवेशस्वरूपो गृह्यते, न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयोगाविषये, " अणुवओगो दव्वं " भावशून्यतायां च । अनु० ।

अणुवकय–अनुपकृत–त्रि० । उपकृतमुपकारो न विद्यते उपकृतं येषां ते । अकृतोपकारिषु, षो० ९ विव० । परैरवर्तितेषु, आव० ४ अ० ।

अणुवकयपराहिय–अनुपकृतपरहित–त्रि० । उपकृतमुपकारः, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते पराश्च, तेभ्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहितरतः । निष्कारणवत्सले, षो० १ विव० ।

अणुवकंत–अनुपक्रान्त–त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणुवक्ख–अनुपाख्य–त्रि० । गताऽऽख्यातिके, बृ० १ उ० ।

अणुवक्खम–अनुपस्कृत–त्रि० । अकृतोपस्कारे, "उवक्खकायखीरदहिमादि ; अणुवक्खमा सव्वेसु परिविठेसु " नि० चू० १ उ० ।

अणुवगरण–अनुपकरण–न० । उपधेरभावे, व्य० ७ उ० ।

अणुवचय–अनुपचय–पुं० । अनुपचीयमानतायाम्, अनुपादाने च । उत्त० १ अ० ।

अणुवच्चंत–अनुव्रजत्–त्रि० । अनु-व्रज-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवजीवि (ण)—अनुपजीविन्—त्रि० । अनाजीविके, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुवज्ज–गम्–धा० । गतौ, भ्वा० प० अनिट् । " गमेरई अइच्छाऽणुवज्जावज्जसोक्क– ॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इत्यादिसूत्रेण गम्धातोरणुवज्जादेशः । अणुवज्जइ–गच्छति । प्रा० ।

अणुवज्जिअं–देशी–प्रतिजागरिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवत्त–अनुवृत्त–त्रि० । द्वितीयवारं प्रवृत्ते जीतव्यवहारादौ, " अणुवत्तो जो पुणो वितीयवारं " व्य० ९ उ० ।

अणुवत्तय–अनुवर्तक–त्रि० । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्तरि, ध० ३ अधि० । भावानुकूल्येन सम्यक्परिपालके, पं० व० १ द्वा० । शिष्याणां छन्दोऽनुवर्तिनि, बृ० ४ उ० । चित्रस्वभावानां प्राणिनां गुणान्तराधानधियाऽनुवृत्तिशीले, शिष्याणामनुवर्तमया प्रव्राजनायोग्ये गुरौ, ध० ३ अधि० । "आगारइंगितेहिं , णातुं हिययत्थितं उवविहेति । गुरुवयणं अनुलोमे, एसो अणुवत्तओ नाम " पं० व० २ द्वा० । अनुलोममविपरीतमित्यर्थः । पं० चू० । (अनुवर्तकस्य व्याख्या द्वि० भा० ३०४ पृष्ठे 'आयरिय' शब्दे वक्ष्यते)

अणुवत्तणा–अनुवर्तना–स्त्री० । शिष्यानुपालनायाम्, पं० व० १ द्वा० ।

अणुवत्ति–अनुवृत्ति–स्त्री० । इङ्गितादिना गुरुचित्तं विज्ञाय तदाऽऽनुकूल्येन प्रवृत्तौ, विशे० । आ० म० द्वि० ।

अणुवभोज्ज–अनुपभोज्य–त्रि० । साधूनामुपभोक्तुमयोग्ये, बृ० ३ उ० ।

अणुवम–अनुपम–त्रि० । उपमारहिते, आव० ५ अ० । न विद्यते उपमा शरीरसन्निवेशसौन्दर्यादिभिर्गुणैर्यस्य तदनुपमम् । षो० १५ विव० ।

अणुवमसिरिय–अनुपमश्रीक–त्रि० । निरुपमदेहकान्तिकलिपते, आ० म० प्र० ।

अणुवमा–अनुपमा–स्त्री० । खाद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवयमाण–अनुवदत्–त्रि० । पश्चाद् वदति, "आरंभट्ठी अणुवयमाणे हणपाणे घायमाणे" (आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०) "असीला अणुवयमाणस्स वितिया" अनुवदतोऽनुपश्चाद्वदतः पृष्ठतोऽपृष्ठतोऽपवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थादेः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अणुवरय–अनुपरत–त्रि० । अविरते, स्था० २ ठा० १ उ० । पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अविच्छिन्ने, स० ।

अणुवरयकायकिरिया–अनुपरतकायक्रिया–स्त्री० । अनुपरतस्याविरतस्य सावद्याद् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रियोत्क्षेपादिलक्षणा कर्मबन्धनमनुपरतकायक्रिया । कायिक्याः क्रियाया भेदे, प्र० ३ श० ३ उ० ।

अणुवरयदण्ड–अनुपरतदण्ड–पुं० । मनोवाक्कायलक्षणदण्डाद् विरते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवरोह–अनुपरोध–पुं० । अव्यापादने, "मार्गोऽन्याऽनुपरोधेन व्यसनानं तदुच्यते" । अप्रतिषेधे च, ध० २ अधि० ।

अणुवलद्धि–अनुपलब्धि–स्त्री० । उप–लभ्–क्तिन् । न० त० । लाभाऽभावे, प्रत्यक्षाऽभावे च । वाच० ।

सा च—

दुविहा अणुवलद्धीओ । सओ असओ य ।
खरसंगस्स वितीया, सओ वि दूराइभावओऽभिहिया ।
सुहुमा सुत्तत्तणओ, कम्माणुगयस्स जीवस्स ॥ १ ॥

सा च अनुपलब्धिरेका असतो भवति, यथा—खरशृङ्गस्य । द्वितीया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह–(दूरादिभावादिति) दूरात् सन्नप्यर्थो न दृश्यते, यथा–स्वर्गादिः १ । आदिशब्दादतिसंनिकर्षादतिसौक्ष्म्यान्मनोऽनवस्थानादिन्द्रियापाटवान्मतिमान्द्यादशक्यत्वादावरणादभिभवात्सामान्यादनुपयोगादनुपायाद्विस्मृतेर्दुरागमान्मोहाद् विदर्शनाद्विकारादक्रियातोऽनधिगमात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्चेति । तत्राऽतिसंनिकर्षात्सन्नप्यर्थो नोपलभ्यते । यथा-नेत्रदूषिकापक्ष्मादिः २ । अतिसौक्ष्म्यात् परमाण्वादिः ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुपलब्धिः, यथा नष्टचेतसाम् ४ । इन्द्रियापाटवात् किंचिद् बधिरादीनाम् ५ । मतिमान्द्यादनुपलब्धिः, सतामपि सूक्ष्मशास्त्रार्थविशेषाणाम् ६ । अशक्यत्वात्स्वकर्णकुक्कुटिकामस्तकपृष्ठादीनाम् ७ । आवरणाद् वस्त्रादिस्थगितलोचनायाः, कटकुड्याद्यावृतानां च ८ । अभिभवात्प्रसृतसूरतेजसि दिवसे तारकाणाम् ९ । सामान्यात्सुपलक्षितस्यापि माषादेः समानजातीयमाषादिराशिपतितस्याऽप्रत्यभिज्ञानात्सतोऽप्यनुपलब्धिः १० । अनुपयोगाद्रूपोपयुक्तस्य शेषविषयाणाम् ११ । अनुपायाच्छृङ्ग्यादिभ्यो गोमहिष्यादिपयःपरिमाणजिज्ञासोः १२ । विस्मृतेः पूर्वोपलब्धस्य १३ । दुरागमाद् दुरुपदेशात्तत्प्रतिरूपकरीतिकादिविप्रलम्भितमतेः कनकादीनां सतामप्यनुपलब्धिः १४ । मोहात्सतामपि जीवादितत्त्वानाम् १५ । विदर्शनात्सर्वथाऽन्धादीनाम् १६ । वार्धक्यादिविकाराद् बहुशः पूर्वोपलब्धस्य सतोऽप्यनुपलब्धिः १७ अक्रियातो भूखननादिक्रियाऽभावाद् वृक्षमूलादीनामनुपलब्धिः १८ । अनधिगमाच्छास्त्राश्रवणात्तदर्थस्य सतोऽप्यनुपलब्धिः १९ । कालविप्रकर्षाद् भूतभविष्यदृषभदेवपद्मनाभतीर्थकरादीनामनुपलब्धिः २० । स्वभावविप्रकर्षान्नभःपिशाचादीनामनुपलम्भः २१ । तदेवं सतामप्यर्थानामेकविंशतिविधाऽनुपलब्धिः । विशे० । आ० चू० ।

त्रिविधा वा, अत्यन्तात् सामान्याद्विस्मृतेश्च—

अच्चंता सामन्ना, य विस्सुत्ती होइ अणुवलद्धी उ ।

अनुपलब्धिरेव त्रिधा भवति । तद्यथा-अत्यन्तादेकान्तेनानुपलब्धिः । सामान्याद्विस्मृतेश्च ।

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुपलब्धिमाह—

अत्थस्स दरिसणम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवइ ।
दट्ठुं पि न जाणंतो, बोहियपंका फणससत्तू ॥

अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्तदर्थविषया लब्धिरेकान्ततो न संभवति । तथा च बोधिकाः पश्चिमदिग्वर्तिनो म्लेच्छाः पनसं दृष्ट्वाऽपि 'पनस' इत्येवं न जानते ; तेषां पनसस्याऽत्यन्तपरोक्षत्वात् । न हि तद्देशे पनसः संभवति । तथा पण्डाः मधुरावासिनः सक्तून् दृष्ट्वाऽपि 'सक्तवोऽमी' इति न जानते, तेषां हि सक्तवोऽत्यन्तपरोक्षाः । ततो न तद्दर्शनेऽपि तदक्षरलाभः ॥

संप्रति सामान्यतदनुपलब्धिमाह—

अत्थस्सुग्गहम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवइ ।
सामन्ना बहुमज्झे, मासं पमियं जहा दट्ठुं ॥

अर्थस्यावग्रहेऽपि तदन्येनाऽर्थेन सामान्यात् सादृश्यादेकान्ततो लब्धिरक्षरलब्धिर्न संभवति । यथा बहुमध्ये पतितं माषं दृष्ट्वाऽपि तदन्येन सामान्यान्न तदक्षरं लभेत ।

विस्मृतेरनुपलब्धिमाह—

अत्थस्सऽवि उवलंभे, अक्खरलद्धी न होइ सव्वस्स ।
पुव्वोवलद्धमत्थे, जस्स उ नामं न संसरइ ॥

अर्थस्य पूर्वं पश्चाच्चोपलम्भेऽपि सर्वस्याऽक्षरलब्धिस्तद्विषयाऽक्षरलब्धिर्न संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह-यस्यार्थे विवक्षार्थविषयं पूर्वोपलब्धं नाम न संस्मरति । तदेवमुक्ता त्रिविधाऽप्यनुपलब्धिः । बृ० १ उ० । विशे० ।

सम्प्रत्यनुपलब्धिं प्रकारतः प्राहुः—

अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यम्, अविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धाऽनुपलब्धिश्च ॥ ६३ ॥

अविरुद्धस्य प्रतिषेध्येनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्यानुपलब्धिरविरुद्धाऽनुपलब्धिः । एवं विरुद्धाऽनुपलब्धिरपि । ६३ ॥

सम्प्रत्यविरुद्धानुपलब्धेर्निषेधसिद्धौ प्रकारसंख्यामाख्यान्ति–

तत्राऽविरुद्धाऽनुपलब्धिप्रतिषेधाऽवबोधे सप्त प्रकाराः ॥९४॥

अमूनेव प्रकारान् प्रकटयन्ति–

प्रतिषेध्येनाऽविरुद्धानां स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः ॥९५॥

एवं च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः, सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ९५ ॥

क्रमेणामूरुदाहरन्ति—

स्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा–नास्त्यत्र भूतले कुम्भ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥९६॥

(उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति) उपलब्धिर्दर्शनम्; तस्य लक्षणानि कारणानि चक्षुरादीनि, तैरप्युपलब्धिर्लक्ष्यते जन्यत इति यावत्। तानि प्राप्तः; जनकत्वेनोपलब्धिकारणान्तर्भावात्स तथा दृश्य इत्यर्थस्तस्याऽनुपलम्भात् ॥ ९६ ॥

व्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपाऽनुपलब्धेः ॥९७॥ कार्याऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यत्राऽप्रतिहतशक्तिकं बीजमङ्कुराऽनवलोकनात् ॥९८॥

अप्रतिहतशक्तिकत्वं हि कार्यं प्रति अप्रतिबद्धसामर्थ्यत्वं कथ्यते। तेन बीजमात्रेण न व्यभिचारः ॥ ९८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा–न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावास्तत्त्वार्थश्रद्धानाऽभावात् ॥९९॥

(प्रशमप्रभृतयो भावा इति) प्रशमसंवेगनिर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणजीवपरिणामविशेषाः। तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तस्याऽभावः। कुतोऽपि देवद्रव्यभक्षणादेः पापकर्मणः सकाशात्सिद्धौ स्तत्त्वार्थश्रद्धानकार्यभूतानां प्रशमादीनामभावं गमयति ॥ ९९ ॥

पूर्वचराऽनुपलब्धिर्यथा–नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिनक्षत्रं, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥ उत्तरचराऽनुपलब्धिर्यथा-नोदगमत्पूर्वभद्रपदामुहूर्तात्पूर्वमुत्तरभद्रपदोद्गमाऽनवगमात् ॥ १०१ ॥ सहचराऽनुपलब्धिर्यथा-नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

इयं च सप्तधाऽप्यनुपलब्धिः साक्षादनुपलम्भद्वारेण परम्परया पुनरेषा संभवन्त्यत्रैवान्तर्भावनीया। तथाहि–नास्त्येकान्तनिरन्वयं तत्त्वम्, तत्र क्रमाऽक्रमाऽनुपलब्धेरिति या कार्यव्यापकानुपलब्धिः, निरन्वयतत्त्वकार्यस्यार्थक्रियारूपस्य यद् व्यापकं क्रमाऽक्रमरूपं तस्यानुपलम्भसद्भावात्, सा व्यापकानुपलब्धावेव प्रवेशनीया। एवमन्याऽपि यथासंभवमास्वेव विशन्ति ॥१०२॥

विरुद्धाऽनुपलब्धिं विधिसिद्धौ भेदतो भाषन्ते–

विरुद्धाऽनुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

तानेव भेदानाहुः–

विरुद्धकार्यकारणस्वभावव्यापकसहचरानुपलम्भभेदात् ॥ १०४ ॥

विधेयेनार्थेन विरुद्धानां कार्यकारणस्वभावव्यापकसहचराणामनुपलम्भा अनुपलब्धयस्तैर्भेदो विशेषस्तस्मात्। ततश्च विरुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वभावाऽनुपलब्धिः, विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिः, विरुद्धसहचराऽनुपलब्धिश्चेति ॥१०४॥

क्रमेणैतासामुदाहरणान्याहुः–

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथाऽत्र शरीरिणि रोगातिशयः समस्ति, नीरोग्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यम्, तस्य कार्यं विशिष्टो व्यापारः। तस्यानुपलब्धिरियम् ॥१०५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा–विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टमिष्टसंयोगाऽभावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्टम्, तद्विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगः, तस्यानुपलब्धिरेषा ॥१०६॥

विरुद्धस्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा–वस्तुजातमनेकान्तात्मकमेकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च विश्ववर्तिपदार्थसार्थः। अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः अनेकश्चासावन्तश्चानेकान्तः; स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तात्मकम्; सदसदाद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः। अत्र हेतुः एकान्तस्वभावस्य सदसदाद्यन्यतरधर्मावधारणस्वरूपस्यानुपलम्भादिति। अत्र विधेयेनानेकान्तात्मकत्वेन सह विरुद्धः सदाद्येकान्तस्वभावः, तस्यानुपलब्धिरसौ ॥१०७॥

विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा–अस्त्यत्र छाया औष्ण्याऽनुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

विधेयया छायया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकमौष्ण्यम्, तस्याऽनुपलब्धिरियम् ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा–अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं, सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानं, तत्सहचरं सम्यग्दर्शनं, तस्याऽनुपलब्धिरेषा ॥१०९॥ रत्ना० ३ परि०।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः—

यदपि– "प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते। साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि" ॥ १ ॥ (सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः आत्मनो घटादिग्राहकतया परिणामाभावः प्रसज्यपक्षे। पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविविक्तताऽऽख्ये वस्तुन्यभावे घटो नास्तीति विज्ञानमित्यभावप्रमाणमभिधीयते। तदपि यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव। तथाहि– "गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्। मानसं नास्तिताज्ञानं, जायतेऽक्षानपेक्षया ॥१॥" इतीयमप्यभावप्रमाणजनिका सामग्री। तत्र च भूतलादिकं वस्तु प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टमसंसृष्टं वा गृह्येत? नाद्यः पक्षः। प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाऽभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात्। प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः। द्वितीयपक्षेत्वभावप्रमाणवैयर्थ्यम्, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभावप्रतिपत्तेः। अथ न संसृष्टं नाऽप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतलादिवस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत्? तदपि तुच्छम्। संसृष्टत्वाऽसंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधे अपरविधानस्य परिहर्तुमशक्य–

त्वादिति। सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते। कचित् तु तदघटं भूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान् न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनग्नेरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्ति इत्यागमेनाभावस्य प्रतीतेः,क्वाऽभावप्रमाणं प्रवर्त्तताम् ?। रत्ना०२ परि०। अर्थस्यासन्निकृष्टस्य सिद्ध्यर्थं प्रमाणान्तराप्रमाभावमभावाख्यं वर्णयन्ति। तथाऽपरे-अभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीति, अर्थस्यासन्निकृष्टस्येति वचनात्। अन्ये-पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभावलक्षणोऽनन्तरोक्तो भावः । प्रतिषिध्यमानाद्वा, तदन्यज्ञानमात्मा वा, विषयरूपेण तन्निवृत्तस्वभाव इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादीनामभावो गम्यते । तदुक्तम्-

"प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।
वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं, तत्राऽभावप्रमाणता ॥ १ ॥
प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
सात्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि" ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते,तस्याभावविषयत्वविरोधात्। भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात्। तदुक्तम्-"न तावदिन्द्रियेणैषा, नास्तीत्युत्पद्यते मतिः। भावांशेनैव संवेद्या, योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि"॥१॥ नाऽप्यनुमानेनासौ साध्यते, हेत्वभावात्। न च प्रदेश एव हेतुः,तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात्। न चैवमपि हेतुः प्रतिज्ञा,अर्थैकदेशताप्राप्तेः। न च प्रदेशविशेषो धर्मस्तत्सामान्यहेतुः, तस्य घटाऽभावव्यभिचारात् । न हि सर्वत्र प्रदेशघटाभावः शक्यः साधयितुम्,सघटस्यापि प्रदेशस्य संभवात्। अथ घटाऽनुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाऽभावः साध्यते। असदेतत्। साध्यसाधनयोः कस्यचित् संबन्धस्याभावात्।तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव। न चाऽभावस्य तद्विषयस्याभावादभावप्रमाणान्तरवैयर्थ्यम्।प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽभावस्य भावात्। अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात्। "न च स्याद् व्यवहारोऽयं, कारणादिविभागतः। प्रागभावादिभेदेन,नाऽभावो यदि भिद्यते"।१।अभावस्य च प्रागभावादिभेदाऽन्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते। तदुक्तम्-"न चावस्तुन एते स्युः, सदा तेनाऽस्य वस्तुता। कार्यादीनामभावः स्या-दित्येवं कारणं विना"॥१॥ इति। अनुमानप्रमाणाऽवसेया वाऽभावस्य वस्तुरूपता। यदाह"यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्ति-बुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम्। तस्माद् गवादिवद् वस्तु, प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्"॥१॥ अभावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति। तत्र-

"क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति, प्रागभावः स उच्यते ।
नास्तिता पयसो दध्नि, प्रध्वंसाभावलक्षणम् ॥ १ ॥
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु, सोऽन्योऽन्याभाव उच्यते ।
शिरसोऽवयवा निम्नाः, वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ॥ २ ॥
शशे शृङ्गादिरूपेण, सोऽत्यन्ताभाव उच्यते" ।

यदि चैतद् व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दूरोत्सारितैव स्यात्। तदुक्तम्-

"क्षीरे दधि भवेदेवं, दध्नि क्षीरं घटे पटः ।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ, चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥ १ ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ, वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि तु स्पर्शता ते च, न चेदस्य प्रमाणता" ॥ २ ॥

निरंशभावैकरूपत्वाद्वस्तुनस्तत्स्वरूपग्राहिणाऽध्यक्षेण तस्य सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य चापरस्यासदंशस्य तत्राभावात् कथं तद्व्यवस्थापनाय प्रवर्तमानमभावाख्यं प्रमाणं प्रामाण्यं श्रुतमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसदात्मके वस्तुनि प्रत्यक्षादिना तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य व्यवस्थापनाय प्रमाणाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यव्याहतिः। तदुक्तम्-

"स्वरूपपररूपाभ्यां, नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥
यस्य यत्र यदोद्भूति-र्जिघृक्षा चोपजायते ।
वेद्यतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥
तस्योपकारकत्वेन, वर्ततेऽशस्तदेतरः ।
उभयोरपि संवित्त्यो-रुभयानुगमोऽस्ति तु ॥ ३ ॥
प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु, भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तेरभावांशे जिघृक्षितः" ॥ ४ ॥

न च भावांशादभिन्नत्वादभावांशस्य तद्ग्रहणे तस्यापि ग्रह इति; सदसदंशयोर्धर्म्यभेदेऽपि भेदाऽभ्युपगमात्। उक्तं च-

"ननु भावादभिन्नत्वात्, संप्रयोगोऽस्ति तेन च।
नह्यन्यत्वमभेदोऽस्ति, रूपादिवदिहापि न ॥ १ ॥
धर्मयोर्भेद इष्टोऽपि, धर्मि भेदेऽपि नः स्थिते ।
उद्भवाभिभवात्मत्वात्, ग्रहणं चावतिष्ठते" ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तदेवमगृहीतप्रमेयाऽभावग्राहकत्वात् प्रमाणभावस्य प्रमाणत्वम्, प्रत्यक्षादिष्वनन्तर्भावात् । प्रमाणान्तरत्वं च व्यवस्थितम् । सम्म० । (सम्मतितर्के ग्रन्थेऽस्मिन् विषये विशेषोऽन्वेष्टव्यः)

अणुवलब्भमाण—अनुपलभ्यमान—त्रि०। अदृश्यमाने, "अणुवलब्भमाणो वि सुहदुक्खमाइयाहिं" दश० १ अ० ।

अणुववायकारग—अनुपपातकारक—त्रि०। उप समीपे पतनं स्थानमुपपातो हग्विषयदेशावस्थानम्,तत्कारकस्तदनुष्ठाता तद्भिन्नो गुर्वादेशादिभीत्या तदव्यवहितदेशस्थायिभिन्नः गुरूणां हग्विषये स्थित्यकारकः,तस्मिन्,उत्त.१अ.आदेशभयाद्दूरं तिष्ठति।उत्त.१अ.

अणुवसंत—अनुपशान्त—त्रि० । उपशान्तो जितकषायः, न उपशान्तोऽनुपशान्तः । सकषाये, उत्त० १९ अ० । उपशमप्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । निर्विकारे, स्था० ।

अणुवसमंत—अनुपशमयत्-त्रि०। अनुपशमं कुर्वति, व्य० १ उ०।

अणुवसु—अनुवसु—पुं० । वसु द्रव्यं तद्भूतः कषायकालिकाविमलापगमाद् वीतराग इत्यर्थः। तद्विपर्ययेणाऽनुवसुः। सरागे, वसुः साधुः,अनुवसुः श्रावकस्तस्मिन्, "वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा। सरागो ह्यनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽथवा" ॥ १ ॥ "वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं जहा तहा" आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अणुवस्सियववहारकारि(ण्)—अनुपश्रितव्यवहारकारिन्—त्रि० । निश्रा रागः, निश्रा संजाता अस्येति निश्रितः, न निश्रितोऽनिश्रितः, स चासौ व्यवहारश्च अनिश्रितव्यवहारः, तत्करणशीला अनिश्रितव्यवहारकारिणः । रागेण व्यवहारकारिणि, व्य० १ उ० ।

अणुवह—अनुपथ—अव्य०। पथः समीपे,। अनुपथमेवास्मद्वसथो भवतां वर्त्तत। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अनुपथ–त्रि० । मार्ग उपधाऽयुक्ते, पं० सं० २ द्वा० ।

अणुवहय–अनुपहत–त्रि० । न० त० । अग्न्यादिभिरविध्वस्ते, पिं० ।

अणुवहयविहि–अनुपहतविधि–पुं० । अनुत्पन्नमुत्पाद्य दाने, गुरुभिर्दत्तस्य अन्यस्य गुरूननुज्ञाप्य दाने वा । अनुपहतविधिर्यदनुत्पन्नमुत्पाद्य ददाति । अन्ये तु व्याचक्षते-यत्पुनस्तस्य गुरुभिर्दत्तं तत्सोऽन्यस्य गुरूननुज्ञाप्य ददाति "अणुवहियं जं तस्स उ, दिन्नं तं देइ सो उ अन्नस्स" यत्तस्य दत्तं सोऽन्यस्मै गुरूननुज्ञाप्य ददाति । क्षमाश्रमणैस्तूक्तमिदं दत्तमित्येषोऽनुपहतविधिः । व्य० १ उ० ।

अणुवहास–अनुपहास–त्रि० । अविद्यमानोपहासे, प्रश्न० ६ विव० ।

अणुवहुआ–देशी०–नववध्वाम् , दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवाइ(ण्)–अनुपातिन्–त्रि० । अनुपतत्यनुसरतीत्येवंशीलः । स्था० ६ ठा० । योग्ये, " अणुवाइ सव्वसुत्तस्स" पं० व० २ द्वा० । अनुवादितुं शीलमस्येत्यनुवादी । अनुवादशीले, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणुवाएज्ज–अनुपादेय–त्रि० । हेये अग्रहीतव्ये, आ० म० द्वि० ।

अणुवाणहय–अनुपानत्क–त्रि० । न विद्येते उपानहौ यस्य सोऽयमनुपानत्कः । उपानहोरधारके, पो० १ विव० ।

अणुवाय–अनुताप–पुं० । संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

अनुपात–पुं० । अनुसरणे, प्रज्ञा० १७ पद । अनुपतनमनुपातः । शब्दोच्चारणरूपानुदर्शनादौ, उपा० १ अ० ।

अनुवात–पुं० । आघ्रायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूले वाते, जं० १ वक्ष० । रा० । अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातः । यस्माद् देशाद् वायुरागच्छति तत्र, भ० १६ श० ६ उ० ।

अनुवाद–पुं० । विधिप्राप्तस्य वाक्याऽन्तरेण कथने , वाच० । "द्वादश मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भेषजम्" इत्यादीनि तु वेदवाक्यान्यनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थस्यैतेष्वनुवादात् । विशे० ।

अणुवायवाय–अनुपायवाद–पुं० । षष्ठे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवालय–अनुपालक–पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ० २४ श० २० उ० ।

अणुवास–अनुवास–पुं० । वर्षावासे ऋतुबद्धे वा उषित्वा पुनस्तत्रैव पश्चाद् वसने , अशिवादिकारणेषु वृद्धादिवासे वा वसने च । तत्र कल्पः—

......................अहुणा अणुवासणापकप्पं तु ।
वोच्छामि गुरूवदेसा, अणुग्गहट्ठा सुविहियाणं ॥
अणुवासम्मि तु कप्पो, पन्नवग परूव बहुविहा अत्था ।
अणुवासणए पगतं, सुध्दा य तहा असुद्धा य ॥
अणुवासत्थो बहुहा, उडवासे वण अहव असिवादि ।
वुड्ढादी वासो वा, अहवा अणुवसणमणुवासो ॥
वसितं पुणो वि वसती, अणुवासिगवसहिसमद्गीसएहा ।
तीयहिगारो एत्थं, सा होज्जा सुद्धऽसुध्दो वा ॥
पट्टीवंसादीहिं, वंसगकरणादिएहिँ तह चेव ।
होति असुध्दा वसही, मूलगुण उत्तरगुणे य तहा ॥
कालच्छुयातिरित्तं, अविसुध्दासु च तासु वसमाणो ।
पावति पायच्छित्तं, मोत्तूणं कारणमिमेहिं ॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलण्ह उत्तमट्ठे, चरित्तसज्झातिए असती ॥
वाहिं सव्वत्थ सिवं, तेण सया कालदुयगम्मि ।
पुणो वि य साहू णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवासी ॥
आलंबणे विसुद्धे, सुच्छयुतं परिहरे पयत्तेणं ।
आसज्ज तु परिभोगं, भयणा पडिसेवसंकमणे ॥
असिवादीहिँ वसंतो, सुद्धाए वसहीएँ वसे साहू ।
सुध्दासतीएँ जततो, विसोहिकोडीएँ पुव्वं ति ॥
जयणाची जं जणितं, पुव्वत्ताए तु जेतु जे दोसा ।
ते ते पुव्वं सेवे, कम्मएणे वी इमा जयणा ॥
अप्पावहं तु खेउं, जत्थ गुणा तू भवेज्ज बहुतरगा ।
गच्छं गच्छंताए व, तं चेव तहिं करेज्जा तु ॥
असिवादिनिट्ठिए पुण, अव्वक्खेवेण संकमे तत्तो ।
सत्थं तु पमिच्छंतो, जइ अत्थे तत्थ सुच्छो तु ॥
एतं णयरविहूणं, अणुवासियं जेतु अणिवसे कप्पं ।
कालच्छयावराहे, संवट्टितमोऽवराहाणं ॥
संवट्टितावराहे, तवोच्छेदो तहेव मूलं वा ।
आयारपकप्पे जं–पमाणणेमाण चरमम्मि ॥
अणुवासियाएँ कप्पो, एमे सो वासितो समासेणं । पं० चा० ।

इयाणिं अणुवासकप्पो-तत्थ(गाहा)[अणुवासम्मि उ]अणुवासो नाम वासावासओ उवद्धे वा वसित्ता तत्थेव अणुवसइ, उवद्धे मासलहु, वासे चउलहु । तत्थ पुण बहुविहा सुत्तत्था, जहा पत्थे व कप्पे जिए मासकप्पसुत्ते एत्थ पुण अहिगारो अणुवासिज्जंतीति । अणुवासिया का पुण सा?, वसही सुद्धा य,असुद्धा य । असुद्धा पट्टीवंसोवंसभगकरणो वंदणादि (गाहा) [असिवे] असिवाइसु कारणेसु असुद्धाए वि वसति रायदुट्ठे कोप्परपल्ली वा सोयाणि वा तत्थ तत्थि जाणि बाहिरयाहिं खेत्तेहिं संजयाणि दोसकरणाणि जए व बोधिगादिसु गेलण्णउत्तिमट्ठे चरित्ते इत्थिदोस एसणा दोसा असज्झाए वा असइ वा गुणाणं जे तम्मि वसहीए (गाहा) [आलंबणे]एवं आलंबणविसुद्धे सन्तदुए परिहरेज्जा जुत्तेण परिभोगं पुण मासज्ज गुणपरियाट्टित्ति जणियं होइ जणिया पडिसेहसंकमणे गुणवुड्ढिनिमित्तं अच्छेज्जा न सक्केज्जा अन्नं वसहिं खेत्तं वा एएसु पुण कारणेसु विणासो अणुवासियं परिवसइ तस्स संघट्टियावराहे, एस अणुवासणाकप्पो ॥ पं० चू० ।

......................अहुणा वोच्छंऽणुवासणाकप्पं ।
अणुवासमासकप्पो, वासावासो इमेसुं तु ॥
जिणथेर अहालंदे, परिहारितअज्जमासकप्पो तु ।

खेत्ते कालमुवस्सय–पिंडग्गहणे य णाणत्तं ॥
एएसिं पंचएह वि, अएणोएणस्स चउपदेहिं तु ।
खेत्तादीहि विसेसो, जह तह वोच्छं समासेणं ॥
णत्थि उ खेत्तं जिणक–प्पियाण उउबद्धमासकालो तु ।
वासासुं चउमासो, वसही अममत्त अपरिकम्मा ॥
पिंमो तु अलेवकडो, गहणं तु एसणा उवरिमादि ।
तत्थ वि काउमभिग्गह, पंचएहं अएणतरियाए ॥
थेराण अत्थि खेत्तं, तु उग्गहो जाव जोयणसकोसं ।
णगरं पुण वसहीए, विकालउउबद्धमासो तु ॥
उस्सग्गेणं भणिओ, अववाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।
एमेव य वासासु वि, चउमासो होज्ज अहिओ वि ॥
अममत्त अपरिकम्मो, उवस्सओ एत्थ भंगचउरो तु ।
उस्सग्गेणं पढमो, तिएिह उ सेसाऽववादेणं ॥
भत्तं लेवकरं वा, अलेवकमं वा वि ते तु गेएहंति ।
सत्तहिँ वि एसणाहिं, सावेक्खो गच्छवासो त्ति ॥
अहलंदियाण गच्छे, अप्पडिबद्धाण जह जिणाणं तु ।
णवरं कालविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥
गच्छे पडिबद्धाणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेसो ।
उगहो जो तेसिं तू , सो आयरियाण आभवति ॥
एगवसहीएँ पणगं, छव्वीउ वत्रगाम कुव्वंति ।
दिवसे दिवसे अएणं, अडुंति विही य णियमेणं ॥
परिहारविसुद्धीणं, जहेव जिणकप्पियाण णवरं तु ।
आयंविलं तु भत्तं, गेएहंति य वासकप्पं च ॥
अज्जाण परिग्गहियाण, उग्गहो लोतु सो तु आयरिए ।
काले दो दो मासा, उउबद्धे तासि कप्पो तु ॥
सेसं जह थेराणं, पिंमो य उवस्सओ य तह तासिं ।
सो सव्वो वि य दुविहो, जिणकप्पो थेरकप्पो य ॥
जिणकप्पि अहालंदी, परिहारविसुद्धियाण जिणकप्पो ।
थेराणं अज्जाण य, बोधव्वो थेरकप्पो तू ॥
दुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य ।
णिरणुग्गहो जिणाणं, थेराण अणुग्गहपवत्तो ।
उउवासकालऽतीते, जिणकप्पीणं तु गुरुगा य ॥
होंति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेच्चिय लहू तु ।
तीसं पदाऽवराहे, पुट्ठो अणुवासियं अणुवसंतो ॥
जे तत्थ पदे दोसा, ते तत्थ तगो समावएणो ।
पणरसुग्गमदोसा, दस एसणा एएँ पुण वीसं ॥
संयोजणादि पंचय, एते तीसं तु अवराहा ॥
एतेहिं दोसेहिं, जदि असंपत्ति लग्गती तह वि ।
दिवसे दिवसे सो खलु, कालातीते वसंतो तु ॥
वासावासपमाणं, आयारे उप्पमाणितं कप्पं ।
एयं अणुमायंतो, जाएमु अणुवासकप्पं तु ॥
आयारपकप्पम्मी, जह भणियं तीत संवसंतो वि ।
होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाणदोसा तु ॥
दुविहे विहारकाले, वासावासे तहेव उउबद्धे ।
मासातीते अणुवाहि, वासातीते भवे उवही ॥
उऊबद्धिएसु अट्ठसु, तीतेसुं वास तत्थ ण तु कप्पो ।
घेत्तूणं उवही खलु, वासातीतेसु कप्पति तू ॥
वास उउ अहालंदे, इत्तिरिसाहणे पुहत्ते य ।
उग्गहसंकमणं वा, अएणोएणसकासहिज्जंतो ॥
वासासु चउम्मासो, उउबद्धे मासलंद पंचहिणा ।
इत्तिरिउ रुक्खमूले, वीसमणट्ठा वि ताणं तु ॥
साहारणा तु एते, समट्ठिताणं बहूण गच्छाणं ।
एक्केण परिग्गहिता, सव्वे पोहत्तिया होंति ॥
संकमणमएणसएण–स्स सकासे जदि तु ते अहीयंते ।
सुत्तत्थ तदुभयाइं, संघे अहवा वि पडिपुच्छे ॥
तं पुण मंडलियाए, आवलियाए व तं तु गेएहेज्जा ।
मंमलियमहिज्जंते, सच्चित्तादी तु जो लाभो ॥
सो तु परंपरएणं, संकमती ताव जाव संठाणं ।
जहियं पुण आवलिया, तहियं पुण अंतए ठाति ॥
तं पुण ठितएकाए, वसहीए अहव पुप्फकिएणाओ ।
अहवा वि तु संकमणो, दव्वस्सिणमो विही अएणो ॥
सुत्तत्थ तदुभयविसा–रयाण थोवे असंतर्त्ता भोए ।
संकमणदव्वमंमलि–आवलियाकप्पअणुवासे ॥
पुव्वट्ठिताण खेत्ते, जदि आगच्छेज्ज अएणआयरिओ ।
बहुसु य बहुआगमिओ, तस्स सगासम्मि जदि खेत्तो ॥
किंचि अहिज्जेज्जाही, थोवं खेत्तं च तं जदि हवेज्जा ।
ता ते असंथरंता, दोएिह वि साहू विभज्जंति ॥
अएणोएणस्स सगासे, तेसिं पि य तत्थ थिज्जमाणेणं ।
आभवणा तह चेव य, जह भणियमणंतरं सुत्ते ॥
एवं णिव्वाघाते, मासचउमासतो उ थेराणं ।
कप्पो कारणतो पुण, अणुवासो कारणं जाव ॥
एसऽणुवासणकप्पो .... । पं० भा० ।

इयाणिं अणुवासकप्पो–(गाहा)[जिणथेर]सो पुण अणुवासकप्पो जिणथेरअहालंदि य परिहारविसुद्धी य अज्जाणंति एगेगाओ एगस्स बहुं नाणेहिं खेत्तकालउवस्सयपिंडग्गहणे य नाणत्तं जिणस्स ताव खेत्तं नत्थि काले उउबद्धे मासो वासारत्ते चाउम्मासो उवस्सओ अममत्तो अपरिकम्मो भिक्खा अलेवाडा खेत्तोग्गहो थेराणं अत्थि सक्कोसं जोयणं नगरे वसहि उग्गहो तेसिं कालओ मासं वा मासाइयं वा उउम्मि कारणमकारणे वासासु चाउमासं वा निक्कारणे कारणे पुण ऊणाहियं उवस्स उ उस्सग्गेण असमत्तो अपरिकम्मो य अववाएण ससमत्तो सपरिकम्मो य पिंमो लेवामो अलेवामो य अहालंदियाण गच्छे अपडिबद्धाणं जहा जिणाणं नवरि काले उच्चागे गामो कीरइ एगेगो भागे पंचदिवसं भिक्खं हिंमंति, तत्थेव वसंति

वासासु एगत्थ चउम्मासो एवं परिहारियाण वि जहा जिणाणं णवरि आयंबिलेण मासो सव्वो वि दुविहो जिणकप्पो थेरकप्पो य, जिणअहालंदिपरिहारविसुद्धियाणं जिणकप्पो अन्नाणं थेराण य थेरकप्पो गच्छपडिबद्धअहालंदियाणं आयरि— याणं चेव सो खित्तोग्गहो संजयणीयत्थपरिग्गहियाणं अत्थि खेत्तं सो आयरियाणं चेव जिणकप्पो निरणुग्गहो असिवादओ कारणा नत्थि थेरकप्पो साणुग्गहो असिवाइसु कारणेसु कालाइए उउम्मि जिणाण गुरुओ मासो दिणे दिणे थेराण लहुओ मासो दिणे दिणे तम्मि खेत्ते अत्थंताणं चउम्मासाइयं जिणाणं तम्मि चेव खेत्ते दिणे दिणे चउगुरुं थेराणं दिणे दिणे चउलहुं (गाहा) [तीसपयाऽवराहे ति] सोलस उग्गमदोसा, संजोयणाई पंचदस एसणा दोसा, छारूपरिवाडीए एवरस उग्गमदोसा पंच संजोयणमाइ तत्थ वुड्ढा एसा वीसा दस एसणा दोसा एए तीसपयावराहेति तेसिं अहवा दिवसे दिवसे अवराहो तीस दिणा मासो जम्मि आवज्जइ जयमाणो वि अत्थंतो निक्कारणे तेण उग्गह(गाहा) [वासावासपमाणं]वासावासपमाणं च एयं आयारकप्पे भणियं तम्मि अइक्कंतो उग्गहकाले अणुवसंतस्स अणुवासिया भवइ (गाहा) [दुविहे विहारकाले] अइक्कंते अट्ठहिं मासेहिं अइएहिं वासं पमिवज्जइ तत्थोवही न घेप्पइ वासे अइए घेप्पइ (गाहा) [वास उउ]एएसिं ठियाणं जइ बहुया एक्कम्मि खेत्ते ठिया होज्जा वासासु उउम्मि वा अहालंदि पंच दिवसा जाव साहरणा मुहुत्ते वा हरित्तिए वा रुक्खहेट्ठा संकमणं एगो एगस्स मूले दस वेयालिअं उज्जुयारेइ तस्स पुण दस वेयालियं उज्जुयारेंतस्स मूले अन्हो उत्तरज्झयणाणि पढइ जं उत्तरज्झयणाइत्तो सच्चित्ताइ लब्भइ तं दसवेयालियाइ तस्स देइ दोसो उत्तरज्झयणं उज्जुयारेइ तस्स मूले अन्नो बंभचेरे उज्जुयारेइ जाव विवागसुयं अहोत्तरापलिया सट्ठाणं चेव एइ दसवेयालियइत्तस्स अत्थे पुण एगो एगस्स मूले आवासगाहाओ पढइ अन्नो पुण आवस्सकस्स अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वलिओ वा एगो दसवेयालियस्स सुत्ते वाएइ एगो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वलिओ एगो उत्तरज्झयणा वाएइ एगो अत्थं कहेइ अत्थइत्तो वलिओ एवं जाव विवागसुयं सव्वत्थ अत्थो वलिओ एगो पन्नत्तिं वाएइ एगो दसवेयालियाइणं जाव कप्पव्ववहाराणं अत्थं कहेइ,अत्थइत्तो वलिओ एवं जाव विवागसुयं एगो कप्पव्ववहारे कहेइ एगो दिट्ठिवाइसुत्ते वाएइ सुत्तइत्तो वलिओ सव्वत्थ पुव्वगयइत्तो वलिओ जत्थ वा मंडली ठिज्जइ हेट्ठिल्लाणं तत्थ पावइ सच्चित्ताइ ते पुण एगाए वसहीए ठिया पुप्फावाकिन्ना वा (गाहा)[सुत्तत्थ]अहवा एगम्मि गामे एगो खारिओ सुत्तत्थविसारओ पुव्वाठिओ तस्स अन्ने पासे पढंति, तं च खेत्तं थोवं अपज्जत्ते भत्तपाणे दो वि जणा पढंतएओ वेऊणं संजए विसज्जेति अरणं खेत्तं माहि तेसिं अन्नगामं गयाणं परोप्परस्स पढंताणं तहेव संकमणट्ठाणं सच्चित्ताइ दव्वे जाव आवालिया सट्ठाणगयंति (गाहा)[एसो उ]कालकप्पो निव्वाघाएण वासासु चाउम्मासे उउम्मि अट्ठमासे कारणे पुण थेराणं जाहे अणुवासो भवइ जाव तं कारणं समत्तं असिवाइ ताव अणुवासं ता वि जयंता सुद्धा, एस अणुवासकप्पो । पं० चू० ।

अणुवासग—अनुपासक—पुं०। न उपासकः श्रावकोऽनुपासकः। मिथ्यादृष्टौ, स च ज्ञातकोऽज्ञातकश्च, नायकोऽनायकश्चेति द्विधा। "अणुवासगो वि नायगमनायगो य" एतस्य द्विविधस्याऽपि प्रव्राजने चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः । नि० चू० ११ उ०। उपासकः श्रावक इतरोऽनुपासकः । अश्रावके, नि० चू० ८ उ० ।

अणुवासणा—अनुवासना—स्त्री०। चर्मयन्त्रप्रयोगेणाऽपानेन जठरं तैलविशेषप्रवेशने, ज्ञा० १३ अ० । विपा० । व्यवस्थापनायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुवि(व्वि)ग्ग—अनुद्विग्न—त्रि० । न० त० । प्रशान्ते, "चरे मंदमणुव्विग्गो, अविक्खित्तेण चेयसा" दश० ५ अ० १ उ०। अनुद्विग्नः क्षुधादिजयात् प्रशान्त इति । सू० १ उ० ।

अणुविरइ—अनुविरति—स्त्री० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।

अणुवीइ—अनुविचिन्त्य—अव्य० । अनु-वि-चिति-ल्यप् । पर्यालोच्येत्यर्थे, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० । आलोच्येत्यर्थे, दश० ७ अ० । केवलज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अनुवाच्य—अव्य० । आनुकूल्यं वाचयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवीइभासि(ण्)—अनुविचिन्त्यभाषिन्—पुं० । अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवंशीलोऽनुविचिन्त्यभाषी । व्य० १ उ० । स्वालोचितवक्तृरूपे वाचिकविनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुवीइसमिइजोग—अनुविचिन्त्यसमितियोग—पुं० । अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषणरूपा या समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः साऽनुविचिन्त्यसमितिस्तयोर्योगः संबन्धस्तद्रूपो वा व्यापारो वाऽनुचिन्त्य समितियोगः । भाषासमितियोगे, प्रश्न०२ सम्ब० द्वा० ।

अणुवूहण—अनुव्यूहन—न० । प्रशंसने, कल्प० ।

अणुवेदयंत—अनुवेदयत्—त्रि०। अनुभवति,सूत्र०१ श्रु०५अ०१उ०।

अनुवेहमाण—अनुप्रेक्षमाण—त्रि० । अनुप्रेक्षां कुर्वति, "घुणे उरालं अणुवेहमाणे, विश्वाण सोयं अणवेक्खमाणे" सूत्र०१०अ०।

अणुवो—देशी—तथेत्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुव्वय(अ)—अणुव्रत—न० । अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि । लघुत्वं च महाव्रतापेक्षयाऽल्पविषयत्वादिनेति प्रतीतमेवेति । उक्तं च– "सव्वगयं सम्मत्तं, सुए चरित्ते न पज्जवा सव्वे । देसविरई पडुच्च, दोण्ह वि पमिसेवणं कुज्जा"॥१॥इति । अथवा सर्वविरताऽपेक्षयाऽणोर्लघोर्गुणिनो व्रतान्यणुव्रतानि । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अनुव्रत—न०। अनु महाव्रतस्य पश्चादप्रतिपत्तौ यानि व्रतानि कथ्यन्ते तान्यनुव्रतानि इति । उक्तं च–"जइ धम्मस्स समत्थे, जुज्जइ तद्देसणं पि साहूणं । तदहिगदोसनिवत्ती, फलंति कायाणुकंपट्ठं" ॥१॥ इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । आ० । आतु० । ध० । श्रावकयोग्येषु देशविरतिरूपेषु स्थूलप्राणातिपातविरमणादिषु ;

तानि च–

पंचाणुव्वया पण्णत्ता ? । तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे ।

स्थूला द्वीन्द्रियादयः सत्त्वाः; स्थूलत्वे चैतेषां सकललौकिकानां जीवत्वप्रसिद्धेः; स्थूलविषयत्वात् स्थूलं, तस्मात् प्राणातिपातात् । तथा स्थूलः परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टो विवक्षासमुद्भवः, तस्मात् मृषावादात् । तथा परिस्थूलवस्तुविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमतिदुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलं,तस्माददत्तादानात् । तथा स्वदारसन्तोषः; आत्मीयकलत्रादन्येच्छानिवृत्तिरित्युपलक्षणात्परदारवर्जनमपि ग्राह्यम् । तथा इच्छाया धनादिविषयस्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम्; देशतः परिग्रहविरतिरित्यर्थः । स्था० ५ ठा० १ उ० । आव० । उपा० ।

(सातिचाराणां प्राणातिपातादीनां व्याख्या स्वस्थाने)

अस्य ग्रहणविधिः—

तस्मादभ्यासेन तत्परिणामदार्ढ्ये यथाशक्ति द्वादशव्रतस्वीकारः, तथासति सर्वाङ्गीणविरतेः संभवाद्विरतेश्च महाफलत्वात्, अन्येऽपि च नियमाः सम्यक्त्वयुक्तद्वादशान्यतरव्रतसंबद्धा एव देशविरतित्वाभिव्यञ्जकाः। अन्यथा तु प्रत्युत पार्श्वस्थत्वादिभावाविर्भावकाः,यत् 'उपदेशरत्नाकरे' सम्यक्त्वाऽणुव्रतादिश्राद्धधर्मरहिता नमस्कारगुणनजिनार्चनवन्दनाद्यभिग्रहभृतः श्रावकाभासाः श्राद्धधर्मस्य पार्श्वस्था इति ।

इत्थं च विधिग्रहणस्यैव कर्त्तव्यत्वात् संग्रहेऽस्य प्रवर्तेत इत्यत्र धर्मस्य सम्यग्विधिना प्रतिपत्तौ प्रवर्तेत इत्येवं पूर्वं प्रतिज्ञातत्वाच्च तद्ग्रहणविधिमेव दर्शयति—

योगवन्दननिमित्त–दिगाकारविशुद्धयः ।
योग्योपचर्येति विधि–रणुव्रतमुखग्रहे ॥ ५२ ॥

इह विशुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते , द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् । ततो योगशुद्धिर्वन्दनशुद्धिर्निमित्तशुद्धिर्दिक्शुद्धिराकारशुद्धिश्चेत्यर्थः। तत्र योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणाः, तेषां शुद्धिः सोपयोगान्तरगमननिरवद्यभाषणशुभचिन्तनादिरूपा ; वन्दनशुद्धिरस्खलितप्रणिपातादिदण्डकसमुच्चारणासंभ्रान्तकायोत्सर्गादिकरणलक्षणा, निमित्तशुद्धिस्तत्कालोच्छलितशङ्खपणवादिनिनादश्रवणपूर्णकलशभृङ्गारच्छत्रध्वजचामराद्यवलोकनशुभगन्धाघ्राणादिस्वभावा, दिक्शुद्धिः प्राच्युदीचीजिनचैत्याद्यधिष्ठिताऽऽशासमाश्रयणस्वरूपा,आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुत्कलीकरणात्मिकेति । तथा योग्यानां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथादीनामुचिता उपचर्या धूपपुष्पवस्त्रविलेपनाऽऽसनदानादिगौरवात्मिका चेति विधिः । स च कुत्र भवतीत्याह-(अणुव्रतेति) अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां तानि अणुव्रतमुखानि साधुश्रावकविशेषधर्माचरणानि, तेषां ग्रहे प्रतिपत्तौ भवतीति सद्धर्मग्रहणविधिः । विशेषविधिस्तु सामाचारीतोऽवसेयः। तत्पाठश्चायम्–"पसत्थे खित्ते जिणभवणाइए पसत्थेसु तिहिकरणनक्खत्तमुहुत्तचंदबलेसु परिक्खियगुणं सीसं सूरी अग्गओ काउं खमासमणदाणपुव्वं भणावेइ–इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अम्हं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम् आरोवावणीयं नंदिकरावणीयं देवं वंदावेह । तओ सूरी सेहं वामपासे ठवित्ता वड्ढंतियाहिं थुईहिं संघेण समं देवे वंदेइ जाव मम दिसंतु । ततः श्रीशान्तिनाथाराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं, 'वंदणवत्तियाए' इत्यादि सत्तावीसुस्सासं काउस्सग्गं करेइ, 'श्रीशान्ति' इत्यादिस्तुतिं च भणति । ततो द्वादशाङ्ग्याराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं'वंदणवत्तिआए'इत्यादि कायोत्सर्गे नमस्कारचिन्तनम्, ततः स्तुतिः, तओ सुयदेवयाए करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ ऊससिएणमिच्चाइ,ततः स्तुतिः,एवं शासनदेवयाए करेमि काउस्सग्गं,अन्नत्थक०।'या पाति शासनं जैनं, सद्यः प्रत्यूहनाशिनी । साऽभिप्रेतसमृद्ध्यर्थं, भूयाच्छासनदेवता"॥१॥ इति स्तुतिः। समस्तवैयावृत्यकराणां कायोत्सर्गः;ततः स्तुतिः; नमस्कारं पठित्वोपविश्य च शक्रस्तवपाठः। परमेष्ठिस्तवः 'जय वीयराय'इत्यादि । इयं प्रक्रिया सर्वविधिषु तुल्या,तत्सामाचारकृतो विशेषः । ततो वंदणपुव्वं सीसो भणइ–इच्छकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम्, आरोवावणीयं नंदिकरावणीयं काउस्सग्गं करेह। तओ सीससहिओ गुरू सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकं आरोवावणीयं नंदिकरावणीयं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ भणइ।सत्तावीसुस्सासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं क्षमा० नमस्कारत्रयरूपनन्दिश्रावणं, ततः पृथक्नमस्कारपूर्वकं वारत्रयं सम्यक्त्वदण्डकपाठः । स चायम्—

"अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि संमत्तं उवसंपज्जामि । तं जहा-दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ;दव्वओ णं मिच्छत्तकारणाइं पच्चक्खामि, सम्मत्तकारणाइं उवसंपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पभिई अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाणि वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तए णं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा कालओ णं जावज्जीवाए भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेणं न छलिज्जामि, जाव संनिवाएणं नाभिभविज्जामि, जाव अन्नेण वा केणइ रोगायंकाइणा एस परिणामो न परिवडइ, ताव मे एअं सम्मद्दंसणं नन्नत्थ रायाभियोगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभियोगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं वोसिरामि, ततश्च "अरिहंतो महदेवो जाव" इत्यादिगाथाया वारत्रयं पाठः। यस्तु सम्यक्त्वप्रतिपत्त्यनन्तरं देशविरतिं प्रतिपद्यते,तस्यात्रैव व्रतोच्चारः। तओ वंदित्ता सीसो भणइ–इच्छकारि भगवन् ! तुम्हे अम्हं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं,देशविरतिसामायिकम्,आरोवो । गुरुराह-आरोवेमि । पुणो वंदित्ता भणइ-संदिसह किं भणामि?। गुरु भणइ-वंदित्ता पव्वेह२।पुणो वंदित्ता भणइ तुम्हे अम्हं समत्तसमाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवियं इच्छामि अणुसट्ठिं।गुरु भणइ आरोवियं२खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारिज्जाहि गुरुगुणेहिं वुड्ढाहि नित्थारगपारगा होह। सीसो भणइ-इच्छं ३। तओ वंदित्ता भणइ-तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि । गुरु भणइ-पवेएह ४। तओ वंदित्ता एगनमुक्कारमुच्चरंतो समोसरणं गुरुं च पयक्खिणेइ, एवं तिन्नि वेला। तओ गुरु निसिज्जाए उवविसइ। खमासमणपुव्वि सीसो भणइ-तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि। गुरु भणइ-करेह ६। तओ वंदित्ता भणइ-सम्यक्त्वसामायिकं ३ स्थिरीकरणार्थं करेमि काउस्सग्गमित्यादि, सत्तावीसुस्सासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं । ततः सूरिस्तस्य पञ्चोदुम्बर्यादि ३ यथायोग्यमभिग्रहान् ददाति। तद्दण्डकश्चैवम्–"अहन्नं भंते! तुम्हाणं समीवे इमे अभिग्गहे गिण्हामि । तं जहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं इमे अभिग्गहे गिण्हामि,खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा,कालओ णं जावज्जीवाए,भावओ णं अहागहियभंगएणं अरिहंतसक्खियं सिद्धसक्खियं साहु०देव०अप्प० अन्नत्थऽणाभोगेणं सह–

स्सागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरामि " तत एकाशनादिविशेषतपः कारयति, सम्यक्त्वादिदुर्लभताविषयां च देशनां विधत्ते । देशविरत्यारोपणविधिरप्येवमेव । व्रताभिलापस्त्वेवम्-"अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं पाणाइवायं संकप्पओ निरवराहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि १ । अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं मुसावायं जीहाछेआइहेउं कन्नाऽलीयाइं पंचविहं पच्चक्खामि दक्खिन्नाइ अविसए जावज्जीवाए दुविहमित्यादि २। अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे थूलगं अदत्तादाणं खत्तखणणाइ चोरंकारकरं रायनिग्गहकरं सचित्ताचित्तवत्थुविसयं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहमित्यादि ३। अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे ओरालियवेउव्वियभेयं थूलगं मेहुणं पच्चक्खामि, तत्थ दिव्वं दुविहं तिविहेणं तेरिच्छं एगविहं तिविहेणं मणुअं अहागहियभंगएणं, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामीत्यादि ४। अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे अपरिमियपरिग्गहं पच्चक्खामि धणधन्नाइनवविहवत्थुविसयं इच्छापरिमाणं उवसंपज्जामि जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं, तस्स भंते ! पडिक्कमामीत्यादि " ५। एतानि प्रत्येकं नमस्कारपूर्वं वा रत्रयमुच्चारणीयानि ।

" अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे गुणव्वयतिए उड्ढाहो तिरियगमणविसयं दिसिपरिमाणं पडिवज्जामि । उवभोगपरिभोगवए भोयणओ अणंतकायबहुबीयराइभोयणाइं परिहरामि । कम्मओ णं पन्नरसकम्मादाणाइं इंगालकम्माइयाइं बहुसावज्जाइं खरकम्माइं रायनियोगं च परिहरामि । अणत्थदंडे अवज्झाणाइअं चउव्विहं अणत्थदंडं जहासत्तीए परिहरामि । जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं तस्स भंते इत्यादि " ८ त्रीण्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

" अहन्नं भंते ! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासं अतिहिसंविभागवयं विभागवयं च जहासत्तीए पडिवज्जामि जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं, तस्स भंते ! इत्यादि " १२ चत्वार्यपि समुदितानि वारत्रयम् ।

"इच्चेइयं संमत्तमूलं पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं सावगधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि " वारत्रयमिति ।

अथाणुव्रतादीन्येव क्रमेण दर्शयन्नाह-

स्थूलहिंसादिविरति-व्रतभङ्गेन केनचित् ।
अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि शंभवः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणरूपा । सा च-स्थूला सूक्ष्मा च । तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया । स्थूला-मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या सा । स्थूलानां वा त्रसानां हिंसा स्थूलहिंसा । आदिशब्दात् स्थूलमृषावादाऽदत्तादानाऽब्रह्मपरिग्रहाणां परिग्रहः एभ्यः स्थूलहिंसादिभ्यो या विरतिर्निवृत्तिस्ताम ।(अहिंसादीनीति) " अहिंसासूनृताऽस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहान् " अणूनि साधुव्रतेभ्यः सकाशाल्लघूनि, व्रतानि नियमरूपाणि अणुव्रतानि, अणोर्वा यत्यपेक्षया लघुगुणस्थानिनो व्रतान्यणुव्रतानि । अथवा-अनु पश्चान्महाव्रतप्ररूपणापेक्षया प्ररूपणीयत्वाद् व्रतानि अनुव्रतानि । पूर्वं हि महाव्रतानि प्ररूप्यन्ते ततस्तत्प्रतिपत्त्यसमर्थस्यानुव्रतानि । यदाह- " जइधम्मे असमत्थो, जुज्जइ तद्देसणं पि साहुं ति " । तानि कियन्तीत्याह-(पञ्चेति) पञ्चसंख्यानि, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचननिर्देशेऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः स सर्वत्र विरतिसामान्यापेक्षयेति । शंभवस्तीर्थंकराः, आहुः प्रतिपादितवन्तः । किमविशेषेण विरतिः?, नेत्याह-व्रतभङ्गेनेत्यादि । केनचिद् द्विविधत्रिविधादीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण बाहुल्येन हि श्रावकाणां द्विविधत्रिविधादयः षडेव भङ्गाः संभवन्तीति तदादिभङ्गजालग्रहणमुचितमिति भावः । ते च भङ्गा एवम्-श्राद्धा विरताः, अविरताश्च । ते सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽष्टविधा भवन्ति । यत आवश्यके-"साभिग्गहा य निरभि-ग्गहा य ओहेण सावया दुविहा । ते पुण विभज्जमाणा, अट्ठविहा हुंति नायव्वा" ॥१॥ साभिग्रहा विरता आनन्दादयः, अनभिग्रहा अविरताः कृष्णसात्यकिश्रेणिकादय इति । अष्टविधास्तु द्विविधत्रिविधादिभङ्गभेदेन भवन्ति । तथाहि—

" दुविह तिविहेण पढमो, दुविहं दुविहेण बीअओ होइ ।
दुविहं एगविहेणं, एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १ ॥
एगविहं दुविहेणं, एगेगविहेण छट्ठओ होइ ।
उत्तरगुणसत्तमओ, अविरओ वि चेव अट्ठमओ " ॥२॥

द्विविधम्-कृतं कारितं च । त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा स्थूलहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा कायेनेत्यभिग्रहवान् प्रथमः । अस्य चानुमतिः प्रतिषिद्धा, अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात्, तैर्हिंसादिकरणे तस्यानुमतिप्राप्तेः अन्यथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः । त्रिविधत्रिविधादयस्तु भङ्गा गृहिणामाश्रित्य भगवत्युक्ता अपि क्वाचित्कत्वान्नेहाधिकृताः; बाहुल्येन षड्भिरेव विकल्पैस्तेषां प्रत्याख्यानग्रहणात्; बाहुल्यापेक्षया चास्य सूत्रस्य प्रवृत्तेः क्वाचित्कत्वं तु तेषां विशेषविषयत्वात् । तथाहि-यः किल प्रविव्रजिषुः पुत्रादिसंततिपालनाय प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विशेषं स्वयंभूरमणादिगतं मत्स्यादिमांसं दन्तिदन्तचित्रकचर्मादिकं स्थूलहिंसादिकं वा क्वचिदवस्थाविशेषे प्रत्याख्याति, स एव त्रिविधत्रिविधादिना करोतीत्यल्पविषयत्वान्नोच्यते ॥ तथा द्विविधं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः । अत्र चोत्तरभङ्गास्त्रयः, तत्र द्विविधं स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन मनसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेनेति ३ । तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसाऽभिसंधिरहित एव वाचाऽपि हिंसादिकमब्रुवन्नेव कायेन दुश्चेष्टितादि असंज्ञिवत्करोति १। यदा तु मनसा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव कायेन दुश्चेष्टितादि परिहरन्नेवानाभोगाद्वाचैव हन्मि घातयामि चेति ब्रूते २ । यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिमधिकृत्य करोति कारयति ३ । अनुमतिस्तु त्रिभिः सर्वत्रैवास्ति । एवं शेषविकल्पा अपि भावनीयाः ॥ द्विविधमेकविधेनेति तृतीयः । अत्राप्युत्तरभङ्गास्त्रयः । द्विविधं करणं कारणं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन ॥ एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः । अत्र च द्वौ भङ्गौ, एकविधं करणम् , यद्वा-करणं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन ॥ एकविधं द्विविधेनेति पञ्चमः । अत्रोत्तरभेदाः षट्, एकविधं करणं, यद्वा-कारणम्, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा-मनसा कायेन, यद्वा वाचा कायेन ॥ एकविधमेकविधेनेति षष्ठः । अत्रापि प्रतिभङ्गाः षट्, ए-

कविधं करणं,यद्वा-कारणं,एकविधेन मनसा,यद्वा-वाचा,यद्वा-कायेन । तदेवं मूलभङ्गाः षट्। षण्णामपि च मूलभङ्गानामुत्तरभङ्गाः सर्वसंख्ययैकविंशतिः।तथा चोक्तम्-" दुविह तिविहा य छुच्चिअ, तेसिं भेआ कमेणिमे हुंति । पढमिक्को दुन्नि तिआ, दुगेग दो छक्क इगवीसं " ॥१॥ स्थापना चेयम्—

२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१
१	३	३	२	६	६

एवं च षड्भिर्भङ्गैः कृताभिग्रहः षड्विधः श्राद्धः; सप्तमश्चोत्तरगुणः प्रतिपन्नगुणव्रतशिक्षाव्रताद्युत्तरगुणः। अत्र च सामान्येनोत्तरगुणानाश्रित्यैक एव भेदो विवक्षितः। अविरतश्चाष्टमः । तथा पञ्चस्वप्यणुव्रतेषु प्रत्येकं षड्भङ्गीसंभवेन उत्तरगुणाऽविरतमीलनेन च द्वात्रिंशद्भिदा अपि श्राद्धानां भवन्ति । यदुक्तम्-"दुविहा विरयाऽविरया, दुविहतिविहाइणऽट्ठहा हुंति । वयमेगमेगं छब्भिअ, गुणिअं दुगमिलिअबत्तीसं " इति ॥१॥ अत्रं च द्विविधत्रिविधादिना भङ्गनिकुरम्बेन श्रावकार्हपञ्चाणुव्रतादिव्रतसंहतिभङ्गकदेवकुलिकाः सूचिताः । तास्वेकैकव्रतं प्रत्यभिहितया षड्भङ्ग्या निष्पद्यन्ते, तासु च प्रत्येकं त्रयो राशयो भवन्ति । तद्यथा-आदौ गुण्यराशिर्मध्ये गुणकराशिरन्ते चागतराशिरिति । तत्र पूर्वमेतासामेव देवकुलिकानां षड्भङ्ग्या विवक्षितव्रतभङ्गकसर्वसंख्यारूपा एवंकारराशयश्चैवम्-

" एगवए छब्भंगा, निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते । तिच्चिअ पयवुड्ढीए, सत्त गुणा छज्जुआ कमसो " ॥ १ ॥ सर्वभङ्गराशिं जनयन्तीति शेषः । कथं पुनः षड् भङ्गाः सप्तभिर्गुण्यन्ते इत्याह-पदवृद्ध्या मृषावादाद्येकैकव्रतवृद्ध्या एकव्रतभङ्गराशेरत्रधो व्यवस्थापितत्वाद्विवक्षितव्रतेभ्यः एकेन हीनाधारा इत्यर्थः। तथाहि-एकव्रते षड्भङ्गाः सप्तभिर्गुणिता जाता द्विचत्वारिंशत्,तत्र षट् क्षिप्यन्ते, जाता अष्टचत्वारिंशत् । एषोऽपि सप्तभिर्गुण्यते, षट् च क्षिप्यन्ते, जाताः ३४२। एवं सप्तगुणनषट्प्रक्षेपक्रमेण तावद् यावदेकादश्यां वेलायामागतम्१३८४१२८७२०२ एते च षडष्टचत्वारिंशदादयो द्वादशाप्यागतराशयोऽधोभागेन व्यवस्थाप्यमाना अर्द्धदेवकुलिकाकारां भूमिमावृण्वन्तीति खण्डदेवकुलिकेत्युच्यते । स्थापना-

१२	६	६
६६	३६	४८
२२०	२१६	३४२
४९५	१२९६	२४००
७९२	७७७६	१६८०६
९२४	४६६५६	११७६४८
७९२	२७९९३६	८२३५४२
४९५	१६७९६१६	५७६४८००
२२०	१००७७६९६	४०३५३६०६
६६	६०४६६१७६	२८२४७५२४८
१२	३६२७९७०५६	१९७७३२६७४२
१	२१७६७८२३३६	१३८४१२८७२०२

संपूर्णदेवकुलिकास्तु प्रतिव्रतमेकैकदेवकुलिकासद्भावेन षड्भङ्ग्यां द्वादश देवकुलिकाः संभवन्ति। तत्र द्वादश्यां देवकुलिकायामेकद्विकादिसंयोगा गुणकरूपाश्चैवम् । तत्र च गुण्यराशयस्त्वमी। एतेषां च पूर्वस्य पूर्वस्य षड्गुणनेऽग्रेतनो गुण्यराशिरायातीत्यनयने बीजम्। एते च षट्-षट्त्रिंशदादयो द्वादशाऽपि गुण्यराशयः क्रमशो द्वादश-षट्षष्टिप्रभृतिभिर्गुणकराशिभिर्गुणिता आगतराशयः ७२ आदयो भवन्ति, ते देवकुलिकागततृतीयराशितो ज्ञेयाः। स्थापना चाग्रे-(षड्भङ्ग्यां द्वादशव्रतदेवकुलिकायाः) अत्राप्युत्तरगुणा अविरतसंयुक्ताः १३८४१२८७२०२ भवन्ति । उत्तरगुणाश्चात्र प्रतिमादयोऽभिग्रहविशेषा ज्ञेयाः । यदुक्तम्-"तेरसकोडिसयाइं, चुलसीइजुआइँ बारस य लक्खा । सत्तासी अ सहस्सा, दो अ सया तह दुरग्गा य" ॥ १ ॥ (दुरग्ग त्ति) प्रतिमाद्युत्तरगुणाऽविरतरूपभेदद्वयाधिका एतावन्तश्च द्वादश व्रतान्याश्रित्य प्रोक्ताः। पञ्चाणुव्रतान्याश्रित्य तु १६८०६ भवन्ति । तत्राप्युत्तरगुणाऽविरतमीलने १६८०८ भवन्ति । अत्र चैकद्विकादिसंयोगा गुणकाः षट् षट्त्रिंशाद्यो गुण्याश्त्रिंशदादयश्चागतराशयो यन्त्रकादवसेयाः । इयमत्र भावना—कश्चित्पञ्चापि पञ्चाणुव्रतानि प्रतिपद्यते । तथा किल पञ्चैककसंयोगाः एकैकस्मिंश्च संयोगे द्विविधत्रिविधादयः षड् भङ्गाः स्युः । तेन षड् पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाताः ३० । एतावन्तः पञ्चानां व्रतानामेककसंयोगे भङ्गाः। तथा एकैकस्मिन् द्विकसंयोगे ३६ भङ्गाः । तथाहि—आद्यव्रतसंबन्धाद् यो भङ्गकोऽवस्थितो मृषावादसत्कान् षड् भङ्गान् लभते । एवमाद्यव्रतसंबन्धी द्वितीयेऽपि यावत्षष्ठोऽपि भङ्गोऽवस्थित एव मृषावादसत्कान् षड् भङ्गान् लभते। ततश्च षड्, षड्भिर्गुणिताः ३६, दश चात्र द्विकसंयोगाः। अतः ३६ दशगुणिताः ३६०। एतावन्तः पञ्चानां व्रतानां द्विकसंयोगे भङ्गाः। एवं त्रिकसंयोगादिष्वपि भङ्गसंख्याभावना कार्या । पञ्चमदेवकुलिकास्थापना—

६	५	३०
३६	१०	३६०
२१६	१०	२१६०
१२९६	५	६४८०
७७७६	१	७७७६

एवं सर्वासामपि (पूर्वोत्तराणां) देवकुलिकानां निष्पत्तिः स्वयमेवावसेया । इयं च प्ररूपणाऽऽवश्यकनिर्युक्त्यभिप्रायेण कृता, भगवत्यभिप्रायेण तु नवभङ्गी । साऽपि प्रसङ्गतः प्रदर्श्यते । तथाहि-हिंसां न करोति-मनसा १, वाचा २, कायेन ३, मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा कायेन ६,मनसा वाचा कायेन ७, एतत्करणेन सप्त भङ्गीः। एवं कारणेन २ अनुमत्या ३ करणकारणाभ्यां ४ करणानुमतिभ्यां ५ कारणानुमतिभ्यां ६ करणकारणानुमतिभिः ७। एवं सर्वमिलिता एकोनपञ्चाशद्भवन्ति। एते च त्रिकालविषयत्वात् प्रत्याख्यानस्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशच्छतं भवन्ति । यदाह—

" मणवयकाइयजोगे, करणे कारावणे अणुमई अ ।
इक्कगदुगतिगजोगे, सत्तासत्ते व गुणवन्ना ॥ १ ॥
पढमिक्को तिन्नि तिआ, दुन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव ।
कालतिगेण य सहिआ, सीआलं होइ भंगसयं ॥ २ ॥
सीआलं भंगसयं, पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।
सो खलु पच्चक्खाणे, कुसलो सेसा अकुसला ओ " ॥३॥ त्ति ।

त्रिकालविषयता चातीतस्य निन्दया, सांप्रतिकस्य संवरणेन, अनागतस्य प्रत्याख्यानेनेति। यदाह-" अइयं निंदामि पडुप्पन्नं संवरेमि अणागयं पच्चक्खामि त्ति"। एते च भङ्गा अहिंसामाश्रित्य प्रदर्शिताः व्रतान्तरेष्वपि ज्ञेयाः । तत्र पञ्चाणुव्रतेषु प्रत्येकं १४८ भङ्गकभावाद् ७३५ भेदाः श्रावकाणां भवन्ति।

३	३	३	२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१	३	२	१
१	३	३	६	६	३	३	६	६

उक्तं च-'दुविहा अट्ठविहा वा,बत्तीसविहा व सत्त पणतीसा । सोल सय सहस्स नवे, अट्ठसयऽट्ठुत्तरा वइणो' ॥१॥ इदं तु ज्ञेयम्-षड्भङ्गीवदुत्तरभङ्गरूपैकविंशतिभङ्ग्या, तथा नवभङ्ग्या ३, तथैकोनपञ्चाशद्भङ्ग्या ४, द्वादश द्वादश देवकुलिका निष्पद्यन्ते । यदुक्तम्—

" इगवीसं खलु भंगा, निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते चिअ बावीस गुणा, इगवीसं पक्खवेअव्वा ॥ १ ॥
एगवए नव भंगा, निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते चिअ दसगुण काउं, नव पक्खेवम्मि कायव्वा ॥ २ ॥

पगुणवन्नं भंगा, दिट्ठा खलु सावयाण जे सुत्ते ।
ते चिअ पंचासगुणा, इगुणवन्नं पक्खिवेअव्वा ॥ ३ ॥
सोआलं भंगसयं, ते च्चि अडयालसयगुणं काउं ।
सीयालसएण जुअं, सव्वग्गा जाण भंगाण " ॥ ४ ॥

एकादश्यां वेलायां द्वादशव्रतभङ्गकसर्वसंख्यायामागतं क्रमेण खण्डदेवकुलिकातो ज्ञेयम् । तत्स्थापनाश्चेमाः-(* द्वादशव्रतदेवकुलियां षट् नव च भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) एवं संपूर्णा देवकुलिका अपि एकविंशत्यादिभङ्गादिषु द्वादश द्वादश भावनीयाः। स्थापनाः क्रमेण यथा-(* द्वादशव्रतदेवकुलिकायामेकविंशत्येकोनपञ्चाशतसप्तचत्वारिंशच्छतं भङ्गा यन्त्रतोऽवसेयाः) इति प्रसङ्गतः प्रदर्शिता भङ्गप्ररूपणाः । बालेन च द्विविधत्रिविधादिषड्भङ्ग्येवोपयोगिनीत्युक्तमेवावसेयमित्यलं विस्तरेण । धर्म० २ अधि० । पंचा० । प्रव० ।

अणुव्वजंत-अनुव्रजत्-त्रि० । अनुकूलं साध्वभिमुखं व्रजति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुव्वयपणग-अनुव्रतपञ्चक-न० । अणुव्रतानां पञ्चकं यत्र सोऽनुव्रतपञ्चकः । प्राकृतवशाद्यान्यथा निर्देशः । पञ्चानुव्रतिके, दर्श० ।

अणुव्वयमुह-अणुव्रतमुख-त्रि० । अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां तानि । साधुश्रावकविशेषधर्माचरणेषु, ध० २ अधि० ।

अणुव्वया-अनुव्रता-स्त्री० । अन्विति कुलाऽनुरूपं व्रतमाचारोऽस्या अनुव्रता । पतिव्रतायाम्, उत्त० २० अ० ।

अणुव्वस-अनुवश-त्रि० । वशमुपागते, " एवं तुब्भे सरागत्था, अन्नमन्नमणुव्वसा " । अन्योऽन्यं परस्परतो वशमुपागताः परस्परायत्ताः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुव्विवाग-अनुविपाक-पुं० । अनुरूपे विपाके, " एवं तिरिक्खे मणुयासुरेसु, चतुरन्तणंतं तयणुव्विवागं " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणुसंगई-अणुसङ्गति-स्त्री० । आकाशादिद्रव्यस्य परमाणुसंयोगे, द्रव्या० १२ अध्या० ।

अणुसंचरंत-अनुसञ्चरत्-त्रि० । अनुभ्रम्यमाणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पश्चात् सञ्चरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुसंधाण-अनुसन्धान-न० । बुद्ध्योपादाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । विस्मृतस्य ग्रहणे उपादाने, 'तस्सेव पएसंतरणट्ठस्सऽणुसंधाणघडणा' तस्यैव पूर्वगृहीतसूत्रादेः प्रदेशान्तरनष्टस्य क्वचिद्देशे विस्मृतस्य च या घटना साऽनुबन्धना अनुसन्धानमित्युच्यते । पञ्चा० १२ विव० ।

अणुसंधियं-देशी-अविरते , हिक्कायां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणुसंवेयण-अनुसंवेदन-न० । पश्चात्संवेदने, अनुभवने च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अणुसंसरण-अनुसंसरण-न० । दिग्विदिशां गमनस्य भावदिगागमनस्य वा स्मरणे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुसज्जणा-अनुसज्जना-स्त्री० । अनुवृत्तौ, व्य० १ उ० । ('तित्थाणुसज्जणा' शब्दे तीर्थस्यानुसज्जनां व्याख्यास्यामः)

अणुसजिज्जत्था-अनुषक्तवत्-त्रि० । पूर्वकालात्कालान्तरमनुवृत्तवति, भ० ६ श० ७ उ० ।

अणुसट्ठी-अनुशिष्टि-स्त्री० । अनुशासनमनुशिष्टिः । उपदेशप्रदानरूपे स्तुतिकरणे , लक्षणे वा वैयावृत्यभेदे, व्य० १ उ० । नि० चू० । पं० व० । शिक्षणे, दर्श० । इहलोकाऽपायप्रदर्शने, बृ० १ उ० । ' तिविहा अणुसट्ठी पन्नत्ता । तं जहा-अयाणुसट्ठी पराणुसट्ठी तदुभयाणुसट्ठी ' स्था० ३ ठा० ३ उ० । तत्र यद् आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः, यत्पुनः परस्य परेण वाऽनुशासनं सा पराऽनुशिष्टिः, एवं तदुभयस्मिन् तदुभयविषयानुशिष्टिः । व्य० १ उ० । तत्राऽऽत्मनो यथा-" बायालीसेसणसं, कमम्मि गहणम्मि जीव ण हु छलिओ । इण्हि जह ण हु छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिंति" ॥ १ ॥ तथा विधेयमिति शेष इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । व्य० ।

दंडसुलभम्मि लोए, मा अमतिं कुणह दंडितो मित्ति ।
एस दुलहो उ दंडो, भवदंडनिवारओ जीव ! ॥
अवि य हु विसोहिओ त्तं, अप्पाणायारमइलिओ जीव ! ।
अप्पपरे उभए अनु-सट्ठी य थुइ त्ति एगट्ठा ॥

दण्डः सुलभो यत्रासौ दण्डसुलभस्तस्मिन् लोके , हे जीव ! मा एवंरूपाममतिं कुमतिं कुर्याः । यथाऽहमाचार्येण प्रायश्चित्तदानतो दण्डितोऽस्मीति, यत एष प्रायश्चित्तदानरूपो दण्डो दुर्लभः कस्माद् दुर्लभः?, इत्याह-भवदण्डनिवारकः । "निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् " इति वार्तिकेन हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यत एष दण्डो भव एव संसार एव दुःसहदुःखात्मकत्वाद् दण्डस्तस्य निवारको भवदण्डनिवारकस्तस्माद् दुर्लभः । अपि च । हु निश्चितं हे जीव ! ते आत्मा अनाचारमलिनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशोधितो भवति, तस्माद् न दण्डितोऽस्मीति बुद्धिरात्मनि परिभावयितव्या । किन्तूपकृतोऽहमनुपकृतपरहितकारिभिराचार्यैरिति चिन्तनीयमिति । एवममुना उल्लेखेन आत्मनि परस्मिन् उभयस्मिश्चानुशिष्टिरवगन्तव्या । आत्मनि साक्षादियमुक्ता, एतदनुसारेण परस्मिन्नुभयस्मिन्नपि च भा प्रतिपत्तव्येति भावः । अनुशिष्टिः स्तुतिरित्येकार्थौ । अत्रापिशब्दः सामर्थ्याद् गम्यते, एतावपिशब्दावेकार्थौ । किमुक्तं भवति-अनुशिष्टिः स्तुतिरित्यपि द्रष्टव्यमिति । व्य० १ उ० । परानुशिष्टिर्यथा-" ता तंसि भाववेज्जो, भवदुक्खनिपीडिया तुहं एते । हंदि सरणं पवन्ना,मोएयव्वा पयत्तेणं" ॥१॥ तदुभयाऽनुशिष्टिर्यथा-"कह कह वि माणुसत्ता-इ पावियं चरणपवररयणं च । ता भो ! इत्थ पमाओ, कइया वि न हुज्जए अम्हं "॥१॥ स्था० ४ ठा० २ उ० । नि० चू० । हितोपदेशरूपायां शिक्षायाम्, "सिद्धाण णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ। अत्थधम्मगइं तच्चं, अणुसट्ठिं सुणेह मे "॥१॥ इत्यादनाथमुनिना श्रेणिकं प्रत्यनुशिष्टिः कृता । उत्त० २० अ० । व्य० । सद्गुणोत्कीर्त्तनेनोपबृंहणं साऽविधेयेति यत्रोपदिश्यते साऽनुशास्तिः (" जिणकप्प " शब्दे जिनकल्पं प्रतिपद्यमानेन साधूनामनुशिष्टिर्वक्ष्यते) आहरणतद्देशभेदे च, यथा गुणवन्तोऽनुशासनीया भवन्ति । यथा साधुलोचनपतितरजःकणापनयनेन लोकसम्भावितशीलकलङ्का, तत्कालनायाराधितदेवताकृतप्रातिहार्याचालनिव्यवस्थापितोदकाच्छोटनतोद्घाटितचम्पागोपुरत्रया सुभद्रा अहो ! शीलवतीति महाजनेनानुशासितेति । इह च तथाविधवैयावृत्याकरणादिनाऽप्युपनयः संभवति , तस्यागेन च महाजनानुशास्तिमात्रेणोपनयः कृत इत्याहरणतद्देशतेति । एवमनभिमतांशत्यागादभिमतांशोपनयनमुत्तरेष्वपि भाव-

नीयमिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्यस्यार्थे, बृ० १ उ० ।

अणुसमय–अनुसमय–अव्य० । समयं समयमनुलक्षीकृत्येत्यनुसमयम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कर्म० ५ कर्म० । सततमित्यर्थे, उत्त० ५ अ० । प्रतिसमयमित्यर्थे, क० प्र० । प्रति० । प्रतिक्षणमित्यर्थे, चं० प्र०६ पाहु० । "अणुसमयं अविरहियं णिरंतरं उववज्जंति" । अनुसमयमित्यादिपदत्रयमेकार्थम् । भ० ४१ श० १ उ० ।

अणुसमवयणोववत्तिअ–अनुसमवदनोपपातिक–त्रि० । अनुरूपा समाऽविषमा वदनोपपत्तिर्द्वारघटना येषां ते तथा । अनुलोमाऽविषमद्वारघटनाके, " ससिसूरचक्कलक्खण–अणुसमवयणोववत्तिआ " जं० ३ वक्ष० ।

अणुसय–अनुशय–पुं० । गर्वे, पश्चात्तापे च । अनु० । प्रश्न० ।

अणुसरण–अनुस्मरण–न० । सदसत्कर्तव्यप्रवृत्तिहेतुभूतेऽनुचिन्तने, पञ्चा० १ विव० । " णाणानयाणुसरणं, पुव्वगयमुयाणुसारेणं" आव० ४ अ० । स्मृतौ, विशे० ।

अणुसरियव्व–अनुसर्तव्य–त्रि० । अनुगन्तव्ये, स्था०५ ठा०१ उ० ।

अनुस्मर्तव्य–त्रि० । अनुचिन्तनीये, " अणुसरियव्वो सुहेण चित्तेण एसेव नमोक्कारो कयन्नुयं मन्नमाणेणं" आ० म० द्वि० ।

अणुसरिस–अनुसदृश–त्रि० । अनुरूपे, "अणुसरिसो तस्स होउवज्झाओ" व्य० २ उ० ।

अणुसार–अनुसार–पुं० । अनु–सृ–भावे घञ् । अनुगमने, सदृशीकरणे च । वाच० । " वित्तसासु अ लक्खणाणुसारेणं " इत्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, विशे० ।

अनुस्वार–पुं० । स्वराश्रयेण उच्चार्यमाणे बिन्दुरेखया व्यज्यमाने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारो विद्यतेऽस्येति अभ्रादित्व इति मत्वर्थीयोऽत् प्रत्ययः । अनुस्वारवत्वेनोच्चार्यमाणेऽनक्षरश्रुतविशेषे, आ० म० द्वि० । नं० । " अणुस्सारं णाम पम्हुट्ठे अच्छे सत्तं वा संभरिते अण्णेण वा संभारिते जं अक्खरविरहितं सद्दकरणं तमणुस्सारं भणति" । आ० चू० १ अ० ।

अणुसासंत–अनुशासत्–त्रि० । शिक्षयति—शिक्षां प्रयच्छति, उत्त० ४ अ० ।

अणुसासण–अनुशासन–न० । अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम् । धर्मदेशनसन्मार्गाऽवतारणे, " अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासु ते" सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । जगवदाज्ञारूपे–आगमे च । " सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । शासनमनु–अव्ययीभावः । यथागममित्यर्थे । सूत्रानुसारेणेति यावत् । "अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिँ सम्मं पवेइयं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । शिक्षायाम्, ज्ञा० १३ अ० । उत्त० । जी० । राजद्विष्टराज्ञोऽनुशासनं वक्ष्यामि । पञ्चा० ६ विव० । दुःस्थस्य सुस्थतासंपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अणुकंप त्ति या अणुसासणं ति वा एगट्ठा " पं० चू० । अनुशासनं भज्यमाने वा दृष्टे वा, किमुक्तं भवति ?–सामाचारीतः प्रतिभज्यमानान् कथञ्चिद् दृष्टत्वादनुशास्ति तदनुशासनम् । यदि वा यो यथोक्तकार्येऽपि सन् कथञ्चिन्न कुरुते, तत्करणार्थमिच्छाक्रमम्, 'एतत्तव कृत्यमिति' दृष्टत्वादनुशास्ति एतदनुशासनम् । संग्रहभेदे, व्य० ३ उ० । ' अणुसासइ'– अनुशास्ते । बृ० १ उ० ।

अणुसासणविहि–अनुशासनविधि–पुं० । अनुशास्तिविधाने, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुसासिज्जंत–अनुशास्यमान–त्रि० । तत्र तत्र चोद्यमाने, " अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ " । दश० १ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अणुसासिय–अनुशासित–त्रि० । युक्तानि शिक्ष्यमाणे कथञ्चित् स्खलितादिषु गुरुभिः परुषोक्त्या शिक्षिते–गुरुभिः कठोरवचनैस्तर्जिते, उत्त० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुसिट्ठ–अनुशिष्ट–त्रि० । शिक्षां गृहीते, " तत्तेण अणुसिट्ठाते, अपडिन्नेण जाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसिट्ठी–अनुशिष्टि–स्त्री० । तद्भावकथनपुरस्सरं प्रज्ञापनायाम, बृ० १ उ० । ('अणुसट्ठी' शब्दप्रकरणे दर्शितार्थे,) शिक्षायाम, उत्त० १० अ० ।

अणुसुत्ती–देशी–अनुकूले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुसूयग–अनुसूचक–पुं० । नगराभ्यन्तरे चारमुपलभमाने, सूचककथितं श्रुतं दृष्टं वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः कथयति, सामन्तराज्येषु वसतिकृतवृत्तिके अमात्यपुरुषे, तादृश्यां कृतवृत्तिकायां चैव महिलायाम्, "सूयग तहाऽणुसूयग-पडिसूयग सव्वसूयगा चेव । पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥१॥ महिला कयवित्तीया वसंति सामंतणगरेसु" व्य० १ उ० ।

अणुसू (स्सु) यत्त–अनुस्यूतत्व–न० । अपरशरीराश्रितताया परनिश्रायाम, " अचित्तेसु वा अणुसूयत्ताए वि उट्टंति " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अणुसोय–अनुश्रोतस्–न० । प्रवाहे, "अणुसोयपट्ठिए बहु, जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेण । पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसमो सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो " ॥२॥ अष्ट० २३ अष्ट० । पं० सू० ।

अणुसोयचारि (ण्)–अनुश्रोतश्चारिन्–त्रि० । अनुश्रोतसा चरतीति अनुश्रोतश्चारी । नद्यादिप्रवाहगामिनि मत्स्ये, एवं भिक्षाके च । यो हि अभिग्रहविशेषादुपाश्रयसमीपात् क्रमेण कुलेषु भिक्षते सोऽनुश्रोतश्चारी । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुसोयपट्ठिय–अनुश्रोतःप्रस्थित–त्रि० । नदीपूरप्रवाहपतितकाष्ठवद् विषयकुमार्यद्रव्यक्रियानुकूल्येन प्रवृत्ते, "अणुसोयपट्ठिए बहु, जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ चू० ।

अणुसोयसुह–अनुश्रोतःसुख–त्रि० । उदकनिम्नाभिसर्पणवत् प्रकृत्याऽनुकूलविषयादिसुखे, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो लोगो " दश० २ चू० ।

अणुस्सग्ग–अनुत्सर्ग–पुं० । अपरित्यागे, दर्श० ।

अणुस्सरित्ता–अनुसृत्य–अव्य० । अनुसारं कृत्वेत्यर्थे, "अंधं व

णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणुस्सव-अनुश्रव-पुं० । अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवः । वेदे, द्वा० ८ द्वा० ।

अणुस्सुय-अनुश्रुत-त्रि० । अवधारिते गुरुभिरुच्यमाने, उत्त०५ अ० । श्रवणपथमायाते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । भारतादौ पुराणे श्रुते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सुकोऽनुत्सुकः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । औत्सुक्यरहिते, पं० सू० ४ सू० ।

अणुस्सुयत्त-अनुत्सुकत्व-न० । विषयसुखेऽनुत्तालत्वे, "सुहसायणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । उत्त० २९ अ० ।

अणुहवसिद्ध-अनुभवसिद्ध-त्रि० । स्वसंवेदनप्रतीते, पञ्चा० ३ विव० ।

अणुहविउं-अनुभूय-अव्य० । संवेद्येत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० ।

अणुहियासण-अन्वध्यासन-न० । अविचलकायतया सहने, जं० २ वक्ष० ।

अणुहूअ-अनुभूत-त्रि०। अनु-भू-क्त । प्राकृते " क्ते हुः " ॥ ८ । ४ । ६४ ॥ भुवः क्तेप्रत्यये हूरादेशः । अनुभवविषयीकृते , प्रा० ।

अणू-देशी-शालिभेदे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणूव-अनूप-त्रि० । अनुगता आपो यत्र । ब० स० । अच् समा० । अत उत्वम् । जलप्राये स्थाने , वाच० । नद्यादिपानीयबहुले , बृ० १ उ० । विशे० । व्य० ।

अणूवदेस-अनूपदेश-पुं० । जलदेशे , व्य० ४ उ० ।

अणेक्क(ग)-अनेक-त्रि० । बहुत्वे, सूत्र०१ श्रु० १२ अ० । अनेकशब्दघटितप्रयोगा यथा- " अणेगगणनायकदंमनायकराईसरतलवरमाडंबिअकोडुंबिअमंतिमहामंतिगणकदोवारिअअमच्च-चेमपिढमद्दनगरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूतसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे " अनेके ये गणनायकादयस्तेषां द्वन्द्वस्ततस्तैरिह तृतीयाबहुवचनलोपो द्रष्टव्यः (सद्धिं ति) सार्द्धं सहेत्यर्थः । न केवलं तत्सहितत्वमेव, अपि तु तैः समिति समन्तात् परिवृतः परिवारित इति । औ०। " अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणं " अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनिषु वेदना यत्र स तथा । (संसार इति विशेष्यम्) औ० । "अणेगजातिजरामरणजोणिसंसारकलंकलिभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचसमइक्कंता-सासयमणागयसिद्धं " अनेकैर्जातिजरामरणैर्जन्मजरामृत्युभिर्यश्च तासु योनिषु संसारः संसरणं तेन च यः कलङ्कलीभावः कदर्थ्यमानता यश्च दिव्यसुखमनुप्राप्तानामपि पुनर्भवे संसारे गर्भवसतिप्रपञ्चः, तौ समतिक्रान्तौ, अत एव शाश्वतमनागतं कालं तिष्ठन्ति । (सिद्धा इति विशेष्यम्) प्रज्ञा० २ पद। अनेकजातिसंश्रयाद् विचित्रत्वम । सर्वभावानुव्यापितचित्ररूपता । रा० । इह जातयो वर्णनीयवस्तुरूपवर्णनानि । स० । " अणेगणमकमगवियरउज्झरपवायपब्भारसिहरपउरे " अनेकानि नटानि कटकाश्च गण्डशैला यत्र स तथा । विवराणि , अवझराश्च निर्झरविशेषाः, प्रपाताश्च भृगवः, प्राग्भाराश्च ईषदवनता गिरिदेशाः, शिखराणि च कूटानि, प्रचुराणि यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः (पर्वत इति विशेष्यम्) ज्ञा० ४ अ० ।

" अणेगणरवामसुप्पसारियअगिज्झघनविपुलवट्टखंधा " अनेकैर्नरव्यामैः पुरुषव्यामैः सुप्रसारितैरग्राह्योऽप्रमेयो घनो निविडो विपुलो विस्तीर्णो वृत्तः स्कन्धो येषां ते-अनेकनरव्यामसुप्रसारिताग्राह्यघनविपुलवृत्तस्कन्धाः । रा० । ज्ञा० । " अणेगभूयभावभविएविअइ " अनेके भूता अतीता भावाः सत्त्वाः परिणामा वा भव्याश्च भाविनो यस्य स तथा । इति शुकं प्रति स्थापत्यापुत्रः । स्था० १ ठा० १ उ० । " अणेगमणिरयणविविहणिउत्तविचित्तचिंधगया "अनेकानि बहूनि मणिरत्नानि प्रतीतानि विविधानि बहुप्रकाराणि नियुक्तानि नियोजितानि येषु तानि तथा, तानि विचित्राणि चिह्नानि गताः प्राप्ताः ये ते तथा। (सुपुरुषवर्णकः) औ० । प्रश्न० । " अणेगमणिरयणविविहसुविरइयनामचिंधं " अनेकैर्मणिरत्नैर्विविधं नानाप्रकारं सुविरचितं नाम चिह्नं निजनामवर्णपङ्क्तिरूपं यत्र स तथा । जं० ३ वक्ष० । " अणेगमणिकणगरयणपहकरपरिमंडियभागभत्तिचित्तविणिउत्तगमणगुणजणियपेंखोलमाणवरललियकुंडलुज्जलियअहियआभरणजणियसोभे " अनेकमणिरत्नकनकनिकरपरिमण्डितभागे भक्तिचित्रे विच्छित्तिविचित्रे विनियुक्ते कर्णयोर्निवेशिते गमनगुणेन गतिसामर्थ्येन जनिते कृते प्रेङ्खोलमाने चञ्चले ये वरललितकुण्डले ताभ्यामुज्ज्वलितेनोद्दीपनेनाधिकाभ्यामाभरणाभ्यामुज्ज्वलिताधिकैर्वाऽऽभरणैश्च कुण्डलव्यतिरिक्तैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । ज्ञा०१अ०। "अणेगरहसगडजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसिवियपरिमोयणा " अनेकेषां रथशकटादीनामधोविस्तीर्णत्वात् प्रतिमोचनं येषु ते तथा। रा० । "अणेगरायवरसहस्साणुआयमग्गे" अनेकेषां राजवराणां बद्धमुकुटराज्ञां सहस्रैरनुयातोऽनुगतो मार्गः पृष्ठं यस्य स तथा । जं०३ वक्ष० । " अणेगवंदाए " अनेकानि वृन्दानि परीवारो यस्याः सा तथा तस्याः(पर्षदः)रा०। 'अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकर(सहकर) सीयसंदमाणीयाइण्णजाणजुग्गा' अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुञ्जरैः(रहपहकरेत्ति)रथनिकरैः(रहसहकरेत्ति वा)रथानां सहकारैःसङ्घातैः शिविकाभिः स्यन्दमानीभिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युग्यैश्च या सा तथा । आकीर्णशब्दस्य मध्यनिपातः प्राकृतत्वात् । अथवा अनेके वरतुरगादयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानादीनि यस्यां सा । औ०।"अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिलेहे"अनेकैर्वरलक्षणैरुत्तमाः प्रशस्ताः शुचयो रतिदाश्च रम्याः पाणिलेखा यस्य स तथा। औ०। "अणेगवायामजोगवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं " अनेकानि यानि व्यायामनिमित्तयोग्यादीनि तानि तथा तैः तत्र योग्या गुणनिका वल्गनमुल्लङ्घनं व्यामर्दनं परस्परस्याङ्गमोटनं मल्लयुद्धं प्रतीतं करणानि चाङ्गभङ्गविशेषा मल्लशास्त्रप्रसिद्धाः । औ० । ज्ञा० । " अणेगवाससयमाउयंतो " अनेकवर्षशतायुष्मन्तः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " अणेगसउणिगणमिहुणपवियरिए " अनेकशकुनिमिथुनकानां प्रविचरितमितस्ततो गमनं यत्र तत्तथा (प्रधानकुण्डम्) जं० ४ वक्ष० । रा० । " अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते " अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः कीलकसहस्रैर्महद्भिर्हि कीलकैस्ताडितप्राया मध्यकाः संभवन्ति । तथारूपताऽसंभवादतः शङ्कुग्रहणं, विततं वितानीकृतं ताडितमिति भावः । रा० । जी० । " अणेगसयाए " अनेकानि पुरुषाणां शतानि संख्यया यस्याः सा अनेकशता, तस्याः । रा०। "अणेगसाहप्पसाहविडिमा" अनेकशाखाप्रशाखाविटपयस्तन्मध्यभागो वृक्षविस्तारो वा येषां ते (वृक्षाः) । औ० । ज्ञा० ।

अणेक्काणंतरसिद्धकेवलनाण—अनेकानन्तरसिद्धकेवलज्ञान—न० । आभिनिबोधिकज्ञानभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणेगंगिय—अनेकाङ्गिक—पुं० । अनेकपट्टकृते, नि० चू० १ उ० । काष्ठिकाप्रस्तारात्मके संस्तारभेदे च । व्य० ४ उ० ।

अणेगंत—अनेकान्त—त्रि० । न एकान्तो नियमोऽव्यभिचारी यत्र । अनियमे, अनिश्चितफलके च । वाच० । अनिश्चये, विशे० । एकाश्रये, प्रव० ३८ द्वा० ।

अणेगंतजयपडागा—अनेकान्तजयपताका—स्त्री० । हरिभद्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, यद्वृत्तिर्विवरणं मुनिचन्द्रेणाकारि । तदुपक्रमे "शेषमतातिशयानां, यस्यानेकान्तजयपताकेह । हर्तुमशक्या केनाऽपि वादिना नौमि तं वीरम् ॥१॥ कतिपयविषमपदगतं, वक्ष्येऽनेकान्तजयपताकायाः । वृत्तेर्विवरणमहमल्पयुद्धिबुद्धयै समासेन" ॥२॥ अनेकान्तजयपताकावृत्तिविव० ।

अणेगंतप्पग—अनेकान्तात्मक—न० । अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः । न एकोऽनेकः । अनेकश्चाऽसावन्तश्चानेकान्तः । स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तात्मकम् । सदसदाद्यनेकधर्माऽऽत्मके, रत्ना० ३ परि० ।

अणेगंतवाय—अनेकान्तवाद—पुं० । स्याद्वादे, स च यथा युक्ततामश्नुति, तथा स्याद्वादमञ्जर्यादिग्रन्थेभ्यः संगृह्यते ।

(१) एकान्तवाददूषणपुरस्सरमनेकान्तवादिमतम् ।
(२) प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्तताऽऽविर्भावनम् ।
(३) उत्पादविनाशयोरैकान्तिकताऽभ्युपगमनिषेधः ।
(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम् ।
(५) वस्तुन एकान्तसद्रूपत्वं स्वीकुर्वतः सांख्यमतस्य पराभवे युक्तिः ।
(६) कालाद्येकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेव ।
(७) साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः ।
(८) अनेकान्तवाद एव सन्मार्गः ।
(९) एकान्तवादिनोऽज्ञाः ।
(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयोः सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ।

(१) तत्रैकान्तवाददूषणपुरस्सरमनेकान्तवादमाह—

आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाऽऽज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

आदीपं दीपादारभ्य, आव्योम व्योममर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तु पदार्थस्वरूपं, समस्वभावम्-समस्तुल्यः स्वभावः स्वरूपं यस्य तत्तथा । किञ्च-वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः । तथा च वाचकमुख्यः-" उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " इति । समस्वभावत्वं कुतः ?, इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह-(स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि) स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम् । ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । तस्य मुद्रा मर्यादा तां नातिभिनत्ति नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि । यथाहि-न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते, तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात् । एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः । सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च पराभीष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेवेति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम् । सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः । तत्रैकान्ताऽनित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते । तथाहि-प्रदीपपर्यायाऽऽपन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा, ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः,पुद्गलद्रव्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम् । नह्येतावतैवाऽनित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः । न खलु मृद्द्रव्यं स्थासककोशकुशूलशिवकघटाद्यवस्थाऽन्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात् । न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्; चाक्षुषत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत् । अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत् कथं चाक्षुषम् ? । नैवम् । उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात् । यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते; विचित्रत्वाद्भावानाम् । कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः । प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः । इति सिद्धं तमश्चाक्षुषं, रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । न च वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति ?; पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्याऽपि दर्शनात् । दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद्भास्वररूपस्याऽपि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः । इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः । यदाऽपि निर्वाणादर्वाग् देदीप्यमानो दीपस्तदाऽपि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य एव । एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव । तथाहि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव तल्लक्षणम्, " अवकाशदमाकाशमिति " वचनात् । यदा चावगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातो वा एकस्मान्नभःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः, उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः । संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ । तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः । तथा चाहुः-"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति " । ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम् । उभयत्राऽऽकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम् । तथा च "यदप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते । तदपास्तम् । एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । "तद्भावाव्ययं नित्यम् " इति तु सत्यं नित्यलक्षणम् । उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादन्वयिरूपाद्यन्न व्येति तन्नित्यम्, इति तदर्थस्य घटमानत्वात् । यदि हि अप्रच्युताऽऽदि लक्षणं नित्यमिष्यते, तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्व-

प्रसङ्गः। न च तयोर्योगे नित्यत्वहानिः। "द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः। क्व कदा केन किंरूपाः, दृष्टा मानेन केन वा ?" ॥१॥ इति वचनात्। न चाकाशं न द्रव्यं, लौकिकानामपि घटाऽऽकाशं पटाऽऽकाशमिति व्यवहारप्रसिद्धेराकाशस्य नित्याऽनित्यत्वम्। घटाऽऽकाशमपि हि यदा घटापगमे पटेनाक्रान्तं, तदा पटाऽऽकाशमिति व्यवहारः। न चायमौपचारिकत्वादप्रमाणमेव ?, उपचारस्याऽपि किञ्चित्साधर्म्यद्वारेण मुख्यार्थस्पर्शित्वात्। नभसो हि यत्किल सर्वव्यापकत्वं मुख्यं परिमाणं, तत्तदाधेयघटपटादिसम्बन्धिनियतपरिमाणवशात्कल्पितभेदं सत् प्रतिनियतदेशव्यापितया व्यवह्रियमाणं घटाकाशपटाकाशादि तत्तद्व्यपदेशनिबन्धनं भवति। तत्तद्घटादिसंबन्धे च व्यापकत्वेनावस्थितस्य व्योम्नोऽवस्थान्तरापत्तिः, ततश्चावस्थाभेदेऽवस्थावतोऽपि भेदः, तासां ततोऽविष्वग्भावात्। इति सिद्धं नित्याऽनित्यत्वं व्योम्नः। स्वायम्भुवा अपि हि नित्यानित्यमेव वस्तु प्रपन्नाः। तथा चाहुस्ते–त्रिविधः खल्वयं धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः। सुवर्णं धर्मि, तस्य धर्मपरिणामो वर्द्धमानरुचकादिः, धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादिः। यदा खल्वयं हेमकारो वर्द्धमानकं भङ्क्त्वा रुचकमारचयति, तदा वर्द्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वाऽतीततालक्षणमापद्यते, रुचकस्तु–अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतामापद्यते। वर्तमानताऽऽपन्न एव रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽयं त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणाऽवस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च। तथा च ते धर्म्यभेदात्तन्नित्यत्वेन नित्याः भेदाच्चोत्पत्तिविनाशविषयत्वमित्युभयमुपपन्नमिति॥ अथोत्तरार्द्धं विव्रियते एवं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे सर्वभावानां सिद्धेऽपि तदेकम् एकमाकाशाऽऽत्मादिकं नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपघटादिकमनित्यमेवेति। एवकारोऽत्रापि संबध्यते। इत्थं हि दुर्नयवादापत्तिः, अनन्तधर्मात्मके वस्तुनि स्वाभिप्रेतनित्यत्वादिधर्मसमर्थनप्रवणाः शेषधर्मतिरस्कारेण प्रवर्त्तमाना दुर्नया इति तल्लक्षणात्। इत्यनेनोल्लेखेन त्वदाज्ञाद्विषतां भवत्प्रणीतशासनविरोधिनां, प्रलापाः प्रलपिताऽन्यसंबद्धवाक्यानीति यावत्। अत्र च प्रथममादीपमिति परप्रसिद्ध्या अनित्यपक्षोल्लेखेऽपि यदुत्तरत्र यथासंख्यपरिहारेण पूर्वतरं नित्यमेवैकमित्युक्तं तदेवं ज्ञापयति–यदनित्यं तदपि नित्यमेव कथञ्चित्, यच्च नित्यं तदप्यनित्यमेव कथञ्चित्। प्रक्रान्तवादिभिरप्येकस्यामेव पृथिव्यां नित्याऽनित्यत्वाऽभ्युपगमात्। तथा च प्रशस्तकारः–सा तु द्विविधा नित्याऽनित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्येति। न चात्र परमाणुद्रव्यकार्यलक्षणविषयद्वयभेदान्नैकाधिकरणं नित्याऽनित्यत्वमिति वाच्यम् ?, पृथिवीत्वस्योभयत्राप्यव्यभिचारात्। एवमबादिष्वपीति। आकाशेऽपि संयोगविभागाङ्गीकारात्तैरनित्यत्वं युक्त्या प्रतिपन्नमेव। तथा च स एवाह–" शब्दकारणत्ववचनात्संयोगविभागौ " इति नित्याऽनित्यपक्षयोः संवलितत्वम्। एतच्च लेशतो भावितमेवेति। प्रलापप्रायत्वं च परवचनानामित्थं समर्थनीयम्, वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्, तच्चैकान्तनित्याऽनित्यपक्षयोर्न घटते। अप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकरूपो हि नित्यः। स च क्रमेणार्थक्रियां कुर्वीत ?, अक्रमेण वा ?; अन्योऽन्यव्यवच्छेदरूपाणां प्रकारान्तराऽसंभवात्। तत्र न तावत् क्रमेण। स हि कालान्तरभाविनीः क्रियाः प्रथमक्रियाकाल एव प्रसह्य कुर्यात्; समर्थस्य कालक्षेपायोगात्, कालक्षेपिणो वाऽसामर्थ्यप्राप्तेः। समर्थोऽपि तत्तत्सहकारिसमवधाने तं तमर्थं करोतीति चेत्, न तर्हि तस्य सामर्थ्यम्, अपरसहकारिसापेक्षवृत्तित्वात्। "सापेक्षमसमर्थम्" इति न्यायात्। न तेन सहकारिणोऽपेक्ष्यन्ते, अपि तु कार्यमेव सहकारिष्वसत्स्वभवत् तानपेक्षत इति चेत्, तत्किं स भावोऽसमर्थः ?, समर्थो वा ?। समर्थश्चेत्किं सहकारिमुखप्रेक्षणदीनानि तान्युपेक्षते, न पुनर्झटिति घटयति ?। ननु समर्थमपि बीजमिलाजलाऽनिलादिसहकारिसहितमेवाङ्कुरं करोति, नान्यथा। तत्किं तस्य सहकारिभिः किञ्चिदुपक्रियेत ?, न वा ?। यदि नोपक्रियेत तदा सहकारिसन्निधानात् प्रागिव किं न तदाऽप्यर्थक्रियायामुदास्ते ?। उपक्रियेत चेत्, स तर्हि तैरुपकारो भिन्नोऽभिन्नो वा ? क्रियत इति वाच्यम्। अभेदे स एव क्रियते, इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरायाता, कृतकत्वेन तस्यानित्यत्वाऽऽपत्तेः। भेदे तु स कथं तस्योपकारः, किं न सह्यविन्ध्याद्रेरपि ?। तत्संबन्धात्तस्यायमिति चेत्, उपकार्योपकारयोः कः संबन्धः ?। न तावत्संयोगः, द्रव्ययोरेव तस्य भावात्। अत्र तु उपकार्यं द्रव्यम्, उपकारश्च क्रियेति न संयोगः। नाऽपि समवायः, तस्यैकत्वाद्, व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वान्न नियतैः संबन्धिभिः संबन्धो युक्तः। नियतसंबन्धिसम्बन्धे चाङ्गीक्रियमाणे तत्कृत उपकारोऽस्य समवायस्याभ्युपगन्तव्यः, तथा च सत्युपकारस्य भेदाऽभेदकल्पना तदवस्थैव। उपकारस्य समवायादभेदे समवाय एव कृतः स्यात्। भेदे तु पुनरपि समवायस्य न नियतसंबन्धिसंबन्धत्वम्। तन्नैकान्तनित्यो भावः क्रमेणार्थक्रियां कुरुते। नाप्यक्रमेण। नह्येको भावः सकलकालकलाकलापभाविनीर्युगपत्सर्वाः क्रियाः करोतीति प्रातीतिकम्। कुरुतां वा, तथापि द्वितीयक्षणे किं कुर्यात् ?। करणे वा क्रमपक्षभावी दोषः। अकरणे त्वर्थक्रियाकारित्वाऽभावाद्वस्तुत्वप्रसङ्गः। इत्येकान्तनित्यात् क्रमाऽक्रमाभ्यां व्याप्ताऽर्थक्रिया व्यापकानुपलब्धिबलाद् व्यापकनिवृत्तौ निवर्तमाना स्वव्याप्यमर्थक्रियाकारित्वं निवर्तयति। अर्थक्रियाकारित्वं च निवर्तमानं स्वव्याप्यं सत्त्वं निवर्तयतीति। इति नैकान्तनित्यपक्षो युक्तिक्षमः। एकान्तानित्यपक्षोऽपि न कक्षीकरणार्हः। अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी। स च न क्रमेणार्थक्रियासमर्थः, देशकृतस्य कालकृतस्य च क्रमस्यैवाभावात्। क्रमो हि पौर्वापर्यम्, तच्च क्षणिकस्याऽसंभवि। अवस्थितस्यैव हि नानादेशकालव्याप्तिर्देशक्रमः, कालक्रमश्चाभिधीयते। न चैकान्तविनाशिनि साऽस्ति। यदाहुः–"यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव सः। न देशकालयोर्व्याप्ति–र्भावानामिह विद्यते ॥१॥ न च सन्तानापेक्षया पूर्वोत्तरक्षणानां क्रमः संभवति ?, सन्तानस्यावस्तुत्वात्। वस्तुत्वेऽपि तस्य यदि क्षणिकत्वम् ?, न तर्हि क्षणेभ्यः कश्चिद्विशेषः। अथाऽक्षणिकत्वम् ?, तर्हि समाप्तः क्षणभङ्गवादः। नाप्यक्रमेणार्थक्रिया क्षणिके संभवति, स ह्येको बीजपूरादिक्षणो युगपदनेकान् रसादिक्षणान् जनयन् एकेन स्वभावेन जनयेत् ?, नानास्वभावैर्वा ?। यद्येकेन, तदा तेषां रसादिक्षणानामेकत्वं स्यात्, एकस्वभावजन्यत्वात्। अथ नानास्वभावैर्जनयति किञ्चिद्रूपादिकमुपादानभावेन, किञ्चिद्रसादिकं सहकारित्वेनेति चेत्, तर्हि ते स्वभावास्तस्यात्मभूताः ?, अनात्मभूता वा ?। अनात्मभूताश्चेत्, स्वभावत्वहानिः। यद्यात्मभूतास्तर्हि तस्यानेकत्वम्, अनेकस्वभावत्वात्। स्वभावानां वा एकत्वं प्रसज्येत, तदव्यतिरिक्तत्वात् तेषाम्, तस्य चैकत्वात्। अथ य एव एकत्रोपादानभावः स एवान्यत्र सहकारिभाव इति न स्वभावभेद इष्यते, तर्हि नित्यस्यैकरूपस्यापि क्रमेण नानाकार्यकारिणः स्वभावभेदः, कार्यसाङ्कर्यं च कथमिष्यते क्षणिकवादिना ?। अथ नित्यमेकरू-

पत्वादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः ? इति चेत्; अहो ! स्वपक्षपाती देवानां प्रियः,यः खलु स्वयमेकस्मान्निरंशाद्रूपादिक्षणात्कारणाद्युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति। तस्मात् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा। इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते। तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकाऽनुपलब्धिबलेनैव निवर्तते, इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः । स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम् ? । नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पठन्ति-" भागे सिंहो नरो भागे, योऽर्थो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन , नरसिंहं प्रचक्षते " ॥ १ ॥ इति । वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्याऽवयविनोऽभ्युपगमात् । एकस्यैव पटादेश्चलाऽचलरक्ताऽरक्ताऽऽवृताऽनावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः, सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीऽज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् । अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तराऽवस्थायित्वात् क्षणिकं न मन्यन्ते, तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवाऽनित्यतालक्षणात्। तथाऽपि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः। इति तदधिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नाऽनुपपन्ना। यदाऽपि च कालान्तरावस्थायि वस्तु , तदाऽपि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति, यत्र वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्तीति काव्यार्थः॥ ५॥ स्या० । (अनेकान्तज्ञानस्य यथार्थत्वं ' मोक्ख ' शब्दे वक्ष्यते)

(२) साम्प्रतमनाद्यविद्यावासनाप्रवासितसन्मतयः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि ,
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः ,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा? ॥ २१ ॥

प्रतिक्षणं प्रतिसमयमुत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण,विनाशेन च पूर्वाऽऽकारपरिहारलक्षणेन,युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि। किं तत्?,स्थिरैकं कर्मताऽऽपन्नम्;स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम्। एकशब्दोऽत्र साधारणवाची। उत्पादे विनाशे च तत्साधारणमन्वयिद्रव्यत्वात्। यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्थमेव हि तयोरेकाऽधिकरणता, पर्यायाणां कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात्। एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नपि, हे जिन! रागादिजैत्र! त्वदाज्ञाम्, आ सामस्त्येनाऽनन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा, आगमः,शासनम्; तवाज्ञा त्वदाज्ञा,तां त्वदाज्ञां त्वत्प्रणीतस्याद्वादमुद्राम्, यः कश्चिद् विवेकी अवमन्यतेऽवजानाति। जात्यपेक्षमेकवचनम्, अवज्ञया वा। स पुरुषपशुर्वातिकी,पिशाचकी वा। वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी, वातकीव वातकी,वातूल इत्यर्थः।एवं पिशाचकीव पिशाचकी,भूताविष्ट इत्यर्थः। अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा। स पुरुषाग्रसदो वातकिपिशाचकिन्यामभिरोहति; तुल्यामित्यर्थः। "वातातीसारपिशाचात् कश्चान्तः" (७। २।६१) इत्यनेन[हैमसूत्रेण] मत्वर्थीयः कश्चान्तः । एवं पिशाचकीत्यपि । यथा किल वातेन पिशाचेन वाऽऽक्रान्तवपुर्वस्तुतत्त्वं साक्षात् कुर्वन्नपि तदावेशवशादन्यथा प्रतिपद्यते , एवमयमप्येकान्तवादापस्मारपरवश इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम्, रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयाऽवधेयवचनस्यापि तत्रभवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ ! हे स्वामिन् ! अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः, तस्यामन्त्रणम्। वस्तुतत्त्वं च-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम्। तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्,प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात्। न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः. सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात्। सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। "सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात्" इति वचनात्। ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः,पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते, विपद्यते च; अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात्। न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात्। न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाऽऽकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाऽविनाभावी भवेत्। न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात्। ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते ?, न वा ? ।यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम्?। न भिद्यन्ते चेत्तथापि कथमेकं त्र्यात्मकम्?। तथा च-"यद्युत्पादादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम्?। अथोत्पादादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम्?" ॥१॥ इति चेत्। तदयुक्तम्। कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद् भेदाभ्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि भिन्नलक्षणत्वाद् रूपादिवदिति। न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्;असत आत्मलाभः,सतः सत्तावियोगः,द्रव्यरूपतयाऽनुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसङ्कीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव। न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षा खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत्। तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत्। एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव। इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। तथा चोक्तम्-"घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिः स्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् " ॥ २ ॥ इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

अथाऽन्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वाद्, आस्तां तावत्साक्षाद्भवान्; भवदीयप्रवचनावयवा अपि परतीर्थिकतिरस्कारबद्धकक्षा इत्याशयवान् स्तुतिकारः स्याद्वादव्यवस्थापनाय प्रयोगमुपन्यस्यन् स्तुतिमाह—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-कुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु,जीवाऽजीवलक्षणम्,अनन्तधर्मात्मकमेव, अनन्तास्त्रिकालविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्रम-

भाविनश्च पर्यायास्त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः। अत एवाह-[अतोऽन्यथेत्यादि]अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन, सर्वं वस्तुतत्त्वमसूपपादम्-सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंटङ्कमारोप्यत इति सूपपादम्, न तथाऽसूपपादम्; दुर्घटमित्यर्थः। अनेन साधनं दर्शितम्। तथाहि-तत्त्वमिति धर्मी,अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः,सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः। अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्। यदनन्तधर्मात्मकं न भवति,तत्सदपि न भवति। यथा-वियदिन्दीवरम्। इति केवलव्यतिरेकी हेतुः,साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयाऽयोगात्। अनन्तधर्मात्मकत्वं चाऽऽत्मनि तावत्-साकाराऽनाकारोपयोगिता,कर्तृत्वं,भोक्तृत्वं,प्रदेशाष्टकनिश्चलता, अमूर्तत्वमसङ्ख्यातप्रदेशात्मकता,जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः। हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः। धर्मास्तिकायादिष्वप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याद्युपग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः। घटे पुनरामत्वं, पाकजरूपादिमत्त्वं,पृथुबुध्नोदरत्वं,कम्बुग्रीवत्वं,जलादिधारणाऽऽहरणादिसामर्थ्यं, मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वं, नवत्वं, पुराणत्वमित्यादयः। एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम्। अत्र चाऽऽत्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवर्तिरूपमन्वयि द्रव्यं ध्वनितम्। ततश्च 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति व्यवस्थितम्। एवं तावदर्थेषु शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताऽल्पप्राणमहाप्राणतादयस्तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः। अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धाऽनैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः। इत्येवमुल्लेखशेखराणि ते तव, प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि । आस्तां तावत्साक्षात्कृतद्रव्यपर्यायनिकायो भवान्, यावदेतान्यपि कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः-कुवादिनः कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयाऽनुयायिनोऽन्यतीर्थिकाः, त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगाः, तेषां सम्यक्त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासमश्नुवते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत् । एकैकं त्वदुक्तं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः। अत्र प्रमाणानीति बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने आनन्त्यज्ञापनार्थम् ; एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिसलिलसर्वसरिद्वालुकाऽनन्तगुणार्थत्वात्, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात् । अथवा इत्यादि बहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्तीति न्यायात्, इतिशब्देन प्रमाणबाहुल्यसूचनात्पूर्वार्द्धे एकस्मिन्नपि प्रमाणे उपन्यस्ते उचितमेव बहुवचनमिति काव्यार्थः ॥२२॥ (सप्तभङ्गीनिरूपणं 'सत्तभंगी' शब्दे वक्ष्यते)

(उत्पादव्ययोस्त्रैविध्यं स्वस्थाने)

(३) न चोत्पादविनाशयोरैकान्तिकतद्रूपताऽभ्युपगमेऽनेकान्तवादव्याघातः ?, कथञ्चित्तयोस्तद्रूपताऽभ्युपगमात् । तदाह—

तिण्णि वि उप्पायाई, अभिन्नकाला य भिन्नकाला य ।
अत्थंतरं अणत्थं-तरं च दवियाहिँ णायव्वा ॥१३२॥

अयोऽप्युत्पादविगमस्थितिस्वभावाः, परस्परतोऽन्यकालाः। यतो न घटादेरुत्पादसमय एव विनाशः, तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः। नापि तद्विनाशसमये तस्यैवोत्पत्तिः,अविनाशोत्पत्तेः। न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, सद्रूपेणैवाऽवस्थितस्याऽनवस्थाप्रसक्तितः प्रादुर्भावायोगात्। न च रूपघटरूपमृत्स्थितिकाले तस्य विनाशः,तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशस्य एव ध्वंसोऽनुत्पत्तिप्रसङ्गत एव युक्तः। ततस्त्रयाणामपि भिन्नकालत्वात्, तद्द्रव्यमर्थान्तरम्। नानास्वभावादनेकान्तानाञ्चप्रसक्तिः। यतोऽभिन्नकालाश्चोत्पादादयः, न हि कुशूलविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता,अन्यथा विनाशात् कार्योत्पत्तिः स्यात्। घटाद्युत्तरपर्यायानुत्पत्तावपि प्राक्तनपर्यायध्वंसप्रसक्तिश्च स्यात्। पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादक्रियाया निर्धारायोगात् । तदाधारभूतद्रव्यस्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्या । न च क्रियाफलमेव क्रियाः, तस्य प्रागसत्त्वात् , सत्त्वे वा क्रियावैफल्यात् । ततस्त्रयाणामपि भिन्नकालत्वाद् तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यमभिन्नं नचाभावघटोत्पादविनाशापेक्षया भिन्नकालतयाऽर्थान्तरत्वम् , कुशूलघटविनाशोत्पादापेक्षया ऽभिन्नकालत्वेनार्थान्तरत्वादेकान्तर इति वक्तव्यं द्रव्यम्। द्रव्यस्य पूर्वावस्थायां भिन्नाभिन्नतया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायामपि भिन्नाभिन्नतयैव प्रतीतेरनेकान्तोऽव्याहतः । न चाबाधिताध्यक्षादिप्रतिपत्तिविषयस्य तस्य विरोधाद्युद्भावनं युक्तिसंगतम्,सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। अत एवार्थान्तरमनर्थान्तरं चोत्पादादयो द्रव्यात्तद्वापो वा तेऽन्यस्तथेति ज्ञेयम्। द्रव्यात् तथाभूततद्ग्राहकत्वपरिणततादात्म्यलक्षणात्प्रमाणादित्यपि व्याख्येयम् । न हि तथाभूतप्रमाणप्रवृत्तिः तथाभूतार्थमन्तरेणोपपन्ना; धूमध्वजमन्तरेण स वेद्यते च । तथाभूतग्राह्यग्राहिकरूपतयाऽनेकान्तात्मकं स्वसंवेदनतः प्रमाणमिति न तदपलापः कर्तुं शक्यः,अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। यद्वा-देशादिविप्रकृष्टा उत्पत्तिविनाशस्थितिस्वभावा भिन्नाभिन्नकाला अर्थान्तरानर्थान्तररूपा द्रव्यत्वाद्, द्रव्याद्व्यतिरिक्तत्वादित्यर्थः । अन्यथोत्पादादीनामभावप्रसक्तेः। तेभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरम् , द्रव्यत्वात् । प्रतिज्ञार्थैकदेशता च हेतोर्नाशङ्कनीया, द्रव्यविशेषे साध्ये द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ १३२ ॥

अत्रैवार्थे प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आउंचणकालो, चेव पसारिस्स विणिजुत्तो ।
तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं नत्थि ॥ १३३ ॥

य आकुञ्चनकालोऽङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य,स एव तत्प्रसारणस्य न युक्तः, भिन्नकालतयाऽऽकुञ्चनप्रसारणयोः प्रतीतस्तयोर्भेदः। अन्यथा तयोः स्वरूपाभावापत्तेरित्युक्तं तत्पर्यायाभिन्नस्याङ्गुल्यादिद्रव्यस्यापि तथाविधत्वात्,तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा तदनुपलम्भात्। अभिन्नं च, तदवस्थयोस्तस्यैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। तयोः पुनरुत्पादविनाशयोः प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावो,विगमश्च विपत्तिः प्रतिपत्तिविगमम्, तत्र;कालान्तरं भिन्नकालत्वमङ्गुलिद्रव्यस्य च नास्ति पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पत्त्यङ्गुलिद्रव्योत्पत्तिस्थितीनामभिन्नकालताऽभिन्नरूपता च प्रतीयते। एकस्यैव तथाविवर्तात्मकस्याध्यक्षतः प्रतीतेः। अथवा कालान्तरं नास्तीत्यत्राऽऽकारप्रश्लेषात्तत्रश्चोपादानात् प्रतिषेधद्वयेन प्रकृतार्थगतेः कालान्तरं कालभेद उत्पादादेर्द्रव्यस्य चाऽस्तीति कथञ्चिद् भेद इत्यर्थः । कथञ्चिद् भेदेनापि प्रतिपत्तेस्तेनोत्पत्तिविनाशस्थितीनां परस्परस्वरूपपरित्यागप्रवृत्तप्रत्येकव्यात्मकैकरूपत्वेनापि वर्तमानपर्यायात्मकस्यैवातीतानागतकालयोः सत्त्वम्, व-

स्तुनस्त्र्यात्मकत्वाऽभ्युपगमात् । अतीतानागतकालयोरपि तद्रूपेण सत्त्वे उत्पादविनाशयोरभावेन कथं त्र्यात्मकत्वं तस्य ?, अतीतानागतकालयोरभावे कथं नित्यत्वमिति वाच्यम् । कथञ्चित्तस्याभ्युगमात्, त्यक्तोपादित्स्यमानपूर्वोत्तरपर्यायस्याऽन्यान्वयेशपरित्यागोपादानैकनटपुरुषवद् द्रव्यस्य व्यावर्त्तात्मकत्वात्, सर्वथाऽनित्यत्वे पूर्वोत्तरव्यपदेशाभावप्रसक्तेः । सर्वथा नित्यत्वेऽप्युभयत्रैकप्रतिभासव्यपदेशादिव्यवहाराभावश्च स्यात् । नचैकत्वप्रतिभासो मिथ्या, ततो यदेव विनष्टं शिवकरूपतया तदेवोत्पन्नं मृद्द्रव्यं घटादिरूपतया, अवस्थितं च मृत्त्वेनेति त्र्यात्मकं तत् सर्वदा द्रव्यमवस्थितं यथोत्पादव्यवस्थितम् । यथोत्पादव्यवस्थितीनां प्रत्येकमेकैकरूपं त्र्यात्मकं, तथा भूतवर्तमानभविष्यद्भिरप्येकैकं रूपं त्रिकालतामासादयति ।

इत्येतदेवाह—

उप्पज्जमाण कालं, उप्पन्नं ति विगयं विगच्छंतं ।

दवियं पन्नवयंतो, तिकालविसयं विसेसेइ ॥ १३४ ॥

उत्पद्यमानसमय एव किञ्चित्पटद्रव्यं तावदुत्पन्नं यद्येकतन्तुप्रवेशक्रियासमये न द्रव्यं तेन रूपेणोत्पन्नं तर्ह्युत्तरत्रापि तत्रोत्पन्नमित्यत्यन्तानुत्पत्तिप्रसक्तिस्तस्य स्यात् । न चोत्पत्तिप्रसक्तिः,उत्तरोत्तरक्रियाक्षणस्य तावन्मात्रफलोत्पादन एव प्रक्षयादपरस्य फलान्तरस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः । यदि च विद्यमाना एकतन्तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका,विनष्टा सुतरां न भवेत्,असत्त्वात्,उत्पत्स्यवस्थावत् । नह्यनुत्पन्नविनष्टयोरसत्त्वे कश्चिद्विशेषः।ततः प्रथमक्रियाक्षणः केनचिद् रूपेण तमनुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ तदेवांशान्तरेणोत्पादयति । अन्यथा क्रियाक्षणान्तरस्य वैफल्यप्रसक्तेः । एकेनांशेनोत्पन्नं सदुत्तरक्रियाक्षणफलांशेन यद्यपूर्वमपूर्वं तदुत्पद्यते तदोत्पन्नं भवेद्, नाऽन्यथेति । प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधि यावदुत्पद्यमानं प्रबन्धेन तद्रूपतयोत्पन्नमभिप्रेतानिष्ठरूपतया चोत्पत्स्यत इत्युत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानं च भवति । एवमुत्पन्नमप्युत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानं च भवति । तथोत्पत्स्यमानमप्युत्पद्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण यथा त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते, तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पादादिरेकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते । तथाहि-यथा यदैवोत्पद्यते न तदैवोत्पन्नमुत्पत्स्यते । यद्यदैवोत्पन्नं न तदैवोत्पद्यते उत्पत्स्यते च । यद्यदैवोत्पत्स्यते तदैवोत्पद्यते उत्पन्नं च । तथा तदेव तदैव यदुत्पद्यते तत्तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च । तथा यदेव यदैवोत्पत्स्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च । एवं विगमोऽपि त्रिकालमुत्पादादिना दर्शनीयः।तथा स्थित्याऽपि त्रिकाल एव सप्रपञ्चं दर्शनीयः । एवं स्थितिरप्युत्पादविनाशाभ्यां प्रपञ्चाभ्यामेकैकाभ्यां त्रिकालदर्शनीयेति । द्रव्यमन्योन्यात्मकतथाभूतकालत्रयात्मकोत्पादविनाशस्थित्यात्मकं प्रज्ञापयँस्त्रिकालविषयप्रादुर्भावधर्माधारतया तद्विशिनष्टि । अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादितं भवति । अन्यथा द्रव्यस्याऽभावात् त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति; तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्रसक्तिरिति भावः । सर्वथाऽन्तर्गमनलक्षणस्य विनाशस्यासंभवाद् विभागजस्य चोत्पादस्य तत्तद्द्वयाभावे स्थितेरप्यभावात् ।

तत त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानत्वाद्वादिनः प्रति तदभ्युपगमदर्शनपूर्वकमाह—

दव्वंतरसंजोगा-हिँ केऽवि दवियस्स विंति उप्पायं ।

उप्पायत्था कुशला, विभागजायं न इच्छंति ॥१३५॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणात् तत्संयोगासमवायिकारणात्, तत्संयोगासमवायिकारणनिमित्तकारणादिसव्यपेक्षादवयवि कार्यद्रव्यं भिन्नं कारणद्रव्येभ्य उत्पद्यत इति द्रव्यस्योत्पादं केचन ब्रुवते । ते चोत्पादार्थानभिज्ञा विभागजोत्पादं नेच्छन्ति ।

कुतः पुनर्विभागजोत्पादानभ्युपगमवादिन उत्पादार्थानभिज्ञाः ?। यतः—

अणु अणुएहिं दव्वे, आरद्धे ति अणुयं ति ववएसो ।

तत्तो य पुण विभत्तो, अणु त्ति जाओ अणु होई ॥१३६॥

द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धेऽणुरिति व्यपदेशः,परमाणुद्वयारब्धस्य द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात् । त्रिभिर्द्व्यणुकैश्चतुर्भिर्वाऽऽरब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः। अन्यथोत्पन्नानुपलब्धिनिमित्तस्य महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः। अत्र किल त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रत्येकं परमाणुभिरारब्धमणुपरिमाणमेव कार्यमिति । आदिपरमाणुनाऽरम्भकत्वे आरम्भवैयर्थ्यप्रसक्तिरिति द्वाभ्यां तु परमाणुभ्यां द्व्यणुकमारभ्यते । त्र्यणुकमपि न द्वाभ्यामणुभ्यामारभ्यते,कारणविशेषपरिमाणतोऽनुपभोग्यत्वप्रसक्तेः, यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तदुपलब्धियोग्यं स्यात् । तथा चोपभोग्यकारणबहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च महत्त्वम्, न च द्वित्रिपरमाण्वारब्धे कार्ये महत्त्वं,तत्र महत्परिमाणाभावात्तेषामणुपरिमाणात्तदुपलब्धियोग्यं स्यात्,तथा चोपभोग्यकारणत्वात् प्रचयोऽप्यवयवाभावान्न संभवति,तेषामपि द्वाभ्यामणुभ्यां कारणबहुत्वाभावात् । न च त्रयोऽपि, प्रशिथिलावयवसंयोगाभावात् । उपलभ्यते च समानपरिमाणैस्त्रिभिः पिण्डैरारब्धे कार्ये महत्त्वं, न द्वाभ्यामिति महत्परिमाणाभ्यां ताभ्यामेवारब्धं महत्त्वं, न त्रिभिरल्पपरिमाणैरारब्ध इति । समानसंख्यातुल्यपरिमाणाभ्यां तन्तुपिण्डाभ्यामारब्धे पटादिकार्ये प्रशिथिलावयवतन्तुसंयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते, न तदितरत्रेति । नन्वेवं यदि कार्यारम्भस्तदा द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, द्विबहूनि वा समानजातीयानीत्यभ्युपगमः परित्यज्यताम्; यतो न परमाणुद्व्यणुकादिनामपि त्यक्तजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननस्वभावानां च द्व्यणुकत्र्यणुकादिकार्यनिर्वर्त्तकत्वम्; अन्यथा प्रागपि तत्कार्यप्रसङ्गात् । अथ न तेषामजनकावस्थात्यागतो जनकस्वभावान्तरोत्पत्तौ कार्यजनकत्वम्, किन्तु पूर्वस्वभावव्यवस्थितानामेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसद्भावात् तदा कार्यनिर्वर्तकत्वं प्राक्तनतदभावान्न कार्योत्पत्तिः। कारणानामविचलितस्वरूपत्वेऽपि नच संयोगेन तेषामनतिशयो व्यावर्त्तते,अतिशयो वा कश्चिदुत्पद्यते,अभिन्नो भिन्नो वा, संयोगस्यैवातिशयत्वात् । न च कथमन्यः संयोगस्तेषामतिशय इति, वाच्यस्याप्यतिशयत्वायोगात् । न हि स एव तस्यातिशय इत्युपलब्धम्, तस्मात्तत्संयोगे सति कार्यमुपलभ्यते, तदभावे तु नोपलभ्यत इति संयोग एव कार्योत्पादने तेषामतिशय इति, न तदुत्पत्तौ तेषां स्वभावान्तरोत्पत्तिः, संयोगातिशयस्य तेभ्यो भिन्नत्वादिति । असदेतत् । यतः कार्योत्पत्तौ तेषां संयोगाऽतिशयो भवतु, संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशयः? इति वाच्यम् । न तावत्स एव संयोगः, तस्याद्याप्यनुत्पत्तेः। नापि संयोगान्तरं तदनभ्युपगमात् । अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः । न च क्रियातिशयः, तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । किं चादृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात्पर-

माणुषु क्रियोत्पद्यत इति अभ्युपगमादात्मपरमाणुसंयोगाद्भावेऽप्यपरोऽतिशयो वाच्यः । तदेव च तत्र दूषणम् । किञ्चासौ संयोगो द्व्यणुकादिनिवर्त्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः, उत तदन्याश्रितः, आहोस्विदनाश्रित इति । यद्याद्यः पक्षः, तदा तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते, न वेति? । यद्युत्पद्यते, तदा परमाणूनामपि कार्यत्वप्रसक्तिः, तत्संयोगवत् । अथ नोत्पद्यते, तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्, समवायस्याभावात् । तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वे तु तत्र तस्य प्रागभावानिवृत्तेः, तदन्यगुणान्तरवत् । ततस्तेषां कार्यरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या । अन्यथा तदाश्रितत्वं संयोगस्य तस्मादन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रितत्वपक्षे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोत्पद्यत इत्यभ्युपगमः, तदा वक्तव्यं किमसौ सन् वाऽसन्? । यदि संस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः, सदकारणवन्नित्यमिति भवताऽभ्युपगमात् । तथा चासौ गुणो न भवेद् नित्यत्वेनानाश्रितत्वात्, अनाश्रितस्य पारतन्त्र्यायोगात्, अपरतन्त्रस्य चागुणत्वात् । अथासन्निति पक्षः, तदा कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः ; तदभावे प्रागवाग्विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यद्रव्योत्पत्त्यभावात् । तथा च जगतोऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वसंख्यापरिमाणमहत्त्वाद्यनेकगुणानां तत्रोत्पत्तिरभ्युपेया, कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्योत्पत्त्यभ्युपगमादिष्टमेवैतदिति चेत ; ननु तेषां क आश्रयः? इति वक्तव्यम् । न तावत् कार्यम्, तदुत्पत्तेः प्राक्तस्यासत्त्वात्, सत्त्वे चोत्पत्तिविरोधात् । न च प्रथमक्षणे निर्गुणमेव कार्यं गुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् । गुणसंबन्धवत् सत्तासंबन्धस्याद्यक्षणे अभावः, तत्सत्त्वासंभवात् । न चोत्पत्तिसत्तासंबन्धयोरेककालतयाऽऽद्यक्षण एव सत्त्वम्, तदा रूपादिगुणसमवायाभावतोऽनुपलम्भे ततस्तत्सत्तासंबन्धव्यवस्थापनासंभवात् ; न हि सदित्युपलम्भमन्तरेण तदा तस्य सत्तासंबन्धः, सत्त्वं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेर्गुणद्रव्येण सहोत्पादतद् द्रव्याधेयता, तद्द्रव्यस्य वा तदाऽऽधारता ; अकारणस्याश्रयत्वायोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः, सन् न कार्यं तदाश्रयः । अथाणवस्तदाश्रयाः, तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रय इत्येकाश्रयौ कार्यगुणौ प्राप्तौ । तदभ्युपगमेऽपि तावदयुतसिद्धयोस्तयोः कुण्डबदरवदाश्रयाश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुतसिद्धयोः, अयुतसिद्धाश्रयाश्रयिभावविरोधात् । तथा ह्यपृथक्सिद्ध इत्यनेन भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽन्यस्यार्थस्यात्रासंभवात् । आधाराधेयभाव इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियत इति कथमनयोरेकत्र सद्भावः । अथान्यत्राधाराधेयभावः, तर्हि तेषां सत्त्वमुतासत्त्वमिति वक्तव्यम्? । यद्याद्यः पक्षः, तदा संयोगादिगुणाधारपरमाणव एव तथाभूतकार्यमिति जैनपक्ष एव समाश्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु, सर्वानुपलब्धिप्रसक्तिः । यदि च परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभन्ते स्वात्मनो व्यतिरिक्तम्, तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः । न हि कार्यद्रव्यपरमाणुस्वरूपापरित्यागे स्थूलत्वस्य सद्भावः, तस्य तद्भावात्मकत्वात् । तस्मात्परमाणुरूपतापरित्यागेन मृद्द्रव्यं स्थूलकार्यस्वरूपमासादयतीति वलयवत् पुद्गलद्रव्यपरिणतः आदिरन्तो वा न विद्यते, इति न कार्यद्रव्यं कारणेभ्यो भिन्नम् । न चार्थान्तरभावगमनं विनाशोऽयुक्तः, इति तद्रूपपरित्यागोपादानात्मकस्थितिस्वभावस्य द्रव्यस्य त्रैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च एकसंख्याविभागाल्पपरिमाणपरत्वात्मकत्वेन प्रादुर्भावात्परमाणवः कार्यद्रव्यवत्, तथोत्पन्नाश्चाभ्युपगन्तव्याः । कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानोपलम्भात् कार्यताव्यवस्थानिबन्धनस्यात्रापि सद्भावात् ; इत्ययमर्थः (तत्तो य) इत्यादिना गाथापश्चार्द्धेन प्रदर्शितः, तस्मादेकपरिमाणाद् द्रव्याद्विभक्तः विभागात्मकत्वेनोत्पन्नः (अणुरिति) अणुर्जातो भवति : एतदवस्थायाः प्राक्तदसत्त्वात् । सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्यभावप्रसङ्गात् । इदानीं वा तद्रूपाऽविशेषात् प्राक्तनावस्थानमिव स्यात् । एवं चतुर्विधकार्यद्रव्याभ्युपगमे संगतः । न च य एव कार्यद्रव्यारम्भकाः, परैकत्वविरोधात् ; घटद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसाभावमृत्पिण्डकपालवत् । न च प्रागभावप्रध्वंसाभावोत्थरूपतया मृत्पिण्डकपालरूपत्वमसिद्धम्, तुच्छरूपस्याभावस्याप्रमाणत्वात्तज्जनकत्वेन तद्विषयत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमुपजायते, तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृत्पिण्डस्य घटद्रव्यसमवायिकारणत्वानुमानमध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टम् । न चाल्पपरिमाणतन्तुप्रभवं महत्परिमाणं पटकार्यमुपलब्धमिति घटादिकमपि तदल्पपरिमाणानेककारणप्रभवं कल्पयितुं युक्तम् ; विपर्ययेणापि कल्पनायाः प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अध्यक्षबाधस्तु तदितरत्रापि समानः । किञ्च । परमाणूनां सर्वदैकं रूपमभ्युपगच्छन्नभावमेव तेषामभ्युपगच्छेत् ; अकारकत्वप्रसङ्गात् । तच्च प्रागभावप्रध्वंसाभावविकल्पत्वेनानाधेयातिशयत्वात्, वियत्कुसुमवत् । तदसत्त्वे च कार्यद्रव्यस्याप्यभावः, तस्यासत्त्वात् । तदभावे च परापरत्वादिप्रत्ययादेरयोगात् कालादेरप्यमूर्त्तद्रव्यस्याभाव इति सर्वाभावप्रसक्तिः । तथाहि—न तावदध्यक्षं तत् प्रतिपादने व्याप्रियते, कपालपर्यन्तघटविनाशोपलम्भे तस्य व्यापारोपलब्धेः । नानुमानमपि ; प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः ; अध्यक्षपूर्वकत्वेन तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थे अनुपयोगात् । परमाणुपर्यन्ते च विनाशे घटादिध्वंसे न किञ्चिदप्युपलभ्येत, परमाणूनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । छिद्रघटेन पाकनिक्षिप्तेन वा तेनानेकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् । अवयविनि च छिद्रस्योत्पन्नत्वात् तस्य च निरवयवत्वाभावावयवतदुत्पत्तिः ; परमाणुषु तदसंभवात् । पाकान्यथाऽनुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो विनाशः परिकल्प्यत इति चेत् । न । विशिष्टसामग्रीवशाद्विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिद् विनाशेऽप्युत्पत्तिसंभवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशाऽभ्युपगमे च तद्देशत्वतत्संख्यान्वितत्परिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्पराद्यपातप्रत्यक्षोपलभ्यत्वादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । सूच्यग्रविद्धघटेनानेकान्तः परिहृत एव ।

न च कपालार्थी घटं भिन्द्यादापरमाण्वन्ते विनाशे ततः प्रतीतिविरुद्धत्वान्नासावभ्युपगन्तव्य इति प्रस्तुतमेवाक्षेपद्वारेणोपसंहरत्याचार्यः-

बहुयाण एगसद्दे, जइ संयोगाहिँ होइ उप्पाओ ।
णणु एगविभागम्मि वि, जुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ।। १३७ ।।

द्व्यणुकादीनां सति संयोगे यद्येकस्य त्र्यणुकादेः कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति, अन्यथैकाभिधानप्रत्ययव्यवहारायोगात् । नहि बहुष्वेको घट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारो युक्तः । नन्वित्थं तमायामेकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशेऽपि युज्यत एव बहूनां समानजातीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्तात्मनामुत्पाद इति । तथाहि घटविनाशाद् बहूनि कपालानि उत्प-

मानीत्यनेकाभिधानप्रत्ययव्यवहारो युक्तः, अन्यथा तदसंभवात् । ततः प्रत्येकं त्र्यात्मकास्त्रिकाश्चोत्पादादयो व्यवस्थिता इत्यनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम; तस्त्वनन्ते काले भवत्वनन्तपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम् । एकसमये तु कथं तत्तदात्मकमवसीयते ?। प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तदवसीयत इत्यादि—

एगसमयम्मि एगद–वियस्स बहुया वि होंति उप्पाया ।
उप्पायसमा विगमा, ठिई उ उस्सग्गओ णियमा ॥१३८॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति, उत्पादसमानसंख्या विगमा अपि तस्यैव तदैवोत्पद्यन्ते, विनाशमन्तरेणोत्पादस्यासंभवात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्भवितुमर्हति । प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यताप्रसक्तिः, तदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्य च स्यात् । स्थितिरपि सामान्यरूपतया तथैव नियता; स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् । भावे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ १३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह–

कायमणवयणकिरिया–रूवाइ गई विसेसओ वा वि ।
संजोगभेयओ जा–णणा य दवियस्स उप्पाओ ॥१३९॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिका हावभावपरिणतपुद्गलोपयोगोपजातशशरुधिरादिपरिणतवशाविर्भूतशिरोऽङ्गुल्याद्यङ्गोपाङ्गभावपरिणतस्थूरसूक्ष्मतरादिभेदभिन्नावयवात्मकस्य कार्योत्पत्तिः, तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिलभ्यमानउत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि कायोत्कृष्टतरवर्गणोत्पत्तिप्रतिलब्धप्रवृत्तिरुत्पादः, तदैव च कायात्मनोरन्योन्यानुप्रवेशाद्विषमीकृतासंख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्तिः, तदैव च मिथ्यात्वाऽविरतिप्रमादकषायादिपरणतिसमुत्पादितकर्मबन्धनिमित्तागामिगतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपादीयमानानन्तपरमाण्वाद्यनन्तपरमाणुसंयोगविभागानामुत्पत्तिः। यद्वा-यदैव शरीरादेर्द्रव्यस्योत्पत्तिः, तदैव तत्रैकान्तगतसमस्तद्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा संबन्धानामुत्पत्तिः, सर्वव्याप्तिव्यवस्थिताकाशं धर्माधर्मादिद्रव्यसंबन्धात्; तदैव च भाविस्वपर्यायपरज्ञानविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः, शिरोग्रीवाचञ्चुनेत्रपिच्छोदरचरणाद्यनेकावयवान्तर्भाविमयूराण्डकरणशक्तीनामिव, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । उत्पादविनाशस्थित्यात्मकाश्च प्रतिक्षणं भावाः शीतोष्णसंपर्कादिभेदेन । न च पुराणतया क्रमेणोपलब्धिः प्रतिक्षणं तथोत्पत्तिमन्तरेण संभवति । न चास्मदाद्यध्यक्षं निरवशेषधर्मात्मकवस्तुग्राहकं, येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रतिपत्तेरभाव इत्युच्येत; अनुमानतः प्रतिक्षणमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलत्रैलोक्यव्यावृत्तस्य वस्तुनोऽध्यक्षेण ग्रहणे तद्व्यावृत्तीनां पारमार्थिकतद्धर्मरूपतया । अन्यथा तस्य तद्व्यावृत्त्ययोगात् , कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्यक्षेण ग्रहणम् ?। (सम्म०)

अन्योन्यनिरपेक्षतयाऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा—
विनाभूतमेव दर्शयन्नाह—

जे संतवाएँ दोसे, सक्कोलुया वयंति संखाणं ।
संखाय असव्वाए, तेसिं सव्वेऽपि ते सव्वा ॥ १४६ ॥

येऽनेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकायाऽभ्युपगमपदार्थाभ्युपगमे शाक्यौलुक्या दोषान् वदन्ति, सांख्यानां क्रियागुणव्यपदेशोपलब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणाः, ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं संबन्धः कार्यः । ते च दोषा एवं सत्याः स्युः यद्यन्यनिरपेक्षतयाऽभ्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तच्छास्त्रं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्यथा । प्रागपि कार्यावस्थात एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वात्तेषाम् । अन्यथा कथञ्चित्सत्त्वेऽनेकान्तवादापत्तेर्दोषाभाव एव स्यात् । सम्म० ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्—

अनन्तरं भगवद्दर्शितस्यानेकान्तात्मना वस्तुनो बुधरूपवेद्यत्वमुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादिति साऽपि निरूपिता, तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्यन्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति । तेषां प्रमाणमार्गाच्च्यवनमाह–

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं,
नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीताः,
जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम्, अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम्, किन्तु सदवाच्यते च । सच्चाऽवाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते, अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि–अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुध्यते । अथवाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन साकं न विरोधमुद्वहति । अनेन च नास्तित्वाऽस्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोधतोपलक्षिता; अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयोगजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति । नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति ?, इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह—(उपाधिभेदोपहितमिति) उपाधयोऽवच्छेदका अंशप्रकाराः, तेषां भेदो नानात्वं, तेनोपहितमर्पितम् । असत्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न विरुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभेदोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे । अयमभिप्रायः- परस्परपरिहारेण ये वर्त्तेते, तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानलक्षणो विरोधः । नचात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणाऽपि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं परिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्तेः । तथाच निरुपाख्यत्वात्सर्वशून्यतेति; तदा हि विरोधः स्याद्यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम्; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि । किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण हि सत्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं हि एकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अन्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नीलीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि । एवं मेचकरत्नेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम् । न चैभिर्दृष्टान्तैः सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः, चित्रपटाद्यवयविन

एकत्वात् तत्राऽपि भिन्नदेशत्वासिद्धेः । कथञ्चित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः। एवमप्यपरितोषश्चेदायुष्मतः, तर्ह्येकस्यैव पुंसस्तत्र तत्तदुपाधिभेदात्पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृव्यत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्? । एवमवक्तव्यतादयोऽपि वाच्याः । इत्युक्तप्रकारेणोपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमप्रबुध्यैवाज्ञात्वैव, एवकारोऽवधारणे । स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव, न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । ततस्ते विरोधभीताः-सत्त्वासत्त्वादिधर्माणां बहिर्मुखशेमुष्या संभावितो यो विरोधः सहानवस्थानादिः, तस्माद्भीतास्त्रस्तमानसाः । अत एव जडास्तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवद्भीरुत्वान्मूर्खाः परवादिनस्तदेकान्तहताः, तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिप्रेतधर्मव्यवस्थापननिश्चयः, तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति । पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमणेनासमर्था न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः । यद्वा-पतन्तीति प्रमाणमार्गतश्च्यवन्ते । लोके हि सन्मार्गच्युतः पतित इति परिभाष्यते । अथवा-यथा वज्रादिप्रहारेण हतः पतितो मूर्च्छामतुच्छामासाद्य निरुद्धवाक्प्रसरो भवति, एवं तेऽपि वादिनः स्वाभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणिमननुसरता वज्राशनिप्रायेण निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति । अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वाद्वैयधिकरण्यमनवस्था सङ्करो व्यतिकरः संशयोऽप्रतिपत्तिर्विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः । तथाहि-सामान्यविशेषात्मकं वस्त्वित्युपन्यस्ते परे उपालब्धारो भवन्ति । यथा सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राऽभिन्ने वस्तुन्यसंभवाच्छीतोष्णवदिति विरोधः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति, एकरूपतापत्तेः। ततो वैयधिकरण्यमपि भवति । अपरं च-येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य, तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति, द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम् ? । एकेनैव चेत्, तत्र पूर्ववद्विरोधः । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति, तदाऽनवस्था—तावपि स्वभावान्तराभ्यां, तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति । येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोषः । येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः। ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः । ततश्चाप्रतिपत्तिः, ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति । एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वान्निरवकाशा एव । अतः स्याद्वादमर्मवेदिभिरुद्धरणीयास्तत्तदुपपत्तिभिरिति, स्वतन्त्रतया निरपेक्षयोरेव सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोस्तेषामवकाशात् । अथवा विरोधशब्दोऽत्र प्रदोषवाची । यथा विरुद्धमाचरन्तीति दुष्टमित्यर्थः । ततश्च विरोधेभ्यो विरोधवैयधिकरण्यादिदोषेभ्यो भीता इति व्याख्येयम् । एवं च सामान्यशब्देन सर्वा अपि दोषव्यक्तयः संगृहीता भवन्तीति काव्यार्थः ॥२४॥

अथानेकान्तवादस्य सर्वद्रव्यपर्यायव्यापित्वेऽपि मूलभेदाऽपेक्षया चातुर्विध्याभिधानद्वारेण भगवतस्तत्त्वामृतरसास्वादसौहित्यमुपवर्णयन्नाह-

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व-सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ।२५।

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम्, तदेवाधिकृतमेवैकं वस्तु स्यात्कथञ्चिन्नाशि, विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः। स्यान्नित्यमविनाशधर्मीत्यर्थः । एतावता नित्यानित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्। स्याद्विरूपं विविधरूपं विसदृशपरिणामात्मकं, व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः । तथा स्याद्वाच्यं वक्तव्यम्। स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः । एतेनाभिलाप्यानभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः । तथा स्यात्सद्विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः । स्यादसत्तद्विलक्षणमिति । अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा। हे विपश्चितां नाथ! संख्यावतां मुख्य! इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा, तवेति प्रकरणात्सामर्थ्याद्वा गम्यते । तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकरिष्णुत्वादान्तराह्लादकारित्वाच्च पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरिवेत्यर्थः । यथाहि--कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोद्गीर्णवानित्याशयः । अथवा-यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरलभोजनमातृप्ति भक्षितं, तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। यैस्तु पचेलिमप्राचीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैर्भगवद्गुरुवदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ! इयं पूर्वप्रदर्शितोल्लेखशेखरा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्। एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः। तथाहि-'आदीपमाव्योमेति' वृत्ते नित्यानित्यवादः। 'अनेकमेकात्मकमिति' काव्ये सामान्यविशेषवादः। सप्तभङ्ग्यामभिलाप्यानभिलाप्यवादः, सदसद्वादश्च; इति न भूयः प्रयासः इति काव्यार्थः॥२५॥

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबद्धकक्षतया वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसंनिपातसंजातविनिपातयोरयत्नसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य भगवच्छासनसाम्राज्यस्य सर्वोत्कर्षमाह-

य एव दोषाः किल नित्यवादे,
विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,
जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥

किलेति निश्चये । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाऽनुपपत्त्यादयस्त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि समास्तुल्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना अन्यूनाधिकाः। तथाहि-नित्यवादी प्रमाणयति-सर्वं नित्यं, सत्त्वात्। क्षणिके सदसत्कालयोरर्थक्रियाविरोधात्तल्लक्षणं सत्त्वं नावस्थां बध्नातीति । ततो

निवर्तमानमनन्यशरणतया नित्यत्वेऽवतिष्ठते। तथाहि-क्षणिकोऽर्थः सन् वा कार्यं कुर्यादसन् वा?,गत्यन्तराभावात्। न तावदाद्यः पक्षः, समसमयवर्तिनि व्यापारायोगात्, सकलभावानां परस्परं कार्यकारणभावप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते। असतः कार्यकरणशक्तिविकलत्वात्। अन्यथा शशविषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेषाभावादिति । अनित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति-'सर्वं क्षणिकं, सत्त्वात्,अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्,अर्थक्रियाकारित्वस्य च भावलक्षणत्वात् । ततोऽर्थक्रिया व्यावर्तमाना स्वक्रोडीकृतां सत्तां व्यावर्तयेदिति क्षणिकसिद्धिः। न हि नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरणस्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रियाकरणाविरामप्रसङ्गात्। तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थ्यस्यानित्यतालक्षणत्वात्। अथ नित्योऽपि क्रमवर्तिनं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत्, पश्चात्तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न। सहकारिकारणस्य नित्येऽकिञ्चित्करत्वात् ; अकिञ्चित्करस्याऽपि प्रतिक्षणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते , अध्यक्षविरोधात् । नह्येककालं सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चिदुपलभ्यते , करोतु वा, तथाऽप्याद्यक्षण एव सकलक्रियापरिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेष्वकुर्वाणस्यानित्यता बलादाढौकते ; करणाकरणयोरेकस्मिन् विरोधात् इति । तदेवमेकान्तद्वयेऽपि ये हेतवस्ते युक्तिसाम्याद् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचारितरमणीयतया मुग्धजनस्य ध्यान्ध्यं चोत्पादयन्तीति विरुद्धा व्यभिचारिणो नैकान्तिका इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्षप्रतिक्षेप एवोक्तः। उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादा अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतूनुपस्पृशन्तीति परिभावनीयम्। अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते-(परस्परेत्यादि) एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुषु एकान्तवादिषु परस्परध्वंसिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते, विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः, सुन्दोपसुन्दवदिति परस्परध्वंसिनः,तेषु,हे जिन! ते तव,शासनं स्याद्वादप्ररूपणानिरूपणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनैवाभावादधृष्यमपराभवनीयम् । 'शक्तार्हे कृत्याश्च'(५।४।३५)इति(हैमसू०)कृत्यविधानाद् धर्षितुमशक्यं धर्षितुमनर्हं वा,जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। यथा कश्चिन्महाराजः पीवरपुण्यपरीपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वं समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवत्येवं त्वच्छासनमपीति काव्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितम् । इदानीं कतिपयतद्विशेषान्नामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोन्मत्ततथाविधरिपुजनजनितोपद्रवामिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारकारितामाविष्करोति—

> नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ ,
> न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
> दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं ,
> परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे, न सुखदुःखभोगौ घटेते, न च पुण्यपापे घटेते, न च बन्धमोक्षौ घटेते। पुनः पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थः । तथाहि-एकान्तनित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते। नित्यस्य हि लक्षणम्-'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम्'। ततो यदाऽऽत्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभावभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः; एवं दुःखमनुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारः। न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः ; सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ?। व्यतिरेके तास्तस्येति संबन्धाभावः, अतिप्रसङ्गात्। अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाभेदोऽपि भवेदिति । किञ्च। सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ, तन्निर्वर्तनं चार्थक्रिया , सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम्। अत एवोक्तम्-(न पुण्यपापे इति) पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म। पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशुभं कर्म। ते अपि न घटेते, प्रागुक्तनीतेः। तथा न बन्धमोक्षौ। बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्ययःपिण्डवदन्योन्यसंश्लेषः। मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः। तावप्येकान्तनित्ये न स्याताम्। बन्धो हि संयोगविशेषः,स चाप्राप्तानां प्राप्तिरिति लक्षणः। प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्याऽवस्था। उत्तरकालभाविनी प्राप्तिश्चान्या। तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः। कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः?, बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत्?। किञ्च। तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति, न वा?। अनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः। नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेषः। इति बन्धवैफल्यान्नित्यमुक्त एव स्यात्। ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था। तथा च पठन्ति-"वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्। चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः, खतुल्यश्चेदसत्फलः" ॥ १ ॥ बन्धानुपपत्तौ मोक्षस्याऽप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एवमनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः। अनित्यं हि अत्यन्तोच्छेदधर्मकम्। तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः?। एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु ?। एवं चान्यः क्रियाकारी,अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते। अथ " यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कर्पासे रक्तता यथा " ॥ १॥ इति वचनादसमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रम्, सन्तानवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात्। तथा पुण्यपापे अपि न घटेते। तयोर्ह्यर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः। तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता, ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किञ्च। अनित्यः क्षणमात्रस्थायी, तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियाऽर्जनम् ? । द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतः ?, निर्मूलत्वात्; तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कथञ्चिदेतत्, तथाऽपि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानाऽनुरूपत्वादुपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितादुत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्यते?, कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्यात्?; विसदृशभागताऽऽपत्तेः ।

एवं पुण्यपापादावपि। तस्माद् यत्किञ्चिदेतत्। एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवः। लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते। निरन्वयनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात्सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति ?। परिणामिनि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते। "परिणामोऽवस्थान्तर-गमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम्। न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः"॥१॥ इति वचनात्। पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह-" अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः " इति। एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्याऽनभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः। अथोत्तरार्द्धव्याख्या—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैः, अथ च परमार्थतः शत्रुभिः; परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति (दुर्नीतिवादव्यसनासिना) नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः; तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः। तत्र यद् व्यसनमत्यासक्तिरौचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्; दुर्नीतिवादव्यसनम्। तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिरिवासिः कृपाणः, दुर्नीतिवादव्यसनासिः। तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन। एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह। अपि शब्दस्य भिन्नक्रमत्वादशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यम्, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति। त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तम्; सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपेण व्यापादितम्। तत् त्रायस्वेत्याशयः। सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्ते। अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः। अन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते। तेषां च दशविधप्राणधारणाऽभावादजीवत्वप्राप्तिः। सा च विरुद्धा। तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धम्। दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः। इति काव्यार्थः॥ २७॥ स्या०।

वस्तुनोऽनियतसदसद्रूपत्वमनेकान्तजयपताकायां न्यक्षेण प्रत्यपादि परं तद्ग्रन्थस्यातिसंक्लिष्टत्वेन दुरवबोधत्वात्सम्मतिप्रभृतिग्रन्थैर्गतार्थत्वाच्चास्माभिरत्रोपेक्षितम्। अनेकान्तजयपताकावृत्तिविव०।

(५) एकान्तेन सर्वं वस्तु सदिति साङ्ख्यमतं तु न युक्तम्। युक्तिश्चात्र यत्तावदुच्यते सांख्याऽभिप्रायेण-सर्वं सर्वात्मकम्; देशकालाकारप्रतिबन्धात्तु न समानकालोपलब्धिरिति। तदयुक्तम्। यतो भेदेन सुखदुःखजीवितमरणदूरासन्नसूक्ष्मबादरसुरूपकुरूपादिकं संसारवैचित्र्यमध्यक्षेणाऽनुभूयते। न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। न च सर्वं मिथ्येत्यभ्युपगन्तुं युज्यते, यतो दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च पापीयसी। किञ्च। सर्वथैक्येऽभ्युपगम्यमाने संसारमोक्षाभावतया कृतनाशोऽकृताभ्यागमश्च बलादापतति। यच्चैतत्सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगतः कारणं, तन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, निर्युक्तिकत्वात्। अपि च। सर्वथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसामप्येकत्वं स्यात्। तद्भेदे च सर्वस्य भेद इति। तथा यदप्युच्यते-सत्त्वस्य व्यक्तस्य प्रधानकार्यत्वात्सत्कार्यवादत्वाच्च मयूराण्डकरणे चञ्चुपिच्छादीनां सतामेवोत्पादाभ्युपगमादसदुत्पादे चाम्रफलादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गादित्येतद्वाङ्मात्रम्। तथाहि-यदि सर्वथा कारणे कार्यमस्ति न तर्ह्युत्पादः, निष्पन्नघटस्येव। अपि च। मृत्पिण्डावस्थायामेव घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवेयुः। न च भवन्ति, ततो नास्ति कारणे कार्यम्। अथाऽनभिव्यक्तमस्तीति चेत्। न। तर्हि सर्वात्मना विद्यते नाऽप्येकान्तेनासत्कार्यवाद एव। तद्भावे हि व्योमारविन्दानामप्येकान्तेनासतो मृत्पिण्डादेर्घटादेरिवोत्पत्तिः स्यात्। न चैतद् दृष्टमिष्टं वा। अपि चैवं सर्वस्य सर्वस्मादुत्पत्तेः कार्यकारणभावानियमः स्यात्। एवं च न शाल्यङ्कुरार्थी शालिबीजमेवाऽऽदद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति नियमेन च प्रेक्षापूर्वकारिणामुपादानकारणादौ प्रवृत्तिरतो नासत्कार्यवाद इति। तदेवं सर्वपदार्थानां सर्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चिदेकत्वम्, तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति कृत्वा कथञ्चिद्भेद इति सामान्यविशेषात्मकं वस्त्विति स्थितम्। अनेन च स्यादस्ति, स्यान्नास्तीति भङ्गकद्वयेन शेषभङ्गका अपि द्रष्टव्याः। ततश्च सर्वं वस्तु सप्तभङ्गीस्वभावम्। ते चामी-स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यादस्ति, परद्रव्यापेक्षया स्यान्नास्ति। अनयोरेव धर्मयोर्यौगपद्येनाभिधातुमशक्यत्वात्स्यादवक्तव्यम्। तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात्, कस्यचिच्चांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया स्याद्वा, नास्ति वा, वक्तव्यं चेति। तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात्। स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति। तथैकांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति। तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया, परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षया, अन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यम्। इयं च सप्तभङ्गी यथायोगमुत्तरत्राऽपि योजनीयेति। सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

(६) कालाद्येकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सहावणियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा, समासओ होंति सम्मत्तं ॥ १४६ ॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम्; त एव समुदिताः परस्पराजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यार्थः॥१४९॥ (सम्म) पं०व०।

तत्र कालादेकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यात्ववाद इति स्थिते त एवाऽन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेनैकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटवः प्रमाणविषयतया परमार्थतः सन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः। यथैते कालाद्येकान्ताः मिथ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वादोपग्रहात्तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते, तथाऽऽत्माऽप्येकान्तनित्यानित्यत्वादिधर्माध्यासितो मिथ्यात्वम्; अनेकान्तरूपतया त्वभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यत इत्याह—

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ,
कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं।
णत्थि य मोक्खोवाओ,
छं मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ १५० ॥

नास्त्यात्मा एकान्त इति सांख्याः। अत एव प्राहुः-यः कर्त्ता, स न भोक्ता, प्रकृतिवत्, कर्तृभोक्तृत्वानुपपत्तेः। यद्वा-येन कृतं कर्म, नाऽसौ तद् भुङ्क्ते, क्षणिकत्वात्, भिन्नसंतानेरिति बौद्धः। क्षणिकत्वाच्च तत्सन्तानः कृतं न वेदयत इति बौद्ध एवाह-कर्त्ता

भोक्ता चात्मा किन्तु न मुच्यते, सचेतनत्वात्, अभव्यवत्, रागादीनामात्मस्वरूपाव्यतिरेकात्, तत्क्षये तेषामप्यक्षयादिति क्षायिकः। निर्हेतुक एवासौ मुच्यते, तत्स्वभावताव्यतिरेकेण परस्य तत्रोपायस्याभावादिति मण्डली प्राह। एतानि षट् मिथ्यात्वस्य स्थानानि, षण्णामप्येषां पक्षाणां मिथ्यात्वाधारतया व्यवस्थितेः। तथाहि-एतानि नास्तित्वादिविशेषणादीनि साध्यधर्मिविशेषणतयोपादीयमानानि किं प्रतिपक्षव्युदासेनोपादीयन्ते ?, आहोस्वित् कथंचित्तत्संग्रहेणेति कल्पनाद्वयम्। प्रथमपक्षे-अध्यक्षविरोधः, स्वसंवेदनाध्यक्षतश्चैतन्यस्यात्मरूपस्य प्रतीतिः, कथञ्चित्तस्य परिणामनित्यताप्रतीतेश्च, शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलब्धेश्च, स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्तरूपादिभोक्तृत्वसंवेदनाच्च, पुद्गललक्षणतया, रागादिव्यक्ततया च, शमसुखरसावस्थायां कथञ्चित्तस्योपलब्धेश्च। स्वोत्कर्षतरतमादिभावतो रागाद्युपचयतरतमभावविधायिसम्यग्ज्ञानदर्शनादेरुपलम्भाच्चानुमानतोऽपि विरोधः। तथाभूतज्ञानकार्यान्यथाऽनुपपत्तिचैतन्यलक्षणस्यात्मनः सिद्धिर्घटादिवत् रूपादिगुणतः ज्ञानस्वरूपगुणोपलम्भात् कथञ्चित्तदभिन्नस्याऽऽत्मलक्षणस्य गुणिनः सिद्धिरिति नानुमानविरोधः, इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याप्रसिद्धेः। अप्रसिद्धविशेषणविशेष्योभयदोषैर्दुष्टश्च पक्ष आत्मेति वचनेन, तत्सत्ताऽभिधानं नास्तीत्यनेन च, तत्प्रतिषेधाभिधानपदयोः प्रतिज्ञावाक्यव्याघातो लोकविरोधश्च। तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो लोके तद्व्यवह्रियमाणत्वात् स्ववचनविरोधश्च। तत्प्रतिपादकवचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तेर्हेतुरपीतरनिरपेक्षैकधर्मरूपोऽसिद्धः, तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलब्धेः सर्वत्र तद्विपरीत एवाभावात्। विरुद्धश्च दृष्टान्तः, साधनधर्माधिकरणतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धेः। तन्न प्रथमः पक्षः। नापि द्वितीयः, स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्, साधनवैफल्यापत्तेश्च। तथाभूतस्यानेकान्तरूपतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्। तस्माद्व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया षडप्येतानि। तद्विपर्ययेणाप्येकान्तवादे तथैव तानीति दर्शयन्नाह-

अत्थि अविणासधम्मा, करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं।
अत्थि अ मोक्खोवाओ, छं मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥१५१॥

अस्त्यात्मेति पक्षः पूरणादेर्वादिनः। स चाविनाशधर्मी, एषा प्रतिज्ञा कलमतानुसारिणः। कर्तृभोक्तृस्वभावोऽसाविति मतं जैमिनेः। तथाभूत एवासौ जडस्वरूप इत्यक्षपादकणभुक्मतानुसारिणः। अस्ति निर्वाणमस्ति च मोक्षोपाय इत्यामनन्ति नास्तिकपाक्षिकव्यतिरिक्ताः। पाखण्डिन एते चाभ्युपगमाः एकान्तेन तदस्तित्वादेरध्यक्षानुमानाभ्यामप्रतीतेः। तथाऽभ्युपगमे च स्वास्तित्वेनेवान्यभावास्तित्वेनापि तस्य भावात् सर्वभावसंकीर्णताप्रसक्तेः, स्वस्वरूपाव्यवस्थितेः खपुष्पवदसत्त्वमेव स्यात्, इत्यादि दूषणमसकृत् प्रतिपादितम्। हेतुदृष्टान्तदोषाश्च पूर्ववदत्रापि वाच्याः। चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिदन्यथा पठन्ति- 'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं ति'। अत्र तु पाठे इतरधर्मा जहद्वृत्त्या प्रवर्तमाना एते षट् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्त इति व्याख्येयम्। न च स्यादस्त्यात्मा नित्यादिप्रतिज्ञावाक्यमध्यक्षादिना प्रमाणेन बाध्यते, स्वपरभावाभासकाध्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेणान्यथाभूतस्याऽध्यक्षादेरप्रतीतेः। तेनानुमानाभ्युपगमात् स्ववचने लोकस्य व्यवहारविरोधोऽपि न, प्रतिज्ञाया अध्यक्षादिप्रमाणावसेये सदसदात्मके वस्तुनि कस्यचिद्विरोधस्यासंभवात्। न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः, लौकिकपरीक्षकैस्तथाभूतविशेषणस्यापि प्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतेरन्यस्य वा विशेषणव्यवहारस्योच्छेदप्रसङ्गात्। अन्यथाभूतस्य क्वचिदप्यसंभवात्तथाभूतविशेषणात्मकस्य धर्मिणः सर्वप्रतीतेर्नाप्रसिद्धविशेष्यतादोषः। नाप्यप्रसिद्धोभयता दूषणम्; तथाभूतद्वयव्यतिरेकेणान्यस्यासत्त्वतः प्रमाणाविषयत्वहेतुरपि नाप्रसिद्धः, तत्र तस्य सत्त्वप्रतीतेः। विपक्षे सत्त्वासंभवान्नापि विरुद्धः। अनैकान्तिकताऽप्यत एवायुक्ता। दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकलत्वादयो नात्र संभविनः, असिद्धत्वादिदोषवत्येव साधने तेषां भावात्। नानुमानतोऽनेकात्मकं वस्तु तद्वादिभिः प्रतीयते। अध्यक्षसिद्धत्वाद्वस्तुप्रतिपत्तेरपि ततस्तस्मिन् विप्रतिपद्यते। तं प्रति तत्प्रसिद्धेनैव न्यायेनानुमानोपन्यासेन विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव विधीयत इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषस्यावकाशः। प्रतिक्षणपरिणामपरभागादीनां तूरुविकारार्वाग्भागदर्शनाऽन्यथाऽनुपपद्यमानेनाध्यक्षादिबाधादस्मदाद्यक्षस्य सर्वात्मना वस्तुग्रहणासामर्थ्यात् स्फटिकादौ चार्वाग्भागपरभागयोरध्यक्षत एवैकदा प्रतिपत्तेरनवस्थैर्यग्राह्यध्यक्षं प्रतिक्षणपरिणामानुमानेन विरुध्यते; अस्य तदनुग्राहकत्वात्, कथञ्चित्प्रतिक्षणपरिणामस्य तत्प्रतीतस्यैवानुमानतो विनिश्चयात्।

अनेकान्तव्यवच्छेदेनैकान्ताऽवधारितधर्माधिकरणत्वेन
धर्मिणं साधयन्नेकान्तवादी न साधर्म्यतः
साधयितुं प्रभुर्नापि वैधर्म्यत इति
प्रतिपादयन्नाह—

[७] साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः।

साहम्मओ व्व अत्थं, साहिज्ज परो विहम्मओ वा वि।
अण्णोण्णं पडिकुट्ठा, दोण्ण वि एए असव्वाया ॥ १५२ ॥

समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितसाधनधर्मो यस्यासौ सधर्मा, साधर्म्यदृष्टान्तापेक्षया साधर्मी, तस्य भावः साधर्म्यम्, ततो वाऽर्थं साध्यधर्माधिकरणतया धर्मिणं साधयेत्परः, अन्वयिहेतुप्रदर्शनात्। साध्यधर्मिणि विवक्षितं साध्यं यदि वैशेषिकादि साधयेत्, तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्; अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात्। अथ वैधर्म्याद् विगतस्तथाभूतसाधनधर्मो यस्मादसौ विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्, ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत्, उभाभ्यां वा; वाशब्दस्य समुच्चयार्थत्वात्। तथापि पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः। श्यामत्वाभावे च तत्पुत्रत्वादेः, अन्यत्र गौरपुरुषे अभावात्, उभाभ्यामपि तत्साधने। अत एव साध्यासिद्धिप्रसक्तिः स्यात्। अथाऽत्र कालात्ययापदिष्टत्वादिदोषसद्भावान्न साध्यसाधकताप्रसक्तिः; असिद्धविरुद्धानैकान्तिकहेत्वाभासमन्तरेणापरहेत्वाभासासंभवात्। न च त्रैरूप्यलक्षणयोगिनोऽसिद्धत्वादिहेत्वाभासता कृतकत्वादेरिवानित्यत्वसाधने संभवति। अस्ति च भवदभिप्रायेण त्रैरूप्यं प्रकृतहेताविति कुतोऽस्य हेत्वाभासता ?। अथ भवत्वयं दोषः, येषां त्रैरूप्येऽविनाभावपरिसमाप्तिः, नास्माकं च षड्लक्षणहेतुवादिनाम्; प्रकरणसमादेरपि हेत्वाभासत्वोपपत्तेः त्रैलक्षण्यसद्भावेऽप्यपरस्यासत्प्रतिपक्षत्वादेर्हेतुलक्षणस्यासंभवे तदाभासत्वसंभवात्, 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः' इति प्रकरणसमस्य लक्षणाभिधानात्। प्रक्रियेते साध्यत्वेनाऽधिक्रियेते निश्चितौ पक्षप्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्, तस्य चिन्ता संशया-

त् प्रवृत्त्या निश्चयादालोचनस्य भावतो भवति। स एव तन्निश्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात्। उभयत्राप्यन्वयादिसद्भावात्। तथाहि तस्योदाहरणम्-अनित्यः शब्दः, नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं घटाद्यनित्यं दृष्टम्, यत्पुनर्नानित्यं न तदनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं यथाऽऽत्मादि। एवं चिन्तासंबन्धिपुरुषेण तत्राऽनुपलब्धेरेकदेशभूताया अन्यतरानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वेनोपन्यासे सति द्वितीयश्चिन्तासंबन्धिपुरुष आह-यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं साध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरपि;अन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमात्मादि। पुनर्यत् न नित्यं तन्नानुपलभ्यमानानित्यधर्मकं, यथा घटादि। एवमन्यतरानुपलब्धेरुभयपक्षे साधारणत्वात् प्रकरणानतिवृत्तेर्हेत्वाभासत्वम्। न च निश्चितयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेऽधिकारात् कथं चिन्तायुक्त एवं साधनोपन्यासं विदध्यादिति वक्तव्यम्,यतोऽन्यदा संदेहेऽपि चिन्तासंबन्धिपुरुषोऽन्यतराऽनुपलब्धेः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकानवगच्छंस्तद्बलात्स्वसाध्यं यदा निश्चिनोति, तदा द्वितीयस्तामेव स्वसाध्यसाधनाय हेतुत्वेनाभिधत्ते। वचनस्वपक्षसिद्धिरत एव मत्पक्षसिद्धिः किं न भवेत् ?; त्रैरूप्यस्य पक्षद्वयेऽप्यत्र तुल्यत्वात्। अथ नित्यत्वानित्यत्वैकान्तविपर्ययेणाऽप्यस्याः प्रवृत्तेरनैकान्तिकता। उभयवृत्तिर्ह्यनैकान्तिको न प्रकरणसमः। न यत्र पक्षसपक्षविपक्षाणां तुल्यो धर्मो हेतुत्वेनोपादीयते तत्र संशयहेतुता, साधारणत्वेन तस्य विरुद्धविशेषानुस्मारकत्वात्। न तु प्रकृत एवंविधः। यतो नित्यधर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावो न नित्ये, एवमनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्य एव भावो नानित्ये। एवं चात्र साध्ये विपक्षव्यावृत्तिः प्रकरणसमता, नानैकान्तिकता पक्षद्वयवृत्तित्वेन तस्या भावात्। न यद्ययं पक्षद्वये तदा साधारणोऽनैकान्तिकः। अथ न वर्तते कथमयं पक्षद्वयसाधकः स्यात्, अतद्वृत्तेरतत्साधकत्वात्। न पक्षद्वये प्रकृतस्य वृत्त्यभ्युपगमात्। तथाहि-कथं साधनकालेऽनित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते न नित्ये। यदाऽपि नित्यत्वं साध्यं तदाऽपि नित्यपक्ष एवानित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते नाऽनित्ये। ततश्च सपक्ष एव प्रकरणसमस्य वृत्तिः, सपक्षविपक्षयोश्चानैकान्तिकस्य साध्यापेक्षसपक्षविपक्षव्यवहारः, नाऽन्यथा, तेन साध्यद्वयवृत्तिकत्वसाध्यसपक्षवृत्तिश्च प्रकरणसमो, न तु कदाचित्साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिः। अनैकान्तिकस्तु-विपक्षवृत्तिरपीत्यनयोर्भेदः। न च रूपत्रययोगेऽप्यस्य हेतुत्वम्, सप्रतिपक्षत्वात्। यस्य तु कदाचित्साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिरनेकप्रतिबन्धपरिसमाप्तिरूपत्रययोगे, तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम्। न चाऽस्य कालात्ययापदिष्टत्वमबाधितविषयम्। ययोर्हि प्रकरणचिन्ता तयोरयं हेतुः। न च ततः संदिग्धत्वात् बाधामस्योपदर्शयितुं क्षमः। न च हेतुद्वयसन्निपातादेकत्र धर्मिणि संशयोत्पत्तेस्तज्जनत्वेनास्यानैकान्तिकतया तेन संशयहेतुताऽनैकान्तिकत्वम्, इन्द्रियसन्निकर्षादेरपि तथात्वप्रसक्तेः। न च तत्त्वानुपलब्धिर्विशेषस्मृत्यादिश्चान्या संशयकारणम् न च तत्सहिताया अस्या हेतुत्वम् केवलाया एव तत्त्वेनोपन्यासात्। न च संदिग्धविषयभ्रान्तपुरुषेण निश्चयार्थमुपादीयमानाया अस्याः संदेहहेतुता युक्ता। भवतु वा कथञ्चिदतः संशयोत्पत्तिः, तथाऽप्यनैकान्तिकादस्य विशेषः। स हि सपक्षविपक्षयोः समानः, अयं तु तद्विपरीतः, साध्यद्वयवृत्तित्वात्तु प्रकरणसमः। न चासंभवः, अस्यैवंविधसाधनप्रयोगस्य भ्रान्तेः सद्भावात्। अथास्यासिद्धेरन्तर्भावः। अनित्यवादिनो नित्यधर्मानुपलब्धेरितरस्य चेतरधर्मानुपलब्धेरसिद्धत्वात्। असदेतत्। यतश्चिन्तासंबन्धिपुरुषेण समस्य हेतुत्वेनोपन्यासस्तस्य च तत्संबन्धिनो वा कथमितरेणासिद्धतोद्भावनं विधातुं शक्यम्। यस्य ह्यनुपलब्धिनिमित्तसंशयोत्पत्तौ शब्दे नित्यत्वजिज्ञासा, स कथमन्यतराऽनुपलब्धे हेतुप्रयोगेऽसिद्धतां ब्रूयात्? अत एव सूत्रकारेण 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता,' इत्यसिद्धतादोषपरिहारार्थमुपात्तम्। एवमनित्यः शब्दः' सपक्षपक्षयोरन्यतरत्वाद् घटवदिति चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणोक्तेऽपरस्तत्संबन्धी नित्यः शब्दः,पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादाकाशवत् यदाह। तथा प्रकरणसम एव अत्र प्रेरयन्ति-पक्षसपक्षयोरन्यतरः पक्षः?, सपक्षो वा ?। यदि पक्षः, तदा न हेतोः सपक्षवृत्तिता न हि शब्दस्य धर्मान्तरे वृत्तिः संभवीत्यसाधारणतैवास्य हेतोः स्यात्। अथ पक्षोऽन्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता। सपक्षयोर्घटाकाशयोः शब्दाख्यधर्मिण्यप्रवृत्तेरसिद्धेऽन्तर्भूतत्वादस्य न प्रकरणसमता न च पक्षसपक्षयोर्व्यतिरिक्तः कश्चिदन्यतरशब्दवाच्यः, यस्य पक्षधर्मताऽन्वयश्च भवेत्, तन्नायं हेतुः। अत्र प्रतिविदधति-भवेदेष दोषो यदि पक्षयोर्विशेषशब्दवाच्ययोर्हेतुत्वं विवक्षितं भवेत्, तच्च न; अन्यतरशब्दाभिधस्यैव हेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। स च पक्षसपक्षयोः साधारणः, तस्यैव साधारणशब्दाभिधेयत्वात्। यदि वाऽनुगतो द्वयोर्धर्मः कश्चिदन्यतरशब्दवाच्यो न भवेत्तदा विशेषशब्दवदन्यतरशब्दोऽपि न तत्र प्रवर्तते; नाऽपि तच्छब्दादुभयत्र प्रतीतिर्भवेत्। दृश्यते, तस्मात्पक्षतां सपक्षतां चासाधारणरूपत्वेन कल्पितां परित्यज्यान्यतरशब्दो द्वयोरपि वाचकत्वेन योग्यः। ततो या विशेषप्रतीतिः सा पुरुषविवक्षानिबन्धना। यदा हि साधनप्रयोक्ता पक्षधर्मत्वमस्य विवक्षति तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षः सपक्षेऽनुगमविशेषाभिधायी स्यात्। यतोऽलोकव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धव्युत्पत्तिस्तत्र च पक्षशब्दस्य न सपक्षे प्रवृत्तिः। नाऽपि सपक्षशब्दस्य पक्षे। यथा वाऽनयोः सङ्केतादपि नान्यत्र प्रवृत्तिरेवमन्यतरशब्दस्य सामान्ये सङ्केतितस्य न विशेष एव वृत्तिः। उभयाभिधायकत्वे तु विवक्षावशान्नाऽन्यतरनियमः। न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ दूषणम्, तदवस्थायामेवं दोषोद्भावने कस्यचित् सम्यग्हेतूपपत्तेः। कृतकत्वादेरपि पक्षधर्मत्वविवक्षायां विशेषरूपत्वादनुगमाभावात्। सपक्षविशेषितस्य पक्षधर्मत्वायोगात्। अथ कृतकत्वमात्रस्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषः, तर्हि तत्प्रकृतेऽपि तुल्यम्; अन्यतरशब्दस्याप्यनङ्गीकृतविशेषस्य द्वयाऽभिधाने सामर्थ्योपपत्तेः। एतेन यदुक्तं न्यायविद् अत्रार्थः कल्पापि कल्पनासमारोपितो न लिङ्गात् तथा पक्ष एवार्थ पक्षसपक्षयोरन्यतर इत्यादि। तदपि निरस्तम्। त्रैरूप्यसद्भावेऽपि प्रकरणसमत्वेनास्यागमकत्वात्। प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टोऽपि हेत्वाभासोऽपरोऽभ्युपगतः। यथा-पक्कान्येतान्याम्रफलानि, एकशाखाप्रभवत्वात्,उपयुक्तफलवत्। अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि प्रत्यक्षबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात्। अपदिष्टतागमकत्वे निबन्धन हेतोः कालादुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगः। प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य तुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगाद्धेतुकालव्यतिक्रमेण प्रयोगः। तस्माच्च कालात्ययापदिष्टशब्दाभिधेयता हेत्वाभासता च। तदुक्तं न्यायभाष्यकृता-"यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः" इति। तदेवं पञ्चलक्षणयोगीनि हेतावविनाभावपरिसमाप्तेः। तत्पुत्रत्वादौ तु त्रैलक्षण्येऽपि कालात्ययापदिष्टत्वान्न गमकत्वमिति नैयायिकाः। असदेतत्। असिद्धाद्व्यतिरेकेण परस्य प्रकरणसमादेर्हे-

स्याभावस्याऽयोगात्। यच्च प्रकरणसमस्याऽनित्यः शब्दोऽनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वादित्युदाहरणं प्रदर्शितम्। तदसंगतमेव। यतोऽनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वं यदि न ततः सिद्धं तदा पक्षवृत्तितयाऽस्याऽसिद्धेः कथं नासिद्धः ?। अथ तत्र सिद्धं तदा किं साध्यधर्मित्वेन धर्मिणि तत्सिद्धम्, उत तद्विकल इति वक्तव्यम् ?। यदि तदन्विते तदा साध्यवत्येव धर्मिणि तस्य सद्भावसिद्धेः कथमगमकता ?। न हि साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिलक्षणं विहायापरं हेतोरविनाभावित्वं भवेत्। तच्चेत् समस्ति कथं न गमकता ?, अविनाभावनिबन्धनत्वात् तस्याः। अथ तद्विकलात्तत्सिद्धं तदा तत्र वर्तमानो हेतुः कथं न विरुद्धः ?, विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात्। भवति च धर्मविकल एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः। अथ संदिग्धसाध्यधर्मवति तत्र वर्तते तदा संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः। अथ साधर्म्यव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे यस्य साध्याभाव एव दर्शनं स विरुद्धः। यस्य च तदभावेऽप्यसावनैकान्तिकः। न धर्मिण एव विपक्षता; तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य हेतोरहेतुत्वप्रसक्तेः। यतः साध्यधर्मो साध्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सर्वदा संदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्रागन्यथा साध्याभावे निश्चिते साध्याभावनिश्चायकेन प्रमाणेन बाधितत्वाद्धेतोरप्रवृत्तिरेव स्यात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो निश्चये हेतोर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः, प्रत्यक्षादित एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः, तस्मात्संदिग्धसाध्यधर्मा धर्मी हेतोराश्रयत्वेनैव दूष्य इति। यद्यनैकान्तिकस्तत्र वर्तमानो हेतुः, धूमादेरपि तर्हि तथाविध एव स्यात्। तस्याप्येवं संदिग्धव्यतिरिक्तत्वात्। यदि हि विपक्षवृत्तित्वेन निश्चितो यथा गमकस्तथा संदिग्धव्यतिरेक्यप्यनुमानप्रामाण्यं परित्यक्तमेव भवेत्। ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्यधर्मवति वर्तमानः साध्याभावे चानैकान्तिको हेतुः, साध्याभाववत्येवानुवर्तमानः पक्षधर्मत्वे सति विरुद्ध इत्यभ्युपगन्तव्यम्। यश्च विपक्षाद्व्यावृत्तः सपक्षे वाऽनुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स स्वसाध्यं गमयति। प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद्व्यावृत्तस्तथाऽपि न स्वसाध्यसाधकः, प्रतिबन्धस्य स्वसाध्येनानिश्चयात्। तदनिश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमत्वेन, एकशाखाप्रभवत्वादेस्तु कालात्ययापदिष्टत्वेनेति। असदेतत्। यतो यदि धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते, तदा धर्मिण्युपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्योपस्थापको न स्यात्। साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतोः सद्भावाभ्युपगमात्; तद्व्यतिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रहणात्। न चान्यत्र स्वसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽन्यत्र साध्यं गमयेत्। अतिप्रसङ्गात्। अथ यदि साध्यधर्मान्यतत्वेन साध्यधर्मिण्यपि हेतुरन्वयप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम्। असदेतत्। यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसंहारेण साधनधर्मसाध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवतीति सामान्येन प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चाययतीति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वान्नानुमानस्य वैयर्थ्यम्। नहि विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गतसाध्यमन्तरेणोपपत्तिमान् अस्य। अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्तत्वायोगात्। न चैवं तत्र हेतूपलम्भेऽपि साध्यविषयसदसत्तानिश्चयः, येन संदिग्धव्यतिरेकिता हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्वसाध्याविनाभूतहेतूपलम्भस्यैव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूपत्वात्। नहि तत्र तथाभूतहेतुनिश्चयादपरस्तस्यासाध्यप्रतिपादनव्यापारः। अत एव निश्चितप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तल्लक्षणयोगिनो हेत्वन्तरस्य सद्भावः। तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविनाभूतत्वान्नित्यानित्यत्वयोश्चैकत्रैकान्तवादिमतेन विरोधादसंभवात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वोरप्यसंभवस्य न्यायप्राप्तत्वात्। संभवे वा तयोः स्वसाध्याविनानित्यत्वधर्मयुक्तत्वं धर्मतः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्याऽगमकता। अन्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत एव तस्याऽगमकतेति किमसत्प्रतिपक्षतारूपप्रतिपादनप्रयासेन ?। किञ्च नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा शब्दानित्यत्वे हेतुः ?। न तावदाद्यः पक्षः। अनुपलब्धिमात्रस्य तुच्छस्य साध्यासाधकत्वात्। अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मोपलब्धिरेव हेतुरिति। यद्यसौ शब्दे सिद्धा, कथं नानित्यता सिद्धिः ? अथ चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणासौ प्रयुक्त इति न तत्र निश्चिता, तर्हि कथं संदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिनं प्रति प्रतिवादिनस्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एव ?, नित्यधर्मोपलब्धेः ?; तत्र तस्य सिद्धेः। यद्यप्युभयानुपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता, तदैकदेशोपलब्धेरन्यतरेण हेतुत्वेनोपादने कथं चिन्तासंबन्ध्येव द्वितीयः तस्यासिद्धतां वक्तुं पारयतीत्याद्यभिधानम्। तदप्यसङ्गतम्। यतो यदि द्वितीयः संशयापन्नत्वात्तत्रासिद्धतां नोद्भावयितुं समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयित्वादेव तस्य हेतुतामभिधातुं संशयितोऽपि तत्र हेतुतामभिदध्यात्, तर्ह्यसिद्धतामप्यभिदध्यात्; भ्रान्तेरुभयत्राविशेषात्। यदपि साधनकाले नित्यधर्मानुपलब्धिरनित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्ष इत्याद्यभिधानम् तदसंगतम्। विपक्षादेकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मत्वे च स्वसाध्यसाधकत्वमेव अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकव्यवच्छेदेनापरत्र वृत्तिनिश्चये गत्यन्तराभावात्। नहि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो वस्तुधर्मः स तन्न साधयतीति वक्तुं युक्तम्। अथ द्वितीयोऽपि वस्तुधर्मस्तत्र तावन्निश्चितो न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयोस्तदविनाभूतयोश्च एकत्र धर्मिण्ययोगात्। योगे वा नित्यत्वयोः शब्दाश्रये धर्मिण्येकदा सद्भावादनेकान्तरूपवस्तुसद्भावोऽभ्युपगतः स्यात्। तमन्तरेण तद्धेतोः स्वसाध्याविनाभूतयोस्तत्रायोगात्। धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्सद्भावे परस्परविषयप्रतिबन्धः ?। तत् प्रतिबन्धो हि तयोस्तथाभूतयोस्तत्राप्रवृत्तिः सा च त्रैरूप्याभ्युपगमे विरोधादयुक्ता; भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया एकत्रायोगात्। अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरेकत्रायोगादनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्यधर्मानुपलब्धेर्वा बाधा। न। अनुमानस्याऽनुमानान्तरेण बाधायोगात्। तथाहि-तुल्यबलयोर्वा तयोर्बाधकभावोऽतुल्यबलयोर्वा ?। न तावदाद्यः पक्षः। द्वयोस्तुल्यत्वे एकस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः। न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादेकस्य विशेषः; तस्यानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वान्न किञ्चिदनुमानबाधया। तन्न पूर्वः पक्षः। नापि द्वितीयः। यतोऽतुल्यबलत्वं तयोः पक्षधर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ?। न तावदाद्यः पक्षः। तस्यानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वाऽनुमानबाधावैयर्थ्यप्रसक्तेः। नापि द्वितीयः। तस्याद्यापि विचाराऽऽस्पदत्वात्। न हि द्वयोस्त्रैरूप्याऽतुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वमिति व्यवस्थापयितुं शक्यम्। तन्नानुमानबाधाकृतमप्यतुल्यबलत्वम्; इतरेतराश्रयदोषापत्तेः परिस्फुटत्वात्। एतेन प-

सपक्षान्यतरत्वादेरपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कृतो द्रष्टव्यः; न्यायस्य समानत्वात्। यदप्यत्रासाधारणत्वासिद्धत्वदोषद्वयनिरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसपक्षयोः साधारणं हेतुत्वेन विवक्षितम्, अन्यतरशब्दात् तथाविधार्थप्रतिपत्तेस्तस्य तत्र योग्यत्वादित्यभिधानम्। तदप्यसङ्गतम्। यतो यत्रानियमेन फलसंबन्धो विवक्षितो भवति तत्रैव लोकेऽन्यतरशब्दप्रयोगो दृष्टः। यथा-देवदत्तयज्ञदत्तयोरन्यतरं भोजयेत्यत्रानियमेन देवदत्तो यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया संबध्यते, इत्यन्यतरशब्दप्रयोगः। नचैवं शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरः; तस्य पक्षत्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात्। यदपि यदा पक्षधर्मत्वं प्रयोक्ता विवक्षति, तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्ष इत्याद्यभिधानम्। तदप्यसङ्गतम्। एवं विवक्षायामस्य कल्पनासमारोपितत्वेऽनर्थरूपतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः। नहि कल्पनाविरचितस्यार्थत्वं, त्रैरूप्यं वोपपत्तिमत्; अतिप्रसङ्गात्। तत्त्वे वाऽन्यस्य गमकतानिबन्धनस्याऽभावात् सम्यग्घेतुत्वं स्यादित्युक्तं प्राक् कालात्ययापदिष्टस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव। नहि प्रमाणप्रसिद्धत्रैरूप्यसद्भावे हेतोर्विषयबाधा संभाविनी, तयोर्विरोधात्। साध्यसद्भाव एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्त्रैरूप्यम्, तदभाव एव च तत्र तत्सद्भावो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः। किं चाध्यक्षागमयोः कुतो हेतुविषयबाधकत्वमिति वक्तव्यम्। स्वार्थासंभवे तयोर्भावादिति चेत्-हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समानमित्यसावपि तयोर्विषयो बाधकः स्यात्। दृश्यते हि चन्द्रार्कादिस्थैर्यग्राह्यध्यक्षं देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवतत्त्वनुमानेन बाध्यमानम्। अथ तत्स्थैर्यग्राह्यध्यक्षस्यातदाभासत्वाद् बाध्यत्वं तर्ह्येकशाखाप्रभवत्वानुमानस्यापि तदाभासत्वाद् बाध्यत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम्। नन्वेवमस्त्विति वक्तव्यम्, यतस्तस्य तदाभासत्वं किमध्यक्षबाध्यत्वादुत त्रैरूप्यवैकल्यात्। न तावदाद्यः पक्षः। इतरेतराश्रयदोषसद्भावात्। तदाभासत्वेऽध्यक्षबाध्यत्वम्, ततश्च तदाभासत्वमित्येकासिद्धावन्यतराप्रसिद्धेः। नापि द्वितीयः, त्रैरूप्यसद्भावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात्। अनभ्युपगमे वा तत एव तस्यागमकत्वोपपत्तेरध्यक्षबाधाऽभ्युपगमवैयर्थ्यात्। नचाबाधितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम्; त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः। न च तस्य निश्चयः संभवति; स्वसंबन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालभाविनोऽसम्यगनुमानेऽपि ससाध्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः। न च तस्य निश्चयः संभवति, स्वसंबन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालभाविनोऽसम्यग्भावादुत्तरकालभाविनोऽसिद्धत्वात्। सर्वसंबन्धिनस्तादात्त्विकस्योत्तरकालभाविनश्चासिद्धत्वादर्वाग्दृशा सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याभाव इति निश्चेतुं शक्यम्। तन्निश्चयनिबन्धनस्याभावात्, अनुपलम्भस्तन्निबन्धनः; सर्वसंबन्धिनस्तस्य सिद्धत्वात्। आत्मसंबंधिनोऽनैकान्तिकत्वात्, संवादस्तन्निबन्धनः, प्रागनुमानप्रवृत्तेः। तस्यासिद्धेरनुमानोत्तरकालं तत्सिद्धयभ्युपगमे इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथाहि-अनुमानप्रवृत्तौ संवादानिश्चयः, ततश्चाबाधितत्वावगमे अनुमाने प्रवृत्तिरिति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। न चाविनाभावे निश्चयादप्यबाधितविषयित्वनिश्चयः; यतो लक्षणयोरविनाभावपरिसमाप्तिर्यादिनामबाधितविषयत्वनिश्चये अविनाभावनिश्चयस्यैवासंभवात्। यदि च प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तस्यैव कालात्ययापदिष्टत्वं, तर्हि मूर्खोऽयं देवदत्तः, त्वत्पुत्रत्वादुभयाभिमतान्यपुत्रवत्, इत्यस्यापि गमकता स्यात्। न हि सकलशास्त्रव्याख्यातृत्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदध्यक्षबाधितविषयत्वं वा गमकतानिबन्धनमस्यास्ति। न चानुमानस्य तुल्यबलत्वान्नानुमानं प्रति बाधकता संभाविनीति वक्तव्यम्; निश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्यानिश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थेनातुल्यबलत्वात्। अत एव न साधर्म्यमात्राद्धेतुर्गमकः, अपि त्वाक्षिप्तव्यतिरेकात् साधर्म्यविशेषात्। नापि व्यतिरेकमात्रात् किन्त्वङ्गीकृतान्वयात्। तद्विशेषान्वये च परस्परानुविद्धोभयमात्रात्। अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तसाधर्म्यवैधर्म्यरूपत्वात्। न च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाणनिबन्धनं त्रैरूप्यं निश्चितमिति। तद्भावादेवास्य हेत्वाभासत्वं, न पुनरसत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वापररूपविरहात्। यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकधर्मात्मकवस्तुरूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयः, तदा तत्तथाभूतमेव वस्तु प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः? नच साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्चैकान्तभेदे पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमान्, संबन्धासिद्धेः। नच समवायादेः संबन्धस्य निषेधे एकार्थसमवायादिः साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च संबन्धः संभवी। एकान्तपक्षे तादात्म्यादेतदुत्पत्तिलक्षणोऽप्यसावयुक्त एवेति पक्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वम्, तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यम् ? ; अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात्। तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान्। व्यतिरेकस्य चाभावाभावरूपत्वाद्धेतोस्तद्रूपत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात्। न चाभावस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन धर्मिणा वा संबन्धः उपपत्तिमान्। एवं विपक्षे सर्वत्रासत्त्वमेव हेतोः। स्वकीयव्यतिरेकेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभवात्। अतस्तदन्यधर्मान्तरं तर्ह्येकरूपस्यैको न तुच्छाभावमात्रमिति वक्तव्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तत्वं न ततो भिन्नमस्ति, तदा तस्य तदेव सावधारणं नोपपत्तिमत्; वस्तुभूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभवात्। अथ ततस्तदन्यद्धर्मान्तरं, तर्ह्येकरूपस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोः तथाभूतस्य साध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादनात् कथं न परोपन्यस्तहेतुना सर्वेषां विरुद्धानैकान्तेन व्याप्तत्वम्। किञ्च। हेतुः सामान्यरूपो वोपादीयेत परैः?, विशेषरूपो वा?। यदि सामान्यरूपः, तदा तद्व्यक्तिभ्यो भिन्नमभिन्नं वा?। न तावद्भिन्नम्। इदं सामान्यम्, अयं विशेषः अयं तद्वानिति वस्तुत्रयोपलम्भानुपलक्षणात्। तथा च सामान्यस्य भेदेनाभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्। न च समवायवशात् परस्परं तेषां भेदेनानुपलक्षणम्, यतः समवायस्येह बुद्धिहेतुत्वमुपगीयते। न च भेदग्रहणमन्तरेणेहेदमवस्थितमिति बुद्धयुत्पत्तिसंभवः। किञ्च। नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिरिति कारणादनात्सिद्धान्तः। न च सामान्यनिश्चयः संस्थानभेदावसायमन्तरेणोपपद्यते यतो दूरे पदार्थस्वरूपमुपलभमानो नागृहीतसंस्थानभेदः-अश्वत्वादिसामान्यमुपलब्धुं शक्नोति ; न च संस्थानभेदावगमस्तदाधारोपलम्भमन्तरेण संभवतीति कथं नेतरेतराश्रयदोषप्रसंगः?। तथाहि-पदार्थग्रहणे सति संस्थानभेदावगमः, तत्र च सामान्यविशेषावबोधः, तस्मिंश्च सति पदार्थस्वरूपावगतिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्, चक्रकप्रसङ्गो वा। किञ्च। अश्वत्वादेः सामान्यभेदस्य स्वाश्रयसर्वगतत्वैकव्यक्तिशून्ये देशे प्रथमतरमुपजायमानाया व्यक्तेरश्वत्वादिसामान्येन योगो न भवेत्। व्यक्तिशून्ये देशे सामान्यभेदस्य स्वाश्रयसर्वगतस्यानवस्थानात्, व्यक्तान्तरा-

दनागतावस्थानाच्च। ततः सर्वगतमभ्युपगन्तव्यम्, एवं च कर्कादिभिरिव शाबलेयादिभिरपि तदभिव्यज्येत। न च कर्काद्यानामेव तदभिव्यक्तिसामर्थ्यं, न शाबलेयादीनामिति वाच्यम्। यतो यथा प्रत्यासत्त्या ता एव तदात्मन्यवस्थापयन्ति तथैव ता एवाश्वोऽश्व इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययमुपजनयिष्यन्तीति किमपरतदभिन्नसामान्यप्रकल्पनया ?। न च स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात् प्राक् स्वज्ञानजनने असमर्थं सामर्थ्यं तदा परैरनाधेयातिशयं तमपेक्ष्य स्वावभासिज्ञानं जनयति, प्राक्तनासमर्थस्वभावापरित्यागस्वभावान्तरानुत्पादे च तदयोगात्। तथाऽभ्युपगमे च क्षणिकताप्रसक्तेः। न च स्वभावेतरस्योपजायमानस्य ततो भेदः, संबन्धासिद्धितस्तद्भावेऽपि प्राग्वत्तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रतिभासः स्यात्। तथा च सामान्यस्य व्यक्तिभ्यो भेदेनाप्रतिभासमानस्यासिद्धत्वार्थहेतुत्वम्। किञ्च। प्रतिव्यक्तिसामान्यस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाभ्युपगमात् एकस्यां व्यक्तावेव, शतस्वरूपस्य तत्रैव व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तदनुरूपप्रत्ययस्य तत्रासंभवाद् असाधारणता हेतोः स्यात्। यदि चासाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्त इति व्यर्था सामान्यप्रकल्पना; स्वतोऽसाधारणस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वाद् व्यक्तयः, स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणता, अनुपपत्तेः। स्वतस्तद्रूपत्वेऽपि निष्फला सामान्यप्रकल्पनेति व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तल्लक्षणो हेतुरिति कथं ततः साध्यसिद्धिः ?। अथ व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं हेतुः। तदप्यसङ्गतमेव। व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः। व्यक्त्यन्तरे साधारणस्यैव वस्तुनः सामान्यमित्यभिधानात्। तस्यासाधारणत्वे वा न तस्य व्यक्तिस्वरूपाव्यतिरिच्यमानमूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाव्यतिरिच्यमानस्वरूपस्य विरोधात्। तन्न व्यतिरिक्तमपि सामान्यहेतुः, व्यक्तिस्वरूपवदसाधारणत्वेन गमकत्वायोगात्। अत एव न व्यक्तिरूपमपि हेतुः। नचोभयं परस्परानुविद्धं हेतुः, उभयदोषप्रसंगात्। नाप्यनुभयम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात्। बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यं वस्तुरूपत्वात् साध्येनाप्रतिबद्धत्वादसिद्धत्वाच्च, न हेतुः। तस्मात्पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमासमानं बिभ्रदेकमेव पदार्थस्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेनोपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम्। न च यदेव रूपं रूपान्तराद्व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति ?, तच्चानुवर्तते, तत्कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात्करोतीति वक्तव्यम् ?, भेदाभेदरूपतयाऽध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधासिद्धेरित्यसकृदावेदितत्वात्। किञ्च। एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः किं सामान्यं साध्यम् ?, आहोस्विद्विशेषः, उतोभयं परस्परविविक्तम्, उतस्विदनुभयमिति विकल्पाः ?। तत्र न तावत्सामान्यम्, केवलस्यासंभवात्, अर्थक्रियाकारित्वविकलत्वाच्च। नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात्। नाप्युभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः। नाप्यनुभयम्, तस्यासतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात्। एतदेवाह गाथापश्चार्द्धेन; अन्योन्यप्रतिकुष्टौ प्रतिक्षिप्तौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषैकान्तावसद्वादाविति, इतरविनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव साधयितुमशक्यत्वात्।

सामान्यविशेषयोः स्वरूपं परस्परविविक्तमनूद्य निराकुर्वन्नाह–

दव्वट्ठिय–वत्तव्वं, सामन्नं पज्जवस्स य विसेसो ।
एए समोवणीया, विभज्जवायं विसेसेंति ॥ १५१ ॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं वाच्यं विशेषं निरपेक्ष्य सामान्यमात्रम्; पर्यायास्तिकस्य पुनरनुस्यूताकारविविक्तो विशेष एव वाच्यः। एतौ च सामान्यविशेषावन्योन्यनिरपेक्षौ, एकैकरूपतया परस्परप्रधानेन एकत्रोपनीतौ प्रदर्शितौ, विभज्यवादमनेकान्तवादं सत्पथाद्स्वरूपमतिशयाने,असत्यरूपतया ततस्तावतिशयं लभेते इति यावत्। विशेषे साध्येऽनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनवैफल्यतः, प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापत्तितः, अनुभयरूपे साध्ये उभयाभावतः, साध्यत्वायोगात्। तस्माद्विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिण्यन्योन्यानुविद्धसाधर्म्यवैधर्म्यस्वभावरूपात्मकैकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः संभवति। अत एव गाथापश्चार्धेनैतौ सामान्यविशेषौ समुपनीतौ परस्परसव्यपेक्षतया स्याद्वादप्रयोगतो धर्मिण्यवस्थापितौ विभज्यवादमेकान्तवादं विशेषयतो निराकृतः, अत एव तयोरात्मलाभात्। अन्यथाऽनुमानविषयस्योक्तन्यायेनासत्त्वादित्यपि दर्शयति।

यथानुमानं विषयतयाऽभ्युपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह—

हेउविसओवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
जइ तं जहा पुरिल्लो, दाइं तो केण जिव्वंति ? ॥१५२॥

हेतुविषयतयोपनीतमुपदर्शितं साध्यधर्मिलक्षणं वस्तु पूर्वपक्षवादिना 'अनित्यः शब्दः' इत्येव यथा वचनीयं परो दूषणवादी निवर्तयति, सिद्धसाध्यताऽननुगमदोषाद्युपन्यासेनैकान्तवचनीयस्य तदितरधर्माऽननुषक्तस्यानेकदोषदुष्टतया निवर्तयितुं शक्यत्वात्। यदि तत्तथा द्वितीयधर्माक्रान्तं स्यात् शब्दयोजनेन 'पुरिल्लः' पूर्वपक्षवादी अदर्शयिष्यत्, ततोऽसौ नैव केनचिदजेष्यत। ततश्चासौ तथाभूतस्य साध्यधर्मिणः प्रदर्शनात् प्रदर्शितस्य चैकान्तरूपस्यासत्त्वात्, तत्प्रदर्शकोऽसत्यवादितया निग्रहार्ह इति।

एतदेव दर्शयन्नाह—

एगंतासब्भूयं, सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
लोइयपरिच्छियाणं, वयणिज्जपहे पडइ वाई ॥१५४॥

आस्तां तावदैकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमप्यनिश्चितं वदन् वादी लौकिकानां परीक्षकाणां वचनीयमार्गे पतति। ततोऽनेकान्तात्मकाद्धेतोः तथाभूतमेव साध्यधर्मिणं साधयन् वादी सद्वादी स्यादिति तथैव साध्याविनाभूतो हेतुर्धर्मिणि तेन प्रदर्शनीयः। तत्प्रदर्शने हेतोः सपक्षविपक्षयोः सदसत्त्वमवश्यं प्रदर्शनीयमिति यदुच्यते परैः। तदपास्तं भवति। तावन्मात्रादेव साध्यप्रतिपत्तेः। न च ततस्तत्प्रतिपत्तावपि विद्यमानत्वाद् रूपान्तरमपि तत्रावश्यं प्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः। अथ सामर्थ्यात् तत्प्रतीयत इति न वचनेन प्रदर्श्यते तर्ह्यन्वयव्यतिरेकावपि तत एवावश्यं प्रदर्शनीयौ; अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वाच्यः। साधर्म्यवैधर्म्यप्रदर्शनपरत्वात्तस्योपनयनिगमनवचनयोस्तु दूरापास्तता, तदन्तरेणापि साध्याविनाभूतहेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्रतिपत्त्युत्पत्तेरन्यथा तदयोगात्। त्रिलक्षणहेतुप्रदर्शनवादिनस्तु निरंशवस्त्वभ्युपगमविरोधः; निरंशे त्रैलक्षण्यविरोधात्। परि-

कल्पितस्वरूपत्रैरूप्याभ्युपगमोऽप्यसंगतः। परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तद्दोषानतिक्रमात्;अपरमार्थसत्त्वे तल्लक्षणत्वायोगादसतः सल्लक्षणत्वविरोधात् । न च कल्पनाव्यवस्थापितलक्षणभेदाल्लक्ष्यभेद उपपत्तिमानिति लिङ्गस्य निरंशस्वभावस्य किञ्चिद्रूपं वाच्यम्। न च साधर्म्यादिव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यत इति तस्य निःस्वभावताप्रसक्तिः। न चैकलक्षणहेतुवादिनोऽप्यनेकान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम्। प्रयोगनैगम एवैकलक्षणो हेतुरिति व्यवस्थापितत्वात्। नचैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसङ्गतम्। अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याभावात् प्रतिक्षणध्वंसिन्यप्युभयग्रहणानुवृत्त्यैकचैतन्याभावात्। कारणस्वरूपग्राहिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपग्राहिणा कार्यकारणभावादेर्ग्रहः,एकसंबन्धिस्वरूपग्रहणेऽपि तद्ग्रहणप्रसक्तेः। न च तदग्रहेऽपि निश्चयाऽनुत्पत्तेरदोषः, सविकल्पकत्वेन प्रथमाक्षिसंनिपातभव्याध्यक्षस्य व्यवस्थापनात् । न च कार्यानुभवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम् ; अनुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात् । न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः; तस्योभयनिष्ठत्वात्; उभयस्य च पूर्वापरकालभाविन एकेनाग्रहणात् । न च कार्यानुभवानन्तरभाविनः स्मरणस्य कार्यानुभवो जनकः,तदनन्तरं स्मरणस्याभावात्। न च क्षणिकैकान्तवादे कार्यकारणभाव उपपत्तिमानित्युक्तम्। न च सन्तानादिकल्पनाऽप्यत्रोपयोगिनी। न च स्मरणकालेऽतीततद्विषयमात्रं प्रतीयते,अपि तु तदाऽनुभविताऽपि अहमेवमिदमनुभूतवानित्यनुभविता धाराऽनुभूतविषयस्मृत्यध्यवसायादेकाधारे अनुभवस्मरणे अभ्युपगन्तव्ये; तदभावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः। नचानुभवस्मरणयोरनुगतचैतन्याभावे तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिर्युक्ता। नहि यत्प्रतिपत्तिकाले यन्नास्ति,तत्तद्धर्मतया प्रतिपत्तुं युक्तम् ; बोधाभावे ग्राह्यग्राहकसंवित्तित्रितयप्रतिपत्तिवत्;अस्ति च तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिरिति कथं क्षणिकैकान्तवादः, तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति ?। नचैकान्तवादिनः सामान्यादिकं साध्यं संभवतीति प्रतिपादितम्; तस्मादनेकान्तात्मकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्,अध्यक्षादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः।

(८) स एव च सन्मार्गः (अनेकान्त एव सन्मार्गः)

इत्युपसंहरन्नाह—

दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जायदेससंजोगे ।
भेदं च पडुच्च समा, भावाणं पण्णवणपज्जा ॥ १५५ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगान् भेदं चाष्टौ भावानाश्रित्य वस्तुनो भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयायाः प्रतिज्ञाप्यरूपायाः स्याद्वादरूपायाः पद्या पन्था मार्ग इति यावत् । तत्र द्रव्यं पृथिव्यादि, क्षेत्रं तदवयवरूपं तदाश्रयं वा आकाशं, कालं युगपदादिप्रत्ययलिङ्गलक्षणं वर्तमानात्मकं वा , नवपुराणादिलक्षणं भावम्, मूलाङ्कुरादिलक्षणं पर्यायम्; रूपादिस्वभावं देशम्, मूलाङ्कुरपत्रकाण्डादिक्रमभावि विभागं संयोगं भूम्यादि प्रत्येकं समुदाय द्रव्यपर्यायलक्षणं भेदं,प्रतिलक्षणव्यावर्त्तनात्मकं वा;जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापनानिरूपणा या सा सत्पथ इति नहि तदतदात्मकैकद्रव्यत्वादिभेदाभावे खरविषाणादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः, यतो न द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगभेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावगन्तुं शक्यम्। न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहारगोचरता संभविनीति तदनेकात्मकं तदभ्युपगन्तव्यम्। नह्येकान्ततोऽतदात्मकं द्रव्यादिभेदभिन्नं व्यतिरिक्तरूपं वा प्रमाणं तन्निरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादिव्यतिरिक्तस्य शशशृङ्गवत् कुतश्चित्प्रमाणाप्रतीतेः। नहि ततो द्रव्यादीनां भेदेऽपि समवायसंबन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः। संबन्धभेदेन तद्भेदाभेदकल्पनद्वयानतिवृत्तेः। प्रथमविकल्पे समवायानेकत्वप्रसक्तिः। संबन्धिभेदतो भेदात् संयोगवदनित्यत्वप्रसक्तिश्च। द्वितीयकल्पनायामपि संबन्धिसङ्करप्रसक्तिः । नचैवं छत्रदण्डकुण्डलादिसंबन्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जातिगुणत्वादेर्भेदेनोपलब्धेः । नहि य एव दण्डदेवदत्तयोः संबन्धः स एव छत्रादिभिरपि, तत्संबन्धविशेषणविशेषवैफल्यप्रसक्तेः। न विशेषणं विशेष्यं धर्मान्तराद्यवच्छेदात्मन्यनवस्थापयद् विशेषणरूपतां प्रतिपद्यते। एवं समवायसंबन्धस्याविशेषे द्रव्यत्वादीनामपि विशेषणानामविशेषाच्च जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदकता स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत ?। न च समवायस्तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् संभवति,तदभावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तदनेकान्तात्मकैकरूपमभ्युपगन्तव्यम् । नचैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधायोगात्। तथाहि—एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वात्,चित्रपटरूपवत्,ग्राह्यग्राहकाकारसंवित्तिरूपैकविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयत्वात् । न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्यैकानेकत्वमसिद्धम्, प्राक् प्रसाधितत्वात्। नापि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणरूपत्रयात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यसिद्धम्; तथाभूतविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिक्षेपप्रसक्तेः। स्वार्थाकारयोर्विज्ञानमभिन्नस्वरूपम्,विज्ञानस्य च वेद्यवेदकाकारौ भिन्नात्मानौ, कथञ्चिदनुभवगोचरापन्नौ । एतच्च प्रतिक्षणस्वभावभेदमनुभवदपि न सर्वथा भेदवत् संवेद्यत इति संविदात्मनः स्वयमेकस्य क्रमवर्त्यनेकात्मकत्वं न विरोधमनुभवतीति कथमध्यक्षादिविरुद्धं निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम् ?। नहि कदाचित् क्वचित् क्षणिकत्वमन्तर्बहिर्वाऽध्यक्षतोऽनुभूयते; तथैव निर्णयानुपपत्तेर्भेदात्मन एवान्तर्विज्ञानस्य बहिर्घटादेश्चाभिन्नस्य निश्चयात्।तथाभूतस्यानुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमभ्रान्तलक्षणभाक् भवेत् । न हि ज्ञानं वेद्यवेदकाकारशून्यं स्थूलाकारव्यक्तं परमाणुरूपं वा घटादिकमेकं निरीक्षामहे, यतो बाह्याध्यात्मिकं भेदाभेदरूपतयाऽनुभूयमानं भ्रान्तविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्येत । अतो यथादर्शनमेवेयमनुमेयव्यवस्थितिः न पुनर्यथातत्त्वमित्येतदनिश्चितार्थाभिधानम् । नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनैकान्तरूपं वस्तु तत्त्वमयं प्रतिपन्नवान्, यत एवं वदन् शोभेत; यदा वाऽध्यक्षविरुद्धो निरंशक्षणिकैकान्तस्ततो नानुमानमप्यत्र प्रवर्तितुमुत्सहते, प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात् । तस्य तेन निरन्वयविनश्वरं वस्तु प्रतिक्षणमवेक्षमाणोऽपि नावधारयतीति । एतदप्यसदभिधानम्। प्रतिक्षणं विशरारुतया कुतश्चिदप्यनीक्षणात् । अत एव क्षणिकत्वैकान्ते च सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः सर्व एव विरुद्धः,अनेकान्त एव तस्य संभवात् । तथाहि—अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम्। न चासौ तदेकान्तक्रमयौगपद्याभ्यां संभवति, यतो यस्मिन् सत्येव यद्भवति तत्तस्य कारणमितरच्च कार्यमिति कार्यकारणलक्षणम्। क्षणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्भवेत् तदा कार्यकारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणं किं वा कस्य कार्यं व्यवस्थाप्येत ?। त्रैलोक्यस्य चैकक्षणवर्तिता प्रसज्ज्येत । यदनन्तरं यद्भवति तत्तस्य कार्यम्,इतरत् कारणमिति व्यवस्था-

थां कारणाभिमते वस्तुन्यसत्त्वे च भवतस्तदनन्तरभावित्वस्य दुर्घ-
टत्वादितराविनष्टादपि च तस्य भावो भवेत्, तदभावाविशेषात्। न
चान्तरस्यापि कार्योत्पत्तिकालमप्राप्य विनाशमनुभवतश्चिराती-
तस्येव कारणता। यतोऽर्थक्रिया क्षणद्वये न विरुध्येत। प्राक्काल-
भावित्वेन कारणत्वे सर्वं प्रति सर्वस्य कारणता प्रसज्येत, सर्व-
वस्तुक्षणानां विवक्षितकार्यं प्रति भावित्वाविशेषात्। तथा च-
स्वपरसन्तानव्यवस्थाऽप्यनुपपन्नैव स्यात्। न च सादृश्यात् तद्व्य-
वस्था, सर्वथा सादृश्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसक्तेरेकक्षणमात्रं
सन्तानः प्रसज्येत। कथञ्चित्सादृश्येऽनेकान्तवादप्रसक्तिः। न च
सादृश्यं भवदभिप्रायेणास्ति, सर्वत्र वैलक्षण्याविशेषात्। अन्य-
था स्वकृतान्तप्रकोपश्च क्षणिकैकान्तवादिनोऽन्वयव्यतिरेकि-
प्रतिपत्तिः संभवतीति साध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयायाः साक-
ल्येन व्याप्तेरसिद्धेः यत्सत्तत् सर्वं क्षणिकं यथा शब्द इत्याद्य-
नुमानप्रवृत्तिः कथं न भवेत्?; अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वम-
भ्युपगमसाध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयव्याप्तिग्रहणस्य दूरोत्सा-
रितत्वात्। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं विषयः" इति व-
चनमनुमानोच्छेदकप्रसक्तं ग्राह्यग्राहकाकारज्ञानैकत्ववत्, ग्राह्या-
कारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनश्चैकरूपता एकान्तवादं प्र-
तिक्षिपति। एवं भ्रान्त्याऽऽत्मनश्च सहदर्शनस्यान्तर्बहिश्च भ्रान्ता-
त्मकत्वं कथञ्चिदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा कथं स्वसंवेदना-
ध्यक्षता तस्य भवेत्?। तदभावे च कथं तत्स्वभावसिद्धि-
र्युक्ता?। कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयाऽऽत्मानमसंविदत्
ज्ञानरूपतया चावगच्छदन्तर्बहिस्तथा नावगच्छेत्। यतो
भ्रान्तैकान्तरूपताऽभ्युपगन्तुर्दर्शी भवेत्, कथं च भ्रान्ताविक-
ल्पज्ञानयोः स्वसंवेदनमभ्रान्तमविकल्पकं वाऽभ्युपगच्छन्ने-
कान्तं नाभ्युपगच्छेत्?। ग्राह्यग्राहकवृत्त्याकारविवेकसंविदं स्व-
संवेदनेनासंवेदयन् संविद्रूपतां वाऽनुभवन् कथं क्रमभाविनो-
र्विकल्पेतरात्मनोरनुगतसंवेदनात्मानमनुभवप्रसिद्धं प्रतिक्षिपेत्।
ततः क्रमसहभाविनः परस्परविलक्षणान्स्वाभावान्वाऽनन्यथा-
व्यवस्थितरूपतया व्याप्नुवतः सकललोकप्रतीतं स्वसंवेदनम्,
अनेकान्ततत्त्वव्यवस्थापकमेकान्तवादप्रतिक्षेपि प्रतिष्ठितमिति।
निरंशक्षणिकस्वलक्षणमन्तर्बहिश्चानिश्चिन्वदपि संवित्तिर्विषयी-
करोतीति कल्पनाऽयुक्तिसंगतैव; अप्रमाणप्रसिद्धकल्पनायाः
सर्वत्र निरङ्कुशत्वात्। सकलसर्वज्ञताकल्पनाप्रसक्तेर्नह्येकस्य
संवित्तिः परस्यासंवित्तिः। नहि वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पि-
तस्य नियामकत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। न च वास्तवः संबन्धः
परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयोः
प्रतिबन्धनियमाभावेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव। अथ क्षणि-
काद् निवर्तमानमप्यर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिके च स्यादिति
न ततोऽनेकान्तात्मकवस्तुसिद्धिः। नाक्षणिकेऽपि, क्रमयौगपद्याभ्यां
तस्य विरोधात्। तथाहि-न तावदक्षणिकस्य क्रमवत्कार्यकारणं
प्राक्करणसमर्थस्याभिमतक्षणवत् तदकरणविरोधात्प्राक्तद्-
सामर्थ्ये पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमपरिणामिनोऽनाधेयातिशय-
त्वात्। स्वभावोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवादविरो-
धात्। ततो व्यतिरिक्तस्यातिशयस्य करणेऽनतिशयस्य प्रागिव
पश्चादपि तत्करणासंभवात्। सहकारिणोऽपेक्षाऽपि तस्याऽयुक्तै-
व, यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः ससहायस्य कार्य-
करणं भवेत्, नहि सहकारिकृतमतिशयमनङ्गीकुर्वतस्तद-
पेक्षोपपत्तिमतीति तत्र क्रमेणापरिणामी भावः कार्यं निवर्तयति,
नापि यौगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तेः

क्षणमात्रावस्थायित्वप्रसक्तेः। न च क्रमयौगपद्यव्यतिरिक्तं प्रकारा-
न्तरं संभवतीत्यर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्तां
नित्यादप्यादाय निवर्तेत इति। यत् सत्तत् सर्वमनेकान्तात्मकं
सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्त्यादिविरोधप्रसक्तेः। न हि भेदमन्तरेण
कदाचित् कस्यचिदभेदोपलब्धिः, हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्ता-
त्मकस्यान्तश्चैतन्यस्य संवेदनाध्यक्षतो वर्णसंस्थानसदाद्यनेका-
कारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानात्मकस्य घ-
टादेर्बहिरेकस्येन्द्रियजाध्यक्षतः संवेदनात्। सुखादिरूपादिभे-
दविकलतया चैतन्यघटादेः कदाचिदप्युपलम्भागोचरत्वान्म-
हासामान्यस्यावान्तरसामान्यस्य वा सर्वगतासर्वगतधर्मात्म-
कता समवायस्य चानवस्थादोषतः संबन्धेतराभावात् द्र-
व्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामन्योन्यं तादात्म्यानिष्ठौ तेष्ववृत्तेः
सर्वपदार्थस्वरूपाप्रसिद्धिः स्यात्। स्वत एव समवायस्य
द्रव्यादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादावपि स्वाधारेषु
वृत्तिं स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावै-
यर्थ्यप्रसक्तिवद्भेदप्रसक्तिरंशप्रतिपत्तेः। अगृहीतस्वभावाद्
गृहीतस्वभावस्य द्रव्यस्य चातद्रूपतां सामस्त्येन ग्रहणासंभ-
वात् कथं तदग्रहे तद्ग्रहणं भवेत्?, आधाराप्रतिपत्तौ तदा-
धेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः। सामान्याद्यंशेषु गृहीतेष्वपि सामा-
न्यादेः वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः, तदाधे-
यस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः। तदंशग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः
कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वत्तु न कदा-
चिद्भवेत्, तदंशानां सामान्यादेरत्यन्तभेदात्। एवं द्रव्यादि-
षट्पदार्थव्यवस्थाऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरचारिणां
सामान्यादंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तेः। अथ निरंशं सामान्य-
मभ्युपगम्यते इति नायं दोषः तर्हि सकलस्वाश्रयप्रतिपत्त्यभा-
वतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्यं पृथिवी-
त्यादिप्रतिपत्तेर्नितरामभावः स्यात्। तदंशानां सामान्याद्
भेदाभेदकल्पनायां द्रव्यादय एव भेदाभेदात्मकाः किं नाभ्यु-
पगम्यन्ते? इति सामान्यादिकल्पना दूरोत्सारितैवेति कुत-
स्तद्भेदैकान्तकल्पना?। ततः सामान्यविशेषात्मकं सर्वं वस्तु,
सत्त्वात्। नहि विशेषरहितं सामान्यमात्रं सामान्यरहितं
वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः कश्चिदपि, वृत्तिविरोधात्।
वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं स्वलक्षणात्सामान्यलक्षणाद् वा
तादृशाद्वृत्तिर्निवृत्त्या निवर्तेत एव, यतः क्वचिद् वृत्तिमतोऽपि
स्वलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः, नान्येन संयोगः, तत्संसर्गव्यव-
च्छिन्नस्वभावान्तरविरहाद्विशेषविकलः, सामान्यवत्। एकस्य
प्रतिसंबन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमविशेषाणां तत्स्वलक्षणं सा-
मान्यलक्षणमेव स्यात्। न च विशेषैरन्यदेशस्थितैः असंयुक्त-
स्यैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात्। एवं च स्वभाव-
विशेषाणां सामान्यरूपाः सर्व एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र
देशकालावस्थाविशेषनियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यमेक-
रूपम्, अव्यवधानात्। तस्य च ते विशेषा एव, अनेकरूपम्, यत-
स्तदेव सत्त्वं परिणामविशेषापेक्षया गोत्वब्राह्मणत्वादिलक्षणा
जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्तय इति। परस्पर-
व्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैकानेकपरिणतिरूपता संश-
यज्ञानस्येवाविरुद्धा व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धि-
लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः, शशशृङ्गवदसत्त्वात्। सत्त्वरूपादि-
प्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकवस्त्वभावेऽबाधितरूपो न स्यात्।
न च चक्षुरादिः बुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं सामान्यपर-

व्यावर्णितस्वरूपमवभासते, प्रतिभासभेदप्रसङ्गात्। यदि च तत्सर्वगतं पिण्डान्तरालेऽप्युपलभ्येत, स्वभावविशेषादाश्रयाभावादनभिव्यक्त्यभ्युपगमेऽभिव्यक्तस्वरूपभेदात् सामान्यरूपता न स्यात्। नचाश्रयभावाभावादभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिसत्प्रत्ययकर्तृत्वे नित्यैकस्वभावस्य युज्येते, तद्रूपयोगिनोऽप्येवं कथं नानैकान्तसिद्धिः ? स्वाश्रयसर्वगताप्रकाशितायाः सर्वत्र प्रकाशितत्वात्मसकलवस्तुप्रपञ्चस्य सकृदुपलब्धिप्रसंगो न वा कस्यचिदुपलब्धिप्रसंगविशेषात् प्रकारान्तरेण प्रतीत्यभ्युपगमे, अनेकान्तवाद एव स्वतः सतां विशेषाणां सत्तासंबन्धानर्थक्यम्, असतां संबन्धानुपपत्तिरिति प्रसक्तेरक्रियासामान्यसंबन्धाद्व्यक्तीनामक्रियावत्त्वाद्व्यापकत्वं स्यात्। व्यक्तिव्यतिरेके व्यक्तिस्वलक्षणवत्तत्सामान्यमेव न भवेत्। व्यक्तीनां वा सामान्याव्यतिरेकाद् व्यक्तिस्वरूपहानिः, सामान्यस्य तद्रूपता न भवेत्। न च व्यतिरेकाव्यतिरेकपक्षेऽप्यनवस्था, उभयपक्षदोषवैयधिकरण्यसंशयविरोधादिदोषप्रसङ्गात्। सर्वथा तद्भावेऽनवस्थादिदोषस्य प्राक् प्रतिषिद्धत्वात्। प्रतीयमानेऽपि तथाभूतेऽतिविरोधादिदोषासञ्जने प्रकारान्तरेण प्रतिभाससंभवात् सर्वशून्यताप्रसंगः। न च सैवास्त्विति वक्तव्यम्। स्वसंवेदनमात्रस्याप्यभावप्रसंगतो निःप्रमाणिकायाः तस्याप्यभ्युपगन्तुमशक्यत्वात्। तथापि तस्याभ्युपगमेन वरमनेकान्तात्मकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्, तस्याबाधितप्रतीतिगोचरत्वात्। तेन रूपादिक्षणिकविज्ञानमात्रशून्यवादाऽभ्युपगमः, तथा पृथिव्याद्येकान्तनित्यत्वाभ्युपगमः, तथाऽऽत्माद्यद्वैतानङ्गीकरणं, तथा परलोकाभावनिरूपणं, द्रव्यगुणादेरत्यन्तभेदप्रतिज्ञानं च, तथा हिंसातो धर्माभ्युपगमः, यज्ञतो मुक्तिप्रतिपादनमित्याद्येकान्तवादिप्रसिद्धं सर्वमसत् प्रतिपत्तव्यम्; तत्प्रतिपादनहेतूनां प्रदर्शितनित्याऽनेकान्तव्याप्तत्वेन विरोधात्। इतरधर्मसव्यपेक्षस्यैकान्तवाद्यभ्युपगतस्य सर्वस्य पारमार्थिकत्वात्; अभिष्वङ्गादिप्रतिषेधार्थं विज्ञानमात्राद्यभिधानस्य सार्थकत्वात्। तथाहि– 'अहमस्यैवाहमेवास्य' इत्येकान्तनित्यत्वस्वामिसंबन्धाद्यभिनिवेशप्रभवरागादिप्रतिषेधपरं क्षणिकरूपादिप्रतिपादनं युक्तमेव। सालम्बनज्ञानैकान्तप्रतिषेधपरं विज्ञानमात्राभिधानं सर्वविषयाभिष्वङ्गनिषेधप्रवणं शून्यताप्रकाशनं क्षणिक एवायं पृथिव्यादिरिति एकान्ताभिनिवेशमूलद्वेषादिनिषेधपरम्, तन्नित्यत्वप्रणयनं जात्यादिमदोन्मूलनानुगुणमात्माद्यद्वैतप्रकाशनजन्मान्तरजनितकर्मफलभोक्तृत्वमेव धर्मानुष्ठानमित्येकान्तनिरासप्रयोगं जनपरलोकाभावावबोधनं द्रव्याद्यव्यतिरेकैकान्तप्रतिषेधाय तद्भेदाख्यानम्। सम्म०। नं०।

(६) ये च (एकान्तवादिनोऽज्ञाः) विच्छेतनागमप्रतिपत्तिमात्रमाश्रयन्ते, तेऽनवगतपरमार्था एवेति प्रतिपादयन्नाह—

पाडेक्कनयपहगयं, सुत्तं सुत्तधरसद्दसंतुट्ठा।
अविकोविअसामत्था,जहागम विभाग पडिवत्ती ॥१५६॥

प्रत्येकनयमार्गगतं सूत्रं क्षणिकाः सर्वसंस्कारा विज्ञानमात्रमेवेदम्, भो जिनपुत्राः! यदिदं त्रैधातुकमिति ग्राह्यग्राहकोभयशून्यत्वमिति, नित्यमेकं मण्डव्यापि निष्क्रियमित्यादि सदकारणवन्नित्यमिति "आत्मा रे! श्रोतव्यो ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि सत्ता द्रव्यत्वसंबन्धात्। सद् द्रव्यं च, क्षितिपरलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः। "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः"। इतिधर्माधर्मक्षयकरी दीक्षेत्यादिकमधीत्य सूत्रधरा वयमिति शब्दमात्रसंतुष्टा गर्ववन्तोऽविकोविदसामर्थ्याः-अविकोविदमज्ञं सामर्थ्यं येषां ते तथा, अविदितसूत्रव्यापारविषया इति यावत्। किमित्येवं त इत्याह–यथाश्रुतमेवाविरुद्धा अविवेकेन प्रतिपत्तिरेषामिति कृत्वा सूत्राभिधायिव्यतिरिक्तविषयविप्रतिपत्तिस्वात् इतरजनवदज्ञा इत्यभिप्रायः। अथवा स्वयूथ्या एव एकनयदर्शने कतिचित्सूत्राण्यधीत्य केचित् सूत्रधरा वयमिति गर्विता यथाऽवस्थितान्यनयसव्यपेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानादवितथात्मविद्वत्स्वरूपा इति गाथाऽभिप्रायः ॥ १५६ ॥

अथैषामेव नयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुद्भावयितुमाह–

सम्मद्दंसणमिणमो, सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं।
अप्पुक्कोसविणट्ठा, सलाहमाणा विणासेंति ॥ १५७ ॥

सम्यग्दर्शनमेतत्परस्परविषयापरित्यागप्रवृत्तानेकनयात्मकम्, तच्च स्यान्नित्य इत्यादि सकलधर्मपरिसमासवचनीयतया निर्दोषम्, एकनयवादिनः स्वविषयैस्तत्र व्यवस्थापनेनात्मोत्कर्षेण विनष्टा स्याद्वादाभिगमं प्रत्यनाद्रियमाणा वयं सूत्रधरा इत्यात्मानं श्लाघमानाः सम्यग्दर्शनं विनाशयन्ति, तदात्मनि नयं न स्थापयन्तीति यावत्। अथ न ते आगमप्रत्यनीकाः, तद्भक्तत्वात्, तद्देशपरिज्ञानवन्तश्चेति ॥ १५७ ॥

कथं तद्विनाशयन्त्यत्राह—

ण हु सासणभत्ती मे–त्तएण सिद्धंतजाणओ होइ।
ण वि जाणओ वि णियमा,पण्णवणा णिच्छिओ णाम १५८

न च शासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता भवति। न च तदज्ञानवान् भावसम्यक्त्ववान् भवति, अज्ञानस्यार्थस्य विशिष्टरुचिविषयत्वानुपपत्तेः। तद्भक्तिमात्रेण श्रद्धानुसारित्वं यद् द्रव्यसम्यक्त्वमार्गानुसारि, अवबोधमात्रानुषक्तरुचिस्वभावं तु सर्वं भावसम्यक्त्वसाध्यफलनिवर्तकम्, भावसम्यक्त्वनिमित्तत्वेनैव तस्य द्रव्यसम्यक्त्वमार्गानुसार्यवबोधसम्यक्त्वरूपतोपपत्तेः। न च जीवादितत्त्वैकदेशज्ञाताऽपि नियमतोऽनेकान्तात्मकवस्तुरूपप्रज्ञापनायां निश्चितो भवति, एकदेशज्ञानवतः सकलधर्मात्मवस्तुज्ञानविकलस्य तथा सम्यक् तत्प्ररूपणासंभवात्। तथाहि–सर्वज्ञो यथावस्थितैकदेशज्ञः, जीवादिसकलतत्त्वज्ञाता त्वागमवित् सामान्यरूपतयाऽभिधीयते, मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेष्विति वचनात्।

तत्त्वं तु–"जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः"। तत्र चेतनालक्षणो जीवः। तद्विपरीतलक्षणस्त्वजीवः; धर्माधर्माकाशकालपुद्गलभेदेन चासौ पञ्चधा व्यवस्थापितः। एतत्पदार्थद्वयान्तर्वर्तिनश्च सर्वेऽपि भावाः। नहि रूपरसगन्धस्पर्शादयः साधारणासाधारणरूपा मूर्त्तचेतनाचेतनद्रव्यगुणाः, उत्क्षेपणापक्षेपणादीनि च कर्माणि, सामान्यविशेषसमवायाश्च जीवाजीवव्यतिरेकेणाऽऽत्मस्थितिं लभन्ते। तद्भेदेनैकान्ततस्तेषामनुपलम्भात्, तेषां तदात्मकत्वेन प्रतिपत्तेः। अन्यथा तदसत्त्वप्रसक्तेः। ततो जीवाजीवाभ्यां पृथग् जात्यन्तरत्वेन "द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः" न वाच्याः। एवं "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानि" च न पृथगभिधेयानि। तथा–"प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कार–स्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्, पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि" ॥ १ ॥ इति चतुर्विंशतिपदार्थाः पुरुषश्चेति न वक्तव्यम्। तथा–दुःखसमुदायमार्गनिरोधाश्चत्वार्येव सत्यानीति न वक्तव्यम्। ते

था 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति न वक्तव्यम् । तत्प्रभेदरूपतयाऽभिधानेऽपि न दोषाः, जात्यन्तरकल्पनाया एवाघटमानत्वात् , राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात् , तदव्याप्तस्य शशशृङ्गतुल्यत्वात् , शब्दब्रह्माद्वैकान्तस्य च प्राक् प्रतिषिद्धत्वात् । अबाधितरूपोभयप्रतिभासस्य तथाभूतवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रसाधितत्वाद्विद्याऽविद्योभयभेदाद्वैतकल्पनायामपि त्रित्वप्रसक्तेः । बाह्यालम्बनभूतभावापेक्षया विद्यात्वोपपत्तेः । अन्यथा निर्विषयत्वेनोभयोरविशेषात् तत्प्रतिभागस्याघटमानत्वात् । न हि द्वयोर्निरालम्बनत्वे विपर्यस्ताविपर्यस्तज्ञानयोरिव विद्याऽविद्यात्वभेदः । ततो नाद्वयं वस्तु; नापि तद्व्यतिरिक्तमस्ति । अथाश्रवादीनामप्यनुपपत्तिः,राशिद्वयेन सकलस्य व्याप्तत्वात् ; न । ततस्तेषां कथञ्चिद्भेदप्रतिपादनार्थत्वात् । अनयोरेव तथापरिणतयोः सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादनपरत्वात् । तथाऽभिधानस्यानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वप्रदर्शनार्थत्वात्, विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, तद्वदभिधानस्यादुष्टत्वात् । तथाहि-आश्रवति कर्म यतः स आश्रवः,कायवाङ्मनोव्यापारः । स च जीवाजीवाभ्यां कथञ्चिद्भिन्नः, तथैव प्रतीतिविषयत्वात् । अथ बन्धाभावे कथं तस्योपपत्तिः?; प्राक्तत्सद्भावे वा न तस्य बन्धहेतुता । न हि यद्यद्धेतुकं, तत्तदभावेऽपि भवति, अतिप्रसङ्गात् । असदेतत् । पूर्वोत्तरापेक्षयान्योन्यकार्यकारणभावनियमात् । न चेतरेतराश्रयदोषः , प्रवाहापेक्षयाऽनादित्वात् । पुण्यापुण्यहेतुबन्धहेतुतया चासौ द्विविधः । उत्कर्षापकर्षभेदेनानेकप्रकारोऽपि । दएमगुप्त्यादित्रित्वादिसंख्याभेदमासादयन् फलानुबन्ध्यननुबन्धिभेदतोऽनेकशब्दविशेषवाच्यतामनुभवति । एकान्तवादिना त्वयं नासम्भवतीति ; " कम्मजोगनिमित्तं " गाथार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादितत्वात् । सम्म० ।

(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयोः सम्यङ्मिथ्यात्वे-

" इच्चेयं गणिपिडगं, निच्चं दव्वट्ठियाएँ नायव्वं ।

पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवादो ॥ ६२ ॥

जो सियवायं भासति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।

भावेइ से ण णसयं, सो हि पमाणं पवयणस्स ॥ ६३ ॥

जा सियवायं निंदति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।

भावेण दुट्ठभावो,न सो पमाणं पवयणस्स" ६४॥ ति०।औ०प्र०।

अणेगकोडि-अनेककोटि-त्रि०। अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः। कोडिसङ्ख्याकेषु कौटुम्बिकादिषु, ज्ञा०। "अणेगकोडीकुडुंबियाइण्णणिव्वुयसुहा" अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिभिः, आकीर्णा संकुला या सा तथा , सा चासौ निर्वृता च संतुष्टजनयोगात्संतोषवतीति कर्मधारयः। अत एव सा चासौ सुखा च सुभा च वेति कर्मधारयः ॥ ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० ।

अणेगक्खरिय-अनेकाक्षरिक-न०। अनेकानि च तानि अक्षराणि तैर्निर्वृत्तमनेकाक्षरिकम् । द्व्यक्षरादिनिर्वृत्ते द्विनामभेदे , अनु०। "से किं तं अणेगक्खरिए ? । अणेगक्खरिए कन्ना वीणा लता माला । सेत्तं अणेगक्खरिए" । अनु० ।

अणेगखंडी-अनेकखण्डी-स्त्री०। अनेकेषां नश्यतां नराणां मार्गभूताः खण्डयोऽपद्वाराणि यस्यां साऽनेकखण्डी । विपा० १ श्रु०३ अ०। अनेकनश्यन्नरनिर्गमापद्वारायां पुर्य्याम् , ज्ञा०१८ अ०।

अणेगखंभसयसन्निविट्ठ-अनेकस्तम्भशतसन्निविष्ट-त्रि० । ७ त० । अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्टे । ७ ब० । यत्र वा अनेकानि स्तम्भशतानि सन्निविष्टानि । भ० ९ श० ३३ उ० । रा० । विपा० । " एगं च णं महं भवणं करेंति अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं " ज्ञा० १ अ० । ज्ञा० म० ।

अणेगगुणजाणय-अनेकगुणज्ञायक-त्रि० । अनेकेषां गुणानामुपलक्षणत्वाद् दोषाणां च ज्ञायकः । बहुदोषाणां ज्ञायके, "अणेगगुणजाणए पंभिए विहिए " जं० ३ वक्ष० ।

अणेगचित्त-अनेकचित्त-त्रि० । अनेकानि चित्तानि कृषिवाणिज्यावगाहनादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृष्यादिषु व्यापृतचित्ते , आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणेगजम्म-अनेकजन्मन्-न० । अनन्तभवे, पञ्चा० ८ विव० ।

अणेगजीव-अनेकजीव-त्रि०। अनेके जीवा यस्येति। बहुजीवाजीवात्मके क्रियादौ, "पुढवीचित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता" दश० ४ अ० ।

अणेगजोगधर-अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसंबन्धः, तं धारयन्तीति अनेकयोगधराः । लब्धिसंपन्नेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणेगझस-अनेकझष-त्रि० । विविधमत्स्येषु सूक्ष्ममत्स्यश्लक्ष्णमत्स्यादिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणेगणरपवरभुयऽगेज्झ-अनेकनरप्रवरभुजाग्राह्य- त्रि० । अनेकस्य मनुष्यस्य ये प्रवराः प्रलम्बा भुजा बाहवस्तैरग्राह्योऽपरिमेयोऽनेकनरप्रवरभुजाऽग्राह्यः । अनेकपुरुषव्यामैरप्रतिमेयस्थौल्ये वृक्षादौ , रा० ।

अणेगणाम-अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अणेगपरियंति वा अणेगपज्जायंति वा अणेगणामभेदंति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

अणेगणिग्गमदुवार-अनेकनिर्गमद्वार-त्रि० । न विद्यन्ते नैकानि बहूनि निर्गमद्वाराणि निःसरणमार्गाः यत्र, ध० १ अधि०।

अणेगतालायराणुचरिय-अनेकतालाचरानुचरित-त्रि०। अनेके च ये तालाचराः तालादानेन प्रेक्षाकारिणः तैरनुचरित आसेवितो यः स तथा । औ०। नानाविधप्रेक्षाकारिसेविते, भ० ११ श० ४ उ० । विपा० । पुरादौ, ज्ञा० १ अ० । जं० ।

अणेगदन्त-अनेकदन्त-त्रि० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकदन्ताः। द्वात्रिंशद्दन्तेषु, तं० । प्रश्न० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकदन्ताः । अनेकदन्तयुक्तेषु , तं० ।

अणेगदव्वक्खंध-अनेकद्रव्यस्कन्ध-पुं० । अनेकैः सचित्ताऽचित्तलक्षणैर्द्रव्यैर्निष्पन्नः स्कन्धः अनेकद्रव्यस्कन्धः । विशिष्टैकपरिणामपरिणतसचेतनाऽचेतनदेशसमुदायात्मके हयादिस्कन्धे, विशे० ।

अणेगपएसता-अनेकप्रदेशता-स्त्री० । भिन्नप्रदेशतायाम्, "भिन्नप्रदेशता सैवा-ऽनेकप्रदेशता हि या" । भिन्नप्रदेशता सैव अनेकप्रदेशस्वभावता भिन्नप्रदेशयोगेन तथा भिन्नप्रदेशकल्पनयाऽनेकप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अणेगपासंमपरिग्गहिय–अनेकपाखण्डपरिगृहीत–त्रि० । ३ त० । नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृते, प्रश्न० २ संव० द्वा० ।

अणेगबहुविविहवीससापरिणय–अनेकबहुविविधविश्रसापरिणत–त्रि० । न एकोऽनेकः; अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिभेदाद् भवति । तत आह–बहु प्रभूतं विविधो जातिभेदान्नानाप्रकारः बहुविधः, प्रभूतजातिभेदतो नानाविध इति भावः । स च केनाऽपि निष्पादितोऽपि संभाव्येत । तत आह–विश्रसया स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुनरीश्वरादिना निष्पादितो विश्रसापरिणतः । ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । नानाविधस्वभावोद्भूते, जी०३ प्रति० ।

अणेगभागत्थ–अनेकभागस्थ–त्रि० । द्वित्र्यादिभागस्थे, नि० चू० २० उ० ।

अणेगभाव–अनेकभाव–त्रि० । बहुपर्यायायुक्ते, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगभूय–अनेकभूत–त्रि० । अनेकरूपे, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगभेद–अनेकभेद–पुं० । अनेकपर्याये, "अणेगपरियं ति वा अणेगपज्जयं ति वा अणेग [णाम] भेदं ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अणेगरूव–अनेकरूप–त्रि० । ६ ब० । नानाप्रकारे, " इह लोइयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं" । आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ० । "मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं, अणेगरूवा समणं चरंतं । फासा फुसंती असमंजसं च, न ते सुभिक्खू मणसा पओसे" ॥१॥ उत्त०४ अ० । अनेकमित्यनेकविधं एकविषमसंस्थानादिभेदं रूपं स्वरूपमेषामिति अनेकरूपाः । त्रयोविंशतिविधाः । उत्त० ४ अ० ।

अणेगरूवधुणा–अनेकरूपधुना–स्त्री० । अनेकरूपा संख्याश्रयाद् अधिका धुना कम्पना यस्यां सा अनेकरूपधुना । उत्त० २६अ० ।

अनेकरूपधूनना–अनेकरूपा चासौ संख्यात्रयातिक्रमणतो युगपदनेकवस्त्रग्रहणतो वा धूनना कम्पनात्मिका या साऽनेकरूपधूनना । उत्त० २६ अ० ।

अनेकरूपधुना–अत्र च धूनं कम्पनमन्यत् प्राग्वत् । उत्त० २६ अ० । अनेकप्रकारं त्रयाणां पुरिमाणामुपरिष्टाद्धूननात्मके, अनेकवस्त्राण्येकत्र गृहीत्वा युगपद् धूननात्मके वा प्रमादप्रत्यये प्रत्युपेक्षणभेदे, ध० ३ अधि० । " एगा मोसा अणेगरूवधुणा " उत्त० २६ अ० । " अणेगप्पकारं कंपति, अथवा अणेगाणि एगओ काऊण धुणइ एमाणे एमायंति " पुरिमेसु खोटकेसु यत्प्रमाणमुक्तं भवति तत पुरिमादीन् न्यूनाधिकान् वा करोति । ओ० ।

अणेगवयणप्पहाण–अनेकवचनप्रधान–पुं० । नानाविधवाग्व्यवहाराभिज्ञे, अनेकेषु विविधप्रकारेषु वचनेषु वक्तव्येषु प्रधानो मुख्यः । अनेकधा वचनप्रकारश्चायं निजशासनप्रवर्तनादौ– "आदौ तावन्मधुरं, मध्ये रुक्षं ततः परं कटुकम् । भोजनविधिमिव विबुधाः, स्वकार्यसिद्धौ वदन्ति वचः" ॥ १ ॥ अथवा–" सत्यं मित्रैः प्रियं स्त्रीभि–रलीकमधुरं द्विषा । अनुकूलं च सत्यं च, वक्तव्यं स्वामिना सह " ॥ २ ॥ इति । जं० ३ वक्ष० ।

अणेगवायामजोग्ग–अनेकव्यायामयोग्य–पुं० । परिश्रमविशेषे, " अणेगवायामजोग्गवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते " अनेकानि यानि व्यायामयोग्यानि परिश्रमयोग्यानि वल्गनव्यामर्दनमल्लयुद्धकरणानि, तत्र वल्गनं उल्ललनं, व्यामर्दनं परस्परेण बाह्वाद्यङ्गमोटनम्, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । एतैः कृत्वा श्रान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वाङ्गीणं श्रमं प्राप्तः, एवंविधः सन् । कल्प० ।

अणेगवालसयसंकणिज्ज–अनेकव्यालशतशङ्कनीय–त्रि० । ३ त० । अनेकैः श्वापदशतैर्भयजनके, " अणेगवालसयसंकणिज्जे या वि होत्था " ज्ञा० २ अ० ।

अणेगविसय–अनेकविषय–त्रि० । अनेके भूयांसो विषया गोचरा अर्था वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रभूतविषयतानिरूपितप्रकारतावत्सु, द्रव्या० ८ अध्या० ।

अणेगविहारि (न्)–अनेकविहारिन्–त्रि० । स्थविरकल्पिके, बृ० ५ उ० ।

अणेगसाहुपूइय–अनेकसाधुपूजित–त्रि० । अनेकसाध्वाचरिते, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणेगसिद्ध–अनेकसिद्ध–पुं० । एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । एकसमये द्व्यादिष्वष्टशतान्तेषु, स्था० १ ठा० १ उ० । नं० । अनेके च एकस्मिन् समये सिध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः ।

यदाहुक्तम्—

बत्तीसा अडयाला, सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा ।
चुलसीइ छण्णउई, दुरहियमट्ठुत्तरसयं च ॥ १ ॥

अस्या विनेयजनानुग्रहाय व्याख्या–अष्टौ समयान् यावन्निरन्तरमेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ताः सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते । किमुक्तं भवति ?–प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, एवं यावदष्टमेऽपि समये एको द्वावुत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, ततः परमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते परतो नियमादन्तरम्, तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः षट् समयान् यावदवाप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम्, तथा एकषष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः पञ्च समयान् यावदवाप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्यादयश्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतश्चतुरः समयान् यावत्, तत ऊर्द्धमन्तरम् । प्रज्ञा० १ पद । अन्ये तु व्याचक्षते–अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्धस्तदा प्रथमसमये जघन्येनैकः सिद्ध्यति, उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति । द्वितीयसमये जघन्येनैकः, उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत् । तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः समयः, उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं भावनीयः 'बत्तीसेत्यादि' । स्था० १ ठा० १ उ० । पा० । आ० । न० । ध० ।

अणेगाहगमणिज्ज–अनेकाहगमनीय–न० । अनेकैरहोभिः अनेकैर्दिवसैर्वा गम्यत इति अनेकाहगमनीयम् । बहुदिवसैर्गन्तव्येऽध्वनि , नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अणेज–अनेज–त्रि० । निष्कम्पे, " अणेजकम्मुदये " आ० क० ।

अणेयाउय-अनैयायिक-त्रि० । न्यायेन चरति नैयायिकः, न नैयायिक अनैयायिकः । असम्यायवृत्तिके , " अपरिमिपुरो अणेयाउए असंवुडे " । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

अणेलिस-अनीदृश-त्रि० नाऽन्यत्र ईदृशमस्तीति अनीदृशम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अनन्यसदृशे अद्वितीये , सूत्र० । " जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिसं " । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । अतुले , सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणेवंभूय-अनेवंभूत-त्रि० एवंप्रकारमनापन्ने , "अणेवंभूयं पि वेयणं वेदेंति" यथा बद्धं कर्म नैवंभूताऽनेवंभूता अतस्ताम् ,श्रयन्ते ह्यागमे-कर्मणः स्थितिघातादय इति । भ० ५ श० ५ उ० ।

अणेसणा-अनेषणा-स्त्री० । ईषदर्थे नञ् । न एषणा अनेषणा । प्रमादादेषणायाम् , ध० ३ अधि० । " अणेसणाए पाणेसणाए पाणजोयणाए वीयभोयणाए अणेसणाए " । इदमुक्तं भवति-" अणेसणाए अणन्तरेण दोसेण संकिता अणेसणाए तुट्ठा महस्स सक्कारेण गद्दिता " आ०चू० ४ अ० । " से एसणं जाणमणेसणं च " एषणां गवेषणग्रहणैषणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्नेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन् । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणेसणिज्ज-अनेषणीय-त्रि० । एष्यत इत्येषणीयं कल्प्यम् , तन्निषेधादनेषणीयम् । भ० ५ श० ५ उ० । केनचिद्दोषेणाऽशुद्धे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आचा० । उत्त० । साधुनाऽग्राह्ये, उत्त० २० अ० । एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत् तदेषणीयं कल्प्यं , तन्निषेधादनेषणीयम् । स्था० ३ ठा० १ उ० । पि० । " पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया " । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह—

भूयाइं च समारब्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १ ॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः समारभ्य संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदुपकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधाकर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेदेवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अणेह-अनेहस्-पुं० । कालद्रव्ये, द्रव्या० १२ अध्या० ।

अणोउया-अनृतुका-स्त्री० । न विद्यते ऋतुः रक्तरूपः, शास्त्रप्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका । अरजस्कायां स्त्रियाम् , यस्या ऋतुकाले मासि मासि रक्तं न प्रसूयति एतादृशी स्त्री पुरुषेण सार्द्धं गर्भं न धरते । स्था० ५ ठा० ।

अणोकंत-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणोग्घसिय-अनवघर्षित-न० । अल्प० स० । अवघर्षणमवघर्षितं,भावे क्तः प्रत्ययः; तस्याऽभावोऽनवघर्षितम् । भूत्यादिनाऽनिर्माजने, जी० ३ प्रति० । रा० । " अणोग्घ (ह) सियणिम्मलाए छायाए स ततो चेय समणुबद्धा " । अनवघर्षितेन निर्मलतया छायया समनुबद्धा युक्ताः (आदर्शकाः) जी० ३ प्रति० ।

अणोज्ज-अनवद्य-त्रि० । निर्दोषे, ज्ञा० ८ अ० ।

अणोज्जंगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । भगवतो महावीरस्वामिनो दुहितरि जमालिगृहिण्याम्, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अणोज्जा-अनवद्या-स्त्री० । महावीरस्य दुहितरि, कल्प० । आ० क० । आचा० ।

अणोत्तप्प-अनवत्राप्य-त्रि० । अविद्यमानमवत्राप्यमवत्रपणं लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्योऽलज्जनीयः । अहीनसर्वाङ्गत्वेनालज्जाकरे , प्रश्न० ६४ द्वा० । दशा० ।

अणोत्तप्पया-अनवत्रप्यता-स्त्री० । अलज्जनीयशरीरतायाम् , व्य० ६ उ० । (विशेषार्थस्तु ' अणवतप्पया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अणोद्धसिज्जमाण-अनुपध्वस्यमान-त्रि० । माहात्म्यादपात्यमाने , औ० ।

अणोम-अनवम-त्रि० । मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिविपर्यस्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणोपाणंतर-अनवमानतर-त्रि० । अतिशयेनासङ्कीर्णे , भ० १३ श० ४ उ० ।

अणोरपार-अनर्वाक्पार-त्रि० । अर्वाग्भागपरभागवर्जिते, पञ्चा० १५ विव० । अल्पधाऽपरपर्यन्ते , संथा० । विस्तीर्णस्वरूपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । " अणोरपारं आगासं चेव निरालंबं " महत्त्वादनर्वाक्पारम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । "जह सामिला पभट्ठा, सागरसलिले अणोरपारम्मि त्ति "अणोरपारमिति देशीयवचनं प्रचुरार्थे; उपचारादू आराद् भागपरभागरहिते, आ० म० द्वि० ।

अणोलय-देशी-क्षणरहिते , निरवसरे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणोवणिहिया-अनौपनिधिकी-स्त्री० । न विद्यते वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचनं प्रयोजनं यस्य इत्यनौपनिधिकी । द्रव्यानुपूर्विभेदे, यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचना न क्रियते सा द्व्यादिपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धविषया आनुपूर्व्या अनौपनिधिकीत्युच्यते । अनु० ।

अणोवम-अनुपम-त्रि० । न विद्यते उपमा यस्यासावनुपमः । अतुले, " अतुलसुहसागरगया अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता " औ० । स० ।

अणोवमदंसि (ण्)-अनवमदर्शिन्-पुं० । अवमं हीनं मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादि, तद्विपर्ययस्तमनवमं तद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यनवमदर्शी । सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । " अरतेपयासु अणोवमदंसी णिसण्णो पावेहिं कम्मेहिं कोहाइमाणं हणिया य वीरे" आचा० १श्रु० ३ अ०२उ० ।

अणोवमसरीअ-अनुपमश्रीक-त्रि० । न० ब० । निरुपमानशोभे, " अणोवमसरीआ दासीदासपरिवुडा " ज्ञा० ८ अ० ।

अणोवमसुह-अनुपमसुख-न० । न विद्यते उपमा स्वाभाविकात्यन्तिकत्वेन सकलव्याबाधारहितत्वेन सर्वसुखातिशायित्वाद्यस्य तत्सुखमानन्दस्वरूपं यस्मिंस्तत् । मोक्षसुखे, " ठाणमणोवमसुहमुवगयाणं " इति । सम्म० १ काण्ड ।

अणोवयमाण अनवपतत्-त्रि० । अनवतरति, " अणोवयमा-

णेहिं खवयंति " आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

अणोवलेवय-अनुपलेपक-त्रि० । कर्मबन्धनरहिते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणोवसंखा-अनुपसङ्ख्या-स्त्री० । संख्यानं संख्या, परिच्छेदः । उप सामीप्येन संख्या उपसंख्या । सम्यग्यथाऽवस्थिताऽर्थपरिज्ञानम् । नोपसंख्या अनुपसंख्या । अपरिज्ञाने, " अणोवसंखा इति ते उदाहु, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं " सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

अणोवहिय-अनुपधिक-त्रि० । द्रव्यतो हिरण्यादिकेभावतो मायया रहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अणोसहिपत्त-अनौषधिप्राप्त-त्रि० । औषधिबलरहिते, स्था० ४ अ० ।

अणोसिय-अनुषित-त्रि० । अव्यवसिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । " अणोसिएणं न करेति णच्चा " ध० ३ अधि० ।

अणोहंतर-अनोघन्तर-पुं० । न ओघंतरः । संसारोत्तरणे अशक्ते, " अणोहंतरा एए, णो य ओहं तरित्तए " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणोहट्टय-अनपघट्टक-त्रि० । अविद्यमानोऽपघट्टको यदृच्छया प्रवर्तमानस्य हस्तग्रहादिना निवर्तको यस्य स तथा । ज्ञा० ७ अ० । वस्त्राञ्चलादौ गृहीत्वा निवारकेणाऽनिवारिते स्वच्छन्दप्रवृत्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० । " तवेणं सा सुभद्दा अज्जा अणोहट्टिया अणिवारिता सच्छंदमती " नि० ३ वर्ग ।

अणोहारेमाण-अनवधारयत्-त्रि० । अनवबुध्यमाने, दश० ९६ अध्य० ।

अणोहिया-अनोघिका-स्त्री० । अविद्यमानजलौघिकायाम्, भ० १५ श० १ उ० ।

अनूद्दा-स्त्री० । अतिगहनत्वेनाविद्यमानोहायाम्, " एगं महं अगामियं अणोहियं छिन्नावायं दीहमद्धं " भ० १५ श० १ उ० ।

अण्ण (न्न)-अन्न-न० । अनित्यत्वेन अनु-नन्द्यते अद्यते इति अन्यके वा । "अन्नाण्णः" ।४।४।८४। इति सूत्रनिर्देशात् अन्नार्थस्याऽनयम्त्रिः । वाच० । व्यञ्जनरहकादिके, उत्त० १२ अ० । अशने मोदकादिके भक्ष्ये, उत्त० २० अ० । ओदनादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । भोजने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । उत्त० । औ० ।

अन्य-त्रि० । भिन्ने, सदृशे च । वाच० । ' अन्नं ' पृथगित्यर्थः । नि० चू० १ उ० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । स्थानांगके, द्वा० २५ द्वा० । प्रश्न० । सर्वनामता चास्य, भ० २ श० ५ उ० । "नो अन्नदेवे नो अन्नेहिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ" भ० २ श० ५ उ० । " अण्णेहिं बहवे एवमाइणो" औ० । रा० । ध० । सूत्र० । अन्यनिक्षेपः-" णामणं ठवणं पुण, तदन्नमादेसओ चेव " अन्यस्य नामादिषड्‌विधो निक्षेपस्तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यान्यत् त्रिधा-तदन्यत्, अन्यान्यत् , आदेशाऽन्यच्चेति, द्रव्यपरत्वेवमिति । स० ।

अर्ण-ऋण-न । अकारादौ वर्णे, गमनस्वभावे, त्रि० । जले, भ० । उत्त० ४ अ० ।

आरण्य-त्रि० । अरण्यते उच्चार्यते इति आरण्यम् । प्रणिधेये, " तत्सवितुर्वरेण्यम् " इति । वर्णभ्दो वाक्यालङ्कारे ज्ञेयः, रे आरण्ये इत्याकारलोपः । जहुमतेन गायत्रीव्याख्या-जै० गा० ।

अण्णइअ-देशी-तृप्तार्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्ण (न्न) इ (गि) लाय-अन्नग्लायक-पुं० । अन्नं भोजनं विना ग्लायतीति अन्नग्लायकः । अभिग्रहविशेषात् प्रातरेव दोषान्नभुजि, औ० । प्रश्न० । सूत्र० ।

रायगिहे जाव एवं वयासी-जावइयं णं भंते ! अन्नगिलायए समणे निग्गंथे कम्मं णिज्जरेति एवइयं कम्मं णरएसु णेरइयाणं वासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खवेंति? णो इणट्ठे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! चउत्थभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससएण वा वाससतेहिं वा वाससहस्सेण वा खवयंति ?। णो इणट्ठे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! छट्ठभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससहस्सएण वा वाससहस्सेहिं वा वाससयसहस्सेण वा खवयंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे । जावतियं णं भंते ! अट्ठमभत्तए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससयसहस्सेण वा वाससयसहस्सेहिं वा वासकोडीए वा खवयंति ?, णो इणट्ठे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! दसमभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वासकोडीए वा वासकोडीहिं वा वासकोडाकोडीए वा खवयंति ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ ?। जावइयं अन्नगिलायए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वासेण वा वासेहिं वा वाससएण वा णो खवयंति, जावइयं चउत्थभत्तिए एवं तं चेव पुव्वभणियं उच्चारेयव्वं जाव वासकोडाकोडीए वा णो खवयंति ?। गोयमा ! से जहा णामए केइ पुरिसे जुण्णे जराजज्जरियदेहे सिढिलतयावलितरंगसंपिणद्धगत्ते पविरलपरिसडियदंतसेढी उण्हाभिहए तण्हाभिहए आतुरे झुंझिते पिवासिए दुब्बले किलंते एगं महं कोसंबगंडियं सुक्कं जडिलं गंठिल्लं चिक्कणं वाइद्धं अपत्तियं मुंडेण परसुणा अक्कमेज्जा तए णं से पुरिसे महंताइं सद्दाइं करेइ, णो महंताइं महंताइं दलाइं अवद्दालेइ, एवामेव गोयमा ! णेरइयाणं पावाइं कम्माइं गाढीकयाइं चिक्कणीकयाइं एवं जहा छट्ठसए जाव णो महापज्जवसाणा भवंति । से जहाणामए केइ पुरिसे अहिगरणिं आउडेमाणे महया जाव णो पज्जवसाणा भवंति । से जहा णामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं जाव मेहावी णिउणसिप्पोवगए एगं महं सामलिगंडियं उल्लं अजडिलं अगंठिल्लं अचिक्कणं अवाइद्धं सपत्तियं तिक्खेण परसुणा अक्कमेज्जा, तए णं से पुरिसे णो महंताइं महंताइं

सद्दाइं करेइ, महंताइं महंताइं दलाइं अवदालेइ, एवामेव गोयमा ! समणाणं णिग्गंथाणं अहाबादराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं णिट्ठ जाव खिप्पामेव परिविद्धत्थाइं भवंति, जावइयं तावइयं जाव पज्जवसाणा जवंति । से जहा वा केइ पुरिसे सुक्के तणहत्थगं जाव तेयंसि पक्खिवेज्जा, एवं जहा छट्ठसए तहा अयोकवल्ले वि जाव पज्जवसाणा भवंति, से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ जावइयं अण्णगिलायए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, तं चेव जाव कोमाकोडीए वा णो खवयंति ॥

(अन्नगिलायते त्ति) अन्नं विना ग्लायति ग्लानो भवतीति अन्नग्लायकः। प्रत्यग्रकूरादिनिष्पत्तिं यावद् बुभुक्षातुरतया प्रतीक्षितुमशक्नुवन् यः पर्युषितकूरादि प्रातरेव भुङ्क्ते, कूरगडुकप्राय इत्यर्थः । चूर्णिकारेण तु-निस्पृहत्वात् " सीयकूरभोई अंतपंताहारो त्ति " व्याख्यातम्। अथ कथमिदं प्रत्याय्यम्, यदुत नारको महाकष्टापन्नो महताऽपि कालेन तावत्कर्म न क्षपयति यावत्साधुरल्पकष्टापन्नोऽल्पकालेनेति ? । उच्यते दृष्टान्ततः स चायम-[से जहा नामए केइ पुरिसे त्ति] यथेति दृष्टान्ते, नामेति संभावने, 'ए' इत्यलङ्कारे । [से त्ति] स कश्चित्पुरुषः । [जुण्णे त्ति] जीर्णो हानिगतदेहः । स च कारणवशादवृद्धजायेऽपि स्यादत आह-(जराजज्जरियदेहे त्ति) व्यक्तम। अत एव (सिढिलतया वलितरंगसंपिणद्धगत्ते त्ति) शिथिलया त्वचा वलितरङ्गैश्च संपिनद्धं परिगतं गात्रं देहो यस्य स तथा।(पविरलपरिसमियदंतसेढि त्ति) प्रविरलाः केचित्केचिच्च परिशटिता दन्ता यस्यां सा तथाविधा श्रेणिर्दन्तानामेवं यस्य स तथा। (आउरे त्ति) आतुरो दुःस्थः [झुंझिए त्ति] बुभुक्षितः। झुरितक इति टीकाकारः। (दुब्बले त्ति) बलहीनः [किलंते त्ति] मनःक्लमं गतः। एवंरूपो हि पुरुषश्छेदने असमर्थो भवतीत्येवं विशेषितः (कोसंबगंमियं ति) 'कोसंब त्ति' वृक्षविशेषः, तस्य गण्डिमका खण्डविशेषस्ताम् । (जडिलं ति) जटावतीं वलितोद्वलितामिति वृद्धाः । (गंठिल्लं ति) ग्रन्थिमतीम् । (चिक्कणं ति) श्लक्ष्णस्कन्धनिष्पन्नां (वाइद्धं ति) व्याविद्धां विशिष्टद्रव्योपदिग्धाम्, वक्रामिति वृद्धाः। (अपत्तियं ति) अपात्रिकां अविद्यमानाधाराम्, एवंभूता च गण्डिमका दुर्भेद्या भवतीत्येवं विशेषिता, तथा परशुरपि मुण्डोऽच्छेदको भवतीति मुण्ड इति विशेषितः । शेषं तूद्देशकान्तं यावत्षष्ठशतवद्व्याख्येयमिति । भ० १६ श० ४ उ० ।

अण्णउत्त-अन्योक्त-त्रि० । अन्यैः अविवेकिभिः कथिते, औ०।

अण्णउत्थिय-अन्ययूथिक-पुं० । जैनयूथादन्यद् यूथं सङ्घान्तरं, तीर्थान्तरमित्यर्थः; तदस्ति येषां तेऽन्ययूथिकाः । उपा० १ अ०। अर्हत्सङ्घापेक्षयाऽन्येषु, औ०। चरकपरिव्राजकशाक्याऽऽजीवकवृद्धश्रावकप्रभृतिषु, नि०चू० २उ० । परतीर्थिकेषु, औ० । ज्ञा० । नि० चू० । आचा० । सरजस्कादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तीर्थान्तरीयेषु कपिलादिषु, ज्ञा० १० अ० ।

(१) अन्ययूथिकाः कालोदायिप्रभृतयः ।
(२) अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिषु इहलौकिकस्य परभविकस्य वाऽऽयुषो विप्रतिपत्तिः ।
(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र अन्ययूथिकैः सह विवादः ।

(४) चलच्चलितमित्यादिकर्मादिषु कुतीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(५) एकस्य जीवस्यैकस्मिन् समये क्रियाद्वयकरणेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(६) अदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(७) श्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत नवेत्यत्र विवादः ।
(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्य जीवस्यान्यो जीवोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तयः ।
(९) परिचारणा कालगतस्य निर्ग्रन्थस्य भवति न वेति विवादः ।
(१०) बालबालपण्डितमतते अन्ययूथिकमतोक्ते ये तयोर्विवादः।
(११) भाषाविषयेऽन्ययूथिकानां मतोपन्यासः।
(१२) पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको मनुष्यैर्बहुलमाकीर्णः।
(१३) सर्वे जीवाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ते इत्यत्र विवादः।
(१४) शीलं श्रेयः, श्रुतं श्रेय इत्यत्रान्ययूथिकैः सह विवादः ।
(१५) सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः ।
(१६) राजगृहनगरस्य बहिर्वैभारपर्वतस्याधःस्थस्य ह्रदस्य विषये विप्रतिपत्तयः ।
(१७) संसर्गस्तु कापिलादिभिः सह न समाचरणीय इत्यत्रागाढवचनम् ।
(१८) उदकश्रेणिकाऽन्ययूथिकैः सह न समाचरणीया ।
(१९) तथाऽन्ययूथिकैरुपकरणरचना ।
(२०) तथा सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूथिकेन न कारयितव्यानि
(२१) तथा शिक्यकादिकोपकरणकारणम् ।
(२२) अन्ययूथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत् ।
(२३) (दानम्) अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि न देयम् ।
(२४) तथा धातुप्रवेदनम् ।
(२५) तथा पादानामामर्दनप्रमार्जनम् ।
(२६) तथा पदमार्गादि ।
(२७) तथा भूतिकर्मादि मार्गप्रवेदनं च ।
(२८) (वाचना) अन्ययूथिकाः पाखण्डिनो गृहिणः सुकुशीला वा न प्रव्राजनीयाः ।
(२९) विचारभूमेर्विहारभूमेर्वा निष्क्रमणम् ।
(३०) विहारः ।
(३१) (शिक्षा) अन्ययूथिकस्य वा गृहस्थस्य शिल्पादिशिक्षणम् ।
(३२) अन्ययूथिकादिभिः संघाटीसीवनम् ।
(३३) अन्ययूथिकादिभिः सह संभोगः ।
(३४) अन्ययूथिकैः सूच्युपकरणम् ।

(१) तत्र अन्ययूथिकाः कालोदायिप्रभृतयः—

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे नामं नयरे होत्था । वण्णओ । गुणसिलए चेइए वण्णओ जाव पुढविसिलापट्टओ । तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अण्णउत्थिया परिवसंति । तं जहा-कालोदाई, सेलोदाई, सेवालोदाई, उदए, नामुदए, नम्मुदए, अण्णवालए, सेलवालए, संखवालए, सुहत्थी, गाहावई, तए णं तेसिं अण्णउत्थियाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं समु-

बागयाणं सण्णिविट्ठाणं संनिसएणाणं अयमेयारूवे मिहो-कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था । एवं खलु समणे नायपुत्ते पंचअत्थिकाए पएणवेइ धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थिकायं । तत्थ णं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं पोग्गलत्थिकायं एगं च णं समणे नायपुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पएणवेइ । तत्थ णं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवत्थिकायं एगं च णं समणे नायपुत्ते पोग्गलत्थिकायं रूविकायं अजीवकायं पएणवेइ । से कहमेयं ?, मन्ने एवं ते-णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे जाव० गुणसिलए चेइए समोसढे जाव परिसा पडिगया । ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूईनामं अणगारे गोयमगोत्तेणं एवं जहा बितिए सए नियंठुद्देसए जाव भिक्खायरियाए अममाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं पडिग्गाहेमाणे २ रायगिहाओ जाव-अतुरियमचवलं जाव चरियं सोहेमाणे २ तेसिं अण्णउत्थियाणं अदूरसामंतेणं वीईवयइ, तए णं ते अण्णउत्थिया भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं वीईवयमाणं पासंति, पासइत्ता अण्णमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमा कहा अविप्पकडा, अयं च णं गोयमे अदूरसामंतेणं वीईवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं गोयमं एयमट्ठं पुच्छित्तए त्तिकट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणंति, पडिसुणंतित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे नायपुत्ते पंचअत्थिकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थिकायं तं चेव जाव रूविकायं अजीवकायं पएणवेइ । से कहमेयं गोयमा ! एवं ?, तए णं से भगवं गोयमे ते अण्णउत्थियं एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अत्थिभावं नत्थि त्ति वयामो, नत्थिभावं अत्थि त्ति वयामो, अम्हे णं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वयामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थि त्ति वयामो, तं चेयसा खलु तुब्भे देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं सयमेव पच्चुवेक्खह त्तिकट्टु ते अएणउत्थिया एवं वयासी-जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे एवं जहा नियंठुद्देसए जाव भत्तपाणं पडिदंसेइ, पडिदंसेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ नच्चासएणे जाव पज्जुवासेइ ॥

(तेणमित्यादि) (एगओ समुवागयाणं ति) स्थानान्तरेभ्य एकत्र स्थाने समागतानामागत्य च (सन्निविट्ठाणं ति) । उपविष्टानाम्, उपवेशनं चोत्कुटुकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(सन्निसन्नाणं ति) सङ्गततया निषण्णानां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए त्ति) प्रदेशराशीन् (अजीवकाए त्ति) अजीवाश्च तेऽचेतनाः, कायाश्च राशयो अजीवकायास्तान् । 'जीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्वरूपविशेषणायाह-(अरूवकायं ति) अमूर्तमित्यर्थः।(जीवकायं ति) जीवनं जीवो ज्ञानाद्युपयोगः, तत्प्रधानः कायो जीवकायोऽतस्तं कैश्चिज्जीवास्तिकायो जडतयाऽभ्युपगम्यते,अतस्तन्मतव्युदासायेदमुक्तमिति।(से कहमेयं मन्ने एवं ति) अथ कथमेतदस्तिकायवस्तु, मन्ये इति वितर्कार्थः। एवममुनाऽचेतनादिविभागेन भवतीति तेषां समुल्लापः (इमा कहा अविप्पकड त्ति) इयं कथा एषाऽस्तिकायवक्तव्यताऽप्यानुकूल्येन प्रकृता प्रक्रान्ता । अथवा न विशेषेण प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । "अविउप्पकम त्ति" पाठान्तरम् । तत्र अविद्वत्प्रकृता अविद्वत्प्रकृता, अथवा न विशेषत उत्प्राबल्यतश्च प्रकटा अव्युत्प्रकटा । (अयं च त्ति)। अयं पुनः (तं चेयसा-इ त्ति)। यस्माद्वयं सर्वमस्तिभावमेवास्तीति वदामः, तथाविधसंवाददर्शनेन भवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्तस्माच्चेतसा मनसा "वेदस त्ति" पाठान्तरे-ज्ञानेन प्रमाणाबाधितत्वलक्षणेन (एयमट्ठं ति) अमुमस्तिकायस्वरूपलक्षणमर्थं स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्वं पर्यालोचयतेति।

ते णं काले णं ते णं समए णं समणे भगवं महावीरे महाकहापडिवएणे या वि होत्था । कालोदाई य तं देसं हव्वमागए कालोदाइ त्ति समणे भगवं महावीरे कालोदाइं एवं वयासी-से नूणं ते कालोदाई अएणया कयाइं एगयओ सहियाणं समुवागयाणं तहेव जाव से कहमेयं मएणे एवं से नूणं कालोदाई अट्ठे समट्ठे । हंता ! अत्थि । तं सच्चेणं एयमट्ठे कालोदाई ! अहं पंच अत्थिकाए पएणवेमि, तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव पोग्गलत्थिकायं तत्थ णं अहं चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पएणवेमि, तहेव जाव एगं च णं अहं पोग्गलत्थिकायं रूवीकायं पएणवेमि, तए णं से कालोदाई समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकायंसि अधम्मत्थिकायंसि आगासत्थिकायंसि अरूवीकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा सइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा ?। नो इणट्ठे समट्ठे । कालोदाइ ! एयंसि णं पोग्गलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा । एयंसि णं भंते ! पोग्गलत्थिकायंसि रूवीकायंसि अजीवकायंसि जीवाणं पावाणं कम्माणं पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?। णो इणट्ठे समट्ठे । कालोदाइ ! एयंसि णं जीवत्थिकायंसि अरूविकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?। हंता ! कज्जंति । एत्थ णं से कालोदाई संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुज्झं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

खंदए तहेव पव्वइए तहेव एक्कारस अंगाणि० जाव विहरइ, तए णं समणे जगवं महावीरे अण्णया कयाइ रायगिहाओ णयराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ। पडिनिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए नामं चेइए होत्था। तए णं समणे जगवं महावीरे अण्णया कयाइ जाव समोसढे जाव परिसा पडिगया,तए णं से कालोदाई अणगारे अण्णया कयाइं जेणेव समणे जगवं महावीरं तेणेव उवागच्छइ।उवागच्छइत्ता समणं जगवं महावीरं वंदइ नमंसइ। नमंसइत्ता एवं वयासी—

(महाकहापडिवन्ने त्ति) महाकथाप्रबन्धेन महाजनस्य तत्त्वदेशना (एयंसि णं ति) एतस्मिन्नुक्तस्वरूपे (चक्किया केइ त्ति) शक्नुयात्कश्चित् । (एयंसि णं जंते ! पोग्गलत्थिकायंसीत्यादि) अयमस्य भावार्थः—जीवसंबन्धीनि पापकर्म्माणि अशुभस्वरूपफललक्षणविपाकदायीनि पुद्गलास्तिकायेन भवन्ति, अचेतनत्वेनानुभववर्जितत्वात्तस्य, जीवास्तिकाये एव च तानि तथा भवन्ति । अनुभवयुक्तत्वात्तस्येति प्राक्कालोदायिप्रश्नद्वारेण कर्मवक्तव्यतोक्ता । अधुना तु तत्प्रश्नद्वारेणैव तान्येव यथा पापफलविपाकादीनि भवन्ति । तथोपदर्शयिषुः—

अत्थि णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । हंता ! अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?। कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं विसमिस्सं जोयणं भुंजेज्जा, तस्स जोयणस्स आवाए जहए जवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महस्सवए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले तस्स णं आवाए जहए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरूवत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवं भुज्जो भुज्जो कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा जाव कज्जंति । अत्थि णं जंते ! जीवाणं कल्लाणकम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । हंता अत्थि । कहं णं जंते ! जीवाणं कल्लाणकम्मा० जाव कज्जंति ?। कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं ओसहमिस्सं जोयणं जुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भद्दए जवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्स णं आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए० जाव नो दुक्खत्ताए जुज्जो जुज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो जंते ! पुरिसा सरिसया जाव सरिसजंडमत्तोवगरणा अण्णमण्णेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ । एएसिं णं जंते ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव, जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ?। कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव० जाव अप्पवेयणतराए चेव । से केणट्ठे णं जंते ! एवं वुच्चइ; तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चेव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरायं पुढवीकायं समारंभइ, बहुतरायं आउकायं समारंजइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंजइ, बहुतरायं वाउकायं समारंजइ, बहुतरायं वणस्सइकायं समारंजइ,बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरायं पुढविकायं समारंजइ, अप्पतरायं आउकायं समारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंजइ, अप्पतरायं तसकायं समारंजइ, से तेणट्ठे णं कालोदाई ! जाव अप्पवेयणतराए चेव ॥

(अत्थि णमित्यादि) अस्तीदं वस्तु यदुत जीवानां पापानि कर्माणि, पापो यः फलरूपो विपाकः, तत्संयुक्तानि भवन्ती-त्यर्थः । (थालीपागसुद्धं ति) स्थाल्याम्–उखायां,पाको यस्य तत् स्थालीपाकम्, अन्यत्र हि पक्वमपक्वं वा; न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणं शुद्धं भक्तदोषवर्जितं ततः, कर्मधारयः। स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः। (अट्ठारसवंजणाउलं त्ति) अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकैः तक्रादिभिर्वा; आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलं चेति । अत्र भेदपदलोपेन समासः । अष्टादश भेदाश्चैते–"सूओ १ दणो २ जवण्णं ३, तिन्नि य मंसाइँ ६ गोरसो ७ जूसो ८ । भक्खा ९ गुल लावणिया १०, मूलफल ११ हरियगं १२ सागो १३ ॥ १ ॥ होय रसालू य १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चेव १७। अट्ठारसमो सागो १८, निरुवहओ लोइओ पिंमो" ॥ २ ॥ तत्र मांसत्रयं जलचरादिसत्कं, जूषो मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डादिरसः, भक्ष्याणि खण्डखाद्यादीनि, गुललावणिया गुलपर्पटिका लोकप्रसिद्धा, गुमधाना वा । मूलफलान्येकमेव पदं, हरितकं जीरकादि, शाको वास्तुकादिभर्जिका, रसालू मज्जिका,

लक्षणं चेदं-"दो घयपला महु पलं,दहिस्सऽद्धाढयं मिरियवीसा । दस खंडगुलपलाइं,एस रसालू निवइजोगो"॥१॥ पानं सुरादि, पानीयं जलं, पानकं द्राक्षापानकादि, शाकस्तक्रसिद्ध इति । (आवाए त्ति) आपातस्तत्प्रथमतया संसर्गः (भद्दए त्ति) मधुरत्वान्मनोहरः (दुरूवत्ताए त्ति) दुरूपतया हेतुभूततया (जहा महासवए त्ति) षष्ठशतस्य तृतीयोद्देशको महाश्रवकस्तत्र यथेदं सूत्रं तथेहाप्यवधेयम् । (एवामेव त्ति) विषमिश्रभोजनवत्, "जीवाणं पाणाइवाए" इत्यादौ भवतीति शेषः । (तस्स णं ति)तस्य प्राणातिपातादेः (तओ पच्छा विपरिणममाणे त्ति) ततः पश्चादापातानन्तरं विपरिणमत् परिणामान्तराणि गच्छत् प्राणातिपातादि,कार्ये कारणोपचारात् प्राणातिपातादिहेतुकं कर्म्म (दुरूवत्ताए त्ति) दुरूपताहेतुतया परिणमति, दुरूपतां करोतीत्यर्थः। (ओसहमिस्सं ति) औषधं महातिक्तकघृतादि । (एवामेवे त्ति) औषधमिश्रभोजनवत् । (तस्स णं ति) प्राणातिपातविरमणादेः (आवाए नो भद्दए भवइ त्ति) इन्द्रियप्रतिकूलत्वात् (परिणममाणे त्ति) प्राणातिपातविरमणादिप्रभवं पुण्यकर्म्म, परिणामान्तराणि गच्छद् अनन्तरं कर्माणि फलतो निरूपितानि । अथ क्रियाविशेषमाश्रित्य तत्कर्तृपुरुषद्वयद्वारेण कर्म्मादीनामल्पत्वबहुत्वे निरूपयति-(दो भंते! इत्यादि)(अगणिकायं समारभंति त्ति) तेजस्कायं समारभेते, उपद्रवयतः तत्रैक उज्ज्वालनेन,अन्यस्तु विध्यापनेन । तत्रोज्ज्वालने बहुतरतेजसामुत्पादेऽप्यल्पतराणां विनाशोऽप्यस्ति,तथैव दर्शनाद् । अत उक्तम्-'तत्थ णं एगे' इत्यादि(महाकम्मतराए चेव त्ति)अतिशयेन महत् कर्म्म ज्ञानावरणादिकं यस्य स तथा,चैवशब्दः समुच्चये । एवं (महाकिरियतराए चेव त्ति) नवरं, क्रिया दाहरूपा(महासवतराए चेव त्ति)बृहत्कर्मबन्धहेतुकः। (महावेयणतराए चेव त्ति) महती वेदना जीवानां यस्मात्स तथा । अनन्तरमग्निवक्तव्यतोक्ता ।

अत्थि णं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, उज्जोवेंति, तवेंति, पभासंति ?। हंता ! अत्थि । कयरे णं भंते ! अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति, जाव पभासंति ?। कालोदाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसट्ठा समाणी दूरं गता दूरं निवतइ, देसं गता देसं निवतइ, जहिं २ च णं सा निवतइ तहिं २ च णं ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति जाव पभासंति। एए णं कालोदाई ! ते अचित्ता वि पोग्गला ओभासंति । तए णं से कालोदाई अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठम० जाव अप्पाणं भावेमाणे जहा पढमसए कालासवेसियपुत्ते जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सेवं भंते ! भंते! त्ति।

अग्निश्च सचेतनः सन्नवभासते,एवमचित्ता अपि पुद्गलाः किमवभासन्त इति प्रश्नयन्नाह-[अत्थि णमित्यादि] (अचित्ता वि त्ति) सचेतनास्तेजस्कायिकादयः तावदवभासन्त एवेत्यपिशब्दार्थः। (ओभासंति त्ति) प्रकाशा भवन्ति (उज्जोवेंति त्ति) वस्तूद्योतयन्ति । (तवंति त्ति) तापं कुर्वन्ति (पभासंति त्ति)तथाविधवस्तुदाहकत्वेन प्रभावं लभन्ते(कुद्धस्से त्ति)विभक्तिविपरिणामात् कुद्धेन दूरं गंता (दूरं निवयइ त्ति) दूरगामिनीति दूरे निपततीत्यर्थः।अथवा दूरे गत्वा दूरे निपततीत्यर्थः। (देसं गंता देसं निवयइ त्ति) अभिप्रेतस्य गन्तव्यस्य क्षमदेशतादेद्देशे तदर्द्धादौ गमनस्यभावेऽतिदेशे तदर्द्धादौ निपततीत्यर्थः । क्त्वाप्रत्ययपक्षोऽप्येवमेव । (जहिं जहिं च त्ति) यत्र यत्र दूरे वा तद्देशे वा, सा तेजोलेश्या निपतति (तहिं तहिं) तत्र तत्र दूरे तद्देशे वा [ते त्ति] । तेजोलेश्या सम्बन्धिनः । भ० ७ श० १० उ० ।

(२) अथान्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः प्रदर्श्यन्ते, [आयुः] तत्र इह भविकस्य परभविकस्य वाऽऽयुषः समये विप्रतिपत्तिः-

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति-एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं दो आउयाइं पकरेइ । तं जहा-इहभवियाउयं च परभवियाउयं च; जं समयं इहभवियाउयं पकरेइ तं समयं परभवियाउयं पकरेइ, जं समयं परभवियाउयं पकरेइ तं समयं इहभवियाउयं पकरेइ । इहभवियाउयस्स पकरणयाए परभवियाउयं पकरेइ, परभवियाउयस्स पकरणयाए इहभवियाउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं दो आउयाइं पकरेइ । तं जहा-इहभवियाउयं च परभवियाउयं च । से कहमेयं भंते ?। एवं गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव परभवियाउयं च जे ते एवमाहंसु,मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं एगं आउयं पकरेइ । तं जहा-इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा । जं समयं इहभवियाउयं पकरेइ, णो तं समयं परभवियाउयं पकरेइ,जं समयं परभवियाउयं पकरेइ, णो तं समयं इहभवियाउयं पकरेइ । इहभवियाउयस्स पकरणयाए णो परभवियाउयं पकरेइ,परभवियाउयस्स० णो इहभवियाउयं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगे णं समए णं एगं आउयं पकरेइ । तं जहा-इहभवियाउयं वा,परभवियाउयं वा । सेवं भंते ! भंते! त्ति; भगवं गोयमे जाव विहरइ ॥

दर्शनान्तरस्य विपर्यस्ततां दर्शयन्नाह—(अण्णउत्थिए—त्यादि) अन्ययूथं विवक्षितसङ्घादपरः सङ्घः, तदस्ति येषां ते अन्ययूथिकास्तीर्थान्तरीया इत्यर्थः । एवमिति वक्ष्यमाणं (आइक्खंति त्ति) आख्यान्ति सामान्यतः । (भासंति त्ति) विशेषतः । (पण्णवेंति त्ति) उपपत्तिभिः । (परूवेंति त्ति) भेदकथनतो द्वयोर्जीवयोरेकस्य वा समयभेदेनायुर्द्वयकरणे नास्ति विरोध इत्युक्तम् । (एगे जीवे इत्यादि) (दो आउयाइं पकरेइ त्ति) जीवो हि स्वपर्यायसमूहात्मकः, स च यदैकमायुःपर्यायं करोति तदाऽन्यमपि करोति, स्वपर्यायत्वाज्ज्ञानसम्यक्त्वपर्यायवत्, स्वपर्यायकर्तृत्वं च जीवस्याऽभ्युपगन्तव्यमेव । अन्यथा सिद्धत्वादिपर्यायाणामनुत्पादप्रसङ्ग इति भावः । उक्तार्थस्यैव भावनाऽर्थमाह-[जमित्यादि]विभक्तिविपरिणामाद्यस्मिन्समये, इहभवो वर्त्तमानभवो यत्राऽऽयुषि विद्यते फलतया तदिहभवायुरेवं परभवायुरपि । अनेन चेहभवायुःकरणसमये परभवायुःकरणं नियमितम् । अथ परभवायुःकरणसमये इहभवायुःकरणं नियमयन्नाह-(जं समयं परभवियाउयमित्यादि)

एवमेकसमयकार्यतां द्वयोरप्यभिधायैकक्रियाकार्यतामाह-[इह-भवियाउयस्सेत्यादि] (एकरणयाए त्ति) करणेन, एवं ख-ल्वित्यादि निगमनम् । (अएणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खं-ति) इत्याद्यनुवादवाक्यस्यान्ते तत्प्रतीतं, न केवलमित्ययं वा-क्यशेषो दृश्यः । (जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवमाहंसु त्ति) तत्र (आहंसु त्ति) उक्तवन्तः, यश्चायं वर्तमाननिर्देशेऽधिकृतेऽतीत-निर्देशः स सर्वो वर्तमानः कालोऽतीतो भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थः, मिथ्यात्वञ्चास्यैवम्, एकेनाध्यवसायेन विरुद्धयोरा-युषोर्बन्धायोगात् । यच्चोच्यते-पर्यायान्तरकरणे पर्यायान्तरं करोति, स्वपर्यायस्यादिति । तदनैकान्तिकम् । सिद्धत्व-करणे संसारित्वाकरणादिति । टीकाकारव्याख्यानं तु-इह भवायुर्यदा प्रकरोति वेदयत इत्यर्थः, परभवायुस्तदा प्रक-रोति प्रबध्नातीत्यर्थः, इहभवायुरुपभोगेन परभवायुर्बध्नाती-त्यर्थः। मिथ्या चैतत्परमतम् । यस्माज्जातमात्रो जीव इहभवायुर्वे-दयते, तदैव तेन यदि परभवायुर्बद्धं, तदा दानाध्ययनादीनां वैयर्थ्यं स्यादिति । एतच्चायुर्बन्धकालादन्यत्रावसेयम् । अन्य-थाऽऽयुर्बन्धकाले इहभवायुर्वेदयते, परभवायुस्तु प्रकरोत्ये-वेति । भ० १ श० ६ उ० ।

(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र अन्ययूथिकैः सह विवादः-

अनन्तरोक्तं लवणसमुद्रादिकं सत्यं सम्यग्ज्ञानिप्रतिपादि-तत्वान्मिथ्याज्ञानिप्रतिपादितं त्वसत्यमपि स्यादिति दर्शयँ-स्तृतीयोद्देशकस्यादिसूत्रमिदमाह—

अस्मउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, एवं भासेंति, एवं पस्मवेंति, एवं परूवेंति । से जहानामए जालगंठियाइ वा आणु-पुव्विगंठिया अणंतरगंठिया परंपरगंठिया असमस्मगंठिया अस्मसमस्मगुरुयत्ताए अस्मसमस्मभारियत्ताए अस्मसमस्मगुरुसंभा-रियत्ताए अस्मसमस्मघडत्ताए चिट्ठंति; एवामेव बहूणं जीवाणं बहूसु आजाइसहस्सेसु बहूइं आउयसहस्साइं आणुपुव्वि-गंठियाइं जाव चिट्ठंति, एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो आउयाइं पडिसंवेदयइ । तं जहा-इहभवियाउयं च पर-भवियाउयं च । जं समयं इहभवियाउयं पडिसंवेदेइ, तं स-मयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, जाव से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अस्मउत्थिया तं चेव जाव परभवि-याउयं च जे ते एवमाहंसु तं मिच्छा ?। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि-जाव अस्मसमस्मघडत्ताए चिट्ठंति, एवामेव एग-मेगस्स जीवस्स बहूहिं आजाइसहस्सेहिं बहूहिं आउसहस्सा-इं आणुपुव्विगंठियाइं जाव चिट्ठंति, एगे वि य णं जीवे एगे-णं समएणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ । तं जहा-इहभविआउयं वा परभविआउयं वा, जं समयं इहभवियाउयं पडिसंवे-देइ नो तं समयं परभवियाउयं पडिसंवेदेइ, जं समयं पर-भवियाउयं पडिसंवेदेइ णो तं समयं इहभवियाउयं पडिसं-वेदेइ, इहभवियाउयस्स पडिसंवेदणयाए णो परभवियाउ-यस्स पडिसंवेदणा, परभवियाउयस्स पडिसंवेदणाए णो इह-भवियाउयस्स पडिसंवेदणा । एवं खलु जीवे एगेणं सम-एणं एगं आउयं पडिसंवेदेइ । तं जहा-इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा ।

[अस्मउत्थियाणमित्यादि] [जालगंठिय त्ति] जालं मत्स्यबन्धनं, तस्यैव ग्रन्थयो यस्यां सा जालग्रन्थिका । किंस्वरूपा सेत्याह-[आणुपुव्विगंठिय त्ति] आनुपूर्व्या परिपाट्या ग्रथिता गुम्फिता आद्युचितग्रन्थीनामादौ विधानादन्तोचितानां च क्रमेणान्त एव करणात् । एतदेव प्रपञ्चयन्नाह-[अणंतरगंठिय त्ति] प्रथमग्र-न्थीनामनन्तरव्यवस्थापितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिता अनन्तरग्र-थिता । एवं परम्परैर्व्यवहितैः सह ग्रथिता परम्परग्रथिता । किमुक्तं भवति-[अन्नमन्नगंठिय त्ति] अन्योऽन्यं परस्परेण ए-केन ग्रन्थिना सहान्यो ग्रन्थिरन्येन च सहान्य इत्येवं ग्रथिता अन्योऽन्यग्रथिता । एवं च [अन्नमन्नगरुयत्ताए त्ति]अन्योऽन्येन ग्रन्थनाद् गुरुकता विस्तीर्णता,अन्योऽन्यगुरुकता, तया, [अन्न-मन्नभारियत्ताए त्ति] अन्योऽन्यस्य यो भारः स विद्यते यत्र तद-न्योऽन्यभारिकं तद्भावस्तत्ता, तया, एतस्यैव प्रत्येकोक्तार्थद्व-यस्य संयोजनेन तयोरेव प्रकर्षमभिधातुमाह-[अन्नमन्न-गरुयसंभारियत्ताए त्ति] अन्योऽन्येन गुरुकं यत्संभारिकं च तत्तथा, तद्भावस्तत्ता, तया [अन्नमन्नघडत्ताए त्ति] अन्योऽ-न्यं घटा समुदायरचना यत्र तदन्योऽन्यघटं तद्भावस्तत्ता तया, [चिट्ठइ त्ति] आस्ते, इति दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तिक उच्यते-[एवामेव त्ति] अनेनैव न्यायेन बहूनां जीवानां संबन्धीनि [बहुसु आजाइसहस्सेसु त्ति] अनेकेषु देवादिजन्मसु प्र-तिजीवं क्रमप्रवृत्तेष्वधिकरणभूतेषु बहून्यायुष्कसहस्राणि त-त्स्वामिजीवानामाजातीनां च बहुसहस्रसंख्यानत्वात् । आनु-पूर्वीग्रथितानीत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् । नवरमिह भारिक-त्वं कर्मपुद्गलापेक्षया वाच्यम् । अथैतेषामायुषां को वेदन-विधिरित्याह-[एगे वि येत्यादि] एकोऽपि जीवः आ-स्तामनेक एकेन समयेनेत्यादि प्रथमशतवत् । अत्रोत्तरम्-[जे ते एवमाहंसु इत्यादि] मिथ्यात्वं चैषामेवम्-या-नि हि बहूनां जीवानां बहून्यायूंषि जालग्रथिकावत्तिष्ठन्ति तानि यथास्वं जीवप्रदेशेषु संबद्धानि स्युरसंबद्धानि वा ?। यदि संब-द्धानि, तदा कथं भिन्नभिन्नजीवस्थितानां तेषां जालग्रन्थिका कल्पना कल्पयितुं शक्या?, तथापि तत्कल्पने जीवानामपि जाल-ग्रन्थिकाकल्पत्वं स्यात्,तत्संबद्धत्वात् । तथा च सर्वजीवानां सर्वा युःसंवेदनेन सर्वभवभवनप्रसङ्ग इति । अथ जीवानामसंबद्धा-न्यायूंषि तदा तद्वशाद्देवादिजन्मेति न स्यादसंबन्धादेवेति । यच्चो-क्तम्-एको जीव एकेन समयेन द्वे आयुषी वेदयति । तदपि मिथ्या । आयुर्द्वयसंवेदने युगपद्भवद्वयप्रसङ्गादिति । [अहं पुण गोयमेत्यादि] इह एके जालग्रन्थिकासंकाशिकामात्रम् । [एगमेगस्सेत्यादि] एकैकस्य जीवस्य न तु बहूनां, बहुष्वाजा-तिसहस्रेषु क्रमवृत्तेष्वतीतकालकेषु तत्कालापेक्षया सन्तु बहून्यायुस्सहस्राणि अतीतानि, वर्तमानभवान्तान्यभविकम-न्यभविकेन प्रतिबद्धमित्येवं सर्वाणि परस्परं प्रतिबद्धानि भव-न्ति, न पुनरेकभव एव बहूनि [इहभवियाउयं व त्ति] वर्तमानभवायुः [परभवियाउयं व त्ति] परभवप्रायोग्यं यद्वर्त-मानभवे निबद्धं तच्च परभवे गतो यदा वेदयति, तदा व्यपदि-श्यते [परभवियाउयं व त्ति] ॥ भ० ५ श० ३ उ० ।

[४] [कर्म] चलत्स्खलितमित्यादिकर्मादिषु कुतीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिः–

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति०, जाव परूवेंति । एवं खलु चलमाणे अचलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जिण्णे दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहण्णंति, कम्हा दो परमाणुपोग्गलाणं णत्थि सिणेहकाए०, दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहण्णंति, तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ?। तिण्णि परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति । ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा किज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ, एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला हवंति, एवं जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला ए यओ साहण्णंति, एगयओ साहण्णित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति, दुक्खे वि य णं से ।सए सय मियं उवचिज्जइयं अवचिज्जइयं पुव्विं भासा भासा भासिज्जमाणी भासा अभासा भासा मयं वितिक्कंतं च णं भासिय भासा जा सा पुव्वं भासा भासा भासिज्जमाणी भासा अभासा भासासमयं वितिक्कंतं च णं भा भयाभासा सा किं भासओ भासा अभासओ भासा ?। अभासओ णं सा भासा, णो खलु सा भासओ भासा, पुव्विं किरिया दुक्खा कज्जमाणी किरिया अदुक्खा किरिया समयं वितिक्कंतं च णं कमा किरिया दुक्खा जा सा पुव्वं किरिया दुक्खा कज्जमाणा किरिया अदुक्खा किरिया समयं विइक्कंतं च णं कमा किरिया दुक्खा सा किं करणओ दुक्खा अकरणओ दुक्खा, अकरणओ णं सा दुक्खा, णो खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया, अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकमं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणभूयं जीवसत्ता वेदणं वेदंति त्ति वत्तव्वं सिया, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव वेदणं वेदंति वत्तव्वं सिया, जे ते एवं आहंसु मिच्छं ते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० ४, एवं खलु चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ?, दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ वि परमाणुपोग्गले एगयओ परमाणुपोग्गले भवइ । तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ?। तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपदेसिए खंधे भवइ, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति, एवं जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, साहण्णित्ता खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य णं से असासए सया समियं उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य पुव्विं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयं वितिक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा, जा सा पुव्विं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयं वितिक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा, सा किं भासओ भासा, अभासओ भासा ?। भासओ णं भासा सा, णो खलु सा अभासओ भासा । पुव्विं किरिया अदुक्खा जहा भासा तहा भाणियव्वा, किरिया वि जाव करणओ णं सा दुक्खा नो खलु सा अकरणओ दुक्खा सेवं वत्तव्वं सिया, किच्चं दुक्खं फुसं दुक्खं कज्जमाणकमं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणभूयजीवसत्ता वेदणं वेदंति त्ति वत्तव्वं सिया ।

(चलमाणे अचलिय त्ति) चलत्कर्माचलितं, चलता तेन चलितकार्यकरणाद् वर्तमानस्य चातीततया व्यपदेष्टुमशक्यत्वादेवमन्यत्रापि वाच्यमिति । (एगयओ न साहण्णंति त्ति) एकत एकत्वेन एकस्कन्धतयेत्यर्थः । न संहन्येते न संहतौ मिलितौ स्याताम् । (नत्थि सिणेहकाए त्ति) स्नेहपर्यवराशिर्नास्ति सूक्ष्मत्वात्, त्र्यादियोगे तु स्थूलत्वात्सोऽस्ति ।(दुक्खत्ताए कज्जंति त्ति)पञ्चापुद्गलाः संहत्य दुःखतया कर्मतया क्रियन्ते भवन्तीत्यर्थः । (दुक्खे वि य णं ति) कर्मापि च (से त्ति) तत् शाश्वतमनादित्वात् । (सय त्ति) सर्वदा (समियं ति) सम्यक्सपरिमाणं वा, चीयते चयं याति , अपचीयते अपचयं याति, तथा[पुव्विं ति] भाषणात्प्राग् भासति वाग्द्रव्यसंहतिः । [भास त्ति] सत्यादिभाषा स्यात्तत्कारणत्वात् त्रिभङ्गज्ञानित्वेन वा; तेषां मतमात्रमेतन्निरुपपत्तिकमुन्मत्तवचनवत् । अतो नेहोपपत्तिरत्यर्थं गवेषणीया । एवं सर्वत्रापीति । तथा [भासिज्जमाणी भासा अभास त्ति] निसृज्यमानवाग्द्रव्याण्यभाषा, वर्तमानसमयस्यातिसूक्ष्मत्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति । [भासासमयविइक्कंतं च णं ति] इह क्त्वाप्रत्ययस्य भावार्थत्वात् विभक्तिविपरिणामाच्च भाषासमयव्यतिक्रमे च । [भासिय त्ति]निसृष्टा सती भाषा भवति, प्रतिपाद्यस्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति । [अभासओ णं भास त्ति] अभाषमाणस्य भाषा, भाषणात्पूर्वं पश्चाच्च तदभ्युपगमात् [नो खलु भासओ त्ति] भाष्यमाणायास्तस्या अनभ्युपगमादिति । तथा [पुव्विं किरियेत्यादि] क्रिया कायिक्यादिका सा यावन्न क्रियते तावत् [दुक्ख त्ति] दुःखहेतुः [कज्जमाण त्ति] क्रियमाणा क्रिया न दुःखा न दुःखहेतुः क्रियासमयव्यतिक्रान्तं च क्रियायाः क्रियमाणता, व्यतिक्रमे च कृता सती क्रिया दुःखेति । इदमपि तन्मतमात्रमेव निरुपपत्तिकम् । अथवा पूर्वं क्रिया दुःखानभ्यासात् क्रियमाणा क्रिया न दुःखा अभ्यासात् कृता क्रिया दुःखानुपतापश्रमादेः [करणओ दुक्ख त्ति] करणमाश्रित्य करणकाले कुर्वत इत्यर्थः । [अक-

रणओ दुक्ख त्ति] अकरणमाश्रित्य अकुर्वत इति यावत [नो खलु सा करणओ दुक्ख त्ति] अक्रियमाणत्वे दुःखतया तस्या अभ्युपगमात । [सेवं वत्तव्वं सिया] अथ एवं पूर्वोक्तं वस्तु वक्तव्यं स्यादुपपन्नत्वादस्येति । अथान्ययूथिकान्तरमतमाह- अकृत्यमनागतकालापेक्षया अनिर्वर्तनीयं जीवैरिति गम्यं, दुःखमसातं तत्कारणं वा कर्म, तथा अकृत्यत्वादेवास्पृश्यमबन्धनीयं तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं, चातीतकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं कालत्रयेऽपि कर्मणो बन्धनिषेधादकृताऽकृता। आभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनं , दुःखमिति प्रकृतमेव । के इत्याह-प्राणभूतजीवसत्त्वाः । प्राणादिलक्षणं चेदम्-" प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः" ॥१॥ [वेयणं ति] शुभाशुभकर्मवेदनां पीडां वा वेदयन्त्यनुभवन्ति । इत्येतद्वक्तव्यं स्यादस्यैवोपपद्यमानत्वात् । यादृच्छिकं हि सर्वलोके सुखदुःखमिति । यदाह-" अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः "॥१॥ [से कहमेयं ति] अथ कथमेतत् भदन्त ! एवमन्ययूथिकोक्तन्यायेनेति प्रश्नः ?। [जण्णं ते अण्णउत्थिए] इत्याद्युत्तरम् । व्याख्या चास्य प्राग्वत् । मिथ्या चैतदेवं यदि चलदेव प्रथमसमये चलितं न भवेत्तदा द्वितीयादिष्वपि तदचलितमेवेति न कदाचनापि चलेदत एव वर्तमानस्यापि विवक्षया अतीतत्वं न विरुद्धम । एतच्च प्रागेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते । यच्चोच्यते-चलितकार्याकरणादचलितमेवेति । तदयुक्तम् । यतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानेषु स्थासकोशादिषस्तुष्वन्त्यक्षणभाविवस्तु आद्यक्षणे स्वकार्यं न करोत्येव, असत्त्वाद्, अतो यदन्त्यसमयचलितकार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमयचलितं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणानां स्वस्वकार्यकरणस्वभावत्वादिति । यच्चोक्तम्-द्वौ परमाणू न संहन्येते,सूक्ष्मतया स्नेहाभावात् । तदयुक्तम। एकस्यापि परमाणोः स्नेहसंभवात् । सार्द्धपुद्गलस्य संहतत्वेन तैरेवाभ्युपगमाच्च । यत उक्तम्-[तिन्नि परमाणुपोग्गला एगयओ साहणंति, ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे त्ति] अनेन हि सार्द्धपुद्गलस्य संहतत्वाभ्युपगमेन तस्य स्नेहोऽभ्युपगत एवेत्यतः कथं परमाण्वोः स्नेहाभावेन सङ्घाताभाव इति। यच्चोक्तम-एकतः सार्द्ध एकतः सार्द्ध इति। एतदप्यचारु । परमाणोरर्द्धीकरणे परमाणुत्वाभावप्रसङ्गात् । तथा यदुक्तम्-पञ्च पुद्गलाः संहताः कर्मतया भवन्ति । तदप्यसङ्गतम् । कर्मणोऽनन्तपरमाणुतयाऽनन्तस्कन्धरूपत्वात्पञ्चाणुकस्य च स्कन्धमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवावरणस्वभावमिष्यते,तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसङ्ख्यातप्रदेशात्मकं जीवमावृणुयादिति । तथा यदुक्तम्-कर्म च शाश्वतम् । तदप्यसमीचीनम् । कर्मणः शाश्वतत्वे क्षयोपशमाद्यभावेन ज्ञानादीनां हानेरुत्कर्षस्य चाभावप्रसङ्गात् । दृश्येते च ज्ञानादिहानिवृद्धी । तथा यदुक्तम्-कर्म सदा चीयते अपचीयते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति । यच्चोक्तम्-भाषणात्पूर्वं भाषा,तद्धेतुत्वात् । तदयुक्तमेव । औपचारिकत्वात् । उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्तुत्वात । किञ्च । उपचारस्तात्त्विके वस्तुनि सति भवतीति तात्त्विकी भाषाऽस्तीति सिद्धम । यच्चोक्तम-भाष्यमाणा अभाषा, वर्त्तमानसमयस्याव्यावहारिकत्वात् । तदप्यसम्यक् । वर्त्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्यवहाराङ्गत्वादतीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नतया सत्त्वेन व्यवहारानङ्गत्वादिति । यच्चोक्तम-भाषासमयेत्यादि । तदप्यसाधु । भाष्यमाणभाषाया अभावे भाषासमय इत्यस्याप्यभिलापस्याभावप्रसङ्गात । यच्च प्रतिपाद्यस्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति हेतुः । सोऽनैकान्तिकः । करादिचेष्टानामभिधेयप्रतिपादकत्वे सत्यपि भाषात्वासिद्धेः । तथा यदुक्तम्-अभाषकस्य भाषेति। तदसङ्गततरम । एवं हि सिद्धस्याचेतनस्य वा भाषाप्राप्तिप्रसङ्ग इति । एवं क्रियाऽपि वर्त्तमानकाल एव युक्ता, तस्यैव सत्त्वादिति । यच्चानभ्यासाऽभ्यासादिकं कारणमुक्तम् । तच्चानैकान्तिकम् । अनभ्यासादावपि यतः काचित्सुखादिरूपैव । तथा यदुक्तम्-अकरणतः क्रिया दुःखेति । तदपि प्रतीतिबाधितम् । यतः करणकाल एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा दृश्यते , न पुनः पूर्वं पश्चाद्वा; तदसत्त्वादिति । तथा यदुक्तम्-'अकिच्च'मित्यादि, यदृच्छावादिमताश्रयणात् । तदप्यसाधीयः । यतो यद्यकरणादेव कर्म दुःखं सुखं वा स्यात्तदा विविधैहिकपारलौकिकानुष्ठानाभावप्रसङ्गः स्यात् । अभ्युपगतं च किञ्चित्पारलौकिकानुष्ठानं तैरपि चेति । एवमेतत्सर्वमज्ञानविजृम्भितम । उक्तं च वृद्धैः-" परतित्थियवत्तव्वं य, पढमसए दसमयम्मि उद्देसे । विभंगीणा देसा, मइभेया था वि सा सव्वा ॥ १ ॥ सब्भूयमसब्भूए , भंगा चत्तारि होंति विब्भंगे । उम्मत्तवायसरिसं, तो अप्पाणं ति निद्दिट्ठं ॥ २ ॥ " सद्भूते परमाणौ असद्भूतमर्द्धादि, असद्भूते सर्वगात्मनि सद्भूतं चैतन्यं, सद्भूते परमाणौ सद्भूतं निष्प्रदेशत्वं, असद्भूते सर्वगात्मनि असद्भूतमकर्तृत्वमिति ४। [अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि] इत्यादि तु प्रतीतार्थमेवेति, नवरं [दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए त्ति] एकस्यापि परमाणोः शीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शानामन्यतरदविरुद्धं स्पर्शद्वयमेकदैवास्ति । ततो द्वयोरपि तयोः स्निग्धत्वभावात् स्नेहकायोऽस्त्येव । ततश्च तौ विषमस्नेहात्संहन्येते । इदं च परमतानुवृत्त्योक्तम । अन्यथा रूक्षावपि रूक्षत्ववैषम्ये संहन्येते । एवं यदाह-"समनिद्धयाइ बंधो, न होइ समलुक्खयाइ वि न होइ । वेमायनिद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खंधाणं " ॥ १ ॥ ति । [खंधे वि य णं से असासए त्ति] उपचयापचयिकत्वाद् । अत एवाह-[सया समियमित्यादि] [पुव्विं भासा अभास त्ति] भाष्यत इति भाषा, भाषणाच्च पूर्वं न भाष्यत इति नाभाषेति । [भासिज्जमाणी भास त्ति] शब्दार्थोपपत्तेः [भासिया अभास त्ति] शब्दार्थवियोगात् । [पुव्विं किरिया अदुक्खा त्ति] करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव च न दुःखा, सुखाऽपि नासावसत्त्वादेव, केवलं परमतानुवृत्त्या दुःखेत्युक्तम, 'जहा भासे त्ति' वचनात् । [कज्जमाणी किरिया दुक्खा] सत्त्वादिहापि यत्क्रियमाणा क्रिया दुःखेत्युक्तम्, तत्परमतानुवृत्त्यैव । अन्यथा सुखाऽपि क्रियमाणैव क्रिया । तथा [किरिया समयवितिक्कंतं च णमित्यादि] दृश्यम । [किच्चं दुक्खमित्यादि] अनेन च कर्मसत्ता वेदिता, प्रमाणसिद्धत्वादस्य । तथा हि-इह,यद् द्वयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरेकस्य दुःखलक्षणं फलमन्यस्येतरत, न तद्विशिष्टहेतुमन्तरेण सम्भाव्यते, कार्यत्वात्, घटवत् । यश्चासौ विशिष्टो हेतुः स कर्मेति । आह च-"जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो ण सो विणा हेउं । कज्जत्तणओ गोयम !, घडो व्व हेऊ य से कम्मं " ॥ १ ॥ भ० १ श० १० उ० ।

[५][क्रिया] एकस्य जीवस्य एकेन समयेन क्रियाद्वयकरणे-

पुनरप्यन्ययूथिकान्तरमतमुपदर्शयन्नाह-

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ, जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जएणं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति तं चेव जाव० । जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगसमए एक्कं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं० जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अण्णउत्थिया णमित्यादि] तत्र च [इरियावहियं ति] ईर्या गमनं, तद्विषयः पन्था मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [संपराइं च त्ति) संपरैति परिभ्रमति प्राणी जैव एभिरिति संपरायाः कषायाः, तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी, कषायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [परउत्थिय वत्तव्वं णेयव्वं ति]इह सूत्रेऽन्ययूथिकवक्तव्यं स्वयमुच्चारणीयं,ग्रन्थगौरवभयेनालिखितत्वात्तस्य । तच्चेदम्-"जं समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहियापकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ,एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च संपराइयं चेति ससमयवत्तव्वयाए णेयव्वं" सूत्रमिति गम्यम् । सा चैवम्-"से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जएणं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति ४ जाव । संपराइयं च जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा"-इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेणाध्येयमिति । मिथ्यात्वं चास्यैवम्-ऐर्यापथिकी क्रिया अकषायोदयप्रभवा, इतरा तु कषायोदयप्रभवेति, कथमेकस्यैकदा तयोः संभवः ?। विरोधादिति । भ० १ श० १० उ० ।

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं पन्नवेइ, एवं परूवेइ-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरणयाए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं च । से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जन्नं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नविंति,एवं परूविंति-एवं खलु एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तहेव जाव सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमहंसु तएणं मिच्छा । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छत्तकिरियं वा । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा सम्मत्तकिरियं वा मिच्छत्तकिरियं वा । सेत्तं तिरिक्खजोणीत उद्देसओ बीओ ॥

[अन्नउत्थिया णं भंते! इत्यादि]अन्ययूथिका अन्यतीर्थिकाः,भदन्त ! चरकादय एवमाचक्षते सामान्येन एवं भाषन्ते, स्वशिष्यान् श्रवणं प्रत्यभिमुखानवबुध्य विस्तरेण व्यक्तं कथयन्ति,एवं प्रज्ञापयन्ति प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति । यथा स्वात्मनि व्यवस्थितं ज्ञानं तथा परेष्वप्युत्पादयन्तीति,एवं प्ररूपयन्ति तत्त्वचिन्तायामसंदिग्धमेतदिति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन युगपद् द्वे क्रिये प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्क्रियां च सुन्दराध्यवसायात्मिकाम् , मिथ्यात्वक्रियां चासुन्दराध्यवसायात्मिकाम् । [जं समयमिति]प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया,यस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति [तं समयमिति] तस्मिन् समये सम्यक् क्रियां प्रकरोति । अन्योऽन्यसंवलनोभयनियमप्रदर्शनार्थमाह- सम्यक्त्वप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । तदुभयकरणस्वभावस्य तत्क्रियाकरणात् , सर्वात्मना प्रवृत्तेः । अन्यथा ऽक्रियायोगादिति । एवं खल्वित्यादि निगमनं प्रतीतार्थम् । [से कहमेयं भंते ! इत्यादि] तत्कथमेतद् भदन्त ! एवम् ? । तदेवं गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह-गौतम ! यतः 'णं इति' वाक्यालङ्कारे । ते अन्ययूथिका अन्यतीर्थिका एवमाचक्षते इत्यादि प्राग्वत् यावत् । तन्मिथ्या त एवमाख्यातवन्तः । अहं पुनर्गौतम ! एवमाचक्षे, एवं भाषे, एवं प्रज्ञापयामि, एवं प्ररूपयामि-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन एकां क्रियां प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्त्वक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति , यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । परस्परवैविक्त्यनियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति; सम्यक्त्वमिथ्यात्वक्रिययोः परस्परपरिहारावस्थानात्मकतया जीवस्य तदुभयकरणस्वभावत्वायोगात् । अन्यथा सर्वथा मोक्षाभावप्रसक्तेः कदाचिदपि मिथ्यात्वानिवर्त्तनात् । जी० ३ प्रति० ।

(६) अदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिः-

ते णं काले णं ते णं समये णं रायगिहे नयरे वएणओ।

गुणसिलए चेइए वण्णश्रो० जाव पुढ वीसिलावट्टश्रो तस्स णं गुणसिलयस्स णं चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अण्णउत्थिया परिवसंति । ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव समवसढे जाव परिसा पडिगया । ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अंतेवासी थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जहा बिइयसए० जाव जीवियासा मरणभयविप्पमुक्का समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहो सिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा जाव विहरंति । तए णं ते अण्णउत्थिया जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छंतित्ता ते थेरे भगवंते एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पडिहय जहा सत्तमसए बिइओ उद्देसओ० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतबालाया वि भवामो । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! अदिण्णं गिण्हह , अदिण्णं भुंजह, अदिण्णं साइज्जह, तए णं ते तुज्झे अदिण्णं गेण्हमाणा, अदिण्णं भुंजमाणा, अदिण्णं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हं अदिण्णं गेण्हामो , अदिण्णं भुंजामो, अदिण्णं साइज्जामो, तए णं अम्हे अदिण्णं गेण्हमाणा० जाव अदिण्णं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं असंजय०जाव एगंतबालाया वि भवामो ?। तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिण्णे पडिग्गाहिज्जमाणे अपडिग्गहिए निसिरिज्जमाणे अणिसिट्ठे, तुज्झे णं अज्जो ! दिज्जमाणं पडिग्गहगं असंपत्तं एत्थ णं अंतरा केइ अवहरिज्जा गाहावइस्स णं तं भंते ! णो खलु तं तुज्झे तए णं तुज्झे अदिण्णं गिण्हह० जाव अदिण्णं साइज्जह, तए णं तुज्झे अदिण्णं गिण्हमाणा० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–नो खलु अज्जो ! अम्हे अदिण्णं गिण्हामो, अदिण्णं भुंजामो , अदिण्णं साइज्जामो । अम्हे णं अज्जो ! दिण्णं गिण्हामो, दिण्णं भुंजामो, दिण्णं साइज्जामो । तए णं अम्हे दिण्णं गिण्हमाणा, दिण्णं भुंजमाणा,दिण्णं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजयविरयपडिहय जहा सत्तमसए० जाव एगंतपंडियाया वि भवामो। तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंतं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! तुज्झे दिण्णं गिण्हह० जाव दिण्णं साइज्जह। तए णं तुज्झ दिण्णं गिण्हमाणा० जाव दिण्णं साइज्जमाणा, एगंतपंडियाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–अम्हे णं अज्जो ! दिज्जमाणे दिण्णे पडिग्गाहेज्जमाणे पडिग्गहिए निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे अम्हे णं अज्जो ! दिज्जमाणं पडिग्गहगं असंपत्तं , एत्थ णं अंतरा केइ अवहरेज्जा अम्हे णं तं नो खलु गाहावइस्स तए णं अम्हे दिण्णं गिण्हामो , दिण्णं भुंजामो , दिण्णं साइज्जामो । तए णं अम्हे दिण्णं गिण्हमाणा० जाव दिण्णं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव एगंतपंडियाया वि भवामो; तुज्झे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबालाया वि भवह। तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी–केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव एगंतबालया वि भवामो ?। तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! अदिण्णं गिण्हह ३ , तए णं तुज्झे अदिण्णं गेण्हमाणा० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी–केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिण्णं गिण्हामो० जाव एगंतबालाया वि भवामो ?। तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिण्णे तं चेव० जाव गाहावइस्स णं तं नो खलु तं तुज्झे तए णं तुज्झे अदिण्णं गिण्हह । तं चेव० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते अण्णउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी· तुज्झे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतबालाया वि भवामो ?। तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढवीं पेच्चेह, अभिहणह, वत्तेह, लेसेह, संघाएह, संघट्टेह, परितावेह, किलामेह, उवद्दवेह, तए णं तुज्झे पुढवीं पेच्चेमाणा अभिहणमाणा० जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअविरय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–नो खलु अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पुढवीं पेच्चेमो अभिहणामो० जाव उवद्दवेमो ; अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं वा जोगं वा रीयं वा पडुच्च देसं देसेणं वयामो, पदेसं पदेसेणं वयामो, तेणं अम्हे देसं देसेणं वयमाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा, नो पुढवीं पेच्चेमो अभिहणामो० जाव उवद्दवेमो, तए णं

अम्हे पुढवीं अपेच्चेमाणा अणभिहणमाणा० जाव अणो-द्दवेमाणा, तिविहं तिविहेणं संजय० जाव एगंतपंडिया यावि भवामो ?, तुज्झे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव बालाया वि भवह। तए णं ते अण्णउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी–केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं एगंतबालाया वि भवामो ?। तए णं ते थेरा भगवंतो अण्णउत्थिए एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जा ! रीयं रीयमाणा पुढवीं पेच्चेह० जाव उवद्दवेह। तए णं तुज्झे पुढवीं पेच्चेमाणा० जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतबालाया वि भवह। तए णं ते अण्णउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! गम्ममाणे अगए वीइक्कमिज्जमाणे अवीइक्कंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे असंपत्ते, तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–नो खलु अज्जो ! अम्हे गम्ममाणे अगए वीइक्कमिज्जमाणे अवीइक्कंते रायगिहं नगरं० जाव असंपत्ते अम्हे णं अज्जो ! गम्ममाणे गए वीइक्कमिज्जमाणे वीइक्कंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे संपत्ते तुज्झं णं अप्पणा चेव गम्ममाणे अगए विइक्कमिज्जमाणे वीइक्कंते रायगिहं नगरं० जाव असंपत्ते तए णं ते थेरा भगवंतो अण्णउत्थिए एवं पडिहणंति। एवं पडिहणेत्ता गइप्पवायनामं अज्झयणं पण्णवइंसु।

(तेणमित्यादि) तत्र [अज्जो त्ति] हे आर्याः ! [तिविहं तिविहेणं ति] त्रिविधं करणादिकं योगमाश्रित्य त्रिविधेन मनःप्रभृतिकरणेन [अदिण्णं साइज्जह त्ति] अदत्तं स्वदध्वे अनुमन्यध्व इत्यर्थः। (दिज्जमाणे अदिण्णे इत्यादि) दीयमानमदत्तं दीयमानस्य वर्त्तमानकालत्वाद्दत्तस्य च अतीतकालवर्तित्वाद् वर्तमानातीतयोश्चात्यन्तं भिन्नत्वाद्दीयमानं दत्तं न भवति। दत्तमेव दत्तमिति व्यपदिश्यते। एवं प्रतिगृह्यमाणादावपि। तत्र दीयमानं दायकापेक्षया, प्रतिगृह्यमाणं ग्राहकापेक्षया, निसृज्यमानं क्षिप्यमाणं पात्रापेक्षयेति [अंतरे त्ति] अवसरे। अयमभिप्रायः–यदि दीयमानं पात्रेऽपतितं सद्दत्तं भवति तदा तस्य दत्तस्य सतः पात्रपतनलक्षणं ग्रहणं कृतं भवति। यदा तु तद्दीयमानमदत्तं, तदा पात्रपतनलक्षणं ग्रहणमदत्तस्येति प्राप्तमिति। निर्ग्रन्थोत्तरवाक्ये तु–[अम्हे णं अज्जो ! दिज्जमाणे दिन्ने] इत्यादि यदुक्तं, तत्र क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाद्दीयमानत्वादेर्दत्तत्वादिसमवसेयमिति। अथ दीयमानमदत्तमित्यादेर्भवन्मतत्वाद् यूयमेवासंयतत्वादिगुणा इत्यावेदनायाऽन्ययूथिकान्प्रति स्थविराः प्राहुः (तुज्झे णं अज्जो ! अप्पणा चेवेत्यादि) (रीयं रीयमाण त्ति) रीतं गमनं, रीयमाणा गच्छन्तो, गमनं कुर्वाणा इत्यर्थः। [पुढवीं पेच्चेह त्ति] पृथिवीं आक्रामयथेत्यर्थः। [अभिहणह त्ति] पादाभ्यामाभिमुख्येन हथ [वत्तेह त्ति] पादाभिघातं नैव वर्त्तयथ, श्लक्ष्णतां नयथ। [लेसेह त्ति] श्लेषयथ, भूम्यां श्लिष्टान् कुरुथ। [संघाएह त्ति] संघातयथ, संहतान् कुरुथ। [संघट्टेह त्ति] संघट्टयथ स्पृशथ। [परितावेह त्ति] परितापयथ, समन्ताज्जातसन्तापान् कुरुथ। [किलामेह त्ति] क्लमयथ, मारणान्तिकसमुद्घातं गमयथ इत्यर्थः। [उवद्दवेह त्ति] उपद्रवयथ, मारयथ इत्यर्थः। [कायं च त्ति] कायं शरीरं प्रतीत्योच्चारादिकायकार्यमित्यर्थः। [योगं च त्ति] योगं ग्लानवैयावृत्त्यादिव्यापारं प्रतीत्य [रीयं वा पडुच्च त्ति] ऋतं सत्यं प्रतीत्याप्कायादिजीवसंरक्षणलक्षणं संयममाश्रित्येत्यर्थः। [देसं देसेणं वयामो त्ति] प्रभूतायाः पृथिव्या ये विवक्षिता देशास्तैर्व्रजामो नाविशेषेणेर्यासमितिपरायणत्वेन सचेतनदेशपरिहारतोऽचेतनदेशैर्व्रजाम इत्यर्थः। एवं (पदेसं पदेसेणं वयामो) इत्यपि, नवरं देशो भूमेर्महत्खण्डम्, प्रदेशस्तु लघुतरमिति। यथोक्तगुणयोगेन नास्माकमिवैषां गमनमस्तीत्यभिप्रायतः स्थविरा यूयमेव पृथिव्याक्रमणादितोऽसंयतत्वादिगुणा इति प्रतिपादनायाऽन्ययूथिकान् प्रत्याहुः–[तुज्झे णं अज्जो ! इत्यादि] भ० ८ श० ७ उ०।

प्राग्गमनमाश्रित्य विचारः कृतोऽथ तदेवाश्रित्याऽन्ययूथिकमतनिषेधतः स एवोच्यते—

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे० जाव पुढवीसिलापट्टए तस्स णं गुणसिलस्स चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अण्णउत्थिया परिवसंति। तए णं समणे भगवं महावीरे० जाव समोसढे० जाव परिसा पडिगया। ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे जाव उड्ढं जाणू० जाव विहरइ। तए णं ते अण्णउत्थिया जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबालाया वि भवह। तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–से केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबालाया वि भवामो ?। तए णं ते अण्णउत्थिया भगवं गोयमं एवं वयासी–तुज्झे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह, अभिहणह० जाव उद्दवेह। तए णं तुज्झे पाणे पेच्चमाणा जाव उद्दवेमाणा तिविहं० जाव एगंतबालाया वि भवह। तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–णो खलु अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणा पेच्चेमो० जाव उद्दवेमो अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं च जोयं च रीयं च पडुच्च दिस्सा दिस्सा वयामो, तए णं अम्हे दिस्सा २ वयमाणा पदिस्सा २ वयमाणा णो पाणे पेच्चेमो० जाव णो उद्दवेमो, तए णं अम्हे पाणे अपेच्चमाणा० जाव अणोद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतपंडिया वि० जाव भवामो, तुब्भे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतबालाया वि भवह। तए णं ते अण्णउत्थिया भगवं गोयमं एवं वयासी—केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव वि भवामो ?। तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–तुब्भे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह० जाव उद्दवेह, तए णं तुब्भे पाणे पेच्चमाणा० जाव उद्दवेमाणा तिविहं० जाव एगंतबालाया वि भवह। तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं पडिहणइ। पडि-

हणइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ णच्चासणे जाव पज्जुवासइ गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–सुट्ठु णं तुम्ह गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी—साहु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–अत्थि णं गोयमा ! ममं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था जे णं णो पभू एय वागरणं वागरेत्तए जहा णं तुमं तं सुट्ठु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी–साहु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी ॥

[पेच्चेह त्ति] आक्रामथ (कायं च त्ति) देहं प्रतीत्य मजाम इति योगः। देहश्चेक्रमनशक्तो भवति, तदा मजामो नान्यथा, अभ्यशकटादिनेत्यर्थः । योगं च संयमव्यापारं ज्ञानाद्युपष्टम्भकम्, प्रयोजनं भिक्षाऽटनादि न तं विनेत्यर्थः [रीयं च त्ति] गमनं च अत्वरितादिकं गमनविशेषं प्रतीत्याश्रित्य कथमित्याह–[दिस्सा दिस्स त्ति] दृष्ट्वा दृष्ट्वा । [पदिस्सा पदिस्स त्ति] प्रकर्षेण दृष्ट्वा दृष्ट्वा । भ० १८ श० ८ उ० ।

(७) श्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत—
न वा ? इत्यत्र विवादः–

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं परूवेइ–कहण्णं समणा णं निग्गंथा णं किरिया कज्जंति ?, तत्थ जा सा कडा कज्जइ णो तं पुच्छंति १ । तत्थ जा सा कडा णो कज्जइ णो तं पुच्छंति २ । तत्थ जा सा अकडा कज्जइ तं पुच्छंति ३ । तत्थ जा सा अकडा णो कज्जइ णो तं पुच्छंति ४ । से एवं वत्तव्वं सिया अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति, वत्तव्वं जे ते एवमाहंसु । ते मिच्छा । अहं पुण एवमाइक्खामि, एवं भासामि, एवं पण्णवेमि, एवं परूवेमि–किच्चं दुक्खं किज्जमाणं कडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति त्ति वत्तव्वं सिया ॥

"अण्णउत्थियेत्यादि" प्रायः स्पष्टम्, किन्त्वन्यतीर्थिका इह तापसा विभङ्गज्ञानवन्त एवं वक्ष्यमाणप्रकारमाख्यान्ति सामान्यतो भाषन्ते, विशेषतः क्रमेणैतदेव प्रज्ञापयन्ति प्ररूपयन्तीति पर्यायरूपपदद्वयेनोक्तमिति । अथवाऽऽख्यान्तीत्यद्भाषन्ते, व्यक्तभाषया प्रज्ञापयन्ति, उपपत्तिभिर्बोधयन्ति प्ररूपयन्ति प्रभेदादिकथनत इति । किं तदित्याह–कथं केन प्रकारेण श्रमणानां निर्ग्रन्थानां मत इति शेषः । क्रियत इति क्रिया कर्म, सा क्रियते भवति दुःखायेति विवक्षेति प्रश्नः । इह चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा–कृता क्रियते विहितं सत्कर्म दुःखाय भवतीत्यर्थः १ । एवं कृता न क्रियते २, अकृता क्रियते ३, अकृता न क्रियत इति ४ । एतेष्वनेन प्रश्नेन यो भङ्गः प्रष्टुमिष्टस्तं शेषभङ्गनिराकरणपूर्वकमभिधातुमाह–[तत्थ त्ति] तेषु चतुर्षु भङ्गकेषु मध्ये प्रथमं द्वितीयं चतुर्थं च न पृच्छन्ति । एतत्त्रयस्यात्यन्तरुचेरविषयतया तत्प्रश्नस्याप्यप्रवृत्तेरिति । तथाहि–याऽसौ कृता क्रियते यत्तत्कर्म कृतं न भवति नो तत् पृच्छन्ति, अत्यन्तविरोधेनासम्भवात् । तथाहि–कृतं चेत्कर्म कथं न भवतीति ? उच्यते । न भवति चेत्कथं कृतं तदिति, कृतस्य कर्मणोऽभवनाभावात्। तत्र तेषु याऽसावकृता यत्तदकृतं कर्म नो क्रियते न भवति नो तां पृच्छन्ति अकृतश्चासतश्च कर्मणः खरविषाणकल्पत्वादिति । अमुमेव च भङ्गत्रयं निषेधमाश्रित्यास्य सूत्रस्य त्रिस्थानकावतार इति संभाव्यते । तृतीयभङ्गकस्तु तत्सम्मत इति तं पृच्छन्ति । अत एवाह–तत्र यासावकृता क्रियते यत्तदकृतं पूर्वमविहितं कर्म भवति दुःखाय सम्पद्यते, तां पृच्छन्ति पूर्वकालकृतत्वस्याप्रत्यक्षतयाऽसत्त्वेन दुःखानुभूतेश्च प्रत्यक्षतया सत्त्वेनाकृतकर्मभवनपक्षस्यासम्मतत्वादिति । पृच्छतां चायमभिप्रायः–यदि निर्ग्रन्था अपि अकृतमेव कर्म दुःखाय देहिनां भवतीति प्रतिपद्यन्ते, ततः सुष्ठु शोभनं अस्मत्समानबोधत्वादिति । शेषास्तु पृच्छन्तस्तृतीयमेव पृच्छन्तीति भावः । [सेत्ति] अथ तेषामकृतकर्माभ्युपगमवतामेवं वक्ष्यमाणप्रकारं वक्तव्यमुल्लापः स्यात् । त एव वा एवमाख्यान्ति परान् प्रति यदुत अथैव वक्तव्यं प्ररूपणीयं तत्त्ववादिनां स्याद्भवेत्, अकृते सति कर्मणि दुःखाभावात् । अकृत्यमकरणीयमबन्धनीयमप्राप्तव्यमनागते काले जीवानामित्यर्थः। किं दुःखं ?, दुःखहेतुत्वात्कर्म [अफुसं ति] अस्पृश्यं कर्माकृतत्वादेव, तथा क्रियमाणं च वर्तमानकाले वध्यमानं कृतं वाऽतीतकाले बद्धं क्रियमाणम् । द्वन्द्वैकत्वं, कर्मधारयो वा । न क्रियमाणकृतमक्रियमाणकृतम् । किं तद्, दुःखम् ? "अकिच्चं दुक्खमित्यादि" पदत्रयं [तत्थ जा सा अकडा कज्जइ] तं पृच्छतीत्यन्यतीर्थिकमताश्रितं कालत्रयालम्बनमाश्रित्य त्रिस्थानकावतारोऽस्य द्रष्टव्यः । किमुक्तं भवतीत्याह–अकृत्वा अकृत्वा कर्म । प्राणा द्वीन्द्रियादयः, भूतास्तरवः, जीवाः पञ्चेन्द्रियाः, सत्त्वाः पृथिव्यादयः । यथोक्तम्—" प्राणा द्वित्रिचतुःप्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः " ॥ १ ॥ वेदनां पीडां वेदयन्तीति वक्तव्यमित्ययं तेषामुल्लापः । एतद्वा ते अज्ञानोपहतबुद्धयो भाषन्ते परान् प्रति यदुत एवं वक्तव्यं स्यादिति प्रक्रमः । एवमन्यतीर्थिकमतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह—[जे ते इत्यादि] य एते अन्यतीर्थिका एवमुक्तप्रकारमाहुः [सुत्ति] उक्तवन्तो मिथ्या असम्यक् तेऽन्यतीर्थिका एवमुक्तवन्तः, अकृतायाः क्रियात्वानुपपत्तेः । क्रियते इति क्रिया यस्यास्तु कथञ्चनापि करणं नास्ति सा कथं क्रियेति ? । अकृतकर्मानुभवने हि बद्धमुक्तसुखितदुःखितादिनियतव्यवहाराभावप्रसङ्ग इति स्वमतमाविष्कुर्वन्नाह—[अहमित्यादि] अहमित्यहमेव नान्यतीर्थिकाः, पुनःशब्दो विशेषणार्थः । स च पूर्ववाक्यार्थादुत्तरवाक्यार्थस्य विलक्षणतामाह–[एवमाइक्खामीत्यादि]पूर्ववत् । कृत्यं करणीयमनागतकाले दुःखं तद्धेतुत्वात्, कर्म स्पृश्यं स्पृष्टलक्षणबन्धावस्थायोग्यम्, क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतमतीते अकरणं नास्ति कर्मणः कथञ्चनापीति भावः । स्वमतसर्वस्वमाह–कृत्वा कृत्वा, कर्मेति गम्यते । प्राणादयो वेदनां कर्मकृतशुभाशुभानुभूतिं वेदयन्त्यनुभवन्तीति वक्तव्यं स्यात्सम्यग्वादिनाम् । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

[जीवजीवात्मानौ] (तत्र अतीन्द्रियस्य जीवस्य सिद्धिः 'मंडुक' शब्दे मण्डुकः करिष्यते)

(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्यान्यो जीवोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तिः–

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवंति-एवं खलु पाणाइवाए मुसावाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया पाणाइवायवेरमणे० जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया उप्पत्तियाए० जाव पारिणामियाए वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया उग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स० जाव जीवाया उट्ठाणे० जाव परक्कमे वट्टमाणस्स० जाव जीवाया णेरइयत्ते तिरिक्खमणुस्स देवत्ते वट्टमाणस्स० जाव जीवाया णाणावरणिज्जे० जाव अंतराइये वट्टमाणस्स० जाव जीवाया, एवं कण्हलेस्साए० जाव सुक्कलेस्साए सम्मद्दिट्ठीए ३, एवं चक्खुदंसणे ४ आभिणिबोहियणाणे ५ मइअण्णाणे ३ आहारसण्णाए ४ एवं ओरालियसरीरे ५, एवं मणजोए ३, सागारोवओगे अणागारोवओगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया, से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जएणं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु पाणाइवाए०जाव मिच्छादंसणसल्ले वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया० जाव अणागारोवओगे वट्टमाणस्स सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया ।

अन्ययूथिकप्रक्रमादेवेदमाह—(अण्णउत्थिया णमित्यादि) प्राणातिपातादिषु वर्तमानस्य देहिनः (अण्णे जीव त्ति) जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः, शरीरं प्रकृतिरित्यर्थः । सकाशाद् व्यतिरिक्त अन्यो जीवस्य देहस्य सम्बन्धी अधिष्ठातृत्वादात्मा जीवात्मा, पुरुष इत्यर्थः । अन्यत्वं च तयोः पुद्गलापुद्गलस्वभावत्वात् । ततश्च शरीरस्य प्राणातिपातादिषु वर्तमानस्य दृश्यमानत्वात् शरीरमेव तत्कर्तृ, न पुनरात्मेत्येके । अन्ये त्वाहुः-जीवतीति जीवो नारकादिपर्यायः, जीवात्मा तु सर्वभेदानुगामि जीवद्रव्यं द्रव्यपर्याययोश्चान्यत्वम्, तथाविधप्रतिभासभेदनिबन्धनत्वात्, घटपटादिवत् । तथाहि-द्रव्यमनुगताकारां बुद्धिं जनयति, पर्यायास्त्वननुगताकारामिति । अन्ये त्वाहुः-अन्यो जीवोऽन्यश्च जीवात्मा जीवस्यैव स्वरूपमिति । प्राणातिपातादिविचित्रक्रियाभिधानं चेह सर्वावस्थासु जीवजीवात्मनोर्भेदख्यापनार्थमिति परमतम् । स्वमतं तु-(सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाय त्ति) स एव जीवः शरीरं स एव जीवात्मा जीव इत्यर्थः,कथञ्चिदिति गम्यम् । नह्यनयोरत्यन्तं भेदः, अत्यन्तभेदे देहेन स्पृष्टस्यासंवेदनप्रसङ्गो देहकृतस्य च कर्मणो जन्मान्तरे वेदनाभावप्रसङ्गः अन्यकृतस्यान्यसंवेदने चाकृताभ्यागमप्रसङ्गोत्पत्तिम्, अभेदे च परलोकाभाव इति । द्रव्यपर्यायव्याख्यानेऽपि न द्रव्यपर्याययोरत्यन्तभेदस्तथानुपलब्धेः । यश्च प्रतिभासभेदो नासावात्यन्तिकतद्भेदकृतः, किन्तु पदार्थानामेव तुल्यातुल्यरूपकृत इति जीवात्मा जीवस्वरूपम् । इह तु व्याख्याने स्वरूपवतो न स्वरूपमत्यन्तं भिन्नं, भेदे हि निःस्वरूपता तस्य प्राप्नोति । नच शब्दभेदे वस्तुनो भेदोऽस्ति, शिलापुत्रकस्य वपुरित्यादाविवेति ॥ भ० १७ श० २ उ० ।

(९) [परिचारणा] परिचारणा कालगतस्य निर्ग्रन्थस्य—

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, पण्णवेंति, परूवेंति-एवं खलु नियंठकालगए समाणे देवब्भूएणं अप्पाणेणं से णं तत्थ नो अण्णदेवे नो अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणिच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ; एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो वेदे वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च । एवं अण्णउत्थियवत्तव्वया णेयव्वा० जाव इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव इत्थीवेयं च पुरिसवेयं च । जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु नियंठे कालगए समाणे अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महिड्डिएसु० जाव महाणुभागेसु दूरंगतीसु चिरट्ठितीसु से णं तत्थ देवे भवइ महिड्डिए० जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे० जाव पडिरूवे, से णं तत्थ अण्णे देवे अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ, अप्पणिच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, नो अप्पणामेव अप्पाणं वेउव्वियं परियारेइ, एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा । जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ णो तं समयं पुरिसवेदं वेदेइ, जं समयं पुरिसवेदं वेदेइ णो तं समयं इत्थिवेयं वेएइ । इत्थिवेयस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेदेइ, पुरिसवेयस्स उदएणं नो इत्थिवेयं वेएइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ । तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा । इत्थी इत्थिवेएणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिसवेदेणं उदिण्णेणं इत्थिं पत्थेइ । दो वेए अण्णमण्णं पत्थेइ । तं जहा-इत्थी वा पुरिसं, पुरिसो वा इत्थिं ॥

(अण्णउत्थिए इत्यादि) (देवब्भूए णं त्ति) देवभूतेन आत्मना कारणभूतेन नो परिचारयतीति योगः(सेणं त्ति) असौ निर्ग्रन्थदेवस्तत्र देवलोके नो नैव (अण्ण त्ति) अन्यान् आत्मव्यतिरिक्तान् देवान् सुरान्, तथा नो अन्येषां देवानां संबन्धिनीर्देवीः (अभिजुंजिय त्ति) अभियुज्य वशीकृत्य आश्लिष्य वा परिचारयति परिभुङ्क्ते (णो अप्पणिच्चियाओ त्ति) आत्मीया (अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय त्ति) स्त्रीपुरुषरूपतया विकृत्य । एवं च स्थिते (एगे वि य णमित्यादि परउत्थियवत्तव्वया णेयव्व त्ति) एवं चेयं ज्ञातव्या-"जं समयं इत्थिवेयं वेएइ तं समयं पुरिसवेयं वेएइ, जं समयं पुरिसवेयं वेएइ तं समयं इत्थिवेयं वेएइ, इत्थिवेयस्स वेयणयाए पुरिसवेयं वेएइ पुरिसवेयस्स वेयणयाए इत्थिवेयं वेएइ,एवं खलु एगे वि य णमित्यादि" मिथ्यात्वं चैषामेवम्-स्त्रीरूपकरणेऽपि तस्य देवस्य पुरुषत्वात्पुरुषवेदस्यैवैकत्र समये उदयो न स्त्रीवेदस्य, वेदपरिवृत्त्या वा स्त्रीवेदस्यैव न पुरुषवेदस्योदयः; परस्परविरुद्धत्वादिति । [देवलोएसु त्ति] देवजनेषु

मध्ये [उववत्तारो भवंति त्ति] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवतीति दृश्यम्। "महिड्डिए" इत्यत्र यावत् करणादिदं दृश्यम्-"महज्जुइए महाबले महाजसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइयवच्छे कडयतुडियथंभियभूए "। त्रुटिका बाहुरक्षिका [अंगयकुंडलमट्ठगंडकण्णपीढधारी] अङ्गदानि बाह्वाभरणविशेषान्, कुण्डलानि कर्णाभरणविशेषान्, मृष्टगण्डानि चोल्लिखितकपोलानि, कर्णपीठानि कर्णाभरणविशेषान्, धारयतीत्येवं शीलो यः स तथा। [विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउलिमउडे] विचित्रमाला च कुसुमस्रक् मौलौ मस्तके मुकुटं च यस्य स तथा, इत्यादि यावत्। [रिद्धीए जुईए पभाए छायाए अच्चीए तेए णं लेस्साए दस दिसाओ उज्जोएमाणे त्ति] तत्र ऋद्धिः परिवारादिका,युतिरिष्टार्थसंयोगः, प्रभा यानादिदीप्तिः, छाया शोभा, अर्चिः शरीरस्थरत्नादितेजोज्वाला, तेजः शरीररोचिः, लेश्या देहवर्णः, एकार्था वैते। उद्द्योतयन्प्रकाशकरणेन [पभासेमाणे त्ति] प्रभासयन् शोभयन् इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-- [पासाइए] द्रष्टॄणां चित्तप्रसादजनकः [दरिसणिज्जे य] पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति [अभिरूवे] मनोज्ञरूपः [पडिरूवे त्ति] द्रष्टारं द्रष्टारं प्रति रूपं यस्य स तथेति। एकेनैकदा एक एव वेदो वेद्यत। इह कारणमाह-[इत्थी इत्थीवेयणमित्यादि]भ० २ श०५ उ०।

(१०) बालपंडितत्वे—

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बालपंडिया। जस्स णं एगपाणाए वि दंडे अणिक्खित्ते, से णं एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया, से कहमेयं भंते! एवं ?। गोयमा! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा !० जाव परूवेमि-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बालपंडिया, जस्स णं एगपाणे वि दंडे णिक्खित्ते, से णं णो एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया ॥

एतस्मिंश्च पक्षद्वयं जिनाभिमतमेवानुवादपरतयोक्त्वा द्वितीयपक्षं दूषयन्तस्ते इदं प्रज्ञापयन्ति-(जस्स णं एगपाणाए वि दंडमित्यादि)[जस्स त्ति] येन देहिना एकप्राणिन्यप्येकत्रापि जीवे सापराधादौ, पृथिवीकायिकादौ वा किं पुनर्बहुषु दण्डो वधः। [अणिक्खित्ते त्ति] अनिक्षिप्तोऽनुज्झितोऽप्रत्याख्यातो भवति। स एकान्तबाल इति वक्तव्यः स्यात्। एवं च श्रमणोपासका एकान्तबाला एव न बालपण्डिता,एकान्तबालव्यपदेशनिबन्धनस्यासर्वप्राणिदण्डमत्यागस्य भावादिति परमतम्। स्वमतं तु-एकप्राणिन्यपि येन दण्डपरिहारः कृतोऽसौ नैकान्तेन बालः, किं तर्हि ?, बालपण्डितः,विरत्यंशसद्भावेन मिश्रत्वात्तस्य। एतदेवाह-(जस्स णमित्यादि) एतदेव बालत्वादिजीवादिषु निरूपयन्नाह-(जीवाणमित्यादि) प्रागुक्तानां संयतादीनामिहोक्तानां च पण्डितादीनां यद्यपि शब्दत एव भेदो नार्थतस्तथापि संयतत्वादिव्यपदेशः क्रियाव्यपेक्षः, पण्डितत्वादिव्यपदेशस्तु बोधविशेषापेक्ष इति। भ० १७ श० २ उ०।

(११) भाषा—

रायगिहे० जाव एवं वयासी-अण्णउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइस्संति। एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासइ। तं जहा-मोसं वा, सच्चामोसं वा, से कहमेयं भंते! एवं ?। गोयमा! जं णं ते अण्णउत्थिया० जाव जं णं एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि ४-णो खलु केवली जक्खाएसेणं आदिस्सइ, णो खलु केवली जक्खाएसेणं आइट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासइ। तं जहा-मोसं वा, सच्चामोसं वा; केवली णं असावज्जाओ अपरोवघाइयाओ आहच्च दो भासाओ भासइ। तं जहा-सच्चं वा असच्चामोसं वा ॥

(जक्खाएसेणं आइस्सइ त्ति) देवावेशेनाविश्यतेऽधिष्ठीयत इति [नो खलु इत्यादि] नो खलु केवली यक्षावेशेनाविश्यते ऽनन्तवीर्यत्वात्तस्य।(अण्णाइट्ठे त्ति)अन्याविष्टः परवशीकृतः सत्यादिभाषाद्वयं च भाषमाणः केवली उपधिप्रग्रहप्रणिधानादिकं विचित्रं वस्तु भाषत इति। भ० १८ श० ७ उ०।

(१२) [मनुष्यलोकः] पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः-

अण्णउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-से जहा नामए जुवइं जुवाणे हत्थेणं हत्थं गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्ता सिया, एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाइं बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणुस्सेहिं,से कहमेयं भंते! एवं ?। गोयमा! जण्णं ते अण्णउत्थिया जाव मणुस्सेहिं जे एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि०जाव-एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाइं बहुसमाइण्णे नेरयलोए नेरइएहिं।

(अण्णउत्थियेत्यादि) (बहुसमाइण्णे त्ति) अत्यन्तमाकीर्णम्, मिथ्यात्वं च तद्वचनस्य विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वादवसेयमिति ॥ भ० ५ श० ६ उ०।

(१३) [वेदना] सर्वे जीवा अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ते इत्यत्र विवादः—

अण्णउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति०जाव परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदंति, से कहमेयं भंते! एवं ?। गोयमा! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति०जाव वेदंति; जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि०जाव परूवेमि-अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेयणं वेदंति। से केणट्ठेणं अत्थेगइया तं चेव उच्चारेयव्वं ?। गोयमा! जेणं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदंति, तेणं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदंति, जेणं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेयणं वेदंति, तेणं पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेयणं वेदंति, से तेणट्ठेणं तहेव ॥

(एवंभूयं वेयणं ति) यथाविधं कर्म्म निबद्धमेवंभूतामेवंप्रकारतयोत्पन्नां वेदनामसातादिकर्मोदयं वेदयन्त्यनुभवन्ति । मिथ्यात्वं चैतद्वादिनामेवम्-न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्माऽनुभूयते, आयुःकर्मणो व्यभिचारात् ! तथाहि-दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुःकर्म्मणोऽल्पीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति,कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महासंयुगादौ जीवलक्षाणामप्येकदैव मृत्युरुपपद्येतेति । [अणेवंभूयं पि त्ति] यथा बद्धं कर्म्म नैवम्भूताऽनेवम्भूता, अतस्ताम् । श्रूयन्ते ह्यागमे-कर्म्मणः स्थितिघातरसघातादय इति ॥ भ० ५ श० ५ उ०।

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-एवं खलु सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जएणं ते अण्णउत्थिया०जाव मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-अत्थेगइया पाणाभूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति। आहच्च सायं अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतं सायं वेयणं वेयंति, आहच्च असायं वेयणं वेयंति, अत्थेगइया पाणा ४ वेमायाए वेयणं वेयंति, आहच्च सायमसायं से केणट्ठे णं ?। गोयमा ! नेरइया णं एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति,आहच्च सायं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया एगंतं सायं वेयंति, आहच्च असायं पुढविकाइया० जाव मणुस्सा वेमायाए वेयंति, आहच्च सायमसायं , से तेणट्ठे णं ॥

(अण्णउत्थियेत्यादि) (आहच्च सायं ति) कदाचित्सातां वेदनाम् । कथमिति ?, उच्यते-"उववाएण व सायं,नेरइओ देवकम्मुणा वा वि"।(आहच्च असायं ति) देवा आहननप्रियविप्रयोगादिष्वसातां वेदनां वेदयन्तीति । (वेमाया य त्ति) विविधया मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । प्र० ६ श० १० उ० ।

(१४) [शीलम्] शीलं श्रेयः , श्रुतं श्रेयं इत्यत्रान्ययूथिकैः सह विवादः—

सयगिहे०जाव एवं वयासी-अणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-एवं खलु सीलं सेयं, सुयं सेयं, सुयं सीलं सेयं, से कहमेयं भंते! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अणउत्थिया एवमाइक्खंति०जाव-जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता । तं जहा-सीलसंपण्णे नामं एगे नो सुयसंपण्णे १। सुयसंपण्णे नामं एगे नो शीलसंपण्णे २। एगे सीलसंपण्णे वि सुयसंपण्णे वि ३। एगे नो सीलसंपण्णे नो सुयसंपण्णे ४। तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए, से णं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णायधम्मे। एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पण्णत्ते १। तत्थ णं जे से दोच्चे पुरिसजाए,से णं पुरिसे असीलवं सुतवं अणुवरए विण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पणत्ते २। तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं सुतवं उवरए विण्णायधम्मे,एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते ३ । तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असीलवं असुतवं अणुवरए अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते ।

अस्य वृत्त्यनुसारेण व्याख्या-एवं लोकसिद्धन्यायेन खलु निश्चयेन इहाऽन्ययूथिकाः केचित्क्रियामात्रादेवाऽभीष्टाऽर्थसिद्धिमिच्छन्ति । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजनं, निश्चेष्टत्वात्; घटादिकरणप्रवृत्तावाकाशादिपदार्थवत् । पठ्यते च- "क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् " । १। तथा-"जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणी, नाणस्स भागी न हु सग्गईए" ।१। अतस्ते प्ररूपयन्ति-शीलं श्रेयः प्राणातिपातादिविरमणध्यानाध्ययनादिरूपा क्रियैव श्रेयोऽतिशयेन प्रशस्यं , श्लाघ्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्छ्रेयं वा समाश्रयणीयं पुरुषार्थविशेषार्थिना ।अन्ये तु ज्ञानादेवेष्टार्थसिद्धिमिच्छन्ति, न क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियावतोऽपि फलसिद्ध्यदर्शनात् । अधीयते च-"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् " ॥१॥ तथा-"पढमं नाणं तवो दया,एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही। किं वा,नाही छेयपावयं " ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः, श्रुतं श्रुतज्ञानं तदेव श्रेयोऽतिप्रशस्यमाश्रयणीयं वा; पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वात् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्योन्यनिरपेक्षाभ्यां फलमिच्छन्ति। ज्ञानं क्रियाविकलमेवोपसर्जनीभूतक्रियं वा फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला उपसर्जनीभूतज्ञाना वा फलदेति भावः । भणन्ति च-" किंचिद्वेदमयं पात्रं, किंचित्पात्रं तपोमयम् । आगमिष्यति यत्पात्रं, तत्पात्रं तारयिष्यति " ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः,तथा शीलं श्रेयः, द्वयोरपि प्रत्येकं पुरुषस्य पवित्रतानिबन्धनत्वादिति । अन्ये तु व्याचक्षते-शीलं श्रेयस्तावन्मुख्यवृत्त्या, तथा श्रुतं श्रेयः, श्रुतमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यर्थः, इत्येकीयं मतम् । अन्यदीयमतं तु श्रुतं श्रेयस्तावत् । तथा शीलमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यर्थः । अयं चार्थ इह सूत्रे काकुपाठाल्लभ्यते । एतस्य च प्रथमव्याख्यानेऽन्ययूथिकमतस्य मिथ्यात्वं, पूर्वोक्तपक्षत्रयस्यापि फलसिद्धावनङ्गत्वात्, समुदायपक्षस्यैव च फलसिद्धिकारणत्वात् । आह च-" नाणं पयासयंसो, इओ तवो संजमो य गुत्तिकरो । तिण्हं पि समाओगो, मोक्खो जिणसासणे भणिओ " ॥ १ ॥ तपःसंयमौ च शीलमेव । तथा-" संजोगसिद्धीयें फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ । अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा " ॥१॥ त्ति । द्वितीयव्याख्यानपक्षेऽपि मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धेरेकत्वादेकैकस्य प्रधानेतरविवक्षाया असङ्गतत्वादिति । अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि, यावत्प्ररूपयामीत्यत्र श्रुतयुक्तं शीलं श्रेय इत्येतावान् वाक्यशेषो दृश्यः । अथ कस्मादेवमत्रोच्यते-[एवमित्यादि] एवं वक्ष्यमाणन्यायेन [पुरिसजाय त्ति]पुरुषप्रकाराः [सीलवं असुयवं ति] कोऽर्थः ?[उवरए अविण्णायधम्मे त्ति] उपरतो निवृत्तः स्वबुद्ध्या

पापात् अविज्ञानधर्म्माभावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानो बालतपस्वीत्यर्थः । गीतार्थानिश्रिततपश्चरणनिरतो गीतार्थ इत्यन्ये । [देसाराहए त्ति] देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः । सम्यग्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति । [असीलवं सुयवं ति] कोऽर्थः? [अणुवरए विसायधम्मे त्ति] पापादनिवृत्तो ज्ञातधर्म्मा च अविरतसम्यग्दृष्टिरिति भावः । [देसविराहए त्ति] देशं स्तोकमंशं ज्ञानादित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं, चारित्रं विराधयतीत्यर्थः ; प्राप्तस्य तस्यापालनादप्राप्तेर्वा [सव्वाराहए त्ति] सर्वं त्रिप्रकारमपि मोक्षमार्गमाराधयतीत्यर्थः; श्रुतशब्देन ज्ञानदर्शनयोः संगृहीतत्वात् । नहि मिथ्यादृष्टिर्विज्ञातधर्म्मा तत्त्वतो भवतीति । एतेन समुदितयोः शीलश्रुतयोः श्रेयस्त्वमुक्तमिति (सव्वाराहए) इत्युक्तम । भ० ८ श० १० उ० ।

(१५) [सुखम] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः–

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति–जावइया रायगिहे णगरे जीवा, एवइयाणं जीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा दुहं वा० जाव कोलट्ठिगमायमवि निप्फावमायमवि कलममायमवि मासमायमवि मुग्गमायमवि जुयमायमवि लिक्खमायमवि अभिनिव्वट्टेत्ता उवदंसित्तए से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि–सव्वलोए वि य णं सव्वजीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा तं चेव० जाव उवदंसित्तए से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! अयण्णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते । देवेणं महिड्ढिए० जाव महाणुभागे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गगं गहाय तं अवद्दालेइ । अवद्दालेत्ता० जाव इणामेव कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से नूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तिहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ? । हंता ! फुडे, चक्किया णं गोयमा ! केइ तेसिं घाणपोग्गलाणं कोलट्ठिमायमवि० जाव उवदंसित्तए णो इणट्ठे समट्ठे । से तेणट्ठे णं जाव उवदंसित्तए जीवेणं भंते ! जीवे जीवे ? । गोयमा ! जीवे ताव नियमा, जीवे जीवे वि नियमा जीवे ।

(अण्णउत्थीत्यादि) (नो चक्किय त्ति) न शक्नुयात् । (जाव कोलट्ठियमायमवि त्ति) आस्तां बहु बहुतरं वा यावत्, कुवलास्थिकमात्रमपि, तत्र कुवलास्थिकं बदरकुलकः, (निप्फाव त्ति) वल्लः, (कल त्ति) कलायः, (जूय त्ति) यूका; " अयण्णमित्यादि " दृष्टान्तोपनयः । एवं यथा गन्धपुद्गलानामतिसूक्ष्मत्वेनामूर्त्तकल्पत्वात्कुवलास्थिकमात्रादिकं न दर्शयितुं शक्यते ; एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । भ० ६ श० १० उ० ।

(१६) [ह्रदः] राजगृहनगरस्य बहिर्वैभारपर्वतस्याऽधःस्थस्य ह्रदस्य विषये विप्रतिपत्तयः–

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, भासंति, पण्णवेंति, परूवेंति–एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ णं महं एगे हरए अघे पण्णत्ते । अणेगाइं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं नाणादुमसंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए० जाव पडिरूवे, तत्थ णं बहवे उदारा बलाहया संसेयंति, संमुच्छियंति, वासंति, तव्वतिरित्ते वि य णं सया समितं उसिणे आउकाए अभिनिस्सवइ, से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जण्णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव जे ते एवमाइक्खंति, मिच्छं ते एवमाइक्खंति । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि, भासेमि, पण्णवेमि, परूवेमि-एवं खलु रायगिहस्स णयरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे पण्णत्ते । पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं नाणादुमसंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, तत्थ णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, तव्वतिरित्ते वि य णं सया समियं उसिणे उसिणे आउआए अभिनिस्सवइ, एस णं गोयमा ! महातवोवतीरप्पभवे पासवणे, एस णं गोयमा ! महातवोवतीरप्पभवस्स पासवणस्स अट्ठे पण्णत्ते । सेवं भंते ! भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ ॥

(अण्णउत्थियेत्यादि) [पव्वयस्स अहे त्ति] अधस्तात्तस्योपरि पर्वत इत्यर्थः । (हरए त्ति) ह्रदः [अघे त्ति] अघाभिधानः । क्वचित्तु (हरए त्ति) न दृश्यते, अघे इत्यस्य च स्थाने अप्पे त्ति दृश्यते, तत्र च आप्यः अपां प्रभवः, ह्रद एव चेति (ओराल त्ति) विस्तीर्णाः, (बलाहय त्ति) मेघाः, (संसेयंति त्ति) संस्विद्यन्ति, उत्पादाभिमुखीभवन्ति (संमुच्छंति त्ति) संमूर्च्छन्त्युत्पद्यन्ते (तव्वइरित्ते य त्ति) ह्रदपूरणादतिरिक्तश्च उत्कालित इत्यर्थः । (आउयाए त्ति) अप्कायः [अभिनिस्सवइ त्ति] अभिनिश्रवति क्षरति [मिच्छं ते एवमाइक्खंति त्ति) मिथ्यात्वं चैतदाख्यानस्य विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वात्प्रायः सर्वज्ञवचनविरुद्धत्वाद् व्यावहारिकप्रत्यक्षेण प्रायोऽन्यथोपलम्भाच्चावगन्तव्यम् । [अदूरसामंते त्ति] नातिदूरे नाप्यतिसमीप इत्यर्थः । (एत्थ णं ति) प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमाने (महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे त्ति) आतप इव आतप उष्णता, महाँश्चासावातपश्चेति महातपो, महाऽऽतपस्य उपतीरं तीरसमीपे प्रभव उत्पादो यस्यासौ महातपोपतीरप्रभवः । प्रश्रवति क्षरतीति प्रश्रवणः, प्रस्यन्दन इत्यर्थः । (वक्कमंति) उत्पद्यन्ते, (विउक्कमंति) विनश्यन्ति । एतदेव व्यत्ययेनाह–च्यवन्ते उत्पद्यन्ते चेति । उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह–(एस णमित्यादि) एषोऽनन्तरोक्तरूपः, एष वा अन्ययूथिकपरिकल्पिताप्यसंज्ञो महातपोपतीरप्रभवः प्रश्रवण उच्यते । तथा एष योऽयमनन्तरोक्तः (उसिणजोणिए इत्यादि) स महातपोपतीरप्रभवस्य प्रश्रवणस्यार्थोऽभिधानान्वर्थः प्रज्ञप्तः । भ० २ श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः । (अन्ययूथिकविशेषैः कापिलादिभिः सह विवादास्तु तत्तच्छब्देषु, 'समोसरण' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते ।)

(१७) संसर्गस्तु तैः [काापिलादिभिः] सह न समाचरणीय एव [आगाढवचनम्] यथा–

अन्ययूथिकं वा गृहस्थं वा आगाढं वा वदति–

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ९ ।

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । १० । जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ११ । जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अन्नयरिए अच्चासायणाए अच्चासादइ, अच्चासायंतं वा साइज्जइ । १२ ।

आगाढगाहासुत्तं–

आगाढफरुसमीसग–दसमुद्देसम्मि वण्णितं पुव्वं ।
गिहिअण्णतित्थिएहिं, ते चेव य होंति तेरसमे ॥२५॥

जहा दसमुद्देसे भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भणिता, तहा इह गिहत्थअण्णउत्थियं प्रति वक्तव्या । इमेहिं जातिमातिएहिं गिहत्थि अण्णतित्थियं वा ऊणतरं परिभवंतो आगाढं फरुसं वा भणति–

जातिकुलरूवभासा–धणबलपाहण्णदाणपरिभोगे ।
सत्तवयबुद्धिनागर–तक्करभयकेयकम्मकरे ॥ २६ ॥
जदि ताव मम्मपरिघ–ट्टितस्स मुणिणो वि जायते मण्णुं ।
किं पुण गिहीण मण्णुं, न भविस्सति मम्मविद्धो णं ॥२७॥

जातिकुलरूवभासा धणेण बलेण पाहण्णेण य एतेहिं दाणं प्रति अदाता संति वि धणे, किमसत्तेण अपरिभोगी हीनसत्वो वयसा अपडिप्पन्नो मंदबुद्धिः स्वतो नागरस्तं ग्राम्यं परिभवति । तं वा गिहत्थं अण्णतित्थियं वा तस्करप्रभृतककर्मकरभावे हि ठियं परिभवति ॥ जति ताव कोहाणिमाइपरा वि जति णो जातिमातिमम्मेण घट्टिया कुप्पंति, किं पुण गिहिणो सुतरां कोपं करिष्यन्तीत्यर्थः ।

सो य उप्पन्नमंत इमं कुज्जा–

खिप्पं मरेज्ज मारे–ज्ज वि कुज्जाऽवगेण्हणा दाणिं ।
देसच्चा वंचकरे, संताऽसंतेण पमिसिसि ॥२८॥

अप्पणा वा मण्णुप्पणो मरेज्ज, कुवितो वा साहुं मारेज्जा, रुट्ठो वा साहुं रायकुलादिणे गेण्हावेज्जा, साधुणा वा सेहिओ देसच्चागं करेज्ज, संतेण असंतेण वा प्रत्यभिघो एवं कुर्यात् । नि० चू० १३ उ० ।

(१८) उदकवीणिका–

जे भिक्खू दगवीणियं अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥

पाणीयं दगं वीणिया वासोदगस्स वीणिया वि कोवणानिमित्तं णिज्जुत्तिकारो भणति–

वासासुदगवीणिय, वसहीसंबद्ध एतरे चेव ।
वसहीसंबद्धा पुण, बहिया अंतो वरि तिधा णेअ ।१३३।

वासासु दगवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए संबद्धा, इतरा असंबद्धा । वसहीसंबद्धा तिविहा विहिता-बहिया, अंतो, उवरिं च । इमं तिविहाए वि विक्खाणं णिअ–

परिगल्ल विहिता उम्मि–ज्जए अंतो व ओदए वा वि ।
हम्मियतलमाले वा, पणालछिड्डं व उवरिं तु ॥ १३४ ॥

जा सा वसहीसंबद्धा सा निव्व परिगाडो, जा सा अंते संबद्धा सा भूमी उम्मिज्जति, सिरा वा उप्पज्जिगा वासोदगं वा छिद्देहिं पविट्ठं, जा सा उवरि संबद्धा सा हम्मियतले हम्मतले आयासो वा मंडविगाच्छादितमाले वा वासोदगं पविट्ठं जायाले वा पणालच्छिड्डं ।

वसही य असंबद्धा, उदगागमठाणकद्दमे चेव ।
पढमा वसहिणिमित्तं, मग्गणिमित्तं दुवे इतरा ॥ १३५ ॥

वसही असंबद्धा तिविहा-उदगस्स आगमो उदगागमो, वसहिं तेण आगच्छति पविसति त्ति, अंगणे वा जत्थ साहुणो अच्छंति तं नाम उदगं पति, णिग्गमणपहे वा उदगं पति, तत्थ कद्दमो भवति, तत्थ पढमा जा वसही तेण पविसति त्ति, ते अण्णतो दगवाहो कज्जति, मा वसहीविणासो भविस्सति, इयरासु दुसु जा अंगं पति, जा य णिग्गमपहे, एता अण्णतो दगवीणिया कज्जति, मा उदगं ठाहि त्ति, तं च संसज्जति, तत्थ अंति तणं ताणं तस्स पाणविराहणा कज्जमो वा होहि त्ति मग्गणिमित्तं णाम मा मग्गो रुज्झिहि त्ति, उदगेण कद्दमेण वा वसहिसंबद्धासु वि दगवीणिया कज्जति ।

एते सामण्णतरं, दगवीणिय जो उ कारवे भिक्खू ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, अयगोलसमेण आणादी । १३६ ।

अयं लोहः, तस्स गोलो पिंडो, सो तत्तो समंता दहति । एवं गिहिअण्णतित्थिओ वा समंततो जीवोवघाती, तम्हा एतेहिं ण कारवे ।

दगवीणियएगट्ठिया इमे–

दगवीणिय दगवाहो, दगपरिगालो य होंति एगट्ठा ।
विणयति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भण्णते तम्हा ।१३७।

पुव्वद्धे एगट्ठिया, पच्छद्धे दगवीणियं निरुत्तं ॥ १३७ ॥

गिहिअण्णतित्थिएहिं दगवीणियं कारवेंतस्स इमे दोसा–

आया तु हत्थपादं, इंदियजायं च पच्छकम्मं वा ।
फासुगमफासुदेसे, सव्वसिणाणे य लहुगा य ॥१३८॥

[आय इति] आयविराहणा–तत्थ हत्थं पादं वा लूसेज्जा, इंदियाण अण्णतरं वा लूसेज्जा, अहवा इंदियजायमिति वेंदियादिया, ते विराहेज्जा, पच्छाकम्मं वा करेज्जा, तत्थ फासुएणं देसे मासलहुं, सव्वे चउलहुं, अफासुएणं देसे, सव्वे वा चउलहुं, अप्पणो करेंतस्स एते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकरणे इमे दोसा–

पणगादिहरितमुच्छण–संजमआताअजीरगेलण्णे ।
वहिता वि आयसंजम–उवघाणा से दुगंछा य ॥१३९॥

कारणेण करेज्ज वि दगवीणियं । किं कारणं ?, इमं–

वसहीए दुल्लभाए, वाघातजुयाए अहव सुलभाए ।

एतेहिँ कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४० ॥

पणगो उल्ली समुच्छइ, आदिग्गहणतो बेंदियादि समुच्छंति, हरियकाओ उट्ठेति, एसा संजमविराहणा । आयविराहणा सीतलवसहीए भत्तं ण जीरति, ततो गेलण्णं जायति, एते वसहिसंबद्धाए दगवीणियाए अकज्जमाणीए दोसा, वसहिअसंबद्धाए बहिया एमे दोसा-उदगागमे गणे अनादरे चिल्लिच्चले लीतिआयविहारणा संजमे पणगा हरिता बेंदिया वा उवहिविणासो कद्दमेण मलिणवासा कुगुंच्छिज्जति । कारणे गिहिअन्नतित्थिएहिँ वि कारविज्जति ।

बितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ॥

वाघातो व साहुस्स, णरिकरणं कप्पती ताहे ॥ १४१ ॥

पच्छाकडसाभिग्गह—णिरभिग्गहभद्दए य असणी वा ।

गिहिअण्णतित्थिए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्छा ॥१४२॥

दो वि पूर्ववत् कण्ठातो । नि० चू० १ उ० ।

(१९) [उपकरणरचना] अन्यथूथिकैः चिलिमिलिकादि कारयति–

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ१४॥

सुत्ते सुत्ते भवा सोत्तिया, वल्लकंबलयादिका इत्यर्थः । रज्जुए भवा रज्जुआ, दोरकि त्ति वुत्तं भवति ।

उक्खइणप्पमरणे, वासे उब्भक्खणी जओ एति ।

वल्लवहिँ विरल्लेति व, अंतो बहि कासिए इतरं वा ।१६२।

जाव मंतओ ण परिट्ठविज्जति ताव पच्छण्णे धरिज्जति, अहाणे वा जाव थंभिलं न लब्भति ताव ठादितो गतो भुज्जति , जओ उब्भक्खणी एति, तनो कमगचिलिमिली दिज्जति, वासासु वा वल्लवहिं विरल्लेति दोरे जहासंखं अंत बहि कासिण इतरं वा ।

पंचविधचिलिमिलीए, जो पुव्वं कप्पती गहणं ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १६३ ॥

बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणई असहू ।

वाघातो व साहुस्स, नरिकरणं कप्पती ताहे ॥ १६५ ॥

गाहा पूर्ववत् कण्ठा । नि० चू० १ उ० ।

(२०) सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूथिकेन वा गृहस्थेन वा कारयति–

जे भिक्खू सूचियस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

सूयीमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।

गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ।१६६।

उच्चागाहिता सूया–दिया तु एक्केकए गुरुस्सेव ।

गच्छं व समासज्जा, अणायसेकेक सेसेसु ॥ १६७ ॥

सूची पिप्पलओ णहच्छेयणं कण्णसोहणं ववगाहितोवकरणं, एते य एक्केक्का गुरुस्स भवंति । सेसा तेहिं चेव कज्जं कारेंति, महल्लगच्छं वा समासज्ज अणायसा अलोहमया सवंससिंगमयी वा सेससाहूणं एक्केक्का भवति । किं पुण उत्तरकरणं ? । इमं—

पासग मज्झिणिसीयण–पज्जण रिउकरण ओत्तरणं ।

सुहुमं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ते १६८ ॥

पासगं विलंब डिज्जति,सपदकरणं मज्झिणिसीयणं णिसाणे पज्जणं लोहकारागारे रिजु उज्जुकरणं एयं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा मूलनिव्वत्ते उवरिं सुहममवि जं कज्जति तं सव्वं उत्तरकरणं ॥

सूयीमादीयाणं, णिप्पामिकरणं तु कप्पती गहणं ।

असती णिप्पमिकम्मे, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १६९ ॥

नि० चू० १ उ० ॥

(२१) शिक्यादिकोपकरणकारणम्–

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कगणंतगं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति,कारंतं वा साइज्जइ ॥१३॥

जे भिक्खू सिक्करोप्पादि सिक्कगं एसिं जारिसं वा परिव्वायगस्स सिक्कं अणंतओ उपाणओ वच्छारूणं भमति,जारिसं कावलिस्स भोयगचुलियाणं, एस सुत्तत्थो । इदाणिं निज्जुत्तिवित्थरो—

सिक्कगकरणं दुविधं, तसथावरजीवदेहणिप्फण्णं ।

अंडगवालग कीडज–दोरुवक्कादिगतेरस ॥ १४३ ॥

जे भिक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिए वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

पिप्पलगणहच्छेदण–सोधणए चेव होंति एवं तु ।

णवरं पुण णाणत्तं, परिभोगे होति णायव्वं ॥ १७३॥

एवं पिप्पलगणहच्छेयणसोहणे य एक्केके चउरो सुत्ता, अत्थो पूर्ववत् । परिभोगे विसेसो इमो–

वत्थं छिंदिस्सामिति, जाइ उ पादछिंदणं कुणति ।

अधवा वि पादछिंदण, काहिंतो छिंदती वत्थं ॥१७४॥

णक्खं छिंदिस्सामिति, जाइ उ कुणंति सल्लमुद्धरणं ॥

अहवा सल्लुद्धरणं, काहिंतो छिंदती णक्खे ॥ १७५ ॥

पिप्पलगणहच्छेयणाणं अप्पणे इमा विधी–

मज्झे वा गेण्हित्ता, हत्थे उत्ताणयम्मि वा काउं ।

भूमीए व ठवेत्तुं, एस विधी होति अप्पणए ॥ १८६॥

उभयतो धारणसंभवा मज्झे गेण्हिऊण अप्पेति । सेसं कंठं ॥

कण्णं सोधिस्सामि ति, जाइं तु दंतसोधणं कुणति ।

अहवा वि दंतसोधण, काहिंतो सोहती कण्णे ॥ १८७ ॥

लाभालाभपरिच्छा, दुल्लभआवियत्तसहसअप्पणए ।

बारससु वि सुत्तेसु अ, अवरपदा होंति णायव्वा ।१७८।

जे भिक्खू लाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टावेति वा, संठवेइ वा, जम्माइति वा, अलमप्पणो कारणयाए सुहुममवि णो कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे वियरति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

(जे भिक्खू लाउयपादं वा इत्यादि) दो छियकंचुघाट्टितं मृन्मयं कपालकादि परिघट्टणं णिम्मोअणं संठवणं मुहादीणं जम्मावणं विसमाण समीकरणं अलं पज्जंतं सक्केति, अप्पणो काउं ति वुत्तं भवति, जाणइ जहा ण वट्टति, अण्णउत्थियगारत्थिएहिं कारावेउं जाणति वा, सुत्तं सरति, एस अक्कोवदेसो प-

च्छिसं वा सरइ,असमणा गिहत्थऽण्णउत्थिया,ताण वितरति पयच्छति, कारयतीत्यर्थः । अहवा गुरुः पृष्टः साधुभिर्यथा-गृहस्थान्यतीर्थिकैर्वा कारयामः । ततः प्रयच्छते, अनुज्ञां ददातीत्यर्थः । भणिओ सुत्तत्थो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

पढमबितियाए करणं, सुहुममवी जो तु कारए भिक्खू ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ।१९९।

पढमं बहु परिकम्मं, बितियं अप्पपरिकम्मं, सेसं कंठं । जम्हा एते दोसा तम्हा—

घट्टितसंठविते वा, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकमाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥२००॥

नि० चू० ५ उ० ।

जे भिक्खू दंतयं वा लट्ठियं वा अवलेहणियं वा विणुसूइयं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टावेइ वा, जम्माइवेइ वा, अलमप्पणो कारणयाए सुहुममविणो कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अन्नमन्नस्स वि सरमाणे वियरति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

पढमबितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ।२१६।
घट्टितसंठविताए, पुव्वं जमिते य होति गहणं तु ।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ २१७ ॥
वेलुमयी णत्तलमयी, दुविधा सूयी समासतो होति ।
चउरंगुलप्पमाणा, सामिच्चणसंधणट्ठाए ॥ २१८ ॥
एकेका सा तिविधा, बहुपरिकम्मा य अपरिकम्माए ।
अपरीकम्मा य तहा, णातव्वा आणुपुव्वीए ॥२१९॥
अर्द्धंगुलप्पमाणं, घिज्जंतो होति सपरिकम्मा तु ।
अर्द्धंगुलमेगं तु, उज्जंती अप्पपरिकम्मं ॥ २२० ॥
जा पुव्वघट्टिता वा, पुव्वं संठवित तत्थ सा वा वि ।
लब्भति पमाणजुत्ता, सा णायव्वा अधाकम्मगा ।२२१।
पढमबितियाण करणं, सुहुममवी जो तु कारवे भिक्खू ।
गिहिअण्णतित्थिएण व,सो पावति आणमादीणि २२२
घट्टितसंठविताए, पुव्विं जमिताइ होति गहणं तु ।
असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ २२३ ॥

गाहा सव्वाओ पूर्ववत् । नि० चू० १ उ० ।

(२२) अन्ययूथिकादिभिः सह गोचरचर्य्यायै न प्रविशेत्—

जे भिक्खू गिहत्थाण वा अण्णउत्थियाण वा सीओदगपरिभोयणा वा हत्थेण वा मत्तेण वा दव्विएण वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥

इमो सुत्तत्थो—

गिहिअण्णतित्थिएण व, सूयीमादीहितं तु मत्तसे ।
जे भिक्खू असणादी, पमिच्छते आणमादीणि ।१३५।

गिहत्था सोत्थियघंभणादि, अन्नतित्थिया परिव्वायगादि,उदगपरिभोगी मत्तओ सूई,अहवा कोइ सूईवादी तेण दलेज्जा, सो य सीओदगपरिभोगी मत्तओ उल्लंककमादि तेण गेण्हंतस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं । इमे सीतोदगपरिभोइणो मत्ता—

दगवारगवट्टणिया, उल्लंकाऽऽयमणिवलभा उ पट्ठगा ।
मयवारवद्गुमत्ता, सीओदयभोगिणो एते ॥१३७॥

दगवारगो गड्डुअं आयमणी लोट्टिया कट्ठमओ उल्लंकओ कट्ठमओ वारओ वट्टुयं कप्पयंतं पि कट्ठमयं । एतेसु गेण्हंतस्स इमे दोसा—

नियमा पच्छाकम्मं, धोतो वि पुणो दगस्स सो वत्थं ।
तं पि य सत्थं असणो—दगस्स संसज्जते वाणं ॥१३८॥

भिक्खप्पयाणोवलित्तं पच्छा धुवंतस्स पच्छाकम्मं स मत्तगो असणादिरसभाविओ त्ति उदगस्स सत्थं भवति, तमुदगमधोयचूतं संलेव्यते य ॥ १३८ ॥

सीओदगभोईणं, पमिसिद्धं था हु पच्छकम्मं ति ।
किं होति पच्छकम्मं, किं व न होति त्ति ते सुणसु ।१३९।

जेण मत्तेण सचित्तोदगं परिभुंजति, तेण भिक्खग्गहणं पमिसिद्धं । सीसो पुच्छति—कहं पच्छाकम्मं भवति,णो भवति वा? आचार्य आह—सुणसु—

संसट्ठमसंसट्ठे, भावे सेसे य निरवसेसे य ।
हत्थे मत्ते दव्वे, सुद्ध—मसुद्धे तिगट्ठाए ॥ १४० ॥

संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते सावसेसे दव्वे एएसु तिसु पदेसु अट्ठ भंगा कायव्वा।विसमा सुद्धा,समा असुद्धा।भंगेसु इमा गहणविधी—

पढमे गहणं सेसे—सु वि जत्थ सा सुद्धं क्खु सेसं तु ।
असेसु तहा गहणं, असव्वसुक्खे वि वा गहणं ।।१४१।।

(असेसु त्ति) सेसेसु भंगेसु अदि देयं दव्वं सुक्खं अवलेकमं सुक्खं ममगकुम्मासिदो गभं पच्छाकम्मस्स अभावात् बितियपदं ॥ १४१ ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा,जयणा गहणं तु गीयत्था ।।१४२।।

पूर्ववत् अनुसरणीया । नि० चू० १२ उ० ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देयंतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥

जे भिक्खू असणादी, देज्जा गिहि अहव अण्णतित्थीणं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २६८ ॥

तेसिं अण्णतित्थियगिहत्थाणं दितो आणादी पावति, चउलहुं च ॥ २६८ ॥

सव्वे वि य खलु गिहिया,परप्पवादी य देसविरता य ।
पडिसिद्धदाणकरणे, जेण परालोगकंखीण ॥ २६९ ॥

एतेसु दानं शरीरशुश्रूषाकरणं अथवा दान एव करणं यः

परलोककाङ्क्षी श्रमणः तस्यैतत् प्रतिषिद्धं, अहवा एतेसु दाणं करणं किं पमिसिद्धं जेण समणो परलोककंखी ?। चोदक आह—

जुत्तमदाणमसीले, कडसामइओ उ होति समण इव ।
तस्स मजुत्तमदाणं चोदग ! सुण, कारणं तत्थ ॥१७०॥

जुत्तं अण्णतित्थियगिहत्थेसु अविरतेसु त्ति काउं दाणं ण दिज्जति, जो पुण देसविरतो सामाइयकओ तस्स जं दाणं पमिसिज्झति, एयमजुत्तं, जेण सो समणभूतो भण्णति । आचार्य आह-हे चोदक ! एत्थ कारणं सुणसु-

रंधण-किसि-वाणिज्जं, पावति तस्स पुव्व विणिउत्तं सो ।
कयसामाइयजोगि त्ति, मूयस्स अपच्चक्खमाणस्स ॥

जदि वि सो कयसामइओ तवस्सए अत्थति, तहा वि तस्स पुव्विजुत्ता अहिकरणजोगा पावति त्ति रंधणजोगो कृषिकरणजोगो वाणिज्जजोगो य, एतेण कारणेण तस्स दाणमजुत्तं । चोदकः-णणु भणियं समणो इव सावओ। उच्यते-ओवम्मेण तु समणे ते जेण सव्वविरती ण लब्भति । जओ भण्णति-

सामाइय पारेउं, ण णिग्गतो साहुवसहीए ।
अहिकरणं सातिज्जति, उता हु तं वोसरति सव्वं ।१७२।

आयरियो सीसं पुच्छति-सामाइयं करेमि त्ति । साधुवसही वि तो एत्ततो आरब्भ जाव सामाइयं पारेऊण न णिग्गतो साधुवसहीए पोसहसालाओ वा एयम्मि साइयकालो तस्स अधिकरणजोगा पुव्वपवत्ता कज्जंति, तो सा किं सातिज्जति, उताहु ते वोसरति सव्वे । उच्यते-ण वोसरति साइज्जति, जदि साइज्जति एवं भणंतस्स सव्वविरती लब्भति ॥ १७२॥

दुविहतिविहे ण रुज्झति, अणुमन्ना तेण सा ण पमिरुद्धा ।
अणुओ ण सव्वविरतो, स समामाति सव्वविरओ य ।१७३।

पाणादिवायादियाणं पंचण्हं अणुव्वताणं सो विरतिं करेति । (दुविधं तिविधेण त्ति) दुविधेण करेति, ण कारवेति, तिविधं मणेण वायाए काएणं ति । एत्थ तेणं अणुमती ण णिरुद्धा, तेण कारणेण कडसामाति ता वि सो सव्वविरतो ण लब्भति, किं चाऽन्यत् ॥ १७३ ॥

कामी सघरं-गणतो, मूलपइण्णा स होइ दडव्वा ।
छेयणभेयणकरणे, उद्दिट्ठकमं च सो भुंजे ॥ १७४ ॥
णट्ठेहितविस्सरिते, ठिसे वा मइलिए व वोच्छे य ।
पच्छाकम्मपवहणा, धुयावणं वा तदट्ठस्स ॥ १७५ ॥

पंच विसया-कामेति त्ति कामी सगृहेण सगृहः, अङ्गना स्त्री, सह अङ्गनया साङ्गनः, मूलपइण्णा, देसविरति त्ति वुत्तं भवति । साधूणं सव्वविरती वृक्षादिच्छेदेन पृथिव्यादिभेदेन प्रवृत्तः सामायिकभावादन्यत्र जं च उद्दिट्ठकडं तं कडसामाइओ वि भुंजति; एवं सो सव्वं ण भवति, एतेण कारणेण तस्स ण कप्पति दाउं इमो । अहवा-

वितियपदे परलिंगे, सेहट्ठाणे य वेज्जसाहारे ।
अच्छाण देसगलणे, असती पडिहारिते गहणं ॥ १७६ ॥

पयस्स इमा विभासा कारणे । परतित्थियाण मज्झे अच्छंतो देज्ज, सेहो उट्ठो रक्खणट्ठा देज्ज, गिही अण्णतित्थी वा भिक्खेण मग्गेज्ज, तदा से दिज्जति, सेहे वा गिहिवेसट्ठितो भावतो पव्वइओ तस्स देज्जा, सत्थेण वा पवण्णा अद्धाणं साहु-तित्थगिहियं तत्तत्कारणेहिं गिहीण अच्छियं तं साधू गिहीण पव्वज्जिणेज्जा, अथवा अद्धाणे अंतिपंतियमादियाण देज्जा, वेज्जस्स वा गिलाणट्ठा आणियस्स देज्जा, तं च जहा दिज्जति तहा पुव्वभणियं जत्थ गिहीणं अण्णतित्थियाण य साधूण य अंचियका जे डुल्लने भत्तपाणमंडिगमादिणा साहारं ण दिण्णं तत्थ ते गिही अण्णतित्थिया विभज्जापयव्वा, अह ते अणिच्छा साधु भणेज्जा, अहं वा ते पंता, ताहे साधू विभजंति, साहुणा विभयंतेण सव्वेसिं वि हु सममामेव विभइयव्वं, एसुवदेसो ॥ १७६ ॥ नि० चू० १५ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलं० जाव पविसिंतुकामे णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ वा अपरिहारिएण सद्धिं गाहावइकुलं पिंडवायपमियाए पविसिज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा ।

(से भिक्खू वा इत्यादि) स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकाम एभिर्वक्ष्यमाणैः सार्द्धं न प्रविशेत्, प्राक् प्रविष्टो वा नातिक्रामेदिति संबन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यं तान् स्वनामग्राहमाह-तत्रान्यतीर्थकाः सरजस्कादयो गृहस्थाः, पिण्डोपजीविनो धिग्जातिप्रभृतयस्तैः सह प्रविशतामभी दोषाः । तद्यथा-ते पृष्ठतो वा गच्छेयुरग्रतो वा, तेऽग्रतो गच्छन्तो यदि साध्वनुवृत्त्या गच्छेयुस्ततस्तत्कृत ईर्याप्रत्ययः कर्मबन्धः, प्रवचनलाघवं च, तेषां वा स्वजात्याद्युत्कर्ष इति । अथ पृष्ठतस्ततस्तत्प्रद्वेषो, दातुर्वा अभद्रकस्य लाभं च, दाता संविभज्य दद्यात्तेनावमोदर्यादौ दुर्भिक्षादौ प्राणवृत्तिर्न स्यात्, इत्येवमादयो दोषाः । तथा परिहारस्तेन चरति परिहारिकः, पिण्डदोषपरिहरणादुद्युक्तविहारी, साधुरित्यर्थः । स एवंगुणकलितः साधुरपरिहारिकेण पार्श्वस्थावसन्नः कुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपेण न प्रविशेत्, तेन सह प्रविष्टानामनेषणीयभिक्षाग्रहणाग्रहणकृता दोषाः । तथाहि-अनेषणीयग्रहणे तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता भवत्यग्रहणे तैः सहाऽसंखडादयो दोषाः । तत एतान् दोषान् ज्ञात्वा साधुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया तैः सह न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ॥

(२३) [दानम्] अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि न देयम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा०जाव पविट्ठे समाणे णो अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहारियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देज्ज वा, अणुपदेज्ज वा ॥

साम्प्रतं तद्दानार्थप्रतिषेधमाह-

(से भिक्खू इत्यादि) स भिक्षुर्यावद् गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नुपलक्षणत्वादुपाश्रयस्थो वा तेभ्योऽन्यतीर्थिकादिभ्यो दोषसंभवादशनादिकं न दद्यात्, स्वतो नाप्यनुप्रदापयेदपरेण गृहस्थादिनेति । तथाहि-तेभ्यो दीयमानं दृष्ट्वा लोकोऽभिमन्येत, एते ह्येवंविधानामपि दक्षिणार्हाः । अपि च । तदुपष्टम्भादसंयमप्रवर्तनादयो दोषा जायन्त इति । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए

अणुपविसइज्ज वा, निक्खमइज्ज वा, अणुपविसंतं वा निक्खमंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

अन्यतीर्थिकाश्चरकपरिव्राजकशाक्याजीवकवृद्धश्रावकप्रभृतयः, गृहस्था मरुगादिभिक्खायरा, परिहारिओ मूलुत्तरदोसे परिहरति, अहवा मूलुत्तरगुणे धरेति, आचरतीत्यर्थः । तत्प्रतिपक्षभूतो अपरिहारी । ते य अएणतित्थिया गिहत्था ।

सूत्रम्–

णो कप्पति भिक्खुस्सा, गिहिणा अधवा वि अएणतित्थीणं ।
परिहारियस्स परिहा–रिएण गंतुं वियाराए ॥३००॥

सार्द्धं समानं युगपत् एकत्र आहाकम्मं गाहापश्चिमार्द्धिकाए स्वाध्यायमनादियोगत्रयं करणत्रयं च गाहावतिकुलं । अस्य व्याख्या– गाहगिहं गाहा गेहं त्ति वा गिहं ति वा एगहं, तस्येति गृहस्य पतिः प्रभुः स्वामी, गृहपतिरित्यर्थः । दारमत्यादिसमुदायो कुलं पिण्डं वा य पमिताए त्ति। अस्य व्याख्या-पिण्डो असणादी गिहिणा दीयमानस्य पिण्डस्य पात्रे पातः, अनया प्रज्ञया एत्थ दिट्ठंतो जहा-बाल्ले जुअवणिवलं जं घेत्तुं गामं पविट्ठो । अमेण पुच्छियं-किं णिमित्तं गामं पविट्ठोसि ? । भणाति-सुत्तपायपडियाए धरणपायपडियाए त्ति, तहेव पिंडवायपडियाए त्ति । किंच-इदं सूत्रं लोगोत्तरउभयसंज्ञाप्रतिबद्धं किंचित् स्वयमयं संज्ञाप्रतिबद्धः भवति, अणुपविसति । अस्य व्याख्या चरगादि गाहा । अनु पश्चाद्भावे चरगादिसु णियट्टेसु पच्छा पागकरणकालतो वा पच्छा, एवं अनुशब्दः पश्चाद् योगे सिद्धः ।

एतो एगतरेणं, सहितो जो गच्छती वियाराए ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पाव ॥ ३०१ ॥

एत्तो एगतरेण गिहत्थेण वा अएणतित्थिएण वा समं पविसंतस्स आणादिया दोसा । आयसंजमविराहणाओ भावणा । गाहा पंडरंगादिएसु सद्धिं हिंडंतस्स पवयणो भावणा भवति, लोगो वयति-पंडरंगादिपसायओ लभंति, सयं न लभंति, असारवचनप्रयत्नत्वात् । अधवा लोगो वदति-अलक्खिमंता य परलोगे वा अदिसदाणा अप्पाणं न विंदति, शूद्रा इति । एते पंडरंगादि शिष्यत्वमभ्युपगन्ता वसति, यत एभिः सार्द्धं पर्यटते, किंचान्यत् । अधिकरणगाहा, गिही अयगोलसमाणो ण वट्टति भणितुं, एहि णिसीदतु वट्टवयाहिं वा भणतो अधिकरणं गिहत्थो अलद्धी साहू लद्धी उव हणति, साहुस्स अंतरायं अह संजतो अलद्धीतो गिहत्थस्स अंतरायं जेण समं हिंडति, दातारस्स वा अचियत्तं किं मया समं हिंडसि त्ति, अधिकरणं च भवे, अक्खेऊण पडुट्ठो अवस्सयं अगणिणा डहेज्ज, पंता वणादि वा करेज्ज, एगस्स वा गिहिणा गिहिणीणि उ दोएह वि तेज्ज तं चेव अंतरायं अचियताए संखडा तीया य साहुस्स करेज्ज, दातारस्स वा करेज्ज, उयस्स वा कुज्जा, दोएहवा अट्ठाणीणि य एगस्स देज्ज, साहुस्स गिहत्थस्स वा, तं चेव अंतरादी दोसा । जतो भणति-संजयपदोसगाहा । संजयगिही उभयदोस इति गतार्थो । एवं अणेगहा य त्ति । अस्य व्याख्या-एट्ठे दुपदे चउप्पदे खवए य, एतेसु चेव हडेसु पत्थादिएसु वा वि सुमतिएसु साधुगिहं वा एगतरं संकेज्ज, उभयं वा किह पुणाति संकेज्ज, एते समणमाहणा परोप्परं विरुद्धा वि एगतो अडंति, ण एते जे वा ते वा णूणं एते चोरा चोरिया वा, कामी वा दुपयादि वा अवहडामएहिं जम्हा एते दोसा, तम्हा गिहत्थअएणतित्थीहिं समं भिक्खाए ण पविसियव्वं, वितियपदेण कारणे पविसेज्जा वि । जतो वितियपदगाहा । अचियं दुब्भिक्खं, एतेसु अचियादिसु एतेहिं गिहत्थऽएणतित्थीहिं समं भिक्खा लब्भति, अएणदा न लब्भति; अतो तेहिं समाणं अडे, सो य जदि अहा भद्दो णिमंतेइ वा, अहा भद्दएण पुण समाणं दो तिएिण घरा, अमहा ते चेवासंखडादी । रायदुट्ठे सो रायवल्लभो गिलाणस्स सह एत्थ भोयणादि, सो दव्वावेति, असहा ण लब्भति, भिक्खायरियं वा वच्चंतस्स उ वि सरीरं तेण रक्खति, पडिणीयसाणे वावारेति । आदिसद्दातो गोणसूयरातीए विपविसतो पुण इमा विही पुव्वगते गाहा । गिहत्थऽएणतित्थिएसु पुव्वपविट्ठे पत्तं वा पुव्वपविट्ठो अभावे ति, परिसं ताणं दरिसेति जेण एज्जति, जहा एतेण समाणं हिंमति, अइंतस्स य इमो विही पुव्वं पच्छा कममरुएसु तओ पच्छा कक्कमणलिङ्गीसु, तओ अहाभद्दमरुएसु तओ अहाभद्दमएणलिंगिणा अहाभद्दए वि, एस चेव कमो । ।नि० चू० २ उ० ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अएणउत्थीणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाणि वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥३॥

'जे भिक्खू' पूर्ववत् आगंतारो-जत्थ आगारा आगंतु विहरंति, तं आगंतागारं, गामपरिसट्ठाणं ति वुत्तं भवति । आगंतुगाणं वा कयं अगारं आगंतागारं, बहिया वासो त्ति, आरामे अगारं आरामागारं, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं गिहपतिकुलं, अन्यगृहमित्यर्थः । गिहपज्जायं मोत्तुं पव्वज्जा परियाए ठिता, तेसिं आवसहो परियावसहो, एतेसु ठाणेसु ठितं अएणउत्थियं वा गारत्थियं वा असणाइ ओभासति, साइज्जति वा, तस्स मासलहु । एस सुत्तत्थो । इमा सुत्तफासिया–

आगंतारादीसुं, असणादी जासती तु जो भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ २ ॥

आगंतारादिसु गिहत्थमएणतित्थियं वा जो भिक्खू असणादि ओभासति सो पावति आणा, अणवत्थमिच्छत्तविराहणं च ॥२॥

आगमकयमागारं, आगंतुं जत्थ चिट्ठति अगारा ।
परिगमणं पज्जाओ, सो चरगादी तु णेगविहो ॥३॥

आगमा रुक्खा, तेहिं कयं अगारं आगंतुं जत्थ चिट्ठंति, अगारं तं आगंतागारं परि समंता गारणं गिहभावं गतेत्यर्थः । पज्जायोपवज्जा, सो य चरगपरिव्वायगसक्कआजी वागमादि णेगविधो भद्देतरा ॥ ३ ॥

भद्देतरा तु दोसा, हवेज्ज ओभासिते अद्धाणम्मि ।
अचियत्ता भावणता, पंते भद्दे इमे होंति ॥ ४ ॥

अट्ठाणद्वितो ओभासिते पंतजद्दोसा ; पंतस्स अचियत्तं भवति, ओभासणता-अहो ! इमे भद्दोसा ।

जइ आतरोसि दीसइ, जइ य विमग्गंति मं अट्ठाणम्मि ।
दंतेंदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥५॥

जहा एयं साहुस्सातरो दीसति, जहा-अयं अट्ठाणट्ठियं विमग्गंति-दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसिं णूणं से भारितं कज्जं, आपत्कल्पमित्यर्थः ॥ ५ ॥

सड्ढिगिहिं अण्णतित्थी,करिज्ज ओभासिए तु सो असते ।
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतट्ठाए ॥ ६ ॥

श्रद्धाऽस्यास्तीति श्राद्धी, सो य गिही, अण्णतित्थिओ वा, ओभासिए समाणसे इति । स गिही अण्णतित्थिओ वा खिप्पं तुरियं सयहं उग्गमदोसाणं अण्णतरं करेज्जा संजयट्ठाए ॥ ६ ॥

एवं खलु जिणकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओभासितुं गच्छे ॥ ७ ॥

एवं ता जिणकप्पे भणियं गच्छवासिणो वि णिक्कारणे एवं चेव कारणजाते पुण कप्पति । थेरकप्पियाणं ओभासितुं किं चित्कारणं इमं-

गेलण्ण रायदुट्ठे, रोहग अद्धाण अंचिते ओमे ॥
एतेहिं कारणेहिं, असती लंभंति ओभासे ॥ ८ ॥

गिलाणऽद्धाण य दुट्ठे वा रोहगे वा अंतो अपव्वंता अंचिते वा,अंचियणं णाम दात्रसंधी, तत्थ भवणी उ खंधिआ ण णवा णिप्फत्तं, खिप्फत्ते वा ण लब्भति, ओमं दुर्भिक्षं,एवं अंचिए ओमे, दीर्घ दुर्भिक्षमित्यर्थः । एतेहिं कारणेहिं अलब्भंते ओभासेज्जा—

जिण्णं समतिक्कंतो, पुव्वं जतिऊण पणगपणगेहिं ॥
तो मासिएसु पच्छ वि, ओभासणमादिसुं असढो ॥ ९ ॥

इमा जयणा-पढमं पणगदोसेण गेण्हति पच्छा दस पण्णरस वीस भिण्णमासदोसेण य एवं पणगभेदेहिं जाहे जिण्णं समतिक्कंतो ताहे मासि अट्ठाणेसु ओभासणादिसु जतति, असढो । तत्थ तु ओभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिँ ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेंति जं सुत्तपडिकुट्ठं ॥ १० ॥

पढमं घरे ओभासिज्जति अदिट्ठे,एवं तयो वा रायघरे गवेसियव्वो,तत्थ भज्जा ति णीया वत्तव्वा, तस्स आगयस्स कहेज्जह-साधू तव सगासं आगया, कज्जेणं घरे अदिट्ठे पच्छा आगंतारादिसु दिट्ठस्स घरगमणादि सव्वं कहेतु,तेण वंदिते अवंदिते वा तेणेव पुट्ठं अपुट्ठा वा जं सुत्ते पडिसिद्धं तं कुव्वंति,ओभासंते इत्यर्थः ।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति,जायंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

एवं अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा, एवं अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा ।

पढमम्मी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव ।
ततिय चउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥ ११ ॥

पढमे सुत्ते जो गमो, वितिए वि पुरिसपोहत्तियसुत्ते सो चेव गमो । ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥४॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउ वा गारत्थियाउ वा कोउहल्लपडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति,जायंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥६॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति , जायंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा इत्यादि कोऊहलं ति यावत्, कौतुकेनेत्यर्थः ।

गाहासूत्राणि—

आगंतागारेसुं, आरामगारे तह गिहा वसही ।
पुव्वट्ठिताण पच्छा, एज्ज गिही अण्णतित्थि वा केई ॥१२॥

समागतं जे असणातीतो भासति, तस्स मासलेहुं, धम्मं सावगधम्मं वा पेच्छामो । एसो गाहा-

अहजावेणं कोऊ-हल केई वंदणणिमित्तं ।
पुच्छिस्सामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥
एगो एगतरेणं, कारणजातेण आगंतं संतं ॥
जो भिक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमा दोसा १४॥

तस्सिमे भद्दपंतदोसा-

आतपरोभासणता, अदिट्ठदिट्ठे य तस्स अचियत्तं ।
पुरिसो भासणदोसा, सविसेसतरा य इत्थीसु ॥१४॥

अलद्धे अप्पणो ओभासणा लुद्धा लभंति तिण्णि अदिट्ठे परस्स ओभासणा किवणे त्ति,अदिट्ठे वा अचियत्तं भवति,महायणमज्झे वा एणइ, ते देमि त्ति, पच्छा अचियत्तं भवति,ताओ पुरिसे ओभासणदोसा एव केवला, इत्थिआसु ओभासणदोसा, संकादोसा य, आयपरसमुत्था य दोसा ।

भद्दो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छण्ण अभिहडादीणि ।
पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तहा दुविधं ॥१५॥

भद्दओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा,पच्छण्णाभिहडं पागडाभिहडं वा अणेसणपंता साहुसु पेलवगहणं करेज्ज-अहो इमे अदिण्णदाणा, जो आगच्छति तमोभासंति, साहुसावगधम्मं

वा पडिवज्जामि त्ति, ओभासिओ उद्दुरुद्धो पडिणियत्तो जाहे सावगो होहामि ताहे ण सुज्झिहिति, जइ पव्वज्जं घेच्छामो त्ति एगो विपरिणमति, तो मूलं दोसु णवमं तिसु चरिमं, जं च ते विपरिणया असंजमं काहिंति तमावज्जंति, अथवा णिण्हएसु वच्चंति जम्हा एते दोसा तम्हा ण ओभासियव्वो आगओ, एवं वि पच्छित्तं परिहरियं आणा अणुपालिया, अणवत्था, मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविहविराहणा परिहारियत्ता कारणे पुण ओभासति । इमे य कारणा-

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणा ओभासितुं कप्पे ॥१६॥
तिगुणगतेहिं ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स तु कहेह ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेंति जं सुत्तपडिकुट्ठं ॥ १७ ॥
एगंते जो तु गमो, णियमा पोहत्ति धम्मि सो चेव ।
एगंता तो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥ १८ ॥

असिवे जदा मासं पत्तो ताहे घरं गंतुं ओभासिज्जति, अदिट्ठे महिला से भणति-अक्खेज्जासि सावगस्स साधुणो दट्ठुमागता, ते आसिसो अविरई य समीवे सोउं भद्दभावेण वा आगतो सव्वं से घरगमणं कहिज्जति,कारणं च से दीविज्जति, ततो जयणाए ओभासिज्जति, जइ सो भणति, घरं पज्जह, ताहे तेणेव समं गंतव्वं, मा अभिहडं काहि त्ति, असुद्धं वा एवं रायदुट्ठादिसु वि एगतियसुत्ता तो पोहतिएसु सविसेसतरा दोसा॥

पुरिसाणं जो उ गमो, णियमा सो चेव होइ इत्थीसु ।
आहारे जो उ गमो, णियमा सो चेव उवधिम्मि ॥ १९॥

जो पुरिसाणं गमो दोसु सुत्तेसु इत्थीण वि सो चेव दोसु सुत्तेसु वत्तव्वो,जो आहारे गमो सो चेव अविसेसिओ उवकरणे दट्ठव्वो ॥ १९ ॥

सुत्ताणि चउरो-

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थिएण वा गारित्थिएण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेट्टिय २ परिजवेय परिजवेय ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाउ वा गारत्थियाउ वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेट्टिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाणी वा गारत्थियाणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवित्तिय २ परिवेट्टिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवित्तिय२ परिवेट्टिय २परिजविय२ ओभासिय २जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥११॥

आगंतागारादिसु ट्ठियाणं साहूणं अण्णतित्थिओ गारत्थिओ वा अभिहडं-आभिमुख्येन हृतं अभिहृतं, पारणादिसु कोइ सड्ढी सयमेव आहट्टु उवणज्जति,पडिसेहेत्ता तमेव त्ति,तं दायारं अणुवत्तिय त्ति,सत्त पदाइं गंता परिवेट्टिय त्ति,पुरतो पिट्ठतो पासतो ठिच्चा परिजविय त्ति परिजल्प्य २ तुज्झेहिं रायं अम्हट्ठा आणियं मा तुज्झं अफलो परिस्समो भवतु, मा वा अधितिं करेस्सह,तो गेण्हामो। एवं ओभासंतस्स मासलहुं । सुद्धे वि असुद्धे पुण जेण असुद्धं तमावज्जो ॥

अगंतागारेसुं, आरामऽगारे तह गिहा वसही ।
गिहिअण्णतित्थिए वा,आणिज्जा अभिहडं असण्णियमा॥२०॥
ओलज्जणमणुवयणं, परिवेढण पासि पुरउ ठातुं वा ।
परिजवणं पुण जंपइ, गेण्हामो मा तुमं रुस्स ॥२१॥

अणुवइय त्ति ओलग्गिउं अदव्वलित्तुं परिवेढणं पुरतो पासओ वाउं परिजवणं परिजल्पः ; इमं जंपइ-गेण्हामो, मा तुमं रूसिहिसि ॥ २१ ॥

तं पडिसेवे नूणं, दोच्चं अणुवतिय गेण्हती जो उ ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ २२ ॥

एतेण उ वा तमाणहडमेव पडिसेहेउं एकप्रतिषेधः, द्वितीयो महा जो एवं गेण्हति, तस्स आणादी दोसा, भद्दपंतदोसा य । आणाए भङ्गो अणवत्था कता, अण्णहाकारं तेण मिच्छत्तं जणियं, इमे संजमविराहणा दोसा, भद्दपंतदोसो य ।

तेणं गेण्हति भद्दउ, करे पसंगं अहालियाऽभिरता ।
माई कवडायारा, घेत्तव्वं जाणती पंता ॥२३॥

भद्दो चिंतइ-एतेण उवाएण गेण्हति, आदरे पुणो पसंगं करेति, पंतो पेल्लघगहणं करे , भणेज्ज वा अलियं अनृतं, तम्मि अभिअभिरया अलियाभिरया ण गेण्हमो त्ति भणित्ता पच्छा गेण्हंति मायाविणो, तत्थ वसहीए ण गेण्हंति, इह पडिणियंतस्स गेण्हंति, कत्थई कुलकायारो कवडेण सव्वं एवं आयरंति; ण एतेसिं कोइ सब्भावो अत्थि, सब्भावेण माई किरियाजुत्तो कवडायारमाई भण्णति। एवं पंतो वदति-जम्हा एते दोसा तम्हा ण एवं घेत्तव्वं, कारणे पुण संगहणं कुव्वंति ॥ २३ ॥

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणा पडिसेवणा गहणं । २४ ।

पडिसेहे उ जतणाए गेण्हंति । का य जयणा?, इमा—

जदि सव्वे गीतत्था, गहणं तत्थि व होति तु अलंभो वि ।
मीसे पुण वाइतणं, मा य पुणो तत्थ आणेह ॥ २५ ॥

जाहे पणगाइजयणाए मासलहुं पत्तो, ताहे जइ सव्वे साधू गीयत्था, ताहे तत्थेव वसहीए गेण्हंति, एसं गणिवारणत्थं वा भणंति-अम्हं घरगयाणं चेव दिज्जति, तज्जाणिज्जति, ताणि भणंति-अज्जेक्कं गेण्हह, ण पुणो अ णेमो ताहे घप्पेति - भवंजंति, अप्पा-

धंता अगीयमीसे पुण अगीयत्थं पुरतो पडिसेधेउं पच्छतो तस्स अणुवत्तिऊण भणति—मा पुण आणेह, तत्थेव अम्हे हिंडंता गहामो, णिमंतेज्जा । अहवा जइ अप्पदोसवज्जितं जइ एतद्दोसा वा ण भवंति, ताहे गेएहति, इमं च भणंति—

तुमे दूराहडं एवं, आदरेण सुसंमितं ।
मुहवएणो य ते आसी, विवएणो तेण गेण्हिमो ।२६।

तुमे दूराओ आणियं वेसवाराइयाण सुसंभिभियं कयं तुज्झ पडिसेधिते मुहवएणो विवएणो वि आसी, तेण गेएहामो, एवं जयणाए गेएहंति, पसंगो णिवारितो अगीया य वंचिया आहड प्रतिनिवृत्तभावाल्मीकृतत्वात्, एवं इत्थियासु वि, एवं बुहत्त सुत्ते वि २६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

(२४) धातुप्रवेदनम्-

जे भिक्खू अएणउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गारत्थियाणिहिं वा धाउं पावेदइ, पावेयंतं वा साइज्जइ ।२७ । जे भिक्खू अस्सउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गारत्थियाणिहिं वा धाउं पवेएइ, पवेयंतं वा साइज्जइ ।२८ ।

यस्मिन् धम्यमाने सुवर्ण पतति, स धातुः ।

अएणयरागं धातुं, निहिं व आइक्खते तु जे भिक्खू ।
गिहिअम्मतित्थियाण व, सो पावति आणमादीणि ।५४।

अन्नयरगहणातो बहुभेदा धातुणिधाणणिध्रीणिहितं स्थापितं, द्रविणजातमित्यर्थः । तं जो महाकाळमतादिणा णाउं अक्खाति, तस्स आणादिया दोसा । इमे धातुभेदा-

तिविहो य होति धातू, पासाण रसो य मट्टिया चेव ।
सो पुण सुवएण तुत्तं, वरतरकालायसादीणं ॥ ५५ ॥
सपरिग्गहेतरो वि य, होइ निही जलगओ य थलगो य ।
कयाऽकय होति सव्वो, अहिकतरं कायवहो धातुम्मि । ५६।

जत्थ पासाणे झुसिणो झुसे वा धममाणे सुवएणादि पडति, सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिएण तंवगादि आसंतं सुवएणादि भवति, सो रसो भएणति । जा मट्टिया जोगजुत्ता अजुत्ता वा धममाणा सुवएणादि भवति, सो धातुमट्टिया, कालायसं लोहं आदिग्गहणाओ मणिरयणमोत्तियप्पवालगरादिणिहाणे इमो विगप्पो ।(सपरि)गाहा । सो णिही मणुयदेवतेहिं परिग्गहितो वा हविज्ज, अपरे जनो वा सो जले वा होज्ज, थले वा, जो स थले, सो दुविधो-णिक्खतो वा अनिक्खओ वा, सव्वो चेव णिसीहरूवेण दुविधो-कयरूवो अकयरूवो वा, रूवगाभरणादि कयरूवो, चक्कअपरिकट्ठितो अकयरूवो । से परिग्गहे अधिकतरा दोसा, कहेतस्स णिहाणगसामिसमीवातो धातुणिहिवंसयं साधुं धातुव्वायं कारवेति, एसो धातुदंसणे दोसा । इमो णिधाणे मयूरंकदिढंतो-

अहिकरणं जा करणं, निहिम्मि मक्कोमगहणादी ।
मोरणिवंऽकियदीणा-रपिहियणिहिजाणएण ते कहिया ।
दिट्ठा ववहरमाणा, कओ तए परंपरागहणं ॥ ५७ ॥

मयूरंको णामराया, तेण मयूरंकेण अंकिता दीणारा, आहरणादिया, तेहिं दीणारेहिं णिहाणं ठवियं, तम्मि ठविते बहुकालो गतो, तं केणइ णेमित्तिणा णिहिलक्खणेण णायं, तं तेहिं उक्खायं, ते दीणारा ववहरंता रायपुरिसेहिं दिट्ठा । सो वणिओ, तेहिं रायपुरिसेहिं रायसमीवं णीतो । रन्ना पुच्छिओ—कतो एते तुब्भ दीणारा ?। तेण कहियं-अमुगसमीवातो । एवं परंपरेण ताव णीयं, जाव जेहिं उक्खतं, तेहिं सो गहितो, दंडियो य, असंजयणिग्गहणे अधिकरणं णिट्ठिओ, क्खणेण य निसि जागरणं कायव्वं, अहवा णिहिदंसणे अधिकरणं जागरणं णाम यजनकरणं उवालवनधूवपुप्फाबलिमादिकरणे अधिकरणमित्यर्थः । णिहिक्खणणे य विभीसिगा-मक्कोडगादि वि संतुडा भवति, तत्थ आयविराहणादि रायपुरिसेहि य गहणं, तत्थ गेएहणकड्ढणादिया दोसा, एत्थ इमं वितियपदं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलझे ।
अद्धाण रोहकज्ज-इजातवादी पन्नावणादीसु ।।५८।।

असिवे वेज्जो आणितो, तस्स दंसिज्जति, धातुणिहाणगं वा, ओमे असंथरंता गिहिअन्नतित्थिए सहाए घेत्तुं धातुं करेति, णिहिं वा गेएहति, रायदुट्ठे रएणो उवसमणट्ठा सयमेव, जो वा तं उवसमेति, तस्स वा धाउं णिधाणं वा दंसेति, बोधिगादिभयतो जो तायेति, तस्स दंसेति, गिलाणकज्जे सयं गिएहति, वेज्जस्स वा दंसेति, अद्धाणे जो णित्थारेति, रोहगे असंथरंता सहायसहिता गेएहंति, अहवा जो रोहगे आधारभूतो, तस्स दंसेति, कुलाइकज्जे वा संजतिमादिणिमित्तं वा अरूजाते वादी वा उदासीणगहणट्ठा पवयणपभावणट्ठा पूयादिकारणणिमित्तं सहायसहितो गिहिअन्नतित्थिएहिं धातुं णिहाणं वा गेएहेज्ज । नि० चू० १३ उ० ।

(२५) पादानामामार्जनप्रमार्जनम्-

जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ।११४। जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ।।११५।। जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ।।११६।। जे भिक्खू अएणउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं लोद्धेण वा कक्केण वा पोउमचुएणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ।११७। जे भिक्खू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ।।११८।। जे भिक्खू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ।। ११९ ।। जे भिक्खू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं फूमेज्ज वा रएज्ज वा,० जाव साइज्जइ ।। १२० ।। जे भिक्खू अस्सउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं

वा साइज्जइ ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥ १२२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं लोद्धेण वा कक्केण वा पोउमचुम्रेण वा उल्लोलिज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥ १२३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोयेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं फूमेज्ज वा, रयेज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ १२५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सिवणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १२६ ॥

एवं जाव तइयो उद्देसो गमो णेयव्वो, णवरं अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलावो जाव।

जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ १६६

तृतीयोद्देशकगमनिका चत्वारिंशतिसूत्रसङ्ख्या यावत्। जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं कारतीत्यादि ॥

पायप मज्जणादी, सीसदुवारादि जे करेज्जाहि ।
गिहिअण्णतित्थियाण व, सो पावति आणमादीणि ।३५।

चउगुरुं पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवंति। भिक्खुस्स गिरीकारणे सेहादियाण य तत्थ गमणं पवयणस्स ओभावणं; जम्हा एते दोसा तम्हा एतेसिं सेवावच्चं णो कायव्वं। कारणे पुण कायव्वं-

बितियपदमणप्पज्झे, करेज्ज अवि को वि ते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, परलिंगे सेहमादीसु ॥ ३६ ॥

कारणे परलिंगपवणो करेज्जा, सेहो वा अणलो विगिंचियव्वो, किमिति करेंतो सुद्धो, तस्समातो वा पच्चक्खाणं करेंतो सुद्धो ॥ नि० चू० ११ उ० ।

(२६) पदमार्गादि—

जे भिक्खू पदमग्गं वा संकमं वा अवलंबणं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारेंतं वा साइज्जइ ।११।

जे भिक्खू पूर्ववत्। पदं पदाणि, तेसिं मग्गो पदमग्गो, सोवाणा संकमिज्जति, जेण सो संकमो काष्ठचारेत्यर्थः। अवलंबिज्जति त्ति। जं तं अवलंबं सो पुण वेति, ता मत्तावलंबो वा, चगारो समुच्चयार्थो। एते अण्णतित्थिएण वा गिहत्थेण वा कारावेति, तस्स मासगुरुं, आणादिणा य। इदाणीं निज्जुत्ती—

पदमग्गसंकमालं-बणा वसहिसंबद्धमेतरो चेव ।
विसमे कद्दमओ दए, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥१२२॥

अस्य व्याख्या—

पदमग्गो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इतरे वा ।
तज्जाता पुढवीए, इट्टगमादी अतज्जा य ॥ १२३॥

पदानां मार्गः पदमार्गः, सो पुण मग्गो सोवाणा। ते दुविहा- तज्जाया, इतरे अतज्जाया। तम्मि जाता तज्जाता, पुढवि चेव खणिऊण कता, न तम्मि अजाया अतज्जाया, इट्टगपासाणादिहिं कता, एकेक्का वसहीए संबद्धा, एतरा असंबद्धा, वसहीए लग्गा ठिता, असंबद्धा अग्गए अग्गपवेसदारे वा, तं पुण विसमे कद्दमे वा उदरे वा हरिएसु वा जातेसु तसपाणेसु वा घणासंसत्तेसु करेति। इदाणीं संकमो त्ति ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या—

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइट्ठितो य वेहासो ।
दव्वे एगमणेगो, चलाचलो चेव णायव्वो ॥ १२४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो। खलु अवधारणे। अणंतरपइट्ठितो-जो भूमीए चेव पइट्ठितो, वेहासो-जो खंभासु वा वेलीसु वा पइट्ठितो। एक्केक्को दुविहो-एगंगिओ य अणेगंगिओ य; एकानेकपट्टकृतेत्यर्थः। पुनरप्येकैको चलस्थिरविकल्पेन नेयः, तदपि विषमकर्दमादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४॥

अस्य व्याख्या—

आलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे व णायव्वं ।
दुहतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णायव्वा ॥१२५॥

एतस्स चेव संकमस्स अवलंबणं कज्जति, तं अवलंबणं दुविहं भूमीए वा संकमे वा भवति। भूमिए विसमे लग्गणणिमित्तं कज्जति, संकमे वि लग्गणणिमित्तं कज्जति, सो पुण दुहओ एगओ वा भवति, सा पुण वेइय त्ति भवति, मत्तावलंबो वा ॥ १२५ ॥

एतेसामण्णतरं, पदमग्गं जो तु कारए भिक्खू ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ।१२६।

एतेसिं पयमग्गसंकमावलंबणाणमण्णयरं जो भिक्खू गिहत्थेण वा अण्णतित्थिएण वा कारवेति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥१२६ ॥

खणमाणे कायवधो, अवि ते वि य वणस्सतितसाण ।
खणणेण तच्छणेण व, अहिदद्दुरमादिआघाए ॥१२७॥

तम्मि गिहत्थे अण्णतित्थिए वा, खणंते छण्हं जीवनिकायाणं विराहणा भवति, जइ वि पुढवी अचित्ता भवति, तहा वि वणस्सतितसाणं विराहणा। अहवा पुढवीखणणे अहिं दद्दुरं वा घाएज्जा, कट्ठं वा तच्छितोऽभंतरे अहिं उंदुरं वा घाएज्जा, एसा संजमविराहणा, आयाए हत्थं वा पादं वा लूसेज्जा, अहिमादिणा वा खज्जेज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा ण तेहिं कारवेज्जा, अववाएण कारवेज्जा वि ॥ १२७ ॥

वसहीदुल्लभताए, वाघातजुताए अधव सुलभाए ।
एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१२८॥

दुल्लभा वसही, मग्गंतेहिं वि ण लब्भति, अहवा सुलभा

वसही, किं तु वाघातजुत्ता लब्भंति, ते य वाघायदव्वपडिबद्धा, भावपडिबद्धा, जोतिपडिबद्धा इत्यादि। पच्छद्धं कंठं।

सयं करणे ताव इमेरिसो साहू करति—

जितिंदिओ घिणी दक्खे, पुव्वं तक्कम्मभावितो ।
उवउत्तो जती कुज्जा, गीयत्थो वा असागरे ॥१२९॥

इंदियजयमाणो जिइंदिओ, जीवदयालू घिणी, अणोमकिरियाकरणे दक्खो,(पुव्वमिति) गिहत्थकाले तक्कम्मभावितो णाम तत्कर्माभिज्ञः। स च रहकारधरणिपुत्रेत्यादि, यती प्रव्रजितः, स च उपयुक्तः कुर्यात,मा जीवोपघातो भविष्यति, एवं तावत कम्मभावितो गीयत्थो, तस्स अभावे अगीयत्थो, तक्कम्मभावितो तस्स भावे, तत्कर्माऽभावितो तस्य अभावे गीयत्थो अगीयत्थो य अपंते सव्वे वि असागरे करेंति। जदा तेहिं पवमग्गसंकमालंबणेहिं कज्जं सम्मत्तं तदा इमा सामायारी—

कतकज्जे तु मा होज्जा, तओ जीवविराधणा ।
मोत्तुं तज्जायसामाणे, सेसे वि करणं करे ॥ १३० ॥

कति परिसंमत्ते कज्जे मा जीवविराहणा भवेत्, तओ तस्मात् साधुप्रयोगात् अतः तज्जातो सामाणे मोत्तु सेसे वि करणं विणासणं कुज्जा, तज्जाएण विणासे त्ति, मा पुढविकाइयविराहणा भविस्सति अववायं। उस्सग्गे पत्ते अववाओ भण्णति—

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।
वाघाओ उवहिस्सा, पक्खरणं कप्पती ताहे ॥ १३१ ॥

वितियपदं अववातो, तेण सयं करेति,गिहिणा कारवेति, कहं?, भण्णति-सयं अणिउणो णिउणो वा केणइ य रोगातंकेण असहू सहुणो वा वाघातो विग्घंतं च आयरियगिलाणो ति पओअणं परो गिहत्थो जतो अप्पणा पुव्वाणिहियकारणातो असमत्थो, ताहे तेण कारावेउं कप्पते, तेसिं गिहित्थाण करावणे इमो कमो—

पच्छाकम्म साभिग्गह, णिराभिग्गह भद्दए व असण्णी।
गिहिअण्णतित्थिए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्छा । १३२।

पच्छाकम्मो पुराणो पढमं ताव तेण कारविज्जति, तस्स अभावे साभिग्गहो गिहीयाणुव्वतो सावगो, ततो निराभिग्गहो दंसणसावगो, तओ अधा भद्दएण असण्णिगिहिणा मिथ्यादृष्टिना पच्छाकम्मादि परतित्थिया वि चउरो दट्ठव्वा। पतेसिं पुण पुव्वं गिहिणा कारवेयव्वं, पच्छा परतित्थिणा अप्पतरपच्छाकम्मदोसातो ॥ १३२ ॥ नि० चू० १ उ० ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१३॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा,भिलिंगेज्ज वा,मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ।१५। जे भिक्खू अण्णउत्थिए । वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पोउमचुण्णेण वा सिणहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा परियट्टंतं वा साइज्जइ ।१६। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ।१७। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो प ए फू ज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ।१८। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पायं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ १९। जे भिक्खू अण्णउ त्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंत वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ।२०। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा,भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ।२१। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पोउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा,उव्वट्टंतं परियट्टंतं वा साइज्जइ ।२२। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ।२३। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ। २४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पोउमचुण्णेण वा सिणहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परियट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा परियट्टंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा,

पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा असियणं वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तीखेण वा सत्यजाएण अच्छिदिज्ज वा, विच्छिदिज्ज वा, अच्छिंदंतं वा विच्छिंदंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तीखेण वा सत्यजाएण अच्छिदित्ता वा, विच्छिदित्ता वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहिएज्ज वा, णीह तं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तीखेण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहारावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अएणयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहारावेज्ज वा, विसोहियरेण वा आलेवणजाएण आलिंपेज्ज वा, विलिंपेज्ज वा, आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अएणयरेण वा तीखेण वा सत्थजाएण वा अच्छिदावेज्ज वा, विच्छिदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहारावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा अण्णयरेण वा आलेवणजाएण तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा वसाएण वा णवणीएण वा अब्भिंगेज्ज वा, मंखेज्ज वा, अब्भिंगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा छिंदित्ता वा, भिंदित्ता वा, पूयं वा सोणियं वा णीहाराएज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, अण्णयरेण वा धुवणजाएण धुयाएज्ज वा, पधुयाएज्ज वा, धुयावंतं वा पधुयावंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥ जे भिक्खू अप्पणो पालुकिमियं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलिए निवेसियाय निवेसियाय णीहरावइ, णीहरावंतं वा साइज्जइ । ३७ ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ३८ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं वत्थीरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ३९ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं जंघारोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं सीसकेसाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४१ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं जूरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं चक्खूरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४४ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं एकरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४५ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं मस्सुरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४६ । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४७ । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं पासरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ४८ । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं उत्तरउट्ठाइं रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा, संठावंतं वा साइज्जइ । ४९ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दंते सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ । ५० । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दंते फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ५१ । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ५२ । जे भिक्खू अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे संवाहावेज्ज वा,

पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।५३। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।५४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।५५। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।५६। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ।५७। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।५८। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि संवाहावेज्ज वा, परिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।५९। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ । ६० । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।६१। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोलावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोलावंतं वा साइज्जइ । ६२। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज, णीहरावंतं वा साइज्जइ ।६४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णीहरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ ।६५। जे भिक्खू गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । ६६ ।

सुत्तत्थो जहा ततिउद्देसगे, तहा भणियव्वं, णवरं अण्णउत्थिएण कारवेइ त्ति वत्तव्वं । एवं प्रलम्बाधिकारः समाप्तः ।

पादप्पमज्जणादी, सीसदुवारादि जो करेज्जाहि ।
गिहिअण्णतित्थिएहिँ व, सो पावति आणमादीणि ।५८।

तेहिं अण्णउत्थिएहिं गारत्थिएण वा कारवेंतस्स खु किं कज्जं ?, उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मं, से य मलादीहिँ होज्ज व अवण्णो ।
संपातमेव होज्जा, उच्छोलणपावणे कुज्जा । २५९ ।

ते साहुस्स पादे पमज्जित्ता पच्छाकम्मं करेइ, साहुस्स पस्सेदं मलं वा दट्ठुं घाणं वा तेसिं अघाउऊण असुइ इति अवण्णं भासेज्ज, अजयणाए वा पमज्जंता संपातमेव होज्ज, बहुणा वा दव्वे अजयणाए धोवंता उच्छोलणदोसं करेज्जा, भूमिं ठिए वा पाणी फावेज्ज, इमो अववादो ॥२५९॥

बितियपदमणप्पज्झो, कारेज्जऽवि कोवि ते वि अप्पज्झं ।
जाणंते वा वि पुणो, परलिंगे सेहमादीसु ॥ २६० ॥

अणप्पज्झो कारवेज्जा, सेहो वा अजाणंतो कारवेज्जा, कारणेण वा परलिंगे गहिते परलिंगिभज्झट्ठिओ कारवेज्जा, सेहो वा उवट्ठितो जाव ण दिक्खिज्जति तेण कारवेज्जा ।२६०। किंचान्यत्-

पच्छाकम्मादीहिं, विस्सामावेउ वादि उज्जातो ।
पणविज्ज भाविताणं, संति देइ हत्थकप्पं तु ॥ २६१ ॥

साहूण अभावे पच्छाकम्मेण, आदिसद्दातो गिहीयाणुम्वणदंसणं, सावगेण वा एतेहिं विस्सामए, को विस्सामाविज्जा ?, वादी वा अद्धाणगतो वा उज्जातो श्रान्तः । जे भाविता ते पणविज्जंति । साधूनां पादरजः श्रेष्ठमाङ्गल्यं शिरसि धार्यते न दोषः। जे पुण अभाविता तेसिं सति मधुरवयणविज्जमानेन हत्थकप्पो तेसिं दिज्जति, मा पच्छाकम्मं करिस्सं । नि० चू० १५ उ० ॥

('अण्णमण्णकिरिया' शब्दे संबाधनपरिमर्दनसूत्राणि वक्ष्यन्ते)

(२७) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा भूइकम्मं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणापसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं कहेइ, कहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणापसिणं कहेइ, कहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा तीतनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १९ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पडुप्पण्णं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं

वा गारत्थियाणं वा आगमी संनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा लक्खणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा सुमिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा विज्जं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ॥२४॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मंतं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा जोगं पउंजइ, पउंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ नि० चू० १३ उ० ।

मार्गप्रवेदनम्—

जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा णट्ठाणं विपरियासियाणं मग्गं वा पवेदेइ, संधिं वा पवेदेइ, मग्गाओ वा संधिं पवेदेइ, संधिओ वा मग्गं पवेदेइ, पवेदंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

इमो सुत्तत्थो—

नट्ठा पथि फिडिता, मूढा उ दिसाविभाग ममुणंता ।
तं चिय दिसं पहं वा, पच्चेंति विवज्जिया वर्भ ॥ ४८ ॥

पथि प्रनष्टानां पन्थानं कथयति, अरुवीए वा मूढाणं दिसिभागं अमुणंताणं वि दिसि विभागेण पहं कहेति । जतो चेव आगता तं चेव दिसं गच्छंताणं विवज्जिता वक्खणं सब्भावं कहेति ॥४८॥

मग्गो खलु सगमपहो, पंथो वा तव्विवज्जिता संधी ।
सो खलु दिसाविभागो, पवेयणा तस्स कहणाओ ॥४९॥

संधी संखेरूयगो जतो गमिस्सति सो दिसाभागो, तं तेसिं मूढाणं पवेदेति, कथयतीत्यर्थः । सगममग्गा उज्जुसंधिसंखेडयं पवेदेति, उज्जुसंधिसंखेरूया वा सगडमग्गं पवेदेति, कहयति त्ति वुत्तं भवति । अहवा सव्वो चेव पहो मग्गो भवति, संधी पथं बोधेयव्वं । अहवा पंथुग्गमो चेव संधी, पंथस्स वा संधी अंतरे कहेति, संधीउ वा जो वामदक्खिणो पहो,तं कहेति ४९

गिहिअण्णतिरिथयाण व, मग्गं संधीउ जो पवेदेति ।
मग्गातो वा संधिं, संधीतो वा पुणो मग्गं ॥५०॥

गतार्था । तेसिं गिहिअण्णतित्थियाणं मग्गादि कहेंतो इमं पावति—

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं तहा दुविहं ।
पावति जम्हा तेणं, एते उ वए विवज्जेज्जा ॥ ५१ ॥

दुविहा आयपरसंजमविराधणा, तेसिं साधुविधिं तेणपहेणं गच्छंताणं इमे अण्णे दोसा—

छकायाण विराहण, सावय तेणोवहिं वि दुविहेहिं ।
जं पावति जाता वा, पदोस तेसिं तहिंऽण्णेसिं ॥ ५२ ॥

जं ते गच्छंता छक्काए विराहेंति, स विराधंतो तं णिप्पण्णं पावति, तेण वा पहेण गच्छंताणं ते सावयोवद्दवं सरीरोवहितेणोवद्दवं पावति,(जं पावेति त्ति) जं वा ते गच्छंता अण्णेसिं उवद्दवं करेति, जतो वा ते अणिट्ठदिट्ठातो स्वयं पावंति, ततो ते तस्स पथविहंगस्स साधुस्स अण्णस्स वा साधुस्स पदोसमावज्जेंति, अम्हे पडिणियत्तणेण परिसपंथं बूढा, इमेणं पंतावणादि करेज्ज । अधवा दातो विधेज्ज ॥

वितियपदमणप्पज्झे, पावे अवि कोवि ते व अप्पज्झे ।
अद्धाण असिव अहिओ–गआतुरादीसु जाणमवि ५३॥

खित्तादिगो अणप्पज्झो सेहो वा, अवि कोवि नो विधेज्ज, अप्पज्झो वि अद्धाणे वा सत्थस्स पहं अजाणंतस्स विधेज्ज । असिवे गिलाणकज्जे वा वेज्जस्स कप्पियारिस्स वा आणिज्जंतस्स पंथमुवदिसति । अभियोगो त्ति वक्षारातिणा देसितो गहिते पढमादिकरणेहिं जाणंतो वि कहेंतो सुद्धो ॥ नि० चू० १३ उ० ॥

(२८) [वाचना] अन्ययूथिकाः पाखण्डिनो गृहिणः सुखशीला वा न प्रमाजनीयाः—

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू पासत्थं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ २८॥ जे भिक्खू उसण्णं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । २९ । जे भिक्खू उसण्णं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३० । जे भिक्खू कुसीलियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३१ । जे भिक्खू कुसीलियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३२ । जे भिक्खू णितियं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३३ । जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ, । ३४ । जे भिक्खू संसत्तं वाएइ, वायंतं वा साइज्जइ । ३५ । जे भिक्खू संसत्तं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३६ ।

एवं पासत्थे दो सुत्ता, उसण्णे दो, कुसीले दो, संसत्ते दो, णितिये दो, एतेसिं वायणं देति, पडिच्छति, आवसेण वा सव्वेसु अदाच्छेदवज्जिएसु चउलहुं, अहवा अत्थे व अहाछंदे चउगुरुं, सुत्ते अत्थेसु—

आसपासंमिय गिहीं, सुहसीलं वा वि जो उ पव्वज्जे ।
अहव पडिच्छति तेसिं, वाओऽस्स य सात्ति पोरेसिं ॥२२४॥

(पोरिसि त्ति) सुत्तपोरिसिं अत्थपोरिसिं वा देंतस्स, तेसिं वा समीवातो पोरिसिं करेंतस्स, अहवा एक्को पोरिसिं वायंतस्स, अणेगासु इमं—

सतरत्तं तवो होति, ततो छेदो पहावति ।
छेदेण छिण्णपरिया, एतो मूलं ततो दुगं ॥ २२५ ॥

सत्तदिवसे चउलहुं तवो, ततो एक्के दिवसे चउलहु छेदो, ततो एक्केक्कदिवसे मूलऽणवट्ठा पारंचिया, अहवा तवो, तहेव य चउलहु, छेदो, सत्तदिवसे सेसा, एक्केक्के दिवसं अहवा तवो तहेव । गुरुच्छेदो, सत्तदिवसे, सेसा एक्केक्कं, अहवा चउलहुतो

वा सत्तदिवसे, ततो चउगुरु, ततो सत्तदिवसे, ततो छल्लहु सत्तदिवसे, ततो छग्गुरु सत्तदिवसे, ततो एते चेव, छेदो सत्त सत्त दिवसे, ततो मूल्लऽणवट्ठप्पपारंचिया एक्केक्कदिणं, अहवा ते चेव चउलहुगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा, ततो छेदो, छहुपणगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा सत्तसत्तदिवसे णेयव्वा, जाव छग्गुरु, ततो मूलगुणऽणवट्ठप्पपारंचिया एक्केक्कदिवसं; गिहिअण्णतित्थिएसु इमे दोसा ।

मिच्छत्तथिरीकरणं, तित्थस्सोभावणा य गेएहं तु ।
देंति पवंचणकरणं, तेणोवक्खेवकरणं च ॥ २२६ ॥

कहं मिच्छत्तं थिरतरं? उच्यते-तं दट्ठुं तेसिं समीवे गच्छं मिच्छद्दिट्ठी चिंतेति-इमे चेव पहाणतरा जाता, एते वि एतेसिं समीवे सिक्खंति, लोगो दट्ठुं भणाति, एतेसिं अप्पणो आगमो णत्थि, परे संति, ताणि सिक्खंति, णिस्सारं पवयणं ति ओभावणा, अह तेसिं देंति, ता ते सइहत्थादिजाविता महाजणमज्झे चट्टं चोरं खुज्जा विलियासणए करीसए पिलुअए त्ति । एवमादि पवंचणं करेति उड्डाहं च, अहवा तेणोवासिक्खिकपण अक्खेवेति, चोयणं करेज्जा, दूसेज्ज वा २२६ ॥

गिहिअण्णतित्थियाणं, एए दोसाव देंत गेएहंते ।
गहणपमिच्छएण दोसा, पासत्थादीणि पुच्छत्ता ॥ २२७ ॥

कंठा, णवरं पासत्थादिसु गहणपमिच्छणदोसा जे ते पणरसमे उद्देसगे वुत्ता, ते दट्ठव्वा, वंदणपसंसणादिया वा तेरसमे जम्हा एते दोसा तम्हा गिहिअण्णतित्थिया वा ण वाएयव्वा, परपासंमिलक्खणे जो अप्पाणं मिच्छिस्सं कुव्वंतो कुतित्थिए वा एति, जिणवयणं वा णाभिगच्छति, सो परपासंमी, जो पुण गिही अण्णतित्थिओ वा इमेरिसो-

णाणचरणे परूवए, कुणति गिही अहव अएण पासंमी ।
पयएहिँ संपउत्तो, जिणवयमएणासग्गती जाति ॥ २२८ ॥

णाणदंसणचरित्ताणि परूवेति । जिणवयणचोरो एति सो संपासंमी चेव सो वाइज्जइ, जं तस्स जोग्गं ॥ २२८ ॥

एते व विप्पमुक्को, गच्छति गति अएणतित्थीणं ।
पव्वज्जाए अभिमुह, एति गिही अहव अएणपासंडी ॥
उववायविहारं वा, पासत्था ओवगंतुकामं वा ॥ २२९ ॥

जो अण्णतित्थियाणुरूवा गती, तं गच्छति, सेसं कंठं, जवे कारणं वा पज्जा वि(पव्वज्जाए) गाहा । गिही अण्णपासंडी वा पव्वज्जाभिमुहं सावगं वा उज्जीवणियत्ति जाव सुत्तत्थो, अत्थतो जाव पिंडेसणा, एस गिहत्थादिसु अववादो, इमो पासत्थादिसु अववादो तित्ति उवसंपदा उज्जपविहारीणं उवसंपण्णो जो पासत्थादी सो उववायविहारट्ठितो तं वा वाएज्ज, अहवा पासत्था दिसाण जो संविग्गविहारं उवगंतुकामो, अब्भुट्ठितकाम इत्यर्थः । तं वा पासत्थादिभावट्ठितं चेव वाएज्जा जाव अब्भुट्ठेति, एवं वायणा दिट्ठा, तेसिं समीवातो गहणं कहं होज्जा? । उच्यते-

बितियपदसमुच्छेदो, दसाहि ते तह। पकप्पंति ।
अण्णस्स व असतीए, पमिकमंते व जयणाए ॥ २३० ॥

जस्स भिक्खुस्स णिरुरूपरिया उवट्ठिति, णिरुरूपरियागो णाम

जस्स तिण्णि वरिसाणि परियायस्स संपुराणि, तस्स य आयारपगप्पो अधिज्जियव्वो, आयरियाय कालगते एसेव समुच्छेदो। अहवा कस्सइ साहुस्स आयारपगप्पस्स देसेण अणधीते समुच्छेदो य जाओ, एतेसिं सव्वो आयारपगप्पो पढमस्स वितियस्स य देसो य अवस्सं अहिज्जियव्वो, सा कस्स पासे अहिज्जियव्वो । उच्यते-

संविग्गपच्छाकमसि-च्छपुत्तसारूवि पमिकंते ।
अब्भुट्ठिते अ असती, अणिच्छेसु तत्थ वतिदेसा वीति । ३१ ।

सगच्छे चेव जो गीयत्था, तेसिं असति परगच्छे संविग्गमणुन्नसगासे, तस्स असति परगच्छे संविग्गमणुन्नस्स, ताहे अन्नस्स वि असति पत्ते पत्ते, अन्नसंभोइयस्स वि असति एति, अन्नसंभोइयस्स वि असावणिआदि उक्कमेणं असंविग्गेसु तेसु वि णितियादिगाणाओ आवकहाए पमिकमाविता, अणिच्छि जाव अहिज्जइ, ताव पमिकमाविता, तहा वि अणिच्छे तस्सेव सगासे अहिज्जइ, सव्वत्थ वंदणादीनि न हावेइ। एसेवजयणा तेसिं असतीए पच्छाकमादिसु पच्छाकमे त्ति, जेण चारित्तं पच्छाकडं अभिक्खंतो भिक्खं हिंमइ वा, न वा सारूविगो पुण मुक्किलवत्थपरिहिओ मुंममसिहं धरेइ । अभज्जगो अपसादिसु भिक्खं हिंमइ । अण्णे भणंति-पच्छाकमसिरूपुत्ता चेव जे असिहा ते सारूविगा, एयम्मि सगासे सारूविगाइ पच्छाणुलोमणं अधिज्जति, तेसु सारूविगादिसु पडिक्कंते अब्भुट्ठिय त्ति सामातियपडिक्कंता वतारोवितो अब्भुट्ठिओ, अहवा पच्छाकमादिएसु पमिकंतेसु एते सव्वे पासत्थादि पच्छाकमादिया य अप्पं खेत्तं णेउं पमिकमाविज्जंति, (अणिच्छेसु तत्थ वतिदेसा वीति त्ति) । अस्य व्याख्या-

देसो सुत्तमहीयं, न तु अत्था अत्थितो व असमत्ती ।
असति मणुमममणुम्मे, इयरेतरपक्खीयमपक्खीयं ॥ ३२ ॥

पुव्वद्धं कंठं । (असति मणुममणुण्णे त्ति) एयं गच्छंति (इतरेतर त्ति) असति णितियाण इतरा संसत्ता, तेसिं असति इतरा कुसीला एयं णायव्वं, एसो वि अत्थो गहो चेव तेसु वि कुव्वं जेसिं विगपारिकएसु इमेरिसा, जे पच्छाकमादिया मुंमं घागा ते पच्छाकमादिया । जावज्जीवाए पमिक्कमाविज्जंति आवज्जीवमणिच्छेसु जाव महिज्जति, तह वि अणिच्छेसु जदि ।

मुंमं व धरेमाणे, सिहं च फडित्ताणित्थसिस्साह ।
लिंगेण मसागारिए, ण वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

(मुंम धरे त्ति) तारयोहरणादि दव्वलिंगं दिज्जति, जाव उद्देसादी करेइ, सा सहस्साविसिहं फेरेतु। एमेव दव्वलिंगं दिज्जति, अणिच्छिसु दव्वलिंगं वा णो इच्छति फेरेतुं, तो स सिंहस्सेव पासे अधिज्जत सङ्घिगे ठिओ चेव असागारिए एएसेसु य पुयत्तिकाओ वंदणाइ सव्वं ण हावेइ, तेण वि धारेयव्वं पच्छाकडयस्स पासत्थादिसुयस्स वा जस्स पासे अधिज्जति, तत्थ वेयावच्चं ण करे। इमो विही-

आहार उवहि सेज्जा-एसणमादीसु होति जतियव्वं ।
अणुमोयणकारावण, सिक्खति य पदम्मि सो सुद्धो । ३४ ।

जदि तस्स आहारादिया अस्थितो, पहाणं अह णत्थि, ताहे सव्वं अप्पणा एसणिज्जं आहारादि उप्पाएयव्वं, अप्पणा असमत्थो-

चोदेति से परिवारं, अकरेमाणे मणादिवासड्ढे ।
अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥ ३५ ॥
दुविहाऽसति एतेसिं, आहारादी करेति सव्वं तो ।
पणिहाणी व जयंते, अत्तट्ठा एवमेव गेण्हंतो ॥ ३६ ॥

जो तस्स परिवारो पासत्थादियाण वा भी स परिवारो सड्ढावि संताए करेति, असंता वा णत्थि सड्ढा, एवं असती एसो सिक्खगो आहारादि सव्वं पणं परिहाणीते जयणा, ते तस्स विसोहिकोमीहिं सयं करेंतो सुज्झति, अप्पणो वि एमेव पुव्वं सुद्धं गेण्हति। असति सुद्धस्स पच्छा विसोहिकोमीहिं गेण्हंतो सिक्खति, अववादपदेण विसुज्झइ। नि० चू० १५ उ०।

(९) विचारभूमेर्विहारभूमेर्वा निष्क्रमणम्–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारियो वा अपरिहारिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा, पविसेज्ज वा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्बहिर्विचारभूमिं संज्ञाव्युत्सर्गभूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं तैरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसंभवान्न प्रविशेदिति संबन्धः। तथाहि-विचारभूमौ प्रासुकोदकस्वच्छबहुलपनिर्लेपकृतोपघातसद्भावाद्विहारभूमौ वा सिद्धान्तालापकविकत्थनभयात्, सेहाद्यसहिष्णुकलहसद्भावाच्च साधुस्तु तैः सह न प्रविशेत्, नापि ततो निष्क्रामेदिति। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ वा अपरिहारिएण वा सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमइज्ज वा, पविसइज्ज वा, निक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

(जे भिक्खू अण्णउत्थियेत्यादि) सण्णावोसिरणं वियारभूमी, असज्झाए सज्झायभूमी जा सा विहारभूमी, सा उज्झामगपोरिसी वि भण्णति णो कप्पति। "एत्तो एगतरेणं" गाहा कंठा।

वीयारभूमिदोसा–संका अपवत्तणं कुरुकुया वा ।
दवअप्पकलुसगंधे, असती व करेज्ज उड्डाहं ॥ ३०२ ॥
वीयारभूमि असती, पमिणीए तेण सावए वा वि ।
रायदुट्ठे रोधग, जयणाए कप्पते गंतुं ॥ ३०३ ॥

वियारभूमीए पुरीसा वा, तसलोए अ दोसासंका (अपवत्तणं ति) अपवत्तंते य मुत्तणिरोहे भीणि सल्यादिए मट्टियाए बहुदवेण य कुरुकुया करेयव्वा, एत्थ उच्छोलणे ओप्पीलणादी दोसा। अह कुरुकुयं ण करेति, उड्डाहो अप्पेण वा दवेण कलुसेण वा दवेण णिल्लेवंतं दट्ठुं चउत्थरसियादिणा वा गंधिलेण अभावे वा दवस्स अणिल्लेविते जणपुरओ उड्डाहं करेज्ज, जम्हा एते दोसा तम्हा तेहिं सद्धिं ण गंतव्वं, अववादपए ने वज्जेज्ज। (वियार)गाहा। अण्णओ वियारभूमीए असति जदि ते गिहत्थअण्णउत्थिया वदंति, ततो वएज्ज, जतो अणावातमसंलोअं तओ इमे पडिणीतएण सावयबोधितदोसा। अंतर

तत्थ वा थंमिले गतस्स, अतो गिहत्थेहिं समं गच्छे, ते निवारेंति, रायदुट्ठे रायवल्लभेण समाणं गम्मइ, राइपवगा चेव सण्णाभूमी परिसोहिं कारणेहिं जयणाए गम्मति, सा य इमा जयणा–

पच्छाकडत्तदंसण, असण्णिगिहिए तओ कुलिंगीसु ।
पुव्वमसोयवादिसु, पउरदवेमट्टिया य कुरुया य । ३०४ ।

पुव्वं पच्छाकमेसु गिहीयाणुव्वएसु तेसु चेव दंसणसावएसु ततो एसु चेव कुतित्थिएसु ततो असण्णिगिहत्थेसु ततो कुलिंगिएसु असमणीसु सव्वासु सव्वेसु पुव्वं असोयवादिसु पच्छा सोयवादिसु दूरं दूरेण परं मुद्दो कुवे संघवज्जितो पउरदवेणं मट्टियाए य कुरुकुयं करेंतो अ दोसो।

एमेव विहारम्मी, दोसा उड्डुंचगादिया बहुधा ।
असती पमिणीयादिसु, वितियं आगाढजोगिस्स ॥ ३०५ ॥

विहारभूमीए वि प्रायशः एत एव दोषाः। उड्डुञ्चकादयश्च अधिकतरा बहवः। अन्ये उड्डुञ्चका कुट्टिदा उड्डुंति वा वंदनादिसु प्रत्यनीकादिद्वितीयपदं पूर्ववत्। चोदको भणति-जत्थेसिया दोसा तत्थ तेहिं सामण्णं गंतुं वितियपदेण विसज्झाओ मा कीरउ। आयरिओ भणति-आगाढजोगिस्स उद्देससमुद्देसादओ अवस्सं कायव्वा, सचक्खए य असब्भावेहिं पडिणीयादि, अतो तेण समाणं गंतुं करेंतो सुद्धो। नि० चू० २ उ०।

(१०) विहारः–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ अपरिहारिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥ ४ ॥

तथा (से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्ग्रामाद् ग्रामान्तरम्, उपलक्षणार्थत्वान्नगरादिकमपि (दूइज्जमाणे त्ति) गच्छन्नेभिरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसंभवान्न गच्छेत्। तथाहि–कायिकादिनिरोधे सत्यात्मविराधना, व्युत्सर्गे च प्रासुकाप्रासुकग्रहणादावुपघातसंयमविराधने भवतः। एवं भोजनेऽपि दोषसंभवो भावनीयः, सेहादिविप्रतारणादिदोषश्चेति। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिउ वा अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

ग्रामादन्यो ग्रामो ग्रामानुग्रामम्। शेषः पूर्वसूत्रार्थवत् ॥ ४१ ॥

णो कप्पति भिक्खुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारीणं ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, गामणुगामं तु विहरित्ता ॥ ३०६ ॥
एत्तो एगतरेणं, सहितो दूइज्जती तु जे भिक्खू ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ३०७ ॥

"डुडु गतौ" दूइज्जइ ति रीयति, गच्छतीत्यर्थः। रीयमाणो तित्थगराणं आणं आणम्मि जे अणवत्थं करेति, मिच्छत्तं अप्पेसि जणयति, आयरियसंजमविराहणं पावति। इमं च पुरिसविभागेण पच्छित्तं–

मासादीया गुरुगा, मासो अविसेसियं चउण्हं पि ।
एवं सुत्ते पत्था–ण होति सहाण पच्छित्तं ॥ ३०८ ॥

अगीयत्थभिक्खुणो गीयत्थभिक्खुणो उवज्झायस्स आयरिय-

स्स एतेसिं चउण्ह वि मासादी चउगुरु मतं, अहवा मासलहुं चेव तवकालविसेसियं। अहवा अविसेसियं चेव मासलहुं। चोदग–आह–किं णिमित्तमिह सुत्ते पुरिसविभागेण पच्छित्तं दिण्णं ?। आचार्य आह–सर्वसूत्रप्रदर्शनार्थम। एवं सुत्ते २ पत्थाण सट्ठाण पच्छित्तं दट्ठव्वं। इमा संजमविराहणा–

संजतगतीएँ गमणं, ठाणणिसीयण उ अट्टणं वा वि ।
वीसमणादि पविस्सुय–उच्चारादी अवीसत्था ॥ ३०९॥
मासादीया गुरुगा, भिक्खू व समाभिसेगआयरिए ।
मासो विसेसिओ वा, चउण्हवी चउसु सुत्तेसु ॥३१०॥

जदा संजओ सिग्घगतीए वा वच्चति, तदा गिहत्थो वितितो अधिकरणं भवति, तण्हा छुहाए व परिताविज्जति, तण्णिप्फण्णं वीसमंतो य सचित्तपुढविकाए उद्धठाणं निसीयणे तु अट्टणं वा करेति, भत्तपाणादियाए उच्चारपासवणेसु य सागारिओ भिकाउं अवीसत्थो साहुणिस्साए वा गच्छंति, तो फलादि खाएज्जा, अहिकरणं साहू वा तस्स पुरओ वितियपदेण गेण्हेज्जा। परितावणाणिप्फण्णं पादपमज्जणादि वा ण करेज्जा, तत्थ वि सट्ठाणं अह करेति, उड्डाहो।

भाष्यकारेणैवायमर्थ उच्यते–

अत्थंमिलमेगतरे, ठाणादी खप्फजवहि उड्डाहो ।
धरणणिसग्गे वा तो-जयस्स दोसा पमज्जणए ॥३११॥

साहुणिस्साए वा साहू अथंडिले ठाएज्ज, खद्धोवहिणा भारं तुंदुउत्ति उड्डाहं करेति, धरणणिसग्गे वा वायकाइयसण्णाए उभयहा दोसो पमज्जंतस्स उड्डाहो, अपमज्जणे य विराहणा जम्हा ण गच्छे ॥३११॥

वितियपदं अच्छाणे, मूढमयाणंत दुट्ठणट्ठे वा ।
अवहीसरीरतेणग–सावयजयदुल्लभप्पवेसे य ॥३१२॥

अच्छाणे सत्थिएहिं समं वच्चति पंथाउ वा मूढो दिसातो वा मूढो, साहू जाव पंथे उत्तरेति पंथमयाणंतो वा जाणा गिहिं समं गच्छेज्ज, रायदुट्ठे वा रायपुरिसेहिं समं गच्छे, बोधिगादिभया णट्ठो वा तेहिं समाणं णिद्दोसो हवेज्ज, तेणगभए वा गच्छे, सावयभए वा अण्णम्मि वा णगरदेसरज्जे दुल्लभपवेसे तेहिं समं पविसेज्ज। अण्णहा ण लब्भति। तत्थ पुण णगरादिसु विहरंतो तत्थ अत्थंतो णितितो भवति, तेहिं समाणं गच्छंतो इमा जयणा–

णिब्भए पिट्ठउ गमणं, वीसमणादी पदा तु अण्णत्थ ।
सावयसरीरतेणग–भएगुतिट्ठाण जयणा तु ॥ ३१३ ॥

णिब्भए पिट्ठओ गच्छति, पिट्ठतो ठिता सव्वपमज्जणादि सामायारिं पउंजति, वीसमण त्ति पदा जदि असंजतो थंडिल्ले करेति, तो संजया अण्णथंमिले ठायंति, तेण सावयभयं जइ पिट्ठतो, तो मज्झतो पुरतो वा गच्छंति, मज्झे तए पुरतो पिट्ठओ वा गच्छंति ॥३१३॥ नि० चू० २ उ०।

(२१) [शिक्षा] अन्ययूथिकं वा गृहस्थं वा शिल्पादि शिक्षयति–

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा सिप्पं वा सिलोगं वा अट्ठापदं वा कक्करयं वा वुग्गहं वा सलाहं वा सलाहत्थयं वा सिक्खावेइ,सिक्खावंतं वा साइज्जइ । ८ ।

(जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा इत्यादि) सिप्पं तुण्णगादि, सिलोगो वण्णणा, अट्ठापदं जूतं, कक्कडगहेउ वुग्गहा कलहो, सलाहा कव्वकरणप्पओगो। एस सुत्तत्थो। इमा णिज्जुती–

सिप्पासिलोगादीहिं, सेसकलाओ वि सूइया होंति ।
गिहिअण्णतित्थियं वा, सिक्खावेंते तमाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्खणसउणरुयादिसुचिया ण गिही अण्णतित्थी वा सिक्खावेयव्वा। जो सिक्खावेति, तस्स आणादिया य दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ॥ २० ॥

सिप्पसिलोगे अट्ठा–वए य कक्कडगवुग्गहसलाहा ।
तुंनाग वण्ण जूतो, हेतू कलहुत्तरा कव्वो ॥ २१ ॥

पुव्वद्धेण सुपसिद्धा गाहा,पच्छद्धेण जहासंखं तत्थ उदाहरणं। सिप्पं जं आयरिओवदेसेण सिक्खिज्जति, जहा तुण्णागं तुण्णादि, सिलोगो गुणवयणेहिं वण्णणा, अट्ठापदं चउरंगेहिं जूतं, अहवा इमं अट्ठापदं—

अम्हेण वि जाणामो, पुट्ठो अट्ठापयं इमं वेति ।
सुणगाविसालकूरं, पेच्छाति पभूपजातम्मि । २२ ।

पुच्छितो अपुच्छितो वा भणति-अम्हे णिमित्तं ण सुट्ठु जाणामो, पत्तियं पुण जाणामो, परंपरभावकाले दधि कूरं सुणगादि जावो ण भवति, अणिच्चो वा भणितो विणासी घटवत् कृतविप्रणासादयश्च दोषा भवन्ति। अहवा कर्कटहेतुसर्वज्ञावैक्यप्रतिपत्तिः। अत्राह–यथा दोषो मूर्त्तिमदमूर्त्तसदुःखभेदतो ज्ञानकालभेदाच्च कारकचूतविशेषाच्च विरुद्धं सर्वज्ञावैक्यम। अथ नैवं, ततः प्रतिज्ञाहानिः। वुग्गहो रायादीणं अमुककाले कलहो भविस्सति। रण्णो वा जुद्धं सगरुमादिएण कलहे जयमादिसति। दोण्हं वा कलहं ताणं उ कस्स उत्तरं कहेति ?, सलाह त्ति, कथासब्भावं कहेति। कव्वेहिं वा वारितो कथं करेति ?,सलाहकहत्थेणं ति, सव्वकालो तो सूचितातो भवंति, ताणि अण्णतित्थिमादी णि सिक्खावेति, चउलहु, आणादी य संजमे दोसा। अधिकरणं तस्सगाथदेसे य इमं वितियपदं–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, सिक्खावणया उ जयणाए ॥ २३॥

रायादिमण्णं वा इस्सरं सिक्खावेंतो असिवगहितो तप्पभावा ओट्ठागादि लभति, ओमे वा पुच्छति सोच्चा रायदुट्ठे ताणं करेति। बोहिगादिभये ताणं करेति। गिलाणस्स वा उसहातिएहिं उवग्गहं करिस्सति। अद्धाण रोहगेसु वा उवग्गहकारी भविस्सति। एवमादिकारणे अवेक्खिऊण इमाए जयणाए सिक्खावेति। २३।

संविग्गमसंविग्गो, धाविंयं तु साहेज्ज पढमतोगीयं ।
विवरीयमगीए पुण, अणभिग्गहमाइ तेण परं ॥ २४ ॥

पणगपरहाणीए जाहे चउलहुं पत्ता तेसु जतिउं ते से वि असंतरंतो ताहे संविग्गो धाविअं गीयत्थं सिक्खावेति, पच्छा असंविग्गो धावितं गीयत्थं; अगीएसु विवरीयं कज्जति,ततो असंविग्गो धावितं अगीतं,ततो संविग्गं अगीयं,अन्यविपरीतकरणाद् हेतुमद्भावनां करिष्यति। संविग्ग अगीतार्थः। पच्छा गहियाणुव्वयं, ततो पच्छा दंसणसावगे, ततो पच्छा अहाभद्दयं.

ततो मिच्छं अणभिग्गहाभिग्गहियं । नि० चू० १३ उ० ॥

(३२) [संघाटीसीवनम्] अन्ययूथिकादिभिः संघाटीं सीवयति—

जे भिक्खू अप्पणो संघाडियं अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीवावेइ, सीवावेंतं वा साइज्जइ । १२ ।

अप्पणो अप्पणिज्जं संघाडी णाम सपमी सरहसति त्ति काऊण दोहिं अंतेहिं मज्झे य जदि अण्णउत्थिएण स सरक्खादिणा गिहत्थेण तुण्णागादिणा संसिव्वावेइ अप्पणेण ॥ १२ ॥

णिक्कारणम्मि अप्पणा, कारणे गिहि अन्नउ अन्नतित्थीहिं ।
संघाडिं सीवावे, सो पावति आणमादीणि २५ ॥

जदि णिक्कारणे अप्पणा सीवेति, कारणे वा अण्णउत्थियगारत्थिएहिं सिव्वावेति , तस्स मासलहुं , आणादिया इमे दोसा—

णिक्कारणम्मि लहुगो, गिलाण आरोवणा पविट्ठम्मि ।
छप्पइकाइसंजमे, कारणसुद्धो खलु विधीए ॥ २६ ॥

विद्धे आयविराहणा छप्पतियवाधअसंजमविराहणा, कारणे विधीए सयं सिव्वंतो सुद्धो। चोदग आह-पढमुद्देसगे परकरणे मासगुरुं वण्णियं, इह कहं मासलहुं भवति ? आयरिय आह—

कामं खलु परकरणे, गुरुमासो तु वण्णिओ पुव्विं ।
कारणियं पुण सुत्तं, सयं वऽसुण्णायते लहुओ ॥२७॥
णेगगुणमुंचंते, पलिमंथो उग्गमो तु पमियत्थो ।
एगस्स वि अक्खंवे, अवहारो होति सव्वेसिं ॥ २८ ॥

कामं अणुमयत्थे, खलु पूरणे,पुव्वं पढमुद्देसए, इह तु कारणिए सुत्ते अप्पणो अणुण्णाते परेण सीवावेंतस्स मासलहुं, सवडिए इमे दोसा। (णेगगुणे) गाहा । जदि बद्धं पडिलेहेंति अणेगरूवधूणणदोसा, अह बंधी मोत्तुं पडिलेहेंति पुणो बंधति, सुत्तत्थपलिमंथो भवति, पडियत्थो उग्गमो णेगेण, अविस्ससे एगे वि सव्वेसिं अपहारो भवति, अकारणे सिव्वणे य इमा दोसा—

सयसिव्वणम्मि विद्धं, गिलाणआरोवणा तु सविसेसा ।
भिज्जति य संजमम्मी, सुत्तादी अकरणे इमं च ॥२९॥

अप्पणो सिव्वंतो सूयीएविद्धो ताहे गिलाणारोवणा सविसेसा सपरितावमहादुक्खा छप्पतियवाधे असंजमो भवति , तत्थ लहुगो सुत्तत्थपोरसिं ण करेति, जहासंखं सुत्तणासे इक्क अत्थं नासेइ, कायम्मं व परकारवणे दोसदंसणं ।

अविसुद्धट्ठाण काया, पप्फोमण छप्पया य वा तीय ।
पच्छाकम्मं वसिया, छप्पति वेधो य हरणं च ॥ ३० ॥

अविसुद्धट्ठाणं अपुढवीकायादियाणं उवरिं ठवेति, कायविराहणा, पप्फोडणे छप्पया पडंति.वाउसंघट्टणा य धारणावडियवोज्झणा देसन्नवणादाणं करेज्ज, छप्पया उवाविंधति, अप्पणो वा ऊरुयं विधति , हरेज्ज वा तं संघाडिं । इदाणिं अप्पणा सिव्वणकारणं भण्णति—

वितियं तु चट्टमुट्टोरगा, य गेलण्णविसमवत्थे य ।
एतेहिं कारणेहिं, संसिव्वणमप्पणा कुज्जा ॥ ३१ ॥

छुट्टी तस्स हत्था वा पाया वा कंपंति,ण तरति पुणो रसं लवेउं, अथवा उट्टोरगा गिलाणो वा ण तरति, पुणो २ संठवेउं विसमवत्थाणि वा एगतं सीविज्जंति,एतेहिं सयं सीवेंतो सुद्धो, जहण्णेण तिण्णि बंधा,एक्को दसंते, वितीओ पासंते, ततियो मज्झे वि । तिण्णि उक्कोसेण ण भवंति , कारणे अण्णउत्थिएण सिव्वावेति ।

वितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा होज्ज केण वी असहू ।
वाघातो व सहस्सा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ३२ ॥

अप्पणा अणिउणो वा असहू गिलाणवाघातो गिलाणादि, पओयणेण वा वरी एवं परेण कारवेउं कप्पति, इमाए जयणाए—

पच्छाकडसाभिग्गह—णिरभिग्गह भदए य असण्णी ।
गिहिअण्णतित्थिएहिं. असोयसोए गिही पुव्वं ॥ ३३॥

पच्छाकमो पुराणो पढमं तेण ततो अणुव्वयसंपण्णो सावओ साभिग्गहो; ततो सण्णी भद्दओ, असण्णी भद्दओ, एते चउरो गिहिभेदा । अन्नउत्थिए एए चउरो भेदा पक्केक्के असोयसोय भेया कायव्वा, पुव्वं गिहीसु, पच्छा सोयवादिसु,पच्छा अण्णतित्थिएसु । नि० चू० ५ उ० ।

जे भिक्खू निग्गंथीणं संघाडिं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सिव्वावेइ, सिव्वावेंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

अन्नतित्थिएण गिहत्थेण सिव्वावेति, तस्स चउलहु, आणादिया य दोसा ।

संघाडीओ चतुरो, तिपमाणा ता भवे दुविहा ।
एगमणेगं छम्मी, अहिकारोऽणेगखंडीए ॥ ५१ ॥

प्रायेण (संघाडिज्जति त्ति) संघाडी गुणसंघायकारिणी वा, संघाडी देसीभासातो वा पाउरणे संघाडी ,ततो संखा, पमाणेण चउरो प्रमाणेन निपमाणगा एगा दुहत्था दीहा , दुहत्थविच्छारा सा उ उवस्सए अत्थमाणीए भवति , वेतिहत्थदीहा,तिहत्थवित्थारा, तत्थेगा भिक्खायरियाए,बितिया वियारं गच्छती पाउणाति, चउहत्थ चउहत्था दीहा, चउहत्थवित्थारा, एया सव्वा वि पासगलका पुणो एक्केक्का दुविहा । पच्छद्धं कंठं ॥

तं जो उ संजतीणं,गिहीण अहवा वि अण्णतित्थीणं ।
सिव्वावेती भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ ५२ ॥

तं संजती संजतेयं संघाडिं जो आयरितो गिहत्थेण अण्णतित्थिएण वा सिव्वावेति, तस्स आणादिणो दोसा ।

कुज्जा वा अजियोगं, परेण पुट्ठे व संकि उड्डाहो ।
हीणाहियं व कुज्जा, छप्पइया संहरिज्जा उ ॥ ५३ ॥

सो गिही अन्नतित्थी वा तत्थ वसीकरणप्पयोगं करेज्ज, अन्नेण वा पुट्ठो-कस्स संतियं वत्थं ? सो कधिज्ज संजती-संजतियं, ताहे तस्स संको भवति,उड्डाहं वा करेज्ज,नूणं को वि संबंधो अत्थि,तेण एसो सिव्वेति,पमाणेण हीणमहीणं वा करेज्ज, छप्पयातो उड्डेज्ज, मारेज्ज वा, तं वा संघाडिं करेज्ज, सिव्वंतो वा विद्धो तत्थ परितावणादिणिप्फन्नं छप्फोसणादि वा पच्छाकम्म कुज्जा, जम्हा एते दोसा तम्हा इमो विही—

छिन्नपरिकम्मितं खलु,अणुज्झंडवहिं तु गणहरो देति ।
गुज्झोवहिं तु गणिणी, सिव्वेति जहारिहं मिणं तु ॥५४॥

जं अतिप्पमाणं तं छिंदति , व कुतिमादिणा परिकम्मियं अ—

गुज्झोवही तिन्नि कप्पा चउरो संघाडीतो पातं पायणिज्जोगो य, एवं गणहरो परिकम्मितं देति, सेसो गुज्झोवही तं गणिणी सरीरपमाणं मिणिउ सिव्वेति, कारणे गिहि अण्णतित्थीण वा सिव्वावेति ॥ ५४ ॥

बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणवी असहू ।
गणिगणहर गच्छे वा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ५५ ॥

गणी उवज्झाओ, गणहरो आयरिओ, अन्नो वा गच्छे वुड्ढो तरुणो वा कुसलो, ते सिव्वेज्जा, अह ते असहू होज्जा, गच्छे वा नत्थि कुसलो, ताहे गिहिअण्णतित्थिणा वा सिव्वावेंति ।

तत्थ इमो कप्पो—

पच्छाकडसाभिग्गह–निरभिग्गहभद्दए य व असण्णी ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा । ५६ ।

पूर्ववत् सिव्वावणे इमो विही—

आगातेणं असती, संठाणं गंतु सिव्वावे ।
पासट्ठिय अवखित्तो, तो दोसे वंजणा ण जायंति । ५७ ।

सो गिहत्थो अण्णतित्थिओ वा साहुसमीवं अह पवसीए आगतो सिव्वाविज्जति । जदि अब्भासागतो ण लब्भति, तो तस्स जं संठाणं तं गंतु सिव्वाविज्जति, जयणाए छप्पइयातो पुव्वं अण्णत्थ संकामिज्जति, तस्स समीवे अवक्खित्तो वि तो णिवण्णो वाचा वा चिट्ठति, जाव सिव्वियं, एवं पुव्वुत्ता दोसा ण भवंति ।

(३२) संभोगः—

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवहासे णिक्खिवइ, णिक्खिवंतं वा साइज्जइ । ३८ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सद्धिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ३९ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं आवेढिय परिवेढिय भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ । ४० ।

अण्णउत्थिया तव्वणिया दि बंभणा खत्तिया गारत्था, तेहिं सद्धिं एगभायणे भोयणं एगदुतिदिसिठिएसु आवेढिओ, सव्वदिसिठितेसु परवेढिओ । अहवा आङ् मर्यादया वेष्टितः, दिसि विदिसासु विच्छिन्नट्ठितेसु परिवेष्टितः । अहवा एगपंतीए आवेष्टितः, दुगादिसु पंतीसु समंता परिट्ठियासु परिवेढितो ।

गिहिअण्णतित्थिएहिँ व, सद्धिं परिवेढितो व तं मज्झे ।
जे भिक्खू असणादी, भुंजेज्जा आणमादीणि ॥६७३॥

अण्णउत्थिएहिं सद्धिं भुंजति, अण्णउत्थिआण वा मज्झे ठितो परिवेढितो वा भुंजति, तस्स आणादिया दोसा । ओहओ चउलहुं पच्छित्तं । विभागतो इमं—

पुव्वं पच्छा संथुय, असोयसोयवाई य लहुगा वा ।
चउरो वा जमलपदा, चरिमपदे दोहि वी गुरुगा ॥६७४॥

पुव्वं संथुया असोयवादी य पच्छा संथुया । (असोय त्ति) एतेसु चउसु एएसु लहुगा (चउरो त्ति)(जमलपदं ति) कालतवेहिं विसेसिज्जति जाव चरिमपदं पच्छा संथुतो सोयवादी, तत्थ चउलहुगं तं कालतवेहिं वि गुरुगं भवति ।

सुत्थीसु चऊ गुरुगा, छल्लहुगा अण्णतित्थीसु ।
परउत्थिणि छग्गुरुगा, पुव्वादसमणसत्तट्ठ ॥ ६७५ ॥

एयासु चेव सुत्थीसु पुरं पच्छा असोयसोयासु चउगुरुगा कालतवेहिं विसेसिता, एतेसु चेव अण्णतित्थियपुरिसेसु चउसु छल्लहुगा कालतवविसिट्ठा, एयासु चेव परतित्थिणीसु छग्गुरुगा, पुव्वसंथुयासु समणीसु छेदो, (अवर त्ति) पच्छा संथुतासु समणीसु अट्ठमं ति मूलं । अयमपरः कल्पः–

अहवा वि णालबद्धे, अणुव्वओवासए य चउलहुगा ।
एसु वि य दोसु इत्थी–सु णालबद्धे चऊ गुरुगा ॥६७६॥

णालबद्धेण पुरिसेण अणालबद्धेण य गहिताणुव्वओवासगेण एतेसु दोसु चउलहुगा, एयासु वि य दोसु इत्थीसु णालबद्धे य अविरयसम्मद्दिट्ठिम्मि एतेसु वि चउगुरुगा ।

अणालदंसणित्थियसु, छल्लहु पुरिसे य दिट्ठ–आभट्ठे ।
दिट्ठित्थि पुम अदिट्ठे, मेहुणभोई य छग्गुरुगा ॥ ६७७ ॥

इत्थीसु अणालबद्धासु अविरयसम्मद्दिट्ठिसु, दिट्ठाभट्ठेसु पुरिसेसु, एतेसु दोसु वि छल्लहुगा, इत्थिसु दिट्ठाभट्ठासु, पुरिसेसु अदिट्ठाभट्ठेसु, (मेहुणि त्ति) माउलपिउच्छियधाता (भोइय त्ति) पुव्वभज्जा, एतेसु चउसु वि छग्गुरुगा ।

अदिट्ठभट्ठासु थीसु, संभोइयसंजतीण छेदो य ।
अमणुण्णसंजतीए, मूलं थी फाससंबंधा ॥ ६७८ ॥

इत्थीसु अदिट्ठाभट्ठासु संभोइयसंजतीसु य एयासु दोसु वि छेओ (अमणुण्ण त्ति) असंभोइयसंजतीसु मूलं, इत्थीहिं सह भुंजंतस्स फासे संबंधो, आयपरोभयदोसा, देहे संकाइया य दोसा, जदि संजति संति तो समुद्देसो, तो चउलहुं, अधिकरणं च ।

पुव्वं पच्छाकम्मे, एगतरदुगुंछउड्डुड्डाहो ।
असंखासामयगहणं, खद्धग्गहणे य अचित्तं ॥ ६७९ ॥

पुरेकम्मं संजतेण सह भोत्तव्वं, हत्थपादादिसुइं करेइ, संजतो भुंजिस्सइ । अधिगतरं रंधावेति, पच्छाकम्मं कोवि एसोत्ति सचेलं ण्हाणं करेज्ज । पच्छित्तं वा पडिवज्जे, संजतेण वा छुत्ते अपहुप्पंते अण्णं पि रंधेज्जा, संजतो गिही वा एगतरो दुगुंछं करेज्जा, विलिंगभावेण वा उड्डुं करेज्जा, अण्णेण दिट्ठे उड्डाहो भवति, कासादिरोगा वा संकमेज्ज । अधिकतरं खद्धेण वा अचियत्तं भवेज्ज ।

एवं तु भुंजमाणे, तेहिँ सद्धिं तु वण्णिता दोसा ।
परिवरितो जदि भुंजइ, तो चउ लहू इमे दोसा ॥६८० ॥

परिवारितमज्झगते, सव्वपयारेण होंति चउ लहुगा ।
कुक्कुयकरणे दोसा, एमादिसु उग्गमा होंति ॥ ६८१ ॥

मज्झे ठितो जणस्स परिवारिओ जइ भुंजइ, अहवा समंता परिवारितो दोण्हं तिण्हं वा जइ मज्झगओ भुंजति, सव्वप्पगारेहिं चउलहुं गिहिभायणे य ण भुंजियव्वं । तत्थ भुंजंतो अयाराओ भस्सति । कंसेसु कंसपाएसु सिलोगो वा पउमुप्पमादिसु भुंजंतस्स उड्डाहो भवति, कं चिय दवेण य उड्डाहो, इयरेण आउकायविराहणा, बहुदवेण कुक्कुयकरणे उप्पिलावणादि दोसा, जम्हा एवमादी दोसा तम्हा एतेहिं सद्धिं परिवेढिएण वा न भुंजियव्वं ।

विनियपद्सेहसाहा–रणा य गेलन्न रायदुट्ठे य ।
आहार तेण अद्धा–ण सेहए छंत्र तत्थेव ॥ ६०१ ॥

पुव्वं संथुओ पच्छा संथुओ वा पुव्वं एगभायणो आसी, स तस्स णेहेण आगतो जदि ण भुंजति तो परिणमति, अतो सेहेण समं भुंजति, परिवेट्टितो वि तेसागएसु मा तेसिं संका भविस्सति–किं एस अप्पसागारियं समुद्दिसति त्ति, अम्हे वा वि करेति मा बाहिरभावं गच्छुपरिवेट्टितो भुंजति। साहारणं वा लद्धं, तं ण चेव भुंजियव्वं। अह कक्खमंडिओ ताहे घेत्तुं तीरं भुंजति । अह दाया भद्देति ताहे तेहिं चेव सद्धिं परिवुडो वा भुंजति,गिलाणो वा वेज्जस्स पुरतो समुद्दिसेज्जा, जयणाए कुरुकुयं करेज्जा,रायदुट्ठे रायपुरिसेहिं णिज्जंतो तेहिं परिवेट्टितो भुंजेज्ज। आहारतेणगेसु तेसिं पुरओ भुंजेज्ज,अद्धाण तेण सावयभया सत्थस्स मज्झे चेव भुंजति। सेहागं सव्वेसिं एकावसही होज्जा,वाहिगाद्भिए अणण सह कंदराइसु अत्थति। तत्थ तेसिं पुरतो समुद्दिसेज्ज;ओमे कहिं वि सत्ताकारे तत्थेव भुंजंता ण लब्भति,भायणेसु ण लब्भति। तत्थेव भुंजेज्जा सागारिए एक्को परिवेसणं करे, वहुमाइसु संतरं संभुंजंति, णाउं दुविहेण दवेण कुरुकुयं करेइ। सव्वेसु जहासंभवं एसा जयणा। नि० चू० १६ उ०।

अएणउत्थियदेवय–अन्ययूथिकदैवत–न०। ६ त०। परतीर्थिकपूज्येषु हरिहरादिषु देवेषु, उपा०१ अ०। औ०। आ०चू०। प्रति०

अएणउत्थियपरिग्गहिय–अन्ययूथिकपरिगृहीत–त्रि०। तीर्थान्तरीयैः पूज्यत्वादिनाऽङ्गीकृतेऽर्हच्चैत्यादौ, उपा० १ अ०।

अन्ययूथिकास्तद्दैवतानि,तत्परिगृहीतानि वा अर्हच्चैत्यानि,श्रावको न वन्देत्। तदुक्तं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यमानेनाऽऽनन्देन-"णो खलु भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइ अएणउत्थिया वा अएणउत्थियदेवयाणि वा अएणउत्थियपरिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा" उपा० १ अ०। औ०। अन्ययूथिकपरिगृहीतानि वा अर्हच्चैत्यानि अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथा भौतपरिगृहीतानि वीरभद्रमहाकालादीनि। उपा०१ अ०। आ०चू०।

अएणओ (त्तो) (दो)–अन्यतस्–अव्य० । अन्य-तसिल्। "त्तो दो तसो वा" ॥८।२।१६०॥ इति सूत्रेण तसः स्थाने त्तो दो इत्यादेशौ, पक्षे दसोपश्च। प्रा०। "नहु दाहामि ते भिक्खं, भिक्खू जायाहि अएणओ"। न हु नैव दास्यामि ते तुभ्यं भिक्षां याचस्व अन्यतोऽस्मद्व्यतिरिक्तात्। उत्त० १ अ०।

अएणकाल–अन्नकाल–पुं०। सूत्रार्थपौरुष्युत्तरकालं भिक्षाकाले, "अन्नं अन्नकाले, पाणं पाणकाले" सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अएणक्खाण–अन्वाख्यान–न०। अन्वादेशे, आ० म० प्र०।

अएणगुण–अन्यगुण–त्रि०। चैतन्यादन्ये गुणा येषां तान्यन्यगुणानि। अचेतनेषु, "पंचण्हं संजोए, अएणगुणाणं च चेयणाइ गुणो" आधारकाठिन्यगुणा पृथिवी। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अएण (न्न) गोत्तिय–अन्यगोत्रीय–पुं०स्त्री०। गोत्रं नाम तथाविधैकपुरुषप्रभवो वंशः। अन्यच्च तद् गोत्रं चान्यगोत्रं तत्र भवा अन्यगोत्रीयाः अतिचिरकालव्यवधानवशेन त्रुटितगोत्रसंबन्धेषु, ध०१ अधि०। 'वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम्'। ध० १ अधि०।

अएण (न्न) ग्गहण–अन्यग्रहण–न०। गानजाते मुखविकारे गान्धर्विके, । "अन्नग्गहण त्ति गलग्गहस्स कमओ कएणरंधेसु सरणीतो मरणतो सुवातसंगहीयासु य आणायसं मुहं जं तं हवेज्ज, अहवा अएणग्गहे गधव्विओ त्ति"। नि० चू० १७ उ०।

अएणजोग–अन्ययोग–पुं०। कार्यान्तरजननसंबन्धे, अनेकान्तजयपताकावृत्तिविव० ४ अधि०।

अएणजोगववच्छेद–अन्ययोगव्यवच्छेद–पुं०। अन्ययोगस्य कार्य्यान्तरजननसंबन्धलक्षणस्याभावे, अनेकान्तजयपताकावृत्तिविव० ४ अधि०।

अएणजोगववच्छेयवत्तीसिया–अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका–स्त्री०। श्रीमल्लिषेणविरचितस्याद्वादमञ्जर्याख्यवृत्तिविभूषिते श्रीहेमचन्द्रसूरिविहिते निःशेषदुर्वादिपरिषद्धिक्षेपदक्षे द्वात्रिंशत्पद्यमये ग्रन्थे, श्रीहेमचन्द्रसूरिणा जगत्प्रसिद्धश्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशकानुकारि श्रीवर्द्धमानजिनस्तुतिरूपमयोगव्यवच्छेदान्ययोगव्यवच्छेदाभिधानं द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशकाद्वितयं विद्वज्जनमनस्तत्त्वावबोधनिबन्धनं विदधे। स्या०। (कुतीर्थिकैः श्रीवीरेण सह अन्ययोगमभिमन्तितः। यथा श्रीवीरो यथार्थवादी तथा ऽन्येऽपि सौगतादयो देवाः यथार्थवादिनस्तेषां व्यवच्छेदो निषेधः अन्ययोगव्यवच्छेदः) [स्याद्वादमञ्जरीटिप्पणी]

अएणजोसिय–अन्ययोषित्–स्त्री०। परकीयकलत्रेषु, मनुष्याणां देवानां तिरश्चां च परिणीतसंगृहीतभेदभिन्नेषु कलत्रेषु, ध० २ अधि०।

अएण (न्न)एण(न्न)–अन्योन्य–त्रि०। अन्यशब्दस्य कर्मव्यतिहारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुश्च। "ओतोऽद् वाऽन्योन्य०"।८। १।१५६॥ इत्यादि-सूत्रेण अत्वं वा। परस्परार्थे, प्रा०।

अएण (न्न) त (य) र–अन्यतर–त्रि०। अन्य-डतर। बहूनां मध्ये एकतरे, औ०। "अएणयरेसु आभियोगेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ" अन्यतरेषु केषुचिदित्यर्थः। भ० १ श० १ उ०। नि० चू०। "अएणयरे वा दीहकालपडिबंधे एवं तस्स न भवइ" जं० ३ वक्ष०। नि० चू०। उत्त०। "अएणयरेसु देवलोगेसु" अन्यतरदेवानां मध्ये इत्यर्थः। स्था० ४ ठा० १ उ०। आचा०।

अएणतरग–अन्यतरक–पुं०। एकस्मिन्काले आत्मपरयोरन्यमन्यतरं तारयन्तीति अन्यतरकाः। अन्यतर- अण्। पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वः, स्वार्थे कः। तपोवैयावृत्यविषयकसामर्थ्याऽभावेन केवलमुभयं युगपत्कर्तुमशक्नुवत्सु एकस्मिन् काले आत्मपरयोरेकतरं तारयत्सु प्रायश्चित्ताहेपुरुषेषु, व्य० १ उ०।

अएणतित्थिय–अन्यतीर्थिक–पुं०। चरकपरिव्राजकशाक्याजीवकवृद्धश्रावकप्रभृतिषु, नि० चू० ११ उ०। भिक्षुभौतिकादिषु वा, ध० २ अधि०। परदर्शनिकेषु, आव० ६ अ०।

अएणतित्थियपवत्ताणुओग–अन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग–पुं०। अन्यतीर्थिकेभ्यः कापिलादिभ्यः सकाशाद्यः प्रवृत्तः स्वकीयाचारवस्तुतत्त्वमनुयोगो विचारः, तत्करणार्थं शास्त्रसन्दर्भ इत्यर्थः, सोऽन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग इति। पापश्रुतभेदे, स० २६ सम०॥

अण्णत्तभावणा-अन्यत्वभावना-स्त्री०। देहादेरात्मनो भेदबुद्धौ, "जीवः कायमपि व्यपास्य यदहो ! लोकान्तरं याति तद् भिन्नोऽसौ वपुषोऽपि कैव हि कथा द्रव्यादि वस्तु व्रजेत् । तस्मादिलम्पति यस्तनुं मलयजैर्यो हन्ति दण्डादिभि-
र्यः पुष्णाति धनादि यश्च हरते तत्रापि साम्यं श्रयेत् ॥ १ ॥
अन्यत्वभावनामेवं, यः करोति महामतिः ।
तस्य सर्वस्वनाशेऽपि, न शोकांशोऽपि जायते" ॥२॥ प्रव० ६७ द्वा० । ध० ।

अण्णत्थ-अन्यत्र-अव्य० । परिवर्जने, यथा "अन्यत्र भीष्मद्रोणाभ्यां,सर्वे योधाः पराङ्मुखाः" । "अण्णत्थऽणाभोगेणं सहसागारेणं" इत्यत्र अन्यत्र अनाभोगात्सहसाकाराच्च;एतौ वर्जयित्वेत्यर्थः। ध०२ अधि०। "अणत्थ कत्थइ" अन्यत्र कुत्रचिद् वस्त्वन्तरे, विपा० १ श्रु० २ अ० । आ० चू०। " अण्णत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणे " अन्यत्र कुत्रचिन्मनोऽकुर्वन् । अनु० ।

अन्यार्थ-पुं० । वा दुगभावः । भिन्नार्थे , अन्योऽर्थः अभिधेयं प्रयोजनं वाऽस्य । भिन्नाभिधेयवाचके शब्दे , भिन्नप्रयोजनके पदार्थे च । त्रि० । वाच० ।

अन्वर्थ-पुं० । अनुगतोऽर्थम् । अत्या० स०। अर्थानुगते व्युत्पत्तियुक्ते शब्दे, वाच०। "ठियमण्णत्थे तयत्थनिरवेक्खं " विवक्षितात् भृतकदारकादिपिण्डादन्यश्चासावर्थश्चान्यार्थो देवाधिपादिः। सद्भावतस्तत्र यात्स्थितं भृतकदारकादौ तर्हि कथं वर्त्तते ?, इत्याह-तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः , परमैश्वर्यादि , तस्य निरपेक्षं संकेतमात्रेणैव तदर्थशून्ये भृतकदारकादौ वर्तत इति पर्य्यायानभिधेयं स्थितमन्यार्थे अन्वर्थे वा तदर्थनिरपेक्षं यत् कचिद् भृतकदारकादौ इन्द्राद्यभिधानं क्रियते तन्नामेतीह तात्पर्य्यार्थः । विशे० ।

अण्णत्थगय-अन्यत्रगत-त्रि० । उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रिते , भ० ७ श० ६ उ० । प्रज्ञापकक्षेत्राद्देवस्थापनाच्चापरत्र स्थिते, भ० ६ श० ८ उ० ।

अण्णत्थजोग-अन्वर्थयोग-पुं० । अनुगतशब्दशब्दार्थसंबन्धे , पञ्चा० १२ विव० ।

अण्णत्था-अन्वर्था-स्त्री० । अर्थमनुगता या संज्ञा सा अन्वर्था । अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्तमानायां संज्ञायाम्, कथम् ?, इह यथा भास्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था ?। भासं करोतीति भास्कर इति यो भासनार्थस्तमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तत इत्यन्वर्था । आ० चू० १ अ० ।

अण्णदंसि (न्)-अन्यदर्शिन्-त्रि०। अन्यद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी । अयथावस्थितपदार्थद्रष्टरि , आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अण्णदत्तहर-अन्यदत्तहर-पुं० । अन्येन दत्तं हरतीति राजादिनाऽन्येभ्यो वितीर्णस्यापान्तराल एव भेदके, " अण्णदत्तहरे तेणे, माई कण्णु हरे सढे " उत्त० ७ अ० ।

अण्णदाण-अन्यदान-न० । अशनादेरन्यस्मै दाने, " नो तिविहं तिविहेणं, पच्चक्खाइ अण्णदाणकारवणं " पं० व० २ द्वा०।

अण्णधम्मिय-अन्यधार्मिक-पुं० । जैनधर्मादन्यस्मिन् धर्मे वर्तते इति, मिथ्यादृष्टौ, ओघ० । परधार्मिके, सू० ४ उ० । परतीर्थिके, सू० ३ उ० । शाक्यादौ, गृहस्थे च । स्था० ३ ठा०४ उ०।

अण्णपर-अन्यपर-त्रि० ।अन्यरूपतया परस्मिन् अन्यस्मिन् , यथा एकाणुकाद् द्व्यणुकत्र्यणुकादि, एवं द्व्यणुकादेकाणुकत्र्यणुकादि । आचा० २ श्रु० १२ अ० ।

अण्णपरिभोग- अन्यपरिभोग-पुं० । खाद्यादिसेवने , पं० व० २ द्वा० ।

अण्णपुण्ण-अन्नपुण्य-न०। अन्नात्पुण्यमन्नपुण्यम् । पात्रायान्नदानात्तीर्थकरनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धरूपे पुण्यभेदे, स्था० ९ ठा०।

अण्णपमत्त-अन्नप्रमत्त-त्रि० । अन्नार्थं प्रमत्तः । भोजनकरणासक्ते, उत्त० १४ अ० ।

अन्यप्रमत्त-त्रि०। अन्ये सुहृत्स्वजनादयस्तदर्थं प्रमत्तः । उत्त० १४ अ०। सुहृत्स्वजनमातृपितृपुत्रकलत्रभ्रात्रादीनां कार्यकरणासक्ते , " अण्णप्पमत्ते धणमेसमाणे , पप्पोति मच्चुं पुरिसो जरं च " उत्त० १४ अ० ।

अण्णवेलचरक-अन्यवेलाचरक-पुं० । अन्यस्यां भोजनकालापेक्षया आद्यावसानरूपायां वेलायां समये चरतीत्यादिकालाभिग्रहविशेषविशिष्टे भिक्षौ , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अण्णभोग-अन्नभोग-पुं० । खाद्यादिरूपे भोग्यपदार्थे , " अण्णभोगेहिं क्षेणभोगेहिं " औ० ।

अण्णमण्ण-अन्योन्य-त्रि०। अन्यशब्दात् कर्मव्यतिहारे द्वित्वं, सुश्च "ओतोऽद्वाऽन्योन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेदनामनोहरसरोरुहे क्तोश्च वः"८।१।१५६॥ इति सूत्रेण ओतः अत्वम् । मकार आगमिकः। परस्परशब्दार्थे, ज्ञा० १ अ० । रा० । आ० म० प्र० । भ० । आचा० । उत्त० । चं० प्र०। अनु० । स्था० । सूत्र० । " अण्णमण्णमणुरत्तया अण्णमण्णमणुव्वया अण्णमण्णच्छंदाणुवत्तया अण्णमण्णहियइच्छियकारया अण्णमण्णेसु गिहेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति ।" (जिनदत्तसागरदत्तपुत्रयोर्मिथोऽनुरागवर्णकः)अन्योऽन्यमनुरक्तौ स्नेहवन्तौ,अत एवाऽन्योऽन्यमनुव्रजतः इत्युनुव्रजन्तौ, एवं छन्दानुवर्तकौ अभिप्रायानुवर्तिनौ,एवं हृदयेप्सितकारकौ । (किच्चाइं करणिज्जाइं ति) कर्तव्यानि प्रयोजनानीत्यर्थः। अथवा कृत्यानि नैत्यिकानि. करणीयानि कादाचित्कानि, प्रत्यनुभवन्तौ विदधानौ । ज्ञा० २ अ० । " अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ विव" । परस्परं चक्षुषाऽऽलोकनेनावलोकनेन ये लेशाः संश्लेषास्तैः खिद्यमाना इव । रा० । स्था०॥ "अण्णमण्णं सेवमाणा" अन्योऽन्यस्य परस्परस्यासेवनया;अत्राभितभोगेन कचित्पाठः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " अण्णमण्णं करेमाणे पारंचिए " अन्योऽन्यं परस्परं मुखपायुप्रयोगतो मैथुनं कुर्वन् पुरुषयुगमिति शेषः । उच्यते-" आसप्पपोसयसेवी, के वि मणुस्सा दुवेयगा होंति । तेसिं लिंगविवेगो त्ति"। स्था०३ ठा०४ उ०।बृ०। जीत०। ('पारंचिय' शब्देऽस्य व्याख्या)

अण्णमण्णकिरिया-अन्योन्यक्रिया-स्त्री० । परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया विधेयायां रजःप्रमार्जनादिकायां क्रियायाम्, अन्योऽन्यं क्रियाश्च अन्योऽन्यक्रियाः । सप्तके दर्शिता यथा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अण्णमण्णकिरियं अज्झत्थियं संसेइयं णो तं सातिए णो तं णियमे, से अण्णमण्णो-

पाये आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे, सेस तं चेव, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं सत्तमओ सत्तिकओ सम्मत्तो ॥

क्रिया रजःप्रमार्जनादिकास्ता अन्योन्यं परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योऽन्योन्यक्रियासप्तैकक इति । आचा० २ श्रु० १३ अ० ।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ।१६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥१७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाये अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।२२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहवेज्जा वा, पलिमद्दावेज्जा वा, संवाहवेज्जावंतं वा पलिमद्दावेज्जावंतं वा साइज्जइ।२३।जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वण्णेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ ।२५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहिज्जावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा संवाहिज्जावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ ।३१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स वा कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा,फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तीक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा अच्छिंदावंतं वा विच्छिंदावंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थियएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, णिहरावंतं वा विसोहियावंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-

वंतं वा साइज्जइ ॥३६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा हासं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अण्णयरेण वा आलेवणजाएण वा विलेवणजाएण वा आलिंपावंतं वा विलिंपावंतं वा साइज्जइ ॥३७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा० जाव अण्णयरेण वा आलेवणजाएण तेल्लेण वा० जाव साइज्जइ ॥३८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा विच्छिंदावेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अण्णयरेण वा धूवेण जीवाएण धूवावेज्ज वा, पधूवावेज्ज वा, धूवावंतं वा पधूवावंतं वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलीयाए निवेसिय २ णीहरावेज्ज वा, णीहरावंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाउ णहसिहाउ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं वत्थिरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं जंघारोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं सीसकेसाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं कण्णरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं भूरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं अच्छिपत्ताइं अण्णउत्थिएण वा, गारत्थिएण वा, कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं चक्खुरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं णक्करोमाइं अण्णउ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं मंसुरोमाइं अण्णउत्थि० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं कक्खरोमाइं अण्णउ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ५१ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं पासरोमाइं अण्णउ० गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।५२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं उत्तरउट्ठाइं अण्णउ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥५३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अण्णउ० गारत्थि० अघंसेवेज्ज वा, पघंसेवेज्ज वा, अघंसंतं वा पघंसंतं वा साइज्जइ ॥५४॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते वा अण्णउ० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।५५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अण्णउत्थिए० गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥५६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥५७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० संबाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संबाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।५८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।५९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वसेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ॥ ६० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।६१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अण्णउ० गारत्थि० फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे

भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अच्छिणि अण्णउ० गारत्थि० आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।६३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अच्छिणि अण्णउ० वा गारत्थिएण वा संवाहियावेज्ज वा,पलिमद्दावेज्ज वा,संवाहियावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।६४। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अच्छिणि अण्णउ०गारत्थि० तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।६५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अच्छिणि लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा,उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।६६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अच्छिणि अण्णउ० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।६७। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अच्छिणि अण्णउत्थि०गारत्थि० फूमावाएज्ज वा,रयाएज्ज वा,मंखावाएज्ज वा, फूमावावंतं वा रयावंतं वा मंखावावंतं वा साइज्जइ ।६८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स अण्णउ० गारत्थि०अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ।६९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायाउसेयं वा जल्लं वा पंकं वा मल्लं वा अण्णउ० गारत्थि० णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ।७०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ,करावंतं वा साइज्जइ।७१।

आमज्जनं सकृत्,पुनः२ प्रमार्जनम्,(जा समाणि)गाहा। आदिसद्दाओ बंधणादिसुत्ता पंच, कायसुत्ता छ, वणसुत्ता छ, गंडसुत्ता छ,पायुकिमिसुत्तं णहसिहारोमराईमंसुसुत्तं च , एताणि उत्तरोट्ठणासिगासुत्तं च अच्छिणामज्जणसुत्ता तिण्णि मुहसुत्तं सयसुत्तं अच्छिमलाइ सुत्तं , सीसदुवारियसुत्तं च । एते चत्तालीसं सुत्ता तति ओद्देसगगमेण भाणियव्वा। तत्थ सयंकरणे इह पुण णिग्गंथीणं समणस्स अण्णतित्थिएण वा गारत्थिएण वा कारवेति त्ति: सेसा इमं अधिकयसुत्ते भण्णंति–

समणाण संजतीहिं, असंजतीओ गिहत्थेहिं ।
गुरुगा लहुगा चउ वा,तत्थ वि आणादिणो दोसा।११।

संजतीओ जदि समणस्स पायपमज्जणादि करेति,तो चउगुरुगा(असंजती)ओ त्ति)गिहत्थिओ जइ करेति,तत्थ वि चउगुरुगा, गिहत्थपुरिसा जदि करेति,तो चउलहुगा,आणादिया य दोसा भवंति । ११ ।

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा फासभावसंबंधे ।
पडिगमणादी दोसा, भुत्ताभोगी य णायव्वा ।। १२ ।।

इत्थियाहिं कीरंतं पासित्ता कोइ मिच्छत्तं गच्छेज्जा–एते कायकिरिय त्ति, संजमविराहणा य, इत्थिफासे मोहोदयो, परोपरओ वा फासेण भावसंबंधो हवेज्ज, ताहे पडिगमणं अण्णतित्थियादी दोसा,अहवा फासभुज्जो भुत्तभोगी सा पुव्वरयादि संभरिज्जा, अहवा चिंतिज्ज-परिसो मम भोइयाए फासो परिसी वा मम भोइया आसी, अभुत्तभोइस्स इत्थिफासेण कोउयादि जिज्ञासा–

दीहं व णीससेज्जा, पुच्छा कहि एरिसेण कहि एणं ।
ममजाइया एरिसी, सा वा चलणे वदे एवं ।। १३ ।।

यो वा संजओ संजतीयाए पमज्जमाणीए दीहं णीससिज्जा, ताहे सो पुच्छाति–किमेयं दीहं ते नीससियं? । सो भणाति–किं परिसेण भणाति काहि एणं ति,निब्बंधे कहेइ,मम भाइया परिसी तुमं वी सा वा चलणे पमज्जंती दीहं णीससेज्जा, पुच्छा कहं ति च एवं चेव एते संजतीहिं दोसा ॥ १३ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिँ पच्छकम्मं च ।
आतपरमोहूदीरउ, पाउसच हु सुत्तत्थपरिहाणी ॥१४॥

गिहत्थीसु अतिरित्तदोसा पच्छाकम्मं हत्थे सीतोदकेण पक्खालेज्जा, पादआमज्जणादीहिं य उज्जलवेसस्स अप्पणो मोहो उदिज्जेज्जा-सोभामि वा अहं, को मे परिसकामो ति त्ति गव्वो हवेज्ज, तं वा उज्जलवेसं दट्ठुं अप्पेसिं इत्थियाणं मोहो उदिज्जेज्ज, सरीरपाउसत्तं च कतं भवति, जाव तं करेति ताव सुत्तत्थपलिमंथो ॥ १४ ॥

संपातिमादिघातो, विवज्जिओ जे च लोगपरिवाओ ।
गिहिएहिँ पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिँ कायव्वं ।। १५ ।।

पमज्जमाणं संपातिमे अभिघापउज अजयत्तणेण (विवज्जितो ति) साधुणा विभूसापरिवज्जिएण होयव्वं। भणियं च-"विभूसा इत्थिसंसग्गी,, त्ति सिलोगा । एयस्स विवरीयकरणे भं भवे लोगपरिवादी य,जारिसं सवेउजमाहतं परिसेण अनिवृत्तेन भवितव्यम्,एवमादि इत्थिसु दोसा। गिहत्थपुरिसेसु वि इत्थिफासादिया मोत्तुं एते चेव दोसा, पच्छकम्मं च । इमे य दोसा–

अजयंते पप्फोडे, ते पाएग उप्पीलणं च संपादी ।
अतिपेल्लणम्मि आता, फोडणं सय अहिज्जगादी ।। १६ ।।

संजओ अजयणाए पप्फोडेंतो पाणे अभिहणेज्ज, बहूण वा दवेण धोवंतो पाणे उप्पीलावेज्ज वा,सिण्हबंधे वा संपातिमा परेउजहा। एस संजमविराहणा। आयविराहणा इमा–तेण गिहिणा अतीव पेल्लिओ पादो,ताहे संधी वि करेज्ज,फोडणं ति भित्थरहलेज्जा, णहादिणा वा खयं करेज्ज, अच्छिं वा भंजेज्ज ॥ १६ ॥

एते चेव य दोसा, असंजतीयाहिँ पच्छकम्मं च ।
गिहिएहिँ पच्छकम्मं, पच्छा तम्हा तु समणेहिं ।। १७ ।।

गतार्था, किंचि विसेसो । पुव्वद्धेण गिहत्थी भणिता,पच्छद्धेण गिहित्था, दो वि पाए पप्फोडेंते कुच्छं करेज्ज, कुच्छंतो पच्छाकम्मसंभवो, जम्हा एते दोसा तम्हा समणाण समणेहिं कायव्वं, णो गिहित्था अण्णतित्थिया वा वंदेयव्वा ॥ १७ ॥

वितियपदमणप्पज्झे, अच्छाणुव्वात अप्पणो उ करे ।
पमज्जणादी तु पदे, जयणाए समयोरिहे भिक्खू ।।१८।।

अणप्पज्झे कारवेज्जा, अणप्पज्झस्स वा कारविज्जंति, अद्धाण पविवरणो वा अतीव उव्वा उप्पमज्जणादी पदे अप्पणो चेव

जयणा पकरेज्ज, अप्पणो असओ संजएहिं कारवेज्जा ॥ १८ ॥

असती य संजयाणं, पच्छाकम्मादिएहिं कारेज्जा ।
गिहिअप्पतित्थिएहिं, गिहत्थि-परतित्थि-तिविहाहिं ।१९।

असती संजयाणं पच्छाकम्मेहिं कारवेति, तओ साभिग्गएहिं, ततो णिराभिग्गहेहिं, ततो अहाभद्दएहिं, ततो णियल्लएहिं मिच्छहिट्ठीहिं,ततो अभिग्गहियमिच्छहिट्ठीहिं, ततो अण्णतित्थिएहिं मिच्छहिट्ठीमादिएहिं, पुव्वं असोयवादीहिं,पच्छा सोयवादीहिं, ततो पच्छा गिहत्थिपरतित्थितिविहाहिं ति,ततो गिहत्थीहिं णालबद्धाहिं अणालबद्धाहिं तिविधाहिं थेरमज्झिमतरुणीहिं , एवं परतित्थिणीहिं वि,संजतीहिं वि, एवं चेव, एसो चेव अत्थो वित्थरतो भण्णति,तओ पच्छा गिहत्थिपरतित्थितिविहाहिं ति । गिहत्थी दुविहा–णालबद्धा अणालबद्धा । ततो इमेहिं गिहत्थीहिं णालबद्धाहिं–

माताभगिणीधूया–अज्जिअणी आयिक्षियाण असतीए ।
आणियक्षिय थेरेहिं,मज्झिमतरुणीहिँ अण्णतित्थीहिं ॥२०॥

माता भगिणी धूआ अज्जियाऽणुसरी य , एतेसिं असतीए, एयाहिं चेव अण्णतित्थिणीहिं, एतेसिं असतीए अणालबद्धाहिं गिहत्थीहिं तिविधाहिं कमेण थेरमज्झिमतरुणीहिं, तओ एयाहिं चेव अण्णतित्थियाहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाए वि एयाणं, असतीएँ संजतिमादिभगिणीहिं ।
अत्थि य भगिणी ण सती,तप्पच्छा ऽवसेसतिविहाहिँ ॥२१॥
माताभगिणिधूया–अज्जियाण वि य सेसतिविहा तु ।
एतासिं असतीए, तिविहा वि करेति जयणा तु ॥२२॥

अणालबद्धाणं थेरमज्झिमतरुणीहिं असति संजतीतो माता भगिणी धूया य अज्जियाए एवमादि ततो करेति,ततो पच्छा अवसेसाओ अणालबद्धाओ तिविहाओ थेरमज्झिमतरुणीओ करावेति वा, एयम्मि चेव अत्थे अण्णायरियकए इमा गाथा–(माताभगिणी)। (एतासिं असतीए त्ति) मायभगिणिमादियाणं ति,सेसं तिविहाउ त्ति अणालबद्धाओ संजतिओ तिविधाओ थेरमज्झिमतरुणी य जयणा जहा फासंबद्धादि ण जवति, तहा कारवेति, करंति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।७२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ॥७३ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वएणेण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ । ७४ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ।७५।जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलेज्ज वा,पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ।७६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमेएज्ज वा,रयाएज्ज वा, मंखेएज्ज वा,फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ।७७। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए काये अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।७८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा,संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ।७९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसेण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ।८०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा,उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ।८१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ। ८२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ८३ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ८४ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥८५॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ ॥८६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियमेण वा उसिणोदगवियमेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ८७ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा

साइज्जइ ॥ ८८ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, अच्छिंदावंतं वा विच्छिंदावंतं वा साइज्जइ ॥ ८९ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहराएज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, णीहरावंतं वा विसोहियावंतं वा साइज्जइ ॥ ९० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहराएज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा, उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ९१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तीखेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अण्णयरेण वा आलेवणजाएण आलिंपावेज्ज वा, विलिंपावेज्ज वा, आलिंपावंतं वा विलिंपावंतं वा साइज्जइ ।९२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउ० गारत्थि० गंडं वा० जाव अण्णयरेण वा आलेवणजाएण तेल्लेण वा० जाव साइज्जइ ।९३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियाएज्ज वा, अण्णयरेण वा धूवेण पधूवेण वा धूयावेज्ज वा, पधूयावेज्ज वा, धूयावंतं वा पधूयावंतं वा साइज्जइ ।९४। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलीयाए निवेसिय २ णीहरावेइ, णीहरावंतं वा साइज्जइ ।९५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाओ णहसिहाओ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।९६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं वत्थीरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।९७।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जंघारोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।९८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं मंसुकेसाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पवेज्ज वा, संठवेइ वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।९९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कण्णरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१००। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं भूमहरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१०१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं चक्खूरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१०२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं अच्छिपत्ताइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंते वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१०३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं णक्करोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥१०४॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।१०५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं पासरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥१०६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं उत्तरउट्ठाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ।१०७।जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दंते अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अघसाएज्ज वा, पघसावेज्ज वा, अघसावंतं वा पघसावंतं वा साइज्जइ । १०८ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दंते अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवाएज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंते वा साइज्जइ ॥ १०९ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अण्णउ० गारत्थि० दंते फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ।११०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अण्णउत्थिए० गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ।१११। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहवेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।११२।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्टे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखाएज्ज वा,भिलिंगाएज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।११३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्टे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा,उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।११४। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्टे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।।११५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्टे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा,रयाएज्ज वा,मंखावेज्ज वा,फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ।।११६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ।११७। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।११८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।११९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।१२०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।। १२१।। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । १२२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायाउ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा,विसोहावेज्ज वा, णीहरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ । १२३ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ।। १२४ ।। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ।। १२५ ।। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायाउ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ।।१२६।। एवं सव्वं गिह्णगमगिह्णगमप्पसरिसं णेयव्वं जाव जे णिग्गंथीए णिग्गंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ।।१८३।। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।। १८४ ।। एवं तं एतेण वा मएण सरिसा णेयव्वा जाव जे णिग्गंथी णिग्गंथिए गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ।। २४५ ।।

सुत्ता पक्कचत्तालीसं ततिउद्देसगगमा जाव सीसदुवारे त्ति सुत्तं; अत्थो पूर्ववत् ।

एसेव गमो नियमा, णिग्गंथीणं पि होइ णायव्वो ।
कारवण संजतेहिं, पुव्व अवरम्मि य पदम्मी तु ।।१३०।।

संजमो गारत्थमादिएहिं संजतीणं पदे पमज्जणादि कारवेति, उत्तरोत्तसु ण संभवति, असक्खणाए वा संभवति । नि० चू० १७ उ० ।

अण्णमण्णगंठिय–अन्योन्यग्रथित–त्रि० । परस्परेणैकेन ग्रन्थिना सहाऽन्यो ग्रन्थिरन्येन च सहाऽन्य इत्येवं ग्रथिते, भ० ५ श० ३ उ० ।

अण्णमण्णगरुयत्ता–अन्योन्यगुरुकता–स्त्री० । अन्योन्येन ग्रन्थनाद् विस्तीर्णतायाम्, भ० ५ श० ३ उ० ।

अण्णमण्णगरुयसंभारियत्ता–अन्योन्यगुरुकसंभारिकता–स्त्री० । अन्योन्येन गुरुकं यत्संभारिकं च तत्तथा, तद्भावस्तत्ता । अन्योन्येन ग्रन्थनाद् विस्तारसंभारवत्त्वे, भ० ५ श० ३ उ० ।

अण्णमण्णघडता–अन्योन्यघटता–स्त्री० । अन्योन्यं घटन्ते संबध्नन्तीति अन्योन्यघटाः । जी० ३ प्रति० । अन्योन्यं घटाः समुदायरचना यत्र तदन्योन्यघटम् । अन्योन्यं घटाः समुदायो येषां तेऽन्योन्यघटाः । परस्परसंबन्धतायाम्, भ० ५ श० ३ उ० ।

अण्णमण्णपुट्ठ–अन्योन्यस्पृष्ट–त्रि० । स्पर्शनमात्रेण मिथः स्पृष्टे, भ० १ श० ६ उ० । जी० ।

अण्णमण्णबद्ध–अन्योन्यबद्ध–त्रि० । अन्योन्यं जीवाः पुद्गलानां, पुद्गलाश्च जीवानामित्येवमादिरूपेण गाढतरसंबन्धे, भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णमण्णवेह–अन्योन्यवेध–पुं० । अन्यस्याऽन्यस्यां संबन्धे, नि० चू० २० उ० । "अण्णाण्णवेहओ भणि त्ति" अन्योन्यस्य वेधः सं-

बन्धोऽन्योन्यबन्धस्तस्मात् पञ्चदशाद्यारोप एकैकस्मिन् स्थापने संयुज्यते इत्यर्थः । नि० चू० २० उ० ।

अण्णमण्णब्भास–अन्योन्याभ्यास–पुं० । अन्योन्यं परस्परमभ्यासः । परस्परं गुणने, अनु० ।

अण्णमण्णगारियत्ता–अन्योन्यगारिकता–स्त्री० । अन्योन्यस्य यो यो भारः स विद्यते यत्र तदन्योन्यगारिकं, तद्भावस्तत्ता । परस्परं गारवत्त्वे, ज० ४ श० ३ उ० ।

अण्णमण्णमणुगय–अन्योन्यानुगत–त्रि० । परस्परानुबद्धे, नं० ।

अण्णमण्णमसंपत्त–अन्योन्यासंप्राप्त–त्रि० । परस्परमसंलग्ने, जी० ३ प्रति० ।

अण्णमण्णसंवास–अन्योन्यसंवास–पुं० । परस्परमेकत्र संवासे, व्य० ३ उ० ।

अण्णमण्णसिणेहपडिबद्ध–अन्योन्यस्नेहप्रतिबद्ध–त्रि० । परस्परं स्नेहेन प्रतिबद्धे, भ० १ श० ५ उ० । यत्रैकस्मिन् चाल्यमाने गृह्यमाणे वा परमपि चलनादिधर्मोपेतं भवति । जी० ३ प्रति० ।

अण्णमयं–देशी–पुनरुक्तेऽर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्णलिंग–अन्यलिङ्ग–न० । अन्यतीर्थिकानां नेपथ्ये, बृ०१उ० ।

अण्णलिंगसिद्ध–अन्यलिङ्गसिद्ध–पुं० । परिव्राजकादिसंबन्धिनि वल्कलकषायादिवस्त्रादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः । नं० । परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धेषु, ल० । आ० । ध० ।

अण्णव–अर्णव–पुं० । अर्णांसि सन्त्यस्मिन् । अर्णस्–व । सलोपः । समुद्रे, उदकयुक्ते, जलदातरि, सूर्ये, इन्द्रे च । वाच० । अर्णो जलं विद्यते यत्रासावर्णवः । " अर्णसो लोपश्च " ॥ इति (वार्तिकेन) वप्रत्ययः सकारलोपश्च । द्रव्यतो जलधौ, भावतश्च भवे, उत्त० ५ अ० ।

अण्णवंसि महोघंसि, एगे तिण्णे दुरुत्तरे ।
तत्थ एगे महापन्ने, इमं पण्हमुदाहरे ॥

एतस्मिन् कीदृशि ?, (महोघंसि त्ति) महानोघः प्रवाहो द्रव्यतो जलसंबन्धी, भावतस्तु भवपरम्परात्मकः प्राणिनामत्यन्ताकुलीकरणहेतुः, नरकादिसमूहो वा यस्मिन् स महौघस्तस्मिन् । महत्त्वं चोभयत्रागाधतयाऽलब्धपरपारतया च मन्तव्यम् । तत्र किम् ? इत्याह–(एक इति) असहायो रागद्वेषादिसहभावनिरहितो गौतमादिरित्यर्थः । तरति परं पारमाप्नोति, तत्कालापेक्षया वर्तमाननिर्देशः (दुरुत्तरे इति) विभक्तिव्यत्ययाद् दुरुत्तरे दुःखेनोत्तरीतुं शक्ये । दुरुत्तरमिति क्रियाविशेषणं वा । नहि यथाऽसौ तरति तथा परैर्गुरुकर्मभिः सुखेनैव तीर्यते, अत एव एक इति संख्यावचनो वा । एक एव जिनमतप्रतिपन्नः, न तु चरकादिमताकुलितचेतसोऽन्ये तथा तरीतुमीशत इति । (तत्रेति) गौतमादौ तरणप्रवृत्ते (एक इति) । तथाविधतीर्थकरनामकर्मोदयादनुत्तराचाप्तविभूतिरद्वितीयः । किमुक्तं भवति ?– तीर्थकरः सहैक एव भरते संभवतीति । महती निरावरणतया अपरिमाणा प्रज्ञा केवलज्ञानात्मिका संविदस्येति महाप्रज्ञः । स किमित्याह–इममनन्तरवक्ष्यमाणं हृदि विपरिवर्तमानं प्रत्यक्षं प्रक्रमात्तरणोपायं पठति । स्पष्टमसंदिग्धम् । पठ्यते च–(पण्हं ति) पृच्छ्यते इति प्रश्नः । तं प्रष्टव्यार्थरूपमुदाहरेदिति भूते लिट् । तत उदाहरेदुदाहृतवान् । पठ्यते च–"अण्णवंसि महोघंसि एगे तिण्णे दुरुत्तरे " त्ति । अत्र तु प्रत्यये विशेषः–तस्मादर्णवान्महौघाद् दुरुत्तरात् तीर्ण इव तीर्णस्तीरप्राप्त इति योगः । एको घातिकर्मसाहित्यरहितः, (तत्रेति) स देवमनुजयोः परिषदि एकोऽद्वितीयः, स च तीर्थकृदेव । शेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः । उत्त० ५ अ० ।

अण्णव–अणुवत्–त्रि० । सप्तविंशतितमे लोकोत्तरमुहूर्ते, जं० ७ वक्ष० ।

अण्णववएस–अन्यव्यपदेश–पुं० । परस्य व्यपदेशे, इदं हि शर्करादिगुडखण्डघृतपूरादिकं यद्दत्तसंबन्धीति व्रतिनः भावयन् ढौकयत्यदेयबुद्ध्या, न च व्रतिनः स्वामिनाऽननुज्ञातं गृह्णन्तीति नियमोऽपि तेन भग्नः, शर्करादिकं च रक्षितमिति तृतीयोऽतिचारः । प्रव० ७ द्वा० ।

अण्णवालय–अर्ण(?)पालक–पुं० । कालोदाय्यादिके अन्ययूथिके, भ० ७ श० १० उ० ।

अण्णविहि–अन्नविधि–पुं० । सूपकारकलायाम्, जं० २ वक्ष० । स० । ज्ञा० । औ० ।

अण्णह–अन्वह–अव्य० । अहि अहि वीप्सार्थेऽव्ययी० । अच् समा० । प्रत्यहमित्यर्थे, वाच० । निरन्तरमित्यर्थे, ध० १ अधि० ।

अण्ण (थ) (ह) हा–अन्यथा–अव्य० । अन्येन प्रकारेणेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । आ० म० । पं० व० ।

अण्णहाकाम–अन्यथाकाम–पुं० । पारदार्ये, हा० १३ अष्ट० । द्वा० ।

अण्णहाऽणुववत्ति–अन्यथाऽनुपपत्ति–स्त्री० । अन्यथा अन्यभावेन अनुपपत्तिः असंभवः । स्वाभावाप्रयोज्यसंभवे, अर्थापत्तिप्रमाणे च । तथाहि–पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, इत्यादौ दिवाऽभोक्तुर्देवदत्तस्य पीनत्वं रात्रिभोजनं विनाऽनुपपन्नम्, इति ज्ञानाद् रात्रिभोजनकर्तृवृत्तिपीनत्वेन रात्रिभोजनं कल्प्यते । वाच० । साध्याऽभावप्रकारेणानुपपत्तौ, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः । रत्ना० । "अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ?" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णहाभाव–अन्यथाभाव–पुं० । अन्यथा अन्यरूपेण भावो–यस्य । यथारूपमुचितं ततोऽन्यथारूपेण भवने, वाच० । विपरिणमने, बृ० ४ उ० ।

अण्णहावाइ (ण्)–अन्यथावादिन्–त्रि० । अनृतवादिनि, "अणुसकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा जियरागदोससंमोहा य नऽण्णहावाइणो तेणं " आव० ४ अ० ।

अण्णहि–अन्यथा–अव्य० । अन्यत्र " अपो हिहत्थाः " ८ । ४ । ६१ । इति अप्प्रत्ययस्थाने हि ह त्था आदेशाः । अन्यस्मिन् स्थाने इत्यर्थे, प्रा० ।

अण्णहिभाव–अन्यथाभाव–पुं० । विपरिणमने, बृ० ४ उ० ।

अण्णाइट्ठ–अन्वाविष्ट–त्रि० । अभिव्याप्ते, ज० १४ श० १ उ० । परवशीकृते, भ० १८ श० ६ उ० ।

अण्णा (ना) इस–अन्यादृश–त्रि०। अन्यादृशशब्दस्य "अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ " ।८। ४। ४१३। इति अपभ्रंशे अन्नाइसेत्यादेशः। प्रकारान्तरतामापन्ने, प्रा०।

अण्णाएसि (ण्)–अज्ञातैषिन्–पुं०। जातिकुलसद्व्यनिर्व्यतादिनाऽपरीक्षितोऽज्ञातः, तादृशं गृहस्थमाहाराद्यर्थमेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी। उत्त० २ अ०। अज्ञातो जातिश्रुतादिभिरेषत्युञ्छति अर्थात् पिण्डादीनि इत्यज्ञातैषी। उत्त०३अ०। अज्ञातस्तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगत एषयते ग्रासादिकं गवेषयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी। उत्त० १५ अ०। यत्र कुले तस्य साधोस्तपोनियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र एषयते ग्रासादिकं गृहीतुं वाञ्छत इत्येवंशीलोऽज्ञातैषी। उत्त० १५ अ०। विशिष्टगुणैरज्ञात एव भिक्षाचरते, " अकामकामी अण्णा (ना) एसी परिव्वए स भिक्खू" उत्त० १५ अ०।

अण्णाण–अज्ञान–न०। न ज्ञानमज्ञानम्। सम्यग्ज्ञानादितरस्मिन् ज्ञाने, आव०।

अण्णाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि। आव०४अ०।

(नाणे त्ति) ज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः। आह च–"अविसेसिया मइच्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं। मइअन्नाणं मिच्छा–दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव " ॥ १ ॥ इति। अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य, सदसतोरविशेषात्। तथाहि–सन्त्यर्था इह, तत्सत्त्वं कथंचिदिति विशेषितव्यं भवति, स्वरूपेणेत्यर्थः। मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते–सन्त्येवेति, ततश्च परूपेणापि तेषां सत्त्वप्रसङ्गः। तथा न सन्त्यर्था इह, तदसत्त्वं कथञ्चिदिति विशेषितव्यं भवति, पररूपेणेत्यर्थः। स तु–न सन्त्येवेति मन्यते, तथा च तत्प्रतिषेधकवचनस्याप्यभावः प्रसजतीति। अथवा शशविषाणादयो न सन्तीत्येतत्कथञ्चिदिति विशेषणीयम्, यतस्ते शशमस्तकादिसमवेततयैव न सन्ति; न तु शशश्च विषाणं च, शशस्य वा विषाणं, शृङ्गपूर्वजनग्रहणापेक्षया शशविषाणम्, तद्रूपतयाऽपि न सन्तीति, तदेव सदसतोः कथञ्चिदित्येतस्य विशेषणस्यानभ्युपगमात्। तस्य ज्ञानमप्ययथार्थत्वेन कुत्सितत्वादज्ञानमेव। आह च–"जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलमसीलमसईए। भण्णइ तणाणं पि हु,मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं"॥१॥ इति। तथा मिथ्यादृष्टेरध्यवसायो न ज्ञानम्, भवहेतुत्वात्, मिथ्यात्वादिवत्। तथा यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत्तथाज्ञानफलस्य सत्क्रियालक्षणाभावादन्धस्य स्वहस्तगतदीपप्रकाशवदिति। आह च–" सदसदविसेसणाओ, भवहेउ जहिच्छिओवलंभाओ। नाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं " ॥ ८ ॥ इति। स्था० २ ठा० ४ उ०। ध०। आव०। "अण्णाणजमंतमच्छपरिहत्थअणिहुतिंदियमहामगरतुरियचरियखोखुब्भमाणनच्चंतचवलचंचलचलंतघुम्मंतजलसमूहं " अज्ञानान्येव भ्रमन्तो मत्स्याः (परिहत्थं ति) दक्षा यत्र स तथा। अनिभृतान्यनुपशान्तानि यानीन्द्रियाणि तान्येव महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि चरितानि चेष्टितानि तैः (खोखुब्भमाणे त्ति) भृशं क्षुभ्यमाणो नृत्यन्निव नृत्यंश्च चपलानां मध्ये चञ्चलश्चास्थिरत्वेन चलंश्च स्थानान्तरगमनेन घूर्णंश्च भ्राम्यन् जलसमूहो जलसंघातः, अन्यत्र जलसमूहो यत्र स तथा तं, संसारमिति भावः। औ०। नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति। अनु०। ज्ञानावरणकर्मोदयजनिते, आव० ४ अ०। आत्मपरिणामे, दर्श०। मिथ्यात्वतिमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्ते बोधे, विशे० उत्त०। अज्ञानमनवबोधः। उत्त०३ अ०। मूढतारूपे,आतु०। ज्ञानाभावे, मिथ्यादृष्टिकुतीर्थिकपार्श्वस्थादिसंबन्धिशास्त्रावगाहनात्मके, दर्श०। उत्त०। स०। संशयविपर्ययादिरूपे मिथ्याज्ञाने,द्वा० २१ द्वा०। जीवाजीवविवेकरहिते, अष्ट० २२ अष्ट०। सद्बोधाभावे, दर्श०। कुशास्त्रसंस्कारे, औ०। कुत्सितत्वं च मिथ्यात्वसंवलितत्वात्। उक्तं च–"अविसेसिया मइच्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं। मइअण्णाणं मिच्छा–दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव " भ० ८ श० २ उ०।

तत्र अज्ञानं मिथ्यात्वमिति उच्यते—

अन्नाणे तिविहे पन्नत्ते। तं जहा–देसऽण्णाणे, सव्वऽन्नाणे, भावऽण्णाणे।

(अन्नाणेत्यादि) ज्ञानं हि द्रव्यपर्यायविषयो बोधः,तन्निषेधोऽज्ञानं, तत्र विवक्षितद्रव्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञानम्, अकारप्रश्लेषात्। यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वाज्ञानम्। यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञानमिति। अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति। अकारप्रश्लेषं विनाऽपि न दोष इति। स्था० ३ ठा० ३ उ०।

अण्णाणे णं भंते! कइविहे पण्णत्ते?। गोयमा! तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–मइअण्णाणे सुयअण्णाणे विभंगनाणे। से किं तं मइअण्णाणे?। मइअण्णाणे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा–उग्गहे० जाव धारणा। से किं तं उग्गहे?। उग्गहे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य। एवं जहेव आभिणिबोहियनाणं तहेव,णवरं एगट्ठियवज्जं०जाव नोइंदियधारणा, सेत्तं धारणा। सेत्तं मइअन्नाणे। से किं तं सुयअन्नाणे?। सुयअन्नाणे जं इमं अन्नाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं जहा नंदिए जाव चत्तारि य वेदा संगोवंगा। सेत्तं सुयअण्णाणे। से किं तं विभंगनाणे?। विभंगनाणे अणेगविहे पन्नत्ते। तं जहा–गामसंठिए नगरसंठिए जाव सन्निवेससंठिए दीवसंठिए समुद्दसंठिए वाससंठिए वासहरसंठिए पव्वयसंठिए रुक्खसंठिए थूभसंठिए हयसंठिए गयसंठिए नरसंठिए किंनरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरगसंठिए गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पसुपसयविहगवानरणाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते। भ० ८ श० २ उ०।

मोहविजृम्भणे, सूत्र०१ श्रु० १ अ० ३ उ०। आचा०। ज्ञायते सुतत्त्वमनेनेति ज्ञानं श्रुताख्यम्, तदभावोऽज्ञानम्। प्रव० ८६ द्वा०। अज्ञानं-प्रकर्षे गर्वः प्रज्ञाऽभावे दैन्यचिन्तनमित्युभयथा। उत्त० २ अ०। अज्ञानभावाऽभावाभ्यां द्विधा सोढव्ये एकविंशे परीषहभेदे। अज्ञानपरीषहश्च सोढव्य एव, न तु कर्मविपाकजादज्ञानादुद्विजेत। आव० ४ अ०। तदुक्तम्–"विरतस्तपसोपेतः, छद्मस्थोऽहं तथापि च। धर्मादि साक्षान्नेक्षे, नैवं स्यात् क्रमकालवित्" ॥१॥ आव० १ अ०।

एतदेव सूत्रकृत् प्रागञ्चयिषुस्तावदभावपक्षमङ्गीकृत्याह—

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।

जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥

अर्थः प्रयोजनं, तदभावो निरर्थं, तदेव निरर्थकं, तस्मिन् सति विरतो निवृत्तः, कस्मात् ?, मिथुनस्य भावः कर्म्म वा मैथुनमब्रह्म, तस्मात् , आश्रवान्तरविरतावपि यदस्योपादानं तस्यैवातिगृद्धिहेतुतया दुस्त्यजत्वात् । उक्तं हि–" दुप्परिच्चया कामा इमे" इत्यादि । सुष्ठु संवृतः सुसंवृतः । इन्द्रियसंवरणेन, यः साक्षादिति परिस्फुटं नाभिजानामि, धर्म्मं वस्तुस्वभावं (कल्लाण त्ति) बिन्दुलोपात्कल्याणं शुभं, पापकं वा तद्विपरीतं चेत्यस्यां गम्यमानत्वात् । यद्वा–धर्म्ममाचारं, कल्योऽत्यन्तनीरुक्कतया मोक्षः तमानयति प्रापयतीति कल्याणो मुक्तिहेतुः, तं, पापकं वा नरकादिहेतुः । अयमाशयः–यदि विरतौ कश्चिदर्थः सिद्धेश्चैवं ममाज्ञानं भवेत् । उत्त० ३ अ० । "अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः" ॥१॥ उत्त०२अ० । आव० । आचा० । दर्श० । "नातः परमहं मन्ये, जगतो दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम्" ॥१॥ आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । "अजानन् वस्तु जिज्ञासु–र्न मुह्येत् कर्मदोषिवत् । ज्ञानिनां ज्ञानमन्वीक्ष्य, तथैवेत्यन्यथा न तु" ॥१॥ आ० म०द्वि० । रा० । "अन्नाणओ रिपू अन्नो, पाणिणं णेव विज्जति । पत्तो सक्किरियातीय, अणत्था विस्सतो मुहा " ॥ १॥ पं० सू० ५ सू० ।

कदाचित्साभान्यचर्ययैव न फलावाप्तिरत आह—

तवोवहाणमादाय, पडिमं पडिवज्ज उ ।
एवं पि विहरओ मे, छउमं न नियट्टइ ॥

(पाईटीका)

तपो भद्रमहाभद्रादि, उपधानमागमोपचाररूपमाचाम्लादि, आदाय स्वीकृत्य, चरित्वेति यावत् । प्रतिमां मासिक्यादिभिक्षुप्रतिमां, (पडिवज्ज उ त्ति) इति प्रतिपद्याङ्गीकृत्य । पठ्यते च-"पडिमं पडिवज्जितो त्ति" प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्याऽप्युपगच्छति । एवमपि विशेषचर्ययाऽपि, आस्तां सामान्यचर्ययेत्यपिशब्दार्थः । विहरतो निष्प्रतिबन्धत्वेनानियतं विचरतः, छादयतीति छद्म ज्ञानावरणादिकर्म्म, न निवर्त्तते नापैतीति भिक्षुभिर्न चिन्तयेदित्युत्तरेण संबन्धः । अज्ञानाभावपक्षे तु समस्तशास्त्रार्थनिकषोपलकल्पतायामपि न दर्पाऽऽध्मातमानसो भवेत् , किन्तु पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यं श्रुत्वा साम्प्रतं पुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मन्द्यन्तीति परिभावयन् विगलितावलेपः सन्नेवं भावयेत्–"निरट्ठयं" सूत्रद्वयम् । अक्षरगमनिका सैव, नवरं(निरट्ठयम्मि त्ति) निरर्थकेऽपि अक्रमात्प्रज्ञावलेपे रतो, मैथुनात्सुसंवृतः सन्निरुद्धात्मा, सत्योऽहं यः साक्षात्समक्षं नाभिजानामि, धर्मं कल्याणं पापकं वा । अयमभिप्रायः–" जे एगं जाणति, से सव्वं जाणति, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ " इत्याऽऽगमात् । छद्मस्थोऽहमेकमपि धर्मं वस्तुस्वरूपं न तत्त्वतो वेद्मि, ततः साक्षाद्वस्तुस्वभावावभासि चेत् न विज्ञानमस्ति, किमतोऽपि मुकुलितवस्तुस्वरूपपरिज्ञानतोऽवलेपेनेति भावः । तथा तप उपधानादिभिरप्युपक्रमणहेतुभिरुपक्रमितुमशक्ये छद्मानि दारुणे वैरिणि निष्प्रतिपक्षिकः किल ममाहङ्कारावसर इति सूत्रद्वयार्थः ।

साम्प्रतमानुपूर्व्या पुनः सूत्रद्वारमङ्गीकृत्य प्रकृतसूत्रोपक्षिप्तमज्ञानसद्भावे उदाहरणमाह—

परितंतो वायणाएँ, गंगाकूलेऽपि पयसगमयाए ।
संवच्छरेहिँ हिज्जइ, वारसयं असंखयज्झयणं ॥

(पाईटीका)

परितान्तः खिन्नो वाचनया गङ्गाकूलेऽपि ता अशकटा याः संवत्सरैरधीते द्वादशभिरसंस्कृताध्ययनमिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायम्–गङ्गातीरे द्वौ भ्रातरौ वैराग्यादीक्षां गृहीतवन्तौ, तत्रैको विद्वान् जातः, द्वितीयस्तु मूर्खः । यो विद्वान् सोऽनेकशिष्याध्यापनादिना खिन्न एवं चिन्तयति स्म–अहो ! धन्योऽयं मे भ्राता यः सुखेन तिष्ठति, निद्रादिकमवसरे कुर्वन्नस्ति । अहं तु शिष्याध्यापनादिकष्टे पतितोऽस्मीति चिन्तयन् काव्यमिदं चकार—

"मूर्खत्वं हि सखे ! ममापि रुचितं तस्मिन् यदष्टौ गुणाः,
निश्चिन्तो१ बहुभोजनो २ऽत्रपमना ३ नक्तं दिवा शायकः ४॥
कार्याकार्यविचारणान्धबधिरो ५ मानापमाने समः ६ ,
प्रायेणाऽऽमयवर्जितो ७ दृढवपु ८ मूर्खः सुखं जीवति" ॥१॥

परं नैवं चिन्तयति स्म—

" नानाशास्त्रसुभाषितामृतरसैः श्रोत्रोत्सवं कुर्वतां,
येषां यान्ति दिनानि पण्डितजनव्यायामखिन्नात्मनाम् ।
तेषां जन्म च जीवितं च सफलं तैरेव भूर्भूषिता ,
शेषैः किं पशुवद्विवेकरहितैर्भूभारभूतैर्नरैः " ॥ २ ॥

एवं पण्डितगुणान् अचिन्तयन् मूर्खगुणांश्चाऽसतोऽपि चिन्तयन् ज्ञानावरणीयं कर्म बद्ध्वा दिवं गतः । ततश्च्युतो भरतक्षेत्रे आभीरपुत्रो जातः । क्रमेण परिणीतः । तस्य पुत्रिका जाता । सा रूपवती । अन्यदा अनेक आभीरा घृतभृतशकटाः कश्चिन्नगरं प्रति गच्छन्ति स्म, असावपि तत्सार्थे घृतभृतं शकटं गृहीत्वा चलितः । मार्गे सा पुत्री शकटखेटनं करोति स्म । ततस्तद्रूपव्यामोहितैराभीरपुत्रैः अपथे खेटितानि शकटानि तानि सर्वाणि भग्नानि । तादृशं संसारस्वरूपं दृष्ट्वा संजातवैराग्यः स आभीरः तां पुत्रीमुद्वाह्य दीक्षां जग्राह । उत्तराध्ययनयोगोद्वहनावसरे असंख्ययाऽध्ययनोद्देशे कृते तस्य आभीरभिक्षोर्ज्ञानावरणोदयो जातः, न तदध्ययनमायाति स्म, आचाम्लान्येव करोति, उच्चैःस्वरेण तदध्ययननिर्घोषं करोति स्म । एवञ्च कुर्वतस्तस्य द्वादशवर्षप्रान्ते अज्ञानपरीषहं सम्यगधिसहमानस्य केवलज्ञानं समुत्पन्नम् । एवमज्ञानपरीषहे आभीरसाधुकथा । प्रतिपक्षे च भौमद्वारम् । तत्राऽप्येतत्सूत्रसूचितमुदाहरणम्–

इयं च परिसं तं च, तारिसं पेच्छ केरिसं जायं ? ।
इय भणइ थूलभद्दो, सण्णायघरं गतो संतो ॥

(पाईटीका)

इदं चेति द्रव्यम् , ईदृशमिति स्तम्भमूलस्थितमतिप्रभूतं च, अतिशयज्ञानित्वेन तस्य हृदि विपरिवर्त्तमानतया द्रव्यस्यैवमानिर्देशः , (तच्चेति) तस्याज्ञानतः परिभ्रमणं , तादृशमिति विप्रकृष्टदुर्गदेशान्तरविषयं यस्य, कीदृशं केन सदृशं जातम् ? । न केनापि, नहि कश्चिद् गृहे सति द्रव्ये द्रव्यार्थी बहिर्भ्राम्यतीति भावः । इतीत्येवं भणति स्थूलभद्रः स्वजातिरिव स्वजातिरत्यन्तसुहृद्गृहं गतः सन्निति गाथार्थः ।

संप्रदायश्चात्र–यस्य च ज्ञानाजीर्णं स्यात् तेनापि ज्ञानपरीषहो न सोढः । तत्रार्थे स्थूलभद्रकथा–

स्थूलभद्रस्वामी विहरन् बालमित्रद्विजगृहं गतः, तत्र तमदृष्ट्वा

तद्भार्या पृष्टवान्-क्व ते पतिर्गतः? सा प्राह-परदेशे धनार्जनार्थं गतोऽस्ति । ततः स्वामी तद्गृहस्तम्भमूलस्थितं निधिं पश्यन् स्तम्भाभिमुखं हस्तं कृत्वा "इदमीदृशम, स च तादृशः" इति भणित्वा गतः। ततः कालान्तरे गृहागतस्य विप्रस्य तद्भार्यया स्थूलभद्रस्वामिवचो ज्ञापितम्। तेन पण्डितेन ज्ञातम्-अत्रा-वश्यं किञ्चिदस्ति । ततः खानितः स्तम्भः लब्धो निधिः। एवं स्थूलभद्रेण ज्ञानपरीषहो न सोढः । शेषसाधुभिरपीदृशं न कार्यम । उत्त० ३ अ० । (विषयान्तरं 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते) भारतकाव्यनाटकादिलौकिकश्रुतरूपे पापश्रुतप्रसङ्गे , स्था० ८ ठा० । भावशुद्धप्रतिसेवाविशेषे , व्य० । तत्त्वं च-

अन्नयरपमाएणं, असंपउत्तस्स नो पउत्तस्स ।
इरियाइसु जूयत्थे , अवट्टते एयमण्णाणं ॥

पञ्चानां प्रमादानामन्यतरेणापि प्रमादेनासंप्रयुक्तस्याक्षेमीकृतस्यात एव ईर्यादिषु समितिषु जूतार्थे न तत्त्वतो वर्तमानस्य यद्भवनमेतदज्ञानम् । व्य० १० उ० । कुशास्त्रसंस्कारे च , औ० । निर्ज्ञाने (ज्ञानरहिते) , त्रि० । भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णाणओ-अज्ञानतस्-अव्य० । ज्ञानावरणोत्कटतयेत्यर्थे , दश० १ चू० ।

अण्णाणकिरिया-अज्ञानक्रिया-स्त्री० । ५ त० । अज्ञानात् क्रियमाणयोश्चेष्टाकर्मणोः , स्था० ३ ठा० ३ उ० । (अण्णाण-किरिया त्रिविहा ' किरिया ' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णाणणिव्वत्ति-अज्ञाननिर्वृत्ति-स्त्री०। अज्ञानस्य निर्वृत्तौ, भ०। "कइविहा णं भंते ! अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता? गोयमा ! तिविहा अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता। तं जहा-मइअण्णाणणिव्वत्ती,सुयअ-ण्णाणणिव्वत्ती, विभंगणाणणिव्वत्ती । एवं जस्स जइ जाव वेमाणिया "। भ० १६ श० ८ उ० ।

अण्णाणतिग-अज्ञानत्रिक-न० । नञ्शब्दः कुत्सायां, मिथ्या-ज्ञानानामित्यर्थः । तेषां त्रिकं अज्ञानत्रिकम् । मिथ्याज्ञानादित्रये, पं० सं० १ द्वा० ।

अण्णाणदोस-अज्ञानदोष-पुं०। अज्ञानात्कुशास्त्रसंस्कारात् हिंसादिष्वधर्मस्वरूपेषु नरकादिकारणेषु धर्मबुद्ध्याऽभ्युदयार्थं या प्रवृत्तिस्तल्लक्षणो दोषोऽज्ञानदोषः । अथवा तत्त्वलक्षणमज्ञानमेव दोषोऽज्ञानदोष इति । स्था० ४ ठा० १ उ० । रौद्रध्यानस्य लक्षणभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । औ० । प्रमाददोषे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । ग० ।

अण्णाणपरीसह-अज्ञानपरीषह-पुं०।"ज्ञानचारित्रयुक्तोऽस्मि, छद्मस्थोऽहं तथापि हि । इत्यज्ञानं विषहेत,ज्ञानस्य क्रमलो भवेत्" ॥१॥ इति सोढव्ये परीषहभेदे, ध० ३ अधि० । प्रव० ("अण्णाण" शब्देऽत्रैव भागे ४७८ पृष्ठेऽस्य तत्त्वमावेदितम्)

अण्णाणपरीसहविजय-अज्ञानपरीषहविजय -पुं० । अज्ञोऽयं पशुसमो नवेति किञ्चिदित्येवमधिक्षेपवचनं सम्यक् सहमानस्य परमदुष्करतपोऽनुष्ठाननिरतस्य नित्यमप्रमत्तचेतसो न मेऽद्यापि ज्ञानातिशयः समुत्पद्यते इति चिन्तने , पञ्चा० १३ विव०।

अण्णाणफल-अज्ञानफल-त्रि० । अज्ञानमनवबोधस्तत्फलानि, ज्ञानावरणरूपाणीत्यर्थः । धर्माचार्यगुरुश्रुतनिन्दारूपेषु ज्ञानावरणकर्मसु , उत्त० २ अ० ।

अण्णाणया-अज्ञानता-स्त्री० । अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावोऽज्ञानता । स्वरूपेणानुपलम्भे , भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णाणलद्धि--अज्ञानलब्धि-स्त्री० । आत्मनोऽज्ञानस्य ज्ञानाऽऽवरणीयोदयतो लाभे , " अण्णाणलद्धी णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-मइअण्णाणलद्धी,सुयअण्णाणलद्धी, विभंगणाणलद्धी " भ० ८ श० २ उ० ।

अण्णाणवाइ (ण्)-अज्ञानवादिन्-त्रि० । सति मत्यादिके हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदति अज्ञानिके , सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णाणसत्थ-अज्ञानशास्त्र- न० । भारतकाव्यनाटकादौ लौकिकश्रुते , स्था० ७ ठा० ।

अण्णाणि (ण्)-अज्ञानिन्- त्रि० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव श्रेय इति वदत्सु वादिभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ज्ञाननिह्नववादिषु, "अण्णाणी अण्णाणं विणइत्ता वेणइयवादी " । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽज्ञानिनः । नञ्शब्दः कुत्सायाम् । मिथ्याज्ञानेषु, पं०सं० १द्वा०। "अण्णाणी कम्मं खवेति बहुयाहिं वासकोडीहिं, तण्णाणी तिहि गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण" उत्त० १ अ०। अण्णाणी किं काही, किंवा णाही छेयपावगं" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अण्ण(न्ना)णिय-अज्ञानिन्-पुं० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः। अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मत्वर्थीयः। यथा-गौरखरवदरण्यमिति । प्राकृते स्वार्थिकः कः । सूत्र०१श्रु०१अ०१उ०। आज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति आज्ञानिकाः । अज्ञानं वा प्रयोजनं येषां ते आज्ञानिकाः । आव० ६ अ० । सम्यग्ज्ञानरहितेषु अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

तन्मतं चोथमुपन्यस्यन्नाह सूत्रकृत्—

अण्णाणिया ता कुसला वि संता ,
असंथुया णो वितिगिच्छ तिन्ना ।
अकोविया आहु अकोविएहिं ,
अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥ २ ॥

ते चाज्ञानिकाः किल वयं कुशलाः , इत्येवं वादिनोऽपि सन्तोऽसंस्तुता अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः। असंस्तुतत्वादेव विचिकित्सा चित्तविप्लुतिश्चित्तभ्रान्तिः संशीतिस्तां न तीर्णा नातिक्रान्ताः। तथाहि-ते ऊचुः ये एते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया असंबद्धा असंस्तुतत्वादेव विचिकित्सा, न यथार्थवादिनो भवन्ति । तथाहि-एके सर्वगतमात्मानं वदन्ति। तथाऽन्ये असर्वगतम् । अपरे अङ्गुष्ठपर्वमात्रम् । केचन श्यामाकतन्दुलमात्रम । अन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटव्यवस्थितमित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरःसरे तेषां नैकवाक्यता । नचातिशयज्ञानी कश्चिदस्तीति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत । नचासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिना। "नासर्वज्ञः सर्वं जानाति" इति वचनात् " । तथाचोक्तम्-"सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्-तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-शून्यैर्विज्ञायते कथम् ?"। १। न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संभवः, संभवाभावश्चेतरेतराश्रयत्वात् । तथाहि-न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपा-

यपरिज्ञानम्, उपायमन्तरेण न चोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावाप्तिरिति । न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम् । तथाहि-यत्किमप्युपलभ्यते, तस्यार्वाग्मध्यपरभागैर्भाव्यम् । तत्रार्वाग्भागस्य चोपलब्धेनेतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात् । अर्वाग्भागस्यापि भागत्रयकल्पनात् तत्सर्वारातीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्यवसानता, परमाणोश्च स्वभावविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शिनां नोपलब्धिरिति । तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थितवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात्सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थस्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुतरदोषसंभवादज्ञानमेव श्रेयः । तथाहि-यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन शिरसि हन्यात्, तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुषङ्गी स्यादित्येवमज्ञानिन एवंवादिनः सन्तोऽसंबद्धा नचैवंविधां चित्तविप्लुतिं वितीर्णा इति । तत्रैवंवादिनस्ते अज्ञानिका अकोविदा अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः । तथाहि-यत्तैरभिहितम्-ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थवादितया न यथार्थवादिन इति तद्भवतु असर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथार्थवादित्वम् । न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न क्वचित्परस्परतो विरोधः, सर्वज्ञत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति । तथाहि-प्रक्षीणाऽशेषाऽऽवरणतया रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामभावाच्च तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतत्, यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, नचासौ संभवतीत्युक्तं प्राक् । सत्यमुक्तम्, अयुक्तं तूक्तम् । तथाहि-यत्तावदुक्तम्-न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिभिः । तदयुक्तम् । यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते, वीतरागाः सरागा इव, इत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि संभवानुमानस्य सद्भावात्तद्बाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्वमनिवार्यम् । संभवानुमानं त्विदम्-व्याकरणादिना शास्त्राभ्यासेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्युपलब्धः, तदत्र कश्चित्तथाभूताभ्यासवशात्सर्वज्ञोऽपि स्यादिति । न च तदभावसाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि-न तावदर्वाग्दर्शिभिः प्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साधयितुं शक्यः । तस्य हि तज्ज्ञानाज्ञेयविज्ञानशून्यत्वात् । अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावादिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन प्रवृत्तेः । न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति, येनासौ सिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणपूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः । प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तमानात् तस्याप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि दर्शनात् । न प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः सिध्यति । तथाहि-सर्वत्र सर्वदा न संभवति, तद्ग्राहकप्रमाणमित्येतदर्वाग्दर्शिनो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देशकालविप्रकृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्, तद्ग्रहणे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तेः । न चार्वाग्दर्शिनां ज्ञानं निवर्तमानं सर्वज्ञाभावं भावयति, तस्याऽव्यापकत्वात् । न चाव्यापकव्यावृत्त्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति । न च वस्त्वन्तरविज्ञानरूपो भावः सर्वज्ञाभावसाधनायालम्, वस्त्वन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञानसंसर्गप्रतिबन्धाभावात् । तदेवं सर्वज्ञबाधकप्रमाणाभावात्संभवानुमानस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमाच्च मतभेददोषो दूरापास्त इति । तथाहि-तत्प्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः । इति इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव । यतोऽभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यदप्यभिहितम्-तद्यथा न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम्, सर्वत्रार्वाग्भागेनेत्यवधानात्सर्वाऽऽरातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वादित्येतदपि वाङ्मात्रमेव । यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहितानामपि ग्रहणान्नास्ति व्यवधानसंभवः । अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवयवद्वारेणाऽवयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानम् । न ह्यवयवी स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम् । अपि च-अज्ञानमेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमयं पर्युदासः ?, आहोस्वित्प्रसज्यप्रतिषेधः ? । तत्र यदि ज्ञानादन्यदज्ञानमिति, ततः पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात्, नाज्ञानवाद इति । अथ ज्ञानं न भवतीत्यज्ञानं, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः, स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ? । अपि च-अज्ञानं श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो भवतीति क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात् । एतच्चाध्यक्षबाधितम्, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्त्तमानोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यत इति । किञ्च-अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषवतां परिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते । एवं च सति प्रत्यक्ष एव स्याद्भ्युपगमविरोधो नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं सर्वथा तेऽज्ञानवादिनोऽकोविदा धर्मोपदेशे प्रत्यनिपुणाः, स्वतोऽकोविदेभ्य एव स्वशिष्येभ्यः, आहुः कथितवन्तः । छान्दसत्वाच्चैकवचनं सूत्रे कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः । अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति । तथा ये च बालमत्तसुप्तादयोऽस्पष्टविज्ञाना अबन्धका इत्येवमभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा द्रष्टव्या इति । तथाऽज्ञानपक्षसमाश्रयणाच्चाननुविचिन्त्य भाषणान्मृषा ते सदा वदन्ति, अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च सत्यवादस्यातो ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाभावः, तदभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥ २ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । इति दर्शितं सदूषणमज्ञानिनां मतम् । अथ कियन्तस्ते इति दर्शयति निर्युक्तिकृत्-

अणाणिय सत्तट्ठी

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विवक्षितकार्यसिद्धिमिच्छतां ज्ञानं तु सदापि निष्फलम्, बहुदोषत्वाच्चेत्येवमभ्युपगमवतां सप्तषष्टिरनेनोपायेनावगन्तव्याः-जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्यम्, सदवक्तव्यम्, असदवक्तव्यम्, सदसदवक्तव्यमिति । अभिलापस्त्वयम्-सन् जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥१॥ असन् जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥२॥ सदसन् जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥३॥ अवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥४॥ सदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥५॥ असदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥६॥ सदसदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति ?, किं वा तेन ज्ञातेन ? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि सप्त भङ्गकाः । सर्वेऽपि मिलितास्त्रिषष्टिः । तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गकाः । तद्यथा-सती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया ? ।१। असती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति ?, किं वा तया ज्ञातया ? ।२। सदसती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया ।३। अवक्तव्या

भावोत्पत्तिः, को वेत्ति ?, किं वा तया ज्ञातया ? ।४। सर्वेऽपि सप्तषष्टिरित्युत्तरं भङ्गकत्रयमुत्पन्नभावावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न संभवतीति नोपन्यस्तम् । उक्तं च-"अज्ञानिकवादिमतं , नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् ॥ भावोत्पत्तिः सदसद्, द्वेधा वाच्या च को वेत्ति ?" ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थः-न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते । न च तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्तो ज्ञानादिगुणोपेतः, एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा, ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति , तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रव० । आचा० । स्था० । आव० । नं० ।

साम्प्रतमज्ञानिमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह—

जविणो मिगा जहा संता, परित्ताणेण वज्जिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥७॥
अह तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहई ॥ ८ ॥

(जविणो इत्यादि) यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आरण्याः पशवः , परि समन्तात् त्रायते रक्षतीति परित्राणं , तेन वर्जिता रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा परित्राणं वागुरादिबन्धनं, तेन तर्जिता भयं गृहीताः सन्तो भयोद्भ्रान्तलोचनाः समाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यक् विवेकविकलाः, अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्काहाणि, तान्येव शङ्कन्ते, अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्काऽर्हाणि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि, शङ्कायोग्यानि वागुरादीनि , तान्यशङ्किनस्तेषु शङ्कामकुर्वाणास्तत्र तत्र पाशादिके संपर्ययन्त इत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमोहाविष्करणायाह- [परियाणीत्यादि] परित्रायते इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि, यथा परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्यस्तबुद्धयस्तत्रापि भयमुत्प्रेक्षमाणाः, पाशितानि पाशोपेतान्यनर्थोपादकानि, अशङ्किनः, तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च [संविग्गं ति] सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्राऽपरित्राणोपेतं, पाशाद्यनर्थोपेतं वा, सम्यक्विवेकेनाऽजानानाः, तत्र तत्राऽनर्थबहुले पाशवागुरादिके बन्धने, संपर्ययन्ते समेकीभावेन, परि समन्तात्, अयन्ते यान्ति वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः। यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकारणभूतानेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवादाभ्युपगमेनाऽनाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते । शङ्कनीयं च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते । ते एवंभूताः परित्राणार्हेऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्या घटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु कर्मबन्धस्थानेषु संपर्ययन्त इति ॥ ७ ॥

पूर्वदोषैरतुष्यन्नाचार्यो दोषान्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तनदृष्टान्तमधिकृत्याह-[अह तं पवेज्ज इत्यादि] अथानन्तरमसौ मृगस्तत् [वज्झमिति] वद्धं बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् । वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते । तदेवंभूतं कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत्-तदधस्तादतिक्रम्योपरि गच्छेत् , तस्य वध्यादेर्बन्धनस्याधो गच्छेत्तत एवं क्रियमाणेऽसौ मृगः , पदे पाशः पदपाशो वागुरादिबन्धनं, तस्मान्मुच्यते । यदि वा पदं कूटं, पाशः प्रतीतः, ताभ्यां मुच्यते । क्वचित् पदपाशादीति पठ्यते । आदिग्रहणाद्वधताडनमारणादिकाः क्रिया गृह्यन्ते । एवं सन्तमपि तमनर्थोत्पादकं परिहरणोपायं मन्दो जडोऽज्ञानावृतो न देहतीति न पश्यतीति ॥

कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामाप्नोति, तां दर्शयितुमाह-

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते ।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥ ९ ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।
असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ १० ॥
धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥
सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ ।
अप्पत्तिअं अकम्मंसे , एयमट्ठं मिगे चुए ॥ १२ ॥

(अहीत्यादि) स मृगोऽहितात्मा । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । स चाहितप्रज्ञानः सन् विषमान्तेन कूटपाशादियुक्तप्रदेशेनोपागतः । यदि वा विषमान्ते कूटपाशादिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलानवस्थाविशेषान् प्राप्तः, तत्र बन्धने, घातं विनाशं, नियच्छति प्राप्नोतीति ॥ ९ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एवं दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह- (एवं तु इत्यादि) एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एवमेव , श्रमणाः केचित् , पाखण्डविशेषाश्रिताः । एके, न सर्वे । किं भूतास्ते इति दर्शयति-मिथ्या विपरिता दृष्टिर्येषामज्ञानवादिनां , नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः । तथा अनार्याः आराज्जाताः सर्वहेयधर्मेभ्य इति आर्याः , न आर्या अनार्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इति यावत् । अज्ञानावृतत्वं च दर्शयति-अशङ्कितान्यशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि , शङ्कमानाः , तथा शङ्कनीयान्यपायबहुलान्येकान्तपक्षसमाश्रयणानि, अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदारभन्ते , यद्यदनर्थाय संपद्यन्त इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्यासमाह-(धम्मपण्णवणेत्यादि) धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना प्ररूपणा । तं त्विति । तामेव शङ्कन्ते । असद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति । ये पुनः पापोपादानभूताः समारम्भास्तानाशङ्कन्ते किमिति । यतोऽव्यक्ता मुग्धाः सहजसद्विवेकविकलाः , तथा अकोविदा अपण्डिताः सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति, तद्दर्शनायाह—(सव्वप्पगमित्यादि) सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मको लोभः, तं विधूयेति संबन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः । तथा (णूमं ति) माया, तां विधूय । तथा (अप्पत्तिअं ति) क्रोधं विधूय । कषायविधूनने च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति ।

तदपगमाच्च शेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह-[अकर्मांश इति] न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः । स च कर्मांशो विशिष्टज्ञानाद् भवति, नाज्ञानादित्येव दर्शयति । एतमर्थं कर्माभावलक्षणं, मृगः अज्ञानी (चुए त्ति) त्यजेत् । विभक्तिविपरिणामेन वा अस्मादेवंभूतादर्थात् च्यवेद् भ्रश्येदिति ॥ १२ ॥

भूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह-

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंतिऽणंतसो ॥ १३ ॥
माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।
सव्वलोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥ १४ ॥
मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताऽणुभासए ।
ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं अणुभासए ॥ १५ ॥
एवमन्नाणिया नाणं, वयंता वि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न जाणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया ॥ १६ ॥

(जे एयमित्यादि) ये अज्ञानपक्षं समाश्रिता एनं कर्मक्षपणोपायं न जानन्ति । आत्मीयाऽसद्ग्राहाऽऽग्रहग्रस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्यास्ते मृगा इव पाशबद्धा घातं विनाशमेष्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति वा, तद्योग्यक्रियाऽनुष्ठानात् । अनन्तशो विच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो गताः ॥१३॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्भिभावयिषया स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाऽऽह--(माहणा इत्यादि) एके केचन, ब्राह्मणविशेषाः, तथा श्रमणाः परिव्राजकविशेषाः, सर्वेऽप्येते, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् । हेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं, स्वकमात्मीयं, वदन्ति । न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि ! तस्मादज्ञानमेव श्रेयः, किं ज्ञानपरिकल्पनया इत्येतद्दर्शयति-सर्वस्मिन्नपि लोके, ये प्राणाः प्राणिनः, न ते किंचनापि सम्यगुपेतवाच्यं जानन्तीति विदन्तीति ॥१४॥ यदपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमायातं, तदपि छिन्नमूलत्वाद्वितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह-(मिलक्खू अमिलक्खुस्सेत्यादि) यथा म्लेच्छ आर्यभाषाऽनभिज्ञः, अम्लेच्छस्यार्यस्य म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञस्य, यद्भाषितं, तदनुभाषते अनुवदति, केवलं न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति- यथाऽनया विवक्षयाऽनेन भाषितमिति । न च हेतुं निमित्तं, निश्चयेनासौ म्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति, केवलं परमार्थशून्यं तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥ १५ ॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं योजयितुमाह-(एवमित्यादि) यथा म्लेच्छः, अम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद्भाषितमनुभाषते, तथा अज्ञानकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणात्, निश्चयार्थं न जानन्ति । तथाहि--ते स्वकीयं तीर्थकरं सर्वज्ञत्वेन निर्धार्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शिनिना ग्रहीतुं शक्यते, " नासर्वज्ञः सर्वं जानातीति " न्यायात् । तथा चोक्तम्-" सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्-त्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान-रहितैर्गम्यते कथम् ?" ॥ १ ॥ एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादुपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणाऽसंभवान्निश्चयार्थमजानाना म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव । अबोधिका बोधरहिताः, केवलमित्यतोऽज्ञानमेव श्रेय इति । एवं यावद्यावज्ज्ञानाभ्युपगमस्तावत्तावद्बहुतरदोषसंभवः । तथाहि-योऽवगच्छन् पादेन कस्यचित् शिरः स्पृशति, तस्य महानपराधो भवति । यस्त्वनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिदपराध्यतीत्येवं चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥ १६ ॥

एवमज्ञानवादिमतमनूद्येदानीं तद्दूषणायाह-

अन्नाणियाणं वीमंसा, नाणे ण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ? ॥ १७ ॥
वणे मूढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥ १८ ॥
अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणु गच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥ १९ ॥
एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्जुयं वए ॥ २० ॥

(अन्नाणियाणमित्यादि) न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा मत्वर्थीयः । यथा गौरखरवदरण्यमिति । यथा तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव श्रेयः, इत्येवंवादिनां योऽयं विमर्शः पर्यालोचनात्मकः, मीमांसा वा मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा, अज्ञानेऽज्ञानविषये (ण णियच्छइ) न निश्चयेन यच्छति नावतरति, न युज्यत इति यावत् । तथाहि—यैवंभूता मीमांसा, विमर्शो वा, किमेतज्ज्ञानं सत्यमुताऽसत्यमिति ? । यथा अज्ञानमेव श्रेयो, यथा यथा च ज्ञानातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक इति, सोऽयमेवंभूतो विमर्शस्तेषां न युज्यते । एवंभूतस्य पर्यालोचनस्य ज्ञानरूपत्वादिति । अपि च-तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि, परं प्रधानमज्ञानवादमिति, शासितुमुपदेष्टुं, नालं न समर्थाः । तेषामज्ञानपक्षसमाश्रयणेनाऽज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः सन्तोऽन्येषां शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं समर्था भवेयुरिति ?। यदप्युक्तम्-छिन्नमूलत्वात् म्लेच्छानुभाषणवत् सर्वमुपदेशादिकम् । तदप्ययुक्तम् । यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञानमृते कर्तुं शक्यते । तथा यदप्युक्तम्-परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इति । तदप्यसत् । यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं परोपदेशदानाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कृत इति । तथाऽन्यैरप्यभ्यधायि—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषितेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः " ॥ १७ ॥ तदेवं ते तपस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च शासने कर्त्तव्ये यथा न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह—(वणे इत्यादि) । वनेऽटव्यां, यथा कश्चिन्मूढो जन्तुः प्राणी, दिक्परिच्छेदं कर्तुमसमर्थः, स एवंभूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति, तदा द्वावप्यकोविदौ सम्यग्ज्ञानानिपुणौ सन्तौ, तीव्रमसह्यं, स्रोतो गहनं, शोकं वा, नियच्छतो निश्चयेन गच्छतः प्राप्नुतः, अज्ञानावृतत्वात् । एवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभनत्वेन निर्धारयन्तः परकीयं वाऽशोभनत्वेन जानानाः स्वयं मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥ १८ ॥ अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह—(अंधो अंधमित्यादि) यथा अन्धः स्वयमपरमन्धं पन्थानं नयन्, दूरमध्वानं विवक्षितादध्वनः परतरं गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्धः । अथवा-परं पन्थानमनुगच्छेन्न विवक्षितमेवाध्वानमनुयायादिति ॥ १९ ॥ एवं दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह-(एवमेगे नियायट्ठि त्ति) । एवमिति पूर्वोक्तोऽर्थोपप्रदर्शने । एवं भावमूढा भावान्धाश्चैके आजीविकादयः, (नियायट्ठि त्ति) । नयो मोक्षः, सद्

धर्मो वा, तदर्थिनस्ते किल वयं सद्धर्माराधका इत्येवं संधाय प्रव्रज्यायामुद्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोपमर्दन । पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्तत् स्वयमनुतिष्ठन्ति, अन्येषां चोपदिशन्ति, येनाभिप्रेतावा मोक्षातेभ्रंशयन्ति । अथवा तावन्मोक्षाभावस्तमेवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापद्येरन् ।

पुनरपि तद्दूषणाभिधित्सयाऽऽह–

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मई ॥ २१ ॥
एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाऽतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥
सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या एके केचनाऽज्ञानिका वितर्कानिर्मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः, परमन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं न पर्युपासते न सेवन्ते । स्वावलेपग्रहग्रस्ता वयमेव तत्त्वज्ञानाभिज्ञानपराः केचिदित्येवं नान्यं पर्युपासते इति । तथाऽऽत्मीयैर्विकल्पैरेवमभ्युपगतवन्तो यथाऽयमेवास्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको मार्गः । (अंजू रिति) निर्दोषत्वाद् व्यक्तः स्पष्टः परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः; ऋजुर्वा प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायित्वात् । किमिति एवमभिदधति ?–हिर्यस्मादर्थे । यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्यस्तबुद्धय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

सांप्रतमज्ञानवादिनां स्पष्टमेवाऽनर्थाभिधित्सयाऽऽह–(एवं तक्काइ इत्यादि) एवं पूर्वोक्तन्यायेन तर्कया स्वकीयविकल्पनया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मं क्षान्त्यादिकेऽधर्मे च जीवोपमर्दापादिते पापेऽकोविदा अनिपुणा दुःखमसातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा, मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं नातित्रोटयन्ति, अतिशयेनैतद्व्यवस्थितम् । तथा ते न त्रोटयन्त्यपनयन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह–यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालम् , एवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥ २२ ॥

अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह–(सयं सयमित्यादि) स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा , तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां वाचम् । तथाहि–सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयं निरीश्वरं वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति । तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् सांख्यान् । एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं य एकान्तवादिनः । उत्ववधारणे भिन्नक्रमश्च । तत्रैव तेष्वेवाऽऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणा विद्वस्यन्ते विद्वांस इवाऽऽचरन्ति । तेषु वा विशेषेणोशन्ति स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति । ते चैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधमनेकप्रकारमुत्प्राबल्येन श्रिताः संबद्धाः तत्र वा संसारे उषिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ॥

अण्णाणियवाइ (ण्)–अज्ञानिकवादिन्–पुं० । अज्ञानमभ्युपगमद्वारेण येषामस्ति तेऽज्ञानिकास्त एव वादिनोऽज्ञानिकवादिनः । अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं प्रतिज्ञेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

अण्णात (य)–अज्ञात–त्रि० । अनधिगते सम्यगनवधारिते, ध० ३ अधि० । अनुमतेनाऽविषयीकृते, । भ० ३ श० ६ उ० । स्वयं स्वजनादिसंबन्धाऽकथनेन गृहस्थैरपरिज्ञातस्वभावादिभावे भिक्षौ, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । यत्र ग्रामादौ प्रतिमा प्रतिपन्ना, तयाऽविदिते , प्रव० ६७ द्वा० । जातिकुलसद्द्रव्यादिनाऽपरीक्षिते, उत्त० २ अ० । राजादिप्रव्रजितत्वेनाविदितस्य भैक्ष्ये, पञ्चा० १७ विव० । "अण्णायं णाम जहा, अखित्तकरो चित्तं काऊण ण जाणति" अज्ञत्वात् अल्पविज्ञानत्वादित्यर्थः । नि० चू० १५ उ० ।

अण्णात (य) उञ्छ–अज्ञातोञ्छ–न० । विशुद्धोपकरणग्रहणे, दश० २ चू० । परिचयाकरणे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अण्णाओंछं दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
दव्वुंछं णेगविहं, लोगरिसीणं मुणेयव्वं ॥

अज्ञातोञ्छं द्विविधम् । तद्यथा–द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्योञ्छमनेकविधं लोकमृषीणां तापसानां ज्ञातव्यम् ।

तदेवानेकविधं द्रव्योञ्छमाह–

उक्खल खलए दव्वी, दंभे संमासए य पोत्ती य ।
आमे पक्के य तहा, दव्वोंछे होइ निक्खेवो ॥

तापसा उञ्छवृत्तयः, उदूखले छटितेषु तन्दुलेषु ये परिशाटिताः शालितन्दुलादयस्तान् उच्चित्य रन्धन्ति । (खलए त्ति) खले धान्ये मर्दिते संव्यूढे च यत् परिशाटितं तद् उच्चिन्वन्ति । (दव्वी ति) धान्यराशेर्यदेकया दर्व्या उत्पाट्यते तद् गृह्णन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (दंभ त्ति) स्वामिनमनुज्ञाप्य यद् धान्यराशेरेकया यष्ट्या उत्पाट्यते तद् गृह्णन्ति, एतदेवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (संमासए त्ति) अङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां यद् गृह्यते शाल्यादिकं तावन्मात्रं प्रतिगृहं गृह्णन्ति । यद्यपि बहुकं पश्यन्ति शाल्यादि, तथापि न मुष्टिं भृत्वा गृह्णन्ति [पोत्ती य त्ति] स्वामिनमनुज्ञाप्य धान्यराशौ पोतिं क्षिपन्ति, तत्र यत् पोतौ लगति तद् गृह्णन्ति । एवमन्यत्रापि । तथा आमं, पक्वं वा चरकादयो भिक्षाप्रविष्टा मृगयन्ते, एष भवति द्रव्योञ्छे निक्षेपः ।

संप्रति भावोञ्छमाह–

पडिमापडिवन्ने एस जयवमज्ज किर एत्तिया दत्ती ।
आदियति त्ति न नज्जइ, अन्नाओंछं तवो भणितो ॥

प्रतिमाप्रतिपन्न एष भगवान् अद्य किल एतावद् दत्तीरादत्ते इति न ज्ञायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोञ्छं भवति । व्य० १० उ० ।

अण्णात (य) चरय–अज्ञातचरक–पुं० । अज्ञातोऽनुपदर्शितसौजन्यादिभावः सँश्चरति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा गृहेषु चरतीति अज्ञातः । अज्ञातगृहे वा चरामीत्यभिग्रहवति, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अण्णातपिंड–अज्ञातपिण्ड–पुं० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाऽज्ञातपिंडः । अन्तप्रान्तरूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः । अज्ञातेभ्यः पूर्वाऽपरसंस्तुतेभ्य उञ्छवृत्त्या लब्धे पिण्डे, "अण्णातपिंडेण हि यासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अण्णादत्तहर–अन्यादत्तहर–त्रि० । अन्यैरदत्तमनिसृष्टं हरत्या-

इत्ते इत्यन्याददत्तहरः। ग्रामनगरादिषु चौर्यकृति, उत्त० ७ अ०।

अणा (ण्णा) दि (रि) स-अन्यादृश-त्रि० । अन्येव दृश्यते । अन्य-दृश्-कञ् , आत्वम् । " दृशेः किप्टक्सकः " ८।१।४२। इति सूत्रो रिः । अन्यसदृशे, प्रा० ।

अणणाय-अन्याय्य-त्रि० ।न्यायादपेते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

अणणायवासि(ण्)-अन्याय्यवादिन्-त्रि० । अन्याय्यं भाषितुं शीलमस्य सोऽन्याय्यवादी। यत्किञ्चन भाषिणि, अस्थानभाषिणि, गुर्वाद्यधिक्षेपकरे च । "जे विग्गहीए अणणायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणायया-अज्ञातता-स्त्री० । तपसो यशःपूजाऽऽद्यर्थित्वेनाप्रकाशयद्भिः करणे, स० ३२ सम० । कोऽर्थः ?, पूर्वं परीषहसमर्थानां यदुपधानं क्रियते, तद्यथा लोको न जानाति तथा कर्तव्यम्, विज्ञातं वा कृतं न नयेत्,प्रच्छन्नं वा कृतं नयेत् । आव० ४ अ० ।

अज्ञातद्वारमाह-

कोसंबि अजिअसेणो, धम्मवसू धम्मघोस-धम्मजसो ।

विगयभया विणयवई, इड्ढिविभूसाइ परिकम्मे ॥ १ ॥

कौशाम्बीत्यस्ति पूस्तत्रा-जितसेनो महीपतिः ।
धारिणीत्यभिधा देवी, तत्र धर्मवसुर्गुरुः ॥ १ ॥
धर्मघोषो धर्मयशा-स्तस्यान्तेवासिनावुभौ ।
आसीद्विनयवत्याख्या, तत्र तेषां महत्तरा ॥२॥
तच्छिष्या विगतभया, विदधेऽनशनं तपः ।
महाप्रभावनापूर्वं, सङ्घस्तां निरयामयत् ॥ ३ ॥
तौ च धर्मवसोः शिष्यौ, कुरुतः परिकर्मणाम् ।

इतश्च-

उज्जेणिऽवंतिवद्धण, पालय सुरट्ठवद्धणो चेव ।

धारिणीऽवंतिसेणे, मणिप्पभो वच्छगातीरे ॥१॥

उज्जयिन्यस्ति पूर्भूभृत् , प्रद्योतस्तत्सुतावुभौ ।
आद्यः पालकनामाऽभू-ल्लघुर्गोपालकः पुनः ॥ ४ ॥
गोपालकः प्रवव्राज, पालको राज्यमासदत् ।
अवन्तिवर्धनो राष्ट्र-वर्द्धनश्चेति तत्सुतौ ॥५॥
तौ राज-युवराजौ च, कृत्वाऽभूत्पालको व्रती ।
धारिणीकुक्षिजोऽवन्ति-सेनोऽभूद् युवराजसूः ॥६ ॥
भूभुजाऽन्येयुरुद्याने, स्वेच्छस्थाऽदर्शि धारिणी ।
अचे दूत्याऽनुरक्तस्तां, सा नैच्छद्धर्ममीलिता ॥ ७ ॥
यथा भावेन साऽवोच-न्न भ्रातुरपि लज्जसे ? ।
ततोऽसौ मारितस्तेन, स्वशीलं साऽथ रक्षितुम् ॥ ८ ॥
ययौ सार्थेन कौशाम्बी-मात्तस्वाभरणोच्चया ।
भूभुजो यानशालायां, स्थिताः साध्वीर्निरीक्ष्य सा ॥९॥
वन्दित्वा श्राविका साऽभूत्, क्रमाच्च व्रतमग्रहीत् ।
गर्भं न सन्तमप्याख्यद्, व्रतलोभभयात्पुनः ॥ १० ॥
ज्ञातो महत्तरायाः स्वः,सद्भावोऽथ निवेदितः ।
सुगुप्तं स्थापिता साऽथ, रात्रौ पुत्रमजीजनत् । ११ ।
स्वमुद्राभरणाद्यैस्तं, तदैवाभूष्य भूपतेः ।
सौधाङ्गणे स्थापयित्वा, प्रच्छन्ना स्वयमास्थित । १२ ।
पार्थिवोऽजितसेनस्तं, दृष्ट्वाऽऽकाशतलस्थितः ।
गृहीत्वाऽदात्पट्टराज्ञ्या, असुतायाः सुतं जवात् । १३ ।
पृष्टा साध्वीभिराख्यत्सा, मृतोऽजन्युज्झितस्ततः ।
पट्टराज्ञ्या समं चक्रे, साऽथ सख्यं गताऽऽगतैः । १४ ।
मणिप्रभाख्यस्तत्सूनुर्मृते राज्यभवन्नृपः ।
साध्व्याः स चातिभक्तोऽस्या, राजा चावन्तिवर्धनः । १५ ।
भ्राताऽमारि न साऽथाऽभूत् , पश्चात्तापेन पीडितः ।
राज्यं भ्रातृसुतेऽवन्ति-सेने न्यस्याग्रहीद् व्रतम् । १६ ।
सा कौशाम्बीनृपाद्दण्ड-मयाचत्त स दत्तवान् ।
धर्मघोषस्तयोरेकः, प्रपेदेऽनशनं यतिः । १७ ।
भूयान्ममापि विगत-भयाया इव सत्कृतिः ।
द्वैतीयीकस्तु कौशाम्बी-मवन्तीं चान्तरा गिरौ ॥ १८ ॥
गुहायां वत्सकातीरे निरीहोऽनशनं व्यधात् ।
इतश्चागत्य कौशाम्बीं, रुरोधावन्तिसेनराट् ॥ १९ ॥
धर्मघोषान्तिके नागाद् , भयत्रस्तस्ततो जनः ।
स च चिन्तितमप्राप्तो, मृतो द्वारेण निर्गतः ॥ २० ॥
न लभ्यते ततः क्लिष्टो, द्वारोपरितलेन सः ।
साऽथ प्रव्रजिता दध्यौ, मा भूद्युद्धे जनक्षयः ॥ २१ ॥
ततश्चान्तःपुरे गत्वाऽ-वोचन्मणिप्रभं रहः ।
भ्रात्रा सह कथं योत्स्ये, सोऽवक् कथमिदं ततः ? ॥ २२ ॥
सर्वं प्रबन्धमाचख्यौ, पृच्छाऽम्बां प्रत्ययो न चेत् ।
पृष्टाऽम्बाऽऽख्यत्कथावृत्तं, नाममुद्रामदर्शयत् ॥ २३ ॥
राष्ट्रवर्द्धनसत्कानि, सर्वाण्याभरणानि च ।
अथोचे प्रसरद्लज्जे, सोचे तं सोऽपि भोत्स्यते ॥ २४ ॥
इत्युक्त्वा सा विनिर्गत्या-ऽवन्तिसेनदलेऽगमत् ।
उपलक्ष्य जनाः सर्वेऽ-वन्तिसेननृपस्य ताम् ॥ २५ ॥
आख्यन्निहागताऽम्बा ते, दृष्टोऽपश्यन्ननाम ताम् ।
मातः ! कथमिदं चक्रे, सर्वं तस्याप्यचीकथत् ॥ २६ ॥
तेदय तव सोदर्यो, मिलितौ तावथो मिथः ।
स्थित्वैकमासं कौशाम्ब्यां, द्वावप्युज्जयिनीं गतौ ॥ २७ ॥
निन्ये सगुरुकाऽम्बाऽपि, वत्सकातीरपर्वते ।
तत्रारोहावरोहांस्ते, कुर्वतो वीक्ष्य संयतान् ॥ २८ ॥
दृष्ट्वा तेऽप्यगमन्नन्तुं, नृपौ नत्वा मुनिं मुदा ।
चक्रतुर्द्वावपि स्थित्वा, महिमानं जनैः सह ॥ २९ ॥
एवं तस्याजनि श्रेष्ठा-प्यनिच्छतोऽपि हि सत्कृतिः ।
द्वितीयस्येच्छतोऽप्यासी-न्न सत्कारलवोऽपि हि ॥ ३० ॥

ततो धर्मयशोऽवच्छिरिहे तपः कार्यम् । आ० क० ।

अणणायवइविवेग-अज्ञातवाग्विवेक-पुं० । गुर्वागुरुयोग्याऽयोग्यविषयत्वाविरूपो येस्ते । वाग्विवेकमज्ञातवत्सु, द्वा० ।

" अज्ञातवाग्विवेकानां, पण्डितत्वाभिमानिनाम् ।
विषयं वर्तते वाचि, मुखेनाशीविषस्य तत् " ॥ द्वा० ९ द्वा० ।

अणणायसील-अज्ञातशील-त्रि० । पण्डितैरप्यज्ञातस्वभावे, अप्रज्ञशीले च । " ताणं अणणायसीलाणं (नारीणं)" तासां नारीणामज्ञातशीलानां पण्डितैरप्यज्ञातस्वभावानाम् ।यद्वा-न ज्ञातं नाङ्गीकृतं शीलं ब्रह्मस्वरूपं याभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम् । यद्वा-नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञातं शीलं साध्वीनां याभिः परिव्राजिकायोगिन्यादिभिस्ता अज्ञातशीलास्तासाम्, तं० ।

अणारंभणिविति-अन्यारम्भनिवृत्ति-स्त्री० । कृष्याद्यारम्भत्यागे , " अणारंभणिवित्तीए , अप्पणा दिट्ठुणं चेव " । पञ्चा० ७ विव० ।

अणावएस–अन्यापदेश–पुं० । अन्यस्य परस्य संबन्धीदं गुडखण्डादीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति साधुसमक्षं भणने जानन्तु साधवो यद्यस्मै तद् भक्तादिकं प्रवेत्तदा कथमस्मभ्यं न दद्यादिति साधुसंप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्माद्दानात् ममामात्यादेः पुण्यमस्त्विति भणने च , एष अतिथिसंविभागस्य पञ्चमोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

अणिणय–अन्वित–त्रि० । युक्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । व्य० । उत्त० ।

अणिणयाउत्त–अन्निकापुत्र–पुं० । जयसिंहनाम्नो वणिक्पुत्रस्य जामेः अन्निकायाः पुत्रे , ती० । कतमः स महामुनिः ? । तदनु अगाद् नैमित्तिकः-शृणु राजन्, देव ! उत्तरमथुरायां वास्तव्यो देवदत्ताख्यो वणिक् पुत्रो दिग्यात्रार्थं दक्षिणमथुरामगमत्, तत्र तस्य जयसिंहनाम्ना वणिक्पुत्रेण सह सौहार्दमभवत् । अन्यदा तद्गृहे भुञ्जानो ऽन्निकानाम्नीं तज्जामिं स्थाने भोजनं परिवेष्य वातव्यजनं कुर्वतीं रम्यरूपामालोक्य तस्यामनुरक्तः । द्वितीयेऽह्नि वरकान् प्रेष्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽऽविष्कृतसौहृदमभ्यधात्-अहं तस्मा एव ददे स्वसारम्, यो मद्गृहाद् दूरे न भवति, प्रत्यहं तां तं च यथा पश्यामि, यावत्प्रत्यजन्म तावद्यदि मद्गृहे स्थाता, तस्मै जामिं दास्यामीति । देवदत्तोऽप्यामित्युक्त्वा शुभेऽह्नि तां पर्यणैषीत् । तया सह भोगान् भुञ्जंस्तस्यान्यदा पितृभ्यां लेखः प्रेषितः, वाचयतस्तस्य नेत्रे वर्षितुमश्रु प्रवृत्ते , ततस्तया हेतुः पृष्टो यावन्नाब्रवीत् तावत्तयाऽऽदाय लेखः स्वयं वाचितः । पत्रे चेदं लिखितमासीद् गुरुभ्याम्-"यद् वत्स ! आवां वृद्धौ निकटनिधनौ, यदि नौ जीवन्तौ दिदृक्षसे तदा द्रागागन्तव्यमिति" तदनु सा पतिमाश्वास्य भ्रातरं कथमप्यनुज्ञाप्य भर्त्रा सह प्रतस्थे चोत्तरमथुरां प्रति । सगर्भा क्रमान्मार्गे सूनुमसूत, नामास्य पितरौ करिष्यत इति देवदत्तलोके परिजनस्तमनेकमन्निकापुत्र इत्युल्लापितवान् । क्रमेण देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रणम्य च शिशुं तयोरार्पयत् । संधीरणेत्याख्यं तौ नप्तुश्चक्राते । तथाऽप्यन्निकापुत्र इत्येव पप्रथे । असौ वर्द्धमानश्च प्राप्ततारुण्योऽपि भोगाँस्तृणवद्विधूय जयसिंहाचार्यपार्श्वे दीक्षामग्रहीत् । गीतार्थीभूतः प्रापदाचार्यकम् । अन्यदा विहरन् सगच्छोऽद्धके पुष्पभद्रपुरं गङ्गातटस्थं प्राप्तः । तत्र पुष्पकेतुर्नृपः । तद्देवी पुष्पवती । तयोर्युग्मजौ पुष्पचूलः पुष्पचूला चेति पुत्रः पुत्री चाभूताम् । तौ च सह वर्द्धमानौ क्रीडन्तौ परस्परं प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा दध्यौ-यद्येतौ वियुज्येते, तदा नूनं न जीवतः । अहमप्यनयोर्विरहं सोढुमनीशः, तस्मादनयोरेव विवाहं करोमीति ध्यात्वा मन्त्रिमित्रपौरान्छलेनाऽपृच्छद्-भोः ! यन्ममाऽन्तःपुर उत्पद्यते, तस्य कः प्रभुः ? । तैर्विज्ञप्तम्-देव ! अन्तःपुरोत्पन्नस्य किं वाच्यम्, यद्देशमध्येऽप्युत्पद्यते रत्नं, तद्राजा यथेच्छं विनियुङ्क्ते, कोऽत्र बाधः ? । तच्छ्रुत्वा स्वाभिप्रायं निवेद्य देव्यां वारयन्त्यामपि तयोरेव संबन्धमघटयन्नृपः । तौ दम्पती भोगान् बुभुजाते स्म । राज्ञी तु पत्यपमानवैराग्याद् व्रतमादाय स्वर्गे देवोऽभूत् । अन्यदा पुष्पकेतौ कथाशेषे पुष्पचूलो राजाऽभूत् । स च देवप्रयुक्तावधिस्तयोरकृत्यं ज्ञात्वा स्वप्नेषु पुष्पचूलायै नरकानदर्शयत्, तद्दुःखानि च । सा च प्रबुद्धा भीता च पत्युः सर्वमावेदयत् । सोऽपि शान्तिमचीकरत् । स च देवः प्रतिनिशं नरकाँस्तस्या अदर्शयत् । राजा तु सर्वास्तीर्थिकानाहूय पप्रच्छ-कीदृशा नरकाः स्युरिति ? । कैश्चिद्गर्भवासम्, कैरपि दारिद्र्यम् , अपरैः पारतन्त्र्यमिति तैर्नरका आचचक्षिरे , राज्ञी तु मुखं मोटयित्वा तान् विसंवादिवदसौ व्यसर्जयत् । अथ नृपोऽन्निकापुत्राचार्यमाकार्य तदेवाप्राक्षीत् । तेन तु यादृशान् देव्यपश्यत् तादृशा एवोक्ता नरकाः । राज्ञी प्रोचे-भगवन् ! भवद्भिरपि किं स्वप्नो दृष्टः ? । कथमन्यथेत्थं वित्थ । सूरिरवदद्-भद्रे ! जिनागमात्सर्वमवगम्यते । पुष्पचूलाऽवोचद्-भगवन् ! केन कर्मणा ते प्राप्यन्ते ? । गुरुरगृणाद्-भद्रे ! महारम्भपरिग्रहैर्गुरुप्रत्यनीकतया पञ्चेन्द्रियवधान्मांसाहाराच्च तेष्वङ्गिनः पतन्ति । क्रमेण स सुरिस्तस्यै स्वर्गानदर्शयत् स्वप्ने । राज्ञ्या तथैव पाखण्डिनः पृष्टानपि व्यभिचारित्वाद्वो विमृश्य नृपस्तमेवाचार्यं स्वर्गस्वरूपमप्राक्षीत् । तेनापि यथावस्तवोदिते स्वर्गावाप्तिकारणमपृच्छद् राज्ञी । ततः सम्यक्त्वमूलौ गृहियतिधर्मावादिशद् मुनीशः । प्रतिबुद्धा च सा लघुकर्मा नृपमनुज्ञापयति स्म प्रव्रज्यायै । सोऽप्यूचे-यदि मद्गृह एव भिक्षामादत्से तदा प्रव्रज । तयोरीकृते नृपवचसि सा सोत्सवमभूत्तस्याचार्यस्य शिष्या, गीतार्था च । अन्यदा च दुर्भिक्षं श्रुतोपयोगाद् ज्ञात्वा सूरिर्गच्छं देशान्तरे प्रैषीत् । स्वयं तु परीक्षणजङ्घाबलस्तत्रैवास्थात्, भक्तपानं च पुष्पचूलाऽन्तःपुरादानीय गुरवेऽदात् । क्रमात्तस्या गुरुशुश्रूषाभावनाप्रकर्षात् क्षपकश्रेण्यारोहात्केवलज्ञानमुत्पेदे । तथाऽपि गुरुवैयावृत्यान्न निवृत्ता, यावद्धि गुरुणा न ज्ञायते केवलीति तावत्पूर्वप्रयुक्तं विनयं केवल्यपि नात्येति । साऽपि यद् यद् गुरोरुचितं, रुचिरं च तत्तदक्षादि संपादितवती । अन्यदा तु वर्षत्यब्दे सा पिण्डमाहरद् । गुरुभिरभिहितम्-वत्से ! श्रुतज्ञाऽसि, किमिति वृष्टौ त्वया नीताः पिण्डा इति ? । साऽभाणीद्-भगवन् ! यत्राध्वनि अप्कायोऽचित्त एवासीत्तेनैवायासिषमहम् । कुतः प्रायश्चित्ताऽऽपत्तिः ? । गुरुराह-छद्मस्थः कथमेतद्वेद ? । तयोचे-केवलं ममास्ति । ततो मिथ्या मे दुष्कृतं केवल्याशातनेति ब्रुवन्नपृच्छत्तां गच्छाधिपः-किमहं सेत्स्यामि नवेति ? । केवल्यूचे-मा कुरुध्वमधृतिम्, गङ्गामुत्तरतां वो भविष्यति केवलम् । ततो गङ्गामुत्तरीतुं लोकैः सह नावमारोहत् सूरिः । यत्र यत्र स न्यषीदत्तत्र नौर्मङ्क्तुमारेभे , तदनु मध्यदेशासीने मुनौ सर्वाऽपि नौर्मङ्क्तुं लग्ना । ततो लोकैः सूरिर्जले क्षिप्तः । दुर्भगीकरणविराद्धया प्राग्भवपत्न्या व्यन्तरीभूतयाऽन्तर्जलं शूले निहितः । शूलप्रोतोऽयमप्कायजीवविराधनामेव शोचयन्नाऽऽत्मपीडां, क्षपकश्रेण्यां रूढोऽन्तकृतकेवलीभूय सिद्धः । आसन्नैः सुरैस्तस्य निर्वाणमहिमा चक्रे । त एव तत्तीर्थं प्रयाग इति जगति पप्रथे । प्रकृष्टो यागः-पूजाऽत्रेति प्रयागः । ती० ३६ कल्प० । संथा० । आव० । ग० ।

अणी–देशी–देवरभार्यायां , ननान्दायां , पितृष्वसरि च । दे० ना० १ वर्ग ।

अणु–अज्ञ–त्रि० । स्वभावविभावाविवेचके , " मज्जत्यज्ञः किलाज्ञाने , विष्ठायामिव सूकरः । ज्ञानीति मज्जति ज्ञाने , मराल इव मानसे " ॥ १ ॥ षो० १६ विव० ।

अण्णु(न्नु)ण्ण (न्न)–अन्योन्य–त्रि० । अन्यशब्दस्य कर्मव्यतिहारे द्वित्वम्, पूर्वपदे सुश्च । "अतोऽड्डाऽन्योऽन्य०" ॥ ८ । १ । १५६ । इत्यादिसूत्रस्य वैकल्पिकत्वेनैतः स्थानेऽद्धावे संयोगाविरोधेन ह्रस्वे तथारूपम् । प्रा० । ह्रस्वाभावे 'अण्णोण्णं' । ओघ० । पिं० । बृ० ।

अणेसणा–अन्वेषणा–स्त्री० , मार्गणायाम् , आ० म० द्वि० । प्रार्थनायां च, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । सूत्र० । आ० म० ।

अण्णेसि (ण्)–अन्वेषिन्–त्रि० । अन्वेष्टुं शीलमस्येति अन्वेषी। मार्गणाशीले, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अण्णोण्णंतरिअंगुलिअ–अन्योन्यान्तरिताङ्गुलिक–त्रि० । अन्योन्यं परस्परमन्तरिता अङ्गुलयो ययोस्तावन्योऽन्यान्तरिताङ्गुलयः । दर्श० । अव्यवहितकरशाखाकेषु, पञ्चा० ३ विव० ।

अण्णोण्णकार–अन्योन्यकार– पुं० । परस्परं वैयावृत्यकरणे , बृ० ३ उ० ।

अण्णोण्णगमण–अन्योन्यगमन–त्रि० । परस्पराभिगमनीये, प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अण्णोण्णजणिय–अन्योन्यजनित–त्रि० । परस्परकृते, " अण्णोण्णजणियं च होज्ज हासं, अण्णोण्णगमणं च होज्ज कम्मं"। प्रश्न० २ सम्ब० द्वा० ।

अण्णोण्णपक्खपडिवक्खभाव–अन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभाव–पुं० । अन्योन्यं परस्परं यः पक्षप्रतिपक्षभावः पक्षप्रतिपक्षत्वमन्योन्यपक्षप्रतिपक्षभावः । परस्परं पक्षविरोधे , तथाहि–य एव मीमांसकानां नित्यः शब्दः इति पक्षः, स एव सौगतानां प्रतिपक्षः; तन्मते शब्दस्यानित्यत्वात् । य एव सौगतानामनित्यः शब्द इति पक्षः स एव मीमांसकानां प्रतिपक्षः। एवं सर्वयोगेषु योज्यम् । स्या० ।

अण्णोण्णपग्गहियत्त–अन्योन्यप्रगृहीतत्व– न० । परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षतायाम्, स० ३५ सम० । सप्तदशे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अण्णोण्णमूढदुट्ठातिकरण–अन्योन्यमूढदुष्टातिकरण–न० । अन्योन्यस्य मूढस्य दुष्टस्य च यदतिकरणं तथाविधक्रियासु पौनःपुन्यप्रवृत्तिस्तत्तथा, ततोऽन्योन्यमूढदुष्टातिकरणम् । परस्परं मूढदुष्टयोः क्रियासु प्रवर्तने, तत्राऽन्योऽन्यस्यातिकरणं परस्परेण पुरुषयोर्वेदविकारकरणं मूढातिकरणं पञ्चमनिद्रावशविवर्तनम् । दुष्टातिकरणं तु द्विविधम्—कषायतो विषयतश्च । तत्र स्वपक्षे कषायतो लिङ्गिघातः । विषयतस्तु लिङ्गिनि प्रतिसेवा । परपक्षे तु कषायतो राजवधः, विषयतस्तु राजदारसेवेति । अथवा "अन्योऽन्यमूढदुष्टादिकरणतः" इति व्याख्येयम् । तत्र चादिशब्दात्तीर्थकराद्याशातनाकरणपरिग्रहः । अस्माद् विषयपाराञ्चिकं भवति । पञ्चा० १६ विव० ।

अण्णोण्णसमणुबद्ध–अन्योन्यसमनुबद्ध–त्रि० । परस्परानुगते, " अण्णोण्णसमणुबद्धं, णिच्छयतो भणियविसयं तु " पञ्चा० ६ विव० ।

अण्णोण्णसमणुरत्त–अन्योन्यसमनुरक्त– त्रि० । परस्परं सक्तौ, बृ० ६ उ० ।

अण्णोण्णसमाहि–अन्योन्यसमाधि–पुं० । परस्परं समाधौ, " अण्णोण्णसमाहीए एवं णं विहरंति " यो यस्य गच्छान्तर्गतादेः समाधिरभिहितस्तद्यथा सप्तापि गच्छवासिनां निर्गच्छनिर्गतानां द्वयोरग्रहः पञ्चसु अभिग्रहः इत्यनेन विहरन्ति ॥ आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० ।

अण्णोवएस–अन्योपदेश–पुं० । आहरणतद्देशाख्योदाहरणभेदे,

अण्णोवएसओ ना–हियवाई जेसिं नत्थि जीवो उ ।
दाणाइफलं तेसिं, न विज्जइ चउह तद्देसं ॥ ७९ ॥

अन्योपदेशतः अन्योपदेशेन नास्तिकवादी लोकायतो वक्तव्यः इति शेषः । अहो ! धिक्कष्टं येषां वादिनां नास्ति जीव एव, न विद्यते आत्मैव, दानादिफलं वा तेषां न विद्यते, दानहोमयागतपःसमाध्यादिफलं स्वर्गापवर्गादि तेषां वादिनां न विद्यते, नास्तीत्यर्थः । कदाचिदेतच्छ्रुत्वैवं यूयुर्मा भवतु, का नो हानिः ?, नह्यभ्युपगमा एव बाधायै भवन्तीति । ततश्च सत्त्ववैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्तितस्ते संप्रतिपत्तिमानेतव्याः, इत्यलं विस्तरेण । गमनिकामात्रमेतदुदाहरणदेशना चरणकरणानुयोगानुसारेण भावनीयेति । गतं निश्राद्वारम् । दश० १ अ० ।

अण्णोसरिअ–देशी–अतिक्रान्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अण्ह–भुज–धा०, पालनाऽभ्यवहारयोः, रुधादि०, पालने प०, स०, अनिट् । अभ्यवहारे भोजने, आत्म०, स०, अनिट् । प्राकृते-" भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डाः " । ८ । ४ । ११० । इति भुजेरण्हादेशः । अण्हइ–भुङ्क्ते । प्रा० ।

अण्हयंती–भुञ्जाना–स्त्री० । भोजनं कुर्वत्याम् , तं० । औ० ।

अण्हय–आश्रव–पुं० । आशृणोत्यादत्ते कर्म यैस्ते आश्रवाः । पा० । अभिविधिना श्रौति श्रवति कर्म येभ्यस्ते आश्रवाः । कर्मोपादानभूतेषु प्राणातिपातादिषु पञ्चसु , प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । (आश्रववक्तव्यता प्रश्नव्याकरणेषु आदावेव कृता , सा च प्राणातिपातादिषु शब्देष्वेव दृश्या)

" जंबू ! इणमो अण्हय–संवरविणिच्छियं पवयणस्स ।
णिस्संदं वोच्छामी, णिच्छयत्थं सुभासियत्थं महेसीहिं" ॥१॥

प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्था० । उत्त० । " पंचविहो पण्णत्तो, जिणेहि इह अण्हयो अणादीवो । हिंसा १ मोस २ मदिण्णं ३, अबंभ ४ परिग्गहं चेव ५ " ॥ १ ॥ प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अण्हयकर–आश्रवकर–पुं० । आश्रवः कर्मोपादानं, तत्करणशील आश्रवकरः । प्राणातिपाताद्याश्रवजनकेऽप्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ७ ठा० । अशुभकर्माश्रवकारिणि , ग० १ अधि० । औ० । आचा० ।

अण्हयभावणा–आश्रवभावना–स्त्री० । सप्तम्यां भावनायाम्, अथाश्रवभावना–

" मनोवचोवपुर्योगाः , कर्म येनाशुभं शुभम् ।
भविनमाश्रवन्त्येते, प्रोक्तास्तेनाश्रवा जिनैः ॥ १ ॥
मैत्र्या सर्वेषु सत्त्वेषु, प्रमोदेन गुणाधिके ।
मध्यस्थेष्वविनीतेषु, कृपया दुःखितेषु च ॥ २ ॥
तं तथा वासितं स्वान्तं , कस्यचित्पुण्यशालिनः ।
विदधाति शुभं कर्म , द्विचत्वारिंशदात्मकम् ॥३॥
रौद्रार्त्तध्यानमिथ्यात्व-कषायविषयैर्मनः ।
आक्रान्तमशुभं कर्म, विदधाति ह्यशीतिधा ॥ ४ ॥
सर्वज्ञगुरुसिद्धान्त–संघसद्गुणवर्णनम् ।
कृतं हितं च वचनं, कर्म संचिनुते शुभम् ॥५॥
श्रीसङ्घगुरुसर्वज्ञ-धर्मधार्मिकदूषकम् ।
उन्मार्गदेशवचन–मशुभं कर्म चेष्यति ॥ ६ ॥
देवार्चनगुरूपास्ति–साधुविश्रामणादिकम् ।
वितन्वतां सुगुप्ता च, तनुर्वितनुते शुभम् ॥ ७ ॥

मांसाशनसुरापान-जन्तुघातनचौरिकाः ।
पारदार्यादि कुर्वाण-मशुभं कुरुते वपुः ॥८॥
एतामाश्रवभावनामविरतं यो भावयेद्धावत-
स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुष्टाऽऽश्रवौघात्मनः ।
व्यावृत्याऽखिलदुःखदावजलदे निःशेषशर्मावली-
निर्माणप्रवणे शुभाश्रवगणे नित्यं रतिः पुष्यति ॥ १४ ॥
प्रव० ६७ द्वा० ।

अण्हाणग-अस्नानक-न० । शरीरमज्जनाकरणे, भ० १ श०१ उ० । औ० । स्था० ।

अत-अत्-पुं०। अत्ति भक्षते जगदिति सृष्टिसंहारकृत्वात् । अक्षपादसम्मते शिवे, उक्तं च-"अक्षपादमते देवः, सृष्टिसंहारकृच्छिवः । विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो, नित्यबुद्धिसमाश्रयः" ॥ १ ॥ "धियो यो नः प्रचोदयाऽत्" अतति सातत्येन गच्छति 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः' इति वचनात् अवगच्छतीति अत् सर्वज्ञः; धियो यो नः प्रचोदयाऽत्-इत्यत्र बौद्धैस्तथा व्याख्यानात् । जै० गा० । (परमेतादृक् शब्दः प्राकृते न प्रयोक्तव्यः)

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न तन्त्रं कारणं, तदधीना विवक्षा वा यस्य । कारणानधीने अनायत्ते, अने० वृत्ति० विव० ।

अतक्कणिज्ज-अतर्कणीय-त्रि० । अनभिलषणीये, बृ० १ उ० ।

अतक्किओवट्ठिय-अतर्कितोपस्थित-न० । अनभिसन्धिपूर्विकायामर्थप्राप्तौ यदृच्छायाम, यथा-काकतालीयम, अजाकृपाणीयम् , आतुरभेषजीयम , अन्धकण्टकीयमित्यादि । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातकम। काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥ १ ॥" भ० १ श० १० उ० ।

अतक्किओवहि-अतर्कितोपधि-पुं० । अतर्कणीये उपधौ, यमुपधिं न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति । व्य० ८ उ०।

अतज्जाय-अतज्जात-त्रि० । अतुल्यजातीये, आव० ४ अ० ।

अतज्जाया-अतज्जाता-स्त्री० । अतुल्यजातीये क्रियमाणायां परिष्ठापनिकायाम् , आव ४ अ० ।

अतड-अतट-पुं० । अदीर्घे तटे, "अतडुववातो सो चेव मग्गो"। बृ० १ उ० ।

अतणु-अतनु-त्रि० । न विद्यते तनुः शरीरं येषां तेऽतनवः । सिद्धेषु, प्रव० २१४ द्वा० ।

अतत्तवेइत्त-अतत्त्ववेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुतत्त्वमज्ञातुं शीलमस्य पुरुषविशेषस्य । अर्वाग्दर्शिनि, ध० १ अधि० ।

अतत्तवेइवाय-अतत्त्ववेदिवाद-पुं० । अतत्त्ववेदिनः साक्षादेव वस्तुतत्त्वमज्ञातुं शीलमस्य पुरुषविशेषस्यार्वाग्दर्शिन इत्यर्थः । वादो वस्तुप्रणयनमतत्त्ववेदिवादः । साक्षाददृष्टीक्रमाणेन हि प्रमात्रा प्रोक्ते वस्तुप्रणयनेनातत्त्ववेदिवादः सम्यग्वाद इति । ध० १ अधि० ।

अतत्तिय-अतात्त्विक-त्रि० । अवास्तवे तात्त्विकाभावे , द्वा० ११ द्वा० ।

अतचुचुक-पुं० । अणहिल्लपाटनदुर्गभञ्जके हरिवल्लीग्रामचैत्यकोटके चौलुक्यवंशीयभीमदेवनरेन्द्रसमकालीने तुरुष्कमल्लारे राज्ञि, ती० ४१ कल्प ।

अतर-अतर-पुं० । न तरीतुं शक्यते इत्यतरः। रत्नाकरे, बृ० १ उ०। सागरे, प्रव० १द्वा० । अतिमहत्त्वादुदधिवत्तरीतुमचिरात्पारं नेतुं न शक्यत इत्यतराणि। सागरोपमकालेषु, कर्म० ५ कर्म० । असमर्थे , नि० चू० १ उ० । ग्लाने , बृ० १ उ० ।

अतरंत-अतरत्-त्रि० । असहे , नि० चू० १ उ० ।व्य०। ग्लाने, ध० ३ अधि० ।

अतव-अतपस्-त्रि०। ६ ब०। तपसा विहीने, "अतवो न होति भोगो" बृ० ४ उ० । न० त० । तपसामभावे, उत्त० २३ अ० ।

अतसी-अतसी-स्त्री० । (अलसी-तीसी) क्षुमायाम् , ग० २ अधि०। अतसी वल्कलप्रधानो वनस्पतिः, यत्सूत्रं मालवादिदेशे प्रसिद्धम । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

अतह-अतथ-नञ्-तत्-कथ च । मिथ्याभूतेऽर्थे , सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतथ्य-न० । असदर्थाभिधायित्वे , "अणवज्जमतहं तेसिं , ण ते संवुडचारिणो" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अविद्यमाने , आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसद्भूते , आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतहणाण-अतथाज्ञान-न० । न विद्यते यथा वस्तु तथा ज्ञानं यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिजीवद्रव्ये, तस्य वितथज्ञानत्वात । नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिँस्तत्तथा । अज्ञातद्रव्ये वा, वक्रतयाऽवभासमाने एकान्तवाद्यभ्युपगते वा वस्तुनि, तथाहि-एकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु तैरभ्युपगतं,प्रतिभाति च तत् परिणामितयेति तदतथाज्ञानमिति । एष दशमो द्रव्यानुयोगः । स्था० १० ठा० । यथा प्रच्छनीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानो जानत्प्रश्न इत्यर्थः । एतद्विपरीतस्त्वतथाज्ञानः । अजानत्प्रश्ने, भ० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ ब० । तरीतुमशक्ये , नदीप्रवाहादौ यस्य हि तरणं नास्ति । "अत्थाहमतारमपोरिसीयं सीओदगम्मि अप्पाणं मुयंति" । ज्ञा० १४ अ० ।

अतारिम-अतारिम-त्रि० । अनतिलङ्घनीये, सूत्र० १ श्रु ३ अ० २ उ० ।

अतारि(लि)स-अतादृश-त्रि० । न० त० । अतत्सदृशे, "अतारिसे मुणी ओहंतरे" । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उत्त० ।

अतिउट्ट-अतिवृत्त-त्रि० । अतिक्रान्तो वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तमजानति,सूत्र०। "जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे,अविजाणओ डज्झइ, लुत्तपण्णो" उत्सन्नेऽश्रावतिवृत्तो वेदनाभिभूतत्वात् स्वकृतदुश्चरितमजानन् लुप्तप्रज्ञो गतप्रज्ञाविवेको दन्दह्यते । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिंतिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईषदत् किञ्चनाभाषिणि, दश० १ अ० । सकृत्किञ्चिदुक्ते, भूयोभूयोऽसूयया्ऽवक्तरि च । दश० १ अ० ।

अतिक्खतुंम-अतीक्ष्णतुण्ड-त्रि० । अनत्यन्तभेदकमुखे, प्रज्ञा० १६ विव० ।

अतिक्खवेयरणी–अतीक्ष्ण(नैक्ष्ण)(हक्ष्य)वैतरणी–स्त्री० । परमाधार्मिकविकुर्वितनरकनद्याम्, तं० ।

अतिट्ठपुरव–अदृष्टपूर्व–त्रि० । पूर्वमदृष्टमदृष्टपूर्वम्, पैशाच्यां तथारूपनिष्पत्तिः । प्रथममेव दृष्टे, "पासिं अतिट्ठपुरवं" । प्रा० ।

अतित्त–अतृप्त–त्रि० । न० त० । असन्तुष्टे, उत्त० "एवं अदत्ताणि समाययंतो, भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो" उत्त० १५ अ० । "अतित्ता कामाणं" । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अतित्तप्प–अतृप्तात्मन्–त्रि० । साभिलाषे, षो० ४ विव० ।

अतित्तलाभ–अतृप्तलाभ–पुं० । ६ त० । तर्पणं तृप्तं, तृप्तिरिति यावत् । तस्य लाभस्तृप्तलाभः, न तथाऽतृप्तलाभः सन्तोषाऽप्राप्तौ, उत्त० ३२ अ० ।

अतित्ति–अतृप्ति–स्त्री० । असन्तुष्टौ, उत्त० ३४ अ० । सा च द्वितीयं श्रद्धालक्षणम् ।

संप्रत्यतृप्तिस्वरूपं द्वितीयमभिधित्सुराह–

तित्तिं न चेव विंदइ, सद्धाजोगेण नाणचरणेसु ।
वेयावच्चतवाइसु, जहविरियं भावओ जयइ ॥ ६४ ॥

तृप्तिं संतोषं कृतकृत्योऽहमेतावतैवेत्येवं रूपं, (न वेवेति) चशब्दस्य पुरणत्वान्नैव विन्दति प्राप्नोति । श्रद्धाया योगेन संबन्धेन ज्ञानचरणयोर्विषये ज्ञाने पठितं यावता संयमानुष्ठानं निर्वहतीति संचिन्त्य न तद्विषये प्रमाद्यति, किं तर्हि नवनवश्रुतसंपदुपार्जने विशेषतः सोत्साहो भवति । तथा चोक्तम्–

"जह जह सुयमवगाहइ, अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं ।
तह तह पल्हाइ मुणी, नवनवसंवेगसद्धाए" ॥ १ ॥

तथा–

"अत्थो जस्स जिणुत्तमेहिँ भणिओ जायम्मि मोहक्खए,
बद्धं गोयममाइएहि सुमहाबुद्धीहि जं सुत्तओ ।
संवेगाइगुणाण वुड्ढिजणगं तित्थेसनामावहं,
कायव्वं विहिणा सया नवनवं नाणस्स संपज्जणं" ॥ १ ॥

तथा चारित्रविषये विशुद्धविशुद्धतरसंयमस्थानावाप्तये सद्भावनासारं सर्वमनुष्ठानमुपयुक्तमेवानुतिष्ठति, यस्मादप्रमादकृताः सर्वेऽपि साधुव्यापारा उत्तरोत्तरसंयमकण्डकारोहणेन केवलज्ञानलाभाय भवन्ति । तथा चागमः–

"जोगे जोगे जिणसा–सणम्मि दुक्खक्खया पउंजंते ।
इक्किक्कम्मि अणंता, वट्टंता केवली जाया" ॥ २ ॥

तथा वैयावृत्यतपसी प्रतीते, आदिशब्दात्प्रत्युपेक्षणाप्रमार्जनादिपरिग्रहः । तेषु यथा वीर्यं सामर्थ्यानुरूपं भावतः सद्भावसारं यतते प्रयत्नवान् भवति । ध० र० ।

अतित्तिलाभ–अतृप्तिलाभ–पुं० । ६ त० । तृप्तिप्राप्त्यभावे, "संभोगकाले य अतित्तिलाभे" उत्त० ३४ अ० ।

अतित्थ–अतीर्थ–अव्य० । तीर्थस्याऽभावोऽतीर्थम् । तीर्थस्यानुत्पादे, (अपान्तराले) व्यवच्छेदे च । प्रज्ञा० १ पद ।

अतित्थगरसिद्ध–अतीर्थकरसिद्ध–पुं० । न तीर्थकराः सन्तः सिद्धाः । सामान्यकेवलिषु सत्सु गौतमादिवत् सिद्धेषु, प्रज्ञा० १ पद । ल० । पा० । आ० । स्था० । नं० ।

अतित्थसिद्ध–अतीर्थसिद्ध–पुं० । तीर्थस्याभावोऽतीर्थम्, तीर्थस्याभावश्चानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन्नेव सिद्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः । नं० । तीर्थान्तरसिद्धेषु, आ० । तीर्थान्तरे साधुव्यवच्छेदे जातिस्मरणादिना प्राप्तापवर्गमार्गा मरुदेवीवत् सिद्धाः । स्था० १ ठा० १ उ० । नहि मरुदेव्यादिसिद्धिगमनकाले तीर्थमुत्पन्नमासीत् । नं० । ध० । तथा तीर्थस्य व्यवच्छेदश्चन्द्रप्रभस्वामिसुविधिस्वाम्यपान्तराले । तत्र ये जातिस्मरणादिनाऽपवर्गमवाप्य सिद्धास्ते तीर्थव्यवच्छेदसिद्धाः । प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

अतित्थावणा–अतिस्थापना–स्त्री० । उल्लङ्घनायाम्, पं० सं० ५ द्वा० ।

अतिदुक्ख–अतिदुःख–न० । अतिदुःसहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतिदुक्खधम्म–अतिदुःखधर्म–त्रि० । अतीव दुःखमशातावेदनीयं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न यत्र दुःखस्य विश्रामः । तादृशे नरकादिस्थाने, सूत्र० "सया य कलुणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिधुत्त–अतिधूत–त्रि० । अतीव धूतमष्टप्रकारं कर्म यस्य सोऽतिधूतः । प्रभूतकर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अतिधूर्त–त्रि० । बहुलकर्मणि, "अयं पुरिसे अतिधुत्ते अहयारक्खे" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अतिपास–अतिपार्श्व–पुं० । ऐरवते वर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते सप्तदशे तीर्थकरे, स० ८४ सम० ।

अतिप्पणया–अतेपनता–स्त्री० । स्वेदलालाश्रुजलक्षरणकारणपरिवर्जने, पा० । ध० ।

अतिमुच्छिय–अतिमूर्च्छित–त्रि० । अत्यन्तमूर्च्छितोऽतिमूर्च्छितः । विषयदोषदर्शनं प्रत्यभिमूढतामुपगते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अतिल्लिय–अतैल–न० । सर्वथा तैलांशरहिते, तं० ।

अतिवयंत–अतिव्रजत्–त्रि० । अतिशयेन व्रजति गच्छतीति, अति–व्रज्–शतृ । बाहुल्येन गच्छति, जी० ३ प्रति० ।

अतिविज्ज–अतिविद्य–पुं० । जातिवृद्धसुखदुःखदर्शनादतीव विद्या तत्त्वपरिच्छेत्री यस्यासावतिविद्यः । ज्ञातनिर्वेदे तत्त्वज्ञे, "तम्हाऽतिविज्जं परमंति णच्चा, आयंकदंसी ण करेइ पावं" । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतिविद्वस्–पुं० । विशिष्टप्राज्ञे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अतीरंगम–अतीरङ्गम–त्रि० । तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः (खच्प्रत्ययः) । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः । तीरं गन्तुमसमर्थेषु, आचा० ।

अतीरंगमा एए, णा य तीरंगमित्तए ।
अपारंगमा एए, णा य पारंगमित्तए ॥१॥

(अतीरंगमा इत्यादि) तीरं गच्छन्तीति तीरंगमाः, पूर्ववत् खच्प्रत्ययादिकम् । न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः (एते इति) तान् प्रत्यक्षभावमापन्नान् कुतीर्थिकादीन् दर्शयति । न च

ते तीरङ्गमनायोद्यता अपि तीरं गन्तुमक्षम, सर्वज्ञोपदिष्टसन्मार्गाभावादिति भावः। तथा (अपारंगमा इत्यादि)पारस्तटः, परकूलं, तद्गच्छन्तीति पारंगमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः।(एत इति)पूर्वोक्ताः, पारगतोपदेशाभावादपारंगता इति भावनीयम । न च ते पारगतोपदेशमृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमलम। अथवा गमनं गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वारोऽलाक्षणिकः। न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमनाय। असमर्थसमासोऽयम । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भवति। ततश्चानन्तमपि संसारं संसारान्तर्वर्तिन एवासते, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदेशविकलाः स्वरुचिविरचितशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमलम्। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अतुच्छभाव-अतुच्छभाव-त्रि० । अकार्पण्ये, पं० व० ४ द्वा०। उदाराशये , पञ्चा० ६ विव० ।

अतुरिय-अत्वरित-त्रि० । स्तिमिते , ध० ३ अधि० । उत्त०। विपा०। "अतुरियमचवलमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए"। अत्वरितया मानसौत्सुक्यरहितया। कल्प०। देहमनश्चापल्यरहितं यथाभवत्येवम । भ०११श०११ उ०।रा०।

अतुरियगइ-अत्वरितगति- त्रि० । मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिनि, बृ० १ उ० ।

अतुरियभासि [ए्]-अत्वरितभाषिन्-त्रि०। विवेकभाषिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अतुल-अतुल-त्रि० । तुलामतिक्रान्ते , संथा० । असाधारणे , स० ३० सम० । निरुपमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अत्त-आत्त-त्रि० । आ-दा-क्त । गृहीते , उत्त० १७ उ० । करतलपरिगृहीते , ज्ञा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात् आत्तो गृहीतः सूत्रार्थो यैस्ते आत्ताः । गीतार्थेषु , बृ० १ उ० । स्था०।

आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, उत्त०२९ अ० । जीवे, आचा०१ श्रु० ६ अ० १ उ० । पञ्चा० । स्वभावे, नं० ।

आप्त-त्रि०। आ अभिविधिना आयते दुःखात्संरक्षति सुखं चोत्पादयतीति आप्तः। दुःखत्रे सुखसाधके,"णेरइआणं भंते ! किं अत्ताचोग्गला अणत्तापोग्गला वा ?" भ०१४ श०९ उ०। स्था०।

आप्त-त्रि० । आप्ते, उत्त०१२ अ०। अतीव सुष्ठुपरिकर्मिते, सू० प्र०२० पाहु०। चं० प्र०। स्था० । आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा यस्याऽस्ति स आप्तः।अभ्रादित्वान्मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । स्था० । यथार्थदर्शनादिगुणयुक्ते पुरुषे, नं० । दशा० । रागादिविप्रमुक्ते, सूत्र०१ श्रु० ६ अ० । जी०। अप्रतारके , अप्रतारकश्च (प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञः) अशेषदोषक्षयाद् भवतीति। उक्तं च-"आगमोऽह्याप्तवचन-माप्तं दोषक्षयाद् विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् " ॥ १॥ दश० १ अ० । ज्य० ।

णाणमादीणि अत्ताणि, जेण अत्तो उ सो भवे ।
रागदोसप्पहीणो वा, जे व इट्ठा व सोधिए ॥ ५ ॥

ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्राणि येनाप्तानि स भवत्याप्तः । ज्ञानादिभिराप्यते स आप्त इति व्युत्पत्त्यन्तरम् । यो वा रागद्वेषप्रहीणः स आप्तः । यदि वा (इट्ठा) इष्टाः, शोधौ शोधिविषये आप्ताः ॥ ५ ॥ व्य० १० उ० ।

आप्तस्वरूपं प्ररूपयन्ति-

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

आप्यते प्राप्यते अर्थोऽस्मादित्याप्तः। यद्वा-आप्तिः रागादिदोषक्षयः, सा विद्यते यस्येत्यर्श आदित्वादचि आप्तः। जानन्नपि हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत्, तद्व्यवच्छित्तये यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्—" आगमो ह्याप्तवचन-माप्तं दोषक्षयं विदुः । क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् " ॥१॥ अभिधानं च ध्वनेः परम्परयाऽप्यत्र द्रष्टव्यम। तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अङ्कोपदर्शनमुखेन, करपल्लव्यादिचेष्टाविशेषवशेन वा शब्दस्मरणाद्यः परोक्षार्थविषयं विज्ञानं परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्तं भवति । स च स्मर्यमाणः शब्दः आगम इति ॥४॥

कस्मादमुष्यैवाप्तत्वमित्याहुः—

तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ॥ ५ ॥

यो हि यथावस्थिताभिधेयवादी परिज्ञानानुसारेण तदुपदेशकुशलश्च भवति, तस्यैव यस्माद्वचनं विसंवादशून्यं संजायते। मूढवञ्चकवचने विसंवादसंदर्शनात्। ततो यो यत्रावञ्चकः स तत्राप्त इति अयमर्थम्लेच्छसाधारणं वृद्धानामाप्तलक्षणमनूदितं भवति ॥ ५ ॥

आप्तभेदौ दर्शयन्ति-

स च द्वेधा-लौकिको, लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लोके सामान्यजनरूपे भवो लौकिकः। लोकादुत्तरः प्रधानमोक्षमार्गोपदेशकत्वाल्लोकोत्तरः ॥ ६ ॥

तावेव वदन्ति—

लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनन्यादिग्रहः । द्वितीयाऽऽदिशब्देन तु गणधरादिग्रहणम ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाच्यमाप्तः क्षीणसर्वदोषः, तथाविधं चाप्तत्वं कस्यापि नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते,अस्मदादिषु तदुच्छेदप्रकर्षापकर्षोपलम्भात्, सूर्याद्यावारकजलदपटलवत्।तथा चाहुः-"देशतो नाशिनो भावाः,दृष्टा निखिलनश्वराः।मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत्-एवं रागादयो मताः"॥१॥ इति।यस्य च निरवयवतयैते विलीनाः स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञः। अथानादित्वाद्रागादीनां कथं प्रक्षय इति चेत्? । न। उपायतस्तत्क्षयात्, अनादेरपि सुवर्णमलस्य क्षारमृत्पुटपाकादिना विलयोपलम्भात् ।तद्वदेवानादीनामपि रागादिदोषाणां प्रतिपक्षभूतरत्नत्रयाभ्यासेन विलयोपपत्तेः, क्षीणदोषस्य च केवलज्ञानाव्यभिचारात् सर्वज्ञत्वम।तत्सिद्धिस्तु-ज्ञानतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं,तारतम्यत्वात्, आकाशपरिमाणतारतम्यवत्। तथा-सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः, कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, क्षितिधरकन्धराधिकरणधूमध्वजवत्। एवं चन्द्रसूर्योपरागादिसूचकज्योतिर्ज्ञानाविसंवादान्यथाऽनुपपत्तिप्रभृतयोऽपि हेतवो वाच्याः। स्या०। सूत्र०। साधूनां शोधिविषये इष्टे प्रायश्चित्तदे, व्य०१० उ०। मोक्षे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । एकान्तहिते, त्रि० । भ० १४ श० ६ उ०।

आर्त्त–त्रि० । ग्लानीभूते, भ० ३५ श० १ उ० । दुःखार्त्ते, स्था० ७ ठा० । "कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहं सुपुढो जणा" पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि वा कर्मभिः कृष्यादिभिरार्तास्तत्कर्तुमसमर्थाः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अत्तउवणास–आत्मोपन्यास–पुं० । आत्मान एव उपन्यासो निवेदनं यस्मिंस्तदात्मोपन्यासम् । उदाहरणे, दोषे, उपन्यासभेदे च । दश० ।

इदानीमात्मोपन्यासद्वारं विवृण्वन्नाह–

अत्तउवन्नासम्मि य, तलागभेयम्मि पिंगलो थवई ।

आत्मन एवोपन्यासो निवेदनं यस्मिन् तदात्मोपन्यासम्, तत्र च तडागभेदे पिङ्गलः स्थपतिरुदाहरणमित्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकगम्यः । स चायम्–"इह एगस्स रन्नो तलागं सव्वरज्जस्स सारभूयं, तं च तलागं वरिसे वरिसे भरियं भिज्जइ । ताहे राया भणइ–को सो उवाओ होज्जा, जेण तं न भिज्जेज्जा ? । तत्थ एगो कविलओ मणुस्सो भणति–जदि नवरं महाराय ! अच्छिपिंगलो, कविलियाओ से दाढियाओ, सिरं से कविलियं, सो जीवंतो चेव जम्मि ठाणे भिज्जति तम्मि ठाणे णिक्खम्मति, तो णवरं ण भिज्जति । पच्छा कुमारामच्चेण भणियं–महाराय ! एसो चेव एरिसो, आरिसयं भणति, एरिसो नत्थि अन्नो । पच्छा सो तत्थेव मारेत्ता निक्खित्तो । एवं एरिसं णो भाणियव्वं जं अप्पवहाए भवइ" । इदं लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि सूचितम् । एकग्रहणेन तज्जातीयग्रहणात्तत्र चरणकरणानुयोगेनैवं ब्रूयाद् यदुत–"लोइयधम्माओ वि हु, जे पब्भट्ठा णराहमा ते उ । कह दव्वसोयरहिया, धम्मस्साराहया होंति" ॥ १ ॥ इत्यादि । द्रव्यानुयोगे पुनरेकेन्द्रिया जीवाः, व्यक्तोच्छ्वासनिःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावात्, घटवत्; इह ये जीवा न भवन्ति न तेषु व्यक्तोच्छ्वासनिःश्वासादिजीवलिङ्गसद्भावः, यथा घटे, न च तथैतेष्वसद्भाव इति तस्माज्जीवा एवैते इत्यत्रात्मनोऽपि तद्रूपापत्त्याऽऽत्मोपन्यासत्वं भावनीयमिति । उदाहरणदोषता चास्याऽऽत्मोपघातजनकत्वेन प्रकटार्थैवेति न भाव्यते । गतमात्मोपन्यासद्वारम् । दश० १ अ० ।

अत्तकड–आत्मकृत–त्रि० । आत्मार्थं कृते स्वगृहार्थमेव स्थापिते, सू० १ उ० ।

अत्तकम्म–आत्मकर्मन्–न० । ६ त० । स्वदुश्चरिते, "निक्खुग्गिगो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिँ दुम्मई" दश० ५ अ० २ उ० । आत्मा अष्टप्रकारकर्मणाऽऽयतकरणकारणामोदनादिभिर्लिप्यते तदात्मकर्म । दर्श० । यत्पाचकादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं, ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा, तदात्मनः सम्बन्धि क्रियतेऽनेनेत्यात्मकर्म । बृ० ४ उ० । आधाकर्मशब्दार्थे, पिं० । निक्षेपोऽस्य–तदेवमुक्तमात्मघ्नं नाम । सम्प्रत्यात्मकर्मनाम्नोऽवसरः । तदपि चात्मकर्म चतुर्द्धा । तद्यथा–नामात्मकर्म, स्थापनाऽऽत्मकर्म, द्रव्यात्मकर्म, भावात्मकर्म वा । इदं चाधाकर्मैव तावद्भावनीयम्, यावन्नोआगमतो भव्यशरीरं द्रव्यात्मकर्म ।

ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यात्मकर्म प्रतिपादयति–

दव्वम्मि अत्तकम्मं, जं जो उ ममायए भवे दव्वं ।

यः पुरुषो यद्वस्त्रादिकं द्रव्यं ममायते–ममेति प्रतिपद्यते । तन्ममेति प्रतिपादनं, तस्य पुरुषस्य (दव्वम्मि अत्तकम्मं ति) ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । द्रव्ये द्रव्यविषये, आत्मकर्म भवति । आत्मसंबन्धित्वेन कर्मकरणमात्मकर्म, इति व्युत्पत्त्याऽऽत्माश्रयणात् । भावात्मकर्म च द्विधा । तद्यथा–आगमतः, नोआगमतश्च । तत्रागमत आत्मकर्मशब्दार्थज्ञाता चोपयुक्तः । नो आगमतः पुनराह–

भावे असुहपरिणओ, परकम्म अत्तणो कुणइ ।

अशुभपरिणतोऽशुभेन प्रस्तावादाधाकर्मग्रहणरूपेण भावेन परिणतः परस्य पाचकादेः संबन्धि यत्कर्म पचनपाचनादिजनितं ज्ञानावरणीयादि, तदात्मनः संबन्धि करोति । तच्च परसंबन्धिनः कर्मण आत्मीयत्वेन करणं, भावे भावत आत्मकर्म, नो आगमतो भावात्मकर्मेत्यर्थः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यात्मसंबन्धित्वेन कर्मकरणं भावात्मकर्मेति व्युत्पत्तेः ।

एतदेव सार्द्धया गाथया भावयति–

आहाकम्मपरिणओ, फासुयमवि संकिलिट्ठपरिणामो ।
आययमाणो वज्झइ, तं जाणसु अत्तकम्मे त्ति ॥ १ ॥
परकम्म अत्तकम्मा, करेइ तं जो गिण्हिउं भुंजे ॥

प्रासुकमचेतनमक्षुण्णमेतदेषणीयं च स्वरूपेण भक्तादिकम् । आस्तामाधाकर्मेत्यपिशब्दार्थः । संक्लिष्टपरिणामः सन्नाधाकर्मग्रहणपरिणतः सन्नादत्ते गृह्णन् यथाऽहमतिशयेन व्याख्यानलब्धिमान्, मद्गुणाश्चासाधारणविद्वत्तादिरूपाः, सूर्यस्य भावनमिव कुत्र कुत्र न वा प्रसरमधिरोहन्ति ? । ततो मद्गुणावर्जित एव सर्वोऽपि लोकः पक्त्वा पाचयित्वा च मह्यमिष्टमिदमोदनादिकं प्रयच्छतीत्यादि, स इत्थमाददानः साक्षादारम्भकर्तेव ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते । ततस्तज्ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनमात्मकर्म जानीहि । इयमत्र भावना–आधाकर्म, यद्वा–स्वरूपेण अनाधाकर्मापि भक्तिवशतो मदर्थमेतन्निष्पादितमित्याधाकर्मग्रहणपरिणतो यदा गृह्णाति तदा स साक्षादारम्भकर्तेव स्वपरिणामविशेषतो ज्ञानावरणीयादिकर्मणा बध्यते, यदि पुनर्न गृह्णीयात्तर्हि न बध्येत । तत आधाकर्मग्राहिणा यत्परस्य पाचकादेः कर्म तदाऽऽत्मनोऽपि क्रियत इति परकर्म आत्मकर्म करोतीति बध्यते । एतदेव स्पष्टं व्यनक्ति–(परकम्मेत्यादि) तत आधाकर्म यदा साधुर्गृहीत्वा भुङ्क्ते स परस्परं पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्म करोति, आत्मनोऽपि संबन्धि करोतीति भावार्थः ।

अमुं च भावार्थमस्य वाक्यस्याजानानः परो जातसंशयः प्रश्नयति–

तत्थ भवे परकिरिया, कहं तु अन्नत्थ संकमइ ।

तत्र परकर्म आत्मकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये भवेत् परस्य वक्तव्यम् । यथा–कथं परक्रिया परस्य सत्कं ज्ञानावरणीयादि कर्म, अन्यत्र आधाकर्मभोजके साधौ संक्रामतीति भावः । न खलु जातुचिदपि परकृतं कर्म अन्यत्र संक्रामति । यदि पुनरन्यत्रापि संक्रमेत्तर्हि क्षपकश्रेणिमधिरूढः कृपापरीतचेताः सकलजगज्जन्तुकर्मनिर्मूलनापादनसमर्थः सर्वेषामपि जन्तूनां कर्म ज्ञानात्मनि संक्रमय्य क्षपयेत् । तथा च सति सर्वेषामेककालं मुक्तिरूपं जायेत ? । न जायते, तस्मान्नैव परकृतकर्मणामन्यत्र संक्रमः । उक्तं च–क्षपकश्रेणिपरिगतः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म क्षपयित्वा भवेत् कृपापरीतात्मको यदि कर्मसंक्रमः स्यात्परकृतस्य । परकृतकर्मणि यस्मा-

आक्रामति संक्रमो विनाशो वा, तस्मात् सत्त्वानां कर्म्म यस्य संपन्नं तेन तद्बध्यते । तत्कथमुच्यते परकर्म्म आत्मकर्मीकरोतीति ?, इदं च वाक्यं पूर्वान्तर्गतम् । अन्यथाऽपि केचित्परमार्थमजानाना व्याख्यानयन्ति । ततस्तन्मतमपाकर्तुमुपन्यस्यन्नाह-

कूमउवमाएँ केई, परप्पउत्ते वि बिंति बंधो त्ति ।

केचित् स्वयूथ्या एव प्रवचनरहस्यमजानानाः कूटोपमायाः कूटदृष्टान्तेन, ब्रुवते-परप्रयुक्तेऽपि परेण पाचकादिना निष्पादितेऽप्योदनादौ साधोस्तद्ग्राहकस्य भवति बन्धः । एतदुक्तं भवति-यथा व्याधेन कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो, न व्याधस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धः, न पाककर्तुः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणीयादि संभवति, तदाधाकर्म्मग्राहि । स्वस्यैव संबन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतदसदुक्तम् । जिनवचनविरुद्धत्वात् । तथाहि- परस्यापि साक्षादारम्भकर्तृत्वेन नियमतः कर्म्मबन्धसंभवस्ततः कथमुच्यते तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धो, न पाककर्तुः ?। न च मृगस्यापि परप्रयुक्तिमात्राद्बन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्; एवं साधोरपि ।

तथा चैतदेव निर्युक्तिकृदाह-

भणइ य गुरू पमत्तो, वज्झइ कूडे अदक्खो य ।
एमेव भावकूमे, वज्झइ जो असुभभावपरिणामो ॥१॥
तम्हा उ असुभभावो, वज्जेयव्वो.................. ।

भणति प्रतिपादयति, चः पुनरर्थे । पुनरर्थश्चायम्-एके केचन सम्यग् गुरुचरणपर्युपासनाविकलतया यथाऽवस्थितं तत्त्वमवेदितारोऽनन्तरोक्तं ब्रुवते-गुरुः पुनर्भगवान् श्रीयशोभद्रसूरिरेवमाह । एतेनैतदावेदयति-जिनवचनमवितथं, जिज्ञासुना नियमतः प्रज्ञावताऽपि सम्यग्गुरुचरणकमलपर्युपासनमास्थेयम्, अन्यथा प्रज्ञाया अवैतथ्यानुपपत्तेः । तदुक्तं च-"तत्तदुत्प्रेक्ष्यमाणानां, पुराणैरागमैर्विना । अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति" ॥१॥ गुरुवचनमेव दर्शयति-मृगोऽपि खलु कूटैः स बध्यते यः प्रमत्तोऽदक्षश्च भवति । यस्त्वप्रमत्तो दक्षश्च स कदाचनापि न बध्यते । तथाहि-अप्रमत्तो मृगः प्रथमत एव कूटदेशं परिहरति । अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटदेशमपि प्राप्तो भवति तथाऽपि यावन्नाद्यापि बन्धः पतति, तावद्दक्षतया झगिति तद्विषयादपसर्पति । यस्तु प्रमत्तो दक्षताराहितश्च, स बध्यत एव । तस्मान् मृगोऽपि बध्यते । परमार्थतः स्वप्रमादक्रियावशतो, न परप्रयुक्तिमात्रात् । (एवमेव) अनेनैव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण (भावकूटे) संयमरूपभावबन्धनाय कूटमिव कूटमाधाकर्म्म, तत्र स बध्यते, ज्ञानावरणीयादिकर्मणा युज्यते, योऽशुभभावपरिणाम आहारमापद्यते, आधाकर्मग्रहणात्मकाशुभभावपरिणामो, न शेषः । न खल्वाधाकर्माणि कृतेऽपि यो न तद् गृह्णाति, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणीयाऽऽदिना पापेन बध्यते । नहि कूटे स्थापिते यो मृगस्तद्देश एव नायाति, आयातोऽपि यत्नतस्तद्देशं परिहरति; स कूटे बन्धमाप्नोति । तत्र परयुक्तिमात्राद् बन्धो येन परोक्तनीत्या परकृतकर्मण आत्मकर्मीकरणमुपपद्यते, किन्त्वशुभाध्यवसायभावतः । तस्मादशुभो भाव आधाकर्म्मग्रहणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः । परकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये भावार्थः प्रागेव दर्शितः । यथा-परस्य पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्मीकरोति, किमुक्तं भवति ?-तदात्मन्यपि कर्म करोतीति, ततो न कश्चिद्दोषः । परकर्मण आत्मकर्मीकरणमाधाकर्मणो ग्रहणे भोजने वा सति भवति यथा, तत उपचारादाधाकर्म्म आत्मकर्मेत्युच्यते । ननु तदाऽऽधाकर्म्म, यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति, कृतं वाऽनुमोदते, तदा भवेद् दोषः । यदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, नाप्यनुमोदते, तदा कस्तस्य ग्रहणे दोष इति ?।

अत्राह-

कामं सयं न कुव्वइ, जाणंतो पुण तहा वि तग्गाही ।
वड्ढेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १ ॥

कामं सम्मतमेतत्, यद्यपि स्वयं न करोत्याधाकर्म्म; उपलक्षणमेतत्, न वारयति, तथापि मदर्थमेतन्निष्पादितमिति जानानो यदि आधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्ग्राही तत्प्रसंगम्-आधाकर्मग्रहणप्रसङ्गं वर्द्धयति । तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म्म जानानो गृह्णाति, तदाऽन्येषां साधूनां दायकानां च एवंबुद्धिरुपजायते-नाधाकर्म्मभोजने कश्चनापि दोषः; कथमन्यथा स साधुर्जानानोऽपि गृहीतवान् ? इति । तत एवं तेषां बुद्ध्युत्पादे संतत्या साधूनामाधाकर्म्मभोजने दीर्घकालं षड्जीवनिकायविघातः, स परमार्थतस्तेन प्रवर्त्यते । यस्तु न गृह्णाति स तथाभूतप्रसङ्गवृद्धिं निवारयति; प्रवृत्तेरेवाभावात् । तथा चाह-(अगिण्हमाणो उ वारेइ) ततोऽतिप्रसङ्गदोषभयात्कृतकारितदोषरहितमपि नाधाकर्म्म भुञ्जीत । अन्यच्च तदाधाकर्म्म जानानोऽपि भुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते । अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषिद्धमनुमोदनमिति विद्वत्प्रवादात् । तत आधाकर्मभोजने नियमतोऽनुमोदनदोषोऽनिवारितप्रसरः । अपि च-एवमाधाकर्म्मभोजने कदाचिन्मनोज्ञाहारभोजनभिन्नदृष्टतया स्वयमपि पचेत् पाचयेद्वा । तस्मान्न सर्वथा आधाकर्म्म भोक्तव्यमिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्मेति नाम ॥ पिं० । नि० चू० ।

अत्तग-आत्मग-त्रि० । आत्मनि गच्छतीति आत्मगः । आन्तरे, "भिक्खा ण अत्तगं सोयं " सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अत्तगवेसण-आर्त्तगवेषण-न० । द्रव्याद्यापत्सु, आर्त्तस्य, उपलक्षणमेतत् । अनार्त्तस्य वा, गवेषणं दुर्लभद्रव्यसंपादनादिरूपमार्त्तगवेषणम् । औपचारिकविनयभेदे, व्य० १ उ० ।

अत्तगवेसणया-आर्त्तगवेषणता--स्त्री० । आर्त्तं ग्लानीभूतं गवेषयति भैषज्यादिना योऽसावार्त्तगवेषणः । तद्भाव आर्त्तगवेषणता । भ० २५ श० ७ उ० । आर्त्तस्य दुःखार्त्तस्य गवेषणमौषधादेरित्यार्त्तगवेषणम्; तदेवार्त्तगवेषणतेति । पीडितस्योपकार इत्यर्थः । स्था०७ ठा० ।

आत्म (प्त) गवेषणता-स्त्री० । आत्मना, आप्तेन वा भूत्वा गवेषणं सुस्थदुःस्थतयोरन्वेषणं कार्य्यमिति । लोकोपचारविनयभेदे, स्था० ७ ठा० । औ० ।

साम्प्रतमार्त्तगवेषणरूपविनयप्रतिपादनार्थमाह—

दव्वावइमाईसुं, अत्तमणत्ते गवेसणं कुणइ ।

द्रव्यापदि दुर्लभद्रव्यसंपत्तौ च । तथा च भवति केषुचिद् देशेष्ववन्त्यादिषु दुर्लभं घृतादिद्रव्यमिति । आदिशब्दात् क्षेत्रापदादिपरिग्रहः । तत्र क्षेत्रापदि कान्तारादिपतने, कालापदि दुर्भिक्षे, भावापदि गाढग्लानत्वे । आर्त्तस्य पीडितस्य अत्यन्तमसहिष्णुतया, अनार्त्तस्य वा यथाशक्ति यद् गवेषणं करोति दुर्लभद्रव्यादिसंपादयति, स आर्त्तगवेषणविनयः । व्य० १ उ० ।

अत्तगवेसय–आत्मगवेषक–पुं० । आत्मानं चारित्रात्मानं गवेषयतीति आत्मगवेषकः। कथमयं मम स्यादिति संयमजीवमार्गयितरि, " तिगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खेऽत्तगवेसए । एवं खु तस्स सामण्णं, जन्न कुज्जा न कारवे " ॥१॥ उत्त० २ अ० ।

नो ताहिं विहन्नेज्जा, चरेज्जऽत्तगवेसए ।

आत्मानं गवेषयेत् , कथं मयाऽऽत्मा भवान्निस्तारणीय इत्यन्वेषयते । " आत्मगवेषकसिद्धिः स्वरूपावाप्तिः " इति वचनात् । सिद्धिर्वाऽऽत्मा । ततः कथं ममाऽसौ स्यादित्यन्वेषक आत्मगवेषकः। यद्वा आत्मानमेव गवेषयन् इत्यात्मगवेषकः । किमुक्तं भवति?-चित्रालङ्कारशालिनीरपि स्त्रियोऽवलोक्य तद्दृष्टिन्यासस्य दुष्टताऽवगमात् झटिति ताभ्यो दृगुपसंहारत आत्मान्वेष्टैव भवति । उत्त० २ अ० ।

अत्तगामि (ण्)–आप्त (त्म) गामिन्–पुं० । आप्तं(मोक्षं) गच्छति तच्छीलः । मोक्षगमनशीले आत्महितगामिनि, सर्वज्ञोपदिष्टमार्गगामिनि वा मुनौ, " मुसं न बूया मुणि अत्तगामी " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अत्तगुण–आत्मगुण–पुं० । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारेषु जीवगुणेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अत्तचिंतअ–आत्मचिन्तक–पुं०। आत्मानमेव चिन्तयतीति । परकार्यमनपेक्ष्यैवात्मानं चिन्तयति गणधारणायोग्ये, व्य० ।

अब्भुज्जयमेगयरं, पडिवज्जिस्सं ति अत्तचिंतो उ ।
जो वि गणे वि वसंतो, न वहति तत्ती तु अन्नेसिं ॥१॥

य आत्मानमेव केवलं चिन्तयन्मन्यते–यथाऽहमभ्युद्यतं जिनकल्पं यथा लन्दकल्पानामेकतरं प्रतिपत्स्ये इति आत्मचिन्तकः । योऽपि गणेऽपि गच्छेऽपि,वसन् तिष्ठन्,न वहति न करोति, तृप्तिमन्येषां साधूनां सोऽप्यात्मचिन्तकः । एतौ द्वावप्यात्मचिन्तकावनर्हौ । व्य० ३ उ० ।

अत्तछट्ठ–आत्मषष्ठ–पुं० । आत्मा षष्ठ इति । पञ्चानां भूतानामात्मा षष्ठः प्रतिपाद्यत इत्ययं पञ्चमे सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमोद्देशकस्य अर्थाधिकार, सूत्र० ।

सांप्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह–

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिं आहिया ।
आयछट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

(संतीत्यादि) सन्ति विद्यन्ते,पञ्च महाभूतानि पृथिव्यादीनि, इहास्मिन्संसारे,एकेषां वेदवादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणां च,एतदाख्यातम्।आख्यातानि च भूतानि ते च वादिन एवमाहुरेवमाख्यातवन्तः-यथा आत्मषष्ठानि आत्मा षष्ठो येषां तानि आत्मषष्ठानि,भूतानि,विद्यन्त इति । एतानि चात्मषष्ठानि भूतानि यथाऽन्येषां वादिनामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति–आत्मा,लोकश्च पृथिव्यादिरूपः शाश्वतोऽविनाशी । तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वम्, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेरविनश्वरत्वमिति ॥ १५ ॥

शाश्वतत्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह—

दुहओ ण विणस्संति, नो य उप्पज्जए असं ।
सव्वे वि सव्वहा भावा, नियतीभावमागया ॥ १६ ॥

(दुहओ ण विणस्संतीत्यादि) ते आत्मषष्ठाः पृथिव्यादयः पदार्थाः(उभयत इति)निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः । तथा च ते ऊचुः—" जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च? " ॥ १ ॥ तथा च वैशेषिकाणां लकुटादिकारणसान्निध्ये विनाशः सहेतुकः । तेनोभयरूपेणापि विनाशेन लोकात्मनोर्न विनाश इति तात्पर्यार्थः । यदि वा (दुहउ त्ति)द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यतीति । तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि रूपापरित्यागतया नित्यानि ; न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्वा आत्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः । तथा चोक्तम्—
" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽय–मविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्थाणु–रचलोऽयं सनातनः" ॥ २ ॥ एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावात् । असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः । यदि वा असदुत्पद्येत, खरविषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति । तथा चोक्तम्-"असदकरणादुपादा-नग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् ।शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम्" ॥१॥ एवं च कृत्वा मृत्पिण्डेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात् । यदि वा असदुत्पद्येत, ततो यतः कुतश्चिदेव स्यान्नावश्यमेतदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानमेव क्रियेत, इत्यतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । एवं च कृत्वा सर्वेऽपि भावाः पृथिव्यादय आत्मषष्ठा नियतिभावं नित्यत्वमागताः, नाभावरूपताम् । अभूत्वा च भावरूपतां प्रतिपद्यन्ते । आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति । तथा चाभिहितम्–" नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः " । इत्यादि । अस्योत्तरं निर्युक्तिकृदाह–" को वेए " इत्यादि प्राक्तन्येव गाथा । सर्वपदार्थनित्यत्वाभ्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो न स्यात्,ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाभावः।तदभावाच्च को वेदयति, न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः । एवं च सति कृतनाशः स्यात् । तथा असतश्चोत्पादाभावे येयं मया आत्मनः पूर्वभावपरित्यागेनापरभावोत्पत्तिलक्षणा पञ्चधा गतिरुच्यते,सा न स्यात् । ततश्च मोक्षगतेरभावाद्दीक्षादिक्रियाऽनुष्ठानमनर्थकमापद्यते । तथाऽप्रच्युताऽनुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन त्वात्मनो देवमनुष्यगत्यागती, तथा विस्मृतेरभावाद् जातिस्मरणादिकं वा न प्राप्नोति । यच्चोक्तम्-सदेवोत्पद्यते । तदप्यसत् । यतो यदि सर्वथा सदेव,कथमुत्पादः?।उत्पादश्चेत्,तर्हि सर्वदाऽसदिति।तथा चोक्तम्-'कर्मगुणव्यपदेशाः, प्रागुत्पत्तेर्न सन्ति यत्तस्मात् । कार्यमसद्विज्ञेयं, क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम्' । १ । तस्मात्सर्वपदार्थानां कथंचिन्नित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यम् । तथा चाभिहितम्–
"सर्वव्यक्तिषु नियतं, क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । सत्योश्चित्यपचित्यो–राकृतिजातिव्यवस्थानात्" ॥१॥इति । तथा–
"नान्वयः स हि भेदत्वा-न्न भेदोऽन्वयवृत्तितः । मृद्भेदद्वयसंसर्ग-वृत्तिजात्यन्तरं घटः" ॥१॥ सूत्र० १ श्रु०१ अ० १ उ० ।

अत्तट्ठ–आत्मस्थ–त्रि० । आत्मनि तिष्ठतीति आत्मस्थः । जीवस्थे,"आत्मस्थं त्रैलोक्य-प्रकाशकं निष्क्रियं परानन्त्यम्। तीतादिपरिच्छेदक–मलं ध्रुवं चेति समयज्ञाः" ॥१॥ षो० १५ विव० ।

आत्मार्थ–त्रि० । आत्मभोगार्थे स्वभोगार्थे, भ० २ अधि० । आत्मनोऽर्थः आत्मार्थः । मर्थ्यमानतया स्वर्गादौ, आत्मैवार्थ आत्मार्थः । आत्मव्यतिरिक्ते, मोक्षे च । उत्त० । " इह कामनियत्तस्स, अत्तट्ठे नाऽवरज्झइ " उत्त० ८ अ० । हा० ।

अत्तट्ठकरणजुत्त–आत्मार्थकरणयुक्त–त्रि० । आत्महितार्थकरणयुक्ते, पं० चू० ।

अत्तट्ठगुरु–आत्मार्थगुरु–त्रि० । आत्मनः स्वस्य अर्थः प्रयोजनं गुरुर्यस्य स आत्मार्थगुरुः । उत्त० ३२ अ० । आत्मार्थ एव जघन्यो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः । दश० १ अ० । स्वप्रयोजननिष्ठे, " चितेहिं ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलट्ठे " उत्त० ३२ अ० ।

अत्तट्ठचिंतग–आत्मार्थचिन्तक–पुं० । आत्मन एव केवलस्यार्थे भक्तादिलक्षणं चिन्तयति, न बालादीनाम्, तथाकल्पसामाचार्यादित्यात्मार्थचिन्तकः । यद्वा-आत्मार्थो नाम अतीचारमलिनस्यात्मनो यथोक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं विशोधनमित्यर्थः । चिन्तयतीत्यात्मार्थचिन्तकः । परिहारतपः प्रतिपन्नत्वेनाऽऽत्मार्थमात्रचिन्तके, व्य १ उ० ।

अत्तट्ठिय–आत्मार्थिक–त्रि० । आत्मार्थे भवमात्मार्थिकम् । आत्मनोऽर्थ आत्मार्थस्तस्मिन् भवमात्मार्थिकम् । आत्मन एवार्थे, "जं घक्खमं भोयण माहणाणं, अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं " ॥ ब्राह्मणानामात्मनोऽर्थं आत्मार्थस्तस्मिन् भवमात्मार्थिकम्, ब्राह्मणैरप्यात्मनैव भोज्यम्, नचाऽन्यस्मै देयम् । उत्त० १२ अ० ।

अत्तता–आत्मता–स्त्री० । आत्मनो भाव आत्मता । जीवास्तितायाम्, स्वकृतकर्मपरिणतौ च । " इह खलु अत्तताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण संभूता " आचा०१ श्रु० ६ अ०१ उ० ।

अत्तत्ताण–आत्मत्राण–न० । ६ त० । आत्मरक्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अत्तत्तासंवुड–आत्मात्मसंवृत–त्रि० । आत्मन्यात्मना संवृतस्य प्रतिसंलीने, ज० २ श० २ उ० ।

अत्तदुक्कडकारि(ण्)–आत्मदुष्कृतकारिन्–त्रि० । स्वपापविधायिनि, "संपराइय णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अत्तदोस–आत्मदोष–पुं० । ६ त० । आत्मापराधे, स्था० ८ ठा० ।

अत्तदोसोवसंहार–आत्मदोषोपसंहार–पुं० । ६ त० । स्वकीयदोषस्य निरोधलक्षणे एकविंशे योगसंग्रहे, स० ३२ सम० ।

अत्रोदाहरणम्–

वारवइ अरिहमित्ते, अणुद्धरी चेव तह य जिणदेवे ।
रोगस्स य उप्पत्ती, पडिसेहो अप्पसंहारे ॥१॥

द्वारवत्यां महापुर्या-मर्हन्मित्रो वणिग्वरः ।
अनुद्धरी प्रिया तस्य, जिनदेवश्च तत्सुतः ॥ १ ॥
रोगस्तस्यान्यदोत्पन्नः, शक्यते न चिकित्सितुम् ।
आहुर्वैद्या रुजोऽमुष्य, निवृत्तिर्मांसभक्षणात् ॥ २ ॥
स्वजनाः पितरौ चाथ, सर्वे प्रेम्णा भणन्ति तम् ।
सोऽवदत नैव भोक्ष्येऽहं, सुचिरं रक्षितं व्रतम् ॥३॥
मृत्युं स्वीकृत्य सावद्यं, प्रत्याचख्यौ विचक्षणः ।
शुभेनाध्यवसायेन, स्वात्मदोषोपसंहृतेः ॥४॥
अवाप्य केवलज्ञानं, सिद्धिसौधं जगाम सः ।
आ० क० । आव० । आ० चू० ।

अत्तपण्णहट्ट(ण्)–आत्म(प्त)प्रज्ञाहन्–पुं० । आप्तां सिद्धान्तादिश्रवणतो गृहीतामाप्तां वा इहलोकपरलोकयोः सद्बोधरूपतया हितां प्रज्ञामात्मनोऽन्येषां वा कुयुक्तिकुतर्कव्याकुलीकरणतो हन्ति यः स आप्तप्रज्ञाहा, आत्मप्रज्ञाहा वा । स्वस्य परेषां च तत्त्वबुद्धिहन्तरि पापश्रमणे, उत्त० १७ अ० ।

अत्तपण्णेसि(ण्)–आत्मप्रज्ञान्वेषिन्–पुं० । आत्मनः प्रज्ञा ज्ञानमात्मप्रज्ञा, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेषी । आत्मज्ञानाऽन्वेषिणि आत्महितान्वेषिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

आप्तप्रज्ञान्वेषिन्–पुं० । आप्तो रागादिदोषविप्रमुक्तः, तस्य प्रज्ञा केवलज्ञानाख्या, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आप्तप्रज्ञान्वेषी । सर्वज्ञोक्तान्वेषिणि, " वीराजे अत्तपण्णेसी, धितिमंता जिइंदिआ " । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अत्तपण्हहट्ट(ण्)–आत्मप्रश्नहन्–पुं० । आत्मनि प्रश्न आत्मप्रश्नस्तं हन्त्यात्मप्रश्नहा । केनचित्कृतस्य प्रश्नस्य वञ्चके पापश्रमणे, यथा-यदि कश्चित्परः पृच्छेत्, किं भवान्तरयायी अयमात्मा, उत नेति ? । ततस्तमेव प्रश्नमतिवाचालतया हन्ति, यथा-नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपलभ्यत्वात्; ततोऽयुक्तोऽयं प्रश्नः; सति हि धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्त इति । उत्त० १७ अ० ।

अत्तपसण्णलेस्स–आत्मप्रसन्नलेश्य–त्रि० । आत्मनो जीवस्य प्रसन्ना मनागप्यकलुषा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यम् । उत्त० १२ अ० ।

आप्तप्रसन्नलेश्य–त्रि० । आप्ता प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्ना लेश्योक्तरूपा यस्मिंस्तदाप्तप्रसन्नलेश्यम् । आत्मनिर्मलत्वकारणेन तेजःपद्मशुक्लादिलेश्यात्रयेण सहिते, " धम्मे हरए बंभे, संति तित्थे अणाविले । अत्तप्पसण्णलेस्से," उत्त० १२ अ० ।

अत्तजाव–आत्मजाव–पुं० । स्वाभिप्राये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अत्तमइ–आर्त्तमति–त्रि० । आर्त्ते आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्तमतयः । आर्त्तध्यानोपयुक्तेषु, आतु० ।

अत्तमाण–आवर्त्तमान–त्रि० । आ-वृत्-शानच् । " यावत्तावज्जीविताऽऽवर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः " ॥८।१।२७१॥ इति वस्य लुक् । संयोगादित्वाद् ह्रस्वः । अभ्यस्यमाने, प्रा० ।

अत्तमुक्ख–आप्तमुख्य–पुं० । आप्तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गताप्रधानत्वेन मुख्ये " शाखादेर्यः " ॥ ७।१।११४ ॥ इति [हैमसूत्रेण] तुल्ये यः प्रत्ययः । आप्तप्रधाने केवलज्ञानिनि, तं० ।

अत्तय–आत्मज–पुं०-स्त्री० । आत्मनः पितृशरीराज्जात इत्यात्मजः । अङ्गजे पुत्रे, तादृश्यां पुत्र्यां च । यथा भरतस्याऽऽदित्ययशाः । स्था० १० ठा० । ज्ञा० । विपा० ।

अत्तलद्धिय–आत्मलब्धिक–पुं० । यः आत्मन एव सत्का लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्याऽऽसावात्मलब्धिकः । स्वलब्धिके, पंचा० १२ विव० ।

अत्तव–आर्त्तव–त्रि० । ऋतुरस्य प्राप्तः, अण् । ऋतुभवे पुष्पादौ, " आर्त्तवान्युपभुञ्जाना, पुष्पाणि च फलानि च " रजसि च, वाच० । नि० चू० । (अस्य व्याख्या 'गब्भ' शब्दे वक्ष्यते)

अत्तवयणणिद्देस–आप्तवचननिर्देश–पुं० । आप्तस्य अप्रतार-

कस्य वचनमाप्तवचनं, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः । सर्वे-ज्ञोक्तागमे, "धम्मो मंगलमुक्किट्ठं ति पइण्णा अत्तवयणनिद्देसो"। दश० १ अ० ।

अत्त (त्प) संजोग-आत्मसंयोग-पुं० । आत्मनः संयोगे औ-पशमिकादिभिर्भावैर्जीवस्य सम्बन्धरूपे संयोगभेदे, उत्त० १ अ० । ("संजोग" शब्दे चैष विशेषतो दर्शयिष्यते)

अत्तसंपरिग्गहिय-आत्मसंपरिगृहीत-त्रि० । आत्मैव संप्र-गृहीतः- सम्यक् प्रकर्षेण गृहीतो येनाऽऽदं विनीतः सुसाधुरित्ये-वमादिना स तथा । आत्मोत्कर्षप्रधाने, दश० ६ अ० ४ उ० ।

अत्तसक्खिय-आत्मसाक्षिक-त्रि० । आत्मा एव साक्षिको यस्येति आत्मसाक्षिकः । स्वसाक्षिके, " आत्मसाक्षिकसद्ध-र्मे-सिद्धौ किं लोकयात्रया ? । " अष्ट० २३ अष्ट० ।

अत्तसम-आत्मसम-त्रि० । आत्मतुल्ये, दश० १० अ० ।

अत्तसमाहि-आत्मसमाधि-पुं० । ६ त० । स्वपक्षसिद्धौ, मा-ध्यस्थवचनादिना पराऽनुपघाते च । सूत्र० १ श्रु०३ अ० ३ अ० ।

अत्तसमाहिय-आत्मसमाधिक-पुं० । चित्तस्वास्थ्यवति, सू-त्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

आत्मसमाहित-त्रि० । आत्मना समाहित आत्मसमाहितः । ज्ञा-नदर्शनचारित्रोपयोगे सदापियुक्ते, आचा०१ श्रु० ४ अ० ३ उ० । आत्मा समाहितोऽस्येत्यात्मसमाहितः । आहिताग्न्यादिदर्श-नादार्षत्वाद् वा निष्ठान्तस्य परनिपातः । यद्वा-प्राकृते पूर्वोत्त-रनिपातोऽतन्त्रः । समाहितात्मेत्यर्थः । शुभव्यापारवति, आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अत्तसुन्न-आप्तशून्य-त्रि० । आप्तो वीतरागस्तस्य वाक्यं सिद्धान्तस्तेन शून्यं वर्जितमाप्तशून्यमिति मध्यपदलोपी समा-सः । आप्तवाक्येन शून्यमाप्तशून्यं स्वमत्या असंभावितं विर-चय्य लोके ग्रन्थगौरवाद्दर्शिते, (देवसेन एतत्प्रपञ्चनमचीकरत्) द्रव्या० ६ अध्या० ।

अत्त (आय) हिय-आत्महित-न० । ६ त० । आत्मोपका-रके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । विशे० । आत्महितं दुःखेनाऽसुमता संसारे पर्यटताऽकृतधर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति । त-थाहि—" न पुनरिदमतिदुर्लभ-मगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतक—तडिल्लताविलसितप्रतिमम् " ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अत्ता-देशी-जनन्याम्, पितृष्वसरि, श्वश्र्वाम्, वयस्यायां च । दे०ना० १ वर्ग ।

अत्तागम-आत्मागम-पुं० । अपौरुषेये आगमे, " वयणेण का-यजोगा, भावेण य सो अणादिसुरूस्स । गहणम्मि य नो हेऊ, सत्थं अत्तागमो कहं णु " ॥१॥ उत्त० २ अ० ।

अत्ताण-अत्राण-त्रि० । ६ ब० स० । अनर्थप्रतिघातकवर्जिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । शरणविरहिते, आ० म० द्वि० । स्कन्धन्यस्तलगुडद्वितीये देशान्तरे गच्छति, कार्पटिके च । बृ० ।
विरुद्धराज्येऽयं विहरणविधिः—

अत्ताण चोर भेया, वग्गुर सोनिय पलाइणो रहिका ।
पडिचरगा य सहाया, गमणागमणम्मि नायव्वा ॥

(अत्ताण त्ति) संयता आत्मनैव चौरादिसहायविरहिता ग-च्छन्ति । एष चूर्ण्यभिप्रायः । निशीथचूर्ण्यभिप्रायस्तु-(अत्ता-ण त्ति) अत्राणो नाम स्कन्धन्यस्तलगुडद्वितीया ये देशान्तरं गच्छन्ति, कार्पटिका वा । बृ० १ उ० । आत्मशब्दस्य तृतीयैक-वचनेऽपि 'अत्ताण त्ति' रूपं भवति । " अत्ताण अणिग्गहिया करेंति " आत्मना अनिगृहीता, अनिगृहीतात्मन इत्यर्थः । प्र-श्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अत्ताहिट्ठिअ-आत्माधिक-त्रि० । आत्मलब्धिके, ध० ३अधि० ।

अत्ति-आप्ति-स्त्री० । उपलब्धौ, द्वा० १० द्वा० । रागद्वेषमोहा-नामैकान्तिके आत्यन्तिके च क्षये, स्या० ।

अत्तिज्ज [य]-आत्रेय-पुं० । अत्रिवंश्ये ऋषौ, " जीर्णे भो-जनमात्रेयः " आ० क० । (' संखेव ' शब्दे कथा द्रष्टव्या)

अत्तीकरण-आत्मीकरण-न० । अनात्मन आत्मत्वेन करणं आ-त्मीकरणम् । आत्मसात् करणे, पिं० । स्ववशीकरणे, नि०चू० । तच्च राजादीनां संयतैर्न करणीयम् । तदुक्तम्-

जे भिक्खू रायं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ । नि०चू० ।

अत्तीकरणं रण्णो, साभाविय कइतवं च णायव्वं ।
पुव्वावरसंबद्धं, पच्चक्ख परोक्खमेक्केक्कं ॥ २ ॥

तं पुण अत्तीकरणं दुविधं-साभाविय, कइतवियं च । साभा-वियं संतं सब्भं चेतसो, तस्स सयणिज्जउ, केतवं पुण अलियं । ते पुणो एक्केक्कं दुविधं-पुव्वं संबुता वा (अवरमिति) पच्छा संवृतं । पुणो दुविधं-पच्चक्खं, परोक्खं च । पच्चक्खं सयमेव करेति, परोक्खं अण्णेण कारवेति । अहवा राज्ञः समक्षं प्रत्यक्षम्, अ-न्यथा परोक्षं भवति । संते पच्चक्खपरोक्खे इमं भण्णति-

रायमरणम्मि कुलघर-गताएँ जातो मि अवहियाए वा ।
निव्वासियपुत्तोवमि, असुगच्छगएण जातो वा ॥३॥

रायाणं मते देवी आवण्णसत्ता कुलघरं गया, तहिं से अहं पुत्तो, जहा-खुड्डगकुमारो । अवधेयाए य जहा-पउमावतीए करकंडू-कोईयरायपुत्तो णिच्छूढो । अपणत्थ गतेणं तेणाहं जातो, जहा-अभयकुमारो । असुगच्छगएण रण्णा अहं जातो, यथा-वसुदे-वेण जरकुमारो, उत्तरमहुरवणिएण वा अण्णं णियपुत्तो संतं प-रकरणं कहं संभवति ।

दुल्लभपवेसलज्जा-लुगो व एमेवऽमच्चमादीहिं ।
पच्चक्खपरोक्खं वा, करेज्ज वा संथवं को वि ॥ ४ ॥

तत्थ रायकुले दुल्लभो पवेसो, लज्जालुओ वा, सो साधू अप्प-णो असत्तो, अत्तीकरणं काओ, ताहे अमच्चमादीहिं कारवेति, एमेव गहणाओ असत्तं संवज्झति । एते चेव कुलघरादिकारणा जहासज्झाणंतो पच्चक्खं परोक्खं संथवं करेज्ज, अमच्चमा-दीहिं वा कारवेज्ज ।

एत्तो एगतरेणं, अत्तीकरणं तु संतऽसंतेणं ।
अत्तीकरोति रायं, लहुगा वा आणमादीणि ॥ ५ ॥

संते पच्चक्खे परोक्खे वा मासलहुं, असंते पच्चक्खे परो-क्खे वा चउलहुं, आणादिणो य दोसा, अणुलोमे पडिलोमे वा उवसग्गे करेज्ज ।

राया रायसुही वा, रायामित्ता अमित्तसुहिणो वा ।

भिक्खुस्स व संबंधी, संबंधिसुही व तं सोज्जा ॥ ६ ॥
सयमेव राया राज्ञः सुहृदः, ते पुनः स्वजना मित्राणि वा;राज्ञो अमित्राः;ते स्वजना दायादाः,अस्वजनाः केनचित्कारणेन निरुद्धाः । अमित्ताण वा जे सुहिणो, साधुस्स वा जे संबंधिणो, ताण वा संबंधीण जे सुही, तत् सोच्चा दुविहे उवसग्गे करेज्ज।
संजमविग्घकरे वा, सरीरवाहाकरे व भिक्खुस्स ।
अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गो ॥ ७ ॥
संजमविग्घकरे वा उवसग्गे सरीरवाहाकारके वा करेज्ज,जे संजमविग्घकरा ते अणुकूला इतरे पडिकूला। एते दुविहे उवसग्गे करेज्ज ॥७॥
तत्थिमे अणुकूला–
साइज्जसु रज्जसिरिं, जुवरायत्तं व गेण्हसु व भोगे ।
इति राय तस्सुहीसु वि, इच्चेज्जितरे व तं घेत्तुं ॥८॥
राया भणति-रज्जसिरिं साइज्जसु, अयं ते पयच्छामि जुवरायत्तं, विसिट्ठे वा भोगे गेण्हसु । इति उपप्रदर्शने । राया एव । तस्य सुहृदः,तेऽप्येवमेवाहुः।(इतरे त्ति)जे रण्णो पडिणीया,पडिणीयाण वा जे सुहिणो, ते तं उप्पव्वावेउ घेत्तुं वि उत्थाणं करेज्जा, उड्डमरं करेंतीत्यर्थः ॥ ८ ॥
सुहिणो व तस्स विरिय–परक्कमे णाउ साहते रण्णो ।
तो सेही एस णिवं, अम्हे तु ण सुट्ठु पगणेइ ॥ ९ ॥
जे पुण भिक्खू, ते तस्स साहुस्स विरियबलपरिक्कमा णाउं उप्पव्वावेंति, साहेंति वा, रण्णो सो तं उप्पव्वावेइ, ते पुण किं उप्पव्वावेंति, एस रायाणं तो सेहिति त्ति। अम्हे राया ण सुट्ठु पगणेइ ॥ ९ ॥
इमे सरीरवाहाकरा पडिकूला उवसग्गा–
ओभासिउ धिम्मुं–मिएण कुज्जा व रज्जविग्घं मे ।
एमेव सुहि दरिसिते, णियप्पदोसेतरे मारे ॥ १० ॥
राया भणति-अहो! इमेण समणेण महाजणमज्झे ओभासिओ धिग् मुण्डितेन दुरात्मना य एवं भाषते, अहवा एष भोगाभिलाषी मम परिसं भिंदिउं रज्जविग्घं करेज्ज, तं सो राया हणेज्ज वा,बंधेज्ज वा,मारेज्ज वा, रण्णो जे सुही,तेहिं आणेओ रण्णो दरिसिते, राया तहेव पडिकूलं उवसग्गं करेज्ज । इतरे णाम जे रण्णो अमित्ता,अमित्तसुहिणो वा, ते रण्णो पडिणीयताए तं मारेज्ज,भिक्खुस्स णीया वा पडिलोमे उवसग्गे करेज्ज ॥ १० ॥
उद्धंसिणमो लोगं-मि भागहारी व होहि वा माणे ।
इति दायिगादिणीता, करेज्ज पमिलोमणुवसग्गे ॥ ११ ॥
उद्धंसिय त्ति ओभासिया-अम्हे एतेण लोगे मज्झे ओभासिआ वा एस अम्हं भागहारी होहि त्ति, मा वा अम्हं अधिकतरो एत्थ रायकुले होहि त्ति,दुव्वयणयाए बंधाइएहिं उत्तावेंति वा, जम्हा एते दोसा तम्हा ण कप्पति रण्णो अत्तीकरणं काउं, कारणे पुण कप्पति ॥११॥
गेलण्ण रायदुट्ठे, अवरज्जविरुद्धरोहगऽद्धाणे ।
ओमुब्भावण सासण–णिक्खमणुवदेसकज्जेसु ॥१२॥
गिलाणस्स वेज्जेण उवदिट्ठं-हंसतेल्लं कल्लाणयं तित्तगं,महातित्तगं वा, कलमसालिओयणो वा, ताणि परं रण्णो हवेज्ज, ताहे जयणाए अत्तीकरणं करेंति ॥१२॥

इमा जयणा–
पणगादिमतिक्कंतो, परोक्खं ताहे संतऽसंतेणं ।
एमेव य पच्चक्खं, जावे णायं तु चउयजुओ ॥१३॥
पणगपरिहाणीए जाहे मासलहुं पत्तो ताहे संतं परोक्खं रण्णो य भावो जाणियव्वो, प्रियाप्रियेति, जो य रयणउज्जुत्तो यो दर्शनीयः तेजस्वी वा स अत्तीकरणं करेति, रायदुट्ठे वा उवसमणट्ठा वेरज्जे वा आत्मसंरक्षणार्थे विरुद्धरज्जे या संकमणट्ठा रोहगे वा णिग्गमणट्ठा अवमंता वा भत्तट्ठा रण्णो वा सद्धिं अद्धाणं गच्छंता बहुसु उप्पत्तिएसु कारणेसु एवमेव अप्पुव्वंती जत्तट्ठा, वादकाले वा पवयणउब्भावणट्ठा, पडिणीयस्स वा सासणट्ठा अत्तीकतो वा जो णिक्खमेज्ज,तवट्ठा धम्मं वा पडिवज्जिउकामस्स धम्मोवदेसदाणट्ठा कुलगणादिकज्जेसु वा अणेगेसु ।
एतेहिं कारणेहिं, अत्तीकरणं तु होति कायव्वं ।
रायारक्खियनागर–णेगम सव्वे वि एस गमो ॥
एतेहिं उत्तकारणेहिं वा रण्णो अत्तीकरणं करेज्ज,रायाणं जो रक्खति सो रायरक्खिओ-राजशरीररक्षकः । तत्थ वि सो चेव णगरं रक्खति जो सो णगररक्खिओ-कोट्टपालओ। सव्वपगईओ जो रक्खति सो णियमारक्खिओ–सो सेट्ठी । देसो विसओ, तं जो रक्खति सो देसारक्खिओ-चोरोद्धरणिकः । एताणि सव्वाणि जो रक्खति सो सव्वारक्खिओ । एतेषु सर्वकार्येष्वापृच्छनीयः स च, महाबलाधिकृतयेत्यर्थः । एतेसिं पंचण्हं सुत्ताणं इमं पच्छद्धं अइदेसं करेति, रायारक्खियणागरणेगमे सव्वे । अपिशब्दाद्देशारक्षिको द्रष्टव्यः । एतेसु वि एसेव उवसग्गाऽववायगमो दट्ठव्वो। नि० चू० ४ उ० ।
सूत्रपाठस्त्वेवम्–
जे भिक्खू रायरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू णगररक्खियं वा अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू णिगमरक्खियं वा अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू गामरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू देसरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू सीमरक्खियं अत्तीकरेइ, अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥१४॥ जे भिक्खू रण्णो रक्खियं अत्तीकरेइ,अत्तीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ नि० चू० ४ उ० ।

अत्तुक्करिस–आत्मोत्कर्ष–पुं० । पञ्चमे गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । अहमेव सिद्धान्तार्थवेदी नापरः कश्चिन्मत्तुल्योऽस्तीत्येवंरूपेऽभिमाने, "ण करेति दुक्खमोक्खं, उज्जममाणो वि संजमतवेसु । तम्हा अत्तुक्करिसो, वज्जेयव्वो जतिज्जणेणं "॥१॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अत्तुक्कोसिय–आत्मोत्कर्षिक–पुं० । आत्मोत्कर्षोऽस्ति येषां ते आत्मोत्कर्षिकाः । गर्वप्रधानेषु वानप्रस्थेषु, औ० ।

अत्तोवणीय–आत्मोपनीत–न० । आत्मैवोपनीतस्तथा निवेदितो नियोजितो यस्मिंस्तत्तथा । परमतदूषणायोपात्ते सति आत्म-

मतस्यैव दूषणयोपनायके ज्ञाते, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तथाहि-कथमिदं तडागमभेद्यं भविष्यतीति राज्ञा पृष्टः । पिङ्गलाभिधानः स्थपतिरवोचत्-नेदस्थाने कपिलादिगुणे पुरुषे निखाते सतीति। अमात्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वान्निखात इति। तेन आत्मैव नियुक्तः स्ववचनदोषात्। तदेवंविध आत्मोपनीतमिति। अत्रोदाहरणं यथा-" सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः " इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय कश्चिदाह-अन्यधर्मस्थिता हन्तव्या विष्णुनेव दानवाः । इत्येवंवादिनामात्मा हन्तव्यतयोपनीतो धर्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति, तद्वोक्ता तु मर्त्यानैवास्येति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अत्थ-अर्थ-पुं० । अर्थनमर्थः । अदृष्टेऽपि बलयादौ श्रुत्वा तदभिप्रायमात्रे, दश० १ अ० । विद्यापूर्वं धनार्जने, आ० म० द्वि० । अर्यतेऽधिगम्यतेऽर्थ्यते वा याच्यते बुभुत्सुभिरित्यर्थः। व्याख्याने, "जो सुत्ताभिप्पाओ,सो अत्थो अज्जए य जम्हा त्ति"।स्था०२ ठा० १ उ० । विशे० । औ० । "अत्थस्स इमे अणुओगो त्ति वा निओगो त्ति वा भासति वा विभासति वा वत्तियंति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० । अर्थस्त्रिविधः-सुखाधिगमः,दुरधिगमः, अनधिगमश्च श्रोतारं प्रति भिद्यते । तत्र सुखाधिगमो यथा-चक्षुष्मतश्चित्रकर्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः। दुरधिगमस्तु-अनिपुणस्य । अनधिगमस्तु-अन्धस्य । तत्रानधिगमरूपोऽवस्त्वेव । सुखाधिगमस्तु-विचिकित्साविषय एव न भवति । दुरधिगमस्तु-देशकालस्वभावविप्रकृष्टविचिकित्सागोचरीभवति । आचा० १ श्रु० ५ अ०५ उ०। ऋ-गतौ, अर्यते गम्यते, ज्ञायत इत्यर्थः। विशे०। सूत्राभिधेये, उत्त०१ अ०। प्रव०। नि० चू०। आ० म० प्र० । पं० व०। दशा०। नं०। ज्ञानाचारविषयभेदे यथार्थं पदार्थः करणीयः, नत्वर्थभेदः। दश०१ अ०। ("णाणायार" शब्दे विशेषो वक्ष्यते)पं० व०। नि० चू०। सूत्रतात्पर्ये, ध०४ अधि०। अर्थ्यते प्रार्थ्यत इत्यर्थः। स्वर्गापवर्गप्राप्तिकारणभूते, उत्त०१८ अ०। द्रव्ये, आव०४ अ०। मणिकनकादौ, कल्प० । शब्दादिविषयभावेन परिणते द्रव्यसमूहे, विशे० । राजलक्ष्म्यादौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । आचू० । "स्यानचतुर्थार्थे वा" ॥८। २। ३३॥ इति संयुक्तस्यार्थभागस्य थत्वं प्रयोजने एव भवति । धने तु 'अत्थो'। प्रा०। अर्यते गम्यते, साध्यत इत्यर्थः । सूत्रस्याभिप्राये, "जो सुत्ताभिप्पाओ, सो अत्थो अज्जए जम्हा" विशे०। आ० म० प्र०। सूत्र०। ध०। आचा०।

अधुना त्वर्थावसरस्तद्भेदमाह-

(धम्मो एसुवइट्ठो,) अत्थस्स चउव्विहो उ निक्खेवो ।
ओहेण छव्विहऽत्थो, चउसट्ठिविहो विभागेण ॥१५॥

अर्थस्य चतुर्विधस्तु निक्षेपो नामादिभेदात् । तत्रौघेन सामान्यतः षड्विधोऽर्थः । आगमनोआगमव्यतिरिक्तो द्रव्यार्थः चतुःषष्टिविधो विभागेन विशेषेणेति गाथासमुदायार्थः।

अवयवार्थं त्वाह—

धन्नाणि रयण थावर-दुपय चउप्पय तहेव कुविअं च ।
ओहेण छव्विहऽत्थो, एसो धीरेहिँ पन्नत्तो ॥ १६ ॥

धान्यानि यवादीनि, रत्नं सुवर्णम्, स्थावरं भूमिगृहादि, द्विपदं गन्त्र्यादि, चतुष्पदं गवादि, तथैव कुप्यं च ताम्रकलशाद्यनेकविधम् । ओघेन षड्विधोऽर्थः, एषोऽनन्तरोदितः, धीरैस्तीर्थकरगणधरैः, प्रज्ञप्तः प्ररूपित इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

एनमेव विभागतोऽभिधित्सुराह—

चउवीसा चउवीसा, तिग दुग दसहा अणेगविह एव ।
सव्वेसिं पि इमेसिं, विभागमहयं पवक्खामि ॥ १७ ॥

(चतुर्विंशतिचतुर्विंशतीति) चतुर्विंशतिविधो धान्यार्थो, रत्नार्थश्च (त्रिद्विदशधेति) त्रिविधः स्थावरार्थः, द्विविधो द्विपदार्थः, दशविधश्चतुष्पदार्थः । अनेकविध एवाऽनेकविधः कुप्यार्थः। सर्वेषामप्यमीषां चतुर्विंशतिचतुर्विंशत्यादिसंख्याभिहितानां धान्यादीनां विभागं विशेषम्, अथानन्तरं प्रवक्ष्यामीत्यर्थः ॥ १७ ॥ दश० ६ अ० । (धान्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने दर्शयिष्यते) " अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखकारणम् " ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा०३ उ०। 'धिग्द्रव्यं दुःखवर्द्धनम्'। दश०१ अ०। 'धिगर्थोऽनर्थभाजनम्' इति वा पाठान्तरम् । ध० ३ अधि० ।

इदानीमर्थ इति तृतीयं भेदं प्रकटयितुराह—

सयलाणत्थनिमित्तं,आयासकिलेसकारणमसारं ।
नाऊण धणं धीमं नहु लुब्भइ तम्मि तणुयम्मि ॥६३॥

इह धनं ज्ञात्वा तत्र न लुभ्यतीति योगः। किं विशिष्टं धनम्?-सकलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिबन्धनम् । आयासश्चित्तखेदः।

यथा—

"राजा रोत्स्यति किं नु मे हुतवहो दग्धा किमेतद्धनं,
किं वाऽमी प्रतविष्णवः कृतनिभं लास्यन्त्यदो गोत्रिकाः ।
मोषिष्यन्ति च दस्यवः किमु तथा नंष्टा निखातं भुवि,
ध्यायन्नेवमहर्दिवं धनयुतोऽप्यास्तेतरां दुःखितः" ॥ १ ॥

तथा क्लेशः शारीरपरिश्रमस्तयोः कारणं निबन्धनम् । तथाहि-

"अर्थार्थं नक्रचक्राकुलजलनिलयं केचिदुच्चैस्तरन्ति,
प्रोद्यच्छस्त्राभिघातोत्थितशिखिकणकं जन्यमन्ये विशन्ति ।
शीतोष्णाम्भःसमीरग्लपिततनुलताः केचिकां कुर्वतेऽन्ये,
शिल्पं चानल्पभेदं विदधति च परे नाटकाद्यं च केचित्" ॥२॥

तथा असारं, सारफलासंपादात् । यदाह-

"व्याधीन्नो निरुणद्धि मृत्युजननज्यानि-क्षये न क्षमं,
नेष्टाऽनिष्टवियोगयोगहृतिकृत्कृत्यह न च प्रेत्य च ।
चिन्ताबन्धुविरोधबन्धनवधत्रासाऽऽस्पदं प्रायशो,
वित्तं वित्तविचक्षणः क्षणमपि क्षेमावहं नेक्षते " ॥ ३ ॥

इत्थं भूतं धनं ज्ञात्वा,न लुभ्यति नैव गृध्यति,धीमान् बुद्धिमान्, तस्मिन् द्रव्ये,चारुदत्तवत् तनुकमपि स्तोकमपि आस्तां बहिरित्यपेरर्थः । भावश्रावको हि नान्यायेन तदुपार्जनाय प्रवर्त्तते, नाप्युपार्जिते तृष्णावान् भवति, किं तर्हि-

"आयादर्द्धं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं ततः ।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् " ॥ १ ॥

इति विमृशन् यथायोगं तत्सप्तक्षेत्र्यां व्ययतीति । ध० र० । अर्थ्यते परिच्छिद्यते इति अर्थः । पदार्थे,"सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाऽर्थो,मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः" । स्या० । अर्थ्यत इत्यर्थः । द्रव्ये, गुणे च, "अत्थो दव्वे गुणे वा वि" उत्त०१अ०। पुरुषार्थभेदे,यतो हि सर्वप्रयोजनसिद्धिः। ध०१ अधि०। प्रयोजने, "स्यानचतुर्थार्थे वा"॥८।२।३॥ इति [हैमसूत्रेण]ठत्वमार्षे कदाचिन्न भवति । "अणुग्गहत्थं सुविहियाणं" इत्यत्र प्रयोजनार्थकत्वेनैवाऽर्थशब्दस्य व्याख्यानात् । ओघ०। आव०। ध० । "अत्थो त्ति वा हेउ त्ति वा कारण त्ति वा एगट्ठ" नि०चू०२०उ०।

साम्प्रतं धर्मादीनामेव संपन्नतासंपन्नते अभिधित्सुराह-

धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता ।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा ॥२९॥

धर्मोऽर्थः कामः, त्रय एते पिण्डता युगपत्संपातेन प्रतिसपत्नाः परस्परविरोधिनः, लोके कुमतवचनेषु च । यथोक्तम्-"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियासु" ॥ १ ॥ इत्यादि। एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो जिनप्रवचनमवतीर्णाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण धर्मादितत्त्वस्वरूपतो वा निश्चयेन असपत्नाः परस्परविरोधिनो न भवन्ति, ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

तत्र व्यवहारेणाविरोधमाह-

जिणवयणम्मि परिणए, अवत्थविहिआणुठाणओ धम्मो ।
सच्छाऽऽसयप्पयोगा, अत्थो वीसंभओ कामो ॥ ३० ॥

जिनवचने यथावत् परिणते सति अवस्थोचितविहितानुष्ठानात् स्वयोग्यतामपेक्ष्य दर्शनादिश्रावकप्रतिमाङ्गीकरणे निरतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽशयप्रयोगाद्विशिष्टलोकतः पुण्यबलाच्चार्थः विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकरणताऽपेक्षो विश्रम्भेण काम इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह-

धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणाबाहं ।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मऽत्थकाम त्ति ॥ ३१ ॥

धर्मस्य निरतिचारस्य, फलं मोक्षो निर्वाणम्, किं विशिष्टम्? इत्याह-शाश्वतं नित्यम्, अतुलमनन्यतुलम्, शिवं पवित्रम्, अनाबाधं बाधावर्जितमेतदेवार्थः। तं धर्मार्थं मोक्षमभिप्रेताः कामयन्तः साधवो यस्मात्तस्माद्धर्मार्थकामा इति गाथार्थः ॥३१॥

एतदेव दृढयन्नाह-

परलोगमुत्तिमग्गो, नत्थि हु मोक्खो त्ति बिंति अविहिन्नू ।
सो अत्थि अवितहो जिण-मयम्मि पवरो न अन्नत्थ॥ ३२॥

परलोको जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचारित्राणि नास्त्येव मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षण इत्येवं ब्रुवते अविधिज्ञा न्यायमार्गाप्रवेदिनः । अत्रोत्तरम्-स परलोकादिः अस्त्येवावितथः सत्यो, जिनमते वीतरागवचने प्रवरः पूर्वापराविरोधेन; नान्यत्रैकान्तानित्यादौ, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त--पुं०। मेरौ, यतस्तेनान्तरितो रविरस्तंगत इति व्यपदिश्यते। स०३८ सम०। निरस्ते अविद्यमाने, त्रि०। ज्ञा०१३ अ०।

अस्त्र--न० । अस्यते क्षिप्यते । अस्-ष्ट्रन् । क्षेप्ये शरादौ, वाच० । धनुरादिषु, ध० २ अधि० । रिपुक्षेपणमात्रे साधने, प्रहरणमात्रे खड्गादावपि, वाच० ।

अत्थअवगम-अर्थावगम-पुं०। ६ त०। अर्थपरिच्छेदे, दश०१अ०।

अत्थंगय-अस्तंगत-त्रि० । अस्तपर्वतं प्राप्ते, दश० ८ अ० ।

अत्थंतर-अर्थान्तर-न० । वस्त्वन्तरे, पो० १६ विव०। पृथग्भूते, दर्श०। गामश्वमभिदधतोऽसत्यभेदे, ध० ३ अधि०। न्यायमते उद्देश्यसिद्ध्यर्थं प्रयुक्तशब्दसामर्थ्यादनुद्देश्यसिद्ध्यनुकूले दुष्टसाधनवाक्ये, वाच० ।

अत्थंतरुब्भावणा-अर्थान्तरोद्भावना-स्त्री० । अलीकवचनभेदे, यथेश्वरादिः कर्ता समस्तस्यास्य जगतः क्रोधादिकषायाऽऽध्मातचेतसः प्रच्छन्नपापस्य । दर्श० ।

अत्थकंखिय-अर्थकाङ्क्षित-त्रि० । काङ्क्षा गृद्धिः, आसक्तिरित्यर्थः। अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा अर्थकाङ्क्षा, सा संजाता अस्येति अर्थकाङ्क्षितः । भ० १ श० ७ उ० । प्राप्तेऽप्यर्थे अविच्छिन्नेच्छे, भ० १२ श० ६ उ० ।

अत्थकप्पिय अर्थकल्पिक-पुं० । आवश्यकादिश्रुतमधीतवति, बृ०

अर्थकल्पिकमाह—

अत्थस्स कप्पिओ खलु, आवस्सगमादि जाव सूयगमं ।
मोत्तूणं छेयसुयं, जेण अहीयं तदत्थस्स ॥

आवश्यकमादिं कृत्वा यावत् सूत्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येनाधीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति। सूत्रकृताङ्गस्योपर्यपि छेदश्रुतं मुक्त्वा यद् येनाधीतं सूत्रं स तस्य सूत्रस्य समस्तस्याप्यर्थस्य कल्पिको भवति । छेदसूत्राणि पुनः पठितान्यपि यावदपरिणतं, तावन्न श्राव्यते, यदा तु परिणतं भवति तदा कल्पिकः ॥ ७ ॥ बृ० १ उ० ।

अत्थकय-अर्थकृत्-स्त्री० । अर्थार्थे, " आसणदानं च अत्थकए" दश० ६ अ० ।

अत्थकर-अर्थकर-पुं० । अर्थस्य करस्तत्करणशीलोऽर्थकरः । प्रशस्तविचित्रकर्मक्षयोपशमाविर्भावतो विद्यापूर्वं धनार्जनकरणशीले, आ० म० द्वि० ।

अत्थकहा-अर्थकथा-स्त्री० । अर्थस्य कथा लक्ष्म्या उपायप्रतिपादनपरे वाक्यप्रबन्धात्मके कथाभेदे, उक्तं च-" सामादिधातुवादादि-कृष्यादिप्रतिपादिका। अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थस्य प्रकीर्तिता" ॥ १ ॥ तथा-" अर्थाख्यः पुरुषार्थोऽयं, प्रधानः प्रतिभासते। तृणादपि लघुं लोके, धिगर्थरहितं नरम्" ॥१॥ इति एतदेव विस्तरत उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह—

विज्जासिप्पमुवाओ, अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं ।
सामं दंडो भेओ, उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥ १९५ ॥

विद्या शिल्पमुपायोऽनिर्वेदः संचयश्च दक्षत्वं साम दण्डो भेद उपप्रदानं चार्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः। तच्चेदम्—" विज्जं पडुच्चऽत्थकहा; जो विज्जाए अत्थं उवज्जयति; जहा-एगेण विज्जा साहिया, सा तस्स पंचयं पइप्पभायं देइ । अहा वा-सच्चइस्स विज्जाहरचक्कवट्टिस्स विज्जापभावेण भोगा उवणया। सच्चइस्स उप्पत्ती जहा य सङ्कुले वत्थितो, जहा य महेसरो नामं कयं। एवं निरवसेसं जहाऽऽवस्सए जोगसंगहेसु, तहा भाणियव्वं । विज्ज त्ति गयं ॥ इयाणिं सिप्पे त्ति। सिप्पेणऽत्थो उवज्जिणइ त्ति । एत्थ उदाहरणं कोक्कासो जहाऽऽवस्सए । सिप्पे त्ति गयं ॥ इयाणिं उवाए त्ति । एत्थ दिट्ठंतो चाणक्को । जहा-चाणक्केण बहुविहेहिं अत्थो उवज्जिओ। कहं?, दो मउधाउरत्ताओ। एयं पि अक्खाणयं जहाऽऽवस्सए तहा भाणियव्वं। उवाए त्ति गयं ॥ इयाणिं अणिव्वेए संचए य एक्कमेव उदाहरणं-मम्मणवाणिओ । सो वि जहाऽऽवस्सए, तहा भाणियव्वो" (अग्रेतनं तु 'दक्ख' शब्दे वक्ष्यते) दश० ३ अ० । विद्यादिभिरर्थैस्तत्प्रधाना कथा अर्थकथा । सदसद्रूपात्मकं वस्तुस्वरूपमिति पदार्थसंबन्धिन्यां वार्तायाम्, स्था० ॥

अत्थकामय-अर्थकाम-त्रि० । अर्थे द्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं यस्याऽसावर्थकामः । द्रव्यस्य वाञ्छके, भ० १ श० ७ उ० ।

अत्थकिरिया-अर्थक्रिया-स्त्री० । सुखदुःखोपभोगे, स्या० ।

अत्थकिरियाकारि [ण्]-अर्थक्रियाकारिन्-त्रि० । अर्थक्रियाकरणशीले, आ० म० द्वि० ॥

अत्थकुसल—अर्थकुशल—पुं० अर्थोपार्जनं हस्तलाघवादिपरित्यागेन कुर्वति, दश० ५ अ० । ध० र० ।

सम्प्रत्यर्थकुशल इति द्वितीयं भेदं व्याचिख्यासुर्गाथापूर्वार्द्धस्य द्वितीयं पादमाह–

……………………,सुणइ तयत्थं तहा सुतित्थम्मि ।

शृणोत्याकर्णयति, तदर्थं सूत्रार्थं, तथा तेनैव प्रकारेण स्वहृमिकौचित्यरूपेण, सुतीर्थे सुगुरुमूले । यत आह–

"तित्थे सुत्तत्थाणं, गहणं विहिणा उ इत्थ तित्थमिणं ।
उभयन्नू चेव गुरू, विहिओ विणयाइ ओचित्तो" ॥१॥ इत्यादि ।

अत्रायमाशयः-ऋषिभद्रपुत्रवत् संविग्नगीतार्थगुरुसमीपश्रवणसमुत्पन्नप्रवचनार्थकौशलेन भावश्रावकेण भाव्यमिति ।

ऋषिभद्रपुत्रकथा चैवम्–

"इत्थेव जंबुदीवे, भारहवासस्स मज्झिमे खंडे ।
अत्थि पुरी आलभिया, न कया वि अरीहिं आलभिया ॥१॥
सुगुरुप्पसायउल्लसिय-विमलबहुवयणअत्थकोसल्लो ।
इसिभद्दपुत्तनामो, सड्ढो तत्थासि सुवियड्ढो ॥ २ ॥
अन्ने वि तत्थ निवसं-ति सावया आवया सुदढधम्मा ।
इसिभद्दसुओ कइया, वि तेहिं मिलिएहिं इय पुट्ठो ॥ ३ ॥
भो भो देवाणुपिया ! देवाण ठिई कहेसु अम्हाण ।
सो वि हु पवयणभणिय-त्थसत्थकुसलो वि इय भणइ ॥ ४ ॥
असुरा १ नागा २ विज्जू, ३ सुवन्न ४ अग्गी उ ५ वाउ ६ थणिया ७ य ।
उदही ८ दीव ९ दिसा वि य, १० दसहा इह हुंति भवणवई ॥५॥
पिसाय १ भूया २ जक्खा य, ३ रक्खसा ४ किंनरा य ५ किंपुरिसा ६ ।
महोरगा य ७ गंधव्वा ८, अट्ठविहा वाणमंतरिया ॥६॥
ससि १ रवि २ गह ३ नक्खत्ता, तारा ५ जोइसिय पंचहा देवा ।
वेमाणिया य दुविहा, कप्पगया कप्पऽतीया य ॥ ७ ॥

तत्र कल्पगताः–

सोहम्मी-१-साण २ सणं-कुमार ३ माहिंद ४ बंभ ५ लंतगया ६ ।
सुक्क ७ सहस्सारा ८ णय ९, पाणय १० आरणय ११ अच्चुयजा १२ ॥८॥

कल्पातीतास्त्विमे–

सुदरिसण १ सुप्पबद्धं २, मणोरमं ३ सव्वभद्द ४ सुविसालं ५ ।
सोमणसं ६ सोमाणस ७, पीइकरं चेव ८ नंदिकरं ९ ॥ ९ ॥
विजयं च १ वेजयंतं, २ जयंत ३ अपराजियं य ४ सव्वट्ठं ५ ।
एएसु जे गया ते, कप्पाईया मुणेयव्वा ॥ १० ॥
चमरबलि अयर महियं, दिवड्ढपलियं तु सेसजम्माणं ।
आउं दो देसूणं, तारापलियं वणयराणं ॥ ११ ॥
पलियं वासलक्खं, वाससहस्सं च पलिय सऊं च ।
चउभागो य कमेणं, ससिरविगहरिक्खताराणं ॥ १२ ॥
दो १ साहि २ सत्त ३ साहिय ४, दस ५ चउद्द ६ सत्त ७ अयर जा सुरको ।
एक्केक्काऽहिगमत्तुवरि-तित्तीस अणुत्तरेसु परं ॥ १३ ॥
दसवाससहस्साइं, भवणवईसुं ठिई जहन्नाओ ।
पलचउभागो चंदा-इयवसु तारेसु अट्ठभागो ॥ १४ ॥
पलियं १ अहियं २ दो अयर ३, साहिया ४ सत्त ५ दस य ६ चउदस य ७ ।
सतरस ८ ज सहस्सारे, तदुवरि इग अयरवुड्ढि त्ति ॥ १५ ॥
अह जन्नुक्कोसठिई, अयरा तित्तीस हुंति सव्वट्ठे ।
एतो परेण देवा, देवाण ठिई य विच्छिन्ना ॥ १६ ॥
इसिभद्दपुत्तकहियं इणमट्ठं, सुट्ठियं पि ते सड्ढा ।
सव्वे असद्दहंता, नियनियगेहेसु संपत्ता ॥ १७ ॥
सुपभूयभत्तिआहू-यपवरपुरदूयबहुसमुदयओ ।
अह तत्थ वीरसामी, चामीयरसमपहो पत्तो ॥ १८ ॥
सिरिपवयणउत्थप्पण-पुव्वं जयता य पायनमणत्थं ।
इसिभद्दपुत्तसहिया, ते सव्वे सावया पत्ता ॥ १९ ॥
काउं पयाहिणतिगं, सुभत्तिजुत्ता नमिउ ते सामिं ।
निसियंति उचियदेसे, इय धम्मं कहइ भुवणगुरू ॥ २० ॥
भो भविया ! अइदुलहं, नरजम्मं लहिय उज्जमह सययं ।
अन्नाण हणणमल्ले, पवयणभणियत्थकोसल्ले ॥ २१ ॥
इय आयन्निय धम्मं, ते सड्ढा विनवंति जयपहुणो ।
तं देवठिइविसेसं, सव्वं इसिभद्दसुयकहियं ॥ २२ ॥
तो संसइ संसयरे-णुपुंजहरणे समीरणो सामी ।
भो भद्दा ! देवठिइं, एमेव अहं पि जंपेमि ॥ २३ ॥
इय सोउं ते सड्ढा, इसिभद्दसुयं सुयत्थकुसलकाइ ।
खामित्तु नमित्तु पहुं ते, संपत्ता नियनियगिहेसु ॥ २४ ॥
इयरो वि वंदिय जिणं, पुच्छियपसिणाइं सगिहमणुपत्तो ।
वरकमलुव्व पहू वि हु, अन्नत्थ सुवासए भविए ॥ २५ ॥
सम्म इसिभद्दपुत्तो, चिरकालं पालिऊण गिहिधम्मं ।
कयमासभत्तयाओ, जाओ सोहम्मसम्मसुरो ॥ २६ ॥
अरुणाभं पि विमाणे, चउपलियाइं तहिं सुहं भुत्तुं ।
चविय विदेहे पवयण-कुसलो होउं सिवं गमिही ॥ २७ ॥
एवं निशम्य सम्यग्, भव्याः ! ऋषिभद्रपुत्रसुचरित्रम् ।
भवत भवतापहारिषु, कुशलधियः प्रवचनार्थेषु " ॥ २८ ॥

इति ऋषिभद्रपुत्रकथा । इत्युक्तः प्रवचनकुशलकस्य अर्थकुशल इति द्वितीयो भेदः । ध० र० ।

अत्थक–अकाण्ड–न० । प्राकृते–"गोणादयः" ॥ ८ । २ । ७४ ॥ इति अत्थक्कादेशः । अनवसरे, प्रा० । दे० ना० ।

अत्थक्कजाया–अकाण्डयाच्ञा–स्त्री० । अकालप्रार्थनायाम्, बृ० ३ उ० ।

अत्थगवेसि (ण्)–अर्थगवेषिन्–त्रि० । द्रव्यान्वेषणकृति, भ० १५ श० १ उ० ।

अत्थग्गहण–अर्थग्रहण–न० । अर्थपरिज्ञाने, व्य० ७ उ० । अर्थनिश्चयकरणे,

अत्रार्थग्रहणद्वारं विवरीषुराह—

सुत्तम्मि य गहियम्मी, दिट्ठंतो गोण–सालिकरणेणं ।
उवभोगफलासाली, सुत्तं पुण अत्थकरणफलं ॥ १ ॥

सूत्रे गृहीते सति अवश्यं तस्यार्थः श्रोतव्यः । किं कारणमिति चेदुच्यते–दृष्टान्तोऽत्र गवा बलीवर्देन, शालिकेदारेण । तत्र गोदृष्टान्तो यथा–कश्चिद्बलीवर्दः सकलमपि दिवसं वाहयित्वा हलादरकघट्टान्मुक्तः सन् सुन्दरामसुन्दरां वा चारिं यां प्राप्नोति, तां सर्वामनास्वादयन् चरत्येव । पश्चाद् घ्रातः सन् उपविश्य प्राक् चीर्णं

रोमन्थायते, रोमन्थायमानश्च तदास्वादमुपलभते। ततोऽसौ नीरसं कचवरं परित्यजति । एवमयमपि गृहवासारकघट्टान्मुक्तः प्रथमं यत्किमपि सूत्रं चारिकल्पं गुरुसकाशादधिगच्छति, तत्सर्वमर्थास्वादनविरहितं गृह्णाति, ततः सूत्रे गृहीते अर्थग्रहणं करोति । यदि पुनरर्थं न गृह्णीयात् तदा तत्सूत्रं निरास्वादमेव संजायते; अर्थे तु श्रुते सम्यक् तदर्थमवबुध्यमानः सन्नसौ यथावदवधारयत्युपदेशं, परिहरति बिन्दुमात्राभेदादिदोषदुष्टान् कचवरकल्पनाभिप्रायानिति। शालिकरणदृष्टान्तः पुनरयम् । यथा-कर्षकः शालीन् महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो लवनमलनपवनादिप्रक्रियापुरस्सरं कोष्ठागारे प्रक्षिप्य यदि तैः शालिभिः खाद्यपेयादीनामुपभोगं न करोति,ततः शालिसंग्रहः तस्याफलः संपद्यते। अथासौ करोति तैः शालिभिर्यथायोगमुपभोगं ततः शालिसंग्रहः सफलो जायते। एवं द्वादशवार्षिके सूत्राध्ययने परिश्रमे कृतेऽपि यदि तदीयमर्थं न शृणुयात्तदा स सर्वोऽपि परिश्रमो निष्फल एव भवेत्। अर्थे तु श्रुते सम्यगवधारिते च सफलः स्यात्। अत एवाह-उपभोगफलाः शालयः,सूत्रं पुनरर्थकरणफलम् । चरणकरणादिरूपसूत्रार्थाचरणादिरूपस्तदर्थाचरणफलं, तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थे भवति, नान्यथा।

अतः-

जइ बारसवासाइं, सुत्तं गहियं सुणाहि से अट्ठणो ।
बारस चेव समाओ, अत्थं तो नाहिसि नवा णं ॥९॥

यदि द्वादशवर्षाणि त्वया सूत्रं गृहीतम्, अतस्तस्य सूत्रार्थमधुना द्वादशैव समा वर्षाणि शृणु । ततोऽर्थं शृण्वन् स्वज्ञानाचारककर्मक्षयोपशमानुसारेण ज्ञास्यसि वा, न वा (णमिति) तं विवक्षितमर्थम् (बृ०) किंच-संज्ञासूत्रादीन्यनेकविधानि सन्ति । इत्थमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थश्रवणमन्तरेण न शक्यते कीदृशमिति विवेकं कर्तुम्, इति कर्तव्यमर्थग्रहणम् । अथ ते शिष्या ब्रूयुः-यः कण्ठतः सूत्रे निबद्धोऽर्थस्तेनैव वयं तुष्टाः, किमस्माकं दुराधिगमत्वाद्बहुपरिक्लेशेन " मज्जण णिसण्ण अक्खा " इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थग्रहणप्रयासेनेति । एते इत्थं ब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः । कथमित्याह-

जे सुत्तगुणा खलु ल-क्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाई य ।
अत्थग्गहणमराला, तेहिं चिय पणविज्जंति ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः ' निद्दोसं सारवंतं च' इत्यादिना कथिताः। यद्वा-(सुत्तमाई य त्ति)" सुत्तं तु सुत्तमेव उ " इत्यादिना प्रतिपादिताः, तैरेव हेतुभिरर्थग्रहणे मराला अलसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते । यथा-भो भद्राः! निर्दोषसारवद्विश्वतोमुखादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थे श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति । किंच-यथा-द्वासप्ततिकलापरिज्ञो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् किञ्चित्तासां कलानां जानीते । एवं सूत्रमप्यर्थेनाबोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यम् । विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्काराणि च सूत्राणि भवन्ति । अतो गुरुसंप्रदायादेव यथावदवसीयन्ते न यतस्तत इत्थं युक्तियुक्तैर्वचोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते-गुरूणामुपदेशं गृह्णन्ति द्वादशवर्षाणि विधिवदर्थम् । इति गतमर्थग्रहणद्वारम् ॥ बृ० १ उ० ।

अत्थजाय-अर्थजात-न० । द्रव्यप्रकारे, पञ्चा० १० विव० ।

अत्थजुत्ति-अर्थयुक्ति-स्त्री० । हेयेतररूपार्थयोजनायाम्, दश० ४ अ० १ उ० ।

अत्थजोणि-अर्थयोनि-स्त्री० । अर्थस्य योनिरर्थयोनिः । राजलक्ष्म्यादेरुपाये,"तिविहा अत्थजोणी पन्नत्ता । तं जहा-सामे, दंडे, भेए " सामदण्डादीनामन्यत्र स्वरूपम् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अत्थण-अर्थन-न० । ज्ञानाद्यर्थं परस्याऽऽचार्यस्य पार्श्वेऽवस्थाय ज्ञानादिगुणार्जने, उत्त० २६ अ० ।

अत्थणय-अर्थनय-पुं० । अर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयः। स्था०। रत्ना० । मुख्यवृत्त्या जीवाद्यर्थसमाश्रयणात् । आ० म० द्वि० । यथाकथञ्चिच्छब्दा एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनयः । अनु० । यो ह्यर्थमाश्रित्य वक्तृस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राख्यप्रत्ययः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः अर्थवशेन तदुत्पत्तेः । अर्थप्रधानतयाऽऽसौ व्यवस्थापयतीति । सम्म० । अर्थमेव प्राधान्येन शब्दोपसर्जनमिच्छति । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अत्थप्पवरं सद्दो, सद्दाणं वत्थुमुज्जुसुत्तंता ॥

ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारो नया वस्तु ब्रुवते प्रतिपादयन्ति। कथम्भूतम् ? इत्याह-अर्थप्रवरं शब्दोपसर्जनम् । अथवा अर्थप्रवरं-प्रधानभूतो मुख्योऽर्थो यत्र तदर्थप्रवरम्। शब्द उपसर्जनमप्रधानभूतो गौणो यत्र तच्छब्दोपसर्जनम्। शेषास्तु शब्दादयस्त्रयो व्यत्ययमिच्छन्ति । विशे० ।

अत्थणाण-अर्थज्ञान-पुं० । अभिधेयावबोधे, पञ्चा० १२ विव० ॥

अत्थणिउर-अर्थनि(कुर)पूर-न० । चतुरशीतिलक्षैर्गुणितेऽर्थनिपूराङ्गे, अनु० ।

अत्थणिउरंग-अर्थनिपूराङ्ग(निकुराङ्ग)-न० । चतुरशीतिलक्षगुणिते नलिने, अनु० । स्था० । जी० ।

अत्थणिज्जावणा-अर्थनिर्यापणा-स्त्री० । अर्थः सूत्राभिधेयं वस्तु, तस्य निरितिं भृशं, यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमतो निर्यापणा । वाचनासंपद्भेदे, उत्त० १ अ० ।

अर्थस्य निर्यापणामाह-

निज्जवगो अत्थस्स य, जो उ वियाणाइ अत्थ सुत्तस्स ।
अत्थेण वि निव्वहति, अत्थं पि कहेइ जं जाणियं ॥

अर्थस्य निर्यापक इति यद्भणितं तस्यायमर्थः-यो नाम सूत्रस्यार्थं कथ्यमानं विजानाति। यदि वा-अर्थेन निर्वहति- अर्थावधारणबलेन सूत्रपाठे निर्वहमुपयाति, तस्यार्थमपि कथयति, आस्तां सूत्रं ददातीत्यपिशब्दार्थः । व्य० १० उ० ।

अत्थणियय-अर्थनियत-त्रि० । अर्थनिबन्धने, सम्म० ॥

अत्थत्थिअ-अर्थार्थिन्-त्रि० । अर्थमर्थयते इति अर्थार्थी। द्रव्यप्रयोजने, भ० १५ श० १ उ० । औ० । ज्ञा० । जं० ।

अत्थदंड-अर्थदण्ड-पुं० । शरीराद्यर्थदण्डे, प्रश्न० ४ संव० द्वा० ।

अत्थदायि (ण्)-अर्थदायिन्-त्रि० । सूत्राभिधेयप्रदातरि,

" काउं पणामं च अत्थदायिस्स पज्जुमखमासमणस्स " नि० चू० १ उ० ।

अत्थधम्मब्भासाणवेत्त-अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व-न० । अर्थधर्मप्रतिबद्धतारूपे सत्यवचनातिशये, श्रौ० । रा० ।

अत्थधर-अर्थधर-पुं० । अर्थबोधकारि, स्था० ४ ठा० १ उ० । " सुहत्तरा अत्थधरो, अत्थधराओ होइ तदुभयधरो " आ० म० प्र० ।

अत्थपज्जय-अर्थपर्याय-पुं० । अर्थैकदेशप्रतिपादकेषु पर्यायेषु, अर्थरूपेषु पर्यायेषु च । विशे० । अर्थविषयं पर्येत्यवगच्छति यः सोऽर्थपर्यायः । ईदृग्भूतार्थग्राहकत्वे, सम्म० ।

अत्थपडिवत्ति-अर्थप्रतिपत्ति-स्त्री० । अर्थावबोधे, " नियमासावि भणंते, समाणसीलम्मि अत्थपडिवत्ती " । विशे० ।

अत्थपय-अर्थपद-न० । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्यादिवदर्थप्रधाने पदे, विशे० ।

अत्थपिवासिय-अर्थपिपासित-त्रि० । पिपासेव पिपासा- प्राप्तेऽप्यर्थेऽतृप्तिः । अर्थे अर्थस्य वा पिपासा संजाता अस्येति अर्थपिपासितः । तं० । अप्राप्तार्थविषयसञ्जाततृष्णे, भ० १५ श० १ उ० ।

अत्थपुरिस-अर्थपुरुष-पुं० । अर्थार्जनव्यापारपरे पुरुषभेदे, यथा-मम्मणवणिक् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अत्थपुहत्त-अर्थपृथक्त्व-न० । " अत्थो सुयस्स विसओ, तत्तो भिन्नं सुयं पुहत्तं ति " अर्थः किमुच्यते?, इत्याह-श्रुतस्य विषयो विधेयः, तस्माच्चार्थात्कथञ्चिद् भिन्नत्वात्सूत्रं पृथगुच्यते । प्राकृतत्वात्तदेव पृथक्त्वम् । सूत्रार्थलक्षणोभयरूपे श्रुतज्ञाने अर्थस्य पृथक्त्वम् । श्रुतज्ञाने तस्य अर्थपृथक्त्वसंज्ञितत्वात् । " अत्थाओ य पुहुत्तं, जस्स तओ वा पुहत्तओ जस्स " अर्थात्पृथक्त्वं कथञ्चिद् भेदो यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । स चार्थः पृथक्त्वतः पार्थक्येन भेदेन वर्तते यस्य तदर्थपृथक्त्वम् । श्रुतज्ञाने, " ते वंदिऊण सिरसा, अत्थपुहत्तस्स तेहि काहियस्स । सुयणाणस्स भगवओ, णिज्जुत्तिं कित्तइस्सामि " विशे० । आ० म० ।

अत्थपुहुत्त-अर्थपृथुत्व-न० । " अत्थस्स व पिहुभावो, पुहुत्तमत्थस्स वित्थरत्तं ति " पृथु सामान्येन विस्तीर्णमुच्यते, तस्य भावः पृथुत्वम् । अर्थस्य पृथुत्वमर्थपृथुत्वम् । जीवाद्यर्थविस्तरात्मके श्रुतज्ञाने, श्रुतज्ञानमात्रे च । तस्यार्थपृथुत्वसंज्ञितत्वात् । " जं वा अत्थेण पुहुं, अत्थपुहुत्तं ति तब्भावो " अर्थेन पृथु विस्तीर्णमर्थपृथु । तद्भावोऽर्थपृथोर्भावः-अर्थपृथुत्वम्; धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् । श्रुतज्ञाने, " अत्थपुहुत्तस्स तेहि कहियस्स " । विशे० ।

अत्थपोरिसी-अर्थपौरुषी-स्त्री० । अर्थप्रतिबद्धायां पौरुष्याम्, ध० ३ अधि० । " अत्थपोरिसिं ण करेति, मासलहुं " नि० चू० १ उ० ।

अत्थप्पवर-अर्थप्रवर-त्रि० । अर्थः प्रवरो यत्र तदर्थप्रवरम् । मुख्यार्थके वस्तुनि,यस्य हि वस्तुनोऽर्थ एव प्रधानभूतः। विशे०।

अत्थबहुल-अर्थबहुल-त्रि० । अर्थो बहुलो यस्मिंस्तदर्थबहुलम् "क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः,क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य,चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" ॥१॥ " अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं " दशा० ४ अ० ।

अत्थभेय-अर्थभेद-पुं० । आगमपदार्थस्यान्यथापरिकल्पने, जीत० । " आवंतीके यावंती लोगंसि विप्परामुसंति " इत्यत्र आचारसूत्रे यावन्तः केचन लोकेऽस्मिन् पाखण्डिलोके विपरामृशन्तीत्येवंविधार्थाभिधाने, अवन्तीजनपदे केयां रज्जुं वातात् कूपे पतितां लोकाः स्पृशन्तीत्यन्यथार्थत्वाऽऽह । व्य० १ उ० । ध० । दशा० । ग० ।

अत्थेति दारं-

वंजणमभिंदमाणो, अवंतिमादीण अत्थगुरुगो तु ।
जो अम्मोऽणणुवाई, णाणादिविराहणा णवरिं ॥ १६ ॥

वंजणं सुत्तं, अण्णहाकरणं भेदो, ण भिंदमाणो अभिंदमाणो, अविणासंतो त्ति भणितं होति । तेसु चेव वंजणेसु अभिण्णेसु अण्णं अत्थं विकप्पयति । कहं ?,जहा-(अवंतिमादीणं ति) अवंतिके यावंती लोगं,समणा य माहणा य (विप्परामुसंति त्ति) अवंती णामं जणवओ,केय त्ति रज्जुवं ति णाम, पडिया कूवे लोयंसि णाया । जहा-कूवे केया पडिता, ततो धावंति समणा भिक्खुगाइ माहणा धिज्जाईया । ते समणमाहणा कूवे उयरिउं पाणियमज्झे विविधं परामुसंति । आदिसद्दातो अण्णं पि सुत्तं एवं कप्पति । अण्णंति अण्णहा अत्थं कप्पयति, एवं अत्थे अण्णहा कप्पिए सो होइ अत्थे गुरुगो उ । अत्थस्स अण्णाणि वंजणाणि करेंतस्स मासगुरु । अह अण्णं अत्थं करेति,तो चउगुरुगा । (जो अण्णो त्ति) भणितो अभणितो अण्णो सो य अणिट्ठरूवो, (अणणुपाति त्ति) अनुपततीत्यनुपाती, घटमानो युज्यमान इत्यर्थः । न अनुपाती अननुपाती, अघटमान इत्यर्थः । तमघडमाणमत्थं सुत्ते जोजयंतो (णाणादिविराहण त्ति) णाणं आदी जेसिं ताणिमाणि णाणादीणि । आदिसद्दातो दंसणचरित्ता; ते य विराहेति, विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा । (णवरिं ति) इह परलोगगुणपायणवुदासत्थं णवरिसद्दो पउत्तो, विराहणाए केवलेत्यर्थः । अत्थेति दारं गयम् । नि० चू० १ उ० ।

अत्थभोगपरिवज्जिय-अर्थभोगपरिवर्जित-त्रि० । द्रव्येण भोगैश्वर्यरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अत्थमंडली-अर्थमण्डली-स्त्री० । द्वितीयायां पौरुष्याम् ,आचार्याः सूत्रार्थं प्रज्ञापयन्ति,शिष्याश्च शृण्वन्तीत्येवंरूपायामर्थपौरुष्याम्, ध० ३ अधि० टी० । (एतद्विधिः 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे १०८४ पृष्ठे सप्रपञ्चं द्रष्टव्यः)

अत्थमय-अस्तमय-न० । सूर्यादेर्दृश्यस्य सतोऽदृश्यीभवने, भ०२ श० १० उ० ।

अत्थमहत्थखाणि-अर्थमहार्थखानि-पुं० । भाष्याऽभिधेया अर्थाः, विभाषा-(वार्तिक)ऽभिधेया महार्थाः, तेषामर्थमहार्थानां खानिरिव अर्थमहार्थखानिः । भाष्यवार्तिकरूपानुयोगविधायिनि, पटीयसि,"अत्थमहत्थखाणिं सुसमणवक्खाणकहणणिव्वाणिं" नं० ।

अत्थमहुर-अर्थमधुर-त्रि० । परलोकानुगुणार्थे, " वयणाइं अत्थमहुराइं" पं० व० ४ द्वा० ।

अत्थमाण-आसीन-त्रि० । श्मशानादावास्थीयमाने, "तस्य से अत्थमाणस्स, उवसग्गाभिधारए" सूत्र० २ अ० ।

अत्थमिअ–अस्तमित–त्रि० । अत्यन्तास्तंगते, ज्ञा० ४ अ० ।

अत्थमिओदिय–अस्तमितोदित–त्रि० । अस्तमितश्चासौ हीनकुलोत्पत्तिदुर्भगत्वदुर्गतत्वादिना, उदितश्च समृद्धिकीर्तिसुगतिलाभादिनेति अस्तमितोदितः । प्रथमावस्थायां हीने पश्चात् सिद्धिं प्राप्ते पुरुषजाते, स्था० । यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनगारः । स हि जन्मान्तरोपात्तनीचैर्गोत्रकर्मवशादवाप्तहरिकेशाभिधानचाण्डालकुलतया, दुर्भगतया दरिद्रतया च पूर्वमस्तमितादित्य इवानभ्युदयवत्त्वादस्तमितेति, पश्चात्प्रतिपन्नप्रव्रज्यो निष्कम्पचरणगुणावर्जितदेवकृतसान्निध्यतया प्राप्तसिद्धितया सुगतिगततया च उदित इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अत्थमियत्थमिय–अस्तमितास्तमित–पुं० । अस्तमितश्चासौ सूर्य इव दुष्कुलतया, दुष्कर्मकारितया च कीर्तिसमृद्धिलक्षणतेजोविवर्जितत्वात्, अस्तमितश्च दुर्गतिगमनादित्यस्तमितास्तमितः। पौर्वापर्येण दुर्गते, स्था० । यथा कालाभिधानः सौकरिकः। स हि सूकरैश्चरति मृगयां करोतीति यथार्थः सौकरिक एव दुष्कुलोत्पन्नः प्रतिदिनं महिषपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमितः, पश्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अत्थयारिया–देशी–सख्यायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्थरय–आस्तरक–न०। आच्छादके, आ० म० प्र०। जी०। रा०।

अस्तरजस्–त्रि० । निर्मले, " अत्थरयमिउमसूरगोत्थयं " आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुमसूरकेण वा, अथवाऽस्तरजसा निर्मलेन मृदुमसूरकेण अवस्तृतमाच्छादितं यत्तत्तथा । ज्ञ० ११ श० ११ उ० ।

अत्थलुद्ध–अर्थलुब्ध–त्रि० । द्रव्यलालसे, भ० १५ श० १ उ० ।

अत्थवं–अर्थवत्–त्रि० । पञ्चविंशे मुहूर्त्ते, कल्प० ।

अत्थवति–अर्थपति–पुं० । धनपतौ, व्य० ७ उ० ।

अत्थवाय–अर्थवाद–पुं० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य निन्दार्थस्य वा वादः । वद्–करणे घञ् । प्रशंसनीयगुणवाचके, निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषे । भावे घञ् तत्कथने, वाच० । अर्थवादस्तु द्विधा–स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्च। तत्र "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादिकस्तुत्यर्थवादः। तथा तत्र "स सर्वोपाधस्यैष महिमा तु दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा सुप्रतिष्ठितस्तमक्षरं वेदयतेऽथ यस्तु स सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वमेवाविवेश" इति । तथा–"एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति" इत्यादिकश्च सर्वोऽपि स्तुत्यर्थवादः । "एकया पूर्णया" इत्यादि विधिवादोऽपि कस्मान्न भवतीति चेत्। उच्यते । शेषस्याग्निहोत्राद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति । "एष वाव प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोमः योऽनेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते स गर्त्तमभ्यपतत्" अत्र पशुमेधादीनां प्रथमकरणं निन्द्यत इत्ययं निन्दार्थवादः । " द्वादश मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भेषजम् " इत्यादीनि तु लोकवाक्यान्यनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थस्यैतेष्वनुवादादिति । विशे० । आ० म० ।

अत्थवियप्पणा–अर्थविकल्पना–स्त्री० । अर्थभेदोपदर्शने, आ० म० द्वि० ।

अत्थविणय–अर्थविनय–पुं० । विनयशब्दे वक्ष्यमाणार्थके विनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अत्थविणिच्छय–अर्थविनिश्चय–पुं० । अपायरक्षके कल्याणावहे च अर्थावितथभावे, "पुच्छिज्जऽत्थविणिच्छयं" । दश० ८ अ० ।

अत्थविण्णाण–अर्थविज्ञान–न० । ६ त० । ऊहापोहयोगान्मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानरूपे बुद्धिगुणे, ध० १ अधि० ।

अत्थविहूण–अर्थविहीन–त्रि० । अगीतार्थे, व्य० ३ उ० ।

अत्थसंपयाण–अर्थसंप्रदान–न० । अर्थदाने, " अत्थसंपयाणं दलयइत्ति" । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अत्थसत्थ–अर्थशास्त्र–न० । अर्थागमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् । आ० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनग्रन्थे कौटिल्यराजनीत्यादौ, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । नं० । "अत्थसत्थकोसल्लयमादी तदा उवचत्ता" आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० । (उदाहरणमस्य "वेणइया " शब्दे वक्ष्यते)

अत्थसत्थकुसल–अर्थशास्त्रकुशल–त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रादिषु कुशले, जं० ३ वक्ष० ।

अत्थसार–अर्थसार–पुं० । द्रव्यतत्त्वे, आ० म० द्वि० ।

अत्थसिद्ध–अर्थसिद्ध–पुं० । अर्थो धनं स इतराऽसाधारणो यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवणिग्वत् सिद्धभेदे, ध० २ अधि० । "पउरत्थो अत्थपरो–व्व मम्मणो अत्थसिद्धो उ " प्रचुरार्थः प्रभूतार्थः, अर्थपरोऽर्थनिष्ठः, अर्थसिद्धोऽतिशययोगान्मम्मणवणिग्वदिति गाथादलार्थः । आ० म० द्वि० । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (स च 'मम्मण' शब्दे वक्ष्यते) लोकोत्तररीत्या दशमे अर्थसिद्धे, जं० ७ वक्ष० । ऐरवते भाविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, ति० ।

अत्थसुण्ण–अर्थशून्य–न० । मित्थादिकेऽर्थहीने पदे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अत्था–आस्था–स्त्री० । स्वपक्षाणामर्हत्कृते तीर्थे बहुमानत्वे, जीवा० १ अधि० ।

अत्थाण–अस्थान–न० । अविषये, ज्ञा० १४ ज्ञा० ।

अत्थादा(या)ण–अर्थादान–न० । द्रव्योपादानकरणे अष्टाङ्गनिमित्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ३६८ पृष्ठे 'अणवट्ठप्प' शब्दे व्याख्यातमेतत्)

अत्थाम–अस्थामन्–त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकले, ज० ७ श० ९ उ० । शारीरिकबलविकले, ज्ञा० १ अ० । विपा० ।

अत्थारिय–अस्तारिक–पुं० । मूल्यप्रदानेन शालिलवनाय क्षेत्रे क्रियमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अत्थारो–देशी–साहाय्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्थालंबण–अर्थालम्बन–न०–पुं० । अर्थो वाक्यस्य भावार्थः । आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् । अर्थश्च आलम्बनं चार्थालम्बने । अर्थे, आलम्बने च । अर्थालम्बनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम् । अष्ट० २७ अष्ट० ।

अत्थालिय–अर्थालीक–न० । द्रव्यार्थमसत्ये, प्रश्न० २ आ० श्र० द्वा० ।

अत्थालोयण-अर्थालोचन-न० । अर्थस्य सामान्येन ग्रहणे, आ० चू० १ अ० ।

अत्थावग्गह-अर्थावग्रह-पुं०। अवग्रहणमवग्रहः, अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रहः । अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपाद्यर्थग्रहणे, आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्-" सामन्नरूवाइविसेसणरहियस्स अवग्गह त्ति" । प्रज्ञा० ५ पद । आचा० ।

अत्थावत्ति-अर्थापत्ति-स्त्री०। अर्थस्य अनुक्तार्थस्य, आपत्तिः सिद्धिः। वाच०। "प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता" ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे प्रमाणभेदे, रत्ना०२परि०।सूत्र०। दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इति अदृष्टार्थकल्पने, सम्म०। तां प्रमाणचतुष्कवादिनोऽनुमानेऽन्तर्भावयन्ति, तस्याः प्रमाणत्वेऽनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि-दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः। न चासावर्थोऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वानवगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम् । अन्यथा स येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्; अनवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासंभवात् । संभवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चितनियमस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्त्युत्थापकादर्थाद्भिद्येत । स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः, तस्यार्थस्य न भूयोदर्शननिमित्तः सपक्षे । अन्यथा लोहलेख्यं वज्रं, पार्थिवत्वात्, काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्; किं तु विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्तः । तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्याऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत्तस्याऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदर्थापत्तिप्रवृत्तिः; यावच्च न तत्प्रवृत्तिः, न तावदर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्याऽन्यथानुपपद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्-

" अविनाभाविता चात्र, तदैव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं, सत्यप्येषा न कारणम् ॥ १ ॥
तेन संबन्धवेलायां, संबन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यैव मन्तव्यः, पश्चादस्त्वनुमानता " ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तन्निरस्तम् । एवमभ्युपगमे अर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ?, आहोस्वित्स्वसाध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ?, इति । तत्र यद्याद्यः पक्षः । तदाऽत्रापि वक्तव्यम् । किं तद् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मिण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्विद् दृष्टान्तधर्मिण्येव । तत्र यद्याद्यः पक्षः; तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य, लिङ्गस्य वा स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारं प्रति न कश्चिद्विशेषः । अथ द्वितीयः। स न युक्तः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति । न च तथात्वेनानिश्चितः स साध्यधर्मिणि स्वसाध्यं परिकल्पयतीति युक्तम् , अतिप्रसङ्गात् । अथ लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणवशात् सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः। अर्थापत्त्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्तप्रमाणात्सर्वोपसंहारेणादृष्टार्थाऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वनिश्चय इति लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकयोर्भेदः । नास्माद्भेदादर्थापत्तेरनुमानं भेदमासादयति । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव विपर्ययहेतुव्यावर्त्तकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वादित्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मिणोऽभावात्कथं तत्र प्रवर्त्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मकत्वनियतत्वमवगमयेत् सत्त्वस्य ?। न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तधर्मिणि च प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य च यथाक्रमं प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्त्यनुमानयोर्भेदोऽभ्युपगन्तुं युक्तः । अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थादनुमानात्तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति प्रमाणषट्कवादो विशीर्येत । नियमवतो लिङ्गात्परोक्षार्थप्रतिपत्तेरविशेषाच्च ततस्तद्भिन्नमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूतादर्थादर्थप्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादर्थापत्तेः कथं नाभेदः ?। सम्म० ।

अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्-दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनम् ।

कुमारिलोऽप्येतदेव भाष्यवचनं विभजन्नाह-

"प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयत्यन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥
दृष्टा पञ्चभिरप्यस्माद्, भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा ।
प्रमाणग्राहिणीत्वेन, यस्मात्पूर्वविलक्षणा " ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना नोत्पद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । यथाऽग्नेर्दाहकत्वम्, तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः । यथाऽग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्पर्शमुपलभ्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिः प्रत्यक्षपरिच्छेद्या; नाप्यनुमानादिसमधिगम्या; प्रत्यक्षेणार्थेन शक्तिलक्षणेन कस्यचिदर्थस्य संबन्धासिद्धेः । अनुमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्यथाऽऽदित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमानम् । ततो गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्याऽवसीयते । उपमानपूर्विका त्वर्थापत्तिर्यथा-गवयवद् गौरित्युक्तेरर्थाद्वाहदोहादिशक्तियोगस्तस्याः प्रतीयते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा-शब्दादर्थप्रतीतेः शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । अर्थापत्तिपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धावर्थानित्यत्वसिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धायोगात् । अभावपूर्विकाऽर्थापत्तिर्यथा-जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादर्थाद् बहिर्भावः । अत्र चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते । पञ्चम्यां नित्यता । षष्ठ्यां गृहाद् बहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यते । इत्येवं षट्प्रकाराऽर्थापत्तिः । अन्ये तु-श्रुतार्थापत्तिमन्यथोदाहरन्ति-' पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते ' इति वाक्यश्रवणाद् रात्रिभोजनवाक्यप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः । गवयोपमिताया गोस्तज्ज्ञानग्राह्यताशक्तिरुपमानपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्-

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञानात्, तदा दहनशक्तिता ।
वह्नेरनुमिता सूर्ये, यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥
पीनो दिवा न भुङ्क्ते इ-त्येवं प्रतिवचःश्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानं, श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥
गवयोपमिताया गो-स्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता ।
अभिधानप्रसिद्ध्यर्थ-मर्थापत्त्याऽवबोधिता ॥३॥

शब्दे वाचकसामर्थ्यात्, तन्नित्यत्वप्रमेयता ।
प्रमाणाभावनिर्णीत-चैत्राभावविशेषितात् ॥ ४ ॥
गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ।
तामजावोत्थितामन्या-मर्थापत्तिमुदाहरेत् " ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

इयं च षट्प्रकाराऽप्यर्थापत्तिर्नाध्यक्षम्, अतीन्द्रियशक्त्याद्यर्थविषयत्वात् । अत एव नानुमानम् । प्रत्यक्षावगतप्रतिबद्धलिङ्गप्रभवत्वेन तस्योपवर्णनात्; अर्थापत्तिगोचरस्यार्थस्य कदाचिदप्यध्यक्षाविषयत्वात् । तेन सहार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य संबन्धाप्रतिपत्तेः; तदेवार्थापत्त्या ततस्तस्य प्रकल्पना । सम्म० ।

अत्थावत्तिदोस-अर्थापत्तिदोष-पुं० । सूत्रदोषभेदे, यत्रार्थापत्त्याऽनिष्टमापतति तत्राऽर्थापत्तिदोषः । यथा-'गृहकुक्कुटो न हन्तव्यः' इत्युक्ते अर्थापत्त्या शेषघातोऽदुष्ट इत्यापतति । विशे० । अनु० । यथा-'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यर्थादब्राह्मणघाताय । आ० म० द्वि० । बृ० ।

अत्थाह-अस्ताघ-(थ) त्रि० । अगाधे, अस्तं निरस्तमविद्यमानमभ्यस्तलं प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताघः । स्ताघो वा प्रतिष्ठानं, तदभावादस्ताघम् । ज्ञा० १४ अ० । पिं० । यत्र नासिका न ब्रुडति तत् स्ताघम्, यत्र तु नासिका ब्रुडति तदस्ताघम् । बृ० ४ उ० । पञ्चदशे भारतातीतजने, प्रव० ६ द्वा० ।

अत्थाहिगम-अर्थाधिगम-पुं० । अभिधेयावगमे, पञ्चा० ४ विव० ।

अत्थाहिगार-अर्थाधिकार-पुं० । ६ त० । यो यस्य सामायिकाद्यध्ययनस्यात्मीयोऽर्थस्तदुत्कीर्तनविषयके उपक्रमभेदे, "से किं तं अत्थाहिगारे ? अत्थाहिगारे जो जस्स अज्झयणस्स अत्थाहिगारो । तं जहा-"सावज्जजोगविरई, उक्कित्तणगुणपओयपडिवत्ती । खलियस्स निंदणा वण-तिगिच्छगुणधारणा चेव " ॥ १ ॥ सेत्तं अत्थाहिगारे" । अनु० । आचा० ।

अत्थि-अस्ति-अव्य० । "स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे" ॥ ८।२।४५ ॥ इतिसूत्रेण स्तभागस्य थः । प्रा० । अस्तीति तिङन्तक्रियावचनप्रतिरूपको निपातः । औ० । जीवा० । बह्वर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निपातस्याऽव्ययत्वेन, अव्ययस्य च "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययमिति" ॥ १ ॥ बहुत्वप्रतिपादनात् । औ० । "अत्थेगइया दुअण्णाणी " सन्त्येकका: द्व्यज्ञानिनः । जी० ३ प्रति० । अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकालविषयः । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । त्रिकालवर्तिषु विद्यमानेषु अर्थेषु, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च इति प्रत्ययवत्सु, स्था० ३ ठा० १ उ० । "अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ" । भ० १ श० १ उ० । आव० । "अत्थि य १ निच्चो २ कुणई, ३ कयं च वेदेइ ४ अत्थि निव्वाणं ५ । अत्थि य मोक्खोवाओ, ६ छः सम्मत्तस्स ठाणाइं" ॥ १८ ॥ प्रव० १४८ द्वा० । येन येन यदा यदा प्रयोजनं तत् तत्तदा तदाऽस्ति भवति जायते इति । अस्य आनन्दहेतुत्वात् सुखभेदे च, स्था० १० ठा० । प्रदेशे, स्था० १० ठा० । अनु० । उत्त० । अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनः । यदाह शाकटायनन्यासकृत्-अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनेष्विति । अनु० ।

अत्थि(ण्)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थशब्दात् अस्त्यर्थे 'अर्थाच्चाऽसन्निहिते' इति वार्तिकेन इनिः । याचके, वाच० । यः परस्मान्मयेदं लभ्यमिति याचते । व्य० १ उ० । अर्थयति ईश्वरे, पञ्चा० १० विव० । स्वामिनि, विशे० ।

अत्थिअ-अस्थिक-पुं० । बहुबीजकवृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । तत्फले, न० । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अत्थिन्-त्रि० । याचके, स्वामिनि च । "धणी अत्थिओ" प्रा० ।

अत्थिक-पुं० । अस्तीति मतिरस्येति आस्तिकः । तत्त्वान्तरश्रवणेऽपि जिनोक्ततत्त्वविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिमति, ध० ।

यदाह—

" मन्नइ तमेव सच्चं, निस्संकं जं जिणेहिँ पन्नत्तं ।
सुहपरिणामो सम्मं, कंखाइ वि सुत्ति आरहिओ " ॥ ५ ॥

यत्राप्यस्य मोहवशात्कचन संशयो भवति, तत्राप्यप्रतिहतेयमर्गला श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणोदिता-

" कत्थ य मइदुब्बलेणं, तव्विहय आयरिआविरहओ वा वि ।
नेयगहणत्तणेण य, नाणावरणोदएणं च ॥ १ ॥
हेऊदाहरणासं-भवे अ सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वन्नुमयमवितहं, तहा वि तं चिंतए मइमं ॥ २ ॥
अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जिअरागदोसमोहा, यऽनन्नहा वाइणो तेणं " ॥ ३ ॥

यथा वा सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः । सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितमिति । ध० २ अधि० । "आस्तिकमतमात्माद्याः, नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः । कालनियतिस्वभावे-श्वरात्मकृतकाः स्वपरसंस्थाः ॥ १ ॥ कालयदृच्छानियतीश्वरस्वभावात्मनश्चतुरशीतिः " ॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । जीवा० । चार्वाकादिभिन्नदर्शनस्वीकर्तरि च । नं० । तं० ॥

अत्थिकाय-अस्तिकाय-पुं० । अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः; अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना । अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिशब्देन प्रदेशप्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । अवयविद्रव्येषु धर्मास्तिकायादिषु, भ० २ श० १० उ० । दर्श० । आ० चू० ।

ते च-

चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पन्नत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए । चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया पन्नत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए ।

अजीवकाया अचेतनत्वादिति अस्तिकाया मूर्त्ताऽमूर्त्ता भवन्तीत्यमूर्त्तप्रतिपादनाय अरूव्यस्तिकायसूत्रम् । रूपं मूर्त्तिर्वर्णादिमत्त्वं, तदस्ति येषां ते रूपिणः, तत्पर्युदासादरूपिणोऽमूर्त्ता इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । जी० । द्रव्या० ।

एते प्रदेशाग्रेण तुल्याः—

चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगे जीवे ।

प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेनेति तुल्याः समानाः सर्वेषामेषामसंख्यातप्रदेशत्वात् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

साम्प्रतमस्तिकायद्वारमाह–

एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकायअधम्मत्थिकायआगासत्थिकायजीवत्थिकायपोग्गलत्थिकायअद्धासमया णं दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए, एए तिन्नि वि तुल्ला दव्वट्ठयाए सव्वत्थोवा, जीवत्थिकाए दव्वट्ठयाए अणंतगुणे, पोग्गलत्थिकाए दव्वट्ठयाए अणंतगुणे, अद्धासमए दव्वट्ठयाए अणंतगुणे ॥

(एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः एते त्रयोऽपि द्रव्यार्थतया द्रव्यमेवार्थो द्रव्यार्थस्तस्य भावो द्रव्यार्थता, तया द्रव्यरूपतया इत्यर्थः । तुल्याः समानाः,प्रत्येकमेकसङ्ख्याकत्वात् । अत एव सर्वस्तोकाः,तेभ्यो जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । जीवानां प्रत्येकं तद्द्रव्यत्वात्, तेषां च जीवास्तिकायेऽनन्तत्वात् । तस्मादपि पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतयाऽनन्तगुणः । कथम् ?, इति चेत् । उच्यते–इह परमाणुद्विप्रदेशकादीनि पृथक् २ द्रव्याणि, तानि च सामान्यतस्त्रिधा । तद्यथा–प्रयोगपरिणतानि, मिश्रपरिणतानि, विश्रसापरिणतानि च । तत्र प्रयोगपरिणतान्यपि तावज्जीवेभ्योऽनन्तगुणानि, एकैकस्य जीवस्यानन्तैः प्रत्येकं ज्ञानावरणीयादिकर्मसु पुद्गलस्कन्धैरावेष्टितत्वात् । किं पुनः शेषाणि ?। ततः प्रयोगपरिणतेभ्यो मिश्रपरिणतान्यनन्तगुणानि । तेभ्योऽपि विश्रसापरिणतान्यनन्तगुणानि । तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ–" सव्वत्थोवा पुग्गला पओगपरिणया मीसपरिणया अनन्तगुणा, वीससापरिणया अनन्तगुणा "इति । ततो भवति जीवास्तिकायात् पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः । तस्मादप्यद्धासमयो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः । कथम् ?, इति चेत् । उच्यते–इहैकस्यैव परमाणोरनागते काले तत्तद्द्विप्रदेशकत्रिप्रदेशकयावद्दशप्रदेशकसंख्यातप्रदेशकाऽसंख्यातप्रदेशकाऽनन्तप्रदेशकस्कन्धान्तःपरिणामितया अनन्ता भाविनः संयोगाः पृथक् पृथक् कालाः केवलदेशोपलब्धाः । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां प्रत्येकं द्विप्रदेशकादिस्कन्धानां च अनन्ताः संयोगाः पुरस्कृताः पृथक् पृथक् काला उपलब्धाः । सर्वेषामपि मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तितया परिणामसंभवात् । तथा क्षेत्रतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् आकाशप्रदेशे अमुष्मिन् काले अवगाहिष्यते, इत्येवमनन्ता एकस्य परमाणोर्भाविनः संयोगा यथैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां, तथा द्विप्रदेशकादीनामपि स्कन्धानामनन्तप्रदेशस्कन्धपर्यन्तानां प्रत्येकं तत्तदेकप्रदेशाद्यवगाहभेदतोभिन्नभिन्नकाला अनन्ता भाविनः संयोगाः । तथा कालतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन्नाकाशप्रदेशे एकसमयस्थितिकः, इत्येवमेकस्यापि परमाणोरेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽसंख्येया भाविनः संयोगाः । एवं सर्वेष्वप्याकाशप्रदेशेषु प्रत्येकमसंख्येया भाविनः संयोगाः । ततो भूयो भूयस्तथाऽऽकाशप्रदेशेषु परावृत्तौ कालस्यानन्तत्वादनन्ताः कालतो भाविनः संयोगाः। यथा चैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां; तथा भावतोऽप्ययं परमाणुरमुष्मिन् काले एकगुणकालको भवतीत्येवमेकस्यापि परमाणोर्भिन्नभिन्नकालाः अनन्ताः संयोगाः । यथा चैकस्य परमाणोस्तथा परमाणूनां च सर्वेषां च द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां पृथक् पृथक् अनन्ता भाविनः पुरस्कृताः संयोगाः । तदेवमेकस्यापि परमाणोर्द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषसंबन्धवशादनन्ता भाविनः समया उपलब्धाः , यथैकस्य परमाणोस्तथा सर्वेषां परमाणूनां सर्वेषां च प्रत्येकं द्विप्रदेशकानां स्कन्धानाम् । न चैतत्परिणामकालवस्तुव्यतिरेकपरिणामिपुद्गलास्तिकायादिव्यतिरेके चोपपद्यते । ततः सर्वमिदं च तात्त्विकमवसेयम् । उक्तं च–" संयोगपुरस्कारश्च, नाम भाविनि हि युज्यते काले । न हि संयोगपुरस्कारो, ह्यसतां केषांचिदुपपन्नः " ॥१॥ इति यथा च सर्वेषां परमाणूनां च द्विप्रदेशकादीनां स्कन्धानां प्रत्येकं द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषसम्बन्धवशादनन्ता भाविनोऽद्धासमयाः, तथा अतीता अपीति,सिद्धः पुद्गलास्तिकायादनन्तगुणोऽद्धासमयो द्रव्यार्थतयेति । उक्तं द्रव्यार्थतया परस्परमल्पबहुत्वमिति ।

इदानीमेतेषामेव प्रदेशार्थतया तदाह–

एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए अद्धासमया णं पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए, एएसि णं दो वि तुल्ला पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, जीवत्थिकाए पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, पोग्गलत्थिकाए पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, अद्धासमए पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, आगासत्थिकाए पदेसट्ठयाए अणंतगुणा ।

(एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकायेत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः, एतौ द्वावपि परस्परं प्रदेशार्थतया तुल्यौ, उभयोरपि लोकाकाशप्रदेशत्वात् । शेषास्तिकायाऽद्धासमयापेक्षया च सर्वस्तोकौ । ततो जीवास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, जीवास्तिकाये जीवानामनन्तत्वात् । एकैकस्य च जीवस्य लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशत्वात् । तस्मादपि पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः। कथमिति ?। उच्यते-इह कर्मस्कन्धप्रदेशा अपि तावत्सर्वजीवप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः;एकैकस्य च जीवप्रदेशस्यानन्तानन्तैः कर्मपरमाणुभिरावेष्टितपरिवेष्टितत्वात् । किं पुनः सकलपुद्गलास्तिकायप्रदेशास्ततो भवति ? । जीवास्तिकायात्पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः,तस्मादप्यद्धासमयः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः; एकैकस्य पुद्गलास्तिकायप्रदेशस्य प्रागुक्तक्रमेण तत्तद्द्रव्यक्षेत्रकालभावविशेषसंबन्धभावतोऽनन्तानामतीताद्धासमयानामनन्तानामनागतसमयानां भावात् । तस्मादाकाशास्तिकायप्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अलोकस्य सर्वतोऽप्यनन्तताभावात् । गतं प्रदेशार्थतयाऽप्यल्पबहुत्वम् ।

इदानीं प्रत्येकं द्रव्यार्थप्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकायस्स दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगे धम्मत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणा। एएसि णं भंते ! अधम्मत्थिकायस्स दव्वट्ठयपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे एगे अधम्मत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणे। एतस्स णं भंते ! आगासत्थिकायस्स दव्वट्ठपदे-

सट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे एगे आगासत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा । एतस्स णं भंते ! जीवत्थिकायस्स दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे जीवत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणा । एतस्स णं भंते ! पोग्गलत्थिकायस्स दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पोग्गलत्थिकाए दव्वट्ठयाए, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणा, अद्धासमए ण पुच्छिज्जइ, पदेसाभावा ।

सर्वस्तोको धर्मास्तिकायो द्रव्यार्थतया, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, लोकाकाशप्रदेशपरिमाणप्रदेशात्मकत्वात् । एवमधर्मास्तिकायसूत्रमपि भावनीयम् । आकाशास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोकः, एकत्वात् । प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, अपरिमितत्वात् । जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया सर्वस्तोकः, प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवं लोकाकाशप्रदेशभावात् । तथा-सर्वस्तोकः पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतया, द्रव्याणां सर्वत्रापि स्तोकत्वात् । स एव पुद्गलास्तिकायस्तद्द्रव्यापेक्षया प्रदेशार्थतया चिन्त्यमानोऽसंख्येयगुणः । ननु बहवः खलु जगत्यनन्तप्रदेशका अपि स्कन्धा विद्यन्ते, ततोऽनन्तगुणाः कस्मान्न भवन्ति ?। तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह हि स्वल्पा अनन्तप्रदेशकाः स्कन्धाः; परमाण्वादयस्त्वतिबहवः । तथा वक्ष्यति सूत्रम् "सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अनन्तगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसियाए खन्धा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा" इति । ततो यदा सर्वे एव पुद्गलास्तिकायाः प्रदेशार्थतया चिन्त्यन्ते तदा अनन्तप्रदेशकानां स्कन्धानामतिस्तोकत्वात्परमाणूनां चातिबहुत्वात्तेषां च पृथक् २ द्रव्यत्वात् असंख्येयप्रदेशकानां च स्कन्धानां परमाण्वपेक्षया असङ्ख्येयगुणत्वादसंख्येयगुण एवोपपद्यते, नानन्तगुणः । (अद्धासमए न पुच्छिज्जइ त्ति) अद्धासमयो द्रव्यार्थप्रदेशार्थतया न पृच्छ्यते । कुतः ?, इत्याह-प्रदेशाभावात् । आह-कोऽयमद्धासमयानां द्रव्यार्थतानियमः, यावता प्रदेशार्थताऽपि तेषां विद्यत एव ?। तथाहि-यथा अनन्तानां परमाणूनां समुदायस्कन्धो भण्यते, स च द्रव्यं, तदवयवाश्च प्रदेशाः। तथेहापि सकलः कालो द्रव्यम्, तदवयवाश्च समयाः प्रदेशा इति । तदयुक्तम् । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकवैषम्यात्, परमाणूनां समुदायः तदा स्कन्धो भवति, यदा ते परस्परसापेक्षतया परिणमन्ते, परस्परनिरपेक्षाणां केवलपरमाणूनामिव स्कन्धत्वायोगात् । अद्धासमयास्तु परस्परं निरपेक्षा एव, वर्त्तमानसमयभावे पूर्वापरसमययोरभावात् । ततो न स्कन्धत्वपरिणामः । तदभावाच्च नाद्धासमयाः प्रदेशाः, किं तु पृथक् द्रव्याण्येवेति ।

सम्प्रत्यमीषां धर्मास्तिकायादीनां सर्वेषां युगपद् द्रव्यार्थप्रदेशार्थतयाऽल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकाय अधम्मत्थिकाय आगासत्थिकाय जीवत्थिकाय पोग्गलत्थिकाय अद्धासमया णं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए य, एए णं तिन्नि वि तुल्ला, दव्वट्ठयाए सव्वत्थोवा धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए य, एए णं दोन्नि वि तुल्ला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, जीवत्थिकाए दव्वट्ठयाए अणंतगुणे, सो चेव पदेसट्ठयाए असंखिज्जगुणे, पोग्गलत्थिकाए दव्वट्ठयाए अणंतगुणे, सो चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणे, अद्धासमए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए अणंतगुणे, आगासत्थिकाए पदेसट्ठयाए अणंतगुणा ॥

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकायः, एते त्रयोऽपि द्रव्यार्थतया तुल्याः, सर्वस्तोकाश्च प्रत्येकमेकसंख्याकत्वात् ३ । तेभ्यो धर्मास्तिकायोऽधर्मास्तिकायः, एतौ द्वावपि प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयगुणौ, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यौ ५ । ताभ्यां जीवास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, अनन्तानां जीवद्रव्याणां भावात् ६ । स एव जीवास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, प्रतिजीवमसंख्येयानां प्रदेशानां भावात् ७ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया जीवास्तिकायात्पुद्गलास्तिकायो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, प्रतिजीवप्रदेशं ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलस्कन्धानामप्यनन्तानां भावात् ८ । स एव पुद्गलास्तिकायः प्रदेशार्थतया असंख्येयगुणः, अत्र भावना प्रागिव ९ । तस्मादपि प्रदेशार्थतया पुद्गलास्तिकायात् अद्धासमयो द्रव्यार्थतया अनन्तगुणः, अत्रापि भावना प्रागिव १० । तस्मादप्याकाशास्तिकायः प्रदेशार्थतया अनन्तगुणः, सर्वास्वपि दिक्षु विदिक्षु तस्यान्तभावात्, अद्धासमयस्य च मनुष्यक्षेत्रमात्रभावात् ११ । गतमस्तिकायम् । प्रज्ञा० ३ पद । " चउहिं अत्थिकाएहिं लोगे फुडे पन्नत्ते । तं जहा-धम्मत्थिकाएणं अधम्मत्थिकाएणं जीवत्थिकाएणं पोग्गलत्थिकाएणं" स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अथवा—

कइ णं भंते ! अत्थिकाया पएणत्ता ?। गोयमा ! पंच अत्थिकाया पन्नत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पोग्गलत्थिकाए ।

धर्मास्तिकायादीनां चोपन्यासेऽयमेव क्रमः । तथाहि-धर्मास्तिकायादिपदस्य माङ्गलिकत्वाद् धर्मास्तिकाय आदावुक्तः, तदनन्तरं च तद्विपक्षत्वादधर्मास्तिकायः । ततश्च तदाधारत्वादाकाशास्तिकायः । ततोऽनन्तत्वाऽमूर्त्तत्वसाधर्म्याज्जीवास्तिकायः, ततस्तदुपष्टम्भकत्वात् पुद्गलास्तिकाय इति ॥ भ० २ श० १० उ० । तेषामस्तित्वम् । अत्र च जीवपुद्गलानां गत्यन्यथाऽनुपपत्तेर्धर्मास्तिकायस्य तेषामेव स्थित्यन्यथानुपपत्तेरधर्मास्तिकायस्य सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । न च वक्तव्यं तद्गतिस्थिती च भविष्यतः, धर्माधर्मास्तिकाये च न भविष्यत इति । प्रतिबन्धाभावादनैकान्तिकतेति । तावन्तरेणापि तद्भणनेऽलोकेऽपि तत्प्रसङ्गात् । यदि त्वलोकेऽपि तद्गतिस्थिती स्यातां, तदाऽलोकस्यानन्तत्वाल्लोकान्निर्गत्य जीवपुद्गलानां तत्र प्रवेशादेकद्व्यादिजीवपुद्गलयुक्तः सर्वथा तच्छून्यो वा कदाचिल्लोकः स्यात्; नैतद् दृष्टमिष्टं चेत्याद्यन्यदपि दूषणजालमप्यस्ति, नोच्यते ग्रन्थविस्तरभयादिति । आकाशं तु जीवादिपदार्थानामाधारः, अन्यथाऽनुपपत्तेरस्तीति श्रद्धेयम् । न च धर्माधर्मास्तिकायावेव तदाधारौ भविष्यत इति वक्तव्यम् । तयोस्तद्गतिस्थितिसाधकत्वेनोक्तत्वात् । न चान्यसाध्यं कार्यमन्यः प्रसाधयति, अप्रसङ्गात् । इति घटादि-

ज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणिस्वसंवेदनसिद्धत्वात् जीवस्यास्तित्वमवगन्तव्यम् । न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता, अतिप्रसङ्गात् । न च देह एवास्य गुणी युज्यते,यतो ज्ञानममूर्त्तं चिद्रूपं सदैव, इन्द्रियगोचरातीतत्वादिधर्म्मोपेतम्,अतः तस्यानुरूप एव कश्चिद् गुणी समन्वेषणीयः। स च जीव एव,न तु देहः,विपरीतत्वात् । यदि पुनरननुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यते,तर्ह्यनवस्था । रूपादिगुणानामप्याकाशादेर्गुणित्वकल्पनाप्रसङ्गादिति । पुद्गलास्तिकायस्य तु घटादिकार्यान्यथाऽनुपपत्तेः , प्रत्यक्षत्वाच्च सत्त्वं प्रतीतमेवेति । अनु० ।

अस्तिकायानामस्तिकायत्वम्-

एगे भंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसे धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे,एवं दोन्नि वि तिन्नि वि चत्तारि पंच छ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा भंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे नो धम्मत्थिकाये त्ति वत्तव्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । से णूणं गोयमा ! खंडे चक्के सगले चक्के ?। भगवं ! नो खंडे चक्के सगले चक्के । एवं छत्ते धम्मे दंडे दूसे आउहे मोयए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे णो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया० जाव एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । से किं खाइए णं भंते ! धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । गोयमा ! असंखेज्जा धम्मत्थिकायप्पएसा, ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एकग्गहणगहिया । एस णं गोयमा ! धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया । एवं अहम्मत्थिकाए वि । आगासत्थिकायजीवत्थिकायपोग्गलत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं तिण्हं पि पएसा अणंता भाणियव्वा, सेसं तं चेव ।

(खंडे चक्के इत्यादि) यथा खण्डं चक्रं चक्रं न भवति, खण्डचक्रमित्येवं तस्य व्यपदिश्यमानत्वात् , अपि तु सकलमेव चक्रं चक्रं भवति । एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशेनाप्यूनो न धर्मास्तिकाय इति वक्तव्यः स्यात् । एतच्च निश्चयनयदर्शनम् । व्यवहारनयमते तु एकदेशेनोनमपि वस्तु वस्त्वेव । यथा खण्डोऽपि घटो घट एव, छिन्नकर्णोऽपि श्वा श्वैव । भणति च-"एकदेशविकृतमनन्यवदिति" । (से किं खाइए त्ति) अथ किं पुनरित्यर्थः । (सव्वे त्ति) समस्तास्ते च देशापेक्षयाऽपि भवन्ति, प्रकारकार्त्स्न्येऽपि सर्वशब्दप्रवृत्तेः । इत्यत आह-(कसिण त्ति) कृत्स्ना न तु तदेकदेशापेक्षया सर्वं इत्यर्थः । ते च स्वस्वभावरहिता अपि भवन्तीत्यत आह-प्रतिपूर्णा आत्मस्वरूपेणाविकलाः, ते च प्रदेशान्तरापेक्षया स्वस्वभावान्यूना अपि तथोच्यन्ते इत्याह-(णिरवसेस त्ति) प्रदेशान्तरतोऽपि स्वस्वभावेनान्यूनाः । तथा-(एगगहणगहिय त्ति) एकग्रहणेनैकशब्देन धर्म्मास्तिकाय इत्येवं लक्षणेन गृहीता ये ते तथा, एकशब्दाभिधेया इत्यर्थः । एकार्थाभिधायिनो ते शब्दाः । (पएसा अणंता भाणियव्व त्ति) धर्म्माधर्म्मयोरसंख्येयाः प्रदेशा उक्ताः। आकाशादीनां पुनः प्रदेशा अनन्ता वाच्याः, अनन्तप्रदेशकत्वात्त्रयाणामपीति । उपयोगगुणो जीवास्तिकायः प्राग्दर्शितः । भ० २ श० १० उ० ।

प्रदेशनिषूदनम्—

एयंसि णं भंते ! धम्मत्थिकायअहम्मत्थिकायआगासत्थिकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सुइत्तए वा चिट्ठित्तए वा णिसीयत्तए वा, तुयट्टित्तए वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे, अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एयंसि णं धम्मत्थि०जाव आगासत्थिकायंसि नो चक्किया केइ आसइत्तए वा०जाव ओगाढा । गोयमा ! से जहा णामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा जहा रायप्पसेणइज्जे०जाव दुवारवयणाइं पिहेंति । दुवार० तीसे य कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए जहन्नेणं एको वा दो वा तिन्नि वा । उक्कोसेणं पदीवसहस्सं पलीवेज्जा, से णूणं गोयमा ! ताओ पदीवलेस्साओ अन्नमन्नसंबद्धाओ अन्नमन्नपुट्ठाओ० जाव अन्नमन्नघडत्ताए चिट्ठंति , हंता चक्किया णं गोयमा ! केइ तासु पदीवलेस्सासु आसइत्तए वा० जाव तुयट्टित्तए वा । भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे । अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव ओगाढा ॥

एतस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे (चक्किय त्ति) शक्नुयात् । कश्चित्पुरुषः । भ० १३ श० ४ उ० ।

प्रमाणम्—

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ?। गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ । एवं अहम्मत्थिकाए लोयाकासे जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए पंचाभिलावा ॥

(केमहालए त्ति) बुसभावप्रत्ययस्याभिर्देशस्य, किं महत्त्वं यस्यासौ किंमहत्त्वः । (लोए त्ति) लोको लोकप्रमितत्वात् , लोकव्यपदेशाद्वा, उच्यते च-"पंचत्थिकायमइयं लोयमित्यादि" लोके चासौ वर्तते । इदं चाप्रश्नितमप्युक्तम्, शिष्यहितत्वादाचार्यस्येति । लोकमात्रो लोकपरिमाणः, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि व्यवहारतः स्यादित्यत आह -(लोयप्पमाणे त्ति) लोकप्रमाणो लोकप्रदेशप्रमाणत्वात्तत्प्रदेशानाम् । स चान्योन्यानुबन्धेन स्थित इत्येतदेवाह-(लोयफुडे त्ति) लोकेन लोकाकाशेन सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः । तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्ट्वा तिष्ठतीति पुद्गलास्तिकायो लोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठतीत्यनन्तरमुक्तमिति । भ० २ श० १० उ० ।

वर्णगन्धरसादिः—

धम्मत्थिकाए णं कति वण्णे, कति गंधे, कति रसे, कति फासे ?। गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे, ते समासओ पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा--दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ गु-

णश्रो। दव्वश्रो णं धम्मत्थिकाए एगे दव्वे, खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते, कालश्रो न कयाइ न आसि न कयाइ नत्थि जाव निच्चे, भावश्रो अवन्ने अंगधे अरसे अफासे, गुणश्रो गमणगुणे। अधम्मत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं गुणश्रो ठाणगुणे। आगासत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं खेत्तश्रो णं आगासत्थिकाए लोयालोयप्पमाणमेत्ते अणंते चेव जाव गुणश्रो अवगाहणगुणे। जीवत्थिकाए णं भंते! कइ वन्ने, कइ गंधे, कइ रसे, कइ फासे?। गोयमा! अवन्ने जाव अरूवी जीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे, से समासश्रो पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वश्रो० जाव गुणओ। दव्वश्रो णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं, खेत्तश्रो लोगप्पमाणमेत्ते, कालश्रो न कयाइ न आसि० जाव निच्चे, भावश्रो पुण अवन्ने अगंधे अरसफासे, गुणश्रो उवओगगुणे। पोग्गलत्थिकाए णं भंते! कइ वण्णे, कइ गंधरसफासे?। गोयमा! पंचवन्ने पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे। से समासश्रो पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा–दव्वओ खेत्तश्रो कालश्रो भावश्रो गुणश्रो। दव्वश्रो णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं, खेत्तश्रो लोयप्पमाणमेत्ते, कालश्रो न कयाइ न आसि० जाव निच्चे, भावओ वन्नमंते गंधरसफासमंते, गुणश्रो गहणगुणे॥

(अवन्ने इत्यादि) यत एवावर्णादिरत एवारूपी अमूर्त्तः, न तु निःस्वभावः, नञः पर्युदासवृत्तित्वात्। शाश्वतो द्रव्यतोऽवस्थितः प्रदेशतः (लोगदव्वे त्ति) लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्यांशभूतं द्रव्यं लोकद्रव्यम्। भावत इति पर्यायतः (गुणश्रो त्ति) कार्यतः [गमणगुणे त्ति] जीवपुद्गलानां गतिपरिणतानां गत्युपष्टम्भहेतुः, मत्स्यानां जलमिवेति। [ठाणगुणे त्ति] जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतुः, मत्स्यानां स्थलमिवेति। [अवगाहणागुणे त्ति] जीवादीनामवकाशहेतुः, बदराणां कुण्डमिव। [उवओगगुणे त्ति] उपयोगश्चैतन्यं साकारानाकारभेदम्। [गहणगुणे त्ति] ग्रहणं परस्परेण सम्बन्धनं जीवेन वा, औदारिकादिभिः प्रकारैरिति। भ० २ श० १० उ०।

अवगाहनादयः–

धम्मत्थिकाए णं भंते! केमहालए पण्णत्ते?। गोयमा! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठति, एवं जाव पोग्गलत्थिकाए। अहे लोए णं भंते! धम्मत्थिकायस्स केवइयं ओगाढे?। गोयमा! साइरेगं अद्धं ओगाढे, एवं एएणं अभिलावेणं जहा बियइसए० जाव ईसिप्पब्भाराणं। भंते! पुढवीलोयागासस्स किं संखेज्जइभागं ओगाढा पुच्छा?। गोयमा! णो संखेज्जइभागं ओगाढा, असंखेज्जइभागं ओगाढा, णो संखेज्जइभागे ओगाढा, णो असंखेज्जइभागे ओगाढा, णो सव्वं लोयं ओगाढा, सेसं तं चेव।

"धम्मत्थिकाएणं भंते!" इत्यादिरालापकः; तत्र च नवरं केवलं "लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ त्ति"। एतस्य स्थाने– "लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठइ" इत्ययमभिलापो दृश्य इति। भ० २० श० २ उ०॥

(अस्तिकायानां विषयेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः 'अण्णउत्थिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४४६ पृष्ठे दर्शिताः)

मध्यप्रदेशाः–

कइ णं भंते! धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पण्णत्ता?। गोयमा! अट्ठ धम्मत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पण्णत्ता। कइ णं भंते! अहम्मत्थिकायस्स मज्झपदेसा पण्णत्ता?। गोयमा! एवं चेव। कइ णं भंते! आगासत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पण्णत्ता?। गोयमा! एवं चेव। कइ णं भंते! जीवत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पण्णत्ता?। गोयमा! अट्ठ जीवत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पण्णत्ता। एएसि णं भंते! अट्ठ जीवत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा कइसु आगासपदेसेसु ओगाढा होंति?। गोयमा! जहण्णेणं एक्कंसि वा दोहिं वा तिहिं वा चउहिं वा पंचहिं वा छहिं वा उक्कोसेणं अट्ठसु णो चेव णं सत्तसु। सेवं भंते! भंते! त्ति॥

प्रत्येकं जीवानामित्यर्थः। ते च सर्वस्यामवगाहनायां मध्यभाग एव भवन्तीति मध्यप्रदेशा उच्यन्ते। (जहन्नेणं एक्कंसि वेत्यादि) सङ्कोचविकाशधर्मत्वात्तेषाम्। (उक्कोसेणं अट्ठसु त्ति] एकैकस्मिंश्च तेषामवगाहनात्। (नो चेव णं सत्तसु त्ति) वस्तुस्वभावादिति। भ० २५ श० ४ उ०। स्था०। (अस्तिकायविषये कालोदायिसंवादः 'अण्णउत्थिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४४६ पृष्ठे दर्शितः)

अत्थिकायधम्म–अस्तिकायधर्म–पुं०। अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशिरस्तिकायः। स एव (संज्ञया) धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकायधर्मः। स्था० १० ठा०। गत्युपष्टम्भलक्षणधर्मास्तिकायनामके द्रव्यधर्मे, स्था० ३ ठा० ३ उ०॥

अत्थिक्क–आस्तिक्य–न०। अस्तीति मतिरस्येत्यास्तिकः। तस्य भावः कर्म वा आस्तिक्यम्। तत्त्वान्तरश्रवणेऽपि जिनोक्तनत्त्वविषये निराकाङ्क्षायां प्रतिपत्तौ, ध० २ अधि०। अस्तिकायादिविषयास्तिकश्रद्धायाम्, दर्श०। सन्ति खलु जिनेन्द्रोपदिष्टा अतीन्द्रिया जीवपरलोकादयो भावा इति। परिणामे, ध० २ अधि०। संथा०।

अत्थिण (न) त्थिप्पवाय–अस्तिनास्तिप्रवाद–न०। यल्लोके यथाऽस्ति यथा वा नास्तिः अथवा स्याद्वादाभिप्रायतस्तदेवास्ति, तदेव नास्तीत्येवं प्रवदतीति। स०। यद्वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरशृङ्गादि, तत्प्रवदतीति। अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति प्रवदतीति, अस्तिनास्तिप्रवादम्। चतुर्थे पूर्वश्रुते, नं०। तस्य पदपरिमाणं षष्टिपदशतसहस्राणि। स०। "अत्थिणत्थिप्पवायपुव्वस्स णं अट्ठारस वत्थू दस चूलिया वत्थू पण्णत्ता"। नं०।

अत्थित्त–अस्तित्व–न०। अस्ति–भावे त्व। विद्यमानत्वे, दश० १ अ०। अर्थक्रियाकारित्वे, "यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थ

सत्" इति वचनात् । आ०म० द्वि० । ['खणियवाइ' शब्देऽस्य उपपत्तिर्दृष्टव्या] गुणभेदे, "तत्राऽस्तित्वं परिज्ञेयं, सद्भूतत्वगुणः पुनः"। तत्र इदं परिज्ञेयम्-सत्तया यो भवति यस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः । द्रव्या०११ अध्या० । धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्वस्तुनि, भ० ।

यस्य वस्तुनो यथैवास्तित्वं तथैव भगवता तीर्थकरेण प्रज्ञप्तमिति विदर्शयिषुर्यथावद् वस्तुपरिणामं दर्शयन्नाह—

से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ ?। हंता गोयमा !० जाव परिणमइ ॥

(से णूणमित्यादि) [अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ त्ति] अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वम् । उक्तं च- " सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्वभावानामेकत्वं संप्रसज्यते " ॥ १ ॥ तच्चेह ऋजुत्वादिपर्यायरूपमवसेयम्; अङ्गुल्यादिद्रव्यास्तित्वस्य कथं चिदृजुत्वादिपर्यायाऽव्यतिरिक्तत्वात् । अस्तित्वेऽङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे वक्रत्वादिपर्याय इत्यर्थः । परिणमति-तथा भवति । इदमुक्तं भवति-द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां वर्तते । यथा-मृद्रव्यस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्तायामिति । (नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ त्ति) नास्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुष्ठादिभावेनासत्त्वम्, तच्चाङ्गुष्ठादिभाव एव । ततश्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुष्ठाद्यस्तित्वरूपमङ्गुल्यादेर्नास्तित्वेऽङ्गुष्ठादेः पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति । यथा-मृदो नास्तित्वं तन्त्वादिरूपं मृन्नास्तित्वरूपे पटे इति, अथवा अस्तित्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदात्सद्वस्त्वस्तित्वे सत्त्वे परिणमति । सत्सदेव भवति, नात्यन्तं विनाशि स्यात् । विनाशस्य पर्यायान्तरगमनमात्ररूपत्वात् । दीपादिविनाशस्यापि तमिस्रादिरूपतया परिणामात् । तथा नास्तित्वमत्यन्ताभावरूपं यत् खरविषाणादि, तन्नास्तित्वेऽत्यन्ताभाव एव वर्तते । नात्यन्तमसतः सत्त्वमस्ति, खरविषाणस्येवेति । उक्तं च-- " नासतो जायते भावो , नाभावो जायते सतः " । अथवा अस्तित्वमिति धर्मभेदात्सदस्तित्वे सत्त्वे वर्तते । यथा-पटः पटत्व एव । नास्तित्वं चाह-नास्तित्वे सत्त्वे वर्तते, यथाऽपटोऽपटत्व एवेति ।

अथ परिणामहेतुदर्शनायाह—

जं तं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ, तं किं पओगसा,वीससा ?। गोयमा ! पओगसा वि तं वीससा वि तं ॥

(जं तमित्यादि) (अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ त्ति) पर्यायः पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः। (णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ त्ति) वस्त्वन्तरस्य पर्यायः-तत्पर्यायान्तरतां यातीत्यर्थः। (पओगसा त्ति) सकारस्याऽऽगमिकत्वात्प्रयोगेण जीवव्यापारेण । (वीससा त्ति) यद्यपि लोके विस्रसाशब्दो जरापर्यायतया रूढस्तथापीह स्वभावार्थो दृश्यः। इह प्राकृतत्वाद् 'वीससाए' इति वाच्ये वीससेत्युक्तमिति । अत्रोत्तरम्-(पओगसा वि तं ति) प्रयोगेणापि तदस्तित्वादि, यथा-कुलालव्यापारादू मृत्पिण्डो घटतया परिणमति, अङ्गुलिरृजुता वा वक्रतयेति । अपिः समुच्चये । (वीससा वि तं ति) यथा-शुभ्राभ्रमशुभ्राभ्रतया । नास्तित्वस्यापि नास्तित्वपरिणामे प्रयोगविस्रसयोरेतान्येवोदाहरणानि । वस्त्वन्तरापेक्षया मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्सदेव स्यादिति व्याख्यानान्तरेऽप्येतान्येवोदाहरणानि, पूर्वोत्तरावस्थयोः सद्रूपत्वादिति । यदप्यभावोऽभाव एव स्यादिति व्याख्यातम्, तत्रापि प्रयोगेणापि तथा विस्रसयाऽपि अभावो भाव एव स्यात् , न प्रयोगादेः साफल्यमिति व्याख्येयमिति । भ० ।

अथोक्तस्वरूपस्यैवार्थस्य सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह-

से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं जहा परिणमइ दो आलावगा, तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा भाणियव्वा,जाव तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं,जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं, तहा ते इह गमणिज्जं, जहा ते इह गमणिज्जं तहा ते इत्थं गमणिज्जं ?। हंता गोयमा ! जहा मे इत्थं गमणिज्जं तहा मे इह गमणिज्जं ॥

अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्वस्तुसत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्यर्थः। (दो आलावग त्ति) (से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जमित्यादि। 'पओगसा वि तं वीससा वि तं' इत्येतदन्त एकः, परिणामभेदाभिधानात् । 'जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जमित्यादि ' तहा ' मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं ' इत्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वनास्तित्वपरिणामयोः समताभिधायीति । एवं वस्तुप्रज्ञापनाविषयां समभावनां भगवतोऽभिधायाथ शिष्यविषयां तां दर्शयन्नाह-'जहा ते इत्यादि' यथा स्वकीयपरकीयताऽनपेक्षतया समत्वेन विहितमिति प्रवृत्त्या उपकारबुद्ध्या वा ते तव भदन्त ! [एत्थं त्ति] एतस्मिन्नपि सन्निहिते स्वशिष्ये गमनीयं वस्तुप्रज्ञापनीयम् । तथा तेनैव समताप्रकारेण उपकारधिया वा [इहं ति] इहास्मिन् गृहिपाखण्डिमकादौ जने गमनीयं वस्तुप्रकाशनीयमिति प्रश्नः। अथवा [एत्थं ति] स्वात्मनि यथा गमनीयं सुखप्रियत्वादि, तथा इह परात्मनि । अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकरणार्थतया एत्थमित्येतच्छब्दरूपमिति गमनीयम् , तथा इह इत्थमित्येतच्छब्दरूपमिति, समानार्थत्वाद्वयोरपीति । भ० १ श० ३ उ० ॥

अत्थिभाव-अस्तिभाव-पुं० । विद्यमानभावे, "अत्थिभावो त्ति वा विज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

अत्थि (थि) र-अस्थिर-त्रि० । न० त० । प्राकृते-" खघथधभाम् " ८ । १ । ८७ । इति थस्य प्राप्तमपि हत्वं प्रायिकत्वान्न भवति । प्रा० । अदृढे, ओघ० । अतरे, नि० चू० १० उ० । धृतिसंहननहीनत्वेन बलहीने, व्य० ४ उ० । चले च, उत्त० २० अ० । अपरिचिते, " अथिरस्स पुव्वगहियस्स वत्तणा जं इह थिरीकरणं " पञ्चा०१२ विव० । जीर्णे, आचा०२ श्रु०३ अ०२ उ० । अस्थास्नुद्रव्ये, भ० ।

अस्थिरं प्रलोटति स्थिरं वा प्रलोटति इति चिन्तयन्नाह-

से णूणं भंते ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ, सासए बालए बालियत्तं असासयं सासए पंडिए पंडियत्तं असासयं ?। हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ० जाव पंडियत्तं असासयं, सेवं भंते ! भंते ! त्ति० जाव विहरइ ।

(अथिरे त्ति) अस्थास्नु द्रव्यं लोष्टादि, प्रलोटति परिवर्तते, अ-

ध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म्म तस्य जीवप्रदेशेभ्यः प्रतिसमयचलनेनास्थिरत्वात् प्रलोटयति, बन्धोदयनिर्जरणादिपरिणामैः परिवर्तनैः, स्थिरं शिलादि न प्रलोटति । अध्यात्मचिन्तायां तु स्थिरो जीवः, कर्मक्षयेऽपि तस्य अवस्थितत्वान्नासौ प्रलोटति, उपयोगलक्षणस्वभावान्न परिवर्तते । तथा अस्थिरं भङ्गुरस्वभावं तृणादि भज्यते विदलयति । अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म्म तद्भज्यते व्यपैति, तथा स्थिरमभङ्गुरमयःशलाकादि न भज्यते, अध्यात्मचिन्तायां स्थिरो जीवः, स च न भज्यते, शाश्वतत्वादिति । जीवप्रस्तावादिदमाह–(बालए बालए त्ति) बालको व्यवहारतः शिशुः, निश्चयतोऽसंयतो जीवः, स च शाश्वतः, द्रव्यत्वात् । (बालियत्तं ति) इह कप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद्बालत्वम्, व्यवहारतः शिशुत्वम्, निश्चयतस्त्वसंयतत्वम् । तच्चाशाश्वतम्, पर्यायत्वादिति । एवं पण्डितसूत्रमपि, नवरं पण्डितो व्यवहारेण शास्त्रज्ञो जीवः, निश्चयतस्तु संयत इति । भ० १ श० ९ उ० । अतस्थे च, स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृहाणि , अस्थिरा येषामन्यत्र गृहाणि । बृ० १ उ० ।

अत्थि (थि) रछक्क–अस्थिरषट्क–न० । अस्थिराऽशुभदुर्भगदुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्तिरूपे नामकर्मभेदषट्के , कर्म० १ कर्म० ।

अत्थि (थि) रणाम (ण्)–अस्थिनामन्–न० । यदुदयात्कर्णभ्रूजिह्वाद्यवयवा अस्थिराश्चपला भवन्ति, तस्मिन् नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

अत्थि (थि) रतिग–अस्थिरत्रिक–न० । अस्थिराऽशुभाऽयशःकीर्तिसंज्ञे कर्मत्रिके , कर्म० ४ कर्म० ।

अत्थि (थि) रदुग–अस्थिरद्विक–न० । अस्थिराशुभाख्ये कर्मद्विके, कर्म० २ कर्म० ।

अत्थि (थि) रव्वय–अस्थिरव्रत–त्रि० । अस्थिराणि गृहीतमुक्ततया चलानि व्रतान्यस्येत्यस्थिरव्रतः । कदाचिद् व्रतं गृह्णाति कदाचिद् मुञ्चति । उत्त० २० अ० ।

अत्थि (थि) वाय–अस्तिवाद–पुं० । सतां वस्तूनां सत्ताभ्युपगमे, यथा–" अत्थि य णिच्चो कुणई, कयं च वेएइ अत्थि णिव्वाणं । अत्थि य मोक्खोवाओ, छः सम्मत्तस्स ठाणाइं"॥१८॥ प्रव० १४७ द्वा० । एतमेवास्तिवादं समवसरणे भगवांस्तीर्थकर आख्याति । औ० । लोकादीनां वस्तुतः सतामस्तित्वमङ्गीकार्य्यमेवाऽन्यथा त्वनाचार इति ।

सर्वशून्यवादिमतनिरासेन लोकालोकयोः प्रविभागेनास्तित्वं प्रतिपादयितुकाम आह–

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १२ ॥

यदि वा सर्वत्र वीर्यमस्ति, नास्ति सर्वत्र वीर्यम्, इत्यनेन सामान्येन वस्त्वस्तित्वमुक्तम् । तथाहि-सर्वत्र वस्तुनो वीर्यं शक्तिरर्थक्रियासामर्थ्यं मनसः स्वविषयज्ञानोत्पादनम्, तथैकान्तेनात्यन्ताभावाच्छशविषाणादेरप्यस्तीत्येवं संज्ञां न निवेशयेत्, सर्वत्र वीर्यं नास्तीति नो एवं संज्ञां निवेशयेदिति । अनेनाविशिष्टं वस्त्वस्तित्वं प्रसाधितम् । इदानीं तस्यैव वस्तुन ईषद्विशेषितत्वेन लोकालोकरूपतयाऽस्तित्वं प्रसाधयन्नाह–(णत्थि लोए अलोए इत्यादि) लोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको धर्माधर्माकाशादिपञ्चास्तिकायात्मको वा स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । तथाऽऽकाशास्तिकायात्मकस्त्वेकः, स च न विद्यत एवेत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । तदभावप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम् । तद्यथा-प्रतिभासमानं वस्त्ववयवद्वारेण वा प्रतिभासेत, अवयविद्वारेण वा? । तत्र न तावदवयवद्वारेण प्रतिभासनमुपपद्यते, निरंशपरमाणूनां प्रतिभासमानासम्भवात्सर्वारातीयभागस्य परमाण्वात्मकत्वात्, तेषां च छद्मस्थविज्ञानेन द्रष्टुमशक्यत्वात् । तथा चोक्तम्–"यावद् दृश्यं परस्तावद्भागः स च न दृश्यते । निरंशस्य च भागस्य, नास्ति छद्मस्थदर्शनम्" ॥१॥ इत्यादि । नाप्यवयविद्वारेण विकल्प्यमानस्यावयविन एवाभावात् । तथाहि-असौ स्वावयवेषु प्रत्येकं सामस्त्येन वा वर्तेताम्, अंशांशिभावेन वा? । सामस्त्येनावयविबहुत्वप्रसङ्गात् । नाप्यंशेन, पूर्वविकल्पानतिक्रमेणानवस्थाप्रसङ्गात् । तस्माद्विचार्यमाणं न कथंचिद्वस्त्वात्मकं भावं लभते । ततस्तत्सर्वमेवैतन्मायास्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकाविज्ञानसदृशम् । तथा चोक्तम्–"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा । यद्येते स्वयमर्थेभ्यो, रोचन्ते तत्र के वयम् ?" ॥१॥ इत्यादि । तदेव वस्त्वभावे तद्विशेषलोकालोकाभावः सिद्ध एवेत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत, किन्त्वस्ति लोक ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपो वैशाखस्थानस्थितकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषसदृशः, पञ्चास्तिकायात्मको वा । तद्व्यतिरिक्तश्चालोकोऽप्यस्ति, संबन्धिशब्दत्वाल्लोकव्यवस्थाऽनुपपत्तेरिति भावः । युक्तिश्चात्र-यदि सर्वं नास्ति, ततः सर्वान्तःपातित्वात्प्रतिषेधकोऽपि नास्ति इत्यतस्तदभावात् प्रतिषेधाभावोऽपि च सति परमार्थभूते वस्तुनि मायास्वप्नेन्द्रजालादिव्यवस्था । अन्यथा किमाश्रित्य, को वा मायादिकं व्यवस्थापयेत् ? इति । अपि च-"सर्वाभावो यथाभीष्टो, युक्त्यभावे न सिध्यति । साऽस्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं, तत्सिद्धौ सर्ववस्तु सत्" ॥१॥ इत्यादि । यदप्यवयवावयविविभागकल्पनया दूषणमभिधीयते, तदप्यार्हतमतानभिज्ञेन । तन्मतं नैवंभूतम् । तद्यथा–नैकान्तेनावयवा एव, नाप्यवयव्येव चेत्यतः स्याद्वादाश्रयणात्पूर्वोक्तविकल्पदोषानुपपत्तिरित्यतः कथंचिल्लोकोऽस्त्येवमलोकोऽपीति स्थितम् ॥१२॥

तदेवं लोकालोकास्तित्वं प्रतिपाद्याधुना तद्विशेषभूतयोर्जीवाजीवयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह–

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १३ ॥

(णत्थि जीवा अजीवा वेत्यादि) जीवा उपयोगलक्षणाः संसारिणो मुक्ता वा, ते न विद्यन्ते-तथा अजीवाश्च, धर्माधर्माकाशपुद्गलकालात्मका गतिस्थित्यवगाहदानच्छायातपोद्योतादिवर्तनालक्षणा न विद्यन्त इत्येवं संज्ञां परिज्ञानं नो निवेशयेत्, नास्तित्वनिबन्धनं त्विदम्, प्रत्यक्षेणानुपलभ्यमानत्वात् । जीवा न विद्यन्ते, कायाकारपरिणतानि भूतान्येव धावनवल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्तीति । तथाऽऽत्माद्वैतवादमताभिप्रायेण- "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" इत्यागमात् । तथा अजीवा न विद्यन्ते, सर्वस्यैव चेतनाचेतनस्यात्ममात्रविवर्तित्वात्, नो एवं संज्ञां निवेशयेत् । किं त्वस्ति जीवः सर्वस्यास्य सुखदुःखादेर्निबन्धनभूतः स्वसंवित्तिसिद्धोऽहंप्रत्ययग्राह्यः, तथा तद्व्यतिरिक्ता धर्माधर्माकाशपुद्गलादयश्च विद्यन्ते । सकलप्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणानुभूयमानत्वात् । तद्गुणानां भूतचैतन्यवादीव वाच्यः । किं तानि भवदभिप्रेतानि भूतानि नित्यानि, उत अनित्यानि? । यदि नित्यानि, ततोऽप्र-

च्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वाच्च कायाकारपरिणतेऽभ्युपगमः।
नापि प्रागविद्यमानस्य चैतन्यमुत्पद्यते, आहोस्विद्विद्यमानं तावद-
विद्यमानम्; अतिप्रसङ्गात्, अभ्युपेतागमलोपाच्च। अथ विद्य-
मानमेव सिद्धं तर्हि जीवत्वं तथाऽऽत्माद्वैतवाद्यपि वाच्यः। यदि
पुरुषमात्रमेवेदं सर्वम्, कथं घटपटादिषु चैतन्यं नोपलक्ष्यते ?।
तथा तदैक्यं च तन्निबन्धनानां पक्षहेतुदृष्टान्तानामभावात्साध्यसा-
धनाभावः तस्मान्नैकान्तेन जीवाजीवयोरभावः, अपि तु सर्वपदा-
र्थानां स्याद्वादाश्रयणाज्जीवः स्यादजीवः,अजीवोऽपि च स्याज्जी-
वः। इत्येतच्च स्याद्वादाश्रयणं जीवपुद्गलयोरन्योन्यानुगतयोः
शरीरस्य प्रत्यक्षतयाऽध्यक्षेणैवोपलम्भाद्द्रष्टव्यमिति ॥ १३ ॥

जीवास्तित्वे च सिद्धे तन्निबन्धनयोः सदसत्क्रियाद्वाराऽऽया-
तयोर्धर्माधर्मयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह—

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १४ ॥

(णत्थि धम्मे अधम्मे वेत्यादि) धर्मः श्रुतचारित्राख्यात्मको
जीवस्यात्मपरिणामः कर्मक्षयकारणमात्मपरिणामः, एवमध-
र्मोऽपि मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपः कर्मबन्धकारण-
मात्मपरिणाम एव। तावेवंभूतौ धर्माऽधर्मौ कालस्वभावनियती-
श्वरादिमतेन न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्। कालादय
एवास्य सर्वस्य जगद्वैचित्र्यस्य धर्माधर्मव्यतिरेकेणैकान्ततः
कारणमित्येवमभिप्रायं कुर्यात्, यतः त एवैकका न कारणम्,
अपि तु समुदिता एवेति। तथा चोक्तम्–"न हि कालादीहिंतो,
केवलेहिंतो जायए किंचि । इह मुग्गरंधणाइ वि, ता सव्वे
समुदिया हेऊ" ॥१॥ इत्यादि । यतो धर्माधर्ममन्तरेण संसार-
वैचित्र्यं न घटामियर्ति, इत्यतोऽस्ति धर्मः सम्यग्दर्शनादिकः,
अधर्मश्च मिथ्यात्वादिक इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेदिति ॥१४॥

सतोश्च धर्माऽधर्मयोर्बन्धमोक्षसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह–

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥

[णत्थि बंधे व मोक्खे वा इत्यादि]बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभावप्र-
देशात्मकतया कर्मपुद्गलानां जीवेन स्वव्यापारतः स्वीकरणम्।
स चामूर्त्तस्यात्मनो गगनस्येव न विद्यत इत्येवं नो संज्ञां निवे-
शयेत्। तथा तदभावाच्च मोक्षस्याप्यभाव इत्येवमपि संज्ञां नो
निवेशयेत्। कथं तर्हि संज्ञां निवेशयेत् ?, इत्युत्तरार्द्धेन दर्शयति-
अस्ति बन्धः कर्मपुद्गलैर्जीवस्य,इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति। य-
दुच्यते-मूर्त्तस्यामूर्त्तिमता संबन्धो न युज्यत इति। तदयुक्तम्।
आकाशस्य सर्वव्यापितया पुद्गलैः संबन्धो दुर्निवार्यः, तदभावे
तद्व्यापित्वमेव न स्याद्। अन्यच्चास्य विज्ञानस्य हृत्पूरमदिरा-
दिना विकारः समुपलभ्यते, न चासौ संबन्धमृते। अतो यत्कि-
ञ्चिदेतत्। अपि च–संसारिणामसुमतां सदा तैजसकार्मणश-
रीरसद्भावादात्यन्तिकममूर्त्तत्वं न भवतीति। तथा तत् प्रतिप-
क्षभूतो मोक्षोऽप्यस्ति, तद्भावे बन्धस्याप्यभावः स्यात्,इत्यतोऽशे-
षबन्धनापगमस्वभावो मोक्षोऽस्तीत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति।१५।

बन्धसद्भावे चावश्यंभावी पुण्यपापसद्भाव इत्यतस्तद्भावं
निषेधद्वारेणाह–

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं शुभकर्मप्रकृतिलक्षणम्, तथा पापं तद्वि-
पर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्। तदभा-
वप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम्-तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव
उत्कर्षावस्थं सत्सुखदुःखनिबन्धनम् । तथा–परेषां पापं नास्ति,
पुण्यमेव ह्यपचीयमानं पापं कार्यं कुर्यादिति। अन्येषां तूभयमपि
नास्ति। संसारवैचित्र्यं तु नियतिस्वभावादिकृतम्। तदेतदयुक्त-
म्। यतः पुण्यपापशब्दौ संबन्धिशब्दौ, संबन्धिशब्दानामेकस्य
सत्ता परसत्तानान्तरीयकत्तो, नेतरस्य सत्तेति। नाप्युभयाभावः
शक्यते वक्तुम्, निबन्धनस्य जगद्वैचित्र्यस्याभावात् । न हि
कारणमन्तरेण कश्चित्कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा । नियतिस्वभावादिवा-
दस्तु नष्टोत्तराणां पादप्रसारिकाणां पादप्रसारिकाप्रायः। अपि
च–तद्वादेऽभ्युपगम्यमाने सकलक्रियावैयर्थ्यम्, तत एव सकल-
कार्योत्पत्तिः। इत्यतोऽस्ति पुण्यं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत्।
पुण्यपापे चैवं रूपे; तद्यथा–" पुद्गलकर्मशुभं य–त्तत्पुण्यमिति
जिनशासने दृष्टम्। यदशुभमथ तत्पाप–मिति भवति सर्वज्ञ-
निर्दिष्टम् " इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिरतः पुण्यपापयोः प्रागु-
क्तयोः कारणभूतावाश्रवसंवरौ तत्प्रतिषेधद्वारेण दर्शयितु-
काम आह–

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१७॥

(णत्थि आसवे संवरे वेत्यादि) आश्रवति प्रविशति कर्म येन
स प्राणातिपातादिरूप आश्रवः कर्मोपादानकारणम् । तथा–
तन्निरोधः संवरः। एतौ द्वावपि न स्त इत्येवं संज्ञां नो निवेश-
येत्। तदभावप्रतिपत्त्या शङ्काकारणं त्विदम्, कायवाङ्मनःकर्म-
योगः स आश्रव इति यथेदमुक्तं तथेदमप्युक्तमेव–" उच्चा-
लियम्मि पाए इत्यादि " ततश्च कार्यादिव्यापारेण कर्मबन्धो
न भवतीति। युक्तिरपि-किमयमाश्रव आत्मनो भिन्नः, उताऽभि-
न्नः ?। यदि भिन्नो नामासावाश्रवो घटादिवदभेदेऽपि नाश्र-
वत्वम्, सिद्धात्मनामपि आश्रवप्रसङ्गात्। तदभावे च तन्निरो-
धलक्षणस्य संवरस्याप्यभावः सिद्ध एव। इत्येवमात्मकमध्यव-
सायं न कुर्यात् । यतो यत्तदनैकान्तिकत्वं कायव्यापारस्य
"उच्चालयम्मि पाए" इत्यादिनोक्तं, तदस्माकमपि सम्मतमेव।
यतोऽयमस्माभिरप्युपयुक्तकर्मबन्धोऽभ्युपगम्यते। निरुपयुक्तस्य
कर्मबन्धः, तथा भेदाभेदोभयपक्षसमाश्रयणात्तदेकपक्षाश्रि-
तदोषाभावः। इत्यस्त्याश्रवसद्भावः, तन्निरोधश्च संवर इति।
उक्तं च–" योगः शुद्धः पुण्या–श्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः ।
वाक्कायमनोगुप्ति–भिराश्रवः संवरस्तूक्तः" ॥१॥ इत्यतोऽस्त्या-
श्रवस्तथा संवरश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥१७॥

आश्रवसंवरसद्भावे चावश्यंभावी वेदनानिर्जरासद्भाव
इत्यतस्तं प्रतिषेधद्वारेणाह–

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१८॥

(णत्थि वेयणेत्यादि)वेदना कर्मानुभवलक्षणा,तथा-निर्जरा क-
र्मपुद्गलशाटनलक्षणा। एते द्वे अपि न विद्येते, इत्येवं नो संज्ञां नि-
वेशयेत्। तदभावं प्रत्याशङ्काकारणमिदम्। तद्यथा-"पल्योपम-
सागरोपमशतानुभवनीयं कर्मान्तर्मुहूर्तेनैव क्षयमुपयाति" इत्य-
भ्युपगमात्। तदुक्तम्–"जं अन्नाणी कम्मं, खवेइ बहुयाइँ वास-

कोडीहिं । तत्थाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं "॥ १ ॥ इत्यादि । तथा क्षपकश्रेण्यां च झटित्येव कर्मणो भस्मीकरणात, यथाक्रमबद्धस्य चानुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तदभावाच्च निर्जराया अपीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत् । किमिति? । यतः कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तोरक्तया नीत्या क्षपणात्तपसा प्रदेशानुभवेन चापरस्य तूदयोदीरणाभ्यामनुभवनमित्यतोऽस्ति वेदना । यत आगमोऽप्येवंभूत एव । तद्यथा-"पुव्विं दुच्चिण्णाणं, दुप्पडिक्कंताण कम्माणं । वेइत्ता मोक्खो णत्थि अवेइत्ता" इत्यादि वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धैवेत्यतोऽस्ति वेदना निर्जरा वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥

वेदनानिर्जरे च क्रियाऽक्रियत्वे ततस्तदूभावप्रतिषेधानिषेधपूर्वकं दर्शयितुमाह—

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१९॥

(णत्थि किरिया अकिरिया वा इत्यादि) क्रिया परिस्पन्दलक्षणा, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया, ते द्वे अपि न स्तो न विद्येते । तथाहि-सांख्यानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परिनिस्पन्दिका क्रिया न विद्यते । शाक्यानां तु क्षणिकत्वात्सर्वपदार्थानां प्रतिसमयमन्यथा वाऽन्यथोत्पत्तेः पदार्थसत्तैव, न तद्व्यतिरिक्ता काचित्क्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्-"भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते ।" इत्यादि । तथा सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमवस्थान्तरगमनात्सक्रियात्वम्, अतो न क्रिया विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । किं तर्हि-अस्ति क्रिया अक्रिया वेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि-शरीरात्मनोर्देशाद्देशान्तरावाप्तिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रत्यक्षेणैवोपलक्ष्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने गगनस्येव बन्धमोक्षाद्यभावः ; स च दृष्टेष्टबाधितः । तथा शाक्यानामपि प्रत्यक्षेणोत्पत्तिरेव क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अभावः । अपि च-एकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षाभावः स्यात् । इत्यतोऽस्ति क्रिया , तद्विपक्षभूता चाक्रिया , इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १६ ॥

तदेवं सक्रियात्मनि सति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह-

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २० ॥

स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदेन चतुर्धाऽऽगमे पठ्यते । तथैतावद्भेद एव मानो गर्वः । एतौ द्वावपि, न स्तो न विद्येते । तथाहि-क्रोधः केषांचिन्मतेन मानांश एव, अभिमानग्रहगृहीतस्य तत्कृतावत्यन्तक्रोधोदयदर्शनात् । क्षपकश्रेण्यां च भेदेन क्षपणानभ्युपगमात् । तथा किमयमात्मधर्मः, आहोस्वित्कर्मणः, उतान्यस्येति? । तत्रात्मधर्मत्वे सिद्धानामपि क्रोधोदयप्रसङ्गः । अथ कर्मणः, ततस्तदन्यकषायोदयेऽपि तदुदयप्रसङ्गात् । मूर्तत्वाच्च कर्मणो हि घटस्येव तदाकारोपलब्धिः स्यात् । अन्यधर्मत्वे त्वकिञ्चित्करत्वम् । अतो नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावोऽपि वाच्य इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । यतः कषायः कर्मोदयवर्ती दृष्टेष्टकृतभ्रुकुटीभङ्गो रक्तवदनो गलत्स्वेदबिन्दुसमाकुलः क्रोधाध्मातः समुपलक्ष्यते । न चासौ मानांशः, तत्कार्याकरणात् , तथा परनिमित्तोत्थापितत्वाच्चेति । तथा जीवधर्मकर्मणोरुभयोरप्ययं धर्मस्तद्धर्मत्वेन च प्रत्येकविकल्पदोषानुपपत्तिः , अनभ्युपगमात् । संसार्यात्मनां कर्मणा सार्द्धं पृथग्भवनाभावात्तदुभयस्य च न नरसिंहवद्वस्त्वन्तरत्वात् । इत्यतोऽस्ति क्रोधो मानश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥२० ॥

साम्प्रतं मायालोभयोरस्तित्वं दर्शयितुमाह-

णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २१ ॥

(णत्थि माया व लोभेत्यादि) अत्रापि प्राग्वन्मायालोभयोरभाववादीनां निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतं तेषां च क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्नाह-

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २२ ॥

(णत्थि पेज्जेत्यादि) प्रीतिलक्षणं प्रेम पुत्रकलत्रधनधान्याद्यात्मीयेषु रागः, तद्विपरीतस्त्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेषः, तावेतौ द्वावपि न विद्येते । तथाहि-केषांचिदभिप्रायः । यदुत—मायालोभावेवावयवौ विद्येते , न तत्समुदायरूपोऽवयव्यस्ति । तथा क्रोधमानावेव स्तः , न तत्समुदायरूपोऽवयवी द्वेष इति । तथा ह्यवयवेभ्यो यद्यभिन्नोऽवयवी तर्हि तदभेदात्त एव नासौ । अथ भिन्नः , पृथगुपलम्भः स्यात् , घटपटवत् । इतीत्येवमसिद्धिकल्पसूढतया नो संज्ञां निवेशयेत् । यतोऽवयवावयविनोः कथंचिद्भेद इत्येवं भेदाभेदाख्यतृतीयपक्षसमाश्रयणात्प्रत्येकपक्षाश्रितदोषानुपपत्तिः । इत्येवं चास्ति प्रीतिलक्षणं प्रेम, अप्रीतिलक्षणश्च द्वेष इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

साम्प्रतं कषायसद्भावे सिद्धे सति तत्कार्यभूतोऽवश्यंभावी संसारसद्भाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥
णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २४ ॥

(णत्थि चाउरंते इत्यादि) चत्वारोऽन्ता गतिभेदाः नरकतिर्यङ्नरामरलक्षणा यस्य संसारस्यासौ चतुरन्तः संसार एव कान्तारः, भयैकहेतुत्वात् । स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां संसृतिरूपत्वात्कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वात् । अथवा नारकदेवयोरनुपलक्ष्यमानत्वात्तिर्यङ्मनुष्ययोरेव सुखदुःखोत्कर्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणात् त्वनेकविधः, अतश्चातुर्विध्यं न कथंचिद् घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति चतुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । यत्तूक्तम्-एकविधः संसारः, तन्नोपपद्यते । यतोऽध्यक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययोर्भेदः समुपलक्ष्यते । न चासावेकविधत्वे संसारस्य घटते । तथा संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यस्तित्वाभ्युपगमाद् द्वैविध्यमपि न विद्यते । संभवानुमानं तु पुण्यपापयोः प्रकृष्टफलभुजस्तन्मध्यफलभुजां तिर्यङ्मनुष्याणां दर्शनात् । अतः संभाव्यते प्रकृष्टफलभुजो ज्योतिषां च प्रत्यक्षेणैव दर्शनात् । अथ तद्विमानानामुपलम्भः, एवमपि तदधिष्ठातृभिः कैश्चिद्भवितव्यमित्यनुपमानेन गम्यते । ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वानुमानमिति । तदस्तित्वे तु प्रकृष्टपुण्यफलभुज इव प्रकृष्टपापफलभुग्भिरपि भाव्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यम् । संसारस्य पर्यायनयाश्रयणे तु यदनेकविधत्वमुच्यते । तदयुक्तम् । यतः सम

पृथिव्याश्रिता अपि नारकाः समानजातीयाश्रयणादेकप्रकारा एव । तथा तिर्यञ्चोऽपि पृथिव्यादयः स्थावराः, तथा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाश्च द्विपष्टियोनिलक्षप्रमाणाः सर्वेऽप्येकविधा एव । तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजान्तरद्वीपकसंमूर्च्छनजात्मकभेदमनादृत्यैकविधत्वेनैवाश्रिताः । तथा देवा अपि भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदेन भिन्ना एकविधत्वेनैव गृहीताः । तदेवं सामान्यविशेषाश्रयणाच्चातुर्विध्यं संसारस्य व्यवस्थितम्; नैकविधत्वम्, संसारवैचित्र्यदर्शनात् । नाप्यनेकविधत्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यनतिक्रमादिति ॥ २३ ॥२४॥

सर्वभावानां सप्रतिपक्षत्वात्संसारसद्भावे सति अवश्यं तद्विमुक्तिलक्षणया सिद्ध्याऽपि भवितव्यमित्यतोऽधुना सप्रतिपक्षां सिद्धिं दर्शयितुमाह—

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२५॥

(णत्थि सिद्धीत्यादि) सिद्धिरशेषकर्मच्युतिलक्षणा, तद्विपर्यस्ता चासिद्धिर्नास्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धेः संसारविलक्षणायाश्चातुर्विध्येनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगाने नास्तित्वं प्रसिद्धम्, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वमनिवारितमित्यतोऽस्ति सिद्धिरसिद्धिर्वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं भवति–सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सद्भावात्कर्मक्षयस्य च, पीडोपशमादिनाऽध्यक्षेण दर्शनात् । अतः कस्यचिदात्यन्तिककर्महानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्–"दोषावरणयोर्हानि–र्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः" ॥१॥ इत्यादि । सर्वज्ञसद्भावोऽपि संभवानुमानाद् द्रष्टव्यः । तथा हि–अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणादिना शास्त्रसंस्कारेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्ञातिशयो द्रष्टव्यः । तत्र कस्यचिदत्यन्तातिशयप्राप्तेः सर्वज्ञत्वं स्यादिति संभवानुमानेन चैतदाशङ्कनीयम् । तद्यथा–ताप्यमानमुदकमत्यन्तोष्णतामियादग्निसाद्भवेत् । तथा–"दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यासशतैरपि" ॥१॥ इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि–ताप्यमानं जलं प्रतिक्षणं क्षयं गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्द्धते । यदि वा प्लोषोपलब्धेरव्याहतमग्नित्वम् । तथा प्लवनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योजनोत्प्लवनाभावस्तत्परित्यागे चोत्तरोत्तरं वृद्ध्या प्रज्ञाप्रकर्षगमनवद्योजनशतमपि गच्छेत्, इत्यतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात्तदेवं नाशङ्कनीयमिति स्थितम् । प्रज्ञावृद्धेश्च बाधकप्रमाणाभावादस्ति सर्वज्ञत्वप्राप्तिरिति । यदि वाऽजनभृतसमुद्गकदृष्टान्तेन जीवाकुलत्वाज्जगतो हिंसाया दुर्निवारत्वात्सिद्ध्यभावः । तथा चोक्तम्–"जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाऽऽकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ?" ॥१॥ इत्यादि । तदेवं सर्वस्यैव हिंसकत्वात्सिद्ध्यभाव इति । तदेतदयुक्तम् । तथाहि–सदोषयुक्तस्य पिहिताश्रवद्वारस्य पञ्चसमितिसमितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य सर्वथा निरवद्यानुष्ठायिनो द्विचत्वारिंशद्दोषरहितभिक्षाभुज ईर्यासमितस्य कदाचिद्द्रव्यतः प्राणिव्यपरोपणेऽपि तत्कृतबन्धाभावः, सर्वथा तस्यानवद्यत्वात् । तथा चोक्तम्–"उच्चालियम्मि पाए" इत्यपि प्रतीतम्, तदेवं कर्मबन्धाभावात्सिद्धेः सद्भावोऽव्याहतः; सामग्र्यभावादसिद्धिसद्भावोऽपीति ॥ २५ ॥

साम्प्रतं सिद्धानां स्थाननिरूपणायाह—

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥ २६॥

सिद्धेरशेषकर्मच्युतिलक्षणाया निजं स्थानमीषत्प्राग्भाराख्यं व्यवहारतः, निश्चयतस्तु तदुपरि योजनक्रोशषड्भागस्तत्प्रतिपादकप्रमाणाभावात्स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतो बाधकप्रमाणाभावात्साधकस्य चागमस्य सद्भावात् तत्सत्ता दुर्निवारेति । अपि च–अपगताशेषकल्मषाणां सिद्धानां केनचिद्विशिष्टेन स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याग्रभूतं द्रष्टव्यम् । न च शक्यते वक्तुमाकाशवत्सर्वव्यापिनः सिद्धा इति । यतो लोकालोकव्याप्याकाशम् । नचालोके परद्रव्यास्याकाशमात्ररूपत्वात् लोकमात्रव्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पानुपपत्तेः । तथाहि–सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमभ्युपगतम्; उत प्रागपि? न तावत्सिद्धावस्थायाम्, तद्व्यापित्वभवने निमित्ताभावात् । नापि प्रागवस्थायाम्, तद्भावे सर्वसंसारिणं प्रति नियतसुखदुःखानुभवो न स्यात् । न च शरीराद्बहिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तत्सत्तानिबन्धनप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाणं न कथञ्चिद् घटते । तदभावे च लोकाग्रमेव सिद्धानां स्थानम् । तद्गतिश्च कर्मविमुक्तस्योर्ध्वं गतिरिति । तथा चोक्तम्–"लाऊ एरंडफले, अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के । गइ पुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गईओ" ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमस्ति सिद्धिः, तस्याश्च निजं स्थानमित्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्प्रतं सिद्धेः साधकानां तत्प्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चास्तित्वं प्रतिपिपादयिषुः पूर्वपक्षमाह–

णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७ ॥

नास्ति न विद्यते ज्ञानदर्शनचारित्रक्रियोपेतो मोक्षमार्गव्यवस्थितः साधुः, संपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च तत्प्रतिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, परस्परापेक्षित्वात् । एतदुभयस्थानस्यैकतराभावे द्वितीयस्याप्यभाव इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, अपि त्वस्ति साधुः, सिद्धेः प्राक्साधितत्वात् । सिद्धिसत्ता च न साधुमन्तरेण । अतः साधुसिद्धिस्तत्प्रतिपक्षभूतस्य वाऽसाधोरिति । यश्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानाभावः प्रागाशङ्कितः, स सिद्धान्ताभिप्रायमबुद्ध्वैव । तथाहि–सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्यारक्तद्विष्टस्य सत्संयमवतः श्रुतानुसारेणाऽऽहारादिकं शुद्धबुद्ध्या गृह्णतः कचिदज्ञानादनेषणीयग्रहणसंभवेऽपि सततोपयुक्ततया संपूर्णमेव रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यश्च भक्ष्यमिदं चाभक्ष्यम्, गम्यमिदं चागम्यम्, प्रासुकमेषणीयमिदमिदं च विपरीतमित्येवं रागद्वेषसंभवेन समभावरूपस्य सामायिकस्याभावः कैश्चिच्चोद्यते, तत्तेषां चोदनमज्ञानविजृम्भणात् । तथाहि–न तेषां सामायिकवतां साधूनां रागद्वेषतया भक्ष्याभक्ष्यादिविवेकोऽपि तु प्रधानमोक्षाङ्गस्य सच्चारित्रस्य साधनार्थमपि चोपकारापकारयोः समभावतया सामायिकम्, न पुनर्भक्ष्याभक्ष्ययोः समभाववृत्त्येति ॥ २७ ॥

तदेवं मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वम्, इतरस्य चासाधुत्वं, प्रदर्श्याधुना च सामान्येन कल्याणपापवतोः सद्भावं प्रतिषेधनिषेधद्वारेणाह–

णत्थि कल्लाणपावे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि कल्लाणपावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

(णत्थि कल्लाणपावे वेत्यादि) यथेष्टार्थफलसम्प्राप्तिः कल्याणः, तच्च विद्यते, सर्वाशुचितया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां बौद्धाभिप्रायेण, तथा तदभावे कल्याणवाँश्च न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽत्मभूतवादाभिप्रायेण पुरुष एवेदं सर्वमिति कृत्वा पापं पापवान् वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यभावः । तथा चोक्तम्- " विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः" ॥ १ ॥ इत्येवमेव कल्याणपापकाभावरूपां संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याणं,कल्याणवाँश्च विद्यते , तद्विपर्यस्तं पापं तद्वाँश्च विद्यते , इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि-नैकान्तेन कल्याणाभावो यो बौद्धैरभिहितः, सर्वपदार्थानामशुचित्वासंभवात्, सर्वाऽशुचित्वे च बुद्धस्याप्यशुचित्वप्राप्तेः। नापि निरात्मनः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात्परद्रव्यादिभिस्तु न विद्यन्ते, सदसदात्मकत्वाद्वस्तुनः । तदुक्तम्-स्वपरसत्ताव्युदासोपादानोत्पाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वमिति । तथाऽऽत्माद्वैतभावाभावात्पापाभावोऽपि नास्ति, अद्वैतभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीरोगः सुरूपः कुरूपो दुर्भगः सुभगोऽर्थवान् दरिद्रः,तथाऽयमन्तिकोऽयं तु दवीयान् इत्येवमादिको जगद्वैचित्र्यभावोऽध्यक्षसिद्धोऽपि न स्यात् । यच्च समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणचाण्डालादिषु, तदपि समानपीडोत्पादनतो द्रष्टव्यम् ; न पुनः कर्मोत्पादितवैचित्र्याभावोऽपि तेषां ब्राह्मणचाण्डालादीनामस्तीति। तदेवं कथंचित्कल्याणमस्ति, तद्विपर्यस्तं तु पापकमिति । न चैकान्तेन कल्याणमेव, यतः केवलिनां प्रक्षीणघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदयसद्भावात् । तथा नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिसद्भावानैकान्तेन तेऽपि पापवन्त इति । तस्मात्कथंचित्कल्याणं कथंचित्पापमिति स्थितम् ॥ २८ ॥

तदेवं कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसाध्यैकान्तं दूषयितुमाह—

कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो ण विज्जइ ।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

(कल्लाणे पावए इत्यादि) कल्यं सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा, तदणतीति कल्याणम् , तदस्यास्तीति कल्याणः " अर्श आदिभ्योऽच् " ५ । २ । १२७ ॥ इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण मत्वर्थीयाऽच्प्रत्ययान्तः; कल्याणवानिति यावत् । पापकशब्दोऽपि मत्वर्थीयाऽच्प्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः , तदेवं सर्वथा कल्याणवानेवायम् , तथा पापवानेवायमित्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यते। तदेकान्तभूतस्यार्थस्यैवाभावात्।तदभावस्य च सर्ववस्तूनामनेकान्ताश्रयणेन प्राक्प्रसाधितत्वादिति । एतच्च व्यवहाराभावाश्रयणं सर्वत्र प्रागपि योजनीयम् । तद्यथा-सर्वत्र वीर्यमस्ति नास्ति वा सर्वत्र वीर्यमित्येवंभूत एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते। तथा नास्ति लोकोऽलोको वा,तथा सन्ति जीवा अजीवा इति वेत्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यत इति सर्वत्र संबन्धनीयम् । तथा वैरं वज्रं तद्वत्कर्म वैरं, विरोधो वा वैरम् , तद्येन परोपतापादिनैकान्तपक्षसमाश्रयणेन वा भवति , तत्ते श्रमणास्तीर्थिका बाला इव बाला रागद्वेषकलिताः पण्डिताभिमानिनः शुष्कतर्कदर्पाध्माता न जानन्ति , परमार्थभूतस्याहिंसालक्षणस्य धर्मस्यानेकान्तपक्षस्य वाऽनाश्रयणादिति । यदि वा यद्वैरं तत्ते श्रमणा बालाः पण्डिता वा न जानन्तीत्येवं वाचं न निसृजेदित्युत्तरेण संबन्धः । किमिति न निसृजेत् ? । यतस्ते किंचिज्ज्ञानस्यैव । अपि च-तेषां तन्निमित्तकोपोत्पत्तेर्यच्चैवंभूतं वचस्तन्न वाच्यम् । यत उक्तम्-"अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो । सव्वसो तं ण भासेज्जा, भासं अहियगामिणिं " ॥१॥ इत्यादि ॥ २९ ॥

अपरमपि वाक्संयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अक्खयं वा वि , सव्वदुक्खे ति वा पुणो ।
वज्झा पाणा न वज्झन्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

(असेसमित्यादि)अशेषं कृत्स्नं तत्सांख्याभिप्रायेण कृतं नित्यमित्येवं न ब्रूयात् , प्रत्यर्थं प्रतिसमयं चान्यथान्यथाभावदर्शनात्। स एवायमित्येवंभूतस्यैकत्वसाधकस्य प्रत्यभिज्ञानस्य लूनं पुनर्जातेषु केशनखादिष्वपि प्रदर्शनात् । तथापि शब्दादेकान्तेन क्षणिकमित्येवमपि वाचं न निसृजेत्, सर्वथा क्षणिकत्वे पूर्वस्य सर्वथा विनष्टत्वादुत्तरस्य निर्हेतुक उत्पादः स्यात् । तथा च सति "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्" इति । तथा सर्वं जगद् दुःखात्मकमित्येवमपि न ब्रूयात् , सुखात्मकस्यापि सम्यग्दर्शनादिभावेन दर्शनात् । तथा चोक्तम्-"तणसंथारनिसण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि" ॥ १ ॥ तथा-वध्याश्चौरपारदारिकादयः, अवध्या वा,तत्कर्मानुमतिप्रसंगात् , इत्येवंभूतां वाचं स्वानुष्ठानपरायणः साधुः परव्यापारनिरपेक्षो न निसृजेत् । तथाहि-सिंहव्याघ्रमार्जारादीन् परसत्त्वव्यापादनपरायणान् दृष्ट्वा माध्यस्थ्यमवलम्बयेत् । तथा चोक्तम्-"मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु " इति । एवमन्योऽपि वाक्संयमो द्रष्टव्यः । तद्यथा-अमी गवादयो वाह्या न वाह्याः, तथाऽमी वृक्षादयश्छेद्या न छेद्या वेत्यादिकं वचो न वाच्यं साधुनेति ॥ ३० ॥

अयमपरो वाक्संयमप्रकारोऽन्तःकरणशुद्धि—
समाश्रितः प्रदर्श्यते—

दीसंति समियाचारा, भिक्खुणो साहुजीविणो ।
एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ ३१ ॥

दृश्यन्ते समुपलभ्यन्ते स्वशास्त्रोक्तेन विधिना निभृतः संयत आत्मा येषां ते निभृतात्मानः । क्वचित्पाठः-(समियाचारं त्ति)। सम्यक् स्वशास्त्रविहितानुष्ठानादविपरीत आचारोऽनुष्ठानं येषां ते सम्यगाचाराः, सम्यग्वा इतो व्यवस्थित आचारो येषां ते समिताचाराः । के ते ?, भिक्षणशीला भिक्षामात्रवृत्तयः । तथा साधुना विधिना जीवितुं शीलं येषां ते साधुजीविनः। तथाहि-ते न कस्यचिदुपरोधविधानेन जीवन्ति । तथा क्षान्ता दान्ता जितक्रोधाः सत्यसन्धा दृढव्रता युगान्तरमात्रदृष्टयः परिपूतोदकपायिनो मौनिनः सदा तायिनो विविक्तैकान्तध्यानाध्यासिनोऽकौकुच्याः, तानेवंभूतानवधार्यापि सरागा अपि वीतरागा इव चेष्टन्ते, इति मत्वैते मिथ्यात्वोपजीविन इत्येवं दृष्टिं न धारयेन्नैवं भूतमध्यवसायं कुर्यात्, नाप्येवंभूतां वाचं निसृजेत्-यथैते मिथ्योपचारप्रवृत्ता मायाविन इति, छद्मस्थेन ह्यर्वाग्दर्शिनैवंभूतस्य निश्चयस्य कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायः । ते च स्वयूथ्या वा भवेयुस्तीर्थान्तरीया वा; तावुभावपि न वक्तव्यौ साधुना । यत उक्तम्-" यावत्परगुणपरदोषकीर्तने व्यापृतं मनो भवति । तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् " ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ ३१ ॥

किञ्चाऽन्यत्-

दक्खिणाए पडीलंभो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो ॥
ण वियागरेज्ज मेहावी, संति मग्गं च वूहए ॥ ३२ ॥

(दक्खिणाए इत्यादि) दानं दक्षिणा, तस्याः प्रतिलम्भः प्राप्तिः, स दानग्राहकोऽस्मात्कृहस्थादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं न व्यागृणीयात्, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः। यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं ग्रहणं वा प्रतिलाभः स एकान्तेनास्ति संभवति,नास्ति वेत्येवं न ब्रूयात्,एकान्तेन तद्दानग्रहणनिषेधे दोषोत्पत्तिसम्भवात्।तथाहि-तद्दाननिषेधेऽन्तरायसंभवः,तद्विधेयं च तद्दानानुमतावप्यधिकरणोद्भव इत्यतोऽस्ति दानं न वेत्येवमेकान्तेन न ब्रूयात्। कथं तर्हि ब्रूयात्?, इति दर्शयति-शान्तिर्मोक्षः, तस्य मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, तमुपबृंहयेद्वर्धयेत्। यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति-पृष्टः केनचिद्विधिप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिग्राहकविषयं निरवद्यमेव ब्रूयादित्येवमादिकमन्यदपि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—

इच्चेएहिँ ठाणेहिँ, जिणदिट्ठेहिँ संजए ।
धारयंते उ अप्पाणं,आमोक्खाए परिव्वएज्ज ।३३।त्ति बेमि।

इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संयमप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेषरहितैर्जिनैर्दृष्टैरुपलब्धैर्न स्वमतिविकल्पोत्थापितैः,संयतः सन् संयमवानात्मानं धारयन्नेभिर्विविधधर्मदेशनावसरे वाच्यम्। तथा चोक्तम्-"सावज्जऽणवज्जाण, वयणाणं जो ण जाणइ विसेसं" इत्यादिस्थानैरात्मानं वर्तयन्नामोक्षायाशेषकर्मक्षयार्थं मोक्षं यावत्परि समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेः,गच्छेस्त्वमिति विधेयस्योपदेशः। इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

अत्थीकरण–अर्थीकरण–न०। अर्थयते अर्थी वा करोति अर्थं जनयते इत्यर्थीकरणम्। राजादीनां प्रार्थने, तैर्वाऽऽत्मनः प्रार्थनाकारणे, नि० चू०।

जे भिक्खू रायं अत्थीकरेइ,अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू रायरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥२॥ जे भिक्खू णगररक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू गामरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥४॥ जे भिक्खू देसरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू सीमारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥६॥ जे भिक्खू णिगमरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अत्थयते अत्थी वा, करेइ अत्थं व जणयते जम्हा ।
अत्थीकरणं तम्हा, विज्जादिणिमित्तमादीहिं ॥ २२ ॥

साहू रायाणं अत्थेति प्रार्थयते, साधू वा तहा करेति जहा सो राया तस्स साहुस्स अत्थीजवति, प्रार्थयतीत्यर्थः। साधुर्वा तस्य राज्ञः अर्थं जनयति। जम्हा एवं करेति तम्हा अत्थीकरणं भण्णति। साधू रायाणं भणति-मम अत्थि विज्जा, णिमित्तं वा तीतामागतं। ताहे सो राया अत्थीभवति। आदिसद्दातो रसायणादिजोगा। इमं अत्थीकरणं।

धातुनिधाणदरिसणे, जणयंतं तत्थ होति सट्ठाणं ।
अत्ती अची अत्थे-ण संतऽसंतेण लहु लहुया ॥२३॥

धातुवादेण वा से अत्थं करेति, महाकालमतेण वा से णिहिं दरिसेति। एवं अत्थं जणयतो सट्ठाणपच्छित्तं, छक्काया चउलहुगा। सीहावलोयणेण गतोऽप्यर्थः पुनरुच्यते-अत्ती,अच्ची, अत्थी, एतेसु संतेसु मासलहुं, असंते चउलहुं।

एक्के एगतरेणं, अत्थीकरणेण जो तु रायाणं ।
अत्थीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥२४॥

राया भिक्खुस्स संजम अणुगेलण एतेहिं राया चत्तारि गाहाओ जाव एतेहिं। नि० चू० ४ उ०।

अत्थु(त्थो)ग्गह–अर्थावग्रह–पुं०। अर्थ्यते इत्यर्थः। अर्थस्यावग्रहणमर्थावग्रहः। सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणलक्षणे मतिज्ञानभेदाऽवग्रहभेदे, नं०। स०। कर्म०। भ०। स्था०। प्रज्ञा०। "सामन्नरूवाइं विसेसणरहियस्स अनिद्देसस्स" अवग्रहणमवग्रह इति। नं०। प्रव०। अर्थ्यतेऽधिगम्यते, अर्थ्यते वाऽन्विष्यत इति अर्थः। तस्य सामान्यरूपस्याशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणं प्रथमपरिच्छेदनमर्थावग्रह इति निर्विकल्पकं ज्ञानं दर्शनमिति यदुच्यते इत्यर्थः। स नैश्चयिको यः स सामायिकः। यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽयमित्याद्युल्लेखवान् सोऽन्तर्मौहूर्तिक इति। अयं पञ्चेन्द्रियमनःसंबन्धात् षोढा इति। स्था० २ ठा०१ उ०। (अर्थावग्रहस्य सोपपत्तिकः स्वरूपविवेकः 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्षोढा। प्रव० २१६ द्वा०।

तथा च सूत्रम्—

अत्थोवग्गहे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते?। गोयमा! छव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-सोइंदियअत्थोवग्गहे १, चक्खिंदियअत्थोवग्गहे २, घाणिंदियअत्थोवग्गहे ३, जिब्भिंदियअत्थोवग्गहे ४, फासिंदियअत्थोवग्गहे ५, नोइंदियअत्थोवग्गहे ६ ॥ प्रज्ञा० १५ पद। स्था०।

अथ कोऽयमर्थावग्रहः?। सूरिराह-अर्थावग्रहः षड्विधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह इत्यादि। श्रोत्रेन्द्रियेणार्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहानन्तरकालमेकसामायिकमनिर्देश्यसामान्यरूपार्थावग्रहणं श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहः। एवं घ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहेष्वपि वाच्यम्। चक्षुर्मनसोस्तु व्यञ्जनावग्रहो न भवति। ततस्तयोः प्रथममेव रूपद्रव्यगुणक्रियाविकल्पनाऽतीतमनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपार्थावग्रहणमर्थावग्रहोऽवसेयः। तत्र-(नोइंदियअत्थावग्गहो त्ति) नोइन्द्रियं मनः। तच्च द्विधा-द्रव्यरूपं, भावरूपं च। तत्र मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयतो यन्मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकानादाय मनस्त्वेन परिणमति, तद्द्रव्यरूपं मनः। तथाचाह चूर्णिकृत्-

"मणपज्ज त्ति नामकम्मोदयओ जोगो मणो दव्वे घेत्तुं मणत्ते-ण परिणामिया दव्वमणो भण्णइ" तथा-द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः। तथा चाह चूर्णिकार एव-" जीवो पुण मणणपरिणामकिरियापन्नो भावमणो। किं भणियं होइ?-मणदव्वालंबणो जीवस्स मणवावारो भावमणो भण्णइ"। तत्रेह भावमनसा प्रयोजनम्, तद्ग्रहणे ह्यवश्यं द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति; द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसोऽसम्भवात्। भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति; यथा भवस्थकेवलिनः; तत उच्यते भावमनसेह प्रयोजनम्। तत्र नोइन्द्रियेण भावमनसोऽर्थावग्रहो द्रव्येन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो घटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाऽभिमुखः प्रथममेकसामायिको रूपाद्यर्थाकारादिविशेषचिन्ताविकलो निर्देश्यसामान्यमात्रचिन्ताऽऽत्मको बोधो नोइन्द्रियार्थावग्रहः। नं०। अयं च नैश्चयिक एकसामायिकः। व्यावहारिकस्त्वान्तर्मौहूर्तिकः। स्था०६ ठा०।

अत्थु (त्थो) ग्गहण-अर्थावग्रहण-न०। फलनिश्चये, भ० ११ श० ११ उ०।

अत्थुमं-देशी-क्षघौ, दे० ना० १ वर्ग।

अत्थुप्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री०। उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्तिः। अर्थस्योत्पत्तिर्व्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः। करणव्यवहारे, व्य० १ उ०।

अत्थेर-अस्थैर्य-न०। अस्थिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट०।

अत्थोप्पायण-अर्थोत्पादन-न०। द्रव्याऽऽवर्जने, प्रव०२५६द्वा०।

अत्थोभय-अस्तोभक-न०। न० ब०। स्तोभकरहिते गुणवत्सूत्रे, अनु०। "उय व इकारो इ त्ति अ-कारणाईय थोभया हुंति" नत वै हाऽऽदिप्रभृतीनामकारणप्रक्षेपाः स्तोभकाः। तद्रहितमस्तोभकम्। बृ० १ उ०। विशे०।

अथव्वण-अथर्वण-पुं०। चतुर्थवेदे, "जाव अथव्वणकुसलेया वि होत्था" विपा० १ श्रु० ५ अ०।

अद्-अद्-अ०। आश्चर्ये, "धियो यो नः प्रचोदयाऽत्" अदिति आश्चर्यरूपस्तत्कारणेऽनिवृत्तत्वात्, ततश्च हे अत्! "विरामे वा" ॥१।३।५१॥ इति दस्य तः। साक्षर्याभिप्रायेण गा० व्याख्या। जै० गा०। एतादृशः प्रयोगः प्राकृते न प्रयुज्यते।

अदंम-अदण्ड-पुं०। प्रशस्तयोगत्रये, अहिंसामात्रे च। "एगे अदंडे" स० १ सम०।

अदंमकु(को)दंमिम-अदण्डकुदण्डिम-त्रि०। दण्डलभ्यं द्रव्यं दण्ड एव। कुदण्डेन निर्वृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम्, तन्नास्ति यत्र तत्तथा। दण्डकुदण्डाभ्यामगृह्यमाणद्रव्ये नगरादौ, तत्र दण्डोऽपराधानुसारेण राजग्राह्यं द्रव्यम्; कुदण्डस्तु-कारणिकानां प्रज्ञापराधान्महत्यपराधिनोऽपराधेऽल्पं राजग्राह्यं द्रव्यमिति। "उस्सुकं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अमिज्जं अभडप्पवेसं अदंडकोदंडिमं अधरिमं गणियावरनाडइज्जकलियं" (पुरीवर्णकः) भ० ११ श० ११ उ०। ज्ञा०। जं०। कल्प०।

अदंतवण-अदन्तवन-त्रि०। दन्तधावनरहिते, अदन्तधावनो धर्मो वीरमहापद्मयोस्तीर्थेऽनुज्ञातः। स्था० ९ ठा०।

अदंभग-अदम्भक-त्रि०। वञ्चनाऽनुगतवचनविरहिते, व्य०३ उ०।

अदं(दं)सण-अदर्शन-न०। न०त०। प्राकृते-"समासे वा" ॥८।२।९७॥ इति दस्य वा द्वित्वम्। प्रा०। चाक्षुषज्ञानाभावे, न विद्यते दर्शनं दृग् यस्येत्यदर्शनः। अन्धे, स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयवति च। ग० १ अधि०। न विद्यते दर्शनं सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तेः। अयं च दीक्षितः सन् विकलतया यत्र तत्र वा संचरन् षड्कायान् विराधयेद्विषमकीलककण्टकादिषु च पतेत्। स्त्यानर्द्धिस्तु प्रविष्टो गृहिणां साधूनां च मारणादि कुर्यात्। प्रव०१०७ द्वा०। ध०।

"दुविहो अदंसणो खलु, जाति उवघाततो य णायव्वो।
उवघातो पुण तिविहो, वाहीउवघायअंजणत्ताए ॥१॥
संगेण चिय अवरो, थीणद्धीओ मुणेयव्वो।
एतेसिं सो हि इमा, जहक्कमेणं मुणेयव्वो ॥२॥
छट्ठियणयणे तह से-सएसु थीणद्धितो तु कमसो तु।
छग्गुरु चउगुरु चरिमं, दोसा तहिँ दिक्खिते इणमो ॥३॥
छक्कायविउरमणता, आवरुणं खाणुकंटमादीसु।
थंडिल्लअपडिलेहा, अंधस्स ण कप्पती दिक्खा ॥४॥
अवहति य महादोसं, दंसणकम्मोदएण थीणद्धी।
एगमणेगय ऊ से, जं काही तं तु आवज्जे" ॥५॥ पं० भा०।

चौरे, दे० ना० १ वर्ग।

अदक्खु-अदृष्ट-त्रि०। न० ब०। अर्वाग्दर्शने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अदक्ष-त्रि०। अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अपश्य-त्रि०। पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्यः। अन्धे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। आङ्डाक्षीत् इत्यस्यापि 'अदक्खु' इति रूपम्। प्रति०। भ०।

अदक्खुदंसण-अदक्षदर्शन-त्रि०। असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अदृष्टदर्शन-त्रि०। असर्वज्ञोक्तशासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अपश्यकदर्शन-त्रि०। अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्याभ्युपगतं दर्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः। स्वतोऽर्वाग्दर्शिनि, सूत्र०।

अदक्खुव दक्खुवाहियं, सद्दहसु अदक्खुदंसणा।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

(अदक्खुवेत्यादि) पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्योऽन्धः, तेन तुल्यं कार्याकार्याविवेचित्वादपश्यवत्। तस्याऽऽमन्त्रणं हे अपश्यवत्! अन्धसदृश! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याऽभ्युपगमेन कार्याकार्यानभिज्ञ!, पश्येन सर्वज्ञेन, व्याहृतमुक्तं सर्वज्ञागमं, श्रद्धस्व प्रमाणीकुरु, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याऽऽभ्युपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हंत! हतोऽसि, पितृनिबन्धनस्याऽपि व्यवहारस्याऽसिद्धेरिति। तथाऽपश्यकस्याऽपि असर्वज्ञस्याऽभ्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनः; तस्याऽऽमन्त्रणं वा हे अपश्यकदर्शन! स्वतोऽर्वाग्दर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सन् कार्याकार्याविवेचितयाऽन्धवदभविष्यत् यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाऽकरिष्यत्। यदि वाऽदक्षो वा अनिपुणो वा यादृशस्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्याऽसावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्तस्माद्यदवाप्यते हितं तत् श्रद्धस्व। इदमुक्तं भवति-अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धातव्यम्। यदि वा हे अदृष्ट! हे अर्वाग्दर्शन! दृष्टाऽतीताऽनागतव्यवहितसू-

हृमपदार्थदर्शिना यद्व्याहृतमभिहितमागमः, तं श्रद्धस्व। हे अदृष्टदर्शन !, अदृक्दर्शन ! इति वा, असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् ! तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमान्न करोति येनैवमुपदिश्यते । तन्निमित्तमाह–हंदीत्येवं गृहाण । हृशब्दो वाक्यालङ्कारे, सुष्ठु अतिशयेन निरुद्धमावृतं दर्शनं सम्यक् अवबोधरूपं यस्य सः । केनेत्याह–मोहयतीति मोहनीयम्, मिथ्यादर्शनादिः ज्ञानावरणीयादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धत्ते । अतस्तन्मार्गश्रद्धानं प्रति चोद्यत इति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अदक्खुव–अपश्यवत्–त्रि० । अपश्योऽन्धः, तेन तुल्यं कार्याकार्याविवेकित्वादपश्यवत् । अन्धसदृशे कार्याकार्यानभिज्ञे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदृढ–अदृढ–त्रि० । दुर्बले, व्य० ४ उ० । आचा० ।

अदढधिइ–अदृढधृति–त्रि०। धृतिरहिते, नि० चू०१उ०। असमर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अदण–अदन–न० । अद्–ल्युट् । भोजने, वृ० १ उ० ।

अदष्ट–अदत्त–त्रि०। आकुलीभूते, वृ०१उ०। विषादीकृते, "तेणं चि य गिलाणेण ते अदष्टा " नि० चू० १० उ० ।

अदत्त(दिन्न)–अदत्त–त्रि०। न० त०। अवितीर्णे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०। ध०। अदत्तद्रव्यग्रहणरूपे तृतीये आश्रवभेदे, प्रश्न०१ आश्र० द्वा० । " हिंसामोसमदिन्नबंभपरिग्गहे " प्रश्न० १ द्वा०।

अदत्त(दिन्न)हारि(ण्)–अदत्तहारिन्–त्रि० । अदत्तमपहर्तुं शीलमस्याऽऽसावदत्तहारी। परद्रव्यापहारके, "जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती से य वियस्स किंचि" सूत्र०१ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अदत्ता (दिन्ना) दाण–अदत्तादान–न० । अदत्तस्य स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरवितीर्णस्याननुज्ञातस्य सचित्ताचित्तमिश्रभेदस्य वस्तुन आदानं ग्रहणमदत्तादानम् । तच्च विविधोपाधिवशादनेकविधम् । " एगे अदिन्नादाणे " स्था० १ ठा० १ उ० । सूत्र० । चौर इति व्यपदेशनिबन्धने, उपा० १ अ० । परस्वापहारे , आव० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधर्मद्वारे यादृक् १ यन्नाम २ यथा च कृतं ३ यत्फलं ददाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति पञ्चभिर्द्वारैः क्रमेण प्ररूपितं, तथैवेह प्रदर्श्यते–

(१) यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादनम् ।
(२) अदत्तादानस्य नामानि ।
(३) (यथा च कृतं) ये चादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
(४) अदत्तादानं यत्फलं ददाति तन्निरूपणम् ।
(५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
(६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति ।
(७) तपस्तैन्यादि न कुर्वीत ।

(१) तत्र यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादयँस्तावदाह —

जंबू ! ततियं च अदिन्नादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिगभिज्जलोभमूलकालविसमसंसियं अहोऽच्छिन्नतण्हपत्थाणपत्थोइमइयं अकित्तिकरं अणज्जं छिद्दमंतरविधुरवसणमग्गणउस्सवमत्तपमत्तपसुत्तवंचणाऽऽखिवणघायणपराणिहुयपरिणामतक्करजणबहुमयं अकलुणं रायपुरिसरक्खियं सया साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रागदोसबहुलं पुणो य उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवहकरणं दुग्गतिविणिवायवड्ढणं भवपुनब्भवकरं चिरपरिचियं अणुगयं दुरंतं तइयं अधम्मदारं ॥

हे जम्बूः ! तृतीयं पुनराश्रवद्वाराणां किमदत्तस्य धनादेरादानं ग्रहणमदत्तादानम्?। 'हर दह' इत्येतौ हरणदाहयोः परप्रवर्तनार्थौ शब्दौ, हरणदहनपर्यायौ वा छान्दसाविति । तौ च मरणं च मृत्युः, भयं च भीतिरेता एव कलुषं पातकं, तेन त्रासनं त्रासजनकं च रूपं यत्तत्तथा । तच्च तत् तथा (परसंतग त्ति) परसत्के धने यो गृद्धिलोभो रौद्रध्यानान्विता मूर्च्छा, स मूलं निबन्धनं यस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तच्चेति कर्मधारयः । कालश्चार्धरात्रिविषयः, विषमश्च पर्वतादिदुर्गः, तैः संश्रितमाश्रितं यत्तत्तथा । ते हि प्रायः तत्कारिभिराश्रीयत इति । (अहोच्छिन्नतण्हपत्थाणपत्थोइमइयं ति) अधः अधोगतौ, अच्छिन्नतृष्णानां अत्रुटितवाञ्छानां, यत् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्रस्तोत्री प्रस्ताविका प्रवर्तिका मतिर्बुद्धिर्यस्मिँस्तत्तथा । अकीर्तिकरणमनार्यम; एते व्यक्ते । तथा छिद्रं प्रवेशद्वारम, अन्तरमवसरः, विधुरमपायः , व्यसनं राजादिदत्तलापः, एतेषां मार्गणम; उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुप्तानां च वञ्चनं च प्रतारणम, आक्षेपणं च चित्तव्यग्रताऽऽपादनम , घातनं च मारणम, इति द्वन्द्वः । तत एतत्परत एतन्निष्ठोऽनिभृतोऽनुपशान्तः परिणामो यस्यासौ छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणोत्सवमत्तप्रमत्तप्रसुप्तवञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामः । स चासौ तस्करजनः, तस्य बहुमतं यत्तत्तथा । वाचनान्तरे त्विदमेवं पठ्यते– "छिद्दविसमपावगेत्यादि " छिद्रविषमपापकं च नित्यं छिद्रविषमयोः संबन्धीदं पापमित्यर्थः । अन्यदाऽऽहितन्यायं प्रायः कर्तुमशक्यामिति भावः । अनिभृतपरिणामसंक्लिष्टं तस्करजनबहुमतं चेति । अकरुणं निर्दयं, राजपुरुषरक्षितम, तैर्निवारितमित्यर्थः । सदा साधुगर्हणीयं, प्रतीतम । प्रियजनमित्रजनानां भेदं वियोजनं विप्रीतिं विप्रियं करोति यत्तत्तथा । रागद्वेषबहुलं, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि (उप्पूर त्ति) उत्पूरेण प्राचुर्येण समरो जनमरकयुक्तो यः संग्रामो रणः स उत्पूरसमरसंग्रामः, स च डमरं भीत्यापलायनं, कलिकलहश्च राटीकलहो, न तु रतिकलहः । वधश्चानुशयः, एतेषां करणं कारणं यत्तत्तथा । दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं, प्रतीतम् । भवे संसारे, पुनर्भवान् पुनरुत्पादान् करोतीत्येवं शीलं यत्तत्तथा । चिरं परिचितम, अनुगतमव्युच्छिन्नतयाऽनुवृत्तं, दुरन्तं दुष्टावसानं विपाकदारुणत्वात् तृतीयमधर्मद्वारं पापोपाय इति ॥

(२) अथ यन्नामेत्यभिधातुमाह–

तस्स य नामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा–चोरिक्कं १ परहडं २ अदत्तं ३ कूरिकडं ४ परलाभो ५ असंजमो ६ परधणम्मि गेही ७ लोलिका ८ तक्करत्तणं ९ ति य अवहारो १० हत्थलहुत्तणं ११ पावकम्मकरणं १२ तेणिक्को १३ हरणविप्पणासो १४ आदियणा १५ लुंपणा धणाणं १६ अप्पच्चओ १७ ओवीलो १८ अक्खेवो १९

वक्खेवो २० विक्खेवो २१ कूडया २२ कुलमसी य २३ कंखा २४ लालप्पणपत्थणा २५ (असासणाय) वसणं २६ इच्छा मुच्छा य २७ तण्हा गेही य २८ नियडिकम्मं २९ अवरोच्छत्ति त्रि य ३० । तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं अदिएणादाणस्स पावकलिकलुसकम्मबहुलस्स अणेगाइं ।

"तस्सेत्यादि" सुगमम् । तद्यथेत्युपदर्शनार्थः । (चोरिक्कं ति) चोराणां चोरिका, सैव चौरिक्यम् १, परस्मात् सकाशात् हृतं परहृतम् २, अदत्तम्-अवितीर्णम् ३, (कूरिकडं ति) क्रूरं चित्तं, क्रूरो वा परिजनो येषामस्ति ते क्रूरिणस्तैः कृतमनुष्ठितं यत्तत्तथा । क्वचित्तु 'कुरंटुकडमिति' दृश्यते । तत्र कुरुण्टुकाः काकटुकबीजप्राया अयोग्याः सद्गुणानामिति ४, परलाभः परस्माद् द्रव्यागमः ५, असंयमः ६, परधने गृद्धिः ७, (लौल्लिक त्ति) लौल्यम् ८, तस्करत्वमिति ९, अपहारः १०, (हत्थलत्तणं ति) परधनहरणकुत्सितो हस्तो यस्यास्ति स हस्तलः, तद्भावो हस्तलत्वम् । पाठान्तरेण-'हस्तलघुत्वमिति' ११, पापकर्मकरणं १२, (तेणिक्क त्ति) स्तौनिकस्तेयम् १३, हरणेन मोषणेन विप्रणाशः परद्रव्यस्य, हरणं च तद् विप्रणाशः १४, (आदियण त्ति) आदानं, परधनस्येति गम्यते १५, लोपेन अवच्छेदनं धनानां द्रव्याणां, परस्येति गम्यते १६, अप्रत्ययकारणत्वादप्रत्ययः १७, अवपीडनं परेषामित्यवपीडः १८, आक्षेपः, परद्रव्यस्येति गम्यते १९, क्षेपः परहस्ताद् द्रव्यस्य प्रेरणम् २०, एवं विक्षेपोऽपि २१, कूटता तुलादीनामन्यथात्वम् २२, कुलमषी वा कुलमालिन्यहेतुरिति कृत्वा २३, काङ्क्षा, परद्रव्य इति गम्यते २४, (लालप्पणपत्थण त्ति) लालपनस्य गर्हितलालपनस्य प्रार्थनेव प्रार्थना लालपनप्रार्थना, चौर्यं हि कुर्वन् गर्हितलपनानि तदपलापरूपाणि, दीनवचनरूपाणि वा प्रार्थयति च, तत्र हि कृते तान्यवश्यं वक्तव्यानि भवन्तीति भावः २५, व्यसनं व्यसनहेतुत्वात् । पाठान्तरेण-"असासणाय वसणं" आशंसनाय विनाशाय व्यसनमिति २६, इच्छा च परधनं प्रत्यभिलाषः, मूर्च्छा तत्रैव गाढाभिष्वङ्गरूपा, तद्धेतुकत्वाददत्तग्रहणस्येति इच्छा मूर्च्छा तदुच्यते २७, तृष्णा च प्राप्तद्रव्यस्याऽव्ययेच्छा, गृद्धिश्चाप्राप्तस्य प्राप्तिवाञ्छा, तद्धेतुकं चादत्तादानमिति तृष्णा गृद्धिश्चोच्यत इति २८, निकृतेर्मायायाः कर्म निकृतिकर्म २९, अविद्यमानानि परेषामक्षीणि दृश्यतया यत्र तदपरोक्षम्, असमक्षमित्यर्थः । इतिः रूपप्रदर्शने, अपिचेति समुच्चये ३० । इह च कानिचित्पदानि सुगमत्वान्न व्याख्यातानि । (तस्स त्ति) यस्य स्वरूपं प्राग्वर्णितं तस्यादत्तादानस्येति संबन्धः । एतान्यनन्तरोदितानि त्रिंशदिति योगः । एवमादिकानि एवंप्रकाराणि वाऽनेकानीति सम्बन्धः । अनेकानीति क्वचिन्न दृश्यते । नामधेयानि नामानि भवन्ति । किंभूतस्य अदत्तादानस्य ?, पापेनापुण्यकर्मरूपेण कलिना च युद्धेन कलुषाणि मलीमसानि यानि कर्माणि मित्रद्रोहादिव्यापाररूपाणि, तैर्बहुलं प्रचुरं यत्तानि वा बहुलानि बहूनि यत्र तत्तथा, तस्य ।

(३) अथ येऽदत्तादानं कुर्वन्ति तानाह—

तं पुण करेंति चोरियं तक्करा परदव्वहरा छेया कयकरणलद्धलक्खा साहसिया लहुस्सगा अतिमहिच्छलोभगत्था दद्दरओवीलका य गिद्धिया अहिमरा अणभंजका भग्गसंधिया रायदुट्ठकारी य विसयनिच्छूढलोकवज्झा उद्दहकगामघायकपुरघायकपंथघायकआदीवकतित्थभेया लहुहत्थसंपउत्ता जूयकरा खंडरक्खत्थीचोरपुरिसचोरसंधिच्छेया य गंठिभेदका परधणहरणलोमावहारअक्खेवी हडकारकानिम्मद्दगगूढचोरगोचोरअस्सचोरकदासिचोरा य एकचोरा य ओकट्टकसंपदायकओच्छिंपकसत्थघायकबिलकोलीकारका य निग्गाहविप्पलुंपगा बहुविहं तेणिक्कहरणबुद्धी, एते अन्ने य एवमादी परस्स दव्वाहिं जे अविरया ॥

विपुलबलपरिग्गहा य बहवो रायाणो परधणम्मि गिद्धा सए दव्वे असंतुट्ठा परविसए अहिहणंति लुद्धा परधणस्स कज्जे, चउरंगसमत्तबलसमग्गा निच्छियवरजोहजुद्धसद्धा य अहमहमिति दप्पिएहिं सेन्नेहिं संपरिवुडा पउमसगडसूइचक्कसागरगरुलवूहादिएहिं अणिएहिं उच्छरंता अभिभूय हरंति परधणाइं । अवरे रणसीसलद्धलक्खा संगामं अतिवयंति, सण्णद्धबद्धपरियरउप्पीलियचिंधपट्टगहिया आउहपहरणा माढिवरवम्मगुंडिया आविद्धजालिका कवयकंडइया उरसिरमुहबद्धकंठतोणा, पाइयवरफलकरचियपहकरसरभसखरचावकरकरंचियसुनिसितसरवरिसचडकरकमुयंतघणचंडवेगधारानिवायमग्गे अणेगधणुमंडलग्गसंधितउच्छालियसत्तिकणगवामकरगहियखेडगानिम्मलनिकिट्ठखग्गपहरंतकुंततोमरचक्कगयापरसुमुसललंगलसूललउलभिंभिमालसवलपट्टिसचम्मेट्ठघणमोट्ठियमोग्गरवरफलिहजंतपत्थरदुहणतोणकुवेणीपीढाकलिए इलीपहरणमिलिमिलितखिप्पंतविज्जुज्जलविरचितसमप्पहनहतले फुडपहरणे महारणसंखभेरिवरतूरपउरपडुपडहाहयनिनायगंभीरणंदितपक्खुभियविपुलघोसे हयगयरहजोहतुरियपसरियरयुद्धततमंधकारबहुले कायरनरनयणहिययवाउलकरे विलुलियउक्कडवरमउडकिरिडकोंमलोडुदामाऽऽडोवियपागमपडागउच्छियझयवेजयंतिचामरचलंतछत्तंऽधकारगंभीरे हयहेसियहत्थिगुलगुलाइयरहघणघणाइयपाइक्कहरहराइयअप्फोडियसीहनायछिलियविघुट्ठुकुट्ठकंठकयसद्दभीमगज्जिए सयरायहसंतरुसंतकलकलरवे आसूणियवयणरुद्दभीमदसणाधरोट्ठगाढदट्ठसप्पहारकरणुज्जयकरे अमरिसवसतिव्वरत्तनिद्दारितऽच्छिवेरदिट्ठिकुद्धचेट्ठियतिवलीकुडिलभिउडिकयलिलाडे वधपरिणयनरसहस्सविक्कमवियंभियबले वग्गंततुरंगरहपहावियसमरभडावाडियछेयलाघवपहारसाधितसमूसवियबाहुजुयलमुक्कट्टहासपुक्कंतबोलबहुले कलकलगाफलफलगावरणगहियगयवरपत्थयंतदरियभडखलपरोप्परपलग्गजुद्धगव्वियविउसितवरासिरोसतुरियअभिमुहपहरंतछिण्णकरिकरविभंगियकरे अवइद्धनिसुद्धभिन्नफालियपगलियरुहिरकयभूमिकद्दमचिक्खिल्लपहे कुच्छिदालि–

यगलितनिज्झेलितंतफुरफुरंतविगलमम्मइयविगयगाढदिन्नपहारमुच्छितरुलंतविब्भलविलावकलुणे हयजोहभमंततुरगउद्दाममत्तकुंजरपरिसंकियजणणिम्मुक्कच्छिण्णद्धयभग्गरहवरनट्ठसिरकरिकलेवराकिण्णपतियपहरणविकिन्नाभरणभूमिभागे नच्चंतकबंधपउरे भयंकरवायसपरिलिंतगिद्धमंडलभमंतच्छायंऽधकारगंभीरे, वसुवसुहविकंपितव्व पच्चक्खपिउवणं परमरुद्दवीहणगं दुप्पवेसतरगं अभिवडंति संगामसंकडं परधणमहंता, अवरे पाइक्कचोरसंघा सेणावइचोरवंदपागड्ढिका य अडविदेसदुग्गवासी कालहरितरत्तपीतसुक्किल्लअणेगसयचिंधपट्टबंधा परविसए अभिहणंति लुद्धा धणस्स कज्जे, रयणागरसागरं च उम्मीसहस्समालाऽऽकुलविगयपोतकलकलंतकलितं पायालकलससहस्सवायवसवेगसलिलउद्धम्ममाणदगरयरयंऽधकारं वरफेणपउरधवलपुलंपुलसमुट्ठियाट्टहासं मारुयविक्खुब्भमाणपाणियजलमालुप्पलहुलियं तं पि य समंतओ खुभियलुलितखोखुब्भमाणपक्खलियचलियविपुलजलचक्कवालमहानदीवेगतुरियआपूरमाणगंभीरविपुलआवत्तचंचलभममाणगुप्पमाणुच्छलंतपच्चोणियंतपाणियपधावितखरफरुसपयंडवाउलियसलिलफुट्टंतवीचिकल्लोलसंकुलं महामगरमच्छकच्छभोहारगाहतिमिसुंसुमारसावयसमाहतसमुद्धायमाणयपूरघोरपउरं कायरजणहिययकंपणं घोरमारसंतं महब्भयं भयंकरं पतिभयं उत्तासणगं अणोरपारं अगासं चेव निरवलंबं उप्पाइयपवणधणियणोल्लियउवरुवरितरंगदरियअतिवेगचक्खुपहमोच्छरंतं कत्थइ गंभीरविउलगज्जियगुंजियनिग्घायगरुयनिवतितसुदीहनीहारिदूरसुव्वंतगंभीरधुगधुगंतसद्दं पडिपहरुंभंतजक्खरक्खसकूहंडपिसायरुसियतज्जायउवसग्गसहस्ससंकुलं बहूप्पाइयभूयं विरचितबलिहोमधूमउवचारदिन्नरुहिरऽच्चणाकरणपयतजोगपयतचरियं परियंतजुगंतकालकप्पोवमं दुरंतमहानइनइवइमहाभीमदरिसणिज्जं दुरणुचरं विसमप्पवेसं दुक्खुत्तारं दुरासयं लवणसलिलपुण्णं असितसियसमुच्छियगेहिं हत्थतरेकेहिं वाहणेहिं अतिवइत्ता समुद्दमज्झे हणंति, गंतूण जणस्स पोते परदव्वहरा नरा निरणुकंपा, निरवेक्खा गामागरनगरखेडकव्वडमंडबदोणमुहपट्टणासमणिगमजणवयं ते य धणसमिद्धे हणंति, थिरहियय छिन्नलज्जा बंदिग्गह गोग्गहे य गेण्हंति, दारुणमतिनिक्किवा णियं हणंति छिंदंति गेहसंधि निक्खित्ताणि य हरंति, धणधन्नदव्वजायाणि जणवयकुलाणं निग्घिणमई परदव्वाहिं जे अविरया, तहेव केई अदिन्नादाणं गवेसमाणा कालाकालेसु संचरंता चितगपज्जलियसरसदरदड्ढकड्ढियकलेवरे रुहिरलित्तवदणअक्खयखादियपीतडाइणिभमंतभयकरं जंबुयखिक्खियंते घूयकयघोरसद्दे वेयालुट्ठियविसुद्धकहकहंतपहसितवीहणगनिरभिरामे अतिबीभच्छदुब्भिगंधदरिसणिज्जे सुसाणे वणे सुन्नघरलेणअंतरावणगिरिकंदरविसमसावयसमाकुलेसु वसहीसु किलिस्संता सीतातवसोसियसरीरा दड्ढच्छविनिरयतिरियभवसंकडदुक्खसंभारवेदणिज्जाणि पावकम्माणि संचिणंता दुल्लहभक्खन्नपाणभोयणपिवासिया झुंझिया किलंता मंसकुणिमकंदमूलं जं किंचि कयाहारा उव्विग्गा उप्पुया असरणा अडवीवासं उवेंति, वालसतसंकणीयं अयसकरा तक्करा भयंकरा कस्स हरामो त्ति अज्ज दव्वं इति समामंतं करेंति, गुज्झं बहुयस्स जणस्स कज्जकरणेसु विग्घकरा मत्तप्पमत्तपसुत्तवीसत्थछिद्दघाती वसणब्भुदएसु हरणबुद्धी विगव्व रुहिरमहिया परिंति नरवतिमज्जायमतिक्कंता सज्जणजणदुगंछिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी असुभपरिणया य दुक्खभागी निच्चाउलदुहमनिव्वुइमणा इह लोके चेव किलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयमावन्ना।

(तं पुणेत्यादि) तत् पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः, तदेव चौर्यं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः तस्कराः परद्रव्यहराः, प्रतीतम्, छेका निपुणाः, कृतकरणा बहुशो विहितचौर्यानुष्ठानाः, ते च लब्धलक्षाश्च अवसरज्ञाः कृतकरणलब्धलक्षाः, साहसिका धैर्यवन्तः, लघुस्वकाश्च तुच्छात्मानः, अतिमहेच्छाश्च लोभग्रस्ताश्चेति समासः। [दद्दरओवीलगा य त्ति] दर्दरेण गलदर्दरेण, वचनाटोपेनेत्यर्थः। अपव्रीडयन्ति गोपायन्त्यात्मस्वरूपं परं विलज्जीकुर्वन्ति ये ते दर्दरापव्रीडिकाः, मुष्णन्ति हि शठात्मानः-तथाविधवचनाटोपप्रकटितस्वभावं मुग्धजनमिति । अथवा-दर्दरेणोपपीडयन्ति जातमनोबाधं कुर्वन्तीति दर्दरोपपीडिकाः, ते च गृद्धिं कुर्वन्तीति गृद्धिकाः। अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽभिमराः। ऋणं देयं द्रव्यं भञ्जन्ति न ददति ये ते ऋणभञ्जकाः। भग्नाः खण्डिताः सन्धयः विप्रतिपत्तौ संस्था यैस्ते भग्नसन्धिकाः, ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। राजदुष्टं कोशहरणादिकं कुर्वन्ति ये ते तथा। विषयान्मण्डलात् (निच्छूढंति) निर्द्धारिता ये ते, तथा लोकबाह्या जनबहिष्कृताः, ततः कर्मधारयः। उद्दोहकाश्च घातकाः, उद्दोहकाश्च वा अटव्यादिदाहकाः, ग्रामघातकाश्च पुरघातकाश्च पथिघातकाश्च गृहादिप्रदीपनककारिणः तीर्थभेदाश्च तीर्थमोचका इति द्वन्द्वः। लघुहस्तेन हस्तलाघवेन संप्रयुक्ता ये ते। तथा (जूयकरे त्ति) द्यूतकराः, खण्डरक्षाः शुल्कपालाः, कोट्टपाला वा, स्त्रियाः सकाशात् स्त्रीमेव चोरयन्ति, स्त्रीरूपा वा ये चौरास्ते स्त्रीचौराः, एवं पुरुषचौरका अपि। सन्धिच्छेदाः खात्रखानकाः, एतेषां द्वन्द्वः। ततस्ते च ग्रन्थिभेदका इति वक्तव्यम्। परधनं हरन्ति ये ते तथा परधनहारिणः। लोमान्यपहरन्ति ये ते लोमापहराः। निःशूकतया भयेन परप्राणान्विनाश्यैव मुष्णन्ति ये ते लोमापहरा उच्यन्ते। आक्षिपन्ति वशीकरणादिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः। एतेषां द्वन्द्वः। [हडकारग त्ति] हठेन कुर्वन्ति ये ते हठकारकाः। पाठान्तरेण-"परधणहरणलोहावहारक्खेवहिंडकारक त्ति" सर्वेऽप्येते चौरविशेषाः। निरन्तरं मर्दयन्ति ये ते निर्मर्दकाः। गूढचौराः प्रच्छन्नचौराः, गोचौराः, अश्वचोरकाः, दासीचौराश्च प्रतीताः।

एतेषां द्वन्द्वः। अनस्ते च एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्तीति। [ओकट्ट त्ति] अपकर्षका ये गेहाद् ग्रहणं निष्कासयन्ति चौराण्याकार्य परगृहाणि मोषयन्ति, चौरपृष्ठवहा वा। संप्रदायकाश्चौराणां भक्तकादि प्रयच्छन्ति। (ओच्चिप त्ति) अवच्चिम्पकाश्चौरविशेषा एव। सार्थघातकाः प्रतीताः। विलकोलीकारकाः परव्यामोहनाय विसर्वरवचनवादिनो, विसर्वरवचनकारिणो वा। एतेषां द्वन्द्वः। ते च निग्रहाद्ग्रहणान्निग्राह्य राजादिना गृहीता इत्यर्थः। ते चैते विग्रहोपकाश्चेति समासः। बहुविधेन (तेणिक्क त्ति) स्तेयेन हरणे बुद्धिर्येषां ते-'बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धीए'। पाठान्तरेण-(बहुविधतहाऽवहरणबुद्धि त्ति) बहुविधा तथा तेन प्रकारेणापहरणे बुद्धिर्येषां ते तथा। एते उक्तरूपाः;अन्ये चैतेभ्यः एवंप्रकारा अदत्तमाददतीति प्रक्रमः। कथंभूतास्ते ?, इत्याह-परस्य द्रव्याद्ये अविरता अनिवृत्ताः॥ इति ये अदत्तादानं कुर्वन्ति ते उक्ताः॥

अधुना त एव यथा तत् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुलं बलं सामर्थ्यं परिग्रहश्च परिवारो येषां ते तथा। ते च बहवो राजानः परधने गृद्धाः। इदमधिकं वाचनान्तरे पदत्रयम्। तथा स्वके द्रव्ये असंतुष्टाः परविषयान् परदेशानभिघ्नन्ति लुब्धाः, धनस्य कृते इत्यर्थः। चतुर्भिरङ्गैर्विभक्तं समस्तं वा यद्बलं सैन्यं तेन समग्रा युक्ता ये ते तथा। निश्चितैर्निश्चयवद्भिर्वरयोधैः सह युद्धं संग्रामस्तत्र श्रद्धा संजाता येषां ते तथा, ते च ते अहमित्येवं दर्पिताश्च दर्पवन्त इति समासः। तैरेवंविधैः भृत्यैः पदातिभिः। क्वचित्सैन्यैरिति पठ्यते। संपरिवृताः समेताः, तथा पद्मशकटसूचीचक्रसागरगरुडव्यूहानि, तैः। इह व्यूहशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। तत्र पद्माकारो व्यूहः पद्मव्यूहः, परेषामनभिभवनीयसैन्यविन्यासविशेषः। एवमन्येऽपि पञ्च। एतै रचितानि यानि तानि तथा तैः। कैः ?, अनीकैः सैन्यैः। अथवा-पद्मादिर्व्यूह आदिर्येषां गोमूत्रिकाव्यूहादीनां ते तथा। तैरुपलक्षितैः, कैः?, अनीकैः। (उच्छरंत त्ति) आस्तृण्वन्त आच्छादयन्तः,परानीकानिति गम्यम्। अभिभूय जित्वा, तान्येव हरन्ति, परधनानीति व्यक्तम्। अपरे सैन्योद्धृतेभ्यो नृपेभ्योऽन्ये स्वयं योद्धारो राजानो रणशीर्षे संग्रामशिरसि प्रकृष्टरणे लब्धं लक्ष्यं यस्ते तथा।' संगामं ति ' द्वितीया सप्तम्यर्थेतिकृत्वा संग्रामे रणे अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव योधयन्ति। किंभूताः?, सन्नद्धाः सन्नहनादिना कृतसन्नाहाः, बद्धः परिकरः कवचो यैस्ते तथा। उत्पाटितो गाढबद्धश्चिह्नपट्टो नेत्रादिचीवरात्मको मस्तके यैस्ते तथा। गृहीतान्यायुधानि शस्त्राणि प्रहरणानि यैस्ते तथा। अथवा-आयुधप्रहरणानां क्षेप्याक्षेप्येन कृतो विशेषः। ततः सन्नद्धादीनां कर्मधारयः। पूर्वोक्तमेव विशेषणं प्रपञ्चयन्नाह-'माढी' तनुत्राणविशेषः,तेन वरवर्मणा च प्रधानतनुत्राणविशेषेणैव गुण्डिताः प्रेरिता ये ते माढीवरवर्मगुण्डिताः। पाठान्तरेण-(वम्मट्ठिवम्मगुडिता) तत्र 'गुडा' तनुत्राणविशेष एव;अन्यत् तथैव। आविद्धा परिहिता जालिका लोहकञ्चुको यैस्ते तथा। कवचेन तनुत्राणविशेषेणैव कण्टकिताः कृतकवचा ये ते तथा। उरसा वक्षसा सह शिरोमुखा ऊर्द्धमुखा बद्धा यन्त्रिताः कण्ठे गले तोणास्तूणीराः शरधयो यैस्ते उरःशिरोमुखबद्धकण्ठतोणाः। तथा [पासिय त्ति] हस्तपाशितानि वरफलकानि प्रधानफलकानि यैस्ते तथा। तेषां सत्को रचितो रणोचितरचनाविशेषेण परप्रयुक्तप्रहरणप्रहारप्रतिघाताय कृतः [पहकर त्ति] समुदायो यैस्ते तथा। ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः। अनस्तैः सरभसैः सहर्षैः खरचापकरैः निष्ठुरकोदण्डहस्तैः,धानुष्कैरित्यर्थः। ये कराञ्चिताः कराकृष्टाः सुनिशिता अतिनिशिताः शरा बाणास्तेषां यो वर्षवटकरको वृष्टिविभागो (मुयंत त्ति) मुच्यमानः स एव घनस्य मेघस्य चण्डवेगानां धाराणां निपातः तस्य मार्गो यः स तथा। तत्र 'मंते त्ति' पाठान्तरं च। तत्र मत्प्रत्ययान्तत्वान्निपातवति संग्रामेऽतिपतन्तीति प्रक्रमः। तथा अनेकानि धनूंषि च मण्डलाग्राणि च खड्गविशेषाः,तथा सन्धिताः क्षेपणायोद्गीर्णा उच्छालिता ऊर्द्ध्वं गताः शक्तयश्च त्रिशूलरूपाः, कनकाश्च बाणाः, तथा वामकरगृहीतानि खेटकानि च फलकानि, निर्मला निकृष्टाः खड्गाश्च उज्ज्वलविकोशीकृतकरवालाः। तथा प्रहरन्ति प्रहारप्रवृत्तानि कुन्तानि च शस्त्रविशेषाः,तोमराश्च बाणविशेषाः, चक्राणि च अराणि, गदाश्च दण्डविशेषाः, परशवश्च कुठाराः, मुशलानि च प्रतीतानि, लाङ्गलानि च हलानि,शूलानि च,लगुडाश्च प्रतीताः। भिन्दिपालाश्च शस्त्रविशेषाः। शबलाश्च भल्लाः। पट्टिशाश्चास्त्रविशेषाः, चर्मेष्टाश्च चर्मनद्धपाषाणाः, घनाश्च मुद्गरविशेषाः,मौष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणपाषाणाः, मुद्गराश्च प्रतीताः, वरपरिघाश्च प्रबलार्गलाः ,यन्त्रप्रस्तराश्च गोफणादिपाषाणाः, द्रुघणाश्चट्टकराः , तोणाश्च शरधयः , कुवेणयश्च रूढिगम्याः , पीठानि च आसनानीति द्वन्द्वः। एभिः प्रतीताप्रतीतैः प्रहरणविशेषैः कलितो युक्तो यः स तथा। तत्र इलीभिः करवालविशेषैः प्रहरणैश्च (मिलिमिलिंत त्ति) चिकचिकायमानैः (खिप्पंत त्ति) क्षिप्यमाणैः विद्युतः क्षणप्रभाया उज्ज्वलाया निर्मलाया विरचिता विहिता समा सदृशी प्रभा दीप्तिर्यत्र तत् तथा। तदेवंविधं नभस्तलं यत्र स तथा; तत्र संग्रामे तथा स्फुटप्रहरणे स्फुटानि व्यक्तानि प्रहरणानि यत्र स तथा तत्र संग्रामे, तथा-महारणस्य संबन्धीनि यानि शङ्खाश्च, भेरी च दुन्दुभिः, वरतूर्यं च लोकप्रतीतम्,तेषां प्रचुराणां पटूनां स्पष्टध्वनीनां पटहानां च पटहकानामाहतानामास्फालितानां निनादेन ध्वनिना गम्भीरेण बहलेन ये नन्दिताः हृष्टाः, अक्षुभिताश्च भीतास्तेषां विपुलो विस्तीर्णो घोषो यत्र स तथा तत्र। हयगजरथयोधेभ्यः सकाशात् त्वरितं शीघ्रं प्रसृतं प्रसरमुपगतं यद्रजो धूली तदेवोद्धततमान्धकारमतिशयं प्रबलं तामिस्रं तेन बहुलो यः स तथा तत्र, तथा कातरनराणां नयनयोर्हृदयस्य च (वाउलि त्ति) व्याकुलत्वं क्षोभं करोतीत्येवंशीलो यः स तथा तत्र। विलुञ्चितानि शिथिलतया चञ्चलानि यान्युत्कटवराण्युन्नतप्रवराणि मुकुटानि मस्तकाभरणविशेषाणि किरीटानि च तान्येव शिखरत्रयोपेतानि,कुण्डलानि च कर्णाभरणानि, उडुदामानि च नक्षत्रमालाऽभिधानाभरणविशेषाः, तेषामाटोपः स्फारता सा विद्यते यत्र स विलुलितोत्कटवरमुकुटकिरीटकुण्डलोडुदामाटोपित इति। तथा प्रकटा याः पताकाः, उच्छ्रिताश्च ऊर्द्धीकृता ये गजगरुडादिध्वजाः, वैजयन्त्यश्च विजयसूचिकाः पताका एव चामराणि चलन्ति छत्राणि च तेषां सम्बन्धि यदन्धकारं तेन गम्भीरोऽलब्धमध्यो यः स तथा कर्मधारयः,ततस्तत्र। हयानां यद् हेषितं शब्दविशेषः, हस्तिनां यद् गुलुगुलायितं शब्दविशेष एव, तथा रथानां यत् (घणघणाय त्ति) घणघणेत्येवंरूपस्य शब्दस्य करणम्, तथा (पाइक्क त्ति) पदातीनां यत् (हरहराइय त्ति) हरहरेतिशब्दकरणम्, आस्फोटितं च करास्फोटरूपं सिंहनादश्च सिंहस्येव शब्दकरणम्, (छिलिय त्ति) सण्टितं सीत्कारकरणम्,विघुष्टं च

विरूपघोषकरणं, उत्कृष्टं तत् कृष्टनादः, आनन्दमहाध्वनिरित्यर्थः । कण्ठकृतशब्दश्च, तथाविधो गलरवः, त एव भीमगर्जितं मेघध्वनिर्यत्र स तथा तत्र । एकहेलया हसतां रुषतां वा कललकणो रवो यत्र स तथा तत्र । तथा अशूनितेनेषत्शूलीकृतेन वदनेन ये रौद्रा भीषणास्ते तथा । तथा भीमं यथा भवतीत्येवं दशनैरधरोष्ठौ गाढं दष्टौ यैः, ते तथा । ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां भटानां सत्प्रहरणे सुष्ठु प्रहारकरणे उद्यताः प्रयत्नप्रवृत्ताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा अमर्षवशेन कोपवशेन तीव्रमत्यर्थं रक्त लोहिते भिदारिते विस्फारिते अक्षिणी लोचने यत्र स तथा । वैरप्रधाना दृष्टिर्वैरदृष्टिः, तया वैरदृष्ट्या वैरबुद्ध्या वैरभावेन ये क्रुद्धाश्चेष्टिताश्च तैः । त्रिवली कुटिलः वलित्रया वक्रा भ्रुकुटिर्नयनललाटविकारविशेषकृता ललाटे यत्र स तथा तत्र । तथा वधपरिणतानां मारणाध्यवसायवतां नरसहस्राणां विक्रमेण पुरुषाकारविशेषेण विजृम्भितं विस्फुरितं बलं शरीरसामर्थ्यं यत्र स तथा तत्र । तथा वल्गत्तुरङ्गैः रथैश्च प्रधाविता वेगेन प्रवृत्ता ये समरभटाः संग्रामयोधास्ते तथा । आपतिता योद्धुमुद्यताः, छेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षताप्रयुक्तघातेन साधिता निर्मिता यैस्ते तथा (समूसविय त्ति) समुच्छ्रितं हर्षातिरेकादूर्ध्वीकृतं बाहुयुगलं यत्र तत्तथा, तद्यथा भवतीत्येवं मुक्ताट्टहासाः कृतमहाहासध्वनयः । (पुक्कंत त्ति) पूत्कुर्वन्तः पूत्कारं कुर्वाणाः, ततः कर्मधारयः । ततस्तेषां यो बोलः कलकलः स बहुलो यत्र स तथा तत्र । तथा (फलगावरणगहिय त्ति) स्फाराश्च फलकानि च आवरणानि च सन्नाहा गृहीतानि यैस्ते तथा [गयवरपत्थंत त्ति] गजवरान् रिपुमतङ्गजान् प्रार्थयमाना हन्तुमारोढुं वाऽभिलषमाणास्तत्र शक्तास्तच्छीला वा ये ते तथा । ततः कर्मधारयः । ततस्ते च ते दृप्तभटखलाश्च दर्पितयोधवृन्दा इति समासः । ते च ते परस्परप्रलग्नाश्च, अन्योन्यं योद्धुमारब्धा इत्यर्थः । ते च ते युद्धगर्विताश्च योधनकलाविज्ञानगर्विताः, ते च ते विकोशितवरासिभिः निष्कर्षितवरकरवालैः, रोषेण कोपेन त्वरितं शीघ्रम्, अभिमुखमाभिमुख्येन प्रहरद्भिश्छिन्नाः करिकरा यैस्ते तथा । ते चेति समासः । तेषां [विगिय त्ति] व्यङ्गिताः खण्डिताः करा यत्र स तथा तत्र । तथा [अवइड्ड त्ति] अपविद्धास्तोमरादिना सम्यग्विद्धाः । निर्भिन्नाः स्फाटिताश्च विदारिता यैः, तेभ्यो यत्प्रगलितं रुधिरं तेन कृतो भूमौ यः कर्दमस्तेन चिक्खिल्लाः पिच्छिलाः पन्थानो यत्र स तथा तत्र । तथा कुक्षौ दारिताः कुक्षिदारिताः, गलितं रुधिरं स्रवन्ति रुधन्ति वा भूमौ लुठन्ति, निर्मेलितानि कुक्षितो बहिष्कृतानि अन्त्राणि उदरमध्यावयवविशेषा येषां ते तथा । [फुरफुरंतविगल त्ति] फुरफुरायमाणाश्च विकलाश्च विच्छेन्द्रियवृत्तयो ये ते । तथा मर्मणि हता मर्महताः, विकृतो गाढो यत्र दत्तः प्रहारो येषां ते तथा । अत एव मूर्च्छिताः सन्तो भूमौ लुठन्तः विह्वलाश्च निःसहाङ्गाः ये ते तथा । तथा कुक्षिदारितादिपदानां कर्मधारयः । ततस्तेषां विलापः शब्दविशेषः करुणा दयाऽऽस्पदं यत्र स तथा तत्र, तथा हता विनाशिता योधा अश्वारोहादयो येषां ते तथा । तत्र ते यदृच्छया संभ्रमन्तस्तुरगाश्च उद्दाममत्तकुञ्जराश्च परिशङ्कितजनाश्च भीतजनाः (निम्मुक्कछिन्नधय त्ति) निर्मूलाः छिन्नाः केतवो भग्ना दलिता रथवराश्च यत्र स तथा । नष्टशिरोभिन्निन्नमस्तकैः करिकलेवरैः दन्तिशरीरैराकीर्णा व्याप्ताः । पतितप्रहरणा ध्वस्तायुधाः, विकीर्णाभरणा विक्षिप्ताऽलङ्काराः, भूमिभागा

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः; तत्र । तथा नृत्यन्ति कबन्धानि शिरोरहितकलेवराणि प्रचुराणि यत्र स तथा । भयंकरवायसानां [परिलिंतगिद्ध त्ति] परिलीयमानगृद्धानां यन्मण्डलं चक्रवालं भ्राम्यतः संचरतस्तस्य या छाया तया यदन्धकारं तेन गम्भीरो यः स तथा । तत्र संग्रामे, अपरे राजानः परधनगृद्धाः, प्रतिपतन्तीति प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमेवार्थं संक्षिप्ततरेण वाक्येनाह- वसवो देवाः, वसुधा च पृथिवी, विकम्पिता यैस्ते तथा । ते इव राजान इति प्रक्रमः । प्रत्यक्षमिव साक्षादिव तद्धर्मयोगात् पितृवनं श्मशानं प्रत्यक्षपितृवनम् (परमरुद्दबीहणगं ति) अत्यर्थदारुणं भयानकं दुष्प्रवेशतरकं प्रवेष्टुमशक्यं, सामान्यजनस्येति गम्यम् । अतिपतन्ति प्रविशन्ति संग्रामसंकटं संग्रामसगहनं, परधनं परद्रव्यं (महंत त्ति) इच्छन्त इति । तथा अपरे राजन्या अन्ये (पाडक्कचोरसंघा) पदातिरूपचौरसमूहाः, तथा सेनापतयः । किं स्वरूपाः,? चौरवृन्दप्रकर्षकाश्च, तत्प्रवर्तका इत्यर्थः । अटवीदेशे यानि दुर्गाणि जलस्थलदुर्गरूपाणि तेषु वसन्ति ये ते तथा । कालहरितरक्तपीतशुक्लाः, पञ्चवर्णा इति यावत् । अनेकशतसंख्याश्चिह्नपट्टा बद्धा यैस्ते तथा । परविषयानभिघ्नन्ति; लुब्धा इति व्यक्तम् । धनस्य कार्ये धनकृते इत्यर्थः । तथा रत्नाकरभूतो यः सागरः, तथा तं चातिपत्याभिघ्नन्ति, जनस्यापालानिति सम्बन्धः । ऊर्मयो वीचयस्तत्सहस्राणां मालाः पङ्क्तयस्ताभिराकुलो यः स तथा । आकुला जलाभावेन व्याकुलितचित्ता ये च तोयपोताः विगतजलयानपात्राः सांयात्रिकाः (कलकलंत त्ति) कलकलायमाना हलबोलं कुर्वाणास्तैः कलितो यः स तथा । अनेनास्यापेयजलत्वमुक्तम् । अथवा-ऊर्मिसहस्रमालाभिराकुलोऽतिव्याकुलो यः स तथा । तथा विगतपोतैर्विगतसंबन्धनावोद्भिश्चैः कलकलं कुर्वद्भिः कलितो यः स तथा । ततः कर्मधारयः । तथातम् । तथा पाताला पातालकलशास्तेषां यानि सहस्राणि तैर्वातवशाद्वेगेन यत्सलिलं जलधिजलम् (उदम्ममाणं ति) उत्पाट्यमानं तस्य यदुदकरजस्तोयरेणुस्तदेव रजोऽन्धकारं धूलीतमो यत्र स तथा तम् । वरः फेनो डिण्डीरः प्रचुरो धवलः (पुलंपुल त्ति) अनवरतं यः समुत्थितो जातः स एवाट्टहासो यत्र । वरफेन एव वा प्रचुरादिविशेषणोऽट्टहासो यत्र स तथा तम् । मारुतेन विक्षोभ्यमाणं पानीयं यत्र स तथा; जलमालानां जलकल्लोलानामुत्पलाः समूहः (हुलिय त्ति) शीघ्रो यत्र स तथा, ततः कर्मधारयोऽतस्तम् । अपिचेति समुच्चये । तथा समन्ततः सर्वतः क्षुभितवायुप्रभृतिभिर्व्याकुलितं क्षुभितं तीरभुवि लुठितं (खोक्खुब्भमाण त्ति) महामत्स्यादिभिर्भृशं व्याकुलीक्रियमाणं, प्रस्खलितं निर्गच्छत्पर्वतादिस्खलितं, चलितं स्वस्थानगमनप्रपन्नं, विपुलं विस्तीर्णं, जलचक्रवालं तोयमण्डलं यत्र स तथा । तथा महानदीवेगैर्गङ्गाऽऽदिनिम्नगाजवैः त्वरितं यथा भवतीत्येवमापूर्यमाणो यः स तथा । गम्भीरा अलब्धमध्याः, विपुला विस्तीर्णाश्च ये आवर्ता जलप्रमाणस्थानरूपास्तेषु चञ्चलं यथा भवन्तीत्येवं भ्रमन्ति संचरन्ति, गुप्यन्ति व्याकुलीभवन्ति, (उप्पतंति) उच्छलन्ति वा ऊर्ध्वमुखानि चलन्ति प्रत्यवनिवृत्तानि वाऽधःपतितानि पानीयानि प्राणिनो वा यत्र स तथा । अथवा जलचक्रवालेति नदीनां विशेषणमापूर्यमाणेति चावर्तानामिति । तथा प्रधाविता विगतगतयः खरपरुषा अतिकर्कशाः प्रचण्डाः रौद्रा व्याकुलितसलिला विलोलितजलाः स्फुटन्तो विदार्यमाणा ये वीचिरूपाः कल्लोलाः, न तु वायुरूपाः कल्लोलाः तैः सङ्कुलो यः स तथा । ततः कर्मधारयोऽतस्तम् । तथा महामकरमत्स्यकच्छपादिच(उहा-

र त्ति] जलजन्तुविशेषाः, ते च ग्राहतिमिङ्गिलसुंसुमाराश्च ते । द्वन्द्वः। तेषां समाहताश्च परस्परेणोपहताः [समुद्धायमाण य त्ति] समुद्धावन्तश्च प्रहाराय समुत्तिष्ठन्तो ये पूराः संघाः घोरा रौद्रास्ते च प्रचुरा यत्र स तथा तम् । कातरनरहृदयकम्पनमिति प्रतीतम् । घोरं रौद्रं यथा भवतीत्येवमारसन्तं शब्दायमानं,महाभयादीन्येकार्थानि । [अणोरपारं ति] अनर्वाक्पारमिव महत्त्वादनर्वाक्पारम्, आकाशमिव निरालम्बम्, न हि तत्र पतद्भिः किञ्चिदालम्बनमवाप्यत इति भावः । औत्पातिकपवनेनोत्पातजनितवायुना [धणिय त्ति]अत्यर्थं, येन[णोल्लिय त्ति] नोदिताः प्रेरिता उपर्युपरि निरन्तरं तरङ्गाः कल्लोलास्ते, दृप्त इव अतिवेगोऽतिक्रान्तः शेषवेगं यो वेगस्तेन, लुप्ततृतीयैकवचनदर्शनात् । चक्षुःपथे दृष्टे मार्गे [मोच्छुरंत करथइ त्ति] कचिद्देशे गम्भीरं विपुलगर्जितं मेघस्येव ध्वनिर्गुञ्जितं च, गुञ्जालक्षणातोद्यं च निर्घातश्च गगने व्यन्तरकृतो महाध्वनिः, गुरुकनिपतितं च विद्युदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनिर्यत्र स तथा । सुदीर्घनिर्हारी अह्रस्वप्रतिरवो [दूरसुव्वंत त्ति] दूरे श्रूयमाणो गम्भीरो धुगधुगित्येवंरूपश्च शब्दो यत्र स तथा कर्मधारयः । ततस्तम् । पथि मार्गे [रुभंत त्ति] रुन्धानाः संचरिष्णूनां मार्गं स्खलयन्तो ये यक्षराक्षसकूष्माण्डपिशाचव्यन्तरविशेषाः, तेषां यत्प्रगर्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठान्तरेण-[रुसियतज्जायउवसग्गसहस्स त्ति] तत्र यक्षादयश्च रुषिताः, तज्जातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कुलो यः स तथा तम् । बहूनि च औत्पातिकानि उत्पातान् भूतः प्राप्तो यः स तथा । वाचनान्तरे-उपद्रवेणाभिभूतो यः स उपद्रवाभिभूतः । ततः प्रतिपथेत्यादिना कर्मधारयः । अतस्तम् । तथा विरचितो बलिना उपहारेण होमेनाग्निकारिकया धूमेन उपचारो देवतापूजा यैस्ते तथा । दत्तं वितीर्णं रुधिरं यत्र तत्तथा, तच्च तदर्चनाकरणं च देवतापूजनं च तत्र प्रयता ये ते तथा । योगेषु प्रवहणोचितव्यापारेषु प्रयता ये ते तथा । ततो विरचितेत्यादीना कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । चरितः सेवितो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य सकलयुगान्तिमयुगस्य योऽन्तकालः क्षयकालस्तेन कल्पा कल्पनीया उपमा रौद्रत्वाद्यस्य स तथा । दुरन्तं दुरवसानं महानदीनां गङ्गादीनां चेतरासां पतिः प्रभुर्यः स तथा । महाभीमो दृश्यते यः स तथा । कर्मधारयः । अतस्तम् । दुःखेनानुवर्त्यते सेव्यते यः स तथा तम् । विषमप्रवेशं दुष्प्रवेशं, दुःखोत्तारमिति च प्रतीतम् । दुःखेनाश्रीयत इति दुराश्रयस्तं, लवणसलिलपूर्णमिति व्यक्तम् । असिताः कृष्णाः, सिताः सितपटाः,समुच्छ्रिता ऊर्ध्वीकृता येषु तान्यसितसितसमुच्छ्रितानि तैः; चौरप्रवहणेषु कृष्णा एव सितपटाः क्रियन्ते, दूरादनुपलक्षणहेतोरित्यासितेत्युक्तम् । [हत्थतरेकेहिं ति] सांयात्रिकयानपात्रेभ्यः सकाशाद्दक्षतरैर्वेगवद्भिरित्यर्थः । वाहनैः प्रवहणैरतिपत्य पूर्वोक्तविशेषणं सागरं प्रविश्य समुद्रमध्ये घ्नन्ति, गत्वा जनस्य सांयात्रिकलोकस्य, पोतान् यानपात्राणि, परद्रव्यहरणे ये निरनुकम्पा निःशूकास्ते तथा । वाचनान्तरे-परद्रव्यहरा नरा निरनुकम्पाः [निरवेक्ख त्ति] परलोकं प्रति निरवकाङ्क्षा निरपेक्षाः ग्रामो जनपदाश्रितः सन्निवेशविशेषः, आकरो लवणाद्युत्पत्तिस्थानम्, नकरः अकरदायिलोकः, खेटं धूलीप्राकारः, कर्बटं कुनगरं, मडम्बं सर्वतोऽनासन्नसन्निवेशान्तरं, द्रोणमुखं जलस्थलपथोपेतं,पत्तनं जलपथयुक्तं,स्थलपथयुक्तं वा, रत्नभूमिरित्यन्ये । आश्रमस्तापसादिनिवासः,निगमो वणिग्जननिवासः, जनपदो देशः । इति द्वन्द्वः । अतस्तांश्च धनसमृद्धान् घ्नन्ति । तथा स्थिरहृदयाः तत्रार्थे निश्चलचित्ताश्छिन्नलज्जाश्च ये ते तथा । बन्दिग्रहगोग्रहांश्च गृह्णन्ति कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा-दारुणमतयः निष्कृपा निघ्नन्ति, भिन्दन्ति गेहसन्धिमिति तम् । निक्षिप्तानि स्वस्थानन्यस्तानि हरन्ति, धनधान्यद्रव्यजातानि धनधान्यरूप्यप्रकारान् । केषाम् ?, इत्याह-जनपदकुलानां लोकगृहाणां, निर्घृणमतयः परस्य द्रव्याद्येरविरताः, तथा । तथैव पूर्वोक्तप्रकारेण केचिददत्तादानमवतीर्णं द्रव्यं गवेषयन्तः कालाकालयोः सञ्चरणस्योचितानुचितरूपयोः सञ्चरन्तो भ्रमन्तः, (चियग त्ति) चितिषु प्रतीतासु प्रज्वलितानि वह्निदीप्तानि सरसानि इन्धनादियुक्तानि दरदग्धानि ईषद्भस्मीकृतानि कृष्टान्याकृष्टानि तथाविधप्रयोजनाभिः कलेवराणि मृतशरीराणि यत्र तत्तथा, तत्र श्मशाने । क्लिश्यमाना अटवीवासमुपयन्तीति संबन्धः । पुनः किंभूते ?, रुधिरलिप्तवदनानि अक्षतानि समग्राणि, मृतकानि इति गम्यते । खादितानि भक्षितानि,पीतानि च शोणितापेक्षया, यकाभिस्तास्तथा, ताभिश्च डाकिनीभिः शाकिनीभिः भ्रमन्तीभिः तत्र सञ्चरन्तीभिः भयङ्करं यत्र तं रुधिरलिप्तवदनाक्षतखादितपीतडाकिनीभ्रमद्भयङ्करम् । कचिदक्षत इत्येतस्य स्थाने-" अदरंत" इति पठ्यते । तत्र चाभिर्निर्भयाभिरिति व्याख्येयम् । (जंबुयखिक्खियंते त्ति) खिक्खीतिशब्दायमानः,शृगालः, ततः कर्मधारयः । अतस्तत्र । तथा घूककृतघोरशब्दे कौशिकविहितरौद्रध्वाने,वेतालेभ्यः विकृतपिशाचेभ्य उत्थितं समुत्पन्नं विरूपं शब्दान्तरमिश्रं (कहकहेति त्ति) कहकहायमानं यत्प्रहसितं तेन (बीहणगं ति) भयानकम् । अत एव निरभिरामं वा रमणीयं यत्र तत्तथा । तथा तत्र, अतिबीभत्सदुरभिगन्धे इति व्यक्तम् । पाठान्तरेण-अतिदुरभिगन्धबीभत्सदर्शनीये इति । कस्मिन्नेवंभूते ?,इत्याह-श्मशाने पितृवने, तथा वने कानने यानि शून्यगृहाणि प्रतीतानि, लयनानि शिलामयगृहाणि, अन्तरे ग्रामादीनामर्द्धपथे, आपणा हट्टाः,गिरिकन्दराश्च गिरिगुहाः । इति द्वन्द्वः । ताश्च ताः विषमश्वापदसमाकुलाश्चेति कर्मधारयः, अतस्तासु । कासु एवंविधास्वित्याह-वसतिषु वा स्थानेषु वा क्लिश्यन्तः, शीतातपशोषितशरीरा इति व्यक्तम् । तथा दग्धत्वचः शीतादिभिरुपहतत्वचः, तथा निरयतिर्यग्भव एव यत्सङ्कटं गहनं तत्र यानि दुःखानि निरन्तरदुःखानि तेषां यः सम्भारो बाहुल्यं, तेन वेद्यन्ते अनुभूयन्ते यानि तानि तथा । तानि पापकर्माणि संचिन्वन्तो बध्नन्तः दुर्लभं दुरापं भक्ष्याणां मोदकादीनामशनम्, ओदनादीनां पानानां च मद्यजलादीनां भोजनं प्राशनं येषां ते तथा । अत एव पिपासिता जाततृषः, (झुंझिय त्ति) बुभुक्षिताः क्लान्ता म्लानीभूताः, मांसं प्रतीतम् (कुणिमं ति) कुणपः शवः, कन्दमूलानि प्रतीतानि, यत्किञ्चिच्च यथाप्राप्तवस्तु । इति द्वन्द्वः । एतैः कृतो विहित आहारो भोजनं यैस्ते तथा । उद्विग्ना उद्वेगवन्त उत्सुका उत्सुकाः,अशरणाः अत्राणाः । किम् ?,इत्याह-अटवीवासमरण्यवसनमुपयन्ति । किंभूतम्?, व्यालशतशङ्कनीयं भुजगादिभिर्भयङ्करमित्यर्थः । तथा अयशस्कराः तस्करा भयङ्कराः, एतानि पदानि व्यक्तानि । कस्य हरामश्चोरयामः, इति इदं, विचारितम् । अद्यास्मिन्नहनि, द्रव्यं रिक्थम्, इति एवंरूपं, समामन्त्रणं कुर्वन्ति, गुह्यं रहस्यम्, तथा बहुकस्य जनस्य, कार्यकरणेषु प्रयोजनविधानेषु, विघ्नकरा अन्तरायकारकाः, मत्तप्रमत्तप्रसुप्तविश्वस्तान् छिद्रे अवसरे घ्नन्तीत्येवंशीला ये ते तथा । व्यसनाभ्युदयेषु हरणबुद्ध्य

इति व्यक्तम्। किञ्च-(विगव्व त्ति) वृका इव नाखरविशेषा इव, (रुहिरमहियं ति) लोहितेच्छवः (परितत्ति) परियन्ति सर्वतो भ्रमन्ति। पुनः कथंभूताः? नरपतिमर्यादामतिक्रान्ता इति प्रतीतम्। सज्जनजनेन विशिष्टलोकेन जुगुप्सिता निन्दिता ये ते तथा, स्वकर्मनिर्हेतुभूतैः, पापकर्मकारिणः पापानुष्ठायिनः, अशुभपरिणताश्चाशुभपरिणामाः, दुःखभागिन इति प्रतीतम्। (निच्चाविल [उल] दुहमनिव्वुयमण त्ति) नित्यं सदा आविलं सकालुष्यमाकुलं वा दुःखं प्राणिनां दुःखहेतु, अनिर्वृतं स्वास्थ्यरहितं मनो येषां ते तथा। इह लोक एव क्लिश्यमाना व्यसनशतसमापन्नाः, एतानि पदानि व्यक्तानीति।

(४) अथ तहेवेत्यादिना परधनहरणे फलद्वारमुच्यते–

तहेव केइ परस्स दव्वं गवेसमाणा गहिया य हता य बद्धा रुद्धा य तुरियं अतिधाडिया पुरवरं समप्पिया चोरग्गहचारभडचाडुकरणा तेहिँ य कप्पडप्पहारनिद्दयाऽऽरक्खियखरफरुसवयणतज्जणगलत्थल्लउत्थल्लणाहिं विमणा चारगवसहिं पवेसिया निरयवसहिसरिसं तत्थ वि गोम्मिकप्पहारदुम्मणा निब्भच्छणकडुयवयणभेसणग(भय)आभिभूया अक्खित्तणियसणा मलिणदंडिखंडवसणा, उक्कोडालंचनपासमग्गणपरायणेहिं गोम्मिगजणेहिं विविहेहिं बंधणेहिं, किं ते हडिनियडवालरज्जुयकुडंगवरत्तलोहसंकललहत्थंडयवज्झपट्टदामकणिक्कोडणेहिं अन्नेहि य एवमादिएहिं गोम्मिकभंडोवगरणेहिं दुक्खसमुदीरणेहिं संकोडणमोडणेहिं वज्झंति मंदपुण्णा संपुडकवाडलोहपंजरभूमिघरनिरोहकूवचारगकीलगजूयचक्कविततबंधणखंभालणउद्धचलणबंधणविहंमणाहि य विहेडियंता अहकोडगगाढउरसिरबद्धउद्धपूरिय(यंत)फुरंतउरकंडगमोडणाहिं संबद्धा य नीससंता सीसावेढऊरुयालचप्पडसंधिबंधणतत्तसलागसूइआकोडणाणि तच्छणविमाणणाणि य खारकडुयतित्तनावणजायणकारणसयाणि बहुयाणि पावियंता, उरघोडीदिण्णगाढपेल्लणअट्ठिकसंभग्गसपंसुलिया गलकालकलोहदंडउरउदरवत्थिपिट्ठिपरिपीलिया मच्छंतहिययसंचुण्णियंगुवंगा आणात्तिकिंकरेहिं; केइ अविराहियवेरिएहिं जमपुरिससंनिभेहिं पहया ते तत्थ मंदपुण्णा चडवेला वज्झपट्टपोरा इति वा कसलत्तवरत्तवेत्तपहारसतताडियंगुवंगा किवणा लंबंतचम्मवणवेयणविमुहियमणा घणकोट्टिमनियलजुयलसंकोडियमोडिया य कीरंति, निरुच्चारा एया अन्ना य एवमादीओ वेयणाओ पावा पावंति, अदंतिंदिया वसट्टा बहुमोहमोहिया परधणम्मि लुद्धा फासिंदियविसयतिव्वगिद्धा इत्थिगयरूवसद्दरसगंधइट्ठरतिमहियभोगतण्हाइया य धणतोसगा गहिया य जे नरगणा पुणरवि ते कम्मदुव्वियड्ढा उवणीया रायकिंकराणं तेसिं वधसत्थगपाढयाणं विलउलीकारकाणं लंचसयगेण्हयाणं कूडकवडमायाणियडिआयरणपणिहिवंचणविसारयाणं बहुविहअलियसयजंपकाणं परलोकपरम्मुहाणं निरयगतिगामियाणं तेहि य आणत्तजा(जी)यदंडा तुरियं उग्घाडिया पुरवरेहिं सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहेसु वेत्तदंडलउडकट्ठलेट्ठपत्थरपणालियपणोल्लिमुट्ठिलत्तपादपण्हिजाणुकोप्परप्पहारसंभग्गमथितगत्ता अट्ठारसकम्मकारिणा पावियंगुवंगा कलुणा सुक्कोट्ठकंठगलतालुजिब्भा जायंता पाणियं विगयजीवियासा तण्हाइत्ता वरागा तं पि य न लहंति, वज्झपुरिसेहिं धाडियंता तत्थ य खरफरसपडहघट्टितकूडग्गहगाढरुट्ठनिसट्ठपरामट्ठवज्झकरकुडिजुयनिवासिया सुरत्तकणवीरगढियविमुकुलकंठेगुणवज्झदूतआविद्धमल्लदामसरणभयुप्पन्नसेयमायतणेहउत्तुप्पियकिलिन्नगत्ता चुण्णगुंडियसरीररयरेणुभरियकेसा कुसुंभगुक्किन्नमुद्धया छिन्नजीवियासा घुण्णंता वज्झपाणपीया तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा सरीरविकत्तलोहिओलित्तकागणिमंसाणि खावियंता पावा खरकरसएहिं ताडिज्जमाणदेहा वातिकनरनारिसंपरिवुडा पिच्छिज्जंता य नागरजणेण वज्झनेवत्थिया पणिज्जंति णगरमज्झेण किवणकलुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पहीणा विपिक्खंता दिसो दिसिं मरणभयुव्विग्गा आघायणपडिदुवारसंपाविया अधण्णा सूलग्गविलग्गभिण्णदेहा ते य तत्थ कीरंति, परिकप्पियंगुवंगा उल्लंबिज्जंति रुक्खसालेहिं केइ कलुणाइ विलवमाणा। अवरे चउरंगधणियबद्धा पव्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसमपत्थरसहा। अन्ने य गयचलणमलणनिम्मद्दिया कीरंति, पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मुंडपरिसुहिं। केइ उक्खित्तकण्णोट्ठनासा उप्पाडियनयणदसणवसणा जिब्भिंदियांछिया छिण्णकण्णसिरा पणिज्जंति छिज्जंति य असिणा निव्विसया छिन्नहत्थपाया य पमुच्चंति, जाव जीवबंधणा य कीरंति। केइ परदव्वहरणलुद्धा कारग्गलनियलजुयलरुद्धा चारगाए हतसारा सयणविप्पमुक्का मित्तजणनिरक्किया निरासा बहुजणधिक्कारसद्दलज्जाइया अलज्जा अणुबद्धखुहापरद्धसिउण्हतण्हवेयणदुघट्टघट्टियविवण्णमुहविच्छविया विहलमइलदुब्बला किलंता कासंता वाहिया य आमाभिभूयगत्ता परूढनहकेसमंसुरोमा मलमुत्तम्मि णियगम्मि खुत्ता तत्थेव मया अकामुका बंधिऊण पाए सुकड्ढिया खाइयाए छूढा, तत्थ य वगसुणयसियालकोलमंजारवंदसंडासतुंडपक्खिगणविविहमुहसयविलुत्तगत्ता कयविहंगा। केइ किमिणाइ कुथितदेहा अणिट्ठवयणेहिं सप्पमाणा सुट्ठु कयं जं मओ त्ति पावो तुट्ठेण जणेण हणमाणा लज्जावणका य हुंति सयणस्स वि य दीहकालं मया संता पुणो परलोगसमावण्णा नरगे गच्छंति। निरभिरामे अंगारपलित्तककप्पअच्चत्थसीयवेयणाऽऽसा–

यणोदिम्नसततदुक्खसयसमभिभूए ततो वि उव्वट्टिया समाणा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोणिं, तहिं पि निरओवमं अणुभवंति वेयणं ते, अणंतकालेण जति णाम कहिं वि मणुयभावं लभिंति णेगेहिं णिरयगतिगमणतिरियभवसयसहस्सपरियट्टएहिं तत्थ वि य भवंताऽणारिया नीचकुलसमुप्पन्ना लोयबज्झा तिरिक्खभूया य अकुसला कामभोगतिसिया जहिं निबंधंति निरयवत्तणि भवप्पवंचकरणपणोल्लि पुणो वि संसारवत्तणेममूले धम्मसुइविवज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छत्तसुतिपवन्ना य हुंति, एगंतदंडरुइणो वेढंता कोसिकारकीडो व्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतुघणबंधणेणं, एवं नरगतिरियनरअमरगमणपेरंतचक्कवालं जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खपक्खुभियपउरसलिलं संजोगवियोगवीचिचिंतापसंगपसारियवहबंधमहल्लविपुलकल्लोलकलुणविलवितलोभकलकलंतबोलबहुलं अवमाणणफेणतिव्वखिंसणपुलंपुलप्पभूयरोगवेयणपरभवविणिवायफरुसधरिसणसमावडियकठिणकम्मपत्थरतरंगरिंगंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं कसायपायालसंकुलं भवसयसहस्सजलसंचयं अणंतं उव्वेजणयं अणोरपारं महब्भयं भयंकरं पइभयं अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणाऽऽसापिवासापायालकामरतिरागदोसबंधणबहुविहसंकप्पविउलदगरयरयंऽधकारमोहमहावत्तभोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंतबहुगब्भवासपच्चोणियत्तपाणिपधावियवसणसमावण्णरुण्णचंडमारुयसमाहयमणुन्नवीचीवाकुलितभंगफुट्टंतनिट्ठकल्लोलसंकुलजलं पमादबहुचंडदुट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणगपूरघोरविद्धंसणत्थऽणत्थबहुलं अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थअनिहुतिंदियमहामगरतुरियचरियखोक्खुब्भमाणसंतावनिच्चयचलंतचवलचंचलअत्ताणासरणपुव्वकम्मसंचयोदिण्णवज्जवेदिज्जमाणदुहसयविवागघुण्णंतजलसमूहं इड्ढिरससायगारवोहारगहियकम्मपडिबद्धसत्तकड्ढिज्जमाणनिरयतलहुत्तसण्णविसण्णबहुलअरतिरतिभयविसायसोगमिच्छत्तसेलसंकडं अणाइसंताणकम्मबंधणकिलेसचिक्खिल्लसुदुत्तारं अमरनरतिरियगतिगमणकुमिलपरियत्तविपुलवेलं हिंसाऽलियअदत्तादाणमेहुणपरिग्गहारंभकरणकारावणाणुमोयणअट्ठविहअणिट्ठकम्मपिंडितगुरुभाराक्कंतदुग्गजलोघदूरनिबोलिज्जमाणउम्मग्गनिमग्गदुल्लहतलं सरीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियंता सातासायपरितावणमयं उब्बुड्डनिब्बुड्डयं करेंति। चउरंतमहंतमणवयग्गं रुद्दं संसारसागरं अट्ठियअणालंबणपतिट्ठाणमप्पमेयं चुलसीइजोणिसयसहस्सगुविलं अणालोकमंधकारं अणंतकालं जाव णिच्चं उत्तत्थसुण्णभयसण्णसंपउत्ता संसारसागरं वसंति उव्विमग्गवासवसहिं, जहिं जहिं आउयं निबंधंति पावकम्मकारिणो बंधवजणसयणमित्तपरिवज्जिया अणिट्ठा भवंति। अणादिज्जदुव्विणीया कुट्ठाणासणसेज्जाकुभोयणा असुयणो कुसंहयणकुप्पमाणकुसंठिया कुरूवा बहुकोहमाणमायालोभा बहुमोहा धम्मसण्णसम्मत्तपब्भट्ठा दारिद्दोवद्दवाभिभूया निच्चं परकम्मकारिणो जीवणत्थरहिया किवणा परपिंडतक्किका दुक्खलद्धाहारा अरसविरसतुच्छकयकुच्छिपूरा परस्स पेच्छंता रिद्धिसक्कारभोयणविसेससमुदयविहिं निंदंता अप्पकं, कयंतं च परिवयंता, इह य पुरेकडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण डज्झमाणा परिभूया हुंति, सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्पकलासमयसत्थपरिवज्जिया जहाजायपसुभूया अवियत्ता निच्चं नीयकम्मोवजीविणो लोयकुच्छणिज्जा मोहमणोरहनिरासबहुला आसापासपडिबद्धपाणा अत्थोप्पायणकामसोक्खे य लोयसारे हुंति। अफलवंतगा य सुट्ठु अवि अ उज्जमंता तद्दिवसुज्जुत्तकम्मकयदुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचयपरा खीणदव्वसारा णिच्चं अधुवधणधण्णकोसपरिभोगविवज्जिया रहियकामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोगनिस्साणमग्गणापरायणा वरागा अकामिकाए विणियंति दुक्खं, णेव सुहं, णेव णिव्वुतिं, उवलभंति, अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलित्ता परदव्वेहिं जे अविरया। एसो सो अदिण्णादाणस्स फलविवागो इहलोए परलोए अ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चति न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरनामधेयो कहेसीयं अदिण्णादाणस्स फलविवागं, एवं तं ततियं पि अदिण्णादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिकाभिज्झलोभमूलं, एवं जाव चिरपरिगयमणुगयं दुरंतं ततियं अहम्मदारं सम्मत्तं त्ति बेमि।

(तहेवेत्यादि) तथैव यथापूर्वमभिहिताः, केचित्केचन, परस्य द्रव्यं गवेषयन्त इति प्रतीतम्। गृहीताश्च राजपुरुषैः, हताश्च यष्ट्यादिभिः, बद्धा रुद्धाश्च रज्ज्वादिभिः संयमिताः, चारकादिनिरुद्धाश्च (तुरियं ति) त्वरितं शीघ्रं, अतिधाटिता भ्रामिता अतिवर्तिता वा, भ्रमिता एव पुरवरं नगरं समर्पिता ढौकिताः, चौरग्राहाश्च चारभटाश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा। तैश्च चौरग्राहचारभटचाटुकारैः चारकवसतिं प्रवेशिता इति सम्बन्धः। कर्पटप्रहाराश्च लकुटाकारवालितचीवरैस्तामनाः, निर्दया निष्करुणा ये आरक्षिकास्तेषां संबन्धीनि यानि खरपरुषवचनानि अतिकर्कशभणितानि, तर्जनानि च वचनविशेषाः (गलत्थल त्ति) गलग्रहणं, तथा (उत्थलण त्ति) अपवर्त्तना, अपप्रेरणा इत्यर्थः तास्तथा, तानि चेति पदचतुष्टयस्य द्वन्द्वः ताभिः विमनसो विषण्णचेतसः सन्तः चारकवसतिं गुप्तिगृहं प्रवेशिताः। किं भूताम्?, निरयवसतिसदृशामिति व्यक्तम्। तत्रापि चारकवसतौ, (गोम्मिक त्ति) गौल्मिकस्य गुप्तिपालस्य संबन्धिनो ये प्रहारा घाताः (डुम्मण त्ति) दवनानि उपतापानि, निर्भर्त्सनानि

आक्रोशविशेषाः, कटुकवचनानि च कटुकवचनैर्या भीषणकानि च भयजननानि, तैरभिभूता ये ते तथा । पाठान्तरेण-पश्यो यद् भयं तेनाभिभूता ये ते तथा । आक्षिप्तनिवसना आकृष्टपरिधानवस्त्राः, मलिनं दण्डिखण्डरूपं वसनं वस्त्रं येषां ते तथा । उत्कोचालञ्चयोर्द्रव्यबहुत्वेतरत्वादिभिर्लोके प्रतीतभेदयोः पार्श्वाद् गुप्तिगतनरसमीपाद्, उन्मार्गेण याचनं, तत्परायणास्तन्निष्ठा ये ते तथा, तैः, गौल्मिकभटैः कर्तृभिः, विविधैर्बन्धनैः करणभूतैर्बध्यन्त इति संबन्धः । [किं ते त्ति] तद्यथा-[हडि त्ति] काष्ठविशेषः, निगडानि लोहमयानि, बालरज्जुका गवादिवालमयी रज्जुः, कुदण्डकं काष्ठमयं प्रान्ते रज्जुपाशं, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, लोहसङ्कला प्रतीता, हस्तान्दुकं लोहादिमयं हस्तयन्त्रणं, वध्रपट्टश्चर्मपट्टिका, दामकं रज्जुमयपादसंयमनं, निष्कोटनं च बन्धनविशेषः । इति द्वन्द्वः । ततस्तैरन्यैश्चोक्तव्यतिरिक्तैरेवमादिकैरेवंप्रकारैर्गौल्मिकभाण्डोपकरणैर्गौल्मिकपरिच्छदविशेषैः दुःखसमुदीरणैरसुखप्रवर्तकैः । तथा संकोचना गात्रसङ्कोचनम, मोटना च गात्रभञ्जना, ताभ्याम; किम?, इत्याह-बध्यन्ते । के?, इत्याह-मन्दपुण्याः । तथा संपुटं काष्ठयन्त्रं, कपाटं प्रतीतम । लोहपञ्जरे भूमिगृहे च यो निरोधः प्रवेशनं स तथा । कूपोऽन्धकूपादिः, चारको गुप्तिगृहं, कीलकाः प्रतीताः, यूपो युगं, चक्रं रथाङ्गं, विततबन्धनं प्रतर्दितबाहुजङ्घाशिरसः संयन्त्रणम्, [खंभालेण त्ति] स्तम्भालगनं, स्तम्भालगनमित्यर्थः । उर्ध्वं चरणस्य यद्बन्धनं तत्तथा । एतेषां द्वन्द्वः । तत एभिर्या विधर्मणाः कदर्थनास्तास्तथा, ताभिश्च [विहेडियंत त्ति] विहेड्यमाना बध्यमानाः, संकोटिता मोटिताः क्रियन्त इति सम्बन्धः । अधःकोटकेन कोटाया ग्रीवायाः अधोनयनेन, गाढं बाढं, उरसि हृदये, शिरसि च मस्तके, ये बद्धास्ते तथा । ते च ऊर्ध्वपूरिताः श्वासपूरितोर्ध्वकायाः, उर्ध्वा वा स्थिताः, धूल्या पूरिताः । पाठान्तरे-[उद्धपूरियंत त्ति] ऊर्ध्वपूरितान्त्रा उर्ध्वगतान्त्राः, स्फुरदुरःकण्टकाश्च, कम्पमानवक्षस्थलाः, इति द्वन्द्वः । तेषां सतां यन्मोटनं मर्दनं, आम्रेडना वा, विपर्यस्तीकरणं वा, ते तथा । ताभ्यां विहेड्यमाना इति प्रकृतम । अथवा-स्फुरदुरःकण्टका इह प्रथमाबहुवचनलोपो दृश्यः । ततश्चामोटनाम्रेडनाभ्यामित्येतदुत्तरत्र योज्यते । तथा च बद्धाः सन्तः निःश्वसन्तो निःश्वासान्विमुञ्चन्तः, शीर्षावेष्टनं च वरत्रादिना शिरोवेष्टनं, [उरुयाल त्ति] ऊर्वोर्जङ्घयोर्दारो दारणं, ज्वालो वा ज्वलनं, यः स तथा स च । पाठान्तरेण-[उरुयावल त्ति] ऊरुकयोरावलनं ऊरुकावलः । वप्पकानां काष्ठयन्त्रविशेषाणां, सन्धिषु जानुकूर्परादिषु, बन्धनं वप्पकसन्धिबन्धनं, तप्त तप्तानां शलाकानां कीलरूपाणां, सूचीनां आकुण्ठिताग्राणां, यान्याकुट्टनानि कुट्टनेनाङ्गे प्रवेशनानि, तानि तथा; तानि चेति द्वन्द्वः । तानि प्राप्यमाणा इति संबन्धः । तक्षणानि च वास्या काष्ठस्येव, विमाननानि च कदर्थनानि, तानि च तथा, क्षाराणि तिलक्षारादीनि, कटुकानि मरीचादीनि, तिक्तानि निम्बादीनि, तैर्यत् [नायण त्ति] तस्य दानं तदादि यातनाकारणशतानि कदर्थनाहेतुशतानि, तानि बहुकानि प्राप्यमाणाः । तथा उरसि वक्षसि, (घाडि त्ति) महाकाष्ठं, तस्या दत्ताया वितीर्णायाः, निवेशितायाः इत्यर्थः । यद्गाढप्रेरणं तेनास्थिकानि हड्डानि संभग्नानि [सपांसुलग त्ति] सपार्श्वास्थीनि येषां ते तथा । गल इव बडिशमिव घातकत्वेन यः स गलः, स चासौ कालकलोहदण्डश्च कालायसयष्टिः, तेन उरसि वक्षसि, उदरे च जठरे च, वस्तौ च गुह्यदेशे, पृष्ठौ च पृष्ठे, परिपीडिता ये ते तथा । (मत्थंत त्ति) मथ्यमानं हृदयं येषां ते तथा । इह थकारस्य छकारादेशश्छान्दसत्वात् । तथा संचूर्णिताङ्गोपाङ्गाश्चेति समासः । आज्ञप्तिकिङ्करैः यथाऽऽदेशकारिभिः, किंकुर्वाणैः? । केचित् केचन, अविराधिता एवाऽनपराद्धा एव, वैरिका ये ते तथा तैः, यमपुरुषसन्निभैः, प्रहता इति प्रकृतम । ते अदत्तहारिणः । तत्र चारकगर्ते मन्दपुण्या निर्भाग्याः, चमवेला चपेटा, वर्धपट्टः चर्मविशेषपट्टिका, पोरा इति लोहकुशीविशेषः, कषश्चर्मयष्टिका, लत्ताकं च, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, वेत्रो जलवंशः, एभिर्ये प्रहारास्तेषां यानि शतानि तैस्ताडितान्यङ्गोपाङ्गानि येषां ते तथा, कृपणाः दुःस्थाः, लम्बमानचर्माणि यानि व्रणानि कृतानि, तेषु या वेदना पीडा, तया विमुखीकृतं चौर्याद्विरञ्जितं मनो येषां ते तथा । घनकुट्टनेन घनताडनेन निर्वृत्तं घनकुट्टिमम, तेन निगडयुगलेन प्रतीतेन, संकोटिताः सङ्कोचिताः, मोटिताश्च भग्नाङ्गाः, ये ते तथा । ते च क्रियन्ते विधीयन्ते, आज्ञप्तिकिङ्करैरिति प्रकृतम् । किं भूताः?, निरुच्चारा निरुद्धपुरीषोत्सर्गाः, अविद्यमानसञ्चरणा नष्टवचनोच्चारणा वा; एता अन्याश्च एवमादिका एवंप्रकाराः वेदनाः पापाः पापफलभूताः, पापकारिणो वा प्राप्नुवन्ति । अदान्तेन्द्रियाः, वृत्तिवशेन विषयपारतन्त्र्येण आर्त्ताः पीडिता वशार्ताः, बहुमोहमोहिताः, परधने लुब्धा इति प्रतीतम् । स्पर्शनेन्द्रियविषये स्त्रीकलेवरादौ, तीव्रमत्यर्थं, गृद्धा अभ्युपपन्ना ये ते तथा । स्त्रीगता ये रूपशब्दरसगन्धास्तेषु इष्टाऽभिमता या रतिः, तथा स्त्रीगत एव महितो वाञ्छितो यः स्त्रीभोगो निधुवनं, तेन या तृष्णा आकाङ्क्षा, तया अर्दिता बाधिता ये ते तथा । ते च धनेन तुष्यन्तीति धनतोषकाः, गृहीताश्च राजपुरुषैरिति गम्यम् । ये केचन नरगणाः चौरनरसमूहाः, (पुणरवि त्ति) एकदा ते गौल्मिकनराणां समर्पिताः तैश्च विविधबन्धनबद्धाः क्रियन्त इत्युक्तम, ततः तेभ्यः सकाशात् पुनरपि ते कर्मदुर्विदग्धाः, कर्मपापक्रियासु विषये फलपरिज्ञानं प्रति विज्ञाः, उपनीताः ढौकिताः राजकिङ्कराणां, किंविधानाम?, (तेसिं त्ति) ये निर्दयादिधर्मयुक्तास्तेषाम, तथा वधशास्त्रकपाठकानां इति व्यक्तम । विलञ्चलीकारकाणां लिविट्टपोल्लकर्तॄणां विलोकनाकारकाणां वा, लञ्चाशतग्राहकाणां, तत्र लञ्चा उत्कोचाविशेषः । तथा कूटं मानादीनामन्यथाकरणं, कपटं वेषभाषावैपरीत्यकरणं, माया प्रतारणबुद्धिः, निकृतिर्वञ्चनक्रिया, तयोर्वा प्रच्छादनार्थं माया क्रियैव, एतासां यदाचरणं प्रणिधिना एकाग्रचित्तप्रधानेन यद्वञ्चनं, प्रणिधीनां वा गूढपुरुषाणां यद्वञ्चनं तच्च, तत्र विशारदाः पण्डिता ये ते तथा । तेषां बहुविधाऽलीकशतजल्पकानां, परलोकपराङ्मुखानां, निरयगतिगामिकानामिति व्यक्तम । तैश्च राजकिङ्करैः, आज्ञप्तमादिष्टं, जाते दुष्टानग्रहविषयमाचरितं, दण्डश्च प्रतीतः, जीतदण्डो वा रूपदण्डो, जीवदण्डो वा जीवितनिग्रहलक्षणो, येषां ते तथा । त्वरितं शीघ्रमुद्घाटिताः प्रकाशिताः, पुरवरे शृङ्गाटिकादिषु, तत्र शृङ्गाटकं सिङ्घाटकाकारं त्रिकोणस्थानमित्यर्थः । त्रिकं रथ्यात्रयमीलनस्थानम्, चतुष्कं रथ्याचतुष्कमीलनस्थानम्, चत्वरमनेकरथ्यापतनस्थानम्, चतुर्मुखं देवकुलिकादि, महापथो राजमार्गः, पन्थाः सामान्यमार्गः, किंविधाः सन्तः प्रकाशिताः?, इत्याह-वेत्रदण्डो लकुटः, काष्ठं, लेष्टुः, प्रस्तरश्च, प्रसिद्धाः । (पणालि त्ति) प्रकृष्टा नाली शरीरप्रमाणा दीर्घतरा यष्टिः । (पणोल्लि त्ति) प्रणोदितो जानुदण्डः, मुष्टिर्लत्ता पादपार्ष्णिर्वा जानुकूर्परं चैतान्यपि प्रसिद्धानि । एभिर्ये प्रहारास्तैः संभग्नान्यामर्दितानि मथितानि विलोडिता-

नि गात्राणि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकारणाः-अष्टादश चौरप्रसूतिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रसूतीनां च लक्षणमिदम्

"चौरः १ चौरापको २ मन्त्री, ३ भेदज्ञः ४ काणकक्रयी ५ ।
अन्नदः ६ स्थानदश्चैव, चौरः सप्तविधः स्मृतः" ॥ १ ॥

अत्र काणकक्रयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौराहृतं काणकं हीनं कृत्वा क्रीणातीत्येवंशीलः ।

"भलनं १ कुशलं २ तर्जा ३, राजभागो ४ ऽवलोकनम् ५ ।
अमार्गदर्शनं ६ शय्या ७, पदभङ्गस्तथैव च ॥ १ ॥
विश्रामः ९ पादपतन १०-मासनं ११ गोपनं तथा १२ ।
खण्डस्य खादनं चैव १३, तथाऽन्यन्माहराजिकम् १४ ॥ २ ॥
पद्या १५-ग्न्यु १६-दक १७ रज्जूनां, १८ प्रदानं ज्ञानपूर्वकम् ।
एताः प्रसूतयो ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः" ॥ ३ ॥

तत्र भलनम्-न भेतव्यं भवताऽहमेव त्वद्विषये भलिष्यामीत्यादिवाक्यैश्चौर्यविषयं प्रोत्साहनम् १। कुशलम्-मिलितानां सुखदुःखवार्ताप्रश्नः २। तर्जा-हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रेषणादिसंज्ञाकरणम् ३। राजभागो-राजभाव्यद्रव्यापह्नवः ४। अवलोकनम्-हरतां चौराणामुपेक्षाबुद्ध्या दर्शनम् ५। अमार्गदर्शनम्-चौरमार्गप्रच्छकानां मार्गान्तरकथनेन तदपह्नवम् ६। शय्या-शयनीयसमर्पणादि ७। पदभङ्गः-पश्चाच्चतुष्पदप्रचारादिद्वारेण ८। विश्रामः-स्वगृह एव वासकाद्यनुज्ञा ९। पादपतनम्-प्रणामादिगौरवम् १०। आसनम्-विष्टरदानम् ११। गोपनम्-चौरापह्नवम् १२। खण्डखादनम्-मण्डकादिभक्तप्रयोगः १३। मोहराजिकं लोकप्रसिद्धम् १४। पद्याऽग्न्युदकरज्जूनां प्रदानमिति प्रक्षालनाभ्यङ्गाभ्यां दूरमार्गागमजनितश्रमापनोदितत्वेन पादेभ्यो हितं पद्यमुष्णजलतैलादि तस्य १५, पाकाद्यर्थं चाग्नेः १६, पानाद्यर्थं च शीतोदकस्य १७, चौराहृतचतुष्पदादिबन्धनार्थं च रज्ज्वाश्च १८, प्रदानं वितरणम् । ज्ञानपूर्वकं चेति सर्वत्र योज्यम्, अज्ञानपूर्वकस्य निरपराधत्वादिति ।

तथा पतिताङ्गोपाङ्गाः कदर्थिताङ्गोपाङ्गाः, तैः राज्ञः किङ्करैरिति प्रकृतम् । करुणाः, शुष्कोष्ठकण्ठगलतालुजिह्वाः, याचमानाः पानीयम्, विगतजीविताशाः, तृष्णार्दिताः, वराका इति स्फुटम् । (तं पि य त्ति) तदपि पानीयमपि न लभन्ते, वध्येषु नियुक्ता ये पुरुषाः-ते वध्यपुरुषाः, तैर्धाव्यमानाः प्रेर्यमाणाः । तत्र च धावने, खरपरुषोऽत्यर्थकठिनो यः पटहको डिण्डिमकः, तेन प्रचलनार्थं पृष्ठदेशे घट्टिताः प्रेरिता ये ते तथा । कूटग्रहः कटिग्रहः, तेन च गाढरुष्टैर्निसृष्टमत्यर्थं परामृष्टाः गृहीता ये ते तथा । ततः कर्मधारयः । वध्यानां सम्बन्धि यत् करकुटीयुगं वस्त्रविशेषयुगलं तत्तथा, तन्निवसिताः परिहिताः । पाठान्तरं-वध्याश्च करकुट्योहस्तलक्षणः, तयोः युगं युगलं, निवसिताश्च ये ते तथा । सुरक्तैः कणवीरैः कुसुमविशेषैः, ग्रथितं गुम्फितं, विमुकुलं विकसितं, कण्ठे गुण इव कण्ठेगुणं, कण्ठसूत्रसदृशमित्यर्थः । वध्यदूत इव वध्यदूतः, बद्धचिह्नमित्यर्थः । आविद्धं परिहितं, माल्यदाम कुसुममाला, येषां ते तथा, मरणभयादुत्पन्नो यः स्वेदः तेनायतमायामवद् यथा भवतीत्येवं स्वेदेन लिप्तानीव स्नापितानीव क्लिन्नानि चार्द्रीकृतानि गात्राणि येषां ते तथा । चूर्णेनाङ्गारादीनां गुण्ठितं शरीरं, कुसुमरजसा वातोत्खातेन रेणुना च धूलीरूपेण भरिताश्च मृताः केशा येषां ते तथा । कुसुम्भकेन रागविशेषेण उत्कीर्णा गुण्ठिता मूर्द्धजा येषां ते तथा । छिन्नजीविताशा इति प्रतीतम् । घूर्णमानाः, भयविक्लवत्वात् । वध्याश्च हन्तव्याः, प्राणप्रीताश्च उच्छ्वासादिप्राणप्रियाः, प्राणपीता वा भक्षितप्राणा ये ते तथा । पाठान्तरेण-(वेज्झायणभीय त्ति) वध्य-केभ्यो भीता इत्यर्थः । 'तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा' इति व्यक्तम् । शरीराद्विकृत्तानि छिन्नानि लोहितावलिप्तानि यानि काकणीमांसानि श्लक्ष्णखण्डपिशितानि तानि तथा, खाद्यमानाः, पापाः पापिनः, खरकरशतैः श्लक्ष्णपाषाणभृतैः, चर्मकोशकविशेषशतैः, स्फुटितवंशशतैः ताड्यमानदेहाः, वातिकनरनारीसंपरिवृताः वातो येषामस्ति ते वातिकाः, वातिका इव वातिकाः, अयन्त्रिता इत्यर्थः । तैर्नरैर्नारीभिश्च समन्तात्परिवृता ये ते तथा । प्रेक्ष्यमाणाश्च, नागरजनेनेति व्यक्तम् । वध्यनेपथ्यं संजातं येषां ते वध्यनेपथ्यिताः । प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरमध्येन सन्निवेशमध्यभागेन, कृपणानां मध्ये करुणाः कृपणकरुणाः, अत्यन्तकरुणा इत्यर्थः । अत्राणाः, अनर्थप्रतिघातकाभावात् । अशरणाः, अर्थप्रापकाभावात् । अनाथाः, योगक्षेमकारिविरहितत्वात् । अबान्धवाः, बान्धवानामनर्थकत्वात् । बन्धुविप्रहीणाः, बान्धवैः परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमाणाः पश्यन्तः (दिसो दिसं ति) एकस्या दिशोऽन्यां दिशं, पुनस्तस्या अन्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनोद्विग्ना ये ते तथा । (आघायण त्ति) आघातनं च वध्यभूमिमण्डलस्य प्रतिद्वारम् । द्वारमेव संप्रापिता नीता ये ते तथा । अधन्याः, शूलाग्रे शूलकान्ते विलग्नोऽवस्थितो भिन्नो विदारितो देहो येषां ते तथा ।

ते च, तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिताङ्गोपाङ्गाः छिन्नावयवाः, उल्लम्ब्यन्ते वृक्षशाखाभिः । केचित् करुणानि, वचनानीति गम्यन्ते: विलपन्त इति । तथा अपरे चतुर्ष्वङ्गेषु हस्तपादलक्षणेषु (धणियं) गाढं बद्धा ये ते तथा । पर्वतकटकाद् भृगोः, प्रमुच्यन्ते क्षिप्यन्ते, दूरात्पातः पतनं च, बहुविषमप्रस्तरेषु अत्यन्तासमपाषाणेषु, सहन्ते ये ते तथा । तथाऽन्ये वाऽपरे गजचरणमलनेन निर्मर्दिता दलिता ये ते तथा । ते क्रियन्ते । कैः ?, इत्याह-मुण्डपरशुभिः कुण्ठकुठारैः । तीक्ष्णैर्हि तैर्नात्यन्तं वेदनोत्पद्यत इति विशेषणमिति । तथा केचित् अन्ये, उत्कृत्तकर्णोष्ठनासाभिक्षुण्णश्रवणदशनच्छदघ्राणाः, उत्पाटितनयनदशनवृषणा इति प्रतीतम् । जिह्वा रसना, आञ्छिता आकृष्टा, छिन्नौ कर्णौ, शिराश्च, नयनाद्याः येषां ते तथा । प्रणीयन्ते, आघातस्थानमिति गम्यते । छिद्यन्ते च खण्डश्यन्ते, असिना खड्गेन, तथा निर्विषया देशाद् निष्कासिताः, छिन्नहस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्करैस्त्यज्यन्ते, छिन्नहस्तपादा देशान्निष्कास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवबन्धनाश्च क्रियन्ते, केचिदपरे, के ?, इत्याह-परद्रव्यहरणलुब्धा इति प्रतीतम् । कारागृहया चारकपरिक्षेपेण, निगडयुगलैश्च रुद्धा नियन्त्रिता ये ते तथा । ते क ?, इत्याह-[चारगाए त्ति] चारके गुप्तौ, किंविधाः सन्तः?, इत्याह-हृतसारा अपहृतद्रव्याः, स्वजनविप्रमुक्ता मित्रजननिराकृताः निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनधिक्कारशब्देन लज्जायिताः प्राप्तलज्जाः ये ते तथा । अलज्जा विगतलज्जाः, अनुबद्धक्षुधा सततबुभुक्षया, प्रारब्धाभिभूता अपराद्धा वा ये ते तथा । शीतोष्णतृष्णावेदनया दुर्घटया दुराच्छादनया, घट्टिताः स्पृष्टा ये ते तथा । विवर्णं मुखं, विरूपा च छविः शरीरत्वक्, येषां ते विवर्णमुखविच्छविकाः । ततोऽनुबद्धेत्यादिपदानां कर्मधारयः । तथा विफला अप्राप्तेप्सितार्थाः, मलिना मलीमसाः, दुर्बलाश्चासमर्था ये ते तथा । क्लान्ता ग्लानाः, तथा कासमाना रोगविशेषात्कुत्सितशब्दं कुर्वाणाः, व्याधिताश्च सञ्जातकुष्ठादिरोगाः, आमेनापक्वरसेनाभिभूतानि गात्राण्यङ्गानि येषां ते तथा । प्ररूढानि वृद्धिमुपगतानि, वृद्धत्वेनासंस्कारात् नखकेशश्मश्रुरोमाणि

येषां ते तथा। तत्र केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चरोमाणि,शेषाणि तु रोमाणीति। (मलमुत्तम्मि त्ति)पुरीषमूत्र निजके,(खुत्त त्ति) निमग्नाः,तत्रैव चारकबन्धने मृताः,अकामुकाः मरणेऽनभिलाषाः, ततश्च बद्धा पादयोराकृष्टाः , खातिकायां [छूढ त्ति] क्षिप्ताः, तत्र तु खातिकायां,वृकशुनकशृगालकोलमार्जारवृन्दस्य संदंशकतुण्डैः पक्षिगणस्य च विविधमुखशतैर्विलुप्तानि गात्राणि येषां ते तथा । कृता विहिता वृकादिभिरेव [विहंग त्ति] विभागाः, खण्डशः कृता इत्यर्थः । केचिदन्ये- [किमिणाइ त्ति] कृमिवन्तश्च, कुथितदेहा इति प्रतीतम् । अनिष्टवचनैः शप्यमाना आक्रोश्यमानाः । कथम् ?, इत्याह-सुष्ठु कृतं, ततः कदर्थनमिति गम्यते । यदिति यस्मात् कदर्थनात्मृतः पाप इति । अथवा सुष्ठु कृतं सुष्ठु सम्पन्नं, यन्मृत एष पाप इति। तथा तुष्टेन जनेन हन्यमानाः , लज्जामापयन्ति प्रापयन्तीति लज्जापनास्त एव कुत्सिताः लज्जापनकाः, लज्जावहा इत्यर्थः । ते च भवन्ति जायन्ते, न केवलमन्येषां , स्वजनस्यापि च दीर्घकालं यावदिति तथा मृताः सन्तः, पुनर्मरणानन्तरं, परलोकसमापन्नाः जन्मान्तरसमापन्नाः, निरये गच्छन्ति,कथंभूते ?, निरभिरामे। अङ्गाराश्च प्रतीताः। प्रदीपकं च प्रदीपनकं च तत्कल्पस्तदुपमो योऽत्यर्थं शीतवेदनेनासातेन कर्मणा उदीर्णानि उदीरितानि , सततानि अविच्छिन्नानि यानि दुःखशतानि तैः समभिभूतो यः स तथा तत्र। ततस्ततोऽपि नरकादुद्वृत्ताः सन्तः पुनः प्रपद्यन्ते तिर्यग्योनिम्, तत्रापि निरयोपमानामनुभवन्ति वेदनाम् , ते अनन्तरोदितादत्तग्राहिणः, अनन्तकालेन यदि नाम कथञ्चिन्मनुजभावं लभन्ते इति व्यक्तम् । कथम्? इत्याह-नैकेषु बहुषु,निरयगतौ यानि गमनानि तिरश्चां च ये भवास्तेषां ये शतसहस्रसंख्यापरिवर्तास्ते तथा तेषु, अतिक्रान्तेषु सत्स्विति गम्यते । तत्रापि च मनुजत्वलाभे भवन्ति जायन्तेऽनार्याः शकयवनबब्बरादयः । किंभूताः ?, नीचकुलसमुत्पन्नाः, तथा आर्यजनेऽपि मगधादौ समुत्पन्ना इति शेषः। लोकबाह्या जनवर्जनीयाः,भवन्तीति गम्यम्। तिर्यग्भूताश्च,पशुकल्पा इत्यर्थः। कथम् ?, इत्याह- अकुशलास्तत्त्वेष्वनिपुणाः,कामभोगे तृषिता इति व्यक्तम्। [जहिं ति] यत्र नरकादिप्रवृत्तौ, न तु मनुजत्वं लभन्ते, यत्र निबध्नन्ति (निरयवत्तणि त्ति) निरयवर्तिन्यां नरकमार्गे, भवप्रपञ्चकरणेन जन्मप्राचुर्यकरणेन, [पणोल्लि त्ति]प्रणोदीनि तत्प्रवर्तकानि,तेषां जीवानामिति हृदयम्। यानि तानि तथा । अत्र द्वितीयाबहुवचनलोपो द्रष्टव्यः । पुनरपि आवृत्त्या संसारो भवो (नेम त्ति) मूलं येषां तथा, दुःखानामिति भावः । तेषां यानि मूलानि तानि तथा , कर्माणीत्यर्थः । तानि निबध्नन्तीति प्रकृतम् । इह च मूला इति वाच्ये मूल इत्युक्तं प्राकृतत्वेन लिङ्गव्यत्ययादिति । किं भूतास्ते मनुजत्वे वर्तमाना भवन्ति ? , इत्याह-धर्मश्रुतिविवर्जिताः धर्मशास्त्रविकला इत्यर्थः। अनार्या आर्येतराः, क्रूराः, जीवोपघातोपदेशकत्वात् । क्षुद्राः , तथा मिथ्यात्वप्रधाना विपरीततत्त्वोपदेशकाः श्रुतिसिद्धान्ततां प्रपन्ना अभ्युपगताः, तथा ते च भवन्तीति । एकान्तदण्डरुचयः, सर्वथा हिंसनश्रद्धा इत्यर्थः। वेष्टयन्ते कोशिकाकारकीट इव , आत्मानमिति प्रतीतम् । अष्टकर्मलक्षणैस्तन्तुभिर्यद्धनं बन्धनम् । तथा एवमनेन आत्मनः कर्मभिर्बन्धनलक्षणप्रकारेण नरकतिर्यङ्नरामरेषु यद् गमनं तदेव पर्यन्तचक्रवालं बाह्यपरिधेयस्य स तथा तम, संसारसागरं वसन्तीति सम्बन्धः। किंभूतम् ? , इत्याह-जन्मजरामरणान्येव करणानि साधनानि यस्य तत्तथा, तच्च गम्भीरदुःखं च , तदेव प्रक्षुभितं सञ्चलितं प्रचुरं सलिलं यत्र स तथा तम । संयोगवियोगा एव वीचयस्तरङ्गा यत्र स तथा । चिन्ताप्रसङ्गः चिन्तासातत्यं,तदेव प्रसृतं प्रसरो यस्य स तथा । वधा हननानि, बन्धाः संयमनानि, तान्येव महान्तो दीर्घतया, विपुलाश्च विस्तीर्णतया , कल्लोला महोर्मयो यत्र स तथा; करुणविलपिते लोभ एव कलकलायमानो यो बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादिपदानां कर्मधारयःअतस्तम्। अवमाननमेवापूजनमेव,फेनो यत्र स तथा। तीव्रखिसनं वाऽत्यर्थनिन्दा पुलपुलप्रभूता अनवरतोद्भूता या रोगवेदनास्ताश्च परिभवविनिपातश्च पराभिभवसम्पर्कः, परुषधर्षणानि च निष्ठुरवचननिर्भर्त्सितानि,समापातितानि समापन्नानि, येष्यस्तानि तथा तानि च तानि कठिनानि कर्कशानि , दुर्भेदानीत्यर्थः। कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि, क्रिया वा, ये प्रस्तराः पाषाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गरिङ्खद् वीचिभिश्चलन् , नित्यं ध्रुवं, मृत्युश्च भयं चेति त एव वा तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा-अपमानेन फेनेन, फेनमिति तोयपृष्ठस्य विशेषणम्। अतो बहुव्रीहिरेव अतस्तम्। कषाया एव पातालाः पातालकलशास्तैः संकुलो यः स तथा तम्। भवसहस्राण्येव जलसञ्चयस्तोयसमूहो यत्र स तथा तम। पूर्वं जननादिजन्यदुःखस्य सलिलतोक्ता, इह तु भवानां जननादिधर्मवतां जलविशेषसमुदायतोक्तेति न पुनरुक्तत्वम्। अनन्तमक्षयं, उद्वेजनकमुद्वेगकरम, अनर्वाक्पारं-विस्तीर्णस्वरूपम, महाभयादिविशेषणत्रयमेकार्थम् । अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा बृहदभिलाषा लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव वायुवेगस्तेन (उद्धम्ममाण त्ति) उत्पाट्यमानं यत्तत्तथा । तस्य आशा अप्राप्तार्थसम्भावनाः, पिपासाश्च प्राप्तार्थकाङ्क्षाः, त एव पातालाः पातालकलशाः,पातालं वा समुद्रजलतलं,तेभ्यस्तस्मात् कामरतिः शब्दादिष्वभिरतिः, रागद्वेषबन्धनेन च बहुविधसंकल्पाश्चेति द्वन्द्वः । तल्लक्षणस्य विपुलस्योदकरजस उदकरेणोर्यो रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा तम्। कलुषमतिवातेनाऽऽशादिपातालाद्युत्पाद्यमानकामरत्याद्युदकरजोरयोऽन्धकारमित्यर्थः। मोह एव महावर्तो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा एव, भ्राम्यन्तो मण्डलेन सञ्चरन्तो, गुप्यन्तो व्याकुलीभवन्त उच्छलन्त उच्चलन्तो,बहवः प्रचुराः , गर्भवासे मध्यभागविस्तरे, प्रत्यवनिवृत्ताश्च उत्पत्त्य निपतिताः,प्राणिनो यत्र जले तत् तथा। तथा प्रधावितानि इतस्ततः प्रकर्षेण गतानि यानि व्यसनानि तानि समापन्नाः प्राप्ता ये ते । पाठान्तरेण-बाधिताः पीडिता ये व्यसनसमापन्ना व्यसनिनः,तेषां रुदितं यत् प्रलपितं तदेव चण्डमारुतस्तेन समाहतममनोज्ञं वीचिव्याकुलितं भङ्गैस्तरङ्गैः, स्फुटद् विदलत्, अनिष्टैस्तैः कल्लोलैर्महोर्मिभिः संकुलं च जलं तोयं यत्र स तथा तम । मोहावर्त्तभोगरूपजलाम्यदादिविशेषणप्राणिकं व्यसनमापन्नरुदितलक्षणचण्डमारुतसमाहताविशेषणं जलं यत्रेत्यर्थः। प्रमादा मद्यादयः,त एव बहवश्चण्डा रौद्राः,दुष्टाः क्षुद्राः,श्वापदा व्याघ्रादयः,तैः समाहता अभिभूता ये (उद्धायमाणग त्ति) उत्तिष्ठन्तो (विविधचेष्टासु) समुद्रपक्षे मत्स्यादयः, संसारपक्षे पुरुषादयः, तेषां यः पूरः समूहस्तस्य ये घोरा रौद्रा विध्वंसना धी विनाशलक्षणाः, अनर्था अपायाः , तैर्बहुलो यत्र स तथा । अज्ञानान्येव भ्रमन्तो मत्स्याः(परिहत्थ त्ति)दक्षा यत्र स तथा ते। अनिभृतान्युपशान्तानि यानीन्द्रियाणि , अनिभृतेन्द्रिया वा ये देहिनस्तान्येव, त एव वा, महामकरास्तेषां यानि त्वरितानि शीघ्राणि,चरितानि चेष्टानि,तैरेव(खोक्खुब्भमाण त्ति)भृशं क्षुभ्य-

माणो यः स तथा । सन्तापः, एकत्र शोकादिकृतः, अन्यत्र वामवाग्निकृतो नित्यं यत्र स सन्तापनित्यकः । तथा चलन् चपलश्चञ्चलश्च यः स तथा, अतिचपल इत्यर्थः । स च अत्राणानामशरणानां पूर्वकृतकर्मसञ्चयानां, प्राणिनामिति गम्यम । यदुदीर्ण वर्ज्यं पापं तस्य यो वेद्यमानो दुःखशतरूपो विपाकः स एव घूर्णश्च भ्रमन् जलसमूहो यत्र स तथा । ततोऽज्ञानादिपदानां कर्मधारयः । अतस्तम् । ऋद्धिरससातलक्षणानि यानि गौरवाण्यशुभाध्यवसायविशेषाः, त एवापहारा जलचरविशेषाः, तैर्गृहीता ये कर्मसंनिबद्धाः सत्त्वाः, संसारपक्षे ज्ञानावरणादिबद्धाः, समुद्रपक्षे विचित्रचेष्टाप्रसक्ताः । (कड्डिज्जमाण त्ति) आकृष्यमाणा नरक एव तलं पातालं (दुत्तं ति) तदभिमुखं सन्ना इति सन्नकाः खिन्नाः, विषण्णाश्च शोकिताः, तैर्बहुलो यः स तथा । अरतिरतिभयानि प्रतीतानि । विषादो दैन्यं, शोकस्तदेव प्रकर्षावस्थम् । मिथ्यात्वं विपर्यासः, एतान्येव शैलाः पर्वतास्तैः सङ्कटो यः स तथा । अनादिसन्तानो यस्य कर्मबन्धनस्य तत्तथा, तच्च क्लेशाश्च रागादयस्तल्लक्षणं यत् चिक्खिल्लं कर्दमस्तेन सुष्ठु दुरुत्तारो यः स तथा । ततः स भ्रूकुट्यादिपदानां कर्मधारयः, अतस्तम् । अमरनरतिर्यग्गतौ यद्गमनं सैव कुटिलपरिवर्ता वक्रपरिवर्तना, विपुला विस्तीर्णा, वेला जलवृद्धिलक्षणा, यत्र स तथा तम् । हिंसाऽलीकादत्तादानमैथुनपरिग्रहलक्षणा ये आरम्भा व्यापाराः, तेषां यानि करणकारणानुमोदनानि तैरष्टविधमनिष्टं यत्कर्म पिण्डितं सञ्चितं, तदेव गुरुभारस्तेनाक्रान्ता ये ते तथा, तैर्दुर्गाण्येव व्यसनान्येव यो जलौघस्तेन दूरमत्यर्थं, निचोल्यमानैः निमज्जमानैः, (उम्मग्गनिमग्ग त्ति) उन्मग्ननिमग्नैरूर्ध्वाधोजलगमनानि कुर्वाणैः, दुर्लभं तलं प्रतिष्ठानं यस्य स तथा तम् । शरीरमनोमयानि दुःखानि उत्पिबन्त आस्वादयन्तः, सातं च सुखम्, असातपरितापनं च दुःखजनितोपतापः, एतन्मयमेतदात्मकम्, (उब्बुड्डनिब्बुड्डयं ति) उन्मग्ननिमग्नत्वं कुर्वन्तः । तत्र सातमुन्मग्नत्वमिव, असातपरितापनं निमग्नत्वमिवेति । चतुरन्तं चतुर्विभागं दिग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयोऽत्र दृश्यः । अनवदग्रमनन्तं, रुन्दं विस्तीर्णं, संसारसागरमिति प्रतीतम् । किंभूतम् ?, इत्याह-अस्थितानां संयमाव्यवस्थितानामविद्यमानमालम्बनं प्रतिष्ठानं च त्राणकारणं यत्र स तथा तम्, अप्रमेयमसर्ववेदिनाऽपरिच्छेद्यं, चतुरशीतियोनिशतसहस्रगुपिलम्, तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां चासंख्यातत्वेऽपि समवर्णगन्धरसस्पर्शानामेकत्वविवक्षणादुक्तसंख्याया अविरोधित्वं द्रष्टव्यम् । तत्र गाथा-" पुढवि ७ दग ७ अगणि ७ मारुय ७, एक्केक्के सत्त जोणिलक्खाओ । वणपत्तेय १० अणंते १४, दस चोद्दस जोणिलक्खाओ ॥१॥ विगलिंदिएसु दो दो, चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिएसु हुंति चउरो, चोद्दस लक्खा य मणुएसु " ॥ २ ॥ इति । अनालोकानामज्ञानमन्धकारो यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितकालं यावत्, नित्यं सर्वदा, उत्त्रस्ता उद्गतत्रासाः, शून्याः-इतिकर्तव्यतामूढाः, भयेन संज्ञाभिश्च आहारमैथुनपरिग्रहादिभिः, संप्रयुक्ता युक्ताः । ततः कर्मधारयः । वसन्ति अध्यासते, संसारसागरमिति प्रकृतम् । इह च वसेर्निरुपसर्गस्यापि कर्मत्वं संसारस्य, छान्दसत्वादिति । किंभूतं संसारम् ? उद्विग्नानां वासस्य वसनस्य वसतिस्थानं यः स तथा तम् । तथा यत्र यत्र ग्रामकुलादौ आयुर्निबध्नन्ति पापकारिणश्चौर्यविधायिनः, तत्र तत्रेति गम्यते । बान्धवजनादिवर्जिता भवन्तीति क्रियासम्बन्धः । बान्धवजनेन भ्रात्रादिना, स्वजनेन पुत्रादिना, मित्रैश्च सुहृद्भिः परिवर्जिता ये ते तथा । अनिष्टाः, जनस्येति गम्यते, भवन्ति जायन्ते । अनादेयदुर्विनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानासनशय्याश्च ते, कुभोजनाश्चेति समासः । (असुइणो त्ति) अशुचयोऽशुनयः, कुसंहननाः छेदवर्त्या संहननयुक्ताः, कुप्रमाणा अतिदीर्घा अतिह्रस्वा वा, कुसंस्थिता हुण्डादिस्थानाः । इति पदत्रयस्य कर्मधारयः । कुरूपाः कुत्सितवर्णाः, बहुक्रोधमानमायालोभा इति प्रतीतम् । बहुमोहा घनिकामा अत्यर्थाज्ञाना वा, धर्मसंज्ञाया धर्मबुद्धेः, सम्यक्त्वाच्च ये परिभ्रष्टास्ते तथा । दारिद्र्योपद्रवाभिभूताः, नित्यं परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीव्यते येनार्थेन द्रव्येण तद्द्रव्यरहिता ये ते तथा । कृपणा रङ्काः, परपिण्डतर्ककाः परदत्तभोजनगवेषकाः, दुःखलब्धाहारा इति व्यक्तम् । अरसेन हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतेन, विरसेन पुराणादिना, तुच्छेन अल्पेन, भोजनेनेति गम्यते । कृतकुक्षिपूरा यैस्ते तथा । तथा परस्य संबन्धिनं प्रेक्षमाणाः । पश्यन्ति किम ? इत्याह-ऋद्धिः सम्पत, सत्कारः पूजा, भोजनमशनम्, एतेषां ये विशेषाः प्रकाराः, तेषां यः समुदायः, उदयवर्तित्वं वा, तस्य यो विधिर्विधानमनुष्ठानं, स तथा तम् । ततश्च निन्दन्ता जुगुप्समानाः, (अप्पकं ति) आत्मानं, कृतान्तं च दैवं, तथा परिवदन्तो निन्दन्तः, कानि ?, इत्याह-[इह य पुरे कडाइं कम्माइं पावगाइं ति] इहैवमत्तरप्रदनापुराकृतानि च जन्मान्तरकृतानि कर्माणि इह जन्मनि पापकान्यशुभानि । क्वचित्पापकारिण इति पाठः । विमनसो दीनाः, शोकेन दह्यमानाः परिभूता भवन्तीति सर्वत्र संबन्धनीयम् । तथा सत्त्वपरिवर्जिताश्च [छोभ त्ति] निस्सहायाः क्षोभणीया वा, शिल्पचित्रादिकला धनुर्वेदादिः, समयशास्त्रम्-जैनबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रम्, एभिः परिवर्जिता ये ते तथा । यथाजातपशुभूताः शिक्षाऽऽभरणादिवर्जितबलीवर्दादिसदृशाः, निर्विज्ञानत्वादिसाधर्म्यात् । (अवियत्त त्ति) अप्रतीत्युत्पादकाः, नित्यं सदा, नीचान्यधमजनोचितानि, कर्माण्युपजीवन्ति तैर्वृत्तिं कुर्वन्ति ये ते तथा । लोककुत्सनीया इति प्रतीतम् । मोहाद् ये मनोरथा अभिलाषास्तेषां ये निरासाः क्षेपास्तैर्बहुला ये ते तथा । अथवा-मोघमनोरथा निष्फलमनोरथाः, निराशबहुलाश्च आशाऽभावप्रचुरा ये ते तथा । आशा इच्छाविशेषः, सैव पाशो बन्धनं तेन प्रतिबद्धाः संरुद्धाः, निर्यान्त इति गम्यम् । प्राणा येषां ते तथा । अर्थोत्पादानं द्रव्यार्जनं, कामसौख्यं प्रतीतम्, तत्र च लोकसारे लोकप्रधाने, भवन्ति जायन्ते, (अफलवंतगा य त्ति) अफलवन्तः अप्रापका इत्यर्थः । लोकसारता च तयोः प्रतीता । यथाहुः-" यस्यार्थस्तस्य मित्राणि, यस्यार्थस्तस्य बान्धवाः । यस्यार्थः स पुमाँल्लोके, यस्यार्थः स च पण्डितः" ॥१॥ इति । तथा-"राज्ये सारं वसुधा, वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम् । सौधे तल्पं तल्पे, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम्" ॥१॥ इति । किं भूताः , अपीत्याह-सुष्ठ्वपि च (उज्जमंत त्ति) अत्यर्थमपि च प्रयतमानाः । उक्तं च-"यद्यदारभते कर्म, नरो दुष्कर्मसंचयात् । तत्तद्विफलतां याति, यथा बीजं महोषरे " ॥ १ ॥ तद्दिवसं प्रतिदिनमुद्युक्तैरुद्यतैः सद्भिः कर्मणो व्यापारेण कृतेन यो दुःखेन कष्टेन संस्थापितो मीलितः सिक्थानां पिण्डस्तस्यापि सञ्चये पराः प्रधाना ये ते तथा । क्षीणद्रव्यसारा इति व्यक्तम् । नित्यं सदा अध्रुवा अस्थिराः, धनानामणिमादीनां, धान्यानां शाल्यादीनां, कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि तत्परिभोगेन वर्जिताश्च ये ते तथा । रहितं त्यक्तं कामयोः शब्दरूपयोः भोगानां च गन्धर-

सस्पर्शानां परिभोगे आसेवने यत्तत् सर्वसौख्यमानन्दो येस्ते तथा । परेषां या श्रियाः भोगोपभोगौ तयोर्यन्निश्राणं निश्रा, तस्य मार्गणपरायणा गवेषणपराः, ये ते तथा । तत्र भोगोपभोगयोरयं विशेषः-" सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपुप्फमाईश्रो । उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ वत्थविलयाइ " ॥ १ ॥ इति । वराकास्तपस्विन अकामिकया अनिच्छया, विनयन्ति प्रेरयन्ति, अतिवाहयन्तीत्यर्थः । किं तत् ?, इत्याह-दुःखमसुखं, नैव सुखं, नैव निर्वृतिं स्वास्थ्यमुपलभन्त प्राप्नुवन्ति, अत्यन्तविपुलदुःखशतसंप्रदीप्ताः परस्य द्रव्येषु ये अविरता भवन्ति, ते नैव सुखं लभन्त इति प्रस्तुतम्, तदेव यादृशं फलं ददाति तादृशमभिहितम् । अधुनाऽध्ययनोपसंहारार्थमाह-(एसो सो) इत्यादि सर्वं पूर्ववत् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । (पञ्चमं ये च कुर्वन्तीति द्वारं तृतीयद्वारेण सहैवोक्तमिति न पृथगुक्तम्)।

(अदत्तादानस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाः "अदत्तादाणवेरमण" शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम्-

जे भिक्खू आयरियउवज्झाएहिं अवादिणं गिरं आइयति, आइयंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

गिर त्ति वाणी वयणं, तं पुण सुत्ते चरणे वा जातं आयरियउवज्झाएहिं अदत्तं गेण्हति, तत्थ सुत्ते एकं, अत्थे दो, चरणमूलुत्तरगुणेसु अणेगविहं पच्छित्तं ।

दुविहमदत्ता उ गिरा, सुत्ते अत्थे तहेव चारित्ते ।
सुत्तत्थेसु सुयम्मी, भासा दोसे चरित्तम्मि ॥ २१६ ॥
एति णियगारवेणं, बहुसुत्तमतेण अच्छतो वा वि ।
गंतुं अपुच्छमाणो, उभयं अणावदेसेणं ॥ २१७ ॥

जा सुत्ते गिरा, सा दुविधा-सुत्ते, अत्थे वा । चरणे सा सावज्जदोसजुत्ता भासा । कहं पुण सोऽदिण्णं आइयत्ति ?। उच्यते-(एति णिय)गाहा । तस्स किंचि सुत्तत्थं संदिद्धं, सो सव्वं एति णिउहंति गारवेण इमे ण पुच्छति , सीसत्तं वा न करेइ , बहुसुओ वाऽहं जणामि कहमण्णं पुच्छिस्सं ?, एवमादिगारवट्ठितो अच्छतो वि ण गच्छति, गतो वा ण पुच्छति, ताहे जत्थ सुत्तं अत्थाणि वा इज्जंति तत्थ भित्तिमिलिकुडंकडंतरिश्रो वा वि अणावदेसेण वा गतागतं करेंतो सुणेति, उभयं पि अणावदेसेण ।

एसा सुत्त अदत्ता, होति चरित्तम्मि जा स सावज्जा ।
गारत्थियभासा वा, दद्दर पलिओ वि सा वा वि ॥ २१८ ॥

चारित्ते दद्दुरं ससरं करेति, आलोयणकाले पलिओ, सेति कताकते वा अत्थि पलिओ वि त्ति, सेसं कंठं ॥

वितिओ वि य आएसो, तवतेणादीणि पंच तु पदाणि ।
जे भिक्खू आदियती, सो खमओ आम मोणं वा ॥ २१६ ॥

तवतेणे वयतेणे रूपतेणे य जे नरे आयारभावतेणे य कुव्वइ देवकिब्बिसं, एतेसिं इमा विभासा, (खमओ) गाहा-से भावदुब्बलो भिक्खागओ, अण्णत्थ वा पुच्छिओ सो-तुमं खमओ त्ति भंते !, ताहे सो भणाति-आमं, मोणेण वा अत्थति । अहवा भणाति-को जतीसु खमणं पुच्छइ ?, तेणे त्ति तुमं, सो धम्मकहीओ वाणे मित्तिओ गणी वायगो वा ।

पच्छ वि जणाति आमं, तुण्हीको वावि पुच्छति जतीणं ।
धम्मं कहिवादिवयणो, रूवे खीयल पमिमाए ॥ २२० ॥

भणाति रूवे-तुमं अम्ह सयणोऽसि, अहवा तुमं सो पडिमं पडिवण्णमासी, एत्थेव तहेव तुण्हिक्कादि अत्थति ।

बाहिरउवाणवलिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।
माहुरुदाहरणं तहिँ, सावे गोविंदपव्वज्जा ॥ २२१ ॥

आयारतेणे महुराकोमेण्ढा उदाहरणं, ते भावसुण्णा परपत्तिणिमित्तं बाहिरकिरिया सुट्ठुउज्जुत्ता जे, ते आयारतेणा । भावतेणो जहा-गोविंदवायगो वादे णिज्जिओ, सिद्धंतहरणट्ठयाए पव्वयमब्भुवगतो पच्छा सम्मत्तं पडिवण्णो । एवमादि गिराणं अदिण्णाणं णो गहणं कायव्वं, एकं ता वयणभंसो कतो भवति । मुसावादिया य वरणभंसदोसा-

एतेसामण्णतरे, गिरिं अदत्तं तु आदिया जे तु ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २२२ ॥

कंठ्या । आवण्णसद्दाणं ण पच्छित्तं, ते अदत्तं पि आदिएज्ज ।

वितियपदमणप्पज्झे, आदिएँ अवि को वि ते व अप्पज्झे ।
दुद्दाइ संजमट्ठा, दुल्लभदव्वेण ऽजाणंता ॥ २२३ ॥

खेत्तादिचित्तो वा आइएज्ज, सेहो वा अजाणंतो (दुद्दाइ त्ति) उवसंपण्णाण वि न देइ, तस्स उवसंपण्णो अणुवसंपण्णो वा जत्थ गुणेइ, वक्खाणेइ वा, कस्स वि तत्थ कुड्डंतरिओ सुणेति, गयागयं वा करेंतो संजमे हेउं वत्ति । अत्थितो कहमित्थादिट्ठति, पुच्छिओ दिट्ठो वि न दिट्ठति, भणेज्जा जत्थ वा संजयभासा तं भासिज्जमाणा सागारिया संजयभासाओ गेण्हेज्जा, तत्थ भत्तिद्धिया ते गारत्थिगभासाए भासेज्जा । आयरियस्स गिलाणस्स वा, सयपागेण वा, सहस्सपागेण वा दुल्लभदव्वेण कज्जं तदट्ठाणिमित्तं पउंजेज्ज । अण्णं वा किंचि संथवयणं भणेज्ज । तदट्ठावेव तेणादि वा पंचपदे भणेज्जा । नि० चू० १६ उ० । "अदिण्णादाणं सुहुमं, बादरं च । तत्थ सुहुमं तणडगलछारमल्लगादीणं गहणे । बादरं हिरण्णसुवण्णादि " । महा० ३ अ० ।

स्वाम्यदत्तादि—

स्वामिजीवतीर्थकरगुर्वदत्तभेदेनादत्तं चतुर्विधम् । तत्र स्वाम्यदत्तं तृणोपलकाष्ठादिकम् , तत्स्वामिना दत्तम् १ । जीवादत्तं यत्स्वामिना दत्तमपि जीवेनादत्तम्, यथा प्रव्रज्यापरिणामविकलो मातापितृभ्यां पुत्रादिर्गुरुभ्यो दीयते २ । तीर्थकरादत्तं यत्तीर्थकरैः प्रतिषिद्धमाधाकर्मादि गृह्यते ३ । गुर्वदत्तं नाम स्वामिना दत्तमाधाकर्मादिदोषरहितं गुरूननुज्ञाप्य यद् गृह्यते ४ । इति चतुर्विधस्याप्यत्र परिहारः । इत्युक्तं तृतीयं व्रतम् । ध० ३ अधि० ।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं सि अजाइया ॥ १४ ॥

चित्तवद् द्विपदादि, अचित्तवद्धिरण्यादि; अल्पं वा-मूल्यतः, प्रमाणतश्च । यदि वा बहु-मूल्यप्रमाणाभ्यामेव । किं बहुना ?-दन्तशोधनमात्रमपि तथाविधं तृणादि अवग्रहे यस्य तत्तमयाचित्वा न गृह्णन्ति साधवः, कदाचनेति सूत्रार्थः । दश० ६ अ० ।

(६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति—

जे भिक्खू लहुसयं अदत्तं आदियाति, आदियंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

लहु थोवं, अदत्तं तेणं, आदियणं गहणं, साइज्जणा अणुमोयणा, मासलहु पच्छित्तं ।

तं अदत्तं दव्वादि चउव्विहं–

दव्वे खेत्ते काले, भावे लहुसगं अदत्तं तु ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाऽऽणुपुव्वीए ॥ ७१ ॥

दव्वखेत्तकालाणं गहणं, साइज्जणा अणुमोयणा, मासलहु पच्छित्तं, तं अदिसं दव्वादिहिं चउव्विहं ।

दव्वखेतकालाएं इमं वक्खाणं–

दव्वे करणादिएसु, खेत्ते उच्चारभूमिमादीसु ।
काले इत्तरियमवी, अच्छाइ तु चिट्ठमादीसु ॥ ७२ ॥

वणस्सतिभेओ इक्कडालादीणं पसिद्धो, कडणो वंसो, आदिग्गहणाओ अवलेहणिया, दारुदंडपादपुंछणमादि, एते अणणुण्णाते गेण्हति । खेत्तओ अदिन्नं गेण्हति उच्चारभूमिं, आदिग्गहणाओ पासवणखाओ अणिट्ठिवणभूमीए अणणुण्णविता उच्चारादी आयरइ । खित्तओ अदिन्नं गतं । काले इत्वरं स्तोकं अणणुण्णं चिट्ठति । भिक्खादि हिंडंतो जाव वासं वसति वितिकुड्डं वा पविसति, अद्धाणे वा अणणुण्णवेत्ता रुक्खहेट्ठाइसु चिट्ठति निसीयति, तुयट्टति वा, दव्वाइसु वि मासलहुं ॥

इदाणीं भावे अदत्तं–

भावे पाओग्गस्सा, अणणुण्णवणा तु तप्पढमताए ।
ठायंते उडुबद्धे, वासाणं वुड्ढवासे य ॥ ७३ ॥

उडुबद्धे वासासु वा, वुड्ढावासे वा, तप्पढमयाए पाओग्गाऽणणुण्णवणभावेण परिणयस्स दव्वादिसु चेव भावओ लहु अदत्तं, अहवा साहु वुड्ढेसु जं जेसु जं जोग्गं पाउग्गं जम्मति ।

लहुसमदत्तं गेण्हंतस्स को दोसो?, इमो–

एतेसमण्णतरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदियइ ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेण्हंतो अपच्छित्ती, अदोसो य ।

अद्धाण गेलणे ओ–मऽसिवे गामाणुगामिमतिवेला ।
तेणासावयमसगा, सीतं वासं दुरहियासं ॥ ७५ ॥

अद्धाणाओ णिग्गता परिसंता गामं वियाले पत्ता, ताहे अणुण्णवितं इक्कडादि गेण्हेज्ज । वसहीए वि अणुण्णवियाए ठाएज्ज, आगाढगेलण्णे तुरियकज्जे खिप्पमेव अणुण्णवितं गेण्हेज्ज, ओमोदरियाए जत्तादि अदिन्नं सयमेव गेण्हेज्ज । असिवगाहिताणं ण को वि देइ, ताहे अदिन्नं संथारगादि गेण्हेज्ज । गामाणुगामं दूइज्जमाणा वियाले गामं पत्ता । जइ य वसही ण लब्भति, ताहे बाहिं वसंतु, मा अदत्तं गेण्हंतु । अह बाही दुविहा-तेणासिघातिसावयामसगेहिं वा खिज्जिज्जंति, सीयं वा दुरहियासं, जहा उत्तरावहे अणवरतं वा संपडति ।

एतेहिँ कारणेहिं, पुव्वउ घेत्तु पच्छऽणुण्णवणा ।
अद्धाण णिग्गतादी, दिट्ठमदिट्ठे इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं तेणादिकारणेहिं वसहिसामीए दिट्ठे अणुण्णवणा, अदिट्ठे अद्धाण णिग्गयादी,सयणसमोसिगाई अणुण्णवेत्तु घरसामिणा अदिण्णं घेत्तुं घरसामियमणुण्णवेति इमेण विहाणेण–

पडिलेहणऽणुण्णवणा, अणुलोमणफरुसणा य अहियासो ।
अतिरिच्चमिदायणणि–ग्गमणे वा दुविधभेदो य ॥७७॥

पडिलेहे त्ति । अस्य व्याख्या–

अब्भासत्थं गंतू–ण पुच्छणा दूरपत्तिमा जतणा ।
तद्दिसमेत्तपरिच्छण–पत्तम्मि कहिंति सब्भावं ॥ ७८ ॥

सो घरसामी जदि खेत्तं खलगं वा गते जदि अब्भासतो गंतुं अणुण्णविज्जति । अह दूरं गतो ताहे संघाडओ णाम विधेज्जाहिं । आगमेउं तं दिसं अदूरं गंतु पडिक्खति जाहे साहू समीवं पत्तो ताहे अणुलोमवयणेहिं पण्णविज्जति ॥

अणुसासणं सजाती,स जाति मणुस त्ति तह वि तु अट्ठंते ।
अभिजोगणिमित्तं वा, बंधणगा से य ववहारो ॥७९॥

जहा गोजातिमंडलखुओ गोजातिमेव जाति, आसण्णे वि णो महिस्सादिसु ठितिं करेति । एवं वयं पि माणुसा माणुसमेव जामो । जदि तह वि ण देति,फरुसाणि वा भणति, ताहे सो फरुसं ण भण्णति, अधियासिज्जइ । जइ तह वि णिच्छुभेज्ज,ततो विज्जाए, चुण्णेहिं वा वसी कज्जति, णिमित्तेण वा आउंटाविज्जति । तस्स असति रुक्खमादिसु बाहिं वसंतु,मा य तेण समाणं कलहेंतु । अह बाहिं दुविहभेओ–आयसंजमाणं उ करणसरीराणं वा संजमचरित्ताणं वा पणवणं व अतिरेचते, लङ्घत इत्यर्थः। ताहे भणति–अम्हे सहामो, ज एस आगतिमं सो एस रायपुत्तो ण सहिस्सति, एस वा सहस्सजोधी,सो वि कयकरणो किंचि करणं दएति, अहाति । जहा–विस्सभूतिणा मुट्ठिप्पहारेण संधम्मि कविट्ठा पाडिया एस दायणा, तह वि अठायमाणे बंधिउं ठवेंति, जाव पभायं सो य जइ रायकुलं गच्छति,तत्थ तेण समाणं ववहारो कज्जति, कारणियाणं आगतो भणति–अम्हेहिं रायहियं आचिट्ठंतेहिं मुसित्ता सावएहिं वा खज्जं वा,तो रण्णो अभिहियं–अयसो य भवंतो परकृतनिलयाश्च तपस्विनः, रायरक्खियाणि य तपोवणाणि, ण दोसे त्ति । नि० चू० २ उ० । लघुकादत्तं पुनः–अननुज्ञापितलृणलेष्टुक्षारमल्लकालिकवृक्षादिच्छायविश्रमणादिविषयम । जीत० ।

(७) गृहादौ तपस्तैन्यादि न कुर्वीत—

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे ।
आयारभावतेणे अ, कुव्वइ देवकिब्बिसं ॥ ४६ ॥

तपस्तेनः,वाक्स्तेनः, रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चिद्, आचारभावस्तेनश्च पालयन्नपि क्रियां तथा भावदोषात्किल्बिषं करोति किल्बिषिकं कर्म निवर्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकतुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति ?। स पूजाद्यर्थमाह–अहम् । अथवा वक्ति-साधव एव क्षपकाः। तूष्णीं वाऽऽस्ते। एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति । एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवत्तुल्यरूप इति। भावस्तेनस्तु–परोत्प्रेक्षितं कथञ्चित् किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याहेति सूत्रार्थः ।

अयं चेत्थंभूतः–

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिब्बिसे ।

तत्था वि से न जाणइ, किम्मे किच्चा इमं फलं ॥४७॥

लब्ध्वाऽपि देवत्वं तथाविधक्रियापालनवशेन उपपन्नो देवकिल्बिषे देवकिल्बिषकाये तत्राप्यसौ न जानात्यविशुद्धावधिना किं मम कृत्वा इदं फलं किल्बिषिकदेवत्वमिति सूत्रार्थः ।

अत्रैव दोषान्तरमाह-

तत्तो वि से चइत्ता णं, लब्भिही एलमूअयं ।
नरगं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजभाषाऽनुकारित्वं मानुषत्वे, तथा नरकं, तिर्यग्योनिं वा, पारम्पर्येण लप्स्यते । बोधिर्यत्र सुदुर्लभः । सकलसम्पन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा । इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भावप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देशः । इति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० २ उ० । (अदत्तादानस्य दर्पिका कल्पिका च प्रतिसेवा स्वस्थान एव वक्ष्यते)(शब्दादिविषयगृद्धौ अदत्तादानमापतितमिति उत्त० ३२ अध्ययने दर्शितमन्यत्र वक्ष्यते) (साधर्मिकादिस्तैन्यं " अणवट्ठप्प " शब्देऽस्मिन्नेव भागे २९९ पृष्ठे दर्शितम्)

अदत्ता (दिन्ना) दाणकिरिया-अदत्तादानक्रिया-स्त्री० । आत्माद्यर्थमदत्तग्रहणे, स्था० ५ ठा० २ उ० । स्वामिजीवगुरुतीर्थकराद्यदत्तग्रहणे, ध० ३ अधि० ।

अदत्ता (दिन्ना) दाणवत्तिय-अदत्तादानप्रत्ययिक-पुं० । न० । अदत्तस्य परकीयस्यादानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयं, तत्प्रत्ययिको दण्डः । एतच्च सप्तमे क्रियास्थाने, सूत्र० ।

अहावरे सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा० (णाइहेउं वा अगारहेउं वा) जाव परिवारहेउं वा सयमेव अदिन्नं आदियइ, अन्नेण वि अदिन्नं आदियावेति, अदिन्नं आदियंतं अन्नं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जं ति आहिज्जइ, सत्तमे किरियाठाणे अदिन्नादाणवत्तिए त्ति आहिए ।

एतदपि प्राग्वद् ज्ञेयम् । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुष आत्मनिमित्तं (ज्ञातिनिमित्तम्, अगारनिमित्तं) यावत्परिवारनिमित्तं परद्रव्यमदत्तमेव गृह्णीयात्, अपरं च ग्राहयेद्, गृह्णन्तमप्यपरं समनुजानीयादित्येवं तस्यादत्तादानप्रत्ययिकं कर्म संबध्यते । इति सप्तमं क्रियास्थानमाख्यातमिति । सूत्र० २ श्रु० २ उ० । आ० चू० । प्र० व० । स्था० ।

अदत्ता (दिन्ना) दाणविरइ-अदत्तादानविरति-स्त्री० । परद्रव्यहरणविरतौ, महा० ७ अ० ।

अदत्ता (दिन्ना) दाणवेरमण-अदत्तादानविरमण-न० । अदत्तादानाद् विरमणमदत्तादानविरमणम् । स्वाम्याद्यनुज्ञातं प्रत्याख्यामीति स्तेयविरतिरूपे व्रतभेदे, प्रश्न० ३ संव० द्वा० । तत्र स्थूलकाऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयमणुव्रतं, सर्वोऽदत्तप्रत्याख्यानं तृतीयं महाव्रतमिति ।

तत्र स्थूलकादत्तविरमणमित्थम्—

" तदाऽणंतरं च णं थूलगं अदिन्नादाणं पच्चक्खामि दुविहं तिविहेणं ण करेमि, ण कारवेमि मणसा वयसा कायसा " । स्थूलकमदत्तादानं चौर इति व्यपदेशनिबन्धनम् । उपा० १ अ० ।

थूलगमदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सचित्तादत्तादाणे, अचित्तादत्तादाणे अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्—स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र परिस्थूलविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलम्, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं च तत् अदत्तादानं चेति समासः । तच्छ्रमणोपासकः प्रत्याख्यातीति पूर्ववत् । 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तच्छब्दार्थः । तच्चादत्तादानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तीर्थङ्करगणधरैर्द्विप्रकारं प्ररूपितमित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सह चित्तेन सचित्तं-द्विपदादिलक्षणं वस्तु, तस्य क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुर्न्यस्तविस्मृतस्य स्वामिना अदत्तस्य चौर्यबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । आदानमिति ग्रहणम् । अचित्तं वस्त्रकनकरत्नादि, तस्यापि क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुर्न्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानमचित्तादत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोसो ?, अकज्जंते वा के गुणा ?, एत्थ इमं एगं चेव उदाहरणं । जहा-एगा गोट्ठी सावगो जतीए गोट्ठीए एगत्थपगरणं वट्टइ, जाणगते गोट्ठिएहिं घरं पेल्लियं थेरीए एक्केक्को मोरपुत्तेण पाए परंतीए अंकिओपज्जाए य रन्नो निवेइयं । राया भणइ-कहं ते जाणियव्वा ? । थेरी भणइ-एते पादेसु अंकिया नगरसमागमे दिट्ठा, दो वि तिन्नि चत्तारि सव्वा गोट्ठिगहिया । एगो सावगो भणइ-न हरामि, न लंछिओ । तेहिं वि भणियं-न एस हरइ । तेहिं विमुक्को । इयरे सासिया अवि य सावगेण गोट्ठी न पविसियव्वं । जइ कहं वि पओयणेण पविसइ, ताओ हारगं हिंसादि न देइ, न य तेसिं आओगट्ठाणेसु ठाइ । आव० ६ अ० ।

तस्यातिचाराः-

तयाऽणंतरं च णं थूलगअदिन्नादाणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-तेनाहडे, तक्करप्पओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुल्लकूडमाणे, तप्पडिरूवगववहारे । उपा० १ अ० ।

एतानि समाचरन्नतिचरति, तृतीयाणुव्रत इति । " दोसा पुण-तेनाहडयाहियं राया वि जाणेज्जा, सामी वा पच्चभिजाणेज्जा, ततो मारेज्ज वा, दंडेज्ज वा " इत्यादयः शेषेष्वपि वक्तव्याः । उक्तं सातिचारं तृतीयाणुव्रतम् । आव० ६ अ० । पा० । ध० र० । ध० ।

सर्वस्माददत्तादानाद् विरमणं त्वित्थम्—

अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं । सव्वं भंते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि । से गामे वा नगरे वा रन्ने वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा, अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते !

पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि, तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

अथापरस्मिंस्तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा-ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वेत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः । तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, तस्मिन् । नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम् । अरण्यं काननादि । अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वेत्यनेन तु द्रव्यपरिग्रहः । तत्राल्पं मूल्यत एरण्डकाष्ठादि, बहु-वज्रादि । अणु प्रमाणतो वज्रादि । स्थूलमेरण्डकाष्ठादि । एतच्च चित्तवद्वाऽचित्तवद्वेति, चेतनाचेतनमित्यर्थः (णेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्ज त्ति) नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामीत्येतच्चावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्त्वयम्-अदत्तादानं चतुर्विधम्-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । द्रव्यतोऽल्पादौ, क्षेत्रतो ग्रामादौ, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्याम् । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी त्वियम्-"दव्वओ नामेगे अदिन्नादाणे णो भावओ १ । भावओ नामेगे नो दव्वओ २ । एगे दव्वओ वि भावओ वि ३ । एगे णो दव्वओ नो भावओ ४ । तत्थ अरत्तऽदुट्ठस्स साहुणो कहिं वि अणणुन्नवेऊण तणाइ गेण्हओ दव्वओ अदिन्नादाणं नो भावओ, हरामीति अब्भुज्जयस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ । एवं चेव संपत्तीए भावओ दव्वओ वि । चरिमभंगो पुण सुन्नो ।" दश० ४ अ० ।

अहावरं तच्चं महव्वयं पच्चाइक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं, से गामे वा णगरे वा अरण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, णेवऽण्णेहिं अदिण्णं गिण्हावेज्जा, अण्णं पि अदिण्णं गिण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए जाव वोसिरामि । तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति-तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीइमि उग्गहं जाइ से णिग्गंथे णो अणणुवीइमि उग्गहं जाइ से णिग्गंथे । केवली बूया-अणणुवीइमितोग्गहं जाति, से णिग्गंथे अदिण्णं गिण्हेज्जा, अणुवीइमि उग्गहं जाति से णिग्गंथे णो अणुवीइमितोग्गहजाइ त्ति पढमा भावणा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा भावणा-अणुण्णविय पाणभोयणभोई से णिग्गंथे णो अणणुण्णविय पाणभोयणभोई । केवली बूया-अणणुण्णविय पाणभोई से णिग्गंथे अदिण्णं भुंजेज्जा । तम्हा अणुण्णविय पाणभोयणभोई से णिग्गंथे णो अणणुण्णविय पाणभोयणभोइ त्ति दोच्चा भावणा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा भावणा-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहितंसि एत्तावता व उग्गहणसीलए सिया । केवली बूया-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एत्तावता व अणोग्गहणसीले अदिन्नं उगिण्हेज्जा णिग्गंथेणं उग्गहंसि एत्तावता व उग्गहणसीलए सि त्ति तच्चा भावणा ॥ ३ ॥ अहावरा चउत्था भावणा-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया । केवली बूया-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ अणोग्गहणसीले अदिण्णं गिण्हेज्जा, णिग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए त्ति चउत्था भावणा ॥ ४ ॥ अहावरा पंचमा भावणा-अणुवीइमितोग्गहं जाइ से णिग्गंथे साहम्मिएसु णो अणणुवीइमि उग्गहं जाति । केवली बूया-अणुवीइमि उग्गहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिएसु अदिन्नं उगिण्हेज्जा । से अणुवीइमि उग्गहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिएसु णो अणणुवीइमि उग्गहं ति पंचमा भावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहिते आवि भवइ तच्चं भंते ! महव्वए । आचा० २ श्रु० १ अ० ॥

तस्य चेमे अतीचाराः—

एवं तृतीयेऽदत्तस्य, तृणादेर्ग्रहणादणुः ।
क्रोधादिभिर्बादरोऽन्य-सचित्ताद्यपहारतः ॥ ५० ॥

एवं पूर्वोक्तरीत्या सूक्ष्मबादरभेदेन द्विविध इत्यर्थः । तृतीयेऽस्तेयव्रते प्रक्रमादतिचारो भवतीति शेषः । तत्र अणुः सूक्ष्मः, अदत्तस्य स्वाम्यादिनाऽननुज्ञातस्य तृणादेर्ग्रहणादनाभोगेनाङ्गीकरणाद्भवति, तत्र तृणं प्रसिद्धम् । आदिशब्दाद् डगलच्छारमल्लकादेरुपादानम् । अनाभोगेन तृणादि गृह्णतोऽतिचारो भवति, आभोगेन त्वनाचार इति भावः । तथा-क्रोधादिभिः कषायैरन्येषां साधर्मिकाणां चरकादीनां गृहस्थानां वा संबन्धि सचित्तादि सचित्ताचित्तमिश्रवस्तु, तस्याऽपहारतोऽपहरणपरिणामाद् बादरोऽतिचारो भवतीति संबन्धः । यतः "तइअम्मि वि एमेव य, दुविहो खलु एस होइ विन्नेओ । तणडगलछारमल्लग, अविदिन्नं गिण्हओ पढमं " ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तद्वृत्तिलेशः । " साहम्मि अन्नसाह-म्मि आणगिहि आणकोहमाईहिं । सचित्ताइ अवहरओ, परिणामो होइ बीओ उ " ॥ २ ॥ साधर्मिकाणां साधुसाध्वीनाम्, अन्यसधर्माणां चरकादीनामिति तद्वृत्तिरित्युक्ताः तृतीयव्रतातिचाराः । ध० ३ अधि० । एतदेव सर्वस्माददत्तादानविरमणं दत्ताऽनुज्ञातसंवरनाम्ना स्वरूपोपदर्शनपूर्वकं सभावनाकं प्रश्नव्याकरणेषु तृतीयसंवरद्वारेऽभिहितम् । तस्य चेदमादिमं सूत्रम्—

जंबू ! दत्तमणुण्णायसंवरो नाम होइ ततियं, सुव्वय ! महव्वयं गुणव्वयं परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंततण्हामणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुनिग्गहियं सुसंजमियमणहत्थपायनिहुयं निग्गंथं निट्ठिकं निरुत्तं निरासवं निब्भयं विमुक्कं उत्तमनरवसभपवरबलवगसुविहितजणसम्मतं परमसाहुधम्मचरणं जत्थ य गामागरनगरनिगमखेडकब्बडमडंबदोणमुहसंवाहपट्टणासमगयं च किंचि दव्वं-मणिमुत्तसिलप्पवालकंसदूसरययवरकणगरयणमादिं पडियं पम्हट्ठं विप्पणट्ठं न कप्पति कस्सति कहेउं वा, गेण्हेउं वा, अहिरण्णसुव-

एगकेण समलेट्ठुकंचणाणं अपरिग्गहसंवुडेण लोगम्मि विहरियव्वं, जं पि य होज्जाहि दव्वजातं खलगतं खेत्तगतं रणमंतरगयं च किंचि, पुप्फफलतयप्पवालकंदमूलतणकट्ठसक्कराई अप्पं च बहुं च अणुं वा थूलगं वा न कप्पति। उग्गहे अदिएणम्मि गेण्हेउ , जे हणि हणि उग्गहे अणुमाविय गेण्हियव्वं वज्जेयव्वो य सव्वकालं अवियत्तघरप्पवेसो अवियत्तभत्तपाणं अवियत्तपीढफलगसेज्जासंथारगवत्थपायकंबलदंडगरयोहरणनिसेज्जचोलपट्टगमुहपोत्तियपादपुंछणादि भायणभंडोवहिउवकरणं परपरिवाओ परस्स दोसो परववएसेण जं च गिण्हेति परस्स नासेइ जं च सुकयं दाणस्स य अंतराइयं दाणस्स विप्पणासे पेसुण्णं चेव मच्छरित्तं च। जे वि य पीढफलगसेज्जासंथारगवत्थपायकंबलदंडगरओहरणनिसेज्जचोलपट्टमुहपोत्तियपायपुंछणादि भायणभंडोवहिउवगरणं असंविभागी असंगहरुई तववयतेणे य रूवतेणे य आयारे चेव भावतेणे य सद्दकरे झंझकरे कलहकरे वेरकरे विकहकरे असमाहिकारके सया अप्पमाणभोई सततं अणुबद्धवेरे य निच्चरोसी, से तारिसए नाराहए वयमिणं ॥

(जंबू इत्यादि) तत्र जम्बूरित्यामन्त्रणम । (दत्तमणुन्नायसंवरो नाम त्ति) दत्तं च वितीर्णमशनादिकम, अनुज्ञातं च प्रातिहारिकपीठफलकादिग्राह्यमिति गम्यते । इत्येवंरूपः संवरो दत्तानुज्ञातसम्वर इत्येवं नामकं भवति तृतीयं, सम्वरद्वारमिति गम्यते । हे सुव्रत! जम्बूनामन्! महाव्रतमिदं, तथा गुणानामैहिकामुष्मिकोपकाराणां कारणभूतं व्रतं गुणव्रतम् । किं स्वरूपमिदम ?,इत्याह-परद्रव्यहरणप्रतिविरतिकरणयुक्तम, तथा अपरिमिता अपरिमाणद्रव्यविषया,अनन्ता याऽकृया, या तृष्णा विद्यमानद्रव्याभ्यर्थेच्छा, तया यदनुगतं महेच्छं वा अविद्यमानद्रव्यविषये महाभिलाषं यन्मनो मानसं, वचनं च वाक्, ताभ्यां यत्कलुषं परधनविषयत्वेन पापरूपमादानं ग्रहणं तत्सुष्ठु निगृहीतं नियमितं यत्र तत्तथा । तथा सुसंयमितमनसा संवृतेन चेतसा हेतुना हस्तौ च पादौ च निभृतौ परधनादानव्यापारादुपरतौ यत्र तत् सुसंयमितमनोहस्तपादनिभृतम् । अनेन च विशेषणद्वयेन मनोवाक्कायनिरोधः परधनं प्रति दर्शितः । तथा निर्ग्रन्थं निर्गतबाह्याभ्यन्तरग्रन्थम; नैष्ठिकं सर्वधर्मप्रकर्षपर्यन्तवर्त्ति; नितरामुक्तं सर्वज्ञैरुपादेयतयेति निरुक्तम, अव्यभिचारितं वा; निरास्रवं कर्मादानरहितम् ; निर्भयमविद्यमानराजादिभयम; विमुक्तं लोभदोषत्यक्तम; उत्तमनरवृषभाणां (पवरबलवग त्ति) प्रधानबलवतां च सुविहितजनस्य च सुसाधुलोकस्य सम्मतमभिमतं यत्तथा । परमसाधूनां धर्मचरणं धर्मानुष्ठानं यत्तत्तथा । यत्र च तृतीये सम्वरे, ग्रामाकरनगरनिगमखेटकर्बटमडम्बद्रोणमुखसंवाहपत्तनाश्रमगतं च, ग्रामादिव्याख्या पूर्ववत् । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं द्रव्यं रिक्थम् । तदेवाह-मणिमौक्तिकशिलाप्रवालकांस्यदूष्यरजतवरकनकरत्नादिकमित्याह । पतितं नष्टं (पम्हुट्ठं ति) विस्मृतं, विप्रणष्टं स्वामिकैर्गवेषयद्भिरपि न प्राप्तं, न कल्पते न युज्यते, कस्यचित् असंयतस्य संयतस्य वा, कथयितुं वा प्रतिपादयितुम, अर्थग्रहणप्रवर्त्तने मा भूदितिकृत्वा, गृहीतुं वाऽऽदातुं, तन्निवृत्तत्वात् साधोः । यतः साधुनैवंभूतेन विहर्तव्यमित्यत आह-हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य हिरण्यसुवर्णिकः, तन्निषेधेनाहिरण्यसुवर्णिकः, तेन, समे तुल्ये उपेक्षणीयतया लेष्टुकाञ्चने यस्य स तथा । तेन अपरिग्रहो धर्मादिरहितः संवृतश्चेन्द्रियसंवरेण यः सोऽपरिग्रहसंवृतः । तेन लोके विहर्तव्यमासितव्यं सञ्चरितव्यं वा, साधुनेति गम्यते । यदपि च भवेद् द्रव्यजातं द्रव्यप्रकारं,खलगतं धान्यमलनस्थानाश्रितं, क्षेत्रगतं कर्षणभूमिसंश्रितं, (रणमंतरगयं च त्ति) अरण्यमध्यगतम । वाचनान्तरे-'जलथलगयं खेत्तमंतरगयं च त्ति' दृश्यते । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं, पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूलतृणकाष्ठशर्करादि प्रतीतम । अल्पं वा मूल्यतो , बहु वा तथैव; अणु वा स्तोकं प्रमाणतः, स्थूलकं वा तथैव, न कल्पते न युज्यते । अवग्रहे गृहस्थाणिकलादिरूपे, अदत्ते स्वामिनाऽननुज्ञाते, ग्रहीतुमादातुं, ' जे ' इति निपातग्रहणे निषेध उक्तः । अधुना तद्विधिमाह-(हणि हणि त्ति) अहन्यहनि, प्रतिदिनमित्यर्थः । अवग्रहमनुज्ञाप्य, यथेह भवदीयेऽवग्रहे इदम्, इदं च साधुप्रायोग्यं द्रव्यं ग्रहीष्यामि इति पृष्टेन तत्स्वामिना एवं कुरुते इत्यनुमते सतीत्यर्थो गृहीतव्यमादातव्यं, वर्जयितव्यश्च सर्वकालं (अवियत्त त्ति) साधून् प्रति अप्रीतिमतो यद् गृहं तत्र यः प्रवेशः स तथा । (अवियत्त त्ति) अप्रीतिकारिणः संबन्धि यद्भक्तपानं तत्तथा, तद्वर्जयितव्यमिति प्रक्रमः। तथा-अवियत्तपीठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणनिषद्याचोलपट्टकमुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादि प्रतीतमेव । किंभूतमिदम ?, इत्याह-भाजनं पात्रं, भाण्डं च तदेव मृण्मयं, उपधिरुपकरणादिः, एते एवोपकरणमिति समासतस्तद्वर्जयितव्यमिति प्रक्रमः। अदत्तमेतत् स्वामिनाऽननुज्ञातमितिकृत्वा । तथा-परपरिवादो विकत्थनं वर्जयितव्यमिति । तथा-परस्य दोषो दूषणं, द्वेषो वा वर्जयितव्यः, परिवदनीयेन दूषणीयेन च तीर्थकरगुरुभ्यां तयोरननुज्ञातत्वेनादत्तरूपत्वादिति । अदत्तलक्षणं हीदम-"सामीजीवादत्तं, तित्थयरेणं तहेव य गुरूहिं" ति । तथा-परस्याचार्यग्लानादेर्व्यपदेशेन व्याजेन च यद्गृह्णाति आदत्ते वैयावृत्यकरादिकस्तेनान्येन च वर्जयितव्यम् , आचार्यादेरेव दायकेन दत्तत्वादिति । तथा-परस्य परसंबन्धि नाशयति मत्सरादपहुते, यच्च सुकृतं सच्चरितमुपकारं वा तत सुकृतं तस्य नाशनं वर्जयितव्यं। तथा-दानस्य चान्तरायिकं विघ्नः,दानविप्रणाशो दत्तापलापः,तथा पैशुन्यं चैव पिशुनकर्म मत्सरित्वं च परगुणानामसहनं,तीर्थकराद्यननुज्ञातत्वाद्वर्जनीयमिति । तथा-(जे वि येत्यादि) योऽपि च पीठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणनिषद्याचोलपट्टमुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादि भाजनभाण्डोपध्युपकरणं प्रतीतमिति गम्यते । असंविभागी आचार्यग्लानादीनामेषणगुणविशुद्धिमर्थं सत्र विजानते, असौ नाराधयति व्रतमिति संबन्धः। तथा [असंगहरुइ त्ति] गच्छोपग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैषणादोषविमुक्तस्य लभ्यमानस्यात्मम्भरित्वेन न विद्यते संग्रहे रुचिर्यस्यासावसंग्रहरुचिः । (तववयतेणय त्ति) तपश्च वाक् च तपोवाचौ, तयोः स्तेनश्चौरः-तपोवाक्स्तेनः । ततः स्वभावतो दुर्बलाङ्गमनगारमवलोक्य कोऽपि किञ्चन व्याकरोति । तथा भोः साधो! सत्यम?,यः श्रूयते तत्र गच्छे मासक्षपकः। एवं पृष्टे यो विवक्षितक्षपकोऽसावप्याह-एवमेतत् । अथवा धूर्ततया ब्रूते-भोः श्रावकाः! साधवः क्षपका एव भवन्ति। श्रावकस्तु मन्यते-कथं स्वयमात्मानमयं भट्टारकः क्षपकतया निस्पृहत्वात् प्रकाशयति ? ।

इतिकृत्वैर्वविभ्रमात्मीकृत्यपरिहारपरं सकलसाधुसाधारणं वचनमाविष्करोति , इत्यतः स एवायं यो मया विवक्षितः । इत्येवं वरसंबन्धि तप आत्मनि परप्रतिपत्तितः सम्पादयंस्तपस्तेन उच्यते। एवं भगवन्! स त्वं वाग्मी ?, इत्यादिभावनया परसंबन्धिनीं वाचमात्मनि तथैव सम्पादयन् वाक्स्तेन उच्यते। तथा (रूवतेणे य त्ति) एवं रूपवन्तमुपलभ्य स त्वं रूपवानित्यादि भावनया रूपस्तेनः। रूपं च द्विधा–शारीरसुन्दरता, सुविहितसाधुनेपथ्यं च। तत्र साधुनेपथ्यं यथा-"दुहोरुगाउ-मत्त, अंसिं जह्न ण फासियं अंगं। मलिणा य चोलपट्टा, दोन्नि य पाया समक्खाया" ॥१॥ तत्र सुविहिताकारदर्शनायं जनमुपजीवितुकामः सुविहितः, सुविहिताकारधारी रूपस्तेनः। (आयारे चेव त्ति) आचारे साधुसामाचार्यादिविषयं स्तेनो यथा–स त्वं यः क्रियारुचिः श्रूयते?, इत्यादिभावना। तथैव [भावतेणे य त्ति] भावस्य श्रुतज्ञानादिविशेषस्य स्तेनो भावस्तेनः यथा–कमपि कस्यापि श्रुतविशेषस्य व्याख्यानविशेषमन्यतो बहुश्रुतादुपश्रुत्य प्रतिपादयति, यथाऽयं मया पूर्वश्रुतपर्यायोऽभ्यूहितो नान्य एवमभ्यूहितुं प्रभुरिति । तथा–शब्दकरो रात्रौ महता शब्देनोल्लापः स्वाध्यायादिकारको गृहस्थभाषाभाषको वा। तथा–झञ्झाकरो येन येन गणस्य भेदो भवति तत्तत्कारी, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्भाषी। तथा–कलहकरः कलहहेतुभूतकर्तव्यकारी। तथा–वैरकरः, प्रतीतः। विकथाकारी-स्त्र्यादिकथाकारी। असमाधिकारकश्चित्तास्वास्थ्यकर्ता स्वस्य, परस्य वा। तथा–सदा अप्रमाणभोजी–द्वात्रिंशत्कवलाधिकाहारभोक्ता । सततमनुबद्धवैरश्च सततमनुबद्धं प्रारब्धमित्यर्थः, वैरं वैरिकर्म्म येन स तथा। नित्यरोषी सदाकोपः (से तारिसे त्ति) स तादृशः पूर्वोक्तस्वरूपः। (नाराहए वयमिणं ति) नाराधयति न निरतिचारं करोति, व्रतं महाव्रतम् , इदम्-अदत्तादानविरतिस्वरूपं, स्वाम्यादिभिरननुज्ञातकारित्वात्तस्येति ।

अह केरिसए पुणाई आराहए वयमिणं, जे से उवहिभत्तपाणदाणसंगहणकुसले अच्चंतबालदुब्बलगिलाणवुड्ढमासखवणे पवत्तिआयरियउवज्झाए सेहे साहम्मिए तवस्सि कुलगणसंघचेइयट्ठे य निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं दसविहं बहुविहं करेइ, न य अवियत्तस्स घरं पविसइ, न य अवियत्तस्स भत्तपाणं गिण्हइ, न य अवियत्तस्स सेवइ पीढफलगसेज्जासंथारगवत्थपायकंबलदंडगरओहरणनिसेज्जचोलपट्टमुहपोत्तियपायपुंछणाइ भायणभंडोवहिउवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, न यावि दोसे परस्स गेण्हति, परववएसेण वि न किंचि गेण्हति, ण य विपरिणामेति कंचि जणं , ण यावि णासेति दिण्णसुकयं दाऊण य काऊण य ण होइ पच्छाताविते, संविभागसीले संगहोवग्गहकुसले, से तारिसए आराहेति वयमिणं॥

अथ प्रश्नार्थः। कीदृशः पुनः, 'आई' इति अलङ्कारे, आराधयति व्रतमिदम् ?। इह प्रश्नोत्तरमाह-(जे से इत्यादि) यः साधुरुपधिभक्तपानादानं च संग्रहणं च तयोः कुशलो विधिज्ञो यः स तथा। बालेत्यादि समाहारद्वन्द्वः। ततोऽत्यन्तं यद्बालदुर्बलग्लानवृद्धमासक्षपकं तत्तथा। तत्र विषये वैयावृत्त्यं करोतीति योगः। तथा-प्रवृत्त्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वात् प्रवृत्त्यादिषु। तत्र प्रवर्त्तितलक्षणमिदम्-"तवसंजमजोगेसुं, जो जोगो तत्थ तं पवत्तेइ । असहुं च नियत्तेई, गणतत्तिल्लो पवत्तेई" ॥१॥ इतरौ प्रतीतौ। तथा-(सेहे त्ति) शैक्षे अभिनवप्रव्रजिते, सार्धर्मिके समानधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपस्विनि चतुर्थभक्तादिकारिणि, तथा कुलं गच्छसमुदायरूपं चन्द्रादिकं, गणः कुलसमुदायः कोटिकादिकः, सङ्घस्तत्समुदायरूपः, चैत्यानि जिनप्रतिमाः, एतासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा। तत्र च निर्जरार्थः कर्मक्षयकामः, वैयावृत्त्यं व्यावृत्तकर्मरूपमुपष्टम्भनमित्यर्थः। अनिश्रितं कीर्त्यादिनिरपेक्षं, दशविधं दशप्रकारम्। आह च—

" वेयावच्चं वावड–भावो इह धम्मसाहणणिमित्तं ।
अन्नाइयाण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो ॥ १ ॥
आयरिय १ उवज्झाए २, थेर ३ तवस्सी ४ गिलाण ५ सेहाण ६।
साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ सं-घ १० संगयं तमिह कायव्वं"॥२॥

इति। बहुविधं भक्तपानादिदानभेदेनानेकप्रकारं, करोतीति। तथा–न च नैव च (अवियत्तस्स त्ति) अप्रीतिकारिणो गृहं प्रविशति । न च नैव च [अवियत्तस्स त्ति] अप्रीतिकारिणः सत्कं गृह्णाति यद् भक्तपानम्। न वा [अवियत्तस्स त्ति] अप्रीतिकर्तुः सत्कं सेवते भजते, पीठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणनिषद्याचोलपट्टकमुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादि भाजनभाण्डोपध्युपकरणम् । तथा–न च परिवादं परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति । तथा–परव्यपदेशेनापि ग्लानादिव्याजेनापि, न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपरिणमयति दानादिधर्माद्विमुखीकरोति, कञ्चिदपि जनम् । न चापि नाशयति अपह्नवद्वारेण दत्तसुकृतं वितरणरूपं सुचरितं परसंबन्धि, तथा–दत्त्वा च देयं, कृत्वा वैयावृत्त्यादिकार्यं, न भवति पश्चात्तापवान्। तथा–संविभागशीलः लब्धभक्तादिसंविभागकारी। तथा संग्रहे शिष्यादिसंग्रहणे, उपग्रहे च तेषामेव भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टम्भने यः कुशलः स तथा । (से तारिसे त्ति) स तादृश आराधयति व्रतमिदमदत्तादानविरतिलक्षणम्।

इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभाविकं आगमेसि भद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं ॥

(इमं चेत्यादि) इमं च प्रत्यक्षं प्रवचनमिति संबन्धः। परद्रव्यहरणविरमणस्य परिरक्षणं पालनं स एवार्थः, तद्भावस्तत्ता। तस्यैव प्रवचनं शासनमित्यादि व्यक्तम् ।

अस्य पञ्च भावना—

तस्स इमा पंच भावणाओ ततियस्स वयस्स हुंति परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठाए। पढमं देवकुलसभापवाऽऽवसहरुक्खमूलआरामकंदराऽऽगरागिरिगुहकम्मंतुज्जाणजाणसालाकुवियसालमंडवसुण्णघरसुसाणलेणआवणे अण्णम्मि य एवमादियम्मि दगमट्टियबीजहरिततसपाणअसंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं । आहाकम्मबहुले य जे से आसियसम्मज्जिओसित्तसोहियछायणदूमणलिंपणअणुलिंपणजलणभंडचालणं अंतो बाहिं मज्झे च असंजमो जत्थ वट्टति संजयाणं अट्ठा वज्जेयव्वे हु

उवस्सए से तारिसए सुत्तपरिकुट्ठे । एवं विवित्तवासवसहिसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुन्नायउग्गहरुयी ॥१॥

(पढमं ति) प्रथमं भावनावस्तु विविक्तवसतिवासो नाम । तत्राऽऽह-देवकुलं प्रतीतम्, सभा महाजनस्थानम्, प्रपा जलदानस्थानम्, आवसथः परिव्राजकस्थानम्, वृक्षमूलं प्रतीतम्, आरामो माधवीलताद्युपेतो दम्पतिरमणाश्रयो वनविशेषः, कन्दरा दरी, आकरो लोहाद्युत्पत्तिस्थानम्, गिरिगुहा प्रतीता । कर्मान्तो यत्र सुधादि परिकर्म्यते, उद्यानं पुष्पादिमद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ बहुजनभोग्यम्, यानशाला रथादिगृहम्, कुप्यशाला तूल्यादिगृहोपस्करशाला, मण्डपो यज्ञादिमण्डपः, शून्यगृहं, श्मशानं च प्रतीतम् । शयनं शैलगृहम्, आपणः पण्यस्थानम्, एतेषां समाहारद्वन्द्वः। ततस्तत्र, अन्यस्मिंश्चैवमादिके एवंप्रकारे, उपाश्रये भवति विहर्त्तव्यमिति सम्बन्धः। किंभूते?, दकमुदकम्, मृत्तिका पृथिवीकायः, बीजानि शाल्यादीनि, हरितं दूर्वादिवनस्पतिः, त्रसप्राणा द्वीन्द्रियादयः, तैरसंसक्तो यः स तथा, तत्र । तथाकृते गृहस्थेन स्वार्थं निर्वर्तिते, (फासुए त्ति) पूर्वोक्तगुणयोगादेव प्रासुके निर्जीवे, विविक्ते स्त्र्यादिदोषरहिते, अत एव प्रशस्ते, उपाश्रये वसतौ, भवति विहर्त्तव्यमासितव्यम् । यादृशे पुनर्नासितव्यं तथाऽसावुच्यते- (आहाकम्मबहुले य त्ति) आधया साधूनां संकल्पस्याधानेन साधूनाश्रित्येत्यर्थः, यत्कर्म पृथिव्याद्यारम्भक्रिया, तदाधाकर्म । आह च-"हिययम्मि समाहेउं, एगमणेगं च गाहगं जं तु । वहणं करेइ दाया, कायाण तमाहकम्मं तु" ॥१॥ तेन बहुलः प्रचुरः, तद् वा बहुलं यत्र स तथा । [जे से त्ति] य एवंविधः स वर्जयितव्य एवोपाश्रय इति संबन्धः । अनेन मूलगुणाः शुद्धस्य परिहार उपदिष्टाः स तथा [आसिय त्ति] आसिक्तमासेचनमीषदुदकच्छटक इत्यर्थः । [सम्मज्जिय त्ति] सन्मार्जनं शलाकाहस्तेन कचवरशोधनम्, उत्सिक्तमत्यर्थं जलाभिषेचनम्, [सोहिय त्ति] शोभनं वन्दनमालाचतुष्कपूरणादिना शोभाकरणम्, [छादण त्ति] छादनं दर्भादिपटलकरणम्, [दुमण त्ति] सेटिकया धवलनम्, (लिंपण त्ति) छगणादिना भूमेः प्रथमतो लेपनम्, [अणुलिंपण त्ति] सकृल्लिप्ताया भूमेः पुनर्लेपनम्, [जलण त्ति] शैत्यापनोदाय वैश्वानरस्य ज्वलनम्, शोधनार्थं वा प्रकाशकरणाय वा दीपप्रबोधनम् । (भंडचालण त्ति) भाण्डादीनां पिठरकादीनां, पण्यादीनां वा तत्र गृहस्थस्थापितानां साध्वर्थं चालनं स्थानान्तरस्थापनम् । एतेषां समाहारद्वन्द्वः, विभक्तिलोपश्च दृश्यः। तत आसिक्तादिकपः अन्तर्बहिश्च उपाश्रयस्य, मध्ये मध्ये च, असंयमो जीवविराधना, यत्र यस्मिन्नुपाश्रये, वर्त्तते भवति, संयतानां साधूनाम्, अर्थाय हेतवे, [वज्जेयव्वे हु त्ति] वर्जयितव्य एव उपाश्रयो वसतिः, स तादृशः, सूत्रप्रतिकृष्टः-आगमनिषिद्धः। प्रथमभावनानिगमनायाऽऽह-एवमुक्तेनानुष्ठानप्रकारेण, विविक्तो लोकस्त्र्याश्रितदोषवर्जितः, विविक्तानां वा निर्दोषाणां वासो निवासो यस्यां सा विविक्तवासवसतिः, तद्विषया या समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः, तथा यो योगः संबन्धः, तेन भावितो भवत्यन्तरात्मा । किंविधः?, इत्याह- नित्यं सदा, अधिक्रियतेऽधिकारीक्रियते, दुर्गतावात्मा येन तद् दुरधिकरणं दुरनुष्ठानं, तस्य यत्करणं कारापणं च तदेव पापकर्म पापोपादानक्रिया, ततो विरतो यः स तथा । दत्तोऽनुज्ञातश्च योऽवग्रहोऽवग्रहणीयं वस्तु तत्र रुचिर्यस्य स तथेति ।

बितियं आरामुज्जाणकाणणवणप्पदेसभागे जं किंचि इक्कडं वा कठिणगं वा जंतुगं वा परमेरकुच्चकुसडब्भपलालसूयगवव्वयपुप्फफलतयपवालकंदमूलतणकट्ठसक्कराइं गेण्हति सेज्जोवहिस्स अट्ठा न कप्पए, उग्गहे अदिण्णम्मि गेण्हिउं जे हणि हणि उग्गहं अणुण्णविय गेण्हितव्वं । एवं उग्गहसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुण्णायउग्गहरुयी ॥ २ ॥

(बितियं ति) द्वितीयं भावनावस्तु अनुज्ञातसंस्तारकग्रहणं नाम । तत्रैवम्-आरामो दम्पतिरमणस्थानभूतमाधवीलतागृहादियुक्तः, उद्यानं पुष्पमद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ बहुजनभोग्यम्, काननं सामान्यवृक्षोपेतं, नगरासन्नं च; वनं नगरविप्रकृष्टम्, एतेषां प्रदेशरूपो यो भागः स तथा तत्र । यत्किञ्चिदिति सामान्येनावग्रहणीयं वस्तु । तदेव विशेषेणाह-'इक्कडं वा' ढंढणसदृशं तृणविशेष एव । कठिनकं जन्तुकं च जलाशयजं विशेषतृणमेव, पर्णमित्यर्थः । तथा परा तृणविशेषः, मेरा तु मुञ्जसिरिका, कूर्चो येन तृणविशेषेण कुविन्दाः कूर्चं कुर्वन्ति, कुशाः दर्भाः आकारकृतो विशेषः, पलालं कङ्ग्वादीनाम्, सूयको मेदपाटप्रसिद्धस्तृणविशेषः । वल्वजः तृणविशेषः, पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूलतृणकाष्ठशर्कराः प्रतीताः; ततः परादीनां द्वन्द्वः; पुनस्ता आदिर्यस्य तत्तथा । तद् गृह्णाति आदत्ते । किमर्थम्?, शय्योपधेः संस्तारकरूपस्योपधेः, अथवा संस्तारकस्योपधेश्चार्थाय हेतवे इह तदिति शेषो दृश्यः, ततस्तं, न कल्पते न युज्यते । अवग्रहे उपाश्रयान्तर्वर्तिनि अवग्राह्ये वस्तुनि, अदत्तेऽननुज्ञाते शय्यादातृना [गिण्हिउं जे त्ति] गृहीतमादातुं, 'जे' इति निपातः । अयमभिप्रायः-उपाश्रयमनुज्ञाप्य तन्मध्यगतं तृणाद्यपि तु ज्ञापनीयम्, अन्यथा तदग्राह्यं स्यादिति । एतदेवाह-[हणि हणि त्ति] अहनि अहनि प्रतिदिवसम् । अयमभिप्रायः-उपाश्रयानुज्ञापनादिने उपगृह्णन्ति अवग्राह्यमिक्कडादि, अनुज्ञाप्य ग्रहीतव्यमिति । एवमित्यादिनिगमनं प्रथमभावनावदवसेयम्, नवरमवग्रहसमितियोगेन अवग्रहणीयतृणादिविषयसम्यक्प्रवृत्तिसंबन्धिनेत्यर्थः ।

ततियं पीढफलगसेज्जासंथारगट्ठयाए रुक्खा न छिंदियव्वा, न य छेयणभेयणेण य सेज्जा कारियव्वा, जस्सेव उवस्सए वसेज्जा, सेज्जं तत्थेव गवेसेज्जा, न य विसमं करेज्जा, न य निवायपवायउस्सुगत्तं, न डंसमसगेसु खुभियव्वं, अग्गिधूमो य न कायव्वो, एवं संजमबहुले संवरबहुले संवुडबहुले समाहिबहुले धीरे काएण फासयंते सययं अज्झप्पज्झाणजुत्ते समीए, एगे चरेज्ज धम्मं, एवं सिज्जासमितिजोगेण भावितो भवइ अंतरप्पा णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरए दत्तमणुण्णायउग्गहरुयी ॥३॥

इदं तु तृतीयभावनावस्तु शय्यापरिकर्मवर्जनं नाम । तत्रैवम्-पीठफलकशय्यासंस्तारकार्थताये वृक्षा न छेत्तव्याः, न च छेदनेन तद्भूम्याश्रितवृक्षादीनां कर्त्तनेन, भेदनेन च, तेषां पाषाणादीनां वा शय्या शयनीयं कारयितव्या । तथा-यस्यैव गृह-

पतेरुपाश्रये निलये वसेत-निवासं करोति, शय्यां शयनीयं तत्र गवेषयेन्मृगयेत । न च विषमां सतीं समां कुर्यात । न निर्वातप्रवातोत्सुकत्वं, कुर्यादिति वर्त्तते । न च दंशमशकेषु विषयेषु क्षुभितव्यम्-क्षोभः कार्यः । अतश्च दंशाद्यपनयनार्थमग्निर्धूमो वा न कर्त्तव्यः । एवमुक्तप्रकारेण संयमबहुलः पृथिव्यादिसंरक्षणप्रचुरः, संवरबहुलः प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरः, संवृतबहुलः कषायेन्द्रियसंवृतप्रचुरः, समाधिबहुलश्चित्तस्वास्थ्यप्रचुरः, धीरो बुद्धिमानक्षोभो वा, परीषहेषु कायेन स्पृशन् न मनोरथमात्रेण तृतीयसंवरमिति प्रक्रमगम्यम । सततमध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालम्बनं, ध्यानं चित्तनिरोधस्तेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यानं 'अमुगगेहे, अमुगकुले, अमुगम्मिस्से, अमुगरम्मट्ठाणट्ठिए, न मतव्विराहणे' इत्यादिरूपम । (समीए त्ति) समितः समितिभिः, एकः ससहायोऽपि रागाद्यभावात् चरेदनुतिष्ठेत्, धर्मं चारित्रम । अथ तृतीयभावनानिगमनायाह-एवमन्तरोदितन्यायेन शय्यासमितियोगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृत्तियोगेन, शेषं पूर्ववत् ।

चउत्थं साहारणपिंडवायलाभे सइ भोत्तव्वं संजएण समितं, न सायसूपादिकं, न खलु घनं, न वेगियं, न तुरियं, न चवलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं सावज्जं, तह भोतव्वं जह से तातियं वयं न सीयति साहारणपिंडवायलाभे सुहुमे अदिन्नादाणवयनियमवेरमणे, एवं साहारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुण्णायउग्गहरुयी ॥४॥

इह चतुर्थं भावनावस्तु अनुज्ञातभक्तादिभोजनलक्षणम । तच्चैवम्-साधारणः सङ्घादिसाधर्मिकस्य सामान्यो यः पिण्डः, तस्य भक्तादेः, पात्रस्य एतद्ग्रहलक्षणस्य, उपलक्षणत्वादुपध्यन्तरस्य च, पात्रे वाऽधिकरणे, लाभो दायकात्सकाशात् प्राप्तिः स साधारणपिण्डपात्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहर्तव्यम । परिभोक्तव्यं च केन कथम् ?, इत्याह-संयतेन साधुना, (समियं ति) सम्यक्, यथाऽदत्तादानं भवतीत्यर्थः । सम्यक्त्वमेवाऽऽह-न शाकसूपादिकम, साधारणस्य पिण्डस्य शाकसूपाधिके भागे भुज्यमाने सङ्घादिके साधोरप्रीतिरुत्पद्यते । ततस्तददत्तं भवति । तथा-न खलु घनं प्रचुरं, प्रचुरभोजनेऽप्यप्रीतिरेव, प्रचुरभोजनता च साधारणे पिण्डे भोजकान्तरापेक्षया वेगेन भुज्यमाने भवतीति । तन्निषेधायाह-न वेगितं, ग्रासस्य गिलने वेगवत् । न त्वरितं मुखक्षेपे; न चपलं हस्तग्रीवादिरूपकायचलनवत् । न साहसमवितर्कितम, अत एव न च परस्य पीडाकरं च तत्सावद्यं चेति परस्य पीडाकरं सावद्यम, किं बहुनोक्तेन ?, तथा भोक्तव्यं संयतेन नित्यं यथा (से) तस्य संयतस्य, तद्वा, तृतीयव्रतं न सीदति भ्रश्यति । दुरीक्षं चेदं, सूक्ष्मत्वात् । इत्यत आह-साधारणपिण्डपात्रे लाभे विषयभूते सूक्ष्मं सुनिपुणमनिरीक्षणीयत्वादणुकमपि तदित्याह-अदत्तादानविरमणलक्षणेन व्रतेन यन्नियमनमात्मनो नियन्त्रणं तत्तथा । पाठान्तरेण-अदत्तादानाद् व्रतमिति बुद्ध्या नियमेनावश्यतया यद्विरमणं निवृत्तिस्तत्तथा । एतन्निगमयन्नाह-एवमुक्तन्यायेन साधारणपिण्डपात्रलाभे विषयभूते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तिसंबन्धेन भावितो भवत्यन्तरात्मा । किंभूतः ?, इत्याह-'निच्चमित्यादि' तथैव ।

पंचमगं साहम्मिएसु विणओ पउंजियव्वो । उवयरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणग्गहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसतेसु विणओ पउंजिव्वो, विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पउंजियव्वो गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य, एवं विणएण भाविओ भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुण्णायउग्गहरुयी ॥५॥

[पंचमगं ति] पञ्चमं भाववस्तु । किं तदित्याह-साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । एतदेव विषयभेदेनाह-(उवकरणपारणासु त्ति) आत्मनोऽन्यस्य वा उपकरणं ग्लानाद्यवस्थायामन्येनोपकारकरणम, तत्र पारणे तपसः श्रुतस्कन्धादिश्रुतस्य पारगमनम्, उपकरणपारणे, तयोः विनयः प्रयोक्तव्यो, विनयश्चेच्छाकारादिदानेन बलात्कारपरिहारादिलक्षण एकत्र, अन्यत्र च गुर्वनुज्ञया भोजनादिकृत्यकरणलक्षणः । तथा-वाचना सूत्रग्रहणं, परिवर्तना तस्यैव गुणनम, तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यो वन्दनादिदानलक्षणः । तथा-दानं लब्धस्याऽऽदेर्ग्लानादिभ्यो वितरणं, ग्रहणं तु तस्यैव परेण दीयमानस्यादानम, प्रच्छना विस्मृतसूत्रार्थप्रश्नः, एतासु विनयः प्रयोक्तव्यः; तत्र दानग्रहणयोर्गुर्वनुज्ञालक्षणः । प्रच्छनायां तु वन्दनादिर्विनयः । तथा-निष्क्रमणप्रवेशनायास्तु आवश्यिकीनैषेध्यादिकरणम । अथवा हस्तप्रसारणपूर्वकं प्रमार्जनानन्तरं पादविक्षेपलक्षणः । किं बहुना प्रत्येकं विषयभणनेनेत्यत आह-अन्येषु चैवमादिकेषु कारणशतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्मादेवमित्याह-(विनयोऽपि) न केवलमनशनादितपः, अपि तु विनयोऽपि तपो वर्तते, आभ्यन्तरतपोभेदेषु पठितत्वात्तस्य । यद्येवं ततः किम् ?, अत आह-तपोऽपि धर्मः, न केवलं संयमो धर्मः, तपोऽपि धर्मो वर्तते, चारित्रांशत्वात्तस्य । यत एवं तस्माद्विनयः प्रयोक्तव्यः । केषु ? इत्याह-गुरुषु साधुषु तपस्विषु च अष्टमादिकारिषु ; विनयप्रयोगे हि तीर्थकराद्यनुज्ञास्वरूपादत्तादानविरमणं परिपालितं भवतीति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्तन्यायेन भावितो भवत्यन्तरात्मा । किंभूतः ?-'नित्यमित्यादि' पूर्ववत ॥

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं चारियं होइ सुपणिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो नेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्साई असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ, एवं तइयं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तिरियं किट्टियं सम्मं आराहियं आणाए अणुपालियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं ततियं संवरदारं सम्मत्तं त्ति बेमि ।

इदं च निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित साक्षादेव यावत्करणेन च दर्शितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसम्वराध्ययनवदवसेयेति समाप्तमष्टमाऽध्ययनविवरणम । प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अदत्ता (दिण्णा) लोयण-अदत्तालोचन-त्रि० । अदत्ता

गुरुपुरतोऽप्रकटिता, आलोचना-आलोचनार्हं पापं येन सोऽदत्तालोचनः । अकृतालोचने , ग० १ अधि० ।

अदत्ताहार-अदत्ताहार-पुं० । चौरे, "अदत्ताहारा वा से अवहरंति रायाणो वा से विलुंपंति " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदब्भ-अदभ्र-त्रि० । न० त० । दम्भ-रक् । दभ्रमल्पम्, न दभ्रमदभ्रम् । भूयर्थे (अनल्पे) , जं० ३ वक्ष० ।

अदब्भवाह- अदभ्रवाह-त्रि० । अदभ्रं वहतीति अदभ्रवाहः । भूरिवाहकेऽब्धादौ, "अदब्भवाहं अमेलनयण कोकासिय बहलपत्तलऽच्छं " जं० ३ वक्ष० ।

अदय-अदय-त्रि० । निर्दये, नि० चू० २ उ० ।

अदयंत-अददत्-त्रि० । अददाने , व्य० २ उ० ।

अदस-अदश-त्रि० । दशारहिते , दश० ७ अ० ।

अदारुय-अदारुक-त्रि० । काष्ठादिरहिते, तं० ।

अदिज्ज-अदेय-त्रि० । न० ब० । क्रयविक्रयनिषेधेन अविद्यमानदातव्ये नगरादौ , भ० ११ श० ११ उ० । यत्र हि न केनापि कस्यापि देयमिति । जं० ३ वक्ष० । कल्प० ।

अदिट्ठ-अदृष्ट-त्रि० । न० त० । अनुपलब्धे , ज्ञा० १६ अ० । " तेसिमवि वरायाणमदिट्ठकल्लाणाणमहमिदमच्चब्भुयं किंपि संपादयामीति " आ० चू० १ अ० । प्राग्जन्मकृतकर्माणि, नं० । ज्ञा० । आ० म० । विशे० । आव० । भ० । (अदृष्टसिद्धिः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २५३ पृष्ठे द्रष्टव्या) नैयायिकसम्मते गुणभेदे, 'कर्तृफलदाय्यात्मगुण आत्ममनःसंयोगजः स्वकार्य्यविधिर्धर्माऽधर्मरूपतया भेदवान्-अदृष्टाख्यो गुणः' इति वैशेषिकैः परोक्षा दृष्टस्वरूपमुपवर्णितम । कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुर्धर्मः अधर्मस्तु-अप्रियप्रत्यवायहेतुरिति । एतच्च तत्समवायिकारणस्यात्मनो मनस आत्ममनःसंयोगस्य च निमित्तासमवायिकारणत्वेनाभ्युपगतस्य निषेधात् कारणाभावे कार्यस्याप्यभावात् सर्वमनुपपन्नम् । सम्म० । अदृष्टधर्मणि पुरुषे, व्य० १० उ० ।

अदिट्ठदेस-अदृष्टदेश-पुं० । अदृष्टपूर्वदेशान्तरे , व्य० १० उ० ।

अदिट्ठधम्म (ण्)-अदृष्टधर्मन्-त्रि० । न० ब० । सम्यगनुपलब्धश्रुतादिधर्मिणि, दश० १ अ० । दशा० ।

अदिट्ठभाव-अदृष्टभाव-पुं० । आवश्यकादिश्रुतमदृष्टवति,बृ० १ उ० ।

अथादिमादृष्टभावद्वारं विवृणोति-

आवासगमाइया, सूयगमा जाव आइमा भावा ।
ते उ ण दिट्ठा जेणं, अदिट्ठभावो हवइ एसो ॥ १ ॥

आवश्यकादयः सूत्रकृताङ्गं यावत् ये आगमग्रन्थास्तेषु ये पदार्था अभिधेयास्ते आदिमा भावा उच्यन्ते,(ते उ)ते पुनर्भावा येन न दृष्टा नावगताः स एषोऽदृष्टभाव इति । उपलक्षणत्वादादिमादृष्टभावो भवतीति । बृ० १ उ० ।

अदिट्ठलाभिय-अदृष्टलाभिक-पुं० । अदृष्टस्यापि अपवरकादिमध्यान्निर्गतस्य श्रोत्रादिभिः कृतोपयोगस्य भक्तादेरदृष्टाद् वा पूर्वमनुपलब्धाद्दायकाल्लाभो यस्यास्ति स तथा । औ० । तेन वा चरतीति अदृष्टलाभिकः । अभिग्रहविशेषधारके भिक्षाचरके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अदिट्ठसार-अदृष्टसार-त्रि० । अगीतार्थे , पं० चू० ।

अदिट्ठहड-अदृष्टहृत-त्रि० । अदृष्टोत्क्षेपनिक्षेपपदमानीतं, ध० २ अधि० । आव० ।

अदिट्ठाणुभाव-अदृष्टानुभाव-पुं० । क० स० । अदृष्टफलविपाके , विशे० ।

अदिण्ण-अदत्त-त्रि० । स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरवितीर्णे , स्था० १ ठा० १ उ० । " अदिण्णे से वि अ पिविसए" औ० । परकीये द्रव्ये , आचा० ८ अ० १ उ० ।

अदैन्य-न० । अदीनभावे , ज्ञा० १२ ज्ञा० ।

अदिण्णवियार-अदत्तविचार-त्रि० । न दत्तो विचारः प्रवेशो यत्र तान्यदत्तविचाराणि । अननुज्ञातप्रवेशेषु कोष्ठिकादीनां गृहेषु, व्य० ७ उ० ।

अदित्त-अदृप्त-त्रि० । न० त० । दर्परहिते शान्ते, बृ० १ उ० ।

अदिस्स-अदृश्य-त्रि० । न० त० । चक्षुषोऽविषये, उत्त० २३ अ० । " पच्छन्ने आहारनीहारे आदिस्से मंसचक्खुणा " स० ३४ सम० ।

अदिस्समाण-अदृश्यमान-त्रि० । अनुपलभ्यमाने , आव० ५ अ० । अनुपदिश्यमाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अदीण-अदीन-त्रि० । अकुजिते दीनाकाररहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । शोकाभावात् । अन्त० ७ वर्ग । प्रसन्नमनसि स्वभावस्थे, नि० चू० ३ उ० ।

अदीणचित्त-अदीनचित्त-त्रि० । अदैन्यवन्मानसे , पञ्चा० १८ विव० ।

अदीणमणस-अदीनमनस्-त्रि० । अदीनं मनो यस्य स अदीनमनाः । सूत्रत्वाद्दीनमनाः अदीनमानसो वा । उत्त० २ अ० । अनिष्प्रकम्पचित्ते , आ० म० प्र० ।

अदीणया-अदीनता-स्त्री० । अशनाद्यलाभेऽपि वैक्लव्याभावे, ज्ञा० २७ ज्ञा० । तद्रूपे भिक्षुलिङ्गे , दश० १० अ० ।

अदीणवित्ति-अदीनवृत्ति-त्रि० । आहाराद्यप्राप्तेऽपि शुद्धवृत्तौ , दश० ९ अ० ।

अदीणसत्तु-अदीनशत्रु-पुं० । कुरुदेशनाथे हस्तिनागपुरवास्तव्ये स्वनामख्याते राजनि , स्था० ५ ठा० १ उ० । ज्ञा० । "अदीणसत्तुस्स रण्णो धारणीपामोक्खाणं देवीसहस्सं उ रोहेया वि होत्था " विपा० २ श्रु० १ अ० ।

अदु-अथ-अव्य० । अथशब्दो निपातः । निपातानामनेकार्थत्वाद् अत इत्यस्यार्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आनन्तर्ये, आचा० ९ अ० १ उ० ।

अदुक्खणया-अदुःखनता-स्त्री० । दुःखस्य करणं दुःखनं, तदविद्यमानं यस्यासावदुःखनः , तद्भावस्तत्ता । अदुःखकरणे, भ० ७ श० ६ उ० । दुःखोत्पादने मानसिकाऽसातानुदीरणे, पा० । ध० ।

अदुगुंछिय-अजुगुप्सित-त्रि० । अगर्हिते, " अदुगुंछियमणग-

रहियमणवज्जमिमं वि पगहा " आ० म० द्वि० । सामायिके, " अनिहं च अदुगुंछितमणगरहितं अणवज्जं चेव पगहा " आ० चू० १ अ० । अनिन्दित, औ० ।

अदुट्ट–अदुष्ट–त्रि० । न० त० । दोषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अदिट्ठ–त्रि० । द्वेषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अदुट्ठचेत (स्) अदुष्टचेतस्–त्रि० । ६ ब० । अकलुषान्तःकरणे, " तितिक्खए पाणि अदुट्ठचेयसा " आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

अदुत्तरं–अथापर-अव्य० । अतोऽनन्तरमित्यर्थे, " अदुत्तरं च णं गोयमा ! पहूणं चमरे असुरिंदे " अथापरं चेदं च सामर्थ्यातिशयवर्णनम् । भ० ३ श० १ उ० । " अदुत्तरं च णं मम समणा णिग्गथा " ज्ञा० १ अ० । जी० ।

अदुय–अद्रुत–न० । अशीघ्रे, भ० ७ श० ए उ० ।

अदुयत्त–अद्रुतत्व–न० । सर्वविशेषे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अदुयबंधण–अद्रुतबन्धन–न० । दीर्घकालिकबन्धने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अदुवा–अथवा–अव्य० । पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाऽभ्युच्चयोपदर्शने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अदूर–अदूर–त्रि० । न० त० । अविप्रकृष्टे, भ० १ श० १ उ० ।

अदूरग (य) अदूरग–त्रि० । शरीराऽनतिभेदके शल्ये कण्टकादौ, पञ्चा० १६ विव० । परस्परसमीपवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अदूरगेह–अदूरगेह–न० । प्रत्यासन्नप्रातिवेश्मिकगृहे, वृ० २ उ० ।

अदूरसामंत–अदूरसामन्त–पुं० । दूरं विप्रकृष्टं, सामन्तं च सन्निकृष्टं, तन्निषेधाददूरसामन्तम् । नातिदूरे नातिसमीपे, भ० १ श० १ उ० । अनिकटाऽऽसन्ने उचितदेशे, औ० । ज्ञा० । " अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू जाव विहराति " नि० १ वर्ग ।

अदूरागय–अदूरागत-त्रि० । समीपदेशं प्राप्ते, " अदूरागए बहुसंपत्ते अद्धाण पडिवणे अंतरापहे वट्टइ " भ० २ श० १ उ० ।

अदूसिय–अदूषित–त्रि० । अभिष्वङ्गेणाकलुषिते, पञ्चा० ६ विव० ।

अदेसकालप्पलावि (ण्)–अदेशकालप्रलापिन्–पुं० । अदेशकाले अनवसरप्रलपनशीलोऽनवसरप्रलापी । ('चंचल' शब्दे दर्शिते) भाषाचपलभेदे, बृ० १ उ० ।

अदेसाकालायरण–अदेशाकालाचरण–न० । प्रतिषिद्धो देशोऽदेशः, प्रतिषिद्धः कालोऽकालः, तयोरदेशाकालयोराचरणं चरणाभावः–अदेशाऽकालाचरणम् । प्रतिषिद्धदेशकालयोश्चरणाभावरूपे गृहिधर्मभेदे, अदेशाकालचारी हि–चौरादिभ्योऽवश्यमुपद्रवमाप्नोति; अदेशाकालाचरणं बलाबलविचारणम् । ध० १ अधि० ।

अदोस–अद्वेष–पुं० । तत्त्वविषयेऽप्रीतिपरिहारे, षो० १६ विव० ।

अद्द–अब्द–पुं० अपो ददाति । अप्–दा–क । ६ त० । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ॥८ । २ । ७९॥ इति सूत्रेण वलोपः । प्रा० । मेघे, मुस्तायां च, तस्याश्चाऽत्यन्तशीतवीर्यत्वेन वैद्यकोक्तेर्जलमयमूत्रत्वाच्च तथात्वम्, आप्यन्ते व्याप्यन्ते ऋतुमासपक्षतिथिनक्षत्रयोगकरणवारादयो येन । आप–दन्–ह्रस्वश्च । वत्सरे, वाच० ।

अर्द्द–पुं० । अर्द्यते गम्यतेऽनेनेति अर्दः । आकाशे, भ० २० श० २ उ० ।

आर्द्र–त्रि० । अर्द–रक्–दीर्घश्च । क्लिन्ने सरसे सजले वस्तुनि, सूत्र० ।

अस्य निक्षेपार्थं सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिकृदाह—

नामं ठवणा अद्दं, दव्वद्दं चेव होइ भावद्दं ॥
एमो खलु अद्दगओ, निक्खेवो चउविहो होइ ॥ १ ॥

[नामं ठवणा अद्दमित्यादि] नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धाऽऽर्द्रकस्य निक्षेपो द्रष्टव्यः ।

तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यार्द्रप्रतिपादनार्थमाह—

उदगद्दं सारद्दं, छविअद्दं खलु तहा सिणेहद्दं ॥
एयं दव्वद्दं खलु, भावेणं होइ रागद्दं ॥ २ ॥

(उदगद्दमित्यादि) तत्र द्रव्यार्द्रं द्विधा–आगमतो, नो आगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमितिकृत्वा । नो आगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । यदुदकेन मृत्तिकादिकं द्रव्यमार्द्रीकृतं तदुदकार्द्रम् । सारार्द्रं तु–यद्बहिः शुष्कार्द्रमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते, यथा–श्रीपर्णीवल्कलादिकम् । 'छविअद्दं' तु–यत् स्निग्धत्वग्द्रव्यं मुक्ताफलरक्ताशोकादिकं तदभिधीयते, वसयोपलिप्तं वासार्द्रम् । तथा–श्लेष्मार्द्रं चक्रलेपाद्युपलिप्तं स्तम्भकुड्यादिकं यद्द्रव्यं तत्स्निग्धाकारतया श्लेष्मार्द्रमभिधीयते । एतत्सर्वमप्युदकार्द्रादिकं द्रव्यार्द्रमेवाभिधीयते, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । भावार्द्रं तु पुनः रागस्नेहाभिष्वङ्गः, तेनार्द्रं यज्जीवद्रव्यं तद्भावार्द्रमित्यभिधीयते ।

साम्प्रतमार्द्रककुमारमधिकृत्यान्यथा

द्रव्यार्द्रं प्रतिपादयितुमाह—

एगभविय बद्धाऊ, जो अभिमुहओ नामगोए य ।
एते तिन्नाऽऽदेसा, दव्वम्मि अद्दगे होंति ॥ ३ ॥

[एगभविय इत्यादि] एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पत्स्यते । तथा–ततोऽप्यासन्नतरो बद्धायुष्कः । तथा–ततोऽप्यासन्नतमोऽभिमुखनामगोत्रः, योऽनन्तरसमयमेवार्द्रकत्वेन समुत्पत्स्यते । एते त्रयोऽपि प्रकारा द्रव्यार्द्रके द्रष्टव्या इति । भावार्द्रकं तु–आर्द्रककुमार इति नगरभेदे, तदधिपतौ राजभेदे, तत्सुते, तद्वंशजेषु च । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कान्तियुक्ते, आनुगुण्ययुक्ते च । अश्विन्यादिके षष्ठे नक्षत्रे, स्था० । वाच० । आर्द्राया रुद्रो देवता । ज्यो० ६ पाहु० ।

अद्दइज्ज–आर्द्रकीय–न० । आर्द्रकात्समुत्थितमध्ययनमार्द्रकीयम् । आर्द्रककुमारवक्तव्यताप्रतिबद्धे सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, सूत्र० ।

निरुक्तं तु विस्तरतो निर्युक्तिकृतैवेत्थमुक्तम्–

अद्दपुरा अद्दसुतो, नामेण अद्दगो य अणगारो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं अद्दइज्जं ति ॥ ४ ॥

[अद्दपुरा इत्यादि] आर्द्रकायुष्कनामगोत्राण्यनुभवन् भावार्द्रो भवति । यद्यपि शृङ्गबेरादीनामप्यार्द्रकसंज्ञाव्यवहारोऽस्ति,

तथापि नेदमध्ययनं तेभ्यः समुत्थितमतो न तैरिहाधिकारः। किन्त्वार्द्रककुमाराभिधानगारात्समुत्थितमतस्तेनैवेहाधिकार इतिकृत्वा तद्वक्तव्यताऽभिधीयते। एतदेव निर्युक्तिकृदाह-[अद्दपुरा इत्यादि] अस्याः समासेनायमर्थः-आर्द्रकपुरे नगरे आर्द्रको नाम राजा, तत्सुतोऽप्यार्द्रकाभिधानः कुमारः, तद्वंशजाः किल सर्वेऽप्यार्द्रकाभिधाना एव भवन्तीतिकृत्वा। स चानगारः संवृतः। तस्य च श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिसमवसरणे गोशालकेन सार्द्धं हस्तितापसैश्च वादोऽभूत्। तेन च ते एतदध्ययनार्थोपन्यासेन पराजिताः,अत इदमभिधीयते। ततस्तस्मादार्द्रकात्समुत्थितमिदमध्ययनमार्द्रकीयमिति गाथासमासार्थः। व्यासार्थं तु स्वत एव निर्युक्तिकृदार्द्रकपूर्वभवोपन्यासेनोत्तरत्र कथयिष्यतीति।

ननु च शाश्वतमिदं द्वादशाङ्गं, गणिपिटकमार्द्रककथानकं तु श्रीवर्द्धमानतीर्थावसरं,तत्कथमस्य शाश्वतत्वमित्याशङ्क्याह-

कामं दुवालसंगं, जिणवयणं सासयं महाभागं ।
सव्वज्झयणाइँ तहा, सव्वक्खरसाभिवाओ य ॥ ५ ॥

(काममित्यादि) काममित्येतदभ्युपगमे, इष्टमेवैतदस्माकम्। तद्यथा-द्वादशाङ्गमपि जिनवचनं शाश्वतं नित्यं महाभागं महानुभावमामर्षौषध्यादिऋद्धिसमन्वितत्वान्न केवलमिदं,सर्वाण्यप्यध्ययनान्येवंभूतानि, तथा सर्वाक्षरसन्निपाताश्च मेलापका द्रव्यार्थादेशा नित्या एवेति ॥ ५ ॥

ननु च मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानं भवत इत्याशङ्क्याह-

तह वि य कोई अत्थो, उप्पज्जति तम्मि समयम्मि ।
पुव्वभणिओ अणुमतो, इति इसिभासिए य जहा ।६।

(तह वि य इत्यादि) यद्यपि सर्वमपीदं द्रव्यार्थतः शाश्वतं,तथापि कोऽप्यर्थस्तस्मिन्समये तथा क्षेत्रे च कुतश्चिदार्द्रकादेः सकाशादाविर्भावमास्कन्दति, स तेन व्यपदिश्यते। तथा-पूर्वमप्यसावर्थोऽन्यमुद्दिश्योक्तोऽनुमतश्च भवति, ऋषिभाषितेषूत्तराध्ययनादिषु यथेति।

सांप्रतं विशिष्टतरमध्ययनोत्थानमाह-

अज्जद्दएण गोसा-लभिक्खुबंभवतितिदंडीणं ।
जह हत्थितावसाणं, कहियं इणमो तहा वोच्छं ॥ ७ ॥

(अज्जद्दएणेत्यादि) आर्यार्द्रकेण समवसरणाभिमुखमुच्चलितेन गोशालकभिक्षोस्तथा ब्रह्मव्रतिनां त्रिदण्डिनां यथा हस्तितापसानां च कथितमिदमध्ययनार्थजातं तथा वक्ष्ये सूत्रेणेति। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

अद्दग-आर्द्रक-न०। अर्दयति रोगान्। अर्द-अन्तर्भूतण्यर्थे रक्, दीर्घश्च, संज्ञायां कन्। आर्द्रायां भूमौ जातं वा वुन्। आर्द्रयति जिह्वाम्, आर्द्र-णिच्-वुन् वा। मूलप्रधाने वृक्षभेदे, आर्द्रिकाऽप्यत्र। स्त्री०। वाच०। शृङ्गबेरे, आचा०२ श्रु० १ अ०८ उ०। (आर्द्रकशब्दार्थो नगरभेदादिकं च 'अद्द' शब्दे समुक्तम्)।

अद्दग (य) कुमार-आर्द्रककुमार-पुं०। आर्द्रकनामधेये कुमारे, स्था० २ श्रु० ६ अ०।

अथाऽऽर्द्रककुमारस्य निरवशेषा वक्तव्यता-

(१) निर्युक्तिकृन्मताभिप्रायेण संक्षिप्तमार्द्रककुमारकथानकम्।
(२) आर्द्रककुमारेण सह विवदमानस्य गोशालकस्य तीर्थकृद्विषयेऽसूयाऽऽविष्करणम्।
(३) तत्रार्द्रककुमारस्य समाधानम्।
(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषाभावः।
(५) बीजाद्युपभोगिनो न श्रमणव्यपदेशभाजः।
(६) समवसरणाद्युपभोगवतोऽपि भगवतो न कर्मबन्धः।
(७) केवलां भावशुद्धिमेव मन्यमानस्य बौद्धस्य खण्डनम्।
(८) हिंसामन्तराऽपि मांसो न भक्षणीयः।
(९) आर्द्रककुमारेण सह ब्राह्मणानां विवादः।
(१०) एकदण्डिभिः सहार्द्रककुमारस्योत्तरप्रत्युत्तराणि।
(११) तथा हस्तितापसैः सहोक्तिप्रत्युक्तयः।

(१) तत्र तावत्पूर्वभवसम्बन्धि आर्द्रककथानकं गाथाभिरेव निर्युक्तिकृदाह-

गामे वसंतपुरये, सामयिओ घरणिसहिओ निक्खंतो ।
भिक्खाऽऽयरिया दिट्ठा, ओहासिय भत्तवेहासं ॥८॥
संवेगसमावन्नो, माई भत्तं चइत्तु दियलोए ।
चइऊण अद्दपुरे, अद्दसुओ अद्दओ जाओ ॥९॥
पीती य दोण्ह दूतो, पुच्छणमभयस्स पच्छवेसो उ ।
तेणावि सम्मदिट्ठि-त्ति होज्ज पडिमाऽरहम्मि गओ ॥१०॥
दट्ठुं संबुद्धो र-क्खिओ य आसाण वाहणपलाओ ।
पव्वावंतो धारितो, रज्जं न करेति को अन्नो ? ॥११॥
अगणितो निक्खंतो, विहरइ पडिमाइ दारिगा वरओ ।
सुवण्णवसुहाराओ, रन्नो कहणं च देवीए ॥१२॥
वरआइ पिता तीसे, पुच्छण कहणं च वरण दोवारे ।
जाणाइ पायबिंबं, आगमणं कहण निग्गमणं ॥१३॥
पडियागए समीवे, सपरीवारा वि भिक्खुपडिवयणं ।
भोग सुतो पुच्छण सु-त्तबंध पुत्ते य निग्गमणं ॥ १४ ॥
रायगिहागम चोरा, रायभया कहण तेसि दिक्खा य ।
गोसालभिक्खुबंभी-तिदंडियतावसेहिँ सह वादो ॥१५॥
वादे पराइयत्ते, सव्वे वि य समणमब्भुवगताओ ।
अद्दगसहिया सव्वे, जिणवीरसामिनिक्खंता ॥१६॥

(गामे इत्यादि गाथाष्टकम्) आसां चार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-मगधजनपदे वसन्तपुरग्रामः,तत्र सामायिको नाम कुटुम्बी प्रतिवसति स्म। स च संसारभयोद्विग्नो धर्मघोषाचार्यान्तिके धर्मं श्रुत्वा सपत्नीकः प्रव्रजितः। स च सदाचारतः संविग्नैः साधुभिः सार्द्धं विहरति स्म,इतरा साध्वीभिः सहेति। कदाचिच्चासावेकस्मिन्नगरे भिक्षार्थमटन्तीं दृष्ट्वा तामसौ तथाविधकर्मोदयात्पूर्वरतानुस्मरणेन तस्यामध्युपपन्नः, तेन चात्मीयोऽभिप्रायो द्वितीयस्य साधोर्निवेदितः, तेनापि चैतत् प्रवर्तिन्याः, तयाऽपि चाभिहितम्-न मम देशान्तरे एकाकिन्या गमनं युज्यते। न चासौ तत्राप्यनुबन्धं त्यक्ष्यतीत्यतो ममास्मिन्नवसरे भक्तप्रत्याख्यानमेव श्रेयः, न पुनर्व्रतविलोपनम्। इत्यतस्तया भक्तप्रत्याख्यानपूर्वकमात्मोद्बन्धनमकारि, मृता साऽगाच्च देवलोकम्। श्रुत्वा चैनं व्यतिकरमसौ संवेगमुपगतः। चिन्तितं च तेन-तया व्रतभङ्गभयादिदमनुष्ठितम्, मम त्वसौ संजात एवेत्यतोऽहमपि भक्तप्रत्याख्यानं करोमीत्याचार्यस्यानिवेद्यैव मायावी, परमसंवेगापन्नोऽसावपि भक्तं प्रत्याख्याय दिवं गतः। ततोऽपि च

प्रत्यागत्याऽऽर्द्रपुरे नगरे आर्द्रकसुत आर्द्रकाभिधानो जातः। साऽपि च देवलोकाच्च्युता वसन्तपुरे नगरे श्रेष्ठिकुले दारिका जाता। इतरोऽपि च परमरूपसंपन्नो यौवनस्थः संवृत्तः। अन्यदाऽसावार्द्रकपिता राजगृहनगरे श्रेणिकस्य राज्ञः स्नेहाविष्करणार्थं परमप्राभृतोपेतं महत्तमं प्रेषयति स्म। आर्द्रककुमारेणासौ पृष्टः-यथा-कस्यैतानि महार्हाण्यत्युग्राणि प्राभृतानि मत्पित्रा प्रेषितानि यास्यन्तीति। असावकथयत्-यथा-आर्यदेशे तव पितुः परममित्रं श्रेणिको महाराजः, तस्यैतानीति। आर्द्रककुमारेणाप्यभाणि-किं तस्यास्ति कश्चिद्योग्यः पुत्रः?। अस्तीत्याह। यद्येवं, मत्प्रहितानि प्राभृतानि भवता तस्य समर्पणीयानीति भणित्वा, महार्हाणि प्राभृतानि समर्प्याभिहितम्-वक्तव्योऽसौ मद्वचनाद्यथाऽऽर्द्रककुमारस्त्वयि स्निह्यतीति। स च महत्तमो गृहीतोभयप्राभृतो राजगृहमगात्। गत्वा च राजद्वारपालनिवेदितो राजकुलं प्रविष्टः। दृष्टश्च श्रेणिकः। प्रणामपूर्वं निवेदितानि प्राभृतानि। कथितं च यथासंदिष्टम्। तेनाप्यासनाशनताम्बूलादिना यथार्हप्रतिपत्त्या संमानितः। द्वितीये चाह्न्यार्द्रककुमारसत्कानि प्राभृतान्यभयकुमारस्य समर्पितानि; कथितानि च तत्प्रीत्युत्पादकानि तत्संदिष्टवचनानि। अभयकुमारेणापि परिणामिक्या बुद्ध्या परिणामितम्-नूनमसौ भव्यः समासन्नमुक्तिगमनश्च, तेन मया सार्द्धं प्रीतिमिच्छतीति। तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादितीर्थंकरप्रतिकरप्रतिमासंदर्शनेन तस्यानुग्रहः क्रियते, इति मत्वा तथैव कृतम्। महार्हाणि च प्रेषितानि प्राभृतानीति। उक्तश्च महत्तमः-यथा-मत्प्रहितप्राभृतमेतदेकान्ते निरूपणीयम्। तेनापि तथैव प्रतिपन्नम्। गतश्चासावार्द्रकपुरम्। समर्पितं च प्राभृतं राज्ञः, द्वितीये चाह्न्यार्द्रककुमारस्येति। कथितं च यथासंदिष्टम्। तेनाप्येकान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा। तां च निरूपयत ऊहाऽपोहविमर्शनेन समुत्पन्नं जातिस्मरणम्। चिन्तितं च तेन-यथा-ममाभयकुमारेण महानुपकारोऽकारि सद्धर्मप्रतिबोधत इति। ततोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मरणोऽचिन्तयत्-यस्य मम देवलोकभोगैर्यथेप्सितं संपद्यमानैस्तृप्तिर्नाभूत्तस्यामीभिस्तुच्छैर्मानुषैः स्वल्पकालीनैः कामभोगैस्तृप्तिर्भविष्यतीति कुतस्त्यम्?। इत्येतत्परिगणय्य निर्विण्णकामभोगो यथोचितभोगमकुर्वन् राज्ञा संजातभयेन मा कचिद्यायादित्यतः पञ्चभिः शतैः राजपुत्राणां रक्षयितुमारेभे। आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववाहनिकया विनिर्गतः, प्रधानाश्वेन प्रपलायितः। ततश्च प्रव्रज्यां गृह्णन् देवतया सोपसर्गं भवतोऽद्यापि भणित्वा निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं तावन्न करोति स्म। कोऽन्यो मां विहाय प्रव्रज्यां ग्रहीष्यतीत्यभिसंधाय तां देवतामवगणय्य प्रव्रजितः। विहरन्नन्यदाऽन्यतरप्रतिमाप्रतिपन्नः कायोत्सर्गव्यवस्थितो वसन्तपुरे तया देवलोकाच्च्युतया श्रेष्ठिदुहित्रा परदारिकामध्यगतया 'आरमत्येष मम भर्ता' इत्येवमुक्ते सत्यनन्तरमेव तत्संनिहितदेवतयाऽर्द्धत्रयोदशकोटिपरिमाणा 'शोभनं व्रतमनयेति' भणित्वा हिरण्यवृष्टिर्मुक्ता। तां च हिरण्यवृष्टिं राजा गृह्णन् देवतया सर्पाद्युत्थानतो विधृतः। अभिहितं च तया-यथैतद् हिरण्यं जातमस्या दारिकायाः, नान्यस्य कस्यचिदित्यतस्तत्पित्रा सर्वं संगोपितम्। आर्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्ग इति मत्वाऽश्वेनान्यत्र गतः। गच्छति च काले दारिकायाः वरकाः समागच्छन्ति स्म। पृष्टौ च पितरौ तया-किमेषामागमनप्रयोजनम्?। कथितं च ताभ्याम्-यथैते तव वरका इति। ततस्तयोक्तम्-तात! सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते नानेकशः; दत्ता चाहं तस्मै यत्संबन्धि हिरण्यजातं भवद्भिर्गृहीतम्। ततः सा पित्राऽभाणि-किं त्वं तं जानीषे?। तयोक्तम्-तत्पादगताभिज्ञानदर्शनतो जानामीति। तदेवमसौ तत्परिज्ञानार्थं सर्वस्य भिक्षार्थिनो भिक्षां दापयितुं निरूपिता। ततो द्वादशभिर्वर्षैर्गतैः कदाचिदसौ भवितव्यतानियोगेन तत्रैव विहरन्समायातः; प्रत्यभिज्ञातश्च तया तत्पादचिह्नदर्शनतः। ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पृष्ठतो जगाम। आर्द्रककुमारोऽपि देवतावचनं स्मरंस्तथाविधकर्मोदयादवश्यं भवितव्यतानियोगेन च प्रतिभग्नस्तया सार्द्धं भुनक्ति स्म भोगान्। पुत्रश्चोत्पन्नः। पुनरार्द्रककुमारेणासावभिहिता-सांप्रतं ते पुत्रो द्वितीयः, अहं स्वकार्यमनुतिष्ठामि। तया सुतव्युत्पादनार्थं कार्पासकर्त्तनमारब्धम्। पृष्टा चासौ बालकेन-किमम्ब! एतद्भवत्या प्रारब्धमितरजनाचरितम्?। ततोऽसाववोचद्-यथा तव पिता प्रव्रजितुकामः, त्वं चाद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्थार्जने, ततोऽहमनाथा स्त्रीजनोचितेनानिन्द्येन विधिनाऽऽत्मानं भवन्तं च किल पालयिष्यामीत्येतदालोच्येदमारब्धमिति। तेनापि बालकेनोत्पन्नप्रतिभया तत्कर्तितसूत्रेणैव 'क्वायं मद्बद्धो यास्यतीति' तन्मनोऽनुकूलभाषिणोपविष्ट एवासौ पिता परिवेष्टितः। तेनापि चिन्तितम्-यावन्तोऽमी बालककृतवेष्टनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्थातव्यमिति। निरूपिताश्च तन्तवो यावद्द्वादश, तावन्त्येव वर्षाण्यसौ गृहवासे व्यवस्थितः। पूर्णेषु द्वादशसु संवत्सरेषु गृहान्निर्गतः, प्रव्रजितश्चेति। ततोऽसौ सूत्रार्थनिष्पन्न एकाकिविहारेण विहरन् राजगृहाभिमुखं प्रस्थितः। तदन्तराले च तद्रक्षणार्थं यानि प्राक् पित्रा निरूपितानि पञ्च राजपुत्रशतानि, तस्मिन्नश्वे नष्टे राजभयाद्विलक्ष्याच्च न राजान्तिकं जग्मुः। तत्राटवीदुर्गेण चौर्येण वृत्तिं कल्पितवन्तः। तैश्चासौ दृष्टः प्रत्यभिज्ञातश्च। ते च तेन पृष्टाः-किमिति भवद्भिरेवंभूतं कर्माश्रितम्?। तैश्च सर्वं राजभयादिकं कथितम्। आर्द्रककुमारवचनाच्च संबुद्धाः प्रव्रजिताश्च। तथा राजगृहनगरप्रवेशे गोशालको, हस्तितापसाः, ब्राह्मणाश्च वादे पराजिताः। तथाऽऽर्द्रककुमारदर्शनादेव हस्ती बन्धनाद्विमुक्तः। ते च हस्तितापसादय आर्द्रककुमारधर्मकथाक्षिप्ता जिनवीरसमवसरणे निष्क्रान्ताः। राज्ञा च विदितवृत्तान्तेन महाकुतूहलापूरितहृदयेन पृष्टः-भगवन्! कथं त्वद्दर्शनतो हस्ती निरर्गलः संवृत्तः?, इति महान् भगवतः प्रभाव इति। एवमभिहितः स आर्द्रककुमारोऽब्रवीदनन्तरगाथयोत्तरम्-

ण दुक्करं वारणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं!।
जहा उ तत्यावलिएण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं ॥१७॥

(ण दुक्करमित्यादि) न दुष्करमेतन्नरपाशैर्बद्धमत्तवारणस्य विमोचनं वने, राजन्! एतत्तु मे प्रतिभाति दुष्करम्-यच्च तन्त्रावलितेन तन्तुना बद्धस्य मम प्रतिमोचनमिति। स्नेहतन्तवो हि जन्तूनां दुरुच्छेदा भवन्तीति भावः। गतमार्द्रककथानकम्। इति दर्शितं समासतो निर्युक्तिकृताऽऽर्द्रककथानकम्। अथ तदेव सूत्रकृद् व्यासेन दर्शयन्नाह—

(२) यथा च गोशालकेन सार्द्धं वादोऽभूदार्द्रककुमारस्य तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते—

पुरा कडं अद्द! इमं सुणेह-
मेगंतयारी समणे पुराऽऽसी।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे,
आइक्खति एहं पुढो वित्थरेणं ॥१॥
सा जीविया पट्ठविताऽथिरेणं,

सभागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं ,
न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥ २ ॥

तं च राजपुत्रकमार्द्रककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकोऽब्रवीत्-यथा हे आर्द्रक ! यदहं ब्रवीमि तच्छृणु । पुरा पूर्व, यदनेन भवत्तीर्थकृता कृतं तच्चेदमिति दर्शयति-एकान्ते जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी, तथा श्राम्यतीति श्रमणः, पुराऽऽसीत्तपश्चरणोद्युक्तः, सांप्रतं तूग्रैस्तपश्चरणविशेषैर्निर्भर्त्सितो मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ धर्मं किल कथयति, तथा भिक्षून् बहूनुपनीय प्रभूतशिष्यपरिकरं कृत्वा भवद्विधानां मुग्धजनानामिदानीं पृथक् पृथग्,विस्तरेणाचष्टे धर्ममिति शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव ' सा जीविया ' इत्याद्याह-येयं बहुजनमध्यगतेन धर्मदेशना युष्मद्गुरुणाऽऽरब्धा सा जीविका प्रकर्षेण स्थापिता प्रस्थापिता , एकाकी विहरन् लौकिकैः परिभूयत इति मत्वा लोकपङ्क्तिनिमित्तं महान् परिकरः कृतः । तथा चोच्यते- " छत्रं छात्रं पात्रं, वस्त्रं यष्टिं च चर्चयति भिक्षुः । वेषेण परिकरेण च , कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि " ॥१॥ तदनेन दम्भप्रधानेन जीविकार्थमिदमारब्धम् । किंभूतेन ?, अस्थिरेण,पूर्वं ह्ययं मया सार्द्धमेकाक्यन्तप्रान्ताशनेन शून्यारामदेवकुलादौ वृत्तिं कल्पितवान् ; न च तथाभूतमनुष्ठानं सिकताकवलवन्निरास्वादं यावज्जीवं कर्तुं अलम्, अतो मां विहायायं बहून् शिष्यान् प्रतार्यैवंभूतेन स्फुटाटोपेन विहरतीत्यतः कर्त्तव्येऽस्थिरश्चपलः, पूर्वचर्यापरित्यागेनापरकल्पसमाश्रयात् । एतदेव दर्शयति--सभायां गतः सदेवमनुजपर्षदि व्यवस्थितो (गणओ त्ति) गणशो बहुशः , अनेकश इति यावत् । भिक्षूणां मध्ये गतो व्यवस्थितः,आचक्षाणो बहुजनेभ्यो हितो बहुजन्योऽर्थस्तमर्थं बहुजनहितं कथयन् विहरति । एतच्चास्यानुष्ठानं पूर्वापरेण न संधत्ते । तथाहि-यदि सांप्रतीयं वृत्तं प्राकारत्रयं सिंहासनाशोकवृक्षभामण्डलचामरादिकं मोक्षाङ्गमभविष्यत्ततो या प्राक्तन्येकचर्या क्लेशबहुला तया कृता सा क्लेशाय केवलमस्येति, अथ कर्मनिर्जरणहेतुका परमार्थभूता ततः साम्प्रतावस्था परप्रतारकत्वाद् दम्भकल्पेत्यतः पूर्वोत्तरयोरनुष्ठानयोर्मौनव्रतिकधर्मदेशनारूपयोः परस्परतो विरोध इति ॥ २ ॥

अपि च—

एगंतमेवं अदुवा वि इण्हिं,
दोवऽण्णमन्नं न समेति जम्हा ।

(एगंतमित्यादि) यद्येकान्तचारित्वमेव शोभनं,पूर्वमाश्रितत्वात्ततः सर्वदाऽन्यनिरपेक्षैस्तदेव कर्त्तव्यम् । अथ चेदं साम्प्रतं महापरिवारवृत्तं साधु मन्यते, ततस्तदेवादावप्याचरणीयमासीत् । अपि च-द्वे अप्येते छायाऽऽतपवदत्यन्तविरोधिनी वृत्ते नैकत्र समवायं गच्छतः । तथाहि-यदि मौनेन धर्मस्ततः किमियं महता प्रबन्धेन धर्मदेशना ?। अथ नैवं,धर्मस्ततः किमिति पूर्वं मौनव्रतमालम्बितम् ?। यस्मादेवं तस्मात्पूर्वोत्तरव्याहतिः ।

(३) तदेवं गोशालकेन पर्यनुयुक्त आर्द्रककुमारः श्लोकपश्चार्द्धेनोत्तरदानायाह—

पुव्विं च इण्हिं च अणागतं वा,
एगंतमेवं पडिसंधयाति ॥ ३ ॥

(पुव्विं चेत्यादि) पूर्वं पूर्वस्मिन्काले, यन्मौनव्रतिकत्वं, या चैकचर्या, तच्छद्मस्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्षयार्थम् । सांप्रतं यन्महाजनपरिवृतस्य धर्मदेशनाविधानं, तत् प्राग्बद्धभवोपग्राहिकर्मचतुष्टयक्षपणोद्यतस्य विशेषतस्तीर्थकरनाम्नो वेदनार्थम्, अपरासां चोच्चैर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतीनामिति । यदि वा पूर्वं साम्प्रतमनागते च काले रागद्वेषरहितत्वादेकत्वभावनाऽनतिक्रमणाच्चैकत्वमेवानुपचरितं भगवानशेषजनहितं धर्मं कथयन् प्रतिसंदधाति । न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोराशंसारहितत्वाद्भेदोऽस्ति, अतो यदुच्यते भवता पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरसाङ्गत्यं, तत् प्लवत इति ॥ ३ ॥

एतद्धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो
भवत्युत नेति ?; भवतीत्याह—

समिच्च लोगं तसथावराणं,
खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे,
एगंतयं सारयती तहच्चे ॥ ४ ॥

सम्यग्यथावस्थितं लोकं षड्द्रव्यात्मकं मत्वाऽवगम्य केवलालोकेन परिच्छिद्य,त्रस्यन्तीति त्रसास्त्रसनामकर्मोदयात्,द्वीन्द्रियादयः,तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयात्,स्थावराः पृथिव्यादयः,तेषामुभयेषामपि जन्तूनां,क्षेमं शान्तिः-रक्षा,तत्करणशीलः क्षेमंकरः । श्राम्यतीति श्रमणः-द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहः । तथा-' मा हण ' इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः, ब्राह्मणो वा, स एवंभूतो निर्ममो रागद्वेषरहितः, प्राणिहितार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि , प्राग्वत् छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्भाषागुणदोषविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाप्तेः,अनुत्पन्नदिव्यज्ञानस्य तु मौनव्रतिकत्वेनेति । तथा-देवासुरनरतिर्यक्सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः,पङ्काधारपङ्कजवत्,तद्दोषव्यासङ्गाभावात् । ममत्वविरहादाशंसादोषविकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति-प्रख्यातिं नयति,साधयतीति यावत् । ननु चैकाकिपरिकरोपेतावस्थयोरस्ति विशेषः,प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यमानत्वात् । सत्यमस्ति । विशेषो बाह्यतो,नत्वान्तरतोऽपीति दर्शयति-तथा प्राग्वत् , अर्चा लेश्या शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथार्चः । यदि वाऽर्चा शरीरं, तच्च प्राग्वद्यस्य स तथार्चः । तथाहि-असावशोकाद्यष्टप्रातिहार्योपेतोऽपि नोत्सेकं याति,नापि शरीरं संस्कारायत्तं विदधाति । स हि भगवानात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृतो, जनपरिवृतोऽप्येकाकी,न तस्य तयोरवस्थयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तथा चोक्तम्-"रागद्वेषौ विनिर्जित्य,किमरण्ये करिष्यसि ?। अथ नो निर्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ?" ॥१॥ इत्यतो बाह्यतनं गमनान्तरमेव कषायजयादिकं प्रधानं कारणमिति स्थितम् ॥४॥

(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रभाषमाणस्यापि दोषाभावं
दर्शयितुमाह—

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसा,
खंतस्स दंतस्स जितिंदियस्स ।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स,
गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥ ५ ॥

तस्य भगवतोऽपगतघनघातिकर्मणोऽशेषकृतपदार्था-

विर्भावयानस्य जगदभ्युद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपरहितप्रवृत्तस्य स्वकार्यनिरपेक्षस्य धर्मं कथयतोऽपि,तुशब्दस्य अपिशब्दार्थत्वात्, नास्ति कश्चिद्दोषः। किंभूतस्य?, इत्याह-क्षान्तिसंपन्नस्य,अनेन क्रोधनिरासमाह। तथा दान्तस्योपशान्तस्य, अनेन मानव्युदासमाह। तथा-जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेनेन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः,अनेन तु लोभनिरासमाचष्टे। मायायास्तु लोभनिरासादेव निरासो द्रष्टव्यः, तन्मूलत्वात्तस्याः। भाषादोषाः-असत्यसत्यामृषकर्कशाऽसभ्यशब्दोच्चारणादयः; तद्विवर्जकस्य तत्परिहर्तुः। तथा-भाषाया ये गुणाः-हितमितदेशकालासंदिग्धभाषणादयः। तन्निषेधकस्य सतो ब्रुवतोऽपि नास्ति दोषः। छद्मस्थस्य हि बाहुल्येन मौनव्रतमेव श्रेयः, समुत्पन्नकेवलस्य तु भाषणमपि गुणायेति ॥ ५ ॥

किंभूतं धर्ममसौ कथयति ?, इत्याह-

महव्वए पंच अणुव्वए य,
तहेव पंचासव संवरे य।
विरतिं इह सामणियम्मि पन्ने,
लवावसप्पी समणे त्ति बेमि ॥ ६ ॥

महान्ति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि,तानि च साधूनां प्रज्ञापितवान् पञ्चापि। तदपेक्षयाऽणूनि लघूनि व्रतानि पञ्चैव, तानि श्रावकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान्। तथैव पञ्चाश्रवान् प्राणातिपातादिरूपान् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान्; तत्संवरं च सप्तदशप्रकारं संयमं प्रतिपादितवान्। संवरवतो हि विरतिर्भवत्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान्। चशब्दात्तत्फलभूतौ निर्जरामोक्षौ च। इहास्मिन् प्रवचने, लोके वा, श्रमणस्य भावः श्रामण्यं-संपूर्णः संयमः, तस्मिन् वा विधेये मूलगुणान् महाव्रताणुव्रतरूपान्, तथा-उत्तरगुणान् महाव्रताणुव्रतरूपान्,कृत्स्ने संयमे विधातव्ये। प्राज्ञ इति क्वचित्पाठः। प्रज्ञाने तत्प्रतिपादितवानिति। किंभूतोऽसौ ?, लवं कर्म, तस्मात् (अवसप्पी ति) अवसर्पणशीलोऽवसर्पी, श्राम्यतीति श्रमणः तपश्चरणयुक्तः, इत्येतदहं ब्रवीमि। स्वयमेव च भगवान्पञ्चमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तो विरतश्चासौ लवावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथाभूतमुपदेशं दत्तवान्, इत्येतद् ब्रवीमीति। यदि वाऽऽर्द्रककुमारवचनमाकर्ण्याऽसौ गोशालकस्तत्प्रतिपक्षभूतं वक्तुकाम इदमाह-इत्येतद्वक्ष्यमाणं यदहं ब्रवीमि तच्छृणु त्वम्, इति ॥ ६ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेवाह गोशालकः-

सीओदगं सेवउ बीयकायं,
आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे,
तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥ ७ ॥

भवतेदमुद्ग्राहितम्-परार्थं प्रवृत्तस्याशोकादिप्रातिहार्यपरिग्रहः, तथा शिक्षादिपरिकरो, धर्मदेशना च, न दोषायेति यथा, तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्वक्ष्यमाणं, तन्न दोषायेति। शीतं च तदुदकं च शीतोदकमप्राशुकोदकम्; तत्सेवनं परिभोगं करोतु, तथा-बीजकायोपभोगम्, आधाकर्माश्रयणं,स्त्रीप्रसङ्गं च विदधातु, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो भवतीति। अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभिसमेति-नाभिसंबध्नुयाति; पापमशुभकर्मेति। इदमुक्तं भवति-एतानि शीतोदकादीनि यद्यपीषत्कर्मबन्धाय, तथापि धर्माधारं शरीरं प्रतिपालयत एकान्तचारिणस्तपस्विनो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

(५) बीजाद्युपभोगिनो न श्रमणव्यपदेशभाजः—

सीतोदगं वा तह बीयकायं,
आहायकम्मं तह इत्थियाओ।
एयाइँ जाणं पडिसेवमाणा,
अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

एतत्परिहर्तुकाम आह-एतानि प्रागुपन्यस्तानि अप्राशुकोदकपरिभोगादीनि प्रतिसेवन्तोऽगारिणो गृहस्थास्ते भवन्त्यश्रमणाश्चाप्रव्रजिताश्चैवं जानीहि। यतः-"अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता" इत्येतच्छ्रमणलक्षणं, तेषां शीतोदकबीजाधाकर्मस्त्रीपरिभोगवतां नास्तीत्यतस्ते नामाकाराभ्यां श्रमणाः, न परमार्थानुष्ठानत इति ॥ ८ ॥

पुनरप्यार्द्रक एवैतद्दूषणायाह-

सिया य बीओदगइत्थियाओ,
पडिसेवमाणा समणा भवंतु।
अगारिणो वि य समणा भवंतु,
सेवंति ऊ ते वि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतद्भवदीयं मतं, यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्पिपासादिप्रधानतपश्चरणपीडिताश्च तत्कथं ते न तपस्विनः ?, इत्येतदाशङ्क्याऽऽर्द्रक आह-(बीओदग त्ति) यदि बीजाद्युपभोगिनोऽपि श्रमणा इत्येवं भवताऽभ्युपगम्यते, एवं तर्ह्यगारिणोऽपि गृहस्थाः श्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशिकावस्थायामाशंसावतामपि निष्किञ्चनतयैकाकिविहारित्वं, क्षुत्पिपासादिपीडनं च संभाव्यते। अत आह-(सेवंति ऊ) तुरवधारणे, सेवन्त्येव, तेऽपि गृहस्थाः। तथाप्रकारमेकाकिविहारादिकमिति ॥ ९ ॥

पुनरप्यार्द्रको बीजोदकादिभोजिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

जे यावि बीओदगभोत्ति भिक्खू,
भिक्खं वि हिंडंति य जीवियट्ठी।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय,
कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

ये चापि भिक्षवः प्रव्रजिताः,बीजोदकभोजिनः सन्तो द्रव्यतो ब्रह्मचारिणोऽपि भिक्षां चाऽटन्ति जीवितार्थिनः,ते तथाभूताः,ज्ञातिसंयोगं स्वजनसंबन्धं, विप्रहाय त्यक्त्वा कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगाः,तदुपमर्दकारम्भप्रवृत्तत्वात्, संसारस्यानन्तकरा भवन्तीति। इदमुक्तं भवति-केवलं स्त्रीपरिभोग एव तैः परित्यक्तोऽसावपि द्रव्यतः। शेषेण तु बीजोदकाद्युपभोगेन गृहस्थकल्पा एव ते। यत्तु भिक्षाऽटनादिकमुपन्यस्तं तेषां, तद् गृहस्थानामपि केषांचित्संभाव्यते, नैतावता श्रमणभाज इति ॥१०॥

अथैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतीर्थिकान्सहायान् विधाय सोल्लुण्ठमसारं वक्तुकाम आह--

इमं वयं तुं तुम पाउकुव्वं,
पावाइणो गरिहासि सव्व एव।

पावाइणो पुढो किट्टयंता,

सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउ ॥ ११ ॥

इमां पूर्वोक्तां, वाचम । तुशब्दो विशेषणार्थः, त्वं प्रादुष्कुर्वन्प्रकाशयन्,सर्वानपि प्रावादुकान्,गर्हसि जुगुप्ससे,यस्मात्सर्वेऽपि तीर्थिका बीजोदकादिजोजिनोऽपि संसारोच्छित्तये प्रवर्तन्ते, ते तु भवता नाभ्युपगम्यन्ते। ते तु प्रावादुकाः पृथक् २ स्वीयां स्वीयां दृष्टिं प्रत्येकं स्वदर्शनं कीर्तयन्तः, प्रादुष्कुर्वन्ति प्रकाशयन्ति। यदि वा श्लोकपश्चार्द्धमार्द्रककुमार आह-सर्वे प्रावादुका यथावस्थितं स्वदर्शनं प्रादुष्कुर्वन्ति,तत्प्रामाण्याच्च वयमपि स्वदर्शनाविर्भावनं कुर्मः । तद्यथा-अप्रासुकेन बीजोदकादिपरिभोगिनः कर्मबन्ध एव केवलं,न संसारोच्छेद इतीदमस्मदीयं दर्शनम्। एवं व्यवस्थिते काऽत्र परनिन्दा ?, को वाऽऽत्मोत्कर्षः? इति ॥११॥

किञ्च—

ते अन्नमन्नस्स निगरहमाणा,

अक्खंति उ समणा माहणा य ।

सतो य अत्थी असतो य णत्थी,

गरहाम दिट्ठिं ण गरहाम किंचि ॥ १२ ॥

ते प्रावादुकाः,अन्योन्यस्य परस्परेण तु,स्वदर्शनप्रतिष्ठाऽऽशया परदर्शनं गर्हमाणाः स्वदर्शनगुणानाचक्षते। तुशब्दात्परस्परतो व्याहतमनुष्ठानं चानुतिष्ठन्ति। ते च श्रमणा निर्ग्रन्थादयो,ब्राह्मणा द्विजातयः, सर्वेऽप्येते स्वकं पक्षं समर्थयन्ति, परकीयं च दूषयन्ति। तदेव पश्चार्द्धेन दर्शयति-(सतो त्ति) स्वत इति स्वकीये पक्षे स्वाभ्युपगमेऽस्ति पुण्यं,तत्कार्यं च स्वर्गापवर्गादिकमस्ति।अस्वतः पराभ्युपगमाच्च नास्ति पुण्यादिकमित्येवं सर्वेऽपि तीर्थिकाः परस्परव्याघातेन प्रवृत्ताः; अतो वयमपि यथावस्थिततत्त्वस्वरूपणतो युक्तिविकलत्वादेकान्तदृष्टिं गर्हामो जुगुप्सामः, नह्यसावेकान्तो यथावस्थिततत्त्वाविर्भावको भवतीत्येवं व्यवस्थिते तत्त्वस्वरूपं वयमाचक्षाणा न किञ्चिद्गर्हामः,काणकुण्ठोद्घट्टनादिप्रकारेण केवलं स्वपरस्वरूपाविर्भावनं कुर्मः; न च वस्तुस्वरूपाविर्भावने परापवादः । तथा चोक्तम् --

" नेत्रैर्निरीक्ष्य बिलकण्टककीटसर्पान्,
सम्यक् पथा व्रजत तान्परिहृत्य सर्वान् ।
कुज्ञानकुश्रुतिकुमार्गकुदृष्टिदोषान् ,
सम्यग्विचारयति कोऽत्र परापवादः ? " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

यदि चैकान्तवादिनामेवास्त्येव नास्त्येव वाऽभ्युपगमवतामयं परस्परगर्हाख्यो दोषो नास्माकमनेकान्तवादिनां, सर्वस्यापि सदादेः कथञ्चिदभ्युपगमात् । एतदेव श्लोकपश्चार्द्धेन दर्शयति-(स्वत इति) स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्ति । तथा-(परत इति) परद्रव्यादिभिर्नास्तीत्येवं पराभ्युपगमं दूषयन्तो गर्हामोऽन्यानेकान्तवादिनः । तत्स्वरूपनिरूपणतस्तु रागद्वेषविरहान्न किञ्चिद्गर्हाम इति स्थितम् ॥ १२ ॥

एतदेव स्पष्टतरमाह-

ण किंचि रूवेणऽभिधारयामो ,

सदिट्ठिमग्गं तु करेमि पाउं ।

मग्गे इमे किट्टिए आरिएहिं ,

अणुत्तरे सप्पुरिसेहिँ अंजू ॥१३ ॥

न कञ्चन श्रमणं, ब्राह्मणं वा; स्वरूपेण जुगुप्सिताङ्गावयवोद्घट्टनेन जात्या तल्लिङ्गग्रहणोद्घट्टनेन वाऽभिधारयामो गर्हणाद्बुद्ध्योद्घट्टयामः , केवलं स्वदृष्टिमार्गं तदभ्युपगतं दर्शनं प्रादुष्कुर्मः प्रकाशयामः । तद्यथा-

" ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुग् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक्सोमः कलङ्काङ्कितः ।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि " ॥ १ ॥

इत्यादि।एतच्च तैरेव स्वागमे पठ्यते , वयं तु श्रोतारः केवलमिति । आर्द्रककुमार एव परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षसाधनार्थं श्लोकपश्चार्द्धेनाह-(मग्गे त्ति) अयं मार्गः पन्थाः सम्यग्दर्शनादिकः कीर्तितो व्यावर्णितः । कैः?, आर्यैः,सर्वज्ञैरस्त्याद्यधर्मदूरवर्तिभिः । किंभूतो धर्मः?, नास्माादुत्तरः प्रधानो विद्यत इत्यनुत्तरः, पूर्वापराव्याहतत्वाद्,यथावस्थितजीवादिपदार्थस्वरूपनिरूपणाच्च । किंभूतैरार्यैः ? , सन्तश्च ते पुरुषाश्च सत्पुरुषास्तैश्चतुस्त्रिंशदतिशयोपेतैराविर्भूतसमस्तपदार्थाविर्भावकदिव्यज्ञानैः। किंभूतो मार्गः ?, अञ्जू व्यक्तः-निर्दोषत्वात्प्रकटः, ऋजुर्वा; वक्रैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ॥१३॥

पुनरपि स्वसद्धर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,

तसा य जे थावर जे य पाणा ।

भूयाहिसंकाभिदुगुंछमाणा,

णो गरहती बुसिमं किंचि लोए ॥१४॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्ष्वेवं सर्वास्वपि दिक्षु प्रकारापेक्षया, भावदिगपेक्षया वा,तासु ये त्रसाः,ये च स्थावराः प्राणिनः। चशब्दौ स्वगतानेकभेदसंसूचकौ । भूतं सद्भूतं तथ्यं, तत्राभिशङ्कया तथ्यनिर्णयेन प्राणातिपातादिकं पातकं जुगुप्समानो गर्हमाणः; यदि वा भूताभिशङ्कया सर्वसावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समानो नैव परलोकं कञ्चन गर्हति निन्दति(बुसिमं ति)संयमवानिति। तदेवं रागद्वेषवियुक्तस्य वस्तुस्वरूपाविर्भावने, न काचिद्गर्हेति। अथ तत्रापि गर्हा भवति, तर्हि न ह्युष्णोऽग्निः,शीतमुदकं,विषं मारणात्मकमित्येवमादि किञ्चिद्वस्तुस्वरूपमाविर्भावनीयमिति ॥१४॥

स एवं गोशालकमतानुसारी त्रैराशिको निराकृतोऽपि पुनरन्येन प्रकारेणाऽऽह-

आगंतगारे आरामगारे,

समणे उ भीते ण उवेति वासं ।

दक्खा हु संते बहवो मणुस्सा,

ऊणाऽतिरित्ता य लवाऽलवा य ॥ १५ ॥

स विप्रतिपन्नः सन्नार्द्रकमेवाह-योऽसौ भवत्संबन्धी तीर्थकरः स रागद्वेषभययुक्तः। तथाहि-असावागन्तुकानां कार्पटिकादीनामगारमागन्तागारं,तथाऽऽरामेऽगारमारामागारं, तत्राऽसौ श्रमणो भवत्तीर्थकरः। तुशब्द एवकारार्थे। भीत एवासौ तत्राऽवसनन्नयान्तत्रागन्तागारादौ न वासमुपैति, न तत्रासनशयनादिकाः क्रियाः कुरुते। किं तत्र भयकारणम् ?, इति चेत्-दाह—दक्षा निपुणाः प्रभूतशास्त्रविशारदाः । हुशब्दो यस्मादर्थे । यस्माद्बहवः सन्ति मनुष्याः,तस्मादसौ तद्भीतो न वासं तत्र समुपैति न तत्र समानिष्ठते। किंभूताः, न्यूनाः स्वतोऽवमा

हीनाः,जात्याद्यतिरिक्ता वा, ताभ्यां पराजितस्य महाँश्छायाभ्रंश इति । तानेव विशिनष्टि-लपन्तीति लपा वाचालाः, घोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः। तथा-न लपा मौनव्रतिका निष्ठितयोगाः, गुटिकादियुक्ता वा, यद्वशादभिधेयविषया वागेव न प्रवर्त्तते । तस्तद्भयेनासौ युष्मत्तीर्थकृदागन्तागारादौ नैव व्रजतीति ॥१५॥

पुनरपि गोशालक एवाऽऽह-

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता,
सुत्तेहिँ अत्थेहिँ य णिच्छयण्णा ।
पुच्छिंसु माणे अणगार अन्ने,
इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो ग्रहणधारणसमर्थाः,तथाऽऽचार्यादेः समीपे शिक्षां ग्राहिताः शिक्षिताः,तथौत्पत्तिक्यादिचतुर्विधबुद्ध्युपेता बुद्धिमन्तः,तथा-सूत्रेऽपि सूत्रविषयेऽर्थे विनिश्चयज्ञाः, यथावस्थितसूत्रार्थवेदिन इत्यर्थः। ते चैवंभूताः सूत्रार्थविषयं मा प्रश्नमकार्षुः, अन्येऽनगारा एके केचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां बिभ्यत्र तत्र तन्मध्ये उपैत्युपगच्छतीति । ततश्च न ऋजुमार्ग इति, भययुक्तत्वात्तस्य । तथा-म्लेच्छविषयं गत्वा न कदाचित्कर्मदेशनां च करोति, आर्य देशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्रचिदेवेत्यतो विषमदृष्टित्वाद्रागद्वेषवर्त्यसाविति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह-

णोऽकामकिच्चा ण य बालकिच्चा,
रायाभिओगेण कुओ भएणं ? ।
वियागरेज्जा पसिणं न वा वि,
सकामकिच्चं णिह आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति, कमनं काम इच्छा;न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृत्यः,स एवंभूतो न भवति,अनिच्छाकारी न भवतीत्यर्थः।यो ह्यप्रेक्षापूर्वकारितया वर्तते, सोऽनिष्टमपि स्वपरात्मनो निरर्थकमपि कृत्यं कुर्वीत।भगवांस्तु-सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः कथं स्वपरात्मनोर्निरुपकारकमेवं कुर्यात्? । तथा च-बालस्येव कृत्यं यस्य स बालकृत्यः, न चासौ बालवदनालोचितकारी,न परानुरोधाच्चापि गौरवाद्धर्मदेशनादिकं विधत्ते। अपि तु यदि कस्यचिद्भव्यसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति,ततः प्रवृत्तिर्भवति,नान्यथा । न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः कुतस्तस्य भयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित्कश्चित्संशयकृतं प्रश्नं व्यागृणीयाद्, यदि तस्योपकारो भवत्युपकारमन्तरेण न च नैव व्यागृणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां च द्रव्यमनसैव तन्निर्णयसंभावादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते । यदप्युच्यते भवता-यदि वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथां करोतीति चेदित्याशङ्क्याह-स्वकामकृत्येन स्वेच्छाचारितयाऽसावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय न यथाकथञ्चिदतोऽसावग्लानः, इहास्मिन्संसारे आर्यक्षेत्रे चोपकारयोग्ये आर्याणां हि सर्वहेयधर्मदूरवर्त्तिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति ।

किञ्चाऽन्यत्-

गंता च तत्था अदुवा अगंता,
वियागरेज्जा समियाऽऽसुपन्ने ।
अणारिया दंसणओ परित्ता,
इति संकमाणा ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

स हि भगवान् परहितैकरतो गत्वाऽपि विनेयासन्नम्, अथवाऽप्यगत्वा यथा भव्यसत्त्वोपकारो भवति तथा भगवन्तोऽर्हन्तो धर्मदेशनां विदधति । उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्ति, असति तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तेषां रागद्वेषसंभव इति । केवलमाशुप्रज्ञः सर्वज्ञः समतया समदृष्टितया चक्रवर्तिद्रमकादिषु पृष्टो वा धर्मं व्यागृणीयात्; "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" इति वचनात्। इत्यतो न रागद्वेषसद्भावस्तस्येति ।यत्पुनरनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह-अनार्याः क्षेत्रभाषाकर्मभिर्बहिष्कृताः,दर्शनतोऽपि परि समन्तादिता गताः,प्रभ्रष्टा इति यावत्।तदेवमसौ भगवानित्येतत् तेषु सम्यग्दर्शनमात्रमपि कथंचिन्न भवति इत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति। यदि वा विपरीतदर्शिनो भवन्त्यनार्याः शकयवनादयः, ते हि वर्तमानसुखमेवैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः सत्कर्मपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न याति,न पुनस्तद्द्वेषादिबुद्ध्येति । यदप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदगुटिकासिद्धविद्यासिद्धादितीर्थिकपराभवभयेन न तत्समाजे गच्छतीति। एतदपि बालप्रलपितप्रायम् । यतः सर्वज्ञस्य भगवतः समस्तैरपि प्रावादुकैर्मुखमप्यवलोकयितुं न शक्यते, वादस्तु दूरोत्सारित एवेत्यतः कुतस्तस्य पराभवः? । भगवाँस्तु केवलालोकेन यत्रैव स्वपरोपकारं पश्यति तत्रैव गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्त इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पण्णं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं ।
तऊवमे समणे नायपुत्ते,इच्चेव मे होति मती वियक्को ॥१९॥

यथा वणिक् कश्चिदुदयार्थी पण्यं व्यवहारयोग्यं भाण्डं कर्पूरागरुकस्तूरिकाम्बरादिकं देशान्तरं गत्वा विक्रीणाति, तथा आयस्य लाभस्य हेतोः कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते,तदुपमोऽयमपि भवत्तीर्थकरः श्रमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं मे मम मतिर्भवति, वितर्को मीमांसा वेति ॥ १९ ॥

एवमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं,
चिच्चाऽमइं ताई स आह एवं ।
एतावया बंभवतं ति वुत्ता,
तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥ २० ॥

योऽयं भवता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वसाधर्म्येण, उत देशतः ?; यदि देशतस्ततो न नः क्षतिमावहति । यतो वणिग्वद्यत्रैवोपचयं पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चिदित्येतावता साधर्म्यमस्त्येव । अथ सर्वसाधर्म्येणेति । तन्न युज्यते। यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावद्यानुष्ठानरहितो नवं प्रत्यग्रं कर्म न कुर्यात् । तथा-विधुनयत्यपनयति पुरातनं यद्बद्धोपग्राहिकर्म बद्धम् । तथा-त्यक्त्वा अमतिं विमतिं, त्रायी भगवान् सर्वस्य परित्राणशीलः,विमतिपरित्यागेन चैवंभूत एव भवतीति भावः। तायी वा मोक्षं प्रति । अय-वय-मय-पय-चय-तय-णय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेवाऽऽह-यथा विमतिपरित्यागेन चैवंभूत एव भवतीत्येतावता च संदर्भेण ब्रह्मणो मोक्षस्य, व्रतं ब्रह्मव्रतमित्येतदुक्तम् । तस्मिँश्लोके. तदर्थं वाऽनु-

ष्ठाने क्रियमाणे तस्योदयार्थी श्रमण इति ब्रवीम्यहमिति ॥२०॥

नचैवंभूता वणिज इत्येतदार्द्रककुमारो दर्शयितुमाह—

समारभंते वणिया भूयगामं,
परिग्गहं चेव ममायमाणा ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय,
आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥ २१ ॥

ते हि वणिजः,चतुर्दशप्रकारमपि भूतग्रामं जन्तुसमूहं,समारभन्ते तदुपमर्दकाः क्रियाः प्रवर्तयन्ति,क्रयविक्रयार्थे शकटयानवाहनोष्ट्रमण्डलिकादिभिरनुष्ठानैरिति। तथा-परिग्रहं द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिकं ममीकुर्वन्ति ममेदमित्येवं व्यवस्थापयन्ति। ते हि वणिजो ज्ञातिभिः स्वजनैः सह यः संयोगस्तमविप्रहायापरित्यज्य,आयस्य लाभस्य हेतोर्निमित्तादपरेण सार्द्धं सङ्गं संबन्धं प्रकुर्वन्ति। भगवांस्तु षड्जीवरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्यक्तस्वजनपक्षः सर्वत्राप्रतिबद्धो धर्मार्थमन्वेषयन् गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्ते, अतो भगवतो वणिग्भिः सार्द्धं न सर्वसाधर्म्यमस्तीति ॥२१॥

पुनरपि वणिजां दोषमुद्भावयन्नाह–

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा ,
ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना ,
अणारिया पेमरसेसु गिद्धे ॥ २२ ॥

वित्तं द्रव्यं तदन्वेष्टुं शीलं येषां ते वित्तैषिणः। तथा-मैथुने स्त्रीसंपर्के, संप्रगाढा अध्युपपन्नाः। तथा–ते भोजनार्थमाहारार्थं, वणिज इतश्चेतश्च व्रजन्ति, वदन्ति वा। तांस्तु वणिजो वयमेवं ब्रूमः-यथैते कामेष्वध्युपपन्ना गृद्धाः, अनार्यकर्मकारित्वादनार्या रसेषु च सातागौरवादिषु गृद्धा मूर्च्छिताः, नत्वेवंभूता भगवन्तोऽर्हन्तः, कथं तेषां तैः सह साधर्म्यमिति ?, दूरत एव निरस्तैषा कथेति ॥ २२ ॥

किञ्चान्यत्–

आरंभगं चेव परिग्गहं च ,
अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी ,
चउरंतऽणंताय दुहाय णेह ॥२३॥

आरम्भं सावद्यानुष्ठानं च,तथा-परिग्रहं चाव्युत्सृज्यापरित्यज्य, तस्मिन्नेवारम्भे क्रयविक्रयपचनपाचनादिके, तथा–परिग्रहे च धनधान्यहिरण्यसुवर्णद्विपदचतुष्पदादिके, निश्चयेन श्रिता बद्धा निःश्रिताः, वणिजो भवन्ति, तथाऽऽत्मैव दण्ड्यो, दण्डयतीति दण्डो, येषां ते भवन्त्यात्मदण्डाः, असदाचारप्रवृत्तेरिति। भावोऽपि चैषां वणिजां परिग्रहारम्भवतां स उदयो लाभो यदर्थं ते प्रवृत्ताः,यं च त्वं लाभं वदसि,स तेषां चतुरन्तश्चतुर्गतिको यः संसारोऽनन्तस्तस्मै तदर्थं भवतीति। न चेहासावेकान्तेन तत्प्रवृत्तस्यापि भवतीति ॥ २३ ॥

एतदेव दर्शयितुमाह—

णेगंत णऽचंतिय उदएवं, वयंति ते दो वि गुणोदयम्मि।
से उदए सादि मणंत पत्ते,तमुदयं साहयइ ताइ णाई॥२४॥

एकान्तेन भवतीत्यैकान्तिकः,तथा नः;तल्लाभार्थं प्रवृत्तस्य विपर्ययस्यापि दर्शनात्। तथा-नाप्यात्यन्तिकः सर्वकालभावी,तत्क्षयदर्शनात्;स तेषामुदयो लाभो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदो वदन्ति। तौ च द्वावपि भावौ विगतगुणोदयौ भवतः। एतदुक्तं भवति–किं तेनोदयेन लाभरूपेण यो नैकान्तिकः, नात्यन्तिकश्च, पश्चादनर्थायेति। यश्च भगवतः (से) तस्य दिव्यज्ञानप्राप्तिलक्षण उदयो लाभो यो वा धर्मदेशनाऽवाप्तनिर्जरालक्षणः, स च सादिरनन्तश्च। तमेवंभूतमुदयं प्राप्तो भगवानन्येषामपि तथाभूतमेवोदयं साधयति कथयति, श्लाघते वा। किंभूतो भगवान् ?, तायी। अय-वय-मय-पय-चय-तय-णय-गतावित्यस्य दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूपम्, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः। त्रायी वा,आसन्नभव्यानां त्राणकरणात्। तथा-ज्ञाती,ज्ञाता क्षत्रिया, ज्ञातं वा वस्तुजातं विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तवेद्य इत्यर्थः। तदेवंभूतेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथं सर्वसाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥

(६)सांप्रतं कृतदेवसमवसरणप्रावशोकवृक्षदेवच्छन्दकसिंहासनाद्युपभोगं कुर्वन्नप्याधाकर्मकृतवसतिनिषेधकसाधुवत्कथं तदनुमतिकृतेन कर्मणाऽसौ न लिप्यते?,इत्येतद्गोशालकमतमाशङ्क्याऽऽह–

अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी,
धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिँ समायरंता,
अबोहिए–ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

असौ भगवान् समवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्यहिंसकः सन्नुपभोगं करोति। एतदुक्तं भवति–नहि तत्र भगवतो मनागप्याशंसा, प्रतिबन्धो वा विद्यते, समतृणमणिमुक्तालेष्टुकाञ्चनतया तदुपभोगं प्रति प्रवृत्तेर्देवानामपि प्रवचनोद्भावयिषूणां कथं नु नाम भव्यानां धर्माभिमुखं प्रवृत्तिर्यथा स्यादित्येवमर्थमात्मलाभार्थं च प्रवर्तनात्, अतो भगवानहिंसकः । तथा–सर्वेषां प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः,तदनुकम्पी च, तान्संसारे पर्यटतोऽनुकम्पयते तच्छीलश्च। तमेवंरूपं धर्मपरमार्थरूपे व्यवस्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं भवद्विधा आत्मदण्डैः समाचरन्त आत्मकल्पं कुर्वन्ति, वणिगादिभिरुदाहरणैः। एतच्चाबोधेरज्ञानस्य प्रतिरूपं वर्तते। एकं तावदिदमज्ञानं यत्स्वतः कुमार्गप्रवर्तनम्। द्वितीयं चैतत्प्रतिरूपमज्ञानं यद्भगवतामपि जगद्बन्धूनां सर्वातिशयनिधानभूतानामितरैः समत्वापादनमिति ॥ २५ ॥

साम्प्रतमार्द्रककुमारमपहस्तितगोशालकं ततो भगवदभिमुखं गच्छन्तं दृष्ट्वाऽथान्तराले शाक्यपुत्रीया भिक्षव इदमूचुर्यदनेन वणिग्दृष्टान्तदूषणेन बाह्यमनुष्ठानं दूषितं, तच्छोभनं कृतं भवता; यतोऽतिफल्गुप्रायं बाह्यमनुष्ठानम्,आन्तरमेव त्वनुष्ठानं संसारमोक्षयोः प्रधानाङ्गम्,अस्मत्सिद्धान्ते चैतदेव व्यावर्ण्यते । इत्येनदार्द्रककुमार ! भो राजपुत्र ! त्वमवहितः शृणु,श्रुत्वा चावधारयेति भणित्वा ते भिक्षुका आन्तरानुष्ठानसमर्थकमात्मीयसिद्धान्ताऽऽविर्भावनायेदमाहुः–

पिन्नागपिंडीमवि विद्धमूले,
केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति ।
अलाउयं वा वि कुमारए त्ति,
स लिंपती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

पिण्याकः खलः,तस्य पिण्डिर्पिण्डकं, तदचेतनमपि सत् कस्मिंश्चित्संभ्रमे म्लेच्छादिविषये केनचिन्नश्यता प्रावरणं खलोपरि क्षिप्तं, तच्च म्लेच्छेनान्वेषं प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा,खलपिण्डया सह गृहीतम, ततोऽसौ म्लेच्छो वस्त्रवेष्टितां तां खलपिण्डीं पुरुषबुद्ध्या शूले प्रोतां पावकेऽपचत्। तथा-अलाबुकं तुम्बकं कुमारोऽयमिति मत्वाऽग्नावेव पपाच, स चैवं चित्तस्य दुष्टत्वात्प्राणिवधजनितेन पातकेन युज्यते, अस्मत्सिद्धान्ते चित्तमूलत्वाच्छुभाशुभबन्धस्य,इत्येवं तावदकुशलचित्तप्रामाण्यादकुर्वन्नपि प्राणातिपातप्रतिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अमुमेव दृष्टान्तं वैपरीत्येनाऽऽह–

अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले,
पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा ।
कुमारगं वा वि अलाबुयं ति ,
न लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ॥२७॥

अथवाऽपि सत्यपुरुषं खलबुद्ध्या कश्चिन्म्लेच्छः शूलप्रोतमग्नौ पचेत्,तथा-कुमारकं बालं, तुम्बकबुद्ध्याऽग्नावेव पचेत्। नचमेवासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति ॥ २७॥

किञ्चाऽन्यत्–

पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा,
सूलम्मि केई पएजायतेए ।
पिन्नायपिंमी सतीमारुहेत्ता,
बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥

पुरुषं वा,कुमारं वा, विद्ध्वा शूले कश्चित्पचेज्जाततेजस्यग्नावाकश्च खलपिण्डीयमिति मत्वा सतीं शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि पारणाय भोजनाय कल्पते योग्यं भवति; किमुतापरेषाम् ?। एवं सर्वास्ववस्थास्वचिन्तितं मनसाऽसंकलितं कर्मचयं नागच्छत्यस्मत्सिद्धान्ते। तदुक्तम-"अविज्ञानोपचितं विपरिज्ञानोपचितमीर्यापथिकं स्वप्नान्तिकं चेति कर्मोपचयं न याति"॥२८॥

पुनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽऽह–

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,
जे भोयए णितिए भिक्खुयाणं ।
ते पुन्नखंधं सुमहं जिणित्ता ,
भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

स्नातका बोधिसत्त्वाः। तुशब्दात्पञ्चशिक्षापदिकादिपरिग्रहः। तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं,ये निजे शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यवस्थिताः केचिदुपासकाः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेयुः समांसगुडदाडिमेनेष्टेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्त्वाः श्रद्धालवः पुण्यस्कन्धं महान्तं समावर्ज्य, तेन च पुण्यस्कन्धेनारोप्याख्या देवा भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥२९॥

(७) तदेवं बुद्धेन दानमूलः,शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः, तदेतमागच्छ , बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः सन्नार्द्रकोऽनाकुलया दृष्ट्या तान्वीक्ष्योवाचेदं वक्ष्यमाणमित्याह–

अजोगरूवं इह संजयाणं,
पावं तु पाणाण पसज्झ काउं ।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु,
वयति जे यावि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥

इहास्मिन्भवदीये शाक्यमते, संयतानां भिक्षूणां,यदुक्तं प्राक्, तदत्यन्तेनायोग्यरूपमघटमानकम्।तथाहि-अहिंसार्थमुत्थितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्यग्ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावशुद्धिः फलवती भवति,तद्विपर्यस्तमतेस्त्वज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मतया खलपुरुषयोर्विवेकमजानतः कुतस्त्या भावशुद्धिः।अत्यन्तमसाम्प्रतमेतद् बुद्धमतानुसारिणाम, यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूले प्रोतनपचनादिकम्।तथा बुद्धस्यैवान्नबुद्ध्या पिशितभक्षणानुमत्यादिकमिति । एतदेव दर्शयति-प्राणानामिन्द्रियाणामपगमेन तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् पापमेव कृत्वा रससातागौरवादिगृद्धास्तदभावं व्यावर्णयन्ति। एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनमबोध्यै अबोधिलाभार्थं तयोर्द्वयोरपि संपद्यते, अतोऽसाध्वेतत् । कयोर्द्वयोः?, इत्याह-ये वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाभावं, ये च तेभ्यः शृण्वन्त्येतयोर्द्वयोरपि वर्गयोरसाध्वेतदिति । अपि चनाज्ञानावृतमूढजनस्याशुद्ध्या शुद्धिर्भवति । यदि च स्यात्,संसारमोचकादीनामपि तर्हि कर्मविमोक्षः स्यात् । तथा-भावशुद्धिमेव केवलामभ्युपगच्छतां भवतां शिरस्तुण्डमुण्डनपिण्डपातादिकं, चैत्यकर्मादिकं चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्मादेवंविधया ज्ञानबुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितम ॥३०॥

परपक्षं दूषयित्वाऽऽर्द्रकः स्वपक्षाऽविर्भावनायाऽऽह–

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
विन्नाय लिंगं तसथावराणं ।
भूयाभिसंकाइ दुगंछमाणा,
वदे करेज्जाव कुओ विहऽत्थि ? ॥३१॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु या दिशः प्रज्ञापनादिकास्तासु सर्वास्वपि विज्ञ, त्रसानां, स्थावराणां च जन्तूनां यत्त्रसस्थावरत्वेन जीवलिङ्गं चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवच्छेदम्लानादिकं, तद्विज्ञाय ज्ञात्वाभिशङ्कया जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगुप्समानस्तदुपमर्दं परिहरन् वदेत् । (कुर्तेऽपि)अतः कुतोऽस्तीहास्मिन्नेवंभूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्षे युष्मदापादितो दोष इति ? ॥ ३१ ॥

अधुना पिण्याके पुरुषबुद्ध्यसम्भवमेव दर्शयितुमाह–

पुरिसे त्ति विन्नत्ति न एवमत्थि ,
अणारिए से ऽपुरिसे तहा हु ।
को संभवो पिन्नागपिंडियाए ? ,
वाया वि एसा बुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

तस्यां पिण्याकखल्यां पुरुषोऽयमित्येवमत्यन्तजडस्यापि विज्ञप्तिरेव नास्ति,तस्माद्य एवं वक्ति सोऽत्यन्तोऽपुरुषः। तयाऽभ्युपगमेन, हुशब्दस्यैवकारार्थत्वेऽनार्य एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमिति मत्वा हतेऽपि नास्ति दोष इत्येवं वदेत् । तथाहि-कः संभवः पिण्डयां पुरुषबुद्धेः?, इत्यतो वागपीयमीदृगसत्येति, सत्त्वोपघातकत्वात् । ततश्च निःशङ्कप्रहार्यनालोचको निर्विवेकतया बध्यते, तस्मात् पिण्याककाष्ठादावपि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्दनोदणाशशङ्केन प्रवर्तितव्यमिति ॥ ३२ ॥

किञ्चान्यत्-

वायाभियोगेण जमावहेज्जा,
णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा ।
अट्टाणमेयं वयणं गुणाणं,
णो दिक्खिए बूय ऽनुदालमेयं ॥ ३३ ॥

वाचाऽभियोगो वागभियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, आवहेत् पापं कर्म, ततो विवेकी नाषागुणदोषज्ञो, न तादृशीं भाषामुदाहरेन्नाभिदध्यात् । यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानाम्, नहि प्रव्रजितो यथावस्थितार्थानभिधायैतदनुदारमसुष्ठु परिस्थूरं निःसारं निरुपपत्तिकं वचनं ब्रूयात् । तद्यथा-पिण्याकोऽपि पुरुषः पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽलाबुकमेव बालकः, बालक एवाऽलाबुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्द्रककुमार एव तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं सोल्लुण्ठं विभणिषुराह—

लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे,
जीवाणुभागे सुविचिंतिए य ।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे,
ओलोइए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥

अहो ! युष्माभिः,अथानन्तर्ये वा, एवंभूतात्त्वदुपगमे सति लब्धार्थो विज्ञानं यथावस्थितं तत्त्वमिति तथावगतः सुविचिन्तितो भवद्भिर्जीवानामनुभागः कर्मविपाकस्तत्पीडेति, तथैवंभूतेन विज्ञानेन भवतां यशः पूर्वसमुद्रमपरं च स्पृष्टं गतमित्यर्थः। तथा भवद्भिरेवंविधविज्ञानावलोकनेनावलोकितः पाणितलस्थ इवायं लोक इति; अहो ! भवतां विज्ञानातिशयः, यदुत भवन्तः पिण्याकपुरुषयोर्बालाऽलाबुकयोर्वा विशेषानभिज्ञया पापस्य कर्मणो बन्धसद्भावाभावं प्राकल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

तदेवं परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षस्थापनायाऽऽह-

जीवाणुभागं सुविचिंतयंता,
आहारिया अन्नविहे य सोहिं ।
न वियागरे छन्नपओपजीवी,
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

मौनीन्द्रशासनप्रतिपन्नाः सर्वज्ञोक्तमार्गानुसारिणो जीवानामनुभागमवस्थाविशेषं, तदुपमर्दने पीडां वा, सुष्ठु विचिन्तयन्तः पर्यालोचयन्तोऽन्नविधौ शुद्धिमाहृतवन्तः स्वीकृतवन्तः, द्विचत्वारिंशद्दोषरहितेन,शुद्धेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां पिशितादपि पात्रपतितं न दोषायेति । तथा-छन्नपदोपजीवी मातृस्थानोपजीवी सन् न व्यागृणीयात् । एषोऽनन्तरोक्तो, अनु पश्चाद्धर्मोऽनुधर्मस्तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं भवतीत्यमुना विशिष्यते । इहास्मिन् जगति,प्रवचने वा, सम्यग्यतानां सत्साधूनां न तु पुनरेवंविधभिक्षूणामिति । यच्च भवद्भिरोदनादेरपि प्राण्यङ्गसमानतया हेतुभूतया मांसादिसादृश्यं चोद्यते,तदविज्ञाय लोकतीर्थान्तरीयमतम् । तथाहि-प्राण्यङ्गत्वेन तुल्येऽपि किञ्चिन्मांसं किञ्चिच्चामांसमित्येवं व्यवह्रियते । तद्यथा-गोक्षीररुधिरादेर्नेक्यात्तदव्यवस्थितिः,तथा-समानेऽपि स्त्रीत्वे भार्याश्वस्रादौ गम्यागम्यव्यवस्थितिरिति । तथा-शुष्कतर्कदृष्ट्या यो प्राण्यङ्गत्वादिति हेतुर्भवतोपन्यस्यते । तद्यथा-"भक्षणीयं भवेन्मांसं, प्राण्यङ्गत्वेन हेतुना । ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहेति तार्किकः" ॥ १ ॥ सोऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धदोषदुष्टत्वादपकर्णनीयः । तथाहि-निरंशत्वाद् वस्तुनस्तदेव मांसं, तदेव च प्राण्यङ्गमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वासिद्धः । तद्यथा-नित्यः शब्दो नित्यत्वात् । अथ भिन्नं प्राण्यङ्गं, ततः सुतरामसिद्धः, व्यधिकरणत्वात् । यथा-देवदत्तस्य गृहं,काकस्य कार्ष्ण्यम् । तथाऽनैकान्तिकोऽपि, श्वादिमांसस्याभक्ष्यत्वात् । अथ तदपि क्वचित्कथंचित्केषांचिद्भक्ष्यमिति चेत् ?,एवं च सत्यन्यादेरभक्ष्यत्वादनैकान्तिकत्वम् । तथा-विरुद्धव्यभिचार्यपि,यथाऽयं हेतुर्मांसस्य भक्ष्यत्वं साधयति, एवं बुद्धानामपूज्यत्वमपि । तथा-लोकविरोधिनी चेयं प्रतिज्ञा। मांसोदनयोरसाम्याद् दृष्टान्तविरोधश्चेत्येवं व्यवस्थिते यदुक्तं प्राग्-यथा बुद्धानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाध्विति स्थितम् ॥ ३५ ॥

अन्यदपि भिक्षुकोक्तमार्द्रककुमारोऽनूद्य दूषयितुमाह-

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,
जे भोयए णितिए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ,
णियच्छते गरिहम्मिहेव लोए ॥ ३६ ॥

स्नातकानां बोधिसत्त्वकल्पानां भिक्षूणां नित्यं यः सहस्रद्वयं भोजयेदित्युक्तं प्राक् । तद् दूषयति-असंयतः सन् रुधिरक्लिन्नपाणिरनार्य इव गर्हां निन्दां जुगुप्सापदवीं साधुजनानामिह लोक एव निश्चयेन गच्छति, परलोके चाऽनार्यगम्यां गतिं यातीति । एवं तावत्तत्त्वयाऽनुष्ठानानुमन्तॄणामपात्रभूतानां यद्दानं तत्कर्मबन्धायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चान्यत्—

थूलं उरब्भं इह मारिया णं,
उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पइत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता,
सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

आर्द्रककुमार एव तन्मतमाविष्कुर्वन्निदमाह-स्थूलं बृहत्कायमुपचितमांसशोणितम्, उरभ्रमुरणकम्, इह शाक्यशासने, भिक्षुकसंघोद्देशेन व्यापाद्य घातयित्वा, तथोद्दिष्टभक्तं च प्रकल्पयित्वा, तदुरभ्रमांसं लवणतैलाभ्यामुपसंस्कृत्य पाचयित्वा, सपिप्पलीकमपरद्रव्यसमन्वितं प्रकर्षेण भक्षणयोग्यं मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह-

तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं,
ण ओवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मं,
अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तत्पिशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्रभूतं तद्रजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिप्यामः, इत्येवं धार्ष्ट्यात्प्रोचुः।अनार्याणामिव धर्मः स्वभावो येषां ते तथाऽनार्यकर्मकारित्वादनार्याः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्रसेषु च मांसादिकेषु गृद्धा अध्युपपन्नाः ॥ ३८ ॥

एतच्च तेषां महतेऽनर्थायेति दर्शयति—

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं ,
सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंती ,
वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसगौरवगृद्धाः शाक्योपदेशवर्तिनः, तथाप्रकारं स्थूलोरभ्रं संस्कृतं घृतलवणमरिचादिसंस्कृतं पिशितं च,भुञ्जतेऽश्नन्ति, तेऽनार्याः, पापं कल्मषम, अजानाना निर्विवेकिनः, सेवन्ते आददते । तथा चोक्तम—

"हिंसामूलममेध्यमास्पदमलं ध्यानस्य रौद्रस्य यद् ,
बीभत्सं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धपूयादिकम ।
शुक्रासृक्प्रभवं नितान्तमलिनं सद्भिः सदा निन्दितं ,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मद्रुहः ?" ॥ १ ॥

अपि च—

"मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः" ॥ २ ॥

तथा—

"योऽत्ति यस्य च तन्मांस-मुभयोः पश्यतान्तरम ।
एकस्य क्षणिका तृप्ति-रन्यः प्राणैर्वियुज्यते" ॥ ३ ॥

तदेवं महादोषं मांसादनमिति मत्वा यद्विधेयं तद्दर्शयति-एतदेवंभूतं मांसादनाभिलाषरूपं मनोऽन्तःकरणं, कुशला निपुणा मांसाशित्वविपाकवेदिनस्तन्निवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च, न कुर्वन्ति, तदभिलाषादात्मनो निवर्तयन्तीत्यर्थः । आस्तां तावद्भक्षणं, वागप्येषा यथा मांसभक्षणेऽदोष इत्यादिका भारत्यभिहितोक्ता मिथ्या । तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न विधेयमिति । तन्निवृत्तौ चेहैवानुपमा श्लाघा, अमुत्र च स्वर्गापवर्गगमनमिति । तथा चोक्तम—

"श्रुत्वा दुःखपरम्परामतिघृणां मांसाशिनां दुर्गतिं,
ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनस्यादरात् ।
तद्दीर्घायुरदूषितं गदरुजा संभाव्य यास्यन्ति ते,
मर्त्येषूद्भटभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च" ॥१॥ इत्यादि ।
न केवलं मांसादनमेव परिहार्य्यमन्यदपि मुमुक्षूणां परिहर्त्तव्यमिति दर्शयितुमाह-

सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए ,
सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता ,
उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वग्रहणम । दयार्थतया दयानिमित्तं सावद्यमारम्भं महानयं दोष इत्येवं मत्वा तत्परिवर्जयन्तः साधवः । तच्छङ्किनो दोषशङ्किन ऋषयो महामुनयो ज्ञातपुत्रीयाः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानशिष्याः, उद्दिष्टं दानाय परिकल्पितं यद्भक्तपानादिकं,तत्परिवर्जयन्ति ।४०।

किञ्च—

भूयाभिसंकाए दुगंछमाणा ,
सव्वेसि पाणाण निहाय दंडं ॥
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं ,
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम, उपमर्दशङ्कया सावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समाना परिहरन्तः, तथा-सर्वेषां प्राणिनां दण्डयतीति दण्डः समुपतापस्तं, विहाय परित्यज्य, सम्यगुत्थिताः सत्साधवो यतस्ततो न भुञ्जते,तथाप्रकारमाहारमशुद्धजातीयमेषोऽनुधर्मः,इहास्मिन्प्रवचने, संयतानां यतीनां तीर्थकराचरणात् अनु पश्चाच्चर्यत इत्यनुना विशेष्यते । यदि वाणुरिति स्तोकेनाप्यतिचारेण वा बाध्यते शिरीषपुष्पमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चाऽन्यत्—

निग्गंथधम्मम्मि इमं समाहिं ,
अस्सिं सुठिच्चा अणिहो चरेज्जा ।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए ,
अच्चत्थतं पाउणती सिलोगं ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मौनीन्द्रधर्मे बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थः, स चासौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः , स च श्रुतचारित्राख्यः, क्षान्त्यादिको वा सर्वज्ञोक्तः,तस्मिन्नेवंभूते धर्मे व्यवस्थित,इमं पूर्वोक्तं समाधिमनुप्राप्तः, अस्मिंश्चाशुद्धाहारपरिहाररूपे समाधौ,सुष्ठु अतिशयेन स्थित्वा, अनीहोऽमायः। अथवा-निहन्यत इति निहः, न निहोऽनिहः, परीषहैरपीडितः। यदि वा-स्निह बन्धने, स्निह इति स्नेहरूपबन्धनरहितः संयममनुष्ठानं चरेत । तथा-बुद्धोऽवगततत्त्वो, मुनिः कालत्रयवेदी, शीलेन क्रोधाद्युपशमरूपेण, गुणैश्च मूलोत्तरगुणभूतैरुपेतो युक्त इत्येवंगुणकलितोऽत्यर्थतां सर्वगुणातिशायिनीं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपां संतोषात्मिकां श्लाघां प्रशंसां लोके लोकोत्तरे वाऽऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

"राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रेऽपि नैवादरो ,
वित्तोपार्जनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः ।
संसारान्तरवर्त्यपीह लभते संमुक्तवन्निर्भयः ,
संतोषात्पुरुषोऽमृतत्वमचिरायायात्सुरेन्द्रार्चितः" ।१। इत्यादि ।

(१) तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकबौद्धमतमभिसमीक्ष्य साम्प्रतं द्विजातयः प्रोचुः। तद्यथा-भो आर्द्रककुमार ! शोभनमकारि भवता, यदेते वेदबाह्ये द्वे अपि मते निरस्ते, तत्साम्प्रतमप्यार्हतं वेदबाह्यमेव, अतस्तदपि नाश्रयणार्हं भवद्विधानाम् । तथाहि-भवान् क्षत्रियवरः,क्षत्रियाणां च सर्ववर्णोत्तमा ब्राह्मणा एवोपास्याः, न शूद्राः, अतो यागादिविधिना ब्राह्मणसेवैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादनायाऽऽह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से ,
जे भोयए णितिए माहणाणं ।
ते पुन्नखंधे सुमहज्जणित्ता ,
भवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। षट्कर्माभिरता वेदाध्यापकाः शौचाचारपरतया नित्यं स्नायिनो ब्रह्मचारिणः स्नातकाः, तेषां सहस्रद्वयं नित्यं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपार्जितपुण्यस्कन्धाः सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो भवन्तीत्येवंभूतो वेदवाद इति॥४३॥

अधुनाऽऽर्द्रककुमार एतद् दूषयितुमाह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से ,

जे भोयए णितिए कुलालयाणं ।
से गच्छती लोलुवसंपगाढे,
तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥ ४४ ॥

स्नातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति । किंभूतानाम् ?, कुलानि गृहाणि, आमिषान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटा मार्जाराः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः । यदि वा-कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्ककाणामालयो येषां ते कुलालयास्ते । निन्द्यजीविकोपगतानामेवंभूतानां यो सहस्रद्वयं भोजयेत्सः सपात्रनिक्षिप्तदानो गच्छति बहुवेदनासु गतिषु । किंभूतः सन् ?, लोलुपैरामिषपरैः गृद्धैः रससातागौरवाद्युपपन्नैः जिह्वेन्द्रियवशगैः संप्रगाढो व्याप्तः । यदि वा-किंभूते नरके याति ?, लोलुपैरामिषगृध्नुभिरसुमद्भिर्व्याप्तो यो नरकस्तस्मिन्निति । किंभूतश्चासौ दाता ?, नरकाभिसेवी भवति । तद्दर्शयति-तीव्रोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनादिरूपः, स विद्यते यस्यासौ तीव्राभितापी । इत्येवंभूतवेदनाभिभूतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावदप्रतिष्ठाननरकाधिवासी भवतीति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्म दुगंछमाणा,
वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
एगं वि जे भोययती असीलं,
णिओ णिसं जाति कुओऽसुरेहिं ? ॥ ४५ ॥

दया प्राणिषु कृपा, तया वरः प्रधानो यो धर्मस्तमेव धर्मं, जुगुप्समानो निन्दन्; तथा-वधं प्राण्युपमर्दमावहतीति वधावहस्तं तथाभूतं धर्मं, प्रशंसन् स्तुवन्, एकमप्यशीलं निर्वृत्तं, षड्जीवकायोपमर्देन यो भोजयेत्, किं पुनः प्रभूतान् ? । नृपो राजन्यो वा यः कश्चिन्मूढमतिर्धार्मिकमात्मानं मन्यमानः स वराको निशेव नित्यान्धकारत्वान्निशा नरकभूमिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्यधमदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ? । तथा-कर्मवशादसुमतां विचित्रजातिगमनाज्जातेरशाश्वतत्वम्, अतो न जातिमदो विधेय इति । यदपि कैश्चिदुच्यते यथा-ब्राह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गताः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, इति । एतदप्यप्रमाणत्वादतिफल्गुप्रायम् । तदभ्युपगमे च न विशेषो वर्णानां स्यात् । एकस्मात्प्रसूतेर्बृहच्छाखाप्रतिशाखाप्रभूतपनसोदुम्बरादिफलवद् ब्रह्मणो वा मुखादेरवयवानां चातुर्वर्ण्यावाप्तिः स्यात्, न चैतदिष्यते भवद्भिः । तथा-यदि ब्राह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः, साम्प्रतं किं न जायते ? । अथ युगादावेतदित्येवं सति, दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यादिति । तथा यदि कैश्चिदभ्यधायि सर्वज्ञनिक्षेपावसरे, तद्यथा-सर्वज्ञरहितोऽतीतः कालः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत् । एवं च भवतेतदपि शक्यते वक्तुम्-यथा नातीतः कालो ब्रह्ममुखादिविनिर्गतचातुर्वर्ण्यसमन्वितः, कालत्वाद्वर्तमानकालवत् । भवति च विशेषे पक्षीकृते सामान्यहेतुरित्यतः प्रतिज्ञार्थैकदेशासिद्धता नाशङ्कनीयेति । जातेश्चानित्यत्वं युष्मत्सिद्धान्त एवाभिहितम् । तद्यथा-'शृगालो वा एष जायते यः स पुरीषो दह्यते' इत्यादिना । तथा-"सद्यः पतति मांसेन, लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी" ॥ १ ॥ इत्यादिलोके चावश्यंभावी जातिपातः । यत उक्तम्-" कायिकैः कर्मणां दोषै-र्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां, मानसैरन्त्यजातिताम् " ॥ १ ॥ इत्यादिगुणैरप्येवंविधैर्न ब्राह्मणत्वं युज्यते । तद्यथा-" षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः " ॥ १ ॥ इत्यादि वेदोक्तत्वान्नायं दोष इति चेत् । नन्विदमभिहितमेव-" न हिंस्यात्सर्वा भूतानि " इत्यतः पूर्वोत्तरविरोधः । तथा-" आततायिनमायान्त-मपि वेदान्तगं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीया-न्न तेन ब्रह्महा भवेत् " ॥ १ ॥ तथा-" शूद्रं हत्वा प्राणायामं जपेत्, अपहसितं वा कुर्यात्, यत्किञ्चिद्वा दद्यात्, तथा-"नास्थिजन्तूनां शकटभरं मारयित्वा ब्राह्मणं भोजयेत् " इत्येवमादिका देशना विद्वज्जनमनांसि न रञ्जयतीत्यतोऽत्यर्थमसमञ्जसमिव लक्ष्यते युष्मद्दर्शनमिति ॥ ४५ ॥

(१०) तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतब्राह्मणविवादं भगवदन्तिकं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकदण्डिनोऽन्तराले एवमूचुः । तद्यथा-भो आर्द्रककुमार ! शोभनं कृतं भवता यदेते सर्वारम्भप्रवृत्ता गृहस्थाः शब्दादिविषयपरायणाः पिशिताशनेन राक्षसकल्पा द्विजातयो निराकृताः; तत्सांप्रतमस्मत्सिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा चावधारय । तद्यथा-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, "प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कार-स्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्च-(तन्मात्राणि ते-) भ्यः पञ्च भूतानि" ॥ १ ॥ तथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । एतावद्भिस्तैरप्याश्रितमतः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानादेव मोक्षावाप्तिरित्यतोऽस्मत्सिद्धान्त एव श्रेयानापर इति । तथा न युष्मत्सिद्धान्तोऽतिदूरेण भिद्यते इति ।

एतद्दर्शयितुमाह—

इहओ वि धम्मम्मि समुट्ठियामो,
अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं ।
आयारसीले वुइएऽह नाणं,
ण संपरायम्मि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मद्धर्मो, भवदीयश्चार्हतः, स उभयरूपोऽपि कथंचित्समानः । तथाहि-युष्माकमपि जीवास्तित्वे सति पुण्यपापबन्धमोक्षसद्भावः, न लौकायतिकानामिव तदभावे प्रवृत्तिः, नापि बौद्धानामिव सर्वाधारभूतस्यान्तरात्मन एवाभावः । तथाऽस्माकमपि पञ्च यमा अहिंसादयः, भवतां च त एव पञ्च महाव्रतरूपाः । तथेन्द्रियनोइन्द्रियनियमोऽप्यावयोस्तुल्य एव । तदेवमुभयास्मिन्नपि धर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता यूयं, वयं च, तस्मादस्मिन् धर्मे सुष्ठु स्थिताः, पूर्वस्मिन् काले, वर्तमाने, एष्ये च, यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वोढारः । न पुनरन्ये यथा भूतेश्वरयागविधानेन प्रव्रज्यां मुक्तवन्तो, मुञ्चन्ति, मोक्ष्यन्ति चेति । तथाऽऽचारप्रधानं शीलमुक्तं यमनियमलक्षणं न फल्गुवत् कुहकाजीवनरूपम्, अथानन्तरं ज्ञानं च मोक्षाङ्गतयाऽभिहितं, तच्च श्रुतज्ञानं, केवलाख्यं च, यथास्वमावयोर्दर्शने प्रसिद्धम् । तथा-संपर्यन्ते स्वकर्मभिर्भ्राम्यन्ते प्राणिनो यस्मिन्स संपरायः संसारः, तस्मिन्नावयोर्न विशेषोऽस्ति । तथाहि-यथा भवतां कारणे कार्यं नैकान्तेनासदुत्पद्यते, अस्माकमपि तथैव; द्रव्यात्मतया नित्यत्वं भवद्भिरप्याश्रितमेव । तथोत्पादविनाशावपि युष्मदभिप्रेतौ, आविर्भावतिरोभावाश्रयणादस्माकमपीति ॥ ४६ ॥

पुनरपि तथैवैकदण्डिनः सांसारिकजीवपदार्थसाम्यापादनयाऽऽहुः—

अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं,

सणातणं अक्खयमव्वयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो से ,
चंदो व्व ताराहिँ समत्थरूवे ॥ ४७ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो जीवः, तं यथा भवन्तोऽभ्युपगतवन्तस्तथा वयमपि । तमेव विशिनष्टि-अमूर्त्तत्वादव्यक्तं रूपमस्यासावव्यक्तरूपः, तथा करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवतया स्वतोऽवस्थानात् । तथा-महान्तं लोकव्यापिनं,तथा-सनातनं शाश्वतं, द्रव्यार्थतया नित्यं,नानाविधगतिसंभवेऽपि चैतन्यलक्षणात्मस्वरूपस्याप्रच्युतेः । तथा-अक्षयं केनचित्प्रदेशानां खण्डशः कर्तुमशक्यत्वात् । तथा-अव्ययम्,अनन्तेनापि कालेनैकस्यापि तत्प्रदेशस्य व्ययाभावात् । तथा-सर्वेष्वपि भूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं सर्वतः सामस्त्यादिंशत्वादसावात्मा भवति । क इव ?, चन्द्र इव शशीव,ताराभिरश्विन्यादिभिर्नक्षत्रैर्यथा समस्तरूपः संपूर्णः संबन्धमुपयात्येवमसावपि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णः संबन्धमुपयाति, तदेवमेकदण्डिभिर्दर्शनसाम्यापादनेन सामवादपुर्वकं स्वदर्शनारोपणार्थमार्द्रककुमारोऽभिहितः, यच्चैतानि संपूर्णानि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारयोर्विद्यन्ते, स एव पक्षः सश्रुतिकेन समाश्रयितव्यो भवति । एतानि चास्मदीय एव दर्शने यथोक्तानि सन्ति नाईते, अतो भवताऽप्यस्मद्दर्शनमेवाभ्युपगन्तव्यमिति ॥ ४७ ॥

तदेवमभिहितः सन्नार्द्रककुमारस्तदुत्तरदानायाऽऽह—

एवं ण मिज्जंति ण संसरंति ,
न माहणा खत्तिय वेसपेस्सा ।
कीमा य पक्खी य सरीसिवा य,
नरा य सव्वे तह देवलोए ॥ ४८ ॥

यदि वा प्राक्तनश्लोकः "अव्वत्तरूवं" इत्यादिको वेदान्तवाद्यात्माद्वैतमतेन व्याख्यातव्यः । तथाहि-ते एकमेवाव्यक्तं पुरुषमात्मानं महान्तमाकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातनमनन्तमक्षयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वतः सर्वात्मतयाऽसौ व्यवस्थित इत्येवमभ्युपगतवन्तः । यथा-सर्वास्वपि तारास्वेक एव चन्द्रः संबन्धमुपयात्येवं चासावपि,इत्यस्य चोत्तरदानायाह-(एवमित्यादि) एवमिति । तथा-भवतां दर्शने एकान्तेनैव नित्योऽविकार्यात्माऽभ्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः सर्वेऽपि नित्याः । तथा च सति कुतो बन्धमोक्षसद्भावः? । बन्धाभावाच्च न नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणश्चतुर्गतिकः संसारः । मोक्षाभावाच्च निरर्थकं व्रतग्रहणं भवतां , पञ्चरात्रोपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्चेत्येवं च यदुच्यते भवता यथाऽऽवयोस्तुल्यो धर्म इति । तदयुक्तमुक्तम् । तथा-संसारान्तर्गतानां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-भवतां द्रव्यैकत्ववादिनां सर्वस्य प्रधानादभिन्नत्वात्कारणमेवास्ति, कार्यं च कारणाभिन्नत्वात्सर्वात्मना न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपर्यायोभयवादिनां कारणे कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकतया । अपि च-अस्माकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमेव सदित्युच्यते; भवतां तु ध्रौव्यं युक्तमेव सदिति । यावप्याविर्भावतिरोभावौ भवतोच्येते, तावपि नोत्पादविनाशावन्तरेण भवितुमर्हतः । तदयमैहिकामुष्मिकचिन्तायामावयोर्न कथञ्चित्साम्यम् । किंच-सर्वव्यापित्वे सर्वात्मनामविकारित्वे चात्माद्वैते वाभ्युपगम्यमाने नारकतिर्यङ्नराऽमरभेदेन बालकुमारकसुभगदुर्भगाऽऽढ्यदरिद्रादिभेदेन वा न मीयेरन्न परिच्छिद्येरन्, नापि स्वकर्मचोदिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाद्वा । तथा-न ब्राह्मणाः, न क्षत्रियाः, न वैश्याः, न प्रेष्या न शूद्राः,नापि कीटपक्षिसरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाश्चेत्येवं नानागतिभेदे नो भिद्येरन् । अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यात्माद्वैतवादोऽप्यायाति,अतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते । तथाः शरीरत्वक्पर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्गुणविज्ञानोपलब्धेरिति स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, असर्वज्ञप्रणीतत्वात्, असर्वज्ञप्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादित्येवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावनं दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं ,
कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा ,
संसारघोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं,चराचरं वा लोकम्, अज्ञात्वा केवलेन दिव्यज्ञानावभासेनेहास्मिन् जगति,ये तीर्थिका अजानाना अविद्वांसो धर्मं दुर्गतिगमनमार्गस्यार्गलाभूतं,कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते स्वतो नष्टा अपरानपि नो त्रायन्ते । क्व?, घोरे भयानके संसारसागरे(अणोरपारे त्ति)अर्वाग्भागपरभागवर्जितेऽनाद्यनन्त इत्येवंभूते संसारार्णवे आत्मानं प्रक्षिपन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥

साम्प्रतं सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टॄणां गुणानाविर्भावयन्नाह—

लोयं विजाणंतिह केवलेणं ,
पुन्नेण नाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे ऊ,
तारंति अप्पाण परं च तिन्ना ॥ ५० ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवलालोकेन केवलिनो विविधमनेकप्रकारं जानन्ति विदन्तीहास्मिन् जगति प्रकर्षेण जानाति प्रज्ञः, पुण्यहेतुत्वात् पुण्यम् । तेन तथाभूतेन ज्ञानेन समाधिना च युक्ताः,समस्तं धर्मं श्रुतचारित्ररूपं, ये तु परहितैषिणः, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति,ते महापुरुषास्ततः संसारसागरं तीर्णाः, परं च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति केवलिनो लोकं जानन्तीत्युक्ते यत्पुनर्ज्ञानेनेत्युक्तं तद् बौद्धमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं भवति-यथाऽऽदेशिकः सम्यङ्मार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकान्ताराद्विवक्षितदेशप्रापणेन निस्तारयत्येवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च संसारकान्ताराान्निस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्द्रककुमार एवाह-

जे गरहियं ठाणमिहावसंति ,
जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहमंतं तु समं मईए ,
अहाउसो ! विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

असर्वज्ञप्ररूपणमेवंभूतं भवति । तद्यथा-ये केचित्संसारान्तर्वर्तिनोऽशुभकर्मणोपेताः समन्विताः तद्विपाकसहायाः,गर्हितं निन्दितं जुगुप्सितं निर्विवेकिजनाचरितं, स्थानं पदं कर्मानुष्ठानरूपमिहास्मिन् जगति, आसेवन्ते जीविकाहेतुमाश्रयन्ति, तथा च-ये सदुपदेशवर्तिनो लोकेऽस्मिन् चरणेन विरतिपरिणामरूपेणोपेताः समन्विताः,तेषामुभयेषामपि, यदनुष्ठानं शोभनाशोभनकरम-

पि सन् तदसर्वज्ञैरर्वाग्दर्शिभिः समं सदृशं तुल्यमुदाहृतमुपन्यस्तं,स्वमत्या स्वाभिप्रायेण, न पुनर्यथावस्थितपदार्थनिरूपणेन । अथवा-आयुष्मन् ! हे एकदण्डिन् ! विपर्यासमेव विपर्ययमेवो-दाहरेदसर्वज्ञो यदशोभनं तच्छोभनत्वेन; इतरस्त्वितरथेति । यदि वा(विपर्यास इति)मत्तोन्मत्तप्रलापवदित्युक्तं भवतीति।५१।

(११) तदेवमेकदण्डिमतं निराकृत्याऽऽर्द्रककुमारो यावद् भगवदन्तिकं व्रजति तावद् हस्तितापसाः परिवृत्य तस्थुरिदं च प्रोचुरित्याह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
बाणेण मारेउ महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयट्टयाए,
वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥ ५२ ॥

हस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसाः, तेषां मध्ये कश्चिद्वृद्धतम एतदुवाच । तद्यथा-भो आर्द्रककुमार ! समुतिकेन सदाऽऽल्पबहुत्वमालोचनीयम्, तत्र ये अमी तापसाः कन्दमूलफलाशिनस्ते बहूनां सत्त्वानां स्थावराणां तदाश्रितानां चोडुम्बरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते। येऽपि च भैक्ष्येणात्मानं वर्तयन्ति तेऽप्याशंसादोषदूषिता इतश्चेतश्चाटाट्यमानाः पिपीलिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते। वयं तु संवत्सरेणापि, अपिशब्दात् षण्मासेन चैकैकं हस्तिनं महाकायं बाणप्रहारेण व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो वृत्तिं वर्तनं तदामिषेण वर्षमेकं यावत्कल्पयामः। तदेवं वयमेकसत्त्वोपघातेन प्रभूततरसत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ ५२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽर्द्रककुमारो हस्तितापसमतं दूषयितुमाह-

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेऽलग्गा य,
सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

संवत्सरेणैकैकं प्राणिनं घ्नन्तोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषा एते भवन्ति। आशंसादोषश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्ववधपरायणानामनिदुष्टो भवति। साधूनां तु-सूर्यरश्मिप्रकाशितवीथिषु युगमात्रदृष्ट्या गच्छतामीर्यासमितिसमितानां द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहारमन्वेषयतां लाभालाभसमवृत्तीनां कुतस्त्य आशंसादोषः ?। पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो चेत्यर्थः। स्तोकसत्त्वोपघातेनैवंभूतेन दोषाभावो भवताऽभ्युपगम्यते,तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्राणिनो घ्नन्तीति शेषाणां च जन्तूनां क्षेत्रकालव्यवहितानां भवदभिप्रायेण वधे न प्रवृत्ता यत एवं तस्मात्कारणात्स्यादेवं स्तोकमतिस्वल्पं यस्माद् घ्नन्ति ततस्तेऽपि दोषरहिता इति ॥५३॥

साम्प्रतमार्द्रककुमारो हस्तितापसान्दूषयित्वा तदुपदेष्टारं दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता समणव्वयेसु ।
आयाऽहिए से पुरिसे अणज्जे,
ण तारिसे केवलिणो भवंति ॥ ५४ ॥

श्रमणानां यतीनां व्रतानि श्रमणव्रतानि, तेष्वपि व्यवस्थिताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये घ्नन्ति, ये चोपदिशन्ति, तेऽनार्याः, असत्कर्मानुष्ठायित्वात्। तथा-आत्मानं परेषां चाहितास्ते पुरुषाः बहुवचनमार्षत्वात्। न तादृशाः केवलिनो भवन्ति। तथाहि-एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पिशिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाशमुपयान्ति, ते तैः प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः। न च तैर्निरवद्योपायो माधुकर्या वृत्त्या यो भवति स दृष्टः, अतस्तेन केवलमकेवलिनो विशिष्टविवेकरहिताश्चेति ।

तदेवं हस्तितापसान्निराकृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्रककुमारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्टूयमानं तं समुपलभ्य अभिनवगृहीतः संपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती समुत्पन्नस्तथाविधविवेकोचितं यद् यथाऽऽर्द्रककुमारोऽयमपहताशेषतीर्थिको निष्प्रत्यूहं सर्वज्ञपादपद्मान्तिकं वन्दनाय व्रजति, तथाऽहमपि यद्यप्यपगताशेषबन्धनः स्यां तत एनं महापुरुषमार्द्रककुमारं प्रतिबुद्धतस्करपञ्चशतोपेतं, तथा-प्रतिबोधितानेकवादिगणसमन्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं गत्वा वन्दामीत्येवं यावदसौ हस्ती कृतसंकल्पस्तावत्त्रटत्रटदिति त्रुटितसमस्तबन्धनः सन्नार्द्रककुमाराभिमुखं प्रदत्तकर्णतालस्तथोर्ध्वप्रसारितदीर्घकरः प्रधावितः, तदनन्तरं लोकेन कृतहाहारवगर्भकलकलेन पूत्कृतम्। यथा-' धिक् कष्टं हतोऽयमार्द्रककुमारो महर्षिर्महापुरुषः ' तदेवं प्रलपन्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः, असावपि वनहस्ती समागत्याऽऽर्द्रककुमारसमीपं भक्तिसंभ्रमावनतप्रभागोत्तमाङ्गो निवृत्तकर्णतालः त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताग्रभागः स्पृष्टकराग्रतश्चरणयुगलः सुप्रणिहितमनाः प्रणिपत्य महर्षिवनाभिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रककुमारतपोनुभावाद्बन्धनोन्मुक्तं महागजमुपलभ्य स पौरजनपदः श्रेणिकराजस्त-मार्द्रककुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्याभिवन्द्य च प्रोवाच-भगवन् ! आश्चर्यमिदं, यदसौ वनहस्ती तादृग्विधाच्छृङ्खलोच्छेद्याद्बृहद्बन्धनाद्युष्मत्तपःप्रभावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्करमित्येवमभिहिते,आर्द्रकुमारः प्रत्याह-भोः श्रेणिक महाराज ! नैतद्दुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनान्मुक्तः। अपि त्वेतद्दुष्करं यत्स्नेहपाशमोचनं,एतच्च प्राङ्निर्युक्तिगाथया प्रदर्शितम्। सा चेयम्-
"ण दुक्करं वारणपासमोयणं,गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं !॥ जहा उ तत्थाऽऽवलिएण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं" ॥१॥
एवमार्द्रककुमारेण राजानं प्रतिबोध्य तीर्थकरान्तिकं गत्वाऽभिवन्द्य च भगवन्तं भक्तिभरनिर्भरं आसाञ्चक्रे। भगवानपि तानि पञ्चापि शतानि प्रव्राज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्य इति ॥५४॥

साम्प्रतं समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह-

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं,
अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं च महाभवोघं,
आयाणवं समुदाहरेज्जा ॥ ५५ ॥ त्ति बेमि ।

बुद्धोऽवगततत्त्वः सर्वज्ञो वीरवर्द्धमानस्वामी,तस्य,आज्ञया तदाऽऽगमेन,इमं समाधिं सद्धर्मावाप्तिलक्षणमवाप्यास्मिंश्च समाधौ सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैश्च प्रणिहितेन्द्रियो न मिथ्यादृष्टिमनुमन्यते, केवलं तदाचरणजुगुप्सां त्रिविधेनापि करणेन न विधत्ते। स एवंभूत आत्मनः परेषां च त्राणशीलः, तायी वा गमनशीलो

मोक्षं प्रति, स एवं भूतस्तरीतुमतिप्रकृष्य समुद्रमिव दुस्तरं महाभवौघं मोक्षार्थमादीयत इत्यादानं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान् साधुः स च सम्यग्दर्शनेन सता परतीर्थिकतपःसमृद्ध्यादिदर्शनेन मौनीन्द्राद्दर्शनान्न प्रच्यवते; सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावादुकवादिनिराकरणेनापरेषां यथावस्थितमोक्षमार्गमाविर्भावयतीति; सम्यक्चारित्रेण तु समस्तभूतग्रामहितैषितया निरुद्धाश्रवद्वारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभावोपार्जितं कर्म निर्जरयति । स्वतोऽन्येषां चैवंप्रकारमेवंधर्ममुपाहरेद्ग्राहयेद्गृणीयादित्यर्थः । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति ॥ ५५ ॥ सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ॥

अद्दग (य) पुर–आर्द्रकपुर–न० । नगरभेदे, यत्र आर्द्रककुमार उत्पन्नः । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अद्दचंदण–आर्द्रचन्दन–न० । सरसचन्दने , औ० । " अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसिसिलिंधपुप्फप्पगासाइं सुहुमाइं असंकिलिट्ठाइं वत्थाइं पवरपरिहिया " इति । आर्द्रेण सरसेन चन्दनेनाऽनुलिप्तं गात्रं येषां ते आर्द्रचन्दनानुलिप्तगात्राः । (सुपुरुषवर्णकः) औ० ।

अद्दण–अर्दन–पुं० । अर्द्–ल्युट् । गतौ , पीडायां , वधे , याचने च । वाच० । स्वनामख्याते राजनि च, येन पद्मावती प्रार्थयित्वा माणिक्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । ती० ५१ कल्प ।

अद्दणो (एणो)–देशी–आकुले , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्दव अद्रव–त्रि० । निगालिते, आव० ६ अ० ।

अद्दव्व–अद्रव्य–न० । रूप्याद्युचितद्रव्याभावे, पञ्चा० ३ विव० ।

अद्दहण–आद्रहण–न० । आ–द्रुह–भावे ल्युट् । उत्क्वाथने, करणे ल्युट् । द्रव्यपाकायाग्नावुत्ताप्यमाने उदकतैलादौ, उपा० ३ अ० ।

अद्दा–आर्द्रा–स्त्री० । रुद्रदेवताके नक्षत्रभेदे, अनु० । " दो अद्दाओ " स्था० २ ठा० ३ उ० । " अद्दा खलु नक्खत्ते " सू० प्र० १० पाहु० । ' अद्दा णक्खत्ते एगतारे ' पं० सं० १ द्वार ।

अद्दाइय- आदर्शित–न० । आदर्शनेन पवित्रीकृते, बृ० १ उ० ।

अद्दाओ–देशी–दर्पणे , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्दाग–आदर्श–पुं० । दर्पणे, भ० ।

अद्दायं पेहमाणे मणुस्से किं अद्दायं पेहति, अत्ताणं पेहति, पलिभागं पेहति ?। गोयमा ! णो अद्दायं पेहति, णो अत्ताणं, पलिभागं पेहति । एवं एतेणं अभिलावेणं असिं मणिं दुद्धं पाणं तेल्लं फाणियरसं ।

(अद्दायमिति) आदर्शं (पेहमाणे त्ति) प्रेक्ष्यमाणो मनुष्यः किमादर्शं प्रेक्षते?, आहोस्विदात्मानम्?। अत्रात्मशब्देन शरीरमभिगृह्यते। उत पलिभागमिति ?। प्रतिभागं प्रतिबिम्बम् । भगवानाह–आदर्शं तावत्प्रेक्षत एव, तस्य स्फुटस्वरूपस्य यथावस्थिततया तेनोपलम्भनात् । आत्मानं आत्मशरीरं पुनर्न पश्यति, तस्य तत्राभावात् । स्वशरीरं हि आत्मनि व्यवस्थितं नादर्शे, ततः कथमात्मशरीरं तत्र च पश्येत् इति ? प्रतिभागं स्वशरीरस्य प्रतिबिम्बं पश्यति । अथ किमात्मकः प्रतिबिम्बः?। उच्यते–छायापुद्गलात्मकम् । तथाहि-सर्वमैन्द्रियकं वस्तु स्थूलं चयापचयधर्मकं, रश्मिवच्च; रश्मय इति छायापुद्गला व्यवह्रियन्ते । ते च छायापुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः , सर्वस्यापि स्थूलवस्तुनश्छायाया अध्यक्षतः प्रतिप्राणिप्रतीतेः । अन्यच्च–यदि स्थूलवस्तु व्यवहिततया, दूरस्थिततया वा नादर्शादिष्ववगाढरश्मि भवति, ततो न तस्मात्तद् दृश्यते, तस्मादवसीयते–सन्ति छायापुद्गला इति । ते च छायापुद्गलास्तत्तत्सामग्रीवशाद्विचित्रपरिणमनस्वभावाः । तथाहि–ते छायापुद्गला दिवा वस्तुन्यभास्वरप्रतिगताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमाबिभ्राणाः श्यामरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाभाः, एतच्च प्रसरति दिवसे सूर्यकरनिकरम् , निशि तु चन्द्रोद्योते प्रत्यक्षत एव सिद्धः। त एव छायापरमाणव आदर्शादिभास्वरद्रव्यप्रतिगताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमादधाना यादृग्वर्णाः स्वसंबन्धिनि द्रव्ये कृष्णो, नीलः, सितः, पीतो वा, तदाभाः परिणमन्ते । एतच्चादर्शादिष्वध्यक्षतः सिद्धम् । ततोऽधिकृतसूत्रेऽपि ये मनुष्यस्य छायापरमाणव आदर्शादिकमुपसंक्रम्य स्वदेहवर्णाभतया, स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते, तेषां तत्रोपलब्धिर्न शरीरस्य, ते च प्रतिबिम्बशब्दवाच्याः । अत उक्तं न शरीरं पश्यति , किन्तु प्रतिभागमिति । नैवैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम् ।

यत उक्तं आगमे–

" सामा उ दिवा छाया, अभासुरगता निसिं तु कालाभा ।
सा चेव भासुरगया , सदेहवन्ना मुणेयव्वा ॥ १ ॥
जे आदरिसं तत्तो , देहावयवा हवंति संकंता ।
तेसिं तत्थऽवलद्धी , पगासयोगा न इयरेसिं " ॥ २ ॥

एतन्मूलटीकाकारोऽप्याह–यस्मात्सर्वमेव हि ऐन्द्रियकं स्थूलं द्रव्यं चयापचयधर्मकं , रश्मिवच्च भवति , यतश्चादर्शादिषु छाया स्थूलस्य दृश्यतेऽवगाढरश्मिनः । न चादर्शे अनवगाढरश्मिनः स्थूलद्रव्यस्य कस्यचिद्दर्शनं भवति । न चान्तरितं दृश्यते किञ्चित् , अतिदूरस्थं वा इति ।

पलिभागं प्रतिभागं (पेहति) पश्यति । एवमसिमण्यादिविषयाण्यपि षट् सूत्राण्यपि भावनीयानि । सूत्रपाठोऽप्येवम्–" असिं देहमाणे मणूसे किं असिं देहइ , अत्ताणं देहइ , पलिभागं देहइ " इत्यादि । प्रज्ञा० १५ पद । स्था० । स्फटिकादिमणौ , नि० चू० १३ उ० । 'अणायार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे आदर्शे मुखप्रलोकनप्रस्तावेऽप्येतदुक्तम्)

अद्दागपसिण (न)–आदर्शप्रश्न–पुं० । प्रश्नविद्याभेदे, यया आदर्शे देवतावतारः क्रियते । एतद्वक्तव्यताप्रतिबद्धे प्रश्नव्याकरणानामष्टमेऽध्ययने च । परमिदानीं प्रश्नव्याकरणेषु एतदध्ययनं न दृश्यते । स्था० १० ठा० ।

अद्दागविज्जा–आदर्श विद्या–स्त्री० । विद्याविशेषे , ययाऽऽतुर आदर्शे प्रतिबिम्बितो परिमृज्यमानः प्रगुणो जायते । व्य० ५ उ० ।

अद्दागसमाण–आदर्शसमान–पुं० । आदर्शेन समानस्तुल्य इति श्रमणोपासकभेदे, स्था० । यो हि साधुभिः प्रज्ञाप्यमानानुत्सर्गापवादादीनागमिकान् भावान् यथावत्प्रतिपद्यते सन्निहितार्थानावर्शकवत्, स आदर्शसमानः । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अद्दामलग–आर्द्रामलक–न० । पीलुवृक्षसंबन्धिनि मधुरे, (इति संप्रदायः) ध० २ अधि० । पञ्चा० । " अद्दामलगप्पमाण सचित्तपुढविकायं गेण्हंति " नि० चू० १ उ० । शणवृक्षसंबन्धिनि मुकुरे , प्रव० ४ द्वा० ।

अद्दारिट्ठ–आर्द्रारिष्ट–पुं० । कोमलकाके, आ० म० प्र० ।

अद्दिय–अर्दित–त्रि० । पीडिते , उत्त० १० उ० ।

अद्दोहि (ण्)–अद्रोहिन्–त्रि० । कस्याऽप्यद्रोहके, ध० ३ अधि० ।

अद्ध–अर्द्ध–न० । "श्रद्धर्द्धिमूर्धाऽर्धेऽन्ते वा" । ८ । २ । ४१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य दत्वविकल्पनादात्र ढः प्रा० । समप्रविभागे, एकदेशे च । विशे० । "अर्द्धाऽङ्गुलसोलिको जेट्ठप्पमाणो असी भणिओ" । जं० ३ वक्ष० ।

अद्धंतो–देशी–पर्यन्ते , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्ध (द्धा) ण–अध्वन्–पुं० । प्राकृते–" पुंस्यन आणो राजवच्च" ८ । ३ । ५६ । इति सूत्रेण अनः स्थाने वा आण इत्यादेशः प्रा० । पथि , को० । मार्गे , ज्ञा० १४ अ० । नि० चू० ।

अद्धाणं पि य दुविहं, पंथो मग्गो य होइ नायव्वो ॥

अध्वा द्विविधः, तद्यथा-पन्थाः, मार्गश्च । पन्था नाम यत्र ग्रामनगरपल्लीव्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्ग्रामानुग्रामपरम्परयाऽवसितं भवति स ग्रामे मार्ग उच्यते । बृ० १ उ० । प्रयाणके, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अद्ध (द्धाण) कप्प–अध्वकल्प–पुं० । अध्वनि गृह्यमाणे कल्पे कमनीये आहारे, बृ० १ उ० । (' विहार ' शब्दे एतद्विधिर्द्रष्टव्यः)

अद्धकरिस–अर्द्धकर्ष–पुं० । पलस्याऽष्टमांशे, अनु० ।

अद्धकविट्ठ–अर्द्धकपित्थ–पुं० । अर्द्धकपित्थाकारवति , " अद्धकविट्ठसंठाणसंठियं " उत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपित्थस्यैव यत् संस्थानं तेन संस्थितमर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम् । सू० प्र० १८ पाहु० ।

अद्धकुल(ब)व–अर्द्धकुल(ड)व–पुं० । मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे , रा० ।

अद्धकोस–अर्द्धक्रोश–पुं० । धनुःसहस्रे, जं० ४ वक्ष० ।

अद्धक्खणं–देशी–प्रतीक्षणे , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धक्खिअं–देशी–संज्ञाकरणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धक्खि(च्छि)कडक्ख–अर्द्धाक्षिकटाक्ष–न० । अर्द्धं तिर्यग्वलितमक्षि येषु कटाक्षरूपेषु चेष्टितेषु ते । अर्द्धकटाक्षेषु , "अद्धच्छिकडक्खचिट्ठिएहिं लूसेमाणा ववेति " जी० ३ प्रति ।

अद्धक्खिय–अर्द्धाक्षिक–त्रि० । अर्द्धविकृतलोचने, महा० ३ अ० ।

अद्धखल्ला–अर्द्धखल्वा–स्त्री० । अर्धजङ्घां छादयन्त्यामुपानहि, बृ० ३ उ० ।

अद्धचंद–अर्द्धचन्द्र–पुं० । अर्द्धचन्द्राकारे सोपाने, ज्ञा० १ अ० । स० । सौधर्मकल्पेऽर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थितः । रा० ।

अद्धचक्कवाल–अर्द्धचक्रवाल–न० । गतिविशेषे, स्था० ७ ठा० ।

अद्धचक्कवाला–अर्द्धचक्रवाला–स्त्री० । अर्द्धवलयाकारायां श्रेणौ , स्था० ७ ठा० ।

अद्धछट्ठ–अर्द्धषष्ठ–त्रि० । सार्द्धेषु पञ्चसु, आ० म० प्र० ।

अद्धजंघा–देशी–मोचकाख्यपादत्राणे , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धजिण्ण–अर्द्धजीर्ण–त्रि० । जीर्णोऽजीर्णे, आ० म० द्वि० ।

अद्धजोयण–अर्द्धयोजन–न० । योजनस्यार्द्धमर्द्धयोजनम् । गव्यूतौ, बृ० ४ उ० ।

अद्धट्ठम–अर्द्धाष्टम–त्रि० । अर्द्धमष्टमं येषां तान्यर्द्धाष्टमानि । सार्द्धसप्तसु, ज्ञा० १ अ० । "अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं य विइक्कंताणं " स्था० ६ ठा० । सार्द्धसप्ताहोरात्राधिकेषु-अतीतेषु , कर्म० १ कर्म० ।

अद्धणाराय–अर्द्धनाराच–न० । अर्द्धं नाराचमुपयतो मर्कटबन्धो यत्र तदर्धनाराचम् । मर्कटैकदेशबन्धनद्वितीयपार्श्वकीलिकासंबन्धरूपे चतुर्थसंहनने, स० । यत्र हि एकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीये च पार्श्वे कीलिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० । पं० सं० । कर्म० । तं० । स्था० ।

अद्धतुला–अर्द्धतुला–स्त्री० । तुलाप्रमाणस्यार्द्धे, अनु० ।

अद्धद्ध–अर्द्धार्द्ध–न० । चतुर्भागे, बृ० ३ उ० ।

अद्धद्धा–अद्धाद्धा–स्त्री० । अद्धाया अद्धा अद्धाद्धा । दिवसस्य रजन्या वा एकदेशे प्रहरादौ , स्था० १० ठा० ।

अद्धद्धामीसय–अद्धाद्धामिश्रक–न० । अद्धाद्धाविषयं मिश्रकं सत्याऽसत्यमद्धाद्धामिश्रकम् । सत्यमृषाभेदे, यथा कश्चित्कंचिन्न प्रयोजने प्रहरमात्र एव मध्याह्नमित्याह । स्था० १० ठा० ।

अद्धपंचममुहुत्त–अर्धपञ्चममुहूर्त–पुं० । अर्द्धपञ्चमाश्च ते मुहूर्ताश्च अर्द्धपञ्चममुहूर्ताः । नवसु घटिकासु अर्द्धपञ्चमा मुहूर्ता यस्य । ६ ब० । नवघटिकापरिमिते, "जया णं भंते ! उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स राईए वा पोरिसी भवइ" भ० ११ श० ११ उ० ।

अद्धपल–अर्धपल–न० । कर्षद्वये , अनु० ।

अद्धपलिअंका–अर्धपर्य(ल्य)ङ्का–स्त्री० । करावेकपादनिवेशनलक्षणायां लक्षणायाम्, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अद्धपेडा–अर्द्धपेटा–स्त्री० । पेटाया अर्द्धमर्द्धपेटा । पेटायाः समखण्डे । अर्द्धपेटेवार्द्धपेटा । पेटार्द्धसमानगमनलक्षणे गोचरभेदे, पञ्चा० १८ विव० । दशा० । " अद्धपेडा इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी " पं० व० २ द्वा० । अर्द्धपेटाऽप्येवमेव, नवरमर्द्धपेटासदृशं स्थानयोर्द्विगृहयं संबद्धयोर्गृहश्रेणयोरेव पर्यटति , बृ० १ उ० । स्था० । उत्त० । ध० । ग० ।

अद्धभरह–अर्द्धभरत–पुं० । भरतस्यार्द्धमर्द्धभरतम् । भरतार्द्धे, "अद्धभरहस्स सामिका धीरकित्ति पुरिसा" प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अद्धभरहप्पमाणमेत्त–अर्द्धभरतप्रमाणमात्र–त्रि० । अर्द्धभरतस्य यत्प्रमाणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । सातिरेकत्रिषष्ट्यधिकयोजनशतद्वयमिते , " अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिणयं विसट्टमाणिं करेत्तए " (वृश्चिक आशीविषो वा) स्था० ४ ठा० ४ उ० ॥

अद्धमागह–अर्द्धमागध–न० । मगधार्द्धविषयभाषानिबद्धे, अष्टादशदेशीभाषानियते च । नि० चू० ११ उ० ।

अद्धमागही–अर्धमागधी–स्त्री० । "रसोर्लशौ" (८।४।२८७) मागध्यामित्यादिमागधीभाषालक्षणेनापरिपूर्णायां प्राकृतभाषा-

लक्षणबहुलायां भाषायाम, औ० । प्राकृतादीनां षण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा " रसोर्लशौ " मागध्यामित्यादिलक्षणवती, सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाऽर्द्धमागधीत्युच्यते। "भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ " इति द्वाविंशो बुद्धातिशयः। स० ३४ सम० । विपा०। प्रश्ना० । रा० । आचा० । आ० म०। "अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिज्जइ " भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह-"प्राकृतसंस्कृतमागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च। षष्ठोऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादपभ्रंशः" ॥१॥ भ० ५ श० ४ उ० ।

अद्धमास-अर्द्धमास-पुं०। अर्धं मासस्य। एकदे० त० स०। पञ्चदशाहात्मके मासस्यार्द्धरूपे पक्षात्मके काले, प्रश्न० १ संव० द्वा०।

अद्धमासिय-अर्धमासिक-त्रि०। पाक्षिके , " अद्धमासिए कत्तरिमुंडे त्ति " यदि कर्त्तर्या कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तं कारणीयम, क्षुरकर्तर्योश्च लोचे प्रायश्चित्तम । कल्प० ।

अद्धरत्तकालसमय-अर्धरात्रकालसमय-पुं०। समयः समाचारोऽपि भवतीति कालेन विशेषितः । कालरूपः समयः कालसमयः । स चाऽनर्द्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यतोऽर्द्धरात्रकालसमयः । निशीथे रात्रेर्मध्यकाले, " अद्धरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी " इत्यादि । भ० ११ श० ११ उ० ।

अद्धलव-अर्धलव-पुं०। लवस्य समेंऽशे , ज्यो० १ पाहु० ।

अद्धवित्रआरं-दश-मण्डने , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धवेयाली-अर्धवैताली-स्त्री० । वैताल्या विद्याया उपशामकविद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अद्धसंकासिया-अर्धसाङ्काशिका-स्त्री० । देवलसुतराजस्य प्रव्रजितस्य प्रव्रजितायामेव देव्यामुत्पन्नायां पुत्र्याम, आव० ४ अ० । आ० चू० ('सव्वकामविरसया' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अद्धसम-अर्धसम-न०। एकतरसमे वृत्ते , यत्र पादा अक्षराणि वा समानि, अथवा यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समत्वम्। (न सर्वत्र) स्था० ७ ठा० ।

अद्धहार-अर्धहार-पुं०। नवसरिके कण्ठाभरणभेदे, रा०। ज्ञा० । जी० । वि० । जं० । जीवा० । आचा० । भ० । औ० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च। जी० ३ प्रति० । तत्रार्द्धहारद्वीपे, अर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाभद्रौ देवौ अर्द्धहारसमुद्रे अर्द्धहारवरार्द्धहारमहावरौ " जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारभद्द-अर्धहारभद्र-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारमहाभद्द-अर्धहारमहाभद्र-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारमहावर-अर्धहारमहावर-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधिपतौ देवे, अर्द्धहारवरसमुद्राधिपतौ देवे च। जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवर-अर्धहारवर-पुं०। स्वनामख्याते द्वीपभेदे , समुद्रभेदे च। तत्र अर्द्धहारवरार्द्धहारवरमहावरौ च देवौ वसतः। जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरभद्द-अर्धहारवरभद्र-पुं० । अर्द्धहारवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरमहावर-अर्धहारवरमहावर-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरवर-अर्धहारवरवर-पुं० । अर्द्धहारवरसमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभास-अर्धहारावभास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च। तत्र अर्द्धहारावभासे द्वीपे अर्द्धहारावभासभद्रार्द्धहारावभासमहाभद्रौ , अर्द्धहारावभासे समुद्रे अर्द्धहारावभासवरार्द्धहारावभासमहावरौ देवौ वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासभद्द-अर्धहारावभासभद्र-पुं० । अर्द्धहारावभासद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासमहाभद्द-अर्धहारावभासमहाभद्र-पुं० । अर्द्धहारावभासद्वीपाधिपतौ देवे , जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासमहावर-अर्धहारावभासमहावर-पुं० । अर्द्धहारावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासवर-अर्धहारावभासवर-पुं० । अर्द्धहारावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धा-अद्धा-स्त्री०। समयादिषु कालभेदेषु, संकेतादिवाचकोऽप्यस्ति । भ० ११ श० ११ उ० । अनु०। अवधिज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमलाभरूपायां लब्धौ, विशे० । अद्धा त्रिविधा-अतीताद्धा, वर्तमानाद्धा , अनागताद्धा च । कर्म० ५ कर्म० ।

अद्धाउय-अद्धायुष्-न० । अद्धा कालस्तत्प्रधानमायुः कर्मविशेषोऽद्धायुः । भवात्ययेऽपि कायात्ययेऽपि कालान्तरानुगामिति , स्था० २ ठा० ३ उ० । कायस्थितिरूपे आयुष्कर्मभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । यथा-मनुष्यायुः कस्याऽपि भवात्यय एव नागच्छति । "दोण्हं अद्धाउए पण्णत्ते । तं अद्धा-मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव " स्था० २ ठा० ३ उ०।

अद्धाकाल-अद्धाकाल-पुं०। अद्धासमयादयो विशेषाः, तद्रूपः कालोऽद्धाकालः । चन्द्रसूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्द्धतृतीयसमुद्रान्तर्वर्तिनि समयादौ कालभेदे , भ० ११ श० ११ उ० । विशे०। आ० म० । आ० चू० ।

अद्धाकालस्वरूपोपदर्शनार्थं विशेषावश्यकभाष्ये आह—

सूरकिरिया विसिट्ठो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।
अद्धाकालो भण्णई, समयक्खेत्तम्मि समयाई ॥ ४ ॥

सूरो भास्करः , तस्य क्रिया मेरोश्चतसृष्वपि दिक्षु प्रदक्षिणतोऽजस्रं भ्रमणलक्षणा; सूरस्योपलक्षणत्वाच्चन्द्रग्रहनक्षत्रताराणामपीत्थंभूता क्रिया गृह्यते, तया सूर्यादिक्रियया विशिष्टो विशेषितो ऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणे समयक्षेत्रे यः समयावलिकादिरर्थः प्रवर्तते, न परतः, सूर्यादिक्रियाऽभावात् , सोऽद्धाकालो भण्यते । क्रियैव परिणामवती कालो नान्य इति ये कालमपह्नुवते, तन्मतव्यवच्छेदार्थमाह-गोदोहादिक्रियासु निर-

पेक्षा, न खलु यथोक्ताद्धाकालः क्रियां गोदोहाद्यात्मिकामपेक्ष्य प्रवर्त्तते, किं तु सूर्यादिगतिम । तथाहि-यावद्यावत्क्षेत्रं स्वकिरणैर्दिनकरभ्रमन् द्योतयेत तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः। तस्य च दिवसस्य परमनिकृष्टोऽसंख्यतमो भागः समयः। ते चासंख्येया आवलिका इत्यादि । एवं च प्रवृत्तस्यास्य कालस्य सूर्यादिगतिक्रियां विहाय काऽन्या गोदोहादिक्रियापेक्षेति ?। के पुनरते समयादयोऽद्धाकालभेदा इत्याह निर्युक्तिकारः-"समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरजुगपलिया, सागरउस्सप्पिपरियट्टा ॥" विशे० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

से किं तं अद्धाकाले ?। अद्धाकाले अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—समयट्टयाए आवलियट्टयाए०जाव उस्सप्पिणीयट्ठयाए। एस णं सुदंसणा अद्धादोहारच्छेयणेणं छिज्जमाणा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छइ,सेत्तं समए । समयट्ठयाए असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगा आवलिय त्ति वुच्चइ, संखेज्जाओ आवलियाओ जहा सालिउद्देसए०जाव तं सागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥

(से किं तं अद्धाकाले इत्यादि)अद्धाकालोऽनेकविधः प्रज्ञप्तः। तद् यथा-(समयट्ठयाए त्ति)समयरूपोऽर्थः समयार्थस्तद्भावस्तत्ता, तया, समयभावेन इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । यावत् करणात् 'मुहुत्तट्ठयाए' इत्यादि दृश्यमिति । अथानन्तरोक्तस्य समयादिकालस्य स्वरूपमभिधातुमाह-(एस णमित्यादि) एषोऽनन्तरोक्तोत्सर्पिण्यादिका (अद्धादोहारच्छेयणेणं ति) द्वौ हारौ भागौ यत्र च्छेदने, द्विधा वा कारः करणं यत्र तद्, द्विहारं द्विधाकारं वा, तेन । (जाहे त्ति) । यदा, समय इति शेषः। "सेत्तमित्यादि" निगमनम् । (असंखेज्जाणमित्यादि) असंख्यातानां समयानां संबन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषां याः समितयो मीलनानि तासां यः समागमः संयोगः समुदयसमितिसमागमस्तेन, यत्कालमानं भवतीति गम्यते; सैकाऽऽवलिकेति प्रोच्यते । (सालिउद्देसए ति) षष्ठशतस्य सप्तमोद्देशके। भ०११ श०११उ०।

अद्धाखिण्ण—अध्वखिन्न—त्रि० । पथि बहुचलनेन परिश्रान्ते, " जो पुण अद्धाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं । " पिं०।

अद्धाछेय—अध्वच्छेद—पुं० । आवलिकाद्विके, क०प्र०।पं०सं० ।

अद्धाढय—अर्द्धाढक—पुं०। मगधदेशसंबन्धिनि मानविशेषे, औ०।

अद्धाण—अध्वन्—पुं० । पथि, " पुंस्यन आणो राजवच्च " ॥ ८ । ३ । ५६ । इत्यनः स्थाने आणेत्यादेशः । प्रा० ।

अध्वान—न० । प्रयाणके, " अद्धाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव उवागच्छइ " विपा० १ श्रु०३ अ०।

अद्धाणकप्प—अध्वकल्प—पुं० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा बद् ' विहार ' शब्दे दर्शयिष्यते) लेशतस्त्वत्र-

..................अहुणा अद्धाणकप्प वोच्छामि ।
जेहिं च कारणेहिं, अद्धा णो गम्म ते इणमो ॥ १ ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे जए व आगाढे ।
देसुट्ठाणे अपर-क्कमे य अद्धाणगो पणगे ॥ २ ॥
उद्दरे सुभिक्खे, अद्धाण पवज्जणं च दप्पेणं ।
दिवसादी चउ लहुगा, चउ गुरुगा कालगा होंति ॥३॥
उग्गमउप्पादणए-सणाएँ जे खलु विराहिते ठाणे ।
तं णिप्फण्णं तस्स उ, पायच्छित्तं तु दायव्वं ॥ ४॥
पुढवी आऊ तेऊ, वाऊ वणस्सति तसा य आणंता ।
इयरेसु परित्तेसु य, जं जहिँ आरोवणा भणिता ॥५॥
लहुओ गुरुओ लहु गुरु, चत्तारि छच्च लहुगा य ।
छग्गुरु छेदो मूलं, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ ६॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे जए व आगाढे ।
गीयत्था मज्झत्था, सत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥
कालमकालं जोती,णातूण य अहिवति अणुण्णवणा ।
भिच्छू मिच्छादिट्ठी , धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥
सत्थयसमिए खंमी-परिच्छणे खलु तहेव पोग्गलिए ।
धम्मकहणिमित्तेणं, वसही पुण दव्वलिंगेणं ॥ ९ ॥
संथे पंथे तेणे, पंचविहो उग्गहो य दव्वाणं ।
सुसुग्गामे दव्व-ग्गहणं जयणाएँ गीयत्था ॥ १० ॥
तुवरे फले य पत्ते , गो महिसे सुत्तरा य हत्थी य ।
आणवमणातवे वि य , जयणाए जाणगे गहणं ॥११॥
पिप्पलगसूति आरिग-णक्खव्वणतालियपुमगपत्ते य ।
कत्तिय कत्तरि सिक्कग-संविदूएँ लाउ चेव वात्तीग॥१२॥
पेत्तिय सेंत्तिय गुलिगा-णं अगदमत्थकोसे य ।
जं चएहु व गूहकरं, गेण्हइ अद्धाणकप्पम्मि ॥ १३ ॥
सीहाणुगा य पुरतो, वसभाणुमग्गतो समएणेंति ।
पंथे तं पि य जंता, धरेंति जा अरूपज्जत्ती ॥ १४ ॥
दंमिय मिच्छद्दिट्ठी, समुदाण णिवारणं च णिव्विसए ।
सारूविसएण जइग-वसभा पुण दव्वलिंगेणं ॥ १५ ॥
उवकरणचरित्ताणं, विलोयणा सरीरलोयणागाढे ।
धम्मकहणिमित्तेणं, पुलागकज्जेण आगाढे ॥ १६ ॥
असिवादिकारणेहिं , अद्धाण पवज्जणं अणुण्णातं ।
उवकरणपुव्वपमिले-हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ १७ ॥
वच्चंताणं असइ, को तीण तरेज्ज गंडपादेहिं ? ।
अपरक्कमो तु ताढे, ताहियं तु इमे वि मग्गेज्जा ॥ १८ ॥
एगक्खुरएँ दुक्खरे, दुपिए अणुबंधि तह य अणुरंगा ।
अह जइया वि जायति, असती अणुसड्डिमादीहिं॥१९॥
एगखुरा आसादी, दुखुरा उट्टादि दुपिय जड्डादी ।
अणुबंधी सकमादी, अणुरंगप्पिसी तु बोधव्वा ॥२०॥
एएसु पुव्ववट्ट-वखुरादिजातितु सिब्भुत्तादी ।
असती य खुड्डओ वा, लिंगविवेगेण कप्पति तु ॥ २१ ॥
आवासियम्मि सत्थे, तस्सेव तगं पि अप्पिणंति पुणो ।
अह जणाति गता संता, अप्पेज्जाह वि समंएयं ॥२२ ॥
ताहे य हक्कमादी, चारेद। तेसि असतिए खुड्डो।

लिंगविवेगं काउं, चारेंती जा गताद्धाणं ॥ २३ ॥
एवं दुग्गुरादीसु वि, जयणा जा जत्थ सा तु कायव्वा ।
सुत्तत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु णायव्वं ॥ २४ ॥
एतेसामण्णतरं, अवगाढा णो णिमेवेज्जा ।
सट्ठाणगावराहे, संवट्टियमोऽवराहाणं ॥ २५ ॥
संवट्टियाऽवराहे, तवोवत्थ दो तहेव मूलं वा ।
आयारपकप्पे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥ २६ ॥
अद्धाणकप्प एसो,……………………। पं० भा०।

अस्य चूर्णिः-अद्धाणकप्पम्मि तिण्णि परिसाओ कीरंति, सीहपरिसा पुरओ, वसभपरिसा मज्झओ मिगा य मज्झे,वसभा अंते । जाहे उत्तिण्णा अद्धाणं ताव न परिट्ठवेंति; अद्धाणकप्पं० जाव अद्धपञ्जत्ती, सो पुण सत्थवाहो मिच्छादिट्ठी समुदाणं वा निवारेज्जा धम्मकहाइ पण्णवणा, सावियसण्णभद्दएहिं वा पन्नवेंति । अह वसभा दव्वलिंगं काऊण पण्णवेंति वा णं । गाहा-(उवकरण त्ति)सो पुण मिच्छादिट्ठिओ उवधारणं वा विलोवेज्जा, चरित्तसरीरमाई वा पच्छा धम्मकहाइ पुलागकज्जं करेंति,आगाढे कहं पुण गंतव्व सव्वेहिं वि ?,अह कोइ न तरइ बहिं अतरंता । गाहा-(एगक्खुर त्ति) पच्छा वक्खुरं मग्गंति,सिद्धपुत्तसावओ वा णं कहइ, असई खुड्डओ लिंगविवेगेणं आवासिएपच्चप्पिणंति । अह भणेज्जा-तत्थ गया पच्चप्पिणेज्जाह, ताहे लिंगविवेगेणं खुड्डे उच्चारेइ । एवं गोणोऽवि दुप्पिओ नाम वत्थी-अणुरंगी, सकमअणुबंधी, पयंसा, एवं अप्पाबहुयं नाऊण । गाहा सिद्धं० जाव पमाणणिम्माणचरिमम्मि । एस अद्धाणकप्पो । पं० चू० ॥

अद्धाणगमण-अध्वगमन-न० । पथि विहरणे, "णक्खत्थ अद्धाणगमणे णो कप्पइ, सगरं वा जाव संदमाणियं वा दुरूहित्ताणं गच्छित्तए " औ० । स्था० ।

अद्धाणणिग्गय-अध्वनिर्गत-त्रि० । मार्गनिर्गते, व्य०८ उ० ।

अद्धाणपडिवन्न-अध्वप्रतिपन्न-त्रि०। मार्गप्रतिपन्ने,भ०१ श० १ उ०। (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारं वा कुर्वति, बृ०। अस्य त्रयो भेदाः । तद्यथा-" दुताहिंमविहारी, ते वि य होंती सपडिवक्खा । " बृ० ५ उ० ।

अद्धाणवायणा-अध्ववाचना-स्त्री० । अध्वनि मार्गे सूत्रार्थप्रदाने, व्य० १ उ० ।

अद्धाणसीसय-अध्वशीर्षक-न०। कान्तारादिनिर्गमरूपे प्रवेशरूपे, पिं० । ततः परं समुदायेन सार्थकेन सह गन्तव्यम् । तस्मिन् , व्य० ४ उ० । निर्भयमार्गान्ते, बृ०३ उ० ।

अद्धाणिय-आध्वनिक-त्रि० । पथिके, बृ० ४ उ० ।

अद्धापच्चक्खाण-अद्धाप्रत्याख्यान-न०। कालाख्यामद्धामाश्रित्य पौरुष्यादिकालमाने, आव० ६ अ० ।

एतच्च दशमं प्रायश्चित्तमित्थं प्रतिपादितम्—

अद्धापच्चक्खाणं, जं तं कालप्पमाणछेएणं ।
पुरिमड्ढपोरिसीए, मुहुत्तमासऽद्धमासेहिं ॥ १० ॥

अद्धाकाले प्रत्याख्यानं यद्, तत्कालप्रमाणच्छेदेन भवति पुरि-

१४२

मार्द्धपौरुषीभ्यां मुहूर्त्तमासार्द्धमासैरिति गाथासंक्षेपार्थः ॥१०॥ आ० चू० ६ अ० ।

अवयवार्थः पुनः—

अद्धा कालो तस्स य, पमाणमद्धं तु जं भवे तमिह ।
अद्धापच्चक्खाणं, दसमं तं पुण इमं भणियं ॥१॥

अद्धाशब्देन कालस्तावदभिधीयते, तस्य च कालस्य मुहूर्त्तपौरुष्यादिकं प्रमाणमप्युपचारात् । (अद्धं ति) अद्धां वदन्तीति शेषः । तुशब्दो अप्यर्थो भिन्नक्रमश्च यथास्थानं योजित एव । ततोऽद्धापरिमाणपरिच्छिन्नं यत्प्रत्याख्यानं भवेत् तदिह अद्धाप्रत्याख्यानं दशमं पूर्वोक्तनाव्यर्तानप्रत्याख्यानादीनां चरममित्यर्थः । तत्पुनरिदं वक्ष्यमाणं भणितं गणधरैरिति ॥ १ ॥

तदेवाह-

नवकारपोरिसीए, पुरिमड्ढेगासणेगठाणे च ।
आयंबिलऽभत्तट्ठे, चरिमे य अभिग्गहे विगई ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परतः सहितशब्दो द्रष्टव्यः। ततो नमस्कारश्च, कोऽर्थः?-नमस्कारसहितं च पौरुषी च नमस्कारपौरुषी,तस्मिन्,नमस्कारविषये, पौरुषीविषये चेत्यर्थः। पूर्वार्द्धं च, एकासनं च, एकस्थानं चेति समाहारे सप्तम्येकवचने,पूर्वार्द्धविषये एकासनविषये एकस्थानविषये च । तथा-आचामाम्लं च अभक्तार्थश्च आचामाम्लाभक्तार्थं. तत्र,आचामाम्लविषये उपवासविषये च । तथा-चरिमे चरमविषये । तथा-अभिग्रहे अभिग्रहविषये । तथा-(विगइ त्ति) विकृतिविषये: सप्तम्येकवचनं लुप्तमत्र द्रष्टव्यमिति । दशभेदमिदमद्धाप्रत्याख्यानम् । नन्वेकासनादिप्रत्याख्यानं कथमद्धाप्रत्याख्यानम्, नह्यत्र कालनियमः श्रूयते ?। सत्यम् । अद्धाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्रायेणैकासनादीनि क्रियन्ते इत्यद्धाप्रत्याख्यानत्वेन भण्यन्त इति ॥ २ ॥ प्रव० ४ द्वा० ।

अद्धापज्जाय-अद्धापर्याय-पुं०। कालकृतधर्मे,स्था०७ ठा०।

अद्धापरिवित्ति-अद्धापरिवृत्ति-स्त्री०। कालपरावृत्तौ, "अद्धापरिवित्तीओ, पमत्त इयरे सहस्ससो किच्चा । " क० प्र०।

अद्धामीसय-अद्धामिश्रक-न० । कालविषये सत्यमृषाभेदे, यथा कस्मिँश्चित्प्रयोजने सहायाँस्त्वरयन् परिणतप्राये वासर एव रजनी वर्तत इति ब्रवीतीति । स्था० १० ठा० ।

अद्धामीसिया-अद्धामिश्रिता-स्त्री० । अद्धा कालः, स चेह प्रस्तावाद् दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, संमिश्रितो यया साऽद्धामिश्रिता । सत्यमृषाभाषाभेदे,यथा-दिवसे वर्तमान एव वदति-उत्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोद्गतः सूर्य्य इति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अद्धारूव-अद्धारूप-त्रि० । अद्धा कालः, सैव रूपं स्वभावो यस्य तदद्धारूपम् । कालस्वभावे, पञ्चा० ५ विव० ।

अद्धावक्कंति-अर्धापक्रान्ति-स्त्री० । अर्द्धस्य समप्रविभागरूपस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्यापक्रमणमवस्थानं, शेषस्य तु द्व्यादिपदसंघातस्यैकदेशस्योर्द्ध्वं गमनं यस्यां रचनायां साऽर्द्धापक्रान्तिः । (समयपरिभाषया) पदत्रयमध्यादेकदेशाऽपक्रान्तौ, विशे० ।

अद्धासमय-अद्धासमय-पुं० । अद्धा कालः, तल्लक्षणः समयः क्षणोऽद्धासमयः। भ०२ श०१० उ०। अद्धायाः समयो निर्विभागो

भागः; समयः संकेताद्विवाचकोऽप्यस्ति,ततो विशिष्यतेऽद्धारूपः समयः (अनु०) पट्टसाटिकादृष्टान्तसिद्धे सर्वसूक्ष्मे पूर्वापरकोटिविमुक्ते वर्तमाने एकस्मिन् कालांशे, अनु०। जी०। षड् द्रव्याणि, तत्र पञ्च धर्मास्तिकायादयोऽस्तिकायाः, षष्ठोऽद्धासमयः। अस्य अस्तिकायत्वाभावः, वर्तमानक्षणलक्षणत्वेनैकत्वात्, अतीताऽनागतयोरसत्त्वात्। भ० २ श० १० उ०। अनु०। बहुप्रदेशत्व एव हि अस्तिकायत्वम्। अत्र त्वतीतानागतयोर्विनष्टोत्पन्नत्वेन वर्तमानस्यैव कालप्रदेशस्य सद्भावाद् नत्वेवमावलिकादिकालाभावः, समयबहुत्व एव तदुपपत्तेरिति चेद्, भवतु तर्हि, को निवारयिता ?। "समयावलियमुहुत्ता दिवसमहोरत्तपक्खमासा य" इत्याद्यागमविरोध इति चेत्। नैवम्; अभिप्रायापरिज्ञानात्; व्यवहारनयमतेनैव तत्र त्वभ्युपगमात्; अत्र तु निश्चयनयमतेन तदसत्त्वप्रतिपादनात्। नहि पुद्गलस्कन्धे परमाणुसंघात इवावलिकादिगतसमयसंघातः कश्चिदवस्थितः समस्तीति तदसत्त्वमसौ प्रतिपद्यते, इत्यलं विस्तरेण। अनु०। ('समय' शब्दे एतत्प्ररूपणा वक्ष्यते)

अद्धि–अब्धि–पुं०। आपो धीयन्ते ऽस्मिन्। धा–आधारे कि। सरोवरे, समुद्रे च। वाच०। ऊर्मौ, अष्ट० १ अष्ट०। सागरोपमे (कालविशेषे), द्वा० २६ द्वा०।

अद्धिइ(ति) करण–अधृतिकरण–न०। अधृतिकरणे [कलहे], नि० चू० १० उ०।

अद्धीकारग–अर्द्धीकारक–त्रि०। अर्द्धमहं करोमि, अर्द्धं पुनस्त्वया कर्तव्यमित्येवंकारके, बृ० ३ उ०।

अद्धुट्ठ–अर्धचतुर्थ–त्रि०। अर्द्धाधिकत्रिषु, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०। कर्म०।

अद्धुत्त–अर्धोक्त–त्रि०। अर्द्धभाषिते, "अद्धुत्तेण उ पंचाला" स्था० १० उ०।

अद्धु(धु)व–अध्रुव–त्रि०। अवश्यंभावि नियमान्ते सूर्योदयवद् ध्रुवम्। न तथा यत्तदध्रुवम्। आचा०१ श्रु०५ अ० २ उ०। अनियतसत्त्वे, "अधुवा अणियता असासया सडणपडणविद्धंसणधम्मा कामभोगा" ज्ञा०१ अ०। अस्थिरे, "अधुवधणधण्णकोसपरिभोगविवज्जिया"। अध्रुवा अस्थिरा धनानां गणिमादीनां, धान्यानां शाल्यादीनां, कोशा आश्रया येषां स्थिरत्वेऽपि तत्परिभोगेन वर्जिताश्च ये ते तथा। प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०। प्रव०। चले, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। दशा०।

अद्धु (धु) वबंधिणी–अध्रुवबन्धिनी–स्त्री०। न० त०। ध्रुवबन्धिनीप्रकृतिप्रतिपक्षासु कर्मप्रकृतिषु, यासां च निजहेतुसद्भावेनावश्यं बन्धस्ताः। क० प्र०। (ताश्च त्रिसप्ततिसङ्ख्याकाः "कम्म" शब्दे तृतीयभागे २६१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्ते)

अद्धु(धु)वसंतकम्म–अध्रुवसत्कर्मन्–न०। सत्कर्मभेदे, यत्पुनरनवाप्तगुणानामपि कदाचिद् भवति कदाचिन्न तदध्रुवसत्कर्म। पं० सं० ३ द्वा०।

अद्धु(धु)वसकम्मिया–अध्रुवसत्कर्मिका–स्त्री०। ध्रुवसत्कर्मिकाप्रतिपक्षभूतासु कर्मप्रकृतिषु, क० प्र०।

अद्धु(धु)वसत्ता–अध्रुवसत्ताका–स्त्री०। अध्रुवा कदाचिद् भवन्ति कदाचिन्न भवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः। पं० सं० ३ द्वा०। कादाचित्कभाविनीषु कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म०। पं० सं०। ('कम्म' शब्दे तृतीयभागे २६४ पृष्ठे तासां स्वरूपं द्रष्टव्यम्)

अद्धु(धु) वसाहण–अध्रुवसाधन–न०। अध्रुवाणि नश्वराणि साधनानि मानुष्यक्षेत्रआर्यादीनि यस्य तदध्रुवसाधनम्। अनित्यहेतौ, पञ्चा० १६ विव०।

अद्धु(धु) वोदया–अध्रुवोदया–स्त्री०। ध्रुवोदयप्रतिपक्षासु कर्मप्रकृतिषु, कर्म०। यासां तु व्यवच्छिन्नोऽप्युदयो भूयोऽपि प्रादुर्भवति तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभवभावरूपं पञ्चविधं हेतुसंबन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाः। "अव्वुच्छिन्नो उदओ, जाणं पगईण ता धुवोदइया" कर्म० ५ कर्म०। 'कम्म' शब्दे द्वितीयभागे २७१ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते चैतत्।

अद्धोवमिय–अद्धौपम्य–न०। औपम्यमुपमा पल्यसागररूपा तत्प्रधाना अद्धा कालोऽद्धौपम्यम्। राजदन्तादिदर्शनादौपम्यशब्दस्य परनिपातः। पल्योपमादौ उपमाकाले, स्था० ८ ठा०। उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना गृहीतुं न शक्यते तदद्धौपमिकमिति भावः। "दुविहे अद्धोवमिए पन्नत्ते। तं जहा– पलिओवमे चेव, सागरोवमे चेव" स्था० २ ठा० ४ उ०।

स च भेदप्रभेदाभ्यां समासतोऽष्टविधः—

अट्ठविहे अद्धोवमिए पन्नत्ते। तं जहा–पलिओवमे १ सागरोवमे २ ओसप्पिणीए ३ उस्सप्पिणीए ४ पोग्गलपरियट्टे ५ अतीतद्धा ६ अणागयद्धा ७ सव्वद्धा ८।

पल्योपमसागरोपमयोरुपमाकालता स्पष्टा। अवसर्पिण्यादीनां तु सागरोपमनिष्पन्नत्वादुपमाकालत्वं भावनीयम्। समयादिशीर्षप्रहेलिकान्तःकालोऽनुपमाकालः। स्था० ८ ठा०।

अध–अथ–अव्य०। आनन्तर्ये, "अध ससरीरो भगवं मकरध्वजो" (पैशाचीप्रयोगः) प्रा०। नि० चू०।

अधण्ण–अधन्य–त्रि०। न० त०। निन्द्ये, "अधन्ना सुलगभिन्नदेहा" प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०। "नरगा हवठिया अधन्ना ते वि य दीसंति" प्रश्न० १ आश्र० द्वा०।

अध (ह) म–अधम–त्रि०। जघन्ये, "निग्घिणमणसोऽहमविवागं" [अधमविपाकमिति] अधमो जघन्यो नरकादिप्राप्तिलक्षणो विपाकः परिणामो यस्य तत्तथाविधम्। [आर्तध्यानम्] आव०४ अ०। "अहो वयइ कोहेण माणेणं अहमा गई" मानेन अधमा गतिर्भवति। गर्दभोष्ट्रमहिषसूकरादिगतिः स्यात्। उत्त० ९ अ०।

अध (ह) म्म–अधर्म–पुं०। गतिपरिणतानां तत्स्वभावाधरणादधर्मः। अनु०। न धर्मोऽधर्मः। अधर्मास्तिकाये जीवपुद्गलानां स्थित्युपष्टम्भकारिणि, स्था०१ठा०१ उ०। "एगे अधम्मे" एकोऽधर्मोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया। स० १ सम०। आ०। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपे कर्मबन्धकारणे आत्मपरिणामे, "णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं णिवेसए" सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। (यतिनां गृहिणां चाधर्मपक्षप्रदर्शनं "पुरिसविजयविभंग" शब्दे करिष्यते) सावद्यानुष्ठानरूपे पापे, "अधम्मेण चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ" अधर्मेण पापेन

सावद्यानुष्ठानेनैव दहनाङ्कननिर्लाञ्छनादिना कर्मणा वृत्तिर्जीवनं कल्पयन् कुर्वाणो विहरन्ति, ज्ञा० १८ अ० । स्था० । विपा० । सू० । आव० । चोरस्य गौणनामनि च, तस्याऽधर्मरूपत्वात् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अध (ह) म्मक्खाइ–अधर्मख्याति–त्रि० । अधर्मेण ख्यातिर्यस्य । रा० । न धर्माद् ख्यातिर्यस्येति च । भ० १२ श० २ उ० । अविद्यमानधर्मोऽयमित्येवं प्रसिद्धिके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (ह) म्मक्खाइ (ण्)–अधर्माऽऽख्यायिन्–त्रि० । अधर्ममाख्यातुं शीलं यस्य स तथा । ज्ञा० १८ अ० । न धर्ममाख्यातीत्येवंशीलो वा । ज० ३ श० ७ उ० । अधर्मप्रतिपादके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (ह) म्मजुत्त–अधर्मयुक्त–न० । ३ त० । पापसंबद्धे तद्दोषोदाहरणभेदे, स्था० । यद्धि उदाहरणं कस्यचिदर्थस्य साधनायोपादीयते केवलं पापाभिधानरूपं, येन चोक्तेन प्रतिपाद्यस्याधर्मबुद्धिरुपजायते, तदधर्मयुक्तम् । तद्यथा–उपायेन कार्याणि कुर्यात्, कौलिकनलदामवत् । तथाहि–पुत्रखादकमत्कोटकमार्गणोपलब्धबिहस्थानानामशेषमत्कोटकानां तप्तजलस्य बिले प्रक्षेपणतो मारणदर्शनेन रञ्जितचित्तचाणक्यव्यवस्थापितेन चौरग्राहे नलदामाभिधानकुविन्देन चौर्यसहकारितालक्षणोपायेन विश्वासिता मिलिताश्चौरा विषमिश्रभोजनदानतः सर्वे व्यापादिता इति । आहरणतद्दोषता चास्याधर्मयुक्तत्वात्तथाविधश्रोतुरधर्मबुद्धिजनकत्वाच्चेति, अत एव नैवंविधमुदाहर्तव्यं यतिनेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । इदं च नलदामकुविन्दोदाहरणं लौकिकम् । तथाहि–"चाणक्केण णंदे उच्छाइए चंदगुत्ते रायाणए ठविए एवं सव्वं वणिज्जा जहा सिक्खाए, तत्थ णंदमंतिपहिं मणुस्सेहिं सह चोरग्गाहो मिलिओ णगरं मुसइ । चाणको वि अन्नं चोरगाहं च ठविउकामो तिदंडं गहेऊण परिव्वायगवेसेण णयरं पविट्ठो, गओ णलदामकोलियसगासं, उवविट्ठो वणणसालाए अत्थइ, तस्स दारओ मक्कोडएहिं खाइओ, तेण कोलिएण बिलं खणित्ता दड्ढा । ताहे चाणक्केण भणइ–किं एए डहसि ?, कोलिओ भणइ–जइ एए समूलजाला ण उक्खाडिज्जंति, तो पुणो वि खाइस्संति । ताहे चाणक्कण चिंतियं–एस मए लद्धो चोरग्गाहो, एस णंदतेणया समूलया उद्धरिसिहिइ । चोरग्गाहो कओ, तेण तिदंडिणा विस्संभिया–अम्हे सम्मिलिया मुसामो त्ति । तेहिं अन्ने वि अक्खाया–जे तत्थ मुसगा बहुया, सुहतरागं मुसामो त्ति । तेहिं अन्ने वि अक्खाया । ताहे ते तेण चोरग्गाहेण मिलिऊण सव्वे वि मारिया । एवं अहम्मजुत्तं ण भाणियव्वं, ण य कायव्वं ति । इदं तावल्लौकिकम् । अनेन लोकोत्तरमपि चरणकरणानुयोगं द्रव्यानुयोगं चाधिकृत्य सूचितमवगन्तव्यम्, एकग्रहणात्तज्जातीयग्रहणमिति न्यायात् । तत्र चरणकरणानुयोगेन–" एवं अहम्मजुत्तं, कायव्वं किंचि नाभियव्वं वा । थोवगुणं बहुदोसं, विसेसओ गणपरेणं ॥ १ ॥ तम्हा सो अवेसि पि आलंबणं होइ " द्रव्यानुयोगे तु–" वादम्मि तहा रूवे, विज्जाय बलेण पवयणट्ठाए । कुज्जा सावज्जं पि हु, जह मोरीण उलिमादीसु ॥ १ ॥ सो परिवायगो विलक्खीकओ त्ति"॥ औदाहरणदोषता चास्याधर्मयुक्तत्वादेव भावनीयेति । गतमधर्मयुक्तद्वारम् । दश० १ अ० ।

अध (ह) म्मत्थिकाय–अधर्मास्तिकाय–पुं० । न धारयति गतिपरिणतावपि जीवपुद्गलांस्तत्स्वभावतया नाऽवस्थापयति, स्थित्युपष्टम्भकत्वात्तस्येति अधर्मः, स चासौ अस्तिकायश्च । उत्त० २५ अ० । कर्म० । जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणामपरिणतानां तत्परिणामोपष्टम्भकेऽमूर्तेऽसङ्ख्यातप्रदेशसङ्घातात्मके द्रव्यविशेषे, प्रज्ञा० पद । अनु० । स्था० । आव० । द्रव्या० । (सिद्धिरस्य ' अत्थिकाय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५१३ पृष्ठे दर्शिता)

तत्त्वं च–

अहम्मत्थिकाए णं भंते ! जीवाणं किं पवत्तइ ?। गोयमा ! अहम्मत्थिकाए णं जीवाणं ठाणणिसीयणतुयट्टण, मणस्स य एगत्तीभावकरणय जे यावन्ने तहप्पगारा थिरसभावा सव्वे ते अहम्मत्थिकाए पवत्तंति ठाणलक्खणेणं अहम्मत्थिकाए ।

(ठाणनिसीयणतुयट्टण त्ति) कायोत्सर्गासनशयनानि, प्रथमान्बहुवचनलोपदर्शनात् । तथा मनसश्च अनेकत्वस्यैकत्वस्य भवनमेकत्वीभावस्तस्य यत्करणं तत्तथा । ज० १३ श० ४ उ० ।

अस्येमान्यभिवचनानि–

अहम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केव.या अभिवयणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता । तं जहा–अधम्मेति वा अधम्मत्थिकाएति वा, पाणातिवाय० जाव मिच्छादंसणसल्लेति वा इरियाअसमिति त्ति वा० जाव उच्चारपासवण० जाव पारिट्ठावणिया असमितीति वा मणअगुत्तीति वा वइअगुत्तीति वा कायअगुत्तीति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते अहम्मत्थिकायस्स अभिवयणा । ज० २० श० २ उ० ।

'अट्ठ अहम्मत्थिकायमज्झप्पएसा पण्णत्ता' । ते च रुचकरूपा इति । स्था० ८ ठा० ।

अधर्मास्तिकायसिद्धिः–अधर्मोऽधर्मास्तिकायः, स्थितिः स्थानं गतिनिवृत्तिरित्यर्थः, तल्लक्षणमस्येति स्थानलक्षणः । स हि स्थितिपरिणतानां जीवपुद्गलानां स्थितिलक्षणकार्ये प्रत्यपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति, तेनैव लक्ष्यत इत्युच्यते । अनेनाप्यनुमानमेव सूचितम् । तच्चेदम्–यत्कार्यं तत्तदपेक्षाकारणवत्, यथा–घटादि कार्यम् । तथा चासौ स्थितिः, यच्च तदपेक्षाकारणं तदधर्मास्तिकाय इति । अत्र च नैयायिकादिः सौगतो वा वदेत्–नास्त्यधर्मास्तिकायः, अनुपलभ्यमानत्वात्, शशविषाणवत् । तत्र यदि नैयायिकः, तदाऽसौ वाच्यः–कथं भवतोऽपि दिगादयः सन्ति ?, अथ दिगादिप्रत्ययलक्षणकार्यदर्शनाद्भवति हि कार्यात्कारणानुमानम्, एवं सति स्थितिलक्षणकार्यदर्शनादयमप्यस्तीति किं न गम्यते ?। अथ तत्र दिगादिप्रत्ययकार्यस्यान्यतोऽसंभवात्तत्कारणभूतान् दिगादीन् अनुमिमीमहे इति मतिरिहाप्याकाशादीनामवगाहनादिस्वस्वकार्यव्यापृतत्वेन ततोऽसंभवात्, अधर्मास्तिकायस्यैव स्थितिलक्षणं कार्यमिति किं नानुमीयते ?। अथासौ न कदाचिद् दृष्टः, एतद्दिगादिष्वपि समानम् । अथ सौगतः, सोऽप्येवं वक्तव्यः, यथा–भवतः कथं बाह्यार्थसंसिद्धिः ?, नहि कदाचिदसौ प्रत्यक्षगोचरः, साकारज्ञानवादिनः सदा तदाकारस्यैव संवेदनात् । तथा च तस्याप्यनुपलभ्यमानत्वादभाव एव । अथाकारसंवेदनेऽपि तत्कारिणमर्थं परिकल्पते, धूमज्ञाने इवा-

भिः । एवं स्थितिदर्शनेऽपि किं न तत्कारणस्याधर्मास्तिकायस्य निश्चयः । अथायमप्यभिदधीत-न कदाचिदसौ तत्कारणत्वेनेक्षित इति । ननु बाह्यार्थेऽपि तुल्यमेतत्, न हि सोऽपि तदाकारतया कदाचिदवलोकितः । अथ मनस्कारस्य चिद्रूपतायामेव व्यापारः, न तु नियताकारत्वे, अतस्तत्रार्थः कारणं कल्प्यते , एवं तर्हि जीवपुद्गलपरिणाममात्र एव कारणं,स्थितिपरिणतौ पुनरधर्मास्तिकायापेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियत इति किं न कल्पते ? । अथासौ सर्वदा सर्वस्य सन्निहित इत्यनियमेन स्थितिकारणं भवेत् । ननु एवमर्थोऽपि किं न सन्निहित इत्येवं स्वाकारमर्पयति ? । अथ चक्षुरादिव्यापारमयमपेक्षते, अधर्मास्तिकायोऽपि तर्हि स्वपरगतो विस्रसाप्रयोगावपेक्षत इति नानयोर्विशेषमुत्पश्यामः। तथा-भाजनमाधारः सर्वद्रव्याणां जीवादीनां नभ आकाशम्, अवगाहोऽवकाशस्तल्लक्षणमस्येत्यवगाहलक्षणम्,तद्ध्यवगाढं प्रवृत्तानामविम्बनीभवति, अनेनावगाहकारणत्वमाकाशस्योक्तम् । न चास्य तत्कारणत्वमसिद्धम्, यतो यदन्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्तत् कार्यम्, यथा-चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायि रूपादिविज्ञानम्, आकाशान्वयव्यतिरेकानुविधायी चावगाहः । तथाहि-सुषिररूपमाकाशं, तत्रैव चावगाहः , न तु तद्विपरीते पुद्गलादौ । अथैवमलोकाकाशेऽपि कथं नावगाह ?, उच्यते-स्यादेवं यदि कश्चिदवगाहिता भवेत् । तत्र तु धर्मास्तिकायस्य जीवादीनां चासत्त्वेन तस्यैवाभाव इति कस्यासौ समस्तु ?। नन्वेवमपि न तत्सिद्धिः,हेतोरसिद्धत्वात्, तदसिद्धिश्चान्वयाभावात् ; सति हि तस्मिन् भवत्यन्वयः । न च तत्सत्त्वसिद्धिरस्ति, अन्वयाभावे च व्यतिरेकस्याप्यसिद्धिरस्तीति । उत्त० २८ अ० ।

अध (ह) म्मदाण-अधर्मदान-न०। अधर्मकारणश्चासौ दानं च, अधर्मपोषकं वा दानमधर्मदानम् । दानभेदे, यथा-"हिंसाऽनृतचौर्योद्यत-परपरिग्रहप्रसक्तेभ्यः । यद्दीयते हि तेषां, तज्जानीयादधर्माय " ॥१॥ इति । स्था० १० ठा० ।

अध(ह) म्मदार-अधर्मद्वार-न० । आश्रवद्वारे, "पढमं अहम्मदारं सम्मत्तं ति बेमि" प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अध [ह] म्मपक्ख-अधर्मपक्ष-पुं० । अनुपशान्तस्थाने, "अधम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए; तस्स णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावाउयसयाइं भवंतीति मक्खाई । तं जहा-किरियावाईणं , अकिरियावाईणं , अन्नाणियवाईणं , वेणइयवाईणं , " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अध(ह) म्मपज्जणण-अधर्मप्रजनन-त्रि०। अधर्मं जनयतीति अधर्मप्रजननः । लोकानामप्यधर्मोत्पादके, रा० ।

अध (ह) म्मपडिमा-अधर्मप्रतिमा-स्त्री०। अधर्मविषया प्रतिमा। अश्रुतचारित्रविषयायां प्रतिज्ञायाम्, अधर्मप्रधाना वा प्रतिमा अधर्मप्रतिमा । अधर्मप्रधाने शरीरे, " एगा अध (ह) म्मपडिमा, जं सि (से) आया परिकिलेसति" एका अधर्मप्रतिमा, सर्वस्य परिक्लेशकारणतयैकरूपत्वात्। अत एवाह-(जं से इत्यादि) यदस्मात्, से तस्याः स्वाम्यात्मा जीवः। अथवा-(सि त्ति) पात्रान्तरम् । सोऽधर्मप्रतिमावानात्मा परिक्लिश्यते । ततश्च प्राकृतत्वेन लिङ्गव्यत्ययाद् यस्यामधर्मप्रतिमायां सत्यामात्मा परिक्लिश्यते सा एकैवेति । स्था०१ ठा० १ उ०।

अध [ह] म्मपरज्जण-अधर्मप्ररञ्जन-त्रि० । न धर्मे प्ररज्यन्ते आसज्जन्ति ये ते । भ०१२ श० २ उ०। अधर्मप्रायेषु कर्मसु प्रकर्षेण रज्यते इत्यधर्मप्ररञ्जनः । रलयोरैक्यमिति कृत्वा रेफस्थाने लकारः । ज्ञा०१८ अ० । अधर्मरागिणि, विपा०१ श्रु०१ अ०।

अध (ह) म्मपलोइ (ण)-अधर्मप्रलोकिन्-त्रि० । न धर्ममुपादेयतया प्रलोकयति यः सोऽधर्मप्रलोकी । भ०१२ श०२ उ०। अधर्ममेव प्रलोकयितुं शीलं यस्यासावधर्मप्रलोकी । ज्ञा० १८ अ०। अधर्मस्यैव उपादेयतया प्रेक्षके [परिज्ञायके],विपा०१ श्रु०१अ०।

अध (ह) म्मराइ [ण्]-अधर्मरागिन्-त्रि० । अधर्मे एव रागो यस्य सोऽधर्मरागी । दशा०६ अ०।

अध (ह) म्मरुइ-अधर्मरुचि-त्रि० । न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां ते अधर्मरुचयः । दश० १ अ० ।

अध (ह) म्मसमुदायार-अधर्मसमुदाचार-त्रि० । न धर्मरूपश्चारित्रात्मकः समुदाचारः समाचारः सप्रमोदो वाऽऽचारो यस्य स तथा । भ०१२ श०२ उ० । चारित्रविकले दुराचारे, विपा० १ श्रु० १ अ०।

अध (ह) म्मसीलसमुदायार-अधर्मशीलसमुदाचार-त्रि० । अधर्म एव शीलं स्वभावः समुदाचारश्च यत्किञ्चनानुष्ठानं यस्य स तथा । स्वभावतश्चेष्टया चाऽधर्मिके, ज्ञा०१८ अ० । विपा०।

अध[ह] म्माणुय-अधर्मानुग-त्रि० । धर्मं श्रुतरूपमनुगच्छन्तीति धर्मानुगाः , न धर्मानुगोऽधर्मानुगः । भ० १२ श० २ उ० । श्रुतचारित्राभावमनुगते, विपा० १ श्रु० १ अ० । अधर्मे कर्त्तव्येऽनुज्ञाऽनुमोदनं यस्यासावधर्मानुज्ञः। ज्ञा० १८ अ० । अधर्मानुज्ञायके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अध (ह) म्मिजोय-अधर्मियोग-पुं० । निमित्तवशीकरणादिप्रयोगे , स० ३० सम० ।

अध[ह] म्मिट्ठ-अधर्मिष्ठ-त्रि० । अतिशयेन धर्मी धर्मिष्ठः, न धर्मिष्ठोऽधर्मिष्ठः । भ० १२ श० २ उ० । अतिशयेन निर्धर्मे निस्त्रिंशकर्मकारित्वादतिशयेन धर्मवर्जिते, ज्ञा०१८अ०। विपा० । रा० । सूत्र० ।

अधर्मीष्ट-त्रि० । अधर्मिणामिष्टः । अधर्मिणां वल्लभे, भ० १२ श० २ उ० ।

अधर्मेष्ट-त्रि० । धर्मः श्रुतचारित्ररूपः एवेष्टः पूजितो वा यस्य स धर्मेष्टः । न धर्मेष्टोऽधर्मेष्टः । अधर्म एव इष्टो वल्लभः पूजितो वा यस्य स तथा । अधर्मैषके,अधर्मसभाजके वा। भ० १२ श० २ उ० ।

अध[ह]म्मिय-अधार्मिक-त्रि० । न धार्मिकोऽधार्मिकः । धर्मेण श्रुतचारित्रात्मकेन चरतीति धार्मिकः (तथा न) भ० १५श०२ उ०।अधर्मेण चरतीति अधार्मिकः। ज्ञा०१८अ०। पापिनि,विपा० १ श्रु०३ अ०। असंयते,स्था०। धर्मे भवं, धर्मो वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकम्,(तथा न)न०त०। धार्मिकविपर्यस्ते, स्था०४ठा०१उ०।

अध (ह) र-अधर-पुं० । न ध्रियते । धृङ्-अच् । न० त० । वाच०। अधस्तनदशनच्छदे, जं०२वक्ष० । नं० । उपा०। प्रश्न०। आत्यन्तिके कारणे , बृ० ३ उ० ।

अध (ह) रगमण-अधरगमन-न०। अधोगतिगमनकारणे, " तहा गवालीकं च गरुयं भणंति अध (ह) रगमणं " प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अध [इ] रिम–अधरिम–त्रि० । अविद्यमानं धरिमभृणद्रव्यं यस्मिँस्तत्तथा । ज्ञा० १अ० । विपा० । उत्तमर्णाधमर्णाभ्यां परस्परं तदृणार्थं न विवदनीयं, किन्तु अस्मत्पार्श्वे मूल्यं गृहीत्वा ऋणमुत्कलनीयमिति राजाज्ञाविशिष्टे नगरादौ, जं० ३ वक्ष० । विपा० ।

अध [इ] री–अधरी–स्त्री० । पेषणशिलायाम , " अध(इ)रीसंठाणसंठिया दो वि तस्स पाया " उपा० १ अ० ।

अध [इ] रीलोट्ट–अधरीलोष्ट–पुं० । शिलापुत्रके, " अधरीलोट्टसंठाणसंठिआओ पायसु अंगुलीओ " उपा० १ अ० ।

अध (ह) रुट्ठ–अधरोष्ठ–न० । द्व० स० । ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य" । ८ । १ । ८४ । इति सूत्रेण ओतो ह्रस्वः । प्रा० । उपरिस्थाधःस्थोष्ठयुग्मे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अधस्तनदन्तच्छदे , " ओयवियसिलप्पबालबिंबफलसन्निभाऽधरुट्ठा " नं० ।

अध [इ] व [वा]–अथवा–अव्य० । विकल्पे , नि० चू० १० उ० ।

अधारणिज्ज–अधारणीय–त्रि० । अविद्यमानो धारणीयोऽधमर्णो यस्मिँस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । अविद्यमानाधमर्णे पुरादौ, विपा० १ श्रु० ३ अ० । आत्मनो धारयितुमशक्ये , भ० ७ श० ६ उ० । अयापनीये, यापनां कर्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा० ८ अ० । विपा० । जं० ।

अधि [हि]–अधि–अव्य० । आधिक्ये, भ० १ श० १ उ० ।

अधि [हि] इ–अधृति–स्त्री० । धृतेरभावे, "तो तुमे पिया एवं वसणं पाविओ तस्स अधिइ जाया सुणिसओ चेव उद्धायलोहदंडग्गहा य वियडाणि भंजामि " आव० ४ अ० ।

अधि [हि] ग–अधिक–त्रि० । अत्यर्थे, बृ० १ उ० ।

अधि (हि) गम–अधिगम–पुं० । अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः । आव० ३ अ० । गुरूपदेशजे यथाऽवस्थितपदार्थपरिच्छेदे , एष सम्यक्त्वस्य हेतुविशेषः । निसर्गाद्वाऽधिगमतो जायते । तच्च पञ्चधा-औपशमिकं १ क्षायिकं २ क्षायोपशमिकं ३ वेदकं ४ सास्वादनं च ५ ॥ ध० २ अधि० । "जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ" आव० ३ अ० । " गुरूपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देहिनाम् । यत्तु सम्यक् श्रद्धानं तत् , स्यादधिगमजं परम् " ॥ १ ॥ " जीवादीणमधिगमो , मिच्छत्तस्स खओवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो , पावेइ विसुद्धपरिणामो " ॥ ध० २ अधि० ।

अधि [भि] [हि] गमरुइ–अधि [भि] गमरुचि–पुं० स्त्री० । अधिगमो विशिष्टं परिज्ञानं, तेन रुचिः जिनप्रणीततत्त्वाभिलाषरूपा यस्यासावधिगमरुचिः । प्रव० १४६ द्वा० । सरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तत्स्वरूपं च–

सो होइ अभिगमरुई , सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइन्नगा दिट्ठिवाओ य ॥

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टं, किमुक्तं भवति ?, येन श्रुतज्ञानस्यार्थोऽधिगतो भवतीति । किं पुनस्तच्छ्रुतज्ञानम् ? इत्याह-(एक्कारस अंगाइं ति) एकादशाङ्गानि आचाराङ्गादीनि, प्रकीर्णकान्युत्तराध्ययननन्द्यध्ययनादीनि , दृष्टिवादः परिकर्मसूत्राद्यङ्गत्वेऽपि पृथगुपादानमस्य प्राधान्यख्यापनार्थम् । चशब्दादुपाङ्गानि चौपपातिकादीनि, स भवत्यधिगमरुचिः। प्रव० १४९ द्वा०। स्था०। अर्हतः सकलसूत्रविषयिण्यां रुचौ , ध० २ अधि० ।

अधि [भि] गमसम्मदंसण–अधिगमसम्यग्दर्शन–न० । ३ ठा० । गुरूपदेशादिजन्ये सम्यग्दर्शनभेदे, यथा भरतस्य । " अभिगमसम्मदंसणे, दुविहे पण्णत्ते । पडिवाई चेव , अपडिवाई चेव ।" प्रतिपतनं शीलं प्रतिपाति, सम्यग्दर्शनमौपशमिकं, क्षायोपशमिकं वा । अप्रतिपाति क्षायिकम् । स्था० २ ठा० १ उ० ।

अधि (हि) गय–अधिकृत–न० । अधि–कृ–भावे–क्त । अधिकारे, दश० १ अ० ।

अधिगत–त्रि० । प्राप्ते , उत्त० १० अ० । विज्ञाते , व्य० २ उ० । पञ्चा० ।

अधि (हि) गरण–अधिकरण–न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्निति अधिकरणम् । आधारे , यथा चक्रमस्तके घटः । नि० चू० १ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेनेत्यधिकरणम् । कलहे , प्राभृते च । बृ० १ उ० । स० ।

(१) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।
(२) अधिकरणनिक्षेपः ।
(३) अधिकरणं न करणीयम् ।
(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम् ।
(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि ।
(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम् ।
(७) भावनिक्षेपः ।
(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसंक्रान्तिर्न कर्तव्या ।
(९) गच्छाद्विनिर्गतस्याधिकरणे समुत्पन्ने विधिः ।
(१०) खरपरुषाणि भणित्वा गच्छान्निर्गच्छतो विधिः ।
(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽव्यपशमय्य पिण्डग्रहणादि न कार्यम् ।
(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति ।
(१३) कारणे सत्युत्पादयेत् ।
(१४) पुराणान्यधिकरणानि क्षान्तव्युपशमितानि पुनरुदीरणम् ।
(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम् ।
(१६) निर्ग्रन्थीभिर्व्यतिकृष्टमधिकरणं व्युपशमनीयम् ।
(१७) साधिकरणेनाकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्यः ।
(१८) अधिकरण्यधिकरणनिरूपणम् ।

(१) इमे अधिकरणनिरुक्ता, पर्यायाश्च–

अहिकरणमहोकरणं, अहरगतीगाहणं अहोतरणं ।
अत्थितिकरणं च तहा, अहीकरणं च अहिकरणं ॥१६५॥

भावाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः। अथवा-अधिकं अतिरिक्तं सूत्रं करणं अधिकरणम् । अधो अधस्तात् आत्मनः करणम् । अधरा अधमा जघन्या गतिस्तामात्मानं ग्राहयतीति । अधो अधस्तादवतारभूमिं गृहनिश्रेण्यादिं वा । न धृतिररतिरित्यर्थः, अस्थाः करणम् । अधीरस्य असत्त्ववतः करणं अधिकरणम् । अथवा-अधीः अबुद्धिमान् पुरुषः स तं करोति, इत्यधिकरणम् ।

सो अधिकरणो दुविधो, सपक्खपरपक्खतो य नायव्वो ।

एक्केक्को वि य दुविहो, गच्छगतो णिग्गतो चेव ॥ १६६ ॥

साधिकरणे साधू द्विविधेन अधिकरणेन भवति,तं चिमं द्विविधं–सपक्खाधिकरणं,परपक्खाधिकरणं च । सपक्खाधिकरणकारी गच्छगतो, गच्छणिग्गतो वा , एवं परपक्खाधिकरणे वि दुविधं । नि० चू० १० उ० ।

(२) अस्य निक्षेपस्वित्थं निर्युक्तिकृदाह–

नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहं तु अहिगरणं ।
दव्वम्मि जंतमादी , भावे उदओ कसायाणं ॥

नामाधिकरणं,स्थापनाधिकरणं, द्रव्याधिकरणं, भावाधिकरणं चेति चतुर्विधमधिकरणम । तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्याधिकरणम्–आगमतो,नो आगमतश्च । आगमतो–अधिकरणशब्दार्थे निरूपयस्तु प्रयुक्ते वक्ता,नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । द्रव्याधिकरणे यन्त्रादिकं द्रष्टव्यम्, यन्त्रं नाम हलनयन्त्रादि । भावे भावाधिकरणे कषायाणां क्रोधादीनां उदयो विज्ञेयः।

तत्र द्रव्याधिकरणं व्याख्यानयति—

दव्वम्मि उ अधिकरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।
निव्वत्तण निक्खवणे, संजोयण निसिरणे य तहा ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयमधिकरणं चतुर्विधं भवत्यानुपूर्व्या परिपाट्या । तद्यथा–निर्वर्त्तनाधिकरणं,निक्षेपणाधिकरणं, संयोजनाधिकरणं, निसर्जनाधिकरणं च । बृ० १ उ० ।

णिव्वत्तणे अधिकरणं दुविधं–मूलकरणं, उत्तरकरणं च । तत्थ मूलणिव्वत्तणाधिकरणं अट्ठविहं भण्णति–

पढमे पंच सरीरा, संघायणसाडणे य उभए वा ।
पमिलेहणा पमज्जण,अकरण अविधी य णिक्खिवणा ॥२३५

(पढमे त्ति) णिव्वत्तणाधिकरणे पंच सरीरा ओरालियादि, संघातकरणं साडनकरणं च । एवं अट्ठविहं मूलकरणं ॥२३५॥

पुनः णिव्वत्तणाधिकरणस्वरूपं भण्णति–

णिव्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणे वा वि उत्तरगुणे य ।
मूले पंच सरीरा, दोसु ते संघातणा णत्थि ॥ २३६ ॥

णिव्वत्तणाधिकरणं द्विविधं–मूलगुणणिव्वत्तणाधिकरणं, उत्तरगुणणिव्वत्तणाधिकरणं च । मूले ओरालियादि पंच सरीरा दट्ठव्वा । दोसु य तेयकम्मएसु सव्वे काले संघातणा णत्थि, अनादित्वात् ॥ २३७ ॥

संघातणा य परिसा–डणा य उभयं व जाव आहारं ।
उभयस्स आणियतठिती,आदी अंते य समओ तु ।२३८।

त्रिकं त्रिष्वपि संभवति, उभयं संघातपरिसाडौ, तस्स ठिती अणियता, द्विकादिसमयसंभवात् । संघातो आयातो एग सव्वं–परिसाडो, अंते एगे एगसमयता ॥२३८॥

सर्वसंघातप्रदर्शनार्थमाह–

हविपूओ कम्मगारे, दिट्ठंता होंति तिसु सरीरेसु ।
करणे य खंधकरणे, उत्तरकरणं तु संघडणा ॥२३९॥

हवि घितं,तत्थ जो पूतो पच्चति सो हविपूओ सो य घयपुण्णो भण्णति । संथायसंथते पक्खित्ते पढमसमए एगंतेण घयग्गहणं करेति, वितिआदिसमएसु गहणं मुंचति य, कम्मकारो लोहकारो, तेण जहा तपितमायसं जले पक्खित्तं,पढमसमए एगंतेण जालातणं करेति, वितिआदिसमएसु गहणं मुंचइ य । एवं तिसु ओरालियादिसरीरेसु पढमसमए गहणमेव करोति, वितिआदिसमएसु संघातपरिसाडो,तेयगकम्माणं सव्वकालं न संघातपरिसाडो, अनादित्वात् । पंचण्हं वि भवते सव्वसाडो । अहवा तिण्हं ओरालियविउव्वियआहारगाणं मूलंगकरणा अट्ठ- सिरो,उरं, उदरं,पुट्ठी,दो बाहाओ, दोण्णि य ऊरू, सेसं उत्तरकरणं । अहवा तिसु आइल्लेसु ओरालादी,उत्तरकरणं छेज्जेण,खंधकरणं त्रिफलादिघृतादिना वर्णकरणं । अथवा इमं चउव्विहं सव्वकरणं संघायकरणं परिसाडणाकरणं ॥ २३९ ॥

संघाय परिसाडणा, य मीसे तहे व पडिसेहे ।
फरुसंखणघूणादी, उट्ठति रित्थाणुकरणं तु ॥ २४० ॥

परिसाडणाकरणं, तत्थ ओरालिय एगिंदियादि पंचविधं, तज्जोणी पाहुडादिणा । जहा सिद्धसेणायरिएण अस्सए कता, जहा वा एगेण आयरिएण सीसस्स उवादिट्ठो जोगो जहा महिसो भवति,तं च सुयं आयरियस्स भाइणिज्जेण,सो य णिग्गमो उ णिक्खंतो महिसं उप्पादेउं सोयरियाण हत्थे विक्किणइ । आयरिएण सुयं, तत्थ गतो भणाति–किं ते एएण ?,अहं ते रयणजोगं पयच्छामि । दव्वे आहराहि । ते य आहरित्ता आयरिएण संजोतिता,एगंते णिक्खित्ता भणितो–पत्तिएण कालेण ओक्खणेज्जाहि, अहं गच्छामि । तेण उक्खित्तो दिट्ठीविसो सप्पो जातो । सो तेण मारितो, अधिकरणच्छेओ,सो वि सप्पो अंतो मुहुत्तेण मओ । एवं जो णिव्वत्तेइ सरीरं तं अधिकरणकहं,जतो सुत्ते भणियं–'जीवेणं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तेमाणे किं अधिकरणं ?। अधिकरणी जीवो,अधिकरणी सरीरं,अधिकरणं णिव्वत्तणाधिकरणं ॥ णिव्वत्तणाधिकरणं गतं ॥ नि० चू० ४ उ० ।

निक्षेपणाधिकरणं द्विधा–लौकिकं,लोकोत्तरिकं च । तत्र यन्मत्स्यग्रहणार्थं गलनामा लोहकण्टको कुरङ्गं वा मृगादीनां ग्रहणाय जालं वा, लावकादीनामर्थाय निक्षिप्यते शतघ्न्यादीनि घरघट्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते,तदेतल्लौकिकं निक्षेपणाधिकरणम । यस्तु लोकोत्तरिकं तत् षड्विधम्–यत्र पात्राद्युपकरणं निक्षिपति तत्र न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति २, प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३, यत्तु प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति तद्दुःप्रत्युपेक्षितं ४, दुःप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितम ५, सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं ६ करोति । एवमेते षड्भङ्गा निक्षेपणाधिकरणम । यस्तु सप्तमो भङ्गः सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं करोतीति लक्षणः, स नाधिकरणं; शुद्धत्वात् । यद्वा–यद् भुक्तं पानकं वा अपावृतं स्थापयति तन्निक्षेपणाधिकरणम । बृ० १ उ० ।

इयाणिं संजोयणा, सा दुविहा-लोइया, लोउत्तरिया य ।

लोइया अनेकविहा–

विसगरमादी लोए, लोउत्तरं भत्तोवधिमादिम्मि ।
अंतो बहि आहारे, विहियविधा सिज्जणा उवधी ॥२४२॥
कंमादिलोअणिसिरए–ओतरणा पमादणा जोगे ।
मूलादि जाव चरिमं, अधवा वी जं जहि कमति ॥२४३॥

नि० चू० ५ उ० ।

संयोजनाधिकरणमपि द्विविधम—लौकिकलोकोत्तरिकभेदात् । तत्र लौकिकं रोगाद्युत्पत्तिकारणं; विषगरादिनिष्पत्तिनिबन्धनं वा द्रव्यं संयोजनम । लोकोत्तरिकं तु

भक्तोपधिशय्याविषयसंयोजनम् । बृ० १ उ० ।

इयाणिं णिसिरणा दुविधा-लोइया, लोउत्तरिया, (लोइया) णिसिरणे तिविधा-सहसा पमाएण ; अणाभोगेण य, पुव्वाइट्ठेण जोगेण । किंचि सहसा णिसरति पंचविधपमायअन्नतरेण पमत्तो णिसरति , एगंत विस्सरति अणाभोगो तेण णिसरति। नि० चू० ४ उ० ।

निसर्जनाधिकरणमपि लौकिकम-शरशक्तिचक्रपाषाणादीनां निसर्जनम् । लोकोत्तरिकं तु सहसाकारादिना यत्कण्टककङ्करादीनां भक्तपानान्तःपतितानां निसर्जनम् । बृ० १ उ० ।

इयाणिं णिव्वत्तणादिसु पच्छित्तं , तत्थ णिव्वत्तणे मूलादि पच्छित्तं । एगिंदियादी णिव्वत्तयं तस्स अभिक्खमेवं तु पढमवाराए मूलं, वितियवाराए अणवट्ठं, ततियवाराए पारंचियं, अधवा जं जहिं कमति संघट्टणादिकं आयविराहणादिणिप्फण्णं वा ।

एगिंदियमादीसु तु, मूलं अधवा वि होति सट्ठाणं ।
झुसिरेतरनिप्फण्णं, उत्तरकरणम्मि पुव्वुत्तं ॥ २४४ ॥

एगिंदियं जाव पंचिंदियं णिव्वत्ते, तस्स मूलं, अहवा वि होति सट्ठाणं ति "छक्कायचउसु" गाहा । परित्तं णिव्वत्तेति चउलहुं, अणंते चउगुरुं, वेइंदिएहिं छ लहुं,तेइंदिए छग्गुरुं, चउरिंदिएहिं छेदो, पंचेंदिए मूलं, उत्तरकरणे झुसिराझुसिरणिप्फण्णं पुव्वुत्तं, इहेव पढमुद्देसए पढमसुत्ते णिक्खिवसंजोगणिसिरणेसु इमं पच्छित्तं-

तिय मासिय तिग पणए,णिक्खिवसंजोगगुरुगलहुगा वा ।
झुसिरेतरसंतरणिरं-तरे य वुत्तं णिसरणम्मि ॥ २४५ ॥

सत्तभंगीए पढमवितियततिएसु भंगेसु मासलहुं, चउत्थपंचमछट्ठेसु पणगं, चरिमो सुद्धो तवकालविसेसितो कायव्वो । आहारे उवकरणे वा एगे चउगुरुगं,दोसु चउलहुगं। अहवा-सामण्णेण आहारे चउगुरुगा, उवकरणे लहुगो, णिसिरणे झुसिरा अज्झुसिरे य संतरणिरंतरेसु वुत्तं पच्छित्तं पढमसुत्ते । दव्वाहिकरणे गयं । नि० चू० ४ उ० ।

अथ भावाधिकरणमाह-

अह तिरिय उड्डकरणे, बंधण निव्वत्तणा य निक्खिवणं ।
उवसमखएण उड्ढं, उदएण भवे अहीगरणं ॥

इह क्रोधादीनामुदयो भावाधिकरणमित्युक्तम् । अतस्तेषामेवाधस्तिर्यगूर्ध्वकरणे अधोगतिनयने तिर्यग्गतिनयने ऊर्ध्वगतिनयने च स्वरूपं वक्तव्यम् । बृ० १ उ० ।

(३) अधिकरणं च न करणीयम्-

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारुणं ।
अट्ठे परिहायती बहू,अहिगरणं न करिज्ज पंडिए ॥१९॥

अधिकरणं कलहः, तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः । तस्यैवंभूतस्य भिक्षोः, तथाऽधिकरणकरीं दारुणां भयानकां वा प्रसह्य प्रकटमेव,वाचं ब्रुवतः सतोऽर्थोऽमोक्षः,तत्कारणभूतो वा संयमः, स बहु परिहीयते ध्वंसमुपयाति । इदमुक्तं भवति-बहुना कालेन यदर्जितं विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वतः परोपघातिनीं च वाचं ब्रुवतस्तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति । तथाहि-"जं अज्जियं समीख-ल्लएहिँ तवनियमबंभमइएहिं । माहु तयं कलहंता, छड्डे अह सागपत्तेहिं" इत्येवं मत्वा मनागप्यधिकरणं न कुर्यात् पण्डितः सदसद्विवेकीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम्—

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विओसवित्ता विओसवियपाहुडे; इच्छाए परो आढाइज्जा, [इच्छाए परो नो आढाइज्जा,] इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा,[इच्छाए परो नो अब्भुट्ठेज्जा ,]इच्छाए परो वंदिज्जा, इच्छाए परो नो वंदिज्जा, इच्छाए परो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो संवसिज्जा , इच्छाए परो नो संवसिज्जा , इच्छाए परो उवसमिज्जा;जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा । तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं स किमाहु-भंते ! ; उवसमसारं सामण्णं ॥

भिक्षुः सामान्यः साधुः , चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादाचार्योपाध्यायावपि गृह्येते । अधिक्रियते नरकगतिगमनयोग्यतां प्राप्यते आत्मा अनेनेत्यधिकरणम् , कलहः प्राभृतमित्येकार्थाः तत्कृत्वा तथाविधद्रव्यक्षेत्रादिसाचिव्योपबृंहितकषायः मोहनीयोदयो द्वितीयसाधुना सह विधाय; ततः स्वयमन्योपदेशेन वा परिभिद्य तस्यैहिकामुष्मिकापायबहुलं तां तदधिकरणं विविधमनेकैः प्रकारैः स्वापराधप्रतिपत्तिपुरस्सरं मिथ्यादुष्कृतप्रदानेन तां व्युपशमय्य उपशमं नीत्वा ततो विशेषेणावसायितमवसानं नीतं प्राभृतं कलहो येनाध्यवसायितप्राभृतो व्युत्सृष्टकलहो भवेत् । किमुक्तं भवति? गुरुसकाशे स्वदुश्चरितमालोच्य, तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तं च यथावत्प्रतिपद्य , भूयस्तदकरणायाभ्युत्तिष्ठेत् । आह-येन सह तदधिकरणमुत्पन्नं स यद्युपशम्यमानोऽपि नोपशाम्यति ततः को विधिः?, इत्याह-"इच्छाए परो आढाइज्जा" इत्यादि सूत्रम् । इच्छया यथा स्वरूपव्यापारमाश्रियेत, प्रागेव संभाषणादिभिरादरं कुर्याद्वा न वेति भावः। एवमिच्छया परस्तमभ्युत्तिष्ठेत् । इच्छया परो न साधुना सह संभुञ्जीत, एकमण्डल्यां भोजनं दानग्रहणसंभोगं वा कुर्यात् । इच्छया परो न संभुञ्जीत। इच्छया परस्तेन साधुना सह संवसेत् , समेकीभूयैकत्रोपाश्रये वसेत , इच्छया परो न संवसेत । इच्छया पर उपशाम्येत् । परं य उपशाम्यति कषायतापापगमेन निर्वृत्तो भवति तस्यास्ति सम्यग्दर्शनादीनामाराधना, यस्तु नोपशाम्यति तस्य नास्ति तेषामाराधना, तस्मादेवं विचिन्त्यात्मनैवोपशान्तव्यमुपशमः कर्त्तव्यः । शिष्यः प्राह-[स किमाहु-भंते !] अथ किमत्र कारणमाहुर्भदन्त ! परमकल्याणयोगिनस्तीर्थकरादयः ? ।सूरिराह-उपशमसारं श्रामण्यं, तद्विहीनस्य निष्फलतयाऽभिधानात् । उक्तं च दशवैकालिकनिर्युक्तौ-"सामण्णमणुचरंत-स्स कसाया जस्स उक्कडा होंति । मन्नामि उच्छुपुप्फं, व निष्फलं तस्स सामण्णं " ॥ १ ॥ इति सूत्रार्थः ।

अथ विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति-

घेप्पंति चसद्देणं, आयरिया भिक्खुणीओ अ ।
अहवा भिक्खुग्गहणा, गहणं खलु होइ सव्वेसिं ॥

इह सूत्रे भिक्षुश्चेति यश्चशब्दः , तेन गणी, उपाध्यायः, तथा आचार्यो,भिक्षुण्यश्च गृह्यन्ते । अथवा-भिक्षुपदोपादानात् सर्वेषामप्याचार्यादीनां ग्रहणे तज्जातीयानां सर्वेषां ग्रहणमिति वचनात् ।

खामिय विनासिय विणा-सियं च खमियं च होइ एगट्ठा ।
पाहुण पहेण पणयण, एगट्ठा ते उ निरयस्स ॥

क्षामितं विनाशमितं, विनाशितं क्षपितमिति च एकार्थानि पदानि भवन्ति। तथा-प्राभृतं प्रहेणकं प्रणयनमिति वा श्रीएयप्येकार्थानि। तानि तु प्राभृताख्यानि नरकस्य मन्तव्यानि। यत एतदधिकरणं नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते। एवं प्रहेणकप्रणयनपदे अभिलापनीये।

इच्छा न जिणादेसो, आढा उ ण आदरो जहा पुव्विं।
भुंजण वास मणुन्ने, सेस मणुन्ने च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशस्तीर्थकृतामुपदेशोऽयमिति कृत्वा नादरादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छन्देन। तथा आढा नाम आदरस्तं यथा पूर्वमुचितालापादिभिः कृतवाँस्तथा कुर्याद्वा न वा; शेषाणि त्वभ्युत्थानादीनि सुगमानीतिकृत्वा भाष्यकृता न व्याख्यातानि। अत्र च संभोजनसंवासनपदे मनोज्ञेषु सांभोगिकेषु भवतः, शेषाणि त्वादराभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि मनोज्ञेषु वा सांभोगिकेषु, इतरेषु वा असांभोगिकेषु भवेयुः। कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या। बृ० १ उ०।

(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते? इत्याशङ्कावकाशमवलोक्य तदुत्थानकारणानि दर्शयति-

सच्चित्ते य अचित्ते, मीसवओगयपरिहारदेसकहा।
सम्मं णाउट्टत्ते, अहिगरणमओ समुप्पज्जे ॥

सचित्ते शैक्षादौ, अचित्ते वस्त्रपात्रादौ, मिश्रके सभाण्डमात्रकोपकरणैः शिष्यादौ, अनासेव्ये अपरेण गृह्यमाणे, तथा वचोगतं व्यत्याम्रेडितादि। तत्र चाविधीयमाने परिहारः स्थापना, तदुपलक्षितानि यानि कुलानि तेषु प्रवेशे क्रियमाणे देशकथायां वा विधीयमानायां एतेषु स्थानेषु प्रतिनोदितो यदि सम्यङ् नावर्तते न प्रतिपद्यते; अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति-

आभव्वमदेमाणे, गिएहंतं तहव मग्गमाणे य।
सचित्तेतरमीसे, वितहपडिवत्तिओ कलहो ॥

आभाव्यं नाम शैक्षं, शैक्षः कस्याप्याचार्यस्योपतस्थे, प्रव्रज्यां गृह्णामीति। तमुपस्थितं मत्वा विपरिणमय्य परः कश्चिदाचार्यो गृह्णाति। ततो मूलाचार्यो ब्रवीति-किमिति मदीयमाभाव्यं गृह्णासि? पूर्वगृहीतं वा शैक्षादिकं याचितो मदीयमाभाव्यं किं न प्रयच्छसीति? एवमाभाव्यं सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तत्कालगृह्यमाणं पूर्वगृहीतं वा मार्ग्यमाणमपि यदा वितथप्रतिपत्तितो न ददाति तदा सकलहो भवति। वितथप्रतिपत्तिर्नाम परस्याभाव्यमपि शैक्षादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते।

वचोगतद्वारमाह-

वेच्चामेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव।
अन्नम्मि य वत्तव्वे, हीणाहियअक्खरे चेव ॥

सूत्रे सूत्रविषये, व्यत्याम्रेडना अपरापरोद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धेषु घट्टनाऽऽलापकश्लोकादीनां योजना। यथा-"सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं" इत्यत्रेदमालापकपदं घटते- "सव्वे पाणपिया उ" इत्यादि। तथाभूतं सूत्रं परावर्तयन् किमिदं सूत्रं व्यत्याम्रेडयसीति प्रतिनोदितो यदि न प्रतिपद्यते तदाऽधिकरणं भवति। देशीभाषा नाम मरुमालवमहाराष्ट्रादिदेशानां भाषातोऽन्यत्र देशान्तरे भाष्यमाण उपहस्यते, उपहस्यमानश्च संक्षमं करोति। यद्वा-प्रपञ्चनं वचनानुकारेण वा करोति, ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते। अन्यस्मिन् वा वक्तव्ये कोऽप्यन्यद्वक्ति। यद्वा-हीनाक्षरमधिकाक्षरं वा पदं वक्ति। तत्र हीनाक्षरं भास्कर इति वक्तव्ये भाकर इति वक्ति। अधिकाक्षरं सुवर्णमिति वक्तव्ये सुसुवर्णमिति ब्रवीति।

परिहारकद्वारमाह—

परिहारियमठविंते, ठवियमणट्ठाएँ णिव्विसंते वा।
कुच्छियकुले य पविसइ, वा जइ णाउट्टणे कलहो ॥

गुरुग्लानबालादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि पारिहारिकाण्युच्यन्ते, एकं गीतार्थसंघाटकं मुक्त्वा शेषसंघाटकानां परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः। तानि यदि न स्थापयति, स्थापितानि वा अनर्थे निष्कारणं निर्विशति, प्रविशतीत्यर्थः। यद्वा-पारिहारिकाणि नाम कुत्सितानि जात्यादिजुगुप्सितानीति भावः। तेषु कुलेषु प्रविशति। एतेषु स्थानेषु यदि नावर्त्तते न वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति।

देशकथा—

देसकहा परिकहणे, एक्के एक्के व देसरागम्मि।
सोरट्ठदेस एगे, दाहिण बीयम्मि अहिगरणं ॥

न वर्त्तते साधूनामीदृशीं कथां कथयितुम्। स प्राह-कोऽसि त्वं?, येनैवं मां वारयसि। तथाऽप्यस्थिते अनुपरते सत्यधिकरणं भवति। यद्वा-(एक्केक्के व देसरागम्मि त्ति) एकः साधुः सुराष्ट्रं वर्णयति, यथा रमणीयः सुराष्ट्रो विषयः। द्वितीयः प्राह-कूपमण्डूक! त्वं किं जानासि?, दक्षिणापथ एव प्रधानो देशः। एवमेकैकदेशरागेणोत्तरप्रत्युत्तरिकं कुर्वाणयोरधिकरणं भवति। बृ० १ उ०। नि० चू०।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम्

एवमुत्पन्ने अधिकरणे किं कर्त्तव्यम्?, इत्याह—

जो जस्स उ उवसमई, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं।
जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुर्यस्य साधोः प्रज्ञापनया उपशाम्यति तस्य तेन साधुना विध्यापनं क्रोधाग्निनिर्वापणं कर्तव्यम्। यः पुनः साधुरुपेक्षां कुर्यात् स आपद्यते मासिकं लघुकम्।

लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स।
उत्तुयमाणा लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसा ॥

उपेक्षां कुर्वाणस्य लघुको मासः, उपहसत एव मासो गुरुकः। अथ उत्प्राबल्येन तुदति अधिकरणं करोति, विशेषत उत्तेजयतीत्यर्थः। ततश्चत्वारो लघुकाः। अथ कलहं कुर्वतः सहायकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सह सदृशदोष इति कृत्वा सदृशं प्रायश्चित्तमापद्यते, चतुर्गुरुकमित्यर्थः।

तथा चाऽऽह—

चउरो चउगुरु अहवा, विसेसिया होंति भिक्खुमाईणं।
अहवा चउगुरुगादी, हवंति उच्छेदनिट्ठवणा ॥

भिक्षुवृषभोपाध्यायाचार्याणामधिकरणं कुर्वतां प्रत्येकं चतुर्गुरुकम्, ततश्चत्वारश्चतुर्गुरुका भवन्ति। अथवा त एव चतुर्गुरुकाः,

तपःकालविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-भिक्षोश्चतुर्गुरुकं तपसा, कालेन च लघुकम् । वृषभस्य तदेव कालगुरुकम् । उपाध्यायस्य तपोगुरुकम् । आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । अथवा चतुर्गुरुकादारभ्य छेदं निष्ठापना कर्त्तव्या । तद्यथा-भिक्षुरधिकरणं करोति चेत् चतुर्गुरुकम् । वृषभस्य षड्लघुकम् । उपाध्यायस्य षड्गुरुकम् । आचार्यस्याधिकरणं कुर्वाणस्य छेद इति । यथा चाऽधिकरणकरणे आदेशत्रयेण प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि द्रष्टव्यम्; समानदोषत्वात् ।

अथोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तिया न किरिया, मोत्तु परहं च जयसु आयट्ठे ।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्वतो दृष्ट्वा मध्यस्थभावेन तिष्ठति, नान्येषामप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परप्रत्यया या क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न भवति, परकृतस्य कर्मण आत्मनि संक्रमाभावात् । तथा यद्येतावधिकरणाद्नुपशाम्येते, ततः परार्थकृतो भवति । तं च परार्थं मुक्त्वा यदि मोक्षार्थिनस्तत आत्मार्थ एव स्वाध्यायादिके यतध्वं यत्नं कुरुत । अपि चेत्यभ्युच्चये । ओघनिर्युक्तिशास्त्रेऽप्युपेक्षा संयमाङ्गतया प्रोक्ता-"उवेहा संजमो वुत्तो" इति वचनात् । यद्वा-मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु मध्ये स्थापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता ततः सैव साधूनां कर्तुमुचितेति भावः । अत्र सूरिराह-(गुणो वि दोसो हवइ) यदिदमविनेयेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानङ्गीकृत्य; यस्मादसंयतविषयमुपेक्षा क्रियमाणा गुणः, संयतेषु क्रियमाणा महान् दोषो भवति । उक्तं चौघनिर्युक्तावपि-" संजयगिहचोयणाचोयणे य वावार उवेहा ।

अथ 'परपत्तिया न किरिय त्ति' पदं भावयति-

जइ परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं ।
मज्झ मोणं चरंतस्स, के अट्ठे परिहायई ? ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकुशलकर्मोपाधिकरणादिकां प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम मौनमाचरतः को नाम ज्ञानादीनां मध्यादर्थः परिहीयते ?, न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ 'मोत्तु परट्ठं च जयसु आयट्ठे' इति पदं व्याचष्टे-

आयट्ठे उवउत्ता, मा परमट्ठ वावडा होह ।
हंदि परट्ठाउत्ता, आयट्ठविणासगा होंति ॥

आत्मार्थो नाम ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्रोपयुक्ता भवत । मा परकार्ये अधिकरणोपशमनादौ व्यापृता भवत । हंदीति हेतूपप्रदर्शने, यस्मात्परार्थायुक्ता आत्मार्थविनाशकाः स्वाध्यायध्यानाद्यात्मकार्यपरिमन्थकारिणो भवन्ति ।

अथोपहसनोत्तेजनाद्वारे युगपद् व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, हसइ व तस्सोमयाए ओहसणा ।
उत्तरदाणं तह मो-सराहि अह होइ उत्तअणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्वतोरेकस्मिन् सीदति सति आचार्योऽन्यो वा ब्रवीति-एषोऽपि तावद् दान्तपूर्वः, दम्यतामिदानीमनेन, यदि वा तस्यावमतायाः, पश्चात्करणे इत्यर्थः; स्वयमट्टहासैरुपहसति, एतदुपहसनमुच्यते । तथा तयोर्मध्याद्यः सीदति तस्योत्तरदानमसुकममुकं च ब्रूहि इत्येवं शिक्षापणम्, यद्वा-मा अमुष्मादपसर त्वं, दृढीभूय तथा लग यथा न तेन पराजीयसे । अथैषा उत्तेजनाऽभिधीयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

वायाए हत्थेहिं, पाएहिँ व दंतलउडमादीहिं ।
जो कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं विंति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्मध्यादेकस्य पक्षं कृत्वा यः कोऽपि वाचा हस्ताभ्यां वा पद्भ्यां वा दन्तैर्वा लगुडादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो ब्रुवते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वाणानां सामान्येन वा अधिकरणे अनुपशाम्यमाने दोषदर्शनार्थमिदमुदाहरणमुच्यते-

अरत्तमज्झे एगं सव्वतो वणसंडमंडियं महंतं सरं अत्थि । तत्थ य बहूणि जलचरथलचरखहचरसत्ताणि अच्छंति । तत्थ एगं महल्लं हत्थिजूहं परिवसइ, अन्नया य गिम्हकाले तं हत्थिजूहं पाणियं पाउं ण्हाउत्तिन्नं मज्झण्हदेसकाले सीयलरुक्खछायाए सुहं सुहेणं चिट्ठइ । तत्थ य अदूरदेसे दो सरडा भंडिउमारद्धा । वणदेवयाए अंते दट्ठुं सव्वेसिं सभासाए आघोसियं-

"नागा! वा जलवासीया!, सुणेह तसथावरा ! ।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तइ" ॥ १ ॥

ता मा एते सरडे उवेक्खह, वारेह तुब्भे । एवं जाणिया वि ते जलचरा इणो चिंतेंति-किं अम्हं एते सरडा भंडंता काहिंति? । तत्थ य एगो सरडो तो पिल्लितो सो धाडिज्जंतो सुहपसुत्तस्स एगस्स जूहाहिवस्स बिलं ति काउं नासापुडं पविट्ठो । बिइओ वि तस्स पिट्ठओ चेव पविट्ठो; ते सिरकपाले जुज्झं संपलग्गा । तस्स हत्थिस्स महती अरई जाया । तओ वेयणट्टे मेहऽए असमाहीए वट्टमाणो उट्ठेत्ता तं वणसंडं चूरेइ । बहवे तत्थ विस्संता घाइया, जलं च आडोहितेण जलचरा घाइया, तलागपाली य भेइया, तडागं विणट्ठं, ताहे जलचरा सव्वे वि णट्ठा ।

भो नागा हस्तिनः ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपादयः ! अपरे च ये त्रसा मृगपशुपक्षिप्रभृतयः! स्थावराश्च सहकारादयो वृक्षाः!, एते सर्वेऽपि यूयं शृणुत मदीयं वचनम्-यत्र सरसि सरटौ भण्डतः-कलहं कुरुतः; तस्याभावः परिवर्तते, विनाशः संभाव्यत इति भावः ।

अमुमेवार्थमाह-

वणसंडसरे जलथल-खहचरवीसमण देवयाकहणं ।
वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयनास चूरणया ॥

वनखण्डमिते सरसि जलथलखचराणां विश्रमणं, तत्र सरटरणनं दृष्ट्वा वनदेवतया, 'नागा वा जलवासीया' इत्यादि श्लोककथनं कृत्वा वारयत सरटौ कलहायमानावित्युपदिष्टम् । ततश्च तैर्नागादिभिः सरटयोरुपेक्षणं कृतम्, एकस्य च सरटस्य द्वितीयेन धाटनं कृतं, ततोऽसौ धाट्यमानो गजनासापुटं प्रविष्टवान् । तत्पृष्ठतो द्वितीयोऽ-

पि प्रविष्टः, तयोश्च युद्धे लग्नेऽसह्यवेदनार्त्तेन हस्तिना वनखण्डस्य चूर्णं कृतमिति, एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्षमाणानां तत्पद्मसरः सर्वेषामप्याश्रयभूतं विनष्टं, तस्मिंश्च विनश्यमाने तेऽपि विनष्टाः, एवमत्राप्याचार्यादीनामुपेक्षमाणानां महान् दोष उपजायते। कथमिति चेत्?, उच्यते-इह तावधिकरणकारिणावुपेक्षितौ परस्परं मुष्टामुष्टि वा दण्डादण्डि वा युध्येतां, ततश्च परम्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः,यतः स राजादिस्तेषां साधूनां बन्धनं वा, ग्रामनगरादेर्निष्कासनं वा, कण्टकमर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्–

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तनाणाणं ।
साहुपदोसो संसा-रवद्धणो साहिकरणस्स ॥

तापो, भेदो, अयशो, हानिर्दर्शनज्ञानचारित्राणां, तथा-साधुप्रद्वेषः संसारवर्द्धनो भवति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तीति समासार्थः ।

अथैनामेव गाथां विवृणोति–

अइभणिय अभणिए वा, तावो भेदो उ जीवचरणाणं ।
रूवसरिसं न सीलं, जिम्हं मण्णे अयस एवं ॥

तापो द्विधा–प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्रातिभणिते सति चिन्तयति-धिङ् मां येन तदानीं स साधुर्बहुभिर्विधैरसद्भ्याख्यानैरभ्याख्यातः-इत्थमित्थं चाक्रुष्टः, एष प्रशस्तस्ताप उच्यते । अथाभणितं न तथाविधं तस्य मुखे भणितं, ततश्चिन्तयति–हा ! मन्दभाग्यो विस्मरणशीलोऽहं यन्मया तदीयं जात्यादिमर्मनिकुरम्बं न प्रकाशितं, एष अप्रशस्तस्तापो मन्तव्यः । तथा कलहं कृत्वा जीवितभेदं चरणभेदं वा कुर्युः, पश्चात्तापात्तप्तचेतसो विहायसादिमरणमभ्युपगच्छेयुः, उन्निष्क्रमणं वा कुर्युरिति भावः। लोकोऽपि ब्रूयात्-अहो ! अमीषां श्रमणानां रूपसदृशं बहिः प्रशान्ताकारं रूपमवलोक्यते, तादृशं शीलं मनःप्रणिधानं नास्ति । यद्वा–किम्?, मन्ये जिह्मं लज्जनीयं किमप्यनेन कृतं, येनैवं प्रम्लानवदनो दृश्यते, एवमादिकमयशः समुच्छलति ।

आकुट्ठ तालिए वा, पक्खापक्खि कलहम्मि गणभेदो ।
एगयर सूयएहिँ व, रायादि सिट्ठे गहणादी ॥

जकारमकारादिभिर्वचनैराक्रुष्टे, ताडिते वा चपेटादण्डादिभिराहते सति, पक्षापक्षि परस्परपक्षपरिग्रहेण साधूनां कलहे जाते सति गणभेदो भवति, तथा-तयोः पक्षयोर्मध्यादेकतरपक्षेण राजकुलं गत्वा शिष्टे कथिते सति, सूचकैर्वा राजपुरुषविशेषैः राजादीनां ज्ञापिते ग्रहणाकर्षणादयो दोषा भवन्ति ।

वत्तकलहो वि न पढइ–ज्ज वच्छलत्ते य दंसणे हाणी ।
जह कोहाइविवड्ढी, तह हाणी होइ चरणे वि ॥

वृत्तकलहोऽपि कलहकरणोत्तरकालमपि कषायकलुषितः पश्चात्तापतप्तमानसो वा यन्न पठति,तेन ज्ञानपरिहाणिः, साधौ प्रद्विष्टे साधर्मिकवात्सल्यं विराधितं भवति, अवात्सल्ये च दर्शनपरिहाणिः, यथा च क्रोधादीनां कषायाणां वृद्धिस्तथा चरणेऽपि चारित्रस्य परिहाणिर्भवति, विशुद्धसंयमस्थानप्रतिघातेनाविशुद्धसंयमस्थानेषु गमनं भवतीत्यर्थः । एतच्च व्यवहारमाश्रित्योक्तम् ।

निश्चयतस्तु—

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।
साहूण पदेसेण य, संसारं सो विवड्ढेइ ।

खुशब्दस्यैवकारार्थत्वादकषायमेव कषायविरहितमेव चारित्रं भगवद्भिः प्रज्ञप्तम्, अतो निश्चयनयाभिप्रायेण कषायसहितः संयत एव न भवति, चारित्रशून्यत्वात् । तथा साधूनामुपरि यः प्रद्वेषस्तेनासौ संसारं वर्द्धयति, दीर्घतरं करोति । यत एते दोषास्तत उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तर्हि कर्तव्यम् ?, इत्याह—

आगाढे अहिगरणे, उवसम अवकड्ढणा य गुरुवयणं ।
उवसमह कुणह झायं, छड्डणया सागपत्तेहिं ॥

आगाढे कर्कशे, अधिकरणे उत्पन्ने द्वयोरप्युपशमः कर्तव्यः । कथमित्याह-कलहायमानयोस्तयोः पार्श्वस्थितैः साधुभिरपकर्षणमपसारणं कर्तव्यम, गुरुभिश्चोपशमनार्थमिदं वचनमभिधातव्यम्–आर्याः ! उपशाम्यतोपशाम्यत । अनुपशान्तानां कुतः संयमः ?, कुतो वा स्वाध्यायः ?, तस्मादुपशमं कृत्वा स्वाध्यायं कुरुत। किमेवं द्रमकवत् कनकरसस्य शाकपत्रैः छर्दना परित्यागं कुरुथ ?। कः पुनरयं द्रमकः ?, उच्यते–

जहा–एगो परिव्वायगो दमगपुरिसं चितासोगसागरावगाढं पासति। पुच्छति य–किमेवं चितापरो ?। तेण से सब्भावो कहितो, दारिद्दाभिभूतो मि त्ति। तेण भणइ सो–इस्सरं तुमं करेमि, जतो सीतातववातपरिस्समं अगणंतेहिं तिमाखुधावेयणं सहंतेहिं बंभचारीहिं अचित्तकंदमूलपत्तपुप्फफलाहारीहिं समीपत्तपुडएहिं भावंतो अरुसमाणेहिं घेत्तव्वो। एस से उवचारो। तेण दमगेण सो कणगरसो उवचारेण गहितो, तुंबयं भरितं। ततो णिग्गतो तेण परिव्वायगेण भणियं-सुरुट्ठेण वि तुमे एस सागपत्तेण ण छड्डेयव्वो। ततो सो परिव्वायगो गच्छंतो दमगपुरिसं पुणो २ भणति–मम पभावेण ईसरो भविस्ससि। सो य पुणो २ वज्जमाणो रुट्ठो भणति–जं तुज्झ पसाएण इस्सरत्तणं, तेण मे न कज्जं, तं कणगरसं सागपत्तेण छड्डेति । ताहे परिव्वायगेण भणियं–हा हा दुरात्मन्! किमेयं तुमे कयं ?।

जं अज्जियं समीख–ल्लएहिँ तवनियमबंभमइएहिं ।
तं दाणि पच्छ नाहिह, छड्डंतो सागपत्तेहिं ॥

यदर्जितं शमीसंबन्धिभिः खल्लकैः पत्रपुटैस्तपोनियमब्रह्मयुक्तैः तदिदानीं शाकपत्रैः परित्यजन् पश्चात्परित्यागकालादूर्द्ध्वमुपरि तं ज्ञास्यसि, यथा–दुष्टु मया कृतं, यच्चिरसंचितः कनकरसः शाकपत्रैरुत्सिच्य परित्यक्तः । एवं परिव्राजकेन द्रमक उपालब्धः। अथाचार्यस्तावधिकरणकारिणावुपालभते। आर्यौ यच्चारित्रं कनकरसस्थानीयं तपोनियमब्रह्मचर्यमयैः शमीखल्लकैरर्जितं परीषहोपसर्गादिश्रमं न गणयसि, चिरात्कथं कथमपि मीलितं तदिदानीं शाकपत्रसदृशैः कषायैः परित्यजन्तः पश्चात्परितप्यमानमनाः स्वयमेव ज्ञास्यसि। यथा-हा ! बहुकालोपार्जितेन संयमकनकरसेन तुम्बकस्थानीयं स्वजीवबहुधूर्के

कृत्वा पश्चात्कलहायमानैः शाकवृन्तपत्रस्थानीयैः कषायैरुरित्तवर्योऽसिच्यायमसारीकृतः, शिरस्तुण्डमुण्डनादिश्च प्रव्रज्याप्रयासो मुधैव विहित इति ।

आह-कथमेकमुहूर्त्तभाविनाऽपि क्रोधादिना चिरसंचितं चारित्रं क्षयमुपनीयते ?, उच्यते—

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोमीए ।
तं पि य कसायमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

यदर्जितं चारित्रं देशोनयाऽप्यष्टवर्षोनयाऽपि पूर्वकोट्या तदपि स्तोकमल्पतरकालोपार्जितमित्यपिशब्दार्थः। तदपि कषायितमात्रः, उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाय इत्यर्थः। नाशयति हारयति, नरः पुरुषो, मुहूर्त्तेन, अन्तर्मुहूर्त्तेनेति भावः। यथा-प्रभूतकालसंचितोऽपि महान् तृणराशिः सकृत्प्रज्वालितेनापि अग्निना सकलोऽपि भस्मसाद्भवति; एवं क्रोधानलेनापि सकृदुदीरितेन चिरसंचितं चारित्रमपि भस्मीभवतीति हृदयम् । एवमाचार्येण सामान्यतस्तयोरनुशिष्टिर्दातव्या, नत्वेकमेव कञ्चन विशिष्य भणनीयम् ।

यत आह—

आयरिए न जवे अह, एग निवारेइ मासियं लहुगं ।
रागद्दोसविमुक्को, सीयघरसमो उ आयरिओ ॥

आचार्यो नैकमधिकरणकारिणं भणति अनुशास्ति। अथाचार्य एकमेव निवारयति अनुशास्ति न द्वितीयम्, ततो मासिकं लघुकमापद्यते, असामाचारीनिष्पन्नमिति भावः । तस्मादाचार्यो रागद्वेषविमुक्तः शीतगृहसमो भवेत्। शीतगृहं नाम वर्द्धकिरत्ननिर्मितं चक्रवर्तिगृहम्; तच्च वर्षास्वनिवातप्रवातम; शीतकाले सोष्मम; ग्रीष्मकाले शीतलम्; यथा च तच्चक्रवर्तिनः सर्वर्तुक्षमं तथा द्रमकादेरपि प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्वर्तुक्षममेव भवति । एवमाचार्यैरपि निर्विशेषैर्भवितव्यम् ।

अथ विशेषं करोति, तत इमे दोषाः-

वारेइ एस एवं, ममं न वारेइ पक्खरागेणं ।
बाहिरभाव गाढतर-गं तुमं च पेक्खसी एक्कं ॥

एष आचार्य आत्मीयोऽयमिति बुद्ध्या अमुं वारयति; एवं पक्षरागेण क्रियमाणेन अननुशिष्यमाणः साधुर्बाह्यभावं गच्छति। यद्वा-स अननुशिष्यमाणो गाढतरमधिकरणं कुर्यात् । अथवा-तमाचार्यं परिस्फुटमेव ब्रूयात्-त्वं मामेवैकं बाह्यतया प्रेक्षसे, ततश्चात्मानमुद्बध्य यदि मारयति, तत आचार्यस्य पाराञ्चिकम्; अथो निष्कामति ततो मूलम्। तस्माद् द्वावप्यनुशासनीयौ, अनुशिष्टौ च यद्युपशान्तौ ततः सुन्दरम् । अथैक उपशान्तो न द्वितीयः, तेन चोपशान्तेन गत्वा स स्वापराधप्रतिपत्तिपुरस्सरं क्षामितः, परमसौ नोपशाम्यति। आह-कथमेतदसौ जानाति यथाऽयं नोपशान्तः?, उच्यते-यदा वन्द्यमानोऽपि न वन्दनकं प्रतीच्छति। यदि वाऽवमरत्नकोऽसौ ततस्तं रत्नाधिकं न वन्दते, आद्रियमाणोऽपि वा नाद्रियते ।

एवं तमनुपशान्तमुपलक्ष्य ततोऽसौ किं करोतीत्याह-

उवसंतोऽणुवसंतं, पासिज्जा विण्णवेइ आयरियं ।
तस्स उ पण्णवणट्ठा, निक्खेवो परो इमो होइ ॥

उपशान्तः साधुरनुपशान्तमपरं दृष्ट्वा आचार्यं विज्ञापयति-क्षमाश्रमणाः ! उपशान्तोऽहं, परमेष ज्येष्ठार्योऽ मुक्तो वा नोपशाम्यति । तत आचार्यास्तस्य प्रज्ञापनार्थं परनिक्षेपं कुर्वन्ति । बृ० १ उ० । (स च परनिक्षेपः 'पर' शब्द एव करिष्यते)

(७) अथ भावपरो व्याख्यायते, भावः क्षयोपशमादिः, तदपेक्षया परो भावान्तरवर्त्ती, भावान्तरः स वेदोदयिकभाववृत्तिगृहीते। तथा चाऽऽह—

आढणमब्भुट्ठाणं, वंदण संभुंजणा य संवासो ।
एयाइं जो कुणई, आराहण अकुणओ नत्थि ।
अकसायं निव्वाणं, सव्वेहिँ वि जिणवरेहिँ पन्नत्तं ।
सो लब्भइ भावपरो, जो उवसंते अणुवसंतो ॥

आदरः, अभ्युत्थानं, वन्दनं, संभोजनं, संवासश्चेत्येतानि पदानि य उपशान्तो भूत्वा करोति तस्याऽऽराधना अस्ति, यस्त्वेतानि न करोति तस्याऽऽराधना नास्ति । एतेन "जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा" इत्यादिकः सूत्रावयवो व्याख्यातः । अथ किमर्थमादरादिपदानामकरणे आराधना नास्ति?, इत्याह-अकषायं कषायाभावसंभवि निर्वाणं सकलकर्मक्षयलक्षणं सर्वैरपि जिनवरैः प्रज्ञप्तम्। अतो यः कश्चिदुपशान्तेऽपि साधावनुपशान्त आदरादिपदानामकरणेन सकषायः स भावपरो लभ्यते, औदयिकभाववर्तित्वात् ।

अथाचार्यस्तमुपशान्तं साधुं प्रज्ञापयन् प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह-

सो वट्टइ उदईए, भावे तुं पुण खओवसमियम्मि ।
जइ सो तुह भावपरो, एमेव य संजमतवाणं ॥

भो भद्र ! द्वितीयः साधुरद्याप्यौदयिके भावे वर्तते; त्वं पुनः क्षायोपशमिके भावे वर्तसे । अतो यथाऽसौ त्वदपेक्षया भावपरस्तथा संयमतपोभ्यामप्येवं परः पृथग्भूत इत्यतस्त्वया न काचित्तदीया चिन्ता विधेया । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसङ्क्रान्तिर्न कर्तव्या—

भिक्खु य अहिगरणं कट्टु अविओसवित्ता इच्छिज्जा अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु, परिनिव्वविय २ दोच्चं पि तमेव गणं पडिनेअव्वे सिया, जहा वा तस्स गणस्स तहा सिया ॥

भिक्षुः, चशब्दादाचार्योपाध्यायौ वा, अधिकरणं कृत्वा तदधिकरणमप्यवशमय्य, इच्छेदन्यगणमुपसंपद्य विहर्तुम्, ततः कल्पते तस्य अन्यगणसंक्रान्तस्य पञ्चरात्रिंदिवं छेदं कर्तुम्, ततः परिनिर्वाप्य २ कोमलवचःसलिलसेकेन कषायाग्निसंतप्तं सर्वं शीतलीकृत्य, द्वितीयमपि वारं तमेव गणं संघं प्रतिनेतव्यः स्यात् । यथा वा तस्य गणस्य, तथा कर्त्तव्यमेवेति सूत्रार्थः । बृ० ५ उ० ॥

(९) गच्छादनिर्गतस्याऽधिकरणे उत्पन्ने विधिः-

गच्छा अणिग्गयस्सा, अणुवसमंतस्सिमो विधी होइ ।
सज्झायभिक्खभत्त-ट्ठ पाओसए व चउर एक्केक्के ।

गच्छादनिर्गतस्यानुपशाम्यतोऽयं विधिर्भवति-सूर्योदयकाले यः स्वाध्यायः क्रियते तदवसरे प्रथममसौ नोद्यते, द्वितीयं भिक्षावतरणवेलायां, तृतीयं भक्तार्थनाकाले, चतुर्थं प्रादोषिका-

वश्यकवेलायाम्। एवं चतुरो वारानेकैकस्मिन् दिने नोद्यते, तच्चाधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तानां स्वाध्याये अप्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे तदुत्पद्यते-

दुप्पडिलेहियमादिसु, नोदिएँ सम्मं अपडिवज्जंते ।
ण वि पट्ठवेंति उवसम-कालो ण सुज्झोजियं वाऽसी ॥

दुष्प्रत्युपेक्षितं कुर्वन्; आदिशब्दादप्रत्युपेक्षमाणः, असामाचार्या वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदितः सम्यग् यदि न प्रतिपद्यते, ततो मधिकरणं भवेत् । उत्पन्ने चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते स्वयमेवोपशान्तस्ततः सुन्दरम् । अथ नोपशान्तस्ततो यः प्रस्थापनार्थमुपतिष्ठते स वारणीयः । यथा-तिष्ठतु तावद् यावत् सर्वे पि नो मिलिताः, तत आगतेषु सर्वेषु सूरयो ब्रुवते-आर्याः ! पश्यत इमे साधवः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । ते नेष्टोत्तरं प्रयच्छन्त्यवश्यं-कालो न शुद्धः, पराजितं तेषां साधूनां सूत्रभूतं, ततो न स्थापयन्ति । एवं भणतो मासगुरु, साधवश्च सर्वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते भिक्षावेलायां जातायामिदमाचार्या भणन्ते—

णोतरए अज्जत्ती, ण च वेला अभुंजणाऽजिसं ।
ण य पडिक्कमंति उवसम, णिरतीयारा तु पच्छाऽऽइ ॥

आर्य ! साधवस्त्वदीयेनानुपशमनेन भिक्षां नावचरन्ति, तत उपशमं कुरु । स चेष्टोत्तरं प्राह-यूयमभक्तार्थिनो,न वा भिक्षावेला,एवमुक्ते सर्वेऽप्यवतरन्ति, तस्याभुपशान्तस्य द्वितीयं मासगुरु। भिक्षानिवृत्तेषु साधुषु गुरवो भणन्ति-आर्य ! साधवो न भुञ्जते। स प्राह-नूनं साधूनां न जीर्णम्। एवमुक्ते सर्वेऽपि समुदिता भुञ्जते, तस्य पुनस्तृतीयं मासगुरु। भूयोऽपि प्रतिक्रमणवेलायां भणन्ति-आर्य ! साधवो न प्रतिक्रामन्ति, उपशमं कुरु । स नेष्टोत्तरं प्रत्याह-तुरिति वितर्के, संभावयाम्यहं निरतीचाराः श्रमणास्तेन न प्रतिक्रामन्ति,एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति । तस्य पुनश्चतुर्गुरुकम् । एवं प्रभातकाले अधिकरण उत्पन्ने विधिरुक्तः ।

अन्नम्मि वि कालम्मी, पढंत हिंडंत मंडलाऽवस्से ।
तिन्नि व दोन्नि व मासा, होंति पडिक्कंत गुरुगा उ ॥

अथान्यस्मिन् काले अधिकरणमुत्पन्नम्, कदेत्याह-पठतां हीनाधिकादिपठने,भिक्षां हिण्डमानानां,मण्डल्यां वा समुद्दिशतामावश्यके वा । तत्र यदि द्वितीयवेलायामधिकरणमुत्पन्नं तदा त्रयो गुरुमासाः, चतुर्थवेलायामुत्पन्ने अनुपशान्तस्य द्वौ गुरुमासौ, एवं विभाषा कर्त्तव्या । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे कृतेऽपि नोपशान्तस्ततश्चतुर्गुरुकाः ।

एवं दिवसे दिवसे, चाउक्काले तु सारणा तस्स ।
जति वारे ण सारेति, गुरूण गुरुगो तु ताति वारे ॥

एवमनुपशान्तस्य दिवसे दिवसे चतुष्काले स्वाध्यायप्रस्थापनादिसमयरूपे, तस्य सारणा कर्त्तव्या । यदि यावतो वारान् आचार्यो न सारयति तावतो वारान् मासगुरुकाणि भवन्ति ।

एवं तु अगीतत्थे, गीतत्थे सारिए गुरू सुद्धो ।
जति तं गुरू ण सारे, आवत्ती होइ दोण्हं पि ।

एवं दिने दिने सारणाविधिरगीतार्थस्य कर्तव्यः,यस्तु गीतार्थः स यद्येकं दिनं स्वाध्यायभिक्षाभक्तार्थनावश्यकलक्षणेषु चतुर्षु स्थानेषु सारितस्तदा एवतस्तमसारयन्नपि गुरुः शुद्धः,यदि पुनस्तमगीतार्थं गीतार्थं वा गुरुर्न सारयति ततो द्वयोरप्याचार्यस्यानुपशाम्यतश्च प्रायश्चित्तस्यापत्तिः । अन्ये ब्रुवते-अगीतार्थस्यानुपशाम्यतोऽपि नास्ति प्रायश्चित्तं , यस्तु गुरुरगीतार्थं न नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम् ।

गच्छो य दोन्नि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवइ ।
भत्तट्ठणसज्झायं, वंदण लावं ततो परेण ॥

एवमनुपशाम्यन्तं गच्छो द्वौ मासौ सारयति, इदं पुनः पक्षे पक्षे परिहापयति । तद्यथा-अनुपशान्तस्य पक्षे गते गच्छे तेन सार्द्धं भक्तार्थनं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि तस्य ददातीत्यर्थः । द्वितीये पक्षे गते स्वाध्यायं तेन समं न करोति, तृतीये पक्षे गते वन्दनं न करोति,चतुर्थोऽपि पक्षो यदा गतो भवति ततः परमालापमपि तेन सार्द्धं वर्जयति ।

आयरिय चउर मासे, संभुंजति चउर देइ सज्झायं ।
वंदणलावे चउरो, तेण परं मूलनिच्छुभणा ॥

आचार्यः पुनश्चतुरो मासान् सर्वैरपि प्रकारैस्तेन समं संभुङ्क्ते, ततः परं चतुरो मासान् भक्तार्थनं वर्जयति, स्वाध्यायं तु ददाति । ततश्चतुरो मासान् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दनालापौ ददाति, ततः परं वर्षे पूर्णे सांवत्सरिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशान्तस्य गणान्निष्कासनं कर्त्तव्यम् ।

एवं बारसमासे, दोसु तवो सेसए भवे छेदो ।
परिहीयमाण तद्दिन-से तव मूलं पडिक्कंते ॥

एवं द्वादशमासानप्यनुपशाम्यतो द्वयोरादिममासयोर्गच्छेन विसर्जितस्तावत्तपः प्रायश्चित्तमेव, शेषेषु दशसु मासेषु पञ्चरात्रिंदिवं छेदो यावत्सांवत्सरिकम, एवं मासं भवति-पर्युषणारात्रौ प्रतिक्रान्तानामधिकरण उत्पन्ने एष विधिरुक्तः। (परिहायमाण तद्दिवस त्ति) पर्युषणापारणकदिनादेकैकदिवसेन परिहीयता,तावज्ज्ञेयं यावत्तद्दिवसं, पर्युषणादिवस एवाधिकरण उत्पन्ने तत्र तपो मूलं वा भवति तच्छेदः । अथ प्रतिक्रमणं कुर्वतामुत्पन्नं ततः सांवत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूलं च केवलं भवति ।

एतदेव सुव्यक्तमाह—

एवं एक्केकदिणे, हवेतु ठवणादिणे वि एसेव ।
चेइयवंदणसारे, तम्मि वि काले तिमासगुरू ॥

भाद्रपदशुद्धपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यद्यधिकरणमुत्पद्यते ततः पर्युषणायामप्यनुपशान्ते संवत्सरो भवति । षष्ठ्यामुत्पन्ने एकदिवसो न संवत्सरः। सप्तम्यां दिवसद्वयम् । एवमेकैकं दिनं हापयित्वा तावज्ज्ञेयं यावत् प्रस्थापनादिनं पर्युषणादिवसः। तत्र वाऽनुदिते रवौ कलहे उत्पन्ने एवमेव नोदना कर्त्तव्या । प्रथमं स्वाध्यायप्रस्थापनं कर्तुकामैः सारणीयम्, ततश्चैत्यवन्दनार्थं गन्तुकामाः सारयेयुः । तत्राप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलायां सारयन्ति। एवं तस्मिन्नपि पर्युषणाकालदिवसे त्रिषु स्वाध्यायप्रस्थापनादिषु स्थानेषु नोदितस्यानुपशान्तस्य त्रीणि मासगुरुकाणि भवन्ति ।

पडिक्कंते पुण मूलं, पडिक्कमंते व होज्ज अधिकरणं ।
संवच्छरमुस्सग्गे, कयम्मि मूलं न सेसाइं ॥

पर्युषणादिने सर्वेषामधिकरणानां व्यवच्छित्तिः कर्त्तव्येतिकृ-

त्वा प्रतिक्रान्ते समाप्ते आवश्यके यदि नोपशान्तः, ततो मूलम् । (पडिक्कमंते व त्ति) अथ प्रतिक्रमणे प्रारब्धे यावत् सांवत्सरिको महाकायोत्सर्गः, तावदधिकरणे कृते मूलमेव केवलं, न शेषाणि प्रायश्चित्तानि ।

संवच्छरं च रुट्ठं, आयरिओ रक्खए पयत्तेणं ।
जदि णाम उवसमेज्जा, पव्वयराईसरिसरोसो ॥

एवमाचार्यस्तं रुष्टं संवत्सरं यावत् प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम् ? इत्याह-यदि नाम कथञ्चिदुपशाम्येत । अथ संवत्सरेणापि नोपशाम्यति, ततः पर्वतराजीसदृशरोषः स मन्तव्यः ।

तस्य वर्षादूर्ध्वं को विधिः ?, इत्याह-

अरणे दो आयरिया, एक्केकं वरिसमुवेयस्स ।
तेण परं गिहिए सो, वितियपदे रायपव्वइए ॥

तं वर्षादूर्ध्वं मूलाचार्यसमीपान्निर्गतमन्यौ द्वावाचार्यौ क्रमेणैकैकं वर्षमेतेनैव विधिना प्रयत्नेन संरक्षतः, तन्मध्याद्येनोपशमितस्तस्यैवासौ शिष्यः। ततः परं वर्षत्रयादूर्ध्वमेष गृहीक्रियते, सकृत्तदीयं लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । द्वितीयपदे राजप्रव्रजितस्य लिङ्गं प्रस्तारदोषभयान्न ह्रियते । एवं भिक्षोरुक्तम् ।

एमेव गणायरिए, गच्छम्मि तवो उ तिन्नि पक्खाइं ।
दो पक्खा आयरिए, पुच्छा य कुमारदिट्ठंतो ॥

एवमेव गणिन आचार्यस्य च मन्तव्यम् । नवरमुपाध्यायस्यानुपशाम्यतो गच्छे वसतस्त्रीन् पक्षांस्तपः प्रायश्चित्तम्, परतश्छेदः। आचार्यस्यानुपशाम्यतो द्वौ पक्षौ तपः, परतश्छेदः। शिष्यः पृच्छति-किं सदृशापराधे विषमं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ?, रागद्वेषिणो यूयम् । आचार्यः प्राह-कुमारदृष्टान्तोऽत्र भवति । स चोत्तरत्राभिधास्यते । उपाध्यायस्य त्रयः पक्षास्ते दिवसीकृताः पञ्चचत्वारिंशद्दिवसा भवन्ति ॥

ततः-

पणयालदिणे गणिणो, चउद्दा काऊण साहिएक्कारो ।
भत्तट्ठण-सज्झाए, वंदणलावे य हावेति ।

गणिनः संबन्धिनः पञ्चचत्वारिंशद्दिवसाः चतुर्धा क्रियन्ते । चतुर्भागे च, साधिकाः सपादा एकादश दिवसा भवन्ति । तत्र गच्छ उपाध्यायेन सममेकादश दिनानि भक्तार्थनं करोति । एवं स्वाध्यायवन्दनालापानपि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं करोति, परतस्तु परिहापयति । पञ्चचत्वारिंशद्दिवसानन्तरं चोपाध्यायस्य दशकच्छेदः। आचार्यस्तथैवोपाध्यायमपि चतुर्भिश्चतुर्भिर्मासैर्भक्तार्थनादीनि परिहापयन् संवत्सरं सारयति । आचार्यस्य द्वौ पक्षौ दिवसीकृतौ त्रिंशद्दिवसा भवन्ति ।

ततः-

तीसदिणा आयरिए, अद्धट्ठदिणा तु हावणा तत्थ ।
गच्छेण चउपदेहिं, णिच्छूढे लग्गती छेदे ॥

त्रिंशद्दिवसाश्चतुर्थभागेन विभक्ता अर्धाष्टमदिवसा भवन्ति । तत्र गच्छ आचार्येण सहार्धाष्टमानि दिवसानि भक्तार्थनं करोति । एवं स्वाध्यायवन्दनालापनमपि यथाक्रममर्धाष्टमैर्दिवसैः प्रत्येकं हापयति । ततः परं गच्छेन चतुर्भिरपि भक्तार्थनादिभिः पदैर्निष्कासित आचार्यः पञ्चदशके छेदे लगति ।

ततः-

संकंतो अरणगणं, सगणेण पवज्जितो चउपदेहिं ।
आयरिओ पुण वरिसं, वंदणलावेहि सारेइ ॥

स्वगणेन भक्तार्थनादिभिश्चतुर्भिः पदैर्यदा वर्जितः, तदा अन्यगणं संक्रान्तः, पुनरन्यगणस्याचार्यो केवलं वन्दनालापाभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यां संभुञ्जानः सारयति यावद्वर्षम् ।

सज्झायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा परगणे वि ।
नवरं पुण नाणत्तं, तवो गुरुस्सेयरे छेदो ॥

परगणेऽपि संक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्यायादिभिः पदैर्दिने दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणोपसंक्रान्तस्येदं नानात्वं विशेषः। अन्यगणसक्तस्य गुरोरसारयतस्तपः प्रायश्चित्तम्, इतरस्य पुनरधिकरणकारिण आचार्यस्यानुपशान्तस्य छेदः । अत्र परः प्राह-रागद्वेषिणो यूयम्-आचार्ये शीघ्रं छेदं प्रापयथ, उपाध्यायं बहुतरेण, भिक्षुं ततोऽपि चिरतरेण। एवं भिक्षूपाध्याययोर्भवतां रागः, आचार्ये द्वेषः । अत्र सूरिः प्रागुद्दिष्टं कुमारदृष्टान्तमाह-

सरिसावराधमंडो, जुवरण्णो भोगहरणबंधादी ।
मज्झिम बंधवहादी, अव्वत्ते कन्नखिंस त्ति ॥

"एगस्स रन्नो तिन्नि पुत्ता-जेट्ठो,मज्झिमो, कणिमो । तेहि य तिहिं वि समत्थियं-पितरं मारित्ता रज्जं तिहा विभयामो, तं च रन्ना णायं,तत्थ जेट्ठो जुवराया,तुमं पमाणभूओ कीस एवं करेसि त्ति ?, तस्स भोगहरणबंधणतामणादिया सव्वे दंडप्पगारा कया । मज्झिमो रायप्पहाणो त्ति काउं तस्स भोगहरणं न कयं, बंधवहादिया कया । अव्वत्तो कणेट्ठो एतेहिं वियारिओ त्ति काउं तस्स कण्णविमोडणदंमो खिसा दंडो य कओ, न भोगहरणाइया" अकुरगमनिका-सदृशेऽप्यपराधे युवराजस्य भोगहरणबन्धनादिको महान् दण्डः कृतः। मध्यमस्य बन्धवधादिको, न भोगहरणम्, अशक्तः कनिष्ठस्तस्य कर्णामोटनादिकः,खिंसा च कृता। अयमर्थोपनयः । यथा-लोकैर्लोकोत्तरेऽप्युत्कृष्टमध्यमजघन्येषु पुरुषवस्तुषु वृद्धसमो लघुर्लघुतरश्च यथाक्रमं दण्डः क्रियते ।

प्रमाणभूते च पुरुषे अक्रियासु वर्तमाने एते दोषाः-

अप्पच्चय वीसत्थ-त्तणं च लोगे गरहा दुरहिगमो ।
आणाए य परिभवो, णेव भयं तो तिहा दंडो ॥

एत एवाचार्या भणन्ति,अकषायं चारित्रं भवति, स्वयं पुनरित्थं रुष्यन्ति । एवं सर्वेषु देशेष्वप्रत्ययो भवति । शेषसाधूनामपि कषायकरणे विश्वस्तता भवति, लोको वा गर्हां कुर्यात् । प्रधान एवामीषां कलहं करोतीति,रोषणश्च गुरुः शिष्याणां प्रतीच्छकानां च दुरधिगमो भवति, रोषणस्य चाज्ञां शिष्याः परिभवन्ति, न च भयं तेषां भवति, अतो वस्तुविशेषेण त्रिधा दण्डः कृतः ।

गच्छम्मि उ पट्ठवए, जम्मि पदे निग्गतो वितियं ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवट्ठ-पारंची ॥

गच्छे यस्मिन् पदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो द्वितीयं पदं परगणे संक्रान्तः प्राप्नोति, तद् यथा-तपसि प्रस्थापिते यदि निर्गतस्ततश्छेदं प्राप्नोति,छेदे प्रस्थापिते निर्गतस्ततो मूलम्,एवं भिक्षोरुक्तगणावच्छेदकस्यानवस्थाप्ये आचार्यस्य पाराञ्चिके पर्यवस्यति ।

अथवा येन उक्तार्थनादिना पदेन गच्छान्निर्गतः, ततो द्वितीयपदमन्यगणे गतस्य प्रारभ्यते। यथा-गच्छाद्धकार्थेन पदेन निर्गतः, ततोऽन्यं गणं गतेन तेन समं गणो न भुङ्क्ते, स्वाध्यायं पुनः करोति। एवं स्वाध्यायपदेन निर्गतस्य वन्दनं करोति। वन्दनपदेन निर्गतस्यालापं करोति। आलापपदेन निर्गतस्य परगच्छभतुभिरपि पदैः परिहारं करोति। 'भिक्खुगणायरियाणं' इत्यादिना तु त्रयाणामप्यन्त्यप्रायश्चित्तानि गृहीतानि। बृ० ४ उ०। नि० चू०। (द्वितीयपदं कारणं सत्युत्पादयेदित्यधिकारेऽनुपदमेव वक्ष्यते)

(१०) खरपरुषाणि भणित्वा गच्छान्निर्गच्छतो विधिः—

यद्यधिकरणं कृत्वा प्रज्ञापितोऽपि नोपशाम्यति,

स किं करोति ?, इत्याह-

खरफरुसनिट्ठुराइं, अह सो भणिउं अजाणियव्वाइं।

निग्गमण कलुसहियए, सगणे अट्ठा परगणे य॥

अथासौ खरपरुषनिष्ठुराणि अभणितव्यानि वचनानि भणित्वा कलुषितहृदयः स्वगच्छान्निर्गमनं करोति, ततोनिर्गतस्य तस्य स्वगणे परगणे च प्रत्येकमष्टौ स्पर्द्धकानि वक्ष्यमाणानि भवन्ति।

खरपरुषनिष्ठुरपदानि व्याख्याति-

उच्चं सरोस भणियं, हिंसग-मम्मवयण खरं तं तु।

अक्कोस णिरुवचारिं, तमसब्भं णिट्ठुरं होति॥

ऊर्ध्वं महता स्वरेण सरोषं यद्भणितं-हिंसकं मर्मघट्टनवचनं वा,तत्तु खरं मन्तव्यम्। जकारमकारादिकं यदाक्रोशवचनं यच्च निरुपचारि विनयोपचाररहितं तत्परुषम्। यदसत्यं सभाया अयोग्यं, कस्त्वमित्यादिकं तद् निष्ठुरं भण्यते।

ईदृशानि भणित्वा गच्छान्निर्गतस्याचार्यः प्रायश्चित्तविभागं दर्शयितुकाम इदमाह-

अट्ठऽट्ठ अद्धमासा, मासा दोंतऽट्ठअट्ठसु पयारो।

वासासु अ संचरणं, ण चेव इयरे वि पेसंति॥

स्वे गणे यान्याचार्यसत्कान्यष्टौ स्पर्द्धकानि, तेषु पक्षे अपरापरस्मिन् स्पर्द्धके संचरतो अष्टावर्द्धमासा भवन्ति। परगणमध्येऽप्यष्टसु स्पर्द्धकेषु पक्षे पक्षे संचरतो अष्टावर्द्धमासाः। एवमुभयेऽपि मीलिता अष्टौ मासा भवन्ति, अष्टसु च ऋतुबद्धमासेषु साधूनां प्रचारो विहारो भवतीतिकृत्वा अष्टग्रहणं कृतम्। वर्षासु चतुरो मासान् तस्याधिकरणकारिणः साधोः संचरणं नास्ति वर्षाकाल इतिकृत्वा इतरेऽपि येषां स्पर्द्धकेषु संक्रान्तस्तेऽपि तं प्रज्ञाप्य वर्षावास इतिकृत्वा यतो गणादागतस्तत्र न प्रेषयन्ति; तत्र यानि स्वगणे अष्टौ स्पर्द्धकानि, तेषु संक्रान्तस्य तैः स्वाध्यायभिक्षाभोजनप्रतिक्रमणवेलासु प्रत्येकं सारणा कर्तव्या। 'आर्य ! उपशमं कुरु' यद्येवं न सारयन्ति ततो मासगुरुकम्।

तस्य पुनरनुपशाम्यत इदं प्रायश्चित्तम्—

सगणम्मि पंच राइं-दियाणि दस परगणे मणुण्णेसुं।

अन्नेसु होइ पण्णरस, वीसा तु गयस्स ओसण्णे॥

स्वगणे स्पर्द्धकेषु संक्रान्तस्यानुपशाम्यतो दिवसे दिवसे पञ्चरात्रिंदिवच्छेदः, परगणे मनोज्ञेषु सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिंदिवः; अन्यसांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिंदिवः, अन्यसांभोगेषु पञ्चदशरात्रिंदिवः। अवसन्नेषु गतस्य विंशतिरात्रिंदिवच्छेदः। एवं भिक्षोरुक्तम्।

अथोपाध्यायाचार्ययोरुच्यते-

एमेव य होइ गणी, दसदिवसादी भिण्णमासंते।

पण्णरसादी तु गुरू, चउसु वि ठाणेसु मासंते॥

एवमेव गणिन उपाध्यायस्यापि अधिकरणं कृत्वा परगणसंक्रान्तस्य मन्तव्यम्। नवरं दशरात्रिंदिवमादौ कृत्वा भिन्नमासान्तस्तस्य च्छेदः। एवमेव गुरोरप्याचार्यस्य चतुर्षु स्वगणपरगणे सांभोगिकान्यसांभोगिकावसन्नेषु पञ्चदशरात्रिंदिवादिको मासिकान्तश्छेदः। एतत्पुरुषाणां स्वगणादिस्थानविभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम्।

अथ तथैव स्थानेषु पुरुषविभागेन प्रायश्चित्तमाह-

सगणम्मि पंचराइं-दियाइ भिक्खुस्स तद्दिवस छेदो।

दस होइ अहोरत्ता, गणिआयरिए व पण्णरसा॥

स्वगणे संक्रान्तस्य भिक्षोस्तद्दिवसादारभ्य दिने दिने पञ्चरात्रिंदिवच्छेदः। गणिन उपाध्यायस्य दशरात्रिंदिवः। आचार्यस्य पञ्चदशरात्रिंदिवः।

अण्णगणे भिक्खुस्स य, दस राइंदिया भवे छेदो।

पण्णरस अहोरत्ता, गणिआयरिए भवे वीसा॥

अन्यगणे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य भिक्षोर्दशरात्रिंदिवच्छेदः। उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिंदिवः। आचार्यस्य विंशतिरात्रिंदिवः। एवमन्यसांभोगिकेषु अवसन्नेषु च प्रागुक्तानुसारेण नेयम्। बृ० ४ उ०।

एवं एक्केक्कदिणं, हवेतु ठवणा दिणे वि एमेव।

चेइयवंदणसारिएँ, तम्मि व काले तिमासगुरू॥२१८॥

पासत्थादिगयस्स य, वीसं राइंदियाइँ भिक्खुस्स।

पणवीस उवज्झाए, गणिआयरिए भवे मासो॥२१९॥

गणस्य गणे वा आचार्यः, अथवा-गणित्वमाचार्यत्वं च यस्यास्त्यसौ गणिआयरिओ। नि० चू० १० उ०।

अथैवं प्रतिदिनं छिद्यमाने पर्याये पक्षेण कियन्तो मासा अमीषां छिद्यन्ते ?, इति जिज्ञासायां छेदसंकलनामाह-

अड्ढाइज्जा मासा, अट्ठहि मासा हवंति वीसं तु।

पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहि चत्ताउ भिक्खुस्स॥

स्वगणसंक्रान्तस्य भिक्षोः प्रतिदिनं पञ्चकच्छेदेन छिद्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेणार्द्धतृतीया मासाः छिद्यन्ते। तथाहि-पक्षे पञ्चदश दिनानि भवन्ति, तैः पञ्च गुण्यन्ते, जाता पञ्चसप्ततिः। तस्या मासानयनाय त्रिंशता भागे हृते अर्द्धतृतीयमासा लभ्यन्ते, स्वगणे यान्यष्टौ स्पर्द्धकानि, तेषु पक्षे पक्षे संचरतः पञ्चकच्छेदेन विंशतिर्मासाश्छिद्यन्ते। तथाहि-पञ्चदशाष्टभिर्गुणिता जातं विंशोत्तरं शतम्, तदपि पञ्चभिर्गुणितं जातानि षट्शतानि। तेषां त्रिंशता भागे हृते विंशतिर्मासा

लभ्यन्ते। एवमुत्तरत्रापि गुणकारभागाहारप्रयोगेण स्वबुद्ध्योपयुज्य मासा आनेतव्याः। परगणे संक्रान्तस्य त्रिंशद्दशकेन छेदेन छिद्यमानस्य पर्यायस्य पक्षेण पञ्च मासाश्छिद्यन्ते, दशकेनैव छेदेनाष्टभिः पक्षैश्चत्वारिंशन्मासाश्छिद्यन्ते, एवं भिक्षोरुक्तम्।

उपाध्यायस्य पुनरिदम्–

पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिँ मासा हवंति चत्ताउ ।
अद्धऽट्ठमास पक्खे, अट्ठहिँ सट्ठी भवे गणिणो ॥

उपाध्यायस्यापि स्वगणे दशकेन छेदेन पक्षेण पञ्च मासाः, अष्टभिः पक्षैर्गुणिताश्चत्वारिंशन्मासाः छिद्यन्ते, तस्यैव परगणे पञ्चदशकेन छेदेनार्द्धाष्टममासाः पक्षेण छिद्यन्ते । परगणे तस्यैवाष्टभिः पक्षैर्गुणिताः षष्टिर्मासा गणिनश्छिद्यन्ते ।

अद्धऽट्ठमास पक्खे, अट्ठहिँ मासा हवंति सट्ठी तु ।
दस मासा पक्खेणं, अट्ठहिँऽसीती उ आयरिए ॥

आचार्यस्य स्वगणे संक्रान्तस्य पञ्चदशकेन छेदेन छिद्यमाने पर्याये पक्षेणार्द्धाष्टममासा अष्टभिः पक्षैर्गुणिताः षष्टिर्मासाश्छिद्यन्ते । तस्यैव परगणसंक्रान्तस्य विंशेन छेदेन पक्षेण दश मासा अष्टभिः पक्षैरशीतिर्मासाश्छिद्यन्ते । एवं स्वगणे परगणे च सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य छेदसंकलनाऽभिहिता । अन्यसांभोगिकेषु अवसन्नेषु च संक्रान्तस्य भिक्षोरुपाध्यायस्याचार्यस्य वाऽनयैव दिशा छेदसंकलना कर्त्तव्या ।

एसा विही उ निग्गए, सगणे चत्तारि मास उक्कोसा ।
चत्तारि परगणम्मी, तेण परं मूल निच्छुभणं ॥

एष विधिर्गच्छान्निर्गतस्योक्तः । अथ च स्वगणे अष्टसु स्पर्द्धकेषु एके एके संचरतश्चत्वारो मासा उत्कर्षतो भवन्ति । परगणेऽप्येवं चत्वारो मासाः । एवमन्येष्वपि चत्वारो मासाः । ततः परं यद्युपशान्तस्ततो मूलम् । अथ नोपशान्तस्तदा निष्कासनं कर्त्तव्यम्; लिङ्गमपहरणीयमित्यर्थः ।

चोएइ रागदोसे, सगणे थोवं इमं तु नाणत्तं ।
पंतावण निच्छुभणं, परकुलघरघोमिए ण गया ॥

शिष्यः प्रेरयति–रागद्वेषिणो यूयं, यत् स्वगणे स्तोकं छेदप्रायश्चित्तं दत्तम्, परगणे तु प्रभूतम् । एवं स्वगणे भवतां रागः, परगणे द्वेषः। गुरुराह–इदं छेदनानात्वं कुर्वतो वयं न रागद्वेषिणः।

तथा चात्र दृष्टान्तः–

एगस्स गिहिणो चउरो भज्जाओ। ततो य तेण कम्हि एगे सरिसे अवराहे कते पंतवेंता णीह मम गिहाओ त्ति निच्छूढा, तत्थेगा कम्हि इयरघरम्मि गया, बिइया कुलघरं, ततिया भत्तुणो एगसरीरो घोमिओ त्ति वयंसो, तस्स घरं गया, चउत्थी निच्छुभंती वि वारसहाए लग्गा हम्ममाणी वि न गच्छइ, भणइ य–कतो णं वच्चामि ?, नत्थि मे अन्नो गइविसओ, जइ वि मारेहि तदा वि तुमं चेव गती सरणं ति तत्थेव ठिया ।

केनापि गृहिणा चतसृणां भार्याणां प्रतापनं कुट्टनं कृत्वा गृहान्निष्कासनं कृतं तत्रैकापरगृहम्, द्वितीया कुलगृहम्, तृतीया घोटिको मित्रं, तद्गृहं गता, चतुर्थी तु न क्वापि गता ।

तओ तुट्ठेण चउत्थी घरसामिणी कया । तइयाए घोमियघरं भंतीए सो चेव अणुवाचितो विगतरोसेण खरंटिता, आणीता य । बितियाए कुलघरं जंतीए जं पिउगिहवलं गहियं गाढतरं रुट्ठेण अन्नेहिं जणिएहिं वि गतरोसेण खरंटिता, दंमिया य । पढमा दूरे णट्ठेत्ति न ताए किंचि पओयणं, महंतेण वा पच्छित्तदंडेण दंडिउं आणिज्जइ । एवं घरसंट्ठाणिया ओसन्ना, कुलघरसंठाणिया अन्नसंभोइया, घोडियसमा संभोइया, अनिग्गमे सघरसमा गच्छे जाव दूरंतरं ताव महत्तरो दंडो भवइ । बृ० ५३० ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽव्यवशमय्य पिण्डग्रहणादि न कार्य्यम्–

भिक्खू य अहिकरणं कडुत्तं अहिगरणं अविओसमित्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए गणाओ वा गणं संकमित्तए वा, वासावासं वा वत्थुं, जत्थेव अप्पणोऽऽयरियउवज्झायं पासेज्जा, बहुस्सुयं बज्झागमं तस्संतिए आलोइज्जा, पडिक्कमिज्जा, निंदिज्जा, गरहिज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा, से य सुएण पट्ठविए आदिइतव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आदिइतव्वे सिया, से य सुएण पट्ठवेज्जमाणे नो आईया स निज्जूहियव्वं सिया ॥

अस्य संबन्धमाह–

केण कयं कीस कयं, निच्छुभओ एस किं इहाणेति ? ।
एसो वि गिही तुदितो, करेज्ज कलहं असहमाणो ॥

केनेदं वहनं काष्ठानयनं कृतं, कस्मादेतत् कृतं, निष्कासितोऽप्येष किमर्थमिहानयति, एवमादिभिर्वचोभिर्गृहिणा तुदितो व्यथितः कश्चिदसहमानः कलहं कुर्यात् । अत इदमधिकरणसूत्रमारभ्यते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या–भिक्षुः प्रागुक्तः, चशब्दादुपाध्यायादिपरिग्रहः । अधिकरणं कलहं कृत्वा नो कल्पते तस्य तदधिकरणमव्यवशमय्य गृहपतिकुलं भक्ताय वा पानाय वा निष्कसितुं वा, प्रवेष्टुं वा, ग्रामानुग्रामं वा गन्तुं विहर्तुं, गणाद्वा गणं संक्रमितुं, वर्षावासं वा वस्तुं, किंतु यत्रैवात्मन आचार्योपाध्यायं पश्येत् कथंभूतम्?, बहुश्रुतं छेदग्रन्थादिकुशलम् । बह्वागमं अर्थतः प्रभूतागमम्, तत्र तस्यान्तिके आलोचयन् स्वापराधं वचसा प्रकटयेत् , प्रतिक्रमेत् मिथ्यादुष्कृतं तद्विषये दद्यात् । निन्द्यात् आत्मसाक्षिकं जुगुप्सेत, गर्हेत गुरुसाक्षिकं निन्द्यात् । इह च निन्दनं गर्हणं वा तात्त्विकं तदा भवति यदा तत्करणतः प्रतिनिवर्तते। तत आह–व्यावर्तेत तस्मादपराधपदान्निवर्तेत, व्यावृत्तावपि कृता–

त्पापात्तदा मुच्यते, यदात्मनो विशोधिर्भवति । तत्र आह-आत्मानं विशोधयेत् पापमलस्फोटनतो निर्मलीकुर्यात् । विशुद्धिः पुनः पुनः करणतायामुपपद्यते । ततस्तामेवाऽऽह-अकरणता अकरणीयता, तया अभ्युत्तिष्ठेत् । पुनरकरणतया अभ्युत्थानेऽपि विशोधिः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या भवति । तत्र आह-यथार्हं यथायोग्यं तपःकर्म प्रायश्चित्तं प्रतिपद्यते । तच्च प्रायश्चित्तमाचार्येण श्रुतेन श्रुतानुसारेण यदि प्रस्थापितं प्रदत्तं तदा आदातव्यं ग्राह्यं स्याद्भवेत् । अथ श्रुतेन न प्रस्थापितं तदा नादातव्यं स्यात् । स चाऽऽलोचको यदि श्रुतेन प्रस्थाप्यमानमपि तत्प्रायश्चित्तं नाददाति न प्रतिपद्यते ततः स निर्यूहितव्यः, अन्यत्र शोधिं कुरुष्वेति निषेधनीयः स्यात् । इति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः—

अवियत्त कुलपवेसे, अइभूमि अणेसणिज्जपडिसेहे ।
अवहारमंगलुत्तर-सभावअवियत्तमिच्छत्ते ॥

अविदितभूमिस्थाने कथमधिकरणमुत्पन्नम ?, इत्यस्यां जिज्ञासायामभिधीयते-कस्मिँश्चित् कुले साधवः प्रविशन्तोऽप्रीतिकरास्तत्राजानतामनाभोगाद्वा प्रवेशे गृहपतिराक्रोशेद्, वा हन्याद्, वा साधुरप्यसहमानः प्रत्याक्रोशेत्; ततोऽधिकरणमुत्पद्यते । एवमतिभूमिं प्रविष्टे अनेषणीयभिक्षाया वा प्रतिषेधे, शैक्षस्य वा संज्ञातकस्यापहारे, यात्राप्रस्थितस्य वा गृहिणः साधुं दृष्ट्वा अमङ्गलमिति प्रतिपत्तौ समयविचारेण वा प्रत्युत्तरं दातुमसमर्थो गृहस्थस्वभावेन वा क्वापि साधौ (अचियत्ते) अनिष्टे दृष्टे अभिग्रहमिथ्यादृष्टेर्वा सामान्यतः साधावचलोकिते अधिकरणमुत्पद्यते ।

पडिसेधे पडिसेधो, भिक्खुवियारे विहार गामे व ।
दोसा मा होज्ज बहू, तम्हा आलोयणा सोधी ॥

भगवद्भिः प्रतिषिद्धं न वर्तते साधूनामधिकरणं कर्तुम्, एवं विधिप्रतिषेधे भूयः प्रतिषेधः क्रियते । कदाचित्तदधिकरणं गृहिणा समं कृतं भवेत्, कृत्वा च तस्मिन्ननुपशमिते भिक्षायां न हिण्डनीयम्, विचारभूमौ विहारभूमौ वा न गन्तव्यम्, ग्रामानुग्रामं न विहर्त्तव्यम् । कुतः ?, इत्याह-मा बहवो बन्धनकण्टकमर्दनादयो दोषा भवेयुः । तस्मात्तं गृहस्थमुपशमय्य गुरूणामन्तिके आलोचना दातव्या । ततः शोधिः प्रतीच्छनीया ।

इदमेव भावयति—

अहिकरण गिहत्थेहिं, ओसारण कड्डणा य आगमणं ।
आलोयण पट्ठवणं, अपेसणे होंति चउ लहुगा ॥

गृहस्थैः सममधिकरणे उत्पन्ने द्वितीयेन साधुना तस्य साधोरपसारणं कर्त्तव्यम् । अथ नापसरति ततो बाहौ गृहीत्वा आकर्षणीयः । इदं च वक्तव्यम्-न वर्त्तते मम त्वया साधिकरणेन समं भिक्षामटितुम् । अतिप्रतिश्रये परिनिवर्तामहे । एवमुक्त्वा प्रतिश्रयमागत्य गुरूणामालोचनीयम् । ततो गुरुभिरुपशमनार्थं वृषभास्तस्य गृहस्थस्य मूले प्रेषणीयाः । यदि न प्रेषयन्ति तदा चतुर्लघु ।

आणादिणो य दोसा, बंधणणिच्छुभणकडगमादाय ।
वुग्गाहण सत्थेणं, अगणुवकरणं विसं वारे ॥

आज्ञादयश्च दोषाः । स च गृहस्थो येन साधुना सहाधिकरणं कृतं तस्यान्येषां वा साधूनां बन्धनं निष्कासनं वा कुर्यात् । कटकमादाय सर्वानपि साधून् कोऽपि व्यपरोपयेत् । व्युद्ग्राहणं वा लोकस्य कुर्यात् । नास्त्यमीषां दत्ते परलोकफलम्, यद्वाऽमी संज्ञां व्युत्सृज्य विकिरन्ति, न च निर्लेपयन्ति, खड्गादिना वा शस्त्रेण साधुना हन्यात् । अग्निकायेन वा प्रतिश्रयं दहेत् । उपकरणं वा अपहरेत्, विषं गरादिकं वा दद्यात्, भिक्षां वा वारयेत् ।

तच्च वारणमेतेषु स्थानेषु कारयेत्-

रज्जे देसे गामे, णिवेसणे गिहे निवारणं कुणति ।
जा तेण विणा हाणी, कुलगणसंघे य पच्छारो ॥

राज्ये सकलेऽपि निवारणं कारयेत् । एतेषां भक्तमुपधिं वसतिं वा मा दद्यात् । एवं देशे, ग्रामे, निवेशने, गृहे वा, निवारणं करोति । ततो या तेन भक्तादिना विना परिहाणिस्तां वृषभानप्रेषयन् गुरुः प्राप्नोति । अथवा यः प्रभवति स कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा प्रस्तारं विस्तरेण विनाशं कुर्यात् ।

एयस्स णत्थि दोसो,अपरिक्खिय दिक्खगस्स अह दोसो ।
पभु कुज्जा पच्छारं, अपभू वा कारणे पभुणा ॥

गृहस्थः चिन्तयति-एतस्य साधोर्नास्ति दोषः, किं तु य एनमपरीक्ष्य दीक्षितवान् तस्याऽयं दोषः । अतस्तमेव घातयामीति विचिन्त्य प्रभुः स्वयमेव प्रस्तारं कुर्यात् । अप्रभुरपि द्रव्यं राजकुले दत्त्वा प्रभुणा कारयेत् ।

यत एते दोषाः-

तम्हा खलु पट्ठवणं, पुव्विं वसभा समं च वसभेहिं ।
अणुलोमण पेच्छामो, णिंति अणिच्छंपि तं वसभा ॥

तस्माद् वृषभाणां तत्र स्थापनं कर्त्तव्यम् । (पुव्विंति) येन साधुना अधिकरणं कृतं तावन्न प्रेषयन्ति यावद् वृषभान् पूर्वं प्रज्ञापयन्ति । किं कारणम् ?, उच्यते-स गृहस्थः तं दृष्ट्वा कदाचिदाहन्यात् । अथ ज्ञायते न हनिष्यति ततो वृषभैः समं तमपि प्रेषयन्ति । तत्र गताश्चानुकूलवचोभिरनुलोमं प्रगुणीकरणं तस्य कुर्वन्ति । अथासौ गृहस्थो ब्रूयात्-आनयत तावत्तं कलहकारिणं येनैकवारं पश्यामः, पश्चात् क्षामये । ततो वृषभास्तदभिप्रायं ज्ञात्वा तं साधुं गृहिणः समीपमानयन्ति । अथासौ साधुर्नेच्छति ततो बलादपि वृषभास्तं तत्र नयन्ति ।

ते च वृषभा ईदृशगुणयुक्ताः प्रस्थाप्यन्ते-

तस्संबंधि सुही वा, पगया ओयस्सिणो गहियवक्का ।
तस्सेव सुहीसहिया, गमेंति वसभा तगं पुव्वं ॥

तस्य गृहिणः, संयतस्य वा संबन्धिनः सुहृदो वा ते भवेयुः प्रगता लोकप्रसिद्धाः, ओजस्विनो बलीयांसः, गृहीतवाक्या आदेयवचसः, ईदृशा वृषभाः, तस्यैव गृहिणः सुहृद्भिः सहिताः तकं गृहस्थं पूर्वं गमयन्ति ।

कथम् ?, इत्याह-

सो निच्छुभति साहू, आयरिए तं च जुज्जसि गमेसुं ।
नाऊण वत्थुजातं, तस्स जदी णिंति गिहिसहिया ।

येन साधुना त्वया सह कलहितं स साधुराचार्यैः साम्प्रतं

निष्काश्यते, अस्मदीयं च वचो गुरवो न सुष्ठु शृण्वन्ति ; अत आचार्यान् गमयितुं त्वं युज्यसे-युक्तो भवसि । एवमुक्ते यथाचार्यं गमयति-क्षामयति ततो नष्टम। अथ ब्रूते-पश्चादमस्त्वमस्य कलहकारिणम् । ततो ज्ञात्वा वस्तुनो गृहस्थस्य भावं किमयं हन्तुकामस्तमानाययति, उत क्षामयितुकामः ?, एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्यायं सुहृत्, अतस्ते असहिता एव तं साधुं तत्र नयन्ति ।

अथासौ गृही तीव्रकषायतया नोपशाम्यति ततस्तस्य साधोर्गच्छस्य च रक्षणार्थमयं विधिः-

वीसुं उवस्सए वा, ठवेंति पेसेंति फड्डपतिणो वा ।
देंति सहाए सव्वे, वि णेंति गिहिणे अणुवसंते ॥

विष्वगन्यस्मिन्नुपाश्रये तं साधुं स्थापयन्ति, अन्यग्रामे वा यः स्पर्द्धकपतिस्तस्यान्तिके प्रेषयन्ति, निर्गच्छतश्च तस्य सहायान् ददति । अथ मासकल्पः पूर्णस्ततः सर्वेऽपि निर्यान्ति निर्गच्छन्ति । एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येदं प्रायश्चित्तम्-

अविओसियम्मि लहुगा, भिक्खवियारे य वसहिगामे य ।
गणसंकमणे भणणाति, इहं पि तत्थेव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अव्यवशमिते यदि भिक्षां हिण्डते, विचारभूमिं वा गच्छति,वसतेर्निर्गत्यापरसाधुवसतिं गच्छति;ग्रामानुग्रामं विहरति; सर्वेषु चतुर्लघु। अथापरं गणं संक्रामति, ततस्तैरन्यगणसाधुभिर्भण्यते-इहापि गृहिणःक्रोधनाः सन्ति, ततस्तत्रैव व्रज।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

इह वि गिही अविसहणा,ण य वोच्छिण्णा इहं तुह कसाया।
अमेसि आयासं, जणइस्ससि वच्च तत्थेव ॥

इहापि ग्रामे गृहिणो अविषहणाः क्रोधनाः, न चेह समागतस्य तव कषाया व्यवच्छिन्नाः। अतोऽन्येषामप्यस्मदादीनामायासं जनयिष्यसि, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

सिट्ठम्मि न संगिज्झति, संकंतम्मि उ अपेसणे लहुगा ।
गुरुगा अजयणकहणे, एगतरदोसतो जं वा ॥

अनुपशान्ते साधौ गणान्तरं संक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसंघाटकस्तत्र प्रेषणीयः,तेन च संघाटकेन शिष्टे कथिते सति द्वितीयाचार्यो न संगृह्णीयात् , अथ मूलाचार्यः संघाटकं न प्रेषयति, तदा चतुर्लघु। संघाटको यद्ययतनया कथयति ततश्चतुर्गुरु। अयतनकथनं नाम-बहुजनमध्ये गच्छे गत्वा भणतिएष निर्धर्मा गृहिभिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सकलेनापि गच्छेन नोपशान्तः । एवमयतनया कथितेन साधुरेकतरस्य गृहिणः साधुसंघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रद्वेषतो यत्करिष्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तस्मादयं विधिः-

उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चामो ।
दोसा हु अणुवसंते, ण य सुज्झइ तुज्झ सामइयं ॥

पूर्वं गुरूणामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वयमेकान्तेन भण्यते, उपशामितः स गृहस्थः, एहि व्रजाम, त्वमपि तं गृहस्थं क्षामय, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभावः सामायिकम् । तच्चैवं सकषायस्य भवतो न शुद्ध्यति न शुद्धं भवति । एवमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येऽप्येवमेव भणनीयः । ततोऽपि चेन्नोपशाम्यति प्रत्युत चेतसि चिन्तयेत्-तस्य गृहिणो निमित्तेनेहाप्यवकाशं न लभे ।

ततः-

तमतिमिरपडलभूतो, पावं चिंतेइ दीहसंसारी ।
पावं ववसिउकामो, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्यां द्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव च रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भण्यते। यदा पुनस्तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रान्धकारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति, एवं यस्तीव्रतीव्रतरतमेन कषायोदयेनाभिभूतो भण्यते , तमःशब्दस्येहोपमार्थवाचकत्वात्। एवं भूतश्छेदपराधे हि तमपश्यन् दीर्घसंसारी तस्य गृहस्थस्योपरि पापगौरवर्याज्जीविताद् भ्रंशयिष्यामीति रूपं चिन्तयति ।एवं च पापं कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्निदं प्रायश्चित्ते मार्गणा भवति।

वच्चामि वच्चमाणे, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।
उग्गिण्णम्मि य छेदो, पहरण मूलं च जं तत्थ ॥

व्रजामि तं गृहस्थं व्यपरोपयामीति संकल्पे चतुर्लघवः। पदभेदादारभ्य पथि व्रजतश्चतुर्गुरवः। यदि यष्टिलोष्टादिकं प्रहरणं मार्गयति तदा षड्लघवः। प्रहरणे लब्धे गृहीते च षड्गुरवः। उद्गीर्णे प्रहारे छेदः। प्रहारे पतिते यदि न म्रियते ततः छेद एव। अथ मृतस्ततो मूलम् ।यत्तस्य परितापनादिकं संभवति तत्तत्र वक्तव्यम्।

एते चापरे दोषाः-

तं चेव णिट्ठवेती, बंधणणिच्छुभणकडगमद्दो य ।
आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे य पत्थारे ॥

स गृहस्थस्तं संयतं वधार्थमागतं दृष्ट्वा कदाचित्तमेव निष्ठापयति-व्यापादयति, तं ग्रामनगरादेर्वा निर्घाटयति; कटकमर्देन वा गृह्णाति । अथवा कटकमर्दो रुष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छं व्यापादयति; यथा-पालकस्कन्धकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धननिष्कासनादिकमाचार्यस्य अपरगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्यात् । एवं गणस्य वा, संघस्य वा एष प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत आरोपणा दोषाश्च भणिताः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरोपणामाह-

संजतगणो गिहगणो, गामे नगरे व देसरज्जे य ।
अहिवतिरायकुलम्मि य, जा जहिं आरोवणा जाणिया ॥

बहवः संयताः संयतगणः, तं सहायं गृह्णाति, एवं गृहगणं वा सहायं गृह्णाति । स च गृहगणो ग्रामं वा नगरं वा देशं वा राज्यं वा भवेत् ; ग्रामादिवास्तव्यजनसमुदाय इत्यर्थः । एतेषां चासंयतादीनां, येऽधिपतयः तान् वा सहायत्वेन गृह्णाति । अन्यदा राजकुलं गृहीत्वा गच्छति । यथा-कालिकाचार्येण भिक्षुराजवृन्दम्; तत्र चैकाकिनो या यत्र संकल्पादेवारोपणा भणिता सा नेहापि द्रष्टव्या ।

एतदेव व्याचष्टे-

संजयगणो तदधिवो, गिही तु गामपुरदेसरज्जे वा ।
एतेसिं चिय अहिवा, एगतरजुओ उभयतो वा ॥

संयतगणः प्रतीतः तेषां संयतानामधिपस्तदधिपः, आचार्य इत्यर्थः। ये गृहिणः स्वग्रामपुरदेशराजवास्तव्याः,एतेषामधिपतयो वा भवेयुः,तत्र ग्रामाधिपतिः,श्रेणिकाधिपतिः,पुराधिपतिः,श्रेष्ठी, कोट्टपालो, देशाधिपतिर्देशरक्षको देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिर्महामन्त्री, राजा वा; एतेषामेकतरेणोभयेन वा युक्तो व्रजति, तत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा-

तहि वचंते गुरुगा, दोसु तु छल्लहुग गहण छग्गुरुगा ।
छग्गिणपहरण छेदो, मूलं जं जत्थ वा पंथे ॥

संयतगणेन तदधिपेन वा उभयेन वा सहाहं व्रजामीति संकल्पे चतुर्लघु । पदभेदमादौ कृत्वा तत्र व्रजतश्चतुर्गुरु, प्रहरणस्य मार्गणायां दर्शने च द्वयोरपि षड्लघु,प्रहरणस्य ग्रहणे षड्गुरु । उत्क्षीर्णे प्रहरणे छेदः । प्रहारे दत्ते मूलम् । यद्वा-परितापनादिकं पृथिव्यादिविनाशनं यत्र पथि ग्रामे वा करोति तन्निष्पन्नमपि मन्तव्यम् । तथा गृहस्थवर्गोऽपि ग्रामेण वा, ग्रामाधिपतिना वावद् राज्येन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा,सह व्रजामीति संकल्पे चतुर्गुरु । पथि गच्छतः प्रहरणं च गृह्णतः षड्लघु, गृहीते षड्गुरुः शेषं प्राग्वत् । एवं भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

एसेव गमो नियमा, गणियायरिये य होइ णायव्वो ।
णवरं पुण णाणत्तं, अणवट्टप्पो य पारंची ॥

एष एव गमो नियमाद्भणित उपाध्यायस्याचार्यस्य,चशब्दाद् गणावच्छेदिकस्य वा मन्तव्यः । नवरं पुनरत्र नानात्वमधस्तादेकैकपदह्रासेन यत्र भिक्षोर्मूलं, तत्रोपाध्यायस्याऽनवस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराञ्चिकम् ।

तपोऽर्हे च प्रायश्चित्तमित्थं विशेषयितव्यम्-

भिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेगेणं ।
उवज्झाए आयरिए, दोहि च गुरुगं च णाणत्तं ॥

भिक्षोरेतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुकानि, गणावच्छेदिकस्यैकतरेण-तपसा कालेन वा गुरुकाणि,उपाध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि-तपःकालाभ्यां गुरुकाणि, एतन्नानात्वं विशेषः ।

काऊण अकाऊण व, उवसंत उवट्ठियस्स पच्छित्तं ।
सुत्तेण उ पट्ठवणा, असुत्त रागो व दोसो वा ॥

गृहस्थस्य प्रहारादिकमपकारं कृत्वाऽकृत्वा वा यदुपशान्तो निवृत्तः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्यर्थं वाऽऽलोचनाविधानपूर्वकमपुनःकरणेनोपस्थितस्तदा प्रायश्चित्तं दातव्यम् । कथम्?,इत्याह-सूत्रेण प्रायश्चित्तं प्रस्थापनीयम्, असूत्रोपदेशेन तु प्रस्थापयतो रागो वा द्वेषो वा भवति । प्रभूतमापन्नस्य स्तोकदाने रागः । स्तोकमापन्नस्य प्रभूतदाने द्वेषः ।

एवं रागद्वेषाभ्यां प्रायश्चित्तदाने दोषमाह—

थोवं जति आवण्णो, अतिरेगं देति तस्स तं होति ।
सुत्तेण उ पट्ठवणा, सुत्तमणिच्छंति निज्जुहणा ॥

स्तोकं प्रायश्चित्तमापन्नस्तस्य यावद् व्यतिरिक्तं ददाति, ततो यावता अधिकं तावत्तस्य प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः । अथोनं ददाति ततो यावता न पूर्यते तावदात्मना प्राप्नोति । अतः सूत्रेण प्रस्थापना कर्त्तव्या । यस्तु सूत्रोक्तं प्रायश्चित्तं नेच्छति, स वक्तव्यः-अन्यत्र शोधिं कुरुष्व । यथा निर्यूहणा भण्यते ।

अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे-

जेणऽहियं ऊणं वा, ददाति तावतियमप्पणो पावे ।
अहवा सुत्तादेसा, पावति चउरो अणुग्घाया ॥

यत् यावता अधिकमूनं ददाति तावदात्मना प्राप्नोति । अथवा सूत्रादेशादूनातिरिक्तं ददानश्चतुरोऽनुद्घातान्मासान् प्राप्नोति ।

तथेदं निशीथदशमोद्देशकान्तर्गतसूत्रम्-

जे भिक्खू उग्घाइए अणुग्घाइयं देइ,अणुग्घाइए उग्घाइयं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

(तस्य चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमित्यर्थः)

अथ द्वितीयपदमाह—

बितियं उप्पाएउं, सासणपंते असज्झ पंच पया ।
आगाढे कारणम्मी, रायस्संसारिए जतणा ॥

द्वितीयपदं नाम अधिकरणमुत्पादयेदपि शासनप्रान्तः प्रवचनप्रत्यनीकोऽसाध्यश्च न यथा,तथा शासितुं शक्यते; ततस्तेन सममधिकरणमुत्पाद्य शिक्षणं कर्त्तव्यम् । तत्र च स्वयमसमर्थः संयतग्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सहायतया गृह्णीयात् । आगाढे कारणे राजसंसारिका राजान्तरस्थापना, तामपि यतनया कुर्यात् । तथाहि-यदि राजा अतीव प्रवचनप्रान्तोऽनुशिष्यादिभिरनुकूलोपायैर्न उपशाम्यति, ततस्तं राजानं स्फेटयित्वा तद्वंशजमन्यवंशजं वा भद्रकं राजानं स्थापयेत् ।

यश्च तं स्फेटयति स ईदृग्गुणयुक्तो भवति-

विज्जाओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा ।
उप्पादेउं सासति, अतिपंतं कालगज्जो व्व ॥

यो विद्याबलेन युक्तः,यथा-आर्यखपुटः।औरसेन वा बलेन युक्तः, यथा-बाहुबली। तेजोलब्ध्या वा सलब्धिकः, यथा-ब्रह्मदत्तः । संभूतभवे सहायलब्धियुक्तः,यथा-हरिकेशबलः। ईदृशोऽधिकरणमुत्पाद्यातिप्रान्तमतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्ति,कालिकाचार्य इव। यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्लराजानं शासितवान् । बृ०४ उ० ।

कथानकं चेत्थम्-

को उ गद्दभिल्लो ?, को वा कालगज्जो ?, कम्मि काले सासितो ?। भण्णति-उज्जेणी णाम णगरी, तत्थ य गद्दभिल्लो णाम राया, तत्थ कालगज्जा णाम आयरिया जोतिसणिमित्तबलिया, ताण भगिणी रूववती पढमे वयसि वट्टमाणा गद्दभिल्लेण गहिया,अंतेपुरे छूढा, अज्जकालगा विण्णवेंति; संघेण य विण्णत्तो ण मुंचति। ताहे रुट्ठो अज्जकालगो पइण्णं करेति-जइ गद्दभिल्लं रायाणं रज्जाओ ण उम्मूलेमि तो पवयणसंजमोवघायगाणं तदुवेक्खगाण य गतिं गच्छामि । ताहे कालगज्जो कयगेण उम्मत्तलीभूतो तिगचउक्कचच्चरमहाजणट्ठाणेसु इमं पलवंतो हिंडति-जइ गद्दभिल्लो राया,तो किमतः परम्?,जइ वा अंतेपुरं रम्मं,तो किमतः परम्? विसओ जइ वा रम्मो, तो किमतः परम् ? सुणिवेट्ठा पुरी जइ, तो किमतः परम्?,जइ वा जणो सुवेसो,तो किमतः परम्?,जइ वा हिंडामि वो भिक्खं,तो किमतः परम्?,जइ सुण्णे देवकुले वसामि,तो

किमतः परम्?। एवं भणिते सो कालगज्जो पारसकूलं गतो, तत्थ एगो साहि त्ति राया भण्णति, तं समल्लीणो णिमित्तादिएहिं हियं आउट्टेति, अन्नया तस्स साहाणुसाहिणा परमसामिणा कम्हि वि कारणे रुट्ठेण कट्टारिगा सहेउं पेसिया, सीसं छिंदाहि त्ति । तं आकोप्पमाणं आयातं पेच्छिऊण सो य विमणो संजातो, अप्पाणं मारिउं ववसिओ। ताहे कालगज्जेण भणितो-मा अप्पाणं मारेहि। साहिणा भणियं-परमसामिणा रुट्ठेण एत्थ अत्थि उं ण तीरइ। कालगज्जेण भणियं-एहि हिंदुगदेसं वच्चामो । रण्णा पडिसुयं। तत्तुल्लाण य अण्णेसिं पि पंचाण उत्तीए साहिणा सुअं, केण कट्टारियाओ सहेउं पेसियाओ । तेण पुव्विल्लेण दूया पेसिया, मा अप्पाणं मारेह। एहि वच्चामो हिंदुगदेसं। ते उत्तरओ पि सुरट्ठमागया, कालो य णवपाउसो वट्टइ । तारिसे काले ण तीरइ गंतुं तत्थ मंडलाइं कया। वि विभत्तिऊणं जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ अधिवो राया ठवितो, ताहे सगवंसो उप्पण्णो, वत्ते य वरिसाकाले कालगज्जेण भणिओ-गद्दभिल्लं रायाणं रोहेमो , ताहे लाला रायाणो जे गद्दभिल्लेण अवमाणिता ते मेलिआ अण्णे य, ततो उज्जेणी रोहिता। तस्स य गद्दभिल्लस्स एक्का विज्जा गद्दहिरूवधारिणी अत्थि, सा य एगम्मि अट्टालगे परबलाभिमुहा ठविया, ताहे परमे अट्ठकप्पे गद्दभिल्लो राया अट्ठमभत्तोववासी तं अवयारेइ, ताहे सा गद्दभी महंतेण सद्देण णादति। तिरिओ मणुओ वा जो परबलट्ठिओ सद्दं सुणेति स सव्वो रुहिरं वमतो भयविब्भलो णट्ठसण्णो धरणितले णिवडइ। कालगज्जो य गद्दभिल्लं अट्ठमभत्तोववासिणं सव्वविधाणदक्खाणं अट्ठसतं जोहाण णिरूवेति, जाहे एस गद्दभी मुहं विमंसेति जाव य सद्दं ण करेति ताव जमगसमगएण मुहं पूरेज्जा । तेहिं पुरिसेहिं तहेव कयं, ताहे सा वाणमंतरी तस्स गद्दभिल्लस्स उवरिं हगितं मुत्तेउं बलहीणं कयं, ताहे सो वि गद्दभिल्लो अबलो उम्मूलिओ, गहिया उज्जेणी, भगिणी पुणरवि संजमे ठविया। नि० चू० १० उ० ॥

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति -

जे भिक्खू णवाइं अणुप्पण्णाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ,
उप्पायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

नवं पत्पुरातनं न भवति, अनुत्पन्ना संपयकाले अनिउज्जमाणा अधिकं करणं, संयमयोगातिरिक्तमित्यर्थः । नि० चू० ५ उ० ।

(१३) कारणे सत्युत्पादयेत्—

बितियपदमणप्पज्झो, उप्पादे वि कोविते व अप्पज्झो ।
नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचणट्ठा य उप्पाए ॥२५०॥

अणप्पज्झो अकोवितो वा रोहो वा अणरिहो कारणे पव्वावितो कतो, कारणे सो अधिकरणं काउं विगिंचियव्वो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह-

खेतादिऽकोविओ वा, अनलाविवेगट्ठया व जाणं पि ।
अहिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वाणि वि पयाणि ॥

क्षिप्तचित्तः, आदिशब्दाद् दृप्तचित्तो, यक्षाविष्टो वा, अनात्मवशत्वादधिकरणं कुर्यात् । अकोविदो वा अद्याप्यपरिणतजिनवचनः शैक्षः, स अज्ञत्वादधिकरणं विदध्यात् । यद्वा-जानन्नपि गीतार्थोऽपीत्यर्थः। अनलस्य-प्रव्रज्याया अयोग्यस्य नपुंसकादेः कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्तौ विवेचनार्थं परिष्ठापनाय तेन सहाधिकरणं करोति, कृत्वा चाधिकरणं सर्वाण्यप्यनादराहीनि पदानि कुर्यात् ।

स्पष्टतरं भावयति—

कारणे अनले दिक्खा, सम्मत्ते ऽणुसट्ठि तेण कलहो वि ।
कारणे सद्दविता णं, कलहो असोच्च तेणं वा ॥

कारणे अनलस्यायोग्यस्य दीक्षा दत्ता, समाप्ते च तस्मिन् कारणे तस्यानुशिष्टिः क्रियते। तथाऽप्यनिर्गच्छता तेन समं कलहोऽपि कर्तव्यः। कारणे वा शब्दप्रतिबद्धायां वसतौ स्थिताः, ततोऽन्योन्यं तेन शब्दकारिणा समं कलहः क्रियते येन शब्दो न श्रूयते । बृ० ४ उ० ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि क्षान्तव्युपशमितानि-

पुनरुदीरयति-

जे भिक्खू पोराणाइं अहिगरणाइं खामियविउसमियाइं
पुणो उदीरेइ, उदीरंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

पोराणा पूर्वं उत्पन्ना, अधिकरणं पूर्ववत् । दोसावगमो खमा, तं च खामियं भण्णति । विविधं ओसमियं विउसमियं मिच्छादुक्कमपदाणं। अहवा-खामियं वायाए, मणसा विउसमियं, वुत्तुप्पं, ताणि जो पुणो उदीरेइ उप्पादयति तस्स मासलहुं ।

खामियविउसमियाइं, अधिकरणाइं तु जे य उप्पाए ।
पावाणा तत्थ तिसिं, तुज्झणजुत्तं परूवणा इणमो॥२५१॥

पावाणा, साधुधर्मे व्यवस्थिता इत्यर्थः। कहं उप्पाएति?, कति साहुणो पुव्वं कलहिता, तम्मि य खामियविउसमिते तत्थेगो भणाति-अहं णाम तुमे तदा एवं भणितो, आसी ण जुत्तं तुज्झ इयरो पडिभणति-अहं पि ते किं भणितो?। इतरो भणाति-इयाणिं किं ते मुयामि , एवं उप्पाएति ।

स उप्पायगो-

उप्पादगमुप्पण्णं, संबद्धो कक्खमे य पाहुयं ।
आविट्टणा य पुच्छणा, समुग्घतोऽतिघायणे चेव॥२५२॥

पुणो ते वि कलुसिया उप्पायगा, जेहिं उप्पण्णं, संबद्धं णाम-वायाए परोप्परं सामं समारद्धा, कक्खमं णाम, पासट्ठितेहिं वि ओसमिज्जमाणा वि णो उवसमंति, (पाहुअं ति) रोसवसेण बाहेऽबले जुज्झं लग्गा, आविट्टणा-एगो णिहओ, जो सो णिहितो सो पुच्छितो। मारणंतियसमुग्घाएण समोहतो, अतिघायणा मारणं ।

एतेसु णवसु ठाणेसु उप्पायगस्स इमं पच्छित्तं-

लहुओ लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति छहुगगुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ २५३ ॥

बितियादिसु चउलहुगादी पच्छित्ता, उप्पादगपदं ण भवति त्ति काउं ।

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाणाणं ।
साधुपदोसो संसा-रवड्ढणादी उदीरंते ॥२५४॥

बितियपदमणप्पज्झे, ओदीरे वि कोविते व अपज्झे ।
नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचणट्ठा उदीरेज्जा ॥२५५॥

पूर्ववत् । नि० चू० ५ उ० ।

(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम्-

नो कप्पइ निग्गंथाणं वितिगिट्ठाइं पाहुडाइं विउसवित्तए ॥ १० ॥

अस्य संबन्धमाह-

वितिगिट्ठा समणाणं, अविवितिगिट्ठा य होइ समणीणं ।
मा पाहुडं पि एवं, भवेज्ज सुत्तस्स आरंभो ॥

व्यतिकृष्टा श्रमणानां विभवति, अव्यतिकृष्टा श्रमणीनामित्यनन्तरसूत्रद्वयेऽभिहितमेव । तदाकर्ण्य मा प्राभृतमप्येवं भवेदित्येतदधिकृतसूत्रस्यारम्भः । अस्य व्याख्यानं कल्पते निर्ग्रन्थानां व्यतिकृष्टानि क्रोधविकृष्टानि, प्राभृतानि कलहानित्यर्थः । विउसवित्तुमुपशमयितुम्, किं तु यत्रोत्पन्नं न तत्रोपशमयितुं कल्पते । इत्येष सूत्राक्षरार्थः ।

अत्र भाष्यप्रपञ्चः-

सेज्जासणातिरित्ते, हत्थादी घट्ट भायणाभेदे ।
वंदंतमवंदंते, उप्पज्जइ पाहुमं एवं ॥

शय्यासनातिरिक्ते,किमुक्तं भवति?-अतिरिक्तां शय्यामतिरिक्तानि वाऽऽसनानि, परिग्रहे कुर्वति वार्यमाणे, यदि वा हस्तादि हस्तपादादिकं पादेन संघट्याऽऽक्रम्य क्षमयित्वा व्रजति, यद्वा-कथमप्यनुपयोगतो भाजनभेदे, अथवा पूर्वं वन्दमाने पश्चाद्-वन्दने प्राभृतं नाम कलहस्तदेवमुत्पद्यते ।

अहिगरणसमुप्पत्ती, जा वुत्ता पारिहारियकुलम्मि ।
सम्ममणाउट्टंते, अधिकरण तओ समुप्पज्जो ॥

उत्पत्तिसंभवे सति ततः सम्यगनावर्त्तमाने अधिकरणं समुत्पद्यते ।

अहिगरणे उप्पन्ने, अविओसवियम्मि निग्गयं समणं ।
जेऽऽसाइज्जइ भुंजइ, मासा चत्तारि भारीया ॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति यैः सहाधिकरणमुदपादि, तस्मिन्नव्यवितोषिते निर्गतं श्रमणं य आसादयति प्रतिगृह्णाति स्वसत्तामात्रेण, यश्च तेन सह भुङ्क्ते तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः, भारिका गुरवः ।

सगणं परगणं वा वि, संकंतमविओसिते ।
छेदादि वण्णिया सोही, नाणत्तं तु इमं भवे ॥

येन सहाधिकरणमुपजातं तस्मिन्नव्यवितोषिते स्वगणं परगणं वा, संक्रान्तमधिकृत्य या छेदादिका शोधिः पूर्वं कल्पाध्ययने वर्णिता साऽत्रापि तथैव वक्तव्या; नवरमत्र यन्नानात्वं तदेवं वक्ष्यमाणं भवति ।

तदेवाऽऽह—

मा देह ठाणमेयस्स, पेसणे जइ तो गुरू ।
चउगुरू ततो तस्स, कहंते वि चउलहू ॥

अन्यत्र गतस्य यद्याचार्यः साधुसंघाटं, संदेशं वा प्रेषयति, यदेषोऽधिकरणं कृत्वा समागतो वर्तते, तस्मादेतस्य स्थानं मा देहि इति; तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । ततः प्रेषणानन्तरं यस्य पार्श्वे सोऽन्यत्र गतस्तस्य स प्रेषितो यदि कथयति तदा तस्मिन्नपि प्रायश्चित्तं चतुर्लघु ।

यतस्तत्रेमे दोषाः-

ओहावणं व वेहासं, पदोसा जं तु काहिति ।
मूलं ओहावणे होइ, वेहासे चरमं भवे ॥

यद् यस्मात्प्रेषणे, कथने वा; प्रद्वेषादवधावनं करिष्यति । वेहायसं वा, वैहायसं नामोत्कलं वनम । तत्रावधावने तेन कृते सति प्रेषयितुः कथयितुर्वा मूलं प्रायश्चित्तम्; वैहायसे चरमं पाराञ्चिकमिति ।

अन्यच्च-

तत्थऽन्नत्थ न वा सं-वदेति मे न वि य नंदमाणेणं ।
नंदंति ते खलु मए, इति कलुसऽप्पा करे पावं ॥

मम तत्रात्मीयसमीपे अन्यत्रैवेहागतस्य जन्मान्तरवैराद्वा स न संवदति, नापि च मयि नन्दति ते नश्यन्ति, महाप्रद्वेषतोऽसुखभावात् । ततो न जन्मान्तरवैरिणः ते मम पृष्ठं मुञ्चन्तीति विचिन्त्य कलुषात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ?, इत्याह—

आदीविज्ज व वसहिं, गुरुणो अन्नस्स घाय मरणं वा ।
कंमच्छारिउ लूसय-सहितो सयमुरस्स बलवं तु ॥

कणकच्छारिओ नाम ग्रामो, ग्रामाधिपतिर्वा; लूषका वा सहायास्तेन सहितः, स्वयं वा औरसो बलवान्, वसतिमादीपयेत्; गुरोरन्यस्य वा घातं, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ?, इत्याह-

जइ भासइ गणमज्झे, अवप्पयोगा व तत्थ गंतूण ।
अविओसमिए एत्था-गतो त्ति ते चेव ते दोसा ॥

यः प्रेषितो, यद्वा-अवप्रयोगाद् अन्येन कार्येण तत्र गत्वा गणमध्ये सकलगणसमक्षं यदि भाषते, यथा-एषोऽधिकरणं कृत्वा येन सहाधिकरणमभूत्तस्मिन्नतोषिते अत्रागत इति,(ते इति) तस्यापि त एव प्रागुक्ता दोषाः ।

जम्हा एए दोसा, अविही पेसणे य कहणे य ।
तम्हा इमेण विहिणा, पेसण कहणं तु कायव्वं ॥

यस्मादविधिना प्रेषणे, कथने च एतेऽनन्तरोदिता दोषाः,तस्मादनेन वक्ष्यमाणेन विधिना प्रेषणं कथनं च कर्त्तव्यम् ।

तमेव विधिमाह—

गणिणो अत्थि निवेज्जं, रहिते किच्चपेसितो ।
गमेति तं रहे चेव, नेच्छे सहमहं खु तो ॥

अन्येन प्रयोजनेन प्रेषितः सत्वरहिते विविक्ते प्रदेशे, अथ निर्भेद्यं तदधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य गमयति कथयति क्रमेणाचार्यस्तं कृताधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-त्वमित्थमित्थमधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतो, न च स उपशमित इति । एवमुक्ते यदि स नेच्छेद् यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा समागतः, यस्त्विदं ब्रूते तेन सहाहं (खु) निश्चितमिति ।

गुरूसमक्खं गमितो, तहावि जइ नेच्छइ ।
ताहे वि गणमज्झम्मि, भासते नातिनिट्ठुरं ॥

एवं तस्यानिच्छायां स प्रयोजनान्तरव्याजेन प्रेषितो रहसि गुरुसमक्षमधिकरणं कथञ्चनापि तच्चित्तमनुप्रविश्य कथयति, यथा रोषं न विदधाति । तथा-गमितोऽपि यदि नेच्छति

ततः प्रहरदिवसाद्यतिक्रमेण प्रस्तावान्तरमारचय्य गणमध्ये तं भाषते, परं नातिनिष्ठुरम् ।

कथं तं भाषते ?, इत्याह—

गणस्स गणिणो चेव, तुमम्मी निग्गते तया ।
आधती महती आसी, सो विवक्खो य तज्जितो ॥

तदा तस्मिन्काले त्वयि अधिकरणं कृत्वा निर्गते समस्तस्यापि गणस्य, गणिनश्चाचार्यस्य महती अधृतिरासीत् । येन च सह तवाधिकरणमभूत् सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च तर्जितः ।

गणेण गणिणा चेव, सारेज्ज तमकंपिणो ।
ताहे अन्नावदेसेण, विवेगो से विहिज्जइ ॥

एवमुक्तानन्तरं तत्रत्येन गणेन गणिना च स सम्यक् सारणीयः शिक्षणीयः, येन स्वदोषं प्रतिपद्य तत्र गत्वा विपक्षं क्षमयति । अथ स तथा सार्यमाणोऽकम्पितो नोपशमं नीतो दुःखमात्मत्वात्ततोऽन्यापदेशेन तस्य विवेकः परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन ?, इत्याह-

महाजणो इमो अम्हं, खेत्तं पि न पहुप्पति ।
वसही सक्खिरुद्धा वा, वत्थपत्ता वि नत्थि णो ॥

अयं साधुसाध्वीलक्षणो महान् जनोऽस्माकमेतावतां न चैतत् क्षेत्रं प्रभवति, संकीर्णत्वात् । यदि वा वसतिः सक्खिरुद्धा संकटा वर्तते, तत एतावन्तः साधवोऽत्र न मान्ति, अथवा वस्त्रपात्राण्यस्माकं संप्रति न सन्ति । अपिशब्दात्तत्राप्तथाविधः शमोऽप्यस्ति, साधवोऽप्येतेऽतीवासहनाः, तस्मात् यूयमन्यत्र क्वापि गच्छत । यदि पुनः स सार्यमाण उपशममधिगच्छति, ततः स वक्ष्यमाणेन विधिनोपशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमतोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह-

सगणिपरगणिणा, समणुन्नेयरेण वा ।
रहस्सादि व उप्पन्नं, जं जहिं तं तहिं खवे ॥

स्वगणसत्केन परगणसत्केन वा तेनापि समनोज्ञेन सांभोगिकेनेतरेण वा सह रहसि वा, आदिशब्दादरहसि वा; यतो यत्राधिकरणमुत्पन्नं तत्तत्र क्षपयेदुपशमयेत् ।

तत्रोपशमनविधिमाह-

एक्को व दो व निग्गय, उप्पन्नं जत्थ तत्थ वोसमणं ।
गामे गच्छ दु गच्छे, कुलगणसंघे य विइयपयं ॥

एको वा, द्वौ वा, वा-शब्दात्त्रयो वा, चत्वारो वा, येऽधिकरणं कृत्वा निर्गतास्ते यत्र ग्रामे नगरे वाऽधिकरणमुत्पन्नं तत्रानीयन्ते, आनीय यैः सहाधिकरणमभूत्तैः सह व्युपशमनं क्षामणं कार्यम् । तत्पुनरधिकरणमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा द्वयोर्गच्छयोः, अथवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा संघे, समुत्पन्नं स्यात्, (विइयपदमिति) अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । ततो वक्ष्यमाणकारणैर्विकृष्टमपि प्राभृतं वितोषयेत् । ततश्च वितोषणमभिधास्यते ।

साम्प्रतमधिकरणमुत्पन्नं यथोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह-

तं जेत्तिएहिँ दिट्ठं, तेत्तियमेत्ताण मेलणं काउं ।
गिहियाण व साहूण व, पुरतोऽज्जिय दोवि खामंति ॥

तदधिकरणमुत्पन्नं यावद्भिर्गृहस्थैः संयतैर्वा दृष्टं तावन्मात्राणां गृहस्थानां साधूनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुरतो द्वावपि परस्परं क्षमयतः । कुलादिसमवाये यद्युत्पन्नं ततः कुलादिसमवायं कृत्वा क्षमयतः । किं कारणम् ?, यावन्मात्रैर्गृहिभिः संयतैर्वा दृष्टं तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं क्षमयतः, तत्राऽऽह-

नवणीयतुल्लहियया, साहू एवं गिहिणो उ नाहिंति ।
न य दंमजया साहू, काहिंती तत्थ वोसमणं ॥

नवनीततुल्यहृदयाः साधवः, एवं गृहिणः, तुशब्दादभिनवशैक्षादयश्च ज्ञास्यन्ति । न च दण्डभयात्साधवोऽधिकरणे समुत्पन्ने व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कर्मक्षपणाय, एवं ज्ञास्यन्ति, एवंरूपा च प्रतिपत्तिः शुभोदयपरम्पराहेतुः; अतस्तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्षमयतः ।

संप्रति यदुक्तं 'विइयपयमिति' तद्व्याख्यानार्थमाह-

बितियपदे वितिगिट्ठे, वितोसवेज्जा उवट्ठिते बहुसो ।
विइतो जइ न उवसमे, गतो य सो अन्नदेसेसु ॥

द्वितीयपदे व्यतिकृष्टान्यपि प्राभृतानि वितोषयेदुपशमयेत् । कथम् ?, इत्याह-येन सहाधिकरणं बहुशो बहून् वारान् कृतं, तस्योपस्थितस्तं क्षमयति, स च क्षम्यमाणो द्वितीय उपशाम्यति । यदि नोपशमेत् अनुपशान्तश्च गतोऽन्यं देशं ततः-

कालेण व उवसंतो, वज्जिज्जंतो व अन्नमन्नेहिं ।
खीरादिलद्धीण व, देवय गेलन्न पुट्ठो वा ॥

तस्यान्यदेशं गतस्य बहुना कालेन गतेन तस्य कषायाः प्रतनवोऽभवन्, तत उपशान्तः । अथवा-अन्योन्यैः साधुभिः कृताधिकरण एष इति स्थानविवर्ज्यमान एवं स्वचेतसि संकथयति-यथा कषायदोषेणाहं स्थाने स्थाने विवर्ज्यमानः, तस्मादलं कषायैरिति पुनरावृत्तिः, अथवा क्षीरादिलब्धीनां क्षीराश्रवादिलब्धीनामुपदेशतः समनुपगतवान् देवतया शिक्षितः, यदि वा ग्लानत्वेन पृष्टस्तत्रश्चिन्तयति-यदि कथमपि साधिकरणोऽम्रियेऽहं ततः सापराधिको भवामि, तस्मात्तं गत्वोपशमयामि ।

एवं जातपुनरावृत्तिना यत्कर्तव्यं तदाह—

गंतुं खामेयव्वो, अहव न गच्छेज्जिमेहिँ दोसेहिं ।
नीयल्लग उवसग्गो, तहियं वा तस्स होज्जंत ॥

तेन जातपुनरावृत्तिना यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र गत्वा शमयितव्यः । अथवा-एतैर्वक्ष्यमाणैर्दोषैस्तत्र न गच्छेद्यत्रोत्पन्नमधिकरणम् । कैर्दोषैः ?, इत्यत आह-निजकाः स्वजनाः तस्य तत्र विद्यन्ते, ततस्तत्र गतस्य तैरुपसर्गः क्रियते ।

तथा—

गामो उट्ठिउ हुज्जा, अंतर वा जणवतो निरुद्धवगणं ।
अन्नं गता न तरई, अहवा गेलन्न पमिचरइ ॥

यत्र ग्रामेऽधिकरणमुत्पन्नं स ग्राम उत्थित उद्वशीभूतः, अथवा अन्तराऽजनपद उत्थितो, यदि वा येन सममधिकरणमजायत स निरुद्धवगणं प्रविष्टवान् । अन्यत्र गत इतरो वा ग्लानो जातस्ततो गन्तुं न शक्नोति । अथवा ग्लानं प्रतिचरति ।

अणुन्नाय पमिवज्जे, भिक्खादि अलंभ अंतर नहिँ वा ।

रायदुट्ठं ओमं, आसन्न वा अंतर तहिँ वा ॥

अथवा सोऽधिकृतः क्षमयितुमना अन्युद्यतं विहारं प्रतिपत्तु-कामो लग्नं प्रत्यासन्नं ततो गन्तुं न शक्नोति । अथवा-अन्तराले तत्र वा यत्राधिकरणमुत्पन्नं, भिक्षाया अलाभो, यदि वाऽन्तरस्तत्र वा राजाद्विष्टमवमौदर्यमाशिवं वा ।

सबरपुलिंदादिभयं, अंतर तहियं च अहव दुट्ठा हि ।
एएण कारणेणं, वच्चंतं कं पि अप्पाहे ॥

अन्तरा तत्र वा शबरभयं पुलिन्द्रभयम्, आदिशब्दात् स्तेनम्लेच्छादिभयपरिग्रहः । भवेत्, न एतैः कारणैस्तत्र गन्तुमशक्नुवन् यः कोऽप्यन्यः श्रावको वा, सिद्धपुत्रो वा, मिथ्यादृष्टिर्वा, तत्र गच्छन्को व्रजति, तं संदेशयति । यथाऽहमधुनोपशान्त एतैश्च कारणैरागन्तुमशक्तः, तस्मात्त्वमत्रागत्य मया सह क्षमणं कुरु ।

ततः संदेशे कथितेऽनेन यत्कर्तव्यं तदाह—

गंतूण सो वि तहियं, सपक्खपरपक्खमेव मेलित्ता ।
खामेइ सो वि कज्जं, व दीहए आगतो जेण ॥

यस्य संदेशः कथापितः स तत्र गत्वा येस्तदधिकरणं ज्ञातं सपक्षं परपक्षं च मेलयित्वा तं क्षमयति; सोऽपि च क्षम्यमाणो येन कारणेनागतस्तत्कारणं तस्य साक्षाद्दीक्षयति कथयति ।

अह नत्थिको वि वच्चंतो, ताहे उवसमति अप्पणा ।
खामेइ जत्थ मिलती, अदिट्ठे गुरुणंतियं काउं ।

अथ नास्तिकोऽपि तत्र व्रजन् यस्य संदेशः कथ्यते तर्हि आत्मना स्वयमुपशाम्यति, सर्वथा मनसोऽधिकरणमुपशमपरायणतया स्फेटयति, ततो यत्र मिलति तत्र क्षमयति । अथ न क्वापि मिलति, ततस्तस्मिन्नदृष्टे गुरूणामन्तिके कृत्वा तं मनसि कृत्य क्षामणं करोति । व्य० १ उ० । ('वसहि' शब्दे साधुसाध्वीकलहे यतना 'पक्खगरा' प्रस्तावे द्रष्टव्या)

(१६) निर्ग्रन्थीभिर्व्यतिकृष्टमप्यधिकरणं-
व्युपशमनीयम्—

कप्पइ निग्गंथीणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवित्तए ॥
कल्पते निर्ग्रन्थीनां व्यतिकृष्टानि कलहान् विनोपयितुमुपशमयितुमित्येष सूत्राक्षरार्थः ।

संप्रति भाष्यप्रपञ्चः—

निग्गंथीणं पाहुड, विओसवियव्वं विइकिट्ठं ।
किह पुण होज्ज उप्पण्णं ?, चेइयघरवंदमाणीणं ॥
चेइयथुतीण जणणे, उण्हे उ अभातो बहि अच्छंति ।
परितावियाम धणियं, कोइलसद्दाहिँ तुब्भाहिं ॥

निर्ग्रन्थीनां प्राभृतं विनोपयितव्यमुपशमयितव्यं भवति व्यतिकृष्टम् । शिष्यः प्राह-कथं केन प्रकारेण पुनस्तासामधिकरणमुत्पन्नं स्यात् ? । सूरिराह-काश्चनाऽऽर्यिकाश्चैत्यवन्दनाय चैत्यगृहं गताः, तस्मिंश्च चैत्यगृहे बहिर्मुखमण्डपादिकं न समस्ति; ततश्चैत्यगृहमध्यस्थिताश्चैत्यानि वन्दन्ते, तासां च वन्दमानानां प्रथमस्तुतेरारभ्याऽन्याः काश्चन संयत्यः समागताः, तासां मध्ये अवकाशो नास्तीति बहिरुष्णे स्थिताः । ततो विस्तरेण चैत्यस्तुतीनां भणने ता बहिः स्थिताः उष्णेन परिताप्यमाना वदन्ति-युष्माभिः कोकिलाशब्दाभिर्धणियमतिशयेन वयं परितापिताः । तथा—

नच्चंति नाडगाइं, कल्लंऽपि कलभाणणीण तुम्हाण ।
विप्पगते भवतीणं, जायंते जयं नरवतीतो ॥

युष्माकं कलभाननानां तु स्वरमनोज्ञाननानां पुरतः कल्लमपि मनागपि नाटकानि नार्हन्ति, ततो भवतीनां विप्रकृते कारणमजानानानामस्माकं भयं नरपतितो यद् यूयं नाटकं प्रेक्षिष्यध्वे ।

इति असहणउत्तेजित-पज्झत्था तो समंति तत्थेव ।
असुणाम सव्वगणजं-कणे व गुरुसिट्ठिमा मेरा ॥

इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेणासहनाभिर्या उत्तेजिताः कोपं ग्राहितानां मध्यस्थाः संयत्यस्तत्रैव शमयन्ति । न च तास्तद् भणनं कस्यापि श्रावितवत्यः । अथ मध्यस्थानां संयतीनामज्ञातो वेलावशाद्वा सर्वगणस्य भण्डनमभूत् तर्हि सर्वगणभण्डने स्वस्वगुरुशिष्टं कर्तव्यम् । ततस्तावुपशमयतः । अथ लज्जातो भयतो वा न स्वस्वगुरोर्निवेदितं तर्हि तत्रेयं मर्यादा ।

एतदेवाऽऽह—

गणहरगमणं एगा-ऽऽयरियस्स दोन्नि वा वग्गा ।
आसन्नागम दूरे, च पेसणं तं च वितियरत्तं ॥

समस्तस्यापि गणस्य भण्डने गते आत्मीयस्य समीपे गमनम्, अथवा एकस्याचार्यस्य संबन्धिनौ तौ द्वावपि संयतवर्गौ, तत एकस्य समीपे गच्छतः, ततः स एकस्तौ वा द्वौ गणधरौ तदधिकरणं यत्र चैत्यगृहेऽन्यत्र चोत्पन्नं तत्र द्वावपि वर्गौ नीत्वा उपशमयतः । अथ लज्जादिना स्वस्वगुरोर्निवेदितमेकतरश्च पक्षो निर्गतः, तत आह-(आसन्नेत्यादि) यद्यासन्नं गतोऽपान्तराले च निर्भयं ततः स आनाय्यते, अथ सापायं तर्हि तासां गणधर आगच्छति, आगत्य क्षमणं करोति । अथ दूरे गतस्तर्हि वृषभाणां प्रेषणं कर्तव्यम्, ततो वृषभाः समेत्य ताः संयतीः क्षमयन्ति । अथ द्वितीयपक्षो नोपशान्तस्ततः पुनरावृत्तौ ज्ञातायां पूर्वोक्तवदेवं प्राग्युक्तं द्वितीयं पदमवसातव्यम्; यत्र मिलन्ति तत्रैव क्षमयन्ति । अमिलने गुरूणामन्तिके इति ।

एतदेव सूत्रतः सविस्तरं विभावयिषुरिदमाह—

चेइयघरं नइत्ता, जत्थुप्पन्नं च तत्थ दिज्झवगं ।
लज्ज भया व असिट्ठे, दुवेगतरनिग्गम इमं तु ॥

स्वस्वगुरुनिवेदने कृते तौ द्वावपि गुरुसंयतीवर्गद्वयमपि चैत्यगृहं नीत्वा, अथवा यत्रान्यत्रोत्पन्नमधिकरणं तत्र नीत्वाऽधिकरणस्य विध्यापनं कुरुतः । अथ लज्जया भयाद्वा गुरूणामशिष्टमभवत् । द्वयोश्च पक्षयोर्मध्ये एकतरस्य पक्षस्य निर्गमस्तत इदं कर्तव्यम्—

आसन्नमणायाए, अणत्ताए वा से गणहरा गम्म ।
जयणाय अभिक्खामण, आगाविज्जऽन्नहिं वा वि ॥

यद्यासन्नं निर्भयं च ततस्ता निर्गताः संयत्यः स्वगणेन सह आनाय्यन्ते । अथ सापायं ततस्तासां गणधर आगच्छति, ततस्ताः संयत्य आनीताः, गणधरो वा एकक आगतो यत्र जनक्षतं भण्डनमभूत्, तत्रानाय्यन्ते । अन्यत्र वा आनाय्य परस्परमभिक्षमणं कार्यम् । अथ दूरे गतास्तर्हि वृषभाः समागत्य संयतीः क्षमयन्ति । व्य० ७ उ० ।

सूत्रम्-

साहिगरणं निग्गंथं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अगिण्हमाणे वा नातिक्कमइ ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अत्र भाष्यम्—

उप्पन्ने अहिगरणे, ओसमणं दुविहऽतिक्कमं दट्टुं ।
अणुसासणभासनिरुं-भणा य जो तीऍ पडिवक्खो ॥

संयत्या गृहस्थेन सममधिकरणे उत्पन्ने द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा तस्याधिकरणस्य व्यवशमनं कर्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?-स गृहस्थोऽनुपशान्तः सन् तस्याः संयत्याः संयमभेदं, जीवितभेदं चेति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत उपशमितव्यमधिकरणम् । कथम् ?, इत्याह-यस्तस्याः संयत्याः प्रतिपक्षो गृहस्थस्तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति ज्ञापणं तापनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठतो निरुम्भणं, यस्य या लब्धिस्तेन तया निवारणं कर्तव्यम् । बृ० ६ उ० ।

(१७) साधिकरणेनाऽकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्यः-

जे भिक्खू साहिगरणं अविओसमियपाहुडं अकडपच्छित्तं परं तिरायाओ विप्फालियं अविप्फालियं संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ । १५ ।

जदि णिद्देसे, भिक्खू पुव्ववणिणतो सहाधिकरणः कषायभावशुभभावाधिकरणसहित इत्यर्थः । विविधं विविधेहिं वा पगारेहिं विउसमियं उवसामियं । किं तं ?, पाहुडं, कलहमित्यर्थः । ण विओसमियं अविओसमियं, पाहुडं, तम्मि पाहुडकरणे जं पच्छित्तं जेण सो करूपच्छित्तो । " अमानोनाः प्रतिषेधे " न कृतं प्रायश्चित्तं अकृतप्रायश्चित्तं, जो तं संभुंजणसंभोएण संभुंजति, एगमंडलीए, संभुंजइ त्ति वुत्तं भवति, अहवा दाणग्गहेण संभोएण भुंजति तस्स चउगुरुगा आणादिणा य दोसा । नि० चू० ४ उ० ।

(१८) अथ दण्डकक्रमेणाऽधिकरण्यधिकरणद्वयनिरूपणायाऽऽह—

जीवे णं भंते ! अहिगरणी, अहिगरणं ? । गोयमा ! जीवे अधिगरणी वि, अधिगरणं वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवे अधिगरणी वि, अधिगरणं वि ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव अधिगरणी वि अधिगरणं पि । णेरइए णं भंते ! किं अधिगरणी, अधिगरणं ? । गोयमा ! अधिगरणी वि, अधिगरणं पि । एवं जहेव जीवे तहेव णेरइए वि, एवं णिरंतरं जाव वेमाणिए ।

(जीवे णमित्यादि) । (अहिगरणी वि त्ति) अधिकरणं दुर्गतिनिमित्तं वस्तु, तच्च विवक्षया शरीरमिन्द्रियाणि च, तथा बाह्यो हलगन्त्र्यादिपरिग्रहः, तदस्यास्तीत्यधिकरणी जीवः । (अहिगरणं पि त्ति) शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिदव्यतिरिक्तत्वादधिकरणं जीवः । एतच्च द्वयं जीवस्याविरतिं प्रतीत्योच्यते; तेन यो विरतिमानसः शरीरादिभावेऽपि नाधिकरणी, नाप्यधिकरणम्, अविरतियुक्तस्यैव शरीरादेरधिकरणत्वादिति । एतदेव चतुर्विंशतिदण्डके दर्शयति-(नेरइए इत्यादि) अधिकरणी जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूरवर्तिनाऽप्यधिकरणेन स्यात्, यथा-गोमान् । इत्यतः पृच्छति-

जीवे णं भंते ! किं साहिगरणी, णिराहिगरणी ? । गोयमा ! साहिगरणी, णो णिराहिगरणी । से केणट्ठेणं पुच्छा ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव णो णिराहिगरणी । एवं जाव वेमाणिए ॥

(साहिगरणि त्ति) सह सहभाविनाऽधिकरणेन शरीरादिना वर्तत इति समासान्तविधेः साधिकरणी । संसारिजीवस्य शरीरेन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदैव सहचरितत्वात्साधिकरणित्वमुपदिश्यते । शस्त्राद्यधिकरणापेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य तदविरतिरूपस्य सह वर्तित्वाज्जीवः साधिकरणीत्युच्यते । अत एव वक्ष्यति-(अविरइं पडुच्च त्ति) अत एव संयतानां शरीरादिसद्भावेऽप्यविरतेरभावान्न साधिकरणित्वम् । (निरहिगरणि त्ति) निर्गतमधिकरणमस्मादिति निरधिकरणी । समासान्तविधेरधिकरणदूरवर्तीत्यर्थः । स च न भवति, अविरतेरधिकरणभूताया अदूरवर्त्तित्वादिति । अथवा-सहाधिकरणिभिः पुत्रमित्रादिभिर्वर्तत इति साधिकरणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनामभावेऽपि तद्विषयविरतेरभावात्साधिकरणित्वमवसेयम् । अत एव नो निरधिकरणीत्यपि मन्तव्यमिति ।

अधिकरणाधिकारादेवेदमाह-

जीवे णं भंते ! किं आयाहिगरणी, पराहिगरणी, तदुभयाहिगरणी ? । गोयमा ! आयाहिगरणी वि, पराहिगरणी वि, तदुभयाहिगरणी वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव तदुभयाहिगरणी वि ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव तदुभयाहिगरणी वि । एवं जाव वेमाणिए ।

(आयाहिगरणि त्ति) अधिकरणी कृष्यादिमान्, आत्मनाऽधिकरणी आत्माधिकरणी । ननु यस्य कृष्यादि नास्ति स कथमधिकरणी ?, इत्यत्रोच्यते-अविरत्यपेक्षया, इत्यत एवाऽविरतिं प्रतीत्येति वक्ष्यति । (पराहिगरणि त्ति) परतः परेषामधिकरणे प्रवर्तनेनाधिकरणी पराधिकरणी, (तदुभयाहिगरणि त्ति) तयोरात्मपरयोरुभयं तदुभयं, ततोऽधिकरणी यः स तथेति ।

अथाधिकरणस्यैव हेतुप्ररूपणायाऽऽह-

जीवे णं भंते ! अधिगरणे किं आयप्पओगणिव्वत्तिए, परप्पओगणिव्वत्तिए, तदुभयप्पओगणिव्वत्तिए ? । गोयमा ! आयप्पओगणिव्वत्तिए वि, परप्पओगणिव्वत्तिए वि, तदुभयप्पओगणिव्वत्तिए वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव तदुभयप्पओगणिव्वत्तिए वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

(आयप्पओगणिव्वत्तिए त्ति) आत्मनः प्रयोगेण मनःप्रभृतिव्यापारेण निर्वर्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । एवमन्यदपि द्वयम् । ननु यस्य वचनादिपरप्रवर्तनवस्तु नास्ति तस्य कथं परप्रयोगनिर्वर्तितादि भविष्यति ?, इत्याशङ्कामुपदर्श्य परिहरन्नाह-(से केणमित्यादि) अविरत्यपेक्षया त्रिविधमप्यस्तीति भावनीयमिति ।

अथ शरीराणामिन्द्रियाणां योगानां च निर्वर्तनायां जीवादेरधिकरणित्वादिप्ररूपयन्निदमाह-

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अधि-

करणी, अधिगरणं?। गोयमा ! अधिगरणी वि, अधिगरणं पि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-अधिगरणी वि, अधिगरणं पि?। गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव अहिगरणी वि, अधिगरणं पि। पुढवीकाइए णं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अहिगरणी, अधिगरणं?। एवं चेव, एवं जाव मणुस्से। एवं वेउव्वियसरीरं पि, णवरं जस्स अत्थि। जीवे णं भंते! आहारगसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अधिगरणी पुच्छा?। गोयमा ! अधिगरणी वि, अधिगरणं पि। से केणट्ठेणं जाव अधिगरणं पि ?। गोयमा ! पमादं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव अधिगरणं पि। एवं मणुस्से वि। तेया सरीरं जहा ओरालियं; णवरं सव्वजीवाणं जाणियव्वं । एवं कम्मगसरीरं पि॥

(अहिगरणी वि अहिगरणं पि त्ति) पूर्ववत्। (एवं चेव त्ति) अनेन जीवसूत्राभिलापः पृथिवीकायिकसूत्रे समस्तो वाच्य इति दर्शितम्। (एवं वेउव्वीत्यादि) व्यक्तम्। (नवरं जस्स अत्थि त्ति) इह तस्य जीवपदस्य वाच्यमिति शेषः। तत्र नारकदेवानां वायोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च तदस्तीति ज्ञेयम्। (पमायं पडुच्च त्ति) इहाहारकशरीरं संयमवतामेव भवति। तत्र चाविरतेरभावेऽपि प्रमादादधिकरणित्वमवसेयम्। दण्डकचिन्तायां चाहारकं मनुष्यस्यैव भवतीत्यत उक्तम्-(एवं मणुस्से वि त्ति)।

जीवे णं भंते ! सोइंदियं णिव्वत्तिएमाणे किं अधिगरणी, अधिगरणं। एवं जहेव ओरालियसरीरं तहेव सोइंदियं पि जाणियव्वं, णवरं जस्स अत्थि सोइंदियं। एवं सोइंदियं चक्खिंदियं घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाणि वि जाणियव्वं; जस्स जं अत्थि। जीवे णं भंते ! मणजोगे णिव्वत्तेमाणे किं अधिगरणी, अधिगरणं ?। एवं जहेव सोइंदियं तहेव णिरवसेसं। वइजोगं एवं चेव, णवरं एगिंदियवज्जाणं। एवं कायजोगे वि, णवरं सव्वजीवाणं जाव वेमाणिए। सेवं भंते! भंते ! त्ति। भ० १६ श० १ उ०॥

अधिक्रियते प्राणिदुर्गतावनेनेति अधिकरणम्। दानेनाऽसंयतस्य सामर्थ्यपोषणतः पापारम्भप्रवर्तने, द्वा० २७ अष्ट०। आधारे, व्याकरणशास्त्रे- "कर्तृकर्मव्यवहिताम-साक्षाद्धारयेत् क्रियाम्। उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ, शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्" ॥ १ ॥ इति हरिपरिभाषिते अधिकरणसंज्ञके कर्तृकर्मद्वाराक्रियाश्रये कारके, यथा-गेहे स्थाल्यामन्नं पचतीत्यादौ गृहस्य कर्तृद्वारा, स्थाल्याश्च कर्मद्वारा, परम्परया पाकक्रियाश्रयत्वाद् गृहादेः। वाच०।

अधि (हि) गरणकिरिया-अधिकरणक्रिया-स्त्री०। अधिकरणविषयिका क्रिया अधिकरणक्रिया। कलहविषयके व्यापारे, अधिकरणक्रिया द्विविधा-निर्वर्त्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया च। तत्राद्या-खड्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निर्वर्तनलक्षणा। द्वितीया तु-तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति। अथवा प्राणिनां दुर्गत्यधिकारित्वकारणे, क्रियामात्रे च। "अहिगरणकिरियापवत्तगा बहुविहं अनत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति" प्रश्न० २ आश्र० द्वा०।

अ (आ) धि (हि) गरणिया-आधिकरणिकी-स्त्री०। अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिष्वात्मा येन तदधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्यं वस्तु चक्रखड्गादि, तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता, आधिकरणिकी। प्रज्ञा० २१ पद। खड्गादिनिर्वर्तनलक्षणे क्रियाभेदे, स० ७ सम०। स्था०।

अस्या भेदाः—

अहिगरणिया णं भंते ! किरिया कइविहा पण्णत्ता ?। मंडियपुत्ता ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-संजोयणाहिगरणकिरिया य, निव्वत्तणाहिगरणकिरिया य ॥

(संजोयणाहिगरणकिरिया य त्ति) संयोजनं हलगरविषकूटयन्त्राद्यङ्गानां पूर्वनिर्वर्तितानां मीलनं, तदेवाधिकरणक्रिया संयोजनाधिकरणक्रिया। (णिव्वत्तणाहिगरणकिरिया य त्ति) निर्वर्तनमसिशक्तितोमरादीनां निष्पादनं, तदेवाधिकरणक्रिया निर्वर्त्तनाधिकरणक्रिया। भ० ३ श० ३ उ०। अधिकरणक्रिया द्विधा-अधिकरणप्रवर्त्तना, अधिकरणनिर्वर्तना च। तत्र निर्वर्तनेनाधिकरणक्रिया द्विविधा-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया, उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया च। तत्र मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-पञ्चानां शरीरकाणां निर्वर्तनम्। उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-हस्तपादाङ्गोपाङ्गानां निर्वर्तनम्। अथवा मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणक्रिया-असिशक्तिभिण्डिपालादीनां निर्वर्तनम्। संयोजनाधिकरणक्रिया-तेषां वियुक्तानां संयोजनमिति। अथवा संयोगः विषगरहलकूटधनुर्यन्त्रादीनां, निर्वर्तनाधिकरणक्रिया शर्वलकेण कालकूटमुद्गरादीनाम्। कूटपाशनिर्वृत्ते क्रियाभेदे च। आ० चू० ४ अ०।

अधि (हि) गरणी-अधिकरणी-स्त्री०। कर्मारोपकरणविशेषे, यत्र लोहकारा अयोघनेन लोहानि कुट्टयन्ति। भ० १६ श० १ उ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे० जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-अत्थि णं भंते ! अधिकरणम्मि वाउयाए वक्कमइ ?। हंता अत्थि। से भंते ! किं पुट्ठे उद्दाइ, अपुट्ठे उद्दाइ ?। गोयमा ! पुट्ठे उद्दाइ, णो अपुट्ठे उद्दाइ। से भंते ! किं ससरीरी णिक्खमइ, असरीरी णिक्खमइ ?। एवं जहा खंदए जाव से तेणट्ठेणं जाव णो असरीरी णिक्खमइ।

(अत्थि त्ति) अस्त्ययं पक्षः, (अहिगरणमिति) आधिकरण्यं, (वाउयाए त्ति) वायुकायः, (वक्कमइ त्ति) व्युत्क्रामति अयोघनाभिघातेनोत्पद्यते, अयश्चाक्रान्तसेनत्वेनादावचेतनतयोत्पन्नोऽपि पश्चात् स चेतनीभवतीति संभाव्यत इति। उत्पन्नश्च सन् म्रियत इति प्रश्नयन्नाह-"से भंते" इत्यादि। (पुट्ठे त्ति) स्पृष्टः स्वकायशस्त्रादिना सशरीरश्च कलेवरान्निष्क्रामति कार्मणाद्यपेक्षया औदारिकाद्यपेक्षया त्वशरीरीति। भ० १६ श० १ उ०।

अधि (हि) गार-अधिकार-पुं०। अधि-कृ-घञ्। ओघतः प्रवाहप्रस्तावे, "अहिगारो पुव्वुत्तो चउव्विहो विइयचूलियज्झयणं" दश० १ अ०। प्रयोजने, "अहिगारो इह तुमे एणं" व्य० ९ उ०। नि० चू०। व्यापारे, "अहिगारो तस्स विजएणं" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अधि (हि) ट्ठंत-अधितिष्ठत्-त्रि०। निवसति, नि० चू० १२ उ०।

अधि (हि) ट्ठावण–अधिस्थापन–न० । संनिषद्यावेष्टित एव रजोहरणादेरुपवेशने, " जे भिक्खू रयहरणं अहिट्ठेइ, अहिट्ठंतं वा साइज्जइ " नि० चू० ५ उ० ।

अधि (हि) ट्ठेइत्ता–अधिष्ठाय–अव्य० । ममेदमिति गृहीत्वेत्यर्थे, नि० चू० १२ उ० ।

अधि (हि) मासग–अधिमासक–पुं० । अभिवर्द्धितवर्षद्वादशभागे , " एस अभिवड्डियवरिसबारसभागो अधिमासगो । जो पुण ससिसूरगतिविसेसणिप्पण्णो अधिमासगो अ ठणतीसं दिणा विसतिभागा य बत्तीसं भवंति " नि० चू० २० उ० ।

अधि (हि) मुत्ति–अधिमुक्ति–स्त्री० । शास्त्रश्रद्धावति, द्वा० २३ द्वा० ।

अधि (हि) वइ (ति)–अधिपति–पुं० । प्रजानामतीव सुरक्षके , व्य० १ उ० ।

अधीमहि–अधीमहि–अव्य० । अस्यापत्यं इः–कामः । तस्य मह्यः कामिन्यः, ता अधिकृत्य–अधीमहि । स्त्रियोऽधिकृत्येत्यर्थे, " भर्गो दे वस्यधीमहि " गायत्री । वसतीति वसो चिद्प्रत्यये रूपम् । क्व वासि ?, इत्याकाङ्क्षायामाह—अधीमहि , स्त्रीषु तिष्ठमाने स्थायत्तात्मनीत्याशयः । जै० गा० ।

अधीरपुरिस–अधीरपुरुष–पुं० । अबुद्धिमति पुरुषे, उत्त० ९ अ० ।

अधुव–अध्रुव–पुं० । यः पुनरायत्यां कदाचिद्व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसंबन्धी यो बन्धः स ध्रुवबन्धः । क० ५ कर्म० ।

अधे (हे) कम्म–अधःकर्मन्–न० । अधोगतिनिबन्धनं कर्म अधःकर्म । आधाकर्मणि , तथाहि-भवति साधूनामाधाकर्मभुञ्जानानामधोगतिः, तन्निबन्धनप्राणातिपाताद्याश्रवेषु प्रवृत्तेः । अस्य निक्षेपः–अधःकर्म चतुर्द्धा । तद्यथा–नामाधःकर्म, स्थापनाधःकर्म , द्रव्याधःकर्म , भावाधःकर्म च । एतच्चाधाकर्मवद्वक्तव्यं यावन्नोआगमतो भव्यशरीररूपं द्रव्याधःकर्म । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्याधःकर्म निर्युक्तिकृदाह–

> जं दव्वं उदगाइसु, छूढमहे वयइ जं च भारेण ।
> सीईए रज्जुएण व , ओयरणं दव्वऽहेकम्मं ॥ ९६ ॥

यत्किमपि द्रव्यमुपलादिकमुदकादिषु उदकदुग्धादिषु मध्ये क्षिप्तं सत् भारेण स्वस्य गुरुतया अधो व्रजति तथा (जं चेति) यच्च (सीईए त्ति) निःश्रेण्या रज्ज्वा वा अवतरणं पुरुषादेः कूपादौ , मालादेर्वा भुवि, तद् अधोऽधोव्रजनमवतरणं वा द्रव्याधःकर्म । द्रव्यस्योपलादेरधोऽधस्तादमनरूपमवतरणरूपं वा कर्म द्रव्याधःकर्मेति व्युत्पत्तेः ।

संप्रति भावाधःकर्मणोऽवसरः, तच्च द्विधा-आगमतो , नोआगमतश्च । तत्र आगमतोऽधःकर्म शब्दार्थज्ञानात् । तत्र चोपयुक्तो नोआगमत आह–

> संजमठाणाणं कं–डगाण लेसाठिईविसेसाणं ।
> भावं अहे करेई , तम्हा तं भावऽहेकम्मं ॥ ९७ ॥

संयमस्थानानां वक्ष्यमाणानां कण्डकानां संख्यातीतसंयमस्थानसमुदायरूपाणाम्, उपलक्षणमेतत् षट्स्थानकानां संयमश्रेणेश्च । तथा लेश्यानां , तथा सातवेदनीयादिरूपशुभप्रकृतीनां संबन्धिनां स्थितिविशेषाणां च संबन्धिषु विशुद्धेषु विशुद्धतरेषु स्थानेषु वर्तमानं सन्तं निजं भावमध्यवसायं यस्मादाधाकर्म भुञ्जानः साधुरधः करोति , हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु विधत्ते । तस्मात्तदाधाकर्म भावाधःकर्म भावस्य परिणामस्य संयमादिसंबन्धिषु शुभेषु शुभतरेषु स्थानेषु वर्तमानस्य; अधः अधस्तनेषु हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु कर्म क्रिया यस्मात्तद्भावाधःकर्मेति व्युत्पत्तेः ।

एनामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति–

> तत्थाणंता चारि–त्तपज्जवा होंति संयमट्ठाणं ।
> संखाईयाणि उ ता–णि कंडगं होइ नायव्वं ॥ ९८ ॥
> संखाईयाणि उ कं–डगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं ।
> छट्ठाणा उ असंखा, संयमसेढी मुणेयव्वा ॥ ९९ ॥
> किण्हाइया उ लेसा, उक्कोसविसुद्धठिइविसेसा उ ।
> एएसि वि सुद्धाणं, अप्पं तग्गाहगो कुणइ ॥१०० ॥

इह सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानाद् जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणता च सर्वत्रापि षट्स्थानकचिन्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या । इयं चात्र भावना–जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाच्छेदकेन छिद्यते , छित्वा च निर्विभागा भागाः सर्वसंकलनया परिभाव्यमानाः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना यावन्तो जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते । अत्राप्ययं भावार्थः–इह किल असत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागाः १०००० दशसहस्राणि , सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतम् । ततस्तेन शतसंख्येन सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन राशिना दशसहस्रसंख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते , जातानि १०००००० दशलक्षाणि । एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति । संप्रति सूत्रमनुश्रियते–तत्र तेषु संयमस्थानादिषु वक्तव्येषु, प्रथमतः संयमस्थानमुच्यत इति शेषः । अनन्ता अनन्तसंख्याः पाश्चात्यसंकलनया दशलक्षप्रमाणाः, ये चारित्रपर्यायाः सर्वजघन्यचारित्रसत्कविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागास्ते समुदिताः संयमस्थानम्, अर्थात्सर्वजघन्यभावं प्राप्नुवन्ति । तस्मादनन्तरं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत् पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम् । किमुक्तं भवति ?-प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति । तस्मादपि यद् अनन्तरं तृतीयं तत्तोऽनन्तभागवृद्धम् । एवं पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि अनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते । तथा चाऽऽह–संख्यातीतानि असंख्येयानि । तुः पुनरर्थे । तानि संयमस्थानानि, कण्डकं भवति ज्ञातव्यम् । कण्डकं नाम समयपरिभाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्या विधीयते ।

तथा च भाष्ये उक्तम्—

" कंडंति इत्थ भन्नइ, अंगुलभागो असंखेज्जो " ।

अस्माच्च कण्डकात्परतो यदन्यदनन्तरं संयमस्थानं भवति तत् पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति–पाश्चात्यकण्डक-सत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकादनन्तरे संयमस्थाने निर्विभागा भागा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति। ततः पुनरेकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो भूयोऽपि, ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्; एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति । ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्तव्यम् । अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि। ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति भवन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । तत उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे असंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि। ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानं वक्तव्यम् । यावन्ति अमूनि चैव संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि । यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तन्न प्राप्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थंभूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि षट्स्थानकं भवति ।

तथा चाऽऽह भाष्यकृत्—

"संखाईयाणि उ कं-डगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं" सुगमम् । अस्मिंश्च षट्स्थानके षोढा वृद्धिरुक्ता । तद्यथा–अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च । तत्र यादृशोऽनन्ततमो भागोऽसंख्येयतमः संख्येयतमो वा गृह्यते ; यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते–तत्र यदपेक्षया अनन्तभागवृद्धिता तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते, हृते च भागे अधिकः सोऽनन्ततमो भागः। तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं भवति ?–प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागैर्द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागाः प्राप्यन्ते । एवं यद् यत् संयमस्थानमनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत् पाश्चात्यसंयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेनानन्ततमेन भागेनाधिकमवगन्तव्यम् । असंख्येयभागाधिकानि पुनरेवम्–पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते सोऽसंख्येयतमो भागः, स्वतस्तेनासंख्येयतमेन भागेनाधिकानि असंख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयभागाधिकानि चैवम्–पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य उत्कृष्टेन संख्येयेन भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते स स संख्येयतमो भागः। ततस्तेन तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्–पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन संख्येयकप्रमाणेन राशिना गुण्यन्ते ; गुणिते च सति यावन्तो यावन्तो भवन्ति तावत्तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि द्रष्टव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धानि, अनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि; नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते । अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तेन । इत्थं च भागहारगुणकारकल्पनं मा स्मनीषिकाशिल्पकल्पितं मंस्थाः । यत उक्तं कर्मप्रकृतिसंग्रहिण्यां षट्स्थानकगतभागहारगुणकारविचाराधिकारे—" सव्वजियाणमसंखे–ज्जा भागसंखिज्जगस्स जेट्ठस्स । भागो तिसु गुणणा तिसु, ..." ॥ इति । प्रथमाच्च षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव तृतीयम् । एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च–"छट्ठाणगअवसाणे, अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं । एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाणं मुणेयव्वा" ॥ इत्थंभूतानि च असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते । तथा चाऽऽह–"छट्ठाणा उ असंखा, संजमसेढी मुणेयव्वा" तथा (लेस त्ति) कृष्णादयो लेश्याः स्थितिविशेषाः, उत्कृष्टानां सर्वोत्कृष्टानां सातवेदनीयप्रभृतीनां विशुद्धप्रकृतीनां संबन्धिनो विशुद्धाः स्थितिविशेषा वेदि-

स्थाः । तत एतेषां संयमस्थानादीनां संबन्धिषु शुभेषु स्थानेषु वर्तमानस्तद्ग्राहक आधाकर्मग्राहकः , आत्मानमेतेषां संयमस्थानादीनां विशुद्धानामधोऽधस्तात्करोति ।

यदि नाम संयमस्थानादीनामधस्तादात्मानमाधाकर्मग्राही करोति ततः किं दूषणं तस्यापतितम् ?, अत आह-

भावावयारमाहे–उमप्पगे किंचिनूणचरणग्गो ।
आहाकम्मग्गाही, अहो अहो नेइ अप्पाणं ॥ १ ॥

भावानां संयमस्थानादिरूपाणां विशुद्धानामधस्ताद् हीनेषु हीनतरेषु अध्यवसायेष्ववतारमवतरणमात्मन्याधाय कृत्वा किंचिन्न्यूनचरणाग्र इति । इह चरणेनाग्रः प्रधानश्चरणाग्रः; स च निश्चयनयमतापेक्षया क्षीणकषायादिरकषायचारित्रः परिगृह्यते । न च तस्य प्रमादसंभवेनापि सौक्ष्यम्, एकान्तेन लोभादिमोहनीयस्य विनाशात् । ततो न तस्याधाकर्मग्रहणसंभवः, इति किञ्चिन्न्यूनग्रहणम् । किञ्चिन्न्यूनेन चरणेनाग्रः प्रधानः किञ्चिन्न्यूनचरणाग्रः । स च परमार्थत उपशान्तमोह उच्यते । अतिशयख्यापनार्थं चैतदुक्तम् । ततोऽयमर्थः-किञ्चिन्न्यूनचरणाग्रोऽपि यावत्, आस्तां प्रमत्तसंयमादिरिति । आधाकर्मग्राही अधोऽधो रत्नप्रभादिनरकादौ नयत्यात्मानम् , एतद्दूषणमाधाकर्मग्राहिणः ।

एतदेव भावयति-

बंधइ अहेभवाउं , पकरेइ अहोमुहाइँ कम्माइं ।
घणकरणं तिव्वेण उ, भावेण चओवचओ य ॥ २॥

आधाकर्मग्राही विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽधनीये अधोऽधोवर्तिषु हीनेषु हीनतरेषु भावेषु वर्तमानोऽधोभवस्य रत्नप्रभादिनारकरूपस्य भवस्य संबन्धि आयुर्बध्नाति । शेषाण्यपि कर्माणि गत्यादीनि अधोमुखानि अधोगत्यभिमुखानि , अधोगतिनयनशीलानीत्यर्थः । प्रकरोति प्रकर्षेण दुस्सहकटुकतीव्रानुभावयुक्ततया करोति बध्नाति । बद्धानां च सतामाधाकर्मविषयपरिभोगग्राह्यवृत्तितो निरन्तरमुपजायमानेन तीव्रेण तीव्रतरेण भावेन परिणामेन घनकरणं यथायोगं निधत्तरूपतया निकाचनारूपतया वा व्यवस्थापनम् । तथा प्रतिक्षणमन्यान्यपुद्गलग्रहणेन चय उपचयश्च । तत्र स्तोकतरा वृद्धिश्चयः , प्रभूततरा वृद्धिरुपचयः । एतेन च व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रमाचार्येणानुवर्तितम् । तथा च व्याख्याप्रज्ञप्त्यालापकः— " आहाकम्मऽन्नं भुंजमाणे समणे निग्गंथे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ ; अहे बंधइ , अहे चिणाइ , अहे उवचिणाइ " इत्यादि । तत एवं सति—

तेसिं गुरूणमुदए-ण अप्पगं दुग्गईएँ पवडंतं ।
न चएइ विधारेउं, अहरगतिं निंति कम्माइं ॥ ३ ॥

तेषामधोभवायुरादीनां कर्मणां गुरूणामधोगतिनयनस्वभावतया गुरूणीव गुरूणि तेषामुदयेन विपाकवेदनानुभवरूपेण, विपाकवेदनानुभवरूपोदयवशादित्यर्थः । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं विधारयितुं निवारयितुमाधाकर्मग्राही न शक्नोति । यतः कर्माणि अधोभवायुरादीनि उदयप्राप्तानि बलादधरगतिं नरकादिरूपां नयन्ति । न च कर्मणः कोऽपि बलीयान्, अन्यथा न कोऽपि नरकं यायात्, न वा कोऽपि दुःखमनुभवेत् । तस्मादाधाकर्म अधोगतिनिबन्धनमित्यधःकर्मेत्युच्यते । तदेवमुक्तमधःकर्मेति नाम । पिं० ।

अधो (हो) हि–अधोऽवधि–पुं० । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽधोऽवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते जीवे , "अधोहि समोहएणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ " स्था० २ ठा० २ उ० ।

अन्तर–अन्तर–न० । "वर्गेऽन्त्यो वा" ८।१।३०। इति सूत्रेणानुस्वारवैकल्पिकत्वम् । व्यवधाने, प्रा० ।

अन्तर्मा–स्त्री०–अन्त्र–न० । उदरमध्यावयवे, "पाइ विलग्गी अन्त्रमी सिरु हहसिउं खंधस्सु " प्रा० ॥

अन्नाइस–अन्यादृश–त्रि० । "अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ" ८ । ४।४१३। इति अन्यादृशशब्दस्य अन्नाइसेत्यादेशः । अन्यसदृशे, अन्यप्रकारे च । प्रा० ।

अप–अप्–स्त्री० । ब० व० । जले, " पुव्वापोट्ठवया नक्खत्ते किं देवयाए पण्णत्ते ? । अपदेवयाए " सू० प्र० १० पाहु० ।

अप (प्प) इट्ठाण–अप्रतिष्ठान–पुं० । न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिकशरीरादेः कर्मणो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठानः । मोक्षे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । सप्तम्यां नरकपृथिव्यां पञ्चानां कालादीनां नरकावासानां मध्यवर्तिनि नरकावासे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । सूत्र० । नरयेन्द्रे च । जी० ३ प्रति० । "अप्पइट्ठाणे नरए एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं " पं० सं० १ द्वा० ॥

अप (प्प) इट्ठिय–अप्रतिष्ठित–त्रि० । नञ्त० । प्रतिष्ठानरहिते, स्था० ४ ठा० १ उ० । क्वचिदप्रतिबद्धे, अशरीरिणि च । आचा० २ श्रु० ।

अप (प्प) इण्णपसरियत्त–अप्रकीर्णप्रसृतत्व–न० । सुसंबन्धस्य सतः प्रसरणे, असंबद्धाधिकारित्वातिविस्तारयोरभावे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । औ० ।

अपउल्ल–अपक्व–त्रि० । अग्निना संस्कृते, पञ्चा० १ विव० ।

अपएस–अप्रदेश–त्रि० । न० ब० । प्रदेशरहितत्वे, दश्या० १० अध्या० । अवयवाभावाद् निरंशे, भ० २० श० ५ उ० । निरन्ध्रे, विशे० । स्था० । नञः कुत्सार्थत्वाद्याज्ञिकत्वेमाशिष्टजनाकीर्णत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे, पञ्चा० ७ विव० । (जीवानां सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वचिन्ता ' पएस ' शब्दे वक्ष्यते)

अपओस–अप्रद्वेष–पुं० । अमत्सरे माध्यस्थ्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

अपंडिय–अपण्डित–पुं० । सद्बुद्धिरहिते , सू० १ उ० ।

अपंथ–अपथ–पुं० । अशक्योपहतपृथिव्याम् , सू० १ उ० ।

अपक्क–अपक्व–त्रि० । अग्न्यादिनाऽसंस्कृते शालिगोधूमौषध्यादौ, प्रव० ८ द्वा० । पाकमप्रापिते , प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अपक्कोसहिभक्खणया–अपक्वौषधिभक्षणता–स्त्री० । अपक्वाया, अग्निनाऽसंस्कृताया ओषधेः शाल्यादिकाया भक्षणता भोजनमपक्वौषधिभक्षणता । भोजनत उपभोगपरिभोगव्रतातिचारभेदे, उपा० १ अ० ।

अपक्कग्गाहि (ण्)–अपक्वग्राहिन्–त्रि० । न पक्वं गृह्णातीत्यपक्वग्राही । शास्त्रबाधितपक्वाग्रहणशीले, स्था० ९ ठा० ।

अपगंड–अपगण्ड–अपगतं गण्डं दोषो यस्मात्तदपगण्डम् । निर्दोषे, उदकफेने च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अपगंडसुक्क–अपगण्डशुक्ल–त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य तदपगतगण्डम्, तच्च शुक्लम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्ले, तथा अपगण्डमुदकफेनं तत्तुल्यमपगण्डशुक्लम् । उदकफेनवदवदाते, "अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता,अणुत्तरं झाणवरं झियाई । सुसुक्कसुक्क अवगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतऽवदातसुक्कं" सूत्र०१ श्रु० ६ अ० ।

अपचय–अपचय–पुं० । अभावे, उत्त० १ अ० ।

अप(च्च)क्ख–अप्रत्यक्ष–त्रि० । अचाक्षुषे, आ० म० द्वि० । अप्रत्यक्षवर्ती बुद्धिः, प्रत्यक्षोऽर्थ इति वचनात् । ल० ।

अप(च्च)क्खाण–अप्रत्याख्यान–पुं० । न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूपं येषु । स्था०४ ठा०१ उ० । न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्यानाः । देशविरत्यावारकेषु कषायेषु, यदाह–"नाल्पमप्युत्सहेद्येषां, प्रत्याख्यानं महोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो, द्वितीयेषु निवेशिता" ॥ १ ॥ ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । कल्प० । न० त० । मनागपि विरतिपरिणामाभावे, नं० । प्रज्ञा० । पं० सं० ।

अप(च्च)क्खाणकिरिया–अप्रत्याख्यानक्रिया–स्त्री० । अप्रत्याख्यानेन निवृत्त्यभावेन क्रिया कर्मबन्धादिकरणमप्रत्याख्यानक्रिया । भ० १ श० २ उ० । अप्रत्याख्यानजन्ये कर्मबन्धे, अप्रत्याख्यानमेव क्रिया । अप्रत्याख्यानक्रियाया अभावे, भ० १ श० ६ उ० ।

तद्भेदाः—

अपच्चक्खाणकिरिआ दुविहा पन्नत्ता । तं जहा–जीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव, अजीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव ।

(जीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव त्ति) जीवविषये प्रत्याख्यानाभावेन यो बन्धादिर्व्यापारः सा जीवाप्रत्याख्यानक्रिया । तथा–(अजीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव त्ति) यदजीवेषु मद्यादिष्वप्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यानक्रियेति । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० ।

सा च अविरतस्य–

अपच्चक्खाणकिरिया णं भंते ! कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि अपच्चक्खाणिस्स ॥

अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः,अन्यतरदपि, न किंचिदपीत्यर्थः । यो न प्रत्याख्याति, तस्येति भावः । प्रज्ञा० २२ पद ।

समैव सा सर्वस्य—

भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–से णूणं भंते ! सेट्ठिस्स य तणुयस्स किवणस्स खत्तियस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?। हंता गोयमा ! सेट्ठियस्स० जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं भंते ! ?। गोयमा ! अविरइं पडुच्च, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ–सेट्ठिस्स य तणु० जाव कज्जइ ॥

(भंते ! इत्यादि) तत्र ' भंते ! त्ति ' हे भदन्त ! इति, एवमामन्त्र्येति शेषः । अथवा–भदन्त इति कृत्वा, गुरुरितिकृत्वेत्यर्थः । (सेट्ठिस्स त्ति) श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितशिरोवेष्टनोपेतपौरजननायकस्य [तणुयस्स त्ति] दरिद्रस्य [किवणस्स त्ति] रङ्कस्य [खत्तियस्स त्ति] राज्ञः [अपच्चक्खाणकिरिय त्ति] प्रत्याख्यानक्रियाया अभावोऽप्रत्याख्यानजन्यो वा कर्मबन्धः, [अविरइ त्ति] इच्छाया अनिवृत्तिः, सा हि सर्वेषां समैवेति । भ० १ श० ९ उ० । " से नूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ?। हंता गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य० जाव कज्जइ । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ० जाव कज्जइ ?। गोयमा ! अविरइं पडुच्च से तेणट्ठेणं० जाव कज्जइ " । भ० ७ श० ८ उ० ।

अप(च्च)क्खाणि(ण्)–अप्रत्याख्यानिन्–त्रि० । न० त० । अप्रत्याख्यातरि, अविरते यो न प्रत्याख्याति । प्रज्ञा० २२ पद । भ० । (के केऽप्रत्याख्यानिनः ? इति " पच्चक्खाण " शब्दे दर्शयिष्यते)

अप(च्च)क्खाय–अप्रत्याख्यात–त्रि० । अकृतप्रत्याख्याने, भ० ७ श० ५ उ० ।

अप(च्च)च्चय–अप्रत्यय–पुं० । अविश्वासे, नि० चू० १६ उ० । प्रत्ययाभावरूपे चतुर्दशगौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । सप्तदशे गौणादत्तादाने च, तस्य अप्रत्ययकारणत्वात् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अपच्चयकारग–अप्रत्ययकारक–त्रि० । विश्वासविनाशके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अपच्चल–अप्रत्यल–त्रि० । अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । असमर्थे, अनलोऽप्रत्यलः, अयोग्य एकार्थाः । नि० चू० ११ उ० । आव० ।

अपच्छाणुतावि(ण्)–अपश्चात्तापिन्–त्रि० । आलोचितेऽपराधे पश्चात्तापमकुर्वति निर्जराभागिनि आलोचनादानयोग्ये, भ० २५ श० ७ उ० । अपश्चात्तापी नाम यः पश्चात्परितापं न करोति–' हा ! दुष्टु कृतं मया यद् आलोचितमिदानीं प्रायश्चित्तं तपः कथं करिष्यामीति ?' किन्त्वेवं मन्यते–कृतपुण्योऽहं यत्प्रायश्चित्तं प्रतिपन्नवानिति । व्य० १ उ० । स्था० ।

अपच्छायमाणा–अप्रच्छादयत्–त्रि० । प्रच्छादनमकुर्वति, "अणिगूहमाणा अपच्छायमाणा जहाभूयमवितहमसंदिद्धं पयमट्ठं आइक्खवइ " ज्ञा० १ अ० ।

अपच्छिम–अपश्चिम–त्रि० । न विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चिमः । सर्वान्तिमे, "तित्थयराणं अपच्छिमे जयइ" नं० । चरमे मरणे, कल्प० । आव० । आ० म० । अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थः । पश्चात्कालभाविनि, स० । "अपच्छिमे दरिसणे [मेघकुमारस्य] भविस्सइ त्ति कट्टु" अकारस्यामङ्गलपरिहारार्थत्वात्, पश्चिमं दर्शनं भविष्यति एतत्केशदर्शनमपनीतकेशावस्थस्य मेघकुमारस्य दर्शनं सर्वदर्शनं पाश्चात्यं भविष्यतीति भावः । अथवा न पश्चिममपश्चिमं पौनःपुन्येन मेघकुमारस्य दर्शनमेतद्दर्शनेन भविष्यतीत्यर्थः । ज्ञा० १ अ० । भ० । प्रव० । आ० क० ।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणा–अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणा–स्त्री० । पश्चिमैवाऽमङ्गलपरिहारार्थमपश्चि-

मा, मरणं प्राणत्यागलक्षणम्, इह यद्यपि प्रतिक्षणमावीचीमरणमस्ति तथापि न तद् गृह्यते, किं तर्हि ?, विवक्षितसर्वायुष्कक्षयलक्षणमिति। मरणमेवान्तो मरणान्तः, तत्र भवा मारणान्तिकी, संलिख्यते कृशीक्रियतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना, तपोविशेषलक्षणा, ततः कर्मधारयादपश्चिममारणान्तिकसंलेखना। तस्या जोषणा सेवा, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणा। मरणकाले संलेखनानाम्ना तपसा शरीरस्य कषायादीनां च कृशीकरणे, भ० ७ श० २ उ०। कल्प०। स०।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिय–अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाजोषित [झूषित]–त्रि०। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणया जोषितः सेवितस्तथा। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनायुक्ते, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणया झूषितः क्षपित इति। अपश्चिममारणान्तिकक्षपितदेहे, स्था० २ ठा० २ उ०।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणता–अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधनता–स्त्री०। अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽस्य आराधनमखण्डकालकरणं तद्भावोऽपश्चिममारणान्तिकजोषणाराधनता। देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, "एत्थ सामायारी आसेवियगिहधम्मेण किल सावगेण पच्छा निक्खमियव्वं, एवं सावगधम्मे उज्जमिओ होइ न सक्कइ ताहे भत्तपच्चक्खाणकाले संथारसमणेण होयव्वं ति विजासा अहोत्तं" अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधना चातिचाररहिता सम्यक्पालनीयेति वाक्यशेषः। आव० ६ अ०। औ०।

अस्या अतिचाराः—

तयाणंतरं च णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा। तं जहा-इहलोगासंसप्पओगे १ परलोगासंसप्पओगे २ जीवियासंसप्पओगे ३ मरणासंसप्पओगे ४ कामभोगासंसप्पओगे ५। उपा० १ अ०। आव०। कल्प०। ध०।

('इहलोगासंसप्पओग' इत्यादिशब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या द्वितीयादिभागेषु द्रष्टव्या)

अपज्जत्त–अपर्याप्त–त्रि०। परि-आप्-क्त। न० त०। असमर्थे, असंपूर्णे स्वकार्य्याऽक्षमे च। वाच०। अपर्याप्तयो विद्यन्ते यस्य सोऽपर्याप्तः। "अभ्रादिभ्यः"। ७।२।४६। इति हैमसूत्रेणात्प्रत्ययः। अपर्याप्तकर्मोदयेनानिर्वृत्ते, स्था०१ ठा० १उ०। तत्र द्वेधा अपर्याप्ताः-लब्ध्या करणैश्च। तत्र ये अपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ति ते लब्ध्यपर्याप्ताः, ये च पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति, अथ चाऽवश्यं पुरस्तान्निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः। इह च यथागमः-लब्ध्यपर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाक्। यस्मादागामिभवायुर्बध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति। कर्म०१कर्म०। पं० सं०। नं०। प्रश्न०। स०।

अपज्जत्तग–अपर्याप्तक–पुं०। "दुविहा णेरइया पण्णत्ता। तं जहा-पज्जत्तगा चेव, अपज्जत्तगा चेव, जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० २ उ०।

अपज्जत्तणाम–अपर्याप्तनामन्–न०। अपर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते अपर्याप्ता इति कृत्वा तन्निबन्धनं नाम अपर्याप्तनाम। यदुदयाद् अन्तवः स्वयोग्यपर्याप्ति-(परिसमाप्ति) समर्था न भवन्ति, तस्मिन्नामकर्मणि, कर्म० १ कर्म०। स०।

अपज्जत्ति–अपर्याप्ति–स्त्री०। पर्याप्तिप्रतिपक्षेऽर्थे, जी० १ प्रति०।

अपज्जवसिय–अपर्यवसित–त्रि०। न० त०। अनन्ते, "एत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादिया अपज्जवसिया चिट्ठंति" अपर्यवसिता रागाद्यभावेन प्रतिपातासंभवात्। प्रज्ञा० २ पद।

अपज्जुवासणा–अपर्युपासना–स्त्री०। न० त०। असेवनायाम्, ज्ञा० १३ अ०।

अपज्जोसणा–अपर्युषणा–स्त्री०। अप्राप्तायामतीतायां वा पर्युषणायाम्, नि० चू० १० उ०।

अपट्ठविय–अप्रस्थापित–त्रि० अकृतप्रस्थाने, "पुव्वएहमपट्ठवितं अवरण्हे उट्ठितेसु य" नि० चू० ५ उ०।

अप (प्प) डिकम्म–अप्रतिकर्मन्–न०। प्रतिकर्मरहिते, "सुण्णागारे व अप्पडिकम्मे" प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा०। शरीरप्रतिक्रियावर्जपादपोपगमने, स्था० २ ठा० ४ उ०।

अप (प्प) डिकंत–अप्रतिक्रान्त–त्रि०। दोषादनिवृत्ते, औ०।

अप (प्प) डिचक्क-अप्रतिचक्र-त्रि०। न विद्यते प्रति अनुरूपं समानं चक्रं यस्य तदप्रतिचक्रम्। परचक्रैरसमाने, "अप्पडिचक्कस्स जओ होउ सया संघचक्कस्स" अप्रतिचक्रस्य चरकादिभ्य तैरसमानस्य। नं०।

अपडिच्छिरो–देशी–जडमतौ, दे० ना० १ वर्ग।

अप (प्प) डिण्ण-अप्रतिज्ञ-त्रि०। नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यतेऽस्येत्यप्रतिज्ञः। रागद्वेषरहिते, "तत्तेणं अणुसिट्ठा ते, अपडिण्णेण जाणया" सूत्र०१ श्रु० ३ अ० ३ उ०। आचा०। नाऽस्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसिनी विद्यत इत्यप्रतिज्ञः। ऐहिकामुष्मिकाकाङ्क्षारहित्येन तपोऽनुष्ठातरि, सूत्र०१ श्रु० १० अ०। "गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिण्णमाहु" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। न विद्यते प्रतिज्ञा निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञः। सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अनिदाने, यो हि वसुदेववत्सुसंयमानुष्ठानं कुर्वन् निदानं न करोति प्रतिज्ञा च कषायोदयादाविरतिः। तद्यथा—क्रोधोदयात् स्कन्दकाचार्येण स्वशिष्ययन्त्रपीडनव्यतिकरमवलोक्य सबलवाहनराजधानीसमन्वितपुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञा अकारि, तथा-मानोदयाद् बाहुबलिना प्रतिज्ञा व्यधायि, यथा-कथमहं शिशून् स्वभ्रातॄन् उत्पन्ननिरावरणज्ञानान् छद्मस्थः सन् द्रक्ष्यामीति, तथा-मायोदयान्मल्लिस्वामिजीवेन यथाऽपरयतिविप्रलम्भो भवति तथा प्रत्याख्यानप्रतिज्ञा जगृहे। तथा-लोभोदयाद्धाऽविदितपरमार्थाः साम्प्रतेक्षिणो यत्याभासा मासक्षपणादिका अपि प्रतिज्ञाः कुर्वते। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। प्रतिज्ञारहिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ०। सूत्र०।

अपडिपुण्ण–अप्रतिपूर्ण-त्रि०। गुणशून्यत्वादिभिस्तुच्छे इतरपुरुषाचीर्णत्वात् सद्गुणविरहात्तुच्छे, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अपडिपोग्गल–अप्रतिपुद्गल-न०। दारिद्र्ये, नि० चू० ५ उ०।

अप (प्प) डिबज्झंत-अप्रतिबध्यमान-त्रि० । कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः । क्वचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वति, व्य० २ उ० ।

अप (प्प) डिबद्ध-अप्रतिबद्ध-त्रि० । प्रतिबन्धरहिते, अभिष्वङ्गरहिते, प्रव० १०४ द्वा० । " अपडिबद्धो अनलो व्व " प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । महा० । पञ्चा० । अप्रतिस्खलितेऽनुपहते, षो० ६ विव० ।

अप (प्प) डिबद्धया-अप्रतिबद्धता-स्त्री० । मनसि निरभिष्वङ्गतायाम्, नीरोगत्वे, उत्त० ३० अ० । तत्फलम्—

अप्पडिबद्धयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अप्पडिबद्धयाए णं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेणं जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ।

अप्रतिबद्धतया मनसि निरभिष्वङ्गतया निःसङ्गत्वं बहिः सङ्गाभावं जनयति, निःसङ्गत्वेन जीव एको रागादिविकलतया तत एवैकाग्रचित्तो धर्मैकतानमना एकाग्रतानिबन्धकहेत्वभावे दिवा च रात्रौ वाऽसजन्, कोऽर्थः ?–सर्वदा बहिः सङ्गं त्यजन् अप्रतिबद्धश्चापि विहरति । कोऽभिप्रायः ?–विशेषतः प्रतिबन्धविकलो मासकल्पादिनोद्यतविहारेण पर्यटति । उत्त० २९ अ० ।

अप (प्प) डिबद्धविहार-अप्रतिबद्धविहार-पुं० । अप्रतिबद्धस्य विहारोऽप्रतिबद्धविहारः द्रव्यादिषु सर्वभावेषु अभिष्वङ्गरहिततत्वेनैकत्राऽनवस्थाने, प्रव० । अप्रतिबद्धश्च सदा सर्वकालमभिष्वङ्गरहित इत्यर्थः । गुरूपदेशेन हेतुभूतेन । क ?, इत्याह–सर्वभावेषु द्रव्यादिषु । तत्र द्रव्ये श्रावकादौ, क्षेत्रे निर्वातवसत्यादौ, काले शरदादौ, भावे शरीरोपचयादौ, अप्रतिबद्धः । किमित्याह-मासादिविहारेण सिद्धान्तप्रसिद्धेन विहरेद्विहारं कुर्यात् । यथोचितं संहननाद्यौचित्येन नियमादवश्यंभाव इति । एतदुक्तं भवति–द्रव्यादिप्रतिबद्धः सुखलिप्सुतया तावदेकत्र न तिष्ठेत्, किं तर्हि, पुष्टालम्बनेन मासकल्पादिना, विहारोऽपि च द्रव्याद्यप्रतिबद्धस्यैव सफलः । यदि पुनरमुकं नगरादिकं गत्वा तत्र महर्द्धिकान् श्रावकानुपार्जयामि, तथा च करोमि, यथा मां विहायापरस्य ते भक्ता न भवन्तीत्यादिद्रव्यप्रतिबन्धेन, तथा–निवातवसत्यादिजनितरत्युत्पादकममुकं क्षेत्रमिदं तु न तथाविधमित्यादि क्षेत्रप्रतिबन्धेन, तथा–परिपक्वसुरभिशाल्यादिसस्यदर्शनादिरमणीयोऽयं विहरता शरत्कालादिरित्यादिकालनिबन्धेन, तथा-स्निग्धमधुराद्याहारादिलाभेन तत्र गतस्य मम शरीरपुष्ट्यादिसुखं भविष्यत्यत्र न तत् संपद्यते । अपरं चैवमुद्यतविहारेण विहरन्तं मामेवोत्तमं लोका भणिष्यन्त्यमुकं तु शिथिलमित्यादिभावप्रतिबन्धेन च मासकल्पादिना विहरति, तदाऽसौ विहारोऽपि कार्यासाधक एव । तस्मादनवस्थानं विहारो वा द्रव्याद्यप्रतिबद्धस्यैव साधक इति । प्रव० १०४ द्वा० ।

अप (प्प) डिबुज्झमान-अप्रतिबुध्यमान-त्रि० । शब्दार्थमनवधारयति, भ० ६ श० ३३ उ० ।

अप्रत्यूह्यमान-त्रि० । वैराग्यमानसंपादनपरिहीयमाणमानसे, भ० ९ श० ३३ उ० । औ० ।

अप (प्प) डियार-अप्रतीकार-पुं० । व्यसनापरित्राणे, पञ्चा० २ विव० । आचा० ।

अप (प्प) डिरूव-अप्रतिरूप-त्रि० । असमानुरूपात्मके विनये, दश० ९ अ० १ उ० ।

अप (प्प) डिलद्ध-अप्रतिलब्ध-त्रि० । न० त० । असंजाते, ज्ञा० १ अ० ।

अप (प्प) डिलद्धसम्मत्तरयणपडिलंभ-अप्रतिलब्धसम्यक्त्वरत्नप्रतिलम्भ-त्रि० । असंजातविपुलकुलसमुद्भवे, ज्ञा० १ अ० ।

अप (प्प) डिलेस्स-अप्रतिलेश्य-त्रि० । अतुलमनोवृत्तिषु, " अप्पडिलेस्सासु सामण्णरया दंता इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरंति " औ० ।

अप (प्प) डिलेहण-अप्रत्युपेक्षण-न० । न प्रत्युपेक्षणमप्रत्युपेक्षणम् । गोचरापन्नस्य शय्यादेश्चक्षुषाऽनिरीक्षणे, आव० ६ अ० ।

अप (प्प) डिलेहणासील-अप्रतिलेखनाशील-त्रि० । दृष्टवा प्रमार्जनशीले, कल्प० ।

अप (प्प) डिलेहिय-अप्रतिलेखि-(प्रत्युपेक्षि) त-त्रि० । जीवरक्षार्थं चक्षुषाऽनिरीक्षिते, उपा० १ अ० ।

अप (प्प) डिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमि-अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमि-स्त्री० । अप्रत्युपेक्षिता जीवरक्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षिता दुष्प्रत्युपेक्षिताऽसम्यग् निरीक्षिता उच्चारः पुरीषः प्रश्रवणं मूत्रं तयोर्निमित्तं भूमिः स्थण्डिलमप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितोच्चारप्रश्रवणभूमिः । पोषधोपवासस्य तृतीयातिचारभेदे, उपा० १ अ० । ध० । आ० चू० ।

अप (प्प) डिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथारय-अप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारक-पुं० । अप्रत्युपेक्षितो जीवरक्षार्थं चक्षुषा न निरीक्षित उद्भ्रान्तचेतोवृत्तितयाऽसम्यग् निरीक्षितः शय्या शयनं तदर्थं संस्तारकः । कुशकम्बलफलकादिः शय्यासंस्तारकः । ततः पदत्रयस्य कर्मधारये भवत्यप्रत्युपेक्षितदुष्प्रत्युपेक्षितशय्यासंस्तारकः । पोषधोपवासस्य प्रथमातिचारभेदे, अतिचारत्वं चास्य उपभोगस्यातिचारहेतुत्वात् । उपा० १ अ० । आ० चू० । पञ्चा० ।

अप (प्प) डिलेहियपणग-अप्रतिलेखितपञ्चक-न० । तूली १ आलिङ्गनिका २ मस्तकोपधानं ३ गल्लमसूरिका ४ आसनक्रिया ५ पञ्चकं, जीत० ।

अप (प्प) डिलोमया-अप्रतिलोमता-स्त्री० । आनुकूल्ये, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० ।

अप (प्प) डिवाइ (ण्)-अप्रतिपातिन्-त्रि० । प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति । सदाऽवस्थायिनि, नं० । अनुपरतस्वभावे, ध० ३ अधि० । आमरणान्तभाविनि, आ० म० प्र० । आकेवलोत्पत्तेः स्थिरे, कल्प० । स्था० । केवलज्ञानादर्वाग् भ्रंशमनुपयाति अवधिज्ञानविशेषे, नं० । विशे० । आ० म० ।

से किं तं अपडिवाइयं ओहिनाणं ?। अपडिवाई ओहिनाणं जेणं अलोगस्स एगमवि आगासपएसं जाणइ, पासइ, तेण परं अपडिवाई ओहिनाणं । सेत्तं अपडिवाइए ओहिनाणं ॥६॥

(से किं तमित्यादि) अथ किं तदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् ?। सूरि-

माह-अप्रतिपात्यवधिज्ञानं, येनावधिज्ञानेनालोकस्य संबन्धिनमेकमप्याकाशप्रदेशम्,आस्तां बहूनाकाशप्रदेशानित्यपि शब्दार्थः । पश्येत् । एतच्च सामर्थ्यमात्रमुपवर्ण्यते नत्वलोके किञ्चिदप्यवधिज्ञानस्य द्रष्टव्यमस्ति; एतच्च प्रागेवोक्तम् । तत आरभ्याऽप्रतिपत्त्या केवलप्राप्तेरवधिज्ञानम् । अयमत्र भावार्थः- एतावति क्षयोपशमे संप्राप्ते सत्यात्मा विनिहितप्रधानप्रतिपक्षयोधसंघातनरपतिरिव न भूयः कर्मशत्रुणा परिभूयते, किन्तु समासादितैतावदालोकजयाप्रतिनिवृत्तः शेषमपि कर्मशत्रुसंघातं विनिर्जित्य प्राप्नोति केवलराज्यश्रियमिति, तदेतदप्रतिपात्यवधिज्ञानम् । तदेवमुक्ताः षडप्यवधिज्ञानस्य भेदाः ।

सम्प्रति द्रव्याद्यपेक्षयाऽवधिज्ञानस्य भेदान् चिन्तयति-

तं समासओ चउव्विहं पमत्तं । तं जहा-दव्वओ,खेत्तओ, कालओ, भावओ । तत्थ दव्वओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ,पासइ । खेत्तओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अंगुलस्स असंखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं असंखिज्जाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खंडाइं जाणइ, पासइ। कालओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं आवलिगाए असंखिज्जइ भागं जाणइ, पासइ । उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पणीओ अवसप्पणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ । भावओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अणंते भावे जाणइ, पासइ । सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ, पासइ ।।

"ओहीभवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वण्णिओ दुविहो ।
तस्स य बहू विगप्पा, दव्वे खेत्ते य काले य ।।१।।
नेरइय-तित्थयारा, ओहिस्स बाहिरा हुंति ।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति " ।। २ ।।
सेत्तं ओहिनाणं ।। नं० ।

(टीकाऽस्य ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४१ पृष्ठे अवधिक्षेत्रप्ररूपणेन गतार्था सुगमा च नेहोपन्यस्तेति)

अप (प्प) डिसंलीण-अप्रतिसंलीन-त्रि० । अकुशलेन्द्रियकषायाद्यनिरोधके, स्था० ।

तस्य च भङ्गाणि सूत्राणि—

चत्तारि अपडिसंलीणा पण्णत्ता । तं जहा-कोहअपडिसंलीणे, माणअपडिसंलीणे, मायाअपडिसंलीणे, लोभअपडिसंलीणे ।।

पुनः-

चत्तारि अपडिसंलीणा पण्णत्ता । तं जहा-मणअपडिसंलीणे, वइअपडिसंलीणे, कायअपडिसंलीणे, इंदियअपडिसंलीणे ।। स्था० ४ ठा० २ उ० ।

(टीका चास्य प्रतिसंलीनस्येव भावनीया)

पंच अपडिसंलीणा पण्णत्ता । तं जहा-सोइंदियअपडिसंलीणे, जाव फासिंदियअपडिसंलीणे । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अप (प्प) डिसुणेत्ता-अप्रतिश्रुत्य-अव्य० । प्रतिश्रवणमकृत्वेत्यर्थे, आव० ४ अ० ।

अपडिसेह-अप्रतिषेध-पुं० । अनिवारणे, पञ्चा० ६ विव० ।

अपडिस्साबि (ण्)-अप्रतिस्राविन्-त्रि० । यद्भाजनमियभाजनं न प्रतिस्रवति । प्रतिस्रवणरहिते, दर्श० ।

अप(प्प)डिहट्टु-अप्रतिहृत्य-अव्य०। अर्पणमकृत्वेत्यर्थे,बृ०३उ०।

अप (प्प) डिहणंत-अप्रतिघ्नत्-त्रि० । तद्वचनमविकुट्टयति, बृ० १ उ० ।

अप (प्प) डिहय-अप्रतिहत-त्रि०। अप्रतिघातरहिते अनिरुद्धे, ज्ञा० १६ अ०। कटकुड्यपर्वतादिभिरस्खलिते, स० १ समः । अविसंवादके, औ०। भ०। केनापि अनिवारिते, उत्त०११ अ० । अन्यैश्च लङ्घयितुमशक्ये, उत्त० ११ अ० ।

अप (प्प) डिहयगइ-अप्रतिहतगति-त्रि० । अप्रतिहतविहारे, "अपडिहयगई गामे गामे य एगरायं णगरे णगरे पंचरायं दूइज्जंते य जिइंदिए" प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । संयमे गतिः प्रवृत्तिर्न हन्यतेऽस्य कथञ्चिदिति भावः । स्था० ६ ठा० ।

अप (प्प) डिहयपच्चक्खायपावकम्म-अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मन्-त्रि० । प्रतिहतं निराकृतमतीतकालकृतं, निन्दादिकरणेन प्रत्याख्यातं च वर्जितमनागतकालविषयं पापकर्म प्राणातिपातादि येन स प्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा, तन्निषेधादप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा । अनिषिद्धातीतानागतपापकर्माणि, ज० १ श० १ उ० ।

अप (प्प) डिहयबल-अप्रतिहतबल-त्रि० । अप्रतिहतं केनाप्यनिवारितं बलं यस्य स अप्रतिहतबलः (उत्त०) अप्रतिहतमन्यैश्च लङ्घयितुमशक्यं बलं सामर्थ्यमस्येति अप्रतिहतबलः। सहजसामर्थ्यवति , उत्त० ११ अ० ।

अप(प्प)डिहयवरणाणदंसणधर-अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधर-पुं०। अप्रतिहते कटकुड्यादिभिरस्खलिते,अविसंवादके वा । अत एव क्षायिकत्वाद्वा वरे प्रधाने ज्ञानदर्शने केवलाख्ये विशेषसामान्यबोधात्मके धारयति यः स तथा । केवलज्ञानदर्शनोपयुक्ते जिने, भ० १ श० १ उ० । स० । औ० ।

अप (प्प) डिहयसासण-अप्रतिहतशासन-त्रि० । १ व० । अस्खलिताज्ञे , " अपडिहयसासणे अ सेणवई " ज्ञा० १६ अ० ।

अप (प्प) डिहारय-अप्रतिहारक-पुं० । न० । प्रत्यर्पणायोग्ये शय्यासंस्तारके, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अप (प्प) डीकार-अप्रतीकार-त्रि०। सुतिकर्मादिरहिते, "किं ते सा उपहतपंडखुद्वेयणअपडीकारअरुविज्जम्मणा णिच्चभउव्विग्गवासजगाणं " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप(प्प)डुप्पण्ण-अप्रत्युत्पन्न-त्रि० । अनागमिके प्रतिपत्यकुशले, " अपडुप्पण्णे य तहिं, कहेइ तद्धुन्द्धितो अण्णे " । व्य० ६ उ० । नि० चू० ।

अपढम-अप्रथम-त्रि० । न० त० । प्रथमताधर्मरहिते अनादौ,

भ० १८ श० १ उ०। (जीवादीनामर्थानां प्रथमत्वादिविचारः 'पढम' शब्दे दर्शयिष्यते)

अपढमखगइ–अप्रथमखगति–स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ , कर्म० ५ कर्म० ।

अपढमसमय–अप्रथमसमय–पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ ठा० ४ उ०।

अपढमसमयउववण्णग–अप्रथमसमयोपपन्नक–पुं० । न० त०। प्रथमसमयोपपन्नव्यतिरिक्तेषु नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–पढमसमयोववण्णगा चेव, अपढमसमयोववण्णगा चेव० जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० २ उ० ।

अपढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजम–अप्रथमसमयोपशान्तकषायवीतरागसंयम–पुं० । क०स०। न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकषायवीतरागसंयमश्च तथा। उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ८ ठा०।

अपढमसमयएगिंदिय-अप्रथमसमयैकेन्द्रिय-पुं० । प्रथमसमयैकेन्द्रियभिन्ने, यस्यैकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो नाऽस्ति । स्था० १० ठा० ।

अपढमसमयक्खीणकसायवीयरागसंजम-अप्रथमसमयक्षीणकषायवीतरागसंयम-पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः , स चासौ उपशान्तकषायवीतरागसंयमश्च तथा । उपशमश्रेणिप्रतिपन्नवीतरागसंयमभेदे, स्था० ८ ठा० ।

अपढमसमयसजोगिभवत्थ-अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ-पुं० । अप्रथमो द्व्यादिः समयो यस्य सयोगित्वे स तथा, स चासौ भवस्थश्चेति अप्रथमसमयसयोगिभवस्थः । सयोगिभवस्थभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अपढमसमयसिद्ध-अप्रथमसमयसिद्ध–पुं० । न प्रथमसमयसिद्धोऽप्रथमसमयसिद्धः । परम्परासिद्धविशेषणाप्रथमसमयवर्तिनि, सिद्धत्वसमयाद् द्वितीयसमयवर्तिनि सिद्धविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । आ० । स्था० ।

अपढमसमयसुहुमसंपरायसंजम–अप्रथमसमयसूक्ष्मसंपरायसंयम-पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ सूक्ष्मः किट्टीकृतः संपरायः कषायः संज्वलनलोभलक्षणो वेद्यमानो यस्मिन्स तथा । सरागसंयमभेदे, स्था० ८ ठा० ।

अपण्णविय-अप्रज्ञापित-त्रि० । प्रज्ञापनामप्रापिते, "सो य सेसातरो अपण्णविओ पन्नविओ वा घरे भणाति " नि० चू० ४ उ० ।

अपत्त–अपात्र–त्रि० । अयोग्ये, सू० १ उ० । अभाजने, नि० चू० १८ उ० ।

अप्राप्त–त्रि० । पर्यायेणोपस्थापनाभूमिमनधिगते, ध० ३ अधि० । अनधिगते, व्य० ४ उ० । पिं० । पूर्वमश्रुते, द्वा० १५ द्वा० ।

अपत्तजात अपत्रजात–त्रि० । न विद्यते पत्रजातं पक्षोद्भवो येऽस्यासावपत्रजातः । अजातपक्षोद्भवे पक्षिजाते, " जहा दिया पोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मन्नमाणं " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ॥

अपत्तजोव्वणा–अप्राप्तयौवना–स्त्री० । यौवनावस्थामप्राप्तायाम, सा च गर्भं न धरति प्राय आद्वादशवर्षकादार्तवाभावात् । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अपत्तभूमिग–(य)–अप्राप्तभूमिक–पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेनेष्टस्थानमप्राप्ते " जोयणमादि अपत्तभूमिआ वारसओ जाव " (नि० चू०) " जे जोयणमादीसु ठाणेसु जाव वारस जोयणा ते सव्वे अपत्तभूमिया भवंति " नि० चू० १० उ० ।

अपत्तविसय–अप्राप्तविषय–त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंश्लिष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनम । अप्राप्तकारिणि इन्द्रियजाते, " लोयणमपत्तविसयं, मणो व्व जमणुग्गहाइ सुणति " । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अपत्तिय–अपात्रिक–त्रि० । अविद्यमानाधारे, भ० १६ श० ३ उ०।

अप्रीतिका–स्त्री० । अप्रेम्णि, पञ्चा० ७ विव० ।

अपत्थ–अपथ्य–त्रि० । अहिते, " अपत्थं अंबगं भुच्चा, राया रज्जं तु हारए " उत्त० ७ अ० । स्था० । अप्रायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ विव० ॥

अप(प्प)त्थण-अप्रार्थन-न०। अभिलाषस्याऽकरणे, उत्त० ३२ अ०।

अप(प्प)त्थिय–अप्रार्थित–त्रि० । अमनोरथगोचरीकृते, जं० ३ वक्ष० ।

अप(प्प)त्थियपत्थ(त्थि)य–अप्रार्थितप्रार्थक–त्रि० । अप्रार्थितं केनाप्यमनोरथगोचरीकृतं प्रस्तावान्मरणं, तस्य प्रार्थकोऽभिलाषी । मरणार्थिनि, जं० ३ वक्ष०। "कसणं एस अप्पत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे" भ० ३ श० ४ उ० । उपा० ।

अपद (य)–अपद-न०। न० ब० । वाहनचक्रादौ, चरणहीने, परिग्रहे, आ०चू०६ अ०। अष्टादशे सूत्रदोषभेदे, यत्र हि पद्यबन्धेऽन्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानम, यथाऽऽर्यापदेऽभिधातव्ये वैतालीयमभिदध्यात् । विशे०। यत्र गाथाबद्धे गीतिकापदं वा नवासिकापदं वा क्रियते । बृ० १ उ० । आ० म० । दाडिमाम्रबीजपूरकादौ वृक्षे, विशे० । अनु० । न विद्यते पदमवस्थाविशेषो यस्य सोऽपदः । मुक्तात्मनि, "अपयस्स पयं णत्थि" आचा० १ श्रु ५ अ० ६ उ० ।

अपदंस–अपदंश–पुं० । पित्तरुचि, नि० चू० १ उ० ।

अप(प्प)दुस्समाण–अप्रद्विष्यत्–त्रि० । प्रद्वेषमगच्छति, अन्त० ४ वर्ग ।

अपद्दवंत–अपद्रवत्–त्रि० । म्रियमाणत्वे, ज० ४ श० १ उ० ।

अपप्पकारित्त–अप्राप्यकारित्व–न० । विषयदेशं गत्वा कार्यकारित्वे, नं० । (नयनमनसोरप्राप्यकारित्वं द्वितीयभागस्य ५५७ पृष्ठे 'इंदिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप(प्प)भु–अप्रभु–पुं० । भृतकादौ, ध० ३ अधि० । ओघ०

अप(प्प)मज्जणसील—अप्रमार्जनशील—त्रि० । अप्रमार्जनशीले, कल्प० ।

अप(प्प)मज्जित्ता–अप्रमार्ज्य–अव्य० । प्रमार्जनामकृत्वेत्यर्थे, "पासाईसागारियं, अपमज्जित्ता त्ति संजमो होइ । तं चेव पमज्जंते, असागारियं संजमो होइ ॥ " प्रव० ६६ द्वा० ।

अप(प्प)मज्जिय-अप्रमार्जित-त्रि० । रजोहरणवस्त्राञ्चलादिनाऽविशोधिते, प्रव० ६ द्वा० ।

अप(प्प)मज्जियचारि(ण्)-अप्रमार्जितचारिन्-पुं० । अप्रमार्जिते, अवस्थाननिषीदनशयनादिकरणनिक्षेपोच्चारादिपरिष्ठापनं च कुर्वति, "अपमज्जियचारीया वि भवइ," इति षष्ठं समाधिस्थानम् । दशा० १ अ० । प्रश्न० ।

अप(प्प)मज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमि-अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवणभूमि-स्त्री० । पोषधोपवासस्यातिचारभेदे, उपा० १ अ० । आव० ।

अप(प्प)मज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार-अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तार-पुं० । पोषधोपवासस्यातिचारे, इह प्रमार्जनं शय्यादेः सेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति दुष्प्रमविधिना प्रमार्जनं दुष्प्रमार्जनम् । आव० ६ अ० । उपा० ।

अप(प्प)मत्त-अप्रमत्त-त्रि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा-नास्ति प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः । पं० सं० १ द्वा० । आचा० । अज्ञानानिद्राविकथादिप्रमादरहिते, ग० २ अधि० । आ० । ते च प्रायो जिनकल्पिक-परिहारविशुद्धिक-यथालन्दकल्पिक-प्रतिमाप्रतिपन्नाः, तेषां सततोपयोगसम्भवात् । नं० । स० । न विद्यते प्रमत्तः प्रमादो मद्यविषयकषायविकथाप्रमादाख्यो यस्य। अप्रमादिनि, "अहो य राओ य अप्पमत्तेण हुंति" प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । निद्रादिप्रमादरहिते, "अप्पमत्ते समाहिए ज्झाइ" आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० । "अपमत्ते सया परिक्कमेज्जा" आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । "अप्पमत्ते जए णिच्चं" (दश०) । "सुस्सूसए आयरियमप्पमत्ते" (दश०) प्रयत्नवति च । "अप्पमत्तो अहिंसओ" । दश० १ अ० ।

अप(प्प)मत्तसंजय-अप्रमत्तसंयत-पुं० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, नास्ति वा प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः; स चासौ संयतश्चाप्रमत्तसंयतः । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । सर्वप्रमादरहिते सप्तमगुणस्थानकवर्त्तिनि, स० १४ सम० ।

स च-

अप्पमत्तो दुविहो-कसायअप्पमत्तो य, जोगअप्पमत्तो य । तत्थ कसायअप्पमत्तो दुविहो-खीणकसाओ, निग्गहपरो य । एत्थ निग्गहपरेण अहिगारो कहं तस्स अप्पमत्तत्तं भवति ?, कोहोदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं, एवं जाव लोभो त्ति । जोगअप्पमत्तो मणवयणकायजोगेहिं तिहिं व गुत्तो । अहवा अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं वा मणसो वा एगत्तीभावकरणं । एवं वइए वि, एवं काए वि, तहा इंदिएसु सोइंदियविसयपयारनिरोहो वा । सोइंदियविसयए तेसु वा अत्थेसु रागदोसविणिग्गहो, एस अप्पमत्तो । आ० चू० ४ अ० ।

तस्य कालः-

अप्पमत्तसंजयस्स णं भंते ! अप्पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं अप्पमत्तद्धाकालओ केव चिरं होइ? मंडिया! एगं जीवं पडुच्च जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी देसूणा णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धं; सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(जहन्नेणं अंतो मुहुत्तं ति) किलाप्रमत्ताद्धायां वर्तमानस्यान्तर्मुहूर्त्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति; चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् । स चोपशमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहूर्त्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति; देशोनपूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्येति । (णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धं) इत्युक्तम् । अथ सर्वाकाभाविभावान्तरप्ररूपणायाऽऽह-भंते ! भंते ! त्ति इत्यादि । भ० ३ श० ३ उ० । पञ्चा० । नं० ।

अप(प्प)मत्तसंजयगुणट्ठाण-अप्रमत्तसंयतगुणस्थान-न० । सप्तमे गुणस्थानके, प्रव० २२४ द्वा० ।

अप(प्प)माण-अप्रमाण-न० । प्रमाणातिरिक्ते, सू० २ अ० । यदा सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वादुलोभेन अधिकमाहारं करोति, तदाऽप्रमाणो द्वितीय आहारदोषः । उत्त० २४ अ० । ('पमाण' शब्देऽस्य विवृतिः) प्रामाण्यविरुद्धे, रत्ना० ।

प्रसङ्गायातमप्रामाण्यरूपमपि धर्मं प्रकटयन्ति-

तदितरत्त्वप्रामाण्यमिति ॥ १९ ॥

तस्मात्प्रमेयाव्यभिचारित्वादितरत् प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रामाण्यं प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वव्यतिरिक्तग्राह्यापेक्षयैव लक्षणीयम्, स्वस्मिन् व्यभिचारस्यासंभवात् । तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् । बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणम्, किञ्चित्प्रमाणाभासम् । रत्ना० १ परि० ।

अप(प्प)माणभोइ(ण्)-अप्रमाणभोजिन्-त्रि० । द्वात्रिंशत्कवलाधिकाहारभोक्तरि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ॥

अप(प्प)माय-अप्रमाद-पुं० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमादवर्जनलक्षणे षड्विंशयोगसंग्रहे, स० ३२ सम० ।

तत्र उदाहरणम्-

रायगिह मगहसुंदरि-मगहसिरी कुसुमसत्थपक्खेवो ।
परिहरिअ अप्पमत्ता, नट्टंमी अन्नवी चुक्का ॥ १ ॥

पुरे राजगृहेऽत्रासी-ज्जरासन्धो महानृपः ।
गणिक्यौ तस्य मगध-सुंदरीमगधश्रियौ ॥ १ ॥
चेन्नासौ स्यान्नदैकाऽहं, राजा च स्याद्वशे मम ।
मगधश्रीस्ततो दुष्टा, तस्या नाट्यस्य वासरे ॥ २ ॥
विषभावितसौवर्ण-केसरायितसूचिभिः ।
संचलितैः कर्णिकारैः, रङ्गोत्सङ्गमपूजयत् ॥ ३ ॥
अथ मगधसुन्दर्या, विलोकयाभ्यूहते स तान् ।
किमेषु कर्णिकारेषु, न लीयन्ते मधुव्रताः ? ॥ ४ ॥
सदोषाणि स्फुटं पुष्पा-ण्येतान्यत्र च वेदहम् ।
द्रव्यै योग्यानि नार्चाया, भावितानि विषेण वा ॥ ५ ॥
भ्राम्यता स्यान्मम तत-स्तदुपायेन बाधये ।
अत्रान्तरेऽवतीर्णा च, रङ्गे मगधसुन्दरी ॥ ६ ॥
मङ्गले गीयमानेऽथ, प्रागायद्गीतिकामिमाम्- ।

पत्ते वसंतमासे, एआओ अपमोइआम्मि घुट्ठम्मि ।
मूत्तूण कणिआरए, भमरा सेवंति चूअकुसुमाई ॥ १ ॥

अथा गीतिमपूर्वा तां, ज्ञात्वे मगधसुन्दरी ।

कर्णिकाराणि दुष्टानि, तत्परीहारतस्तया ॥ ७ ॥
गीतं नृत्तं च साक्षेपं, छलिता नाप्रमादनः ।
कर्तव्या साधुनाऽप्येवं, सर्वदाऽप्यप्रमादिता ॥ ८ ॥

आ० क० । आव० । आ० चू० । प्रश्न० । प्रमादाभावे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । अष्टसु स्थानेषु अप्रमादवता भवितव्यम् ।

प्रमादो न कार्यः—

अट्ठहिं ठाणेहिं सम्मं संघमियव्वं जइयव्वं परक्कमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे नो पमाएव्वं भवइ, असुयाणं धम्माणं सम्मं सुणणयाए अब्भुट्ठेयव्वं, सुयाणं धम्माणं ओगिण्हयाए ओवहारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, नवाणं कम्माणं संजमेणं अकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, पोराणाणं कम्माणं तवसा विगिंचणयाए विसोहणत्ताए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, असंगिहियपरिजणस्स संगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, सेहं आयारगोयरं गहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चं करणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ, साहम्मियाणं अहिगरणंसि उप्पन्नंसि तत्थ अणिस्सिओवस्सिए अपक्खग्गाही मज्झत्थभावभूए कहणु साहम्मिया अप्पसद्दा अप्पझंझा अप्पतुमंतुमा उवसामणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ ।

कपठ्यम् । नवरमष्टासु स्थानेषु वस्तुषु सम्यग्घटितव्यम्-अप्राप्तेषु योगः कार्यः। यतितव्यम्-प्राप्तेषु तद्वियोगार्थं यत्नः कार्यः। पराक्रमितव्यम्-शक्तिक्षयेऽपि तत्पालने पराक्रम उत्साहातिरेको विधेयः। किं बहुना ?-एतस्मिन्नष्टस्थानकलक्षणे वक्ष्यमाणेऽर्थे न प्रमादनीयम्-न प्रमादः कार्यो भवति। अश्रुतानामनाकर्णितानां धर्माणां श्रुतभेदानां सम्यक् श्रवणतायै श्राऽभ्युत्थातव्यमभ्युपगन्तव्यं भवति। एवं श्रुतानां श्रोत्रेन्द्रियविषयीकृतानामवग्रहणतायै मनोविषयीकरणतयोपधारणतायै अविच्युतिस्मृतिवासनाविषयीकरणायेत्यर्थः। (विगिंचणयाए त्ति) विवेचना निर्जरेत्यर्थः, तस्यै। अत एव आत्मनो विशुद्धिर्विशोधना, अकलङ्कत्वम्; तस्यै इति। असंगृहीतस्यानाश्रितस्य, परिजनस्य शिष्यवर्गस्येति। (सेहं ति) विभक्तिपरिणामाच्छैक्षकस्याभिनवप्रव्रजितस्य, (आयारगोयरं ति) आचारः साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विषयो व्रतषट्कादिराचारगोचरः । अथवा-आचारश्च ज्ञानादिविषयः पञ्चधा, गोचरश्च भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम् । इह विभक्तिविपरिणामादाचारगोचरस्य ग्रहणतायां शिक्षणे शैक्षमाचारगोचरं ग्राहयितुमित्यर्थः। (अगिलाए त्ति) अग्लान्या अखेदेनेत्यर्थः । वैयावृत्यं प्रतीति शेषः । (अधिगरणंसि त्ति) विरोधे, तत्र साधर्मिकेषु निश्रितं रागः, उपाश्रितं द्वेषः। अथवा-निश्रितमाहारादिलिप्सा, उपाश्रितं शिष्यकुलाद्यपेक्षा। तद्वर्जितो यः सोऽनिश्रितोपाश्रितः। न पक्षं शास्त्रबाधितं गृह्णातीत्यपक्षग्राही। अत एव मध्यस्थभावं भूतः प्राप्तो यः स तथा । स भवेदिति शेषः। तेन च तथाभूतेन कथं नु केन प्रकारेण साधर्मिकाः साधवः?, अल्पशब्दा विगतराटीमहाध्वनयः; अल्पझञ्झा विगतथाविधप्रकीर्णवचनाः, अल्पतुमंतुमा विगतक्रोधना विकारविशेषाः भविष्यन्तीति भावयतोपशमनायाधिकरणस्याभ्युत्थातव्यं भवतीति । स्था० ८ ठा० ।

किञ्च-

अणण्णपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि ।
आयगुत्ते सया धीरे, जायमायाएँ जावए ।

"अणण्णपरमं" इत्याद्यनुष्टुप् । न विद्यते अन्यः परमः प्रधानोऽस्मादित्यनन्यपरमः संयमः,तं ज्ञानी परमार्थविन्नो प्रमादयेत्, तस्य प्रमादं न कुर्यात्कदाचिदपि । यथा चाप्रमादवान् भवति तथा दर्शयितुमाह-(आयगुत्ते इत्यादि) इन्द्रियनोइन्द्रियात्मना गुप्त आत्मगुप्तः । सदा सर्वकालम्, यात्रा संयमयात्रा, तस्यां मात्रा यात्रामात्रा । मात्रा च-'अब्भाहारो ण सहे' इत्यादि, तयाऽऽत्मानं यापयेद्, यथा विषयानुदीरणेन दीर्घकालं संयमाधारदेहप्रतिपालनं भवति तथा कुर्यात् । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपरं च-

उदाहु वीरे अप्पमादो महामोहे अलं कुसलस्स पमाएणं संति मरणं संपेहाए भिउरधम्मं संपेहाए ॥

(उदाहु इत्यादि) उत्प्राबल्येन आहोक्तवान् । कोऽसौ ? वीरः, अपगतसंसारभयः,तीर्थकृदित्यर्थः। किमुक्तवान् ?, तदेव, पूर्वोक्तं वा दर्शयति-अप्रमादः कर्त्तव्यः। क्व ?, महामोहे अङ्गनाभिष्वङ्ग एव महामोहकारणत्वान्महामोहः तत्र, प्रमादवता न भाव्यम्। आह-(अलमित्यादि) अलं पर्याप्तम्। कस्य ?,कुशलस्य निपुणस्य-सूक्ष्मेक्षिणः। केनालम् ?, मद्यविषयकषायनिद्राविकथारूपेण पञ्चविधेनापि प्रमादेन, यतः प्रमादो दुःखाद्यभिगमनायोक्त इति स्यात्। किमालम्ब्य प्रमादेनालम् ?, इत्युच्यते। (संति इत्यादि) शमनं शान्तिरशेषकर्मापगमः,अतो मोक्ष एव शान्तिरिति। म्रियन्ते प्राणिनः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतिके संसारे स मरणः संसारः। शान्तिश्च मरणश्च शान्तिमरणं,समाहारद्वन्द्वः। तत्संप्रेक्ष्य पर्यालोच्य,प्रमादवतः संसारानुपरमस्तत्परित्यागाच्च मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदयम्। स चाकुशलः प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमादं न विदध्यात्। अथ च शान्त्या उपशमेन मरणं मरणावधिः, यावज्जीवतो यत्फलं भवति तत्पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति। किञ्च-(भिउर इत्यादि) प्रमादो हि विषयाभिष्वङ्गरूपः शरीराधिष्ठानस्य च शरीरं भिदुरधर्म्म स्वत एव भिद्यत इति। भिदुरं स एव धर्म्मः स्वभावो यस्य तद्भिदुरधर्म्मः। एतत्समीक्ष्य पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति संबन्धः। आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० । प्रमादवर्जनरूपायां ४६ गौणाहिंसायाम्, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा०। यत्नातिशये, पं० व० १ द्वा०। उपयोगपूर्वकरणक्रियायाम, नि० चू० १ उ० ।

सर्वक्रियास्वप्रमाद इति चतुर्थं साधुलिङ्गम्-

सुगइनिमित्तं चरणं, तं पुण छक्कायसंजमो चेव ।
सो पालिउं न तीरइ, विगहाऽपमायजुत्तेहिं ॥ ११० ॥

शोभना गतिः सुगतिः सिद्धिरेव, तस्या निमित्तं कारणं, चरणं यतिधर्मः। तदुक्तम्-"नो अन्नहा वि सिद्धी, पाविज्जइ जं तओ इमीए त्ति ॥ एसो चेव उवाओ, आरंभावट्टमाणो उ " ॥ १ ॥

तथा-

" विरहितत्तरकाण्मा बाहुदण्डैः प्रचण्डं,
कथमपि जलराशिं धीधना लङ्घयन्ति ।
न तु कथमपि सिद्धिः साध्यते शीलहीनैः,
दृढयति यतिधर्मे चित्तमेवं विदित्वा " ॥ १ ॥ इति ।

तत्पुनश्चरणं षड्जायसंयम एव, पृथ्वीजलज्वलनपवनवनस्पति-त्रसकायजीवरक्षैव। किमुक्तं भवति?-एतेषु षड्जीवनिकायेष्वेक-मपि जीवनिकायं विराधयन् अगद्भर्तुराज्ञाविलोपकारित्वाद्चा-रित्री संसारपरिवर्द्धकश्च।

तथाचाहुः प्रतिहतसकलसम्यग्मोहतमिस्राः श्रीधर्मदासगणि-मिश्राः-

"सम्मामोगे जह को-इ अमच्चो नरवइस्स घित्तूण।
आणाहरणे पावइ, वहबंधण दव्वहरणं वा ॥ १ ॥
तह छक्कायमहव्वय-सव्वनिवित्तीउ गिरिहऊण जई।
एगमवि विराहंतो, अमच्चरन्नो हणइ बोहिं ॥ २ ॥
तो हयबोही पच्छा, कयावराहाणुसरिसमियममियं।
पुण वि भवोयहिपमिओ, भमइ जरामरणदुग्गम्मि ॥ ३ ॥

किंच—

छज्जीवनिकायमह-व्वयाण परिपालणाइ जइधम्मो।
जइ पुण ताइँ न रक्खइ, भणाहि को नाम सो धम्मो? ॥ ४ ॥
छज्जीवनिकायदया-विवज्जिओ नेव दिक्खिओ न गिही।
जइधम्माओ चुक्को, चुक्कइ गिहिदाणधम्माओ" ॥५॥ इत्यादि।

स पुनः संयमः पालयितुं वर्द्धयितुं (न तीरइ त्ति) न शक्यते; विकथा विरुद्धाः कथा राजकथाद्या रोहिणीकथायां सप्रपञ्चं प्ररूपिताः; आदिशब्दाद्विषयकषायादिपरिग्रहः, तल्लक्षणः प्रमा-दो विकथादिप्रमादः तद्युक्तैः संयमः प्रतिपालयितुं न शक्यते। अतः सुसाधुभिरसौ न विधेय इति।

प्रमादस्यैव विशेषतोऽपायहेतुतामाह—

पव्वज्जं विज्जं पि व, साहंतो होइ जो पमाइल्लो।
तस्स न सिज्झइ एसा, करेइ गरुयं च अवयारं ॥१११॥

प्रव्रज्यां जिनदीक्षां विद्यामिव स्त्रीदेवताधिष्ठितामिव साध-यन् भवति यः (पमाइल्लु त्ति) प्रमादवान् "आलिवल्लोल्लाल-वंत-मंतेत्तरमणाः मतोः" ॥ ८। २। १५९ ॥ इति (हैमसू-त्रात्) वचनात्। तस्य प्रमादवतो न सिद्ध्यति-न फल-दानाय संपद्यते, यथा पारमेश्वरी दीक्षा, विद्येव; चकारस्य भिन्नक्रमत्वात्। करोति च गुरुं महान्तमपकारमनर्थमिति। भावार्थः पुनरयम्—यथा अत्र प्रमादवतः साधकस्य विद्या फलदा न भवति, ग्रहसंक्रमादिकमनर्थं च संपादयति, तथा शीतलविहारिणो जिनदीक्षाऽपि न केवलं सुगतिसंपत्तये न भवति, किन्तु दुर्गतिदीर्घभवभ्रमणापायं च विदधाति, आर्यमङ्गोरिव। उक्तं च-

"सीयलविहारओ खलु, भगवंतासायणा-निओगेण।
तत्तो भवो सुदीहो, किलेसबहुलो जओ भणियं ॥ १ ॥
तित्थयरपवयणसुयं, आयरियं गणहरं महिड्ढीयं।
आसायंतो बहुसो, अणंतसंसारिओ भणिओ" ॥२॥ त्ति।

तस्मादप्रमादिना साधुना भवितव्यमिति। ध० र०। (आ-र्यमङ्गुकथा च 'अज्जमंगु' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २११ पृष्ठे दर्शिता) सम्यक्त्वपराक्रमाख्ये एकोनत्रिंशे उत्तराध्ययने, स० ३५ सम०।

अप (प्प) मायपडिलेहा-अप्रमादप्रत्युपेक्षणा-स्त्री०। ष-ड्विधा अप्रमादेन प्रमादविपर्ययेण प्रत्युपेक्षणा अप्रमादप्रत्यु-पेक्षणा। अप्रमादेन प्रत्युपेक्षायाम्, "छव्विहा अप्पमायपडि-लेहा पण्णत्ता। तं जहा-" अणच्चावियं अवलियं, अणाणु-बंधीममोसलिं चेव। छ प्पुरिमा णव खोडा, पाणीपाणविसो-हणी।" ॥ स्था० ६ ठा०। (' अणच्चाविय ' शब्दादीनां व्याख्याऽस्मिन् भागे २८३ पृष्ठे ' अणच्चाविय ' शब्दे, तथा च स्वस्वशब्देषु द्रष्टव्या)

अप (प्प) मायभावणा-अप्रमादभावना-स्त्री०। मद्यादि-प्रमादानामनासेवने, आचा० २ श्रु० १५ अ०।

अप (प्प) मायवुड्ढिजणगत्तण-अप्रमादवृद्धिजनकत्व-न०। अप्रमत्ततप्रकर्षोत्पादकत्वे, पञ्चा० ५ विव०।

अप (प्प) मायपडिसेवणा-अप्रमादप्रतिसेवना-स्त्री०। अप्रम-त्तकल्पप्रतिसेवायाम्, नि० चू० १ उ०।

अप (प्प) मेय-अप्रमेय-त्रि०। न० त०। प्रमाणेनापरिच्छे-द्ये, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०। "अणंतमप्पमेयभवियधम्मवरचाउरंत-चक्कवट्टी नमोत्थु ते अरहंतो त्ति कट्टु वंदइ" अप्रमेयः, तद्-गुणानां परैरप्रमेयत्वात्। आ० म० प्र०। प्राकृतजनापरिच्छेद्ये मोक्षे, ध० १ अधि०। अशरीरजीवस्वरूपस्य छद्मस्थैरप्र-मेयमशक्यत्वादिति। पा०।

अपयमाण-अपचमान-पुं०। न विद्यन्ते पचमानाः पाचका यत्रासौ अपचमानः। पाकक्रियानिर्वर्तकाऽसेविते, पचते इति पचमानः न पचमानोऽपचमानः। पाकमकुर्वति, "जं मए इ-मस्स धम्मस्स केवलिपण्णत्तस्स (इत्यादि) अपयमाणस्स (इत्यादि) पंचमहव्वयजुत्तस्स" ध० ३ अधि०।

अपया-अप्रजा-स्त्री०। अपत्यविकलायां स्त्रियाम्, बृ० १ उ०।

अपर-अपर-पुं०। न विद्यते परः प्रधानोऽस्मादित्यपरः। संयमे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। पूर्वोक्तादन्यस्मिन्, "अ-परा णाम जा सा पुव्विं भणिता ततो जा अण्णा सा अपरा" नि० चू० २० उ०।

अपरक्कम-अपराक्रम-त्रि०। न विद्यते पराक्रमः सामर्थ्यम-स्मिन्नित्यपराक्रमम्। जङ्घाबलपरिक्षीणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

अपरक्कममरण-अपराक्रममरण-न०। न विद्यते पराक्रमः सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमम्। सामर्थ्ये नष्टे मरणे, किं तन्म-रणम्?, तद्य यथा-जङ्घाबलपरिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्यस-मुद्राणामपराक्रमं मरणमभूत्, अप्रमादेशाद् दृष्टान्तो, वृद्ध-वादादायात इति। आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। (अस्मिन्ने-व भागे २१६ पृष्ठे "अज्जसमुद्द" शब्दे विशेषोऽस्य द्रष्टव्यः)

अपरपरिग्गहिय-अपरपरिगृहीत-त्रि०। अनन्यस्वामिना परि-गृहीते अव्याकृते, न परोऽपरस्तेन परिगृहीतमपरपरिगृहीतम्। द्वितीयैरपरैः साधुभिः परिगृहीते, "अव्वोगडेसु अपरपरिग्ग-हेसु० अपरपरिग्गहियसु" बृ० ३ उ०। ('उग्गह' शब्दे द्वितीय-भागे ७०८ पृष्ठे चतुर्विधा व्याख्याऽस्य वक्ष्यते)

अपराइ (य) -अपराजित-त्रि०। न० त०। पराजयमप्राप्ते, वाच०। अन्येनाजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०। अपरिभूते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०। द्वासप्ततितमे महाग्रहे, पुं०। " दो अपराजिया '

स्था० २ ठा० ३ उ०। (एतत्सूत्र एवाऽयमुपलभ्यते। चन्द्रप्रज्ञप्तौ सूत्रसंग्रहगाथासु तु न दृश्यते) अपरैरन्यैरभ्युदयविघ्नहेतुभिरजिता अनभिभूता अपराजिताः। उत्त० ३६ अ०। अनुत्तरोपपातिकदेवविशेषेषु, प्रज्ञा० १ पद। तद्विमाने च, जी० ३ प्रति०। स्था०। सप्तमे प्रतिवासुदेवे, ती० १ कल्प०। जम्बूद्वीपस्य चतुर्थे, लवणसमुद्रस्य धातकीखण्डस्य पुष्करार्द्धसमुद्रस्य कालोदस्य समुद्रस्य च द्वारे, जी० ३ प्रति० ॥ (जम्बूद्वीपादिशब्देषु विवृतिरस्य द्रष्टव्या) श्रीऋषभस्वामिनो त्रिषष्ठितमे पुत्रे, कल्प०। स्वनामख्याते चतुर्दशपूर्वधरे आचार्ये च, नन्दिनः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनो भद्रबाहुश्चेति पञ्च श्रुतकेवलिनः। जै० इ०। मेरोरुत्तरे रुचकपर्वतस्य कूटभेदे, न०। स्था० ८ ठा०।

अपराइया–अपराजिता-स्त्री० । महावत्साभिधानविजयक्षेत्रे वर्तमाने पुरीयुग्मे, " दो अपराइआओ " (स्था०) वप्रकावतीविजयक्षेत्रे वर्तमाने पुरीयुगले च। " दो अपराइयाओ " स्था० २ ठा० ३ उ०। अपराजिता राजधानी, वैश्रमणकूटो नाम वक्षस्काराद्रिः। जं० ४ वक्ष०। दशमरात्रौ, जं० ७ वक्ष०। कल्प०। अञ्जनाद्रौ,उत्तरदिक्स्थायां पुष्करिण्याम्, ती०१ कल्प०। द्वी०। अङ्गारस्य महाग्रहस्याग्रमहिष्याम्, स्था०४ठा०२ उ०। एवं सर्वेषां ग्रहादीनां चतुर्थी अग्रमहीषी अपराजिता। जी०३प्रति०। रुचकवासिन्यामष्टम्यां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, जं०५ वक्ष०। आ० म०। स्था०। आ० चू०। अष्टमबलदेववासुदेवयोर्मातरि, आव० १ अ०। अष्टमतीर्थकरस्य निष्क्रमणशिविकायाम्, स० ७२ सम०। अहिच्छत्रास्थे महौषधिभेदे, ती० ७ कल्प०।

अपरामुट्ठविधेयंस–अपरामृष्टविधेयांश–न० । स्वनामख्याते अनुमानदोषे, अपरामृष्टविधेयांशं यथा। अनित्यशब्दः कृतकत्वादिति। अत्र हि शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं, प्राधान्यात् पृथग्निर्देश्यम्,न तु समासे गुणीभावकालुष्यकलङ्कितमिति। पृथङ्निर्देशेऽपि पूर्वमनुवाद्यशब्दस्य निर्देशः शस्यतरः, समानाधिकरणतायां तदनुविधेयस्यानित्यत्वस्याऽलब्धास्पदस्य तस्य विधातुमशक्यत्वात्। रत्ना० ८ परि०। ति०।

अपरिआइत्तए–अपर्यादाय–अव्य०। अगृहीत्वेत्यर्थे, भ० २५ श० ७ उ० ।

अपरिआविय–अपरितापित–त्रि०। स्वतः परतो वाऽनुत्पन्नकायमनःपरितापे, आव०।

अपरिकम्म–अपरिकर्मन्–त्रि० । साधुनिमित्तमालेपनादिपरिकर्मवर्जिते, पं० व० ४ द्वा०। नि० चू०।

अपरिक्कम--अपराक्रम--त्रि०। न० त०। पराक्रमरहिते, " तए णं तुमं मेहा जुन्ने (इत्यादि) अत्थामे अबले अपरिक्कमे " अपराक्रमो निष्पादितस्वफलाभिमानविशेषरहितत्वात्, अचङ्क्रमणतो वा। ज्ञा० १ अ०।

अपरिक्खदिट्ठ--अपरीक्ष्यदृष्ट--त्रि० । अविमृश्योक्ते, "अपरिक्खदिट्ठं ण हु एव सिद्धी" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

अपारिक्खिय-अपरीक्षित--त्रि०। अकृतपरीक्षे उपस्थापनायोग्ये, ध० ३ अधि०। "अपारिक्खिओ माघवए निसेवमाणे होति अपरिच्छं" ध० ३ अधि०। अपारिक्खिओ पुव्वद्धं अपरिक्खिउं " अनालोच्य आयो लाभः प्राप्तिरित्यर्थः। व्ययो लब्धस्य प्रणाशः। ते च आयव्यये अनालोचितं परिसेवमाणस्स अपरिक्खअपरिसेवणा भवतीत्यर्थः। अपरिच्छ त्ति गतं। नि० चू० १ उ०।

अपरीच्छ्य--अव्य०। अनालोच्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ०।

अपरिखेदितत्त--अपरिखेदितत्व--न०। अनायाससम्भवात्मके चतुस्त्रिंशे बुद्धवचनातिशये, औ०।

अपरिग्गह-अपरिग्रह--पुं०। न विद्यते धर्मोपकरणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो यस्य स तथा। प्रत्याख्यातपरिग्रहे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। "अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। आचा०। न विद्यते परि समन्तात् सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासावपरिग्रहः। सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। धनादिरहिते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा०।

अपरिग्गहसंवुड–अपरिग्रहसंवृत--त्रि०। क० स०। धनादिरहिते इन्द्रियसंवरेण च संवृते, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा०।

अपरिग्गहा-अपरिग्रहा-स्त्री०। न विद्यते परिग्रहः कस्यापि यस्याः साऽपरिग्रहा। बृ० ६ उ०। साधारणस्त्रियाम्, "अपरिग्गहा णियाए, सेवगपुरिसो उ कोइ आलत्तो। " व्य० ४ उ०।

अपरिग्गहिया-अपरिगृहीता-स्त्री०। वेश्यायामन्यसत्कायां गृहीतभाटिकुलाङ्गनायाम्, अनाथायाम्, श्रा०। ध० र०। उत्त०। आव०। विधवायाम्, ध० २ अधि०। देवपुत्रिकायां, घटकास्यां च। " अपरिग्गहिया णाम जो मातादीहिं ण परिग्गहिया, अविव कुलटा य सा। अन्ने पुण भणंति-देवपुत्तिया घरदासी वा-एवमादि,सो पुण भाडीए वा अभाडीए गच्छति,जो भाडीए गच्छति, तस्स जदि अण्णेणं पढमं भाडी दिण्णो सा ण घट्टति परनियतस्स गंतुं , जा पुण अभाडीए गच्छति , सा जइ अन्नेणं भणिओ-अज्ज अहं तुमए समं सुविस्सामि ; ताए य पुच्छिसं तस्स अ व त्ति अंतराइयं काउं " आ० चू० ५ उ०।

अपरिग्गहियागमण–अपरिगृहीतागमन–न० । अपरिगृहीतायां गमनमपरिगृहीतागमनम्। अपरिगृहीतया सह मैथुनकरणस्वरूपे अस्वदारसन्तोषाख्यचतुर्थाणुव्रतातिचारभेदे, अतिचारताऽस्य अतिक्रमादिभिः। उपा० १ अ०। परदारत्वेन रूढत्वात्। ध० र०। आव०।

अपरिचत्तकामभोग–अपरित्यक्तकामभोग–पुं०। न परित्यक्ताः कामभोगा येन। गृहीतकामभोगे, कामौ च शब्दरूपे, भोगाश्च गन्धरसस्पर्शाः, कामभोगाः। अथवा–काम्यन्त इति कामाः, मनोज्ञा इत्यर्थः। ते च ते भुज्यन्त इति भोगाश्च शब्दादय इति कामभोगाः। न परित्यक्ताः कामभोगा येन स तथा। स्था० २ ठा० ४ उ०।

अपरिच्छ — अपरीक्ष–त्रि०। युक्तपरीक्षाविकले, व्य० १० उ०।

अपरिच्छण्ण–अपरिच्छन्न–त्रि०। परिच्छदरहिते, व्य० ३ उ०। परिवाररहिते , व्य० १ उ० ।

अपरिच्छय — अपरीक्षक–त्रि०। उत्सर्गापवादयोरायव्ययावनालोच्य प्रतिसेवमाने, जीत०।

अपरिणय-अपरिणत-त्रि० । न परिणतं रूपान्तरमापन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा दुग्धं दुग्धभाव एवावस्थितं दधिभावमनापन्नमपरिणतम् । पिं० । देयं द्रव्यं मिश्रमचित्तत्वेन परिणमनादपरिणतम् । ध० ३ अधि० । अप्रासुकीभूते देयद्रव्ये, तद्दाने आपतति सप्तमे एषणादोषे च, न० । ध० ३ अधि० । प्रव० । अपरिणतमिति यद्देयं न सम्यगचित्तीभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग्भावोपेतम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं भावेनम, उभयोः पुरुषयोराहारं वर्तते, तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च नास्ति, तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्याद, अपरिणतदोष-आगमः ।

तत्रापरिणतद्वारमाह-

अपरिणयं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमिक्केक्कं ।
दव्वम्मि होइ छक्कं, भावम्मि य होइ सज्झलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं, तद्यथा—द्रव्ये द्रव्यविषयं, भावे भावविषयं, द्रव्यरूपमपरिणतं, भावरूपमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसंबन्धाद् द्विधा । तद्यथा-द्रव्यापरिणतं, दातृसत्कं च । एवं भावापरिणतमपि ।

तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवत्तम्मि अविगए, अपरिणयं गए जीव दिट्ठंतो ।
दुद्धदहीइ अभरं, अपरिणयं परिणयं जहं ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अभ्रष्टे पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी । यथा हि-दुग्धत्वात्परिभ्रष्टं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते, दुग्धभावे चाऽस्थिते अपरिणतम्, एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वापरिभ्रष्टमपरिणतमुच्यते । जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति । तत्र यदा दातुः सत्तायां वर्त्तते तदा दातृसत्कम्, यदा तु गृहीतुः सत्तायां तदा गृहीतृसत्कमिति ॥

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह—

दुगमाईसामन्ने, जइ परिणमइ उ तत्थ एगस्स ।
देमि त्ति न सेसाणं, अपरिणयं भावओ एयं ।

एवं द्विकादिसामान्ये भ्रात्रादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यदैकस्य कस्यचिद् ददामीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामतद् भावतोऽपरिणतम्, न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रति विशेषः ? । उच्यते-साधारणानिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति ।

संप्रति गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह-

एगेण वा वि तेसिं, मणम्मि परिणामियं न इयरेण ।
तं पि हु होइ अगेज्झं, सज्झलगा सामि-साहू वा ॥

एकेनापि केनचित् भ्रातेनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणमितं, न इतरेण द्वितीयेन, तदपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधूनामग्राह्यम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च । संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह—(सज्झलगेत्यादि) तत्र दातृविषयं भावापरिणतं भ्रातृविषयं स्वामिविषयं च । गृहीतृविषयं भावापरिणतं साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारम् । पिं० । एतच्च साधूनामकल्प्यम्, शङ्कितत्वात्, कलहादिदोषसंभवाच्च । ध० ३ प्रति० । ग० । " अपरिणए दव्वे मासलहुं भाउलहुं अह सट्ठाणपच्छित्तं " पं० चू० (अपरिणतग्रहणनिषेधः ' पाणग ' शब्दे वक्ष्यते)

अपरिणतफलौषधिग्रहणम्—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविसमाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा अग्घाय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमाघाएज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, सालुयं वा विरालियं वा सासवणालियं वा अन्नतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

(से भिक्खू वेत्यादि) (आगंतारेसु वे त्ति) पत्तनाद् बहिर्गृहेषु तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति । तथाऽऽरामगृहेषु वा पर्यावसथेष्विति, भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्नपानगन्धान् सुरभीनाघ्राय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्च्छितोऽध्युपपन्नः सन् अहो ! गन्धः, अहो ! गन्ध इत्येवमादरवान्न गन्धं जिघ्रेदिति । पुनरप्याहारमधिकृत्याह-'से भिक्खू वेत्यादि' सुगमम् । सालुकमिति कन्दको जलजः । विरालियमिति कन्द एव स्थलजः । (सासवनालियं ति) सर्षपकन्दस्य इति ।

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा मिरियं वा मिरियचुण्णं वा सिंगवेरं वा सिंगवेरचुण्णं वा अन्नतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पलंबगजातं जाणेज्जा । तं जहा-अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालपलंबं वा झिज्झिरिपलंबं वा सुरभिपलंबं वा सल्लइपलंबं वा अन्नतरं वा तहप्पगारं पलंबजातं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं अणेसणिज्जं जाव लाभे संते नो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पवालजातं जाणेज्जा । तं जहा-आसोत्थपवालं वा णग्गोहपवालं वा पिलक्खुपवालं वा णीयूरपवालं वा सल्लइपवालं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण सरडुयजायं जाणेज्जा । तं जहा-अंबसरडुयं वा कविट्ठसरडुयं वा दालिमसरडुयं वा बिल्लसरडुयं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं

असत्थपरिणयं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण मंथुजायं जाणेज्जा । तं जहा-उंबरमंथुं वा णग्गोहमंथुं वा पिलक्खुमंथुं वा आसोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

" से भिक्खू वेत्यादि " स्पष्टम्, णवरं (मंथु त्ति) चूर्णम् । (दुरुक्कं ति) ईषत्पिष्टम् ।(साणुबीयं ति) अविध्वस्तयोनिबीजमिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आमडागं वा पूतिपिण्णागं वा महुं वा मज्जं वा सप्पिं वा खोलं वा पुराणं एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया एत्थ पाणा संवुड्ढा एत्थ पाणा अवुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणता एत्थ पाणा अविद्धत्था णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा-(आमडागं वे त्ति) आमपत्रं अरणिकतन्दुलीयकादि । तच्चार्द्धपक्वमपक्वं वा, (पूतिपिण्णागं ति) कुथितखलम् । मधुमद्ये प्रतीते, सर्पिर्घृतम् , खोलं मद्याधःकर्दमः, एतानि पुराणानि न ग्राह्याणि । यत एतेषु प्राणिनो अनुप्रसूता जाताः, संवृद्धाः, अव्युत्क्रान्ताः, अपरिणताः , अविध्वस्ता नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमेकार्थिकान्येवैतानि, किञ्चिद्भेदाद्वा भेदः ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्छुमेरगं वा अंककरेलुयं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा पूतिआलुगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (उच्छुमेरगं वे त्ति) अपनीतत्वगिक्षुगण्डिका (अंककरेलुअं वे त्ति) एवमादीन्वनस्पतिविशेषान् जलजान्। अन्यद्वा तथाप्रकारमाममशस्त्रोपहतं नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा, उप्पलं वा उप्पलणालं वा भिसं वा भिसमणालं वा पोक्खलं वा पोक्खलविभागं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत् पुनरेवं जानीयात्तद्यथा-उत्पलं नीलोत्पलादि, नालं तस्यैवाधारः । भिसं पद्मकन्दमूलं, भिसमणालं पद्मकन्दोपरिवर्तिनी लता , पोक्खलं पद्मकेसरं, पोक्खलविभागं पद्मकन्दः । अन्यद्वा तथाप्रकारमाममशस्त्रोपहतं नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अग्गबीयाणि वा मूलबीयाणि वा खंधबीयाणि वा पोरबीयाणि वा अग्गजायाणि वा मूलजायाणि वा खंधजायाणि वा पोरजायाणि वा णण्णत्थ तक्कलिमत्थएण वा तक्कलिसीसेण वा णालिएरमत्थएण वा खज्जूरमत्थएण वा तालमत्थएण वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा-अग्रबीजानि जपाकुसुमादीनि, मूलबीजानि जात्यादीनि, स्कन्धबीजानि शल्लक्यादीनि, पर्वबीजानि इक्ष्वादीनि । तथा अग्रजातानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वजातानीति । (णण्णत्थ त्ति) नान्यस्मादग्रादेरानीयान्यत्र प्ररोहितानि, किन्तु तत्रैवाग्रादौ जातानि, तथा (तक्कलिमत्थएण वा) तक्कली णमिति वाक्यालङ्कारे । तन्मस्तकं तन्मध्यवर्ती गर्भः । तथा कन्दलीशीर्षकन्दलीस्तबकः । एवं नालिकेरादेरपि द्रष्टव्यमिति । अथवा कन्दल्यादिमस्तकेन सदृशमन्यद्यच्छिन्नवाऽनन्तरमेव ध्वंसमुपयाति , तत् तथाप्रकारमन्यदाममशस्त्रपरिणतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्छुं वा काणं अंगारियं सम्मिस्सं विगदूमितं वेत्तगं वा कंदलीऊसुयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-इक्षुं वा (काणगं ति) व्याधिविशेषात्सच्छिद्रं, तथा-अङ्गारकितं विवर्णीभूतं, तथा-सम्मिश्रं स्फुटितत्वक् (विगदूमियं ति) वृकैः शृगालैर्वा ईषद्भक्षितं, न चैतावता रन्ध्राद्युपद्रवेण तत्प्रासुकं भवतीति सूत्रोपन्यासः। तथा वेत्राग्रं (कन्दलीऊसुयगं व त्ति) कन्दलीमध्यं तथाऽन्यदप्येवंप्रकारमाममशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, लसुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकंदं वा लसुणचोयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

लशुनसूत्रं सुगमम् । णवरं (चोयगं ति) कोशकाकारा लशुनस्य बाह्यत्वक् । सा च यावत्साऽऽर्द्रा तावत्सचित्तेति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अत्थिअं वा कुंभिपक्कं तिंदुगं वा वेलुयं वा पलगं वा कासवणालियं वा अण्णयरं वा आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलिं वा चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पडगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (अत्थिअं ति) वृक्षविशेषफलम् । (तेंदुअं ति) टेम्बरुयम्,(बिलुअं त्ति) बिल्वं,(कासवणालियं) श्रीपर्णीफलं, कुम्भीपक्वशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । एतदुक्तं भवति-यदस्थिकफलादि गर्तादावप्राप्तपाककालमेव बलात्पाकमानीयते तदाममपरिणतं न प्रतिगृह्णीयादिति (से इत्यादि) कणमिति शाल्यादेःकणिकास्तत्र कदाचिन्नाभिः संभवेत् । कणिककुण्डं कणिकाभिर्मिश्राः कुक्कुसाः, (कणपूयलियं ति) कणिकाभिः पूपलिका, अत्रापि मन्दपक्वादौ नाभिः संजाघ्यते । शेषं सुगमम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । स्वभाववर्णे, नि० चू० १७ उ० । रसरुधिरादिधातुत्वेन परिणाममगते, पञ्चा० ३ विव० ।

अपरिणामग-अपरिणामक-पुं० । न विद्यते परिणामो यथु-कार्थपरिणमनं यस्य स तथा । व्य० १ उ०। उत्सर्गैकरुचौ पुरुषे, नं० । जी० १ प्रति० ।

अपरिणामकमाह—

जो दव्वखित्तकयकाल-भावओ जं जहा जिणक्खायं ।
तं तह असद्दहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो द्रव्यक्षेत्रकालभावकृतं यद् न श्रद्धधाति तं तथा अश्रद्दधतं जानीहि अपरिणामकं साधुम् । बृ० १ उ० । पं० व० । (' परिणाम ' शब्दव्याख्यानावसरे अतिपरिणामकस्यापि व्याख्याऽस्यधायि, तत्रैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च द्रष्टव्यः)

अपरिणिव्वाण-अपरिनिर्वाण-न० । परि समन्तात् निर्वाणं सुखं परिनिर्वाणं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणम । समन्तात् शरीर-मनःपीडाकरे, " सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं " आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अपरिणत्त-अपरिज्ञप्त-त्रि० । अज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिणाय-अपरिज्ञात-त्रि० । ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽनवगते, प्रत्याख्यानपरिज्ञया चाप्रत्याख्याते, स्था०५ ठा०२उ० । आचा०।

अपरितंत-अपरितान्त-त्रि० । अपरितान्ते परिश्रममगच्छति, नं० । प्रश्न० । पं० भा० । 'अपरितन्तो सुत्तत्थ-तदुभएसु' पं० चू० ।

अपरितंतजोगि (ण्)-अपरितान्तयोगिन्-त्रि० । अपरितान्तोऽविश्रान्तो योगः समाधिर्यस्य सोऽपरितान्तयोगः । स्वार्थिकेऽन्तत्वाच्चापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । अविश्रान्तसमाधौ, अणु० ३ वर्ग । अपरितान्ता अश्रान्ता योगा मनःप्रभृतयः सत्वनुष्ठानेषु यस्य स तथा ; तत अपरिश्रान्तसंयमे प्रयतैः, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अपरितावणया-अपरितापनता-स्त्री० । शरीरपरितापानुत्पादने, भ० ८ श० ८ उ० । परितापानुत्पादने, ध० ३अधि० । समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारे, पा० ।

अपरिताविय-अपरितापित-त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजात-कायमनःपरितापे, जी० ३ प्रति० ।

अपरित्त-अपरीत-पुं० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३ ठा० २ उ० । अनन्तसंसारे च जीवे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-कायअपरित्ते य, संसारअपरित्ते य ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः ; संसारापरीतः सम्यक्त्वादिनाऽकृतपरिमितसंसारः । प्रज्ञा० १८ पद । कायापरीतः साधारणः, संसारापरीतः कृष्णपाक्षिकः । जी० ९ प्रति० ।

तत्र—

संसारअपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणादिए अपज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए ॥

संसारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनापि संसारव्यवच्छेदं करिष्यति; यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्यवसितः । प्रज्ञा० १८ पद । अनादिकोऽपर्यवसितो येन जातुचिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिको वा सपर्यवसितो भवविशेषः । जी० २ प्रति० । (कायापरीतादिव्याख्यानं ' अंतर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७७ पृष्ठे द्रष्टव्यम)

अपरिजूय-अपरिजूत-त्रि० । अपरिभवनीये, स्था० ७ ठा० ।

अपरिजोग-अपरिजोग-पुं० । परिजोगाभावे, स्था० ५ ठा० २ उ० । नि० चू० ।

अपरिमाण-अपरिमाण-त्रि० । न विद्यते परिमाणं यस्य स तथा । क्षेत्रतः कालतो वा इयत्तारहिते, " अपरिमाणं वि आणाइ, इहमेगेसिमाहियं " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० ।

अपरिमिय-अपरिमित-त्रि० । अपरिमाणे , न परिमितोऽपरिमितः । अनु० । परिमाणरहिते, " अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणं " अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा बृहदभिलाषा अविरता लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा मतिः सएव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमानं यत्तत्तथा । प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० । आव० । "अपरिमियनाणदंसणधरेहिं" (तीर्थकृद्भिः) प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । बृ० । दर्श० । अनन्ते, औ० । बृहति, "अपरिमियं च बलाणं, कज्जं गज्जंति नायव्वं" दश० २ अ० ।

अपरिमियपरिग्गह-अपरिमितपरिग्रह-पुं० । अपरिमितश्चासौ परिग्रहणं परिग्रहः । परिमाणरहितपरिग्रहे, आव०६अ० ।

अपरिमियबल-अपरिमितबल-त्रि० । अपरिमितं बलं यस्य सोऽपरिमितबलः । निर्विशेषवीर्यान्तरायक्षयादनन्तबलशालिनि, " तत्तो बला बलभद्दा, अपरिमियबला जिणवरिंदा " विशे० । सूत्र० । " अपरिमियबलवीरियजुत्ते " अपरिमितानि बलादीनि, तैर्युक्तो यः स तथा । उपा० ९ अ० ।

अपरिमियमणंततण्हा-अपरिमितानन्ततृष्णा-स्त्री० । अपरिमाणद्रव्यविषया अनन्ता वाऽक्षया या तृष्णाऽविद्यमानद्रव्याऽऽयेच्छा । अपरिमितवाञ्छायाम, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिमियसत्तजुत्त-अपरिमितसत्त्वयुक्त-त्रि० । अपरिमितमियत्तारहितं यत्सत्त्वं धृतिबलं तेन युक्तः । अपरिमितधैर्ये, बृ० ३ उ० ।

अपरियत्तमाणा-अपरावर्तमाना-स्त्री० । न परावर्तमाना अपरावर्तमाना, पं० सं० ३ द्वा० । परावर्तमानप्रकृतिभिन्नासु कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० । (मूलप्रकृतीनां बन्धादिप्रस्तावे ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २९१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्त एताः)

अपरियाइत्ता-अपर्यादाय-अव्य० । परितः समन्तादगृहीत्वेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० । सामस्त्येनागृहीते, स्था० १ ठा० १उ० ।

अपरियाणित्ता-अपरिज्ञाय-अव्य० । ज्ञपरिज्ञयाऽज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया चाप्रत्याख्यायेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अपरियार-अपरिचार-त्रि० । न० ब० । प्रविचारणमैथुनोपसेवारहिते, अप्रविचारे, प्रज्ञा० ३४ पद ।

अपरिवडिय-अप्रतिपतित-त्रि० । स्थिरे, पञ्चा० ७ विव० ।

अपरिसा (स्सा) इ (वि) (ण्)-अपरिस्राविन्-पुं० । परिस्रवितुं शीलमस्य परिस्रावी । न परिस्रावी अपरिस्रावी । द्रव्यतः स्रावरहिते तुम्बकादौ, भावतः श्रुतार्थश्रवणाकारकेऽनुयोगदानयोग्ये, बृ० ।

एतत्स्वरूपं सप्रतिपक्षं निक्षेपदृष्टान्तप्रदर्शनपूर्वकमुच्यते-

अपरिस्राविद्वारमाह—

परिसाइ अपरिसाई, दव्वे भावे य लोग-उत्तरिए ।
एक्केको वि य दुविहो, अमच्च-चरुईएँ दिट्ठंतो ॥

परिस्रवितुं शीलमस्येति परिस्रावी; तद्विपरीतोऽपरिस्रावी। उभावपि द्विविधौ-द्रव्ये, भावे च । तत्र द्रव्यतः परिस्रावी घटादिः, अपरिस्रावी तुम्बकादिः । भावतः परिस्रावी । एकैकोऽपि द्विविधः, तद्यथा-(लोग त्ति) लौकिकः। (उत्तरिए त्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् लोकोत्तरिकः । तत्र लौकिके भावतः परिस्राविणि अमात्यदृष्टान्तः ।

स चायम्—

"एगो राया, तस्स कन्ना गद्दभस्स जारिसा, सो निच्चं कोलाए अमुक्कियाए अत्थइ। सो अन्नया अमच्चेणं एगंते पुच्छिओ-किं तुब्भे भट्टारयपादा कोलाए आवडियाए अच्छह, न कस्सइ सीमं कन्ना य दरिसेह ?। रन्ना सब्भावो कहिओ; भणियं च-मा रहस्समन्नयं काहिसि त्ति । तेण अगंभीरयाए तं रहस्सं अप्पहियासमाणेण अडविं गंतुं रुक्खकोडरे मुहं क्षोढूण भणियं-गद्दभकन्नो राया । राया तं रुक्खं अन्नेण केणइ छेत्तुं वादित्तं कयं, जवियव्वयावसेण य तं रन्नो पुरओ पढमं वाइयंतवज्जं तं भणइ-गद्दभकन्नो राया । रन्ना अमच्चो पुच्छिओ-तुमे परं एयं रहस्सं नायं, कस्स ते कहियं ?। अमच्चेण जहावत्तं सिट्ठं। एस लोइओ परिस्सावी। लोउत्तरिओ जो अप्पहियासमाणो पुच्छिओ वा अपुच्छिओ वा अपरिणयाणं अववायपयाणि कहेइ "।

ईदृशस्य परिस्राविणः सूत्रं यो ददाति तस्य चत्वारो लघवः। अर्थं ददाति तस्य चत्वारो गुरवः। यत एवं ततो अपरिस्राविणो दातव्यम्। सोऽपि द्विधा-लौकिको, लोकोत्तरिकश्च। तत्र लौकिके अपरिस्राविणि चतुर्थ्याः दृष्टान्तः ।

स चायम्—

"राया सिढी अमच्चो आरक्खिओ मूलदेवो य एकाए पुरोहियजज्ञाए चउरुणीए अइवरूवंसिणीए अज्झोववन्ना। ताए सव्वेसिं संकेअओ दिन्नो, ते आगया दुवारे ठिया । ताए भन्नंति-जइ महिलारहस्सं जाणेह तो पविसह। ते भणंति-ण जाणामो, मूलदेवेण भणियं-अहं जाणामि। ताए भणियं-पविसह त्ति, पविट्ठो पुच्छिओ-किं महिलारहस्सं? तेण भणियं-मारिज्जंतेहिं वि अन्नस्स न कहेयव्वं। "त्वं विदग्धः कामुकः" इति तुट्ठाए सव्वरत्तिं रमिओ। पच्छाए रन्ना पुच्छिओ मूलदेवो-किं महिलारहस्सं?। मूलदेवो भणइ-अहं एयं लक्खावं पि न जाणामि । रन्ना अवलवइ त्ति वज्झो आणत्तो, तह वि न कहेइ, ताहे धेज्जाइणीए आगंतुं रन्नो पुरतो कहियं-जहा एयं चेव महिलारहस्सं, जं सरीरच्चाए वि न कस्सइ मीसइ त्ति। एस लोइओ अपरिस्सावी। लोउत्तरिओ पुण जो छेअसुअस्स रहस्सियाणि अपवायपयाणि सुणित्ता उट्ठिओ, तओ जइ कोइ अपरिणओ पुच्छइ-किं एयं कहिज्जइ ?। भणइ-सरणकरणं साहुणं वन्निज्जइ "। ईदृशस्यापरिस्राविणो यदि सूत्रं न ददाति तदा चतुर्लघु। अर्थं न ददाति तदा चतुर्गुरु। बृ० १ उ०। स्था०। परिस्रवति आस्रवति कर्म बध्नातीत्येवं शीलः परिस्रावी, तन्निषेधादपरिस्रावी । अबन्धके निरुद्धयोगे, अयं च पञ्चमः स्नातकभेदः। उत्तराध्ययनेषु त्वर्हन् जिनः केवलीत्ययं पञ्चमो भेद उक्तः, अपरिस्रावीति तु नाधीतम् । भ० २५ श० ६ उ०। स्था० । न परिस्रवति नालोचकदोषानुपसृत्याऽन्यस्मै प्रतिपादयति य एवं शीलः सोऽपरिस्रावी । आलोचकदोषाऽप्रख्यापके आलोचनां प्रतीच्छके, " जो अन्नयस्स उ दोसे न कहेइ अपरिस्साई सो होइ " ध्या० ८ ठा० । पञ्चा० । ध० । व्य० । यो न परिस्रवति परिकथितात्मगुह्यजलमित्येवं शीलोऽपरिस्रावी । आलोचनामाश्रित्य आचाराङ्गोकतृतीयम-ङ्गतुल्य इत्यर्थः । ग० १ अधि० ।

अपरिसाडि-अपरिशाटि-पुं० । परिशाटिवर्जिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । शय्यासंस्तारके, नि० चू० २ उ० । फलकादिमये, बृ० ३ उ० । अनवयवोज्झने च, " अपरिसाडिं अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयं ति " भ० ७ श० १ उ० ।

अपरिसाडिय-अपरिशाटित-त्रि० । परिशाटरहिते, उत्त० १ अ० ।

अपरिसुद्ध-अपरिशुद्ध-त्रि० । सदोषे, पञ्चा० ३ विव० । अयुक्तियुक्ते, आव० ४ अ० ।

अपरिसेस—अपरिशेष-त्रि० । निःशेषे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अपरिहारिय-अपरिहारिक-पुं० । न परिहारिकोऽपरिहारिकः। पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । मूलोत्तरगुणदोषाणामपरिहारके, मूलोत्तरगुणानां वाऽधारके, अन्यतीर्थिकगृहस्थे वा । नि० चू० २ उ० ।

अपरोवताव-अपरोपताप-पुं० । परपीडापरिहारिणि, पं०सू०२सू०।

अपरोवतावि(न्)-अपरोपतापिन्-पुं० । साधूनां वर्णवादिनि, पं० चू० ।

अपलिअ-अपक्व-त्रि० । अग्निनाऽसंस्कृते, ध० २ अधि० ।

अपलिउंचमाण-अप्रतिकुञ्चयत्-त्रि० । अगोपयति, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अपलिउंचि-अपरिकुञ्चिन्-त्रि० । अमायाविनि, व्य० १ उ० ।

अपलिउंचिय-अप्रति (परि) कुञ्च्य-त्रि० । न परिकुञ्च्यमपरिकुञ्च्यम् । अकौटिल्ये, व्य० १ उ० ।

अप्रति (परि)-कुञ्च्य-अव्य० । मायामकृत्वेत्यर्थे, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अपलिच्छन्न-अपरिच्छन्न-त्रि० । परिच्छदरहिते, व्य०३उ० ।

अपलिमंथ-अपरिमन्थ-पुं० । परिमन्थः स्वाध्यायादिक्षतिस्तदभावोऽपरिमन्थः (उत्त०) स्वाध्यायादौ निरालस्ये, उत्त०२६अ०।

अप (प्प) लीण-अप्रलीन-त्रि० । असंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अपवग्ग-अपवर्ग-पुं० । जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदतया सर्वदुःखप्रहाणलक्षणे मोक्षे, सूत्र० १ श्रु०१३ अ०। संथा०। "तद्भावेऽपवर्ग इति" तस्य रागादिक्षयस्य भावे सकललोकालोकविलोकनशालिनोः केवलज्ञानदर्शनयोर्लब्धौ सत्यां निस्तीर्णभवार्णवस्य सतो जन्तोरपवर्ग उक्तनिरुक्तः जायते इति । किं लक्षणः?, इत्याह- "स आत्यन्तिको दुःखविगम इतीति" सोऽपवर्गः, अत्यन्तं सकलदुःखशक्तिनिर्मूलनेन भवतीति आत्यन्तिको

दुःखविगमः । सर्वशारीरमानसाशर्मविरहः, सर्वजीवलोकासाधारणानन्दानुभवश्चेति । ध० १ अधि० ।

अपवग्गबीय–अपवर्गबीज–न० । मोक्षस्य कारणे, पो० ६ विव० ।

अप (प्प) वत्तण–अप्रवर्तन–न० । अप्रवृत्तौ, पञ्चा० ४ विव० ।

अपवाय–अपवाद–पुं० । द्वितीयपदे, नि० चू० २० उ० ।

अप(प्प)वित्त–अप्रवृत्त–त्रि० । तत्त्वतो व्यावृत्ते, पञ्चा० १४ विव० ।

अप (प्प) वित्ति–अप्रवृत्ति–स्त्री० । गाढं मनोवाक्कायानामनवतारे, ध० १ अधि० ।

अप (प्प) संसणिज्ज–अप्रशंसनीय–त्रि० । साधुजनैः प्रशंसां कर्तुमयोग्ये, तं० ।

अप (प्प) सज्झ–अप्रसह्य–त्रि० । अप्रधृष्ये, व्य० ७ उ० ।

अप (प्प) सज्झपुरिसाणुग–अप्रसह्यपुरुषानुग–त्रि० । अप्रधृष्यपुरुषानुसारिणि,(व्य०) "गणिणी गुणसंपन्ना-ऽपसज्झपुरिसाणुगा । " व्य० ४ उ० ।

अप (प्प) सत्थ–अप्रशस्त–त्रि० । न० त० । अशोभने, "अपसत्थे संजमे वयइ " आव० ५ अ० । विशे० । भ० । व्य० । अश्रेयसे, अनादेये, स्था० ३ ठा० ३ उ० । बलवर्णादिनिमित्तं प्रतिसेविनि, व्य० १० उ० ।

अपसत्थखेत्त–अप्रशस्तक्षेत्र–न० । शरीरादिक्षेत्रे, नि० चू० १० उ० ।

अपसत्थदव्व–अप्रशस्तद्रव्य–न० । अस्थ्यादौ अशोभनद्रव्ये, नि० चू० ११ उ० ।

अपसत्थलेस्सा–अप्रशस्तलेश्या–स्त्री० । कृष्णनीलकापोतासु तिसृषु लेश्यासु, उत्त० ३४ अ० ।

अपसत्थविहगगतिनाम–अप्रशस्तविहगगतिनामन्–न० । विहायोगतिनामभेदे, यदुदयात्पुनरप्रशस्ता गतिर्भवति, यथा खरादीनां तदप्रशस्तविहायोगतिनाम । कर्म० ६ कर्म० ।

अपसारिया–अपसारिका–स्त्री० । पटालिकायाम्, बृ० २ उ० ।

अपसु–अपशु–पुं० । न० ब० । द्विपदचतुष्पदादि (परिग्रह) रहिते, " समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तभोगी " आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ॥

अपस्समाण–अपश्यत्–त्रि० । अनीक्षमाणे, " अपस्समाणे पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे । " स० ३० सम० ।

अपहिट्ठ–अप्रहृष्ट–त्रि० । अहसति, दश० ५ अ० १ उ० ।

अपहु–अप्रभु–पुं० । भृतकादौ, ध० ३ अधि० ।

अपहुव्वंत–अप्रभवत्–त्रि० । अप्रभाववति, व्य० १० उ० ।

अपाइया–अपात्रिका–स्त्री० । पात्ररहितायाम् (निर्ग्रन्थ्याम्),

निर्ग्रन्थ्या पात्ररहितया न भवितव्यम्—

नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए हुंतए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अपात्रायाः पात्ररहिताया भवितुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

गोणे माणे व्व वने, ओभावण खिंसणा कुलघरे य ।
णासइ खउय लज्जा, सुण्हाए होंति दिट्ठंतो ॥

पात्रकमन्तरेण यत्र तत्र समुद्देशनीयम् । ततो लोको ब्रूयाद् यथा-गावो यत्रैव चारिं प्राप्नोति तत्रैवाऽऽह्य चरति । यथा वा श्वानो यत्रैव स्वल्पमप्याहारं लभन्ते तत्रैव निरपेक्षो भुङ्क्ते । एवमेता अपि गोश्वानसदृश्यो यत्रैव प्राप्नुयन्ति तत्रैव भुञ्जते । तथा लोकस्य पुरतः समुद्दिशन्ति-अहो ! अभिर्गोव्रतं श्वानव्रतं वा प्रतिपन्नं,एवं न प्रव्रजना भवति । (खिंसणा कुलघरे य त्ति) तास्तथा भुञ्जाना दृष्ट्वा तदीयकुलगृहे गत्वा लोकः खिंसां कुर्यात् । यथा-युष्मदीया दुहितरः स्नुषा वा याः पूर्वं चन्द्रसूर्यकिरणैरप्यस्पृष्टगात्रास्ताः साम्प्रतं सर्वलोकपुरतो गाव इव चरन्त्यो हिण्डन्ते । एवमुक्ते ते भूयस्ताः स्वगृहमानयन्ति । 'नासई' अस्यार्थः च खादितं भक्तं लोकस्य पुरतः सर्वासु कुर्वतीषु लोको ब्रूयात्-अहो ! बहुभक्षकाः, अस्ति स्त्रीणां च लज्जा विभूषणं, सा चैतासां नास्तीति । अत्र च लज्जायां स्नुषा दृष्टान्तो भवति । स च द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च ।

प्रशस्तं तावदाह–

उच्चासणम्मि सुण्हा, ण णिसीयइ णावि जासए उच्चं ।
णावि पगासे भुंजइ, गिण्हइ वि य ण णाम अप्पाणं ॥

यथा-स्नुषा वधूरुच्चैरासने न निषीदति, नाप्येवं महता शब्देन भाषते, न च प्रकाशे भूभागे भुङ्क्ते, आत्मीयं च नाम न गृह्णाति न प्रकटयति, एवं संयतीभिरपि भवितव्यम् ।

अप्रशस्तस्नुषादृष्टान्तः पुनरयम्–

अट्टत्ता महापयाणिं, सुण्हा ससुरे य इक्कमेक्कस्स ।
दलमाणेण विणासं, लज्जानासेण पावंति ॥

अथवा प्रकारान्तरेण स्नुषादृष्टान्तः क्रियते-महापदानि विकृष्टतराणि पदानि, स्नुषा श्वशुरश्चैकैकस्य, परस्परं प्रयच्छतो, यथा लज्जानाशेन विनाशं प्राप्नुतः, तथा संयत्यपि निर्लज्जा विनश्यतीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-एगस्स भिक्खाइयस्स भज्जाए मयाए पुत्तेण से अट्टिया णिमायत्तिया ओगंगनीयाणि इयरेहिं सुण्हाससुरेहिं हासखिड्डाइयं करेंतेहिं निल्लज्जत्तणओ निस्संणिओ रहिता अतिघायपुव्वगं विगिट्ठतराइं पयाइं देंतेहिं एक्कमेक्कस्स सागारियं पकुण्णायं दो वि विणट्ठाणि, एवं निल्लज्जाए विणासो हुज्जा ।

द्वितीयपदमाह–

पायस्स वि तेणहिए, झामिए वूढे व सावयभए वा ।
बोहिभए खित्ता इव, अपाइया हुज्ज विइयपए ॥

पात्रस्याभावे स्तेनकतया हृते अग्निभावाद् ध्यामिते उदकपूरेण क्षिप्ते पात्रे श्वापदजये बोधिकभये वा शीघ्रं पात्राणि परित्यज्य नष्टा सती क्षिप्तचित्ता वा, आदिशब्दाद्यक्षाविष्टा वा अपात्रिका पात्ररहिता द्वितीयपदे भवेत् । बृ० ५ उ० ।

अपाउड–अप्रावृत–त्रि० । न विद्यते प्रावृतं प्रावरणं यस्येत्यप्रावृतकः । स्था० ५ ठा० १ उ० । औपग्रहिकाद्युपरितनोपकरणरहिते, बृ० ५ उ० ।

अपाणय–अपानक–त्रि० । जलवर्जिते, जं० २ वक्ष० । चतु-

विधाहाररहिते, पञ्चा० १७ विव० ॥ " छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं " अं० २ वक्ष० ॥ पानकसदृशेषु शीतलत्वेन दाहोपशमहेतुषु स्थालीपानकादिषु, गोशालकसम्मतपदार्थेषु च । भ० १५ श० १ उ० । (तत्प्रदर्शनं 'गोसालक' शब्दे करिष्यामि) पानकाहारवर्जिते, जं० ४ वक्ष० । पानीयपानपरिहारवति, स्था० ६ ठा० । एकान्तरोपवासे, ध० ३ अधि० ।

अपाय–अपाद–त्रि० । विशिष्टच्छन्दोरचनायोगात्पादवर्जिते, दश० १ अ० । उत्त० ।

अपायच्छिन्न–अपादच्छिन्न–त्रि० । अच्छिन्नचरणे, नि० चू० १४ उ० ।

अपार–अपार–त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम–अपारङ्गम–त्रि० । पारस्तटः परकूलं तद् गच्छतीति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतोपदेशाभावाद्पारंगमे, "अपारंगमा एए, ण य पारंगमित्तए" । एते कुतीर्थिकादयः अपारङ्गमा इत्यादि । पारस्तटः परकूलं, तद् गच्छन्तीति पारङ्गमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः, एत इति पूर्वोक्ताः । पारगतोपदेशाभावादपारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेशमृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमलम् । अथवा गमनं गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वारोऽलाक्षणिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । असमर्थसमासोऽयम् । तेनायमर्थः–पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भवति । ततश्चानन्तमपि संसारान्तर्वर्तिन एवासते । यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदेशविकलाः स्वरुचिविरचितशास्त्रप्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमलम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपारग–अपारग–त्रि० । अतीरं गामिनि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपारमग्गो–देशी–विश्रामे, दे० ना० १ वर्ग ।

अपाव–अपाप–त्रि० । अपगताशेषकर्मकलङ्के, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अपावभाव–अपापभाव–त्रि० । लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्ते, दश० ६ अ० १ उ० ।

अपावमाण–अप्राप्नुवत्–त्रि० । अनासादयति, ओघ० ।

अपावय–अपापक–पुं० । शुभचिन्तारूपे प्रशस्तमनोविनये, स्था० ७ ठा० । अपापवाक्प्रवर्तनरूपे वाग्विनये, भ० २५ श० ७ उ० ।

अपावा–अपापा–स्त्री० । अपापाऽपरनाम्न्यां पुर्य्याम्, यत्र श्रीमहावीरः स्वामी निर्वृत्तः । स्था० ।

अपास–अपाश–पुं० । अबन्धने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अपासत्थया–अपार्श्वस्थता–स्त्री० । न पार्श्वस्थोऽपार्श्वस्थस्तस्य भावस्तत्ता । पार्श्वस्थतापरिहारे, अनया चागमिष्यद्भद्रताकारणानि कुर्वता आशंसाप्रयोगो न विधेयः । स्था० १० ठा० ।

अपासिऊण–अदृष्ट्वा–अव्य० । अनालोच्येत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अपि (वि)–अपि–अव्य० । सम्भावने, उत्त० ४ उ० । स्था० । वादार्थे, रा० ।

अपिट्ठणया–अपिट्टनता–स्त्री० । यष्ट्यादिताडनपरिहारे, भ० ७ श० ६ उ० ।

अपिय–अप्रिय–त्रि० । अप्रीतिकरे, भ० ६ श० ३३ उ० । अप्रियदर्शने, औ० १ प्रति० । अप्रीतिके, " अचियत्तं ति वा अपियत्तं ति वा एगट्ठं " व्य० ४ उ० ।

अपियणिज्जोदग–अपानीयोदक–पुं० । अपातव्यजले मेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

अपिसुण–अपिशुन–त्रि० । छेदनभेदनयोरकर्तरि, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अपीइकारग–अप्रीतिकारक–त्रि० । अमनोज्ञे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अपीइगरहिय–अप्रीतिकरहित–त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा० ७ विव० ।

अपीइतर–अप्रीतितर–त्रि० । अमनोज्ञतरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अपीड(ल)णया–अपीडनता–स्त्री० । पादाद्यनवगाहने, पा० । ध० ।

अपीडिय–अपीडित–त्रि० । संयमतपःक्रियया आश्रवनिरोधाऽनशनादिरूपतया पीडयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय–अपृष्ट–त्रि० । पृच्छामगते, " अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासम णस्स अंतरा । पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥ " दश० ८ अ० ।

अपुज्ज–अपूज्य–त्रि० । न० त० । अवन्दनीये, आव० ३ अ० ।

अपुट्ठ–अपुष्ट–त्रि० । दुर्बले, बृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अपृष्ट–त्रि० । अजीप्सिते, भ० ३ श० १ उ० ।

अपुट्ठधम्म–अपुष्टधर्मन्–पुं० । अपुष्टोऽपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो धर्मः श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा । अगीतार्थे, "एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे " सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अपुट्ठलाभिय–अपृष्टलाभिक–पुं० । न पृष्टलाभिकोऽपृष्टलाभिकः । हे साधो! किं ते दीयते ?, इत्यादिप्रश्नमन्तरेण भिक्षां लभमाने भिक्षाचरकभेदे, धर्मधर्मिणोरभेदोपचाराद् भिक्षाचर्याभेदे च । औ० ।

अपुट्ठवागरण–अपृष्टव्याकरण–न० । अपृष्टे सति प्रतिपादने, " एयं सव्वं अपुट्ठवागरणं नेयव्वं " भ० ३ श० १ उ० ।

अपुट्ठालंबण–अपुष्टालम्बन–न० । अदृढापवादकारणे, प्रव० ४ द्वा० ।

अपुणकरणसंगय–अपुनःकरणसंगत–त्रि० । पुनरिदं मिथ्याचरणं न करिष्यामीत्येवं निश्चयान्विते, पञ्चा० ११ विव० ।

अपुणच्चव–अपुनश्च्यव–पुं० । न पुनश्च्यवनं च्यवोऽपुनश्च्यवः, देवेभ्यश्च्युत्वा तिर्य्यगादिषूत्पत्त्यभावे, उत्त० ३ अ० ।

अपुणबंधग–अपुनर्बन्धक–पुं० । न पुनरपि बन्धो मोहनीयकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धनं यस्य स अपुनर्बन्धकः । पञ्चा० ३ विव० । भावसारे धर्माधिकारिभेदे, यो० बिं० । यस्तु तां तथैव क्षपयन् ग्रन्थिप्रदेशमागतः पुनर्न तां भङ्क्ष्यति भेत्स्यति च ग्रन्थि

सोऽपुनर्बन्धक उच्यते । " पावं ण तिव्वभावा कुणइ " इति वचनात् । ध० ३ अधि० ।

एतल्लक्षणं यथा—

पावं ण तिव्वभावा, कुणइ ण बहुमन्नई भवं घोरं ।
उचिअट्ठिइं च सेवइ, सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ॥

पापमशुभं कर्म, तत्कारणत्वाद्धिंसाऽऽद्यपि पापम् । तद् नैव तीव्रभावाद् गाढसंक्लिष्टपरिणामात्करोति । अत्यन्तोत्कट-मिथ्यात्वादिक्षयोपशमेन लब्धाऽऽत्मनैर्मल्यविशेषत्वात्तीव्रेति विशेषणादापन्नम्-अतीव्रभावात्करोत्यपि,तथाविधकर्मदोषात् । तथा न बहु मन्यते न बहुमानविषयीकरोति, भवं संसारं, घोरं रौद्रं, घोरत्वावगमात् । तथा-उचितस्थितिमनुरूपप्रतिपत्तिं, च शब्दः समुच्चये । सेवते भजते । कर्मलाघवात्सर्वत्रापि, आस्तामेकत्र,देशकालावस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृतिषु मार्गानुसारिताभिमुखत्वेन मयूरशिशुदृष्टान्तादपुनर्बन्धकः, उक्तनिर्वचनो जीव इत्येवंविधक्रियालिङ्गो भवतीत्यलं प्रसङ्गेन । ध० १ अधि० । द्वा० ।

प्रकारान्तरेण—

भवाभिनन्दिदोषाणां, प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।
वर्द्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्बन्धको मतः ॥१७८॥

भवाभिनन्दिदोषाणां 'क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी' इत्यादिना प्रागेवोक्तानां, प्रतिपक्षगुणैरक्षुद्रतानिर्लोभतादिभिर्युतो, वर्द्धमानगुणप्रायो वर्द्धमानाः शुक्लपक्षक्षपापतिमण्डलमिव प्रतिक्षणमुल्लसन्तो गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयः, प्रायो बाहुल्येन यस्य स तथा । अपुनर्बन्धको धर्माधिकारी मतोऽभिप्रेतः ।

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्, पूर्वसेवा यथोदिता ।
कल्याणाशययोगेन, शेषस्याप्युपचारतः ॥ १७९ ॥

अस्यापुनर्बन्धकस्यैषा प्रागुक्तमुख्यरूपा निरुपचरिता, स्याद्भवेत् । पूर्वसेवा देवादिपूजारूपा, यथोदिता यत्प्रकारा निरूपिता प्राक् । कल्याणाशययोगेन-मनाग् मुक्त्यनुकूलशुभभावसंबन्धेन, शेषस्यापुनर्बन्धकापेक्षया विलक्षणस्य सकृद्बन्धकादेः,उपचारत औपचारिकी पूर्वसेवा स्यात्, अद्यापि तथाविधभववैराग्याभावात्तस्य ॥१७९॥

इह केचिन्मार्गपतितमार्गाभिमुखावपि शेषशब्देनाहुः । तच्च न युज्यते, अपुनर्बन्धकावस्थाविशेषरूपत्वात्तयोरपुनर्बन्धकग्रहणेनैव गतत्वात् । यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणमित्थमुक्तम्-इह मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनं, भुजङ्गमनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेष इति । तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गाभिमुखः, एवं च नैतावपुनर्बन्धकावस्थायाः परपरतरावस्थाभाजौ वक्तुमुचितौ, भगवदाज्ञावगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्त्यावनयोरुक्तत्वात् । यथोक्तं तत्र-इयं च भागवती सदाज्ञा सर्वैवाऽपुनर्बन्धकादिगम्या । अपुनर्बन्धकादयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां कर्मस्थितिं तथाऽपुनर्बन्धकत्वेन क्षपयन्ति ते खल्वपुनर्बन्धकाः । आदिशब्दान्मार्गपतितमार्गाभिमुखादयः परिगृह्यन्ते, इदमतिशालोचनादिगम्यलिङ्गाः । एतद्गम्येयं न संसाराभिनन्दिगम्येति । संसाराऽभिनन्दिनश्चापुनर्बन्धकप्रागवस्थाभाजो जीवा इति ।

ननूपचरितं वस्त्वेव न भवति, तत् कथमुपचारतः शेषस्य पूर्वसेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कृतश्चास्या उपन्यासः, शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्या-दन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥१८०॥

कृतश्च कृतः पुनरिह अस्याः पूर्वसेवायाः उपन्यासः प्रज्ञापनारूपः शेषापेक्षोऽपि अपुनर्बन्धकभावासन्नभावानाश्रित्य, कार्यतो भाविनीं भावरूपां पूर्वसेवामपेक्ष्य नड्वलोदकं पादरोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नैवाऽऽसन्नोऽपि समीपवर्त्यपि, जीवोऽस्यापुनर्बन्धकाभावस्य, किं पुनरयमेवेत्यपिशब्दार्थः । बाहुल्यात्प्रायेणान्यथाऽपुनर्बन्धाचाराविलक्षणो वर्तत इत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शको ज्ञापकः । न हि मृत्पिण्डादिकारणं कार्याद् घटादेर्बाहुल्येन वैलक्षण्यमनुभवद् दृश्यते, किन्तु कथञ्चित्तुल्यरूपतामिति ।

इदमेवाधिकृत्याह—

शुद्ध्यल्लोके यथा रत्नं, जात्यं काञ्चनमेव वा ।
गुणैः संयुज्यते चित्रै-स्तद्वदात्माऽपि दृश्यताम् ॥१८१॥

शुद्ध्यच्छुद्धिमनुभवत् क्षारमृत्पुटपाकादिसंयोगेन, लोके व्यवहारार्हजनमध्ये यथा रत्नं पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिमं, काञ्चनमेव वा चामीकरं वा, गुणैः कान्त्यादिभिः, संयुज्यते संश्लिष्यति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुचितैः, तद्वद् रत्नकाञ्चनवत्, आत्माऽपि जीवः शुद्ध्येत,किं पुना रत्नकाञ्चने ?,इत्यपिशब्दार्थः । दृश्यताम्-ऊहापोहचक्षुषाऽवलोक्यतामिति ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य, केचिदेनां प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन, तथाऽनाभोगसङ्गताम् ॥१८२॥

सा वक्ष्यमाणविशेषणानुरूपा या प्रकृतिः स्वभावस्तया शेषस्य सकृद्बन्धकादेः, केचित् शास्त्रकारा एनां पूर्वसेवां, प्रचक्षते व्याकुर्वते, न पुनः सर्वे । कीदृशीम् ?, इत्याह-'आलोचनाद्यभावेन आलोचनस्योहस्य, आदिशब्दादपोहस्य, निर्णयस्य, मार्गविषयस्याभावेन, तथाऽनाभोगसंगतां, तथा तत्प्रकारः, कथञ्चिदपि भवस्वरूपाऽनिर्णायको योऽनाभोग उपयोगाभावस्तत्संगतां पूर्वकारणभावेनोपचरितत्वमुक्तमत्र चानाभोगद्वारेणेति ॥

एतदेव समर्थयमान आह—

युज्यते चैतदप्येवं, तीव्रे मलविषे न यत् ।
सदावेगो भवासङ्ग-स्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥ १८३ ॥

युज्यते च घटते एवैतदप्यनन्तरोक्तं वस्तु, किं पुनः पराभिप्रोक्तम् ?, इत्यपिशब्दार्थः । एवं यथा केचित्प्रचक्षते । अत्र हेतुः-तीव्रेऽत्यन्तमुत्कटे, मलविषे कर्मबन्धयोग्यतालक्षणे, न नैव, यद्यस्मात्, तदावेगो मलविषावेगः । किंरूपः ?, इत्याह-भवासङ्गः संसारप्रतिबन्धः, तस्य शेषजीवस्य, उच्चैरत्यन्तं, विनिवर्तते, मनागपि हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बन्धकत्वमेव स्यात् इत्यौपचारिक्येव; शेषस्य पूर्वसेवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिमाश्रित्य पूर्वसेवा स्यात्तां, तद्विपर्ययं चाऽऽह—

संक्लेशायोगतो भूयः, कल्याणाङ्गतया च यत् ।
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया, तदन्या तूपचारतः ॥ १८४ ॥

संक्लेशाऽयोगतो भूयः पुनरपि, तीव्रसंक्लेशाऽयोगेन कल्याणाङ्गतया च उत्तरोत्तरभववैराग्यादिकल्याणनिमित्तभावेन वा । यद्यस्माद् वर्तते या सा तस्मात्तात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृतिः स्वभावलक्षणा धर्माऽर्हजीवस्य ज्ञेया; तदन्या तु तस्या अन्या पुनः प्रकृतिरुपचारत उपचरितरूपा तात्त्विकप्रकृतिविलक्षणत्वात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

ततश्चाधिकृतं वस्तु, नान्यथेति स्थितं ह्यदः ॥ १८५ ॥

एनां चैनामेव तात्त्विकीं प्रकृतिं चाश्रित्यापेक्ष्य, शास्त्रेषु योगप्रतिबद्धेषु,व्यवहारः पूर्वसेवादिः,प्रवर्तते प्रज्ञापनीयतामेति। ततश्च तस्मादेव हेतोरधिकृतं पूर्वसेवालक्षणं वस्तु तात्त्विकं, नान्यथा पुनर्बन्धकं व्यतिरिच्य इति स्थितं प्रतिष्ठितं, हि स्फुटम्, अदः एतत् ।

तथा–

शान्तोदात्तत्वमत्रैव, शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।

सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः, उदात्त उच्चतराचारस्थितनिबद्धचित्तः । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च शान्तोदात्तः, तस्य भावस्तत्त्वम् । अत्रैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्यां, जायते शुद्धाऽनुष्ठानसाधनं निरवद्याचरणकारणम्। तथा-सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं बन्धमोक्षादिनिपुणभावपर्यालोचनयुतम् । अत एव तत्त्वसंवेदनानुगं तत्त्वसंवेदनसंज्ञितज्ञानविशेषसमन्वितम्।

ततः—

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह, शुभभावाश्रयो मतः ।

धन्यो भोगसुखस्येव, वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥१८७॥

शान्तोदात्त उक्तरूपः, प्रकृत्या स्वभावेनेह जने, शुभभावाश्रयः परिशुद्धचित्तपरिणामस्थानं, मतो जन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह–धन्यः सौभाग्यादेयतादिना धनार्हो भोगसुखस्येव शब्दरूपरसगन्धस्पर्शसेवालक्षणस्य यथाऽऽश्रयः, वित्ताढ्यो विभवनायकः, रूपवान् शुभशरीरसंस्थानः, युवा तरुणः पुमान् ।

एतदेव व्यतिरेकत आह–

अनीदृशस्य च यथा, न भोगसुखमुत्तमम् ।

अशान्तादेस्तथा शुद्धं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

अनीदृशस्य च धन्यादिविशेषणविकलस्य पुनर्यथा न भोगसुखं शब्दादिविषयानुभवलक्षणम्,उत्तमं प्रकृष्टम्, अशान्तादेरशान्तस्यानुदात्तस्य च । तथा भोगसुखवत्, शुद्धं निर्वाणावन्ध्यबीजकल्पं नानुष्ठानं देवपूजनादि, कदाचन कस्मिन्नपि काले ।

तर्हि किं स्यात्?,इत्याशङ्क्याऽऽह–

मिथ्याविकल्परूपं तु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।

स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पि–निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

मिथ्याविकल्परूपं तु मरुमरीचिकादिषु मुग्धमृगादीनां जलादिप्रतिभासाकारं, पुनर्द्वयोरुक्तविलक्षणयोर्भोगिधार्मिकयोर्द्वयमपि भोगसुखानुष्ठानरूपं, किं पुनरेकैकमित्यपिशब्दार्थः । स्थितं प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं भवति ?–स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितम् । स्वबुद्धिकल्पना स्वच्छन्दमतिविकल्परूपा, सैव शिल्पी वैज्ञानिकस्तेन निर्मितं घटितम् ; न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतस्तद्भोगसुखं धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्भावनाऽर्थमाह–

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, दरिद्रायौवनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरूपस्य स्वयोषिति ॥ १९० ॥

इह भोगाङ्गानि रूपादीनि । यदाह वात्स्यायनः–" रूपवयोवैचक्षण्यसौभाग्यमाधुर्यैश्वर्याणि भोगसाधनम् " इति। तत्रापि रूपवयोवित्ताढ्यत्वानि प्रधानानीति । एतदेव त्रितयमपेक्ष्याऽऽह–' भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं ' भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्तेर्भोगासेवनलक्षणाया वैकल्यमभावः, दरिद्रायौवनस्थयोर्दरिद्रस्य भोगाङ्गविरहोऽयौवनस्थस्य त्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च सुरूपे भोक्कुमारब्धे स्त्रीगते सुन्दरे संस्थाने रागोऽभिष्वङ्गातिरेकः, आशङ्का च स्त्रीगतानुरागसंदेहरूपा तस्मिन्, ततः सुरूपरागश्चाशङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरूपस्य तु पुंसः स्वयोषिति स्वस्त्रियामिति ।

ततश्च–

अभिमानसुखाभावे, तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।

अपायशक्तियोगाच्च, नहीत्थं भोगिनः सुखम् ॥१९१॥

अभिमानसुखाभावे अहं सुखीत्येवं चित्तप्रतिपत्तिरूपलक्षणस्याभिमानसुखस्याभावे सति, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्लिष्टान्तरात्मनोऽपूर्यमाणेच्छत्वेन साबाधचित्तस्यापायशक्तियोगादपायस्य निर्वाहशरीरव्यवच्छेदरूपस्य दरिद्रायौवनस्थयोः कुरूपस्य वा रुचिमत्स्त्रीकृतोच्चाटनादेर्या शक्तिर्योग्यता, तस्या योगात्संबन्धात्, चः समुच्चये। किम्?, इत्याह–नहि नैवेत्थमनाढ्यत्वादिविशिष्टस्य भोगिनः सुखं भोगजं यल्लक्षणैर्मृग्यत इति ।

यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन स्यातां तथाऽऽह–

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे–रिदमत्यन्तमुत्तमम् ।

यथा तथैव शान्तादेः, शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रागुक्ताद्भोगिनः सकाशात् , अन्यस्य तु अन्यप्रकारभाजः, पुनः धन्यादेरुक्तरूपस्य भोगिन इदं भोगसुखमत्यन्तमुत्तमं,शेषभोगसुखातिशायि यथा स्यात्तथैव, शान्तादेः शान्तोदात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुतमित्यपीदमपि ज्ञेयम् ।

एवं सति यत्स्यात्तदाह–

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसंगतः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो गाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन महाचेताः, शुभानुबन्धिपुण्याच्च पुण्यानुबन्धिनः पुण्यात्सकाशात्पुनर्विशिष्टमतिसंगतो मार्गानुसारिप्रौढप्रज्ञानुगतः सन् ।

किमित्याह -

ऊहतेऽयमतः प्रायो, भवबीजादिगोचरम् ।

कान्ताऽऽदिगतगेयाऽऽदि, तथा भोगीव सुन्दरम् ॥१९४॥

ऊहते वितर्कयति, अयमपुनर्बन्धकः, अतो विशिष्टमतिसांगत्यात् प्रायो बाहुल्येन। कथम् ?, इत्याह–भवबीजादिगोचरं भवबीजं भवकारणम्; आदिशब्दाद्भवस्वरूपं भवफलं च गृह्यते। यथा–" एस णं अणाइजीवे अणाइजीवस्स भवे अणाइकम्मसंयोगनिव्वत्तिए दुक्खरूवे दुक्खफले दुक्खाणुबंधि त्ति " ततो भवबीजादिगोचरो यत्र तत्तथा, क्रियाविशेषणमेतत्। अथवा भवबीजादिगोचरो विषय ऊहनीयतया भवबीजादिगोचरस्तम्। अत्र दृष्टान्तः–कान्तादिगतगेयादि। कान्ता वल्लभा, आदिशब्दात्तदन्यगायनादिग्रहः। तद्गतं तत्प्रतिबद्धं यद् गेयं गीतम्, आदिशब्दाद्रूपरसादिशेषेन्द्रियविषयग्रहः। तथा तत्प्रकारो गेयादृदयोग्यो भोगी, स इव सुन्दरं मनोहारीन्द्रियविषयस्थानमागतमिति। यथा विचक्षणो भोगी सुन्दरं कान्तादिगतगेयादि ऊहते तथाऽयं भवबीजादिकमिति भावः।

यथोहते तथैवाऽऽह–

प्रकृतेर्भेदयोगेन, नासमो नाम आत्मनः।

हेत्वभेदादिदं चारु, न्यायमुद्राऽनुसारतः ॥ १९५ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः सत्त्वरजस्तमोरूपायाः, स्वप्रक्रियायाश्च ज्ञानावरणादिलक्षणायाः, भेदयोगेनैकान्तेनैव भेदेनेत्यर्थः। न नैवासमो विसदृशो, नामः परिणामश्चैतन्यश्रद्धानोन्मीलनादिकः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु सर्वजीवानां सर्वदैव सम एव प्राप्नोति। कुतः ?, इत्याह–हेत्वभेदात्। हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात्। नह्यभिन्ने हेतौ कश्चिदपि फलभेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमनेकान्तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैसदृश्यासाङ्कत्यलक्षणं वस्तु चारु संगतं वर्तते। कुतः ?, इत्याह–न्यायमुद्राऽनुसारतः, न्यायस्य मुद्रा कृतप्रयत्नैरपि परैरनुल्लङ्घनीयत्वाद् राजादिमुद्रावत्, तस्या अनुसारतोऽनुवर्तनात्। तथाहि–यदि प्रकृतिभेदे सत्यपि परिणामनानात्वमात्मन इष्यते, तदा मुक्तानामपि प्राप्नोति, संसारिणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदाविशेषात्।

एवं च सर्वस्तद्योगा–दयमात्मा तथा तथा।

भवे भवेदतः सर्व–प्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामनानात्वसाङ्कर्ये सति पुनः किं स्यादित्याह–सर्वः निरवशेषः, तद्योगात्प्रकृतिसंयोगात्कथञ्चिदैक्यापत्तिलक्षणात्, अयम्—अपुनर्बन्धकाद्यवस्थाभाग्, आत्मा जीवः, तथा तथा नरनारकादिपर्यायभाक्त्वेन भवे संसारे, भवेत्स्यात्। अतस्तथा तथा भवनात् सर्वप्राप्तिः संसारापवर्गावस्थालाभरूपाऽस्यात्मनोऽविरोधिनी अविघटमाना संपद्यते। प्रकृतियोगात्तस्य संसारावस्था, विप्रयोगाच्च मुक्तावस्थेति भावः।

सांसिद्धिकमलाद् यद्वा, न हेतोरस्ति सिद्धता।

तद्भिन्नं यदभेदेऽपि, तत्कालादिविभेदतः ॥ १९७ ॥

सांसिद्धिकमलात्कर्मबन्धयोग्यतालक्षणादनादिस्वभावात्, सांसिद्धिकमलं परिहृत्येत्यर्थः। यद्वेति ऊहस्यैव पक्षान्तरसूचकः। 'न' नैव, हेतोरन्यस्येश्वरानुग्रहादेः परिणामचित्रतायां साध्यायां सिद्धता प्रमाणप्रतिष्ठिता। ईश्वरो हि अप्रतिस्खलितवैराग्यवान्। यतः पठ्यते–"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् " ॥ १ ॥

ततः कथमसौ कञ्चनानुगृह्णीयान्निगृह्णीयाद्वा ?। किञ्चासौ योग्यतामपेक्ष्य प्रवर्तते, इतरथा वेति द्वयी गतिः। किं चातः ?। यदि प्रथमः पक्षः, तदा सैव योग्यता हेतुः, किमीश्वरानुग्रहनिग्रहाभ्याम् ?। अथेतरथा, तदा सार्वत्रिकावेवानुग्रहनिग्रहौ स्यातां न तु विभागेन, न वा क्वचित्, निमित्ताभावात्। यतः पठ्यते–

" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ॥

अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः " ॥ १ ॥ इति ॥

सांसिद्धिकमलमेवात्मनां परिणामवैचित्र्येऽत्र हेतुः। तत्सांसिद्धिकमलं, भिन्नं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात्। अभेदेऽपि कथञ्चित्सामान्यरूपतया। एतदपि कुतः ?, इत्याह—तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारलक्षणा हेतवः सर्वजगत्कार्यजनकाः, तेषां विभेदतो वैसदृश्यात्। इदमुक्तं भवति–कालादिभेदात्तत्सांसिद्धिकं मलमात्मना सह भेदाभेदवृत्ति सद्यतो नानावृत्तं रूपं वर्तते, ततस्तद्वशादेव परिणामवैचित्र्यमात्मनामनुपचरितमेवोपपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात्। प्रागुक्तयुक्त्या तस्य निराकृतत्वात्; इति वा चिन्तयत्यसाविति ॥

इदमेव समर्थयति–

विरोधिन्यपि चैवं स्या–त्तथा लोकेऽपि दृश्यते।

स्वरूपेतरहेतुभ्यां, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिन्यपि च विघटमानैव च सर्वार्थप्राप्तिरित्यनुवर्तते, न पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनी; एवं सांसिद्धिकमलादन्यहेत्वनभ्युपगमे सति, स्याद्भवेत्। यथा च विरोधिनी सर्वप्राप्तिः, तथाऽनन्तरमेव दर्शितेति। तथेति हेत्वन्तरसमुच्चये। लोकेऽपि, शास्त्रे तावद्दर्शितैवेत्यपिशब्दार्थः। दृश्यते विलोक्यते। स्वरूपेतरहेतुभ्यां स्वरूपेतरहेतुः परिणामिकारणम्। यथा–मृद् घटस्य, इतरः पुनर्निमित्तहेतुर्यथा–तस्यैव चक्रचीवरादि, ताभ्यां ताभ्यामित्यर्थः। भेदादेर्भेदादभेदाच्च, यथायोगं संबन्धात्स्वरूपहेतुमपेक्ष्याभेदात्, इतरापेक्षया च भेदात्। किमित्याह–फलचित्रता कार्याणां नानारूपता। यदि हि मृन्मात्रक एव घटः स्यात्तदा सर्वघटानां मृन्मयत्वाविशेषादेकाकारतैव स्यात्। तथा बाह्यमात्रनिमित्तत्वे परिणामिकारणविरहेण कूर्मरोमादेरिव न कस्यचित्कार्यस्योत्पत्तिः स्यादिति। स्वरूपेतरहेतू समाश्रित्याभेदवृत्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुत्पद्यमानं चित्ररूपतां प्रतिपद्यते। एवं च सांसिद्धिके मले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्कालादिबाह्यकारणसव्यपेक्षतायां चित्रकर्मबन्धकानां नानापरिणामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरनारकादिपर्यायः, तदभ्यासात् पुनरपुनर्बन्धकत्वादि यावत्सर्वक्लेशप्रहाणिलक्षणा मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्यूहते इति ॥

ततः किमित्याह—

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः।

एतद्वियोगविषयोऽ–प्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तरूपेण ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बाहुल्येन, मार्गानुसारिणो निर्वाणपथानुकूलस्यापुनर्बन्धकत्वेन क्वचिदन्यथाऽपि प्रवृत्तिरस्य स्यादिति प्रायो ग्रहणम्। एतद्वियोगविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिविघटनगोचरः, किं पुनर्भवबीजादिगोचर इत्यपिशब्दार्थः। एष ऊहः, सम्यगूहनीयार्था-

व्यभिचारी, प्रवर्त्तते समुन्मीलति । इदमुक्तं भवति-यथा भवबीजादिगोचरमतिनिपुणमूहते, तथा क्रमेणात्मनः कर्मणा वियोगो घटत एवमप्यूहत इति ।

एवं सति यत्सिद्धं तदाह-

एवंलक्षणयुक्तस्य, प्रारम्भादेव चापरैः ।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भि-र्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥२००॥

एवंलक्षणयुक्तस्य पूर्वोक्तेहगुणसमन्वितस्य, प्रारम्भादेव प्रारम्भमेव, पूर्वसेवालक्षणमाश्रित्य, अपरैस्तीर्थान्तरीयैर्योगो वक्ष्यमाणनिरुक्तः, उक्तोऽस्यापुनर्बन्धकस्य, विद्वद्भिर्विचक्षणैः, गोपेन्द्रेण योगशास्त्रकृता, यथोदितं यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथोदितमिति । यो० विं० ॥

पुनरपि—

शुक्लपक्षेन्दुवत्प्रायो, वर्द्धमानगुणः स्मृतः ।
भवाभिनन्दिदोषाणा-मपुनर्बन्धको व्यये ॥ १ ॥
अस्यैव पूर्वसेवोक्ता, मुख्याऽन्यस्योपचारतः ।
अस्यावस्थान्तरं मार्ग-पतिताभिमुखौ पुनः ॥ २ ॥

(शुक्लेति) शुक्लपक्षेन्दुवत् शुक्लपक्षचन्द्रवत्, प्रायो बाहुल्येन, वर्द्धमानाः प्रतिकलमुल्लसन्तो, गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयो यस्य भवाभिनन्दिदोषाणां प्रागुक्तानां क्षुद्रत्वादीनां व्ययेऽपगमे सत्यपुनर्बन्धकः स्मृतः ॥ १ ॥ (अस्यैवेति) अस्यैवापुनर्बन्धकस्यैवोक्ता गुर्वादिपूजालक्षणा पूर्वसेवा, मुख्या कल्याणाशययोगेन निरुपचरिता, अन्यस्यापुनर्बन्धकातिरिक्तस्य सकृद्बन्धकादेः, पुनरुपचारतः सा, तथाविधभववैराग्याभावात् । मार्गपतितमार्गाभिमुखौ पुनरस्यापुनर्बन्धकस्य, अवस्थान्तरं दशाविशेषरूपः, मार्गो हि चेतसोऽवक्रगमनं भुजङ्गमनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेषः; तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावत्वोपपन्नश्च मार्गाभिमुख इति । नह्येवमेतावपुनर्बन्धकावस्थायाः परतरावस्थाभाजौ, भगवदाज्ञावगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्तावनयोरुक्तत्वात् ।

अपुनर्बन्धकस्यैवानुष्ठानं युक्तम्—

योग्यत्वेऽपि व्यवहितौ, परे त्वेतौ पृथग् जगुः ।
अन्यत्राप्युपचारस्तु, सामीप्ये बहुभेदतः ॥ ३ ॥

[योग्यत्वेऽपीति] परे त्वेतौ मार्गपतितमार्गाभिमुखौ योग्यत्वेऽपि व्यवहितावपुनर्बन्धकापेक्षया दूरस्थाविति, पृथगपुनर्बन्धकाद्भिन्नौ जगुः । अन्यत्रापि सकृद्बन्धकादावपि, उपचारस्तु पूर्वसेवायाः सामीप्येऽपुनर्बन्धकसन्निधानलक्षणे सति, बहुभेदतोऽतिभेदाभावात् ॥ ३ ॥ द्वा० १४ द्वा० । पं० सू० । बीजाधानमपि ह्यपुनर्बन्धकस्य । नचास्यापि पुद्गलपरावर्तः संसारः । (प्र०) न ह्येवं प्रवर्त्तमानो नेष्टसाधक इति भवतोऽप्येतद्यत्नलिङ्गोऽपुनर्बन्धक इति तं प्रत्युपदेशसाफल्यं नानिवृत्ताधिकारायां प्रकृतावेवंभूत इति कापिलाः । न वा पुनर्भवविपाक इति च सौगताः । अपुनर्बन्धकास्त्वेवंभूता इति जैनाः । तच्छ्रोतव्यमेतदादरेण परिभावनीयम् । ल० ॥

अपुणब्भव-अपुनर्भव-त्रि० । न० ब० । पुनर्भवसम्भवरहिते, यतः पुनर्जन्म न भवति, "सिद्धिगइणिलयं सासय-मव्वावाहं अपुणब्भवं पसत्थं सोमं" (ब्रह्मचर्यं), ततः पुनर्भवसम्भवाभावात् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अपुणब्भाव-अपुनर्भाव-त्रि० । अपुनस्तथाजायमाने, "अपुणब्भावे सिया" अपुनर्भावं स्यात् कर्म, पुनस्तथाऽबन्धकत्वेन । पं० सं० १ द्वा० ।

अपुणरागम-अपुनरागम-त्रि० । नित्ये, जन्मादिरहिते च । द्वा० १ द्वा० ।

अपुणरावत्तय-अपुनरावर्तक-पुं० । न० ब० । अविद्यमानपुनर्भवावतारे, सिद्धिगत्याख्येऽर्थे, पुनर्भवबीजकर्माभावात्, तत्प्राप्तानां पुनरजननात् । स० १ सम० । औ० । "अपुनरावत्तयं सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपाविउकामेणं" भ० १ श० १ उ० ॥

अपुणरावित्ति-अपुनरावृत्ति-पुं० । न० । न पुनरावृत्तिः संसारेऽवतारो यस्मात् तत्तथा । सिद्ध्याख्येऽर्थे, ध० २ अधि० । रा० । पुनरावृत्त्यभावे, पं० सू० ।

"ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः, क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः ।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते, जलं नदीनां च नृणां च जीवितम्" १। पं० सू० ५ सू० ।

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः" ॥ १ ॥ ल० ॥

अपुणरुत्त-अपुनरुक्त-त्रि० । न० त० । पुनरुक्तिदोषरहिते, "अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ" । रा० । जं० । आ० म० ।

"अनुवादादरवीप्सा-भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु ।
ईषत्संभ्रमविस्मय-गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम्" ॥ १ ॥ दर्श० ।

अपुण्ण-अपुण्य-त्रि० । न० ब० । अविद्यमानपुण्ये, विपा० १ श्रु० ७ अ० । तीव्रासातोदये वर्तमाने, "सामा णेरइयाणं, पावसमंता अपुण्णाणं ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अनार्ये पापाचारे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अपूर्ण-त्रि० । पूर्णव्यतिरिक्ते, "मइपुंडे अधण्णा अपुण्णा" अपूर्णाः, अपूर्णमनोरथत्वात् । विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अपुण्णकप्प-अपूर्णकल्प-पुं० । असमासकल्पे, व्य० ४ उ० ।

अपुण्णकप्पिय-अपूर्णकल्पिक-पुं० । गीतार्थे असहाये, व्य० १० उ० ।

अपुत्त-अपुत्र-त्रि० । न० ब० । सुतरहिते, "अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः" । ('लोगवाय' शब्देऽस्य खण्डनं वक्ष्यते) । स्वजनबन्धुरहिते, निर्ममे च । आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अपुम-अपुंस्-पुं० । नपुंसके, ओघ० । सू० । "अहमेसिए अपुमं जाणिओ परिसेवामि" नि० चू० १ उ० ।

अपुरक्कार-अपुरस्कार-पुं० । पुरस्करणं पुरस्कारः । गुणवानयमिति गौरवाध्यारोपः, न तथाऽपुरस्कारः । अवज्ञास्पदत्वे, "गरहणयाए अपुरक्कारं जणयइ" उत्त० २९ अ० ।

अपुरक्कारगय-अपुरस्कारगत-त्रि० । अपुरस्कारं गतः प्राप्तोऽपुरस्कारगतः । सर्वत्रावज्ञाऽऽस्पदीभूते, उत्त० २९ अ० ।

अपुरव-अपूर्व-त्रि० । पूर्वमदृष्टश्रुते, 'पूर्वस्य पुरवः' ।८।४।२७० ॥ इति शौरसेन्यां पूर्वशब्दस्य पुरवेत्यादेशः । "अपुरवं नाडकं । अपुरवागदं । पक्षे-अपुव्वं पदं । अपुव्वागदं" । प्रा० ॥

अपुरिस-अपुरुष-पुं० । न पुरुषः । न० त० । नपुंसके, स्था० ६ ठा० ।

अपुरिसक्कारपरक्कम–अपुरुषाकारपराक्रम–त्रि० । न० ब० । पुरुषकारः पराक्रमश्च न विद्येते यस्य सोऽपुरुषकारपराक्रमः । अनिष्पादितप्रयोजनेन निष्पादितप्रयोजनेन वा पौरुषाभिमानेन रहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । अ० ।

अपुरिसवाय–अपुरुषवाद-(च्)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसकस्तद्वादः, वाचा । बृ० ६ उ० । नपुंसकोऽयमित्येवंवार्तायाम, " अपुरिसवायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेइ कप्पस्स " द्वितीयः प्रस्तारः । (व्याख्याऽन्यत्र) । स्था० ६ ठा० ।

अपुरोहिय–अपुरोहित–त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । शान्तिकर्मकारिरहिते, यत्र तथाविधप्रयोजनाभावात् पुरोहितो नास्ति । भ० ३ श० १ उ० ।

अपुव्व–अपूर्व–त्रि० । न० त० । अभिनवे अनन्यसदृशे, प्रव० २२४ द्वा० । प्रति० । अवृत्तपूर्वे , आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, आव० ४ अ० । द्वा० ॥

अपुव्वकरण–अपूर्वकरण–न० । अपूर्वामपूर्वां क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमाः, अन्यश्च स्थितिबन्धः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । अप्राप्तं पूर्वमपूर्वम् , स्थितिघातरसघाताद्यपूर्वार्थनिर्वर्तनं वा । अपूर्वं च तत्करणं च अपूर्वकरणम् । भव्यानां सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धतररूपे परिणामविशेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । बृ० । षो० । ('करण' शब्दे तृतीयभागे २५६ पृष्ठे व्याख्यास्यते चैतत्) अपूर्वमभिनवं प्रथममित्यर्थः । करणं स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः । अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपन्ने जीवे , कर्म० । तथाहि— बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खण्डनमल्पीकरणं स्थितिघात उच्यते । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खण्डनमल्पीकरणं रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान् । अत्र पुनर्विशुद्धेः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति । तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिः । स्थापना— * एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकरचनामाश्रित्याप्रथीयसीमल्पदलिकस्यापवर्तनाद्विरचितवान् । इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनामाश्रित्य पुनः पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशान्नयनं गुणसंक्रमः । तमप्यसाविहापूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां विशुद्धत्वादेव ह्रसीयसीं बध्नातीति (स्थितिबन्धः) । अयं चापूर्वकरणो द्विधा–क्षपकः, उपशमकश्च । क्षपणोपशमनार्हत्वाच्चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमारराजवत् । न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । दर्श० । अष्ट० । आचा० ।

अपुव्वकरणगुणट्ठाणग–अपूर्वकरणगुणस्थानक–न० । अपूर्वकरणस्य गुणस्थानकमपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुणस्थानके, प्रव० २२४ द्वा० । एतच्च गुणस्थानकं प्रपन्नानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि भवन्तीति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्ररूप्यन्ते–इह तावदिदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्नाः, प्रपद्यन्ते, प्रपत्स्यन्ते, च तदपेक्षया जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, प्रतिपत्तॄणां बहुत्वादध्यवसायानां च विचित्रत्वादिति भावनीयम । ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तर्हि तद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्मान्न भवन्ति ? अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वादनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिति । सत्यम । स्यादेवं यदि तत्प्रतिपत्तॄणां सर्वेषां पृथक् पृथग् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहूनामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते । तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं तावन्नेयं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तद्यथा–४००००००० अत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम् , तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् , ततोऽपि द्वितीय–३००००००समयजघन्यात्तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम , तस्माच्च–तृतीय–२०००००समयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् । ततोऽपि तदुत्कृष्ट–१००००० मनन्तगुणविशुद्धमित्येवं तावन्नेयं यावद्द्विचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम : ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्ध्यसङ्ख्यातभागवृद्धिसङ्ख्यातभागवृद्धिसंख्येयगुणवृद्ध्यसंख्येयगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपषट्स्थानकपतितानि । युगपदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते । अत एवोक्तं सूत्रे–" नियट्टि अनियट्टीत्यादि " । कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अपुव्वणाणग्गहण–अपूर्वज्ञानग्रहण–न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम । तच्चाष्टादशं तीर्थंकरनामकर्मबन्धकारणम । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणे. आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु (प्पु) स्सुय–अल्पोत्सुक–त्रि० । अविमनस्के, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अपुहत्त–अपृथक्त्व–त्रि० । अविद्यमानं पृथक्त्वं प्रस्तावात्संयमयोगेभ्यो विमुक्तत्वस्वरूपं यस्यासावपृथक्त्वः । सदा संयमयोगवति, (उत्त०) संयमयोगेभ्योऽभिन्ने, (उत्त०) "अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ " उत्त० २६ अ० ।

अपुहत्ताणुओग–अपृथक्त्वानुयोग–पुं० । अनुयोगभेदे. यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्ररूप्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूया–अपूजा–स्त्री० । पूजाभावे, " पूयाऽपूया हियाऽहिया " स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अपूरेंत–अपूरयत्–त्रि० । अनाचरति. आ० म० द्वि० ।

अपेय–अपेय–त्रि० । मद्यमांसरसादिके (पातुमनर्हे), नि० चू० २ उ० ।

अपेयचक्खु–अपेतचक्षुष्–त्रि० । लोचनरहिते, बृ० १ उ० ।

अपेहय–अपेक्षक–त्रि० । अपेक्षिणि, निर्जरापेक्षिकर्मक्षयापेक्षक इति । आव० ४ अ० ।

अपोग्गल–अपुद्गल–पुं० । न विद्यन्ते पुद्गला येषां तेऽपुद्गलाः सिद्धाः । पुद्गलरहिते, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अपोरिसिय–अपौरुषिक–त्रि० । पुरुषः प्रमाणमस्येति पौरुषिकम् ; तन्निषेधादपौरुषिकम् । पुरुषप्रमाणाभ्यधिकेऽगाधजलादौ, ' अत्थाहमपोरिसियं पविसिज्जा ' ज्ञा० ५ अ० ।

अपोरिसीय–अपौरुषेय–त्रि० । पुरुषः परिमाणं यस्य तत्पौरुषेयं, तन्निषेधादपौरुषेयम् । पुरुषप्रमाणाभ्यधिकेऽगाधे जलादौ " अत्थाहमतारमपोरिसीयं ति " ज्ञा० १४ अ० । पुरुषेणाकृते वचने, अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याश्रयमाणत्वात् । स्था० १० ठा० । ल० । पं० व० । नं० । (वेदानामपौरुषेयत्वविमर्शः 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ५३ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते)

अपोह–अपोह–पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, "होइ अपोहो वाओ" । अपोहस्तावत् किमुच्यते ? , इत्याह–अपोहो भवत्यपायः । योऽयमपोहः स मतिज्ञानतृतीयभेदोऽपाय इत्यर्थः । विशे० । नं० । उक्तियुक्तिभ्यां विरुद्धादर्थाद् हिंसादिकात् प्रत्यपायव्यावर्तने विशेषज्ञाने, (ध०) एष षष्ठो बुद्धिगुणः । ध० १ अधि० । पृथग्भावे, तत्त्वरूपायां प्रतिलेखनायां च तथा चक्षुषा निरूपयति यदि तत्र सत्त्वसम्भवो भवति, तत उद्धारं करोति सत्त्वानामन्यग्रामे सति, स चापोहः प्रतिलेखना भवति । ओघ० । बौद्धाभिमते वादविशेषे, तथाहि–अपोहवादिना बुद्ध्याकारो बाह्यरूपतया गृहीतः शब्दार्थ इतीष्यते । यथोक्तम्–" तद्रूपाऽऽरोपगत्याऽन्य–व्यावृत्त्यधिगतेः पुनः । शब्दार्थोऽर्थः स एवेति, वचनेन विरुध्यते " ॥ १ ॥ इति । सम्म० २ । काण्ड । (विशेषस्तु शब्दार्थनिरूपणावसरे 'सद्दत्थ' शब्देऽपोह विचारो द्रष्टव्यः)

अप्प–अल्प–त्रि० । स्तोके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । आचा० । पिं० । प्रज्ञा० । औ० । प्रश्न० । आव० । स्था० । चं० प्र० । नि० चू० । आ० चू० । अभावे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । उत्त० । अनु० । आ० म० । रा० । अल्पशब्दो भाववाचकः । स्था० ७ ठा० । वृ० ।

अप्प (ण्)–आत्मन्–पुं० । अत सातत्यगमने । अतति सततं गच्छति विशुद्धिसंक्लेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा । उत्त० १ अ० । आ० चू० । अत् मनिन्, प्राकृते–"भस्मात्मनोः पो वा" ८ । २ । ५१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा पः । प्रा० । जीवे, यत्ने, मनसि, धृतौ, बुद्धौ, अर्के, वह्नौ, वायौ, स्वरूपे च । "अप्पणा चेव उदीरेइ" आत्मना स्वयमेव । भ० १ श० ३ उ० । "अप्पणा अप्पणो कम्मक्खयं करित्तए " आत्मनाऽऽत्मनः कर्मक्षयं कर्तुमिति । ज्ञा० ५ अ० । आ० चा० । " अप्पणो भासाए परिणामेणं " स्वभाषापरिणामेनेत्यर्थः । उत्त० २ अ० । " अप्पा नई वेतरणी, अप्पा मे कूडसामली । " उत्त० २० अ० । देहे, आत्मन आधारभूतत्वात् । उत्त० ३ अ० । (अस्मिन्नेव भागे ' अणाह ' शब्दे ३२५ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्)

अप्पउल्लदुप्पउल्लतुच्छभक्खणय–अपक्वदुष्पक्वतुच्छभक्षणक–न० । अपक्वं अग्निना संस्कृतं, दुष्पक्वं चार्द्धस्विन्नं तुच्छं च निःसारमिति द्वन्द्वः । तेषां, धान्यानामिति गम्यम् । भक्षणमदनं तदेव स्वार्थिके कप्रत्यये सति अपक्वदुष्पक्वतुच्छभक्षणकम् । भोगपरिभोगोपभोगवृत्तातिचारे, पञ्चा० १ विव० ॥

अप्पओयण–अप्रयोजन–न० । अप्रयोजने निष्कारणतायाम्, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव० ६ अ० ।

अप्पंड–अल्पाण्ड–त्रि० । अल्पान्यण्डानि कीटकादीनां यत्र तदल्पाण्डम् । अल्पशब्दोऽभावे वर्तते । अण्डकरहिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ॥

अप्पकंप–अप्रकम्प–त्रि० । अविचलितसत्त्वे, " मंदरो इव अप्पकंपे " मेरुरिवानुकूलाद्युपसर्गैरविचलितसत्त्वः । स्था० १० ठा० ।

अप्पकम्म–अल्पकर्मन्–त्रि० । लघुकर्मणि, स्था० ४ ठा० । ३ उ० ।

अप्पकम्मतर–अल्पकर्मतर–त्रि० । स्तोककर्मतरे, अकर्मतरे च । "इंगालभूए मुम्मुरभूए छारियभूए तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव" अङ्गाराद्यवस्थामाश्रित्याल्पशब्दः स्तोकार्थः । क्षारावस्थायां त्वभावार्थः । भ० ५ श० ६ उ० । नैरयिका ये नरकेषु उत्पन्नास्तेषु, (के महाकर्मतराः ?, केऽल्पकर्मतराः ? , इति 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६७० पृष्ठेऽवलोकनीयम्)

अप्पकम्मपच्चायाय–अल्पकर्मप्रत्यायात–त्रि० । अल्पैः स्तोकैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्यागतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातः । एकत्र जनितत्वात्ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायातः स तथा । लघुकर्मतयोत्पन्ने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अप्पकाल–अल्पकाल–त्रि० । अल्पः कालो यस्य तदल्पकालम् । इत्वरकाले, अनु० ।

अप्पकिरिय–अल्पक्रिय–त्रि० । लघुक्रिये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अप्पकिरिया–अल्पक्रिया–स्त्री० । निरवद्यायां वसतौ, पं० व० ३ द्वा० ।

जा पुण जहुत्तदोसे–हिँ वज्जिया कारिया सअट्ठाए ।
परिकम्मविप्पमुक्का, सा वसही अप्पकिरियाओ ॥

या पुनर्यथोक्तदोषैः कालातिक्रान्तादिलक्षणैर्वर्जिता केवलं स्वस्यात्मनोऽर्थाय कारिता परिकर्मणा च विप्रमुक्ता; सर्वस्यापि परिकर्मणः स्वत एवाभि प्रवर्तितत्वात्, सा वसतिरल्पक्रिया वेदितव्या ।

सम्प्रति यतनां दर्शयितुकाम इदमाह–

हिट्ठिल्ला उवरिल्ला–हिँ बाहिया न उ लभंति पाहन्नं ।
पुव्वाणुपुव्वाऽजिणवं, चउसु भय पच्छिमाऽभिनवा ॥

अधस्तन्य उपरितनाभिर्बाध्यन्ते, बाधिताश्च सत्यो नतु नैव, लभन्ते प्राधान्यम् । इयमत्र भावना–नवाऽपि वसतयः क्रमेण स्थाप्यन्ते, तत्राल्पक्रिया निर्दोषेति प्रथमम् । तद्यथा–अल्पक्रिया, कालातिक्रान्ता, उपस्थाना, अभिक्रान्ता, अनभिक्रान्ता, वर्ज्या, महावर्ज्या, सावद्या, महासावद्या च । अत्राधस्तनी अल्पक्रिया, अस्यां यदि

अतिरिक्तं कालं तिष्ठन्ति ततः सा कालातिक्रान्ता, या बाध्यते सा कालातिक्रान्ता भवतीति भावः। कालातिक्रान्तामपि यदि प्रागभिहितस्वरूपां कालमर्यादां द्विगुणां द्विगुणामपरिहृत्योपागच्छन्ति, ततः सा उपस्थानया बाध्यते, उपस्थाना सा भवतीति भावः। एवं यथासंभवमुपयुज्य वक्तव्यम्। (पुव्वाणुन्न त्ति) आसां च नवानां शय्यानां मध्ये कालातिक्रान्ता पूर्वा सा अनुज्ञाता, अल्पक्रियाया अलाभे सा आश्रयणीया इति भावः। तस्या अप्यभावे शेषाणां पूर्वा उपस्थाना सा अनुज्ञाता, एवं या या पूर्वा सा सा अनुज्ञाता तावद्वक्तव्या यावत् सावद्यायाः महासावद्यायाः पूर्वा सा अनुज्ञाता। एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या अलाभे उत्तरस्या उत्तरस्या अनुज्ञा वेदितव्या। अभिनवं (चउसु भय त्ति) चतसृषु वसतिषु, अभिनवेति दोषः संबध्यते। अभिनवं दोषं भज विकल्पय, कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवतीति जानीहीत्यर्थः। अत्रापीयं भावना-अनतिक्रान्तायामपरिभुक्तेति कृत्वा विरक्तनायामप्यभिनवदोषो भवति। वर्ज्यादिषु पुनर्या अपरिभुक्तास्तासु नाभिनवदोषः। एषा भजना पश्चिमा। (अभिनव त्ति) पश्चिमो नाम महासावद्योपाश्रयः, तस्मिन् अभिनवकृते वा चिरकृते वा अपरिभुक्ते वा अभिनवदोषा भवन्ति, एकपक्षनिर्द्धारणात्। एतैर्मूलगुणादिदोषैर्यः परिहर्तुं जानाति, स ग्रहणे कल्पिकः।

कथं पुनर्जानाति परिहर्तुम् ? इति चेद्, आह-

उग्गमउप्पायणए-सणाहिँ सुद्धं गवेसए वसहिं ।

तिविहं तिहिं विसुद्धं, परिहर नवगेण भेदेणं ॥

उद्गमेन, उत्पादनया, एषणया, शुद्धां वसतिं गवेषयति। तत्र त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः। तेषु चोपरितनेषु सप्तसु भङ्गेष्वशुद्धां परिहर्तुं यो जानाति स ग्रहणे कल्पिकः। कथंभूतां वसतिमुद्गमादिशुद्धां गवेषयति ?, इत्यत आह-त्रिविधां सातादिभेदतस्त्रिप्रकाराम्। तथा-त्रिभिर्मनसा वाचा कायेन च, विशुद्धां गवेषयति। तथा-सातादीस्तिस्रोऽपि वसतीरुद्गमाद्यशुद्धा नवकेन भेदेन परिहरति। तद्यथा-मनसा न गृह्णाति, नापि ग्राहयति, नापि गृह्णन्तमनुजानीते। एवं वाचा कायेन च वक्तव्यमिति।

पडियसुयगुणियधारिय, उवउत्तो जो जणो परिहरति ।

आलोयणमायरिए, आयरिउ विसोहिकारो से ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत्। उक्तः शय्याकल्पिकः। बृ० १ उ०।

इदानीमल्पक्रियाऽभिधानमधिकृत्याऽऽह-

इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं आएसणाणि वा० जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं० जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति। जे भयंतरो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा० जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इतरा इतरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो अप्पसावज्जा किरिया वि भवति। एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणी वा सामग्गियं।

इहेत्यादि सुगमम्; नवरं अल्पशब्दोऽभाववाचीति। एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति। "कालाइक्कंतुवट्ठाणा अभिक्कंता चेव अणभिक्कंता य वज्जा य महावज्जा सावज्जमहऽप्पकिरिया य" एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नवभिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः। आसु च अभिक्रान्ताऽल्पक्रिये योग्ये, शेषास्त्वयोग्या इति। आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ॥

वसतिपरिकर्मसंगादनलेपनादि-

से य णो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्जे णो य खलु सुद्धे इमेहिं पाहुडेहिं तं जहा-छावणओ लेवणओ, संथारदुवारपिहणाओ पिंडवातेसणाओ ॥

इहानन्तरसूत्रे अल्पक्रिया शुद्धा वसतिरभिहिता, इहाप्यादिसूत्रेण तद्विपरीतां दर्शयितुमाह-(से इत्यादि) अत्र च कदाचित् कश्चित्साधुर्वसत्यन्वेषणार्थं भिक्षार्थं वा गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् केनचिच्छ्राद्धालुनैवमभिधीयते। तद्यथा-'प्रचुरान्नपानोऽयं ग्रामः, अतोऽत्र भवतो वसतिं प्रतिगृह्य स्थातुं युक्तम्' इत्येवमभिहितः सन्नेवमाचक्षीत-न केवलं पिण्डपातः प्रासुको दुर्लभस्तत्त्वत्रापि यत्रासौ भुज्यते स च प्रासुक आधाकर्मादिरहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः। (उंछे त्ति) छादनाद्युत्तरगुणदोषरहितः। एतदेव दर्शयति- (अहेसणिज्ज त्ति) यथाऽसौ मूलोत्तरगुणदोषरहितत्वेनैषणीयो भवति, तथाभूतो दुर्लभ इति।

ते चामी मूलोत्तरगुणाः-

"पट्टी वंसो दो धा-रणाउ चत्तारि मूलवेलीओ।
मूलगुणेहिं विसुद्धा, एसा य अहागडा वसही ॥ १ ॥
वंसगकडणो कंपण-छायणलेवणदुवारभूमी य।
परिकम्मविप्पमुक्का, एसा मूलुत्तरगुणेसु ॥ २ ॥
दूमियधूमियवासिय-उज्जोवियं बलि कडा अवत्ता य।
सित्ता सम्मट्ठा वि य, विसोहिकोडीं गया वसही" ॥ ३ ॥

अत्र च प्रायशः सर्वत्र संभवित्वादुत्तरगुणानाम्, तानेव दर्शयति। न चासौ शुद्धो भवत्यमीभिः कर्मोपादानकर्मभिः। तद्यथा-छादनतो दर्भादिना, लेपनतो गोमयादिना, संस्तारकमपवर्तकमाश्रित्य, तथा द्वारमाश्रित्य बृहल्लघुत्वापादनतः, तथा द्वारस्थगनं कपाटमाश्रित्य, तथा पिण्डपातैषणामाश्रित्य। तथाहि-कस्मिंश्चित्प्रतिश्रये प्रतिवसतः साधून् शय्यातरपि-एमेनोपनिमन्त्रयेत्, तद्ग्रहे निषिद्धाचरणं, अग्रहे तत्प्रद्वेषादिसंभवः। इत्यादिभिरुत्तरगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुरापः। शुद्धे च प्रतिश्रये साधुना स्थानादि विधेयम्। यत उक्तम्-"मूलुत्तरगुणसुद्धं, थीपसुपंडगविवज्जियं वसहिं। सेवेज्ज सव्वकालं, विवज्जए होंति दोसाओ" ॥ १ ॥ मूलोत्तरगुणशुद्धावाप्तावपि स्वाध्यायादिभूमिसमन्वितो विविक्तो दुराप इति। आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अप्पकिलंत-अल्पक्लान्त-त्रि०। अल्पं स्तोकं क्लान्तं क्लमो येषां ते अल्पक्लान्ताः। अल्पवेदनेषु, ध० २ अधि०। 'भवणिज्जो भे कलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेणं दिवसे वइक्कंतो'। आव० ३ अ०।

अप्पकुक्कुइय-अल्पकौकुच्य-त्रि०। ६ त०। अल्पस्पन्दने, करादिभिरल्पमेव चलति, अल्पशब्दोऽभाववाची, अल्पमसत्, 'कुक्कुयं' कौकुच्यं करचरणभ्रूभ्रमणाद्यसद्वेष्टात्मकमस्येत्यल्पकौकुच्यः। हस्तपादशिरःप्रमुखशरीरावयवानधुन्वाने, "निसीएज्जऽप्पकुक्कुए"। उत्त० १ अ० ॥

अप्पकोउहल्ल-अल्पकौतूहल-त्रि०। ६ त०। अलीकपदर्श-

नादिषु अविद्यमानकौतूहले, अल्पशब्दस्येहाविद्यमानार्थत्वात् । बृ० ३ उ० ।

अप्पकोह--अल्पक्रोध--पुं० । अविद्यमानकषायभेदे, भावावमोदरिकां प्रतिपन्ने, औ० ।

अप्पक्खर--अल्पाक्षर--न० । अल्पान्यक्षराणि यस्मिंस्तदल्पाक्षरम् । औ० । मिताक्षरे, गुणवति सूत्रे, यथा सामायिकसूत्रम् । अप्रभूताक्षरे, विशे० । औ० । अनु० । आ० म० । " अप्पक्खरं महत्थं अप्पग्गमहत्थं सुविहियाणं " ओघ० ।

अप्पक्खरं महत्थं, महक्खरऽप्पऽत्थ दोसु वि महत्थं ।

दोसु वि अप्पं च तहा, जणियं सत्थं चउवियप्पं ॥ ३ ॥

अत्र च चतुर्भङ्गिका-[अप्पक्खरं ति] अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं, स्तोकाक्षरमित्यर्थः । (महत्थं त्ति) महानर्थो यस्मिन् तत् महार्थं, प्रभूतार्थमित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रं अल्पाक्षरं भवति महार्थं च, प्रथमो भङ्गः । अथवाऽन्यत्किंभूतं भवति ?; (महक्खरऽप्पऽत्थं) महाक्षरं, प्रभूताक्षरं भवतीति हृदयम् । अल्पार्थं, स्वल्पार्थमिति हृदयम्, द्वितीयो भङ्गः । अथवाऽन्यत्किंभूतं भवति ?, (दोसु वि महत्थं) द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः श्रुतत्वादक्षरार्थोभयं परिगृह्यते । एतदुक्तं भवति-प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं च, तृतीयो भङ्गः । तथाऽन्यत् किंभूतं भवति ?, इत्याह-(दोसु वि अप्पं च तहा) द्वयोरपि अल्पम्, अक्षरार्थयोः । एतदुक्तं भवति-अल्पाक्षरमल्पार्थं चेति । तथेति-तेन आगमोक्तप्रकारेण, भणितमुक्तं, शास्त्रं, चतुर्विकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः ।

अधुना चतुर्णामपि भङ्गिकानामुदाहरणदर्शनार्थमियं गाथा-

सामायारी ओहे, णायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य ।

लोइय कप्पासादि अणुक्कमा य पकरेंति कारगा चउरो ॥ ४ ॥

ओघसामाचारी प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयकमः । ज्ञाताध्ययनादिषष्ठाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते । ततः प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणम् । चशब्दादन्यस्य यदृच्छा कोटौ व्यवस्थितम् । दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गक उदाहरणम् । यतोऽसौ प्रभूताक्षरः प्रभूतार्थश्च, चशब्दात्तदेकदेशोऽपि । चतुर्भङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह-(लोइय कप्पासादि त्ति) लौकिकं चतुर्भङ्गोदाहरणम्, किंभूतं ?, कथासादि । आदिशब्दाच्छिद्रकादिग्रहः । (अणुक्कम त्ति) अनुक्रमादिति । अनुक्रमेण परिपाट्यैवं तृतीयार्थे पञ्चमी । कारकाणि कुर्वन्तीति कारकाण्युदाहरणान्युच्यन्ते । चत्वारीति । यथासंख्येनैवेति । ओघ० ।

अप्पग--आत्मन्--पुं० । स्वस्मिन् , " जइ अप्पगं न साहयामि तो कहं अन्नं विणिमातो नगराओ " । आव० ४ अ० । आचा० । सूत्र० । प्रश्न० ।

अप्पगास--अप्रकाश--पुं० । अन्धकारे, नि० चू० १ उ० ।

अप्पगुत्ता--देशी-कपिकच्छ्वाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्पचिंतग--आत्मचिन्तक--पुं० । अभ्युद्यतमरणं वा प्रतिपत्तुं निश्चिते, व्य० १० उ० ।

अप्पच्छंदमइ--अल्पच्छन्दमति--त्रि० । आत्मच्छन्दा आत्मायत्ता मतिर्यस्य कार्यप्वसावात्मच्छन्दमतिः । स्वाभिप्रायकार्यकारिणि, " कस्स न होही वेसो, अणब्भुवगतो निरुवगारी य । अप्पच्छंदमई तो, पट्ठियतो गंतुकामो य " ॥ आ० म० प्र० । विशे० ।

अप्पज्ज-(ण्णु)-आत्मज्ञ--त्रि० । आत्मानं जानातीति आत्मज्ञः । " ञो ञः " ८ । २ । ८३ । इति सूत्रेण अस्य वा लुक् । याथार्थ्येनात्मतत्त्वज्ञातरि, प्रा० । अपरायत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अप्पज्जोइ--आत्मज्योतिष्--पुं० । आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमात्मज्योतिः । ज्ञानात्मके पुरुषे, वेदे ह्ययं पुरुष आत्मज्योतिष्ट्वेनाभिधीयते ।

अत्थमिए आइच्चे, चंदे संतासु अग्गिवायासु ।

किं जोइरयं पुरिसो ?, अप्पज्जोइ त्ति णिद्दिट्ठो ॥

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते, शान्तेऽग्नौ, शान्तायां वाचि याज्ञवल्क्यः-" किं ज्योतिरेवायं पुरुषः ?, आत्मज्योतिः सम्राडिति होवाच " । ज्योतिरिति ज्ञानमाह, आदित्यास्तमयादौ । किं ज्योतिः?, इत्याह-अयं पुरुष इति, पुरुष आत्मेत्यर्थः । अयं च कथंभूतः ?, इत्याह-(अप्पज्जोइ त्ति) आत्मैव ज्योतिरस्य सोऽयमात्मज्योतिः, ज्ञानात्मक इति हृदयम् । निर्दिष्टो वेदविद्भिः कथितः, ततो न ज्ञानं भूतधर्म इत्यर्थः । विशे० ॥

अप्पज्झो--देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्ग ॥

अप्पझंझ--अल्पझञ्झ--त्रि० । विगततथाविधविप्रकीर्णवचने, स्था० ८ ठा० । भ० । भावावमोदरिकां प्रतिपन्ने, रा० ।

अप्पडिकंटय--अप्रतिकण्टक--त्रि० । न विद्यते प्रतिमल्लः कण्टको यत्र तदप्रतिकण्टकम् । अप्रतिमल्ले, रा० ॥

अप्पडिवरिय--अप्रतिवृत--पुं० । प्रादोषिके काले, " अप्पडिवरियं कालं घेत्तूण य वेयए " प्रादोषिककालं यथा साधवः प्रतिजागरिति गृह्णन्ति । बृ० १ उ० ।

अप्पण--आत्मीय--त्रि० । अपभ्रंशे, " शीघ्रादीनां वहिल्लादयः " ८ । ४ । ४२२ । इति सूत्रेण आत्मीयस्य 'अप्पण' इत्यादेशः । स्वकीये, " फोडेंति जे हिअडउं अप्पणउं " । प्रा० । स्वस्मिन्, उत्त० १ अ० । प्रश्न० । चं० प्र० । शरीरे, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

अप्पणछन्द-आत्मच्छन्द-त्रि० । स्वतन्त्रे, " बहिणुए तं घरु कहि किंव णंदउ जेत्थु कुडुंबउं अप्पण-छन्दउं " । प्रा० ।

अप्पणट्ठ-आत्मार्थ-त्रि० । अनेन मे जीविका भविष्यतीति । स्वार्थे, दश० ।

अप्पणय--आत्मीय--त्रि० । प्राकृते " ईयस्यात्मनो णयः " । ८ । २ । १५३ । इति सूत्रेण आत्मनः परस्य यस्य णय इत्यादेशः । स्वकीये, प्रा० ।

अप्पणाण--आत्मज्ञान--न० । ६ त० । वादादिव्यापारकाले किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति नवेति आलोचनरूपे प्रयोगमतिसंपद्भेदे, उत्त० १५ अ० । आत्मपरिज्ञानमित्यप्यत्र । ध० र० ।

अप्पणिज्ज--आत्मीय--त्रि० । स्वकीये, " अप्पणिज्जियाए महिलाए " । आ० म० द्वि० । नि० चू० । दशा० ।

अप्पणो--स्वयम्--अव्य० । स्वयमित्यस्यार्थे, " स्वयमोऽर्थे अप्पणो न वा " । ८ । २ । २०९ । इति सूत्रेण स्वयमित्यस्यार्थे 'अप्पणो' इत्यस्य वा प्रयोगः । " विसयं विअसंति अप्पणो कमलसरा " । पक्षे-'सयं च्चेव मुणसि करणिज्जं' । प्रा० । " अप्पणो

सेसयाइं ति " आत्मन आत्मीयानि । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अप्पतर-अल्पतर-त्रि० । अतिशयिते स्तोके, " अप्पतराए से पावे कम्मे कज्जइ " । भ० ८ श० ६ उ० । आचा० । सूत्र० ।

अप्पतरबंध--अल्पतरबन्ध--पुं० । अल्पतरे कर्मणां बन्धे, यदा त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स एव प्रथमसमये एवाल्पतरबन्धः (कर्म०)। यदा तु प्रभूताः प्रकृतीर्बध्नन् परिणामविशेषतः स्तोकां बध्नुमारभते यथाऽष्टौ बध्वा सप्त बध्नाति; सप्त वा बध्वा षड् वा बध्वा एकां, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः । तथा चाऽऽह-" एगादहगण-बिइभो " एकादिभिरेकद्वित्र्यादिभिः प्रकृतिरूपोने बन्धे द्वितीयप्रकारः, अल्पतर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।

अप्पतुमंतुम-अल्पतुमन्तुम-त्रि० । विगतक्रोधमनोविकारविशेषे, व्य० ८ उ० ।

अप्पत्त-अल्पत्व-न० । तुच्छत्वे, पं० व० ४ द्वा० ।

अप्पत्तिय--अप्रीतिक--न०। आर्षत्वात्स्वार्थकप्रत्ययः। अप्रेम्णि, भ० ७ श० १ उ० । ध० । आ० म० । दश० । अप्रीतिस्वभावे, भ०१३ श० १ उ० । मनसः पीडायाम, आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० । क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अपकरणे, नि० चू० १ उ०।

अप्पत्थाम-अल्पस्थामन्-त्रि० । अल्पसामर्थ्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अप्पधण-अल्पधन-त्रि० । अल्पमूल्ये, " महाधणे अप्पधणे व वत्थे, मुच्छिज्जती जो अविविभत्तभावे" बृ० ३ उ० ।

अप्पपएसग-अल्पप्रदेशक-त्रि० । अल्पं स्तोकं प्रदेशाग्रं कर्मदलिकपरिमाणं यस्य सः । स्तोकप्रदेशाग्रके कर्मणि, भ० १ श० १ उ० ।

अप्पपज्जवजाय-अल्पपर्यायजात-न० । अल्पे तुषादौ त्यजनीये, ध० ३ अधि० ।

अप्पपरणिव्वत्ति--आत्मपरनिर्वृत्ति--स्त्री ० । आत्मनः परेषां च परेभ्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेभ्यो निवृत्तिः, कृतानां तद् दृष्ट्वाऽप्यन्ये आलोचनाभिमुखा भवन्तीत्यन्येषामपि दोषेभ्यो निवर्त्तनमिति ॥ व्य० १ उ० ॥

अप्पपरिग्गह-अल्पपरिग्रह-पुं० । अल्पधनधान्यादिस्वीकारे, औ० ।

अप्पपरिच्चाय-अल्पपरित्याग-पुं० । स्वल्पतरगुणपरिहारे, पञ्चा० १८ विव० ।

अप्पपाण-अल्पप्राण-त्रि० । अल्पशब्दोऽभावाभिधायी तथेहापि, सूत्रत्वेन मत्वर्थीयलोपात् प्राणाः प्राणिनः, अल्पा अविद्यमानाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणम् । अवस्थितागन्तुकजीवविरहिते उपाश्रयादौ, उत्त० १ अ० । अल्पः प्राणः प्राणनक्रिया यस्मिन् । वर्णभेदे, यस्योच्चारणे अल्पप्राणवायोर्व्यापारस्तस्मिन्, स च शिक्षायामुक्तः-"अयुग्मा वर्गयमगाः, यणश्चाल्पासवः स्मृताः " इति । तथा च वर्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमवर्णाः यमगाः यवरलाश्च अल्पासवः । तादृशवर्णोच्चारणबाह्यप्रयत्ने, बाह्यप्रयत्नस्तु एकादशधा-विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति । अल्पः प्राणः प्राणहेतुकं बलमस्य । अल्पबले, त्रि० । वाच० ।

अप्पपाणासि (ण्)-अल्पपानाशिन्-त्रि० । अल्पं पानमशितुं शीलमस्यासावल्पपानाशी । यत्किञ्चन पानपायिनि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अप्पपिंडासि (ण्)--अल्पपिण्डाशिन्-त्रि० । अल्पं स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी । यत्किञ्चनाशिनि, तथा च आगमः-"हे जम्बू ! आसीय, जत्थ तत्थ व सुहोवगयनिद्दा । जेण व तेण व संतु-ट्ठ वीरमुणिओ सि ते अप्पा " ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अप्पभक्खि (ण्) -अल्पभक्षिन्-त्रि० । स्तोकाहारकारिणि, उत्त० १५ अ० ।

अप्पभव-अल्पभव-पुं० । परीतसांसारिकत्वे, प्रति० ।

अप्पभासि (ण्) -अल्पभाषिन्-त्रि० । कारणे परिमितवक्तरि, दश० ८ अ० । " अप्पं भासेज्ज सुव्वए " । तथा सुव्रतः साधुरल्पं परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अप्पभूय-अल्पभूत-त्रि० । अल्पसत्त्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अप्पमइ-अल्पमति-त्रि० । अल्पबुद्धौ, क० प्र० ।

अप्पमहग्घाभरण--अल्पमहार्घाभरण-त्रि० । अल्पानि स्तोकभारवन्ति महार्घाभरणानि बहुमूल्यवद्भूषणानि यस्यासौ तत्तथा । अल्पभारवद्बहुमूल्यभूषणयुक्ते, " ण्हाए सुद्धप्पावेसाइं अप्पमहग्घाभरणा ताओ गिहाओ पडिनिक्खमइ " उपा०१अ०।

अप्परय-अल्परत-त्रि० । अल्पमिति अविद्यमानं रतमिति क्रीडितं मोहनीयकर्मोदयजनितमस्येति अल्परतः। क्रीडाविरहिते लवसत्तमादौ, उत्त० १ अ० । कण्डूपरिगते कण्डूयनकल्परतरहिते, दश० ९ अ० ४ उ० ।

अल्परजस्-त्रि० । रजोरहिते, उत्त० २ अ० । प्रतनुबध्यमानकर्मणि, " सिद्धे वा हवइ सासए देवे वा अप्परए महिड्ढिए " उत्त० १ अ० ।

अप्पलाहलद्धि-अल्पलाभलब्धि-पुं० । अल्पा तुच्छा वस्त्रपात्रादिलाभे लब्धिर्यस्य सोऽल्पलाभलब्धिः । क्लेशेन वस्त्रपात्राद्युत्पादके, बृ० १ उ० ।

अप्पल्लीण-अप्रलीन-त्रि० । असंबद्धे तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु संश्लेषमकुर्वति, " अणुक्कसे अप्पलीणे, मज्झेण मुणि जावए " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अप्पलीयमाण-अप्रलीयमान-त्रि० । कामेषु मातापित्रादिके वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः । अनभिषक्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अप्पलेव--अल्पलेप--त्रि० । ६ ब० । अल्पशब्दोऽभाववाचकः । पृथुकादौ निर्लेपे, आव० ४ अ० । वल्लचणकादौ नीरसे, ध० ३ अधि० ।

अप्पलेवा--अल्पलेपा--स्त्री० । निर्लेपं पृथुकादि गृह्णतश्चतुर्थ्यां पिण्डैषणायाम, आव० ४ अ० । ध० । आचा० । पञ्चा० । सूत्र०। " जस्स दिज्जमाणदव्वस्स णिप्पावचरणगादिस्स लेवो ण भवति सा अप्पलेवा " नि० चू० १६ उ० । आ० चू० । अल्पलेपिकाऽप्यत्र, स्था० ७ ठा० । स्तोकोऽल्पः पश्चात्कर्मादिजनितः

कर्मबन्धो यस्यां साऽल्पलेपा । चतुर्थ्यां पिण्डैषणायाम्, तथा चाऽऽचाराङ्गम्–"अंसिस खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पपज्जवजाए " ध० ३ अधि० ।

अप्पवस–आत्मवश–त्रि० । स्ववशे, ग० २ अधि० ।

अप्पवसा–आत्मवशा–स्त्री० । नार्याम्, तस्या निरङ्कुशात्वेन स्वच्छन्दात्वात् । प्रा० को० ।

अप्पवाइ (ण्)–आत्मवादिन्–पुं० । ' पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि ' प्रतिपन्ने वादिनि, नं० ।

अप्पबीय–अल्पबीज–त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि नीवारश्यामाकादीनां यस्मिंस्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योपलक्षणत्वात् एकेन्द्रियादिरहिते, दश० १ अ० । आचा० ।

अप्पवुट्ठि–अल्पवृष्टि–स्त्री० । आसारे, प्रा० को० ।

अप्पवुट्ठिकाय–अल्पवृष्टिकाय–पुं० । अल्पः स्तोकोऽविद्यमानो वा, वर्षणं वृष्टिरधःपतनं वृष्टिप्रधानः कायो निकायोऽल्पवृष्टिकायः । वर्षणधर्मयुक्तं च उदकं वृष्टिः, तस्याः कायो राशिर्वृष्टिकायः । अल्पश्चासौ वृष्टिकायश्चाल्पवृष्टिकायः । स्तोके व्योमनि पतदप्काये , स्था० ।

अल्पवृष्टेश्च त्रीणि कारणानि–

तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिकाए सिया । तं जहा–तेसिं च णं देसंसि वा पएसंसि वा णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति देवा नागा जक्खा भूया णो सम्ममाराहिया भवंति । तत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणयं वासिउकामं अण्णं देसं साहरंति, अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठियं परिणयं वासिउकामं वाउयाए विहूणेइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिगाए सिया ।

(तेसिं ति)मगधादौ,चशब्दोऽल्पवृष्टिकारणान्तरसमुच्चयार्थः। णमित्यलङ्कारे । देशे जनपदे, प्रदेशे तस्यैव एकदेशरूपे, वाशब्दौ विकल्पार्थौ । उदकस्य योनयः परिणामकारणभूता उदकयोनयः त एवोदकयोनिका उदकजननस्वभावाः, व्युत्क्रामन्ति उत्पद्यन्ते, व्यपक्रामन्ति,च्यवन्ते, एतदेव यथायोगं पर्यायत आचष्टे-च्यवन्ते, उत्पद्यन्ते, क्षेत्रस्वभावादित्येकम् । तथा देवा वैमानिका ज्योतिष्काः, नागा नागकुमाराः, भवनपत्युपलक्षणमेतत् । यक्षा भूता इति व्यन्तरोपलक्षणम् । अथवा देवा इति सामान्यम् । नागादयस्तु विशेषाः, एतद्ग्रहणं च प्राय एषामेवंविधे कर्मणि प्रवृत्तिरिति ज्ञापनाय: विचित्रत्वाच्च सूत्रगतेरिति; नो सम्यगाराधिता भवन्ति । अविनयकरणाज्ञानपदैरिति गम्यते । ततश्च तत्र मगधादौ देशे प्रदेशे वा तस्यैव समुत्थितमुत्पन्नम्-उदकप्रधानं पौद्गलं पुद्गलसमूहो, मेघ इत्यर्थः । उदकपौद्गलं तथा परिणतमुदकदायकावस्थां प्राप्तम् । अत एव विद्युदादिकारणात् वर्षितुकामं अन्यं देशं मगधादिकं संहरन्ति नयन्तीति द्वितीयम् । अभ्राणि मेघास्तैर्वर्द्दलकं दुर्दिनम्, अभ्रवर्द्दलकम् । (वाउयाए त्ति) वायुकायः प्रचण्डवातो विधुनाति विध्वंसयतीति तृतीयम् । " इच्चे " इत्यादि निगमनमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अल्पशब्दस्याभाववचनत्वाद् अविद्यमानवर्षे, " अभया कयाइ पढमसरदकालसमयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि " भ० १५ श० १ उ० ।

अप्पसंतचित्त–अप्रशान्तचित्त–त्रि० । उत्कटक्रोधादिदूषितभावे, पश्न० २ विव० ।

अप्पसंतमइ–अप्रशान्तमति–त्रि० । अपरिणतशिष्ये, " अप्रशान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे-शमनीयमिव ज्वरे " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अप्पसक्खिय–आत्मसाक्षिक–न० । आत्मा स्वजीवः , स स्वसंवित्प्रत्यक्षविरतिपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाक्षिकम् । स्वकृतकेऽनुष्ठाने, " साहूसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं " पा० ।

अप्पसत्तचित्त–अल्पसत्त्वचित्त–त्रि० । आपत्स्ववैक्लव्यकरमध्यवसानकरं च सत्त्वमुक्तम् । ततश्चाल्पं तुच्छं सत्त्वं यत्र तदल्पसत्त्वं, तच्चित्तं यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्तः । चेतसा विकलत्वे, " ण हि अप्पसत्तचित्तो धम्माहिगारी जओ होइ " । पञ्चा० २ विव० ।

अप्पसत्तम–आत्मसप्तम–त्रि० । आत्मना सप्तमः । सप्तानां पूरणः । आत्मा वा सप्तमो यस्यासावात्मसप्तमः । अन्यैः षड्भिः सह विद्यमाने, " मल्लीणं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता " स्था० ७ ठा० ।

अप्पसत्तिय–अल्पसात्त्विक–त्रि० । निःसारे, "सुसमत्था वऽसमत्था, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिसा । दीसंति सूरवादी,णारीवसगा ण ते सूरा " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अप्पसद्द–अल्पशब्द–पुं० । विगतरात्र्यां ध्वनौ , स्था० ८ ठा० । रात्र्यादावसंयतजागरणभयात् । भ० २५ श० ७ उ० । अल्पकलहे, कलहक्रोधकार्ये, औ० ।

अप्पससरक्ख–अल्पसरजस्क–न० । अल्पे तृणादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अप्पसार–अल्पसार–न० । अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् । प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारे, ज्ञा० १ अ० । " अप्पसारं तुट्टंति जीवा बंधणं " आ० म० प्र० । "अप्पसारियं खेत्तं उवचरंति " नि० चू० १ उ० ।

अप्पसावज्जकिरिया-अल्पसावद्यक्रिया-स्त्री० । शुद्धायां वसतौ, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । ('वसही' शब्देऽस्याः सूत्रम्)

अप्पसुय–अल्पश्रुत–त्रि० । अनधीतागमे, ज्ञा० १६ द्वा० ।

अप्पसुह–अल्पसुख–त्रि० । ५ ब० । भोगसुखलवसम्पादके, अविद्यमानसुखे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप्पहरिय–अल्पहरित–त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवालादीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहिते, आचा० २ श्रु० ७ अ० ६ उ० ।

अप्पहिंसा–अल्पहिंसा–स्त्री० । अल्पशब्दोऽभाववाची । अल्पानामेव प्राणिनां हिंसायाम्, व्य० १ उ० ॥

अप्पा–आत्मन्–पुं० । अतति सातत्येन गच्छति तांस्तान् ज्ञानदर्शनसुखादिपर्यायानित्याद्यात्मादिशब्दव्युत्पत्तिनिमित्तसंभवात् । आ० म० द्वि० । जीवे, उत्त० २० अ० । (आत्मसिद्ध्यादिवक्तव्यता 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अप्पाइय–आप्यायित–त्रि० । मनोज्ञाहारैः स्वस्थीभूते, बृ० १ उ० ।

अप्पाउअ–अल्पायुष्क–त्रि० । स्तोकजीविते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप्पाउअत्ता–अल्पायुष्कता–स्त्री० । अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्कः, तद्भावस्तत्ता । अल्पायुष्कतायाम, भ० ५ श० ६ उ० । अल्पमायुर्जीवितं यद् तदल्पायुः, तद् भावस्तत्ता । जघन्यायुष्के, स्था० ३ ठा० १ उ० । (अल्पायुषः कारणं ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे वक्ष्यते)

अप्पाउद–अप्रावृत–पुं० । प्रावरणवर्जके अभिग्रहविशेषग्राहके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अप्पाउरण–अप्रावरण–न० । प्रावरणनिषेधात्तद्विषयोऽभिग्रहोऽप्यप्रावरणम । पञ्चा० ५ विव० । प्रावरणत्यागरूपेऽभिग्रहप्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ४ द्वा० । अत्र पञ्च आकाराः—" अभिग्गहेसु अप्पाउरणं कोइ पच्चक्खाइ, तस्स पंच (आगारा) अण्णत्थऽणाभोगे, सहसागारे, चोलपट्टागारे, महत्तरागारे सव्वसमाहिवत्तियागारे य " ।

तथा च सूत्रम्—

अप्पाउरणं पच्चिक्खाति अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, चोलपट्टागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिर त्ति । आव० ६ अ० ।

चोलपट्टकादन्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोलपट्टके गृह्यमाणेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः । प्रव० ४ द्वा० ।

अप्पाण-आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " पुंस्यन आणो राजवच्च " । ८ । ३ । ५६ । पुंल्लिङ्गे वर्तमानस्यान्नन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शनं राजवत्कार्यं भवति । आणादेशे च " अतः सेर्डोः " (८।३।२) इत्यादयः प्रवर्त्तन्ते । पक्षे तु राज्ञः " जस्-शस्-ङसि-ङसां णो " (८ । ३ । ५०) " टो णा " (८।३।२४) " इणममामा " (८।३।५३) इति प्रवर्तन्ते । अप्पाणो । अप्पाणा । अप्पाणं । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहिं । अप्पाणाओ । अप्पाणासुन्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पाणम्मि । अप्पाणेसु । अप्पाण-कयं । पक्षे राजवत् । अप्पा । अप्पो । हे अप्पा ! । हे अप्प ! अप्पाणो चिट्ठंति । अप्पाणो पेच्छ । अप्पणा । अप्पेहिं । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पाहि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पणो धणं । अप्पाणं । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । (य आत्मानमादर्शादौ पश्यति इति ' अणायार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम्) स्वभावे, न० । स्था० २ ठा० २ उ० ।

अप्पाणरक्खि (ण्)–आत्मरक्षिन्–त्रि० । आत्मानं रक्षति पापेभ्यः कुगतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्मरक्षी । आत्मनः पापेभ्यो निवारके, उत्त० ४ अ० ।

अप्पाधार–अल्पाधार–पुं० । अल्पस्य सूत्रस्य अर्थस्य वा आधारोऽल्पाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यविकले, व्य० १ उ० ।

अप्पाबहुय(ग)–अल्पबहुत्व–न० । अल्पं च स्तोकं बहु च प्रचुरमल्पबहु, तद्भावोऽल्पबहुत्वम् । दीर्घत्वासंयुक्तत्वे च प्राकृतत्वादिति । स्था० ४ ठा० २ उ० । गत्यादिरूपमार्गणास्थानादीनां परस्परस्तोकभूयस्त्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

(१) तच्चतुर्विधम्—

चउव्विहे अप्पाबहुए पण्णत्ते । तं जहा–पगइ-अप्पाबहुए, ठिइ-अणुभाव-पएस–अप्पाबहुए ।

प्रकृतिविषयमल्पबहुत्वं बन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धक उपशान्तमोहादिरेकविधबन्धकः, उपशमकादिसूक्ष्मसंपरागः षड्विधबन्धकः, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकः, ततोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमल्पबहुत्वं यथा- " सव्वत्थोवो संजयस्स जहन्नओ ठिइबंधो पणिंदियबायरपज्जत्तगस्स जहन्नओ ठिइबंधो असंखिज्जगुणो " इत्यादि । अनुभागं प्रत्यल्पबहुत्वं यथा– " सव्वत्थोवाइं अणंतगुणवुड्डिठाणाणि असंखेज्जगुणवुड्डिठाणाणि, असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणवुड्डिठाणाणि असंखिज्जगुणाई जाव अणंतभागवुड्डिट्ठाणाणि असंखिज्जगुणाणि " । प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा- अट्ठविहबंधगस्स

य आउयभागो थोवो नामगोयाणं तुल्लो विसेसाहिओ नाण-दंसणावरणंतरायाणं तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहि-ओ वेयणिज्जस्स विसेसाहिओ त्ति "। स्था० ४ ठा० २ उ०।

(२) तत्र द्वारसंग्रहगाथाद्वयम्—

दिसिगइइंदियकाए, जोए वेए कसायलेसाओ ।
सम्मत्तणाणदंसण-संजमउवओगआहारे ॥ १ ॥
भासगपरित्तपज्ज-त्तिसुहुमसण्णी भवऽत्थि से चरिमे ।
जीवएँ खेत्तं बंधे, पुग्गल-महदंडए चेव ॥ २ ॥

प्रथमं दिग्द्वारम् १, तदनन्तरं गतिद्वारम् २, तत इन्द्रियद्वारम् ३, ततः कायद्वारम् ४, ततो योगद्वारम् ५, तदनन्तरं वेदद्वारम् ६, ततः कषायद्वारम् ७, ततो लेश्याद्वारम् ८, ततः सम्यक्त्वद्वारम् ९, तदनन्तरं ज्ञानद्वारम् १०, ततो दर्शनद्वारम् ११, ततः संयमद्वारम् १२, तत उपयोगद्वारम् १३, तत आहारद्वारम् १४, ततो भासकद्वारम् १५, ततः (परित्त इति) परीताः प्रत्येकशरीरिणः शुक्लपाक्षिकाश्च; तद्द्वारम् १६, तदनन्तरं पर्याप्तिद्वारम् १७, ततः सूक्ष्मद्वारम् १८, तदनन्तरं संज्ञिद्वारम् १९, ततो (भव-त्ति) भवसिद्धिद्वारम् २०, ततोऽस्तीति-अस्तिकायद्वारम् २१, ततश्चरमद्वारम् २२, तदनन्तरं जीवद्वारम् २३, ततः क्षेत्रद्वारम् २४, ततो बन्धद्वारम् २५, ततः पुद्गलद्वारम् २६, ततो महादण्डकः २७, इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतिद्वाराणि । प्रज्ञा० ३ पद ।

(तत्र गाथोपन्यस्तक्रममनादृत्याक्षरानुक्रमतो द्वाराणि निरूपयिष्यन्ते, तथा मध्येऽन्यतः किञ्चिद् संगृहीतं प्रक्षिप्य प्ररूपयिष्यतेऽल्पबहुत्वम्) (अनुभागबन्धस्थानानामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे द्रष्टव्यम्)

(३) [अवगाहना] पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहनयाऽल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! पुढवीकाइयाणं आऊ-तेऊ-वाऊ-वणस्सइ-काइयाणं सुहुमाणं बादराणं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाणं जहण्णुक्कोसियाए ओगाहणाए कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमणिगोयस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा १ । सुहुमवाउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा २ । सुहुमतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३ । सुहुमआऊ० अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४ । सुहुमपुढवी० अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ५ । बादरवाउकाइयस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ६ । बादरतेऊ० अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ७ । बादरआऊ० अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ८ । बादरपुढवी० अपज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ९ । पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयस्स बादरनिओयस्स, एएसि णं अपज्जत्तगाणं जहण्णिया ओगाहणा दोण्ह वि तुल्ला असंखेज्जगुणा १० । ११ । सुहुमनिओयस्स पज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा १२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १३ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १४ । सुहुमवाउकाइयस्स पज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा १५ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया विसेसाहिया १६ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १७ । एवं सुहुमतेउकाइयस्स वि १८ । १९ । २० । एवं सुहुमआउकाइयस्स वि २१ । २२ । २३ । एवं सुहुमपुढविकाइयस्स वि । २४ । २५ । २६ । एवं बादरवाउकाइयस्स वि २७ । २८ । २९ । एवं बादरतेउकाइयस्स वि ३० । ३१ । ३२ । एवं बादरआउकाइयस्स वि ३३ । ३४ । ३५ । एवं बादरपुढविकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । सव्वेसिं तिविहेणं गमेणं भाणियव्वं बादरनिओयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३९ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४० । तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४१ । पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४३ । तस्स चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया असंखेज्जगुणा ४४ ।

इह किल पृथिव्यप्तेजोवायुनिगोदाः ५ प्रत्येकं सूक्ष्मबादरभेदाः । एवमेते दश; एकादश च प्रत्येकं वनस्पतिः । एते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदाः २२ । तेऽपि जघन्योत्कृष्टावगाहनाः, इत्येवं चतुश्चत्वारिंशत्जीवभेदेषु स्तोकादिपदन्यासेनावगाहना व्याख्येया । स्थापना चैवम्—पृथ्वीकायस्याऽधः सूक्ष्मबादरपदे, तयोरधः प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तपदे, तेषामधः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टा चावगाहनेति । एवमप्कायादयोऽपि स्थाप्याः । प्रत्येकवनस्पतेश्चाधः पर्याप्तापर्याप्तपदद्वयम्, तयोरधः प्रत्येकं जघन्योत्कृष्टा चावगाहनेति । इह च पृथिव्यादीनामङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहनत्वेऽप्यसंख्येयभेदत्वादङ्गुलासंख्येयभागस्येतरेतरापेक्षयाऽसंख्येयगुणत्वं न विरुध्यते, प्रत्येकशरीरवनस्पतीनां चोत्कृष्टावगाहना योजनसहस्रं समधिकमेव गन्तव्येति । भ० १९ श० ३ उ० ।

(अस्तिकायद्वारे धर्मास्तिकायादीनां द्रव्यार्थतयाऽल्पबहुत्वम् 'अत्थिकाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५१४ पृष्ठे समुक्तम्)

(आत्मनामल्पबहुत्वम् 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १७० पृष्ठे वक्ष्यते)

(४) [आयु] द्रव्यस्थानाद्यायुषामल्पबहुत्वम्—

एयस्स णं भंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स खेत्तट्ठाणाउयस्स ओ-

गाहणट्ठाणाउयस्स भावट्ठाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तट्ठाणाउए ओगाहणट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, दव्वट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे भावट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, " खेत्तोगाहणदव्वे, भावट्ठाणाउयं च अप्पबहुं । खेत्ते सव्वत्थोवे, सेसट्ठाणा असंखेज्जा " ॥ १ ॥

(एयस्स णं भंते ! दव्वट्ठाणाउयस्स त्ति) द्रव्यं पुद्गलद्रव्यं, तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकादि, तस्यायुः स्थितिः । अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिभावेन यत् स्थानमवस्थानं,तद्रूपमायुः, द्रव्यस्थानायुः, तस्य; (खेत्तट्ठाणाउयस्स त्ति) क्षेत्रस्याकाशस्य, स्थानं भेदः पुद्गलावगाहकृतः,तस्यायुः-स्थितिः । अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशादौ,स्थानं यत्पुद्गलानामवस्थानं,तद्रूपमायुः,क्षेत्रस्थानायुः । एवमवगाहनास्थानायुर्भावस्थानायुश्च; नवरमवगाहनानियतपरिमाणक्षेत्रावगाहित्वं पुद्गलानाम् । भावस्तु कालत्वादिः । ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः ?। उच्यते-क्षेत्रमवगाढमेव । अवगाहना तु-विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुद्गलानां तत्परिमाणावगाहित्वमिति । " कयरे " इत्यादि कण्ठ्यम् । एषां च परस्परेणाल्पबहुत्वव्याख्या गाथाऽनुसारेण कार्या । ताश्चेमाः-

" खेत्तोगाहणदव्वे, भावट्ठाणाउ अप्पबहुयत्ते ।
थोवा असंखगुणिया, तिन्नि य सेसा कहं नेया ? ॥ १ ॥
खेत्ताऽमुत्तत्ताओ, तेण समं बंधपच्चयाभावा ।
तो पोग्गलाण थोवो, खेत्तावट्ठाणकालो उ " ॥ २ ॥

अयमर्थः-क्षेत्रस्याऽमूर्त्तत्वेन क्षेत्रेण सह पुद्गलानां विशिष्टबन्धप्रत्ययस्य स्नेहादेरभावादेकत्र ते चिरं तिष्ठन्तीति शेषः । यस्मादेवं तत इत्यादि व्यक्तम् ।

अथावगाहनायुषो बहुत्वं भाव्यते-

" अन्नं खेत्तगयस्स वि, तं चियमाणं चिरं पि संधरइ ।
ओगाहणनासे पुण, खेत्तऽन्नं फुमे होइ " ॥ ३ ॥

इह पूर्वार्द्धेन क्षेत्राद्धाया अधिकाऽवगाहनाद्धेत्युक्तम् । उत्तरार्द्धेन तु अवगाहनाद्धातो नाधिका क्षेत्राद्धेति ।

कथमेतदेवम् ?, इत्युच्यते—

" ओगाहणाउबद्धा, खेत्तद्धा अकिरिया व बद्धा य ।
न उ ओगाहणकालो, खेत्तद्धामेत्तसंबद्धो " ॥ ४ ॥

अवगाहनायामगमनक्रियायां च नियता क्षेत्राद्धा विवक्षिता, अवगाहनासद्भावे एवाक्रियासद्भावः । एवं च तस्या-भावाद्धुक्षयतिरेके चाभावात् । अवगाहना तु-न क्षेत्रमात्रनियता, क्षेत्राद्धाया अभावेऽपि तस्या भावादिति ।

अथ निगमनम्—

" जम्हा तत्थऽन्नत्थ य, सच्चे ओगाहणा भवे खेत्ते ।
तम्हा खेत्तद्धाओ-ऽवगाहणद्धा असंखगुणा " ॥ ५ ॥

अथ द्रव्यायुषो बहुत्वं भाव्यते—

" संकोयविकोएण व, उवरमियाए ऽवगाहणाए वि ।
तत्तियमेत्ताणं चिय, चिरं पि दव्वाणऽवत्थाणं " ॥ ६ ॥

संकोचेन, विकोचेन वा उपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति द्रव्याणि पूर्वमासंस्तावतामेव चिरमपि तेषामवस्थानं संभवति । अनेनावगाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवर्तत इत्युक्तम् ।

अथ द्रव्यनिवृत्तिविशेषेऽवगाहना निवर्तत एवेत्युच्यते-

" संघायभेयओ वा, दव्वोवरमे पुणाइ संखित्ते ।
नियमा तद्दव्वोगा-हणाइ नासो न संदेहो " ॥ ७ ॥

सङ्घातेन, पुद्गलानां भेदेन वा तेषामेव यः संक्षिप्तः स्तोकावगाहनः स्कन्धो न तु प्राक्तनावगाहनः, तत्र यो द्रव्योपरमो द्रव्यान्यथात्वं, तत्र सति,न च सङ्घातेन न संक्षिप्तः स्कन्धो भवति, तत्र सति सूक्ष्मतरत्वेनापि तत्परिणतेः भवनाद् नियमात्तेषां द्रव्याणामवगाहनाया नाशो भवति ।

कस्मादेवम् ?, इत्यत उच्यते—

" ओगाहणा दव्वे, संकोयविकोयओ य अवबद्धा ।
न उ दव्वं संकोयण-विकोयमेत्तम्मि संबद्धं " ॥ ८ ॥

अवगाहनाद्धा द्रव्येऽवबद्धा नियतत्वेन संबद्धा । कथम् ?, सङ्कोचाद्विकोचाच्च, सङ्कोचाद्धि परिहृत्येत्यर्थः । अवगाहनाहि द्रव्ये सङ्कोचविकोचयोरभावे सति भवति, तत्सद्भावे च न भवतीत्येवं द्रव्येऽवगाहना नियतत्वेन संबद्धेत्युच्यते । द्रुमत्वे खदिरत्वमिवेति । उक्तविपर्ययमाह-न पुनर्द्रव्यं सङ्कोचविकोचमात्रे सत्यप्यवगाहनायां नियतत्वेन संबद्धं सङ्कोचविकोचाभ्यामवगाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवर्त्तत इत्यवगाहनायां तन्नियतत्वेनासंबद्धमित्युच्यते, खदिरत्वे द्रुमत्ववदिति ।

अथ निगमनम्-

"जम्हा तत्थऽन्नत्थ य, दव्वं ओगाहणाइ तं चेव ।
दव्वद्धा संखगुणा, तम्हा ओगाहणद्धाओ " ॥ ९ ॥

अथ भावायुर्बहुत्वं भाव्यते -

" संघायभेयओ वा, दव्वोवरमे वि पज्जवा संति ।
तं कसिणगुणविरामे, पुणाइ दव्वं न ओगाहो " ॥ १० ॥

सङ्घातादिना द्रव्योपरमेऽपि पर्यवाः सन्ति, यथा-घृष्टपुटे शुक्लादिगुणाः । सकलगुणोपरमे तु न तद्द्रव्यं, न चावगाहनाऽनुवर्त्तते । अनेन पर्यवाणां चिरं स्थानं,द्रव्यस्य त्वचिरमित्युक्तम् ।

अथ कस्मादेवम् ?, इत्युच्यते-

" संघायभेयबंधा-णुवत्तिणी णिच्चमेव दव्वद्धा ।
न उ गुणकालो संघा-यभेयमत्तऽवसंबद्धो " ॥ ११ ॥

सङ्घातभेदलक्षणाभ्यां धर्माभ्यां यो बन्धः संबन्धस्तदनुवर्त्तिनी तदनुसारिणी,सङ्घाताद्यभाव एव द्रव्याद्धायाः सद्भावात्, तद्भावे चाभावात् ; न पुनर्गुणकालः, सङ्घातभेदमात्रकालसंबद्धः सङ्घातादिभावेऽपि गुणानामनुवर्त्तनादिति ।

अथ निगमनम्—

" जम्हा तत्थऽन्नत्थ य, दव्वे खेत्तावगाहणासुं च ।
तं चेव पज्जवा सं—ति वा तदद्धा असंखगुणा " ॥ १२ ॥
" आह अणेगंतो यं, दव्वोवरमे गुणाण ऽवत्थाणं ।
गुणविप्परिणामम्मि य, दव्वविसेसो य ऽणेगंतो " ॥ १३ ॥

द्रव्यविशेषो द्रव्यपरिणामः ।

" विप्परिणयम्मि दव्वे, कम्हिस गुणपरिणई भवे जुगवं ।
कम्मि विपुलतदवत्थे, वि होइ गुणविप्परीणामो " ॥ १४ ॥
"भण्णइ सच्चं किं पुण, गुणबाहुल्ला न सव्वगुणनासो ।
दव्वस्स तदन्नत्ते, वि बहुतराणं गुणाण ठिई " ॥१५॥ इति । भ० ५ श० ७ उ० ।

(नैरयिकाद्यायुषामल्पबहुत्वम्-" आउ " शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (जातिनामनिधत्तायुरादीनां भेदाः ' आउबंध ' शब्दे द्वितीयभागे ३१ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(५) [आहारद्वारम्] आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा आहारगा असंखिज्जगुणा।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, विग्रहगत्यापन्नादीनामेवानाहारकत्वात्। उक्तं च—" विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य। सिद्धा य अणाहारा,सेसा आहारगा जीवा"॥१॥ तेभ्य आहारका असङ्ख्येयगुणाः । ननु वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् तेषां चाहारकतयाऽपि लभ्यमानत्वात् कथमनन्तगुणा न भवन्ति?। तदयुक्तम्। वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। इह सूक्ष्मनिगोदाः सर्वसङ्ख्ययाऽप्यसङ्ख्येयाः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तसमयराशितुल्याः सूक्ष्मनिगोदाः सर्वकालविग्रहे वर्त्तमाना लभ्यन्ते। ततोऽनाहारका अप्यतिबहवः सकलजीवराश्यसंख्येयभागतुल्या इति। तेभ्य आहारका असङ्ख्येयगुणाः, ते च नानन्तगुणाः। गतमाहारद्वारम्। प्रज्ञा० ३ पद। जी०। कर्म०। (इन्द्रियाणामवगाहनयाऽल्पबहुत्वं, तेषां कर्कशादिगुणाश्च 'इंदिय' शब्दे द्वितीयभागे ५५४ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(६) [इन्द्रियद्वारम्] सेन्द्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, अणिंदिया अणंतगुणा, एगिंदिया अणं०। सइंदिया वि०।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः संख्येयाः, दशयोजनकोटाकोटिप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रतिप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात्। तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात्। तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणत्वात्। तेभ्योऽनीन्द्रिया अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्। तेभ्योऽपि एकेन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्। तेभ्योऽपि सेन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। तदेवमुक्तमेकमौघिकानामल्पबहुत्वम्। प्रज्ञा० ३ पद। जी०। अर्थतश्चेत्थम्- " पण १ चउ २ ति ३ दुय ४ अणिंदिय ५, एगिंदिय ६ सइंदिया कमा हुंति। थोवा १ तिन्नि य अहिया ४, दोऽणंतगुणा ६ विसेसहिया " ॥ १ ॥ भ० २५ श० ३ उ०। जी०।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अपज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया अपज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा,सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्ताः एकस्मिन्प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम्। तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताङ्गुलासंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्। तेभ्यस्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततरप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डमानत्वात्। तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततमाङ्गुलासंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्। तेभ्य एकेन्द्रिया अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्ततया सदा प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्योऽपि सेन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम्। प्रज्ञा० ३ पद। जी०।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्तगा चउरिंदिया पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा।

सर्वस्तोकाश्चतुरिन्द्रियाः पर्याप्ताः, यतोऽल्पायुषश्चतुरिन्द्रियाः, ततः प्रभूतकालमवस्थानाभावात्। पृच्छासमये स्तोका अपि प्रतरे यावन्त्यङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणा वेदितव्याः। तेभ्यः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिकाः,प्रभूताङ्गुलसंख्येयभागखण्डमानत्वात्। तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः,प्रभूततरप्रतराङ्गुलसंख्येयभागखण्डमानत्वात्। तेभ्योऽपि त्रीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, स्वभावत एव तेषां प्रभूततमप्रतराङ्गुलसंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात्। तेभ्य एकेन्द्रियाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्याप्तानामनन्तत्वात्। तेभ्यः सेन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। गतं तृतीयमल्पबहुत्वम्।

सम्प्रत्येषामेव सेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तगतान्यल्पबहुत्वान्याह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा सइंदिया अपज्जत्ता पज्जत्तगा सइंदिया संखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! एगिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया पज्जत्तगा एगिंदिया अपज्जत्ता असं०। एएसि णं भंते ! बेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बेइंदिया पज्जत्ता बेइंदिया अपज्जत्ता असं-

खेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा तेइंदिया पज्जत्तगा, तेइंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! पंचेंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्याप्तकाः, इह सेन्द्रिया एव बहवस्तत्रापि सूक्ष्माः, तेषां सर्वलोकापन्नत्वात् । सूक्ष्माश्चापर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तोका द्वीन्द्रियाः पर्याप्ताः, यावन्ति प्रतरेऽङ्गुलस्य असंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासंख्येयभागखण्डमात्रत्वात् । एवं त्रिचतुरिन्द्रियाल्पत्वान्यपि वक्तव्यानि । गतं षडल्पबहुत्वात्मकं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतेषां सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सइंदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयतृतीयाल्पबहुत्वभावनानुसारिणा स्वयं भावनीयम्, तत्त्वतो भावितत्वात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३ पद । जी० । प्रव० । (इन्द्रियोपयोगाद्धाविषयमल्पबहुत्वम्-'इंदियउवओगद्धा' शब्दे द्वितीयभागे ५६८ पृष्ठे प्ररूपयिष्यते)

(७) [उद्वर्तनाऽपवर्तनयोरल्पबहुत्वम्] सम्प्रति द्वयोरपि उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वं सूत्रकृत् प्रतिपादयति—

थोवं पएसगुणहाणि अंतरे दुसु जहन्ननिक्खेवो ।
कमसो अणंतगुणिओ, दुसु वि अइत्थावणा तुल्ला ॥२२२॥
वाघाएणऽणुभाग—कंडगमेकाइ वग्गणाऊणं ।
उक्कोसो निक्खेवो, ससंतबंधो य सविसेसो । २२३ ॥

एकस्यां दिशि स्थितौ यानि स्पर्द्धकानि तानि क्रमशः स्थाप्यन्ते । तद्यथा-सर्वजघन्यं रसस्पर्द्धकमादौ, ततो विशेषाधिकरसं द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयम् । एवं तावत्सर्वोत्कृष्टरसमन्ते । तत्राऽऽदिस्पर्द्धकादारभ्योत्तरोत्तरस्पर्द्धकानि प्रदेशापेक्षया विशेषहीनानि, अन्तिमस्पर्द्धकादारभ्य पुनरधोऽधः क्रमेण प्रदेशापेक्षया विशेषाधिकानि, तेषां मध्ये एकस्मिन् द्विगुणवृद्ध्यन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यत् स्पर्द्धकं यानि तत् सर्वस्तोकम् । अथवा स्नेहप्रत्ययस्य स्पर्द्धकस्य अनुभागद्विगुणवृद्ध्यन्तरे, द्विगुणहान्यन्तरे वा यदनुभागपटलं तत्सर्वस्तोकान्येव प्राप्यन्ते । अन्तिमस्थितिषु प्रभूतानि, इति स्पर्द्धकसंख्यापेक्षया द्वयोरपि निक्षेपस्तुल्यः । एवमतिस्थापनायामुत्कृष्टनिक्षेपेऽपि च भावनीयम् । क्रमश इति च सकलगाथाऽपेक्षया योजनीयम् । ततो द्वयोरप्यतिस्थापना व्याघातबाह्या अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या । ततो "वाघाएणेत्यादि" व्याघातेन यद् उत्कृष्टं अनुभागकण्डकमेकया वर्गणया एकसमयमात्रस्थितिगतस्पर्द्धकसंहतिरूपया ऊनम्, एषा उत्कृष्टानुभागकण्डकस्य याऽतिस्थापना, सा अनन्तगुणा । तत उद्वर्तनापवर्तनयोरुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो त्ति) पूर्वबद्धोत्कृष्टस्थितिकर्मानुभागेन सह उत्कृष्टस्थित्यनुभागबन्धो विशेषाधिकः । क० प्र० ॥

(८) [उपयोगद्वारम्] साकाराऽनाकारोपयुक्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणागारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणागारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोगः कालः सर्वस्तोकः, साकारोपयोगकालस्तु सङ्ख्येयगुणः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्वस्तोकाः, पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः सङ्ख्येयगुणाः, साकारोपयोगकालस्य दीर्घतया तेषां पृच्छासमये बहूनां प्राप्यमाणत्वात् । गतमुपयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । पं० सं० । क० प्र० । (कति सञ्ज्ञितानां कति असञ्ज्ञितानामेवकत्र्यकसञ्ज्ञितानां षट्कसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानां, कर्मप्रदेशाग्राणामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे प्रदेशबन्धावसरे वक्ष्यते)

(९) [कषायद्वारम्] क्रोधकषायादीनामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अकषायिणः, सिद्धानां कतिपयानां च मनुष्याणामकषायत्वात् । तेभ्यो मानकषायिणो मानकषायपरिणामवन्तोऽनन्तगुणाः, षट्स्वपि जीवनिकायेषु मानकषायपरिणामस्याऽवाप्यमानत्वात् । तेभ्यः क्रोधकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्यो मायाकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, मा-

नकषायपरिणामकालापेक्षया क्रोधादिकषायपरिणामकालस्य यथोत्तरं विशेषाधिकतया क्रोधादिकषायाणामपि यथोत्तरं विशेषाधिकत्वभावात् । लोभकषायिभ्यः सामान्यतः सकषायिणो विशेषाधिकाः, मानादिकषायाणामपि तत्र प्रक्षेपात् । सकषायिण इत्यत्रैवं व्युत्पत्तिः-कषायशब्देन कषायोदयः परिगृह्यते, तथा च लोके व्यवहारः-सकषायोऽयं, कषायोदयवानित्यर्थः । सह कषायेण कषायोदयेन वर्तन्ते सकषायोदयाः विपाकावस्थां प्राप्ताः स्वोदयमुपदर्शयन्तः कषायकर्मपरिमाणवन्तस्तेषु सत्सु जीवस्यावश्यं,कषायोदयसंभवात्। सकषाया विद्यन्ते येषां ते सकषायिणः, कषायोदयसहिता इति तात्पर्यार्थः। गतं कषायद्वारम । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । सकषायिणामकषायिणां चाल्पबहुत्वचिन्तायां, सर्वस्तोका अकषायिणः, सकषायिणोऽनन्तगुणाः । जी० ८ प्रति० । (कामभोगविषयमल्पबहुत्वं 'कामभोग' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) [कायद्वारम] सकायिकानामल्पबहुत्वम—

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं अकाइयाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया, आउकाइया विसेसाहिया, वाउकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणंतगुणा, वणस्सइकाइया अणंतगुणा, सकाइया विसेसाहिया वा ॥

सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव त्रसकायिकत्वात्; तेषां च शेषकायापेक्षया अत्यल्पत्वात् । तेभ्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्योऽकायिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः सकायिका विशेषाधिकाः, पृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । सकमौघिकानामल्पबहुत्वम । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । अर्थतश्चैवम-"तस-तेउ-पुढवि-जल-वा,-उकाय-अकाय वणस्सइसकाया ८। थोवा १ ऽसंखगुणाहिय २, तिन्नि उ ४ दो ऽणंतगुणा ७ अहिय" त्ति । प्र० २५ श० ३ उ०। पं०सं० ।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाण य अपज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया अपज्जत्तगा, तेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा । सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद । (टीका चास्य सुगमाऽतो न प्रतन्यते)

साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह--

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाण य पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तेउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया पज्जत्ता अणंतगुणा, सकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा सकाइया अपज्जत्तगा, सकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइया अपज्जत्तगा, पुढविकाइया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! आउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा आउकाइया अपज्जत्तगा, आउकाइया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! तेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउकाइया अपज्जत्तगा, तेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! वाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वाउकाइया अपज्जत्तगा,वाउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! वणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अपज्जत्तगा,वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । प्रज्ञा०३पद।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वं पञ्चममाह-

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, तेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, पुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, अप्पकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाइया विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः पर्याप्तकाः, तेभ्यस्त्रसकायिका एवाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणाः; द्वीन्द्रियादीनामपर्याप्तानां पर्याप्तद्वीन्द्रियादिभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः पृथिव्यम्बुवायवोऽपर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः। ततस्तेजस्कायिकाः पर्याप्तकाः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात् । ततः पृथिव्यब्वायवः पर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः। ततो वनस्पतयोऽपर्याप्ता अनन्तगुणाः। पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः। तदेवं कायद्वारे सामान्येन पञ्चसूत्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यस्मिन्नेव द्वारे सूक्ष्मबादरादिभेदेन पञ्चदश सूत्राण्याह—

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमणिओयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया विसेसाहिआ, सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा । सुहुमवणस्सइकाइया अणंतगुणा, सुहुमा विसेसाहिआ ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशमानत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणाः । सूक्ष्मग्रहणं बादरव्यवच्छेदार्थम् । द्विविधा हि निगोदाः-सूक्ष्माः, बादराश्च । तत्र बादराः सूरणकन्दादिषु, सूक्ष्माः सर्वलोकापन्नाः, ते च प्रतिगोलकमसङ्ख्येया इति सूक्ष्मवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्येन सूक्ष्मजीवा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतमौघिकानामिदमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेवाऽपर्याप्तानामाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिआ ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् ।

सम्प्रत्येतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्तगाणं, सुहुमवणस्सइकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदपज्जत्तगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया । सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां नवानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पाबहुगं सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा, पुढवि० आउ० वाउ० विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रमितराश्यसंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-

त्वात् । तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । जी० ६ प्रति० ।

सम्प्रति एतेषामेवानिन्द्रियसहितानां दशानामल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउ०, वाउ०, वणप्फति०, बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया वि०, तेउकाइया असंखेज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, आउकाइया वि०, वाउकाइया वि०, अणिंदिया अणंतगुणा, वणप्फतिकाइया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, पृथिवीकायिकाः विशेषाधिकाः, अप्कायिका विशेषाधिकाः, वायुकायिका विशेषाधिकाः, अनिन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः । जी० १० प्रति० ।

अधुनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्याप्तगतान्यल्पबहुत्वान्याह–

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्जत्तगा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इह बादरेषु पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तनिश्रया असंख्येयानामपर्याप्तानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक् प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे–" पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्ज " इति । सूक्ष्मेषु पुनर्नायं क्रमः । पर्याप्तापर्याप्तापेक्षया चिरकालावस्थायित्व इति । सदैव ते बहवो लभ्यन्ते । तत उक्तम्–सर्वस्तोकाः सूक्ष्मा अपर्याप्ताः, तेभ्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, एवं पृथिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येकं भावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

इदानीं सर्वेषां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तगतं पञ्चममल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमतेउकाइया पज्ज० संखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मास्तेजस्कायिका अपर्याप्ताः; कारणं प्रागेवोक्तम् । तेभ्यः सूक्ष्माः पृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः। तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः। अत्रापि कारणं प्रागेवोक्तम् । तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । अपर्याप्तेभ्यो हि पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । इत्यनन्तरं भावितम् । तत्र सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता उक्ताः । इतरे च सूक्ष्मपर्याप्ताः पृथिवीकायिकादयो विशेषाधिकाः विशेषाधिकत्वं च मनागधिकत्वम् , न द्विगुणत्वं न त्रिगुणत्वं वा । ततः सूक्ष्मतेजस्कायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः संख्येयगुणाः सन्तः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्तेभ्योऽपि असंख्येयगुणा भवन्ति । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः। तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिकाः पर्याप्ताः विशेषाधिकाः । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राचुर्यात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघतः संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां तेषां भावात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तकाः विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायि-

काः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । सूक्ष्मेषु हि अपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । यच्चापान्तराले विशेषाधिकत्वं तदल्पमिति न संख्येयगुणत्वव्याघातः । तेभ्यः सूक्ष्मपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ १५ ॥ तदेवमुक्तानि सूक्ष्माश्रितानि पञ्चसूत्राणि ।

सम्प्रति बादराश्रितानि पञ्चोक्तक्रमेणाभिधित्सुराह—

एएसि णं भंते ! बादरगाणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा, बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरत्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरत्रसत्वात्, तेषां च शेषकायेभ्योऽल्पत्वात् । तेभ्यो बादरतेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, स्थानस्यासंख्येयगुणत्वात् । बादरतेजस्कायिका हि मनुष्यक्षेत्र एव भवन्ति । तथा चोक्तं द्वितीयस्थानाख्ये पदे—"कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं अंतो मणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाएणं पन्नरसकम्मभूमिसु वाघाएणं पंचसु महाविदेहेसु एत्थ णं बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, तत्थेव बायरतेउकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता" इति । बादरवनस्पतिकायिकेषु त्रिष्वपि लोकेषु भवनादिषु । तथा चोक्तं तस्मिन्नेव द्वितीये स्थानाख्ये पदे—"कहि णं भंते ! बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ? । गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिवलएसु अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु विप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु, एत्थ णं बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता" । तथा—"जत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता" इति । ततः क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वादुपपद्यन्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः । तेभ्यो बादरनिगोदा असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलेषु सर्वत्रापि च भावात् । पनकशैवालादयो हि जले अवश्यंभाविनः, ते च बादरानन्तकायिका इति । तेभ्योऽपि बादरपृथिवीकायिका असंख्येयगुणाः, अष्टसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभवनपर्वतादिषु भावात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा बादराप्कायिकाः, समुद्रेषु जलप्राभूत्यात् । तेभ्यो बादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः, सुषिरे सर्वत्र वायुसंभवात् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा जीवा विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतमेकमौघिकानां बादराणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह—

एएसि णं भंते ! बादरा पज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं पत्तेयसरीरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसेसाहिया २।

सर्वस्तोका बादरत्रसकायिका अपर्याप्तकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्तैव । तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । इत्येवं प्रागुक्तक्रमेणेदमल्पबहुत्वं भावनीयम् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! बादरपज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया पज्जत्तयाणं बादरआउकाइया पज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया पज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तयाणं बादरनिगोदपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया पज्जत्तयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अनन्तगुणा, बादरपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ ३ ॥

सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलिकासमयवर्गस्य कतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणितस्य यावान् समयराशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वं तेषाम्। उक्तं च-"आवलिवग्गो य कुणा-वलिए गुणिओ हु बायरा तेऊ" इति ॥ तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्। तेभ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्। उक्तं च-"पत्तेयपज्जवणका-इया उपयरं हरंति लोगस्स। अंगुलअसंखभागे-ण भाइयमिति"। तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलाशयेषु च सर्वत्र भावात्। तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतसंख्येयप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डमानत्वात्। तेभ्योऽपि बादराप्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततरसंख्येयप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डसंख्यत्वात्। तेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्यासंख्येयेषु प्रतरेषु संख्याततमभागवर्त्तिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः,प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यः सामान्यतो बादरपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकानामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। गतं तृतीयमल्पबहुत्वम् ॥ ३ ॥

इदानीमेतेषामेव पर्य्याप्तापर्य्याप्तानां चतुर्थमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते! बादराणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा? । गोयमा! सव्वत्थोवा बादरा पज्जत्तगा,बादरा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरपुढविकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पज्जत्तगा, बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया, बादरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरवाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पज्जत्तगा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा! सव्वत्थोवा पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा,पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरनिगोदाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पज्जत्तगा बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा। एएसि णं भंते! बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया पज्जत्तगा,बादरतसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा॥४॥

इह बादरैकैकपर्याप्तनिश्रया असंख्येया बादरा अपर्याप्ता उत्पद्यन्ते। "पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति वचनात्। ततः सर्वत्र पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणा वक्तव्याः। त्रसकायिकसूत्रं प्रागुक्तयुक्त्या भावनीयम्। गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।४।

सम्प्रत्येतेषामेव समुदितानां पर्य्याप्तापर्य्याप्तानां पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते! बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरतसकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरपत्तेयवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरा पज्जत्तगा विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः। तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरत्रसकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरनिगोदाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्तका

असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादराप्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। एतेषु पदेषु युक्तिः प्रागुक्ता अनुसरणीया ॥ तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, यतो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयेषु प्रतरेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः, बादरतेजस्कायिकाश्चापर्याप्ता असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः। ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः, बादराप्कायिकाः, बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणा वक्तव्याः। यद्यपि चैते प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्तथाऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वं न विरुध्यते। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा एकैकपर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकनिगोदनिश्रयाः, असंख्येयानामपर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिताः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतानि बादराश्रितान्यपि पञ्च सूत्राणि।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरसमुदायगतां पञ्चसूत्रीमभिधित्सुः प्रथमम् औघिकं सूक्ष्मबादरसूत्रमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया १, बादरतेउकाइया असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा ३, बादरनिगोदा असंखेज्जगुणा ४, बादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा ५, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा ६, बादरवाउकाइया असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेउकाइया असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया ९, सुहुमआउकाइया विसेसाहिया १०, सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा १३, बादरा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा विसेसाहिया १६ ॥

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) इह प्रथमं बादरगतमल्पबहुत्वं बादरसूत्र्यां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वद्भावनीयं यावद्बादरवायुकायिकपदम्। तदनन्तरं यत्सूक्ष्मगतमल्पबहुत्वम्। ततः सूक्ष्मपञ्चसूत्र्यां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, तावद्यावत्सूक्ष्मनिगोदचिन्ता। तदनन्तरं बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो बादरा विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतमेकमल्पबहुत्वम्। प्रज्ञा० ३ पद। जी०।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमआउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमतेउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरा अपज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तयाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा १, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ३, बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा ४, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ५, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखे० ६, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ९, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १०, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा १३, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १६।

सर्वस्तोका बादरत्रसकायिका अपर्याप्ताः। ततो बादरतेजस्कायिका बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवायुकायिका अपर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना बादरपञ्चसूत्र्यां यद् द्वितीयमपर्याप्तकसूत्रं तद्वत्कर्तव्या। ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ताः, अतिप्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्। तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्माप्कायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना सूक्ष्मपञ्चसूत्र्यां यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाऽपर्याप्तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवा अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रति–

बादरैकैकनिगोदमनन्तानां सद्भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माअपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोयपज्जत्तयाणं बादरपज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइयपज्जत्तयाणं बादरआउकाइयपज्जत्तगाणं बादरआउकाइयपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइयपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइयपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं बादरनिगोदपज्जत्तयाणं बादरतसकाइयपज्जत्तयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तया असं०, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, बादरा पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तया विसेसाहिया ।

(सुहुमपज्जत्तयाणमित्यादि) । सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः, बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः, बादराप्कायिकाः, बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । अत्र भावना बादरपञ्चसूत्र्यां यत् तृतीयं पर्याप्तसूत्रं तद्वत्कर्तव्या । बादरपर्याप्तवायुकायिकेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरवायुकायिका हि असंख्येयप्रतरप्रदेशराशिप्रमाणाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकास्तु पर्याप्ता असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः, ततोऽसंख्येयगुणाः । ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्माप्कायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ताः क्रमेण यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततः सूक्ष्मवायुकायिकेभ्यः पर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्रभूततया प्रतिगोलकं भावात् । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवाः पर्याप्तका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्तका विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं तृतीयमल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मबादरादीनां प्रत्येकं पर्य्याप्तापर्याप्तानां पृथक् २ अल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं बादराण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरा पज्जत्तगा, बादरा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्तया, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं बादरआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पज्जत्तया बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पज्जत्तया, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्ज०, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं बादरनिगोदाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पज्जत्तया, बादरनिगोदा अप-

ज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया संखेज्जगुणा ॥

सर्वत्रेयं भावना-सर्वस्तोका बादराः पर्याप्ताः,परिमितक्षेत्रवर्तित्वात् । तेभ्यो बादरा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्याप्तनिश्रया असंख्येयानां बादरपर्याप्तानामुत्पादात् । तेभ्यः सूक्ष्मा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सर्वलोकोत्पत्तितया तेषां क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः,चिरकालावस्थायितया तेषां सदैव संख्येयगुणतयाऽवाप्यमानत्वात् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीकायिकादीनां च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां च समुदायेन पञ्चममल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया १, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा २, बादरतसकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा ३, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ५, बायरपुढविकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ७, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ८। बादरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा ९, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्ज० १०, बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखे० ११, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखे० १२, बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखे० १३, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखे० १४, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा १५, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १६, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १७, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया १८, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तया संखि० १९, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया २०,. सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया २१, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया २२, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखे० २३, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया संखे० २४,बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा २५, बादरा पज्जत्ता विसेसाहिया २६, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा २७, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया २८, बादरा विसेसाहिया २९, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखि० ३०, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया ३१, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखे० ३२, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ३३, सुहुमा विसेसाहिया ३४ ।

(एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणमित्यादि) सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलिकासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणिते यावान् समयराशिस्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् २ । तेभ्यो बादरत्रसकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् ३। ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक ४ बादरनिगोद ५ बादरपृथ्वीकायिक ६ बादराप्कायिक ७ बादरवायुकायिकाः ८ पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यप्येते प्रत्येकं प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणास्तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वमभिधीयमानं न विरुध्यते । एतेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ९। ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक १० बादरनिगोद ११ बादरपृथिवीकायिक १२ बादराप्कायिक १३ बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः १४, ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः १५, ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक १६ सूक्ष्माप्कायिक १७ सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः १८ । ततः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्यातगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघत एव संख्येयगुणत्वात् १९ । ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक २० सूक्ष्माप्कायिक २१ सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः २२। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्राभूत्येन सर्वलोकेषु भावात् २३ । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघत एव सदा संख्येयगुणत्वात् । एते च बादरापर्याप्ततेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यवसानाः षोडश पदार्था यद्यप्यन्यत्राविशेषेणासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणतया सङ्गीयन्ते, तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमसंख्येयगुणत्वं विशेषाधिकत्वं संख्येयगुणत्वं प्रतिपाद्यमानं न विरोधभागिति २४। तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः,प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् २५। तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबादरनिगोदनिश्रया असंख्येयानां बादरनिगोदापर्याप्तानामुत्पादात् २७ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् २९ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामप्यपर्याप्तानामप्यसंख्येयगुणत्वात् ३० । ततः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मवनस्पतिकायिकापर्याप्तेभ्यो हि सूक्ष्मवनस्पतिकायिकपर्याप्ताः सं-

ख्येयगुणाः,सूक्ष्मेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात्। ततः सूक्ष्मापर्याप्तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः,विशेषाधिकत्वस्य संख्येयगुणत्वबाधनायोगात् ३२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ३३ । ततः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिता विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ३४ । गतं सूक्ष्मबादरसमुदायगतं पञ्चममल्पबहुत्वं, तद्गतौ समर्थितानि पञ्चदशाऽपि सूत्राणि । इति गतं कायद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । नोसूक्ष्मनोबादरबादराणामल्पबहुत्वम् । जी० ३ प्रति० ।

(आरम्भिक्यादिक्रियाणामल्पबहुत्वं 'किरिया' शब्दे वक्ष्यते)

(११) [क्षेत्रद्वारम्] कस्मिन्क्षेत्रे जीवाः स्तोकाः कस्मिन् वा बहवः ?, इति चिन्त्यन्ते-

खित्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जीवा उड्ढलोयतिरियलोए अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखिज्जगुणा , तेलुक्के असंखेज्जगुणा , उड्ढलोए असंखेज्जगुणा , अहोलोए विसेसाहिया ।

क्षेत्रस्यानुपातोऽनुसारः क्षेत्रानुपातस्तेन, चिन्त्यमाना जीवाः सर्वस्तोका उर्द्ध्वलोकतिर्यग्लोके, इह उर्द्ध्वलोकस्य यदधस्तनमाकाशप्रदेशप्रतरं यच्च सर्वतिर्यग्लोकस्य सर्वोपरितनमाकाशप्रदेशप्रतरमेव उर्ध्वलोकप्रतरः, तथा प्रवचने प्रसिद्धेः । इयमत्र भावना-इह सामस्त्येन चतुर्दशरज्ज्वात्मको लोकः । स च त्रिधा भिद्यते । तद्यथा-ऊर्ध्वलोकः, तिर्यग्लोकः, अधोलोकश्च । रुचकाच्चैतेषां विभागः। तथाहि-रुचकस्याधस्तान्नवयोजनशतानि, रुचकस्योपरिष्टान्नवयोजनशतानि तिर्यग्लोकः, तिर्यग्लोकस्याधस्तादधोलोकः, उपरिष्टादूर्ध्वलोकः, देशोनसप्तरज्जुप्रमाण ऊर्ध्वलोकः, समधिकसप्तरज्जुप्रमाणोऽधोलोको, मध्येऽष्टादशयोजनशतोच्छ्रयस्तिर्यग्लोकः। तत्र रुचकसमानाद् भूतलभागान्नवयोजनशतानि गत्वा यज्ज्योतिश्चक्रस्योपरितनं तिर्यग्लोकसंबन्धि एकप्रादेशिकमाकाशप्रतरं तत्तिर्यग्लोकप्रतरम् । तस्य चोपरि यदेकप्रादेशिकमाकाशप्रतरं तदूर्ध्वलोकप्रतरम् । एते च द्वे अप्यूर्ध्वलोकतिर्यग्लोके इति व्यवह्रियेते। तथाऽनादिप्रवचनपरिभाषाप्रसिद्धेः। तत्र वर्तमाना जीवाः सर्वस्तोकाः। कथम् ?, इति चेत् । उच्यते-इह ये ऊर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके समुत्पद्यमाना विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ये च तत्रस्था एव केचन तत्प्रतरद्वयाध्यासिनो वर्तन्ते ते किल विवक्षिते प्रतरद्वये वर्तन्ते नान्ये; ये पुनरूर्ध्वलोकादधोलोके समुत्पद्यमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति ते न गण्यन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषयत्वात्। ततः स्तोका एवाधिकृतप्रतरद्वयवर्तिनो जीवाः । ननूर्ध्वलोकगतानामपि सर्वजीवानामसंख्येयभागोऽनवरतं म्रियमाणोऽवाप्यते , ते च तिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्तीति कथमधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः स्तोकाः ?। तदयुक्तम्, वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । तथाहि-यद्यपि नाम ऊर्ध्वलोकगतानां सर्वजीवलोकानामसंख्येयो भागोऽनवरतं म्रियमाणोऽवाप्यते तथापि न ते सर्वे एव तिर्यग्लोके समुत्पद्यन्ते, प्रभूततराणामधोलोके ऊर्ध्वलोके च समुत्पादात्। ततोऽधिकृतप्रतरद्वयवर्तिनः सर्वस्तोका एव ।१। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकाः। इह यदधोलोकस्योपरितनमेकप्रादेशिकमाकाशप्रदेशप्रतरं यच्च तिर्यग्लोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकमाकाशप्रदेशप्रतरमेतद्द्वयमप्यधोलोकतिर्यग्लोक इत्युच्यते, तथा प्रवचनप्रसिद्धेः । तत्र ये विग्रहगत्या तत्रस्थतया वा वर्तन्ते ते विशेषाधिकाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह ये अधोलोकात्तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना अधिकृतं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति; ये च तत्रस्था एव केचन तत्प्रतरद्वयमध्यासीना वर्तन्ते ते विवक्षितप्रतरद्वयवर्तिनः , ये पुनरधोलोकादूर्ध्वलोके समुत्पद्यमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ते न परिगृह्यन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषयत्वात् । केवलमूर्ध्वलोकादधोलोको विशेषाधिकः,इत्यधोलोकात्तिर्यग्लोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना ऊर्ध्वलोकापेक्षया विशेषाधिका अवाप्यन्ते, ततो विशेषाधिकाः ।२।तेभ्यस्तिर्यग्लोकवर्तिनोऽसंख्येयगुणाः, उक्तक्षेत्रद्विकात्तिर्यग्लोके क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात्।३।तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रिलोकसंस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः , इह ये केवले ऊर्ध्वलोके अधोलोके तिर्यग्लोके वा वर्तन्ते,ये च विग्रहगत्या उर्ध्वलोकतिर्यग्लोकौ स्पृशन्ति ते न गण्यन्ते, किन्तु ये विग्रहगत्या त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति ते परिगृह्याः, सूत्रस्य विशेषविषयत्वात् । ते च तिर्यग्लोकवर्तिभ्योऽसंख्येयगुणा एव । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह बहवः प्रतिसमयमूर्ध्वलोके अधोलोके च सूक्ष्मनिगोदा उद्वर्तन्ते , ये तु तिर्यग्लोकवर्तिनः सूक्ष्मनिगोदा उद्वर्तन्ते, तेऽर्थादधोलोके ऊर्ध्वलोके वा केचित्तस्मिन्नेव वा तिर्यग्लोके समुत्पद्यन्ते, ततो न ते लोकत्रयसंस्पर्शिन इति नाधिकृतसूत्रविषयाः तत्रोर्ध्वलोकाधोलोकगतानां सूक्ष्मनिगोदानामुद्वर्तमानानां मध्ये केचित्स्वस्थान एव ऊर्द्ध्वलोके अधोलोके वा समुत्पद्यन्ते, केचित् तिर्यग्लोके, तेभ्योऽसंख्येयगुणा अधोलोकगता ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकगता अधोलोके समुत्पद्यन्ते। ते च तथोत्पद्यमानास्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तीत्यसंख्येयगुणाः।कथं पुनरेतदवसीयते यदुत एवंप्रमाणा बहवो जीवाः सदा विग्रहगत्यापन्ना लभ्यन्ते ?, इति चेत् , उच्यते-युक्तिवशात्। तथाहि-प्रागुक्तमिदमत्रैव सूत्रं पर्याप्तिद्वारे-" सव्वत्थोवा जीवा नो पज्जत्ता नो अपज्जत्ता, अपज्जत्ता अनंतगुणा,पज्जत्ता संखेज्जगुणा " इति । तत एवंनामापर्याप्ताः बहवो ये नैतेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणा एव नासंख्येयगुणाः ; नाप्यनन्तगुणास्ते चापर्याप्ता बहवोऽन्तरगतौ वर्तमाना लभ्यन्ते इति तेभ्य ऊर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकावासिनोऽसंख्येयगुणाः, उपपातक्षेत्रस्यातिबहुत्वात् । असंख्येयानां च भागानामुद्वर्तनायाश्च संभवात् । तेभ्योऽधोलोकेऽधोलोकवर्तिनो विशेषाधिकाः , ऊर्ध्वलोकक्षेत्रादधोलोकक्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात् । तदेवं सामान्यतो जीवानां क्षेत्रानुपातेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं चतुर्गतिदण्डकक्रमेण तदभिधित्सुः प्रथमतो नैरयिकाणामाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा नेरइया तेलुक्के अहोलोगतिरियलोगे असंखेज्ज०, अहोलोए असंखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण नैरयिकाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः त्रैलोक्ये लोकत्रयसंस्पर्शिनः। कथं लोकत्रयसंस्पर्शिनो नैरयिकाः ?, कथं वा ते सर्वस्तोकाः ? इति चेत्, उच्यते-इह ये मेरुशिखरे अञ्जनदधिमुखपर्वतशिखरादिषु वा वापीषु वर्तमाना मत्स्यादयो नारकेषूत्पित्सव ईलिकागत्या प्रदेशान् विक्षिपन्ति, ते किल त्रैलोक्यमपि स्पृशन्ति, नारकव्यपदेशं च लभन्ते, त-

स्कालमेव नरकेषूत्पन्ने नारकायुष्कप्रतिसंवेदनात्। ते चेत्थंभूताः कतिपय इति सर्वस्तोकाः । अन्ये तु व्याचक्षते-नारका एव यथोक्तवापीषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानाः समुद्घातवशतो विक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदण्डाः परिगृह्यन्ते। ते हि किल तदा नारका एव निर्विवादं तदायुष्कप्रतिसंवेदनात् त्रैलोक्यसंस्पर्शिनश्च यथोक्तवापीर्यावदात्मप्रदेशदण्डस्य विक्षिप्तत्वादिति। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञाः प्रागुक्तप्रतरद्वयस्य संस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽसंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नरकेषूत्पद्यमाना यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो भवन्ति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्यातगुणत्वात् । मन्दरादिक्षेत्राद् असंख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं क्षेत्रमसंख्येयगुणमित्यतो भवन्त्यसंख्येयगुणाः । अन्ये त्वभिदधति-नारका एवासंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्घातेन विक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदण्डा द्रष्टव्याः। ते हि नारकायुःप्रतिसंवेदना नारका उद्वर्त्तमाना अप्यसंख्येयाः प्राप्यन्ते, इति प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, तस्य तेषां स्वस्थानत्वात् । उक्तं नारकगतिमधिकृत्य क्षेत्रानुपातेनाऽल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तिर्यग्गतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया उड्ढलोयतिरियलोए अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्ज०, अहोलोए विसेसाहिया ॥

इदं सर्वमपि सामान्यतो जीवसूत्रमिव भावनीयम् । तदपि तिरश्च एव सूक्ष्मनिगोदानधिकृत्य भावितम् ।

अधुना तिर्यग्योनिकस्त्रीविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिणीओ उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्ज०, तेलुक्के असंखेज्ज०, अहोलोयतिरियलोए संखिज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्जगुणाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ।

क्षेत्रानुपातेन तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोके, इह मन्दरादिवापीप्रभृतिष्वपि हि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽल्पत्वात् सर्वस्तोकाः । ताभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-यावत्सहस्रारदेवलोकस्तावद्देवा अपि गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोनिषूत्पद्यन्ते, किं पुनः शेषकायाः ?। ते हि यथासंभवमुपरिवर्तिनोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते ; ततो ये सहस्रारान्ता देवा अन्येऽपि च शेषकाया ऊर्ध्वलोकात्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेन तदायुःप्रतिसंवेदयमाना उत्पद्यन्ते, याः तिर्यग्लोकवर्तिन्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रिय ऊर्ध्वलोके देवत्वेन शेषकायत्वेन चोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्घातेनोत्पत्तिदेशे निजनिजात्मकप्रदेशदण्डान् विक्षिपन्ति, ता यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ताः ततोऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्त्रैलोक्ये संख्येयगुणाः, यस्मादधोलोकाद्भवनपतिव्यन्तरनारकाः शेषकाया अपि चोर्ध्वलोकेऽपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । ऊर्ध्वलोकाद्देवादयोऽप्यधोलोके च ते समवहता निजनिजात्मप्रदेशदण्डैस्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति। प्रभूताश्च ते तथा तिर्यग्योनिकस्त्र्यायुःप्रतिसंवेदनात्। तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ततः संख्येयगुणाः ।३। ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येयगुणाः, बहवो हि नारकादयः समुद्घातमन्तरेणाऽपि तिर्यग्लोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । तिर्यग्लोकवर्तिनश्च जीवास्तिर्यग्योनिकस्त्रीत्वेनाऽधोलौकिकग्रामेष्वपि च ते च तथोत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकस्त्र्यायुःप्रतिसंवेदनाच्च तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽपि तथाऽधोलौकिकग्रामा योजनसहस्रावगाहाः पर्यन्तेऽर्वाक् कश्चित्प्रदेशो नवयोजनशतावगाहो अपि तत्र काश्चित्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽवस्थानेनाऽपि यथोक्तप्रतरद्वयाध्यासिन्यो वर्तन्ते, ततो भवन्ति पूर्वोक्ताभ्यः संख्येयगुणाः ।४। ताभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, यतोऽधोलौकिकग्रामाः सर्वेऽपि च समुद्रा योजनसहस्रावगाहाः, ततो नवयोजनशतानामधस्ताद् या वर्तन्ते मत्स्यीप्रभृतिकाः तिर्यग्योनिकस्त्रियस्ताः स्वस्थानत्वात् प्रभूता इति संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः । उक्तं तिर्यग्गतिमप्यधिकृत्याऽल्पबहुत्वम् ।

इदानीं मनुष्यगतिविषयमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा तेलुक्के उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन मनुष्याश्चिन्त्यमानाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वस्तोकाः,यतो ये ऊर्ध्वलोकादधोलौकिकग्रामेषु समुत्पित्सवो मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता भवन्ति, ते केचित्समुद्घातवशाद्बहिर्निर्गतैः स्वात्मप्रदेशैस्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति, येऽपि च वैक्रियसमुद्घातमाहारकसमुद्घातं वा गताः तथाविधप्रयत्नविशेषाद्दूरतरमूर्ध्वमधो विक्षिप्तात्मप्रदेशाः, ये च केवलिसमुद्घातगतास्तेऽपि त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । स्तोकाश्चेति सर्वस्तोकाः,तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयसंस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः,यत इह वैमानिकदेवाः शेषकायाश्च यथासंभवमूर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके मनुष्यत्वेन समुत्पद्यमाना यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनो भवन्ति। विद्याधराणामपि च मन्दरादिषु गमनं, तेषां च शुक्ररुधिरादिपुद्गले संमूर्च्छिममनुष्याणामुत्पाद इति,ते विद्याधरा रुधिरादिपुद्गलसंमिश्रा अवगन्तव्याः । तथा संमूर्च्छिममनुष्या अपि यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शवन्त उपजायन्ते,ते चातिबहव इत्यसंख्येयगुणाः,तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये संख्येयगुणाः,यतोऽधोलौकिकग्रामेषु स्वभावत एव बहवो मनुष्याः, ततो ये तिर्यग्लोकान्मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वाऽधोलौकिकग्रामेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यत्वेन संमूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पित्सवो ये चाऽधोलोकादधोलौकिकग्रामरूपात् शेषाद्वा मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वा तिर्यग्लोके गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यत्वेन वा संमूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामास्ते यथोक्तं किल प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, बहुतराश्च ते तथा स्वस्थानतोऽपि केचिदधोलौकिकग्रामेषु यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शिन इति प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य ऊर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, सौमनसादिषु क्रीडार्थं चैत्यवन्दननिमित्तं वा प्रभूततराणां विद्याधरचारणमुनीनां भावात् । तेषां च यथायोगं रुधिरादिपुद्गलयोगतः संमूर्च्छिममनुष्यसंभवात् । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन बहुत्वभावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्स्वस्थानत्वाच्च ।

सम्प्रति क्षेत्रानुपातेन मानुषीविषयमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ माणुस्सीओ तेलुक्के उड्ढलोयतिरियलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणाओ, उड्ढलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन मानुष्यश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकास्त्रैलोक्यस्पर्शिन्य ऊर्ध्वलोकादधोलोके समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातवशविनिर्गतदूरतरात्मप्रदेशानामथवा वैक्रियसमुद्घातगतानां केवलिसमुद्घातगतानां वा त्रैलोक्यसंस्पर्शिन्यः तासां चातिस्तोकत्वमिति सर्वस्तोकाः ताभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवानां शेषकायाणां चोर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पद्यमानानां तथा तिर्यग्लोकगतमनुष्यस्त्रीणामूर्ध्वलोके समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातवशाद् दूरतरमूर्ध्वविक्षिप्तात्मप्रदेशानामद्यापि कालमकुर्वतीनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शनभावात्, तासां चोभयासामपि बहुतरत्वात् । ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तस्वरूपप्रतरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, तिर्यग्लोकान्मनुष्यस्त्रीभ्यः शेषेभ्यो वाऽधोलौकिकग्रामेषु यदि वाऽधोलौकिकग्रामरूपात् शेषाद्वा तिर्यग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पित्सूनां कासाञ्चिदधोलौकिकग्रामेष्ववस्थानतोऽपि यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शसम्भवात्, तासां च प्रागुक्ताभ्योऽतिबहुत्वात् । ताभ्योऽप्यूर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, क्रीडार्थं चैत्यवन्दनानिमित्तं वा सौमनसादिषु प्रभूततराणां विद्याधरीणां संभवात् । ताभ्योऽपि अधोलोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन तत्रापि बहुतराणां भावात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात्, स्वस्थानत्वाच्च । गतं मनुष्यगतिमधिकृत्याल्पबहुत्वम् ।

इदानीं देवगतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा उड्ढलोए उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोए तिरियलोए असंखेज्ज० । अहोलोए संखिज्जगुणाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना देवाः सर्वस्तोकाः, ऊर्ध्वलोके वैमानिकानामेव तत्र भावात्, तेषां चाऽल्पत्वात् । येऽपि भवनपतिप्रभृतयो जिनेन्द्रजन्ममहादौ मन्दरादिषु गच्छन्ति तेऽपि स्वल्पा एवेति सर्वस्तोकाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, तद्धि ज्योतिष्काणां प्रत्यासन्नमिति स्वस्थानम् । तथा भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्का मन्दरादौ सौधर्मादिकल्पगताः स्वस्थानगमागमेन, तथा ये सौधर्मादिषु देवत्वेनोत्पित्सवो देवायुःप्रतिसंवेद्यमानाः स्वोत्पत्तिदेशमभिगच्छन्ति यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ततः सामस्त्येन यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनः परिभाव्यमाना अतिबहव इति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यस्त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः । ततो भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवास्तथाविधप्रयत्नविशेषवशतो वैक्रियसमुद्घातेन समवहता मन्तर्लोकानपि लोकान् स्पृशन्ति, ते चेत्थं समवहताः प्रागुक्तप्रतरद्वयस्पर्शिभ्यः संख्येयगुणाः, केवलवेदसोपलभ्यन्त इति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येयगुणाः । तद्धि-प्रतरद्विकं भवनपतिव्यन्तरदेवानां प्रत्यासन्नतया स्वस्थानं, तथा बहवो भवनपतयः स्वभावस्थास्तिर्यग्लोकगमागमेन तथोद्वर्तमानाः तथा वैक्रियसमुद्घातेन समवहतास्तथा तिर्यग्लोकवर्तिनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्या वा भवनपतित्वेनोत्पद्यमाना भवनपत्यायुरनुभवन्तो यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनोऽतिबहव इति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, भवनपतीनां स्वस्थानमिति कृत्वा तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कव्यन्तराणां स्वस्थानत्वात् ।

अधुना देवीरधिकृत्याल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ देवीओ उड्ढलोए उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्जगुणाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ॥

सर्वं देवसूत्रमिवाऽविशेषेण भावनीयम् । तदेवमुक्तं देवविषयमौघिकमल्पबहुत्वम् ।

इदानीं भवनपत्यादिविशेषविषयं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमतो भवनपतिविषयमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा भवणवासी देवा उड्ढलोए उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुक्के संखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए असंखेज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा भवणवासिणीओ देवीओ उड्ढलोए तिरिलोए असंखि०, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोए तिरियलोए असंखेज्ज०, तिरियलोए असंखिज्ज०, अहोलोए असंखिज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन भवनवासिनो देवाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके, तथाहि-केषाञ्चित् सौधर्मादिष्वपि कल्पेषु पूर्वसंगतिकनिश्रया गमनं भवति । केषाञ्चिन्मन्दरे तीर्थकरजन्ममहिमानिमित्तम्, अञ्जनदधिमुखेऽष्टकानिमित्तम्, अपरेषां मन्दिरादिषु क्रीडानिमित्तं गमनम् । एते च सर्वेऽपि स्वल्पा इति सर्वस्तोकाः । ऊर्ध्वलोके तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः, कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह हि तिर्यग्लोकस्था वैक्रियसमुद्घातेन समवहता ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकं च स्पृशन्ति । यथा ते तिर्यग्लोकस्था एव मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता ऊर्ध्वलोके सौधर्मादिषु देवलोकेषु बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकतया बादरपर्याप्ताऽप्कायिकतया बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिकायिकतया च शुभेषु मणिविधानादिषु स्थानेषूत्पत्तुकामा अद्याऽपि स्वभावायुःप्रतिसंवेदयमाना न पारभाविकं पृथिवीकायिकाद्यायुः। द्विविधा हि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहताः केचित्पारभाविकमायुः प्रतिसंवेदयन्ते, केचिन्नेति । तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ-"जीवे णं भंते ! मारणंतिगसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे भविए मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं बायरपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! किं तत्थ गए उववज्जेज्जा, उयाहु पडिनियत्तेत्ता उववज्जइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए तत्थ गए चेव उववज्जइ, अत्थेगइए तओ पडिनियत्तित्ता, दोच्चं

वि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता तओ पच्छा उववज्जइ त्ति" स्वभावायुःप्रतिसंवेदनाच्च ते भवनवासिन एव लभ्यन्ते। ते इत्थंभूता उत्पत्तिदेशे विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्तथा ऊर्ध्वलोकगमनागमनतस्तत्प्रतरद्वयप्रत्यासन्नक्रीडास्थानाश्च यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति। ततः प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया भवनपतित्वेनोत्पत्तुकामाः, ये च स्वस्थाने वैक्रियसमुद्घातेन मारणान्तिकप्रथमसमुद्घातेन वा तथाविधतीव्रप्रयत्नविशेषेण समवहतास्ते त्रैलोक्यसंस्पर्शिन इति संख्येयगुणाः, परस्थानसमवहतेभ्यः स्वस्थानसमवहतानां संख्येयगुणत्वात्। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः; स्वस्थानप्रत्यासन्नतया तिर्यग्लोके गमनागमनभावतः स्वस्थानस्थितक्रोधादिसमुद्घातगमनतश्च बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात्। तेभ्यः तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, समवसरणादौ वन्दननिमित्तं द्वीपेषु च रमणीयेषु क्रीडानिमित्तमागमसम्भवादागतानां च चिरकालमवस्थानात्। तेभ्योऽधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिनामधोलोकस्य स्वस्थानत्वात्। एवं भवनवासिदेवीगतमल्पबहुत्वं भावनीयम्।

सम्प्रति व्यन्तरगतमल्पबहुत्वमाह–

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखिज्ज०, तेलुक्के संखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोईसिणीओ देवीओ उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्ज०, अहोलोए संखि०, तिरियलोए असंखे० ॥

क्षेत्रानुपातेन ज्योतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके, केषाञ्चिदेव मन्दरे तीर्थकरजन्ममहोत्सवनिमित्तम्, अञ्जनदधिमुखेष्वष्टाह्निकानिमित्तम्, अपरेषां केषाञ्चिद् मन्दरादिषु क्रीडानिमित्तं गमनसंभवात्। तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, तद्धि प्रतरद्वयं केचित्स्वस्थाने स्थिता अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात्। अपरे वैक्रियसमुद्घातसमवहताः, अन्ये ऊर्ध्वलोके गमनागमनभावतस्ततोऽधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः। तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः। ये हि ज्योतिष्कास्तथाविधतीव्रप्रयत्नवैक्रियसमुद्घातेन समवहतास्त्रीनपि लोकान् स्वप्रदेशैः स्पृशन्ति, ते स्वभावतोऽप्यतिबहव इति पूर्वोक्तेभ्यः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तम्, अधोलोके क्रीडानिमित्तं गमनागमनभावतो बहवश्चाऽधोलोका ज्योतिष्केषु समुत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो घटन्ते पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणाः, अधोलोके, बहूनामधोलोके क्रीडानिमित्तमधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिषु चिरकालमवस्थानात्। तेभ्योऽसंख्येयगुणास्तिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकस्य तेषां स्वस्थानत्वात्। एवं ज्योतिष्कदेवीसूत्रमपि भावनीयम्।

सम्प्रति वैमानिकदेवविषयमल्पबहुत्वमाह–

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा उड्ढलोयतिरियलोए, तेलुक्के संखेज्ज०, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्ज०, उड्ढलोए असंखिज्ज०। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ वेमाणिणीओ देवीओ उड्ढलोयतिरियलोए, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज०, उड्ढलोए असंखे० ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये अधोलोके तिर्यग्लोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिकेषूत्पद्यन्ते, ये च तिर्यग्लोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विवक्षितप्रतरद्वयाध्यासिनः क्रीडास्थानं संश्रिताः, ये च तिर्यग्लोके स्थिता एव वैक्रियसमुद्घातमारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषादूर्ध्वमात्मप्रदेशदण्डं निसृजन्ति, ते विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति। ते चाल्प इति सर्वस्तोकाः। तेभ्यस्त्रैलोक्ये संख्येयगुणाः। कथमिति चेद् ?, उच्यते–इह येऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तमधोलोके वा क्रीडानिमित्तं गताः सन्तो वैक्रियसमुद्घातं मारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषाद् दूरतरमूर्ध्वविक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डाः, ये च वैमानिकभवादीलिकागत्या च्यवमाना अधोलौकिकग्रामेषु समुत्पद्यन्ते, ते किल त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति। बहवश्च पूर्वोक्तेभ्य इति संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि अधोलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयसंज्ञे संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादौ गमनागमनभावतो विवक्षितप्रतरद्वयाध्यासिनः समवसरणादौ वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात्। तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु बहूनां समवसरणादावस्थानाभावात्। तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहूनामवस्थानाभावात्। तेभ्य ऊर्ध्वलोकेऽसंख्येयगुणाः, ऊर्ध्वलोकस्य स्वस्थानत्वात्, तत्र च सदैव बहुतरभावात्। एवं वैमानिकदेवीविषयसूत्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पबहुत्वमाह–

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असं०, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिआ। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा अपज्जत्तगा उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा पज्जत्तगा उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना एकेन्द्रिया जीवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये तत्रस्था एव केचन,ये चोर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके,तिर्यग्लोकाद्वा ऊर्ध्वलोके समुत्पित्सवः कृतमारणान्तिकसमुद्घातास्ते किल विवक्षितप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, स्वल्पाश्च ते इति सर्वस्तोकाः। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकाः, यतो ये अधोलोकात्तिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके ईलिकागत्या समुत्पद्यमाना विवक्षितप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, तत्रस्थाश्च ऊर्ध्वलोकाच्चाधोलोको विशेषाधिकः, ततो बहवोऽधोलोकात्तिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना अवाप्यन्ते, इति विशेषाधिकाः। तेभ्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगुणाः, उक्तप्रतरद्विकक्षेत्रात्तिर्यग्लोकक्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकादधोलोके अधोलोकाद्वा ऊर्ध्वलोके समुत्पद्यन्ते। तेषां च मध्ये बहवो मारणान्तिकसमुद्घातवशाद्विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति,ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः। तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणाः, उपपातक्षेत्रस्याऽतिबहुत्वात्। तेभ्योऽधोलोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकक्षेत्रादधोलोकक्षेत्रस्य विशेषाधिकत्वात्। एवमपर्याप्तविषयं पर्याप्तविषयं च सूत्रं भावयितव्यम्।

अधुना द्वीन्द्रियादिविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा बेइंदिया उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असं०, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा बेइंदिया अपज्जत्तया उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखे०, तिरियलोए संखे०। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा बेइंदिया पज्जत्तया उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असं०, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अधोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया अपज्जत्तगा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया पज्जत्तगा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखिज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउरिंदिया जीवा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउरिंदिया जीवा अपज्जत्तगा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा चउरिंदिया जीवा पज्जत्तगा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखे०।

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना द्वीन्द्रियाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके,ऊर्ध्वलोकस्यैकदेशे तेषां संभवात्। तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोकात् तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद् वा ऊर्ध्वलोके द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पत्तुकामास्तदायुरनुभवन्त ईलिकागत्या समुत्पद्यन्ते। ये च द्वीन्द्रिया एव तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा तिर्यग्लोके द्वीन्द्रियत्वेनान्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घाता अत एव द्वीन्द्रियायुःप्रतिसंवेदयमानाः समुद्घातवशाच्च दूरतरविक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदण्डाः, ये च प्रतरद्वयाऽध्यासितक्षेत्रसमासीनास्ते यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शिनो बहवश्चेति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः। तेभ्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, यतो द्वीन्द्रियाणां प्राचुर्येणोत्पत्तिस्थानान्यधोलोके तस्माच्चातिप्रभूतानि तिर्यग्लोके, तत्र ये द्वीन्द्रिया अधोलोकादूर्ध्वलोके द्वीन्द्रियत्वेनान्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घाताः समुद्घातवशाच्चोत्पत्तिदेशं यावद्विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्ते द्वीन्द्रियायुःप्रतिसंवेदयमानाः, ये चोर्ध्वलोकादधोलोके द्वीन्द्रियाः शेषकाया यावद् द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पद्यमाना द्वीन्द्रियायुरनुभवन्ति, त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः ते च पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः। यतो ये द्वीन्द्रिया अधोलोकात्तिर्यग्लोके ये च द्वीन्द्रियास्तिर्यग्लोकादधोलोके द्वीन्द्रियत्वेन शेषकायत्वेनोत्पित्सवः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घाता द्वीन्द्रियायुरनुभवन्तः समुद्घातवशेनोत्पत्तिदेशे यावद्विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्ते यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति। प्रभूताश्चेति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणास्तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, तत्रोत्पत्तिस्थानानामतिप्रचुराणां भावात्। तेभ्योऽपि तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, अतिप्रचुरतराणां योनिस्थानानां तत्र भावात्। यथेदमौघिकं द्वीन्द्रियसूत्रं तथा पर्याप्ताऽपर्याप्तद्वीन्द्रियसूत्रौघिकत्रीन्द्रियपर्याप्तापर्याप्तौघिकचतुरिन्द्रियपर्याप्ताऽपर्याप्तसूत्राणि भावनीयानि।

साम्प्रतमौघिकपञ्चेन्द्रियविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचेंदिया तेलुक्के, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, उड्ढलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा। खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचेंदिया अपज्जत्तया तेलुक्के, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणा, उड्ढलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्जगुणा ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः सर्वस्तोकाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, यतो येऽधोलोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वाऽधोलोके शेषकायाः पञ्चेन्द्रियायुरनुभवन्त ईलिकागत्या समु-

त्पद्यन्ते ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वलोकादधोलोके अधोलोकादूर्ध्वलोके शेषकायत्वेन पञ्चेन्द्रियत्वेन चोत्पित्सवः कृतमारणान्तिकसमुद्घाताः समुद्घातवशाच्चोत्पत्तिदेशं यावद् विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डाः पञ्चेन्द्रियायुरद्याप्यनुभवन्ति, ते त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, ते चाल्पे इति सर्वस्तोकाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, प्रभूततराणामुपपातेन समुद्घातेन वा यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शसंभवात् । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामुपपातसमुद्घाताभ्यामधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवेभ्यः संख्येयगुणानां नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, संमूर्च्छिमजलचरस्थलचरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां सम्मूर्च्छिममनुष्याणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियापर्याप्तसूत्रमपि भावनीयम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसूत्रमिदम्–

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचिंदिया पज्जत्ता उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असं०, तेलुक्के असं०, अहोलोयतिरियलोए संखेज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए असंखेज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र भावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, विवक्षितप्रतरद्वयप्रत्यासन्नज्योतिष्काणां तदध्यासितक्षेत्राश्रितव्यन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्कविद्याधरचारणमुनितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामूर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च गमनागमने कुर्वतामधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शात् । तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रिलोकसंस्पर्शिनः असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, यतो ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका विद्याधरा वा अधोलोकस्थाः कृतवैक्रियसमुद्घातास्तथाविधप्रयत्नविशेषादूर्ध्वलोकप्रदेशविक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्ते त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तीति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, बहवो हि व्यन्तराः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया भवनपतयस्तिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोके वा व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवा अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादावधोलोके क्रीडादिनिमित्तं च गमनागमनकरणतः, तथा समुद्रेषु केचित्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया, अपरे तदध्यासितक्षेत्राश्रिततया यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च तत्रावस्थानात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तदेवमुक्तं पञ्चेन्द्रियाणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेकेन्द्रियभेदानां पृथिवीकायिकादीनां पञ्चानामौघिकपर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकं त्रीणि त्रीण्यल्पबहुत्वान्याह–

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया पज्जत्तगा उड्ढलोयतिरियलोए, तिरियलोय-अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया पज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया पज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया उड्ढलोयतिरियलोए,

अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उम्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया अपज्जत्तया उम्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखिज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उम्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पज्जत्तया उम्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उम्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

इमानि पञ्चदशापि सूत्राणि प्रागुक्तैकेन्द्रियसूत्रवद्भावनीयानि।

साम्प्रतमौघिकत्रसकायपर्याप्तापर्याप्तत्रसकायसूत्राण्याह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया तेलुक्के, उम्ढलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, उम्ढलोए संखेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया अपज्जत्तया तेलुक्के, उम्ढलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, उम्ढलोए संखिज्जगुणा, अहोलोए संखिज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तया तेलुक्के, उम्ढलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, उम्ढलोए संखिज्जगुणा, अहोलोए संखिज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा ।

इमानि पञ्चेन्द्रियसूत्रवद्भावनीयानि। गतं क्षेत्रद्वारम्। प्रज्ञा० ३ पद।

(१२) [गतिद्वारम्] चतुर्गतिसमासेन पञ्चगतिसमासेनाष्टगतिसमासेन चाऽल्पबहुत्वम्—

एतेसि णं भंते ! णेरइयाणं० जाव देवाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, नेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जा, तिरिया अणंता ।

प्रश्नसूत्रं पाठसिद्धम् । भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोकाः मनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं वर्गमूलं तद् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुण्यते, गुणिते च सति यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां नैरयिकेभ्योऽप्यसंख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेभ्योऽपि तिर्यञ्चोऽनन्ताः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ४ प्रति० । पं० सं० ।

पञ्चगतिसमासेनाल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! णेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं देवाणं सिद्धाण य पंचगइसमासेणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सा, णेरइया असंखेज्जगुणा, देवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्याः, षण्णवतिच्छेदनकच्छेदराशिप्रमाणत्वात् । स च षण्णवतिच्छेदनकदायी राशिरग्रे ('सरीर' शब्दे) दर्शयिष्यते । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान्प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां च प्रत्येकं प्रतरासंख्येयभागवर्तिश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, अभव्येभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तदेवं नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धरूपाणां पञ्चानामल्पबहुत्वमुक्तम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

एतदेवमर्थतो गाथा—

"नर-नेरइया देवा, सिद्धा तिरिया कमेण इह होंति।
थोव असंख असंखा, अणंतगुणिया अणंतगुणा" ॥१॥ भ० २५ श० ३ उ० ।

साम्प्रतं नैरयिकतिर्यग्योनिकतिर्यग्योनिकीमनुष्यमानुषीदेवदेवीलक्षणानां सप्तानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पाबहुयं सव्वत्थोवा माणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, नेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ, देवा संखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–सर्वस्तोका मानुष्यः, कतिपयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, संमूर्छिममनुष्याणां श्रेण्यसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्तिश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो देवाः संख्येयगुणाः, वाणमन्तरज्योतिष्काणामपि जलचरतिर्यग्योनिकीभ्यः संख्येयगुणतया महादण्डके पठितत्वात् । तेभ्यो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । "बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहिया उ होंति देवाणं देवीओ" इति वचनात् । ताभ्यस्तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तानन्तत्वात् । जी० ७ प्रति० ।

इदानीमेतेषामेव सिद्धसहितानामष्टानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! णेरइयाणं तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीणं मणुस्साणं मणुस्सीणं देवाणं सिद्धाण य अट्ठगतिसमासेणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सीओ, मणुस्सा असंखेज्जगुणा, णेरइया असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणिणीओ असंखेज्जगुणाओ, देवा असंखेज्जगुणा, देवीओ संखेज्जगुणाओ, सिद्धा अणंतगुणा, तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मानुष्यो मनुष्यस्त्रियः, संख्येयकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो मनुष्या असंख्येयगुणाः, इह मनुष्याः संमूर्च्छनजा अपि गृह्यन्ते, वेदस्याविवक्षणात् । ते च संमूर्च्छनजा वान्तादिषु नगरनिर्द्धमनान्तेषु जायमाना असंख्येयाः प्राप्यन्ते । तेभ्यो नैरयिका असंख्येयगुणाः, मनुष्या ह्युत्कृष्टपदेऽपि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा लभ्यन्ते । नैरयिकास्त्वङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसत्कद्वितीयवर्गमूलगुणितप्रथमवर्गमूलप्रमाणश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः; ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्योऽपि देवा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताभ्योऽपि सिद्धा अनन्तगुणाः । तेभ्योऽपि तिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । प्रज्ञा० ३ पद ।

अर्थतश्चैवं गाथा–

" नारी नर नेरइया, तिरित्थि सुर देवि सिद्ध तिरिया य ।
थोव असंखगुणा चउ, संखगुणाऽणंतगुण दोन्नि ॥ २ ॥

भ० २५ श० ३ उ० ।

अथ(समासेन)प्रथमाप्रथमसमयविशेषणेन गतिष्वल्पबहुत्वम्–

अप्पाबहु–एतेसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं० जाव पढमसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा । एतेसि णं भंते ! अपढमसमयनेरइयाणं जाव० अपढमसमयदेवाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! एवं चेव; नवरिं अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । एतेसि णं भंते ! पढमसमयनेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, एवं चेव तिरिक्खजोणिया, नवरं अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा । मणुयदेवाणं अप्पाबहुयं जहा नेरइया । एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं० जाव अपढमसमयतिरिक्खजोणियाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, अपढमसमयमणुस्सा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूतानामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेभ्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूततराणामेकस्मिन् समये उत्पादसंभवात् । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणाः, इह ये नारकादिगतित्रयादागत्य तिर्यक्प्रथमसमये वर्तन्ते ते प्रथमसमयतिर्यञ्चो, न शेषाः, ततो यद्यपि प्रतिनिगोदमसंख्येयभागः सदा विग्रहगति-

प्रथमसमयवर्त्ती लभ्यते, तथापि निगोदानामपि तिर्यक्त्वात न ते प्रथमसमयतिर्यञ्चः, एभ्यः संख्येयगुणा एव । साम्प्रतमेतेषामेव चतुर्णामप्रथमसमयानां परस्परमल्पबहुत्वमाह–"एएसि णमित्यादि" प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, श्रेण्यसंख्येयभागमात्रत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिः तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्काणामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव नैरयिकादीनां प्रत्येकं प्रथमसमयाप्रथमसमयगतमल्पबहुत्वमाह–"एएसि णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकानामेवोत्पादात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायिनां तेषामन्योऽन्योत्पादेनातिप्रभूतभावात् । एवं तिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसूत्राण्यपि वक्तव्यानि, नवरं तिर्यग्योनिकसूत्रेऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणा वक्तव्याः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । साम्प्रतमेतेषामेव प्रथमसमयाप्रथमसमयानां समुदायेन परस्परमल्पबहुत्वमाह—" एएसि णमित्यादि " प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह–गौतम ! सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, एकस्मिन् समये संख्यातीतानामपि स्तोकानामेवोत्पादात् । तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, चिरकालावस्थायितया अतिप्राभूत्येन लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामेकस्मिन्नपि समये उत्पादसंभवात् । तेभ्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, व्यन्तरज्योतिष्काणामेकस्मिन्नपि समये अतिप्राचुर्येण कदाचिदुत्पादात् । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असंख्येयगुणाः, नारकवर्जगतित्रयादप्युत्पादसंभवात् । तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः प्रथमवर्गमूले द्वितीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयदेवाः असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्तिश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतिजीवानामनन्तत्वात् । जी० ८ प्रति० ।

अत्र (व्यासेन) चत्वार्यल्पबहुत्वानि, तद्यथा––

सिद्धे णं भंते ! सिद्धे त्ति कालतो केव चिरं होति ? गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । (जी०)

तत्र प्रथममिदम्—

एएसि णं भंते ! पढमसमयनेरइयाणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं पढमसमयमणुस्साणं पढमसमयदेवाण य कयरे० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणुस्सा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः । तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः । तेभ्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः । तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्योनिका असंख्येयगुणाः, नारकादिशेषगतित्र-

याद्दागतानामेव प्रथमसमये वर्तमानानां प्रथमसमयतिर्यग्योनिकत्वात्।

द्वितीयमेवम्—

एएसि णं भंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयमणुसा, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात्।

तृतीयमेवम्—

एएसि णं पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा। मणुयदेवाणं अप्पाबहुयं जहा नेरइया।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः। तत्र प्रथमसमयतिर्यग्योनिकाः सर्वस्तोकाः, अप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, तथा सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्याः असंख्येयगुणाः। तथा सर्वस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः।

सर्वसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं, अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयनेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः। जी० ६ प्रति०।

प्रथमसमयाप्रथमसमयभेदेन भिन्नानां नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवसिद्धानां दशानामल्पबहुत्वान्यत्रापि चत्वारि।

तत्र प्रथममिदम्—

एतेसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं पढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा पढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अष्टोत्तरशतादूर्द्धमभावात्। तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणाः।

द्वितीयमिदम्—

एतेसि णं भंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवाणं अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्तगुणाः, अप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः।

तृतीयम्—

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाण य अपढमसमयणेरइयाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा। एतेसि णं भंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा। एतेसि णं भंते ! पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा। जहा मणूसा तहा देवा वि। एतेसि णं भंते ! पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा।

प्रत्येकभाविनैरयिकतिर्यङ्मनुष्यदेवानां पूर्ववत्। सिद्धानामेवं सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्तगुणाः।

समुदायगतं चतुर्थमेवम्-

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, पढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, अपढमसमयमणूसा असंखिज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयसिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः। भावना सर्वत्रापि प्राग्वत्। नवरं सूत्रे संक्षेप इति। जी० १० प्रति०।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वमाह-

(पण दो खीण दु जोगी, ऽणुदीरग अजोगि)थोव उवसंता।
संखगुण खीण सुहुमा, नियट्टिअपुव्व समा अहिया ।६२।

(थोव उवसंत त्ति) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमाना उत्कर्षतोऽपि चतुष्पञ्चाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति। तेभ्यः सकाशात् क्षीणमोहाः संख्येयगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका एकस्मिन् समयेऽष्टोत्तरशतप्रमाणा अपि लभ्यन्ते। एतच्चोत्कृष्टपदापेक्षयोक्तम्। अन्यथा कदाचिद्विपर्ययोऽपि द्रष्टव्यः। स्तोकाः क्षीणमोहाः, बहवस्तु तेभ्य उपशान्तमोहाः, तथा तेभ्यः क्षीणमोहेभ्यः सकाशात् सूक्ष्मसंपराया निवृत्तिबादरापूर्वकरणा विशेषाधिकाः, स्वस्थाने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुल्या इति ॥ ६२ ॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा।
अविरय अजोगि मिच्छा, असंख चउरो दुवेऽणंता ।६३।

तेभ्यः सूक्ष्मादिभ्यः सयोगिकेवलिनः संख्यातगुणाः, तेषां कोटिपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्योऽप्रमत्ताः संख्येयगुणाः, कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात्। तेभ्य (इयर त्ति) अप्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः, प्रमादभावो हि बहूनां बहुकालं च लभ्यते, विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्तसंख्याव्याघातः। (देसेत्यादि) देशविरतसास्वादनमिश्राऽविरतलक्षणाश्चत्वारो यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, अयोगिमिथ्यादृष्टिलक्षणौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ, तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता असंख्येयगुणाः, तिरश्चामप्यसंख्यातानां देशविरतिभावात्। सास्वादनास्तु कदाचित्सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यो मिश्रा असंख्येयगुणाः, सास्वादनाद्धाया उत्कर्षतोऽपि षडावलिकामात्रतया स्तोकत्वात्। मिश्राद्धायाः पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात्। तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः अविरतसम्यग्दृष्टयः, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालसंभवात्। तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्। तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिथ्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्। तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति। तदेवमभिहितं गुणस्थानवर्तिनां जीवानामल्पबहुत्वम्। कर्म० ४ कर्म०। पं० सं०।

(१३) [चरमद्वारम्] चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं चरिमाणं अचरिमाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा० ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा।

इह येषां चरिमो भवः संभवी योग्यतयाऽपि ते चरमा उच्यन्ते। ते चार्थाद् भव्याः, इतरेऽचरमा अभव्याः सिद्धाश्च, उभयेषामपि चरमाचरमभावात्। तत्र सर्वस्तोका अचरमाः, अभव्यानां सिद्धानां च समुदितानामप्यजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तकपरिमाणत्वात्। तेभ्योऽनन्तगुणाश्चरमाः, अजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तकपरिमाणत्वात्। गतं चरमद्वारम्। प्रज्ञा० ३ पद। (रत्नप्रभादीनां चरमाचरमगतमल्पबहुत्वं, सङ्ख्यातप्रदेशस्य सङ्ख्यातप्रदेशावगाढस्य परिमण्डलादेश्चरमादिविषयमल्पबहुत्वं च ' चरम ' शब्दे एव दर्शयिष्यते)

(१४) [जीवद्वारम्] जीवपुद्गलसमयद्रव्यप्रदेशपर्यायाणामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं पोग्गलाणं अद्धासमयाणं सव्वदव्वाणं सव्वपएसाणं सव्वपज्जवाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पोग्गला अणंतगुणा, अद्धासमया अणंतगुणा, सव्वदव्वा विसेसाहिया, सव्वपदेसा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अणंतगुणा। प्रज्ञा० ३ पद।

तदेवमर्थतः-

'जीवा १ पोग्गल २ समया ३, दव्व ४ पएसा य ५ पज्जवा ६ चेव।
थोवाऽणंताऽणंता, विसेसअहिया दुवेऽणंता' ॥ १ ॥

इह भावना-यतो जीवाः प्रत्येकमनन्तानन्तैः पुद्गलैर्बद्धाः प्रायो भवन्ति, पुद्गलास्तु जीवैः संबद्धा असंबद्धाश्च भवन्तीत्यतः स्तोकाः पुद्गलेभ्यो जीवाः।

यदाह-

" जं पोग्गलावबद्धा, जीवा पाएण होंति तो थोवा।
जीवेहि विरहियाऽविर-हिया व पुण पोग्गला संति " ॥ १ ॥

जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुद्गलाः। कथम्?, यत्तैजसादिशरीरं येन जीवेन परिगृहीतं तत्ततो जीवात्पुद्गलपरिणाममाश्रित्य अनन्तगुणं भवति, तथा-तैजसशरीरात्प्रदेशतोऽनन्तगुणं कार्मणम्, एवं च ते जीवप्रतिबद्धेऽनन्तगुणे जीवविमुक्ते च ते ताभ्यामनन्तगुणे भवतः, शेषशरीरचिन्ता त्विह न कृता, यस्मात्तानि मुक्तान्यपि स्वे स्वे स्थाने तयोरनन्तभागे वर्तन्ते, तदेवमिह तैजसशरीरपुद्-

ला अपि जीवेभ्योऽनन्तगुणाः, किं पुनः कार्मणादिपुद्गलराशिसहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुद्गलाः स्तोकाः, तेभ्यो मिश्रपरिणताः अनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि विस्रसापरिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुद्गलाः सर्वे एव भवन्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुद्गलानां प्रतनुकेऽनन्तभागे वर्तन्ते यस्मादेवं तस्माज्जीवेभ्यः सकाशात् पुद्गलाः बहुभिरनन्ताऽनन्तकैर्गुणिताः सिद्धा इति ।

आह च-

" जं जेण परिग्गहियं, तेयादिजिएण देहमेक्केक्कं ।
तत्तो तमणंतगुणं, पोग्गलपरिणामओ होइ ॥ १ ॥
तेयाओ पुण कम्मग-मणंतगुणियं जओ विणिद्दिट्ठं ।
एवं ता बद्धाइं, तेयगकम्माइं जीवेहिं ॥ २ ॥
एत्तोऽणंतगुणाइं, तेसिं चिय जाणि होंति मुक्काइं ।
इह पुण थोवत्ताओ, अग्गहणं सेसदेहाणं ॥ ३ ॥
जं तेसिं मुक्काइं, पि होंति सट्टाणऽणंतभागम्मि ।
तेण तदग्गहणमिहं, बद्धाबद्धाण दोण्हं पि ॥ ४ ॥
इह पुणतेयसरीरग-बद्धं चिय पोग्गला अणंतगुणा ।
जीवेहिं तो किं पुण, सहिया अवसेसरासीहिं ॥ ५ ॥
थोवा भणिया सुत्ते, पन्नरसविहप्पओगपाओग्गा ।
तत्तो मीसपरिणया-ऽणंतगुणा पोग्गला भणिया ॥ ६ ॥
ते वीससा परिणया, तत्तो भणिया अणंतसंगुणिया ।
एवं तिविहपरिणया, सव्वे वि य पोग्गला लोए ॥ ७ ॥
जं जीवा सव्वे वि य, एक्कम्मि पओगपरिणयाणं पि ।
वट्टंति पोग्गलाणं, अणंतभागम्मि तणुयम्मि ॥ ८ ॥
बहुएहिँ अणंताणं, तहिँ तेण गुणिया जिएहिंतो ।
सिद्धा भवंति सव्वे, वि पोग्गला सव्वलोगम्मि " ॥ ९ ॥

ननु पुद्गलेभ्योऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तन्न संगतम् । तेभ्यस्तेषां स्तोकत्वात् । स्तोकत्वं च मनुष्यक्षेत्रमात्रवर्तित्वात्समयानां पुद्गलानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-समयक्षेत्रे ये केचन द्रव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साम्प्रतं समयो वर्तते । एवं च साम्प्रतं समयो यस्मात्समयक्षेत्रद्रव्यपर्यवगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये प्रवर्त्तन्ते इति । आह च—

" होंति य अणंतगुणियां, अद्धासमया उ पोग्गलेहिंतो ।
ननु थोवा ते नरखे-त्तमेत्तवत्तणाओ त्ति ॥ १ ॥
भण्णइ समयक्खेत्त-म्मि संति जे केइ दव्वपज्जाया ।
वट्टइ संपयसमओ, तेसिं पत्तेयमेक्केक्के ॥ २ ॥
एवं संपयसमओ, जं समयक्खेत्तपज्जवज्भत्थो ।
तेणाणंता समया, भवंति एक्केक्कसमयम्मि " ॥ ३ ॥

एवं च वर्तमानोऽपि समयः पुद्गलेभ्योऽनन्तगुणो भवति, एकद्रव्यस्याऽपि पर्यायाणामनन्तत्वात् । किं च । केवलमित्थं पुद्गलेभ्योऽप्यनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्यायेभ्योऽप्यनन्तगुणास्ते संभवन्ति । तथाहि-यत्समस्तलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशेः समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना भक्तो लभ्यते । एतद्भावना चैवं किल-असद्भावकल्पनया लक्षणं लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवाणां तस्य समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवराशिना कल्पनया सहस्रमानेन भागे हृते शतं लब्धम्, ततश्च किल तात्त्विकसमयशते गते लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवसंख्या तुल्या समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यवरूपसमयसंख्या लभ्यते । समयक्षेत्रापेक्षया असंख्यातगुणलोकस्य कल्पनया शतगुणत्वात् । तथाऽन्येष्वपि तावत्सु तात्त्विकसमयेषु गतेषु तावन्त एवौपचारिकसमया भवन्तीत्येवमसंख्यातेषु कल्पनया शतमानेषु तात्त्विकसमयेषु पौनःपुन्येन गतेष्वनन्ततमायां कल्पनया सहस्रतमायां वेलायां गता भवन्ति । तात्त्विकसमया लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवमात्राः कल्पनया लक्षप्रमाणाः, एवं चैकैकस्मिँस्तात्त्विकसमयेऽनन्तानामौपचारिकसमयानां भावात्सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशेरपि समया अनन्तगुणाः प्राप्नुवन्ति, किं पुनः पुद्गलेभ्यः ? इति ।

यदाह-

" जं सव्वलोगदव्व-प्पएसपज्जवगणस्स भइयस्स ।
लब्भइ समयक्खेत्त-प्पएसपज्जायपिंडेण ॥ १ ॥
एवइसमएहिँ गएहिँ, लोगपज्जवसमा समयसंखा ।
लब्भइ अन्नेहिँ पि य, तत्तियमेत्तेहिँ तावइया ॥ २ ॥
एवमसंखेज्जेहिं, समएहिँ गतेहिंतो गयाहिं ति ।
समयाओ लोगदव्व-प्पएसपज्जायमेत्ताओ ॥ ३ ॥
इय सव्वलोगपज्जव-रासीओ वि समया अणंतगुणा ।
पावंति गणिज्जंता, किं पुण ता पोग्गलेहिंतो ? " ॥ ४ ॥

अन्यस्तु प्रेरयति-उत्कृष्टतोऽपि षण्मासमात्रमेव सिद्धिगतेरन्तरं भवति, तेन च स्तोकद्रव्यः सिद्धेभ्योऽपि च जीवेभ्योऽसंख्यातगुणा एव समया भवन्ति । कथं पुनः ?, सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणा भविष्यन्तीति इहाप्यौपचारिकसमयापेक्षया समयानामनन्तगुणत्वं वाच्यमिति । अथ समयेभ्यो द्रव्याणि विशेषाधिकानीति कथम् ? । अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्रत्येकं द्रव्याणि, शेषाणि च जीवपुद्गलधर्मास्तिकायादीनि तेष्वेव क्षिप्तानीत्यतः केवलेभ्यः समयेभ्यः सकाशात् समस्तद्रव्याणि विशेषाधिकानि भवन्ति, न संख्यातगुणादीनि, समयद्रव्यापेक्षया जीवादिद्रव्याणामल्पतरत्वादिति ।

उक्तं च-

" एत्तो समएहिंतो, होंति विसेसाहियाइँ दव्वाइं ।
जं भेया सव्वे च्चिय, समया दव्वाइ पत्तेयं ॥ १ ॥
सेसाइँ जीवपोग्गल-धम्माधम्मं बराइँ छूढाइं ।
दव्वट्ठयाएँ समए-सु तेण दव्वा विसेसहिया ॥ २ ॥

नन्वद्धासमयानां कस्माद्द्रव्यत्वमेवेष्यते ?, समयस्कन्धापेक्षया प्रदेशार्थत्वस्यापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि-यथा स्कन्धो द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धापर्यवा अपि यथाप्रदेशाः सिद्धाः, एवं समयस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च द्रव्यं चेति? अत्रोच्यते-परमाणूनामन्योऽन्यसव्यपेक्षत्वेन स्कन्धत्वं युक्तम्, अद्धासमयानां पुनरन्योऽन्यापेक्षिता नास्ति । यतः कालसमयाः प्रत्येकत्वे न काल्पनिकस्कन्धभावे च वर्तमानाः प्रत्येकवृत्तय एव, तत्स्वभावत्वात्तस्मात्तेऽन्योऽन्यनिरपेक्षाः, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वाच्च न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादकाः, ततश्च तेषां प्रदेशार्थतेति ।

उक्तं चात्र आह-" अद्धासमयाणं किं, पुण दव्वट्ठएव नियमेणं ।
तेसिं पएसट्ठा विहु, जुज्जइ खंधं समासज्ज ॥ १ ॥
सिद्धं खंधो दव्वं, तदवयवा वि य जहा पएस त्ति ।
इय तव्वत्ती समया, होंति पएसा य दव्वं च ॥ २ ॥
भण्णइ परमाणूणं, अन्नोन्नमवेक्ख खंधया सिद्धा ।
अद्धासमयाणं पुण, अन्नोन्नावेक्खया नत्थि ॥ ३ ॥
अद्धासमया जम्हा, पत्ते पत्तेयखंधभावे य ।
पत्तेयवत्तिणो च्चिय, ते तेणऽन्नोन्ननिरवेक्खा " ॥ ४ ॥

अथ द्रव्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतत्कथम् ?। उच्यते-अद्धासमयद्रव्येभ्यः आकाशप्रदेशानामनन्तगुणत्वात् । ननु क्षेत्रप्रदेशानां कालसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वे किं कारणमाश्रित्याकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, कालसमयाश्च तदनन्तभागवर्त्तिन इति ?। उच्यते-एकस्यामनाद्यपर्यवसितायामाकाशप्रदेशश्रेण्यामेकैकप्रदेशानुसारतस्तिर्यगायतश्रेणीनां कल्पनेन ताभ्योऽपि चैकैकप्रदेशानुसारेणैवोर्ध्वाधआयतश्रेणीविरचनेन आकाशप्रदेशघनो निष्पद्यते, कालसमयश्रेण्यां तु सैव श्रेणी भवति, न पुनर्घनः, ततः कालसमयाः स्तोका भवन्तीति ।

इह गाथा-

" एत्तो सव्वपएसा-ऽणंतगुणा खप्पएसऽणंतत्ता ।
स-वागासमणंतं, जेण जिणिंदेहिं पन्नत्तं ॥ १ ॥
आह समेऽणंतत्त—म्मि खेत्तकालाण किं पुण निमित्तं ? ।
भणियं खमणंतगुणं, कालोऽयमणंतभागम्मि ॥ २ ॥
भण्णइ नभसेढीए, अणाइयाए अपज्जवसियाए ।
निष्फज्जइ खम्मि घणो, न उ काले तेण सो थोवो " ॥ ३ ॥

प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः पर्याया इत्येतद्भावनार्थं गाथा-
"एत्तो य अणंतगुणा, पज्जाया जेण नहपएसम्मि ।
एक्केक्कम्मि अणंता, अगुरुलहू पज्जवा भणिया " ॥ १ ॥ इति । भ० २५ श० ३ उ० । गतं जीवद्वारम् ।

(१५) [ज्ञानद्वारम्] ज्ञानिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आभिणिबोहियणाणीणं सुयणाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणपज्जवनाणी, ओहिणाणी असं०, आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी दोवि तुल्ला विसेसाहिया, केवलनाणी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षौषध्यादिऋद्धिप्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अवधिज्ञानिनः, नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्यवधिज्ञानसंभवात् । तेभ्य आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशेषाधिकाः, संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेवावधिज्ञानविकलानामपि केषाञ्चिदाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानभावात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः। "जत्थ मइनाणं तत्थ सुअनाणं,जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं" इतिवचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । उक्तं हि ज्ञानिनामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षभूतानामज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं मइअन्नाणीणं सुयअन्नाणीणं विभंगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा विभंगनाणी, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी दोवि तुल्ला अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका विभङ्गज्ञानिनः,कतिपयानामेव नैरयिकदेवतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां विभङ्गभावात् । तेभ्यो मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामपि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात् । स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । " जत्थ मइअन्नाणं तत्थ सुयअन्नाणं, जत्थ सुयअन्नाणं तत्थ मइअन्नाणं " इति वचनात् ।

संप्रत्युभयेषां ज्ञानाज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आभिनिबोहियनाणीणं सुयणाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणाणीणं मतिअन्नाणीणं सुयअन्नाणीणं विभंगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवणाणी, ओहिनाणी असंखिज्जगुणा, आभिनिबोहियनाणी सुयनाणी य दोवि तुल्ला विसेसाहिया, विभंगनाणी असंखेज्ज०, केवलनाणी अणंतगुणा, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य दोवि तुल्ला अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षौषध्या ऋद्धिप्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अवधिज्ञानिनः, तेभ्य आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशेषाधिकाः, स्वस्थाने तु द्वावपि परस्परं तुल्याः । अत्र भावना प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽसंख्येयगुणा विभङ्गज्ञानिनः, यस्मात्सुरगतौ निरयगतौ च सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः पठ्यन्ते, देवनैरयिकाश्च सम्यग्दृष्टयोऽवधिज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयो विभङ्गज्ञानिन इत्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्चानन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् ; तेषां च मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानित्वात् । स्वस्थाने तु द्वावपि परस्परं तुल्याः । गतं ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । भ० । जी० । कर्म० ।

इदानीं ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! चंदिमसूरियगहगणक्खत्ततारारूवाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! चंदिमसूरिआ दुवे तुल्ला सव्वत्थोवा, णक्खत्ता संखेज्जगुणा, गहा संखेज्जगुणा, तारारूवा संखेज्जगुणा ॥

(एतेसि णमित्यादि)एतेषामनन्तरोक्तानां,प्रत्यक्षप्रमाणगोचराणां वा,भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारारूपाणां कतरे कतरेभ्योऽल्पाः स्तोकाः । वाऽत्र विकल्पसमुच्चयार्थे । कतरे कतरेभ्यो बहुका वा कतरेभ्यस्तुल्या वा, अत्र विभक्तिपरिणामेन तृतीया व्याख्येया । कतरे कतरेभ्यो विशेषा वेति ?। गौतम ! चन्द्रसूर्या एते द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्रसूर्याणां समसंख्याकत्वात् । शेषेभ्यो ग्रहादिभ्यः सर्वेऽपि स्तोकाः,तेभ्यो नक्षत्राणि संख्येयगुणानि, अष्टाविंशतिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि ग्रहाः संख्येयगुणाः,सातिरेकत्रिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि तारारूपाणि संख्येयगुणानि, प्रभूतकोटाकोटिगुणत्वादिति । जं०७ वक्ष० । ज्ञानपर्यायाणामल्पबहुत्वम् । भ०८ श० २ उ० । " सव्वत्थोवा नाणी, अणाणी अणंतगुणा " । जी० १ प्रति० । त्रसस्थावरनोत्रसनोस्थावराणामल्पबहुत्वम्-" अप्पाबहुं सव्वत्थोवा तसा, णोतसा णोथावरा अणंतगुणा"। जी०२ प्रति०। (निर्ग्रन्थानां पुलाकादीनामल्पबहुत्वं ' णियंठ ' शब्दे वक्ष्यते)

(१६) [दर्शनद्वारम्] दर्शनिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं चक्खुदंसणीणं अचक्खुदंसणीणं ओहिदंसणीणं केवलदंसणीण य कयरे कयरेहिं-

तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओहिदंसणी, चक्खुदंसणी असंखेज्जगुणा, केवलदंसणी अणंतगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अवधिदर्शनिनः, देवनैरयिकाणां कतिपयानां च संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवधिदर्शनभावात् । तेभ्यश्चक्षुर्दर्शनिनोऽसंख्येयगुणाः, सर्वेषां देवनैरयिकगर्भजमनुष्याणां संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां चक्षुर्दर्शनभावात । तेभ्यः केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽचक्षुर्दर्शनिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गतं दर्शनद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म० । जी० ।

(१७) [दिग्द्वारम्] दिगनुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जीवा पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

इह दिशः प्रथमे आचाराख्येऽङ्गे अनेकप्रकारा व्यावर्णिताः, तत्रेह क्षेत्रदिशः प्रतिपत्तव्याः, तासां नियतत्वात् । इतरासां च प्रायोऽनवस्थितत्वादनुपयोगित्वाच्च, क्षेत्रदिशां च प्रभवस्तिर्यग्लोकमध्यगतादष्टप्रदेशकाद् रुचकात् । यत उक्तम्–"अट्ठपएसो रुयगो, तिरियलोयस्स मज्झयारम्मि । एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं" ॥ १ ॥ इति दिशामनुपातो दिगनुसरणं, तेन दिशोऽधिकृत्येति तात्पर्यार्थः । सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमेन पश्चिमायां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते–इदं ह्यल्पबहुत्वं बादरानधिकृत्य द्रष्टव्यं, न सूक्ष्माणां, सर्वलोकापन्नानां प्रायः सर्वत्राऽपि समत्वात् । बादरेष्वपि मध्ये सर्वबहवो वनस्पतिकायिकाः,अनन्तसंख्याततया तेषां प्राप्यमाणत्वात् । ततो यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र स्वल्पे तत्राल्पत्वम् । वनस्पतयश्च तत्र बहवो यत्र प्रचुरा आपः । "जत्थ जलं तत्थ वणं" इति वचनात् । तत्रावश्यं पनकशैवालादीनां भावात् । ते च पनकशैवालादयो बादरनामकर्मोदये वर्तमाना अपि अत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वादतिप्रभूतपिण्डीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि न चक्षुषा ग्राह्याः । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेषु–" तेणं वालग्गा सुहुमपणगजीवस्स सरीरोगाहणाहिंतो असंखेज्जगुणा " इति । ततो यत्रापि नैते दृश्यन्ते तत्रापि ते सन्तीति प्रतिपत्तव्याः । आह च मूलटीकाकारः-इह सर्वबहवो वनस्पतय इतिकृत्वा यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहुत्वम् "जत्थ आउकाओ तत्थ नियमा वणस्सइकाया" इति । "पणगसेवालहढाई बायरा वि होंति, सुहुमा आणागेज्झा नचक्खुणा" इति । उदकं च प्रभूतं समुद्रेषु द्वीपद्विगुणविष्कम्भात् । तेष्वपि च समुद्रेषु प्रत्येकं प्राचीप्रतीचीदिशोर्यथाक्रमं चन्द्रसूर्यद्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रसूर्यद्वीपा अवगाढास्तावत्युदकाभावः, उदकाभावाच्च वनस्पतिकायिकाभावः, केवलं प्रतीच्यां दिशि लवणसमुद्राधिपसुस्थितनामदेवावासभूतो गौतमद्वीपो लवणसमुद्रेऽभ्यधिको वर्तते, तत्र च उदकाभावाद्वनस्पतिकायिकानामभावात् । सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमायां दिशि, तेभ्यो विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तत्र हि गौतमद्वीपो न विद्यते, ततस्तावता विशेषेणाधिका भवन्त्यतिरिच्यन्ते, तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः,यतस्तत्र चन्द्रसूर्यद्वीपा न विद्यन्ते, तदभावात्तत्रोदकं प्रभूतं, तत्प्राभूत्याच्च वनस्पतिकायिका अपि प्रभूता इति विशेषाधिकाः,तेभ्योऽप्युदीच्यां दिशि विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते–उदीच्यां हि दिशि संख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कस्मिंश्चिद् द्वीपे आयामविष्कम्भाभ्यां संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणं मानसं नाम सरः समस्ति,ततो दक्षिणदिगपेक्षया अस्यां प्रभूतमुदकम्, उदकबाहुल्याच्च प्रभूता वनस्पतयः, प्रभूता द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः, प्रभूतास्तदवशङ्खादिकलेवराश्रिताः त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयः, प्रभूताः पद्मादिषु चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः, प्रभूताः पञ्चेन्द्रिया मत्स्यादयः, इति विशेषाधिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह–

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया दाहिणेणं, उत्तरेणं विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया दाहिणुत्तरेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुरच्छिमेणं,पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

दिगनुपातेन दिगनुसारेण, दिशोऽधिकृत्येति भावः । पृथिवीकायिकाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः दक्षिणस्यां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते–इह यत्र घनं तत्र बहवः पृथिवीकायिकाः, यत्र सुषिरं तत्र स्तोकाः,दक्षिणस्यां दिशि बहूनि भवनपतीनां भवनानि, बहवो नरकावासास्ततः सुषिरप्राभूत्यसंभवात्, सर्वस्तोका दक्षिणस्यां दिशि पृथिवीकायिकाः। तेभ्य उत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यत्र उत्तरस्यां दिशि दक्षिणदिगपेक्षया स्तोकानि भवनानि, स्तोका नरकावासास्ततो घनप्राभूत्यसंभवाद् बहवः पृथिवीकायिका इति विशेषाधिकाः । तेभ्योऽपि पूर्वस्यां दिशि विशेषाधिकाः, रविशशिद्वीपानां तत्र भावात् । तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते–यावन्तो रविशशिद्वीपाः पूर्वस्यां दिशि तावन्तः पश्चिमायामपि, तत एव तावता साम्यम् । परं लवणसमुद्रे गौतमनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकोऽस्ति,तेन विशेषाधिकाः । अत्र पर आह—ननु यथा पश्चिमायां दिशि गौतमद्वीपोऽभ्यधिकः समस्ति,तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अधोलौकिकग्रामा अपि योजनसहस्रावगाहाः सन्ति, ततः खातपूरितन्यायेन तत्तुल्या एव पृथिवीकायिकाः प्राप्नुवन्ति, न विशेषाधिकाः। नैतदेवम् । यतोऽधोलौकिकग्रामावगाहो योजनसहस्रं, गौतमद्वीपस्य पुनः षट्सप्तत्यधिकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वं, विष्कम्भस्तस्य द्वादशयोजनसहस्राणि, यच्च मेरोरारभ्याधोलौकिकग्रामेभ्योऽर्वाक् हीनत्वं हीनतरत्वं तत्पूर्वस्यामपि दिशि प्रभूतगर्तादिसम्भवात् समानम् । ततो यद्यधोलौकिकग्रामच्छिद्रेषु बुद्ध्या गौतमद्वीपः प्रक्षिप्यते,तथापि समधिक एव प्राप्यते,न तुल्य इति । तेन समधिकेन विशेषाधिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकायिकाः। उक्तं दिगनुपातेन पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमप्कायिकानामल्पबहुत्वमाह-(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया

इत्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौतमद्वीपस्थाने तेषामभावात् । तेभ्योऽपि विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तेभ्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्यां दिशि, चन्द्रसूर्यद्वीपाभावात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, मानसरःसद्भावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्-(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया इत्यादि)तथा दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यक्षेत्र एव बादरास्तेजस्कायिका नान्यत्र; तत्रापि यत्र बहवो मनुष्याः तत्र ते बहवो बाहुल्येन पाकारम्भसम्भवात् , यत्र स्वल्पे तत्र स्तोकाः। तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषु, उत्तरस्यां दिशि पञ्चस्वैरावतेषु क्षेत्रस्याल्पत्वात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तोकत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः;अल्पपाकारम्भसम्भवात् । ततः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः; स्वस्थाने तु प्रायः समानाः। तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यात् । इदानीं वायुकायिकानामल्पबहुत्वम्-(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुरच्छिमेणमित्यादि) । इह यत्र शुषिरं तत्र वायुर्यत्र च घनं तत्र वाय्वभावः । तत्र पूर्वस्यां दिशि प्रचुरं घनमित्यल्पा वायवः, पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,अधोलौकिकग्रामेषु सम्भवात् । उत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः,भवननरकावासबाहुल्येन शुषिरबाहुल्यात् । ततोऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकं, उत्तरदिगपेक्षया दक्षिणस्यां दिशि भवनानां नरकावासानां चातिप्रचुरत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्तत्र प्रभूताः पनकादयोऽनन्तकायिका वनस्पतयः, प्रचुराः शङ्खादयो द्वीन्द्रियाः, प्रचुराः पिपीलिकाभूतशैवालाद्याश्रिताः कुन्थ्वादयः त्रीन्द्रियाः, प्रचुराः पद्माद्याश्रिता भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रिया इति।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया। दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा बेइंदिया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिंदिया वि ॥

वनस्पत्यादिसूत्राणि चतुरिन्द्रियसूत्रपर्यन्तानि अप्कायिकसूत्रवद्भावनीयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं,उत्तरदाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा रयणप्पभा पुढविणेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सक्करप्पभा पुढविणेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा णेरइया वालुयप्पभा पुढविपुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंकप्पभा पुढविणेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा धूमप्पभा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तमप्पभा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा अहेसत्तमा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकसूत्रे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभाविनो नैरयिकाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां चात्राल्पत्वात्, बहूनां प्रायः संख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेभ्यो दक्षिणदिग्भागविभाविनो संख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां तत्र बाहुल्यात्, तेषां च प्रायोऽसंख्येययोजनविस्तृतत्वात्, कृष्णपाक्षिकाणां तस्यां दिशि प्राचुर्येणोत्पादाच्च । तथाहि-द्विविधा जन्तवः, शुक्लपाक्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च । तेषां लक्षणमिदम्-किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तमात्रसंसारास्ते शुक्लपाक्षिकाः, अधिकतरसंसारभाजिनस्तु कृष्णपाक्षिकाः। उक्तञ्च-"जेसिमवड्ढो पुग्गल-परियट्टो सेसओ य संसारो। ते सुक्कपक्खिया खलु, अहीए पुण कण्हपक्खीओ" ॥ १ ॥ अत एव च स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, अल्पसंसारिणां स्तोकत्वात् । बहवः कृष्णपाक्षिकाः, प्रभूतसंसारिणामतिप्रचुरत्वात् । कृष्णपाक्षिकाश्च प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यं पूर्वाचार्यैरेवंयुक्तिभिरुपबृंह्यते । तद्यथा-कृष्णपाक्षिका दीर्घतरसंसारभाजिन उच्यन्ते । दीर्घतरसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयाद्भवन्ति, बहुपापोदयाच्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् । तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु । यत उक्तम्-"पायमिह कूरकम्मा,भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराइठाणेसु गच्छंति " ॥१॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणामुत्पादसंभवात्, पूर्वोक्तकारणद्वयाच्च सम्भवन्ति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविभ्यो दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः । यथा च सामान्यतो नैरयिकाणां दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तमेवं प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्तेः सर्वत्रापि समानत्वात् । तदेवं प्रतिपृथिव्यपि दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तापि पृथिवीरधिकृत्य दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमाह-

दाहिणेहिंतो अहेसत्तमा पुढविनेरइएहिंतो छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो तमापुढविनेरइएहिंतो पंचमा धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो धूमप्पभा पुढविनेरएहिंतो चउत्थिए पंकप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो पंकप्पभापुढविणेरइएहिंतो तइयाए वालुयप्पभाए पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं अ-

संखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणल्लेहिंतो वालुयप्पभापुढविणेरइएहिंतो बीयाए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो सक्करप्पभापुढविणेरइएहिंतो इमी से रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणल्लेणं असंखेज्जगुणा।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभाविभ्यो नैरयिकेभ्यो ये सप्तमपृथिव्यामेव दाक्षिणात्यास्तेऽसंख्येयगुणाः,तेभ्यः षष्ठपृथिव्यां तमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभाविभ्योऽसंख्येयगुणाः। कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपापकारिणः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः, सप्तमनरकपृथिव्यामुत्पद्यन्ते । किञ्चिद्धीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु पृथिवीषु सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः बहवश्च यथोत्तरं किञ्चिद्धीनतरादिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येयगुणत्वं सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणाम् । एवमुत्तरोत्तरपृथिवीरप्यधिकृत्य भावयितव्यम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि नारका असंख्येयगुणाः। युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता। तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिव्यां धूमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव पञ्चमपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः। एवं सर्वास्वपि क्रमेण वाच्यम् ।

पञ्चेन्द्रियतिरश्चामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

इदं च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रमप्कायसूत्रवत् ।

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनुष्या दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च, पञ्चानां भरतक्षेत्राणां पञ्चानामैरावतक्षेत्राणामत्यल्पत्वात्। तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्। तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, स्वभावत एवाधोलौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यभावात् ।

भवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा भवणवासी देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका भवनवासिनो देवाः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि तत्र भवनानामल्पत्वात् । तेभ्य उत्तरदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, स्वस्थानतया तत्र भवनानां बाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणास्तत्र भवनानामतीव बाहुल्यात् । तथाहि-निकाये २ चत्वारि चत्वारि भवनशतसहस्राण्यतिरिच्यन्ते, कृष्णपाक्षिकाश्च बहवस्तत्रोत्पद्यन्ते, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः ।

व्यन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाणमंतरा देवा पुरच्छिमेणं, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया।

व्यन्तरसूत्रे भावना-यत्र शुषिरं तत्र व्यन्तराः प्रचरन्ति, यत्र घनं तत्र न। ततः पूर्वस्यां दिशि घनत्वात् स्तोका व्यन्तराः। तेभ्योऽपरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरसम्भवात्। तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, स्वस्थानतया नगरावासबाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः , अतिप्रभूतनगरावासबाहुल्यात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

तथा सर्वस्तोका ज्योतिष्काः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि चन्द्रादित्यद्वीपेषूद्यानकल्पेषु कतिपयानामेव तेषां भावात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः,विमानबाहुल्यात, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणदिग्भावित्वाच्च। तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रीडास्थानमिति क्रीडनव्यापृताः नित्यमासते। मानससरसि च ये मत्स्यादयो जलचरास्ते आसन्नविमानदर्शनतः समुत्पन्नजातिस्मरणात् किञ्चिद्व्रतं प्रतिपद्याऽनशनादि च कृत्वा कृतनिदानास्तत्रोत्पद्यन्ते । ततो भवन्त्यौत्तराहा दाक्षिणात्येभ्यो विशेषाधिकाः।

वैमानिकानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सोहम्मे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा ईसाणे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सणंकुमारे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं,उत्तरेणं असंखेज्जगुणा,दाहिणेणं विसेसाहिया। दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा माहिंदे कप्पे पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा बंभलोए कप्पे देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं लंतए कप्पे देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं,दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा महासुक्के कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सहस्सारे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । तेण परं बहुसमोववन्नगा समणाउसो ।

तथा सौधर्मे कल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि वैमानिका देवाः, यतो यान्यावलिकाप्रविष्टानि विमानानि तानि चतसृष्वपि दिक्षु तुल्यानि, यानि पुनः पुष्पावकीर्णानि तानि प्रभूतानि असंख्येययोजनविस्तृतानि, तानि च दक्षिणस्यामुत्तरस्यां दिशि, नान्यत्र, ततः सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि। तेभ्य उत्तरस्यां दिशि असंख्येयगुणाः,पुष्पावकीर्णवि-

मानानां बाहल्यादसंख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, कृष्णपाक्षिकाणां प्राचुर्येण तत्र गमनात् । एवमीशानसनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पसूत्राण्यपि भावनीयानि । ब्रह्मलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो देवाः, यतो बहवः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्योनयो दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । शुक्लपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु, शुक्लपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्वस्तोकाः । तेभ्यो दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां बहूनां तत्रोत्पादात् । एवं लान्तकशुक्रसहस्रारसूत्राण्यपि भावनीयानि । आनतादिषु पुनर्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते, तेन प्रतिकल्पं प्रतिग्रैवेयकं प्रत्यनुत्तरविमानं चतसृषु दिक्षु प्रायो बहुसमा वेदितव्याः । तथा चाऽऽह-"तेण परं बहुसमोववन्नगा समणाउसो" इति ॥

इदानीं सिद्धानामल्पबहुत्वमाह-

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिद्धा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सिद्धाः दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह मनुष्या एव सिद्ध्यन्ति नान्ये, मनुष्या अपि सिद्ध्यन्तो येष्वाकाशप्रदेशेष्विह चरमसमये अवगाढास्तेष्वेवाकाशप्रदेशेषूर्ध्वमपि गच्छन्ति, तेष्वेव चोपर्यवतिष्ठन्ते, न मनागपि वक्रं गच्छन्ति, सिद्ध्यन्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषूत्तरस्यां दिशि पञ्चस्वैरावतेषु मनुष्या अल्पाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् । सुषमसुषमादौ च सिद्धेरभावादिति । ततस्तत्रसिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, पूर्वविदेहानां भरतैरावतक्षेत्रेभ्यः संख्येयगुणतया तद्गतमनुष्याणामपि संख्येयगुणत्वात्, तेषां च सर्वकालं सिद्धिभावात् । तेभ्यः पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः,अधोलौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

भव्यदेवादीनाम्—

एएसि णं भंते ! भवियदव्वदेवाणं णरदेवाणं० जाव भावदेवाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा संखेज्जगुणा, भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

भरतैरवतेषु प्रत्येकं द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवसम्भवात्; सर्वेष्वेकदाऽनुत्पत्तेरिति । (देवाहिदेवा संखेज्जगुण त्ति) भरतादिषु प्रत्येकं तेषां चक्रवर्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवोपेतेष्वप्युत्पत्तेरिति । (धम्मदेवा संखेज्जगुण त्ति) साधूनामेकदाऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वसद्भावादिति । (भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुण त्ति) देशविरतादीनां देवगतिगामिनामसंख्यातत्वात् । (भावदेवा असंखेज्जगुण त्ति) स्वरूपेणैव तेषामतिबहुत्वादिति ।

अथ भावदेवविशेषाणां भवनपत्यादीनामल्पबहुत्वप्ररूपणायाह-

एएसि णं भंते ! भावदेवाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं सोहम्मगाणं, जाव अच्चुयगाणं गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइया भावदेवा, उवरिमगेवेज्जा भावदेवा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्चुयकप्पे देवा संखेज्जगुणा, जाव आणयकप्पे भावदेवा । एवं जहा जीवाभिगमे तिविहे देवपुरिसअप्पाबहुयं० जाव जोइसिया भावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

(जहा जीवाभिगमे तिविहे इत्यादि) इह च "तिविहे त्ति" त्रिविधजीवाधिकार इत्यर्थः । देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमुक्तं तथेहापि वाच्यम् । भ० १२ श० ९ उ० । (अत्र २८ अधिकारे वेदद्वारे वक्ष्यते) (निगोदविषयकं 'णिगोद' शब्दे दर्शयिष्यते) । कायादिपरिचारकाणामल्पबहुत्वं 'परिचारणा' शब्दे निरूपयिष्यते)

(१८) [परीतद्वारम्] परीतापरीतनोपरीतानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं परित्ताणं अपरित्ताणं नोपरित्ताणं नोअपरित्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा परित्ता , नोपरित्ता नोअपरित्ता अणंतगुणा, अपरित्ता अणंतगुणा ।

इह परीता द्विविधाः-भवपरीताः, कायपरीताश्च । तत्र भवपरीता येषां किञ्चिदूनाऽपार्धपुद्गलपरावर्तमानसंसारः ; कायपरीताः प्रत्येकशरीरिणः, तत्र उभयेऽपि परीताः सर्वस्तोकाः, शुक्लपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरिणां च शेषजीवापेक्षयाऽतिस्तोकत्वात् । ततो नोपरीता नोअपरीता अनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवृत्ताश्च सिद्धाः,ते चानन्ता इति । तेभ्योऽपरीता अनन्तगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां साधारणवनस्पतीनां वा सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । गतं परीतद्वारम् ।

(१९) [पर्याप्तद्वारम्] पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते जीवाणं पज्जत्ताणं अपज्जत्ताणं नोपज्जत्ताणं नोअपज्जत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जत्तगा नोअपज्जत्तगा, अपज्जत्तगा अणंतगुणा, पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तकाः, उभयप्रतिषेधवर्तिनो हि सिद्धाः, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति । तेभ्योऽपर्याप्तका अनन्तगुणाः, साधारणवनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानां सर्वकालमपर्याप्तत्वेन लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इह सर्वबहवो जीवाः सूक्ष्माः, सूक्ष्माश्च सर्वकालमपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इति संख्येयगुणा उक्ताः । गतं पर्याप्तद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(२०) [पुद्गलद्वारम्] पुद्गलानां क्षेत्रानुपातादिभिरल्पबहुत्वमाह--

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गला तेलुक्के, उड्ढलोयतिरियलोए अणंतगुणा, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

इदमल्पबहुत्वं पुद्गलानां द्रव्यार्थत्वमङ्गीकृत्य व्याख्येयम्, तथासम्प्रदायात् । तत्र क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वस्तोकाः, सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यव्यापीनीति पुद्गलद्रव्याणीति भावः । यस्मान्महास्कन्धा एव त्रैलोक्यव्यापिनस्ते चाल्पा इति । तेभ्य ऊर्ध्वलोकति-

र्यग्लोके अनन्तगुणाः,यतस्तिर्यग्लोकस्य यत्सर्वोपरितनमेकप्रादेशिकं प्रतरं यच्चोर्ध्वलोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकं प्रतरमेते द्वे अपि प्रतरे ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोक उच्यते । ते चाऽनन्ताः संख्येयप्रदेशिकाः,अनन्ता असंख्येयप्रदेशिकाः, अनन्ता अनन्तप्रदेशिकाः, स्कन्धाः स्पृशन्तीति द्रव्यार्थतया अनन्तगुणाः। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयरूपे विशेषाधिकाः, क्षेत्रस्य आयामविष्कम्भाभ्यां मनाग् विशेषाधिकत्वात्। तेभ्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणाः, यतस्तिर्यग्लोकक्षेत्रादूर्ध्वलोकक्षेत्रमसंख्येयगुणमिति । तेभ्योऽधोलोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकादधोलोकस्य विशेषाधिकत्वात् । देशोनसप्तरज्जुप्रमाणो ह्यूर्ध्वलोकः, समधिकसप्तरज्जुप्रमाणस्त्वधोलोकः।

संप्रति दिगनुपातेनाल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गला उड्ढदिसाए, अहोदिसाए विसेसाहिया, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेण य दोवि तुल्ला असंखेज्जगुणा, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तुल्ला विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं असंखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वदिशि, इह रत्नप्रभासमभूमितलमेरुमध्ये अष्टप्रादेशिको रुचकस्तस्माद्विनिर्गताश्चतुःप्रदेशाः, ऊर्ध्वा दिक् यावल्लोकान्तः । ततस्तत्र सर्वस्तोकाः पुद्गलाः, तेभ्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः, अधोदिगपि रुचकादेव प्रभवति । चतुःप्रदेशा यावल्लोकान्तस्ततस्तस्या विशेषाधिकत्वात् । तत्र पुद्गला विशेषाधिकाः, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यां दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकमसंख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः सन्तस्ते द्वे अपि दिशौ रुचकाद्विनिर्गते मुक्तावलिसंस्थिते तिर्यग्लोकान्तमधोलोकान्तमूर्ध्वलोकान्तं पर्यवसिते,तेन क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणात्वात्तत्र पुद्गला असंख्येयगुणाः, क्षेत्रं तु स्वस्थाने सममिति । पुद्गला अपि स्वस्थाने तुल्याः, तेभ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येकं विशेषाधिकाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः। कथं विशेषाधिका इति चेत् ?, उच्यते–इह सौमनसगन्धमादनेषु सप्त सप्त कूटानि,विद्युत्प्रभमाल्यवतोर्नव नव, तेषु च कूटेषु धूमिकावश्यायादिसूक्ष्मपुद्गलाः प्रभूताः संभवन्ति, ततो विशेषाधिकाः। स्वस्थाने तु क्षेत्रस्य पर्वतादेश्च समानत्वात्तुल्याः।तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरभावतो बहूनां पुद्गलानामवस्थानभावात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां विशेषाधिकाः, बहुभवनशुषिरभावात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकाः, यत उत्तरस्यामायामविष्कम्भाभ्यां संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणं मानसं सरः, तत्र ये जलचराः,पनकशैवालादयश्च सत्वास्ते अतिबहव इति तेषां ये तैजसकार्मणपुद्गलास्ते अधिकाः प्राप्यन्ते, इति पूर्वोक्तेभ्यो विशेषाधिकाः। तदेवं पुद्गलविषयमल्पबहुत्वमुक्तम् ॥

इदानीं सामान्यतो द्रव्यविषयं क्षेत्रानुपातेनाऽऽह–

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाइं दव्वाइं तेलुक्के, उड्ढलोयतिरियलोए अणंतगुणाइं, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहियाइं, उड्ढलोए असंखेज्ज०, अहोलोए अणंतगुणाइं, तिरियलोए संखिज्जगुणाइं ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानानि द्रव्याणि सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यसंस्पर्शीनि,यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायद्रव्याणि पुद्गलास्तिकायस्य महास्कन्धा जीवास्तिकायस्य मारणान्तिकसमुद्घातेनातीवसमवहता जीवास्त्रैलोक्यव्यापिनः,ते चाल्पे इति सर्वस्तोकानि। तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तस्वरूपप्रतरद्वयात्मके अनन्तगुणानि, अनन्तैः पुद्गलद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यैः तस्य संस्पर्शनात्।तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकानि, ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकादधोलोकतिर्यग्लोकस्य मनाग् विशेषाधिकत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणानि,क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणानि। कथमिति चेत् ?,उच्यते–इहाधोलौकिकग्रामेषु कालोऽस्ति,तस्य च कालस्य तत्तत्परमाणुसंख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रादेशिकद्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायसंबन्धवशात्प्रतिपरमाण्वादिद्रव्यमनन्तता, ततो भवन्त्यधोलोकेऽनन्तगुणानि, तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणानि, अधोलौकिकग्रामप्रमाणानां खण्डानां मनुष्यलोके कालद्रव्याधारभूते संख्येयानामवाप्यमानत्वात् ।

साम्प्रतं दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवाइं दव्वाइं अहेदिसाए, उड्ढदिसाए अणंतगुणाइं, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेणं दोवि तुल्लाइं असंखेज्जगुणाइं, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तुल्लाइं विसेसाहियाइं, पुरच्छिमेणं असंखेज्जगुणाइं, पच्चच्छिमेणं विसेसाहियाइं, दाहिणेणं विसेसाहियाइं, उत्तरेणं विसेसाहियाइं ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानानि सामान्यतो द्रव्याणि सर्वस्तोकानि अधोदिशि प्राग्व्यावर्णितस्वरूपायाम्। तेभ्य ऊर्ध्वदिश्यनन्तगुणानि। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते–इह ऊर्ध्वलोके मेरोः पञ्चयोजनशतकं स्फटिकमयं काण्डं, तत्र चन्द्रादित्यप्रभाऽनुप्रवेशाद् द्रव्याणां क्षणादिकालप्रतिभागोऽस्ति, कालस्य च प्रागुक्तनीत्या प्रतिपरमाण्वादिद्रव्यमानन्त्यात् । तेभ्योऽनन्तगुणानि,तेभ्य उत्तरपूर्वस्यामीशान्यां, दक्षिणपश्चिमायां,नैर्ऋतकोणे इत्यर्थः। असंख्येयानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि, समानक्षेत्रत्वात् । तेभ्यो दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेय्याम्, उत्तरपश्चिमायां, वायव्यकोणे इति भावः । विशेषाधिकानि,विद्युत्प्रभमाल्यवन्तकूटाश्रितानां धूमिकावश्यायादिश्लक्ष्णपुद्गलद्रव्याणां बहूनां सम्भवात् । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकानि, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरभावतो बहूनां पुद्गलद्रव्याणामवस्थानात् । ततो दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकानि, बहुभवनशुषिरभावात् । तत उत्तरस्यां विशेषाधिकानि, तत्र मानससरसि जीवद्रव्याणां तदाश्रितानां तैजसकार्मणपुद्गलस्कन्धद्रव्याणां च भूयसां भावात् ।

सम्प्रति परमाणुपुद्गलानां संख्येयप्रदेशानामसंख्येयप्रदेशानामनन्तप्रदेशानां परस्परमल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपदेसियाणं असंखेज्जपदेसियाणं अणंतपदेसियाण य खंधाणं दव्वट्ठ–

याए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए,परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्ठयाए परमाणुपोग्गला अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दव्वट्ठयाए ते चेव, पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठपदेसट्ठयाए अणंतगुणा , संखिज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, ते चेव य पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ॥

व्याख्यानं पाठसिद्धम् । नवरमत्राल्पबहुत्वभावनायां सर्वत्र तथास्वाभाव्यं कारणं वाच्यम् ।

संप्रत्येतेषामेव क्षेत्रप्राधान्येनाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं संखेज्जपएसोगाढाणं असंखिज्जपएसोगाढाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा! सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पुग्गला दव्वट्ठयाए,संखेज्जपएसोवगाढा पुग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जपदेसोवगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा; पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पोग्गला,पदेसट्ठयाए संखिज्जपदेसोगाढा पोग्गला,पदेट्ठसयाए संखेज्जगुणा,असंखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोग्गला,दव्वट्ठपदेसट्ठयाए संखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखिज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगसमयट्ठितीयाणं संखिज्जसमयट्ठितीयाणं असंखिज्जसमयट्ठितीयाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए, संखेज्जसमयट्ठितीया पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पोग्गला, पदेसट्ठयाए संखेज्जसमयट्ठिईया पोग्गला, पएसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पुग्गला,दव्वट्ठपएसट्ठयाए संखेज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगगुणकालगाणं संखिज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा ! जहा परमाणुपोग्गला तहा भाणियव्वा । एवं संखेज्जगुणकालयाण वि । एवं सेसाण वि वण्णरसगंधा भाणियव्वा, फासाणं कक्खडमउयगरुयलहुयाणं जहा एगपदेसोगाढाणं भणियं तहा भाणियव्वं, अवसेसा फासा जहा वण्णा भणिया तहा भाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाण्वाद्यनन्ताणुकाः स्कन्धा अपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढा आधाराधेययोरभेदोपचारादेकद्रव्यत्वेन व्यवह्रियन्ते । ते इत्थंभूता एकप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वस्तोकानि,लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानीत्यर्थः । नहि स कश्चिदेवंभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति,य एकप्रदेशावगाहनपरिणामपरिणतानां परमाण्वादीनामवकाशप्रदानपरिणामेन परिणतो न वर्तते इति । तेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकस्कन्धा द्विप्रदेशावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथाभूतानि पुद्गलद्रव्याणि पूर्वोक्तेभ्यः संख्येयगुणानि । तथाहि-सर्वलोकप्रदेशास्तत्त्वतोऽसंख्येया अपि असत्कल्पनया दश परिकल्प्यन्ते, ते च प्रत्येकचिन्तायां दशैवेति दश एकप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि लब्धानि, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यग्रहणान्यमोक्षणद्वारेण बहवो द्विकसंयोगा लभ्यन्ते, इति भवन्त्येकप्रदेशावगाढेभ्यो द्विप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि संख्येयगुणानि । एवं तेभ्योऽपि त्रिप्रदेशावगाढानि । एवमुत्तरोत्तरं यावदुत्कृष्टसंख्येयप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतत्-एकप्रदेशावगाढेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढपुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणा इति । एवं तेभ्योऽसंख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, असंख्यातस्य असंख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासूत्रं द्रव्यार्थपर्यायार्थतासूत्रं च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालभावसूत्राण्यपि सुगमत्वात्स्वयंभावयितव्यानि, नवरं " जहा परमाणुपोग्गला तहा भाणियव्वा " इति । यथा प्राक् सामान्यतः पुद्गला उक्तास्तथा एकगुणकालकादयोऽपि वक्तव्याः । ते चैवम्-" सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा एगगुणकालगा परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए एगगुणकालगा अणंतगुणा , संखेज्जपएसिया खंधा एगगुणकालगा संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा एगगुणकालगा असंखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा एगपरमाणुपोग्गला एगगुणकालगा अणंतगुणा" इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालकानामनन्तगुणकालकानामपि वाच्यम् । एवं शेषवर्णगन्धरसा अपि वक्तव्याः । कर्कशमृदुगुरुलघवः स्पर्शा यथा एकप्रदेशाद्यवगाढा भणितास्तथा

वक्तव्याः । ते चैवम्-" सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा एगगुणकक्खडफासा दव्वट्ठयाए संखेज्जपएसोगाढा एगगुणकक्खडफासा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा " इति । एवं संख्येयगुणकर्कशस्पर्शा असंख्येयगुणकर्कशस्पर्शा वाच्याः । एवं मृदुगुरुलघव अवशेषाश्चत्वारः शीतादयः स्पर्शाः, यथा वर्णादय उक्तास्तथा वक्तव्याः । तत्र पाठोऽप्युक्तानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं भावनीयः । प्रज्ञा० ३ पद ।

एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपदेसियाण य खंधाण य दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! दुपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया। एएसि णं भंते ! दुपदेसियाणं तिपदेसियाण य खंधाणं दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो बहुया० ?। गोयमा ! तिपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो दुपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया। एवं एएणं गमएणं जाव दसपदेसिएहिंतो णवपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया । एएसि णं भंते ! दसपएसा पुच्छा ?। गोयमा ! दसपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया। एएसि णं भंते ! संखेज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! संखेज्जपएसिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया। एएसि णं भंते ! असंखेज्जपदेसिया पुच्छा ?। गोयमा ! असंखेज्जपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो अणंतपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया। एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपदेसियाण य खंधाणं पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो बहुया ?। गोयमा ! परमाणुपोग्गलेहिंतो दुपदेसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया । एवं एएणं गमएणं जाव णवपएसिएहिंतो खंधेहिंतो दसपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया। एवं सव्वत्थ पुच्छियव्वं । दसपएसिएहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया, संखेज्जपएसिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया। एएसि णं भंते ! असंखेज्जपएसियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! अणंतपएसिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा पएसट्ठयाए बहुया। एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं दुपदेसोगाढाण य पोग्गलाण य दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! दुपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो एगपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया। एवं एएणं गमएणं तिपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया जाव दसपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो णवपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया । एएसि णं भंते ! दसपएसा पुच्छा ?। गोयमा ! दसपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया, संखेज्जपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया। एवं पुच्छा सव्वत्थ भाणियव्वा। एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं दुपदेसोगाढाणं पोग्गलाणं पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! एगपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपदेसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए विसेसाहिया। एवं जाव णवपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दसपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए विसेसाहिया। दसपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए बहुया। संखेज्जपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला पएसट्ठयाए बहुया । एएसि णं भंते ! एगसमयट्ठिईयाणं दुसमयट्ठिईयाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए जहा ओगाहणा वत्तव्वया, एवं ठितीए वि। एएसि णं भंते ! एगगुणकालयाणं दुगुणकालयाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए । एएसि णं जहा परमाणुपोग्गलादीणं तहेव वत्तव्वया णिरवसेसा, एवं सव्वेसिं वण्णगंधरसाणं । एएसि णं भंते ! एगगुणकक्खडाणं दुगुणकक्खडाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! एगगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया, एवं जाव णवगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो दसगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया, दसगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया । संखेज्जगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया । असंखेज्जगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो अणंतगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया । एवं पदेसट्ठयाए सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा, जहा कक्खडा । एवं मउयगुरुयलहुया वि सीयउसिणणिद्धलुक्खा जहा वण्णा । एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाणं खंधाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्ठयाए परमाणुपोग्गला, अपदेसट्ठयाए अणंतगुणा , संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा , असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा , दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया, दव्वट्ठयाए ते चेव, पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अपएसट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया

खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगपदेसोगाढाणं संखेज्जपदेसोगाढाणं असंखेज्जपदेसोगाढाणं पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए, संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा पोग्गला, पएसट्ठयाए संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला, पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपएसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा पोग्गला, दव्वट्ठपएसट्ठयाए संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला, दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा । असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगसमयट्ठितीयाणं संखेज्जसमयट्ठितीयाणं असंखेज्जसमयट्ठितीयाण य पोग्गलाणं जहा ओगाहणाए तहा ठितीए वि जाणियव्वं अप्पाबहुगं । एएसि णं भंते ! एगगुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए एएसिं जहा परमाणुपोग्गलाणं अप्पाबहुगं तहा एएसिं पि अप्पाबहुगं । एवं सेसाण वि वण्णगंधरसाणं । एएसि णं भंते ! एगगुणकक्खडाणं संखेज्जगुणकक्खडाणं असंखेज्जगुणकक्खडाणं अणंतगुणकक्खडाण य पोग्गलाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए, संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, पदेसट्ठयाए एवं चेव । णवरं संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । सेसं तं चेव । दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगगुणकक्खडा पोग्गला, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकक्खडा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकक्खडा दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । एवं मउयगुरुयलहुया वि अप्पाबहुगं । सीयउसिणणिद्धलुक्खाणं जहा वण्णाणं तहेव ॥

टीका सुगमा प्रज्ञापनापाठेन गतार्था चेति नेहोपन्यस्यते । भ० २५ श० ४ उ० ।

(प्रयोगादिपरिणतानामल्पबहुत्वं 'परिणाम' शब्दे वक्ष्यते) (आहारायाऽस्पृश्यमानानामनास्वाद्यमानानां च पुद्गलानां परस्परमल्पबहुत्वम्-'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ५०१ पृष्ठे प्रतिपादयिष्यते) (प्रत्याख्यानविषयमल्पबहुत्वं 'पच्चक्खाण' शब्दे वक्ष्यते) (प्रवेशनकमाश्रित्य 'पवेसणग' शब्दे निरूपयिष्यते)

(२१) [बन्धद्वारम्] आयुःकर्मबन्धकादीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आउस्स कम्मस्स बंधगाणं अबंधगाणं अपज्जत्ताणं पज्जत्ताणं सुत्ताणं जागराणं समोहयाणं असमोहयाणं सातावेदगाणं असातावेदगाणं इंदियउवउत्ताणं णोइंदियउवउत्ताणं सागारोवउत्ताणं अणागारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा आउस्स कम्मस्स बंधगा, अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, सुत्ता संखिज्जगुणा, समोहया संखिज्जगुणा, सातावेदगा संखिज्जगुणा, इंदियउवउत्ता संखिज्जगुणा, अणागारोवउत्ता संखिज्जगुणा, सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा, नोइंदियउवउत्ता विसेसाहिया, असातावेदगा विसेसाहिया, असमोहिया विसेसाहिया, जागरा विसेसाहिया, पज्जत्तगा विसेसाहिया, आउस्स कम्मस्स अबंधगा विसेसाहिया ॥

इहायुःकर्मबन्धकाबन्धकानां पर्याप्तापर्याप्तानां सुप्तजाग्रतां समवहतासमवहतानां सातावेदकासातावेदकानाम्, इन्द्रियोपयुक्तनोइन्द्रियोपयुक्तानां साकारोपयुक्ताऽनाकारोपयुक्तानां समुदायेनाऽल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र प्रत्येकं तावद् ब्रूमः-येन समुदाये सुखेन तदवगम्यते । तत्र सर्वस्तोका आयुषो बन्धकाः, अबन्धकाः संख्येयगुणाः, यतोऽनुभूयमानभवायुरपि त्रिभागावशेषपारभविकमायुर्जीवा बध्नन्ति त्रिभागत्रिभागाद्यवशेषे वा, ततो द्वौ त्रिभागावबन्धकाल एकः त्रिभागो बन्धकाल इति बन्धकेभ्योऽबन्धकाः संख्येयगुणाः । तथा सर्वस्तोका अपर्याप्तकाः, पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः । एतच्च सूक्ष्मजीवानधिकृत्य वेदितव्यम् । सूक्ष्मेषु हि बाह्यो व्याघातो न भवति, ततस्तद्भावाद्बहूनां निष्पत्तिः, स्तोकानामेव चानिष्पत्तिः । तथा सर्वस्तोकाः सुप्ताः, जागराः संख्येयगुणाः, एतदपि सूक्ष्मानेकेन्द्रियानधिकृत्य वेदितव्यम्, यस्मादपर्याप्ताः सुप्ता एव लभ्यन्ते, जागरा अपि । उक्तं मूलटीकायाम्-"जम्हा अपज्जत्ता सुत्ता लब्भंति केइ अपज्जत्तगा जेसिं संखिज्जा समया अतीता ते य थोवा, इयरे वि थोवगा चेव, सेसा जागरा पज्जत्तगा संखिज्जगुणा" इति । जागराः पर्याप्तास्तेन संख्येयगुणा इति । तथा समवहताः सर्वस्तोकाः, यत इह समवहता मारणान्तिकसमुद्घातेन परिगृह्यन्ते, मारणान्तिकश्च समुद्घातो मरणकाले, न शेषकालं, तत्राऽपि न सर्वेषामिति सर्वस्तोकाः । तेभ्योऽसमवहताः संख्येयगुणाः, जीवनकालस्यातिबहुत्वात् । तथा सर्वस्तोकाः सातवेदकाः, यत इह बहवः साधारणशरीरा अल्पे प्रत्येकशरीरिणः, साधारणशरीराश्च बहवोऽसातवेदकाः, स्वल्पाः सातवेदिनः, प्रत्येकशरीरिणस्तु भूयांसः सातवेदकाः, स्तोका असातवेदिनः, ततः स्तोकाः सातवेदकाः, तेभ्योऽसातवेदकाः

संख्येयगुणाः, तथा सर्वस्तोका इन्द्रियोपयुक्ताः । इन्द्रियोपयोगो हि प्रत्युत्पन्नकालविषयः; यतः तदुपयोगकालस्य स्तोकत्वात् पृच्छासमये स्तोका अवाप्यन्ते। यदा तु तमेवार्थमिन्द्रियेण दृष्ट्वा विचारयत्यथ संज्ञयाऽपि तदा नोइन्द्रियोपयुक्तः स व्यपदिश्यते। ततो नोइन्द्रियोपयोगस्यातीतानागतकालविषयतया बहुकालत्वात्संख्येयगुणा नोइन्द्रियोपयुक्ताः, तथा सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगकालस्य स्तोकत्वात् । साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अनाकारोपयोगकालात्साकारोपयोगस्य संख्येयगुणत्वात् । इदानीं समुदायगतं सूत्रोक्तमल्पबहुत्वं भाव्यते , सर्वस्तोका जीवाः आयुष्कर्मणो बन्धकाः,आयुर्बन्धकालस्य प्रतिनियतत्वात् ।तेभ्योऽपर्याप्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्ता अनुभूयमानभवत्रिभागावशेषायुषः पारभविकमायुर्बध्नन्ति , ततो द्वौ त्रिभागावबन्धकालौ, एकोऽबन्धकाल इति बन्धकालादबन्धकालः संख्येयगुणः, तेन संख्येयगुणा एवाऽपर्याप्ता आयुर्बन्धकेभ्यः, तेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः सुप्ताः संख्येयगुणाः, यस्मादपर्याप्तेषु च पर्याप्तेषु च सुप्ता लभ्यन्ते । पर्याप्ताश्चापर्याप्तेभ्यः संख्येयगुणाः, इत्यपर्याप्तेभ्यः सुप्ताः संख्येयगुणाः, तेभ्यः समवहताः संख्येयगुणाः, बहूनां पर्याप्तेष्वपर्याप्तेषु च मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतानां सदा लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः सातावेदकाः संख्येयगुणाः, आयुर्बन्धकापर्याप्तकसुप्तेष्वपि सातावेदकानां लभ्यमानत्वात् । तेभ्य इन्द्रियोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, असातवेदकानामपि इन्द्रियोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽनाकारोपयोगोपयुक्ताः, इन्द्रियोपयोगेषु नोइन्द्रियोपयोगेषु वा ऽनाकारोपयोगस्य लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, इन्द्रियोपयोगेषु नोइन्द्रियोपयोगेषु साकारोपयोगकालस्य बहुत्वात् । तेभ्यो नोइन्द्रियोपयुक्ता विशेषाधिकाः, नोइन्द्रियाऽनाकारोपयुक्तानामपि तत्र प्रक्षेपात्, साकारानाकारोपयुक्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् । अत्र विनेयजनानुग्रहार्थमसद्भावस्थापनया निदर्शनमुच्यते-इह सामान्यतः किल साकारोपयुक्ता द्विनवत्यधिकं शतम् १९२। ते च किल द्विधा-इन्द्रियसाकारोपयुक्ताः, नोइन्द्रियसाकारोपयुक्ताश्च। तत्रेन्द्रियसाकारोपयुक्ताः किलाऽतीवस्तोका इति विंशतिसंख्याः कल्पन्ते ; शेषं द्विसप्तत्युत्तरं शतम् १७२ । नोइन्द्रियसाकारोपयुक्ता नोइन्द्रियानाकारोपयुक्ताश्च द्विपञ्चाशत्कल्पाः। ततः सामान्यतः साकारोपयुक्तेभ्य इन्द्रियसाकारोपयुक्तेषु विंशतिकल्पेष्वपनीतेषु द्विपञ्चाशत्कल्पेषु अनाकारोपयुक्तेषु तेषु मध्ये प्रक्षिप्तेषु द्वे शते चतुर्विंशत्यधिके भवतः । ततः साकारोपयुक्तेभ्यो नोइन्द्रियोपयुक्ता विशेषाधिकाः,तेभ्योऽसातवेदका विशेषाधिकाः,इन्द्रियोपयुक्तानामप्यसातवेदकत्वात् १० । तेभ्योऽसमवहता विशेषाधिकाः,सातवेदकानामप्यसमवहतत्वभावात् । तेभ्यो जागरा विशेषाधिकाः,समवहतानामपि केषांचिज्जागरत्वात् १२। तेभ्यः पर्याप्ता विशेषाधिकाः,सुप्तानामपि केषांचित् पर्याप्तत्वात् । सुप्ता हि पर्याप्तापर्याप्ता अपि भवन्ति; जागरास्तु पर्याप्ता एवेति नियमः १३ । तेभ्योऽपि पर्याप्तेभ्य आयुःकर्माऽबन्धका विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामप्यायुःकर्माबन्धकभावात् १४ । इदमेवाल्पबहुत्वं विनेयजनानुग्रहाय स्थापनाराशिभिरुपदर्श्यते-इह द्वे पङ्क्ती उपर्यधोभावेन न्यस्येते । तत्रोपरितन्यां पङ्क्तौ आयुःकर्मबन्धका अपर्याप्ताः सुप्ताः समवहताः सातवेदका इन्द्रियोपयुक्ता अनाकारोपयुक्ताः क्रमेण स्थाप्यन्ते, तस्या अधस्तन्यां पङ्क्तौ तेषामेव पदानामधस्ताद् यथासंख्येयमायुरबन्धका पर्याप्ता जागरा असमवहता असातवेदका नोइन्द्रियोपयुक्ताः साकारोपयुक्ताः। स्थापना चेयम्-आद्यमिति तत्परिमाणं संख्यायामेकः स्थाप्यते । ततः शेषपदानि किल जघन्येन संख्येयगुणानीति द्विगुणो द्विगुणाङ्कस्तेषु स्थाप्यते । तद्यथा-द्वौ चत्वार अष्टौ षोडश द्वात्रिंशत् चतुःषष्टिः; सर्वोऽपि जीवराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः परिकल्प्यते । ततोऽस्माज्जीवराशेरायुर्बन्धकादिगताः संख्याः शोधयित्वा यत् शेषमवतिष्ठते तदायुरबन्धकादीनां परिमाणे स्थापयितव्यम् । तद्यथा-आयुरबन्धकादिपदे द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके,शेषेषु यथोक्तक्रमं द्वे शते, चतुष्पञ्चाशदधिके द्वे शते, द्विपञ्चाशदधिके द्वे शते, अष्टचत्वारिंशदधिके द्वे शते, चत्वारिंशदधिके द्वे शते, चतुर्विंशत्यधिके द्विनवत्यधिकं शतम् । एवं च सति उपरितनपङ्क्तिगतान्यनाकारोपयुक्तपर्यन्तानि पदानि संख्येयगुणानि , द्विगुणद्विगुणाधिकत्वात् । ततः परं साकारोपयुक्तपदमपि संख्येयगुणम्,त्रिगुणत्वात् । शेषाणि तु नोइन्द्रियोपयुक्तादीनि प्रातिलोमं विशेषाधिकानि, द्विगुणत्वस्यापि क्वचिदभावात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(प्रकृतिबन्धादीनाम्)

साम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं, प्रकृतयः प्रदेशाश्च तत्कार्यं वर्तन्ते। तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणं, स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम्, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि कारणम् , अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्त इति कृत्वा सर्वेषामप्येषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसाया-ऽणुभागठाणा असंखगुणा ॥८५॥

योगो वीर्यम्;तस्य स्थानानि वीर्यविभागात्मासङ्घातरूपाणि। कियन्ति पुनस्तानि भवन्ति?, इत्याह-(सेढिअसंखेज्जंसे त्ति)श्रेणेरसंख्येयांशः श्रेण्यसंख्येयांशः। एतदुक्तं भवति-श्रेणेर्वक्ष्यमाणस्वरूपाया असंख्येयभागे यावन्त आकाशप्रदेशा भवन्ति,तावन्ति योगस्थानानि । एतानि चोत्तरपदापेक्षया सर्वस्तोकानीति शेषः । तत्र यथैतानि योगस्थानानि भवन्ति तथोच्यते- इह किल सूक्ष्मनिगोदस्यापि सर्वजघन्यवीर्यलब्धियुक्तस्य प्रदेशाः केचिदल्पवीर्ययुक्ताः केचित्तु बहुबहुतरबहुतमवीर्योपेताः; तत्र सर्वजघन्ययुक्तवीर्यस्यापि प्रदेशस्य संबन्धि वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन छिद्यमानमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान् भागान् प्रयच्छति, तस्यैवोत्कृष्टवीर्ययुक्तप्रदेशे यद्वीर्यं तदेतेभ्योऽसंख्येयगुणान् भागान् प्रयच्छति ।

उक्तं च—

" पन्नाए छिज्जंता, असंखलोगाण जत्तियपएसा ।
तत्तियवीरियभागा, जीवपएसम्मि एक्केक्के ॥ १ ॥
सव्वजहन्नगविरिए, जीवपएसम्मि तत्तिया संखा ।
तत्तो असंखगुणियं, बहुविरिए जियपएसम्मि " ॥ २ ॥

भागा अविभागपरिच्छेदा इति चानर्थान्तरम् । ततः सर्वस्तोका विभागपरिच्छेदकलितानां लोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरप्रदेशराशिसंख्यानां जीवप्रदेशानां समानवीर्यपरिच्छेदतया जघन्यैका वर्गणा । तत एकेन योगपरिच्छेदेनाधिकानां तावतामेव जीवप्रदेशानां द्वितीया वर्गणा । एवमेकैकयोगप-

रिच्छेदवृद्ध्या वर्द्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेणेरसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः ।

एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते—

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा असंख्येयवीर्यभागान्विताः । अथ सत्कल्पनया वयस्त्रयः स्थाप्यन्ते, एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्द्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्द्ध इति कः शब्दार्थः ?, उच्यते-एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्द्धन्ते वर्गणा यत्र तत् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते । किं तर्हि ?, प्रथमस्पर्द्धकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपरिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशाः, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्द्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीयवर्गणा । एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्याः । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्द्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते । किं तर्हि-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्द्धकमारभ्यते । पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्द्धकानि श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैतावतां स्पर्द्धकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य भवाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितं, तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः,अनेनैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते । तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थम् । इत्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां कालभेदेनैकजीवस्य वा श्रेणेरसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । ननु जीवानामनन्तत्वात्तद्भेदाद्योगस्थानान्यनन्तानि कस्मान्न भवन्ति ?। नैतदेवम्-यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा वर्तन्ते, त्रसास्त्वेकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसंख्याता वर्तन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवक्षितमतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमवतिष्ठन्ते । ततः परमसंख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिसमयमन्योन्ययोगस्थानकेषु संक्रामन्ति, पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावद्वर्तन्ते, ततः परमन्ययोगस्थानकमुपजायते, स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानके तु जघन्यतः समयम्,उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेषु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुरः, क्वचित्पञ्च, क्वचित् षट्, क्वचित् सप्त, क्वचिदष्टौ समयान् यावद्वर्तन्त इति । अयं चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसहकारिकारणवशात्संक्षिप्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः ३ । असत्यामृषामनोयोगः ४ । सत्यवाग्योगः १, असत्यवाग्योगः २, सत्यमृषावाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४ । औदारिककाययोगः १, औदारिकमिश्रकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिश्रकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिश्रकाययोगः ६, कार्मणकाययोगभेदतः पञ्चदशधा प्रोक्त इत्यलं प्रसंगेन । एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्येयगुणाः असंख्यातगुणिताः । (पयडि त्ति) भेदशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् प्रकृतिभेदाः स्थितिभेदाश्च ज्ञानावरणादीनां भेदाः । " असंखगुण त्ति " पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत्सर्वत्र योजनीयम् । इयमत्र भावना-इह तावदावश्यकादिष्ववधिज्ञानदर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसंख्यातास्तावद्भेदा भवन्ति । ततश्च तदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणभेदाः संगच्छन्ते,वैचित्र्येण बन्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति । कथं पुनः क्षयोपशमवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदत्वं प्रतीयते ?, इति चेत् । उच्यते-क्षेत्रतारतम्येनेति । तथाहि-त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगाहनामानं जघन्यमवधिद्विकस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम् । यदाह सकलश्रुतपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया विहितानेकशास्त्रसंदर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी-" जावइय तिसमयाहा-रगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स । ओगाहणा जहन्ना, ओहीखित्तं जहन्नं तु " ॥ १ ॥ उत्कृष्टं तु सर्वबहुतेजस्कायिकजन्तूनां शुचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीमदाराध्यपादाः-"सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु । खित्तं सव्वदिसागं, परमोही खित्तनिद्दिट्ठो " ॥ १ ॥ इति । ततो जघन्यात् क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या प्रवृद्धोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिद्विकस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति । अतस्तदावारकस्यावधिद्विकस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चासंख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चाऽसंख्याता भेदाः संपद्यन्त इति ।

उक्तं च—

" जम्हा उ ओहिविसओ, उक्कोसे सव्वबहुयसिहिसूई ।
अत्तियमित्तं फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥ १ ॥
तत्तारतम्मभेया, जेण बहू हुंति आवरणजणिया ।
तेणासंखगुणत्तं, पयडीणं आगमो जाण " ॥ २ ॥

एवमानुपूर्वीणां बन्धोदयवैचित्र्येणासंख्याता भेदाः, ते च लोकस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहत्शतकचूर्णिकारोक्ता विशेषाः । ननु जीवानामनन्तत्वात्तेषां बन्धोदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्मान्न भवन्ति ?। नैतदेवम्, सदृशानां बन्धोदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वाद्विसदृशास्त्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति । ते च भेदाः प्रकृतिभेदत्वात्प्रकृतय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्यातगुणाः प्रकृतयः, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो बध्यन्त इति । तथा तेभ्यः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदाः स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त्तसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तद्विसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तादिलक्षणा असंख्यातगुणा भवन्ति । एकैकस्याः प्रकृतेरसंख्यातैः स्थितिविशेषैर्बध्यमानत्वादेकमेव हि प्रकृतिभेदं कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदन्येन, कदाचिदन्यतरेण, कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिभेदमेकं जीवमाश्रित्यासंख्याताः स्थितिभे-

दा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवानाश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्यः ?, स्थितिभेदानामसंख्यातगुणत्वमित्यतः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदाः असंख्यातगुणा भवन्तीति ; तथा स्थितिभेदेभ्यः सकाशात् स्थितिबन्धाध्यवसायाः पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगुणानि। तत्र स्थानं स्थितिः ? कर्मणोऽवस्थानं,तस्या बन्धः स्थितिबन्धः। अध्यवसानान्यध्यवसायाः,ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः। तिष्ठन्ति जीवा यस्मिन्निति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि; स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थितिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते । उत्तरे तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते ; अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति । तथा-(अणुभागठाण त्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादनुभागस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि। तत्रानु पश्चाद्बन्धोत्तरकालं भज्यते सेव्यतेऽनुभूयत इत्यनुभागो रसः, तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः,अध्यवसानान्यध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि। स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकैकं जघन्यतः सामायिकम्,उत्कृष्टतस्त्वष्टसामायिकान्तमेवोक्तमत एकस्मिन्नपि नगरकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गता नगरान्तर्गतोच्चनीचगृहकल्पानि नानाजीवान् कालभेदेनैकजीवान् कालभेदेनैकजीवं वा समाश्रित्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति। तथाहि-जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देशक्षेत्रकालभावजीवभेदेनासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्ते इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावना कार्या । अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानीति ।

तत्तो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।

ततस्तेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः, कर्मप्रदेशाः कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । अयमत्र तात्पर्यार्थः-प्रत्येकमभव्यानन्तगुणैः सिद्धानन्तभागवर्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नानभव्यानन्तगुणानेव स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येवाभिहितानि,अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति । तथा(तओ रसच्छेय त्ति)ततस्तेभ्यः कर्मप्रदेशेभ्यो,रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि-इह क्षीरनिम्बरसादिभिश्रयणैरिवानुभागबन्धाध्यवसायस्थानैस्तन्दुलेष्विव कर्मपुद्गलेषु रसो जन्यते, स चैकस्यापि परमाणोः संबन्धी केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणानविभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यस्माद्भागादपि सूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपरिच्छेद उच्यते । एवं भूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवानन्तगुणाः संप्राप्यन्ते । यतः-

"गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु" ॥

गुणशब्देनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । शेषं सुगमम् । कर्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभाग एव वर्तन्ते । अतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्तीति । कर्म० ५ कर्म० । (औदारिकादिशरीरबन्धकानामल्पबहुत्वं तु 'सरीर' शब्द एव द्रष्टव्यम्)

(२२) [भवसिद्धिकद्वारम्] भवसिद्धिकद्वारमाह—

एएसि णं भंते ! जीवाणं भवसिद्धियाणं अभवसिद्धियाणं नोभवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया, नोभवसिद्धिया नोअभवसिद्धिया अणंतगुणा,भवसिद्धिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अभवसिद्धिकाः अभव्याः, जघन्ययुक्तानन्तकपरिमाणत्वात् । उक्तं चानुयोगद्वारेषु-" उक्कोसए परित्ताणंतए पक्खित्ते जहण्णयजुत्ताणं तयं होइ अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव त्ति" तेभ्यो नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः, यत उभयप्रतिषेधवृत्तयः सिद्धास्ते चाजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तकपरिमाणा इत्यनन्तगुणाः । तेभ्यो भवसिद्धिका अनन्तगुणाः, यतो भव्यनिगोदस्यैकस्यानन्तभागकल्पाः सिद्धा भव्यजीवराशिनिगोदाश्चासंख्येया लोके इति । गतं भवसिद्धिद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३ पद ॥

(२३) [भाषकद्वारम्] भाषकाभाषकाल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं भासगाणं अभासगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा भासगा,अभासगा अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका भाषका भाषालब्धिसंपन्नाः, द्वीन्द्रियादीनामेव भाषकत्वात् । अभाषका भाषालब्धिहीना अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । सत्यादिभेदेन भाषाणामल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ११ पद । (भाषाद्रव्याणां खण्डादिभिर्भेदैर्भिद्यमानानामल्पबहुत्वं च 'भासा' शब्दे वक्ष्यते)

(२४) [महादण्डकद्वारम्] सर्वजीवाल्पबहुत्वम्-

अह भंते ! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि, सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियमणुस्सा, मणुस्सीओ संखेज्जगुणाओ, बादरतेउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, अणुत्तरोववाइया देवा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जगा देवा संखेज्जगुणा,हेट्ठिमगेवेज्जगा, देवा संखेज्जगुणा,अच्चुए कप्पे देवा संखेज्जगुणा,आरणे क-

प्पे देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइया असंखेज्जगुणा, छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया असं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए णेरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए णेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे देवा असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइया असं०, संमुच्छिममणुस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, ईसाणे कप्पे देवीओ संखे०, सोहम्मे कप्पे देवा संखेज्ज०, सोहम्मे कप्पे देवीओ संखेज्जगुणाओ, भवणवासीदेवा असंखेज्जगुणा, भवणवासिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, इमी से रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया असंखिज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, वाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा, वाणमंतरीओ देवीओ संखेज्ज०, जोइसिया देवा संखेज्जगुणा, जोइसिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखिज्ज०, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखे०, चउरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिंदिया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, *सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढवि*काइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया; सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्ज०, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमणिगोदा अपज्जत्ता असंखे०, सुहुमणिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा, अभवसिद्धिया अणंतगुणा, पडिवडियसम्मदिट्ठी अणंतगुणा, सिद्धा अणंतगुणा; बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरपज्जत्ता विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरअपज्जत्तया विसेसाहिया, बादरा विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा विसेसाहिया, भवसिद्धिया विसेसाहिया, निगोदा जीवा विसेसाहिया, वणस्सइजीवा विसेसाहिया, एगिंदिया विसेसाहिया, तिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, मिच्छदिट्ठी विसेसाहिया, अविरया विसेसाहिया, छउमत्था विसेसाहिया, सजोगी विसेसाहिया, संसारत्था विसेसाहिया, सव्वजीवा विसेसाहिया ॥

इदानीं महादण्डकं विवक्षुः प्रस्तावमाह-(अह भंते ! इत्यादि) अथ भदन्त ! सर्वजीवाल्पबहुत्वं सर्वजीवाल्पबहुत्ववक्तव्यतात्मकं महादण्डकं वर्णयिष्यामि, रचयिष्यामीति तात्पर्यार्थः । अनेन एतत् ज्ञापयति-तीर्थकरानुज्ञामात्रसापेक्ष एव भगवान् गणधरः सूत्ररचनां प्रति प्रवर्त्तते, न पुनः श्रुताभ्यासपुरस्सरमिति । यद्वैतज्ज्ञापयति-कुशलेऽपि कर्मणि विनेयेन गुरुमनापृच्छ्य न प्रवर्त्तितव्यं, किन्तु तदनुज्ञापुरस्सरम् , अन्यथा विनेयत्वायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्-" गुरोर्निवेदितात्मा यो, गुरुभावानुवर्त्तकः । मुक्त्यर्थं चेष्टते नित्यं,स विनेयः प्रकीर्तितः " ॥ १ ॥ गुरुरपि यः प्रष्टव्यः स एवंरूपः-"धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्त्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते " ॥ १ ॥ इति । महादण्डकं वर्तयिष्यामीत्युक्तम् । ततः प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-(सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियमणुस्सेत्यादि) सर्वस्तोका गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्याः,संख्येयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्यो मनुजस्त्रियः-संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । उक्तं च-" सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव " इति २ । ताभ्यो बादरतैजस्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः , कतिपयवर्गन्यूनावलिकाघनसमयप्रमाणत्वात् ३ । तेभ्योऽनुत्तरोपपातिनो देवा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेभ्य उपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः,बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतदपि कथमवसेयम्?,इति चेत् । उच्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि विमानशतं तूपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवानां प्रतिविमानं चाऽसंख्येया देवा यथा यथा चाऽधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते,ततोऽवसीयते-अनुत्तरोपपातिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवाः । एवमुत्तरत्रऽपि भावना

कार्या, यावदानतकल्पः ५ । तेभ्योऽप्युपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवेभ्यो मध्यमग्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ६ । तेभ्योऽप्यधस्तनग्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ७ । तेभ्योऽच्युतकल्पदेवाः संख्येयगुणाः ८, तेभ्योऽप्यारणकल्पदेवाः संख्येयगुणाः । यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणिकौ, समविमानसंख्याकौ च, तथाऽपि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, नोत्तरस्यां, बहवश्च कृष्णपाक्षिकाः, स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, ततोऽच्युतकल्पदेवापेक्षया आरणकल्पे देवाः संख्येयगुणाः ९ । तेभ्योऽपि प्राणतकल्पे देवाः संख्येयगुणाः १० । तेभ्योऽप्यानतकल्पे देवाः संख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवत्कर्तव्या ११ । तेभ्योऽधःसप्तमनरकपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १२ । तेभ्यः षष्ठपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, एतच्च प्रागेव दिगनुपातेन नैरयिकाल्पबहुत्वचिन्तायां भावितम् १३ । तेभ्योऽपि सहस्रारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः, षष्ठपृथिवीनैरयिकपरिणामहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया सहस्रारकल्पदेवपरिणामहेतोः श्रेण्यसंख्येयभागस्यासंख्येयगुणत्वात् १४ । तेभ्यो महाशुक्रे कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात् । तथाहि-षट्सहस्राणि विमानानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे, अन्यच्च अधोऽधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोकतराश्चोपरितनोपरितनविमानवासिनः, ततः सहस्रारदेवेभ्यो महाशुक्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः १५ । तेभ्योऽपि पञ्चमधूमप्रभाभिधाननरकपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १६ । तेभ्योऽपि लान्तके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहत्तरश्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १७ । तेभ्योऽपि चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव १९ । तेभ्योऽपि तृतीयस्यां वालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकाः संख्येयगुणाः २० । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः २१ । तेभ्योऽपि सनत्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ । तेभ्यो द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः । एते च सप्तमपृथिवीनारकादयो द्वितीयपृथिवीनरकपर्यन्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमानाः सर्वेऽपि घनीकृतलोकश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः, केवलं श्रेण्यसंख्येयभागोऽसंख्येयभेदभिन्नः, तत इत्थमसंख्येयगुणतया अल्पबहुत्वमभिधीयमानं न विरुध्यति २३ । तेभ्यो द्वितीयनरकपृथिवीनारकेभ्यः संमूर्च्छिममनुष्या असंख्येयगुणाः, ते हि अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि तृतीयवर्गमूलेन गुणिते प्रथमवर्गमूले यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणानि खण्डानि, यावन्त्येकस्यामेव प्रादेशिक्यां श्रेणौ भवन्ति तावत्प्रमाणाः २४ । तेभ्य ईशाने कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, यतोऽङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि द्वितीये वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणास्तु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणा ईशानकल्पगतो देवदेवीसमुदायस्तत्कृतकिञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पा ईशानदेवाः, ततो देवाः संमूर्च्छिममनुष्येभ्योऽसंख्येयगुणाः २५ । तेभ्य ईशानकल्पे देव्योऽसंख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । "बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहियाओ होंति देवीओ" इति वचनात् २६ । ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवाः संख्येयगुणाः, तत्र विमानबाहुल्यात् । तथाहि-तत्र द्वात्रिंशच्छतसहस्राणि विमानानामष्टाविंशतिशतसहस्राणि ईशाने कल्पे, अपि च-दक्षिणदिग्वर्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पस्तूत्तरदिग्वर्ती, दक्षिणस्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिकाः समुत्पद्यन्ते । ततः ईशानदेवेभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः । नन्वियं युक्तिर्माहेन्द्रसनत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे संख्येयगुणाः तदेव तत्कथम् ?, उच्यते-वचनप्रामाण्यात् । न चात्र पाठभ्रमः, यतोऽन्यत्राप्युक्तम्-" ईसाणे सव्वत्थ वि, बत्तीसगुणा उ होंति देवीओ । संखेज्जा सोहम्मे, तओ असंखा भवणवासी" ॥१॥ इति २७ । तेभ्योऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । "सव्वत्थ वि बत्तीसगुणाओ होंति देवीओ" इति वचनात् २८ । ताभ्योऽप्यसंख्येयगुणा भवनवासिनः । कथम् ?, इति चेत् । इह अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि प्रथमे वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्यैकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भवनपतिदेवदेवीसमुदायः, तत्कृतकिञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पाश्च भवनपतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तेऽसंख्येयगुणाः २९ । तेभ्यो भवनवासिनो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ३० । ताभ्योऽप्यस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् ३१ । तेभ्योऽपि खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतराऽसंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३२ । तेभ्योऽपि खचरपञ्चेन्द्रियास्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । " तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा" इति वचनात् ३३ । ताभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियास्तिर्यग्योनिकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३४ । तेभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३५ । ताभ्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३६ । तेभ्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३७ । ताभ्यो व्यन्तरा देवाः पुंवेदोदयिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तराः, केवलमिह पुरुषा विवक्षिता इति सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पा वेदितव्याः । ततो घटन्ते जलचरयुवतिभ्यः संख्येयगुणाः ३८ । तेभ्यो व्यन्तर्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ३९ । ताभ्यो ज्योतिष्कदेवाः संख्येयगुणाः, ते हि सामान्यतः षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाः; परमिह पुरुषा विवक्षिता इति ते सकलसमुदायापेक्षया किञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पाः प्रतिपत्तव्याः, तत उपपद्यन्ते व्यन्तरीभ्यः संख्येयगुणाः ४० । तेभ्यो ज्योतिष्कदेव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ४१ । ताभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नपुंसकाः

संख्येयगुणाः। कश्चित् 'असंख्येयगुणाः' इति पाठः; स न समीचीनः, यत इत ऊर्ध्वं ये पर्याप्तचतुरिन्द्रिया वक्ष्यन्ते तेऽपि ज्योतिष्कदेवापेक्षया संख्येयगुणा एवोपपद्यन्ते। तथाहि-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः। उक्तं च-"छप्पन्नदोसयंगुल सूइपएसेहि भाइया पयरं। जोइसिएहिं हीरइ" इति। अङ्गुलसंख्येयभागमात्राणि च सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाश्चतुरिन्द्रियाः। उक्तं च-"पज्जत्तापज्जत्ता-विति चउ असन्निणो अवहरंति। अंगुलसंखाऽसंख-प्पएसभइयं पुढो पयरं"॥१॥ अङ्गुलसंख्येयभागापेक्षया षट्पञ्चाशदधिकमङ्गुलशतद्वयं संख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेवापेक्षया परिभाव्यमानाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि संख्येयगुणा एव घटन्ते, किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया संख्येयभागमात्रखचरपञ्चेन्द्रियनपुंसका इति ४२। तेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः ४३। तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः ४४। तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्येयगुणाः ४५। तेभ्योऽपि पर्याप्ताः संज्ञ्यसंज्ञिभेदभिन्नाः पञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः ४६। तेभ्योऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४७। तेभ्योऽपि पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४८। यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तत्रीन्द्रियपर्यन्तानां प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वमविशेषेणान्यत्र वर्ण्यते, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्य संख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरुद्धम्। उक्तं चेत्थमल्पबहुत्वमन्यत्रापि-"तत्तो नपुंसकखहयरसंखेज्जा थलयरजलयरनपुंसका चतुरिंदिया तओ पणबितिपज्जत्ता किंचऽहिया त्ति" ४८। तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रियेभ्योऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः, अङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वात् ४९। तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५०। तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५१। तेभ्यो द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियादयोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्य विचित्रत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरोधमास्कन्दति ५२। तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियापर्याप्तेभ्यः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तद्वीन्द्रियादिवत् पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिका अप्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्रोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वाद् बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिपरिमाणचिन्तायामङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः ५३। तेभ्यो बादरनिगोदा अनन्तकायिकशरीररूपाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः ५४। तेभ्योऽपि बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः असंख्येयगुणाः ५५। तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः, यद्यपि च पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाऽप्कायिकाः प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमसंख्येयगुणत्वादित्थमभिधाने न कश्चिद्दोषः ५६। तेभ्यो बादरपर्याप्ताप्कायिकेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, घनीकृतलोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५७। तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५८। तेभ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ५९। तेभ्योऽपि बादरनिगोदा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः ६०। तेभ्यो बादरपृथिवीकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः ६१। तेभ्यो बादराप्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६२। तेभ्यो बादरवायुकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६३। तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६४। तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६५। तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६६। तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६७। तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तकसूक्ष्मेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्माणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात्। तथा चाह अस्यामेव प्रज्ञापनायां संग्रहणीकारः-"जीवाणमपज्जत्ता, बहुतरगा बायराण विन्नेया। सुहुमाण य पज्जत्ता, ओहेण य केवली बिंति"। ६८। तेभ्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ६९। तेभ्योऽपि सूक्ष्माप्कायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ७०। तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ७१। तेभ्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः ७२। तेभ्योऽपि पर्याप्ताः सूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः, यद्यपि च पर्याप्ततेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता अविशेषेणान्यत्राऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उक्ताः, तथाऽपि लोकासंख्येयत्वस्याऽसंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमल्पबहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम् ७३। तेभ्योऽभवसिद्धिका अनन्तगुणाः, जघन्ययुक्तानन्तकप्रमाणत्वात् ७४। तेभ्यः प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः ७५। तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः ७६। तेभ्योऽपि बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः ७७। तेभ्योऽपि सामान्यतो बादरपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। ७८। तेभ्यो बादरापर्याप्तवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, एकैकबादरनिगोदपर्याप्तनिश्रयाऽसंख्येयगुणानां बादरापर्याप्तनिगोदानां संभवात् ७९। तेभ्यः सामान्यतो बादरापर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरापर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८०। तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तापर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ८१। तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ८२। तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८३। तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावतः सदैव संख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलवेदसोऽनुपलब्धेः ८४। तेभ्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८५। तेभ्यः पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकानामपि तत्र प्रक्षेपात् ८६। तेभ्योऽपि भवसिद्धिका 'भवे सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः' भव्या विशेषाधिकाः, जघन्ययुक्तानन्तकमात्राभव्यपरिहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् ८७। तेभ्यः सामान्यतो निगोदजीवा विशेषाधिकाः, इह भव्याभव्याश्चातिप्राचुर्येण बादरसूक्ष्मनिगोदजीवराशावेव प्राप्यन्ते, नान्यत्र, अन्येषां सर्वे-

षामपि मिलितानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । अभव्याश्च युक्तानन्तकसंख्यामात्रपरिमाणास्ततो भव्यापेक्षया ते किञ्चिन्मात्रा भव्याश्च प्रागभव्यपरिहारेण चिन्तिताः। इदानीं तु बादरसूक्ष्मनिगोदचिन्तायां तेऽपि प्रक्षिप्यन्त इति विशेषाधिकाः ८८ । तेभ्यः सामान्यतो वनस्पतिजीवा विशेषाधिकाः, प्रत्येकशरीरिणामपि वनस्पतिजीवानां तत्र प्रक्षेपात् ८९ । तेभ्यः सामान्यत एकेन्द्रिया विशेषाधिकाः, बादरसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९० । तेभ्यः सामान्यतस्तिर्यग्योनिकाः विशेषाधिकाः, पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामपि तत्र प्रक्षेपात् ९१ । तेभ्यश्चतुर्गतिभाविनो मिथ्यादृष्टयो विशेषाधिकाः, इह कतिपयाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिसंज्ञिव्यतिरेकेण शेषाः सर्वेऽपि तिर्यञ्चो मिथ्यादृष्टिचिन्तायां चासंख्येयनारकादयस्तत्र प्रक्षिप्यन्ते । ततस्तिर्यग्जीवराश्यपेक्षया चतुर्गतिका मिथ्यादृष्टयश्चिन्त्यमाना विशेषाधिकाः ९२ । तेभ्योऽप्यविरता विशेषाधिकाः, अविरतिसम्यग्दृष्टीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९३ । तेभ्यः सकषायिणो विशेषाधिकाः,देशविरतादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९४। तेभ्यश्छद्मस्था विशेषाधिकाः,उपशान्तमोहादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९५। तेभ्यः सयोगिनो विशेषाधिकाः, सयोगिकेवलिनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९६। तेभ्यः संसारस्था विशेषाधिकाः, अयोगिकेवलिनामपि तत्र प्रक्षेपात् ९७। तेभ्यः सर्वजीवा विशेषाधिकाः, सिद्धानामपि तत्र प्रक्षेपात् ९८ । गतं महादण्डकद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । पं० सं० ।

(२५) [योगद्वारम्] चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य योगानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! चउद्दसविहाणं संसारसमावन्नगाणं जीवाणं जहण्णुक्कोसगस्स जोगस्स कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णए जोए १, बादरस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे २ , बेइंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखे० ३ , एवं तेइंदियस्स ४ , एवं चउरिंदियस्स ५ , असण्णिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ६ , सण्णिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखे० ७, सुहुमपज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ८, बादरस्स पज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ९, सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १०, बादरस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखे० ११ , सुहुमस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखे० १२, बादरस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखे० १३ , बेइंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखे० १४ , एवं तेइंदियस्स वि १५ , एवं जाव सण्णिपंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स जहण्णए जोए असंखे० १६ , बेइंदियस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखे० १७ , एवं तेइंदियस्स वि २० , एवं चउरिंदियस्स वि २१ , एवं जाव सण्णिपंचिंदियस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखे० २३ , बेइंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखे० २४ , एवं तेइंदियस्स वि २५ , एवं जाव सण्णिपंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २८।

(जहन्नुक्कोसगस्स जोगस्स त्ति) जघन्यो निकृष्टः काञ्चिद्व्यक्तिमाश्रित्य स एव च व्यक्त्यन्तरापेक्षयोत्कर्षं उत्कृष्टो जघन्योत्कर्षः, तस्य योगस्य वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिसमुत्थकायादिपरिस्पन्दस्य एतस्य च योगस्य चतुर्दशजीवस्थानसम्बन्धाज्जघन्योत्कर्षभेदाच्चाष्टाविंशतिविधस्याल्पत्वबहुत्वादि-जीवस्थानकविशेषाद्भवति, तत्र (सव्वत्थोवेत्यादि) सूक्ष्मस्य पृथिव्यादेः सूक्ष्मत्वाच्छरीरस्य तस्याप्यपर्याप्तकत्वेनासम्पूर्णत्वात्तत्रापि जघन्यस्य विवक्षितत्वात्सर्वेभ्यो यो वक्ष्यमाणेभ्यो योगेभ्यः सकाशात् स्तोकः सर्वस्तोको भवति , जघन्यो योगः स पुनर्विग्रहिककार्मणौदारिकपुद्गलग्रहणप्रथमसमयवर्ती, तदनन्तरञ्च समयवृद्ध्याऽजघन्योत्कृष्टो यावत्सर्वोत्कृष्टो न भवति। (बायरस्सेत्यादि) बादरजीवस्य पृथिव्यादेरपर्याप्तकजीवस्य जघन्यो योगः पूर्वोक्तापेक्षयाऽसङ्ख्यातगुणोऽसंख्यातगुणवृद्धो बादरत्वादेवेति। एवमुत्तरत्राप्यसंख्यातगुणत्वं दृश्यम्। इह च यद्यपि पर्याप्तकत्रीन्द्रियोत्कृष्टकायापेक्षया पर्याप्तकानां द्वीन्द्रियाणां सञ्ज्ञिनामसञ्ज्ञिनां च पञ्चेन्द्रियाणामुत्कृष्टः कायः संख्यातगुणो भवति, संख्यातयोजनप्रमाणत्वात् , तथापीह योगस्य परिस्पन्दस्य विवक्षितत्वात्तस्य च क्षयोपशमविशेषसामर्थ्याद्यथोक्तमसंख्यातगुणत्वं न विरुध्यते, न ह्यल्पकायस्याल्प एव स्पन्दो भवति, महाकायस्य वा महानेव, व्यत्ययेनापि तस्य दर्शनादिति । भ० २५ श० १ उ० ।

एतस्यैव योगाल्पबहुत्वस्य व्याख्यायिका गाथा–

सुहुमनिगोयाइखण–ऽप्पजोगबायरविगलअसण्णिमणा ।
अपज्ज लहुपढमदुगुरु, पजहस्सियरो असंखगुणो ॥५३॥

तत्र सूक्ष्मनिगोदस्य सूक्ष्मसाधारणस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य सर्वजघन्यवीर्यस्येति च सामर्थ्याद् दृश्यम्।तस्यैव सर्वजघन्ययोगस्य प्राप्यमाणत्वादादिक्षणः प्रथमोत्पत्तिसमयः सूक्ष्मनिगोदादिक्षणः,तत्र सप्तम्येकवचनलोपश्च प्राकृतत्वात्। किम् ?, इत्याह–(अप्पजोग त्ति) अल्पः सर्वस्तोको योगो वीर्यं,व्यापार इति यावत् । ततो बादरस्य (विगल त्ति) विकलस्य । (असण्ण त्ति) असंज्ञिनः ' अपज्ज त्ति ' प्रत्येकं संबन्धात्सूक्ष्मनिगोदबादरलक्षणस्य गुरुरुत्कृष्टो योगो संख्येयगुणो वाच्यः। ततः प्रथमाद्विकस्य (पज्जहस्सियरो असंखगुण त्ति) पर्याप्तस्य ह्रस्वो जघन्य इतर उत्कृष्टयोगो यथाक्रममसंख्येयगुणो वाच्य इति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्–सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगः सर्वस्तोकः १। ततो बादरैकेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २। ततो द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ३। ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ४। ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्य प्रथमसमये वर्त्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ५। ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ६ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तस्य प्रथमसमये वर्तमानस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ७ । ततः सूक्ष्मनिगोदस्य लब्ध्यपर्याप्तस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ८। ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः ११। ततः सूक्ष्मनिगोदस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १२ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १३ ॥

असमत्ततसुक्किट्ठो, पज्जजहन्नियर एव ठिइठाणा ।

अपजेयर संखगुणा, परमपजबिए असंखगुणा ॥५४॥

असमाप्ता अपर्याप्तास्ते च ते त्रसाश्च द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्तत्रसाः, अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तेषामुत्कृष्टोऽसमाप्तत्रसोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणो वाच्यः। अयमर्थः-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १४ । ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १५ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १६ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १७ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १८ । (पजजहन्न त्ति) ततस्त्रसानां पर्याप्तानां जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणो वाच्यः १९ । ततोऽपि(इयर त्ति)त्रसानां पर्याप्तानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणो वाच्यः २० । इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात्पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २१ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २२ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २३ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २४ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २५ । ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २६ । ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २७ । ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २८ । ततः पर्याप्तसंज्ञ्युत्कृष्टयोगादनुत्तरोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २९ । ततो ग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३० । ततो भोगभूमिजानां तिर्यङ्मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३१ । ततोऽप्याहारकशरीरिणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३२ । ततः शेषदेवनारकतिर्यङ्मनुष्याणां यथोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३३ ।

अथ सुखावबोधायाल्पबहुत्वपदानां यन्त्रकमुपदर्श्यते। तच्चेदम्-

सूक्ष्मनि० अप० जघ० योग सर्वस्तो०१	बादर० अप० जघ० योग असं० २	द्वीन्द्रि० अप० जघ० यो० असं० ३
त्रीन्द्रि०अप०जघ० यो० असं० ४	चतुरि० अप० जघ० यो० असं० ५	असंज्ञि० अप० जघ० यो० असं० ६
संज्ञि अप० जघ० यो० असं० ७	सूक्ष्मनिगो० पर्या० ज० यो० असं० ८	बादरपर्या० जघ० यो० असं० ९
द्वीन्द्रि० पर्या० जघ०यो०असं०१०	त्रीन्द्रिय०प० जघ० यो० असं० ११	चतुरि० प० जघ० यो० असं० १२
असंज्ञिपर्या० जघ० यो० असं० १३	संज्ञिपर्या० जघ० यो० असं० १४	सूक्ष्मनिगोद अप० उत्कृष्टयो०असं०१५
बादर अप० उत्कृ० यो० असं० १६	द्वीन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० असं०१७	त्रीन्द्रि०अप० उत्कृ० यो० असं० १८
चतुरिन्द्रि० अप०उत्कृ० यो० असं० १९	असंज्ञिअप० उत्कृ० यो० असं० २०	संज्ञि अप० उत्कृष्ट० यो० असं० २१
सूक्ष्मनि० पर्या० उत्कृ० यो० असं० २२	बादर पर्या० उत्कृ० यो० असं० २३	द्वीन्द्रि० प० उत्कृ० यो० असं० २४
त्रीन्द्रि० प० उत्कृ० यो० असं० २५	चतुरि० प० उत्कृ० यो० असं० २६	असंज्ञि पर्या०उत्कृ० यो० असं० २७
संज्ञि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २८	अनुत्तरो० उत्कृ० यो० असं० २९	ग्रैवेयकदेव० उत्कृ० यो० असं० ३०
भोगभूमि० तिर्य० म०यो० असं० ३१	आहारक० उत्कृष्ट० यो० असं० ३२	देवना० ति० मनु० उत्कृ०यो०असं०३३

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागरूपः प्रत्येकं ग्राह्यः। तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशग्रहणं जघन्यस्थितिं च विदधाति, योगवृद्धौ च तद्वृद्धिरूपाणि स्थितमिति । (एवं ठिइठाणेत्यादि) एवम्, मकारस्य लोपः प्राकृतत्वात् । पूर्वोक्तयोगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितीनां स्थानानि स्थितिस्थानानि, वाच्यानीति शेषः । तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसानाः ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते । कथं पुनरेतानि वाच्यानि ? इति, कियद्गुणानि पुनरेतानि ?, इत्याह-संख्यगुणानि । तत्र संख्यानं संख्या, तामर्हति संख्यः " दण्डादिभ्यो यः " ६ । ४ । १७८ । इति (हैमसूत्रेण) यप्रत्ययः । ततः संख्यः संख्येयः संख्यात इत्यर्थो गुणो गुणकारो येषां तानि संख्यगुणानि, संख्यातगुणितानीत्यर्थः । किं सर्वपदेषु संख्यातगुणान्येव, अहोस्विदस्ति कस्मिंश्चित्पदे विशेषः ?, इत्याह-(परमपजबिए असंखगुण त्ति) परं केवलम्, अपर्याप्तद्वीन्द्रिये अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे, तानि स्थितिस्थानानि असंख्यातगुणानि २ । ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि ३ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि ४ । एतानि च पल्योपमासंख्येयभागसमयतुल्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति । यत एकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति, ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानान्यसंख्यातगुणितानि पल्योपमसंख्येयभागमात्राणीति कृत्वा ५ । ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ६ । ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ७ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ८ । ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ९ । ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि १० । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ११ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि १२ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि १३ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि भवन्तीति १४ ।

स्थापना-

सू०अप० स्थिति स्तो०	बादर अप० स्थिति सं०	द्वीन्द्रिय अप०स्थिति असं०	त्रीन्द्रि० अप०स्थिति सं०	चतु० अप० स्थि० सं०	असंज्ञि अप०स्थिति सं०	संज्ञि०अप० स्थिति सं०
सूक्ष्म० पर्या०स्थिति सं०	बादर प० स्थिति सं०	द्वीन्द्रि० प० स्थि० सं०	त्रीन्द्रि० प० स्थि० सं०	चतु० पर्या० स्थि० सं०	असं० प० स्थिति सं०	संज्ञि० प० स्थिति सं०

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि। कर्म०५ कर्म०।

योगस्यैवाल्पबहुत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

एयस्स णं भंते ! पन्नरसविहस्स जहण्णुक्कोसगस्स कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे कम्मगसरीरस्स जहण्णए जोए १, ओरालियमीसगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे २, वेउव्वियमीसगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ३, ओरालियसरीरस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ४, वेउव्वि-

यसरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारगमीसगस्स जहएणए जोगे असंखेज्जगुणे ७, आहारगमीसगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरालियमीसगस्स वेउव्वियमीसगस्स । एएसि णं उक्कोसए जोए दोएह वि तुल्ले असंखेज्जगुणे ९, असच्चामोसमणजोगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आहारगस्स सरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ११, तिविहस्स मणयोगस्स चउव्विहस्स वइजोगस्स एएसि णं सत्तएह वि तुल्ले जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १२, आहारगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३, ओरालियसरीरस्स वेउव्वियसरीरस्स चउव्विहस्स य मणजोगस्स चउव्विहस्स य वइजोगस्स । एएसि णं दसएह वि तुल्ले उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।

टीका सुगमा । भ० २५ श० १ उ० ।

मनोयोग्यादीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वयजोगिणं कायजोगीणं अजोगीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणजोगी, वइजोगी असंखेज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा, सजोगी विसेसाहिया ।

सर्वस्तोका मनोयोगिनः, संज्ञिपर्याप्ता एव हि मनोयोगिनः, ते च स्तोका इति; तेभ्यो वाग्योगिनोऽसंख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियादीनां वाग्योगिनां संज्ञिभ्योऽसंख्यातगुणत्वात् । तेभ्योऽयोगिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः काययोगिनोऽनन्ताः, वनस्पतीनामनन्तत्वात् । यद्यपि निगोदजीवानामनन्तानामेकं शरीरं तथापि तेनैकेन शरीरेण सर्वेऽप्याहारादिग्रहणं कुर्वन्तीति सर्वेषामपि काययोगित्वान्नानन्तगुणत्वव्याघातः । तेभ्यः सामान्यतः सयोगिनो विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियादीनामपि वाग्योग्यादीनां तत्र प्रक्षेपात् । गतं योगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म० । जी० । पं० सं० ।

(२६) [योनिद्वारम्] शीतादियोनिकानाम्-

एतेसि णं भंते ! जीवाणं सीतजोणियाणं उसिणजोणियाणं सीतोसिणजोणियाणं अजोणियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सीतोसिणजोणिया, उसिणजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा, सीतजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः शीतोष्णयोनयः शीतोष्णोभययोनिकाः, भवनवासिगर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियगर्भजमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानामेवोभययोनिकत्वात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा उष्णयोनिकाः, सर्वेषां सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानां तैजस्कायिकानां प्रभूततराणां नैरयिकाणां कतिपयानां पृथिव्यम्बुवायुप्रत्येकवनस्पतीनां चोष्णयोनिकत्वात् । अयोनिका अनन्तगुणाः सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः शीतयोनिका अनन्तगुणाः, अनन्तकायिकानां सर्वेषामपि शीतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

सचित्ताचित्तमिश्रयोनिकानाम्-

एतेसि णं भंते ! जीवाणं सचित्तजोणीणं अचित्तजोणीणं मीसजोणीणं अजोणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मीसजोणिया, अचित्तजोणिया असंखिज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा, सचित्तजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिश्रयोनिकाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव मिश्रयोनिकत्वात् । तेभ्योऽचित्तयोनिका असंख्येयगुणाः, नैरयिकदेवानां कतिपयानां च प्रत्येकं पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियसंमूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्छिममनुष्याणामचित्तयोनिकत्वात् । तेभ्योऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः सचित्तयोनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानां सचित्तयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संवृतविवृतयोनिकानाम्-

एतेसि णं भंते ! जीवाणं संवुडजोणियाणं वियडजोणियाण य संवुडवियडजोणियाणं अजोणियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा संवुडवियडजोणिया, वियडजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा, संवुडजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संवृतविवृतयोनिकाः, गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव संवृतविवृतयोनिकत्वात् । तेभ्यो विवृतयोनिकाः संख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियादीनां चतुरिन्द्रियपर्यवसानानां संमूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्छिममनुष्याणां च विवृतयोनिकत्वात् । तेभ्योऽयोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः संवृतयोनिका अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां संवृतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ९ पद ।

(२७) [लेश्याद्वारम्] सलेश्यानामल्पबहुत्वम्-

तत्र सलेश्याऽलेश्यानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्- " सव्वत्थोवा अलेस्सा, सलेस्सा अणंतगुणा " जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति सलेश्यादीनामष्टानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! जीवाणं सलेसाणं किएहलेसाणं नीललेसाणं काउलेसाणं तेउलेसाणं पम्हलेसाणं सुक्कलेसाणं अलेसाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्ज०, अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, किएहलेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेश्याः, लान्तकादिष्वेवानुत्तरपर्यवसानेषु वैमानिकेषु देवेषु कतिपयेषु च गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिकेषु संख्येयवर्षायुष्केषु मनुष्येषु तिर्यक्स्त्रीपुंनपुंसकेषु कतिपयेषु संख्येयवर्षायुष्केषु तस्याः संभवात् । तेभ्यः पद्मलेश्याकाः संख्येयगुणाः, सा हि सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोककल्पवासिषु देवेषु तथा प्रभूतेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु कर्मभूमिजेषु संख्येयवर्षायुष्के-

षु मनुष्यस्त्री पुंनपुंसकेषु तथा गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकस्त्रीपुंनपुंसकेषु असंख्येयवर्षायुष्केष्ववाप्यते, सनत्कुमारादिदेवाद्यश्च समुदिता लान्तकादिदेवादिभ्यः संख्येयगुणाः, इति भवन्ति शुक्ललेश्याकेभ्यः पद्मलेश्याकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यस्तेजोलेश्याकाः संख्येयगुणाः, सर्वेषां सौधर्मेशानज्योतिष्कदेवानां कतिपयानां च भवनपतिव्यन्तरगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां बादराऽपर्याप्तैकेन्द्रियाणां च तेजोलेश्याभावात् । नन्वसंख्येयगुणाः कस्मान्न भवन्ति, कथं न भवन्ति ?, इति । चेत् । उच्यते–इह ज्योतिष्का भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः, किं पुनः सनत्कुमारादिदेवेभ्यः, ते च ज्योतिष्कास्तेजोलेश्याकास्तथा सौधर्मेशानकल्पदेवाश्च ततः प्राप्नुवन्त्यसंख्येयगुणाः । तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । लेश्यापदे हि गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकानां संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां च कृष्णलेश्याद्यल्पबहुत्वे सूत्रं वक्ष्यति–"सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा गब्भवक्कंतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ" इति महादण्डके च तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च संख्येयगुणा वक्ष्यन्ते । ततो यद्यपि भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणा ज्योतिष्काः, तथापि पद्मलेश्याकेभ्यस्तेजोलेश्याकाः संख्येयगुणा एव । इदमत्र तात्पर्यार्थः–यदि केवलान् देवानेव पद्मलेश्यानधिकृत्य देवा एव तेजोलेश्याकाश्चिन्त्यन्ते ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः, यावता तिर्यक्संमिश्रया पद्मलेश्याकेभ्यस्तिर्यक्संमिश्रा एव तेजोलेश्याकाश्चिन्त्यन्ते, तिर्यञ्चश्च पद्मलेश्या अपि अतिबहवस्ततः संख्येयगुणा इति । तेभ्यः अलेश्याका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपि कापोतलेश्यायाः संभवात्, वनस्पतिकायिकानां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां नीललेश्यासंभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्याका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णलेश्याकत्वात् । सामान्यतः सलेश्या विशेषाधिकाः, नीललेश्याकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

तदेवं सामान्यतोऽल्पबहुत्वं चिन्तितं; संप्रति नैरयिकेषु तच्चिन्तयन्नाह–

एतेसि णं भंते ! नेरइयाणं कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइया कण्हलेस्सा, नीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकाणां हि तिस्रो लेश्याः । तद्यथा–कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या । उक्तञ्च–"काऊपदोसु तइया–ए मीसिया नीलिया चउत्थीए । पंचमियाए मिस्सा, कण्हा तत्तो परमकण्हा" ॥ १ ॥ ततः आसामेव पदानां परस्परमल्पबहुत्वचिन्ता, तत्र सर्वस्तोकाः कृष्णलेश्या नैरयिकाः, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतनरकावासेषु षष्ठ्यां सप्तम्यां नैरयिकाणां कृष्णलेश्यासद्भावात् । ततोऽसंख्येयगुणा नीललेश्याः, कतिपयेषु तृतीयपृथिवीगतनरकावासेषु चतुर्थ्यां समस्तायां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथिवीगतनरकावासेषु नैरयिकाणां पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां नीललेश्याभावात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, प्रथमद्वितीयपृथिव्योस्तृतीयपृथिवीगतेषु च कतिपयेषु नरकावासेषु नारकाणामनन्तरोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां कापोतलेश्यासद्भावात् ।

अधुना तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, एवं जहा ओहिया, नवरं अलेस्सवज्जा ।

(एवं जहा ओहिया इति) एवमुपदर्शितेन प्रकारेण प्राग्वत् औघिकास्तथा वक्तव्याः, नवरमलेश्यावर्जास्तिरश्चामलेश्यानामसंभवात् । ते चैवम्–सर्वस्तोकास्तिर्यग्योनिकाः शुक्ललेश्यास्ते च जघन्यपदे संख्याता द्रष्टव्याः १. तेभ्योऽसंख्येयगुणाः पद्मलेश्याः २. तेभ्योऽपि संख्येयगुणास्तेजोलेश्याः ३. तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः कापोतलेश्याः ४, तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः ५, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः ६, तेभ्योऽपि सलेश्या विशेषाधिकाः ७ ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियेष्वल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! एगिंदियाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका एकेन्द्रियास्तेजोलेश्याः, कतिपयेषु बादरपृथिव्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायिकेष्वपर्याप्तावस्थायां तस्याः सद्भावात् । तेभ्यः कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, अनन्तानां सूक्ष्मबादरनिगोदजीवानां कापोतलेश्यासद्भावात् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः । अत्र भावना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिविषयमल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र पृथिव्यब्वनस्पतिकायानां चतस्रो लेश्याः, तेजोवायुकायानां तिस्र इति तथैव सूत्रमाह—

एतेसि णं भंते ! पुढवीकाइयाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! जहा ओहिया एगिंदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, एवं आउक्काइयाण वि । एतेसि णं भंते ! तेउक्काइयाणं कण्हलेस्साणं नीलकाउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउक्काइया काउलेस्सा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, एवं वाउक्काइयाण वि । एतेसि णं भंते ! वणस्सइकाइयाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य जहा एगिंदियाणं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जहा तेउकाइयाणं । एतेसि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! जहा ओहियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काउलेस्सा असंखि-

ज्जगुणा १, संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा तेउक्काइयाणं २, गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं जहा ओहियाणं, तिरिक्खजोणियाणं नवरं काउलेस्सा संखिज्जगुणा ३, एवं तिरिक्खजोणिणीणं वि ४।

'पुढवीकाइयाणमित्यादि' सुगमम्। द्वित्रिचतुरिन्द्रियविषयमपि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसूत्रे कापोतलेश्या असंख्यातगुणा नत्वनन्तगुणाः, पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्यातत्वात्। संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिरश्चां यथा तेजस्कायिकानामुक्तं तथा वक्तव्यम्। तेजस्कायिकानामिव तेषामप्याद्यलेश्यात्रयमात्रसद्भावात्। गर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकसूत्रम्-तेजोलेश्याभ्यः कापोतलेश्याः संख्येयगुणा वक्तव्याः, तावतामेव तेषां केवलवेदसोपलब्धत्वात्, शेषमौघिकसूत्रं वक्तव्यम्। एवं तिर्यग्योनिकानामपि सूत्रं वक्तव्यम्। तथाचाऽऽह-(एवं तिरिक्खजोणिणीण वि)।

अधुना संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियकण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा, काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्सा संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया। एतेसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! जहेव पंचमं तहा इमं पि छट्ठं जाणियव्वं ॥

एतच्च प्राग्वद्भावनीयम्। इदं किल पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाधिकारे षष्ठं सूत्रम्,अनन्तरोक्तं च पञ्चमम्। अत उक्तम्-(जहेव पंचमं तहा इमं छट्ठं भाणियव्वं)

अधुना गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्स्त्रीविषयं सप्तमं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, सुक्कलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, पम्हलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ ॥

"एएसि णं भंते!" इत्यादि सुगमम्। नवरं सर्वास्वपि लेश्यासु स्त्रियः प्रचुराः, सर्वसङ्ख्ययाऽपि च तिर्यक्पुरुषेभ्यस्तिर्यक्स्त्रियस्त्रिगुणाः, "तिगुणाऽतिरूवअहिया,तिरियाणं इत्थिया मुणेयव्वा" इति वचनात्। ततः संख्यातगुणा उक्ताः, नपुंसकास्तु गर्भव्युत्क्रान्तिकाः कतिपय इति न ते यथोक्तमल्पबहुत्वं व्याघ्नन्ति ॥

सम्प्रति संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकगर्भव्युत्क्रान्तिकपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयमष्टमं, तथा सामान्यतः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयं नवमं, तथाच सामान्यतस्तिर्यग्योनिकतिर्यक्स्त्रीविषयं दशमं सूत्रमाह—

एतेसि णं भंते ! संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं गब्भवक्कंतियपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, सुक्कलेस्साउ त्ति संखिज्जगुणाओ,पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ,तेउलेस्साओ गब्भ त्ति संखेज्जगुणा, तेउलेस्साउ त्ति संखेज्जगुणा, काउलेस्साउ त्ति संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, काउलेस्साओ संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ८। एएसि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, सुक्कलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, पम्हलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, तेउलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा संखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ ९। एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं तिरिक्खजोणिणीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! जहेव णवमं अप्पाबहुगं,तहा इमं पि, नवरं काउलेस्सा तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा। एवं एते दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणियाणं १०। एवं मणुस्साण वि अप्पाबहुगा जाणियव्वा; नवरं पच्छिमगं अप्पाबहुगं णत्थि ॥

भावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या । तिर्यग्योनिकविषयां सूत्रसंकलनामाह—"एवमेते दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणिया-णमिति" सुगमम्; नवरमिहेमे पूर्वाचार्यप्रदर्शिते संग्रहणीगाथे-

"ओहियपणिंदि १ संमु-च्छिया य २ गब्भ ३ तिरिक्खइत्थीओ ४।
संमुच्छगब्भतिरिया, ५ मुच्छतिरिक्खी य ६ गब्भम्मि ७ ॥ १॥
संमुच्छगब्भइत्थी, ८ पणिदितिरिगत्थियाओ ९ इत्थी उ १० ।
दस अप्पबहुगभेया, तिरियाणं होंति णायव्वा " ॥ २ ॥

यथा तिरश्चामल्पबहुत्वान्युक्तानि तथा मनुष्याणामपि वक्तव्यानि; नवरं पश्चिमं दशममल्पबहुत्वं नास्ति, मनुष्याणामनन्तत्वाभावात्; तदभावे " काउलेसा अणंतगुणा " इतिपदासंभवात् ।

अधुना देवविषयमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! देवाणं कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्ललेश्याः, लान्तकादिदेवलोकेष्वेव तेषां सद्भावात् । तेभ्यः पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, भवनपतिव्यन्तरदेवेषु सनत्कुमारादिदेवेभ्योऽसंख्येयगुणेषु कापोतलेश्यासद्भावात् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां भवनपतिव्यन्तराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि तेजोलेश्याः संख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तराणां समस्तानां ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां तेजोलेश्याभावात् ।

अधुना देवीविषयं सूत्रमाह-

एएसि णं भंते ! देवीणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ काउलेस्साओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ ।

(एएसि णं भंते ! देवीणमित्यादि) देव्यश्च सौधर्मेशानान्ता एव न परत इति तासां चतस्र एव लेश्यास्ततस्तद्विषयमेवाल्पबहुत्वमभिधित्सुना "जाव तेउलेस्साण य" इत्युक्तम् । सर्वस्तोका देव्यः कापोतलेश्याः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तरदेवीनां कापोतलेश्याभावात् । तेभ्यो विशेषाधिका नीललेश्याः, प्रभूतानां भवनपतिव्यन्तरदेवानां तस्याः सम्भवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूतानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात् । ताभ्यस्तेजोलेश्याः संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानामपि समस्तानां तेजोलेश्याकत्वात् ।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! देवाणं देवीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा देवा संखिज्जगुणा, तेउलेस्साओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्ललेश्याः, तेभ्योऽसंख्येयगुणाः पद्मलेश्याः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, एतावत्प्रागेव भावितम । तेभ्योऽपि कापोतलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः; ताश्च भवनपतिव्यन्तरनिकायान्तर्गता वेदितव्याः, अन्यत्र देवीनां कापोतलेश्याया असम्भवात् । देव्यश्च देवेभ्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्याया असम्भवात् । देव्यश्च देवेभ्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्या देव्यः संख्येयगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः । अत्रापि प्राग्वद् भावना । तेभ्योऽपि तेजोलेश्या देवाः संख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तराणां समस्तानां ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात् । तेभ्योऽपि तेजोलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति भवनवासिदेवविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! भवनवासीणं देवाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ।

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोकास्तेजोलेश्याः, महर्द्धयो हि तेजोलेश्याका भवन्ति, महर्द्धयश्चाल्पे, इति सर्वस्तोकाः । तेभ्योऽसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, अतिशयेन प्रभूतानां कापोतलेश्यासंभवात् । तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, अतिप्रभूततराणां तस्याः संभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, अतिप्रभूततराणां कृष्णलेश्याभावात् । एवं भवनपतिदेवीविषयमपि सूत्रं भावनीयम ।

तच्च—

एतेसि णं भंते ! भवणवासिणीणं देवीणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! एवं चेव ।

अधुना भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एएसि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं देवीण य कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भवणवासिणीओ तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा भवणवासी असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि तिविहेव अप्पाबहुगा जहेव भवणवासीणं तहेव भाणियव्वा ।

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोका भवनवासिनो देवास्तेजोलेश्याकाः। युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता। तेभ्यस्तेजोलेश्याका भवनवासिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, देवेभ्यो हि देव्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणास्तत्रोत्पद्यन्ते संख्येयगुणत्वमिति । तेभ्यः कापोतलेश्या भवनवासिनो देवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः। युक्तिरत्र प्रागुक्ताऽनुसरणीया। तेभ्यः कापोतलेश्या भवनवासिन्यो देव्यः संख्येयगुणाः, भावना प्रागुक्तभावनानुसारेण भावनीया। ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, एवं वाणमन्तरविषयमपि सूत्रत्रयं भावनीयम् ।

ज्योतिष्कविषयसूत्रम्—

एतेसि णं भंते ! जोइसियाणं देवाणं देवीण य तेउलेस्साणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जोइसियदेवा तेउलेस्सा, जोइसिणीओ देवीओ तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ ।

ज्योतिष्कविषयमेकमेव सूत्रं, तन्निकाये तेजोलेश्याव्यतिरेकेण लेश्यान्तरासम्भवात् , पृथग् देवदेवीविषयसूत्रद्वयासम्भवात् ।

वैमानिकदेवविषयं सूत्रमाह—

एतेसि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं तेउलेस्साणं पम्हलेस्साणं सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा देवा असंखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः शुक्ललेश्याः, लान्तकादिदेवानामेव शुक्ललेश्यासम्भवात् । तेषां चोत्कर्षतोऽपि श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, सनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोककल्पवासिनां सर्वेषामपि देवानां पद्मलेश्यासंभवात् । तेषां चातिबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । लान्तकादिदेवपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया अमीषां परिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागोऽसंख्येयगुणः, तेभ्योऽपि तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्या हि सौधर्मेशानदेवानाम् , ईशानदेवाश्चाङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशिसम्बन्धिनि द्वितीयवर्गमूले तृतीयवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशाः तावत्प्रमाणाः, ईशानकल्पगतदेवसमुदायस्तद्गतकिञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पाः, तेभ्योऽपि सौधर्मकल्पदेवाः संख्येयगुणाः स्वतो भवन्ति, पद्मलेश्येभ्यस्तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः, देव्यश्च सौधर्मेशानकल्पयोरेव, तत्र च केवला तेजोलेश्या, तेजोलेश्यान्तरासम्भवात् ; न तद्विषये पृथक्सूत्रमतः।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह—

एएसि णं भंते ! वेमाणियाणं देवाणं देवीण य तेउलेस्साणं पम्हलेस्साण य सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्जाओ ।

'एएसि णं भंते !' इत्यादि सुगमम्, नवरं "तेउलेस्साओ वेमाणिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ" देवेभ्यो देवीनां द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

अधुना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकविषयं सूत्रमाह—

एएसि णं भंते ! भवणवासीणं देवाणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं देवाण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखिज्जगुणा, तेउलेस्सा भवणवासी देवा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा वाणमंतरा देवा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया देवा संखेज्जगुणा । एतेसि णं भंते ! भवणवासिणीणं वाणमंतरीणं जोइसिणीणं वेमाणिणीण य कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ देवीओ वेमाणिणीओ तेउलेस्साओ, भवणवासिणीओ तेउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ वाणमंतरीदेवीओ असंखेज्जगुणाओ, काउलेस्साओ असंखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।

(एएसि णं भंते ! भवणवासीणमित्यादि) तत्र सर्वस्तोका वैमानिका देवाः शुक्ललेश्याः, पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, तेजोलेश्या असंख्येयगुणाः, इत्यत्र भावनाऽनन्तरमेव कृता। तेभ्योऽपि भवनवासिनो देवास्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः। कथमिति चेत् ?, उच्यते—अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि प्रथमवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणो भवनपतिदेवीसमुदायः, तद्गतकिञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पाः भवनपतयो देवास्तत इमे प्रभूता इति घटन्ते सौधर्मेशानदेवेभ्यस्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः कापोतलेश्या भवनवासिन एवासंख्येयगुणाः, अल्पर्द्धिकानामप्यतिप्रभूतानां कापोतलेश्यासम्भवात् । तेभ्योऽपि भवनवासिन एव नीललेश्या विशेषाधिकाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । तेभ्योऽपि वाणमन्तरास्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इहासंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावान् व्यन्तरदेवदेवीसमुदायः, तद्गतकिञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पा व्यन्तरदेवाः, तत इमे भवनपतिभ्योऽतिप्रभूततमा इत्युपपद्यन्ते। कृष्णलेश्येभ्यो भवनपतिभ्यो वाणमन्तरास्तेजोलेश्याका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि वाणमन्तरा एव कापोतलेश्याका असंख्येयगुणाः, अल्पर्द्धिकानामपि कापोतलेश्याभावात् । तेभ्योऽपि वाणमन्तरा नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, अत्रापि युक्तिः प्रागुक्ताऽनुसरणीया। तेजोलेश्या ज्योतिष्का देवाः संख्येयगुणाः, यतः षट्पञ्चाशदधिकाङ्गुलशतद्वयप्रमाणानि सूचीरूपाणि याव-

न्ति खण्डानि एकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणो ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदायः,तस्मात्किञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पा ज्योतिष्कदेवाः,ततः कृष्णलेश्येभ्यो वाणमन्तरेभ्यः संख्येयगुणा एव घटन्ते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसंख्येयगुणाः, सूचीरूपखण्डप्रमाणहेतोः संख्येययोजनकोटीकोट्यपेक्षया षट्पञ्चाशदधिकाङ्गुलशतद्वयसंख्येयभागमात्रवर्तित्वात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं भवनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतेसि णं भंते ! भवणवासीणं० जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ देवीओ वेमाणिणीओ संखेज्जगुणाओ,तेउलेस्सा भवणवासीदेवा असं०, तेउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, काउलेस्सा भवणवासी असं०, नीललेस्सा विसेसाहिया,कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा वाणमंतरा असं०, तेउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, काउलेस्सा वाणमंतरा असं०, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया संखे०, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ संखेज्जगुणाओ ।

एतच्च सूत्रद्वयमपि प्रागुक्तभावनाऽनुसारेण भावनीयम् । प्रज्ञा० १७ पद । (लेश्यास्थानानामल्पबहुत्वं तु 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) (वर्गणाया अल्पबहुत्वं बन्धप्ररूपणावसरे वक्ष्यते)

(२८) इदानीं वेदद्वारमाह–

एएसि णं भंते ! जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पुरुषवेदाः, संज्ञिनामेव तिर्यक्मनुष्याणां देवानां च पुरुषवेदभावात् । तेभ्यः स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः, यत उक्तं जीवाभिगमे–"तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरूवाहियाओ य तहा मणुस्सपुरिसेहिंतो मणुस्सइत्थीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरूवुत्तराओ य तहा देवपुरिसेहिंतो देवत्थीओ बत्तीसगुणाओ बत्तीसरूवुत्तराओ य " इति । वृद्धाचार्यैरप्युक्तम्–

" तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा ।
सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥ १ ॥
बत्तीसगुणा बत्ती–सरूवअहिया य तह य देवाणं ।
देवीओ पन्नत्ता, जिणेहिं जियरागदोसेहिं " ॥ २ ॥

अवेदका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीवेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

सवेदानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्–

अप्पाबहुगं–सव्वत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं सकसाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तहेव भाणियव्वा । जी०१ प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषवतां स्त्रीपुंनपुंसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वम्–तत्र स्त्रीणां पञ्चाल्पबहुत्वानि । तद्यथा–प्रथमं सामान्येनाल्पबहुत्वम्, विशेषचिन्तायां द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्स्त्रीणाम्, तृतीयं त्रिविधमनुष्यस्त्रीणाम्,चतुर्थं चतुर्विधदेवस्त्रीणाम्, पञ्चमं मिश्रस्त्रीणाम् ।

तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधित्सुराह–

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्सित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मणुस्सित्थियाओ,तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(एतासि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यस्त्रियः, संख्यातकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं तिर्यक्स्त्रीणामतिबहुतया संभवात्, द्वीपसमुद्राणां चाऽसंख्येयत्वात् । ताभ्योऽपि देवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवीनां प्रत्येकमसंख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पबहुत्वमाह–

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीण य कयरा कयराहिंतो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुल्लाओ वा विसेसाहियाओ वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणियाओ, थलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोकाः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः,ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, खचराभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियः संख्येयगुणाः, लवणे कालोदे स्वयंभूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामतिप्राचुर्येण भावात् । स्वयंभूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रभूतत्वात् ।

अधुना तृतीयमाह–

एतासि णं भंते ! मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाण य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ,देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ,हेमवयहिरण्णवयवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ

संखेज्जगुणाओ, भरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाऽकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् । ताभ्यो देवकुरूत्तरकुरु० स्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाणक्षेत्रत्वात् । ताभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रापेक्षया हरिवर्षरम्यकक्षेत्रस्यातिप्रचुरत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वात् । ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽपि अल्पस्थितिकतया बहूनां तत्र तासां सम्भवात् । स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, कर्मभूमितया स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थानेऽपि द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यादजितस्वामिकाले इव च स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण भावात्; स्वस्थानेऽपि द्वयोरपि परस्परं तुल्याः । उक्तं तृतीयमल्पबहुत्वम् ॥

अधुना चतुर्थमाह-

एतासि णं भंते ! देवित्थियाणं भवणवासीणं वाणमंतरीणं जोइसियाणं वेमाणिणीए य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ, भवणवासीदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका वैमानिकदेवस्त्रियः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यद् द्वितीयं वर्गमूलं तस्मिन् तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावत् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशा द्वात्रिंशत्तमभागहीनास्तावत्प्रमाणत्वात् । प्रत्येकं सौधर्मेशानदेवस्त्रीणां ताभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेर्यत् प्रथमं वर्गमूलं तस्मिन् द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावत्प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु श्रेणिषु यावान् प्रदेशराशिर्द्वात्रिंशत्तमभागहीनस्तावत्प्रमाणत्वात् । ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, संख्येययोजनप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तेभ्योऽपि द्वात्रिंशत्तमभागेऽपनीते यच्छेषमवतिष्ठते तावत्प्रमाणत्वात् तासाम् । ताभ्यः संख्येयगुणा ज्योतिष्कदेवस्त्रियः, षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति ताभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपसारिते यावत्प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणत्वात् । उक्तं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीं समस्तस्त्रीविषयं पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं देवित्थियाणं भवणवासिणीणं वाणमंतरीणं जोतिसियाणं वेमाणिणीण य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, हेमवतहेरणवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि असंखेज्जगुणाओ, भरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहवासकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवतस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । अत्र भावना प्राग्वत् । ताभ्यो वैमानिकदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासाम् । ताभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता । ताभ्यः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासाम् । ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । ताभ्यो वाणमन्तरदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेभ्यो द्वात्रिंशत्तमे भागेऽपहृते यावान् राशिस्तिष्ठति तावत्प्रमाणत्वात् । ताभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः । एतच्च प्रागेव भावितम् । उक्तानि स्त्रीणां पञ्चाप्यल्पबहुत्वानि । जी० २ प्रति०

साम्प्रतं नपुंसकानामुच्यते—

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं मणुस्सनपुंसकाण य कतरे कतरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सनपुंसका, नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियनपुंसका अणंतगुणा ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोका मनुष्यनपुंसकाः, श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ तद्गतप्रथमवर्गमूलगुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकासु श्रेणीषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

सम्प्रति नैरयिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, छट्ठपुढविणेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा० जाव दोच्चा, पुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, इमी से रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, अल्पतरश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि षष्ठपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्यातगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां पूर्वपूर्वनैरयिकपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया असंख्येयगुणाः, संख्येयगुणश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ तद्गतप्रथमवर्गमूलगुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । प्रतिपृथिवीं च पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो नैरयिकाः सर्वस्तोकाः,तेभ्यो दक्षिणदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, पूर्वपूर्वपृथिवीगतदक्षिणदिग्भागभाविभ्योऽप्युत्तरस्यामुत्तरस्यां पृथिव्यामसंख्येयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविन इत्यादि ॥

सम्प्रति तिर्यग्योनिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुढविकाइयएगिंदियणपुंसकाणं० जाव वनस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं बेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियचउरिंदियपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयरथलयरखहयराण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा खहयरातिरिक्खजोणियणपुंसका, थलयरातिरिक्खजोणियनपुंसका संखेज्जगुणा, जलयरातिरिक्खजोणियनपुंसका संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका विसेसाहिया,तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, तेउकाइयएगिंदियतिरिक्खा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, एवं आउवाउ०, वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्नपुंसकाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः,बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, असंख्येयकोटीकोटिप्रमाणाकाशप्रदेशराशिप्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यस्त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः,प्रभूततरश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानां तेषामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्योऽपि वायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकणपुंसकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगाऽकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगा दो वि संखेज्जगुणा, एवं जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसगा दो वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसकाः, एते च संमूर्छनजा द्रष्टव्याः, गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यनपुंसकानां तत्रासंभवात्, संहृतास्तु कर्मभूमिजास्तत्र भवेयुरपि । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, तद्गतगर्भजमनुष्याणामन्तरद्वीपजगर्भजमनुष्येभ्यः संख्येयगुणत्वात् । गर्भजमनुष्योच्चाराद्याश्रयेण च संमूर्छनजमनुष्याणामुत्पादात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । एवं तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । हैमवतहैरण्यवतवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतवर्षकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । युक्तिः सर्वत्रापि तथैवानुसर्तव्या ।

संप्रति नैरयिकतिर्यङ्मनुष्यविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं रयणपुढविनेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियनपुंसगाणं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेंदियतिरि-

क्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, छट्ठपुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा०जाव दोच्चा, पुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, देवकुरूत्तरकुरुअकम्मभूमिका दो वि संखेज्जगुणा,०जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, रयणप्पभापुढविनेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, थलयरा संखेज्जगुणा, जलयरा संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका विसेसाहिया, तेइंदियनपुंसगा विसेसाहिया, बेइंदियनपुंसगा विसेसाहिया, तेउक्काइयएगिंदियनपुंसगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइयएगिंदियनपुंसगा विसेसाहिया, आउक्काइयनपुंसगा विसेसाहिया, वाउक्काइया विसेसाहिया, वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा।

सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, तेभ्यः षष्ठपञ्चमचतुर्थतृतीयद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः, एतदसंख्येयगुणत्वं संमूर्छनजमनुष्यापेक्षं, तेषां नपुंसकत्वाद्, एतावतां च तत्र संमूर्छनसंभवात्। तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थानचिन्तायां तु द्वये परस्परं तुल्याः, पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकेभ्योऽस्यां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं संख्येयगुणाः, जलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकेभ्यश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः पृथिव्यम्बुवायुतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, वाय्वेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः । युक्तिः सर्वत्राऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया। इत्युक्तानि पञ्च नपुंसकानामपि अल्पबहुत्वानि । जी० २ प्रति० ।

साम्प्रतं पुरुषाणामुच्यन्ते-तानि च पञ्च। तद्यथा-प्रथमं सामान्यालपबहुत्वम् १, द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्पुरुषविषयम् २, तृतीयं त्रिविधमनुष्यपुरुषविषयम् ३, चतुर्थं चतुर्विधदेवपुरुषविषयम् ४, पञ्चमं मिश्रपुरुषविषयम् ५ ।

तत्र प्रथमं तावदभिधित्सुराह—

(एतेसि णं भंते ! देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणियदेवपुरिसा, भवणवइदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, जोइसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा ।)

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, संख्येयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात् । तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां मनुष्यपुरुषाणां यथा मनुष्यस्त्रीणामल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । संप्रति देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमाह-सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्य उपरितनग्रैवेयकदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिमानत्वात् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ?, उच्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे, प्रतिविमानं चासंख्येया देवाः, यथाऽधोऽधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते, ततोऽवसीयते-अनुत्तरविमानवासिदेवपुरुषापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः, एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यच्युतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणिकौ समविमानसंख्याकौ च, तथापि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । अथ के ते कृष्णपाक्षिकाः ?, उच्यते-इह द्वये जीवाः, तद्यथा-कृष्णपाक्षिकाः, शुक्लपाक्षिकाश्च । तत्र येषां किञ्चिदूनोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च-" जेसिमवड्ढो पोग्गल-परियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ" ॥१॥ अत एव स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, अल्पसंसाराणां स्तोकानामेव भावात् । बहवः कृष्णपाक्षिकाः, दीर्घसंसाराणामनन्तानां भावात् । अथ कथमेतदवसातव्यं कृष्णपाक्षिकाः प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते ?, उच्यते-तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यमेवं पूर्वाचार्यैर्युक्तिभिरुपबृंहितम्, कृष्णपाक्षिकाः खलु दीर्घसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयात्, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् । तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, यत उक्तम्-" पायमिह कूरकम्मा, भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुरा य ठाणेसु गच्छंति " ॥१॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण कृष्णपाक्षिकाणां संभवादुपपद्यतेऽच्युतकल्पदेवपुरुषापेक्षया आरणकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यानतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पापेक्षया संख्येयगुणत्वं, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण भावात् । एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानवास्यादय आनतकल्पवासिपर्यन्तदेवपुरुषाः प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभः

प्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः। "आणयपाणयमाई पल्लस्साऽसंखभागा उ" इति वचनात्। केवलमसंख्येयो भागो विचित्र इति परस्परं यथोक्तं संख्येयगुणत्वं न विरुध्यते। आनतकल्पदेवपुरुषेभ्यः सहस्रारकल्पवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्,तेभ्योऽपि महाशुक्रकल्पवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, बृहत्तरश्रेण्यसंख्येयभागाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। कथमेतत् प्रत्येयमिति चेत्?, उच्यते-विमानबाहुल्यात्। तथाहि-षट्सहस्राणि विमानानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे, अन्यच्चाधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोकतरा उपरितनविमानवासिनः, तत उपपद्यते सहस्रारकल्पदेवपुरुषेभ्यो महाशुक्रकल्पवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि लान्तककल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो देवपुरुषा असंख्येयगुणाः, भूयोबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, भूयस्तरबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागगताकाशप्रदेशमानत्वात्। तेभ्यः सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः,विमानबाहुल्यात्। तथाहि-द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे विमानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, अन्यच्च दक्षिणदिग्भागवर्ती सनत्कुमारकल्पो,माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरादिग्वर्ती,दाक्षिणस्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिकाः, तत उपपद्यन्ते माहेन्द्रकल्पात्सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः। एते च सर्वेऽपि सहस्रारकल्पवासिदेवादयः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपर्यन्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना घनीकृतलोकैकश्रेण्यसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः। केवलं श्रेण्यसंख्येयभागोऽसंख्येयभेदस्तत इत्थमसंख्येयगुणतया अल्पबहुत्वमभिधीयमानं न विरोधभाक्। सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषेभ्य ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि द्वितीयवर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्संख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीसु श्रेणीषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्। तेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात्। तथाहि-अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमानानामीशानकल्पे, द्वात्रिंशच्च शतसहस्राणि सौधर्मकल्पे, अपि च-दक्षिणदिग्वर्त्ती सौधर्मकल्पः,ईशानकल्पश्चोत्तरादिग्वर्ती,दक्षिणस्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते। तत ईशानकल्पवासिदेवपुरुषेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषाः सङ्ख्येयगुणाः। नन्वियं युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे संख्येयगुणाः,तदेतत्कथम्?, उच्यते-तथावस्तुस्वाभाव्यात्। एतच्चावसीयते प्रज्ञापनादौ,सर्वत्र तथा भणनात्। तेभ्योऽपि भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिरुपजायते तावत्संख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्। तेभ्यो व्यन्तरदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्। तेभ्यः संख्येयगुणा ज्योतिष्का देवपुरुषाः,षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात्। जी० २ प्रति०। इति चत्वार्यल्पबहुत्वान्युक्तानि। (☞ अत्र टीकाकारस्यान्यादृशः पाठः सम्मत इदानींतनप्रतिषु तु अन्यादृश इति शब्दतो भेद आभाति, अर्थतस्तु न भेदः)

सम्प्रति पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं देवपुरिसाणं० भवणवासीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं०जाव सव्वट्ठसिद्धगाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगमणुस्सपुरिसा,देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखिज्जगुणा, हरिवासरम्मयवासअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, हेमवतहेरण्णवतवासअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, भरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, अणुत्तरोववातिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, हिट्ठिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, अच्चुते कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, आरणकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, पाणयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, सहस्सारकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महासुक्ककप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा० जाव माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणंकुमारकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, भवणवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपजमनुष्यपुरुषाः, क्षेत्रस्य स्तोकत्वात्। तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरुमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बाहुल्यात्। स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यातिबहुत्वात्। स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वात्। तेभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽप्यल्पस्थितिकतया प्राचुर्येण लभ्यमानत्वात्। स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः।

तेभ्योऽपि भरतैरवतवर्षकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, अजितस्वामिकाले उत्कृष्टपदे स्वभावत एव भरतैरवतेषु च मनुष्यपुरुषाणामतिप्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थाने च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य तुल्यत्वात् । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहादकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यात् । अजितस्वामिकाले इव स्वभावत एव मनुष्यपुरुषाणां प्राचुर्येण संभवात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽप्यनुत्तरोपपातिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तदनन्तरमुपरितनग्रैवेयकप्रस्तटदेवपुरुषा अच्युतकल्पदेवपुरुषा आरणकल्पदेवपुरुषाः प्राणतकल्पदेवपुरुषा आनतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः । भावना प्राग्वत् । तदनन्तरं सहस्रारकल्पदेवपुरुषा लान्तककल्पदेवपुरुषा ब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषा माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषाः सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषा ईशानकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, सौधर्मकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, सौधर्मकल्पदेवपुरुषेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः । भावना सर्वत्रापि प्राग्वत् । तेभ्यः खचरतिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिरत्रापि प्राग्वत् । तेभ्योऽपि वाणमन्तरदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिकमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः। युक्तिः प्रागेवोक्ता । जी० २ प्रति० । इति प्रतिपादितानि स्त्रीपुंनपुंसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वानि ।

इदानीं समुदितानामुच्यन्तेऽल्पानि चाष्टौ । तत्र-प्रथमं सामान्येन तिर्यक्स्त्रीपुरुषनपुंसकप्रतिबद्धम्, एवमेतदेव मनुष्यप्रतिबद्धं द्वितीयम्, देवस्त्रीपुरुषनारकनपुंसकप्रतिबद्धं तृतीयम्, सकलसंमिश्रं चतुर्थम्, जलचर्यादिविभागतः पञ्चमम्, कर्मभूमिजादिमनुष्यादिविभागतः षष्ठं, भवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तमं, जलचर्यादिविजातीयव्यक्तिव्यापकमष्टमम् ॥

तत्र प्रथममभिधित्सुराह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणियपुरिसा, तिरिक्खजोणियत्थीओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकास्तिर्यक्पुरुषाः, तेभ्यस्तिर्यक्स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यङ्नपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

संप्रति द्वितीयमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं मणुस्सपुरिसाणं मणुस्सणपुंसकाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्जगुणाओ, मणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, कोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । तेभ्यो मनुष्यनपुंसकाश्च संख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

संप्रति तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं णेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइयनपुंसगा, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका नैरयिकनपुंसकाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ स्वप्रथमवर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा असंख्येयगुणाः, असंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणायां सूचौ यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति सकलसंमिश्रं चतुर्थमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाए तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं मणुस्सित्थीणं मणुस्सपुरि[illegible]णं मणुस्सनपुंसगाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं नेरइयन[illegible]सकाण य कयरे कयरेहिंतो० ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्जगुणाओ, मणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियपुरिसा असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियनपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । ताभ्यो मनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः । अत्र युक्तिः प्रागुक्ता । तेभ्यो नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्यातगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, प्रभूततरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् ।

संप्रति जलचर्यादिविभागतः पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसगाणं ०जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसगाणं बेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं, तेइंदियचतुरिंदियपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं कयरे कयरेहिंतो०जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा! सव्वत्थोवा खहयरीतिरिक्खजोणियपुरिसा, खहयरातिरि-

क्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणित्थीओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, थलयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसगा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणियणपुंसकपंचेंदिया संखेज्जगुणा, चउरिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदियणपुंसका विसेसाहिया, बेइंदियणपुंसया विसेसाहिया, तेउक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, पुढविनपुंसका विसेसाहिया, आउ० विसेसाहिया, वाउ० विसेसाहिया, वणप्फतिएगिंदियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकपुरुषाः । तेभ्यः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यः जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । तेभ्यः जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकनपुंसका यथाक्रमं संख्येयगुणाः । ततश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रिया यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः पृथिव्यम्बुवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः ।

संप्रति कर्मभूमिजादिमनुष्यस्त्र्यादिविभागतः षष्ठमल्पबहुत्वमाह–

एयासि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीविकाणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीविकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४? । गोयमा ! अंतरदीवकअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एतेसि णं दोण्णि वि तुल्ला सव्वत्थोवा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसाओ एतेणं दोण्णि वि तुल्ला संखेज्जगुणा; हरिवासरम्मकवासअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एते णं दोण्णि वि तुल्ला संखेज्जगुणा, हेमवतेहेरण्णवते अकम्मभूमकमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य दो वि तुल्ला संखेज्जगुणा, भरहेरवतकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं तहेव० जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमकमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियोऽन्तरद्वीपकमनुष्यपुरुषाश्च एते च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तत्रत्यस्त्रीपुंसानां युगलधर्मोपेतत्वात् । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । एवं हरिवर्षरम्यकमनुष्यपुरुषस्त्रियो हैमवतहैरण्यवतमनुष्यपुरुषस्त्रियश्च यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ततो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्या द्वये संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।

संप्रति भवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तममल्पबहुत्वमाह–

एतासि णं भंते ! देवित्थीणं भवणवासीणं वाणमंतरीणं जोइसीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं० जाव वेमाणियाणं सोधम्मकाणं० जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरोववाइयाणं णेरइयनपुंसकाणं रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयनपुंसगाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइया देवपुरिसा, उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तहेव० जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, छट्ठीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए कप्पे असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,

ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखे०, भवनवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, भवणवासिदेवीत्थियाओ संखे०, इमी से रयणप्पभापुढवीनेरइया असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, तत उपरितनग्रैवेयकमध्यग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः । ततोऽधःसप्तमषष्ठपृथिवीनैरयिकनपुंसकसहस्रारमहाशुक्रकल्पदेवपुरुषपञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुंसकलान्तककल्पदेवपुरुषचतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसकब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रसनत्कुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्य ईशानकल्पदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात । ततः सौधर्मकल्पे देवपुरुषाः संख्येयगुणाः,तेभ्यः सौधर्मकल्पे देवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । ताभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यो भवनवासिदेवीभ्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात । ताभ्यो रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यो वाणमन्तरदेवीभ्यः संख्येयगुणाः, ताभ्यो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः , तेभ्यो ज्योतिष्कदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति विजातीयव्यक्तिव्यापकमष्टममल्पबहुत्वमाह—

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीणं तिरिक्खजोणियपुरिसा जलयराणं थलयराणं खहयराणं तिरिक्खजोणियणपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुढवीकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं आउकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं बेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं चउरिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं पंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवयाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमकाणं अकम्मभूमकाणं अंतरदीवकाणं मणुस्सनपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीवकाणं देवित्थीणं भवणवासिणीणं वाणमंतरीणं जोतिसिणीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्मकाणं० जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरोववाइयाणं नेरइयनपुंसकाणं रयणप्पभपुढविनेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवकअकम्मभूमिकमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुल्ला सव्वत्थोवा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुल्ला संखेज्जगुणा; एवं हरिवासरम्मवासे, एवं हेमवते हेरण्णवते, भरहेरवतवासकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखे०, भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ,पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अणुत्तरोववातियदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा ; उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा० जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुंसगा असंखेज्जगुणा, छट्ठीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा , महासुक्के कप्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पुढवीए णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा । देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा,एवं० जाव विदेहो त्ति। ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,ईसाणकप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, भवणवासिदेवपुरिसा असंखे०, भवणवासिदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ; इमी से रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ,थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्ज०, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्ज० , जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसियदेवपुरिसा संखेज्ज०, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ। खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, थलयरनपुंसका संखे०, जलयरनपुंसका संखे०, चउरिंदियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेंदिया विसेसाहिया , तेउक्काइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका असंखे०,पुढवि० विसेसाहिया,आउ० विसेसाहि-

या, वाउ० विसेसाहिया , वणप्फइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि तुल्याः, युगलधर्मोपेतत्वात् । एवं देवकुरूत्तरकुरुकर्म्मभूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्म्मभूमकहैमवतहैरण्यवताकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रीपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्म्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽनुत्तरोपपातिकोपरितनग्रैवेयकमध्यमग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरुषाः यथोत्तरं संख्येयगुणाः; ततोऽधःसप्तमषष्ठपृथिवीनैरयिकसहस्रारकल्पदेवपुरुषा महाशुक्रकल्पदेवपुरुषाः पञ्चमपृथिवीनैरयिकलान्तककल्पदेवपुरुषाश्चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसकब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रकल्पसनत्कुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकान्तरद्वीपनपुंसका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । ततो देवकुरूत्तरकुरुकर्म्मभूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्म्मभूमकहैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकभरतैरवतकर्म्मभूमकपूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वये परस्परं तुल्याः। तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तत ईशानकल्पे देवस्त्रियः संख्ये०। ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवपुरुषस्त्रियः संख्ये०। तेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः । ताभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः खचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियो वाणमन्तरदेवपुरुषाः वाणमन्तरदेवस्त्रियो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः ज्योतिष्कदेवस्त्रियो यथोत्तरं संख्येयगुणाः । ततः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः क्रमेण संख्येयगुणाः, ततश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, ततः पृथिव्यब्वायुकायिकतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् । जी० २ प्रति० ।

शरीरमाश्रित्य सशरीराशरीराल्पबहुत्वचिन्तायाम्–

" सव्वत्थोवा ससरीरी, असरीरी अणंतगुणा "

(२५) [शरीरद्वारम्] आहारकादिशरीरिणाम्—

अप्पाबहुं–सव्वत्थोवा आहारगसरीरी, वेउव्वियसरीरी असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरी असंखेज्जगुणा, असरीरी अणंतगुणा, तेयाकम्मासरीरी दो वि तुल्ला अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका आहारकशरीरिणः, उत्कर्षतोऽपि सहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः; देवनारकाणां कतिपयगर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यवायुकायिकानां च वैक्रियशरीरत्वात् । तेभ्य औदारिकशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः, इहानन्तानामपि जीवानां यस्मादेकमौदारिकं शरीरं ततः स एक औदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंख्येयगुणा एवौदारिकशरीरिणो नानन्तगुणाः। आह च मूलटीकाकारः'औदारिकशरीरिभ्योऽशरीरा अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्, औदारिकशरीरिणां च शरीरापेक्षतया असंख्येयत्वादिति'। तेभ्योऽशरीरिणोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः तैजसशरीरिणः कार्मणशरीरिणः अनन्तगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तैजसकार्मणयोः परस्पराविनाभावित्वात् । इह तैजसशरीरं कार्मणशरीरं च निगोदेष्वपि प्रतिजीवं विद्यते, इति सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वम् । जी० ६ प्रति० । (औदारिकादिशरीराणां चाल्पबहुत्वं 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते) (संक्रमविषयमल्पबहुत्वं 'संकम' शब्दे द्रष्टव्यम) (समुद्घातविषयमल्पबहुत्वं 'समुग्घाय' शब्दे प्ररूपयिष्यते)

[संज्ञिद्वारम्] संज्ञयसंज्ञिनोसंज्ञिनोअसंज्ञिनामल्पबहुत्वम -

एएसि णं भंते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोसन्नीणं नोअसन्नीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सन्नी, नोसन्नी नोअसन्नी अणंतगुणा, असन्नी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः संज्ञिनः,समनस्कानामेव संज्ञित्वात् । तेभ्यो नोसंज्ञिनो नोऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः,उभयप्रतिषेधवृत्ता हि सिद्धाः,ते च संज्ञिभ्योऽनन्तगुणा एवेति। तेभ्योऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः,वनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्। प्रज्ञा० ३ पद। (आहारादिसंज्ञोपयुक्तानां नैरयिकादीनामल्पबहुत्वं 'सन्ना'शब्दे वक्ष्यते) (सामायिकादिसंयतविषयमल्पबहुत्वं 'संजय' शब्दे एव द्रष्टव्यम) (संयमस्थानानामल्पबहुत्वं 'संजमट्ठाण' शब्दे भावयिष्यते)

[संयमद्वारम्] संयतानामसंयतानां नोसंयत-
नोअसंयतानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासंजयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा संजया, संजयासंजया असंखेज्जगुणा, नोसंजता नोअसंजता अणंतगुणा, असंजता अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः संयताः,उत्कृष्टपदेऽपि तेषां कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाणतया लभ्यमानत्वात् । "कोटिसहस्सपुहुत्तं मणुयलोए संजयाणं"इति वचनात् । तेभ्यः संयतासंयता देशविरता असंख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातानां देशविरतिसद्भावात् । तेभ्यो नोसंयता नोअसंयता अनन्तगुणाः, प्रतिषेधत्रयवृत्ता हि सिद्धाः, ते चानन्ता इति। तेभ्योऽसंयता अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

संस्थानानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! परिमंडलवट्टचउरंसतंसआयतअणित्थंत्थाणं संठाणाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कय-

रे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा परिमंडलसंठाणा दव्वट्ठयाए, वट्टासंठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, चउरंसा संठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, तंसासंठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, आयतसंठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, अणित्थंत्था संठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा परिमंडला संठाणा, वट्टासंठाणा पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा । जहा दव्वट्ठयाए तहा पदेसट्ठयाए वि० जाव अणित्थंत्था संठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा परिमंडलसंठाणा, दव्वट्ठयाए सो चेव गमगो भाणियव्वो० जाव अणित्थंत्था संठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, अणित्थंत्थेहिंतो संठाणेहिंतो दव्वट्ठयाएहिंतो परिमंडला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, वट्टासंठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सो चेव पदेसट्ठयाए गमओ जाणियव्वो० जाव अणित्थंत्था संठाणा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । ज० २५ श० ३ उ० ।

(षट्कसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानामल्पबहुत्वं 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ६२२ पृष्ठे निरूपयिष्यते)

[सम्यक्त्वद्वारम्] सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टिसम्यङ्मिथ्यादृष्टीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सम्मादिट्ठीणं मिच्छादिट्ठीणं सम्मामिच्छदिट्ठीणं च कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सम्मामिच्छदिट्ठी, सम्मादिट्ठी अणंतगुणा, मिच्छादिट्ठी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः सम्यग्मिथ्यादृष्टयः, सम्यग्मिथ्यादृष्टिपरिणामकालस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणतयाऽतिस्तोकत्वेन तेषां पृच्छासमये स्तोकानामेव लभ्यत्वात् । तेभ्यः सम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । प्रज्ञा० ३ पद ।

सम्यक्त्वद्वारे सास्वादनसम्यग्दृष्टयः स्तोकाः, औपशमिकसम्यक्त्वात्केषांचिदेव प्रच्यवमानानां सास्वादनत्वात् । तेभ्य औपशमिकसम्यग्दृष्टयः सङ्ख्यातगुणाः ।

मीसा संखा वेयग-असंखगुण खइय मिच्छ दु अणंता । संनियर थोवऽणंता-ऽणाहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

तेभ्यऔपशमिकसम्यग्दृष्टिभ्यो मिश्राः संख्यातगुणाः, तेभ्यो (वेयग त्ति) क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयोऽसंख्यातगुणाः । तेभ्यः क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः, क्षायिकसम्यक्त्ववतां सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि मिथ्यादृष्टयोऽनन्तगुणाः, सिद्धेभ्योऽपि वनस्पतिजीवानामनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । कर्म० ४ कर्म० ।

[सिद्धिविषयकम्] सिद्धासिद्धयोरल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! सिद्धाणं असिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा, असिद्धा अणंतगुणा ।

"एएसि णमित्यादि" प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! सर्वस्तोकाः सिद्धाः, असिद्धा अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामतिप्रभूतत्वात् ।

(सूक्ष्मद्वारम्) सूक्ष्मबादरनोसूक्ष्मनोबादराणामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं बादराणं नोसुहुमाणं नोबादराण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोसुहुमा नोबादरा, बादरा अणंतगुणा, सुहुमा असंखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोकाः जीवा नोसूक्ष्मा नोबादराः, सिद्धा इत्यर्थः; तेषां सूक्ष्मजीवराशेर्बादरजीवराशेश्चानन्तभागकल्पत्वात् । तेभ्यो बादरा अनन्तगुणाः, बादरनिगोदजीवानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मा असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात् । गतं सूक्ष्मद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म० । क० प्र० । पं० सं० । (स्थितिबन्धानामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अप्पाभिणिवेस-आत्माभिनिवेश-पुं० । पुत्रभ्रातृकलत्रादिष्वात्मीयाभिनिवेशे, नैरात्म्यावगतौ आत्माभिनिवेशः । नं० ।

अप्पायंक-अल्पातङ्क-त्रि० । अल्पशब्दोऽभाववाची । अल्पः सर्वथाऽविद्यमान आतङ्को ज्वरादिर्येषां तेऽल्पातङ्काः । जी० ३ प्रति० । रा० । अनातङ्के नीरोगे, भ० १४ श० १ उ० । अरोगिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० । ज्ञा० । रोगमुक्ते, ध० ३ अधि० । औप० ।

अप्पारंभ-अल्पारम्भ-त्रि० । कृष्यादिरूपं पृथिव्यादिजीवोपमर्दं एवं कुर्वाणे, औ० ।

अप्पावय-अप्रावृत-त्रि० । अस्थगिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अप्पावयदुवार-अप्रावृतद्वार-पुं० । अप्रावृतमस्थगितं द्वारं गृहमुखं यस्य सोऽप्रावृतद्वारः । दृढसम्यक्त्वे, यस्य हि गृहं प्रविश्य परतीर्थिकोऽपि यद्यत् कथयति तदसौ कथयतु, न तस्य परिजनोऽप्यन्यथा भावयितुं सम्यक्त्वाच्च्यावयितुं शक्यते इति यावत् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अप्पाह-संदिश्-धा० । सम्-दिश्-तुदा० । वार्त्ताकथने, प्राकृते-" संदिशेरप्पाहः " ॥ ८ । ४ । १८० ॥ इति सूत्रेण संपूर्वकस्य दिशेरप्पाहादेशः । प्रा० ४ पाद । अप्पाहति संदिशति व्य० १ उ० । अप्पाहति संदेशं कथयति, यथा-मया कृतोऽमुकस्य समीपे कायोत्सर्ग इति । व्य० ४ उ० ।

अप्पाहण्ण-अप्राधान्य-न० । अप्रधानत्वे, पञ्चा० १ विव० ।

अप्पाहार-अल्पाहार- पुं० । अल्पश्चासौ आहारश्च अल्पाहारः । स्तोकाहारे, अल्प आहारो यस्य सोऽल्पाहारः । स्तोकमाहारमाहारयति साधौ, म० ।

अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे ।

कुक्कुट्यण्डकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी शरीरं, कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तस्या आत्मक-

मित्राण्डकमुदरपूरकत्वादाहारः कुक्कुट्यण्डकम्, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्राः । अतस्तेषामयमभिप्रायः-यावान् यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वात्रिंशत्तमो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः । इदमेव कवलमानमाश्रित्य प्रसिद्धकवलचतुःषष्ट्यादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशता कवलैः प्रमाणप्राप्ततोपपन्ना स्यात्, नहि स्वनोजनस्यार्द्धं भुक्तवतः प्रमाणप्राप्तत्वमुपपद्यते । प्रथमव्याख्यानं तु प्रायिकपक्षमवगन्तव्यमिति । (अप्पाहारे त्ति) अल्पाहारः, साधुर्भवतीति गम्यम् । अथवाऽष्टौ कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्रान् कवलानाहारमाहारयति कुर्वीत साधौ अल्पाहारः स्तोकाहारः, आहारचतुर्भागरूपत्वात्तस्य । भ० ७ श० १ उ० । ध० । आचा० । (अल्पाहारस्य इन्द्रियाणि विषयेषु न वर्तन्त इति ' जिणकप्पिय ' शब्दे वक्ष्यते)

अप्पाहिगरण-अल्पाधिकरण-पुं० । अल्पमविद्यमानमधिकरणं स्वपक्षपरपक्षविषयो यस्य तत्तथा । स्था० ६ ठा० १० उ० । निष्कलहे, स्था० ८ ठा० ।

अप्पिच्छ-अल्पेच्छ-त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकामितया महती, अल्पशब्दस्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना इच्छा वाञ्छा यस्येत्यल्पेच्छः । उत्त० ३ अ० । अमहेच्छे, औ० । धर्मोपकरणमात्रधारिणि, उत्त० २ अ० । न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागिनि, दश० ८ अ० । अल्पाः स्तोकाः परिग्रहारम्भेष्विच्छाऽन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मणिकनकादिविषयप्रतिबन्धरहिते, जी० ३ प्रति० । तं० । जं० ।

अप्पिय-अप्रिय-अ० । प्रियस्याभावोऽप्रियम् । चित्तदुःखासिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । न प्रियमप्रियम् । अप्रीतिहेतौ, भ० १ श० ५ उ० । उपा० । द्वेष्ये, स० । यद्धि दर्शनादारभ्य तकालेऽपि न प्रियबुद्धिमुत्पादयति । जी० १ प्रति० । प्रेमाऽविषये, स्था० ५ ठा० । " अणिट्ठा अकंता अप्पिया अमणुण्णा अमणामा एकचा " विपा० १ श्रु० १ अ० । " कोहं असच्चं कुव्विज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं । " अप्रियमपि कर्णकटुकतया तदनिष्टमपि, गुरुवचनमिति गम्यते । उत्त० १ अ० ।

अप्पित-त्रि० । आकुञ्चितसुकृतेन ढौकिते, उत्त० ३ अ० । आहिते, ज० ए श० ७ उ० । ढौकिते, विपा० १ श्रु० २ अ० । विशेषिते, स्था० १० ठा० । " अप्पियमयं विसेसो, सामन्नमणप्पियनयस्स " विशे० । " जहा दवियमप्पियं तं तहेव " यदूद्रव्यमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टम् । सम्म० १ काण्ड ॥

अल्पित-त्रि० । अल्पं क्रियते स्म, अल्प-कृतार्थे णिच्, कर्मणि क्तः । अल्पीकृते, " मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः " वाच० ।

अप्पियकारिणी-अप्रियकारिणी-स्त्री० । श्रोतुर्मृतनिवेदनादिरूपायां भाषायाम्, " अप्पियकारिणिं च भासं न भासिज्जा सया सपुज्जो " दश० ६ अ० ३ उ० ।

अप्पियणय-अर्पितनय-पुं० । अर्प्यते विशेष्यते इत्यर्पितो विशेषः, तद्वादी नयोऽर्पितनयः । विशेष एवास्ति न सामान्यमिति समयप्रसिद्धे नये, विशे० । सम्म० ।

अप्पियता-अप्रियता-स्त्री० । अप्रेमहेतुतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

अप्पियववहार-अर्पितव्यवहार-पुं० । अर्पित इति व्यवहारो यस्मिन्, सोऽयमर्पितव्यवहारः । मतुप्रत्ययेऽसकारादित्वात् समासः । अर्पितानामनात्मिकादिनायः । स्वाधारं भावयति, ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्यैवादिरूपेण वचनव्यापारेण यत्रस्थापितं व्यवहारे, उत्त० १ अ० ।

अप्पियवह-अप्रियवध-त्रि० । अप्रियं दुःखकारणं वधं घ्नन्तीति अप्रियवधाः । दुःखहेतुनिवारके, " सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अप्पियस्सर-अप्रियस्वर-त्रि० । प्रेमाऽविषयस्वरे, स्था० ८ ठा० ।

अप्पियाणप्पिय-अर्पितानर्पित-न० । द्रव्यं ह्यर्पितं विशेषितं यथा जीवद्रव्यम् किंविधम् ?, संसारीति, संसार्यपि त्रसरूपं त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियम्, तदपि नररूपमित्यादि । अनर्पितमविशेषितमेव यथा जीवद्रव्यमिति । ततश्चार्पितं च तदनर्पितं चेत्यर्पितानर्पितं द्रव्यं भवतीति समान्यविशेषकथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० १० ठा० ।

अप्पीकय-आत्मीकृत-त्रि० । आत्मना गाढतरमालिङ्गिते, " पुढे रेणुं व तणुमि बद्धमप्पीकयं " विशे० । आत्मप्रदेशैस्तनुप्रतोयवद् मिश्रीभूतम् । आ० म० द्वि० ।

अप्पुट्ठाइ (ण्) अल्पोत्थायिन्-त्रि० । अल्पमुत्थातुं शीलमस्येत्यल्पोत्थायी । प्रयोजनेऽपि अपुनःपुनरुत्थानशीले, उत्त० १ अ० । " अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई निसीएज्जऽप्पकुक्कुए " उत्त० १ अ० ।

अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टियामक्कडसंताण-अल्पोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तान-त्रि० । उत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्कटसन्तानरहिते, तत्रोत्तिङ्गः पिपीलिकासन्तानकः, पनको भूम्यादावुल्लिविशेषः, उदकमृत्तिका अचिराप्कायार्द्रीकृता मृत्तिका, मर्कटसन्तानको लूतातन्तुजालम् । आचा० २ श्रु० ७ अ० ६ उ० ।

अप्पुदय-अल्पोदक-त्रि० । भौमान्तरिक्षोदकरहिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अप्पुल्ल-आत्मीय-त्रि० । आत्मनि भवम् । " ह्रस्वः संयोगे " ॥८।१।८४॥ " भस्मात्मनोः पो वा " ॥ ८।२।५१ ॥ इति तस्य पः । " अनादौ- " ॥८।२।८९॥ इति पः । " डिल्लडुल्लौ भवे " ॥८।२।१६३॥ इति सूत्रेण " उल्ल " प्रत्ययः । आत्मनि जाते, प्रा० २ पाद ।

अप्पुस्सुय-अल्पौत्सुक्य-त्रि० । औत्सुक्यवर्जिते, औ० । ज० । अनुत्सुके, ज्ञा० १ अ० । अविमनस्के, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अप्पो-देशी-पुं० । पितरि, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्पोलंभ-आप्तोपालम्भ-पुं० । आप्तेन हितेन, गुरुणेत्यर्थः । उपालम्भो विनेयस्याविहितविधायिन आप्तोपालम्भः । अविधिप्रवृत्तस्य शिष्यस्य गुरुणा मार्गे स्थापनाय उपालम्भे, (तीर्थकृता) " अप्पोलंभनिमित्तं पढमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि " ज्ञा० १ अ० ।

अप्पोल्ल-देशी-त्रि० । दृढत्वेन्नादशुषिरे, " अप्पोल्लं मिदुपएहं च, पसिपुन्नं हत्थपूरिसं " बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अप्पोवगरणसंथारण-अल्पोपकरणसंस्थारण-न० । अल्पमेवोपकरणे सन्धारणीये, षो० १ विव० ।

अप्पोवहित्त-अल्पोपधित्व-न० । अनुल्बणयुक्तस्तोकोपधिसेवित्वे, दश० २ चू० ।

अप्पोस-अल्पावश्याय-त्रि० । अधस्तनोपरितनावश्यायविप्रुड्वर्जिते, आचा० २ श्रु० ७ अ० ६ उ० ।

अप्पोसहिमंतबल-अल्पौषधिमन्त्रबल-त्रि० । अल्पं स्तोकमौषधिमन्त्रबलं यस्य स तथा । स्तोकेनौषधिमन्त्रबलेन युते, 'अप्पोसहिमंतबलो नहु अप्पाणं तिगिच्छिहिसि' आव०४ अ०।

अप्फालण-आस्फालन-न० । हस्तेनाऽऽताडने उत्तेजने, औ० । दशा० । भम्भाहोरम्भाणं वादनमास्फालनमिति प्रसिद्धम् । रा० । आ० चू० ।

अप्फालिज्जंत-आस्फाल्यमान-त्रि० । हस्तेनाऽऽताड्यमाने, " अप्फालिज्जंताणं भंभाणं होरंभाणं " रा० ।

अप्फा (फा) लिय-आस्फालित-त्रि० । आ समन्तात्स्फारं प्रापिते, व्य० १ उ० ।

अप्फिहु-अस्पृह-त्रि० । स्पृहाविरहिते " उपसर्गानतिष्ठेत्–एकोऽभीरस्पृहः क्षमेत् " आ० म० द्वि० ।

अप्फुडिय-अस्फुटित-त्रि० । अजर्जरे, जं० २ वक्ष० । " असंडऽप्फुडिआ कायव्वा " अस्फुटिताः सर्वविराधनापरित्यागेन, दश० ६ अ० ।

अप्फुडियदंत-अस्फुटितदन्त-त्रि० । अस्फुटिता अजर्जरा जराहिता दन्ता येषां तेऽस्फुटितदन्ताः । जी०३ प्रति०। अजर्जरदन्तेषु. जं०२ वक्ष०। औ०। राजिरहितदन्तेषु. तं०।व्य०।कल्प०।

अप्फुण्ण-आक्रान्त-त्रि० । आ-क्रम-क्त । " क्तेनाप्फुण्णादयः " ८ । ४ । २५८ । इति क्तविशिष्टस्याऽऽक्रान्तशब्दस्याप्फुण्णादेशः। प्रा० ४ पाद । व्याप्ते, " अप्फुण्णा समाणा " नि० । अप्फुण्ण त्ति, आपूर्णा व्याप्ता, आक्रान्ता इति यावत् । अनु० । जं० । रा० ।

अप्फोआ (या)-अफोया-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, जी० ३ प्रति० । व्य० । जं० । प्रज्ञा० ।

अप्फोडिअ (ड)-आस्फोटित-न०। करास्फोटे, जं०३ वक्ष०। प्रश्न० । ज० । ज्ञा० । कल्प० ।

अप्फो (फो) व-अप्फोव-पुं० । वृक्षाद्याकीर्णे, अफोव इति किमुक्तं भवति-आस्तीर्णवृक्षगुच्छगुल्मलतासंछन्न इत्यर्थः, इति वृद्धाः । उत्त० १८ अ० ।

अप्फोवमंडव-अप्फो (फो) वमण्डप-पुं० । अफोवश्चासौ मण्डपः । नागवल्ल्याद्याक्रान्तैर्विभिर्विरचिते स्थाने, " अप्फोवमंडवम्मि, झायइ क्खवियासवे " उत्त० १ अ० ।

अफरुस-अपरुष-न० । अनिष्ठुरे, मनःप्रह्लादके, व्य० ३ उ० ।

अफरुसभासि (ण्)-अपरुषभाषिन्-त्रि० । अपरुषमनिष्ठुरं तद्भाषणशीलोऽपरुषभाषी । वाग्विनयविशेषं प्रतिपन्ने,व्य०१उ०।

अफलवादि (ण्)-अफलवादिन्-पुं० । न विद्यते कस्याश्चित् क्रियायाः फलमित्येवंवादिनि. सूत्र०१ श्रु०१ अ०१ उ० । अफलवादिनश्चाऽक्रियावादिन इति तत्रैवेतन्मतमनुपन्यस्य दूषितम् ।

तीर्थान्तरीयाणामफलवादित्वम्–

अगारमावसंता वि, अरण्णा वा वि पव्वया ।

इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ १९ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराहिया ॥ २० ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥ २१ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते गब्भस्स पारगा ॥ २२ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥ २४ ॥

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।

जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥ २५ ॥

साम्प्रतं पञ्चभूतात्माऽद्वैततज्जीवतच्छरीराकारकात्मषष्ठक्षणिकपञ्चस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाभ्युपगमं दर्शयितुमाह-(अगारेत्यादि) अगारं गृहं तदावसन्तस्तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः । आरण्या वा तापसादयः, प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । अपिः सम्भावने । इदं ते संभावयन्ति-यथेदमस्मदीयं दर्शनमापन्ना आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते । आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कृतम् । तथाहि-पञ्चभूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः-यथेदमस्मदीयं दर्शनं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः सन्तः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डनदण्डाजिनजटाकाषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चनभाग्न्यस्तपश्चरणकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यन्ते । तथाहुः-"तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवञ्चनम् । अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते " ॥ १ ॥ इति । सांख्यादयस्तु-मोक्षवादिन एवं संभावयन्ति-यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैतपञ्चस्कन्धादिप्रतिपादकमापन्नाः प्रव्रजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भपरम्पराऽनेकशारीरमानसाऽतितीव्रतराऽसातोदयरूपेभ्यो दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते । सकलद्वन्द्वविनिर्मुक्तं मोक्षमास्कन्दन्तीत्युक्तं भवति ॥ १९ ॥ इदानीं तेषामेवाऽफलवादित्वाविष्करणायाह-(ते णावीत्यादि) ते पञ्चभूतवाद्याद्याः, नापि नैव, सन्धि छिद्रं विवरं, स च द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा-तत्र द्रव्यसन्धिः कुड्यादेः, भावसन्धिर्ज्ञानावरणादिविवररूपः, तमज्ञात्वा ते प्रवृत्ताः । णमिति वाक्यालङ्कारे । यथा-आत्मकर्मणोः सन्धिर्द्विधा भावलक्षणो भवति, तथा अबुध्वा इव ते वराका दुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः । यथा त एवंभूतास्तथा प्रतिपादितं, लेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदि वा संधानं सन्धिरुत्तरोत्तरपदार्थपरिज्ञानं, तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति । यतश्चैवमतस्ते न सम्यग्धर्मपरिच्छेदे कर्तव्ये विद्वांसो निपुणाः, जनाः पञ्चभूतास्तित्वादिवादिनो लोका इति । तथाहि-क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवान्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति । यत्फलाभावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रन्थेनोद्देशकपरिसमाप्त्यवसानेन दर्शयति-ये ते त्विति । तुशब्दश्चशब्दार्थे । च इत्यस्यानन्तरं प्रयुज्यते । ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्तिकादयः, ओघो भवौघः संसारः, तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति श्लोकार्थः ॥ २० ॥ तथा न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमारादिपारगा भवन्तीति । २१ । २२ । २३ । २४ । २५ ।

नाणाविहाइं दुक्खाइं, अणुहवंति पुणो पुणो ॥

संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले ॥ २६ ॥

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भमेस्संतिऽणंतसो ।

नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे । २७ ।

यत्पुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह-(नाणाविहाइं इत्यादि) नानाविधानि बहुप्रकाराणि दुःखान्यसातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति पुनः पुनः । तथाहि-नरकेषु करपत्रदारण-कुम्भीपाक-तप्तायः-शाल्मलीसमालिङ्गनादीनि,तिर्यक्षु च शीतोष्णादिदमनाङ्कनाम-नासिकाभारारोपणक्षुत्तृडादीनि,मनुष्येषु इष्टवियोगानिष्टसंयोग-शोकाक्रन्दनादीनि, देवेषु चाभियोगेर्ष्याकिल्बिषिकत्वच्यवना-दीन्यनेकप्रकाराणि दुःखानि, ये एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन समनुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्द्धं सर्वेषूत्तरश्लोकार्द्धेषु योज्यम् । शेषं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ २६ ॥ नवरमुच्चावचा-नीति-अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति गच्छन्तो भ्रमन्तो गर्भादिगर्भमेष्यन्ति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेद-मिति ब्रवीमीति । सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह-ब्रवीम्यहं तीर्थङ्कराज्ञया न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि, येन मया ती-र्थङ्करसकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्यः । । २७ । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अफास–अस्पर्श–त्रि० । न विद्यते स्पर्शोऽष्टप्रकारो मृदुकर्क-शादिरस्येत्यर्थः । षो० १६ विव० । अशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनी-ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अफासुय–अप्रासुक–न० । न प्रगता असवोऽसुमन्तो यस्मात्त-दप्रासुकम् । सजीवे, भ० ५ श० ६ उ० । सचित्ते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । स्था० ।

अफासुयपडिसेवि (ण्)–अप्रासुकप्रतिसेविन्–त्रि० । अप्रासु-कं सचित्तं प्रतिसेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी । सचेतनजलादिवस्तुप्रतिसेवनशीले,"अफासुयपडिसेविय, णामं भुज्जो य सीलवादी य ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अफुस–अस्पृश्य–त्रि० । स्प्रष्टुमयोग्ये, " अफुसं दुक्खं " अ-स्पृश्यं कर्माकृतत्वादेव । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अफुसमाणगइ–अस्पृशद्गति–पुं० । अस्पृशन्ती सिद्ध्यन्त-रालप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः । अन्तरालप्रदेशाना-मस्पर्शनेनैवोर्ध्वं गच्छति सिद्धे, औ० ।

उज्जूसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एकसमएणं अ-विग्गहेणं उड्ढं गता सागारोवउत्ते सिज्झिहि त्ति ॥

अन्तरालप्रदेशास्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः, इष्यते च स-एक एव समयः, य एव चायुष्कादिकर्म्मणां क्षयसमयः स एव निर्वाणसमयोऽतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्र-देशानामसंस्पर्शनमिति सूक्ष्मश्चायमर्थः केवलिगम्यो भा-वत इति । औ० ॥ " अफुसमाणगती बितियं समयं ण फुसति, अहवा जेसु अवगाढो जे य फुसति उड्ढमविगच्छमाणो तत्तिए चेव आगासपदेसे फुसमाणो गच्छति " । आ० चू० ४ अ० ।

अबंझ–अवन्ध्य–त्रि० । न वन्ध्यमवन्ध्यम् । अवश्यकार्यका-रिणि, सूत्र० । अवन्ध्यमेकादशं पूर्वम्, वन्ध्यं नाम निष्फलं, न विद्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि-सर्वे-ऽपि ज्ञानतपःसंयमयोगाः शुभफलेन सफला वर्ण्यन्ते,अप्रशस्ता-श्च प्रमादादिकाः सर्वे अशुभफला वर्ण्यन्तेऽतोऽवन्ध्यम्, तस्य च परिमाणं षड्विंशतिपदकोटयः । स० । " अबंझपुव्वस्स णं बारस वत्थू पण्णत्ता " नं० । स० । अवश्यकार्यकर्तरि, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अबंध–अबन्ध–पुं० । बन्धाभावे, पं० सं० ५ द्वा० ।

अबंधग–अबन्धक–पुं० । निरुद्धयोगे, भ० २५ श० ६ उ० । आ० म० द्वि० ।

अबंधव–अबान्धव–त्रि० । स्वजनसम्पाद्यकार्यरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अबंभ–अब्रह्मन्–न० । अकुशले कर्मणि, तच्च मैथुनं विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

तच्चाष्टादशधा-

अट्ठारसविहे अबंभे ओरालिअं च दिव्वं, मणवयकाए-ण जोएण अणुमोअणकारवणकरणेणऽट्ठारसा बंभं ॥

इह मूलतो द्विधा अब्रह्म भवति-औदारिकं तिर्यङ्मनुष्याणां, दि-व्यं च भवनवास्यादीनां, चशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः । मनो-वाक्कायाः करणं,त्रिधा योगेन त्रिविधेनैवानुमोदनकारणकरणेन निरूपितं, पश्चात्तु पूर्वोपन्यासः अब्रह्माष्टादशधा भवति । इय भावना-औदारिकं स्वयं न करोति मनसा वाचा कायेन, नान्येन कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्तं नानुमोदते मनसा वाचा कायेन । एवं वैक्रियमपि । आव० ४ अ० । एतच्च प्रश्नव्याकरणानां चतुर्थेऽध्ययने यथा यादृशादिद्वारपञ्चकेन । द्वारपञ्चकं चेदम्-"जारिसओ १ जं नामा २, जह य कओ ३ जारिसं फलं दिंति ४ । जे वि य करेंति पावा ५, पाणवहं तं निसामेह " ॥ १ ॥ प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

तत्र यादृशमब्रह्मेति द्वारार्थप्रतिपादनायेदं सूत्रम्-

जंबू ! अबंभं च चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स प-त्थणिज्जं पंकपणगपासजालभूयं इत्थीपुरिसनपुंसगवेदचि-ण्हं तवसंजमबंभचेरविग्घं भेदायतणबहुपमादमूलं कायरका-पुरिससेवियं सुयणजणवज्जणिज्जं उड्ढनरयतिरियतिलो-कपइट्ठाणं जरामरणरोगसोगबहुलं वधबंधविघायदुव्विघायं दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमणुगयं दुरंतं चउत्थं अहम्मदारं ॥

(जंबू ! इत्यादि) जम्बू ! इति शिष्यामन्त्रणम् । अब्रह्म अकुशलं कर्म, तच्चेह मैथुनं विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । आह च-"नो किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं । मुत्तं मेहुण-भेगं, न जं विणा रागदोसेहिं" ॥१॥ चकारः पुनरर्थः । चतुर्थसूत्र-क्रमापेक्षया सहदेवमनुजासुरैर्यो लोकः स तथा, तस्य प्रार्थनी-यमभिलषणीयम् यतः-"हरिहरहिरण्यगर्भ-प्रमुखे भुवनेन कोऽप्यसौ शूरः । कुसुमविशिखस्य विशिखा-नस्खलयद्यो जिनाद-न्यः" ॥१॥ पङ्को महान् कर्दमः, पनकः स एव प्रतलः, सूक्ष्मः पाशो बन्धनविशेषः, जालं मत्स्यबन्धनम् । एतद्भूतमेतदुपमं कलङ्कनिमित्तत्वेन दुर्मोचनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च-

"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति" ॥१॥

तथा स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तत्तथा । तपः सं-यमब्रह्मचर्यविघ्नमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्य चारित्रजीवित-विनाशस्यायतनं नान्याश्रया ये बहवः प्रमादा मद्यविकथादय-

स्तेषां मूलं कारणं यत्तत्तथा । आह च-" किं किं न कुणइ किं किं न भासए चिंतए य किं किं न । पुरिसो विसयासत्तो, विहलंघलिउ व्व मज्जेण" ॥१॥ कातरः परीषहभीरवः अत एव कापुरुषाः कुत्सितनरास्तैः सेवितं यत्तत्तथा । सुजनानां सर्वपापविरतानां यो जनसमूहस्तस्य वर्जनीयं परिहरणीयं यत्तत्तथा । ऊर्ध्वं च ऊर्ध्वलोको नरकश्चाधोलोकस्तिर्यग्लोक एतल्लक्षणं यत्त्रैलोक्यं तत्र प्रतिष्ठानं यस्य तत्तथा । जरामरणरोगशोकबहुलं, तत्रान्यत्र च जन्मनि जरामरणादिकारणत्वात् । उच्यते च-" जो सेवइ किं लब्भइ, " इति (गाहा) वधस्ताडनं, बन्धः संयमनं, विघातो मारणम्, एभिरपि दुष्करो विघातो यस्य तद्वधबन्धविघातदुर्विघातम् । गाढरोगाणां हि महापथ्यव्यत्यासेच्छा नोपशाम्यति । आह च-

"कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः,
क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्पितगलः ।
व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलचितैराचिततनुः,
शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः" ॥ १ ॥

दर्शनचारित्रमोहस्य हेतुभूतं तन्निमित्तम् । ननु चारित्रमोहस्य हेतुरिदमिति प्रतीतम् । यदाह-"तिव्वकसाओ बहुमोहपरिणओ रागदोससंजुत्तो । बंधइ चरित्तमोहं, दुविहं पि चरित्तगुणघाई" ॥१॥ द्विविधं कषायनोकषायमोहनीयभेदात् । यत् पुनर्दर्शनमोहस्य हेतुभूतमिदमिति, तन्न प्रतिपद्यामहे, तद्धेतुत्वेनाभणनात् । तथाहि-तद्धेतुप्रतिपादिका गाथैवं श्रूयते-" अरहंतसिद्धचेइय-तवसुयगुरुसाहुसंघपडणीओ । बंधइ दंसणमोहं, अणंतसंसारिओ जेण" ॥१॥ भवतीह वाक्यशेषः । सत्यम्, किन्तु स्वपक्षाब्रह्मसेवनेन या संघप्रत्यनीकता, तया दर्शनमोहं बध्नतोऽब्रह्मचर्यं दर्शनमोहहेतुतां न व्यभिचरति । भण्यते च स्वपक्षाब्रह्मसेवकस्य मिथ्यात्वबन्धः, अन्यथा कथं दुर्लभबोधिरसावभिहितः ? । आह च-" संजइचउत्थभंगे, चेइयदव्वे य पवयणुड्डाहे । रिसिघाये य चउत्थे, मूलग्गी बोहिलाभस्स " ॥१॥ इति । चिरं परिचितमनादिकालासेवितम् । चिरपरिगतं वा पाठः । अनुगतं अनवच्छिन्नं दुरन्तं दुष्टफलं चतुर्थमधर्मद्वारमाश्रवद्वारमिति अब्रह्मस्वरूपमुक्तम् ।

अथ तदेकार्थकद्वारमाह-

तस्स य णामाणि गोण्णाणि इमाणि हुंति तीसं । तं जहा-अबंभ १ मेहुण २ चरंत ३ संसग्गि ४ सेवणाहिकारो ५ संकप्पो ६ बाहणा पदाण ७ दप्पो ८ मोहो ९ मणसंखोभो १० अणिग्गहो ११ विग्गहो १२ विघाओ १३ विभंगो १४ विब्भमो १५ अहम्मो १६ असीलया १७ गामधम्मतत्ती १८ रती १९ रागचिंता २० कामभोगमारो २१ वेरं २२ रहस्सं २३ गुज्झं २४ बहुमाणो २५ बंभचेरविग्घो २६ वावत्ति २७ विराहणा २८ पसंगो २९ कामगुणो त्ति ३० वि य । तस्स एयाणि एवमादीणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं ॥

'तस्सेत्यादि' सुगमम् । अब्रह्माकुशलानुष्ठानं १, मैथुनं मिथुनस्य युग्मस्य कर्म २, चतुर्थमाश्रवद्वारमिति गम्यते पाठान्तरेण । 'चरंत त्ति' चरन् विश्वं व्याप्नुवन् ३, संसर्गः सम्पर्कः, ततः स्त्रीपुंसंसर्गविशेषरूपत्वात् संसर्गजत्वात्संसर्गीत्युच्यते । आह च-" नामापि स्त्रीति संह्लादि, विकरोत्येव मानसम् । किं पुनर्दर्शनं तस्याः, विलासोल्लासितभ्रुवः" ॥१॥ ४। सेवनां चौर्यादिप्रतिसेवनामधिकारो नियोगः सेवनाधिकारः, अब्रह्मप्रवृत्तो हि चौर्याद्यनर्थसेवास्वधिकृतो भवति । आह च-" सर्वेऽनर्था विधीयन्ते, नरैरर्थैकलालसैः । अर्थस्तु प्रार्थ्यते प्रायः, प्रेयसीप्रेमकामिभिः " ॥१॥ इति ५ । संकल्पो विकल्पः, तत्प्रभवत्वादस्य संकल्प इत्युक्तम् । उक्तं च-"कामं जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि " ॥ १ ॥ इति ६ । बाधना बाधहेतुत्वात् । केषाम् ? इत्याह-पदानां संयमस्थानानां प्रजानां वा लोकानाम् । आह च-" यदिह लोकेष्वपरं नराणा-मुत्पद्यते दुःखमसह्यवेगम् । विकाशिनीलोत्पलचारुनेत्राः, मुक्त्वा स्त्रियस्तत्र न हेतुरन्यः " ॥१॥ इति ७ । दर्पो देहदृप्तता, तज्जन्यत्वादस्य दर्प इत्युच्यते । आह च-"रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा हवंति । दित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुमं जहा साउफलं तु पक्खी" ॥१॥ अथवा दर्पः सौभाग्याद्यभिमानस्तस्य भवं चेदं न हि प्रशमादेर्व्यापारा पुरुषस्यात्र प्रवृत्तिः सम्भवतीति दर्प एवोच्यते । तदुक्तं-"प्रशान्तवाहिचित्तस्य, संभवन्त्यखिलाः क्रियाः । मैथुनव्यतिरेकिण्यो, यदि रागं न मैथुनम्" ॥१॥ इति ८ । मोहो मोहनं वेदरूपमोहनीयोदयसंपाद्यत्वादस्याज्ञानरूपत्वाद्वा मोह इत्युच्यते । आह च-

" दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं,
रागान्धस्तु यदस्ति तत् परिहरन् यन्नास्ति तत्पश्यति ।
कुन्देन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमल्लतापल्लवै-,
रोपो नोऽशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते " ॥ १ ॥ ९ ।

मनःसंक्षोभः चित्तचलनं, तद्भिन्नेदं न जायते इति । उच्यते च-" तिक्खकडुक्खक्खरु-प्पहारनिब्भिन्नजोगसन्नाहा । अहरिसि जो वा जुवई-ए जं निसेवंति गयगव्वा "॥ १ ॥ १० । अनिग्रहोऽनिषेधो मनसो विषयेषु, प्रवर्तमानस्येति गम्यते । एतत्प्रभवत्वाच्चास्यानिग्रह इत्युक्तम् ११ । (विग्गहो त्ति) विग्रहः कलहः तद्धेतुत्वादस्य विग्रह इत्युच्यते । उक्तं च-" ये रामरावणादीनां, संग्रामग्रस्तमानवाः । श्रूयन्ते स्त्रीनिमित्तेन तेषु कामो निबन्धनम्" ॥१॥ अथवा (वुग्गहो त्ति) विग्रहो विपरीतोऽभिनिवेशस्तत्प्रभवत्वादस्य तथैवोच्यते । यतः कामिनामिदं स्वरूपम्-"दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपं, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात्" ॥१॥ १२ । विघातो गुणानामिति गम्यते । यदाह-'जइ वा णो' गाथाद्वयम् १३ । विभङ्गो विराधना गुणानामेव १४ । विभ्रमो भ्रान्तत्वमनुपादेयेष्वपि विषयेषु परमार्थबुद्ध्या प्रवर्त्तनाद्, विभ्रमाणां मदनविकाराणामाश्रयत्वाद्विभ्रमा इति १५ । अधर्मः, अचारित्ररूपत्वात् १६ । अशीलता चारित्रवर्जितत्वम् १७ । ग्रामधर्माः शब्दादयः कामगुणास्तेषां तप्तिर्गवेषणं पालनं च ग्रामधर्मतप्तिः, अब्रह्मपुरोहितं कुर्वन्तीति अब्रह्मापि तथोच्यते १८ । रतिः रतं, निधुवनमित्यर्थः १९ । रागो रागानुभूतिरूपत्वादस्य, क्वचिद्रागचिन्तेति पाठः २० । कामभोगैः सह मारो मदनं मरणं वा कामभोगमारः २१ । वैरं वैरहेतुत्वात् २२ । रहस्यमेकान्तकृत्यत्वात् २३ । गुह्यं गोपनीयत्वात् २४ । बहुमानः बहूनां मतत्वात् २५ । ब्रह्मचर्यं मैथुनविरमणं, तस्य विघ्नो व्याघातो यः स तथा २६ । व्यापत्तिः भ्रंशो, गुणानामिति गम्यते २७ । एवं विराधना २८ । प्रसङ्गः कामेषु प्रसञ्जनमभिष्वङ्गः २९ । कामगुणो मकरकेतुकार्यः । ३० । इत्ते । रूपप्रदर्शने । अपिचेति समुच्चये । तस्याब्रह्मण एता-

नि उपदर्शितस्वरूपाणि, पवमादीनि एवंप्रकाराणि, नामधेयानि त्रिंशद्भवन्ति । काकाऽऽध्येयं प्रकारान्तरेण पुनरन्यान्यपि भवन्तीति भावः । उक्तं यन्नामेति द्वारम् ।

अथ ये तत्कुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण निसेवंति सुरगणा अच्छरा मोहमोहितमती असुर १ भुयग २ गरुल ३ विज्जुजलणदीवउदहिदिसिपवणथणिय १० अणपन्निपणपन्नियइसिवाइयभुयवादियकंदियमहाकंदियकुहंडपयंगदेवा पिसायभूयजक्खरक्खसकिंणरकिंपुरिसमहोरगगंधव्वतिरियजोइसविमाणवासिमणुयगणा जलयरथलयरखहचरा य मोहपडिबद्धचित्ता अवितण्हा कामभोगतिसिया एं तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिता य अतिमुच्छिता य अबंभे ओसण्णा तामसेण भावेण अणुंमुक्का दंसणचरित्तमोहस्स पंजरं पिव करेंति अण्णमण्णं सेवमाणा, भुज्जो २ असुरसुरतिरियमणुयभोगरतिविहारसंपउत्ता य चक्कवट्टीसुरनरवतिसक्कया सुरवर व्व देवलोए भरहनगणगरनिगमजणवयपुरवरदोणमुहखेडकव्वडमडंबसंवाहपट्टणसहस्समंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं नरसीहा नरवतिनरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए दीप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा रविससिसंखवरचक्कसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसललंगलसुरइयवरकप्परुक्खमिगवतिभद्दासणसुरुइथूभवरमउडसरियकुंडलकुंजरवरवसभदीवमंदरगरुलज्झयइंदकेउदप्पणअट्ठावयचावबाणनक्खत्तमेहमेहलवीणाजुगछत्तदामदामिणिकमंडलुकमलघंटावरपोतसूचीसागरकुमुदागरमगरहारगागरनेउरणगणगरवइरकिंणरमयूरवररायहंससारसचकोरचक्कोवागमिहुणचामरखेडगपव्वीसगविपंचिवरतालियंटसिरियाभिसेयमेयणिखग्गंकुसविमलकलसभिंगारवद्धमाणगपसत्थउत्तमविभत्तवरपुरसलक्खणधरा बत्तीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणयणकंता रत्ताभा पउमपम्हकोरंटगदामचंपगसुतत्तवरकणकनिकसवण्णा सुजायसव्वंगसुंदरंगा महग्घवरपट्टणुग्गयविचित्तरागएणीपएणीनिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्जसोणीसुत्तकविभूसियंगा वरसुरभिगंधवरचुण्णवाससवरकुसुमभरियसिरया कप्पियच्छेयायरियसुकयरइदमालकडगंगयतुडियवरभूसणपिणद्धदेहा एकावलिकंठसुरइयवच्छपलंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया उज्जलनेवत्थरइयचिल्लगविरायमाणा तेएण दिवाकरो व्व दित्ता सारयनवत्थणियमहुरगंभीरनिद्धघोसा उप्पण्णसमत्तरयणचक्करयणपहाणा नवनिहिपइणा समिद्धकोसा चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा तुरंगपतीगयपतीरहपतीनरपतीविपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोम्मवयणा सूरा तिलोकनिग्गयपभावलद्धसद्दा समत्तभरहाहिवा नरिंदा ससेलवणकाणणं च हिमवंतसागरंतं धीरा भोत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसीहा पुव्वकडतवप्पभावा निविट्ठसंचियसुहा अणेगवाससयमाउव्वंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य अणुभवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं, भुज्जो बलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागरा दुद्धरा धणुधरा नरवसभा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवसमुद्दविजयमादिदसाराणं पज्जुण्णपयिवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहादीणं जायवाणं अद्धुट्ठाणं वि कुमारकोडीणं हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवईए य हियाणंदहियभावनंदणकरा सोलसरायवरसहस्साणं जायमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणामणिकणगरयणमोत्तियपवालधणधण्णसंचया रिद्धिसमिद्धकोसा हयगयरहसहस्ससामी गामागरणगरखेडकव्वडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसहस्सथिमियनिव्वुयप्पमुदितजणविविहसस्सेयनिप्पज्जमाणमेइणीसरसरियतलागसेलकाणणआरामुज्जाणमणाभिरामपरिमंडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवणजलपरिग्गहस्स छव्विहकालगुणकमजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिका धीरकित्तिपुरिसा ओहबला अतिबला अनिहया अपराजियसत्तुमद्दणा रिउसहस्समानमहणा साणुक्कोसा अमच्छरी अचवला अचंडा मियमंजुलपलावा हसियगंभीरमहुरभणिया अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुदरंगा ससिसोमाकारकंता पियदंसणा अमरसणा पयंमदंसप्पयारगंभीरदरिसिज्जा तालज्झयउव्विद्धगरुलकेउ बलवगज्जंतदरितदप्पियमुट्ठियचाणूरचूरगा रिट्ठवसभघाती केसरीमुहविप्फाडगा दरियनागदप्पमहणा जमलज्जुणभंजगा महासउणिपूयणरिपू कंसमउडमोडगा जरासंधमाणमहणा तेहि य अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहिं सूरमरीयकवयविणिमुयंतेहिं सप्पडिदंडेहिं आयवत्तेहिं धरिज्जंतेहिं विरायंता ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणसमुट्ठियाहिं निरुवहयचमरिपच्छिमसरीरसंजायाहिं अमइलसियकमलविमुकुलुज्जलितरयतगिरिसिहरविमलससिकिरणसरिसकलहोयनिम्मलाहिं पवणाहयचवलचलियसलिलियनच्चियवीयिपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूरचवलाहिं माणससरपसरपरिचियावासविसयावेसाहिं कणगगिरिसिहरसंसियाहिं ओवाउप्पायचवलजवियसिग्घवेगाहिं हंसवधुयाहिं

चेव कलिया नाणामणिकणगमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्त-
दंमाहिं सालेल्लियाहिं नरवइसिरिसमुदयप्पकासणकराहिं
वरपट्टणुग्गयाहिं समिद्धरायकुलसेवियाहिं कालागुरुपवरकुंदुरु-
क्कतुरुक्कधूववासविसिट्ठगंधुद्धुयाभिरामाहिं चिल्लियाहिं उ-
भओ पासं पि चामराहिं उक्खिप्पमाणाहिं सुहसीयलवाय-
वीयियंगा अजिता अजियरहा हलमुसलकणगपाणी संखच-
क्कगयसत्तिणंदगधरा पवरुज्जलसुकयविमलकोथूभकिरीड-
धारी कुंडलउज्जोवियाणणा पुंडरीयणयणा एगावलिकंठरइ-
यवच्छा सिरिवच्छसुलंछणा वरजसा सव्वोउयसुरभिकु-
सुमरइयपलंबसोहंतवियसंतविचित्तवणमालरइयवच्छा अ-
ट्ठसयविभत्तलक्खणपसत्थसुंदरविराइयंगुवंगा मत्तगयव-
रिंदललियविक्कमविलसियगती कडिसुत्तकनीलपीयकोसे-
ज्जवाससा पवरदित्ततेया सारयणवथणियमधुरगंभीरणि-
द्धघोसा नरसीहा सीहविक्कमगती अत्थमिया-पवरराय-
सीहा सोम्मा बारवइपुण्णचंदा पुव्वकयतवप्पभावा नि-
विट्ठसंचियसुहा अणेगवाससयमाउवंतो भज्जाहि य जण-
वयप्पहाणाहिं लालियंता अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य
अणुभवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता का-
माणं, भुज्जो मंडलियणरवरिंदा सबला सअंतेउरा सपरिसा
सपुरोहिया अमच्चदंडणायकसेणावतिमंतिणीतिकुसला
णाणामणिरयणविपुलधणधण्णसंचयनिहिसमिद्धकोसा र-
ज्जसिरिविपुलमणुभवित्ता विक्कोसंता बलेण मत्ता ते वि
उवणमंति मरणधम्मं अवितत्ता कामाणं, भुज्जो उत्तरकु-
रुदेवकुरुवणविवरपायचारिणो नरगणा भोगुत्तमा भोगल-
क्खणधरा भोगसस्सिरीया पसत्थसोमपडिपुण्णरूवदरि-
सणिज्जा सुजायसव्वंगसुंदरंगा रत्तुप्पलपत्तकंतकरचरण-
कोमलतला सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा आणुपुव्वसुसंहयंगुली-
या उन्नयतणुतंबनिद्धनखा संठियसुसिलिट्ठगूढगोफा एणी-
कुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघा समुग्गनिमग्गगूढजाणू गयगम-
णसुजायसंनिभोरुवरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासियगती व-
रतुरगसुजायगुज्झदेसा आयणहयो व्व निरुवलेवा पमुइयवरतु-
रयसीहअइरेगवट्टियकडी गंगावत्तगदाहिणावत्ततरंगभंगुरर-
विकिरणबोहियविकोसायंतपम्हगंभीरवियडनाभी साहयसो-
णंदमुसलदप्पणनिगरियवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलियम-
ज्झा उज्जगसमसंहियजच्चतणुकसिणनिद्धआदिज्जलडहसु-
कुमालमउयरोमराई झसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोद-
रा पम्हवियडणाभी संनयपासा संगतपासा सुंदरपासा सु-
जायपासा मितमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगनि-
म्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी कणगसिलातलपसत्थसमत-
लउवइयविच्छिण्णपिहुलवच्छा जुयसन्निभा पीणरइयपीवर-
पउट्ठसंठियसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसुणिचियघणथिरसुबद्धसंधी

पुरवरफलिहवट्टियभुजा भुयईसरविपुलभोगआयाणफलि-
हउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवइयमउयमंसलसुजायलक्खणपस-
त्थअच्छिद्दजालपाणी पीवरसुजायकोमलवरंगुली तंबतलिण-
सुइरुइलनिद्धणखा निद्धपाणिलेहा चंदपाणिलेहा सूरपाणि-
लेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा
रविससिसंखवरचक्कदिसासोवत्थियविभत्तसुरइयपाणिलेहा व-
रमहिसवराहसीहसद्दूलरिसहनागवरपडिपुण्णविउलखंधा चउ-
रंगुलिप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवा अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू
सुवचियमंसलपसत्थसद्दूलविपुलहणुया उवचियसिलप्प-
वालबिंबफलसन्निभाऽधरोट्ठा पंडुरससिसकलविमलसंखगो-
खीरफेणकुंददगरयमुणालियाधवलदंतसेढी अखंडदंता अ-
फुडियदंता अविरलदंता सुणिद्धदंता सुजातदंता एगदंत-
सेढी व्व अणेगदंता हुतवहनिद्धंतधोततत्ततवणिज्जरत्ततल-
तालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगनासा अवदालियपुंडरीयनय-
णा विकोसियधवलपत्तलच्छा आणामियचावरुयिलकिण्ह-
ब्भराइसंठियसंगयाययसुजायभूमगा अल्लीणपमाणजुत्त-
सवणा सुस्सवणा पीणमंसलकवोलदेसभागा अचिरुग्गय-
बालचंदसंठियमहानिलाडा उडुपतिपडिपुण्णसोमवयणा छ-
त्तागारुत्तमंगदेसा घणनिचियसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागार-
निभपिंडियग्गसिरा हुतवहनिद्धंतधोततत्ततवणिज्जरत्तकेसं-
तकेसभूमी सामलिपोंडघणनिचियच्छोडियमिउविसयपस-
त्थसुहुमलक्खणसुगंधसुंदरभुयमोयगभिंगनीलकज्जलपहि-
ट्ठभमरगणनिद्धनिउरंबनिचियकुंचियपयाहिणावत्तमुद्धसि-
रया सुजायसुविभत्तसंगयंगा लक्खणवंजणगुणोववेया पस-
त्थबत्तीसलक्खणधरा हंसस्सरा कोंचस्सरा दुंदुहिस्सरा सीह-
स्सरा मेघस्सरा ओघस्सरा सुस्सरा सुस्सरनिग्घोसा वज्जरि-
सभनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिया छाया उज्जोवि-
यंगमंगा पसत्थछवी निरातंका कंकगहणी कवोतपरिणामा
सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणया पउमुप्पलसरिसगंधसाससु-
रभिवयणा अणुलोमवाउवेगा अवदायनिद्धकाला विग्ग-
हउन्नयकुच्छी अमयरसफलाहारी तिगाउयसमुच्छिया तिप-
लिओवमट्ठितीया तिण्णि य पलिओवमाइं परमाउं पालइत्ता ते
वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं, पमदा वि य तेसिं
हुंति सोमा सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता
अतिकंतविसप्पमाणमउयसुकुमालकुम्मसंठियसिलिट्ठचलणा
उज्जुमउयपीवरसुसंहतंगुलीओ अब्भुन्नतरइयतलिणतं-
बसुइनिद्धनखा रोमरहियवट्टसंठियअजहण्णपसत्थलक्ख-
णअकोप्पजंघजुयला सुणिम्मितसुनिगूढजानुमंसलपसत्थ-
सुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेगसंठियनिव्वणसुकुमालमउयको-
मलअविरला समसहितवट्टपीवरनिरंतरोरू अट्ठावयवीतिपट्ठ
संठियपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणी वदणायामप्पमाणदुगु-

णियविसालमंसलसुबद्धजहणवरधरीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणनिरोदरीओ तिवलिवलियतणुनमियमज्झिमाओ उज्जुयसमसहियजच्चतणुकसिणनिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयसुविभत्तरोमराई गंगावत्तगदाहिणावत्ततरंगभंगरविकिरणतरुणबोहितअकोसायंतपउमगंभीरविगमनाभी अणुब्भडपसत्थसुजायपीणकुच्छी समंतपासा सन्नयपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसप्पमाणसमसंहितलट्ठचुचुयआमेलगजमलजुयलवट्टियपओहरा भुयंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसहितनमियआदेज्जलडहबाहा तंबनहा मंसलग्गहत्था कोमलपीवरंगुलीया णिद्धपाणिलेहा ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा पीणुण्णयकक्खवत्थिप्पदेसपडिपुण्णगलकपोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुया दालिमपुप्फप्पकासपीवरपलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरट्ठा दहिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलरत्तपउमपत्तसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउलकुडिलअब्भुण्णयउज्जुतुंगनासा सारदनवकमलकुमुयकुवलयदलनिगरसरिसलक्खणपसत्थानिम्मलकंतनयणा आनामियचावरुइलकिण्हराइसंगयसुजायतणुकसिणनिद्धभुमगा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठगंडलेहा चउरंगुलविसालसमनिडाला कोमुदिरयणिकरविमलपडिपुण्णसोमवयणा छत्तुण्णयउत्तमंगा अकविलसुसिणिद्धदीहसिरया छत्तज्झयजुयथूभदामणिकमंडलुकलसवाविसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरमयरज्झयअंकथालअंकुसअट्ठावयसुपतिट्ठअमरसिरियाभिसेयतोरणमेयणिउदधिवरपवरभवणगिरिवरवरायंससुललियगयउसभसीहचामरपसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ हंससरिच्छगतीओ कोइलमहुयरिगिराओ कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलीपलियवंगदुव्वण्णवाहिदोभग्गसोयमुक्काओ उच्चत्तेण य नरथोवूणमूसियाओ सिंगारागारचारुवेसा सुंदरथणजहणवयणकरचलणणयणा लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया णंदणवणविवरचारिणीओ अच्छराओ उत्तरकुरुमाणसच्छराओ अच्छेरगपेच्छणियाओ तिन्नि पलिओवमाइं परमाउं पालयित्ताओ वि उवणमंति मरणधम्मं अतित्ता कामाणं,मेहुणसन्नसंपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं विसयं विसउदीरएहिं अवरे परदारेहिं हणंति विसुणिया धननासं सयणविप्पणासं च पाउणंति, परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसण्णसंपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारिंति एक्कमेक्कं मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्झंति मित्ताणि खिप्पं भवंति, सत्तू समयधम्मगणे य भिंदंति पारदारी धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्टयचरित्ताओ जसमंतो सुव्वया य पावंति अयसकित्तिं रोगत्ता वाहिता वड्ढेंति रोयवाही, दुवे य लोया दुराराहगा भवंति, इहलोए चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य एवं० जाव गच्छंति विपुलमोहाभिभूयसण्णा मेहुणमूलं च सुव्वए तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीताए दोवतीए य कए रुप्पिणीए पउमावतीए ताराए कंचणाए रत्तसुभद्दाए अहिल्लियाए सुवण्णगुलियाए किन्नरिए य सुरूवविज्जुमतीए रोहिणीए य अन्नेसु य एवमाइसु बहवे महिलाकए सुव्वंति अतिकंता संगामा गामधम्ममूला, इह लोए ताव नट्ठा परलोए य नट्ठा महया मोहतिमिरंधकारे घोरे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तकसाहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य अंडजपोयजजराउजरसजसंसेइमसंमुच्छिमउब्भिज्जउववाइएसु य नरगतिरियदेवमाणुसेसु जरामरणरोगसोगबहुले पलिओवमसागरोवमाइं अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा महामोहवससंनिविट्ठा;एसो सो अबंभस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ य अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चंति न य अवेयइत्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो वरवीरनामधेज्जो कहेसी य अबंभस्स फलविवागो, एयं तं अबंभं पि चउत्थं पि सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दुरं तं चउत्थं अहम्मदारं सम्मत्तं त्ति बेमि ।

(तं च पुण निसेवंति त्ति) तच्च पुनरब्रह्म निषेवन्ते सुरगणा वैमानिकदेवसमूहाः साप्सरसः सदेवीकाः, देव्योऽपि सेवन्त इत्यर्थः (इत्यादिटीकाऽनुपयोगिनी महती चेत्युपेक्षिता) प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

शेषद्वारद्वयं मध्य एवायातम् । अब्रह्म मैथुनमिति पर्यायौ । (मैथुनशब्देन चोच्यमानो विषयो 'मेहुण' शब्द एव वक्ष्यते) "अबंभचारियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं । नायरंति मुणी लोए, भेयाययणविवज्जिणे" ॥१॥ दश० ६ अ० ।

अबंभवज्जण–अब्रह्मवर्जन–न० । दिवा रात्रौ वा पत्न्याद्याश्रित्य मैथुनत्यागरूपायां षष्ठ्यामुपासकप्रतिमायाम्, तत्स्वरूपं चैवम्–"पुव्वोदियगुणजुत्तो, विसेसओ विजयमोहणिज्जो य" प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । ('उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीयभागे ११०५ पृष्ठे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अबज्झ–अवध्य–त्रि० । वधमर्हति यत् । न० त० । वधानर्हे; "अवमाणयं वज्झाणं" अकारलोपे 'वज्झाणं' इति भवति । तत्र अवध्यानां वधानर्हाणामपि विद्वेषिवचनतो वध्यत्वेन स्थापितानां सुदर्शनसुजातादीनामिव देवताप्रातिहार्यतो निराकृतवध्यत्वदोषाणाम् । संथा० ।

अबाध्य-त्रि० । परैर्बाधितुमशक्ये, स्या० ।

अवज्झसिद्धंत-अबाध्यसिद्धान्त-पुं० । अबाध्यः परैर्बाधितुमशक्यः सिद्धान्तः स्याद्वादश्रुतलक्षणोऽस्य तथा । कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनभणनाद् वचनातिशयसंपन्ने तीर्थकरे, " अबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् " स्या० ।

अवज्झा-अबाध्या-स्त्री० । अयोध्यायाम, जं० ४ वक्ष० । ती० । गन्धिलाख्यविजयक्षेत्रयुगले पुरीयुगले, " दो अवज्झाओ " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अवद्ध-अबद्ध-न० । पद्यगद्यबन्धनरहिते ग्रन्थे, आ०म०द्वि० ।

अबद्धट्ठिय-अबद्धास्थिक-न० । अबद्धमस्थि यस्य तदबद्धास्थिकम । अनिष्पन्ने फले, " जिवे य बद्धट्ठिए वि एवं एमेव य होंति बहुबीए " विशे० । आ० म० । अथाप्यबद्धबीजे अनिष्पन्ने, बृ० १ उ० ।

अबद्धसुय-अबद्धश्रुत-न० । गद्यात्मके श्रुते, विशे० । आ० म० । (' करण ' शब्दे व्याख्या)

अबद्धिय-अबद्धिक-पुं० । स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्कन्धबन्धवद्बुमवद्बद्धं, तदेषामस्तीत्यबद्धिकाः । " अतोऽनेकस्वरात् " ७।२।६। इति हैमसूत्रेण इकप्रत्ययः । स्पृष्टकर्मविपाकप्ररूपकेषु निह्नवभेदेषु, स्था० ७ ठा० । आ० म० । विशे० ।

यथा चाबद्धिकानां दृष्टिर्गोष्ठामाहिलाद्दशपुरनगरे समुत्पन्ना तथाभिधित्सुराह-

पंचसया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो अबद्धियदिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥

पञ्च वर्षशतानि चतुरशीत्यधिकानि (५८४) तदा सिद्धिं गतस्य महावीरस्य, ततोऽबद्धिकनिह्नवदृष्टिर्दशपुरनगरे समुत्पन्नेति ।

कथं पुनरियमुत्पन्ना ?, इत्याह-

दसउरनगरुच्छुघरे, अज्जरक्खियपूसमित्ततियगं च ।
गोट्ठामाहिलनवम-ट्ठमेसु पुच्छा य विंझस्स ॥

(एतद्भावार्थस्तु आर्यरक्षितवक्तव्यतातोऽवसेयो यावद् गोष्ठामाहिलनिह्नवो जातः। कथा च 'अज्जरक्खिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २१५ पृष्ठे समुक्ता) गोष्ठामाहिलो मथुरात आगत्य पृथगुपाश्रये स्थितः । विशे० ।

दुर्बलिकापुष्पमित्रोऽपवादग्रहणादिना व्युद्ग्राहयति साधूंश्च व्युद्ग्राहयितुं शक्नोति, दुर्बलिकापुष्पमित्रः समीपे चाभिमानतो न किञ्चिच्छृणोति,किन्तु व्याख्यानमण्डलिकोपस्थितस्य चिन्तनिकां कुर्वतो विन्ध्यस्यान्तिके समाकर्णयति । अन्यदा चाष्टमनवमपूर्वयोः कर्मप्रत्याख्यानविचारेऽभिनिवेशाद्विप्रतिपन्नो वक्ष्यमाणनीत्या निन्हवो जात इति । अथ प्रकृत-("सो ऊण कालधम्मं, गुरुणो गच्छम्मि पूसमित्तं च" इत्यादि) गाथाऽक्षरार्थोऽनुश्रीयते-कालो मरणं तल्लक्षणो धर्मः पर्यायः कालधर्मः,तं गुरोरार्यरक्षितस्य श्रुत्वा तथा पुष्पमित्रं च गच्छेऽधिपतिं स्थापितमाकर्ण्य गोष्ठामाहिलः संजातमत्सराध्यवसाय: किलेदं चकार-

किमित्याह—

वीसुं वसहीए ठिओ, छिद्दऽन्नेसणपरो य स कयाए ।
विंझस्स सुणइ पासे-ऽणुन्नासमाणस्स वक्खाणं ॥

विष्वग्वसतौ स्थितः छिद्रान्वेषणपरः स गोष्ठामाहिलः कदाचिद्विन्ध्यस्यानुभाषमाणस्य चिन्तनिकां कुर्वतः पार्श्वे व्याख्यानं शृणोतीति । विशे० ।

(कर्मविषया विप्रतिपत्तिः) ततः किम् ?, इत्याह-

कम्मप्पवायपुव्वे, बद्धं पुट्ठं निकाइयं कम्मं ।
जीवपएसेहिँ समं, सूइकलावोवमाणाउ ॥
उव्वट्टणमुक्केरो, संछोभो खवणमणुभवो वा वि ।
अणिकाइयम्मि कम्मे, निकाइए पायमणुभवणं ।
सो ऊ भणइ सदोसं,वक्खाणमिणं ति पावइ जओ भे ।
मोक्खाभावो जीव-प्पएसकम्माविभागाउ ॥

इह कर्मप्रवादनाम्न्यष्टमे पूर्वे कर्मविचारे प्रस्तुते दुर्बलिकापुष्पमित्र एवं व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशैः सह बद्धं बद्धमात्रमेव कर्म भवति । यथा-अकषायस्येर्यापथप्रत्ययं कर्म, तच्च कालान्तरस्थितिमप्राप्यैव जीवप्रदेशेभ्यो विघटते, शुष्ककुड्यापतितचूर्णमुष्टिवदिति । अन्यत्तु (पुट्ठं ति) बद्धमित्यत्रापि संबध्यते, ततश्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्धं जीवेन सह संयोगमात्रमापन्नं; स्पृष्टं तु जीवप्रदेशैरात्मीकृतम् । एतच्चेत्थं बद्धं सत्कालान्तरेण विघटते आर्द्रलेपकुड्ये सस्नेहचूर्णवदिति । (निकाइयं ति) बद्धं स्पृष्टं चेत्यत्रापि संबध्यते । ततश्चापरं किमपि कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः। तत्र तदेव बद्धस्पृष्टं गाढतराध्यवसायेन बद्धत्वादपवर्तनादिकरणायोग्यतां नीतं निकाचितमुच्यते । इदं च कालान्तरेऽपि विपाकतोऽनुभवमन्तरेण प्रायेणापगच्छति, गाढतरबद्धत्वाद्, बालकुड्यन्ऽर्षितनिविडश्वेतकाहस्तकवदिति । अयं च त्रिविधोऽपि बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भावनीयः। तद्यथा-गुणावेष्टितसूचीकलापोपमं बद्धमुच्यते, लोहपट्टबद्धसूचीसंघातसदृशं तु बद्धस्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं त्वग्नितप्तघनाहतिक्षोमीकृतसूचीनिचयसन्निभं भावनीयमिति । नन्वनिकाचितस्य कर्मणः को विशेषः ?, इत्याह-(उव्वट्टणेत्यादि) इह कर्मविषयाण्यष्टौ करणानि भवन्ति । उक्तं च-"बंधणसंकमऽणुव-ट्टणा य उव्वट्टणा उईरणया । उवसामणा निवत्ती,निकायणा चत्तिकरणाइ" ॥१॥ तत्र निकाचिते कर्माणि स्थित्यादिखण्डनरूपा (उवट्टण त्ति) उपवर्तना प्रवर्त्तते । तथा-(उक्केरो त्ति)स्थित्यादिवर्द्धनरूप उत्कोच उद्वर्तना । तथा-(संछोभो त्ति) असातादेः सातादौ क्षेपणरूपः संक्रमः । तथा-(खवणं ति) प्रकृत्यन्तरसंक्रमितस्य कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्भरणं क्षपणम् । तथा-(अणुभवो त्ति) स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदनमनुभवः । इदं चोपलक्षणमुदीरणादीनां, तदेतान्यपवर्तनादीनि सर्वाण्यप्यनिकाचिते कर्माणि प्रवर्त्तन्ते । निकाचिते तु प्रायो विपाकेनानुभवमेव प्रवर्त्तते, न पुनरपवर्तनादीनीत्यनयोर्विशेषः । समाचीर्णविकृष्टतपसामुत्कटाध्यवसायबलेन ' तवसा उ निकाइयाणं पीति' वचनान्निकाचितेऽपि कर्मण्यपवर्तनादिकरणप्रवृत्तिर्भवतीति प्रायोग्रहणम् । तदत्र व्याख्याने क्षीरनीरन्यायेन वह्नितप्तायोगोलकन्यायेन वा जीवप्रदेशैः सह कर्म संबद्ध-

मिति पर्यवसितम् । विन्ध्यसमीपे श्रुत्वा तथाविधकर्मोदयादभिनिवेशेन विप्रतिपन्नो गोष्ठामाहिलः प्रतिपादयति-ननु सदोषमिदं व्याख्यानम्-यस्मादेवं व्याख्यायमाने भवतां मोक्षाभावः प्राप्नोति, जीवप्रदेशैः सह कर्मणामविभागेन तादात्म्येनावस्थानादिति ।

अमुमेवार्थं प्रमाणतः साधयन्नाह-

न हि कम्मं जीवाओ, अवेइ अविभागओ पएसो व्व ।
तदणवगमादमोक्खो, जुत्तमिणं तेण वक्खाणं ॥

नहि नैव कर्म जीवादपैतीति प्रतिज्ञा । अविभागाद् वह्न्ययोगोलकन्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, एष हेतुः । (पएसो व्व त्ति) जीवप्रदेशराशिवदित्यर्थः, एष दृष्टान्तः । इह यद्येन सहाविभागेन व्यवस्थितं न तत्ततो वियुज्यते, यथा जीवात्तत्प्रदेशनिकुरम्बम् । इष्यते चाविभागो जीवकर्मणोर्भवद्भिरिति न तस्माद्वियुज्यते, ततस्तदपगमात्तस्य कर्मणो जीवादनपगमादवियोगात्सर्वदैव जीवानां सकर्मकत्वान्मोक्षाभावः, तेन तस्मादिदमिह मदीयं व्याख्यानं कर्त्तुं युक्तमिति ।

तदित्याह—

पुट्ठो जहा अबद्धो, कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ ।
एवं पुट्ठमबद्धं, जीवं कम्मं समन्नेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्पर्शनमात्रेण संयुक्तोऽबद्धः क्षीरनीरन्यायादलोलीभूत एव कञ्चुको विषधरनिर्मोकः कञ्चुकिनं विषधरं समन्वेति समनुगच्छति, एवं कर्मापि स्पृष्टं सर्पकञ्चुकवत्स्पर्शनमात्रेणैव संयुक्तमबद्धं वह्न्ययःपिण्डादिन्यायादलोलीभूतमेव जीवं समन्वेति, एवमेव मोक्षोपपत्तेरिति । विशे० । "यतो यद्भेत्स्यते तेन, स्पृष्टमात्रं तदिष्यताम । कञ्चुकी कञ्चुकेनेव, कर्म भेत्स्यति चात्मनः " ॥ १ ॥ प्रयोगः-यद्येन भविष्यत्पृथग्भावं, तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कञ्चुकः कञ्चुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं च कर्म जीवेन । उत्त० ३ अ० ।

[प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः]

तदेवं कर्मविचारे विप्रतिपत्तिमुपदर्श्येदानीं प्रत्याख्यानविषयां विप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह-

सोऊण भन्नमाणं, पच्चक्खाणं पुणो नवमपुव्वे ।
सो जावजीव विहियं, तिविहं तिविहेण साहूणं ॥

स गोष्ठामाहिलः कर्मविचारे विप्रतिपन्नः पुनरन्यदा नवमपूर्वे " करेमि भंते ! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए " इत्यादि । यावज्जीवावधिकं साधूनां संबन्धप्रत्याख्यानं भण्यमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं शृणोति ।

तदेव कृत्वा किं करोति ?, इत्याह-

जंपइ पच्चक्खाणं, अपरीमाणाइ होइ सेयं तु ।
जेसिं तु परीमाणं, तं दुट्ठं आसंसा होइ ॥

गोष्ठामाहिलो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाणतया अवधिरहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभनं भवति, येषां तु व्याख्याने प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवादिपरिमाणमवधिर्विधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यानमाशंसादोषदुष्टत्वात् दुष्टं सदोषं प्राप्नोति ।

अत्र भाष्यम्-

आसंसा जा पुन्ने, सेविस्सामि त्ति दूसियं तीए ।
जेण सुयम्मि वि भणियं, परिणामाओ असुद्धं तु ॥

आशंसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम् । तत्राशंसा का ?, इत्याह-(ज त्ति) या एवंविधपरिणामरूपा । कथंभूतः परिणामः?, इत्याह-पूर्णे प्रत्याख्याने देवलोकादौ सुराङ्गनासंभोगादिभोगानहं सेविष्ये, इत्येवंभूतपरिणामरूपा च या आशंसा, तया प्रत्याख्यानं दूषितं भवति । कुतः ?, इत्याह-येन श्रुतेऽप्यागमेऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाशुद्धेः प्रत्याख्यानमशुद्धं भवति । तथा चागमः-" सोही सद्दहणा जा-णणा य विणएऽणुभासणा चेव । अणुपालणा विसोही, भावविसोही भवे छट्ठा " ॥ तत्र 'पच्चक्खाणं सव्वमुद्देसियं' इत्यादिना श्रद्धानादिषु व्याख्यातेषु भावविशुद्धेर्यद् व्याख्यानं तत्प्रकृतोपयोगीति दृश्यते । "रागेण व दोसेणं, परिणामेण व न दूसियं जं तु । तं खलु पच्चक्खाणं, भावविसुद्धं मुणेयव्वं" ॥१॥ इति । विशे० । (एते विप्रतिपत्ती २५६ पृष्ठे 'कम्म' शब्दे, 'पच्चक्खाण' शब्दे च वक्ष्येते)

एवं युक्तिभिः प्रज्ञापितेऽपि यावदसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः किं संजातम् ?, इत्याह-

इय पण्णविओ वि न सो, जाहे सद्दहइ पूसमित्तेण ।
अन्नगणत्थेरेहि य, काउं तो संघसमवायं ॥
आहूय देवयं वे-इ जाणमाणो वि पच्चयणिमित्तं ।
वच्च जिणिंदं पुच्छसु, गयागया सा परिकहेइ ॥
संघो सम्मावाई, गुरुपुरोगो त्ति जिणवरो भणइ ।
इयरो मिच्छावाई, सत्तमओ निण्हओऽयं ति ॥
एईसे सामत्थं, कत्तो गंतुं जिणिंदमूलम्मि ।
वेइ कडपूयणाए, संघेण तओ कओ बज्झो ॥

चतसृणामप्यासामक्षरार्थः सुगम एव । भावार्थस्तु कथानकशेषादवसेयः । तच्चेदम्-एवं युक्तिभिः प्रज्ञाप्यमानो यावदसौ न किमपि श्रद्धत्ते तावत्पुष्पमित्राचार्यैरन्यगच्छगतबहुश्रुतस्थविराणामन्तिके नीतः, ततस्तैरप्युक्तोऽसौ-यादृशं सूरयः प्ररूपयन्त्यार्यरक्षितसूरिभिरपि तादृशमेव प्ररूपितं, न हीनाधिकम्, ततो गोष्ठामाहिलेनोक्तम्-किं यूयमृषयो जानीथ ?, तीर्थकरैस्तादृशमेव प्ररूपितं यादृशमहं प्ररूपयामि । ततः स्थविरैरुक्तम्-मिथ्याभिनिविष्टो मा कार्षीस्तीर्थकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि । ततः सर्वविप्रतिपत्तेः तस्मिन् सर्वैरपि तैः संघसमवायः कृतः । सर्वेणापि च संघेन देवताह्वानार्थं कायोत्सर्गो विहितः । ततो भद्रिका काचिद्देवता समागता । सा वदति स्म-संदिशथ किं करोमि ?। ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजनप्रत्ययनिमित्तं ब्रवीति-महाविदेहं गत्वा तीर्थकरमापृच्छस्व, किं दुर्बलिकापुष्पमित्रप्रमुखः संघो यद्भणति तत्सत्यमुत यद्गोष्ठामाहिलो वदति ?। ततस्तया प्रोक्तम्-मम महाविदेहे गमनागमने कुर्वन्त्याः प्रत्यूहानुघातार्थमनुग्रहं कृत्वा कायोत्सर्गं कुरुत, येनाहं गच्छामि । ततस्तथैव कृतं संघेन । गता च सा । पृष्ट्वा च भगवन्तं प्रत्यागता कथयति स्म-यदुत तीर्थकरः समादिशति-दुर्बलिकापुष्पमित्रपुरस्सरसंघः सम्यग्वादी । गोष्ठामाहिलस्तु मिथ्यावादी; सप्तमश्चायं निह्नव इति, तदेतच्छ्रुत्वा गोष्ठामाहिलो ब्रवीति-नन्वल्पर्द्धिकेयं वराकी, का नामैतस्याः कटपूतना-

वास्तीर्थकरान्तिके गमनशक्तिरित्येवमपि यावदसौ न किञ्चिन्मन्यते तावत्संघेनोद्घाट्य बाह्यः कृतोऽनालोचितप्रतिक्रान्तश्च कालं गतः ॥ ४५२ ॥ विशे० ॥

अबम्हण्ण–अब्रह्मण्य–त्रि० । न० ब० । मागध्याम्–" न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः " । ८ । ४ । २९३ ॥ इति सूत्रेण ण्यस्थाने द्विरुक्तो ञ्ञः । प्रा० ४ पाद । ब्रह्मण्यशून्ये, अर्थाभा० अव्ययी०, त० वा । ब्रह्मण्याजाते, वाच० ।

अबल–अबल–न० । न बलं सामर्थ्यमुत्कर्षो वा । अभावे न०त०। बलाभावे, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ श्रु० ३ अ० । सूत्र० । भ० । विषमपदादौ गन्तुमसमर्थे, भारं वोढुमसमर्थे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जं० । ज्ञा० ।

अबलत्त–अबलत्व–न० । अबलस्य भावोऽबलत्वम् । बलाभावे, बृ० ६ उ० ।

अबला–अबला–स्त्री० । महिलायाम्, को० । अकिञ्चित्करायाम्, बृ० १ उ० ।

अबहिट्ठ–अबहित्थ–न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अबहिम्मण–अबहिर्मनस्–त्रि० । न विद्यते बहिर्मनो यस्यासावबहिर्मनाः । सर्वज्ञोपदेशवर्तिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अबहिल्लेस्स–अबहिर्लेश्य–त्रि० । अविद्यमाना बहिः संयमाद् बहिस्ताल्लेश्या मनोवृत्तिर्यस्यासावबहिर्लेश्यः । भ० २ श० १ उ० । प्रश्न० । औ० ।

अबहुवादि (ण्)–अबहुवादिन्–त्रि० । असकृद्व्याकुर्वाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अबहुस्सुय (त)–अबहुश्रुत–पुं० । बहु श्रुतं यस्य स बहुश्रुतः, न बहुश्रुतोऽबहुश्रुतः । अनधीतनिशीथाध्ययने, अधुनाधस्तनश्रुते च । नि० चू० १ उ० । अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पो निशीथाध्ययननामकः सूत्रतोऽर्थतश्च नाधीतः । व्य० ३ उ० ।

बहुश्रुतस्वरूपं च तद्विपर्ययपरिज्ञाने तद्विविक्तं सुखेनैव ज्ञायत इत्यबहुश्रुतस्वरूपमाह–

जे यावि होइ निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खणं उल्लवइ, अविणीए ऽबहुस्सुए ॥ २ ॥

(जे यावि त्ति) यः कश्चित्, चापिशब्दौ भिन्नक्रमत्वाद् उत्तरत्र योक्ष्येते, भवति जायते, निर्गतो विद्यायाः सम्यक्शास्त्रावगमरूपाया निर्विद्योऽपि यस्तब्धोऽहङ्कारी, लुब्धो रसादिगृद्धिमान्, न विद्यते विग्रह इन्द्रियनियमनात्मकोऽस्येत्यनिग्रहोऽभीक्ष्णं पुनःपुनरुत्प्राबल्येनासंबद्धभाषितादिरूपेण लपति वक्ति उल्लपति । अविनीतश्च विनयविरहितो (अबहुस्सुए त्ति) यस्तथोर्निन्यानिसंबन्धात् सोऽबहुश्रुत उच्यत इति शेषः । सविद्यस्याऽप्यबहुश्रुतत्वं, बहुश्रुतफलाभावादिति भावनीयम् । एतद्विपरीतस्त्वर्थाद् बहुश्रुत इति सूत्रार्थः ।

कुतः पुनरीदृशमबहुश्रुतत्वं लभ्यते ?, इति तत्कारणमाह–

अह पंचहि ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भइ ।
थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ३ ॥

अथेत्युपन्यासार्थः । पञ्चभिः पञ्चसंख्यैस्तिष्ठन्त्येषु कर्मवशगा जन्तव इति स्थानानि, तैः, यैरिति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः शिक्षणं शिक्षा, ग्रहणसेवनात्मिका न लभ्यते नावाप्यते, तैरीदृशमबहुश्रुतत्वमवाप्यत इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ?, इत्याह–स्तम्भाद् मानात्, क्रोधात् कोपात्, प्रमादेन मद्यविषयादिना, रोगेण गलत्कुष्ठादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, शिक्षा न लभ्यत इति । क्रमश्च समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वमेषां द्योतयतीति । उत्त० ११ अ० ।

अबालुया–अबालुका–स्त्री० । अबाधुशब्दार्थे चिकणपदार्थे, तं० ।

अबाहा–अबाधा–स्त्री० । बाधृ-लोडने, बाधत इति बाधा, कर्मण उदयः । न बाधाऽबाधा । कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरे, भ० ६ श० ३ उ० । स० । जं० । बाधा परस्परं संश्लेषतः पीडनं, न बाधाऽबाधा । भ० १४ श० ८ उ० । व्यवधानापेक्षयाऽन्तरे, स० ४२ सम० । विशे० । आ० चू० । (अबाधया अन्तरम्–'अंतर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७८ पृष्ठे उक्तम्)

मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए जोइसं चारं चरइ ? । गोयमा ! इक्कारसेहिं इक्कवीसेहिं जोयणसएहिं अबाहाए जोइसं चारं चरइ । लोगंताओ णं भंते ! केवइयाए अबाहाए जोए जोइसे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एक्कारसिं एक्कारसेहिं जोअणसएहिं अबाहाए जोइसे पण्णत्ते । धरणितलाओ णं भंते ! सत्तहिं णउएहिं जोअणसएहिं जोइसं चारं चरइ । एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंदविमाणे अट्ठहिं असीएहिं उवरिल्ले तारारूवे णवहिं जोअणसएहिं चारं चरइ । जोइसस्स णं भंते ! हेट्ठिल्लाओ तलाओ केवइयाए अबाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ? । गोयमा ! दसहिं जोअणेहिं अबाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे णउएहिं जोअणेहिं चारं चरइ । उवरिल्ले तारारूवे दसुत्तरे जोअणसए चारं चरइ, सूरविमाणाओ चंदविमाणे असीए जोअणेहिं चारं चरइ, सूरविमाणाओ जोअणसए उवरिल्ले तारारूवे चारं चरइ, चंदविमाणाओ वीसाए जोअणेहिं उवरिल्ले तारारूवे चारं चरइ ।

(मंदरस्स णं भंते ! इत्यादि) मन्दरस्य भदन्त ! पर्वतस्य कियत्या अबाधयाऽपान्तरालेन ज्योतिश्चक्रं चारं चरति ? । भगवानाह–गौतम ! जगत्स्वभावादेकादशभिरेकविंशत्यधिकैर्योजनशतैरित्येवंरूपयाऽबाधया ज्योतिषं चारं चरति । किमुक्तं भवति ?–मेरुतश्चक्रवालेन एकविंशत्यधिकान्येकादशयोजनशतानि मुक्त्वा चलद् ज्योतिश्चक्रं तारारूपं चारं चरति, प्रक्रमाज्जम्बूद्वीपगतमवसेयम् । अन्यथा लवणसमुद्रादिज्योतिश्चक्रस्य मेरुतो दूरवर्तित्वे प्रमाणासंभवः । पूर्वं तु सूर्यचन्द्रवक्तव्यताऽधिकारे अबाधाद्वारे सूर्यचन्द्रयोरेव मेरुतोऽबाधा उक्ता, साम्प्रतं तारापटलस्य, इति न पूर्वापरविरोध इति । अथ स्थिरं ज्योतिश्चक्रमलोकतः कियत्या अबाधया अर्वाग् भवतीत इति पिपृच्छिषुश्चतुर्थं द्वारमाह–(लोगंताओ णमित्यादि)

लोकान्ततः अलोकादितोऽर्वाक् कियत्या अबाधया अकम्पात् स्थिरं ज्योतिश्चक्रं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह—गौतम ! जगत्स्वभावाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्योजनशतैरबाधया ज्योतिषं प्रज्ञप्तं, अकम्पात् स्थिरं बोध्यम्, चरज्योतिश्चक्रस्य तत्राभावादिति । अथ पञ्चमद्वारं पृच्छति-'धरणितलाओ णं भंते!' इत्यनेन तत्सूत्रैकदेशेन परिपूर्णं प्रश्नसूत्रं बोध्यम् । तच्च-" धरणितलाओ णं भंते ! उड्डुं उप्पइत्ता केवइआए अबाहाए हिट्ठिल्ले जोइसे चारं चरइ ? । गोयमा ! " इत्यन्तं वस्त्वेकदेशस्य वस्तुस्कन्धस्मारकत्वनियमात् । तत्रायमर्थः-धरणितलात् समयप्रसिद्धात् समभूतलभूभागादूर्ध्वमुत्पत्य कियत्याऽबाधया अधस्तनं ज्योतिषं तारापटलं चारं चरति ? । भगवानाह—गौतम ! सप्तभिर्नवत्यधिकैर्योजनशतैरित्येवंरूपया अबाधया अधस्तनं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । अथ सूर्यादिविषयमबाधास्वरूपं संक्षिप्य भगवान् स्वयमेवाह-(एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंद०) इत्यादि । एवमुक्तन्यायेन यथासमभूमिभागादधस्तनं ज्योतिश्चक्रं नवत्यधिकसप्तयोजनशतैस्तथा समभूमिभागादेव सूर्यविमानमष्टभिर्योजनशतैश्चन्द्रविमानमशीत्यधिकैरष्टभिर्योजनशतैरुपरितनं ताराकं नवभिर्योजनशतैश्चारं चरति । अथ ज्योतिश्चक्रचारक्षेत्रापेक्षया अबाधाप्रश्नमाह-(जोइसस्स णमित्यादि) ज्योतिश्चक्रस्य दशोत्तरयोजनशतबाहुल्यस्याधस्तनात्तलात् कियत्या अबाधया सूर्यविमानं चारं चरति ? । गौतम ! दशभिर्योजनैरित्येवंरूपया अबाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमभूभागादूर्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनातिक्रमे ज्योतिश्चक्रबाहुल्यमूलभूत आकाशप्रदेशप्रतरः सोऽवधिर्मन्तव्यः । एवं चन्द्रादिसूत्रेऽपि । एवं चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवंरूपया अबाधया चारं चरति । तथा चोपरितनं ताराकं दशाधिके योजनशते ज्योतिश्चक्रबाहुल्यप्रान्ते इत्यर्थः, चारं चरति । अथ गतार्थमपि शिष्यव्युत्पादनार्थमाह-सूर्यादीनां परस्परमन्तरं सूत्रकृदाह—(सूरविमाणाओ इत्यादि) सूर्यविमानात् चन्द्रविमानं अशीतियोजनैश्चारं चरति । सूर्यविमानात् योजनशतेऽतिक्रान्ते उपरितनं तारापटलं चारं चरति। चन्द्रविमानात् विंशत्या योजनैरुपरितनं तारापटलं चारं चरति ॥ अत्र सूत्रभामात्वात् सूत्रेऽनुक्ताऽपि ग्रहाणां नक्षत्राणां च शेषाणां च क्षेत्रविभागव्यवस्था मतान्तराश्रिता संग्रहणिवृत्त्यादौ दर्शिता लिख्यते-

" शतानि सप्त गत्वोर्ध्वं, योजनानां भुवस्तलात् ।
नक्षत्रे च स्थितास्तारा:, सर्वाऽधस्तान्नभस्तले ॥ १ ॥
तारकापटलाद्गत्वा, योजनानि दशोपरि ।
सूराणां पटलं तस्मा-दशीतिं शीतरोचिषः ॥ २ ॥
चत्वारि तु ततो गत्वा, नक्षत्रपटलं स्थितम् ।
गत्वा ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥
शुक्राणां च गुरूणां च, भौमानां मन्दसंज्ञिनाम् ।
त्रीणि त्रीणि च गत्वोर्ध्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् " ॥ ४ ॥ इति । जं० ७ वक्ष० ।

(मंदरस्स णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य पर्वतस्य जम्बूद्वीपगतस्य सकलतिर्यग्लोकमध्यवर्तिनः कियत्क्षेत्रमबाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति ? । भगवानाह-(ता एक्कारसेत्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि अबाधया कृत्वा चारं चरति । किमुक्तं भवति?,मेरोः सर्वतः एकादश योजनशतान्येकविंशत्यधिकानि मुक्त्वा तदनन्तरं चक्रवालतया ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । (ता लोयंताओ णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । लोकान्तादर्वाक्, णमिति वाक्यालङ्कारे । कियत्क्षेत्रमबाधया कृत्वा ज्योतिषं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-(एक्कारसेत्यादि) एकादश योजनशतानि एकादशाधिकानि अबाधया कृत्वा अपान्तरालं विधाय ज्योतिषं प्रज्ञप्तम् । (ता जंबुद्दीवे णं दीवे कयरे नक्खत्ते) इत्यादि सुगमम् । नवरमभिजिन्नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलमपेक्ष्य, एवं मूलादीन्यपि सर्वबाह्यादीनि वेदितव्यानि । (ता चंदविमाणे णमित्यादि) संस्थानविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्धकविट्ठगेत्यादि) अर्द्धकपित्थमुत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपित्थं तस्येव यत् संस्थानं तेन्यः संस्थितमर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम् । आह-यदि चन्द्रविमानमर्द्धमात्रकपित्थफलसंस्थानसंस्थितं तत उदयकाले अस्तमनकाले यदि वा तिर्यक्परिभ्रमत् पौर्णमास्यां कस्मात्तदर्द्धकपित्थफलाकारं नोपलभ्यते,कामं शिरस उपरि वर्तमानं वर्तुलमुपलभ्यते अर्द्धकपित्थस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परभागादर्शनतो वर्तुलतया दृश्यमानत्वात् ? । उच्यते-इहार्द्धकपित्थफलाकारं चन्द्रविमानं न सामस्त्येन प्रतिपत्तव्यम्, किंतु तस्य चन्द्रविमानस्य पीठं,तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रदेवस्य ज्योतिश्चक्रराजस्य प्रासादः,तथा कथञ्चनापि व्यवस्थितो यथा पीठेन सह भूयान् वर्तुल आकारो भवति , स च दूरभावात् एकान्ततः समवृत्ततया जनानां प्रतिभासते, ततो न कश्चिद् दोषः। नचैतत् स्वमनीषिकाया जृम्भितम् । यदेतदेव जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन विशेषणवत्यामाक्षेपपुरस्सरमुक्तम्-

" अद्धकविट्ठागारा, उदयऽत्थमणम्मि कह न दीसंति ।
ससिसूराण विमाणा, तिरियक्खेत्तट्ठियाणं च ? ॥ १ ॥
उत्ताणऽद्धकविट्ठा-गारं पीढं तदुवरि पासाओ ।
वट्टा लेखेण तओ, समवट्टं दूरभावाओ " ॥ २ ॥

तथा सर्वं निरवशेषं स्फटिकमयं स्फटिकविशेषमणिमयं, तथा अभ्युद्गता आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा दीप्तिस्तया सितं शुक्लमभ्युद्गतोत्सृतप्रभासितं; तथा विविधा अनेकप्रकारा मणयश्चन्द्रकान्तादयो रत्नानि कर्केतनादीनि तेषां भक्तयो विच्छित्तिविशेषाः ताभिश्चित्रमनेकरूपवत्, आश्चर्यवद्वा विविधमणिरत्नचित्रम्; तथा वातोद्धूता वायुकम्पिता विजयोऽभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्त्यभिधाना याः पताकाः। अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यते,तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राणि च उपर्युपरि स्थितातपत्राणि तैः कलितं,ततो वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाच्छत्रातिच्छत्रकलितं, तुङ्गमुच्चम्, अत एव (गगनतलमणुलिहंत सिहरं ति)गगनतलमम्बरतलमनुलिखत्,अभिलङ्घयच्छिखरं यस्य तद् गगनतलानुलिखच्छिखरम् । तथा जालानि जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्तद् जालान्तररत्नम्, सूत्रे चात्र प्रथमैकवचनलोपो द्रष्टव्यः । तथा पञ्जरादुन्मीलितमिव बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव । यथा हि किल किमपि वस्तु पञ्जराद् वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते, एवं तदपि विमानमिति भावः । तथा-मणिकनकानां

संबन्धिनी। स्तूपिका शिखरं यस्य तद् मणिकनकस्तूपिकाकम्। तथा विकसितानि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि द्वारादौ प्रतिकृतित्वेन स्थितानि तिलकाश्च भित्त्यादिषु चन्द्राणि रत्नमयाश्चार्द्धचन्द्रद्वाराग्रादिषु तैश्चित्रं विकसितम्, आतपत्रपुण्डरीकतिलकार्द्धचन्द्रचित्रम् । तथा-अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णं मसृणमित्यर्थः । तथा—तपनीयं सुवर्णविशेषस्तन्मय्या बालुकायाः सिकतायाः प्रस्तटः प्रतरो यत्र तत्तथा ; तपनीयबालुकाप्रस्तटतया सुखस्पर्शं शुभस्पर्शं वा । तथा सश्रीकाणि सशोभानि रूपाणि नरयुग्माद्यीनि रूपाणि तत्र तत् सश्रीकरूपम् । प्रासादीयं मनःप्रसादहेतुः । अत एव दर्शनीयं द्रष्टुं योग्यं, तद्दर्शनेन तृप्तेरसंभवात् । तथा-प्रतिविशिष्टमसाधारणं रूपं यस्य तत्तथा । (एवं सूरविमाणे वीत्यादि) यथा चन्द्रविमानस्वरूपमुक्तमेवं सूर्यविमानं ताराविमानं च वक्तव्यं, प्रायः सर्वेषामपि ज्योतिर्विमानानामेकरूपत्वात् । तथा चोक्तं समवायाङ्गे- " केवइया णं भंते ! जोइसियावासा पन्नत्ता ? गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तनउयाइं जोयणसयाइं उड्ढं उप्पइत्ता दसुत्तरजोयणसयबाहल्ले तिरियमसंखेज्जे जोइसविसए जोइसियाणं देवाणं असंखेज्जा जोइसिया विमाणावासा पन्नत्ता ; तेणं जोइसियविमाणावासा अब्भुग्गयमुसियपहसिया विविहमणिरयणभत्तिचित्ता तं चेव० जाव पासाईया दरिसणिज्जा पडिरूवा"। सं० प्र० १७ पाहु०। न बाधा अबाधा। अनाक्रमणे, रा०। जी०। स्था०। औ० ॥

अबाहिरिय—अबाहिरिक—त्रि० । बहिर्भवा बाहिरिका । " अध्यात्मादिभ्य इकण्"। ६। ३। ७८। इति हैमसूत्रेण इकण्प्रत्ययः। प्राकारबहिर्वर्तिनी गृहपङ्क्तिरित्यर्थः । न विद्यते बाहिरिका यत्र तदबाहिरिकम् । यस्य प्राकाराद् बहिर्गृहाणि न सन्ति तस्मिन् स्थाने, बृ० १ उ० ॥

अबाह्य—त्रि० । ग्रामस्यात्यन्तमबहिर्भूते, " अबाहिरए कप्पइ हेमंतगिम्हासु मासं वत्थए " व्य० १ उ० ।

अबाहूणिया—अबाधोनिका—स्त्री० । अबाधया उकलक्षणया ऊनिका अबाधोनिका । भ० ६ श० ३ उ० । अबाधाकालपरिहीनायाम्, "अबाहूणिया कम्मठिई पएणत्ता"। जी०२प्रति०।

अविद्ध—अविद्ध—त्रि० । वेधरहिते, व्य० ८ उ० । तं० ।

अविद्धकण्ण—अविद्धकर्ण—पुं० । स्वनामख्याते तीर्थिकभेदे, यदपि गजतुरगस्यन्दनादिव्यतिरिक्तनिमित्तप्रभवः संख्याप्रत्ययः, गजादिप्रत्ययविलक्षणत्वाद्, वस्त्रचर्मकम्बले नीलप्रत्ययवदिति संख्याप्रसिद्धप्रत्यये अविद्धकर्णोक्तं प्रमाणम् । तदयुक्तम् । गजादिव्यतिरिक्तसंकेतादिप्रभवत्वेनेष्टत्वात् सिद्धसाध्यतादोषाघ्रातत्वात् । सम्म० ३ काण्ड ।

अबीय—अद्वितीय—त्रि० । केनचिदपरेण सहावर्तमाने, यथादि ऋषभदेवश्चतुःसहस्रया राज्ञां सार्द्धं, मल्लिपार्श्वौ त्रिभिस्त्रिभिः शतैः, वासुपूज्यः षट्शत्या, शेषाश्च सहस्रेण सह प्रव्रजितास्तथा भगवान् न केनाप्यतोऽद्वितीयः । कल्प० ।

अबुद्ध—अबुद्ध—त्रि० । अविपश्चिति, दश० २ अ०। अविवेकिनि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अबुद्धनिन्दा—

जे अबुद्धा महाभागा, वीराऽसम्मत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परकंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥ २२ ॥

ये केचनाऽबुद्धा धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्था व्याकरणशुष्कतर्कादिपरिज्ञानेन जातावलेपाः पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वानवबोधादबुद्धा इत्युक्तम् । न च व्याकरणपरिज्ञानमात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति । तथा चोक्तम्-

" शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि,
नैवाऽबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।
नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी,
स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति " ॥ १ ॥

यदि वा अबुद्धा इव बलवीर्यवन्तः, तथा महान्तश्च ते भागाश्च महाभागाः । भागशब्दः पूजावचनः । ततश्च महापूज्या इत्यर्थः । लोकविश्रुता इति । तथा वीराः परानीकभेदिनः सुभटा इति । इदमुक्तं भवति-पण्डिता अपि त्यागादिभिर्गुणैर्लोकपूज्याः । अपि च—तथा सुभटवादं वहन्तोऽपि सम्यक्तत्त्वपरिज्ञानविकलाः केचन भवन्तीति दर्शयति-न सम्यग् असम्यक्, तद्भावोऽसम्यक्त्वम् । तद् द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां च बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमस्तदशुद्धमविशुद्धकारि, प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावोपहतत्वात्, सनिदानत्वाद्वेति, कुवैद्यचिकित्सावद्विपरीताऽनुबन्धीति । तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन वर्तत इति सफलम् । सर्वश इति । सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धायैवेति ॥ २२ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । बोधाविषये, वाच० ।

अबुद्धजागरिया—अबुद्धजागरिका—स्त्री० । छद्मस्थज्ञानवतां जागरिकायाम्, भ०। " अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति त्ति " अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं शेषज्ञानसद्भावाच्च बुद्धसदृशाः ते च, अबुद्धानां छद्मस्थज्ञानवतां या जागरिका सा तथा तां जाग्रति । भ० १२ श० १ उ० ।

अबुद्धसिरी—देशी—मनोरथाधिकफलप्राप्तौ, दे० ना० १ वर्ग।

अबुद्धिअ—अबुद्धिक—त्रि० । तत्त्वज्ञानरहिते, ग० १ अधि० । अज्ञानिनि, पं० चू० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अबुह—अबुध—पुं० । विरोधे, अप्राशस्त्ये वा । न० त० । बुधभिन्ने मूर्खे, अल्पज्ञाने च । वाच०। अजानाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । बालिशे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । तत्त्वपरिज्ञानविकले, बृ० १ उ० ।

अबुहजण—अबुधजन—त्रि० । अबुधोऽविपश्चिज्जनः परिजनो यस्य स अबुधजनः । अकल्याणमित्रपरिजने, " विसयसुहेसु पसत्थं , अबुहजणकामरागपडिबद्धं " दश० २ अ० ॥

अबोह—अबोध—पुं० । न० त० । अनवगमे, ध० १ अधि० ।

अबोहंत—अबोधयत्—त्रि० । अजागरयति, उत्त० २६ अ० ।

अबोहि—अबोधि—स्त्री० । न० त० । अज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । जिनधर्मानवाप्तौ, औत्पत्त्यादिबुद्ध्यभावे च । भ० १ श० ६ उ०। मिथ्यात्वकार्ये ज्ञाने, "अबोधिं (हिं) परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि " आव० ४ अ० ।

कस्याबोधिर्भवति ?, इति प्रश्नस्योत्तरमाह—

मिच्छादंसणरत्ता, सनिदाणा किण्हलेसमोगाढा ।

इह जे मरंति जीवा, तेसिं दुलहा भवे बोही ॥

मिथ्यादर्शनं विपर्यस्तदर्शनं,मिथ्यात्वं तु मिथ्याक्रियाद्यभिलाषरूपं,तत्र रताः,तथा सह निदानेन देवत्वादिप्रार्थनारूपेण वर्तन्त इति सनिदानाः। तथा कृष्णां सर्वाधमरूपां लेश्यां जीवपरिणामरूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवंविधा ये जीवा म्रियन्ते तेषां दुर्लभो भवेद् बोधिः। आतु०।

अबोहिकलुस–अबोधिकलुष–त्रि०। मिथ्यादृष्टौ, दश० ४ अ०।

अबोहिबीय–अबोधिबीज–न०। अबोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माऽप्राप्तौ बीजमिव बीजं हेतुरबोधिबीजम्। पञ्चा० ४ विव०। सम्यग्दर्शनाभावहेतौ, पञ्चा० ७ विव०।

अबोहिय–अबोधिक–न०। अर्थाभा० अध्ययी० स०। मिथ्यात्वफले (अज्ञाने), दश० ६ अ०। न विद्यते बोधिर्यस्य सोऽबोधिकः। बोधरहिते, " निच्छयत्थं न जाणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। अविद्यमानबोधिके, औ०। अविद्यमानो बोधोऽस्मात्। भवान्तराप्राप्तव्यजिनधर्मलाभाप्रतिजागरेणाहे, " अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ " । स० ३० सम०।

अब्बुय–अर्बुद–पुं०। स्वनामख्याते (आबू) पर्वते, ती०।

तत्कथा चैवम्–

अर्हन्तौ प्रणिपत्याऽहं, श्रीमन्नाभेयनेमिनौ।
महाद्रेरर्बुदाख्यस्य, कल्पं जल्पामि लेशतः ॥ १ ॥
देव्याः श्रीमातुरुत्पत्ति–मादौ वक्ष्ये यथाश्रुतम्।
यदधिष्ठानतो ह्येष, प्रख्यातो भुवि पर्वतः ॥ २ ॥
श्रीरत्नमालनगरे, राजाऽभूद्रत्नशेखरः।
सोऽनपत्यतया दूनः, प्रैषीच्छाकुनिकान् बहिः ॥ ३ ॥
शिरस्थां काष्ठभारिण्या–स्ते दुर्गां दुर्गतस्त्रियाः।
वीक्ष्य व्यजिज्ञपन् राज्ञे, भाव्यस्यास्त्वत्पदे सुतः ॥ ४ ॥
राज्ञाऽऽदिष्टा सगर्भैव, सा हन्तुं तच्चरैर्निशि।
गर्ते क्षिप्ता कायचिन्ता–व्याजात् तस्माद् बहिर्निरैत् ॥ ५ ॥
साऽसूत सूनुमत्याऽऽर्ता, क्षणं वनान्तरेऽमुचत्।
गर्ते चाऽऽनीय तद्भूत्या–नभिज्ञैस्तैरघानि सा ॥ ६ ॥
पुण्यैरिताभे स्तन्यं चा–पीप्यत् सन्ध्याद्वये मृगी।
प्रवृद्धेऽसिन्धुकशाला–महालक्ष्याः पुरोऽन्यदा ॥ ७ ॥
मृग्याश्चतुर्णां पादाना–मधो नूतननाणकम्।
जातं श्रुत्वा शिशुरूपं, लोके वार्ता व्यजृम्भत ॥ ८ ॥
नव्यो नृपोऽभूत् कोऽपीति, श्रुत्वा प्रैषीद् भटान्नृपः।
तद्वधायाथ तं दृष्ट्वा, सायं ते पुरगोपुरे ॥ ९ ॥
बालहत्याभियाऽमुञ्चन्, गोयूथस्यायतः पथि।
तत्रैव स्थितं भाग्या–देकस्तूक्षा पुरोऽभवत् ॥ १० ॥
तत्प्रेयं च चतुष्पादा–न्तराले तं शिशुं न्यधात्।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिवाक्यात्तं, राजाऽसंस्तौरसं मुदा ॥ ११ ॥
श्रीपुञ्जाख्यः क्रमात्सोऽभूद्, भूपस्तस्याऽभवत्सुता।
श्रीमाता रूपसंपन्ना, केवलं प्लवगानना ॥ १२ ॥
तद्वैराग्याभिनिविष्टया, जातु जातिस्मरा पितुः।
न्यवेदयत् प्राग्भवं स्वं, यदाऽहं वानरी पुरा ॥ १३ ॥
संचरन्त्यर्बुदे शाखि–शाखां तालुनि केनचित्।
विद्धा मृताऽथ रुण्डं मे, कुण्डेऽपतत् तरोरधः ॥ १४ ॥
तस्य कामिततीर्थस्य, माहात्म्याद् नृतनुर्मम।
मस्तकं तु तथैवास्ते–ऽद्याप्यतः कपिमुख्यहम् ॥ १५ ॥
श्रीपुञ्जोऽक्षेपयच्छीर्षं, कुण्डे प्रेष्य निजान् नरान्।
ततः सा नृमुखी जज्ञे, तपस्वी चार्बुदे गिरौ ॥ १६ ॥
व्योमगामन्यदा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमोहितः।
चाटूक्तीर्व्यलपत् प्रेम्णा, मां कथं वृणुषे शुभे ? ! ॥ १७ ॥
सोचेऽत्यगादाद्ययामो, रात्रेस्तावद्भतः परम्।
ताम्रचूडरुतादर्वाक्, कयाचिद्विद्यया यदि ॥ १८ ॥
शैलेऽत्र कुरुषे ह्यद्याः, पद्या द्वादश तर्हि मे।
वरः स्या इति चेट्टैस्वै–र्द्वियाम्याऽचीकरत्स ताः ॥ १९ ॥
स्वशक्त्या कुक्कुटरवे, कृतके कारिते तया।
निषिद्धोऽपि विवाहाय, नास्थात्तत्कैतवं विदन् ॥ २० ॥
सरित्तीरेऽथ तं स्वस्रा, कृतवीवाहसंभृतिम्।
सोचे त्रिशूलमुत्सृज्य, विवोढुं संनिधेहि मे ॥ २१ ॥
तथाकृत्वोपागतस्य, पादयोर्विकृतान् शुनः।
नियोज्य साऽस्य शूलेन, हृच्छेदेण वधं व्यधात् ॥ २२ ॥
इत्याजन्माखण्डशीला, जन्म नीत्वा स्वराप सा।
श्रीपुञ्जः शिखरे तत्र, तत्प्रासादमचीकरत् ॥ २३ ॥
षण्मासान्तेऽर्बुदाख्योऽस्या–ऽधोभागेऽद्रेश्चलत्यहिः।
ततो विकम्पस्तत्सर्वः, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

लौकिकास्त्वाहुः—

नन्दिवर्धन इत्यासीत्, प्राक् शैलोऽयं हिमाद्रिजः।
कालेनार्बुदनागाधि–ष्ठानात्त्वर्बुद इत्यभूत् ॥ २५ ॥
वसन्ति द्वादश ग्रामाः, अस्योपरि धनोद्धुराः।
तपस्विनो गौगालिकाः, राष्ट्रिकाश्च सहस्रशः ॥ २६ ॥
न स वृक्षो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम्।
न स स्कन्धो न सा शाखा, या नैवात्र निरीक्ष्यते ॥ २७ ॥
प्रदीपवन्महौषध्यो, ज्वलन्त्यत्र रात्रिषु।
सुरभीणि रसाढ्यानि, वनानि विविधान्यपि ॥ २८ ॥
स्वच्छन्दोच्छलदच्छोर्मि–स्तीरद्रुकुसुमान्विता।
पिपासुतापाऽऽनन्दाऽत्र, भाति मन्दाकिनी धुनी ॥ २९ ॥
चकासत्यस्य शिखरा–ण्युत्तुङ्गानि सहस्रशः।
परिस्खलन्ति सूर्यस्य, येषु रथ्या अपि क्षणम् ॥ ३० ॥
चण्डमालीवज्रतैलेभ–कन्दाद्याः कन्दजातयः।
दृश्यन्ते च प्रतिपदं, तत्तत्कार्यप्रसाधिकाः ॥ ३१ ॥
प्रदेशाः पेशलाः कुण्डै–स्तत्तदाश्चर्यकारिभिः।
अस्य धातुखनीभिश्च, निर्झरैश्चामृतोदकैः ॥ ३२ ॥
काकूयिते कृते चोच्चै–र्धाकोकूयितकुण्डितः।
प्रादुर्भवति वाःपूरः, कुर्वन् खलहलारवम् ॥ ३३ ॥
श्रीमाताऽचलेश्वरस्य, वशिष्ठाश्रम एव च।
अत्रापि लौकिकास्तीर्थाः, मन्दाकिन्यादयोऽपि च ॥ ३४ ॥
महाद्रेरस्य नेतारः, परमारनरेश्वराः।
पुरी चन्द्रावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥
कलयन् विमलां बुद्धिं, विमलो दण्डनायकः।
चैत्यमत्रर्षभस्याधात्, पैत्तलप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥
आराध्याऽम्बां भगवतीं, पुत्रसंपदपस्पृहः।
तीर्थस्थापनमभ्यर्थ्य, चम्पकद्रुमसंनिधौ ॥ ३७ ॥
पुष्पस्रग्दामरुचिरं, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम्।
तत्रार्हद्भुवं दण्मेत्,श्रीमातुर्भवनान्तिके ॥ ३८ ॥ (युग्मम्)
राजानके श्रीधान्धूके, क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरम्।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्र–कूटादानाय्य तद्गिरा ॥ ३९ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८, मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात्।

सत्प्रासादं सुविमल-वसत्याह्वं न्यधापयत् ॥ ४० ॥
यात्रोपनम्रसंघस्या-निम्नविघ्नविघातनम् ।
कुरुतेऽत्राम्बिका देवी, पूजिता बहुभिर्विधैः ॥ ४१ ॥
युगादिदेवचैत्यस्य, पुरस्तादत्र चाश्मनः ।
एकरात्रेण घटितः, शिल्पिना तुरगोत्तमः ॥ ४२ ॥
वैक्रमे वसुवस्वर्क १२८८, मितेऽब्दे नेमिमन्दिरम् ।
निर्ममे लूणिगवस-त्याह्वयं सचिवेन्दुना ॥ ४३ ॥
कपोपलमयं बिम्बं, श्रीतेजःपालमन्त्रिराट् ।
तत्र न्यास्थत् स्तम्भतीर्थे, निष्पन्नं दृक्सुधाऽञ्जनम् ॥ ४४ ॥
मूर्तीः स्वपूर्ववंश्यानां, हस्तिशालं च तत्र सः ।
न्यधीविशद्विशां पत्युः, श्रीसोमस्य निदेशतः ॥ ४५ ॥
अहो ! शोभनदेवस्य, सूत्रधारशिरोमणेः ।
तच्चैत्यरचनाशिल्पा-न्नाम लेभे यथार्थताम् ॥ ४६ ॥
वज्रोत्खातः समुद्रेण, मैनाकोऽस्यानुजो गिरेः ।
समुद्धातोऽन्वनेन, दृष्टमेत् मन्त्रीश्वरो भयात् ॥ ४७ ॥
तीर्थद्वयेऽपि भग्नेऽस्मिन्, दैवान् म्लेच्छैः प्रचक्रतुः ।
अस्योद्धारं द्वौ शकाब्दे, वह्निवेदार्कसम्मिते १२४३ ॥ ४८ ॥
तत्राद्यतीर्थस्योद्धर्ता, लल्लो महणसिंहभूः ।
पीथमस्त्वितरस्याभूदुद्धर्ता, चण्डसिंहजः ॥ ४९ ॥
कुमारपालभूपाल-श्चौलुक्यकुलचन्द्रमाः ।
श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीमपत् ॥ ५० ॥
तत्तत्कौतूहलाकीर्णं, तत्तद्दोषविबन्धुरम् ।
धन्याः पश्यन्त्यर्बुदाद्रिं, नैकतीर्थपवित्रितम् ॥ ५१ ॥
दृब्धः श्रोत्रसुधाकल्पः, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ।
श्रीमदर्बुदकल्पोऽयं, चतुरैः परिवीयताम् ॥ ५२ ॥
इति श्रीअर्बुदाचलकल्पः समाप्तः ॥ ती० ८ कल्प ।

अब्भ–अभ्र–न०। अपो बिभर्तीति अभ्रम् । मेघे, रा० । अपभ्रंशे–" लिङ्गमतन्त्रम " ॥ ८ । ४ । ४४५ ॥ इति सूत्रेण पुंस्त्वम् । "अब्भा लग्गा डोंगरिहिँ, पहिउ रडंतउ जाइ । जो एहा गिरिगिलण-मणु, सो किं धणहि धणाइ" ॥१॥ प्रा० ४ पाद । अभ्राणि सन्त्यस्मिन्नित्यभ्रम् । 'अभ्रादिभ्यः'। ७।२।४६। इति हैमसूत्रेण मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । आकाशे, " अब्भवद्दलए विउव्वइ " । अभ्राणि यानि वार्दलकानि तानि विकुर्वन्ति, आकाशे मेघान् विकुर्वन्तीत्यर्थः । रा० । स्था० । आ० म० ।

अब्भंग–अभ्यङ्ग–पुं० । अभि-अञ्ज्-भावे घञ् ; कुत्वम् । स्तोकेन तैलादिना मर्दने, एकवारं तैलमर्दने च । नि०चू०३उ०।

अब्भंगण–अभ्यञ्जन–न० । घृतवशादिना (प्रश्न० ४ सम्ब० द्वा०) सहस्रपाकतैलादिभिर्वा (आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ०) म्रक्षणे, कल्प० ३ क्षण । स्था० । नि०चू० । आ० म० । बृ० । प्रव० ।

साधूनामभ्यञ्जनं न कार्यम्—

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परिवासिएण तेल्लेण वा घएण वा नवणीएण वा वसाए वा गायं अब्भंगित्तए वा मक्खित्तए वा नन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ।

अस्य सम्बन्धमाह–

ससिणेहो अमिणेहो, दिज्जइ मक्खित्तु वा तगं दिंति ।
सव्वो वि वणो लिप्पइ, दुहा उ वा मक्खणा भूया ॥

आलेपः सस्नेहोऽस्नेहो वा दीयते, ततो यथा स्नेहेन म्रक्षितं क्रियते, न वा, तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वा-व्रणं म्रक्षित्वा तकमनन्तरसूत्रोक्तमालेपं प्रयच्छन्ति; न वा सर्वोऽपि व्रण आलेप्यते । द्विधा वा म्रक्षणा भूयात्; कुतो व्रणोऽपि म्रक्ष्यते, आलेपोऽपि म्रक्षितुं दीयत इति भावः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते परिवासितेन वा तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा गात्रमभ्यङ्क्तुं वा, बहुलेन तैलादिना म्रक्षितुं वा स्वल्पेन तैलादिना, नान्यत्र गाढगाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः, तान्मुक्त्वा न कल्पते इत्यर्थः । दोषाश्चात्र त एव संचयादयो मन्तव्याः ।

आह–यद्येवं परिवासितेन न कल्पते म्रक्षितुं, ततस्तद्दिवसानीतेन कल्पिष्यते ।

सूरिराह—

तद्दिवसमक्खणम्मी, लहुओ मासो उ होइ बोधव्वो ।
आणायणा विराहण, धूलि सरक्खो य तसपाणा ॥

तद्दिवसानीतेनापि यदि म्रक्षयति तदा लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-म्रक्षिते गात्रे धूलिर्लगति; सरजस्को वा सचित्तरजोरूपो वा तेनोद्धतो लगति, तेन चीवराणि मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने संयमविराधना, स्नेहगन्धेन वा ये त्रसप्राणिनो लगन्ति तेषां विराधना भवेत् ।

धुवणाधुवणे दोसा, निसि भत्तं उप्पिलावणं चेव ।
चउसत्त स मइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पलिमंथो ॥

स्नेहेन मलिनीकृतानां चीवराणां गात्राणां च धावनाधावनयोरुभयोरपि दोषाः । तथाहि–यदि न धाव्यन्ते तदा निशि भक्तम्, अथ धाव्यन्ते ततः प्राणिनामुत्प्लावना भवेत् । उपकरणशरीरयोर्वा कुशत्वं च भवति । (स मइ त्ति) स एव हेवाको लगति, म्रक्षिते च गात्रपादयोर्मा धूली लगिष्यति इतिकृत्वा तलिकाऽपि बध्नाति, तत्र गर्वो निर्मार्दवतेत्यादयो दोषाः । यावत्स्वगात्रस्योद्वर्तनादिकं करोति तावत्सूत्रार्थपरिमन्थो भवति ।

तद्दिवसमक्खणेण उ, दिट्ठा दोसा जहा उ मक्खिज्जा ।
अद्धाणेणुव्वाए-ऽपवाएँ अरुकच्छुजयणाओ ॥

तद्दिवसम्रक्षणेन जनिता एते दोषा दृष्टाः । द्वितीयपदे यथा म्रक्षयेत् तथाऽभिधीयते-अध्वगमनेनाभारोद्भ्रान्तः, परिश्रान्तो वा, तेन वा कटी गृहीता, अरुर्व्रणं तद्वाररोपे जातं कच्छूः पामा, तया वा कोऽपि गृहीतस्ततो यतनया म्रक्षयेदपि ।

तामेवाह—

सण्णाइकयकज्जो, धुवितं मक्खेउ अत्थए अंते ।
परिपीय गोमयाई–उवट्टणा धोवणे जयणा ।

संज्ञा गमनम्, आदिशब्दाद्गमनादिकं च कायकृते कृतकार्यो, न संसक्तावकृतकार्यः, सर्वाणि बहिर्गमनकार्याणि समाप्येत्यर्थः । स यावन्मात्रं म्रक्षणीयं तावन्मात्रमेव धावित्वा म्रक्षाद्य ततो म्रक्षयति, म्रक्षयित्वा च प्रतिश्रयस्यान्तस्तावदास्ते यावत्तेन गात्रेण तत् तैलादिकम्रक्षणं परिपीतं भवति । ततो गोमयादिना तस्योद्वर्तनं कृत्वा यतनया यथा प्राणिनां प्लावना न भवति तथा धावनं कार्यम् ।

जइ कारण तद्दिवसं, तु कप्पई तह जवेज्ज इयरं पि ।
आयरियवाहि वसभे–हिँ पुच्छिए वेज्ज संदेसो ॥

यथा कारणे तद्दिवसानीतं म्रक्षणं कल्पते, तथेतरदपि परिवा-

सितं म्रक्षणं कारणे कल्पते। कथमिति चेत्?, अत आह-आचार्यस्य कोऽपि व्याधिरुत्पन्नस्ततो वृषभैः वैद्यः पूर्वोक्तविधिना प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो दत्तो भवेत्, यथा-शतपाकादीनि तैलानि यदि भवन्ति ततः चिकित्सा क्रियते।

ततः किं कर्तव्यम्?, इत्याह-

सयपाग सहस्सं वा, सयसाहस्सं व हंसमरुतेल्लं ।
दूरा उ गंतुं असई, परियासिज्जा जयं धीरे ॥

शतपाकं नाम तैलं तदुच्यते-यदौषधानां शतेन पच्यते। यद्वा-एकेनाप्यौषधेन शतवारं पक्कं परिवासयेत् । एवं सहस्रपाकं शतसहस्रपाकं च मन्तव्यम । हंसपाकं नागहंसेन औषधसमारम्भभृतेन यदेतत्तैलं पच्यते। मरुतैलं मरुदेशे पर्वतादुत्पद्यते। एवंविधानि दुर्लभद्रव्याणि प्रथमं तद्दैवसिकानि मार्गणीयानि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या चतुर्गुरुप्राप्तो दूरादप्यानीय धीरो गीतार्थो यतनया अल्पसागारिके स्थाने अन्वहं चीरेण वेष्टयित्वा परिवासयेत्।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

एयाणि मक्खणट्ठा, पाणट्ठा पडिदिणं ण लंभेज्जा ।
पणहाणीए जइउं, चउगुरुपत्तो अदोसोउ ॥

एतानि शतपाकादीनि म्रक्षणार्थं पानार्थं वा प्रतिदिनं यदि न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुकं, यदा प्राप्तो भवति तदा परिवासयन्नप्यदोषो न प्रायश्चित्तभाक्। बृ०५ उ०। सूत्र०॥ "से से परो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे " आचा० २ श्रु० १३ अ०। " जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अब्भंगंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ " नि० चू० १ उ०। (' अंगादाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४० पृष्ठे व्याख्यातमेतत्) " अब्भंगणं विहिपरिमाणं करेइ " उपा० १ अ०। ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०९ पृष्ठे दर्शयिष्यते सूत्रम)

अब्भंगिएल्लय-अभ्यञ्जित-त्रि०। स्नेहाभ्यक्तशरीरे, बृ० १उ०। पिं०। प्रा० म०। ओघ०।

अब्भंगि (गे) त्ता-अभ्यज्य-अव्य०। तैलादिना अभ्यङ्गं कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०। आचा०।

अब्भंगिय-अभ्यङ्क्ति-त्रि०। स्नेहेन मर्दिते, पिं०।

अब्भं (भिं) तर-अभ्यन्तर-त्रि० । पुत्रकलत्रादिवत् प्रत्यासन्ने, स्था० ८ ठा०।

आभ्यन्तर-त्रि०। अभ्यन्तरे भवमाभ्यन्तरम्। मध्यस्थे,स्था० २ ठा० १ उ०। पिं०। विपा०। ज्ञा०। अभ्यन्तरभागवर्तिनि, रा०। जी०। " सव्वब्भंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ " जं० ७ वक्ष०।

अब्भं (भिं) तरओसचित्तकम्म-अभ्यन्तरतःसचित्रकर्मन्-त्रि०। मध्ये चित्रकर्मरमणीये, कर्म० २ कर्म०। कल्प०।

अब्भं (भिं) तरकरण-अभ्यन्तरकरण-न०। भावसंग्रहभेदे,व्य०।तत्र-अभ्यन्तरकरणं नाम द्वयोः साध्वोर्गच्छभेदीभूतयोरभ्यन्तरे कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुल्लपतोस्तृतीयस्योपशुश्रूषोर्बहिःकरणं, अथवाऽपदिष्टः सन्नभ्यन्तरे गत्वा तद् गच्छादिप्रयोजनं ब्रूते, एतदभ्यन्तरकरणम । यदि वा मेन सह ये बाह्यभावं मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्त्तयति यथा तं तेऽअभिनमभिमन्यन्ते, एतदभ्यन्तरकरणम् (व्य०)।

पूयण जहा गुरूणं, अब्भंतर दोण्हमुल्लवंताणं ।
तइयं कुणती बहिया, वेइ गुरूणं च तं पिहो ॥

पूजनं यथाक्रमं गुरूणामभ्यन्तरकरणं यदभ्यन्तरे द्वयोरुल्लपतोस्तृतीयमुपशुश्रूषुं बहिः करोति, यदि वा तद् गच्छादिप्रयोजनं पृथः सन्नभ्यन्तरं गत्वा गुरूणां ब्रूते कथयति। व्य० ३ उ०।

अब्भं (भिं) तरग-आभ्यन्तरक-पुं०। आसन्नमन्त्रिप्रभृतौ, विपा० १ श्रु० ३ अ०। स्था०।

अब्भं (भिं) तरठाणिज्ज-अभ्यन्तरस्थानीय-पुं० । आभ्यन्तरनामसु प्रेष्यपुरुषेषु, " अब्भिंतरठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ " ज्ञा० १३ अ०।

अब्भं (भिं) तरतव-अभ्यन्तरतपस्--न०। अभ्यन्तरमन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, तच्च तत्तपश्चेति अभ्यन्तरतपः। औ०। लौकिकैरनभिलक्ष्यत्वात् तन्त्रान्तरीयैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वात् मोक्षप्राप्त्यन्तरङ्गत्वाच्चाभ्यन्तरमिति । स्था० ६ ठा०। स०। पं० व०। पञ्चा०। ग०। भ०। उत्त०। अभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य कार्मणलक्षणस्य तापकत्वादभ्यन्तरतपः। प्रश्न० ५ संव० द्वा०। प्रायश्चित्तादौ तपोभेदे, औ०। " प्रायश्चित्तं ध्यानं, वैयावृत्यं विनयमथोत्सर्गः। स्वाध्याय इति तपः षट्-प्रकारमाभ्यन्तरं भवति " ॥ १ ॥ ध० १ अधि०। ग०। उत्त०। " छव्विहे अब्भंतरिए तवे पन्नत्ते। तं जहा-पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं सज्झाओ झाणं वि उस्सग्गो " स्था० ६ ठा०।

अब्भं (भिं) तरतो-अभ्यन्तरतस्-अव्य०। सप्तम्यर्थे तसिल्। अभ्यन्तरे मध्ये इत्यर्थे, " सत्तण्हं पयडीणं, अब्भिंतरतो उ कोडिकोडीए "। आ० म० प्र०।

अब्भं (भिं) तरदेवसिय-अभ्यन्तरदैवसिक-न०। दिवसाभ्यन्तरसम्भवेऽतिचारे, " अब्भुट्ठिओमि अब्भं-तरदेवसियं खामेउं " इति। ध० २ अधि०।

अब्भं (भिं) तरपरिस-अभ्यन्तरपरिषत्-पुं०। जी०। वयस्यमण्डलीस्थानीयायां परममित्रसदृश्यां समित्यपरनामिकायां देवेन्द्राणां पर्षदि, रा०। स्था०।

अब्भं (भिं) तरपाणीय-अभ्यन्तरपानीय-त्रि०। मध्यन्तरे पानीयं यस्य स तथा । मध्यस्थजलयुक्ते चौरपल्ल्यादावर्थे, ज्ञा० १८ अ०।

अब्भं (भिं) तरपुक्खरद्ध-अभ्यन्तरपुष्करार्द्ध-न०। मानुषोत्तरपर्वतादर्वाग्भवे पुष्करवरद्वीपस्यार्द्धे, जी० ३ प्रति०। सू० प्र०। (नामनिरुक्त्यादि 'पुक्खरवरदीव' शब्दे व्याख्यास्यते)

अब्भं (भिं) तरपुप्फफल-अभ्यन्तरपुष्पफल-त्रि०। अभ्यन्तराणि अभ्यन्तरभागवर्त्तीनि पुष्पाणि च फलानि च पुष्पफलानि येषाम्। पत्रावृतत्वाद् बहिरदृश्यपुष्पफलके वृक्षे,रा०।

अब्भं (भिं) तरबाहिरिय-अभ्यन्तरबाहिरिक-त्रि० । सद्दा-

भ्यन्तरेण नगरमध्यभागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागो यत्र तत्तथा । नगरमध्ये बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।

अब्भं (भिं) तरय- आभ्यन्तरक-पुं० । राजानमतिप्रत्यासन्नीभूयावलगति, व्य० १ उ० ।

अब्भं (भिं) तरलद्धि-अभ्यन्तरलब्धि-स्त्री० । अभ्यन्तरावधेः प्राप्तौ, तथाचोक्तं चूर्णौ-" तत्थ अब्भंतरलद्धी नाम जत्थ से ठियस्स ओहिनाणं समुप्पन्नं ततो ठाणाओ आरब्भ सो ओहिन्नाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं वा खित्तओ ओहिणा जाणइ पासइ एस अब्भिंतरलद्धि त्ति " विशे० । "अब्भिंतरलद्धी सा,जत्थ पईवप्पभ व्व सव्वत्तो । संबद्धोहिनाणं, अब्भिंतरओऽवहीनाणी " ॥७५३॥ विशे० ।

अब्भं (भिं) तरसंबुक्का-अभ्यन्तरशम्बूका-स्त्री० । अभ्यन्तराद् मध्यभागात् शङ्खवृत्तगत्या भिक्षमाणस्य बहिर्निस्सरणे भवन्त्यां गोचरभूमौ, ध० ३ अधि० । यस्यां क्षेत्रबहिर्भागाच्छङ्खवृत्तत्वगत्याऽटन् क्षेत्रमध्यभागमायाति साऽभ्यन्तरशम्बूका । स्था० ६ ठा० ।

अब्भं (भिं) तरसगडुद्धिया-अभ्यन्तरशकटोद्धिका-स्त्री०। अङ्गुष्ठौ मीलयित्वा विस्तार्य्य पार्ष्णी तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे, एष भणितोऽभ्यन्तरशकटोद्धिकादोष इति । कायोत्सर्गस्योद्धिकादोषभेदे, प्रव० ५ द्वा० । आव० ।

अब्भं (भिं) तरोहि--अभ्यन्तरावधि-पुं० । अवधिभेदे, अयं ह्यभ्यन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटलवदवधिमता जीवेन सह सर्वतो नैरन्तर्य्येण सम्बद्धोऽखण्डो देशरहित एकस्वरूपोऽत एवायं सम्बद्धावधिर्देशावधिश्चोच्यते । विशे० ।

अब्भं (भिं) तरिया--आभ्यन्तरिकी--स्त्री० । अभ्यन्तरभागवर्तिन्यां जवनिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

अब्भक्खइज्ज--अभ्याख्यातव्य-त्रि० । (अभ्याख्यानदाप्ये,) अभ्याख्यानं नामाऽसदभियोगः,यथा चौरं चौरमित्याह । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अब्भक्खण-देशी-अकीर्तौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अब्भक्खाण--अभ्याख्यान--न० । आभिमुख्येन आख्यानं दोषाविष्करणमभ्याख्यानम् । भ० ५ श० ६ उ० । औ० । प्रकटमसद्दोषारोपणे, प्रज्ञा० २२ पद । प्रश्न० । आव० । असद्दूषणाभिधाने, प्रश्न०२ आश्र० द्वा० । अभिव्यसने, असदध्यारोपणे च । आव० ५ अ० । परस्याभिमुखं दूषणवचने, प्रश्न०२ आश्र० द्वा० । प्रव० । असदभियोगे, यथा चौरं चौरमित्याह । आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । औ० । सूत्र० । " एगे अब्भक्खाणे " स्था० १ ठा० १ उ० ।

अधिकरत्नाधिकमवमरत्नाधिकोऽभ्याख्याति-

दो साहम्मिया एगतो विहरंति, तेसिं एगे तत्थ अन्नयरं अकिच्चट्ठाणं पडिसेवित्ता आलोइज्जा-अहं णं भंते ! अमुएणं साहुणा सद्धिं इमियम्मि कारणम्मि मेहुणपडिसेवी । पच्चयहेउं च सयं पडिसेवियं भणति । तत्थ पुच्छियव्वे-किं पडिसेवी ?, अपडिसेवी ? । से य वएज्जा-पडिसेवी परिहारपत्ते । से य वएज्जा-णो पडिसेवी, णो परिहारपत्ते । जे से पमाणं वदति से य पमाणाउ घेतव्वं सिया । से किमाहु भंते !, सच्चपइन्ना ववहारा ॥ २१ ॥

द्वौ साधर्मिकौ सांभोगिकौ,एकत एकेन संघाटकेन विहरतः,तत्र तयोर्द्वयोर्मध्ये एक इतरस्याभ्याख्यानप्रदाननिमित्तमन्यतरद् 'अकृत्यस्थानं' अभ्युपगच्छति, न परस्यैव केवलस्याभ्याख्यानं ददाति, तत आह-(पच्चयहेउं चेत्यादि) परेषामाचार्य्याणामन्येषां च साधूनामेव संवदति,अन्यथा को नामात्मानं प्रति सेवितमभिमन्यत इति प्रत्ययो विश्वासः स्यादिति हेतोः स्वयमपि च प्रतिसेवितमिति भणति । एवमुक्तो यस्याभ्याख्यानमदायि स प्रष्टव्यः-किं वा भवान् प्रतिसेवी, न वा ? । तत्र यदि स वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारतपोभाक् क्रियते, उपलक्षणमेतत् । छेदादिप्रायश्चित्तभागपि क्रियते इति द्रष्टव्यः । अथ स वदेत्-नाहं प्रतिसेवी; तर्हि परिहारः प्राप्तः स्यात् । न परिहारतपःप्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भावः । स च प्रतिसेवी वा यदभ्याख्यानदाता " से " तस्य प्रतिसेवनायां प्रमाणं चरकादि वक्ति; तस्मात्प्रमाणाद् गृहीतव्यो निश्चेतव्यः सः । अथ किं कस्मात्कारणादेवमाहुर्भवन्तः ? हे भदंत !। सूरिराह-सत्यप्रतिज्ञव्यवहारास्तीर्थकरैर्दर्शितास्ततो न यथाकथंचित्प्रतिसेवी अप्रतिसेवी वा क्रियते । एष सूत्राक्षरार्थः ।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र भिक्षाचर्याविचारभूमिगमनविहारादिषु यो रत्नाधिकतरः कुतश्चिद्दोषादवमो जातः स तमवमरत्नाधिकं यैः कारणैरभ्याख्यानेन दूषयति तानि प्रतिपादयिषुराह-

रयणाहियवायएणं, खलियमिलियपेल्लणाएँ उदएणं ।
देव उल मेहुणम्मि य, अब्भक्खाणं कुडंगम्मि ॥

रत्नाधिकवातेन रत्नाधिकोऽहमिति गर्वेण अवमरत्नाधिकं दशविधचक्रवालसामाचार्यामस्खलितमपि कषायोदयेन तर्जयति । यथा-हे दुष्ट ! शैक्ष ! स्खलितोऽसीति । तथा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य प्रथममेव परावर्तयन्तं, यदि वा अभिमतरपदं पदेन विच्छिन्नं सूत्रमुच्चारयन्तं हा दुष्ट! शैक्षक ! मिलितमुच्चारयसीति तर्जयति । तथा (पेल्लण त्ति) अन्यैः साधुभिर्वार्यमाणोऽपि कषायोदयतः स्वहस्तेन प्रेरयति तर्जयति । ततः सोऽवमरत्नाधिकः कषायितः सन् चिन्तयति-एष रत्नाधिकवातेनेत्थं बहुजनसमक्षं तर्जयति, अथवैष सामाचारी, रत्नाधिकस्य सर्वं क्षन्तव्यमिति, ततस्तथा करोमि यथैष मम लघुको भवति । एवं चिन्तयित्वा तौ द्वावपि भिक्षाचर्यायै गतौ, तत्र च तृषितौ बुभुक्षितौ चेत्येवं चिन्तितवन्तौ-अस्मिन्नार्यादेवकुले वृक्षविषमे वा प्रथमालिकां कृत्वा पानीयं पास्याम इति, एवं चिन्तयित्वा तौ तदभिमुखं प्रस्थितौ, अत्रान्तरे अवमरत्नाधिकः परिव्राजिकामेकां तदभिमुखं गच्छन्तीं दृष्ट्वा स्थितः, उपलब्ध एष इदानीमिति चिन्तयित्वा तं रत्नाधिकं वदति-अहो ! अद्य ज्येष्ठार्य ! कुरु त्वं प्रथमालिकां, पानीयं वा पिब, अहं पुनः संज्ञां व्युत्सृजामि, एवमुक्त्वा त्वरितं मैथुने अभ्याख्यानं दातुं वसतावागत्यालोचयति ।

तथा दर्शयति-

जेट्ठऽज्जेण अकज्जं, सज्जं अज्जाघरे कयं अज्जं ।
उवजीवितोऽत्थ भंते !, मए वि संसट्ठकप्पो व्व ॥

ज्येष्ठार्येणाद्य सद्य इदानीमार्यागृहे कृतमकार्यं मैथुनाभिसेवालक्षणं, ततो भदन्त ! तत्संसर्गतो मयाऽपि संसृष्टकल्पो मैथुनप्रतिसेवा, अत्राऽस्मिन्प्रस्तावे उपजीवितः ॥

अहवा उच्चारगतो, कुमंगमाईकमिल्लदेसम्मि ।
वेती कयं अकज्जं, जेट्ठज्जेणं सह मए वि ॥

अथवेत्यभ्याख्यानस्य प्रकारान्तरप्रदर्शने। कुरुङ्गादौ कदिल्लदेशे गहनप्रदेशे उच्चाराय गतस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कृतमकार्यमिति। तस्माद् व्रतानि मम साम्प्रतमारोपयत।

एवमुक्ते सूरिभिः स एवं वक्तव्यः—

तम्मागते वयाइं, दाहामो देंति वाऽऽउरंतस्स ।
भूयत्थे पुण नाए, अलियनिमित्तं न मूलं तु ॥

योऽसौ त्वया अभ्याख्यातः स यदा आगतो भविष्यति तदा तस्मिन्नागते व्रतानि दास्यामः। अथ स त्वरमाणो ब्रूते–भगवन् ! कुशाग्रस्थितवाताहतजलबिन्दुरिवातिचञ्चलं जीवितमिति न शक्यते क्षणमात्रमप्यव्रतेन स्थातुम, इत्यधुनैव ममारोप्यतां व्रतानीति। तस्यैव त्वरमाणस्य ददति व्रतानि, वाशब्दो विकल्पार्थः । तत्र पुनर्भूतार्थो गवेषणीयः, किमयं सत्यं ब्रूते, उतालीकम् ?, तत्र यथा भूतार्थो गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव वक्ष्यते। भूतार्थे च ज्ञाते यदि सत्यं, तदा द्वयोरपि मूलं दीयते। अथालीकम, ततो योऽभ्याख्यातः स शुद्धः, इतरस्य त्वभ्याख्यातुर्मूलं न दीयते, किन्त्वलीकनिमित्तं मृषावादप्रत्ययं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमिति।

सम्प्रति यथा भूतार्थो ज्ञायते तथा प्रतिपिपादयिषुर्द्वारगाथामाह—

चरियापुच्छणपेसण, कावालिय तवसंघो य जं भणइ ।
चउभंग निरिक्खा दे-वया य तहियं विही एसो ॥

तत्र भूतार्थे ज्ञातव्ये एष विधिः–चरिका परिव्राजिका, तस्याः प्रच्छनाय वृषभाणां प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मन्यते ततस्तौ द्वावपि पृथगाश्रये प्रेष्य तत्र वृषभाः तत्स्वरूपगवेषणाय कापालिकरूपेण प्रेष्यन्ते। कापालिकग्रहणमुपलक्षणम, तेन सरजस्कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम। एवमपि भूतार्थानिर्णये (तवो त्ति) तपः स्वकायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छति। एतस्यापि प्रकारस्याभावे संघो मेलयित्वा प्रच्छनीयः, तेन च निरीक्षिणो निरीक्षकानधिकृत्य चतुर्भङ्गी–केचित्तथाभूतं तथाभावेन पश्यन्तीत्यादिरूपा वक्ष्यमाणा प्ररूप्यते। गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। सा च चतुर्भङ्गी भद्रप्रान्तदेवता आश्रित्य संभवति। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुराह–

आलोइयम्मि तिउणो, कज्जं से सीसए तयं सव्वं ।
पमिसिद्धम्मि य इयरो, भणाइ वीयं पि ते नत्थि ॥

अभ्याख्यातः साधुरागतः सन् आलोचयति–प्रथमालिकां यावन्न जानामि द्वितीयः संघाटकः क्वापि गत इति केवलोऽहमागतोऽस्मि। तत आचार्या ब्रुवते–सम्यगालोचय। ततः स स्मृत्वा आलोचयति, यावत्तस्मिन्नपि तृतीये वारे तदालोचितम्। ततस्त्रिगुणं त्रिःकृत्व आलोचिते यदि न प्रतिसेवितमित्यालोचयति, ततो येन कारणेन त्रीन् वारान् आलोचापितस्तत्कार्यं कारणं सर्वं तस्य शिष्यते कथ्यते, यथा-स एष तव संघाटकस्त्वया सह किञ्चिन्मात्रं हिण्डित्वा समागतो ब्रूते-ज्येष्ठार्येण आर्यागृहे वृक्षविषमे च क्वचित्प्रदेशे कृतमकार्यम, तत्संसर्गतो मयाऽपि संसृष्टकल्प उपजीवित इति । ततोऽभ्याख्यातसाधुर्वदति- न मया प्रतिसेवितम। एवं तेन प्रतिषिद्धे प्रतिसेवने इतरोऽभ्याख्यानप्रदाता भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! तव द्वितीयमपि व्रतं नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिशब्दार्थः।

दोण्हं पि अणुमएणं, चरिया वसहे पुच्छियपमाणं ।
अन्नत्थ वसह तुब्भे, जा कुणिमो देव उस्सग्गं ॥

एवं द्वयोरपि विवदतोरेवमुच्यते–चरिका पृच्छ्यतां यत्सा वक्ष्यति तत्प्रमाणयिष्यते। एवमुक्ते यदि तौ द्वावप्यनुमन्येते, ततो द्वयोरनुमतेन, संमत्या इत्यर्थः। वृषभाश्चरिकां प्रष्टुं प्रेष्यन्ते, ते च तत्र गताः प्रथमतश्चरिकां प्रज्ञापयन्ति, प्रज्ञाप्य पृच्छन्ति–किमत्र सत्यम्, अलीकं वा ?। एवं वृषभैश्चरिका पृष्टा सती यद् ब्रूते तत्प्रमाणं कर्त्तव्यम। तत्र चरिकयोक्तम्-भगवन् ! अभ्याख्यानं तेन द्वितीयेन तस्मै दत्तमिति। एतच्चोक्तं वृषभा वसतावागत्य गुरवे निवेदयन्ति। यथावस्थिते निवेदिते यद्यन्यतरो वदति–गूहयति चरिका न सम्यक्कथयति । तदा गुरवो द्वावपि ब्रुवते यूयमन्यत्र वसतिं याचयित्वा तत्र वसथ, यावदद्य रात्रौ देवताराधनार्थं कायोत्सर्गं कुर्मः। किमुक्तं भवति ?–कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छामः—कोऽत्र सत्यवादी, को वाऽलीकवादी ?। इति।

एवमुक्ते तौ द्वावपि वसत्यन्तरे गते यद् भवति तदभिधित्सुराह—

अट्ठिगमादी वसभा, पुव्विं पच्छा वजंति निसि सुणणा।
आवस्सग आउट्टए, सब्भावे वा असब्भावे ॥

अस्थिकाः कापालिकाः, आदिशब्दात्सरजस्कादिपरिग्रहः, तद्रूपाः सन्तः। किमुक्तं भवति ?–कापालिकं वेषं सरजस्कवेषं कृत्वा यस्यां वसतौ द्वावपि जनौ तिष्ठतस्तत्र पूर्वं वृषभा गच्छन्ति। यदि वा तयोर्गतयोः पश्चात्तत्र च गत्वा रात्रौ मातृस्थाने सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लापं शृण्वन्ति। तयोश्चावश्यकं कर्तुकामयोर्योऽसाववमरत्नाधिकोऽभ्याख्यानदाता, स इतरं प्रति मिथ्यादुष्कृतेनोपस्थित एतद्वदति–त्वं मया असता अभ्याख्यानेनाभ्याख्यातोऽतो मिथ्यादुष्कृतमिति । ततो रत्नाधिको ब्रूते–किं नाम तवापकृतं मया, येनासदभ्याख्यानं मे दत्तमिति ?। अवमरत्नाधिको भाषते–त्वं नित्यमेव यत्र तत्र वा कार्ये सम्यग् प्रवर्त्तमानमपि हे दुष्ट ! शैक्षक ! इति तर्जयसि, तेन मया त्वमसदभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः। एवमावश्यके आवश्यकवेलायामावर्त्तने भावप्रत्याख्याने अलीकाभ्याख्याने सद्भावो ज्ञायते। अथ न परस्परसंभाषणतः सद्भावो ज्ञायते, तदा सद्भावपरिज्ञानाभावे तपस्वी प्रष्टव्य इति शेषः।

तथाचाऽऽह—

सढो त्ति मं भासति निच्चमेव,
बहूण मज्झम्मि तओ कहेमि ।
अभासमाणाण परोप्परं वा,
देवाण–मुस्सग्ग तवस्सि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् हे शठ ! शैक्षक ! इति मां भाषसे, तेन त्वमसताऽभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः। अथ स रत्नाधिक-

स्तमवमरत्नाधिकं ब्रूयात्–यदि मया कदापि युवत्या सह कृतमकार्यं ततः किं त्वया बहूनां मध्ये अहमेवमभ्याख्यातः-अनेन कृता प्रतिसेवनेति ! किन्त्वहमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा दुष्टु कृतमालोचनां गृहाण गुरूणामन्तिक इति । मम रोषेण त्वयाऽऽत्मीयमपि शीलं विगोपितम्, एवं सद्भावो ज्ञायते । एतावता "आवस्सग आउट्टण, सब्भावे वा " इति व्याख्यानम् । इदानीमसद्भावे इति व्याख्यानयति-" अभासमाणाण परोप्परं वा " इति । अथ कदाचित्तौ रोषतः परस्परं न संलपतः, तदा तयोः परस्परमभाषमाणयोर्भूतार्थपरिज्ञानाभावे तपस्वी क्षपको देवताध्यानार्थं कायोत्सर्गं कुर्यात् । कायोत्सर्गेण च देवतामाकम्प्य पृच्छति-कोऽनयोर्द्वयोर्मध्ये सत्यवादी, को वा मिथ्यावादीति ? । तत्र यद्देवता ब्रूते तत्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वारं व्याख्यातम् ।

अधुना सद्द्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

किंचि तहाऽतह दीसइ, चउभंगे पंत देवया जहा ।
अत्तीकरेइ मूलं, इयरे सच्चपतिन्नाओ ॥

सर्वप्रकारेणाज्ञायमाने भूतार्थे संघसमवायं कृत्वा तस्मै आवेद्यते-रत्नाधिको वदति नाहं कृतवान्प्रतिसेवनाम्; इतरो ब्रूते द्वावपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कर्त्तव्यमिति ?। एवमादिना कृते ये संघमध्ये गीतार्थास्ते वदन्ति-किञ्चित्तथाभावं तथाभावेन दृश्यते; किञ्चित्तथाभावमन्यथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभावं तथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभावमन्यथाभावेन । एषा चतुर्भङ्गी । अस्यां चतुर्भङ्ग्यां प्रथमो भङ्गः प्रतीतः । द्वितीयभङ्गभावना त्वेवम्-कोऽपि क्वापि वनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिदारक्षका अपगतक्षमा असिव्यग्रहस्ता वल्गन्ति । ततः कदाचिद्देवता भद्रिका मा विनश्यत्वेष पुरुष इति तं दूरान्तरितं दर्शयति । तृतीयभङ्गः-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः सागारिकमकषायितं सङ्गमकः कषायितं दर्शयति । चतुर्थभङ्गः-कस्याञ्चिद्विपदि दासं राज्ञा कारितराजनेपथ्यं विनश्यन्तं दृष्ट्वा कदाचिद्भद्रदेवता तदनुकम्पया स्त्रियं दर्शयति । एवं प्रान्ता भद्रा च देवता अन्यथाभूतं यद्वस्तु अन्यथा करोति—अन्यथा भूतं दर्शयति, ततो दृष्टमपि तावदप्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते-किमपि दृष्टमवमरत्नाधिकेन, अथ च सत्यप्रतिज्ञा व्यवहारास्तीर्थकृद्भिरुपदिष्टास्तस्माद्यद् रत्नाधिको ब्रूते-न मया प्रतिसेवितमिति तत्प्रमाणतः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तभागिति । यदपि चावमरत्नाधिको वक्ति-मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूलं प्रायश्चित्तमिति । व्य० २ उ० ।

अब्भच्छण्ण–अभ्रच्छन्न–त्रि० । मेघावृते, सू० १ उ० ।

अब्भड–देशी–प्रसिद्धशब्दः । अनुव्रजने, "अब्भमवंचिउ बे पयइँ, पेम्मु निअत्तइ जावँ । सव्वासण-रिउ-संभव-हो, कर परिअत्ता तावँ " । प्रा० । प्रेमशब्देन प्रिया वाच्या, अभेदोपचारात् । यथा प्रेमवतीत्युच्यते, तथा प्रेमापीत्युच्यते । प्रिया प्रियामिति शेषः । प्रियम्, (अब्भड्वंचिउ इति) अनुव्रज्य मुत्कालाय्य यावद् द्वौ पादौ निवर्त्तते तावत् सर्वाशनरिपुसंभवस्य चन्द्रस्य कराः किरणाः परिवृताः, प्रसृता इत्यर्थः । सर्वमश्नातीति 'नन्द्यादि०' ॥ ५ । १ । ५२ ॥ इत्यनः प्रत्ययः । सर्वाशनोऽग्निः, तस्य रिपुर्जलं, तत्संभवश्चन्द्रः । अनुव्रजेन रते 'अब्भम' इति 'वंच कत्याप्र०' वंचयते लोकान् 'स्वराणां०' ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ अब्भमवंचिउ ॥ ढुं० ४ पाद ॥

अब्भणुण्णा–अभ्यनुज्ञा–स्त्री० । कर्त्तव्यानुमतिदाने, स्था० ।

अथात्र भगवतो महावीरस्याऽभ्यनुज्ञातानि प्रदर्श्यन्ते—

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं णिच्चं वन्नियाइं णिच्चं कित्तियाइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं निच्चमब्भणुण्णाइं भवंति । तं जहा–खंती मोत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे । पंच ठाणाइं समणाणं० जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा-सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे । पंच ठाणाइं समणाणं० जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा-उक्खित्तचरए णिक्खित्तचरए अंतचरए पंतचरए लूहचरए । पंच ठाणाइं०जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा-अन्नायचरए अन्नवेलचरए मोणचरए संसट्ठकप्पिए तज्जायसंसट्ठकप्पिए । पंच ठाणाइं०जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा-उवनिहिए सुद्धेसणिए संखादत्तिए दिट्ठलाभिए पुट्ठलाभिए । पंच ठाणाइं०जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा–आयंबिलए निव्विइए पुरिमड्ढिए परिमियपिंडवाइए भिन्नपिंडवाइए । पंच ठाणाइं०जाव अब्भणुन्नायाइं भवंति । तं जहा–अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे । पंच ठाणा० जाव भवंति । तं जहा–अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी लूहजीवी । पंच ठाणाइं०जाव भवंति । तं जहा–ठाणाइए उक्कुडुआसणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए णेसज्जिए । पंच ठाणाइं० जाव भवंति । तं जहा–दंडायइए लगंडसाई आयावए अवाउडए अकंडुयए ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलतः कीर्तितानि संशब्दितानि, नामतः (बुइयाइं ति) व्यक्तवाचोक्तानि, स्वरूपतः प्रशस्तानि प्रशंसितानि श्लाघितानि, शंसु स्तुताविति वचनात् । अभ्यनुज्ञातानि कर्त्तव्यतया अनुमतानि भवन्तीति । अयं च सूत्रोत्क्षेपः प्रतिसूत्रे वैयावृत्त्यसूत्रं यावत् दृश्यत इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । (क्षान्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते)

असत्याऽभ्याख्यानं कुर्वतः क्रिया–

जे णं भंते ! परं अलिएणं असब्भूएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ, तस्स णं कहप्पगारा कम्मा कज्जंति ?। गोयमा ! जे णं परं अलिएणं असंतएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ, तस्स णं तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जंति, जत्थेव णं अभिसमागच्छइ तत्थेव णं पडिसंवेदेइ । तओ से पच्छा वेदेइ सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

अलीकेन भूतनिह्नवरूपेण पालितब्रह्मचर्यसाधुविषयेऽपि नानेन ब्रह्मचर्यमनुपालितमित्यादिरूपेण (असब्भूएणं ति) अभूतोद्भावनरूपेण अचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादिना । अथवा अलीकेन असत्येन तद्ध दूष्यतोऽपि भवति, लुब्धकादिना मृगादीन्पृष्टस्य जानतोऽपि नाहं जानामि इत्यादि । अत आह-अस-

ष्कृतेन दुष्टाभिसन्धित्वादशोभनरूपेणाचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादिना (अब्भक्खाणेणं ति) आभिमुख्येनाख्यानं दोषाविष्करणमभ्याख्यानं, तेन अभ्याख्यानि भूते। (कहप्पगार त्ति) कथंप्रकाराणि ? किंप्रकराणीत्यर्थः । (तहप्पगार त्ति) अभ्याख्यानफलानीत्यर्थः । (जत्थेव णमित्यादि) यत्रैव मानुषत्वादावभिसमागच्छति उत्पद्यते तत्रैव प्रतिसंवेदयत्यभ्याख्यानफलं कर्म्म, ततः पश्चाद्वेदयति निर्जरयतीत्यर्थः ॥ भ० ५ श० ७ उ०।

अब्भणुण्णाय–अभ्यनुज्ञात–त्रि० । कर्तव्यतयाऽनुमते, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अब्भत्थ–अभ्यस्त–त्रि० । अभि-अस्-क्त । पौनःपुन्येनैकजातीयक्रियाकर्मणि पुनःपुनरावर्त्तिते, " शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् "। " उभे अभ्यस्तम् " ॥ ६ । १ । ५ ॥ उक्तयोः कृतद्वित्वयोरुभयोः धातुभागयोः । " नाभ्यस्ताच्छतुः " ॥ ७ । १ । ७८ ॥ "अभ्यस्तस्य च" ॥६ ।१।३३ ॥ वाच०। गुणिते, विशे० । आ० म० । पं० व० ।

अब्भत्थणा–अभ्यर्थना–स्त्री० । परस्परप्रवर्तनायां 'त्वं ममेदं कार्यममुष्य वा कुरु' इत्येवं रूपायाम्, पञ्चा० ११ विव० । "जइ अब्भत्थे अपरं, कारणजाते करेज्ज सो को वि । तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ बलाभिओगाओ " ॥१॥ आ० म० द्वि० । (अभ्यर्थनायां मरुकदृष्टान्तः " इच्छक्कार " शब्दे द्वितीयभागे ५७५ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अब्भपडल–अभ्रपटल–न० । मेघवृन्दे, पृथिवीकायपरिणामविशेषे च । (अभ्रक-तबक)।"अब्भपडलपिंगलुज्जलेण " (छत्रेण) अभ्रपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छायाहेतुत्वात् अभ्रपटलं, पिङ्गलं च कपिशं सुवर्णकण्डिकानिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा। अथवा अभ्रमभ्रकं पृथिवीकायपरिणामविशेषस्तत्पटलमिव पिङ्गलं चोज्ज्वलं च तत्तथा । तेन। औ० । सूत्र० । जी० । प्रज्ञा० ।

अब्भपिसाय–देशी–राहौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अब्भवालुया–अभ्रवालुका–स्त्री०। अभ्रपटलमिश्रवालुकारूपे खरबादरपृथिवीकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । सूत्र० ।

अब्भरहिय–अभ्यर्हित–त्रि० । राजामात्यादिपुत्रे गौरविके, (बृ०) राजमान्ये, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

अब्भराग–अभ्रराग–पुं० । सायं सूर्यकरयोगात् मेघानां नानावर्णे मेघे, प्रज्ञा० १७ पद ।

अब्भरुक्ख–अभ्रवृक्ष–पुं० । अभ्रात्मको वृक्षोऽभ्रवृक्षः । भ० ३ श० ६ उ० । वृक्षाकारेण परिणतेऽभ्रे, जी० ३ प्रति० । अनु० ।

अब्भवद्दलय–अभ्रवार्दलक–न० । अभ्ररूपं वारो जलस्य दलकं कारणमभ्रवार्दलकम् । मेघे, भ० १५ श० १ उ० । अभ्रे आकाशे वार्दलकमभ्रवार्दलकम् । नभोगतमेघे, " अब्भवद्दलयाइं विउव्वइ" आ० म० प्र० । अभ्राणि मेघास्तैर्वार्दलकम् । मेघैः कृते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । रा० ।

अब्भसंझा–अभ्रसन्ध्या–स्त्री० । सन्ध्याकाले नीलाद्यभ्रपरिणतौ, जी० ३ प्रति० ।

अब्भसंथम–अभ्रसंस्तृत–न० । मेघैराकाशाच्छादने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अब्भसण–अभ्यसन–न० । अभि-अस्-ल्युट् । अभ्यासे, पौनःपुन्येनैकक्रियाकरणे पुनःपुनरावर्त्तने, वाच० । " अब्भसणं ति वा गुणणं ति वा एगट्ठा " दश० १ अ० ।

अब्भसिय–अभ्यस्य–अव्य० । अभ्यासीकृत्येत्यर्थे, दश० ६ अध्या० ।

अब्भहिय–अभ्यधिक–त्रि० । अत्यर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । भ० । " अब्भहियभीमभेरवप्पगारेणं " । अभ्यधिकं यथा भवत्येवं भीमभैरवोऽतिभीष्मो रवप्रकारो यस्य स तथा तेन (तनद्वेन) ज्ञा० १ अ० । प्रज्ञा० । " अब्भहियं सोभिनुमाढत्तो " आ० म० प्र० । " अब्भहियरायतेयलच्छीए " कल्प० ३ क्षण ।

अब्भहियतरग–अभ्यधिकतरक–त्रि० । विपुलतरे (विस्तीर्णे,) तं० ।

अब्भागम–अभ्यागम–पुं० । आभिमुख्येनागम्यतेऽत्र । अभि-आ-गम्-क्त-अप् । युद्धे, कर्मणि अप् । अन्तिके, करणे अप् । विरोधे, भावे अप् । अभ्युत्थाने, अभिघाते च अभिमुखगमने, वाच० । प्रा० । आसन्नवासे, नि० चू० ४ उ० ।

अब्भागमिय–अभ्यागमिक–पुं० । आगन्तुकेषु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अब्भागय–अभ्यागत–पुं० । अभि-आ-गम्-क्त । भिक्षुग्रामीणे गृहं गतेऽतिथौ, वाच० । " तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, येन त्यक्ता महात्मना । अतिथिं तं विजानीया-च्छेषमभ्यागतं विदुः " ॥१॥ इत्यतिथेर्भेदोऽस्य । आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

अब्भावगासिय–अभ्रावकाशिक–न० । सहकारादेर्मूलाधोभागवर्तिनि प्रतिश्रये, बृ० २ उ० ।

अब्भास–अभ्यास (श)–पुं० । अभ्यसनमभ्यासः । असूक्षेपणे इत्यस्याभिपूर्वस्य घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । परिचये, षो० १ विव० । गुणने, अनु० । भावनायाम्, " अब्भास त्ति वा भावण त्ति वा " (एकार्थम्) बृ० १ उ० । अभ्यासादेव हि सर्वक्रियासु सुकौशलमुन्मीलति , अनुभवसिद्धं चेदं लिखनपठनसंख्यानगाननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि–" अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अभ्यासात्सकलाः कलाः । अभ्यासाद्ध्यानमौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम् ? " ॥ १ ॥ निरन्तरं विरतिपरिणामाभ्यासे च प्रेत्यापि तदनुवृत्तिः स्यात् । यत उक्तम्–"जं अब्भासइ जीवो, गुणं च दोसं च एत्थ जम्मम्मि । तं पावइ परलोए, तेण य अब्भासजोएणं" । ध० २ अधि० । अत्र दृष्टान्तः–कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिके नयत्यानयति वा ततोऽसावनेनैव क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद् द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपत्येवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परीषहोपसर्गजयं विधत्त इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ध्याने, एकावलम्बनेन मनःस्थैर्ये च । विशे० । " तत्राभ्यासः स्थितौ श्रमः " तत्राभ्यासः स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे श्रमो यत्नः पुनःपुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनरूपः । तदाह–" तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति । " स च चिरं चिरकालं नैरन्तर्येणादरेण चाश्रितो दृढभूमिः स्थिरो भवति । तदाह–" स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति" । द्वा० ११ द्वा० ।

शुद्धोऽभ्यासः-

अभ्यासोऽपि प्रायः, प्रभूतजन्मानुगो भवति शुद्धः ।
कुलयोग्यादीनामिह, तन्मूलाधानयुक्तानाम् ॥ १३ ॥

(अभ्यासोऽपीत्यादि) अभ्यासोऽपि परिचयोऽपि,प्रायो बाहुल्येन, प्रभूतजन्मानुगोऽनेकजन्मानुगतो, भवति जायते, शुद्धो निर्दोषः, कुलयोग्यादीनां गोत्रयोगिव्यतिरिक्तानां कुलयोगिप्रवृत्तचक्रप्रभृतीनामिह प्रक्रमे, तासां मेऽग्रादीनां मूलाधानं मूलस्थापनं बीजन्यासस्तद्युक्तानाम्। कुलयोगिलक्षणं चेदम्-"ये योगिनां कुले जाता-स्तद्धर्मानुगताश्च ये । कुलयोगिन उच्यन्ते, गोत्रवन्तोऽपि नापरे" ॥ १ ॥ गोत्रयोगिनश्च-"सामान्येनोत्तमा भव्याः, सर्वत्राद्वेषिणश्च ते। दयालवो विनीताश्च,बोधवन्तो जितेन्द्रियाः " ॥ १ ॥ इत्याद्यभिधानात् ॥१३॥

कस्य पुनरयमभ्यासः शुद्धो भवति? इत्याह-

अविराधनया यतते, यस्तस्यायमिह सिद्धिमुपयाति ।
गुरुविनयः श्रुतगर्भो, मूलं चास्या अपि ज्ञेयः ॥ १४ ॥

(अविराधनयेत्यादि) विराधना अपराधासेवनं, तन्निषेधादविराधनया हेतुभूतया, यतते प्रयत्नं विधत्ते, यः पुरुषस्तस्य प्रयतमानस्यायमभ्यासः,इह प्रस्तुते,सिद्धिमुपयाति सिद्धिभाग् भवति । गुरुविनयः प्रागुक्तः, श्रुतगर्भ आगमगर्भो, मूलं च कारणं चास्या अप्यविराधनाया, ज्ञेयो ज्ञातव्यः । षो०१२ विव० ।

अथाऽभ्यासभेदाः-

अन्ने भणंति तिविहं, सययविसयभावजोगश्रो णवरं ।
धम्मम्मि अणुट्ठाणं, जहुत्तरपहाणरूवं तु ॥ १ ॥
एअं च ण जुत्तिखमं, णिच्छयणयजोगश्रो जश्रो विसए।
भावेण य परिहीणं, धम्माणुट्ठाणमो किहणु ॥ २ ॥
ववहारश्रो उ जुज्जइ,तहा तहा अपुणबंधगाईसु॥ इति॥

एतदर्थो यथा-अन्ये आचार्या ब्रुवते-त्रिविधं त्रिप्रकारं सततविषयभावयोगतः, योगशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् सततादिपदानां सततभ्यासादौ लाक्षणिकत्वात्सततभ्यास-विषयाभ्यास-भावाभ्यासयोगादित्यर्थः । नवरं केवलं धर्मेऽनुष्ठानं यथोत्तरं प्रधानरूपम्,तुरेवकारार्थः।यदुत्तरं तदेव सततं प्रधानमित्यर्थः।तत्र सततभ्यासो-नित्यमेव मातापितृविनयादिवृत्तिः। विषयाभ्यासो-मोक्षमार्गनायकेऽर्हल्लक्षणे पौनःपुन्येन पूजनादिप्रवृत्तिः। भावाभ्यासो-भावानां सम्यग्दर्शनादीनां भवोद्वेगेन भूयोभूयः परिशीलनम्। एतच्च त्रिविधमनुष्ठानं न युक्तिक्षमं नोपपत्तिसहं, निश्चयनययोगेन निश्चयनयाभिप्रायेण, यतो-मातापित्रादिविनयस्वभावे सततभ्यासे सम्यग्दर्शनाद्यनाराधनारूपे धर्मानुष्ठानं दूरापास्तमेव । विषय इत्यनन्तरमपिर्गम्यः। विषयेऽपि अर्हदादिपूजालक्षणे विषयाभ्यासेऽपि। भावेन भववैराग्यादिना परिहीणं धर्मानुष्ठानं कथं नु,न कथञ्चिदित्यर्थः। ओकारः प्राकृतत्वात् । परमार्थो योगरूपत्वाद्धर्मानुष्ठानस्य निश्चयनयमते भावाभ्यास एव धर्मानुष्ठानम्, नान्यद्वयमिति निगर्वः। व्यवहारात्तु व्यवहारनयादेशात्तु युज्यते द्वयमपि तथा तथा तेन तेन प्रकारेण अपुनर्बन्धकादिषु अपुनर्बन्धकप्रभृतिषु। तत्रापुनर्बन्धकः पापं न तीव्रभावात्करोतीत्याद्युक्तलक्षणः । आदिशब्दादपुनर्बन्धकस्यैव विशिष्टोत्तरावस्थाविशेषभाजौ मार्गाभिमुखमार्गपतितौ, अविरतसम्यग्दृष्ट्यादयश्च गृह्यन्त इति । ध०१ अधि०।

अब्भासकरण-अभ्यासकरण-न० । पार्श्वस्थादिधर्माच्च्युतस्य पुनस्तत्रैव संस्थानलक्षणे संभोगभेदे. स० ७ सम० । व्य० । ये अभ्यासगतास्तेषामात्मसमीपवर्तित्वकरणे, व्य० ३ उ० ।

अब्भासग-अभ्यासक-पुं० । निक्षेपे, "णिक्खेवो स्थापनाभ्यासक इत्यनर्थान्तरम्" आ० चू० १ अ० ।

अब्भासगुण-अभ्यासगुण-पुं० । गुणभेदे, स च भोजनादिविषयः । तद्यथा-तदहर्जातबालकोऽपि भवान्तराभ्यासात् स्तनादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतरुदितश्च भवति । यदि वाऽभ्यासवशात्सततमसेऽपि कवलादेर्मुखविवरप्रक्षेपाद् व्याकुलितचेतसोऽपि च तुदन्नाक्रकण्डूयनमिति । आचा०१श्रु०२अ०१उ०।

अब्भासजणियपसर-अभ्यासजनितप्रसर-त्रि० । आसेवनोद्भूतवेगे, पं० व० १ द्वा० ।

अब्भासत्थ-अभ्याशस्थ-त्रि० । निकटवर्त्तिनि, व्य० ६ उ० ।

अब्भासवत्तिअ-अभ्याशवर्तित्व-न० । अभ्याशो गौरव्यस्य समीपं तत्र वर्तितुं शीलमस्येत्यभ्याशवर्त्ती, तद्भावोऽभ्याशवर्तित्वम् । भ० २५ श० ७ उ० । गुरुपादपीठिकाप्रत्यासन्नवर्तित्वलक्षणे लोकोपचारविनये, व्य० १ उ० । औ० । स्था० । ग० ।

अब्भासप्रत्यय-पुं० । अभ्यासो हेवाको वर्णनीयासन्नता वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीयते तदभ्यासप्रत्ययम् । हेवाकेन वर्णनीयासन्नतया वा प्रकाशनादौ, एतेन सतो गुणान् दीपयति । दृश्यते ह्यभ्यासान्निर्विषयाऽपि निष्फलाऽपि च प्रवृत्तिः, सन्निहितस्य च प्रायेण गुणानामेव ग्रहणमिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । नि० चू० ।

अभ्यासप्रीतिक-न० । अभ्यासे प्रीतिकं प्रेम अभ्यासप्रीतिकम् । लोकोपचारविनयभेदे, भ० २ श० ५ उ० ।

अब्भासवित्ति-अभ्याशवृत्ति-स्त्री० । नरेन्द्रादीनां समीपेऽवस्थाने, दश० ६ अ० १ उ० ।

अब्भासाइसय-अभ्यासातिशय-पुं० । अभ्यासप्रकर्षे, षो० १० विव० ।

अब्भासासण-अभ्याशासन-न० । उपचरणीयस्यान्तिकेऽवस्थाने, स० ११ सम० ।

अब्भासिय-अभ्यासित-त्रि० । रूविकादिदेशोद्भवे, बृ० ३ उ०।

अब्भिंग-अभ्यङ्ग-पुं० । स्नेहने, ज्ञा० १७ अ० । पद्माङ्गमर्दने, दशा० ६ अ० ।

अब्भिंगिय-अभ्याङ्कित-त्रि० । अभ्यङ्गः क्रियते स्म यस्य । तस्मिन्, ज्ञा० १ अ० ।

अब्भिड-सम-गम-धातुः । मेलने, "समा अब्भिडः" । ८ । ४ । १६४। इति सूत्रेण समा युक्तस्य गमेरब्भिड आदेशः । अब्भिडइ-संगच्छते। प्रा० ४ पाद ।

अब्भिज्ज-अभिज्ञ-त्रि० । अभिवृते, ध० २ अधि० ।

अब्भुक्खणीया-अभ्युक्षणीया-स्त्री० । पवनप्रेरितासु उदककणिकासु, बृ० १ उ० ।

अब्भुग्गम-अभ्युद्गम-पुं० । उदये, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अब्भुग्गय-अभ्युद्गत-त्रि० । अभिमुखमुद्गतोऽभ्युद्गतः । उत्पाटिते, औ० । आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गते, चं० प्र० १८ पाहु० । अङ्कुरवदुत्पन्ने वर्द्धितुं प्रवृत्ते, उन्नते च । ज्ञा० १ अ० । जं० । विपा० । अग्रिमभागे मनागुन्नते, रा० । जं० । अभ्युत्कटे, रा० । जी० । भूद्वयमध्यतो विनिर्गते, जं० २ वक्ष० । अतिरमणीयतया द्रष्टॄणां प्रत्यभिमुखमुत्प्राबल्येन स्थिते, रा० ॥ " अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदंतं " अभ्युद्गतमुकुला आयतकुड्मला ये मल्लिकाविचकिलास्तद्वद् विमलौ दन्तौ यस्य । अथवा प्राकृतत्वात् मल्लिकामुकुलवदभ्युद्गतावुन्नतौ विमलधवलदन्तौ यस्य तदभ्युद्गतमुकुलमल्लिकाविमलधवलदन्तम् (हस्तिनम्) । उपा० २ अ० । "अब्भुग्गयमउलमल्लियाधवलसरिससंठाणं " अभ्युद्गतान्युन्नतानि मुकुलमल्लिकेव कोरकावस्थविचकिलकुसुमवद् धवलानि तथा सदृशं समं संस्थानं येषां तानि । जं० ७ वक्ष० । " अब्भुग्गयसुकयवइरवेइयतोरणवररइयलीलट्ठियसालिभंजियागं " अभ्युद्गते उच्छ्रिते सुकृतवज्रवेदिकायाः सम्बन्धिनि तोरणवरे रचिता लीलास्थिताः शालभञ्जिका यस्यां सा तथा, ताम् । (शिबिकाम्) भ० ९ श० ३३ उ० । आ० म० । ज्ञा० । रा० । अङ्कुरवदुत्पन्ने च, ज्ञा० १ अ० ।

अभ्रोद्गत-त्रि० । उच्चे, भ० १२ श० ५ उ० ।

अब्भुग्गयभिंगार-अभ्युद्गतभृङ्गार-अभ्युद्गतोऽभिमुखमुद्गत उत्पाटितो भृङ्गारो यस्य स तथा । तथाभूते महाभागे, औ० । भ० । दशा० ।

अब्भुग्गयमुसिय-अभ्यु(भ्रो)द्गतोच्छ्रित-त्रि० । अभ्युद्गतश्चासावुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्चे, भ० । "अब्भुग्गयमुसियपहसिया " अभ्युद्गतमभ्रोद्गतं वा यथा भवत्येवमुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः । प्रथमैकवचनलोपश्चात्र द्रष्टव्यः । तथा प्रहसित इव प्रभापटलपरिगततया प्रहसितः । प्रभया वा सितः शुक्लः, संबद्धो वा प्रभासित इति । भ० २ श० ८ उ० । स० । जं० । जी० ।

अब्भुज्जय-अभ्युद्यत-त्रि० । वर्द्धितुं प्रवृत्ते, " अब्भुग्गएसु अब्भुज्जएसु अब्भुट्ठिएसु " (मेघेषु) ज्ञा० १ अ० । सोद्यमे, ज्ञा० ५ अ० । उद्यतविहारिणि, व्य० ४ उ० । "अब्भुज्जयं दुविधं अब्भुज्जयमरणेण, अब्भुज्जयविहारेण वा " । नि० चू० १६ उ० ।

अभ्युद्यतविहारमरणयोः स्वरूपमाह—

जिण-सुद्ध-अहालंदे, तिविहो अब्भुज्जओ अह विहारो ।
अब्भुज्जयमरणं पुण, पाओवगमणिंगिणिपरिण्णा ॥

जिनकल्पः,शुद्धपरिहारकल्पो, यथालन्दकल्पश्चेति त्रिविधोऽभ्युद्यतः; अथैष विहारो मन्तव्यः । अभ्युद्यतमरणं पुनस्त्रिविधम्-पादपोपगमनमिङ्गिनीमरणं,परिज्ञेति भक्तप्रत्याख्यानम्, बुद्धिश्चान्यैतेषु अभ्युद्यतरूपतया श्रेयसी ।

अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तव्यम् ?, उच्यते—

सयमेव आउकालं, नाउं पेच्छित्तु वा बहुं सेसं ।
सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं जवइ ॥

स्वयमेवायुःकालं सातिशयश्रुतोपयोगाद्बहु दीर्घं शेषमवशिष्यमाणं ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽन्यं श्रुताद्यतिशययुक्तमाचार्यं बहु शेषमवबुध्य; ततः सुबहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् विहारमभ्युद्यतं भजति, प्रतिपद्यत इत्यर्थः । बृ० १ उ० । ('जिणकप्पिय' शब्देऽस्य विधिः)

अब्भुज्जयमरण-अभ्युद्यतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तच्चत्रिविधमिति अनन्तरमुक्तम् । बृ० १ उ० । नि० चू० । पं० व० । संथा० । (पादपोपगमनादिषु वक्तव्यताऽस्य)

अब्भुज्जयविहार-अभ्युद्यतविहार-पुं० । अभ्युद्यतानां जिनकल्पिकादीनां विहारे, पं० व० ४ द्वा० । बृ० । (स च त्रिविध इति ' अब्भुज्जय ' शब्दे उक्तम्)

अब्भुट्ठाण-अभ्युत्थान-न० । आभिमुख्येनोत्थानमुद्गमनमभ्युत्थानम् । ग० २ अधि० । उत्त० । तदुचितस्यागतस्य आभिमुख्यमुत्थाने, पञ्चा० १७ विव० । दश० । द्वा० । विनयार्हस्य दर्शनादेवाऽऽसनत्यजने, स्था० ७ ठा० । ससंभ्रममासनमोचने, उत्त० ३ अ० । व्य० । प्रव० ।

एष दर्शनविनयभेद इत्थं समाचरणीयः—

अब्भुट्ठाणे लहुगा, पासत्थादन्नतित्थीणं ।
संजइणीण पुणो तह, संजइवग्गे य गुरुगा उ ॥

साधुभिः साधूनामेवाभ्युत्थानं विधेयं न गृहस्थादीनां, तत्रापि संविग्नानामेव न पार्श्वस्थादीनाम् । अथ पार्श्वस्थादीनामन्यतीर्थिकानां गृहिणां वाऽभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो लघवः । तथा संयत्यादीनामन्यतीर्थिनीनां संयतवर्गस्य अभ्युत्थाने चतुर्गुरवः ।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयति—

उड्डेइ इत्थि जइ एस चिंति,धम्मे ठिओ नाम न एस साहू ।
दक्खिन्नपन्ना वसमेइ चेवं, मिच्छत्तदोसा य कुलिंगिणीसु ॥

संयतं कस्या अपि स्त्रिया अभ्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा श्रावकादिश्चिन्तयेत्-यदैष साधुः स्त्रियमायान्तं दृष्ट्वा अभ्युत्तिष्ठति । तथा नामेति संभावनायाम् । संभावयाम्यहं नैष सम्यग्धर्मे श्रुतचारित्रात्मके स्थितः, अन्यथा किमेष एनामभ्युत्तिष्ठेत ?। अपि च-एवं स्त्रिया अभ्युत्तिष्ठन् दाक्षिण्यवान् भवति । दाक्षिण्यपन्नत्वे तस्या वशमायत्ततामुपैति । ततश्च ब्रह्मचर्यविराधनादयो दोषाः । यास्तु कुलिङ्गिन्यस्ताः परिव्राजिकाप्रभृतयः, तासु-अभ्युत्थीयमानासु यथा भद्रकादीनां मिथ्यात्वगमनादयो दोषा भवन्ति ।

अन्यतीर्थिकेषु पुनरिमे दोषाः—

ओभावणा पवयणे, कुतित्थउब्भावणा अबोही य ।
खिंसिज्जंति य तप्प-क्खियाहि गिहिसुव्वया बलियं ॥

भो भागवत! सौगतादीनामन्यतीर्थिकानामभ्युत्थाने प्रवचनस्यापभ्राजना भवति-अहो !निस्सारं प्रवचनममीषां यदेवमन्यदर्शनिनामभ्युत्थानं विदधाति, तदीयस्य च कुतीर्थस्योद्भावना प्रभावना भवति-एतदेव दर्शनं शोभनतरं यदेवं जैना अप्येतत्प्रतिपन्नानभ्युत्तिष्ठन्तीति । (अबोहि य-त्ति) प्रवचनलाघवप्रत्ययं मिथ्यात्वमोहनीयं कर्मोपचित्य भवोदधौ परिभ्रमन् बोधिलाभं नासादयन्ति । ये च गृहिणः सुव्रताः शोभनाणुव्रतधारकाः, सुश्रावका इत्यर्थः, ते तत्पाक्षिकैः शाक्यादिपक्षपातिभिरुपासकैः,बालिकमत्यर्थं खिंसयन्ते-अस्माकमेव दर्शनं सर्वोत्तमं, भवदीयगुरूणामपि गौरवार्हत्वात् ।

एए चेव य दोसा, सविसेसयरऽन्नतित्थिणीसुं पि ।

लाघवअणुज्जियत्तं, तहागयाणं अवण्णो य ॥

एते एव दोषाः प्रवचनापभ्राजनादयोऽन्यतीर्थिकीष्वपि भवन्ति, नवरं सविशेषतराः शङ्कादिभिर्दोषैः समधिकतरा मन्तव्याः । गृहिणामन्यतीर्थिकादीनां चाभ्युत्थाने सामान्यत इमे दोषाः। तद्यथा-लाघवमेतेभ्योऽप्ययं हीन इत्येवं लक्षणो लघुभाव उपजायते । अनूर्जितत्वं वराकत्वमुपदर्शितं भवति । तथाहि-लोको ब्रूयात् अहो ! अदत्तादानाः श्वान इव वराका अमी यदेवमाहारादिनिमित्तमवितरकाणामपि चाटूनि कुर्वन्ति । तथा तेन यथावस्थितपदार्थोपलम्भात्मकेन प्रकारेण गतं ज्ञानमेषां तथागताः, सद्भूतार्थवेदिनस्तीर्थकरा गणधरा इत्यर्थः । तेषामवर्णवादो भवति । यथा-नामी सम्यग्मोक्षमार्गं दृष्टवन्तः ।

अथ संयतीनामभ्युत्थाने दोषान् विशेषतो दर्शयन्नाह—

पायं तवस्सिणीओ, करेंति किइकम्म मो सुविहियाणं ।
एसुत्तिट्ठइ वतिणिं, जवियव्वं कारणेणेत्थ ॥

संयतीमभ्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा कश्चिदभिनवधर्मा चिन्तयेत्-प्रायस्तपस्विन्यः संयत्यः सुविहितानां कृतिकर्म कुर्वन्ति । 'मो' इति पादपूरणे । एष पुनर्व्रतिनीमुत्तिष्ठति, तद्भवितव्यमत्र कारणेनेति । एवं शङ्कायां चतुर्गुरु, निःशङ्किते मूलम्, यत एते दोषास्ततो नैषामभ्युत्थानं विधेयम् ।

अथ येषामभ्युत्थातव्यं तदभ्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्तमभिधित्सुराह—

आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि तहेव होइ खुड्डे य ।
गुरुगा लहुगा लहुगो, भिन्ने पडिलोमवितिएणं ॥

आचार्ये अभिषेके भिक्षौ तथैव क्षुल्लके; आचार्यादीन् प्राघुणिकान् यथाक्रममनभ्युत्तिष्ठति गुरुका लघुका लघुको भिन्नमासश्चेति प्रायश्चित्तानि । द्वितीयादेशेन इदमेव प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं प्रतीपक्रमेणाचार्यादीनां वक्तव्यम् । आचार्यस्य भिन्नमासः, अभिषेकस्य लघुमासः, भिक्षोः चतुर्लघवः, क्षुल्लकस्य चतुर्गुरव इति भावः । एवं संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

आयरियस्सायरियं, अणुट्ठयंतस्स चउगुरू होंति ।
वसभे भिक्खुक्खुड्डे, लहुगा लहुगो य भिन्नो य ॥

आचार्यस्य आचार्यं प्राघूर्णकमायान्तमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरवो भवन्ति, वृषभमनुत्तिष्ठतः चतुर्लघुकाः, क्षुल्लकमनुत्तिष्ठतो लघुकः, भिक्षुमनुत्तिष्ठतो भिन्नमासः । एवमाचार्यस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

शेषाणामतिदिशति-

सट्ठाणपरट्ठाणे, एमेव वसभभिक्खुखुड्डाणं ।
जं परठाणे पावइ, तं चेव य सोवि सट्ठाणे ॥

एवमेव वृषभभिक्षुक्षुल्लकानामपि स्वस्थानपरस्थाने प्रायश्चित्तं वक्तव्यम्, स्वस्थानं नाम वृषभस्य वृषभस्थानं, वृषभस्याचार्यो भिन्नस्थानम् । एवं भिक्षुक्षुल्लकयोरपि स्वस्थानपरस्थानभावना कर्तव्या । अत्र च यत्परस्थाने आचार्यः प्राप्नोति तदसावपि वृषभादिः स्वस्थाने प्राप्नोति । किमुक्तं भवति-वृषभस्य प्राघूर्णकमाचार्यमनभ्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरुकाः, वृषभस्यानभ्युत्थाने चतुर्लघवः, भिक्षोरनभ्युत्थाने मासलघु, क्षुल्लकस्यानभ्युत्थाने भिन्नमासः । एवं भिक्षुक्षुल्लकयोरपि मन्तव्यम् । अत्र परस्थानमाचार्यस्य वृषभादयः, तेषामभ्युत्थाने यथाऽसौ चतुर्लघुकादिकमापन्नवान् तथा वृषभादयोऽपि स्वस्थानमनभ्युत्तिष्ठन्तस्तदेव प्राप्नुवन्ति ।

अथैतदेव प्रायश्चित्तं तपःकालाभ्यां विशेषयन्नाह-

दोहिँ वि गुरुगा एते, आयरियस्स तवेण कालेण ।
तवगुरुगा कालगुरू, दोहि वि लहुगा य खुड्डस्स ॥

आचार्यस्यैतानि चतुर्गुरुकादीनि प्रायश्चित्तानि, द्वाभ्यामपि गुरुकाणि कर्तव्यानि । तद्यथा-तपसा, कालेन च वृषभस्य तपोगुरुकाणि । भिक्षोः कालगुरुकाणि, क्षुल्लकस्य द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुकानि ।

अहवा अविसिट्ठं चिय, पाहुणयागंतुए गुरुगमादी ।
पावेंति अणुट्ठिंता, चउगुरु लहुगा लहुगभिन्नं ॥

अथवेति प्रायश्चित्तस्य प्रकारान्तरताद्योतकः । अविशिष्टमेवाचार्यादिभिर्विशेषैर्विरहितं प्राघूर्णकमागन्तुकमनुत्तिष्ठन्तो गुर्वादय आचार्यप्रभृतयो यथाक्रमं चतुर्गुरुकचतुर्लघुकलघुमासभिन्नमासान् प्राप्नुवन्ति । तद्यथा-आचार्यस्य यं वा तं वा प्राघूर्णकमागतमनभ्युत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, वृषभस्य चतुर्लघु, भिक्षोर्लघुमासः, क्षुल्लकस्य भिन्नमास इति ।

अहवा जं वा तं वा, पाहुणगं गुरुमणुट्ठिहं पावे ।
भिन्नं वसभो सुक्कं, भिक्खु लहू खुड्ड चउगुरुगा ॥

अथवा यं वा तं वा प्राघूर्णकमनुत्तिष्ठन् गुरुराचार्यो भिन्नमासं प्राप्नोति, वृषभः शुक्लमासं, लघुमासमित्यर्थः । भिक्षुश्चतुर्लघुकम्, क्षुल्लकः चतुर्गुरुकम् । एतेन " पडिलोमवितिएणं ति " पदं व्याख्यातम् ।

अथ किमर्थमयं द्वितीयादेशः प्रवृत्तः ?, इत्याह-

वायणवावारणध-म्मकहणसुत्तत्थचिंतणासुं च ।
वाउलिए आयरिए, बिइयादेसो उ भिन्नाई ॥

इहाचार्यस्यानेकधा व्याक्षेपकः। तद्यथा-वाचनानामनुयोगः । सा विनेयानां दातव्या । व्यापारणं साधूनां वैयावृत्त्यादिषु यथायोग्यं विधेयम् । श्राद्धानां धर्मकथनं विधातव्यम् । भूयस्सूत्रार्थयोश्चिन्तनानुप्रेक्षाः कर्तव्याः । एवमादिषु कार्येषु निरन्तरमाचार्यो व्याकुलितो भवति । वृषभादयस्तु न तथा व्याकुला इत्यतोऽयं भिन्नमासादिर्द्वितीय आदेशः प्रवृत्तः । इयमत्र भावना-आचार्यो बहुव्याकुलतया प्राघुणकमागच्छन्तं दृष्ट्वाऽपि नाभ्युत्थानं पारयेत्; अतस्तस्य स्वल्पतरं प्रायश्चित्तम् । वृषभभिक्षुक्षुल्लकास्तु यथाक्रममल्पाल्पतराल्पतमव्याक्षेपाः, ततो लघुमासादीनि प्रभूतप्रभूततरप्रभूततमानि तेषां प्रायश्चित्तानीति ।

अथ क्षुल्लकस्य गुरुतमप्रायश्चित्तदाने विशेषकारणमाह-

वेसइए लहुमुट्ठइ, धूलीधवलो असंफुडो खुड्डो ।
इति तस्स होंति गुरुगा, पालेइ हु चंचलं दंमो ॥

क्षुल्लको बालः स लघुशरीरतया सुखेन उपविशति, उत्तिष्ठति वा; क्रीडनशीलतया च प्रायेण धूलीधवलो रजोगुण्ठितदेहः, असंस्फुटश्चासंवृतोऽसौ भवति । अतो यद्यसावपि प्राघुणकमागतं नोत्तिष्ठति महद्दूषणमाप्नोति । अत एतस्य चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तम् । किञ्च-यश्चञ्चलः स्वभावाच्चपलोऽपि

सन् गुर्वादीनां नाभ्युत्तिष्ठति; तं दण्डः प्रायश्चित्तलक्षणो दीयमानः पालयति, चञ्चलत्वमपनयतीत्यर्थः ।

अपि च—

जइ ता दंमत्थाणं, पावइ बालो वि पयणुए दोसे ।
हणु दाणिं अक्खमणं, पमाइउं रक्खणा सेसे ॥

बालस्यापि गुरुके प्रायश्चित्ते दत्ते सति शेषसाधवश्चिन्तयेयुः- यदि तावदयं बालोऽपि प्राघूर्णके अनभ्युत्थानमात्रलक्षणे प्रतनुके स्वल्पेऽप्यपराधे एवं दण्डस्थानं प्राप्नोति । (हणु दाणिं ति) तत इदानीमस्माकं प्रमत्तुमभ्युत्थाने प्रमादं कर्तुमक्षमनुचितमिति शेषसाधुवर्गस्यापि रक्षणं कृतं भवति । आह-अभ्युत्थानमकुर्वतामात्मसंयमयोस्तावत्काचिदपि विराधना नास्ति ततः किंकारणमेवमेवं प्रायश्चित्तं दीयते ? ।

उच्यते-

दिट्ठंतो दुवखरए, अब्भुट्ठितेहिँ जह गुणो पत्तो ।
तम्हा उट्ठेयव्वो, पाहुणओ गच्छ आयरिओ ॥

इह प्राघूर्णकमाचार्यमनुत्तिष्ठन् भगवतामाज्ञामतिक्रामति। तथाचात्र द्रुमक्करकेण दासेन दृष्टान्तः-" एगो राया, से केणइ दुअक्खरएणं आराहिओ। रण्णा से पट्टं बंधिउ पहाणं रज्जं दिण्णं। तत्थ दंमभडभोइयाइणो अ दुअक्खरो त्ति काउं परिभावेणं तस्स अब्भुट्ठाणाइयं न करेंति। ताहे तेण ते अणब्भुट्ठेंता दंमिया,मारिया य। जे विणीया ते अब्भुट्ठिंति, तेसिं तेण परितुट्ठेण रज्जसंविभागो दिण्णो "। अथार्थोपनयः-यथा तैरभ्युत्तिष्ठद्भिरिह लोके गुणः प्राप्तः तथा साधवोऽपि प्राघूर्णकमाचार्यमभ्युत्तिष्ठन्त इह परत्र च गुणानासादयन्ति, तस्मात्प्राघूर्णक आचार्यः सकलेनापि गच्छेनाभ्युत्थातव्यः ।

अमुमेव द्व्यक्षरदृष्टान्तं व्याख्यानयति-

आराहितो रज्जं सपट्टबंधं, कासी य राया उ दुवक्खरस्स ।
पत्तासमाणं सुकुलीणमादी, नाढंति तं तेण य ते विणीया ॥

आराधितः केनापि गुणविशेषेण परितोषं प्रापितः सन् राजा द्व्यक्षरकस्य सपट्टबन्धं राज्यमकार्षीत्, पट्टबन्धनृपतिं तं विहितवानिति भावः । ततः तं द्व्यक्षरकराजं राज्यं प्रशासतं कुलीनादयो नाद्रियन्ते, वयं कुलीनाः, अयं तु हीनकुलोत्पन्नः आदिशब्दात् वयं प्रधानपुरुषाः, अयं पुनः कर्मकर इत्यादि परिभवबुद्ध्या नाभ्युत्थानादिकमादरं तस्य कुर्वन्ति,ततः ते तेन राज्ञा विनीताः शिक्षां प्रापिताः, ' विनयः शिक्षाप्रणत्योः ' इति वचनात् ।

कथं शिक्षिताः ?, इत्याह-

सव्वस्सं हाऊणं, निज्जूढा मारिया य विवदंता ।
जोगेहिँ संविभत्ता, अणुकूलअणुल्लणा जे उ ॥

सर्वस्वमपहृत्य ते स्वनगरान्निर्यूढा निष्काशिताः, ये च तत्र निष्काश्यमाना विवदन्ते-किमस्माभिरपराद्धं यो यो द्व्यक्षरको भविष्यति तस्य तस्य किं वयमभ्युत्थानं करिष्यामः ?, इत्यादि कलहायन्ते, ते विवदमाना मारिताः । ये तु तत्रानुकूला अभ्युत्थानादिकारिणोऽनुल्वणा अगर्वितास्ते भोगैः संविभक्ताः, राज्यभोगसंविभागस्तेषां कृतः । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः-

अहिराया तित्थयरो, इयरो उ गुरू उ होइ नायव्वो ।
साहू जहा व दंमिय, पसत्थमपसत्थगा होंति ॥

यथा अधिराजो मौलपृथिवीपतिः, तथा तीर्थकरः, यथा इतरो द्व्यक्षरकराजः, तथा तीर्थकराधिराजेनैवानुज्ञाताचार्यः पदपट्टबन्धमहितगणाधिपत्यराज्ये गुरुराचार्यो ज्ञातव्यो भवति । यथा च ते प्रशस्ताप्रशस्तरूपा दण्डिकास्तथा साधवोऽप्युभयस्वभावा भवन्ति ।

तत्र-

जह ते अणुट्ठिहंता, हियसव्वस्सा उ दुक्खमाभागी ।
इय णाणे आयरियं, अणुट्ठिहंताण वोच्छेदो ॥

यथा ते दण्डभटभोजिकादयो द्व्यक्षरकनृपतिमनुत्तिष्ठन्तो हृतसर्वस्वा ऐहिकस्य दुःखस्याभागिनः संजाताः । इत्येवमाचार्यमप्यनुत्तिष्ठतां दुर्विनीतसाधूनां ज्ञाने, उपलक्षणत्वाद्दर्शनचारित्रयोश्च व्यवच्छेदो भवति । ततश्चानेकेषां जन्मजरामरणादिदुःखानामाभोगिनस्ते संजायन्ते, एषोऽप्रशस्तोपनयः ।

अथ प्रशस्तोपनयः-

उट्ठाणसिज्जासणमाइएहिं,गुरुस्स जे होंति सयाऽणुकूला ।
नाउं विणीए अह ते गुरू उ, संगिण्हई देइ य तेसिँ सुत्तं ॥

उत्थानं-गुरुमागच्छन्तं दृष्ट्वा ऊर्ध्वं भवनं, शय्या सुन्दरावकाशे गुरूणां संस्तारकरचनम्, आसनमुपवेशनयोग्यनिषद्यादिरचनम्। यद्वा-(सेज्जासणं ति) गुरूणां शय्याया आसनाच्च नीचतरशय्यासनयोराश्रयणम् । आदिशब्दादञ्जलिप्रग्रहणादिपरिग्रहः । एवमादिभिर्विनयभेदैर्ये शिष्याः सदैव गुरोरनुकूला भवन्ति तान् विनीतान् ज्ञात्वा, अथानन्तरं गुरुः संगृह्णाति । मयैते सम्यक्पालनीया इत्येवं संग्रहबुद्ध्या स्वीकरोति, सूत्रं च तेषां प्रयच्छति, ततश्च ते इह परत्र च कल्याणपरम्पराभाजनं जायन्ते ।

अथ प्रशस्तोपनयं विशेषतो भावयन्नाह-

पज्जायजाईसुतओ य वुड्ढा,जच्चन्निआ सीससमिद्धिमंता ।
कुव्वंतऽवण्णं अह ते गणाउ, निज्जूहई नो य ददाइ सुत्तं ॥

पर्यायतो ये वृद्धास्ते अवमराणिकोऽयमिति बुद्ध्वा, जातिमधिकृत्य ये वृद्धाः, षष्टिवर्षजन्मपर्याया इत्यर्थः,ते बालकोऽयमिति बुद्ध्वा,श्रुतश्च तमङ्गीकृत्य ये वृद्धास्तेऽल्पश्रुतोऽयमिति कृत्वा, जात्यन्विता विशिष्टजातिसंभूता हीनजातिकुलोऽयमिति मत्वा, शिष्यसमृद्धिमन्तः परिवारसंपदुपेता अल्पपरिवारोऽयमिति बुद्ध्वा, गुरोरवज्ञामनभ्युत्थानलक्षणां कुर्वन्ति । अथैवमवज्ञाकरणानन्तरं गुरुस्तान् स्वगच्छनगरान्निर्यूहति । ये च बहुपाक्षिकत्वादिभिः कारणैर्निर्यूहयितुं न शक्यन्ते, तेषां भोगसंविभागकल्पसूत्रं श्रुतं न प्रयच्छति । एवं तावत्प्राघूर्णकमाचार्यमङ्गीकृत्याभ्युत्थानानभ्युत्थानयोर्गुणदोषा उपवर्णिताः ।

अथ सामान्यतो गच्छमध्ये स्थितस्यैवाचार्यस्यानभ्युत्थाने दोषमाह--

मज्झत्थ पोरिसीए, लेवे पमिलेह आइयण धम्मे ।
पयल गिलाणे सह उ-चपट्ठ सव्वेसिँ उट्ठाणं ॥

आचार्यमागच्छन्तं दृष्ट्वा गच्छसाधवो मध्यस्थास्तिष्ठन्ति, ततः

पूर्वोक्तमेव प्रायश्चित्तम् । सूत्रार्थपौरुषी लेपप्रदानं प्रतिलेखनम् (आइयणं ति) 'आदानं' समुद्देशनं धर्मकथां वा विदधानाः प्रचलायमाना वा नाभ्युत्तिष्ठन्ति । अत्रापि तदेव वृषभादिविषयं प्रायश्चित्तम् । ग्लानो वा उत्तमार्थप्रतिपत्तौ वा शक्तौ सत्यां यदि नोत्तिष्ठति तदा तस्यापि प्रायश्चित्तम् । यत एवमतः सर्वेषामभ्युत्थानं भवति । इदमत्र हृदयम्-आचार्याणामनभ्युत्थाने सूत्रपौरुषीकरणादीनि कदालम्बनानि, यथा ममायमालापकोऽर्द्धपठितो वर्तते, लेपो वा पात्रके नाद्यापि परिपूर्णो दत्तः, प्रतिलेखनादिकं वा सम्प्रति कुर्वाणोऽस्मि; ग्लानो वा कृतभक्तप्रत्याख्यानो वा ऽहमस्मीति, किन्तु सर्वैरपि सूत्राध्ययनादिव्यापारं परिहृत्याभ्युत्थातव्यम्, एवं तावदुपाश्रये विधिरभिहितः ।

अथाऽन्यत्र गृहादौ रथ्यादिषु वा यत्र दृश्यते तत्रायं विधिः-

दूरागयमुट्ठेउं, अभिनिग्गंतुं नमंति णं सव्वे ।
दंडग्गहणं च मोत्तुं, दिट्ठे उट्ठाणमन्नत्थे ॥

दूरादाचार्यमागतं दृष्ट्वा आभिमुख्येन निर्गत्य सर्वेऽपि साधवो (णमिति) एनमाचार्यं नमन्ति शिरसा वन्दन्ते, यदा च गुरव उपाश्रयं प्रविशन्ति तदा दण्डकग्रहणमपि कर्त्तव्यम्, अन्यत्र तु गृहादौ दृष्टे गुरौ दण्डकग्रहणं मुक्त्वा अभ्युत्थानमेव कर्त्तव्यम् ।

एवमभ्युत्थाने के गुणाः ?, इत्याह—

परपक्खो य सपक्खो, होइ अगम्मत्तणं च उट्ठाणे ।
सुयपूयणा थिरत्तं, पभावणा निज्जरा चेव ॥

परपक्षः परपाखण्डिनः, स्वपक्षः पार्श्वस्थादिवर्गः, तयोरगम्यत्वमनभिभवनीयता गुरोरभ्युत्थाने भवति, तथा गुरवो बहुश्रुता भवन्तीति श्रुतपूजनमपि कृतं स्यात् । अन्येषामभ्युत्थानादौ विनये सीदतां स्थिरत्वमनुष्ठितं भवति । प्रभावना च शासनस्यैवं कृता भवेत्-अहो ! शोभनमिदं प्रवचनं यत्रैवंविधो विनयो विधीयते, निर्जरा च कर्मक्षयरूपा विपुला भवति, विनयस्याभ्यन्तरतपोभेदत्वात् तस्य च निर्जरानिबन्धनतया सुप्रतीतत्वात् ।

आह-यः प्रव्रजितः सर्वपापोपरतस्तस्य किं नाम विनयेन कार्यम् ?, इति उच्यते—

अकारणा नत्थिह कज्जसिद्धी,
नयाऽणुवाएण उ वेंति तण्णा ।
उवायवं कारणसंपउत्तो,
कज्जाणि साहेइ पयत्तवं च ॥

अकारणा कार्यस्य सिद्धिरिहास्मिन् जगति नास्ति, यद्यस्य कार्यस्योपादानं कारणं तत्तेन विना न सिध्यतीत्यर्थः । यथा मृत्पिण्डं विना घट इति । कारणसद्भावेऽपि नच नैव, अनुपायेन उपायाभावेन कार्यं भवतीति तज्ज्ञाः कार्यसिद्धिवेदिनो वदन्ति । यथा मृत्पिण्डसद्भावेऽपि चक्रचीवरोदकाद्युपायमन्तरेण घटो न सिद्ध्यति; यः पुनः उपायवान् कारणसंयुक्तः प्रयत्नवान् भवति स साधयति, यथा कुम्भकारो मृत्पिण्डमासाद्य चक्रचीवराद्युपायसान्निध्यजनितोपष्टम्भः स्वहस्तव्यापारणरूपं प्रयत्नं कुर्वन् घटं निर्मातीति ।

आह-यद्येवमुपायकारणयुक्तः कार्याणि साधयति ततस्तु ते किमायातम् ?, इत्याह—

धम्मस्स मूलं विणयं वयंति,
धम्मो य मूलं खलु सोग्गईए ।
सा सोग्गई जत्थ अवाहया उ,
तम्हा निसेव्वो विणयो तदट्ठा ॥

धर्मस्य श्रुतचारित्ररूपस्य मूलं प्रथममुत्पत्तिकारणं विनयमभ्युत्थानादिरूपं वदन्ति, तीर्थकरादय इति गम्यते । स च धर्मः, खलुरवधारणे, सुगतेर्मूलं कारणं मन्तव्यम् । दुर्गतौ प्रपतन्तं प्राणिनं धारयति सुगतौ च स्थापयतीति निरुक्तिसिद्धत्वात्, तस्येति भावः । अथ सुगतिः कीदृशी गृह्यते ?, इत्याह—सा सुगतिरभिधीयते-यत्राबाधना, क्षुत्पिपासारोगशोकादीनां शारीरमानसानां बाधानामत्रावसिद्धिरित्यर्थः । यत एवं तस्मात्तदर्थं सुगतिनिमित्तं विनयो निषेव्यः । इदमत्र हृदयम्-इह कार्यं तावदव्याबाधसुखलक्षणो मोक्षः, तस्य च कारणं श्रुतचारित्ररूपः सर्वज्ञभाषितो धर्मः सद्गुरोरभ्युत्थानवन्दनादिविनयलक्षणमुपायमन्तरेण न साधयितुं शक्यते । अतः परम्परया मोक्षकारणमेवायमिति मत्वा तदर्थं विनय आसेव्यत इति ।

आह-युक्तं पौरुषीलेपप्रदानादिकारणादभ्युत्थानम्, ग्लानोत्तमार्थप्रतिपन्नयोस्तु किमर्थमभ्युत्थानम् ?, उच्यते-

मंगलसद्धाजणणं, विरियायारो न हाविओ चेव ।
एएहिँ कारणेहिं, अतरंतपरिण्णउट्ठाणं ॥

अतरन्तो ग्लानः (परिन्न त्ति) मतुप्प्रत्ययलोपात् परिज्ञावान् अनशनी, एतया गुरूणामभ्युत्थाने मङ्गलं भवति, ततश्च ग्लानस्याचिरादेव प्रगुणीभवनं, कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य तु निर्विघ्नमुत्तमार्थसाधनं स्यात् । यथा ग्लानपरिज्ञा भवति तथा गुरुमभ्युत्तिष्ठति, शेषाणामभ्युत्थाने श्रद्धाजननं विहितं, यदेषोऽप्येवं गुरुमभ्युत्तिष्ठति, ततोऽस्माभिः सुतरामभ्युत्थातव्यम् । अपि च-एवं कुर्वता ग्लानेन परिज्ञावता च वीर्याचारो न हापितो भवति, अत एतैः कारणैरेताभ्यामभ्युत्थातव्यम् ।

(अभ्युत्थानाकरणे प्रायश्चित्तम्)

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमुपदर्शयन्नाह-

चंकमणे पासवणे, वीयारे साहु संजई सन्नी ।
सन्निणि वाइ अमच्चे, संघे वा रायसहिए वा ॥
पणगं च भिन्नमासो, मासो लहुगो य होइ गुरुगो य ।
चत्तारि छट्ठ लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

इह प्रथमगाथायाः द्वितीयगाथायाश्च पदानां यथासंख्येन योजना । तद्यथा-आचार्यं चङ्क्रमणं कुर्वाणं दृष्ट्वा नाभ्युत्तिष्ठति पञ्चकं पञ्च रात्रिंदिवानि प्रायश्चित्तम्, प्रस्रवणभूम्यामागतं नाभ्युत्तिष्ठति भिन्नमासः, विचारसंज्ञां कृत्वा समागतस्यानभ्युत्थाने मासगुरु, संयतीभिः सार्द्धमागतस्यानुत्थाने चतुर्लघु, संज्ञिनः श्रावकाः, तैः सममायातमनुत्तिष्ठतश्चतुर्गुरु, असंज्ञिभिः सममायातस्यानभ्युत्थाने षड्लघु, संज्ञिनीभिरसंज्ञिनीभिश्च स्त्रीभिः सममायान्तमनभ्युत्तिष्ठतः षड्गुरु । वादिना सार्द्धमायाते अनभ्युत्थिते छेदः, अमात्येन सार्द्धमागते मूलम्, संघेन सार्द्धं समायाते अनुत्थिते अनवस्थाप्यम्, राज्ञा सहितं सूरिमागतमनुत्तिष्ठतः पाराञ्चिकम् ।

अथ किमर्थं स्त्रीभिः सममायाते गुरुतरं प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते-

पूयंति पूइयं इ-त्थियाउ पाएण ताउ लहुसत्ता ।

एएण कारणेणं, पुरिसेसुं इत्थिया एत्थ ॥

इह स्त्रियः प्रायेण पूजितं पूजयन्ति, यमेवाचार्यादिकं साधुश्रावकादिभिरभ्युत्थानादिना पूज्यमानं पश्यन्ति तस्यैव पूजां विदधति, ताश्च स्त्रियः प्रायेण लघुसत्त्वास्तुच्छाशया भवन्ति। ततः साधुभिरनभ्युत्थीयमानमाचार्यं गाढतरं परिभवबुद्ध्या पश्यन्ति, न किमप्येष आचार्यो जानाति, नवाऽयं विशिष्टगुणवान् संभाव्यते, अन्यथा किमेते साधवो नाभ्युत्तिष्ठन्ति, एवमेतेन कारणेन पुरुषेषु साधुश्रावकादिषु पूर्वं लघुतरप्रायश्चित्तमुक्त्वा पश्चात् स्त्रियोऽधिकृत्य गुरुतरमुक्तम् ।

अथ राज्ञा सार्द्धं समागतस्यानभ्युत्थाने किं कारणं पाराञ्चिकम् ?, इत्याह–

पाएणिड्ढी एंति महायणेण समं फातिं दोसो गच्छइ एएसु तणु वि गज्भं वक्कं होज्ज कहं वा परिभूते वेमुज्जं वा कुत्थियवेसम्मि मणुस्से वट्टा ॥

राजादय ऋद्धिमन्तः प्रायेण बाहुल्येन महाजनेन सामन्तमाण्डलिकामात्यादीनां महता समवायेन समं समागच्छन्ति, तत एतेषु तनुरपि स्वल्पोऽपि अनभ्युत्थानमात्रलक्षणो दोषः स्फातिं गच्छति, सर्वत्र विस्तरतीति भावः। अपि च-साधुभिरनभ्युत्थीयमाने आचार्यः परिभूतो भवति, परिभवपदमुपगच्छतीत्यर्थः। परिभूतस्य च वाक्यं वचनं कथं नाम राजादीनां ग्राह्यमुपादेयं भवेत्?, वैडूर्यमिव रत्नं कुत्सितवेषे कार्पटिकवेषधारिणि मनुष्ये वर्तमानं यथा तदीये हस्ते स्थितं सदनर्घ्यमपि तत्र जनस्योपादेयम्, एवं गुरूणामपि धर्मकथावाक्यं गाम्भीर्यमाधुर्यगुणैरनर्घ्यमपि परिभूततया न राजादीनामुपादेयं भवति । तदनुपादेयतायां च तेषां सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिरपि न भवति, अतो राज्ञा सार्द्धं समायाते अनभ्युत्थीयमाने पाराञ्चिकम् ।

परः प्राह–युक्तं प्रश्रवणभूम्यादेरागतस्याभ्युत्थानम्, यत्तु चङ्क्रमणं कुर्वतोऽभ्युत्थानं तदस्माकं युक्तिक्षमं प्रतिभाति ।

यतः–

अवस्सकिरियाजोगे, वट्टंते साहुपूजया ।
परिफग्गुं तु पासामो, चंकमंते वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवश्यंकर्तव्यः क्रियायोगस्तत्र वर्तमानो यदा समागच्छति तदा साध्वी श्रेयसी तस्य पूज्यता । यदा तु चङ्क्रमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्तते । अतश्चङ्क्रमत्यपि गुरौ यदुत्थानं तत्परिफल्गु निर्मूलमेव पश्यामः। यतउक्तं भगवत्याम्-" जावं च णं से जीवे आरंभे वट्टइ संरंभे वट्टइ तावं च णं तस्स जीवस्स अंतकिरिया न भवइ " ॥

अत्र सूरिप्रतिविधानमाह–

कामं तु एज्जमाणो, आरंभाईसु वट्टई जीवो ।
सो उ अणट्ठी चट्ठो, अवि बाहूणं पि उक्खोवे ॥

काममनुमतं यदेष जीव एजमान आरम्भादिषु कर्मबन्धकारणेषु वर्तते, स तु स पुनः परस्पन्दोऽनर्थी निष्कारणं चेष्टो नाभिमतः । अपि बाह्वोरुत्क्षेपे बाहूत्क्षेपमात्रेऽपि, किं पुनः चङ्क्रमणादिरित्यपिशब्दार्थः । अर्थादापन्नं–यः सार्थकः चङ्क्रमणादिर्व्यापारः स इष्ट एवेति ।

अथ सार्थकोऽपि व्यापारः कथमिष्टः?, इत्यस्यां जिज्ञासायां यथा योगत्रयेऽपि व्यापार्यमाणे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति–

मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स य गुणावहा ॥

मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भवति, संक्षेपतस्त्रिधा योगो भवतीत्यर्थः । ते मनोवाक्काययोगा अयुक्तस्य अनुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय भवन्ति, युक्तस्य तु त एव गुणावहकर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते ।

इदमेव भावयति–

जह गुत्तस्सरियाई, न होंति दोसा तहेव समियस्स ।
गुत्तीठियप्पमायं, रुंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥

यथा किल मनोवाक्कायगुप्तस्य ईर्यादिप्रत्यया अनुपयुक्तगमनादिक्रिया समुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समितस्यापि चङ्क्रमणं कुर्वत ईर्यादिप्रत्यया दोषा न भवन्त्येव। किं कारणम्?, इत्याह–यदा किल गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो भवति तदा योऽगुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्तं निरुणद्धि, तन्निरोधाच्च तत्प्रत्ययकर्मापि न बध्नाति, यस्तु समितौ स्थितः सचेष्टस्य यः प्रमादो यश्च तत्प्रत्ययः कर्मबन्धस्तयोर्निरोधं विदधाति ।

परः प्राह–यो गुप्तः स समितौ भवत्युत नेति ?, यो वा समितः स गुप्तो भवत्युत नेति ?, ।

अत्रोच्यते–

समितो नियमा गुत्तो, गुत्ते समियत्तणम्मि भइअव्वो ।
कुसलवइमुदीरंतो, जं वइसमितो वि गुत्तो वि ॥

इह समितयः प्रतीचाररूपा इष्यन्ते, गुप्तयस्तु प्रतीचाराप्रतीचारोभयरूपाः। प्रतीचारो नाम कायिको वाचिको व्यापारः, ततो यः समितः सम्यग्गमनभाषणादिचेष्टायां प्रवृत्तः, स नियमाद् गुप्तो गुप्तियुक्तो मन्तव्यः । यत्र गुप्तः समितत्वे भक्तव्यो विकल्पनीयः, तत्र समितः कथं नियमाद् गुप्तः ?, इत्याह–कुशलां निरवद्यतादिगुणोपेतां वाचमुदीरयन् यस्माद्वाक्समितोऽपि गुप्तोऽपि। किमुक्तं भवति?–यः सम्यगनुविचिन्त्य निरवद्यां भाषां भाषते स भाषासमितोऽपि वाग्गुप्तोऽपि च भवति, गुप्तेरप्रतीचाररूपतयाऽप्यभिधानात्। अतः समितो नियमाद् गुप्त इति।

गुप्तः समितत्वे कथं भजनीयः ?, इत्याह–

जो पुण कायवईओ, निरुज्झ कुसलं मणं उदीरेइ ।
चिट्ठइ एक्कग्गमणा, सो खलु गुत्तो न समितो उ ॥

यः पुनः कायवाचौ निरुध्य कुशलं शुभं मन उदीरयन् एकाग्रमना धर्मध्यानाद्युपयुक्तचित्तः तिष्ठति स खलु गुप्त उच्यते, न समितः, प्रतीचाररूपत्वात्। यस्तु कायवाचौ सम्यक् प्रयुङ्क्ते स गुप्तोऽपि समितोऽपि मन्तव्यः ।

अथ समितिगुप्तीनां परस्परमवतारं दर्शयन्नाह—

वायगसमिई बिइया, तइया पुण माणसी भवे समिई ।
सेसा उ काइया उ, मणो उ सव्वासु अविरुद्धो ॥

वाचिकसमितिः, सा द्वितीया वाग्गुप्तिर्मन्तव्या । यदा किल भाषासमितो भवति तदा यथा भाषया असमितिप्रत्ययकर्मबन्धं निरुणद्धि तथा वाग्गुप्तिप्रत्ययमपि कर्मबन्धं निरुणद्धि, एवं भाषासमितिवाग्गुप्त्योरेकत्वम् । तृतीयं पुनरेष-

णाख्या समितिर्मानसी मानसिकोपयोगनिष्पन्ना। किमुक्तं भवति?-यदा साधुरेषणासमितो भवति,तदा श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्हस्तमात्रकधावनादिसमुत्थेषु शब्दादिषूपयुज्यते । अत एवास्या मनोगुप्तेश्चैकत्वं, शेषास्तु समितय ईर्याआदाननिक्षेपोच्चारादिपारिष्ठापनिकाख्याः कायिक्यः-कायचेष्टानिष्पन्नाः। अत एवासां तिसृणामपि कायगुप्त्या सहैकत्वम्।(मणो उ सव्वासु अविरुद्धो त्ति) मानसिक उपयोगः सर्वासु पञ्चस्वपि समितिष्वविरुद्धः, समितिबन्धकेऽप्यस्तीति भावः। अत एव मनोगुप्तस्य सर्वासां समितीनां मनोगुप्त्या सहैकत्वं मन्तव्यम् ।

आह-भिक्षार्थं गृहद्वारे स्थितस्य तत्राहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयतः श्रोत्रादिभिरुपयुक्तस्य भाषासमितिमनोगुप्त्येषणासमितीनां तिसृणामपि संभवो दृश्यते । अतः किमासामेकत्वमुतान्यत्वम्?, इत्याशङ्कयाऽऽह-

वयसमितो च्चिय जायइ, आहारादीणि कप्पणिज्जाणि।
एसणउवओगे पुण, सोयाई माणसी जवइ ॥

शङ्कितम्रक्षितादिदशदोषरहितं मया आहारमित्येषणासमितिभावसंयुक्तो यदा साधुराहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयति तदा वाक्समित एवासौ जायते, न पुनर्मनोगुप्तः, इत्येवकारार्थः। यदा तु श्रोत्रादिभिरेषणायामुपयोगं करोति तदा मानसी नाम गुप्तिर्भवेत, मनोगुप्तिरित्यर्थः। न पुनर्वाग्भाषासमितिः। इदमेव तात्पर्यम्-भाषासमितिः, मनोगुप्तिश्चेति द्वे समितिगुप्ती युगपन्न भवतः, किन्तु भिन्नकालं, यद्यपि च "मणो य सव्वासु अविरुद्धो त्ति" वचनाद् भाषासमितावपि मानसिकोपयोगः समस्ति, तथापि गौणत्वादसौ सन्नपि न विवक्ष्यत इति ।

अपि च-

जो वि य ठियस्स चेट्ठा, हत्थादीणं तु भंगियाईसु ।
सो वि य इरियासमिती, न केवलं चंकमंतस्स ॥

न केवलं चङ्क्रमतश्चङ्क्रमणं कुर्वत एव ईर्यासमितिः किन्तु स्थितस्य गमनागमनक्रियामकुर्वतो भङ्गिकादिषु भङ्गबहुलगमबहुलादिश्रुतेषु परावर्तमानेषु भङ्गकादिरचना ययाऽपि हस्तादीनां चेष्टा साऽपि परिस्पन्दरूपत्वादीर्यासमितिः प्रतिपत्तव्या। यच्च परेण प्रागुक्तं चङ्क्रमणं निरर्थकमित्यादि तत्परिहाराय चङ्क्रमणगुणानुपदर्शयति-

वायाई सट्ठाणं, वयंति कुविया उ संनिरोहेणं ।
लाघवमग्गिपमुत्तं, परिस्समजओ अचंकमतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्तं यश्चिरमेकस्थानोपवेशनलक्षणः संनिरोधः तेन कुपिताः स्वस्थानाच्चलिता ये वातादयो धातवस्ते चंकमतो भूयः स्वस्थानं व्रजन्ति। लाघवं शरीरे लघुत्वं उपजायते। अग्निपटुत्वं जाठरानलपाटवं च भवति। यस्तु व्याख्यानादिजनितः परिश्रमः तस्य जयः कृतो भवति। एते चङ्क्रमतो गुणा भवन्ति, अतो न निरर्थकं चङ्क्रमणम्।

आह यद्येवं ततः किमवश्यं तत्राभ्युत्थानं कर्तव्यमुत न?, इत्यत्रोच्यते-

चंकमतो पुण जइयं, मा पलिमंथो गुरुवितिकम्मि ।
पणिवायवंदणं पुण, काऊण सई जहाजोगं ॥

पुनःशब्दो विशेषणे। स चैतद्विशिनष्टि-प्रश्रवणविचारभूम्यादेरागतस्य गुरोः कर्तव्यमेवाभ्युत्थानम्। चङ्क्रमणे पुनर्भक्तं विकल्पितम्। कथम्?,इत्यत आह-मा सूत्रार्थपरावर्तनायाः परिमन्थो व्याघातो भवत्विति कृत्वा यदि गुरवो अनभ्युत्थानं वितरन्ति तदा नाभ्युत्थातव्यम्। परमेवं गुरुभिर्वितीर्णे सति सकृदेकवारमभ्युत्थानं विधाय प्रणिपातवन्दनशिरःप्रणामलक्षणं कृत्वा भगवन्! अनुजानीध्वमिति भणित्वा यथायोगं यथेप्सितं सूत्रार्थगुणनादिकं व्यापारं कुर्यात् । अथवा गुरवो न वारयन्ति ततो नियमादभ्युत्थातव्यम्।

पुनरपि परः प्रेरयति-यदि चङ्क्रमणाभ्युत्थाने सूत्रार्थपरिमन्थदोषो भवति तत इदमस्माभिरुच्यते-

अइमुट्ठुमिदं वुच्चइ, जं चंकमणे वि होइ उट्ठाणं ।
एवमकारिज्जंतो, भद्दगभोई व मा कुज्जा ॥

अतिसुष्ठुतीव मधुरजनोचितमिदं भवद्भिरुच्यते-यच्चङ्क्रमणेऽप्यभ्युत्थानं कर्तव्यं भवति। सूरिराह-एवं चङ्क्रमणविषयमभ्युत्थानमकार्यमाणो भद्रकभोजिकस्येव प्रसङ्गतो मा लोपमविनयं कार्षुरितिकृत्वा चङ्क्रमणेऽपि अभ्युत्थानं कार्यते। अथ कोऽयं भद्रकभोजिकः?, इत्युच्यते। "जहा-एगो भोइओ तस्स रन्ना तुट्ठेण गाममंडलं पसाएणं दिन्नं। सो तत्थ गतो, ताहे ते गामिल्लया तुट्ठा भद्दओ सामी लद्धो त्ति (ऋजुरित्यर्थः) तओ ते भोइयं विन्नवेंति-अम्हे तव पुत्ताणुपुत्तियं तिण्वा जाया, तो अम्हे चिंतणिज्ज त्ति काउं करं पुव्वपरिमाणाओ थोवतरं करेहि, भोइएण अब्भुवगयइ। अन्नया जं जं ते विन्नवेंति तो तं सो भद्दओ तेसिं गामेल्लयाणं अणुग्गहं करेइ। अइथोसत्थत्तणेण लद्धपसरा ते जहारिहं विणयं भंसिउमाढत्ता। ततो भोइयेण रुट्ठेण ते गामिल्लया दंमिया, केइ उद्दविया"। एस दिट्ठंतो। अयमत्थोवणओ-" चंकमणे अणब्भुट्ठाणे, सेसं पि विणियं परिहविज्ज, ततो रुट्ठो आयरिओ पच्छित्ते दंडिज्जा, जे य तत्थ अधत्तावराहिणो ते गच्छाओ निच्छुभिज्जा, विणयमकारिज्जंता य ते इह लोए परलोए य परिच्चत्ता भवंति । आयरिओ य सरणमुवगयाणं तेसिं न सरक्खणकारी भवइ, अओ चंकमणे वि ते अब्भुट्ठाणं कारिज्जंति "।

अपि च-

वसजाण होंति लहुगा, असारणे सारणे अपच्छित्ता ।
ते वि य पुरिसा दुविहा, पंजरजग्गा अभिमुहा य ॥

ये ते गुरुचङ्क्रमणादिषु नाभ्युत्तिष्ठन्ति तान् यदि वृषभा न सारयन्ति-कस्मादाचार्यान्नाभ्युत्तिष्ठथ?,ततो वृषभाणां चतुर्लघवः। अथ वृषभैः प्रतिनोदिताः परं ते न प्रतिशृण्वन्ति, ततः सारणे कृते सति वृषभा अप्रायश्चित्ताः,इतरे प्रायश्चित्तमापद्यन्ते। अनभ्युत्थाने असारणायां चामी दोषा भवन्ति-ये प्रतीच्छका उपसंपत्प्रतिपत्त्यर्थमायाताः ते द्विविधा पुरुषा भवन्ति-पञ्जरभग्नाः, संयमाभिमुखाश्च। तत्र गच्छे वसतां यदाचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणावच्छेदिकाख्यपदस्थपञ्चकस्य पारतन्त्र्यं यावत् परस्परं प्रतिनोदनाः, एतत् पञ्जरमुच्यते, एतस्मात् पञ्जराद्भग्ना निर्गताः पञ्जरभग्नाः। संयमाभिमुखास्तु-पार्श्वस्थादयवभग्नाश्चिह्नारिगच्छमारित्राभिलाषितात्संविग्नगच्छं प्रवेष्टुकामाः तत्र ये पञ्जरभग्ना आगतास्तेषामनभ्युत्थानविषयाः।

मुखयस्तु पार्श्वस्थाद्यप्रतिनोदनं दृष्ट्वा चिन्तयति-

जमा कटी अजुत्ता-णेण देइ अणुट्ठाणगे सोहीं ।
अनिरोहसुहो वासो, होहिइ णे इत्थ चिट्ठामो ॥

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे वसतामाचार्यस्य चङ्क्रमणादिषु वारं वारं अभ्युत्थानेन कटी भग्ना, अथासौ नाभ्युत्थीयते तदा शोधिं प्रायश्चित्तं प्रयच्छति, गाढं च खरपरुषैः खरण्टयति, अस्मिंस्तु गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरण्टना, अतोऽनिरोधोऽनियन्त्रणा, तेन सुखं सुखदायी वासोऽत्र 'णे' अस्माकं भविष्यति, तिष्ठामो वयमत्रेति कृत्वा तत्रैव तिष्ठेयुः, न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभग्गो न रोयए ते उ ।
अन्नत्थ वि सट्ठरत्तं, न लब्भई एति तत्थेव ॥

ये पुनरुद्यतचरणाः स्वल्पेऽप्यनभ्युत्थानादावपराधे सम्यक्प्रतिनोदनाकारिणः तान् पञ्जरभग्नो न रोचयति, न रुचिपथं प्रापयति । चिन्तयति च-अन्यत्रापि गच्छान्तरे स्वैरित्वं स्वातन्त्र्यं न लभ्यत इति विचिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति।

अत्र संयमाभिमुखोऽसौ समागतस्ततः किम् ?, इत्याह-

चरणोदासीणे पुण, जो विण्णट्ठाय आगतो समणो ।
सो तेसु पविसमाणो, सड्ढं वड्ढेइ ओजओ वि ॥

यः पुनः श्रमणश्चरणोदासीनान् पार्श्वस्थादीन् सुखशीलविहारिणो विप्रहाय संयमाभिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्तरीयेषु साधुषु प्रविशन् उभयेषामपि साधूनां श्रद्धां वर्द्धयति । तथाहि-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तदीयाः साधवः चिन्तयन्ति-एष "सुन्दरा अमी" इति परिज्ञायास्माकं मध्ये प्रविशति, अतः सुन्दरतरं कुर्महे । यस्मादपि गच्छादायातः तदीया अपि चिन्तयन्ति-अस्मान् सुखशीलानिति विज्ञायैव गच्छान्तरं गच्छति, अतो वयमुद्यता भवाम इति ।

अथासौ संयमाभिमुखस्तत्रापि सामाचारीहापनं प्रतिनोदनाया अभावं च पश्यति, ततश्चिन्तयति-

इत्थ वि मेराहाणी, एते वि हु सारवारणामुक्का ।
अन्ने वयइ अभिमुहो, तप्पच्चयनिज्जराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन्नित्यपिशब्दार्थः । मर्यादाया अभ्युत्थानादिसामाचार्या हानिरवलोक्यते, एतेऽपि च साधवः सारणवारणया मुक्ताः परिस्फुटं प्राक्तनगच्छसाधव इव निर्गलाः समीक्ष्यन्ते, अतः को नामामीषां समीपे स्थास्यतीति मत्वा स संयमाभिमुखः साधुरन्यान् गच्छान्तरीयान् साधून् व्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानिरिति चेत् ?, अत आह-तत्प्रत्यया-तस्य साधोः संयमानुपालनोपष्टम्भकारणहेतुका या निर्जरा, तस्या हानिः प्राप्नोति, सा न भवतीत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ?, इत्याह-

जहिं नत्थि सारणा वा-रणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि ।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेदं न कृतमित्येवंरूपा स्मारणा सारणा, अकर्तव्यनिषेधो वारणा, उपलक्षणत्वादन्यथा कर्तव्यमनाभोगादिना अन्यथा कुर्वतः सम्यक् प्रवर्तना प्रेरणा, वारितस्यापि पुनः पुनः प्रवर्तमानस्य खरपरुषोक्तिभिः शिक्षणं प्रतिनोदना; एताः सारणादयो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छो गच्छकार्याकरणादगच्छो मन्तव्यः । अत एव संयमकामिना संयमाभिमुखेन साधुना मोक्तव्योऽसौ, नाश्रयणीय इति भावः । गाथायां प्राकृतत्वादिकारस्य दीर्घत्वम् ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधित्सुः प्रस्तावनमाह—

अयमपरो उ विकप्पे, पुव्वावरवाहय त्ति ते बुद्धी ।
लोए वि अणेगविहं, णणु भेसज मो रुजोवसमे ॥

अयमग्रेतनगाथायां वक्ष्यमाणोऽपरः प्रायश्चित्तस्य विकल्पः प्रकारः । अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहतमिदम्, पूर्वमन्यादृशं प्रायश्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमन्यादृशमभिधीयते तदेतत् पूर्वापरविरुद्धमिति ते तव बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु लोकेऽपि रुजोपशमे विधातव्ये यथा त्रिफलात्रिकटुकादिभेदादनेकविधं भेषजं, 'मो' इति पादपूरणे । प्रयुज्यमानं दृष्टमेव, एवमत्राप्येकस्यैवानभ्युत्थानस्य तथा क्रमहाजनादिभेदेनानेकविधं प्रायश्चित्तमभिधीयमानं न विरुध्यते ।

इत्थं पराभिप्रायं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह—

वीयारसाहुसंजइ-निगमघमासंघरायसहिए तु ।
लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेदमूलदुगं ॥

आचार्यं विचारभूमेरागतं नाभ्युत्तिष्ठन्ति मासलघु, साधुभिः सममायातमनभ्युत्तिष्ठतां चतुर्लघवः, संयतीभिः समं चतुर्गुरवः, निगमैः पौरवणिग्विशेषैः समं षड्लघवः, घटया महत्तरादिगोष्ठीपुरुषसमवायलक्षणया समं छेदः, संघेन समं मूलम्, राज्ञा सममनवस्थाप्यम् । (सहिए त्ति) संघसहितेन राज्ञा सममायातमनभ्युत्तिष्ठतां पाराञ्चिकम । गतमभ्युत्थानम् । बृ० ३ उ० । (यत्रावसरे यैर्वा कारणैरभ्युत्थानं न कर्तव्यं तदेतत् सर्वं ' अइसेस ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४ पृष्ठे दर्शितम्) पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यभ्युपगमे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रयत्ने, स्था० २ ठा० १ उ० । आसनत्यागरूपे, संभोगासंभोगस्थाने यथा पार्श्वस्थादेरभ्युत्थानं कुर्वंस्तान्विसंभोग्यः । स० १२ सम० । प्रव० । आव० । आ० चू० । गुरूनागतान् दृष्ट्वा स्वकीयस्थानादूर्ध्वीभवने, उत्त० ३३ अ० । (अभ्युत्थाने दण्डकः ' सक्कार ' शब्दे दर्शयिष्यते) (त्रिभिः स्थानैर्देवा अभ्युत्तिष्ठेयुरिति ' मणुस्सलोय ' शब्दे दर्शयिष्यते) ।

अब्भुट्ठित्तए-अभ्युत्थातुम्-अव्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अब्भुट्ठिय-अभ्युत्थित-त्रि० । कृतोद्यमे, " अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं " उत्त० ९ अ० । "अब्भुट्ठियस्सु मेहेसु" प्रवर्षणाय कृतोद्यमेषु, ज्ञा० १ अ० । प्रारब्धे, भ० ३ अधि० । अभ्युदिते, उत्त० ६ अ० । से० ।

अब्भुट्ठेत्ता-अभ्युत्थातृ-त्रि० । अभ्युपगन्तरि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अब्भुट्ठेयव्व-अभ्युत्थातव्य-त्रि० । अभ्युपगन्तव्ये, स्था० ८ ठा० ।

अब्भुण्णय-अभ्युन्नत-त्रि० । उन्नतिमति, ज्ञा० १ अ० । " अब्भुण्णयरइयतलिणतंबसुइनिद्धनक्खा " अभ्युन्नता रतिदाः सुखदाः, अथवा रचिता इव रचिताः, तलिनाः प्रतलाः, ताम्रा आरक्ताः, शुचयः पवित्राः, स्निग्धाः कान्ताः, नखा येषां ते तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " अब्भुण्णयपीणरइयसंठियपओहरा " अभ्युन्नतावुच्चौ पीनौ स्थूलौ रतिदौ सुखप्रदौ संस्थितौ विशिष्ट-

संस्थानवन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा तथा । (वरतरुणी) जं० ३ प्रति० । ज्ञा० । अत्युत्कटे, आ० म० प्र० । जं० । रा० ।

अब्भुत्त—स्ना-धा०, पर०, अदा० । शौचे, " स्नातेरब्भुत्तः " । ८ । ४ । १४ । इति सूत्रेण धातोः ' अब्भुत्त ' इत्यादेशः । अब्भुत्तइ-स्नाति । प्रा० ४ पाद । प्र-दीप्-धा०, दिवा० । आत्मप्रकाशे, " प्रदीपेस्तेअव-संदुमसंधुक्काब्भुत्ताः " ८ । ४ । १५२ । इति सूत्रेण प्रदीप्यतेः ' अब्भुत्त ' आदेशः । अब्भुत्तइ-प्रदीप्यते । प्रा० ४ पाद ।

अब्भुदय—अभ्युदय-पुं० । राजलक्ष्म्यादिलाभे, ज्ञा० २ अ० । अभ्युदयो यथेह राज्याभिषेकादिप्रीतये भवति तथा स्वर्गापवर्गप्राप्तिहेतुत्वादस्य संस्तारकस्य, अत एषोऽप्यभ्युदयः । संथा० ।

अब्भुदयफल—अभ्युदयफल-त्रि० । अभ्युदयनिवर्तके, षो० ५ विव० ।

अब्भुदयहेउ—अभ्युदयहेतु-पुं० । कल्याणनिमित्ते, पञ्चा० ८ विव० ।

अब्भुदयावुच्छित्ति—अभ्युदयाव्युच्छित्ति-स्त्री० । स्वर्गादेरव्यवच्छेदे सन्ततौ, षो० ६ विव० ।

अब्भुय—अद्भुत-त्रि० । सकलभुवनातिशायिनि श्रुतशिल्पत्यागतपःशौर्यकर्मादिके अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्शनश्रवणादिभ्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं० । अनु० ।

अद्भुतरसं स्वरूपतो लक्षणतश्चाऽऽह-

विम्हयकरो अपुव्वो, अनुभूअपुव्वो य जो रसो होइ ।
हरिसविसाओप्पत्ती-लक्खणा उ अब्भुओ नाम ॥ ६ ॥

अब्भुओ रसो जहा-

अब्भुअतरमिह एत्तो, अन्नं किं अत्थि जीवलोगम्मि ।
जं जिणवयणे अत्था, तिकालजुत्ता मुणिज्जंति ।

कस्मिंश्चिदनुभूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्षरूपो यो रसो भवति सोऽद्भुतो नामेति संटङ्कः । कथंभूतः ?, अपूर्वोऽननुभूतपूर्वो वा । अनुभूतपूर्वः किंलक्षणः ?, इत्याह-हर्षविषादोत्पत्तिलक्षणः, शुभे वस्तुन्यद्भुते दृष्टे हर्षजननलक्षणः, अशुभे तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः । उदाहरणमाह-"अब्भुय"-गाहा । इह जीवलोकेऽद्भुततरं इतो जिनवचनात् किमन्यदस्ति, नास्तीत्यर्थः । कुतः ?, इत्याह-यद्यस्माज्जिनवचनेनार्था जीवादयः सूक्ष्मव्यवहिततिरोहितातीन्द्रियामूर्तादिस्वरूपा अतीतानागतवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्त इति । अनु० । " अब्भुए गीए अब्भुए वाइए अब्भुए नट्टे " अद्भुतमाश्चर्यकारि । रा० ।

अब्भुवगम-अभ्युपगम-पुं० । अङ्गीकरणे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अब्भुवगमसिद्धंत—अभ्युपगमसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तभेदे, बृ०

स च—

जं अब्भुविच्च कीरइ, सेच्छाए कहा स अब्भुवगमो उ ।
सीतो वन्ही गयजू-ह तणग्गे मग्गुखरसिंगा ॥

यत्त अभ्युपेत्य स्वेच्छया अभ्युपगम्य वादकथा क्रियते । यथा-शीतो वन्हिः गजयूथं तृणाग्रे, मद्गोर्जलकाकस्य, खरस्य च शृङ्गम, इत्येषोऽभ्युपगमसिद्धान्तः । बृ० १ उ० । अपरीक्षितार्थाभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः । तद्यथा-किंशब्दः ?, इति विचारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽथानित्य इत्येवं विचारः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अब्भुवगय—अभ्युपगत-त्रि० । अभि आभिमुख्येनोपगतः । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । अभ्युपगमवति, व्य० ७ उ० । संप्राप्ते, पा० । श्रुतसंपदोपसंपन्ने, आ० म० प्र० । अङ्गीकृते, पं० व० १ द्वार ।

अब्भोवगमिया—आभ्युपगमिकी-स्त्री० । अभ्युपगमेनाङ्गीकरणेन निर्वृत्ता तत्र भवा वाऽऽभ्युपगमिकी । स्वयमभ्युपगतायां (वेदनायाम्) । स्था० २ ठा० ४ उ० । या हि स्वयमभ्युपगम्यते यथा-साधुभिः प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्यभूमिशयनकेशोल्लुञ्चनातापनादिभिः शरीरपीडाभ्युपगमनम् । भ० १ श० ४ उ० । " दुविहा वेदणा पण्णत्ता । तं जहा-अब्भोवगमिया य उवक्कमिया य " प्रज्ञा० ३५ पद ।

अभग्ग—अभग्न-त्रि० । न भग्नोऽभग्नः । सर्वथाऽविनाशिते, " एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो " । आव० ५ अ० । ध० । ल० । आ० चू० ।

अभग्गसेण—अभग्नसेन-पुं० । विजयाभिधानचौरसेनापतिपुत्रे, विपा० । तत्कथानकं चेदम्—

तच्चस्स उक्खेवो एवं खलु-जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरिमतालणामं णयरे होत्था, रिद्धि० तस्स णं पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं अमोहदंसी उज्जाणे, तत्थ णं अमोहदंसिस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था, तत्थ णं पुरिमताले महब्बले णामं राया होत्था, तत्थ णं पुरिमतालस्स णयरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसप्पंते अडवी संसया । एत्थ णं सालाडवी णामं चोरपल्ली होत्था, विसमगिरिकंदरकोलंबसण्णिविट्ठा वंसीकलंकपागारपरिक्खित्ता छिण्णसेलविसमप्पवायफरिहोवगूढा अब्भिंतरपाणिया सुदुल्लभजलपेरंता अणेगखंडी विदितजणदिण्णनिग्गमप्पवेसा सुबहुयस्स विकविजयस्स जणस्स दुप्पवेसाया वि होत्था । तत्थ णं सालाडवीए चोरपल्लीए विजए णामं चोरसेणावइ परिवसइ, अहम्मिए० जाव लोहियपाणी बहुणयरणिग्गयजसे सूरे दढप्पहारे साहस्सिए सद्दवेही असिलट्ठिपढममल्ले, से णं तत्थ सालाडवी चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाणं आहेवच्चं० जाव विहरइ । तए णं से विजए चोरसेणावइ बहुणं चोराण य पारदारियाण य गंठिच्छेयाण य संधिच्छेयाण य खंडपट्टाण य अण्णेसिं च बहूणं छिण्णभिण्णबाहिराऽहियाणं कुडंगेया वि होत्था । तए णं विजयचोरसेणावइ पुरिमतालस्स णयरस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य णयर-

घाएहि य गोग्गहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंथकोट्टेहि य खत्तखणणेहि य उवीलेमाणे उवीलेमाणे विद्धंसेमाणे विद्धंसेमाणे तज्जेमाणे तज्जेमाणे तालेमाणे तालेमाणे णित्थाणे णिद्धणे णिक्कणे करेमाणे विहरइ, महब्बलस्स रएणो अभिक्खणं २ कप्पाइं गिण्हइ, तत्थ णं विजयस्स चोरसेणावइस्स खंधसिरी णामं भारिया होत्था । अहीण० तत्थ णं विजयचोरसेणावइस्स पुत्ते खंधसिरीए भारियाए अत्तए अभग्गसेणं णामं दारए होत्था अहीणं । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुरिमतालणामं णयरे जेणेव अमोहदंसी उज्जाणे तेणेव समोसढे परिसा राया निग्गओ,धम्मो कहिओ,परिसा राया विगओ, तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी गोयमे० जाव रायमग्गं समोवगाढे तत्थ णं बहवे हत्थी पासइ, तए णं तं पुरिसं राया पुरिसा पढमंसि चच्चरंसि णिसियावेंति, णिसियावेंतित्ता अट्ठचुल्लपिउए अग्गउघाएइ कसप्पहारेहिं तालेमाणे २ कलुणं काकणिमंसाइं खावेइ,खावेइत्ता रुहिरपाणं च पायन्ति । तयाणंतरं च णं दोच्चं पि चच्चरंसि अट्ठलहुमाउयाओ अग्गयो घाएयंति, घाएयंतित्ता एवं तच्चे० अट्ठमहापिउए, चउत्थे० अट्ठमहामाउए, पंचमे पुत्ता, छट्ठे सुण्हा, सत्तमे जामाउया, अट्ठमे धूयाओ, णवमे णत्तुया,दसमे णत्तुयओ, एकारसे णत्तुयावइ, बारसमे णइणीओ,तेयारसमे उस्सियपतिया, चउद्दसमे पिउस्सियाओ, पण्णरसमे मासियाओ पइयाओ, सोलसमे मासियाओ०,सत्तरसमे मासियाओ,अट्ठारसमे अवसेसं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणं अग्गओ घायंति,घायंतित्ता कसप्पहारेहिं तालेमाणे२ कलुणं काकणिमंसाइं खावेइ रुहिरपाणं च पाएइ । तए णं से भगवं गोयमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिये ५ समुप्पण्णे० जाव तहेव णिग्गए एवं वयासी—एवं खलु अहं भंते !-से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी० जाव विहरइ । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे भारहेवासे पुरिमताले णामं णयरे होत्था,रिद्धि० ३ तत्थ णं पुरिमताले उदये णामं राया होत्था,महया तत्थ णं पुरिमताले निन्नए णामं अंडयवाणियए होत्था,अड्ढे० जाव अपरिभूए अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं णिण्णयस्स अंडयवाणियस्स बहवे पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं कोद्दालियाओ य पत्थियाए पडिए गेण्हइ, गेण्हइत्ता पुरिमतालस्स णयरस्स परिपेरंते सुबहुकाकअंडए य घूतिअंडए य पारेवइटेट्टिभिबगिमयूरिकुकुडिअंडए य अण्णेसिं चेव बहूणं जलयरथलयरखहयरमाईणं अंडाइं गेण्हइ, गेण्हइत्ता पत्थियपडिगाइं भरेइ, भरेइत्ता जेणेव निण्णए अंडवाणियए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता णिण्णयस्स अंडवाणियस्स उवणेइ, तए णं तस्स णिण्णयस्स अंडवाणियस्स बहवे पुरिसा दिण्णभए बहवे कायअंडए य० जाव कुकुडअंडए य अण्णेसिं च बहूणं जलथलखेचरमाईणं अंडए तवएसु य कंडूएसु य भज्जणएसु य इंगालेसु य तलिंति भज्जंति सोल्लिंति, तल्लिता भज्जंता सोल्लिता य रायमग्गं अंतरावणंसि अंडयपणियणं वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ, अप्पणो वि य णं से णिण्णए अंडवाणियए तेसिं बहुहिं कायअंडएहि य० जाव कुकुडिअंडएहि य सोल्लेहिं तल्लि भज्जे सुरं च ४ आसाए ४ विहरइ, तए णं से णिण्णए अंडए एयकम्मे ४ सुबहुपावं समज्जित्ता एगं वाससहस्सं परमाउं पालइ,पालइत्ता कालमासे कालं०तच्चाए पुढवीए उक्कोससत्तसागरोवमट्ठितीएसु णेरइएसु णेरइयत्ताए उववण्णे, से णं ताओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव सालाडवीए चोरपल्लीए विजयस्स चोरसेणावइस्स खंदसिरीए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए उववण्णे, तए णं से खंदसिरीभारियाए अण्णया कयाइं तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं इमेयारूवे दोहले पाउब्भूए-धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ ४ जाणं बहुहिं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाएहिं अण्णेहि य चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा ण्हाया० जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारभूसिया विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागयाओ पुरिसणेवत्थिया सण्णद्ध० जाव पहरणावरणाभरिएहि य फलएहिं णिक्किट्ठाहिं असीहिं अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लावेलियाहि य दामाहिं लंबियाहिं उसारियाहिं उरुघंटाहिं छिप्पत्तूरेणं विज्जमाणे विज्जमाणे महया २ उक्किट्ठ० जाव समुद्दरवभूयं पि व करेमाणीओ सालाडवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंताओ लोएमाणीओ २ आहिंडमाणीओ २, दोहलं वि णिंति—तं जइ अहं अहं पि बहूहिं णाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाइं अण्णेहिं सालाडवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंताओ लोएमाणीओ २ आहिंडमाणीओ २ दोहलं विणिज्जामि त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि० जाव झियामि तए णं से विजए चोरसेणावइ खंदसिरीभारियं ऊहय० जाव पासइ एवं वयासी—किण्हं तुम्हं देवा ऊहय० जाव झियासि, तए णं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! ममं तिण्हं मासाणं०जाव झियामि,तए णं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीभारियाए अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म खंदसिरीभारियं एवं वयासी—

अहासुहं देवाणुप्पिए ! एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तयाणंतरं सा खंदसिरी भारिया विजएणं चोरसेणावइणा अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठबहुहिं मित्त० जाव अण्णेहि य बहुहिं चोरमहिलाहिं सद्धिं परिवुडा ण्हाया० जाव विभूसिया विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणी ४ विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागया पुरिसणेवत्था सण्णद्धबद्ध० जाव आहिंडमाणी दोहलं वि णेति, तए णं सा खंदसिरी भारिया संपुण्णदोहला सम्माणियदोहला विणियदोहला वोच्छिण्णदोहला संपुण्णदोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहइ, तए णं सा खंदसिरी चोरसेणावइणी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारयं पयाया। तए णं से विजयचोरसेणावइ तस्स दारगस्स इड्ढीसक्कारसमुदएणं दसरत्तट्ठिइपडियं करेइ, तए णं से विजयचोरसेणावइ तस्स दारगस्स एक्कारसमे दिवसे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तणाइ० आमंतेइ, आमंतइत्ता० जाव तस्सेव मित्तणाइपुरओ एवं वयासी-जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि समाणंसि इमेया रूवे दोहले पाउब्भूए तम्हा णं होउं मम्हं दारए अभंगसेणणामेणं, तए णं से अभंगसेणकुमारे पंचधाइ० जाव परिवड्ढइ, तए णं से अभंगसेणे णामं कुमारे उम्मुक्कबालभावे यावि होत्था, अट्ठदारियाओ० जाव अट्ठओ दाओ उप्पिं भुंजइ। तए णं से विजए चोरसेणावइ अण्णया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते, तए णं से अभंगसेणकुमारे पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे विजयस्स चोरसेणावइस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेइ, करेइत्ता बहुहिं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ, करेइत्ता कालेणं अप्पए जाए यावि होत्था, तए णं से अभंगसेणकुमारे चोरसेणावइ जाए अहम्मिए०, जाव कप्पाइं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तए णं ते जाणवया पुरिसा अभंगसेणचोरसेणावइणा बहुग्गामघायावणाहिं ताविया समाणा अण्णमण्णं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अभंगसेणचोरसेणावइया पुरिमताले णयरे पुरिमतालणयरस्स उत्तरिल्लं जणवयं बहुहिं गामघाएहिं० जाव णिद्धणं करेमाणे विहरइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! महब्बलस्स रण्णो एयमट्ठं विण्णवित्तए तए णं जाणवया पुरिसा एयमट्ठं अण्णमण्णं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता महत्थं महग्घं महरिहं रायरिहं पाहुडं गिण्हइ, गेण्हइत्ता जेणेव पुरिमताले णयरे तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता जेणेव महब्बले राया तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता महब्बलस्स रण्णो तं महत्थं० जाव पाहुडं उवणेइ करयलअंजलिं कट्टु महब्बलं रायं एवं वयासी-तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिया निब्भया णिरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसित्तए सालाडवीचोरपल्लीए अभंगसेणे चोरसेणावइ अम्हं बहुहिं गामघाएहि य० जाव णिद्धणे करेमाणे विहरइ, तं इच्छामि णं सामी ! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिया णिब्भया निरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसित्तए त्ति कट्टु पायवडीया पंजलिउडा महब्बलरायं एयमट्ठं विण्णवंति तए णं से महब्बले राया तेसिं जणवयाणं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु दंडं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भं देवाणुप्पिया ! सालाडविचोरपल्लिं विलुंपाहि अभंगसेणचोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हइत्ता ममं उवणेहि, तए णं से दंडे तह त्ति एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से दंडे बहुहिं पुरिसेहिं सण्णद्ध० जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे मगइएहिं फलएहिं० जाव छिप्पतूरेहिं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठणायं करेमाणे पुरिमतालं णयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थगमणाए तए णं तस्स अभंगसेणावइस्स चोरपुरिसे इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव सालाडवी चोरपल्ली जेणेव अभंगसेणावइ तेणेव उवागया करयल० जाव एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णयरे महब्बलेणं रण्णा महया भडचडगरेणं परिवारेणं दंडे आणए-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! सालाडवीचोरपल्लिं विलुंपाहि, अभंगसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहिं गिण्हेहि, गिण्हेइत्ता ममं उवणेहि। तए णं से दंडे महया भडचडगरेणं जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए तए णं से अभंगसेणचोरसेणावइ तेसिं चोरपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म पंचचोरसयाइं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णयरे महब्बले० जाव तेणेव पहारेत्थ गमणाए आगए, तए णं से अभंगसेणे ताइं पंच चोरसयाइं एवं वयासी-तं से यं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं तं दंडं सालाडविं चोरपल्लिं असंपत्तं अंतरा चेव पडिसेहित्तए, तए णं ताइं पंच चोरसयाइं अभंगसेणस्स तह त्ति० जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से अभंगसेणे चोरसेणावइ विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेत्ता पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं ण्हाए० जाव पायच्छित्ते भोयणमंडवंसि तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५, आसाएमाणे ४ विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं अल्लं चम्मं दुरूहइ, दुरूहइत्ता सण्णद्ध० जाव पहरणे मगइ तेहिं० जाव रवेणं पच्चावरण्हकालसमयंसि सालाडवी चोरपल्लीयाओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता विसमदु-

गगहणं त्तिए गहियजत्तपाणिए तं दंमं पमिवालेमाणे चिट्ठइ, तए णं से दंमे जेणेव अभंगसेणे चोरसेणावइए तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता अभंगसेणेणं चोरसेणावइणा सद्धिं संपलग्गेया वि होत्था । तए णं से अभंगसेणे चोरसेणावई तं दंमं खिप्पमेव हयमहिय० जाव पमिसेहंति, तए णं से दंमे अभंगसेणे चोरसेणावई हय० जाव पमिसेहिए समाणे अत्थामे अबले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे आधारणिज्जेमि त्ति कट्टु जेणेव पुरिमताले णयरे जेणेव महब्बले राया तेणेव उवागच्छेइ, उवागच्छइत्ता करयल० एवं वयासी–एवं खलु सामी ! अभंगसेणचोरसेणावई विसमदुग्गगहणं त्तिए गहियजत्तपाणिए णो खलु से सक्का केणइ सुबहुएण वि आसबलेण वा हत्थिबलेण वा जोहबलेण वा रहबलेण वा चाउरंगिणं पि उरंउरे ए गिएहत्तए, ताहे सामेण य भेदेण य उवप्पदाणेण य वीसंभमाणे उपत्तेयावि होत्था । जे दंमेण य वियसे अभिंतरगा सीसगसमामित्तणाइणियसयणसंबंधिपरियणं च विपुलेणं धणकणगरयणसंतसारसावए जेणं भिंदइ अभग्गसेणस्स य चोरसेणावइ अभिक्खणं अभिक्खणं महत्थाइं महग्घाइं महरिहाइं पाहुडाइं पेसेइत्ता अभंगसेणं च चोरसेणावइ वीसंभमाणेइ, तए णं से महब्बले राया अण्णया कयाइ पुरिमताले णयरे एगं महं महइ महालियं कूमागारसालं करेइ, अणेगखंभसयपासा ४, तए णं महब्बले राया अण्णया पुरिमताले णयरे उस्सुक्कं० जाव दसरत्तं पमोयं उग्घोसावेइ, उग्घोसावेइत्ता कोमुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सालामवीए चोरपल्लीए तत्थ णं तुब्भे अभंगसेणं चोरसेणावइणं करयल० जाव वयह–एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमता० महब्बलस्स रण्णो उस्सुक्के० जाव दसरत्ते पमोदउग्घोसिए तं किण्णं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे य इहं हव्वमाणिज्ज उदाहु सयमेव गच्छित्ता तए णं कोमुंबियपुरिसे महब्बलस्स रण्णो करयल० जाव पमिसुणेइ, पमिसुणेइत्ता पुरिमतालाओ णयराओ पमि० पमि० णाइविकिट्ठेहिं अद्धाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं जेणेव सालामवी चोरपल्ली तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अभंगसेणं करयल० जाव एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताल० महब्बलस्स रण्णो उस्सुक्के० जाव उदाहु सयमेव गच्छित्ता, तए णं से अभंगसेणे ते कोडुंबियपुरिसे एवं वयासी–अहं णं देवाणुप्पिया ! पुरिमता० सयमेव गच्छामिए कोमुंबियपुरिसे सक्कारेइ, सक्कारेइत्ता पमिविसज्जेइ । तए णं से अभंगसे० बहूहिं मित्त० जाव परिवुमे, एहाए० जाव पायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए सालामवी चोरपल्लीओ पमिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव पुरिमता० जेणेव महब्बले राया तेणेव० करयलपरिग्गहियं महब्बलं रायं जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता महत्थं० जाव पाहुमं उवणेइ, तए णं से मह० अभंगसेणस्स चोरस्स तं महत्थं० जाव पमिच्छइ, अभग्गसेणचोरसे० सक्कारेइ संमाणेइ, संमाणेइत्ता विसज्जेइ कूमागारसालवणे आवासएहिं दलयइ । तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावइ महब्बलेणं रण्णा विसज्जिए समाणे जेणेव कूमागारसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए णं से मह० कोमुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खमावेइ, उवक्खमावेइत्ता तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ सुबहुपुप्फगंधमल्लालंकारं च अभंगसेणस्स चोरसे० कूमागारसालाए उवणेह । तए णं ते कोडुंबियपुरिसा करयल० जाव उवणेइ, तए णं से अभग्गसे० बहूहिं मित्तसद्धिं संपरिवुमे एहाए० जाव सव्वालंकारविभूसिए तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च आसाएमाणे ४ पमत्ते विहरइ । तए णं से मह० कोमुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! पुरिमतालस्स णयरस्स दुवाराइं पिहिंति, पिहिंतित्ता अभंगसेणं चोरसेणावइ जीवग्गाहं गेण्हंति, गेण्हंतित्ता महब्बलस्स रण्णो उवणेह, तए णं मह० अभंगसेणं चोरो एतेणं विहाणेणं वज्झं आणवेइ, एवं खलु गोयमा ! अभंगसेण चो० पुरा० जाव विहरइ । अभंगसेणेणं भंते ! चोरसेणावइ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! अभंगसेणचोरसे० सत्तावीसं वासाइं परमाउं पालित्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिवसे सूली भिण्णकए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए उक्कोसेणं णेरइएसु उववज्जिहिंति, से णं ताओ अणंतरं उवट्टित्ता एवं संसारो जहा पढमे० जाव पुढवी०, तओ उवट्टित्ता वाणारसीए णयरीए सूयरत्ताए पच्चायाहिंति, से णं मच्छसोयारिएहिं जीवियाओ ववरोविए समाणे० तत्थेव वाणारसीए णयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चाहिंति, से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे एवं जहा पढमे० जाव अंतकाहिं ति णिक्खेवो ।

(एवं खलु त्ति) एवं वक्ष्यमाणप्रकारेणार्थः प्रज्ञप्तः, खलु वाक्यालङ्कारे । (जंबू त्ति) आमन्त्रणे, (देसप्पंते त्ति) मण्डलप्रान्ते (विसमगिरिकंदरे कोलंबसंनिविट्ठा) विषमं यद्गिरेः कन्दरं कुहरं तस्य यः कोलम्बः प्रान्तः तस्य सन्निविष्टा सन्निवेशिता या सा तथा । कोलम्बो हि लोके अवनतं वृक्षशाखाग्रमुच्यते । इहोपचारतः कन्दरं प्राप्तः कोलम्बो व्याख्यातः । विपा० ३ श्रु० ३ अ० । (इत्यादिटीका सुगमेति न गृहीता) वारतपुरराजनि, आ० म० द्वि० ।

अभज्जिय–अभग्न–त्रि० । अमर्दिते अविराधिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभडप्पवेसा–अभटप्रवेशा–स्त्री० । अविद्यमानो भटानां राजाज्ञादायिनां पुरुषाणां प्रवेशः कुटुम्बिगृहेषु यस्यां सा तथा । यत्र राजाज्ञां दातुं भटाः प्रवेष्टुं न शक्नुवन्ति तादृश्यां पुर्य्याम्, भ० १२ श० ४ उ० । जं० । ज्ञा० । विपा० ।

अभत्तट्ठ–अभक्तार्थ–पुं० । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजनं भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः । उपवासे, ध० २ अधि० ।

अत्र पञ्चाकाराः, तथा च सूत्रम्—

सूरे उग्गए अभत्तट्ठं पच्चक्खाइ, चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइ ।

अस्यार्थः–(सूरे उग्गए) सूर्योद्गमादारभ्य, अनेन भोजनानन्तरं प्रत्याख्यानस्य निषेध इति ब्रूते । भक्तेन भोजनेनार्थः प्रयोजनं भक्तार्थः, न भक्तार्थोऽभक्तार्थः । अथवा–न विद्यते भक्तार्थो यस्मिन् प्रत्याख्यानविशेषे सोऽभक्तार्थः, उपवास इत्यर्थः । आकाराः पूर्ववत् । नवरं पारिष्ठापनिकाकारे विशेषः, यदि त्रिविधाहारस्य प्रत्याख्याति तदा पारिष्ठापनिकं कल्प्यते, यदि तु चतुर्विधाहारस्य प्रत्याख्याति पानकं च नास्ति तदा न कल्प्यते, पानके तूद्धरिते कल्प्यत एव । (वोसिरइ) भक्तार्थमशनादि वस्तु व्युत्सृजति । प्रव० ४ द्वार । ध० । आव० । आ० चू० । ल० प्र० । पञ्चा० ।

अभत्तट्ठिय–अभक्तार्थिक–पुं० । उपवासिके, ओघ० । द्वितीयेऽह्नि भोक्तरि, पं० व० २ द्वार ।

अभत्तपाण–अभक्तपान–न० । भक्तपानालाभे, व्य० ७ उ० ।

अभय–अभय–न० । न० त० । विशिष्टे आत्मनः स्वास्थ्ये निःश्रेयसधर्मभूमिकानिबन्धनभूतायां धृतौ, ल० । रा० । "अभयं पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य" । उत्त० १८ अ० । प्राणिरक्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अविद्यमानं भयमस्मिन् सत्त्वानामित्यभयः । सप्तदशविधे संयमे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । सप्तप्रकारकभयरहिते, त्रि० । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । श्रेणिकपुत्रे अभयकुमारे, पुं० । आ० चू० १ अ० । आ० म० । ध० ।

अभयंकर–अभयङ्कर–त्रि० । अभयं प्राणिनां प्राणरक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयङ्करः । स्वतो हिंसानिवृत्तत्वेन परतश्च हिंसां मा कार्षीरित्युपदेशदानेन प्राणिनामनुकम्पके, "अभयंकरे वीरअणंतचक्खू" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । निर्भयकरे, त्रि० ।

अभयकरण–अभयकरण–न० । जीवानामभयकरणे, (पं० व०)

मुत्तूण अभयकरणं, परोवयारो वि नत्थि अन्नो त्ति ।
दंसिगितेणगणायं, न य गिहिवासे अविगलं तं ॥ ९९ ॥

मुक्त्वाऽभयकरणमिहलोकपरलोकयोः परोपकारोऽपि नास्त्यन्य इति । अत्र दृष्टान्तमाह–रुग्मिकीस्तेनकज्ञातमत्र द्रष्टव्यम् । न च गृहवासे अविकलं तद्–अभयकरणमिति गाथार्थः ॥ पं० व० १ द्वार ।

अभयकुमार–अभयकुमार–पुं० । श्रेणिकस्य राज्ञः नन्दादेव्यामुत्पन्ने पुत्रे, ज्ञा० ।

तद्वक्तव्यता–

पढमस्स य णं भंते ! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहेवासे दाहिणड्ढभरहे रायगिहे णामं नयरे होत्था । वण्णओ–गुणसिलए चेइए वण्णओ–तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । महिमाहिमवंतवण्णओ–तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदा नामं देवी होत्था, सुकुमालपाणिपाया वण्णओ–तस्स णं सेणियस्स पुत्तो नंदाए देवीए अत्तए अभए नामं कुमारे होत्था । अहीण० जाव सुरूवे सामभेयदंडउवप्पयाणणीतिसुप्पउत्तनयविहिन्नू ईहापूहमग्गणगवेसणं अत्थसत्थमई विसारए उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मयाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धिए उववेए, सेणियस्स रण्णो बहुसु कज्जेसु य कुडुंबेसु य मंतेसु य गुज्झेसु य रहस्सएसु य निच्छएसु य आपुच्छणिज्जे पडिपुच्छणिज्जे मेढीपमाणे आहारे आलंबणे चक्खुमेढीभूए पमाणभूए आहारभूए आलंबणभूए चक्खूसव्वकज्जेसु सव्वभूमियासु लद्धपच्चए विइण्णवियारे रज्जधुरचिंतते यावि होत्था, सेणियस्स रण्णो रज्जं च रट्ठं च कोसं च कोट्ठागारं च बलं च वाहणं च पुरं च अंतेउरं च सयमेव समुप्पेक्खमाणे समुप्पेक्खमाणे विहरति ॥

एवमित्यादि सुगमं, नवरम्–एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारोऽर्थः प्रज्ञप्त इति प्रक्रमः । खलु वाक्यालङ्कारे । जम्बूरित्यामन्त्रणे । इहैवेति । देशतः प्रत्यासन्नेन पुनरसंख्येयत्वात् जम्बूद्वीपानामन्यत्रेति भावः । (इत्यादिटीका सुगमा नोपन्यस्यते) ज्ञा० १ अ० । नं० । नि० । स्था० । विशे० । आ० म० । ध० र० । ('मेहकुमार' शब्देऽपूर्वसाङ्केतिकदेवमेलनं वक्ष्यते)

अभयकुमारकथा चेयम्–

अस्ति स्वस्तिकवत् पृथ्व्याः, पृथ्व्याः संपद आस्पदम् ।
सुवृत्तमङ्गलव्याप्तं, पुरं राजगृहाभिधम् ॥ १ ॥
प्ररूढप्रौढमिथ्यात्व--काननैकपरश्वधः ।
सुधोज्ज्वलगुणश्रेणिः, श्रेणिकस्तत्र पार्थिवः ॥ २ ॥
आगमार्थपरिज्ञान--विस्फूर्जद्बुद्धिबन्धुरः ।
तस्याभयकुमाराख्यो, नन्दनो विश्वनन्दनः ॥ ३ ॥
आगच्छदन्यदा तत्र, मुनिपञ्चशतीयुतः ।
प्रकटीकृतसद्धर्मा, सुधर्मा गणभृद्वरः ॥ ४ ॥
वन्दितुं तत्पदद्वन्द्वं, सर्वर्द्ध्या श्रेणिको नृपः ।
शासनोत्सर्पणाभिच्छु–रगच्छत्सपरिच्छदः ॥ ५ ॥
नानायानसमारूढ–स्तथाऽन्योऽपि पुरीजनः ।
भक्तिसंभारसंजात–रोमाञ्चोच्छ्वसितां गतः ॥ ६ ॥
एवं प्रभावनां प्रेक्ष्य, तत्रैकः काष्ठभारिकः ।
गत्वा भक्त्या गुरुं नत्वा–ऽश्रौषीद्धर्ममिमं यथा ॥ ७ ॥
जन्तुघातो मृषाऽस्तेय–मब्रह्म च परिग्रहः ।
भो भो भव्याः ! विमुच्यन्तां, पञ्चैते पापहेतवः ॥ ८ ॥

इत्याकर्ण्य नरेन्द्राद्या, पर्षदन्या गृहेऽगमत ।
द्रमकः स तु तत्रैव, स्वार्थार्थी तस्थिवान् स्थिरः ॥ ९ ॥
गुरुस्तमूचे चित्तज्ञ-श्चिन्तितं ब्रूहि ! सोऽब्रवीत् ।
जानामि यदि वः पादान्, वरिवस्यामि सर्वदा ॥ १० ॥
ततः प्रव्राज्य तं सद्यो, गुरवः कृतयोगिनाम् ।
अर्पयामासुराचारं, शिक्षयामासुराशु ते ॥ ११ ॥
तं गीतार्थयुतं भिक्षा-चर्यायामन्यदा गतम् ।
प्रागवस्थाविदः पौराः, प्रेक्ष्य प्राहुरहंयवः ॥ १२ ॥
अहो ! महर्द्धेस्त्यक्ताऽयं, महासत्त्वो महामुनिः ।
इति वक्रोक्तितः विद्धै- रुपहास्यत सोऽन्वहम् ॥ १३ ॥
ततोऽसौ शैक्षकत्वात्तं, परीषहमसासहिः ।
सुधर्मस्वामिना प्रोचे-ऽनूचानेन वचस्विना ॥ १४ ॥
संयमे किं समाधान-मस्ति ते सुष्ठु सोऽभ्यधात् ।
अस्ति युष्मत्प्रसादेन, विहारोऽन्यत्र चेद् भवेत् ॥ १५ ॥
विधास्यते समाधिस्ते, वत्सेत्युक्त्वा गुरुस्ततः ।
अभयस्यागतस्याख्या-द्विहारो नो भविष्यति ॥ १६ ॥
अभयः स्माह नः कस्मा-दकस्मादीदृशः प्रभो ! ।
अप्रसादोऽथ तेऽत्रोचु--र्मुनेरस्य परीषहम् ॥ १७ ॥
अत्रयोऽप्यभयधादेकं, दिवसं स्थीयतां प्रभो ! ।
निवर्त्तेत न चेदेष, न स्थातव्यं ततः परम् ॥ १८ ॥
ओमित्युक्ते मुनीन्द्रेण, निस्तन्द्रः शासनोन्नतौ ।
जगाम धाम सद्धर्म--धामधामाऽभयस्ततः ॥ १९ ॥
रत्नानामसपत्नानां, रत्नगर्भाधिपोऽङ्कणे ।
कोटित्रयीं समाकृष्य, राशित्रयमचीकरत् ॥ २० ॥
तुष्टो राजा ददात्युच्चै--रत्नकोटित्रयीं जनाः ! ।
गृह्णीतैनां यथेष्टं हि, पटहेनेत्यघोषयत् ॥ २१ ॥
ततोऽमिलद् द्रुतं लोको, लोलुपः सोऽभयेन तु ।
बभाषे गृह्यतामेषा, रत्नकोटित्रयी मुधा ॥ २२ ॥
युष्माभिः स्वगृहं गत्वा-ऽनया किन्तु गृहीतया ।
यावज्जीवं विमोक्तव्यं, जलमग्नि स्त्रियस्तथा ॥ २३ ॥
इत्याकर्ण्य जनास्तूर्ण--मुत्कर्णास्तज्जिघृक्षवः ।
विस्यतो निश्चलास्तस्थुः, सिंहनादं मृगा इव ॥ २४ ॥
अभयः प्राह भोः ! कस्मा--द्विलम्बस्तेऽप्यदोऽवदन् ।
लोकोत्तरमिदं लोकः, किं कश्चित्कर्तुमीश्वरः ? ॥ २५ ॥
सोऽवादीन्मुनिना तेन, तत्यजे त्रयमप्यदः ।
तत्कुतो हसतैवं त--मतिदुष्करकारकम् ? ॥ २६ ॥
न जानीमो वयं स्वामिं--स्तस्यर्षेः सत्त्वमीदृशम् ।
तमृषिमचर्चयिष्याम--स्तदिदानीं महामते ! ॥ २७ ॥
अभयेन समं गत्वा, श्रमिन्तस्ते प्रणम्य तम् ।
महर्षिं क्षामयामासुः, स्वापराधं मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥
इत्येवमभयो जैन-शासनार्थविशारदः ।
अतिक्षिपज्जनं मुग्धं, चिरं धर्मे जिनोदिते ॥ २९ ॥
इत्यवेत्य हतपापकश्मलं,
सज्जना अभयवृत्तमुज्ज्वलम् ।
शिक्षयन्तु कृतसर्वमङ्गलं,
संततं प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३० ॥ ध० र० ॥

अभयघोस-अभयघोष--पुं० । स्वनामख्याते वैद्ये, ध० र० ।

अभयघोषकथा चेयम्-

आसीत् पूर्वविदेहेषु, शत्रुसंहानिदुर्जये ।
वत्सावत्यास्यविजये, प्रवरा पूः प्रभङ्करा ॥ १ ॥
तस्यां सुविधिवैद्यस्य, सूनुः सत्कर्मकर्मठः ।
आसीदभयघोषाख्यो, वैद्यविद्याविशारदः ॥ २ ॥
नरेन्द्रमन्त्रिसार्थेश-नगरश्रेष्ठिनां सुताः ।
प्रशस्याः सद्गुणश्रेण्यो, वयस्यास्तस्य जज्ञिरे ॥ ३ ॥
मिलितानामथान्येद्यु-स्तेषां वैद्यमन्दिरे ।
आगादनगारवृत्तिः, साधुर्माधुकरीं चरन् ॥ ४ ॥
तं पृथ्वीपालभूपाल-पुत्रं नाम्ना गुणाकरम् ।
निकुष्टकुष्ठं ते दृष्ट्वा, प्रोचिरे वैद्यनन्दनम् ॥ ५ ॥
सदाऽर्थग्राहिभिर्वैद्यवद्, भवद्भिर्लक्ष्यते जनः ।
न कस्यचित्तपस्व्यादे-श्चिकित्सा क्रियते किल ॥ ६ ॥
जगाद वैद्यजन्माऽपि, चिकित्स्योऽयं मुनिर्मया ।
भो भद्राः ! निश्चितं किन्तु, भेषजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥
तेऽप्यूचुर्दद्महे मूल्यं, शाधि सान्त्वौषधानि नः ।
उवाच सोऽपि गोशीर्ष-चन्दनं रत्नकम्बलम् ॥ ८ ॥
लक्षद्वयेन तत् क्रेयं, तृतीयं तु मदोकसि ।
विद्यते लक्षपाकाख्यं, तैलं तद् गृह्यतां द्रुतम् ॥ ९ ॥
लक्षद्वयं गृहीत्वाऽथ, गत्वा ते कुत्रिकापणे ।
अयाचन्तौषधे तांस्तु, श्रेष्ठ्यूचे किं प्रयोजनम् ? ॥ १० ॥
तेऽवोचन् कुष्ठिनः साधो-श्चिकित्साऽऽभ्यां विधास्यते ।
आकर्ण्य तद्वचः श्रेष्ठी, चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ ११ ॥
क्वैषां प्रमादशार्दूल-काननं यौवनं ह्यदः ।
विवेकबन्धुरा बुद्धिः, क्व चेयं वार्धकोचिता ? ॥ १२ ॥
मादृशामीदृशं योग्यं, जराजर्जरवर्ष्मणाम् ।
यत् कुर्वन्त्यपि तदहो ! , धन्यैर्भारोऽयमुह्यते ॥ १३ ॥
एवं विचिन्त्य स श्रेष्ठी, ते समर्प्यौषधे मुधा ।
भावितात्मा प्रवव्राज, वव्राज च महोदयम् ॥ १४ ॥
कृत्वा समग्रसामग्रीं, तेऽभिमा शक्तिशालिनाम् ।
समं वैद्यवरेण्येन, प्रययुः साधुसन्निधौ ॥ १५ ॥
नत्वाऽनुज्ञाप्य तैलेन, सर्वाङ्गे म्रक्षितः स तैः ।
वेष्टितः कम्बलेनाथ, निरीयुः कृमयस्ततः ॥ १६ ॥
शीतत्वात्तत्र ते लग्नाः, निर्यद्भिस्तैः प्रपीडितः ।
लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्थ्यमाप मुनिः क्षणात् ॥ १७ ॥
त्रिरेवमाद्यवेलायां, निर्ययुः कृमयस्त्वचः ।
मांसगास्तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥
तान् कृमींस्ते दयावन्त-श्चिक्षिपुर्गोकलेवरे ।
संरोहण्या च तं साधुं, सद्यः सज्जं प्रचक्रिरे ॥ १९ ॥
क्षमयित्वा च नत्वा च, गत्वाऽन्तर्नगरं ततः ।
चैत्यं चक्रुश्च विक्रीय, तेऽर्द्धमूल्येन कम्बलम् ॥ २० ॥
गृहीत्वा गृहिधर्मं च, पश्चात् कृत्वा च संयमम् ।
ते पञ्चाप्यच्युतेऽभूव-न्निन्द्रसामानिकाः सुराः ॥ २१ ॥
ततश्च्युत्वा विदेहेषु, भूत्वा पञ्चापि सोदराः ।
ते प्रव्रज्य च सर्वार्थ-सिद्धेऽभूवन् सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥
ततोऽप्यभयघोषस्य, जीवश्च्युत्वाऽत्र भारते ।
बभूव नाभिसंदोह-श्चोभनः प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥
शेषास्तु भरतो बाहु-बलिर्ब्राह्मी च सुन्दरी ।
जज्ञिरे तदपत्यानि, प्रापुश्च परमं पदम् ॥ २४ ॥

एवं निशम्याऽभयघोषवृत्तं,
मुदा गुरूणां गुणराजिभाजाम् ।
दाने सदाऽप्यौषधभेषजादेः,
कृतोद्यमा भव्यजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ध० र० ।

अभयणंदा–अभयनन्दा–स्त्री० । बुद्धिनिधाने, अणु० १ वर्ग ।

अभयदय-अभयद(क)य–पुं० । अभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यम्, निःश्रेयसधर्मनिबन्धनभूता परमा धृतिरितिभावः। तत अभयं ददातीति अभयदः । जी० ३ प्रति० । ल० । तदित्थंभूतमभयं गुणप्रकर्षयोगादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वाद् भगवन्त एव ददतीति । ध० २ अधि० । रा० । न भयं दयते ददाति प्राणापहरणरसिकेऽप्युपसर्गकारिप्राणिनीत्यभयदयः । अथवा-सर्वप्राणिभयपरिहारवती दयाऽनुकम्पा यस्य सोऽभयदयः । अहिंसाया निवृत्ते, उपदेशदानतो निवर्तके च । भ० १ श० १ उ० । औ० । ध० । भयानामभावाद् भयस्याभावोऽभयं, तद्दायकः । तीर्थकरे, कल्प० १ क्ष० ।

अभयदाण–अभयदान–न० । दानभेदे, ग० ।

" यः स्वभावात्सुखैषिभ्यो, भूतेभ्यो दीयते सदा ।
अभय दुःखभीतेभ्यो-ऽभयदानं तदुच्यते " ॥१॥ ग० २ अधि० ।
नहि भूयस्तमो धर्म-स्तस्मादन्योऽस्ति भूतले ।
प्राणिनां भयभीताना-मभयं यत्प्रदीयते ॥ ५१ ॥
हेमधेनुधरादीनां, दातारः सुलभा भुवि ।
दुर्लभः पुरुषो लोके, यः प्राणिष्वभयप्रदः ॥ ५२ ॥
महतामपि दानानां, कालेन क्षीयते फलम् ।
भीताभयप्रदानस्य, क्षय एव न विद्यते ॥ ५३ ॥
दत्तमिष्टं तपस्तप्तं, तीर्थसेवा तथा श्रुतम् ।
सर्वाण्यभयदानस्य, कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ५४ ॥
एकतः क्रतवः सर्वे, समग्रवरदक्षिणाः ।
एकतो भयभीतस्य, प्राणिनः प्राणरक्षणम् ॥ ५५ ॥
सर्वे वेदा न तत्कुर्युः, सर्वे यज्ञा यथोदिताः ।
सर्वे तीर्थाभिषेकाश्च,यत्कुर्यात्प्राणिनां दया । ५६ । ध० र० ।

अभयदेव–अभयदेव–पुं० । नवाङ्गवृत्तिकारके स्वनामख्याते आचार्ये, स्था० ।

(१) तच्चरित्रं त्वेवमाख्यान्ति—

धारापुर्यां नगर्यां महीधरस्य श्रेष्ठिनो धनदेव्यां नाम भार्यायामभयकुमारो नाम पुत्ररत्नं जज्ञे । स च धारायामेव समवसृतस्य वर्द्धमानसूरिशिष्यजिनेश्वरसूरिणोऽन्तिके प्रवव्राज । ततः प्रज्ञातिशयात्षोडशवर्षजन्मपर्यायः कुमारावस्थ एव वर्द्धमानसूरिणाऽभ्यनुज्ञातो विक्रमीयसं० १०८८ मिते वर्षे आचार्यपदमध्यतिष्ठत् । तदानीं दुष्कालादिभिरध्ययनलेखनादिषु विरहादागमानां वृत्तयो व्युच्छिन्नप्राया आसन् इत्येकदा निशि शुभध्यानाऽवस्थितं तमभयदेवसूरिं शासनदेवताऽवोचत्-भगवन् ! पूर्वाचार्यैरेकादशस्वङ्गेषु टीकाः कृताः, तास्तु द्वे एवावशिष्टे, शेषा व्युच्छिन्ना इति सम्प्रति ताः पुनरुज्जीव्य सङ्घोऽनुग्राह्य इति । आचार्येणोक्तम्-शासनाऽधीश्वरि मातः ! अल्पबुद्धिरहमेतद् गहनं कार्यं कर्तुं कथं शक्नुयाम् ?, यतस्तत्र यदि किञ्चिदप्युत्सूत्रं स्यात्तन्महतेऽनर्थाय संसारपातनाय भवेदिति । ततो देवतयोक्तम्--भगवन् ! त्वामहं समर्थमेव मत्वाऽवोचम् । यत्र च त्वं संशयिष्यसे तत्र तत्क्षणमेवाहं स्मर्तव्या, अहं च महाविदेहं गत्वा तत्र सीमन्धरस्वामिनं पृष्ट्वा त्वां वक्ष्यामीति न किञ्चिदनुपपन्नं भविष्यति, इति प्रवचनदेव्योत्साहितस्तत्कार्यं प्रारभत । समाप्तेः पूर्वमेव आचामाम्लतपसा निशि जागरणैश्च धातुप्रकोपाद् विकृतरुधिरः समजायत । तदा छिद्रलोकैः सहर्षं प्रावाद्यत-यदयमभयदेव उत्सूत्रं व्याख्यातीति स्मेति, कुपिता शासनदेवी अस्य शरीरे कुष्ठरोगमुदपादयत् । तमपवादमाकर्ण्य दुःखितमाचार्यं रात्रावागत्य धरणेन्द्रस्तं रुधिररोगं व्यनाशयत् । अकथयच्च-स्तम्भनग्रामपार्श्वे सेढिकानद्यास्तटे भूमिमध्ये श्रीपार्श्वनाथप्रतिमाऽस्ति, यस्याः प्रभावाद् नागार्जुनेन रससिद्धिराप्ता; तां प्रकटय्य तत्र महातीर्थं प्रवर्त्तय, ततस्त्वं विधूताऽपकीर्तिर्भविष्यसि । ततस्तत्राऽभयदेवसूरिणा 'जय तिहुअण' इत्यादि द्वात्रिंशद्गाथात्मकं स्तोत्रमुद्गीर्य सद्यस्तत्क्षणं सा प्रतिमा प्रकटायिता, तस्मात्तस्याचार्यस्य महद्यशः सर्वत्र प्रोदज्जृम्भत् । पश्चाद्धरणेन्द्रवचसा तस्य स्तोत्रस्य द्वे गाथे वियोज्य त्रिंशद्गाथात्मकमेव प्राचीकटत्,तादृशमेवाद्यापि उपलभ्यते । सा च प्रतिमा 'खम्भात' नगरेऽद्यापि पूज्यमाना वरीवर्त्ति । सा च नेमिनाथशासनसमये २२२२ वर्षे कृतेति तत्प्रतिमाया आसनपृष्ठे टङ्कितमस्ति, पश्चाद् नवाङ्गेषु वृत्तीः पञ्चाशकादिटीकाश्च निर्माय कर्पटवणिजनगरे वि०सं० ११३५ मिते देवलोकं गतः । जै० इ० । इत्येकोऽभयदेवसूरिः ।

अनेन चात्मकृतप्रबन्धेष्वेवं स्वपरिचयोऽदर्शि—

श्रीमदभयदेवसूरिनाम्ना मया महावीरजिनराजसन्तानवर्त्तिना महाराजवंशजन्मनेव संविग्नमुनिवर्गप्रवरश्रीमज्जिनचन्द्राचार्यान्तेवासियशोदेवगणिनामधेयसाधोरुत्तरसाधकस्येव विद्याक्रियाप्रधानस्य साहाय्येन समर्थितम्, तदेवं सिद्धमहानिधानस्येव समापिताधिकृतानुयोगस्य मम मङ्गलार्थं पूज्यपूजानमो भगवते वर्तमानतीर्थनाथाय श्रीमन्महावीराय, नमः प्रतिपन्थिसार्थप्रमथनाय श्रीपार्श्वनाथाय, नमः प्रवचनप्रबोधिकायै श्रीप्रवचनदेवतायै । नमः प्रस्तुतानुयोगशोधिकायै श्रीद्रोणाचार्यप्रमुखपण्डितपर्षदे, नमश्चतुर्वर्णाय श्रीश्रमणसङ्घभट्टारकायेति । एवं च निजवंशवत्सलराजसन्तानिकस्येव ममासमानमिममायासमतिसफलतां नयन्तो राजवंश्या इव वर्द्धमानजिनसन्तानवर्तिनः स्वीकुर्वन्तु, यथोचितमितोऽर्थजातमनुतिष्ठन्तु सुश्रुचितपुरुषार्थसिद्धिमुपयुञ्जतां च योग्येभ्य इति ।

किञ्च—

सत्सम्प्रदायहीनत्वा-त्सदूहस्य वियोगतः ।
सर्वस्वपरशास्त्राणा-मदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥ १ ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः ।
सूत्राणामतिगाम्भीर्या-न्मतिभेदाच्च कुत्रचित् ॥ २ ॥
क्षुण्णानि संभवन्तीह, केवलं सुविवेकिभिः ।
सिद्धान्तानुगतो योऽर्थः, सोऽस्माद्ग्राह्यो न चेतरः ॥ ३ ॥
शोध्यं चैतज्जिने भक्तै-र्मामवद्भिर्दयापरैः ।
संसारकारणाद् घोरा--दपसिद्धान्तदेशनात् ॥ ४ ॥
कार्या न च क्षमाऽस्मासु, यतोऽस्माभिरनाग्रहैः ॥
एतद्गमनिकामात्र-मुपकारीति चर्चितम् ॥ ५ ॥
तथा संभाव्य सिद्धान्ताद्, बोध्यं मध्यस्थया धिया ।
द्रोणाचार्यादिभिः प्राज्ञै-रनेकैरादृतं यतः ॥ ६ ॥
जैनग्रन्थविशालदुर्गमवनादुच्चित्य गाढश्रमं,
सद्व्याख्यानफलान्यमूनि मयका स्थानाङ्गसद्भाजने ।
संस्थाप्योपहितानि दुर्गतनरप्रायेण शब्द्यार्थिना,
श्रीमत्सङ्घविभोरतः परमसावेव प्रमाणीकृतः ॥ ७ ॥
श्रीविक्रमादित्यनरेन्द्रकाला-
च्छतेन विंशत्यधिकेन युक्ते ।
समासहस्रेऽतिगते (वि०सं०११२०) निबद्धा
स्थानाङ्गटीकाऽल्पधियोऽपि गम्या ॥ ८ ॥ स्था० १० ठा० ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्बन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचःशब्दादिसल्लक्ष्मणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवाख्य-सूरिणा विवृतिः कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासतः ॥ ९ ॥ (युग्मम्)
निर्वृतिककुलनभस्तल-चन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगणेन गुणव-त्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
एकादशसु शतेष्वथ,विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्(सं०११२०)
अणहिलपाटकनगरे,विजयदशम्यां च सिद्धेयम् ।११। ज्ञा०२ श्रु०।
यस्मिन्नतीते श्रुतसंयमश्रिया-
ऽवाप्नुवत्यथ परं तथाविधम् ।
स्वस्याश्रयं संवसतोऽतिदुःखिते,
श्रीवर्द्धमानः स यतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥
शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराख्यः,सूरिः कृतानिन्द्यविचित्रशास्त्रः ।
सदा निरालम्बविहारवर्ती, चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
अन्योऽपि विज्ञो भुवि बुद्धिसागरः,पाण्डित्यचारित्रगुणैरनूपमैः ।
शब्दादिलक्ष्मप्रतिपादकानघ-ग्रन्थप्रणेता प्रवरः क्षमावताम् ॥ ३ ॥
तयोरिमां शिष्यवरस्य वाक्याद्,
वृत्तिं व्यधात् श्रीजिनचन्द्रसूरेः ।
शिष्यस्तयोरेव विमुग्धबुद्धि-
र्ग्रन्थार्थबोधेऽभयदेवसूरिः ॥ ४ ॥
बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,
न तादृशी वाक्पटुताऽस्ति मे तथा ।
न चास्ति टीकेह न वृत्तिनिर्मिता,
हेतुः परं मेऽत्र कृतौ विभोर्वचः ॥ ५ ॥
यदिह किमपि दृब्धं बुद्धिमान्द्याद् विरुद्धं,
मयि विहितकृपास्तद्धीधनाः शोधयन्तु ।
विपुलमतिमतोऽपि प्रायशः सावृतेः स्या-
न्नहि न मतिविमोहः किं पुनर्मादृशस्य ? ॥ ६ ॥
चतुरधिकविंशतियुते,वर्षसहस्रे शते (सं०११२४)च सिद्धेयम् ।
धवलक्कपुरे वसतौ, धनपत्योर्बकुलचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥
अणहिलपाटकनगरे, संघवरैर्वर्तमानबुधमुख्यैः ।
श्रीद्रोणाचार्याद्यै-र्विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥८॥ पञ्चा०१९विव०,
" अविरस्सई नववत्थो, जिणनाहो पणसयाइ वरिसाणं ।
तयणुं धरणिंदनिमिअ–सन्निज्झो विहिअसुअसारो ॥ ५५ ॥
सिरिअभयदेवसूरी, दूरीकयदुरिअरोगसंघाओ ।
पयडं तित्थं काही, अहीणमाहप्पविप्पंतं" ॥५६॥ ती०६ कल्प ।

(२) राजगच्छीये प्रद्युम्नसूरिशिष्ये, येन वादमहार्णवो नाम ग्रन्थो विरचितः, 'न्यायवनसिंह' इति च विरुदं लेभे । वि०सं० १२७६ वर्षे पार्श्वनाथचरित्रनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्रा माणिक्यचन्द्रसूरिणा तत्र लिखितम्-यद् वादमहार्णवकृतोऽभयदेवसूरेरहं नवमोऽस्मीति । अभयदेवसूरेरेव शिष्यः धनेश्वरसूरिर्मुञ्जराजस्य मान्यो गुरुरासीदिति तत्समयोऽनुमातुं शक्यते । अनेनैव अभयदेवसूरिणा तत्त्वबोधविधायिनी नाम सम्मतिटीका विरचितेति। जै०इ०।
एतच्च स्फुटमेव प्रतिजानाति ग्रन्थसमाप्तौ–
"इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्तं,
कुशलमतुलमस्मात्सम्मतेर्भव्यसार्थैः ।
भवभयमभिभूय प्राप्यतां ज्ञानगर्भं,
विगलदभयदेवस्थानमनिन्द्यसारम् ॥ १ ॥
पुष्यद्दाम्दानवादिद्विरदघनघटाकुम्भपीठ-
प्रत्यमोद्भूतमुक्ताफलविशदयशोराशिभिर्यस्य तूर्णम् ।
गन्तुं दिग्दन्तिदन्तच्छलनिहितपदं व्योम पर्यन्तभागान्,
स्वच्छप्रह्लादभाग्मोदरनिविडनरोत्पीडिरूतैः समन्तस्थे ॥२॥
प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी ।
तस्येयमभयदेवेन, सम्मतेर्विवृतिः कृता ॥३॥ सम्म०३ काण्ड ।
इत्ययं द्वितीयोऽभयदेवसूरिः ॥

(३) हर्षपुरीयगच्छोद्भवे मलधारीत्यपरनामके सूरौ, स च कोटिकगणस्य मध्यमशाखायां प्रश्नवाहनकुलसंभूतः स्थूलभद्रस्वामिनो वंश्यः । एकदा हर्षपुराद् विहरन् अणहिलपट्टननगरे बहिःप्रदेशे सपरिवारः स्थितः, अन्यदा श्रीजयसिंहदेवनरेन्द्रेण गजस्कन्धारूढेन राजपाटिकाऽऽगतेन दृष्टो मलमलिनवस्त्रदेहः, राज्ञा च गजस्कन्धादवतीर्य दुष्करकारक इति दत्तं तस्य "मलधारी" इति नामेति । जै० इ० ।

तथा च विविधतीर्थकल्पे जिनप्रभसूरिः–

"सिरिपण्हवाहणकुलसंभूओ हरिसपुरीयगच्छालंकारभूओ अभयदेवसूरी हरिसउरो राओ एगया गामाणुगामं विहरंतो सिरिअणहिल्लवाडयपट्टणमागओ, ठिओ बाहिं पएसे सपरिवारो,अन्नया सिरिजयसिंहदेवनरिंदेण गयखंधारूढेण रायवाडियागएण दिट्ठो मलमलिणवत्थदेहो, राएण गयखंधाओ ओअरिऊण दुक्करकारओ त्ति दिण्णं 'मलधारि' त्ति नामं, अब्भत्थिऊण नयरमज्झे नीओ रण्णा, दिण्णो उवस्सओ घयवसहीसमीवे,तत्थ ठिआ सूरिणो"ती०४० कल्प । अस्य गुरुर्जयसिंहसूरिर्नामाऽऽसीत्, हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभवत् । येन वि० सं० ११७० वर्षे 'भवभावना ' नाम ग्रन्थो व्यरचि, येनैकसहस्रं ब्राह्मणा जैनीकृताः, मद्धुपदेशादजयमेरुनगराददूरवर्तिनि ' मेमता ' ग्रामे प्रसिद्धं तज्जिनमन्दिरं कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसूरेरुपदेशाद् भुवनपालराजेन जिनमन्दिरे पूजाकृद्भिर्देयः करो मोचितः । अजयमेरुराजेन जयसिंहेनापि तदुपदेशान्मासस्य द्वयोरष्टम्योर्द्वयोश्चतुर्दश्योः शुक्लपञ्चम्यां च स्वराज्ये प्राणिमात्रवधो निवारितः । शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भपुरे स्वर्णकलशोपशोभितं जिनमन्दिरं कारितम् । यदा च सोऽभयदेवसूरिरनशनेन देवलोकं गतस्तदा तस्य शवं चन्दनमयरथे निधायाग्निसंस्कारः कृतः, तस्य च शवरथस्य पश्चात् सर्व एव नागरो लोको जयसिंहराजश्च पृष्ठतोऽनुजगाम । दग्धे च तद्भस्म रोगोपद्रवनाशकमिति मत्वा सर्वलोका जहृषुः । इत्येतत्सर्वं रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिलायां लिखितमुपलभ्यते । इत्ययं तृतीयोऽभयदेवसूरिः । जै० इ० ।

(४) चन्द्रेश्वरसूरिशिष्ये सं० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जर्याः कारकस्य आसडस्य गुरौ, अनेन च भद्रबाहुकृतसामुद्रिकशास्त्रोपरि टीका कृता । केचिदेनं श्रीशान्त्याचार्यशिष्यं मन्यन्ते । इत्ययं चतुर्थोऽभयदेवसूरिः । जै० इ० ।

(५) रुद्रपल्लीयगच्छोद्भवे विजयेन्दुसूरिशिष्ये देवभद्रसूरिगुरौ, अनेन काशिराजाद् ' वादिसिंह ' इति विरुदं लेभे । ' जयन्तविजयं ' नाम महाकाव्यं च वि०सं० १२७८ वर्षे निर्ममे । इत्ययं पञ्चमोऽभयदेवसूरिः । जै० इ० ।

(६) गुणाकरसूरिसहवासिनि, येन वि०सं० १४२६ वर्षे सरस्वतीपाटननगरे भक्तामरस्तोत्रटीका कृता, १४५१ वर्षे 'विजयपहुत्त' नामकं स्तोत्रं च निर्मितम् । जै० इ० ।

अभयप्पदाण–अभयप्रदान–न० । दानभेदे, " दाणाण सेठं अभयप्पदाणं " तथा स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानमनेकधा, तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभयदानं श्रेष्ठम् । तदुक्तम्–" दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा । धनकोटिं न गृण्हीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति "॥१॥ गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीति । अतोऽभयप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदम्–

"वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा । स च कदाचिच्चतुर्वधूसमेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति । तेन कदाचिच्चौरो रक्तकरवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यमिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः । दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टम्–किमनेनाकारीति ? । तासामेकेन राजपुरुषेणाऽऽवेदितम्–यथा–परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति । तत एकया राजा विज्ञप्तः–यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयताम्, यथाऽहमस्योपकरोमि किञ्चित् । राज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तया स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणाऽलङ्कृतो दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमह्नो दीनारशतसहस्रव्ययेन लालितः । ततस्तृतीयया तृतीयमह्नो दीनारकोटिव्ययेन सत्कारितः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणाद्रक्षितोऽभयप्रदानेन । ततोऽसावन्याभिर्हसिता, नास्य त्वया किञ्चिद्दत्तमिति । तदेवं तासां परस्परं बहूपकारविषये विवादे जाते राज्ञाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्टः, यथा केन तव बहूपकृतमिति ?। तेनाऽभ्यभाणि–यथा न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं विज्ञायीति । अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमीति । अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थितम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अभयसेण–अभयसेन–पुं० । वारत्तकपुरराजनि, पिं० । आव० ।

अभया–अभया–स्त्री० । दधिवाहननृपस्य स्वनामख्यातायां राज्ञ्याम्, ती० ३५ कल्प । तं० । हरीतक्याम्, नि० चू० १५ उ० । ध० । आचा० ।

अभयारिट्ठ–अभयारिष्ट–न० । स्वनामख्याते मद्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अभवसिद्धिय–अभवसिद्धिक–पुं० । न भवसिद्धिकोऽभवसिद्धिकः । अभव्ये, स्था० १ ठा० १ उ० । नं० । " णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–भवसिद्धिया चेव, अभवसिद्धिया चेव० जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा० २ उ० ।

अभविय (व्व)–अभव्य–पुं० । न० त० । तथाविधानादिपारिणामिकभावात् (कदाचनाऽपि) सिद्धिगमनायोग्ये जीवे, कर्म० ३ कर्म० । कुतो नाभव्यः सिद्धिं गच्छति । आह–ननु जीवत्वसाम्येऽप्ययं भव्यः, अयं चाभव्य इति किं कृतोऽयं विशेषः? । न च वक्तव्यं यथा जीवत्वे समानेऽपि नारकतिर्यगादयो विशेषास्तथा भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि भविष्यतीति, यतः कर्मजनिता एव नारकादिविशेषाः, न तु स्वाभाविकाः; भव्याऽभव्यत्वविशेषोऽपि यदि कर्मजनितस्तदा भवतु, को निवारयिता ?, न चैवम् । इत्येतदेवाऽऽह–

होज्ज व जइ कम्मकओ, न विरोहो नारगाइभेद व्व ।
जमिह भव्वाभव्वा, सभावओ तेण संदेहो ॥

भवतु वा यदि कर्मकृतो भव्याभव्यत्वविशेषो जीवानामिष्यते, नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकादिभेदवत् । नचैतदस्ति, यतो भव्याऽभव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति यूयं भणथ; तेनास्माकं संदेह इति, परेणैवमुक्ते सतीत्याह–

दव्वाइत्ते तुल्ले, जीवनहाणं सहावओ भेओ ।
जीवाजीवाइगओ, जह तह भव्वेयरविसेसो ॥

यथा जीवनभसोर्द्रव्यत्वसत्त्वप्रमेयत्वज्ञेयत्वादौ तुल्येऽपि जीवाजीवत्वचेतनाचेतनत्वादिस्वभावतो भेदः, तथा जीवानामपि जीवत्वसाम्येऽपि यदि भव्याऽभव्यकृतो विशेषः स्यात्तर्हि को दोषः ?, इति ।

इत्थं संबोधितो भव्यत्वादिविशेषमभ्युपगम्य दूषणान्तरमाह–

एवं पि भव्वभावो, जीवत्तं पि व सभावजाईओ ।
पावइ निच्चो तम्मि य, तदवत्थे नत्थि निव्वाणं ॥

नन्वेवमपि भव्यभावो नित्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजातीयत्वात्स्वाभाविकत्वाज्जीवत्ववत् । भवत्वेवमिति चेत्; तदयुक्तम् । यतस्तस्मिन् भव्यभावे तदवस्थे नित्यावस्थायिनि नास्ति निर्वाणम्, 'सिद्धो न भव्यो नाप्यभव्यः' इति वचनादिति ।

नैवम्, कुतः ?, इत्याह–

जह घडपुव्वाभावो–ऽणाइसहावो वि संनिहाणेवं ।
जइ भव्वत्ताभावो, भवेज्ज किरियाएँ को दोसो ? ॥

यथा घटस्य प्रागभावोऽनादिस्वभावजातीयोऽपि घटोत्पत्तेः सन्निधाने विनश्वरो दृष्टः, एवं भव्यत्वस्यापि ज्ञानतपःसचिवचरणक्रियोपायतोऽभावः स्यात्तर्हि को दोषः संपद्यते ?, न कश्चिदिति ।

आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह–

अणुदाहरणमभावो, खरसिंगं पि व मई न तं जम्हा ।
भावो च्चिय स विसिट्ठो, कुंभाणुप्पत्तिमेत्तेणं ॥

स्यान्मतिः परस्य ननु–अनुदाहरणमसौ प्रागभावः, अभावरूपतयैवावस्तुत्वात्, खरविषाणवत् । तन्न, यस्माद्भाव एवासौ घटप्रागभावस्तत्कारणभूतानादिकालप्रवृत्तपुद्गलसंघातरूपः, केवलं घटानुत्पत्तिमात्रेण विशिष्ट इति, भवतु तर्हि घटप्रागभाववद्भव्यत्वस्य विनाशः केवलम्, इत्थं सति दोषान्तरं प्रसज्जति, किम् ?,

इत्याह–

एवं भव्वुच्छेओ, कोट्ठागारस्स अवचउ व्व त्ति ।
तं नाणंतत्तणओ–ऽणागयकालंबराणं व ॥

नन्वेवं सति भव्योच्छेदो भव्यजीवैः संसारः शून्यः प्राप्नोति, अपचयात् । कस्य यथा समुच्छेदः ?, इत्याह–स्तोकस्तोकाऽऽकृष्यमाणधान्यस्य धान्यकोष्ठागारस्य । इदमुक्तं भवति–कालस्यानन्त्यात्षण्मासपर्यन्ते चावश्यमेकस्य भव्यस्य जीवस्य सिद्धिगमनात्क्रमेणापचीयमानस्य धान्यकोष्ठागारस्येव सर्वस्यापि भव्यराशेरुच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह–तदेतन्न, अनन्तत्वाद्भव्यराशेः, अनागतकालाकाशवदिति । इह यद् बृहदनन्तकेनाऽनन्तस्तोकस्तोकतयाऽपचीयमानमपि नोच्छिद्यते, यथा–प्रतिसमयं वर्तमानतामाऽपचीयमानोऽप्यनागतकालसमयराशिः, प्रतिसमयं बुद्ध्या प्रदेशापहारेणापचीयमानः सर्वनभःप्रदेशराशिर्वा, इति न भव्योच्छेदः ।

कुतः ?, इत्याह–

जं चातीयाणागय–काला तुल्ला जओ य संसिद्धो ।

एक्को अणंतभागो, जव्वाणमईयकालेणं ॥
एस्सेण तत्तिओ च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वजव्वाण ।
जुत्तो न समुच्छेओ, होज्ज मई कहमिणं सिद्धं ।
जव्वाणमणंतत्तण-मणंतजागो व कह विमुक्कोसि ।
कालादओ व मंमिय !, मह वयणाओ वि पमिवज्जा ।

यस्माच्चातीतानागतकालौ तुल्यावेव, यतश्चातीतेनानन्तेनापि कालेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽद्यापि भव्यानां सिद्धः, एष्यताऽपि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन् युक्तो घटमानको न हीनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्यातीततुल्यत्वात् । तत एवमपि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः, सर्वेणापि कालेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसंभवोपदर्शनात् । अथ परस्य मतिर्भवेत्-कथमिदं ससंबद्धम्-यदुतानन्ता भव्याः, तदनन्तभागश्च सर्वेणैव कालेन सेत्स्यति ?, इति । अत्रोच्यते-कालाकाशादय इवानन्तास्तावद्भव्याः, तदनन्तभागस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरिव न सर्वेषामुच्छेद इति प्रतिपद्यस्व । मद्वचनाद्वा मण्डिक ! सर्वमेतच्छ्रद्धेहीति । विशे० । पञ्चा० । द्वा० कर्म० । आ० । नं० । वृ० । दशा० ।

अभारिय-अभार्य-पुं० । अपत्नीके, कल्प० ।

" पद्मावती च समुवाच विना वधूटीं,
शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेव विट एव भवेदभार्यः " ॥ १ ॥ कल्प० १ क्ष० ।

अभाव-अभाव-पुं० । असद्भावे, उत्त० १ अ० । जीवादयः पदार्था अन्यापेक्षया अभावाः । निषेधे, भ० ४२ श० १ उ० । विनाशे, वृ० १ उ० । असम्भवे, दश० १ उ० । असत्तायाम, पञ्चा०३ विव० । स० (अभावप्रामाण्यम) यदपि—

" प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि " ॥ १ ॥

(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिग्राहकतया परिणामाभावः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविविक्ताख्ये वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम, इत्यभावप्रमाणमभिधीयते । तदपि, यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथाहि—

" गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम ।
मानसं नास्तिता ज्ञानं, जायतेऽक्षानपेक्षया " ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम, असंसृष्टं वा गृह्येत ? । नाद्यः पक्षः । प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम, प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभावप्रतिपत्तेः । अथ न संसृष्टं नाप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतलादि वस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि दुष्टम । संसृष्टत्वासंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधेऽपरविधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात् , इति सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवायं वेद्यते । कश्चित्तु-तदघटं भूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान्न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतेः क्वाऽभावप्रमाणं प्रवर्तताम ? । रत्ना० ३ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह-

स चतुर्धा-प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तूत्पत्तेरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरस्येतरस्मिन्नभावः, अत्यन्तं सर्वदाऽभावः । त्रिचिप्रकारास्तु प्राक्तनैर्नोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिदधिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावमाविर्भावयन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि; अतिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नचैवमपि रूपज्ञानं तन्निवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्प्रति तस्य तत्त्वप्रसक्तिरिति वाच्यम । अतीन्द्रियदर्शिनि नक्तंचरादौ च तद्भावेऽपि तद्भावात् । (स इति) पदार्थः, (अस्येति) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात । विपत्तिर्विघटनं, सोऽस्य कार्यस्य प्रध्वंसाभावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

उदाहरन्ति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः ॥ ६३ ॥

स्वभावान्तराच्च पुनः स्वस्वरूपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्वरूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽन्यापोहनामा निगद्यते ॥ ६३ ॥

उदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वभावात्कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अत्यन्ताभावमुपदिशन्ति-

कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः, सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते ॥ ६५ ॥

निदर्शयन्ति-

यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुद्गलात्मकतामचकलत्, कलयति, कलयिष्यति वा; तच्चैतन्यविरोधात् । नाप्यचेतनं पुद्गलतत्त्वं चेतनस्वरूपताम्; अचेतनत्वविरोधात् ॥ रत्ना० ३ परि० । नं०। सम्म०। अभावचातुर्विध्यं चावश्यमाश्रयणीयम् । तदुक्तम्-"कार्यद्रव्यमनादिः स्यात्, प्रागभावस्य निह्नवे । प्रध्वंसस्य त्वभावस्य, प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १ ॥ सर्वात्मकं तदेकं स्या-दन्यापोहव्यतिक्रमे" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। (सम्मत्यादिग्रन्थेभ्यो विशेषोऽवगन्तव्यः) परिचाराभावो द्विविधः-विद्यमानाभावोऽविद्यमानाभावश्च । विद्यमानः सन् अभावोऽसन् वैयावृत्त्यादेरकरणाद् विद्यमानाभावः । अविद्यमानः सन्नभावोऽविद्यमानाभावः । व्य० २ उ० ।

अभाविय-अभावित-त्रि० । असंसर्गप्राप्ते प्राप्तसंसर्गे वा वजनन्दुलकल्पे, अयोग्ये च । "अभाविया परिसा" तृतीयमाश्चर्यम् ॥ स्था० १० ठा०।

अभावियक्खेत्त-अभावितक्षेत्र-न० । क० स० । संविग्नसाधुविषयश्रद्धाविकले, पार्श्वस्थादिभाविते च क्षेत्रे, बृ० ३ उ० ।

अभावुग-अभावुक-न० । न० त० । वेलुकादिरूपभावुकविलक्षणे वज्रादौ, पं० व० ३ द्वार । आव० ।

अभासग-अभाषक-पुं० । भाषाऽपर्याप्ते अयोगिसिद्धे, एकेन्द्रिये च । स्था०२ ठा० ४ उ० । अनु०। चं० प्र०। ("भासग" शब्दे दण्डकोऽस्य वक्ष्यते)

अभासा-अभाषा-स्त्री० । मृषाभाषायाम्, सत्यामृषायां च । भ० २५ श० ३ उ० ।

अभासिय-अभासिक-त्रि० । अदीप्तिमति भूम्यादिके द्रव्ये, नि० चू० १३ उ० ।

अभि-अभि-अव्य० । आभिमुख्ये, अनु० । आचा० । विपा० । संमुखे, नं०। विकल्पे, पदार्थसंभावने च। नि० चू० १ उ०। कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य द्योतने, आभिमुख्ये, अभिलापे, वीप्सायां, लक्षणे, समन्तादर्थे च । वाच० ।

अभिआवन्न-अभ्यापन्न-त्रि० । अभिमुखं समापन्ने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभि (भी)इ-अभिजित्-न० । ब्रह्मदेवताके नक्षत्रभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० । अनु० । "दो अभिई" स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । तच्च उत्तराषाढानक्षत्रस्य शेषचतुर्थांशसहितश्रवणनक्षत्रादिघटिकाचतुष्करूपम् । शब्द० । "अभीइणक्खत्ते तितारे" पं०सं० २ द्वार । नक्षत्रेण सहाऽस्य योगस्तत्रैव । ज्यो० ६ पाहु०। वीतिभयनगरराजस्योदायनस्य प्रभावत्यां देव्यामुत्पन्ने पुत्रे, भ०। स च प्रव्रजता स्वपित्रा नद्भागिनेये केशिकुमारश्रमणे राज्यमधिष्ठापिते द्विष्टः सन् संलेखनया मृतः सन्नसुरकुमारदेवत्वेनोत्पन्नः । भ० १३ श० ६ उ० । स्था० ।

तए णं तस्स अभीइकुमारस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु अहं उदायणस्स पुत्ते पभावइए देवीए अत्तए । तए णं से उदायणे राया ममं अवहाय णियगं भायणिज्जं केसीकुमारं रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए । इमेणं एयारूवेणं महता अपत्तिएणं मणोमाणसीएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे अंतेउरपरियालसंपरिवुडे सभंडमत्तोवगरणमायाय वीइभयाओ णयराओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव चंपा णयरी, जेणेव कूणिए राया, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कूणियं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तत्थ वि णं से विउलभोगसमितिसमण्णागए यावि होत्था । तए णं से अभीइकुमारे समणोवासए यावि होत्था; अभिगय० जाव विहरइ । उदायणम्मि रायरिसिम्मि समणुबद्धवेरे यावि होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णिरयपरिसामंतेसु चोयट्ठिअसुरकुमारावाससयसहस्सा पण्णत्ता । तए णं से अभीइकुमारे बहूइं वासाइं समणोवासगं परियागं पाउणइ, पाउणइत्ता अद्धमासियाए संलेहणाए तीसं भत्ताइं अणसणं २ तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णिरयपरिसामंतेसु चोयट्ठीए आतावा० जाव सहस्सेसु अण्णयरंसि आयावा असुरकुमारावासंसि आतावासंसि असुरकुमारदेवत्ताए उववण्णो, तत्थ णं अत्थेगइयाणं असुरकुमाराणं एगं पलिओवमट्ठिई पण्णत्ता । तस्स णं अभीइस्स देवस्स एगं पलिओवमं ठिई पण्णत्ता । से णं अभीइदेवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ३ अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिति० जाव अंतं काहिति, सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं ति) अप्रीतिकेनाप्रीतिस्वभावेन मनसो विकारो मानसिकं, मनसि मानसिकं, न बहिरुपलक्ष्यमाणविकारं यत्तन्मनोमानसिकं, तेन । केनैवंविधेन ?, इत्याह-दुःखेन । (सभंडमत्तोवगरणमायाय त्ति) स्वां स्वकीयां भाण्डमात्रां भाजनरूपपरिच्छदमुपकरणं च शय्यादि, गृहीत्वेत्यर्थः । अथवा-सह भाण्डमात्रया यदुपकरणं तत्तथा, तदादाय (समणुबद्धवेरि त्ति) अव्यवच्छिन्नवैरभावः । (निरयपरिसामंतेसु त्ति) नरकपरिपार्श्वतः (चोसट्ठीए आयावा असुरकुमारावासेसु त्ति) इह "आयाव त्ति" असुरकुमारविशेषाः, विशेषतस्तु नावगम्यन्त इति । भ० १३ श० ६ उ० । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे, कल्प० ६ क्ष० । श्रेणिकस्य धारिण्यां जाते पुत्रे, अणु० । स च वीरान्तिके प्रव्रज्य पञ्च वर्षाणि श्रामण्यं परिपाल्य विजये विमाने उत्पन्न इति अनुत्तरोपपातिकदशानां १ वर्ग १० अध्ययने सूचितम् । अणु० १ वर्ग । अभिमुखीभूय जयति शत्रून्, अभि-जि-क्विप् । शत्रुजयिनि, यात्रानुकूललग्नभेदे, पञ्चदशधा विभक्तदिनस्याष्टमे भागे, स्मृतिप्रसिद्धे कुतपकाले च । वाच० । द० प० ।

अभिउंजिय—अभियुज्य—अव्य० । सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्पर्द्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वशीकृत्याऽऽश्लिष्य वा इत्येतेषामर्थे, दशा० १० अ० ।

अभिओग—अभियोग—पुं० । अभियुज्यमानतायाम्, स द्विविधो-दैवो मानुषिकश्च । व्य० ८ उ० । (स च 'उवसमापस्त' शब्दे द्वितीयभागे १०२६ पृष्ठे व्याख्यास्यते) अभियोजनमभियोगः । राजाभियोगादिके अनिच्छतोऽपि व्यापारणे,ध० २ अधि० । आदेशकर्मणि, औ० । प्रश्न० । आज्ञायाम्, स्था० १० ठा० । वशीकरणे, नि० चू० १ उ० । अभिभवे, आव० ५ अ० । बृ० । सूत्र० । गर्वे, आव० ४ अ० । अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां वशीकरणादिरभियोगः । स च द्विधा । यदाह—

दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे य होइ नायव्वो ।
दव्वम्मि होंति जोगा, विज्जामंताइ भावम्मि ॥

इदानीम (अभिओगो त्ति) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अभिओगो त्ति) इह द्विविधो अभियोगः-द्रव्याभियोगो, भावाभियोगश्च ज्ञातव्यः । तत्र द्रव्ये योगो द्रव्ययोगश्चूर्णम, तन्मिश्रः पिण्डो द्रव्याभियोगपिण्डः, स च परित्यजनीयः । भावाभियोगश्च, विद्यया मन्त्रेण वा पिण्डं ददाति स च भावाभियोगः पिण्डः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्या दृष्टान्तः— "एगा अविरइया, सा अणिट्ठा पइणो, ताए परिव्वाइया अब्भत्थिया-किंचि मंतेण अभिमंतिऊण मम देहि, जेण पई मे वसो होइ, ताहे ताए अभिमंतिऊण कूरो दिन्नो । अविरइयाए चिंतियं-मा एसो दिन्नो मरेज्ज, तओ ताए अणुकंपाए उक्कुरुडियाए छड्डिओ, सो गद्दहेण खाइओ, सो रत्तिं घरदारं खोदिउमारद्धो, ताणि निग्गयाणि जाव पेच्छंति गद्दहेण खोदिज्जंतं, सा अविरइया जणइ-किमेय त्ति ?, ताए सब्भावो कहिओ, तेहिं वि सा चरिया दंमाविया, एस दोसो, एवं ताव जइ तिरियाणं एसा अवत्था होइ, माणुसस्स पुण सुट्ठयरं होइ, अओ एरिसो पिंडो न घेत्तव्वो " ॥

अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

विज्जाएँ हो अगारी, अवियत्ता सा य पुच्छए चरियं ।
अभिमंतणोदणस्स उ,अणुकंपत्तणपुस्सणं च खरे ॥६०४॥

विद्याभिमन्त्रिते पिण्डे अगारीदृष्टान्तः-सा भर्त्तुरस्वायत्ता न रोचते । सा च चरिकां परिव्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थम् । तया अभिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तयाऽपि अगार्या पत्युर्मरणानुकम्पया न दत्तः स ओदनः, किन्तु उत्सर्गः, परित्यागः कृतः । स च खरेण भक्षित इति ।

वारस्स पिट्टणम्मि य,पुच्छण कहणं च हो अगारीए ।
सेट्ठे चरिआ दंमे, एवं दोसा इहिं पि सया ॥

स च गर्दभ आगत्य द्वारं पिट्टति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम । एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं द्रव्याभियोगे चूर्णवशीकरणपिण्डः, स उच्यते—

" एगा अविरइया, सा य गुरुअस्स भिक्खुणो अज्झोववण्णा अणुरत्ता, ताहे सा तं पत्थेइ, अणिच्छंतस्स चुण्णाभिओगेण संजोएउ भिक्खं पडिवेसिय घरे काऊण दवावियं ताए, जओ चेव तस्स साहुस्स पडिग्गहे पडियं तओ चेव तस्स साहुस्स तत्तो मणो हीरइ, तेण य णायं, ताहे णियट्टति, णियट्टो आयरियाणं पडिग्गहं काउं काइयभूमिं वच्चइ, जाव आयरियाणं पि तत्तो दुत्तो भावो हीरति, ताहे सो भंसो आगंतुं आलोएइ, मम पि अत्थि भावो, तं एयं संजोगचुण्णेण कओ पिंडो अत्थि, ताहे परिट्ठविज्जइ, जो विहिं परिट्ठवणे मो उवरिं भणिहित्ति " । एवमेव विसकयं पि । " एगा अगारी साहुणो अज्झोववण्णा, सो य णो इच्छति, ताए रुट्ठाए विसेण मिस्सा भिक्खा दिन्ना । तस्स य दिन्नमेत्ताणं चेव सिरोवेयणा जाया, पडिणियट्टो गुरुणो समप्पेऊण काइयं वोसिरइ, जाव गुरुणो वि सीसवेयणा जाया, तं च गुरुणा गंधेण णायं, जहा इमं विसमिस्सं, अहवा तत्थ लवणकया भिक्खा पमिया, ताहे तं विसं वप्पिसइ । एवं णाते परिट्ठविज्जति " ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जोगम्मि उ अविरइया, अज्झोववन्ना गुरुवाभिक्खुम्मि ।
कमयोगिमणिच्छंत-स्स देइ भिक्खं असुहभावो ॥६०६॥

योगे अविरतिका गृहस्थी दृष्टान्तः-अध्युपपन्ना रक्ता सुरूपे भिक्षौ, अनिच्छतस्तत्कर्मकर्तुः कृतयोगां भिक्षां, भिक्षापिण्डं ददाति । पुनश्च तस्य साधोर्ग्रहणानन्तरमेव अशुभभावो जातः ।

तदभिमुखं चिन्तयति—

संकाए स नियट्टो, दाऊण गुरुस्स काइयं विसरे ।
तेसिं पि असुहभावो,पुच्छा य ममं पि उस्सयण ॥६०७॥

तया च शङ्कया योगकृतभिक्षाशङ्कया निवृत्तः भिक्षापरिभ्रमणात् । शेषं सुगमम ।

एमेव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइए विसरे ।
गंधाई विष्णाए, उस्सग्गऽविही सियालवहे ॥ ८ ॥

एवमेव विषकृतेऽपि दृष्टान्तः-गुरोर्दत्त्वा समर्थयित्वा कायिकां व्युत्सृजति, तेन गुरुणा गन्धादिना विज्ञातम । आदिग्रहणात् तत्तस्य उत्सर्जनं परित्यागः क्रियते, तत्र विधिना परिष्ठापनं कर्त्तव्यम,नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो भवति । ओ० । बृ० ।

अभिओगी—आभियोगी—स्त्री० । आ समन्तादाभिमुख्येन युज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्य्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानीया देवविशेषास्तेषामियमाभियोगी । भावनायाम, बृ० ।

अथाभियोगीमाह—

कोउअ-भूई-पसिणे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
रिद्धिरससायगुरुओ, अभिओगीभावणं कुणइ ॥

ऋद्धिरससातगुरुकः सन् कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी, प्रश्नाजीवी, प्रश्नाप्रश्नाजीवी, निमित्ताजीवी च भवति एवंविध आभियोगीभावनां करोतीति ॥ (बृ०)

अथ ऋद्धिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानार्थमाह—

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधइ ।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराहु गुत्तं च ।

एतानि कौतुकादीनि ऋद्धिरससातगौरवार्थं कुर्वाणः प्रयुञ्जानः सन्नाभियोगिकं देवादिप्रेष्यकर्मव्यापारफलं कर्म बध्नाति । द्वितीयमपवादपदमत्र भवति-गौरवरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमेतानि कौतुकादीनि कुर्वन्नाराधको भवति, उच्चैर्गोत्रं च कर्म बध्नाति, तीर्थोन्नति-

करणादिति । गता आभियोगिकी भावना । बृ० १ उ० । भ० । स्था० । औ० ।

अभिओयण–अभियोजन–न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्वशीकरणे, प्रज्ञा० २० पद । आव० ।

अभिकंखमाण–अभिकाङ्क्षत्–त्रि० । कर्तुमिच्छति, दश० ६ अ० ३ उ० ।

अभिकंखा–अभिकाङ्क्षा–स्त्री० । अभिलाषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० ।

अभिकंत–अभिक्रान्त–त्रि० । अतिवाहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । भावे निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, दश० ४ अ० ।

अभिकंतकिरिया–अभिक्रान्तक्रिया–स्त्री० । चरकादिभिरनवसेवितपूर्वायां वसतौ, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ॥

अभिकंतकूरकम्म–अभिक्रान्तक्रूरकर्मन्–त्रि० । हिंसादिक्रियाप्रवृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० ।

अभिकंतवय–अभिक्रान्तवयस्–न० । जरामतिमृत्युं वाऽतिकान्ते, आद्यवयोद्वयातिक्रमे जराभिमुखे वयसि, बालादीनां वयोपचयपरत्यवस्था–तामभिमुखमाकान्ते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अभिकमण–अभिक्रमण–न० । अभिमुखं क्रमणे, आचा० १ श्रु० ७ अ० ८ उ० ।

अभिकममाण–अभिक्रममाण–त्रि० । गच्छति, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अभिकम्म–अभिक्रम्य–अव्य० । आभिमुख्येन क्रान्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अभिक्खणं–अभीक्ष्णम्–अव्य० । अनवरते, आ० म० प्र० । प्र० । प्रश्न० । विशे० । सूत्र० । आचा० । पुनःशब्दार्थे, स्था० ५ ठा० १ उ० । "एगे समुप्पज्जेज्जा अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थिकहं भत्तकहं" स्था० २ ठा० ४ उ० । अभीक्ष्णं पुनःपुनः विशे० । बृ० । नि० चू० । दश० । स० । भूयोभूयः । दशा० १० अ० । रा० । वारंवारम् । कल्प० ६ क्ष० । उत्त० । असकृत् । दशा० २ अ० । भृशम् । स० ३० सम० । "अभिक्खणमोधारणि भासइ" आव० ४ अ० ।

अभिक्खणिसेवण–अभीक्ष्णनिषेवण–न० । अभीक्ष्णप्रतिसेवने, व्य० ३ उ० ।

अभिक्खमाइण–अभीक्ष्णमायिन्–त्रि० । बहुशो मायाविनि, व्य० ३ उ० ।

अभिक्खसेवा–अभीक्ष्णसेवा–स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिक्खालाभिय–अभिक्षालाभिक–पुं० । अतुच्छानवज्ञानग्राहके भिक्षाचर्याविषयकाभिग्रहविशेषधारके साधौ, औ० । सूत्र० ।

अभिक्खासेवणा–अभीक्ष्णासेवना–स्त्री० । असकृदासेवनायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिगज्जंत–अभिगर्जत्–न० । घनध्वनिमुञ्चने, उपा० २ अ० ।

अभिगम–अभिगम–पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० । ध० । दशा० ।

अभिगमाः—

थेरे भगवंते पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति । तं जहा–सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, एगसाडिएणं उत्तरसंगकरणेणं, चक्खुप्फासेअंजलिपग्गहेणं, मणसा एगत्तीकरणेणं ॥

(अभिगमेणं ति) प्रतिपत्त्या अभिगच्छन्ति समीपं गच्छन्ति । (सचित्ताणं ति) पुष्पताम्बूलादीनां (विउसरणयाए त्ति) व्यवसर्जनया त्यागेन, (अचित्ताणं ति) वस्त्रमुद्रिकादीनां, (अविउसरणयाए त्ति) अत्यागेन, (एगसाडिएणं ति) अनेकोत्तरीयशाटकानां निषेधार्थमुक्तम् । (उत्तरासंगकरणेणं ति) उत्तरासङ्ग उत्तरीयस्य देहे न्यासविशेषः, चक्षुःस्पर्शे दृष्टिपाते, (एगत्तीकरणेणं ति) अनेकत्वस्यानेकालम्बनत्वस्य एकत्वं करणं एकालम्बनत्वकरणं एकत्वीकरणं, तेन । भ० २ श० ५ उ० । दर्श० । सूत्र० । वस्तुनः परिच्छेदे प्राप्तौ अभिगम्यतेऽस्मिन्नित्यभिगमः, इति व्युत्पत्त्या वस्तुपरिच्छेदाधिकरणे, दश० ४ अ० ।

अभिगमण–अभिगमन–न० । अभिमुखगमने, दशा० १० अ० । ध० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । सर्वबाह्यमण्डलादभ्यन्तरप्रविशने, सू० प्र० १३ पाहु० । "अभिगमणट्ठयाए" अवगमलक्षणायार्थायेत्यर्थः । ज्ञा० १२ अ० ।

अभिगमणजोग्ग–अभिगमनयोग्य–त्रि० । अभिमुखगमनायोचिते, रा० ।

अभिगमरुइ–अभिगमरुचि–पुं० । अभिगमो विशिष्टं परिज्ञानं, तेन रुचिर्यस्यासौ अभिगमरुचिः । सम्यक्त्वभेदे, तद्वति च । प्रव० १४९ द्वार ।

सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
एकारस अंगाइं, पइण्णगा दिट्ठिवाओ य ।

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकमित्यत्र जातावेकवचनम् । ततोऽयमर्थः–प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि, दृष्टिवादः, चशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यधिगमरुचिः । प्रज्ञा० १ पद । उत्त० ।

अभिगमसड्ढ–अभिगमश्राद्ध–पुं० । प्रतिपन्नाणुव्रते, ध० ३ अधि० ।

अभिगमसम्मत्त–अभिगमसम्यक्त्व–न० । जीवाजीवपुण्यपापाश्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षेषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्ययिके सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० ४ अ० । "अभिगमसम्मदंसणे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा–पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव" । स्था० २ ठा० १ उ० ।

अभिगय–अभिगत–पुं० । न० । आभिमुख्येन गतः । प्रविष्टे, बृ० १ उ० ।

अभिगिज्झ–अभिगृह्य–अव्य० । अङ्गीकृत्य अभिमुखीभूयेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अभिगिज्झंत–अभिगृध्यत्–त्रि० । आभिमुख्येन लुब्यमाने लोभवशगीभवने, सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

अभिग्गह–अभिग्रह–पुं० । आभिमुख्येन ग्रहोऽभिग्रहः । नि० चू० २ उ० । अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः । प्रतिज्ञाविशेषे, आव० ६ अ० ।

साध्वाचारविशेषे, यथेत्थमाहारादिकममीषां कल्पते, इत्थं च न कल्पते । वृ० १ उ० । स च द्रव्यादिविषयभेदाच्चतुर्विधः । ध० ३ अधि० । तत्र द्रव्याभिग्रहो लेपकृदादिद्रव्यविषयः, क्षेत्राभिग्रहः स्वग्रामपरग्रामादिविषयः, कालाभिग्रहः पूर्वाह्णादिविषयः, भावाभिग्रहस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादिविषयः । औ० । प्रव० ।

हिंमंति तओ पच्छा, अमुच्छिया एसणाएँ उवउत्ता ।
दव्वादभिग्गहजुआ, मोक्खट्ठा सव्वभावेणं ॥ ९७ ॥

हिण्डन्ति अटन्ति ततः पश्चात्, विधिनिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । अमूर्च्छिता आहारादौ मूर्च्छामकुर्वन्तः, एषणायां ग्रहणविषयायाम्, उपयुक्तास्तत्पराः,द्रव्याद्यभिग्रहयुता वक्ष्यमाणद्रव्याद्यभिग्रहोपेताः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्वात्, भिक्षाटनस्य सर्वभावेन सर्वभावाभिसन्धिना तद्वैयावृत्त्यादेरपि मोक्षार्थत्वादिति गाथार्थः ।

तत्र द्रव्याभिग्रहानाह—

लेवमलेवजुअं वा, अमुगं दव्वं व अज्ज घिच्छामि ।
अमुगेणं च दव्वेणं, अह दव्वाभिग्गहो चेव ॥ ९८ ॥

लेपवज्जुगार्यादि, तन्मिश्रं वा,अलेपवद्वा तद्विपरीतम्, अमुकं द्रव्यं वा मण्डकादि, अद्य ग्रहीष्यामि अमुकेन वा द्रव्येण दर्वीकुन्तादिना, अथायं द्रव्याभिग्रहो नाम साध्वाचरणविशेष इति गाथार्थः ।

क्षेत्राभिग्रहमाह—

अट्ठ गोअरभूमिं, एलुगविक्खंभमेत्तगहणं च ।
सग्गामपरग्गामे, एवइअ गिहाण खेत्तम्मि ॥ ९९ ॥

अष्टौ गोचरभूमयो वक्ष्यमाणलक्षणाः, तथा एलुकविष्कम्भमात्रग्रहणं च, यथोक्तम्–'एलुकविक्खंभइत्ता' । तथा स्वग्रामपरग्रामयोरेतावन्ति च गृहाणि क्षेत्रे इति; स क्षेत्रविषयोऽभिग्रह इति गाथार्थः । पं० व० २ द्वार ।

कालाभिग्रहमाह—

काले अभिग्गहो पुण, आई मज्झे तहेव अवसाणे ।
अप्पत्ते सइ काले, आई बिइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्–आदौ मध्ये तथैवावसाने भिक्षावेलायाः,एतदेव व्याचष्टे–अप्राप्ते भिक्षाकाले यत्पर्यटति स प्रथमोऽभिग्रहः । यस्तु सति प्राप्ते भिक्षाकाले चरति स द्वितीयो मध्यविषयोऽभिग्रहः । यत्पुनश्चरमेऽतिक्रान्ते भिक्षाकाले पर्यटति सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ।

कालत्रयेऽपि तु गुणदोषानाह–

दिंतगपडिच्छगाणं, हविज्ज सुहुमं पि मा हु अवियत्तं ।
इय अप्पत्ते अइए, पवत्तणं मा ततो मज्झे ॥

ददत्प्रतीच्छकयोरिति–भिक्षादातुरगारिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च वनीपकादेर्मा भूत् सूक्ष्ममप्यप्रियत्वमप्रीतिकम्,इत्यस्मात्कारणादप्राप्तेऽतीते च–भिक्षाकालेऽटनं श्रेय इति गम्यते । (पवत्तणं मा ततो मज्झे त्ति) अप्राप्ते अतीते वा पर्यटतः प्रवर्त्तनं पुरःकर्मपश्चात्कर्मादेर्मा भूत्, तत एतेन हेतुना मध्ये प्राप्ते भिक्षाकाले पर्यटति॥

अथ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिग्गहा होंति ।
गायंतो व रुदंतो, जं देइ निसण्णमादीया ॥

उत्क्षिप्तं पाकपिठरात्पूर्वमेव दायकेनोद्धृतं तद् ये चरन्ति गवेषयन्ति ते उत्क्षिप्तचरकाः आदिशब्दाद् निक्षिप्तचरकाः,संख्यादत्तिकाः, दृष्टलाभिकाः, पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते गुणगुणिनोः कथंचिदभेदाद्भावयुताः खल्वभिग्रहा भवन्ति, भावाभिग्रहा इति भावः । यद्वा–गायन् यदि दास्यति तदा मया ग्रहीतव्यम्,एवं रुदन् वा,निषण्णादिर्वा,आदिग्रहणादुत्थितः,संप्रस्थितश्च यद्ददाति तद्विषयो योऽभिग्रहः स सर्वोऽपि भावाभिग्रह उच्यते ।

तथा–

ओसक्कणअहिसक्कण, परंमुहालंकिए य इयरो वा ।
भावऽन्नयरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम ॥

अवष्वष्कन्नपसरणं कुर्वन्,अभिष्वष्कन् संमुखमागच्छन्,पराङ्मुखः प्रतीतः;अलङ्कृतः कटककेयूरादिभिः,इतरो वा अनलङ्कृतः पुरुषो यदि दास्यति तदा ग्रहीष्यामीत्येतेषां भावानामन्यतरेण भावेन युतः, अथायं भावाभिग्रहो नामेति । वृ० १ उ० । आचा० । "तए णं समणे भगवं महावीरे गब्भत्थे चेव इमेयारूवे अभिग्गहं अभिगिण्हइ–नो खलु मे कप्पइ अम्मापिउहिं जीवंतेहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए" । कल्प० ५ क्ष० । श्रीवीरः पञ्चाभिग्रहानभिगृह्यास्थिकग्रामं प्रति प्रस्थितः । अभिग्रहाश्चैते–'नाप्रीतिमद्गृहे वासः १, स्थेयं प्रतिमया सदा २ । न गेहिविनयः कार्यः ३,मौनं ४ पाणौ च भोजनम् ५' ॥१॥ कल्प० ५ क्ष० । प्रत्याख्यानभेदे, "पंच चउरो अभिग्गहे" पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे आकाराः–"अभिग्गहेसु अप्पाउरणं कोइ पच्चक्खाइ, तस्स पंच (आगारा,) अण्णत्थऽणाभोगे सहसागारे चोलपट्टागारे महत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टागारो णत्थि विगईए अट्ठ नव य आगारा" आव० ६ अ० । ध० । ल० प्र० । इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपे कुमतपरिग्रहे, स्था० २ ठा० १ उ० । गुरुनियोगकरणाभिसन्धौ, द्वा० २९ द्वा० । एव कायिकविनयभेदः । व्य० १ उ० । दश० । पं० सं० । प्रकाशकरणे, अभियोगे, आभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिग्गहियसिज्जासणिय–अभिगृहीतशय्यासनिक–पुं० । शय्यासनाभिग्रहयुते साध्वाचारे, कल्प० ।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अणभिग्गहियसिज्जासणिएण हुत्तए ॥

नो कल्पते साधूनां, साध्वीनां वा (अणभिग्गहिय त्ति) न अभिगृहीते शय्यासने येन स अनभिगृहीतशय्यासनः, अनभिगृहीतशय्यासन एव अनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तए त्ति) भवितुं न कल्पते । वर्षासु मणिकुट्टिमे पीठफलकादिग्रहणवतैव भाव्यम्, अन्यथा शीतलायां भूमौ शयने उपवेशने च कुन्थ्वादिविराधनोत्पत्तेः । कल्प० ९ क्ष० ।

अभिग्गहिया–अभिगृहीता–स्त्री० । अभिग्रहवत्यामेषणायाम्, प्रव० । अभिग्रहश्चैवम्–तासां सप्तानामेषणानां मध्ये आद्ययोर्द्वयोरग्रहणं, पञ्चसु ग्रहणं, पुनरपि विवक्षितदिवसे अन्त्यानां पञ्चानां मध्ये द्वयोरभिग्रहः । प्रव० ६ द्वा० । "अभिग्गहरहिया एसणा जिणकप्पियाणं" नि० चू० ४ उ० । प्रतिनियतावधारणे, यथा इदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अभिघट्टिज्जमाण-अभिघट्ट्यमान-त्रि० । वेगेन गच्छति, रा० ।

अभिघाय-अभिघात-पुं० । अभिहनने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । लकुटादिप्रहारे, जीत० । नि० चू० । " गोफणधणुमादिअभिघातो " गोफणा च दवरकमयी प्रसिद्धा-तया, धनुःप्रभृतिभिर्वा लेष्टुकमुपलं वा यत्प्रक्षिपति, एषोऽभिघात उच्यते ।

अथवा-

विहुवणणंतकुसादी-सिणेहउदगादि आवरिसणं तु ।
काओ नु विंबसत्थे, खारो तु कलिंचमादीहिं ॥

विधुवनं वीजनकं, संतकं वस्त्रं, कुशो दर्भस्तत्प्रभृतिभिर्वीजयन् यत्प्राणिनो अभिहन्ति, एष वा अभिघात उच्यते, स्नेहो नाम उदकेन, आदिशब्दाद् घृतेन तैलेन वा, आवर्षणं करोति । कायो नाम द्विपदादीनां बिम्बम, प्रतिरूपमित्यर्थः । वृ० ४ उ० ।

अभिचंद-अभिचन्द्र-पुं० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते पञ्चदशानां दशमे, सप्तानां चतुर्थे वा कुलकरे, जं० २ वक्ष० । " अभिचंदेण कुलगरे छधणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था " स्था० २ ठा० १ उ० । आ० क० । आ० म० । कल्प० । (पल्यादयः ' कुलकर ' शब्दे वक्ष्यन्ते) दशार्हपुरुषभेदे, अन्त० १ वर्ग । दिवसस्य षष्ठे मुहूर्ते, चन्द्र० १० पाहु० । स० । ज्यो० ।

अभिजप्प-अभिजल्प-पुं० । शब्दार्थैकीकरणे, सम्म० । अन्ये तु (सौगतविशेषाः) शब्द एवाभिजल्पत्वमागतः शब्दार्थ इति । स चाभिजल्पः शब्द एवार्थ इत्येवं शब्देऽर्थस्य निवेशनम्, सोऽयमित्यभिसंबन्धः । तस्माद्यदा शब्दस्यार्थेन सहैकीभूतं रूपं भवति तदा तं स्वीकृतार्थाकारं शब्दमभिजल्पमित्याहुः । सम्म० १ काण्ड । (एषां खण्डनम् ' आगम ' शब्दे द्वितीयभागे ७५ पृष्ठे वक्ष्यते)

अभिजाइ-अभिजाति-स्त्री० । कुलीनतायाम्, उत्त० ११ अ० ।

अभिजाणमाण-अभिजानत्-त्रि० । आसेवनापरिज्ञयाऽऽसेवमाने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अभिजाय-अभिजात-त्रि० । अभि प्रशस्तं जातं जन्म यस्य सः । कुलीने, वाच० । जं० । कुलीनलक्षणम्-

" प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते संभ्रमविधिः,
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं चाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्या निरभिभवसाराः परकथाः,
श्रुते चाऽसन्तोषः कथमनभिजाते निवसति ? " ।१। ध० १ अधि० ।

लोकोत्तररीत्या दिवसभेदे, चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अभिजायत्त-अभिजातत्व-न० । वक्तुः प्रतिपाद्यस्येव भूमिकानुसारितायां सत्यवचनातिशयरूपायाम्, स० ३५ सम० ।

अभिजायसड्ढ-अभिजातश्रद्ध-त्रि० । उत्पन्नतत्त्वरुचौ, उत्त० १४ अ० ।

अभिजुंजित्ता-अभियोक्तुम्-अव्य० । विद्यादिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुम् । भ० ३ श० ५ उ० ।

अभिजुंजिय-अभियुज्य-अव्य० । वशीकृत्य, आश्लिष्य, भ० २ श० ५ उ० । व्यापार्य, स्मारयित्वा-पर्यामर्शे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अभियोक्तुम्-अव्य० । विद्यादिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुमित्यर्थे, प्रति० ।

अभिजुत्त-अभियुक्त-त्रि० । पण्डिते, नं० । संपादितदूषणे, द्वा० १४ अ० । स्था० ।

अभिज्झा-अभिध्या-स्त्री० । अभिध्यानमभिध्या । स० ५२ सम० । धनादिष्वसन्तोषे परिग्रहे, द्वा० १३ अष्ट० । द्वा० । तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

अभिट्ठुय-अभिष्टुत-त्रि० । आभिमुख्येन स्तुतोऽभिष्टुतः । आव० २ अ० । स्वनामभिः कीर्तिते, ल० । अनु० ।

अभिद्दुय-अभिद्रुत-त्रि० । अध्यवसायरूपेण व्याप्ते, गर्भाधानादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अभिणंदण-अभिनन्दन-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भरतक्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थंकरे, (आ० म०) तथा अभिनन्द्यते देवेन्द्रादिभिरित्यभिनन्दनः । सर्वे एव भगवन्तो यथोक्तस्वरूपा इत्यतो विशेषहेतुप्रतिपादनायाह-"अभिनंदए अभिनंदाणा तेण" शक्रो गर्भादारभ्याभीक्ष्णं प्रतिक्षणं यमभिवन्दितवानिति अभिनन्दनः । कृद्बहुलमिति वचनात् कर्मण्यनट् । तथा च वृद्धसम्प्रदायः-"गब्भप्पभिई अभिक्खणं सक्केण अभिवंदिया इतो तेण सो अभिनंदणो त्ति नामं कयं " आ० म० द्वि० । ध० । स० । आ० चू० । आ० क० । " अभिनंदणो अ भरहे, एरवए नंदिसेणजिणचंदे " त्ति (समकालमुत्पन्नौ) ती० ६ कल्प । स्था० । प्रव० । लोकोत्तररीत्या श्रावणमासे, सू० प्र० १० पाहु० ।

अभिणंदंत-अभिनन्दयत्-त्रि० । राजानं समृद्धिमन्तमाचक्षाणे, औ० । जय जीवेत्यादिभणनतोऽभिवृद्धिमाचक्षाणे, भ० ८ श० ८ उ० । प्रीतिं कुर्वति, संथा० ।

अभिणंदमाण-अभिनन्दयत्-त्रि० । समृद्धिमन्तमाचक्षाणे, कल्प० ५ क्ष० ।

अभिणंदिज्जमाण-अभिनन्द्यमान-त्रि० । जनमनःसमूहैः समृद्धिमुपनीयमाने जय जीव नन्देत्यादिपर्यालोचनात् । औ० । संस्तूयमाने, स्था० ९ ठा० ।

अभिणंदिय-अभिनन्दित-पुं० । लोकोत्तररीत्या श्रावणे मासि, ज्यो० ४ पाहु० ।

अभिणय-अभिनय-पुं० । अभि-नी-करणे अच् । हृतभावव्यञ्जके शरीरचेष्टादौ, भावे अच्-अभिनेयपदार्थस्य शरीरचेष्टाभाषणादिभिरनुकरणे, अभिनयति बोधयत्यर्थमत्र-आधारे अच् । शरीरचेष्टादिभिर्दृश्यपदार्थज्ञापके रूपकादौ दृश्यकाव्ये, वाच० । "चउव्विहे अभिणए पण्णत्ते । तं जहा-दिट्ठंतिए, पाडिसुए, सामंतोवणिए लोगमज्झावसिए" स्था० ४ ठा० ४ उ० । अप्येकका श्चतुर्विधमभिनयमभिनयन्ति । तद्यथा-दार्ष्टान्तिकं, प्रातिश्रुतिकं, सामान्यतो विनिपातिकं, लोकाध्यवसानिकमिति । एते नाट्यविधयोऽभिनयविधयश्च भरतादिसङ्गीतशास्त्रज्ञेभ्योऽवसेयाः । आ० म० प्र० । रा० ।

अभिणव-अभिनव-त्रि० । प्रत्यग्रे अजीर्णे, षो० ५ विव० । विशिष्टवर्णादिगुणोपेते, जी० ३ प्रति० ।

अभिणवधम्म-अभिनवधर्मन्-पुं० । अधुनैव गृहीतप्रव्रज्ये, बृ० ४ उ० ।

अभिणिक्कंत–अभिनिष्क्रान्त–त्रि०। अधीताचारादिशास्त्रे, तदर्थभावनोपबृंहितचरणपरिणामे च। आचा०१ श्रु० ६ अ०१ उ०।

अभिणिगिज्झ–अभिनिगृह्य–अव्य०। अवरुध्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अभिणिचारिया–अभिनिचारिका–स्त्री०। आभिमुख्येन नियता चरिका; सूत्रोपदेशेन बहुव्रजिकादिषु दुर्बलानामाप्यायनिमित्तं पूर्वाह्ने काले समुत्कृष्टसमुदाने दृष्टुगमने, व्य० ४ उ०।

अभिणिपया–अभिनिप्रजा–स्त्री०। अभि प्रत्येकं नियता विविक्ता प्रजा अभिनिप्रजा। प्रत्येकं विविक्तायां प्रजायाम्, व्य० ६ उ०।

अभिणिबोह–अभिनिबोध–पुं०। अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः। अभिनिबुध्यतेऽनेनास्मादस्मिन् वेति। मतिज्ञाने,तदावरणक्षयोपशमे च। आ० म० प्र०। सम्म०। नं०। आव०। स्था०। आभिमुख्येन निश्चितत्वेन च बुध्यते संवेदयते आत्मा तदित्यभिनिबोधः। अवग्रहादिज्ञाने, अभिनिबुध्यते वस्त्ववगच्छतीति अभिनिबोधः। मतिज्ञानात्मनि, विशे० ॥

अभिणियट्टण–अभिनिवर्त्तन–न०। व्यावर्तने, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

अभिणिविट्ठ–अभिनिविष्ट–त्रि०। बद्धाऽऽदरे, उत्त० १४ अ०। बद्धाऽऽग्रहे, उत्त० १४ अ०। अभिविधिना निविष्टम्। भ० १२ श० ३ उ०। जीवप्रदेशेषु अभिव्याप्त्या निविष्टे अतिगाढतां गते, भ० १३ श० ७ उ०।

अभिणिवेस–अभिनिवेश–पुं०। अतत्त्वाग्रहे, पञ्चा० १४ विव०। त्रिसावष्टम्भे, ओघ०। तद्रूपे योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा०।

विदुषोऽपि तथारूढः, सदा स्वरसवृत्तिकः।
शरीराद्यवियोगस्या–भिनिवेशोऽभिलाषतः ॥ २० ॥

(विदुषोऽपीति) विदुषोऽपि पण्डितस्यापि, तथारूढः पूर्वजन्मानुभूतमरणदुःखाभाववासनाबलाद् भूयः समुपजायमानः, शरीरादीनामवियोगस्याभिलाषतः शरीरादिवियोगो मे माभूदित्येवं लक्षणाद्, अभिनिवेशो भवति, सदा निरन्तरं, स्वरसवृत्तिकोऽनिच्छाधीनप्रवृत्तिकः। तदुक्तम्—' स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः' इति।२०। द्वा०२५ द्वा०। "कई बको पत्थ विचारे सोऽभिणिवेसेण अग्गहा कम्मं वज्जइ " आ० म० द्वि०।

अभिणिवेह–अभिनिवेध–त्रि०। वेधने, वाच०। उन्माने, आ० म० प्र०।

अभिणिव्वगडा–अभिनिवगडा–स्त्री०। अभि प्रत्येकं नियतो वगडः परिक्षेपो यस्यां सा अभिनिवगडा। पृथक्परिक्षेपायाम्, व्य० ६ उ०।

अभिनिव्याकृता–स्त्री०। पृथग्विविक्तद्वारायां वसतौ,व्य०१उ०।

अभिणिव्वट्ट–अभिनिर्वृत्त–त्रि०। साङ्गोपाङ्गस्नायुशिरोरोमादिक्रमाभिनिर्वर्त्तनात्संपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

अभिणिव्वट्टित्ता–अभिनिर्वर्त्य–अव्य०। समाकृष्येत्यर्थे, "अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा " सूत्र० २ श्रु० १ अ०। विधायेत्यर्थे, " रुंमसहस्सं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसित्तए " भ० ५ श० ४ उ०।

अभिणिव्वुड–अभिनिर्वृत–त्रि०। क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूते, मुक्ते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। विषयकषायाद्युपशमाच्छान्तीभूते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। लोभादिजयाच्छीतीभूते, "खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए"। क्रोधादिपरित्यागाच्छान्तीभूते,सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। "पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "अभिनिव्वुडे अमाई" अभिनिर्वृतग्रहणं संसारमहातरुकन्दोच्छेदविप्रतिपत्त्या। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अभिणिसज्जा–अभिनिषद्या–स्त्री०। अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागता निषीदन्त्यस्यामित्यभिनिषद्या। अभिनैषेधिक्यां स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रत्यूषे प्रतियातायां वसतौ, व्य० १ उ०।

बहवे परिहारिया ऽपरिहारिया इच्छेज्जा–एगंतओ अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेतिं;तए णो णं कप्पति थेरे अणापुच्छित्ता एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए। कप्पइ एहं थेरे आपुच्छित्ता ते एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए; थेरा य एहं से (ते) वियरिज्जा-एवं एहं कप्पइ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेतेत्तए। थेरा एहं नो वितरेज्जा–एवं एहं णो कप्पइ एगंतओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेतेत्तए। जो णो थेरेहिं अवितिण्णं अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेतेति, से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ २२ ॥

बहवस्त्रिप्रभृतयोऽनेके पारिहारिका उक्तशब्दार्था, बहवोऽपारिहारिका इच्छेयुरेकान्ते विविक्ते प्रदेशान्तरे वसत्यन्तरे वा अभिनिषद्याम्, अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागता निषीदन्त्यस्यामित्यभिनिषद्या,तां वा.तथा निषेधः-स्वाध्यायव्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेधः; तेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। अभि आभिमुख्येन संयतप्रायोग्यतया नैषेधिकी अभिनैषेधिकी, तां वा। इयमत्र भावना–तत्र दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ वसतिमेव साधवः प्रतियन्ति, सा अभिनैषेधिकी। अभिनैषेधिक्यामेव स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रत्यूषे वसतिमुपागच्छन्ति सा अभिनिषद्येति। तामभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा (चेति तए इति) गन्तुं,तत्र, नो नैव,'से' तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां च कल्पते,स्थविरान् आचार्यादीन् अनापृच्छ्य (एकान्ततः) एकान्ते विविक्ते प्रदेशे, वसत्यन्तरे वा अभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा गन्तुम्,उच्छ्वासनिश्वासव्यतिरेकेण शेषसाधुव्यापाराणां समस्तानामपि गुरुपृच्छाऽधीनत्वात्। तदेवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय सम्प्रति विधिसूत्रमाह—(कप्पति एहं थेरे आपुच्छित्ता) इत्यादि सुगमम्। इह पारिहारिका नाम आपन्नपरिहारतपसोऽभिधीयन्ते।

तत्र चोदक प्राह -

पुव्वंसि अप्पमत्तो, भिक्खू उववासितो जयंतेहिं।

एक्को व दुवे होज्जा, बहुया उ कहं समावन्ना ॥

पूर्वस्मिन् कल्पे नाम्नि अध्ययने भिक्षुरप्रमत्तो भदन्तैः परमकल्याणयोगिभिरुपवर्णितः,ततः कथं परिहारतपःप्रायश्चित्ताऽऽपत्तियतः पारिहारिका भवेयुः?। अपि च-एको द्वौ वा पारिहारतप आपद्येयाताम,एकस्य एकाकिदोषाणां द्वयोरसमाप्तकल्पदोषाणां संभवात्। ये च बहवस्ते च समाप्तकल्पकल्पत्वात् परस्परं रक्षणपरायणाः कथं पारिहारिकत्वं समापन्ना इति ?।

अत्राचार्य आह—

चोयग ! बहुउप्पत्ती, जोहा व जहा तहा समणजोहा ।

दव्वच्छलणे जोहा, भावच्छलणे समणजोहा ॥

हे चोदक ! परीषहाणामसहनेन श्रोत्रेन्द्रियादिविषयेष्विष्टानिष्टेषु रागद्वेषाभिगमनेन परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानापत्त्या बहूनां पारिहारिकाणामुत्पत्तिर्न विरुद्धा। अथवा-यथा योधाः सन्नद्धबद्धकवचा अपि रणे प्रविष्टाः प्रतिपन्थिपुरुषैस्तथाविधं कमप्यवसरमवाप्य देशतः, सर्वतो वा छल्यन्ते, तथा श्रमणयोधा अपि मूलगुणोत्तरगुणेष्वत्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अपि छलनामाप्नुवन्ति। सा च छलना द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतश्छलना खड्गादिभिः। भावतः परीषहोपसर्गाद्यैः। तत्र द्रव्यच्छलने द्रव्यतश्छलनविषयाः, योधा रणे प्रविष्टा भटाः, भावच्छलने भावच्छलनविषयाः श्रमणयोधाः॥

सम्प्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा श्रमणयोधा इति तद् व्याख्यानयति-

आवरिया वि रणमुहे, जहा छलिज्जंति अप्पमत्ता वि ।

छलणा वि होइ दुविहा, जीवंतकरी य इयरी य ॥

यथा योधा आवृता अपि सन्नद्धसन्नाहा अपि अप्रमत्ता अपि च रणमुखे प्रविष्टाः प्रतिभटैश्छल्यन्ते। सा च छलना द्विधा-जीवितान्तकरी, इतरा च । तत्र यया जीवताद् व्यपरोप्यते सा जीवतान्तकरी, यया तु परितापनाऽऽपाद्यते नापद्रावणं सा इतरा ।

मूलगुणउत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तहा छलिज्जंति ।

भावच्छलणा य पुणो, सा वि य देसे य सव्वे य ॥

तथा यतयो रागादिप्रतिपक्षभावनासन्नाहसन्नद्धा यथागमं मूलगुणेषूत्तरगुणेषु चात्यप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु' निश्चितं, भावच्छलनया परीषहोपसर्गादिभिः सन्मार्गच्यावनरूपया छल्यन्ते। साऽपि च भावच्छलना द्विधा-देशतः, सर्वतश्च। तत्र यया तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमापद्यते-सा देशतो भावच्छलना। यया मूलमाप्नोति-सा सर्वतः।

एवं परिहारीया-ऽपरिहारीया व होज्ज बहुया तो ।

ते एगंत निसीहिय-मभिसिज्जं वा वि चेएज्जा ॥

यतो रणे प्रविष्टा योधा इव श्रमणयोधा अपि परीषहादिभिश्छल्यन्ते, तत एवमुक्तेन प्रकारेण, बहवः पारिहारिका अपारिहारिकाश्च भवेयुः। तदेवं पारिहारिकापारिहारिकबहुत्वमुपपाद्याधुना सूत्रावयवान् व्याचिख्यासुराह-(ते एगंत इत्यादि) ते बहवः पारिहारिका अपारिहारिका वा एकान्तेन एकान्ते विविक्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरे वा नैषेधिकीमभिशय्यां वाऽपि अभिनिषद्यामपि चेतयेयुर्गच्छेयुः, गन्तुमिच्छेयुरित्यर्थः ।

तत्र का नैषेधिकी, का वा अभिशय्या ?,इति व्याख्यानयति-

ठाणं निसीहि य त्ति य, एगट्ठं जत्थ ठाणमेवेगं ।

चेतेंति निसि दिया वा, सुतत्थ निसीहिया सा उ ॥

सज्झायं काऊणं, निसीहिया तो निसिं चिय उवेंति।

अभिवसिउं जत्थ निसिं,उवेंति पातो तई सेज्जा ॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृताः अस्मिन्निति स्थानम् । निषेधेन स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। ततः स्थानमिति वा, नैषेधिकीति वा (एगट्ठमिति) एकार्थमः द्वावप्येतौ तुल्यार्थाविति भावः। व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्यविशिष्टत्वात्। यत्र स्थानमेवं स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु ऊर्द्धस्थानं अत्रावर्त्तनस्थानं वा चेतयन्ति । निशि रात्रौ दिवा वा सा सूत्रार्थहेतुत्वा नैषेधिकी । एतेनाऽस्मिन् या नैषेधिकयुक्ता सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या, नतु कालकरणप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या । किमुक्तं भवति ?, यस्यां नैषेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि वा निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव निशायामवश्यं नैषेधिकीं वसतिमुपयन्ति सा अभिनैषेधिकी। यस्यां पुनर्नैषेधिक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयन्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति भावः।

अथ स्थविरा आपृष्टा अपि यदा न ब्रुवन्ति, तदा किं कल्पते, न वा ?। इत्याशङ्कायामाह—(थेरा एहमित्यादि) स्थविरा आचार्यादयः, चशब्दो वाक्यभेदे, एहमिति वाक्यालङ्कारे, स तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां वा वितरेयुरनुजानीयुर्नैषेधिकीमभिशय्यां वा गन्तुं, एवममुना प्रकारेण,एहमिति पूर्ववत्,कल्पते अभिशय्यायामभिनैषेधिक्यां वा (चते तए इति) गन्तुम। (थेरा एहमित्यादि) स्थविराः,एहमिति प्राग्वत्। नो नैव, तेषां वितरेयुरेवममुना प्रकारेण नो कल्पते एकान्ततोऽभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा गन्तुम। (जे णमित्यादि) यः पुनर्णमिति वाक्यालङ्कृतौ, स्थविरैरवितीर्णोऽननुज्ञातः सन् एकान्ततो अभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा (चेतेइ) गच्छति, ततः (से) तस्य स्वान्तरात् स्वकृतमन्तरं स्वान्तरं तस्मात्, यावन्न मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमेर्नोत्तिष्ठति तावद् यद् विचालं तत् अन्तरं तस्मात्स्वकृतादन्तरात् छेदो वा पञ्चरात्रिन्दिवादिकः, परिहारो वा परिहारतपो वा मासलघुकादिः। एष सूत्रार्थः॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

निक्कारणम्मि गुरुगा, कज्जे लहुया अपुच्छणे लहुओ ।

पडिसेहम्मि य लहुया, गुरुगमणे होंतऽणुग्घाया ॥

यदि निष्कारणे कारणाभावे अभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः। अथ कार्ये समुत्पन्ने गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः। कार्यमुपरिष्टाद् वर्णयिष्यते ।यदि पुनः कार्ये समुत्पन्ने अनापृच्छ्य गच्छन्ति, तदा अपृच्छने लघुको मासलघुः । पृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरैः प्रतिषेधे गच्छन्ति ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः (गुरुगमणे इत्यादि) गुरुराचार्यः स यदि गच्छत्यभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा ततस्तस्य भवन्त्यनुद्घातगुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः॥

ये पुनर्वसतिपालाः समर्था भिक्षवस्ते यदीच्छन्ति ततस्तेषामिमे दोषाः-

तेणाऽऽदेसगिलाणे, कामणइत्थीनपुंसमुच्छा वा

ऊणत्तणेण दोसा, हवंति एए उ वसहीए ।

ये वसतिपालास्तैर्वसतेरूनत्वे हीनत्वे एते गाथापूर्वार्द्धोक्ता दोषा भवन्ति । तद्यथा-स्तेनाश्चोरास्ते ' गताः साधवो वसतेः ' इति ज्ञात्वा वसतावापतेयुः, आदेशा आघूर्णकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामविश्रामणादिप्रसक्तिः, समर्थसाध्वभावात् । (गिलाण त्ति) ग्लानो वा, तेषामभावे व्याधिपीडितो समाधिमाप्नुयात् । (कामण त्ति) दाहो वा प्रदीपनकेन वसतेर्भूयात् । तथा स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्तीति स्त्रियो नपुंसका वा कामविह्वलाः समागच्छेयुः । तत्रात्मपरोभयसमुत्था दोषाः । तथा मूर्छा कस्यापि पित्तादिवशतो भूयात् । तदेवं यतो वसतिपालानामिमे विनिर्गमे दोषास्तस्मात्तैरपि शय्यादिषु न गन्तव्यमित्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृदाह-

दुविहाऽवहार सोही, एसणघातो य जा य परिहाणी ।
आएसमविस्सामण-परितावणया य एक्कतरे ॥

स्तेनैरपहारो द्विविधः । तद्यथा-साध्वपहारः, उपध्यपहारश्च । तस्मिन् द्विविधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-यद्येकं साधुमपहरन्ति स्तेनास्तदा वसतिपालानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वावपहरन्ति ततोऽनवस्थाप्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहरणे पाराञ्चिकम् । तथा जघन्योपध्यपहारे पञ्चरात्रिन्दिवम् । मध्यमोपध्यपहारे मासलघु । उत्कृष्टोपध्यपहारे चतुर्गुरुकम् । तथा एषणाया घातः प्रेरणमेषणघातः, स च स्यात् । तथाहि-भक्तमुपधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघातः, तत एषणाप्रेरणे यत्प्रायश्चित्तं तदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा (जा य परिहाणि त्ति) या च परिहाणिरुपधिमन्तरेण शीतादिबाधितस्य,तद्गवेषणप्रयतमानस्य वा,सूत्रार्थस्य च भ्रंशः, तन्निमित्तकमपि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूत्रपौरुष्या अकरणे मासलघु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अथोपधिगवेषणेन दीर्घकालतः सूत्रं नाशयन्ति ततश्चतुर्लघु । अर्थनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपालेषु साधुष्वभिशय्यादिगतेषु आदेशानामाघूर्णकानां समागतानामध्वपरिश्रान्तानामविश्रामणे या अनागाढा परितापनोपजायते, तन्निष्पन्नमपि तेषामापद्यते प्रायश्चित्तम् । (एक्कतरे त्ति) तेषु वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, 'यद्यागच्छन्ति प्राघूर्णकाः ते सर्वेऽपि नियमतो विश्रमयितव्याः'इति जिनप्रवचनमनुस्मरन् बहून्प्राघूर्णकान् विश्रामयन् यदनागाढमागाढं वा परितापनामाप्नोति तन्निमित्तकमपि समापतति तेषां प्रायश्चित्तम् ।

साम्प्रतमस्या एव गाथायाः पश्चार्द्धं व्याख्यानयति-

आदेसमविस्सामण-परितावण तेसऽवच्छलत्तं च ।
गुरुकरणे वि य दोसा, हवंति परितावणादीया ॥

आदेशानां प्राघूर्णकानामविश्रामणे, 'गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः,' एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । दीर्घाध्वपरिश्रमतो यदनागाढमागाढं वा परितापनं;तथा तेष्वादेशेषु समागतेषु अवत्सलत्वमवात्सल्यकरणं तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च वसतिपालेष्वपि शय्यादिगतेषु प्राघूर्णकानां समागतानामन्याभावे गुरुः स्वयं वात्सल्यं करोति,गुरुकरणेऽपि च दोषा भवन्ति परितापनादयः । तथाहि-गुरोः स्वयं करणे सुकुमारतया अनागाढमागाढं वा परितापनं स्यात्,परितापनाच्च रोगसमागमः,रोगसमागमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां सूत्रार्थहानिः,श्रावकादीनां धर्मदेशनाश्रवणव्याघातः, लोके चावर्णवादः । यथा-दुर्विनीता एते शिष्या इति । गतमादेशद्वारम् ।

अधुना ग्लानद्वारमाह--

सयकरणमकरणे वा, गिलाणपरितावणा य दुविहा वि ।
बालोवहीण दाहो, तदट्ठमण्णो व आदित्ते ॥

वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु, द्विधा द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां ग्लानस्य परितापना । तद्यथा--स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथाहि-ग्लानो यदि स्वयमुद्वर्तनादिकं करोति,तदाऽपि तस्याऽनागाढादिपरितापनासंभवः । अथ न करोति, तथापि परितापनासंभवः, ततस्तन्निमित्त आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च यः पश्चान्मुक्तो वसतिपालः स यदा प्रचुरं ग्लानस्य ग्लानानां वा कर्तव्यं करोति, तदा सोऽपि परितापनमनागाढमागाढं वाऽऽपद्यते ; ततस्तद्धेतुकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं ग्लानद्वारम् । अधुना कामणद्वारमाह-(बालोवहीणमित्यादि) तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बालं वसतिपालं मुक्त्वा अभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा गतेषु अग्निकायेन प्रदीप्ते उपाश्रये बालानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुर्म्रियते तदा चरमं पाराञ्चिकं प्रायश्चित्तम् । अथ न म्रियते किन्तु दाहमागाढमनागाढं वा परितापनमाप्नोति तदा तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथोपधिर्जघन्यो मध्यम उत्कृष्टो वा दह्यते ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तदट्ठमण्णो व त्ति)तदर्थं बालनिस्तारणार्थम्, उपधिनिस्तारणार्थं वा अन्यः प्रविशेत्, तदा कदाचित्सोऽपि बालो दह्येत अन्यश्च प्रविशन्,ततस्तदुभयनिमित्तमापद्यते प्रायश्चित्तम्,लोके च महान् अवर्णवादः । गतमग्निद्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारमाह--

इत्थीनपुंसगा वि य, ओमत्तणओ तिहा भवे दोसा ।
अभिघाय पित्ततो वा, मुच्छा अंतो व बाहिं च ॥

स्त्रियो नपुंसका वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, ' स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्ति, परिणतव्रताश्चान्यत्र गता वर्तन्ते ' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तदागमने च त्रिधा आत्मपरोभयसमुत्थत्वेन दोषाः स्युः । तथाहि--यत् स्त्र्यादिकमुपलभ्य स्वयं क्षोभमुपयन्ति साधवः, एष आत्मसमुत्थो दोषः । यत्पुनः स्वयमक्षुभ्यतः साधून् बलात् स्त्र्यादिकं क्षोभयति, एष परसमुत्थः । यदा तु स्वयमपि क्षुभ्यन्ति, स्त्र्यादिकमपि च क्षोभयति, तदा उभयसमुत्थ इति ॥ मूर्छाद्वारमाह--(अभिघातेत्यादि) वसतेरन्तःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि जराजीर्णत्वादिना पतन्त्यां वसतौ काष्ठादिभिः शरीरस्योपरि निपतद्भिर्बहिर्वा वसतेः स्थितस्य कथमपि वातादिना पात्यमानेन तरुणा , तच्छाखया वा अभिघातेन मूर्छा भवेत् । उपलक्षणमेतत्-अनागाढा आगाढा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्तर्बहिर्वा व्यवस्थितस्यापि ततः पित्तप्रकोपतो मूर्छा भवेत् । तत एकाकिनः सतस्तस्य को मूर्छामुपशमयेत् ? । ततस्तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तसंभवः, प्रभूतश्च जनापवादः । तदेवं पश्चान्मुक्तानां वसतिपालानां दोषा अभिहिताः ।

सम्प्रति ये अभिशय्यादिगतास्तेषां दोषानभिधित्सुरिदमाह-

जत्थ वि य ते वयंती, अभिसेज्जं वा निसीहियं वा वि ।

तत्थ वि य इमे दोसा, होंति गयाणं मुणेयव्वा ॥

यत्रापि च विविक्ते प्रदेशे ते निष्कारणगामिनो अभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा व्रजन्ति, तत्रापि तेषां गतानामिमे वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ज्ञातव्याः ।

तानेवाऽभिधित्सुर्द्वारगाथामाह-

वीयारतेणआर-क्खितिरिक्खा इत्थिओ नपुंसा य ।
सविसेसतरा दोसा, दप्पगयाणं हवंतेते ॥

कथमप्यकालगमने विचारे विचारभूमावप्रत्युपेक्षितायां, तथा स्तेनाशङ्कायां, [आरक्खि त्ति] आरक्षकाशङ्कायां वा, तथा तिरश्चां चतुष्पदादीनां संभवे, तथा स्त्रियो वा दत्तसंकेतास्तत्र तिष्ठन्ति, नपुंसका वा दत्तसंकेतास्तत्र तिष्ठन्ति-इत्याद्याशङ्कायामेते वक्ष्यमाणाः सविशेषतरा दोषा दर्पगतानां निष्कारणगतानां भवन्ति ।

तदेव सविशेषतरत्वं दोषाणां प्रतिद्वारमभिधित्सुः प्रथमतो विचारद्वारमधिकृत्याऽऽह—

अप्पडिलेहियदोसा, अविदिण्णे वा हवंति उभयम्मि ।
वसहीवाघाएण य, एतमणंते य दोसा उ ॥

यदि नाम ते दर्पहताः कथमप्यचक्षुर्विषयवेलायां गता भवेयुः, ततः संस्तारकोच्चारप्रश्रवणादिषु भूमिष्वप्रत्युपेक्षितासु ये दोषा ओघनिर्युक्तौ सविस्तरमाख्यातास्ते सर्वेऽप्यत्रापि वक्तव्याः । तथा विकालवेलायां गमने यदि कथमपि शय्यातर उच्चारप्रश्रवणयोग्यमवकाशं न वितरेत् ततोऽवितीर्णेऽननुज्ञाते अवकाशे उभयस्मिन् उच्चारप्रश्रवणप्रकरणे भवन्ति दोषाः । तथाहि-यदि अननुज्ञाते अवकाशे उच्चारं प्रश्रवणं वा कुर्वन्ति तदा कदाचित् शय्यातरस्तेषामेव वसत्यादिव्यवच्छेदं कुर्यात्, यदि वा सामान्येन दर्शनस्योपरि विद्वेषतः सर्वेषामपि साधूनामिति । अथवा कथमप्याकस्मिकतया वसतेरभिशय्यारूपाया व्याघातो भवेत्, ततो रात्रिं मूलवसतिमागच्छतां तेषां श्वापदादिभिरात्मविराधना । अथ नायान्ति वसतिं तदा अभिशय्यायाः समीपे अप्रत्युपेक्षितस्थानाश्रयणतः संयमविराधना । गतं विचारद्वारम् ।

अधुना स्तेनद्वारमारक्षिकद्वारं च युगपदभिधित्सुराह—

सुण्णाइँ गेहाइँ उवेंति तेणा,
आरक्खिया ताणि य संचरंति ।
तेणो त्ति एसो पुररक्खिओ वा,
अन्नोन्नसंकाएँऽतिवायएज्जा ॥

शून्यानि गृहाणि, स्तेनाः विवक्षितगृहे प्रवेशनाय वेलां प्रतीक्षमाणाः, आरक्षिकादिभयतो वा उपयन्ति । तानि च शून्यानि गृहाणि आरक्षिकाः पुररक्षिकाः 'मा कश्चिदत्र प्रविष्टश्चौरो भूयात्' इति संचरन्ति प्रविशन्ति । एवमुभयेषां प्रवेशसंभवे अन्योऽन्याशङ्कया आरक्षिका अभिशय्यायामग्रे प्रविष्टं साधुमुपलभ्य स्तेन एष व्यवतिष्ठते इति, स्तेना अग्रे प्रविष्टास्तत्र प्रविशन्तं साधुं दृष्ट्वा पुररक्षक एष प्रविशतीत्येवंरूपया, स्तेना आरक्षिका वा अतिपातयेयुः व्यापादयेयुः । गतं स्तेनारक्षिकद्वारम् ।

सम्प्रति तिर्यग्द्वारमाह-

दुगुंछिया वा अदुगुंछिया वा,
दित्ता अदित्ता व तहिं तिरिक्खा ।
चउप्पिया वालसरीसिवा वा,
एगो व दो तिण्णि व जत्थ दोसा ॥

तत्र अभिशय्यायामभिनैषेधिक्यां वा चतुष्पदाः तिर्यञ्चो द्विधा भवेयुः । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिताः, ते च गर्दभीप्रभृतयः । तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधा; तद्यथा-दृप्ताश्च दर्पाध्माताः, तद्विपरीता अदृप्ताः, न केवलमित्थम्भूताश्चतुष्पदा भवेयुः, किंतु व्याला भुजङ्गादयः, सरीसृपा वा गृहगोधिकादयः, इत्थम्भूतेषु च तिर्यक्षु चतुष्पदेषु व्यालसरीसृपेषु, एको द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयुः । तत्र एकः-आत्मविराधनादीनामन्यतमः, द्वौ साधुभेदेनात्मविराधनासंयमविराधने, त्रयः-कस्याप्यात्मविराधना, कस्यापि संयमविराधना, कस्याप्युभयविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गी-कस्याप्यात्मविराधना, न संयमविराधना १, कस्यापि संयमविराधना, नात्मविराधना २, कस्याप्यात्मविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि नोभयविराधनेति ४। उपलक्षणमेतत्-जुगुप्सिततिर्यक्चतुष्पदसंभवे विरूपाऽऽशङ्कासंभवतः प्रवचनोड्डाहोऽपि स्यादिति । गतं तिर्यग्द्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारे युगपदभिधित्सुराह-

संगारदिन्ना व उवेंति तत्थ,
ओहा पडिच्छंति निलिच्छमाणा ।
इत्थी नपुंसा व करेज्ज दोसे,
तस्सेवणट्ठाएँ उवेंति जे उ ॥

संगारः संकेतः, स दत्तो यैस्ते संगारदत्ताः, निष्ठान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात्, सुखादिदर्शनाद्वा । दत्तसंकेता इत्यर्थः । इत्थम्भूताः सन्तस्तत्राभिशय्यादिषु उपयन्ति गच्छन्ति, एवं लोकानामाशङ्का भवेत् । अथवा तत्र गतेषु जनानामेवमाशङ्का समुपजायते । तथा स्त्रियो नपुंसका वा ओघा इति । तन्मुखान् निरीक्षमाणाः प्रतीक्षन्ते, ततोऽमी गताः । यदि वा तासां स्त्रीणां नपुंसकानां वा सेवनार्थं ये तत्रोपयन्ति पुरुषास्ते 'अस्मत्स्त्र्यादिसेवनार्थमेतेऽत्र संयताः समागताः' इति दोषान् अभिघाताऽवर्णवादादीन् कुर्युः ।

तदेवं यस्मादकारणे निर्गतानामिमे दोषास्तस्मान्न निष्कारणे गन्तव्यं, कारणे पुनर्गन्तव्यम् । तथा चाऽऽह-

कप्पइ उ कारणेहिं, अभिसेज्जं गंतुमभिनिसीहिं वा ।
लहुगा उ अगमणम्मी, ताणि य कज्जाणिमाइं तु ॥

कल्पते पुनः कारणैरस्वाध्यायादिलक्षणैर्वक्ष्यमाणैरभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा प्रागुक्तशब्दार्थां गन्तुं, यदि पुनर्न गच्छन्ति ततो लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः प्रायश्चित्तम् । तानि पुनः कार्याणि कारणानि इमानि वक्ष्यमाणानि ॥ तान्येवाऽऽह-

असज्झाइयपाहुणए, संसट्ठे वुट्ठिकायसुयरहस्से ।
पढमचरमे दुगं तू, सेसेसु य होइ अभिसेज्जा ॥

वसतावस्वाध्यायः, प्राघूर्णका वा बहवः समागताः, वसतिश्च संकटा, ततः स्वाध्याये, प्राघूर्णकसमागमे, तथा संसक्ते प्राणिजातिभिरुपाश्रये, तथा वृष्टिकाये निपतति गलन्त्यां वसतौ, तथा श्रुतरहस्ये छेदश्रुतादौ व्याख्यातुमुपक्रान्ते, अभिशय्या,

अभिनैषेधिकी वा गन्तव्या। तत्र (पढमचरमे दुगं तू इति) प्रथमे सूत्रक्रमप्रामाण्यादस्वाध्याये,चरमे श्रुतरहस्ये, द्विकमभिशय्याभिनैषेधिकीलक्षणं यथायोग्यं गन्तव्यं, शेषेषु च प्राघूर्णकसंसक्तवृष्टिकायरूपेषु, भवत्यभिशय्या गन्तव्या।

तत्रास्त्यनानुपूर्व्यपि व्याख्याया इति न्यायख्यापनार्थं प्रथमतः श्रुतरहस्यमिति चरमद्वारं विवरीषुरिदमाह-

छेयसुयविज्जमंता, पाहुमि अवगीय महिसदिट्ठंता।
इइ दोसा चरमपए, पढमपए पोरिसीभंगो ॥

छेदश्रुतानि प्रकल्पव्यवहारादीनि, तानि वसतौ अपरिणामकोऽतिपरिणामको वा शृणुयात्, तथा विद्यामन्त्रांश्च वसतौ कस्यापि दीयमानान् अविगीतो निर्द्धर्मो शृणुयात्,प्राभृतं वा योनिप्राभृतादिरूपं वसतौ व्याख्यायमानम्, अविगीतः कथमपि शृणुयात् । तच्छ्रवणे च महान् दोषः। तथाचात्र महिषदृष्टान्तः-"कयाइ जोणिपाहुडे वक्खाणिज्जमाणे एगेण आयरियाईण अदिस्समाणेण निकम्मेण सुयं । जहा-अमुगदव्वसंजोगे महिसो संमुच्छइ; तं सोउं सो उत्थाविओ गतो अन्नम्मि गामे, तत्थ महिसे दव्वसंजोगेण समुच्छाविसा सागारियहत्थे स विक्किणइ, तं आयरिया कहमवि जाणित्ता तत्थ आगया, तदंतो से पुच्छितो, तेण सब्भावो कहिओ । आयरिया भणंति-अण्णं सुंदरसुवण्णरयणजुत्तादि गेण्हह । तेण अब्भुवगयं। ततो आयरिएहिं भणियं-अमुगाणि दव्वाणि य तिरिक्खसंजोएज्जासि ततो पभूयाणि सुवण्णरयणाणि भविस्संति । तेण तहा कयं, समुत्थितो दिट्ठीविसो सप्पो, तेण दिट्ठो मतो" । ततोऽभिशय्याऽभिनैषेधिकी वा गन्तव्या। तथा प्रथमपदमस्वाध्यायलक्षणं, तत्र दोषः पौरुषीभङ्गः । इयमत्र भावना-अस्वाध्याये वसतावुपजाते स्वाध्यायकरणार्थमवश्यमभिशय्यायामभिनैषेधिक्यां वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्भङ्गे च तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तापत्तिः। गतं चरमद्वारमस्वाध्यायद्वारं च ।

सम्प्रति प्राघूर्णकादिद्वारत्रितयमाह—

अभिसंघट्ट हत्था-दिघट्टणं जग्गणे अजिण्णादी।
दोसु असंजमदोसा, जग्गण अद्धोवहीया वा ॥

कदाचिदन्यस्तथाविधवसत्यलाभे साधवः संकटायां वसतौ स्थिता भवेयुः, प्राघूर्णकाश्च साधवो भूयांसः समागताः, तत्र दिवसे यथा तथा वा तिष्ठन्ति,रात्रौ भूमिषु अपूर्यमाणासु यद्यभिशय्यां न व्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाश्रये अतिशयेन संघट्टः परस्परं संहननाभिसंकटतया सोऽभिसंघट्टः,तस्मिन्नेव स्थितानां परस्परं हस्तपादादीनां घट्टनं भवेत्, तद्भावे च कलहासमाध्यादिदोषसंभवः । अथैतद्दोषभयादुपविष्टा एव तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामजीर्णादिदोषसंभवः। अजीर्णमाहारस्याजरणं, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे असमाधिः, क्रियमाणायां च चिकित्सायां षट्कायव्यापत्तिः।इति गतं प्राघूर्णकद्वारम्॥ अधुना संसक्तद्वारं चाह-(दोसु असंजमेत्यादि) द्वयोः-संसक्ते उपाश्रये वृष्टिकाये च निपतति, असंयमविराधनारूपौ दोषौ । तथाहि-संसक्तत्वे प्रत्युपेक्षणीया वसतिरिति, तत्रावस्थाने स्फुटा संयमविराधना । तथा वृष्टिकायेष्वपि निपतितेषु क्वचित्प्रदेशेषु वसतिर्गलतीति तत्रापि संयमविराधना, अप्कायविराधनासंभवात् । अन्यच्च वृष्टिकाये निपतति उपधिका येन स्तीम्यते, स्तीमितेन चोपधिना शरीरलग्नेन रात्रौ निद्रा नायाति, निद्राया अभावे च अजीर्णदोषः । तस्मात् संसक्तायां वसतौ वृष्टिकाये च निपतति नियमतो गन्तव्या अभिशय्येति । तदेवमुक्तं गन्तव्यकारणम् । तथा चाऽऽह-

दिट्ठं कारणगमणं, जइ य गुरु वच्चए तओ गुरुगा।
ओरालइत्थियेज्झण, संका पच्चत्थिया दोसा ॥

दृष्टमुपलब्धं भगवदुपदेशतः पूर्वसूरिभिः, कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणेऽभिशय्यायां गमनं, तत्र यद्येवं दृष्टे कारणगमने गुरुरभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा व्रजेत् ततस्तस्य प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । को दोषो गुरुगमने इति चेत्?, अत आह-(ओरालेत्यादि)आचार्यः प्राय उदारशरीरो भवेत् , सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभूवन्. ततः काश्चन स्त्रियः सहायादीन् स्थापयित्वाऽस्य हृदयादिना प्रेरयेयुः। अन्यच्च-शय्यातरादीनां शङ्का समुपजायते,तथाहि-किं वसतावाचार्यो नोषितः , नूनमगारीं प्रतिसेवितुं गत इति । यदि वा प्रत्यर्थिका प्रत्यनीकाः प्रतिवाद्यादयोऽल्पसहायमुपलभ्य विनाशायाऽऽयुः। तत एवमाचार्यगमने दोषाः,तस्मात्तेन न गन्तव्यमिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्वेतैरपि न गन्तव्यम् ।

के ते एते ?, इत्याह-

गुरुकरणे पडियारी, भएण बलवं करेज्ज जे रक्खं ।
कंदप्पविग्गही वा, अवियत्तो ठाणदुट्ठो वा ॥

गुरोराचार्यादेः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्रतिचारकाः कायिकमात्रकादिसमर्पका विश्रामकाश्च, तैर्न गन्तव्यं, तेषां गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पश्चाद्वसतावपान्तरालेऽभिशय्यायां वा तस्करादिभयेन समुत्थितेन सर्वैरपि साधुभिर्न गन्तव्यम् , आत्मसंयमविराधनादोषप्रसङ्गात् । तथा यो बलवान् गुर्वादीनां तस्करादिभ्यो रक्षां करोति, तेनापि न गन्तव्यं, तद्गमने गुर्वादीनामपायसंभवात् । तथा यः कन्दर्पः कन्दर्पशीलः,यश्च विग्रही,तथाचाऽऽराटिकरणशीलः,यो वा यत्र गम्यते तत्र शय्यातरादीनां कैश्चिदपि कारणैः पूर्ववैरादिभिः (अवियत्तो ति) अप्रीतो, यश्च स्थानदुष्टः, पुरादिदुष्टः; एतैरपि सर्वैर्न गन्तव्यम्,प्रवचनोड्डाहात्मविराधनादिदोषप्रसङ्गात् । यदि कथमपि ते गच्छन्ति ततो बलादाचार्यादिभिर्वारयितव्या इति ।

अथ कारणे समुत्पन्ने तेषां गच्छतां को नायकः प्रवर्तयितव्यः ?, उच्यते-

गंतव्व गणावच्छे-दयपवत्तिथेरयगीयभिक्खू य ।
एएसिं असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुत्पन्ने सति शेषसाधुभिर्गन्तव्यमभिशय्यादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयो गणावच्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्ती, सोऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपः, तदभावे स्थविरः, तस्याप्यभावे गीतभिक्षुर्गीतार्थः सामान्यव्रती।एतेषामसति अभावेऽगीतार्थोऽपि माध्यस्थ्यादिगुणयुक्तः प्रवर्तनीयः । केवलं तस्मिन्नगीतार्थे (मेरकहणं तु इति) मर्यादायाः सामाचार्याः कथनम्-यथा साधूनामावश्यके आलोचनायां प्रायश्चित्तं दीयते, नमस्कारपौरुष्यादिकं च

प्रत्याख्यायने यस्मै दातव्यमित्येवमादि सर्वं कथ्यते इति भावः। कथं किंस्वरूपः सोऽगीतार्थो नायकः स्थापनीयः?,इत्यत आह-

मज्झत्थोऽकंदप्पी, जो दोसे लिहइ लेहओ चेव ।
केसु उ ते सीएज्जा, दोसेसुं ते इमे सुणसु ॥

मध्यस्थो-रागद्वेषविरहितः, अकन्दर्पी-कन्दर्पोद्दीपनभाषितादिविकलः, एवंभूतो नायकः स्थापनीयः । तेन च साधवोऽसमाचारीं समाचरन्तः शिक्षणीयाः, शिक्षमाणाश्च यदि कथयेयुः, यथा-यदि वयमेवं कुर्मस्ततस्तव किम ?, कस्त्वम् ?, इत्यादि, तदा स (लेहओ चेव त्ति) लेखकवत् तेषां सर्वेषां साधूनां दोषान् अविस्मरणनिमित्तं मनसि लिखति, सम्यगवधारयतीत्यर्थः । अथ केषु ते साधवः सीदेयुः, यान् स स्वचेतसि धारयति ?। सूरिराह—तान्दोषानिमान् वक्ष्यमाणान् शृणुत ।

तत्र यदुक्तं "एएसिं असतीए" इत्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह-

थेरपवित्तीगीया-ऽसतीए मेरकहंतऽगीयत्थे ।
भयगोरवं च जस्स उ, करेंति सयमुज्जतो जो य ॥

स्थविरस्य, प्रवर्त्तिनः,उपलक्षणमेतत्-गणावच्छेदस्य च, तथा गीतस्य गीतार्थस्य भिक्षोरसति अभावे अगीतार्थोऽपि प्रेषणीयः, तस्मिंश्चागीतार्थे प्रेष्यमाणे (मेर त्ति) मर्यादां सामाचारीं यथोक्तस्वरूपां कथयन्ति, किंविशिष्टः सोऽगीतार्थः प्रेष्यः ?, आह-(भयगौरवमित्यादि) यस्य भयं साधवः कुर्वन्ति, यस्य चानुवर्तना गुणतो भयतो गौरवं यथोचितं कुर्वन्ति। यश्च स्वयमात्मना समुद्युक्तोऽप्रमादी, सोऽगीतार्थो नायकः प्रवर्तनीयः। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-असमाचारीरूपदोषप्रतिषेधनार्थम् ।

अथ के ते असमाचारीरूपा दोषाः ?, अत आह—

पडिलेहणऽसज्झाए, आवस्सगदंडविणयराइत्थी ।
तेरिच्छवाणमंतर-पेहा नहवीणिकंदप्पे ॥

प्रतिलेखनायामस्वाध्याये आवश्यकदण्डे,उपलक्षणमेतत्-दण्डकादौ विषये,तथा विनये वन्दनकादौ,तथा राज्ञि, स्त्रियां,तिर्यक्षु हस्त्यादिषु, वाणमन्तरे वाणमन्तरप्रतिमायां विपणिषु रथेन गच्छन्त्यां प्रेक्षायां कालग्रहणादौ,(नहवीण त्ति)नखवीणिकायां,कन्दर्पे वा समाचारीरूपाः दोषाः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।एतेन यदुक्तं प्रागुक्तानिमान् दोषान् शृणुतेति तद्व्याख्यानमुपक्रान्तमिति द्रष्टव्यम् ।

तत्र प्रतिलेखनाद्वारमस्वाध्यायद्वारं च विवरीषुराह—

पडिलेहणसज्झाए, न करेंति हीणाहियं च विवरीयं।
सेज्जोवहिसंथारय-दंडगउच्चारमादीसु ॥

प्रतिलेखनां स्वाध्यायं वा मूलत एव न कुर्वन्ति, यदि वा हीनमधिकं विपरीतं वा विपर्यस्तक्रमं कुर्वन्ति। तत्र येषु स्थानेषु प्रतिलेखना संभवति,तानि स्थानान्युपदर्शयति-शय्योपधिसंस्तारकदण्डकोच्चारादिषु । इयमत्र भावना-शय्या वसतिः, तस्याः प्रत्युपेक्षणं मूलत एव न कुर्वन्ति , यदि वा हीनमधिकं वा कुर्वन्ति , अथवा यः शय्यायाः प्रत्युपेक्षणाकालस्तस्मिन् न कुर्वन्ति,किन्तु कालातिक्रमेण। एवमुपधेः,संस्तारकस्य,दण्डकादेश्च भावनीयम् । तथा उच्चारादिभूमिं न प्रत्युपेक्षन्ते, हीनमधिकं वा, यदि वा कालातिक्रमेण प्रत्युपेक्षन्ते इति। स्वाध्यायमपि मूलत एव न कुर्वन्ति । यदि वा अप्रस्थापिते कुर्वन्ति । यदि वाऽकालिकवेलायामुत्कालिकवेलायां वा कुर्वन्ति ।

सम्प्रति आवश्यकादिद्वारत्रितयमाह-

न करेंती आवस्सं, हीणाहियनिविट्ठपाउयनिसण्णा ।
दंडगहणादि विणयं, रायणियादीण न करेंति ॥

आवश्यकं मूलत एव न कुर्वन्ति,यदि वा हीनमधिकं वा,कायोत्सर्गाणां हीनकरणतः कुर्वन्ति,अधिकं वाऽनुप्रेक्षार्थं कायोत्सर्गाणामेव चिरकालकरणतः कुर्वन्ति । यदि वा निविष्टा उपविष्टाः, प्रावृताः शीतादिभयतः , कल्पादिकप्रावरणप्रावृता निषण्णास्त्ववग्वर्तनेन निपतिताः प्रकुर्वन्ति । गतमावश्यकद्वारम् । (दंडगहणादि त्ति) दण्डग्रहादौ, दण्डग्रहणं भाण्डमात्रकादीनामुपलक्षणम्,दण्डकादीनां ग्रहादौ ग्रहणे,निक्षेपे च,न प्रत्युपेक्षणं, नापि प्रमार्जनं,दुष्प्रत्युपेक्षितादि वा कुर्वन्ति। गतं दण्डद्वारम । विनयद्वारमाह-(विणयं ति) विनयं रत्नाधिकादीनामाचार्यादीनां यथा रत्नाधिकं न कुर्वन्ति। गतं विनयद्वारम ।

राजादिद्वारकदम्बकमाह-

रायं इत्थि तह अ-स्सपादि वंतर रहे य पेहंति ।
तह नक्खवीणियादी, कंदप्पादी वि कुव्वंति ॥

राजानं निर्गच्छन्तं वा, स्त्रियं वा सुरूपामिति विशिष्टाभरणालङ्कृतामागच्छन्तीं वा, तथा 'तिरिक्ख' इत्यस्य व्याख्यानम्-अश्वादिकमश्वं वा हस्तिनं वा राजवाहनमतिप्रभूतगुणाकीर्णं, व्यन्तरं तथात्वविभूत्या विपणिमार्गेषु गच्छतः प्रत्यागच्छतो वा प्रेक्षन्ते । एतेन राजस्त्रीतिर्यग्वाणमन्तरद्वाराणि व्याख्यातानि । तथेत्यनुक्तसमुच्चयार्थः , स चेदमनुक्तं समुच्चिनोति-कालप्रत्युपेक्षणं न कुर्वन्ति, न वा कालं प्रतिजागरति । गतं प्रेक्षाद्वारम । तथा नखवीणिकादिकं नखैर्वीणावादनम्। आदिशब्दात् नखानां परस्परं घर्षणमित्यादिपरिग्रहः । तथा कन्दर्पादि कन्दर्पकौकुच्यकोयुकादि कुर्वन्ति ।

एएसु वट्टमाणे, अट्ठिएँ पडिसेहए इमा मेरा ।
हियए करेइ दोसे, गुरुए कहणं स देइ तेसोहिं ॥

एतेष्वनन्तरोदितेषु दोषेषु वर्तमानान्, धारयतीति क्रियाध्याहारः । कृतेऽपि वारणे यदि ते न तिष्ठन्ति, प्रतिषेधन्ति वा-यदि वयमेवं कुर्मस्ततः किं तव ?, को वा त्वम ?, इत्यादि । ततोऽस्थिते, प्रतिषेधिते वा नायके इयमनन्तरमुच्यमाना (मेर त्ति) मर्यादा सामाचारी।तामेवाह-हृदये तान् दोषान् करोति, कृत्वा च गुरवे कथयति , स च गुरुर्ददाति तेषां शोधिं प्रायश्चित्तमिति ।

सम्प्रति वक्ष्यमाणार्थसंग्रहाय द्वारगाथामाह—

अतिबहुयं पच्छित्तं, अदिंते वाहे य रायकन्ना य ।
ठाणाऽसति पाहुणए, न उ गमणं मास कक्करणे ॥

चोदकवचनम-अतिबहुकं प्रायश्चित्तं गुरुमासादि न दातव्यम, तद्दाने व्रतपरिणामस्यापि हानिप्रसक्तेः। अत्र गुरुवचनम-"जो जत्तिएण सुज्झइ" इत्यादि वक्ष्यमाणं, यः पुनरालोचनाप्रदानेन प्रायश्चित्तलक्षणं शल्यं नोद्धरति-तस्मिन्नदत्ते अदत्तालोचने व्याधो दृष्टान्तः । यः पुनराचार्यः शिष्यस्य प्रायश्चित्तस्थानापत्तिं जानन्नपि न शोधिं ददाति, तस्मिन्नदत्ते अदत्तप्रा-

यश्चित्ते गुरौ दृष्टान्तो राजकन्या। एकदेशेन राजकन्याऽन्तः-पुरपालकः। तथा-"ठाणाऽसति" इत्यादि। संकटायां वसतौ प्राघूर्णके समागते सति स्थानस्य योग्यभूमिप्रदेशस्य असति-(भावप्रधानोऽयं निर्देशः) अविद्यमानत्वे, उत्सर्गतो ननु नैव गमनं, किन्तु यतना वक्ष्यमाणा कार्या, तस्यां च यतनायां कर्तुमशक्यमानायामभिशय्यादिषु प्रेक्ष्यमाणा यदि केचन कर्करायन्ते-यथा-अस्मद्वधाय प्राघूर्णकाः समागताः, यदू गन्तव्यमस्माभिरभिशय्यादिषु, कर्तव्यं वा रात्रौ जागरणमिति, तदा तेषां कर्करणे प्रायश्चित्तं मासलघु देयमिति द्वारगाथा-संक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेतामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतोऽतिबहुकं प्रायश्चित्तमिति व्याख्यानयति-

अतिबहुयं वेढिज्जइ, भंते ! मा हु दुरुवेढओ भवेज्ज।
पच्छित्तेहि अयंमे, निद्दयदिण्णेहिँ भज्जेज्जा ॥

भदन्त! परकल्याणयोगिन्!, गुरोर्यदि प्रभूतं गुरुमासादि प्रायश्चित्तं पदे दीयते, ततः स प्रायश्चित्तैः समन्ततोऽतिशयेन वेष्ट्यते अतिवेष्टितः सन्, मा निषेधे, 'हु' निश्चितं, दुरुद्वेष्टको भूयात्-दुःखेन तस्य प्रायश्चित्तेभ्य उद्वेष्टनं स्यात्, अतिप्रभूतेषु हि गुरुषु प्रायश्चित्तेषु पदे दीयमानेषु कदाऽऽत्मानमुद्वेष्टयिष्यतीति भावः। अपि च-अकाण्डे यत् तत्र चापदे पदे निर्दयैः सद्भिर्युष्माभिर्दत्तैः प्रायश्चित्तैः स भज्येत-भग्नपरिणामो भूयात्। तथा च सति महती हानिः।

तस्मात्-

तं दिज्जउ पच्छित्तं, जं तरती सा य कीरऊ मेरा।
जा तीरइ परिहरिउं, मोसादि अपच्चओ इहरा ॥

तत्प्रायश्चित्तं दीयतां यत्तरति शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां 'मेरा' मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते। पाठान्तरं वा-(परिवहिउमिति) तत्र या परिवोढुं शक्यते इति व्याख्येयम्। उभयत्राप्ययं भावार्थः-या परिपालयितुं शक्यते इति। मासादि (अपच्चओ इहरा इति) इतरथा प्रभूते प्रायश्चित्ते दत्ते मृषादोष उभयोरपि समुपजायते। तत्र गुरोर्मात्राधिकप्रायश्चित्तदानात्, इतरस्य तु भग्नपरिणामतया तथा परिपालनायोगात्। अन्यच्च-अतिमात्रे प्रायश्चित्ते दत्ते युष्माभिरपि पूर्वमाशातनादोष उद्भावितः। अप्रत्ययश्च शिष्यस्योपजायते, यथा-अतिप्रभूतमाचार्याः प्रायश्चित्तं ददति; नचैवंरूपं प्रायश्चित्तं जिनाः प्ररूपितवन्तः; सकलजगज्जन्तुहितैषितया तेषामतिकर्कशप्रायश्चित्तोपदेशदानायोगात्। तस्मात् सर्वमिदं स्वमतिपरिकल्पितमसदिति। एवं चोदकेनोक्ते गुरुराह—

जो जत्तिएण सुज्झइ, अवराहो तस्स तत्तियं देइ।
पुव्वमियं परिकहियं, धरुपमगाइएहिँ नाएहि ॥

चोदक आह-त्वया सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसंहननाद्यपेक्षया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तेन शुद्ध्यति तस्यापराधस्य शोधनाय तावन्मात्रमेव सूरिः प्रायश्चित्तं ददाति, नाधिकं, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्ज्ञातैरुदाहरणैः "जलनिक्षेवणकुरुए" इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं, तस्मान्न दोषः॥

साम्प्रतमदत्तालोचने यो व्याधदृष्टान्त
उपन्यस्तस्तं भावयति-

कंटगमादिपविट्ठे, नोद्धरई सयं न भोइए कहइ।
कमठीभूएँ वणगए, आगलणं खोभिया मरणं ॥

इह किल व्याधा वने संचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनह्यन्ति, मा हस्तिन उपानहोः शब्दान्श्रौषुरिति। तत्रैकस्य व्याधस्यान्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कण्टकादयः प्रविष्टाः, आदिशब्दात् स्थाणुकीलिकादिपरिग्रहः। तानप्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोद्धरति, नापि भोजिकायै निजभार्यायै व्याध्यै कथयति। ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कण्टकादिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रेर्यमाणो धावन् कमठीभूतः-स्थले कमठ इव मन्दगतिरभूत्, ततः 'प्राप्तो हस्ती प्रत्यासन्नं देशम्' इति जानन् क्षुभितः क्षोभं गत्वा, (आगलणमिति) वैकल्यं प्राप्तः। ततो मरणम्। एष गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्त्वयम्-"एगो वाहो उवाहणाओ विणा वणे गतो, तस्स पायतला कंटगाईणं भरिया, ते कंटगाइया नो सयमुद्धरिया, नो वि य वाहीए उद्धराविया, अन्नया वणे संचरंतो हत्थिणा दिट्ठो, तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरं मंसे पविट्ठा, ताहे अतिदुक्खेण अद्दिनो महापायवो इव छिन्नमूलो हत्थिणएण वेयणभूतो पडितो, हत्थिणा विणासितो"।

बितिए सयमुद्धरती, अणुद्धिए भोइयाएँ नीहरइ।
परिमद्दणदंतमला-दिपूरणं वणगयपलानो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना वने गतः, तस्य वने संचरतः कण्टकादयः पादतले प्रविष्टास्तान् स्वयमुद्धरति, ये च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अनुद्धृतान् भोजिकया निजभार्यया व्याध्या नीहारयति-निष्काशयति, तदनन्तरं तेषां कण्टकादिवेधस्थानानामङ्गुष्ठादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमलादिना-आदिशब्दात् कर्णमलादिपरिग्रहः। पूरणं कण्टकादिवेधानाम्। ततोऽन्यदा वनं गतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पलायितो जातो जीवितव्यसुखानामाभागी। एष दृष्टान्तः।

साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

वाहत्थाणी साहू, वाहिगुरू कंटकादि अवराहा।
सोही य ओसहाई, पसत्थनाएणुवणओ उ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः, व्याधीस्थानीयो गुरुः, कण्टकादिस्थानीया अपराधाः, औषधानि दन्तमलादीनि, तत्स्थानीया शोधिः। अत्र द्वौ व्याधदृष्टान्तौ, तत्र प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च। आद्योऽप्रशस्तो, द्वितीयः प्रशस्तः। तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टान्तेनोपनयः कर्तव्यः। आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते, ततः कण्टकादीनामुपेक्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति॥

तथाचाऽऽह-

पडिसेवंत उवेक्खइ, न य णं ओवीलए अकुव्वंतो।
संसारहत्थिहत्थं, पावइ विवरीयमियरो उ ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि, तुशब्दार्थोऽपिशब्दार्थः, यः प्रतिसेवमानान् उपेक्षते, न तु निषेधति; न वाऽकुर्वतोऽकुर्वाणान् प्रायश्चित्तमुत्पीडयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदण्डेन ताडयन् (प्रायश्चित्तं) कारयति, स विपरीतम्, आचार्यपदस्य हि यथोक्तनीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं, तद्विपरीतं संसार एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, दुस्तरं संसारमागच्छतीति भावः।

उपसंहारमाह-

आलोयमणालोयए, गुणा य दोसा य वण्णिया एए।

अयमन्नो दिट्ठंतो, सोहिमदिंते य दिंते य ॥

एते अनन्तरोदिता आलोचनायां गुणाः, अनालोचनायां दोषा वर्णिताः। सम्प्रति यः प्रायश्चित्तं ददाति तस्मिन् शोधिमददाने, ददाने च, अयं वक्ष्यमाणो राजकन्यान्तःपुरपालकरूपोऽन्यो दृष्टान्तः।

तमेवाह–

निज्जूहादिपलोयण, अवारण पसंगअग्गदारादि ।
धुत्तपलायण निवकह–ण दंडणं अन्नठवणं च ॥

"एगो कन्नंतेउरपालगो, सो गोक्खलएण कन्नाओ पलोयंतीओ न वारेइ, ततो ताओ अग्गदारेण निप्फिडिउमाढत्ता, ततो वि न वारेइ, ताहे ततो अनिवारिज्जमाणीओ कयाइ धुत्तेहिं समं पलायाओ, एवं सव्वमवारणादि केणइ रन्नो कहियं, ततो रण्णा तस्स सव्वस्सहरणं कयं, विणासितो य, अन्नो कन्नंतेउरपालो ठवितो"। अक्षरगमनिका-निर्यूहो गवाक्षः। गोक्खलक इत्यर्थः। आदिशब्दात्तदन्यतथाविधप्रदेशपरिग्रहः। तेन निर्यूहादिना प्रलोकने अवारणं कृतवान्, ततोऽग्रद्वारादिष्वपि प्रसङ्गः, अग्रद्वारे अन्यत्र वा यथास्वेच्छं तासां कन्यानां प्रसङ्गः। ततोऽन्यदा धूर्तैः सह पलायनम्। एतस्य च सर्वस्यापि वृत्तान्तस्य नृपस्य पुरतः कथनं, ततो राजा तस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य दण्डनम्, अन्यस्य कन्यान्तःपुरपालकस्य स्थापनं चाकार्षीत्।

निज्जूहगयं दट्ठुं, वि तिओ कन्नाउ वाहरित्ता णं ।
विणयं करेइ तासे, सेसभयं पूयणा रन्ना ॥

अन्यो द्वितीयः कन्यान्तःपुरपालको निर्यूहगतां गवाक्षगतामेकां कन्यां दृष्ट्वा (वाहरित्ता णं ति) एनां व्याहृत्य आकार्य विनयं शिक्षां तस्याः करोति, ततः शेषाणां कन्यानामुदपादि भयं, तेनैव काऽपि गृहद्वारादिषु नावतिष्ठते, न च धूर्तैरपहरणम्, ततः सम्यक्कन्यान्तःपुरपालनं कृतवानिति राज्ञा पूजना कृता। एष दृष्टान्तः।

अयमर्थोपनयः—

राया इव तित्थयरा, महतरय गुरू उ साहु कन्नाओ ।
ओलोयण अवराहा, अपसत्थपसत्थगोकन्नाओ ॥

राजा इव राजस्थानीयास्तीर्थकराः, महत्तरः कन्यान्तःपुरपालकः, तत्स्थानीया गुरवः, साधवः कन्यास्थानीयाः, अवलोकनमपराधः। अत्राप्रशस्तेन कन्यान्तःपुरपालकेन, प्रशस्तेन चोपनयः कर्तव्यः। तद्यथा-आचार्यः प्रमादिनः शिष्यान् न वारयति, न च प्रायश्चित्तं ददाति, स विनश्यति, यथा प्रथमः कन्यान्तःपुरपालकः। यस्तु प्रमाद्यतः शिष्यान् वारयति, प्रायश्चित्तं च यथापराधं प्रयच्छति, स इह लोके प्रशंसादिपूजां प्राप्नोति, परलोके च सम्यक्शिष्यनिस्तारणतो निर्वाणमचिरादाप्नुयादिति।

सम्प्रति यदुक्तं प्राघूर्णकसमागमे संसक्ते उपाश्रये वृश्चिकाये च निपतति अभिशय्या गन्तव्येति तद्विषयमपवादं क्रमेणाभिधित्सुराह–

असज्झाइए असंते, ठाणाऽसति पाहुणागमे चेव ।
अन्नत्थ न गंतव्वं, गमणे गुरुगा उ पुव्वुत्ता ॥

अस्वाध्यायिके असति अविद्यमाने, प्राघूर्णकानामागमे वाऽसति स्थानस्य-संस्तारकयोग्यभूमिलक्षणस्य असति, अपिशब्दोऽत्र सामर्थ्यादवगम्यते। असत्यपि, भावप्रधानोऽयं निर्देशः इत्यत्रावेऽपि, अन्यत्राभिशय्यादौ न गन्तव्यम्, किन्तु यतना कर्तव्या। यदि तया अन्यत्र गमनं कुर्वन्ति, ततो गमने पूर्वोक्ता गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः प्रायश्चित्तम्।

का पुनर्यतना?, तामाह–

वत्थव्वा वारंवा–रएण जग्गंतु मा य वच्चंतु ।
एमेव य पाहुणए, जग्गण गाढं अणुन्वाए ॥

वास्तव्या वारंवारेण जाग्रतु। इयमत्र भावना-वास्तव्यानां मध्ये यो यावन्मात्रमर्द्धयामादिकं जागरितुं शक्नोति, तावन्मात्रं जागर्ति, तदनन्तरं जागरितुमशक्नुवन् अन्यं साधुमुत्थापयति, सोऽपि स्वजागरणवेलातिक्रमेऽन्यम्, एवं वारेण वारेण जाग्रतु। यदि पुनर्वास्तव्याः समस्ता अपि रात्रिं वारेण जागरितुं न शक्नुवन्ति, ततो यदि गाढं न परिश्रान्ताः प्राघूर्णकाः, ततः प्राघूर्णके (अणुव्वाए इति) अपरिश्रान्ते, एवमेव-वारेण जागरणं समर्पणीयं, मा पुनः, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, व्रजन्त्वभिशय्याम्, यदि पुनर्वास्तव्याः प्राघूर्णकाश्च न वारेण जागरितुं शक्नुवन्ति, तदाऽभिशय्या गन्तव्येति।

एमेव असंसत्ते, देसे अगलंतए य सव्वत्थ ।
अम्हवहा पाहुणगा, उवेंति रिक्खा उ कक्करणा ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण, संसक्ते उपाश्रये यो देशः प्रदेशोऽसंसक्तस्तस्मिन्नसंसक्ते देशे, तथा वृश्चिकाये निपतति यः प्रदेशो न गलति तस्मिन् प्रदेशे, यतना कर्तव्या। तद्यथा-संसक्तायां वसतौ येष्ववकाशेषु संसक्तिस्तान् परिहृत्य शेषेष्ववकाशेषु संसक्तिरहितेषु पूर्वप्रकारेण जागरणयतना कर्तव्या। ततो वृश्चिकायेऽपि निपतति येष्ववकाशेषु वसतिः निर्गलति तानवकाशान्परिहृत्य शेषेष्वगलत्स्ववकाशेषु यतना पूर्ववत्कर्तव्येति। (सव्वत्थ त्ति) यदि पुनः सर्वत्र संसक्ता, सर्वत्र वा गलति, तदाऽभिशय्या गन्तव्येति। यदुक्तं "आसो उ कक्करणे" इति, तत्र कक्करणं व्याख्यानयति—एते रिक्ताः प्राघूर्णका अस्मद्वधाय उपयन्ति समागच्छन्ति। एवमादिभाषणं कक्करणेति।

सम्प्रति यदवादीत्-आचार्येण न गन्तव्यम्, अनापृच्छया वा (साधुभिः) न गन्तव्यमिति, तद्विषयमपवादमाह–

बितियपयं आयरिए, निद्दोसे दूरगमणऽणापुच्छा ।
पमिसेहियगमणम्मी, तो तं वसभा बलं नेंति ॥

द्वितीयमपवादपदमाचार्यविषये, क सति?, इत्यत आह-निर्दोषे स्त्र्यादिदोषाणामभावे, यदि वा निर्गता दोषा यस्मात्तद् निर्दोषं क्षेत्रं, तस्मिन्, तथा दूरे अभिशय्या, ततस्तत्र दूरगमने अनापृच्छा, तथा प्रतिषेधितस्य गमने द्वितीयपदमिदम्-(तो त्ति) तस्मादेव संक्रादिस्थानात्परतो यदा वृषभा बलान्नयन्ति, तदा प्रतिषेधितः प्रतिपृच्छामन्तरेणापि गच्छतीति। एष गाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतः "आयरिए निद्दोसे" इति व्याख्यानयति–

जत्थ गणी न वि नज्जइ, जहेसु य जत्थ नत्थि ते दोसा।
तत्थ वयंतो सुद्धो, इयरे वि वयंति जयणाए ॥

यत्र गणी आचार्यो न ज्ञायते, अपिशब्दाश्च तथाविधोदारशरीरो, नापि केनचिदपि सह वादोऽभवत्। यत्र स्वभावत

एव भद्रेष्वनुत्कटरागद्वेषेषु लोकेषु प्रागुक्ताः स्त्र्यादिसमुत्था दोषा न सन्ति, तत्राभिशय्यामपि गच्छन्नाचार्यः शुद्धः, इतरेऽपि ये अनापृच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषेधितास्तेऽपि च यतनया गच्छन्ति।

का यतना ?, इति चेदत आह—

वसतीएँ असज्झाए, सन्नादिगतो य पाहुणो दट्ठुं ।
सोउं व असज्झायं, वसहिं उवेंति भणइ अन्ने ॥

वसतावस्वाध्यायो जातो,गुरवश्च संज्ञाभूम्यादिषु गताः,ततोऽस्वाध्याये,तथा स्वयं(संज्ञादिगतः)संज्ञाभूमिम,आदिशब्दादन्यद्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्राघूर्णकान् समागच्छतो दृष्ट्वा नूनमस्माकं वसतिः संकटा प्राघूर्णकाश्च बहवः समागताः, ततो न सर्वेषां संस्तारकयोग्यभूमिरवाप्यते इति विचिन्त्य,तथा पूर्वं वसतावस्वाध्यायो नाभूत् संज्ञादिगतेन च तेन श्रुतं, यथा-जातो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरूणां पार्श्वं वसतावागच्छति तावद् रात्रिः समापतति, दूरे चाभिशय्या, रात्रौ च गच्छतामारक्षकभयं, ततोऽनापृच्छ्यैव ततः स्थानादभिशय्यां गच्छति, केवलं येऽन्ये साधवो वसतिमुपयन्ति, तान् भणति-प्रतिपादयति, संदिशतीत्यर्थः।

किं तद् ?, इत्याह—

दीवेह गुरूण इमं, दूरे वसही इमो विकालो य ।
संथारकालकाइय-भूमीपेहट्ठ एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयतेति यावत्। गुरूणां,यथा-दूरे वसतिरभिशय्या । अयं च प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो विकालः समापतितः, तत एवमेव अनापृच्छ्यैव युष्मान्,संस्तारकभूमेः कालभूमीनां कायिकीभूमीनां (कायिकी संज्ञा) उपलक्षणमेतत्-प्रश्रवणभूमीनां च प्रेक्षाऽर्थमभिशय्यां गत इति। एवमनापृच्छाया-मपवाद उक्तः।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह-

एमेव य पडिसिद्धे, सण्णादिगयस्स कंचि पडिपुच्छे ।
तं पि य होढा असमि-क्खिऊण पडिसेहितो जम्हा ॥

कस्यापि साधोरभिशय्यादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, संज्ञादिगतस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिभूमिगतस्य सत एवमेवमनन्तरोक्तेन प्रकारेण,गुरून् प्रति संदेशकथनं ज्ञातव्यम्। कथम् ?, इत्याह-(कंचि पडिपुच्छे त्ति) कमपि वृषभं प्रतिपृच्छेत्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमभूत्, केवलमेवमेव गुरुणा प्रसिद्धः, अथ च मया स्वाध्यायः कर्तव्यः, वसतौ वा स्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि?,यामि वसतिं,प्रतिपृच्छामि गुरुमिति। एवमुक्ते ते वृषभादयोऽभिशय्यां गन्तुकामाः कालस्य स्तोकत्वात् यावद् वसतौ गत्वा गुरून् प्रतिपृच्छ्य समागच्छन्ति तावद् रात्रिः पततीति तं प्रत्येवमुदीरयन्ति। (तं पि येत्यादि) तदपि गुरूणां प्रतिपृच्छनं (होढा इति) देशीपदमेतत्। दत्तमेव, कृतमेवेत्यर्थः। यस्मादसमीक्ष्यापर्यालोच्य, अनाभोगत एवेत्यर्थः। त्वं प्रतिषेधितः,ततो यद्यत्र किमपि गुरवो वदयन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामः-यथैष न किमपि गमनप्रतिषेधकारणं कृतवान्, प्रतिपृच्छार्थं चागच्छन् अस्माभिर्निवारितः,तावत्कालस्याप्राप्यमाणत्वात्। एवमुक्त्वा बलादपि तं वृषभा नयन्ति, सोऽपि च बलान्नीयमानश्चिन्तयति-यथा नास्ति मम कश्चिद्दोषः ?,किं न गच्छामीति। स च तत्र गच्छन्, वृषभाश्च येऽन्ये साधवो वसतिमुपयान्ति, तेषां संदेशं प्रयच्छन्ति।

अथासमीक्ष्य प्रतिषिद्ध इति वृषभाः कथं जानन्तीत्यत आह-

जाणंति व तं वसभा, अहवा वसभाण तेण सब्भावो ।
कहितो न मेऽत्थि दोसो, तो णं वसभा बला निंति ॥

जानन्ति स्वयमेव तं वृषभाः,यथा-निर्दोष एषोऽकारणे गुरुणा प्रतिषिद्धः, अस्मत्समक्षमेवास्य प्रायोऽवस्थानात्। अथवा तेन वृषभाणां सद्भावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत एतद् ज्ञात्वा गुरुमनापृच्छ्यैव यथोक्तप्रकारेण वृषभा बलान्नयन्ति। योऽपि आचार्यस्य प्रतिचार्यस्य प्रतिचारी पूर्वं प्रतिषिद्धः सोऽपि,'तत्कर्तव्यं यद् वृषभैः सम्पादितं भवति' इति ज्ञात्वा ततो गच्छत्यभिशय्यामिति न कश्चिद्दोषः।

संप्रति अभिशय्याया नैषेधिक्याश्च भेदानाह—

अभिसेज्जमभिनिसीहिय, एक्केका दुविह होइ नायव्वा।
एगवगडाएँ अंतो, बहिया संबद्धऽसंबद्धा ॥

या गन्तव्या अभिशय्या,अभिनैषेधिकी वा, सा एकैका द्विविधा भवति। तद्यथा-साधुवसतेः (एगवगडाए इति) एकवृत्तिपरिक्षेपायामन्तर्बहिश्च। इयमत्र भावना-द्विविधा अभिशय्या, एका वसतेरेकवृत्तिपरिक्षेपाया अन्तः, अपरा बहिः। एवं नैषेधिक्यपि द्विविधा भावनीया। भूय एकैकाऽभिशय्या द्विविधा। तद्यथा-संबद्धा,असंबद्धा च। तत्र यस्या अभिशय्याया वसतेश्च एक एव पृष्ठवंशः सा संबद्धा । यस्याः पुनः पृथक् पृष्ठवंशः सा असंबद्धा। अथैकवृत्तिपरिक्षेपस्यान्तरभिशय्या द्विविधाऽपि यथोक्तप्रकारा घटते, या त्वेकवृत्तिपरिक्षेपस्य बहिः सा नूनमसंबद्धा स्यात्, तस्याः सुप्रतीतत्वात्। या पुनः संबद्धा, सा कथमुपपद्यते ?, उच्यते--यस्या अभिशय्याया वृत्तिपरिक्षेपस्य बहिर्भूतायाः, वसतेश्च तल्लग्नायाः पृष्ठवंशोऽपान्तराले च भित्तिः, सा बहिर्भूताऽपि संबद्धेति । नैषेधिकी पुनरन्तर्बहिर्वा नियमादसंबद्धैव । हस्तशतस्याभ्यन्तरतोऽस्वाध्यायिके समुत्पन्ने स्वाध्यायासंभवात्।

तथा चाऽऽह--

जा सा उ अभिनिसीहिय,सा नियमा होउ ऊ असंबद्धा ।
संबद्धमसंबद्धा, अभिसेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते,सेति-यदुक्तं तद्दोषाभावोपक्रमप्रदर्शनार्थमित्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनैषेधिकी, सा नियमाद्भवत्यसंबद्धा। कारणमनन्तरमेवोक्तम, या त्वभिशय्या सा संबद्धा असंबद्धा च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेलायां तत्र गन्तव्यम ?, तत्र आह-

धरमाणच्चिय सूरे, संथारुच्चारकालभूमीओ ।
पडिलेहियऽणुण्णविए, वसहेहिँ वयंतिमं वेलं ॥

योऽसावभिशय्यायाः शय्यातरस्तं वृषभा अनुज्ञापयन्ति,यथा-स्वाध्यायनिमित्तं वयमत्र वत्स्याम इति। तत एवं वृषभैरनुज्ञापिते शय्यातरे, धरमाण एव अनस्तमिते एव सूर्ये, तत्राभिशय्यायां संस्तारकोच्चारकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य भूयो वसतावागत्य इमां वेलामिति " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥ २। २। ४२ ॥ इति (हैम) सूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया। अस्यामनन्तरं वक्ष्यमाणायां वेलायां व्रजन्ति।

कस्यां वेलायाम ?, इत्यत आह—

आवस्सयं तु काउं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।
वाघाएण उ भयणा, देसं सव्वं अकाऊण ॥

व्याघातस्य स्तेनादिप्रतिबन्धस्याभावो निर्व्याघातः, तेन निर्व्याघातेन भवति गन्तव्यं वसतेराचार्यैः सममावश्यकं कृत्वा । व्याघातेन पुनर्हेतुभूतेन भजना विकल्पना । का भजना ?, इत्यत आह-देशं वा आवश्यकस्याकृत्वा, सर्वं वाऽवश्यकमकृत्वा ।

सम्प्रति यैः कारणैः प्रतिबन्धस्तान्युपदर्शयति—

तेणा सावय-वाला, गुम्मियआरक्खिउवणपडिणीए ।
इत्थिनपुंसगसंसं-त्तवासचिक्खिल्लकंटे य ॥

स्तेनाश्चौरास्ते संध्यासमये अन्धकारकलुषिते संचरन्ति, श्वापदानि वा क्षुद्राणि भूयांसि तदा उद्दृप्तानि हिण्डन्ते; व्याला वा भुजङ्गमादयो वातादिपानाय भूयांसः संचरन्ति; तथा गुल्मेन समुदायेन संचरन्तीति गौल्मिका आरक्षिकाणामप्युपरि स्थायिनो हिण्डकाः, आरक्षकाः पुररक्षकाः, ते अकाले हिण्डमानान् गृह्णन्ति । तथा (उवण त्ति) क्वचिद्देशे एवंरूपा स्थापना क्रियते। यथा-अस्तमिते सूर्ये रथ्यादिषु सर्वथा न संचरणीयमिति ; प्रत्यनीको वा कोऽप्यन्तरादिघातकरणार्थं तिष्ठन् वर्तते; स्त्रियो नपुंसका वा कामबहुलास्तदा उपसर्गयेयुः, संसक्तो वा प्राणजातिभिरपान्तराले मार्गः, ततोऽन्धकारेणेर्यापथिका न शुद्ध्यति । वर्षं वा पतत् संभाव्यते, (चिक्खिल्ल त्ति) कर्दमो वा पथि भूयानस्ति, ततो रात्रौ पादलग्नः कर्दमः कथं क्रियते ?, (कंटे त्ति) कण्टका वा मार्गेऽतिबहवः, ते रात्रौ परिहर्तुं न शक्यन्ते । एतैर्व्याघातकारणैः समुपस्थितैः देशतः सर्वतो वाऽऽवश्यकमकृत्वा गच्छन्ति ।

तत्र देशतः कथमकृत्वेत्यत आह—

थुतिमंगल कितिकम्मे, काउस्सग्गे य तिविहकितिकम्मे ।
तत्तो य पडिक्कमणे, आलोयणयाएँ कितिकम्मो ॥

स्तुतिमङ्गलमकृत्वा, स्तुतिमङ्गलाकरणे चायं विधिः-आवश्यके समाप्ते द्वे स्तुती उच्चार्य तृतीयां स्तुतिमकृत्वा अभिशय्यां गच्छन्ति । तत्र च गत्वा ऐर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य तृतीयां स्तुतिं ददति । अथवा आवश्यके समाप्ते एकां स्तुतिं कृत्वा द्वे स्तुती अभिशय्यां गत्वा पूर्वविधिनोच्चारयन्ति । अथवा समाप्ते आवश्यकेऽभिशय्यां गत्वा तत्र तिस्रः स्तुतीर्ददति । अथवा स्तुतित्रयो यद् वक्ति, तत् कृतिकर्म, तस्मिन्नकृते तेऽभिशय्यां गत्वा तत्रैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य मुखवस्त्रिकां च प्रत्युपेक्ष्य कृतिकर्म कृत्वा स्तुतीर्ददति । (काउस्सग्गे य तिविह त्ति) त्रिविधे कायोत्सर्गे क्रमेणाकृते, तद्यथा-चरमकायोत्सर्गमकृत्वा अभिशय्यां गत्वा तत्र चरमकायोत्सर्गादिकं कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ चरमावकृत्वा, यदि वा त्रीनपि कायोत्सर्गान् अकृत्वा, अथवा कायोत्सर्गेभ्योऽर्वाक्तनं यत् कृतिकर्म तस्मिन्नकृते; उपलक्षणमेतत्-ततोऽप्यर्वाक्तने क्षामणे, यदि वा ततोऽप्यर्वाक्तने कृतिकर्मणि अकृते. अथवा ततोऽप्यर्वाक्तने प्रतिक्रमणे अकृते , यदि वा ततोऽप्यर्वाक्तने आलोचने अकृते , अथवा ततोऽप्याराक्तने कृतकर्मणि अकृते, अभिशय्यामुपगम्य तत्र तदावश्यकं कर्तव्यमिति । एवमावश्यकस्य देशतोऽकरणमुक्तम् ।

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह–

काउस्सग्गमकाउं, कितिकम्मालोयणं जहएणेणं ।
गमणम्मी एस विही, आगमणम्मी विहिं वोच्छं ॥

यो दैवसिकानि वारानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कायोत्सर्गः, तमप्यकृत्वा । किमुक्तं भवति- सर्वमावश्यकमकृत्वाऽभिशय्यां गच्छन्ति, किमेवमेव गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः ?। उच्यते-अस्तीति ब्रूमः । तथा चाऽऽह-(कितिकम्मालोयणं जहएणेणं ति) जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा, सर्वे गुरुभ्यो वन्दनं कृत्वा, यश्च सर्वोत्तमो ज्येष्ठः स आलोच्य, तदनन्तरमभिशय्यां गत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वन्ति । एषोऽभिशय्यायां गमने । अभिशय्यातः प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

आवस्सगं अकाउं, निव्वाघाएण होइ आगमणं ।
वाघायम्मि उ जयणा, देसं सव्वं च काऊणं ॥

यदि कश्चनापि व्याघातो न भवति ततो निर्व्याघातेन व्याघाताभावेनाऽऽवश्यकमकृत्वाऽभिशय्यातो वसतावागमनं भवति । आगत्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वन्ति । व्याघाते तु भजना । का पुनर्भजना ?, इत्यत आह–देशमावश्यकस्य कृत्वा, सर्वं वा आवश्यकं कृत्वा ।

तत्र देशत आवश्यकस्य करणमाह—

काउस्सग्गं काउं, कितिकम्मालोयणं पडिक्कमणं ।
किइकम्मं तिविहं वा, काउस्सग्गं परिण्णा य ॥

कायोत्सर्गमाद्यं कृत्वा वसतावागत्य शेषं गुरुभिः सह कुर्वन्ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ कृत्वा, यदि वा त्रीन् कायोत्सर्गान् कृत्वा, अथवा कायोत्सर्गत्रयानन्तरं यत् कृतिकर्म तत्कृत्वा, अथवा तदनन्तरमालोचनामपि कृत्वा, यदि वा तत्परं यत्प्रतिक्रमणं तदपि कृत्वा, अथवा तदनन्तरं यत्कृतिकर्म द्विभेदं. तत् क्षामणादर्वाक्तनं, परं चेत्यर्थः, तदपि कृत्वा । पाठान्तरम्- " तिविहं ते वि " मूलकृतिकर्मापेक्षया त्रिविधं वा कृतिकर्म कृत्वा । अथवा कायोत्सर्गं चरमं षाण्मासिकं कृत्वा, परिज्ञा प्रत्याख्यानं, तामपि वा कृत्वा । अत्रायं विधिः-सर्वे साधवश्चरमकायोत्सर्गं वसतावागत्य गुरुसमीपे वन्दनकं कृत्वा, सर्वोत्तमश्च ज्येष्ठ आलोच्य, सर्वे प्रत्याख्यानं गृह्णन्ति । अथवा-सर्वमावश्यकं कृत्वा, एकां च स्तुतिं दत्त्वा, शेषे द्वे स्तुती कृत्वा, शेषं गुरुसकाशे कुर्वन्ति । तदेवमुक्तं देशत आवश्यकस्य करणम् ।

अधुना सर्वतः करणमाह–

थुति मंगलं च काउं, आगमणं होति अभिनिसिज्जातो ।
बितियपदे जयणा ऊ, गिलाणमादी उ कायव्वा ॥

अथवा प्रत्याख्यानं, तदनन्तरं स्तुतिं, मङ्गलं च स्तुतित्रयाकर्षणरूपं तत्र कृत्वा अभिशय्यात आगमनं भवति । तत्रेयं सामाचारी-गुरुसमीपे ज्येष्ठ एक आलोचयति, आलोच्य प्रत्याख्यानं गृह्णाति, शेषैः ज्येष्ठस्य पुरत आलोचना । प्रत्याख्यानं च कृतं, वन्दनकं च सर्वे ददति, क्षामणं च । द्वितीयपदे अपवादपदे ग्लानादिषु प्रयोजनेषु भजना कर्तव्या । किमुक्तं भवति-ग्लानादिकं प्रयोजनमुद्दिश्य वसतौ नागच्छेयुरपीति ।

ग्लानादीन्येव प्रयोजनान्याह—

गेलण्ण वास महिआ, पदुट्ठ अंतेउरे निवे अगणी ।

अहिगरणहत्थिसंभम-गेलण्ण निव्वेयणा नवरिं ॥

ग्लानत्वमेकस्य बहूनां वा साधूनां तत्राभवत्,ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनम्। अथवा वर्षं पतितुमारब्धम्। महिका वा पतितुं लग्ना। यद्वा-(पदुट्ठ त्ति) प्रद्विष्टः कोऽप्यन्तरा विरूपकरणाय तिष्ठति। अन्तःपुरं वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा उद्घोषितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचरितव्यम्। राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः। अग्निकायो वाऽपान्तराले महान् उत्थितः अधिकरणं वा गृहस्थेन समं कथमपि जातं बृहद्, बृषजास्तदुपशमयितुं लग्नाः। हस्तिसंभ्रमो वा जातः। किमुक्तं भवति?-हस्ती कथमप्यालानस्तम्भं भङ्क्त्वा शून्यासनः स्वेच्छया तदा परिभ्रमति। एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम्। नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः ; यदि ग्लानत्वमागाढमुपजातमेकस्य बहूनां वा, तदा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्येति। समाप्ता प्राक्तनसूत्रस्य निर्विशेषा व्याख्या। व्य० १ उ०।

अभिणिसम-अभिनिस्सट-त्रि० । अभिविधिना निर्गताः सटास्तदवयवरूपाः, केशरिस्कन्धसटा वा यस्य तदभिनिःसटम्। बहिरभिनिर्गतावयवे, भ० १५ श० १ उ०।

अभिणिसिट्ठ-अभिनिसृष्ट-त्रि०। बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टे, जी० ३ प्रति०। रा०।

अभिणिसेहिया-अभिनैषेधिकी-स्त्री० । निषेधः-स्वाध्यायव्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेधः; तेन निर्वृत्ता नैषेधिकी । अभि आभिमुख्येन संयतप्रायोग्यतया नैषेधिकी अभिनैषेधिकी । दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्य० १ उ०। (तद्गमनवक्तव्यताऽनन्तरमेव 'अभिणिसज्जा' शब्दे ७१५ पृष्ठे दर्शिता)

अभिणिस्सड-अभिनिस्सृत-त्रि० । बहिष्टान्निर्गते, "बहिया अभिणिस्सडाओ पभासेंति"। भ० १४ श० ९ उ०।

अभिणूमकम-अभिनूमकृत-त्रि०। आभिमुख्येन कर्मणा मायया वा कृते, "अभिणूमकडेहिँ मुच्छिए, तिव्वं से कम्मेहिँ किच्चती"। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अभिण्ण-अभिन्न-त्रि०। अविशीर्णे, उपा० २ अ० । भिन्नशब्दार्थविरुद्धे, बृ० ३ उ०। नि० चू०।

अभिण्णगंठि-अभिन्नग्रन्थि-पुं०। सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव०।

अभिण्णपुडो-देशी-रिक्तपुटे, शिशुभिः क्रीडया जनप्रक्षोभार्थं विपणिमार्गे रिक्ता पुटिका या क्षिप्यते सैवमुच्यते। दे० ना० १ वर्ग।

अभिण्णाय-(जाणिय)-अभिज्ञाय-अव्य०। ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ०। बुद्ध्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ०। आभिमुख्येन परिच्छिद्य इत्येतेषां शब्दानामर्थेषु, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

अभिण्णायदंसण-अभिज्ञातदर्शन-त्रि० । सम्यक्त्वभावनया भाविते, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ०।

अभिण्णायार-अभिन्नाचार-पुं०। न भिन्नो न केनचिदप्यतीचारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासावभिन्नाचारः। (व्य०) आत्योपजीवनादिपरिहरति, व्य० ३ उ०।

१८२

अभितत्त-अभितप्त-त्रि० । अग्निना आभिमुख्येन सन्तापिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

अभितप्पमाण-अभितप्यमान-त्रि०। कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अभिताव-अभिताप-अव्य०। तापाभिमुखे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०। क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनादिरूपे सन्तापे, सूत्र०२ श्रु०६ अ०। दाहे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अभित्थुय-अभिष्टुत-त्रि०। विशिष्टगुणोत्कीर्तनेन व्यावर्णिते, संथा०।

अभित्थुव्वमाण-अभिष्टुवत्-त्रि०। संस्तुवति, स्था० ६ ठा०। अभिष्टूयमान-त्रि०। अभिनन्द्यमाने संस्तूयमाने, स्था० ६ ठा०। कल्प०। आ० म०।

अभिदुग्ग-अभिदुर्ग-पुं०। कुम्भीशाल्मल्यादौ, (सूत्र०) अतिविषमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। अग्निस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अभिदुय-अभिद्रुत-त्रि०। अध्यवसायरूपेण व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। गर्भाधानादिदुःखैः पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अभिधारण-अभिधारण-न० । प्रव्रज्यार्थमाचार्यादेर्मनसा संकल्पने, तच्च द्विधा-अनिर्दिष्टं, निर्दिष्टं च । अनिर्दिष्टं नाम अभिधारयन् कमप्याचार्यं विशेषतो न निर्दिशति। स च अभिधारको द्विधा-संज्ञी, असंज्ञी च। पुनरेकैको द्विधा-गृहीतलिङ्गः, अगृहीतलिङ्गश्च। (बृ०) मनसि करणे, बृ० ३ उ०। व्य०।

अभिधेज्ज-अभिधेय-त्रि०। अर्थे शब्दवाच्ये, यथा घटशब्देन घटोऽभिधीयते। विशे०। नि० चू०।

अभिपवुट्ठ-अभिप्रवृष्ट-त्रि० । कृतवर्षे, "वासावासे अभिपवुट्ठे बहवे पाणा"। आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

अभिप्पाइयणाम-आभिप्रायिकनामन्-न०। अभिप्रायतः क्रियमाणे नामनि, अनु०।

से किं तं अभिप्पाइयणामे ?। अभिप्पाइयणामे अंबए निंबुए बकुलए पलासए सिणए पीलुए करीरए। सेत्तं अभिप्पाइयनामे ॥

इह यद्देशादिषु प्रसिद्धम् 'अम्बक-निम्बक' इत्यादि नाम देशरूढ्या स्वाभिप्रायानुरोधतो गुणनिरपेक्षं पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते, तदाभिप्रायिकं स्थापनानामेति । भावार्थः-तदेतत्स्थापनाप्रमाणनिष्पन्नं सप्तविधं नामेति। अनु०।

अभिप्पाय-अभिप्राय-पुं०। मनोविकल्पे, विशे०। बुद्धिविपर्यये, आ० म० द्वि०। बुद्धेरध्यवसाये, आ० म० प्र०। चेतःप्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। अभिप्रायश्चतुर्विधः-औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकीत्यादिना। आ० चू०। संविज्ञानमवगमो भावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम् । आ० म० प्र०। (अस्य च 'बुद्धि' शब्दे व्याख्या द्रष्टव्या)

अभिप्पायसिद्ध-अभिप्रायसिद्ध-पुं०। बुद्धिसिद्धे, आ०म०।

साम्प्रतमभिप्रायसिद्धं प्रतिपादयन्नाह—

विपुला विमला सुहुमा, जस्स मई जो चउव्विहाए वा ।
बुद्धीए संपन्नो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः । विमला संशयविपर्ययानध्यवसायमलरहिता,सूक्ष्मा अतिदुरवबोधसूक्ष्मव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था , यस्य मतिः स बुद्धिसिद्धः। यदि वा-यश्चतुर्विधया औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिसिद्धः। आ० म० द्वि० । आ० चू० । (अस्य कथा 'उप्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अभिप्पेय–अभिप्रेत–त्रि० । मनोविकल्पिते, विशे० । आचा०। कामयति, दश० ६ अ० । अभिप्रेतविषये, संयोगे च । उत्त० १ अ० । (' संजोग ' शब्देऽस्य विवृतिः)

अभिभव–अभिभव–पुं० । अभियोगे, आव०५ अ० । पराजये, आचा०१ श्रु०९ अ०२ उ०। आ० चू०। अभिभवो नामादिभेदतश्चतुर्धा । द्रव्याभिभवो रिपुसेनादिपराजयः, आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्रादितेजोऽभिभवः । भावाभिभवस्तु-परीषहोपसर्गानीकजयात् ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्मनिर्दलनं, परीषहोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमलं चरणं, चरणशुद्धेर्ज्ञानावरणादिकर्मक्षयः, तत्क्षयान्निरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि केवलमुपजायते। इदमुक्तं भवति-परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीयमोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अभिभाविय–अभिभूय–अव्य०।जित्वेत्यर्थे,भ० ६ श० ३३ उ०।

अभिभूय–अभिभूय–अव्य० । अभिमुख्येन पीडयित्वेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । पराजित्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च। आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अभिभूत–त्रि० । व्याप्ते, जं० २ वक्ष० । तिरोहितशुभव्यापारे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिभूयणाणि (ण्)–अभिभूयज्ञानिन्–पुं० । अभिभूय पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ उ० ।

अभिमंतिऊण–(अभिमंतिय)–अभिमन्त्र्य–अव्य० । मन्त्रपाठेन संस्कृत्येत्यर्थे, " रायगणे जे खंभा, अच्छति ते अभिमंतिय आगासेण उप्पाइया " आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिमञ्जु–अभिमन्यु–अव्य० । " न्यण्योर्ञ्जः " ८ । ४ । २०५। इति पैशाच्यां न्यण्योः स्थाने ञ्जो जातः । अर्जुनस्य सुभद्रायां जाते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिमय–अभिमत–त्रि० । इष्टे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । विशे० ।

अभिमयट्ठ–अभिमतार्थ–पुं० । अवधारितार्थे, ज्ञा० १ अ० ।

अभिमाण–अभिमान–पुं० । अभि-मन्-भावे घञ् । आत्मन्युत्कर्षारोपे, मिथ्यागर्वे, अर्थादिदर्पे, ज्ञाने, प्रलये, हिंसायां च। वाच० । "अभिमाणो माणो भण्णति" । नि० चू० १ उ० । ('इंदभूइ' शब्दे द्वितीयभागे ५५४ पृष्ठे तदभिमानो द्रष्टव्यः)

अभिमाणबद्ध–अभिमानबद्ध–त्रि० । अभिमानास्पदे, सूत्र० १ श्रु० १३ उ० ।

अभिमार–अभिमार–पुं० । विशेषतोऽग्निजनके वृक्षविशेषे, उत्त० ३ उ० ।

अभिमुह–अभिमुख–त्रि० । अभि भगवन्तं लक्ष्यीकृत्य मुखमस्येति अभिमुखः । भगवतः संमुखे, रा० । कृतोद्यमे, पा० । चं० प्र० । ज्ञा० । स्था० । अन्त० । सू० प्र० । औ० ।

अभियंद–अभिचन्द्र–पुं० । महाबलस्य राज्ञः स्वनामख्याते प्रियवयस्ये, ज्ञा० ८ अ० ।

अभियावण्ण–अभ्यापन्न–त्रि० । आभिमुख्येन भोगानुकूल्येनाऽऽपन्नो व्यवस्थितः । सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभिरइ–अभिरति–स्त्री० । लोकेऽर्थादिभ्य आभिमुख्येन रतौ, विशे० ।

अभिरमंत–अभिरममाण–त्रि० । अभितो रतिं कुर्वाणे, "अभिरममाणा तुट्ठा" प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अभिराम–अभिराम–त्रि०। रम्ये, ज्ञा० १३ अ० । औ० । अभिरमणीये, चं० प्र० २० पाहु० । विपा० । रा० । आ० म० । स० । मनोज्ञे, ज्ञा० १७ अ० । मनोहरे, कल्प० १ क्ष० ।

अभिरुइय–अभिरुचित–त्रि० । स्वादुतावशेनोपगते, भ० ६ श० ३३ उ० ।

अभिरूव–अभिरूप–त्रि०।अभि आभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि रूपाणि राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूथादीनि वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा यस्मिँस्तदभिरूपमिति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अभिद्रष्टॄन् प्रति प्रत्येकमभिमुखमतीव चेतोहारित्वाद् रूपमाकारो यस्य स अभिरूपः । रा० । अभि सर्वेषां द्रष्टॄणां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्य तत् अभिरूपम् । अत्यन्तकमनीये, तं० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० । अभिमतरूपे, विपा० १ श्रु० २ अ० । जं० । द्रष्टारं द्रष्टारं प्रत्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरूपमाकारो यस्य सोऽभिरूपः । रा० । अभिमुखमतीवोत्कटं रूपमाकारो यस्य सः । सू० प्र० १ पाहु० । मनोज्ञरूपे, ज्ञा० १ अ० । उपा०। औ० । भ० । अभि प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्य तदभिरूपम् । आ० म० प्र० । अनुसमयमहीयमानरूपे, स० । " अभिरूवं अभिरूवं पडिरूवं पडिरूवं पासादीयं पासादीयं " आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभिलप्प–अभिलाप्य–त्रि० । कथनयोग्ये, प्रज्ञापनयोग्ये, आ० म० प्र० । सूत्र० । " जे पुण अभिलप्पा ते दुविहा भवंति । तं जहा–पण्णवणिज्जा, अपण्णवणिज्जा य । तत्थ जे ते अपण्णवणिज्जा तेसु वि ण चेव अहिगारो अत्थि त्ति । जे पुण पण्णवणिज्जा भावा ते केवलणाणेण पासिऊण तित्थयरो तित्थकरनामकम्मोदएण सव्वसत्ताणं अणुग्गहनिमित्तं भासति" । आ० चू० १ अ० ।

अभिलाव–अभिलाप–पुं० । अभिलप्यते आभिमुख्येन व्यक्तमुच्यते अनेनार्थ इत्यभिलापः । वाचके शब्दे, तद्विषये संयोगे च । उत्त० १ अ० । आ० म० । विशे० । प्रज्ञा० ॥

अभिलावपावियट्ठ-अभिलापप्राविताथे-पुं० । शब्दसंसृष्टेऽर्थे, कर्म० ६ कर्म० ।

अभिलावपुरिस-अभिलापपुरुष-पुं० । अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः शब्दः, स एव पुरुषः पुंलिङ्गतयाऽभिधानात् । पुरुषभेदे, यथा-घटः कुटो वेति । आह च-" अभिलावो पुंलिंगाभिहाणमेत्तं घडो व्व "। स्था० ३ ठा० १ उ० । आ० चू० । विशे० । आ० म० ।

अभिलास-अभिलाष-पुं० । इच्छायाम, स्था० ५ ठा० २ उ० । लब्धेऽप्यधिकतरस्य वाञ्छायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । यदिदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्युत्तरानुविद्धायां प्रार्थनायाम्, नं० । ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि, तद्यदीदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुविद्धे स्वपुष्टिनिमित्तप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसाये, नं० । आ० म० । इष्टेषु शब्दादिषु भोगेच्छायाम, ज्ञा० ए अ० ।

अभिवड्ढिय-अभिवर्द्धित-त्रि० । मासभेदे, संवत्सरभेदे च । स्था० । तत्र एकत्रिंशद्दिनानि, एकत्रिंशदुत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामभिवर्द्धितमासः, एवंविधेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्यह्नां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागाः-३८३ । ४४ । ६२ । स्था० ५ ठा० ३ उ० । बृ० । कल्प० । स० । चं० प्र० । व्य० । यस्मिन् संवत्सरे अधिकमाससंभवेन त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति, सोऽभिवर्द्धितसंवत्सरः । उक्तं च-" तेरस य चंदमासा, एसो अभिवड्ढिओ उ नायव्वो " जं० २ वक्ष० ।

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स अभिवड्ढियमासे तिसतीमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवइयराइंदियग्गेणं आहिए ?। ता एकतीसं राइंदियाइं एगुणतीसं च मुहुत्ता सत्तरसबावट्ठिभागे मुहुत्तस्स राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा । ता से णं केवइए मुहुत्तग्गेणं आहिता ?। ता णव एगुणसट्ठे मुहुत्तसते सत्तरस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेण आहिता । ता एतेसि णं अद्धा दुवालसखुत्तकडा अभिवड्ढीए संवच्छरे । ता से णं केवइय राइंदियग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ?। ता तिण्णि तेसीए राइंदियसते एकवीसं च मुहुत्ते अट्ठारसबावट्ठिभागे मुहुत्तस्स राइंदियग्गेणं आहिया ति वदेज्जा । ता से णं केवतियमुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ?। ता एकारमुहुत्तसहस्सा पंचए एकारे मुहुत्ते सते अट्ठारस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

'ता एएसि णं, इत्यादि पञ्चमाभिवर्द्धितसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम । भगवानाह—(एकतीसमित्यादि) ता इति पूर्ववत । एकत्रिंशद् रात्रिन्दिवानि, एकोनत्रिंशच्च मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदश द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवाग्रेणाख्याता इति वदेत । तथाहि—त्रयोदशभिश्चन्द्रमासैरभिवर्द्धितसंवत्सरः । चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिंशत् रात्रिंदिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः । २९ । $\frac{32}{62}$ । एतत् त्रयोदशभिर्गुण्यते, ततो यथासंभवं द्वाषष्टिभागैः रात्रिन्दिवेषु कृतेषु जातमिदं त्रीण्यहोरात्रशतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य-३८३ । $\frac{44}{62}$ । एतदभिवर्द्धितसंवत्सरपरिमाणम । तत्र त्रयाणां अहोरात्रशतानां त्र्यशीत्येधिकानां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकत्रिंशदहोरात्राः, शेषास्तिष्ठन्त्येकादश । ते मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३० । येऽपि च चतुश्चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, तेऽपि मुहूर्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदशशतानि विंशत्यधिकानि १३२० । तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्ताः, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टादश । तत्रैकविंशतिमुहूर्ता मुहूर्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानां त्रीणि शतान्येकपञ्चाशदधिकानि ३५१ । एतेषां द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्ताः, शेषास्तिष्ठन्ति त्रयः । ते द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातं षडशीत्यधिकं शतम १८६ । ततः प्रागुक्ताः शेषीभूता मुहूर्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरुत्तरे २०४ । तयोर्द्वादशभिर्भागो ह्रियते, लब्धा मुहूर्तस्य सप्तदश द्वाषष्टिभागाः । (ता से णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । सोऽभिवर्द्धितमासः कियान् मुहूर्ताग्रेणाख्यात इति वदेत ?। भगवानाह-(ता नवेत्यादि) नव मुहूर्तशतानि एकोनषष्ट्यधिकानि ९५९ । सप्तदश च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागाः । तथाहि-एकत्रिंशदप्यहोरात्राः त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि नवशतानि त्रिंशदधिकानि मुहूर्तानाम । तत उपरितना एकोनत्रिंशन्मुहूर्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्तानामेकोनषष्ट्यधिकानि नवशतानि । (ता एएसि णमित्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयम । (ता से णमित्यादि) रात्रिंदिवप्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-(ता तिण्णीत्यादि) त्रीणि रात्रिंदिवशतानि त्र्यशीत्यधिकानि एकविंशतिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागा रात्रिंदिवाग्रेणाख्याता इति वदेत् । तथाहि-एकत्रिंशद् अहोरात्रा द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि द्विसप्तत्यधिकानि रात्रिन्दिवानाम ३७२ । तत एकोनत्रिंशत मुहूर्ता द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जातानि त्रीणि शतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ३४८ । तेषामहोरात्रकरणार्थं त्रिंशता भागो ह्रियते, लब्धा एकादश अहोरात्राः, अष्टादश तिष्ठन्ति । येऽपि च सप्तदश द्वाषष्टिभागाः मुहूर्तस्य, तेऽपि द्वादशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरुत्तरे २०४ । ततो द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयो मुहूर्ताः, ते प्राक्तनेषु अष्टादशसु मध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकविंशतिर्मुहूर्ताः । शेषास्तिष्ठन्त्यष्टादश द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य । (ता से णमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम । भगवानाह-(एकारसेत्यादि) एकादश मुहूर्तसहस्राणि पञ्च मुहूर्तशतानि एकादशाधिकानि अष्टादश च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्येति मुहूर्ताग्रेणाभिवर्द्धितसंवत्सर आख्यात इति वदेत् । तथाहि-अभिवर्द्धितसंवत्सरस्य परिमाणं त्रीण्यहोरात्रशतानि त्र्यशीत्यधिकानि एकविंशतिर्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्याष्टादश द्वाषष्टिभागास्तत्र एकैकस्मिन् रात्रिंदिवे त्रिंशद् मुहूर्ता इति त्रीण्यहोरात्रशतानि त्र्यशीत्यधिकानि त्रिंशता गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितना एकविंशतिर्मुहूर्तास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो यथोक्ता मुहूर्तसंख्या भवतीति । चं० प्र० १२ पाहु० । नि० चू० । ज्यो० । जं० । (अवशेषा वक्तव्यता " मास " ' संवच्छर ' शब्दयोः करिष्यते)

अभिवड्ढेमाण-अभिवर्द्धयत्-त्रि० । अभिवृद्धिं कुर्वाणे, जं० ७ वक्ष० ।

अभिवायण–अभिवादन–न० । वाङ्नमस्कारे, दशा० २ चू० । उत्त० । पादयोः प्रणिपतने, तं० । कायेन प्रणिपाते, संथा० । आचा० ।

अभिवायमाण–अभिवादयत्–त्रि० । अभिवादनं कुर्वाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिवाहरणा–अभिव्याहरणा–स्त्री० । संशब्दनायाम्, पश्ना० २ विव० ।

अभिवाहार–अभिव्याहार–पुं० । अभिव्याहरणमभिव्याहारः । कालिकादिश्रुतविषये उद्देशसमुद्देशादौ, आलोचनादिषु अष्टमे नये, विशे० । आ० म०

अधुना चरमद्वारं व्याचिख्यासुराह—

अभिवाहारो कालिय–सुयस्स सुत्तत्थतदुभएणं ति ।
दव्वगुणपज्जवेहिँ य, दिट्ठीवायम्मि बोधव्वे ॥

अभिव्याहरणं शिष्याचार्ययोः वचनप्रतिवचने अभिव्याहारः । स च कालिकश्रुते आचारादौ, (सुत्तत्थतदुभएणं ति) सूत्रतोऽर्थतः, तदुभयतश्च । इयमत्र भावना–शिष्येण इच्छाकारेणेदमङ्गाद्युद्दिशस्वेत्युक्ते सति इच्छापुरस्सरमाचार्यवचनम्–'अहमस्य साधोरिदमङ्गमध्ययनमुद्देशं वा उद्दिशामि' वदामीत्यर्थः । आप्तोपदेशपारम्पर्यख्यापनार्थं क्षमाश्रमणानां हस्तेन सोत्प्रेक्षया सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो वाऽस्मिन् कालिकश्रुते । अथोत्कालिके दृष्टिवादे कथम् ?, इत्यत आह–द्रव्यगुणपर्यायैश्च दृष्टिवादे बोद्धव्योऽभिव्याहारः । एतदुक्तं भवति–शिष्यवचनानन्तरमाचार्यवचनम्–"इदमुद्दिशामि सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतो द्रव्यगुणपर्यायैरनन्तरमङ्गसहितैरिति" । एवं गुरुणा समादिष्टेऽभिव्याहारे शिष्याभिव्याहारः । शिष्यो ब्रवीति–'उद्दिशस्वेदं मम, इच्छाम्यनुशासनं क्रियमाणं पूज्यैरिति । एवमभिव्याहारद्वारमष्टमं नीतिविशेषनये । आ० म० प्र० ।

अभिविहि–अभिविधि–पुं० । सामस्त्ये, पश्ना० १५ विव० । आ० म० ।

अभिवुड्डि–अभिवृद्धि–पुं० । अहिर्बुध्नापरनामके उत्तरभाद्रपदनक्षत्रे, जं० ७ वक्ष० ।

अभिवुड्ढित्ता–अभिवर्ध्य–अव्य० । अभिवृद्धिं कारयित्वेत्यर्थे, सू० प्र० १ पाहु० ।

अभिव्वंजण–अभिव्यञ्जन–न० । स्वरूपतः प्रकाशने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ॥

अभिसंका–अभिशङ्का–स्त्री० । तथ्यानिर्णये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । स्था० । "भूयाभिसंकाइ दुगुंछमाणे, ण णिव्वहे मंतपदेण गोयं" भूतेषु प्राणिषु अभिशङ्का उपमर्दशङ्का, तयाऽऽशीर्वादं सावद्यं, जुगुप्सां वा न ब्रूयात् । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अभिसंकि (ण्)–अभिशङ्किन्–त्रि० । "उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुच्चति" । मरणं मारः, तदभिशङ्की मरणादुद्विग्नस्तत्करोति येन मरणात् प्रमुच्यते । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिसं (स्सं) ग–अभिष्वङ्ग–पुं० । भावरागे, विशे० । अभ्युपपत्तौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अभिसंजाय–अभिसंजात–त्रि० । पेशीं यावदुत्पन्ने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंधारण–अभिसंधारण–न० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभिसंधिय–अभिसंधित–त्रि० । गृहीते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभिसंभूय–अभिसंभूत–त्रि० । यावत्कललं तावदभिसंभूतः । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिसंवड्ढ–अभिसंवृद्ध–त्रि० धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्तमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंबुद्ध–अभिसंबुद्ध–त्रि० । धर्मकथादिकं निमित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतया ज्ञाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसमन्नागय–अभिसमन्वागत–त्रि० । अभिराभिमुख्येन सम्यगिष्टानिष्टावधारणतया अन्विति शब्दादिस्वरूपापगमात् पश्चादागतो ज्ञातः परिच्छिन्नः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । आभिमुख्येन व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० । परिभोगत उपभोगं प्राप्ते, ज्ञा० २ श्रु० । विशेषतः परिच्छिन्ने, भ० ५ श० ४ उ० । मिलिते, भ० १५ श० १ उ० । अभिविधिना, सर्वाणीत्यर्थः । समन्वागतानि संप्राप्तानि जीवेन रसानुभूतिं समाश्रित्य (भ० १२ श० ४ उ०) उदयावलिकायामागतेषु, भ० १३ श० ७ उ० । भोग्यावस्थां गतेषु, स्था० ४ ठा० ३ उ० ॥

अभिसमागम–अभिसमागम–पुं० । अभीत्यर्थाभिमुख्येन न तु विपर्यासरूपतया समिति सम्यक् न संशयतया तथा आ–मर्यादया गमनमभिसमागमः । वस्तुपरिच्छेदे, स्था० ।

तिविहे अभिसमागमे पन्नत्ते । तं जहा–उड्ढं अहं तिरियं । जया णं तहा रूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अइसेसे णाणदंसणे समुप्पज्जइ, से णं तप्पढमयाए उड्ढमभिसमेइ, तओ तिरियं, तओ पच्छा, अहे अहोलोगेणं दुरभिगमे पन्नत्ते समणाउसो ! ॥

(अइसेस त्ति) शेषाणि छद्मस्थज्ञानान्यतिक्रान्तमतिशेषं ज्ञानदर्शनं, तच्च परमावधिरूपमिति सम्भाव्यते, केवलस्य न क्रमेणोपयोगः; येन–तत्प्रथमतयेत्यादि सूत्रमनवद्यं स्यादिति । तस्य ज्ञानादेरुत्पादस्य प्रथमता तत्प्रथमता, तस्याः (उड्ढं ति) ऊर्ध्वलोकमभिसमेति–समभिगच्छति जानाति । ततस्तिर्यगिति तिर्यग्लोकं, ततस्तृतीये स्थाने अध इत्यधोलोकमभिसमेति । एवं च सामर्थ्यात्प्राप्तमधोलोको दुरभिगमः, क्रमेण पर्यन्ताधिगम्यत्वादिति । हे श्रमणायुष्मन् ! इति गौतमामन्त्रणमिति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अभिसमागम्म–अभिसमागम्य–अव्य० । अभिराभिमुख्ये, समेकीभावे, आङ्–मर्यादाभिविध्योः । गम्लृ–सृप्लृ–गतौ, सर्व एव गत्यर्था ज्ञानार्था ज्ञेयाः । आभिमुख्यं सम्यग्ज्ञात्वेत्यर्थे, "एवं अभिसमागम्म–चित्तमादाय आउसो" दशा० ५ अध्या० । आचा० ॥

अभिसमेच्च–अभिसमेत्य–अव्य० । आभिमुख्येन सम्यगित्वा ज्ञात्वा । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आभिमुख्येन सम्यक्

परिच्छिद्य पृथक् प्रवेदितं वा । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। अवगम्येत्यर्थे, स्था० ९ ठा० । आचा० । समधिगम्य अवबुध्येत्यर्थे, अभिसमेत्य धर्मं यावत्केवलित्वमुत्पादयेत् । "धर्मोपादेयतां ज्ञात्वा, संजातेच्छोऽत्र भावतः । दृढं स्वशक्तिमालोच्य, ग्रहणे संप्रवर्तते " ॥१॥ स्था० २ ठा० १ उ० ।

अभिसरण–अभिसरण–न० । आपेक्षिकसंमुखाभिगमने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अभिसरित–अभिसरित–त्रि० । रत्यर्थं सङ्केतस्थलं प्रापिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ॥

अभिसव–अभिषव–पुं० । अनेकद्रव्यसन्धाननिष्पन्नसुरासौवीरकादौ मांसप्रकारखण्डकादौ सुरामध्वाद्यभिष्यन्दिद्रव्ये, द्रव्योपयोगे च । अयं च सावद्याहारवर्जकस्यानाभोगातिक्रमादिनाऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

अभिसित्त–अभिषिक्त–त्रि० । कृताभिषेके जाताभिषेके, "अणेण अमयकलसेण अभिसित्तो अब्भहियं सोभितुमाढत्तो" आ० म० प्र० ।

अभिसेग–अभिषेक–पुं० । शुक्रशोणितनिषेकादिक्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । सर्वौषधिसमुपस्कृततीर्थोदकैः राज्याधिष्ठातृत्वादिप्राप्त्यर्थं मन्त्रोच्चारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसोऽभ्युक्षणम् । संथा० ।

तत्रेन्द्राणामभिषेक इत्थम्–

जेणामेव अभिसेयसभा तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुपयाहिणं करेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सहावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी–खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! तुब्भे विजयस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह । तए णं ते आभिओगिया देवा सामाणियपरिसोववण्णएहिं देवेहिं एवं उत्ता समाणा हट्ठ० जाव हियया करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं देवा तह त्ति' आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणेत्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं णिसरंति, णिसरित्ता तावइयाइं पोग्गलाइं गेण्हइ । तं जहा–रयणाए० जाव रिट्ठाणं अहा बायरे पोग्गले परिसाडेंति, परिसाडित्ता अहा सुहमे पोग्गले परियायंति, परियाइत्ता दोच्चं पि विउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता अट्ठसयं सोवण्णियाणं कलसाणं, अट्ठसतं रुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं सुवण्णरुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं सुवण्णमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं रुप्पमणियाणं कलसाणं, अट्ठसयं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं भोमियाणं कलसाणं, अट्ठसयं भिंगाराणं कलसाणं, एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं० जाव लोमहत्थपडलगाणं अट्ठसयं सीहासणाणं छत्ताणं चामराणं अवपडगाणं वट्टकाणं सिप्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेल्लसमुग्गकाणं अट्ठसहस्सं धूवकडुच्छुकाणं विउव्वंति । तेसा भाविए विउव्विए य कलसे य० जाव धूवकडुच्छुए य गेण्हंति, गेण्हित्ता विजयाओ रायहाणीओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव उद्धुयाए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीयीवयमाणा वीयीवयमाणा जेणेव खीरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता खीरोदगं गेण्हंति, खीरोदगं गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव पुक्खरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पुक्खरोदगं गेण्हंति, पुक्खरोदगं गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागधवरदामप्पभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेण्हंति, तित्थोदगं गेण्हित्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति, तित्थमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव गंगासिंधुरत्तवतीओ सलिलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सरितोदगं गेण्हंति, सरितोदगं गेण्हित्ता उभयो तडमट्टियं गेण्हंति, तडमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंतसिहरिवासपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमल्ले य सव्वोसहिं सिद्धत्थए य गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव पउमद्दहे पुंडरियद्दहा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति, दहोदगं गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सतसहस्सपत्ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव हेमवतेरणवयाइं वासाइं जेणेव रोहिया रोहियातंसा सुवण्णकूलरुप्पकूलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति, सलिलोदगं गेण्हित्ता उभयो तडमट्टियं गेण्हंति, उभयो तडमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव सद्दावतिवियडावतिमालवंतपरियागा वट्टवेयड्ढपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, सिद्धत्थए गेण्हित्ता जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वते तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे तं चेव० जेणेव महापउमद्दहमहापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव० जेणेव हरिवासरम्मगवासाइं जेणेव हरिकांताओ सलिलाओ नरगंताओ तेणेव उवागच्छंति,

तेणेव उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति, सलिलोदगं गेण्हित्ता तं चेव० जेणेव णियढावतिगंधावति० वट्टवेयड्ढपव्वया तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे य तं चेव० जेणेव णिसढणीलवंतवासहरपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य तं चेव० जेणेव तिगिच्छिदहं केसरिदहं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति, दहोदगं गेण्हित्ता तं चेव० जेणेव पुव्वविदेह अवरविदेहवासाणि जेणेव सीयासीओयामहानईओ जहा नईसु जेणेव सव्वचक्कवट्टिविजया जेणेव विदेहावरविदेहवासाइं जेणेव सव्वमागहवरदामपभासाइं तित्थाइं जेणेव सव्वंतरणदीओ० सलिलोदगं गेण्हंति, सलिलोदगं गेण्हित्ता तं चेव० जेणेव सव्ववक्खारपव्वता० सव्वतुवरे य तं चेव० जेणेव मंदरे पव्वए जेणेव भद्दसालवणे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव नंदणवणे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसं च गोसीसचंदणं गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव सोमणसवणे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं गेण्हंति, सुमणदामं गेण्हित्ता जेणेव पंडगवणे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य सरसं च गोसीसचंदणं दिव्वं च सुमणदामं दद्दरमलयसुगंधिगंधिए य गंधे गेण्हंति, गेण्हित्ता एगतो मिलंति, एगतो मिलित्ता जंबूदीवस्स पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छंति, पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं णिग्गच्छित्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीतीवयमाणा जेणेव विजया रायहाणी तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता विजयं रायहाणिं अणुप्पयाहिणं करेमाणे करेमाणे जेणेव अभिसेयसभा जेणेव विजयदेवे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावित्ता विजयस्स देवस्स तं महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं अभिसेयं उवट्ठेंति ॥

टीका पाठसिद्धा। जी० ३ प्रति० । रा० । औ० । जं० । आचार्यपदेऽभिषिक्तो यः सोऽभिषेकः। नि० चू० १५ उ० । सूत्रार्थतदुभयोपेते आचार्ये, व्य० १ उ० । आचार्यपदस्थापनार्हे, बृ० ३ उ० । उपाध्याये, जीत० । गणावच्छेदके, नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेगजलपूयप्प (ण्)-अभिषेकजलपूतात्मन्-पुं० । अभिषेकतो जलेन पवित्रित आत्मा यैस्ते तथा । तथाविधजलधौतेषु वानप्रस्थेषु, औ० ।

अभिसेगपेढ-अभिषेकपीठ-पुं० । न० । अभिषेकमण्डपान्तर्गते अभिषेकसिंहासनाधिष्ठाने पीठे, जं० ३ वक्ष० ।

अभिसेग (य) भंड-अभिषेकभाण्ड-न० । अभिषेकयोग्ये उपस्करे, रा० । जी० ॥

अभिसेग (य) सभा-अभिषेकसभा-स्त्री० । अभिषेकार्थसभायाम, यस्यां राज्याभिषेकेणाभिषिच्यते । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अभिसेगसिला-अभिषेकशिला-स्त्री० । तीर्थकराणामभिषेकार्थशिलायाम्, स्था० ।

जंबू ! मंदरपव्वयपंडगवणे चत्तारि अभिसेगसिलाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-पंडुकंबलसिला, अतिपंडुकंबलसिला, रत्तकंबलसिला, अतिरत्तकंबलसिला ।

अभिषेकशिला चूलिकायाः पूर्वदक्षिणापरोत्तरासु दिक्षु क्रमेणावगम्या इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अभिसेगा-अभिषेका-स्त्री० । गच्छमहत्तरिकायाम, नि० चू० ६ उ० । प्रवर्तिनी आगमपरिभाषयाऽभिषेकेत्युच्यते, ध० ३ अधि० । भिक्षुक्यां च । नि० चू० १५ उ० ।

अभिसेज्जा-अभिशय्या-स्त्री० । अभिनिषद्यायाम, व्य० १ उ० । यस्यां नैषेधिक्यां दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्वसतिमुपयान्ति । व्य० १ उ० ।

अभिस्संग-अभिष्वङ्ग-पुं० । गेहादिष्वभिलाषे, पं०व० ।

जो एत्थ अभिस्संगो, संतासंतेसु पावहेतु त्ति ।
अट्टज्झाणविअप्पो, ... ॥

लोकेऽभिष्वङ्गो मूर्छालक्षणः सदसत्सु गेहादिषु पापहेतुरिति पापकारणमार्तध्यानविकल्पः । अशुभध्यानभेदोऽभिष्वङ्गः । पं० व० १ द्वा० । पञ्चा० ।

अभिहट्टु-अभिहृत्य-अव्य० बलात्कृत्वेत्यर्थे, " सेवं वदंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहंसि बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा " आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० ॥

अभिहड-अभिहृत-न० । अभि-साध्वभिमुखं हृतमानीतं स्थाना-न्तरादभिहृतम । अभ्याहृते, पञ्चा० १३ विव० । साधुदानाय स्वग्रामात्परग्रामाद् वा समानीते षोडशोद्गमदोषदुष्टे, पिं० ।

अथाभ्याहृतद्वारमाह-

आइन्नमणाइन्नं, निसीहमनिसीहयं अभिहडं वा ।
तत्थ निसीहानीयं, ठप्पं वोच्छामि नोनिसीहं तु ॥

अभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-आचीर्णम्, अनाचीर्णं च । तत्रानाचीर्णं द्विधा । तद्यथा-निशीथाभ्याहृतं, नोनिशीथाभ्याहृतं च । तत्र निशीथमर्द्धरात्रं, तत्रानीतं किल प्रच्छन्नं भवति, यत्र साधूनामपि यदविदितमभ्याहृतं तन्निशीथाभ्याहृतम । तद्विपरीतं नोनिशीथाभ्याहृतम्-यत्साधूनामभ्याहृतामिति विदितं भवति। तत्र निशीथाभ्याहृतं स्थाप्यम । अग्रे वक्ष्यत इति भावः। संप्रति पुनर्वक्ष्यामि नोनिशीथाभ्याहृतमिति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सग्गामपरग्गामे, सदेसपरदेसमेव बोधव्वं ।
दुविहं तु परग्गामे, जलथल नावोडुजंघाए ॥

नोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वग्रामे स्वग्रामविषयं, परग्रामे परग्रामविषयम् । तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्निवसति स किल स्वग्रामः । शेषस्तु परग्रामः । तत्र परग्रामे परग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेशं परदेशं च । स्वदेशं स्वग्रामाभ्याहृतं, परदेशं परग्रामाभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो यत्र देशमण्डले साधुर्वर्तते, शेषस्तु परदेशः । एतद् द्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलथल त्ति) सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा जलपथेनाभ्याहृतं, स्थलपथेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपथेनाभ्याहृतं द्विधा-नावा, उडुपेन च । उपलक्षणमेतत् । तेन स्तोकजलसंभावनायां जङ्घाभ्यामपि । तत्र नौस्तारिका, उडुपं तरणकाष्ठम् । तुम्बकादि बोडुपरिग्रहणेन गृहीतं द्रष्टव्यम् । स्थलपथेनाप्यभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जङ्घया, पद्भ्याम् । उपलक्षणमेतत् । तेन गन्त्र्यादिना च ।

तत्रामूनेव जलस्थलाभ्याहृतभेदान् सप्रपञ्चं विभावयन् दोषान् प्रदर्शयति-

जंघाबाहुतरीए, जले थले खंधअरखुरनिबद्धा ।
संजमआयविराहण, तहियं पुण संजमे काया ॥
अत्थाह गाहपंका, मगरोहारा जले अवायाओ ।
कंटाहितेणसावय, थलम्मि एए भवे दोसा ॥

तत्र जलमार्गे स्तोकसंभावनायां जङ्घाभ्याम्, अस्तोकसंभावनायां बाहुभ्याम्, यदि वा तरिकया । उपलक्षणमेतत् । उडुपेन वाऽभ्याहृतं संभवति । स्थलमार्गे तु स्कन्धेन, यद्वा-(अरखुरनिबद्ध त्ति) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा । ततोऽयमर्थः-अरकनिबद्धा गन्त्री, तया । खुरनिबद्धा रासभबलीवर्दादयः, तैः । अत्र च दोषः संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमात्मविराधनामध्ये संयमविषया विराधना जलमार्गे स्थलमार्गे च-काया अप्कायादयो विराध्यमाना द्रष्टव्याः । जलमार्गे आत्मविराधनामाह-(अत्थाहेत्यादि) अत्र प्राकृतत्वात् क्वचित् विभक्तिलोपः, क्वचित् विभक्तिविपरिणामश्च । ततोऽयमर्थः-अस्ताघे पादादिभिरलभ्यमानेऽधोभूभागे अधोनिमज्जनलक्षणोऽपायो भवति । तथा ग्राहेभ्यो जलचरविशेषेभ्यः, यद्वा पङ्कतः कर्दमरूपात्; अथवा मकरेभ्यः, यद्वा—(उहारे त्ति) कच्छपेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-अन्येभ्यश्च पादबन्धकजन्त्वादिभ्योऽपाया विनाशादयो दोषाः संभवन्ति । स्थलमार्गे आत्मविराधनामाह-(कंटेत्यादि) कण्टकेभ्यो, यदि वा अहिभ्यो, यद्वा स्तेनेभ्यः, अथवा श्वापदेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-ज्वराद्युत्पादकपरिश्रमेभ्यश्च स्थले स्थलमार्गे, एतेऽपायरूपा दोषाः प्रतिपत्तव्याः । उक्तमनाचीर्णं परग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथम् ।

संप्रति तदेव स्वग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं गाथाद्वयेनाह—

सग्गामे वि य दुविहं, घरंतरं नोघरंतरं चेव ।
तिघरंतरा परेणं, घरंतरं तत्तु नायव्वं ॥
नोघरतरऽणेगविहं, वाडगसाहीनिवेसणगिहेसु ।
कापोयखंधमिम्मय-कंसेण व तं तु आणेज्जा ॥

स्वग्रामविषयमप्यभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नोगृहान्तरं च । तत्र त्रिगृहान्तरात्परेण-त्रीणि गृहाण्यन्तरं कृत्वा परतो यदानीतं तद् गृहान्तरम् । एवं च सति किमुक्तं भवति?-यद् गृहत्रयमध्यादानीयते, उपयोगश्च तत्र संभवति, तद् आचीर्णमवसेयम् । नोगृहान्तरमनेकविधम्, तच्च वाटकादिविषयम् । तत्र वाटकः-प्रतिच्छन्नः प्रतिनियतः सन्निवेशः । साही-वर्तनी, सैवैका अपान्तराले विद्यते, न तु गृहान्तरमित्यर्थः । निवेशनम्-एकनिष्क्रमप्रवेशानि द्व्यादिगृहाणि । गृहं-केवलं मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि वाटकादिविषयमनाचीर्णमनुपयोगसंभवे वेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तराख्यं च नोनिशीथं स्वग्रामाभ्याहृतं प्रतिलाभयितुमीप्सितस्य साधोरुपाश्रयमानयेत्—कापोत्या, यदि वा स्कन्धेन । उपलक्षणमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा मृन्मयेन भाजनेन, यद्वा कांस्येन ।

संप्रत्यस्यैव स्वग्रामविषयिणो नोनिशीथाभ्याहृतस्य संभवमाह-

सुन्नं च असइकालो, पगयं च पहेणगं च पासुत्ता ।
इय एइ काय घेत्तुं, दीवेइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुर्भिक्षामटन् क्वापि गृहे प्रविष्टः, परं तत्तदानीं शून्यं बहिर्निर्गतमानुषमासीत् । यद्वा-अद्यापि तत्र राध्यते, इत्यसन् अविद्यमानो भिक्षाकालः । यदि वा तत्र प्रकृतं गौरवार्हस्वजनजनादिकं वर्तते, ततो न तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रपारिता, यदि वा विहृत्य साधोर्गतस्य पश्चात्प्रहेणकं लहेणकमागतं, तच्चोत्कृष्टत्वात् किल साधवे दातव्यम् । अथवा तदा श्राद्धिका प्रसुप्ता-शयिता आसीत्, ततः साधवे भिक्षा न दत्ता । इति एतैः कारणैः, काचित् श्राद्धिका तद्गृहाद् गृहीत्वा साधोरुपाश्रयमानयेत्, तच्चानयनस्य कारणं 'तदा शून्यं गृहमासीत्' इत्यादिरूपं दीपयति प्रकाशयति । तत् एवं नोनिशीथस्वग्रामाभ्याहृतसंभवः । तदेवमुक्तं स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नं नोनिशीथाभ्याहृतम् ।

अथ स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नमेव निशीथाभ्याहृतमपि देशेनाह-

एसेव कमो नियमा, निसीहमभिहडे वि होइ णायव्वो ।
अविइयदायगभावं, निसीहअभिहडं तु नायव्वं ॥

य एव क्रमः स्वग्रामपरग्रामादिको नोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते नियमाद् ज्ञातव्यः । संप्रति निशीथाभ्याहृतस्वरूपं कथयति-"अविइय" इत्यादितः । यतिना न विज्ञातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र, तेन अविदितदायकभावं निशीथाभ्याहृतमवगन्तव्यम् । किमुक्तं भवति?-सर्वथा साधुना अभ्याहृतत्वेन यद् अपरिज्ञातं तन्निशीथाभ्याहृतमिति परग्रामाभ्याहृत उक्तः ।

स एव निशीथस्याभिहृतो गाथाचतुष्टयेनोच्यते—

अइदूर जलंतरिया, कम्मासंकाएँ ठाव पेच्छंति ।
च्चाणेंति संखडीओ, सड्ढा सड्ढी व पच्छन्नं ।
निग्गम देउल दाणं, दियाएँ सन्नाइनिग्गए दाणं ।
सिट्ठम्मि सेमगमणं, दिन्नऽन्ने वारयंतऽन्ने ।
भुंजण अजीरपुव्व-ह्नगाइ अच्छंति भुत्तसेसं वा ॥
आगम निसीहिगाई, न भुंजई सावगासंका ।
उक्खित्त निक्खित्तं, आसगयं सड्ढगम्मि पासगए ।
खामित्तु गया सड्ढा, ते वि य सुद्धा असढभावा ॥

कस्मिंश्चित् ग्रामे धनावहप्रमुखा बहवः श्रावकाः, धनवतीप्रभृतयश्च श्राविकाः, एते चाप्येककुटुम्बवर्तिनः । अन्यदा तेषामावसथे विवाहः समजनि, वृत्ते च तस्मिन् प्रचुरमोदकाद्युद्धरितम्, ततस्तैरचिन्ति-यद्येतत् साधुभ्यो दीयतां, येन महत्पुण्यमस्माकं

जायते । अथ च केचित् साधवोऽतिदूरेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेष्वप्कायेषु विराधनां भावयन्तो नागमिष्यन्ति,आगता अपि च प्रचुरमोदकादिकमवलोक्य कथ्यमानमपि शुद्धमाधाकर्मशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति । ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रच्छन्नं गृहीत्वा व्रजाम इति । तथैव च कृतम् । ततो भूयोऽपि चिन्तयन्ति-यदि साधूनाहूय दास्यामस्ततोऽशुद्धमाशङ्कय ते न ग्रहीष्यन्ति । तस्मात् तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि दद्मः, तच्च तथादीयमानमपि यदि साधवो न प्रेक्ष्यन्ते ततस्तदवस्थैव तेषामशुद्धाऽऽशङ्का भविष्यति। ततो यत्रोच्चारादिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेक्ष्यन्ते तत्र दद्म इति । एवं च चिन्तयित्वा विवक्षिते कस्मिँश्चित् प्रदेशे कस्यचिद् देवकुलस्य बहिर्भागे द्विजादिभ्यः स्तोकं स्तोकं दातुमारब्धम् , तत उच्चारादिकार्यार्थं विनिर्गताः केचन साधवो दृष्टाः, ततस्ते निमन्त्रिताः । यथा भोः साधवः ! अस्माकमुद्वरितं मोदकादिकं प्रचुरमवतिष्ठते ततो यदि युष्माकं किमप्युपकरोति तर्हि तत् प्रतिगृह्यतामिति । साधवोऽपि शुद्धमित्यवगम्य प्रत्यगृह्णन् । तैश्च साधुभिः शेषाणामपि साधूनामुपादेशि-यथाऽमुकस्मिन् प्रदेशे प्रचुरमेषणीयमशनादि लभ्यते । ततस्तेऽपि तद्ग्रहणाय समाजग्मुः । तत्र चैके श्रावकाः प्रचुरमोदकादिकं प्रयच्छन्ति । अन्ये च मातृस्थानतो (मायाविशेषात्) निवारयन्ति-यथैवं तावद्दीयतां माऽधिकं, शेषमस्माकं भोजनाय भविष्यति । अन्ये पुनस्तानेव निवारयतः प्रतिषेधयन्ति । यथा-न केऽप्यस्माकं भोक्ष्यन्ते, सर्वेऽपि प्रायो भुक्ताः, ततः स्तोकमात्रेण किञ्चिदुद्वरितेन प्रयोजनं, तस्माद् यथेच्छं साधुभ्यो दीयतामिति । साधवश्च ये नमस्कारसहितप्रत्याख्यानास्ते भुक्ताः, ये चापौरुषीप्रत्याख्यानास्ते भुञ्जाना वर्तन्ते । ये चाजीर्णवन्तः पूर्वार्द्धादिप्रतीक्ष्यमाणा वर्तन्ते ते नाद्यापि भुञ्जते । श्रावकाश्च चिन्तयामासुः-यथेदानीं साधवो भुक्ता भविष्यन्ति, ततो वन्दित्वा निजस्थानं व्रजाम इति । एवं च चिन्तयित्वा समधिकप्रहरवेलायां साधुभ्यो वसतावागत्य नैषेधिक्यादिकां सकलामपि श्रावकक्रियां कृतवन्तः । ततो ज्ञातं यथाऽमी श्रावकाः परमविवेकिनो ज्ञातारश्च परम्परया विवक्षितग्रामभक्तस्वाः, ततः सम्यग्विमर्शयोद्भावितम्-नूनमस्मन्निमित्तमेतत् स्वग्रामादभ्याहृतमिति,ततो यैर्भुक्तं तैर्भुक्तमेव, ये त्वद्यापि पूर्वार्धादिप्रतीक्ष्यमाणा न भुञ्जते, तैर्न भुक्तं, येऽपि च भुञ्जाना अवतिष्ठन्ते, तैरपि यः कवल उत्क्षिप्तः स भाजने मुच्यते, यत्तु मुखे प्रक्षिप्तं नाद्यापि गिलितं, तद् मुखाद् निःसार्य समीपस्थापिते मल्लके प्रतिक्षिपेत् । शेषं तु भाजनगतं सर्वमपि परिस्थापितम् । श्रावकश्राविकावर्गश्च सर्वोऽपि क्षमयित्वा स्वस्थानं जगाम । तत्र ये भुक्ता ये वाऽर्द्धभुक्तास्तेऽपि सर्वेऽप्यशठभावा इति शुद्धाः । सूत्रं सुगमम् । केवलं (अइदूरं जलंतरिय त्ति) केचित् अतिदूरे, केचित् नद्यन्तरिताः । उक्तं परग्रामाभ्याहृतं निशीथम् ।

अथ स्वग्रामाभ्याहृतं तदेव गाथाद्वयेनाह—

लद्धं पहेणगं मे, अमुगत्थगयाएँ संखमीए वा ।
वंदणगहपविट्ठा, देइ तयं पडिय-नियत्ता ॥
नीयं पहेणगं मे, नियगाणं नेच्छियं च तं तेहिं ।
सागरियसज्झिया वा, पडिकुट्ठा संखमे रुट्ठा ॥

इह काचिदभ्याहृताशङ्कानिवृत्त्यर्थं किमपि गृहं प्रति प्रस्थिता,ततो निवृत्ता सती साधोः प्रतिश्रावनायोपाश्रयं प्रविश्य साधुसंमुखमेवमाह-भगवन् ! प्रहेणकमिदममुकस्मिन् गृहे गतया लब्धम् । यद्वा-क्वापि संखड्यां संप्रति वन्दनार्थमहं प्रस्थिता,तत्राहं प्रतीष्टं, ततो यदि युष्माकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिगृह्यतामिति तत् आनीतं ददाति । यद्वा एवमाह-निजकानां स्वजनानामर्थाय प्रहेणकं मया स्वगृहादानीतं, परं तैर्नेच्छितं ततस्तद्गृहात् प्रतिनिवृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेति,ततस्तद्ददाति । यदि वा मायया काचिदभ्याहृतमानीय सागारिकां शय्यातरीं, यद्वा-' सज्झितं ' वसतिप्रतिवेशनीं पूर्वगृहीतसंकेतां, यथा साधवः शृण्वन्ति तथा प्रवक्ति-गृहाणेदं प्रहेणकमिति । तया च मातृस्थानतः प्रतिषिद्धम् । यथा-त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रहेणकं न जगृहे, ततोऽहमपि त्वदीयं न गृहीष्यामीत्येवं निषिद्धा । ततः साऽपि मातृस्थानतः किञ्चित्परुषं प्रत्युक्तवती । द्वितीययाऽपि तथैव भाषितं, त एवं परस्परं संखमे कलहे सति सा प्रहेणकनेत्री रुष्टा रोषवती वन्दनार्थं वसतौ प्रविशति, ततोऽनन्तरं वृत्तं वृत्तान्तं कथयित्वा तदानीतं ददाति । उक्तं स्वग्रामाभ्याहृतमपि निशीथम् ।

संप्रत्यनाचीर्णं निगमयन्नाचीर्णस्य भेदानाह—

एयं तु अणाइन्नं, दुविहं पि य आहडं समक्खायं ।
आइन्नं पि य दुविहं, देसे तह देसदेसे य ॥

एतत् पूर्वोक्तमभ्याहृतं निशीथ-नोनिशीथभेदाद्, यद्वा-स्वग्रामपरग्रामभेदाद् द्विविधमभ्याख्यातमनाचीर्णमकल्पनीयम् । संप्रत्याचीर्णं वक्ष्ये । तदपि द्विविधम्, तद्यथा-देशे,देशदेशे च ।

संप्रति देशस्य देशदेशस्य च स्वरूपमाह—

हत्थसयं खलु देसो, आरेणं होइ देसदेसो य ।
आइन्नं तिन्नि गिहा, ते वि य उवओगपुव्वागा ॥

हस्तशतं हस्तशतप्रमितं क्षेत्रो देशः । हस्तशतादारात् हस्तशतमध्ये इत्यर्थः, देशदेशः । अत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णं यदि गृहाणि त्रीणि भवन्ति,नाधिकानि, ततः कल्पते। तान्यपि चेद् गृहाणि उपयोगपूर्वकाणि भवन्ति । उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते इत्यर्थः । ततः कल्पते, नान्यथेति ।

संप्रति गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतादिसंभवं
तद्विषये कल्पविधिं चाऽऽह-

परिसेवणपंतीए, दूरपएसे य घंघसालगिहे ।
हत्थसया आइन्नं,गहणं परओ उ पडिकुट्ठं ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा भुञ्जानाः पुरुषाः, तेषां पङ्क्तिः श्रेणिः,तस्यां तत्र,यस्मिन् पर्यन्ते साधुसंघाटको वर्तते, द्वितीये तु देयं तिष्ठति। तत्र च स्पृष्टास्पृष्टभयादिना गन्तुं शक्यते । एवमुत्तरयोरपि पदयोर्भावनीयम् । ततः परिवेषणपङ्क्त्याम् । यद्वा-दूरप्रदेशे प्रलम्बगमनमार्गशिशिरकादौ, यदि वा घङ्घशालागृहे, हस्तशतादानीतस्य ग्रहणमाचीर्णं कल्पत इत्यर्थः । परतस्त्वानीतस्य ग्रहणं प्रतिकुष्टं-निराकृतं तीर्थकरादिभिः ।

संप्रत्यस्यैवाचीर्णस्य भेदान् प्रदर्शयति-

उक्कोसमज्झिमजह-न्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्नं ।
करपरियत्त जहन्नं, सयमुक्कोस मज्झमं सेसं ॥

त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतम्। तद्यथा-उत्कृष्टं,मध्यमं, जघन्यं च। तत्र यदा ऊर्ध्वाधुपरिष्टात् कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिगृहीतेन वा मण्डकादिना, यदि वा स्वपत्यादिपरिवेषणार्थमोदनभृतशाकरोटिकयोत्पादितया व्यवतिष्ठते। अत्रान्तरे च कथमपि साधुरागच्छति भिक्षार्थं, तस्मै च यदि करस्थं ददाति तदा करप्रवर्तनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमाचीर्णम्। हस्तशतादभ्याहृतमुत्कृष्टम्। शेषं तु हस्तशतमध्यवर्ति मध्यमम्। तदेवमुक्तमभ्याहृतम्। पिं० ध० आचा० स्था०। आव०। व्य०। सूत्र०। नि० चू०। "गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजीओ ण उ भिक्खुणो" गृहिणां गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्नोक्तं श्रेयः श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां संबन्धीति (प्रश्नः)। अत्र तनुर्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यम्-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूद्गमादिदोषरहितमिति। सूत्र० १ श्रु० ३ अ०। "अत्र प्रायः स्वग्रामाभिहडे मासलहुं, परगामाभिहडे निप्पच्चवाए चउलहुं, सपच्चवाए चउगुरुं"। पं० चू०।

अभिहृतशब्दव्याख्या-

जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे परं तिघरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

"जे भिक्खू गाहावतिकुलं० असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं तिघरंतराओ" इत्यादि। तिण्णि गिहाणि तिघिरं, तिघरमेव अंतरं तिघरंतरं। किमुक्तं भवति?-गृहत्रयात्परत इत्यर्थः। अहवा तिण्णि दो अंतरात्परत इत्यर्थः। आयारा गृहीत्वा किंचित् असणादी अभिहडदोसेण जुत्तं आहट्टु साहुस्स देज्ज, जो अणाइण्णं तिघरंतरापरेणं, आइण्णे वा अणुवउत्तो गेण्हति, तस्स मासलहुं। नि० चू० ३ उ०। (अन्ययूथिकैः सहाभिहृतग्रहणव्याख्या 'अण्णउत्थिय' शब्दे ४६६ पृष्ठे उक्ता)

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ सपच्चवायंसि अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

अद्धजोयणाओ परओ सपच्चवाएण पहेण अभिहडं-अभिराभिमुख्ये, हृञ्-हरणे, अभिमुखं हृतम्, आनीतमित्यर्थः। तं पडिगाहेति जो भिक्खू, सो आणादी पावति, चउगुरुं च से पच्छित्तं। एसो चेव अत्थो इमो-

परमद्धजोयणाओ, सपच्चवायंसि अभिहडाणीयं।
तं जे भिक्खू पायं, पडिच्छते आणमादीणि ॥ १७ ॥

कंठ। इमेहिं वा सावायो पहे-

सावय तेणा दुविहा, सव्वालजला महानदी पुण्णा।
वणहत्थिदुट्ठसप्पा, पडिणीया चेव तु अवाया ॥ १८ ॥

सीहादिया सावया। तेणा दुविहा-सरीरोवगरणे। जले गाहमगराइएहिं सव्वाला महाणदी वा अगाधा पुण्णा, वणहत्थी वा दुट्ठो पहे। कुंभीणसादिसप्पा वा पहे विज्जंति, गिहीण वा वेरियादिपडिणीया संति, एवमादिआऽवाएहिं इमे दोसा ॥ १८ ॥

तेणादिसु जं पावति, विराहए अंतरा काया।
बद्धहियमारिते वा, उड्डाहपदोसवोच्छेदो ॥ १९ ॥

सो गिहत्थो आणंतो तेणगसमीवातो जं घातादि पावति। आदिसद्दातो सिंहवग्घादियाण वा समीवातो जं पावति, सो वा गिहत्थो आणंतो जं कंमाइए तेणादिपहारे पावति, अंतरा वा पुढवादीए काए विराहेज्जा, बंदिग्गहे तेणेहिं वा बद्धो हिओ वा जुज्झंतो वा मारितो वा, ताहे सयणादिजणो भासति-संजयाण पादे नेतो सावगो मारिओ त्ति। एवं उड्डाहो। तस्स वा सयणिज्जा पदोसं गच्छेज्जा, तद्दव्वस्स वा वोच्छेदं करेज्जा। सो वा पदोसं गच्छे वोच्छेदं वा करेज्जा, जम्हा एवमादि, तम्हा आहंमणो गेण्हेज्जा, अप्पणा गवेसेज्ज। बितियपदेण गिहत्थाणीतं पि गेण्हेज्जा ॥ १९ ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलण्णे।
सेहे चरित्तसावय-जए य जयणा इमा तत्थ ॥ २० ॥

सक्खेत्ते पादाए असतीए दुल्लभेसु वा, असिवगहितो वा गंतुमसमत्थो, अहवा पायभूमीए अंतरा वा असिवं ओमं वा, एवं रायदुट्ठबोहिगभयं वा, सयं गिलाणो वा वमो वा, सेहस्स वा तत्थ सागारियं मा सदेज्जा। चरित्तदोसा वा, तत्थ अणेसणादिया दोसा, सावयभयं वा, तत्थ एवमादिकारणेहिं इमं जयणं करेति।

अप्पाहिंति पुराणा-दि पादसत्थेण आणवह पायं।
तेहिँ च सयमाणीए, गहणं गीतेतरे जयणा ॥ २१ ॥

अप्पाहणं संदेसो, पुराणस्स संदिसंति। आदिग्गहणेणं गिहीताणुव्वयसावगस्स वा, सम्मदिट्ठिणो वा संदिसंति। पादसत्थेण आणयध, तेहिं वा आणीता जदि सव्वे गीयत्था तो गेण्हंति, इतरा अगीयत्था तेसु जयणं करेंति, पुप्फं पडिसेहित्ता छिण्णे भावे तेहिं तेहिं य जदा अच्चट्ठिया तदा गेण्हंति।

एसेव कमो णियमा, आहारे सेसए य उवकरणे।
पुव्व अवरे य एए, सपज्जवा एतरे लहुगा ॥ २२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विधी आहारे, सेसोवगरणे य दट्ठव्वो। सपज्जवा ते, इतरे पुण निपज्जवा, ते अप्पसत्था चउलहुगा। नि० चू० ११ उ०।

अभिहणण-अभिहनन-न०। वेदनोदीरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०। पादाभ्यामाभिमुख्येन हनने, भ० ८ श० ७ उ०। अभिमुखमागच्छतो हनने, भ० ५ श० ६ उ०। आचा०।

अभिहणमाण-अभिघ्नत्-त्रि०। पादाभ्यामभिघातं कुर्वति, "खुरचलणचंचुपुडेहिं धरणिअलं अभिहणमाणं" जं० ३ वक्ष०।

अभिहय-अभिहत-त्रि०। आभिमुख्येन हतोऽभिहतः। चरणेन घट्टिते, "चउरिंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया" आव० ४ अ०। ध०। आचा०।

अभिहाण-अभिधान-न०। अभिधीयते येन तदभिधानम्। नि० चू० १ उ०। संज्ञायाम्, विशे०। शब्दे, विशे०। नामनि, विशे०। अर्थाभिधानप्रत्ययाश्च लोके सर्वत्र तुल्यनामधेयाः विशे०। भावे ल्युट्। उच्चारणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। इह द्विविधमभिधानं भवति-सतामसतां च। सतां यथा जीवादीनाम्, असतां यथा शशविषाणादीनाम्। आ० चू० १ अ०।

अभिहाणभेय-अभिधानभेद-पुं०। वाचकध्वनिभेदे, विशे०।

अभिहाणहेउकुसल-अभिधानहेतुकुशल-पुं०। अभिधानेषु

शब्देषु हेतुसाध्यगमकेषु कुशलो दक्षोऽभिधानहेतुकुशलः। शब्दमार्गे चातीव कुशले, व्य० ए उ०। बृ० ॥

अभिहित (य)-अभिहित-त्रि०। उक्ते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ०।

अभीरु-अभीरु-त्रि०। भी-रुक्। न० त०। शतमूल्याम्, असंकुचितपत्रत्वात्तस्या अभीरुत्वम्। वाच०। सप्तप्रकारभयरहिते, आचा० २ श्रु० १५ अ० १ उ० ३ सू०। सत्त्वसंपन्ने, ओघ०। उत्पन्ने महत्यपि कार्येऽबिभ्यति, बृ० १ उ०। अभीरुर्नाम कुतश्चिदपि स्तेनोद्भ्रामकादेर्विविधां बिभीषिकां दर्शयतो न बिभेति। बृ० १ उ०। मध्यमग्रामस्य मूर्च्छनाभेदे, स्था० ७ ठा०।

अभुंजिउं-अभुक्त्वा-अव्य०। अननुभूयेत्यर्थे, आ० ॥

अभुज्जंतग-अभ्युज्यमान-त्रि०। अव्यापार्यमाणे, बृ० ४ उ०।

अभुत्तभोग-अभुक्तभोग-त्रि०। न भुक्ता भोगा येन स अभुक्तभोगः। पं० व० १ द्वा०। भोगानभुक्त्वा प्रव्रजिते कौमारकभावप्रतिबद्धे, नि० चू० १ उ० ॥

अभूइभाव-अभूतिभाव-पुं०। अभूतेर्भावोऽभूतिभावः। असंपद्भावे, दशा० ६ अ० १ उ०।

अभूउब्भावण-अभूतोद्भावन-न०। अलीकभेदे, यथाऽऽत्मा श्यामाकतन्दुलमात्रः। अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि। ध० २ अधि०।

अभूयाभिसंकण-अभूताभिशङ्कन-पुं०। न भूतान्यभिशङ्कते बिभ्यति यस्मात्स तथा। प्रशस्तवाग्विनयभेदे, स्था० ७ ठा०। भ०।

अभेज्ज-अभेद्य-त्रि०। भेद्यः सूच्यादिना चर्मवत्, तन्निषेधादभेद्यः। भ० २ श० ५ उ०। सूच्यादिना भेत्तुमशक्ये, "तओ अभेज्जा पण्णत्ता। तं जहा-समए पएसे परमाणू" स्था० ३ ठा० २ उ० ॥

अभेज्जकवय-अभेद्यकवच-पुं०। परप्रहरणाभेद्यावरणे, भ० ७ श० ९ उ०।

अभेय-अभेद-पुं०। सामान्ये अविशेषे, आ० म० द्वि० ॥

अभोग-अभोग-पुं०। अव्यापारणे संयमोपबृंहणार्थस्यसंस्तायाः स्थापने, बृ० १ उ० ॥

अभोज्जघर-अभोज्यगृह-न०। अदिएकभीयकुलेषु रजकादिसंबन्धिषु, बृ० १ उ० ॥

अभोयण-अभोजन-न०। अनभ्यवहारे, पिं० ॥

अमइल्ल-अमलिन-त्रि०। स्वच्छे निर्मले, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०।

अमंगलनिमित्त-अमंगलनिमित्त-त्रि०। अङ्गस्फुरणादिषु अमाङ्गलिकनिमित्तेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ॥

अमग्ग-अमार्ग-पुं०। मिथ्यात्वकषायादौ, ध० ३ अधि०। "अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि" आव० ४ अ० ॥

अमग्गलग्ग-अमार्गलग्न-पुं०। पार्श्वस्थादिकुतीर्थिमार्गप्रवाहपतिते, सामान्यप्राणिनि च। दर्श० ॥

अमग्घा (माघा) य-अमाघात-पुं०। मा लक्ष्मीः, सा च देधा-धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च। तस्या घातो हननं, तस्याऽमाघोऽमाघातः, 'अमग्घाय त्ति' प्राकृतत्वात्। अकृत्यापहारे, अमारिप्रदाने, प्राणिघातनिवारणे च। पञ्चा० ९ विव०। उपा०। ध० । प्रश्न० ॥

अमच्च-अमात्य-पुं०। सहजन्मानि मन्त्रिणि, कल्प० ३ क्ष०। संथा०। नि० चू०। राज्यचिन्तके, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०। नि० चू०। राज्याधिष्ठायके, औ०। ज्ञा०। अष्टादशानां प्रकृतीनां महत्तरे, बृ० ३ उ०।

अमात्यलक्षणमाह-

सज्जणवयं पुरवरं, चिंतंतो अत्थई नरवतिं च।
ववहारनीतिकुसलो-ऽमच्चो एयारिसो अहवा ॥

यो व्यवहारकुशलो, नीतिकुशलश्च सन् सजनपदं पुरवरं नरपतिं च चिन्तयन्नवतिष्ठते, स एतादृशो भवति अमात्यः। अथवा-यो राज्ञेऽपि शिक्षां प्रयच्छति स अमात्यः ॥

तथा चैतदेव सविस्तरं विभावयिषुराह—

राया पुरोहितो वा, संघिल्लाउ नगरम्मि दो वि जणा।
अंतेउरे धरिसिया-ऽमच्चेणं खिंसिया दो वि ॥

राजा पुरोहितश्च। वाशब्दः समुच्चये। एतौ द्वावपि जनौ (संघिल्लाउ त्ति) संघातवन्तौ, परस्परं मरुकावित्यर्थः। नगरे वर्तेते। तौ च तथावर्तमानावन्तःपुरान्त्यां निजनिजकलत्रेण धर्षितौ, अमात्येन-द्वावपि खिंसितौ, निन्दापुरस्सरं शिक्षितावित्यर्थः। एष गाथाक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्—"एगो राया, तस्स पुरोहितो, तेसिं दोण्हं वि भज्जाओ परोप्परं भगिणीओ। अन्नया तेसिं समुल्लावो जातो। रायभज्जा भणइ-मम वस्सो राया। पुरोहियभज्जा भणइ-मम वस्सो बंभणो। तो पेच्छामो कयराए वस्सो पती। ततो पुरोहियभज्जाए भत्तं उवसाहित्ता रण्णो भज्जा भगिणी निमंतिया। रत्तिं पुरोहितो भणिओ—मए ओवाइयं कयं, जइ मम वरो अमुओ समिज्झिइ त्ति, ततो भगिणीए समं तव सिरे भायणं काउं जेमेमि। सो य मे वरो संपण्णो। संपयं तव मूलातो पसायं मग्गामि। पुरोहितो भणइ-अणुग्गहो मेय त्ति। रायभज्जाए रण्णो भणिओ-अज्ज रत्तिं तव पिट्ठीए विलगिउं पुरोहियघरं वच्चामि। राया भणइ-अणुग्गहो मे, ताहे सा रायं पल्लाणित्ता पिट्ठीए विलग्गिता पुरोहियघरं गंतुं पट्ठिया। पुरोहितो वाहणो त्ति काउं बंभे बद्धो। ताओ दो वि जणीओ पुरोहियस्स उवरि मत्थए भायणं काउं पुरोहियए धरिज्जमाणे भायणे भुंजंति। राजा बंभे बद्धो हयदेसियं करेइ। भोत्तुं गया रायभज्जा। ततो रण्णा पुरोहियए धरिसितोम्मि त्ति तस्स सिरं मुंडावियं। अमच्चेणं तं सव्वं नायं, पभाए राया पुरोहिओ य खिंसितो।"

अमुमेवार्थमाह—

छंदाणुवत्ति तुब्भं, मज्झं मीमंसणा निवे खलिणं।
निसि गमणं मरुग थालं, धरेति भुंजंति तो दो वि ॥

तव वा पतिर्मम वा पतिश्छन्दानुवर्तीति न विमर्शव्यतिरेकेण ज्ञातुं शक्यते। ततो मीमांसापरा सा परीक्षां कर्तुमारब्धा। तत्र राजभार्यया नृपे खलीनमारोपितं, ततो निशि रात्रौ पुरोहितगृहे गमनं, ततो मरुको ब्राह्मणः पुरोहितः शिरसा स्थालं धरति। तत्र च द्वे अपि भुञ्जाते। एषा गाथाक्षरयोजना। भावार्थोऽनन्तरमेव कथितः।

अथ कथममात्यो द्वावपि तौ शिक्षितवान्?, तत आह—

पामेवेसियरायाणो, सोउमिणं परिजणेण हसिहिं ति।

थीनिज्जितो पमत्तो, नच्चा रज्जं पि पेल्लेज्जा ॥

प्रातिवेशिका नाम सीमान्तवर्त्तिनः प्रत्यर्थिनो राजान इदं श्रुत्वा परिभवेन परिभवोत्पादनबुद्ध्या हसिष्यन्ति, न केवलं हसिष्यन्ति किंतु स्त्रीनिर्जितः प्रमत्त एष इति ज्ञात्वा राज्यमपि प्रेरयिष्यन्ति, गृह्णीयुरित्यर्थः ।

धिं तेसि गामनगरा–ण जेसि इत्थी पणायिगा ते य ।
धिद्धिकया य पुरिसा, जे इत्थीणं वसं जाया ॥

धिक् निन्दायाम्,तेषां ग्रामनगराणां,येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका । अत्र धिग्योगे द्वितीया प्राप्ताऽपि षष्ठी, प्राकृतत्वात् । तथा तेऽपि पुरुषाः धिक्कृताः धिक्कारं प्राप्तवन्तो ये स्त्रीणां वशमायत्ततां जाताः ।

तथा–

इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा ।
सो गामो नगरं वा वि, खिप्पमेव विणस्सइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षिप्रमेव विनश्यति । बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं भवतीति ज्ञापनार्थः ।

एवमुक्ते राजा पुरोधा वा एवं मनसि संप्रधारयेत् । यथा–' नास्माकं ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः ' इति, तत आह–

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरुषाः कृतवृत्तयः कृताजीविकाः, चतसृषु दिक्षु चरा ज्ञानार्थं सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति । तद्यथा-सूचकाः,अनुसूचकाः,प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च । सूचकाःसामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपालकैः सह मैत्रीं कृत्वा यत्तत्र रहस्यं तत्सर्वं जानन्ति । अनुसूचकाः–नगराभ्यन्तरे चारमुपलभन्ते । प्रतिसूचकाः–नगरद्वारसमीपे अल्पव्यापारा अवतिष्ठन्ते । सर्वसूचकाः–स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति । तत्र ये सूचकास्ते श्रुतं दृष्टं वा सर्वमनुसूचकेभ्यः कथयन्ति । अनुसूचकाः सूचककथितं स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः । प्रतिसूचका अनुसूचककथितं स्वयमुपलब्धं च सर्वसूचकेभ्यः । सर्वसूचका अमात्याय कथयन्ति । यथा तस्यामात्यस्य चतुर्विधाः पुरुषाः सामन्तराज्येषु वसन्ति , तथा महेला अपि ।

तथा चाऽऽह–

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत् । यथा च पुरुषाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु ।

तथा चाऽऽह–

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु ।
सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥
महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इदं गाथाद्वयमपि पूर्ववत् । यथा च परराज्येषु परनगरेषु च पुरुषाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा निजराज्ये निजनगरे अन्तःपुरे ।

तथा चाऽऽह–

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि रज्जम्मि ॥
सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
महिला कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि रज्जम्मि ॥
सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि नगरम्मि ॥
सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥
महिला कयवित्तीया, वसंति नियगम्मि नगरम्मि ।
सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥
पुरिसा कयवित्तीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥
सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ।
महिला कयवित्तीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

गाथाषट्कस्यापि व्याख्या पूर्ववत् । तत एवं निजचारपुरुषैः महिलाभ्यो राज्ञः पुरोधसश्च निशि वृत्तममात्यो ज्ञातवान् । तदेवं राज्ञोऽपि यः शिक्षाप्रदानेऽधिकारी सोऽमात्य इति । उक्तममात्यस्य स्वरूपम् । व्य० १ उ० ।

अमर्त्य–पुं० । देवे, स्था० ।

अमच्चपुज्ज–अमर्त्यपूज्य–त्रि० । देवाराध्ये तीर्थकृदादौ, स्था० ।

अमच्छरि (ण्)–अमत्सरिन्–त्रि० । परसंपद्द्वेषिणि, दश० १ चू० । परगुणग्राहिणि, प्रश्न ४ आश्र० द्वा० ।

अमच्छरियया–अमत्सरिकता–स्त्री० । मत्सरिकः परगुणानामसोढा, तद्भावनिषेधोऽमत्सरिकता । भ० ८ श० ९ उ० । परगुणग्राहितायाम्, औ० ।

अमज्जमंसासि (ण्)–अमद्यमांसाशिन्–त्रि० । मद्यमांसमनश्नति, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अमद्यपे, अमांसाशिनि च । दश० २ चू० ।

अमज्जाइल्ल–अमर्यादावत्–पुं० । "मज्जाया सीमावत्था, न मज्जाया अमज्जाया, तंपि जो वट्टति सो अमज्जाइल्लो " नि० चू० १ उ० । मर्यादाया अवेत्तरि प्रवर्तके आचार्ये च । नि० चू० ४ उ० ।

अमज्झ–अमध्य–त्रि० । न० ब० । विभागद्वयं कर्तुमशक्ये, "तओ अमज्झा पण्णत्ता । तं जहा–समए,पएसे, परमाणू " । स्था० ३ ठा० ४ उ० । विषमसंख्यावयवाभावात् क्षेत्रपरमाणौ, भ० २० श० ६ उ० ।

अमण–अमन–न० । अधिगमने, अन्तःपरिच्छेदे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अमनस्–न० । मनोविशेषविरहे, " तिविहे अमणे पण्णत्ते । तं जहा–णोतस्समणे णोतयन्नमणे अमणे " । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अविद्यमानान्तःकरणे, दर्श० । " झायइ सुणिप्पकम्पो, झाणं अमणो जिणो होइ " प्रयत्नविशेषाद् मनः अपनीय अमना अविद्यमानान्तःकरणो जिनो भवति । आव० ४ अ० । जं० । असंज्ञिनि च, क० प्र० ।

अमणा–अमनाक्–अव्य० । न मनागमनाक् । नितरां शब्दार्थे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अमणाम–अमनआप–त्रि० । न जातुचिदपि भोज्यतया जन्तूनां मनांसि आप्नोति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्यते प्राप्यते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमनोऽम–त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुनः स्मरणतो यत्तदमनोऽमम् । अत्यर्थं मनोऽनिष्टे, भ० १ श० ५ उ० ।

अवनाम–त्रि० । अवनामयतीति अवनामः । पीडाविशेषकारिणि, " अमणुन्नाओ अमणामओ दुक्खाओ " सूत्र० ७ श्रु० १ अ० ।

अमणुण्ण–अमनोज्ञ–त्रि० । मनसोऽनुकूलं मनोज्ञं; न मनोज्ञम् अमनोज्ञम् । आव० ४ अ० । न मनसा ज्ञायते सुन्दरतया इत्यमनोज्ञम् । भ० ६ श० ३३ उ० । स्वरूपतोऽशोभने, (कदन्नादौ) स्था० ३ ठा० १ उ० । मनःप्रतिकूले, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । असुन्दरे, प्रश्न० ५ संवर० द्वा० । अनिष्टे, ग० १ अधि० । स्था० । अशुभस्वभावे, स्था० ८ ठा० । विपा० । अमनःप्रह्लादहेतौ विपाकतो दुःखजनके, जी० १ प्रति० । " अमणुण्णदुरूवमुत्तपूइयपुरीसपुण्णा " अमनोज्ञाश्च ते दुरूपमूत्रेण पूतिकपुरीषेण च पूर्णाश्चेति विग्रहः । इह च दूरूपं विरूपं, पूतिकं च कुथितम् । (कामभोगाः) भ० ६ श० ३३ उ० । " अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसइसमण्णागए या वि भवति " अमनोज्ञोऽनिष्टो यः शब्दादिस्तस्य यः संप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः स तथा; स च तथाविधः सन्, तस्यामनोज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतश्चापि भवति । विप्रयोगचिन्ताऽनुगतः स्यात् । चापीत्युत्तरवाक्यापेक्षया समुच्चयार्थः । असावार्तध्यानं स्यादिति शेषः, धर्मधर्मिणोरभेदादिति । भ० २५ श० ७ उ० । ग० । निजसामाचारीस्थिते संविग्ने, पं० व० २ द्वा० । असाम्भोगिके, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अमणुण्णतर–अमनोज्ञतर–त्रि० । अकान्ततरे, अप्रीततरे च । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अमणुण्णसमुप्पाय–अमनोज्ञसमुत्पाद–त्रि० । न मनोज्ञममनोज्ञमसदनुष्ठानम् । तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम् । स्वकृतासदनुष्ठानाज्जाते दुःखे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अमणुस्स–अमनुष्य–पुं० । देवादौ, नं० । रक्षःपिशाचादौ, (सिद्धान्तकौमुदी) । नपुंसके, नि० चू० १ उ० ।

अमत्त–अमत्र–न० । भाजने, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अमम–अमम–त्रि० । ममत्वरहिते, कल्प० ६ क्ष० । दश० । पं० सू० । दशा० । निर्व्याजत्वात्–(औ०) निरभिष्वङ्गाद् अविद्यमानममेत्यभिलापे, स्था० ६ ठा० । युगलिकमनुष्यजातिभेदे, जं० ४ वक्ष० । उत्सर्पिण्यां भविष्यति द्वादशे तीर्थंकरे, अन्त० ५ वर्ग । प्रव० । ति० । स० । अवसर्पिण्यां जातो नवमो वासुदेवः कृष्णो भारते वर्षे पुण्ड्रेषु जनपदेषु शतद्वारे नगरे द्वादशस्तीर्थंकरो भविष्यति । स्था० ८ ठा० । ती० । पञ्चविंशतितमे दिवसमुहूर्ते च । चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

अममत्तय–अममत्वक–त्रि० । न विद्यते ममत्वं मूर्च्छा यस्य स अममत्वकः । 'शेषाद्वा' ।७।३।१७५। इति (हैम)सूत्रेण कच् प्रत्ययः । मूर्च्छारहिते, बृ० १ उ० । निर्ममताके, "अममत्ता परिकम्मा, दारत्तिलभंगजोगपरिहीणा " पं० व० ४ द्वा० ।

अममायमाण–अममीकुर्वत्–त्रि० । अस्वीकुर्वति मनसाऽप्यनाददाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

अमम्मणा–अमन्मना–स्त्री० । अनवरतवञ्चमानायां वाचि, उपा० २ अ० । रा० ।

अमय–अमृत–न० । सुधायाम्, पञ्चा० ३ विव० । क्षीरोदधिमथिते, आ० म० प्र० । " अमयमहियफेणपुंजसन्निगासं " अमृतस्य क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो डिण्डीरपूरस्तत्सन्निकाशं तत्समप्रभम् । रा० । न–मृ–क्त । न० त० । मोक्षे, होमावशिष्टद्रव्ये, जले, घृते , अयाचिते वस्तुनि च । परब्रह्मणि, न० । मरणशून्ये, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अमय–त्रि० । अविकृतौ, " अमओ य होइ जीवो, कारणविरहा जहेव आगासं । समयं च हो अनिच्चं, मिम्मयघडतंतुमाईयं " अमयश्च भवति जीवः । विशे० । चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयकलस–अमृतकलश–पुं० । अमृतपूर्णघटे, " अमयकलसेण अभिसित्तो " आ० म० प्र० ।

अमयघोस–अमृतघोष–पुं० । काकन्द्या नगर्याः स्वनामख्याते राजनि, स च स्वपुत्रं राज्ये स्थापयित्वा धर्ममनशनं प्रतिपन्न इति । संथा० ।

अमयणिहि–अमृतनिधि–पुं० । काञ्चनबलानके प्रतिष्ठिते भगवति, ती० ४५ कल्प ।

अमयतरंगिणी–अमृततरङ्गिणी–स्त्री० । महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्य-मुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यावतंस-पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलकपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेणोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिना विरचितायां नयोपदेशटीकायाम्, नयो० ।

अमयनिग्गय–देशी–चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयप्प(ण)–अमृतात्मन्–पुं० । धर्ममेघसमाधौ, द्वा० २० द्वा० ।

अमयफल–अमृतफल–न० । अमृतोपमफले, ज्ञा० ९ अ० ।

अमयवल्ली–अमृतवल्ली–स्त्री० । वल्लीविशेषे, प्रव० ४ द्वा० । ध० । गुडूच्याम्, वाच० ।

अमयजूय–अमृतजूत–त्रि० । माधुर्यादिभिर्गुणैः सुधासदृशोदरे, बृ० २ उ० ।

अमयरसासायण्णु–अमृतरसास्वादज्ञ–त्रि० । अमृतरसस्यास्वादस्तं जानाति इति अमृतरसास्वादज्ञः । अमृतरसास्वादवेत्तरि, " अमृतरसाऽऽस्वादज्ञः , कुजनकरसलालितोऽपि बहुकालम् " । षो० ३ विव० ।

अमयवास–अमृतवर्ष–पुं० । तीर्थकृज्जन्मादौ देवैः कृतायाममृतवृष्टौ, आचा० २ श्रु० १५ अ० ।

अमयसाय–अमृतस्वाद–पुं० । अमृतवत् स्वाद्यते इत्यमृतस्वादम् । अमृततुल्ये, सम्म० ३ काण्ड ।

अमयसार–अमृतसार–न० । न विद्यते मृतं मरणं यस्मिन्नसावमृतो मोक्षः । तं सारयति प्रापयतीति वा । मोक्षप्रतिपादके, सम्म० ३ काण्ड ।

अमर–अमर–पुं० । देवे, कर्म० ५ कर्म० । आव० । को० । आ० म० । त्रयोदशे ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्ष० । भविष्यत्त्रयोविंशस्यानन्तवीर्यतीर्थंकरस्य पूर्वभवजीवे, ती० २१ कल्प । सि-

केषु च, तेषामायुषोऽभावात्। औ०। "इमस्स चेव पडिवूहणट्ठाए अमरायइ महासड्ढी" (अमरायइ इत्यादि) अमरायते-न म्रियते इति अमरः सन् कृत्ययौवनप्रवृत्तरूपाऽवसक्तोऽमर इवाचरति अमरायते। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०।

अमरकेउ-अमरकेतु-पुं०। विजये (क्षेत्रे) तमालपत्तानामनगर्या राज्ञः समरनन्दनस्य मन्दारमञ्जर्या उदरसंभवे पुत्रे, दर्श०।

अमरचंद-अमरचन्द्र-पुं०। नागेन्द्रगच्छीये महेन्द्रसूरिशिष्यशान्तिसूरिशिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाद् व्याघ्रशिशुक इति पदवीं लेभे, सिद्धान्तार्णवनामा ग्रन्थश्च व्यरचि। इत्येकोऽमरचन्द्रसूरिः। (१)

(२) वायटीयगच्छीये जिनदत्तसूरिशिष्ये, येन चतुर्विंशतिजिनचरित्रं पद्मानन्दाऽभ्युदयापरनामकं महाकाव्यं, बालभारतं, काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, छन्दोरत्नावली, कलाकलापश्चेत्येवमादयो ग्रन्था विद्वज्जनचमत्कृतिकृतो निरमायिषत। एतस्य शीघ्रकवित्वशक्तेर्मुग्धः वीशलदेवो नाम गुर्जरधरित्रीश्वरोऽस्मै बहुमानमदात्। अयं च वैक्रमीयसंवत्सराणां त्रयोदशशतकेऽवर्तत। जै० इ०।

अमरण-अमरण-न०। मृत्योरभावे, ध० १ अधि०।

अमरणधम्म-अमरणधर्मन्-त्रि०। तीर्थकरे, पं० व० ४ द्वा०।

अमरदत्त-अमरदत्त-पुं०। जयघोषश्रेष्ठिपुत्रे, ध० र०।

कथानकं पुनरेवम्—

"विद्दुमसिरिपरिकलियं, अकलंकियं बहुसमिद्धलोएहिं।
रयणायरमज्झं पि व, रयणपुरं अत्थि वरनयरं ॥ १ ॥
कयसुगयसमयपोसो, पुरसिट्ठी अत्थि तत्थ जयघोसो।
जिणमुणिविहियपओसो, सुजसा नामेण से भज्जा ॥ २ ॥
अमराभिहाणकुलदेवयाए दिन्नु त्ति तो अमरदत्तो।
नामेण ताण पुत्तो, एसप्पचित्तो सहावेण ॥ ३ ॥
आजम्मं तव्वंसिय-मयवासियहियय इब्भवरकन्नं।
पियरेहिँ पढमजुव्वण-भरम्मि परिणाविओ सो उ ॥ ४ ॥
अह महुसमयम्मि कया-वि अमरदत्तो समित्तसंजुत्तो।
पुप्फकरंडुज्जाणे, कीलाइकए समणुपत्तो ॥ ५ ॥
सो कीलंतो तहियं, तरुस्स हिट्ठा निएइ मुणिमेगं।
तस्स य पासे एगं, रुयमाणं पहियपुरिसं च ॥ ६ ॥
तो कोउगेण अमरो, आसन्नं तस्स होउ पुच्छेइ।
किं भद्द! रोयसि तुमं?, सगग्गयं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥
कंपिल्लपुरे सिंधुर-सिट्ठिस्स वसुंधराए दइयाए।
आंवाइयलक्खेहिं, एगो पुत्तो अहं जाओ ॥ ८ ॥
तेणु त्ति विहियनाम-स्स मज्झ अइगया जाव छम्मासा।
ता सयलविहवसहिया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥
सप्पभिइ पालिओऽहं, जेहिं सयणेहिँ गरुयकरुणेहिं।
मम दुक्कयजमनिहया, पंचत्तं ते वि संपत्ता ॥ १० ॥
बहुलोयाणं संता-वकारणं विसतरु व्व कमसोऽहं।
देहेण दुज्जरेण य, परिवुड्ढिओ इच्चिरं कालं ॥ ११ ॥
संपइ पुणो दक्खोवरि, पिडगसमाणा अमाणदुक्खकरा।
मह देहे जरपमुहा, रोगा बहवे समुप्पन्ना ॥ १२ ॥
किंच पिसाओ भूओ, व कोवि मह अंतरंतरा अंगं।
पीमेइ तह अदिट्ठो, अह तं मुत्तुं पि न तरेमि ॥ १३ ॥
तो जीवियव्वभग्गो, नग्गोहतरुम्मि जाव अप्पाणं।
अप्पाणं ओबंधे-मि ताव पासो वि लहु तुट्टो ॥ १४ ॥

इत्थंतिह वेरग्गगओ, पुरा मए किं कयं ति पुच्छेउं।
मुणिणो इमस्स पासे, पत्तो भद्द! इहं अहं एत्तो ॥ १५ ॥
जम्माउ वि निययदुहं, सुमरिय रोएमि इय भणेऊण।
तेणं पहियनरेणं, नियवुत्तंतं मुणी पुट्ठो ॥ १६ ॥
अह विम्हयरसपुण्णो, किं नु कहिस्सइ इमो सुसाहु त्ति?।
सो अमरदत्तपमुहो, एकग्गमणो जणो जाओ ॥ १७ ॥
अह वज्जरियं मुणिणा, भो पहिय! तुमं इओ भवे तइए।
मगहे गुव्वरगामे, देविलनामाऽऽसि कुलपुत्तो ॥ १८ ॥
अन्नदिणे रायगिहे, तुह गच्छंतस्स कोवि मग्गम्मि।
मिलिओ पहिओ कमसो, तए धणड्ढु त्ति सो नाओ ॥ १९ ॥
तं वीसंसिउं रयणीए, हणिय गहिऊण तरुणं सव्वं।
जा जासि तुमं पुरओ, हरिणा छुहिएण ताव हओ ॥ २० ॥
पत्तो पढमे नरए, असरिसदुक्खाइँ सहिय बहुयाइं।
तो उव्वट्टिय इहयं, सो एसो तेण संजाओ ॥ २१ ॥
जो तेण! तए तइया, पहिओ पहओ भवम्मि सो एसो।
अन्नाए तवं काउं, असुरनिकाए सुरो जाओ ॥ २२ ॥
संभरिय पुव्ववइरे-ण तेण हणिया तुहम्मपियसयणा।
निहणं धणं च णीयं, जणिया रोगा तुह सरीरे ॥ २३ ॥
छिन्नो तहेव पासो, एसो सुचिरं दुही हवेउ त्ति।
सो कुणइ अंतरा अं-तरा य वियणं परमघोरं ॥ २४ ॥
तं सोउं भवभीओ, पहिओऽणसणं गहित्तु मुणिपासे।
सुमरंतो नवकारं, जाओ वेमाणिएसु सुरो ॥ २५ ॥
इय सुणिय पहियचरियं, अमरो संवेगपरिगओ अहियं।
नमिउं विन्नवइ मुणिं, भयवं! मह कहसु जिणधम्मं ॥ २६ ॥
ध० र०।

इच्छामि समणुसिट्ठिं, ति भणिय नमिउं च सुगुरुचलणदुगं।
तत्तो समित्तजुत्तो, गेहं पत्तो अमरदत्तो ॥ ९८ ॥
सो पिउणा संलत्तो, किं वच्छ! चिराइयं तए तत्थ।
तो मित्तेहिं वुत्तो, वुत्तंतो तस्स सयलो वि ॥ ९९ ॥
अह कुविओ जयघोसो, भणेइ दुप्पुत्त! किं अरे! तुमए।
मुत्तु कुलागय सम्मं, धम्मं धम्मंतरं गहियं ॥ १०० ॥
ता मुंच इमं धम्मं, सियभिक्खूणं करेसु सिक्खूणं।
अन्नइ तए समं मम, संभासो वि हु न जुत्तु त्ति ॥ १०१ ॥
भणइ य कुमरो हे ता-य! एस सुपरिक्खिऊण घित्तव्वो।
धम्मो वरकणगं पि व, न कुलागयमित्तओ चेव ॥ १०२ ॥
पाणिवहालियचोरि-क्कपरिइपरजुवइसज्जणपहाणो।
पुव्वावरअविरुद्धो, धम्मो एसो कहमजुत्तो? ॥ १०३ ॥
जह गिण्हंतो उत्तम-पणियं वणिओ न वेइ ण वयणिज्जो।
पडिवन्नुत्तमधम्मो, न हीलणिज्जो तहाऽहं पि ॥ १०४ ॥
तं सुणिय अणिणिविट्ठो, सिट्ठी जंपेइ रे दुरायार!।
जं रोयइ कुणसु तयं, न इओ तं भासिउं उचिओ ॥ १०५ ॥
एयं निसामिऊणं, ससुरेण भणाविओ इमो एवं।
जइ मह सुयाएँ कज्जं, ता जिणधम्मं चयसु सिग्घं ॥ १०६ ॥
मुत्तुं जिणधम्ममिमं, सेसं सव्वमवि ऽणंतसो पत्तं।
एवं चिंतिय अमरो, विसज्जए पिउगिहे भज्जं ॥ १०७ ॥
अन्नदिणे जणणीए, भणिओ एसो जहा तुमं वच्छ!।
जो रोयइ तुह धम्मो, तं कुणसु वयं न विग्घकरा ॥ १०८ ॥
किंतु अमराऽभिहाणं, कुलदेविं निच्चमेव अच्चेसु।
एयप्पसायपभवो, तुह जम्मो तो इमो आह ॥ १०९ ॥
अंब! न संपइ कप्पइ, जिणमुणिवज्जरित्तदेवदेविसु।

देवगुरु त्ति मई मे, भत्ती तह पणमणप्पमुहा ॥ ११० ॥
नो मह तेसु पओसो, मणयं पि न अत्थि मित्तमवि किंतु ।
देवगुरुगुणविओगा, तेसु उदासत्तणं अंब ! ॥ १११ ॥
गयरागदोसमोह-त्तणेण देवस्स होइ देवत्तं ।
तच्चरियागमपमिमा-ए दंसणा देवतं नेयं ॥ ११२ ॥
सिवसाहगगुणगणगउ-रवेण सत्थत्थसम्मगिरणेण ।
इह गुरुणो वि गुरुत्तं, होइ जहत्थं पसत्थं च ॥ ११३ ॥
ता अंब ! पणमिय जिणं, नमिज्जए तिहुयणे वि कह अन्नो ? ।
न हु रोयइ लवणजलं, पीए खीरोहियजलम्मि ॥ ११४ ॥
इय तेणं पडिभणिया, जणणी मोणं अकासि सविसाया ।
अह कुविया कुलदेवी, से दंसइ भीसणसयाइं ॥ ११५ ॥
न य तस्स किं पि पहवइ, सत्तिकधणस्स धम्मनिरयस्स ।
वहइ पओसं अहियं, तो अमरा अमरदत्तम्मि ॥ ११६ ॥
पच्चक्खीहोउ कया-वि तीए सो निट्ठुरं इमं भणिओ ।
रे कूडधम्मगव्विय ! , न पणामं मज्झ वि करेसि ॥ ११७ ॥
ता इण्हि हणेमि तुमं, दढधम्मो तं भणेइ अमरो वि ।
जइ आउयं पि बलवं-तो मारिज्जइ न को वि तए ॥ ११८ ॥
अह कह वि तं पि तुट्टं, मरियव्वे इहरहा वि ता जाए ।
को सद्दंसणममलं, मइलइ भवकोडिसयदुलहं ? ॥ ११९ ॥
तो अमरा सामरिसा, तस्स सरीरे विउव्वए पावा ।
सीसच्छिसवणउदरं-तनिस्सिआ वेयणा तिव्वा ॥ १२० ॥
जा इक्का वि हु जीयं, हरेइ नियमेण इयरपुरिसस्स ।
दढसत्तो तह वि इमो, एयं चित्ते विचिंतेइ ॥ १२१ ॥
रे जीव ! तए पत्तो, सिवपुरपहपत्थिए ण सत्थाहो ।
देवो सिरिअरिहंतो, अपत्तपुव्वो भवअरन्ने ॥ १२२ ॥
ता इमिणा च्चिय हियय-ट्ठिएण मरणं पि तुज्झ भद्दकरं ।
एयम्मि पुण विमुक्के होसि जियंतो वि तमणाहो ॥ १२३ ॥
कित्तियमित्तं च इमं, दुक्खं तुह दंसणे अपत्तम्मि ।
पाविय अणंतपुग्गल-परियट्टदुहस्स नरएसु ॥ १२४ ॥

किञ्च—

पडिकूला हवउ सुरा, मायापियरो परंमुहा हुंतु ।
पीडंतु सरीरं वा-हिणो वि खिसंतु सयणा य ॥ १२५ ॥
निवडंतु अवायाओ, गच्छउ लच्छी वि केवलं इक्का ।
मा जाउ जिणे भत्ती, सदुत्ततत्तेसु तित्ती य ॥ १२६ ॥
इयनिच्छयप्पहाणं, तच्चित्तं नाउ ओहिणा अमरा ।
तस्सत्त-रंजियमणा, भणेइ संहरिय उवसग्गे ॥ १२७ ॥
धन्नोसि तं महासय ! , ते च्चिय सलहिज्जसे तिहुयणम्मि ।
सिरिवीयरायचरणे-सु जस्स तुह इय दढाऽऽसत्ती ॥ १२८ ॥
अज्जप्पभिई मज्झ वि, सुच्चिय देवो गुरू वि सो चेव ।
तत्तं पि तं पमाणं, जं पडिवन्नं तए धीर ! ॥ १२९ ॥
इय भणिरीए तीए, मुक्का अमरस्स उवरि तुट्ठाए ।
परिमलमिलिय अलिउला, दसद्धवन्ना कुसुमवुट्ठी ॥ १३० ॥
तं दट्ठु महच्छरियं, तप्पियरो पुरजणो ससुरवग्गो ।
अमराए वयणेणं, जाओ जिणदंसणे भत्तो ॥ १३१ ॥
ससुरेण पइट्ठेणं, तो धूया पेसिया पइगिहम्मि ।
तप्पभिइ अमरदत्तो, सकुडंबो कुणइ जिणधम्मं ॥ १३२ ॥
सुचिरं निम्मलदंसण—सारं पालिय गिहत्थधम्ममिमो ।
जाओ पाणए अमरो, महाविदेहम्मि सिज्झिहिइ ॥ १३३ ॥

अमरदत्तचारित्रमिदं मुदा,
गतमलं परिभाव्य विवेकिनः ।
भजत दर्शनशुद्धिमनुत्तरां,
भवत येन महोदयशालिनः ॥ १३४ ॥ ध० र० ।

अमरपरिग्गहिय–अमरपरिगृहीत–त्रि० । देवैः स्वीकृते, सू० ३ उ० ।

अमरप्पभ–अमरप्रभ–पुं० । विक्रमसंवत्सराणां चतुर्दशशतके विद्यमाने भक्तामरस्तोत्रटीकाकारके कल्याणमन्दिरस्तोत्रटीकाकारकगुणसागर-गुरु-सागरचन्द्रस्य गुरौ, जै० इ० ।

अमरवइ–अमरपति–पुं० । देवेन्द्रे, " अमरवइ माणिज्जई " भ० २ श० ८ उ० । प्रज्ञा० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रव्रजिते ज्ञातकुमारे, ज्ञा० ८ अ० ।

अमरवर–अमरवर–पुं० । महामहर्द्धिकदेवे, तं० ।

अमरसागर–अमरसागर–पुं० । अञ्चलगच्छीये कल्याणसागरसूरिशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैक्रमीये १६९४ वर्षे जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१४ वर्षे खम्भातनगरे आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे भुजनगरे गच्छेशपदं लेभे । ततः सं० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० इ० ।

अमरसुह–अमरसुख–न० । देवसुखे, आव० ४ अ० ।

अमरसेण–अमरसेन–पुं० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रव्रजिते स्वनामख्याते ज्ञातकुमारे, ज्ञा० ८ अ० । स्वनामख्याते राजान्तरे च । दर्श० ।

अमरिस–अमर्ष–पुं० । न-मृष्-घञ् । " र्शर्षतप्तवज्रे वा " । ८ । २ । १०५ । इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनस्येकारः । प्रा० २ पाद । मत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० । महाकदाग्रहे, उत्त० ३४ अ० । कोपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अमरिसण–अमर्षण–त्रि० । अपराधाऽसहिष्णौ, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । अपराधिष्वकृतक्षमे, स० ।

अमसृण–पुं० । प्रयोजनेष्वनलसे, स० ।

अमरिसिय–अमर्षित–त्रि० । अमर्षः संजातोऽस्यामर्षितः । संजातमत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अमल–अमल–पुं० । न विद्यते मल इव मलो निसर्गनिर्मलजीवमालिन्यापादनहेतुत्वादष्टप्रकारकं कर्म येषां ते अमलाः । सिद्धेषु, प्रव० २७४ द्वार । निर्मलमात्रे, त्रि० । आ० म० प्र० । ऋषभदेवस्य सप्तमे पुत्रे, कल्प० ७ क्ष० ।

अमलचंद–अमलचन्द्र–पुं० । वैक्रमीये ११५८ वर्षे भृगुकच्छे विहरति स्वनामख्याते गणिनि, जै० इ० ।

अमलवाहण–अमलवाहन–पुं० । विमलवाहने महापद्मतीर्थंकरे, ती० २१ कल्प ।

अमला–अमला–स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । ती० । स्था० । (' अग्गमहिसी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७३ पृष्ठे तत्पूर्वापरभवावुक्तौ)

अमहग्घय–अमहार्घक–त्रि० । महती अर्घो यस्य स महार्घः, महार्घ एव महार्घकः, न महार्घकोऽमहार्घकः । अबहुमूल्ये, उत्त० २० अ० ।

अमहग्घया–अमहार्घक–त्रि० । अबहुमूल्ये, पञ्चा० १७ विव० ।

अमाइ (ण्)–अमायिन्–त्रि० । माया अस्यास्तीति मायी । न मायी अमायी । व्य० १ उ० । शाठ्यरहिते, प्रव० ६४ द्वार । कौटिल्यशून्ये, दशा० ए अ० ३ उ० । सर्वत्र विश्वास्ये, स चालोचनादेरर्हः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " नो पलिउंचेमाई " स्था० १० ठा० । व्य० । " आव राया चएँ रज्जं, न य दुच्चरियं कहे तहा माई " । पञ्चा० १५ विव० ।

अमाइरूव–अमायिरूप–त्रि० । अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपः । अशेषच्छद्मरहिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अमाइल्ल–अमायाविन्–त्रि० । मायारहिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अमाइल्लया–अमायाविता–स्त्री० । माइल्लो मायावाँस्तदभावस्तत्ता । (मायात्यागे), निरुत्सुकतायाम्, स्था० १० ठा० ।

अमाणिय–अमान्य–त्रि० । अभ्युत्थानाद्याकरणादित्यक्ते, "अया य माणियो होइ, पच्छा होइ अमाणियो । सिट्ठी व कव्वडे छूढो, स पच्छा परितप्पई " । दश० १ चू० ।

अमाव (वा) सा–अमाव (वा) स्या–स्त्री० । अमा–सह वसतश्चन्द्रार्कौ यत्र । वस्–यत्, एयत् वा । कृष्णपक्षशेषदिने, तद्दिने चन्द्रार्कौ एकराशिस्थौ भवतः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अमावस्याः । तद् यथा–

बारस अमावसाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-साविट्ठी,पोट्ठवती, अस्सोती, कत्तिया, मग्गसिरी, पोसी, माही, फग्गुणी, चेत्ती, विसाही, जेट्ठामूली, आसाढी ।

द्वादश एव अमावस्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–श्राविष्ठी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र श्रविष्ठा धनिष्ठा, तस्यां भवा श्राविष्ठी–श्रावणमासभाविनी । प्रोष्ठपदा उत्तरभाद्रपदा, तस्यां भवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासभाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी–अश्वयुग्मासभाविनी । एवं मासक्रमेण तत्तन्नामानुरूपनक्षत्रयोगात् शेषा अपि वक्तव्याः । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

सम्प्रति (नक्षत्रयोगम्) अमावास्याविवक्षयतायामाह–

दुवालस अमावासाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-साविट्ठी पोट्ठवती०जाव आसाढी । ता साविट्ठी णं अमावासा कति णक्खत्ता जोएंति ? । ता दोणिण णक्खत्ता जोएति । तं जहा–असिलेसा १, महा २ य । एवं एएणं अभिलावेणं णेयव्वं । ता पोट्ठिवती णं दोण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा–पुव्वफग्गुणी १, उत्तरा २ य । असोतिं दोण्णि । तं जहा–हत्थो १, चित्ता २ य । कत्तियं दोण्णि । तं जहा–साति १, विसाहा २ य । मग्गसिरं तिण्णि । तं जहा–अणुराहा १, जेट्ठा २, मूलो ३ य । पोसिं च दोण्णि । तं जहा–पुव्वासाढा १, उत्तरासाढा २ य । माहिं तिण्णि । तं जहा–अभिई १, समणो २, धणिट्ठा ३ य । फग्गुणिं दोण्णि । तं जहा–सतभिसया १,पुव्वपोट्ठवती २ य । चेत्तिं तिण्णि । तं जहा–उत्तरभद्दवदा १, रेवती २, अस्सिणी ३ य । विसाहिं दोण्णि । तं जहा–भरणी १,कत्तिया २ य । जेट्ठामूलिं दोण्णि । तं जहा–रोहिणी १, मग्गसिरं २ च । ता आसाढी णं अमावासं कति णक्खत्ता जोएंति ? । ता तिण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा–अद्दा १,पुणव्वसू २, पूसो ३ य ।

(दुवालसेत्यादि) द्वादश अमावास्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा—श्राविष्ठी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन श्रविष्ठानक्षत्रेणोपलक्षितो यः श्रावणो मासः, सोऽप्युपचारात् श्रविष्ठा, तस्यां भवा श्राविष्ठी । किमुक्तं भवति ?–श्राविष्ठी नक्षत्रपरिसमाप्यमानश्रावणमासभाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभाद्रपदमासभाविनी । एवं सर्वत्राऽपि वाक्यार्थो भावनीयः । (ता साविट्ठी णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । श्राविष्ठीममावास्यां कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति, कति नक्षत्राणि यथायोगं चन्द्रेण सह संयुज्य श्राविष्ठीममावास्यां परिसमापयन्ति ? । भगवानाह–(ता दोण्णिमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । द्वे नक्षत्रे युङ्क्तः । तद्यथा–अश्लेषा,मघा च । इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन् नक्षत्रे पौर्णमासी भवति तत आरभ्य अर्वाक्तने पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पौर्णमासी । ततः श्राविष्ठी पौर्णमासी किल श्रवणे धनिष्ठायां चोक्ता । ततोऽमावस्यायामप्यस्यां श्राविष्ठ्यामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च तिथिगणितानुसारतो गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्नहोरात्रे प्रथमतोऽमावस्याऽभूत् स सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्येति व्यवह्रियते । ततो मघानक्षत्रमप्येवं व्यवहारतोऽमावास्यायां प्राप्यते,इति न कश्चिद् विरोधः । परमार्थतः पुनरिमाममावास्यां श्राविष्ठीमिमानि त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा–पुनर्वसु,पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्याचन्द्रयोगपरिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तम् । तत्र तद्भावना क्रियते । कोऽपि पृच्छति–युगस्यादौ प्रथमा श्राविष्ठ्यमावास्या केन चन्द्रयुक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति ? । तत्र पूर्वोदितस्वरूपोऽवधार्यराशिः षट्षष्टिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इतिप्रमाणो ध्रियते । तत एकेन गुण्यते, प्रथमाया अमावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च गुणितं तदेव भवतीति राशिस्तावानेव जातः । ततस्तस्माद् द्वाविंशमुहूर्ताः,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशतिद्वाषष्टिभागाः, इत्येवंपरिमाणं पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते । ततः षट्षष्टिमुहूर्तेभ्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । तेभ्य एकं मुहूर्तमपकृष्य तस्य द्वाषष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च ते द्वाषष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः । तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिचत्वारिंशतो मुहूर्तेभ्यः त्रिंशता मुहूर्तैः पुष्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् त्रयोदश मुहूर्ताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापार्द्धक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाणं, तत इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्ते , एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य षट्षष्टिसंख्येषु भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या समाप्तिमुपगच्छति । तथा च वक्ष्यति–" ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? । ता असिलेसाहिं असिलेसाणं एको मुहुत्तो चत्तालीसं च बावट्ठिभागा , मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठी चुण्णिया भागा सेसा" इति ॥ यदा तु द्वितीयाऽमावास्या

चिन्त्यते, तदा सा युगस्यादित आरभ्य त्रयोदशी । ततः स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्तानामष्टौ शतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि ८५८ । एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चषष्टिर्भागाः ६५ । एकस्य च द्वाषष्टि भागस्य ६२ सत्काः त्रयोदश १३ सप्तषष्टि ६७ भागाः । तत्र-"चत्तारि य वायाला, अह सोज्झा उत्तरासाढा" इति वचनात् । चतुर्भिर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तशतैः षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरुत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि षोडशोत्तराणि, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः । ४१६ $\frac{१९}{६२}$ $\frac{१३}{६७}$ । तत एतस्मात् त्रीणि शतानि नवनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् , एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा ३९९ $\frac{२४}{६२}$ $\frac{६६}{६७}$ इति शोधनीयम् । ततः षोडशोत्तरेभ्यः चतुःशतेभ्यः त्रीणि नवनवत्यधिकानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्त्ताः । तेभ्य एकं मुहूर्तं गृहीत्वा द्वाषष्टिभागाः क्रियन्ते । कृत्वा च द्वाषष्टिभागा राशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकाशीतिः । तस्याश्चतुर्विंशतिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् । तस्या रूपमेकमादाय सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते, तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धा, पश्चादेको ऽवतिष्ठते, सप्तषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताश्चतुर्दशसप्तषष्टिभागाः । आगतं पुष्यनक्षत्रम् । षोडशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दशसु सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु द्वितीयां श्राविष्ठीममावास्यां परिसमापयति ॥ यदा तु तृतीया श्राविष्ठ्यमावास्या चिन्त्यते, तदा सा युगादित आरभ्य पञ्चविंशतितमेति स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ पञ्चविंशत्या गुण्यते, जातानि षोडश शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम् , एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चविंशदुत्तरशतं द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशति सप्तषष्टिभागाः १६५० $\frac{१२५}{६२}$ $\frac{२५}{६७}$ । तत्र चतुर्भिर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तशतैरेकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः प्रथममुत्तराषाढापर्यन्तं शोधनकं शुद्धम्, स्थितानि पश्चान्मुहूर्तानां द्वादशशतान्यष्टोत्तराणि १२०८; द्वाषष्टिभागाश्च मुहूर्तस्य एकोनाशीतिः ७९, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तषष्टिभागाः $\frac{२५}{६७}$ । ततोऽष्टभिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैः ८१९ मुहूर्तानाम् , एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेको नक्षत्रपर्यायः शुद्ध्यति । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि नवाशीत्यधिकानि मुहूर्तानाम् ३८९ । एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः $\frac{५४}{६२}$, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतिसप्तषष्टिभागाः $\frac{२६}{६७}$ । ततो भूयस्त्रिभिर्नवोत्तरैर्मुहूर्तशतैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि शुद्धानि स्थितानि, पश्चाद् मुहूर्ता अशीतिः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशद् द्वाषष्टिभागानि, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशति सप्तषष्टिभागाः ८० $\frac{२९}{६२}$ $\frac{२७}{६७}$ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः शुद्धं, स्थिताः पञ्चाशद् मुहूर्ताः ५० । ततः पञ्चदशभिरार्द्रा शुद्धा, स्थिताः पञ्चत्रिंशत् ३५ । आगतं पुनर्वसु नक्षत्रम् । पञ्चत्रिंशति मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु तृतीयां श्राविष्ठीममावास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी श्राविष्ठीममावास्यामश्लेषानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ७ । ४१ ; पञ्चमीं श्राविष्ठीममावास्यां पुष्यनक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ३ । ४२ । ५४ परिणमयति । एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितेनाभिलापेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । विशेषमाह-(पोट्ठवयं दोण्णि । तं जहा-पुव्वाफग्गुणी, उत्तरा य त्ति) तत्रैवं सूत्रपाठः-" ता पोट्ठवयं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वफग्गुणी, उत्तरफग्गुणी य;" इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावस्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य द्वाषष्टिभागस्य द्वयोः सप्तषष्टिभागयोः ४ । २६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चदशसु सप्तषष्टिभागेषु ७ । ६१ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुस्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ३४ । २८ गतेषु; चतुर्थीं प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमीं प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमापयति । (आसोई दोण्णि । तं जहा-हत्थो, चित्ता य त्ति) । अत्राप्येवं सूत्रपाठः-"ता आसोई णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? । ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-हत्थो, चित्ता य" । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनराश्वयुजीममावास्यां द्वे नक्षत्रे परिसमापयतः । तद्यथा-उत्तरफाल्गुनी, हस्तश्च । तत्र प्रथमामाश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषु सप्तषष्टिभागेषु २५ । ३१ । ३; द्वितीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुश्चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्षु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षोडशसु सप्तषष्टिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकोनत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु १७ । ३९ । २९; चतुर्थीमाश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमीमाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं त्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्-

पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३० । ५२ । ५६ गतेषु परिसमापयति । (कत्तिअं दोण्णि । तं जहा-साई, विसाहा य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः-"ता कत्तिअं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-साई, विसाहा य त्ति" एतदपि व्यवहारनयमतेन । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि कार्तिकीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-चित्रा.स्वातिर्विशाखा च । तत्र प्रथमां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं षोडशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु १६ । ३६ । ४ गतेषु; द्वितीयां कार्तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तदशसु षष्टिभागेषु ५ । ९ । १७ गतेषु; तृतीयां कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमष्टसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ८ । ४४ । ३०; चतुर्थीं कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३ । २२ । ४४ गतेषु; पञ्चमीं कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु , एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २१ । ५७ । ५७ । गतेषु समाप्तिमुपनयति । (मग्गसिरी तिण्णि । तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य त्ति) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-"ता मग्गसिरिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता तिण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य " इति । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिभागेषु ७ । ४१ । ५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु ११।१४।१८; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकोनत्रिंशति मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य एकत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २९ । ४९ । ३१ गतेषु; चतुर्थी मार्गशीर्षीममावस्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २४।२७।४५ गतेषु; पञ्चमीं मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य संबन्धिनो द्वाषष्टिभागस्य अष्टापञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ४३ । ० । ५८ परिसमापयति । (पोसिं च दोण्णि । तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति) तत्रैवं सूत्रालापकः-"ता पोसी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति " एतदपि व्यवहारत उक्तम् । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-मूलं, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा च । तथाहि-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु २८।४६।६ गतेषु; द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरेकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २ । १९ । १९ ; तृतीयामधिकमाससंभाविनीं पौषीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११ । ५९ । ३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं पञ्चदशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १५।५६।४६; पञ्चमीं पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १९ । ५० । ५९ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (माहिं तिण्णि । तं जहा-अभिई,सवणो, धणिट्ठा य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-" ता माही णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? । ता तिण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अभिई, समणो, धनिट्ठा य " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि माघीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणश्च । तथाहि-प्रथमां माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टसु सप्तषष्टिभागेषु १०।२६।८ गतेषु; द्वितीयां माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ३।२६।२० गतेषु; तृतीयां माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २३ । ३९ । ३५; चतुर्थीं माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३७ । ४७ गतेषु; पञ्चमीं माघीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु २५ । १० । ६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति । (फग्गुणी दोण्णि । तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-"ता फग्गुणी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति। तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य नवसु सप्तषष्टिभागेषु १ । ३१ । ९ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु, १४ । ४४ । ३६; चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतभिषक्नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३ । १७ । ४९; पञ्चमीं फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वा-

षष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्केषु द्वाषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु ६ । ४२ । ६२ गतेषु परिणमयति । (चेत्ती- तिणि । तं जहा—उत्तरभद्दवया, रेवई, अस्सिणी य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः—"ता चित्ती णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता तिरिण नक्खत्ता जोएंति । तं जहा- उत्तरभद्दवया, रेवई, अस्सिणी य त्ति" । एतदपि व्यवहारनयमतेन । निश्चयनयमतेन पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि चैत्रीममावास्यां समापयन्ति । तद्यथा-पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती च । तत्र प्रथमां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रं सप्तत्रिंशन्मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य दशसु सप्तषष्टिभागेषु, ३७ । ३६ । १०; द्वितीयां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ६ । २३; तृतीयां चैत्रीममावास्यां रेवती नक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ५ । ४६ । ३७; चतुर्थीं चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदा नक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २४ । २२ । ५०; पञ्चमीं चैत्रीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा नक्षत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु २७ । ५७ । ६३ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (विसाहिं भरणी कत्तिया इति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः-"ता विसाहिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता दोरिण नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-भरणी, कत्तिया य" इति । एतच्च व्यवहारतः । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि वैशाखीममावास्यां परिसमापयन्ति । तानि चामूनि । तद्यथा-रेवती, अश्विनी, भरणी च । तत्र प्रथमां वैशाखीममावास्यामश्विनी नक्षत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकादशसु सप्तषष्टिभागेषु २८ । ४० । ११; द्वितीयां वैशाखीममावास्यामश्विनी नक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरेकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २ । ३६ । २३ ; तृतीयां वैशाखीममावास्यां भरणीनक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशत् द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य अष्टत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११ । ५४ । ३८ गतेषु; चतुर्थी वैशाखीममावास्यामश्विनीनक्षत्रं पञ्चदशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु १५ । २७ । ५१; पञ्चमीं वैशाखीममावास्यां रेवती नक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य संबन्धिनो द्वाषष्टिभागस्य सत्केषु चतुष्षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १६ । ० । ६४ परिणमयति । (जेट्ठामूली रोहिणी मिगसिरं चेति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-" ता जेट्ठामूलिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-रोहिणी, मिगसिरं च" । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमे द्वे नक्षत्रे ज्येष्ठामूलीममावास्यां परिसमापयतः । तद्यथा-रोहिणी, कृत्तिका च । तत्र प्रथमां ज्येष्ठामूलीममावास्यां रोहिणी नक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादशसु सप्तषष्टिभागेषु १६ । ४६ । १२ गतेषु; द्वितीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्तिका नक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २३ । १६ । २५ अतिक्रान्तेषु; तृतीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां रोहिणी नक्षत्रं द्वात्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ३२ । ५९ । ३६ ; चतुर्थीं ज्येष्ठामूलीममावास्यां रोहिणी नक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३२ । ५२ ; पञ्चमीं ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्तिका नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चसु द्वाषष्टिभागेषु , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १० । ५ । ६५ गतेषु परिसमापयति । (ता आसाढी णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । आषाढी, णमिति वाक्यालङ्कारे । कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति ?। भगवानाह- (ता इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । त्रीणि युञ्जन्ति । तद्यथा-आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्यश्च । एतदपि व्यवहारत उक्तम् । परमार्थतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि आषाढीममावास्यां परिणमयन्ति । तद्यथा-मृगशिरः, आर्द्रा, पुनर्वसुश्च । तत्र प्रथमामाषाढीममावास्यामार्द्रा नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु १० । ५१ । १३; द्वितीयामाषाढीममावास्यां मृगशिरो नक्षत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २७ । २४ । २६ ; तृतीयामाषाढीममावास्यां पुनर्वसु नक्षत्रं नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वयोर्द्वाषष्टिभागयोरेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ६ । २ । ४०; चतुर्थीमाषाढीममावास्यां मृगशिरो नक्षत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २७ । ३७ । ५३ गतेषु; पञ्चमीमाषाढीममावास्यां पुनर्वसु नक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडशसु द्वाषष्टिभागेषु २२ । १६ । ० गतेषु परिसमापयन्ति इति । तदेवं द्वादशानाममावास्यानां चन्द्रयोगोपेतनक्षत्रविधिरुक्तः । चं० प्र० १० पाहु० । ज्यो० ।

संप्रत्येतासामेव कुलादियोजनामाह—

ता साविट्ठी णं अमावासं किं कुलं जोएति, उवकुलं जोएति, कुलोवकुलं वा जोएति पुच्छा ?। ता कुलं वा जोएंति, उवकुलं वा जोएति, णो लब्भइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे महाणक्खत्ते जोएति, उवकुलं जोएमाणे असिलेसा णक्खत्ते जोएति । ता साविट्ठी णं अमावासं कुलं जोएति, उवकुलं वा जोएति, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता साविट्ठी अमावासं जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया , एवं णेयव्वं । मग्गसिरीए १ माहीए २ फग्गुणीए ३ आसाढीए ४ कुलोवकुलं जाणियव्वं । सेसाणं कुलोवकुला णत्थि० जाव कुलोवकुलेण वा जुत्ता आसाढी अमावासं जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया ॥

(ता साविट्ठी णमित्यादि)ता इति पूर्ववत् । श्राविष्ठीं श्रावणमासभाविनीममावास्यां किं कुलं युनक्ति, उपकुलं युनक्ति, कुलोपकुलं वा युनक्ति ? । भगवानाह—(ता कुलं वेत्यादि)

कुलमपि युनक्ति, 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' उपकुलं वा युनक्ति। न लभते योगमधिकृत्य कुलोपकुलम। तत्र कुलं कुलसंज्ञं नक्षत्रं श्राविष्ठीममावास्यां युञ्जन्मघानक्षत्रं युनक्ति । एतच्च व्यवहारत उच्यते। व्यवहारतो हि गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि योऽहोरात्रो मूले अमावास्यायां संबन्धः स सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्येति व्यवह्रियते। तत एव व्यवहारतः श्राविष्ठ्याममावास्यायां मघानक्षत्रसंभवादुक्तम्-कुलं युञ्जन् मघानक्षत्रं युनक्तीति । परमार्थतः पुनः कुलं युञ्जन् पुष्यनक्षत्रं युनक्तीति प्रतिपत्तव्यम , तस्यैव कुलप्रसिद्ध्या प्रासिद्धस्य श्राविष्ठ्याममावास्यायां संभवात्। एतच्च प्रागेव भावितम्। एवमुत्तरसूत्रमपि व्यवहारनयमतेन यथायोगं परिभावनीयम्। उपकुलं युञ्जन् अश्लेषानक्षत्रं युनक्ति। संप्रत्युपसंहारमाह-(ता साविट्ठी णमित्यादि) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्यां कुलोपकुलाभ्यां श्राविष्ठ्याममावास्यायां चन्द्रयोगः समस्ति, न कुलोपकुले, न ततः श्राविष्ठीममावास्यां कुलमपि 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' युनक्ति; उपकुलं वा युनक्ति इति वक्तव्यं स्यात्। यदि वा कुलेन वा युक्ता, उपकुलेन वा युक्ता सती श्राविष्ठ्यमावास्या युक्तेति वक्तव्यं स्यात्। (एवं नेयव्वमिति) एवमुक्तेन प्रकारेण शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम । नवरं मार्गशीर्ष्यां माघ्यां फाल्गुन्यामाषाढ्यां च कुलोपकुलं भणितव्यम्, शेषाणां त्वमावास्यानां कुलोपकुलं नास्ति, ततो न वक्तव्यम्। संप्रति पाठकानुग्रहाय सूत्रालापका दर्श्यन्ते-"ता पोट्ठवई णं अमावासं किं कुलं जोएइ,उवकुलं वा जोएइ,कुलोवकुलं वा जोएइ?। ता कुलं वा जोएइ,उवकुलं वा जोएइ,नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे उत्तरफग्गुणी जोएइ,उवकुलं जोएमाणे पुव्वाफग्गुणी जोएइ। ता पोट्ठवई णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता पोट्ठवया अमावासा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया । ता आसोइं णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं जोएइ, कुलोवकुलं जोएइ ?। ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे चित्ता नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे हत्थनक्खत्ते जोएइ। ता आसोइं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता आसोई अमावासा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया। ता कत्तियं णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ?। ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ,नो लभइ कुलोवकुलं। कुलं जोएमाणे विसाहा नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे सातिनक्खत्ते जोएइ । ता कत्तियं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कत्तिई अमावासा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया । ता मग्गसिरिं णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ?। ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ, कुलं जोएमाणे मूलनक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे जेट्ठानक्खत्ते जोएइ, कुलोवकुलं जोएमाणे अणुराहानक्खत्ते जोएइ। ता मग्गसिरिं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कुलोवकुलेण वा जुत्ता जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया" इत्यादि। निश्चयतः पुनः कुलादियोजना प्रागुक्तचन्द्रेण योगमधिकृत्य स्वयं परिभावनीया। चं० प्र० १० पाहु०। "पंच संवच्छरिएणं जुगे बावट्ठिं अमावासाओ"। युगे पञ्च संवत्सराः,तत्र त्रयश्चान्द्राः,तेषु षट्त्रिंशद् अमावास्या भवन्ति, द्वौ चाभिवर्द्धितौ संवत्सरौ, तत्र षड्विंशतिरमावास्याः। स० ६२ सम०।

अथैवंरूपा युगे कियन्त्योऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्यः?-
इति युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह—

तत्थ खलु इमाओ बावट्ठि पुण्णिमाओ, बावट्ठि अमावासाओ पण्णत्ताओ। एए कसिणा रागा बावट्ठि, एए कसिणा विरागा बावट्ठि, एए चउव्वीसे पव्वसते, एवं चउव्वीसे कसिणरागविरागसए। ता जावइया णं पंचण्हं संवच्छराणं समया एगेणं चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगा एवतिया णं परिमिता असंखेज्जा देसरागविरागसमया भवंतीति जत्थ चउव्वीसे समयसए तत्थ बावट्ठिसमए कसिणो रागो,बावट्ठिसमए कसिणो विरागो, तव्वज्जियमक्खाया ।

(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र युगे खल्विमा एवंस्वरूपा द्वाषष्टिः पौर्णमास्यो, द्वाषष्टिश्चामावास्याः प्रज्ञप्ताः। तथा युगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वाषष्टिः, अमावास्यानां युगे द्वाषष्टिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात्। एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागा सर्वात्मना रागाभावा द्वाषष्टिः, युगे पौर्णमासीनां द्वाषष्टिसंख्यात्मकत्वात् , तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात्। तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम्; अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात्; तासां च पृथक् पृथक् द्वाषष्टिसंख्यानामेकत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात्। एवमेव युगमध्ये सर्वसंकलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम्। (ता जावइयाणमित्यादि) यावन्तः पञ्चानां चन्द्राभिवर्द्धितरूपाणां संवत्सराणां समया एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन ऊनका एतावन्तः परिमिता असंख्याता देशरागविरागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात्। यत्र चतुर्विंशत्यधिकं समयशतं, तत्र द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो रागः द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागः, तेन तद्वर्जनमित्याख्यातम्, मयेति गम्यते। जगद्वचनमेतत्सम्यक् श्रद्धेयम। चं० प्र० १३ पाहु०।

सम्प्रत्यमावास्याविषयं चन्द्रनक्षत्रयोगं सूर्यनक्षत्रयोगं च
प्रतिपिपादयिषुः प्रथमामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ?। ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो,चत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठि चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति?। ता असिलेसाहिं चेव, असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो,चत्तालीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठि चुण्णिया भागा सेसा।

"ता एएसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-(ता असिलेसाहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत्। अश्लेषाभिः सह संयुक्तश्चन्द्रः प्रथमाममावास्यां परिसमापयति, अश्लेषानक्षत्रस्य च षट्तारकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम। तदानीं च प्रथमामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामश्लेषानक्षत्रस्य एको मुहूर्त्तः, चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्वा षट्षष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः

६६ । ५ । १ प्रथमाऽमावास्या किल संप्रति चिन्त्यमाना वर्तते, इत्येकेन गुण्यते, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति तावानेव जातः । तत एतस्मात्-"बावीसं च मुहुत्ता,छायालीसं वि स-ट्ठिभागा य । एयं पुणव्वसुस्स य, सोहेयव्वं हवइ पुस्से" ॥१॥ इति वचनाद् द्वाविंशतिर्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागा इत्येवं प्रमाणं शोधनकं शोध्यते। तत्र षट्षष्टिमुहूर्त्तेभ्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । तेभ्य एकं मुहूर्तमपाकृष्य तस्य द्वाषष्टिभागाः कृताः, ते द्वाषष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः । तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिचत्वारिंशतो मुहूर्तेभ्यस्त्रिंशता पुष्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् त्रयोदश मुहूर्त्ताः, अश्लेषानक्षत्रं चार्द्धक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्त्तप्रमाणम । तत इदमागतम्-अश्लेषानक्षत्रस्य एकस्मिन्मुहूर्ते चत्वारिंशति मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य षट्षष्टिभागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या परिसमाप्तिमुपगच्छति । संप्रत्यस्यामेव प्रथमायाममावास्यायां सूर्यनक्षत्रं पृच्छति-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता असिलेसाहिं चेव इत्यादि) इह य एवामावास्यासु चन्द्रनक्षत्रयोगविषये ध्रुवराशिः, यदेव शोधनकं, स एव सूर्यनक्षत्रयोगध्रुवराशिः, तदेव शोधनकमिति । तदेव सूर्यनक्षत्रयोगेऽपि नक्षत्रं,तावदेव च तस्य नक्षत्रस्य नक्षत्रशेषमिति। तदेवाह-अश्लेषाभिर्युक्तः सूर्यः प्रथमामावास्यां परिसमापयति। तस्यां च परिसमाप्तिवेलायां अश्लेषाणामेको मुहूर्त्तः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चत्वारिंशद् द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छित्वा षट्षष्टिचूर्णिता भागाः शेषाः ।

द्वितीयामावास्याविषयं सूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोच्चं अमावासं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति ? । ता उत्तराहिं फग्गुणीहिं, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता, पणतीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता पण्णट्ठि चुण्णिया भागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएइ पुच्छा ? । ता उत्तराहिं चेव फग्गुणीहिं, उत्तराणं फग्गुणीणं चत्तालीसं मुहुत्ता तं चेव० जाव पण्णट्ठि चुण्णिया भागा सेसा ॥

(ता एएसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता उत्तराहिमित्यादि) उत्तराभ्यां फाल्गुनीभ्यां युक्तश्चन्द्रो द्वितीयाममावास्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिंशद् मुहूर्त्ताः, पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्वा तस्य सत्काः पञ्चषष्टिचूर्णिका भागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वाभ्यां गुण्यते, जातं द्वात्रिंशदधिकं मुहूर्त्तानां शतम । एकस्य मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागा दश, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य द्वौ चूर्णिकाभागौ १३२ । १० । २ । तत्र प्रथमतः पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते-द्वात्रिंशदधिकमुहूर्तशताद् द्वाविंशतिमुहूर्त्ताः शुद्धाः, स्थितं पश्चाद्दशोत्तरं शतम् । तेभ्योऽप्येको मुहूर्त्तो गृहीत्वा द्वाषष्टिभागीक्रियते, कृत्वा च ते द्वाषष्टिभागा द्वाषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता द्विसप्ततिर्द्वाषष्टिभागाः । तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः । स्थिताः पश्चात्षड्विंशतिः। नवोत्तराच्च मुहूर्त्तशतात् त्रिंशता पुष्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चादेकोनाशीतिः । ततोऽपि पञ्चदशभिर्मुहूर्त्तैरश्लेषा शुद्धा, स्थिताः पश्चाच्चतुःषष्टिः,ततोऽपि त्रिंशता मघा शुद्धा,स्थिताश्चतुस्त्रिंशत् । ततोऽपि त्रिंशता पूर्वाफाल्गुनी शुद्धा, स्थिताः पश्चाच्चत्वारः, उत्तराफाल्गुनीनक्षत्रं च द्व्यर्द्धक्षेत्रमिति पञ्चचत्वारिंशत् मुहूर्त्तप्रमाणम । तत इदमागतमुत्तराफाल्गुनीनक्षत्रस्य चन्द्रयोगमुपागतस्य चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधाछिन्नस्य पञ्चषष्टौ चूर्णिकाभागेषु शेषेषु द्वितीयाऽमावास्या समाप्तिं याति । संप्रत्यस्याममावास्यायां सूर्यनक्षत्रं पृच्छति-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम । भगवानाह—(ता उत्तराहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । उत्तराभ्यामेव फाल्गुनीभ्यां युक्तः सूर्यो द्वितीयाममावास्यां परिसमापयति । तदानीं च द्वितीयामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामुत्तरयोः फाल्गुन्योश्चत्वारिंशद् मुहूर्त्ताः। "तं चेव जाव त्ति" वचनादेकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य (पणट्ठि चुण्णिया भागा सेस त्ति) एतच्चोभयोरपि चन्द्रसूर्ययोर्नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वादवसेयम ।

तृतीयामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं तच्चं अमावासं चंदे पुच्छा ? । ता हत्थेणं, हत्थस्स चत्तारि मुहुत्ता, तीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउसट्ठि-चुण्णिया भागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता हत्थेणं चेव । हत्थस्स णं तं चेव चंदस्स।

(ता एएसि णमित्यादि) सुगमम । भगवानाह-(ता हत्थेणमित्यादि) हस्तेन युक्तश्चन्द्रस्तृतीयाममावास्यां परिसमापयति । तदानीं च हस्तनक्षत्रस्य चत्वारो मुहूर्ताः, त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, द्वाषष्टिभागं चैकं सप्तषष्टिधा छित्वा तस्य सत्काश्चतुष्षष्टिचूर्णिता भागाः शेषाः । तथाहि—स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ तृतीयस्या अमावास्यायाः संप्रति चिन्तेति त्रिभिर्गुण्यते, जातमष्टनवत्यधिकं मुहूर्तानां शतम । एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चदश द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः । १९८ । १५ । ३ । तत एतस्माद्विसप्तत्यधिकेन मुहूर्तशतेन षट्चत्वारिंशता च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागैः पुनर्वस्वादीन्युत्तरफाल्गुनीपर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, पश्चादवतिष्ठन्ते पञ्चविंशतिमुहूर्ताः , एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशद्द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयः सप्तषष्टिभागाः २५।३१। । ३ । तत आगतं हस्तनक्षत्रस्य चन्द्रेण सह योगमुपागतस्य चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्षष्टौ, सप्तषष्टिभागेषु शेषेषु तृतीयाममावास्यां परिसमापयति । अत्रैव सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह— (तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता हत्थेणं चेव त्ति) हस्तेनैव नक्षत्रेण युक्तः सूर्योऽपि तृतीयाममावास्यां परिसमापयति । एतच्चोभयोरपि करणस्य समानत्वादवसेयम । एवमुत्तरसूत्रयोरपि द्रष्टव्यम् । शेषविषये अतिदेशमाह-'हत्थस्स णं तं चेव चंदस्स' यथा चन्द्रस्य विषये शेषमुक्तं तदेव सूर्यस्यापि विषयं वक्तव्यम । तथैव—"हत्थस्स चत्तारि मुहुत्ता, तीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउसट्ठि चुण्णिया भागा सेसा " इति ।

संप्रति द्वादशामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता अद्दाहिं, अद्दाणं चत्तारि मुहुत्ता,दस च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउप्पण्णं चुण्णिया भागा सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता अद्दाए चेव । अद्दाए जं चेव चंदस्स, तं चेव ॥

(ता एएसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्दाहिमित्यादि) आर्द्रायुक्तश्चन्द्रो द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । तदानीं चार्द्रायाश्चत्वारो मुहूर्ताः,दश च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागाः,द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा चतुष्पञ्चाशच्चूर्णिकाभागाः शेषाः । तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वादश्यमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशभिर्गुण्यते,जातानि सप्तशतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् , एकस्य च मुहूर्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः पुनर्वस्वादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम् , एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्दश द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ३५० । १४ । १२ । ततस्त्रिभिः शतैर्नवोत्तरैर्मुहूर्तानाम्,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि,स्थिताः पश्चाच्चत्वारिंशन्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ४० । ५१ । १३ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः शुद्धं, स्थिताः पश्चाद्दश मुहूर्त्ताः, शेषं तथैव १० । ५१ । १३ । तत आगतमार्द्रानक्षत्रस्य चन्द्रेण सह संयुक्तस्य चतुर्षु मुहूर्त्तेषु,एकस्य च दशसु द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अमावास्या परिसमाप्तिमियर्ति । संप्रति सूर्यविषयं प्रश्नमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्दाए चेव) आर्द्रयैव युक्तः सूर्योऽपि द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । शेषपाठविषये अतिदेशमाह-" अद्दाए जं चेव चंदस्स, तं चेव " चन्द्रस्य विषये आर्द्रायाः शेषमुक्तम् , तदेव सूर्यविषयेऽपि वक्तव्यम् । "अद्दाए चत्तारि मुहुत्ता , दस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउप्पण्णं चुण्णिया भागा सेसा " इति ।

चरमद्वाषष्टितमामावास्याविषयं प्रश्नमाह--

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं बावट्ठि अमावासं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स णं बावीसं मुहुत्ता, छायालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स सेसा । तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ? । ता पुणव्वसुणा चेव, पुणव्वसुस्स णं बावीसं मुहुत्ता, छायालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स सेसा ।

(ता एएसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसुणा इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति । तदानीं च चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिवेलायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाविंशतिमुहूर्त्ताः, षट्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागाः मुहूर्तस्य शेषाः । तथाहि- स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि , एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिसप्तषष्टिभागाः ४०९२ । ३१० । ६२/६७ तत एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः प्रथमशोधनकं शुद्धम् ; जातानि षट्त्रिंशच्छतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वे शते चतुष्षष्ट्यधिके द्वाषष्टिभागानाम्, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिसप्तषष्टिभागाः ३६५० । २६४ । ६२ । ततोऽभिजिदाद्युत्तराषाढापर्यन्तसकलनक्षत्रपर्यायविषयं शोधनकम् । अष्टौ शतानि एकोनत्रिंशदधिकानि मुहूर्तानाम् , एकस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिसप्तषष्टिभागाः ८१९ । २४ । ६६ इत्येवं प्रमाणं चतुर्भिर्गुणयित्वा शोध्यते । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि चतुःसप्तत्यधिकानि मुहूर्तानाम् , एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्षष्ट्यधिकं शतं द्वाषष्टिभागानाम् , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिसप्तषष्टिभागाः ३७४ । १६४ । ६६ । ततो भूयस्त्रिभिः शतैर्मुहूर्तानां नवोत्तरैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः ३०९ । २४ । ६६ अभिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात्सप्तषष्टिर्मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः ६७ । १६ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः, पञ्चदशभिरार्द्रा शुद्धा,स्थिताः पश्चात् शेषा द्वाविंशतिर्मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः २२ । १६ । तत आगतं चन्द्रेण सह संयुक्तं पुनर्वसुनक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसुणा चेव त्ति) सूर्यः पुनर्वसुना चैव सह योगमुपागतश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिणमति । शेषे अतिदेशमाह-(पुणव्वसुस्स णं बावीसं मुहुत्ता इत्यादि) एतच्च प्राग्वद्भावनीयम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य चामावास्याविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वात् । चं० प्र० १० पाहु० ।

संप्रति कियत्सु मुहूर्त्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी, कियत्सु वा मुहूर्त्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या ?, इत्यादि निरूपयति-

ता अमावासाओ णं पुण्णिमासिणी चत्तारि बायाले मुहुत्तसते, छायालीसं बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिताति वदेज्जा ; ता अमावासाओ णं अमावासा अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते, तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहियाति वदेज्जा; ता पुण्णिमासिणीओ णं अमावासा चत्तारि बायाले मुहुत्तसते तं चेव, ता पुण्णिमासिणीओ णं पुण्णिमासिणी अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते,तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिता० । एस णं एवइए चंदे मासे; एस णं एवइए सगले जुगे ॥

(ता अमावासाओ णमित्यादि) सुगमम् । नवरं अमावास्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अनन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अमावास्या परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या । उपसंहारमाह-(एस णमित्यादि) एष अष्टौ मुहूर्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकानि त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्येति, एतावान् एतावत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं खण्डरूपं युगं; चन्द्रमासप्रमितं युगं शकलमेतदित्यर्थः । चं० प्र० १३ पाहु० ।

पूर्णिमानक्षत्रात् अमावास्यायाम्, अमावास्यानक्षत्राच्च
पूर्णिमायां नक्षत्रस्य नियमेन संबन्धमाह–

जया णं भंते ! साविट्ठी पुण्णिमा भवइ तया णं माही अमावासा भवइ, जया णं भंते ! माही पुण्णिमा भवइ तया णं साविट्ठी अमावासा भवइ ? । हंता, गोयमा ! जया णं साविट्ठी० तं चेव वत्तव्वं । जया णं भंते ! पोट्ठवई पुण्णिमा भवइ तया णं फग्गुणी अमावासा भवइ, जया णं फग्गुणी पुण्णिमा भवइ तया णं पोट्ठवई अमावासा भवइ ? । हंता, गोयमा ! तं चेव एवं । एतेणं अभिलावेणं इमाओ पुण्णिमाओ अमावासाओ णेअव्वाओ । अस्सिणी पुण्णिमा चेत्ती अमावासा, कत्तिगी पुण्णिमा विसाही अमावासा, मग्गसिरी पुण्णिमा जेट्ठामूली अमावासा, पोसी पुण्णिमा आसाढी अमावासा ।

(जया णं भंते ! इत्यादि) यदा भदन्त ! श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्वाक्तनी अमावास्या माघी मघानक्षत्रयुक्ता भवति । यदा तु माघी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता भवतीति काक्वा प्रश्नः ? । भगवानाह-(हंतेति) भवति । तत्र गौतम ! यदा श्राविष्ठीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समानोत्तरत्वात् । अयमर्थः-इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन्नक्षत्रे पौर्णमासी भवति तत आरभ्य अर्वाक्तने पञ्चदशे चतुर्दशे वा नक्षत्रे नियमतोऽमावास्या , ततो यदा श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा अर्वाक्तनी अमावास्या माघी मघानक्षत्रयुक्ता भवति, श्रविष्ठानक्षत्रादारभ्य मघानक्षत्रस्य पूर्वं चतुर्दशत्वात् । अत्र सूर्यप्रज्ञप्तिचन्द्रप्रज्ञप्तिवृत्त्योस्तु मघानक्षत्रादारभ्य श्रविष्ठानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वादिति पाठः , तेनात्र विचार्यम् । एतच्च श्रावणमासमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त ! माघी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता पाश्चात्या अमावास्या भवति, मघानक्षत्रादारभ्य पूर्वं श्रविष्ठानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । इदं च माघमासमधिकृत्य भावनीयम् । यदा भदन्त ! प्रौष्ठपदी उत्तरभाद्रपदायुक्ता पौर्णमासी भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रयुक्ता भवति, उत्तरभाद्रपदादारभ्य पूर्वमुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च भाद्रपदमासमधिकृत्य अवसेयम् । यदा चोत्तरफाल्गुनीनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा अमावास्या प्रौष्ठपदी उत्तरभाद्रपदोपेता भवति, उत्तरफल्गुनीमारभ्य पूर्वमुत्तरभाद्रपदानक्षत्रस्य चतुर्दशत्वात् । इदं च फाल्गुनमासमधिकृत्योक्तम् । एवमेतेनाभिलापेन इमाः पूर्णिमा अमावास्याश्च नेतव्याः । यदा आश्विनीपूर्णिमा अश्विनीनक्षत्रोपेता भवति तदा पाश्चात्याऽनन्तरा अमावास्या चैत्री चित्रानक्षत्रयुक्ता भवति, अश्विन्या आरभ्य पूर्वं चित्रानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यवहारनयमधिकृत्योक्तमवसेयम्; निश्चयत एकस्यामप्याश्वयुग्मासभाविन्याममावास्यायां चित्रानक्षत्रासंभवात् । एतच्च प्रागेव दर्शितम् । यदा च चैत्री चित्रानक्षत्रोपेता पौर्णमासी भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या आश्विनी अश्विनीनक्षत्रयुक्ता भवति, एतदपि व्यवहारतः । निश्चयत एकस्यामपि चैत्रमासभाविन्याममावास्यायामश्विनीनक्षत्रस्यासंभवात् । एतदपि सूत्रमाश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रवृत्तम् । यदा च कार्त्तिकी कृत्तिकानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा वैशाखी विशाखानक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति, कृत्तिकातोऽर्वाक् विशाखायाः पञ्चदशत्वात् । यदा वैशाखी विशाखानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमावास्या कार्त्तिकी कृत्तिकानक्षत्रोपेता भवति, विशाखातः पूर्वं कृत्तिकायाः चतुर्दशत्वात् । एतच्च कार्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी मृगशिरोयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठामूली ज्येष्ठामूलनक्षत्रोपेता अमावास्या, यदा ज्येष्ठामूली पौर्णमासी तदा मार्गशीर्षी अमावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठमासावधिकृत्य भावनीयम् । यदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी तदा आषाढी पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति, यदा पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति । एतच्च पौषाषाढमासावधिकृत्योक्तमिति । उक्तानि मासार्द्धमासपरिसमापकानि नक्षत्राणि । जं० ७ वक्ष० ।

अमि (मे) ज्ज–अमेय–त्रि० । अमिताऽनेकवस्तुयोगात् क्रयविक्रयनिषेधाद् वा (कल्प० ५ क्ष०) अविद्यमानदातव्ये नगरादौ, जं० ३ वक्ष० । अविद्यमानमाय्ये, भ० ११ श० ११ उ० ।

अमि (मे) ज्झ-अमेध्य–न० । न० त० । अशुचिद्रव्ये , स्था० १० ठा० । विष्ठायाम, तं० । " अमिज्झेण लित्तोसि न जाणइ केण विलित्तो " । आ० म० द्वि० ।

अमि (मे) ज्झपुण्ण–अमेध्यपूर्ण–त्रि० । विष्ठावृते, तं० ।

अमि (मे) ज्झमय-अमेध्यमय-त्रि० । अमेध्यं प्रचुरमस्मिन्निति । गूथात्मके, तं० ।

अमि (मे) ज्झरस–अमेध्यरस-पुं० । विष्ठारसे, तं० ।

अमि (मे) ज्झसंभूय–अमेध्यसंभृत–त्रि० । विष्ठासंभवे, तं० ।

अमि (मे) ज्झुक्कर-अमेध्योत्कर-पुं० । उच्चारनिकरकल्पे, षो० १ विव० ।

अमित्त–अमित्र-न० । अहितसाधके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० । (' पुरिसजाय ' शब्देऽस्य चतुर्भङ्गी द्रष्टव्या)

अमिय-अमृत-त्रि० । अमरधर्मिणि, विशे० । मरणाभावे, आ० म० द्वि० । तत्पथ्ये, आव० ४ अ० । " वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते । शिशिरे चामलकरसो, घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अमित-त्रि० । परिमाणरहिते, ध० २ अधि० । अपरिशेषे, आ० चू० १ अ० । अनन्ते, असंख्येये वनस्पतिपृथिवीजीवद्रव्यादौ च

" केवली पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ,अमियं पि जाणइ "।भ० ५ श० ४ उ० । केवलज्ञाने च । विशे० ।

अमियगइ-अमितगति-पुं० । दाक्षिणात्ये दिक्कुमारेन्द्रे, भ० ३ श० ८ उ० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामख्याते माथुरसंघीये माधवसेनाचार्यशिष्ये दिगम्बरजैनाचार्ये, स च वैक्रमीये १०५० वर्षे अभवत् । येन धर्मपरीक्षा-सुभाषितरत्नसंदोहनामानौ च ग्रन्थौ निर्मितौ । जै० इ० ॥

अमियचंद-अमृतचन्द्र-पुं० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारग्रन्थोपरि 'आत्मख्याति' नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रवचनसार टीका-पञ्चास्तिकायटीका-तत्त्वार्थसार-पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-तत्त्वदीपिकादिग्रन्थानां च कारके वैक्रमीये द्वाषष्ट्युत्तरनवमशतके (९६२) विद्यमाने आचार्ये, जै० इ० ।

अमियणाणि(ण्)-अमितज्ञानिन्-पुं० । अमितं च तद् ज्ञानं चामितज्ञानम्,तदस्यास्ति सोऽमितज्ञानी। आ०म०प्र०। सर्वज्ञे, स० । अपरिशेषज्ञानिनि, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ अ०। केवलिनि, पं० चू० । /

अमियमणंतं नाण, तं तेसिं अमियणाणिणो तो ते ।
तं जेण णेयमाणं, तं चाणंतं जओ नेयं ॥ १०५० ॥

अनन्तत्वान्मातुमशक्यममितं केवलज्ञानलक्षणं ज्ञानं, तत्तेषां विद्यते,ततोऽमितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केवलज्ञानस्यानन्त्यम्?। इत्याह-तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन ज्ञेयमानं वर्तते, ज्ञानस्य ज्ञेयानुवर्तित्वात् । तच्च ज्ञेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमतः केवलज्ञानस्यानन्त्यमिति ॥ विशे० ॥

अमियतेयसूरि-अमिततेजःसूरि-पुं० । स्वनामख्याते सूरिभेदे, " एएसिं अमियतेयसूरीणं अंतिए सहजायाए पव्वइउं एयं वि सेसकारणं तेण भणियं "। दर्श० ।

अमियजूय-अमृतजूत-न० । भूतशब्द उपमार्थः । परमपदहेतुत्वाज्जरामरणादिविघातकत्वेनाऽमृततुल्ये जिनवचने, "जिणवयणसुभासियं अमियभूयं । " आतु० ।

अमियमेह-अमृतमेघ-पुं० । दुष्षमदुष्षमान्ते वर्षिणि चतुर्थे महामेघे, जं० ।

चतुर्थमेघवक्तव्यतामाह-

तंसि च णं घयमेहंसि सत्तरत्तं णिवातितंसि समाणंसि एत्थ णं अमियमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ, भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ, जे णं भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वगहरितगओसहिपवालंकुरमाईए तणवणप्फइकाइए जणइस्सइ ॥

(तंसि इत्यादि) तस्मिंश्च घृतमेघे सप्तरात्रं निपतति सति,अत्र प्रस्तावेऽमृतमेघो नाम यथार्थनामा महामेघः प्राडुर्भविष्यति वर्षिष्यति इतिपर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो भरते वर्षे वृक्षगुच्छगुल्मलतावल्ल्यः, तृणानि प्रतीतानि, पर्वगा इक्ष्वादयः, हरितानि दूर्वादीनि, औषध्यः शाल्यादयः, प्रवालाः पल्लवाः, अङ्कुराः शाल्यादिबीजसूचय इत्यादीनि तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । जं० ३ वक्ष० ।

अमियरसरसोवम-अमृतरसरसोपम-त्रि०। अमृतरसेन रसस्योपमा यत्र तदमृतरसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वादमधुरे, "सेसाणं (तीर्थकृताम्) अमियरसरसोवमं आसि " । आ० म० प्र० ।

अमियवाहण-अमितवाहन-पुं० । औत्तराहदिक्कुमारेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । प्रज्ञा० । स० ।

अमियासणिय-अमितासनिक-पुं० । अबद्धासने, मुहुर्मुहुः स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि सेवमाने, कल्प० ६ क्ष० ।

अमिल-आमिल-न० । ऊर्णावस्त्रे, ध० २ अधि० । दश० । नि० चू० । आचा० ।

अमिलक्खु-अम्लेच्छ-पुं०। आर्ये म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञे, सूत्र०१ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अमिला-अमिला-स्त्री० । श्रीनेमिनाथस्य प्रथमशिष्यायाम, स० । पमिकायां तृस्वमहिष्याम, बृ० १ उ० ।

अमिलाण-अम्लान-त्रि० । अमलिने, औ० । नि० चू० ।

आमिलाय-अम्लान-त्रि० । न म्लायते शीघ्रं तदिति । चिरममलिने, नि० चू० २ उ० ।

अमिलायमल्लदाम-अम्लानमाल्यदामन्-न० । अम्लानपुष्पदामनि, भ० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

अमिलिय-अमिलित-त्रि० । असंसक्ते, विशे० । अनेकशास्त्रसंबन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् । असदृशधान्यमेलकवत् । अथवा परावर्तमानस्य यत्र पदादिविच्छेदो न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अमिलितम् । मिलितदोषविप्रमुक्ते सूत्रगुणे, अनु० । पं० चू० । ग० । अमिलितं यद् ग्रन्थान्तरवर्तिभिः पदैरमिश्रितं,यथा-सामायिकसूत्रे दशवैकालिकोत्तराध्ययनादिपदानि न क्षिपति । बृ० १ उ० ।

अमुइ-अमोचिन्-त्रि० । अमोचनशीले, बृ० ४ उ० । " अमुइ समुत्ते वि जो ण मुए " पं० भा० । पं० चू० ।

अमुक्कपुण्णय-अमुक्तपूर्णत-त्रि० । अमुक्ता पूर्णता येन तत् अमुक्तपूर्णतम् । पूर्णे, ध० २ अधि० ।

अमुग-अमुक-त्रि० । अदस्-अकच् । उत्वमत्वे कस्य गः । प्रा० १ पाद । अदःशब्दार्थे अज्ञातनामरूपे विवक्षितेऽर्थे, " अमुगंहि भोजं " अमुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्र० द्वा०। " अमुगं गामं वच्चामो, तत्थ दो तिन्नि वा दिवसो अच्छिस्सामो " । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

अमुग्ग-अमुग्न-त्रि० । अविद्यमानमुद्गे, अनु० ।

अमुच्छिय-अमूर्छित-त्रि० । न मूर्च्छितोऽमूर्च्छितः । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दश० । आहारादौ मूर्छामकुर्वति, पं०व०२ द्वार । विरमे शब्दादिषु वा गृद्धे, दश० ५ अ० १ उ० । आचा० ।

अमुण-अज्ञ-पुं० । अज्ञे, मूर्खे च । बृ० १ उ० ।

अमुणिय-अज्ञात-न० । नास्ति मुणितं ज्ञातं यत्र तदमुणितम । ज्ञानविकले, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अमुत्त-अमुक्त-त्रि०। लोकव्यापारप्रवृत्ते सकर्मणि,स्था०१० ठा०। अमूर्त-त्रि० । अरूपिणि, आव० ४ अ० ।

अमुत्तत्त-अमूर्तत्व-न० । मूर्तत्वाभावसमानियतत्वे, द्रव्या० २ अध्या० । " मूर्तिं दधाति मूर्तत्व-ममूर्तत्वं विपर्ययात् । "

मूर्त्तिः रूपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशना, तस्या धारणस्वभावो मूर्त्तत्वं, मूर्त्तस्वभावः, तस्माद्विपरीतं तदमूर्त्तत्वम, अमूर्त्तस्वभावः । द्रव्या० १३ अध्या० ।

अमुत्ति-अमुक्ति-स्त्री० । मुक्तिर्मोक्षगतिः, न मुक्तिरमुक्तिः । संसारसुखाभिलाषे, आतु० । सलोभतायां षष्ठ्यंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अमुत्तिमग्ग—अमुक्तिमार्ग–न० । न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रच्युतिलक्षणाया मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको यस्मिंस्तदमुक्तिमार्गम् । अधर्मपक्षे विभङ्गस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अमुय–अस्मृत–त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागते, भ० ३ श० ६ उ० ।

अमुयग–अमृतक–त्रि० । अबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरिणि जीवे, स्था० । "अमुयगो जीवेति" देवानां बाह्याऽभ्यन्तरपुद्गलादानविरहेण वैक्रियवतां दर्शनाद् बाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरो जीव इत्यध्यवसायवत् पञ्चमं विभङ्गज्ञानम । स्था० ७ ठा० ।

अमुसा--अमृषा--अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अमुह–अमुख–त्रि० । निरुत्तरे, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि (ण्)–अमुखरिन्–त्रि० । अवाचाले, उत्त० १ अ० ।

अमूढ–अमूढ–त्रि० । अविप्लुते, दश० १० अ० । सन्मार्गज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूढणाण-अमूढज्ञान-त्रि० । यथावस्थितज्ञाने, आ० म० द्वि० ।

अमूढदिट्ठि--अमूढदृष्टि–स्त्री० । अमूढा तपोविद्यातिशयादिकुतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽप्यमोहस्वभावादविचलिता, सा च दृष्टिश्च सम्यग्दर्शनममूढदृष्टिः । प्रव० ६ द्वार । बुद्धिमत्कुतीर्थिकदर्शनेऽप्यविगीतमेवास्मद्दर्शनमिति मोहविरहितायां बुद्धौ, उत्त० २ अ० । अमूढबुद्धिसंपन्ने, मुह्यते स्म अस्मिन्निति मूढः । न मूढोऽमूढस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टौ, नि० चू० १ उ० । बालतपस्वितपोविद्याऽतिशयदर्शनैर्न मूढा स्वरूपान्न चलिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनरूपेण यस्याऽसौ अमूढदृष्टिः । ग० १ अधि० । ध० । पञ्चा० । दश० ।

इदाणिं अमूढदिट्ठि त्ति दारं---

मुह्यते स्म अस्मिन्निति मूढः, न मूढोऽमूढः । अमूढदिट्ठी, याथातथ्यदर्शीत्यर्थः ॥

जहा सा भवति तहा भण्णति–

णेगविहा इड्ढीओ, पूयं परवादिणं च दट्ठूणं ।
जस्स ण मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तगं बेंति ॥ २६ ॥

(णेगविह त्ति) णाणप्पगारा, का ता ? (इड्ढि त्ति) इड्ढीओ-इस्सरियं, तं पुण विज्जामंतं तवोमंतं वा विउव्वणाऽऽगासगमणविभंगणाणादि ऐश्वर्यम् । (पूय त्ति) असणपाणखादिमसादिमवत्थकंबलादी–जस्स वा जं पाउग्गं तेण से पडिलाभेण पूया । केसिं भा ? (परवादिणं ति) जइणमासणवइरत्ता परा, ते य परिव्वायगरत्तपडियादी पासत्था, चसद्दाओ गिहत्था धीवरादि । अहवा चसद्दाओ समासणे वि जे इमे पासत्था, ते पूयासक्कारादी दट्ठुं, 'च अनुक्कारिसणे, पायपूरणे वा दट्ठव्वो' । (दट्ठूणं ति) दृष्ट्वा जहा तेसिं परवादीणं पूया सक्कारादिइड्ढिविसेसा दीसंति, ण तहा अम्ह । माणुसए चेव मोक्खमग्गो विसिट्ठतरो भवेज्जा अतो भण्णति–(जस्स त्ति) जस्स पुरिसस्स, 'ण इति पडिसेहे' मोहो विण्णाणविवच्चासो, दिट्ठी दरिसणं, स एवंगुणविसिट्ठो अमूढदिट्ठी दरिसणं भण्णति । जगारुद्दिट्ठस्स तगारेण णिद्देसो कीरति-(तगं ति) । (बेंति) ब्रुवन्ति आचार्याः, कथयन्तीत्यर्थः । अमूढदिट्ठि त्ति दारं गयं ॥ नि० चू० १ उ० ।

इयाणिं दिट्ठंतो–

सुलसा अमूढदिट्ठी, ... ।

सुलसा साविगा अमूढदिट्ठित्ते उदाहरणं भण्णति-भगवं चंपाए णयरीए समोसरिओ । भगवया य भवियथिरीकरणत्थं अंबडो परिव्वायगो रायगिहं गच्छंतो भणिओ–सुलसं मम वयणा सायं पुच्छेज्जासि । सो चिंतेति-पुण्णमंतिया सा, जं अरहा पुच्छति । तेण परिक्खणणिमित्तं भत्तं मग्गिता , अलभमाणेण बहूणि रूवाणि काऊण मग्गिता । ण दिण्णं । भण्णति य-परं अणुकंपाए देमि, ण ते पत्तबुद्धीए । तेण भणियं–जदि पत्तबुद्धीए देहि ? । सा भणति–ण देमि । पुणो पउमासणं विउव्वियं । सा भणति-जइ वि सिक्खा बंभणो तहा वि ते ण देमि पत्तबुद्धीए । तओ तेण उवसंघारियं सब्भावं च से कहियं । ण दिट्ठिमोहो सुलसाए जाओ । एवं अमूढदिट्ठिणा होयव्वं" । नि०चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२ पृष्ठ ' अंबड ' शब्देऽपि कथेयम)

अमूढलक्ख–अमूढलक्ष–त्रि० । अमूढः सुनिर्णयो लक्षो बोधविशेषो यस्य सोऽमूढलक्षः । पञ्चा० १४ विव० । अष्ट० । यथावस्थितवस्तुवेदिनि, बृ० १ उ० । समस्ततत्त्वाविपरीतवेदने, आ० म० द्वि० ।

अमेत्तणाण–अमात्रज्ञान–न० । मात्रा माने, तेन रहितममात्रम्, अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम । अप्रमिते केवलज्ञानिनि, अष्ट० १२ अष्ट० ।

अमेहा–अमेधा–स्त्री० । मेधोपघाते, नि० चू० १ उ० ।

अमोसलि–अमुशलि–न० । न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमुशलि । सुप्रत्युपेक्षणभेदे, ओघ० ।

अणच्चाविय अवलियं, अणाणुबंधी अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा णव खोडा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥२५॥

(अमोसलिं त्ति) न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमुशलि प्रत्युपेक्षणम । यथा मुशलं कुट्टने ऊर्ध्वं लगति, अधस्तिर्यक् च । एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । किंतु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्ध्वं पीठिषु न लगति, न च तिर्यक्षु भेन भूमौ, तथा कर्त्तव्यम् । ओघ० । ध० । स्था० । उत्त० । नि० चू० ।

अमोह–अमोघ–त्रि० । अर्थबलाऽऽयातत्वेनाविफले, अमिथ्यारूपे, विशे० । अबन्ध्ये, दश० ८ अ० । आदित्योदयास्तसमययोरादित्यकिरणविकारजनितेषु आताम्रेषु कृष्णेषु श्यामेषु वा शकटार्द्धसंस्थितेषु (सूर्यबिम्बस्याधःस्थेषु कदाचिदुपलक्ष्यमानेषु रेखारूपेषु) दण्डेषु, भ० ३ श० ६ उ० । जी० । अनु० ।

अमोह–त्रि० । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहोऽमोहः । अवितथग्राहे, विशे० । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बूमन्दरस्य रुचकवरे पर्वते कूटभेदे, स्था० ८ ठा० । द्वी० । शोभाञ्जन्या नगर्या उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चैत्ये पूज्यमाने यक्षे, विशे० ॥

अमोहणाधारि (ण्)–अमोहनाधारिन्–पुं० । अमोहनं मोहरहितं सम्यक्तया समन्ताद् धारयतीत्येवंशीलोऽमोहनाधारी । सूत्रादेर्निर्मोहं धारके, व्य० १० उ० ।

अमोहदंसि (ण्)-अमोघदर्शिन्-पुं० । अमोघं पश्यति यथावत्पश्यति, दश० ६ अ० ।

अमोहवयण-अमोहवचन-न० । धर्मदेशनारूपेऽव्यर्थवचने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अमोहा-अमोघा-स्त्री० । जम्ब्वाः सुदर्शनाया नाम्नि, (मोघं निष्फलम्) न मोघा अमोघा । अनिष्फला इत्यर्थः । तथाहि-शाश्वतस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुपजनयति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामिभावस्यैवायोगात्, ततोऽनिष्फलेति । जं० ३ प्रति० । जं० । उत्तराञ्जनादेर्दक्षिणदिग्भागवर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । जी० ।

अम्ब-आम्र-पुं० । " ताम्राम्रे म्बः " । ८ । २ । ५६ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो 'म्बः' । चूत-(आँब) वृक्षे, तत्फले च । प्रा० २ पाद ।

अम्बकूणगहत्थगय-आम्रफलहस्तगत-त्रि० । स्वकीयतपस्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमाम्रास्थिकं चूषति,भ०१५ श०१उ०।

अम्मम-अम्मम-पुं० । स्वनामख्याते परिव्राजके, भ० १४ श० ८ उ० । औ० । स्था० । (तद्वक्तव्यता अनुस्वारप्रकरणे 'अंब (म) ड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठे निरूपिता)

अम्मया-अम्बा-स्त्री० । पुत्रमातरि, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । भ० । नि० ।

अम्महे-अम्महे-अव्य० । हर्षे, " अम्महे हर्षे " ८ । ४ । २८४ । इति शौरसेन्यम् ' अम्महे ' इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्यः । " अम्महे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदो भवं " । प्रा० ४ पाद ।

अम्मापितिसमाण-अम्बापितृसमान-पुं० । मातापितृभ्यां समाने पुत्रेषु मातापित्रोरिव व्यवहारादिष्वविषमदर्शिनि, व्य० ३ उ० । उपचारं विनाऽपि साधुषु एकान्तेनैव वत्सले श्रमणोपासके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अम्मापियर-अम्बापितृ-पुं० । द्वि० व० । मातापित्रोः, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अम्मापेइय-अम्बापैतृक-न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अम्मापेइए णं भंते ! सरीरए केवयं कालं संचिट्ठइ ?। गोयमा ! जावइयं कालं से भवधारणिज्जे सरीरए अव्वावन्ने भवइ, एवइयं कालं संचिट्ठइ । अहे णं समए समए वोयसिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णे भवइ ।

(अम्मापेइए णं ति) अम्बापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचारात्, उक्तलक्षणानि मातापित्रङ्गानीत्यर्थः। (जावइयं ति) यावन्तं कालं, (से त्ति) तस्य वा जीवस्य,भवधारणीयं भवधारणप्रयोजनं, मनुष्यादिभवोपग्राहकमित्यर्थः । (अव्वावण्णे त्ति) अविनष्टम्, (अहे णं ति) उपचयान्तिमसमयादनन्तरमेतद् अम्बापैतृकं शरीरम् (वोयसिज्जमाणे त्ति) व्यवकृष्यमाणं हीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अम्मि-अहम्-अस्मदः प्रथमैकवचनान्तस्य " अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना " । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन 'अम्मि' इत्यादेशः । "उन्नम न अम्मि कुविआ" प्रा० ३ पाद ।

अम्मो-अव्य० । " अम्मो आश्चर्ये " । ८ । २ । २०८ । इति सूत्रेण अम्मो इत्याश्चर्ये प्रयोक्तव्यम् । " अम्मो कह पारिज्जइ " ॥ प्रा० २ पाद ।

अम्ह-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य "णे णो मज्झ अम्ह अम्हं०" । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः। प्रा०३ पाद ॥

वयम्-अस्मदो जसा सहितस्य "अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा" । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अम्हादेशः । प्रा० ३ पाद । " अम्ह चोक्खा चोक्खायारा " औ० ॥

अम्हइं-वयम्-अस्मान्-"जश्शसोरम्हे अम्हइं" ।८।४। ३७६ । इत्यपभ्रंशे अस्मदो जशि शशि च प्रत्येकमम्हे अम्हइं इत्यादेशौ । "अवस न सुअहिँ सुअच्छिअहिँ, जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि" । " अम्हइं देक्खइ " प्रा० ४ पाद ।

अम्हं-अस्माकम्-"णे णो मज्झ अम्ह अम्हं०"।८।३।११४। इत्यादिसूत्रेणामा सहितस्यास्मदोऽम्हमादेशः । प्रा०३ पाद । 'अम्हं धूया णो आढाइ " विपा० १ श्रु० ६ उ० ।

अम्हकेर-अस्मदीय-त्रि० । "इदमर्थस्य केरः" ।८।२।१४७ । इतीदमर्थस्य प्रत्ययस्य 'केर' इत्यादेशः । "सेवादौ वा" ८ । २ । ६९ । इति कद्वित्वम् । अस्मत्सत्के, प्रा० २ पाद ।

अम्हत्तो-अस्मत्त्वम्-" ममाम्हौ भ्यसि " ८ । ३। ११२ । इति सूत्रेण भ्यसि ' अम्ह ' इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अम्हाण-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य " णे णो मज्झ अम्ह०" ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अम्हाणादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अम्हातिस-अस्मादृश-त्रि० । " यादृशादेर्दुस्तिः " ८।४। ३१७। इति पैशाच्यां 'दृ' इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद।

अम्हार-मम-पैशाच्यां " षष्ठ्याः" ८।४। ३४५ । इति सूत्रेण षष्ठ्या सुक् । "संगर-सएहिँ जु वण्णिअइ, देक्खु अम्हारा कंतु" प्रा० ४ पाद ॥

अम्हारिस-अस्मादृश-त्रि० । " दृशः क्विप्-टक्सकः " ८ । १ । १४२ । इति सूत्रेण क्विबाद्यन्तस्य ऋतो रिरादेशः । "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः" ८ । २ ।७४। इति संयुक्तस्य स्मभागस्य मकाराकान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । " अम्हारिसो ' अस्मत्सदृशेषु, प्रा० १ पाद ।

अम्हासुन्तो-अम्हाहिन्तो-अस्मत्त्वम्-" ममाम्हौ भ्यसि " ८ । ३ । ११२। इत्यस्मदो भ्यसि अम्हादेशः। "भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो " ८ । ३ । ९ । इति सूत्रेण भ्यसः ' सुन्तो, हिन्तो ' इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ॥

अम्हि-अहम्-" अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना " ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिना सह 'अम्हि ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ॥

अम्हिया-अस्मिता-स्त्री० । अहङ्कारानुगमे, द्वा० २६ द्वा० । यन्नान्तर्मुखतया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमेव भाति साऽस्मिता । द्वा० २० द्वा० । अस्मिता दृग्दर्शनैकता; दृग्दर्शनयोः पुरुषरजस्तमोऽनभिभूतसात्त्विकपरिणा-

मयोः भोक्तृभोग्यत्वेनावस्थितयोरेकता अस्मिता । तदुक्तम्-'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता" द्वा० २५ द्वा०।

अम्हे-वयम्-अस्मान्-" जश्शसोरम्हे अम्हइं " ८ । ४ । ३७६। इत्यपभ्रंशे अस्मदो जसि शसि च 'अम्हे' इत्यादेशः। प्राकृतेऽप्येवम्-"अम्हे थोवा रिउ बहुअ,कायर एम्व भणंति"। प्रा०४ पाद॥

अम्हेच्चय-आस्माक-त्रि० । अस्माकमिदम् । " युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः" ८ । २ । १४९ । इत्यस्मदः परस्येदमर्थस्याञः 'एच्चय' इत्यादेशः । अस्मदीये, प्रा० ४ पाद ॥

अम्हो-अस्माकम्-" णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो " ८ । ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद ' अम्हो ' इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद ।

अय-अज-पुं० । अजैकपाद्देवे, स च पूर्वाभाद्रपदानक्षत्रस्य देवता । ज्यो० ६ पाहु० । ' दो अया ' स्था० २ ठा० ३ उ०। अनु० । सूर्यवंशीये रघुपुत्रे, वाच० ।

अय-पुं० । अयनमयः। इणू गतौ इति धातोः"एरच्" ३। ३। ५६। इति [पाणि०] सूत्रेण अच् प्रत्ययः, आ० म० द्वि०। वेदने, लाभे,प्राप्तौ च । विशे० ।आ० म० । आव० । इष्टफले,न० । स्था० १ ठा० १ उ० । शुभे, स्था० १० ठा० ।

अयस्-न० । लोहे, नि० चू० ५ उ० । जी० । प्रश्न० । उत्त० ।

अयआगर-अयआकर-पुं० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते। नि० चू०५ उ०। यत्र वा लोहकारो लोहं ध्मापयति । स्था०७ठा०।

अयं-अयम्-पुं० । "पुंस्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ" ॥ ८।३।७३॥ इति इदमशब्दस्य सौ अयादेशे अयं। प्रा०३पाद। "अयं एरमढे सेसे अणट्ठे " अयमिति प्राकृतत्वादिदम । औ० ।

अयंत-आयत्-त्रि०। आगच्छति प्रविशति, " जाव अयंतो निसीहियं कुणइ " आ० म० द्वि० ।

अयंपुल-अयंपुल-पुं० । अजीविकोपासके गोशालकशिष्ये, भ० ८ श० ५ उ० ।

अयंसंधि-अयंसन्धि-त्रि० । " अयं संधीति " अयमिति प्रत्यक्षगोचरापन्नः, आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः सन्धिः । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । ' अयंसन्धीति ' सन्धानं (सन्धिः) सन्धीयते वाऽसाविति सन्धिः। अयं सन्धिर्यस्य साधोरसावयंसन्धिः । छान्दसत्वाद् विभक्तेरलुक् । यथाकालमनुष्ठानविधायिनि , यो यस्य वर्तमानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव संधत्ते । एतदुक्तं भवति-सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्यायभिक्षाचर्याप्रतिक्रमणादिका असंपन्ना अन्योन्याबाधयाऽऽत्मीयकर्तव्यकाले करोतीत्यर्थ इति । आचा० १ श्रु०२अ०१उ०।

अयकंत-अयस्कान्त-पुं० । अयसां मध्ये कान्तः रमणीयः । कस्कादित्वात् सत्वम् । कान्तिलोह इति ख्याते लोहभेदे, वाच० । सन्निधिमात्रेण लोहाकर्षके, [चुम्बक] इतिख्याते प्रस्तरभेदे च । अयसां प्रियत्वात्तथात्वम् । आ० म० प्र० ।

अयकक्करभोइ (ण्)-अजकर्करभोजिन्-त्रि० । अजस्य छागादेः कर्करमतिभ्रष्टं यच्चणकवद् भुज्यमानं कर्करायते तन्मेदोदन्तुरं पक्वं शूलाकृतं मांसं,तद् भुङ्क्ते इत्येवंशीलोऽजकर्करभोजी। अजादेः कर्करायितमांसभुजि, " अयकक्करभोई य, तुन्दिल्ले चियसोणिए । आउयं नरए कंखे, जहा एसं व एलए" ॥ ७ ॥ उत्त० ७ अ० ।

अयकमिल्ल-अयःकमिल्ल-न० । अयो लोहं तन्मयं यत्कमिल्लं तत् । लोहकटाहे, ओघ० ।

अयकरग-अजकरक-पुं०। सप्तदशे महाग्रहे,सू० प्र० २० पाहु०। कल्प० । चं० प्र०। जं०। "दो अयकरगा" स्था० २ ठा० २ उ०।

अयकोट्ठय-अयःकोष्ठक-न० । लोहप्रतापनार्थे कुशूले, भ० १६ श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अयक्खंत-अयस्कान्त-पुं० । लोहाकर्षके चुम्बके मणौ, आ० म० प्र० ।

अयगर-अजगर-पुं० । शयुःपर्याये, उरःपरिसर्पविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । महाकायसर्पे, जं० २ वक्ष० । " से किं तं अयगरा ? । अयगरा एगागारा पण्णत्ता, सेत्तं अयगरा " । प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

अयगोलय-अयोगोलक-पुं०। अयो लोहं, तस्य गोलः पिण्डोऽयोगोलः । नि० चू० १ उ० । अयःपिण्डे, दशा० ७ अ० । सूत्र० ।

अयच्छ-कृष्-धा०-विलेखने, " कृषेः कड्ढ-साअड्ढाअञ्छायञ्छाइञ्छाः " ८ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण कृषेः अयञ्छादेशः। अयञ्छइ-कृषति । प्रा० ४ पाद ।

अयण-अयन-न० । गमने, आ० म० द्वि० । उत्त० । स्था० । ज्ञा०। प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, नं० । ऋतुत्रयमाने, कर्म० ४ कर्म० । षण्मासात्मके काले, तं० । जं० । भ० । अनु० । अयनानि षाण्मासिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कल्प० ५ क्ष० ।

साम्प्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह-

छहिँ मासेहिँ दिणयरो, तेसीयं चरइ मंडलसयं तु ।
अयणम्मि उत्तरे दा-हिणे य एसो विही होइ ॥

षड्भिर्मासैर्दिनकरः सूर्यः त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं चरति। तथाहि-सर्वाभ्यन्तरमन्तरे द्वितीयमण्डले यदा सूर्य उपसंक्रम्य चारं चरति तदा स नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमोऽहोरात्रः। द्वितीयेन चाहोरात्रेण सर्वाभ्यन्तरात् तृतीयमण्डलं चरति;एवं षड्भिर्मासैस्त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं चीर्णं भवति। एष दक्षिणायनस्य षण्मासप्रमाणस्य पर्यन्तः । ततः सर्वबाह्याद् मण्डलादर्वागन्तरे द्वितीये मण्डले यदोपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा स उत्तरायणस्य प्रथमो दिवसः। सर्वबाह्याद् मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलं द्वितीयेनाहोरात्रेण चरति, एवं षड्भिर्मासैस्त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं सर्वाभ्यन्तरमण्डलपर्यवसानम् । एष दक्षिणस्मिन् उत्तरस्मिन् वा अयने विधिः प्रकारो भवति।

अत्रार्थे च करणं विवक्षुः प्रथमतः तदुपक्षेपमाह—

तेसीयं दिवससयं, अयणे सूरस्स होइ पडिपुन्नं ।
सुण तस्स कारणविहिं, पुव्वायरिओवएसेणं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपूर्णं त्र्यशीत्यधिकं दिवसशतम् । कथमेतदवसीयते इति चेत् ?। उच्यते-इह युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति,युगे च दिवसानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । ततस्त्रैराशिकमवतारयनि-यदि दशभिरयनैरष्टादशदिवसशतानि त्रिंशदधिकानि लभ्यन्ते,

तत एकेनायनेन किं लभ्यम ?,। आह-राशित्रयस्थापना १०+१८ ३०+१ । अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यमस्य राशेर्गुणनं ए-केन च गुणितं तदेव भवतीति, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधि-कानि,तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धं त्र्य-शीत्यधिकं दिवसशतम। एतावदेकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परि-माणम। सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायनस्य परिज्ञानविषये कार-कविधि करणरूपं प्रकारं पूर्वाचार्योपदेशेन प्रतिपाद्यमानं शृणु।

तत्र करणमाह–

सूरस्स अयणकरणं, पव्वं पन्नरसंगुणं नियमा ।
तिहिसंखित्तं संतं, बावट्ठीभागपरिहीणं ॥
तेसीयसयविभत्त–म्मि तम्मि लद्धं तु रूवमाएज्जा ।
जइ लद्धं होइ समं, नायव्वं उत्तरं अयणं ॥
अह हवइ भागलद्धं, विसमं जाणाहि दक्खिणं अयणं ।
जे अंसा ते दिवसा, होंति पवत्तस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, वक्ष्यमाणमिति शेषः । तदेवाह-पर्व पर्वसंख्यानं पञ्चदशगुणं नियमात् कर्त्तव्यम । कि-मुक्तं भवति?--युगमध्ये विवक्षितदिनात् प्राग् यानि पर्वाणि अ-तिक्रान्तानि तत्संख्या पञ्चदशगुणा कर्त्तव्येति । ततः पर्वणा-मुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते। ततो (बाव-ट्ठीभागपरिमाणमिति)प्रत्यहोरात्रम्-एकैकेन द्वाषष्टिभागेन परि-हीयमानेन ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचाराद् द्वाषष्टिभागा इत्युच्यन्ते,तैः परिहीनं विधेयम। ततस्तस्मिन् त्र्यशीत्यधिकेन शते-न विभक्ते सति यल्लब्धं रूपमेकद्व्यादिकं तत् आदेयात्, गृह्णीयात्; पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि लब्धं समं द्विचतुरा-दिरूपं भवति, तदा उत्तरमयनमनन्तरमतीतं ज्ञातव्यम् । अथ भवति भागे लब्धं विषमं, तदा जानीहि दक्षिणमयनमनन्तरम-तीतम । ये तु शेषा अंशाः पश्चादवतिष्ठन्ते तत्कालं प्रवृत्तस्या-यनस्य दिवसस्य दिवसा भवन्ति ज्ञातव्याः ॥ तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्टम-किमयनमनन्तरमतीतम ?, किं वा साम्प्रतमयनं वर्तते ?, इति । तत्र नवसु मासेषु अष्टादश पर्वाणि,ततोऽष्टादश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते,जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७० । नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रक्षि-प्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५, नवसु मासेषु च-त्वारोऽवमरात्रा भवन्ति, तथा ते चतुर्भिर्हीनाः क्रियन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१। अस्य राशेस्त्र्यशीत्यधिकेन श-तेन भागो ह्रियते, लब्धमेकं रूपम , शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः । तत आगतमिदमेकमयनमतीतं, तदपि च दक्षिणायनम् । साम्प्रतमुत्तरायणं वर्त्तते, तस्य चाष्टाशीत्यो दिवसो व्रजतीति, तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम-कियन्त्ययनानि गतानि ?, किं वाऽनन्तरमयनमतीतं ?,किं वा सा-म्प्रतमयनं वर्त्तते ? इति । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पञ्चाशत्पर्वा-णि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशद-धिकानि ७५० । तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्त-शतानि षष्ट्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिमासेषु चाऽ-वमरात्रा अभवन् द्वादश , ते ततोऽपनीयन्ते , जातानि सप्तशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ७४८ । एतेषां त्र्य-शीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारः, शेषास्तिष्ठन्ति षोडश, आगतानि चत्वार्ययनान्यतिक्रान्तानि, चतुर्थं चाऽयनमनन्तरमतीतमुत्तरायणम् । सम्प्रति दक्षिणाय-नस्याप्रवर्तमानस्य षोडशो दिवसो वर्त्तते इति । एवमन्य-दपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-

तेरस य मंडलाइं, चउचत्ता सत्तसट्ठिभागा य ।
अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्ते अद्धमासेणं ॥

इह नक्षत्रमासार्द्धपरिमाणं चन्द्रायणम । तत आह-नक्षत्र-विषये योऽर्द्धमासस्ततस्तावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति तत्र त्रयोदश मण्डलानि चतुश्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान्। किमुक्तं भवति?–त्रयोदश अहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य सत्काश्च-तुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायण-स्य परिमाणमिति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? ; उच्यते-इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च दिनस्य सत्का एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः । तत एतस्यार्द्धं यथोक्तं चन्द्रायणपरिमाणं भवति । अथवा—युगे चन्द्रायणानां चतुस्त्रिंशदधिकं शतं भवति ; अहोरात्राणां च युगे अष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि । ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावकाशः । यदि चतुस्त्रिंशेन शतेन अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुमः ?। राशित्रयस्थाप-ना–१३४ + १८३० + १ । अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिना गुणनं, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति जातान्यष्टादशशता-नि त्रिंशदधिकानि १८३० । तेषामाद्येन राशिना चतुस्त्रिंशद-धिकशतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश ; शेषास्तिष्ठन्त्य-ष्टाशीतिः। तत आद्यस्य राशेश्चतुश्चत्वारिंशता गुणने जातानि अ-ष्टपञ्चाशत् षण्णवत्यधिकानि ५८९६ । तेषां चतुस्त्रिंशेनाधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ।

सम्प्रति चन्द्रायणपरिज्ञाननिमित्तं करणमाह–

चंदायणस्स करणं, पव्वं पन्नरससंगुणं नियमा ।
तिहिपक्खित्तं संतं, बावट्ठीभागपरिहीणं ॥
नक्खत्तअद्धमासे–ण भागलद्धं तु रूवमाएज्जा ।
जइ लद्धं हवइ समं, नायव्वं दक्खिणं अयणं ॥
अह हवइ भागलद्धं, विसमं जाणाहि उत्तरं अयणं ।
सेसाणं अंसाणं, ओसिस्सइ सो भवे करणं ॥
सत्तट्ठीएँ विभत्ते, जं लद्धं तइ हवंति दिवसाओ ।
अंसा य दिवसभागा, पवत्तमाणस्स अयणस्स ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा अयनस्य परिज्ञानाय कर-णमिदम–यानि युगमध्ये पर्वाण्यतिक्रान्तानि तत्पर्वसंख्यानं प-ञ्चदशभिर्गुण्यते, ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ताः तत्र प्रक्षिप्यन्ते , ततो द्वाषष्टिभागपरिहीनमवमरात्रपरिहीनं क्रियते, ततो नक्षत्रस्यार्द्धमासेन तस्मिन् भक्ते सति यद् लब्ध-मेकद्वित्र्यादिरूपं तद् आदेयात्, पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः । तत्र यदि लब्धं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमनन्त-रमतीतमवसेयम् । अथ भवति भागलब्धं विषमं तदा उत्तरं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं जानीहि । इह युगस्यादौ प्रथमतः च-न्द्रायणमुत्तरं,ततो दक्षिणायनमतोऽत्र समे भागे दक्षिणायनमन-न्तरमतीतमवसेयम;विषमे लब्धे उत्तरायणमिति। शेषास्तु अंशा ये उद्धरितास्तेषामंशानां सप्तषष्ट्या विभक्ते सति यद् लब्धं तत् प्रवर्त्तमानस्यायनस्य भवन्ति दिवसाः, तत्राऽप्युद्धरिता अंशा दिवसभागा ज्ञातव्याः। तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

केनापि पृष्टम्-किं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं ?, किं वा साम्प्रतमुत्तरं दक्षिणं वा वर्त्तते ?। तत्र नवसु मासेषु पर्वाणि अष्टादश, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवानां च मासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५। नवसु च मासेषु चत्वारोऽवमरात्राः, ते ततोऽपनीयन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१। एतस्य राशेर्नक्षत्रे मासार्द्धेन भागहरणं, तत्र नक्षत्रार्द्धमासो न परिपूर्णः, किन्तु कतिपयसप्तषष्टिभागाधिकः, तत एष सर्वोऽप्यवमरात्रशुद्धः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं पञ्चाशदधिकम् १८१५०। नक्षत्रार्द्धमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयोदशदिवसाः १३, एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः $\frac{44}{67}$। तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि, तत्र उपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नवपञ्चदशाधिकानि ९१५। एतैः पूर्वराशेर्भागे हृते लब्धा एकोनविंशतिः १९। शेषमुद्धरन्ति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि ७७७। तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चत्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः। आगतमेकोनविंशतिश्चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि, अनन्तरं चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्द्रायणस्य सम्प्रति प्रवृत्तस्यैकादश दिवसा गताः, द्वादशस्य च दिवसस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागः, पञ्चम्यां समाप्तायां भविष्यन्तीति ॥ तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम्-कियन्ति चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि ?, किं च साम्प्रतमनन्तरमतीतं चन्द्रायणं, किं वा संप्रति वर्त्तते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं वेति ?। तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पर्वाणि पञ्चाशत्, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५०। तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि षष्ट्यधिकानि ७६०। पञ्चविंशतिमासेषु चावमरात्रा अभवन् द्वादश, ते पूर्वराशेरपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ७४८। तानि षष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि ५००९६। तेषां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः ९१५ भागो ह्रियते, लब्धाश्चतुष्पञ्चाशत्। शेषमुद्धरन्त्यष्टौ शतानि षडशीत्यधिकानि ८८६। तेषां दिवसानयनाय सप्तषष्ट्या भागहरणं, लब्धास्त्रयोदश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, आगतानि चतुष्पञ्चाशत् चन्द्रायणानि अतिक्रान्तानि। अनन्तरं चातिक्रान्तं चन्द्रायणं दक्षिणं, सम्प्रति वर्त्तते उत्तरं चन्द्रायणम्, तस्य च त्रयोदश दिवसाश्चतुर्दशस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तषष्टिभागा दशम्यां समाप्तायां भविष्यन्तीति। एवमन्यदपि भावनीयमिति ॥ ज्यो० ११ पाहु०। चं० प्र०। सू० प्र०।

अयपाद (य)-अयःपात्र-न०। लोहपात्रे, " अयपादाणि वा तंबपादाणि वा " आचा० २ श्रु० ६ अ० ६ उ०।

अयमग्ग-अजमार्ग-पुं०। द्रव्यमार्गभेदे, यत्र बस्तेनाजेन गम्यते। तद्यथा-सुवर्णभूम्यां चारुदत्तो गतः ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अयवीहि-अजवीथि-स्त्री०। हस्तचित्रास्वातीविशाखाऽनुराधापञ्चकरूपमहाग्रहचारविशेषमार्गे, स्था० ९ ठा०।

अयसी-अतसी-स्त्री०। मालवकप्रसिद्धे धान्यविशेषे, (तीसी-अलसी) श्रा० ५ अ०। प्रज्ञ०। प्रज्ञा०। आ० म०। औ०। अन्त०। अं०। रा०। उत्त०। को०। भक्ष्याम. प्र० ६ श० ७ उ०।

अयसीकुसुमप्पयास-अतसीकुसुमप्रकाश-त्रि०। नीले, ज्ञा० १ अ०। अन्त०। उपा०। रा०।

अयसीपुप्फ-अतसीपुष्प-न०। धान्यविशेषस्य प्रसूने, उत्त० ३४ अ०।

अयसी (सि) वण्ण-अतसीवर्ण-त्रि०। अतसीकुसुमवर्णे श्यामवर्णे, उत्त० १९ अ०।

अयहारि (ण्)-अयोहारिन्-त्रि०। लोहस्याहर्तरि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

अयाकिवाणिज्ज-अजाकृपाणीय-न०। ममोपरि कृपाणं पतिष्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागले कृपाणपतनरूपे अतर्कितोपस्थिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अयाकुच्छि-अजाकुक्षि-त्रि०। अजायाः कुक्षिरिव कुक्षिर्यस्य तदजाकुक्षि। उपा० २ अ०।

अयागर (न०)-अयआकर-पुं०। प्राकृतत्वात् पुंसकत्वम्। लोहाकरे, येषु निरन्तरं महामूषास्वयोदलं प्रक्षिप्याऽय उत्पाद्यते। जी० ३ प्रति०।

अयाणंत-अजानत्-त्रि०। अविदुषि, " पावस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढंति " । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा०।

अयावय-अजाव्रज-पुं०। अजावाटके, " केइ पुरिसे अयासयस्स एगं महं अयावयं करेज्जा " । भ० १९ श० ३ उ०।

अयावयट्ठ-अयावदर्थ-पुं०। न यावदर्थः। अपरिसमाप्ते, दशा० ५ अ० २ उ०।

अय्य-आर्य-पुं०। " न वा र्यो य्यः " । ८। ४। २६६। इति 'र्य' भागस्य य्यः। [अस्यार्थस्तु ' अज्ज ' शब्देऽत्रैव भागे २०८ पृष्ठे द्रष्टव्यः] " अय्य ! एशे खु कुमाले मलयकेदू " । आर्य ! एष खलु कुमारो मलयकेतुः। प्रा० ४ पाद।

अय्यउत्त-आर्यपुत्र-पुं०। " न वा र्यो य्यः " ८। ४। २६६। इति शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यः। श्रेष्ठपुत्रे, नाटकसंबोध्ये नायकादौ, "अय्यउत्त ! पय्याकुलीकदम्हि" आर्यपुत्र ! पर्याकुलीकृताऽस्मि। प्रा० ४ पाद।

अय्युण-अर्जुन-पुं०। "जद्ययां यः" । ८। ४। २९२। इति मागध्यां जस्य स्थाने यः। (' अज्जुण ' शब्दे २२४ पृष्ठेऽत्रैवास्यार्थः) प्रा० ४ पाद।

अर-अर-पुं०। न०। ऋ-अच्। चक्रनाभिनेम्योर्मध्यस्थे काष्ठे, शीघ्रे च। वाच०। नं०। सर्वोत्तमे महासत्त्व-कुले य उपजायते। तस्याभिवृद्धये वृद्धै-रसावर उदाहृतः" ॥१॥ इति वचनाद्-अरः। तथा गर्भस्थेऽस्मिन् जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृष्ट इति अरः। ध०२ अधि०। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे वर्त्तमानायामवसर्पिण्यां जाते सप्तमे चक्रवर्त्तिनि, स०। अष्टादशे तीर्थंकरे, स०। आव०। ति०। स्था०। प्रव०।

सुमिणे अरं महरिहं, पासइ जणणी अरो तम्हा ॥४६॥

तत्थ सव्वे वि सव्वुत्तमे कुले सुविकिकरा एत्र जायंति, विसेसो पुणो-(सुमिणो अरं महरिहं ति) गाहापच्छद्धं। गब्भगते माताए सुमिणे सव्वरयणमयो अइसुंदरो अइपमाणो जम्हा अरो दिट्ठो तहा अरो त्ति से णामं कतं ति गाथार्थः ॥४६॥ आव० २ अ०। आ० चू०।

अरजिनचरित्रं त्वित्थम्—

सागरंतं चइत्ता णं, भरहं नरवरीसरो ।
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥

च पुनः, अरो अरनामा नरवरेश्वरः सप्तमचक्री सागरान्तं समुद्रान्तं भरतक्षेत्रं षट्खण्डराज्यं त्यक्त्वा अरजस्त्वं प्राप्तः सन् अनुत्तरां गतिं सिद्धगतिं प्राप्तः,मोक्षं गत इत्यर्थः। चक्री भूत्वा तीर्थकरपदं भुक्त्वा मोक्षं गत इत्यर्थः। अत्र अरनाथदृष्टान्तः। अरनाथवृत्तान्तस्तूत्तराध्ययनवृत्तिद्वयेऽपि नास्ति, तथापि ग्रन्थान्तरालिख्यते-प्राग्विदेहविभूषणे मङ्गलावतीविजये रत्नसञ्चया पुरी अस्ति। तत्र महीपालनामा भूपालोऽस्ति स्म, प्राज्यं राज्यं भुङ्क्ते स्म। अन्यदा गुरुमुखाद्धर्मं श्रुत्वा स वैराग्यमागतः, स तृणमिव राज्यं त्यक्त्वा दीक्षां ललौ। गुर्वन्तिके एकादशाङ्गानि अधीत्य गीतार्थो बभूव। बहुवत्सरकोटीः स संयममाराध्य विंशतिस्थानकैरर्हन्नामकर्म बबन्ध। ततो मृत्वा सर्वार्थसिद्धविमाने देवो बभूव। ततश्च्युत्वा इह भरतक्षेत्रे हस्तिनागपुरे सुदर्शननामा नृपो बभूव। तस्य राज्ञी देवीनाम्नी बभूव। तस्याः कुक्षौ सोऽवततार। तदानीं रेवतीनक्षत्रं बभूव। तया चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः। ततः पूर्णेषु मासेषु रेवतीनक्षत्रे तस्य जन्म बभूव। जन्मोत्सवस्तदा षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारिकाभिः चतुष्षष्टिसुरेन्द्रैर्निर्मितः,ततः सुदर्शनराजाऽपि स्वपुत्रस्य जन्मोत्सवं विशेषाच्चकार। अस्मिन् गर्भगते मात्रा प्रौढो रत्नमयोऽरः स्वप्ने दृष्टः। ततः पित्राऽस्य 'अर' इति नाम कृतम्। देवपरिवृतः स वयसा गुणैश्च वर्द्धते स्म। एकविंशतिसहस्रवर्षेषु अरकुमारस्य पित्रा राज्यं दत्तम्,एकविंशतिवर्षसहस्राणि यावद्राज्यं भुक्तवतः तस्य शस्त्रकोशे चक्ररत्नं समुत्पन्नं, ततो भरतं संसाध्य एकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावच्चक्रवर्त्तित्वं बुभुजे। ततः स्वामी स्वयं बुद्धोऽपि लोकान्तिकदेवबोधितो वार्षिकं दानं दत्त्वा चतुष्षष्टिसुरेन्द्रसेवितो वैजयन्त्याख्यां शिबिकामारूढः सहस्राम्रवणे सहस्रराजभिः समं प्रव्रजितः। ततश्चतुर्ज्ञानी असौ त्रीणि वर्षाणि छद्मस्थो विहृत्य पुनः सहस्राम्रवणे प्राप्तः। तत्र शुक्लध्यानेन ध्वस्तपापकर्मारिः केवलज्ञानं प्राप। ततः सुरैः समवसरणे कृते स्वामी योजनगामिना शब्देन देशनां चकार। तं देशनां श्रुत्वा केऽपि सुश्रावका जाताः, केऽपि च प्रव्रजिताः। तदानीं कुम्भनृपः प्रव्रज्य प्रथमो गणधरो जातः। अरनाथस्य षष्टिसहस्राः साधवो जाताः, साध्व्यः स्वामिनस्तावत्प्रमाणा एव जाताः। श्रावकाश्चतुरशीतिसहस्राधिकलक्षत्रयमाना बभूवुः। सम्मेतशैलशिखरे मासिकाऽनशनेन भगवान्निर्वृतः। देवैर्निर्वाणोत्सवो भृशं कृतः ॥ उत्त० १८ अ०। "अरे णं अरहा तीसं धणू उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था"। स० ३० सम०। कल्प०। आ०म०। अ०। प्रव०। आव०। ती०। (अस्यान्तरं 'अंतर' शब्दे-ऽस्मिन्नेव भागे ६६ पृष्ठे प्रदर्शितम्)

अरइ–अरति–स्त्री०। रमणं रतिः–संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः। उत्त० २ अ०। संयमविषयेऽधैर्ये, उत्त० २ अ०। संयमोद्विग्नतायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। उद्वेगलक्षणे मोहनीयोदयजे चित्तविकारे, स्था० १ ठा० १ उ०। सूत्र०। दश०। दशा०। वातादिजन्ये चित्तोद्वेगे, उत्त० ११ अ०। अमनोज्ञेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगे, बृ० १ उ०। सूत्र०। अनिष्टसंप्रयोगसंभवे मनोदुःखे, प्रव० ४१ द्वार। इष्टप्राप्तिविनाशोत्थे मानसे विकारे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सूत्र०। स०।

अरइं आउट्टे से मेहावी

रमणं रतिस्तदभावोऽरतिः,तां पञ्चविधाचारविषयां मोहोदयात्कषायाभिष्वङ्गजनितां मातापितृकलत्राद्युत्थापितां, (स इति) अरतिमान्, मेधावी विदितासारसंसारस्वभावः सन्, आवर्त्तेत निवर्त्तयेदित्युक्तं भवति। संयमे चारतिर्न विषयाभिष्वङ्गभूते, कण्डरीकस्येव; इत्यत इदमुक्तं भवति-विषयाभिष्वङ्गे रतिं निवर्त्तेत। निवर्त्तनं चैवमुपजायते-यदि दशविधचक्रवालसामाचारीविषया रतिरुत्पद्यते, पौण्डरीकस्येवेति, ततश्चेदमप्युक्तं भवति-संयमे रतिं कुर्वीत, तद्विहितरतेस्तु न किञ्चिद्बाधायै नापीहापरसुखोत्तरबुद्धिरिति। आह च–

"क्षितितलशयनं वा प्रान्तभिक्षाऽशनं वा,
सहजपरिभवो वा नीचदुर्भाषितं वा।
महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,
न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति" ॥ १ ॥
"तणसंथारणिसण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि" ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

"अरइं च वोसिरे" अरतिं चानभिमतक्षेत्रादिविषयां व्युत्सृजामि। आतु०।

अरइकम्म–अरतिकर्मन्–न०। नोकषायवेदनीयकर्मभेदे, यदुदयात् सचित्ताचित्तेषु बाह्यद्रव्येषु जीवस्यारतिरुत्पद्यते। स्था० ९ ठा०।

अरइकारग–अरतिकारक–त्रि०। अरतिजनके, दश० १ चू०।

अरइपरि (री) सह–अरतिपरि (री) षह–पुं०। रमणं रतिः संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषहः, अरतिपरीषहः। उत्त० २ अ०। अरतिर्मोहनीयजो मनोविकारः, सा च परीषहः, तन्निषेधनेन सहनादिति। भ० ८ श० ८ उ०। विहरतस्तिष्ठतो वा यद्यरतिरुत्पद्यते तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि सम्यग्धर्मारामरतेनैव संसारभावमालोच्य भवितव्यम्। परीषहभेदे, आव० ४ अ०।

"गच्छंस्तिष्ठन्निषण्णो वा, नारतिप्रवणो भवेत्।
धर्मारामरतो नित्यं, स्वस्थचेता भवेन्मुनिः" ॥१॥ आ०म०द्वि०।
न कदाऽप्यरतिं कुर्याद्, धर्मारामरतिर्यतिः।
गच्छंस्तिष्ठंस्तथाऽऽसीनः, स्वास्थ्यमेव समाश्रयेत्" ॥ १ ॥
ध० ३ अधि०।

अरतिपरीषहमाह–

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पविसे, तं तितिक्खे परीसहं ॥ १४ ॥

ग्रामसूत्रम्-ग्रसते बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः। स च जिगमिषितः,अनुग्रामश्च तन्मार्गानुकूलः, अननुकूलगमने प्रयोजनाभावात्, ग्रामानुग्रामम्। यद्वा-ग्रामश्च स एव लघुग्रामश्च तम्। अथवा ग्रामानुग्राममिति रूढिशब्दत्वादेकस्माद् ग्रामादन्योऽनुग्रामः। ततोऽपि ग्रामानुग्राममुच्यते। नगराद्युपलक्षणमेतत्-ततो नगरादींश्च। किमित्याह-(रीयंतं ति) व्यत्ययाद्रीयमाणं विहरन्तम्, अनगारमुक्तस्वरूपम्, अकिञ्चनं नास्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनकनकाद्यस्तीत्यकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तथाभूतम्,अरतिरुक्तरूपा, अनुप्रविशेन्मनसि लब्धाऽऽस्पदा भवेत्, (तमिति) अरतिस्वरूपं, तितिक्षेत् सहेत, परीषहमिति सूत्रार्थः।

तत्सद्भावोपायमेवाऽऽह-

अरइं पिट्ठओ किवा, विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारंभे, उवसंते मुणी चरे ॥ १५ ॥

अरतिं पृष्ठतः कृत्वा विरतो हिंसादेः, आत्मा रक्षितो दुर्गतिहेतोरपथ्यानादेरनेनेत्यात्मरक्षितः, आयो वा ज्ञानादिलाभो रक्षितोऽनेनेत्यायरक्षितः, धर्मे आरमते रतिमान् स्यात् इति धर्मारामः । यद्वा-धर्म एवानन्दहेतुतया पाल्यतया वाऽऽरामो धर्मारामः, तत्र स्थितः, निरारम्भ उपशान्त एवंविधो मुनिश्चरेत् संयमाध्वनि, न पुनरुत्पन्नारतिरपध्यानेच्छुः स्यात् ॥ १५ ॥

अत्र पुरोहितराजपुत्रयोः कथा । यथा-अचलपुरे जितशत्रुनृपपुत्रः अपराजितनामा रोहाचार्यपार्श्वे दीक्षितः, अन्यदा विहरन् तगरां नगरीं गतः, तावता उज्जयिन्या आर्यरोहाचार्यशिष्यास्तत्रागताः । पृष्टं साधुना तेन उज्जयिन्याः स्वरूपम् । तैरुक्तम्-सर्वं तत्र वरम्, परं नृपपुत्रामात्यपुत्रौ साधूनुद्वेजयतः। ततो गुरूनापृच्छ्य स्वभ्रातृव्यबोधार्थं शीघ्रमुज्जयिन्यां गतः,तत्र भिक्षावेलायां लोकैर्वार्यमाणोऽपि वाढस्वरेण 'धर्मलाभ' इति पठन् राजकुले प्रविष्टः, राजपुत्राऽमात्यपुत्राभ्यां सोपहासमाकारितः । अत्रागच्छत, वन्द्यते । ततः स गतः । ताभ्यां उक्तम्-वेत्सि नर्तितुम् ? । तेनोक्तम्-बाढम्, परं युवां वादयतं; तौ तादृशं वादयितुं न जानीतः ततस्तेन तथा तौ कुट्टितौ पृथक्कृतहस्तपादादिसन्धिबन्धनौ, यथा अत्यन्तमारारटिं कुरुतः । तौ तादृशावेव मुक्त्वा साधुरुपाश्रये समायातः। ततो राजा सर्वबलेन तत्राऽऽयातः,तमुपलक्ष्य प्रसादनाय तस्य पादयोः पपात । उवाच- स्वामिन् ! सापराधावपि इमौ सज्जीकार्यौ, अतः परमपराधं न करिष्यतः । साधुनोक्तम्-यदीमौ प्रव्रजतस्तदा मुञ्चामि । राज्ञोक्तम्- एवमप्यस्तु । ततस्तौ प्रथमं लोचं कृत्वा प्रव्राजितौ, तत्र राजपुत्रो निःशङ्कितो धर्मं करोति, इतरस्तु अमर्षं वहति, अहं बलेन प्रव्राजित इति चेतस्योद्वेगं वहति । परं पालयित्वा द्वावपि चारित्रं शुद्धं मृत्वा तौ दिवं गतौ । अस्मिन्नवसरे कौशाम्ब्यां तापसश्रेष्ठी मृत्वा स्वगृहे शूकरो जातः,तत्र जातिस्मरणं प्राप्तवान्, सर्वं स्वसुतादिकुटुम्बं प्रत्यभिजानाति परं वक्तुं न किञ्चित् शक्नोति स्म। अन्यदा सुतैरेव शूकरो मारितः, ततः स्वगृह एव सर्पो जातः । तत्रापि जातिस्मरणवान्, पुनस्तैरेव मारितः, ततः पुत्रपुत्रो जातः। तत्रापि जातिस्मरणमाप । स एवं चिन्तयतिकथमेतां पूर्वभववधूं मातरमहमुल्लपामि; कथं चेमं पूर्वभवपुत्रं पितरमहमुल्लपामि?,इति विचार्य मौनमाश्रितो मूकव्रतभाग् जातः। अन्यदा केनचित् चतुर्ज्ञानिना तद्बोधं ज्ञात्वा स्वशिष्ययोर्मुखात् गाथा प्रेषिता-"तावस ! किमिणा मूअ-व्वएण पडिवज्ज जाणिअं धम्मं। मरिऊण सूअरोरग-जाओ पुत्तस्स पुत्त त्ति"॥१॥एतां गाथां श्रुत्वा प्रतिबुद्धो गुरूणां सुश्रावकोऽभूत् । एतस्मिन्नवसरे सोऽमात्यपुत्रजीवदेवो महाविदेहे तीर्थङ्करसमीपे पृच्छति-भगवन् ! किमहं सुलभबोधिर्दुर्लभबोधिर्वा ?, इति प्रश्ने प्रोक्तं तीर्थङ्करेण-'त्वं दुर्लभबोधिः कौशाम्ब्यां मूकभ्राता भावी' इति लब्धोत्तरः स सुरो गतो मूकपार्श्वे । तस्य बहु द्रव्यं दत्त्वा प्रोक्तवान्-यदाऽहं त्वन्मातुरुदरे उत्पत्स्ये तदा तस्या आम्रदोहदो भविष्यति, स दोहदः साम्प्रतं मद्दर्शितैः सदाफलाम्रफलैस्त्वया तदानीं तस्याः पूर्णीकार्यः । पुनस्त्वया तथाविधेयं यथा तदानीं मम धर्मप्राप्तिः स्यात्, एवमुक्त्वा गतो देवः । अन्यदा देवलोकात् च्युत्वा स देवस्तस्या गर्भे समुत्पन्नः, तस्या-आम्रदोहदः समुत्पन्नो मूकेन पूर्वोक्तरीत्या पूरितः। पुत्रो जातः। मूकस्तु तं बालं लघुमपि करे कृत्वा देवान् साधूंश्च वन्दापयति, परं स दुर्लभबोधित्वेन तान् दृष्ट्वा रटति । एवमाबाल्यकालादपि भृशं प्रतिबोधितोऽपि स न बुध्यते। ततो मूकः प्रव्राजितो गतः स्वर्गम् । अथ देवीभूतेन मूकजीवेन स दुर्लभबोधिर्बालः प्रतिबोधिकृते जलोदरव्याधिवान् कृतः। वैद्यरूपं कृत्वा देवेन उक्तःअहं सर्वरोगोपशमं करोमि । जलोदरी वक्ति-मम जलोदरोपशान्तिं कुरु । वैद्येनोक्तम्-तवासाध्योऽयं रोगः, तथाऽप्यहं प्रतीकारं करोमि,यदि मम पृष्ठे औषधकोत्थलकं समुत्पाट्य मयैव सहागमिष्यसि । तेनोक्तम्-एवं भवतु । ततो वैद्येन स जलोदरी सज्जीकृतः समाधिभाग् जातः। ततस्तस्योत्पाटनाय औषधकोत्थलकस्तेन दत्तः। स तत्पृष्ठे भ्रमन् तं कोत्थलकमुत्पाटयति । देवमायया स कोत्थलकोऽतिभारवान् जातः, तमतिभारं वहन् स खिद्यति, परं तमुत्सृज्य पश्चाद्गन्तुं न शक्नोति, मा त्वपश्चात्कृतस्य मे पुनर्जलोदरव्याधिरिति विमर्शं कुर्वन् वैद्यस्यैव पृष्ठे कोत्थलकं वहन् भ्रमति । एकदा एकस्मिन् देशे स्वाध्यायं कुर्वन्तः साधवो दृष्टाः। तत्र तौ गतौ । वैद्येनोक्तम्-त्वं दीक्षां यदा गृहीष्यसि, तदा त्वां मुञ्चामि । स भारजग्नो वक्ति-गृहीष्याम्येव । ततो वैद्येन अस्य दीक्षा दापिता। देवे च स्वस्थानं गते तेन दीक्षा परित्यक्ता । देवेन पुनरपि तथैव जलोदरं कृत्वा वैद्यरूपधरेण पुनरसौ दीक्षां ग्राहितः । पुनर्गते च देवे तेन दीक्षा त्यक्ता । तृतीयवारं दीक्षां दापयित्वा वैद्यरूपो देवः सार्द्धं तिष्ठति स्थिरीकरणाय। एकदा तृणभारं गृहीत्वा स देवः प्रज्वलद्ग्रामे प्रविशति । ततस्तेन साधुनोक्तम्—ज्वलति ग्रामे कथं प्रविशसि ?। देवेनोक्तम्—त्वमपि क्रोधमानमायालोभैः प्रज्वलिते गृहवासे वार्यमाणोऽपि पुनः पुनः कथं प्रविशसि ? । वैद्यरूपेण देवेनैवमुक्तोऽपि स न बुध्यते। अन्यदा तौ अटव्यां गतौ। देवः कण्टकाकुले मार्गे चरति। स प्राह-कस्मादुन्मार्गेण यासि ?। देवेनोक्तम्—त्वमपि विशुद्धं निर्मलं संयममार्गं परित्यज्य आधिव्याधिरूपे कण्टकाकीर्णे संसारमार्गे कस्माद् यासि ?। एवं देवेनोक्तोऽपि स न बुध्यते। पुनरेकस्मिन् देवकुले तौ गतौ। तत्र यक्ष ईप्सितपूजापूज्यमानोऽपि पुनः पुनरधोमुखः पतति। स कथयतिअहो ! यक्षस्य अधमत्वं, यत्पूज्यमानोऽप्ययमधोमुखः पतति । देवेनोक्तम्-त्वमप्येतादृशोऽधमः,यद्वन्द्यमानः पूज्यमानोऽपि त्वं पुनः पुनः पतसि । ततः स साधुर्वक्ति-कस्त्वम् ?। देवेन मूकस्वरूपं दर्शितं, पूर्वभवसम्बन्धश्च कथितः । स वक्ति-अत्र कः प्रत्ययः ?। ततो वैताढ्ये चैत्यवन्दापनार्थं देवेनाऽसौ प्रापितः। तत्रैकस्मिन् सिद्धायतनकोणे दुर्लभबोधिदेवेन स्वबोधाय मूकविदितं स्वकुण्डलयुगलं स्थापितमभूत् । तत्तदानीं दर्शितं, ततस्तस्य जातिस्मरणं जातं; तेनाऽस्य चारित्रे दृढताऽभूत् । अस्य पूर्वमरतिः, पश्चाद् रतिः । उत्त० २ अ० ।

अरइपरि(री)सहविजय–अरतिपरि (री) षहविजय–पुं०। अरतिपरित्यजने, पं० सं० । सूत्रोपदेशतो विहरतस्तिष्ठतो वा कदाचनापि यदरतिरुत्पद्यते तदाऽपि स्वाध्यायध्यानभावनाक्रप-धर्मारामरतत्वेन यदरतिपरित्यजनं सोऽरतिपरिषहविजयः । पं० सं० ४ द्वार ।

अरइमोहणिज्ज–अरतिमोहनीय–न०। नोकषायभेदे, यदुदयात्सनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुष्वप्रीतिर्भवति । कर्म० १ कर्म० ।

अरइरइ–अरतिरति–स्त्री० । मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगोऽरतिः, रतिः मोहनीयोदयाच्चित्तप्रासिः । इति द्वन्द्वः । कल्प० ६ क्ष० । रत्यरत्योर्द्वन्द्वे, " एगा अरतिरती " । अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजश्चित्तविकार उद्वेगलक्षणः, रतिश्च तथाविधानन्दरूपा ; अरतिरति इत्येकमेव विवक्षितम्, यतः क्वचन विषये या रतिस्तामेव विषयान्तरापेक्षया अरतिं व्यपदिशन्ति, एवमरतिमेव रतिम, इत्यौपचारिकमेकत्वमनयोरस्तीति । (समा० स० न०) रत्यरत्योरेकतायाम, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अरइरइसह–अरतिरतिसह–पुं० । अरतिरती सहते इत्यरतिरतिसहः । रत्यरत्योर्हर्षविषादावकुर्वाणे, कल्प० ५ क्ष० ।

अरइसमावएणचित्त–अरतिसमापन्नचित्त–त्रि० । संयमे उद्वेगगताभिप्राये, दश० १ चू० ।

अरंजर–अरञ्जर–न० । अञ्जरमिति प्रसिद्धे उदककुम्भे, स्था० ६ ठा० ।

अरक्खरी-(अरक्षापुरी)-स्त्री० । चन्द्रध्वजनृपपालिते स्वनामख्याते प्रत्यन्तनगरे, "ततः प्रत्यन्तनगरे, अरक्खरीति नामनि । अस्ति माण्डलिकस्तत्र, जिनचन्द्रध्वजाभिधः " ॥ १४ ॥ आ० क० । आ० चू० । आव० ।

अरगाउत्त–अरकायुक्त–त्रि० । अरकैरभिविधिनाऽन्विते, भ० ३ श० १ उ० ।

अरगाउत्तासिय–अरकोत्त्रासित–त्रि० । अरका उत्त्रासिता आस्फालिता यत्र । आस्फालिताऽरके, भ० ३ श० १ उ० ।

अरज्जुयपास–अरज्जुकपाश–पुं० । रज्जुकं विना बन्धने, तं० ।

अरज्झिय–अरहित–त्रि० । निरन्तरे, " अरज्झियाभितावा तह वी तविंति " अरहितो निरन्तरोऽभितापो दाहो येषां तेऽरहिताभितापाः । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अरणि–अरणि–पुं० । अग्न्यर्थं निर्मन्थनीयकाष्ठे, नि० ३ वर्ग । विशे० । आव० । ज्ञा० । " अरणिं महिऊण अग्गिं पामेइ " आ० म० द्वि० । " अत्थि णं घाणसहगया अरणिसहगया " । अरणिरग्न्यर्थं निर्मन्थनीयकाष्ठं तेन सह गतो यः स तथा । भ० २५ श० ८ उ० ।

अरणिया–अरणिका–स्त्री० । स्कन्धबीजवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अरण्ण–अरण्य–न० । कान्तारे, स्था० १ ठा० १ उ० । उत्त० । आव० । निर्जने, अष्ट० ४ अष्ट० । वने, उत्त० १४ अ० ।

अरण्णवडिंसग–अरण्यावतंसक–न० । एकादशदेवलोकविमानभेदे, स० २२ सम० ।

अरत्त–अरक्त–त्रि० । रागरहिते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अरत्तदुट्ठ–अरक्तद्विष्ट–न० । रागद्वेषरहिते, दर्श० । ध० र० ।

अरय–अरक–पुं० । अवसर्पिण्युत्सर्पिणीलक्षणस्य कालचक्रस्य सुषमसुषमाऽऽदिरूपे द्वादशे भागे, ति० । अरशब्दार्थे, आ० म० द्वि० । अरकाणां परस्परसादृश्यं यथा—" कुरुदुगि हरिरम्मयदुगि, हेमवएरवइदुगि विदेहे ॥ कमसो सयाऽवसप्पिणि, अरयचउक्काइ समकालो " ॥ १०८ ॥ लघुक्षेत्रसमासप्रकरणे ।

अरजस्–त्रि० । स्वाभाविकरजोरहिते, स० । कल्प० । प्रज्ञा० । रजोगुणकामक्रोधादिशून्ये, धूलीशून्ये च । वाच० । अयःसप्ततितमे महाग्रहे, ' दो अरया " स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । कल्प० । सू० प्र० । ब्रह्मलोकस्थविमानप्रस्तटभेदे, न० । स्था० ६ ठा० । कुमुदविजयस्थराजधान्याम, " कुमुदे विजये अरजा राजधानी " । जं० ४ वक्ष० । रजसोऽभावे (अव्य० न०) उत्त० १८ अ० ।

अरत–त्रि० । आरम्भनिवृत्ते, निर्ममत्वे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अरयंबरवत्थधर–अरजोऽम्बरवस्त्रधर–त्रि० । अरजांसि रजोरहितानि च तानि अम्बरवस्त्राणि स्वच्छतयाऽऽकाशकल्पवसनान्यरजोऽम्बरवस्त्राणि, तानि धारयतीति यः स तथा । तथाविधवस्त्रधारके देवादौ, भ० ३ श० २ उ० । उत्त० । प्रज्ञा० । जं० ।

अरयणि–अरत्नि–पुं० । विततांङ्गुलौ करे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अरविंद–अरविन्द–न० । पद्मविशेषे [कमले,] आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । "पुप्फेसु वा अरविंदं पहाणं" । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० ।

अरस–अरस–न० । अविद्यमानाहार्य्यरसे हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । अप्राप्तरसे, द० ५ अ० २ उ० । ज्ञा० । भ० । औ० ।

अरसजीवि (ण्)–अरसजीविन्–पुं० । अरसेन जीवितुं शीलमाजन्माऽपि यस्य स तथा । अरसाऽऽहारे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अरसाल–अरसाल–त्रि० । विरसे, 'अरसालं पि भोयणं सुजं गंधजुत्तं " । नि० चू० २ उ० ।

अरसाहार–अरसाहार–पुं० । अरसं हिङ्ग्वादिभिरसंस्कृतमाहारयन्तीति; अरसो वाऽऽहारो यस्यासावरसाहारः । तथाविधाभिग्रहविशेषधारके, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्र० । औ० ।

अरह–अरहस्–पुं० । न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य, सकलसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वात्, इत्यरहाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । न विद्यते रहो विजनं यस्य सर्वज्ञत्वादसावरहाः । स्था० ६ ठा० ।

अर्हत्–पुं० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्हन् । पा० । कल्प० । स्था० । उत्त० । अशोकादिप्रातिहार्यपूजायोग्ये, कल्प० ६ क्ष० । सूत्र० । इन्द्रादिभिः पूज्ये, उत्त० ६ अ० । तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । जिने, स्था० ३ ठा० ४ उ० । " तओ अरहा पण्णत्ता । तं जहा–ओहिनाणअरहा, मणपज्जवणाणअरहा, केवलणाणअरहा " । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अरहंत–अर (र) हत्–पुं० । अर्हन्ति देवादिकृतां पूजामित्यर्हन्तः । अथवा नास्ति रहः प्रच्छन्नं किञ्चिदपि येषां प्रत्यक्षज्ञानित्वात्तेऽरहन्तः । शेषं प्राग्वत् । एते च सलेश्या अपि भवन्तीति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । अमरवरनिर्मिताऽशोकादिमहाप्रातिहार्य्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः । अविद्यमानरहस्येषु, अनु० । दशा० १ अ० । पं० सू० ।

अरहंते सिद्धे आयरिए उवज्झाए साहवो जत्थ। एएसिं चेव गच्छत्थसब्भावो इमो। तं जहा–सनरामरासुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहाराए पूयाए समोवलक्खियं अणन्नसरिसमचिंतमाहप्पं केवलाहिट्ठियं पवरुत्तमत्तं ॥

(अरहंते त्ति) अरहंता असेसकम्मक्खएणं णिद्दड्ढभवंकुरत्ताओ न पुणो इह भवंति, जम्मंति, उववज्जंति वा, अरहंता वा णिम्महियनिहयनिद्दलियविलुयनिद्धावियअभिभूयसुदुज्जाया ॥ महा० ३ अ० । आ० । प्रव० । दश० । त्रिभुवनपूजायोग्येषु तीर्थकरेषु ऋषभादिषु, कल्प० १ क्ष० । आजीविककल्पनया गोशालकोऽप्यर्हन्, अत एव तेऽर्हद्देवताका इत्युच्यन्ते । "अरहंतदेवयागा" गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽर्हत्वात्। भ० ८ श० ५ उ० । "जो जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जवत्तेहिं । सो जाणइ अप्पाणं, मोहो खलु जाइ तस्स लयं" ॥१॥ नं० ।

अरहोऽन्तर्–न० । अविद्यमानं रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः । अर्हत्सु जिनेषु, भ० २ श० १ उ० ।

अरथान्त–पुं० । अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां तेऽरथान्ताः । भ० १ श० १ उ० ।

अरहयत्–पुं० । कश्चिदप्यासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसंपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वभावमत्यजत्सु जिनेषु, भ० १ श० १ उ० ।

अरहंतमग्गगामि (ण्)–अर्हन्मार्गगामिन्–त्रि० । अर्हदुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं यस्य । जैने साधौ, " अरहंतमग्गगामी, दिट्ठंतो साहुणो वि समचित्ता । पागरएसु गिहीसुं, एसंते अवहमाणा उ " ॥ १४१ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतलद्धि–अर्हल्लब्धि–स्त्री० । लब्धिभेदे, ययाऽर्हत्वं समवाप्नोति । प्रव० २७० द्वार ।

अरहट्ट–अरघट्ट–पुं० । घटीयन्त्रे, " जम्मणमरणारहट्टे, भित्तूण भवा विमुच्चिहिसि " । आतु० । आव० ॥

अरहण्णय–अरहन्नत–पुं० । अर्हन्मित्रभ्रातरि, ग० ।

तद्वृत्तं चेत्थम्–

क्षितिप्रतिष्ठितं नाम, पुरं द्वौ तत्र सोदरौ ।
अर्हन्नतोऽर्हन्मित्रश्च, ज्येष्ठभार्या लघौ रता ॥ १ ॥
लघुर्नेच्छति तां चाऽऽह, भ्रातरं मे न पश्यसि ।
पतिं व्यापाद्य सा भूय-स्तमूचे न त्वमस्त सः ॥ २ ॥
निर्वेदेनाऽथ तेनैव, स लघुर्व्रतमाददे ।
तद्रक्ता साऽपि मृत्वाऽभूद्, ग्रामे काप्यर्सितः शुनी ॥ ३ ॥
साधवोऽपि ययुस्तत्र, शुन्याऽदर्शि मुनिः स च ।
तदैवाऽऽगत्य सा श्लेषं, मुहुर्भर्तुरिवाऽकरोत् ॥ ४ ॥
नष्टः साधुर्मृता साऽथ, जाताऽटव्यां च मर्कटी ।
तस्या एव च मध्येना-ऽटव्या यातां कथञ्चन ॥ ५ ॥
अन्तर्मुनीनां तं वीक्ष्य, प्रेम्णा श्लिश्लेष मर्कटी ।
तां विमोच्याऽथ कष्टेन, स कथञ्चित्पलायितः ॥ ६ ॥
मृत्वा तत्रापि सा जज्ञे, यक्षी तं प्रेक्ष्य साऽवधेः ।
नैच्छन्मामेष तच्छिद्रा-ण्यीक्षते न त्ववैक्षत ॥ ७ ॥
समानवयसोऽवोचन्, हसन्तस्तं च साधवः ।
त्वमर्हन्मित्र ! धन्योऽसि, यच्छुनीमर्कटीप्रियः ॥ ८ ॥
अन्यदा क्रमणालघुयं जलवाहं विलङ्घितुम् ।
प्रमादाक्रतिभेदेन, पदं प्रासारयन्मुनिः ॥ ९ ॥
तस्य तच्छिद्रमासाद्य, सा चिच्छेदाङ्घ्रिमूरुतः ।
स मिथ्यादुष्कृतं जल्प-न्नपतत्सज्ञाद्बहिः ॥ १० ॥
सम्यग्दृष्टिः सुरी तां च, निर्धाट्य तं मुनेः क्रमम् ।
तथैवालगयद् भूयो, देवताऽतिशयेन च ॥११॥ ग० २ अधि० । आ० म० । आ० चू० ।

अरहन्नक–पुं० । तारानगरस्थामर्हन्मित्राचार्यपार्श्वे प्रव्रजितया दत्तवणिग्भार्यया सह प्रव्राजिते पुत्रे, उत्त० २ अ० । (स चोष्णपरीषहमसहमान उत्प्रव्रजित इति 'उसिणपरीसह' शब्दे द्वितीयभागे ७५४ पृष्ठे वक्ष्यते) चम्पानगरीवासिनि देवदत्तकुण्डलयुगलं मल्लीनाथाय समर्पके स्वनामख्याते सांयात्रिकवणिजि, ज्ञा० ।

अर्हन्नककथा–

तत्थ णं चंपाए णयरीए अरहण्णयपामोक्खा बहवे संजत्ता णावावाणियगा परिवसंति अड्ढा जाव अपरिभूया । तए णं से अरहण्णगे समणोवासगे यावि होत्था अभिगयजीवाजीवे । वण्णओ–तए णं तेसिं अरहण्णगपामोक्खाणं संजत्तानावावाणियगाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं इमेया रूवे मिहो कहासंलावे समुप्पज्जेत्था । सेयं खलु अम्हं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च परिच्छेज्जं च भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेण उवगाहित्तए त्ति कट्टु अन्नमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेइत्ता गणिमं च ४ गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता सगडी–सागडं सज्जेति, सज्जेतित्ता गणिमस्स ४ भंडस्स सगडी–सागडियं भरेंति, भरेइत्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइणोअणवेलाए भुंजावेति० जाव आपुच्छेति, आपुच्छेइत्ता गणिमस्स ४ जाव सगडी–सागडियं जोयंति, जोयंतित्ता चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छेति, णिग्गच्छेइत्ता जेणेव गंभीरपोयपट्टणए, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता सगडी–सागडियं मोयंति, पोयवहणं सज्जेति, सज्जेइत्ता गणिमस्स ४ जाव चउव्विहस्स भंडस्स भरंति, तंदुलाण य समियस्स य तेल्लस्स य घयस्स य गुलस्स य गोरसस्स य उदगस्स य भायणाण य ओसहाण य भेसज्जाण य तणस्स य कट्ठस्स य आवरणाण य पहरणाण य अण्णेसिं च बहूणं पोयवहणपाउग्गाणं दव्वाणं पोयवहणं भरेंति, भरेइत्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेति, मित्तणाइं आपुच्छंति, जेणेव पोयट्ठाणे, तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता तए णं तेसिं अरहण्णगपामोक्खाणं वाणियगाणं

ते परियणो० जाव ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं० जाव वग्गूहिं अभिणंदंता य अभिसंथुयमाणा य एवं वयासी—अज्ज ! ताय! भाय ! माउल ! भाइणेज्ज ! भगवया समुद्देणं अभिरक्खिज्जमाणा चिरं जीवह, भद्दं च भे; पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे णियगं घरं हव्वमागए पासामो त्ति कट्टु ताहिं सोमाहिं णिद्धाहिं दीहाहिं सपिवासाहिं पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं णिरिक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठंति, तओ समाणिएसु पुप्फबलिकम्मेसु दिन्नेसु सरसरत्तचंदणदद्दरपंचंगुलितलेसु अणुक्खित्तंसि धूवंसि पूइएसु समुद्दवाएसु संसारियासु वलयबाहासु ऊसिएसु सिएसु झयग्गेसु पडुप्पवाइएसु तूरेसु जइएसु सव्वसउणेसु गहिएसु रायवरसासणेसु महया उक्किट्ठसीहणाय० जाव रवेणं पक्खुभियमहासमुद्दरवभूयं पि व मेइणिं करेमाणा एगदिसिं० जाव वाणियगा पोयणेसु दुरूढा तओ पुस्समाणवो वक्कं समुदाहु । हंभो ! सव्वेसामवि भे अत्थसिद्धीओ उवट्ठियाइं कल्लाणाइं, पडिहयाइं सव्वपावाइं, जुत्तो पुस्सो विजयमुहुत्तो अयं देसकालो, तओ पुस्समाणए णं वक्के उदाहरिए हट्ठतुट्ठे कण्णधारकुच्छिधारगब्भिज्जसंजत्ताणावावाणियगा वावरिंसु तं णावं पुण्णुच्छंगं पुण्णमुहिं बंधणाहिंतो मुंचंति । तए णं सा णावा विमुक्कबंधणा पवणबलसमाहया ऊसियसियपमा विततपक्खा इव गरुलजुवई गंगासलिलतिक्खसोयवेगेहिं संखुब्भमाणी संखुब्भमाणी उम्मीतरंगमालासहस्साइं समइक्कमाणी समइक्कमाणी कइवएहिं अहोरत्तेहिं लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा । तए णं तेसिं अरहण्णगपामोक्खाणं वाणियगाणं लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं समाणाणं बहूइं उप्पाइयसयाइं पाउब्भूयाइं । तं जहा—अकाले गज्जिए अकाले विज्जुए अकाले थणियसद्दे अभिक्खणं अभिक्खणं आगासे देवतया णच्चंति । एगं च णं महं पिसायरूवं पासंति—तालजंघं दिवंगयाइं बाहाहिं मसिमूसगमहिसकालगं भरियमेहवण्णं लंबोट्ठं णिग्गयग्गदंतं निल्लालियग्गजमलजुयलजीहं आऊसियवयणगंडदेसं चीणचिविडनासिगं विगयभुग्गभग्गभुमाहिं खज्जोयगदित्तचक्खुरागं उत्तासणगं विसालवच्छं विसालकुच्छिं पलंबकुच्छिं पहसियपयलियपवडियगत्तं पणच्चमाणं अप्फोडंतं अभिवग्गंतं अभिगज्जंतं बहुसो बहुसो अट्टट्टहासो विणिम्मुयंतं नीलुप्पलगवलगुलियअयसिकुसुमप्पगासं खुरधारं असिं गहाय अभिमुहमापयंतं पासंति । तए णं ते अरहण्णगवज्जा संजत्ताणावावाणियगा एगं च णं महं तालपिसायं पासंति । तालजंघं दिवंगयाहिं बाहाहिं फुट्टसिरं भमरणिगरवरमासरासिमहिसकालगं भरियमेहवण्णं सुप्पणहं फालसरिसजीहं लंबोट्ठं धवलवट्टअसिलिट्ठतिक्खथिरपीणकुडिलदाढोवगूढवयणं विकोसियधारासिजुयलसमसरिसतणुयचंचलगलंतरसलोलचवलफुरफुरंतनिल्लालियग्गजीहं अवयत्थियं महल्लविगयबीभच्छलालापगलंतरत्ततालुयं हिंगुलयसगब्भकंदरबिलं च अंजणगिरिस्स अग्गिजालुग्गिलंतवयणं आऊसियअक्खचम्मोट्ठगंडदेसं चीणचिविडवंकभग्गणासं रोसागयधमधमंतमारुयनिट्ठुरखरफरुसझुसिरउब्भुग्गणासियपुडं घाडुब्भडरइयभीसणमुहं उद्धमुहकण्णसक्कुलियमहंतविगयलोमसंखालगलंबंतचलियकण्णं पिंगलदिप्पंतलोअणं भिउडितडिनिडालं णरसिरमालपरिणद्धचिंधं विचित्तगोणससुबद्धपरिकरं अवहोलंतफुप्फुयंतसप्पविच्छुयगोधुंदरणउलसरडविरइयविचित्तवेयच्छमालियागं भोगकूरकण्हसप्पधमधमंतलंबंतकण्णपूरं मज्जारसियाललगियखंधं दित्तं घुग्घुयंतघूयकयकुंभलसिरं घंटारवेण भीमभयंकरं कायरजणहिययफोडणं दित्तमट्टट्टहासं विणिमुयंतं वसारुहिरपूयमंसमलिणपोच्चडतणुं उत्तासणयं विसालवच्छं पेच्छंताभिन्नणहमुहणयणकण्णवरवग्घचित्तकित्तीणिवसणं सरसरुहिरगयचम्मविततऊसवियबाहुजुयलं ताहि य खरफरुसअसिणिद्धदित्तअणिट्ठअसुभअप्पियअकंतवग्गूहि य तज्जयंतं पासंति । तं तालपिसायरूवं एज्जमाणं पासति, पासइत्ता भीया संजातभया अण्णमण्णस्स कायं समतुरंगेमाणा बहूणं इंदाण य खंदाण य रुद्दसिववेसमणणागाणं भूयाण य जक्खाण य अज्जकोट्टकिरियाण य बहूणि उवयाइयसयाइं णिउवचीयमाणा चिट्ठंति ॥ तए णं से अरहण्णए समणोवासए तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता अभीए अतत्थे अचलिए असंभंते अणाउले अणुव्विग्गे अभिन्नमुहरागणयणवण्णे अदीणविमणमाणसे पोयवाहणस्स एगदेसंसि वत्थंतेणं भूमिं पमज्जेति, पमज्जइत्ता ठाणं ठायति, ठायइत्ता करयल० जाव त्ति कट्टु एवं वयासी—णमोत्थु णं अरिहंताणं० जाव ठाणं संपत्ताणं जइ णं अहं एत्तो उवसग्गओ मुंचामि तो मे कप्पइ पारेत्तए, अह णं एत्तो उवसग्गतो ण मुंचामि, तो मे तहा पच्चक्खाएव्वं ति कट्टु सागारभत्तं पच्चक्खाइ । तए णं से पिसायरूवे जेणेव अरहण्णए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अरहण्णगं समणोवासयं एवं वयासी—हंभो अरहण्णगा ! अपत्थियपत्थिया० ! जाव परिवज्जिया नो खलु कप्पइ तव सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं चालित्तए वा एवं खोभित्तए वा खंभित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिच्चत्तए वा तं जइ णं तुमं सीलव्वयं ण परिच्चयसि, तो ते अहं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गिण्हामि, गेण्हित्ता सत्तट्ठतलप्पमाणमेत्ताइं उड्ढं वेहासं उव्विहामि । अंतो जलंसि

णिव्वोलेमि जेणं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि। तए णं से अरहन्नए समणोवासए तं देवं मणसा चेव एवं वयासी–अहं णं देवाणुप्पिया! अरहन्नए णामं समणोवासए अहिगयजीवाजीवे नो खलु अहं सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा० जाव णिग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा तुमसं जा सद्धा तं करेहि त्ति कट्टु अभीए० जाव अभिण्णमुहरागनयणवण्णे अदीणविमणमाणसे णिच्चले णिप्फंदे तुसिणीए धम्मज्झाणोवगए विहरइ। तए णं से दिव्वे पिसायरूवे अरहन्नगं समणोवासगं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–हंभो अरहन्नगा!० जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ। तए णं से दिव्वे पिसायरूवे अरहन्नगं समणोवासयं धम्मज्झाणोवगयं पासइ, पासइत्ता बलियतरागं आसुरत्ते तं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता सत्तट्ठतल० जाव अरहन्नगं एवं वयासी–हंभो अरहन्नगा! अपत्थियपत्थिया! नो खलु कप्पइ तव सीलव्वय गुणवेरमणं, तहेव० जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ। तए णं से पिसायरूवे अरहन्नगं जाहे नो संचाएइ, निग्गंथाओ चालित्तए वा तहेव संते० जाव णिव्विण्णे तं पोयवहणं सणियं सणियं उवरिं जले संठवेइ। संठवेइत्ता तं दिव्वं पिसायरूवं पडिसाहरइ। पडिसाहरित्ता दिव्वं देवरूवं विउव्वंति, अंतलिक्खपडिवन्ने सखिंखिणियं० जाव परिहिए अरहन्नगं समणोवासयं एवं वयासी–हंभो अरहन्नगा! धन्नोसि णं तुमं देवाणुप्पिया!० जाव जीवियफले जस्स णं तव निग्गंथे पावयणे इमेयारूवे पडिवत्ती लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया, एवं खलु देवाणुप्पिया! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोहम्मावडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए बहूणं देवाणं मज्झगए महया सद्देणं आइक्खइ भासइ पण्णवेइ परूवेइ। एवं खलु जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपाए णयरीए अरहन्नए समणोवासए अहिगयजीवाजीवे नो खलु सक्का केणइ देवेणे वा० जाव निग्गंथाओ पावयणाओ० जाव परिणामित्तए वा। तए णं अहं देवा सक्कस्स देविंदस्स एयमट्ठं नो सद्दहामि नो पत्तियामि नो रोचयामि। तए णं मम इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था गच्छामि णं अहं अरहन्नगस्स समणोवासयस्स अंतियं पाउब्भवामि जाणामि ताव अहं अरहन्नगं किं पियधम्मे नो पियधम्मे दढधम्मे सीलव्वयगुणे किं चालेति० जाव परिच्चइ नो परिचय त्ति कट्टु एवं संपेहेमि संपेहित्ता ओहिं पउंजेमि, देवाणुप्पिया! ओहिणा आभोएमि उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं उत्तरपुरच्छिमं विउव्वियं समुग्घाति, ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव लवणसमुद्दे जेणेव तुम्हे तेणेव उवागच्छामि, तुम्हाणं उवसग्गं करेमि। नो चेव णं तुम्हे भीया वातं जस्स सक्के देविंदे देवराया एवं वयंति सच्चेणं एसमट्ठे तं दिट्ठेणं देवाणुप्पिया णं इड्ढी जुई जसे बले वीरिए पुरिसक्कारे परिक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए तं खामेमि णं देवाणुप्पिया भुज्जो भुज्जो० जाव णो एवं करणयाए त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडियाए एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामेतित्ता अरहन्नगस्स दुवे कुंडलजुयलं दलइ, दलइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए। तए णं से अरहण्णए समणोवासए निरुवसग्गे त्ति कट्टु पडिमं पारेति। तए णं अरहण्णगपामोक्खा० जाव वाणियगा दक्खिणाणुकूलेणं वाएणं जेणेव गंभीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पोयं ठवेइ। पोयं ठवेइत्ता सगडी–सागडं सज्जेइ। सज्जेइत्ता गणिमं च ४ सगडिं संकामेइ, सगडी सागडं जोवेंति जेणेव मिहिला रायहाणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मिहिलाए रायहाणीए बहिया अग्गुज्जाणंसि सगडी–सागडिं मोएइ। तए णं अरहण्णगे समणोवासए तं महत्थं विउलं० जाव रायारिहं पाहुडं कुंडलजुगलं गिण्हइ, गिण्हइत्ता मिहिलाए रायहाणीए अणुप्पविसइ। अणुप्पविसइत्ता जेणेव कुंभए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव कट्टु तं महत्थं रायारिहं पाहुडं दिव्वं कुंडलजुयलं च पुरओ ठवेइ। तए णं से कुंभए राया तेसिं संजत्तगाणं० जाव पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता मल्लिं विदेहरायवरकण्णं सद्दावेइ। सद्दावेइत्ता तं दिव्वं कुंडलजुयलं मल्लीए विदेहरायवरकन्नगाए पिणद्धइ। पिणद्धइत्ता पडिविसज्जेइ। तए णं से कुंभए राया ते अरहन्नगपामोक्खे० जाव वाणियए विउलेणं वत्थगंधमल्लालंकारेणं० जाव उस्सुक्कं वियरेइ। रायमग्गे भोगाढे य आवासे वियरइ पडिविसज्जेइ। पडिविसज्जेइत्ता तए णं अरहण्णगसंजत्तगा वाणियगा जेणेव रायमग्गे भोगाढे आवासे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता भंडगववहरणं करेति पडिभंडे गिण्हइ। गिण्हइत्ता सगडी-सागडं भरेति; जेणेव गंभीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पोयवहणं सज्जेइ भंडं संकामेइ, दक्खिणानुकूलेणं वाएणं जेणेव चंपा णयरी तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता पोयपयट्टाणे तेणेव पोयं लंबेइ। पोयं लंबेइत्ता सगडी-सागडिं सज्जेइ। तं गणिमं ४ सगडी संकामेइ० जाव महत्थं पाहुडं दिव्वं कुंडलजुयलं गिण्हइ। गिण्हइत्ता जेणेव चंदच्छाए अंगराया तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता तं महत्थं कुंडलजुयलं च उवणेइ। तए णं चंदच्छाए अंगराया तं दिव्वं महत्थं च कुंडलजुयलं पडिच्छइ। पडिच्छइत्ता ते अरहन्नगपामोक्खे एवं वयासी–तुब्भे णं देवाणु–

प्पिया ! बहूणि गामागर० जाव आहिंमह लवणसमुद्दं च अभिक्खणं अभिक्खणं पोयवहणेहिं उग्गहेह, तं अत्थि-याहिं भे केइ कहिं वि अच्छेरए दिट्ठपुव्वे। तए णं ते अरहन्न-गपामोक्खा चंदच्छायं अंगरायं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! अम्हे इहेव चंपाए नयरीए अरहन्नगपामोक्खा बहवे संजत्तानावावाणियगा परिवसामो, तए णं अम्हे अन्नया कयाइं गणिमं च ४ तहेव अहीणं अतिरित्तं० जाव कुंभगस्स रण्णो उवणेमो, तए णं से कुंभए राया मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए तं दिव्वं कुंडलजुयलं पिणद्धे-इ । पिणद्धेइत्ता पडिविसज्जेइ। तए णं सामी ! अम्हेहिं कुंभगरायभवणंसि मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए अच्छेरए दिट्ठे एत्तो खलु अन्ना कावि तारिसिया देवकन्नगा० जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहकन्नगा, तए णं चंदच्छाए राया अरहन्नगपामोक्खे सक्कारेइ सम्माणेइ। सम्माणेइत्ता उस्सुक्कं वियरइ पडिविसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया वाणियगजणियहासे दूयं सद्दावेइ। सद्दावेइत्ता० जाव जइ वि य णं सासयं रज्जसुक्का तए णं से दूए हट्ठतुट्ठे पडि-सुणेइ, जेणेव सए गेहे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे दुरूढे० जाव पहारेत्थगमणाए ॥

(संजत्तानावावाणियग त्ति) संगता यात्रा देशान्तरगमनं संयात्रा, तत्प्रधाना नौवाणिजकाः पोतवणिजः, संयात्रानौवाणि-जकाः । (अरहन्नगे समणोवासगे यावि होत्थ त्ति) न केवल-माढ्यादिगुणयुक्तः, श्रमणोपासकश्चाप्यभूत् । (गणिमं चेत्या-दि) गणिमं-नालिकेरपूगफलादि, यद्गणितं सद्व्यवहारे प्रविश-ति।धरिमं-यत्तुलाधृतं सद्व्यवह्रियते । मेयं- यत्सेतिकापल्लादिना मीयते । परिच्छेद्यं-यद्गुणतः परिच्छिद्यते परीक्ष्यते वस्त्र-मण्यादि । (खमियस्स य त्ति) कणिकायाश्च,(ओसहाण य त्ति) त्रिकटुकादीनाम् । (भेसजाण य त्ति) पथ्यानामाहारविशे-षाणाम्।अथवा औषधानामेकद्रव्यरूपाणां,भेषजानां द्रव्यसंयो-गरूपाणाम्। आवरणानामङ्गरक्षकादीनां, बोधित्थप्रकाराणां च (अज्जेत्यादि) आर्य !-हे पितामह !, हे तात !-हे पितः !, हे भ्रातः !,हे मातुल !, हे भागिनेय ! भगवता समुद्रेणाभिरक्ष्यमा-णाश्चिरं यूयं जीवत, भद्रं च भवतां,भवत्विति गम्यते।पुनरपि लब्धार्थान् कृतकार्यान्, अनघसमग्रान्, अनघत्वं निर्दूषणतया, समग्रत्वमहीनधनपरिवारतया,निजकं गृहं, 'हव्वं' शीघ्रमागता-न् पश्यामि. इतिकृत्वेत्यभिधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकार-त्वात् । (निद्धाहिं ति) सस्नेहत्वात् । (दीहाहिं ति) दूरं या-वदवलोकनात् । (सपिवासाहिं ति) सपिपासाभिः पुनर्दर्श-नाकाङ्क्षावतीभिः, दर्शनातृप्ताभिर्वा । (पप्पुयाहिं ति) प्रप्लुता-भिरश्रुजलार्द्राभिः, (समाणिएसु त्ति) समापितेषु दत्तेषु, नावीति गम्यते । सरसरक्तचन्दनस्य दर्दरेण चपेटाप्रकारेण प-ञ्चाङ्गुलिषु तलेषु, हस्तकेष्वित्यर्थः । (अणुक्खित्तंसीति) अ-नुक्षिप्ते पश्चादुत्पाटिते धूपे, पूजितेषु समुद्रवातेषु, नौसांयात्रि-कप्रक्रियायां समुद्राभिधदेवपादेषु वा (संसारियासु बलयबा-हासु त्ति) स्थानान्तरादुचितस्थाननिवेशितेषु दीर्घकाष्ठलक्ष-णबाहुषु आवेल्लकेष्विति संभाव्यते । तथा-उच्छ्रितेषूर्ध्वीकृतेषु सितेषु ध्वजाग्रेषु पताकाग्रेषु पटुभिः पुरुषैः, पटु वा यथा भव-तीत्येवं प्रवादितेषु तूर्येषु जयिकेषु जयावहेषु, सर्वशकुनेषु वा-यसादिषु, गृहीतेषु राजवरशासनेषु आज्ञासु पट्टकेषु वा, प्रक्षु-भितमहासमुद्ररवभूतमिव तदात्मकमिव,तं प्रदेशमिति गम्यते। (तओ पुस्समाणवो वक्कं समुदाहु ति) ततोऽनन्तरं मागधो म-ङ्गलवचनं ब्रवीति स्मेत्यर्थः । तदेवाह-सर्वेषामेव भवतामर्थसि-द्धिर्भवतु, उपस्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वपापानि, सर्वविघ्नाः। (जुत्तो त्ति) युक्तः पुष्यो नक्षत्रविशेषः चन्द्रमसा,इ-हावसरे इति गम्यते। पुष्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरम्। यदाहुः- ' अपि द्वादशमे चन्द्रे,पुष्यः सर्वार्थसाधनः' इति, मागधेन तदु पन्यस्तम् । विजयो मुहूर्त्तस्त्रिंशतो मुहूर्त्तानां मध्यात् अयं देश-कालः, एष प्रस्तावो गमनस्येति गम्यते । (वक्के उदाहिए त्ति) वाक्ये उदाहृते, हृष्टतुष्टाः,कर्णधारा नियामकाः, कुक्षिधारा नौ पार्श्वनियुक्तका आवेल्लकवाहकादयः , गर्भे भवा गर्भजाः , नौमध्ये उच्चावचकर्मकारिणः, संयात्रानौवाणिजकाः, भाण्ड-पतयः, एतेषां द्वन्द्वः। (वावरिंसु त्ति) व्यावृतवन्तः स्वस्वव्या-पारेष्विति । ततस्तां नावं पूर्णोत्सङ्गां विविधभाण्डभृतमध्यां, पुण्यमध्यां वा, मध्यभागनिवेशितमाङ्गल्यवस्तुत्वात् । पूर्णमुखीं, पुण्यमुखीं वा । तथैव बन्धनेभ्यो मुञ्चन्ति विसर्जयन्ति पवनबल-समाहता वा वातसामर्थ्यात्प्रेरिताः । (ऊसियसिय त्ति) उच्छ्रि-तासितपटाः, यानपात्रे हि वायुसंग्रहार्थं महान् पट उच्छ्रितः क्रियते । एवं चासावुपमीयते-विततपक्षेव गरुडयुवतिः । ग-ङ्गासलिलस्य तीक्ष्णा ये स्रोतोवेगाः प्रवाहवेगास्तैः संक्षुभ्य-न्ती संक्षुभ्यन्ती प्रेर्यमाणा प्रेर्यमाणा, समुद्रं प्रतीति । ऊर्मयो महाकल्लोलाः,तरङ्गा ह्रस्वकल्लोलाः, तेषां माला समूहाः तत्सह-स्राणि, (समतिक्कमाणि त्ति) समतिक्रामन्ती (ओगाढ त्ति) प्रविष्टा। (तालजंघमित्यादि) तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घ-स्कन्धो भवति । ततस्तालवज्जङ्घे यस्य तत्तथा ।(दिवं गयाहिं बाहाहिं ति) आकाशप्राप्ताभ्यामतिदीर्घाभ्यां भुजाभ्यां युक्तमि-त्यर्थः । (मसिमूसगमहिसकालगं ति) मषी कज्जलं, मूषक उ-न्दुरविशेषः अथवा मषीप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रतापनभाज-नं मषीमूषा, महिषश्च प्रतीत एव । तद्वत्कालकं यत्तत्तथा (भ-रियमेहवणं ति) जलभृतमेघवर्णमित्यर्थः । तथा लम्बोष्ठम् , [निग्गयग्गदंत त्ति] निर्गतानि मुखादग्राणि येषां ते तथा, नि-र्गताग्रा दन्ता यस्य तत्तथा । [निल्लालियजमलजुयलजीहं ति] निर्लालितं विवृतमुखान्निस्सारितं यमलं समं युगलं द्वयं जि-ह्वयोर्येन तत्तथा । [आऊसियवयणगंडदेसं ति] " आऊ-सिय त्ति , आपूसिय त्ति वा " प्रविष्टौ वदने गण्डदेशौ क-पोलभागौ यस्य तत्तथा । [चीणचिविडनासियं ति] चीना ह्रस्वा, चिपिटा च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [विगय-भुग्गभग्गभुमई ति] विकृते विकारवत्यौ, भुग्ने,भग्ने इत्यर्थः । पा-ठान्तरेण-भुग्नभग्ने अतीववक्रे भ्रुवौ यस्य तत्तथा । [खज्जोय-गदित्तचक्खुरागं ति] खद्योतको ज्योतिरिङ्गणः, तद्वद्दीप्तश्चक्षु-रागो लोचनरक्तत्वं यस्य स तथा। उत्त्रासनकं भयङ्करम् । वि-शालवक्षो विस्तीर्णोरःस्थलम्,विशालकुक्षि विस्तीर्णोदरदेशम् । एवं प्रलम्बकुक्षि ।[पहसियपयलियपयडियगत्तं ति]प्रहसिता-नि प्रहसितुमारब्धानि, प्रचलितानि च स्वरूपात, प्रपतितानि वा प्रजातवलीकानि, प्रपतितानि च प्रकर्षेण श्लथीभूतानि, गा-त्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे-" विगयभुग्गभमुयपहसि-यपयलियपडियफुलिंगखज्जोयदित्तचक्खुरागं ति" पाठः। तत्र

विकृते भुग्ने भ्रुवौ प्रहसिते प्रचलिते प्रपतिते च यस्य स्फुलिङ्गवत् खद्योतकवच्च दीप्तश्च रागश्च यस्य तत्तथा । " पणच्चमाणं " इत्यादि विशेषणपञ्चकं प्रतीतम् । (नीलुप्पलेत्यादि) गवलं महिषशृङ्गम् । अतसी मालवकदेशप्रसिद्धो धान्यविशेषः । [खुरहारं ति] क्षुरस्येव धारा यस्य स तथा तमसिं, खड्गं, क्षुरो ह्यतितीक्ष्णधारो भवति, अन्यथा केशानाममुण्डनादिति क्षुरेणोपमा खड्गधारायाः कृतेति । अभिमुखमापतत्पश्यन्ति । सर्वेऽपि सांयात्रिकाः, तत्राऽर्हन्नकवर्जा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमुक्तमेवंपिशाचस्वरूपं सविशेषम् । तेषां तद्दर्शनं चानुवदन्निदमाह— [तए णमित्यादि] ततस्ते अर्हन्नकवर्जाः सांयात्रिकाः पिशाचरूपं वक्ष्यमाणविशेषणं पश्यन्ति, दृष्ट्वा च बहूनामिन्द्रादीनां बहून्युपयाचितशतान्युपचिन्वन्तस्तिष्ठन्तीति समुदायार्थः । अथवा–"तए णं ते अरहन्नगवज्जा" इत्यादि गमान्तरम् "आगासे देवयाओ नच्चंति " इतोऽनन्तरं द्रष्टव्यम् । अत एव वाचनान्तरे नेदमुपलभ्यते । उपलभ्यते चैवम्–" अभिमुहं आवयमाणं पासंति, तए णं ते अरहन्नगवज्जा नावावाणियगा भीया " इत्यादि । [तत्र तालपिसायं ति] तालवृक्षाकारोऽतिदीर्घत्वेन पिशाचस्तालपिशाचः, तम् । विशेषणद्वयं प्रागिव । [फुट्टसिरं ति] स्फुटितमबन्धनत्वेन विकीर्णं शिर इति शिरोजातत्वात्केशा यस्य स तथा तम् । भ्रमरनिकरवत् वरमाषराशिवत् महिषवच्च कालको यः स तथा तम्, भूतमेघवर्णम्, तथैव शूर्पमिव धान्यशोधकजाजनविशेषवन्नखा यस्य स शूर्पनखस्तम् । फालसदृशजिह्वमिति–फालं द्विपञ्चाशत्पलप्रमाणलोहमयो द्रव्यविशेषः, तच्च वह्निप्रतापितमिह ग्राह्यम्, तत्साधर्म्यं चेह जिह्वाया वर्णदीप्तिदीर्घत्वादिभिरिति । लम्बोष्ठं प्रतीतम् । धवलाभिर्वृत्ताभिरश्लिष्टाभिर्विशरत्वेन तीक्ष्णाभिः, स्थिराभिर्निश्चलत्वेन, पीनाभिरुपचितत्वेन, कुटिलाभिश्च वक्रतया, दंष्ट्राभिरवगूढं व्याप्तं वदनं यस्य स तथा, तम् । विकोशितस्यापनीतकोशकस्य, निरावरणस्येत्यर्थः । धारास्योर्धाराप्रधानखड्गयोर्यद् युगलं द्वितयं तेन समसदृशावत्यन्ततुल्ये तनुके प्रतले, चञ्चलं, विमुक्तस्थैर्यं यथाभवत्यविश्रममित्यर्थः । गलन्त्यौ रसातिलौल्याद् लालां विमुञ्चन्त्यौ रसलोले भक्ष्यरसलम्पटे चपले चञ्चले फुरफुरायमाणे प्रकम्पे निर्लालिते मुखान्निष्काशिते अग्रजिह्वे जिह्वाग्रे इत्यर्थः, येन स तथा, तम् । (अवत्थियं ति) प्रसारितमित्येके । अन्ये तु यकारस्यालुप्तत्वात् ' अवयत्थियं' प्रसारितमुखत्वेन दृष्टं दृश्यमानमित्याहुः । (महल्लं ति) महद् विकृतं बीभत्सं लालाभिः प्रगलत् रक्तं च तालु काकुदं यस्य स तथा तम् । तथा हिङ्गुलकेन वर्णकद्रव्यविशेषेण सगर्भकन्दरसत्कं बिलं यस्य स तथा, तमिव । (अंजणगिरिस्स त्ति) विभक्तिविपरिणामादञ्जनगिरिं कृष्णवर्णपर्वतविशेषम् । अथवा 'अवत्थियेत्यादि' 'हिंगुलुयेत्यादि' च कर्मधारयेणैव वक्ष्यमाणवदनपदस्य विशेषणं कार्यम् । यस्य तमित्येवंरूपश्च वाक्यशेषो द्रष्टव्यः । तथा अग्निज्वाला उद्गिरद्वदनं यस्य स तथा तम् । (आउसिय त्ति) संकुचितं यदङ्कचर्म जलापकर्षणकोशस्तद्वत् । (उट्ठ त्ति) अपकृष्टावपकर्षवन्तौ संकुचितौ गण्डदेशौ यस्य स तथा, तम् । अन्ये त्वाहुः–आचूर्णितानि संकुचितानि अक्षाणीन्द्रियाणि चर्म्म च ओष्ठौ च गण्डदेशौ च यस्य स तथा तम् । ची ना ह्रस्वा (चिविड त्ति) चिपिटा निम्ना 'वंका' वक्रा भग्नेव भग्ना, अयोघनकुट्टितेवेत्यर्थः, नासिका यस्य स तथा, तम् । रोषादागतः (धमधमंत त्ति) प्रबलतया धमधमेति शब्दं कुर्वाणो मारुतो वायुर्निष्ठुरो निर्भरः, खरपरुषोऽत्यन्तकर्कशः, सुषिरयोरन्ध्रयोर्यत्र तत्तथा । तदेवंविधमवनतं च वक्रं नासिकापुटं यस्य स तथा तम् । इह च पदानामन्यथानिपातः प्राकृतत्वादिति । घाताय पुरुषादिवधाय, घाटाभ्यां वा मस्तकावयवविशेषाभ्याम्, उद्भटं विकरालं रचितम्, अत एव भीषणं मुखं यस्य स तथा, तम् । ऊर्ध्वमुखे कर्णशष्कुल्यौ कर्णावयवौ ययोस्तौ तथा तौ च महान्ति दीर्घाणि विकृतानि लोमानि ययोस्तौ तथा तौ च (संखालगं त्ति) शङ्खवन्तौ च शङ्खयोरक्षिप्रत्यासन्नावयवविशेषयोरालग्नौ संबद्धावित्येके, लम्बमानौ च प्रलम्बौ, चलितौ च चलन्तौ कर्णौ यस्य स तथा, तम् । पिङ्गले कपिले दीप्यमाने भास्वरे लोचने यस्य स तथा तम् । भृकुटिः कोपकृतभ्रूविकारः, सैव तडिद्विद्युद्यस्य तत्तथा, तथाविधम् । पाठान्तरेण–भृकुटितं कृतभृकुटिलं ललाटं यस्य स तथा, तम् । नरशिरोमालया परिणद्धं वेष्टितं चिह्नं पिशाचकेतुर्यस्य स तथा, तम् । अथवा–नरशिरोमालया यत्परिणद्धं परिणहनं तदेव चिह्नं यस्य स तथा तम् । विचित्रैर्बहुविधैर्गोनसैः सरीसृपविशेषैः सुबद्धः परिकरः सन्नाहो येन स तथा तम् । (अवहोलंत त्ति) अवघोलयन्तो डोलायमानाः, [पुप्फुयंत त्ति] फूत्कुर्वन्तो ये सर्पा वृश्चिका गोधा उन्दुरा नकुलाः सरटाश्च तैर्विरचिता विचित्रा विविधरूपवती वैकक्षेणोत्तरासङ्गेन मर्कटबन्धेन स्कन्धलम्बनमात्रतया वा मालिका माला यस्य स तथा तम् । भोगः फणः स क्रूरो रौद्रो ययोस्तौ, तथा तौ च कृष्णसर्पौ च तौ च तौ धमधमायमानौ च तावेव लम्बमानौ कर्णपूरौ कर्णाभरणविशेषौ यस्य स तथा तम् । मार्जारशृगालौ लगितौ नियोजितौ स्कन्धयोर्येन स तथा तम् । दीप्तं दीप्तस्वरं यथा भवत्येवं (घुग्घुयंत त्ति) घूत्कारशब्दं कुर्वाणो यो घूकः कौशिकः स कृतो विहितः (कुंतल त्ति) शेखरकः शिरसि येन स तथा तम् । घण्टानां रवः शब्दस्तेन भीमो यः स तथा स चासौ भयंकरश्चेति, तं, कातरजनानां हृदयं स्फोटयति यः स तथा, तम् । दीप्तमट्टहासं घण्टारवेण भीमादिविशेषणविशिष्टं विमुञ्चन्तं वसारुधिरपूयमांसमलैर्मलिना (पोच्चल त्ति) विलीना च तनुः शरीरं यस्य स तथा तम्; उत्त्रासनकं विशालवक्षसं च प्रतीते । (पेच्छंत त्ति) प्रेक्ष्यमाणा दृश्यमानाः, अभिन्ना अखण्डा नखाश्च मुखं च नयने च कर्णौ च यस्यां सा तथा, सा चासौ वरव्याघ्रस्य चित्रा कर्बुरा कृत्तिश्च चर्म्मेति सा तथा, सैव निवसनं परिधानं यस्य स तथा तम् । सरसं रुधिरप्रधानं यद्गजचर्म्म तद्विततं विस्तारितं यत्र तत्तथा । तदेवंविधं (ऊसवियं ति) उच्छ्रितमूर्ध्वीकृतं बाहुयुगलं येन स तथा तम् । ताभिश्च तथाविधाभिः, खरपरुषा अतिकर्कशाः, अस्निग्धा स्नेहविहीनाः, दीप्ता ज्वलन्त्यश्चोपतापहेतुत्वात् । अनिष्टा अनभिलाषविषयभूताः, अशुभाः स्वरूपेण, अप्रिया अप्रीतिकरत्वेन, अकान्ताश्च विस्वरत्वेन या वाचस्ताभिरुपलक्षितान् कुर्वाणं भर्त्स्यन्तं तर्जयन्तं वा पश्यन्ति स्म । पुनस्तालपिशाचरूपं(एज्जमाणं ति)नावं प्रत्यागच्छन्तं पश्यन्ति । (समतुरंगेमाण त्ति) आश्लिष्यन्तः–स्कन्दः कार्त्तिकेयः, रुद्रः प्रतीतः, शिवो महादेवः, वैश्रवणो यक्षनायकः, नागो भवनपतिविशेषः, भूतयक्षा व्यन्तरभेदाः, आर्या प्रशान्तरूपाः, दुर्गा कोट्टक्रिया, सैव महिषारूढरूपा पूजाऽभ्युपगमपूर्वकाणि प्रार्थनानि उपयाचितान्युपचिन्वन्ते । उपचिन्वन्तो विदधतस्तिष्ठन्ति स्मेति । अर्हन्नकवर्जानामियमितिकर्त्तव्यतोक्ता । अधुनाऽर्हन्नकस्य तामाह—" तए णमित्यादि " । (अपत्थियपत्थिय

त्ति) अप्रार्थितं यत्केनापि न प्रार्थ्यते तत्प्रार्थयति स्म यः स तथा, तदामन्त्रणम् । पाठान्तरेण-अप्रस्थितः सन् यः प्रस्थित इव मुमूर्षुरित्यर्थः, स तथोच्यते, तदामन्त्रणम्-हे अप्रस्थितप्रस्थित !, यावत्करणात् (दुरंतपंतलक्खण त्ति) दुरन्तानि दुष्टपर्यन्तानि प्रान्तान्यपसदानि लक्षणानि यस्य स तथा, तस्यामन्त्रणम् । (हीणपुण्णचाउद्दसी इति) हीना असमग्रा पुण्या पवित्रा चतुर्दशी तिथिर्यस्य जन्मनि स तथा । चतुर्दशीजातो हि किल भाग्यवान् भवतीति । आक्रोशे तदभावो दर्शित इति । " सिरिहिरिधीकित्तिवज्जिय त्ति " प्रतीतम् । (तवसीलव्वयत्यादि) तपः, शीलव्रतान्यणुव्रतानि, गुणाः गुणव्रतानि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि, पोषधोपवासोऽष्टाहिकादिषु, पर्वदिनेषूपवसनमाहारशरीरसत्काराब्रह्मव्यापारपरिवर्जनमित्यर्थः । एतेषां द्वन्द्वः । [चालित्तए त्ति] भङ्गकान्तरगृहीतान् भङ्गकान्तरेण कर्तुं, क्षोभयितुमेतानेवं परिपालयामि । [खोभित्तए त्ति]क्षोभविषयान् कर्तुं, खण्डयितुं देशतः, भङ्क्तुं सर्वतः, 'उज्झितुं' सर्वस्यादेशविरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्वस्यापि त्यागत इति । [दोहिं अंगुलयाहिं ति] अङ्गुष्ठकतर्जनीभ्याम्, अथवा-तर्जनीमध्यमाभ्यामिति । [सत्तट्ठतलप्पमाणमेत्ताइं ति] तलो हस्ततलाभिधानो वाऽतिदीर्घो वृक्षविशेषः, स एव प्रमाणं मानं तलप्रमाणं, सप्ताष्टौ वा सप्ताष्टानि तलप्रमाणानि परिमाणं येषां ते सप्ताष्टतलप्रमाणमात्राः, तान् गगनभागान् यावदिति गम्यते । [चहुं वेहासं ति] उर्द्धं विहायसि गगने । [उव्विहामि त्ति] नयामि, [जेणं तुमं ति] येन त्वं [अट्टदुहट्टवसट्टे त्ति] आर्तस्य ध्यानविशेषस्य यो [दुहट्ट त्ति] दुर्घटः दुःस्थगो दुर्निरोधो, वशः पारतन्त्र्यं, तेन ऋतः पीडितः, आर्तदुर्घटवशार्तः । किमुक्तं भवति ?-असमाधिप्राप्तः । [ववरोविज्जसि त्ति] व्यपरोपयिष्यसे अपेतीभविष्यसीत्यर्थः । [चालित्तए त्ति] इह चलनमन्यथाभावत्वं , कथम् ?, [खोभित्तए त्ति] क्षोभयितुं संशयोत्पादनतः, तथा [विपरिणामित्तए त्ति] विपरिणामयितुं विपरीताध्यवसायोत्पादनत इति । ' संते ' इति यावत्करणात् । ' तंते परितंते ' इति द्रष्टव्यम् । तत्र श्रान्तः शान्तो वा मनसा, तान्तः कायेन खेदवान्, परितान्तः सर्वतः खिन्नः, निर्विण्णस्तस्मादुपसर्गकरणादुपरतः । [लद्धेत्यादि] तत्र लब्धा उपार्जनतः,प्राप्ता तत्प्राप्तेः,अभिसमन्वागता सम्यगासेवनतः [आइक्खइ इत्यादि]आख्याति सामान्येन, भाषते विशेषतः । एतदेव द्वयं क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्ररूपयति । "देवेण वा दाणवेण वा" इत्यादाविदं द्रष्टव्यम् । अपरं-" किंनरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण व त्ति " तत्र देवो वैमानिको, ज्योतिष्को वा । दानवो भवनपतिः, शेषा व्यन्तरभेदाः , ' नो सद्दहामीत्यादि ' न श्रद्दधे प्रत्ययं न करोमि । [नो पत्तियामि त्ति] तत्र प्रीतिकं प्रीतिं न करोमि, [नो रोचयामि] अस्माकमप्येवंभूता गुणप्राप्तिर्भवत्वेवं न रुचिविषयीकरोमीति [पियधम्मे त्ति] धर्मप्रियो, दृढधर्मा आपद्यपि धर्मादविचलः, यावत्करणादृद्ध्यादिपदानि दृश्यानि । तत्र [इड्ढि-(त्ति] गुणर्द्धिः, द्युतिरान्तरं तेजः, यशः ख्यातिः, बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवम्, पुरुषकारोऽभिमानविशेषः, पराक्रमः स एव निष्पादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [वत्सुक्कं वियरेह त्ति] शुल्काभावमनुजानातीत्यर्थः । ज्ञा० ८ अ० । स्था० ।

अरहमित्त-अर्हन्मित्र-पुं० । अर्हद्दत्तलघुभ्रातरि, यस्मिन्नासक्तया भ्रातृजायया अर्हद्दत्तो मारितः । ग० २ अधि० । [अस्य कथा ' अरहराय ' शब्द एवोक्ता] द्वारवतीवास्तव्ये श्रमणवैद्योपदिष्टं मांसं निर्बन्धेऽप्यखादितवत्या अनुरूपायाः पत्यौ, आ० चू० ४ अ० । आव० । [' असद्दोसोवसंहार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०३ पृष्ठेऽस्य कथा समुक्ता]

अरहया-अर्हता-स्त्री० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० ८ विव० ।

अरहस्सधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपरं (रहस्यं)रहस्यान्तरं यस्मात्तदरहस्यम् । अत एव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्त्वमित्यर्थः । तद्यो धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति सोऽरहस्यधारकः । योग्यायैव छेदसूत्रदायके, वृ० ६ उ० ।

अरहस्सभागि (ण्)-अरहस्यभागिन्-पुं० । रहस्यस्य प्रच्छन्नस्याभावोऽरहस्यं, तद् भजते इत्यरहस्यभागी । अर्हति, स्था० ९ ठा० । कल्प० ।

अरहस्सर-अरहःस्वर-त्रि० । अप्रकटस्वरे महाशब्दे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । बृहदाक्रन्दशब्दे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अराइ-अराति-पुं० । व्याधौ, आ० म० द्वि० । आचा० । विशे० । आ० क० । शत्रौ, वाच० ।

अरि-अरि-पुं० । द्विषत्प्रत्यर्थिरिपुपर्यायः । निर्दये रिपौ, तं० । सामान्यतः शत्रौ, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । जी० । आ० म० । आव० । जन्मान्तरवैरिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । रथाङ्गे चक्रे, विट्खदिरे, षट्सु कामादिषु, वाच० ।

अरिंजय-अरिञ्जय-पुं० । श्रीऋषभदेवस्य द्वाशीतितमे पुत्रे, कल्प० ७ क्ष० ।

अरिछव्वग्ग-अरिषड्वर्ग-पुं० । षण्णां वर्गः समुदायः षड्वर्गः । अरीणां षड्वर्गः । वाच० । कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्ये आन्तरशत्रुषट्के , सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । तथा अरयः शत्रवस्तेषां षड्वर्गः , अयुक्तितः प्रयुक्ताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः यतस्ते शिष्टगृहस्थानामन्तरङ्गारिकार्यं कुर्वन्ति । तत्र परपरिगृहीतास्वनूढासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः, अविचार्य परस्याऽऽत्मनो वाऽपायहेतुरन्तर्बहिर्वा स्फुरणाऽऽत्मा क्रोधः,दानार्हेषु स्वधनाप्रदानम्-अकारणपरधनग्रहणं च लोभः,दुरभिनिवेशारोहो युक्तोक्ताग्रहणं वा मानः, कुलबलैश्वर्यविद्यारूपादिभिरहङ्कारकरणं,परप्रधर्षनिबन्धनं वा मदः, निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्य द्यूतपापर्द्ध्याद्यनर्थसंश्रयेण वा मनःप्रमोदो हर्षः, ततोऽस्यारिषड्वर्गस्य त्यजनमनासेवनम्,एतेषां च त्यजनीयत्वमपायहेतुत्वात् । यदाह-" दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश, करालश्च वैदेहः ॥१॥ क्रोधाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः, तालजङ्घश्च भृगुषु ॥२॥ लोभादैलश्चातुर्वर्ण्यमभ्याहारयमाणः,सौवीरश्चाजबिन्दुः ॥३॥ मानाद्रावणः परदारान् प्रार्थयन्,दुर्योधनो राज्यादंशं च ॥४॥ मदादम्भोद्भवो भूतावमानी, हैहयश्चार्जुनः ॥५॥ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमभ्यासादयन्,वृष्णिसङ्घश्च द्वैपायनमिति ॥६॥ ध० १ अधि० ।

अरिट्ठ-अरिष्ट-पुं० । रिष्-हिंसायाम्-क्त । न० त० । लशुने, वाच० । पिचुमन्दे , प्रज्ञा० १ पद । काके, फलविशेषे च । औ० । रुचकद्वीपस्थे रुचकपर्वतस्य पौरस्त्ये पञ्चमे कूटे, द्वी० । पञ्चदशस्य तीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये,स० । अप्रशस्ते, आ०

सू० २ अ० । वृषभासुरे, कङ्कपक्षिणि, कङ्के [रीठा] इति ख्याते फेनिलफलकवृक्षे च । पुं० । अशुभे मरणचिह्ने, तक्रे, मद्यभेदे, सूतिकागारे, मद्ये च । न० । वाच० । ल० प्र० ।

अरिट्ठकुमार--अरिष्टकुमार--पुं० । कौमार्ये वर्त्तमानेऽरिष्टनेमौ, " भृशमरिष्टकुमार ! विचारय " कल्प० ७ क्ष० ।

अरिट्ठणेमि--अरिष्टनेमि--पुं० । [धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः, गर्भस्थे मात्राऽरिष्टरत्नमयनेमेरुत्पतनदर्शनादरिष्टनेमिः] अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे द्वाविंशे तीर्थंकरे, अनु० । धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः । ' सव्वे धम्मचक्कस्स णेमीभूय त्ति सामन्नं; विसेसो गब्भगते तस्स मायाए आरिट्ठरयणमयो [महति] महालयो नेमी उप्पिज्जमाणो सुमिणे दिट्ठो त्ति तेण सोऽरिट्ठनेमि त्ति' । आव० २ अ० । आ० चू० ॥

अथारिष्टनेमिचरितम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी पंच चित्ते होत्था । तं जहा—चित्ताहिं चुए, चइत्ता गब्भं वक्कंते, तहेव उक्खेवो० जाव चित्ताहिं परिनिव्वुए ॥ १७० ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन्काले तस्मिन् समये अर्हदरिष्टनेमेः पञ्च-कल्याणकानि चित्रायामभवन् । तद्यथा-चित्रायां च्युतः, च्युत्वा गर्भे उत्पन्नः, तथैव चित्राभिलापेन पूर्वोक्तपाठो वक्तव्य इत्यर्थः । यावत् चित्रायां निर्वाणं प्राप्तः ॥ १७० ॥

अथारिष्टनेमेश्च्यवनम्—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी, जे से वासाणं चउत्थे मासे सत्तमे पक्खे कत्तिअबहुले, तस्स णं कत्तियबहुलस्स बारसीदिवसेणं अपराजिआओ महाविमाणाओ बत्तीसं सागरोवमट्ठिइआओ अणंतरं चयं चइत्ता इहेव जंबूदीवे दीवे भारहे वासे सोरियपुरे नयरे समुद्दविजयस्स रन्नो भारिआए सिवाए देवीए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि जाव चित्ताहिं गब्भत्ताए वक्कंते सव्वं तहेव सुमिणदंसणदविणसंहरणाइअं एत्थ भाणियव्वं ॥ १७१ ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य चतुर्थो मासः सप्तमः पक्षः कार्तिकस्य बहुलपक्षः, तस्य कार्तिकबहुलस्य द्वादशीदिवसे अपराजितनामकाद् महाविमानाद् द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिर्यत्र ईदृशात्-अनन्तरं च्यवनं कृत्वा अस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतक्षेत्रे सौर्यपुरे नगरे समुद्रविजयस्य राज्ञः भार्यायाः शिवाया देव्याः कुक्षौ पूर्वापररात्रसमये मध्यरात्रौ यावत् चित्रायां गर्भतया उत्पन्नः सर्वं तथैव स्वप्नदर्शनद्रव्यसंहरणादिवर्णनमत्र भणितव्यम् ॥ १७१ ॥

अथ भगवतो जन्म, अपरिणयनं च-

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी, जे से वासाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे सावणसुद्धे, तस्स णं सावणसुद्धस्स पंचमीदिवसेणं नवण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं जाव चित्ताहिं नक्खत्तेणं चंदजोगमुवागएणं आरोग्गाऽऽरोग्गं दारयं पयाया, जम्मणं समुद्दविजयाभिलावेणं नेयव्वं० जाव तं होउ णं कुमारे अरिट्ठनेमी नामेणं ॥

(तेणं कालेणं इत्यादि) तस्मिन्काले तस्मिन्समये अर्हन् अरिष्टनेमिः, योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासः, द्वितीयः पक्षः श्रावणशुद्धः, तस्य श्रावणशुद्धस्य पञ्चमीदिवसे नवसु मासेषु बहुपरिपूर्णेषु सत्सु यावच्चित्रानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति अरोगा शिवा अरोगं दारकं प्रजाता । जन्मोत्सवः समुद्रविजयाभिधानेन ज्ञातव्यः, यावत् तस्माद्भवतु कुमारोऽरिष्टनेमिर्नाम्ना कृत्वा, यस्माद् भगवति गर्भस्थे माताऽरिष्टरत्नमयं नेमिं चक्रधारां स्वप्नेऽद्राक्षीत्, ततोऽरिष्टनेमिः, अकारस्य अमङ्गलपरिहारार्थत्वाच्च अरिष्टनेमिरिति । रिष्टशब्दो हि अमङ्गलवाचीति । कुमारस्तु अपरिणीतत्वात् । कल्प० ७ क्ष० । उत्त० ।

अपरिणयनं तु एवम्-एकदा यौवनाभिमुखं नेमिं निरीक्ष्य शिवा देवी समवदत्-'वत्स ! अनुमन्यस्व पाणिग्रहणं, पूरय चास्मन्मनोरथम् । स्वामी तु योग्यां कन्यां प्राप्य परिणेष्यामीति प्रत्युत्तरं ददौ । ततः पुनरेकदा कौतुकरहितोऽपि भगवान् मित्रप्रेरितः संक्रीडमानः कृष्णायुधशालायामुपागमत् । तत्र कौतुकोत्सुकैर्मित्रैर्विज्ञप्तोऽङ्गुल्यग्रे कुलालचक्रवच्चक्रं भ्रामितवान्, शार्ङ्गं धनुर्मृणालवन्नामितवान्, कौमोदकीं गदां यष्टिवदुत्पाटितवान्, पाञ्चजन्यं शङ्खं च मुखे धृत्वा आपूरितवान् । तदा च-

"निर्मूल्याऽऽलानमूलं व्रजति गजगणः खण्डयन् वेश्ममालां,
धावन्त्युत्रोट्य बन्धान् सपदि हरिहया मन्दुरायाः प्रणष्टाः ।
शब्दाद्वैतं समस्तं बधिरितमभवत् तत्पुरं व्यग्रमुग्रं,
श्रीनेमेर्वक्त्रपद्मप्रकटितपवनैः पूरिते पाञ्चजन्ये " ॥ १ ॥

तं तादृशं च शब्दं निशम्योत्पन्नः कोऽपि वैरीति व्याकुलचित्तः केशवस्त्वरितमायुधशालायामागतः, दृष्ट्वा च नेमिं चकितो निजभुजबलतुलनाय 'आवाभ्यां बलपरीक्षा क्रियते' इति नेमिं वदंस्तेन सह मल्लाक्षाटके जगाम । श्रीनेमिराह-

" अनुचितं ननु भूलुठनादिकं, सपदि बान्धवयुद्धमिहावयोः ।
बलपरीक्षणकृद् भुजवालनं, भवतु नान्यरणः खलु युज्यते"॥१॥

द्वाभ्यां तथैव स्वीकृतम्-

" कृष्णप्रसारितं बाहुं, नेमिर्नेत्रलतामिव ।
मृणालदण्डवच्चाशु, वालयामास लीलया " ॥ १ ॥

शाखानिभे नेमिजिनस्य बाहौ, ततः स शाखामृगवद्विलग्नः ।
चक्रे निजं नाम हरिर्यथार्थ-मुद्यद्विषादद्विगुणासितास्यः"॥२॥

ततो महताऽपि पराक्रमेण नेमिभुजेऽचलिते सति विषण्णचित्तः कृष्णो मम राज्यमेष सुखेन गृहीष्यतीति चिन्ताऽऽतुरः स्वचित्ते चिन्तयामास-

"क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः, सुधीस्तु फलमश्नुते !
ममन्थ शङ्करः सिन्धुं, रत्नान्यापुर्दिवौकसः " ॥ १ ॥

अथवा-

"क्लिश्यन्ते केवलं स्थूलाः, सुधीस्तु फलमश्नुते ।
दन्ता दलन्ति कष्टेन, जिह्वा गिलति लीलया " ॥ १ ॥

ततो बलभद्रेण सहाऽऽलोचयति-किं विधास्ये, नेमिस्तु राज्यलिप्सुर्बलवांश्च ?। तत आकाशवाणी प्रादुरभूत्-अहो हरे ! पुरा नेमिनाथेन कथितमासीद्-यदुत द्वाविंशस्तीर्थकरो नेमिनामा कुमार एव प्रव्राजिष्यतीति श्रुत्वा निश्चिन्तो निश्चयार्थं नेमिना सह जलक्रीडां कर्त्तुमन्तःपुरीपरिवृतः सरोऽन्तरे प्रविष्टः । तत्र च-" प्रणयतः परिगृह्य करे जिनं, हरिरवेशयदाशु सरोऽन्तरे ।

तदनु शीघ्रमासिञ्चन् नेमिनं, कनकशृङ्गजलैर्घुसृणाविलैः" ॥ १ ॥
तथा रुक्मिणीप्रमुखगोपिका अपि ज्ञापितवान् , यदयं नेमिर्निःशङ्कं क्रीडया पाणिग्रहाभिमुखीकार्यः । ततश्च ता अपि-
"काश्चित् केसरसारनीरनिकरैराच्छोटयन्ति प्रभुं,
काश्चिद् बन्धुरपुष्पकन्दुकभरैर्निघ्नन्ति वक्षःस्थले।
काश्चिल्लीलकटाक्षलक्षविशिखैर्विध्यन्ति नर्मोक्तिभिः,
काश्चित्कामकलाविलासकुशला विस्मापयाञ्चक्रिरे" ॥ १ ॥

ततश्च-

"तावत्यः प्रमदाः सुगन्धिपयसा स्वर्णादिशृङ्गीभृशं,
भृत्वा तज्जलनिर्भरैः पृथुतरैः कर्तुं प्रभुं व्याकुलम्।
प्रावर्त्तन्त मिथो हसन्ति सततं क्रीडोल्लसन्मानसा-
स्तावद्व्योमनि देवगीरिति समुद्भूता श्रुता चाखिलैः ॥ २ ॥
मुग्धाः स्थ प्रमदाः! यतोऽमरगिरौ गीर्वाणनाथैश्चतु-
ष्षष्ट्या योजनमानवक्त्रकुहरैः कुम्भैः सहस्राधिकैः।
बाल्येऽपि स्नपितो य एष भगवान्नाभून्मनागाकुलः,
कर्तुं तस्य सुयत्नतोऽपि किमहो! युष्माभिरीशिष्यते?" ॥ ३ ॥

ततो नेमिरपि हरिं ताश्च सर्वा जलैराच्छोटयति स्म, कमलपुष्पकन्दुकैस्ताडयति स्म, इत्यादि सविस्तरं जलक्रीडां कृत्वा तटमागत्य नेमिं स्वर्णासने निवेश्य सर्वा अपि गोप्यः परिवेष्ट्य स्थिताः । तत्र रुक्मिणी जगौ-
"निर्वाहकातरतयोद्धसे न यत्त्वं,
कन्यां तदेतदविचारितमेव नेमे!।
भ्राता तवास्ति विदितः सुतरां समर्थो,
द्वात्रिंशदुन्मितसहस्रवधूर्विवोढा" ॥ १ ॥

तथा सत्यभामाऽप्युवाच-

"ऋषभमुख्यजिनाः करपीडनं,
विदधिरे दधिरे च महीशताम्।
बुभुजिरे विषयांश्च बहून् सुतान्,
सुषुविरे शिवमप्यथ लेभिरे ॥ २ ॥
त्वमसि किन्तु नवोऽद्य शिवंगमी,
भृशमरिष्टकुमार! विचारय।
कलय देवर! चारुगृहस्थतां,
रचय बन्धुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥
अथ जगाद च जाम्बवती जवात्,
शृणु पुरा हरिवंशविभूषणम्।
स मुनिसुव्रततीर्थपतिर्गृही,
शिवमगादिह जातसुतोऽपि हि ॥ ४ ॥
पद्मावतीति समुवाच विना वधूटीं,
शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम्।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेष विट एव भवेदभार्यः" ॥ ५ ॥

गान्धारी जगौ-

"सज्जन्ययात्राशुभसङ्घसार्थ-
पर्वोत्सवा वेश्मविवाहकृत्यम् ॥
क्रयानिकापुंक्षणपर्वदश्च,
शोभन्त एतानि विनाऽङ्गनां नो" ॥ ६ ॥

गौर्युवाच-

"अज्ञानभाजः किल पक्षिणोऽपि,
क्षितौ परिभ्रम्य वसन्ति सायम्।
नीडे स्वकान्तासहिताः सुखेन,
ततोऽपि किं देवर! मूढहृत् त्वम्" ॥ ७ ॥

लक्ष्मणाऽप्यवोचत्-

"स्नानादिसर्वाङ्गपरिष्क्रियायां,
विचक्षणः प्रीतिरसाभिरामः।
विस्रम्भपात्रं विधुरे सहायः,
कोऽन्यो भवेन्नूनमृते प्रियायाः" ॥ ८ ॥

सुसीमाऽप्यवादीत्-

"विना प्रियां को गृहमागतानां,
प्राघूर्णकानां मुनिसत्तमानाम् ॥
करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्यः?,
कथं च शोभां लभते मनुष्यः?" ॥ ९ ॥

एवमन्यासामपि गोपाङ्गनानां वाचोयुक्त्या यदूनामाग्रहाच्च मौनावलम्बितमपि स्मितानन्नं जिनं निरीक्ष्य, "अनिषिद्धमनुमतम्" इति न्यायाद् नेमिना पाणिग्रहणं स्वीकृतमिति ताभिर्बाढमुद्घोषितम्, तथैव जनोक्तिरिति । ततः कृष्णेनोग्रसेनपुत्री राजीमती मार्गिता, लग्नं पृष्टं, क्रोष्टिकनामा ज्योतिर्वित् प्राह-
"वर्षासु शुभकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत्।
गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा? ॥ १ ॥
समुद्रस्तं बभाषेऽथ, कालक्षेपोऽत्र नार्हति।
नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय प्रवर्त्तितः ॥ २ ॥
मा भूद्विवाहप्रत्यूहो, नेदीयस्तद्दिनं वद ॥
श्रावणे मासि तेनोक्ता, ततः षष्ठी समुज्ज्वला" ॥ ३ ॥

चलितश्च श्रीनेमिकुमारः स्फारशृङ्गारः प्रजाप्रमोदकरो रथारूढो धृतातपत्रसारः श्रीसमुद्रविजयादिदशार्हकेशवबलभद्रादिविशिष्टपरिवारः शिवादेवीप्रमुखप्रमदाजेगीयमानधवलमङ्गलविस्तरः पाणिग्रहणाय अग्रतो गच्छँश्च वीक्ष्य सारथिं प्रतिकस्येदं कृतमङ्गलभरं धवलमन्दिरम्?, इति पृष्टवान्। ततः सोऽङ्गुल्यग्रेण दर्शयन् इति जगाद-'उग्रसेननृपस्य तव श्वशुरस्यायं प्रासाद इति, इमे च तव भार्याया राजीमत्याः सख्यौ चन्द्राननामृगलोचनाभिधाने मिथो वार्तयतः'। तत्र मृगलोचना विलोक्य चन्द्राननां प्राऽऽह-हे चन्द्रानने! स्त्रीवर्गे एका राजीमत्येव वर्णनीया, यस्या अयमेतादृशो वरः पाणिं ग्रहीष्यति । चन्द्रवदनाऽपि मृगलोचनामाह-
"राजीमतीमद्भुतरूपरम्यां, निर्माय धाताऽपि यदीदृशेन ॥
वरेण नो योजयति प्रतिष्ठां, लभेत विज्ञानविचक्षणः काम्?" ॥१॥

इतश्च तूर्यशब्दमाकर्ण्य मातृगृहाद् राजीमती सखीमध्ये प्राप्ता हे सख्यौ! भवतीभ्यामेव साम्प्रतमागच्छन्नपि वरो विलोक्यते, अहमपि विलोकयितुं न लभेयमिति बलात्तदन्तरे स्थित्वा नेमिमालोक्य साश्चर्यं चिन्तयति स्म-
"किं पातालकुमारः?, किं वा मकरध्वजः सुरेन्द्रः किम्?॥
किं वा मम पुण्यानां, प्राग्भारो मूर्त्तिमानेषः? ॥ १ ॥
तस्य विधातुः करयो-रात्मानं न्युञ्छनं करोमि मुदा।
येनैष वरो विहितः, सौभाग्यप्रभृतिगुणराशिः" ॥ २ ॥

मृगलोचना राजीमत्यभिप्रायं परिज्ञाय सप्रीतिहासं-हे सखि! चन्द्रानने! समग्रगुणसम्पूर्णेऽपि अस्मिन् वरे एकं दूषणं अस्त्येव, परं वरार्थिन्यां राजीमत्यां शृण्वत्यां वक्तुं न शक्यते। चन्द्राननाऽपि-हे सखि! मृगलोचने! मयाऽपि तद् ज्ञातं, परं साम्प्रतं मौनमेवाचरणीयम्। राजीमत्यपि त्रपया मध्यस्थतां दर्शयन्ती-हे सख्यौ! यस्याः कस्या अपि भुवनाद्भुतभाग्यधन्यायाः कन्याया अयं वरो भवतु, परं सर्वगुणसुन्दरेऽस्मि-

न वरे दूषणं तु दुग्धमध्यात् पूतरकर्षणप्रायमसम्भाव्यमेव । तदनु ताभ्यां सविनोदं कथितम्-भो राजीमति ! वरः प्रथमं गौरो विलोक्यते, अपरे गुणास्तु परिचये सति ज्ञायन्ते। तद्गौरत्वं तु कज्जलानुकारमेवास्मिन् दृश्यते। राजीमती सेर्ष्यं सख्यौ प्रत्याह-अद्य यावत् युवां चतुरे इति मम भ्रमोऽभवत्, साम्प्रतं तु स भग्नः। यत् सकलगुणकारणं श्यामत्वं भूषणमपि दूषणतया प्ररूपितम्, शृणुतं तावत् सावधानीभूय भवत्यौ श्यामत्वे श्यामवस्त्वाश्रयणे च गुणान्, केवलगौरत्वे दोषांश्च। तथाहि-

"भू१ चित्तवाल्लि२ अगुरू३,कत्थूरी४ घण५ कणीणिगा६ केसा७। कसवट्ट८ मसी९ रयणी १०, कसिणा एए अणग्घफला"॥१॥

इति कृष्णत्वे गुणाः।

"कप्पूरे अंगारो १, चंदे चिंधं २ कणीणिगा णयणे ३।
भुज्जे मरियं ४ चित्ते, रेहा ५ कसिणा वि गुणहेऊ" ॥ २ ॥

इति कृष्णवस्त्वाश्रयणे गुणाः।

"खारं लवणं १ दहिणं, हिमं च २ अइगोरविग्गहो रोगी ३।
परवसगुणो अचुक्खो, केवलगोरत्तणे ऽवगुणा" ॥ ४ ॥

एवं परस्परं तासां जल्पे जायमाने श्रीनेमिः पशूनामार्त्तस्वरं श्रुत्वा साकूतम्-हे सारथे! कोऽयं दारुणः स्वरः?। सारथिः प्राह-युष्माकं विवाहे भोजनकृते समुदायीकृतपशूनामयं स्वरः, इत्युक्ते स्वामी चिन्तयति स्म। धिग्विवाहोत्सवं, यत्रानुत्सवोऽमीषां जीवानाम्। इतश्च-"हल्ली सहिओ! किं मे दाहिणं चक्खु परिप्फुडइ? त्ति" वदन्तीं राजीमतीं प्रति सख्यौ प्रतिहतममङ्गलम्,इत्युक्त्वा थुथुत्कारं कुरुतः। नेमिस्तु हे सारथे! रथमितो निवर्त्तय। अत्रान्तरे नेमिं पश्यन्नेको हरिणः स्वग्रीवया हरिणीग्रीवां पिधाय स्थितः। "अत्र कविघटना"-स्वामिनं निरीक्ष्य हरिणो ब्रूते-

"मा पहरसु मा पहरसु, एयं मह हिययहारिणिं हरिणिं।
सामी! अम्हं मरणं, वि दुस्सहो पियतमाविरहो" ॥ १ ॥

हरिणी नेमिमुखं निभाल्य हरिणं प्रति ब्रूते-

"एसो पसन्नवयणो, तिहुयणसामी अकारणं बंधू।
तव्विण्णवेसु वल्लह!, रक्खत्थं सव्वजीवाणं" ॥ २ ॥

हरिणोऽपि पत्नीप्रेरितो नेमिं ब्रूते-

"निज्झरणनीरपाणं, अरण्णतणभक्खणं च वणवासो।
अम्हाण निरवराहा-ण जीवियं रक्ख रक्ख पहो!" ॥ ३ ॥

एवं सर्वेऽपि पशवः स्वामिनं विज्ञपयन्ति। तावत्स्वामी बभाषे-भोः पशुरक्षकाः! मुञ्चत मुञ्चत इमान् पशून्, नाहं विवाहं करिष्ये। पशुरक्षकाः श्रीनेमिवचसा पशून्मुञ्चन्ति स्म। सारथिरपि रथं निवर्त्तयति स्म। अत्र कविः-

"हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरहे रामसीतयोः।
नेमे राजीमतीत्यागे, कुरङ्गः सत्यमेव सः" ॥ १ ॥ इति।

समुद्रविजयशिवाविजयशिवादेवीप्रमुखाजनास्तु शीघ्रमेव रथं स्खलयन्ति स्म। शिवा च सबाष्पं ब्रूते-

"पत्थेमि जणणिवल्लह-वच्छ! तुमं पढमपत्थणं किंपि।
काऊण पाणिगहणं, मह दंसे निअबहूवयणं" ॥ १ ॥

नेमिराह-

"मुञ्चाग्रहमिमं मात!-र्मानुषीषु न मे मनः।
मुक्तिस्त्रीसङ्गमोत्कण्ठ-मकुण्ठमवतिष्ठते" ॥ १ ॥

यतः-

"या रागिणि विरागिण्य-स्ताः स्त्रियः को निषेवते?।
अतोऽहं कामये मुक्तिं, या विरागिणि रागिणी" ॥ १ ॥

इत्यादि।

राजीमती-हा दैव! किमुपस्थितमित्युक्त्वा मूर्च्छां प्राप्ता, सखीभ्यां चन्दनद्रवैराश्वासिता कथमपि लब्धसंज्ञा सबाष्पं गाढस्वरेण प्राह-

"हा जायवकुलदिणयर!, हा निरुवमनाण! हा जगसरण!।
हा करुणायर! सामी!, मं मुत्तूणं कहं चलिओ?" ॥ १ ॥
"हा हिअय धिट्ठ! निट्ठुर!,अज्ज वि निल्लज्ज! जीविअं वहसि।
अवत्थ वल्लहाओ, जइ नाहो अप्पणो जाओ" ॥ २ ॥

पुनर्निःश्वस्य सोपालम्भं जगाद-

"जइ सयलसिद्धभुत्ता-इ मुत्तिगणिआइ धुत्त! रत्तोऽसि।
ता एवं परिणयणा-रंभेण विडंबिआ किमहं?" ॥ ३ ॥

सख्यौ सरोषम्-

"लोअपसिद्धी वत्तमी, सहिए इक्क सुणिज्ज।
सरलं विरलं सामलं, चुक्किअ विहि करिज्ज ॥ १ ॥
पिम्मरहिअम्मि पिअसहि! एअम्मि वि किं करेसि पिअभावं?।
पिम्मपरं किं पि वरं, अन्नयरं ते करिस्सामो" ॥ २ ॥

राजीमती कर्णौ पिधाय हा! अश्राव्यं किं श्रावयथः-

"जइ कह वि पच्छिमाए, उदयं पावेइ दिणयरो तह वि।
मुत्तूण नेमिनाहं, करेमि नाहं वरं अन्नं" ॥ १ ॥

पुनरपि नेमिनं प्रति-

"अतेच्छुरिच्छाधिकमेव दत्से, त्वं याचकेभ्यो गृहमागतेभ्यः।
मयाऽर्थयन्त्या जगतामधीश!,हस्तोऽपि हस्तोपरि नैव लब्धः॥२॥

अथ विरक्ता राजीमती प्राह-

"जइ वि हु एअस्स करो, मज्झ करे नो आसि परिणयणे।
तह वि सिरे मह सुचिअ, दिक्खासमए करो होही" ॥ ३ ॥

अथ नेमिनं सपरिकरः समुद्रविजयो जगौ-

"नाभेयाद्याः कृतोद्वाहाः, मुक्तिं जग्मुर्जिनेश्वराः।
ततोऽप्युच्चैः पदं ते स्यात्, कुमारब्रह्मचारिणः ॥ १ ॥

नेमिराह-हे तात! क्षीणभोगकर्माऽहमास्मि। किञ्च-

"एकस्त्रीसंग्रहेऽनन्त-जन्तुसंघातघातके।
भवस्त्रीं भवतान्तेऽस्मिन्, विवाहे कोऽयमाग्रहः?" ॥ १ ॥

अत्र कविः-

"मन्येऽङ्गनाविरक्तः, परिणयनमिषेण नेमिरागत्य।
राजीमतीं पूर्वभव-प्रेम्णा समकेतयन्मुक्त्यै" ॥ १ ॥

कुमारावस्थावासः-

अरहा अरिट्ठनेमी दक्खे० जाव तिन्नि वाससयाई कुमारे अगारवासमज्झे वसित्ता पुणरवि लोगंतिएहिं सव्वं तं चेव भाणियव्वं० जाव दाणं दाइयाणं परिभाइत्ता ॥

अर्हन् अरिष्टनेमिः दक्षः, यावत् त्रीणि वर्षशतानि कुमारः सन् गृहस्थावस्थामध्ये उषित्वा पुनरपि लोकान्तिकैरित्यादि सर्वे तदेव पूर्वोक्तं भणितव्यम्। लोकान्तिका देवा यथा-"जय निर्जितकन्दर्प!, जन्तुजाताभयप्रद!। नित्योत्सवावतारार्थं, नाथ! तीर्थं प्रवर्त्तय" ॥ १ ॥ इति स्वामिनं प्रोच्य स्वामी वार्षिकदानानन्तरं त्रिभुवनमानन्दयिष्यतीति समुद्रविजयाद्यैर्न प्रोत्साहयन्ति स्म। ततः सर्वेऽपि सन्तुष्टाः। दानविधिस्तु श्रीवीरवद् ज्ञेयः ॥ १५२ ॥ कल्प० ७ क्ष०। स०।

अथ निष्क्रमणम्-

जे से वासाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे सावणसुद्धे, तस्स णं सावणसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि उत्तरकुराए सीयाए सदेवमणुआसुराए परिसाए समणुगम्ममाणे०जाव बारवईए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ । निग्गच्छइत्ता जेणेव रेवयए उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ। ठावेइत्ता सीयाओ पच्चोरुहइ । पच्चोरुहइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ । ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ । करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय एगेणं पुरिससहस्सेणं सद्धिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥१७३॥

(जे से वासाणं पढमे इत्यादि) योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासो द्वितीयः पक्षः-श्रावणस्य शुक्लः पक्षः। तस्य श्रावणशुक्लस्य षष्ठीदिवसे पूर्वाह्णकालसमये उत्तरकुरायां शिबिकायां स्थितो देवमनुष्यासुरसहितया पर्षदा समनुगम्यमानो यावद् द्वारवत्या नगर्या मध्यभागे निर्गच्छति । निर्गत्य यत्रैव रैवतकमुद्यानं तत्रैव उपागच्छति । उपागत्य अशोकनामवृक्षस्य अधस्तात् शिबिकां स्थापयति। संस्थाप्य शिबिकातः प्रत्यवतरति। प्रत्यवतीर्य स्वयमेव आभरणमाल्यालङ्कारान् अवमुञ्चति, अवमुच्य स्वयमेव पञ्चमौष्टिकं लोचं करोति । कृत्वा च षष्ठेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति एकं देवदूष्यं गृहीत्वा एकेन पुरुषाणां सहस्रेण सार्द्धं मुण्डो भूत्वा अगारान्निष्क्रम्य साधुतां प्रतिपन्नः ॥ १७३ ॥ कल्प० ७ क्ष० । स० ।

अथ केवलोत्पादः-

अरहा अरिट्ठनेमी चउप्पन्नं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए तं चेव सव्वं०जाव पणपन्नगस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणस्स जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले, तस्स णं आसोयबहुलस्स पन्नरसीपक्खेणं दिवसस्स पच्छिमे भाए उज्जिंतसेलसिहरे वेयसस्स पायवस्स अहे अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते० जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥ १७४ ॥

(अरहा अरिट्ठनेमी इत्यादि) अर्हन् अरिष्टनेमिः चतुष्पञ्चाशत् अहोरात्रान् यावद् नित्यं व्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वोक्तं सर्वं वाच्यं यावत् पञ्चपञ्चाशत्तमस्य अहोरात्रस्य अन्तरा वर्तमानस्य योऽसौ वर्षाकालस्य तृतीयो मासः, पञ्चमः पक्षः-आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनबहुलस्य पञ्चदशे दिवसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामशैलस्य शिखरे वेतसनामवृक्षस्य अधस्तात् अष्टमेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुक्लध्यानस्य मध्यभागे वर्तमानस्य प्रभोरनन्तं केवलज्ञानं समुत्पन्नं यावत् सर्वभावान् जानन् पश्यंश्च विहरति, तत्र केवलज्ञानं रैवतकस्थे सहस्राम्रवणे समुत्पेदे, तत उद्यानपालको विष्णोर्व्यजिज्ञपत् । विष्णुरपि महर्द्ध्या जगवन्तं वन्दितुमाययौ । राजीमत्यपि तत्रागता । अथ प्रभोर्देशनां निशम्य वरदत्तनृपः सहस्रद्वयनृपयुतो व्रतमाददे । हरिणा च राजीमत्याः स्नेहकारणे पृष्टे प्रभुर्धनवतीभवादारभ्य तया सह स्वस्य नवभवसम्बन्धमाचष्टे । तथाहि-प्रथमे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेयं धनवती नाम्नी मत्पत्नी अभूत् १ । ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवलोके आवां देवदेव्यौ २ । ततस्तृतीये भवेऽहं चित्रगतिनामा विद्याधरः, तदेयं रत्नवती मत्पत्नी ३ । ततश्चतुर्थे भवे चतुर्थे कल्पे आवापि देवौ ४ । पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एषा प्रियतमा राज्ञी ५ । षष्ठे एकादशे कल्पे आवापि देवौ ६ । सप्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एषा तु यशोमती राज्ञी ७ । अष्टमेऽपराजिते आवापि देवौ ८ । नवमेऽहमयम्, एषा राजीमती ९ । ततः प्रभुरन्यत्र विहृत्य क्रमात्पुनरपि रैवतके समवासरत् । अनेकराजकन्यापरिवृता राजीमती तदा रथनेमिश्च प्रभुपार्श्वे दीक्षां जगृहतुः । अन्यदा च राजीमती प्रभुं नन्तुं प्रतिव्रजन्ती मार्गे वृष्ट्या बाधिता । एकां च गुहां प्राविशत् । तस्यां च गुहायां पूर्वं प्रविष्टं रथनेमिमजानती सा क्लिन्नानि वस्त्राणि शोषयितुं परितिक्षेप । ततश्च तामपहसितत्रिदशतरुणीरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा विवसनां निरीक्ष्य भ्रातुर्वैरादिव मदनेन मर्मणि हतः कुललज्जामुत्सृज्य धीरतामवधीर्य रथनेमिस्तां जगाद-

"अयि ! सुन्दरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ? ।
सर्वाङ्गभोगसंयोग-योग्यः सौभाग्यशेवधिः ॥ १ ॥
आगच्छ स्वेच्छया भद्रे !, कुर्वहे सफलं जनुः ॥
आवामुभावपि प्रान्ते, चरिष्यावस्तपोविधिम् " ॥ २ ॥

ततश्च महासती तदाकर्ण्य तं दृष्ट्वा च धृताद्भुतधैर्या तं प्रत्युवाच-

'महानुभाव ! कोऽयं ते-ऽभिलाषो नरकाध्वनि ।
सर्वं सावद्यमुत्सृज्य, पुनर्वाञ्छन्न लज्जसे ॥ १ ॥
अगन्धनकुले जाता-स्तिर्यञ्चो ये भुजङ्गमाः ।
तेऽपि नो वान्तमिच्छन्ति, त्वं नीचः किं ततोऽप्यसि ?" ॥२॥

इत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितः श्रीनेमिपार्श्वे तद्दुश्चीर्णमालोच्य तपस्तप्त्वा मुक्तिं जगाम । राजीमत्यपि दीक्षामाराध्य शिवशय्यामारूढा, चिरप्रार्थितं शाश्वतिकं श्रीनेमिसंयोगमवाप । यदाह-

"छद्मस्था वत्सरं स्थित्वा, गेहे वर्षचतुःशतीम् ।
पञ्चवर्षशतीं राजी, ययौ केवलिनी शिवम्" ॥ १ ॥ १७४ ॥

(कृष्णाग्रमहिषीप्रव्राजनम् 'अग्गमहिसी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७४ पृष्ठे उक्तम्)

अथ गणादिसंपत्-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा
अट्ठारस गणहरा हुत्था ॥ १७५ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स त्ति) अर्हतोऽरिष्टनेमेरष्टादश गणाः, अष्टादश गणधराश्च अभवन् ॥ १७५ ॥ कल्प० ७ क्ष० ।

अथ श्रमणश्रमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स वरदत्तपामुक्खाओ अट्ठारस समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया हुत्था ।१७६ ।

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः वरदत्तप्रमुखाणि अष्टादश श्रमणानां सहस्राणि, उत्कृष्टा एतावती श्रमणसम्पदा अभवत् ॥ १७६ ॥

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अज्जजक्खिणीपामुक्खाओ चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया हुत्था ॥ १७७ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, आर्ययक्षिणीप्रमुखाणि चत्वारिंशत् आर्यासहस्राणि उत्कृष्टा एतावती आर्यासम्पदा अभवत् ॥ १७७ ॥ कल्प० ७ क्ष० । स० । आ०चू० ।

अथ श्रावकसंपत्-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स नंदपामुक्खाणं समणोवासगाणं एगासयसाहस्सी अउणत्तरिं च सहस्सा उक्कोसिआ समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १७८ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः,नन्दप्रमुखाणां श्रावकाणामेको लक्ष एकोनसप्ततिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा एतावती श्रावकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७८ ॥

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स महासुव्वयापामुक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ छत्तीसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासयाणं संपया हुत्था ॥ १७९ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः महासुव्रताप्रमुखाणां श्राविकाणां त्रयो लक्षाः षट्त्रिंशत्सहस्रा उत्कृष्टा एतावती श्राविकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १७६ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणाम्—

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स चत्तारि सया चउद्दसपुव्वीणं अजिणाणं जिणसंकासाणं० जाव संपया हुत्था ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेश्चत्वारि शतानि चतुर्दशपूर्विणाम्, अकेवलिनामपि केवलितुल्यानां यावत् सम्पदा अभवत् । कल्प० ७ क्ष० ।

अथावधिज्ञान्यादि—

पन्नरससया ओहिनाणीणं पन्नरससया केवलनाणीणं पन्नरससया वेउव्वियाणं दससया विउलमईणं ॥

पञ्चदश शतानि अवधिज्ञानिनां सम्पदा अभवत्, पञ्चदश शतानि केवलज्ञानिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश शतानि वैक्रियलब्धिमतां संपदा अभवत्, दश शतानि विपुलमतीनां संपदा अभवत्। कल्प० ७ क्ष० ।

" अरहो णं अरिट्ठणेमिस्स अट्ठसया वाईणं सदेवमणुयासुराए परिसाए वाए अपराजियाणं उक्कोसिया वाइसंपया होत्था " । स्था० ८ ठा० । स० ।

अनुत्तरोपपातिकानाम्-

सोलससया अणुत्तरोववाइयाणं,पन्नरस समणसया सिद्धा, तीसं अज्जियासयाइं सिद्धाइं ॥ १८० ॥

षोडशशतानि अनुत्तरोपपातिनां संपदा अभवत्, पञ्चदश श्रमणानां शतानि सिद्धानि, त्रिंशत् आर्याशतानि सिद्धानि॥१८०॥ कल्प० ७ क्ष० ।

अथान्तकृद्भूमिः-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स दुविहा अंतगडभूमी हुत्था । तं जहा-जुगंतगडभूमी य, परियायंतगडभूमी य० जाव अट्ठमाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी, दुवासपरिआए अंतमकासी ॥ १८१ ॥

(अरहओ अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः द्विविधा अन्तकृन्मर्यादा अभवत् । तद्यथा-युगान्तकृद्भूमिः, पर्यायान्तकृद्भूमिश्च । यावत्; इदमग्रे योज्यम्-अष्टमं पुरुषयुगं पट्टधरं युगान्तकृद्भूमिरासीत्, द्विवर्षपर्याये जाते कोऽपि अन्तमकार्षीत् ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ क्ष० । कथा० ।

अथ भगवत आयुः—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी तिन्नि वाससयाइं कुमारवासमज्झे वसित्ता, चउप्पन्नं राइंदियाइं छउमत्थपरिआयं पाउणित्ता, देसूणाइं सत्तवाससयाइं केवलिपरिआयं पाउणित्ता, पडिपुन्नाइं सत्तवाससयाइं सामन्नपरिआयं पाउणित्ता, एगं वाससहस्सं सव्वाउअं पालइत्ता , खीणे वेयणिज्जा उपनामगुत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए बहुविइक्कंताए, जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे, तस्स णं आसाढसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं उप्पिं उज्जितसेलसिहरंसि पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं चित्तानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि नेसज्जिए कालगए०,जाव सव्वदुक्खपहीणे ॥१८२॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः त्रीणि वर्षशतानि कुमारावस्थायां स्थित्वा चतुष्पञ्चाशदहोरात्रान् छद्मस्थपर्यायं पालयित्वा , किञ्चिदूनानि सप्तवर्षशतानि केवलिपर्यायं पालयित्वा, प्रतिपूर्णानि सप्तवर्षशतानि चारित्रपर्यायं पालयित्वा, एकं वर्षसहस्रं सर्वायुः पालयित्वा, क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु कर्मसु अस्यामेव अवसर्पिण्यां दुष्षमसुषमनामके चतुर्थेऽरके बहुव्यतिक्रान्ते सति, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः-आषाढशुक्लः, तस्य आषाढशुद्धस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तनामशैलशिखरस्य पञ्चभिः षट्त्रिंशदुत्तरैरनगारशतैः सार्द्धं मासिकेन अनशनेन अपानकेन जलरहितेन,चित्रानक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति पूर्वापररात्रिसमये मध्यरात्रौ निषण्णः सन् कालगतः, यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणः ॥ १८२ ॥ इति ॥ कल्प० ७ क्ष० । स० ।

अथ नेमिनिर्वाणात् कियता कालेन (प्रकृत) पुस्तकलिखनादि जातमित्याह—

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स कालगयस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विइक्कंताइं पंचासीइमस्स वाससयस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥१८३॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेः कालगतस्य यावत् सर्वदुःखप्रक्षीणस्य चतुरशीतिवर्षसहस्राणि व्यतिक्रान्तानि, पञ्चाशीतितमस्य वर्षसहस्रस्यापि नव वर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि,दशमस्य च वर्षशतस्य अयं अशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति ॥१८३॥ श्रीनेमिनिर्वाणात् चतुरशीत्या वर्षसहस्रैः श्रीवीरनिर्वाणमभूत्, श्रीपार्श्वनिर्वाणं तु वर्षाणां त्र्यशीत्या सहस्रैः सार्द्धैः सप्तभिश्च शतैरभूदिति सुधिया ज्ञेयम् । कल्प० ७ क्ष० । ती० ।

" उज्जंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिया जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि " ॥१॥ ध० २ अधि०।

(अरिष्टनेमिना राजीमतीपरित्यागः, तया प्रव्रजितया कामार्त्तरथनेमिप्रतिबोधश्च ' रहनेमि ' शब्दे वक्ष्यते)

अणहिलपट्टने पूज्यमाने श्रीअरिष्टनेमिदेवे, ती० ।

तत् कथा चेयम्-

पणमिय अरिट्ठनेमिं, अणहिल्लपुरपट्टणावयंसस्स ।
बंभाणगच्छनिस्सिय-अरिट्ठनेमिस्स कित्तिमो कप्पं ॥१॥

"पुव्वं किर सिरिकन्नउज्जनयरे जक्खो नाम महड्डिसंपन्नो नेगमो होत्था । सो अन्नया वाणिज्जकज्जे महया वड्डसत्थेण कयाणगाणि गणिऊण कन्नउज्जपडिबद्धं कन्नउज्जाहिवसुआए महणिगाए कंचुलिआसंबंधदिन्नं गुज्जरदेसं पइट्ठिओ, आवासिओ अ । कमेण लक्खारामे सरस्सईनईतडे पुव्विं अणहिल्लवाडयपट्टणनिवेसट्ठाणं कारितं आसी । तत्थ सत्थं निवेसित्ता अत्थंतस्स तस्स नेगमस्स पत्तो वासारत्तो । वरिसिउं पवत्ता जलहरा । अन्नया भद्दवयमासे सो वड्डसत्थो सव्वो वि कत्थ वि गओ, को वि न जाणइ, सव्वत्थ गवेसाविओ न लद्धो । तओ सव्वस्स नासे इव अइसंतचिंताउरस्स तस्स रत्तीए आगया सुमिणंसि भगवई अंबा देवी । भणियं च तीए-वच्छ ! जगसि, सुवसि वा? । जक्खेण वुत्तं--अम्मो ! कओ मे निद्दा ?, जस्स वड्डसत्थो सव्वस्सभूओ विप्पणट्ठो । देवीए साहियं-भद्द ! एयम्मि लक्खारामे अंबिलियाथूलस्स हिट्ठे पडिमातिगं वट्टए । पुरिसतिगं खणावित्ता तं गाहयव्वं । एगा पडिमा अरिट्ठनेमिसामिणो, अवरा सिरिपासनाहस्स, अन्ना य अंबियादेवीए । जक्खेण वायरिअं-तत्थ य अंबिलिआबहूणाणं बाहुल्ले सो पएसो कहं नायव्वो ?। देवीए जंपिअं-धाउमयं मंडलं पुप्फप्पयरं जत्थ पाससि, तं चेव ठाणं पडिमातिगस्स जाणिज्जासि । तम्मि पडिमातिगे पयडीकए पूइज्जंते अ तुज्झ वड्डा सयमेव आगच्छिहिंति । पहाए तेण उट्ठेऊण बलिविहाणपुव्वं तहाकए पयडीहूआओ तिन्नि वि पडिमाओ । पूइयाओ विहिपुव्वं । खणमित्तेण अतक्कियमेव आगया वड्डा । संतुट्ठो नेगमो । कमेणं कारिओ तत्थ पासाओ । ठाविआओ पडिमाओ ॥ अन्नया अइक्कंते वासारत्ते अग्गहारगामाओ अट्ठारससयपट्टसालियघरअलंकियाओ बंभाणगच्छमंडणसिरिजसोभद्दसूरिणो खंभाइतनयरोवरि विहरंता तत्थ आगया । लोगेहिं विन्नविअं-भगवं ! तित्थं उल्लंघिउं गंतुं न कप्पइ । पुरओ तओ तेहिं सूरिहिं तत्थ ताओ पडिमाओ मग्गसिरपुण्णिमाए धयारोवो महूसवपुव्वं कओ । अज्जवि एइ वरिसं तम्मि चेव दिट्ठो धयारोवो कीरइ । सो य धयारोवमहूसवो विक्कमाइच्चाओ पंचसु सएसु दुउत्तरेसु (५०२) वरिसाणं अइक्कंतेसु संवुत्तो । तओ अट्ठसएसु दुउत्तरेसु विक्कमवासेसु (८०२) अणहिल्लगोवालए परिक्खियपएसे लक्खारामठाणे पट्टणं चाउक्कडवंसमुत्ताहलेण वणरायराइणा निवेसियं । तत्थ वणराया समरायतूअरूवयरसीहरयणाइच्चसामंतसीहनामाणो सत्त चाउक्कडवंसरायणो जाआओ । तत्थेव पुरे चालुक्कवंसे मूलरायचामुंडरायवल्लभरायदुल्लभरायभीमदेवकन्नजयसिंहदेवकुमारपालदेवजयदेवबालमूलरायभीमदेवाभिहाणा एगारस नरिंदा । तओ वाघेलाअन्नए लूणप्पसायवीरधवलवीसलदेवअज्जुणदेवसारंगदेवकण्हदेवा नरिंदा संजाया । ततो अल्लावदीणसुरत्ताणाणं गुज्जरधरित्तीए आणा पयट्टा । सो अरिट्ठनेमिसामी कोहंडीयपाडिहारो अज्ज वि तहेव पूइज्जइ त्ति " ॥

अरिष्टनेमिकल्पोऽयं, लिखितः श्रेयसेऽस्तु वः ।
मुखात् पुरा विदां श्रुत्वा, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ॥ १ ॥ ती० २६ कल्प० । "दो तित्थगरा नीलुप्पलसमा वन्नेणं पन्नत्ता । तं जहा-मुणिसुव्वए चेव, अरिट्ठनेमी चेव " । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अरिट्ठा-अरिष्टा-स्त्री० । कच्छविजयक्षेत्रवर्त्तिराजधानीयुगले, जं० ४ वक्ष० । " दो अरिट्ठाओ " । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अरिट्ठारि-अरिष्टारि-पुं० । अरिष्टाख्यवृषभासुरमर्दके श्रीकृष्णे, "अधृति देवकी चक्रे, पृष्टाऽरिष्टारिणा कृष्णात्" । आ० क० ।

अरित्ता-अरिता-स्त्री० । सामान्यतः शत्रुभावे, भ० १९ श० ५ उ० ।

अरिदमण-अरिदमन-पुं० । सप्ततितमे श्रीऋषभपुत्रे, कल्प० ७ क्ष० । वसन्तपुरराजनि, यस्य पत्न्याऽभयं दत्त्वा चौरो मोचितः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । (अस्य कथा-' अभयप्पदाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७०८ पृष्ठे दर्शिता) श्रीप्रभनृपोपद्रावके नृपे, ध० र० ।

अरिरिहो-अव्य० । पादपूरणे, प्रा० २ पाद ।

अरिस-अर्शस्-न० । ' हरस ' इति लोकप्रसिद्धे गुदाङ्कुरे रोगे, तं० । जी० । जं० । ज्ञा० । विपा० । उपा० । यद्बलेन वायुर्मूत्रं पुरीषं च प्रवर्त्तयते तासां गुदप्रविष्टानां शिराणां विघातेऽर्शो रोगो भवति । प्रव० २५२ द्वार ।

अरिसिल्ल-अर्शस-त्रि० । अर्शोरुग्णे, " अरिसिल्लस्स व अरिसा, मा खुब्भे तेण बंधए कमणी " । नि० चू० २ उ० । अर्शोवतः पादतलदौर्बल्यादर्शांसि मा क्षुभ्येरन्निति कृत्वा क्रमणिके असौ बध्नाति । बृ० ३ उ० ।

अरिह-अर्ह-धा०-पूजने, सक० । योग्यत्वे, अक० भ्वादि० पर० सेट् । वाच० । " र्ह-श्री-ह्री-कृत्स्न-क्रिया-दिष्ट्यास्वित् " ८ । २ । १०४ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः । अरिहइ-अर्हति । प्रा० २ पाद ।

अर्ह-त्रि० । योग्ये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । स्था० । लक्षणोपेततयाऽऽचार्यपदयोग्ये, व्य० १० उ० । पूज्ये, विशे० । प्रशस्ततया पूज्ये, स० ।

अरिहंत-अर्हत्-पुं० । अर्हन्त्यशोकाद्यष्टप्रकारां परमभक्तिपरसुरासुरनिकरविरचितां जन्मान्तरमहालवालविरूढानवद्यवासनाजलाभिषिक्तपुण्यमहातरुकल्याणफलकल्पां महाप्रातिहार्यरूपां निखिलप्रतिपक्षप्रक्षयात् सिद्धिसौधशिखरारोहणं चेत्यर्हन्तः । स्था० २ ठा० १ उ० । आव० । जं० । सूत्र० । अनु० । आ० म० । जी० । आ० चू० । विशे० । आचा० । तीर्थकृत्सु, आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति प्राकृतशैल्या अनेकधाऽर्हच्छब्दनिरुक्तसंभव
इति दर्शयन्नाह--

इंदियविसयकसाए, परीसहे वेयणाए उवसग्गे ।
एए अरिणो हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

इन्द्रियादयः पूर्ववत् । वेदना त्रिविधा-शारीरी, मानसी, उभयरूपा च । 'एए अरिणो हंता' इत्यत्र प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च विभक्तिव्यत्ययः । ततोऽयमर्थः-एतेषामरीणां हन्तारोऽर्हन्त

इति पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। स्यादेतत्, अनन्तरगाथायामेत एवोक्ताः, पुनरप्ययमीषामिहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते अनन्तरगाथायां नमस्कारार्हत्वहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधानिरुक्तिप्रतिपादनार्थं उपन्यासः।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽस्य आख्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावरणादिसंज्ञाः सर्वसत्त्वानामिव । तथाचाऽऽह-

अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।
तं-कम्ममरीहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अष्टविधमष्टप्रकारम्, अपिशब्दादुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्रकारम् । चशब्दो भिन्नक्रमः,स चावधारणे । ज्ञानावरणादि कर्मैव अरिभूतं शत्रुभूतं भवति सर्वजीवानां सत्वानाम्, अनवबोधादिदुःखहेतुत्वात् । तत्कर्मारिहन्तारो यतः, तेनार्हन्त उच्यन्ते । रूपनिष्पत्तिः प्राग्वत्।

अथवा-

अरिहंति वंदणनमं-सणाणि अरिहंति पूयसकारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्ह पूजायाम् । अर्हन्ति वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं शिरसा, नमस्करणं वाचा । तथा-अर्हन्ति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्रमाल्यादिजन्या पूजा, अभ्युत्थानादिसंभ्रमः सत्कारः। तथा-सिध्यन्ति निष्ठितार्था भवन्त्यस्यां प्राणिनः सिद्धिः लोकान्तक्षेत्रलक्षणा। वक्ष्यति-"इह बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झइ" तद्गमनं प्रति अर्हन्तीत्यर्हाः योग्याः।"अच्"।५।१।४७। इत्यच्। तेन कारणेनार्हन्त उच्यन्ते । अर्हन्तीत्यर्हन्तः।

तथा-

देवासुरमणुएसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

देवासुरमनुजेभ्यः-'सूत्रे पञ्चम्यर्थे सप्तमी, प्राकृतत्वात्' पूजामर्हन्ति प्राप्नुवन्ति । कुत इति चेत् ? अत आह-यस्मात्सुरोत्तमा उपचितसकलजनासाधारणपुण्यप्राग्भारतया समस्तदेवासुरमनुजोत्तमाः; ततः पूजामष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणामर्हन्तीत्यर्हन्तः। इत्थमनेकधा स्वर्थमभिधाय पुनः सामान्यविशेषाभ्यामुपसंहरन्नाह-(अरिणो हंता इत्यादि) यतोऽरीणां हन्तारः,तथा-रजो बध्यमानकं कर्म, तस्य रजसो यतो हन्तारः, तेनार्हन्त उच्यन्ते। "अरिहन्तारः" इति वा स्थितस्य अर्हन्त इति निष्पत्तिः प्राग्वत् । आ० म० द्वि० । ध० । नं० । औ० । सू० प्र० । आव०। अर्हन् जैनानां परमपूज्यः । यो० विं० ।

" अरुवीर्यं देसियत्तं, तहेव निज्जामया समुद्दम्मि ।
छक्कायरक्खणट्ठा, महगोवा तेण वुच्चंति"॥ विशे० ।
रागद्दोसकसाए, य इंदियाणि य पंचवि परीसहे ।
उवसग्गे नामयंता, नमोऽरिहा तेण वुच्चंति" ॥ विशे० ।

आ० चू०। स्था०। ('णमोक्कार' शब्देऽस्य व्याख्या यथास्थानं च) 'णमो अरिहंताणं भगवंताणं'। अर्हन्तो नामादिभेदाद्यनेकभेदाः, ' नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतस्तन्न्यासः ' इति वचनात् । तत्र भावोपकारित्वेन भावार्हत्संपरिग्रहार्थमाह-भगवद्भ्यः । स० प्र० । " अरिहंताणमवन्नं वदमाणे अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे " इत्यादि ' अवण्णवाय ' शब्देऽत्रैव भागेऽग्रे वक्ष्यते) (अर्हदाशातना ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४७२ पृष्ठे द्रष्टव्या) " अरिहंता लोगुत्तमा अरिहंते सरणं पवज्जामि " । आव० ४ अ० । (अर्हन्तो लोकोत्तमा इति ' चउसरणगमण ' शब्दे वक्ष्यते) (छद्मस्थोऽतीन्द्रियमर्थं न जानाति, तमेवार्हन् जानातीति वक्ष्यते " छउमत्थ ' शब्दे) (अर्हन्त एव सर्वज्ञा इति " सव्वण्णु ' शब्दे निरूपयिष्यते)

जम्बूद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगसमए एगजुगे दो अरिहंतवंसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जिंति, उप्पज्जिस्संति वा ॥

पञ्चाब्दिकः कालविशेषो युगं, तत्रैकस्मिन्;तस्याप्येकस्मिन्समये; "एगसमए एगजुगे" इत्येवंपाठेऽपि व्याख्योक्तक्रमेणैव,इत्थमेवार्थसम्बन्धात, अन्यथा वा भावनीयेति । द्वावर्हतां वंशौ प्रवाहौ-एको भरतप्रभवः, अन्य ऐरवतप्रभव इति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये द्वावर्हन्तौ नोत्पद्येते इति कपिलवासुदेवं प्रति मुनिसुव्रतोक्तिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे मन्दरपौरस्त्ये शीताया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टौ अष्टौ; जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टावष्टौ । प्रतिकच्छादिविजयक्षेत्रमेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत्तीर्थकरा इति। स्था० ८ ठा०। (अर्हत्युत्पद्यमाने लोकान्धकारोद्योतावेविति "अंधयार" शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७ पृष्ठे समुक्तम्, तथा 'तित्थयर' शब्दे सर्वा वक्तव्यता द्रष्टव्या) " ससिधवला अरिहंता " इति गाथायामर्हदादीनां श्वेताद्यारोपः किंहेतुकः ? इति प्रश्ने, अर्हन्तः पञ्चवर्णाः, सिद्धास्त्ववर्णाः शास्त्रेषु व्यक्ततयैवोक्ताः सन्ति, आचार्यादयोऽपि केवलपीतादिवर्णा एव भवन्ति, तैनैतेषु पूर्वाचार्यैस्तत्क्रमेण ध्यायमानेषु श्वेताद्येकैकवर्णारोपणपूर्वकमेषां ध्यानं सिद्धिकृद् भवतीति,ते तु सर्वास्वपि क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालभावादिसामग्रीविभिन्नासु प्रवर्त्तेत इति न काऽप्यनुपपत्तिः ।१४७। सेन०२ उल्ला०।

अरिहंतकमंभोयभव-अर्हत्क्रमाम्भोजभव-त्रि० । अर्हतां श्रीतीर्थकराणां क्रमाश्चरणाः त एवाम्भोजानि कमलानि, तेभ्यो भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्क्रमाम्भोजभवम् । जिनेश्वरचरणपङ्कजसम्भवे, द्रव्या० ८ अध्या० ।

अरिहंतकमंभोयसमासिय-अर्हत्क्रमाम्भोजसमाश्रित-त्रि० । अर्हतां वीतरागाणां क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र समाश्रितः । अर्हच्चरणाब्जशरणीभूते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अरिहंतचेइय-अर्हच्चैत्य-न० । अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि । इदमत्र भावना-चित्तमन्तःकरणं, तस्य भावे कर्मणि वा (" वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च वा " ७ । १ । ५९ । इति हैमसूत्रेण ट्यणि) कृते चैत्यम् । तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वाद् अर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते । अर्हत्प्रतिमासु, " अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं " आव० ५ अ० । आ० चू० । प्रति० । ध० ।

अरिहंतभासिय-अर्हद्भाषित-त्रि० । अर्हद्भिः सम्यगाख्याते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अरिहंतमणुण्णाय-अर्हदनुज्ञात-त्रि० । अर्हद्भिः कर्त्तव्यतयाऽनुज्ञाते, प्रज्ञा० १२ पद ।

अरिहंतसक्खिय–अर्हत्साक्षिक–न० । अर्हन्तस्तीर्थकरास्ते साक्षिणः समक्षभाववर्तिनो यत्र तत् । " शेषाद्वा " ७ । ३ । १७५ । इति [हैम] सूत्रेण कप्रत्ययविधानादर्हत्साक्षिकम् । अर्हद्भिः कृतसाक्षित्वे, पा० ।

अरिहंतसमणसिज्जा–अर्हच्छ्रमणशय्या–स्त्री० । अर्हतां श्रमणानां च शय्याऽर्हच्छ्रमणशय्या । चैत्यालयोपाश्रयरूपासु शय्यासु, जीत० ।

अरिहंतसासण–अर्हच्छासन–न० । जिनागमे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अरिहंतसिज्जा–अर्हच्छय्या–स्त्री० । चैत्यगृहे, ध० २ अधि० ।

अरिहदत्त–अर्हद्दत्त–पुं० । आर्यसुस्थित–सुप्रतिबुद्धयोः पञ्चमे शिष्ये, कल्प० ८ क्ष० ।

अरिहदिन्न–अर्हद्दत्त–पुं० । सिंहगिरेश्चतुर्थे शिष्ये, कल्प० ८ क्ष० ।

अरुउवसग्ग–अरुगुपसर्ग–पुं० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।

अरूपोपसर्ग–पुं० । आर्षत्वाद् वकारलोपः । रूपरहिते उत्पाते, तं० ।

अरुग–अरुक–न० । व्रणे, " अरुगं इहरा कुत्थइ " । बृ० ३ उ० ।

अरुण–अरुण–पुं० । नन्दीश्वरवरसमुद्रस्य परतोऽरुणोदसमुद्रपरिवेष्टिते द्वीपभेदे, स च वृत्तवलयाकारसंस्थानसंस्थितः । तत्र अशोकवीतशोकौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । अनु० । द्वी० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । स्था० । " रुयगा उ समुद्दाओ, दीवसमुद्दा भवे असंखिज्जा । गंतूण होइ अरुणो, अरुणो दीवो तओ उदही " ॥ ६४ ॥ द्वी० । हरिवर्षनामाऽकर्मभूमिवृत्तवैताढ्यपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अरुणोपपातग्रन्थप्रतिपाद्ये देवे, स्था० १० ठा० । उपा० । सू० प्र० । विमानभेदे, अरुणादीनि दश विमानानि–" अरुणे १ अरुणाभे २ खलु, अरुणप्पह ३ अरुणकंत ४ सिट्ठे य ५ । अरुणज्झए य छट्ठे ६, भूय ७ वर्डिसे ८ गवे ९ कीले १० " ॥ ५ ॥ शिष्टादिनामान्यरुणपदपूर्वाणि दृश्यानि । उपा० १ अ० । अरुण–त्रन् । सूर्ये, सूर्यसारथौ, गुडे, सन्ध्यारागे, निःशब्दे, दानवभेदे, कुष्ठभेदे, पुन्नागवृक्षे, अव्यक्तरागे, कृष्णमिश्रितरक्तवर्णे च । तद्वति, त्रि० । कुङ्कुमे, सिन्दूरे च । न० । मञ्जिष्ठायां, श्यामाकायाम्, अतिविषायां, नदीभेदे, कदम्बपुष्पायां च । स्त्री० । वाच० ।

अरुणगंगा–अरुणगङ्गा–स्त्री० । महाराष्ट्रजनपदभूमौ वहति नदीभेदे, ती० ४८ कल्प ।

अरुणप्पभ–अरुणप्रभ–पुं० । चतुर्थेऽनुवेलन्धरनागराजे, तदावासपर्वते च । जी० ३ प्रति० । स्था० । विमानभेदे, उपा० १ अ० । राहोश्चन्द्रं गृह्णतो दशमे कृत्स्नपुद्गले, चं० प्र० २० पाहु० ।

अरुणप्पभा–अरुणप्रभा–स्त्री० । नवमस्य तीर्थकरस्य निष्क्रमणशिबिकायाम्, स० ।

अरुणवर–अरुणवर–पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र अरुणवरे द्वीपे अरुणवरभद्रारुणवरमहाभद्रौ, अरुणवरे समुद्रे अरुणभद्रारुणमहाभद्रौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । अनु० । द० प० ।

अरुणवरोभास–अरुणवरावभास–पुं० । स्वनामख्याते द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे द्वीपे अरुणवरावभासभद्रारुणवरावभासमहाभद्रौ , अरुणवरावभाससमुद्रे अरुणवरावभासवरारुणवरावभासमहावरौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । चं० प्र० ।

अरुणाभ–अरुणाभ–पुं० । अरुणकान्तौ, चन्द्रं गृह्णतो राहोर्दशमे कृत्स्नपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । विमानभेदे, स० ८ सम० । स्था० ।

अरुणुत्तरवर्डिसग–अरुणोत्तरावतंसक–न० । विमानभेदे, स० ८ सम० ।

अरुणोदग–अरुणोदक–पुं० । अरुणद्वीपस्य परितः प्रसृते समुद्रे, अरुणोदे समुद्रे सुभद्रमनोभद्रौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । द्वी० । ज० ।

अरुणोववाय–अरुणोपपात–पुं० । अरुणो नाम देवस्तत्समयनिबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुररुणोपपातः । संक्षेपिकाणां दशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० ।

नन्द्यध्ययनटीकायां चूर्णिकारो भावयति–

जाहे तमज्झयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्टइ ताहे से अरुणे देवे ससमयनिबद्धत्तणओ चलियासणे संभमुब्भंतलोयणा पउत्तावही वियाणिय हट्ठपहट्ठे चलचवलकुंडलधरे दिव्वाए जुईए दिव्वाए विभूईए दिव्वाए गईए जेणामेव से जगवं समणे निग्गंथे अज्झयणं परियट्टेमाणे अत्थेइ तेणामेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणे विमुक्कवरकुसुमगंधवासे उवेइ । उवयइत्ता ताहे से समणस्स पुरतो ठिच्चा अंताढिए कयंजलीओ उवउत्ते संवेगविसुज्झमाणज्झवसाणे तमज्झयणं सुणमाणे चिट्ठइ । सम्मत्ते अज्झयणे भणइ–जयवं ! सुसज्झाइयं सुसज्झाइयं वरं वरेहि त्ति, ताहे से इहलोयनिप्पिवासे समतणमणिमुत्ताहललेट्ठुकंचणे सिद्धवररमणिपमिबद्धनिब्भराणुरागे समणे पमिजणइ–न मे भो ! वरेणं अट्ठो त्ति । ततो से अरुणदेवे अहिगयरजायसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पमिगच्छइ ॥ नं० टी० ॥

यदा तदध्ययनमुपयुक्तः सन् श्रमणः परिवर्तयति, तदाऽसावरुणो देवः स्वसमयनिबद्धत्वाच्चलितासनः संभ्रमोद्भ्रान्तलोचनः प्रयुक्तावधिस्तद्विज्ञाय हृष्टप्रहृष्टश्चलचपलकुण्डलधरो दिव्यया द्युत्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यत्रैवासौ भगवान् श्रमण अध्ययनं परिवर्तयति तत्रैवोपागच्छति । उपागत्य च भक्तिभरावनतवदनो विमुक्तवरकुसुमवृष्टिरवपतति । अवपत्य च तदा तस्य श्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृताञ्जलिक उपयुक्तः संवेगविशुद्ध्यमानाध्यवसानः तमध्ययनं शृण्वँस्तिष्ठति । समाप्ते च भणति–सुस्वाध्यायितं सुस्वाध्यायितमिति वरं वृणीष्वेति । ततोऽसाविहलोकनिष्पिपासः समतृणमणिमुक्ताल्लोष्टकाञ्चनः सिद्धवरवधूनिर्भरानुगतचित्तः श्रमणः प्रतिभणति–न मे वरेणार्थ इति । ततोऽसावरुणो देवोऽधिकतरजातसंवेगः प्रदक्षिणां कृत्वा वन्दते, नमस्यति । वन्दित्वा नमस्यित्वा प्रतिगच्छति । एवं वरुणोपपातादिष्वपि भणितव्यमिति । स्था० १० ठा० । नं० । पा० । द्वादशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य कल्पतेऽरुणोपपातः । व्य० १ उ० ।

अरुय–अरुष्–न० । व्रणे, "नातिकण्डूयितं सेयं, अरुयस्सावरज्झति " । अरुषो व्रणस्यातिकण्डूयितं नखैर्विलेखनं न श्रेयो न

शोभनं भवति , अपि त्वपराध्यति, तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ अ० ।

अरुज्--त्रि० । आधिव्याधिवेदनारहिते, ध० २ अधि० । शरीरमनसोरजात्वाद् अविद्यमानरोगे सिद्धिस्थाने, स० १ सम० । औ० । जी० । कल्प० ।

अरुह-अर्हत्-पुं० । "उच्चार्हति" । ८ । २ । १११ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वं उद्, अदितौ च भवतः । अरुहो , अरहो , अरिहो । प्रा० २ पाद । योग्ये, तीर्थकरे च । प्रव० २९५ द्वार ।

अरुह-पुं० । न रोहति भूयः संसारे समुत्पद्यते इत्यरुहः,संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकाषं कषितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे, प्रव० २९५ द्वार । क्षीणकर्मबीजत्वात् (अरुहः) । आह च- "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः " ॥१॥ भ० १ श० १ उ० । आव० । दर्श० ।

अरूव-अरूप-त्रि० । न विद्यते रूपं स्वभावो यस्यासावरूपः । अतत्स्वभावे, अने० ४ अधि० ।

अरूवकाय-अरूपकाय-पुं० । अमूर्त्ते धर्मास्तिकायादौ, भ० ७ श० १० उ० ।

अरूवि (ण्)-अरूपिन्-त्रि० । रूपं मूर्तिर्वर्णादिमत्त्वं;तदस्यास्तीति रूपी , न रूपी अरूपी । अमूर्त्ते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । धर्मास्तिकायादौ, प्रज्ञा० १ पद । भ० । आव० ।

" धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे" ॥ ६ ॥ उत्त० ३६ अ० ।

(टीकाऽनयोः 'अजीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०३ पृष्ठे दर्शिता) रूपातीते अमूर्त्ते आत्मनि,भ० १७ श० २ उ० । दर्श० । कर्मरहिते सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, स्था० २ ठा० १ उ० । " अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से णं सद्देण रूवेण गंधेण रसेण फासे इच्चेतावंति त्ति बेमि "। (अरूवी सत्त त्ति) तेषां मुक्तात्मनां या सत्ता साऽरूपिणी । अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन प्रतिपादितम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अरूविअजीवपण्णवणा-अरूप्यजीवप्रज्ञापना-स्त्री० । रूपव्यतिरेकेणारूपिणो धर्मास्तिकायादयः,तं च ते अजीवाश्च अरूप्यजीवाः ; तेषां प्रज्ञापना अरूप्यजीवप्रज्ञापना । अजीवप्रज्ञापनाभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलहे, " अरे ! मए समं मा करेसु उवहासं " । प्रा० २ पाद । रोषाह्वाने, नीचसंबोधने, अपकृतौ, असूयायां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-त्रि० । निष्पीमे, भ० १७ श० १ उ० । अशेषद्वन्द्वरहिते सिद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-न० । अल्-अच् । वृश्चिकपुच्छस्थे कण्टकाकारे पदार्थे, हरिताले च । वाच० । अभीष्टकार्यसमर्थे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । अलादेव्याः सिंहासने, ज्ञा० २ श्रु० ।

अलं-अलम्-अव्य० । पर्याप्ते, नि० चू० १ उ० । आचा० । भ० । ज्ञा० । दशा० । समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । अत्यर्थे, औ० । प्रतिषेधे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । भूषणे, सामर्थ्ये, निवारणे, निषेधे, निरर्थकत्वे, अस्त्यर्थे, अवधारणे च । वाच० ।

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शोभाकारके, कल्प० ३ क्ष० ।

अलंकार-अलङ्कार-पुं० । अलङ्क्रियते भूष्यतेऽनेनेत्यलङ्कारः । कटककेयूरादिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । औ० । प्रश्न० । रा० । दशा० । आभरणविशेषे, रा० । आ० म० । बृ० । अलम्-कृ-करणे घञ् । भूषायाम् , हारादौ भूषणे, साहित्यविषयदोषगुणप्रतिपादके ग्रन्थे, शब्दभूषणे-अनुप्रासादौ, शब्दार्थभूषणे-उपमादौ च । वाच० । "चउव्विहे अलंकारे पण्णत्ते । तं जहा-केसालंकारे वत्थालंकारे मल्लालंकारे आभरणालंकारे "। स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० चू० ॥

अलंकारचूलामणि-अलङ्कारचूडामणि-पुं० । स्वनामख्यातेऽलङ्कारग्रन्थे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशतक-नयोपदेशकृता कृता ॥ नयो० । प्रति० ।

अलंकारिय-अलङ्कारिक-पुं० नापिते, ज्ञा० १३ अ० ।

अलंकारियकम्म-अलङ्कारिककर्मन्-न० । नखश्म[श्रु]कर्तनादौ, ज्ञा० २ अ० । क्षुरकर्मणि, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलंकारियसहा-अलङ्कारिकसभा-स्त्री० । नापितकर्मशालायाम्, ज्ञा० १३ अ० । अलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्क्रियते । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अलंकिय-अलङ्कृत-त्रि० । मुकुटादिभिः [प्रश्न० ५ संव० द्वा०] विभूषिते, दशा० १० अ० । औ० । ज्ञा० । कृतालङ्कारे, भ० ६ श० ३३ उ० । उत्प्रेक्षादिभिरलङ्कारैर्विभूषिते, विशे० । अनु० । उपमादिभिः काव्यालङ्कारैरुपेते,आ० म० द्वि० । स्था० । उत्त० । अन्यान्यस्फुटशुभस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्था० ७ ठा० । अनु० । अन्यान्यस्वरविशेषकरणेनालङ्कृतमिव गीयमाने गीतगुणभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अलंचपक्खग्गाहि (ण्)-अलञ्चापक्षग्राहिन्-पुं० । " अलंचपक्खग्गाही, परिसया रूवजक्खाओ " । न कस्यापि लञ्चामुत्कोचं गृह्णन्ति, नाप्यस्मीयोऽयमिति कृत्वा पक्षं गृह्णन्ति, ते एतादृशा अलञ्चापक्षग्राहिणः। रूपेण मूर्त्या यक्षा इव रूपयक्षाः, मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । रूप्यं गृहीत्वाऽस्मीयत्वेन पक्षापरिग्राहकेषु रूपयक्षेषु, व्य० १ उ० ।

अलंधूम-अलंधूम-पुं० । अत्यन्तमलिने, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलंबुसा-अलम्बुषा-स्त्री० । उत्तरदिग्भागवर्त्तिरुचकवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्ष० । आ० म० । द्वी० । आ० क० । स्था० । आ० चू० ।

अलंभोगसमत्थ-अलंभोगसमर्थ-त्रि० । अत्यर्थं भोगानुभवनसमर्थे, औ० ।

अलक्क-अलर्क-पुं० । वाराणसीनगर्यां राजभेदे, अन्त० । तत्कथानकं तु अन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य षोडशेऽध्ययने प्रतिपादितम् । तद्यथा-"तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसीए णयरीए काममहावणे चेतिए । तत्थ णं वाणारसीए णयरीए अलक्के नामं राया होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे० जाव विहरइ,परिसा निग्गया। तए णं अलक्के राया इमी से कहाए लद्ध० हट्ठतुट्ठ० जहा कुणिए जाव महावीरस्स० जाव पज्जुवासति, धम्मकहा तं से अलक्के राया समणस्स जहा उदायणे राया तहा निक्खंतो,णवरं जेट्ठपुत्तं रज्जे अभिसिंचति० जाव एक्कारस अंगाइं बहुहिं वासाइं परियातो० जाव विपुले सिद्धे" । अन्त० ७ वर्ग । स्था० ।

अलक्खणया–अलक्षणता–स्त्री० । असमञ्जसाभिधायितायाम, विशे० ।

अलगापुरी-अलकापुरी-स्त्री० । वैश्रवणयक्षपुर्याम, अन्त० १ वर्ग० ।

अलचपुर–अचलपुर–न० । "अचलपुरे च-लोः" (८।२।११८) इति सूत्रेण अचलपुरशब्दे चकारलकारयोर्व्यत्ययः । कृष्णावेणानद्योः समीपस्थनगरे, प्रा० २ पाद ।

अलत्त–अलक्त–पुं० । लाक्षारसे, अनु० ।

अलत्तय–अलक्तक–पुं० । लाक्षारसेन रक्ते, "जे रत्तए ते अलत्तए" । यो रक्तो लाक्षारसेन-[प्राकृतशैल्यां कन् प्रत्ययः] स एव रश्रुतेर्लश्रुत्या अलक्तक उच्यते । अनु० ।

अलद्ध–अलब्ध–त्रि० । अनुपाते, स्था० ५ ठा० २ उ० । अप्राप्ते च , सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अलद्धिजुत्त–अलब्धियुक्त–त्रि० । स्वकीयलाभविहीने, पञ्चा० १८ विव० ।

अलद्धिय–अलब्धिक–त्रि० । अलब्धिमति लब्धिरहिते, ओघ० ।

अलभसिरी–अलभश्री–स्त्री० । अलादेव्या मातरि, ज्ञा० २ अ० ।

अलमंधु–देशी–पुं० । समयभाषया समर्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अलमत्थु–अलमस्तु–त्रि० । अलमस्तु निषेधो भवतु, य एवमाह सोऽलमस्त्वित्युच्यते । निषेधके, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अलय–अलक–पुं० । वृश्चिककण्टके, " अलए भंजावेइ " इति वृश्चिककण्टकान् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलयभद्दा–अलकभद्रा–स्त्री० । कैलासस्य पूर्वतः पुर्याम, दी० ।

अलया–अलका–स्त्री० । वैश्रवणयक्षपुर्याम, ज्ञा० ४ अ० ।

अलव–अलप–त्रि० । लपन्तीति लपा वाचालाः । घोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः, तथा न लपा अलपाः । मौनव्रतिकेषु निष्ठितयोगेषु गुटिकादियुक्तेषु, यद्वशाद् अभिधेयविषया वागेव न निस्सरति । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अलवणसकय–अलवणसंस्कृत–त्रि० । विशिष्टसंस्काररहिते, व्य० ४ उ० ।

अलस–अलस–त्रि० । निरुद्यमे, सू० १ उ० । मन्दे, जीवा० । असमर्थे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्था० । गण्डोलके, पुं० । " अलसो त्ति वा गंडूलगो त्ति वा सुसुणागो त्ति वा एगट्ठं" । नि० चू० १ उ० ।

अलसग–अलसक–पुं० । " नोर्ध्वं व्रजति नाधस्ता-दाहारो न च पच्यते । आमाशयेऽलसीभूत–स्तेन सोऽलसकः स्मृतः " ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे विशूचिकाविशेषलक्षणे, उपा० ८ अ० । हस्तपादादिस्तम्भे श्वयथौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अलसमाण–अलसायमान–त्रि० । अनलसोऽलसो भवतीति अलसायते , अलसायत इति अलसायमानः । अत्र " भृशादिभ्यः च्व्यर्थे " ... " लोहितादिभ्यः षित्" । ३ । ४ । ३० । इति हैमसूत्रेण लोहितादेराकृतिगणत्वात् च्व्यर्थे क्यङ्प्रत्ययः , स च षित् । आलस्यं भजमाने, ग० १ अधि० ।

अलससत्त–अलससत्त्व–न० । कापुरुषे, बृ० १ उ० ।

अलसी–अतसी–स्त्री० । "अतसी-सातवाहने लः" (८।२।११) इति सूत्रेण तस्य लः । प्रा० १ पाद । धान्यभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अलहुय–अलघुक–न० । अत्यन्तसूक्ष्मे, स्था० १० ठा० ।

अला–अला–स्त्री० । विद्युत्कुमारीमहत्तरिकाभेदे, स्था० ६ ठा० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० । ('अग्गमहिसी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १५० पृष्ठेऽस्याः पूर्वापरभवावुक्तौ)

अलाउ–अलाबु–न० । तुम्बके, औ० । अनु० । सूत्र० ।

अलाउच्छेय–अलाबुच्छेद–न० । अलाबुकं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदम् । तुम्बच्छेदके पिप्पलादिशस्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अलाउपाय–अलाबुपात्र–न० । तुम्बकभाजने, औ० । आचा० । स्था० ।

अलाघवया–अलाघवता–स्त्री० । अविद्यमानं लाघवं लघुता यस्य स तथा; तद्भावोऽलाघवता । लाघवाभावे, बृ० ।

अथालाघवतां व्याचष्टे–

उवहि–सरीरमलाघव, देहे णिद्धाइवद्धयसरीरो ।
संघसगसासभया, ण विहरइ विहारकामो वि ॥

अलाघवं गौरवम् । तच्च द्विधा–उपधौ, शरीरे च । तत्र देहे देहविषयमलाघवमिदम्–स्निग्धं घृतादि, तेन; आदिशब्दाद् गुडशर्करादिमधुरद्रव्यैः प्रतिदिनमस्य च हियमाणैर्वृहच्छरीरः सन् मार्गे गच्छतः शरीरजाड्यसमुत्थो यो गात्रसंघर्षो, यश्च श्वासस्तद्भयाद्विहरणकामोऽपि न विहरति ।

अथोपकरणेऽलाघवमाह–

सागारि पुत्तभाउग–णाहग दाण अविसद्ध जारजया ।
ण विहरति ओम सावय, निग्गई अगणि भाण एज्जो त्ति ॥

सागारिकेण शय्यातरेण, तदाऽऽदौ स्वपुत्रैर्भ्रातृभिर्नप्तृभिश्च पौत्रैः कस्यापि साधोरविग्रहस्यातीवप्रभूतस्य कम्बल्याद्युपकरणस्य दानमकारि । स च साधुस्तद्भारजयाच्च विहरति । अन्यदा तत्रावमं दुर्भिक्षं संजातम् । स च तदापि न विहरति [सावय त्ति] श्रावकेण चिन्तितम्-एष साधुः किमद्यापि न विहरति?, नूनं बहूपकरणप्रतिबद्धोऽयम । ततस्तेन श्रावकेण तस्य संयतस्य भिक्षाद्यर्थे विनिर्गतस्य सर्वमप्युपकरणं निष्काश्यान्यत्र संगोप्य निकृत्या मायया तदीय उपाश्रयः सर्वोऽपि [अगणि त्ति] अग्निना प्रदीपितः । ततः समायातः, दृष्टः प्रतिश्रयो दग्धः । कृतवान् हा ! कष्टं, हाहा ! कष्टं, बहूपकरणं दग्धमिति । परिखेदं पृष्टाश्च श्रावकाः—किञ्चिदुपकरणं निष्काशितं न वेति ?। स प्राह–न शक्तं किमपि निष्काशयितुं, परं [भाण त्ति] भाजनद्वयं महता कष्टेन निष्काशितम । ततः साधुना भणितम्–विहरामि संप्रति यस्यां दिशि सुभिक्षम् । श्रावकः प्राह–[एज्ज त्ति] सुभक्षीभूते भूयोऽप्यागच्छेः । ततः प्रतिपन्नं साधुना तद्वचनम । समागतः कालान्तरेण पुनरपि तत्रैवासौ । निवेदितः श्रावकेण यथावस्थितो व्यतिकरः, क्षमयित्वा च दत्तं सर्वमपि तदीयमुपकरणम । एवमादयो दोषा उपकरणालाघवे भवन्ति । बृ० २ उ० । पञ्चा० । नि० चू० ।

अलाभ (ह)–अलाभ–पुं० । लभनं लाभः, न लाभोऽलाभः । अभिलषितविषयाप्राप्तौ, उत्त० २ अ० ।

अलाभ (ह) परि (री) सह–अलाभपरिषह–पुं० । अलाभः प्रतीतः, तत्परिषहणं च तत्र दैन्याभावः । भ० ८ श० ८ उ० । प्रश्न० । स० । प्रश्न० । नानादेशविहारिणो विभवमपेक्ष्य बहुषूच्चनीचेषु गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्लिष्टचेतसो दा-

तृषिशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिकगुणमलाभं मन्यमानस्याऽलाभपीडासहने, पं० सं० ४ द्वार । स चैवम्-याचितालाभे सति प्रसन्नचेतसैवाविकृतवदनेन भवितव्यम् । आव० ४ अ० । तदुक्तम्-

" परात्परार्थं स्वार्थं वा, लभेताऽऽहारादिनाऽपि वा ।
माद्येन्न लाभान्नालाभात्,निन्देत्स्वमथवा परम्"॥१॥ ध० ३ अधि०
" परकीयं परार्थं च, लभ्येताऽऽहारादिनैव वा ।
लब्धे न माद्येद् निन्देद् वा, स्वपरान् नाप्यलाभतः " ॥ १ ॥

आ० म० द्वि० ।

प्रवृत्तेश्च कदाचित् लाभान्तरायदोषतो न लभेतापीत्यलाभपरिषहमाह—

परेसु घासमेसेज्जा, भोयणे परिनिट्ठिए ।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा, णाणुतप्पेज्ज संजए ॥ १ ॥
अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुए सिया ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए ॥ २ ॥

आ० चू० ४ अ० ।

(परेसु इत्यादि) परेष्विति गृहस्थेषु ग्रासं कवलम्, अनेन च मधुकरवृत्तिमाह । एषयेद्गवेषयेत्, भुज्यत इति भोजनमोदनादि, तस्मिन्परिनिष्ठिते सिद्धे मा भूत्प्रथमगमनात्तदर्थं पाकादिप्रवृत्तिः, ततश्च लब्धे गृहिभ्यः प्राप्ते, पिण्डे आहारेऽलब्धे वाऽप्राप्ते नानुतप्येत संयतः। तद्यथा-अहो ! ममाधन्यता, यदहं न किञ्चिल्लभे । उपलक्षणत्वात्-लब्धे वा लब्धिमानहमिति न हृष्येत् । यद्वा-लब्धेऽप्यल्पेऽनिष्टे वा संभवत्येवानुताप इति सूत्रार्थः। किमालम्बनमालम्ब्य नानुतप्येत?, इत्याह-(अज्जेवेत्यादि) अद्यैवास्मिन्नेवाहन्यहं न लभे न प्राप्नोमि । अपिः संभावने। संभाव्यते-एतल्लाभः प्राप्तिश्च श्वः आगामिनि दिने,स्याद् भवेत् । उपलक्षणत्वात् श्व इत्यन्येद्युरन्यतरेद्युर्वा मां स्यादित्यनास्थामाह। य एवमुक्तप्रकारेण(पडिसंचिक्खे त्ति)प्रतिसमीक्षते अदीनमनाः सन्नलाभमाश्रित्यालोचयति,अलाभोऽलाभपरीषहः,तं न तर्जयति नाभिभवति, अन्यथा भूतस्त्वभिभूयत इति भावः॥ उत्त० २ अ०॥

अथ ' नाणुतप्पेज्ज संजये त्ति ' सूत्रावयवमर्थतः स्पृशन्नुदाहरणमाह—

जायणपरीसहम्मी, बलदेवो इत्थ होइ आहरणं ।
किसिपारासर ढंढो, अलाभए हो उदाहरणं ॥ ५० ॥

उत्त० नि० १ खण्ड ।

याञ्चापरीषहे बलदेवोऽत्र भवत्याहरणमुदाहरणम् । कृषिप्रधानः पाराशरः कृषिपाराशरो, जन्मान्तरे (ढंढ इति) ढण्ढणकुमारोऽलाभकेऽलाभपरीषहे भवत्युदाहरणमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु संप्रदायादवसेयः । उत्त० २ अ० ।

अत्र अलाभपरीषहे कथाद्वयम्-लौकिकं १ , लोकोत्तरं च २। तत्र प्रथमं लौकिकं कथानकं कथ्यते-एकदा कृष्णः १, बलदेवः २, सात्यकिः ३, दारुकः ४, एते चत्वारोऽप्यश्वापहृता अटव्यां वटवृक्षाधो रात्रौ सुप्ताः, आद्ये प्रहरे दारुको यामिको जातः, अन्ये त्रयः सुप्ताः; तदानीं क्रोधपिशाचः तत्रायातो दारुकं प्रत्याह-अहमेतान् सुप्तान् साम्प्रतं भक्षयामि, यदि त्वैषां रक्षणे शक्तिरस्ति तदा युद्धं कुरु। दारुकेणोक्तम्-बाढम् । ततो लग्नं युद्धम्। यथा यथा दारुकस्तं पिशाचं हन्तुं न शक्नोति तथा तथा तस्य क्रोधो वर्द्धते। तथा च दारुकस्य न युद्धलाभो जातः,पराभूत एव दारुकः सुप्तः । द्वितीये प्रहरे सात्यकिरुत्थितः। क्रोधपिशाचेन तथैव जितः। तृतीये प्रहरे बलदेवः। सोऽपि तथैव जितः, तुर्ये प्रहरे उत्थितं कृष्णं क्रोधपिशाचस्तथैव प्रोक्तवान्। कृष्णः प्राह-मां जित्वा मत्सहायान् भक्षय । ततो यथा यथा क्रोधपिशाचो युध्यति तथा तथा कृष्णः-'अहो ! बलवान् एष मल्लः' इति तुष्यति। यथा यथा कृष्णस्तोषवान् भवति तथा तथा पिशाचः क्षीयते । एवं कृष्णेन पिशाचः सर्वथा क्षीणः स्ववस्त्रमध्ये क्षिप्तः। प्रभाते तदङ्गानि दृष्ट्वा कृष्णेनोक्तम्-किमेतद्भवतां जातम्?। ते सर्वेऽपि रात्रिवृत्तान्तं प्राहुः । कृष्णेन स्ववस्त्रमध्यादाकृष्य दर्शितः । एवं कृष्णवद् यस्तोषवान् भवति सोऽलाभपरीषहं जेतुं शक्नोति ।

अथ द्वितीयं लोकोत्तरं ढण्ढणकुमारकथानकं कथ्यते-कस्मिंश्चिद् ग्रामे कोऽपि कृशशरीरी कुटुम्बी (पाराशरो विप्रः) वसति स्म। अन्येऽपि बहवस्तत्र कुटुम्बिनो वसन्ति स्म। वारकेण ते राजवेष्टिं कुर्वन्ति स्म। राजसत्कपञ्चशतहलानि वाहयन्ति स्म। एकदा तस्य कृशशरीरिणः पञ्चशतहलवाहनवारकः समायातः, तेन च वाहिता वृषभाः भक्तपानवेलायामप्येकोऽधिकश्चासो दापितः। तदाऽन्तरायं कर्म बद्धम्,ततो मृत्वाऽसौ बहुकालमितस्ततः संसारे परिभ्रम्य कस्मिंश्चिद्भवे कृतसुकृतवशेन द्वारिकायां कृष्णवासुदेवस्य पुत्रत्वेन समुत्पन्नः। ढण्ढणेति तस्य नाम प्रतिष्ठितम् । स ढण्ढणकुमारः श्रीनेमिपार्श्वे अन्यदा प्रव्रजितः। लाभान्तरायवशान्महत्यामपि द्वारिकायां हिण्डमानो न किञ्चिदन्नादि लभते, यदि कदाचिल्लभते तदा सर्वथाऽसारमेव । ततस्तेन स्वामी पृष्टः। स्वामिना तु सकलः पूर्वभववृत्तान्तः तस्य कथितः। तेन चाऽयमभिग्रहो गृहीतः-परलाभो मया न ग्राह्यः । अन्यदा वासुदेवेन स्वामिना इति पृष्टम्-भगवन् ! एतावत्सु श्रमणसहस्रेषु को दुष्करकारकः ? । स्वामिना ढण्ढणर्षिरेव दुष्करकारक इति उक्तम् । कृष्णेनोक्तम्-स इदानीं क्वास्ति ? । स्वामी प्राह-त्वं नगरं प्रविशन् तं द्रक्ष्यसि । हृष्टः कृष्णः श्रीनेमिजिनं प्रणम्य उत्थितः। पुरद्वारे प्रविशन् तं साधुं दृष्टवान्, हस्तिस्कन्धादुत्तीर्य कृष्णस्तं ववन्दे । तेन वन्द्यमानोऽयं साधुरेकेनेभ्येन दृष्टः। चिन्तितं च तेन-अहो! एष महात्मा कृष्णेन वन्द्यते। एवं चिन्तयत एव तस्य गृहे ढण्ढणर्षिः प्रविष्टः। तेन मोदकैः प्रतिलाभितः। ततः स्वामिसमीपे गत्वा पृच्छति-मम लाभान्तरायः क्षीणः । स्वामिना उक्तम्-एष वासुदेवलाभः । मम परलाभो न कल्पते इत्युक्त्वा नगराद् बहिर्गत्वा उचितस्थण्डिले मोदकान् विधिना परिष्ठापयन् शुक्लध्यानारोहेण केवली जातः । एवमन्यैरपि अलाभपरीषहः सोढव्यः । अलाभात् अनिष्टाहारलाभात्, अन्त्याहारप्रान्ताहारभोजनात् शरीरे रोगा उत्पद्यन्ते,अतो रोगपरीषहोऽपि सोढव्यः ॥ उत्त० २ अ० ।

अलाय-अलात-न० । उल्मुके, बृ० ५ उ० । ज्ञा० । जी० । प्रश्न० । दश० । स्था० । अग्रभागे ज्वलत्काष्ठे, नं० ।

अलावंसिसक-अलावतंसक-न०। अलादेव्या भवने,ज्ञा० २श्रु०।

अलाबु-अलाबु-न०। "बो वः" ८।२। २३७। इति सूत्रेण बस्य वः। प्रा० १ पाद । तुम्बे, जं० ३ वक्ष० । " अलाबुगा ण परिज्जति " नि० चू० १ उ० ।

अलाहि-अव्य०। " अलाहि इति निवारणे " ८। २ । १८९ । अलाहि इति निवारणे प्रयोक्तव्यम । "अलाहि किं वाइएण लेहेण" प्रा० २ पाद ।

अलम्-अव्य०। पर्य्याप्तौ, अलमत्यर्थे पर्याप्तः शक्तः। भ० १५ श० १ उ०।

अलिउल-अलिकुल-न० । भ्रमरसमूहे, "क्लीबे जश्शसोरिं" । ८ । ४ । ३५३ । इति जश्शसोः 'इं' इत्यादेशः। "कमलइं मेल्लवि अलिउलइं, करि-गंडाइं महंति" । प्रा० ४ पाद ।

अलिंग-अलिङ्ग-न० । प्रधाने, (साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ,) द्वा० २० द्वा० ।

अलिंजर-अलिञ्जर-न० । महदुदकभाजनविशेषे, उपा० ७ अ० । उदककुम्भे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अलिंदग-अलिन्दक-पुं० । गृहाद्बहिर्द्वाराग्रवर्तिगरिडकायाम्, बृ० २ उ० । नि० चू० ।

अलिंदुग-अलिन्दुक-न० । कमरुत्वे, अनु० ॥

अलित्त-अलिप्त-त्रि० । अकृतलेपे, अलिप्तस्य तत्त्वसमाधिर्भवति, पूर्णानन्दवृत्तिरपि । अष्ट० ११ अष्ट० ।

अरित्र-न० । नौक्षेपणकाष्ठोपकरणभेदे, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अलिपत्त-अलिपत्र-न० । वृश्चिकपुच्छाकृतौ, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलिय-अलीक-न० । पुं० । " पानीयादिष्वित् " । ८ । १ । १०१ । इति सूत्रेण ईकारस्य इत्वम् । प्रा० १ पाद । कषायवशान्मिथ्याभाषणे, अनृतभाषणे, उत्त० १ अ० । मृषावादे, प्रव० २३७ द्वा० । स्था० । प्रश्न० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-असूतोद्भावनं, भूतनिह्नवश्च । यथा-' ईश्वरकर्तृकं जगत् ' इत्याद्यसद्भूतोद्भावनम् । ' नास्त्यात्मा ' इत्यादिस्तु भूतनिह्नवः । विशे० । आ० म० । नि० चू० । अनु० । भ० । अलीकवादजनितकर्माणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " अलियनियडिसातिजोयबहुलं " अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतवन्धनप्रच्छादनार्थवचनस्य [साइ त्ति] अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत् तत्तथा । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " अलियं न भासियव्वं, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्वं । सच्चं पि होइ अलियं, जं परपीडाकरं वयणं " ॥१॥ दर्श० ।

अलियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मृषावादप्रत्यये, व्य० २ उ० ।

अलियभीरु-अलीकभीरु-पुं० । सत्यवादिनि, व्य० ७ उ० ।

अलियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रव० ४१ द्वार । यथा-किं दिवा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्ने-न प्रचलयामीत्यादिभणने, प्रव० २३५ द्वार । उत्त० । स्था० । (पञ्चालीकानि)

अथ द्वितीयमणुव्रतं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोभूम्य-लीकानि न्यासनिह्नवः ।
कूटसाक्ष्यं चेति पञ्चा-सत्येभ्यो विरतिर्मतम् ॥ २६ ॥

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणाऽलीकशब्दस्य प्रत्येकं संयोजनात् कन्यालीकं, गवालीकं, भूम्यलीकं चेति, तानि । तथा-न्यासनिन्हवः, कूटसाक्ष्यं चेति; पञ्च पञ्चसंख्याकानि, अर्थात् क्लिष्टाशयसमुत्थत्वात् स्थूलासत्यानि, तेभ्यो विरतिर्विरमणं, द्वितीयं अधिकाराद्णुव्रतं मतं, जिनैरिति शेषः । तत्र कन्याविषयमलीकं कन्यालीकं द्वेषादिभिरविषकन्यां विषकन्यां, विषकन्यामविषकन्यां वा, सुशीलां वा दुःशीलां, दुःशीलां वा सुशीलाम्, इत्यादि वदतो भवति । इदं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्यालीकस्योपलक्षणम् १। गवालीकम्-अल्पक्षीरां बहुक्षीरां, बहुक्षीरां वाऽल्पक्षीरामित्यादि वदतः । इदमपि सर्वचतुष्पदविषयालीकस्योपलक्षणम् २ । भूम्यलीकं परसत्कामप्यात्मादिसत्काम्, आत्मादिसत्कां वा परसत्काम्, ऊषरं वा क्षेत्रमनूषरम्, अनूषरं वोषरमित्यादि वदतः । इदं चाशेषाऽपदद्रव्यविषयालीकस्योपलक्षणम् । यदाह-" कन्नागहणं दुपया-णमुवगं चउपयाण गोवयणं । अपयाणं दव्वाणं, सव्वाणं भूमिवयणं तु " ॥ १ ॥ ननु यद्येवं तर्हि द्विपदचतुष्पदापदग्रहणं सर्वसंग्राहकं कुतो न कृतम् ? । सत्यम् । कन्याद्यलीकानां लोकेऽतिगर्हिततत्त्वेन रूढत्वाद्विशेषेण वर्जनार्थमुपादानम् । कन्याऽलीकादौ च भोगान्तरायद्वेषवृद्ध्यादयो दोषाः स्फुटा एव । यत आवश्यकचूर्णौ-"मुसावाए के दोसा, अकज्जंते वा के गुणा ? । तत्थ दोसा कन्नगं चेव अकन्नगं भणंतो भोगंतरायदोसा; पडुट्ठा वा आतघातं करेज्ज, कारवेज्ज वा; एवं सेसेसु भाणिअव्वा " इत्यादि । तथाऽन्यस्य ते रक्षणायान्यस्मै समर्प्यते इति ३। न्यासः सुवर्णादिः, तस्य निह्नवोऽपलापस्तद्वचनं स्थूलमृषावादः । इदं चानेनैव विशेषणेन पूर्वालीकेभ्यो भेदेनोपात्तम् । अस्य चादत्तादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविवक्षणान्मृषावादत्वम् ४। कूटसाक्ष्यं अभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्य लञ्चामत्सरादिना कूटं वदतः । यथा-'अहमत्र साक्षीति' अस्य च परकीयपापसमर्थकत्वलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वेभ्यो भेदेनोपन्यासः ५ इति । अत्रायं भावार्थः-मृषावादः क्रोधमानमायालोभत्रिविधरागद्वेषहास्यभयव्रीडाक्रीडारत्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविषादादिभिः संभवति । पीडाहेतुश्च सत्यवादोऽपि मृषावादः । सद्भ्यो हितं सत्यमिति व्युत्पत्त्या परपीडाकरमसत्यमेव । यतः-"अलिअं न भासिअव्वं, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्वं । सच्चं पि तं न सच्चं, जं परपीडाकरं वयणं " ॥ १ ॥ स च द्विविधः-स्थूलः, सूक्ष्मश्च । तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवश्च स्थूलः, तद्विपरीतः सूक्ष्मः । आह हि-"दुविहो अ मुसावाओ, सुहुमो थूलो अ तत्थ इह सुहुमो । परिहासाइप्पभवो, थूलो पुण तिव्वसंकेसा" ॥१॥ श्रावकस्य सूक्ष्ममृषावादे यतना, स्थूलस्तु परिहार्य एव । तथाऽऽवश्यकसूत्रम्-'थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अ मुसावाए पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-कन्नालिए १, गवालिए २, भोमालिए ३, णासावहारे ४, कूडसक्खे अ ५ इति । तच्चूर्णावपि-" जेण भासिएण अप्पणो परस्स वा अतीव बाधाओ अइसंकिलेसो य जायते, तं अट्ठाए वाऽणट्ठाए वा ण वएज्ज त्ति " । एतच्चासत्यं चतुर्धा-भूतनिन्हवः १, अभूतोद्भवनं २, अर्थान्तरं ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिन्हवो यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभूतोद्भावनं यथा-आत्मा श्यामाकतन्दुलमात्रः, अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरं यथा-गामश्वमभिवदतः ३ । गर्हा तु त्रिधा-एका सावद्यव्यापारप्रवर्तिनी, यथा-क्षेत्रं कृषेत्यादि १ । द्वितीया अप्रिया-काणं काणं वदतः २ । तृतीया आक्रोशरूपा, यथा-अरे ! बान्धकिनेय ! ३ इत्यादि । ध० २ अधि० । दर्श० । पञ्चा० । आ० ।

अलीकवचनप्ररूपणा-

जे भिक्खू लहुसयं मुसं वयइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥१०॥
मुसं अलियं, लहुसयं अल्पं, तं वदओ मासलहु ।
तं पुण मुसं चउव्विहं-
दव्वे खेत्ते काले, भावे लहुसगं मुसं होति ।

एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए । ६० ।

णाणत्ते विसेसो, आणुपुव्वीए दव्वादिउवन्नासकमेण व-क्खाणं ।

इमे दव्वादि उदाहरणा—

दव्वे वत्थपयादिसु, खेत्ते संथारवसहिमादीसु ।
कालेऽतीतमणागा, जावे भेदा इमे होंति ॥ ६१ ॥

पढमपादस्स वक्खाणं—

मज्झ पुणो एस तुहं,णयावि सो तस्स दव्वतो अलियं ।
गोरस्सं च जणंते, दव्वंजूते व जं भणति ॥ ६२ ॥

वत्थं पायं च सहसा भणेज्जा-मज्झ एस ण तुज्झ, सहसा गोरवं ब्रूते, द्रव्यजूतो वा अनुपयुक्त इत्यर्थः ।

अहवा दव्वालियं इमं-

वत्थं वा पायं वा, असेणुप्पाइयं तु सो पुट्ठो ।
भणति मए उप्पाइय, दंव्वा अलियं जवे अहवा ॥६३॥

वत्थपात्रादि अन्नेण उग्गामिया, अन्नो जणइ-मए उप्पाइया । दव्वओ अलियं गयं ।

खेत्तओ (संथारवसतिमादीसु इत्यादि) अस्य व्याख्या-

णिसिमादीसंमूढो, परसंथारं भणाति मज्झे णं ।
सो खेत्तवसही व अन्ने-ऽणुग्गमिया वेति तु मए त्ति ।६४॥

(णिसि त्ति) राईए अंधकारसंमूढो परसंथारभूमिं अप्पणो भणइ । मासकप्पपाउग्गं वा वासावासपाउग्गं वा खित्तं वसही रिउक्खमा अन्नेऽणुग्गमिया भणाति-मए त्ति । खित्तओ वा मुसावाओ गओ ।

'कालातीतमणागए त्ति' अस्य व्याख्या-

केणुवसमितो सड्ढो, मए त्ति उवसामितोऽणयाऽतीए ।
को णु हु तं उवसामे, अणातिसचो अहं एस ॥६५॥

एको अनिग्गहमिच्छो एगेण सामिणा उवसामिओ। अन्नो साहू पुच्छिओ-केणेस सड्ढो उवसामिओ ?। अन्नया विहरंतेण मए त्ति । अणंतीए एगो अभिग्गहमिच्छो अरिहंतसाहुपडिणीओ। साहूण य समुल्लावो-को णु तं उवसामेज्ज ?। तत्थ एगो साहू अणातिसत्तो भणति-सो य अवस्सं मया उवसामियव्वो। एवं एष्यकालं प्रति मृषावादः ।

अथवा कालं पडुच्च इमो मुसावादो-

तीतम्मि य अट्ठम्मी, पच्चुप्पण्णे यऽणागते चेव ।
विधिसुत्ते जं जणितं, भणाति णिस्संकितं जावे ॥६६॥

तीतमणागतपडुप्पन्नेसु कालेसु जं अपरिन्नायं तं निस्संकियं भासंतस्स मुसावाओ भवति। विधिसुत्तं दसवेयालियं,तत्थ वि वक्कसुद्धी। तत्थ जे कालं पडुच्च मुसावायसुत्ता ते इह दट्ठव्वा ॥ जावे भेओ इमो त्ति । नि० चू० २ उ० ।

तेषां च पदानामपि यथाक्रममियं प्ररूपणा , तामेव प्ररूपणां चिकीर्षुरलीकवचनविषयां द्वारगाथामाह-

वत्ता वयणिज्जो वा, जेसु य ठाणेसु जा विसोही य ।

जे य जणाओ अवाया, सपमीपक्खा उ णेयव्वा ॥

यो वक्ता अलीकवचनभाषकः, यश्च वचनीयः-अलीकवचनं यमुद्दिश्य भण्यते, येषु च स्थानेष्वलीकं संभवति, यादृशी च तत्र शोधिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीकं भणतो अपाया दोषाः, ते सप्रतिपक्षाः सापवादा अत्र भणनीयतया ज्ञातव्याः। इति द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विवृणोति-

आयरिए अजिसेगे, जिक्खुम्मि य थेरए य खुड्डे य ।
गुरुगा लहुगा गुरुलहु-जिएणे पमिलोम विइएणं ॥

इहाचार्यादिर्वक्ता, वचनीयोऽपि एकैकतरः । तत इदमुच्यते-आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुरु, अभिषेकं भणति चतुर्लघु, भिक्षुं भणति मासगुरु,स्थविरं भणति मासलघु, क्षुल्लकं भणति भिन्नमासः । (पडिलोम विइएणं ति) द्वितीयेनादेशेनैतदेव प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं वक्तव्यम् । तद्यथा-आचार्यमलीकं भणति भिन्नमासः, अभिषेकं भणति मासलघु, एवं यावत् क्षुल्लकं भणतश्चतुर्गुरु, एवमभिषेकादीनामप्यलीकं भणतां स्वस्थाने परस्थाने च प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । भणितापकोऽर्थः कर्त्तव्यः-अभिषेकमाचार्ये अलीकं भणति चतुर्लघु इत्यादि ॥

तत्वलीकवचनं येषु स्थानेषु संभवति, तानि सप्रायश्चित्तानि दर्शयितुकामो द्वारगाथाद्वयमाह-

पयला उल्ले मरुए, पच्चक्खाणे य गमण परियाए ।
समुदेससंखडीओ, खुड्डगपरिहारियमुहीओ ।
आवस्सगमणं दिसा-सु एगकुले चेव एगदव्वे य ॥
पमियाखित्तागमणं, पमियाखित्तायजुंजणयं ॥

प्रचलापदमार्द्रपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पर्यायपदं समुद्देशपदं संखडीपदं क्षुल्लकपदं पारिहारिकपदं [मुहीओ त्ति] पदैकदेशे पदसमुदायोपचाराद् घोटकमुखीपदम्, अवश्यं गमनपदं दिग्विषयपदं, एककुलगमनपदं, एकद्रव्यग्रहणपदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं चेति द्वारगाथाद्वयसमासार्थः ।

अथैतदेव प्रतिद्वारं विवृणोति—

पयलासि किं दिवा ? ण य,पयलामि लहु दुइ णिएहवे गुरुगा ।
अन्नदासितनिएहवे, लहुगा गुरुगा बहुतराणं ।

कोऽपि साधुर्दिवा प्रचलायते, स चान्येन साधुना भणितः-किमेवं दिवा प्रचलायसे ?। स प्रत्याह-न प्रचलाये; एवं प्रथमवारं निह्नुवानस्य मासलघु, ततो भूयोऽप्यसौ प्रचलायितुं प्रवृत्तः । तेन साधुना भणितः-मा प्रचलायिष्ठाः । स प्रत्याह-न प्रचालये । एवं द्वितीयवारं निह्नवे मासगुरु । ततस्तथैव प्रचलायितुं प्रवृत्तः,तेन च साधुना अन्यस्य साधोर्दर्शितः-यथैवं प्रचलायते, परं न मन्यते ततस्तेनान्येन साधुना भणितोऽपि यदि निह्नुते तदा चतुर्लघु । अथ तेन साधुना बहुतराणां त्रिप्रभृतीनां साधूनां दर्शितः, तैश्च भणितोऽपि यदि निह्नुते तदा चतुर्गुरु ।

निएहवणे निएहवणे, पच्छित्तं वड्ढए उ जा सपयं ।

लघुगुरुमासो सहुंगो, लहुगादी बायरे हुंति ॥

एवं निह्नवने निह्नवने प्रायश्चित्तं वर्द्धते यावत् स्वपदम्; पाराञ्चिकं तराञ्चिकम्। तद्यथा-पञ्चमं वारं निह्नवानस्य षड्लघु, षष्ठं वारं षड्गुरु, सप्तमं मूलम् , नवममनवस्थाप्यं, दशमं वारं निह्नवानस्य पाराञ्चिकम् । अत्र च प्रचलादिषु सर्वेष्वपि द्वारेषु यत्र यत्र लघुमासो वा भवति तत्र तत्र सूक्ष्मो मृषावादः, यत्र तु चतुर्लघुकादिकं भवति तत्र बादरो मृषावादो भवति। गतं प्रचलाद्वारम् ।

अथार्द्रद्वारमाह—

किं णीमि वासमाणे, ण णीति णणु वासविंदवो एए ।
भुंजंति हीण मरुगा, कहिं ति नणु सस्सगेहेसु ॥

कोऽपि साधुर्वर्षे पतति प्रस्थितः,स चापरेण भणितः-किं 'वासमाणे' वर्षति निर्गच्छामि ?, एवं जाणित्वा तथैव प्रस्थितः। तत इतरेण साधुना भणितम्-कथं न निर्गच्छामीति भणित्वा निर्गच्छसि ?। स प्राह-वासृ-शब्दे इति धातुपाठाद् वासति शब्दायमाने यो गच्छति स वासति निर्गच्छतीत्यभिधीयते। अत्र तु न कश्चिद् वासति, किन्तु वर्षबिन्दव एते, तेषु गच्छामि। एवं छलवादेन प्रत्युत्तरं ददानस्य तथैव प्रथमवारादिषु मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम्॥ अथ मरुकद्वारम् । कोऽपि साधुः कारणे विनिर्गत उपाश्रयमागत्य साधून् भणति-साधवो यात, भुञ्जते मरुकाः । एवमुक्ते ते साधव उद्ग्राहितभाजना भणन्ति-(कहिं ति त्ति) क्व ते मरुका भुञ्जते ? । इतरः प्राह-ननु सर्वे आत्मीयगृहेषु, एवं छलेनोत्तरं प्रयच्छति॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

भुंजसु पचक्खातं, मए त्ति तक्खण पभुंजओ पुट्ठो ।
किं व ण मे पंचविहा, पचक्खाया अविरईओ ॥

कोऽपि साधुना भोजनवेलायां भणितः-भुङ्क्ष्व समुद्दिश। स प्राह-प्रत्याख्यातं मयेति । एवमुक्त्वा मण्डल्यां तत्क्षणादेव प्रभुक्तो-भोक्तुं प्रवृत्तः। ततो द्वितीयेन साधुना पृष्टः-आर्य ! त्वयेत्थं भणितम्-मया प्रत्याख्यातम्?। स प्राह-किं वा मया प्राणातिपातादिका पञ्चविधा अविरतिर्न प्रत्याख्याता, येन प्रत्याख्यानं न घटते ?।

अथ गमनद्वारमाह—

वच्चासि नाहं वच्चे, तक्खण वच्चए पुच्छिओ भणइ ।
सिद्धंतं न वि जाणसि, नणु गम्मइ गम्ममाणं तु ॥

केनापि साधुना चैत्यवन्दनादिप्रयोजने व्रजता कोऽपि साधुरुक्तः-किं त्वमपि व्रजसि ?, गच्छसीत्यर्थः। स प्राह-नाहं व्रजामि। एवमुक्त्वा तत्क्षणादेव व्रजितुं प्रवृत्तः। तेन पूर्वप्रस्थितसाधुना पृष्टः-कथं न व्रजामीति भणित्वा व्रजसि ?। स भणति-सिद्धान्तं न जानीषे त्वम् । नन्वित्याक्षेपे। भो मुग्ध ! गम्यमानमेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिंश्च समये त्वयाऽहं पृष्टस्तस्मिन्नाहं गच्छामि ?, इति ॥

अथ पर्यायद्वारमाह—

दसएयस्स य मज्झ य, पुच्छिय परियाय वेइ उ छलेण ।
मम नवए वंदिअम्मि, भणाइ वे पंचगा दसओ ॥

कोऽपि साधुरात्मद्वितीयः केनापि साधुना वन्दितुकामेन पृष्टः-कति वर्षाणि भवतां पर्यायः ? इति । स एवं पृष्टो भणतिएतस्य साधोर्मम च दश वर्षाणि पर्याय इति । एवं छलेन तेनोक्ते,स प्रच्छकः साधुः-मम नव वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रवन्दितो वन्दितुं लग्नः । इतरश्छलवादी भणति-वर्षाधिशत, भवन्तः स्वयमेव वन्दनीया इति। कथं पुनरहं वन्दनीयः? इति तेनोक्ते,छलवादी भणति-मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्यापि साधोः पञ्च। एवं द्वे पञ्चके मीलिते दश भवन्ति। ततो यूयमावयोरुभयोरपि वन्दनीया इति भणति।

अथ समुद्देशद्वारमाह—

वट्टइ उ समुद्देसो, किं अत्यह कत्थ एस गगणम्मि ।
वट्टंति संखडीओ, घरेसु णणु आउखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूमौ निर्गत्य आदित्यं राहुणा ग्रस्यमानं दृष्ट्वा साधून् स्वस्थान् मौनान् भणति-आर्याः ! समुद्देशो वर्तते किमेवमुपविष्टास्तिष्ठथ ?। ततस्ते साधवो नायमलीकं ब्रूते इति कृत्वा गृहीतभाजनमुपस्थिताः पृच्छन्ति । कुत्रासौ समुद्देशो भवति?। स प्राह-नन्वेष गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्देशः प्रत्यक्षमेव दृश्यते॥ अथ संखडीद्वारम्। कोऽपि साधुः प्रश्रमाक्षिकापानकादिनिमित्तं विनिर्गतः प्रत्यागतो भणति-प्रचुराः संखड्यो वर्तन्ते,किमेवं तिष्ठथ?। ततस्ते साधवो गन्तुकामाः पृच्छन्तिब्रूत ताः संखड्यः। स छलवादी भणति-तेषु तेषु गृहेषु संखड्यो वर्तन्त एव। साधवो भणन्ति-कथं ता अप्रसिद्धाः संखड्य उच्यन्ते ?। छलवादी भणति-[नणु आउखंडणय त्ति] नन्वित्याक्षेपे । पृथव्यादिजीवानामायूंषि गृहे गृहे रन्धनादिभिरारम्भैः संखड्यन्ते, ताः कथं न संखड्यो भवन्ति ?।

अथ क्षुल्लकद्वारमाह—

खुड्डग ! जणणी ते मिया, रुदए जीवइ त्ति अम्ह भणितम्मि।
माइत्ता सव्वजिया, जवेसु तेणेस ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयसमीपे मृतां शुनीं दृष्ट्वा क्षुल्लकमपि भणति-क्षुल्लक ! जननी तव मृता । ततः क्षुल्लकः प्ररुदितो-रोदितुं लग्नः। तमेवं रुदन्तं दृष्ट्वा स साधुराह -मा रुदिहि, जीवति ते जननी । एवमुक्ते क्षुल्लकोऽपरे च साधवो भणन्ति-कथं पूर्वं मृतेत्युक्त्वा संप्रति जीवतीति भणसि ?। स प्राह—एषा या शुनी मृता सा तव माता भवति । क्षुल्लको ब्रूते-कथमेषा मम माता ?। मृषावादी साधुराह-सर्वेऽपि जीवा अतीते काले तव मातृत्वेन बभूवुः। तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रम्-"एगमेगस्स णं जीवस्स सव्वजिया माइत्ताए पिइत्ताए भायत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए भूतपुव्वा ?। हंता गोयमा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा तहा भूतपुव्वा "। तेनैव कारणेनैषा शुनी त्वदीया मातेति॥

अथ परिहारिकद्वारमाह—

उज्जाणे दट्ठूणं, दिट्ठा परिहारग त्ति लहु करणे ।
कत्थुज्जाणे गुरुयं, वयंति दिट्ठेसु लहुगुरुगा ॥
छल्लहुगा उ णिअत्ते, आलोइए तम्मि छग्गुरू होंति ।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी जवे छेदो ॥ २ ॥
किं परिहरंति णणु थाणुकंटए मूल तुज्झ सव्वे य ।
अट्ठमेगो अणवट्ठं, बहिं पवयणस्स पारंची ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुद्याने स्थितानवसन्नान् दृष्ट्वा प्रतिश्रयमागत्य भणति-मया परिहारिका दृष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

शुद्धपरिहारिकाः समागताः। एवं प्रलाभिप्रायेण कथयत एव मासलघु। ब्रूयस्ते साधवः परिहारिकसाधुदर्शनोत्सुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते दृष्टाः ?। स प्राह-उद्याने, एवं भणतो मासगुरु। ततः साधवः परिहारिकदर्शनार्थं चलिताः, व्रजन्तो यावन्न पश्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्लघु। तत्र गतैर्दृष्टेष्ववसन्नेषु कथयतश्चतुर्गुरु। अवसन्ना अमी इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः षड्लघवः। ते साधव ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गुरूणामालोचयन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य षड्गुरु। आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ?। स चेष्टोत्तरं दातुमारब्धः-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं ब्रुवतश्छेदः। साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन परिहारिका उच्यन्ते ?। इतरः प्राह-स्थाणुकण्टकादिकं तेऽपि परिहरन्ति, एवमुत्तरं ददतो मूलम्। ततस्तैः सर्वैरपि साधुभिरुक्तो दुष्टोऽसि यदेवंगतेऽप्युत्तरं ददासीति। ततः स प्राह-सर्वेऽपि यूयमेकत्रीभूताः, अहं पुनरेकोऽसहायोऽतः पराजीये, न परिफल्गु मदीयं जल्पितम्, एवं भणतोऽनवस्थाप्यम्। अथ ज्ञानमदावलिप्त एवं ब्रवीति-सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्याः, एवं सर्वानधिक्षिपतः पाराञ्चिकं भवति।

इदमेवान्त्यपदं व्याचष्टे-

किं छागलेण जंपह, किं मं कोप्पह एवऽजाणंतं।
बहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागपोयस्स ? ॥

किमेवं छागलेन न्यायेन जल्पथ, बोकडवन्मूर्खतया किमेवमेवं प्रलपथेत्यर्थः। किञ्च-मामेवाजानतोऽपि (कोप्पह) गले धृत्वा प्रेरयथ। अथवा-एवमपि बहुभिः सह को विरोधः ?, शलभैरिव नागपोतस्येति।

अथ घोटकमुखीद्वारमाह-

जणइ य दिट्ठ नियत्ते, आलोए आमं ति घोडगमुहीओ।
पुरुस सव्वे एगे, सव्वे बाहिं पवयणस्स ॥
मासो लहुओ गुरुओ, चउरो मासा हवंति लहुगुरुगा।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥ २ ॥

एकः साधुर्विचारभूमौ गतः, उद्यानोद्देशे चरन्तीर्वडवा विलोक्य प्रतिश्रयमागतः, साधून् विस्मितमुखः कथयति-शृणुत, यदद्य मया यादृशमाश्चर्यं दृष्टम्। साधवः पृच्छन्ति-कीदृशम् ?। स प्राह-घोटकमुख्यः स्त्रियो दृष्टाः; एवं भणतो मासलघु। ते साधव ऋजुस्वभावाश्चिन्तयन्ति-यथा घोटकाकारमुखमनुष्यस्त्रियोऽनेन दृष्टा इति। ततस्ते पृच्छन्ति-कुत्र तास्त्वया दृष्टाः ?। स प्राह-उद्याने, एवं ब्रुवतो मासगुरु। साधवो द्रष्टव्यास्ता इत्यभिप्रायेण व्रजन्ति, तदानीं कथयतश्चतुर्लघु। दृष्टासु वडवासु चतुर्गुरु। प्रतिनिवृत्तेषु साधुषु षड्लघु। गुरूणामालोचिते षड्गुरु। ततो गुरुभिः पृष्टो यदि भणति-आमं, घोटकमुख्य एवैता यतो दीर्घमधोमुखं प्रमुखं वडवानां भवतीत्येवं ब्रवीति तदा छेदः। ततः साधुभिर्भणितः-कथं ताः स्त्रिय उच्यन्ते ?। इतरः प्रत्याह-यदि न स्त्रियस्तर्हि किं पुरुषाः ?, एवं ब्रुवाणस्य मूलम्। सर्वे यूयमेकत्र मिलिता अहं पुनरेक एव, एवं भणतोऽनवस्थाप्यम्। सर्वेऽपि प्रवचनस्य बाह्या इति भणतः पाराञ्चिकम्।

अथान्त्यप्रायश्चित्तं प्रकारान्तरेण प्राह-

सव्वेगत्था मूलं, अहगं एक्कल्लओ य अणवट्ठे।
सव्वे बहिभावा पव-यणस्स वयमाण चरिमं तु ॥

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो मूलम्। अहमेकाकी किं करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम्। सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्या इति वदति पाराञ्चिकम्।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति-

किं छागलेण जंपह, किं मं कुप्पेह एव जाणंता।
बहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागपोयस्स ? ॥

गतार्था।

अथावश्यंगमनद्वारमाह-

गच्छसि ण ताव गच्छं, किं खु ण जासि त्ति पुच्छितो भणति।
वेला ण ताव जायति, परलोगं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्टः-आर्य ! गच्छसि भिक्षाचर्याम्। स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि। इतरेण साधुना भणितम्-यद्येवं तत उत्तिष्ठ, व्रजामः। स प्राह-न तावदद्यापि गच्छामि। इतरेण भणितम्-किं खुरिति वितर्के। न यासि गच्छसि, त्वया हि भणितम्-अवश्यं गमिष्यामि ?। एवं पृष्टो भणति-न तावदद्यापि परलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि। यद्वा-मोक्षं गन्तुं नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि। अपिः संभावने। किं संभावयति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामीति।

अथ 'दिसासु त्ति' पदं व्याख्यानयति-

कतरि दिसिं गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो भणति पुव्वे।
किं वा ण होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं भिक्षाचर्यां गमिष्यसि ?। स एवं पृष्टो ब्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि। ततः प्रच्छकः साधुः पात्रकाण्युद्ग्राह्याऽपरां दिशं गतः। इतरोऽपि पूर्वदिग्गमनाप्रतिज्ञातां तामेवापरां दिशं गतः। तेन साधुना पृष्टम्-पूर्वां गमिष्यामीति भणित्वा कस्मादपरामायातः ?। स प्राह-किं वा अपरस्य ग्रामस्येयं दिक् पूर्वा न भवति, येन मदीयं वचनं निरुध्येत।

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वच्चह बहुकुलपवेसणे पुट्ठो।
भणति कहं दोम्मि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं ॥

कश्चित्केनचिद्भिक्षार्थं समपृच्छि। तेनोक्तम्-आर्य ! एहि व्रजावो भिक्षाम्। स प्राह-व्रजत यूयमहमेकमेव कुलं गच्छामि। एवमुक्त्वा बहुषु कुलेषु प्रवेष्टुं लग्नः। ततोऽपरेण साधुना पृष्टः-कथमेकं कुलं गमिष्यामीति भणित्वा बहूनि कुलानि प्रविशसि ?। स एवं पृष्टो भणति-द्वे कुले एकेन शरीरेण युगपत् कथं प्रवेक्ष्यामि ?। एकमेव कुलमेकस्मिन् काले प्रवेष्टुं शक्यम्, न बहूनीति भावः ॥

अथैकद्रव्यग्रहणद्वारमाह-

वच्चह एगं दव्वं, घेत्थं णेगगहे पुच्छितो भणति।
गहणं तु लक्खणं पो-ग्गलाण गेण्हमि तेणऽहं एगं ॥

कोऽपि साधुर्भिक्षार्थं गच्छन् कमपि साधुं भणति-व्रजामो भिक्षायाम्। स प्राह-व्रजत यूयमहमेकं द्रव्यं ग्रहीष्यामि। एवमुक्त्वा भिक्षां पर्यटन्ननेकानामोदनक्षितीयाद्यादीनां बहूनां द्रव्याणां ग्रहणं कुर्वन् साधुभिः पृष्टो भणति-(गहणं तु इत्यादि) गतिलक्षणो धर्मास्तिकायः, स्थितिलक्षणोऽधर्मास्तिकायः,

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवास्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चानां द्रव्याणां मध्यात्पुद्गलानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नान्येषां धर्मास्तिकायादीनाम्, तेन अहमेकमेव द्रव्यं गृह्णामि न बहूनीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वार्द्धम् । अथ "पमियाइक्खित्ताय भुंजणय त्ति" पश्चार्द्धं व्याख्यायते-प्रत्याख्याय 'नाहं गच्छामीति प्रतिषिध्य' गमनं करोति । प्रत्याख्याय च 'नाहं भुञ्जे इति भणित्वा' भुङ्क्ते । अपरेण च साधुना पृष्टो ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्; भुज्यमानमेव भुज्यते नाभुज्यमानम् । अनेन पश्चार्द्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्याख्याते इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं भणतो मासलघु । अथाभिनिवेशेन वदन् निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम् । तदेवं येषु स्थानेष्वलीकं संभवति यादृशी च यत्र शोधिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपायास्ते सापवादा इति द्वारम् । तत्रानन्तरोक्तान्यलीकानि भणतो द्वितीयसाधुना सहासंखडाद्युत्पत्तिः संयमात्मविराधनारूपा सप्रपञ्चं सुधिया वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्ताद् भणिष्यते । बृ० ६ उ० । जीत० ।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जंबू ! बितियं च अलियवयणं लहुसगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं निसंसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारकं परमकण्हलेससहियं दुग्गतिविणिपायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं कित्तियं बितियं अहम्मदारं ॥

'जम्बूः !' इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । 'द्वितीयं च'-द्वितीयं पुनराश्रवद्वारम्, अलीकवचनं मृषावादः । इदमपि पञ्चभिर्यादृशकादिद्वारैः प्ररूप्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्याऽलीकवचनस्य स्वरूपमाह-लघुगुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्वकाः, तेभ्योऽपि ये लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च, कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भणितं यत्तत्तथा । तथा-भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरतिरागद्वेषलक्षणं मनःसंक्लेशं वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्बन्धनप्रच्छादनार्थवचनस्य, (साइ त्ति) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । नीचैर्जात्यादिहीनैः प्राय इदं निषेवितं तत्तथा । नृशंसं सूकावर्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अप्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कण्ठ्यम् । तथा-भवे संसारे पुनर्भवं पुनःपुनर्जन्म करोतीति, नच पुनर्भवकरम्, चिरपरिचितमनादिसंसारेऽभ्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छेदेनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् । एतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यन्नामेत्यभिधातुकाम आह-

तस्स य णामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-अलियं १ सढं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कूडकवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थगं च ७ विद्देसगरहणिज्जं ८ अणुज्जुगं ९ कक्कतकारणा य १० वंचणा य ११ मिच्छापच्छाकम्मं च १२ साती १३ उच्छत्तं १४ उक्कूलं च १५ अट्टं १६ अब्भक्खाणं च १७ किब्बिसं १८ वलयं १९ गहणं च २० मम्मणं च २१ नूमं २२ नियती २३ अपच्चओ २४ असमओ २५ असच्चसंधत्तणं २६ विवक्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअसुद्धं २९ अवलोवो त्ति अविय ३०; तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं ।

"तस्स" इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शठः, शठस्य मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्यः ३, मायालक्षणकषायानुगतत्वात्, मृषारूपत्वाच्च मायामृषा ४, (असंतगं ति) असदर्थाभिधानरूपत्वादसत्यम् ५, (कूडकवडमवत्थुं त्ति) कूटं परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अविद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु; पदत्रयस्याप्येतस्य कथञ्चित् समानार्थत्वेनैकतमस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (निरत्थयमवत्थयं चेति) निरर्थकं सत्यार्थान्निष्क्रान्तम्, अपार्थकम् अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव गणनादेकत्वम् ७, (विद्देसगरहणिज्जं ति) विद्वेषो मत्सरस्तस्माद् गर्हति निन्दति येन, अथवा-तत्रैव विद्वेषाद् गर्हते साधुभिर्यत्तद्विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनृजुकं वक्रमित्यर्थः ९, कल्कं पापं माया वा, तत्कारणं कल्कं माया पापं च १०, वञ्चना च ११, (मिच्छापच्छाकमं च त्ति) मिथ्येति कृत्वा पश्चात्कृतं निराकृतं न्यायवादिभिर्यत्तत्तथा १२, (साती ति) अविश्रम्भः १३, (उच्छुत्तं ति) अपसदं विरूपं छन्नं स्वदोषाणां परगुणानां चाऽऽवरणमपच्छन्नम्, उच्छन्नं वा न्यूनत्वम् १४, (उक्कूलं च त्ति) उत्कूलयति सन्मार्गादपध्वंसयति, कूलाद्वा न्यायसरित्प्रवाहतटादूर्ध्वं यत्तदुत्कूलम् । पाठान्तरेण-उत्कूलम्-ऊर्ध्वं धर्मकलाया यत्तत्तथा १५, आर्तम्-ऋतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अभ्याख्यानं चोद्घाटनम्-असतां दोषाणामित्यर्थः १७, किल्बिषं किल्बिषस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं, वक्रत्वात् १९, गहनमिव गहनं, दुर्लक्ष्यान्तस्त्वात् २०, मन्मनमिव मन्मनं च, अस्फुटत्वात् २१, (नूमं ति) प्रच्छादनम् २२, निष्कृतिर्मायायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्ययः प्रत्ययाभावः २४, असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यमलीकं संदधाति करोतीति असत्यसन्धस्तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् २६, विपक्षः-सत्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपसदा निन्द्या धीर्यस्मिँस्तदपधीकम् । पाठान्तरेण-'अणाइयं' आज्ञां जिनादेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञाऽतिगम् २८ । (उवहिअसुद्धं ति) उपधिना मायया अशुद्धं सावद्यमुपध्यशुद्धम् २९, अवलोपो वस्तुसद्भावप्रच्छादनम्, इत्येवंप्रकारार्थः । अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं त्ति) इह वाक्ये एवमक्षरघटना कार्या-तस्यालीकस्य सावद्यस्य वाग्योगस्य एतान्यनन्तरोदितानि त्रिंशत् एवमादीन्येवंप्रकाराणि चानेकानि नामधेयानि नामानि भवन्तीति ॥ यन्नामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा चालीकं वदन्ति ताँस्तथा चाऽऽह-

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा असंजया अविरया कवमकुमिलकडुयचडुलभावा कुद्धा लुद्धा भया-य हस्स-

त्थिया य सक्खीचोरा चारभडा खंडरक्खा जियजूइकरा य गहियगहणा कक्कगुरुगकारिका कुलिंगा उवहिया वाणियगा य कूडतुला कूडमाणा कूडकाहावणोवजीवी पडकारककलायकारुइज्जा वंचणपरा चारियचडुयारनगरगुत्तियपरिचारकदुट्ठवाइसूयकअणवलभणिया य पुव्वकालियवयणदच्छा साहस्सिका लहुस्सगा असच्चा गारविया असच्चत्थावणाहिचित्ता उच्चछंदा अणिग्गहा अणियया छंदेण मुक्कवादी भवंति । अलियाहिं जे अविरया अवरे णत्थिकवादिणो वामलोकवादी भणंति ॥

(तं चेत्यादि) तत्पुनर्वदन्त्यलीकम् । (केइ त्ति) केचिन्न सर्वेऽपि, सुसाधूनामलीकवचननिवृत्तत्वात् । किंविशिष्टाः ?; पापाः पापात्मानः, असंयता असंयमवन्तः, अविरता अनिवृत्ताः । तथा-(कवडकुडिलकडुयचडुलभाव त्ति) कपटेन हेतुना कुटिलो वक्रः कटुकाश्च विपाकदारुणत्वात्, चटुलश्च विविधवस्तुषु क्षणे क्षणे आकाङ्क्षादिप्रवृत्तेः, भावश्चित्तं येषां ते तथा । 'कुद्धा, लुद्धा' इति सुगमम् । (भया-य त्ति) परेषां भयोत्पादनाय, अथवा-भयार्त्ताश्च (हस्सट्ठिया-य त्ति) हासार्थिकाश्च हासार्थिनः । पाठान्तरेण-हासार्थाय (सक्खि त्ति) साक्षिणः चौराः । चारभटाश्च प्रतीताः । (खंडरक्ख त्ति) शुल्कपालाः । (जियजूइकरा य त्ति) जिताश्च ते द्यूतिकराश्चेति समासः । (गहियगहण त्ति) गृहीतानि ग्रहणकानि यैस्ते तथा । (कक्कगुरुगकारग त्ति) कल्कगुरुकं माया, तत्कारकाः । (कुलिंग त्ति) कुलिङ्गिनः कुतीर्थिकाः । (उवहिया वाणियग त्ति) उपधिका मायाचारिणः, वाणिजका वणिजः । किंभूताः ? । कूटतुलाः,कूटमानिनः,कूटकार्षापणोपजीविन इति पदत्रयं व्यक्तम्; नवरं कार्षापणो रूप्यः । (पडकारककलायकारुइज्ज त्ति) पटकारकास्तन्तुवायाः, कलादाः सुवर्णकाराः, कारुकेषु वरुटछिम्पकादिषु भवाः कारुकीयाः । किंविधा एते अलीकं वदन्ति?,इत्याह-वञ्चनपराः, तथा-चारिका हैरिकाः, चटुकाराः सुखमङ्गलकराः, नगरगुप्तिकाः कोट्टपालाः, परिचारका ये परिचारणां मैथुनाभिष्वङ्गं कुर्वन्ति, कामुका इत्यर्थः । दुष्टवादिनोऽसत्यपक्षग्राहिणः, सूचकाः पिशुनाः, (अणवलभणियाय त्ति) ऋणेन गृहीतव्ये बलं यस्यासौ ऋणबलो-बलवानुत्तमर्णः, तेन भणिता अस्मद् द्रव्यं देहीत्येवमभिहिता ये अधमर्णास्ते तथा । ततश्चारकादीनां द्वन्द्वः । (पुव्वकालियवयणदच्छ त्ति) वक्तुकामस्य वचनात् यत्पूर्वतरमभिधीयते पराभिप्रायं लक्षयित्वा, तत्पूर्वकालिकं वचनं, तत्र वक्तव्ये दक्षास्ते तथा, अथवा पूर्वकालिकानामर्थानां वचने अदक्षा निरतिशयनिरागमास्ते तथा । सहसा अवितर्क्यभाषणे ये वर्त्तन्ते ते साहसिकाः,लघुस्वकाः लघुकात्मानः, असत्याः सद्भ्योऽहिताः, गौरविकाः ऋद्ध्यादिगौरवत्रयेण चरन्ति ये असत्यानामसद्भूतानामर्थानां स्थापनं प्रतिष्ठामधिचित्तं येषां ते असत्यस्थापनाधिचित्ताः । उच्चो महानात्मोत्कर्षणप्रवणः छन्दोऽभिप्रायो येषां ते उच्चच्छन्दाः । अनिग्रहाः स्वैराः । अनियता अनियमवन्तोऽनवस्थिता इत्यर्थः । अनिजका वा अविद्यमानस्वजनाः,अलीकं वदन्तीति प्रकृतम् । तथा छन्देन स्वाभिप्रायेण मुक्तवाचः प्रयुक्तवचनाः, अथवा छन्देन मुक्तवादिनः सिद्धवादिनस्ते भवन्ति । के ?, इत्याह-अलीकाद् ये अविरताः,तथाऽपरे उक्तेभ्योऽन्ये नास्तिकवादिनो लौकायतिकाः,वामं प्रतीपं लोकं वदन्ति ये सतां लोकवस्तूनामसत्त्वस्य प्रतिपादनात्ते वामलोकवादिनः, भणन्ति प्ररूपयन्ति । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

तथा किमन्यद्वदन्तीत्याह-

तम्हा दाणवयपोसहाणं तवसंयमबंभचेरकल्लाणमादियाणं नत्थि फलं, न वि य पाणवहअलियवयणं, न चेव चोरक्करणं, परदारासेवणं वा, सपरिग्गहपावकम्माइकरणं पि नत्थि किंचि, न नेरइयतिरिक्खमणुयजोणी, न देवलोको वा अत्थि, न य अत्थि सिद्धिगमणं, अम्मापियरो वि नत्थि, न वि य अत्थि पुरिसकारो, पच्चक्खाणमवि नत्थि,न वि यऽत्थि कालमच्चू,अरिहंतचक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नत्थि, नेवऽत्थि केइ रिसओ, धम्माधम्मफलं वि न अत्थि किंचि बहुयं व थोवं व; तम्हा एवं जाणिऊणं जहा सुबहुइंदियाणुकूलेसु सव्वविसएसु वट्टह; नत्थि काइ किरिया वा, एवं भणंति नत्थिकवादिणो; इमं पि बितियं कुदंसणं असब्भावं वादिणो पण्णवेंति मूढा, संभूओ अंडकाओ लोको, सयंभुणा सयं च निम्मिओ, एवं एतं अलियं, पयावइणा इस्सरेण य कय त्ति केइ, एवं विण्हुमयं कसिणमेव य जगदिति केइ, एवमेके वदंति मोसं-एको आया, अकारको वेदको य सुकयस्स य दुक्कयस्स य करणानि कारणाणि य सव्वहा सव्वहिं च, णिच्चो य,णिक्किओ,निग्गुणो य,अणुवलेवओ त्ति अवि य । एवमाहंसु असब्भावं जंपि एहिं किंचि जीवलोके दीसंति सुकयं वा दुक्कयं वा-एयं जदिच्छाए वा,सहावेण वा पि,दइवयप्पभावओ वा वि भवति,नऽत्थि तत्थ किंचि कयकं तत्तं, लक्खणाविहाणं नियतिकारिया एवं केइ जंपंति, इड्ढीरससायगारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति धम्मवीमंसएण मोसं,अवरे अहम्माओ रायदुट्ठं अब्भक्खाणं भणंति अलियं, चोरो त्ति अचोरियं करेंतं । डमराओ त्ति वि य एमेव उदासीणं, दुस्सीलो त्ति य परदारं गच्छंति त्ति मइलिंति सीलकलियं अयं पि गुरुतप्पओ त्ति अण्णे एवमेव भणंति, उवहणंति, मित्तकलत्ताइं सेवंति अयं पि लुत्तधम्मो, इमो वि वीसंभघायओ पावकम्मकारी, अकम्मकारी अगम्मगामी अयं दुरप्पा बहुएसु य पातगेसु जुत्तो त्ति एवं जंपंति मच्छरी भद्दके वा गुणकित्तिनेहपरलोगनिप्पिवासा; एवं एते अलियवयणदक्खा परदोसुप्पायणसंसत्ता वेढेंति, अक्खतियबीएणं अप्पाणं कम्मबंधणेण मुहरि असमिक्खियप्पलावी निक्खेवे अवहरंति , परस्स अत्थम्मि गढियगिद्धा, अभिजुंजंति य परं असंतएहिं लुद्धा य करेंति कूडसक्खित्तणं, असच्चा अत्थालियं च, कन्नालियं च,भोमालियं च,तहा गवालियं च, गरुयं भ-

णंति, अहरगतिगमणं, अण्णं पि य जाइरूवकुलसीलप-च्चवमायानिगुणं, चवला पिसुणं परमट्ठभेदकमसंतकं विद्देसमणत्थकारकं पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं निलज्जं लोगगरहणिज्जं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणदुक्खसोगनेमं असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति ॥

यस्माच्छरीरं सादिकमित्यादि, तस्माद्दानव्रतपौषधानां वितरणनियमपर्वोपवासानां, तथा-तपोऽनशनादि, संयमः पृथ्व्यादिरक्षा, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येव कल्याणं कल्याणहेतुत्वात्सदादियेषां ते ज्ञानश्रद्धादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फलं कर्मक्षयसुगतिगमनादिकं, नापि च प्राणिवधालीकवचनमशुभफलसाधनतयेति गम्यम् । तथैव नैव च चौर्यकरणं,परदारसेवनं वाऽस्त्यशुभफलसाधनम्, तथैव सह परिग्रहणे यत्रास्ते तत्सपरिग्रहं, तच्च तत्पापकर्मकरणं च पातकक्रियासेवनं तदपि नास्ति किञ्चित्, क्रोधमानाद्यासेवनरूपा नारकादिका च जगतो विचित्रता स्वभावादेव न कर्मजनिता । तदुक्तम्-" कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य च चित्रता । वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्वभावेन भवन्ति हि "॥१॥ इति । मृषावादिता चैवमेतेषाम्-स्वभावो हि जीवाद्यनर्थान्तरभूतः, तदा प्राणातिपातादिजनितकर्मैककत्रकरोऽसावनर्थान्तरभूतः,ततो जीव एवासौ, तदव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत् ; ततो निर्हेतुका नारकादिविचित्रता स्यात् । न च निर्हेतुकं किमपि भवति,अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिकतिर्यग्मनुष्यजानां योनिरुत्पत्तिस्थानं पापपुण्यकर्मफलभूताऽस्तीति प्रक्रमः । न देवलोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलभूतः,नैवास्ति सिद्धिगमनं; सिद्धेः, सिद्धस्य वाऽभावात् । अम्बापितरावपि न स्तः, उत्पत्तिमात्रनिबन्धनत्वाद् मातापितृत्वस्य । नन्वोत्पत्तिमात्रनिबन्धनस्य मातापितृतया विशेषो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदुत्पद्यत एव । यथा-सचेतनाच्चेतनं यूकामत्कुणादि, अचेतनं च मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच्च सचेतनं, यथा-काष्ठाद् घुणकीटकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जन्यजनकभावमात्रमर्थानामस्ति नान्यो मातापितृपुत्रादिविशेष इति । तदभावात्सद्योगविनाशापमाननादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां वस्त्वन्तरस्य पित्रोः स्वजनकत्वे समानेऽपि तयोरत्यन्तहिततया विशेषवत्त्वेन सत्त्वात् । हितत्वं च तयोः प्रतीतमेव । आह च-दुष्प्रतीकारावित्यादि । नाप्यस्ति पुरुषकारः,तं विनैव नियतितः सर्वप्रयोजनानां सिद्धेः । उच्यते च-" प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः " ॥ १ ॥ मृषाभाषिता चैवमेषाम्—सकललोकप्रतीतपुरुषकारापलापेन प्रमाणातीतनियतिमताभ्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यानमपि नास्ति, धर्मसाधनतया धर्मस्यैवाभावादिति । अस्य च सर्वज्ञवचनप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्वादिनामसत्यता । तथा-नैवास्ति कालमृत्यू, तत्र कालो नास्ति, अनुपलम्भात् । यच्च वनस्पतिकुसुमादिकाललक्षणमाचक्षते,तत्तेषामेव स्वरूपमिति मन्तव्यम् । असत्यं तेषामपि-स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात् कुसुमादिकरणमकारणं तरूणां स्यात् । तथा-मृत्युः परलोकप्रयाणलक्षणः, असावपि नास्ति, जीवाभावेन परलोकगमनाभावात् । अथवा कालक्रमेण विवक्षितायुष्कर्मणः सामस्त्यनिर्जराऽवसरे मृत्युः कालमृत्युः,तदभावश्च;आयुष एवाभावात् । तथा-अर्हदादयोऽपि [नत्थि त्ति] न सन्ति, प्रमाणाविषयत्वात् । [नेवऽत्थि केइ रिसओ त्ति] नैव सन्ति केचिदपि ऋषयो गौतमादिमुनयः, प्रमाणाविषयत्वादेव, वर्तमानकाले वा ऋषित्वस्य साध्वनुष्ठानस्याऽसत्त्वात्, सतोऽपि वा निष्फलत्वादिति । अत्र च शिक्षाऽऽदिप्रवाहानुमेयत्वादर्हदाद्यसत्त्वस्यानन्तरोक्तवादिनामसत्यता ; ऋषित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वदा भावादित्येवमाज्ञाग्राह्यार्थाऽपलापिनां सर्वत्रासत्यवादिता भावनीयेति । तथा-धर्माधर्मफलमपि नास्ति किञ्चिद् बहुकं वा स्तोकं वा, धर्माधर्मयोरदृष्टत्वेन नास्तित्वात् । " नत्थि फलं सुकए " इत्यादि यदुक्तं प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च "धम्माधम्म" इत्यादि,तद्विशेषापेक्षयेति न पुनरुक्ततेति । [तम्हा त्ति] यस्मादेवं तस्मादेवमुक्तप्रकारं वस्तु विज्ञाय [जहा सुबहुइंदियाणुकूलेसु त्ति] यथा यत्प्रकारा सुबहुधा अत्यर्थमिन्द्रियानुकूला ये ते तथा, तेषु सर्वेषु विषयेषु वर्तितव्यम् । नास्ति काचित् क्रिया वा-अनिन्द्यक्रिया वा पापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिककल्पितत्वेनापरमार्थिकत्वात् । भणन्ति च-

" पिब खाद च चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि भीरु! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् " ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा—इदमपि द्वितीयं नास्तिकदर्शनापेक्षया कुदर्शनं कुमतमसद्भावं वादिनः प्रज्ञापयन्ति मूढाः व्यामोहवन्तः । कुदर्शनता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रामाणिकत्वाद् वादिप्रोक्तप्रमाणस्य प्रमाणाभासत्वाद् भावनीया । किंभूतं कुदर्शनम् ? इत्याह-सम्भूतो जातोऽण्डकाद् जन्तुयोनिविशेषाद् लोकः क्षितिजलानलानिलनरनारकिनाकितिर्यग्रूपः । तथा स्वयंभुवा ब्रह्मणा स्वयं चात्मना निर्मितो विहितः । तत्राण्डकप्रभूतभुवनवादिनो मतमित्थमाचक्षते-

" पुव्वं आसि जगमिणं, पंचमहब्भूयवज्जिय गभीरं ।
एगण्णवं जलेणं, महप्पमाणं तर्हि अंडं ॥ १ ॥
वीईपरंपरेणं, घोलंतं अत्थि उ सुइरकालं ।
फुट्टं दुभागजायं अद्धं भूमी य संवुत्तं ॥ २ ॥
तत्थ सुरासुरनारग-समणुय सचउप्पयं जगं सव्वं ।
उप्पन्नं भणियमिणं, बंभंडपुराणसत्थम्मि " ॥ ३ ॥

तथा स्वयंभूनिर्मितजगद्वादिनो भणन्ति-

"आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अवितर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पद्मे स भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसंघानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।
विनता विहङ्गमानां, माता सर्वप्रकाराणाम्" ॥ ६ ॥

नकुलादीनामित्यर्थः ।

"कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता च नागजातीनाम् ।
सुरभिश्चतुष्पदाना-मिला पुनः सर्वबीजानाम् " ॥ ७ ॥ इति ।

एवमुक्तक्रमेण एतदनन्तरोदितं वस्तु अलीकं, भ्रान्तज्ञानिभिः प्ररूपितत्वात्। तथा-प्रजापतिना लोकप्रभुणा ईश्वरेण च महेश्वरेण कृतं विहितमिति केचिद्वादिनो, वदन्तीति प्रकृतम्। भणन्ति चेश्वरवादिनः-"बुद्धिमत्कारणपूर्वकं जगत्, संस्थानविशेषयुक्तत्वाद् घटादिवदिति"। कुदर्शनता चास्य-वल्मीकबुद्बुदादिभिर्हेतोरनैकान्तिकत्वात्। कुलालादितुल्यस्य बुद्धिमत्कारणस्य साधनेन चेष्टविघातकारित्वादिति। तथा-एवं यथेश्वरकृतं तथा विष्णुमयं विष्णवात्मकं कृत्स्नमेव च जगदिति, केचिद्वदन्तीति प्रकृतम्। भणन्ति च एतन्मतावलम्बिनः-

" जले विष्णुः स्थले विष्णुः, विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालमालाकुले विष्णुः, सर्वं विष्णुमयं जगत्"॥ १॥
तथा-" अहं च पृथिवी पार्थ !, वाय्वग्निजलमप्यहम्।
वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वभूतगतोऽप्यहम्" ॥ १॥
" सो किल जलयसमुत्थे-णुदएणेगण्णवम्मि लोगम्मि।
वीईपरंपरेणं, घोलंतो उदयमज्झम्मि " ॥ १॥

स किल मार्कण्डेय ऋषिः-

" पिच्छइ सो तसथावर-पणट्ठसुरनरतिरिक्खजोणीयं।
एगण्णवं जगमिणं, महन्भूयविवज्जियं गहरं ॥ २॥
एवंविहे जगम्मी, पिच्छइ नग्गोहपायवं सहसा।
मंदरगिरिं व तुंगं, महासमुद्दं वऽविच्छिन्नं ॥ ३॥
खंधम्मि तस्स सयणं, अच्छइ तह बालओ मणाभिरामो ॥
संचिट्ठो सुरुहिओ,मिउकोमलकुंचियसुकेसो।४।विष्णुरित्यर्थः।
हत्थो पसारिओ से, महरिसिणो एहि वच्छ ! भणिओ य।
खंधे मम विलग्गसु, मामरिहिसि उदयबुड्डीए ॥ ५॥
तेण य घेत्तुं हत्थे, मिलिओ सो रिसी तओ तस्स।
पिच्छइ उदरम्मि जयं, ससेलवणकाणणं सव्वं " ॥ ६॥ ति।

पुनः सृष्टिकाले विष्णुना सृष्टम्। कुदर्शनता चास्य प्रतीतिबाधत्वात्। तथा-एवं वक्ष्यमाणन्यायेन एव केचन आत्माद्वैतवादयो वदन्ति-मृषा अलीकं, यदुत एक आत्मा। तदुक्तम्-" एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् " ॥ १॥ तथा-" पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् " इत्यादि। कुदर्शनता चास्य सकललोकविलोक्यमानभेदनिबन्धनव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। तथा-अकारकः सुखहेतूनां पुण्यपापकर्मणामकर्ताऽऽत्मेत्यन्ये वदन्ति, अमूर्तत्वनित्यत्वाभ्यां कर्तृत्वानुपपत्तेरिति। कुदर्शनता चास्य संसार्यात्मनो मूर्तत्वेन परिणामित्वेन च कर्तृत्वोपपत्तेः, अकर्तृत्वे चाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। तथा-वेदकश्च प्रकृतजनितस्य सुकृतदुष्कृतस्य च प्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोक्ता। अमूर्तत्वे हि कदाचिदपि वेदकता न युक्ता, आकाशस्येवेति कुदर्शनता चास्य। तथा सुकृतदुष्कृतस्य च कर्मणः करणानीन्द्रियाणि कारणानि हेतवः सर्वथा सर्वप्रकारैः सर्वत्र च देशे काले च, न वस्त्वन्तरं कारणमिति भावः। करणान्येकादश-तत्र वाक्पाणिपादपायूपस्थलक्षणानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, स्पर्शनादीनि तु पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, एकादशं च मन इति। एषां चाचेतनावस्थायामकारकत्वात्पुरुषस्यैव कारकत्वेन कुदर्शनत्वमस्य। तथा-नित्यश्चासौ। यदाह-" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ १॥ अच्छेद्योऽयमभेद्योऽय-ममूर्तोऽयं सनातनः"। इति। असच्चैतत्, एकान्तनित्यत्वे हि सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यभावप्रसङ्गात्। तथा-निष्क्रियः सर्वव्यापित्वेनावकाशाभावाद् गमनागमनादिक्रियावर्जितः। असच्चैतत्-देहमात्रोपलभ्यमानतद्गुणत्वेन तन्नियतत्वात्। तथा-निर्गुणश्च, सत्त्वरजस्तमोलक्षणगुणत्रयव्यतिरिक्तत्वात्; प्रकृतेरेव ह्येते गुणा इति। यदाह-" अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शने"। इति। असिद्धता चास्य सर्वथा निर्गुणत्वे, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यभ्युपगमात्। तथा-(अणुवलेवओ त्ति) अनुपलेपकः कर्मबन्धनरहितः। आह च-" यस्मान्न बध्यते नापि, मुच्यते नापि संसरन् "। " संसरति बध्यते मु-च्यते च नानाश्रया प्रकृतिः " इति। असच्चैतत्-मुक्तामुक्तयोरेवमविशेषप्रसङ्गात्। पाठान्तरम्-(अणोवलेवओ त्ति) अत्र अन्यश्चापरो लेपनः, कर्मबन्धनादिति। एतदप्यसत्-कथञ्चिदितिशब्दानुपादानात्। इत्यपि च-इती रूपप्रदर्शने, अपिचेति-अलीकवादान्तरसमुच्चयार्थः। तथा-एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण (आहंसु त्ति) वदन्ते स्म असद्भावमसन्तमर्थं, यदुत यदपि यदेव सामान्यतः, सर्वमित्यर्थः; इहास्मिन्, किञ्चिदविवक्षितविशेषं, जीवलोके मर्त्यलोके, दृश्यते सुकृतं वा आस्तिकमतेन सुकृतफलं, सुखमित्यर्थः। दुष्कृतं वा दुष्कृतफलं, दुःखमित्यर्थः। एतत् (जइच्छाए व त्ति) यदृच्छया वा, स्वभावेन वाऽपि, दैवकप्रभावतो वाऽपि विधिसामर्थ्यतो वाऽपि भवति, न पुरुषकारः कर्म वा हिताहितनिमित्तमिति भावः। तत्र-अनभिसन्धिपूर्विकाऽर्थप्राप्तिः यदृच्छा। पठ्यते च-" अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम्। काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः" ॥ १॥ तथा-" सत्यं पिशाचस्य वने वसामो, भेरीं कराग्रैरपि न स्पृशामः। यदृच्छया सिध्यति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति" ॥१॥ निःस्वभावः पुनर्वस्तुनः स्वत एव तथा परिणमति इति भावः। उक्तं च-"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च। स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ?" ॥१॥ इति। दैवं तु विधिरिति लौकिकी भाषा। तत्रोक्तम्-"प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यः, किं कारणं दैवमलङ्घनीयम्। तस्मान्न शोचामि न विस्मयो मे, यदस्मदीयं नहि तत्परेषाम्" ॥१॥ तथा-"द्वीपादन्यस्मादपि, मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्। आनीय झटिति घटयति, विधिरभिमतमभिमुखीभूतः" ॥१॥ इति। असद्भूतता चात्र प्रत्येकमेषां जिनमतप्रतिकूलत्वात्। तथाहि-"कालो सहाव नियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता। मिच्छत्तं ते चेव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं" ॥१॥ इति। तथा-नास्ति न विद्यते, तत्र लोके, किञ्चिच्छुभमशुभं वा, कृतकं पुरुषकारनिष्पन्नकृतं च कार्यं, प्रयोजनमित्यर्थः। पाठान्तरेण-" नत्थि किंचि कयकं तत्तं "। तत्र तत्त्वं वस्तुस्वरूपमिति। तथा-लक्षणानि वस्तुस्वरूपाणि विधिधाश्च भेदा लक्षणविधास्तासां लक्षणविधानां, नियतिश्च स्वभावविशेषश्च कारिका कर्त्री, सा च पदार्थानामवश्यतया। तद्यथा-भवने प्रयोजयित्री, भवितव्यतेत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः-यतः मुद्गादीनां राद्धिस्वभावत्वमितरस्मात्तत्स्वभावत्वम्। यच्च राद्धावपि नियतरसत्वं, न शाल्यादिरसता, सा नियतिरिति। "नहि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन। करतलगतमपि नश्यति, यस्य तु भवितव्यता नास्ति" ॥ १॥ असत्यता चास्य पूर्ववत्। एवमित्युक्तप्रकारेण, केचिन्नास्तिकादयो जल्पन्ति। ऋद्धिरससातगौरवपराः, ऋद्ध्यादिषु गौरवमादरस्तत्प्रधाना इत्यर्थः। बहवः प्रभूताः करणालसाश्चरणालसा धर्मं प्रत्यनुद्यमाः, स्वस्य परेषां च चित्ताश्वासननिमित्तमिति भावः; तथा प्ररूपयन्ति। धर्मविमर्शकेण धर्मविचारणेन, (मोसं ति) मृषा पारमार्थिकधर्ममपि स्वबुद्धिदुर्विलसितेनाधर्मं स्थापयन्ति।

एतद्विपर्ययं चेति भावः। इह च संसारमोचकादयो निदर्शनमिति। तथा-अपरे केचन, अधर्मतोऽधर्ममङ्गीकृत्य राजदुष्टं नृपविरुद्धम्-'अभिमरोऽयमित्यादिकम्' अभ्याख्यानं परस्याभिमुखं दूषणवचनं, भणन्ति ब्रुवते, अलीकमसत्यम्। अभ्याख्यानमेव दर्शयितुमाह-चौर इति भणन्तीति प्रकृतम्। कं प्रति?, इत्याह-अचौर्यं कुर्वन्तं चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः। तथा—डामरिको विग्रहकारीति। अपिचेति समुच्चये। भणन्तीति प्रकृतमेव।(एमेव त्ति) एवमेव चौरादिकं प्रयोजनं विनैव, कथंभूतं पुरुषं प्रति?, इत्याह-उदासीनं डामरादीनामकारणम्। तथा दुःशील इति च हेतोः परदारान् गच्छतीत्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति, शीलकलितं सुशीलतया परिहारविरतम्, तथा-अयमपि न केवलं स एव गुरुतल्पक इति दुर्विनीत इति; अन्ये केचन, मृषावादिनः, एवमेव निष्प्रयोजनं भणन्ति; उपघ्नन्तः विध्वंसयन्तः तद्वृत्तिकीर्त्यादिकमिति गम्यते। तथा-मित्रकलत्राणि सेवते सुहृद्दारान् भजते; अयमपि न केवलमसौ, पुनर्लुप्तधर्मा विगतधर्म इति। (इमो वि त्ति) अयमपि विश्रम्भघातकः पापकर्मकारीति वक्तव्यम्। अकर्मकारी स्वभूमिकाऽनुचितकर्मकारी, अगम्यगामी भगिन्याद्यभिगन्ता, अयं दुरात्मा (बहुएसु य पातगेसु त्ति) बहुभिश्च पातकैर्युक्त इत्येवं जल्पन्ति, मत्सरिण इति व्यक्तम्। भद्रके वा निर्दोषे विनयादिगुणयुक्ते पुरुषे वा, शब्दभद्रके वा, एवं जल्पन्तीति प्रक्रमः। किंभूतास्ते?, इत्याह-गुण उपकारः, कीर्त्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीतिः, परलोको जन्मान्तरम्, एतेषु निष्पिपासा निराकाङ्क्षा एते। तथा-एवमुक्तक्रमेण, एतेऽलीकवचनदक्षाः, परदोषोत्पादनप्रसक्ताः, वेष्टयन्तीति पदत्रयं व्यक्तम्। अक्षतिकबीजेन अक्षयेण दुःखहेतुनेत्यर्थः। आत्मानं स्वं, कर्मबन्धनेन प्रतीतेन, [मुहरि त्ति] मुखमेव अरिः शत्रुरनर्थकारित्वाद्येषां ते मुखारयोऽसमीक्षितप्रलापिनः-अपर्यालोचितानर्थकवादिनः, निक्षेपान्न्यासकानपहरन्ति; परस्य संबन्धिनि अर्थे द्रव्ये ग्रथितगृद्धाः अत्यन्तगृद्धिमन्तः। तथा-अभियोजयन्ति च परमसद्भिः, दूषणैरिति गम्यम्। तथा—लुब्धाश्च कुर्वन्ति कूटसाक्षित्वमिति व्यक्तम्। तथा-जीवानामहितकारिणः; अर्थालीकं च द्रव्यार्थमसत्यं, भणन्तीति योगः। कन्यालीकं च कुमारीविषयमसत्यं, भूम्यलीकं च प्रतीतम्। तथा-गवालीकं च प्रतीतं, गुरुकं बादरं स्वस्य जिह्वाच्छेदाद्यनर्थकरं परेषाञ्च गाढोपतापादिहेतुं, भणन्ति भाषन्ते। इह कन्याऽऽदिभिः पदैर्द्विपदापदचतुष्पदजातय उपलक्षणत्वेन संगृहीता द्रष्टव्याः। कथंभूतं तत्?, इत्याह-अधरगतिगमनम्-अधोगतिगमनकारणम्, अन्यदपि चोक्तव्यतिरिक्तं, जातिरूपकुलशीलानि प्रत्ययकारणं यस्य तत्तथा; तच्च मायया निगुणं निहतगुणं इति समासः। तत्र जातिकुलं मातापितृपक्षः, तद्धेतुकं च प्रायोऽलीकं संभवति, यतो जात्यादिदोषात्केचिदलीकवादिनो भवन्ति। रूपमाकृतिः, शीलं स्वभावः, तत्प्रत्ययस्तु भवत्येव, प्रशंसानिन्दाविषयत्वेन वा जात्यादीनामलीकप्रत्ययता भावनीयेति। कथंभूतास्ते?, चपलाः मनश्चापल्यादिना। किंभूतं तत्?, पिशुनं परदोषाविष्करणरूपम्, परमार्थभेदकं मोक्षप्रतिघातकम्। [असंतगं ति] असत्कमविद्यमानार्थम्, असत्यमित्यर्थः। असत्त्वकं वा सत्त्वहीनं, विद्वेष्यमप्रियम्, अनर्थकारकं पुरुषार्थोपघातकं, पापकर्ममूलं क्लिष्टज्ञानावरणादिबीजं, दुष्टमसम्यक् दृष्टं दर्शनं यत्र तद् दुर्दृष्टम्, दुष्टं श्रुतं श्रवणं यत्र तद् दुःश्रुतं, नास्ति मुणितं ज्ञानं यत्र तदमुणितम्, निर्लज्जं लज्जारहितं, लोकगर्हणीयं प्रतीतम्, वधबन्धपरिक्लेशबहुलं, तत्र-वधो यष्ट्यादिभिस्ताडनं, बन्धः संयमनं, परिक्लेशमुपतापः, ते बहुलाः प्रचुरा यत्र तत्तथा। भवन्ति चैते असत्यवादिनामिति। जरामरणदुःखशोकनेमम्-जरादीनां मूलमित्यर्थः। अशुद्धपरिणामेन संक्लिष्टं संक्लेशवत्तथा भणन्ति।

के ते भणन्ति ?-

अलियाहिसंधिसंनिविट्ठा असंतगुणुदीरगा य संतगुणनासका य हिंसाभूतोवघातियं अलियसंपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अधम्मजणणं भणंति अणभिगहियपुन्नपावा पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका बहुविहं अनत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति एवमेव जंपमाणा, महिसे सूकरे य साहिंति घायकाणं, ससपसयरोहिए य साहिंति वागुरीणं, तित्तिरवट्टकलावके य कविंजलकवोयके य साहिंति सउणीणं, झसमगरकच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, संखंके खुल्लए य साहिंति मकराणं, अयगरगोणसमंडलिदव्वीकरमउली य साहिंति वालिपाणं, गोहा सेहा य सल्लगसरडके य साहिंति लुद्धगाणं, गयकुलवानरकुले य साहिंति पासियाणं, सुकबरहिणमयणसालकोइलहंसकुले सारसे य साहिंति पोसगाणं, वधबंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधन्नगवेलए य साहिंति तक्कराणं, गामे नगरपट्टणे य साहिंति चोरियाणं, पारघातियपंथघातियाओ साहिंति गंथिभेयाणं, कयं च चोरियं णगरगुत्तियाणं साहिंति, लंछणनिल्लंछणधमणदुहणपोसणवणणदुवणवाहणादियाइं साहिंति बहूणि गोमियाणं, धाउमणिसिलप्पवालरयणागरे य साहिंति आगरीणं, पुप्फविहिं च फलविहिं च साहिंति मालियाणं, अत्थमहुकोसए य साहिंति वणचराणं, जंताइं, विसाइं, मूलकम्मआहेवणआभिओगमणणाणि चोरियाए परदारगमणस्स बहुपावकम्मकरणो अवकंदणे गामघातिए वणदहणतलागभेयणए बुद्धिविसए वसीकरण० भयमरणकिलेसुव्वेगजणिआइं भावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूयघाओवघाइयाइं सच्चाणि वि ताइं हिंसकाइं वयणाइं उदाहरंति पुट्ठा वा अपुट्ठा वा, परतत्तिवावडा य असमिक्खियभासिणो उवदिसंति-सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थीगवेलगकुक्कडा य किज्जंतु, किणावेध य, विक्केह, पचह, सयणस्स देह, पीयह दासीदासभयकभाइल्लगा य सिस्सा य पेसकजणो कम्मकरा किंकरा य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थंति भारिया भे करेतु कम्मं, गहणाइं वणाइं खित्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तणघणसंकमाइं डज्झंतु य सूडिज्जंतु य रुक्खा भिज्जंतु जंतं भंडाइयस्स उवहिस्स कारणाए, बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छु दुज्जंतु, पीलियंतु य तिला, पयावेह इट्टकाओ मम

घरट्ठयाए, खेत्ता य कसत, कसावेह वा, लहुं गामनगरखेडकव्वडं संनिवेसेह अडवीदेसेसु विपुलसीमं, पुप्फाणि कंदमूलाइं कालपत्ताइं गिण्हह,करेह संचयं परिजणस्सऽट्ठयाए , साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पूयंतु य, लहुं च पविसंतु कोट्ठागारं, अप्पमहुक्कोसगा य हंणंतु पोतसत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जण्णो अमुगम्मि होउ दिवसे सुकरणे सुमुहुत्ते सुनक्खत्ते सुतिहिम्मि य अज्ज होउ ण्हवणं, मुदितं बहुखज्जपेज्जकलियं कोउकविण्हावणसंतिकम्माणि कुणह, ससिरविगहोवरागविसमेसु, सजणस्स परिजणस्स य नियगस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंसभक्खअण्णपाणमल्लाणुलेवणपदीवजालिउज्जल सुगंधधूवोवयारपुप्फफलसमिद्धे, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवायकरणेण बहुविहेण विवरीउप्पायदुसुविणपावसउणअसोमग्गहचरियअमंगलनिमित्तपडिघायहेउं वित्तिच्छेयं करेह मा देह किंचि दाणं,सुट्ठु हणु २, सुट्ठु छिण्णो भिण्णो त्ति उवदिसंता,एवंविहं करेंति अलियं मणेणं वायाए कम्मुणा य।

अलीके योऽभिसंधिरभिप्रायस्तत्र निविष्टा अलीकाभिसन्धिनिविष्टाः, असद्गुणोदीरकाश्चेति व्यक्तम्। सद्गुणनाशकाश्च, तदपलापका इत्यर्थः। तथा—हिंसया भूतोपघातो यत्रास्ति तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं भणन्तीति योगः। अलीकसंप्रयुक्ताः संप्रयुक्तालीकाः, कथंभूतं वचनम्?, सावद्यं गर्हितं गर्हितकर्मयुक्तम्। अकुशलं, जीवानामकुशलकारित्वात्, अकुशलनरप्रयुक्तत्वाद्वा। अतएव साधुगर्हणीयम्, अधर्मजननं, भणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम्। कथंभूताः?, इत्याह—अनधिगतपुण्यपापाः-अविदितपुण्यपापकर्महेतव इत्यर्थः। तदधिगमे हि नालीकवादे प्रवृत्तिः संभवति। पुनश्च-अज्ञानोत्तरकालम्,अधिकरणविषया या क्रिया व्यापारस्तत्प्रवर्त्तकाः। तत्राधिकरणक्रिया द्विविधा-निर्वर्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया च। तत्राद्या-खड्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निर्वर्त्तनलक्षणा, द्वितीया तु तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति। अथवा-दुर्गतौ यकाभिरधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति; बहुविधमनर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दमुपवर्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्वन्ति, एवमेव अबुद्धिपूर्वकं,जल्पन्तो भाषमाणाः एतदेवाह-महिषान् शूकरांश्च प्रतीतान्, साधयन्ति प्रतिपादयन्ति, घातकानां तद्धिंसकानाम्, शशप्रशयरोहितांश्च साधयन्ति वागुरिणां, शशादय आटव्याश्चतुष्पदविशेषाः; वागुरा मृगबन्धनं,सा एषामस्ति ते वागुरिणः। तित्तिरवर्त्तकलावकांश्च कपिञ्जलकपोतकांश्च पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन श्येनादिना मृगयां कुर्वन्तीति शाकुनिकास्तेषाम्,'सउणीणं' इति च प्राकृतत्वात्। झषमकरान् कच्छपांश्च जलचरविशेषान् साधयन्ति, मत्स्याः पण्यं येषां ते मात्स्यिकास्तेषाम्, (संखंक त्ति) शङ्खाः प्रतीताः,अङ्काश्च रूढिगम्याः, अतस्तान्,क्षुल्लकांश्च कपर्दकान्,साधयन्ति मकरा इव मकरा जलविहारित्वाद्धीवराः, तेषाम्। पाठान्तरे-'मग्गिराणं' मार्गयतां तदन्वेषिणाम्। अजगरगोनसमण्डलिदर्वीकरमुकुलिनश्च साधयन्ति,तत्र अजगरादयः उरगविशेषाः,दर्वीकराः फणाभृताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्यालान् भुजङ्गान् पान्तीति व्यालपास्ते विद्यन्ते येषां ते व्यालपिनः, तेषाम्। अथवा-व्यालपानामत्र प्राकृतत्वेन "वालवीति" प्रतिपादितम्। वाचनान्तरे-'वालियाणं ति' दृश्यते। तत्र व्यालैश्चरन्तीति; वैयालिकानामिति। तथा-गोधाः सेहाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकानां, गोधादयो भुजपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकलासाः। गजकुलवानरकुलानि च साधयन्ति पाशिकानां कुलं कुटुम्बं,यूथमित्यर्थः। पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम्। तथा-शुकाः कीराः, बर्हिणो मयूराः,मदनशालाः शारिकाः,कोकिलाः परभृताः,हंसाः प्रतीताः,तेषां यानि कुलानि वृन्दानि तानि,तथा-सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः। तथा-वधस्ताडनं,बन्धः संयमनं,यातनं च कदर्थनमिति समाहारद्वन्द्वः। तच्च साधयन्ति गौल्मिकानां गुप्तिपालानाम्। तथा-धनधान्यगवेलकांश्च साधयन्ति,तस्कराणामिति प्रतीतम्। किं तु गावो बलीवर्दसुरभयः, एलकाः उरभ्राः। तथा-ग्रामनगरपत्तनानि साधयन्ति चारिकाणाम्,नकरं करवर्जितम्;पत्तनं द्विविधम्-जलपत्तनं, स्थलपत्तनं च। यत्र जलपथेन भाण्डानामागमस्तदाद्यम्, यत्र च स्थलपथेन तदितरत्। चारिकाणां प्रणिधिपुरुषाणाम्। तथा-पारे पर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तॄणां हननं पारघातिकाः (पंथघाइय त्ति) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः। घातिका गन्तॄणां हननं, पथिघातिकाः, अनयोर्द्वन्द्वोऽतस्ते साधयन्ति च ग्रन्थिभेदानां चौरविशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोरणं, नगरगुप्तिकानां नगररक्षिकाणां, साधयन्तीति वर्त्तते। तथा-लाञ्छनं कर्णादिकर्त्तनाङ्कनादिभिः, निर्लाञ्छनं वर्द्धितकरणं, (धमणं ति) ध्मानं वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्,पोषणं यवसादिदानतः पुष्टीकरणं, वननं वत्सस्यान्यमातरि योजनं,(दुवण त्ति) दुवनमुपतापनमित्यर्थः। वाहनं शकटाद्याकर्षणम्, एतदादिकानि अनुष्ठानानि साधयन्ति बहूनि,गोमिकानां गोमताम्। तथा-धातुगैरिकं, धातवो लोहादयः, मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः, शिला दृषदः, प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्केतनादीनि, तेषामाकराः खनयस्ताः साधयन्ति,आकरिणाम् आकरवताम्। पुष्पेत्यादिवाक्यं प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र। अर्घश्च मूल्यमानं, मधुकोशकाश्च क्षौद्रोत्पत्तिस्थानम्-अर्घमधुकोशकाः, तान् साधयन्ति, वनचराणां पुलिन्दानाम्। तथा-यन्त्राणि उच्चाटनाद्यर्थकरलेखनप्रकारान्, जलसंग्रामादियन्त्राणि वा, वदाहरन्तीति योगः। विषाणि स्थावरजङ्गमभेदानि हालाहलानि, मूलकर्म मूलादिप्रयोगतो गर्भपातनादि (आहेवण त्ति) आक्षेपणं पुरक्षोभादिकरणम्। पाठान्तरेण-(आहिव्वणं ति) आहित्यं अहितत्वं शत्रुभावम्, पाठान्तरेण (अविधणं ति) अभ्याधनं मन्त्रादेशनमित्यर्थः। आभियोग्यं वशीकरणादि, तच्च द्रव्यतो द्रव्यसंयोगजनितं, भावतो विद्यामन्त्रादिजनितं,बलात्कारो वा मन्त्रौषधिप्रयोगाज्ञानाप्रयोजनेषु तद्व्यापारणानीति द्वन्द्वः, तान्। तथा-चोरिकायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणो व्यापारस्य यत्करणं तत्तथा; अवस्कन्दनाः छलेन परबलमर्दनानि, ग्रामघातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागभेदनानि च प्रतीतान्येव, बुद्धेर्विषयस्य च यानि च तानि। तथा-वशीकरणादिकानि प्रतीतानि, भयमरणक्लेशोद्वेगजनितानि, कर्तुरिति गम्यते। भावेनाध्यवसायेन बहुसंक्लिष्टेन मलिनानि कलुषाणि यानि,तथा-भूतानां प्राणिनां घातश्च हननम्,उपघातश्च परम्पराघातः, तौ विद्येते

येषु तानि भूतघातोपघातकानि,सत्यान्यपि द्रव्यतस्तानीति यानि पूर्वमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंस्राणि वचनान्युदाहरन्ति।तथा-पृष्टा वा अपृष्टा वा प्रतीताः, परतृप्तिव्यापृताश्च परकृत्यचिन्तनाक्षणिकाः, असमीक्षितभाषिणः अपर्यालोचितवक्तारः, उपदिशन्ति अनुशासति, सहसा अकस्माद्-यदुत उष्ट्राः करभाः, गोणयो गावो, गवया अटव्याः पशुविशेषाः, दम्यन्तां विनीयन्ताम्। तथा-परिणतवयसः संपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः। अश्वाः, हस्तिनः प्रतीताः;गवेलककुक्कुटाश्च उरभ्रताम्रचूडाश्च क्रीयन्तां मूल्येन गृह्यन्तां, क्रापयत च एतान्येव ग्राहयत च, विक्रीणीध्वं विक्रेतव्यम्। तथा-पचत पचनीयं, स्वजनाय च दत्त, पिबत च पातव्यं मदिरादि। वाचनान्तरेण-खादत पिबत दत्त च। तथा-दास्यश्चेटिकाः, दासाश्चेटकाः, भृतका भक्तदानादिना पोषिताः, (भाइल्लग त्ति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वः ततस्ते च, शिष्याश्च विनेयाः, प्रेष्यकजनः प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोकः,कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः,किंकराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कस्मादासते अवस्थानं कुर्वन्ति?(भारिया भे करिउ कम्मं ति)कृत्वा विधाय, कर्म कृत्यं, तत्समाप्तौ यतो भारिका दुर्निर्वाहाः 'भे' भवतां "करेतु त्ति" क्वचित्पाठः। तत्र (भारय त्ति) भार्या 'भे' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि। तथा-गहनानि गह्वराणि, वनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्यवपनभूमयः, खिलभूमयश्च हलैरकृष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः, ततस्तानि उत्तृणैरूर्ध्वगतैस्तृणैः, घनमत्यर्थं, संकटानि संकीर्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम। पाठान्तरेण-गहनानि वनानि छिद्यन्तां, खिलभूमिवल्लराणि उत्तृणघनसंकटानि दह्यन्ताम।(सूडिज्जंतु य त्ति) सूड्यन्तां च वृक्षाः, भिन्द्यन्तां छिन्द्यन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च भाजनानि कुण्डादीनि,भाण्डी वा गन्त्री,एतान्यादिर्यस्य तत्।तथा-उपधिरुपकरणं तस्य (कारणाए त्ति) कारणाय हेतवे। वाचनान्तरे तु-यत्र नाण्डस्योक्तरूपस्य कारणाद् हेतोः। तथा-बहुविधस्य च, कार्यसमूहस्येति गम्यम। अर्थाय इक्षवो (डुज्जंतु त्ति) दूयन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात्। तथा-पीड्यन्तां च तिलाः, पाचयत चेष्टकाः गृहार्थम्। तथा-क्षेत्राणि कृषतां कर्षयतां वा। तथा-लघु शीघ्रं, ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपदप्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरदानं, कर्बटं कुनगरम्। क्व?, अटवीदेशेषु। किंभूतानि ग्रामादीनि?,विपुलसीमानि। तथा-पुष्पादीनि प्रतीतानि। [कालपत्ताइं ति] अवसरप्राप्तानि गृहीत, कुरुत संचयं परिजनार्थम्। तथा-शालयः प्रतीताः,लूयन्तां,मल्यन्तास्,उत्पूयतां च,लघु च प्रविशन्तु कोष्ठागारम्। [अप्पमहुक्कोसगा य त्ति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्यर्थः। उत्कृष्टा उत्तमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्थाः-बोहित्थसमुदायाः, श्रावकसमूहा वा। तथा-सेना सैन्यं, निर्यातु निर्गच्छतु। निर्गत्य च यातु गच्छतु डमरं विधुरस्थानम्। तथा-घोरा रौद्रा वर्तन्तां च, जयन्तां संग्रामा रणाः। तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शाकटवाहनानि-गन्त्यो यानपात्राणि च। तथा-उपनयनं बालानां कलाग्रहणं,[चोलगं ति] चूलोपनयनं बालकप्रथममुण्डनम, विवाहः पाणिग्रहणं, यज्ञो यागः, अमुष्मिन् भवतु दिवसे। तथा-सुकरणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरद्वाभिमतं, सुमुहूर्तो रौद्रादीनां त्रिंशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः; तस्तत्र। तथा-सुनक्षत्रेषु पुष्यादौ, सुतिथौ च पञ्चानां नन्दादीनामन्यतरस्यामभिमतायाम्। 'अज्ज' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं सौभाग्यपुत्राद्यर्थं वध्वादेर्मज्जनं, मुदितं प्रमोदवत्, बहुखाद्यपेयकलितं प्रभूतमांसमद्याद्युपेतम्। तथा-कौतुकं रक्षादिकं (विण्हावण त्ति) विविधैर्मन्त्रमूत्राभिः संस्कृतजलैः स्नापनकं विस्नापनकं, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः। ततस्ते कुरुत। केषु?, इत्याह-शशिरव्योश्चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहेण राहुलक्षणेन उपराग उपरञ्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरागः। स च विषमाणि च विधुराणि दुःस्वप्नाशिवादीनि,तेषु। किमर्थम्?,इत्याह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य परिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्। प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रतिरूपाणि पिष्टादिमयशिरांसि आत्मशिरोरक्षार्थं यच्छत, चण्डिकादिभ्य इत्यर्थः। तथा दत्त च शीर्षोपहारान् पश्वादिशिरोबलीन्, देवतानामिति गम्यते। विविधौषधिमद्यमांसभक्ष्यान्नपानमाल्यानुलेपनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वलाः, सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम-अङ्गारोपरि क्षेपः,पुष्पफलानि च, तैः समृद्धाः संपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, तान्, दत्त चेति प्रकृतम्। तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत। केन?, प्राणातिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेन। किमर्थम?, इत्याह-विपरीतोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृतिविकाराः, दुःस्वप्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः। असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचाराः,अमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुरितादीनि, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहनननिमित्तमिति। तथा वृत्तिच्छेदं कुरुत,मा दत्त किञ्चिद्दानमिति। तथा-सुष्ठु हत हत,इह तु संभ्रमे द्वित्वम। सुष्ठु छिन्नो भिन्नश्च विवक्षितः कश्चिदिति, एवमुपादिशन्तः। एवंविधं नानाप्रकारम। पाठान्तरं वा-त्रिविधं त्रिप्रकारं,कुर्वन्त्यलीकं, द्रव्यतो नालीकमपि सत्त्वोपघातहेतुत्वाद् भावतोऽलीकमेव। त्रैविध्यमेवाह-मनसा, वाचा,[कम्मुणा य त्ति] कायक्रियया। तदेतावतो यथा क्रियतेऽलीकं,येऽपि तत् कुर्वन्तीत्येतद् द्वारद्वयं मिश्रं परस्परेणोक्तम्।

अथ ये तान् कुर्वन्ति तान् भेदानाह-

अकुसला अणज्जा अलियऽणा अलियधम्मनिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुट्ठा अलियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं, तस्स य अलियस्स फलस्स विवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालबहुदुक्खसंकमं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधकारे भमंति, भीमे दुग्गइवसहिमुवगया ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परवसा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिता फुडितच्छवी-बीभच्छविवरणा, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा निच्छाया लल्लविफलवाया असक्कयमसक्कया अगंधा अचेयणा दुब्भगा अकंता काकस्सरा हीणभिन्नघोसा विहिंसा जमवहिरमूया य मम्मणा अकंतविकंतकरणा णीया णीयजणणिसेविणो लोगगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेसा दुम्मेहा लोगवेदअज्झप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मबुद्धिवियला अलिएण य तेण य मज्झमाणा असंतएणं अवमाणणपिट्ठि-

मंसाहिक्खेवपिसुणभेयणगुरुबंधवसयणमित्तऽवक्खारणाऽऽदियाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावंति अमणोरमाइं हियमणदूमगाइं जावजीव दुद्धराइं अणिट्ठखरफरुसवयणतज्जणणिब्भत्थणदीणवयणविमणा कुभोयणा कुवाससा कुवसहीसु किलिस्संता नेव सुहं नेव निव्वुइं उवलभंति, अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलित्ता, एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति, एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसीमं अलियवयणस्स फलविवागं; एयं तं बितियं पि अलियवयणं लहुस्सगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसातिजोगबहुलं नीयजणनिसेवियं निसंसं अप्पच्चयकारकं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारकं परमकिण्हलेससहियं दुग्गतिविणिवायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयदुरंतं ति बेमि ॥

अकुशला वक्तव्यावक्तव्यविभागानिपुणा अनार्याः पापकर्मणो दूरमयाताः [अलियप त्ति] अलीका आज्ञा आगमो येषां ते तथा, त एवालीकधर्मनिरताः, अलीकासु कथास्वभिरममाणाः । तथा-[तुट्ठा अलियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं ति] अत्र-तुष्टा भवन्ति चालीकं बहुप्रकारं कृत्वा उक्तेत्येवमक्षरघटना कार्येति । तथाऽलीकविपाकप्रतिपादनायाह-[तस्स त्ति] द्वितीयाऽऽस्रवत्वेनोच्यते-तस्याऽलीकस्य फलस्य कर्मणो विपाक उदयः, साध्यमित्यर्थः । तमजानन्तो वर्द्धयन्ति महाभयमविश्रामवेदनां, दीर्घकालबहुदुःखसंकटां, नरकतिर्यग्योनिं, तत्रोत्पादनामित्यर्थः । तेन चालीकेन, तपोजनितकर्म्मणेत्यर्थः । समनुबद्धा अविरहिताः, आदिष्टा आश्लिष्टाः, पुनर्भवान्धकारे भ्राम्यन्ति, भीमे दुर्गतिवसतिमुपगतास्ते च दृश्यन्ते इह जीवलोके । किंभूताः ?, इत्याह-दुर्गता दुःस्थाः, दुरन्ताः दुष्पर्यवसानाः, परवशा अस्वतन्त्राः, अर्थभोगपरिवर्जिताः द्रव्येण भोगैश्च रहिताः, [असुहिय त्ति] असुखिताः, अविद्यमानसुहृदो वा, स्फुटितच्छवयः विपादिकाविचर्चिकादिभिः विकृतत्वचः, बीभत्सा विकृतरूपाः, विवर्णा विरूपवर्णा इति पदत्रयस्य कर्मधारयः । तथा-खरपरुषा अतिकर्कशस्पर्शाः, विरक्ता रतिं क्वचिदप्यप्राप्ताः, ध्यामा अनुज्ज्वलच्छायाः, शुषिरा असारकाया इति पदचतुष्कस्य कर्मधारयः । निष्छायाः विशोभाः, लल्ला अव्यक्ता विफला फलासाधनी वाग्येषां ते तथा । [असक्कयमसक्कय त्ति] न विद्यते संस्कृतं संस्कारो येषां ते असंस्कृता एतादृशा असंस्कृता अविद्यमानसंस्काराः, ततः कर्मधारयः । मकारश्च लाक्षणिकः । अत्यन्तं वा असंस्कृताः । अत एवागन्धाः, अचेतनाः, विशिष्टचैतन्याभावात् । दुर्भगा अनिष्टाः, अकान्ता अकमनीयाः, काकस्येव स्वरो येषां ते काकस्वराः, हीनो ह्रस्वो भिन्नश्च स्फुटितो घोषो येषां ते तथा । (विहिंस त्ति) विहिंसाः, जडाश्च मूर्खाः, बधिरान्धका ये ते तथा । पाठान्तरेण-जडबधिरा मूकाश्च, मन्मना अव्यक्तवाचः, अकान्तानि अकमनीयानि विकृतानि च करणानीन्द्रियाणि कृत्यानि वा येषां ते तथा । वाचनान्तरे-अकृतानि न कृतानि विकृतानि च विरूपतया कृतानि करणानि यैस्ते तथा । नीचा जात्यादिभिः, नीचजननिषेविणो, लोकगर्हणीया इति पदत्रयं व्यक्तम् । भृत्या भर्त्तव्या एव । तथा-असदृशजनस्य असमानशीललोकस्य द्वेष्या द्वेषस्थानं, प्रेष्या वा आदेश्याः, दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः । [लोगेत्यादि] श्रुतशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्-लोकश्रुतिः लोकाभिमतं शास्त्रं भारतादि; वेदश्रुतिः ऋक्सामादि वेदशास्त्रम्; अध्यात्मश्रुतिः चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रं; समयश्रुतिः आर्हतबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रं, ताभिर्वर्जिता ये ते तथा । क एते एवंभूताः ?, इत्याह-नरा मानवाः, धर्मबुद्धिविकलाः प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवादजनितकर्माग्निना, तेन कालान्तरकृतेन, दह्यमानाः [असंतपणं ति] अशान्तकेनानुपशान्तेन असता वा अशान्तत्वेन रागादिप्रवर्तनयेत्यर्थः । अपमाननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमाननं च मानहरणं, पृष्ठमांसं च परोक्षयस्य दूषणाविष्करणम् । अधिक्षेपश्च निन्दाविशेषः, खलैर्भेदनं च-परस्परं प्रेमसम्बद्धयोः प्रेमच्छेदनं, गुरुबान्धवस्वजनमित्राणां सत्कमपकारणं च अपशब्दं कारयमाणं वञ्चनपराजितस्य वा एषामपकरणं, सान्निध्याकरणमित्यर्थः । एतानि आदिर्येषां तानि तदादिकानि । तथा-अभ्याख्यानानि असद्दूषणाभिधानानि बहुविधानि, प्राप्नुवन्ति लभन्ते इति । अनुपमानि । पाठान्तरेण-अमनोरमाणि, हृदयस्य उरसो, मनसश्च चेतसो, [दूमगा इति] दावकान्युपतापकानि तानि तथा । यावज्जीवं दुर्धराणि आजन्माप्यानुद्धरणीयानि, अनिष्टेन खरपरुषेण चातिकठोरेण वचनेन वर्त्तजनम्-रे !, दासपुरुषेण भवितव्यमित्यादि । निर्भर्त्सनम्-अरे दुष्टकर्मकारिन् ! अपसर दृष्टिमार्गादित्यादिरूपं, ताभ्यां दीनं वदनं, [विमण त्ति] विगतं मनो येषां ते तथा । कुभोजनाः, कुवाससः, कुवसतिषु क्लिश्यन्तो, नैव सुखं शारीरं, नैव निर्वृत्तिं मनःस्वास्थ्यम्, उपलभन्ते प्राप्नुवन्ति; अत्यन्तविपुलदुःखशतसंप्रदीप्ताः, तदियता अलीकस्य फलमुक्तम् । 'एसो' इत्यादिना त्वधिकृतद्वारनिगमनमिति । व्याख्या त्वस्य प्रथमाध्ययनपञ्चमद्वारनिगमनवत् । (एयं तं बितियं पि) इत्यादिनाऽध्ययननिगमनम् । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । अपवादपदे-"पढमं विगिंचणट्ठा" आद्यम् अलीकवचनम्, अयोग्यशैक्षस्य विवेचनार्थं वदेत् । बृ० ६ उ० ।

अलुक्खि (ण्)-अरूक्षिन्-त्रि० । अरूक्षस्पर्शसद्भावादरूक्षि । स्निग्धस्पर्शवति, ज० ११ श० ४ उ० ।

अलुद्ध-अलुब्ध-त्रि० । अलम्पटे लोभरहिते, प्रश्न० ५ सम्व० द्वा० । " आराउक्कोसं जो, लदूधूणं तयं न अत्तठे । एस अलुद्धो हारं, ..." ॥ पं० भा० । पञ्चा० ।

अले-अरे-अव्य० । नीचसंबोधने, " अले किं एशे महंदे कलअले " प्रा० ४ पाद ।

अलेव-अलेप-पुं० । अलिप्ततायाम्, प्रव० ४ द्वार । अलेपमध्ये मोअणा नी रोटी खाखरादिकं कल्पते नवेति प्रश्ने-बहुषु ग्रन्थेषु अलेपशब्देन वल्लचणकादिकं व्याख्यातमस्ति, बृहत्कल्पभाष्यवृत्तिमध्ये तु-' मोअणादिरोटीखाखरासाधुउआदु ' इत्यादिकमलेपमध्ये कल्पते इति व्याख्यातमस्ति ४१ । सेन० २ उल्ला० ॥

अलेवकड-अलेपकृत-न० । वल्लचणकादावपिच्छिले द्रव्ये, पिं० । पञ्चा० ।

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउलोदे, संसट्ठायामकट्ठमूलरसे ।
कंजियकडिए लोणे, कुट्टा पिज्जा य निच्छुण्णा ॥
कंजियउदगाविलेवी, ओदणकुम्मासससुए पिट्ठो ।
मंमगसामियोसिओ, कंजियपत्ते अलेवकमे ॥

काञ्जिकमारनालम्,उष्णोदकमुद्वृत्य त्रिदण्डम्, (चाउलोदगं ति) तन्दुलधावनम्,संसृष्टं नाम गोरससंसृष्टे भाजने प्रक्षिप्तं सद् यदुदकं गोरसेन परिणामितम्,आयाममवश्रयणम्, (कट्ठमूलरसे त्ति) काष्ठमूलं चणकवल्लादिद्विदलं, तदीयेन रसेन यत्परिणामितं तत्काष्ठमूलरसं नाम पानकम् । तथा-यत्काञ्जिकक्कथितं, [लोणे त्ति]सलवणं यावत्।कुट्टा खिज्जिनिका,पेया च प्रतीता,निच्छुण्णा-आचेऽपद्रा अवग्धारिता वा । तथा-विलेपिका द्विविधा-एका काञ्जिकविलेपिका, द्वितीया उदकविलेपिका । ओदनस्तन्दुलादिभक्तम्; कुल्माषा उडदाः,राजमाषा वा।सक्तवो भृष्टयवक्षोदरूपाः,पिष्टं मुद्गादिचूर्णं,मण्डकाः सकणिकामयाः,समितम्-अट्टकः,उत्स्विन्नं मुष्टेरकादि, काञ्जिकपत्रं काञ्जिकेन वाष्पितम्-अरणिकादिशाकम्,एतानि काञ्जिकादीन्यलेपकृतानि मन्तव्यानि।बृ० १ उ०।ध०।अलेपकृतपात्रस्य त्ववश्यं कल्पो दातव्यः।ध०३अधि०।

अलेसी–अलेश्यिन्–पुं० । लेश्यारहिते अयोगिनि, सिद्धे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अलोग (य)–अलोक–पुं० । न० त० । धर्मादीनां द्रव्याणां वृत्तिर्भवति यत्र तत्, तादृशक्षेत्रमिह लोकः; तद्विपरीतं त्वलोकाख्यं क्षेत्रम् । आव० ५ अ० । लोकविरुद्धे अनन्ताकाशास्तिकायमात्रे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आ० म० । प्रव० । यत्र क्षेत्रे समवगाढौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, तावत्प्रमाणो लोकः, शेषस्त्वलोकः । जी० १ प्रति० । "एगे अलोए" एकोऽलोकोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ सम० । सु० प्र० ।

लोगस्सऽत्थि विवक्खो, सुद्धत्तणओ घडस्स अघडो व्व ।
स घडाई चेव मई, न निसेहाओ तदणुरूवो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्षः,व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वात् । इह यद् व्युत्पत्तिमता शुद्धपदेनाभिधीयते,तस्य विपक्षो दृष्टः,यथा-घटस्याघटः।यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः। अथ स्यान्मतिर्न लोकोऽलोक इति।योऽलोकस्य विपक्षः स घटादिपदार्थानामन्यतम एव भविष्यति,किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया?। तदेतन्न। पर्युदासनञा निषेध्याभिधेयस्यैवानुरूपोऽत्र विपक्षोऽन्वेषणीयः न-लोकोऽलोक इत्यत्र च लोको निषेध्यः,स चाकाशविशेषः,अतोऽलोकेनापि तदनुरूपेण भवितव्यम्।यथेहापण्डित इत्युक्ते विशिष्टज्ञानविकलश्चेतन एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाचेतनो घटादिः, एवमिहापि लोकानुरूप एवाऽलोको मन्तव्यः । उक्तं च–"नञ्युक्तमिवयुक्तं वा, यद्धि कार्यं विधीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिँल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा" ॥१॥ " नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः " । तल्लोकविपक्षत्वादस्त्यलोक इति । विशे० । प्रेरकः प्राह–" स घडाई चेव मती, " गुरुः प्राह–" न निसेहाओ तदनुरूवो" । स्था० १ ठा० १ उ० । "सिद्धा निगोयजीवा,वणस्सई कालपुग्गला चेव । सव्वमलोगागासं,छप्पेएऽणंतया णेया" प्रव० २५६ द्वार । (अलोके द्रव्यक्षेत्रकालभावाः सन्ति नवेति'अणुओग'

शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४३ पृष्ठे दशमाधिकारे समुक्तम् । किंयानलोक इति तु ' लोग ' शब्दे वक्ष्यते)

अलोभया–अलोभता–स्त्री० । लोभत्यागकरणेऽष्टमे योगसंग्रहे, स० ३२ सम० । प्रश्न० । आव० ।

अलोभतामाह–

साएए पुंडरिए, कंडरिए चेव देवि जसभद्दा ।
सावत्थि अजिअसेणे, कित्तिमई खुड्डगकुमारे ॥ १ ॥
जसभद्दे सिरिकंता, जयसिंघो चेव कण्णपाले अ ।
नट्टविहीपरिओसे, दाणं पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥
सुट्ठु वाइअं सुट्ठु गाइअं,सुट्ठु नच्चिअं सामसुंदरि ! ।
अणुपालिअ दीहराइया–ओ सुमिणंते मा पमायए ॥३॥

अर्थः कथातो ज्ञेयः–

" साकेतं नाम नगरं, पुण्डरीको नरेश्वरः ।
युवराजः कण्डरीको, यशोभद्रा च तत्प्रिया ॥ १ ॥
रक्तस्तां वीक्ष्य दृत्योचे, सा नैच्छद् मारितोऽनुजः ।
नंष्ट्वा सार्थेन तत्पत्नी, श्रावस्तीं नगरीं ययौ ॥ २ ॥
तत्राऽऽचार्योऽजितसेनः, कीर्तिमती महत्तरा ।
तत्र साऽपि प्रवव्राज, धारिणीवत्सदन्तिके ॥ ३ ॥
परं न साऽस्यजत्पुत्रं, किन्तु क्षुल्लमचीकरत् ।
स वयःस्थो व्रतं कर्तुं-मक्षमो जननीं जगौ ॥ ४ ॥
यामीति स्थापितो मात्रो-परोध्य द्वादशाब्दिकाम् ।
एवं महत्तराऽऽचार्यो—पाध्यायैरपि स व्रजन् ॥ ५ ॥
स्थापितोऽस्थाद्दतैः कुल्लो-ऽष्टाचत्वारिंशदब्दिकाम् ।
तथाऽप्यतिष्ठन् प्रैषि मा-ओचे त्वं माऽन्यतो गमः ॥ ६ ॥
साकेते पुण्डरीकस्ते, पितृव्योऽस्ति नृपस्ततः ॥
मुद्रां कम्बलरत्नं चा-ऽऽदाय तत्र व्रजेः सुत ! ॥ ७ ॥
ततोऽस्थाद् यानशालायां, राज्ञः श्वो नृपमीक्षितुम् ।
पूर्वेद्युरभ्यन्तरायां स, प्रैक्षत प्रेक्षणं निशि ॥ ८ ॥
नर्त्तकी तत्र नर्तित्वा, रङ्गेण सकलां निशाम् ।
विभातायां विभावर्यां, निनिद्रासुरजूस्ततः ॥ ९ ॥
तन्माताऽचिन्तयत्पर्ष-त्तोषिता तद्धनं बहु ।
चेत्प्रमादोऽस्या मुधाः स्म-स्ततो गीतिमिमां जगौ ॥ १० ॥
" सुट्ठु वाइयं सुट्ठु गाइयं, सुट्ठु नच्चियं सामसुंदरि ! " इत्यादि ।
अत्रान्तरे स च क्षुल्ल-कुमारो रत्नकम्बलम् ।
युवराजो यशोभद्रो, निर्मलं रत्नकुण्डलम् ॥ ११ ॥
सार्थवाही निजं हारं, राजेभाऽऽरोहकोऽङ्कुशम् ।
मन्त्री च कटकं लक्ष-मूल्यानि निखिलान्यपि ॥ १२ ॥
त्यागं यस्तत्र दत्ते स्म, स समस्तोऽप्यलिख्यत ।
ज्ञात्वा त्यागे कृते राज्ञ-स्तोषो रोषोऽन्यथा पुनः ॥ १३ ॥
सर्वेऽपि प्रातराहूता-, क्षुल्लः पृष्टोऽब्रवीदिदम् ।
यावत्तन्मूलमायातो, राज्यलक्ष्मीसमीहया ॥ १४ ॥
गृहाण राज्यं राज्ञोचे, स नैच्छदिदमूचिवान् ।
व्रतं निर्वाहयिष्यामि, वृद्धो गीत्याऽनयाऽस्म्यहम् ॥ १५ ॥
युवराजोऽवदद्राजा, वृद्धो राज्यं ददाति न ।
मारयित्वा तदादास्ये, इति चिन्ताऽभवन्मम ॥ १६ ॥
ऊचे राजाऽधुनाऽप्येतद्, गृह्यतां सोऽपि नैहत ।
सार्थवाही जगौ पत्यु-र्गतस्य द्वादशाब्द्यभूत् ॥ १७ ॥

ततोऽन्याऽऽनयनेच्छातः, श्रुत्वा गीतिमिमां स्थिता ।
मन्यूचेऽन्यनृपैः सार्द्धं, घटनातः स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥
प्रत्यन्तराजभिर्मिथ्रः, प्रोक्तो हस्तिनमानय ।
यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्तं गीतिकाश्रुतेः ॥ १९ ॥
अस्मत्कुलेऽनया गीतं, किमेतेति प्रतिबोधतः ।
दत्तोऽस्माभिः प्रभो ! त्याग-स्तुष्टः सर्वेषु भूपतिः ॥ २० ॥
सर्वे क्षुल्लकुमारस्य, मार्गलग्नाः प्रवव्रजुः ।
अलोभतैवं कर्त्तव्या, सर्वैरपि महात्मभिः" ॥ २१ ॥ आ० क० ।

अलोल-अलोल-त्रि० । अलुब्धे, नि० चू० १० उ० । अप्राप्तप्रार्थनाऽतत्परे, दश० १० अ० ।

अलोलुप-अलोलुप-पुं० । सरसाहारादिलाम्पट्यरहिते, उत्त० २ अ० ।

अल्ल-आर्द्र-त्रि० । जलसंपृक्ते, "अल्लं चम्मं दुरुहइ" । आर्द्रं चर्माधिरोहति । ज्ञा० १२ अ० ।

अल्लईकुसुम-अल्लकीकुसुम-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे गुच्छविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । जं० । रा० ।

अल्लकच्चूर-आर्द्रकच्चूर-पुं० । तिक्तद्रव्यविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अल्लग-आर्द्रक-न० । शृङ्गवेरे, (आदा इति ख्याते) ध० २ अधि० । प्रव० । जं० ।

अल्लत्थ-उत्-क्षिप्-धा० । ऊर्ध्वक्षेपे, " उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवाः" । ८ । ४ । १४३ । अल्लत्थइ-उत्क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

अल्लमुत्था-आर्द्रमुस्ता-स्त्री० । (नागरमोथा इति ख्याते) आर्द्राऽवस्थे गन्धप्रधाने वनस्पतिमूले, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

अल्लावपुर-न० । अल्लावुदीननिवासिते म्लेच्छदेशस्थे नगरभेदे, यत्र गत्वा श्रीजिनप्रभसूरिभिर्म्लेच्छाः प्रतिबोधिताः । " पत्ता रायभूमिमंडणं सिरिअल्लावपुरदुग्गं " । ती० ४७ कल्प ।

अल्लावुदीणसुरत्ताण-अल्लावुद्दीनसुल्तान-पार० श० । वैक्रमवत्सराणां द्वादशशतकादौ गुर्जरधरित्र्युपद्रावके तत्कालिकराजजेतरि यवनराजे, ती० २६ कल्प ।

अल्लिअ-उप-सृप्-धा० । समीपगमने, " उपसर्पेरल्लिअः " । ८ । ४ । १३९ । उपपूर्वस्य सृपेः कृतगुणस्य 'अल्लिअ' इत्यादेशः । अल्लिअइ-उपसर्पति । प्रा० ४ पाद । " तस्स सरणमल्लियइ " । दश० १ उ० ।

अल्लियावणबंध-आलापनबन्ध-पुं० । द्रव्यस्य द्रव्यान्तरेण श्लेषादिनाऽऽलीनकरणरूपे बन्धे, "से किं तं अल्लियावणबंधे ? । अल्लियावणबंधे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-लेसणाबंधे, उच्चयबंधे, समुच्चयबंधे, साहणणाबंधे " । भ० ८ श० ९ उ० । (चतुर्णामेषां व्याख्या स्वस्वस्थाने प्रदर्शयिष्यते)

अल्लियावणवंदणय-आलायनवन्दनक-न० । आचार्यादीनामाश्रयणाय प्रतिक्रमणान्ते ज्येष्ठानुक्रमेण वन्दने. आव० ४ अ० ।

अल्लिव-अर्पि-अ-णिच्-पुक् । प्रदाने, " अर्पेरल्लिवचच्चुप्पपणामाः " । ८ । ४ । ३९ । इत्यर्पेर्ण्यन्तस्य अल्लिवादेशः । अल्लिवइ-अर्पयति । प्रा० ४ पाद ।

अल्ली-आ-ली-धा० । आत्म० प० । आश्रयणे, " आलीङोऽल्ली " । ८ । ४ । ५४ । इत्यालीयतेरल्लीत्यादेशः । अल्लीअइ-आलीयते । प्रा० ४ पाद ।

अल्लीउं-आलीतुम्-अव्य० । आश्रयितुमित्यर्थे, बृ० १ उ० ।

अल्लीण-आलीन-त्रि० । आ-ईषद् लीनः । लीनः । आश्रिते, आतु० । कल्प० । प्रति० । ज्ञा० । गुरुसमाश्रिते संलीने, आ समन्तात्सर्वासु क्रियासु लीनो गुप्तः । अनुल्बणचेष्टाकारिणि, औ० । प्रति । सं० । गुरुजनमाश्रितेऽनुवासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापद्यमाने, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । ज्ञानादिष्वासमन्ताल्लीने, व्य० १० उ० ।

अल्लीणपल्लीणगुत्त-आलीनप्रलीनगुप्त-त्रि० । अङ्गोपाङ्गानि सम्यक्संयमयति, दश० ८ अ० ।

अव-अव-अव्य० । आधिक्ये, स० १ सम० । अधःशब्दार्थे, प्रव० २१६ द्वार । विशे० । आ० म० । प्रज्ञा० । नं० । अवनमवः "तुदादिभ्यो न क्वौ" इत्यधिकारे "अकितो वा" (उणा-) इत्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० प्र० । विशे० । स्था० ।

अवअक्ख-दृश्-धा० । प्रेक्षणे, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौअक्खावक्खाऽवअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निआऽवआस-पासाः" । ८ । ४ । १८१ । इतिसूत्रेण दृशेः 'अवअक्ख' आदेशः । अवअक्खइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवअक्खिअ-देशी-निवापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-देशी-कक्षावले, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-ह्लादि-धा० । आह्लादोत्पादने, " ह्लादेरवअच्छः " ८ । ४ । १२२ । ह्लादतेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च 'अवअच्छ' इत्यादेशः । अवअच्छइ-ह्लादयति । प्रा० ४ पाद ।

अवअच्छिअ-देशी-निवापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअणिअ-देशी-असंघटिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अवआस-दृश्-धा० । " दृशो निअच्छ०-" । ८ । ४ । १८१ । इत्यादिना सूत्रेण दृशेः 'अवआस' इत्यादेशः । अवआसइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवइ-अव्रतिन्-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, बृ० १ उ० ।

अवउज्जिय-अवकुब्ज्य-अव्य० । अधोऽवनम्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अवउज्झिऊण-अपोह्य-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, " अवउज्झिऊण इही " । बृ० ३ उ० ।

अवउडग-अवकोटक-न० । कृकाटिकाया अधोनयने, विपा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० ।

अवउडगबंधण-अवकोटकबन्धन-त्रि० । अवकोटकेन कृकाटिकाया अधोनयनेन बन्धनं यस्य स तथा । ग्रीवायाः पश्चाद्भागनयनेन बद्धे, विपा० १ श्रु० २ अ० । बाहुशिरसां पृष्ठदेशे बन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अवऊसणग-अपवसनक-अवजोषणक-न० । तपोविशेषसेवायाम्, पञ्चा० ११ विव० ।

अवंक-अवक्र-पुं० । वक्रोऽसंयतः, न वक्रोऽवक्रः संयते विरते, व्य० १ उ० । सर्वोपाधिशुद्धे ऋजौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपान्ते, अं० १ वक्ष०। ज्ञा०। आचा०।

अवंगुयदुवार-अपावृतद्वार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृहद्वारे, "अवंगुयदुवारा" सद्दर्शनलाभेन कुतोऽपि पाखण्डिकाद् बिभ्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरसस्तिष्ठन्तीति भाव इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः-भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्याद्स्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः । भ० २ श० ५ उ० । दशा० । औ० । उद्घाटितद्वारे, न० । बृ० १ उ० । रा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । पराऽव्यसनहेतौ, " अवंचिगा किरिया" । अवञ्चिका परव्यसनहेतुः क्रिया मनोवाक्कायव्यापाररूपेति द्वितीयमृजुव्यवहारलक्षणम् । ध० र० । ध० ।

अवंचकजोग-अवञ्चकयोग-पुं० । वञ्चकत्वविकले योगे, षो० । अवञ्चकयोगाश्च त्रयः। तद्यथा-सद्योगाऽवञ्चकः, क्रियाऽवञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्स्वरूपं चेदम्-

"सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योगः, आद्योऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्या-न्महापापक्षयोदयः ॥ २ ॥
फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता " ॥ ३ ॥ षो० ८ विव० ।

अवंजणजाय-अव्यञ्जनजात-त्रि० । व्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य० १० उ० ।

अवंजणिज्ज-अवन्द्य-त्रि० । निष्कारणे वन्दनानर्हे, यथा-" पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो । अहछंदो वि य एए, अवंजणिज्जा जिणमयम्मि " । ध० २ अधि० ।

अवंतरसामन्न-अवान्तरसामान्य-न० । द्रव्यत्वकर्मत्वादौ-सत्ताघटकापरसत्तायाम्, आ० म० द्वि० ।

अवंतिवद्धण-अवन्तिवर्द्धन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपालकराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

अवंतिसुकुमाल-अवन्तिसुकुमार-पुं० । भद्राश्रेष्ठिनीपुत्रे, दर्श० । " उज्जेणीए नयरीए जीवंतसामिपडिमाए वंदणट्ठा अज्जसुहत्थिणामेण सूरिवरा पज्जुवासणत्थं उज्जाणे समोसढे । भणिया य साहुणो-जहा वसहिं मग्गह । ततो साहुणो विहरमाणा गया भद्दाए सेट्ठिणीए घरे । तीए वि वंदिऊण पुच्छिया-जहा कओ भयवंताणं आगमणं ? । तेहिं सिट्ठं-देसंतराओ अज्जसुहत्थिसूरिसंतिया वसहिं जाएमो । ताए वि हट्ठतुट्ठाए जाणसाला दरिसिया । अन्नया आयरिया पढुरवाणीए नलिणिगुम्मं नाम अज्झयणं परियत्तंति । तीसे पुत्तोऽवंतिसुकुमालो णाम । सो वि देवकुमारोवमो सत्ततले पासायवराओ बत्तीसाए भज्जाहिं समं दोगुंदुगो व्व देवो ललइ । तेण वि सुत्तविबुद्धेण निस्सुयं । चिंतियं च-न एयं नाडयसरसं ति सत्तओ उवरिभूमीओ भूमी संपहारेइ, कत्थमन्ने एए एरिसं सुयमणुभूयपुव्वं । एवं ईहापोहमग्गेणं गवेसणं कुणंतस्स भवियव्वयावसेण तयाऽऽवरणिज्जकम्मक्खओवसमेणं जाइसरणं संपत्तो । तओ य आयरियाणं पायमूले वंदिऊण भणियं-भयवं ! एवं सव्वं मज्झ चरियं-अहं तत्थ देवो आसि, ता संपयं देहि वयं, उस्सुगोऽहं तिमि वासस्स । सूरीहिं भणइ-चेठ ताव जाव पभाए मायरं ते पुच्छामो । ततो तेण सयमेव लोओ काउं पयट्टो । सूरीहिं चिंतियं-मा एस सयं गिहीयलिंगो होउ त्ति कहिउं से समप्पिओ वेसो, दिक्खा दिक्खा । ततो निवडिऊण चलणेसु भणितो-असमत्थोऽहं दीहकालपरियायपरिवालणस्स, ता संपयं चेव अणसणं काऊण इंगिणिं करेमि । ततो एएण अणुण्णाणविओ नीहरिउ मसाणाओ पत्तो कंथारिकुडंगिसमीवे, इंगियं एस काऊण ठिओ काउस्सग्गेणं । अइसुकुमारयाए सरीरस्स धरणीतलफाससंजायरुहिरप्पवाहेण समागया सियाली सह सच्चेहिं पिल्लएहिं । ततो एगं जंघं सियालीए खाइयं; बीयं पिल्लएहिं पढमजामे, एवं ऊरू बिइयजामे, तइयजामे पेट्टं, एवं सो भयवं तं वेयणं सम्ममहियासिऊण तइयजामे समाहीए कालं काऊण गतो तम्मि चेव विमाणे । ततो समागया पच्चासन्नदेवा, मुक्कं गंधोदयं कुसुमवरिसं, आहयाओ देवदुंदुहीओ, उग्घुट्ठं च हरिसभरनिब्भरेहिं-अहो ! एस महाकालो । घरे य से भज्जाणं परोप्परं समालोओ जाओ, तेसिं सिट्ठं-उट्ठो कत्थ वि गओ । ततो य से जहा पुच्छिया । तीए वि समाचलमणाए सूरीहिं सव्वं साहियं । ततो पभायाए रयणीए सन्निट्ठीए नीहरिया भद्दा, सह सव्वसुण्हाहिं सुसाणं पत्ता । दिट्ठं च कुडंगाओ नेरइयदिसाए आसयट्ठियं कलेवरं । ततो सोयभरविउरिया उम्मुक्ककंठं अणेगपलावगेणं तहा रोइयं जहा वसीणं वि य तुज्जंति हिययाइं । ततो कहमवि संठविया सयणवग्गेणं, गया य सिप्पाए नईए तमे, कयं तत्थ संकुरणं, पच्चालोइयाकिच्चाणि, आयवणाणि य काराविऊण भद्दाए अइसंवेगाओ सह सुण्हाहिं गहिया पव्वज्जा । एगा उण गुव्विणि त्ति काऊण ठिया घरे । जातो पुत्तो । तेण पिउमरणगाणे काराविया पिउपडिमा, समुग्घोसियं महाकालो त्ति नामेण आययणं । तं च संपयं लोएहिं परिग्गहियं महाकालो त्ति विक्खायं । अवन्तिसुकुमारकथानकं समाप्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवंतिसेण-अवन्तिसेन-पुं० । चण्डप्रद्योतपौत्रे पालकस्य राज्ञः पुत्रे, आ० क० । (' अणायया ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४७४ पृष्ठेऽस्य कथोक्ता)

अवंती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिबद्धे जनपदविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवंतीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । गोशालकमतप्रसिद्धे कालविशेषे,"एगा अवंतीगंगा सत्त अवंतीगंगाओ, सा एगा परमाऽवंतीगंगा " । भ० १५ श० १ उ० ।

अवंदिम-अवन्द्य-त्रि० । वन्दनानर्हे, " पच्छा होइ अवंदिमो " । दश० १ चू० ।

अवकंखमाण-अवकाङ्क्षत्-त्रि० । पश्चाद्भागमवलोकयति, ज्ञा० ६ अ० ।

अवकंखा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । सूत्र० । औत्सुक्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवकारि (ण्)-अपकारिन्-त्रि० । अपकारकरणशीले, हा० २६ अष्ट० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

अवकिरियव्व-अवकिरणीय-न० । विक्षेपणीये त्याज्ये, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अवक्कंत–अपक्रान्त–त्रि० । सर्वशुभभावेभ्योऽपगते भ्रष्टे, तद्भ्येभ्योऽतिनिकृष्टे अपक्रमणीये, " जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए ड अवक्कंतमहानिरया पएणत्ता । तं जहा–लोले, लोलुए, उद्दड्डे, निद्दड्डे, जरए, पज्जरए । चउत्थीए णं पंकप्पभाए पुढवीए ड अवक्कंतमहाणिरया पएणत्ता । तं जहा–आरे, वारे, मारे, रोरे, रोरुए, खाडखडे " । स्था० ६ ठा० ।

अव्युत्क्रान्त–त्रि० । न व्युत्क्रान्तमव्युत्क्रान्तम् । सचेतने, मिश्रे च । नि० चू० १७ उ० ।

अवक्कंति–अपक्रान्ति–स्त्री० । गमने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । परित्यागे, ज्ञा० ७ अ० ।

अवक्कमण–अपक्रमण–न० । विनिर्गमे, स्था० ७ ठा० । आचा० । अपसर्पणे, दशा० १ अ० । अपसरणे, भ० १५ श० १ उ० । ज्ञा० । " निग्गमणमवक्कमणं, निस्सरणं पलायणं य एगट्ठा " । व्य० १० उ० ।

अवक्कमित्ता–अवक्रम्य–अव्य० । गत्वेत्यर्थे, दशा० ५ अ० १ सू० ।

अवक्कम्म–अवक्रम्य–अव्य० । विनिर्गत्येत्यर्थे, व्य० १ उ० । सू० ।

अवक्कय–अवक्रय–पुं० । भाटकप्रदाने, सू० १ उ० ।

अवक्कास–अप (व) कर्ष–पुं० । अपकर्षणमवकर्षणं वा अप-[व] कर्षः । अभिमानादात्मनः परस्य वा क्रियारम्भात्कुतोऽपि व्यावर्त्तने, भ० १२ श० ५ उ० ।

अपकाश–पुं० । अभिमानादान्ध्ये, भ० १२ श० ५ उ० । तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स० १२ सम० ।

अवक्खंद–अवस्कन्द–पुं० । अव-स्कन्द-आधारे घञ् । जिगीषूणां सैन्यनिवेशस्थाने शिबिरे, आक्रमणे, भावे घञ् । वाच० । "ष्कस्कयोर्नाम्नि" । ८ । २ । ४ । इति स्कस्य खः । प्रा० २ पाद ।

अवक्खक्कण–अवष्वष्कण–न० । पश्चाद् गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवक्खारण–अपक्षारण–न० । अपशब्दकारणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अपक्षरण–न० । साश्लिष्याकरणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अवक्खेवण–अवक्षेपण–न० । अव-क्षिप्-भा०-ल्युट् । अधःस्थानसंयोगहेतौ, क्रियाविशेषे अधःपातने च । आ० म० द्वि० ।

अवगंडसुक्क–अपगण्डशुक्ल–त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य तदपगतगण्डम्, तद्वच्छुक्लम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्ले, यदि वा गण्डमुदकफेनम्, तद्वच्छुक्लम् । उदकफेनतुल्यशुभ्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ॥

अवगणियजवदंम–अपकर्णितजवदण्ड–त्रि० । अवधीरितसंसारजये, जीवा० १ अधि० ।

अवगम–अपगम–पुं० । विनाशे, विशे० ।

अवगम–पुं० । विनिश्चये, विशे० ।

अवगय–अवगत–त्रि० । "अवापोते च" । ७ । १ । १७२ । इत्यस्य कश्चिदप्रवृत्तेर्न ओत् । प्रा० १ पाद । अवधारिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सम्यगवबुद्धे, " अवगयपत्तसरूवे " अवगतं सम्यगवबुद्धं पात्रस्य श्रावणीयस्य प्राणिनः स्वरूपमात्रं येन सोऽवगतपात्रस्वरूपः । ध० र० ।

अवगयवेय–अपगतवेद–त्रि० । क्षपितवेदे, प्रव० २६१ द्वार ।

अवगाढ–अवगाढ–त्रि० । आश्रिते, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अवगाढगाढ-गाढावगाढ-त्रि० । अधोऽध्यासे, " अवगाढगाढसिरीए अतीव उवसोभेमाणा उवसोभेमाणा चिट्ठंति " । गाढं बाढमवगाढास्तैरेव सकलक्रीडास्थानपरिभोगनिहितमनोभिरधोऽपि व्याप्ताः, गाढावगाढा इति वाच्ये, प्राकृतत्वादवगाढगाढाः । इह च देवत्वयोग्यस्य जीवस्याभिधानेन तद्योग्यः सामर्थ्यादवसीयत एवेति । ज० १ श० १ उ० ।

अवगार-अपकार-पुं० । विरूपाचरणे, "अपकारसमेन कर्मणा, न नरस्तुष्टिमुपैति शक्तिमान् । अधिकां कुरुते हि यातनां, द्विषतां यातमशेषमुद्धरेत" १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अवगास-अवकाश–पुं० । गमनादिचेष्टास्थाने, आव० ६ अ० । " ततो लद्धावगासो सयं बुद्धो भणइ " । आ० म० प्र० । अवस्थाने, स्था० ४ ठा० ३ उ० । उत्पत्तिस्थाने, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अवगाह-अवगाह-पुं० अवकाशे, उत्त० २८ अ० ।

अवगाहणा–अवगाहना–स्त्री० । जीवादीनामाश्रये, देहे च । स्था० ४ ठा० ३ उ० । (कस्य कीदृगवगाहनेति ' ओगाहणा ' शब्दे तृतीयभागे ७६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अवगाहणागुण–अवगाहनागुण–पुं० । अवगाहना जीवादीनामाश्रयो गुणः कार्यं यस्य सः । तस्या या गुण उपकारो यस्मात् सोऽवगाहनागुणः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । जीवादीनामवकाशहेतौ बदराणां कुण्डम इवाकाशास्तिकाये, भ० २ श० १० उ० ।

अवगिज्झिय-अवगृह्य-अव्य० । उद्दिश्येत्यर्थे, कल्प० ९ क्ष० ।

अवगुण-अवगुण–पुं० । दुर्गुणे, "अवगुण कवण मुएण । " प्रा० ४ पाद सू० ३९५ ॥

अवगुणंत–अवगुणत्-त्रि । अपावृण्वति, भ० १५ श० १ उ० ।

अवगूढ-अवगूढ-त्रि० । व्याप्ते, ज्ञा० ७ अ० ।

अवग्गबोहि-अपग्रबोधि-पुं० । समीपगतबोधौ सुलभबोधौ, प्रति० ।

अवग्गह–अवग्रह–पुं० । अवग्रहणमवग्रहः । इन्द्रियानिन्द्रियनिबन्धने सांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रकारचतुष्टयान्यतमे, रत्ना० ।

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ॥ ७ ॥

विषयः सामान्यविशेषात्मकोऽर्थः, विषयी चक्षुरादिः, तयोः समीचीनो भ्रान्त्याद्यजनकत्वेनानुकूलो निपातो योग्यदेशाद्यवस्थानं, तस्मादनन्तरं समुद्भूतमुत्पन्नं यत्सत्तामात्रगोचरं निःशेषविशेषवैमुख्येन सन्मात्रविषयं दर्शनं निराकारो बोधः, तस्माज्जातमाद्यं सत्त्वसामान्यादवान्तरैः सामान्याकारैर्मनुष्यत्वादिभिर्जातिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद् ग्रहणं ज्ञानं तदवग्रह इति नाम्ना गीयते । रत्ना० २ परि० । आव० । प्रज्ञा० । स्था० । योनिद्वारे, प्रव० ३० द्वार । अवगृह्णाति इति अवग्रहः । उपधौ, ओघ० । (अवग्रहभेदादिः ' उग्गह ' शब्दे द्वितीयभागे ६९७ पृष्ठे वक्ष्यते)

अवचय--अपचय-पुं० । अपचये, अनु० । दश० । सूत्र० । देशतोऽपगमे, भ० ११ श० ११ उ० । क्षयोपगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अवचिय--अपचित--त्रि० । शोषिते, तन्दु० २५ अ० । जीवप्रदेशैर्विरहिते, अनु० ।

अवचियमंससोणिय--अपचितमांसशोणित-न० । शोषितमांसरुधिरे, तन्दु० २५ अ० ।

अवचुल्ली--अवचुल्ली--स्त्री० । चुल्ल्या अव पश्चाद् अवचुल्ली । राजदन्तादित्वादवशब्दस्य पूर्वनिपातः । अवहके, पिं० ।

अवच्च--अपत्य--न० । न पतन्ति यस्मिन्नुत्पन्ने दुर्गतौ अयशःपङ्के वा पूर्वजास्तदपत्यम्। पुत्रादौ, कल्प० ८ क्ष० । पुत्रे, पुत्र्यां च । आव० १ अ० । संयत्या अपत्ये जनिते आजवनव्यवहारः व्य० ।

सांप्रतमन्यं व्यवहारमुपदर्शयति-

अहवा अण्णसकुला, पडिभज्जिउकाम समणसमणीओ ।
अणुसट्ठा पर ण ठिया, करेंति वायंति-ववहारं ॥

अथवेति व्यवहारस्य प्रकारान्तरोपदर्शने । श्रमणः श्रमणी चेति द्वावप्यन्यान्यकुलौ; अन्यकुलः श्रमणः, अन्यकुला श्रमणी, प्रतिभङ्क्तुकामौ प्रतिपतितुकामौ, स्वस्वाचार्येण च तौ प्रभूतमनुशिष्टौ, परं न स्थितौ स्वस्वकुलममत्वेन वागन्तिकव्यवहारं वागेवान्तः परिसमाप्तिर्वागन्तः, तत्र भवो वागन्तिकः; स चासौ व्यवहारश्च, तं कुरुतः । तद्यथा-यानि अस्माकमपत्यानि जनिष्यन्ते तेषां मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वास्तव । अथवाऽश्रमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वास्तव। यदि चेवं भणति-सर्वाण्यपत्यानि तव,अथवा-सर्वाण्यपत्यानि ममेति,तयोः संसारे स्थित्वा पुनः प्रव्रज्यां प्रत्युपस्थितयोर्यदेव वागन्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तयोः संभवति।

अह न कतो तो पच्छा, तेसिं अब्भुट्ठियाण ववहारो।
गोणीआसुब्भामिग-कुडुंबि खरए य खरिया य ॥

अथ न कृतः पूर्वं वागन्तिको व्यवहारः, पश्चात्तयोः प्रव्रज्यामभ्युत्थितयोः स्वस्वकुलममत्वेन व्यवहारो भण्डनमभूत्। तत्र संयतीकुलसत्काः गोदृष्टान्तमुद्भ्रामिकादृष्टान्तं खरकखरिकादृष्टान्तं चान्तराऽन्तरोपन्यस्यन्ति । संयतकुलसत्काः-अश्वदृष्टान्तं, कौटुम्बिकदृष्टान्तं च।

अथ चेयमन्या दृष्टान्तपरिपाटी—

गोणीणं संगिल्लं, उब्भामइला य नीयपरदेसं ।
तत्तो खेत्ते देवी, रण्णो अभिसेयणे चेव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिल्लं समुदायं दृष्टान्तीकुर्वन्ति। तदनन्तरं संयतसकुलकाः या उद्भ्रामिका परदेशं नीता,तां दृष्टान्तीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतीसकुलकाः क्षेत्रे बीजम् । ततः संयतकुलकाः देवीं राज्ञोऽभिषेचनं चैवेति।

तत्र भण्डने जाते यथा संयतीसकुलका गोदृष्टान्तं कुर्वन्ति तथा प्रतिपादयति—

संजइइत्त जणंती,-संमे अण्णस्स जं तु गोणीए ।
जायति तं गोणिवइ-स्स होति एवऽम्ह पयाइं ॥

(संजइइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलकाः ब्रुवते-अन्यस्य सत्केन

षण्ढेन यद् गोर्जायतेऽपत्यं तत् सर्वं गोपतेर्गोस्वामिनो भवति, न षण्ढस्वामिनः । एवमनेनैव दृष्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपत्यान्याभवन्ति, न युष्माकमिति ।

एवमुक्ते—

बेंतियरे अम्हं तू, जइ वडवाए अ अण्णआसेणं ।
जं जायति मोल्ले नो, दिन्ने तं अस्सियस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका ब्रुवते-अस्माकमेतान्यपत्यानि भवन्ति,यथा-मूल्ये अदत्ते यदन्येनान्यसत्केनाश्वेन वडवाया जायतेऽपत्यं तद् आश्विकस्यैव-अश्वस्वामिन एव; व्यावहारिकैरेवमेव व्यवहारनिश्चयात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते—

जस्स महिलाए जायति, उब्भामइलाएँ तस्स तं होइ ।
संजइइत्त जणंती, इयरो बेंती इमं सुणसु ॥

यस्य महेलाया जायायाः, उद्भ्रामिलायाः स्वैरिण्याः, जायते सुतः परतश्च तस्य तत्सर्वमाभवति; एवमस्माकमपि, इति (संजइइत्ता) संयतीसत्काः समानकुलका भणन्ति । इतरे ब्रुवन्ते-इदं वक्ष्यमाणमुद्भ्रामिककौटुम्बिककृतं शृणुत-

तेणं कुडुंबिएणं, उब्भामइलेण दोएह्व वी दंमो ।
दिन्नो सा वि य तस्सा, जाया एवऽम्ह पयाइं ॥

येन स्वैरिण्या अपत्यानि जनितानि तेन कौटुम्बिकेन उद्भ्रामिलेन राजकुले गत्वा कथितम्-यथाऽहं देव ! तस्याः सर्वं भोगभरं वहामि स्म, सोऽपि च तत्पतिर्मदीयेन भोगभरेण निर्व्यूढवान्, तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपत्यानि दापयतेति। तत एवमुक्ते राजा कुपितः,तथा-भोगभरसंवाददर्शनत एवमिमावपत्याय कारणाविति द्वावपि सर्वस्वापहरणतो दण्डितवान् । तथा चाह-द्वयोरपि दण्डो दत्तो, दापित इत्यर्थः । सा चापत्यापहरणतोऽनन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमेतान्यपीति ।

पुणरवि य संजइत्ता, बेंति खरियाएँ अण्णखरएण ।
जं जायति खरियाहिव-तिस्स होंति एवऽम्ह पयाइं ॥

पुनरपि संयतीसत्का ब्रुवते—खरिकायां गर्दभ्यामन्यखरकेण अन्यसत्केन गर्दभेन,यद् जायते तत्सर्वं खरिकाधिपतेर्भवति;एवमस्माकमप्येतानीति । तदेवं प्रथमदृष्टान्तपरिपाटी भाविता ॥

संप्रति द्वितीयां विभावयिषुः प्रथमतो गोवर्गदृष्टान्तं भावयति-

गोणीणं संगिल्लो, नट्ठ अडवीएँ अण्णगोणेणं ।
जायाइँ वच्छगाइं, गोणाहिवतीओ गेण्हंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिल्लः समुदायो नष्टोऽटव्यां पतितः, तत्र च तस्यान्यगवेनान्यसत्केन पुङ्गवेन,जातानि वत्सकानि वत्सरूपाणि तानि, गवेषणतः कथमपि गवां लाभे गवाधिपतयः स्त्रीगवीस्वामिनो गृह्णन्ति, न पुङ्गवस्वामिनः। एवमेतान्यप्यस्माकमिति।

एवमुक्ते संयतसत्का उद्भ्रामिकादृष्टान्तं पूर्वोक्तमुपन्यस्यन्ति, तथा चाऽऽह—

उब्भामिय पुव्वुत्ता, अहवा नीया उ जा परविदेसं ।
तस्सेव सा आभवती, एवं अम्हं तु आभवति ॥

उद्भ्रामिका पूर्वमुक्ता। यथा-सापत्या तस्य जाता। अथवा या

एरं विदेशं नीता सा तस्यैवाजवति, पश्चादपि नान्यस्य । एवमेतान्यपत्यान्येषा चाऽस्माकमाजवतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे जणंति बीयं, तुब्भं तं नीयमन्नखेत्तं तु ।
तं होइ खेत्तियस्सा, एवं अम्हं तु एयाइं ॥

इतरे संयतीसत्का भणन्ति-बीजं युष्मदीयं तत्कालक्षेत्रसादृश्यविप्रलम्भतः कथमपि वापकैरन्यत् क्षेत्रं नीतम्; अन्यत्र क्षेत्रे उप्तमित्यर्थः । तद् लोके क्षेत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्माकमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रण्णो धूयाओ खलु, न माउछंदाउ ताउ दिज्जंति ।
न वि पुत्तो अभिसिज्जइ, तासिं छंदेण एवऽम्हं ॥

न खलु यथा राज्ञो दुहितरः ता मातृच्छन्दतो मातृणामभिप्रायेण, दीयन्ते; नापि पुत्रोऽभिषिच्यते तासां मातॄणां छन्देनाभिप्रायेण । किन्तु राज्ञः स्वाभिप्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वं राज्ञ आयत्तम्, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वं पुरुषस्यायत्तमतः सर्वमस्माकमाजवति ।

एवं व्यवहारे वर्त्तमाने श्रुतधर आचार्यो व्यवहारं छेत्तुकाम इदमाह-

एमादिउत्तरोत्तर-दिट्ठंता बहुविहा न उ पमाणं ।
पुरिसोत्तरिओ धम्मो, होइ पमाणं पवयणे तु ॥

एवमाद्य उत्तरोत्तरदृष्टान्ता बहुविधा अभिधीयमाना न प्रमाणम्, किन्तु प्रवचने पुरुषोत्तरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् । अतः सर्वं पुरुषा लभन्ते, नेतरे इति । व्य० ४ उ० ।

अवच्चामेलिय-अव्यत्याम्रेडित-न० । एकस्मिन्नेव शास्त्रेऽन्यान्यस्थाननिबद्धान्येकार्थानि सूत्राण्येकत्र स्थाने समानीय पठतो व्यत्याम्रेडितम् । अथवा-आचारादिसूत्रमध्ये मतिचर्चितानि तत्सदृशानि सूत्राणि कृत्वा प्रक्षिपतो व्यत्याम्रेडितम् । अस्थानविरतिकं वा व्यत्याम्रेडितं,न तथाऽव्यत्याम्रेडितम् । व्यत्याम्रेडितदोषरहिते सूत्रगुणे, अनु० । ग० । विशे० । पं० चू० ।

अवच्छलत्त-अवत्सलत्व-न० अवात्सल्यकरणे, व्य० १ उ० ।

अवच्छेय-अवच्छेद-पुं० । विभागेंऽशे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अवजाणमाण-अवजानान-त्रि० । अपलपति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अवजाय-अपजात-पुं० । अप इत्यपशब्दो हीनः पितुः सम्पदो जातोऽपजातः । पितुः सकाशादीषद्धीनगुणे पुत्रभेदे, यथाऽऽदित्ययशाः, भरतापेक्षया तस्य हीनत्वात् । स्था०४ ठा० १ उ० ॥

अवजुय-अवयुत-त्रि० । पृथग्भूते, व्य० ७ उ० । पृथग्भावे, नि० चू० १६ उ० ।

अवज्ज-अवद्य-न० "अवद्यपण्य०" । ३ । १ । १०१ । इत्यादिना (पाणि०) सूत्रेण निपातः । "द्यय्यर्यां जः" । ८ । २ । २४ । इति द्यस्य ज्जः प्रा० २ पाद । पापे, आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० । सूत्र० । विशे० । आचा० । निर्दोषे, उत्त० ६ अ० । बृ० । संथा० । मिथ्यात्वकषायलक्षणे, आ० म० प्र० । गर्ह्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । विशे० । "कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहाइणो व चत्तारि" । कर्मानुष्ठानमवद्यं भण्यते । किमविशेषेण ?, नेत्याह-यद् गर्हितं निन्द्यम्, अथवा क्रोधादयश्चत्वारोऽवद्यं, तेषां सर्वावद्यहेतुतया कारणे कार्योपचारात् । आ० म० द्वि० । भ० ॥

अवज्जकर-अवद्यकर-पुं० । अवद्यं पापं तत्करणशीलः । पापिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीरु-अवद्यभीरु-त्रि० । पापभीरौ, ओघ० । पापाऽशङ्किते, बृ० ३ उ० ।

अवज्झाण-अपध्यान-न० । अप्रशस्तं ध्यानमपध्यानम् । आर्त्तादिध्याने, औ० । पापकर्मोपदेशे हिंस्रकार्पणे, ध०२अधि० । इह देवदत्तश्रावककोङ्कणसाधुप्रभृतय उदाहरणानि । आव० ६ अ० ।

अवज्झाणया-अपध्यानता-स्त्री० । आर्त्तरौद्राद्विध्यायित्वे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ॥

अवज्झाणायरिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानमार्त्तरौद्ररूपं तेनाचरित आसेवितो योऽनर्थदण्डः स तथा । अनर्थदण्डभेदे, उपा० ३ अ० । ध० ।

अवज्झाय-अपध्यात-त्रि० । दुर्ध्यानविषयीकृते, उत्त० ६ अ० । दुष्टचिन्तावति, आ० १४ अ० ॥

अवट्टु-अवटु-पुं० । कृकाटिकायाम्, भ० १५ श० १ उ० । विपा० ।

अवट्ठंभ-अवष्टम्भ-पुं० । स्तम्भाद्यवलग्ने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवष्टम्भद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पडिलेहा न सुज्झई ।
तम्हा हट्ठसमत्थस्स, अवट्ठंभो न कप्पइ ॥ ५०७ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः,यस्मात्प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् पश्चादपि अव्यवच्छिन्ना अनवरतं त्रसाः प्राणा भवन्ति,ततश्च तत्र प्रत्युपेक्षणा न शुध्यति । [तम्हा हट्ठसमत्थस्सेति] तस्माद् हृष्टो नीरोगः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवंविधस्य, साधोरवष्टम्भो न कल्पते नोक्तः ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ?, इत्येतत् प्रदर्शनायाह—

संचरकुंथुदेहिय-लूआ वा होइ दाली य ।
एवं घरकोइलिया, सप्पे वीसंभरे सरडे ॥ ५०८ ॥

तत्रावष्टम्भे स्तम्भादौ, संचरन्ति प्रसर्पन्ति; के ते ?, कुन्थुसत्त्वाः उद्देहिकाश्च लूता कोलियकः, तत्कृतो भेदः भवति, तथा च दाली राजिर्भवति, तस्यां च वृश्चिकादेराश्रयो भवति, तथा च-गृहकोलिया घरोलिका, इयमुपरिस्था मूत्रयति, तन्मूत्रेण चोपघातश्चक्षुषो भवति । सर्पो वा तत्राश्रितो भवति. वीसंभरो जीवविशेषः, उन्दुरो वा भवेत, सरटः कृकलासः, स वा दशनादि करोति ।

इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

संचारगा चउद्दिसि, पुव्वं पडिलेहिए वि एज्जेति ।
उद्देही मूल पुणो, विराहणा तदुभए भेओ ॥ ५०९ ॥

संचारकाः कुन्थ्वादयः पूर्वोक्तास्ततस्त्वपि किल तस्मिन्नवष्टम्भे परिभ्रमन्ति, पूर्वप्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् स्तम्भाद्यवष्टम्भे अन्ये आगच्छन्ति । [उद्देहि त्ति] कदाचिदसौ स्तम्भादिरवष्टम्भः मूले

उद्देहिकादिजग्धितः, ततश्च अवष्टम्भं कुर्वत उपरि पतति, पुनश्च विराधना तदुभये भवति, आत्मनि संयमे च भवति, भेदश्च पत्रकश्च भवति ॥

लूआइ य मद्दणे सं-जमम्मि आयाइ विच्छुगाईया ।
एवं घरकोइलिया-अहिउंदरसरडमाईसु ॥ ५१० ॥

लूतादौ च मदने मर्द्दने संयमविषया विराधना भवति, आत्मविराधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते, एवं गृहकोकिलिकाअहिउन्दुरसरटादिविषया संयमविराधना, आत्मविराधना च भवतीत्युक्त उत्सर्गः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अतरंतस्स च पासा, गाढं दुक्खंति तेणऽवट्ठंभो ।
संजयपिट्ठे थंभे, सेलसुहाकुड्डवेंटीए ॥ ५११ ॥

अतरन्तस्य च तिष्ठतो ग्लानादेः पार्श्वानि गाढमत्यर्थं दुःखन्ति, तेन कारणेन अवष्टम्भं कुर्वीत । क्व ?, अत आह—संयतपृष्ठे स्तम्भे वा [सेल त्ति] पाषाणमये स्तम्भे, सुधाऽर्जिते कुड्ये वा अवष्टम्भं कुर्वीत । अवभ्रिकायां वेण्टिकायां वा कुड्यादौ कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । उक्तमवष्टम्भद्वारम् । ओघ० । ध० ।

अवट्ठग-अपार्थक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने, द्वा० १६ द्वार ।

अवट्ठाण-अवस्थान-न० । व्यवस्थायाम्, व्यवस्था संस्थितिः स्थितिरवस्थानमवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । बृ० ५ उ० । स्थितौ, आव० ४ अ० । (तत्र साधोः किमवस्थानं श्रेयः उताटनमिति ' आवस्सिया ' शब्दे द्वितीयभागे ४६२ पृष्ठे वक्ष्यते; अवधिज्ञानस्याऽवस्थानं द्रव्यादिभेदभिन्नमिति ' अपडिवाइ (ण) ' शब्दे अत्रैव भागे ५६५ पृष्ठे, ' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च द्रष्टव्यम्)

अवट्ठिइ-अवस्थिति-स्त्री० । मर्य्यादायाम्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अवस्थाने निष्प्रकम्पतया वृत्तौ, आव० ४ अ० ।

अवट्ठिय-अवस्थित-त्रि० । शाश्वते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । नित्ये, ज्ञा० ५ अ० । " सिज्झायरपिंडे य १, चाउज्जामे य २ पुरिसजेट्ठे य ३ । किइकम्मस्स य करणे ४, चत्तारि अवट्ठिया कप्पा " ॥ १ ॥ स्था० ६ ठा० । निश्चले, स्था० ५ ठा० ३ उ० । अवर्धिष्णौ, जी० ३ प्रति० । यन्न हीयमानं न वा वर्द्धमानम् । तं० । स० । "अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू" । अवस्थितान्यवर्द्धिष्णूनि सुविभक्तानि विविक्तानि विचित्राणि अतिरम्यतयाऽद्भुतानि श्मश्रूणि कूर्चकेशा येषां तेऽवस्थितसुविभक्तविचित्रश्मश्रवः । जी० ३ प्रति० । अनन्तपर्यायात्मके वस्तुनि, तत्र पर्यायाणामानन्त्येन अविरहाद् द्रव्यावस्थितत्वम् । भ० २ श० १ उ० । स्वप्रमाणे स्थिते, जी० ३ प्रति० । अनवस्थितविलक्षणे अनुयोगदानयोग्ये स्वलिङ्गावस्थिते, संविग्नविहारावस्थिते च । बृ० १ उ० । [' अणवट्ठिय ' शब्देऽत्रैव भागे ३०१ पृष्ठे व्याख्यात एषः] स्थित्या रक्षिते, " अवट्ठिए आणाए आराहए यावि भवइ " । आचा० २ श्रु० १५ अ० ३ चू० ।

अवट्ठियबंध-अवस्थितबन्ध-पुं० । यदा तु यावतीः प्रथमसमये बध्नाति तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तदा स बन्धोऽवस्थितत्वादवस्थितबन्ध इति । पं० सं० ५ द्वार । प्रकृतिबन्धभेदे, क० प्र० । यथाऽष्टौ बध्नाति सप्त बध्नाति सप्त वा बध्वा षट् षट् बध्वा एकां बध्नाति तथा स एव भूयस्कारोऽल्पतरो वा द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्तावन्मात्रतयां प्रवर्त्तमानोऽवस्थितबन्धो भवति । कर्म० ५ कर्म० ।

अवड-अवट-पुं० । कूपे, स्था० २ ठा० ४ उ० । अनु० । प्रज्ञा० । आ० म० ।

अवड्ढ-अपार्द्ध-न० । अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धम् । अर्द्धमात्रे, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । अर्द्धदिवसे, भ० १६ श० २ उ० ।

अवड्ढखेत्त-अपार्द्धक्षेत्र-न० । अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धमर्द्धमात्रम् । अपार्द्धमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोगस्यादिमधिकृत्य तान्यपार्द्धक्षेत्राणि । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । समयक्षेत्रापेक्षया पञ्चदशमुहूर्तेषु, स्था० ६ ठा० ।

अवड्ढगोलगोलच्छाया-अपार्द्धगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलः स गोलगोलस्तस्य छाया गोलगोलच्छाया, अपार्द्धमात्रस्य गोलगोलस्य च्छाया अपार्द्धगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रमिलितानेकगोलच्छायायाम्, चं० प्र० ८ पाहु० ।

अवड्ढगोलच्छाया-अपार्द्धगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्द्धमात्रस्य गोलस्य छायायाम्, सू० प्र० ८ पाहु० । चं० प्र० ।

अवड्ढगोलपुंजच्छाया-अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । गोलानां पुञ्जो गोलोत्कर इत्यर्थः । तस्य छाया गोलपुञ्जच्छाया; अपार्द्धस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया । अपार्द्धमात्रगोलपुञ्जच्छायायाम् , चं० प्र० ८ पाहु० । सू० प्र० ।

अवड्ढगोलावलिच्छाया-अपार्द्धगोलावलिच्छाया-स्त्री० । गोलानामावलिर्गोलावलिस्तस्याश्छाया गोलावलिच्छाया; अपार्द्धा या गोलावलिच्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया । अपार्द्धमात्रगोलावलिच्छायायाम् , चं० प्र० ८ पाहु० । स्था० ॥

अवड्ढचंदसंठाण-अपार्द्धचन्द्रसंस्थान-न० । अपकृष्टमर्द्धं चन्द्रस्यापार्द्धचन्द्रः, तस्य यत्संस्थानमाकारः । गजदन्ताकृतौ, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अवड्ढभाग-अपार्द्धभाग-पुं० । चतुर्थभागे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अवड्ढोमोयरिया-अपार्द्धावमौदरिका-स्त्री० । अवमस्योनस्योदरस्य करणमवमौदरिका, अपकृष्टं किञ्चिदूनमर्द्धं यस्यां साऽपार्द्धा, द्वात्रिंशत्कवलापेक्षया द्वादशानामपार्द्धरूपत्वात् । अपार्द्धा च साऽवमौदरिका चेति । अवमौदरिकाभेदे, " दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अवड्ढोमोयरिया " । द्वादशकुक्कुटाण्डकप्रमाणमात्रान्कवलानाहारमाहारयति अपार्द्धाऽवमौदरिका उक्तशब्दार्थो भवतीत्येवं सप्तम्यन्तव्याख्यानं नेयम् । प्रथमान्तव्याख्यानं तु धर्मधर्मिणोरभेदादपार्द्धावमौदरिका साधुर्भवतीत्येवं नेतव्यम् । भ० ७ श० १ उ० । व्य० ।

अवण-अवन-न० । गमने, वेदने च । नं० ॥

अवणंत-अपनयत्-त्रि० । अशक्नुवति, नि० चू० १ उ० ।

अवणमंत-अवनमत्-त्रि० । नीचीभवति, रा० ॥

अवणय-अपनय-पुं० । पूजासत्कारादेरपनयने, स्था० ८ ठा० । दोषत्रापणे, निन्दायां च । प्रव० १४३ द्वार । आ० म० ।

अवनत-त्रि० । द्रव्यतो नीचकाये, भावतोऽदीने, दश० ५ अ० ।

अवणयण–अपनयन–न० । निषेधने, विशे० ।

अवणीयउवणीयवयण–अपनीतोपनीतवचन-न० । अरूपवती स्त्री किन्तु सद्वृत्तेतिरूपे षोडशवचनानां द्वादशे, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । प्रज्ञा० । प्रव० ।

अवणीयचरय--अपनीतचरक–पुं० । अपनीतं देयद्रव्यमध्याद् पसारितम्, अन्यत्र स्थापितमित्यर्थः । तदर्थमभिग्रहतश्चरति तद्गवेषणाय गच्छतीति अपनीतचरकः । अभिग्रहविशेषधारके, औ० ।

अवणीयवयण–अपनीतवचन–न० । कुरूपा स्त्रीतिवचनभेदे, प्रव० १४० द्वार ।

अवण्ण–अवर्ण–त्रि० । न विद्यते वर्णः पञ्चविधः सितादिरस्येत्यवर्णम् । वर्णरहिते अमूर्त्तद्रव्ये, षो० १४ विव० । अश्लाघायाम्, पं० व० ४ द्वार । स्था० । अयशसि अकीर्तौ, नि०चू० १० उ० । वर्णिताया अकरणे, औ० । एकदिक्व्याप्यसाधुवादवादे, ग०२अधि० ।

अवण्णवंत–अवर्णवत्–त्रि० । अश्लाघाकारिणि, स०३० सम० ।

अवण्णवाइ (ण्)–अवर्णवादिन्–पुं० । अवर्णं वदितुं शीलमस्येत्यवर्णवादी । अकीर्तिकरे, " नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं । माई अवण्णवाई, किब्बिसियं भावणं कुणइ" ॥ १ ॥ ग० २ अधि० । बृ० ।

अवण्णवाय-अवर्णवाद–पुं० । अश्लाघायाम्, ध० २ अधि० । अश्लाघावादे, दश० । " अवण्णवायं च परंमुहस्स, पच्चक्खओ " (न भासिज्ज) अवर्णवादं चाश्लाघावादं पराङ्मुखस्य पृष्ठतः प्रत्यक्षतश्च; न भाषेत इत्यर्थः । दश० ९ अ० ३ उ० ।

अर्हदादिपञ्चकावर्णं वदन् दुर्लभबोधिः–

पंचहिं ठाणेहिं जीवा दुल्लभबोहियत्ताए कम्मं पकरेंति । तं जहा–अरहंताणमवन्नं वदमाणे, अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अवन्नं वदमाणे, आयरियउवज्झायाणमवन्नं वदमाणे, चाउवन्नसंघस्स अवन्नं वयमाणे, विविक्कतवबंभचेराणं देवाणं अवन्नं वदमाणे ।

"पंचहिं" इत्यादि सुगमम्,नवरं दुर्लभा बोधिर्जिनधर्मो यस्य स तथा,तद्भावस्तत्ता । तया दुर्लभबोधिकतया,तस्यैव वा कर्म मोहनीयादि, प्रकुर्वन्ति बध्नन्ति, अर्हतामवर्णमश्लाघां वदन् । यथा- "नत्थी अरहंत त्ती,जाणंतो कीस भुंजए भोए । पाहुडिय उवजीवइ,स समवसरणादिरूपाए । १ । एमाइ जिणाण अवण्णो" । न च ते नाभूवन्, तत्प्रणीतप्रवचनोपलब्धेः । नापि भोगानुभवनादेर्दोषः, अवश्यवेद्यत्वात् तस्य । तीर्थकरनामादिकर्मणश्च निर्जरणोपायत्वात्तस्य । तथा-वीतरागत्वेन समवसरणादिषु प्रतिबन्धाभावादिति ॥ तथा–अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य श्रुतचारित्ररूपस्य । प्राकृतभाषानिबद्धमेतत्,तथा-किं चारित्रेण,दानमेव श्रेय इत्यादिकमवर्णं वदन् । उत्तरं चात्र-प्राकृतभाषात्वं श्रुतस्य न दुष्टं, बालादीनां सुखाध्येयत्वेनोपकारित्वात् । तथा-चारित्रमेव श्रेयो, निर्वाणस्यानन्तरहेतुत्वादिति ॥ आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन् । यथा-बालोऽयमित्यादि । न च बालत्वादि दोषः,बुद्ध्यादिभिर्वृद्धत्वादिति । तथा-चत्वारो वर्णाः प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् स तथा । स एव स्वार्थिकाऽण्विधानाच्चातुर्वर्ण्यः, तस्य संघस्यावर्णं वदन् । यथा-कोऽयं संघः?, यः समवायबलेन पशुसंघ इव अमार्गमपि मार्गीकरोतीति । न चैतत्,साधुज्ञानादिगुणसमुदायात्मकत्वात्तस्य;तेन च मार्गस्यैव मार्गीकरणादिति ॥ तथा-विपक्वं सुपरिनिष्ठितं,प्रकर्षपर्यन्तमुपगतमित्यर्थः । तपश्च ब्रह्मचर्यं च भवान्तरे येषाम्, विपक्वं वा उदयागतं तपो ब्रह्मचर्यं तद्धेतुकं देवायुष्कादि कर्म येषां ते तथा; तेषामवर्णं वदन् । न सन्त्येव देवाः,कदाचनाप्यनुपलभ्यमानत्वात् । किञ्च–तैर्विटैरिव कामासक्तमनोभिरविरतैस्तथा निर्निमेषैरचेष्टैश्च म्रियमाणैरिव प्रवचनकार्यानुपयोगिभिश्चेत्यादिकम् । इहोत्तरम्–सन्ति देवाः, तत्कृताऽनुग्रहोपघातादिदर्शनात् । कामसक्तता च मोहसातकर्मोदयात् ; इत्यादि । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अथ (ज्ञानादीनां) व्यासार्थमाह–

काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।
मोक्खाहिगारियाणं, जोइसजोणीहिँ किंच पुणो ॥

इह केचिद्दुर्विदग्धाः प्रवचनाशातनापातकमगणयन्त इत्थं श्रुतस्यावर्णं ब्रुवते । यथा-षड्जीवनिकायामपि षट्कायाः प्ररूप्यन्ते, शस्त्रपरिज्ञायामपि त एव,अन्येष्वध्ययनेषु बहुशस्त एवोपवर्ण्यन्ते । एवं व्रतान्यपि पुनः पुनस्तान्येव प्रतिपाद्यन्ते । तथा–त एव प्रमादाप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते । यथोत्तराध्ययने आचाराङ्गे च । एवं च पुनरुक्तदोषः । किंच–यदि केवलस्यैव मोक्षस्य साधनार्थमयं प्रयासस्तर्हि मोक्षाधिकारिणां साधूनां सूर्यप्रज्ञप्त्यादिना ज्योतिःशास्त्रेण,योनिप्राभृतेन वा किं पुनः कार्यम्?,न किञ्चिदित्यर्थः । तेषामित्थं ब्रुवाणानामिदमुत्तरम्-इह प्रवचने यत् त एव कायादयो भूयो भूयः प्ररूप्यन्ते, तन्महता प्रयत्नेनामी परिपालनीयाः,इदमेव धर्मरहस्यमित्यादरातिशयख्यापनार्थत्वान्न पुनरुक्तम् । " अनुवादाऽऽदरवीप्सा–भृशार्थविनियोगहेत्वसूयासु । ईषत्संभ्रमविस्मय—गणनास्मरणेष्वपुनरुक्तम् " ॥ १ ॥ ज्योतिःशास्त्रादेरेव शिष्यप्रव्राजनादिषु शुभकार्योपयोगफलत्वात्परम्परया मुक्तिफलमेवेति न कश्चिद्दोषः । गतो ज्ञानावर्णवादः ।

अथ केवल्यवर्णवादमाह–

एगंतरमुप्पाए, अन्नोन्नावरणया दुवेण्हं पि ।
केवलदंसणणाणे, एगे काले व एगत्तं ॥

इह केवलिनामवर्णवादो यथा-किमेषां ज्ञानदर्शनोपयोगौ क्रमेण भवतः, उत युगपत्? । यद्याद्यः पक्षः-ततो यं समयं जानाति तं समयं न पश्यति, यं समयं पश्यति तं समयं न जानातीत्येवमेकान्तरिते उत्पादे द्वयोरपि केवलज्ञानदर्शनयोरन्योन्यावरणता भवेत्; ज्ञानावरणदर्शनावरणयोः समूलकाषं कषितत्वात् । अपरस्य चावारकस्याभावात्परस्परावारकतैवानयोः प्राप्नोतीति भावः । अथ युगपदिति द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते,सोऽपि न क्षोदक्षमः । कुतः?, इत्याह-एककाले युगपदुपयोगद्वये अङ्गीक्रियमाणे; वाशब्दः पक्षान्तरद्योतनार्थः । द्वयोरपि साकारानाकारोपयोगयोरेकत्वं प्राप्नोति, तुल्यकालभावित्वादिति । अत्रोत्तरम्-इह यथा जीवस्वाभाव्यादेः सर्वस्यापि केवलिन एकस्मिन् समये एकतर एवोपयोगो भवति, न द्वौ; " सव्वस्स केवलिस्सा, जुगवं दो नत्थि उवओगा " इति वचनात् । यथा चायमेकैकसमये उपयोग उपपद्यते, तथा विशेषावश्यकादिषु श्रीजिनभद्रक्षमाश्रमणादिभिः पूर्वसूरिभिः सप्रपञ्चमुपदर्शित इति नेहोपदर्शितः, ग्रन्थगौरवभयात् । द्वितीयपक्षानुपपत्तिनोदना त्वनभ्युपगतोपालम्भत्वादाकाशरोमन्थनमिव केवलं भवतः प्रयासकारिणीति ।

अथ धर्माचार्याऽवर्णवादमाह-

जच्चाईहिँ अवस्सं, भासइ वट्टइ न यावि उववाए ।
अहितो छिद्दप्पेही, पगासवादी अणणुकूले ॥

जात्या, आदिशब्दात् कुलादिभिश्च दोषैरवर्णं भाषते । यथा-नैते विशुद्धजातिकुलोत्पन्नाः, न वा लोकव्यवहारकुशलाः, नाप्येते औचित्यं विदन्तीत्यादि । नचापि वर्त्तते उपपाते गुरूणां सेवावृत्तौ, अहितोऽनुचितविधायी. छिद्रप्रेक्षी-मत्सरितया गुरोर्दोषस्थाननिरीक्षणशीलः, प्रकाशवादी-सर्वसमक्षं गुरुदोषभाषी, अननुकूलो-गुरूणामेव प्रत्यनीकः, कूरबालकवत् । एष धर्माचार्यावर्णवादः।

अथ सर्वसाधूनामवर्णवादमाह-

अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवत्ती य अवि गुरूणं पि ।
खणमित्तपीयरोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ ॥

अहो ! अमी-साधवोऽविषहणा न कस्यापि पराभवं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षापमाने संजाते सति देशान्तरं गच्छन्ति । (तुरियगइ त्ति) अकारप्रश्लेषादत्वरितगतयो मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिनः। अननुवर्त्तिनः प्रकृत्यैव निष्ठुराः, गुरूणामपि महतामपि, आस्तां सामान्यलोकस्येत्यपिशब्दार्थः। द्वितीयोऽपिशब्दः संभावनायाम् । संभाव्यन्त एवंविधा अपि साधव इति । क्षणमात्रप्रीतिरोषाः-तदैव रुष्टाः तदैव च तुष्टाः, अनवस्थितचित्ता इत्यर्थः । गृहिवत्सलाः-तैस्तैश्चाटुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयन्ति । अतिसंचयिनः-सुबहुवस्त्रकम्बलादिसंग्रहशीलाः, लोभबहुला इति भावः ॥ अत्र निर्वचनानि-इह साधवः स्वपक्षाद्यपमाने यद्देशान्तरं गच्छन्ति तदप्रीतिकपरोपतापादिभीरुतया, न पराभवाऽसहिष्णुतया । अत्वरितगतयोऽपि स्थावरत्रसजन्तुपीडापरिहारार्थं, न तु लोकरञ्जनार्थम् । अननुवर्तिनोऽपि संयमबाधाविधायिन्या अनुवर्तनाया अकरणात्, न प्रकृतिनिष्ठुरतया । क्षणमात्रप्रीतिरोषा अपि प्रतनुकषायतया न मिथ्याऽवस्थितचित्ततया । गृहवत्सला अपि कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथानुरूपोपायेन धर्मं प्रतिपद्येरन्निति बुद्ध्या, न पुनश्चाटुकारितया । संचयवन्तोऽपि मा भूदुपकरणाभावे संयमाऽऽत्मविराधनेतिबुद्ध्या, न तु लोभबहुलतयेत्युत्तरम् ॥ स्था० १ ठा० ।

(अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचार्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य सङ्घस्य चाऽवर्णं वदन् उन्मादं प्राप्नुयादिति ' उम्माद ' शब्दे द्वितीयभागे ८४८ पृष्ठे वक्ष्यते) ज्ञान्यवर्णवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म बध्यते । कर्म० १ कर्म० ।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

जे भिक्खू धम्मस्स अवण्णं वदइ, अवण्णं वदंतं वा साइज्जइ ॥ ११२ ॥

धृञ् धारणे, धारयतीति धर्मः। ण वण्णो अवण्णो णाम-अयसो, अकीर्तिरित्यर्थः । वद व्यक्तायां वाचि ।

दुविहो य होइ धम्मो, सुयधम्मो समणधम्मो य ।
सुयधम्मो खलु दुविहो, सुत्ते अत्थे य होति णायव्वा॥२३॥
दुविहो य चरणधम्मो, अगारमणगारियं चेव ।
दुविहो तस्स अवण्णो, देसे सव्वे य होति नायव्वा ॥२४॥
मूलगुणउत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधम्मो उ ।
अह देस एत्थ लहुगा, सुत्ते अत्थम्मि गुरुमादी ॥२५॥
सव्वम्मि तु सुयणाणे, चूया वा ते य भिक्खुणो मूलं ।
गणि आयरिए सपदं, उ दाणमावज्जणा चरिमं ॥२६॥
गिहिणं मूलगुणेसु, देसे गुरुगा तु सव्वहिं मूलं ।
उत्तरगुणेसु देसे, लहुगा गुरुगा तु सव्वेसिं ॥२७॥
मूलगुणउत्तरगुणे, गुरुगा देसम्मि होंति साहूणं ।
सुत्तणिवातो देसे, तं सेवंतस्स आणादी ॥२८॥
सामादियमादी उं, सुयधम्मो जाव पुव्वगतं ।
सामाइयरोई ए-क्कारसमा उ जाव अंगा तो ॥२९॥

पंचविहो सज्झाओ सुयधम्मो । सो पुणो दुविहो-सुत्ते, अत्थे य । चरित्तधम्मो दुविहो-अगारधम्मो, अणगारधम्मो य । एक्केक्को दुविहो-मूलुत्तरगुणेसु देसे सव्वे वा सुयधम्मे अवण्णं वदति । एवं चरित्ते दुविहो अवण्णो । सुत्तस्स देसे चउलहुगा, अत्थस्स देसे चउगुरुगा; सव्वसुयस्स अवण्णे भिक्खुणो मूलं; अभिसेयस्स अणवट्ठो; गुरुणो चरिमं । एयं दाणपच्छित्तं । आवज्जणाए तिण्ह वि सव्वे सुत्ते अण्णे वा पारंचियं । गिही मूलगुणेसु जदि देसे अवण्णं वदति तो चउगुरुगं, सव्वहिं मूलं, गिही उत्तरगुणेसु जदि देसे अवण्णं वदति तो चउलहुगा । गिहीणं सव्वुत्तरगुणेसु गुरुगा । साहूणं मूलगुणेसु वा जदि देसे अवण्णं वयति तो चउगुरुगा । दोसु वि सव्वेसु मूलं । एत्थ अत्थस्स देसे गिहीण य मूलगुणदेसे । साहूण य उत्तरगुणदेसे सुत्तणिवातो भवति । एवं अवण्णवयं सेवंतस्स आणादिया दोसा भवंति । पुव्वद्धं गतार्थत्वात्कंठं, सुयस्स सामादियादि जाव एक्कारस अंगा ताव देसो, एयं चेव सह पुव्वगएण सव्वसुयं ॥

कहं पुण वदंतो आसादेति ?-

जीव विरहिए पेहा, जीवाउलमुग्गदंमता मायं ।
दोसो य परकमेसू, चरणे एमादिया देसे ॥३०॥
काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमायअप्पमाया य ।
जोतिसजोइणिमित्ते-हिँ किं व वेरग्गपवणाणं ॥३१॥

(जीवविरहिए त्ति) जीवेहिं विरहिते जाव पमिलेहणा कज्जति, सा निरत्थिया, जीवाउले वा लोगे चंकमणादिकिरियं करेंतो कहं निद्दोसो ?, परिसेगिंदियाण य संघट्टणे मासलहु, दाणे एवं, अप्पावराहे उग्गदंडया अजुत्ता । जं च वितियपदेण माया पमयं भणियं, तं पि अजुत्तं, आहाकम्मादिएसु परकडेसु को दोसो ?। एवमादि चरणस्स देसे अवण्णो । सव्वं यमनियमात्मकं चारित्रं कुशलपरिकल्पितम्। एष सर्वावर्णवादः। इमेरिससुत्ते अवण्णं वदति-(काया वया) अयुत्तं पुणो पुणो कायवयाण वण्णणं, पमायप्पमादाण य, किं वा वेरग्गपवणाणं जोतिसेण, ओणीपाहुमेण वा, णिमित्तेण वा सव्वं वा वदेत जाताभिन्नकं । एवमादिसु य आसायणा । एवं अवण्णं वदेंतो आणादिया य दोसा, सुयदेवया वा खित्तादिचित्तं करेज्ज; अन्नेण वा साहुणा सह संखडं भवे-कीस अवण्णं भाससि त्ति ?। जम्हा एते दोसा तम्हा णो अवण्णं वदे ।

कारणे वदेज्जा वि-

वितियपदमणप्पज्झे, वएज्ज अवि कोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, भयऽवत्तव्वादिसू चेव ॥३२॥

अणुप्पज्जो या अवि कोविदो,सो वा वयज्ज अवत्तव्वादिसु वि,जो अवण्णवादपक्खमग्गदणं करेति, सो य जे रायादिबलवन्तो स-भया वदेज्ज,ए दोसा । नि० चू० ११ उ०। (अधर्मस्यावर्णवादः 'अहम्म' शब्दे अत्रैव भागेऽग्रे वक्ष्यते । रात्रिभोजनस्यावर्णवादो 'राइ भोयण' शब्दे प्रेक्षणीयः)

अवण्णा–अवज्ञा–स्त्री० । अनादरे, औ० । वो० ॥

अवण्हवण–अपह्नवन–न० । मृषादण्डे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अवण्हाण–अपस्नान–न० । तथाविधसंस्कृतजलेन स्नाने, वि-पा० १ श्रु० १ अ० । स्नेहापनयनहेतुद्रव्यसंस्कृतजलेन स्नाने, ज्ञा० १३ अ० ॥

अवतट्ठ–अवतष्ट–त्रि० । तनूकृते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवत्त–अव्यक्त–पुं० । अप्राप्यपरिणतवयसि, बृ० १ उ० । श-ब्दोऽयं रूपादिर्वा इत्यादिना प्रकारेणानिर्देश्ये, विशे० । छगण-लिम्पनादिना संस्कृते, ध० ३ अधि० । स्था० । अवत्ता नाम वसतिः-छगणमृत्तिकाभ्यां जलेन चोपलिप्तभूमितला अव्यक्तस्था-नयुक्ता वा, निर्वाता वा । ग० १ अधि० । नि० चू० । अगीतार्थे, नि० चू० २ उ० ।

अवत्तव्व–अवक्तव्य–त्रि० । अनुच्चारणीये, दशा० ७ अ० । आ-नुपूर्व्यनानुपूर्वीप्रकाराभ्यां वक्तुमशक्ये द्रव्ये, अनु० । द्विप्रदेशि-कस्कन्धोऽवक्तव्यमित्याख्यायते । अनु० ॥

अवत्तव्वगसंचिय–अवक्तव्यकसञ्चित–त्रि० । यः परिणामविशेषो न कति नाप्यकतीति शक्यते वक्तुं सोऽवक्तव्यकः, स चैक इति, तत्सञ्चिता अवक्तव्यकसञ्चिताः । समये समये एकतयोत्पन्नेषु नैरयिकादिषु, उत्पद्यन्ते हि नारका एकसमये एकादयोऽसं-ख्येयान्ताः । उक्तं च—"एगो य दो व तिन्नि व, संखमसंखा य एगसमएणं । उववज्जंते वइया, उव्वट्टंता वि एमेवं" ॥ १ ॥ स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अवत्तव्वबंध–अवक्तव्यबन्ध–पुं० । बन्धभेदे, यत्र तु सर्वथाऽ-बन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमये अव-क्तव्यबन्धः, अयं पुनरुत्तरप्रकृतीनामेव भवति न मूलप्रकृतीनाम्, तासां सर्वथाऽबन्धकस्याऽयोगिकेवलिनः सिद्धस्य वा प्रतिपाता-भावेन पुनर्बन्धाभावात् । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० ।

अवत्तव्वा–अवक्तव्या–स्त्री० । अमुत्र स्थिता पल्लीति कौशिक-भाषावत्; सावद्यत्वेनानुच्चारणीयायां भाषायाम्, दश० ७ अ० ।

अवत्तसत्थकोडि–अवाप्तस्वास्थ्यकोटि–पुं० । अवाप्ता लब्धा स्वास्थ्यकोटिरनाबाधताप्रकर्षपर्यन्तो यैस्ते तथा। सिद्धेषु, ज्ञा० ३२ अष्ट० ।

अवत्तासण–अवत्रासन–न० । बाहुभ्यां स्त्रिया निष्पीडने कामा-ङ्गे, नि० चू० १ उ० ।

अवत्थंतर–अवस्थान्तर–न० । दशाविशेषे, द्वा० ११ द्वार । पर्यायान्तरे, पञ्चा० १८ विव० ।

अवत्थग–अपार्थक–न० । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थे सूत्रदोषे, यथा-दश दाडिमानि,षडपूपाः, कुण्डं बदराणि । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । विशे० । यस्यावयवेष्वर्थो विद्यते न समुदाये; असंबद्ध-मित्यर्थः । यथा-शङ्खः कदल्यां; कन्दली भेर्याम् । अथवा-"धंजु-लपुप्फकुम्भीसा, उंबरकुसुममालिया सुरभी । वरतुरगस्स वि रायइ,मोलइया भग्गसिंगेसु " ॥ १ ॥ बृ० १ उ० ।

अवत्थव–अवास्तव–त्रि० । वस्तु पदार्थः; तस्येदं वास्तवम् । न वास्तवमवास्तवम् । परसंयोगोद्भवे, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्था–अवस्था–स्त्री० । भूमिकायाम्, द्वा० २६ अष्ट० ।

अवत्थातिग–अवस्थात्रिक–न० । दशाविशेषत्रये-छद्मस्थाव-स्थाकेवल्यवस्थासिद्धावस्थास्वभावे जिनानां छद्मस्थकेवलि-सिद्धत्वे, दर्श० ।

अवत्थापरिणाम–अवस्थापरिणाम–पुं० । घटस्य प्रथमद्वितीय-योः क्षणयोः सदृशयोरन्वयित्वेनैव परिणामे, द्वा० २४ द्वा० ।

अवत्थाभरण–अवस्थाभरण–न० । अवस्थोचिते आभरणे, स्था० ८ ठा० ।

अवत्थिय–अवस्तृत–त्रि० । प्रसारिते, ज्ञा० ८ अ० ।

अवत्थु–अवस्तु–न० । असति, आ० म० द्वि० । अविद्यमानं व-स्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु । अनर्थके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ॥

अवत्थोचिय–अवस्थोचित–त्रि० । भूमिकाऽनुरूपे,पञ्चा० १२विव० ।

अवदग्ग–अवदग्र–न० । पर्यन्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अवसाने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ॥

अवदल–अपद(व)दल–पुं० । अपदलमपसदं द्रव्यं कारणभूतं मृ-त्तिकादि यस्याऽसौ अपदलः । अवदलति वा दीर्यते इत्यव-दलः । आमपक्वतया असारे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवदाय–अवदात–पुं० । गौरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अवदालिय–अवदारि(लि)त–त्रि० । विकाशिते विघूतीकृते, उपा० २ अ० । "अवदालियपुंडरीयवयणा (नयणा) " अवदारितं रवि-किरणैर्विकाशितं यत्पुण्डरीकं सितपद्मं तद्वद्वदनं मुखं, नयने वा येषां ते तथा । जं० २ वक्ष० ।

अवदार–अपद्वार–न० । द्वारिकायाम्, ज्ञा० २ अ० । "तेण अव-द्दारेणं, सो अतिगतो असोगवणियाए " । आ० म० द्वि० ॥

अवदाहण–अपदाहन–न० । तथाविधदम्भने, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अवद्धंस–अपध्वंस–पुं० । अपध्वंसनमपध्वंसः चारित्रस्य तत्फ-लस्य चाऽसुरादिभावनाजनिते विनाशे, स्था० ।

चउव्विहे अवद्धंसे पण्णत्ते । तं जहा–आसुरे, आभियोगे, संमोहे, देवकिब्बिसे ॥

तत्रासुरभावनाजनित आसुरो येषु चानुष्ठानेषु वर्तमानोऽसुरत्व-मर्जयति तैरात्मनो वासनमासुरभावना । एवं भावनान्तरमपि । आभियोगभावनाजनितः आभियोगः, संमोहभावनाजनितः संमोहः, देवकिल्बिषभावनाजनितो देवकिल्बिष इति । इह च कन्दर्पभावनाजनितःकन्दर्पोऽपध्वंसः पञ्चमोऽस्ति, स च सन्नपि नोक्तः,चतुःस्थानकानुरोधात् । भावना हि पञ्चाऽऽगमेऽभिहिताः । आह च–"कंदप्प १ देवकिब्बिस २, अभिओगा ३ आसुरा य ४ संमोहा ५ । एसा उ संकिलिट्ठा, पंचविहा भावणा भणिया " ॥ १ ॥ आसां च मध्ये यो यस्यां भावनायां वर्त्तते, स तद्विधे-ष्वेव देवेषु गच्छति,चारित्रलेशप्रभावात् । उक्तं च–"जो संजओ

वि पथा-सु अप्पसत्थासु वट्टइ कहिं चि। सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो" ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवधारियव्व-अवधारयितव्य-न० । संप्रधारणीये, पञ्चा० ३ विव० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, बृ० ४ उ० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अव-धू-क्त । अभिभूते, निवर्तिते, चालिते,अनादृते च । "यो विलङ्घ्याऽऽश्रमान् वर्णान्,आत्मन्येव स्थितः पुमान्। अतिवर्णाश्रमी योगी, अवधूतः स उच्यते" ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे परमहंसे, वाच० । स्वनामख्याते लौकिके अध्यात्मचिन्तके आचार्ये, यदाहावधूताचार्यः-न प्रत्ययानुग्रहमन्तरेण तत्त्वशुश्रूषादयः, उदकं पयोऽमृतकल्पज्ञानाजनकत्वात् । ल० । विक्षिप्ते, आव० ४ अ० ।

अवप्पओग-अवप्रयोग-पुं० । विरुद्धौषधियोगे, बृ० १ उ० ।

अवबद्ध-अवबद्ध-त्रि० । अर्थग्रहणपूर्वकं विद्याऽऽदिग्रहणनिमित्तं विवक्षितकालपरायत्ते, ध० ३ अधि० । ग० ।

अवबुद्ध-अवबुद्ध-त्रि० । अवगते, अने० २ अधि० ।

अवबोह-अवबोध-पुं० । निद्रापरिहारे, ध० २ अधि० । ज्ञानित्वे, विशे० । संज्ञायाम्, स्मृतौ, संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अवबोहण-अवबोधन-न० । प्रतारणे, वञ्चने, शिक्षणे च । द्व्या० ८ अध्या० ।

अवबोहि-अवबोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू०१ अ० ।

अवब्भंस-अपभ्रंश-पुं० । अपभ्रश्यते इत्यपभ्रंशः । संस्कृतभाषाविकृतौ, "षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" तत्परिज्ञानमेकोनत्रिंशः कलाभेदः । कल्प० ७ क्ष० ।

अवभास-अवभास-पुं० । तेजसो ज्ञानस्य च प्रतिभासे, सू०प्र० ३ पाहु० ।

अवभासिय-अवभासित-त्रि० । प्रकाशिते, विशे० ।

अपभाषित-त्रि० । दुष्टभाषिते, व्य० १ उ० ॥

अवमण्णंत-अवमन्यमान-त्रि० । परिहरति, "मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं" । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अवमद्द-अपमर्द-पुं० । अपवर्त्तने, "अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति" । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवमाण-अपमान-न० । अनादरे, उत्त० १९ अ० । विनयभ्रंशे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

अवमान-न० । हस्तादौ क्षेत्रप्रमाणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवमाणण-अपमानन-न० । यूयमित्यादिवाच्ये त्वमित्यादिरूपे अपूजावचने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अनभ्युत्थानादिभिः अपूजने, औ० । प्रश्न० ॥

अवमाणिय-अपमानित-त्रि० । अपमानं प्राहिते, "अवमाणिओ नरिंदेणं" । व्य० १ उ० । बृ० ॥

अवमाणियदोहला-अवमानितदोहदा-स्त्री० । क्षणमपि लेशेनापि च अनापूर्णमनोरथायाम्, ज्ञा० ११ श० ११ उ० ।

अवमार-अपस्मार-पुं० । चित्तविकृतिजे गदे, स च वातपित्तश्लेष्मसंनिपातजत्वाच्चतुर्धा । तदुक्तम्-"भ्रमाऽऽवेशः ससंरम्भो-द्वेषोद्रेको हतस्मृतिः । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्चतुर्विधः" ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अवमारिय-अपस्मारित-त्रि० । अपस्मारः संजातोऽस्य । अपस्माररोगवति-अपगतसदसद्विवेकभ्रममूर्च्छादिकामवस्थामनुभवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ॥

अवमिय-अवमित-त्रि० अमिते, बृ० ३ उ० ॥

अवय-अपद-न० । वृक्षादौ, सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । गोशीर्षचन्दनप्रभृतौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।

अब्ज-न० पद्मे, प्रज्ञा० १ पद ।

अवच-त्रि० । अनुच्चे, उत्त० ३ अ० । अधन्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अवयक्खंत-अवप्रेक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयति,ओघ० ।

अवयक्खमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । अपेक्षमाणे, अवकाङ्क्षति च । "मग्गे कयाइं अवयक्खमाणस्स" अवकाङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य वा । भ० १० श० २ उ० ।

अवयग्ग-देशी-न० । पर्यन्ते, स्था० २ ठा० १ उ० । "अवयग्गं" इति देशीवचनोऽन्तवाचकः । भ० १ श० १ उ० ।

अवयज्झ-दृश्-धा० । "दृशो निअच्छ० ८ । ४ । १८१ । इत्यादिना दृशेरवयज्झादेशः । अवयज्झइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवयण-अवचन-न० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सिते वचने, स्था० ६ ठा० ।

अवचनानि-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए । तं जहा-अलियवयणे,हीलियवयणे, खिंसियवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउवसमियं वा पुणो उदीरित्तए ॥

[नो कप्पइ त्ति] वचनव्यत्ययाद् नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा इमानि प्रत्यक्षासन्नानि, षडिति षट्संख्याकानि, अवचनानि-नञः कुत्सार्थत्वादप्रशस्तानि वचनानि, वदितुं भाषितुम् । तद्यथा-अलीकवचनं, हीलितवचनं, खिंसितवचनं, परुषवचनम, अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचनं, व्यवशमितं वा उपशमितकरणं, पुनः भूयोऽपि,उदीरयितुं न कल्पत इति क्रमः। अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचनं नाम षष्ठमवचनमुक्तमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थमभिधित्सुराह—

छच्चेव अवत्तव्वा, अलिगे हीलीय-खिंस-फरुसे य।
गारत्थ-विओसमिए, तेसिं च परूवणा इणमो ॥

षडेवावचनान्यवक्तव्यानि साधूनां वक्तुमयोग्यानि । तद्यथा-अलीकवचनं, हीलितवचनं खिंसितवचनं, परुषवचनं, गृहस्थवचनं, व्यवशमितोदीरणवचनम, तेषां च षण्णामपि यथाक्रममियं प्ररूपणा ॥ बृ० ६ उ० । (अलीकवचनव्याख्याऽस्मिन्नेव भागे 'अलियवयण' शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता)

अथ प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाए, खिंसा फरुसवयणे च वदमाणे ।
गारत्थ-त्ति ओसविए, इमं च जं तेसि णाणत्तं ॥

एवमेव हीलितवचनं, खिंसावचनं, परुषवचनमगारस्थ वचनं, व्यवशमितोदीरणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यत्पुनस्तेषां नानात्वं तदिदं भवति-

आदिल्लेसुं चउसुं, विसोहि गुरुगादि भिन्नमासंता ।
पणुवीसओ विभागो, विसेसितो बितिय पडिलोमं ॥

आदिमेषु चतुर्ष्वपि हीलितखिंसितपरुषगृहस्थवचनेषु शोधिश्चतुर्गुरुकादिका भिन्नमासान्ता आचार्यादीनां प्राग्वद् मन्तव्या । तद्यथा-आचार्य आचार्यं हीलयति चतुर्गुरु १, उपाध्यायं हीलयति चतुर्लघु २, भिक्षुं हीलयति मासगुरु ३, स्थविरं हीलयति मासलघु ४, क्षुल्लकं हीलयति भिन्नमासः ५। एतान्याचार्यस्य तपःकालाभ्यां गुरुकाणि भवन्ति, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उक्ताः । उपाध्यायादीनामपि चतुर्णामेवमेव पञ्च पञ्च संयोगा भवन्ति । सर्वसङ्ख्यया ते पञ्चविंशतिर्भवन्ति । अत एवाह-पञ्चविंशतिकः पञ्चविंशभङ्गपरिमाणो विभागोऽत्र भवति । स च तपःकालाभ्यां विशेषितः कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं विज्ञेयम्; भिन्नमासाद्यं चतुर्गुरुकान्तमित्यर्थः । एवं खिंसितपरुषगृहस्थवचनेष्वपि शोधिर्मन्तव्या । बृ० ६ उ० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

पढमं विगिंचणट्ठा, उवलंभविगिंचणा य दोसु भवे ।
अणुसासणा य देसी, छट्ठे य विगिंचणा भणिता ॥

प्रथममलीकवचनमयोग्यशैक्षस्य विवेचनार्थं वदेत्, द्वयोस्तु हीलितखिंसितवचनयोर्यथाक्रममुपालम्भविवेचने कारणे भवतः-शिक्षादानम्, अयोग्यशिक्षापरित्यागश्चेत्यर्थः । परुषवचनं तु परसाध्यस्यानुशासनां कुर्वन्, गृहस्थवचनं पुनर्देशीं देशभाषामाश्रित्य भणेत् । षष्ठे च व्यवशमितोदीरणवचने, शैक्षस्य विवेचनं कारणं भणितम् । गाथायां स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । इति द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनां विवरीषुराह-

कारणिए दिक्खंता, तम्मिय कज्जे जहंति अणलं तु ।
संजमजसरक्खट्ठा, होट्ठुं दाऊण य पलाई ॥

कारणे अशिवादावनलोऽयोग्यः शैक्षो दीक्षितः, ततस्तस्मिन्ते समापिते तस्मिन् कार्ये तमनलं जहति । कथम् ?, इत्याह-संयमयशोरक्षार्थं-संयमस्य, प्रवचनयशःप्रवादस्य च रक्षणार्थं, 'होट्ठुं' गाढमलीकं दत्त्वा पलायन्ते; शीघ्रमन्यत्र गच्छन्तीत्यर्थः ।

यः पुनराचार्यः समाचार्यां, सारणादिप्रदाने वा सीदति तमुद्दिश्येत्थं हीलितवचनं वदेत्-

केण स गणि त्ति कतो, अहो!गणी भणति वा गणि अगणिं।
एवं तु सीयमाण-स्स कुणति गणिणो उवालंभं ॥

केनासमीक्षितकारिणाऽयं गणीकृतः । यद्वा-अहो ! अयं गणी, अथवा गणिनमप्यगणिनं भणति । एवं गणिनः सामाचार्यां शिक्षादाने वा विषीदने उपालम्भं करोति ।

अगणिं व भणाति गणिं, जदि नाम पढेज्ज गारवेण वि तं ।
एमेव सेसएसु वि, वायगमादीसु जोएज्जा ॥

यदि कोऽपि बहुशोऽपि भण्यमानो न पठति ततस्तमगणिनमपि गणिनं भणति; यदि नाम गौरवेणापि पठेत् । एवमेव शेषेष्वपि वाचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेद्-योजनां कुर्यात् ।

खिंसावयणविहाणा, जे विय जातीकुलादिया वुत्ता ।
कारणियदिक्खियाणं, ते चेव विगिंचणोवाया ॥

खिंसावचनविधानानि यान्येव जातिकुलादीनि पूर्वमुक्तानि, त एव कारणिकदीक्षितानामयोग्यानां कारणप्रव्रजितानां विवेचने परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्झं मउयवयं, अगणेमाणं भणंति फरुसं च ।
दव्वओ फरुसवयणं, वयंति देसिं समासज्ज ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते स खरसाध्य उच्यते । तं खरसाध्यं मृदुवाचमगणयन्तं परुषमपि भणन्ति । देशीं देशभाषां समासाद्य द्रव्यतः परुषवचनमपि वदन्ति; द्रव्यतो नाम न दुष्टभावतया परुषं भणन्ति, किन्तु तस्या भाषाया स्वाभाव्यात्, यथा-मालवास्वामिमिति; अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा तथा देशीं देशभाषामाश्रित्य साधवोऽपि भणन्ति ।

खामियदोसवियाइं, उप्पाएऊण दव्वतो रुट्ठो ।
कारणदिक्खिय अनलं, असंखडीओ त्ति धाडेति ॥

यः कारणे अनलो दीक्षितस्तेन समं समापिते कार्ये पुनः क्षामितव्युत्सृष्टान्यधिकरणान्युत्पाद्य द्रव्यतो दुष्टभावं विना रुष्टो कुपितो बहिः कृत्रिमान् कोपविकारान् दर्शयन्नित्यर्थः । असंखडिकोऽयमिति दोषमुत्पाद्य तमनलं शैक्षं धाटयति-गच्छान्निष्कासयति । बृ० ६ उ० ।

अन्नयव-अवयव-पुं० । अवयविन एकदेशे, अनु० । अनुमितिवाक्यैकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनाख्यावयवाः । दशा० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रतिज्ञा प्रतिज्ञाविशुद्धिः, हेतुर्हेतुविशुद्धिः, दृष्टान्तो दृष्टान्तविशुद्धिः, उपसंहार उपसंहारविशुद्धिः, निगमनं निगमनविशुद्धिः । दशा० १ अ० ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-

सिंगी सिही विसाणी, दाढी पक्खी खुरी नही वाली ।
दुपय चउप्पय बहुपय, लंगूली केसरी कउही ॥१॥
परिअरबंधणभड जा-णिज्जा महिलिअं निवसणेणं ।
सित्थेण दोणवायं, कविं च एकाए गाहाए ॥ २ ॥

सेत्तं अवयवेणं ।

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवोऽवयविन एकदेशस्तेन नाम यथा-'सिंगी सिहीत्यादि' गाथा । शृङ्गमस्यास्तीति शृङ्गीत्यादीन्यवयवप्रधानानि सर्वाण्यपि सुगमानि, नवरं-द्विपदं मनुष्यादि, चतुष्पदं गवादि, बहुपदं कर्णशृगाल्यादि । अत्रापि पादलक्षणावयवप्रधानता भावनीया । [कउहि त्ति] ककुदं स्कन्धाऽऽसन्नोन्नतदेहावयवलक्षणमस्यास्तीति ककुदी वृषभ इति । 'परिअर' गाथा । परिकरबन्धेन विशिष्टनेपथ्यरचनालक्षणेन, भटं शूरपुरुषं, जानीयाद्-अवगच्छेत् । तथा-निवसनेन विशिष्टरचनाविरचितपरिहितपरिधानलक्षणेन महिला स्त्री तां, जानीयादिति सर्वत्र संबध्यते । धान्यानां द्रोणस्य पाकः सिक्थलक्षणः, तं च तन्मध्याद् गृहीत्वा निरीक्षितेनैकेन सिक्थेन जानीयात् । एकया च गाथया ललितत्यादिकाव्यधर्मोपेतया श्रुतया कविं जानीयात् । एवमत्राभिप्रायः-यदा स नेपथ्यपुरुषाद्यवयवरूपपरिकरबन्धादिदर्शनद्वारेण भटमहिला-

पाककविशब्दप्रयोगं करोति तदा भद्रादीन्यपि नामान्यवयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वादवयवनामान्युच्यन्त इति इह तदुपन्यास इति। इदं चावयवप्रधानतया प्रवृत्तत्वात्सामान्यरूपतया प्रवृत्ता-ङ्गौणनाम्नो भिद्यत इति ॥ अनु० ॥

अवयवि (ण्)-अवयविन्–त्रि० । प्रदेशिद्रव्ये, स्था०। रत्ना०। नन्ववयविद्रव्यमेव नास्ति, विकल्पद्वयेन तस्याऽयुज्यमानत्वात्, खरविषाणवत् । तथाहि-अवयविद्रव्यमवयवेभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा स्यात् ? । न तावदभिन्नम् । अभेदे हि अवयविद्रव्यवदवयवानामेकत्वं स्यात्, अवयववद्वाऽवयविद्रव्यस्याप्यनेकत्वं स्यात्, अन्यथा भेद एव स्यात्, विरुद्धधर्माध्यासस्य भेदनिबन्धनत्वादिति । भिन्नं चेत् तत् तेभ्यः, तदा किमवयविद्रव्यं प्रत्येकमवयवेषु सर्वात्मना समवैति, देशतो वेति ?। यदि सर्वात्मना तदाऽवयवसंख्यमवयविद्रव्यं स्यात्, कथमेकत्वं तस्य ?। अथ देशैः समवैति, ततो यैर्देशैरवयवेषु तद्वर्तते तेष्वपि देशेषु तत्कथं प्रवर्त्तते-देशतः, सर्वतो वा ?। सर्वतश्चेत्, तदेव दूषणम् । देशतश्चेत्तेष्वपि देशेषु कथम्?,इत्यादिरनवस्था स्यादिति । अत्रोच्यते–यदुक्तं विकल्पद्वयेन तस्यायुज्यमानत्वादिति । तदयुक्तम् । एकान्तेन भेदाभेदयोरनभ्युपगमात् । अवयवा एव हि तथाविधैकपरिणामतया अवयविद्रव्यतया व्यपदिश्यन्ते; त एव च तथाविधविचित्रपरिणामापेक्षया अवयवा इति । अवयविद्रव्याभावे तु एते घटावयवा एते च पटावयवा इत्येवमसङ्कीर्णावयवव्यवस्था न स्यात् । तथा च प्रतिनियतकार्यार्थिनां प्रतिनियतवस्तूपादानं न स्यात्, तथा च सर्वमसमञ्जसमापनीपद्येत । सन्निवेशविशेषाद्घटाद्यवयवानां प्रतिनियतता भविष्यतीति चेत्? । सत्यम्, केवलं स एव सन्निवेशविशेषोऽवयविद्रव्यमिति । यच्चोच्यते-विरुद्धधर्माध्यासो भेदनिबन्धनमिति । तदपि न सूक्तम् । प्रत्यक्षसंवेदनस्य परमार्थापेक्षया भ्रान्तत्वेन संव्यवहारापेक्षया त्वभ्रान्तत्वेनाभ्युपगमादिति । यदि नाम भ्रान्तत्वमभ्रान्तत्वं कथमिति ?, एवमत्रापि वक्तुं शक्यत्वादिति । किञ्च-विद्यते अवयविद्रव्यम्, अव्यभिचारितया तथैव प्रतिभासमानत्वात्, अवयववन्नीलवद्वा । नचायमसिद्धो हेतुः, तथाप्रतिभासस्यानुभूयमानत्वात् । नाप्यनैकान्तिकत्वविरुद्धत्वे, सर्ववस्तुव्यवस्थायाः प्रतिभासाधीनत्वात् । अन्यथा न किञ्चनापि वस्तु सिद्ध्येदिति । स्था० १ ठा० १ उ० । रत्ना० । आचा० । सम्म० ।

अवयासण–अवत्रासन–न० । वृक्षादीनां प्रभावेन चालने, पं० व० ४ द्वार ।

श्लेषण–न० । वृक्षादीनामालिङ्गापने, बृ० १ उ० ।

अवयासाविय–आश्लेषित–त्रि०। आलिङ्गिते,विपा०१ श्रु०४ अ०।

अवयासेऊण-अवकाश्य-अव्य०। प्रकाश्य प्रकटीकृत्येत्यर्थे,तं०।

अवर–अपर–त्रि० । अन्यस्मिन् , सूत्र०२ श्रु०२ अ०। प्रश्न०। नि० चू०। सू० प्र०। ज्ञा० । "अवरं वोच्छं" अपरमिति उक्तादन्यद् वक्ष्यामि । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। द्वितीयस्मिन्, चं० प्र०३ पाहु० । पश्चात्कालभाविनि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आ० म० । पश्चिमे, "अवरेण पन्नासं ताहे सिंधुदेविं ओवेह " । आ० म० प्र० । न परोऽपरः । स्वस्मिन्, बृ० ३ उ० ।

अवरकंका–अपरकङ्का--स्त्री०। धातकीखण्डभरतक्षेत्रराजधान्याम्, ज्ञा० १ अ० । (तत्र हृताया द्रौपद्या आनयनाय कृष्णस्य गमनं 'दुवई' शब्दे वक्ष्यते) एतदर्थप्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः षोडशेऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रश्न० । ज्ञा० । आव० । स्था० । "कण्हस्सऽवरकंका" कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य द्रौपदीनिमित्तमपरकङ्कागमनमाश्चर्यम् । कल्प० २ क्ष० ॥

अवरच्छ–अपरोक्ष–न० । अविद्यमानानि परेषामक्षीणि द्रष्टव्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमक्षे, त्रिंशत्तमे गौणचौर्ये च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अवरज्झंत–अपराध्यत्–त्रि० । दोषमावहति, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रजसा श्लिष्यमाणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । नश्यति, उत्त० ७ अ० ।

अवरण्ह–अपराह्ण–पुं० । दिनस्य चरमप्रहरे, स्था० ४ ठा० २ उ० । "पुव्वावरण्हकालसमयंसि" । पाश्चात्यापराह्णकालसमयो दिनस्य चतुर्थप्रहरलक्षणः । नि० ३ वर्ग ॥

अवरण्हकाल–अपराह्णकाल–पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य पश्चिमेन गमने, आ० चू० १ अ० ।

अवरत्त–अपररात्र–पुं० । रात्रेरपरे भागे, स्था० ४ ठा० २ उ०। "पुव्वावरत्तकालसमयंसि "। विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अवरदारिय--अपरद्वारिक--न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु, स०७सम०। "पुस्साइया णं सत्त णक्खत्ता अवरदारिया पन्नत्ता। तं जहा-पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गुणी, हत्थो, चित्ता" । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवरदाहिण--अपरदक्षिण–पुं० । अपरदक्षिणदिग्भागे, पञ्चा० २ विव० ।

अवरदाहिणा–अपरदक्षिणा–स्त्री०। नैर्ऋत्यां दिशि, व्य०७ उ०।

अवरद्ध--अपराद्ध--न० । अपराधनमपराद्धम् । पीडाजनकतायाम्, पिं० । विनाशिते, त्रि० । ज्ञा० १ अ० ।

अवरद्धिय-अपराद्धिक-पुं० । अपराधनमपराद्धम्–पीडाजनकता; तदस्यास्तीति अपराद्धिकः । लूतास्फोटे, सर्पादिदंशे च । पिं० ।

अवरफाणू -अपरपार्ष्णी--स्त्री० । पार्ष्णिकायाम्, व्य० ८ उ० ।

अवरमम्मवेहित्त–अपरमर्मवेधित्व–न०। परमर्मानुद्घट्टनस्वरूपत्वे विंशतितमे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अवरराय--अपररात्र--पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामद्वये, आचा०१ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह–अपरविदेह–पुं० । अपरश्चासौ विदेहश्च । स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहभागे, स्था० १० ठा० । तत्र सदा दुष्षमसुषमोत्तमर्द्धिः । स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । "दो अवरविदेहाई" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अवरविदेहकूम–अपरविदेहकूट-न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामख्याते कूटे, जं०४ वक्ष०। स्था०॥

अवरसामण्ण–अपरसामान्य–न० । द्रव्यत्वादौ-सामान्यव्याप्यसामान्ये, स्या० ।

अवरहा–अपरथा–अव्य० । अन्यथाऽर्थे, पञ्चा० ७ विव० ॥

अवराइया–अपराजिता–स्त्री० । महावत्सविजयक्षेत्रस्य रा–

जधानीयुगले, जं० ४ वक्ष० । स्था० । धातकीखराडपौरस्त्यार्धे शब्दविजयक्षेत्रयुगले राजधानीयुगले, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । उत्त० ।

अवराह—अपराध—पुं० । गुरुविनयलङ्घने, आव० १ अ० । "एत्थ मे अवराहं मरिसेह"। आ० म० द्वि० । (अपराधमर्षणे वधूदृष्टान्तोऽन्यत्र) " अवराहसहस्सधरणीओ " । अपराधसहस्रगृहणीरूपाः (स्त्रियः), ब्रह्मदत्तमातृचुलनीवत् । तं० ।

अवराहपय—अपराधपद—न० । मोक्षमार्गे प्रत्यपराधस्थाने, दश० ।

अपराधपदमाह -

इंदियविसयकसाया, परीसहा वेयणा य उवसग्गा ।
एए अवराहपया, जत्थ विसीयंति दुम्मेहा ॥१८१॥

इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, विषयाः स्पर्शादयः, कषायाः क्रोधादयः। इन्द्रियाणि चेत्यादि द्वन्द्वः। परीषहाः क्षुत्पिपासादयः, वेदना असातानुभवलक्षणाः, उपसर्गा दिव्यादयः। एतान्यपराधपदानि मोक्षमार्गे प्रत्यपराधस्थानानि। यत्र येष्विन्द्रियादिषु सत्सु विषीदन्ति आवध्यन्ते। किं सर्व एव ?। नेत्याह–दुर्मेधसः, क्षुल्लकवत्। कृतिनस्तु एभिरेव कारणभूतैः संसारकान्तारं तरन्तीति गाथाऽर्थः। क्षुल्लकस्तु पदे पदे विषीदन् संकल्पस्य वशं गतः। कोऽसौ क्षुल्लकः ?। कथानकम्-" कुंकणओ जहा एगो खंतो सपुत्तओ पव्वइओ। सो य चेल्लओ तस्स अईव इट्ठो सीयमाणो य भणइ-खंता ! ण सक्केमि अणुवाहणो हिंडिउं। अणुकंपाए खंतेण दिण्णाओ उवाहणाओ। ताहे भणइ-उवरितला सीएण फुट्टंति। खल्लिता से कयाओ। पुणो भणइ-सीसं मे अईव डज्झइ। ताहे सीसदुवारिया से अणुण्णाया। ताहे भणइ-न सक्केमि भिक्खं हिंडिउं। तो से पडिसए ठियस्स आणेइ। एवं ण तरामि खंत ! भूमीए सुविउं। ताहे संथारो से अणुण्णाओ। पुणो भणइ-ण तरामि खंत ! लोयं काउं। तो खुरेण पकिज्जियं। ताहे भणति-अण्हाणयं न सक्केमि। तओ से फासुयपाणएण कप्पो दिज्जइ। आयरियपाउग्गं च जुयलं घिप्पति। एवं जं जं भणति तं तं सो खंतो णेहपडिबद्धो तस्साऽणुजाणति। एवं काले गच्छमाणे पभणिओ–न तरामि अविरइयाए विणा अच्छिउं खंत ! त्ति। ताहे खंतो भणइ-सढो अजोग्गो त्ति काऊण पडिस्सयाओ णिप्फेडिओ। कम्मं काउं ण याणइ। अयाणंतो छुणसंखडीए धणिं काउं अजिण्णेण मओ। विसयविसट्टो मरिउं महिसो आयाओ वाहिज्जइ। सो य खंतो सामण्णपरियागं पालेऊण आउक्खए कालगओ देवसु उववण्णो, ओहिं पउंजइ। ओहिणा आभोएऊण तं चेल्लयं तेण पुव्वणेहेणं तेसिं गाहाणं हत्थओ किणइ। वेउव्वियभंडीए जोएइ वाहेइ य गरुगं तं। अतरंतो वोढुं तोत्तएण विंधेउं भणइ-ण तरामि खंता ! भिक्खं हिंडिउं। एवं भूमीए सयणं लोयं काउं। एवं ताणि वयणाणि सव्वाणि उच्चारेति, जाव अविरइयाए विणा न तरामि खंत ! त्ति। ताहे एवं भणतस्स तस्स महिसस्स इमं चित्तं जायं-कहिं एरिसं वक्कं सुयं ति ?। ताहे ईहापूहमग्गणगवेसणं करेइ। एवं चिंतयंतस्स तस्स जातिसरणं समुप्पण्णं। देवेण ओही पउत्ता। संबुद्धो पच्छा भत्तं पच्चक्खइत्ता देवलोयं गओ"। "एवं पए पए विसीदंतो संकप्पस्स वसं गच्छति। जम्हा एसो दोसो तम्हा अट्ठारससीलंगसहस्साणं सारणाणिमित्तं एए अवराहपए वज्जेज्ज"। तथाचाह–

अट्ठारस उ सहस्सा, सीलंगाणं जिणेहिँ पन्नत्ता ।
तेसिं पडिरक्खणट्ठा, अवराहपए उ वज्जेज्जा ॥१८२॥

अष्टादश सहस्राणि; तुरवधारणे; अष्टादशैव, शीलं भावसमाधिलक्षणं, तस्याङ्गानि भेदाः, करणानि वा शीलाङ्गानि; तेषां जिनैः प्राग्निरूपितशब्दार्थैः प्रज्ञप्तानि प्ररूपितानि। तेषां शीलाङ्गानां, परिरक्षणार्थं परित्राणनिमित्तं, अपराधपदानि प्रागभिहितस्वरूपाणि, वर्जयेद् जह्यादिति गाथार्थः। दश० २ अ०। आ० चू०।

अवराहसल्लप्पभव–अपराधशल्यप्रभव–त्रि०। पृथ्वीसंघट्टाद्यतिचाररूपशल्यनिमित्ते, पञ्चा० १६ विव०।

अवराहुत्त–अपराभूत–पुं० । पश्चान्मुखे, " अवराहुत्तो ठायंति "। आव० ४ अ०।

अवरिं–उपरि–अव्य०। " वोपरौ " ८।१।१०८। इति उतोऽत्वम्। " वक्रादावन्तः " ८। १।२६। इत्यनुस्वारागमः। प्रा० १ पाद। प्रथमापञ्चमीसप्तम्यन्तार्थवृत्तेरूर्ध्वशब्दस्यार्थे, वाच०।

अवरिल्ल–(न०)उपरि–अव्य०। प्रावरणे, " उपरेः संव्याने "। ८। २। १६६। इति संव्यानेऽर्थे वर्तमानादुपरिशब्दात् स्वार्थे ल्लविधानात्। प्रा० २ पाद।

अवरिसण–अवर्षण–न०। अपानीयपाते, दर्श०।

अवरुत्तर-अपरोत्तर-पुं०। अपरोत्तरस्यां दिशि, पञ्चा० २ विव०।

अवरुत्तरा–अपरोत्तरा–स्त्री०। वायव्यां दिशि, व्य० ७ उ०।

अवरोप्पर–अपरस्पर–न०। "परस्परस्यादिरः"। ८। ४। ४०६। इति अपभ्रंशे परस्परशब्दस्यादिरकारः। अन्योऽन्यशब्दार्थे, "अवरोप्पर जोहँताहँ, सामिउ गंजिउ जाहँ"। प्रा० ४ पाद।

अवरोह–अवरोध–पुं०। अन्तःपुरे, औ०। परचक्रेणावेष्टने, नि० चू० ८ उ०। (तत्र भिक्षाटनाऽऽदिव्यवस्था 'उवरोह' शब्दे द्वितीयभागे ९०७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अवलंब–अवलम्ब–त्रि०। अधोमुखतयाऽवलम्बमाने, औ०।

अवलंबग–अवलम्बक–न०। दराडके, व्य० ४ उ०।

अवलंबण–अवलम्बन–न०। अवलम्ब्यत इति अवलम्बनम्। कृद्बहुलमिति वचनात्कर्मण्यनट्। विशेषसामान्यार्थावग्रहे, नं०। कथं विशेषसामान्यार्थावग्रहोऽवलम्बनम् ?, इति चेत्। उच्यते। इह शब्दोऽयमित्यपि ज्ञानं विशेषावगमरूपत्वादवायज्ञानम्। तथाहि–शब्दोऽयं, नाशब्दो रूपादिरिति शब्दस्वरूपावधारणं विशेषावगमः, ततोऽस्माद् यत्पूर्वमनिर्देश्यसामान्यमात्रमवग्रहणमेकसामायिकं स पारमार्थिकोऽर्थावग्रहः। तत ऊर्ध्वं तु यत्किमिदमिति विमर्शनं सा ईहा, तदनन्तरं तु शब्दस्वरूपावधारणं शब्दोऽयमिति तदवायज्ञानम्। तत्रापि यदा उत्तरधर्मजिज्ञासा भवति–किमयं शब्दः शाङ्खः, किं वा शार्ङ्गः ? इति; तदा प्राच्यस्य शब्द इति ज्ञानमुत्तरविशेषावगमापेक्षया सामान्यमात्रावलम्बनमित्यवग्रह इत्युपचर्यते। स च परमार्थतः सामान्यविशेषरूपार्थावलम्बन इति विशेषसामान्यार्थावग्रह इत्युच्यते। इदमेव च शब्द इति ज्ञानमालम्ब्य किमयं शाङ्खः, किं वा शार्ङ्गः ? इति ज्ञानमुदयते। ततो विशेषसामान्यार्थावग्रहो ऽवलम्बनम् ॥ नं०। अवलम्ब्यते इत्यवलम्बनम्। अवतरतामुत्तरतां चावलम्बनहेतुभूते प्रवलम्बनवाहातो विनिर्गतेऽवयवे, जं० १ वक्ष०। रा०। जी०।

आ० म० । अवलम्ब्यते इत्यवलम्बनम् । वेदिकायाम् , मत्तवारणे, कायावलम्बे च । नि० चू० ।

अवलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे य णायव्वं ।
दुहतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णायव्वा ॥

अवलंबणं दुविहं-भूमीए वा, संकमे वा जवति । भूमीए विसमे लग्गणणिमित्तं कज्जति । संकमे वि लग्गणणिमित्तं कज्जति । सो पुण दुहओ एगओ य भवति । सा पुण (वेइय त्ति) मत्तावलंबो, नि० चू० १ उ० । भावे ल्युट्, करेण बाह्वादि गृहीत्वा धारणे, "सव्वंगियं तु गहणं,करेण अवलंबणं तु देसम्मि" त्ति । स्था०५ ठा० २ उ० । (पर्वतादौ पतन्त्या निर्ग्रन्थ्या अवलम्बनं ' गहण ' शब्दे वक्ष्यते)

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री० । अवलम्बनस्य भावोऽवलम्बनता, अवग्रहे, नं० ।

अवलंबणबाहा-अवलम्बनबाहा-स्त्री० । उभयोः पार्श्वयोरवलम्ब्यमानानामाश्रयभूतायां भित्तौ, आ० म० प्र० । जं० । जी० ॥

अवलंबिऊण-अवलम्ब्य-अव्य० । आश्रित्येत्यर्थे, पं० व० २ द्वार । ग० । विषयीकृत्येत्यर्थे, आव० ५ अ० ।

अवलंबित्तए-अवलम्बितुम्-अव्य० । आकर्षयितुमित्यर्थे, दशा० ७ अ० ।

अवलंबिय-अवलम्बित-त्रि० । अविच्छिन्ने, ज्ञा० १ अ० ।

अवलम्ब्य-अव्य० । लगित्वेत्यर्थे, "णो गाहावतिकुलस्स दुवारसाहं अवलंबिय अवलंबिय चिट्ठेज्जा" । आचा०२श्रु०१अ०६उ० ।

अवलद्ध-अपलब्ध-त्रि० । न्यक्कारपूर्वतया लब्धे, स्था० ७ ठा० । " परघरप्पवेसे लद्धावलद्धकाइं " । अन्त० ५ वर्ग ।

अवलाव-अपलाप-पुं० । निह्नवे, नि० चू० । यथा कस्य सकाशेऽधीतम् ?, इति प्रश्ने अन्यसकाशेऽधीतमन्यस्मै कथयति । नि० चू० १ उ० । आव० ।

अवालिंब-अवलिम्ब-पुं० । देशविशेषे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अवलेहणिया-अवलेखनिका-स्त्री० । अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्या प्रतन्व्यां त्वचि, स्था० ४ ठा० २ उ० । वर्षावासकर्दमस्फेटनिकायां पादलेखनिकायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अवलोहिया-अवलोहिका-स्त्री० । तन्दुलकचूर्णकसिद्धे दुग्धे, सिद्धे लेह्यविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अवलोअण-अवलोकन-न० । दर्शने, रत्नाधिकादौ मृते कपणमस्वाध्यायश्च कार्यः । ततोऽन्यदिने परिज्ञानावावलोकनं कार्यम् । आव० ४ अ० ।

अवलोयणसिहरसिला-अवलोकनशिखरशिला-स्त्री० । उज्जयन्तपर्वतशिलाविशेषे,उज्जयन्ते-"अवलोअणसिहरसिला, अवरेणं तत्थ वररसो सवइ । सुअपक्खसरिसवन्नो,करेइ सुब्बवरं हेमं " ॥२७॥ ती० ४ कल्प ।

अवलोव-अवलोप-पुं० । वस्तुसद्भावप्रच्छादने त्रिंशत्तमे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवल्लय-अवल्लक-न० । नौकाक्षेपणोपकरणभेदे, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अवव-अवव-न० । सङ्ख्याविशेषे, चतुरशीतिरववाङ्गशतसहस्राणि एकमववम् । जी० ३ प्रति० । भ० । कर्म० । जं० । अनु० । स्था० ।

अववंग-अववाङ्ग-न० । संख्याविशेषे, चतुरशीतिरडडसहस्राणि एकमववाङ्गम् । जी० ३ प्रति० । कर्म० । अनु० । स्था० ।

अववक्का-अवपाक्या-स्त्री० । तापिकायाम्, भ० ११ श० ११ उ० ।

अववग्ग-अपवर्ग-पुं० । मोक्षे, आ० म० द्वि० ।

अववट्टण-अपवर्त्तन-न० । कर्मपरमाणूनां दीर्घस्थितिकालतामपगमय्य ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० ५ द्वार ।

अववट्टणा-अपवर्त्तना-स्त्री० । अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थित्यादि यया साऽपवर्तना । स्थित्यनुभागयोर्ह्रस्वीकरणे, क० प्र० ।

तत्र तावत् स्थितिविषयाऽपवर्तनामाह-

ओवट्टंतो य ठिइं, उदयावलिबाहिरा ठिइविसेसा ।
निक्खवइ से तिजागे, समयाहिएँ सेसमवई य ॥२१८॥
वड्ढइ ततो अतित्था-वणा य जावालिगा हवइ पुन्ना ।
ता निक्खेवो समया-हिगालिगदुगक्कमाठिइ ताणं ॥२१९॥

स्थितिमपवर्तयन् उदयावलिकाबाह्यान् स्थितिविशेषान् स्थितिभेदान् अपवर्तयति । के ते स्थितिविशेषाः ?, इति चेत् । उच्यते-उदयावलिकाया उपरि समयमात्रा स्थितिः द्विसमयमात्रा स्थितिः, एवं तावद्वाच्यं यावद् बन्धावलिकोदयाऽऽवलिका हीना सर्वा कर्मस्थितिः । एते स्थितिविशेषाः । उदयावलिकागता च स्थितिः सकलकरणयोग्येति कृत्वा तां नापवर्तयति । तत उक्तम्-उदयावलिकाबाह्यानिति । कुत्र निक्षिपतीति चेत् ? । उच्यते । अत आह-निक्षिपति-आवलिकायास्त्रिभागे तृतीये भागे समयाधिके शेषं समयं न मुञ्चत्युपरितनं त्रिभागद्वयमतिक्रम्य । इयमत्र भावना-उदयावलिकाया उपरितनी या स्थितिस्तस्या दलिकमपवर्तयन् उदयावलिकाया उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ समयोनावतिक्रम्याधस्तने समयाधिके तृतीये भागे निक्षिपति; एष जघन्यो निक्षेपो, जघन्या चातिस्थापना । यदा उदयावलिकाया उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्तयते तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणा द्विसमयाधिका भवति । निक्षेपस्तु तावन्मात्र एव । एवमतिस्थापना प्रतिसमयं तावद्वृद्धिमुपनेतव्या यावदावलिका परिपूर्णा भवति । ततः परमतिस्थापना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव भवति; निक्षेपस्तु वर्द्धते । स च तावद् यावद् बन्धावलिकाऽतिस्थापनाऽऽवलिकारहिता सर्वाऽपि कर्मस्थितिः । उक्तं च-"समयाहि अइत्थवणा, बंधावलिया य मोत्तु निक्खेवो । कम्मठिई बंधोदय-आवलिअं मुत्तु ओवट्टे" ॥१॥ कर्मस्थितिर्बन्धावलिकामुदयावलिकां च मुक्त्वा शेषां सर्वामपि अपवर्तयति इत्यर्थः । तदेवमुदयावलिकाया उपरितनं समयमात्रं स्थितिस्थानं प्रतीत्य वर्त्तमानायामपवर्तनायां समयाधिके आवलिकायाः त्रिभागो निक्षेपः प्राप्यते । स च सर्वजघन्यः । सर्वोपरितनं च स्थितिस्थानं प्रतीत्य प्रवर्त्तमानायामपवर्तनायां यथोक्तरूप उत्कृष्टो निक्षेपः । उक्तं च-"उदयावलि उपरित्थं, ठाणं अहिकिच होइ अइहीणो । निक्खेवो सव्वोपरि,ठिइठाणवसा भवे परमो" ॥ १ ॥ एष निर्व्याघाते अपवर्तनाऽधिकारविधिरुक्तः ।

संप्रति व्याघाते तमाह-

वाघाए समऊणं, कंडगमुक्कस्सिआ अइत्थवणा ।
मायठिई किंचूणा, ठिइ कंडुक्कस्सगपमाणं ॥ २२० ॥

अत्र व्याघातो नाम स्थितिघातः;तस्मिन् सति तं कुर्वत इत्यर्थः। समयोनं कण्डकमात्रमुत्कृष्टा अतिस्थापना। कथं समयोनमिति चेत् ?। उच्यते-उपरितनेन समयमात्रेण स्थितिस्थानेनापवर्त्यमानेन सह अधस्तात् कण्डकमतिक्रम्यते। ततस्तेन विना कण्डकं समयोनमेव भवति । कण्डकमानमाह-" डायठिई इत्यादि "। यस्याः स्थितेरारभ्य तस्या एव प्रकृतेरुत्कृष्टं स्थितिबन्धमाधत्ते, ततः प्रभृति सर्वा साऽपि स्थितिर्डायस्थितिरिति उच्यते । उक्तं च पञ्चसङ्ग्रहमूलटीकायाम्— यस्या यस्याः स्थितेरारभ्य उत्कृष्टं स्थितिबन्धं विधत्ते निर्मापयति तस्या आरभ्य उपरितनानि सर्वाण्यपि स्थितिस्थानानि मायस्थितिसंज्ञानि भवन्ति, सा मायस्थितिः किञ्चिदूना कण्डकस्योत्कृष्टं प्रमाणम्। पञ्चसङ्ग्रहे पुनरेवं मूलटीकाव्याख्या कृता-"सा मायस्थितिरुत्कर्षतः किञ्चिदूना किञ्चिदूनकर्मस्थितिप्रमाणा वेदितव्या । तथाहि-अन्तःकोटीकोटीप्रमाणं स्थितिबन्धमाधाय पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय उत्कृष्टसंक्लेशवशादुत्कृष्टां स्थितिं विधत्ते इति सा डायस्थितिरुत्कर्षतः किञ्चिदूनकर्मप्रमाणस्थितिप्रमाणेति,सा चोत्कृष्टं कण्डकमुच्यते। इयमुत्कृष्टव्याघातोऽतिस्थापना। एतच्चोत्कृष्टं कण्डकं समयमात्रेणापि न्यूनं कण्डकमुच्यते। एवं समयद्वयेन,समयत्रयेण,एवं तावद् न्यूनं वाच्यं यावत् तत्पल्योपमासंख्येयभागमात्रं प्रमाणं भवति; तच्च जघन्यं कण्डकम्,इयं च समयोनजघन्या व्याघातेऽतिस्थापना। संप्रत्यल्पबहुत्वमुच्यते-तत्रापवर्त्तनायां जघन्यो निक्षेपः सर्वस्तोकः, तस्य समयाधिकावलिकात्रिभागमात्रत्वात्। ततोऽपि जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना,कथं त्रिसमयोनं द्विगुणत्वमिति चेत् ?। उच्यते-व्याघातमन्तरेण जघन्या अतिस्थापना आवलिकात्रिभागद्वयं समयोनं भवति,आवलिका चाऽसत्कल्पनया नवसमयप्रमाणा कल्प्यते, ततस्त्रिभागद्वयं समयोनं पञ्चसमयप्रमाणमवगन्तव्यम्। निक्षेपोऽपि जघन्यः समयाधिकावलिकात्रिभागरूपोऽसत्कल्पनया चतुःसमयप्रमाणो द्विगुणीकृतस्त्रिसमयोनः सन् तावानेव भवतीति। ततोऽपि व्याघातं विना उत्कृष्टा अतिस्थापना विशेषाधिका,तस्याः परिपूर्णावलिकामात्रत्वात्। ततो व्याघाते उत्कृष्टा अतिस्थापना असंख्येयगुणा,तस्या उत्कृष्टमायस्थितिप्रमाणत्वात्। ततोऽप्युत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, तस्य समयाधिकावलिका द्विकोनसकलकर्मस्थितिप्रमाणत्वात्, ततः सर्वा कर्मस्थितिर्विशेषाधिका। संप्रत्युद्वर्त्तनापवर्त्तनयोः संयोगेनाल्पबहुत्वमुच्यते-तत्रोद्वर्त्तनायां व्याघाते जघन्यातिस्थापनानिक्षेपौ सर्वस्तोकौ,स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यौ, आवलिकासंख्येयभागमात्रत्वात्। ततोऽपवर्त्तनायां जघन्यो निक्षेपोऽसंख्येयगुणः, तस्य समयाधिकावलिकात्रिभागमात्रत्वात् । ततोऽप्यवर्त्तनायां जघन्यातिस्थापना द्विगुणा त्रिसमयोना। अत्र भावना प्रागेव कृता। ततोऽप्यपवर्त्तनायामेव व्याघातं विना उत्कृष्टा अतिस्थापना विशेषाधिका, तस्याः परिपूर्णावलिकाप्रमाणत्वात्। तत उद्वर्त्तनायामुत्कृष्टातिस्थापना संख्येयगुणा,तस्या उत्कृष्टाबाधारूपत्वात्। ततोऽपवर्त्तनायां व्याघाते उत्कृष्टा अतिस्थापना असंख्येयगुणा, तस्या उत्कृष्टडायस्थितिप्रमाणत्वात् । तत उद्वर्त्तनाया उत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः; ततोऽप्यपवर्त्तनायामुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः; ततोऽपि सर्वा स्थितिर्विशेषाधिका"। क०प्र०। पं० सं०।

संप्रत्यनुभागापवर्त्तनामतिदेशेनाह—

.............................एवं ओवट्टणाई उ ॥ १२१ ॥

एवमुद्वर्त्तनाप्रकारेणापवर्त्तनाऽप्यनुभागविषया वक्तव्या, केवलमादित आरभ्य स्थित्यपवर्त्तनावत् । तद्यथा-प्रथमं स्पर्द्धकं नापवर्त्यते, नापि द्वितीयं, नापि तृतीयं, एवं तावद्वक्तव्यं यावदावलिकामात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि भवन्ति । तेभ्य उपरितनानि तु स्पर्द्धकान्यपवर्त्यन्ते । तत्र यदा उदयावलिकाया उपरि समयमात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकानि अपवर्त्तयति तदा समयोनावलिकात्रिभागद्वयगतानि स्पर्द्धकानि अतिक्रम्याधस्तनेषु आवलिकासत्कसमयाधिकत्रिभागगतेषु स्पर्द्धकेषु निक्षिप्यते। यदा तूदयावलिकाया उपरि न द्वितीयसमयमात्रस्थितिगतानि स्पर्द्धकान्यपवर्तयति, तदा प्रागुक्ता अतिस्थापना समयोनावलिकात्रिभागद्वयप्रमाणा समयमात्रस्थितिगतैः स्पर्धकैरधिकाऽवगन्तव्या। निक्षेपस्तु तावन्मात्र एव, एवं समयवृद्ध्या अतिस्थापना तावद्वृद्धिमुपनेतव्या यावदावलिका परिपूर्णा भवति, ततः परमतिस्थापना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव। निक्षेपस्तु वर्द्धते,एवं निर्व्याघाते सति द्रष्टव्यम्। व्याघाते पुनरनुभागकण्डकं समयमात्रस्थितिगतस्पर्द्धकन्यूनमतिस्थापना द्रष्टव्या। कण्डकमानं समयमात्रन्यूनत्वं च यथा प्राक् स्थित्यपवर्त्तनायामुक्तं तथाऽत्रापि द्रष्टव्यम् । अत्राल्पबहुत्वमुच्यते-सर्वस्तोको जघन्यनिक्षेपः, ततो जघन्यातिस्थापना अनन्तगुणा; ततो व्याघाते अतिस्थापना अनन्तगुणा, तत उत्कृष्टमनुभागकण्डकं विशेषाधिकम्, तस्य एकसमयगतैः स्पर्द्धकैरतिस्थापनातोऽधिकत्वात् । तत उत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, ततोऽपि सर्वोऽनुभागो विशेषाधिकः। क० प्र०। पं० सं०।

अववट्टणासंकम—अपवर्त्तनासंक्रम—पुं०। प्रभूतस्य सतो रसस्य स्तोकीकरणे, पं० सं०। अपवर्त्तनासंक्रमस्तु बन्धेऽबन्धे वा प्रवर्त्तते। " सव्वत्थाऽववट्टणा ठिइरसाणं " इति वक्ष्यमाणवचनात्। पं० सं० ५ द्वार।

अववयमाण—अवपतत्—त्रि०। मृषावादमकुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

अववरोवित्ता—अव्यवरोपयिता—स्त्री०। अभ्रंशकतायाम्, "जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ "। स्था० ६ ठा०।

अववाय—अपवाद—पुं०। परदूषणाभिधाने, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार। द्वितीयपदाश्रयणे, दर्श०। ध०। विशेषोक्तविधौ,यथा-"पुढवाइसु आसेवा, उप्पन्ने कारणम्मि जयणाए। मिगरहियस्स ठियस्सा, अववाओ होइ नायव्वो" ॥१॥ दर्श०। ध०। पञ्चा०। प्रति०। नि० चू०। उत्सर्गस्य प्रतिपक्षे, बृ०१ उ०। (विशेषवक्तव्यता 'सुत्त' शब्दे वीक्ष्या) तथाविधद्रव्यक्षेत्रकालभावापत्सु च निपतितस्य गत्यन्तराभावे पञ्चकादियतनयाऽनेषणीयादिग्रहणे, स्था०। अनुज्ञायाम्, नि० चू० १ उ० । निश्चयकथायाम्, नि० चू० ५ उ० ॥

अववायकारि(ण्)—अवपातकारिन्—पुं०। आज्ञाकारिणि, पं० सं० १ द्वार।

अववायसुत्त—अपवादसूत्र—न०। अपवादिकार्थप्ररूपके सूत्रभेदे, बृ० १ उ०। ('सुत्त' शब्दे विवृतिरस्य द्रष्टव्या)

अवविह—अवविध—त्रि०। स्वनामख्याते आजीविको-(गोशालकमतो-) पासके, भ० ८ श० ५ उ०।

अवशल-अवसर-पुं० । मागध्याम् "रसोर्लशौ" ॥८।४।२८८॥ इत्यनेन रूपनिष्पत्तिः। प्रस्तावे, "णं अवशलोपसप्पणीया लाअणो "। प्रा० ४ पाद २०३ सूत्र।

अवस-अवश-पुं० । कर्मपरवशे, उत्त०६ अ० । परवशे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । उत्त० । प्रश्न० ।

अवश्यम्-अव्य० । "अवश्यमो डें-डौ" । ८ । ४ । ४२७ । इत्यपभ्रंशे स्वार्थे मः। निश्चये, अशक्यनिवारणे च । "अवस न सुअहि सुअच्छिअहि " । प्रा० ४ पाद ।

अवसउण-अपशकुन-न० । अशुभसूचके निमित्तभेदे, बृ० ।

तानि च—

मलिणकुचेले अब्भं-गियल्लए साणखुज्जवमभे य ।
एए तु अप्पसत्था, हवंति खित्ताउ णिंतस्स ॥

मलिनः शरीरेण वस्त्रैर्वा मलीमसः; कुचेलो जीर्णादिवस्त्रपरिधानः; अभ्यङ्गितः स्नेहाभ्यक्तशरीरः, श्वा वामपार्श्वाद्दक्षिणपार्श्वगामी, कुब्जो वक्रशरीरः । वमभो वामनः । एते मलिनादयोऽप्रशस्ता भवन्ति क्षेत्रान्निर्गच्छतः ॥

तथा—

रत्तपमचरगतावस-रोगियविगला य आउए विज्जा ।
कासायवत्थउद्धू-लिया य जत्तं न साहिंति ॥

रक्तपटाः सौगताः,चरकाः काणादाः, धाटीवाहका वा; तापसा सरजस्काः; रोगिणः कुष्ठादिरोगाक्रान्ताः,विकलाः पाणिपादाद्यवयवव्यङ्गिताः, आतुरा विविधदुःखोपहुताः, वैद्याः प्रसिद्धाः, काषायवस्त्राः कषायवस्त्रपरिधानाः, उद्धूलिता भस्मोद्धूलितगात्राः धूलीधूसरा वा । एते क्षेत्रान्निर्गच्छद्भिर्दृष्टाः सन्तो यात्रा गमनं, तत्प्रवर्त्तकं कार्यमप्युपचारात् यात्रा, तां न साधयन्ति । उक्ता अपशकुनाः । बृ० १ उ० ।

अवसक्कण-अवष्वष्कण-न० । साध्वर्थायावसर्पणे, पञ्चा० १३ विव० । आचा० । पश्चाद्गमने, प्रव० २ द्वार ।

अवसक्कि (ण्)-अवष्वष्किन्-त्रि० । अवसर्पणशीले, सूत्र०२ श्रु० ६ अ० २ उ० । दूरगमनशीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ॥

अवसज्ज-गम्-धा० । " गमेरई-अइच्छाणुवज्जावसज्जसोक्कु० । ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवसज्जाऽऽदेशः । अवसज्जइ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसप्पि [ण्] अवसर्पिन्-त्रि० । परिहारिणि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ॥

अवसय-अपसद-त्रि० । तुच्छे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ॥

अवसर-अवसर-पुं० । प्रस्तावे, विभागे च । दश० १ अ० । "अहुणाऽवसरो णिसीहचूलाए" । नि० चू० १ उ० ।

अवसरण-अवसरण-न० । समवसरणे, प्रव० ६२ द्वार । भ० ।

अवसवस-अपस्ववश-त्रि० । अपगतात्मतन्त्रत्वे, आ० १६ अ० ।

अवसह-अवसथ-पुं० । गृहे, उत्त० ३२ अ० ॥

अवसावण-अवश्रावण-न० । काञ्जिके, " अवसावणं लाडाणं कंजियं भणइ " त्ति । इह लाटदेशेऽवश्रावणकं काञ्जिकं भण्यते । बृ० १ उ० ।

अवसिद्धंत-अपसिद्धान्त-पुं० । सिद्धान्तापभ्रान्ते," संसारकारणाद् घोरा-दपसिद्धान्तदेशनात् " । स्था० १० ठा० ॥

अवसे-अवश्यम्-अव्य० । " अवश्यमो डें-डौ " । ८ । ४ । ४२७ । इत्यपभ्रंशेऽवश्यमः स्वार्थे 'डें' प्रत्ययः । " अवसें सुअहिं पणहँ " प्रा० ४ पाद ॥

अवसेस-अवशेष-पुं० । अवशिष्टे, स्था० ७ ठा० । आतु० । तदतिरिक्ते, उपा० १ अ० ॥

अवसेह-गम्-धा० । " गमेरई-अइच्छाणुवज्जा० " ८ । ४ । १६२ इति सूत्रेण गमेरवसेहादेशः । अवसेहइ-गच्छति । प्रा० ४ पाद ॥

अवसेह-नश्-धा० । अदर्शने, " नशेर्णिरिणास-णिवहावसेह० " ८ । ४ । १७८ । इत्यादिसूत्रेणावसेहादेशः । अवसेहइ—नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवसोग-अपशोक-पुं० । वीतशोके, जम्बूद्वीपापेक्षया द्वादशद्वीपाधिपतौ देवे, द्वीप० ।

अवस्स-अवश्य-त्रि० । अवश्यंपर्यायोऽवश्यशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति । आ० म० द्वि० । प्रश्न० । नियते, आव० ४ अ० ।

अवस्सकम्म-अवश्यकर्मन्-न० । अवश्यक्रियायाम, आ० चू० १ अ० ।

अवस्सकरणिज्ज-अवश्यकरणीय-न० । मुमुक्षुभिरवश्यं क्रियते इति अवश्यंकरणीयम् । विशे० । आवश्यके, मुमुक्षुभिर्नियमानुष्ठेयत्वात्तस्य । अनु० । अवश्यकरणमिति प्रश्ने प्रदर्श्यते—अन्वर्थत्वादवश्यकरणसंज्ञायाः, भास्करवत्, अवश्यकरणीयत्वादवश्यकरणं कुर्वन्तीति । कथमिदमवश्यकरणं, कथमियमन्वर्थेति ? दर्श्यते-अर्थमनुगता या संज्ञा साऽन्वर्था; अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तत इत्यर्थः । कथमिदं?,यथा-भास्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था ?, भासं करोतीति भास्कर इति यो भासनार्थः,तमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तत इत्यन्वर्था । तथाऽवश्यकरणमिति इयं संज्ञा अन्वर्था । कथमिति चेत् ? ब्रूमहे-अवश्यं क्रियत इत्यवश्यकरणमिति योऽवश्यकरणार्थोऽवश्यकर्त्तव्यता तमङ्गीकृत्य प्रवर्त्तते यस्मात्तस्मात्सर्वैकेवलिभिः सिद्धैश्चावश्यंक्रियमाणत्वादवश्यंकरणमित्यन्वर्थसंज्ञासिद्धिः । आ० चू०२ अ० ।

अवस्सकिरिया-अवश्यक्रिया-स्त्री० । पापकर्मनिषेधे, " अवस्सकम्मं ति वा अवस्सकिरियं ति वा एगट्ठा " । आ० चू० १ अ० ।

अवह-कृप्-धा० । सामर्थ्ये, " कृपोऽवहो णिः " । ८ । ४ । १५१ । इति कृपेः 'अवह' इत्यादेशो ण्यन्तो भवति । अवहावेइ-कल्पते । प्रा० ४ पाद ।

अवह-रच्-धा०-चुरा० । प्रतियत्ने, "रचेरुग्गहावह-विडविड्डाः" । ८ । ४ । ९४ । इति रचेर्धातोः 'अवह' आदेशः । अवहइ-रचयति । प्रा० ४ पाद ।

अवहइ-अपहति-स्त्री० । विनाशे, विशे० । आ० म० ।

अवहट्टु-अपहृत्य-अव्य० । परिहृत्य, (औ०) परित्यज्य, (सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । दश० । दशा०) निकृष्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अवहड-अपहृत-त्रि० । " प्रत्यादौ डः " । ८ । १ । २०६ । इति तस्य डः । प्रा० १ पाद । परिहृते, नि० चू० १० उ० । आव० ।

"थालभं अवहाय० अवहमे विसुके भवइ" । निःशेषबालाग्रलेपापहारात् । भ० ६ श० ७ उ० । नि० चू० । आव० । देशान्तरं नीते, प्रव० १ द्वार ।

अवहत्थिय–अपहस्तित–त्रि० । निराकृते, नं० ॥

अवहट्टुसंजम–अपहृत्यसंयम–पुं० । अवधिनोच्चारादीनां परिष्ठापनतः क्रियमाणे, स० १७ सम० ।

अवहण–अवहनन–न० । उदूखले, बृ० १ उ० ।

अवहमाण–अघ्नत्–त्रि० । न घ्नन् अघ्नन् । आरम्भाऽकरणेन पीडामकुर्वति, " एसंते अवहमाणा उ " । दश० १ अ० ॥

अवहर–गम्–धा० । "गमेरईअइच्छा०" ८ । ४ । १६२ । इत्यादिना गमेरवहरादेशः । अवहरइ–गच्छति । प्रा० ४ पाद ।

नश्–धा०–दिवा० । अदर्शने, "नशेर्णिरिणास–णिवहावसेह–पडिसा–वसेहावहराः " । ८ । ४ । १७८ । इति नशेरवहरादेशः । अवहरइ–नश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अप–हृ–धा० । चोरणे, स्था० ५ ठा० १ उ० । स्वीकरणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रश्न० । उपा० । भूते तु–' अवहरिसु ' अपहृतवान् । स्था० १० ठा० ।

अवहाय–अपहाय–अव्य० । त्यक्त्वेत्यर्थे, भ० १५ श० १ उ० । सूत्र० ॥

अवहार–अपहार–पुं० । अपहरणमपहारः । आ० म० द्वि० ॥ गर्भादेर्बहिष्करणे, नि० चू० ।

वमणविरेगादीहिं, अब्भंतरपोग्गलाण अवहारो ।
तेल्लुव्वट्टणजलपु––प्फचुण्णमादिहिँ वज्झाणं ॥

अब्भंतराणं दूसियभंसियापित्तरुहिरादियाण वमणविरेचणादीहिं अवहारो बाहिरो सरीरातो पूयसोणियसिंघाणगलाहगब्भमलादि तेल्लुव्वट्टणादिहिं बज्झं अवहरति । नि० चू० ७ उ० । चौर्ये, उत्त०४ अ० । प्रश्न० । जलचरविशेषे, प्रश्न०२ आश्र०द्वार ।

अवहारवं–अवधारवत्–पुं० । अवधारणावति, स्था० १० ठा० ।

अवहि–अवधि–पुं० । अवशब्दोऽधःशब्दार्थः । अव अधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वा–अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव वस्तुषु द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपतया, तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । प्रत्यक्षज्ञानभेदे, प्रज्ञा० २८ पद । (' ओहि ' शब्दे तृतीयभागे १४० पृष्ठे व्याख्यास्यते)

अवहेड–मुच्–धा० । मोचने, " मुचेश्छड्डावहेड–मेल्लोस्सिक्क–रेअव–णिलुञ्छ–धंसाडाः" । ८ । ४ । ९१ । इति मुञ्चतेरवहेडादेशः । ' अवहेडइ '–मुञ्चति । प्रा० ४ पाद ।

अवहेडिय–अवाधःकृत–अवकोटित–त्रि० । प्राकृतत्वात्तथारूपम् । अधस्तादामोटिते, ' अवहेडियपट्ठिसउत्तमंगे ' । उत्त० १२ अ० ।

अवहोलंत–अवदोलयत्–त्रि० । दोलायमाने, ज्ञा० ८ अ० ।

अवाइअसंगया–अवाध्यसङ्गता–स्त्री० । जलादिनाऽप्रतिरुद्धतायाम्, द्वा० ।

" समानस्य जयाज्ज्वालो–दानस्याबाध्यसङ्गता " । उदानस्य कृकाटिकादेशादाशिरोवृत्तेर्जयाद्वितरेषां वायूनां निरोधादूर्ध्वगतित्वसिद्धेरबाधिना जलादिनाऽसंगताऽप्रतिरुद्धता । जितोदानो हि योगी जले महानद्यादौ महति वा कर्दमे तीक्ष्णेषु वा कण्टकेषु न सज्जति, किन्तु लघुत्वात्तूलपिण्डवज्जलादावनिमज्जन्नुपरि तेन गच्छतीत्यर्थः । तदुक्तं–" उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च " । द्वा० २६ द्वा० ।

अवाईण–अवातीन–त्रि० । वातीनानि वातोपहतानि; न वातीनानि अवातीनानि । वातेनापतितेषु, रा० । जी० । ज्ञा० ।

अवाउड–अप्रावृत–त्रि० । प्रावरणरहिते, दश० ३ अ० । प्रावरणाभावे, न० । ज० २ श० १ उ० ।

अवागिल्ल–अवागिन्–त्रि० । अवाचाले, व्य० ७ उ० ।

अवामणिज्ज–अवामनीय–न० । संसर्गजं गुणं दोषं वा संसर्गान्तरेणाऽवमति द्रव्ये, स्था० १० ठा० ।

अवाय–अपा(वा)य–पुं० । अप–इ–अच् । रागादिजनितेषु प्राणिनामैहिकामुष्मिकेष्वनर्थेषु, स्था० १ ठा० १ उ० । अपायोऽनर्थः; स यत्र द्रव्यादिषु अभिधीयते, यथा–एतेषु द्रव्यादिविशेषेषु अस्त्यपायः, विवक्षितद्रव्यादिविशेषेष्विव, हेयता चाऽस्य यत्राभिधीयते तदाहरणमपाय इति । उदाहरणभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । विनाशे, ध० १ अधि० । विश्लेषे, नं० । तत्रापायश्चतुःप्रकारः । तद्यथा–द्रव्यापायः, क्षेत्रापायः, कालापायः, भावापायश्चेति । तत्र द्रव्यादपायो द्रव्यापायः । अपायोऽनिष्टप्राप्तिः । द्रव्यमेव वाऽपायो द्रव्यापायः, अपायहेतुत्वादित्यर्थः । एवं क्षेत्रादिष्वपि भावनीयम् ।

साम्प्रतं द्रव्यापायप्रतिपादनायाऽऽह—

दव्वावाए दोन्नि उ, वाणियगा भायरो धणनिमित्तं ।
वहपरिणएक्कमेक्कं, दहम्मि मच्छेण निव्वेओ ॥ ५५ ॥

द्रव्यापाये उदाहरणम्–द्वौ तु (तुशब्दादन्यानि च) वणिजौ भ्रातरौ धननिमित्तं धनार्थं, वधपरिणतौ एकैकमन्योन्यं ह्रदे मत्स्येन निर्वेद इति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः । तच्चेदम्–"एगम्मि संनिवेसे दो भायरो दरिद्दप्पाया; तेहिं सोरट्ठं गंतूण साहस्सिओ णउलओ रूवगाणं विढविओ । ते अ सयं गामं संपत्थिया, इंता तं णउलयं वारएण वहंति । जया एगस्स हत्थे तदा इयरो चिंतेइ–' मारेमि णवरमेए रूवगा ममं होंतु ' । एवं बीओ चिंतेइ–' जहाऽहं एअं मारेमि ' । ते परोप्परं वहपरिणया अज्झवस्संति । तओ जाहे सग्गामसमीवं पत्ता, तत्थ नईतडे जिट्ठअरस्स पुणरावत्ती जाया । 'धिरत्थु ममं, जेण मए दव्वस्स कए भाउविणासो चिंतिओ' । परुण्णो य इयरेण पुच्छिओ । कहिए भणइ–ममं पि एयारिसं चित्तं होंतं । ताहे एयस्स दोसेणं अम्हेहिं एयं चिंतियं ति काउं तेहिं सो नउलओ दहे छूढो । ते य घरं गया । सो अ णउलओ तत्थ पडंतो मच्छएण गिलिओ । सो अ मच्छो मेएण मारिओ, वीहीए ओयारिओ । तेसिं च भाउगाणं भगिणी मायाए वीहिं पट्ठविया, जहा–मच्छं आणेह । जं भाउगाणं सिज्झं ति । ताए अ समावसीए सो चेव मच्छओ आणीओ । चेडीए फालितीए णउलओ दिट्ठो । चेडीए चिंतियं–एस णउलओ मम चेव भविस्सइ त्ति उच्छंगे कओ । ठविज्जतो य थेरीए दिट्ठो, णाओ अ । तीए भणियं–किमेयं तुमे उच्छंगे कयं? । साऽवि लोहं गया ण साहइ । ताओ दो वि परोप्परं पहरंतो । सा

थेरी ताए चेडीए तारिसे मम्मप्पएसे आहया, जेण तक्खणमेव जीवियाओ ववरोविया । तेहिं तु दारएहिं सो कन्नहवइयरो णाओ । स णउलओ दिट्ठो । थेरी गाढप्पहारा पाणविमुक्का णिस्सट्ठं धरणिअले पडिया दिट्ठा । चिंतियं च णेहिं—इमो सो अवायबहुलो अत्थो अणत्थो त्ति । एवं दव्वं अवायहेउ त्ति । लौकिका अप्याहुः–

"अर्थानामर्जने दुःख-मर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिग् द्रव्यं दुःखवर्द्धनम् ॥ १ ॥
अपायबहुलं पापं, ये परित्यज्य संसृताः ।
तपोवनं महासत्त्वा-स्ते धन्यास्ते मनस्विनः " ॥ २ ॥ इत्यादि।

एतावत्प्रकृतोपयोगि । "तओ तेसिं तमवायं पिच्छिऊण णिव्वेओ जाओ । तओ तं दारियं कस्सइ दाऊण निव्विन्नकामभोआ पव्वइय त्ति" गाथार्थः ।

इदानीं क्षेत्राद्यपायप्रतिपादनायाऽऽह—

खेत्तम्मि अवक्कमणं, दसारवग्गस्स होइ अवरेणं ।
दीवायणो अ काले, भावे मंडुक्कियाखवओ ॥ ५६ ॥

तत्र क्षेत्र इति द्वारपरामर्शः । ततश्च क्षेत्रादपायः, क्षेत्रमेव वा, तत्कारणत्वादिति । तत्रोदाहरणम्-अपक्रमणमपसर्पणं दशारवर्गस्य दशारसमुदायस्य भवति । अपरेणाऽपरत इत्यर्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्च वक्ष्यामः । द्वैपायनश्च काले । द्वैपायन ऋषिः काल इत्यत्रापि कालादपायः, काल एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्राऽपि भावार्थः कथानकगम्य एव । तच्च वक्ष्यामः । भावे मण्डुकिकाक्षपक इति । अत्रापि भावादपायो भावापायः, स एव वा, तत्कारणत्वादिति । अत्रापि च भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्च वक्ष्याम इति गाथार्थः । भावार्थ उच्यते—"खित्तावाओदाहरणं-दसारा हरिवंसरायाणो । एत्थ महई कहा-जहा हरिवंसे उवओगियं चेव भणइ-कंसम्मि विणिवाइए सावायं खेत्तमेयं ति काऊण जरासंधरायभएण दसारवग्गो महुराओ अवक्कमिऊण बारवइं गओ त्ति " । प्रकृतयोजनां पुनर्निर्युक्तिकार एव करिष्यति किमकाण्ड एव नः प्रयासेन ? । "कालावाए उदाहरणं पुण-कण्हपुच्छिएण भगवया ऽरिट्ठणेमिणा वागरियं-बारसहिं संवच्छरेहिं दीवायणाओ बारवईनयरीविणासो । उज्जोतरायणगरीए परंपरएण सुणिऊण दीवायणपरिव्वायओ मा णगरिं विणासेहामि त्ति कालावधिमसओ गमेमि त्ति उत्तरावहं गओ । सम्मं कालमाणमयाणिऊण य बारसमे चेव संवच्छरे आगओ । कुमारेहिं खलीकओ कयाणियाणो कोवो उववण्णो । तओ य णगरीए अवाओ जाओ त्ति; णऽण्णहा जिणभासियं ति" । "भावावाए उदाहरणं खमओ-एगो खमओ चेल्लएण समं भिक्खायरियं गओ । तेण तत्थ मंडुक्कलिया मारिता । चेल्लएण भणियं-मंडुक्कलिया तए मारिया । खमगो भणति-रे दुट्ठ! सेह चिरमइया चेव एसा । ते गआ । पच्छा रत्तिं आवस्सए आलोएत्ताण खमगेण सा मंडुक्कलिया नालोइया । ताहे चेल्लएण भणियं-खमगा ! तं मंडुक्कलियं आलोएहि । खमओ रुट्ठो तस्स चेल्लयस्स खेलमल्लयं घेत्तूणं उट्ठाइओ आसियालए खंभे आवडिओ वेगेण । इतो मओ य जोइसिएसु उववन्नो । तओ चइत्ता दिट्ठीविसाणं कुले दिट्ठीविसो सप्पो जाओ । तत्थ एगेण परिहिंडंतेण नगरे रायपुत्तो सप्पेण खइओ । आहितुंडएण विज्जाओ सव्वे सप्पा आवाहिया मंडले पवेसिआ भणिया-अन्ने सव्वे गच्छंतु, जेण पुण रायपुत्तो खइओ सो अत्थउ । सव्वे गता । एगो ठिओ । सो भणिओ-अहवा विसं आवियह, अहवा एत्थ अग्गिम्मि णिवडाहि । सो अ अगंधणो । सप्पाणं किल दो जाईओ-गंधणा, अगंधणा य । ते अगंधणा माणिणो । ताहे सो अग्गिम्मि पविट्ठो, ण य तेण तं वंतयं पच्चाविइयं । रायपुत्तो वि मओ । पच्छा रण्णा रुट्ठेण घोसावियं-रज्जे जो मम सप्पसीसं आणेइ तस्साहं दीणारं देमि । पच्छा लोओ दीणारलोभेण सप्पे मारेउं आढत्तो । तं च कुलं, जत्थ सो खमओ उप्पन्नो, तं जाइस्सरं रत्तिं हिंडइ, दिवसओ न हिंडइ, मा जीवे दहेहामि त्ति काउं । अन्नया आहिंडिगेहिं सप्पे मग्गंतेहिं रत्तिचरेण परिमलेण तस्स खमगसप्पस्स बिलं दिट्ठं ति । दारे से ठिओ ओसहिओ आवाहेइ । सो चिंतेइ-दिट्ठो मे कोवस्स विवाओ । तो जइ अहं अभिमुहो णिग्गच्छामि तो दहिहामि, ताहे पुच्छेण आढत्तो णिप्फिडिउं जत्तियं णिप्फेमेइ तावइयमेव आहिमिओ छिंदेति, जाव सीसं छिन्नं । मओ य सो सप्पो देवयापरिग्गहिओ । देवयाए रण्णो सुमिणए दरिसणं दिन्नं । जहा-मा सप्पे मारेह, पुत्तो ते नागकुलाओ उव्वट्टिऊण भविस्सइ; तस्स दारयस्स नागदत्तनामं करेज्जाहि । सो य खमगसप्पो मरित्ता तेण पाणपरिच्चाएण तस्सेव रण्णो पुत्तो जाओ, जाए दारए णामं कयं णागदत्तो । खुड्डलओ चेव सो पव्वइओ । सो अ किर तेण तिरियाणुभावेण अतीव छुहालुओ दोसीणवेलाए चेव आढवेइ भुंजिउं जाव सुरत्थमणवेलं ववसंतो धम्मसद्धिओ य । तम्मि अ गच्छे चत्तारि खमगा तं चाउम्मासिओ तेमासिओ दोमासिओ एगमासिओ त्ति । रत्तिं च देवया वंदिउं आगया । चाउम्मासिओ पढमट्ठिओ । तस्स पुरओ तेमासिओ । तस्स पुरओ दोमासिओ । तस्स पुरओ एगमासिओ । ताण य पुरओ खुड्डओ । सव्वे खमगे अतिक्कमित्ता ताए देवयाए खुड्डओ वंदिओ, पच्छा ते खमगा रुट्ठा निग्गच्छंति य गहिया चाउम्मासिअखमएण पोत्ते भणिया य अणेण-कडपूयणि ! अम्हे तवस्सिणो ण वंदसि, एयं कूरभायणं वंदसि त्ति । सा देवया भणइ-अहं भावखमयं वंदामि, ण पूयासक्कारपरे माणिणो अ वंदामि । पच्छा ते चेल्लयं तेण अमरिसं वहंति । देवया चिंतेइ-मा एते चेल्लयं खरिंटेहिं ति, तो सन्निहिया चेव अत्थामि, ताऽहं पडिबोहेहामि । बितियदिवसे अ चेल्लओ संदिसावेऊण गओ । दोसीणस्स पडिआगओ आलोइत्ता चाउम्मासियखमगं णिमंतेइ । तेण पडिग्गहं से खेलं णिच्छूढं । चेल्लओ भणइ-मिच्छा मे दुक्कडं, जं तुब्भे मए खेलमल्लओ ण पणामिओ, तं तेण उप्पराओ चेव फरित्ता खेलमल्लए छूढं । एवं जाव तिमासिएणं जाव एगमासिएणं थिच्छूढं । तं तेण तहा चेव फेमियं अकुयाणिसालंबणे गिण्हामि त्ति काउं खमएण चेल्लओ बाहं गहिओ । तं तेण तस्स चेल्लगस्स अदीणमणसस्स विसुद्धपरिणामस्स लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं तदाऽऽवरणिज्जाणं कम्माणं खएण केवलनाणं समुप्पन्नं । ताहे सा देवता भणति-किह तुब्भे वंदियव्वा ?, जेणेवं कोहाभिभूया अत्थह । ताहे ते खमगा संवेगमावण्णा मिच्छा मे दुक्कडं ति, अहो ! बालो उवसंतचित्तो अम्हेहिं पावकम्मेहिं आसाइओ । एवं तेसिं पि सुहज्झवसाणेणं केवलनाणं समुप्पन्नं । एवं पसंगओ कहियं कहाणयं । भावओ पुण-कोहादिआओ अप्पसत्थभावाओ दुग्गईए अवाओ त्ति" ॥

परलोकचिन्तायां प्रकृतोपयोगितां दर्शयन्नाह–

सिक्खगअसिक्खगाणं, संवेगथिरट्टयाए दोण्हं पि ।
दव्वाईया एवं, दंसिज्जंते अवायाओ ॥ ५७ ॥

शिक्षकाशिक्षकयोः-अभिनवप्रव्रजितचिरप्रव्रजितयोः, अभिनवप्रव्रजितगृहस्थयोर्वा, संवेगस्थैर्यार्थं द्वयोरपि द्रव्याद्याः, एवमुक्तेन प्रकारेण, वक्ष्यमाणेन वा दर्श्यन्ते अपाया इति । तत्र संवेगो मोक्षसुखाभिलाषः; स्थैर्यं पुनरज्युपगतापरित्यागः। ततश्च कथं नु नाम दुःखनिबन्धनद्रव्याद्यवगमात्तयोः संवेगस्थैर्ये स्यातां, द्रव्यादिषु वा प्रतिबन्ध इति गाथार्थः । तथा चाऽऽह-

दवियं कारणगहियं, विगिंचिअव्वमसिवाइखेत्तं च ।
बारसहि एस कालो, कोहाइविवेगभावम्मि ॥५८॥

इहोत्सर्गतो मुमुक्षुणा द्रव्यमेव-अधिकं वस्त्रपात्रादि, अन्यद्वा कनकादि, न ग्राह्यम्। शिक्षकादिसंदृष्टादिकारणगृहीतमपि तत्परिसमाप्तौ परित्याज्यम्। अत एवाह-द्रव्यं कारणगृहीतं विकिञ्चितव्यं परित्याज्यम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायहेतुत्वात् । दुरन्ताग्रहाद्यपायहेतुत्वात्; दुरन्ताग्रहाद्यपायहेतुता च मध्यस्थैः स्वधिया भावनीयेति । एवमशिवादिक्षेत्रं च, परित्याज्यमिति वर्त्तते। अशिवादिप्रधानं क्षेत्रमशिवादिक्षेत्रम्। आदिशब्दात् दुर्भिक्षोपद्रवता-राजद्विष्टादिपरिग्रहः। परित्याज्यं चेदम्, अनेकैहिकामुष्मिकापायसंभवादिति । तथा-द्वादशभिर्वर्षैरेष्यत्कालः, परित्याज्य इति वर्त्तते। तत एवापायसंभवादिति भावना । एतदुक्तं भवति-अशिवादिदुष्ट एष्यत्कालो द्वादशभिर्वर्षैरनागत एवोज्झितव्य इति । उक्तं च-"संवच्छरबारसए-ण होहि असिवंति ते तओ णिंति । सुत्तत्थं कुव्वंता, अतिसयमाईहि नाऊणं" ॥१॥ इत्यादि। तथा-क्रोधादिविवेकाभाव इति । क्रोधादयोऽप्रशस्ता भावाः, तेषां विवेकः नरकपातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः। भाव इति भावापाये कार्य इत्ययं गाथार्थः । एवं तावद्वस्तुतश्चरणकरणानुयोगमधिकृत्यापायः प्रदर्शितः।दश० १ अ० । (द्रव्यानुयोगसंबन्ध्यपायस्तु 'आता' शब्दे द्वितीयभागे १८८ पृष्ठे समुक्तः)

अवग्रहीतस्य ईहितस्य चार्थस्य निर्णयरूपे अध्यवसाये-शाङ्ख एवायं शाङ्ग एवायमित्यादिरूपे अवधारणात्मके मतिभेदरूपे प्रत्यये, आ० म० प्र० । प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चये, स्था० ४ ठा० ४ उ० । व्य० । रा० । दशा० । भ० । ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणुरेवायमित्यादिनिश्चयात्मके बोधविशेषे, प्रव० २१६ द्वार । नं० । सम्म० । विशे० ।

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ ए ॥

ईहितस्य ईहया विषयीकृतस्य विशेषस्य कर्णाटलाटादेर्निर्णयो याथात्म्येनावधारणमवाय इति । रत्ना० २ परि० ।

अथ मतिज्ञानतृतीयभेदस्यापायस्य स्वरूपमाह—

महुराइगुणत्तणओ, संखस्सेवेति जं न संगस्स ।
विण्णाणं सोऽवाओ, अणुगमवइरेगभावाओ ॥२८०॥

मधुरस्निग्धादिगुणत्वात् शङ्खस्यैवायं शब्दो न शृङ्गस्येत्यादि यद् विशेषविज्ञानं सोऽवायो निश्चयज्ञानरूपः। कुतः?, इत्याह-पुरोवर्त्यर्थधर्माणामनुगमभावात्-अस्तित्वनिश्चयसद्भावात्। तत्राऽविद्यमानार्थधर्माणां तु व्यतिरेकाभावान्नास्तित्वनिश्चयसद्भावात् । अयं च व्यवहारार्थावग्रहानन्तरभावी अवाय उक्तः। निश्चयादवग्रहानन्तरभावी तु स्वयमपि द्रष्टव्यः। तद् यथा-श्रोतुर्माधुर्यादिगुणतः शब्द एवायं, न रूपादिरिति ईहापायविषयाश्च विप्रतिपत्तयः प्रागपि निराकृता इति नेहोक्ताः। इति गाथार्थः ॥२८०॥ विशे०।"ववसायम्मि अवाओ," नं० । विशिष्टोऽवसायो व्यवसायः निर्णयो निश्चयोऽवगम इत्यनर्थान्तरम् । तं व्यवसायम्, अर्थानामिति वर्तते, अवायं ब्रुवत इति संसर्गः। एतदुक्तं भवति-शाङ्ख एवाऽयं शार्ङ्ग एवायमित्याद्यवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इति । व्यवसायमेवावायं ब्रुवत इति । आ० म० प्र० ।

भेदास्तस्य—

से किं तं अवाए ? अवाए छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअवाए, चक्खिंदियअवाए, घाणिंदियअवाए, जिब्भिंदियअवाए, फासिंदियअवाए, नोइंदियअवाए । तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति । तं जहा—आउट्टणया पच्चाउट्टणया अवाए बुद्धी विण्णाणे । सेत्तं अवाए ।

'से किं तमित्यादि'। अत्र श्रोत्रेन्द्रियेणावायः श्रोत्रेन्द्रियावायः श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तमर्थावग्रहमधिकृत्य यः प्रवृत्तोऽवायः स श्रोत्रेन्द्रियावाय इत्यर्थः।एवं शेषा अपि भावनीयाः।'तस्स णमित्यादि'प्राग्वत्। अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्नानार्थानि। तत्र आवर्त्तते-ईहातो निवृत्त्याऽपायभावप्रतिपत्त्यभिमुखो वर्त्तते येन बोधपरिणामेन स आवर्त्तनः, तद्भाव आवर्त्तनता १। तथा-आवर्त्तनं प्रति ये गता अर्थविशेषेषूत्तरोत्तरेषु विवक्षितापायप्रत्यासन्नतरा बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्त्तनाः, तद्भावः प्रत्यावर्त्तनता २। तथा-अपायो निश्चयः सर्वथा ईहाऽभावान्निवृत्तस्यावधारणाऽवधारितमर्थमवगच्छतो बोधविशेषः सोऽवाय इत्यर्थः ३। ततस्तमेवावधारितमर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः स्पष्टतरमवबुध्यमानस्य या बोधपरिणतिः सा बुद्धिः ४। तथा-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं क्षयोपशमविशेषादेवावधारितार्थविषय एव तीव्रतरधारणाहेतुर्बोधविशेषः । " सेत्तं अवाए " इति निगमनम् । नं० ।

अवायमा—अव्याकृता—स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायाम्, अविभावितार्थत्वात् अव्यक्ताक्षरयुक्तायां वा भाषायाम्, ध० २ अधि० ।

अवायणिज्ज—अवाचनीय—पुं० । वाचनाया अयोग्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ० । "चत्तारि अवायणिज्जा पण्णत्ता । तं जहा-अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविउसवियपाहुडे, माई"। स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवायदंसि (ण्)-अपायदर्शिन्-पुं०। अपायान् दुर्भिक्षदुर्बलत्वादिकान् ऐहिकाननर्थान् पश्यति । अथवा-दुर्लभबोधिकत्वादिकान् सातिचाराणां तान् दर्शयतीत्येवंशीलोऽपायदर्शी। ध० २ अधि० । अपायाननर्थान् चित्तभङ्गाऽनिर्वाहादीन् दुर्भिक्षदौर्बल्यादिकृतान् पश्यतीत्येवंशीलः। सम्यगालोचनायां च दुर्लभबोधिकत्वादीनपायान् शिष्यस्य दर्शयतीति अपायदर्शीति। स्था० ८ ठा० । इहलोकापायदर्शनशीले आलोचनार्हभेदे, व्य० १ उ० । यः सम्यगालोचयति कुञ्चितं वा आलोचयति दत्तं वा प्रायश्चित्तं सम्यग् न करोति, तस्य यदि त्वमसम्यगालोचयिष्यसि प्रतिकुञ्चितं वा करिष्यसि दत्तं वा प्रायश्चित्तं न सम्यक् पूरयिष्यसि ततस्ते भूयान् मासिकादिको दण्डो भविष्यतीत्येवमिहलोकापायान्, तथा संसारे जन्ममरणादिकं त्वया प्रभूतमनुभवितव्यं, दुर्लभबोधिता च तवैवं भविष्यतीत्येवं परलोकापायांश्च दर्शयति, सोऽपायदर्शीति भावः । व्य० १ उ० । " दुब्भिक्खदुब्बलाई, इहलोए जायए अवायओ । दंसेइ य परलोए, दुल्लहबोहिं य संसारे " ॥ १ ॥ स्था० ८ ठा० । दर्श० । पञ्चा० ।

अवायविजय—अपायविच (ज) य—न० । अपाया रागादिजनिताः प्राणिनामैहिकामुष्मिका अनर्थाः । (विचीयन्ते निर्णीय-

न्ते पर्य्यालोच्यन्ते वा यस्मिँस्तदपायविचयम्) प्राकृतत्वेन विजयमिति। अपाया वा विजीयन्ते अधिगमद्वारेण परिचिती-क्रियन्ते यस्मिन्नित्यपायविजयम् ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० । ग० । सम्म० । रागद्वेषकषायाश्रवादिक्रियासु प्रवर्त्तमानानामिहपरलोकयोरपायानां ध्याने, ध० २ अधि० । दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु मे न स्यादित्येवंभूते संकल्पप्रबन्धे,दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वात् । सम्म० १ काण्ड । धर्मध्यानस्य प्रथमे भेदे, आव० ४ अ० । आ० चू० । (विस्तरतोऽस्य स्वरूपं ' धम्मज्झाण ' शब्दे वक्ष्यते)

अवायसत्तिमालिम्न–अपायशक्तिमालिन्य–न० । नरकाद्यपायशक्तिमलिनत्वे, द्वा० २२ द्वा० ।

अवायहेउत्तदेसणा–अपायहेतुत्वदेशना–स्त्री० । असदाचारानर्थमूलतादेशनायाम् , ध० । अपायहेतुत्वदेशनेति । अपायानामनर्थानाम् इहलोकपरलोकगोचराणां हेतुत्वं प्रस्तावादसदाचारस्य यो हेतुभावस्तस्य देशना विधेया । यथा–" यत्र प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यत्र प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्तमनार्यः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे " ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार इति । ध० १ अधि० ।

अवायाण–अपादान–न० । अपादीयते वियुज्यते यस्मात्तद्वियुज्यमानावधिभूतम्–अपादानम् । अनु० । दोऽवखण्डने । दानं खण्डनम् । अपसृत्य आ मर्य्यादया दानं खण्डनं वियोजनं यस्मात्तदपादानम् । विशे० । आ० चू० । अपादीयते अपायतो विश्लेषतः आ मर्य्यादया दीयते दोऽवखण्डने इति वचनात् खण्ड्यते भिद्यते, आदीयते वा गृह्यते यस्मात्तदपादानम् । अवधिमात्रे तत्र पञ्चमी भवति । यथा-अपनय गृहाद् धान्यम् , इतो वा कुशूलाद् गृहाणेति ॥ स्था० ८ ठा० ।

अवायाणुप्पे (वे) हा–अपायानुप्रेक्षा–स्त्री० । अपायानां प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारजन्यानर्थानामनुप्रेक्षाऽनुचिन्तनमपायानुप्रेक्षा । ग० १ अधि० । भ० । शुक्लध्यानाऽनुप्रेक्षाभेदे, यथा–"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एते कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइँ पुणब्भवस्स" ॥१॥ इह गाथा–" आसवदारावाए, तह संसारो सुहाणुभावं च । भवसंताणमणंतं, वत्थूणं विपरिणामं च" ॥१॥ इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवारिय--अवारित--त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वति तत्प्रवर्तकेनानिषिद्धे, निरङ्कुशे, "अज्जा अवारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं" । ग० २ अधि० ।

अवतार्य्य-अव्य० । अथ उत्तार्येत्यर्थे, दशा० ५ अ० २ उ० ।

अवावकहा–अवापकथा–स्त्री० । शाकघृतादीन्येतावन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपायां कथायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अवि–अपि–अव्य० । सम्भावने, उत्त० ३ अ० । स्था० । आचा० । सूत्र० । व्य० । नि० चू० । दश० । आ० म० द्वि० । पदार्थसंभावने, नि० चू० ४ उ० । समुच्चये, भ० १ श० ३ उ० । अष्ट० । दर्श० । अवधारणायाम्, नि० चू० १ उ० । आचा० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रेरणायाम्, निर्णयभवनहेतौ च । दर्श० । खल्वर्थे, व्य० १ उ० ।

अविअ–अपिच–अव्य० । समुच्चये, जं० ४ वक्ष० ।

अविअक्खंत-अवीक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतो निरूपयति, ध० ३ अधि० ।

अविइय–अद्वितीय–त्रि० । द्वितीयरहिते, द्वितीयभिन्ने च । भ० ३ श० २ उ० ।

अविउट्टमाण-अवित्रुट्यमान-त्रि० । पीड्यमाने,सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अविउप्पगमा–अव्युत्प्रकटा–स्त्री० । न विशेषतः उत्प्राबल्येन प्रकटा अव्युत्प्रकटा । विशेषतोऽप्रकटायाम्, भ० ७ श० १० उ० ।

अविउप्पकडा–अविद्वत्प्रकृता–स्त्री० । अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । भ० १८ श० ७ उ० । अविज्ञप्रकृतायाम्, ज० १ शु० १ उ० । "अम्ह इमा कहा अविउप्पकडा" । ज० १८ श० ७ उ० । " अविउप्पकडे त्ति " अपिशब्दः सम्भावनार्थः । उत्प्राबल्येन प्रस्तुता प्रकटा वोत्प्रकृतोत्प्रकटा वा, अथवा अविद्वद्भिरजानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । ज० १८ श० ७ उ० ।

अविउसरणया--अव्युत्सर्जनता--स्त्री० । अत्यागे, भ० १ श० ५ उ० ।

अविउस्सग्ग–अव्युत्सर्ग–पुं० । असमुत्कलने, व्य० १ उ० ।

अविओग–अवियोग–पुं० । पुत्रादिभ्राद्यविरहे , तं० ।

अविओसिय--अव्यवसित--त्रि० । अनुपशान्ते, बृ० ४ उ० । अनुपशान्ते द्वन्द्वे, " अविओसिए घासति पावकम्मी " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अविओसियपाहुड--अव्यवसितप्राभृत--त्रि० । अव्यवसितमनुपशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतं (नरकपालकौशलिक) तीव्रक्रोधलक्षणं यस्यासावव्यवसितप्राभृतः । बृ० ४ उ० । अनुपशान्तकोपे,स्था० ४ ठा० ३ उ० । "अप्पे वि पारमाणि, अवराहे वयइ खामियंतं च । बहुसो उदीरयंतो; अविओसियपाहुडो स खलु " ॥ १ ॥ पारमाणि परमक्रोधसमुद्घातं व्रजतीति भावः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । ('वायणा' शब्देऽस्याऽवाचनीयत्वम्)

अविंदमाण-अविन्दमान-त्रि० । अलभमाने,विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अविकंप–अविकम्प–त्रि० । मनःशरीराभ्यामचले , पञ्चा० १८ विव० । निःस्पन्दे, पञ्चा० १२ विव० ॥

अविकंपमाण–अविकम्पमान–त्रि० । क्रोधकार्य्यस्य कम्पनस्याऽकर्तरि, " विगिंच कोहं अविकंपमाणे" । क्रूराध्यवसायः क्रोधस्तं त्यज,तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयत्यविकम्पनः । आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अविकत्थण–अविकत्थन–पुं० । नातिबहुभाषिणि, स्वल्पेऽपि केनचिदपराद्धे पुनः पुनस्तदुत्कीर्तनेन रहिते गुणवत्सूरौ, प्रव० ६४ द्वार । ग० । हितमितभाषिणि,आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविकरण–अविकरण–न० । पूर्वगृहीतवस्तूनां यथास्थानमप्रक्षेपे,"संथारय आयाए,अविकरणं करुय संपव्वइत्ताए" । अविकरणं कृत्वा, अविकरणं नाम यस्साधुना करणं कृतं तृणानां प्रस्तरणं, कम्बिकानां बन्धनं, फलकस्य स्थापनं तदपनीय संप्रव्रजितुं विहर्तुम् । बृ० ३ उ० ।

अविकार-अविकार-त्रि० । गीतादिविकाररहिते, बृ० १ उ०

अविकारि (ण्)-अविकारिन्-पुं० । अनुद्भटवेषे, अकन्दर्पशीले च । बृ० ३ उ० ।

अविकोवियपरमत्थ-अविकोपितपरमार्थ-त्रि० । अविज्ञापितसमयसद्भावे, पं० व० १ द्वार ।

अविगइय-अविकृतिक-त्रि० । निर्विकृतिके घृतादिविकृतित्यागिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अविगमिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचिते, व्य० १ उ० ।

अविगप्प-अविकल्प-पुं० । निश्चये, आ० म० द्वि० । निर्भेदे च । सम्म० १ काण्ड ।

अविगय-अविगत-त्रि० । अभ्रष्टे, पिं० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्णे, षो० १ विव० । पञ्चा० । अखण्डे, षो० ५ विव० ।

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । आद्येपरिपूर्णकुले, ज्ञ० ८ श० ३३ उ० ।

अविगिट्ठ-अविकृष्ट-त्रि० । विकृष्टभिन्ने अविकृष्टतपःकर्मकारिणि-षष्ठान्ततपःकारिणि, पञ्चा० १२ विव० ।

अविगियवयण-अविकृतवचन-त्रि० । अनत्यन्तनिर्वादितमुखे, ओघ० ।

अविगीय-अविगीत-पुं० । विशिष्टगीतार्थरहिते, व्य० ३ उ० । निर्धर्मिणि, व्य० १ उ० ।

अविग्गह-अविग्रह-पुं० । वक्रत्वरहिते, औ० ।

अविग्गहगइसमावन्न-अविग्रहगतिसमापन्न-पुं० । उत्पत्तिक्षेत्रोपपन्ने, भ० १४ श० ५ उ० । अविग्रहगतिनिषेधाद् ऋजुगतिके अवस्थिते, भ० २५ श० ३ उ० ।

अविग्घ-अविघ्न-न० । विघ्नाभावे, कल्प० ५ क्ष० । औ० । निष्प्रत्यूहे, बृ० १ उ० । दर्श० । कारण एवाहष्टसामर्थ्यादपायाभावे, द्वा० २३ द्वा० ।

अविघुट्ठ-अविघुष्ट-न० । विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति तदविघुष्टम्, अनु० । विक्रोशन इवाविस्वरे, रा० । स्था० । जी० ।

अविचित्त-अविचित्र-त्रि० । रोहिते, " अविचित्तो लोहितमित्यर्थः । नि० चू० १६ उ० ।

अविच्चुइ-अविच्युति-स्त्री० । तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः । धारणाभेदे, नं० । आ० म० ।

अविच्छिएण-अविच्छिन्न-त्रि० । विच्छेदाननुबद्धे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अविजाणअ-अजानत्-त्रि० । मुग्धमते, अपगतावधिविवेके, " जंसी गुहाए जलणेतिउट्टे, अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० ।

अविज्जमाणभाव-अविद्यमानभाव-पुं० । नास्तिभावे, "असंपज्जय त्ति वा पलिमंथभावो त्ति वा अविज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

अविज्जा-अविद्या-स्त्री० । कर्मणि, "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते विद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " नं० । अनवगमने, अग्रहणे, अतत्त्वग्रहणे च । सम्म० २ काण्ड । अविद्या वेदान्तिनां क्लेशः । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा० १५ द्वा० । "नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याशुच्यनात्मसु । अविद्या " । अष्ट० १४ अष्ट० । अविद्योपप्लवादविद्यमानमपि दृश्यते । यत उक्तम्-"कामस्वप्नभयोन्मादै-रविद्योपप्लवात्तथा । पश्यत्यसन्तमप्यर्थं जनः केशेन्दुकादिवत् " इति । विशे० ।

अविणय-अविनय-पुं० । कुशाले, उत्त० ३४ अ० । विशिष्टो नयो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिषेधोऽविनयः । अप्रतिपत्तिविशेषे, स्था० ।

अविणए तिविहे पन्नत्ते । तं जहा-देसच्चाई, णिरालंबणया, णाणपेम्मदोसे ॥

(अन्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) नवरमियमत्र भावना-आराध्यविषयमाराध्यसम्मतविषयं वा प्रेम, तथाऽऽराध्यसम्मतविषयो द्वेष इत्येवं नियतावेतौ विनयः स्यात् । उक्तं च-" सर्वत्र नतिस्तुतिवचनं, तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेषः । दानमुपकारकीर्तन-ममन्त्रमूलं वशीकरणम् " ॥ १ ॥ इति नानाप्रकारौ च तावाराध्य तत्सम्मतेतरलक्षणविशेषानपेक्षत्वेनानियतविषयावविनय इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अविणासि (ण्)-अविनाशिन्-त्रि० । क्षणापेक्षयाऽपि अनिरन्वयनाशधर्मिणि, दश० ४ अ० । पा० ।

अविणिच्छय-अविनिश्चय-पुं० । प्रमाणाभावे, पं० व० ४ द्वार । प्रति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उत्त० १ अ० । विनयविरहिते, उत्त० ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदसठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥

अहेत्यादि सूत्राष्टकम् । अथेति प्राग्वच्चतुर्भिरधिका दश चतुर्दश;तेषु चतुर्दशसंख्येषु स्थानेषु; सूत्रे तु सुब्व्यत्ययेन सप्तम्यर्थे तृतीया । वर्तमानस्तिष्ठन् । तुः पूरणे । संयतस्तपस्वी अविनीत उच्यते । स तु इति । अविनीतः । पुनः किम्?, इत्याह-निर्वाणं च मोक्षं, चशब्दादिहैव ज्ञानादींश्च न गच्छति न प्राप्नोति । उत्त० ११ अ० ।

कानि पुनश्चतुर्दश स्थानानि ?, इत्याह-

अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वइ ।
मित्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जइ ॥ ७ ॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥ ८ ॥
पइण्णवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अवियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥ ९ ॥

अभीक्ष्णं पुनः पुनः,यद्वा-क्षणं क्षणमभि अभिक्षणमनवरतं, क्रोधी क्रोधनो भवति-सनिमित्तमनिमित्तं वा कुप्यन्नेवास्ते; प्रबन्धं च प्राकृतत्वात् कोपस्यैवाविच्छेदात्मकं (पकुव्वइ त्ति) प्रकर्षेण कुरुते,कुपितः सन् सान्त्वनैरनेकैरपि नोपशाम्यति; विकथादिषु वा अविच्छेदेन प्रवर्तनं प्रबन्धः,तं च प्रकुरुते । तथा-(मित्तिज्जमाणो त्ति) मित्रीयमाणोऽपि मित्रं ममायमस्त्विति इष्यमाणोऽपि, अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्,वमति त्यजति,प्रस्तावाद् मित्रं मि-

तारं मैत्री वा । किमुक्तं भवति?-यदि कश्चिद्धार्मिकतया वक्ति,यथा-त्वं न वेत्सीत्यहं तव पात्रं लेपयामि । ततोऽसौ प्रत्युपकारभीरुतया प्रतिवक्ति-ममालमेतेन । कृतमपि वा कृतघ्नतया न मन्यत इति वम-तीत्युच्यते । तथा(सुयं ति)अपेर्गम्यमानत्वात्,श्रुतमपि आगममपि, लब्ध्वा प्राप्य माद्यति दर्पं याति । किमुक्तं भवति?-श्रुतं हि मदाप-हारहेतुः,स तु तेनापि दृप्यति । तथा-अपिः संभावनायाम् । संभा-व्यत एतत्-यथा-असौ पापैः कथञ्चित्समित्यादिषु स्खलितलक्ष-णैः परिक्षिपति तिरस्कुरुत इत्येवंशीलः पापपरिक्षेपी,आचार्यादी-नामिति गम्यते । तथा-अपिर्भिन्नक्रमः,ततो मित्रेभ्योऽपि सुहृद्भ्यो-ऽपि, आस्तामन्येभ्यः कुप्यति क्रुध्यति । सूत्रे चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रतिकोपः।१।४।३७।इत्यनेन (पाणि०) सूत्रेणेह चतुर्थीविधानात् । तथा-सुप्रियस्याप्यतिवल्लभस्यापि मित्रस्य, रहस्येकान्ते, भाषते वक्ति, पापमेव पापकम् । किमुक्तं भवति?-अग्रतः प्रियं वक्ति, पृष्ठतस्तु प्रतिसेवकोऽयमित्यादि-कमनाचारमेवाविष्करोति । तथा-प्रकीर्णमितस्ततो विक्षिप्तम्, असंबद्धमित्यर्थः । वदति जल्पतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी । व-स्तुतत्त्वविचारेऽपि यत्किञ्चनवादीत्यर्थः । अथवा-यः पात्र-मिदमपात्रमिति चाऽपरीक्ष्यैव कथञ्चिदधिगतं श्रुतरहस्यं वद-तीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादीति । प्रतिज्ञया चेदमित्थमेवेत्येकान्ताभ्यु-पगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी । तथा-(दुहिल त्ति) द्रोहण-शीलो द्रोग्धा,न मित्रमप्यनभिद्रुह्यास्ते । तथा-स्तब्धः तपस्व्य-हमित्याद्यहंकृतिमान् । तथा-लुब्धोऽन्नादिष्वभिकाङ्क्षावान् । तथा-अनिग्रहः प्राग्वत् । तथा-असंविभजनशीलोऽसंविभागी, नाहा-रादिकमवाप्यातिगर्द्धनोऽन्यस्मै स्वल्पमपि यच्छति,किन्त्वात्मा-नमेव पोषयति । तथा-(अवियत्त त्ति) अप्रीतिकरो,दृश्यमानः सं-भाष्यमाणो वा सर्वस्याप्रीतिमेवोत्पादयति । एवंविधदोषान्वितो-ऽविनीत इत्युच्यते इति निगमनम् ॥ उत्त०११ अ०। ('विणय' शब्दे सर्वमधिकारं व्याख्यास्यामि) सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते, बृ० ४ उ०। अविनीता नाम ये बहुशोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमा-द्यन्ति । बृ० १ उ० ॥ सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते, स्था० १ ठा० ४ उ० । (अस्याबाचनीयत्वं 'वायणा' शब्दे वक्ष्यते)

अविणीयप्प (ण्)-अविनीतात्मन्-पुं० । विनयरहिते अना-त्मज्ञे, प्रज्ञा० २ पद । दश० ।

अविण्णा-अविज्ञा-स्त्री० । अविज्ञानमविज्ञा । अनाभोगकृते, सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविण्णाय-अविज्ञात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ॥

अविण्णायकम्म(ण्)-अविज्ञातकर्मन्-न०। अविज्ञातमविदि-तं कर्म क्रिया व्यापारो मनोवाक्कायलक्षणो यस्य । अज्ञातमन आदिव्यापारे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविण्णायधम्म-अविज्ञातधर्मन्-त्रि० । पापादनिवृत्ते अज्ञातध-र्मणि, अविरतसम्यग्दृष्टौ च । भ० ८ श० १० उ० ।

अविण्णोवचय-अविज्ञोपचित-न० । अविज्ञानमविज्ञा, तयोपचि-तम् । अनाभोगकृते कर्मणि, सूत्र० । तच्च बध्यते शाक्यसमये । यथा-मातुः स्तनाद्याक्रमणेन पुत्रस्यापत्तावप्यनाभोगान्न कर्मो-पचीयते । सूत्र० १ श्रु०१ अ० १ उ० । केवलकायक्रियोच्छेदे क-र्मणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवितक्क-अवितर्क-पुं० । न विद्यते वितर्कोऽश्रद्धानक्रियाफलं देहरूपो यस्य (भिक्षोः) सोऽवितर्कः । कुतर्करहिते, "सुसमाहि-तलेसस्स अवितक्कस्स भिक्खुणो " । दशा० ५ अध्या० ।

अवितह-अवितथ-त्रि० । न वितथमवितथम्-सत्यम् । आव० ४अ०। अव्यभिचारिणि, पञ्चा० १५ विव० । "णिग्गंथं पावयणं अवितह-मेयं " । पूर्वमभिमतप्रकारयुक्तमपि सदन्यदा विगताभिम-तप्रकारमपि किञ्चित्स्यात् । अत उच्यते-अवितथमेतत्, न कालान्तरेऽपि विगताभिमतप्रकारमिति । भ० १० श० ५ उ० । प्रश्न० । आचा० । तथ्ये, आ० चू० ४ अ० । यथास्थिते, कल्प० १ क्ष० । याथातथ्येन व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । य-थावदनुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपि-ण्डितार्थवचने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । सद्भूतार्थे, औ० ।

अवितिण्ण-अवितीर्ण-त्रि० । तितीर्षौ पारमगते, सूत्र०१ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अविदिण्ण-अवितीर्ण-त्रि० । अदत्ते, बृ० ३ उ० । आ० म० । नि० चू० ।

अविदिय-अविदित-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुनोऽप-रिज्ञाते, "संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् । " संवेदनमात्रं वस्तु-स्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत्, कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते । षो० १२ विव० ।

अविदुय-अविद्रुत-त्रि० । उपद्रवरहिते अनुपसन्ने, षो० १२ विव० ।

अविद्धत्थ-अविध्वस्त-त्रि० । अच्युत्क्रान्ते, अपरिणते, आचा० २ श्रु०१ अ० ८ उ० । अप्रासुके, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । प्ररोहसमर्थे बीजादौ, दश० ४ अ० ।

अविधि-अविधि-पुं० । असमाचार्याम्, बृ० ३ उ० ॥

अविधिपरिहारि (ण्)-अविधिपरिहारिन्-पुं० । संयमार्थे आ-युक्ते, "संजमट्ठाए त्ति वा आउत्ते त्ति वा अविधिपरिहारि त्ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अविप्पओग-अविप्रयोग-पुं० । रक्षायाम्, "सुक्खाणं अविप्प-ओगेणं " स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अविप्पकट्ठ-अविप्रकृष्ट-त्रि० । न विप्रकृष्टं दूरम् । आसन्ने, ज्ञा० १ अ० ।

अविप्पणास-अविप्रणाश-पुं० । शाश्वतत्वे, विशे० ।

अविबुद्ध-अविबुद्ध-त्रि० । भावसुप्ते, व्य० ३ उ० ।

अविभज्ज-अविभाज्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, स्था० ३ ठा० २ उ० । ज्यो० ।

अविभत्त-अविभक्त-त्रि० । अकृतविभागे, बृ० । तत्र यावान् सागारिकादीनां साधारणचोल्लक उपस्कृतस्तावानद्याप्यखण्डः पुञ्ज एव अधस्तनाभागादिविधिका कृता सा आंशिका अवि-भक्तेत्युच्यते ॥ बृ० २ उ० ।

अविभत्ति-अविभक्ति-स्त्री० । विभागाभावे, व्य० ३ उ० ।

अविभव-अविभव-पुं० । अदारिद्र्ये, व्य० ६ उ० ।

अविभाइम-अविभागिम-त्रि० । अविभागेन निर्वृत्तोऽविभागि-मः । एकरूपे, भ० २० श० ५ उ० । विभागेन निर्वृत्तो वि-भागिमः, तन्निषेधादविभागिमः भागशून्ये, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अविज्ञाइय-अविभाज्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, " तओ अवि- भाइया पण्णत्ता। तं जहा-समए, पएसे, परमाणू " । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अविभाग-अविभाग-पुं० । संबद्धो विभागो नैरन्तर्याभावः, तदभावोऽविभागः । नैरन्तर्ये, पिं० ॥

अविभागपलिच्छेय-अविभागपरिच्छेद-पुं० । परिच्छिद्यन्त इति परिच्छेदा अंशाः, ते च सविभागा भवन्त्यतो विशेष्यन्ते। अ- विभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्यविभागपरिच्छेदाः । निरंशेषु अंशे- षु, भ० ८ श० १० उ० । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परम- निकृष्टोऽनुभागांशोऽभिसूक्ष्मतयाऽर्द्धं न ददाति सोऽविभागप- रिच्छेद उच्यते । उक्तं च-" बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागं सो न देइ जो अद्धं । अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंध- म्मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० । वृ० ।

अविभागुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्नेहाविभागेषु, क० प्र० ।

अविभाव-अविभाव्य-त्रि० । अविभावनीयस्वरूपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अविभूसिय-अविभूषित-त्रि० । विभूषारहिते, वृ० १ उ० ।

अविभूसियप्प (ण्)-अविभूषितात्मन्-त्रि० । विभूषाविर- हितदेहे, प्रव० ७२ द्वार । आव० ।

अविमण-अविमनस्-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशून्यचि- त्ते, अन्त० ७ वर्ग । प्रश्न० । अलाभादिदोषात् अविगतमानसे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अविमुत्तया-अविमुक्तता-स्त्री० । सपरिग्रहतायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अविमुत्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । सलोभतायाम्, पञ्चा० १७ विव० । गृद्धौ, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दव्वे भावेऽविमुत्ती, दव्वे वीरल्लएहारुबंधणता ।
सउणगहणे कमणो, पइक्क मुक्को वि आणेइ ॥

अविमुक्तिर्द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्याविमुक्तौ-'वीरल्लओ' श्यायकः पक्षी दृष्टान्तः । स च स्नायुसन्तानबन्धनेन पादे बद्धो यत्र तित्तिरिप्रभृतिकः पक्षी दृश्यते तत्र मुच्यते, ततस्तेन यदा तस्य शकुनस्य ग्रहणं कृतं स्यात्तदा भूयोऽपि तथैव तं शय्यातरस्य कर्षणं क्रियते, तत आगतस्य हस्ततालमांसं दीयते ततो मांसे प्रगृद्ध आसक्तः सन् मुक्तोऽपि स्नायुबन्धनमन्तरेणापि शकुनिमा- नयति, आनीय च तत्रैवावतिष्ठते । एषा द्रव्याविमुक्तिः ।

अथ भावाविमुक्तिमाह-

भावे उक्कोसपणी-यगिद्धितो तं कुलं न छड्डेति ।
यहाणादीकज्जेसु व, गते वि दूरं पुणो एंति ॥

भावो भावाविमुक्तिः पुनरयम्-उत्कृष्टद्रव्यं शाल्योदनादि, प्रणीतं घृतादि, तयोर्या गृद्धिर्लौल्यं ततस्तत्कुलं शय्यातरसंबन्धि, न परि- त्यजति । अथवा-स्नानरथयात्रादौ पर्वणि कार्येषु च गणसङ्घ- प्रयोजनेषु, दूरमपि गता भूयस्तत्रैव समागच्छन्ति । वृ० २ उ० ।

अविमोयणया-अविमोचनता-स्त्री० । वस्त्रादीनामत्यागे, भ० १ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अव्य० । अभ्युच्चये, तं० । भ० ।

अविक-पुं० । मेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्फुटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । मुग्धे, सहजविवेकविकले च । सूत्र० १ श्रु० १ अ०२ उ० ।

अवियत्त-देशी-न० । अप्रीतिके, आ० म० प्र० । स्था० । ग० । अप्रीतिकारणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । प्रति० । दश० । स्था० ।

अवियत्तजंभग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अन्नाद्यविभागेन जृम्भ- के, भ० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविसोहि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्याप्रीति- कस्याविशोधिः, तन्निवर्त्तनादवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे, स्था० १० ठा० ।

अवियत्तोवघाय-अवियत्तोपघात-पुं० । अप्रीतिकेन विनयादे- रुपघाते, स्था० १० ठा० ।

अवियाउरी-अविजनित्री-स्त्री० । अपत्यानामविजननशीला- यां स्त्रियाम्, ज्ञा० २ अ० । " तस्स बंधुमई नाम, अविया- उरी " । आ० म० प्र० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशिष्टावबोधरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरित- रस्मादितरत्र, तथा-मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र, यस्य तद- विचार इति । ग० १ अधि० । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतोऽसंक्रमणे, आव० ४ अ० । भ० । ध० । "एगत्तवितक्के अवियारे" शुक्लध्यान- भेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवियारमणवयणकायवक्क-अविचारमनोवचनकायवाक्य- त्रि० । अविचाराण्यविचारितरमणीयानि परमार्थविचारगुणतया युक्त्या वा विघटमानानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचाराण्यविचारणीयानि अशोभनतया निरूपणीयानि अप- यालोचनीयानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचा- रयुगन्तःकरणवाग्देहवाक्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

अवियारसोहणट्ठ-अविचारशोधनार्थ-पुं० । संयमस्खलित- विशुद्धिनिमित्त, पं० व० २ द्वार ।

अविरइ-अविरति-स्त्री० । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावे, कर्म० । द्वा- दशप्रकाराऽविरतिः । कथम् ?, इत्याह-मनः स्वान्त, करणानीन्द्रि- याणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवर्त्तमानानामनियमोऽनियन्त्र- णं; तथा षण्णां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसरूपाणां जीवानां वधो हिंसेति । कर्म० ४ कर्म० । प्राणातिपातादीनामनिषेधे, जी- त० । अब्रह्मणि, स्था ६ ठा० । " अविरई पडुच्च बाले आहिज्जइ" येयमविरतिरसंयमरूपा सम्यक्त्वाभावाद् मिथ्यादृष्टेर्द्रव्यतोऽ- विरतिरप्यविरतिरेव, तां प्रतीत्याश्रित्य बालवद् बालोऽज्ञः । " तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरई एसट्ठाणे आरं- भट्ठाणे " तत्र पूर्वोक्तेषु येयं सर्वात्मना सर्वस्माद् अविर- तिर्विरतिपरिणामाभावः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । " अखेदो विषयावेशाद्, भवेदविरतिः । किल " विषयावेशाद् बाह्येन्द्रि- यार्थव्याक्षेपलक्षणादखेदोऽनुपरमलक्षणः किलाविरतिर्भवेत् ।

द्वा०१६ द्वा०। अविरमणेषु, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। अप्रत्याख्याने, स्था० १० ठा०। "जश्वि अ न जाइ सव्व-त्थ कोइ देहेण माणवो पंथ। अविरइअव्वयबंधो, तहा वि निश्चो भवे तस्स" ॥१॥ ध० २ अधि०।

अविरइ (य) वाय-अविरति (क) वाद-पुं०। अविरतिरब्रह्म, तद्वादो वार्त्ता। मैथुनचर्चायाम्, स्था० ६ ठा०।

अविरइया-अविरतिका-स्त्री०। न विद्यते विरतिर्यस्याः सा अविरतिका। स्त्रियाम्, स्था० ६ ठा०। बृ०।

अविरत्त-अविरक्त-त्रि०। अनुरक्ते, औ०।

अविरय-अविरत-त्रि०। अविरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति। पं० सं० १ द्वार। सावद्यादविरते, स्था०२ ठा० १ उ०। उत्त०। चं० प्र०। पापस्थानेभ्योऽनिवृत्ते, दश० १० अ०। प्रश्न०। ध०। प्राणातिपातादिविरतिरहिते विशेषेण तपस्यरते, भ० १ श०१ उ०। गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। मिथ्यादृष्टौ च। आव ४ अ०।

अविरयवाइ(ण्)-अविरतवादिन्-पुं०। वदनशीलो वादी; अविरतस्य वाद्यविरतवादी। परिग्रहवति, आचा० १ श्रु०४अ०१उ०।

अविरयसम्मत्त-अविरतसम्यक्त्व-पुं०। अविरतसम्यग्दृष्टौ, कर्म० ५ कर्म०॥

अविरयसम्मद्दिट्ठि-अविरतसम्यग्दृष्टि-पुं०। विरतिर्विरतम्; क्लीबे क्तप्रत्ययः। तत्पुनः सावद्ययोगे प्रत्याख्यानं, तन्न जानातीति नाभ्युपगच्छति, न तत्पालनाय च यतत इति त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः। स्थापना—

ऽ	ऽ	ऽ
ऽ	ऽ	।
ऽ	।	ऽ
ऽ	।	।
।	ऽ	ऽ
।	ऽ	।
।	।	ऽ
।	।	।

तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिः, अज्ञानित्वात्। शेषेषु सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानित्वात्। सप्तसु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः। "अभ्रादिभ्यः"। ७। २। ४६। इति अप्रत्ययः। चरमभङ्गेषु विरतिरस्तीति। यद्वा-विरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः। "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः"। ५। १। ११। इति कर्तरि क्तप्रत्यये विरतः। न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाविरतसम्यग्दृष्टिः। इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णितौपशमिकसम्यग्दृष्टिः शुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयवर्त्ती क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा क्षीणदर्शनसप्तको वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिश्रेणिकल्पां जानन्नप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नितत्वान्नाभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतत इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते॥ कर्म० २ कर्म०। देशविरते श्रावके, स० १४ सम०। आव०। प्रव०। पं० सं०। दर्श०।

अविरयसम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण-अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान-न०। अविरतसम्यग्दृष्टेः गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म०।

उक्तं च—

" बंधं अविरइहेउं, जाणंतो रागदोसदुक्खं च।
विरइसुहं इच्छंतो, विरइं काउं च असमत्थो ॥ १ ॥
एस असंजय सम्मो, निंदंतो पावकम्मकरणं च।
अहिगयजीवाजीवो, अचलियदिट्ठी चलियमोहो "॥ २ ॥
कर्म० २ कर्म०। पं० सं०।

अविरल-अविरल-त्रि०। घने, औ०। " अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहिं"। अविरलानि घनशलाकात्वेन समानि तुल्यशलाकातया सहितानि संहितानि अनिम्नाऽनुन्नतशलाकायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रमाणि च शशिधरबिम्बवत् प्रभान्ति वृत्ततया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (छत्रैः) ॥ प्रश्न०४ आश्र० द्वार।

अविरलदंत-अविरलदन्त-त्रि०। अविरला दन्ता यस्य। घनरदने, औ०। यस्य हि यथा अनेकदन्ता अपि सन्त एकाकारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्ते। तं०।

अविरलपत्त-अविरलपत्र-त्रि०। घनपत्रे, " अविरलपत्ता अच्छिद्दपत्ता"। अत्र हेतौ प्रथमा। ततोऽयमर्थः-यतोऽविरलपत्रा अतोऽच्छिद्रपत्राः। जी० ३ प्रति०। रा०।

अविरह-अविरह-पुं०। विरहाभावे, व्य० १ उ०। सातत्येनावस्थाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

अविरहिय-अविरहित-त्रि०। सन्तते, पञ्चा० १० विव०।

अविराहिऊण-अविराध्य-अव्य०। अखण्डमनुपाल्येत्यर्थे, पा०। सम्यक्पालयित्वेत्यर्थे, ध० ३ अधि०।

अविराहिय-अविराधित-त्रि०। न विराधितोऽविराधितः। देशभग्ने, ब०। अपराद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

अविराहियसंजम-अविराधितसंयम-पुं०। प्रव्रज्याकालादारभ्याऽभग्नचारित्रपरिणामे संज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायाऽऽदिदोषसम्भवेऽप्यनाचरितचरणोपघाते, भ० १ श० २ उ०।

अविराहियसामण्ण-अविराधितश्रामण्य-त्रि०। आराधितचरणे, भ० १५ श० १ उ०। अखण्डितसकलसुयतिसमाचारे, दर्श०। (अस्योपपातः 'उववाय' शब्दे द्वितीयभागे ९८१ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अविरिक्क-अविरिक्त-त्रि०। अविभक्तीकृते, व्य० ९ उ०।

अविरिक्थ-त्रि०। अविभक्तारिक्थे, व्य० ४ उ०।

अविरिय-अवीर्य-त्रि०। वीर्यरहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि०। सङ्गते, पञ्चा०६ विव०। युक्ते, पञ्चा० १७ विव०। पूर्वपुरुषमर्यादाऽनतिक्रमेणाऽविरोधभाजि, व्य० १ उ०। वैनयिके, उक्तं च-"अविरुद्धो विणयकारी, देवाईणं पराए भत्तीए॥ जह वेसियायणसुओ, एवं अन्ने वि नायव्वा" ॥ १ ॥ ज्ञा० १४ अ०। औ०। धर्माद्यप्रतिपन्थिनि, "अविरुद्धकुलाचार-पालने मितभाषिता"। (अविरुद्धस्येति) धर्माद्यप्रतिपन्थिनः कुलाचारस्य पालनमनुवर्त्तनम्। द्वा० १२ द्वा०। विरुद्धराज्यविरहिते ग्रामादौ, बृ० १ उ०।

अविरुद्धवेणइय-अविरुद्धवैनयिक-पुं०। क्षितीशमातापितृगुरूणामविरोधेन विनयकारिणि, अनु०।

अविलंबिय-अविलम्बित-त्रि०। नातिमन्थरे, भ० १ श० ७ उ०। कल्प०।

अविला-अवी-स्त्री०। उरण्याम्, पिं०।

अविलुत्त-अविलुप्त-त्रि०। संसृतराज्ये, व्य० ७ उ०।

अविवज्जय–अविपर्यय–पुं० । अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययः,न विपर्ययोऽविपर्ययः । तत्त्वाध्यवसाये सम्यक्त्वे, विशे० ।

अविवेग–अविवेक–पुं० । असदुपयोगे, अष्ट० १२ अष्ट० ।

अविवेगपरिच्चाग–अविवेकपरित्याग–पुं० भावतोऽज्ञानपरित्यागे, पं० व० १ द्वार ।

अविसंधि–अविसन्धि–पुं० । अव्यवच्छिन्ने, आव० ४ अ० । आ० चू० । ध० ।

अविसंवाइ (ण्)–अविसंवादिन्–त्रि० । इष्टेष्टाऽविरोधिनि, पा० ।

अविसंवाइय–अविसंवादित–त्रि० । सद्भूतप्रमाणाबाधिते,पा० ।

अविसंवाद–अविसंवाद–पुं० । संवादे,स च प्राप्तिनिमित्तं प्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियाप्रसाधकार्थप्रदर्शनम् । सम्म १ काण्ड ।

अविसंवायण (णा) जोग–अविसंवादन (ना) योग–पुं० । विसंवादनमन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणं, तद्रूपो योगो व्यापारः,तेन वा योगः संबन्धो विसंवादनयोगः, तन्निषेधोऽविसंवादनयोगः । भ० ८ श० ६ उ० । अनाभोगादिना गवादिकमश्वादिकं यद्वदति, कस्मैचित् किञ्चिदभ्युपगम्य वा यन्न करोति सा विसंवादना, तद्विपक्षेण योगः सम्बन्धोऽविसंवादनायोगः । संवादनासंबन्धे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अविसम–अविषम–त्रि० । समतले, तं० ।

अविसय–अविषय–न० । बाह्यार्थाभावेन निर्गोचरे, पञ्चा० ५ विव० ।

अविसहण–अविसहन–त्रि० । कस्यापि पराभवाऽसोढरि, बृ० १ उ० ।

अविसाइ (ण्)–अविषादिन्–त्रि० । विषादवर्जिते, अनु० ३ वर्ग । ध० । अदीने, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । खेदरहिते, ध० ३ अधि० । किं मे जीवितेनेत्यादिचिन्तादिरहिते, अन्त० ७ वर्ग । परीषहाद्यभिद्रुतत्वेन कायसंरक्षणादौ दैन्यमनुपयाते, पं० व० १ द्वार ।

अविसारय–अविशारद–त्रि० । अचतुरे, उत्त० २८ अ० ।

अविसुद्ध–अविशुद्ध–त्रि० । विशुद्धवर्णादिरहिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अविसुद्धलेस्स–अविशुद्धलेश्य–त्रि० । कृष्णादिलेश्ये, जी० ३ प्रति० । विभङ्गज्ञानिनि, भ० ६ श० ६ उ० । (तत्र अविशुद्धलेश्यो देवो विशुद्धलेश्यं देवं पश्यतीति ' विभंग ' शब्दे वक्ष्यते)

अविसेस–अविशेष–त्रि० । निर्विशेषे, पञ्चा० १३ विव० । नगनगरनद्यादिकृतविशेषरहिते अविशेषलक्षणे भृङ्गारादौ, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अविसेसिय–अविशेषित–त्रि० । विभागरहिते, बृ० २ उ० । अनर्पिते, स्था० १० ठा० ।

अविसेसियरसपगइ–अविशेषितरसप्रकृति–स्त्री० । रसः स्नेहोऽनुभाग इत्येकार्थः; तस्य प्रकृतिः स्वभावः । अविशेषिता अविवक्षिता रसप्रकृतिः, उपलक्षणत्वात् स्थित्यादयो यस्मिन्नसावविशेषितरसप्रकृतिः । अविवक्षितानुभावे, क० प्र० ।

अविसोहि–अविशोधि–पुं० । उपघाते, शबलीकरणे च । ओघ० । अतिचारे, आ० चू० १ अ० ।

अविसोहिकोडि–अविशोधिकोटि–स्त्री० । आधाकर्मादिगुणेऽविशुद्धवर्गे, ताश्च षडिमाः–स्वतो हन्ति घातयति घ्नन्तमनुजानीते । तथा–पचति, पाचयति, पचन्तमनुजानीते इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविस्स–अविश्र–न० । मांसरुधिरे, प्रव० ४० द्वार ।

अविस्ससणिज्ज–अविश्वसनीय–त्रि० । विश्वासकर्तुमयोग्ये,तं० ।

अविस्सामवेयणा–अविश्रामवेदना–स्त्री० । विश्रान्तिरहितायामसातवेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अविहडा–देशी–पुं० । बालके, "सीहं पालेइ गुहा, अविहडं तेण सा महड्ढी य " । बृ० १ उ० ।

अविहम्ममाण–अविहन्यमान–त्रि० । न विहन्यमानोऽविहन्यमानः । विविधपरिषहोपसर्गैरहन्यमाने, " अविहम्ममाणो फलगावतट्ठी " । विघातमक्रियमाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

अविहवबहू–अविधववधू–स्त्री० । जीवत्पतिकनार्य्याम्, भ० १२ श० २ उ० ।

अविहाण–अविघाट–स्त्री० । अविकटावर्ते, व्य० ७ उ० ।

अविहिंस–अविहिंस–त्रि० । न विद्यते विहिंसा येषां तेऽविहिंसाः । विविधैरुपायैरहिंसकेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अविहिंसा–अविहिंसा–स्त्री० । विविधा हिंसा विहिंसा; न विहिंसा अविहिंसा । विविधप्राणातिपातवर्जने, "अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो " । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अविहिकय–अविधिकृत–त्रि० । अविधिना कृतमविधिकृतम् । अशक्त्यादिना न्यूनाधिककरणे, दर्श० ।

अविहिण्णु–अविधिज्ञ–त्रि० । न्यायमार्गाऽप्रवेदिनि, दश० १ अ० ।

अविहिजोयण–अविधिभोजन–न० । " कागसियालयखुत्तं दविवरसं सव्वओ परामुट्ठं । एसो उ हवे अविही " । इत्युक्तलक्षणे काकक्षुण्णादिभोजने, ओघ० ।

अविहिसेवा–अविधिसेवा–स्त्री० । अविधेर्विधिविपर्ययस्य सेवा सेवनम्–अविधिसेवा । निषिद्धाचरणे, षो० ५ विव० ।

अविहेडय–अविहेठक–पुं० । न कांचिदप्युचिते आदरशून्ये, " अविहेडए जो स भिक्खू " । दश० १० अ० ।

अवीइदव्व–अवीचिद्रव्य–न० । न वीचिरूव्यमवीचिद्रव्यम् । सम्पूर्णे आहारद्रव्ये, सर्वोत्कृष्टायामाहारवर्गणायां च । भ० १३ श० ६ उ० । (' वीइदव्व ' शब्देऽस्य व्याख्या)

अवीइमंत–अवीचिमत्–त्रि० । अकषायसंबन्धवति, भ० १० श० २ उ० ।

अवीइय–अविविच्य–अव्य० । अपृथग्भूयेत्यर्थे, भ० १० श० २ उ० ।

अविचिन्त्य–अव्य० । अविकल्प्येत्यर्थे, भ० १० श० २ उ० ।

अवीय–अद्वितीय–त्रि० । न० ब० । एकाकिनि, कल्प० ६ क्षण० । असहाये, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अवीरिय–अवीर्य–पुं० । मानसशक्तिवर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

अवीसंभ-अविश्रम्भ-पुं० । अविश्वासे, गौणे तृतीये प्राणातिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रवृत्तो हि जीवानामविश्रम्भणीयो प्रवतीति प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वाद्विश्रम्भव्यपदेशः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ॥

अवीसत्थ-अविश्वस्त-त्रि० । विश्वासरहिते, ग० २ अधि० ।

अवुग्गहट्ठाण-अविग्रहस्थान-न० । कलहाऽनाश्रये, स्था० । "आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंच अवुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-आयरियउवज्झाएणं गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ १, एवं महाराइणियाए सम्मं०२, आयरियउवज्झाएणं गणंसि जेसु य पज्जवजाए धारेइ ते काले सम्मं० ३, एवं गिलाणसेहवेयावच्चं सम्मं० ४, आयरियउवज्झाएणं गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवइ, णो अणापुच्छियचारी । " स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अवुत्त-अनुक्त-त्रि० । केनाप्यप्रेरिते, स्था० ८ ठा० ।

अवुसराइय-अवसुराज-पुं० । रत्नश्रेष्ठे, तद्वद्दीप्तिमति पदार्थमात्रे, नि० चू० ।

वसुराजमवसुराजं भणति-

जे भिक्खू वुसराइयं अवुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

वसूणि रयणाणि, तेसु राओ वसुराओ । अथवा-राई दीप्तिमान्, राजते शोभत इत्यर्थः । तं विवरीयं जो भणति, तस्स चउलहु ।

इमा णिज्जुत्ती—

वसुमं ति वा वि वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जया चरणे ।
तेसु रतो वुसराई, अवुसिम्मि ततो अवुसराई ॥ ३२८ ॥

ते दुविधा-दव्वे, भावे य । दव्वे मणिरयणादिया, भावे णाणादिया । इह भाववसुहिं अधिकारो । ताणि जस्स अत्थि सो वसुमं ति भण्णति । अहवा-इंदियाणि जस्स वसे वट्टंति, सो वसिमं भण्णति । अहवा-णाणदंसणचरित्तेसु जो वसति णिच्चकालं सो वसतिरातिणिओ भण्णति । अहवा-व्युत्सृजति पापम्-अन्यपदार्थाख्यानं, चारित्रं वा वसुमं ति वुच्चति । वसति वा चारित्ते वसुरातीभण्णति । अहवा-(पज्जयाचरणे त्ति) एते चारित्तट्ठियस्स पज्जाया, एगट्ठिया इत्यर्थः । एस वुसराई भण्णति । पडिपक्खे अवुसराई ।

अहवा-

वुसि संविग्गो भणितो, अवुसि असंविग्ग ते तु वोच्चत्थं ।
जे भिक्खू उ वएज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३२९ ॥

कंठा । ' वोच्चत्थं ति ' वुसिराइयं अवुसिराइयं, अवुसिराइयं वुसिराइयं भणति ।

एत्थ पढमं वुसिराइयं अवुसिराइयं भणति इमेहिं कारणेहिं—

रोसेण पडिणिवेसे-ण वा वि अकयंत मिच्छभावेणं ।
संतग पोच्छाएत्ता, भासति अणुएसणे ते उ ॥ ३३० ॥

कोइ कस्स वि कारणे अकारणे वा रुट्ठो पडिणिवेसेण 'सो पूइज्जति, अहं ण पूइज्जामि' । एवमादिविभासा अकयपूयाए । 'एतेण तस्स उवयारो कओ, ताहे मा पयस्स पडिउवयारो कायव्वो होहि' त्ति मिच्छभावेणं मिच्छत्तेणं उदिएणं । सेसं कंठं ।

असंविग्गा संविग्गजणं इमेण आलंबणेण हीलंति-

धीरपुरिसपरिहाणी, नाऊणं मंदधम्मिया केइ ।
हीलंति विहरमाणं, संविग्गजणं असंविग्गो ॥ ३३१ ॥

कंठा । के पुण धीरपुरिसा ?, इमे—

केवलमादि हि चोदस, णवपुव्वीहिं विरहिए एण्हिं ।
सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ? ॥ ३३२ ॥
बाहिरकरणेण समं, अब्भिंतरयं करेंति अमुणेत्ता ।
रोगंतेणं च जवे, विवज्जिओ दिस्सते जेण ॥ ३३३ ॥

एते संपदं णत्थि, जदि एते होंता तो जाणंता, असीदंताणं चरणं सुद्धं, इयरेसिं असुद्धं । केवलमादिणो णाउं पडिचोयंता पच्छित्तं च जहारुहं देंतो चिंतंति, अब्भिंतरगो वि एरिसो चेव भावो । ण य एगंतरेण बाहिरकरणजुत्तो अब्भंतरकरणयुक्तो भवति । कहं ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-उदाइमारगस्स एसणचंदस्स य बाहिरे अविसुद्धो, अरहो विसुद्धो चेव ।

जइ दाणि णिरतिचारा, हवेज्ज तव्वज्जिआ व सुज्झिज्जा ।
न य हुंति निरतिचारा, संघयणधितीण दोब्बल्ला ॥ ३३४ ॥

संघयकाले जदि णिरतिचारा हवेज्ज, अहवा-तव्वज्जिया णाम ओहिणाणादिवज्जिआ जइ चरित्तसुद्धी हवेज्ज, तो जुत्तं वत्तुं-इमे अविसुद्धचरणा संघयणधितीण दुब्बलत्तणओ य पच्छित्तं करेंति ।

संघयणधितिदुब्बलत्तओ चेव इमं च ओसण्णा भणंति-

को हा ! तहा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।
जहसत्ती पुण कीरति, ददा पइण्णा हवइ एवं ॥ ३३५ ॥

धीरपुरिसा तित्थकरादी जहासत्तिए कीरति एवं भणमाणे दढा पइण्णा भवति जो एवं भणति, जो पुण अणहा वदति, अण्णहा य करेति, तस्स सच्चा पइण्णा ण भवति ।

आयरिओ भणति—

सव्वेसिँ एव चरणं, पुणो य मोयावगं दुहसयाणं ।
मा रागदोसवसगा, अप्पाण सरणं पलीवेह ॥ ३३६ ॥

सव्वेसिं भवसिद्धियाणं, चरणं-सरीरमाणसाणं दुक्खाण विमोक्खणकरं, तं तुब्भे सयं सीयमाणो अप्पणो चरित्तेण रागाणुगता उज्जमचरणाणं दोसमावण्णा मा भणह-चरणं णत्थि, मा तत्थेव वसह, तं चेव सरणं पलीवेह, णो सहेत्यर्थः ।

किंच—

संतगुणणासणा खलु, परपरिवाओ व होंति अलियं वा ।
धम्मे य अबहुमाणा, साहुपदोसे य संसारो ॥ ३३७ ॥

चरणं णत्थि त्ति एवं भणंतेहिं साधूणं संतगुणणासो कतो भवति; पवयणस्स य परिभवो कतो भवति; अलियवयणं च भवति । चरणधम्मे पलोविज्जंते, चरणधम्मे य अबहुमाणो कतो भवति, साधूण य पदोसो कतो भवति, साधुपदोसेण य संसारो वड्ढितो भवति ॥

किंच—

खय-उवसम-मीसं पि अ, जिणकाले वि तिविहं भवे चरणं ।
मिस्सातो च्चिय पावति, खयउवसमं च णाणत्ता ॥ ३३८ ॥

तित्थकरकाले वि तिविहं चारित्तं-खाइयं,उवसमियं, खाइओवसामियं च। तम्मि वि तित्थकरकाले मिस्साओ चेव चारित्ताओ खाइयं उवसामियं वा चारित्तं पावति,नान्यस्मात्। बहुतरा य चरित्तविसेसा खओवसमभावे भवंति।

किंच तीर्थकरकाले वि–

अइयारो वि हु चरणे, तिलस्स मिस्सेण दोस इतरेसु ।
वत्थातुरदिट्ठंता, पच्छित्तेणं स तु विसुज्झो ॥ ३३९ ॥

(इयरेसु त्ति) खाइए उवसमिए वा । जहा-वत्थं खारादीहिं सुज्झति, आतुरस्स वा रोगो वमणविरेयणओसहपओगेहिं सोहिज्जति, तहा साधुस्स चरणातिअइयारो पच्छित्तेणं सुज्झति। जं च भणियं-अतिसयरहिएहिं सुद्धासुद्धचरणं ण सुज्झति–

दुविहं चेव पमाणं, पच्चक्खं चेव तह परोक्खं च ।
चउ वा तिविहा पढमं, अणुमाणोपम्मसुत्तेतरं ॥३४०॥

ओहि-मणपज्जव-केवलं च-एयं तिविधं पच्चक्खं, धूमादग्निज्ञानमनुमानम्, यथा गौः तथा गवय औपम्यं, सुत्तमिति आगमः, इयरं ति एयं तिविधं परोक्खं ।

सुद्धमसुद्धं चरणं, जहा उ जाणंति ओहिणाणीओ ।
आगारेहि मणं पि व, जाणंति तहेतराभावं ॥३४१॥

पुव्वद्धं कंठं । जहा परस्स सुहणे त्ति बाहिरागारेहिं अंतरगतो मणो णज्जति,तहा इयर त्ति परोक्खणाणी आलोयणाविहाणं सोउं पुव्वावरबाहियाहि गिराहिं आचरणेहिं य जाणंति चरित्तं भावं च सुद्धं, सुद्धेतरं च ।

चोदग आह-जइ आगारेण भावो णज्जति तो कदाइमारगादीणं किं ण णाओ ? । आचार्य आह-

कामं जिणपच्चक्खा, गूढाचाराण दुम्मणो भावो ।
तह वि य परोक्खसुद्धी, जुत्तस्स व पणवीसाए ॥३४२॥

काममिति अनुमतार्थे । जइ वि जे उदाइमारगादिगूढायारा, तेसिं छउमत्थेणं दुक्खं उवलब्भति, भावो सो जिणाणं पुण पच्चक्खो, तहा वि परोक्खणाणी आगमाणुसारेण चरित्तसुद्धिं करेंति चेव। कहं ?। उच्यते-(जुत्तस्स वात्ति) जहा सुत्तोवउत्तो भीसजायज्झोयरो रागो त्ति पणरस उग्गमदोसा,दस एसणा दोसा,एते पणवीसं जहा सुत्ताणुसारेण सोहंतो चरणं सोहेति,तहा सुत्ताणुसारेण पच्छित्तं देतो करेंतो य चरित्तं सोधेति।

अणुज्जतचरणो इमेहिं कज्जेहिं होज्जा–

होज्ज हु वसणप्पत्तो,सरीरदोब्बल्लताएँ असमत्थो ।
चरणकरणे असुद्धे, सुद्धं मग्गं परूवेज्जा ॥३४३॥

व्यसनं आवती, मज्जगीतादियं वा, तम्मि उज्जमति, अहवा-सरीरदुब्बलत्तणओ असमत्थो सज्झायपडिलेहणादि किरियं कातं,अकप्पियादिपमिसेहणं च । अथवा-सरीरदोब्बलो, असमत्थो य, अदढधम्मा, एवमादिकारणेहिं चरणकरणं से अविसुद्धं । तहा वि अप्पाणं गरिहंतो सुद्धं साहुमग्गं परूवेंतो आराधगो चेव भवति ।

इमे चेव अत्थो भणति–

ओसण्णादिविहारे, कम्मं सिढिलेति सुलभबोहीए ।
चरणकरणं णिगूहति, न य बालहिं दुल्लभं जाणे ॥३४४॥

कण्ठ्या । जो पुण ओसण्णो होउं ओसण्णं मग्गं उववूहइ,सुद्धं चरणमग्गं गूहति,इमेहिं कारणेहिं इमं च से दुल्लभबोही (अत्थ) फलं । अहवा–

गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतरं वा अभिलसंताणं ।
चरणकरणाभिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो लहइ ॥३४५॥

गुणाणं सयं गुणसयं,गुणसयाणं साहस्सी, छंदोभंगभया सकारस्स हस्सता कता,ते य अट्ठारस सीलंगसहस्सा,तेहिं कलियं जुत्तं संचियं वा। किं तं?,चारित्तं, तं जो य पसंसति। किंच-गुणओ सो उत्तरं च गुणोत्तरम । अथवा-अन्येऽपि गुणाः सन्ति क्षमादयः,तेषामुत्तरं;तं च गुणुत्तरं सरागचारित्तं । गुणुत्तरतरं पुण अहक्खायचारित्तं भण्णति, तं च जे अभिलसंति ते च उज्जतचरणा इत्यर्थः। ते य उववूहते जो ओसण्णो अप्पणा य उज्जयचरणो होइं ति चरणकरणाभिलासी भण्णति,स एवंवादी गुणुत्तरतरं लभति, अहक्खायचारित्रमित्यर्थः । अथवा-गुणुत्तरतरं पुण मोक्खसुहं भण्णति, तं लभति ।

जो पुण ओसण्णो–

जिणवयणभावितेण तु, गुणुत्तरं सो वि जाणेत्ता ।
चरणकरणाभिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो हणति ॥३४६॥

गुणुत्तरतरं चारित्तं,साधू वा;अप्पणा य चरणकरणोवघाते वट्टति,अहवा-चरणकरणस्स जुत्ताण वा निंदा परोवघायं करेइ, स एवंवादी गुणुत्तरं-चारित्तं,मोक्खसुहं वा, हणाति ण लभति;जेण सो दीहसंसारित्तणं णिव्वत्तेति ।

जो ओसण्णं ओसण्णमग्गं वा उववूहति–

सो होती पडिणीतो, पंचण्हं अप्पणो अहितिओ य ।
सुयसीलाविरयत्ताणं, नाणे चरणे य मोक्खे य ॥३४७॥

पंचपासत्थादिसुयसीलो विहारलिंगाओ घाइओ कामा, अवियत्ता अगीयत्था णाणचरणमोक्खस्स य एतेसिं सव्वेसिं पडिणीतो भवति ।

इमेहिं पुण कारणेहिं ओसण्णं ओसण्णमग्गं वा उववूहेज्जा–

बितियपदमणप्पज्झो, वएज्ज अविकोविते व अप्पज्झो ।
जाणंते वा वि पुणो, भयसातव्वादिगच्छट्ठा ॥३४८॥

रायासि य ओसण्णाणुवत्तिओ भया भणेज्जा तव्वादं त्ति । कश्चिद्वादी ब्रूयात्-तपस्विनमतपस्विनं ब्रुवतः पापं भवतीति नः प्रतिज्ञा । तत्प्रतिघातकरणे वुसिराइयं अवुसराइयं भणेज्ज, दुब्भिक्खादिसु वा ओसण्णभाविएसु खेत्तेसु अत्थंतो ओसण्णाणुवत्तीओ गच्छपरिपालणट्ठा भणेज्ज ॥

जे भिक्खू अवुसराइयं वुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

एमेव बितियसुत्ते, वुसराइयं अवुसराइं व ।
जो पुण वएज्ज भिक्खू, अवुसिराइं तु वुसिराइं ॥३४९॥

कण्ठ्या ।

एगचारियं भणंता, सयं व तेसु य पदेसु वट्टंते ॥
सगदोसछायणट्ठा, केऽ पसंसंति णिद्धम्मे ॥ ३५० ॥

कोइ पासत्थादीणं एगचारियं भणाति-'एस सुंदरो,एयस्स एगागिणो ण केणइ सह रागदोसा उप्पज्जंति'। सो वि अप्पणा गच्छपंजरभग्गो तम्मि चेव ठाणे वट्टति। सो य अप्पणिज्जदोसे छादिउकामो तं पासत्थादियं एगचारिं णिद्धम्मं पसंसति।

इमं च भणंति–

दुक्करयं खु जहुत्ता, वाहडिया विसीदंति ।

एसो निविउयमग्गो, जस्स जवती य चरणसुम्धी ३५१॥

एवं जयंते इमे दोसा–

अब्भक्खाणं णिस्सं–कयाइ असंजमस्स य थिरत्तं ।

अप्पा उम्मग्गठिओ, अवएणवादो य तित्थस्स ॥ ३५२॥

असंजतभावुज्झावणं अब्भक्खाणं अनुसिरातियं भणति । सो य पसंसिज्जमाणो णिस्संको भवति । मंदधम्माण वि असंजमे थिरीकरणं करेति । अप्पं च उम्मग्गपसंसणाए अप्पणा य उम्मग्गट्ठितो, ततो तित्थस्स य अन्यपदार्थेन अवर्णवादः कृतो जवति ।

किंच—

जो जत्थ होइ मग्गो, ओयासं सो परस्स अविदंतो ।

गंतुं तत्थ वएंतो, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५३ ॥

अन्नाणिगदिट्ठंतेण ओसन्नो उवसंथारेयव्वो । सेसं कंठं ।

किंच—

पुव्वगयकालियसुय–संतासंतेहि केइ खोजेंति ।

ओस्सएणचरणकरणा, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५४ ॥

पुव्वगयकालियसुयणिबंधपज्जयते दीसंति । तत्थ कालियसुये इमेरिसो आलावगो–"बहुमोहो वि य णं पुव्वं विहरित्ता पच्छा संवुमे कालं करेज्जा किं आराहए, विराहए ? । गोयमा ! आराहए, णो विराहए" । एवं पुव्वगाहिए वि जे के वि आलावगा ते उच्चरित्ता परं खोभेति; अप्पणा वा खुभंति । सीदंतीत्यर्थः । ते य ओसण्णचरणकरणा इमं ति अप्पणो चरियं पहाणं घोसेंति ।

इमेसिं पुरतो–

अबहुस्सुए अगीयत्थे, तरुणे मंदधम्मिणो ।

परियारपूइयाहेउं, संमोहेउ निरुंजति ॥ ३५५ ॥

जेण आयारपगप्पो णाऽज्झाइतो एस अबहुस्सुतो; जेण आयस्सगादियाणं अत्थो ण सुओ सो अगीयत्थो, सोलसवरिसाण आढवेत्तु जाव चत्तालीसवरिसो एस तरुणो, असंवेगी मंदधम्मो। एते पुरिसे विपारिणामेति अप्पणो परिचारहेउं, एतेहि य परिचारितो लोगस्स पूयणिज्जो होउं, कालियं दिट्ठियाये भणितेहि अहवा अभणितेहिं वा समोहेउं अप्पणो पासे णिरुंभति, भ्रंशतीत्यर्थः । अहवा–जो एवं पणवेति एसो चेव अबहुस्सुओ अगीयत्थो तरुणो वा मंदधम्मो वा । सेसं कंठं ।

जत्थोचिओ विहारो, तं चेव पसंसए सुलजबोही ।

ओसण्णविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी ॥ ३५६ ॥

जो संविग्गविहाराओ जुओ तं पसंसति जो सो सुलभबोही । जो पुण ओसण्णविहारं पसंसति सो असुलभबोही दीहसंसारी भवति ॥

वितियपदमणप्पज्झो, वएज्ज अविकोविए व अप्पज्झो ।

जो जाणंता वि पुणो, जयसातव्वादिगच्छट्ठा ॥३६७॥

पूर्ववत् ।

जे भिक्खू वुसराइयाओ गणाओ अवुसराइयं गणं संकमइ, संकमंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

वुसिराइयागणाओ, जे भिक्खू संकमे अवुसिराई ।

पढमवियतियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥३५८॥

तो वुसिरातियं चउभंगो कायव्वो । चउत्थजंगे अवत्थुं, ततियजंगे अणुण्णे, पढमवितिएसु संकमो पडिसिद्धो । पढमे संकमंतस्स मासलहु, वितिए चउलहु । चोदगाह–जुत्तं वितिए पडिसेहो, पढमजंगे किं पडिसेहो ? । आचार्याह–तत्थ णिक्कारणे पडिसेहो, कारणे पुण पढमभंगे उवसंपदं करेति ।

सा य उवसंपया कालं पमुच्च तिविहा इमा—

छम्मासे उवसंपद, जहएण वारससमा उ मज्झिमिया ।

आवकहा उक्कोसा, पमिच्छसीसे तु आजीवं ॥ ३५९ ॥

उवसंपदा तिविहा–जहण्णा, मज्झिमा, उक्कोसा य । जहण्णा छम्मासे, मज्झिमा वारसवरिसे, उक्कोसा जावज्जीवं । एवं पमिच्छगस्स एगविहा चेव जावज्जीवं आयरिओ ण मोत्तव्वो ।

छम्मासेऽपूरेंता, गुरुगा वारससमासु चउलहुगा ।

तेण पर मासियत्तं, भणितं पुण आरते कज्जे ॥३६०॥

जेण पडिच्छगेण छम्मासिआ उवसंपया कया, सो जति छम्मासे अपूरित्ता जाति, तस्स चउगुरुगा। जेण वारस वरिसा कया, ते अपूरित्ता जाइ तो चउलहुं । जेण जावज्जीवं उवसंपदा कता, तस्स मासलहुं । छम्मासाणं परेण णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहुं । जेण वारससमा उवसंपया कया, तस्स वि छम्मासे अपूरेतस्स चउगुरुगा चेव, तस्सेव वारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा । एस सोही गच्छतो णितस्स भणिता ॥ नि० चू० १६ उ० ।

अवेक्खमाण–अपेक्षमाण–त्रि० । निरीक्षमाणे, ज्ञा० १ अ० ।

अवेज्ज–अवेद्य–त्रि० । स्वसमानाधिकरणसमानकालीनसाक्षात्काराऽविषये, द्वा० ३० द्वा० ।

अवेज्जसंवेज्जपय–अवेद्यसंवेद्यपद–न० । महामिथ्यात्वनिबन्धने पशुत्वादिशब्दवाच्ये, द्वा० २३ द्वा० ।

अवेय–अवेद–पुं० । पुरुषवेदादिवेदरहिते, प्रज्ञा० २ पद । सिद्धादौ, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अवेयइत्ता–अवेदयित्वा–अव्य० । वेदनमकृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अवेयण–अवेदन–त्रि० । न विद्यते वेदना यस्य स अवेदनः । अल्पवेदने वेदनारहिते, उत्त० १६ अ० । साताऽसातवेदनाभावात् सिद्धे च । प्रज्ञा० २ पद ।

अवेयवच्च–अपेतवाच्य–त्रि० । वचनीयतारहिते, बृ० १ उ० ।

अवेरमणज्झाण–अविरमणध्यान–न० । न विरमणमविरमणम्; तस्य ध्यानम् । मा भूत् पुत्रयोर्विरतिबुद्धिरित्यङ्गीकृतामपि देशविरतिं परित्यज्य प्रान्तग्राममाश्रितयोः ' एते साधवो मांसाशिनो राक्षसाः' इत्यतस्तत्पार्श्वे न गन्तव्यमिति तनयविहितविप्रतारणयोर्भृगुपुत्रयोरिव, जयदेवेन प्रतिबोध्यमानस्यापि मुहुर्मुहुर्विरतिं त्यजतस्तद्भ्रातुरिव, मेतार्यस्येव वा दुर्ध्याने, आतु० ।

अवोगमा–अव्याकृता–स्त्री० । अतिगम्भीरशब्दार्थायाम–अव्यक्ताक्षरप्रयुक्तायां वा अविभावितार्थत्वाद् भाषायाम, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार । "अवोच्छिन्नए अवोगडाए" । स० १ सम० । अव्याकृता, यथा–बालकादीनां थपनिका । दश० ७ अ० ।

अवोच्छिण्ण–अव्युच्छिन्न–त्रि० । उत्तरोत्तरानुवृत्त्या व्यवच्छेदशून्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अवोच्छित्तिणय-अव्यवच्छित्तिनय–पुं० । श्रुतस्य कालान्तरप्रापणे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । अव्यवच्छित्तिप्रतिपादनपरो नयोऽव्यवच्छित्तिनयः । द्रव्यास्तिकनये, नं० ।

अवोच्छित्तिणयट्ठ-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । ६ त० । द्रव्ये, नं० ।

अवोच्छित्तिणयट्ठया-अव्यवच्छित्तिनयार्थता-स्त्री० । अव्यवच्छित्तिनयार्थस्य भावोऽव्यवच्छित्तिनयार्थता । द्रव्यापेक्षायाम्, नं० ।

अवोसिरण–अव्युत्सर्जन-न० । अपरित्यागे, दशा० १० अध्या० ।

अवोह-अपोह-पुं० । अपोहनमपोहः । निश्चये, नं० । आ० म० । प्राप्तार्थे "तत्तो अवोहए वा" ततः पर्यालोचनानन्तरमपोहते । आ० म० प्र० । अपोह्यते स्वाकाराद्विपरीत आकारोऽनेनेत्यपोहः । स्वाकारविपरीताकारोन्मूलके, रत्ना० ४ परि० । अन्यापोढपदार्थाधिगतिफलत्वादपोह इत्युच्यते । सम्म० १ काण्ड । (अपोहः शब्दार्थः प्रसिद्ध इति 'आगम' शब्दे द्वितीयभागे ६५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अपगत ऊहो वादिसमुद्भावितस्तर्को यस्मात् ५ बहु० । वादिसमुद्भाविततर्कनिरासार्थके प्रतिवादिसमुद्भाविते तद्विरुद्धे तर्कभेदे, वाच० । ('अपोह' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१२ पृष्ठे संक्षेपतोऽयं निरूपितः, विस्तरतस्तु 'सद्दत्थ' शब्दे वक्ष्यते)

अवोहरणिज्ज–अव्यवहरणीय–त्रि० । जीर्णे, नि० चू० १ उ० ।

अव्वईभाव–अव्ययीभाव–पुं० । अनव्ययमव्ययं भवत्यनेन । अव्यय-च्वि-भू-करणे घञ् । व्याकरणप्रसिद्धे समासभेदे, वाच० । अनु० ।

से किं तं अव्वईभावे ? । अव्वईभावे अणुगामा, अणुणइया, अणुफरिहा, अणुचरिआ । सेत्तं अव्वईभावे समासे ॥

पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः, तत्र ग्रामस्य अनु समीपेन मध्येन वाऽशानिर्गता अनुग्रामम् । एवं नद्याः समीपेन मध्येन वा निर्गता अनुनदि, इत्याद्यपि भावनीयम् । अनु० ।

अव्वंग–अव्यंग–न० । अक्षते, यस्य क्षतं कृतं न विद्यते । व्य० ७ उ० ।

अव्वक्खित्त–अव्याक्षिप्त–त्रि० । स्थिरे, 'अव्वक्खित्तेण चेयसा' । अव्याक्षिप्तेन स्थिरेण चेतसा । उत्त० २० अ० । अन्यत्रोपभोगमगच्छतेत्यर्थः । दश० ५ अ० १ उ० । पं० व० । व्याक्षेपमकुर्वति, प्रतीच्छनायोग्ये, " वक्खेवणा दुसङ्घा, दिवसपत्तु लीहाखे । दुगमादी जो य पढं-तो न करेति विक्खेवं ॥ १ ॥ अव्वक्खित्तो एसो, आउत्तो अणण्णमणसो उ ॥ " पं० भा० ।

अव्वग्गमण–अव्यग्रमनस्–त्रि० । अव्यग्रमनाकुलितमसमञ्जसचित्तोपरमतो मनश्चित्तमस्येत्यव्यग्रमनाः । अनुकूलचित्ते, उत्त० १५ अ० ।

अव्वत्त–अव्यक्त–न० । न व्यक्तमव्यक्तम् । अनिर्देश्ये स्वस्वरूपनामजात्यादिकल्पनारहिते, नं० । सर्वप्रकृतौ साङ्ख्यपरिकल्पिते प्रधाने, आ० म० प्र० । स्या० । अव्यक्तादव्यक्तं प्रभवति, ततः षष्टितन्त्रं जातम् । आ० म० प्र० । श्रुतवयोभ्यां लघौ, आचा० २ श्रु० ५ अ० ३ उ० । वयसा लघौ श्रुतेनाप्यल्पश्रुते, जीत० । व्य० । यावत्कक्षादिषु रोमसंभवो न भवति तावदव्यक्तो भवति । नि० चू० १८ उ० । व्य० । अव्यक्तोऽप्राप्तानां वर्षाणां मध्ये बालः । ओघ० । अगीतार्थे, नि० चू० २ उ० । अनवगतच्छेदग्रन्थरहस्ये, ध० २ अधि० । अव्यक्तोऽगीतार्थस्तस्याऽव्यक्तस्य गुरोः पुरतो यदपराधालोचनं तदव्यक्तम् । आलोचनादोषे, व्य० १ उ० । स्था० । " जो य अगीयत्थस्सा, आलोए तं तु होइ अव्वत्तं " सत्या सत्यनामेतिवदव्यक्तवादी । संयताऽभ्युपगमे संदिग्धबुद्धौ निह्नवे, आ० म० द्वि० ।

अव्वत्तगम-अव्यक्तगम-त्रि० । गमनाभावे, गन्तुमसमर्थे च । सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अव्व(व)त्तव्वगसंचिय-अवक्तव्यकसंचित-पुं० । द्व्यादिः संख्याव्यवहारतः शीर्षप्रहेलिकायाः परतोऽसंख्यायाश्च संख्यात्वेनासंख्यात्वेन च वक्तुं न शक्यते असाववक्तव्यः । स च एककस्तेनाऽवक्तव्येन एककेन एकत्वोत्पादेन संचिता अवक्तव्यकसंचिताः । कतित्वेनाऽकतित्वेन चानिर्वचनीयोत्पादेषु, भ० २० श० १० उ० । (अत्र दण्डक 'ववाय' शब्दे द्वितीयभागे ७२१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अव्वत्तदंसण–अव्यक्तदर्शन–पुं० । अव्यक्तमस्पष्टं दर्शनमनुभवः स्वप्नार्थस्य यत्रासावव्यक्तदर्शनः । स्वप्नदर्शनभेदे, भ० १६ श० ६ उ० ।

अव्वत्तमय–अव्यक्तमत–पुं० । न ज्ञायतेऽत्र कोऽपि संयतः कोऽप्यसंयत इत्यव्यक्तस्यैव सर्वस्याभ्युपगमाच्च व्यक्तमस्फुटमव्यक्तं मतं येषां तेऽव्यक्तमताः । संयताद्यवगमे संदिग्धबुद्धिषु निह्नवेषु, विशे० । आ० म० । आ० चू० ।

अव्वत्तरूव–अव्यक्तरूप–त्रि० । अमूर्तत्वादव्यक्तं रूपमस्याऽसावव्यक्तरूपः । तथा-करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवतया स्वतोऽवस्थानाज्जीवे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अव्वत्तिय–अव्यक्तिक–पुं० । अव्यक्तमस्फुटं वस्तु अभ्युपगमतो विद्यते येषां ते अव्यक्तिकाः । संयताद्यवगमे संदिग्धबुद्धिषु, स्था० ७ ठा० । उत्त० । औ० ।

तदुत्पत्तिमतं चेत्थम्-तृतीयनिह्नववक्तव्यतामाह—

चोद्दा दो वाससया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो अव्वत्तियदिट्ठी, सेयवियाए समुप्पन्ना ॥

चतुर्दशाधिकं वर्षशतद्वयं तदा श्रीमन्महावीरस्य सिद्धिं गतस्याऽऽसीत्, ततोऽव्यक्ताभिधाननिह्नवानां दृष्टिर्दर्शनरूपा श्वेतविकायां नगर्यां समुत्पन्नेति ।

कथम् ? , इत्याह–

सेयवियपोलसाढे, जोगे तद्दिवसहिययसूले य ।
सोहम्मिनलिणिगुम्मे, रायगिहे मुरियबलभद्दे ॥

इह श्वेतविकायां नगर्यां पौलाषाढचैत्ये आर्याषाढनामान आचार्याः स्थिताः । तेषां च बहवः शिष्या आगाढयोगं प्रपन्नाः । अपरवाचनाचार्यासत्त्वे च त एवाऽऽचार्याषाढसूरयस्तेषां वाचनाचार्यत्वं प्रतिपन्नाः । तथाविधकर्मविपाकतश्च ते तत्रैव दिवसे रजन्यां हृदयशूलेन कालं कृत्वा सौधर्मे देवलोके नलिनीगुल्मविमाने देवत्वेनोत्पन्नाः । न च विज्ञाताः केनापि गच्छमध्ये । ततोऽवधिना प्राक्तनव्यतिकरं विज्ञाय साध्वनुकम्पया समागत्य तदेव शरीरमधिष्ठायोत्थाप्य च प्रोक्तास्तेन साधवः । यथा-वैरात्रिककालं गृह्णीत । ततः कृतं साधुभिस्तथैव, श्रुतस्योद्देशसमुद्देशानुज्ञाश्च तद-

प्रतः कृताः । एवं दिव्यप्रभावतस्तेन देवेन तेषां साधूनां कालभङ्गादिविघ्नं रक्षता शीघ्रमेव विस्तारिता योगाः । ततोऽनेन तच्छरीरं मुक्त्वा दिवं गच्छता प्रोक्ताः साधवः । यथा-'क्षमणीयं भदन्तैर्यदसंयतेन सता मया आत्मनो वन्दनादौ न वारिताः; चारित्रिणो यूयम् । अहं ह्यमुकदिने कालं कृत्वा दिवं गतो युष्मदनुकम्पयाऽऽगतः, निस्तारिताश्च भवतामागाढयोगाः । इत्याद्युक्त्वा क्षमयित्वा च स्वस्थानं गतः । ततस्ते साधवस्तच्छरीरकं परिस्थाप्य चिन्तयन्ति-अहो ! असंयतो बहुकालं वन्दितः। तदित्थमन्यत्रापि शङ्का-को जानाति कोऽपि संयतः, कोऽप्यसंयतो देव इति ?। ततः सर्वस्याप्यवन्दनमेव श्रेयः, अन्यथा ह्यसंयतवन्दनं, मृषावादश्च स्यात् । इत्थं तथाविधगुरुकर्मोदयातोऽपरिणतमतयः साधवोऽव्यक्तवादं प्रतिपन्नाः परस्परं न वन्दन्ते। ततः स्थविरैस्तेऽभिहिताः-यदि परस्मिन् सर्वत्र भवतां संदेहस्तर्हि यदुक्तं'देवोऽहमिति' तत्रापि भवतां कथं न संदेहः?, किं स देवो वाऽदेवो वा?, इति। अथ तेन स्वयमेव कथितम्-'अहं देवः,तथा देवरूपं च प्रत्यक्ष एव दृष्टमिति न तत्र संदेहः। हन्त ! यद्येवं तर्हि य एवं कथयन्ति वयं साधवः,तथा साधुरूपं प्रत्यक्षत एव दृश्यते, तेषु कः साधुत्वसंदेहः, येन परस्परं यूयं न वन्दध्वे ?। नच देववचनादेव वचनं सत्यमिति शक्यते वक्तुम्,देववचनं हि क्रीडाद्यर्थमन्यथाऽपि संभाव्यते। नच तथा साधुवचनं, तद्विरतत्वात्तेषामिति। एवं च युक्तिभिर्यावन्न प्रज्ञाप्यन्ते तावदुद्घाट्य बाह्याः कृताः पर्यटन्तश्च राजगृहं नगरं गताः।तत्र च मौर्यवंशसंभूतो बलभद्रो नाम राजा,स च श्राद्धः। ततः तेन विज्ञाताः। यथा-अव्यक्तवादिनो निह्नवा इह समायाता गुणशिलकचैत्ये तिष्ठन्ति, ततः स्वपुरुषान् प्रेष्य राजकुले आनायिताः। तेन ते कटकमर्देन मारणार्थं चाज्ञप्ताः। ततो हस्तिनिकटेषु च तन्मर्दनार्थमानीतेषु तैः प्रोक्तम्-राजन् ! वयं जानीमः-श्रावकस्त्वं, तत्कथं श्रमणानस्मानित्थं मारयसि ?। ततो राज्ञा प्रोक्तम्—युष्मत्सिद्धान्तेनैव को जानाति किं श्रावकोऽहं, न वा ?। भवन्तोऽपि किं चौराश्चारिका अभिमरा वेत्यपि को वेत्ति ?। तैः प्रोक्तम्-साधवो वयम्। यद्येवमव्यक्तवादितया किमिति परस्परमपि यथाज्येष्ठं वन्दनादिकं न कुरुथ ?; इत्यादिनिष्ठुरैर्मृदुभिश्च वचनैः प्रोक्तास्ते नरपतिना। ततः संबुद्धा लज्जिताश्च निःशङ्किताः सन्मार्गं प्रतिपन्नाः। ततो राज्ञा प्रोक्तम्—भवतां संबोधनार्थमिदं मया सर्वमपि विहितमिति क्षमणीयमिति ।

अमुमेवार्थं भाष्यकारः प्राह—

गुरुणा देवीभूए, समणरूवेण वाइया सीसा ।
सब्भावपरो कहिओ, अव्वत्तियदिट्ठिणो जाया ॥

गतार्था ।

कथमव्यक्तदृष्टयो जाताः ?, इत्याह-

को जाणइ किं साहू, देवो वा तं न वंदणिज्जो त्ति ।
होज्जाऽसंजयनमणं, होज्ज मुसावायममुगो त्ति ॥

को जानाति किमयं साधुवेषधारी साधुर्देवो वा ?, नास्त्येवात्र निश्चय इति । अत्र नच वक्तव्यं साधुरेवायं तद्वेषसमाचारदर्शनाद्भवानिव; आर्याषाढदेवेऽपि साधुवेषसमाचारदर्शनेनानैकान्तिकत्वात् । तस्मान्न कोपि वन्दनीयः, संशयविषयत्वात् । यदि पुनर्वन्द्येत, तदा आर्याषाढदेववन्दन इवासंयतवन्दनं स्यात्, अमुको भवतीति भाषणे च मृषावादः स्यादिति ।

अथ प्रतिविधानमाह-

थेरवयणं जइ परं, संदेहो किं सुरो त्ति साहु त्ति ?।
देवे कहं न संका, किं सो देवो न देवो त्ति ? ॥
तेण कहियं ति च मई, देवोऽहं रूवदरिसणाओ य ।
साहु त्ति अहं कहिए, समाणरूवम्मि किं संका ? ॥
देवस्स च किं वयणं, सच्चं ति न साहुरूवधारिस्स।
न परोप्परं पि वंदह, जं जाणंता वि साहु त्ति ॥

तिस्रोऽप्युक्तार्थाः ।

किञ्च-यदि प्रत्यक्षेष्वपि यतिषु भवतां शङ्का, तर्हि परोक्षेषु जीवादिषु सुतरामसौ प्राप्नोति,ततः सम्यक्त्वस्याप्यभाव इति दर्शयन्नाह-

जीवाइपयत्थेसुं सुहु--मव्ववहियविगिट्ठरूवेसुं ।
अच्चंतपरोक्खेसु य, किह न जिणाईसु भे संका ?॥

गतार्था ।

अथ जिनवचनाज्जीवादिषु न शङ्का, तदेतदिहापि मानमित्याह-

तव्वयणाओ व मई, णणु तव्वयणे सुसाहुवित्तो त्ति ।
आलयविहारसमिओ, समणोऽयं वंदणिज्जो त्ति ॥

अथ तद्वचनाज्जिनवचनाज्जीवाद्यर्थेषु न शङ्का । ननु यद्येवं, तद्वचने इदमप्यस्ति-यदुत शोभनं साधुवृत्तं श्रमणशीलं यस्यासौ सुसाधुवृत्त इति हेतोः श्रमणोऽयमिति निश्चयाद्वन्दनीयः। सुसाधुवृत्तोऽपि स कथं ज्ञायते ?, इत्याह-आलयविहारसमित इति कृत्वा । उक्तं च—" आलएणं विहारेणं, ठाणा चंकमणेण य । सक्का सुविहियं नाउं, भासा वेणइए णये" ॥ १ ॥

उपपत्त्यन्तरमाह-

जह वा जिणिंदपडिमं, जिणगुणरहिय त्ति जाणमाणा वि।
परिणामविसुद्धत्थं, वंदह तह किं न साहुं पि ?।
होज्ज न वा साहुत्तं, जइरूवे नत्थि चेव पडिमाए ।
सा कीस वंदणिज्जा, जइरूवे कीस पडिसेहो ? ॥

सुगमे । नवरं प्रथमगाथायां प्रतिमायाः साधुरूपेण सह वन्दनीयत्वे साम्यमुक्तम् । द्वितीयगाथायां तु साधुरूपे विशेषं दर्शयति-यतिरूपे प्राणिनि साधुत्वं भवेद् न वेति संदिग्धमेव, प्रतिमायां तु जिनत्वं नास्त्येवेति निश्चयः। ततः किमिति सा वन्दनीया, यतिरूपे च किमिति वन्दनप्रतिषेधः ? ।

अत्रोत्तरमाह--

अस्संजइजइरूवे, पावाणुमई मई न पडिमाए ।
णणु देवाणुगयाए, पडिमाए वि होज्ज सो दोसो ॥

अथैवंभूता मतिः परस्य भवेत्-असंयतेऽधिष्ठितयतिरूपे वन्द्यमाने तत्कृतासंयमरूपपापाऽनुमतिर्भवति, न त्वसौ प्रतिमायाम् । अत्रोच्यते-ननु देवताऽधिष्ठितप्रतिमायामप्ययमनुमतिलक्षणो दोषो भवेदिति ।

अथैवं ब्रूयात्परः; किमित्याह--

अह पडिमाएँ न दोसो, जिणबुद्धीए नमिउ विसुद्धस्स।
तो जइरूवं नमिउं, जइबुद्धीए कहं दोसो ? ॥

अथ प्रतिमायां नानुमतिलक्षणो दोषः, किं कुर्वतः ?, नमस्यतः,

कया?, जिनबुद्ध्या, कथंभूतस्य?, विशुद्धाध्यवसायस्य। यद्येवं ततो यतिबुद्ध्या यतिरूपं विशुद्धस्य नमस्यतः को दोषो येन भवन्तः परस्परं न वन्दन्ते?। अत्रापरः कश्चिदाह-यद्येवं, लिङ्गमात्रधारिणं पार्श्वस्थादिकमपि यतिबुद्ध्याऽविशुद्धस्य नमस्यतो न दोषः। तदयुक्तम्; पार्श्वस्थादीनां सम्यग्यतिरूपस्याप्यभावात् । तदभावश्च 'आलयणं विहारेण' इत्यादियतिलिङ्गस्यानुपलम्भात्। ततः प्रत्यक्षदोषवतः पार्श्वस्थादीन्वन्दमानस्य तत्सावद्यानुज्ञानलक्षणो दोष एव। उक्तं च-"जइ चेअंचगलिंगं, जाणंतस्स नमिउ हवइ दोसो। निद्धंधसं पि नाउं, ण वंदमाणे धुवो दोसो" ॥१॥ इत्यादि । प्रतिमायास्तु दोषाभावात्तद्वन्दने सावद्यानुज्ञाभावतो न दोष इति।

अत्र पुनरपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह पमिमं पि न वंदह, देवासंकाएँ तो न घेतव्वा ।
आहारोवहिसेज्जा-ओ देवकया भवे जं नु ॥

अथ प्रतिमामपि न वन्दध्वे यूयम् । हन्त ! यद्येवं शङ्काचारी भवान्, तर्हि-मा देवकृता भवेयुरित्याहारोपधिशय्यादयोऽपि न ग्राह्या इति ।

किञ्चेत्थमतिशङ्कालुतायां समस्तव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः, कुतः?, इत्याह—

को जाणइ किं भत्तं, किमओ किं पाणयं जलं मज्जं ।
किमलाबुं माणिकं, किं सप्पो चीवरं हारो ? ॥
को जाणइ किं सुद्धं, किमसुद्धं किं सजीवनिज्जीवं ।
किं भक्खं किमभक्खं, पत्तमभक्खं तओ सव्वं ? ॥

को जानाति किमिदं भक्तं, कृमयो वेत्याद्याशङ्कायां भक्तादावपि कृम्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभक्ष्यमेव प्राप्तं भवतः। तथा-अलाबुचीवरादौ मणिमाणिक्यसर्पादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभोग्यं च प्राप्तमिति ।

तथा—

जइणा वि न संवासो, सेओ पमया-कुसीलसंका वा ।
होज्ज गिही व जइ त्ति य, तस्साऽऽसीसा न दायव्वा ॥
न य सो दिक्खेयव्वो, भव्वोऽभव्वो त्ति जेण को मुणइ? ।
चोरो त्ति चारिओ त्ति य, होज्ज य परदारगामि त्ति ॥
को जाणइ को सीसो, को वा गुरुओ न तव्विसेसो वि ।
गज्झा न वोवएसा, को जाणइ सव्वमलियं पि ॥
किं बहुणा सव्वं चिय, संदिद्धं जिणमयं जिणिंदा य ।
परलोयसग्गमोक्खा, दिक्खाए किमत्थ आरंभो ? ॥
अह संति जिणवरिंदा, तव्वयणाओ य सव्वपमिवत्ती ।
तव्वयणाओ च्चिय जइ-वंदणयं वि ते कहं न मतं ? ॥

सर्वा अपि प्रकटार्थाः । नवरं " जइणा वि न संवासो " इत्यादिनाऽभ्युपगमविरोधो दर्शितः । (अह संतीत्यादि) अथ सन्ति जिनवरेन्द्राः, तद्वचनसिद्धत्वात् तेषाम् । तद्वचनादेव च सर्वस्यापि परलोकस्वर्गमोक्षादेः प्रतिपत्तिर्भवति । एवं तर्हि तद्वचनादेव यतिवन्दनमपि कस्मान्न सम्मतमिति ? ।

अपि च—

जइ जिणमयं पमाणं, मुणि त्ति तो बज्झकरणपरिसुद्धं ।
देवं पि वंदमाणो, विसुद्धभावो विसुद्धो त्ति ॥

यदि जिनमतं भवतां प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आलयविहारादिबाह्यकरणपरिशुद्धं देवमप्यमरमपि वन्दमानो विशुद्धभावो भवेद्दोषरहितो विशुद्ध एव । उक्तं चागमे-" परमरहस्समिसीणं, संमत्तगणिपिडगझसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

जइ वा सो जइरूवो, दिट्ठो तह केत्तिया सुरा अन्ने ।
तुब्भेहिँ, दिट्ठपुव्वा, सव्वत्थापच्चओ जं भे ॥

वा इति अथवा, यथा आर्याषाढदेवो यतिरूपधरोऽत्र दृष्टः, तथा कियन्तः सुरास्ततोऽन्ये भवद्भिर्दृष्टपूर्वाः, यद्येतावन्मात्रेणापि सर्वत्राप्रत्ययो (भे) भवतां नहि कदाचित्कथञ्चित् क्वचिदाश्रयेऽकल्पे कस्मिंश्चित्तथाभावाशङ्का युज्यत इति भावः। तस्माद्व्यवहारनयमाश्रित्य युक्तं भवतामन्योऽन्यवन्दनादिकम् । उक्तं च-"निच्छयउ दुन्नियंको, भावे कम्मि वट्टए समणो। ववहारओ य जुज्जइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि " ॥१॥ इत्यादि ।

एतदेव समर्थयन्नाह-

छउमत्थसमयचज्जा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।
तं तह समायरंतो, सुज्झइ सव्वो विसुद्धमणो ॥
संववहारो वि बली, जमसुद्धं पि गाहियं सुयविहीए ।
कोवेइ न सव्वण्णू, वंदइ य सया जाइ छउमत्थं ॥
निच्छयववहारनओ-वणीयमिह सासणं जिणिंदाणं ।
एगयरपरिच्चाओ, मिच्छं संकादओ जे य ॥
जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा ववहारनयमयं मुयह ।
ववहारपरिच्चाए, तित्थुच्छेओ जवेऽवस्सं ॥

चतस्रोऽपि सुगमाः। नवरं (कोवेइ इत्यादि) न कोपयति-नाप्रमाणीकरोति न परिहरति, भुङ्क्ते इत्यर्थः। (संकादओ इत्यादि) येऽपि शङ्काकाङ्क्षादयस्ते हि मिथ्यात्वमिति संबन्धः ।

एतावत्युक्ते तत् किं तत्र संजातम् ?, इत्याह-

इय ते नाणसगाहं, मुयंति जाहे बहुं पि भणंता ।
ता संघपरिच्चत्ता, रायगिहे निवइणा नाउं ॥
बलभद्देण पयाया, भणंति सावयं तवस्सि त्ति ।
मा कुरु संकमसंका-रुहेसु भणिए भणइ राया ॥
को जाणइ के तुब्भे, किं चोरा चारिया अभिमरे व त्ति ?।
संजयरूवच्छन्ना, अज्जमहं भे वि वाएमि ॥
नाणचरियाहिँ नज्जइ, समणोऽसमणो व कीस जाणंतो।
तं सावयसंदेहं, करेमि भणिए निवो भणइ ॥
तुब्भं चिय न परोप्पर-वीसंभो साहवो त्ति किह मज्झ ।
नाणचरियाहिँ ता जइ, चोराण व किं न ता संति ॥
उवउत्तिओ भयाउ य, पमिवन्ना उ ते समयसगाहं ।
निवखामियाऽभिगंतुं, गुरुमूलं ते पमिकंता ॥

सर्वेऽप्युक्तार्थाः सुगमाश्च, नवरं नृपतिना बलभद्रेण 'ते आगताः' इति ज्ञात्वा आज्ञाताः आहूताः,'के यूयम'?, इति पृष्टाश्च भणन्ति-'हे श्रावक' इत्यादि। (नाणचरियाहिं ति) ज्ञानक्रियाभ्यां यो भवतामपि साधव इति विश्रम्भः परस्परं नास्ति, स ताभ्यां कथं

न्ये जायते। अपि च-किं ते कृत्रिमे ज्ञानक्रिये चोराणामपि न स्तः, न भवतः इति चयस्त्रिंशद्गाथाऽर्थः ॥३०१॥ इति तृतीयोऽव्यक्ताभिधाननिह्नवः समाप्तः। विशे० । श्रा० म० । आ० चू० ॥

अव्वय–अव्यय–पुं० । न० त० । अक्षरकने, कथमप्यात्मनोऽव्ययात् । स्था० ७ ठा० । कियतामप्यवयवानां व्ययाऽभावात् । का० ५ अ० । सदाऽवस्थायिनि, विशे० । स्था० । सूत्र० । " धुवे णियए सासए अक्खए अव्वए" अव्ययः,तत्प्रदेशानामव्ययत्वात् । भ० २ श० १ उ० । द्वादशाङ्गं प्रवचनमव्ययं, मानुषोत्तराद् बहिःसमुद्रवदव्ययत्वादेव । नं० । ननु 'यत्कोकिलः किल मधौ' इत्यत्र यच्छब्दाग्रे का विभक्तिः?,'तच्चारुचूतकलिका' इत्यत्र तच्छब्दाग्रे च का विभक्तिः ?। अत्र यत्तच्छब्दावव्ययौ वा, अनव्ययौ वेति प्रश्ने-यच्छब्दाग्रे क्रियाविशेषणत्वे द्वितीया विभक्तिर्वाक्यार्थमादाय,अव्ययत्वे तु प्रथमाऽपि संभवति। तच्छब्दाग्रे तु तस्य पूर्वपरामर्शित्वेन प्रथमा विभक्तिः; व्याख्यानान्तरेण सप्तम्यपीति यत्तच्छब्दावव्ययावनव्ययौ च वर्तेते इति सर्वं सुस्थमिति। सेन० २ उल्ला० १५३ प्रश्न० ।

अव्ववसिय–अव्यवसित–त्रि० । अनिश्चयवति, पराक्रमवति च । स्था० ।

तओ ठाणा अव्ववसिअस्स अहियाए असुहाए अक्खमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति। तं जहा–से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने णिग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोएइ; तं परीसहा अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति । णो से परीसहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ । से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंचहिं महव्वएहिं संकिए० जाव कलुससमावन्ने; पंच महव्वयाइं णो सद्दहइ०जाव नो से परीसहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ । से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए छहिं जीवनिकाएहिं० जाव अभिभवइ॥

त्रीणि स्थानानि प्रवचनमहाव्रतजीवनिकायलक्षणानि अव्यवसितस्यानिश्चयवतोऽपराक्रमवतो वाऽहितायाऽपथ्याय,असुखाय दुःखाय, अक्षमाय असंगतत्वाय, अनिःश्रेयसाय अमोक्षाय, अनानुगामिकत्वाय-अशुभानुबन्धाय भवन्ति । (से णं ति) यस्य त्रीणि स्थानानि अहितादित्वाय भवन्ति,स शङ्कितो-देशतः सर्वतो वा संशयवान्, काङ्क्षितः तथैव मतान्तरस्यापि साधुत्वेन मतो,विचिकित्सितः फलम्प्रति शङ्कोपेतः, अत एव भेदसमापन्नो द्वैधीभावमापन्नः-एवमिदं न चैवमिति मतिकः, कलुषसमापन्नो नैतदेवमितिप्रतिपत्तिकः । ततश्च निर्ग्रन्थानामिदं नैर्ग्रन्थिकं प्रशस्तं प्रगतं प्रथमं वा वचनमिति प्रवचनम्–आगमः । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । न श्रद्धत्ते सामान्यतः, न प्रत्येति न प्रीतिविषयीकरोति; न रोचयति न चिकीर्षाविषयीकरोति । तमिति, य एवम्भूतस्तं प्रव्रजिताभासं, परिषहन्ते इति परीषहाः क्षुधादयः, अभियुज्य अभियुज्य सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्पर्द्धं वा अभिभवन्ति न्यक् कुर्वन्ति इति । शेषं सुगमम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अव्वसण–अव्यसन–पुं० । लोकोत्तररीत्या द्वादशे दिवसे, जं० ७ वक्ष० ।

अव्वह–अव्यथ–न० । देवाद्युपसर्गजनितं भयं चलनं वा व्यथा, तदभावोऽव्यथा । व्यथाऽभावे शुक्लध्यानालम्बने, भ० २५ श० ७ उ० । स्था० । ग० । औ० ॥

अव्वहिय–अव्यथित–त्रि० । परेणानापादितदुःखे, जी०३प्रति० । पं० सू० । अताडिते, भ० ३ श० २ उ० । अदीनमनसि, दश० ७ अ० । अपीडिते,पञ्चा० ५ विव० । निष्प्रकम्पमाने धीरे,सू० १ उ० ।

अव्वाइद्ध–अव्याविद्ध–न० । सूत्रगुणभेदे,अव्याविद्धं यत्तस्य सूत्रस्याधस्तनपदमुपरितनम्, उपरितनमधो न क्रियते । सू० १ उ० ।

अव्वाइद्धक्खर–अव्याविद्धाक्षर–न० । विपर्यस्तरत्नमालागतरत्नानि इव व्याविद्धानि विपर्यस्तानि अक्षराणि यत्र तद् व्याविद्धाक्षरं,न तथाऽव्याविद्धाक्षरम् । व्याविद्धाक्षरत्वदोषरहिते सूत्रगुणे, ग०२ अधि० । आ० म० । अनु० ॥

अव्वागम–अव्याकृत–त्रि० । अव्यक्तेऽपरिस्फुटे, आचा १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अव्वाबाह–अव्याबाध–न० । न विद्यते व्याबाधा यत्र तदव्याबाधम् । द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातकृतया, भावतो मिथ्यात्वादिकृतया, द्विरूपयाऽपि व्याबाधया रहिते वन्दने,प्रव०२ द्वार । "अव्वाबाहं दुविहं-दव्वे, भावे य" द्रव्यतः खड्गाद्यभिघातव्याबाधाकारणविकले, भावतः सम्यग्दृष्टेश्चारित्रवतो वन्दने, आव० ३ अ० । शरीरबाधानामभावे, " किं ते भंते ! अव्वाबाहं ?। सोमिला ! जं मे वातियपित्तियसंभियसन्निवाइयाविविहरोगायंका सरीरगया दोसा उवसंता णो उदीरेंति । सेत्तं अव्वाबाहं " । भ० १८ श० १० उ० । विविधा आबाधा व्याबाधा; तन्निषेधात् । औ० । व्याबाधावर्जितसुखे, औ० । "अव्वाबाहमुवगयाणं" । आ० म० द्वि० । "अव्वाबाहमव्वाबाहेणं" । अव्याबाधमव्याबाधेन,सुखं सुखेनेत्यर्थः । भ० ५ श० ४ उ० । कल्प० । अमूर्तत्वात् (रा०) अकर्मकत्वात् (ध० २ अधि०) परेषामपीडाकारित्वात् (भ० १ श० १ उ०) केनापि व्याबाधयितुमशक्यत्वात् (जी०३ प्रति०) व्याबाधारहिते सिद्धिस्थाने, रागादयो हि न तद् बाधितुं प्रभविष्णवः। प्रज्ञा० ३६ पद । कल्प० । रा० । क्षुधादिबाधारहितत्वात् (ब्रह्मचर्यम्) प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । गन्धर्वादिसकलभावव्याबाधाविकलो (ध्यानदेशः) अव्याबाधशब्देन विशिष्यते । आव० ५ अ० । व्याबाधन्ते परं पीडयन्तीति व्याबाधाः; तन्निषेधादव्याबाधाः । त्रि० । भ० १४ श० ८ उ० । उत्तरयोः कृष्णराज्योरन्तर्गतसुप्रतिष्ठाभविमानवासिलोकान्तिकदेवेषु, स्था० ८ ठा० । भ० । "अव्वाबाहाणं देवाणं नव देवा नव देवसया पण्णत्ता; एवं अग्गिच्चा वि, एवं रिट्ठा वि ।" स्था० ९ ठा० ।

अत्थि णं भंते ! अव्वाबाहा देवा ? । हंता अत्थि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अव्वाबाहा देवा ?। अव्वाबाहा देवा गोयमा ! पभूणं एगमेगे अव्वाबाहे देवे एगमेगस्स पुरिसस्स एगमेगंसि अच्छिपत्तंसि दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वं बत्तीसइविहं नट्टविहिं उवदंसेत्तए णो चेव णं तस्स पुरिसस्स किंचि आबाहं वा

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएइ, छविच्छेदं वा करेइ, ए सुहुमं च णं उवदंसेज्जा; से तेणट्ठेणं० जाव अव्वाबाहा ॥२॥

(अच्छिपत्तंसि त्ति) अक्षिपत्रे अक्षिपक्ष्माणि (आबाहं व त्ति) ईषद्बाधां (पवाहं व त्ति) प्रकृष्टबाधां (वाबाहं ति) क्वचित्, तत्र तु व्याबाधां विशिष्टामाबाधां (छविच्छेयं ति) शरीरच्छेदं (ए सुहुमं च णं ति) । सूक्ष्ममेवं सूक्ष्मं यथा भवत्येवमुपदर्शयेत्; नाट्यविधिमिति प्रकृतम् । भ० १४ श० ८ उ० ।

अव्वावड-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जिते, " सडियपडियं न कीरइ, जहियं अव्वागमं तयं वत्थु" । यत् शटितपतिते यत्र व्यापारः कोऽपि न क्रियते तद्वास्तु अव्यापृतमुच्यते । इति संक्षिप्त-स्वरूपे वास्तुभेदे, बृ० ३ उ० ।

अव्वावन्न-अव्यापन्न-त्रि० । अविभिन्ने,व्य० १ उ० । अविनष्टे,भ० १ श० ७ उ० ।

अव्वावारपोसह-अव्यापारपौषध-पुं० । व्यापारप्रत्याख्यान-पूर्वकं क्रियमाणे पोषधोपवासव्रते, "अव्वापारपोसहो दुविहो-देसे,सव्वे य । देसे अमुगं वावारं करेमि, सव्वे ववहारे से बल-सगडघरपरिकम्मादयो न कीरइ " । आव० ६ अ० ।

अव्वावारसुहिय-अव्यापारसुखित-त्रि० । तथाविधव्यापारर-हिततया सुखिनि, बृ० ३ उ० ।

अव्वाहय-अव्याहत-त्रि० । अनुपहते, षो० १४ विव० । स्वपरा-विरोधिनि, व्य० १ उ० । अव्याधिते, नं० ।

अव्वाहयपुव्वावरत्त-अव्याहतपूर्वापरत्व-न० । पूर्वापरवा-क्याऽविरोधरूपे सत्यवचनातिशये, रा० । स० ॥

अव्वाहिय-अव्याहृ(कृ)त-त्रि० । अनाहूते, जी० ३ प्रति० । अ-कथिते, "अव्वाहिते कसाइया" आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ।

अव्वुक्कंत-अव्युत्क्रान्त-त्रि० । अपरिणतविध्वस्तप्रासुके, ग० । २ अधि० ।

अव्वो-अव्वो-अव्य० । संबोधनादौ, व्य० ७ उ० ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-भय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ८ । २ । २०४ ॥

' अव्वो ' इति सूचनादिषु प्रयोक्तव्यम । सूचनायाम-" अव्वो दुक्करयारअ" । दुःखे-" अव्वो दलंति हिअअं" । संभाषणे-" अव्वो किमिणं किमिणं ?" । अपराधविस्मययोः—

"अव्वो हरंति हिअअं, तह वि न वेसा हवंति जुवईण ।
अव्वो किं पि रहस्सं, मुणंति धुत्ता जणब्भहिआ" ॥ १ ॥

आनन्दादरभयेषु-

"अव्वो सुपहायमिणं, अव्वो अज्जम्ह सप्फलं जीअं ।
अव्वो अइअम्मि तुमे, नवरं जइ सा न जूरिहिइ" ॥

खेदे-" अव्वो न जामि छेत्तं " । विषादे-

" अव्वो नासेंति दिहिं, पुलयं वड्ढेंति देंति रणरणयं ।
एण्हि तस्सेव गुणा, ते च्चिअ अव्वो कह णु एअं ? " ॥ १ ॥

पश्चात्तापे-"अव्वो तह तेण कआ,अहअं जह कस्स साहेमि?" । प्रा० २ पाद ।

अव्वोगड-अव्याकृत-त्रि० । अविशेषिते, बृ० २ उ० । "अव्वो-गडमविभत्तं" । अव्याकृतं नाम यद्दायादैरविभक्तमिति । वास्तुभे-दे; बृ० ३ उ० । (अत्र दृष्टान्तः ' उग्गह ' शब्दे द्वितीय-भागे ७०८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) अविसंस्कृते, दशा० ३ अ० ।

अव्वोच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्ववंशस्य परम्परया समा-गते; व्य० ७ उ० ।

अव्वोच्छित्ति-अव्यवच्छित्ति-त्रि० । "अमानोनाः प्रतिषेधे " न व्युच्छित्तिरव्युच्छित्तिः । प्रतिपत्तौ,यः स्वयं कृतार्थोऽप्युत्तममवाप्य धर्मं परेभ्य उपदिशति । पं० चू० । अव्यवच्छित्त्या श्रुतं वाचयेत्, श्रुतस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागततयाऽव्यवच्छित्तिर्भूयादिति प-ञ्चममव्यवच्छित्तिः कारणम् । आ० म० प्र० ॥

अव्वोच्छित्तिणयट्ठ-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । अव्यवच्छि-त्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयः, तस्यार्थः । द्रव्ये, भ० ७ श० ३ उ० ।

अव्वोयमा-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायां मन्मना-क्षरप्रयुक्तायां वा अभावितार्थायां वा भाषायाम्,भ०१०श०४उ० ।

असइ-असृति-स्त्री० । अश्नुते तत्प्रभवेण समस्तधान्यमानानि व्याप्नोति इत्यसृतिः । अवाङ्मुखहस्ततलरूपे, तत्परिच्छिन्ने धान्ये च । अनु० । प्रसृतेरर्द्धे, ज्ञा० ७ अ० । " दो असईओ पसई " । ओघ० ।

अस्मृति—स्त्री० । अस्मरणे, ध० २ अधि० ।

असइं-असकृत्-अव्य० । अनेकश इत्यर्थे, पञ्चा० १० विव० । आचा० । भ० । "असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंमो पउंजइ" अ-सकृद् वारंवारम् । उत्त० ९ अ० । पं० व० । जी० । षो० । "असइं वोसट्ठचत्तदेहे" । न सकृदसकृत्, सर्वदेत्यर्थः । दश० १० अ० ।

असई-असती-स्त्री० । दुःशीलायाम, ध० २ अधि० । दास्याम, भ० ८ श० ६ उ० । प्रव० ।

असईजणपोसणया-(स्त्री०)असतीजनपोषण-न० । असतीज-नस्य दासीजनस्य पोषणं तद्भाटिकोपजीवनार्थं यत् तत्तथा । एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः पोषणमसतीजनपोषण-मेवेति । दासीजनस्य क्रूरकर्मकारिणो वा पोषणे, उपा० १ अ० ।

असईपोस-असतीपोष-पुं० । असत्यो दुःशीलास्तासां दासी-सारिकादीनां पोषणं पोषोऽसतीपोषः । तत्र लिङ्गमतन्त्रम्, तेन शुकश्वादीनामपि पुंसां पोषणमसतीपोषः । यदवाचि-"मज्जा-रमोरमक्कड-कुक्कुडसारीयकुक्कुराईणं । दुट्ठित्थिनपुंसाई-ण पोसणं असइपोसणयं " ॥ १ ॥ प्रव० ६ द्वार । दुःशी-लानां शुकसारिकामयूरमार्जारमर्कटकुक्कुटकुक्कुरशूकरादिति-रश्चां पोषणे, भाटीग्रहणार्थं दास्याश्च पोषे, गौडदेशे प्रसिद्धो-ऽयं व्यवहारः । एषां च दुःशीलानां पोषणं पापहेतुरेवेति दोषः । पञ्चदशं कर्मादानमेतत् । ध० २ अधि० । आ० । भ० । ध० र० । (असतीपोषणं तु सुज्ञानेन साधुना द्रमकेभ्यो न देयमिति ' ओधण ' शब्दे वक्ष्यते)

असउण-अशकुन-पुं० । न० त० । आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवच-नप्रभृतौ शकुनविपरीते अनिष्टार्थसंसूचके, पञ्चा० ७ विव० । पं० व० । ध० ।

असंक-अशङ्क-न० । न विद्यते शङ्का यस्य मनसस्तदशङ्कम् । निःशङ्के, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकणिज्ज--अशङ्कनीय-त्रि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्कार्हे स्थाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकप्पिय-असङ्कल्पित-त्रि० । स्वार्थं संस्कुर्वता साध्वर्थतया मनसाऽप्यकल्पिते, भ० ७ श० १ उ० ।

असंकम-असङ्क्रम-पुं० । परस्परममीलने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंकमण-अशङ्कमनस्-त्रि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्कमनाः । तपोदमनियमफलत्वाऽऽशङ्कारहिते आस्तिक्यमत्युपपेते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकि (ण्)--अशङ्किन्--त्रि० । शङ्कामकुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकिय-अशङ्कित-त्रि० । अशङ्कनीये, " असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो । " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकिलिट्ठ-असंक्लिष्ट-त्रि० । विशुद्धाध्यवसाये, आतु० । निर्दूषणे, " असंकिलिट्ठाइं वत्थाइं " । औ० । विशुध्यमानपरिणामवति, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

असंकिलिट्ठायार-असंक्लिष्टाचार-पुं० । असंक्लिष्ट इहपरलोकाशंसारूपसंक्लेशविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचारः । व्य० ३ उ० । सकलदोषपरिहारिणि, व्य० ३ उ० ।

असंकिलेस-असंक्लेश-पुं० । विशुद्ध्यमानपरिणामहेतुके संक्लेशाभावे, " तिविहे असंकिलेसे- णाणसंकिलेसे, दंसणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे" । स्था० २ ठा० ४ उ० । "दसविहे असंकिलेसे पण्णत्ते । तं जहा-उवहिअसंकिलेसे० जाव चरित्तअसंकिलेसे" स्था० १० ठा० । (अस्य 'संकिलेस' शब्दे व्याख्या)

असंख-असङ्ख्य-त्रि० । अविद्यमानसङ्ख्ये, उत्त० ५ अ० । अविद्यमानपरिमाणे च । द्वा० २६ अष्ट० ।

असंखगुणवीरिय-असंख्यगुणवीर्य-त्रि० । असंख्यातगुणयोगे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

असंखड-असंखड-न० । वाचिके कलहे, नि० चू० १ उ० । ग० । बृ० ॥

असंखडिय-असंखडिक-पुं० । कलहशीले, बृ० १ उ० ।

असंखय--असंस्कृत--त्रि० । उत्तरकरणेनात्रुटिते पटादिवत्संधातुमशक्ये, उत्त० ।

असंस्कृतं जीवितमित्युक्तमतस्तद्व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिकृत्-

उत्तरकरणेण कयं, जं किं ची संखयं तु णायव्वं ।
सेसं असंखयं खलु, असंखयस्सेस णिज्जुत्ती ॥

उत्त० नि० १ खण्ड ।

मूलतः स्वहेतुत उत्पन्नस्य पुनरुत्तरकालं विशेषाधानात्मकं करणमुत्तरकरणं,तेन कृतं निर्वर्तितं यत् किञ्चिदित्यविवक्षितघटादि, (यत्तदोर्नित्यमभिसंबन्धत्वात्) तत् संस्कृतम् । तुरवधारणे । ततश्चैवं योज्यते-यदुत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम् । शेषमतोऽन्यत् संस्कारानुचितं विशीर्णमुक्ताफलोपममसंस्कृतमेव, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । असंस्कृतमित्यस्य सूत्रावयवस्यैषा वक्ष्यमाणलक्षणा निर्युक्तिरिति निक्षेपनिर्युक्तिः बहुवक्तव्यतया च प्रतिज्ञातम् । अथवा-यथाऽऽचारपञ्चमाध्ययनस्य 'आवंती' इत्यादिना पदेन नाम,तथाऽस्याप्यसंस्कृतमिति नाम । ततश्चासंस्कृतनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्यैषा नामनिष्पन्ननिक्षेपनिर्युक्तिः, तत्प्रस्ताव एव व्याख्यातव्येति गाथाऽर्थः । उत्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह-

कम्मगसरीरकरणं, आउयकरणं असंखयं तं तु ।
तेणऽहिगारो तम्हा, उ अप्पमादो इह चरित्तम्मि ॥

कर्मकशरीरकरणं कार्मणदेहनिर्वर्त्तनं, तदपि ज्ञानावरणादिभेदतोऽनेकविधमित्याह-आयुष्करणमिति । आयुषः पञ्चमकर्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुष्करणम् । ततिकम् ? इत्याह-(असंखयं तं तु त्ति) तत्पुनरायुष्करणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन त्रुटितमपि पटादिवत्संधातुं न शक्यम् । यतः-"फट्टा तुट्टा च इह, पडमादी संठवंति नयनिउणा । सा का वि नत्थि नीती, संधिज्जइ जीवियं जीए " ॥१॥ एवं च स्वरूपतो हेतुतो विषयतश्च व्याख्येति । स्वरूपतो हेतुतश्च ' उत्तरकरणेन कयं ' इत्यादिना ग्रन्थेन व्याख्यातम् । अनेन त्वायुष्करणस्यासंस्कृतत्वोपदर्शनेन विषयतः । इदानीं तूपसंहारमाह-(तेण अहिगारो त्ति) तेनेत्यायुष्कर्मणा संस्कृतेनाधिकारः । (तम्हा उ त्ति) तस्मात् । तुशब्दोऽवधारणार्थः, तस्य च व्यवहितः संबन्धः । ततोऽयमर्थः-यस्मादसंस्कृतमायुष्कर्म तस्मादप्रमाद एव-प्रमादाभाव एव, चरित्रे इति चरित्रविषयः कर्त्तव्य इति गाथार्थः । उत्त० ४ अ० ॥

संप्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवति । तच्चेदम्-

असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, कण्णुं विहिंसा अजया गिहिंति ॥

संक्रियत इति संस्कृतं, न तथा असंस्कृतम् । शक्रशतैरपि सतो वर्द्धयितुं त्रुटितस्य वा कर्णपाशवदस्य संधातुमशक्यत्वात् । किं तत् ?, जीवितं प्राणधारणरूपम् । ततः किमित्याह-मा प्रमादीः । किमुक्तं भवति ?-यदीदं कथञ्चित् संस्कर्तुं शक्यं स्यात्तदुरकुप्रासे धर्मेऽपि प्रमादो दोषायैव स्यात्; यदा त्विदमसंस्कृतं तदैतत्परिक्षये प्रमादिनस्तदतिदुर्लभमिति प्रमादं मा कृथाः । कुतः पुनरसंस्कृतम् ?, जरया वयोहानिरूपया, उपनीतस्य प्रक्रमान्मृत्युसमीपं प्रापितस्य, प्रायो जराऽनन्तरमेव मृत्युरित्येवमुपदिश्यते । हुर्हेतौ,यस्मान्नास्ति न विद्यते त्राणं शरणं, येन मृत्युरक्षा स्यात् । उक्तं च वाचकैः-"मङ्गलैः कौतुकैर्योगै-र्विद्यामन्त्रैस्तथौषधैः । न शक्ता मरणात् त्रातुं,सेन्द्रा देवगणा अपि" ॥ १ ॥ यद्वा-स्यादेतत् । वार्धक्ये धर्मं विधास्यामीत्याशङ्क्याह-जरामुपनीतः प्रापितो गम्यमानत्वात्स्वकर्मनिर्जरोपनीतः,तस्य नास्ति त्राणं, पुत्रादयोऽपि हि न तदा पालयन्ति, तथा चात्यन्तमवधीरणा स्यात्-अस्य न धर्मं प्रति शक्तिः, श्रद्धा वा भावना । यद्वा-त्राणं येनापायपनीयते पुनर्यौवनमानीयते न तादृक्करणमस्ति, ततो यावदसौ नासादयति तावद्धर्मे मा प्रमादीः । उक्तं हि-"तावदिन्द्रियबलं, जरया रोगैर्न बाध्यते प्रसभम् । तावच्छरीरमूर्च्छां विहाय धर्मे कुरुष्व मतिम् ॥१॥ उत्त०४ अ० । (जरोपनीतस्य च त्राणं नास्तीत्यत्र दृष्टान्तोऽट्टनमल्लः, तत्कथा च 'अट्टण' शब्दे अत्रैव भागे २३८ पृष्ठे उक्ता) उत्तराध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तच्च प्रमादाप्रमादाऽभिधायकमप्यादानपदेनासंखयमित्युच्यते । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

असंखलोगसम-असङ्ख्यलोकसम-त्रि० । असंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणे, कर्म० ५ कर्म० ।

असंखेज्ज-असंख्येय-त्रि०। संख्याऽतीते, भ० १ श० ५ उ०। गणनामतिक्रान्ते, आ० चू० १ अ०।

असंखेज्जकालसमयट्ठिइ-असङ्ख्येयकालसमयस्थिति-पुं०। पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागादिस्थितिषु नैरयिकादिषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जे वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था०। "दुविहा णेरइया पएणत्ता। तं जहा-संखेज्जकालसमयट्ठिइया चेव,असंखेज्जकालसमयट्ठिइया चेव। एवं एगिंदियविगलेंदियवज्जा० जाव वाणमंतरा"। स्था० २ ठा० २ उ०॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंख्यातगुणपरिहीण-त्रि०। असंख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा। असंख्येयभागमात्रे, औ०।

असंखेज्जजीविय-असङ्ख्यातजीवित-पुं०। असंख्यजीवात्मकेषु वृक्षेषु, भ०। "से किं तं असंखेज्जजीविया?। असंखेज्जजीविया दुविहा पएणत्ता। तं जहा-एगट्ठिया,बहुट्ठिया य"। भ० ८ श० ३ उ०।

असंखेज्जय--असंख्येयक--न०। गणनासंख्याभेदे, अनु०।

से किं तं असंखेज्जए?। असंखेज्जए तिविहे पएणत्ते। तं जहा—परित्तासंखेज्जए, जुत्तासंखेज्जए, असंखेज्जासंखेज्जए। से किं तं परित्तासंखेज्जए?। परित्तासंखेज्जए तिविहे पएणत्ते। तं जहा-जहएणए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए। से किं तं जुत्तासंखेज्जए?। जुत्तासंखेज्जए तिविहे पएणत्ते। तं जहा-जहएणए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए। से किं तं असंखेज्जासंखेज्जए?। असंखेज्जासंखेज्जए तिविहे पएणत्ते। तं जहा-जहएणए, उक्कोसए, अजहएणमणुक्कोसए॥

असंख्येयकं तु-परीतासंख्येयकं, युक्तासंख्येयकं, असंख्येयाऽसंख्येयकम। पुनरेकैकं जघन्यादिभेदात् त्रिविधमिति सर्वमपि नवविधम॥

अथ नवविधमसङ्ख्येयकं प्रागुद्दिष्टं निरूपयितुमाह-

एवामेव उक्कोसए संखेज्जए रूवे पक्खित्ते जहएणयं परित्तासंखेज्जयं भवइ। तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं न पावइ। उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं केवइअं होइ?। जहएणयं परित्तासंखेज्जयं,जहएणयपरित्तासंखेज्जमेत्ताणं रासीणं अएणमएणब्भासो रूवूणो उक्कोसं परित्तासंखेज्जयं होइ।

(एवामेव त्ति) असंख्येयकेऽपि निरूप्यमाणे एवमेवानवस्थितपल्यादिनिरूपणा क्रियत इत्यर्थः। तावद्यावदुत्कृष्टसंख्येयकमानीतं, तस्मिँश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दर्शितं तदत्र तत्रैव राशौ प्रक्षिप्यते तदा जघन्यं परीतासंख्येयकं भवति। (तेण परमित्यादि) ततः परं परीतासंख्येयकस्यैवाजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंख्येयकं न प्राप्नोति। शिष्यः पृच्छति-कियत्पुनरुत्कृष्टं परीतासंख्येयकं भवति?। अत्रोत्तरम्-(जहएणयं परित्तासंखेज्जयं ति) जघन्यपरीतासंख्येयकं यावत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां जघन्यपरीतासंख्येयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंख्येयकगतरूपसंख्यानामित्यर्थः। राशीनामन्योन्यमभ्यासः परस्परं गुणनास्वरूप एकेन रूपेणोन उत्कृष्टं परीतासंख्येयकं भवतीति।

इदमत्र हृदयम-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंख्येयस्वरूपा जघन्यपरीतासंख्येयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा व्यवस्थाप्यन्ते। तैश्च परस्परं गुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन रूपेण हीनमुत्कृष्टं परीतासंख्येयकं मन्तव्यम्। अत्र सुखप्रतिपत्त्यर्थमुदाहरणं दर्श्यते-जघन्यपरीतासंख्येयके किलासत्कल्पनया पञ्च रूपाणि संप्रधार्यन्ते। ततः पञ्चैव वाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते। तथाहि-५ । ५ । ५ । ५ । ५। अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिताः पञ्चविंशतिः। सा च पञ्चभिराहता जातं पञ्चविंशशतमित्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्पराभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि। एतत्प्रकल्पनया एतावन्मानः। सद्भावतस्त्वसंख्येयरूपो राशिरेकेन रूपेण गुणहीन उत्कृष्टं परीतासंख्येयमित्याद्यनन्तरोक्ताद्युक्तासंख्येयकादेकस्मिन् रूपे समाकर्षिते उत्कृष्टं परीतासंख्येयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत एव। इत्युक्तं जघन्यादिभेदभिन्नं त्रिविधं परीतासंख्येयकम॥

अथ तावद्भेदभिन्नस्यैव युक्तासंख्येयकस्य निरूपणार्थमाह-

जहएणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ?। जहएणयं जुत्तासंखेज्जयं जहएणयपरित्तासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अएणमएणब्भासो पडिपुएणो जहएणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ। अहवा-उक्कोसए परित्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहएणयं जुत्तासंखेज्जयं होइ। आवलिआ वि तत्तिआ चेव। तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं ठाणाइं० जाव उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ। उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ?। जहएणएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिआ गुणिआ अएणमएणब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ। अहवा जहएणयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ॥

(जहएणयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि)। अत्रोत्तरम-(जहएणयं परित्तासंखेज्जमित्यादि) व्याख्या पूर्ववदेव। नवरं-(अएणमएणब्भासो पडिपुएणो त्ति) अन्योन्याभ्यस्तः स परिपूर्ण एव राशिरिह गृह्यते,न तु रूपं पात्यत इति भावः। (अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए इत्यादि) भावितार्थमेव। (आवलिया तत्तिया चेव त्ति) यावन्ति जघन्ययुक्तासंख्येयके सर्षपरूपाणि प्राप्यन्ते आवलिकायामपि तावन्तः समया भवन्तीत्यर्थः। ततः सूत्रे यत्रावलिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिमाना सा द्रष्टव्या। (तेण परमित्यादि) ततो जघन्ययुक्तासंख्येयकात्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंख्येयान्यजघन्योत्कृष्टानि युक्तासंख्येयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंख्येयकं न प्राप्नोति। अत्र शिष्यः पृच्छति-(उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयमित्यादि) अत्र प्रतिवचनम-(जहएणएणमित्यादि) जघन्येन युक्तासंख्येयकेनावलिका समयराशिर्गुण्यते। किमुक्तं भवति?-अन्योन्यमभ्यासः क्रियते,जघन्ययुक्तासंख्येयराशिस्तेनैव राशिना गुण्यत इति तात्पर्यम। एवं च कृते यो राशिर्भवति स एव एकेन रूपेणोन उत्कृष्टयुक्तासंख्येयकं भवति। यदि पुनस्तदेव तद्रूपं गुण्यते तदा जघन्यमसंख्येयासंख्येयकं जायते। अत एवाह-(अहवा जहएणयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणमित्यादि) गतार्थम्। उक्तं युक्तासंख्येयकं त्रिविधम॥

इदानीमसंख्येयासंख्येयकं त्रिविधं विभणिषुराह–

जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहन्नएणं ठाणाइं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिआ गुणिआ अन्नमन्न-ब्भासो पडिपुन्नो जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ । अहवा उक्कोसए जुत्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ । तेण परं अजहन्नमणुक्कोसयाइं० जाव उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावइ । उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहन्नयअसंखेज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अन्नमन्नब्भासो रूवूणो उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ॥

(जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) इदं तु सूत्रं भावितार्थमेव । नवरं (पडिपुन्नो त्ति) परिपूर्णो रूपं न पात्यत इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यपि गतार्थम् । (तेण परमित्यादि) ततः परं (असंखेज्जासंखेज्जकं केत्तियमित्यादि) अत्रोत्तरम्–(जहन्नयं असंखेज्जासंखेज्जयेत्यादि) जघन्यमसंख्येयकं यावद्भवतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंख्येयकरूपं संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमभ्यासः परस्परं गुणनास्वरूपः, एकेन रूपेणोन उत्कृष्टमसंख्येयासंख्येयकं भवति । अयमत्र भावार्थः–प्रत्येकं जघन्यासंख्येयासंख्येयकरूपा जघन्याऽसंख्येयाऽसंख्येयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तो राशयो व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परगुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन रूपेण हीन उत्कृष्टमसंख्येयासंख्येयकं प्रतिपत्तव्यम् । उदाहरणं चात्राप्युत्कृष्टपरीतासंख्येयकोक्तानुसारेण वाच्यम् । अनु० ॥

साम्प्रतमसंख्यातानन्तकस्वरूपमाह—

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमेक्कसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥

(अन्ने वग्गियमित्यादि) अन्ये आचार्या एके सूरय एवमाहुः–यथा–चतुर्थकमसंख्यं जघन्ययुक्तासंख्यातकरूपं,वर्गितं तावतैव राशिना गुणितं सत्, (एक्कसिमिति) एकवारं, भवति जायते संपद्यतेऽसंख्यासंख्यं,लघु जघन्यं,जघन्यासंख्यातासंख्यातकं भवतीत्यर्थः। अत्रापि मतेऽसंख्यातकमुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणा पूर्वोक्तैवेति दर्शयन्नाह–(रूवजुयं तु तं मज्झं ति) रूपेण सर्षपलक्षणेन युतं रूपयुतम् । तुरवधारणे, व्यवहितसम्बन्धश्च । तदिति–तदेवानन्तराभिहितं जघन्यासंख्येयासंख्येयादिकम् । किं भवतीत्याह–मध्यं मध्यमासंख्येयासंख्येयादिकं भवति ॥ ८० ॥

रूवूणमाइमं गुरु, तिवग्गिउं तं इमे दसक्खेवे ।
लोगागासपएसा, धम्माधम्मेगजीवदेसा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंख्येयासंख्येयादिकं रूपोनमेकेन रूपेण रहितं सत्,आदिमं तदपेक्षयाऽऽद्यस्य राशेः संबन्धि गुरु उत्कृष्टं भवतीति । अयमत्राशयः–जघन्यासंख्येयासंख्येयकं रूपोनं सद् युक्तासंख्यातकमुत्कृष्टं भवति, जघन्यपरीतानन्तकं रूपोनमसंख्येयासंख्येयकमुत्कृष्टं भवति, जघन्ययुक्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं परीतानन्तकं भवति, जघन्यानन्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं युक्तानन्तकं भवतीति । अधुना जघन्यपरीतानन्तकं मतान्तरेण प्ररूपयन्नाह–(तिवग्गिउं तं इत्यादि) तदिति प्रागभिहितं जघन्यासंख्येयासंख्येयकं त्रिर्वर्गयित्वा सदृशद्विराशी, परस्परं त्रीन् वारानभ्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः–जघन्यासंख्येयासंख्येयकराशेः सदृशद्विराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्यापि वर्गराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वर्गराशेः पुनरपि वर्गो निष्पाद्यते इति । ततः किमित्याह–इमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान्, (दसेति) दशसंख्यान् क्षिप्यन्त इति । "कर्मणि घञ्" क्षेपाः–प्रक्षेपणीयराशयस्तान् क्षिपस्व निधेहीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । तथाहि–लोकाकाशस्य प्रदेशाः, धर्मश्चाधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवाः, तेषां देशाः प्रदेशाः । अयमत्रार्थः–धर्मास्तिकायप्रदेशाः, अधर्मास्तिकायप्रदेशाः, एकजीवप्रदेशाश्च ॥ ८१ ॥

तथा–

ठिइबंधऽज्झवसाया, अणुभागा जोगछेयपलिभागा ।
दुण्ह य समाणसमया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कषायोदयरूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसंख्येयान्येव । तथाहि–ज्ञानावरणस्य जघन्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणः स्थितिबन्धः, उत्कृष्टस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटिप्रमाणः, मध्यमपदे त्वेकद्वित्रिचतुरादिसमयाधिकान्तर्मुहूर्तादिकोऽसंख्येयभेदः । एषां स्थितिबन्धानां निर्वर्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्नान्येव । एवं च सत्येकस्मिन्नपि ज्ञानावरणेऽसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते । एवं दर्शनावरणादिष्वपि वाच्यम् । (अणुभाग त्ति) अनुभागा ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यमध्यमादिभेदभिन्ना रसविशेषाः, एतेषां चानुभागविशेषाणां निर्वर्तकान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्त्यतोऽनुभागविशेषा अप्येतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणभेदाश्रितत्वात्कार्यभेदानाम् । (जोगछेयपलिभाग त्ति) योगो मनोवाक्कायविषयं वीर्यं, तस्य केवलिप्रज्ञाच्छेदेन प्रतिविशिष्टा निर्विभागा भागा योगच्छेदपरिभागाः । ते च निगोदादीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानामाश्रिता जघन्यादिभेदभिन्ना असंख्येया मन्तव्याः । (दुण्ह य समाणसमय त्ति) द्वयोश्च समयोरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालस्वरूपयोः समया असंख्येयस्वरूपाः । (पत्तेयनिगोयए त्ति) अनन्तकायिकान् वर्जयित्वा शेषाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः प्रत्येकशरीरिणः, सर्वेऽपि जीवा इत्यर्थः, ते चासंख्येया भवन्ति । निगोदाः सूक्ष्माणां बादराणां चानन्तकायिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंख्याताः । एवमेते प्रत्येकमसंख्येयस्वरूपा दश क्षेपास्तान् क्षिपस्व ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रक्षेपानन्तरं तस्यैव राशेर्यस्मिन् विहिते यद्भवति तदाह—

पुणरवि तम्मि तिवग्गिए, परित्तऽणंत लहु तस्स रासीणं ।
अब्भासे लहु जुत्ता–णंतं अभव्वजियमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि (तम्मि त्ति) तस्मिन्ननन्तरोदिते प्रक्षिप्तप्रक्षेपदशके, त्रिवर्गिते त्रीन् वारान् वर्गिते सति, परीतानन्तं लघु जघन्यं भवति । इदमुक्तं भवति–जघन्यासंख्येयासंख्येयकस्वरूपं वारत्रयं वर्गिते राशौ ते क्षेपाः क्षिप्यन्ते । तत इत्थं पिण्डितो यो राशिः संपद्यते स पुनरपि वारत्रयं वर्ग्यते । ततो जघन्यं परीतानन्तकं भवतीति । इदमिदानीं जघन्ययुक्तानन्तकनिरूपणायाह–(तस्स रासीणेत्यादि) तस्य जघन्यपरी–

तानन्तकस्य, संबन्धिनां राशीनामन्योन्यमभ्यासे सति, लघु जघन्यं युक्तानन्तकमभव्यजीवमानं भवति । इयमत्र भावना-जघन्यपरीतानन्तके ये राशयः सर्षपरूपाः, ते पृथक् पृथग् व्यवस्थाप्यन्ते, तेषां तथाऽव्यवस्थापितानां जघन्यपरीतानन्तकमानानां राशीनामन्योऽन्याभ्यासे सति युक्तानन्तकं जघन्यं भवति । तथा जघन्ययुक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि वर्तन्ते, अभव्यसिद्धिका अपि जीवाः केवलिना तावन्त एव दृष्टा इति ॥८३॥

अथ प्रसक्तो जघन्यानन्तानन्तकप्ररूपणमप्याह-

तव्वग्गे पुण जायइ, णंताणंत लहु तं च तिक्खुत्तो ।
वग्गसु तह वि न तं हो-इ णंतखेवे खिवसु छ इमे ॥८४॥

तस्य जघन्ययुक्तानन्तकराशेर्वर्गे सकृदभ्यासे-तद्वर्गे कृते सति, पुनर्भूयोऽपि, जायते संपद्यतेऽनन्तानन्तं लघु जघन्यं,जघन्यानन्तकं भवतीत्यर्थः । उत्कृष्टानन्तानन्तकप्ररूपणायाह-(तं च तिक्खुत्तो इत्यादि) तच्च तत्पुनर्जघन्यमनन्तानन्तं त्रिःकृत्वा त्रीन् वारान् वर्गयस्व-तावतैव राशिना गुणय । अयमत्रार्थः-जघन्यानन्तानन्तकराशेस्तावतैव राशिना गुणनस्वरूपो वर्गः क्रियते, ततस्तस्य वर्गितराशेः पुनर्वर्गः, तस्यापि वर्गितराशेर्भूयोऽपि वर्ग इति । तथाऽपि-एवमपि,वारत्रयं वर्गे कृतेऽपि; तदुत्कृष्टमनन्तानन्तकं,न भवति न जायते । ततः किं कार्यम् ?, इत्याह-अनन्तक्षेपानिमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान् षड् षड् संख्यान् क्षिपस्व निधेहीति ॥ ८४ ॥

तानेव षडनन्तक्षेपानाह-

सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई,काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगनहं पुण, तिवग्गिउं केवलदुगम्मि ॥ ८५ ॥

सर्वे एव सिद्धा निष्ठितनिःशेषकर्मांशाः, निगोदजीवाः समस्ता अपि सूक्ष्मबादरभेदभिन्ना अनन्तकायिकसत्त्वाः,वनस्पतयः प्रत्येकानन्ताः सर्वेऽपि वनस्पतिजीवाः । काल इति-सर्वोऽप्यतीतानागतवर्त्तमानकालसमयराशिः, पुद्गलाः समस्तपुद्गलराशेः परमाणवः । सर्वं समस्तम्, अलोकनभोऽलोकाकाशमिति; उपलक्षणत्वात् सर्वोऽपि लोकालोकप्रदेशराशिः, इत्येतद्राशिषट्कप्रक्षेपानन्तरं यस्मिन् कृते यद्भवति तदाह-पुनः पुनरपि त्रिर्वर्गयित्वा त्रीन् वारांस्तावतैव राशिना गुणयित्वा, केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनयुगले क्षिप्ते सति ॥ ८५ ॥

खित्तेऽणंताणंतं, हवई जिट्ठं तु ववहरइ मज्झं ।
इय सुहमत्थवियारो, लिहिओ देविंदसूरीहिं ॥ ८६ ॥

क्षिप्ते न्यस्ते सति,अनन्तानन्तकं भवति जायते,ज्येष्ठमुत्कृष्टम् । तुः पुनरर्थे,व्यवहितसम्बन्धश्च । व्यवहरति व्यवहारकारि मध्यं तु मध्यमं पुनः । इयमत्र भावना-इह केवलज्ञानकेवलदर्शनशब्देन तत्पर्याया उच्यन्ते, ततः केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः पर्यायेष्वनन्तेषु क्षिप्तेषु सत्स्विति द्रष्टव्यम् । नवरं ज्ञेयपर्यायाणामानन्त्याज्ज्ञानपर्यायाणामप्यानन्त्यं वेदितव्यम् । एवमनन्तानन्तं ज्येष्ठं भवति,सर्वस्यैव वस्तुजातस्यात्र संगृहीतत्वात् । अतः परं वस्तुसत्त्वस्यैव संख्याविषयस्याभावादित्यभिप्रायः । सूत्राभिप्रायतस्त्वित्थमप्यनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते, अनन्तकस्याष्टविधस्यैव तत्र प्रतिपादितत्वात् । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेषु-" एवमुक्कोसयं अणंताणंतयं नत्थि " । तदत्र तत्त्वं केवलिनो विदन्ति । सूत्रे तु यत्र क्वचिदनन्तानन्तकं गृह्यते तत्र सर्वत्रापि जघन्योत्कृष्टशब्दवाच्यमनन्तानन्तकं द्रष्टव्यम् । कर्म०४ कर्म० । (यद्यपीदं पूर्वं ' अणंतग ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २६२ पृष्ठे जावितं, तथापि मतान्तरेणेहोपन्यस्तम्)

असंखेज्जवित्थम-असंख्येयविस्तृत-त्रि० । असंख्येयानि योजनसहस्राणि आयामविष्कम्भेण,असंख्येयानि योजनसहस्राणि परिक्षेपेण च विस्तृते, जी० ३ प्रति० ।

असंग-असङ्ग-त्रि० । बाह्याभ्यन्तरसङ्गरहिते, प्रश्न० १ पद्म० । आव० । प्रव० । न विद्यते सङ्गोऽमूर्त्तत्वाद् यस्य स तथा । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । आत्मनि सङ्गविकले, षो० ८ विव० । अभिष्वङ्गाभाववति, षो० १४ विव० । मोक्षे, पं० व० ३ द्वार । सकलक्लेशाऽभावात (औ०) सिद्धे, तत्तुल्यावस्थे, च । " भये च हर्षे च मतेरविक्रिया, सुखेऽपि दुःखेऽपि च निर्विकारता । स्तुतौ च निन्दासु च तुल्यशीलता, वदन्ति तां तत्त्वविदोऽह्यसङ्गताम " ॥ १ ॥ षो० १५ विव० ।

असंगह-असंग्रह-पुं० । असंग्रहशीले, व्य० ४ उ० ।

असंगहरुइ-असंग्रहरुचि-पुं० । न विद्यते संग्रहे रुचिर्यस्य सः । गच्छोपग्रहकरस्य पीठादिकस्योपकरणस्यैषणादोषविमुक्तस्य लभ्यमानस्यात्मम्भरित्वेन संग्रहे रुचिमनादधाने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

असंगहिय-असंग्रहिक-पुं० । व्यवहारनयमतानुसारिणि विशेषवादिनि नैगमे, विशे० ।

असंगृहीत-त्रि० । अनाश्रिते, स्था० ८ ठा० ।

असंगाणुट्ठाण-असङ्गानुष्ठान-न० । निर्विकल्पस्वरसवाहिप्रवृत्तौ, ध० १ अधि० । अष्ट० ।

ध्यानं च विमले बोधे, सदैव हि महात्मनाम् ।
सदा प्रसृमरोऽनभ्रे, प्रकाशो गगने विधोः ॥ २० ॥

(ध्यानं चेति) विमले बोधे च सति महात्मनां सदैव हि ध्यानं भवति, तस्य तन्नियतत्वात् । दृष्टान्तमाह-अनभ्रेऽभ्ररहिते गगने विधोश्चन्द्रस्य प्रकाशः सदा प्रसृमरो भवति, तथाऽवस्थास्वाभाव्यात् ॥ २० ॥

सत्प्रवृत्तिपदं चेहा-सङ्गानुष्ठानसंज्ञितम् ।
संस्कारतः स्वरसतः, प्रवृत्त्या मोक्षकारणम् ॥ २१ ॥

(सदिति) सत्प्रवृत्तिपदं चेह प्रभायामसङ्गानुष्ठानसंज्ञितं भवति,संस्कारतः प्राच्यप्रयत्नजात् , स्वरसत इच्छानैरपेक्ष्येण, प्रवृत्त्या प्रकृष्टवृत्त्या, मोक्षकारणम् । यथा-दण्डदण्डनोदनानन्तरमुत्तरश्चक्रभ्रमिसंतानस्तत्संस्कारानुवेधादेव भवति, तथा प्रथमाभ्यासाद् ध्यानानन्तरं तत्संस्कारानुवेधादेव तत्सदृशपरिणामप्रवाहोऽसङ्गानुष्ठानसंज्ञां लभत इति भावार्थः ॥ २१ ॥

प्रशान्तवाहितासंज्ञं, विसभागपरिक्षयः ।
शिववर्त्म ध्रुवाध्वेति, योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥ २२ ॥

(प्रशान्तेति) प्रशान्तवाहितासंज्ञं साङ्ख्यानां, विसभागपरिक्षयो बौद्धानाम्,शिववर्त्म शैवानां,ध्रुवाध्वा महाव्रतिकानाम्,इत्येवं हि योगिभिरदोऽसङ्गाऽनुष्ठानं गीयते॥२२॥ द्वा०२४ द्वा० । षो० ।

असंघयण-असंहनन-न० । आद्यैस्त्रिभिः संहननैर्वर्जिते, नि० चू० २० उ० ।

असंघाइम--असंघातिम-त्रि०। छिकादिफलकेषु कपाटवत्संघातेन निर्वृत्तेषु, नि० चू० २ उ०।

असंचइय-असाञ्चयिक-पुं०। बहुकालं रक्षितुमशक्ये दुग्धदधिपक्वान्नादौ, कल्प० ९ क्षण।

असंचयित-त्रि०। असंजातसंचये,मासिकद्वैमासिकचातुर्मासिकपाञ्चमासिकषाण्मासिके वा प्रायश्चित्ते वर्त्तमाने, व्य०१ उ०।

असंजई--असंयती-स्त्री०। अविरतिकायाम्, बृ० १ उ०।

असंजण-असञ्जन-न०। असङ्गे, अगृद्धौ च। नि० चू० १ उ०।

असंजम-असंयम-पुं०। न संयमोऽसंयमः । प्रतिषिद्धकरणे, आ० चू०४ अ०। पं० सं०। सावद्यानुष्ठाने, सूत्र०१ श्रु०१३ अ०। प्राणातिपातादौ, "असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि" ध०३ अधि०। प्रश्न०। आ० चू०। बालभावे, आचा०१ श्रु०५ अ० ५ उ०। "असंजममन्नाणं, मिच्छत्तं सव्वमेव य ममत्तं" असंयमं विराधनास्वभावमेकविधम्। आतु०। सूत्र०। "एगिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ। तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० जाव वणस्सइकाइयअसंजमे"। स्था० ५ ठा०२ उ०। असंजमाः-"तेइंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स छव्विहे असंजमे कज्जइ। तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, घाणामएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ० जाव फासमयाओ दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ"॥ इह वाव्यपरोपणमसंयोजनं च संयमोऽनाश्रवरूपत्वादितरदसंयम इति। स्था० ६ ठा०। "चउरिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स अट्ठविहे असंजमे कज्जइ। तं जहा-चक्खुमाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ"। स्था० ८ ठा०। "पंचिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ। तं जहा-सोइंदियअसंजमे०जाव फासिंदियअसंजमे"। स्था०। "सव्वपाणभूयजीवसत्ता णं समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ। तं जहा-एगेंदियअसंजमे० जाव पंचेंदियअसंजमे"। स्था०५ ठा० २ उ०। पं० सं०। "सत्तविहे असंजमे पण्णत्ते। तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० जाव तसकाइयअसंजमे अजीवकाइयअसंजमे"। स्था० ७ ठा०॥ "दसविहे असंजमे पण्णत्ते। तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे० अजीवकाइयअसंजमे०"। स्था० १० ठा०।

सत्तरसविहे असंजमे पण्णत्ते। तं जहा-पुढविकाइयअसंजमे, आउकाइयअसंजमे, तेउकाइयअसंजमे, वाउकाइयअसंजमे, वणस्सइकाइयअसंजमे, बेइंदियअसंजमे, तेइंदियअसंजमे, चउरिंदियअसंजमे, पंचिंदियअसंजमे, अजीवकायअसंजमे, पेहाअसंजमे, उपेहाअसंजमे, अवहट्टुअसंजमे अप्पमज्जणाअसंजमे, मणअसंजमे, वइअसंजमे, कायअसंजमे।

अजीवकायासंयमो विकटसुवर्णबहुमूल्यवस्त्रपात्रे पुस्तकादिग्रहणम्। प्रेक्षायामसंयमो यः स तथा। स च स्थानोपकरणादीनि अप्रत्युपेक्षणमविधिप्रत्युपेक्षणं वा। उपेक्षाऽसंयमयोगेषु व्यापारणं, संयमयोगेष्वव्यापारणं वा। तथाऽपहृत्यसंयमः-अविधिनोच्चारादीनां परिष्ठापनतो यः। तथा-अप्रमार्जनाऽसंयमः पात्रादेरप्रमार्जनया चेति। मनोवाक्कायाऽसंयमास्तेषामकुशलानामुदीरणानीति। स० १७ सम०। ध०। प्रश्न०। पं० भा०। आ० चू०। (मैथुनं सेवमानस्य कीदृशोऽसंयम इति 'मेहुण' शब्दे)

असंजमकर-असंयमकर-त्रि०। साधुनिमित्तमसंयमकरणशीले,पिं०।

असंजमट्ठाण-असंयमस्थान-न०। असमाधिस्थानादिषु,व्य०।

असमाहिट्ठाणा खलु, सबला य परीसहा य मोहम्मि।
पलिओवमसागरोवम-परमाणु ततो असंखेज्जा॥

एष प्रायश्चित्तराशिः। कुतः?। उच्यते-यानि खल्वसमाधिस्थानानि विंशतिः। खलुशब्दः संभावने। स चैतत्संभावयति-असंख्यातानि देशकालपुरुषभेदतोऽसमाधिस्थानानि; एवमेकविंशतिः शबलानि; द्वाविंशतिः परीषहाः। तथा-मोहे मोहनीये कर्मणि ये अष्टाविंशतिर्भेदाः, अथवा मोहविषयाणि त्रिंशत् स्थानानि, एतेभ्योऽसंयमस्थानेभ्य एष प्रायश्चित्तराशिरुत्पद्यते। व्य० १ उ०।

असंयमस्थानभेदाः—

से भयवं! केवइए असंजमट्ठाणे पण्णत्ते?। गोयमा! अणेगे असंजमट्ठाणे पण्णत्ते० जाव णं कायासंजमट्ठाणे। से भयवं! कयरे कायासंजमट्ठाणा?। गोयमा! कायासंजमट्ठाणे अणेगहा पण्णत्ते। तं जहा-

"पुढविदगागणिवाऊ, वणप्फती तह तसाण विविहाणं।
हत्थेण वि फरिसणयं, वज्जेज्जा जावजीवं पि॥
साउण्हखारखित्ते, अग्गी छारोणुसअंबिलेणाहे।
पुढवीदीण परोप्पर, खयंकरे वज्जसत्थेण॥
एहाणुम्मद्दणखोभण-हत्थंगुलिअक्खिसायकरणेणं।
आवीयंते अणंते, आऊजीवे खयं जंति॥
संधुक्कजालणाणाहि, एवं उज्जोयकरणमादीहिं।
वीयणफूमणउज्जा-वणेहिँ सिहिजीवसंघायं॥
जाइ खयं अन्ने वि य, छज्जीवनिकायमइएगं।
जीवे जलणो सुट्टु इ-उ वि हु संभक्खइ दस दिसाणं च॥
ओवीयणगतालियं-टयचामरओक्खेहत्थतालेहिं।
धोवणमेवणलंघण-ऊसाईहिं च वाऊणं॥
अंकुरकुहरकिसलय-पवालपुप्फफलकंदलाईणं।
हत्थफरिसेण बहवे, जंति खयं वणप्फई जीवे॥
गमणागमणनिसीयण-सुयणुट्ठाणअणुवउत्तयपमत्तो।
वियलेंदियवितिचउपं-चेंदियाण गोयम! खयं नियमा॥
पाणाइवायविरई, सेयफला गिण्हिऊण ता धीमं!।
मरणावयम्मि पत्ते, मरेज्ज विरई न खंडिज्जा॥
अलियवयणस्स विरई, सावज्जं सच्चमवि न भासिज्जा।
परदव्वहरणविरई, करेज्ज दिन्ने वि मा लोभं॥
धरणं दुद्धरबंभ-व्वयस्स काउं परिग्गहच्चायं।
राईभोयणविरई, पंचिंदियनिग्गहं विहिणा॥"
महा० ७ अ०।

असंजमपंक-असंयमपङ्क-पुं०। पृथिव्याद्युपमर्दकर्दमे,बृ० १ उ०।

असंजय-असंयत-त्रि०। न विरतोऽसंयतः। अविरते, आचा०४

अ० । स्था० । मिथ्यादृष्ट्यादौ, भ० ६ श० ३ उ० । अविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्ते, आतु० । नं० । कुतश्चिदप्यनिवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दश० । गृहस्थे, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । नि० चू० । स च श्रावकः, प्रकृतिभद्रको वा स्यात् । आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । गृहस्थकर्मकारिणि प्रव्रजिते, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । असाधौ संयमरहिते, स० १ श० १ उ० । औ० । प्रश्न० । ज्ञा० । असंयमवति आरम्भपरिग्रहप्रमत्ते अब्रह्मचारिणि, स्था० १० ठा० । पार्श्वस्थादौ, ध० २ अधि० । (असंयतानां कृतिकर्म न कर्त्तव्यमिति 'किइकम्म' शब्दे वक्ष्यते) (असंयतानां पञ्च आगराः 'आगर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असंजयपूया–असंयतपूजा–स्त्री० । असंयमवतामारम्भपरिग्रहप्रसक्तानां ब्राह्मणादीनां पूजायाम्, कल्प० ५ क्ष० । स्था० । (सा च नवमदशमजिनयोरन्तरे प्रवृत्तेति 'अच्छेर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०० पृष्ठे उक्ता) जिनानामन्तरेषु साधुषु विच्छेदे सति प्रत्येकबुद्धादिः केवली भवति, न वा ? । यदि भवति, तर्हि अन्येषां धर्मं कथयति, नवेति ? प्रश्ने, उत्तरम्–तीर्थोच्छेदे प्रत्येकबुद्धादेः केवलित्वभवने साक्षादक्षराणि प्रवचनसारोद्धारवृत्त्यादौ दृश्यन्ते, परं परेषां धर्मकथने च निषेधाक्षराणि ग्रन्थे दृष्टानि न स्मर्यन्ते । सेन० १ उल्ला० २९ प्र० ॥

असंजल–असंज्वल–पुं० । अनन्तजिनसमकालीने ऐरवतजिने, "भरहे अणंतई जिणो, एरवए असंजले जिणवरिंदो" । ति० । स० ।

असंजोएत्ता–असंयोगयितृ–त्रि० । संयोगमकारयति, "सोयामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ" । स्था० १० ठा० ।

असंजोगि (ण्)–असंयोगिन्–पुं० । संयोगरहिते, सिद्धे च । स्था० २ ठा० १ उ० ॥

असंठविय–असंस्थापित–त्रि० । असंस्कृते, नं० ।

असंणि (संनि) हिसंचय–असन्निधिसंचय–पुं० । न विद्येत संनिधेर्मोदकोदकखर्जूरदरीतक्यादेः पर्युषितस्य संचयो धारणं यत्रासावसंनिधिसंचयः । सन्निधिविकले, "इमस्स धम्मस्स० पंचमहव्वयजुत्तस्स असन्निहिसंचयस्स" । पा० ।

असंत–असत्–त्रि० । अविद्यमाने, नि० चू० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । प्रश्न० ।

अशान्त–त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असंतइ–असन्तति–स्त्री० । शिष्यप्रशिष्यादिसन्तानानुपजनने, बृ० १ उ० ।

असंतग–असत्क–न० । असदर्थाभिधानरूपत्वात् पञ्चमे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अविद्यमानार्थके असत्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । असद्भूते वचने अशोभने, प्रश्न० २ सम्व० द्वार ।

अशान्तक–न० । अनुपशमप्रधाने, प्रश्न० २ सम्व० द्वार ।

असंतय–अमान्तत–न० । रागादिप्रवर्त्तने, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

असंताचेल–असदचेल–पुं० । अविद्यमानेषु चेलेषु, अवासांसि तीर्थकरे, देवदूष्यापगमानन्तरं तथाभावात् । पञ्चा० १७ विव० ।

असंति–अशान्ति–स्त्री० । शान्त्यभावे, अनिर्वाणे, संसृतौ च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

असंथय–असंस्तृत–त्रि० । शकट इव विशारदतया संचरितुमशक्नुवति, व्य० ७ उ० । बृ० । असमर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

तवगेलन्नद्धाणे, तिविहो तु असंथडो तिहे तिविहो ।
नवसंथममीसस्सा, मासादारोवणा इणमो ॥

असंस्तृतो नाम षष्ठाष्टमादिना तपसा क्लान्तो ग्लानत्वेन असमर्थो दीर्घाध्वनि वा गच्छन् पर्याप्तं न लभते, एष त्रिविधोऽसंस्तृतः । (तिहे तिविहो) त्रिविधे अध्वनि योऽसंस्तृतः स त्रिविधः । तद्यथा–अध्वप्रवेशे, अध्वमध्ये, अध्वोत्तारे च । तत्र तपोऽसंस्तृतस्य निर्विचिकित्सस्य मासादिका इह समाहिरारोपणा भवति । बृ० ५ उ० ।

असंथरण–असंस्तरण–न० । अनिर्वाहे, बृ० १ उ० । दुर्भिक्षग्लानाद्यवस्थायाम्, ध० ३ अधि० । अपर्याप्तलाभे, पं० व० ३ द्वार । "संथरणम्मि असुद्धं, दुएहं वि गिएहंतदिंतयाण हियं । आउरदिट्ठंतेणं, तं चेव हियं असंथरणे" । नि० चू० १ उ० ।

असंथरमाण–(असंथरंत)–असंस्तरत्–त्रि० । गवेषणामप्यकुर्वति, व्य० ४ उ० ।

असंथुय–असंस्तुत–त्रि० । असंबद्धे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असंदिद्ध–असंदिग्ध–त्रि० । संदेहवर्जिते, दशा० ४ अ० । कल्प० । निश्चिते सकलसंशयादिदोषरहिते, स्था० ६ ठा० ।

असंदिद्धत्त–असंदिग्धत्व–न० । असंशयकारितायाम्, एकादशे सत्यवचनातिशये च । स० ३५ सम० । औ० । रा० । सैन्धवशब्दवलवणवसनतुरगपुरुषाद्यनेकार्थसंशयकारित्वदोषमुक्ते सूत्रगुणे, विशे० । अनु० । आ० म० ।

असंदिद्धवयणया–असंदिग्धवचनता–स्त्री० । परिस्फुटवचनतारूपे वचनसम्पद्भेदे, उत्त० १ अ० । स्था० ।

असंदिग्धवचनमाह–

अव्वत्तं अफुडमत्थं, अत्थबहुत्ता व होति संदिद्धं ।
विवरीयमसंदिद्धं, वयणे सा संपया चउहा ॥

अव्यक्तं–वाचो व्यक्ततया अभावतः, अस्फुटार्थमक्षराणां सन्निवेशविशेषतः, विवक्षितार्थबहुत्वाद्वा भवति संदिग्धम् । तद्विपरीतमसंदिग्धम्, तद्वचनं यस्यासावसंदिग्धवचनः । एषा वचने संपच्चतुर्द्धा चतुष्प्रकारा ॥ व्य० १० उ० ।

असंदीण–असंदीन–त्रि० । पक्षमासाद्युदकेनाऽप्लाव्यमाने सिंहलद्वीपादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

असंधिम–असन्धिम–त्रि० । अपान्तराले सन्धिरहिते, बृ० ५ उ० ।

असंपउत्त–असंप्रयुक्त–त्रि० । अयुक्ते, नि० चू० १ उ० ।

असंपओग–असंप्रयोग–पुं० । विप्रयोगे, ध० ३ अधि० । अयोगे, भ० २५ श० ७ उ० ॥

असंपगहियप्प (ण्)–असंप्रगृहीतात्मन्–त्रि० । असंप्रगृहीतोऽनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा । निरभिमाने, अहमाचार्यो बहुश्रुतः तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान् वा इत्यादिमदरहिते, दशा० ३ अ० ॥

असंपगहियया-असंप्रगृहीतता-स्त्री० । संप्रग्रहरहिततारूपे आचार्यसम्पद्भेदे, व्य० । असंप्रगृहीतता नाम जात्यादिमदैरनुत्सिकता । तथाह-

आयरिओ बहुस्सुओ, तवसि अहं जाइएहि मयएहिं ।
जो होइ अणुस्सित्तो, असंपगहिओ वि सो भवइ ॥

आचार्योऽहं बहुश्रुतोऽहं तपस्व्यहमिति मदैः, जात्यादिभिर्वा मदैर्यो भवत्यनुत्सिक्तः स भवत्यसंप्रगृहीतः, मदसंप्रग्रहरहितत्वात् । व्य० १० उ० ।

असंपग्गह--असंप्रग्रह--पुं० । समन्तात् प्रकर्षेण जात्यादिप्रकृतलक्षणेन ग्रहणमात्मनोऽवधारणं संप्रग्रहः । तदभावोऽसंप्रग्रहः । उत्त० १ अ० । आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रहवर्जने, वाचनासंपद्भेदे, स्था० ८ ठा० ।

असंपत्त--असंप्राप्त--त्रि० । असंसक्ते, रा० ।

असंपत्ति--असंपत्ति--स्त्री० । प्रायश्चित्तभारवहनासामर्थ्ये, " असंपत्तीए मासलहु, संपत्तीए मासगुरु " नि० चू० १ उ० । "असंपत्तिपत्ताणं रयहरणं पच्चुपेहिज्जा" । महा० ७ अ० ।

असंपहिट्ठ-असंप्रहृष्ट-त्रि० । अहर्षिते, उत्त० १५ अ० । "अवग्गमणे असंपहिट्ठा जे से भिक्खू" । उत्त० १५ अ० ।

असंपुड-असंपुट-त्रि० । अव्यावृते, " मुहं वा असंपुडं वाताऽऽरंभदोसेण अच्छेज्ज " नि० चू० २० उ० ।

असंफुर-असंस्फुर-त्रि० । असंवृते, बृ० ३ उ० ।

असंबद्ध-असंबद्ध-त्रि० । असंश्लिष्टे, " असंबद्धो हविज्जा अगणिस्सिए " । पद्मिनीपत्रोदकवद् गृहस्थैः । दश० ८ अ० ।

संप्रत्यसंबद्ध इति पञ्चदशं भेदं निरूपयितुमाह-

भावंतो अणवरयं, खणभंगुरयं समत्थवत्थूणं ।
संबंधो वि धणाइसु, वज्जइ पमिबंधसंबंधं ॥ ७४ ॥

भावयन् पर्यालोचयन्, अनवरतं प्रतिक्षणं, क्षणभङ्गुरतां सततं विनश्वरतां, समस्तवस्तूनां तनुधनस्वजनयौवनजीवितप्रभृतिसर्वभावानां, संबद्धोऽपि बाह्यवृत्त्या प्रतिपालनवर्द्धनादिरूपया युक्तोऽपि, धनादिषु धनस्वजनकरिहरिप्रभृतिषु, वर्जयति न करोति बन्धो मूर्च्छा तद्रूपं संबन्धं संयोगं, नरसुन्दरनरेश्वर इव, यतो भावतो भावयत्येवं भावश्रावकः-" चिन्ता दुपायं च चउप्पयं च, खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं । कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुंदरपावगं व " ॥ १ ॥ इत्यादि । ध० र० । (नरसुन्दरनरेश्वरकथा ' णरसुंदर ' शब्दे वक्ष्यते)

असंबुद्ध-असंबुद्ध-त्रि० । अनवगततत्त्वे, उत्त० १ अ० ।

असंभंत-असंभ्रान्त-त्रि० । अनन्यचित्ते, पं० व० १ द्वार । यथाबहुपयोगादि कृत्वाऽनाकुले, दश० १ अ० । भ्रमरहिते, विपा० १ श्रु० १ अ० । रा० । अनुत्सुके, भ० ११ श० ११ उ० ।

असंभम-असंभ्रम-पुं० । भयाऽकरणे, ओघ० ।

असंभाविद-असंभावित-त्रि० । "तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य" । ८।४।२६० । इति तस्य दः संभ्रमकारिते, प्रा० ४ पाद ।

असंमोह-असंमोह-पुं० । देवादिकृतमायाजनितस्य, सूक्ष्मपदार्थविषयस्य च संमोहस्य मूढताया निषेधे, औ० । ग० । स्था० ।

असंलप्प-असंलप्य-त्रि० । संलपितुमशक्येषु अतिबहुषु, अनु० ।

असंलोय-असंलोक-पुं० । अप्रकाशे, आचा० । असंलोकवति, त्रि० । अनापातेऽसंलोके स्थण्डिले व्युत्सृजेत् । असंलोकं गत्वोच्चारं प्रस्रवणं वा कुर्यात् । आचा० २ श्रु० १० अ० । ध० ।

असंवर-असंवर-पुं० । संवरणं संवरः, न संवरोऽसंवरः । पा० । आश्रवे, स्था० । " पंचविहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव फासिंदियअसंवरे " । स्था० ५ ठा० २ उ० । " छव्विहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव फासिंदियअसंवरे णोइंदियअसंवरे " । स्था० ६ ठा० । "अट्ठविहे असंवरे पण्णत्ते-तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव कायअसंवरे " स्था० । " दसविहे असंवरे पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसंवरे० जाव सुइकुसग्गअसंवरे " । स्था० ८ ठा० ।

असंवलिय-असंवलित-त्रि० । अवर्धिते, तं० ।

असंविग्ग-असंविग्न-त्रि० । न संविग्नोऽसंविग्नः । पार्श्वस्थादौ, नि० चू० १ उ० । शीतलविहारिणि, पं० व० २२ द्वार । व्य० । असंविग्ना अपि द्विविधाः-संविग्नपाक्षिकाः, असंविग्नपाक्षिकाश्च । संविग्नपाक्षिका निजानुष्ठाननिन्दिनो यथोक्तसुसाधुसमाचारप्ररूपकाः, असंविग्नपाक्षिका निर्धर्माणः सुसाधुजुगुप्सकाः ।

उक्तञ्च-

" तत्थावायं दुविहं, सपक्खपरपक्खओ य नायव्वं ।
दुविहे होइ सपक्खो, संजय तह संजईणं च ॥ १ ॥
संविग्गमसंविग्गा, संविग्गमणुन्न पयरा चेव ।
असँविग्गा वि य दुविहा, तप्पक्खिय पयरा चेव " ॥ २ ॥

प्रव० ६१ द्वार ।

असंविग्गपक्खिय-असंविग्नपाक्षिक-पुं० । निर्धर्मणि सुसाधुजुगुप्सके, प्रव० ९१ द्वार ।

असंविभाग-असंविभाग-पुं० । संविभागाभावे, दश० ९ अ० ।

असंविभागि (ण्)-असंविभागिन्-पुं० । संविभजति आनीताहारमन्येभ्यः साधुभ्यः प्रापयतीत्येवंशीलः संविभागी, न संविभागी असंविभागी । आहारेण स्वकीयमेव उदरं बिभर्ति इत्यर्थः । अन्यस्मै न ददाति । उत्त० ११ अ० । आचार्यग्लानादीनामेषणागुणविशुद्धिलब्धमविभजमाने, प्रश्न० ३ संव० द्वार । यत्र कचन लाभेऽसंविभागवति, "असंविभागी न हु तस्स मोक्खो" । दश० ६ अ० ।

असंवुय-असंवृत-त्रि० । इन्द्रियनोइन्द्रियैरसंयते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । हिंसादिस्थानेभ्यो निवृत्ते असंयतेन्द्रिये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनिरुद्धाश्रवद्वारे, भ० १ श० १ उ० । प्रमत्ते, भ० ७ श० ९ उ० । (असंवृतस्यानगारस्य वक्तव्यता ' अणगार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७३ पृष्ठे समुक्ता) (स्वप्नश्च ' सुविण ' शब्दे वक्ष्यते)

असंसइय-असंशयित-त्रि० । निःसंशयिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

असंसट्ठ-असंसृष्ट-त्रि० । अन्यदीयपिण्डैः साहाऽमीलिते, बृ० २ उ० । अखरण्टिते, औ० ।

असंसट्ठचरय–असंसृष्टचरक–पुं० । असंसृष्टेन हस्तादिना दीयमानस्य ग्राहके, औ० ॥

असंसट्ठा–असंसृष्टा–स्त्री० । असंसृष्टेन हस्तेनाऽसंसृष्टेन च पात्रकेण[सावशेषं द्रव्यं] भिक्षां गृह्णतः साधोः प्रथमायां पिण्डैषणायाम्,प्रव० ६६ द्वार। स्था०। आ०चू०। नि०चू० ॥ आव०। आचा०।सूत्र०। ध०पञ्चा०।('लित्त' शब्देऽसंसृष्टायाः प्ररूपणम्)

असंसत्त–असंसक्त–त्रि० । असंमिलिते, उत्त० २ अ०। विशे०। अप्रतिबद्धे, दश० ८ अ०। असंबद्धे, उत्त० ३ अ०।

असंसय–असंशय–न० । निश्चिते, आ० २० द्वा० । निःसंदेहे, सू० १ उ०।

असंसार–असंसार–पुं० । न संसारोऽसंसारः । संसारप्रतिपक्षभूते मोक्षे, जी० १ प्रति०। संसाराभावे, द्वा० ११ द्वा०।

असंसारसमावण्ण–असंसारसमापन्न–पुं० । न संसारोऽसंसारो मोक्षस्तं समापन्नः असंसारसमापन्नः । मुक्ते, प्रज्ञा० १ पद। सिद्धे, स्था० २ ठा० १ उ०। जी० ॥

असक्क–अशक्य–त्रि० । कर्तुमपार्यमाणे, ध० । अशक्ये भावप्रतिपत्तिरिति। अशक्ये ज्ञानाचारादिविशेष एव कर्तुमपार्यमाणे कुतोऽपि धृतिसहननकालबलादिवैकल्याद्भावप्रतिपत्तिः–भावेनान्तःकरणेन प्रतिपत्तिरनुबन्धः; न पुनस्तत्र प्रवृत्तिरपि; अकालौत्सुक्यस्य तत्त्वत आर्तध्यानत्वादिति ; ध० १ अधि०।

असक्कय–असंस्कृत–त्रि० । न विद्यते संस्कृतं संस्कारो यस्य सोऽसंस्कृतः। अविद्यमानसंस्कारे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

असक्कयमसक्कय–असंस्कृतासंस्कृत–त्रि० । कर्मधारयः । मकारोऽलाक्षणिकः। अत्यन्तमसंस्कृते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

असक्कहा–असत्कथा–स्त्री० । अशोभनकथायाम्, दर्श०।

असक्किरिया–असत्क्रिया–स्त्री० । अशोभनायां चेष्टायाम, पञ्चा० ६ विव०।

असक्किरियारहिय–असत्क्रियारहित–त्रि० । क्षितपिहितादिद्वारेण जीवोपमर्दरूपाप्रशस्तव्यापाररहिते, पञ्चा० १३ विव०।

असगडा–अशकटा–स्त्री० । शकटैरुत्पथं नीतत्वात्स्वनामख्याते आभीरकन्यारत्ने, दश० ३ अ०। (तद्वृत्तं ' उवहाण ' शब्दे द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे उदाहरिष्यते)

असग्गह–असद्ग्रह–पुं० । अशोभनाभिनिवेशे आप्तवचनबाधितार्थपक्षपाते, पञ्चा०१ विव०। चारित्रवतोऽपि असद्ग्रहः संभवति, मतिमोहमाहात्म्यादिति । ध० २०।

असच्च–असत्य–न०। सत्यविपरीते, नास्ति जीव एकान्तसद्रूपो वेत्यादिकुविकल्पनपरे, पं० सं० १ द्वार। उत्त०। अलीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । असत्यं च महत्तमं पातकं यतो योगशास्त्रान्तरश्लोके–" एकत्राऽसत्यजं पापं, पापं निःशेषमन्यतः । द्वयोस्तुलाविधृतयो–राद्यमेवातिरिच्यते" ॥१॥ इति । ध० २ अधि०। प्रश्न०। आ० चू०।

असच्चमणजोग–असत्यमनोयोग–पुं० । कर्म० सं०। नास्ति जीव एकान्तसद्भूतो विभ्वव्यापीत्यादिकुविकल्पचिन्तनपरे मनोयोगे, कर्म० ४ कर्म० ॥

असच्चमोसमणजोग–असत्यामृषमनोयोग–पुं० । न विद्यते सत्यं यत्र सोऽसत्यः, न विद्यते मृषा यत्र सोऽमृषः । असत्यश्चासौ अमृषश्च; " कं नञादिभिर्वैः " । ३ । १ । १०५। इति कर्मधारयः। असत्यामृषश्चासौ मनोयोगश्चासत्यामृषमनोयोगः । मनोयोगभेदे, कर्म० ४ कर्म०।

असच्चरुइ–असत्यरुचि–पुं० । असत्ये मृषाभाषणे असंयमे वा रुचिर्यस्याऽसावसत्यरुचिः । असत्यं रोचयमाने; व्य० ३ उ०।

असच्चवइजोग–असत्यवाग्योग–पुं० ।वाग्योगभेदे, कर्म०४कर्म०॥

असच्चसंधत्तण–असत्यसंधत्व–न० । असत्यमलीकं संदधाति करोतीति असत्यसन्धः, तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् । मृषावादिनि गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

असच्चामोसा–असत्यामृषा–स्त्री० । यत्र सत्यं नापि मृषा, तत्र असत्यामृषा । वस्तुप्रतिषेधमन्तरेण स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरे–'अहो देवदत्त ! घटमानय, गां देहि मह्यम्' इत्यादिचिन्तनपरे भाषाभेदे, इदं हि स्वरूपमात्रपर्यालोचनपरत्वान्न यथोक्तलक्षणं सत्यं, नापि मृषा । पं० सं० १ द्वार। "जं णेव सच्चं, णेव मोसं, णेव सच्चमोसं–असच्चामोसं णाम, तं चउत्थं भासज्जातं " चतुर्थी भाषा–योच्यमाना न सत्या, नापि मृषा, नापि असत्यामृषा आमन्त्रणाऽऽज्ञापनादिका साऽसत्यामृषेति । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ०।

सांप्रतमसत्यामृषामाह–

आमंतणि आणवणी, जायणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य ॥ ४२ ॥

आमन्त्रणी, यथा–हे देवदत्त ! इत्यादि । एषा किलाप्रवर्त्तकत्वात् सत्यादिभाषात्रयलक्षणवियोगतस्तथाविधदलोत्पत्तेरसत्यामृषेति । एवमाज्ञापनी, यथा–इदं कुरु। इयमपि तस्य करणाकरणभावतः परमार्थेनैकत्राप्यनियमात्तथाप्रतीतेः अदुष्टविवक्षाप्रसूतत्वादसत्यामृषेति। एवं स्वबुद्ध्याऽन्यत्रापि भावना कार्येति। याचनी, यथा–भिक्षां प्रयच्छेति। तथा प्रच्छनी, यथा–कथमेतदिति ?। प्रज्ञापनी, यथा–हिंसादिप्रवृत्तो दुःखितादिर्भवति । प्रत्याख्यानी भाषा, यथा–अदित्सेति। भाषा इच्छानुलोमा च, यथा–केनाचित् कश्चिदुक्तः–साधुसकाशं गच्छाम इति । स आह–शोभनमिदमिति गाथाऽर्थः ॥ ४२ ॥

अणभिग्गहिआ भासा, भासा अ अभिग्गहम्मि बोधव्वा।
संसयकरणी भासा, वायड अव्वायडा चेव ॥४३॥

अनभिगृहीता भाषा–अर्थमनभिगृह्य योच्यते, डित्थादिवत् । भाषा चाभिग्रहे बोधव्या–अर्थमभिगृह्य योच्यते, घटादिवत् । तथा संशयकरणी च भाषा–अनेकार्थसाधारणा योच्यते, सैन्धवमित्यादिवत् । व्याकृता–स्पष्टा प्रकटार्था–देवदत्तस्यैष भ्रातेत्यादिवत् । अव्याकृता चैव अस्पष्टाऽप्रकटार्था–बालकादीनां थपनिकेत्यादिवदिति गाथार्थः । उक्ताऽसत्यामृषा । दश० ७ अ०।

असच्चोवाहिसच्च–असत्योपाधिसत्य–न० । सशब्दार्थत्वेनासत्या उपाधयो विशेषा वलयाङ्गुलीयकादयो यस्य सत्यस्य सर्वभेदानुयायिनः सुवर्णादिसामान्यात्मनस्तत् सत्यमसत्योपाधिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमभिधेयम् । सविशेषे सामान्ये, अन्ये त्वाहुः–यदसत्योपाधिसत्यं स शब्दार्थः इति । सम्म० १ काण्ड।

असज्जं-असजत्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति, " असज्जमित्थीसु चएज पूयणं " आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

असज्जमाण-असजत्-त्रि० । सङ्गमकुर्वति,उत्त० १४ अ० । "ते कामभोगेसु असज्जमाणा, माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा" ॥१४॥ उत्त० १४ अ० । "असज्जमाणो य परिव्वएज्जा" असज्जमानः सङ्गमकुर्वन् गृहपुत्रकलत्रादिषु परिव्रजेदुद्युक्तविहारी । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

असज्झ-असाध्य-त्रि० । अशक्ये, पिं० । अनिवर्त्तनीयस्वभावे, आ० म० द्वि० ।

असज्झाइय-अस्वाध्यायिक-न० । आ मर्यादया सिद्धान्तोक्तन्यायेन पठनम्-आध्यायः; सुष्ठु शोभन आध्यायः स्वाध्यायः; स एव स्वाध्यायिकम् । नास्ति स्वाध्यायो यत्र तदस्वाध्यायिकम् । रुधिरादौ स्वाध्यायाकरणहेतौ, प्रव० २६८ द्वार । न स्वाध्यायिकमस्वाध्यायिकम् । कारणे कार्योपचाराद् रुधिरादौ, ध० ३ अधि० ।

अस्वाध्याये स्वाध्यायो न कर्तव्यः—

णो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा असज्झाइए सज्झायं करित्तए; कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा सज्झाइए सज्झायं करित्तए ॥

अस्य व्याख्या-न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा अस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुम्; कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा स्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुमिति सूत्राक्षरसंस्कारः ॥

अधुना भाष्यप्रपञ्चः-

असज्झाइयं च दुविहं, आयसमुत्थं परसमुत्थं च ।
जं तत्थ परसमुत्थं, तं पंचविहं तु नायव्वं ॥

द्विविधं खल्वस्वाध्यायिकम् । तद् यथा-आत्मसमुत्थं, परसमुत्थम् । चशब्दश्चास्वाध्यायिकतया तुल्यकक्षतासंसूचकः । तत्र यत् परसमुत्थं तत् पञ्चविधं ज्ञातव्यम् ।

तानेव पञ्च प्रकारानाह-

संजमघाउप्पाए, सदेवए वुग्गहे य सारीरे ।
एएसु करेमाणे, आणाइय मो उ दिट्ठंतो ॥

संयमघाति संयमोपघातिकम्, औत्पातिकमुत्पातनिमित्तं, सदेवं देवताप्रयुक्तं, व्युद्ग्रहः,शरीरं च । एतेषु पञ्चस्वप्यस्वाध्यायिकेषु स्वाध्यायं कुर्वत्याज्ञादयः आज्ञाभङ्गादयो दोषाः,तथाऽऽज्ञां तीर्थकराणां यो भनक्ति, तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । अनवस्थयाऽन्येऽपि तथा करिष्यन्तीति, तत्रापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु, यथा वादी तथा कारी न भवतीति मिथ्यात्वं,तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु । विराधना द्विधा--संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमविराधना ज्ञानाचारविराधना । आत्मविराधनायामेवमुदाहरणम् ।

तदेवाह-

मेच्छभय घोसण निवे,दुग्गाणि अतीह मा विणस्सहिहा ।
फिडिया जे उ अतिगया, इयरा हय सेस निवदंमो ॥

"कस्स वि रण्णो मेच्छखंधावारो विसयं आगंतुं हणियकामो, तं भयं जाणित्ता रण्णा सविसए सकले वि घोसावियमित्थं-मेच्छखंधावारो आगंतुं विसयं हणिउकामो वट्टति, तुब्भे दुग्गाणि अतीह । तत्थ जेहिं रण्णो आणा कया, ते मेच्छभयातो फिडिआ, जेहिं न कया आणा, ते मेच्छेहिं लूसिआ मारिया य, जे वि तत्थ केइ परिमुक्का ते वि रण्णा दंडिया "।

अक्षरयोजना त्वेवम्-म्लेच्छभयमाकर्ण्य नृपेण (गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे) घोषणा कारिता । यथा-दुर्गाण्यतिगच्छथ, मा विनङ्क्ष्यथ, तत्र ये अतिगतास्ते म्लेच्छभयात् स्फिटिताः; इतरे हताः, कृतसर्वस्वापहाराश्च कृताः । येऽपि शेषाः कथमपि म्लेच्छभयविप्रमुक्तास्तेषामाज्ञाभङ्गकरणतो नृपेण दण्डः कृतः । व्य० ७ उ० ।

" क्षितिप्रतिष्ठितपुरे, जितशत्रुर्नराधिपः ।
स्वदेशे घोषितं तेना-गच्छति म्लेच्छभूपतौ ॥ १ ॥
त्यक्त्वा ग्रामपुरादीनि, दुर्गेषु स्थीयतां जनैः ।
ये राजवचसा दुर्ग-मारूढास्ते सुखं स्थिताः ॥ २ ॥
नारूढा ये पुनर्दुर्गं, म्लेच्छाद्यैस्ते विलुण्टिताः ।
आज्ञाभङ्गान्नृपेणापि, गतशेषं च दण्डिताः ॥ ३ ॥
अस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायाद्, दण्डः स्यादुभयादपि ।
देवताच्छलनेत्येकः, प्रायश्चित्तागमोऽपरः ॥ ४ ॥
इहलोके परस्मिंश्च, ज्ञानाद्यफलता भवेत् " । आ० क० ।

एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः-

राया इव तित्थयरो, जाणवया साहु घोसणं सुत्तं ।
मेच्छा य असज्झाओ, रयणधणाइं व नाणादी ॥

अत्र राजा इव तीर्थकरः,जानपदा इव साधवः,घोषणमिव सूत्रं, म्लेच्छा इव अस्वाध्यायः,रत्नधनानीव ज्ञानादीनि । तत्र ये साधवो जानपदस्थानीया राजस्थानीयस्य तीर्थकरस्याज्ञां नानुपालयन्ति,ते प्रान्तदेवतया छल्यन्ते,प्रायश्चित्तदण्डेन च दण्ड्यन्ते । व्य० ७ उ० । आ० क० ।

केन पुनः कारणेनाऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं करोति?,

तत आह-

थोवावसेसपोरिसि, अज्झयणं वा वि जो कुणइ सोउं ।
णाणाइसारहीण-स्स तस्स छलना उ संसारे ॥

स्तोकावशेषायामपि पौरुष्यामध्ययनं पाठ उद्देशो वाऽद्यापि समाप्तिं न नीत इति कृत्वा उद्घाटायामपि पौरुष्यामस्तमिते वा सूर्ये, अथवा अस्वाध्यायिकमिति श्रुत्वाऽपि योऽध्ययनं पाठम्, अपिशब्दादुद्देशनं च करोति,तस्य ज्ञानादित्रिकं तत्त्वतोऽपगतं, तीर्थकराऽऽज्ञाभङ्गकरणादिति । ज्ञानादित्रिकसारहीनस्य संसारे नरकादिभवभ्रमलक्षणे छलना भवति; अपारघोरसंसारे निपतनं भवतीति भावः ।

अत्रैव दृष्टान्तान्तरं समभिधित्सुराह-

अहवा दिट्ठंतियरो, जह रण्णो पंच केइ पुरिसा उ ।
दुग्गादी परितोसिउ, तेहि अ राया अह कयाइं ॥
तो देति तस्स राया, नगरम्मी इच्छियं पयारं तु ।
गाहिए य देइ मोल्लं, जणस्स आहारवत्थादी ॥
एगेण तोसियतरो, गिहेऽगिहे तस्स सव्वहिं विधरे ।
रत्थाइसुं चउण्हं, एविह सज्झाइए उवमा ॥

अथवेति दृष्टान्तस्य प्रकारान्तरसूचने । इतरो दृष्टान्तः । यथा-राज्ञः केचित्पञ्च पुरुषाः सेवकास्तैरथ कदाचिद् राजा दुर्गादिषु पतितो निस्तारितः, तत्रापि तेषां पञ्चानां मध्ये एकेन केनचित्परमसाध्वसमवलम्ब्य भूयस्तरं साहायिकमकारि, ततस्तेषां

तेनैकेन जितानां चतुर्णां राजा परितुष्टः सन् नगरे रथ्यादिषु गृहचर्य्यादिषु प्रचारमीप्सितं ददाति । यथा-'यत्किमपि रथ्यायामापणादिषु, त्रिकचतुष्कचत्वरादिषु वा यदेव वस्त्राहारादिकं प्राप्नुयात् युष्माकमेव'। एवं प्रसादे कृते वस्त्राहारादौ नगरादितः स्वेच्छया गृहीते, राजा यस्य सत्कं यद् गृहीतं,तस्य मूल्यं ददाति। येन चैकेन पुरुषेण भूयस्तरसाहायिकं कुर्वता राजा तोषिततरः, अस्य राजा गृहेऽगृहे वा सर्वत्र नगरमध्ये प्रचारमीप्सितं विरतिमन्तराऽनुजानाति । तत्रापि यस्य सत्कं तेन गृह्यते वस्त्राऽऽहारादि,तस्य मूल्यं राज्ञा दीयते । इतरेषां चतुर्णां रथ्याऽऽदिष्वेव प्रचारमनुज्ञातवान्, न गृहेषु । एवमुक्तेन प्रकारेण इह प्रस्तुतेऽस्वाध्यायिके उपमादृष्टान्तः । तदेवमुक्तो दृष्टान्तः ।

सम्प्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

पढमम्मि सव्वचेट्ठा, सज्झाओ वा वि वारितो नियमा ।
सेसेसु य सज्झाओ, चेट्ठा न निवारिआ अवगा ॥

प्रथमेऽस्वाध्यायिके संयमोपघातिलक्षणे, सर्वा कायिकी वाचिकी चेष्टा, स्वाध्यायश्च नियमाद्वारितः, तोषकतरपुरुषस्थानीयतया तस्य सर्वत्र साधुव्यापारेषु प्रवृत्तेः। शेषेषु पुनः चतुर्ष्वस्वाध्यायिकेषु, स्वाध्यायः, स्वाध्याय एव केवलो निवारितो, नान्या कायिकी वाचिकी वा प्रतिलेखनादिका चेष्टा वारिता, तेषां शेषपुरुषचतुष्टयस्थानीयानां बहिः रथ्यादाविव स्वाध्यायमात्र एव व्यापारत्वात् । तदेवं पञ्चस्वप्यऽस्वाध्यायिकेषु सामान्यतो विशेषतश्चोदाहरणमुक्तम् ।

इदानीं प्रथममस्वाध्यायिकं संयमोपघाति प्ररूपयति—

महिया य भिन्नवासो, सच्चित्तरए य संजमे तिविहे ।
दव्वे खेत्ते काले, जहियं वा जच्चिरं सव्वं ॥

महिका गर्भमासे पतन्ती प्रसिद्धा, तस्यां; तथा-गृहादौ यत्पतति वर्षं तद्भिन्नवर्षं, तस्मिन्, तथा सचित्तरजसि च, एवंविधे त्रिप्रकारे संयमे-एदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् संयमोपघातिनि अस्वाध्यायिके निपतति, द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च वर्जनं भवति । तत्र द्रव्यतः-एतदेव त्रिविधमस्वाध्यायिकं द्रव्यम् । क्षेत्रतो-(जहियं ति) यावति क्षेत्रे तत्पतति तावत् क्षेत्रम् । कालतो-(यच्चिरं ति) यावन्तं कालं पतति तावन्तं कालम् । भावतः-सर्वं कायिक्यादिचेष्टादिकं वर्ज्यते ।

एतामेव गाथां व्याख्यानयति—

महिया उ गब्भमासे, वासे पुण होंति तिन्नि उ पगारा ।
बुब्बुए तव्वज्जे फुसीए, सच्चित्तरजो य आयंबो ॥

महिका गर्भमासे प्रतीता । गर्भमासो नाम कार्तिकादिर्यावत् माघमासः । वर्षे पुनस्त्रयः प्रकारा भवन्ति । तानेवाह-(बुब्बुए त्ति) यत्र वर्षे निपतति पानीयमध्ये बुद्बुदाः तोयशलाकारूपाः उत्तिष्ठन्ति, ततो वर्षमप्युपचाराद् बुद्बुदमित्युच्यते । तद्वर्जं बुद्बुदवर्जं द्वितीयं वर्षम् , तृतीयं (फुसीए त्ति) जलस्पर्शिकानिपतन्त्यः, तत्र बुद्बुदे वार्यनिपतति यामाष्टकादूर्ध्वम् । अन्ये तु व्याचक्षते-त्रयाणां दिनानां परतः, तद्वर्जे पञ्चानां दिनानां जलस्पर्शिकारूपे सप्तानां परतः सर्वमप्कायस्पृष्टं भवति । ततस्तत्र द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च वर्जनं प्राग्वद्भावनीयम्, यावच्चाप्कायमयं न भवति, यावदुपाश्रयो निर्गलस्तत्र सर्वं स्वाध्यायप्रतिलेखनादि क्रियते, बहिस्तु निर्गम्यते इति । 'सच्चित्तरजो' नामव्यवहारसमन्विता वातोद्धता श्लक्ष्णधूलिः, तच्च सचित्तरजो वर्ज्यते,ततोऽस्यां गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । तच्च दिगन्तरेषु दृश्यते, तदपि निरन्तरपाते त्रयाणां दिनानां परतः सर्वपृथिवीकायभावितं करोति, तत्रापि पतितद्रव्यादितो वर्जनं प्राग्वत् ।

तदेव व्याख्यातुमाह—

दव्वे तं चिय दव्वं, खेत्ते जहियं तु जच्चिरं काले ।
ठाणादि भास भावे, मोत्तुं ऊसासउम्मेसं ॥

द्रव्ये द्रव्यतः-तदेवास्वाध्यायिकं माहिकं भिन्नवर्षं सचित्तरजो वा वर्ज्यते । क्षेत्रतो-यत्र क्षेत्रे निपतति, कालतो-यावच्चिरं कालं पतति, भावतो-मुक्त्वा उच्छ्वासमुन्मेषं च, तद्वर्जने जीवितव्याघातसंभवात् । शेषां स्थानादिकाम्,आदिशब्दाद् गमनागमनप्रतिलेखनादिपरिग्रहः । कायिकीं चेष्टां भाषां च वर्जयति ॥

वासत्ताणाऽऽवरिया, निक्कारण ठवंति कज्ज जयणाए ।
हत्थंगुलिसण्णाए, पोत्तावरिया व भासंति ॥

निष्कारणे कारणाभावे वर्षत्राणं कम्बलमयः कल्पः, तेन सौत्रिककल्पान्तरितेन सर्वात्मना आवृतास्तिष्ठन्ति, न कामपि चेष्टां कुर्वन्ति । कार्ये तु समापतिते यतनया हस्तसंज्ञया अङ्गुलिसंज्ञया च व्याहरन्ति । पोताऽऽवरिता वा भाषन्ते ग्लानादिप्रयोजने वर्षाकल्पाऽऽवृता गच्छन्ति । गतं संयमोपघात्यऽस्वाध्यायिकम् ।

इदानीमौत्पातिकमाह—

पंसुयमंसयरुहिरं-केससिलावुट्ठि तह रओघाए ।
मंसरुहिरेऽहरत्तं, अवसेसे जच्चिरं सुत्तं ॥

अत्र वृष्टिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । पांशुवृष्टौ, रुधिरवृष्टौ केशवृष्टौ, शिलावृष्टौ च । तत्र पांशुवृष्टिर्नाम यदि रजो निपतति, मांसवृष्टिर्मांसखण्डानि पतन्ति, रुधिरवृष्टिः-रुधिरबिन्दवः पतन्ति । केशवृष्टिर्यद्द्वारा केशाः पतन्ति, शिलावृष्टिः-पाषाणनिपतनं, करकादिशिलावर्षमित्यर्थः । तथा-रजउद्घाते रजस्वलासु दिक्षु सूत्रं न पठ्यते; शेषाः सर्वा अपि चेष्टाः क्रियन्ते । तत्र मांसे रुधिरे च पतति अहोरात्रं वर्ज्यते, अवशेषे पांशुवृष्ट्यादौ यावच्चिरं पांश्वादिपतनकालं, तावत् सूत्रं नन्द्यादिनं पठ्यते, शेषकालं तु पठ्यते ।

सम्प्रति पांशुरजउद्घातव्याख्यानमाह-

पंसू अ अचित्तरजो, रयोसलाओ दिसा रउग्घाते ।
तत्थ सवाते निव्वा-यए य सुत्तं परिहरंति ॥

पांशवो नाम धूमाकारमापाण्डुरमचित्तं रजः । रजउद्घातो रजस्वला दिशः, यासु सतीषु समन्ततोऽन्धकार इव दृश्यते, तत्र पांशुवृष्टौ, रजउद्घाते वा सवाते निर्वाते च पतति यावत्पतनं तावत्सूत्रं परिहरन्ति ॥

अत्रैवापवादमाह—

साभाविए तिन्नि दिणा, सुगिम्हए निक्खिवंति जइ जोगं ।
तो तम्मि पडंतम्मी, कुणंति संवच्छरऽज्झायं ॥

यदि सुग्रीष्मकालप्रारम्भ उष्णप्रारम्भे,चैत्रशुक्लपक्षे इत्यर्थः। दशम्याः परतो यावत् पौर्णमासी,अत्रान्तरे निरन्तरं त्रीणि दिनानि यावत् यदि योगं निक्षिपन्ति एकादश्यादिषु त्रयोदशीपर्यन्तेषु, यदि वा त्रयोदश्यादिषु पौर्णमासीपर्यन्तेषु अचित्तरजोऽवहेठ-

नार्थे कायोत्सर्गं कुर्वन्ति,तदा तस्मिन् पांशुवर्षे रजोद्घाते वा स्वाभाविके पतति,संवत्सरं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, इतरथा नेति । व्य० ७ उ० । "दसविहे ओरालिए असज्झाइए पण्णत्ते । तं जहा-अट्ठी मंसे सोणिए असुइसामंते मसाणसामंते चंदोवराए सूरोवराए पडणे रायवुग्गहे उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरे" । (स्था०) "दसविहे अंतलिक्खिए असज्झाइए पण्णत्ते । तं जहा-उक्कावाए दिसिदाहे गज्जिए विज्जुए निग्घाए जूयए जक्खालित्तए धूमिए महिया रज्जुग्घाए" । स्था० १० ठा० । आ० चू० । व्य० ।

इदानीं सदेवमाह-

गंधव्वदिसाविज्जुक्क-गज्जितए जूवजक्खदित्ते य ।
एक्केक्कपोरिसिं ग-ज्जियं तु दो पोरिसिं हणति ॥

गन्धर्वनगरं नाम यच्चक्रवर्त्यादिनगरस्योत्पातसूचनाय संध्यासमये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकाराट्टालकादिसंस्थितं दृश्यते (दिस त्ति) दिग्दाहः, विद्युत्प्रतीता,उल्का सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा, गर्जितं प्रतीतं, यूपको वक्ष्यमाणलक्षणः, यक्षदीप्तं नाम एकस्यां दिशि अन्तराऽन्तरा यद् दृश्यते विद्युत्सदृशः प्रकाशः । एतेषु मध्ये गन्धर्वनगरादिकमेकैकामेककां पौरुषीं च हन्ति, गर्जितं पुनर्द्वे पौरुष्यौ हन्ति ।

गंधव्वनगर नियमा, सदेवयं सेसगाणि भजिणीओ ।
जेण न नज्जंति फुडं, तेण य तेसिं तु परिहारो ॥

अत्र गन्धर्वनगरादिषु मध्ये गन्धर्वनगरं नियमात्सदेवकम,अन्यथा तस्याभावात् । शेषकाणि तु दिग्दाहादीनि भक्तानि विकल्पितानि, कदाचित् स्वाभाविकानि भवन्ति, कदाचित् देवकृतानि । तत्र स्वाभाविकेषु स्वाध्यायो न परिह्रियते किन्तु देवकृतेषु परम् । येन कारणेन स्फुटं वैविक्त्येन तानि न ज्ञायन्ते, तेन तेषामविशेषपरिहारः ।

सम्प्रति दिग्दाहादिव्याख्यानमाह-

दिसि दाह छिन्नमूलो, उक्क सरेहा पगासजुत्ता वा ।
संज्झच्छेयाऽऽवरणो, उ जूवओ सुक्कदिण तिन्नि ॥

दिशि पूर्वादिकायां छिन्नमूलो दाहः प्रज्वलनं दिग्दाहः । किमुक्तं भवति ?—अन्यतमस्यां दिशि महानगरप्रदीप्तमिवोपरि प्रकाशोऽधस्तादन्धकार इति दिग्दाहः । उल्का पृष्ठतः सरेखा, प्रकाशयुक्ता वा । यूपको नाम शुक्ले शुक्लपक्षे त्रीणि दिनानि यावत् द्वितीयस्यां तृतीयस्यां चतुर्थ्यां चेत्यर्थः । संध्याच्छेदः संध्याविभागः, स आव्रियते येन स संध्याच्छेदावरणश्चन्द्रः । इयमत्र भावना-शुक्लपक्षद्वितीयातृतीयाचतुर्थीरूपेषु त्रिषु दिनेषु संध्यागतश्चन्द्र इति कृत्वा संध्या न विभाव्यते, ततस्तानि शुक्लपक्षे त्रीणि दिनानि यावत् चन्द्रः संध्याच्छेदावरणः स यूपक इति । एतेषु च त्रिषु दिवसेषु प्रादोषिकी पौरुषी नास्ति, संध्याच्छेदादिभवनादिति ।

अत्रव मतान्तरमाह--

केसिंचि होंति मोहा, उ जूवओ ते तु होंति आइण्णा ।
जेसिं च अणाइन्ना, तेसिं खलु पोरिसी दोन्नि ॥

केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन ये भवन्ति शुक्लपक्षे प्रतिपदादिषु दिवसेषु मोघाः शुभाशुभसूचननिमित्ता विनष्टोत्पादा आदित्यकिरणविकारजनिता आदित्यस्योदयसमये अस्तमयसमये वा आताम्राः, कृष्णश्यामा वा 'यूपक इति' ते भवन्ति वर्तन्ते आचीर्णाः, नैतेषु स्वाध्यायः परिह्रियते इत्यर्थः । येषां त्वाचार्याणामनाचीर्णास्तेषां मतेन यूपको द्वे पौरुष्यौ हन्ति ।

न केवलममूनि सदेवानि, किन्त्वमून्यपि, तान्येवाह-

चंदिमसूरुपरागा, निग्घाए गुंजिते अहोरत्तं ।
चंद जहन्नेणऽट्ठ उ, उक्कोसा पोरिसि विउक्कं ॥
सूरो जहन्न वारस, उक्कोसं पोरिसीउ सोलसओ ।
सग्गह निव्वुड एवं, सूरादी जेणऽहोरत्ता ॥

चन्द्रोपरागे सूर्योपरागे च, तद्दिनापगते इति वाक्यशेषः । तथा-साभ्रे निरभ्रे वा न तासि व्यन्तरकृतो महागर्जितसमो ध्वनिर्निर्घातः । गर्जितस्यैव विकारो गुञ्जावत् गुञ्जमानो महाध्वनिर्गुञ्जितं, तस्मिन् निर्घाते गुञ्जिते च, प्रत्येकमहोरात्रं यावत् स्वाध्यायपरिहारः । तत्र जघन्यत उत्कर्षतश्च चन्द्रोपरागं सूर्योपरागं वाऽधिकृत्य स्वाध्यायोचितकालमानमाह-चन्द्रो जघन्येनाष्टौ पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः पौरुषीद्विषट्कमः द्वादश पौरुषीरित्यर्थः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-उद्गच्छन् चन्द्रमा राहुणा गृहीतस्ततश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति, चतस्र आगामिनो दिवसस्य, एवमष्टौ । द्वादश पुनरेवम्-प्रभातकाले चन्द्रमाः सग्रह एवास्तमुपगतः-ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति, चतस्र आगामिन्या रात्रेः, चतस्रो द्वितीयस्य दिवसस्य । अथवा-औत्पातिकग्रहणेन सर्वरात्रिकं ग्रहणं जातम्ःसग्रह एव निमग्नः,ततः संदूषितरात्रेश्चतस्रः पौरुषीः,अन्यच्चाहोरात्रम् । अथवा-अभ्रच्छन्नतया विशेषपरिज्ञानाभावाच्च न ज्ञातं-कस्यां वेलायां ग्रहणं?,प्रभाते च ग्रहो निमज्जन् दृष्टः,ततः समग्रगात्रिः परिहृता,अन्यच्चाहोरात्रमिति द्वादश । सूर्यो जघन्येन द्वादश पौरुषीर्हन्ति, उत्कर्षतः षोडश । कथमिति चेत् ? उच्यते-सूर्यः सग्रह एवास्तमुपगतश्चतस्रः पौरुषी रात्रेर्हन्ति,चतस्र आगामिनो दिवसस्य, चतस्रस्ततः परस्या रात्रेः,एवं द्वादश । षोडश पुनरेवम्-सूर्य उद्गच्छन् राहुणा गृहीतः सकलं च दिनं समुत्पातवशात्सग्रहः स्थित्वा सग्रह एवास्तमुपागतः । ततश्चतस्रः पौरुषीर्दिवसस्य हन्ति,चतस्र आगामिन्या रात्रेः,ततश्चतस्रः परदिवसस्य, ततोऽपि चतस्रः परतराया रात्रेः, एवं षोडश पौरुषीर्हन्ति, सग्रहनिमग्नः, सग्रह एवास्तमितः । तथा चोक्तम्-"एयं उग्गमछन्नं गहिए सग्गहनिव्वुमे दट्ठव्वमिति" । (सूरादी जेणऽहोरत्त त्ति) सूर्यादयो येनाहोरात्राः ।

ततः किमित्याह-

आइन्नं दिणमुक्के, सो च्चिय दिवसो य राती य ।
निग्घायगुंजएसुं, सो च्चिय वेला उ जा पत्ता ॥

यतः सूर्यादिरहोरात्रः,ततो दिनमुक्ते सूर्ये-स एव दिवसः, सैव च रात्रिः स्वाध्यायिकतया परिह्रियते । चन्द्रे तु तस्यामेव रात्रौ मुक्ते यावदपरश्चन्द्रो नोदेति, तावदस्वाध्यायः, इति सैव रात्रिः, अपरं च दिनमिति, एवमहोरात्रमस्वाध्यायः । अन्ये पुनराहुराचीर्णमिदम्-चन्द्रो रात्रौ गृहीतो रात्रावेव मुक्तः, तस्या एव रात्रेः शेषं वर्जनीयं यस्मादागामिसूर्योदये समाप्तिरहोरात्रस्य जाता । सूर्योऽपि यदि दिवा गृहीतो दिवैव मुक्तस्तस्यैव दिवसस्य शेषं, रात्रिश्च वर्जनीया इति । तथा-निर्घातगुञ्जितयोः प्रत्येकमः यस्यां वेलायां निर्घातो गुञ्जितं वाऽभिकृते दिने भवेत्, द्वितीयेऽपि दिने यावत्सैव वेला प्राप्ता भवति तावदस्वाध्याय एव । तयोरप्यस्वाध्यायस्याहोरात्रप्रमाणत्वात् ।

उक्तं च-निर्घातो गुञ्जितं च लोकप्रतीतौ, "एए अहोरत्तं उवहणंति त्ति"।

तथा-

चउसंझासु न कीरइ, पाडिवएसुं तहेव चउसुं पि ।
जो जत्थ पूजती तं, सव्वेहि सुगिम्हतो नियमा ॥

चतस्रः सन्ध्याः, तिस्रो रात्रौ। तद्यथा-प्रस्थिते सूर्ये, अर्धरात्रे, प्रभाते च;चतुर्थी दिवसस्य मध्यभागे। एतासु चतसृष्वपि स्वाध्यायो न क्रियते । शेषक्रियाणां तु प्रतिलेखनाऽऽदीनां न प्रतिषेधः। स्वाध्यायकरणे चाऽऽज्ञाभङ्गादयो दोषाः। तथा-चतस्रः प्रतिपदः। तद्यथा-आषाढपौर्णमासीप्रतिपत्, अश्वयुक्पौर्णमासीप्रतिपत्, कार्तिकपौर्णमासीप्रतिपत्, सुग्रीष्मप्रतिपत्,चैत्रमासपौर्णमासीप्रतिपदित्यर्थः ४। एतास्वपि चतसृष्वपि प्रतिपत्सु तथैव-स्वाध्याय एव न क्रियते,न शेषक्रियाणां प्रतिषेधः। इह प्रतिपद्ग्रहणेन प्रतिपत्पर्यन्ताश्चत्वारो महाः सूचिता इति;एषां चतुर्णां महानां मध्ये यो महो यस्मिन् देशे यतो दिवसादारभ्य यावन्तं कालं पूर्यते तस्मिन् देशे ततो दिवसादारभ्य तावन्तं कालं स्वाध्यायं न कुर्वन्ति। यत्पुनः सर्वेषां पर्यन्तः "सव्वेसिं जाव पाडिवतो" इति वचनात् सुग्रीष्मकश्चैत्रमासभावी पुनर्महामहः सर्वेषु देशेषु शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य चैत्रपूर्णमासीप्रतिपत्पर्यन्तो नियमात् प्रसिद्धः, ततो यद्व्याख्यानं प्रतिपदस्तथापि चैत्रमासस्य शुक्लपक्षप्रतिपद आरभ्य सर्वं पक्षं पौर्णमासीप्रतिपत्पर्यन्तं यावदवश्यमनागाढो योगो निक्षिप्यते,शेषेषु आगाढादिकेषु योगो न निक्षिप्यते, केचन स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । गतं सदेवमस्वाध्यायिकम् । व्य० ७ उ० । ग० ।

"णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करेत्तए। तं जहा-आसाढपाडिवए, इंदपाडिवए, कत्तिअपाडिवए, सुगिम्हपाडिवए । णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए। तं जहा-पढमाए पच्छिमाए मज्झण्हे अड्ढरत्ते। कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउक्कालं सज्झायं करेत्तए । पुव्वण्हे अवरण्हे पओसे पच्चूसे।" स्था० ४ ठा० २ उ० ।

इदानीं व्युद्ग्रहजमाह-

वुग्गह दंडियमादी, संखोभे दंडिए य कालगते ।
अणरायए य सभए, जच्चिरमनिदोच्चऽहोरत्तं ॥

व्युद्ग्रहे परस्परविग्रहे दण्डिकादीनाम्,आदिशब्दात्सेनापत्यादीनां च परस्परं विग्रहे अस्वाध्यायः। इयमत्र भावना-द्वौ दण्डिकौ सस्कन्धावारौ परस्परं संग्रामं कर्तुकामौ यावन्नोपशाम्यतस्तावत्स्वाध्यायः कर्तुं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-तत्र वाणमन्तराः कौतुकेन स्वस्वपक्षेण समागच्छन्ति,ते छलयेयुः, भूयसां च लोकानामप्रीतिः-वयमेवं भीता वर्तामहे, कामप्यापदं प्राप्स्यामः, एते च श्रमणका निर्दुःखं पठन्ति।

अत्राऽऽदिशब्दव्याख्यानार्थमिमां गाथामाह-

सेणाहिवभोइयमह-यरपुंसित्थीण मल्लजुद्धे वा ।
लोट्ठादिभंडणे वा, गुज्झगउड्डाह अचियत्तं ॥

द्वयोः सेनाधिपत्योर्द्वयोर्वा तथाविधप्रसिद्धिपात्रयोः, तयोः परस्परं व्युद्ग्रहे वर्तमाने,अथवा मल्लयुद्धे, तथा-द्वयोः ग्रामयोः परस्परं सकलुषभावे महत्तरतरुणाः परस्परं लोष्टैर्युध्यन्त, ततो यष्टिभिर्वा लोष्टादिभिर्वा परस्परं भण्डने कलहे यावन्नोपशमो भवति सेनाधिपादिव्युद्ग्रहस्य तावदस्वाध्यायः। अत्र कारणमाह-(गुज्झगउड्डाह अचियत्तं) गुह्यकाः कौतुकेन प्रेक्षमाणाश्छलयेयुः,तथा बहुजनो 'निर्दुःखा एते' इति मन्यमानोऽप्रीत्योड्डाहं कुर्यात्-'लोकोपचारबाह्या एते' इति। तथा-दण्डिके कालगते (अणराए त्ति) यावदन्यो राजा नाभिषिक्तो भवति तावत्प्रजानां महान् संक्षोभो भवति, तस्मिन्संक्षोभे सति स्वाध्यायो न कल्पते। किमुक्तं भवति?-यावत्संक्षोभस्तावदस्वाध्यायः। अत्रापि पूर्वोक्ता दोषाः। सभयं म्लेच्छादिभयाकुलं,तस्मिन्नपि स्वाध्यायो न कर्तव्यः । एतेषु व्युद्ग्रहादिष्वस्वाध्यायविधिमाह-(जच्चिरमनिदोच्चऽहोरत्तं)व्युद्ग्रहादिषु यच्चिरं यावन्तं कालम्,(अनिदोच्च त्ति) अनिर्भयमस्वस्थमित्यर्थः। तावन्तं कालमस्वाध्यायः।स्वस्थभवनानन्तरमप्येकमहोरात्रं परिहृत्य स्वाध्यायः कर्तव्यः ।

उक्तं च-

" निद्दोसीभूते वि अ-होरत्तमो परिहरित्ता उ ।
सज्झाओ कीरइ इह, संखोभे दंडिए य कालगए " ॥

अनेनैतदपि सूचितमस्ति ततस्तदभिधित्सुः " संखोभे दंडिए" इत्येतदपि व्याख्यानयति—

दंडिएँ कालगयम्मी, जा संखोभो न कीरते ताव ।
तद्दिवस भोइमहतर-वामगपतिसेज्जयरमादी ॥

दण्डिके कालगते सति यावत्संक्षोभस्तावत्स्वाध्यायो न क्रियते, अन्यस्मिंस्तु सुराज्ञि स्थापितेऽहोरात्रातिक्रमेण क्रियते,स्वास्थ्यभवनात्। तथा-भोजिके ग्रामस्वामिनि,महत्तरिके ग्रामप्रधाने,वाटकपतौ वसत्यनुरते वाटकैकस्वामिनि, तथा-शय्यातरे, आदिशब्दादन्यस्मिन्वा शय्यातरसंबन्धिनि मानुषे कालगते, तद्दिवसमस्वाध्यायः, एकमहोरात्रं यावत्स्वाध्यायपरिहार इत्यर्थः।

तथा--

पगएँ बहुपक्खिए वा, सत्तघरंतर मते य तद्दिवसं ।
निद्दुक्ख त्ति य गरिहं, न पढंति सणीयगं वा वि ॥

अन्योऽपि यो नाम ग्रामे प्रकृतेऽधिकृतो महामनुष्यः, तस्मिन्; यदि वा-बहुपाक्षिके बहुस्वजने कालगते, अन्यस्मिन्वा प्राकृते स्ववसत्यपेक्षया सप्तगृहाभ्यन्तरे कालगते तद्दिवसमेकमहोरात्रमस्वाध्यायः। किं कारणमत आह-'निर्दुःखा अमी' इत्यप्रीत्या गर्हणसंभवात्, ततो न पठन्ति। अथवा-तथा पठन्ति यथा न कोऽपि शृणोतीति । महिलारुदितशब्दोऽपि यावत् श्रूयते तावच्च पठन्ति ॥

हत्थसयमणाहम्मी, जइ सारियमादितो विगिंचिज्जा ।
तो सुद्धं अविविंत्ते, अन्नं वसहिं वि मग्गंति ॥

कोऽप्यनाथो हस्तशताभ्यन्तरे मृतः,तस्मिन्ननाथे हस्तशताभ्यन्तरे कालगते स्वाध्यायो न क्रियते। तत्रेत्थं यतना-शय्यातरस्य वा, तथाविधस्य श्रावकस्य वा भद्रकस्य वार्त्ता कथ्यते-यथा स्वाध्यायान्तरायमस्माकमनाथमृतकेन कृतमस्ति, ततः सुन्दरं भवति यदीदं त्यज्यते। एवमभ्यर्थितो यदि शय्यातरादिर्विगिञ्चयेत् परिष्ठापयेत्,ततः शुद्धं भवतीति स्वाध्यायः कार्यः। अथ न शय्यातरादिर्न कोऽपि परिष्ठापयितुमिच्छति तदा तस्मिन्ननाथे मृतके अविविक्ते अपरिष्ठापिते अन्यां वसतिं मार्गयन्ति ।

अण्णवसहीऍ असती, ताहे रत्तिं वसभा विवेचंति ।
विक्खिन्ने व समंता, जं दिट्ठ अराढए सुद्धा ॥

अन्यस्या वसतेरभावो यदि, ततो रात्रौ सागरिकासंलोके वृषभास्तदनाथमृतकं विविञ्चन्ति,अन्यत्र प्रक्षिपन्ति । अथ तत्कलेवरं च शृगालादिभिः समन्ततो विकीर्ण,ततो विकीर्णे तस्मिन्समन्ततो निभालयन्ति,तत्र यद् दृष्टं तत्सर्वमपि विविचन्ति। इतरस्मिंस्तु प्रयत्ने कृतेऽप्यदृष्टे 'अराढा' इति कृत्वा शुद्धाः स्वाध्यायं कुर्वन्तोऽपि न प्रायश्चित्तभागिन इति भावः। गतं व्युद्ग्रहजम् ।

इदानीं शारीरिकमाह-

सारीरं पि य दुविहं, माणुसतेरिच्छियं समासेण ।
तेरिच्छं तत्थ तिहा, जलथलखहजं पुणो चउद्धा ॥

शरीरे भवं शारीरं,तदपि समासेन संक्षेपतो द्विविधं द्विप्रकारम्। तद्यथा-मानुषं तैरश्चं च। तत्र तैरश्चं त्रिधा-जलजं जलमत्स्यादितिर्यग्भवम्, एवं गवादीनां स्थलजं, खजं मयूरादीनाम्। पुनरेकैकं चतुर्द्धा-चतुःप्रकारः ।

तानेव प्रकारानाह--

चम्म रुहिरं च मंसं, अट्ठिं पि य होइ चउविगप्पं तु ।
अहवा दव्वाईयं, चउव्विहं होइ नायव्वं ॥

चर्म शोणितं रुधिरं मांसमस्थि इत्येतानि प्रतीतानि। एवमेकैकं जलजादि चतुर्विकल्पं भवति। अथवा-जलजादिकं प्रत्येकं चर्मादिभेदतश्चतुर्विकल्पं सत्पुनर्द्रव्यादिकं द्रव्यादिभेदतश्चतुर्विधं भवति ज्ञातव्यम् ।

तानेव प्रत्येकं द्रव्यादीन् चतुरो भेदानाह-

पंचिंदियाण दव्वे, खित्ते सट्ठिहत्थ पोग्गलाकिसे ।
तिकुरत्थंतरिए वा, नगरे वाहिं तु गामस्स ॥

द्रव्ये-द्रव्यतः पञ्चेन्द्रियाणां जलजादीनां चतुष्टयमस्वाध्यायिकं,न विकलेन्द्रियाणाम्। क्षेत्रे-क्षेत्रतः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे परिहरणीयं,न परतः। अथ तत्स्थानं तैरश्चेन पौद्गलेन मांसेन समन्ततः काककुर्कुराऽऽदिभिर्व्याक्षिप्तेनाऽऽकीर्ण व्याप्तं, तदा यदि संभ्रमस्तर्हि तस्मिन् तिसृभिः कुरथ्याभिरन्तरिते विकीर्णे पुद्गले स्वाध्यायः क्रियते। अथवा-नगरे,तदा तत्र यस्यां राजा सबलवाहनो गच्छति,देवयानं,रथो वा,विविधानि वा संवाहनानि गच्छन्ति, तया महत्याऽप्येकया रथ्यया अन्तरिते स्वाध्यायः कार्यः। अथ स ग्रामः समस्तोऽपि विकीर्णेन पौद्गलेनाकीर्णो विद्यते, न तिसृभिः कुरथ्याभिरन्तरितं तत् पौद्गलमवाप्यते, तदा ग्रामस्य बहिः स्वाध्यायो विधेयः। गता क्षेत्रतो मार्गणा।

संप्रति कालतो भावतश्च तामाह—

काले तिपोरिसि अट्ठ व, भावे सुत्तं तु नंदिमादीयं ।
बहिधोयरद्धपक्के, वूढे वा होति सुद्धं तु ॥

तत एकैकं जलजादि गतं चर्मादि कालतस्तिस्रः पौरुषीर्हन्ति। (अट्ठ वेति) यत्र महाकायपञ्चेन्द्रियस्य मूषिकादेराहननं तत्राष्टौ पौरुषीर्यावत्स्वाध्यायविघातः । गता कालतोऽपि मार्गणा। भावत आह-भावतो नन्द्यादिकं सूत्रं न पठति (बहिधोयत्यादि) यदि षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिः प्रक्षाल्य मांसमानीतं, यदि वा राद्धा स्थाली पाकेन, तदा तस्मिन् बहिर्धौते बहीं राद्धे बहिः पक्के वा तत्रानीते शुद्धम्, अस्वाध्यायिकं न भवतीति भावः। अथवा-यत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतितमस्वाध्यायिकं रुधिरं, तेनावकाशेन पानीयप्रवाह आगतः,तेन व्यूढं, तदा पौरुषीत्रयमध्येऽपि शुद्धमस्वाध्यायिकमिति स्वाध्यायः कार्यः ।

अंतो पुण सट्ठीणं, धोयम्मी अवयवा तहिं होंति ।
तो तिन्नि पोरिसीओ, परिहरियव्वा तहिं हुंति ॥

यदि पुनः षष्टिहस्तानामभ्यन्तरे मांसं प्रक्षालयति तदा तस्मिन् धौते यतस्तत्र नियमादवयवाः पतिता भवन्ति, ततस्तिस्रः पौरुष्यः स्वाध्यायमधिकृत्य तत्र परिहर्तव्या भवन्ति ।

'अट्ठ वा' इति यदुक्तं तदिदानीं भावयति-

महकाये ऽहोरत्तं, मंजारादीण मूसगादि हते ।
अविभिन्ने गिलिते वा, पढंति एगे जइ पलाति ॥

महाकाये मूषिकादौ मार्जारादिना हते मारिते अहोरात्रमष्टौ पौरुषीर्यावद्ऽस्वाध्यायः। अत्रैव मतान्तरमाह-(अविभिन्ने इत्यादि)एके प्राहुः-यदि मार्जारादिना मूषिकादिरविभिन्न एव सन् मारितो मारयित्वा च गृहीत्वा,अथवा गिलित्वा ततः स्थानात्पलायते, तदा पठन्ति साधवः सूत्रं, न कश्चिद्दोषः। अन्ये नेच्छन्ति-यतः कस्तं जानाति अविभिन्नो भिन्नो वा मारित इति। अपरे एवमाहुः-यत्र मार्जारादिः स्वयं मृतोऽन्येन वा केनाप्यविभिन्न एव सन् मारितस्तत्र यावत्कलेवरं न भिद्यते तावन्नाऽस्वाध्यायिकम्,विभिन्ने अस्वाध्यायिकमिति। तदेतदसमीचीनम्। यतश्च कर्मादिभेदतश्चतुर्विधमस्वाध्यायिकं, तस्मादविभिन्नोऽप्यस्वाध्यायिकम्-तस्मादविभिन्नेऽप्यस्वाध्याय एव ।

अंतो बाहं च भिन्ने, अंमयबिंदू तहा वियाताए ।
रायपहवूढसुद्धे, परवयणे साणमादीणि ॥

अन्तरुपाश्रयमध्ये, यदि वोपाश्रयाद् बहिः षष्टिहस्ताभ्यन्तरे अण्डके पतिते यदि तदण्डकमभिन्नमद्याप्यस्ति,तदा तस्मिन्नुज्झिते स्वाध्यायः कल्पते। अथवा-पतितं सत् तदण्डकं भिन्नं-तस्य वाऽण्डकस्य कललबिन्दुर्भूमौ पतितः, तदा भिन्ने अण्डके, बिन्दौ च भूमौ पतिते न कल्पते स्वाध्यायः। अथ कललं पतितं सदण्डकं भिन्नं कलिलबिन्दुर्वा तत्र लग्नः, तदा तस्मिन् षष्टिहस्तेभ्यः परतो बहिर्नीत्वा धौते कल्पते। तथा-विजातायां प्रसूतायां तैरश्चामस्वाध्यायः पौरुषीत्रितयं यावत्। तथा-ये राजपथे अस्वाध्यायिकबिन्दवो गलितास्ते न गण्यन्ते। तथाऽन्यत्र प्रतिपतित एवास्वाध्यायिकम्, ततो वर्षोदकप्रवाहेण तस्मिन् व्यूढे कल्पते। अत्र श्वादिकमाश्रित्य परस्य वचनं, तदग्रे भावयिष्यते। इति गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुरिदमाह-

अंडयमुज्झियकप्पे, न य भूमि खणंति इहरहा तिन्नि ।
असज्झाइयपरिमाणं, मच्छियपाया जहिं खुप्पे ॥

यद्यण्डकमभिन्नमेव पतितं, तदा तस्मिन्नुज्झिते स्वाध्यायः कल्पते, अथ भिन्नं तदा न कल्पते। न च भूमिं खनन्ति, इतरथा भूमिखननेन यदि तदस्वाध्यायिकमपनयन्ति तथाऽपि तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः। अण्डकबिन्दुरस्वाध्यायिकस्य प्रमाणं, यत्र मक्षिकापादा निमज्जन्ति। किमुक्तं भवति?-यावन्मात्रे मक्षिकापादा बुडन्ति तावन्मात्रेऽप्यण्डकबिन्दौ भूमौ पतति सति अस्वाध्यायः।

अधुना 'तिर्यातप' इति व्याख्यानार्थमाह-

अजराउ तिन्नि पोरिसि, जराउयाणं जरे पमिएँ तिन्नि ।
निज्जंतुवस्सपुरतो, गलियज्जति निग्गलं होज्जा ॥

अजरायुप्रसूतास्तिस्रः पौरुषीः स्वाध्यायं घ्नन्ति अहोरात्रच्छेदं मुक्त्वा, अहोरात्रे तु छिन्ने आसन्नायामपि प्रसूतायां कल्पते स्वाध्यायः, जरायुजानां यावज्जरायुर्लम्बते तावदस्वाध्यायः, जरायौ पतितेऽपि सति तदनन्तरं तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः। तथा-उपाश्रयस्य पुरतो नीयमानं तदस्वाध्यायिकं गलितं भवति, तदा पौरुषीत्रयमस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गलं भवेत्तदा तस्मिन्नीते स्वाध्यायः ।

"रायपह बूढे" इति व्याख्यानार्थमाह-

रायपहे न गणिज्जति, अह पुण असुत्थ पोरिसी तिन्नि ।
अह पुण वूढं हुस्सा, वासोदेणं ततो सुद्धं ॥

राजपथे यद्यस्वाध्यायिकबिन्दवो गलितास्तदा तदस्वाध्यायिकं न गण्यते। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-यतस्ततः स्वयोग्यत आगच्छतां गच्छतां च मनुष्यतिरश्चां पदनिपातैरवोत्क्षिप्तं भवति। जिनाज्ञा चात्र प्रमाणमतो न दोषः। अतः पुनस्तदस्वाध्यायिकं तैरश्चं राजपथादन्यत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतति तदा तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः। अथ तदपि वर्षोदकेन व्यूढं भवेत्, उपलक्षणमेतत्-प्रदीपनकेन च दग्धं, तदा शुद्धं तत्स्थानमिति कल्पते स्वाध्यायः ।।

संप्रति " परवयणे साणमादीण " इति व्याख्यानयति-

चोदेति समुद्दिसिउं, सा जो जइ पोग्गलं तु पज्जाहि ।
उदरगतेणं चिट्टइ, जा ताव उ हो असज्झाओ ॥

अत्र परश्चोदयति-श्वा यदि पौद्गलं तैरश्चं मांसं बहिः समुद्दिश्य (निगाल्य) तत्रागच्छेत्, तर्हि यावत्स तत्र तिष्ठति तावत्तेनोदरगतेन पौद्गलेन अस्वाध्यायः कस्मान्न भवति ?।

सूरिराह—

भष्मति जइ ते एवं, सज्झाओ एव तो उ नत्थि तुहं।
असज्झाइयस्स जेणं, पुष्णोसि तुमं सयाकालं ॥

भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते-यदि ते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मतिः, ततस्तव स्वाध्यायः कदाचनापि नास्त्येव। एवकारो भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजितः। कस्मान्न स्वाध्यायः कदाचनापीति ?, अत आह-येन कारणेन सदाकालं सर्वकालं त्वमस्वाध्यायिकस्य पूर्णः, शरीरस्य रुधिरादिचतुष्टयात्मकत्वात् ।

जइ फुसती तहिँ तुंमं, जइ वा लेढारिएण संचिट्ठे ।
इहरा न होति चोयग, वंतं तं परिणयं जम्हा ॥

यदि श्वा खरण्टेन मुखेन तत्रागत्याऽऽस्मीयं तुण्डं क्वापि स्पृशति । यदि वा खरण्टितेनैव मुखेन संतिष्ठते,तदा भवत्यस्वाध्यायः, इतरथा यदि पुनर्बहिरेव मुखं लीढ्वा समागच्छति तदा न भवति। तथा-यद्यप्यागत्वा वमति, तथापि चोदक ! नास्वाध्यायिकम्, यस्मात्तद् वान्तं परिणतम्। एवं मार्जारादिकमप्यधिकृत्य भावनीयम् । गतं तैरश्चम् ।

अधुना मानुषमाह—

माणुस्सगं चउद्धा, अट्ठिं मुत्तूण सयमहोरत्तं ।
परियावण्णविवण्णा, सेसे तिग सत्त वऽट्ठे वा ॥

मानुष्यकं मानुषमस्वाध्यायिकं चतुर्धा। तद् यथा-चर्म,रुधिरं, मांसमस्थि च। एतेष्वस्थि मुक्त्वा शेषेषु सत्सु क्षेत्रतो हस्तशताभ्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः। कालतोऽहोरात्रम् । (परियावण्णविवण्ण त्ति) मानुषं तैरश्चं वा यद् रुधिरं तद् यदि पर्यापन्नं तेन स्वभाववर्णाद्विवर्णीभूतं भवति खादिरसारसमाससारादिरूपं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति क्रियते, तस्मिन् पतितेऽपि स्वाध्यायः । (सेस त्ति) पर्यापन्नं विवर्णं मुक्त्वा शेषे स्वाध्यायिकं भवति । (तिग त्ति) यत् अविरताया मासे मासे आर्तवमस्वाध्यायिकमागच्छति तत्स्वभावतस्त्रीणि दिनानि यावदस्वाध्यायः । त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चित् गलति, परं तदार्तवं न भवति, किं तु तन्महारक्तं नियमात्पर्यापन्नं विवर्णं भवतीति नाऽस्वाध्यायिकं गण्यते। तथा-यदि प्रसूताया दारको जातस्तदा सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अष्टमे च दिवसे स्वाध्यायः कर्तव्यः । अथ दारिका जाता तर्हि सा रक्तोत्कटेति, तस्यां जातायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वाध्यायः कल्पते ।

एतमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह—

रत्तुक्कमए इत्थी, अट्ठ दिणा तेण सत्त सुक्कऽहिए ।
तिण्ह दिणाण परेणं, अणाउयंतं महारत्तं ॥

निषेककाले यदि रक्तोत्कटता, तदा स्त्री इति, तस्यां जातायां दिनान्यष्टावस्वाध्यायः । दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते सप्त दिनान्यस्वाध्यायः। तथा-स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्तन्महारक्तमनार्तवं भवति, ततो न गणनीयम् ।

दंते दिट्ठे विगिंचण, सेसऽट्ठिग बारसे न वासाइं ।
झामित वूढे सीया-ण पाणमादीण रुद्दघरे ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां दन्तः पतितो भवति तत्र निभालनीयं,यदि दृश्यते तदा परिष्ठाप्यः। अथ सम्यग्मृगयमाणैरपि न दृष्टस्तदा शुद्धमिति कल्पते स्वाध्यायः । अन्ये तु ब्रुवते-तस्य अवहेलनार्थं कायोत्सर्गः करणीयः। दन्तं मुक्त्वा शेषाङ्गोपाङ्गादिसंबन्ध्यन्यस्थिनि हस्तशताभ्यन्तरे पतिते द्वादश वर्षाणि न कल्पते स्वाध्यायः। अथ तत्स्थानमग्निकायेन ध्यामितं, पानीयेन वा व्यूढं,तदा शुद्धमिति, ध्यामिते व्यूढे वा स्वाध्यायः कल्पते। तथा-(सीयाण त्ति) श्मशाने यानि कलेवराणि दग्धानि तान्यस्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाथकलेवराणि न दग्धानि, निखातीकृतानि वा तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्यायं घ्नन्ति । यद्यपि च नाम श्मशानं वर्षोदकेन प्रव्यूढं, तथापि तत्र न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिबहुलत्वात्। (पाणमादीण त्ति) पाणनामाऽऽडम्बरो नाम यक्षो हिरमिक्कापरनामा दैवतं, तस्याऽऽयतनस्याधस्ताद् मानुषाण्यस्थीनि निक्षिप्यन्ते-ततस्तत्र, तथा-मातृगृहे चामुण्डायतने, रुद्रगृहे वाऽधस्ताद् मानुषं कपालं निक्षिप्यते । ततस्तयोरपि द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह-

सीयाणे जं दड्ढं, न तं तु मुत्तूणऽणाहनिहयाइं ।
आडंबर रुद्दमादी-घरेसु हेट्ठऽट्ठिया बारा ॥

श्मशाने यत् दग्धमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न भवति। तन्मुक्त्वा, शेषाणि यानि न दग्धानि,निखातानि वा,तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्यायं घ्नन्ति । तथा-आडम्बरे आडम्बरयक्षायतने,रुद्रे

रुद्रायतने मातृगृहेषु आडम्बरादीनामधस्तादस्थीनि सन्ति, तेन कारणेन तत्र द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः।

असिवोमघायणेसुं, बारस अविसोहियम्मि न करेंति ।
झामिय वूढे कीरइ, आवासियसोहिए चेव ॥

यत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशिवेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशितः,यदि वा-अवमौदर्येण प्रभूतो जनो मृतो, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु भूयान् जनो मारयित्वा निक्षिप्तो वर्तते । एतेष्वशिवावमौदर्याघातनस्थानेषु पूर्वं विशोधनं क्रियते, विशोधने च क्रियमाणे यद् दृष्टं तत्परित्यज्यते । अदृष्टविषये च देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठन्ति । अथ न क्रियते विशोधनं, ततस्तस्मिन्नविशोधिते द्वादश वर्षाणि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति । अथ तत् अशिवादिस्थानमग्निकायेन ध्यामितं,वर्षोदकेन वा प्लावितं, तदा क्रियते तत्र स्वाध्यायः (आवासियसोहिए चेव त्ति) श्मशानं यदि भूयोजनैरावासितं ततस्तस्मिन्नावासिते शोधनं क्रियते, यद् दृश्यते तत् विविच्यते। एवं शोधिते तस्मिन् अदृष्टाद्युपघाताय देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

महरग्गामपयम्मी, न करेंती जा न नीसियं होति ।
पुरगामे च महंते, वाडअसाहिं परिहरंति ॥

दहरके क्षुल्लके ग्रामे कोऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न क्रियते यावत् कलेवरं न निष्काशितं भवति । पुरे पत्तने महति वा ग्रामे वाटके साहौ वा यदि मृतो भवति तदा तं वाटकं साहिं वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति ?, तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्तद्वाटकात् साहीतो वा निष्काशितं भवति, वाटकात् साहीतोऽन्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

जइ य उवस्सयपुरतो, नीइज्जइ तं महल्लयं ताहे ।
हत्थसयंतो जावउ, तावउ न करेंति सज्झायं ॥

यदि तत् कलेवरं मृतकं नीयमानं संयतानामुपाश्रयस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरेण नीयते, ततो यावत् हस्तशतान्तो हस्तशतं व्यतिक्रम्यते, तावन्न कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, हस्तशतं व्युत्क्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

कोवी तत्थ भणेज्जा, पुप्फादी जाव तत्थ परिसाडी ।
जा दीसंती तावउ, न कीरए तत्थ सज्झाओ ॥

कोऽपि तत्र ब्रूयात्-या तत्र मृतके नीयमाने पुष्पादीनाम,आदिशब्दात् जीर्णचीवरखण्डादीनामुपाश्रयस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरे परिशाटिः, सा यावत् दृश्यते तावत्तत्र न क्रियते स्वाध्यायः ।

अत्र सूरिराह-

भण्णइ न य तं तु वहिं, निज्जंतो मोत्तु हो असज्झायं ।
जम्हा चउप्पयारं, सारीरमओ न वज्जंति ॥

भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते-तत्र नीयमानं मृतकं मुक्त्वा अन्यत् कनकपुष्पादिकं पतितमस्वाध्यायिकं न भवति, यस्मात् शारीरमस्वाध्यायिकं चतुःप्रकारं रुधिरादिभेदतश्चतुर्विधम् । पुष्पादिकं च तद्व्यतिरिक्तम्, अतो न स्वाध्यायिकतया तत्र वर्जयन्ति । आत्मसमुत्थं त्वग्रेतनसूत्रे व्याख्यास्यते । व्य० ७ उ० । 'इंद' दिनेऽस्वाध्यायः । यथा-महाहिंसावत्त्वेनाऽऽश्विनचैत्रादिनानि सिद्धान्तवाचनादिषु अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्वत् 'इंद' दिनमपि, तेन हेतुना कथं न त्यज्यते ?, केचिच्च मतिनस्तद्दिनं त्यजन्ति, आत्मनां का मर्यादा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-'इंद' दिनास्वाध्यायविषये वृद्धाऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते । ही० ३ प्रका० ११ प्र० ।

जे भिक्खू असज्झाए सज्झायं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जम्मि जम्मि कारणे सज्झाओ ण कीरति तं सव्वं असज्झायं,तं च बहुविहं वक्खमाणं; तत्थ जो करेइ, तस्स चउलहुं, आणाभंगो, अणवत्था, मिच्छत्तं, आयसंजमविराहणा य । नि० चू० १६ उ० । (स्वाध्याये एव स्वाध्यायः कर्तव्य इति ' सज्झाय ' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)

णो कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करित्तए, कप्पति णं अण्णमण्णस्स वायणं दिलिइत्तए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वाऽऽत्मनः समुत्थेऽस्वाध्यायिके स्वाध्यायं कर्तुं,किन्तु कल्पते परस्परस्य वाचनां दापयितुमन्यत्र। यदि वा प्रक्षालनानन्तरं गाढबन्धे प्रदत्ते सति तत्रापि स्वयमपि वाचनां दातुं कल्पते इति वाक्यशेषः ।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्थमसज्झा-इयं तु एगविह होइ दुविहं वा ।
एगविहं समणाणं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

आत्मनः शरीरात्समुत्थं संभूतमात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमेकविधमाभवति,द्विविधं वा । तत्र यत् एकविधम्-अर्शो भगन्दरादिविषयम्, तत् श्रमणानां भवति । श्रमणीनां पुनर्भवति द्विविधम्-अर्शो भगन्दरादिसमुत्थम् , ऋतुसंभवं च ।

तत्र यतनामाह--

धोयम्मि य निप्पगले, बंधा तिन्नेव होंति उक्कोसा ।
परिगलमाणे जयणा, दुविहम्मी होइ कायव्वा ॥

व्रणादौ निष्प्रगले धौते उपरि क्षारप्रक्षेपपुरस्सरं त्रयो बन्धा उत्कर्षतो भवन्ति । तथाऽपि परिगलति द्विविधे व्रणादावात्संबे च यतना वक्ष्यमाणा कर्त्तव्या ।

एतदेव सप्रपञ्चं भावयति-

समणो उ वणे व भगं-दरे व बंधेक्कओ य वाएति ।
तह गालंते छारं, छोढुं दो तिण्णि बंधाओ ॥

श्रमणो व्रणे वा,भगन्दरे वा परिगलति हस्तशताद् बहिर्गत्वा निष्प्रगलं प्रक्षाल्य चीवरे क्षारं क्षिप्त्वा उपरि अन्यत् चीवरं कृत्वा व्रणं भगन्दरं वा बध्नाति, तत एवमेकं बन्धं कृत्वा वाचयति । यदि तथापि परिगलत्यस्वाध्यायिकं,तत उपरि क्षारं निक्षिप्य द्वितीयं बन्धं ददाति, ततो वाचयति । तथाऽप्यतिष्ठति तृतीयमपि बन्धमत्यवतारं दत्वा वाचयति ।

जाहे तिण्णि विभिन्ना, ताहे हत्थसयबाहिरा धोउं ।
बंधिउ पुणो वि वाए, गंतुं अण्णत्थ व पढंति ॥

यदा त्रयोऽपि बन्धास्तेनाऽस्वाध्यायिकेन विभिन्ना भवन्ति, तदा हस्तशताद् बहिर्गत्वा निष्प्रगलं प्रक्षाल्य,पुनः क्षारं निक्षिप्यो-

परि त्तीवरेण बध्वा पुनरपि वाचयति, अन्यत्र वा गत्तुं पठन्ति।

एमेव य समणीणं, वणम्मि इयरम्मि सत्त बंधा उ।
तह वि य अट्ठयमाणे, धोऊणं अहव अन्नत्थ ॥

एवमेव श्रमणीनामपि व्रणविषये यतना कर्त्तव्या भवति। इतरस्मिन्नार्त्तवे सप्त बन्धाः पूर्वप्रकारेण प्रवन्ति। तथापि व्रणे इतरस्मिन् वाऽतिष्ठति हस्तशतात् बहिः प्रक्षाल्य तथैव बन्धान् दत्वा वाचयति, अन्यत्र वा गत्वा पठन्ति।

एतेसामन्नयरे, असज्झाए अप्पणो उ सज्झायं।
जो कुणइ अजयणाए, सो पावइ आणमादीणि ॥

एतेषामनन्तरोदितानामन्यतरस्मिन्नात्मनोऽस्वाध्यायिके सति यः स्वाध्यायं करोति, तत्राप्ययतनया, स प्राप्नोत्याज्ञादीनि तीर्थकराज्ञाभङ्गादीनि दूषणानि, आदिशब्दादनवस्थाविपरिग्रहः।

न केवलमिमे दोषाः किं त्विमे-

सुयनाणम्मि अभत्ती, लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य।
विज्जा साहणवेगु-ण्णधम्मया एव मा कुणसु ॥

अस्वाध्यायिके पठने श्रुतज्ञानस्याऽभक्तिर्विराधना कृता भवति, तद्विराधनायां दर्शनविराधना, चारित्रविराधना च, तद्भावे मोक्षाभावः। तथा-लोकविरुद्धमिदं यदात्मनोऽस्वाध्यायिके पठनम्। तथा हि-लौकिका अपि व्रणे आर्त्तवे च परिगलति परिवेषणं देवतार्चनादिकं वा न कुर्वन्ति। तथा-प्रमत्तीभूतस्य प्रान्तदेवतया छलना स्यात्। तथा-यथा विद्या अपचारमन्त्रेण साध्यसाधनवैगुण्यधर्म्मतया न सिध्यति, तथा श्रुतज्ञानमपि। तस्माद् मैवं कार्षीः।

अत्र परावकाशमाह—

चोयइ जइ एवं सो-णियमादीहिं होइ सज्झाओ।
तो जरितो च्चिय देहो, एएसिं किण्हु कायव्वं ?॥

परश्चोदयति-यद्येवमुक्तप्रकारेणास्वाध्यायो भवति। तत एतेषां शोणितादीनां देहो भृत इति तत्र कथं स्वाध्यायः?।

अत्र सूरिराह—

कामं भरितो तेसिं, दंतादी अवजुया तह वि वज्जा।
अणवजुया उ अवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥

कामं मन्यामहे एतत्-तेषां शोणितादीनां भृतो देहः, तथापि ये दन्तादयोऽवयुताः पृथग्भूताः, ते वर्ज्या वर्जनीयाः, ये त्वनवयुताः अपृथग्भूता लोके उत्तरे च अवर्ज्या अपरिहर्त्तव्याः।

एतदेव भावयति-

अब्भंतरमललित्तो, कुणती देवाणमच्चणं लोए।
बाहिरमललित्तो उण, ण कुणइ अवणेइ व ततो णं ॥

आभ्यन्तरमललिप्तोऽपि देवानामर्चनं लोके करोति; बाह्यमललिप्तः पुनर्न करोति। अपनयति वा मलं ततः शरीरात्। एवमत्रापि भावनीयम्।

आउट्टियावराहं, सन्नहिया न खमेइ जह पडिमा।
इय परलोए दंमो, पमत्तछलणा इह सिया उ ॥

उपेत्य कृतमपराधं सन्निहितासन्निहितप्रातिहार्यप्रतिमा यथा न क्षाम्यति, इति एवममुना प्रकारेण श्रुतज्ञानमपि कृतमपराधं न क्षमते। तत्र परलोकेषु गतिप्रपातो दण्डः, इह लोके प्रान्तदेवताछलना स्यात्।

रागो दोसो मोहो, असज्झाए जो करेइ सज्झायं।
आसायणा व का सा, को वा भणितो अणायारो ? ॥

रागात् द्वेषात् मोहाद्वा योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति तस्य का कीदृशी फलत आशातना?, को वा कीदृशः फलद्वारेण भणितोऽनाचारः?।

तत्र रागद्वेषमोहान् व्याख्यानयति-

गणिसद्दमाइमहितो, रागे दोसम्मि न सहते सद्दं।
सव्वमसज्झायमयं, एमादी होइ मोहे उ ॥

गणी आचार्यः, आदिशब्दादुपाध्यायो गणावच्छेदक इत्यादिपरिग्रहः। एवमादिभिः शब्दैर्महित उत्कर्षितो योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति, स रागे द्रष्टव्यः। यस्त्वन्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्दं वा न सहते-अहमपि पठित्वा गणी उपाध्यायो भविष्यामि इति विचिन्त्य यत्नादरपरोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं विदधाति, स द्वेषेऽवसातव्यः। यस्तु सर्वमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्य स्वाध्यायं करोति, एष भवति मोह इति।

सम्प्रत्याचार्यः फलद्वारेणाऽऽशातनामाह-

उम्मायं व लभेज्जा, रोगायंकं व पाउणे दीहं।
तित्थयरभासिआओ, भस्सइ सो संजमाओ वा ॥
इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न देंति विज्जाओ।
आसायणा सुयस्स य, कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥

उन्मादं वा लभेत, रोगाऽऽतङ्कं वा दीर्घं प्राप्नुयात, तीर्थकरभाषिताद्वा संयमाद् भ्रश्यति, इहलोके विद्या अभ्रुवलक्षणाः फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं न ददति न प्रयच्छन्ति। न केवलं फलदानाभावः, किं तु श्रुतस्याऽऽशातना दीर्घं संसारं करोति। तदेवं फलत आशातनाऽभिहिता।

साम्प्रतमनाचारं फलत आह-

नाणायार विराहिएँ, दंसणयारो वि तह चरित्तं च।
चरणविराहणयाए, मुक्खाभावो मुणेयव्वो ॥

अस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वता ज्ञानाचारो विराधितः, तद्विराधनायां दर्शनाचारश्चारित्रं च विराधितम्। चरणविराधनतायां मोक्षाभावः।

अत्रैवापवादमाह—

वितियागाढे सागा-रियादि कालगय असति वुच्छेए।
एएहि कारणेहिं, जयणाए कप्पए काउं ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्। व्य० ७ उ०। ध०।

जे भिक्खू अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

अप्पणो सरीरे समुत्थे असज्झाइए ति सज्झाओ अप्पणो ण कायव्वो। परस्स पुण ण वायणा दायव्वा महंतेसु गच्छेसु।

अन्नाडलाए खिव्वो-दयाए व होज्जं ति सज्झाओ।
अरिसाभगंदलासु, इति वायणसुत्तसंबंधो ॥ १३६ ॥

अव्वाबन्नत्तणओ समणीण य णिव्वोदुयसंजवो नाम सज्झाओ ण भविस्सति, तेण वायणसुत्ते विही भणति ॥ नि० चू० १४ उ०। अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलोचना तपसि पतति, न वा? इति पण्डितरविसागरगणिकृतप्रश्नस्य हीरविजयसूरिकृतमुत्तरम्—अस्वाध्यायदिनत्रयान्तःकृत उपवास आलोचना तपसि नायाति। ही० २ प्रका०। चैत्राश्विनमासचतुर्मासकत्रिकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दशीयामद्वयानन्तरं यद्वगन्ति तद्यामद्वयं तिथिभोगापेक्षया, किं वा औदयिकापेक्षयेति प्रश्ने, चैत्राश्विनमासयोः पञ्चमीतिथेरर्द्धादस्वाध्याया लगन्ति, न तु सूर्योदयात्; एवं चतुर्मासकत्रयाऽस्वाध्यायोऽपि चतुर्दशीतिथेरर्द्धाल्लगतीति वृद्धसंप्रदाय इति (१५६)। तथा-तिरश्चोऽस्थि सरसं भवति, तस्यास्वाध्यायिकं कियतः प्रहरान् यावद्भवतीति प्रश्ने, तिर्यगस्थि त्रिप्रहराणामुपरि यावत्सरसं तावदस्वाध्यायिकं भवतीति ज्ञायते (२१३)। तथा-ऽऽश्विनमासाऽस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तगाथापञ्चकं पठन्ति, तस्य तत्पठनं कल्पते नवेति प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तसंबन्ध्येकगाथापाठोऽपि न शुद्ध्यतीति (२३७)। तथा-सूर्यग्रहणं यद्भवति तदस्वाध्यायिकं कुत आरभ्य कियद्यावद्भवति?, तथा-यौगिकानां कियन्ति प्रवेदनानि न शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने, यत्सूर्यग्रहणं भवति तत आरभ्याऽहोरात्रं यावदस्वाध्यायिकं, तदनुसारेणैकं प्रवेदनमशुद्धं ज्ञायत इति (२१०)। (सेन० ३ उल्ला०) तथाऽऽश्विनाऽस्वाध्यायिकदिनत्रयमुपदेशमालादिकं गण्यते, तथा चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके तत्कल्पते नवेति प्रश्ने, तदस्वाध्यायिके दिनत्रयमुपधानमध्ये, न तथा चतुर्मासकत्रये, तस्माच्चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके उपदेशमालादि गण्यते (५४)। सेन० ४ उल्ला०।

असज्झाइयणिज्जुत्ति—अस्वाध्यायिकनिर्युक्ति-स्त्री०। अस्वाध्यायिकप्रतिपादकाऽऽवश्यकान्तर्गतप्रतिक्रमणाध्ययनमध्यगते भद्रबाहुस्वामिकृते निर्युक्तिग्रन्थे, आव०।

"असज्झाइयनिज्जुत्तिं, वुच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं ।
जं नाऊण सुविहिआ, पवयणसारं उवलहंति" ॥ १ ॥
"असज्झाइअनिज्जुत्ती, कहिआ मे धीरपुरिसपन्नत्ता ।
संजमतवड्ढगाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ १० ॥
असज्झाइअनिज्जुत्तिं, जुत्तं जं ताव चरणकरणमाउत्ता ।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं" ॥ ११ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धम्। आव० ४ अ०।

असढ—अशठ-पुं०। शठभावरहिते, ओघ०। रागद्वेषरहिते कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थे, बृ० ३ उ०। अभ्रान्ते, द्वा० २ द्वा०। अमायाविनि, जीत०। सरलात्मनि, जीत०। आ० म०। पराऽवञ्चके, ध० १ अधि०। ध० र०। अनुष्ठानं प्रति अनालस्यवति, दर्श०। इन्द्रियविषयनिग्रहकारिणि, नि० चू० १० उ०। सममुणवत्साधौ, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्यविश्वसनीयो भवति। प्रव० २३९ द्वार।

साम्प्रतमशठ इति सप्तमं स्पष्टयन्नाह-

असढो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य ।
उज्जमइ जावसारं, उचिओ धम्मस्स तेणेसो ॥ १४ ॥

शठो मायावी; तद्विपरीतोऽशठः परमन्यं न वञ्चति नाभिसंधत्तेऽत एव विश्वसनीयः, प्रत्ययस्थानं भवति। इतरः पुनः पुनः वञ्चयन्नपि न विश्वासकारणम्। यदुक्तम्-"मायाशीलः पुरुषो, यद्यपि न करोति किंचिदपराधम्। सर्प इवाऽविश्वास्यो, भवति तथाऽप्यात्मदोषहतः"॥१॥ तथा-प्रशंसनीयः श्लाघनीयश्च स्यात्, अशठ इति प्रकमः। यदवाचि-"यथा चित्तं तथा वाचो, यथा वाचस्तथा क्रियाः। धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते" ॥१॥ तथोद्यच्छति प्रवर्तते, धर्मानुष्ठाने इति शेषः भावसारं सद्भावसुन्दरं स्वचित्तरञ्जनानुगतं, न पुनः पररञ्जनायेति; दुष्प्रापं च स्वचित्तरञ्जनम्। तथा चोक्तम्-" भूयांसो भूरिलोकस्य, चमत्कारकरा नराः। रञ्जयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले तेऽथ पञ्चषाः" ॥ १ ॥ तथा—" कृत्रिमैर्डम्बरैश्चित्रैः, शक्यस्तोषयितुं परः। आत्मा तु वास्तवैरेव, हतकः परितुष्यति" ॥१॥ इति। उचितो योग्यो, धर्मस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूपस्य, तेन कारणेनैषोऽशठः; सार्थवाहपुत्रचक्कदेववत्।

चक्कदेवचरितं त्वेवम्-

अत्थि विदेहे चंपा-ऽऽवासपुरं पउरपउरपरिकलियं ।
तत्थाऽऽसि सत्थवाहो, अइरुद्दो रुद्ददेवु त्ति ॥ १ ॥
तस्स य जज्जा सोमा, सहावसोमा कयाइ गिहिधम्मं ।
सा पमियज्जइ गणिणी-पं बालचंदाए पासम्मि ॥ २ ॥
तं किंचि विसयविमुहं, दट्ठु पउट्ठो भणेइ से भत्ता ।
मुंच पिए! धम्ममिमं, भोगे पि य भोगविग्घकरं ॥ ३ ॥
सा साहइ भोगेहिं, रोगेहि य मह कयं, इमो आह ।
किं चइउं दिट्ठमदि-ट्ठकप्पणं कुणसि तं मूढ! ॥ ४ ॥
सा भणइ इमे विसया, पसुगणसाहारणा वि पच्चक्खा ।
आखिस्सरियाइफलो, विकिञ्चधम्मो समक्खो ते ॥ ५ ॥
उत्तरदाणअसत्तो, विलक्खचित्तो अइव स विरत्तो ।
आलवणाइविरत्तो, तीए समं वयइ सव्वत्तो ॥ ६ ॥
अन्नं मग्गइ कन्नं, सोमा अत्थि त्ति लहइ न य तोसो ।
तम्मारणहेउमहिं, उवइ गिहंतो घडे खिविउं ॥ ७ ॥
भणइ पिए! अमुगघडा-उ दाममाणेसु सा वि सरलमणा ।
जा खिवइ करं कुंभे, ता डक्का कसिणभुयगेण ॥ ८ ॥
डक्का अहं ति पडणो, सा साहइ सो वि गाढसढयाए ।
गारुमिया गारुडिया, इच्चाइ करेइ हलबोलं ॥ ९ ॥
सिग्घं से उल्लुडियं, चिडरेहिं निबद्धियं च दसणेहिं ।
विसभीयएहिं व पाणे-हिं दूरदूरेण ओसरियं ॥ १० ॥
अचइय सोमा सोहं-मकप्पलीलावयंससुविमाणे ।
पलिओवमट्ठिइया, सोमा सुरसुंदरी जाया ॥ ११ ॥
रुद्दो स रुद्ददेवो, नागसिरिं नागदत्तसिट्ठिसुयं ।
परिणीय नीइबाहा-इ भुंजिउं पंचविहविसए ॥ १२ ॥
रुद्दज्झाणोवगओ, नरयावासम्मि पढमपुढवीए ।
आउक्खड्ढामिहाणे, पलियाऊ नारओ जाओ ॥ १३ ॥
अह सो सोमाजीवो, चविउं सोहम्मओ विदेहम्मि ।
सेलम्मि सुंसुमारे, जाओ दंती धवलकंती ॥ १४ ॥
इयरो वि तओव्वट्टिय, जाओ कीरो तहिं चिय गिरिम्मि ।
कीरीए सह रमंतो, नरभासाभासिरो भमइ ॥ १५ ॥
कइया वि तं गइंदं, करेणुयानियरपरिगयं दट्ठुं ।
पुव्वज्जवब्भासाओ, बहुलीबहुलो विचिंतेइ ॥ १६ ॥
विसयसुहाउ इमाओ, किह णु मए वंचियव्वओ एस ।
एवं उवायचिंतण-पवणो पत्तो सए नीडे ॥ १७ ॥
ता तत्थ चंदलेहा-भिहाणखयरिं हरित्तु संपत्तो ।
लीलाइ इति खयरो, भयभीओ जणइ तं कीरं ॥ १८ ॥
भो! इत्थ गिरिनिउंजे, चिट्ठामेगो इहागमी खयरो।

न हु से कहियव्वोऽहं, गओऽयमसो कहेयव्वो ॥ १९ ॥
तो कीर ! खीरमहुमहुर-वयण ! मह एवमुवकयं तुमए ।
तुज्झ वि अहं अवस्सं, करिस्समणुरूवमुवयारं ॥ २० ॥
अह आगओ स खयरो, अदट्ठु लीलाइं पडिनियत्तो ।
कहियं सुपए पयं, इमस्स सो हरिसिओ हियए ॥ २१ ॥
इत्थंतरम्मि तत्था-गयं गयं तं जहिच्छिया भमिरं ।
पासित्तु चिंतइ सुओ, अहह अहो ! सुंदरोऽवसरो ॥ २२ ॥
तो निवडिनियमिनडिओ, ठाउं कारिसंनिहिम्मि भणइ पियं ।
भणियं वसिट्ठरिसिणा, कामियतित्थं इमं खित्तं ॥ २३ ॥
जो इत्थ भिगुनिवायं, करेइ सो लहइ कामियं खु फलं ।
इय भणिय पियाए समं, तहिं वि पत्तो निलुक्को य ॥ २४ ॥
लव्वयणपेरिओ पुण, लीलारइखेयरो पियासहिओ ।
चलचवलकुंडलधरो, उप्पइओ गयणमग्गम्मि ॥ २५ ॥
तं दट्ठु चिंतइ करी, कामियतित्थं इमं खु जं इइयं ।
खेयरमिहुणं जायं, पमियं किर कीरमिहुणं पि ॥ २६ ॥
तो किं इमिणा तिरिय-त्तणेण मज्झं ति चिंतिय नगाओ ।
झंपावइ सो तहियं, अदुट्ठियं कीरमिहुणं तं ॥ २७ ॥
संचुन्नियंगुवंगो, हत्थी गयइत्थिओ वि वियणाए ।
फुरिय सुहज्झवसाओ, जाओ वंतरसुरो पवरो ॥ २८ ॥
अइसयकिलिट्ठचित्तो, विसयपसत्तो सुओ वि संपत्तो ।
रयणाइलोहियक्खे, नरए अइतिक्खदुहलक्खे ॥ २९ ॥

इतश्च–

अत्थि विदेहे सिरिच-क्कवालनयरम्मि सत्थवाहवरो ।
अप्पमिहयचक्कक्खो, सुमंगला पणइणी तस्स ॥ ३० ॥
अह सो करिंदजीवो, चविऊणं ताण नंदणो जाओ ।
नामेण चक्कदेवो, सया वि गुरुजणविहियसेवो ॥ ३१ ॥
उव्वट्टिय इयरो वि हु, जाओ तत्थेव जन्नदेवु त्ति ।
सोमपुरोहियपुत्तो, दुवे वि तरुणत्तमणुपत्ता ॥ ३२ ॥
सब्भावकइयवेहिं, जाया मित्तीइ तेसिमन्नोन्नं ।
पुव्वकयकम्मदोसा, कया वि चिंतइ पुरोहियसुओ ॥ ३३ ॥
कह एस चक्कदेवो, इमाउ अतुच्छलच्छिवित्थरओ ।
पाविहिइ फुडं भंसं, हुं नायं अत्थि इह उवाओ ॥ ३४ ॥
चंदणसत्थाहगिहं, मुसिउं दविणं खिविस्सु एयगिहे,
कहिउं निवस्स पुरओ, भंसिस्सं संपयाउ इमं ॥ ३५ ॥
काउं तहेव स भणइ, वयंस ! गोवेसु मज्झ दविणमिणं ।
नियगेहे सो वि तओ, एवं चिय कुणइ सरलमणो ॥ ३६ ॥
वत्ता पुरे पवत्ता, मुट्ठं चंदणगिहं ति तो पुट्ठो ।
सत्थाहसुएणेसो, दविणमिणं कस्स भो मित्त ! ? ॥ ३७ ॥
सो आह मज्झ दव्वं, तायभया गोविय तुह गिहम्मि ।
आसंका न मणागवि, कायव्वा चक्कदेव ! तए ॥ ३८ ॥
इत्तो य चंदणेणं, अमुगं अमुगं च मह गयं दव्वं ।
कहियं निवस्स तेणं, नयरे घोसावियं एवं ॥ ३९ ॥
चंदणगिहं पमुट्ठं, जेणं केण वि कहेउ सो मज्झ ।
इण्हिं न तस्स दंडो, पच्छा सारीरिओ दंमो ॥ ४० ॥
अह दिणपणगम्मि गए, पुरोहिपुत्तो निवं भणइ देव ! ।
जइ वि न जुज्जइ नियमि-त्तदोसफुडवियडणं काउं ॥ ४१ ॥
परमइविरुद्धमेयं, ति धारिउं पारिमो न हिययम्मि ।
चंदणधणं अवस्सं, अत्थि गिहे चक्कदेवस्स ॥ ४२ ॥
(राजा) नणु सो गरिट्ठपुरिसो, रायविरुद्धं इमं कह करिज्ज ? ।
(यज्ञदेवः) गरुया वि लोहमोहिय-मइणो चिट्ठंति बाल व्व ॥ ४३ ॥
(राजा) सो संतोससुहारस-पाणप्पवणो सुणिज्जए सययं ।
(यज्ञदेवः) अवि तरुणो दविणमिणं, पाविय पावम्मि पसरंति ॥ ४४ ॥
(राजा) नणु सो महाकुलीणो,
(यज्ञदेवः) को दोसो इह कुलस्स विमलस्स ? ।
भइवइलपरिमलेसु वि,
कुसुमेसु न हुंति किं किमओ ? ॥ ४५ ॥
(राजा) जइ एवं ता किज्जउ, समंतओ गेहसोहणं तस्स ।
(यज्ञदेवः) एवं किं देवस्स वि, पुरओ जंपिज्जए अए अलियं ॥ ४६ ॥
तो निवइणा तलारो, चंदणभंडारिएण सह भणिओ ।
भो ! चक्कदेवगेहे, नट्ठं दव्वं गवेसेहि ॥ ४७ ॥
सो चिंतइ नरवइणा, अहह ! असंभावणिज्जमाइट्ठं ।
किं कइया पाविज्जइ, रविबिंबे तिमिरपब्भारो ? ॥ ४८ ॥
अहवा पहुणो आणं, करेमि पत्तो तओ गिहे तस्स ।
पभणइ चंदणदव्वं, नट्ठं जाणेसि भो भद्द ! ॥ ४९ ॥
(चक्रदेवः) नहु नहु मुणेमि किंचि वि,
(तलवरः) तो भो ! तुमए न कुप्पियव्वं मे ।
जं रायसासणेणं, तुह गेहं किंपि जोइस्सं ॥ ५० ॥
(चक्रदेवः) कोवस्स को णु समओ,
सया पयापालणत्थमेव जओ ।
नयकुलहरस्स देव-स्स एस सयलो वि संरंभो ॥ ५१ ॥
तो तलवरो गिहंतो, पविसिय जा निउणयं निहालेइ ।
ता कंचणवासणयं, चंदणनामंकियं अक्खं ॥ ५२ ॥
तो भणइ सदुक्खमिमो, कुओ तए चक्कदेव ! पत्तमिणं ।
किह मित्तत्थवणीयं, पयडेमि नियं ति सो भणइ ॥ ५३ ॥

तलवरः–

कह चंदणनामंकं, (चक्र०) नामाविवज्जासओ कह वि जायं ।

तलवरः–

जइ एवं ता कित्तिय-मित्तं इह वासणे कणगं ॥ ५४ ॥

चक्रदेवः–

चिर गोवियं ति न तहा, सुमरेमि अहं सयंचिय निएह ।

तलवरः–

भंडारिय ! किंसंखं, धणमिह सो आह अजुयमियं ॥ ५५ ॥
तो बोडाविय नउलं, नियंति सव्वं तहेव तं मिलियं ।
भणइ पुणो रक्खिपहू, भो भद्द ! फुडक्खरं कहसु ॥ ५६ ॥
अह वीसत्थं सहयं, सुकीलियं कीलियं पचितम्मी ।
मित्तं दूसेमि कहं, तो चक्कदेवो पुणाह नियं ॥ ५७ ॥

तलवरः–

कित्तियमित्तं परसं-तियं धणं तुह गिहम्मि चिट्ठेइ ।

चक्रदेवः–

निययं पि अत्थि बहुयं, पज्जत्तं मम परधणेणं ॥ ५८ ॥
तो तलवरेण सव्वं, गिहं नियंतेण तं धणं पत्तं ।
कुविएण चक्कदेवो, हढेण नीओ निवसमीवे ॥ ५९ ॥
रन्ना भणियं नणु जइ, अप्पमिहयचक्कसत्थवाहसुए ।
नहु संभवइ इमं तो, कहेसु को इत्थ परमत्थो ? ॥ ६० ॥
परदोसकहणविमुहो, न किंचि जा जंपए एसो ताहे ।
बहुयं धिक्कारिऊणं, निव्विसओ कारिओ रन्ना ॥ ६१ ॥
अह सो विसायविहुरो, गुरुपरिजणवयणजलखालियसरीरो ।
चिंतइ किं मम संपइ, पणट्ठमाणस्स जीएण ? ॥ ६२ ॥
"वरं प्राणपरित्यागो, मा मानपरिखण्डना ।
प्राणत्यागे क्षणं दुःखं, मानभङ्गे दिने दिने" ॥ ६३ ॥

इय चिंतिय पुरवाहिं, वडविडविणि जाव बंधए अप्पं।
ता तग्गुणगणरंजिय-हियया पुरदेवया झत्ति ॥ ६४ ॥
गाउं निवजणणिमुहे, निवपुरओ तं कहेइ वुत्तंतं ।
उब्बंधणपेरंतं, तो दुहिओ चिंतए राया ॥ ६५ ॥
"उपकारिणि विश्वास्ये, आर्यजने यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसंधं, भगवति वसुधे ! कथं वहसि ?" ॥ ६६ ॥
इय परिभाविय रन्ना, पुरोहिपुत्तं धराविउं तुरियं ।
तत्थ गएणं दिट्ठो, सत्थाहसुओ तह कुणंतो ॥ ६७ ॥
छिंदित्तु झत्ति पासं, सो गयमारोविऊण हिट्ठेण ।
महया वि वित्थरेणं, पवेसिओ नयरमज्झम्मि ॥ ६८ ॥
भणिओ य भो महायस !, तुज्झ कुलीणस्स जुत्तमेव इमं ।
तह पुच्छिरस्स वि ममं, जं परदोसो न ते कहिओ ॥ ६९ ॥
किं तु तुह जमवरद्धं, अन्नाणपमायओ इहऽम्हेहिं ।
तं खमियव्वं सव्वं, खमापहाणा सु सप्पुरिसा ॥ ७० ॥
इत्थंतरे भडेहिं, बंधिय तत्थाऽऽणिओ पुरोहिसुओ ।
रोसारुणनयणेणं, रन्ना वज्झो समाणत्तो ॥ ७१ ॥
तो भणइ चक्कदेवो, वच्छलहियएण पगइसरलेण ।
महमित्तेण इमेणं, किं नाम विरूद्धमायरियं ? ॥ ७२ ॥
पुरदेवयाएँ कहियं, कहइ निवो दुट्ठचिट्ठियं तस्स ।
मच्छुरभरियचित्तो, तो चिंतइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥
अमयरसाउ विसं पि व, ससहरबिंबाउ अग्गिवुट्ठि व्व ।
एरिसमित्ताउ इमं, किमसममसमंजसं जायं ? ॥ ७४ ॥
एवं सो परिभाविय, गाढं निवडित्तु निवइचलणेसु ।
मोयावइ नियमित्तं, तो हिट्ठो भणइ नरनाहो ॥ ७५ ॥
"उपकारिणि वीतमत्सरे वा, सदयत्वं यदि तत्र कोऽतिरेकः ?।
अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सघृणं यस्य मनः सतां स धुर्यः॥७६॥
अह सत्थवाहपुत्तो, सयवत्तसुपत्तनिम्मलचरित्तो ।
भडचडगरपरीयरिओ, नियगेहे पेसिओ रन्ना ॥ ७७ ॥
तेणावि जन्नदेवो, आलविओ पणयसारवयणेहिं ।
सक्कारिय संमाणिय, पट्ठविओ निययभवणम्मि ॥ ७८ ॥
जाओ जणप्पवाओ, धन्नो एसेव सत्थवाहसुओ ।
अवयारपरे वि नरे, इय जस्स मई परिप्फुरइ ॥ ७९ ॥
वेरग्गमग्गलग्गो, कयावि सिरिअग्गिभूइगुरुपासे ।
गिण्हेइ चक्कदेवो, दिक्खं दुहकक्खदहणसमं ॥ ८० ॥
बहुकालं परिपालिय, सामन्नं सो अणन्नसामन्नं ।
जाओ अजिंभवंभो, नवअयराऊ सुरो बंभे ॥ ८१ ॥
तत्तो चविय विदेहे, अरिअजिए मंगलावईविजए ।
बहुरयणे रयणउरे, सत्थपहुरयणसारस्स ॥ ८२ ॥
सिरिमइपियाएँ जाओ, चंदणसारु त्ति नंदणो तस्स ।
कंता य चंदकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥
मरिउं स जन्नदेवो, वि दुइयपुढवीएँ नारओ जाओ ।
पुण आहेमयसुणओ, मरिउं तत्थेव उववन्नो ॥ ८४ ॥
तत्तो भमिय बहुभवं, जाओ सो रयणसारदासिसुओ ।
अहणगनामा पीई, पुव्वुत्ता तेसि संजाया ॥ ८५ ॥
अन्नदिणे रयणउरं, दिसि जत्ताए गयम्मि निवइम्मि ।
सबरवइ विज्झकेऊ, भंजिय गिण्हइ बहुं वंदं ॥ ८६ ॥
हरिया य चंदकंता, सेसजणो को वि कत्थ वि य नट्ठो ।
आवासिओ य चलिउं, सबरवई जिन्नकूवतडे ॥ ८७ ॥
वोलीणे सयलदिणे, निसावसेसे पयाणकालम्मि ।
अइरहसवसपुरक्खड-नियनियकिच्चेसु भिच्चेसु ॥ ८८ ॥
हल्लोलकाहलातर-लयइलरवपसरभरियनहविवरे ।
अग्गाणीयम्मि वइं-तयम्मि दीणे य वंदिजणे ॥ ८९ ॥
सा चंदणपाणपिया, ससीलनियसीलखंडणभएण ।
पंचनमुक्कारपरा, झंपावइ तम्मि कूवम्मि ॥ ९० ॥
भवियव्वयानिओगा, पडिया नीरम्मि जीविया तेण ।
पडिकूवयम्मि गाउं, गमेइ सा वासरे कइ वि ॥ ९१ ॥
इत्तो य गया धाडि-त्ति चंदणो नियपुरे समणुपत्तो ।
दइया हड त्ति नाउं, जाओ अइविरहदुहदुहिओ ॥ ९२ ॥
तो तीएँ मोयणत्थं, संबलयं दविणभरियं गहियं ।
अहणगवीओ चलिओ, वारेण वहंति तं भारं ॥ ९३ ॥
पत्ता कमेण तं जि-न्नकूवदेसं तया पुणो अत्थि ।
धणजायं पासे दा-सयस्स इयरस्स पाहेयं ॥ ९४ ॥
तो पुव्वभवब्भासा, दासो चिंतेइ सुन्न-रन्नमिणं ।
अत्थमिओ गगणमणी, ओल्लसिओ गरुयतिमिरभरो ॥ ९५ ॥
ता इत्थ कूवकुहरे, खिविऊणं सत्थवाहसुहमेयं ।
धणजाएण इमेणं, भवामि भोगाण आभागी ॥ ९६ ॥
तो भणइ निविडनियमी, तिसं तिसा बाहए ममं सामि !।
सो वि हु सहावसरलो, जा कूवे नियइ तत्थ जलं ॥ ९७ ॥
ता तेण पावपब्भा-रपिल्लिएण स पिल्लिओ अवमे ।
तत्तो वि पएसाओ, पाविट्ठो अहणगो नट्ठो ॥ ९८ ॥
अह चंदणो जलंतो, सिरठियपाहेयपुट्टलो पडिओ ।
पासिकूवे लहु लग्गो, य चंदकंता कह वि छित्ता ॥ ९९ ॥
भयविहला भणइ नमो, अरिहंताणं ति तं सरेण फुडं ॥
उवलक्खिय आह इमो, जिनधम्माणं अभयमभयं ॥ १०० ॥
तं सुणिय मुणिय दइयं, सरेण रोयइ तारतारमिमा ।
तो अन्नुन्नं सुहदुह-वत्ताहि गमंति तं रयणिं ॥ १०१ ॥
उइए सहस्सकिरणे, तं पाहेयं दुवे वि भुंजंति ।
कइवयदिणेसु एवं, पक्खीणं संबलं सव्वं ॥ १०२ ॥
अह चंदणो पयंपइ, दइए ! एयाउ वियडअवडाओ ।
गंभीराउ भवाउ व, उत्तारो दुत्तरो नूणं ॥ १०३ ॥
तम्हा कुणिमोऽणसणं, मा मणुयभवं निरत्थयं नेमो ।
इय जा कहेइ ता से, दाहिणनयणेण विप्फुरियं ॥ १०४ ॥
इयरीए वामेणं, सो आह पिएइ अंगफुरणेहिं ।
एस किलेसो न चिरं, होही अम्हं ति तक्केमि ॥ १०५ ॥
इत्थंऽतरम्मि पत्तो, सत्थवई नंदिवद्धणो तत्थ ।
रयणउरनयरगामी, उदयत्थं पेसए पुरिसे ॥ १०६ ॥
ते जा नियंति कूवं, ता चंदणचंदकंतमभिदट्ठुं ।
साहित्तु सत्थवइणो, कड्ढंति य मंचियाएँ लहुं ॥ १०७ ॥
पुट्ठो य सत्थवइणा, वुत्तंतं कहइ चंदणो सव्वं ।
संचलिओ नियनयरा-भिमुहं वूढो य दिणपणगं ॥ १०८ ॥
दिट्ठो तेण निवपहे, छुट्ठदिणे हरिविदारिओ पुरिसो ।
नाउं धणोवलंभा, हहा ! वराओ अहणगु त्ति ॥ १०९ ॥
तं दव्वं गहिऊणं, पकामसुविसुज्झमाणपरिणामो ।
रयणउरे संपत्तो, पत्ते सुनिउंजिउं दव्वं ॥ ११० ॥
गिह्वित्त विजयवद्धण-सूरिसमीवेऽणवज्जपव्वज्जं ।
जाओ य सुक्ककप्पे, सोलसअयरट्ठिई अमरो ॥ १११ ॥
तो चविउं इह भरहे, रहवीरपुराभिहाणनयरम्मि ।
गेहवइनंदिवद्धण-सुंदरिपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥
नामेणऽणंगदेवो, अणंगदेवु व्व वहुलरूवेण ।
सिरिदेवसेणगुरुणो, पासे पडिवन्नगिहिधम्मो ॥ ११३ ॥

अह अहणगो वि हरिणा, हणिओ सेलाइनारओ जाओ ।
सीहो भविय तहिंचिय, पुणो वि पत्तो असुहाचित्तो ॥ ११४ ॥
तो हिंडिय भूरिभवे, तत्थेव य सोमसत्थवाहस्स ।
नंदिमइभारियाए, जाओ धणदेवनामसुओ ॥ ११५ ॥
असढसढमाणसाणं, तेसिं पीई परुप्परं जाया ।
ते दविणज्जणमणसो, कया वि पत्ता रयणदीवे ॥ ११६ ॥
कइवयदिणेहि वलिया, सपुराभिमुहं विढत्तबहुवित्ता ।
अह धणदेवो जाओ, नियमित्तपवंचणप्पवणो ॥ ११७ ॥
कम्मि वि गामे हट्टे, कराविया मोयगा दुवे तेणं ।
इक्कम्मि विसं खित्तं, एयं मित्तस्स दाहं ति ॥ ११८ ॥
आउलमणस्स जाओ, मग्गे इंतस्स तस्स वामोहो ।
सुद्धो सहिणो दिन्नो, सयं तु विसमोयगो भुत्तो ॥ ११९ ॥
अइविसमविसविसप्पिर-गुरुवेयणपसरपरिगओ झत्ति ।
धणदेवोपरि चत्तो, धम्मेण व जीविएणावि ॥ १२० ॥
बहु सोइऊण तस्स य, मयकिच्चं काउणंऽगदेवो वि ।
पत्तो कमेण सपुरे, तन्नियगाणं कहइ सव्वं ॥ १२१ ॥
तेसिं पभूयदव्वं, दाउं पुच्छित्तु पियरपमुहजणं ।
सो पुव्वगुरुसमीवे, गिण्हइ वयमुभयलोयहियं ॥ १२२ ॥
दुक्करतवचरणपरो, परोवयारिक्कमाणसो मरिउं ।
गुणवीससागराऊ, पायणकप्पे सुरो जाओ ॥ १२३ ॥
कालेण तओ वि चुओ, जंबुद्दीवम्मि परवयवासे ।
गयपुरनयरे हरिनं-दिसेट्ठिणो परमसड्ढस्स ॥ १२४ ॥
लच्छिमइपणइणीए, जाओ पुत्तो य वीरदेवु त्ति ।
सिरिमाणभंगसुहगुरु-समीवकयगिहिवउच्चारो ॥ १२५ ॥
धणदेवो वि हु तइया, उक्कडविसवेगपत्तपंचत्तो ।
नवसागरोवमाऊ, उववन्नो पंकपुढवीए ॥ १२६ ॥
पुणरवि भाविय भुयंगो, दारुणवणदावदड्ढसव्वंगो ।
जाओ तहिं चिय किंचू-णअयरदसगाउ नेरइओ ॥ १२७ ॥
तिरिएसु भमिय सो त-त्थ गयपुरे इदंनागसिट्ठिस्स ।
नंदिमईभज्जाए, दोणगनामा सुओ जाओ ॥ १२८ ॥
पुव्वुत्तपीइजोगा, इगहट्टे ववहरंति ते दोवि ।
वित्तं बहुं विढत्तं, तो चिंतइ दोणगो पावो ॥ १२९ ॥
कह एसो अंसहरो, हावियव्वो हुं कराविउं इण्हिं ।
नवधवलहरं उच्च-त्तणेण नहमग्गुलिहंतं व ॥ १३० ॥
तत्थुवरि भुवि अओमय-कीलगजालानियंतियगवक्खं ।
भोयणकए निमंति-त्तु वीरदेवं कुडुंबजुयं ॥ १३१ ॥
तो से दंसिस्सामिमं, रमणीयत्ता सयं स आरुहिही ।
खडहडिऊण निवडिही, पाणेहि वि झत्ति मुच्चिहिही ॥ १३२ ॥
अह निव्विवायमेसो, विहवभरो मज्झ चेव किर होही ।
नय कोइ जणववाओ, इय चिंतिय कारइ तहेव ॥ १३३ ॥
जा भुत्तुत्तरमेए, दुवे वि धवलहरसिहरमारुढा ।
सहमइरहिओ दोणो, अणप्परसंकप्पभरियमणो ॥ १३४ ॥
भो मित्त ! एहि इहयं, निज्जूहे विससु जंपिरो तत्थ ।
सयमारूढो इक्को, पडिओ मुक्को य पाणेहिं ॥ १३५ ॥
हाहारवमुहलमुहो, तुरियं उत्तरिय वीरदेवो वि ।
जा नियइ ता पदिट्ठो, मित्तो पंचत्तमणुपत्तो ॥ १३६ ॥
हा मित्त ! मित्तवच्छल !, अन्नदूसणरहिय ! रहियनयमज्झो ।
इय बहुविहं पलविउं, मयकिच्चं कुणइ सो तस्स ॥ १३७ ॥
जललवतरले जीए, विज्जुलयाचंचलम्मि तरुणत्ते ।
को नाम गेहवासे, पडिबंधं कुणइ सविवेओ ॥ १३८ ॥
इय चिंतिऊण सम्म-त्तवाइगुरुपासपत्तसामन्नो ।
उववन्नो गेविज्जे, सो तइए भासुरो अमरो ॥ १३९ ॥
अत्थिइ विदेहवासे, वासवदेहं व सज्जवज्जहरं ।
अंबयसहस्सकलियं, चंपावासं ति वरनयरं ॥ १४० ॥
तत्थाऽऽसि माणिभद्दो, भद्दोवज्जणमणो सया सिट्ठी ।
जिणधम्मरम्मकामा, तस्स पिया हरिमई नामा १४१ ॥
सो वीरदेवजीवो, तत्तो गेविज्जगाउ चविऊण ।
नामेण पुन्नभद्दो, ताणं पुत्तो समुप्पन्नो ॥ १४२ ॥
तेणं च पढणसमए, घोसं पढममवि उच्चरंतेणं ।
अमरु त्ति समुल्लवियं, वुच्चइ अमरो वि तेणेसो ॥ १४३ ॥
दोणो वि मओ धूमा-ए बारअयराउ नारओ जाओ ।
मच्छो सयंभुरमणे, भविउं तत्थेव उववन्नो ॥ १४४ ॥
भमिय भवे तत्थ पुरे, नंदावत्तऽभिहसिट्ठिदइयाए ।
सिरिनंदाए धूया, संजाया नंदयंति त्ति ॥ १४५ ॥
भवियव्वयावसेणं, परिणीया सा उ पुन्नभद्देण ।
सा पुव्वकम्मवसओ, जाया पइवंचणिक्कमणा ॥ १४६ ॥
से परियणेण कहियं, वड्डुत्तरकूडकवडनियडिकुमी ।
सामिय ! पिया तुहेसा, न य सद्दहियं पुणो तेणं ॥ १४७ ॥
कइया वि सव्वसारं, कुंडलजुयलं सयं अवहरित्ता ।
आउलहियय व्व इमा, साहइ पइणो पणट्ठं ति ॥ १४८ ॥
तेण वि नेहवसेणं, घडाविउं नवयमप्पियं तं से ।
इय हरियमन्नमन्नं, तीए दिन्नं पुण इमेण ॥ १४९ ॥
न्हाणावसरे कइया, मुद्दारयणं समप्पियं तीसे ।
संझाए मग्गियं पुण, सा आह कहिं वि नणु पडियं ॥ १५० ॥
तत्तो अइसंभंतो, निउणं एसो निहालइ गिहंतो ।
भज्जाभरणसमुग्गे, नट्ठं दव्वं नियइ सव्वं १५१ ॥
किं कुंभलाइ दव्वं, गयं पि लद्धं इमीए न गयं वा ।
करकलियदविणजाओ, एसो चिंतेइ सवियक्कं ॥ १५२ ॥
इत्तो य सा तहिं चिय, पत्ता इयरो य झत्ति नीहरिओ ।
झायइ नंदयंती, धुवमिमिणा जाणिया अहयं ॥ १५३ ॥
जा सयणाण वि मज्झे, नो उप्पायइ लाघवं मज्झं ।
सज्जो संजोइयक-म्मणेण मारेमि ताव इमं ॥ १५४ ॥
काउं तयं सयंचिय, अणेगमरणावहेहि दव्वेहिं ।
तमिसम्मि संठवंती, मका दुट्ठेण सप्पेण ॥ १५५ ॥
पमिया धस त्ति धरणिं, जाओ हाहारवो अइमहंतो ।
तत्थागओ पई से, आहूया पवरगारुडिया ॥ १५६ ॥
सव्वेसि नियंताण वि, खणेण निहणं गया गया पावा ।
छट्ठीए पुढवीए, पुरओ भमिही अणंतभवं ॥ १५७ ॥
तं दट्ठु पुन्नभद्दो, सोयजुओ तीइ काउ मयकिच्चं ।
वेरग्गभावियमणो, जाओ समणो विजियकरणो ॥ १५८ ॥
सुक्कज्झाणानलद-ड्ढसयलकम्मिंधणो धुणियपावो ।
सो भयवं संपत्तो, लोयग्गसुसंठियट्ठाणं ॥ १५९ ॥
निरुनिच्चेयनिमित्तं, पकित्तिया पुरिमपच्छिमिल्लभवा ।
इहयं असढगुणम्मी, पगयं पुण चक्कदेवेण ॥ १६० ॥
इति फलमतिरम्यं चक्रदेवस्य सम्यक्,
प्रतिभवमपि श्राव्यं भावभाजो निशम्य ।
भवत भविकलोकाः स्पष्टसंतोषपोषाः,
कथमपि हि परेषां वञ्चनावञ्चवो मा ॥ १६१ ॥

॥ इति चक्रदेवचरितं समाप्तम् ॥

असढकरण-असठकरण-पुं० । मायामदविप्रयुक्तो भूत्वा य-

थोक्तविहितानुष्ठानकारके, वृ० ६ उ० । " असढकरणो नाम सव्वत्थादाननो अप्पाणं मायाए ग्रति असढो होऊणं कासिगं करेति " । (न शठो यस्मादिति विग्रहाभिप्रायेण) नि० चू० २० उ० ।

असढभाव–अशठभाव–पुं० । अमायाविनि, व्य० ४ उ० । शुद्धचित्ते, आव० ६ अ०। स्ववीर्य्यं प्रति मान्द्यं कुर्वाणे, नि०चू० २० उ० ।

असण–अशन–न०। अश भोजने, ल्युट् । भोजने, नि० चू०११ उ०। स्था०। सूत्र०। अश्यते इत्यशनम् । अश भोजने इत्यस्मात् ल्युट्। ध०२ अधि०। एवं लोके,लोकोत्तरिके तु आशु क्षुधां शमयति इति "खीरलयादिफलाणि वा" आ० चू० ६ अ० । ओदनादिभक्ते, प्रव०४ द्वार । दश०। आचा० । आव०। उत्त०। दर्श०।

तत्र अशनमाह–

असणं ओअणसत्तुग–मुग्गजगाराइ खज्जगविही य ।
खीराइ सूरणाई, मंमगपभिई उ विन्नेयं ॥

आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः सर्वत्र संबध्यते। तत ओदनादि, सक्त्वादि,मुद्गादि,जगार्यादि,जगारीशब्देन समयभाषया "रब्बा" भण्यते । तथा खज्जकविधिश्च– खाद्यक–मण्डिका–मोदक–सुकुमारिका–घृतपूर–लपनश्री–स्वयंच्युतप्रभृतिपक्वान्नविधिः । तथा–क्षीरादि, आदिशब्दाद्दधि–घृत–तक्र–तीमन–रसालादिपरिग्रहः । तथा–सूरणादि, आदिशब्दादार्द्रकादिसकलवनस्पतिविकारव्यञ्जनपरिग्रहः मण्डकप्रभृति च–मरामकाः प्रभृतिर्यस्य रोटिका–कुल्हरिका–चूरीयका–इन्दुरिका–प्रमुखवस्तुजातस्य तन्मण्डकप्रभृति, विज्ञेयं ज्ञातव्यमशनम् । प्रव० ४ द्वार । " असणाणि य चउसट्ठी " स० ।

" असणं ओयण सत्तुग, मंडग पयरब विद्ल जगराइ ।
कंद्वजाई सव्वा, सजलविद्दी सत्त विगई य ॥ ३९ ॥
असणम्मि सत्त विगई, साइम गुल महु सुरा य पाणम्मि ।
खाइम पक्कन्न फला–णा उद्देणय सव्वअसणम्मी ॥ ४० ॥
चण ओद मसुर तुवरी, कुलत्थ निप्पाव मुग्ग मासा य ।
चवल कलाया राई, पमुहं डुदलं च निसेह ॥ ४१ ॥
तिल अयसि सिंबिद कंगू, कुद्दव अणुयाववं सिणेहजं ।
नयंति केह दुदलं, पायं धन्नु व्व तं सव्वं ॥ ४२ ॥
कट्ठदलं पक्कत्तं, तक्कर दहिं दुद्धपाय मीसं जं ।
ऊमणंतकायजायं, पत्त फलं पुप्फ बीयं च ॥ ४३ ॥
पुढविक्काऊ सव्वो, बलकिंभप्पभिइ सव्वानिखधनं ।
हिंगुलवाणीञ्जछे–प्पभिई असणं बहुविहं जं" ॥ ४४ ॥ ल० प्र० ।

नीलवर्णे बीजकाभिधाने वृक्षविशेषे, आचा० २ श्रु० १० अ० । प्रज्ञा० । रा० । ही० ।

असणग–अशनक–पुं०। बीजकाभिधाने वनस्पतिभेदे, औ०।

असणदाण–अशनदान–न० । अश्यत इत्यशनमोदनादि, तस्य दानमशनदानम् । तस्मिन्नशनदाने अशनशब्दः पानाद्युपलक्षणार्थः । आहारदाने, पं० व० २ द्वार । आव० ।

असणाइणिमंतण–अशनादिनिमन्त्रण–न०। गुरोराहारनिमन्त्रणे,ध०। अशनादिनिमन्त्रणमिति। अशनादिभिरशन–पान–खादिम–स्वादिम–वस्त्र–पात्र–कम्बल–पादप्रोञ्छन–प्रातिहारिकपीठफलक–शय्यासंस्तारकौषधभैषज्यादिभिः निमन्त्रणं, प्रस्तावाद् गुरोरेव । तच्च गुरोः पादयोर्लगित्वा "इच्छकारि भगवन्! पसायकरी फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थ–पडिग्गहकम्बलपायपुंछणेणं पाडिहारिअपीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य भयवं! अणुग्गहो कायव्वो त्ति" पात्रपूर्वं भक्त्या कार्यम् । एतच्चोपलक्षणं शेषकृत्यप्रश्नस्यापि । यतो दिनकृत्ये "पच्चक्खाणं च काऊणं,पुच्छए सेसकिच्चयं । कायव्वं मणसा काउं,ओअणं च करे इमं" ति । 'पुच्छए' इत्यादिना पृच्छति साधुधर्मनिर्वाहशरीरनिराबाधवार्त्ताद्यशेषकृत्यम् । यथा–निर्वहति युष्माकं संयमयात्रा,सुखं रात्रिर्गता भवतां,निराबाधाः शरीरेण यूयं,न बाधते वः कश्चिद्व्याधिः, न प्रयोजनं किञ्चिदौषधादिना, नार्थः कश्चित् पथ्यादिनेत्यादि ?। एवं प्रश्नश्च महानिर्जराहेतुः।यदुक्तम्–'अभिगमणवंदणनमं–सणेणं पडिपुच्छणेण साहूणं । चिरसंचिअं पि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवेइ'।?। प्राग्वन्दनावसरे च सामान्यतः 'सुहराईसुहतवसरीरनिराबाध' इत्यादिप्रश्नकरणेऽपि,विशेषेणात्र प्रश्नः सम्यक्स्वरूपपरिज्ञानार्थः,तदुपायकरणार्थश्चेति प्रश्नपूर्वं निमन्त्रणं युक्तिमदेवेति । संप्रति त्वि निमन्त्रणं गुरूणां बृहद्वन्दनदानानन्तरं श्राद्धाः कुर्वन्ति, ये च प्रतिक्रमणं गुरुभिः सह कृतं,स सूर्योदयादनु यदा स्वगृहाद् याति, तदा तत्करोति; येन च प्रतिक्रमणं बृहद्वन्दनकं चेत्युभयमपि न कृतं,तेनापि वन्दनाद्यवसरे एवं निमन्त्रणं क्रियते; ततश्च यथाविधि तत्कालमिति। एष बहिर्दृष्टस्य विधिः । कारणविशेषे तु तत्प्रतिश्रयेऽपि गम्यते, तत्राप्येष एव विधिः, अप्रेतनोऽपि च ।

कारणान्याह–

परिआय–परिस–पुरिसं, खेत्तं कालं च आगमं नच्चा ।
कारणजाए जाए, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥ ४ ॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यं,तत् प्रभूतकालं येन पालितं,परिषद् विनीता साधुसंहतिः, तत्प्रतिबद्धं पुरुषं ज्ञात्वा; कथम्?; कुलगुणसङ्घकार्याण्यस्याऽऽयत्तानीति;एवं तदधीनं क्षेत्रमिति;कालमवमप्रतिजागरणमस्य गुण इति,आगमं सूत्रार्थोभयरूपमस्यास्तीति ज्ञात्वेति ।

साम्प्रतमेतदकरणे दोषमाह—

एआइ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे ।
ण भवइ पवयणभत्ती, अभत्तिमंताइआ दोसा ॥ ५ ॥

तथा–

उप्पन्नकारणम्मी, किइकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।
पासत्थाईआणं, उग्घाया तस्स चत्तारि ॥ ६ ॥

(दुविहं पीति) अभ्युत्थानवन्दनलक्षणम्, इत्यलं प्रसङ्गेन । ध० २ अधि० ।

असणि–अशनि–पुं० । पविरित्यस्य पर्यायः । है० । आकाशे पतत्यग्निमये कणे, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, सू० प्र० २० पाहु० । तं० । विद्युद्वज्रे, वाच० ।

असणिमेह–अशनिमेघ–पुं० । करकादिनिपातवति पर्वतादिदारणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

असणी–अशनी–स्त्री० । बलेः सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

असण्णि (ण्)–असंज्ञिन्–पुं० । संज्ञिविपरीतोऽसंज्ञी । विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकले, कर्म०४ कर्म० । "णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सण्णि चेव, असण्णि चेव । एवं पंचिंदिया

सव्वे विगलिंदियवज्जा० जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० २ उ०। पं० सं० । नं० । " असण्णि दुविहा-अणाभोगमिच्छदिट्ठी, आभोगमिच्छदिट्ठी य " नि० चू० ५ उ० ।

असण्णिआउय- असंज्ञयायुष्-न० । असंज्ञिना सता बद्धे परभवप्रायोग्ये आयुषि, भ० १ श० २ उ० । ("आउ" शब्दे द्वितीयभाग १५ पृष्ठे १३ अधिकारे चैतद् व्याख्यास्यते)

असण्णिभूय-असंज्ञिभूत-पुं० । मिथ्यादृष्टौ, भ० १ श० २ उ० ।

असण्णिसुय-असंज्ञिश्रुत-न० । मिथ्यादृष्टिश्रुते, तच्च कालिकोपदेशेन हेतूपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन च त्रिविधम् । नं० । आ० चू० (' सण्णिसुय ' शब्दे चैतत् वक्ष्यते) ।

असण्णिहिसंचय-असंनिधिसंचय-पुं० । न विद्यते संनिधेः पर्युषितखाद्यादेः सञ्चयो धारणं येषां ते तथा । संनिधिशून्ये युगलिकमनुष्ये, जं० २ वक्ष० । तं० । जी० ।

असती-असती-स्त्री० । असंप्राप्तौ, नि० चू० १२ उ० । " पमाएण वा असती चुक्कखलिएण वा " महा० ५ अ० ।

असत्त-अशक्त-त्रि० । असमर्थे, दर्श० । पिं० ।

असक्त-त्रि० । अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चने समतापन्ने, आचा० । " जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं " ये अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः पापोपादानानुष्ठानारताः । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

असत्त्व-न० । नास्तित्वे, स्या० । पररूपेणाविद्यमानत्वे, नं० ।

असत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असंयोगे, असंपर्के, षो० ४ विव० ।

असत्थ-अशस्त्र-न० । निरवद्यानुष्ठानरूपे संयमे, " से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजातस्स खेयण्णे " आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

असत्थपरिणय-अशस्त्रपरिणत-त्रि० । अशस्त्रोपहते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । (' अपरिणय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६०१ पृष्ठेऽस्य सूत्राण्युक्तानि)

असदायार-असदाचार-पुं० । सदाचारविलक्षणे हिंसाऽनृतादौ, ध० । असदाचारः सदाचारविलक्षणो हिंसाऽनृतादिर्दशविधः पापहेतुर्भेदरूपः । यथोक्तम्-" हिंसाऽनृतादयः पञ्च, तत्त्वाश्रद्धानमेव च । क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हेतवः " ॥ १ ॥ तस्य गर्हा यथा—

" न मिथ्यात्वसमः शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम् ।
न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥
द्विषद्विषतमोरोगैर्दुःखमेकत्र दीयते ।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २ ॥
वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो, देहिनाऽऽत्मा हुताशने ।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितव्यं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाश्रद्धानं गर्हा; एवं हिंसादिष्वपि गर्हायोजना कार्या। तथा-तस्याऽसदाचारस्य हिंसादेः स्वरूपकथनं यथा-प्रमत्तयोगात्प्राणिव्यपरोपणं हिंसा, असदभिधानं मृषा, अदत्तादानं स्तेयं, मैथुनमब्रह्म, मूर्च्छा परिग्रह इत्यादि । तथा-स्वयमाचारकथकेन परिहारोऽसदाचारस्य संपादनीयः ; यतः स्वयमसदाचारमपरिहरतो धर्मकथनं नटवैराग्यकथनमिवानादेयमयं स्यात्, न तु साध्यसिद्धिकरमिति । तथा-ऋजुभावस्य कौटिल्यत्यागरूपस्यासेवनमनुष्ठानं देशकेनैव कार्यम् । एवं हि तस्मिन्नविप्रतारणकारिणि संभाविते सति शिष्यस्तदुपदेशान्न कुतोऽपि दूरवर्ती स्यादिति ॥ ध० १ अधि० ।

असदारंभ-असदारम्भ-पुं० । प्राणवधादौ, पं० व० ३ द्वार । "बालो ह्यसदारम्भः" बालो हि पूर्वोक्तः, असन् असुन्दर आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमे व्यवच्छिन्नं, तदारभते इत्यसदारम्भः । न सदा सर्वदा स्वस्तिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽस्येति वा । " वृत्तं चारित्रं स-त्वसदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च । सदनुष्ठानम् " असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणातिपाताद्याश्रवपञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद् हिंसादिनिवृत्तिरूपमहिंसादात्मकम् । षो० १ विव० । पञ्चा० ।

असद्द-अशब्द-पुं० । अर्द्धदिग्व्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० । व० स० । शब्दवर्जिते, बृ० ३ उ० ।

असद्दहंत-अश्रद्दधत्-त्रि० । अकामकुर्वति, "भत्तअच्छे वाणिओ असद्दहंतो उड्डेणिए " बृ० ३ उ० । "एक्को देवो असद्दहंतो" नि० चू० १ उ० ।

असद्दहण-अश्रद्दधान-न० । निगोदादिविचारविप्रत्यये, ध० । २ अधि० ।

असप्पवित्ति-असत्प्रवृत्ति-स्त्री० । असुन्दरप्रवृत्तौ, षो० १६ विव० ।

असप्पलावि (ण्)-असत्प्रलापिन्-त्रि० । असद्भावप्रलापिनि, नि० चू० १६ उ० ।

असबल-अशबल-पुं० । मालिन्यमात्ररहिते, प्रश्न० १ संव० द्वार । शबलस्थानदूरवर्त्तिनि, आतु० । निरतिचारे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । अतिचारपङ्काभावात् एकान्तविशुद्धचरणे, भ० २५ श० ७ उ० ।

असबलायार-अशबलाचार-पुं० । विशुद्धाचारे, अशबलः सितासितवर्णोपेतबलीवर्द इवाकर्बुर आचारो विनयशिक्षाभाषागोचरादिको यस्य सोऽशबलाचारः । व्य० ३ उ० ।

असब्भ-असभ्य-त्रि० । सभोपवेशनाऽयोग्ये खले, औ० । आव० । स्या० । अशोभने असद्भावप्ररूपकेऽसभ्ये, यथा '-श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा' इतिवदन्तः पण्डिताः । नि० चू० १६ उ० ।

असब्भवयण-असभ्यवचन-त्रि० । खरकर्कशादिके दुर्वचने, "असब्भवयणेहि य कलुणा विवन्नत्था" दश० ८ अ० २ उ० ।

असब्भाव-असद्भाव-त्रि० । अविद्यमानार्थे, औ० । प्रश्न० । ज्ञा० । अतथ्यभावे, आव० ५ अ० । सद्भावस्याभावे, पिं० । अविद्यमानाः, सन्तः-परमार्थसन्तः, भावा जीवादयोऽभिधेयभूता यस्मिंस्तदसद्भावम् । सर्वव्याप्यादिरूपात्मादिप्रतिपादके कुप्रवचने, उत्त० ३ अ० ।

असब्भावट्ठवणा-असद्भावस्थापना-स्त्री० । अक्षादिषु मुख्याकाररहितां स्थापनायाम्, साध्याकारस्य तत्रासद्भावात् । अनु० ।

असब्भावपट्ठवणा-असद्भावप्रस्थापना-स्त्री० । असद्भूतार्थकल्पनायाम्, भ० ११ श० १० उ० । जी० ।

असब्भावुब्भावणा-असद्भावोद्भावना-स्त्री० । ६ त० । अविद्यमानार्थानामुद्भावने, औ० । यथाऽस्यात्मा सर्वगतः, श्यामा-

कतएडुस्समाओ चेत्यादि (दश० ४ अ०) अचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादि वा । भ० ५ श० ६ उ० ।

असब्भूय--असद्भूत--न० । न सद्भूतमसद्भूतम् । अनृते, आव० ४ अ० ।

असमंजस--असमञ्जस--त्रि० । अघटमानके, "असमंजसं केइ जंपंति" । आ० । आचा० ।

असमंजसचेट्ठिय--असमञ्जसचेष्टित--न० । शास्त्रोत्तीर्णभाषितकरणे (दश० १० अ०) प्राणिवधादौ, पञ्चा० २ विव० ।

असमण--अश्रमण--पुं० । श्रामण्याद्विच्युते, "गंतुं ताय पुणो गच्छे, ण य तेणासमणो सिया ।" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

असमणपाउग्ग--अश्रमणप्रायोग्य--त्रि० । साधूनामनाचरणीये, ध० ३ अधि० ।

असमणुन्न--असमनोज्ञ--त्रि० । अनिष्टे, स्था० ४ ठा० १ उ० । शाक्यादौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । त्रिषष्ट्यधिके प्रावादुकशतत्रये, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेध इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

असमणुन्नाय--असमनुज्ञात--त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्ददाति तदा ददातु' इत्येवमननुज्ञाते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । "असमणुन्नायतस्स अदेंतस्स" नि० चू० १ उ० ।

असमत्त--असमाप्त--त्रि० । अपूर्णे, नि० चू० २ उ० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

असमत्तकप्प--असमाप्तकल्प--पुं० । असमाप्तश्चापरिपूर्णश्च कल्पः । अपरिपूर्णसहाये विपरीते, ध० ३ अधि० । "उउबद्धे वासासु उ-सत्तसमत्तो तदूणगो इयरो । असमत्तो जायाणं, ओहेण ण किंचि आहव्वं" ॥१॥ पञ्चा० ११ विव० । पं० व० ।

असमत्तदंसि (ण्)--असम्यक्त्वदर्शिन्--पुं० । न सम्यगसम्यक्, तस्य भावोऽसम्यक्त्वम्, तद् द्रष्टुं शीलमस्य स तथा । मिथ्यादृष्टौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

असमत्थ--असमर्थ--त्रि० । अशक्ते, पं० व० १ द्वार । क्लीबप्रायश्चिते(?), सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । हेतुदोषे, यथाऽयं हेतुर्न स्वसाध्यगमक इत्यर्थेनासौ स्वसाध्यघातक इति । रत्ना० ७ परि० ।

असमय--असमय--पुं० । असम्यगाचारे पञ्चविंशे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टकाले, अयोग्यकाले च । वाच० ।

असरिसवेसग्गहण--असदृशवेषग्रहण--न० । आर्यादेरनार्यादिनेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार । स्वयमार्यः सन् अनार्यवेषं करोति; पुरुषो वा स्वरूपमन्तर्हितः सन् स्त्रीरूपं विदधातीत्यादि । तदेतदसदृशवेषग्रहणम् । बृ० १ उ० ।

असमवाइकारण--असमवायिकारण--न० । न समवैति, सम-अव-इण्--णिनि । न० त० । समवायिकारणवर्तिनि कारणभेदे, वाच० । यथा-तन्तुसंयोगाः कारणरूपद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

असमाण--असमान--पुं० । न विद्यते समानो यस्य सोऽसमानः गृहस्थान्यतीर्थिकेभ्यः सर्वोत्कृष्टे, "असमाणो चरे भिक्खू" उत्त० । न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्च्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु वा नियतविहारादिनाऽनन्यसमानोऽसदृशः । यद्वा-समानः साहङ्कारो, न तथेत्यसमानः । अथवा-'समाणो त्ति' प्राकृतत्वादसन्निव सन् यत्राऽऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति । इतरसन्निहितो हि सर्वैः स्वाश्रयस्योदन्तमावहति, अयं तु न तथेति; एवंविधः स चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेद्, भिक्षुर्यतिः । उत्त० २ अ० ।

असमारंभ--असमारम्भ--पुं० । समारम्भाऽभावे, "सत्तविहे असमारंभे पण्णत्ते । तं जहा पुढविकाइयअसमारम्भे० जाव अजीवकायअसमारंभे ।" स्था० ७ ठा० ।

असमारंभमाण--असमारम्भमाण--त्रि० । अव्यापादयति, स्था० ६ ठा० । असमारम्भमाणानां पञ्चविधादिसंयमः-

एगिंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसंजमे । एगिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइय असंजमे० जाव वणस्सइकाइयअसंजमे । पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियसंजमे० जाव फासिंदियसंजमे । पंचिंदियाणं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियअसंजमे० जाव फासिंदियअसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगिंदियसंजमे पंचेंदियसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगिंदियअसंजमे० जाव पंचेंदियअसंजमे ।

(एगिंदिया णं जीवा त्ति) एकेन्द्रियान्, णमिति वाक्यालङ्कारे । जीवान्, असमारम्भमाणस्य संघट्टादीनामविषयीकुर्वतः, सप्तदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्युपरमोऽनाश्रवः, क्रियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । एवमन्यान्यपि पदानि । असंयमसूत्रं संयमसूत्रविपर्ययेण व्याख्येयमिति । (पंचिंदियाणमित्यादि) इह सप्तदशप्रकारसंयमभेदस्य पञ्चेन्द्रियसंयमलक्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविवक्षणात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रियानारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्याघातपरिवर्जनं-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं चक्षुरिन्द्रियसंयमादयोऽपि वाच्याः । असंयमसूत्रमेतद्विपर्यासेन बोद्धव्यमिति । (सव्वपाणेत्यादि) पूर्वमेकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजीवाश्रयेण संयमासंयमावुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणादीनां चायं विशेषः-"प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः" ॥ १ ॥ स्था० ५ ठा० २ उ० ।

तेइंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स छव्विहे संजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, घाणामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ, जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, एवं चेव फासामयाओ वि । तेइंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स छव्विहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, घाणाम-

एणं दुक्खेणं संजोयेत्ता भवइ०, जाव फासमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ ।

(तेइंदिएणमित्यादि) कण्ठ्यं, नवरं(असमारंभमाणस्स त्ति) अव्यापादयतः। (घाणामाओ त्ति)घ्राणमयात् सौख्याद् गन्धोपादानरूपात् अव्यपरोपयिता अभ्रंशकता घ्राणमयेन गन्धोपालम्भाभावरूपेण दुःखेनासंयोजयिता भवति । इह चाव्यपरोपणमसंयोजनं च संयमः, अनाश्रवरूपत्वात्, इतरदसंयम इति । स्था० ६ ठा० ।

"चउरिंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स अट्ठविहे संजमे कज्जइ । तं जहा–चक्खुमाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खणं असंजोएत्ता भवइ, एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । चउरिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स अट्ठविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा–चक्खुमाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, चक्खुमएणं दुक्खेणं संजोएत्ता भवइ । एवं जाव फासामाओ सोक्खाओ" ॥ स्था० ८ ठा० । "पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स दसविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोयामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, सोयामएणं दुक्खेणं असंजोइत्ता भवइ । एवं जाव फासामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ । एवं असंजमो वि भाणियव्वो"॥ स्था० १०ठा०।

असमाहड–असमाहृत–त्रि० । अशुद्धे, " वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं असमाहडाए लेस्साए " अशुद्धया लेश्ययोद्गमादिदोषदुष्टमिदमित्येवं चित्तविप्लुत्या। आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

असमाहडसुक्कलेस्स–असमाहृतशुक्ललेश्य–त्रि० । असमाहृताऽनङ्गीकृता शुद्धा शोभना लेश्या येन स तथा । आर्त्तध्यानोपहततयाऽशोभनलेश्ये, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

असमाहि–असमाधि–पुं० । अपध्याने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । समाधानं समाधिः-स्वास्थ्यम्, न समाधिरसमाधिः । अस्वास्थ्यनिबन्धनायां कायादिचेष्टायाम्, आ० म० द्वि० । स्था० । "दसविहा असमाही पण्णत्ता । पाणाइवाए० जाव परिग्गहेरिया असमिइ० जाव उच्चारपासवणखेलसिंघाणगपारिट्ठावणिया असमिई" । ज्ञानादिभावप्रतिषेधे अप्रशस्ते भावे, स्था० १० ठा० ।

असमाहिकर–असमाधिकर–त्रि० । असमाधिकरणशीलोऽसमाधिकरः । आ० म० द्वि० । चित्ताऽस्वास्थ्यकर्त्तरि, प्रश्न० २ संव० द्वार । आ० चू० । असमाधिमरणे च, व्य० ४ उ० ।

असमाहिट्ठाण–असमाधिस्थान–न० । समाधिश्चेतसः स्वास्थ्यम्, मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थः । न समाधिरसमाधिः, तस्य स्थानान्याश्रयाः । ध० ३ अधि० । असमाधिर्ज्ञानादिभावप्रतिषेधः, अप्रशस्तो भाव इत्यर्थः । तस्य स्थानानि पदानि असमाधिस्थानानि । स्था० १० उ० । चित्ताऽस्वास्थ्यस्याश्रयेषु, प्रश्न० ५ संव० द्वार । यैर्हि आसेवितैरात्मपरोभयानामिह परत्रोभयत्र वाऽसमाधिरुत्पद्यते । स्था० १० ठा० ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता । कयरे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता? । इमे खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-दवदवचारिया वि भवति १, अपमज्जियचारिया वि भवइ २, दुपमज्जियचारिया वि भवति ३, अतिरित्तसेज्जासणिए ४, रायणियपरिभासी ५, थेरोवघातिए ६, भूतोवघातिए ७, संजलणे ८, कोहणे ९, पिट्ठीमंसए यावि भवति १०, अभिक्खणं अभिक्खणं ओहारिए ११, णवाइं अधिकरणाइं अणुप्पण्णाइं उप्पाइ वा भवति १२, पोराणाइं अधिकरणाइं खामितविउसमिताइं उदीरित्ता भवति १३, अकाले सज्झायकारिया वि भवति १४, ससरक्खपाणिपाए १५ सद्दकरे १६ भेदकरे झंझकरे १७ कलहकरे असमाहिकरे १८ सूरप्पमाणभोइए १९ एसणाए असमिते यावि भवति २० । एवं खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पण्णत्त त्ति बेमि पढमा दसा सम्मत्ता ॥

ननु यथाकथञ्चित् गुरुविनयभीत्या गुरुपर्युपस्थितेर्यो वा सकाशात्, यथोच्यते–" परिसुट्ठियाणं पासे सुणेइ, सो विणयपरिभासि त्ति " । यदुक्तं स्थविरैः विंशति-रसमाधिस्थानानि प्रज्ञप्तानि । तत्र किं स्थविरैः अन्यतः पुरुषविशेषात्, अपौरुषेयागमात्, स्वतो वा? । तत्रोच्यते-भगवतः सकाशादेवावगम्य तैरधिगम्य प्रज्ञप्ताः, 'थेरेहिं ति' कथनाद् ज्ञानस्थविरैरित्यावेदितं भवति, न तु जातिपर्यायस्थविरैः । जातिपर्यायस्थविरत्वेऽपि श्रुतस्थविरा एव प्रज्ञापयितुं समर्था भवन्ति, इति कृतं प्रसङ्गेन । इत्युक्त उद्देशः । पृच्छामाह–(कयरे इत्यादि) कतराणि किमभिधानानि तान्यनन्तरसूत्रोद्दिष्टानि, खलु-र्वाक्यालङ्कारे । शेषं प्राग्वदिति । निर्देशमाह–इमानि अनन्तरं वक्ष्यमाणत्वाद् हृदि परिवर्त्तमानतया प्रत्यक्षाणि तानि इति, यानि त्वया पृष्टानि । शेषं पूर्ववत् । तद्यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । (दवदवचारिया वि भवति) द्रुतं यो हि द्रुतं द्रुतं संयमात्मविराधनानिरपेक्षो व्रजति-आत्मानं प्रपतनादिभिरसमाधौ योजयति; अन्यांश्च सत्त्वान् घ्नन्नसमाधौ योजयति, सत्त्ववधजनितेन च कर्मणा परलोकेऽप्यात्मानमसमाधौ योजयति, अतो द्रुतं हन्तृत्वसमाकुलतया चलाधिकरणत्वादसमाधिस्थानम्, एवमन्यत्रापि यथायोगमवसेयम् । चशब्दाद् भुञ्जानो भाषमाणः प्रतिलेखनां च कुर्वन् आत्मविराधनां संयमविराधनां च प्राप्नोति । अपिग्रहणात् तिष्ठन् आकुञ्चनप्रसारणादिकं वा द्रुतं द्रुतं कुर्वन् पुनः पुनरवलोकयन्नप्रमार्जयन् आत्मविराधनां च प्राप्नोति । शब्दार्थस्तु भावित एव । ननु स्थानशयनादिषु द्रुतत्वनिषेधे सति किमर्थं गमनमेवोपन्यस्तम्? । उच्यते-यतः पूर्वमीर्यासमितिस्ततोऽन्या, इति हेतोः पूर्वं गमनमेव मुख्यत्वेनोपात्तमिति १ । तथा–(अपमज्जिय त्ति) अप्रमार्जिते अवस्थान-निषीदन-शयनोपकरण-निक्षेपोच्चारादिप्रतिष्ठापनं च करोति २ । तथा-दुष्प्रमार्जितचारी ३ । तथा-(अतिरित्तसेज्जासणिए त्ति) अतिरिक्ताऽतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्यासनिकः । स च-अतिरिक्तायां शय्यायां घट्टशालादिरूपायामन्येऽपि कार्पटिकादय आवासयन्तीति तैः सहाधिकरणसंभवादात्मपरावसमाधौ योजयतीति । एवमासनाधिक्येऽपि वाच्यमिति ४ । तथा–(रायणियपरिभासि त्ति) रात्निकपरिभाषी आचार्यादिपूज्यगुरुपरिभवकारी, अन्यो वा महान् कश्चिज्जातिश्रुतपर्यायाद्यो शिक्षयति, तं परिभवति अवमन्यते, जात्यादि-

भिर्मदस्थानैः अथ वा-"महरो श्रकुलीणो त्ति य,दुम्मेही दमगमं-दबुद्धि त्ति। अवि अप्पलाभलद्धी, सीसो परिभवति आयरियं"॥१॥ इति। एवं च गुरुं परिभवन् आशातनां वा कुर्वन् आत्मानमन्यांश्चाऽसमाधौ योजयत्येव ५। तथा-(थेरोवघाइ त्ति) स्थविरा आचार्यादिगुरवः, तान् आचारदोषेण शीलदोषेणाऽज्ञत्वादिभिर्वोपहन्तीत्येवं शीलः, स एवं चेति स्थविरोपघातिकः ६। तथा-(भूतोवघातिए त्ति) भूतान्येकेन्द्रियादीनि तानि उपहन्तीति भूतोपघातिकः; प्रयोजनमन्तरेण,ऋद्धिरससातगौरवैर्वा, विभूषानिमित्तं वा, आधाकर्मादिकं वा,पुष्टालम्बनेऽपि समाददानः; अन्यद्वा तादृशं किञ्चित् भाषते वा करोति, येन भूतोपघातो भवति ७। (संजलणे त्ति) संज्वलतीति संज्वलनः-प्रतिक्षणं रोषणः, स च तेन क्रोधेनात्मीयं चारित्रं सम्यक्त्वं वा हन्ति, दहति वा ज्वलनवत् ८। तथा-(कोहणे त्ति)क्रोधनः सकृत्क्रुद्धोऽत्यन्तक्रुद्धो भवति, अनुपशान्तवैरपरिणाम इतिभावः ९। तथा-(पिट्ठीमंसए त्ति) पृष्ठिमांसाशिकः, पराङ्मुखस्य परस्यावर्णवादकारी, अगुणभाषीति भावः, स चैवं कुर्वन् आत्मपरौ असमाधौ च इह परत्र चासमाधौ योजयत्येव। अपिशब्दात् साक्षाद् वा वक्ति इति ज्ञेयम् १०। तथा-(अभिक्खणं २ ओहारिए त्ति)अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं अवधारयिता शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्यैव-एवमेवायमित्येवं वक्ता। अथ वा-अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा तथा,दासादिकमपि परं प्रति तथा भणति दासश्चौरस्त्वमित्यादि ११। तथा-(णवाइं इत्यादि) नवानामनुत्पन्नानामाधिकरणानां कलहानामुत्पादयिता, तांश्चोत्पादयन् आत्मानं परं चाऽसमाधौ योजयति। यथा-

" वादो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाणाणं।
साहुपदोसो संसा-रवड्ढणो साधिकरणस्स ॥ १ ॥
अतिभणियं अभणिए वा, तावो भेदो चरित्तजीवाणं।
रूवसरिसं ण सीलं, जिम्हं ति य सो चरति लोए ॥ २ ॥
जं अज्जियं समीख-ल्लएहि तवनियमबंभमइएहिं।
मा हु तयं छिड्डेहिह, बहुवत्तासागपत्तेहिं " ॥ ३ ॥

अथवा नवानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि तेषाम्-"न वावसकलहो वि ण, पढति अवच्छलउ दंसणे हीणो। जह कोवाहिविबुद्धी, तह हाणी होति चरणे वि "॥१॥ नवोत्पादयिता १२। (पोराणाइं ति) पुरातनानां कलहानां क्षमितव्यवशमितानां मर्षितत्वेनोपशान्तानां पुनरुदीरयिता भवति १३। तथा-(अकाले सज्झायेत्यादि) अकाले स्वाध्यायकारकः। तत्र कालः-उत्कालिकसूत्रस्य दशवैकालिकादिकस्य संध्याचतुष्टयं त्यक्त्वाऽनवरतं भणनम्, कालिकस्य पुनराचाराङ्गादिकस्योद्घाटपौरुषीं यावद्भणनम्। अवसानयामं च दिवसस्य, निशायाश्चाद्ययामं च त्यक्त्वा अपरस्त्वकाल एव। अकालस्वाध्यायकरणदूषणानि तु बृहत्कल्पवृत्तितोऽवसेयानि नेह विस्तरस्याऽयुक्तानि १४। तथा-(ससरक्खपाणीत्यादि) सरजस्कपाणिपादो-यः सचेतनादिरजोगुण्डितेन दीयमानां भिक्षां गृह्णाति। तथा-यो हि स्थण्डिलादौ संक्रामन् न पादौ प्रमार्ष्टि। अथ वा-यस्तथाविधकारणे सचित्तादिपृथिव्यां कल्पादिनाऽनन्तरितायामासनादि करोति स सरजस्कपाणिपाद इति। स चैवं कुर्वन् संयमे असमाधिना आत्मानं संयोजयति १५। तथा-(सद्दकरो त्ति) शब्दकरः सुप्ते प्रहरमात्रादूर्ध्वं रात्रौ महता शब्देनोल्लापस्वाध्यायादिकारको गृहस्थभाषाभाषको वा वैरात्रिकं वा कालग्रहणं कुर्वन् महता शब्देनोल्लपति। दोषाश्चेहोत्तराध्ययनवृत्तेरवसेयाः १६। तथा-(भेदकरे त्ति) येन कृतेन गच्छस्य भेदो भवति तत्तदानिष्टते (झंझकरे त्ति) झञ्झकरोति येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते, तद्भाषते वा १७। तथा-(कलहकरे त्ति) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति; स चैवं गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानं भवति इति वाक्यशेषः १८। तथा-(सूरप्पमाणभोई) सूरप्रमाणभोजी सूर्योदयादस्तमयं यावदशनपानाद्यभ्यवहारी; उचितकाले स्वाध्यायादि न करोति, प्रतिप्रेरितो रुष्यति, अजीर्णे च बह्वाहारेऽसमाधिः संजायत इति शेषः १९। तथा-(एसणासमिए असमिए यावि भवति त्ति) एषणायां समितश्चापि संयुक्तोऽपि नानेषणां परिहरति, प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते। अनेषणीयं मां परिहरन् जीवोपरोधं करोते। एवं चात्मपरयोरसमाधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विंशतितममिति २०। (एवं खलित्यादि) एवमित्यनन्तरोक्तेन विधिना, खलुर्वाक्यालङ्कृतौ। शेषं व्याख्यातार्थम्। (इति बेमि त्ति) इति परिसमाप्तावेवमर्थो वा। एतानि असमाधिस्थानानि अनेन वा प्रकारेण ब्रवीमीति गणधरादिगुरूपदेशतो, नतु स्वोत्प्रेक्षयेत्युक्तोऽनुगमः; नयप्रस्तारस्त्वन्यतोऽवसेयः। दशा० १ अ०। स०। आ० चू०। आव०॥

असमाहिमरण-असमाधिमरण-न०। बालमरणे, आतु०।

असमाधिमरणे दोषाः-

जे पुण अट्टमईया, पयलियसन्ना य वक्कभावा य।
असमाहिणा मरंति उ,न हु ते आराहगा भणिया ॥५०॥

ये पुनर्जीवाः,अष्टौ मदस्थानानि येषां तेऽष्टमदिकाः 'अट्टमई-आ' इति पाठे आर्ते आर्तध्याने मतिर्येषां ते आर्तमतिकाः स्वार्थे इकप्रत्ययः, प्रचलिता विषयकषायादिभिः सन्मार्गात्परिभ्रष्टा संज्ञा बुद्धिर्येषां ते प्रचलितसंज्ञाः। प्रगलितसंज्ञा वा, चः समुच्चये; वञ्च्यते संवल्यते आत्मा परो वा ऐहिकपारत्रिकलाभाद्येन स वक्रः, कुटिलो वा भावो येषां ते तथा, यत एवंविधा अत एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरूपेण म्रियन्ते। न हु नैव, हुरेवार्थे,ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः। आतु०।

असमाहिमरणज्झाण-असमाधिमरणध्यान-न०। "असमाधिना एष म्रियताम्"इति चिन्तनमसमाधिमरणध्यानम्। स्कन्दकाचार्यं प्रतिकुर्वं प्रथमं,यन्त्रे पीलयतो भव्यपालकस्येव दुर्ध्याने,आतु०।

असमाहिय-असमाहित-त्रि०। अशोभने बीभत्से दृष्टे च। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सत्साधुप्रद्वेषित्वात् शुभाध्यवसायरहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। मोक्षमार्गाख्याद् भावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

असमिक्खियकारि (ण्)-असमीक्षितकारिन्-त्रि०। अनालोचितकारिणि, दशा० ६ अ०।

असमिक्खियप्पलावि (ण्)-असमीक्षितप्रलापिन्-पुं०। अपर्यालोचितानर्थकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। " अणाहितं पुव्वावरं इहपरलोगगुणदोसं वा जो सहसा भणइ, सो असमिक्खियप्पलावी "। नि० चू० ८ उ०। (' चंचल ' शब्दे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

असमिक्खियभासि (ण्)-असमीक्षितभाषिन्-पुं०। अपर्यालोचितवक्तरि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

असमिय-असमित-पुं० । समितिषु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ विव० । ईर्यादिषु समितिषु अनुपयुक्ते, कल्प० ६ क्ष० । "एसो समिओ भणिओ, असो पुण असमिओ इमो होइ । सो काइयभोमाई, एक्केक्के नवरि पडिलेहे ॥१॥ नव तिन्नि तिन्नि गेहे, बेति किमेत्थं निविट्ठाहो ।" आघ० ४ अ० ।

असम्यक्-त्रि० । असङ्गते, आचा० ।

असमियं ति मण्णमाणस्स एगदा समिया होइ, समियं ति मण्णमाणस्स एगदा असमिया होइ ।

कस्यचिन्मिथ्यात्वलेशानुविद्धस्य-कथं पौद्गलिकः शब्दः ?, इत्यादिकमसम्यगिति मन्यमानस्यैकदेति मिथ्यात्वपरिणामोपशामतया शङ्काविचिकित्साऽऽद्यभावे गुर्वाद्युपदेशतः सम्यगिति भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ॥

असमोहय-असमवहत-त्रि० । दण्डादुपरते, अकृतसमुद्घाते च । भ० १९ श० ३ उ० ।

असम्मत्त-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुद्वेगे, आव० ४ अ० ।

असम्मत्तपरीसह-असम्यक्त्वपरीषह-पुं० । असम्यक्त्वसहनकारिणि, सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निस्सङ्गश्चाहं, तथाऽपि धर्माधर्मात्मदेवनारकादिनार्थं नेक्षे,अतो मृषा समस्तमेतदिति असम्यक्त्वपरीषहः। तत्रैवमालोच्यते-धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ यदि कर्म रूपौ पुद्गलात्मकौ,ततस्तयोः कार्यदर्शनादनुमानसमाधिगम्यत्वम् । अथ क्षमाक्रोधादिकौ धर्माधर्मौ,ततः स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः। देवास्त्वत्यन्तसुखासक्तत्वान्मनुष्यलोके च कार्याभावाद्दमनुष्यभावाच्च न दर्शनगोचरमायान्ति । नारकास्तु तीव्रवेदनार्ताः पूर्वकृतकर्मोदयनिगडबन्धनवशीकृतत्वादस्वतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोचयतोऽसम्यक्त्वपरीषहजयो भवति । आव० ४ अ० ।

असयं-अस्ययम्-अव्य० । परत इत्यर्थे, भ० ६ श० ३२ उ० ।

असरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्था० ४ ठा० १ उ० । स्वार्थप्रापकवर्जिते , प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शरणम्—नालम्बमाने, आचा० । शरणं गृहं,नात्र शरणमस्तीति अशरणः। संयमे, " लोगे अदक्खू एताइं सोउलाई गच्छति णायपुत्ते असरणाए " आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

असरणभावणा-अशरणभावना-स्त्री० । आत्मनोऽशरणत्वपर्यालोचनायाम्, प्रव० । सा च अशरणभावना-

" पितुर्मातुर्भ्रातुस्तनयदयिताद्देश्च पुरतः,
प्रभूताऽऽधिव्याधिव्रजनिगडिताः कर्मचरटैः ।
रटन्तः क्षिप्यन्ते यममुखगुहान्तस्तनुभृतो,
हहा ! कष्टं लोकः शरणरहितः क्वास्यति कथम् ? ॥ १ ॥
ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविसरं ये मन्त्रतन्त्रक्रिया-
प्रावीण्यं प्रथयन्ति ये च दधति ज्योतिःकलाकौशलम् ।
तेऽपि प्रेतपतेरथुष्य सकलत्रैलोक्यविध्वंसन-
व्यग्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागल्भ्यमाबिभ्रति ॥ २ ॥
नानाशस्त्रपरिश्रमोद्भटभटैरावेष्टिताः सर्वतो,
गत्युद्दाममदान्धसिन्धुरशतैः केनाप्यगम्याः क्वचित् ।
शक्रश्रीपतिचक्रिणोऽपि सहसा कीनाशदासैर्बला-
दाकृष्टा यमवेश्म यान्ति हह हा ! निस्त्राणता प्राणिनाम् ॥ ३ ॥
उद्दामं ननु दण्डमत्सरसुरगिरिं पृथ्वीं पृथुच्छत्रसात् ,
ये कर्तुं प्रभविष्णवः कृशमपि क्लेशं विनैवात्मनः ।
निःसामान्यबलप्रपञ्चचतुरास्तीर्थंकरास्तेऽप्यहो !,
नैवाशेषजनौघघस्मरमपाकर्तुं कृतान्तं क्षमाः ॥ ४ ॥
कलत्रमित्रपुत्रादि-स्नेहग्रहनिवृत्तये ।
इति शुद्धमतिः कुर्या-दशरणत्वभावनाम् ॥५॥ प्रव० ६७द्वा० ।

अशरणभावना चैवम्-

" इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम् ।
अहो ! तदन्तकातङ्के, कः शरण्यः शरीरिणाम् ? " ॥ १ ॥
शरणे साधुः शरण्यः । तथा-
" पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातु-स्तनयानां च पश्यताम् ।
अत्राणो नीयते जन्तुः, कर्मभिर्यमसद्मनि ॥ २ ॥
शोचन्ति स्वजनानन्तं, नीयमानान् स्वकर्मभिः ।
नेष्यमाणं न शोचन्ति, नात्मानं मूढबुद्धयः ॥ ३ ॥
संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलद्ज्वालाकरालिते ।
वने मृगार्भकस्येव, शरणं नास्ति देहिनः" ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

असरणाणुप्पेहा-अशरणानुप्रेक्षा-स्त्री० । जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते जिनवरवचनादन्यत्रास्ति शरणं क्वचिल्लोके इत्येवमशरणस्य (अत्राणस्य) अनुप्रेक्षायाम् , स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असरिस-असदृश-त्रि० । विसदृशे, "असरिसजणउल्लावा न-हु सहियव्वा" आव० ४ अ० ।

असरिसवेगग्गहण-असदृशवेषग्रहण-न० । आर्यादेरनार्यादिनेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार ।

असरीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरोऽशरीरः । औदारिकादिपञ्चविधशरीररहिते, आ० म० द्वि० । सिद्धे, "असरीरा जीवघणा दंसणनाणोवउत्ता" औ० । स्था० ।

असरीरपडिबद्ध-अशरीरप्रतिबद्ध-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, भ० १८ श० ३ उ० ।

असलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । अकीर्तिसाधने असाधुवादे, ग० २ अधि० ।

असलिलप्पलाव-असलिलप्लाव-पुं० । अजलप्लावे, अन्नं विना रेचिरित्यर्थः । तं० ।

असलिलप्पवाह-असलिलप्रवाह-पुं० । अजलप्रवाहे, तं० ।

असवणया-अश्रवणता-स्त्री० । अनाकर्णने, "इमस्स धम्मस्स असवणयाए" ध० ३ अधि० ।

असव्वउज्झण-असद्व्ययोज्झन-न० । पुरुषार्थानुपयोगिविनविनियोगत्यागे, न सद्व्ययोऽसद्व्ययस्तत्र धनोज्झनम् । द्वा० १२ द्वा० ।

असव्वग्घ-असर्वघ्न-न० । न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तदसर्वघ्नम् । केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहिते आवरणे, पं०सं०४ द्वार ।

असव्वण्णु-असर्वज्ञ-त्रि० । छद्मस्थे अर्वाग्दर्शिनि, " सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्, तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ?" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ण्)-असर्वदर्शिन्-त्रि० । छद्मस्थे, द्वा० २३द्वा० ।

असव्वय-असद्व्रत-न० । असत्ये, "मिच्छ त्ति वा, वितह त्ति

वा, असद्धं ति वा, असव्वयं ति वा, अकरणीयं ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

असव्वासि (ण्)-असर्वाशिन्-त्रि० । अल्पभोजिनि, व्य० १ उ० ।

असह-असह-त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । जीत० ।

असहाय-असहाय-त्रि० । एकाकिनि, बृ० ४ उ० । आ० म० । अविद्यमानसहाये,यः कुतीर्थिकप्रेरितोऽपि सम्यक्त्वादाविचलनं प्रति परसाहाय्यमनपेक्षमाणस्तस्मिन्, दशा०१० अ०। आ० क०।

असाहिज्ज-असाहाय्य-त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहाय्यमनपेक्षमाणे, उपा० १ अ० ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं वक्ष्यते)

असहीण-अस्वाधीन-त्रि० । अस्ववशे, "असहीणेहिं सारही-आउरंगेहिं" । दश० ८ अ० ।

असहु-असह-त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० भा० । सुकुमारे राजपुत्रादौ प्रव्रजिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । असमर्थे, ओघ० । ग्लाने, नि० चू० १ उ० ।

असहिष्णु-त्रि० । राजादिदीक्षिते सुकुमारपादे, बृ० ३ उ० ।

असहुवग्ग-असहवर्ग-पुं० । असमर्थे राजपुत्रादौ, ध० ४ अधि० । पं० चू० ।

असहेज्ज-असाहाय्य-पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिकमत्यन्तसमर्थत्वाद् येषां तेऽसाहाय्याः । आपद्यपि देवादिसाहाय्यकानपेक्षेषु स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तिषु, भ० २ श० ५ उ० । ये पाखण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यक्त्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमपेक्षन्ते स्वयमेव तत्प्रतीघातसमर्थत्वाज्जिनशासनात्यन्तभावितत्वात् तेषु तथाविधेषु श्रावकेषु, भ० २ श० ५ उ० ।

असागारिय-असागारिक-त्रि० । सागारिकसंपातरहिते प्रदेशादौ, व्य० ३ उ० । गृहस्थेनादृश्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

असाधा (हा) रण-असाधारण-त्रि० । अनन्यसदृशे, दर्श० । उपादानहेतौ, अने० २ अधि० ।

असाधारणाणेगंतिय-असाधारणानैकान्तिक-पुं० । नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात् इत्यादिसपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वेन संशयजनके हेत्वाभासे, रत्ना० ६ परि० ।

असाय (त)-असात-न० । न०त०। दुःखे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० १५ उ० । असुखे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्था० । असातवेद्यकर्मणि-सविपाकजे,आचा० १ श्रु० ४ अ० ६ उ० । मनःप्रतिकूले दुःखे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप्रीत्युत्पादके, अनु० । असातवेदनीयकर्मोदये,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "छव्विहे असाए पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसाए० जाव नोइंदियअसाए" । स्था० ६ ठा० । असातवेदनीये कर्मणि,उत्त० ३३ अ० । असाताख्यवेदनीये वेदनीयकर्मभेदप्रभवायाम् (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) दुःखरूपायां वेदनायाम, स्त्री० । प्रज्ञा० ३५ पद ।

असायज्जण-अस्वादन-न० । अननुमनने, व्य० ४ उ० ।

असा (स्सा) यण-आश्वायन-पुं० । अश्वर्षिसन्ताने, जं० ७ वक्ष० ।

असायबहुल-असातबहुल-त्रि० । दुःखप्रचुरे, संथा० । "दुःखो असायबहुला मणुस्सा" । दश० १ चू० । (एतच्च तृतीयं स्थानम् 'अट्ठारसट्ठाण' शब्देऽत्रैव भागे २४६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

असाय (या) वेयणिज्ज-असातवेदनीय-न० । असातं दुःखं, तद्रूपेण यद् वेद्यते, तदसातवेदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । प्रज्ञा० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स० ३७ सम० । वेदनीयकर्मभेदे, स्था० ७ ठा० ।

असार-असार-त्रि० । साररहिते तं० । " उग्गमुप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं । साहारणं अयाणंतो, साहू होइ असारओ " ॥१॥ ओघ० ।

असारंभ-असारम्भ-पुं० । प्राणिवधार्थमसंकल्पे, " सत्तविहे असारंभे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसारंभे० जाव अजीवकाइयअसारंभे । " स्था० ७ ठा० ।

असावगपाउग्ग-अश्रावकप्रायोग्य-त्रि० । न० त० । श्रावकानुचिते, ध० २ अधि० ।

असावज्ज-असावद्य-त्रि० । अपापे, " असावज्जमकक्कसं " दश० ७ अ० । " अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया" । दश० ५ अ० । चौर्यादिगर्हितकर्मानालम्बने प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ।

असासय-अशाश्वत-त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छश्वद् भवतीति शाश्वतं, ततोऽन्यदशाश्वतम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । अशश्वद्भवनस्वभावे, रा० । प्रतिक्षणं विशरणे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । क्षणं क्षणं प्रति विनश्वरे,तं० । आ० म० । भ० । आचा० । अपराऽपरपर्यायप्रापिते, स्था० १० ठा० । उत्त० । स्वप्नेन्द्रजालसदृशे अनित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । संसारिणि, स्था० २ ठा० १ उ० । " अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च । देवासुरमनुष्याणां-मृद्धयश्च सुखानि च " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । जन्ममरणादिसहितत्वात् संसारिणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (भावप्राधान्येन तु) विनाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अविद्यमानं शाश्वतमस्मिन्नित्यशाश्वतः संसारः । अशाश्वतं हि सकलमिह राज्यादि । तथा हारिलवाचकः-

" चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारः परिजनो,
नृपत्वाद् यल्लभ्यं चलममरसौख्यं च विपुलम् ।
चलं रूपारोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,
जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः" ॥१॥ उत्त० ८ अ० ।

असाहीण-अस्वाधीन-त्रि० । परायत्ते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

असाहु-असाधु-त्रि० । अमङ्गले, बृ० १ उ० । अशोभने,सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । अनर्थोदयहेतौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निर्वाणसाधकयोगापेक्षया (दश० ७ अ०) आजीविकादौ कुदर्शनिनि, नि० ३ वर्ग । असंयते, स्था० ७ ठा० । षड्जीवनिकायवधाऽनिवृत्ते औद्देशिकादिभोजिनि अब्रह्मचारिणि, स्था० १० ठा० । अविशिष्टकर्मकारिणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असाहुकम्म-असाधुकर्मन्-न० । क्रूरकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । जन्मान्तरकृताऽशुभानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

असाहुदिट्ठि-असाधुदृष्टि-पुं० । परतीर्थिकदृष्टौ, व्य० ४ उ० ।

असाहुधम्म--असाधुधर्म--पुं० । वस्तुदानस्नानतर्पणादिके अ-संयतधर्मे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

असाहुया--असाधुता--स्त्री० । कुगतिगमनादिकरूपायाम, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । ओहस्वभावतायाम, उत्त० ३ अ० ।

असाहुवं--असाधुवत्--अव्य० । असाधुमर्हति यथोक्तं मुकुटिभ-ङ्गादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना तुल्यं वर्तते, उत्त० ३ अ० ।

असि--असि--पुं० । खड्गे, उपा० २ अ० । नि० चू० । जी० । रा० । दश० । विपा० । सं० । औ० । "असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था" । असिमुद्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ताः । "प्रहरणात्" ॥३।१।१५४॥ इति सप्तम्यन्तस्य पाक्षिकः परनिपातः, जी० ३ प्रति० । असुपलक्षिते सेवकपुरुषे, "असिमर्षीकृषी-वाणिज्यवर्जिताः" तत्रासिनोपलक्षिताः सेवकाः पुरुषाः असं-यमाः मष्युपलक्षिता लेखनजीविनः मषयः, कृषिरिति--कृषिकर्मो-पजीविनः, वाणिज्यमिति--वणिग्जनोचितवाणिज्यकर्मोपजी-विनः । तं० । असिना यो देवो नारकान् छिनत्ति सोऽसिदेव । परमाधार्मिकनिकाये, भ० ३ श० ६ उ० ।

हत्थे पाए ऊरू, बाहु सिरा पाय अंगमंगाणि ।
छिंदंति पगामं तू, असि णेरइए निरयपाला ॥ ७८ ॥

(हत्थेत्यादि) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयव-र्तिनो नारकानेवं कदर्थयन्ति । तद्यथा--हस्तपादोरुबाहुशिरः-पार्श्वादीन्यङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति प्रकाममत्यर्थं खण्डयन्ति, तु-शब्दोऽपरदुःखोत्पादनविशेषणार्थ इति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वाराणस्यां सरिद्भेदे, ती० ३८ कल्प० ।

असिकुंमतित्थ--असिकुण्डतीर्थ--न० । स्वनामख्याते मथुरास्थे तीर्थे, ती० ९ कल्प० ।

असिक्खग--अशिक्षक--त्रि० । चिरप्रव्रजिते, दश० १ अ० ।

असिखुरधार--असिक्षुरधार--पुं० । क्षुरस्येव धारा यस्य असेः अतिच्छेदके खड्गे, उपा० २ अ० ।

असिखेमग--असिखेटक--न० । असिना सह फलके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असिचम्मपाय--असिचर्मपात्र--न० । स्फुरके, भ० । "असिचम्म-पायं गहाय" । असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा--असिश्च खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशको वा असिचर्मपात्रं, तद् गृ-हीत्वा । "असिचम्मपायहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं ति" । असि-चर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः आश्रितः कृत्यगतः, ततः कर्मधारयः, अतस्तेन आत्मना । अथ-वा--असिचर्मपात्रं कृत्या हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्त-कृत्वाकृतः, तेन । प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । अथवा--असिचर्मपात्र-स्य हस्तकृत्यं हस्तकरणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । भ० ३ श० ५ उ० ।

असिट्ठ--अशिष्ट--त्रि० । अनाख्याते, नि० चू० २ उ० । अक-थिते, वृ० २ उ० । आ० म० ।

असिणाण--अस्नान--त्रि० । अविद्यमानस्नाने, पंचा० १० विव० । " असिणाणवियडभोई " अस्नानोऽरात्रिभोजी चेत्यर्थः । उपा० १ अ० । आचा० ।

" तम्हा ते ण सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठिया " ॥ ६३ ॥

दश० ६ अ० । ध० ।

असित्थ--असिक्थ--न० । सिक्थवर्जिते पानकाहारे, पञ्चा० ५ विव० ।

असिद्ध--असिद्ध--पुं० । संसारिणि, नं० । जी० । स्था० । सूत्र० । हेत्वाभासभेदे, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमभिदधति--

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥ ४८ ॥

अन्यथाऽनुपपत्तेर्विपरीताया अनिश्चितायाश्च विरुद्धानैकान्ति-कत्वेन कीर्त्तयिष्यमाणत्वादिह हेतुस्वरूपा प्रतीतिरेवैकान्य-थाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा रूपवत्या; हेतुस्वरूपा प्रतीतिश्चेयम-ज्ञानात्, सन्देहाद्, विपर्ययाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अथामुं भेदतो दर्शयन्ति--

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य वादिप्रतिवादिसमुदायस्यासिद्धः; अन्यतरस्य वादि-नः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यभेदं वदन्ति--

उभयासिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥५०॥

चक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषः, तस्य भावश्चाक्षुषत्वं, तस्मात् । अयं च वादिप्रतिवादिनोरुभयोरप्यसिद्धः, श्रावणत्वाच्छ-ब्दस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति--

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरवो, विज्ञानेन्द्रियायु-र्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

ताथागतो हि तरूणामचैतन्यं साधयन् विज्ञानेन्द्रियायुर्नि-रोधलक्षणमरणरहितत्वादिति हेतूपन्यासं कृतवान् । स च जैनानां तरुचैतन्यवादिनामसिद्धः । तदागमे द्रुमेष्वपि विज्ञाने-न्द्रियायुषां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इदं च प्रतिवाद्यसिद्धापे-क्षयोदाहरणम् । वाद्यसिद्धापेक्षया तु--अचेतनाः सुखादयः, उ-त्पत्तिमत्त्वादिति । अत्र हि वादिनः साङ्ख्यस्योत्पत्तिमत्त्वमप्र-सिद्धम्; तेनाविर्भावमात्रस्यैव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

नन्वित्थमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैश्चक्रे--स्वरूपेणासिद्धः, स्वरू-पं वाऽसिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा--अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वादिति । ननु चाक्षुषत्वं रूपादावस्ति, तेनास्य व्यधिक-रणासिद्धत्वं युक्तम् । न । रूपाद्यधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । शब्दधर्मिणि चोपदिष्टं चाक्षुषत्वं न स्वरूपतोऽस्तीति स्वरूपा-सिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावसिद्धश्चेति व्यधि-करणासिद्धः; यथा--अनित्यः शब्दः, पटस्य कृतकत्वादिति । ननु शब्देऽपि कृतकत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् । नचान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । मीमांसकस्य वा कुर्वतो व्यधिकरणासिद्धम् । २ । विशेष्यमसिद्धं यस्यासौ विशे-ष्यासिद्धः; यथा--अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वा-त् । ३ । विशेषणासिद्धः; यथा--अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । ४ । पक्षैकदेशासिद्धपर्यायः पक्षभागेऽसिद्धत्वा-त् भागासिद्धः; यथा--अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । ननु च वाय्वादिसमुत्थशब्दानामपीश्वरप्रयत्नपूर्वकत्वात् कथं भागासिद्धत्वम् ?। नैतत् । प्रयत्नस्य तीव्रमन्दादिभावानन्तरं श-

त्वस्य तथाभावो हि प्रयत्नानन्तरीयकत्वं विवक्षितम् । नचेश्वरप्रयत्नस्य तीव्रादिभावोऽस्ति, नित्यत्वात् । अनभ्युपगतेश्वरं प्रति वा स्वरूपासिद्धत्वम् ।५। आश्रयासिद्धः; यथा-अस्ति प्रधानं, विश्वस्य परिणामिकारणत्वात् । ६ । आश्रयैकदेशासिद्धः; यथा-नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः, अकृतकत्वात् । अत्र जैनस्य पुरुषः सिद्धो, न प्रधानेश्वरौ । ७ । सन्दिग्धाश्रयासिद्धः; यथा-गोत्वेन संदिह्यमाने गवये आरण्यकोऽयं गौः, जनदर्शनोत्पन्नत्रासत्वात् ।८। संदिग्धाश्रयैकदेशासिद्धः; यथा-गोत्वेन संदिह्यमाने गवये गवि च आरण्यकावेतौ गावौ, जनदर्शनोत्पन्नत्रासत्वात् । ९ । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यसिद्धः; यथा-आश्रयहेत्वोः स्वरूपनिश्चये आश्रये हेतुवृत्तिसंशये मयूरवानयं प्रदेशः, केकायितोपेतत्वात् । १० । आश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्त्यसिद्धः; यथा-आश्रयहेत्वोः स्वरूपनिश्चये सत्येवाऽऽश्रयैकदेशे हेतुवृत्तिसंशये मयूरवन्तावेतौ सहकारकर्णिकारौ, तत एव । ११ । व्यर्थविशेषणासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । १२ । व्यर्थविशेष्यासिद्धः; यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । १३ । संदिग्धासिद्धः; यथा-धूमबाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह-वह्निमानयं प्रदेशः, धूमवत्त्वात् । १४ । संदिग्धविशेष्यासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । १५ । संदिग्धविशेषणासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । १६ । एकदेशासिद्धः; यथा-प्रागभावो वस्तु, विनाशोत्पादधर्मकत्वात् । १७ । विशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावम्, द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वात् । अत्र जैनान् प्रति तिमिरे द्रव्यातिरेको न सिद्धः । १८ । विशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावं, कार्यत्वे सति द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् । । १९ । संदिग्धैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । अत्र लिङ्गादनिश्चिते रागित्वे संदेहः । २० । संदिग्धविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वे सति पुरुषत्वात् । २१ । संदिग्धविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, पुरुषत्वे सति रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । २२ । व्यर्थैकदेशासिद्धः; यथा-अग्निमानयं पर्वतप्रदेशः, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । २३ । व्यर्थविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात् । अत्र बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यस्यापि रूपत्वादिसामान्यस्य गुणत्वाभावाद्व्यभिचारपरिहाराय सामान्यवत्त्वे सतीति सार्थकम्; प्रमेयत्वं तु व्यर्थम् । २४ । व्यर्थविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वात् । २५ । एवमन्येऽप्येकदेशासिद्धयादिद्वारेण भूयांसोऽसिद्धभेदाः स्वयमभ्यूह्य वाच्याः । उदाहरणेषु चैतेषु दूषणान्तरस्य सम्भवतोऽप्यप्रकृतत्वादनुपदर्शनम् । त एते भेदा भवद्भिः कथं नाभिहिताः ? ॥

उच्यते—एतेषु ये हेत्वाभासतां भजन्ते, ते यदोभयवाद्यसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते, तदोभयासिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वन्यतरासिद्धत्वेन तदाऽन्यतरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धस्तु हेत्वाभासो न भवत्येव । व्यधिकरणादपि पित्रोर्ब्राह्मण्यात्पुत्रे ब्राह्मण्यानुमानदर्शनात्, नटभटादीनामपि ब्राह्मण्यं कस्मान्नायं साधयतीति चेत् ? । पक्षधर्मोऽपि पर्वतद्रव्यता तत्र चित्रभानुं किमिति नानुमापयति ?, इति समानम् । व्यभिचारात्त्वेन, तदपि तुल्यम् । अविनाभावित्वमेव हि गमकत्वम् । एवं तर्हि प्रयोजकसम्बन्धेन सम्बन्धो हेतुः कथं व्यधिकरणः ? इति चेत् । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धाभावाद् वैयधिकरण्यमुच्यते, तदानीं संमतमेवैतदस्माकं दोषः, किन्तु प्रमेयत्वादयोऽपि व्यधिकरणा एव वाच्याः स्युर्न व्यभिचारादयः । तस्मात्पक्षान्यधर्मत्वाभिधानादेव व्यधिकरणो हेत्वाभासस्ते सम्मतः, स चागमक इति नियमं प्रत्याचक्ष्महे । अथ प्रतिमोहशक्त्याऽन्यथाभिधानेऽपि ब्राह्मणजन्यत्वादित्येवं हेत्वर्थे प्रतिपद्य साध्यं प्रतिपद्यते इति चेत्, एवं तर्हि प्रतिमोहशक्त्यैव पटस्य कृतकत्वादित्यभिधानेऽपि पटस्य कृतकत्वादनित्यत्वं दृष्टम् । एवं शब्दस्यापि तत एव तदस्थितिप्रतिपत्तौ नायमपि व्यधिकरणः स्यात्; तस्मादर्थापत्तौ हेतुस्तथैव तद्गमकत्वं चिन्तनीयम् । नच यस्मात्पटस्य कृतकत्वं तस्मात्तदन्येनाप्यनित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्तिः । अतोऽसौ व्यभिचारादेवागमकः । एवं काककार्ष्ण्यादिरपि । कथं वा व्यधिकरणोऽपि जलचन्द्रो नभश्चन्द्रस्य, कृत्तिकोदयो वा शकटोदयस्य गमकः स्यात् ?, इति नास्ति व्यधिकरणो हेत्वाभासः । आश्रयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति सर्वज्ञः, चन्द्रोपरागादिज्ञानान्यथाऽनुपपत्तेरित्यादेरपि गमकत्वनिर्णयात् । कथमत्र सर्वज्ञधर्मिणः सिद्धिः ? इति चेत्, असिद्धिरपि कथमिति कथ्यताम् ? । प्रमाणागोचरत्वादस्येति चेत्, एवं तर्हि तत्रापि तत्सिद्धिः कथं स्यात् ? । ननु को नाम सर्वज्ञधर्मिणमस्यधात्, येनैष पर्यनुयोगः सोपयोगः स्यादिति चेत् ? । नैवम् । प्रमाणागोचरत्वादित्यतः सर्वज्ञो धर्मी न भवतीति सिषाधयिषितत्वात् । अन्यथेदमम्बरं प्रति निशिततर-तरवारिव्यापारप्रायं भवेत् । एवं च-

" आश्रयासिद्धता तेऽनुमाने न चेत्;
साऽनुमाने मदीये तदा किं भवेत् ? ।
आश्रयासिद्धता तेऽनुमानेऽस्ति चेत्,
साऽनुमाने मदीये, तदा किं भवेत् ? " ॥

यदि त्वदीयानुमानेनाश्रयासिद्धिरस्ति, तदा प्रकृतेऽप्यसौ मा भूद्; धर्मिण उभयत्राप्यैक्यात्; अन्यस्यास्य प्रकृतानुपयोगित्वात् । अथास्ति तत्राश्रयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एषा कथं मदीयेऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च--

" विकल्पाद्धर्मिणः सिद्धिः, क्रियतेऽथ निषिध्यते ।
द्विधाऽपि धर्मिणः सिद्धि-र्विकल्पात्ते समागता " ॥ १ ॥

द्वयमपि नास्मि करोमीत्यप्यनभिधेयम्, विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्विधानस्य प्रतिषेधस्य चासंभवात् । यदि च द्वयमपि न करोषि तदा व्यक्तममूल्यक्रयी कथं नोपहासाय जायसे ? तथा तस्यामाश्रयासिद्धयुद्भावनाऽघटनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि प्रमाणमन्वेषणीयम्, तदा प्रमाणसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरमन्विष्यताम् । अन्यथा तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्याप्तं प्रमाणान्वेषणेन, अहमहमिकया प्रमाणलक्षणपरीक्षणं परीक्षकाणामकक्षीकरणीयं च स्यात्; तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धेः । तथा च चाक्षुषत्वादिरपि शब्दानित्यत्वे साध्ये सम्यग्हेतुरेव भवेदिति चेत् । तदल्पम् । विकल्पाद्धि सत्त्वासत्त्वसाधारणं धर्मिमात्रं प्रतीयते, न तु तावन्मात्रेणैव तदस्तित्वस्यापि प्रतीतिरस्ति; यतोऽनुमानाऽनर्थक्यं भवेत् । अन्यथा पृथिवीधरसाक्षात्कारे कृशानुमत्त्वसाधनमप्यपार्थकं भवेत्; तस्याग्निमतोऽनग्निमतो वा प्रत्यक्षेणैव प्रे-

क्षणात्। अग्निमत्त्वाऽनग्निमत्त्वविशेषशून्यस्य शैलमात्रस्य प्रत्यक्षेण परिच्छेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत्; तर्ह्यस्तित्वनास्तित्वविशेषशून्यस्य सर्वज्ञमात्रस्य विकल्पेनाऽऽकलनात् कथमत्राप्यनुमानानर्थक्यं स्यात् ?। अस्तित्वनास्तित्वव्यतिरेकेण कीदृशी सर्वज्ञमात्रसिद्धिरिति चेत् ? ; अग्निमत्त्वानग्निमत्त्वव्यतिरेकेण क्षोणीधरमात्रसिद्धिरपि कीदृशी ? इति वाच्यम्। क्षोणीधरोऽयमित्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेवेति चेत्, इतरत्रापि सर्वज्ञ इत्येतावन्मात्रज्ञप्तिरेव साऽस्तु; केवलमेका प्रमाणलक्षणोपपन्नत्वात् प्रामाणिकी, तदन्या तु तद्विपर्ययाद्वैकल्पिकीति । ननु किमनेन दुर्भगाऽभरणभारायमाणेन विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्यादिति चेत् ?। तदयुक्तम् । यतः प्रामाणिकोऽपि षट्तर्कीपरितर्ककर्कशशेमुषीविशेषसङ्ख्यावद्विराजिराजसभायां खरविषाणमस्ति नास्ति वेति केनापि प्रसर्पद्दर्पोद्धुरकन्धरेण सावेशं प्रत्याहतोऽवश्यं पुरुषाभिमानी किञ्चिद् ब्रूयाद्, न तूष्णीमेव पुष्णीयात् ; अप्रकृतं च किमपि प्रलपन् सनिकारं निस्सार्येत; प्रकृतभाषणे तु विकल्पसिद्धं धर्मिणं विहाय काऽन्या गतिरास्ते?। अप्रामाणिके वस्तुनि मूकवावदूकयोः कतरः श्रेयानिति स्वयमेव विवेचयन्तु तार्किकाः ? इति चेत्। ननु भवान् स्वोक्तमेव तावद्विवेचयतु, मूकतैव श्रेयसीति च पूत्करोति निष्प्रमाणके वस्तुनीति विकल्पसिद्धं धर्मिणं विधाय मूकताधर्मं च विदधातीत्यनात्मज्ञशेखरः । तस्मादप्रामाणिकेनापि स्वीकर्त्तव्यैव क्वापि विकल्पसिद्धिः। नच सैव सर्वत्राऽस्तु, कृतं प्रमाणेनेति वाच्यम्। तदन्तरेण नियतव्यवस्थाऽयोगात्। एको विकल्पयति अस्ति सर्वज्ञः, अन्यस्तु नास्तीति किमत्र प्रतिपद्यताम् ?। प्रमाणमुद्राव्यवस्थापिते त्वन्यतरस्मिन् धर्मे दुर्द्धरोऽपि कः किं कुर्यात् ?। प्रमाणसिद्धत्वनर्हे तु धर्मिणि सर्वज्ञखपुष्पादौ विकल्पसिद्धिरपि साधीयसी; तार्किकचक्रचक्रवर्त्तिनामपि तथाव्यवहारदर्शनात् । एवं शब्दे चाक्षुषत्वमपि सिद्ध्येदिति चेत् ?। सत्यम् । तद्विकल्पसिद्धं विधाय यदि तथास्तित्वं प्रमाणेन प्रसाधयितुं शक्यते, तदानीमस्तु नाम तत्सिद्धिः; नचैवम् ; तत्र प्रवर्त्तमानस्य सर्वस्य हेतोः प्रत्यक्षप्रतिक्षिप्तपक्षत्वेनाकक्षीकारार्हत्वात्; ततः कथमस्तित्वाप्रसिद्धौ शब्दे चाक्षुषत्वसिद्धिरस्तु ?। एवं च नाश्रयासिद्धो हेत्वाभासः समस्तीति स्थितम् ॥ नन्वेवं विश्वस्य परिणामिकारणत्वादित्यस्यापि गमकता प्राप्नोति; अस्य स्वरूपासिद्धत्वात् प्रधानासिद्धौ विश्वस्य तत्परिणामित्वासिद्धेः। एवमाश्रयैकदेशासिद्धोऽपि न हेत्वाभासः । तर्हि प्रधानात्मानौ नित्यावकृतकत्वादित्ययमप्यात्मनीव प्रधानेऽपि नित्यत्वं गमयेत् । तदसत्यम् । नित्यत्वं खल्वाद्यन्तशून्यसद्रूपत्वम्, आद्यन्तविरहमात्रं वा विवक्षितम् ?। आद्येऽत्यन्ताभावेन व्यभिचारः, तस्याकृतकस्याप्यतद्रूपत्वात् । द्वितीये सिद्धसाध्यता; अत्यन्ताभावरूपतया प्रधानस्याद्यन्तराहित्येन तदभाववादिभिरपि स्वीकारात् । तर्हि देवदत्तवान्ध्येयौ वक्तृमन्तौ, वक्तृत्वादित्ययं हेतुरस्तु । नैवम् । न वान्ध्येयो वक्तृमान्, असत्त्वादित्यनेन तद्बाधनात् । तदसत्त्वं च साधकप्रमाणाभावात् सुप्रसिद्धम् ॥ संदिग्धाश्रयासिद्धिरपि न हेतुदोषः; हेतोः साध्येनाऽविनाभावसंभवात् । धर्म्यसिद्धिस्तु पक्षदोषः स्यात्। साध्यधर्मविशिष्टतया प्रसिद्धो हि धर्मी पक्षः प्रोच्यते , नच संदेहास्पदीभूतस्यास्य प्रसिद्धिरस्तीति पक्षदोषेणैवास्य गतत्वान्न हेतोर्दोषो वाच्यः । संदिग्धाश्रयैकदेशासिद्धोऽपि तथैव । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यसिद्धोऽपि न साधुः यतो यदि पक्षधर्मत्वं गमकत्वाङ्गमङ्गीकृतं स्यात् तदा स्यादयं दोषः, नचैवम् । तत्किमाश्रयवृत्त्यनिश्चयेऽपि केकायितान्नियतदेशाधिकरणमयूरसिद्धिर्भवतु ?। नैवम् । केकायितमात्रं हि मयूरमात्रेणाविनाभूतं निश्चितमिति तदेव गमयति । देशविशेषविशिष्टमयूरसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यैव केकायितस्याविनाभावावसाय इति केकायितमात्रस्य तद्व्यभिचारसंभवादेवागमकत्वम् । एवमाश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्तिरप्यसिद्धो न भवतीति । व्यर्थविशेषणविशेष्यासिद्धावपि नासिद्धभेदौ; वक्तुरकौशलमात्रत्वाद्वचनवैयर्थ्यदोषस्य । एवं व्यर्थैकदेशासिद्धादयोऽपि वाच्याः । ततः स्थितमेतद्-एतेष्वसिद्धभेदेषु संभवन्त उभयासिद्धान्यतरासिद्धयोरन्तर्भवन्ति । नन्वन्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति । तथाहि-परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत, तदा प्रमाणाभावादुभयोरप्यसिद्धः। अथाचक्षीत, तदा प्रमाणस्यापक्षपातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः। अथवा-यावद् न परं प्रति प्रमाणेन प्रसाध्यते तावत्तं प्रत्यसिद्ध इति चेत्; गौणं तर्ह्यसिद्धत्वम्; नहि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावन्तमपि कालं मुख्यतस्तदाभासः । किञ्च-अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभासस्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह इति युक्तम्, नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद् युक्तम्; निग्रहान्तत्वाद्वादस्येति । अत्रोच्यते-यदा वादी सम्यग्हेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा प्रतिबोधयितुं न शक्नोत्यसिद्धतामपि नानुमन्यते , तदाऽन्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते । तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि परस्य सिद्ध इत्येतावतैवोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्रहाधिकरणम्। यथा-साङ्ख्यस्य जैनं प्रत्यचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वाद्घटवदिति । ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनं सूपपादं स्यात् ? ; तथा च प्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकेन वाक्येन परस्यानिष्टत्वापादनाय प्रसञ्जनं प्रसङ्गः। यथा-यत्सर्वथैकं तन्नानेकत्र वर्त्तते, यथैकः परमाणुस्तथा च सामान्यमिति कथमनेकव्यक्तिवर्त्ति स्यात् ?; अनेकव्यक्तिवर्त्तित्वाभावं व्यापकमन्तरेण सर्वथैक्यस्य व्याप्यस्यानुपपत्तेः । अत्र हि वादिनः स्याद्वादिनः सर्वथैक्यमसिद्धमिति कथं धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्त्तित्वाभावस्य गमकं स्यादिति चेत् ? तदयुक्तम् । एकधर्मोपगमे धर्मान्तरोपगमसंदर्शनमात्रतत्परत्वेनास्य वस्तुनिश्चायकत्वाभावात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपस्यैव मौलहेतोस्तन्निश्चायकत्वात् । प्रसङ्गः खल्वत्र व्यापकविरुद्धोपलब्धिरूपः । अनेकव्यक्तिवर्त्तित्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम्, एकान्तैकरूपस्यानेकव्यक्तिवर्त्तित्वविरोधात्। एकान्तैकरूपस्य सामान्यस्य प्रतिनियतपदार्थाधेयत्वस्वभावावपरस्य स्वभावस्याऽभावेनाऽन्यपदार्थाधेयत्वासंभवात् तद्भावस्य तदभावस्य चाऽन्योन्यपरिहारस्थितलक्षणत्वेन विरोधादिति सिद्धमनेकत्र वृत्तेरनेकत्वं व्यापकम्; तद्विरुद्धं च सर्वथैक्यं सामान्ये संमतं तथेति नाऽनेकवृत्तित्वं स्याद्विरोध्यैक्यसद्भावेन व्यापकस्यानेकत्वस्य निवृत्त्या व्याप्यस्यानेकवृत्तित्वस्याऽवश्यं निवृत्तेः । नच तन्निवृत्तिरप्युपगतेति लब्धावसरः प्रसङ्गविपर्ययाख्यो विरुद्धव्याप्तोपलब्धिरूपोऽत्र मौलो हेतुः; यथा-यदनेकवृत्ति तदनेकम् । यथा-अनेकभाजनगतं तालफलम् , अनेकवृत्ति च सामान्यमिति एकत्वस्य विरुद्धमनेकत्वम् । तेन व्याप्तमनेकवृत्तित्वम्; तस्योपलब्धिरिह मौलत्वं चास्यैतदपेक्षयैव प्रसङ्गस्योपन्यासात् । न चा-

यमुभयोरपि न सिद्धः; सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात् । ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायकः । ननु यद्ययमेव वस्तुनिश्चायकः कक्षीक्रियते,तर्हि किं प्रसङ्गोपन्यासेन?, प्रागेवायमेवोपन्यस्यताम्। निश्चयाङ्गमेव हि प्रमाणो वादी वादिनामवधेयवचनो भवतीति चेत्। नैवम्। मौलहेतुपरिकरत्वादस्य। अवश्यमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः कश्चिन्निश्चाययितुमिष्टो, निश्चयश्च सिद्धहेतुनिमित्त इति यस्तत्र सिद्धो हेतुरिष्टस्तस्य व्याप्यव्यापकभावसाधने प्रकारान्तरमेवैतत् । यत्सर्वथैकं तन्नानेकत्र वर्तते इति व्याप्तिदर्शनमात्रमपि हि बाधकं विरुद्धधर्माध्यासमाक्षिपतीत्यन्योऽयं साधनप्रकारः । एवं च नान्यतरासिद्धस्य कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

असिद्धिमग्ग-असिद्धिमार्ग-न०। न विद्यते सिद्धेर्मोक्षस्य विशिष्टस्थानोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिंस्तदसिद्धिमार्गम् । सिद्धयहेतौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

असिधारव्वय-असिधाराव्रत-न० । असिधारायां संचरणीयमित्येवं रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिधारग-असिधारक-न०। असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया, तदसिधारकम् । असिधारावदनाक्रमणीये, भ० । " असिधारगं वयं चरिअव्वं " असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया तदसिधारकं. व्रतं नियमः,चरितव्यमासेवितव्यम्; तदेतत्प्रवचनानुपालनं तद्वद् दुष्करमित्यर्थः। भ० ६ श०३३उ०।

असिधारागमण-असिधारागमन-न०। ७ त० । खड्गधारायां चलने; उत्त० १६ अ०।

असिपंजर-असिपञ्जर-न०। खड्गशक्तिपञ्जरे,प्रश्न० २ संव०द्वार।

असिपंजरगय-असिपञ्जरगत-त्रि०। असिपञ्जरे शक्तिपञ्जरे गतः। खड्गशक्तिव्यग्रकररिपुपुरुषवेष्टिते, प्रश्न० २ संव० द्वार।

असिपत्त-असिपत्र-न०। असिः खड्गः, स एव पत्रम्। स्था० ४ ठा० ४ उ०। असिः खड्गस्तस्य पत्रमसिपत्रम्। जी० ३ प्रति०। अस्याकारपत्रे, भ०३ श० ६ उ०। खड्गे, ज्ञा० १६ अ०। स०। असिः खड्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्व्य यस्तत्समाश्रितनारकानसिपत्रपातनेन तिलशश्छिनत्ति सोऽसिपत्रः। पुं०। स० १५ सम०। न०। नवमे परमाऽधार्मिके, प्रव० १८ द्वार।

अत्र निर्युक्तिः-

कण्णोट्ठणासकरचरण-दसणथणफुग्गऊरुबाहूणं ।

छेयण भेयण साडण, असिपत्तधणूहि पाडंति ॥ ७७ ॥

(कण्णोठ इत्यादि) असिप्रधानाः पत्रधनुर्नामानो नरकपाला असिपत्रवनं बीभत्सं कृत्वा तत्र छायाऽर्थिनः समागतान् नारकान् वराकान् अस्यादिभिः पाटयन्ति, तथा-कर्णौष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनस्फिगूरुबाहूनां छेदनभेदनशातनादीनि विकुर्वितवाताहृतचलिततरुपातितासिपत्रादिना कुर्वन्तीति । तदुक्तम्-" छिन्नपादभुजस्कन्धा-श्छिन्नकर्णौष्ठनासिकाः । भिन्नतालुशिरोमेढ्राः, भिन्नाक्षिहृदयोदराः " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आ० चू०।

असिप्पजीवि (ण्)-अशिल्पजीविन्-पुं० । न शिल्पजीवी अशिल्पजीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकामकुर्वति, उत्त० १५ अ०। "असिप्पजीवि अगिहे अमित्ते" उत्त० १५ अ०।

असिमसिसारिच्छ-असिमषिसदृक्-त्रि० । करवालकज्जलतुल्ये, तं० ।

असिय (त) असित-त्रि० । कृष्णे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । श्यामे, जं० १ वक्ष० । अशुभे, विशे० । अनवबद्धे मूर्च्छामकुर्वाणे पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणा दिह्यमाने, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। असङ्गं कुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

असियकेस-असितकेश-त्रि० । असिताः कृष्णाः केशाः येषां ते असितकेशाः । कृष्णकेशे (युगलिके), जी० ३ प्रति० ।

असियग-असितक-न० । दात्रे, भ० १४ श० ७ उ० । आचा० ।

असियगिरि-असितगिरि-पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, " सव्वाणि वि असियगिरिम्मि तावसा समं तत्थ गया " आव० ४ अ० । आ० चू० ।

असिरयण-असिरत्न-न० । चक्रवर्तिनां रत्नोत्कृष्टे खड्गे, स्था० ७ ठा० । स० ।

असिरावणिकूवखननसम-असिरावनिकूपखननसम-त्रि० । असिरायामवनौ कूपखननमखननमेव, अनुदकप्राप्तिफलत्वात्, तेन समम् । अविवक्षितफले, षो० १० विव० ।

असिलक्खण-असिलक्षण-न० । खड्गलक्षणपरिज्ञाने, जं० ।

तच्चैवम्-

"अङ्गुलशतार्द्धमुत्तम ऊनः स्यात् पञ्चविंशतेः खड्गः ॥

अङ्गुलमानाद् ज्ञेयो, व्रणोऽशुभो विषमपर्वस्थः " ॥ १ ॥

अङ्गुलशतार्द्धमुत्तमः खड्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलेन ऊनः, अनयोः प्रमाणयोर्मध्यस्थितः । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु यः स्थितो व्रणः स अशुभः, अर्थादेव समाङ्गुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स शुभः, मिश्रेषु समविषमाङ्गुलेषु मध्यम इत्यादि । जं० ३ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । असिलक्षणप्रतिपादके शास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

असिलट्ठि-असियष्टि-स्त्री० । खड्गलतायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । औ० ।

असिलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । असद्दोषोद्घट्टने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असिलील-अश्लील-न० । अमङ्गलजुगुप्साव्रीडाव्यञ्जके दोषविशेषे, यथा-मोदनार्थे चकारादिपदम् । रत्ना० ७ परि० ।

असिलेसा-अश्लेषा-स्त्री० । सर्पदेवताके नक्षत्रभेदे, ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । " असिलेसाणक्खत्ते छत्तारे पण्णत्ते " । स्था० ७ ठा० ।

असिलोग-अश्लोक-पुं० । अकीर्तौ, स० ७ सम० । अयशसि, आव० ४ अ० । अप्रशंसायाम्, आचा० १ अ०। अवर्णे, व्य०६ उ०।

असिलोगभय-अश्लोकभय-न० । अश्लोकोऽश्लाघाऽकीर्तिरित्यनर्थान्तरम् । स एव भयमश्लोकभयम् । अकीर्तिभये, यथा केनचिद्दानादिना श्लाघोपार्जिता पश्चादपि तद्विनाशभीत्याऽकाम एव दानादौ प्रवर्त्तत इति । दर्श० । एवं हि क्रियमाणे महद्यशो भवतीति तद्भयान्न प्रवर्त्तत इति । स्था० ७ ठा० । आव० । स्था० ।

असिव-अशिव-न० । क्षुद्रदेवताकृतज्वराद्युपद्रवे, व्य० २ उ०। ओघ०। व्यन्तरकृते व्यसने, आव० ४ अ० । नि० चू० । मारौ, व्य० ४ उ०।

असिवण-असिवन--न०। खड्गाकारपत्रवने, प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

असिवप्पसमणी-अशिवप्रशमनी-स्त्री०। कृष्णवासुदेवस्य भेर्याम्, "सा तत्थ तालिज्जइ जत्थ छम्मासे सव्वरोगा पसमंति जो तं सद्दं सुणति।" बृ० १ उ० ।

असिवाइखेत्त-अशिवादिक्षेत्र--न० । अशिवादिप्रधानक्षेत्रे, "विगिंचियव्वमसिवाइखेत्तं च।" दश० १ अ० ।

असिवावण-अशिवापन--न० । विनाशप्राप्तौ, व्य० ७ उ० ।

असिह-अशिख-पुं० । यः शिरसो मुण्डनमात्रं कारयति न च रजोहरणदण्डकपात्रादिकं धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे, व्य० ४ उ० ।

असीइ-अशीति-स्त्री० । विंशत्यूनशतसंख्यायाम्, प्रज्ञा० २ पद । तं०।

असीभरक--असीभरक- पुं०। सीभरो नाम जल्पन् परं लालया सिञ्चति, तत्प्रतिषेधादसीभरः। प्राकृतत्वात्स्वार्थिकप्रत्ययविधानदसीभरकः। लालया परमसिञ्चति, व्य० ३ उ०।

असीलया-अशीलता-स्त्री०। चारित्रवर्जित्वे,प्रश्न० २ आश्र०द्वार।

असीलमंत-अशीलवत्-त्रि० । सावद्ययोगाविरते, अविरतमात्रे च । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

असुअ-असुत-त्रि० । अपुत्रे, उत्त० २ अ०।

असुआगइ--असदाकृति--स्त्री० । न्यग्रोधपरिमण्डलादिषु अप्रशस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुइ-अशुचि-त्रि० । न० त० । अपवित्रे, आ० म०प्र०। प्रज्ञा०। अस्पृश्यत्वात् (ज्ञा०६ पद) आशौचवति, औ०। विष्ठाऽसृक्क्लेदप्रधाने,सूत्र०२ श्रु०२ उ०।दशा०। स्नानब्रह्मचर्य्यादिवर्जितत्वात्तथाविधे साधौ, भ०७ श०६ उ०। सदाऽविशुद्धे, तं०। विष्ठायाम, दश०। पिं० । अमेध्ये, स्था०९ ठा० । जी०। "जण्णं अम्हं किंचि असुई भवति,तण्णं उदएण य मट्टिआए अ पक्खालिअं सुई भवति, एवं खलु अम्हे चोक्खाचोक्खायारा सुइसुइसमायारा भवेत्ता अभिसेअजलपूआप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो" औ० । रा० । तं०। "असुइविलीणविगयवीभच्छादरिसणिज्जे"। अशुचिषु विलीनो मनसः कलिमलपरिणामहेतुः, (विगयं इति) विप्रनष्टं तदभिमुखतया प्राणिनां गतं गमनं यस्मिन् स तथा, वीभत्सया निन्दयाऽदर्शनीयो वीभत्सादर्शनीयः। ततो विशेषणसमासः। अशुचिविलीनविगतवीभत्सादर्शनीयः। जी० ३ प्रति०। आहाराद्यर्थमव्यवहारिणि, व्य० ।

तमेवाशुचिं द्रव्यभावभेदतः प्ररूपयति-

दव्वे भावे असुई, भावे आहारवंदणादीहिं ।
कप्पं कुणइ अकप्पं, विविहेहिं रागदोसेहिं ॥

अशुचिर्द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च। तत्र योऽशुचिना लिप्तगात्रो यो वा पुरीषमुत्सृज्य पूतौ न निर्लेपयति स द्रव्यतोऽशुचिः । भावे भावतः पुनरशुचिराहारवन्दनादिभिर्विविधैर्वा रागद्वेषैः कल्प्यमकल्प्यं करोति। किमुक्तं भवति?-आहारोपधिशय्यादिनिमित्तं वन्दनतीचैर्वृत्त्यादिना वा तोषितः; यदि वा एष मम स्वगच्छसंबन्धी स्वकुलसंबन्धी स्वगणसंबन्धीति रागतः, अथवा-न मामेष वन्दते,विरूपं वा भाषितवानित्यादिद्वेषतोऽयं श्रुतोपदेशेनाभाव्यमनाभाव्यं करोति, अनाभाव्यमप्यभाव्यम्, सोऽव्यवहारी भावतोऽशुचिः ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

दव्वे भावे असुई, दव्वम्मी विट्ठमादीलित्तो उ ।
पाणऽतिवायादीहिं, भावम्मी होइ असुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा-द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्ये-विष्ठादिना लिप्तः, आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः । भावे-प्राणातिपातादिभिर्भवत्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अश्रुति--त्रि० । शास्त्रवर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० ।

असुइकुणिम-अशुचिकुणिम-न० । अपवित्रमांसे, तं०।

असुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-न० । अशुचीनां जातकर्मणां करणे, भ० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्छेदादिकरणे, कल्प० ५ क्ष०।

असुइट्ठाण--अशुचिस्थान--न० । विट्प्रधाने स्थाने, आव० ३ अ० । विष्ठास्थाने, दर्श० ।

असुइत्तभावणा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वपर्यालोचनायाम्, ध० ।

अशुचित्वभावनाऽपीत्थम्-

रसासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ? ॥१॥
नवस्रोतःस्रवद्विस्र-रसनिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शुचिसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥२॥

नवभ्यो नेत्र २ श्रोत्र २ नासा २ मुख १ पायूपस्थेभ्यः २ स्रोतेभ्यो निर्गमद्वारेभ्यः स्रवन् विस्र आमगन्धिर्यो रसः,तस्य निस्यन्दो निर्यासः,तेन पिच्छिले विज्जिले। शेषं सुगमम्। ध०३ अधि०।

अथाशुचित्वभावना-

"लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।
काये तथा मलाः स्यु-स्तदसावशुचिः सदा कायः ॥ १ ॥
कायः शोणितशुक्रमीलनभवो गर्भे जरावेष्टितो,
मात्राऽऽस्वादितखाद्यपेयरसकैर्वृद्धिं क्रमात्प्रापितः ।
क्लिद्यद्धातुसमाकुलः कृमिरुजागण्डूपदाद्यास्पदं,
कैरन्येन सुबुद्धिभिः शुचितया सर्वैर्मलैः संकुलः ?॥ २ ॥
सुस्वादं शुभगन्धि मोदकदधिक्षीरेक्षुशाल्योदन-
द्राक्षापर्पटिकाऽमृताघृतपुरस्वर्गच्युताऽऽम्रादिकम् ।
भुक्तं यत्सहसैव यत्र मलसात्संपद्यते सर्वतः,
तं कायं सकलाशुचिं शुचिमहो ! मोहान्धिता मन्वते ॥ ३ ॥
अम्भःकुम्भशतैर्नवैर्ननु बहिर्मुग्धाः शुचित्वं कियत्-
कालं लम्भयथोत्तमं परिमलं कस्तूरिकाद्यैस्तथा ।
विष्ठाकोष्ठकमेतदङ्गकमहो ! मध्ये तु शौचं कथं-
कारं नेष्यथ सूचयिष्यथ कथंकारं च तत्सौरभम् ? ॥ ४ ॥
दिव्याऽऽमोदसमृद्धिवासितदिशः श्रीखण्डकस्तूरिका-
कर्पूराऽगुरुकुङ्कुमप्रभृतयो भावा यदाश्लेषतः ।
दौर्गन्ध्यं दधति क्षणेन मलतां चाविभ्रते सोऽप्यहो !

देहः कैश्चन मन्यते शुचितया वैधेयतां पश्यत ॥ ५ ॥
इत्याशौचं शरीरस्य, विभाव्य परमार्थतः ।
सुमतिर्ममतां तत्र, न कुर्वीत कदाचन ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार ।

असुइबिल–अशुचिबिल–न० । परमाऽपवित्रविवरे, तं० ।

असुइय–अशुचिक–त्रि० । अपवित्रस्वरूपे, तं० । ज्ञा० । स्था० । अमेध्ये मूत्रपुरीषादौ, स्था० १० ठा० ।

असुइसंकिलिट्ठ–अशुचिसंक्लिष्ट–न० । न० त० । अमेध्येन दुष्टे, भ ६ श० ३३ उ० ।

असुइसमुप्पन्न–अशुचिसमुत्पन्न–त्रि० । अपवित्रोत्पन्ने, तं० ।

असुइसामंत–अशुचिसामन्त–न० । अमेध्यानां मूत्रपुरीषादीनां समीपे, स्था० १० ठा० ।

असुखगइ–असुखगति–स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म० ।

असुजाइ–असुजाति–स्त्री० । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणासु अप्रशस्तगतिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुज्झमाण–अशुध्यत्–त्रि० । अनपगच्छति, " असुज्झमाणे छेयविसेसा विसोहंति " पञ्चा० १६ विव० । नि० चू० ।

असुद्ध–अशुद्ध–त्रि० । सावद्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अविशुद्धकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "असुरूपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति" । अशुरूपरिणामेन संकिलिट्ठं संक्लेशवत्तत् तथा भणन्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुद्धभाव–अशुद्धभाव–पुं० । अनन्तानुबन्ध्यादिसङ्क्लतमातृस्थानरूपे अप्रशस्ताऽध्यवसाये, पञ्चा० १८ विव० ।

असुद्धसभाव–अशुद्धस्वभाव–पुं० । औपाधिके–उपाधिजनितबहिर्भावपरिणमनयोग्ये, द्रव्या० १२ अध्या० ।

असुभ(ह)–अशुभ–त्रि० । अशोभने, दर्श० । अशुभरसगन्धस्पर्शयुक्ते, जी० १ प्रति० । अशुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । अपुण्यबन्धे, स्था० ५ ठा० २ उ० । अशर्मणे, दशा० ८ अ० ।

असुभ (ह) कम्मबहुल–अशुभकर्मबहुल–त्रि० । कलुषकर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुभ (ह) किरियादिराहिय–अशुभक्रियादिरहित–त्रि० । अप्रशस्तकायचेष्टाप्रभृतिविकले, आदिशब्दादशुभदुष्टमनोयोगविकलतापरिग्रहः । पञ्चा० १३ विव० ।

असुभ (ह) ज्झवमाण–अशुभाध्यवसान–न० । क्लिष्टपरिणामे, पञ्चा० १६ विव० ।

असुभ (ह) णाम–अशुभनामन्–न० । अशुभानुबन्धि नामकर्मभेदे, उत्त० ३३ अ० । यदुदयान्नाभेरधः पादादीनामवयवानामशुभता भवति, तदशुभनाम । पादादिना हि स्पृष्टः परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम् । कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत् । नैवम् । तस्य मोहनिबन्धनत्वात् । वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ततोऽदोषः । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । अशुभनामकर्मणः प्रकृतयो मध्यमभेदविवक्षया चतुस्त्रिंशद्भेदा भवन्ति । तद्यथा–नरकगति १ तिर्यग्गति २ एकेन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रियजाति ६ ऋषभनाराच ७ नाराच ८ अर्द्धनाराच ९ कीलिका १० सेवार्तकसंहननानि ११ न्यग्रोधमण्डलसंस्थान १२ सादि १३ वामन १४ कुब्ज १५ हुण्डक १६ अप्रशस्तवर्ण १७ अप्रशस्तगन्ध १८ अप्रशस्तरस १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१ तिर्यगानुपूर्वी २२ उपघात २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्थावर २५ सूक्ष्म २६ साधारण २७ अपर्याप्त २८ अस्थिर २९ अशुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वर ३२ अनादेय ३३ अयशोऽकीर्त्ति ३४ रिति । उत्त० ३३ अ० । प्रव० । अशुभमनादेयत्वादि । अपूज्ये च कर्मभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

असुभ (ह) तरंडुत्तरणप्पाय–अशुभ (असुख) तरण्डोत्तरणप्राय–त्रि० । अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखं वा, तत एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तत् तरण्डं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो यः स तथा । पञ्चा० ६ विव० । कण्टकानुगतशाल्मलीतरण्डोत्तरणतुल्ये, " असुहतरंडुत्तरणप्पाओ दव्वत्थओ असमत्थो । " प्रति० ।

असुभ (ह)त्त–अशुभत्व–न० । अमङ्गलतायाम्; भ० ६ श० ३ उ० ।

असुभ (ह) दुक्खभागि (ण्)–अशुभदुःखभागिन्–त्रि० । अशुभानुबन्धि यद् दुःखं, तद्भागिनः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दुःखानुबन्धिदुःखभागिषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

असुभ (ह) विवाग–अशुभविपाक–न० । असातादिस्त्वेनोदयवति कर्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

असुभा (हा)–अशुभा–स्त्री० । न विद्यते शुभो विपाको यासां ता अशुभाः । पं० सं० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकरसासु पापकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । (सर्वाश्चैताः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २९२ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

असुभा (हा) णुप्पेहा–अशुभानुप्रेक्षा–स्त्री० । संसाराऽशुभत्वानुचिन्तने, भ० २५ श० ७ उ० । ग० । "कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एते कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइ पुणब्भवस्स" ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असुय–अश्रुत–त्रि० । अनाकर्णिते, स्था० ८ ठा० । आचा० । प्रवचनद्वारेणानुपलब्धे, भ० २ श० ८ उ० ।

असुयणिस्सिय–अश्रुतनिश्रित–न० । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहितस्य तथातथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथावस्थितवस्तुसंस्पर्शिमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुष्के, नं० । ('आभिणिबोहियणाण' शब्दे द्वितीयभागे २५३ पृष्ठेऽस्य व्याख्या वक्ष्यते)

असुर–असुर–पुं० । भवनपतिव्यन्तरलक्षणे देवभेदद्वये, स्था० ३ ठा० १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादसुरकुमारे, प्रव० १९४ द्वार । नं० । प्रश्न० । भ० । औ० । आ० म० । सूत्र० । स्था० । असुरस्थानोत्पन्नेषु नागकुमारादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । दानवे, अनु० ।

असुरकुमार–असुरकुमार–पुं० । असुराश्च ते नवयौवनतया कुमाराश्चेत्यसुरकुमाराः । स्था० १ ठा० १ उ० । भवनपतिभेदेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ('ठाण' शब्दे तदावासाः वक्ष्यन्ते)

नवरमिह–

भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति?। णो इणट्ठे समट्ठे, एवं० जाव अहे सत्तमाए पुढवीए सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव। अत्थि णं भंते! ईसिप्पब्भाराए पुढवीए असुरकुमारा देवा परिवसंति?। णो इणट्ठे समट्ठे। से कहिं खाइ णं भंते! असुरकुमारा देवा परिवसंति?। गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए एवं असुरदेववत्तव्वयाए० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति। अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए?। हंता अत्थि। केवइयाणं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए पण्णत्ते?। गोयमा ! जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, तच्चं पुण पुढविं गया य गमिस्संति य। किं पत्तियं णं भंते! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य?। गोयमा! पुव्ववेरियस्स वा वेयणउदीरणयाए पुव्वसंगइयस्स वेदणउवसामणयाए एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य। अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगतिविसए पण्णत्ते। हंता अत्थि। केवइयाणं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियगइविसए पण्णत्ते?। गोयमा ! जाव असंखेज्जा दीवसमुद्दा नंदिस्सरवरं पुण दीवं गया य गमिस्संति य। किं पत्तियं णं भंते! असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य?। गोयमा ! जे इमे अरहंता भगवंतो एएसि णं जंमणमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा णाणुप्पायमहिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य। अत्थि णं भंते! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढगइविसए?। हंता अत्थि। केवइयं च णं भंते! असुरकुमारा देवा णं उड्ढं गतिविसए?। गोयमा! जाव अच्चुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य। किं पत्तियं णं भंते! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य?। गोयमा! तेसिं देवाणं भवपच्चइयवेराणुबंधे तेणं देवा विकुव्वेमाणा वा परियारेमाणा वा आयरक्खे देवे वित्तासेंति, अहालहुस्सगाइं रयणाइं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति। अत्थि णं भंते! तेसिं देवाणं अहालहुसगाइं रयणाइं?। हंता अत्थि। से कहमिदाणिं पकरेंति, तओ से पच्छा कायं पव्वहंति। पभू! णं भंते! तेसिं असुरकुमारा देवा तत्थ गया चेव समाणा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए?। णो इणट्ठे समट्ठे, तेणं तओ पडिनियत्तंति, पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, इहमागच्छइत्ता जइ णं ताओ अच्छराओ आढायंति परियाणंति। पभू! णं भंते! असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए, अह णं ताओ अच्छराओ नो आढायंति नो परियाणंति, णो णं पभू! ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए। एवं खलु गोयमा! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य। केवइकालस्स णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य?। गोयमा! अणंताहिं ओसप्पिणीहिं अणंताहिं अवसप्पिणीहिं समइक्कंताहिं अत्थि णं एसभावे लोयच्छेरयभूए समुप्पज्जइ। जण्णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति०, जाव सोहम्मे कप्पे।

(एवं खलु असुरकुमारेत्यादि) एवमनेन सूत्रक्रमेणेति। स चैवम्- "उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोसट्ठिं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति अक्खायमित्यादि"। (विउव्वेमाणा व त्ति) संरम्भेण महद्वैक्रियशरीरं कुर्वन्तः। (परियारेमाणा व त्ति) परिचारयन्तः परकीयदेवीनां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः। (अहालहुस्सगाइं ति) यथेति यथोचितानि लघुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथालघुस्वकानि। अथवा-लघूनि महान्ति वरिष्ठानीति च वृद्धाः। (आयाए त्ति) आत्मना, स्वयमित्यर्थः (एगंतं ति) विजनं (अंतं ति) देशं (से कहमियाणिं पकरेंति त्ति) अथ किमिदानीं रत्नग्रहणानन्तरमेकान्तापक्रमणकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिकाः, रत्नादातॄणामिति। (तओ से पच्छा कायं पव्वहंति त्ति) ततो रत्नादानात् (पच्छ त्ति) अनन्तरं (से त्ति) एषां रत्नादातॄणामसुराणां कायं देहं प्रव्यथन्ते प्रहारैः प्रघ्नन्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथितानां वेदना भवति जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कृष्टतः षण्मासान् यावत्। भ० ३ श० २ उ०।

किं निस्साए णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे?। गोयमा! से जहा नामए इहं सबराइ वा बब्बराइ वा टंकणाइ वा भुत्तुयाइ वा पण्हयाइ वा पुलिंदाइ वा एगं महं वणं वा गड्डं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वयं वा णीसाए सुमहल्लमवि अस्सबलं वा हत्थिबलं वा जोहबलं वा धणुबलं वा आगलेंति, एवामेव असुरकुमारा देवा णण्णत्थ अरहंते वा अरहंतचेइयाणि वा अणगारे भावियप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे। सव्वे वि य णं भंते! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे। गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे। महिड्ढिया णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे।

'सबराइ वा' इत्यादौ शबरादयोऽनार्यविशेषाः [गड्डं व त्ति] गर्त्ताः, [दुग्गं व त्ति] जलदुर्गादि, [दरिं व त्ति] दरीं पर्वतकन्दरां, [विसमं व त्ति] विषमं गर्त्ततर्वाद्याकुलभूमिरूपम्। [निस्साए त्ति] निश्रयाऽऽश्रित्य [धणुबलं व त्ति] धनुर्द्धरबलं [आगलेंति त्ति] आकलयन्ति-जेष्याम इत्यध्यवस्यन्तीति। [नन्नत्थ त्ति] ननु

निश्रितमत्र इहलोके, अथवा (अरिहंते वा णिस्साए उड्ढं उप्पयंति) नान्यत्र-तन्निश्रया अन्यत्र न, तां विनेत्यर्थः ॥ भ० ३ श० २ उ० ।

किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे ? । गोयमा ! तेसिं णं देवाणं अहुणोववन्नगाण वा चरिमभवत्थाण वा इमेया रूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जइ, अहो णं अम्हेहिं दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया जारिसियाणं अम्हेहिं दिव्वा देविड्ढी ०जाव अभिसमन्नागया तारिसियाणं सक्केणं देविंदेणं देवरन्ना दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमन्नागया, जारिसियाणं सक्केणं देविंदेणं० जाव अभिसमन्नागए तारिसियाणं अम्हेहिं वि जाव अभिसमन्नागए, तं गच्छामो णं सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो अंतियं पाउब्भवामो पासामो, ताव सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो दिव्वं देविड्ढिं जाव अभिसमन्नागयं पासतु, ताव अम्हेहिं वि सक्के देविंदे देवराया दिव्वं देविड्ढं जाव अभिसमन्नागयं तं जाणामो, ताव सक्कस्स देविंदस्स देवरन्नो दिव्वं देविड्ढिं० जाव अभिसमन्नागयं जाणओ, ताव अम्हे वि सक्के देविंदे देवराया दिव्वं देविड्ढिं अभिसमन्नागयं । एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे ॥

(किंपत्तियं ति) कः प्रत्ययो यत्र तत् किंप्रत्ययम् । (अहुणोववन्नगाणं ति) उत्पन्नमात्राणां (चरिमभवत्थाणं व त्ति) भवचरमभागस्थानं, च्यवनावसरे इत्यर्थः । भ० ३ श० २ उ० ।

असुरदार–असुरद्वार–न० । सिद्धायतनानां दक्षिणद्वारेषु, यत्राऽसुरा वसन्ति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

असुरसुर–असुरसुर–त्रि० । सुरसुरेत्यनुकरणशब्दोऽयम् । भ० ७ श० १ उ० । न० ब० । सुरसुरेत्येवंभूतशब्दवर्जिते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

असुरिंद–असुरेन्द्र–पुं० । चमरे, बलिनि च । स० । ('इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठेऽस्य व्याख्याऽवसेया)

आयप्पवायस्स णं पुव्वस्स सोलस वत्थू पन्नत्ता । चमरबलीणं उवारियालेण सोलस जोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पन्नत्ता ।

चमरबल्योर्दक्षिणोत्तरयोरसुरकुमारराजयोः (उवारियालेण त्ति) चमरचञ्चाबलिचञ्चाऽभिधानराजधान्योर्मध्यो नताऽवतरत्पार्श्वपीठरूपेऽवतारिकलयने षोडश योजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां वृत्तत्वात्तयोरिति । स० १६ सम० ।

असुरिंदवज्जिय–असुरेन्द्रवर्जित–त्रि० । चमरबलिवर्जिते, भ० १४ श० ९ उ० । अष्ट० ।

असुलभ–असुलभ–त्रि० । दुर्लभे, षो० ५ विव० ।

असुवण–अस्वपन–न० । निद्राऽऽलस्यघाते, बृ० १ उ० ।

असुवण्ण–असुवर्ण–त्रि० । न सुवर्णमसुवर्णम् । अप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुविर–अस्वापिन्–त्रि० । अनिद्रालौ, नि० चू० १० उ० ॥

असुसंघयण–असुसंहनन–न० । ऋषभनाराचादिषु अप्रशस्तसंहननेषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुह–असुख–न० । दुःखे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

असूइ–असूयिन्–त्रि० । असूयतीति तच्छीलोऽसूयी । असूयधातोस्ताच्छीलिकणकप्रसक्तावपि बाहुलकाद् णिन् । असूयाऽस्यास्तीति असूयी । मत्वर्थीय इनिः । गुणेषु दोषाऽऽविष्कारिणि, स्या० १७ श्लो० ।

असूइय–असूचित–त्रि० । व्यञ्जनादिरहिते, अकथयित्वा वा दत्ते भोजनादौ, दश० ५ अ० २ उ० ।

असूउ–असूयु–त्रि० । मत्सरिणि, 'अहो ! सुदृष्टं त्वदसूयुदृष्टम्' इतिपाठे न किञ्चिच्चारु । असूयुशब्दस्योदन्तस्योदयनादौर्न्यायतात्पर्यपरिशुद्ध्यादौ मत्सरिणि प्रयोगादिति । स्या० १७ श्लो० ।

असूण–अशून–त्रि० । अबलवति, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

असूया–असूया–स्त्री० । न० त० परस्य दोषप्रतिषेधेनात्मनस्तादृग्दोषभाषणे, "अप्पणो दोसं भासति ए परस्स, एसा असूया । यथा–" अम्हे भो धणहीणा, णत्थि आगारम्मि इड्ढिमं तुब्भे । एस असुया सूया, णवरं परवत्थुणिद्देसो " ॥ १ ॥ नि० चू० १० उ० । (इत्यादि ' आगाढवयण ' शब्दे द्वितीयभागे ६२ पृष्ठे वक्ष्यते)

असूया–स्त्री० । गुणेषु दोषाविष्करणे, " गुणेष्वसूयां दधतः परेऽमी, मा शिश्रियन्नाम भवन्तमीशम् । " स्या० ३ श्लो० ।

असूयावयण–असूयावचन–न० । अक्षमावचसि, दर्श० ।

असूरिय–असूर्य–पुं० । न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सोऽसूर्यः । बहुलान्धकारे कुम्भीपाकाकृतौ, सर्वस्मिन् वा नरकावासे, "असूरियं नाम महाभितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं " । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

असूववाय–असूपपाद–त्रि० । दुर्घटे, " अतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् । " स्या० २२ श्लो० ।

असेज्जायर–अशय्यातर–पुं० । वसतित्यागादिहेतुभिः शय्यातरत्वेनाव्यवहार्ये वसतिदातरि, नि० चू० २ उ० । (तत्कारणानि 'सागारियपिंड' शब्दे वक्ष्यन्ते)

असेय–अश्रेयस्–न० । अकल्याणे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

असेलेसिपडिवन्नग–अशैलेशीप्रतिपन्नक–पुं० । शैलेशीनामाऽयोग्यवस्था, तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः । स्वार्थिकः कप्रत्ययः । तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः । अयोग्यवस्थामनापन्ने सयोगिनि संसारिणि, प्रज्ञा० २१ पद ।

असेस–अशेष–त्रि० । शेषरहिते कृत्स्ने, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । सकले, पञ्चा० १५ विव० । सर्वस्मिन्, पञ्चा० १० विव० । आचा० ।

असेससत्तहिय–अशेषसत्त्वहित–न० । समस्तप्राण्युपकारके, " जिणिंदवयण असेससत्तहियं " । पञ्चा० ११ विव० ।

असेहिय–असैद्धिक–न० । न० त० । सांसारिके, क्रियासिद्धौ अजाते आकस्मिके, सूत्र० ।

सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥

सुखं सैद्धिकं-सिद्धौ मोक्षे भवं सैद्धिकं,यदि वा दुःखमसैद्धिकं सांसारिकम् । अथवा-सैद्धिकमसैद्धिकं च सुखम् । यथा-स्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं सैद्धिकम, आन्तरं सुखमानन्दरूपमसैद्धिकम् । तथा-सैद्धिकमसैद्धिकं च दुःखम् । यथा-कशाताडनाङ्गनादिक्रिया-सिद्धौ भवं सैद्धिकम; ज्वरशिरोऽर्तिशूलादिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकं दुःखम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असोग-अशोक-पुं० । कङ्केल्लीनामके एकास्थिकवृक्षभेदे, औ० । प्रज्ञा० । कल्प० । स्था० । अशोकादयः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो विशेषणम्-"किण्हासोए इ वा" रा० । आचा० । अनु० । मल्लिजिनस्य चैत्यवृक्षोऽशोकः । स० । चम्पायां स्वनामख्याते पार्श्वनाथे,ती० १० कल्प । पूर्वभवे चतुर्थबलदेवजीवे,स० । ति० । चतुःसप्ततितमे महाग्रहे, "दो असोगा ।" स्था०२ ठा०३ उ० । चं०प्र० । सू० प्र० । कल्प० । अशोकवनदेवे च, जी० ३ प्रति० । वीतशोके, त्रि० । वाच० ।

असोगचंद-अशोकचन्द्र-पुं० । श्रेणिकपुत्रे कूणिके, स च पितुः श्रेणिकस्य पूर्ववैरीति दास्या अशोकवाटिकायामुज्झित इत्यशोकचन्द्रनामाऽभवत् । आ० चू०४ अ० । आव० । ती० । ('कूणिय' शब्दे चैतद् दर्शयिष्यते) "राया तए असोगचंदए वेसालिं नगरिं गहेत्थि" आ० म० प्र० । आ० चू० । ('पारिणामिया' 'कूलवालुक' शब्दयोश्चोदाहरिष्यते)

असोगजक्ख-अशोकयक्ष-पुं० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उद्याने स्वनामख्याते यक्षे, विपा० २ श्रु० ३ अ० ।

असोगदत्त-अशोकदत्त-पुं० । साकेतनगरे स्वनामख्याते इभ्ये, यस्य समुद्रदत्तसागरदत्तनामानौ भ्रातरौ । दर्श० ।

असोगराय-अशोकराज-पुं० । चम्पायां वासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रमघवन्नृपतिपुत्रीलक्ष्मीकुक्षिजातरोहिणीनाम्न्या अष्टभ्रातृभगिन्याः स्वयंवरे वृते पत्यौ, ती० ३५ कल्प ।

असोगलया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यक्शाखाप्रसराभावाल्लताकृतिष्वशोकवृक्षेषु, जं० १ वक्ष० ।

असोगवडिंसग-अशोकावतंसक-न० । सौधर्मादिविमानानां पूर्वस्यां दिश्यवतंसके; रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोगवण-अशोकवन-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

असोगवणिया-अशोकवनिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने लघुवने, आ० म० द्वि० ।

असोगवरपायव-अशोकवरपादप-पुं० । अत्युत्कृष्टे अशोकवृक्षे, "ईसिं असोगवरपायवसमुवट्ठिया उ" जी० ३ प्रति० । रा० ।

असोगसिरि-अशोकश्री-पुं० । ६ ब० । चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे बिन्दुसारस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे वीरमोक्षानन्तरं चन्द्रगुप्त-बिन्दुसारोऽशोकश्रीः-सम्प्रतिः,राजानश्चैते उत्तरोत्तरं समृद्धिभाजो महाराजा अभवन् । कल्प० ८ क्ष० । "चंदगुत्तपपुत्तो उ, बिंदुसारस्स नत्तुओ । असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणिं" ॥ ८६२ ॥ विशे० । वृ० । नि० चू० ।

असोगा-अशोका-स्त्री० । धरणनागकुमारेन्द्रसत्ककालमहाराजस्याऽग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । श्रीशीतलस्य शासनदेव्याम्,सा च नीलवर्णा पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशयुक्तदक्षिणपाणिद्वया फलाङ्कुशयुक्तवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार । नलिनविजयक्षेत्रपुरीयुगले, नलिनो विजयश्च अशोका पूः । जं० ४ वक्ष० । 'दो असोगाओ' । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

असोच्चा-अश्रुत्वा-अव्य० । प्राकृतधर्मानुरागादेव धर्मफलादिप्रतिपादकवचनमनाकर्ण्येत्यर्थे, भ० ।

अथाश्रुत्वा केवलपर्यन्तं लभते न वा ?-

रायगिहे० जाव एवं वयासी-असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खियसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ असोच्चा णं० जाव नो लभेज्ज सवणयाए ? । गोयमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ । से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए । जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए । से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ,तं चेव० जाव नो लभेज्ज सवणयाए । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं बोहिं बुज्झेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा, से केणट्ठेणं भंते !० जाव नो बुज्झेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो बुज्झेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ? । गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो पव्वएज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव मुंडे भवित्ता० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव नो पव्वएज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स० जाव उवासियाए वा केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगइए नो आवसेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो आवसेज्जा ? । गोयमा ! जस्स णं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, जस्स णं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव नो आवसेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो आवसेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संजमेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०जाव अत्थेगइए नो संजमेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं० जाव नो संवरेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स णं अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए केवलं आभिनिबोहियनाणं नो उप्पाडेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो उप्पाडेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, जस्स णं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं नो उप्पाडेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो उप्पाडेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलं सुयनाणं उप्पाडेज्जा ?। एवं जहा आभिणिबोहियनाणस्स वत्तव्वया भणिया, तहा सुयणाणस्स वि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं चेव केवलं ओहिनाणं भाणियव्वं, नवरं ओहिनाणावरणिज्जाणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उप्पाडेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमं भाणियव्वं, असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उप्पाडेज्जा एवं चेव, नवरं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए भाणियव्वे, सेसं तं चेव । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ॥

बुद्धदन्तोद्देशक इति उक्तरूपाश्चार्थाः केवलिधर्माज्ज्ञायन्ते, तच्चाऽश्रुत्वाऽपि कोऽपि लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—(रायगिहेत्यादि) तत्र च (असोच्च त्ति) अश्रुत्वा धर्मफलादिप्रतिपादकवचनमनाकर्ण्य, प्राकृतधर्मानुरागादेवेत्यर्थः (केवलिस्स व त्ति) केवलिनो जिनस्य । (केवलिसावगस्स त्ति) केवली येन स्वयमेव पृष्टः, श्रुतं वा येन तद्वचनमसौ केवलिश्रावकः, तस्य (केवलिउवासगस्स व त्ति) । केवलिन उपासनां विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्युपासकः । (तप्पक्खियस्स त्ति) केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्य (धम्मं ति) श्रुतचारित्ररूपम (लभेज्ज त्ति) प्राप्नुयात् । (सवणयाए त्ति) श्रवणतया श्रवणरूपतया, श्रोतुमित्यर्थः । (नाणावरणिज्जाणं ति) बहुवचनं ज्ञानावरणीयस्य मतिज्ञानावरणादिभेदेनावग्रहमत्यावरणादिभेदेन च बहुत्वात् । इह च क्षयोपशमग्रहणाद् मत्यावरणाद्येव तद् ग्राह्यं, न तु केवलावरणम्, तत्र क्षयस्यैव भावात्,ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमश्च गिरिसरिदुपलघोलनान्यायेनापि कस्यचित्स्यात्, तत्सद्भावे चाश्रुत्वाऽपि धर्मं लभेत, श्रोतुं क्षयोपशमस्यैव तल्लाभेऽन्तरङ्गकारणत्वादिति । (केवलं बोहिं ति) शुद्धं सम्यग्दर्शनं (बुज्झेज्ज त्ति) बुध्येतानुभवेदित्यर्थः । यथा प्रत्येकबुद्धादिरेवमुत्तरत्राप्युदाहर्त्तव्यम् । (दरिसणावरणिज्जाणं ति) । इह दर्शनावरणीयं दर्शनमोहनीयमभिगृह्यते बोधः, सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात् । तल्लाभस्य च तत्क्षयोपशमजन्यत्वादिति । (केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं ति) केवलां शुद्धां सम्पूर्णां वाऽनगारतामिति योगः । (धम्मंतराइयाणं ति) अन्तरायो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि, तेषां , वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदानामित्यर्थः । (चरित्तावरणिज्जाणं ति) इह वेदलक्षणानि चारित्रावरणीयानि विशेषतो ग्राह्याणि, मैथुनविरतिलक्षणस्य ब्रह्मचर्यवासस्य विशेषतस्तेषामेवावारकत्वात् । (केवलेणं संजमेणं संजमेज्ज त्ति) इह संयमः प्रतिपन्नचारित्रस्य तदतिचारपरिहाराय यतनाविशेषः । (जयणावरणिज्जाणं ति) इह तु यतनावरणी-

यानि चारित्रविशेषविषयवीर्यान्तरायलक्षणानि मन्तव्यानि। (अज्झवसाणावरणिज्जाणं ति) संवरशब्देन श्रुताध्यवसायवृत्तेर्विवक्षितत्वात्तस्याश्च भावचारित्ररूपत्वेन तदावरणक्षयोपशमस्यग्रस्तत्वादध्यवसानावरणीयशब्देनेह भावचारित्रावरणीयान्युक्तानीति।

पूर्वोक्तानेवार्थान् पुनः समुदायेनाह–

असोच्चा णं भंते! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, केवलं मुंमे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, केवलं बंभचेरं वासं आवसेज्जा, केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आभिणिवोहियनाणं उप्पामेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं उप्पामेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा ?। गोयमा! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगइए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्थेगइए केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगइए केवलं० जाव नो आवसेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संवरेण वि अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पामेज्जा, अत्थेगइए० जाव नो उप्पामेज्जा, एवं० जाव मणपज्जवनाणं अत्थेगइए केवलनाणं उप्पामेज्जा, अत्थेगइए केवलनाणं नो उप्पामेज्जा। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्थेगइए केवलनाणं नो उप्पामेज्जा ?। गोयमा! जस्स नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, जस्स णं दंसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे भवइ, जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, एवं चरित्तावरणिज्जाणं जयणावरणिज्जाणं अज्झवसाणावरणिज्जाणं आभिणिवोहियनाणावरणिज्जाणं० जाव मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कमे भवइ, जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं० जाव खए नो कमे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा० जाव केवलनाणं नो उप्पामेज्जा, जस्स णं नाणावरणिज्जाणं खओवसमे कमे भवइ, जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं खओवसमे कमे भवइ, जस्स णं धम्मंतराइयाणं एवं० जाव जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कमे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा केवलनाणं उप्पामेज्जा ॥

(असोच्चा णं भंते ! इत्यादि) अथाश्रुत्वैव केवल्यादिवचनं यथा कश्चित्केवलज्ञानमुत्पादयेत् तथा दर्शयितुमाह–

तस्स णं भंते ! छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए पगइउवसंतयाए पगइपयणुकोहमाणमायालोभयाए मिउमद्दवसंपन्नयाए अल्लीणयाए भद्दयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं विसुज्झमाणीहिं अल्लीणयाए तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स विभंगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं विभंगनाणसमुप्पन्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं जाणइ पासइ, से णं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पासंमत्थे सारंभे सपरिग्गहे संकिलिस्समाणे वि जाणइ, विसुज्झमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ, समणधम्मं रोएइ २ चरित्तं पमिवज्जइ, लिंगं पडिवज्जइ, तस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं सम्मदंसणपज्जवेहि वड्ढमाणेहिं, से विभंगे अन्नाणे सम्मत्तपरिग्गहिए खिप्पामेव ओही परावत्तइ ॥

(तस्स त्ति) योऽश्रुत्वैव केवलज्ञानमुत्पादयेत तस्य कस्यापि " छट्ठं छट्ठेणमित्यादि " च यदुक्तम्, तत्प्रायः षष्ठतपश्चरणवतो बालतपस्विनो विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यत इति ज्ञापनार्थमिति। (पगिज्झिय त्ति) प्रगृह्य, धृत्वेत्यर्थः। "पगइभद्दयाए " इत्यादीनि तु प्राग्वत्। (तयावरणिज्जाणं ति) विभङ्गज्ञानावरणीयानां (ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स त्ति) इहेहा सदर्थाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिरासो, मार्गणं चाऽन्वयधर्मालोचनं, गवेषणं तु व्यतिरेकधर्मालोचनमिति (सेसं ति) असौ बालतपस्वी (जीवे वि जाणइ त्ति) कथञ्चिदेव न तु साक्षाद्, मूर्त्तगोचरत्वात्तस्य। (पासंडत्थे त्ति) व्रतस्थान् (सारंभसपरिग्गहे त्ति) सारम्भान् सपरिग्रहान्सतः। किंविधान् जानातीत्याह—(संकिलिस्समाणे वि जाणए त्ति) महत्या संक्लिश्यमानतया संक्लिश्यमानानपि जानाति (विसुज्झमाणे वि जाणइ त्ति) अल्पीयस्या विशुद्ध्यमानतया विशुद्ध्यमानानपि जानाति, आरम्भादिमतामेवंस्वरूपत्वात्। (सेणं ति) असौ विभङ्गज्ञानी जीवाजीवस्वरूपपाषण्डस्थसंक्लिश्यमानतादिज्ञापकः सन् (पुव्वामेव त्ति) चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वमेव, (सम्मत्त त्ति) सम्यग्भावं (समणधम्मं ति) साधुधर्मं (रोएइ त्ति) रुचित्ते चिकीर्षति वा। (ओहीपरावत्तइ त्ति) अवधिर्भवतीत्यर्थः। इह च यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिमादावभिधाय सम्यक्त्वं परिग्रहीतं, विभङ्गज्ञानमवधिर्भवतीति पश्चादुक्तं, तथापि चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वं सम्यक्त्वप्रतिपत्तिकाल एव विभ-

ङ्गज्ञानस्यावधिभावो ऽप्यवस्यः; सम्यक्त्वचारित्रभावे विभङ्गज्ञानस्याभावादिति।

अथैनमेव लेश्यादिभिर्निरूपयन्नाह–

से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु विसुद्धलेस्सासु होज्जा। तं जहा–तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए। से णं भंते ! कइसु नाणेसु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणेसु होज्जा। से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?। गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा। जदि सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा, वइ जोगी कायजोगी वा होज्जा ?। गोयमा ! मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी वा होज्जा। से णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते वा होज्जा ?। गोयमा ! सागारोवउत्ते वा होज्जा, अणागारोवउत्ते वा होज्जा। से णं भंते ! कयरम्मि संघयणे होज्जा ?। गोयमा ! वइरोसभनारायसंघयणे होज्जा। से णं भंते ! कयरम्मि संठाणे होज्जा ?। गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अन्नयरे संठाणे होज्जा। से णं भंते ! कयरम्मि उच्चत्ते होज्जा ?। जहन्नेणं सत्तरयणीए उक्कोसेणं पंचधणुसइए होज्जा। से णं भंते ! कयरम्मि आउए होज्जा ?। गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगट्ठवासाउए उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउए होज्जा। से णं भंते ! किं सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा ?। गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो अवेदए होज्जा। जइ सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा, नपुंसगवेदए होज्जा ?। गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए वा होज्जा। से णं भंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ?। गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ?। जइ सकसाई होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ?। गोयमा ! चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्जा। तस्स णं भंते ! केवइया अज्झवसाणा पन्नत्ता ?। गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता। ते णं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ?। गोयमा ! पसत्था, नो अप्पसत्था। से णं भंते ! तेहिं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं वट्टमाणेहिं अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिक्खजोणिय० जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ, जाओ वि य से इमाओ नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवगइनामाओ चत्तारि उत्तरप्पगडीओ य, तासिं च णं उवग्गहिए अणंताणुबंधी कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता अपच्चक्खाणकसाए कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता पच्चक्खाणावरणे कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता संजलणे कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दरिसणावरणिज्जं पंचविहं अंतराइयं तालमत्थाकडं च णं मोहणिज्जं कट्टु कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ॥

[से णं भंते ! इत्यादि] तत्र [से णं ति] स यो विभङ्गज्ञानी भूत्वाऽवधिज्ञानं चारित्रं च प्रतिपन्नः। [तिसु विसुद्धलेसासु होज्ज त्ति] यतो भावलेश्यासु प्रशस्तास्वेव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नाविशुद्धास्विति। [तिसु आभिणिबोहियेत्यादि] सम्यक्त्वमतिश्रुतावधिज्ञानानां विभङ्गविनिवर्त्तनकाले तस्य युगपद्भावादाद्ये ज्ञानत्रय एवासौ तदा वर्तत इति। [णो अजोगी होज्ज त्ति] अवधिज्ञानकाले अयोगित्वस्याभावात्। 'मणजोगी' इत्यादि च एकतरयोगप्राधान्यापेक्षयाऽवगन्तव्यम्। [सागारोवउत्ते वेत्यादि] तस्य हि विभङ्गज्ञानान्निवर्त्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य सम्यक्त्वावधिज्ञानप्रतिपत्तिरस्तीति। ननु–"सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवंति" इत्यागमादनाकारोपयोगे सम्यक्त्वावधिलब्धिविरोधः ?। नैवम्। प्रवर्द्धमानपरिणामजीवविषयत्वात्तस्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि लब्धिलाभस्य सम्भवादिति। [वइरोसभनारायसंघयणे होज्ज त्ति] प्राप्तव्यकेवलज्ञानत्वात्तस्य, केवलज्ञानप्राप्तिश्च प्रथमसंहनन एव भवतीति। एवमुत्तरत्रापीति। [सवेयए होज्ज त्ति] विभङ्गस्यावधिभावकाले न वेदक्षयोऽस्तीत्यसौ सवेद एव। [नो इत्थिवेयए होज्ज त्ति] स्त्रिया एवंविधस्य व्यतिकरस्य स्वभावत एवाभावात्। [पुरिसनपुंसगवेयए व त्ति] वर्द्धितकत्वादित्वेन नपुंसकः पुरुषनपुंसकः। [सकसाई होज्ज त्ति] विभङ्गावधिकाले कषायक्षयस्याभावात्। [चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्ज त्ति] स ह्यवधिज्ञानतापरिणतविभङ्गज्ञानश्चरणं प्रतिपन्नस्तकः, तस्य च तत्काले चरणयुक्तत्वात्, संज्वलना एव क्रोधादयो भवन्तीति [पसत्थ त्ति] विभङ्गस्यावधिभावो हि नाप्रशस्ताध्यवसानस्य भवतीत्यत उक्तम्–प्रशस्तान्यध्यवसायस्थानानीति। [अणंतेहिं ति] अनन्तैरनन्तानागतकालभाविभिः। [विसंजोएइ त्ति] विसंयोजयति, तत्प्राप्तियोग्यताऽपनोदादिति। (जाओ वि य त्ति) या अपि च। (नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवगतिनामाओ त्ति) एतदभिधानाः। (उत्तरपयडीओ य त्ति) नामकर्माभिधानाया मूलप्रकृतेरुत्तरभेदभूताः। (तासिं च णं ति) तासां च नैरयिकगत्याद्युत्तरप्रकृतीनां, चशब्दादन्यासां च, (उवग्गहिए त्ति) औपग्रहिकान् उपष्टम्भप्रयोजनान् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति। तथा प्रत्याख्यानादींश्च तथाविधानेव क्षपयतीति। (पंचविहं नाणावरणिज्जं ति) मतिज्ञानावरणादिभेदात् (नवविहं दरिसणावरणिज्जं ति) चक्षुर्दर्शनाद्यावरणचतुष्कस्य, निद्रापञ्चकस्य च मीलनान्नवविधत्वमस्य। (पंचविहमंतराइयं ति) दानलाभभोगोपभोगवीर्यविशेषितत्वात् पञ्चविधत्वमन्तरायस्य, तत्क्षपयतीति संबन्धः। किं कृत्वेत्यत आह (तालमत्थाकडं च णं मोहणिज्जं कट्टु त्ति) मस्तकं मस्तकसूची कृत्तं छिन्नं यस्यासौ मस्तककृत्तस्तालश्चासौ मस्तककृत्तश्च तालमस्तककृत्तः। छान्दसत्वाच्चैवं निर्देशः। तालमस्तककृत्त इव यत्तत्तालमस्तककृत्तम्, अयमर्थः–छिन्नमस्तकतालकल्पं च मोहनीयं कृत्वा। यथाहि–छिन्नमस्तकस्तालः

क्षीणो भवति, एवं मोहनीयं च कृत्वा क्षीणकृत्वेति भावः । इदं चोक्तमोहनीयभेदशेषापेक्षया द्रष्टव्यमिति । अथ कस्मादनन्तानुबन्ध्यादिस्वभावे तत्र क्षपिते सति ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेत्यत आह-(तालमत्थेत्यादि) तालमस्तकस्येव कृतं क्रिया यस्य तत्तालमस्तककृतं, तदेवंविधं च मोहनीयम् । (कट्टु त्ति) इतिशब्दस्येह गम्यमानत्वात्, इतिकृत्वा इति हेतोः, तत्र क्षपिते ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेति, तालमस्तकमोहनीययोश्च क्रियासाधर्म्यमेव । यथा-तालमस्तकविनाशक्रियाऽवश्यंभावितालविनाशा, एवं मोहनीयकर्मविनाशक्रियाऽप्यवश्यंभाविशेषकर्मविनाशेति । आह च-" मस्तकसूचिविनाशे, तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः। तद्वत्कर्मविनाशो-ऽपि मोहनीयक्षयं नित्यम्" ॥ १ ॥ ततश्च कर्मरजोविकिरणकरं तद्विक्षेपकमपूर्वकरणम्-असदृशाध्यवसायविशेषमनुप्रविष्टस्याऽनन्तम्, विषयानन्त्यात्; अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं कुड्यादिभिरप्रतिहननात्, निरावरणं सर्वथा स्वावरणक्षयात्, कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात्, प्रतिपूर्णं सकलस्वांशयुक्ततयोत्पन्नत्वात्, केवलवरज्ञानदर्शनं केवलमभिधानतो वरज्ञानान्तरापेक्षया, ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम् । समाहारद्वन्द्वः । ततः केवलादीनां कर्मधारयः । इह च क्षपणाक्रमः "अणमिच्छमीससम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेयछक्कं च । पुमवेयं च खवेई, कोहाईए य संजलणे " ॥२॥ इत्यादिग्रन्थान्तरप्रसिद्धो नचार्यमिहाश्रितः; यथा कथञ्चित्क्षपणामात्रस्यैव विवक्षितत्वादिति ।

से णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पन्नवेज्ज वा परूवेज्ज वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । नण्णत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा । से णं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ?। नो इणट्ठे समट्ठे, उवदेसं पुण करेज्जा । से णं भंते ! किं सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ?। हंता सिज्झइ० जाव करेइ । से णं भंते ! किं उड्ढं होज्जा, अहे होज्जा, तिरियं होज्जा ?। गोयमा ! उड्ढं वा होज्जा, अहे वा होज्जा, तिरियं वा होज्जा, उड्ढं होज्जमाणे सद्दावइ वियडावइ गंधावइ मालवंतपरियाएसु वट्टवेयड्ढपव्वएसु होज्जा, साहरणं पडुच्च सोमणसवणे वा पंडगवणे वा होज्जा, अहे होज्जमाणे गड्डाए वा दरीए वा होज्जा, साहरणं पडुच्च पायाले वा भवणे वा होज्जा, तिरियं होज्जमाणे पण्णरससु कम्मभूमीसु होज्जा, साहरणं पडुच्च अड्ढाइज्जदीवसमुद्दतदेक्कदेसभाए होज्जा । ते णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं दस, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलि० जाव नो लभेज्ज सवणयाए० जाव अत्थेगइए केवलनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ।

[आघवेज्ज त्ति] आग्राहयेच्छिष्यानर्थापयेद्वा, प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेत । [पन्नवेज्ज त्ति] प्रज्ञापयेद् भेदभणनतो बोधयेद्वा । [परूवेज्ज त्ति] उपपत्तिकथनतः [णऽण्णत्थएगनाएण व त्ति] न इति योऽयं निषेधः, सोऽन्यत्र एकज्ञातादेकमुदाहरणं वर्जयित्वेत्यर्थः; तथाविधकल्पत्वादस्येति । [एगवागरणेण व त्ति] एकव्याकरणादेकोत्तरादित्यर्थः। [पव्वावेज्ज व त्ति] प्रव्राजयेद् रजोहरणादिद्रव्यलिङ्गदानतः। [मुंडावेज्ज व त्ति] मुण्डयेत् शिरोलुञ्चनतः [उवएसं पुण करेज्ज त्ति] अमुष्य पार्श्वे प्रव्रजेत्यादिकमुपदेशं कुर्यात् । " सद्दावईत्यादि " शब्दापातिप्रभृतयो यथाक्रमं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यभिप्रायेण हैमवतहरिवर्षरम्यकैरण्यवतेषु, क्षेत्रसमासाभिप्रायेण तु हैमवतैरण्यवतहरिवर्षरम्यकेषु भवन्ति, तेषु च तस्य भाव आकाशगमनलब्धिसंपन्नस्य तत्र गतस्य केवलज्ञानोत्पादसद्भावे सति [साहरणं पडुच्च त्ति] देवेन नयनं प्रतीत्य [सोमणसवणे त्ति] सौमनसवनं मेरौ तृतीयं [पंडगवणे त्ति] मेरौ चतुर्थं (गड्डाए व त्ति) गर्ते निम्ने भूभागे अधोलोकग्रामादौ (दरीए व त्ति) तत्रैव निम्नतरप्रदेशे (पायाले व त्ति) महापातालकलशे वलयामुखादौ (भवणे व त्ति) भवनवासिदेवनिवासे (पण्णरससु कम्मभूमीसु त्ति) पञ्चभरतानि पञ्चैरवतानि पञ्च महाविदेहा इत्येवंलक्षणासु कर्माणि कृषिवाणिज्यादीनि तत्प्रधानभूमयः कर्मभूमयस्तासु (अड्ढाइ इत्यादि) अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयाः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः,अर्द्धतृतीयद्वीपाश्च समुद्रौ च तत्परिमितावर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्राः,तेषां, स चासौ विवक्षितो देशरूपो भागोंऽशोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभागः, तत्र ।

अनन्तरं केवल्यादिवचनाश्रवणे यत्स्यात् तदुक्तम्, अथ तच्छ्रवणे यत्स्यात्तदाह-

सोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ?। गोयमा ! सोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं एवं जा चेव असोच्चाए वत्तव्वया, सा चेव सोच्चाए वि भाणियव्वा, नवरं अभिलावो सोच त्ति,सेसं तं चेव णिरवसेसं० जाव जस्स णं मणपज्जवणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कमे भवइ, जस्स णं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कमे भवइ, से णं सोच्चा केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्झेज्ज० जाव केवलणाणं उप्पाडेज्जा, तस्स णं अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स पगइभद्दयाए तहेव० जाव गवेसणं करेमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं ओहिणाणेणं समुप्पण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोअप्पमाणमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ । से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! छसु लेस्सासु होज्जा । तं जहा-कण्हलेस्साए० जाव सुक्कलेस्साए । से णं भंते ! कइसु णाणेसु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभिणिबोहियणाणसुअणाणओहिणाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभिणिबोहियनाणसुअणाणओहिणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा । से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा ?। एवं, जोगोवओगो संघयणसंठाणं उच्चत्तं आउयं च, एयाणि सव्वाणि जहा असोच्चाए तहेव

भाणियव्वाणि । से णं भंते ! किं सवेदए पुच्छा ?। गोयमा ! सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए वा होज्जा, किं उवसंतवेदए, खीणवेदए होज्जा ?। गोयमा ! णो उवसंतवेदए होज्जा खीणवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! इत्थीवेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसणपुंसगवेदए वा होज्जा । से णं भंते ! सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा ?। गोयमा ! णो उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ?। गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एक्कम्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणमायालोभेसु होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमायालोभेसु होज्जा, एगम्मि होज्जमाणे एगम्मि संजलणलोभे होज्जा । तस्स णं भंते ! केवइया अज्झवसाणा पण्णत्ता ?। गोयमा !। असंखेज्जा, एवं जहा असोच्चाए तहेव० जाव केवलणाणं समुप्पज्जइ । से णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पण्णवेज्ज वा परूवेज्ज वा ?। हंता गोयमा ! आघवेज्ज वा पण्णवेज्ज वा परूवेज्ज वा । से णं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ? । हंता पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा । से णं भंते ! सिज्झइ बुज्झइ० जाव अंतं करेइ। तस्स णं भंते ! सिस्सा वि सिज्झंति० जाव अंतं करेंति ? । हंता सिज्झंति० जाव अंतं करेंति । तस्स णं भंते ! पसिस्सा वि सिज्झंति ? । एवं चेव,० जाव अंतं करेंति । से णं भंते ! किं उड्ढं होज्जा, अहे वा ?। जहा असोच्चाए० जाव तदेकदेसभाए होज्जा । से णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, सोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव केवलिउवासियाए वा० जाव अत्थेगइया केवलणाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइया केवलणाणं णो उप्पाडेज्जा ॥

(सोच्चाणमित्यादि) अथ यथैव केवल्यादिवचनाश्रवणावाप्तबोध्यादेः केवलज्ञानमुत्पद्यते,न तथैव तच्छ्रवणावाप्तबोध्यादेः,किन्तु प्रकारान्तरेणेति दर्शयितुमाह-" तस्स णमित्यादि " [तस्स त्ति] यः श्रुत्वा केवलज्ञानमुत्पादयेत्तस्य कस्यापि,अर्थात्प्रतिपन्नसम्यग्दर्शनचारित्रलिङ्गस्य "अट्ठमं अट्ठमेणं" इत्यादि च यदुक्तं, तत्प्रायो विकृष्टतपश्चरणवतः साधोरवधिज्ञानमुत्पद्यत इति ज्ञापनार्थमिति।[लोयप्पमाणमेत्ताइं ति] लोकस्य यत्प्रमाणं मात्रा,तदेव परिमाणं येषां तानि तथा। अथैनमेव लेश्यादिभिर्निरूपयन्नाह-[से णं भंते ! इत्यादि] तत्र [से णं ति] सोऽनन्तरोक्तविशेषणोऽवधिज्ञानी। [तिसु लेसासु होज्ज त्ति] यद्यपि भावलेश्यासु प्रशस्तास्वेव तिसृष्ववधिज्ञानं लभते, तथापि द्रव्यलेश्याः प्रतीत्य षट्स्वपि लेश्यासु लभते,सम्यक्त्वश्रुतवत्। यदाह-"सम्मत्तसुयं सव्वासु लभइ त्ति" तल्लाभे चासौ षट्स्वपि भवतीत्युच्यत इति।[तिसु व त्ति] अवधिज्ञानस्याऽऽद्यज्ञानद्वयाविनाभूतत्वादधिकृतावधिज्ञानी त्रिषु ज्ञानेषु भवेदिति।[चउसु वा होज्ज त्ति] मतिश्रुतमनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतुष्टयभावाच्चतुर्षु ज्ञानेष्वधिकृतावधिज्ञानी भवेदिति।[सवेयए वेत्यादि] अक्षीणवेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ सवेदकः सन्नवधिज्ञानी भवेत्,क्षीणवेदस्य वाऽवधिज्ञानोत्पत्ताववेदकः सन्नयं स्यात् [नो उवसंतवेयए होज्ज त्ति] उपशान्तवेदोऽयमवधिज्ञानी न भवति, प्राप्तव्यकेवलज्ञानस्यास्य विवक्षितत्वादिति । [सकसाई वेत्यादि] यः कषायक्षये सत्यवधिं लभते स सकषायी। सन्नवधिज्ञानी भवेत्, यस्तु कषायक्षयेऽसावकषायीति [चउसु वेत्यादि] यद्यक्षीणकषायः सन्नवधिं लभते तदाऽयं चारित्रयुक्तत्वाच्चतुर्षु संज्वलनकषायेषु भवति। यदा तु क्षपकश्रेणिवर्तित्वेन संज्वलनक्रोधे क्षीणेऽवधिं लभते, तदा त्रिषु संज्वलनमानादिषु, यदा तु तथैव संज्वलनक्रोधमानयोः क्षीणयोस्तदा द्वयोः,एवमेकत्रेति । भ० ९ श० ३१ उ० ।

भगवतीनवमशतकोक्तोऽश्रुत्वाकेवली धर्मोपदेशं दत्ते न वेत्यत्र एकं ज्ञानं एकं प्रश्नं च मुक्त्वा धर्मोपदेशं न दत्ते इति तत्रैवोक्तमस्तीति। ही० २ प्रका० ।

असोणिय–अशोणित–त्रि० । अरुधिरप्राप्ते, पञ्चा० १६ विव०।

असोम्मगहचरिय–असौम्यग्रहचरित–न० । क्रूरग्रहचारे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

असोयणया–अशोचनता–स्त्री०। शोकानुत्पादने,पा०।ध०।ज०।

असोहिट्ठाण–अशोधिस्थान–न० । कुशीलसंसर्ग्याम्, ओघ० ।

अस्स–अश्व–पुं०। घोटके, दश० १ अ० । तं० । प्रज्ञा० । अश्विनीनक्षत्रदेवतायाम, ज्यो० १५ पाहु० । सू० प्र० । "दो अस्सा" स्था० १ ठा० १ उ० ।

अस्व–पुं० । न विद्यते स्वं द्रव्यमस्य सोऽयमस्वः । निर्ग्रन्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्सकण्ण–अश्वकर्ण–पुं०। अश्वमुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, नं० ।

अस्सकण्णी–अश्वकर्णी–स्त्री० । कन्दभेदे, भ० ७ श० ३ उ० । जी० । प्रज्ञा० ।

अस्सकरण–अश्वकरण–न०। यत्राऽश्वानुद्दिश्य किञ्चित् क्रियते तस्मिन् स्थाने, आचा० २ श्रु० १० अ० ।

अस्सचोरग–अश्वचोरक-पुं०।घोटकचौरे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

अस्सतर–अश्वतर–पुं० । एकखुर [खच्चर] भेदे, प्रज्ञा०१ पद ।

अस्समुह–अश्वमुख–पुं० । आदर्शमुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, प्रज्ञा० १ पद । नं० । ('अंतरदीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६८ पृष्ठेऽस्य वर्णक उक्तः) अश्वाकारमुखे पुरुषाकाराऽश्याङ्गे च किन्नरे, वाच० ।

अस्समेह–अश्वमेध–पुं० । अश्वो मेध्यते हिंस्यते ऽत्र । मेध-यज्ञ । यज्ञभेदे, वाच० । "षट् सहस्राणि युज्यन्ते,पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनाद्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः " ॥ १ ॥ अनु० । विशे० । स्था० ॥

अस्ससेण–अश्वसेन–पुं० । पार्श्वनाथस्य जिनस्य पितरि, प्रव० ११ द्वार । आव० । चतुर्दशे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । स्था० ।

अस्साउदिएण–असादोदीर्ण–त्रि० । असाद्नेन कर्मणोदीरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अस्साएमाण–अस्वादयत्–त्रि० । ईषत्स्वादयति इक्षुखण्डादेरिव बहु त्यजति, भ० १२ श० १ उ० । आचा० ।

अस्साद–आस्वाद–पुं० । रसनाऽऽह्लादके स्वादे, सू० १ श्रु० ।

अस्सामित्त–अस्वामित्व–न० । निःसङ्गतायाम, पं० व० ७ द्वार।

अस्सावबोहितित्थ–अश्वावबोधितीर्थ–न० । स्वनामख्याते तीर्थे, ती० ।

नमिऊण मुव्वयजिणं, परोवयारिक्करसिअमसिअरुइं ।
अस्सावबोहितित्थ-स्स कप्पमप्पं भणामि अहं ॥ १ ॥

"सिरिमुणिसुव्वयसामी उप्पन्नकेवलो विहरंतो एगयाए इट्ठपुराओ एगयाए ठाणगरयणिए सट्ठिजोअणाणि लंघिअ पारद्धअस्समेहजण्णेण जियसत्तुराइणा निअसेणा–तुरंगमं सव्व–लक्खणसंपन्नं होमिउं मुच्छिओ । इमो अट्टज्झाणाओ दुग्गइं जाहि त्ति पडिबोहेउं लाडदेसमंडणे नम्मयानईअलंकिए भरुअच्छनयरे कोरिंटवणं पत्तो । समवसरणे गया लोआ वंदिउं, राया वि गयारूढो आगम्म भगवंतं पणमिओ । इत्थंतरे सो हरी सिच्छाए विहरंतो नियसपुरिसेहिं समं तत्थागओ सामिणो रूवमप्पडिरूवं पासिंतो निच्चलो संजाओ । सुआ य धम्मदेसणा । तेण जाणिओ अ सो पुव्वभवो भगवया । जहा पुव्वभवे इहेव जंबुद्दीवे अवरविदेहे पुक्खलविजए चंपाए नयरीए सुरसिद्धो नाम राया अहमासि, मज्झपरममित्तं तुमं मइसारो नाम मंती हुत्था । अहं नंदणगुरुपायमूले दिक्खं पडिवज्जिय पत्तो पाणयकप्पे । तत्थ वीसं सागरोवमाइं आउं परिपालित्ता तओ चुओ हं तित्थयरो जाओ । तुमं च चविजिअ नराओ भारहे वासे पउमिणिसंडनयरे सागरदत्तो नाम सत्थवाहो अहेसि मिच्छद्दिट्ठी विणीओ अ । अन्नया तुमए कारियं सिवाययणं, तप्पूयणत्थं च आरामो रोविओ । भावओ अ एगो तस्स चिंताकरणे निउत्तो, गुरुआए से णं सव्वओ वि किरिआओ सव्वाचिंतो तुमं कालं गमेसि, जिणधम्मनामएणं सावएणं तुज्झ भाया परमा मित्ती, तेण सद्धिं एगया गओ तुमं साहुसगासे । तेहिं देसणंतरे भणियं–"जो कारवेइ पडिमं, जिणाण अंगुट्ठपव्वमित्तम्मि । तिरिनरयगइदुवारे, नूणं तेणऽग्गला दिन्ना" ॥ १ ॥ एवं सोऊण तुमे गिहिमागंतूण कारिआ हेममई जिणिंदपडिमा, पइट्ठाविऊण निस्संकं पूइउमाढत्तो । तं अन्नदिअहे संपत्ते माहमासे लिंगपूरणपव्वं आराहेउं तुमं सिवाययणं पत्तो । तओ जडाधारीहिं चिरसंचिअ घयं कुंभीओ उत्तारिओ लिंगपूरणत्थं । तत्थ लग्गाओ घयपिवीलियाओ, जमिएहिं निद्दयं पाएहिं मद्दिज्जमाणाओ दट्ठूण सिरं धूणित्ता सारिउं लग्गो तुमं । अहो ! एएसिं दंसणीण वि निद्दयया । अम्हारिसा गिहिणो वराया कहं जीवदयं पालइस्संति ? । तओ निअचेलं चलेहिं ताओ पउमज्जिया रुट्ठो तुमं तेहिं निज्झत्थिऊरे धम्मसंकरकारयअरहंतपासंमीहिं न विडंविओसि त्ति । तओ सो सव्वधम्मविमुहो जाओ, परमकिविणो धम्मरसिअं लोअं हसंतो मायारं तेहिं तिरिआओ अबंधित्ता भवं भमिऊण जाओ तुमं रायवाहणं तुरंगमो । तुज्झ चेव पडिबोहणत्थं अम्हाण वि इत्थाऽऽगमणं ति । सामिणो वयणं सुच्चा तस्स जायं जाइस्सरणं । गहिआ य सम्मत्तमूलदेसविरई, पच्चक्खायं सच्चित्तं फासुअं तेण नीरं च गिण्हइ, छम्मासे निव्वाहिअ त्ति अ सो मरिऊण सोहम्मे महिड्ढिओ सुरो जाओ । सो ओहिणा मुणिअ पुव्वभवं सामिसमोसरणठाणे रयणमयं चेइअमकासी । तत्थ सुव्वयसामिणो पडिमं अप्पाणं च अस्सरूवं ठाविअ गओ सुरालयं । तओ अस्सावबोहतित्थं तं पसिद्धं । सो देवो जत्तिअसंघविग्घहरणेणं तित्थं पभाविंतो कालेण नरभवे सिज्झिहइ । कालंतरेण सउलिआविहारु त्ति तं तित्थं पसिद्धं । कहं ? । इहेव जंबुद्दीवे सिंहलदीवे रयणदेसे सिरिपुरनयरे चंदगुत्तो राया । तस्स चंदलेहा भारिआ । तीसे सत्तण्हं पुत्ताणं उवरि नरदत्ता देवीआगहणेणं सुदंसणा नाम धूआ जाया; अहीअसकलविज्जा पत्ता जुव्वणं । अन्नया अत्थाणे पि उच्छंगराया तीसे धणेसरो नाम नेगमो भरुअच्छाओ आगओ । विज्जपासट्ठिअतियमुग्गगंधे वाणिए य छीयं । तेण 'नमो अरहंताणं' ति पढिअं सोउं मुच्छिआ सा, कुट्टिओ अ वाणियओ, एसे वेयणाए य जाइस्सरणमुवगया एसा दट्ठूण धम्मबंधु त्ति मोइओ । रन्ना मुच्छाकारणं पुच्छिआए तीए भणिअं–जहाऽहं पुव्वभवे भरुअच्छे नम्मयातीरे कोरिंटवणे वडपायवे सउलिआ आसी । पाउसे अ सत्तरत्तं महावुट्ठी जाया । अट्ठमदिणे छुहाकिलंता पुरे भमंती अहं वाहस्स घरंऽगणाओ आमिसं घित्तुं उड्डीणा, वडीसहे निविट्ठा य, अणुपयमागएण वाहेण सरेण विद्धा, मुहाओ पडिअं पलं, सरं च गिण्हित्ता गओ सोऽवट्ठाणं तत्थ करुणं रसंती उव्वत्तणपरिअत्तणपरा दिट्ठा एगेण सूरिणा, सित्ता य जलपत्तजलेणं, दिन्नो पंचनमुक्कारो सद्दहिओ अ मए । मरिऊण अहं तुम्ह धूआ जायं ति । तओ सा विसयविरत्ता महानिव्वंधेण पिअरे आपुच्छिय तेणेव संजत्तिएण सद्धिं पट्ठिआ वाहणाणं सत्तसएहिं भरुअच्छे, तत्थ पोअसयं वत्थाणं पोअसयं दव्वनिचयाणं, एवं चंदणागरुदारूणं धन्नजलिंधणाणं नाणाविहपक्कन्नफलाणं, पहरणाणं एवं छसया पोआणं पणासं, सत्थधराणं पणासं पाहुडाणं, एवं सत्तसयवाहणजुत्ता पत्ता समुद्दतीरं । तओ रन्ना तं वाहणवूहं सिंहलेसरअवक्खंदसंकिणा मज्झिआए सेणाए पुरक्खोभनिवारणाय गंतुं पाहुडं च दाउं सुदंसणाआगमणेणं विन्नत्तो राया तेण संजत्तिएण । तओ सो पओणीए निग्गओ । पाहुडं दाऊण पणमिओ । कन्नाए य वेसमहूसवो अ जाओ । दिट्ठं तं चेइअं, विहिणा वंदिअं पूइअं च, तित्थोववासो अ कओ, रन्ना दिन्ने पासा पच्छिआ रायणा य अट्ठ वेलाउलाइं अट्ठसया गामाणं अट्ठसया वप्पाणं अट्ठसया पुराणं दिण्णा, एगादिने अ जत्तिअं भूमिं तुरंगमो चरइ, तत्तिअं पुव्वदिसाए, जत्तिअं च हत्थी जाइ, तत्तिआ पच्छिमाए दिण्णा । उवरोहेण सव्वं पडिवण्णं । अन्नया तस्सेवायरियस्स पासे निअपुव्वभवं पुच्छइ । जहा–भयवं ! केण कम्मुणा अहं सउलिआ जाया, कहं च तेण वाहेण अहं निहयत्ति ? । आयरिएहिं भणिअं–भद्दे ! वेयड्ढपव्वए उत्तरसेढीए सुरम्मा नाम नयरी । तत्थ विज्जाहरिंदो संखो नाम राया । तस्स विजयाभिहाणा तुमं धूआ आसि । अन्नया दाहिणसेढीए महिसगामे

चलंतीए तुमए नईतडे कुक्कुडसप्पो दिट्ठो। सो य रोसवसेणं तए सारिओ। तत्थ नईए तीरे जिणाययणं दट्ठूण वंदिओ भयवओ विंब परमभत्तिपरवसाए तुमए। जाओ परमाणंदो। तओ चेइयाओ निग्गच्छंतीए तुमए दिट्ठा एगा परिस्समखिन्ना साहुणी। तीए पाए वंदिता धम्मबोहिआ अज्जाए तुमं। तुमए वि तीसे विस्सामणाईहिं सुस्सूसा कया, चिरं गिहमागया। कालेण कालधम्मं पवन्ना अट्टज्झाणपराइया कोरंटयवणे सउणी जाया तुमं। सो अ कुक्कुडसप्पो मरिऊण वाहो संजाओ। तेण पुव्ववेरेण सउणीभवे तुमं वाणेणं पहया। पुव्वभवकयाए जिणभत्तीए, गिलाणसुस्सूसाए अ अंते बोहिं पत्तासि तुमं। संपयं पि कुणसु जिणप्पणीअं दाणाइधम्मं ति। एवं गुरूणं वयणं सुचा सव्वं तं दव्वं सत्तखित्तीए चि वेइ। चेइअस्स उद्धारं करेइ। चउवीसं च देवकुलयाओ पोसहसाला–दाणसाला–अज्झयणसालाओ कारेइ। तओ तं तित्थं पुव्वभवनामेणं सउलिआविहारु त्ति भण्णइ। अंतो य संलेहणं दव्वभावभेयभिन्नं काउं कयाणसणा सा वइसाहे सुद्धपंचमीए ईसाणं देवलोगं पत्ता। सिरिसुव्वयसामिसिद्धिगमणाणंतरं इक्कारसेहिं लक्खेहिं चुलसीइसहस्सेहिं चउसयसत्तरेहिं च वासाणं अईएहिं थिक्कसाहिय व्व संवच्छरो पयट्टो। जीवंतसुव्वयसामिअविक्खाए पुण एगारसलक्खेहिं अट्ठावीसूणपंचणवइसहस्सेहिं च वासाणं विक्कमो भावी। एसा सउलिआविहारस्स उप्पत्ती। लोइअतित्थाणि अणेगाणि भरुअत्थे वट्टंति। कमेण उदयपुत्ते वाहडदेवेण सित्तुंजयपासायउद्धारकारिए, तदणुजेण अंबडेण पुणऽत्थ सउलिआविहारस्स उद्धारो कारिओ। मिच्छदिट्ठीए सिंधवादेवीए अंबडस्स पासायसिहरे नच्चंतस्स उवसग्गो कओ। सो उ निवारिओ विज्जाबलेण सिरिहेमचंदसूरीहिं। "अस्सावबोहतित्थ-स्स एस कप्पो समासओ रइओ। सिरिजिणपहसूरीहिं, भविएहिं पढिज्जउ तिकालं" ॥ १ ॥ अश्वावबोधकल्पः समाप्तः ॥ ती० १० कल्प।

अस्साविं (ण्)–आस्राविण्–त्रि०। आ समन्तात् स्रवति तच्छील आस्रावी। सच्छिद्रे, सूत्र०। "जहा अस्साविणिं नावं, जाइ अंधो दुरुहए।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

अस्सि-अस्त्रि-पुं०। चतुर्दिग्विभागोपलक्षितासु कोटिषु, स्था० ६ ठा०।

अश्विन्–पुं०। अश्विन्या देवतायाम, स्था० २ ठा० ३ उ०।

अस्सिणी-अश्विनी-स्त्री०। नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष० । स्था० । अनु०। अश्विन्या अश्वो देवता। सू० प्र० १० पाहु०। "अस्सिणी नक्खत्ते तितारे पणत्ते।" स० ३ सम०।

अस्सेसा–अश्लेषा–स्त्री०। नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष०। विशे०।

अस्सोकंता–अश्वोत्क्रान्ता–स्त्री० । मध्यमग्रामस्य पञ्चम्यां मूर्च्छनायाम, स्था० ७ ठा०।

अस्सोती–आश्वयुजी–स्त्री०। अश्वयुजि भवाऽऽश्वयुजी। अश्वयुङ्मासभाविन्याममायां, पौर्णमास्यां च। चं० प्र० १० पाहु०। सू० प्र०।

अस्सवदि–अर्थपति–पुं०। "स्पर्थयोः स्तः"। ८। ४। २९१। इति र्थस्य स्तः। "पो वः। ८। १। २३१। इति पस्य वः। धनिनि, प्रा० ४ पाद। दुं०।

अह–अथ–अव्य०। आनन्तर्ये, आ० चू० ४ अ०। सूत्र०। नि० चू०। दशे०। अनु०। क० प्र०। उपन्यासे, नं०। वक्तव्यान्तरोपन्यासे, उत्त० ३ अ०। अवसानमङ्गलार्थे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। सूत्र०। उपप्रदर्शने, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०। उत्त०। पक्षान्तरद्योतने, भ० ५ श० ६ उ०। विकल्पे, जी० १ प्रति०। विशेषे, स्था० ७ ठा०। प्रक्रियादिष्वर्थेषु, यत उक्तम्–अथ प्रक्रिया प्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु। वृ० १ उ०। जी०। आ० म०। दशा०। अनु०। स्था०। प्रश्न०। यथार्थे, आ० म० प्र०। वाक्यालङ्कारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। पादपूरणे, पञ्चा० १९ विव०।

अधस्–न०। अधस्तादित्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। स्था०। सू० प्र०। जीवा०। अधोगतौ, "अहो छिन्नं" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। अधोलोके, स्था० ३ ठा० ४ उ०। दिग्भेदे, स्था० ६ ठा०।

अहं–अहम्–अस्मदः सिना सहाऽहमादेशः। प्रा०। "णे णं मि अम्मि०" ॥ ८। ३। १०५ ॥ इत्यादिसूत्रेण अस्मदोऽमा सहाहमादेशः। प्रा० ३ पाद। आत्मनिर्देशे, आ० म० प्र०। आव०।

अहंकार–अहङ्कार–पुं०। अहोऽहं, नमो मह्यमित्येवमहङ्करणमहङ्कारः। निजगुणेषु बहुमाने, विशे०। ऐश्वर्यजात्यादिमदजनिते अभिमाने, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। सुख्यहं न दुःखीत्येवमात्मनः प्रत्यये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । आ० म०। अहमिति स्वस्वभावेनोन्मादपरे परभावकरणे कर्तृतारूपे, अष्ट० ४ अष्ट०। सूत्र०। अहं शब्देऽहं स्पर्शेऽहं गन्धेऽहं रूपेऽहं रसेऽहं स्वामी अहमीश्वरोऽसौ मया हतः, ससत्त्वोऽमुं हनिष्यामीत्यादिप्रत्ययरूपे, स्था० १५ श्लो०। अभिमाने, आव० ३ अ०। यदन्तःकरणमहमित्युल्लेखनविषयं वेदयते। द्वा० २० द्वा०। बुद्धिरेवाहङ्कारव्यापारं जनयन्ती अहङ्कार इत्युच्यते। द्वा० ११ द्वा०।

अहक्कम–यथाक्रम–अव्य०। यथापरिपाटि इत्यर्थे, दश० ४ अ०।

अहक्खाय–अथा(यथा)ख्यात–न०। अथशब्दो यथार्थे, आङ् अभिविधौ, याथातथ्येन, अभिविधिना च यत् आख्यातं(कथितमकषायं चारित्रमिति)तदथाख्यातम्। यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं प्रसिद्धमकषायं भवति चारित्रमिति तथैव यत् तद् यथाख्यातं प्रसिद्धम्। आ० म० प्र०। आर्षे यकारलोपः। प्रा० २ पाद। अकषाये चारित्रे, आ० चू० १ अ०। पञ्चा०। पं० सं०। विशे०।

अथ यथाख्यातं विवृण्वन्नाह–

अहसद्दो जाहत्थे, आङोऽभिविहीए कहियमकसायं।
चरणमकसायमुदितं, तमहक्खायं जहक्खायं ॥१२७९॥

अथेत्ययं याथातथ्यार्थे, आङ् अभिविधौ, ततश्च याथातथ्येनाभिविधिना वाऽऽख्यातं कथितं यदकषायं च चरणं तदथाख्यातम्, यथाख्यातं वा उदितमिति ॥ १२७९ ॥

एतच्च कतिविधमित्याह—

तं दुविगप्पं छउम–त्थकेवलिविहाणओ पुणेक्केक्कं।
खयसमज-सजोगाजो-गिकेवलिविहाणओ दुविहं ॥ १२८० ॥

तच्च यथाख्यातचारित्रं छद्मस्थकेवलिस्वामिभेदात् द्विविधम्। छद्मस्थसंबन्धि पुनरपि द्विविधम्-मोहक्षयसमुत्थं तदुपशमप्रभवं च।

केवलिसंवन्ध्यपि सयोग्ययोगिकेवलिभेदतो द्विविधमेवेति।१२८०। विशे०। पञ्चा०। उत्त०। आ० म०। अनु०। तदपि द्विविध-मुपशमकक्षयकश्रेणिभेदात्। शेषं तथैवेति। भ० ८ श० २ उ०।

अहक्खायसंजम-अथाख्यातसंयम-पुं०। अथशब्दो यथार्थः, यथैवाऽकषायतयेत्यर्थः। आख्यातमभिहितमथाख्यातम्। तदेव संयमोऽथाख्यातसंयमः। अयं च छद्मस्थस्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य च स्यात् केवलिनः, सयोगस्याऽयोगस्य च स्यादिति। अकषायसंयमे, स्था० ५ ठा० २ उ०। कर्म०।

अहक्खायसंजय-अथाख्यातसंजत-पुं०। अकषायचारित्रिणि, "अहक्खायसंजए पुच्छा। गोयमा! दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-छउमत्थे य केवली य"। भ० २५ श० ७ उ०।

अहट्ठाण-यथास्थान-न०। स्थानमनतिक्रम्येत्यर्थे,ज्ञा० २ ज्ञा०।

अहत (य)-अहत-त्रि०। अक्षते, अन्यथानीते च। चं० प्र० १७ पाहु०। सू० प्र०।

अहत्त-अधस्त्व-न०। जघन्यतायाम् , भ० ६ श० ३ उ०।

अहत्थ-यथास्थ-त्रि०। यथावस्थिते, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

यथार्थ-त्रि०। यथाप्रयोजने, यथाद्रव्ये च। " अहत्थे वा भावे जाणिस्सामि "। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

अहत्थाच्छिन्न-अहस्ताच्छिन्न-त्रि०। हस्तौ अच्छिन्नौ यस्य स तथा। अकृत्तकरे, नि० चू० १४ उ०।

अहत्थवाय-यथार्थवाद-पुं०। यथाऽवस्थितवस्तुतत्त्वप्रख्यापने, स्था० १ श्रो०।

अहत्थाम-यथास्थाम-न०। प्राकृतलक्षणेन यकारस्य लोपे केवलं स्वरः। यथाबले, नि० चू० १ उ०।

अहप्पहाण-यथाप्रधान-अव्य०। प्रधानमनुरूप्येत्यर्थे, यो यः प्रधानो जन इत्यर्थः। भ० १२ श० १ उ०।

अहम-अधम-त्रि०। जघन्ये, आचा० ४ अ०। निन्द्ये, उत्त० १३ अ०। निकृष्टे. "नरिंदजाई अहमा नराणं" उत्त० १३ अ०। सूत्र०। क्षुद्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। (अधमपुरुषाणां मानम् 'अंगुल' शब्दे ऽत्रैव भागे ४४ पृष्ठे वक्ष्यम)

अहमंनि-अहमन्तिन्-पुं०। अहमेव जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्त्यस्मिभिमानवति, स्था०।

दसहिं ठाणेहिं अहमंतीति थंभेज्जा। तं जहा-जाइमएण वा कुलमएण वा० जाव इस्सरियमएण वा नागसुवन्ना वा मे अंतिअं हव्वमागच्छंति पुरिसधम्माओ वा मे उत्तरिए अहोवहिए णाणदंसणे समुप्पन्ने ।

(दसहीत्यादि) स्पष्टं, नवरं (अहमंतीति) अहम्,अन्ती इति। अन्तो जात्यादिप्रकर्षपर्यन्तोऽस्यास्तीत्यन्ती। अहमेव जात्यादिभिरुत्तमतया पर्यन्तवर्ती। अथवाऽनुस्वारः प्राकृततयेति। अहमस्मि अतिशयवानिति। एवंविधोत्सेकेन (थंभेज्ज त्ति) स्तब्धो यात्, स्तब्धो भवेत्, मायेदित्यर्थः। यावत्करणात् ' बलमएण रूवमएण सुयमएण तवमएण लाभमएण' इति दृश्यम्। तथा (नागसुवण्ण त्ति) नागकुमाराः सुवर्णकुमाराश्च। वा विकल्पार्थे। मे मम अन्तिकं समीपं ' हव्वं ' शीघ्रमागच्छन्तीति। पुरुषाणां प्राकृतपुरुषाणां धर्मो ज्ञानपर्यायलक्षणस्तस्माद्वा सकाशादुत्तरः प्रधानः स एवौत्तरिकः। (अहोवहिए त्ति) नियतक्षेत्रविषयोऽवधिस्तद्रूपं ज्ञानदर्शनं प्रतीतमिति ॥ स्था० १० ठा०।

अहमहमिमितिदप्पिय-अहमहमितिदर्पित-त्रि०। अहमहमित्येवं दर्पवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

अहम्म-अधर्म-पुं०। पापे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। दश०। सावद्यानुष्ठाने, दशा० ६ अ०। अधर्मस्य वर्णं वदति, नि० चू०।

जे भिक्खू अधम्मस्स वण्णं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ।११३।

इह अहम्मो भारहरामायणादि पावसुत्तं, चरगादियाण वा-जपंचग्गितवादिया वयविसेसा, अहवा-पाणादिया मिच्छादं-सणपज्जवसाणा अट्ठारस पावट्ठाणा, एतेसिं वण्णं वदतीत्यर्थः।

एसेव गमो नियमा, वोच्चत्थे होति तं अहम्मे वि।
देसे सव्वे य तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ३३ ॥

वोच्चत्थो, विपक्खे वण्णवायं वदतीत्यर्थः। सेसं कंठं।

इहरह वि ताव लोए, मिच्छत्तं दिप्पए सहावेणं।
किं पुण जइ उववूहति, साहू अजयाण मज्झम्मि ॥३४॥

(इहरह वि त्ति) सहावेण प्रदीप्यते प्रज्वलते। किमिति निर्देशे, पुनर्विशेषणे। किं विशेषयति?,सुतरां दीप्यते इत्यर्थः। यदीत्यभ्युपगमे। "अजया अगतो उववूहति, ताहे थिरतरं तेसिं मिच्छत्तं भवतीत्यर्थः। शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ०। धर्मरहिते, विपा० १ श्रु० २ अ०।

अहम्मओ-अधर्मतस्-अव्य०। अधर्ममङ्गीकृत्येत्यर्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

अहम्मकेउ-अधर्मकेतु-पुं०। केतुर्ग्रहविशेषः,स इव यः स तथा। पापप्रधाने, ज्ञा० १८ अ०।

अहम्मक्खाइ-अधर्मख्यायिन्-पुं०। न धर्ममाख्यातीत्येवं शीलोऽधर्माख्यायी। अथवा-न धर्माख्यायी अधर्माख्यायी। धर्मकथनाशीले, दशा० ६ अ०।

अधर्माख्याति-पुं०। अधर्माद्वाख्यातिर्यस्य स अधर्माख्यातिः। पापकर्मतया प्रसिद्धे, दशा० ६ अ०।

अहम्मजीवि(ण्)-अधर्मजीविन्-पुं०। अधर्मेण जीवति प्राणान् धारयतीति अधर्मजीवी। अधर्मेण प्राणधारके, दशा० ६ अ०।

अहम्मट्ठाण-अधर्मस्थान-न०। पापस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अयोग्येषु क्रियास्थानेषु,सूत्र० २ श्रु० २ अ०। धर्मादपेते स्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अहम्मट्ठि(ण्)-अधर्मार्थिन्-पुं०। अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अधर्मेणार्थी अधर्मार्थी। अधर्मप्रयोजने,आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०।

अहम्मदाण-अधर्मदान-न०। अधर्मपोषकं दानमधर्मदानम्। अधर्मप्रतिपादकत्वाद् वाऽधर्म एव। चौरादिभ्यो दाने, स्था० १० ठा०।

अहम्मसेवि(ण्)-अधर्मसेविन्-पुं०। कलत्रादिनिमित्तषट्कायोपमर्दकारिणि, "सुअस्स धम्माउ अहम्मसेविणो।" दश०१चू०।

अहम्माणि(ण्)-अहम्मानिन्-पुं०। अहमेव विद्वानिति मानो गर्वोऽस्येति अहम्मानी। अहङ्कारिणि, आ० म० द्वि०।

अहय-अहत-त्रि० । अक्षते अभ्याहते, आ० म० प्र० । जी० । नवे, भ० ८ श० ६ उ० । रा० । अव्यवच्छिन्ने, कल्प० १ क्ष० । अखण्डिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मलमूषादिनिरनुपहते प्रत्यग्रे, ज्ञा० १ अ० ।

अहर-अधर-पुं० । अधस्तात्काये, आव० ३ अ० । अधस्तनदन्तच्छदे, औ० । प्रज्ञा० । तं० ।

अहरगइगमण-अधरगतिगमन-न० । अधोगतिगमनकारणे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अहरायाणिय-यथारत्नाधिक-अव्य० । यथाज्येष्ठार्यतयेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

अहरी-अधरी-स्त्री० । पेषणशिलायाम, उत्त० ।

अहरु(रो)ट्ठ-अधरोष्ठ-पुं० । "ह्रस्वः संयोगे" ॥८ । १ । ८४ ॥ इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा०१ पाद । दंष्ट्रिकायाम, कल्प १ क्ष० ।

अहव-अथवा-अव्य० । " वाऽव्ययोत्खातादावदातः " । ८ । १ । ६७ । इत्यातोऽत्वम; अहव अहवा । विकल्पे, प्रा० १ पाद । स० ।

अहवण-(अथवा)-अव्य० । 'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययपदम । अथवेत्यस्यार्थे, बृ० १ उ० । विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १ उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अहवा-अथवा-अव्य० । संबन्धस्य प्रकारान्तरतोपदर्शने,व्य० १ उ० । पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतने, पञ्चा०३ विव० । नि० चू० । ध० । पं० सं० । ग० । भ० । पक्षान्तरे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । वाक्योपन्यासे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहव्वण-अथर्वन्-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे वेदे, भ० २ श० १ उ० । अनु० । औ० ।

अहस्स-अहास्य-न० । हास्यपरित्यागे, आव० ४ अ० ।

अहह-अहह-अव्य० । अहं जहाति, अहम+हा-क-पृषो० । सम्बोधने, आश्चर्ये, खेदे, क्लेशे, प्रकर्षे च । वाच० । प्रा०२ पाद ।

अहा-अधस्-अव्य० । दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

अथ-अव्य० । याथातथ्ये, विशे० । आनन्तर्ये, "अहा पंडुरप्पभाए" । रजनीविघातानन्तरम् । दीर्घत्वमार्षत्वात् । कल्प०२ क्ष० ।

अहाअत्थ-यथार्थ-अव्य० । नियुक्त्यादिव्याख्यानानतिक्रमे, स्था० ७ ठा० ।

अहाउओवक्कमकाल-यथायुष्कोपक्रमकाल-पुं० । यथा बद्धस्यायुष्कस्योपक्रमणं दीर्घकालभोग्यस्योपक्रमणं यथायुष्कोपक्रमः; स चासौ कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः । कालभेदे, विशे० ।

अहाउणिव्वत्तिकाल-यथायुर्निर्वृत्तिकाल-पुं० । कालभेदे, स्था० । यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः कर्मविशेषो यथाऽऽयुः तस्य रौद्रादिध्यानादिना निर्वृत्तिर्बन्धनं, तस्याः सकाशात् यः कालो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथायुर्निर्वृत्तिकालः । अथवा-यथाऽऽयुषो निर्वृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिभवेऽवस्थानं, स तथेति । अयमप्यद्धाकाल एवायुष्ककर्मानुभवविशिष्टः सर्वसंसारजीवानां वर्तनादिरूप इति । उक्तं च-" आउयमित्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणाऽऽदिमओ । भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ जो जं चिरं तेण " ॥ १ ॥ स्था० ४ ठा०१ उ० । "से किं तं अहाउणिव्वत्तिकाले ?, अहाउणिव्वत्तिकाले जं णं णेरइएण वा तिरिक्खजोणिएण वा मणुस्सेण वा देवेण वा अहाउणिव्वत्तियं सेसं पालेमाणे अहाउणिव्वत्तिकाले " ॥ भ० ११ श० ११ उ० ।

अहाउय-यथायुष्क-न० । देवाद्यायुष्कलक्षणे कालभेदे, आ० म० द्वि० । ('काल' शब्दे तृतीयभागे चैतद्व्याख्यास्यते) यथावद्धे आयुषि च । स्था० ।

दो अहाउयं पालेइ । तं जहा-देवच्चेव नेरइयच्चेव ॥

(दो इत्यादि) यथाबद्धमायुर्यथायुः, पालयन्त्यनुभवन्ति नोपक्रम्यते तदिति यावदिति । "देवा नेरइया वि य, असंखवासाउया तिरियमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसरीरा निरुवक्कमा" ॥ १ ॥ इति वचने सत्यपि देवनारकयोरेवेह भणनं, द्विस्थानकानुरोधादिति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अहाक (ग) ड-यथाकृत-त्रि० । आत्मार्थमभिनिर्वर्तिते आहारादौ, "अहागमेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरो जहा" दश० १ अ० । नि० चू० । बृ० ।

अहाकप्प-यथाकल्प-अव्य० । यथाऽऽक्ते तथाकरणे कल्पोऽन्यथा त्वकल्प इति यथाकल्पम । कल्प० ९ क्ष० । प्रतिमाकल्पानतिक्रमे तत्कल्पवस्त्वनतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्था० । ज्ञा० । कल्पानतिक्रान्ते, स्थविरकल्पोचिते कल्पनीये च । न० । पा० । ध० ।

अहाकम्म-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानतिक्रमे, द्वा० १६ द्वा० ।

अहापडिग्गहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपन्ने पुनर्ह्रासमनीते, भ० २ श० ५ उ० ।

अहाछंद-यथाछन्द-पुं० । यथा छन्दोऽभिप्राय इच्छा, तथैवाऽऽगमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाछन्दः । व्य० १ उ० । प्रव० । ध० । नि० चू० । यथाकथंचित् नागमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो बोधः प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाछन्दः । भ० १ श० ४ उ० । स्वच्छन्दमतिविकल्पिते, आव० ३ अ० ।

जे भिक्खू गणाओ अवक्कम्म अहाछंदं विहारं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए अच्छिया इच्छा से पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाइज्जा ॥

यः भिक्षुर्गणादपक्रम्य यथाछन्दविहारेण विहरेत्स इच्छेद् द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुम, तत्र स पुनरालोचयेत्, पुनः प्रतिक्रामेत, पुनश्छेदपरिहारस्यालोचयेत् । व्य० अ० २ उ० ।

इदानीं यथाछन्दःस्वरूपमुपवर्णयति-

उस्सुत्तमायरंतो, उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणो ।
एसो य अहाछंदो, इच्छा छंदो य एगट्ठा ॥

सूत्रादूर्ध्वम-उत्तीर्णम (परिभ्रष्टमित्यर्थः) उत्सूत्रं, तदाचरन् प्रतिसेवमानः, तदेव यः परेभ्यः प्रज्ञापयन् वर्तते, एष यथाछन्दोऽभिधीयते । सम्प्रति छन्दःशब्दार्थं पर्यायेण व्याचष्टे-इच्छा छन्द इत्येकार्थः । किमुक्तं भवति ?-छन्दो नाम इच्छेति । व्युत्पत्तिश्च यथाच्छन्दःशब्दस्य प्रागेवोपदर्शिता ।

उत्सूत्रमित्युक्तमत उत्सूत्रं व्याख्यानयति-

उस्सुत्तमणुवदिट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणणुपाती ।

परतित्तियपवित्ते, मतितिणेऽयं अहाछंदो ॥

उत्सूत्रं नाम यत्तीर्थङ्करादिभिरनुपदिष्टम, तत्र या सूरिपरम्परागता सामाचारी, यथा-नागिला रजोहरणमूर्ध्वमुखं कृत्वा कायोत्सर्गं कुर्वन्ति । चारणानां वन्दनके कथमपीत्युच्यते इत्यादि, साऽप्यङ्गेपूपाङ्गेषु नोपदिष्टेत्यनुपदिष्टम । सङ्केततोऽनुपदिष्टमाह-स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण विकल्पितं, स्वेच्छाकल्पितमित्यर्थः । अत एवाननुपाति । सिद्धान्तेन सहाघटमानकम् । न केवलमुत्सूत्रमाचरन् प्रज्ञापयंश्च यथाच्छन्दः, किन्तु यः परतृप्तिषु गृहस्थप्रयोजनेषु करणकारणानुमतिभिः प्रवृत्तः परतृप्तिप्रवृत्तः । तथा 'मतंतिणो' नाम यः स्वल्पेऽपि केन चित्साधुनाऽपराद्धेऽनवरतं पुनस्तं रुपन्नास्ते, अयमेवंरूपो यथाच्छन्दः ।

तथा-

सच्छंदमतिविगप्पिय, किंची सुहसायविगइपाभिबद्धो ॥
तिहि गारवेहि मज्जइ, तं जाणाही अहाछंदं ॥

स्वच्छन्दमतिविकल्पितं किञ्चित्कृतं नल्लोकाय प्रज्ञापयति, ततः प्रज्ञापनगुणेन लोकाद्विकृतीर्लभते, ताश्च विकृतीः परिभुञ्जानः स्वसुखमासादयति । तेन च सुखासादनेन तत्रैव रतिमातिष्ठति । तथाचाह-सुखासादे सुखासादनविकृतौ च प्रतिबद्धः । तथा-नेन स्वच्छन्दमतिविकल्पितप्रज्ञापनेन लोकपूज्यो भवति, अभीष्टरसांश्चाहारान् प्रतिलभते, वसत्यादिकं च विशिष्टमतः सर्वेभ्यो बहु मन्यते । तथाचाह-त्रिभिः गौरवैर्ऋद्धिरससातलक्षणैर्माद्यति य एवंभूतः, तं यथाच्छन्दो जानीहि ।

इह उत्सूत्रं प्ररूपयन् यथाच्छन्द उच्यते, तत उत्सूत्रप्ररूपणामेव भेदतः प्ररूपयति-

अहछंदस्स परूवण, उस्सुत्ता दुविह होइ नायव्वा ॥
चरणेसु गईसुं जा, तत्थ य चरणे इमा होति ॥

यथाच्छन्दसः प्ररूपणा उत्सूत्रा सूत्रादुत्तीर्णा द्विधा भवति ज्ञातव्या । तद्यथा-चरणेषु चरणविषया, गतिषु गतिविषया, तत्र या चरणविषया, सा इयं वक्ष्यमाणा भवति ।

तामेवाह-

पमिलेहण मुहपोत्तिय, रयहरण निसेज्ज पायमत्तए पट्टे ।
पमलाइ चोल उणा-दसिया पडिलेहणापोत्ते ॥

या मुखपोत्तिका मुखवस्त्रिका, सैव प्रतिलेखनी-पात्रप्रत्युपेक्षया पात्रकेसरिका; किं द्वयोः परिग्रहेण?, अतिरिक्तोपधिग्रहणेन संभवात् । तथा-(रयहरणनिसेज्ज त्ति) किं रजोहरणस्य द्वाभ्यां निषद्याभ्यां कर्त्तव्यम, एका निषद्याऽस्तु ?। (पायमत्तए त्ति) यदेव पात्रं तदेव मात्रकं क्रियतां, मात्रकं वा पात्रम; किं द्वयोः परिग्रहेण?। तथा-(पट्ट त्ति) य एव पट्टचोलकः स एव रात्रौ संस्तारकस्योत्तरपट्टः क्रियतां, किं पृथगुत्तरपट्टपरिग्रहेण ? । तथा-(पमलाइ चोल त्ति) । पटलानि किमिति पृथक् ध्रियन्ते, चोलपट्ट एव भिक्षार्थं हिण्डमानेन द्विगुणस्त्रिगुणो वा कृत्वा पटलकस्थाने निवेश्यताम् । (उणादसिय त्ति) रजोहरणस्य दशाः किमित्यूर्णामय्यः क्रियन्ते ?, मौक्तिकाः क्रियन्तां, ता ह्यूर्णामयीभ्यो मृदुतरा भवन्ति । तथा-(पमिलेहणापोत्ते त्ति) प्रतिलेखनावेलायामेकं पोतं प्रस्तार्य तस्योपरि समस्तवस्तुप्रेक्षणं कृत्वा तदनन्तरमुपाश्रयान् तद् बहिः प्रत्युपेक्षणीयम । एवं हि महती जीवदया कृता इति ।

दंतच्छिन्नमलित्तं, हरियट्ठिय पमज्जणा य णितस्स ।
अणुवाइ-अणणुवाई, परूवणा चरणमाईसुं ॥

हस्तगताः पादगता वा नखाः प्रवृद्धाः दन्तैश्छेत्तव्याः, न नखरदनेन । नखरदनं हि ध्रियमाणमधिकरणं भवति । तथा-(अलित्तमिति) पात्रमलिप्तं कर्तव्यम, न पात्रं लेपनीयमिति भावः। पात्रलेपने बहुसंयमदोषसंभवात् । (हरियट्ठिय त्ति) हरितप्रतिष्ठितं भक्तपानादि ग्राह्यं, तद्ग्रहणे हि तेषां हरितकायजीवानां भारापहारः कृतो भवति । (पमज्जणा य नितस्स त्ति) यदि छन्ने जीवदयानिमित्तं प्रमार्जना क्रियते, ततो बहिरप्यच्छन्ने क्रियतां, जीवदयापरिपालनरूपस्य निमित्तस्योभयत्रापि संभवात् । अक्षरघटना त्वेवम्-' नितस्स ' निर्गच्छतः प्रमार्जना भवतु, यथा वसतेरन्तरिति । एवं यथाच्छन्देन चरणेषु च प्ररूपणाऽनुपातिनी अनुसारिणी, अननुपातिनी च क्रियते ।

अथ किंस्वरूपाऽनुपातिनी ?, इत्यनुपातिन्यननुपातिन्योः स्वरूपमाह—

अणुवाइ त्ती नज्जइ, जुत्तीपडियं खु भासए एसो ।
जं पुण सुत्तावेयं, तं होति अणणुवाति त्ति ॥

यज्ज्ञाप्यमानः सन् यथाच्छन्दो ज्ञायते-यथा 'खु' निश्चितं युक्तिसङ्गतमेव भाषते, तदनुपातिप्ररूपणम् । यथा-यैव मुखपोत्तिका सैव प्रतिलेखनिका इत्यादि । यत्तु पुनर्भाष्यमाणं सूत्रापेतं सूत्रपरिभ्रष्टं तद्भवत्यननुपाति । यथा-चोलपट्टः पटलानि क्रियताम्; यद्युपधिकापतनसंभवतो युक्त्यसङ्गततया प्रतिभासमानत्वात् । तत्र चरणे प्ररूपणमनुपात्यननुपाति चोक्तमिदं चान्यद् द्रष्टव्यम ।

तदेवाह—

सागारियादिपलियं-कनिस्सेज्जासेवणा य गिहिमत्ते ।
निग्गंथिचेट्ठणाइं, सेहो वा मा सकप्पस्स ॥

सागारिकः शय्यातरस्तद्विषये श्रुते-यथा शय्यातरपिण्डे गृह्यमाणे नास्ति दोषः, प्रत्युत गुणः, वसतिदानतो भक्तपानादिदानतश्च प्रभूततरनिर्जरासंभवात, आदिशब्दात्स्थापनाकुलेष्वपि प्रविशतो नास्ति दोषः । (पलियंक त्ति) पर्यङ्कादिषु परिभुज्यमानेषु न कोऽपि दोषः, केवलं भूमावुपवेशने लाघवादयो बहुतरा दोषाः (निसिज्जासेवण त्ति) गृहिनिषद्यायामासेव्यमानायां, गृहेषु निषद्याग्रहणे इत्यर्थः। को नाम दोषः?, अपि त्वतिप्रभूतो गुणः, ते हि जन्तवो धर्मकथाश्रवणतः संबोधमाप्नुवन्ति (गिहिमत्ते ति) गृहिमात्रके भोजनं कस्मान्न क्रियते ?, एवं हि प्रवचनोपघातः परिहृतो भवति । तथा-(निग्गंथिचेट्ठणादि ति) निर्ग्रन्थीनामुपाश्रये अवस्थानादौ को दोषः ?, संक्लिष्टमनोनिरोधेन ह्यसंक्लिष्ट तु मा विहारक्रमं कार्षुरिति ।

चारे वेरज्जे वा, पढमसमोसरण तह य नितिएसु ।
सुन्ने अकप्पए वा, अन्नाउंछे य संभोए ॥

चारः, चरणं, गमनमित्यकाऽर्थः। तद्विषये व्रतार्थे, तद्यथा-चतुर्षु मासेषु मध्ये यद्वर्षं पतति तावन्मा विहारक्रमं कार्षीः, यदा तु न पतति वर्षं, तदा को दोषो हिण्डमानस्येति?। तथा वैराज्येऽपि ब्रूते-यथा वैराज्येऽपि साधवो विहारक्रमं कुर्वन्तु, परित्यक्तं हि साधुभिः परमार्थतः शरीरं, तथापि ते गृहीष्यन्ति किं नूनं साधूनाम, सोढव्याः खलु साधुभिरुपसर्गाः। ततो यदुक्तम-"नो कप्पइ निग्गंथाणं वेरज्जविरुद्धरज्जंसि । सज्जं गमणं सज्ज-मागमणं ति" । तदयुक्तमिति । (पढमेण समोसरणे त्ति) प्रथम स-

मवसरणं नाम प्रथमवर्षाकालः,तत्र ब्रूते-यथा प्रथमसमवसरणे उद्गमादिदोषपरिशुद्धं वस्त्रं पात्रं वा किं न कल्पते गृहीतुम्?। द्वितीयसमवसरणेऽपि इद्गमादिदोषपरिशुद्धमिति कृत्वा गृह्यते ; सा च दोषशुद्धिरुभयत्राप्यविशिष्टेति। (तह य नितिएसु त्ति)तथा-नित्येषु नित्यवासेषु प्ररूपयति-यथा-नित्यवासेऽपि यद्युद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं लभ्यते भक्तपानादि, ततः को दोषः ? प्रत्युत कालं दीर्घमेकक्षेत्रे वसतां सूत्रार्थादयः प्रभूता भवन्ति । तथा-(सुन्न त्ति) यद्युपकरणं न केनापि ह्रियते, ततः शून्यायां वसतौ क्रियमाणायां को दोषः ? । अथोत्संघट्टनेनोपहन्यते, तच्च चेत्तस्यौपधिक उपघातः (तथा अकप्पिय त्ति) अकल्पिको नामागीतार्थः; तद् विषये ब्रूते-यथा-अकल्पिकेन प्रथमशैक्षकरूपेण शुद्धमज्ञातोञ्छं वस्त्रपात्राद्यानीतं किं न परिभुज्यते ? ; तस्य ज्ञातोञ्छतया विशेषतः परिभोगार्हत्वात्। (संभोए इति) तथा संभोगे ब्रूते-यथा-सर्वे पञ्च महाव्रतधारिणः साधवः,सांभोगिका एव युक्ता नासांभोगिका इति ।

साम्प्रतमकल्पिकोचितं विवृणोति-

किंवा अकप्पिएणं, गहियं फासुयं तु होइ उ अभोज्जं ।
अन्नाउंछं को वा, होइ गुणो कप्पिए गहिए ? ॥

किं वा केन वा कारणेन अकल्पिकेन अगीतार्थेन गृहीतं प्रासुकमज्ञातोञ्छमपि अभोज्यमपरिभोक्तव्यं भवति । को वा कल्पिकेन (अत्र गाथायां सप्तमी तृतीयाऽर्थे) गृहीते गुणो भवति; उभयत्रापि शुद्धत्वाविशेषात् ।

अधुना (संभोए) इति व्याख्यानयति-

पंचमहव्वयधारी, समणा सव्वेसि किं न भुंजंति ।
इय चरण-वितहवादी, एत्तो वोच्छं गतीसुं तु ॥

पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वे श्रमणाः किं नैकत्र भुञ्जते ?, किं नाविशेषेण सर्वे सांभोगिका भवन्ति ?, येनैके सांभोगिकाः, अपरे असांभोगिकाः क्रियन्ते इति। इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथाच्छन्दोऽनालोचितगुणदोषः, चरणे चरणविषये वितथवादी । अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितथवादिनं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति—

- खेत्तं गतो य अडविं, एको संचिट्ठए तहिं चेव ।
तित्थगरो त्ति य पियरो, खेत्तं पुण भावतो सिद्धी ॥

स यथाच्छन्दो गतिषु विषये एवं प्ररूपणां करोति-"एगो गहवती, तस्स तिन्नि पुत्ता, ते सव्वे छेत्तकम्मोवजीविणो पियरेण छित्तकम्मे नियोजिया । तत्थेगो खेत्तकम्मं जहाणत्तं करेइ। एगो अडविं गतो; देसं देसेण हिंडइ इत्यर्थः । एगो जिमित्ता जिमित्ता देवकुलादिसु अत्थति । कालंतरेण तेसिं पिया मतो । तेहिं दव्वं पितिसियं ति काउं सव्वं सम्मं विरिक्कं । एवं तेसिं जं एगेण उवज्जियं तं सव्वेसिं सामन्नं जायं । एवं अम्हं पिया तित्थयरो,तस्स वयोवदेसेणं सव्वे समणा कायाकिलेसं कुव्वंति । अम्हे न करेमो, जं तुब्भेहिं कयं । अम्हं सामन्नं जहा तुब्भे देवलोगं सुकुलपच्चयाइं वा सिद्धिं वा गच्छह, तहा अम्हे वि गच्छिस्सामो" । एष गाथाभावार्थः । अक्षरयोजना त्वियम्-एकः पुत्रः क्षेत्रं गतः। एकोऽटवीम.देशान्तरेषु परिभ्रमतीत्यर्थः। अपर एकस्तत्रैव संतिष्ठते। पितरि च मृते धनं सर्वेषामपि समानम् । एवमत्रापि पिता पितृस्थानीयस्तीर्थंकरः । क्षेत्रफलं धनं पुनर्विभावतः परमार्थतः सिद्धिः, तां यूयमिव युष्मदुपार्जनेन वयमपि गमिष्यामः । उक्ता गतिष्वपि यथाच्छन्दस्य वितथप्ररूपणा ।

संप्रति तेषां यथाच्छन्दानामेवंवदतां दोषमुपदर्शयति-

जिणवयण सव्वसारं, मूलं संसारदुक्खमुक्खस्स ।
सम्मत्तं मइलेत्ता, ते दोग्गइवड्ढगा हुंति ।

ते यथाच्छन्दाश्चरणेषु गतिषु चैवंब्रुवाणाः सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम्। कथंभूतमित्याह-जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचनं द्वादशाङ्गं,तस्य सारं प्रधानं,प्रधानत्वोऽस्य तदन्तरेण श्रुतस्य परिज्ञातस्याप्यश्रुतत्वात्। पुनः किंविशिष्टमित्याह-मूलं प्रथमं कारणं,संसारदुःखमोक्षस्य समस्तसांसारिकदुःखविमोक्षमोक्षस्य. तदेवंभूतं सम्यक्त्वं मलिनयित्वा आत्मनो दुर्गतिवर्द्धका भवन्ति । दुर्गतिस्तेषामेवंवदतां फलमितिभावः । इह पूर्वमुत्सवेऽनुत्सवे वा गृहीतस्य पार्श्वस्थस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्सवप्ररूपणार्थमाह-

सक्कमहादीया पुण, पासत्थे ऊसवा मुणेयव्वा ।
अहछंदे ऊसवो पुण, जीए परिसाएँ उ कहेइ ॥

पार्श्वस्थे पार्श्वस्थस्य, उत्सवा ज्ञातव्याः शक्रमहादयः इन्द्रमहादयः। आदिशब्दात् स्कन्दरुद्रमहादिपरिग्रहः। यथाच्छन्दस्य पुनरुत्सवो यस्याः पर्षदः पुरतो यथाच्छन्दः स्वच्छन्दविकल्पितं प्ररूपयति सा पर्षत् ज्ञातव्या । एतदपि च उत्सवभूतेयः पर्षदि स्वकीयकुमतप्ररूपणं चतुर्मासषण्मासवर्षेषु कदाचिद्वा करोति, अभीक्ष्णं वा, तत एतेषु वक्तव्यम, तच्च पार्श्वस्थाऽऽगमानुसारेण ज्ञेयम ।

अत आह-

जहिँ लहुगो तहिँ लहुगा,जहिँ लहुगा चउगुरू तहिं ठाणे ।
जहिँ ठाणे चउगुरुगा, छम्मासे तत्थ ऊ जाणे ॥
जहिँ पुण छम्मासा तहिँ, छेयं पुण छेयठाणए मूलं ।
पासत्थे जं भणियं, अहछंदे विवड्ढियं जाणे ॥

यत्र पार्श्वस्थस्य मासलघु प्रायश्चित्तमुक्तं तत्र यथाच्छन्दसि चत्वारो लघुकाः। यत्र चत्वारो लघुकाः,तत्र स्थाने च चत्वारो गुरवः। यत्र चत्वारो गुरुकास्तत्र षण्मासान् गुरून् जानीहि । यत्र पुनः षण्मासास्तत्र ज्ञातव्यः छेदः,छेदस्थाने च मूलम। तद्यथा-यद्युत्सवाभावे कदाचित्कथयति ततश्चत्वारो लघुका मासाः;अथाभीक्ष्णं कथयति ततश्चत्वारो गुरुकाः ; अथोत्सवे कदाचित् ब्रूते ततश्चत्वारो गुरुकाः; अभीक्ष्णकथने षण्मासा गुरवः। षण्मासा यावदभीक्ष्णकथने मूलम । अथोत्सवानुत्सवविशेषरहिततया सामान्यतोऽभिधानमुक्तमोघेन प्रायश्चित्तम्। अधुना विभागत उच्यते-चतुरो मासान् यावत्कदाचिदुत्सवाभावे प्ररूपणायां चत्वारो लघुमासाः। षण्मासान् यावच्चत्वारो गुरवः। वर्षं यावत्षण्मासा गुरवः। तथा-चतुरो गुरुमासान् यावदुत्सवाभावेऽभीक्ष्णप्ररूपणायाः चत्वारो गुरुकाः। षण्मासान् यावदुत्सवमभीक्ष्णप्ररूपणायां षण्मासा गुरवः। वर्षं यावदेवंप्ररूपणायां छेदः। चत्वारो मासान् यावदुत्सवे कदाचित्प्ररूपणात् चत्वारो मासा गुरवः। षण्मासान् यावदेवंप्ररूपणायां षण्मासा गुरवः । वर्षं यावत्प्ररूपणायां छेदः । तथा-चतुरो मासान् यावदुत्सवेष्वभीक्ष्णं प्ररूपणायां चतुर्गुरुकः छेदः। वर्षं यावदेवंप्ररूपणायां मूलमिति । एतदेव सामान्यतो ग्रहणम् । (पासत्थेत्यादि) पार्श्वस्थे यत्र स्थाने यत् भणितं प्रायश्चित्तं त-

स्मिन् स्थाने यथाच्छन्दो विवर्द्धितं-विशेषेण वर्द्धितं,जानीहि । तच्च तथैवानन्तरमुपदर्शितम् । कस्माद्धि वर्द्धितं जानीहि इति चेत् ?, उच्यते-प्रतिसेवनात् प्ररूपणाया बहुदोषत्वात्, इह पार्श्वस्थत्वं त्रयाणामपि संभवति । तद्यथा-भिक्षोर्गणावच्छेदिनः, आचार्यस्य च । यथाच्छन्दत्वं पुनर्भिक्षोरेव । ततः पार्श्वस्थविषयं सूत्रं त्रिसूत्रात्मकं यथाच्छन्दविषयं त्वेकस्वरूपमिति ।

सम्प्रति कुशीलादीनां प्रायश्चित्तविधिमतिदेशेन आह-

पासत्थे आरोवण, ओहविभागेण वन्निया पुव्वं ।
सव्वे वि निरवसेसा, कुसीलमादीण नायव्वा ॥

यैव पूर्वं पार्श्वस्थे प्रायश्चित्तस्यौघेन, विभागेन वाऽऽरोपणप्रदानमुपवर्णिता, सैव निरवशेषा ओघेन, विभागेन च ज्ञातव्या । यत्र तु विशेषः स तत्र तु वक्ष्यते । गतं यथाच्छन्दसूत्रम । व्य० १ उ० । भ० ।

जे भिक्खू अहाछंदं पसंसइ, पसंसंतं वा साइज्जइ ॥१८८॥
जे भिक्खू अहाछंदं वंदइ, वंदंतं वा साइज्जइ ॥१८९॥

अहच्छंद त्ति यकाररूपव्यञ्जनलोपे कृते स्वरेऽवस्थिते च भवति । छन्दोऽभिप्रायः, यथाऽस्याभिप्रेतं तथा प्रज्ञापयन् अहाछंदो भवति । तं जो पसंसति , वंदति वा तस्स चउगुरुगं, आणादिया य दोसा । (नि०चू०) (इतोऽग्रे व्यवहारेण गतार्थः)

कारणे पुण पसंसति वंदति वा-

वितियपदमणप्पज्झे, पसंस अविकोविते व अप्पज्झो ।
जोऽणंते वावि पुणो, भयसा तव्वादि गच्छट्ठा ॥२१९॥

अहाच्छंदो कोइ राइस्सिओ, तब्भया तं पसंसति, वंदति वा (तव्वादि त्ति) कश्चिदेवं वादी प्रमाणं कुर्यात्-अहाछंदो न वन्द्यो, नापि प्रशस्यः, इति प्रतिज्ञा कस्माद्धेतोः ? । उच्यते-कर्मबन्धकारणत्वात् । को दृष्टान्तः ?, अविरतमिथ्यात्ववन्दनप्रशंसनवत् । ईदृशप्रमाणस्य दूषणेन दोषमावहति प्रशंसनवन्दनप्ररूपणं कुर्वन् (गच्छट्ठ त्ति) कोइ अहाछंदो ओमाइसु गच्छरक्खणं करेति, तं वंदति पसंसति वा, ण दोसो । नि० चू० ११ उ० । आचार्ये यथाच्छन्दे जातेऽन्यत्रोपसंपत् । व्य० ४ उ० ।

अहाछंदविहारि (ण्)-यथाछन्दविहारिन्-पुं० । आजन्मापि यथाछन्दे, ज्ञा० १० श० ४ उ० ।

अहाजाय-यथाजात-न० । यथाजातं नाम यथा प्रथमतो जननीजठरान्निर्गतो, यथा च श्रमणो जातस्तथैव जातव्यक्रमेण दीयमाने वन्दनके, वृ० ३ उ० । यथाजातं जन्म श्रमणत्वमाश्रित्य, योनिनिष्क्रमणं च । तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टकमात्रया श्रमणो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवम्भूत एव वन्दति, तदव्यतिरेकाच्च यथाजातं भण्यते कृतिकर्मवन्दनम् । आव० ३ अ० । यथाजातं-जातं जन्म, तच्च द्वेधा-प्रसवः प्रव्रज्याग्रहणं च । तत्र प्रसवकाले रचितकरसंपुटो जायते, प्रव्रज्याकाले च गृहीतरजोहरणमुखवस्त्रिक इति । अत एव रजोहरणादीनां पञ्चानां शास्त्रे यथाजातत्वमुक्तम् । तथा च तत्पाठः-" पंच अहाजायाइं, चोलयपट्टो १ तहेव रयहरणं २ । उण्णिअ ३ खोमिअ ४ निसिज्ज-जुअलं तह य मुहपोत्ति " ॥१॥ यथा जातमस्य स यथाजातः, तथाभूत एव वन्दते, इति वन्दनमपि यथाजातम । ध० २ अधि० ।

अहाणुपुव्वी-यथानुपूर्वी-स्त्री० । यथाक्रमे, ज्यो० २ पाहु० । "अहाणुपुव्वीए स पत्थिया" । रा० ।

अहातच्च-यथातत्त्व-न० । अभिधानार्थानतिक्रमे, अन्वर्थसत्यापने च । स्था० ५ ठा० १ उ० । दशा० । शब्दार्थानतिक्रमे तत्त्वानतिक्रमे च । भ० ९ श० १ उ० । स्था० ।

यथातथ्य-न० । सत्ये, कल्प० ६ क्ष० । व्य० । एकान्ततः यथा येन प्रकारेण तथ्यं सत्यं, 'तत्त्वं वा' तेन यो वर्त्ततेऽसौ यथातथ्यो ' यथातत्त्वं ' वा । दृष्टार्थाविसंवादिनि, फलाविसंवादिनि च स्वप्नभेदे, भ० । तत्र दृष्टार्थाविसंवादी स्वप्नः, किल कोऽपि स्वप्नं पश्यति-यथा-मह्यं फलं हस्ते दत्तं, जागरितस्तत्तथैव पश्यतीति । फलाविसंवादी तु किल कोऽपि गोवृषकुञ्जराद्यारूढमात्मानं पश्यति, बुद्धश्च कालान्तरे सम्पदं लभत इति । भ० १६ श० ६ उ० ।

अहापज्जत्त-यथापर्याप्त-त्रि० । यथालब्धे, अणु० ३ वर्ग० ।

अहापडिरूव-यथाप्रतिरूप-त्रि० । उचिते, औ० । नि० चू० । येन प्रतिरूपेण साधूचितस्वरूपं तस्मिन्, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अहापणिहिय-यथाप्रणिहित-त्रि० । यथाऽवस्थिते, "अहापणिहिएहिं गाएहिं " भ० ३ श० २ उ० ।

अहापरिग्गहिय-यथापरिगृहीत-त्रि० । परिग्रहणानुरूपेण स्वीकृते, "अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा" । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अहापरिण्णाय-यथापरिज्ञात-त्रि० । परिज्ञानानुरूपेणाभ्युपगते, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । " अहापरिण्णातं वसामो " यथापरिज्ञातं यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीते भवान् तावत्क्षेत्रम । आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अहापवत्त-यथाप्रवृत्त-न० । येनैव प्रकारेणानादिकालेऽभूत् तेनैव प्रवृत्तवद् नाप्राप्तपूर्वस्वभावान्तरप्राप्ते, पञ्चा० ३ विव० ।

अहापवित्तिकरण-यथाप्रवृत्तिकरण-न० । यथाप्रवृत्तस्य करणे सम्यक्त्वानुगुणे करणभेदे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

अहापवित्तिसंकम-यथाप्रवृत्तिसंक्रम-पुं० । यथा यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टानां योगानां प्रवृत्तिस्तथा तथा संक्रमणे, पं० सं० ५ द्वार । क० प्र० । ('संकम' शब्दे विवरिष्यते)

अहाबायर-यथाबादर-त्रि० । असारे, भ० ३ श० १ उ० । स्थूलप्रकारे, " अहाबायराइं कम्माइं " भ० ६ श० १ उ० । कल्प० । यथोचितबादरे आहारपुद्गले, प्रति० ।

अहाबीय-यथाबीज-न० । यद् यस्योत्पत्तिकारणं, तस्मिन्, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहाबोह-यथाबोध-अ० । बोधानतिक्रमे, ध० १ अधि० ।

अहाभद्दग-यथाभद्रक-पुं० । साध्वनुकूले श्रावके, बृ० १ उ० । आव० । शासनबहुमानवति, बृ० १ उ० ।

अहाभाग-यथाभाग-अव्य० । यथाविभवे, दशा० ५ अ० ।

अहाभूय-यथाभूत-पुं० । तात्त्विके, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अहामग्ग-यथामार्ग-अव्य० । ज्ञानादिमोक्षमार्गानतिक्रमेण क्षयोपशमभावानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । ज्ञा० । स्था० । औदयिकभावापगमे, स्था० ७ ठा० । व्य० । कल्प० । भ० ।

अहारायणिय-यथारात्निक-अव्य०। यथा यथा रत्नैरधिको ज-घेत्तदनतिक्रमे. सू० ३ उ० । " अहारायणियं गामाणुगामं दू-इज्जेज्जा " आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अहारि (ण्)-अहारिन्-त्रि० । मनसोऽनिष्टे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहारिय-यथर्जु-अव्य०। ऋजुताऽनतिक्रमे."अहारियं रिएज्जा" यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद्, नार्द्दविनर्द्दं, विकारं वा कुर्वन् गच्छेत् । आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

यथारीत-अव्य० । रीतं रीतिः, स्वभाव इत्यर्थः। तदनतिक्रमे-ण यथारीतम् । स्वभावानतिक्रमे. "अहारीयं रीयइ" यथारीतं रीयते गच्छति, यथा स्वाभाविकौदारिकशरीरगत्या गच्छतीत्य-र्थः । भ० ५ श० २ उ० ।

यथार्ह-त्रि० । यथोचिते, स्था० २ ठा० १ उ० । यथार्हा या य-स्योचिता लोकयात्रा-लोकोचितानुवृत्तिरूपो व्यवहारः, सा विधेया । यथार्हलोकयात्राऽतिक्रमे हि लोकचित्तविराधनेन ते-षामात्मन्यनादेयतया परिणामापादनेन स्वलाघवमेवोत्पादितं भवति । एवं चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्यगाचारस्य लघुत्व-मेवोपनीतं स्यादिति । उक्तं च-" लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां धर्मचारिणां यस्मात् । तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्या-ज्यम् " ॥ ३२ ॥ ध० १ अधि० । औचित्ये, षो० १० विव० ।

अहालंद-अथ (यथा) लन्द-पुं० । यावन्मात्रे काले, आचा० २ श्रु० ७ अ० १ अ० । अथेत्यव्ययम, लन्दशब्देन काल उच्यते। तत्र यावता कालेनोदकार्द्रः करः शुष्यति, जघन्यतस्तावति का-ले, कल्प० ८ क्ष० ।

भेदाः—

लंदं तु होइ कालो, सो पुण उक्कोसमज्झिमजहन्नो ।
उदउल्ल करो जाविह, सुकइ सो होइ उ जहन्नो ।६१६।

लन्दं तु भवति कालः । समयपरिभाषया लन्दशब्देन कालो भ-ण्यत इत्यर्थः । स पुनः कालस्त्रिधा-उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च । तत्र उदकार्द्रः करो यावता कालेन इह सामान्येन लोकेषु शु-ष्यति, तावान् कालविशेषो भवति जघन्यः । अस्य च जघन्यत्वं प्रत्याख्याननियमविशेषादिषु विशेषत उपयोगित्वात्, अन्यथा-ऽतिसूक्ष्मतरस्यापि समयादिलक्षणस्य सिद्धान्तोक्तस्य कालस्य संभवात् ।

उक्कोस पुव्वकोडी, मज्झे पुण हुंति णेगठाणाइं ।
इत्थ पुण पंचरत्तं, उक्कोसं होइ अहलंदं ॥ ६२० ॥

उत्कृष्टः पूर्वकोटीप्रमाणः; अयमपि चारित्रकालमानमाश्रित्य उत्कृष्ट उक्तः, अन्यथा पल्योपमादिरूपस्यापि कालस्य संभवात् । मध्ये पुनर्भवन्त्यनेकानि स्थानानि वर्षादिभेदेन कालस्य । अत्र पुनर्यथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्रं यथेत्यागमानातिक्रमेण लन्दं काल उत्कृष्टं भवति; तेनैवात्रोपयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हुंति अहलंदी ।
पंचेव होइ गच्छो, तेसिं उक्कोसपरिमाणं ॥ ६२१ ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति पेटार्द्ध, पेटाद्यन्यतमायां वीथ्यां भैक्षनि-मित्तं पञ्च रात्रिंदिवान्यटन्ति,तस्माद्भवन्ति यथालन्दिनः। विव-क्षितयथालन्दभावात् । तथा पञ्चैव पुरुषा भवन्ति गच्छो गणः, तेषां यथालन्दिकानां पञ्चको हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते । इति उत्कृष्टमेकैकस्य गणस्य पुरुषपरिमाणमेतद्दर्शनं ।

अथ बहुवक्तव्यत्वान्निरवशेषाभिधाने ग्रन्थगौरवप्रसक्त्या यथालन्दिककल्पस्यातिदेशमाह-

जा चेव य जिणकप्पे, मेरा सा चेव लंदियाणं पि ।
नाणत्तं पुण सुत्ते, भिक्खायरि मासकप्पे य ॥६२२॥

चैव च जिनकल्पे जिनकल्पविषया ' मेरा ' मर्यादा पञ्चवि-धतुलनादिरूपा, सैव च यथालन्दिकानामपि प्रायशः, नानात्वं भेदाः पुनर्जिनकल्पिकेभ्यो यथालन्दिकानां सूत्रे सूत्रविषये, तथा भिक्षाचर्यायां, मासकल्पे च । चकारात्प्रमाणविषयं चेति ।

अथातिदेशपूर्वकमल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमं मासकल्पनानात्वमेवाह-

अहलंदियाण गच्छे, अप्पडिबद्धाण जह जिणाणं तु ।
नवरं कालविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥६२३॥

यथालन्दिका द्विधा-गच्छे प्रतिबद्धा अप्रतिबद्धाश्च । गच्छे च प्रति-बन्धोऽमीषां कारणतः, किञ्चिदश्रुतस्यार्थस्य श्रवणार्थमिति म-न्तव्यम् । ततो यथालन्दिकानां गच्छे अप्रतिबद्धानाम, उपलक्षण-त्वात्प्रतिबद्धानां च,'नवेण सत्तेण' इत्यादिभावनारूपा सर्वाऽपि सामाचारी यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समवसेया । 'नवरं' केवलं द्विविधानामपि यथालन्दिकानां जिनकल्पिकेभ्यः काले कालविषये विशेषो भेदो ज्ञातव्यः । तमेवाह-(उउवासे पणगचउमासो त्ति) ऋतौ ऋतुबद्धकाले, वर्षे वर्षाकाले च, य-थासंख्यं दिनपञ्चकं मासचतुष्टयं चैकत्रावस्थानं भवति । इयम-त्र भावना-ऋतुबद्धे काले यथालन्दिकसाधवो यदि विस्तीर्णो ग्रामादिर्भवति,तदा तं गृहपङ्क्तिरूपाभिः षड्भिर्वीथीभिः परिक-ल्प्य एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च दिवसानि भिक्षामटन्ति, तत्रैव च वसन्ति । एवं षड्भिर्वीथीभिरेकस्मिन् ग्रामे मासः परिपूर्णो भव-ति । तथाविधविस्तीर्णग्रामाभावे तु निकटतमेषु षट्सु ग्रामेषु पञ्चपञ्चदिवसं वसन्ति । उक्तं च कल्पभाष्ये-

एक्केकं पंचदिणे,पण पण छ निट्ठिओ मासो । पं०भा०।

एतच्चूर्णिश्च-"जइ एगो चेव मासो सवियारो त्ति विच्छिन्नो, तो छव्वीहीओ काउं एक्केक्काए पंच पंच दिवसाणि हिंडंति । विइ-याए वि पंचदिवसे० जाव छट्टीए वि पंचदिवसा । एवं एगगामे मासो भवइ । अह नत्थि एगो गामो सवियारो,तो इयं जहालंदि-याण छग्गामाखित्तस्स परिपेरंतेणं तेसिं एक्केक्के पंचदिवसाणि अत्थंति । एवं मासो विभिज्जमाणो पण पण निट्ठिओ होइ त्ति"।

अथ यथालन्दिकानामेव परस्परं भेदमाह—

गच्छे पडिबद्धाणं, अहलंदीणं तु अह पुण विसेसो ।
ओग्गह जो तेसिं तु, सो आयरियाण आभवइ ॥

गच्छप्रतिबद्धानां पुनर्यथालन्दिकानां गच्छप्रतिबद्धेभ्यः सका-शाद् विशेषो भेदो भवति । तमेवाह-तेषां गच्छप्रतिबद्धयथाल-न्दिकानां यत्क्रोशपञ्चकलक्षणक्षेत्रावग्रहः,स आचार्याणामेव भ-वति । यस्याऽऽचार्यस्य निश्रया ते विहरन्ति तस्यैव स क्षेत्रावग्र-हो भवतीति भावः । गच्छाप्रतिबद्धानां तु जिनकल्पिकवत् क्षे-त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालन्दिकानां भिक्षाचर्यानानात्वं विवक्षुराह-

एगवसहीए पणगं, छव्वीहीओ य गामि कुव्वंति ।

दिवसे दिवसे अन्नं, अमंति वीहीसु नियमेण ॥६२५॥

ऋतुबद्धे काले एकस्यां वसतौ पञ्चकं पञ्च दिवसानि यावदवतिष्ठन्ते । वर्षासु पुनश्चतुरो मासान् यावदेकस्यां वसतौ तिष्ठन्ति । ग्रामे षट् वीथीः कुर्वन्ति । अयमर्थः-यथालन्दिका गृहपङ्क्तिरूपाभिः षड्भिर्वीथीभिर्ग्रामं परिकल्पयन्ति । एकैकस्यां च वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसानि भिक्षां पर्यटन्ति । तत्रैव च वसतिं विदधति । उक्तं च पञ्चकल्पचूर्णौ-"छभागे गामो कीरइ, एगेगो पंचदिवसं भिक्खं हिंडंति, तत्थेव वसंति वासासु एगत्थ चउम्मासो त्ति"। तासु च वीथीषु दिवसे दिवसे नियमतोऽन्यामन्यां भिक्षामटन्तिः षड्वृत्त्यादिभिक्षापञ्चकमध्यादेकस्मिन् दिवसे यां भिक्षामटन्ति न पुनर्द्वितीयेऽपि दिने तामेवाटन्ति,किन्त्वन्यामन्यामिति भावः । इत्थं तावदस्माभिर्व्याख्यातं, सुधिया तु समयाविरोधेनान्यथाऽपि व्याख्येयमिति ।

अथ सूत्रनानात्वं निर्दिदिक्षुर्यथालन्दिकभेदानेवाह-

पडिबद्धा इयरे वि य, इक्किक्का ते जिणा य थेरा य ।
अत्थस्स उ देसम्मि य, असमत्ते तेसि पडिबंधो ॥६२६॥

यथालन्दिका द्विविधाः—गच्छप्रतिबद्धाः, इतरे च गच्छाप्रतिबद्धाः । ते पुनरेकैकशो द्विभेदाः-जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्च । तत्र यथालन्दिककल्पपरिसमाप्त्यनन्तरं ये जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः,ये तु स्थविरकल्पमेवाश्रयिष्यन्ति ते स्थविरकल्पिकाः । इह च ये गच्छे प्रतिबद्धास्तेषां प्रतिबन्धो अनेन कारणेन भवति-(अत्थस्सेत्यादि) अर्थस्यैव,न सूत्रस्य, देश एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तो,न गुरुसमीपे परिपूर्णो गृहीत इति तद्ग्रहणाय गच्छे प्रतिबन्धः,तेषां तस्यावश्यं गुरुसमीपे ग्रहीष्यमाणत्वादिति ।

अथ परिपूर्णं सूत्रार्थं गुरुसमीपे गृहीत्वैव कथं कल्पं न प्रतिपद्यन्त इत्याह-

लग्गाइसु तरंते, तो पडिवज्जित्तु खेत्तबाहिठिआ ।
गिण्हंति जं अगहियं, तत्थ य गंतूण आयरिओ ॥६२७॥
तेसिं तयं पयच्छइ, खेत्तं इंताण तेसिमे दोसा ।
वंदंतमवंदंते, लोगम्मी होइ परिवाओ ॥ ६२८ ॥
न तरेज्ज जई गंतुं, आयरिओ ताहि एइ सो चेव ।
अंतरपल्लि पडिवस-गगामवसहिं य वसहिं वा ॥६२९॥
तीए य अपरिभोगे, ते वंदंते न वंदई सो उ ।
तं घेत्तुमपडिबद्धा, ताहि जहिच्छाएँ विहरंति ॥६३०॥

लग्नादिषु त्वरमाणेषु शुभेषु लग्नयोगचन्द्रबलादिषु झगित्यागतेषु सत्सु अन्येषु च लग्नादिषु दूरकालवर्तिषु न तथा भव्येषु वा गृहीतापरिपूर्णसूत्रार्था अपि लग्नादिलब्ध्यनया कल्पं प्रतिपद्यन्ते । ततः प्रतिपद्य तं कल्पं गच्छान्निर्गम्य गुर्वधिष्ठितात् क्षेत्रग्रामनगरादेर्बहिर्देशे स्थिता विशिष्टतरनिष्ठुरनिखिलनिजानुष्ठाननिरता गृह्णन्ति यदगृहीतमनर्थानमर्थजातं तत्र चायं विधिः-यदुत-आचार्यः स्वयं तत्र गत्वा तेभ्यो यथालन्दिकेभ्यः (तयं ति) तमर्थं शेषं प्रयच्छति ददाति । अथ त एवाचार्यसमीपमागत्य किमिति तमर्थशेषं न गृह्णन्तीत्याह-(खेत्तं इंताणेत्यादि) क्षेत्रमध्यं समागच्छतां तेषां यथालन्दिकानाम् एते वक्ष्यमाणा दोषाः तथाहि-वन्दमानेषु गच्छवासिषु साधुषु,अवन्दमानेषु च कल्पस्थितेषु लोकमध्ये परिवादो निन्दा भवति । तथाहि-यथालन्दिकानां कल्पस्थित्यैव आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्तुं न कल्पते; गच्छसाधवश्च महान्तोऽपि तान् वन्दन्ते, ततो लोको वदेत्-यथा दुष्टशीला निर्गुणाश्च एते, येन अन्यान् साधून् वन्दमानानपि न व्याहरन्ति, न वन्दन्ति वा । गच्छसंबन्धिसाधूनां वा उपरि भूयस्त्वाऽऽशङ्का भवेत्-अवश्यमेते दुःशीला निर्गुणाश्च, ये न वन्द्यन्ते, आत्मार्थिका वा एते, येन अप्रतिवन्द्यमानानपि वदन्ते इति । अथ यदि जङ्घाबलक्षीणतया तत्सकाशं गन्तुं (न तरेज्ज त्ति) न शक्नुयात् । आचार्यस्तदा एति आगच्छति । केत्याह-अन्तरपल्लीं मूलक्षेत्रात् सार्द्धद्विगव्यूतिस्थं ग्रामविशेषं, यद्वा, प्रतिवृषभग्रामाद् मूलक्षेत्राद् द्विगव्यूतिस्थात् भिक्षाचर्याग्रामान्, अथ वा बहिर्मूलक्षेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अन्यवसतिं, वाशब्दात् मूलवसतिम् । इयमत्र भावना—यदाचार्यो यथालन्दिकसमीपे गन्तुं न शक्नोति तदा यस्तेषां यथालन्दिकानां मध्ये धारणकुशलः, सोऽन्तरपल्लीमागच्छति, आचार्यस्तु तत्र गत्वा अर्थं कथयति । अत्र पुनः साधुसंघाटको मूलक्षेत्राद्भक्तं पानं गृहीत्वा आचार्याय ददाति, स्वयमाचार्यः संध्यासमये मूलक्षेत्रमायाति । अथान्तरपल्लीमागन्तुं न शक्नोति तदा अन्तरपल्लीप्रतिवृषभग्रामयोरन्तराले गत्वा अर्थं कथयति । तत्रापि गन्तुं शक्त्यभावे प्रतिवृषभग्रामे, तत्रापि गन्तुमशक्तौ प्रतिवृषभग्राममूलक्षेत्रयोरन्तराले; तत्रापि गन्तुमसामर्थ्ये मूलक्षेत्रस्यैव बहिर्विजने प्रदेशे; अथ तत्रापि गन्तुमसमर्थास्तदा मूलक्षेत्रमध्य एवान्यस्यां वसतौ गत्वा; तत्रापि गमनशक्त्यभावे मूलवसतावेव प्रच्छन्नमाचार्यस्तस्मै यथालन्दिकायार्थशेषं प्रयच्छतीति । उक्तं च कल्पचूर्णौ-"आयरिए सुत्तपोरिसिं अत्थपोरिसिं च गच्छे नियाए दाउ अहालंदियाणं सगामं गंतुं,अत्थं सारेइ । अह न तरइ, दो वि पोरिसीओ दाउं गंतुं तो सुत्तपोरिसिं दाउं वच्चइ, अत्थपोरिसिं सीसेण दवावेइ । अत्थसुत्तपोरिसिं पि दातुं गंतुं न तरइ, तो दो वि पोरिसीओ सीसेण वायावेइ अप्पणा अहालंदिए वाएइ । जइ न सक्केइ आयरिओ खेत्तबाहिं अथालंदियसगासं गंतुं, ताहे जो तेसिं अहालंदियाणं धारणाकुसलो सो अंतरपल्लिआसन्ने खेत्तवसहिं एति, आयरियो तस्स गंतुं अत्थं कहेति । एत्थ पुण संघाडो भत्तपाणं गहाय आयरियस्स नेइ, गुरू वेयालियं पडिए इति । एवं पि असमत्थे गुरू अंतरपल्लियाए पडिवसभगामस्स य अंतरा वाएइ त्ति । असति पडिवसभे वाएइ, असति पडिवसभस्स वासगामस्स य अंतरा वाएत्ति,असति वसभगामस्स बहियाए वाएति । असरंते सगामे अन्नाए वसहीए, असरंते एगवसहीए चेव अपरिभोगे उवासे वाएति इत्यादि"॥ (तीए य अपरिभोगे त्ति) तस्यां च मूलवसतावपरिभोगे तथाविधजनाकीर्णे स्थाने, तेभ्योऽर्थशेषं प्रयच्छतीति योगः । तत्र च ये गच्छसाधवो महान्तोऽपि यथालन्दिकं वन्दते, स पुनर्यथालन्दिकस्तान्न वन्दत इति । एवं तमर्थशेषं गृहीत्वा परिनिष्ठितप्रयोजनत्वाद् गच्छे अप्रतिबद्धाः सन्तो यथालन्दिकाः स्वेच्छया स्वकल्पानुरूपं विहरन्ति निजकल्पं परिपालयन्ति इति । प्रव० ७० द्वार । बृ० । ध० । विशे० ।

अथ जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकभेदभिन्नानां परस्परं विशेषमाह-

जिणकप्पिया य तहियं, किंचि तिगच्छं पि ते न कारिंति ।
निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नऽवर्णेति ।६३१।

जिनकल्पिकाश्च यथालन्दिकाः,तदा कल्पकाले मारणान्तिकेऽ-

प्यातङ्के समुत्पन्ने, न कामपि चिकित्सां ते कारयन्ति, तथाकल्पस्थितेः । अपि च-निष्प्रतिकर्मशरीराः प्रतिकर्मरहितदेहास्ते भगवन्तस्तत आस्तां तावदन्यत्, अक्षिमलमपि नापनयन्ति, अप्रमादातिशयादिति ।

थेराणं नाणत्तं, अतरंतं अप्पिणंति गच्छस्स ।
ते वि य से फासुएणं, करिंति सव्वं पि पमिकम्मं ॥६३१॥

स्थविरकल्पिकयथालन्दिकानां जिनकल्पिकयथालन्दिकेभ्यो नानात्वं भेदः, यथा अशक्नुवन्तं व्याधिबाधितं सन्तं स्वसाधुमर्थयन्ति गच्छस्य गच्छवासिसाधुसमूहस्य स्वकीयं पञ्चकगणपरिपूरणार्थं च तस्य स्थाने विशिष्टधृतसंहननादिसमन्वितमन्यं मुनिं स्वकल्पे प्रवेशयन्ति । तेऽपि च गच्छवासिनः साधवः (से त्ति) तस्य अशक्नुवतः प्राशुकेन निरवद्येनान्नपानादिना कुर्वन्ति सर्वमपि परिकर्म प्रतिजागरणमिति ।

किञ्च—

एक्केक्कपरिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेराओ ।
जे पुण सिं जिणकप्पे, जावे सिं वत्थपायाणि ॥६३३॥

स्थविरकल्पिका यथालन्दिका अवश्यमेव एकैकपतद्ग्रहकाः प्रत्येकमेकैकपतद्ग्रहधारिणः, तथा सप्रावरणाश्च भवन्ति । ये पुनरेषां यथालन्दिकानां जिनकल्पे भविष्यन्ति, जिनकल्पिकयथालन्दिका इत्यर्थः । भावे तेषां वस्त्रपात्रे सप्रावरणाः प्रावरणपतद्ग्रहधारिपाणिपात्रभेदभिन्नभाविजिनकल्पापेक्षया केषांचिद्वस्त्रपात्रलक्षणमुपकरणं भवति, केषां च नेत्यर्थः । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ सामान्येन यथालन्दिकप्रमाणमाह—

गणमाणओ जहन्ना, तिन्नि गण सयग्गसो य उक्कोसा ।
पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसो ॥ ६३४ ॥

गणमानतो गणमाश्रित्य जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यमानका भवन्ति । शताग्रशश्च शतपृथक्त्वमुत्कृष्टतो गणमानं, पुरुषप्रमाणं त्वेतेषां प्रतिपद्यमानकानां जघन्यतः पञ्चदश, पञ्चको हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते । गणश्च जघन्यतस्त्रयः, ततः पञ्चभिर्गुणिताः पञ्चदश, उत्कृष्टतः पुनः पुरुषप्रमाणं सहस्रशः सहस्रपृथक्त्वम् ।

पुरुषप्रमाणमेवाश्रित्य पुनर्विशेषमाह—

पडिवज्जमाणगा वा, इक्काइ हवेज्ज ऊणपक्खेवे वि ।
होंति जहन्ना एए, सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥ ६३४ ॥
पुव्वपमिवन्नगाण वि, उक्कोसजहन्नसो परीमाणं ।
कोमिपहुत्तं जणियं, होइ अहालंदियाणं तु ॥६३५॥

प्रतिपद्यमानका एते जघन्यत एकादयो वा भवेयुर्न्यूनप्रक्षेपे सति, यथालन्दिककल्पे हि पञ्चमुनिमयो गच्छः, तत्र च यदा ग्लानत्वादिकारणवशतो गच्छसमर्पणादिना तेषां न्यूनता भवति तदैकादिकः साधुस्तं कल्पं प्रवेश्यते, येन पञ्चको गच्छो भवति, एवं जघन्यापत्तेः प्रतिपद्यमानकास्तथा शताग्रश उत्कृष्टाः प्रतिपद्यमानका एवेति ॥६३४॥ पूर्वप्रतिपन्नानामपि सामान्येनोत्कृष्टतो जघन्यतश्च परिमाणं कोटिपृथक्त्वं भणितं भवति यथालन्दिकानाम् । उक्तं च कल्पचूर्णौ-"पडिवज्जमाणगा जहन्नेणं तिन्नि गणा, उक्कोसेणं सयपुहुत्तं गणाण पुरिसप्पमाणेणं पडिवज्जमाणगा, जहन्नेणं पनरस पुरिसा उक्कोसेणं सहस्सपुहुत्तं पुव्वपडिवन्नगाणं जहन्नेणं कोडिपुहुत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहुत्तमिति" । केवलं जघन्यादुत्कृष्टं विशिष्टतरं ज्ञेयमिति । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकद्वारमाह—

पडिबद्धे को दोसो, आगमणेगाणिणस्स वासासु ।
सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो ॥

प्रतिबन्धनं प्रतिबन्धः, गच्छप्रतिबन्ध इत्यर्थः । तत्र कारणे यथालन्दिकानां च वक्तव्यं (को दोस त्ति) को नाम दोषो भवति यत्ते यथालन्दिका आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति । (आगमणेगाणिणस्स त्ति) यथाचार्याः स्वयं क्षेत्रबहिर्गन्तुं न शक्नुवन्ति तत एकाकिनो यथालन्दिकस्यागमनं भवति (वासासु त्ति) वर्षासु उपयोगं दत्त्वा यदि जानाति वर्षं न पतिष्यति तत आगच्छति; अन्यथा तु नेति । श्रुतसंहननादिकस्तु गमः स एव निरवशेषो वक्तव्यो यो जिनकल्पिकानाम्; यस्तु विशेषः स प्रागेवोक्तः ।

अथ प्रतिबद्धपदं व्याख्याति—

सुत्तत्थसावसेसो, पमिबंधो तेसिमो भवे कप्पो ।
आयरिए किइकम्मं, अंतर बहिया य वसहीए ॥

सूत्रार्थस्तैर्गृहीतः परमद्यापि सावशेषो न संपूर्णः, एवं तेषां गच्छविषयप्रतिबन्धः । तेषां चायं वक्ष्यमाणः कल्पो, यथा-आचार्यस्यैव कृतिकर्म वन्दनकं दातव्यं, तथा-यद्याचार्यो न शक्नोति गन्तुं ततोऽन्तरा वा ग्रामस्य, बहिर्वा वसतौ, यथालन्दिकस्य वाचनां ददाति । एतत्सूत्रं भावयिष्यते ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यः पृच्छति । यथाऽऽचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठेयुस्ततः को दोषः स्यात् ?, उच्यते—

नमणं पुव्वब्भासा, अणमण दुस्सीलथप्पगासंका ।
आयप्प कुकुम त्ति य वादो लोगे ठिई चेव ॥

यथालन्दिकानां न वर्त्तते आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्त्तुं, तथाकल्पत्वात् । ततस्ते क्षेत्रान्तःस्थितास्तः पूर्वाभ्यासाद्गमनं प्रणामं साधूनां कुर्युः, गच्छवासिनश्च यथालन्दिकान् वन्दन्ते ते पुनर्यथालन्दिकास्तान् भूयो न प्रतिवन्दन्ते, ततस्तेषामनमने लोको ब्रूयात्-दुःशीला अशीलाः स्तब्धकल्पा अमी, यतोऽन्येषामित्थं वन्दमानानामपि न प्रतिवन्दनं प्रयच्छन्ति, न वा कमप्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्थाप्यकज्ञानं भवति-अवश्यं स्थाप्या दुःशीलत्वादवन्दनीयाः कृता अमी, अन्यथा कथं न प्रतिवन्दन्ते । आत्मार्थिका वा अमी येनाप्रतिवन्दमानानपि वन्दन्ते, कौकुटिका वा मातृस्थानकारिणोऽमी लोकपङ्क्तिनिमित्तमित्थं वन्दन्ते । एवं लोके वाद उपजायते, कारणैः क्षेत्रबहिस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरेव कल्प एवायममीषां, यत् क्षेत्राभ्यन्तरे न तिष्ठन्ति ।

अथामीषामेव कल्पमाह—

दोन्नि वि दाउं गमणं, धारणकुसलस्स देसस वहि देइ ।
कइकम्मं चोलपट्टे, ओवग्गहिया निसिज्जा य ॥

आचार्यः सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि गच्छवासिनां दत्त्वा यथालन्दिकानां समीपे गमनं करोति, गत्वा च तत्र तेषामर्थं कथयति । अथाचार्यो न शक्नोति तत्र गन्तुं ततो यस्तेषां यथालन्दिकानां मध्ये धारणाकुशलोऽवधारणाशक्तिमान्, क्षेत्रबहिरन्तरा पल्लिकायाः प्रत्यासन्ने भूभागे समायाति, तत्र च गत्वा आचार्यस्तस्यार्थं ददा-

ति। स च श्रुतभक्तिहेतोराचार्याणां कृतिकर्म वन्दनकं दत्वा चोलपट्टकद्वितीय औपग्रहिक्यां निषद्यायामुपविष्टश्चार्थं शृणोति।

अथ " दोन्नि वि दाउं गमणं " इत्येव दर्शयन्नाह-

अत्थं दो व अदाउं, वच्चइ वायावए व अन्नेणं ।
एवं ता उउबद्धे वासासु य काउमुवओगं ।।

यद्याचार्यो द्वे अपि पौरुष्यौ दत्वा गन्तुं न शक्नोति ततोऽर्थमदत्वा, तथाऽप्यशक्तो द्वावपि सूत्रार्थावदत्त्वा व्रजति, अन्येन वा शिष्येण स्वशिष्यान् वाचयति वाचनां दापयति। अथाचार्यस्तत्र गन्तुमशक्तस्ततो यथालन्दिकः सूरिसमीपमायाति, एवं तावत् ऋतुबद्धे द्रष्टव्यम्। वर्षासु, चशब्दः पुनरर्थे। वर्षासु पुनरयं विशेषः-उपयोगं कृत्वा किं वर्षं पतिष्यति नवेति विमृश्य यदि जानाति पतिष्यति ततो न आचार्याणां समीपमायाति।

अथ गुरवस्तत्र गताः कथं समुद्दिशन्तीत्याह-

संघाडो मग्गेणं, भत्तं पाणं च नेइ उ गुरूणं ।
अच्चुण्हं थेरा वा, तो अंतरपल्लिए एइ ।।

गुरूणां यथालन्दिकसमीपमुपगतानां योग्यं भक्तं पानं च गृहीत्वा संघाटको मार्गेण पृष्ठतो गत्वा गत्वा तत्र नयति। अथ यावता कालेन यथालन्दिकानामुपाश्रयं गुरवो व्रजन्ति तावता, अत्युष्णमतो वा तपश्चरन्ति, स्थविरा वा वार्द्धिकवयःप्राप्तास्ते आचार्यास्ततोऽन्तरपल्लिकायामेको यथालन्दिको धारणासंपन्नः समायाति, तत्र गुरवोऽपि गत्वा तस्य वाचनां दत्वा संघाटकेनाऽऽनीतं भक्तपानं समुद्दिश्य संध्यासमये मूलक्षेत्रमायान्ति।

अथाऽन्तरपल्लिमपि गन्तुमसमर्था गुरवः, ततः किमित्याह-

अंतरपल्लिवसभे वा, बिइयंतर बाहि वसभगामस्स ।
अन्नाए वसहीए, अपरीभोगम्मि वाएइ ।।

अन्तरपल्लिकाप्रतिवृषभग्रामयोरन्तराले गत्वा यथालन्दिकं वाचयति, तत्र गन्तुमशक्तो प्रतिवृषभग्रामे, अथ तत्रापि गन्तुं न शक्नोति ततो (बिइयंतरं ति) द्वितीयं प्रतिवृषभमूलक्षेत्रयोरपान्तरालक्षणं यदन्तरं तत्र गत्वा वाचनां प्रयच्छति, तत्रापि गमनाशक्तौ वृषभग्रामस्य मूलक्षेत्रस्य बहिर्विजने प्रदेशे गत्वा वाचयति, यदि तत्रापि गन्तुं न प्रभविष्णुः ततो मूलक्षेत्र एवान्यस्यां वसतौ, तत्रापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलवसतौ अपरिभोग्ये अवकाशे वाचयति।

तत्र चेयं सामाचारी-

तस्स जई किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ ।
जा पढइ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेसिं ।।

तस्य यथालन्दिकस्य यतयो गच्छवासिनः साधवः कृतिकर्म कुर्वन्ति स पुनर्यथालन्दिकस्तेषां गच्छवासिनां कृतिकर्म्म न करोति, यावच्च पठति अर्थशेषमधीते गुरोरपि तावदेव करोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात्।

अमीषामेव मासकल्पविधिमाह-

एक्को मासवियारो, इवंतऽहालंदियाण छग्गामा ।
मासो विभज्जमाणो, पणगेण उ निट्ठिओ होइ ।।

यदि मूलक्षेत्रस्य बहिरेको ग्रामः सविचारः सविस्तरो वर्तते, आह च चूर्णिकृत्-" सवियारो त्ति विस्तृतः ततस्तस्मिन् ग्रामे षट् वीथीः परिकल्प्य यथालन्दिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसान् भिक्षामटन्ति तस्यामेव च वीथ्यां वसतिमपि गृह्णन्ति"। एवं प्रतिवीथ्यं ' पणगेणं ' रात्रिंदिवपञ्चकेन मासो विभज्यमानः सन् षड्भिरहोरात्रपञ्चकैर्निष्ठितः सम्पूर्णो भवति। अथ नास्ति विस्तीर्णो ग्रामस्ततो (इवंतऽहालंदियाण छग्गामा इति) मूलक्षेत्रपार्श्वतो ये लघुतरा षट् ग्रामा भवन्ति, तेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटतां यथालन्दिकानां तथैव षड्भिरहोरात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णो भवतीति। बृ० १ उ०।

अहालहुस्सय-यथालघुस्वक-न०। यथेति यथोचितानि लघुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथालघुस्वकानि। अथवा लघूनि महान्ति वरिष्ठानीति च वृद्धाः। अमहास्वरूपेषु, भ०। "देवाणं अहालहुसगाइं रयणाइं हंता अत्थि"। भ० ३ श० २ उ०। अनेकान्तलघुके वीणाग्रहणग्राह्ये, व्य० ७ उ०। स्तोके, व्य०।

यथालघुस्वकादिव्यवहारप्ररूपणामाह-

गुरुओ गुरुस्सतरगो, अहागुरुस्सो य होइ ववहारो ।
लहुसो लहुस्सतरगो, अहालहुस्सो य होइ ववहारो ।।
एएसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ।

व्यवहारस्त्रिविधः। तद्यथा-गुरुको गुरुस्वतरको यथागुरुस्वकश्च। तत्र यो गुरुकः स त्रिविधः। तद्यथा-लघुशो लघुस्वतरको यथालघुस्वकश्च। एतेषां व्यवहाराणां, यथानुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या, प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि। किमुक्तं भवति ?, एतेषु व्यवहारेषु समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अभिधास्ये।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो चउम्मासो ।
अहेगुरुओ छम्मासो, गुरुगयपक्खम्मि पमिवत्ती ।।

गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिमाणः, गुरुके व्यवहारे समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्य इति भावः। एवं गुरुतरको भवति चतुर्मासपरिमाणः। यथागुरुकः षण्मासः, षण्मासपरिमाणः। एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः।

सम्प्रति लघुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तप्रमाणमाह-

तीसा य पन्नवीसा, पन्नरसे पन्नवीसा य ।
दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पमिवत्ती ।।

लघुको व्यवहारस्त्रिंशत् त्रिंशद्दिवसपरिमाणः। एवं लघुतरकः पञ्चविंशतिदिनमानः। एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः। यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविंशतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः। एवं लघुस्वतरको दशदिवसमानः। यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चदिवसप्रायश्चित्तानि परिमाणः। एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तपरिमाणप्रतिपत्तिः। व्य० २ उ०।

सम्प्रति भाष्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं, तृतीयसूत्रगतमन्यतरग्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहालहुसे, जहण्णओ मज्झिमो य उवहीओ ।
अन्नयरगहणेण उ, नेयव्व तिविहो उ उवहीओ ।।

यथालघुस्वके उपधिर्द्विविधो भवति—जघन्यो मध्यमश्च । अन्यतरग्रहणेन तु त्रिविधोऽप्युपाधिः परिगृह्यते । तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । व्य० ६ उ० ।

अहावगास–यथावकाश–अव्य० । यो यस्यावकाशः यद्यस्योत्पत्तिस्थानम्–अथवा भूम्यम्बुकाशाऽऽकाशबीजसंयोगः,तदनतिक्रमे, सूत्र० । "तोसिं च णं अहाबीएणं अहावगासेणं इत्थीए" । यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मातुरुदरकुक्ष्यादिकस्तत्रापि किल वामा स्त्रियो, दक्षिणा कुक्षिः पुरुषस्योभयाश्रितः षण्ढ इति । अत्र चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः । तत्राप्याद्य एव भङ्गक उत्पत्तेरवकाशो, न शेषेषु त्रिष्विति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहावच–यथापत्य–पुं० । यथाऽपत्यानि तथा ये, ते यथापत्याः । पुत्रस्थानीयेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावच्चाभिण्णाय–यथापत्याभिज्ञात–त्रि० । यथाऽपत्यमेवमभिज्ञाता अवगता यथापत्याभिज्ञाताः; अथवा–यथापत्याश्च तेऽभिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानीयेष्वभिज्ञातेषु, भ० ३ श० ६ उ० ।

अहाविइ–यथाविध–अव्य० । शास्त्रीयन्यायानतिक्रमे, द्वा० ७ द्वा० ।

अहासंखड–यथासंखड–न० । निष्प्रकम्पे पट्टादौ, नि० चू० २ उ० ।

अहासंथड–यथासंस्तृत–न० । शयनयोग्ये, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

यथासंस्कृत–न० । यत तृणादि यथोपभोगार्हं भवति तथैव लभ्यते तस्मिन्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० ।

अहासंविभाग–यथा (आधा) संविभाग–पुं० । यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थः, अशनादेः समितिसङ्गतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरणं यथासंविभागः । अतिथिसंविभागव्रते, उपा० १ श्रु० १ अ० । "अहासंविभागो णाम जदि अहाकम्मं देति तो साधुमहे भजति देट्ठिंदेहिं संजमट्ठाणेहिं उत्तारेति, तेण आहाकम्मेण सो अहासंविभागो भवति । जो अहापवत्ताणं असणपाणवत्थओसहभेसज्जपीढफलगसेज्जासंथारगादीण संविभागो सो अहासंविभागो भवति । फासु एसणिज्जं संविभागो त्ति भणियं होइ" । आ० चू० ६ अ० । आधासंविभाग इत्यनुवर्तितव्यः । अस्यातिचाराः–"तयाऽणंतरं च णं अहासंविभागस्स पंच अइआरा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा–सचित्तनिक्खेवणया १ सचित्तपेहणया २ कालाइक्कमदाणे ३ परोवदेसे मच्छरया ४ " । उपा० १ अ० । ('अइहिसंविभाग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४ पृष्ठे उक्तोऽस्य विस्तरः)

अहासच–यथासत्य–न० । याथातथ्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अहासत्ति–यथाशक्ति–अव्य० । स्वशक्त्यौचित्ये, द्वा० २२ द्वा० । शक्त्यनुरूपे, पं० सू० ४ सू० । शक्त्यनुसारे, पं० सू० ३ सू० ।

अहासुत्त–यथासूत्र–अव्य० । सामान्यतः सूत्रानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्था० । उपा० । ज्ञा० । सूत्रानुसारेणापादितसत्यताके, व्य० ७ उ० । सूत्राविरुद्धे, कल्प० ६ क्ष० ॥

अहासुह–यथासुख–अव्य० । सुखानतिक्रमे, ज्ञा० १ अ० ।

अहासुहुम–यथासूक्ष्म–त्रि० । सारे, भ० ३ श० १ उ० । "अहाबायरे पुग्गले परिसामेइ" । कल्प० २ क्ष० ।

अहाह–अहाह–अव्य० । खेदे, संबोधने, आश्चर्ये, क्लेशे, प्रकर्षे च । वाच० । प्रा० ।

अहि–अहि–पुं० । उरःपरिसर्पभेदे, उत्त० ३६ अ० । सर्पे, उत्त० ३४ अ० । ज्ञा० । सूत्र० ।

अस्य भेदाः–

से किं तं अही ? । अही दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–दव्वीकरा य, मउलिणो य ॥

अथ के ते अहयः ? । गुरुराह—अहयो द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–दर्वीकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दर्वीव दर्वी फणा, तत्करणशीला दर्वीकराः, मुकुलं फणाविरहयोग्या शरीरावयवविशेषाकृतिः, सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः, फणाकरणशक्तिविकला इत्यर्थः । अत्राऽपिचशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । प्रज्ञा० १ पद । आचा० । (दर्वीकरमुकुलिभेदा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्याः)

अहिअ–अहित–त्रि० । हिंसाऽकारिणि, स० ३० सम० ।

अहिअणियट्टि–अहितनिवृत्ति–स्त्री० । प्राणातिपाताद्यकरणे, पं० व० ४ द्वार ।

अ (आ) हिआइ–अभिजाति–स्त्री०-पुं० । " खघथधभां० " । ८ । १ । १८७ । इति भस्य हः । "कगचज०" । ८ । १ । १७७ । इत्यादिना तजयोर्लुक् । " अतः समृद्ध्यादौ वा " । ८ । १ । ४४ । इति अकारस्य दीर्घः । सत्कुलोत्पत्तौ, प्रा० १ पाद । ढुं० १ पाद ।

अहिआहिअसंपत्ति–अधिकाधिकसंप्राप्ति–स्त्री० । वृद्धौ, पं० व० ४ द्वार ।

अहिऊल–दह्–धा०–भस्मीकरणे, सक० "दहेरहिऊलालुङ्खौ" । ८ । ४ । २०८ । इति दहधातोरहिऊलादेशः । अहिऊलइ, डहइ, दहति । प्रा० ४ पाद ।

अहिंसअ–अहिंसक–त्रि० । अवधके, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

अहिंसण–अहिंसन–न० । अव्यापादने, ध० १ अधि० ।

अहिंसा–अहिंसा–स्त्री० । न हिंसाऽहिंसा । नि० चू० २ उ० । प्राणवियोगप्रयोजनव्यापाराभावे, द्वा० २१ द्वा० । प्राणिघातवर्जने, पं० व० १ द्वार ।

(१) अहिंसास्वरूपनिर्वचनम् ।
(२) अहिंसाव्रतलक्षणम् ।
(३) अहिंसाख्यसंवरद्वारस्याशेषा वक्तव्यता ।
(४) वैरियमुपलब्धा सेविता च तन्निरूपणम् ।
(५) अहिंसापालनोद्यतस्य यद् विधेयं तन्निरूपणम् ।
(६) प्रथमव्रतस्य पञ्च भावनाः ।
(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः ।
(८) वैदिकहिंसाविचारः ।
(९) किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादिति प्रतिपादनम् ।
(१०) अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थनिरूपणम् ।
(११) मतान्तरेऽहिंसा न तादृशी ।
(१२) सर्वे प्रावादुका अहिंसां मोक्षाङ्गभूतां प्रतिपद्यन्ते, न प्राधान्येन ।

(१३) अहिंसाविवेचनम् ।
(१४) एकान्तनित्यानित्यात्मनि हिंसा न घटत इति निरूपणम्।
(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधनिरूपणम् ।
(१६) स्वर्गादयो हि यदि स्वकृतकर्मोपपादिता एव स्युरिति तदा कर्माभ्युपगमो निरर्थक इति हिंसाऽपि असंभवा जैनानामिति विचारः ।
(१७) आत्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाद्भिन्नाभिन्नत्वस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनम् ।
(१८) आत्मनोऽसर्वगतत्वे गुणवर्णनम् ।

(१) अस्य निक्षेपः-

हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ ।
दव्वे भावे य तहा, अहिंस ऽजीवाइवाउ त्ति ।४५।दश० नि०।

तत्र प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। अस्या हिंसायाः, किम्?, प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः, अप्रमत्ततया शुभयोगपूर्वकं प्राणाऽव्यपरोपणमित्यर्थः। किम् ?, भवत्यहिंसेति। तत्र चतुर्विधा चतुष्प्रकारा अहिंसा । (दव्वे भावे य त्ति) द्रव्यतो भावतश्चेत्येको भङ्गः। तथा-द्रव्यतो नो भावतः । भावतो न द्रव्यतः। तथा-न द्रव्यतो न भावत इति । तथाशब्दसमुच्चितो भङ्गत्रयोपन्यासः, अनुक्तसमुच्चयार्थकत्वादस्येति । उक्तञ्च-"तथा समुच्चयनिर्देशावधारणसादृश्यप्रेष्येषु " इत्यादि । तथाचायं भङ्गकभावार्थः द्रव्यतो भावतश्चेति-" जहा केइ पुरिसे मियवहपरिणामपरिणए मियं पासित्ता आयन्नाइढियकोदंडजीवे सरं णिसिरिज्जा, से य मिए तेण सरेण विद्धे मए; सिया एसा दव्वओ हिंसा, भावओ वि । या पुनर्द्रव्यतो न भावतः, सा खल्वीर्यादिसमितस्य साधोः कारणे गच्छत इति । उक्तं च-

" उच्चालियम्मि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए ।
वावेज्जेज्ज कुलिंगी, मरिज्ज तं योगमासज्ज ॥ १ ॥
न य तस्स तं निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए ।
अणहा सो अपमत्तो, सा उ पमाओ त्ति निद्दिट्ठा" ॥२॥ इत्यादि ।

या पुनर्भावतो, न द्रव्यतः, सेयम्-"जहा के वि पुरिसे मंदमंदप्पगासप्पदेसे संठियं ईसिवलिअकायं रज्जुं पासित्ता एस अहि त्ति तव्वहपरिणामए णिकड्डियाऽसिपत्ते दुअं दुअं छिंदिज्जा। एसा भावओ हिंसा, न दव्वओ । चरमभङ्गस्तु शून्यः। इत्येवम्भूताया हिंसायाः प्रतिपक्षोऽहिंसेति। एकार्थिकाभिधित्सयाऽऽह-(अहिंसजीवाइवाओ त्ति) न हिंसा अहिंसा, न जीवातिपातः अजीवातिपातः। तथा च तत्त्वतः स्वकर्मातिपातो भवत्येवाऽजीवश्च कर्मेति भावनीयमिति। उपलक्षणत्वाच्चेह प्राणातिपातविरत्यादिग्रह इति गाथार्थः। दश० १ अ० । त्रसस्थावरजीवरक्षायाम्, संथा० । प्रमादयोगात्सत्त्वव्यपरोपणविरतिरूपे प्रथमे व्रते, ध० ।

(२) प्रथममहिंसाव्रतलक्षणमाह-

प्रमादयोगात्सर्व-जीवासुव्यपरोपणम् ।
सर्वथा यावज्जीवं च, प्रोचे तत् प्रथमं व्रतम् ॥ ४ ॥

प्रमादो ज्ञानसंशयविपर्ययरागद्वेषस्मृतिभ्रंशयोगदुष्प्रणिधानधर्मानादरभेदादष्टविधः। तद्योगात् तत्संबन्धात् सर्वेषां सूक्ष्मादिभेदभिन्नानां, जीवानां प्राणिनां, येऽसवः प्राणाः पञ्चेन्द्रियबलत्रयोच्छ्वासायुर्लक्षणा दश, तेषां यथासंभवेनाऽव्यपरोपणमविनाशनम्। तद्देशतोऽपि स्यादित्यत आह-सर्वथेति। सर्वप्रकारेण त्रिविधत्रिविधेन भङ्गेन। तद्वेत्वरमपि स्यादित्यत आह-यावज्जीवं-प्राणधारणं यावत् । तत्किमित्याह-प्रथमं व्रतम्-अहिंसाव्रतं, प्रोचे जिनैरिति शेषः। प्रथमत्वं चास्य शेषाधारत्वात् सूत्रक्रमप्रामाण्याच्चावसेयम्। द्वितीयो हेतुश्च द्वितीयव्रतादिष्वपि भाव्य इत्युक्तं प्रथमं व्रतम् । ध० ३ अधि० । " तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं । अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो" ॥९॥ दश० मू० ६ अ० । (अष्टदशविधस्थानगणस्य, व्रतषट्कादीनां च व्याख्या ' अट्ठारसट्ठाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २४७ पृष्ठे, स्वस्वस्थाने च द्रष्टव्या)

(३) अहिंसाख्यसंवरद्वारस्यैवाऽशेषा वक्तव्यता-

तत्थ पढमं अहिंसा, तसथावरसव्वभूयखेमकरी ।
तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्छं गुणुद्देसं ॥

(तत्थ त्ति) तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं सम्वरद्वारमहिंसा (तसथावरसव्वभूयखेमकरि त्ति) त्रसस्थावराणां सर्वेषां भूतानां क्षेमकरणशीला। तस्या अहिंसायाः सभावनायास्तु भावनापञ्चकोपेताया एव (किंचि त्ति) किञ्चनाल्पं, वक्ष्ये गुणोद्देशं गुणलेशमिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसम्वरनिरूपणायाह-

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति दीवो, ताणं, सरणगती, पइट्ठा, निव्वाणं, निव्वुइ, समाही, संती, कित्ती, कंती, रइय विरइय सुयंग तित्ती, दया, विमुत्ती, खंती, सम्मत्ताराहणा, महंती, बोही, बुद्धी, धिती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, ठिती, पुट्ठी, नंदी, भद्दा, विसुद्धी, लद्धी, विसिट्ठदिट्ठी, कल्लाणं, मंगलं, पमोओ, विभूति, सिद्धावासो, रक्खा, अणासवो, केवलीणं ठाणं, सिव समिई, सील संजमो त्ति य, सीलघरो, संवरो य, गुत्ती, ववसाओ, उस्सतो य, जण्णो, आयतणं, जयणमप्पमाओ, अस्सासो, विसासो, अभओ, सव्वस्स वि अमाघाओ, चोक्खपवित्ती, सुती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर त्ति । एवमादीणि नियगुणनिम्मियाइं पज्जवनामाणि हुंति अहिंसाए भगवतीए ।

(तत्थेत्यादि) तत्र तेषु पञ्चसु सम्वरद्वारेषु मध्ये प्रथममाद्यं सम्वरद्वारमहिंसा। किंभूता ?, या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति (दीव त्ति) द्वीपो दीपो वा। यथाऽगाधजलधिमध्यमग्नानां श्वैरश्वापदकदम्बकदर्थितानां महोर्मिमालामध्यमज्जमानगात्राणां त्राणं भवति द्वीपः प्राणिनाम्; एवमयमहिंसा संसारसागरमध्यगतानां व्यसनशतश्वापदप्रपीडितानां संयोगवियोगवीचिविधुराणां त्राणं भवति, तस्याः संसारसागरोत्तारहेतुत्वात्, इति अहिंसा द्वीप उक्ता। यथा वा-दीपोऽन्धकारनिराकृतसकलप्रसराणां हेयोपादेयार्थहानोपादानमूढमनसां तिमिरनिकरनिराकरणेन प्रवृत्त्यादिकारणं भवति; एवमहिंसा ज्ञानावरणादिकर्मतिमिरविध्वंसनेन विशुद्धबुद्धिप्रभापटलप्रदर्शनेन प्रवृत्त्यादिकारणत्वाद्दीप उक्ता। तथा-त्राणं, स्वपरेषामापदः संरक्षणात्। तथा-शरणम्। तथैव-सम्पदः, सम्पादकत्वात्। गम्यते श्रेयोऽर्थिभिराश्रीयत इति गतिः। प्रतिष्ठन्ते आसते सर्वे गुणाः सुखानि वा यस्यां सा प्रतिष्ठा। तथा-निर्वाणं मोक्षः, तद्धेतुत्वा-

निर्वाणम् । तथा-निर्वृत्तिः स्वास्थ्यम्, समाधिः समता, शक्तिः, शक्तिहेतुत्वात् । शान्तिः द्रोहविरतिः, कीर्त्तिः, ख्यातिहेतुत्वात् । कान्तिः, कमनीयताकारणत्वात् । रतिश्च रतिहेतुत्वात् । विरतिश्च निवृत्तिः पापात् । श्रुतं श्रुतज्ञानमङ्गं कारणं यस्याः सा श्रुताङ्गा । आह च-"पढमं नाणं तओ दया " इत्यादि । तृप्तिहेतुत्वात् तृप्तिः । ततः कर्मधारयः । तथा-दया देहिरक्षा । तथा-विमुच्यते प्राणी सकलबन्धनेभ्यो यया सा विमुक्तिः । तथा-क्षान्तिः क्रोधनिग्रहः, तज्जन्यत्वादहिंसाऽपि क्षान्तिरुक्ता । सम्यक्त्वं सम्यग्बोधरूपमाराध्यते यया सा सम्यक्त्वाराधना । (महंति त्ति) महती सर्वधर्मानुष्ठानानां बृहती । आह च-" एकं चिय एकवयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिँ सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण-सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा " ॥ १ ॥ बोधिः सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः, अहिंसारूपत्वाच्च तस्या अहिंसा-बोधिरुक्ता । अथवाऽहिंसा सानुकम्पा, सा च बोधिकारणमिति बोधिरेवोच्यते । बोधिकारणत्वं चानुकम्पायाः-"अणुकंपा कामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे । संजोगविप्पओगे, सव्वणुसव्वइढिसक्कारे" ॥ १ ॥ इति वचनादिति । तथा-बुद्धिः, साफल्यकारणत्वाद् बुद्धिः । यदाह-"बाहत्तरिकलकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव । सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकलं न आणंति" ॥२॥ धर्मश्चाहिंसैव । धृतिश्चित्तदार्ढ्यं, तत्परिपालनीयत्वादस्या धृतिरेवोच्यते । समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरेवोच्यते । एवं ऋद्धिवृद्धी । तथा-साद्यपर्यवसितमुक्तिस्थितिहेतुत्वात् स्थितिः । तथा-पुष्टिः, पुण्योपचयकारणत्वात् । आह च-"पुष्टिः पुण्योपचयनम्" । नन्दयति समृद्धिं नयतीति नन्दा । भन्दते कल्याणीकरोति देहिनामिति भद्रा । विशुद्धिः पापक्षयोपायत्वेन जीवनिर्मलतास्वरूपत्वात् । आह च-"शुद्धिः पापक्षयेण जीवनिर्मलता" । तथा-केवलज्ञानादिलब्धिनिमित्तत्वाल्लब्धिः । विशिष्टदृष्टिः प्रधानदर्शनमतमित्यर्थः, तदन्यदर्शनस्याप्राधान्यात् । आह च-"किं तीए पढियाए, पयकोडीए पलालभूयाए । जत्थेत्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा" ॥१॥ कल्याणं, कल्याणप्रापकत्वात् । मङ्गलं, दुरितोपशान्तिहेतुत्वात् । प्रमोदः, प्रमोदोत्पादकत्वात् । विभूतिः, सर्वविभूतिनिबन्धनत्वात् । रक्षा, जीवरक्षणस्वभावत्वात् । सिद्धावासः, मोक्षावासनिबन्धनत्वात् । अनाश्रवः, कर्मबन्धनिरोधोपायत्वात् । केवलिनां स्थानं, केवलिनामहिंसायां व्यवस्थितत्वात् । (सिवसमितिसीलसंजमो त्ति य) शिवहेतुत्वेन शिवसमितिः सम्यक्प्रवृत्तिः, तद्रूपत्वादहिंसा शिवसमितिः । शीलं समाधानं, तद्रूपत्वाच्छीलम् । संयमोऽहिंसात उपरमः । इति रूपप्रदर्शने; चः समुच्चये । (सीलघरो त्ति) शीलगृहं चारित्रस्थानम् । संवरश्च प्रतीतः । गुप्तिरशुभानां मनःप्रभृतीनां निरोधः । विशिष्टोऽवसायो निश्चयो व्यवसायः । उच्छ्रयः स्वभावोन्नतत्वम् । यज्ञो भावतो देवपूजा । आयतनं गुणानामाश्रयः । यजनमभयस्य दानं, यतनं वा प्राणिरक्षणं प्रति यत्नः । अप्रमादः प्रमादवर्जनम् । आश्वास आश्वासनं प्राणिनामेव । विश्वासो विश्रम्भः । (अभओ त्ति) अभयं सर्वस्यापीति प्राणिगणस्य । अमाघात अमारिः । चोक्षपवित्रा, एकार्थशब्दद्वयोपादानात् अतिशयपवित्रा । शुचिर्भावशौचरूपा । आह च-" सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम् " ॥ १ ॥ इति । (पूय त्ति) पवित्रा, पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम् । विमलप्रभासा, तन्निबन्धनत्वात् । (निम्मलतर त्ति) निर्मलं जीवं करोति या सा तथा, अतिशयेन वा निर्मला निर्मलतरा । इति नाम्नां समाप्तौ । एवमादीन्येवंप्रकाराणि निजकगुणनिर्मितानि, यथार्थानीत्यर्थः । अत एवाह-पर्यायनामानि तत्तद्धर्माश्रिताभिधानानि भवन्त्यहिंसायाः; भगवत्या इति पूजावचनम् ।

एसा भगवती अहिंसा, जा सा भीयाणं पिव सरणं, पक्खीणं पिव गयणं, तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झे व पोतवहणं, चउप्पयाणं च आसमपयं, दुहट्ठियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे च सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणप्फती-बीज-हरिय-जलचर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी ।

एषा सा भगवत्यहिंसा या सा भीतानामिव शरणमित्यत्राश्वासिका, देहिनामितिगम्यम् । पक्खीणं पिव गयणं त्ति) पक्षिणामिव गगनं, हिता, देहिनामिति गम्यम् । एवमन्यान्यपि षट् पदानि व्याख्येयानि । किं भूतादीनां शरणादिसमैव सा ?, नेत्याह—(एत्तो त्ति) एतेभ्योऽनन्तरोदितेभ्यः शरणादिभ्यो विशिष्टतरिका प्रधानतरिका अहिंसा, हिततयेति गम्यते । शरणादितो हितमनैकान्तिकमनात्यन्तिकं भवति; अहिंसातस्तु तद्विपरीतं मोक्षावाप्तिरिति । तथा-'या सा' इत्यादि, याऽसौ, पृथिव्यादीनि च पञ्च प्रतीतानि, बीजहरितानि च वनस्पतिविशेषा आहारार्थत्वेन प्रधानतया शेषवनस्पतिभेदेनोक्ताः, जलचरादीनि च प्रतीतानि; त्रसस्थावराणि सर्वभूतानि, तेषां क्षेमकरी या सा तथा, एषा एवैव, भगवती अहिंसा, नान्या । यथा लौकिकैः कल्पिता-"कुलानि तारयेत् सप्त, यत्र गौर्वितृषी भवेत् । सर्वथा सर्वयत्नेन, भूमिष्ठमुदकं कुरु " ॥१॥ इह गोविषये या दया सा किल तन्मतेनाऽहिंसाऽस्यां च पृथिव्युदकपूतरकादीनां हिंसाऽस्तीत्येवंरूपा न सम्यगहिंसेति ।

(४) अथ यैरियमुपलब्धा सेविता च तानाह-

एसा भगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सीलगुणविणयतवसंजमनायकेहिं तित्थकरेहिं सव्वजगवच्छलेहिं तिलोगमहितेहिं जिणचंदेहिं सुट्ठु दिट्ठा ओहिनाणेहिं विणाया उज्जुमतीहिं वि दिट्ठा विपुलतीहिं विदिता पुव्वधरेहिं अधिया विउव्वीहिं पतिण्णा आभिणिबोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं मणपज्जवणाणीहिं केवलणाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेलोसहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं बीजबुद्धीएहिं कोट्ठबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिन्नसोतेहिं सुयधरेहिं मणबलएहिं वयबलएहिं कायबलएहिं नाणबलएहिं दंसणबलएहिं चरित्तबलएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पियासवेहिं अखीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं चउत्थभत्तिएहिं छट्ठभत्तिएहिं अट्ठमभत्तिएहिं दसमभत्तिएहिं एवं दुवालसचउदससोलसअद्धमासमासदोमासतिमासचउमासपंचमासछमासभत्तिएहिं उक्खित्तचर-

एहिं एवं निक्खित्तचरएहिं अंतचरएहिं पंतचरएहिं लूहचरएहिं समुदाणिचरएहिं अन्नगिलाइएहिं मोणचरएहिं संसट्ठकप्पिएहिं तज्जायसंसट्ठकप्पिएहिं उवनिहिएहिं सुद्धेसणिएहिं संखादत्तिएहिं दिट्ठलाभिएहिं अदिट्ठलाभिएहिं पुट्ठलाभिएहिं आयंबीलएहिं पुरमड्डिएहिं एकासणिएहिं निव्विइएहिं भिन्नपिंडवाइएहिं परिमियपिंडवाइएहिं अंताहारेहिं पंताहारेहिं अरसाहारेहिं विरसाहारेहिं तुच्छाहारेहिं लूहाहारेहिं अंतजीवीहिं पंतजीवीहिं लूहजीवीहिं तुच्छजीवीहिं उवसंतजीवीहिं पसंतजीवीहिं विवित्तजीवीहिं अखीरमहुसप्पिएहिं अमज्जमंसासिएहिं ठाणाइएहिं पडिमट्ठाइएहिं ठाणुक्कडुएहिं वीरासणिएहिं णेसज्जिएहिं दंडायएहिं लगंडसाइएहिं एगपासगेहिं आयावएहिं अवाउडएहिं अणिट्ठुभएहिं अकंडुयएहिं धूतकेसमंसुलोमनखेहिं सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्केहिं समणुचिन्नासुयधरविदितत्थकायबुद्धीहिं धीरमतिबुद्धिणो य जे ते आसीविसउग्गतेयकप्पा णिच्छयववसायपज्जत्तकयमतीया णिच्चं सज्झायज्झाणं अणुबंधधम्मज्झाणा पंचमहव्वयचरित्तजुत्ता समिया समितीसु समितपावा छव्विहजगवच्छला णिच्चमप्पमत्ता एएहिं य अन्नेहिं य जा सा अणुपालिया भगवती ।।

(पदानामर्थः स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यः) नवरं (एतेहिं य ति) ये ते पूर्वोक्तगुणा एतैश्चान्यैश्चानुकूलत्वकारिगुणवद्भिर्या ऽसावनुपालिता भगवती अहिंसा, प्रथमं सम्वरद्वारमिति हृदयम् ।

(५) अथाहिंसापालनोद्यतस्य यद्विधेयं तदुच्यते-

इमं च पुढवी-दग-अगणि-मारुय-तरुगण-तस-थावरसव्वभूयसंजयदयट्ठयाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं अकयमकारियमणाहूयमणुद्दिट्ठं अकयकडं नवकोडीहिं परिसुद्धं दसहिं य दोसेहिं विप्पमुक्कं उग्गमउप्पायणेसणासुद्धववगयचुयचइयचत्तदेहं च फासुयं च न निसिज्ज कहा पओयणक्खासुवणीयं न तिगिच्छामंतमूलभेसज्जकज्जहेउं न लक्खणुप्पायसुमिणजोइसनिमित्तकहकुहकप्पउत्तं न विडंभणाए न विरक्खणाए न वि सासणाए न विडंभणरक्खणसासणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न विवंदणाए न विमाणणाए न वि पूयणाए न वि वंदणमाणणपूयणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि हीलणाए न वि निंदणाए न वि गरहणाए न वि हीलणनिंदणगरहणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि भेसणाए न वि तज्जणाए न वि तालणाए न वि भेसणतज्जणतालणाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि गारवेणं न वि कुहणाए न वि वणिमयाए न वि गारवकुहणवणिमयाए भिक्खं गवेसियव्वं, न वि मित्तयाए न वि पत्थणाए न वि सेवणाए न वि मित्तयपत्थणसेवणाए भिक्खं गवेसियव्वं, अन्नाए अगढिए अदुट्ठे अदीण अविमणे अकलुणे अविसाती अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरियविनयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए णिरए इमं च सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चा भावियं आगमेसि भद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ।।

(इमं चेत्यादि) अयं च वक्ष्यमाणविशेष उञ्छो गवेषणीय इति सम्बन्धः । प्रश्न०१ सम्ब०द्वार । (अक्षरार्थो ऽन्यत्रा ऽन्यत्र) अथ यदुक्तं " तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्छं गुणुद्देसं " इति, तत्र का भावना ?, अस्यां जिज्ञासायामाह-

(६) प्रथमव्रतस्य (अहिंसारूपस्य) पञ्च भावनाः--

तस्स इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स हुंति, पाणाइवायवेरमणं परिक्खणट्ठयाए पढमं ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवातियाए दिट्ठीए इरियव्वं कीडपयंगतसथावरदयावरेण निच्चं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्टियबीयहरियपरिवज्जएण समं, एवं खु सव्वे पाणा ण हीलियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न छिंदियव्वा न भिंदियव्वा न वहेयव्वा न भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउ जे एवं इरियासमिइजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू १ ।।

(तस्सेत्यादि) तस्य प्रथमस्य व्रतस्य, भवन्तीति घटना, इमा वक्ष्यमाणप्रत्यक्षाः पञ्च भावनाः; भाव्यते वास्यते व्रतेनात्मा यकाभिस्ता भावना ईर्यासमित्यादयः । किमर्था भवन्तीत्याह-(पाणा इत्यादि) प्रथमव्रतस्य यत्प्राणातिपातविरमणलक्षणस्य परिरक्षणस्वरूपं, तस्य परिरक्षणार्थाय (पढमं ति) प्रथमभावनावस्थितिर्गम्यते,स्थाने गमने च गुणयोगं च स्वपरप्रवचनोपघातवर्जनलक्षणगुणसम्बन्धं योजयति करोति या सा। तथा-युगान्तरे युगप्रमाणभूभागे निपतति या सा युगान्तरनिपातिका,ततः कर्मधारयः। ततस्तया,दृष्ट्या चक्षुषा (इरियव्वं ति) ईरितव्यं गन्तव्यम्। केनेत्याह-कीटपतङ्गादयश्च त्रसाश्च स्थावराश्च कीटपतङ्गत्रसस्थावराः, तेषु दयापरो यस्तेन, नित्यं पुष्पफलत्वक्प्रवालकन्दमूलदकमृत्तिकाबीजहरितपरिवर्जकेन, सम्यगिति प्रतीतं, नवरं प्रवालः पल्लवाङ्कुरः, दकमुदकमिति । अथेर्यासमित्या प्रवर्तमानस्य यत् स्यात्तदाह-(एवं खु त्ति) एवं च ईर्यासमित्या वर्तमानस्येत्यर्थः, सर्वप्राणाः सर्वजीवा न हीलयितव्या अवज्ञातव्या भवन्ति,संरक्षणप्रयत्नत्वान्न तानवज्ञाविषयीकरोतीत्यर्थः। तथा-न निन्दितव्याः,न गर्हितव्या भवन्ति,सर्वथा पीडावर्जनोद्यतत्वेन गौरव्याणामिव दर्शनात्। निन्दा च स्वसमक्षा,गर्हा वा परसमक्षा । तथा-न हिंसितव्याः पादाक्रमणेन मारणतः,एवं न छेत्तव्या द्विधाकरणतः,न भेत्तव्याः स्फोटनतः, (न वहेयव्व त्ति) न व्यथनीयाः परितापनात्,न भयं भीतिः,दुःखं वा शारीरादि किञ्चिदल्पमपि, लभ्या योग्या प्रापयितुम्;'जे' इति निपातो वाक्यालङ्कारे; एवमनेन न्यायेनेर्यासमितियोगेन ईर्यासमितिव्यापारेण, भावितो वासितो भवत्यन्तरात्मा जीवः। कि-

म्विध इत्याह—अशबलेन मालिन्यमात्ररहितेन, असंक्लिष्टेन विशुद्ध्यमानपरिणामवता, निर्व्रणेनाक्षतेनाखण्डेनेति यावत् । चारित्रेण सामायिकादिना भावना वासना यस्य सोऽशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनाकः । अथवा-अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया हेतुभूतया अहिंसकोऽवधकः, संयतो मृषावादाद्युपरमात् मोक्षसाधक इति । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अभिहणेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा लेसेज्ज वा उद्दवेज्ज वा इरियासमिए से णिग्गंथे णो इरियाअसमिए त्ति पढमा भावणा ॥

ईरणं गमनमीर्या, तस्यां समितो दत्तावधानः, पुरतो युगमात्रभूभागन्यस्तदृष्टिगामीत्यर्थः।नत्वसमितो भवेत्। किमिति?, यतः केवली ब्रूयात् कर्मोपादानमेतद्.गमनक्रियायामसमितो हि प्राणिनोऽभिहन्यात पादेन ताडयेत्, तथा-वर्तयेदन्यत्र पातयेत्, तथा-परितापयेत्पीडामुत्पादयेत्, अपद्रापयेद्वा जीविताद् व्यपरोपयेदित्यत ईर्यासमितेन भवितव्यमिति प्रथमा भावना । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

बितिगं च मणेण पावएण पावकं अहम्मिकदारुणं निसंसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कया वि मणेणं पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं, एवं मणसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू २ ॥

द्वितीयं पुनर्भावनावस्तु मनःसमितिस्तत्र मनसा पापं न ध्यातव्यम्। एतदेवाह-मनसा पापकेन पापकमिति काका ध्येयम् । ततश्च पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तन्न कदाचिन्मनसा पापकं किञ्चिद्ध्यातव्यमिति वक्ष्यमाणवाक्येन सम्बन्धः। पुनः किंभूतं पापकमित्याह-अधर्मिकाणामिदमाधर्मिकं, तच्च तद्दारुणं चेति आधर्मिकदारुणं, नृशंसं शूकावर्जितं, वधेन हननेन, बन्धेन संयमेन, परिक्लेशेन च परितापनेन हिंसागतेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । जरामरणपरिक्लेशैः फलभूतैः, वाचनान्तरे-'भयमरणपरिक्लेशैः' संक्लिष्टमशुभं यत्तत्तथा। न कदाचिन्न कस्मिन्नपि काले (मणेण पावएणं ति) पापकेनैव मनसा (पावगं ति)प्राणातिपातादिकं पापं किञ्चिदल्पमपि ध्यातव्यमेकाग्रतया चिन्तनीयम् । एवमनेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन चित्तसत्प्रवृत्तिलक्षणव्यापारेण भावितो वासितो भवत्यन्तरात्मा जीवः । किंविध इत्याह-अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनाकः, अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनाया वा अहिंसकः, संयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा दोच्चा भावणा मणं परिजाणइ, से णिग्गंथे जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अधिकरणिए पाउसिए परितावित्ते पाणाइवाइए भूओवघातिए तहप्पगारं मणं णोपधारेज्जा, मणं परिजाणति, से णिग्गंथे जे य मणे अपावते त्ति दोच्चा भावणा ॥

द्वितीयभावनायां तु मनसा दुष्प्रणिहितेन नो भाव्यम् । तद्दर्शयति-यन्मनः पापकं सावद्यं सक्रियं (अण्हयकरं ति) कर्माश्रवकारि, तथा-छेदनभेदनकरम् , अधिकरणकरं कलहकरं, प्रकृष्टदोषं प्रादोषिकं, तथा-प्राणिनां परितापकारीत्यादि न विधेयमिति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

तइयं च वइए पावए पावगं अहम्मिकदारुणं निसंसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कयावि वइए पावियाए ओ पावगं किंचि वि भासियव्वं,एवं वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहु ३।

(तइयं च त्ति) तृतीयं पुनर्भावनावस्तु वचनसमितिर्यत्र वाचा पापं न भणितव्यम्। इत्येतदेवाह-(वइए पावियाए इति) काका ध्येतव्यम् । एतद् व्याख्यानं च प्राग्वत् । प्रश्न १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा तच्चा भावणा वइं परिजाणति, से णिग्गंथे० जाव वाइपाविया सावज्जा सकिरिया० जाव भूतोवघाइया तहप्पगारं वइं णो उच्चारेज्जा वइं परिजाणइ, से णिग्गंथे जाव वइं अपाविय त्ति तच्चा भावणा ॥

अथापरा तृतीया भावना, तत्र निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन भव्यतव्यमिति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

चउत्थं आहारएसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं, अन्नाए अकहिए असिट्ठे अदीणे अकलुणे अविसाती अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरित्तविनयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए जुत्ते समुदाणिऊण भिक्खचरियं उंछं घेत्तूणं आगए गुरुजणस्स पासं गमणागमणातिचारपडिक्कमणपडिक्कंते आलोयणदायणं च दाऊण गुरुजणस्स जहोवएसं निरइयारं अप्पमत्तो पुणरवि अणेसणाए पयत्तो पडिक्कमित्ता पसंत-आसीण-सुहनिसण्णो मुहुत्तमेत्तं च झाणसुहजोगनाणसज्झायगोवियमणे धम्ममणे अविमणे सुहमणे अविग्गहमणे समाहियमणे सद्धासंवेगनिज्जरमणे पवयणवच्छल्लभावियमणे उट्ठेऊण य पहट्ठो जहराइणियं निमंतइत्ता य साहवे भावओ य विइण्णे य गुरुजणेणं उपविट्ठे संपमज्जिऊण ससीसं कायं तहा करयलं अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अगरहिए अणज्झोववण्णे अणाइले अलुद्धे अणत्तट्ठिए असुरसुरं अचवचवं अदुयमविलंबियमपरिसाडि आलोयभायणे जयमप्पमत्तेणं ववगयसंजोगमणिंगालं च विगयधूमं अक्खोवंजणवणाणुलेवणभूयसंजमजायामायानिमित्तं संजमभारवाहणट्ठयाए भुंजेज्जा पाणधारणट्ठयाए संजएणं समियं एवमाहारसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहु ४ ॥

(चउत्थं ति) चतुर्थभावनावस्तु आहारसमितिरिति।तामेवाह-(आहारएसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं ति) व्यक्तम् । इदमेव भावयितुमाह-अज्ञातः श्रीमत्प्रव्रजितादित्वेन दायकजनाऽनवगतः, अकथितः स्वयमेव यथाहं श्रीमत्प्रव्रजितादिरिति, अशिष्टोऽप्रतिपादितः परेण । वाचनान्तरे-' अन्नाए अकहि-

ए अदुट्ठेत्ति ' दृश्यते । 'अदीणे' इत्यादि तु पूर्ववत् । भिक्षुभिः - क्षैषणया युक्तः (समुदाणेऊण त्ति) अटित्वा भिक्षाचर्या गोचरमित्योऽल्पमल्पाल्पगृहीतं भैक्ष्यं गृहीत्वा आगतो गुरुजनस्य पार्श्वं समीपं गमनागमनातिचाराणां प्रतिक्रमणेन ईर्यापथिकादण्डकेनेत्यर्थः। प्रतिक्रान्तं येन स तथा (आलोयण त्ति) आलोचनं यथागृहीतभक्तपाननिवेदनं तयोरेवोपदर्शनं च (दाऊण त्ति) कृत्वा (गुरुजणस्स त्ति) गुरोर्गुरुसंदिष्टस्य वा वृषभस्य (जहोवएसं ति) उपदेशानतिक्रमेण, निरतिचारं च दोषवर्जनेन अप्रमत्तः, पुनरपि च अनेषणाया अपरिज्ञातानालोचितदोषरूपायाः, प्रयतो यत्नवान्, प्रतिक्रम्य कायोत्सर्गकरणेनेति भावः। प्रशान्त उपशान्तोऽनुत्सुकः, आसीन उपविष्टः। स एव विशेष्यते-सुखनिषण्णः-अनाबाधवृत्त्योपविष्टः। ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः मुहूर्तमात्रकं च कालं ध्यानेन धर्मादिना,शुभयोगेन संयमव्यापारेण गुरुविनयकरणादिना, ज्ञानेन ग्रन्थानुप्रेक्षणरूपेण, स्वाध्यायेन चाऽधीतगुणनरूपेण,गोपितं विषयान्तरगमने निरुद्धं मनो येन स तथा । अत एव धर्मे श्रुतचारित्ररूपे मनो यस्य स तथा। अत एवाविमना अशून्यचित्तः, शुभमनाः असंक्लिष्टचेताः, (अविग्गहमणे त्ति) अविग्रहमनाः असंक्लिष्टकलहचेताः, अव्युद्ग्रहमना वा अविद्यमानासदभिनिवेशः, (समाहियमणे त्ति) समं तुल्यं रागद्वेषानाकलितं आहितमुपनीतमात्मनि मनो येन स समाहितमनाः,शमेन चोपशमेन अधिकं मनो यस्य स शमाधिकमनाः,समाहितं वा स्वस्थं मनो यस्य स समाहितमनाः। श्रद्धा च तत्त्वश्रद्धानं,संयमयोगविषयो वा निजाभिलाषः, संवेगश्च मोक्षमार्गाभिलाषः संसारजयं वा, निर्जरा च कर्मक्षपणं मनसि यस्य स श्रद्धासंवेगनिर्जरामनाः। प्रवचनवात्सल्यभावितमना इति कण्ठ्यम्। उत्थाय च प्रहृष्टस्तुष्टोऽतिशयप्रमुदितो, यथारात्निकं यथाज्येष्ठं, निमन्त्र्य च साधून् साधर्मिकान् भावतश्च भक्त्या (विइण्णय त्ति) वितीर्णे च गुरुजनेन त्वमिदमशनादीन्येवमनुज्ञाते च सति भक्तादौ गुरुजनेन गुरुणा,उपविष्ट उचितासने संप्रमृज्य मुखवस्त्रिकारजोहरणाभ्यां सशीर्ष कायं समस्तकं शरीरं, तथा करतलं हस्ततलं च,अमूर्च्छित आहारविषये न मूर्च्छामागतम्। अगृद्धः अप्राप्तरसेऽनाकाङ्क्षावान्,अग्रथितः रसानुगततन्तुभिरसंदर्भितः, अगर्हितः आहारविषये अकृतगर्ह इत्यर्थः। अनध्युपपन्नो न रसेषु एकाग्रमनाः, अनाविलोऽकलुषः,अलुब्धः लोभविरहितः, (अणत्तट्ठिए त्ति) नात्मार्थ एव अर्थो यस्यास्त्यसावनात्मार्थिकः,परमार्थकारीत्यर्थः। (असुरसुरं ति) एवंभूतशब्दवर्जितः (अचवचवं ति) चवचवेतिशब्दरहितम्,अनद्भुतमनुत्सुकम्। अविलम्बितम् अनतिमन्दम्। अपरिशाटि परिशाटिवर्जितं, 'भुंजेज्जा' इति क्रियाया विशेषणानामानि। (आलोयभायणे त्ति) प्रकाशमुखे अथवाऽऽलोके प्रकाशेनाऽन्धकारे पिपीलिकावालादीनामनुपलम्भात्,तथा भाजने पात्रे,पात्रं विना जलादि सम्पतितसत्त्वादर्शनादिति, यतो मनोवाक्कायसंयतत्वेन प्रयत्नेनादरेण व्यपगतसंयोगं संयोजनादोषरहितं (अणिंगालं च त्ति) रागपरिहारेणेत्यर्थः। (विगयधूमं ति) द्वेषरहितम्। आह च-''रागेण स इंगालं,दोषेण स धूमगं वियाणीहि त्ति"। अक्षस्य धुरं उपाञ्जनम् अक्षोपाञ्जनं, तथा व्रणानुलेपनं च ते भूतं प्राप्तं यत्तत्तथा, तत्कल्पमित्यर्थः । संयमयात्रा संयमप्रवृत्तिः,सैव संयमयात्रा मात्रा तन्निमित्तं हेतुर्यत्र तत्संयमयात्रामात्रानिमित्तम्। किमुक्तं भवति?-संयमभारवहनार्थतया इयं भावनेह-यथाऽक्षस्योपाञ्जनं भारवहनायैव विधीयेत न प्रयोजनान्तरे, एवं संयमभारवहनायैव साधु भुञ्जीत न बलरूपनिमित्तं, विषयलौल्येन वा। अभिकलो हि भोजनसंयमसाधनं शरीरं धारयितुं समर्थो भवतीति (भुंजेज्ज त्ति) भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत। तथा भोजने कारणान्तरमाह-प्राणधारणार्थतया जीवितव्यसंरक्षणायेत्यर्थः । संयतः साधुः णमिति वाक्यालङ्कारे। (समियं ति)सम्यक्। निगमयन्नाह-एवमादानसमितियोगेन भावितः सन् भवत्यन्तरात्मा अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनाकः, अशबलासंक्लिष्टभावनया हेतुभूतया वा अहिंसकः संयतः सुसाधुरिति। प्रश्न० १ सम्ब० द्वार।

अहावरा चउत्था भावणा आयाणभंमनिक्खेवणासमिए से णिग्गंथे णो अणायाणभंमणिक्खेवणासमिए णिग्गंथे केवली बूया आयाणभंडणिक्खेवणाअसमिए णिग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणेज्ज वा० जाव उद्दवेज्ज वा आयाणभंडणिक्खेवणासमिए, से णिग्गंथे णो आयाणभंडणिक्खेवणा असमिए त्ति चउत्था भावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिः, तत्र निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन भवितव्यमिति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

पंचमगं पीढफलगसेज्जासंथारगवत्थपत्तकंबलदंडकरयहरणचोलपट्टगमुहपोत्तियपायपुंछणादि एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएणं निच्चं पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं निक्खियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहि उवकरणं, एवं आयाणभंडणिक्खेवणासमिइं जोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचारित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ५ ॥

(पंचमगं ति) पञ्चमभावनावस्तु आदानसमितिनिक्षेपसमितिलक्षणम् । एतदेवाह-पीठादिद्वादशविधमुपकरणं प्रसिद्धम्। (एयं पीति) एतदपि अनन्तरोदितमुपकरणम्, अपिशब्दादन्यमपि संयमस्योपबृंहणार्थतया संयमपोषणाय, तथा-वातातपदंशमशकशीतपरिरक्षणार्थतया उपकरणमुपकारकम् उपधिः, रागद्वेषरहितं क्रियाविशेषणमिदम्। (परिहरियव्व त्ति) परिभोक्तव्यं,न विभूषादिनिमित्तमिति भावना, संयतेन साधुना नित्यं सदा, तथा-प्रत्युपेक्षणाप्रस्फोटनाभ्यां सह या प्रमार्जना सा तथा तया, तत्र प्रत्युपेक्षणया चक्षुर्व्यापारेण, प्रस्फोटनया आस्फोटनेन, प्रमार्जनया च रजोहरणादिव्यापाररूपया (अहो य राओ त्ति) अह्नि च रात्रौ च, अप्रमत्तेन भवति सततं निक्षेप्तव्यं च मोक्तव्यं, ग्रहीतव्यं चादातव्यम्। आदातव्यं किं तत् ?, इत्याह—भाजनं पात्रं, भाण्डं तदेव मृण्मयं, उपधिश्च वस्त्रादि, एतत् त्रयलक्षणमुपकरणमुपकारकारि वस्त्विति कर्मधारयः। निगमयन्नाह-एवमादानेत्यादि पूर्ववत्, नवरं इह प्राकृतशैल्याऽन्यथा पूर्वापरपदनिपातः, तेन भाण्डस्योपकरणस्यादानं च ग्रहणं,निक्षेपणा च मोचनं, तत्र समितिर्भाण्डादाननिक्षेपणासमितिरिति वाच्ये, आदानभाण्डनिक्षेपणासमितिरित्युक्तम्। प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

अहावरा पंचमा भावणा आलोइयपाणभोई, से णिग्गंथे

णो अणालोइयपाणभोयणभोई केवली बूया अणालोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे पाणातिवा० ४ अभिहणेज्ज वा० जाव उद्दवेज्ज वा तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से णिग्गंथे णो अणालोइयपाणभोइ त्ति पंचमा भावणा ॥

तथा परा पञ्चमी भावना आलोकितं प्रत्युपेक्षितमशनादि भोक्तव्यं, तदकरणे दोषसंभवात् । आचा० १ श्रु० ३ चू० ।

अथाध्ययनार्थं निगमयन्नाह–

एवमियं संवरस्स दारं सम्मं संचरियं हुंति, सुप्पणिहियं, इमेहिं पंचहिं वि कारणाहिं मणवयकायपरिरक्खिएहिं, निच्चं आमरणंतं च एस जोगो नेयव्वो धितिमता मतिमता अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्साती असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णातो, एवं पढमं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तिरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणुपालियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पन्नवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं पढमं संवरदारं सम्मत्तं ति बेमि ॥

एवमिति उक्तक्रमेण, इदमहिंसालक्षणं, संवरस्यानाश्रवस्य, द्वारमुपायः, सम्यक् संवृतम् आसेवितं भवति, किंविधं सदित्याह–सुप्रणिहितं सुप्रणिधानवत्, सुरक्षितमित्यर्थः । कैः किंविधैरित्याह–एभिः पञ्चभिः कारणैः भावनाविशेषैः अहिंसापालनहेतुभिः, मनोवाक्कायपरिरक्षिभिरिति । तथा–नित्यं सदा आमरणान्तं च मरणरूपमन्तं यावत् मरणात्परतोऽप्यसम्भवात्, एष योगोऽनन्तरोदितभावनापञ्चकरूपो व्यापारो, नेतव्यो वोढव्य इति भावः । केन ?–धृतिमता स्वस्थचित्तेन, मतिमता बुद्धिमता, किंभूतोऽयं योगः ?–अनाश्रवः नवकर्मानुपादानरूपः, यतोऽकलुषोऽपापस्वरूपः, छिद्रमिव छिद्रं कर्म जलप्रवेशात्तन्निषेधेनाच्छिद्रः, अच्छिद्ररूपत्वादेवापरिस्रावी न परिस्रवति कर्म जलप्रवेशतः, असंक्लिष्टो न चित्तसंक्लेशरूपः, शुद्धो निर्दोषः, सर्वजिनैरनुज्ञातः सर्वार्हतामनुमतः; एवमितीयांसमित्यादिभावनापञ्चकयोगेन, प्रथमं सम्वरद्वारमहिंसालक्षणं, (फासियं ति) स्पृष्टमुचिते काले विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सतत सम्यगुपयोगेन प्रतिचरितं, (सोहियं ति) शोभितमन्येषामपि तदुचितानां दानादतिचारवर्जनाद्वा, शोधितं वा निरतिचारं कृतं, तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्त्तितमन्येषामुपदिष्टम्, आराधितमेभिरेव प्रकारैर्निष्ठां नीतम्, आज्ञया सर्वज्ञवचनेनानुपालितं भवति पूर्वकालसाधुभिः पालितत्वाद्विवक्षितकालसाधुभिश्चानु पश्चात्पालितमिति । केनेदं प्ररूपितमित्याह–एवमित्युक्तरूपं, ज्ञातमुनिना क्षत्रियविशेषरूपेण यतिना, श्रीमन्महावीरेणेत्यर्थः । भगवतैश्वर्यादिभगयुक्तेन, प्रज्ञापितं सामान्यतो विनेयेभ्यः कथितं, प्ररूपितं भेदानुभेदकथनेन, प्रसिद्धं प्रख्यातं, सिद्धं प्रमाणप्रतिष्ठितं, सिद्धानां निष्ठितार्थानां वरशासनं प्रधानाज्ञा सिद्धवरशासनम्, इदमेतत् । (आघवियं ति) अर्घः पूजा तस्य आप्तिः प्राप्तिर्जाता यस्य तदर्घापितम्, अर्थं वा आपितं प्रापितं यत्तदर्थापितं, सुदेशितं सुष्ठु दर्शितं, सदेवमनुजासुरायां पर्षदि नानाविधनयप्रमाणैरभिहितं सुदेशितं, प्रशस्तं मङ्गल्यमिति, प्रथमं संवरद्वारं समाप्तमिति । सम्ब० १ द्वार ।

पंचमा भावणा एत्तावया च महव्वयं सम्मं काएण फासिए पालिए तीरिए किट्टिते अवट्ठिते आणाए आराहिए यावि भवति, पढमे भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ।

इति इत्येवं पञ्चभिर्भावनाभिः प्रथमं व्रतं स्पर्शितं पालितं तीर्णं कीर्त्तितमवस्थितमाज्ञयाऽऽराधितं भवतीति । आचा०२श्रु०३चू० ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः–

सेवेमि जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेतव्वा ण परिघेत्तव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा ॥

येऽतीता अतिक्रान्ताः, ये च प्रत्युत्पन्ना वर्त्तमानकालभाविनः, ये चागामिनः, त एवं प्ररूपयन्तीति सम्बन्धः । तत्रातिक्रान्तास्तीर्थकृतः कालस्यानादित्वादिति यत्तमतिक्रान्ताः, अनागता अप्यनन्ता आगामिकालस्यानन्तत्वादिति । वर्त्तमानतीर्थकृतां प्रज्ञापकापेक्षितयाऽनवस्थितत्वे सत्यप्युत्कृष्टजघन्यपदिन एव कथ्यन्ते, तत्रोत्सर्गतः समयक्षेत्रसम्भविनं सप्तत्युत्तरशतं पञ्चस्वपि विदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशत् क्षेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत्, पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्च, एवमैरावतेष्वपीति, तत्र द्वात्रिंशत् पञ्चभिर्गुणिताः षष्ट्युत्तरं शतं भरतैरावतदशप्रक्षेपेण सप्तत्यधिकं शतमिति, जघन्यतस्तु विंशतिः, सा चैव पञ्चस्वपि महाविदेहेषु विदेहान्तर्महानद्युभयतटसद्भावात्तीर्थकृतां प्रत्येकं चत्वारः, तेऽपि पञ्चभिर्गुणिता विंशतिर्भरतैरावतयोस्त्वेकान्तसुषमादावभाव एवेति । अन्ये तु व्याचक्षते–मेरोः पूर्वापरविदेहैकैकशस्ताबन्महाविदेहद्वावेव पञ्चस्वपि दशैवेति । तथा ते आहुः–"सत्तरसयमुक्कोसं, इतरे दससमयखेत्तजिणमाणं । चोत्तीस पढमदीवे, अणतरद्धे य दुगुण त्ति" । क इमे अर्हन्तः ?, अर्हन्ति पूजासत्कारादिकमिति । तथा–ऐश्वर्याद्युपेता भगवन्तः, ते सर्वे एव परप्रश्नावसरे एवमाचक्षते, यदुत्तरत्र वक्ष्यते, वर्त्तमाननिर्देशस्योपलक्षणार्थत्वादिदमपि द्रष्टव्यमेवमाचचक्षिरे, एवमाख्यास्यन्ति, एवं सामान्यतः सदेवमनुजायां पर्षद्यर्द्धमागध्या सर्वसत्त्वस्वभाषानुगामिन्या भाषया भाषन्ते, एवं प्रकर्षेण संशीत्यपनोदायान्तेवासिनो जीवाजीवाश्रवसम्वरबन्धनिर्जरामोक्षपदार्थान् ज्ञापयन्ति, प्रज्ञापयन्ति । एवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः स्वपरभावेन सदसती तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमित्यादिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति, एकार्थानि चैतानीति । किं तदेवमाचक्षत इति दर्शयति–यथा सर्वे प्राणाः सर्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियबलोच्छ्वासनिश्वासायुष्कलक्षणप्राणधारणात्प्राणाः, तथा–सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दशभूतग्रामान्तःपातीति, एवं सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्त्यजीविषुरिति जीवाः नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाश्चतुर्गतिकाः, तथा–सर्व एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वा एकार्थाश्चैते शब्दास्तत्त्वभेदपर्यायैः प्रतिपादनमितिकृत्वेति एते च सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दाभिहिता न हन्तव्या दण्डकशाऽऽदिभिः, नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याभियोगदानतः, न परिग्राह्या भृत्यदासदास्यादिममत्वपरिग्रहतो, न परितापयितव्याः शारीर-

मानसपीडोत्पादनतो, नाऽपद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः। आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

(८) वैदिकहिंसाविचारः-

अप्रमत्तस्य योगनिबन्धनप्राणव्यपरोपणस्य अहिंसात्वप्रतिपादनार्थं 'हिंसातो धर्मः' इति वचनं रागद्वेषमाह । योगनिबन्धनस्य प्राणव्यपरोपणस्य दुःखसंवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वेन हिंसात्वोपपत्तेः,अत एव वैदिकहिंसाया अपि तन्निमित्तत्वेऽपायहेतुत्वमन्यहिंसावत्प्रसक्तम्, न च तस्या अतन्निमित्तत्वं, 'चित्रया यजेत पशुकामः' इति तृष्णानिमित्तश्रवणात्। न चैवंविधस्य वाक्यस्य प्रमाणताऽभ्युपपत्तिमती, तत्प्राणिनिमित्तताऽर्थोपदेशकत्वात्, तृष्णादिवृद्धिनिमित्ततदन्यतद्विघातोपदेशवाक्यवत्। न चापौरुषेये प्रामाण्यम्, तस्य निषिद्धत्वात् । न च पुरुषप्रणीतस्य हिंसाविधायकस्य तस्य प्रामाण्यम्, ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यवत्। न च वेदविहितत्वात्तद्धिंसाया अहिंसात्वम्,प्रकृतहिंसाया अपि तथोपपत्तेः। न च'ब्राह्मणो न हन्तव्यः,'इति तद्वाक्यबाधितत्वान्न प्रकृतहिंसायास्तद्विहितत्वम्।'न च हिंस्यो भवेत्'इति वेदवाक्यबाधितचित्रादियजनवाक्यविहितहिंसावत् प्रकृतहिंसायाः तद्विहितत्वोपपत्तेः। अथ ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यं न क्वचिद्वेदे श्रूयते। न। उच्छिन्नाऽनेकशाखानां तत्राऽभ्युपगमात्। तथा च ' सहस्रवर्त्मा सामवेदः'इत्यादिश्रुतिः । अथ यज्ञादन्यत्र हिंसाप्रतिषेधः, तत्र च तद्विधानम्। यथा चान्यत्र हिंसाऽपायहेतुरित्यागमात् सिद्धं तथा तत एव तत्र स्वर्गहेतुरित्यपि सिद्धम्। न च यदेकदैकत्रापायहेतुत्वेन सर्वशास्त्रेषु प्रसिद्धेः तृष्णादिनिमित्ता च प्रकृतहिंसेति प्रतिपादितत्वात् न यन्निमित्तत्वेन यत्प्रसिद्धं तत्फलान्तरार्थित्वेन विधीयमानमौत्सर्गिकं दोषं न निर्वर्तयति। यथाऽऽयुर्वेदप्रसिद्धं दाहादिकं रोगनाशार्थतया विधीयमानं निमित्तं दुःखं क्लिष्टसंबद्धहेतुतया च मन्त्रविधानादन्यत्र हिंसादिकं शास्त्रे प्रसिद्धमिति, तत्तन्त्रावपि तद्विधीयमानं काम्यमानफलसद्भावेऽपि तत्कर्मनिमित्तं तद्भवत्येव। न च हिंसातः स्वर्गादिसुखप्राप्तौ वस्तुनिर्विनैकक्लिष्टकर्महेतुनाऽसंगता,नरेश्वराऽऽराधननिमित्तब्राह्मणादिव्यापादनरावासग्रामादिप्राप्तजनितसुखसंप्राप्तौ तद्वदस्यापि तथात्वोपपत्तेः। अथ ग्रामादिलाभो ब्राह्मणादिवधनिर्वर्तिताऽदृष्टनिमित्तो न भवति,तर्हि स्वर्गादिप्राप्तिरप्यध्वरविहितहिंसानिर्वर्तिता न भवतीति समानम् । अथाश्वमेधादावालभ्यमानानां छागादीनां स्वर्गप्राप्तेर्न तद्धिंसेति, तर्हि संसारमोचकविरचिताऽपि न एव हिंसा स्यात्, देवनोद्देशतो म्लेच्छादिविरचिता च ब्राह्मणगवादिहिंसा च न हिंसा स्यात् । अथ तदागमस्याप्रमाणत्वान्न तदुपदेशजनिता हिंसा अहिंसा। ननु वेदस्य कुतः प्रामाण्यसिद्धिः?,न गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वात्,परैस्तस्य तथाऽनभ्युपगमात्। नापौरुषेयत्वात्,तस्याऽसंभवात् । तत्र प्रदर्शिताभिप्रायो हि न हिंसातो धर्मो वाग्नियुक्ता,परमप्रकर्षावस्थज्ञानदर्शनचारित्ररूपात्मकमुक्तिमार्गस्य दीक्षाशब्देनाभिधाने दीक्षातो मुक्तिरुपपन्नैव,अविकलकारणस्य कार्यनिर्वर्तकत्वात्,अन्यथा कारणत्वायोगात् । तत्र तदुभक्तत्वपादानार्थं चैवमभिधानाददोषात् । न हि तद्वक्त्रभावे उपादेयफलप्राप्तिनिमित्तसम्यग्ज्ञानादिपुष्टिनिमित्तदीक्षाप्रवृत्तिप्रसङ्गो भवेत्; तत्रान्यपरत्वं प्रदर्शितवचसामभ्युपगन्तव्यम् । तथाऽभ्युपगमे वाऽनाप्तत्वं वेदानां प्रसज्येत, तत्र पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः ॥ सम्म० ३ काण्ड, गाथा १५७ ।

" न हिंस्यात्सर्वभूतानि, स्थावराणि चराणि च ।
आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स धार्मिकः " ॥१॥ अनु०।

उपदेशमाह-

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिंति य ।
सव्वे अकंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिता ॥ ७ ॥

(उरालमिति) स्थूलमुदारं, जगत औदारिकजन्तुग्रामस्य, योगं व्यापारं,चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः। औदारिकशरीरिणो हि जन्तवः प्राक्तनादवस्थाविशेषात्कललार्बुदरूपाद् विपर्यासभूतं बालकौमारयौवनादिकमुदारं योगं परि समन्तादयन्ते गच्छन्ति पर्ययन्ते । एतदुक्तं भवति-औदारिकशरीरिणो हि मनुष्यादेर्बालकौमारादिकः कालादिकृतोऽवस्थाविशेषोऽन्यथा चाऽन्यथाभवन् प्रत्यक्षेणैव लभ्यते, न पुनर्यादृक् प्राक् तादृगेव सर्वदेति। एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमिति । अपि च-सर्वे जन्तवः,आक्रान्ता अभिभूताः,दुःखेन शारीरमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो लभ्यन्ते,अतः सर्वेऽपि ते यथाऽहिंसिता भवन्ति तथा विधेयम्। यदि वा सर्वेऽपि जन्तवोऽकान्तमनभिमतं दुःखं येषां तेऽकान्तदुःखाः, चशब्दात् प्रियसुखाश्च ते,तान् सर्वान् न हिंस्यादित्यनेन वाऽन्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो भवत्युपदेशश्च दत्त इति॥६॥

(९) किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह—

एवं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसइ किंचण ।
अहिंसासमया चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

(एवं खु इत्यादि) खुरवधारणे । एतदेव, ज्ञानिनो विशिष्टविवेकवतः, सारं न्याय्यं,यत्किञ्चन प्राणिजातं स्थावरं जङ्गमं वा,न हिनस्ति न परितापयति । उपलक्षणं चैतत्-तेन न मृषा ब्रूयात्, नादत्तं गृह्णीयान्नाऽब्रह्माऽऽसेवेत, न परिग्रहं परिगृह्णीयान्न नक्तं भुञ्जीतेत्येवं ज्ञानिनः सारं यत्र कर्माश्रवेषु वर्तत इति। अपि च-अहिंसया समता अहिंसासमता, तां चैतावद्विजानीयात् । यथा मम मरणं दुःखं वाऽप्रियम्,एवमन्यस्यापि प्राणिलोकस्येति । एवकारोऽवधारणे। इत्येवं साधुना ज्ञानवता, प्राणिनां परितापनाऽपद्रावणादि वा न विधेयमेवेति ॥ १०॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

(१०) तत्राहिंसाप्रसिद्ध्यर्थमाह—

पुढवीआउअगणिवाऊ, तणरुक्खसबीयगा ।
अंडया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया ॥ ८ ॥

(पुढवी आउ इत्यादि) तत्र पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथाऽप्कायिका अग्निकायिकाः वायुकायिकाश्चैवंभूता एव। वनस्पतिकायिकान् लेशतः सभेदानाहतृणानि कुशवच्चकादीनि,वृक्षाः चूताशोकादिकाः,सह बीजैर्वर्तन्त इति,सबीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि,एते एकेन्द्रियाः पञ्चापि कायाः। षष्ठत्रसकायनिरूपणायाह-अण्डजाः शकुनिगृहकोकिलकसरीसृपादयः। तथा-पोता एव पोतजा हस्तिशरभादयः। तथा-जरायुजा ये जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादयः।तथा रसात् दधिसौवीरकादेर्जाता रसजाः, तथा-संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूकामत्कुणादयः । उद्भिज्जाः खञ्जरीटकदर्दुरादय इति। अज्ञातभेदा हि दुःखेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति।

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥ ९ ॥

एभिः पूर्वोक्तैः,षड्भिरपि कायैस्त्रसस्थावररूपैः, सूक्ष्मबादरप-

र्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदभिन्नैर्नारकैर्नाऽपि परिग्रही स्यादिति संबन्धः । तदेतद्विद्वान् सश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणामारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥ ८ ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

सव्वाहिँ अणुजुत्तीहिँ, मतिमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसया ॥ ६ ॥

सर्वा याः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः साधनानि । यदि वा-ऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता युक्तयस्ताभिर्मतिमान् सद्विवेकी, पृथिव्यादिजीवनिकायान्प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य,तथा सर्वेऽपि प्राणिनोऽकान्तदुःखा दुःखद्विषः सुखलिप्सवश्च मत्वाऽतो मतिमान् सर्वानपि प्राणिनो न हिंस्यादिति । युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः सङ्क्षेपेणेमा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावादर्शोविकाराङ्कुरवत् । तथा-सचेतनमम्भो,भूमिखननादाविष्कृतस्वभावसंभवाद्दर्दुरवत् । तथा-सात्मकं तेजः,तद्योग्याहारवृध्या वृध्युपलब्धेर्बालकवत् । तथा-सात्मको वायुः, अपराप्रेरितनियतनिरश्चीनगतिमत्त्वाद्गोवत् । तथा-सचेतना वनस्पतयो,जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां सद्भावात्,स्त्रीवत् । तथा-क्षतसंरोहणाहारोपादानदौर्हृदसद्भावस्पर्शसंकोचसायाह्नस्वापप्रबोधाश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः । द्वीन्द्रियादीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्टमेव चैतन्यम्,तद्वेदनाश्चोपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलभ्यमाना मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पीडाकारिण उपमर्दान्निवर्तितव्यमिति ॥ ६ ॥

एतदेव (पुनः) समर्थयन्नाह—

एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥ १० ॥

(एवं खु इत्यादि) खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा । एतदेवानन्तरोक्तं प्राणातिपातनिवर्त्तनं, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्वधकर्मबन्धवेदिनः, सारं परमार्थप्रधानम् । पुनरप्यादरख्यापनार्थमेतदेवाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्रभूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं, यत्प्राणातिपातनिवर्त्तनमिति । ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो,यत्परपीडातो निवर्त्तनम् । यथोक्तम्-"किं ताए पढियाए, पयकोडीए पयालभूयाए ॥ जत्थित्तियं ण णायं, परस्स पीडा न कायव्वा" ॥ १ ॥ तदेवमहिंसाप्रधानः समय आगमः संकेतो वाऽपदेशरूपः, तदेवंभूतमहिंसासमयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमन्येन बहुना परिज्ञानेनैतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्कञ्चनेति ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

(११) मतान्तरेऽहिंसा न तादृशी—

आहुः-कथमेते प्रावादुका मिथ्यावादिनो भवन्ति? अत्रोच्यते-यतस्तेऽप्यहिंसां प्रतिपादयन्ति,न च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्यगनुतिष्ठन्ति । कथम्?,साङ्ख्यानां तावज्ज्ञानादेव धर्मो न तेषामहिंसा प्राधान्येन व्यवस्थिता,किंतु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति । तथा-शाक्यानामपि दश कुशला धर्मपथा अहिंसाऽपि तत्रोक्ता, न तु सैव गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराश्रिता । वैशेषिकाणामपि-अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासदानप्रस्थदानयज्ञादितत्क्रममन्त्रकालनियमा दृष्टाः,तेषु चाभिषेचनादिषु पर्यालोच्यमानेषु हिंसैव संपद्यते,वैदिकानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनं, यज्ञोपदेशात् । तस्य च तया विनाऽभावादित्यभिप्रायः । उक्तं च-"ध्रुवः प्राणिवधो यज्ञे" ॥ ७६ ॥

(१२) तदेवं सर्वे प्रावादुका मोक्षाङ्गभूतामहिंसां न प्राधान्येन प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह—

ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं णाणापन्ना णाणाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगयाउ चिट्ठंति ॥ ८० ॥

(ते सव्वे इत्यादि) प्रवदनशीलाः प्रावादुकाः सर्वेऽपि त्रिषष्ट्युत्तरत्रिशतपरिमाणा अपि, आदिकरा यथास्वं धर्माणाम्; येऽपि च तच्छिष्यास्तेऽपि सर्वे; नाना भिन्ना प्रज्ञा ज्ञानं येषां ते नानाप्रज्ञाः । आदिकरा इत्यनेनेदमाह-स्वरुचिविरचितास्ते नत्वनादिप्रवाहायाताः । ननु चार्हतानामपि आदित्वविशेषणमस्त्येव । सत्यमस्ति । किन्तु अनादिहेतुपरम्परेत्यनादित्वमेव,तेषां च सर्वज्ञप्रणीतागमानाश्रयणान्निबन्धनाभावः, तदभावाच्च भिन्नपरिज्ञानमत एव नानाच्छन्दाः; छन्दोऽभिप्रायः; भिन्नाभिप्राया इत्यर्थः । तथाहि-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मके वस्तुनि साङ्ख्यैरेकान्तेनाविर्भावतिरोभावाश्रयणादन्वयिनमेव पदार्थं सत्यत्वेनाश्रित्य नित्यपक्षं समाश्रिताः । तथा-शाक्या अत्यन्तक्षणिकेषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सत्सु स एवायमिति प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययः सदृशापरापरोत्पत्तिर्वितथानां भवतीत्येतत्पक्षसमाश्रयणादनित्यपक्षं समाश्रिता इति । तथा-नैयायिकवैशेषिकाः केषाञ्चिदाकाशपरमाण्वादीनामेकान्तेन नित्यत्वमेव, कार्यद्रव्याणां च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमेवाश्रिताः । एवमनयाऽदिशाऽन्येऽपि मीमांसका तापसादयोऽभ्यूह्या इति । तथा-ते तीर्थिका नानाशीलं येषां ते तथा, शीलं व्रतविशेषः, स च भिन्नस्तेषामनुभवसिद्ध एव । तथा-नाना दृष्टिर्दर्शनं येषां ते । तथा-नाना रुचिर्येषां ते नानारुचयः । तथा-नानारूपमध्यवसानमन्तःकरणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । इदमुक्तं भवति-अहिंसा परमं धर्माङ्गम् । सा च तेषां नानाभिप्रायत्वादविकलत्वेन व्यवस्थिता । तस्या एव सूत्रकारः प्राधान्यं दर्शयितुमाह-ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथास्वपक्षमाश्रिता एकत्र प्रदेशे संयुता मण्डलिबन्धमाधाय तिष्ठन्ति ॥ ८० ॥

(१३) अहिंसाप्रसिध्यर्थं विवेचनमाह—

पुरिसेयं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय अजमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावाउया ! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणाअज्झवसाणसंजुत्ता ! इमं ताव तुम्हे सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय मुहुत्तयं पाणिणा धरेह, णो बहु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्गियंभणियं कुज्जा, णो बहु साहम्मियं वेयावडियं कुज्जा, णो बहु परधम्मियं वेयावडियं कुज्जा, उज्जया णियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावादुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अ-

जमएण सडासएणं गहाय पाणिंसु णिसिरिंति, तए णं ते पावाउया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणाऽज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति । तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं० जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एवं वयासी–हंभो पावाउया! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना०जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह, पाणिं नो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ, दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुल्ला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुल्ला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति–सव्वे पाणा० जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा ते आगंतु छेयाए ते आगंतु भेयाए० जाव ते आगंतु जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवंव्यवस्थितानामेकः कश्चित्पुरुषः, तेषां संविदर्थं ज्वलतामङ्गाराणां प्रतिपूर्णां पात्रीमयोमयं भाजनमयोमयेनैव संदंशकेन गृहीत्वा तेषां ढौकितवानुवाच तान्-यथा भोः प्रावादुकाः! सर्वोक्तविशेषणविशिष्टाः! इदमङ्गारभृतं भाजनमेकैकं मुहूर्तं प्रत्येकं सांसारिकाणामिवाऽग्निस्तम्भनं विधत्ते, नापि च साधर्मिकाऽन्यधर्मिकाणामग्निदाहोपशमादिनोपकारं कुरुत इति, ऋजवो मायामकुर्वाणाः पाणिं प्रसारयत । तेऽपि च तथैव कुर्युः । ततोऽसौ पुरुषः तद्भाजनं पाणौ समर्पयति । तेऽपि च दाहशङ्कया हस्तं संकोचयेयुरिति । ततोऽसौ तानुवाच-किमिति पाणिं प्रतिसंहरत यूयम्? । एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहभयादिति । एतदुक्तं भवति-अवश्यमग्निदाहभयान्न कश्चिदग्न्यभिमुखं पाणिं ददातीत्येतत्परोऽयं दृष्टान्तः । पाणिना दग्धेनापि किं भवतां भविष्यति?, दुःखमिति चेत्, यद्येवं भवन्तो दाहापादितदुःखभीरवः सुखलिप्सवस्तदेवं सति सर्वेऽपि जन्तवः संसारोदरविवरवर्तिन एवंभूता एवेत्येवमात्मतुलयाऽऽत्मौपम्येन यथा मम नाभिमतं दुःखमित्येवं सर्वजन्तूनामित्यवगम्याऽहिंसैव प्राधान्येनाश्रयणीया । तदेतत्प्रमाणम् । एषा युक्तिः–"आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति" । तदेव समवसरणं, स एव धर्मविचारो यत्राहिंसा संपूर्णा तत्रैव परमार्थतो धर्म इत्येवं व्यवस्थिते तत्र ये केचनाविदितपरमार्थाः श्रमणब्राह्मणादय एवं वक्ष्यमाणमाचक्षते, परेषामात्मदार्ढ्योत्पादनायैवं भाषन्ते, तथैवमेव धर्मं प्रज्ञापयन्ति व्यवस्थापयन्ति, तथाऽन्येन प्राण्युपतापकारिणा प्रकारेण परेषां धर्मं प्ररूपयन्ति व्याचक्षते । तद्यथा–सर्वे प्राणा इत्यादि यावद्धन्तव्या दण्डादिभिः परितापयितव्या धर्मार्थमरघट्टादिवहनादिभिः परिग्राह्या विशिष्टकाले आक्रान्दो रोदितमस्या इव, तथाऽपद्रावयितव्या देवतायागादिनिमित्तं वस्तादय इवेत्येवं ये श्रमणादयः प्राणिनामुपतापकारिणीं भाषां भाषन्ते, आगामिनि कालेऽनेकशो बहुशः स्वशरीरोच्छेदाय च भाषन्ते, तथा ते सावद्यभाषिणो भविष्यन्ति, काले जातिजरामरणानि बहूनि प्राप्नुवन्ति । योन्यां जन्म योनिजन्म तदनेकशो बहुशो गर्भव्युत्क्रान्त्याऽवस्थायां प्राप्नुवन्ति, तथा-संसारप्रपञ्चान्तर्गतास्तेजोवायुषूच्चैर्गोत्रोद्वलनेन कलंकलीभावभाजो भवन्ति, बहुशो भविष्यन्ति च ॥ ८१ ॥

ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अदुबंधणाणं० जाव घोलणाणं माइमरणाणं पितामरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते णो सिज्झिस्संति, णो बुज्झिस्संति० जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुल्ला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुल्ला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां दण्डादीनां शारीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं कुर्वन्ति, तथा-ते निर्विवेका मातृवधादीनां मानुषाणां दुःखानां, तथाऽन्येषामप्रियसंयोगार्थनाशादिभिर्दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्तीति । किं बहूक्तेनोपसंहारव्याजेन गुरुतरमर्थसंबन्धं दर्शयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्यादिरस्तीत्यनादिः संसारः । तदनेनेदमुक्तं भवति-यत्कैश्चिदभिहितं-यथाऽयमण्डकादिक्रमेणोत्पादित इति । एतदपास्तम् । न विद्यतेऽवदग्रं पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदग्रोऽपर्यन्त इत्यर्थः । तदनेनेदमुक्तं भवति–यदुक्तं कैश्चिद्यथा प्रलयकालेऽशेषसागरजलप्लावनं, द्वादशादित्योद्गमेन चात्यन्तदाहः, इत्यादिकं सर्वं मिथ्येति । दीर्घमित्यनन्तपुद्गलपरावर्त्तरूपं कालावस्थानम्, तथा-चत्वारोऽन्ता गतयो यस्य स तथा, चातुर्गतिक इत्यर्थः । तत्संसार एव कान्तारः संसारकान्तारो निर्जलः सभयस्त्राणरहितोऽरण्यप्रदेशः कान्तार इति । तदेवंभूतं भूयो भूयः पौनःपुन्येनानुपरिवर्त्तिष्यन्ते अरहट्टघटीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्तः स्थास्यन्तीति । अत एवाह-यतस्ते प्राणिनां हन्तारः कुत एतदिति चेत्, सावद्योपदेशात् । एतदपि कथमिति चेदत औद्देशिकादिपरिभोगानुज्ञयेत्येवमवगन्तव्यमित्यतस्ते कुप्रावचनिका नैव सेत्स्यन्ति नैव ते लोकाग्रस्थामाक्रमिष्यन्ति । तथा–न ते सर्वपदार्थान् केवलज्ञानावाप्त्या भोत्स्यन्ते; अनेन ज्ञानातिशयाभावमाह । तथा–न तेऽष्टप्रकारेण कर्मणा मोक्ष्यन्ते । अनेनाप्यसिद्धेरकैवल्याभावस्य कारणमाह । तथा–परिनिर्वृतिः परिनिर्वाणमानन्दसुखावाप्तिः, तां ते नैव प्राप्स्यन्ते, तेनापि सुखातिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति । तथा–नैते शारीरमानसानां दुःखानामात्यन्तिकमन्तं करिष्यन्तीत्यनेनाप्यपायातिशयाभावः प्रदर्शितो भवति । एषा तुला, तदेतदुपमानं, यथा सावद्यानुष्ठानपरायणाः सावद्यभाषिणश्च कुप्रावचनिका न सिध्यन्त्येवं स्वयूथ्या अप्यौद्देशिकादिपरिभोगिनो न सिध्यन्तीति । तदेतत्प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम् । तथाहि–प्रत्यक्षेणैव जीवपीडाकारि चौर्यादिबन्धनाद्य मुच्यते । एवमन्येऽपीत्यनुमानादिकमप्यायोज्यम् । तथा–तदेतत्समवसरणमागमविचाररूपमिति प्रत्येकं च प्रतिप्राणि प्रतिप्रावादुकमेतत्तुलादिकं द्रष्टव्यमिति ॥ ८२ ॥

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण उद्दवेयव्वा,

ते णो आगंतु छेयाए ते णो आगंतु भेयाए० जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते णो बहूणं दंमणाणं० जाव णो बहूणं मुंमणाणं० जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति तेसिं सिज्झंति० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति ॥ ८३ ॥

ये पुनर्विदिततत्त्वा आत्मौपम्येनात्मतुलया सर्वजीवेष्वहिंसां कुर्वाणा एवमाचक्षते । तद्यथा–सर्वेऽपि जीवा दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्ते न हन्तव्या इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तं दण्डनादिकं सप्रतिषेधं भणनीयं यावत्संसारकान्तारमचिरेणैव ते व्यतिक्रमिष्यन्तीति ॥ ८३ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

" अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदिओ । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(१४) यद्येकान्तेन नित्येऽनित्ये चात्मनि हिंसादयो न घटन्ते–, तर्हि क घटन्त इत्यत आह–

नित्यानित्ये तथा देहा–द्भिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः ।
घटन्ते चात्मनि न्यायाद्–हिंसादीन्यविरोधतः ॥ १ ॥

नित्यश्चासावनित्यश्चेति नित्यानित्ये, तत्र नित्यानित्ये आत्मन्यभ्युपगम्यमाने हिंसादीनि, घटन्ते इति संबन्धः । न ह्येकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु किमपि कस्यापि कार्यस्य करणक्षमम् । तथाहि–मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, एकरूपत्वेनानतिक्रान्तमृत्पिण्डभावत्वात्, मृत्पिण्डवत् । मृत्पिण्डत्वातिक्रमे चानित्यत्वप्राप्तेः । तथा–मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, सर्वथैवानुगमाभावेनाऽनतिक्रान्तमृत्पिण्डत्वलक्षणपर्यायत्वात्, पटवत् । मृत्पिण्डत्वलक्षणपर्यायानतिक्रमाभ्युपगमे वाऽनुयायित्वेन नित्यत्वं वस्तुनः स्यादिति । आह च–घटः कार्यं न, पिण्डभावानतिक्रमात्, पिण्डवत् घटवच्चेति । स्यान् क्षयित्वादिरन्यथा । तदेवं नित्यानित्यमेव वस्तु कार्यकरणक्षममिति, ननु नित्यानित्यत्वधर्मयोर्विरुद्धत्वात्कथमेकाधिकरणत्वम् । अत्रोच्यते–यथा ज्ञानस्य भ्रान्ताभ्रान्तत्वे परमार्थसंव्यवहारापेक्षया न विरुद्धे, एवं द्रव्यतो नित्यत्वं, पर्यायतश्चानित्यत्वं न विरुद्धम् । न च द्रव्यपर्याययोः परस्परं भेदः, यतो यदेव वस्त्वनपेक्षितविशिष्टरूपं द्रव्यमिति व्यपदिश्यते, तदेवापेक्षितविशिष्टरूपं पर्याय इति । तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः । देहाच्छरीरात् । किमित्याह–भिन्नो व्यतिरिक्तः, स चासावभिन्नश्च व्यतिरेकी भिन्नाभिन्नः, तत्र भिन्नाभिन्न एव च जीवः, शरीरात्तस्यैवोपलभ्यमानत्वात् । तथाहि–जीवस्यामूर्तत्वाद्देहस्य च मूर्तत्वान्मूर्तामूर्त्तयोश्चात्यन्तविलक्षणत्वाद्भेदः । तयोर्देहस्पर्शने च जीवस्य वेदनोत्पत्तेरभेदश्चेति । आह च–"जीवसरीराण पि हु, भेयाभेओ तहोवलंभाओ । मुत्तामुत्तत्तणओ, छिक्कम्मि य वेयणाओ य" ॥१॥ सर्वथा भेदे हि शरीरकृतकर्मणो भवान्तरेऽनुभवानुपपत्तिः स्यात् । अभेदे च परलोकहानिः, शरीरनाशे जीवनाशादिति । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चये । ततश्च सदसतीत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । आह च–"संतस्स सरूवेणं, तहा विरूवे असंतस्स । हंदि विसिट्ठत्तणओ, होंति विसिट्ठा सुहाईया" ॥१॥ या विशिष्टाः प्रतिप्राणिवेद्याः । तत्त्वत इति परमार्थतः, नित्यानित्यादौ, न पुनः कल्पनया, पारमार्थिकत्वं च नित्यानित्यत्वादीनां दर्शितमेव । घटन्ते युज्यन्ते, आत्मनि जीवे, न्यायात् परिणामिस्वरूपस्यात्मनोऽपरापरपर्यायसंपत्त्युपपत्तिलक्षणया नीत्या, हिंसादीन्याश्रयसंवरबन्धमोक्षसुखादीनि । कथमित्याह–अविरोधतः अविरोधेन; एकान्तपक्षे ये हिंसादिष्वभ्युपगम्यमानेषु विरोधा दर्शिताः, तत्परिहारेणेति भाव इति ॥ १ ॥

(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधदर्शनायाह–

पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापत्त्यपेक्षया ।
तथा हन्मीति संक्लेशा–द्धिंसैषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा दुःखवेदना, तस्याः कर्ता विधाता, तद्भावः पीडाकर्तृत्वं, तस्य तेन वा योगः संबन्धः, तेन पीडाकर्तृत्वयोगेन । तथा–देहस्य शरीरस्य, व्यापत्तिर्विनाशो देहव्यापत्तिः, तस्या अपेक्षा निश्रा देहव्यापत्त्यपेक्षा, तया । तथेति निबन्धनान्तरसमुच्चये । हन्मि मारयामि, प्राणिनमित्येवंरूपात्संक्लेशाच्चित्तकालुष्यात्, हिंसा प्राणव्यपरोपणा, या परिणामवादिभिरभ्युपगतेति गम्यम् । एषा इयं हिंसा, सनिबन्धना सनिमित्ता । परिणामवादे हि पीडकस्य पीडनीयस्य च परिणामित्वात् पीडाकर्तृत्वमुपपद्यते । देहविनाशसंक्लेशौ च एकान्तवादे तु पीडाकर्तृत्वादीनां पूर्वोक्तन्यायेनाऽयुज्यमानत्वात् हिंसा निर्निबन्धनेति । यथोच्यते–नाशहेतुना देहाद्भिन्नो नाशः क्रियतेऽभिन्नो वा ? यदि भिन्नः, तदा देहस्य तादवस्थ्यं स्यात् । अथाभिन्नः, तदा देह एव कृतो भवतीति । तदयुक्तम् । अभिन्ननाशकरणे हि वस्तु नाशितमेव भवति, न कृतं, यथा भिन्नोत्पादकरणे उत्पादितमेव भवतीति, अनेन च श्लोकेन स्थानान्तरप्रसिद्धस्त्रिविधो वधो निर्दिष्टः । तथा च–"तप्पज्जायविणासो, दुक्खुप्पाओ य संकिलेसो य । एस वहो जिणभणिओ, वज्जेयव्वो पयत्तेण" ॥१॥ नन्वस्माद् घातकाद् मरणमनेन देहिना प्राप्तव्यमित्येवंफलात् स्वकृतकर्मणो वशाद् हिंसा भवत्यन्यथा वा ? यद्याद्यः पक्षः, तदा हिंसकस्याहिंसकत्वमेव, स्वकर्मकृतत्वात् हिंसायाः, पुरुषान्तरकृतहिंसाया-मिव तथा कर्मनिर्जराहेतुत्वेन हिंसकस्य वैयावृत्यकरस्येव कर्मक्षयाधायित्वलक्षणो गुणः स्यात् । अथान्यथेति पक्षः, तदा निर्विशेषत्वात्सर्वं हिंसनीयं स्यात् ॥ २ ॥

(१६) तथा स्वर्गसुखादयोऽपि स्वकृतकर्मणापादिता एव स्युरिति कर्माभ्युपगमोऽनर्थक इत्येवमार्हतानामपि हिंसाया असंभव एवेत्याशङ्क्याह––

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः ।
हिंसकस्य भवेदेषा, दुष्टाऽदुष्टाऽनुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्यते मार्यते इति हिंस्यः, तस्य यत्कर्म, तस्य विपाक उदयो हिंस्यकर्मविपाकः, तत्रापि हिंस्यकर्मविपाकरूपत्वे हिंसायाः, आस्तां हिंस्यकर्मविपाकाभावकल्पनायां, निमित्तत्वस्य निमित्तकारणभावस्य नियोगोऽवश्यंभावो निमित्तत्वनियोगतः, हिंसकस्य व्यापादकस्य, भवेत् जायेत । एषा हिंसा । अयमभिप्रायः–यद्यपि प्रधानहेतुभावेन कर्मोदयाद्धिंस्यस्य हिंसा भवति, तथाऽपि हिंसकस्य तस्यां निमित्तभावेनोपयुज्यमानत्वात्तस्याऽसौ भवतीत्युच्यते । न च वाच्यं हिंस्यकर्मणैव हिंसकस्य हिंसायां प्रेरितत्वात्तस्य न दोष इति । अभिमरादेः परप्रेरितस्यापि लोके दोषदर्शनादिति । ननु यदि निमित्तभावेऽपि हिंसा स्यादिती-ष्यते । तदा वैद्यादीनामपि तत्प्रसङ्गः सत्यम् । केवलं सा तेषां न,

दुष्टादुष्टाभिसंधित्वात् । एतदेव व्यतिरेकेणाह-दुष्ट दोषवती कर्मबन्धनिबन्धनत्वाद् दुष्टानुबन्धतो दुष्टचित्ताभिसंधेर्भवति। यदाह--" जो उ पमत्तो पुरिसो, तस्स उ जोगं पडुच्च जे सत्ता । वावज्जंती नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइ "॥१॥ ननु शुभाभिसंधेः, यदाह-"जा जयमाणस्स भवे, विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सो होइ निज्जरफला, अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स"॥१॥ एतेन च यदुक्तं वैयावृत्यकरस्येव हिंसकस्य कर्मनिर्जरणसहायत्वान्निर्जरालाभ इति । तदपि परिहृतम्। यतो न हिंसको वैयावृत्यकरवच्छुभाभिसन्धिः । शेषं त्वनभ्युपगमान्निरस्तमिति । अधिकृतश्लोकार्थसंवादिनी चेयं गाथा—" नियकयकम्मुवभोगे, विसंकिलेसो धुवं वहंतस्स । तत्तो बंधो तं खलु, तव्विरईए विवज्ज त्ति " ॥ १ ॥

एवं परिणामिन्यात्मनि हिंसायाः संभवमाविर्भाव्याहिंसायास्तमाह–

ततः सदुपदेशादेः, क्लिष्टकर्मवियोगतः ।
शुभभावानुबन्धेन, हन्तास्या विरतिर्भवेत् ॥ ४ ॥

यतः परिणामिन्यात्मनि हिंसा घटते ततस्तस्माद्धिंसाघटनात्, अस्या विरतिर्भवेदिति योगः। सतां ज्ञानगुरूणां जिनादीनामुपदेशो हिंसाहिंसयोः स्वरूपफलादिप्रतिपादनं सदुपदेशः, सतां वा भावानामुपदेशः, सन् वा शोभन उपदेशः,स आदिर्यस्य स तथा, तस्मात्, आदिशब्दात् ज्ञानश्रद्धानपरिग्रहोऽभ्युत्थानादिपरिग्रहो वा।आह च-"अब्भुट्ठाणे विणए, परक्कमे साहुसेवणाए य। सम्मद्दंसणलंभो,विरयाविरईय विरईय"॥१॥तथा-क्लिष्टकर्मणां दीर्घस्थितिकज्ञानावरणादीनां,वियोगः क्षयोपशमः,तस्मात् क्लिष्टकर्मवियोगात् । आह च-"सत्तण्हं पयडीणं, अब्भिंतरओ य कोडिकोडीए। काऊण सागराणं, जइ लहइ चउण्हमन्नयरं"॥१॥शुभभावानुबन्धेन प्रशस्ताध्यवसायाव्यवच्छेदेन, इत्येवंकारणपरम्परया हन्तेति प्रत्यवधारणार्थः,कोमलामन्त्रणार्थो वा। अस्याः परिणाम्यात्महिंसायाः, विरतिर्निवृत्तिर्भवेत् जायेत, घटत इत्यर्थः॥४॥

ततः किं जातमित्याह–

अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥ ५ ॥

अहिंसा अव्यापादनम, एषा अनन्तरोक्तोपपत्तिका हिंसाविरतिः,मता इष्टा विदुषां, मुख्या निरुपचरिता । इयं च प्रासङ्गिकप्रधानफलापेक्षया क्रमेण स्वर्गमोक्षप्रसाधनी देवलोकनिर्वाणहेतुभूता। अथैतस्या एव स्वर्गादिसाधनत्वात्किं सत्यादिपालनेनेत्याशङ्कयाह-एतत्संरक्षणार्थमनन्तरोदिताऽहिंसापालनपरित्राणार्थम्, चशब्दःपुनरर्थोऽवधारणार्थो वा । न्याय्यं न्यायादनपेतम्,उपपन्नमित्यर्थः। सत्यादिपालनं मृषावादादिनिवृत्तिनिर्वाहणम, अहिंसासस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात्सत्यादिव्रतानामिति ५॥

(१७) अथ पूर्वोक्तस्यात्मनो नित्यानित्यत्वस्य देहाद्भिन्नाभिन्नत्वस्य च साधने प्रमाणोपदर्शनायाऽऽह–

स्मरणप्रत्यभिज्ञान-देहसंस्पर्शवेदनात् ।
अस्य नित्यादिसिद्धिश्च, तथा लोकप्रसिद्धितः ॥ ६ ॥

स्मरणं पूर्वोपलब्धार्थानुस्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानं सोऽयमित्येवंरूपः प्रत्यवमर्शः, तथा-देहस्य शरीरस्य संस्पर्शो वस्त्वन्तरेण स्पर्शनं, तस्य वेदनमनुभवनं, देहसंस्पर्शेन वा वेदनं स्पर्शनीयवस्तुपरिज्ञानं देहसंस्पर्शवेदनमिति।पदत्रयस्यास्य समाहारद्वन्द्वः,तस्माद्स्यात्मनो, नित्यादिसिद्धिः नित्यानित्यत्वदेहाद्भिन्नाभिन्नत्वप्रतिष्ठा,चशब्दः पुनःशब्दार्थः। नित्यानित्यत्वादिविशेषणे आत्मन्यहिंसादिसिद्धिः,नित्यानित्यत्वादिसिद्धिःपुनःस्मरणादेरिति भावः। प्रयोगश्चात्र-नित्यानित्य आत्मा, स्वयंनिहितद्रव्यादिसंस्मरणान्यथानुपपत्तेः । तथाहि-न तावदेकान्तनित्ये स्मरणसंभवः, तस्यैकरूपतयाऽनुभवस्यैव स्वरूपेणानुवर्तनात्, इतरथा नित्यताहानेः, नाप्यनित्यत्वे स्मरणसंभवोऽनुभवकालानन्तरक्षण एव कर्तुर्विनष्टत्वात्कस्य स्मरणमस्तु ? ; नह्यन्येनानुभूतमन्यः स्मरति । अथानुभवक्षणसंस्कारात्तथाविधः स्मरणक्षणः समुत्पद्यते । नैवम । यतोऽनुगमलेशेनापि वर्जितानामत्यन्तविलक्षणानामसंख्येयक्षणानामतिक्रमे जायमानस्य स्मरणक्षणस्य पूर्वकालीनानुभवलक्षणसंस्कारो यदि परं श्रद्धानगम्यो न युक्तिप्रत्याय्यः, प्राक्तनानुभवक्षणस्य चिरतरनष्टत्वात्, अपान्तरालक्षणेषु च संस्कारलेशस्याप्यनुपलब्धेः सहसैवानन्तरक्षणस्य विलक्षणस्मरणक्षणोत्पादोपलब्धेरिति। परिणामपक्षे तु प्राक्तनानुभवक्षणेनाऽऽहितसंस्कारानुगमवत् तत्क्षणप्रवाहरूपानानाविधधर्मसमुदयस्वभावादात्मनः सकाशात् स्मरणक्षणोत्पादो युक्तियुक्त इति । न च वाच्यमपान्तरालक्षणेष्वनुभवसंस्कारो नोपलभ्यत इति कथं तत्सत्तेति निर्बीजत्वेन स्मरणस्यानुपपत्तिप्रसङ्गादिति। तथा-नित्यानित्य आत्मा,प्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेः। तथाहि-एकान्तनित्यत्वेऽनुभवस्यैव साक्षादनुवृत्तेर्न प्रत्यभिज्ञानसंभवः। अनित्यत्वे तु अनित्यत्वादेव पूर्वद्रष्टुः पूर्वदृष्टवस्तुनश्च नष्टत्वादपूर्वयोश्चोत्पन्नत्वान्न प्रत्यभिज्ञानसंभवः। नचादृष्टवतोऽदृष्टे प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तथा अप्रतीतेरिति।अथ लूने-लूनपुनर्जातकेशादिष्वपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति प्राह्यं प्रति तस्य व्यभिचारित्वेनाऽप्रमाणतया सर्वत्राप्रामाण्यम। नैवम्। प्रत्यक्षस्यापि क्वचिद्व्यभिचारात् सर्वत्राप्रामाण्यप्रसङ्गादिति । तथा-देहाद्भिन्नाभिन्न आत्मा,स्पर्शवेदनाऽन्यथाऽनुपपत्तेः। तथाहि-यद्यसौ देहाद्भिन्नो भवेत्,तदा देहेन स्पृष्टस्य वस्तुनो न संवेदनं स्याद्,देवदत्तस्पृष्टवस्तुन इव यज्ञदत्तस्य न। अथाभिन्नो, देहमात्रत्वेन तस्य परलोकाभावप्रसङ्गादवयवान्तरहानौ चैतन्यहानिप्रसङ्गाच्चेति । तथेति समुच्चये। लोकप्रसिद्धितो जनप्रतीतेर्नित्यानित्यमात्मादिवस्त्विति गम्यते। यतस्तदेवं वस्त्वेवं परिणतमिति वदन् वस्तुत्वाविच्छित्तिमवस्थान्तरापत्तिं च प्रतिपद्यमानो जनो लक्ष्यते। न च लोकप्रतीतिविरुद्धमर्थमुपकल्पयत्प्रमाणं प्रमाणतामासादयतीति ॥ ६ ॥

(१८) आत्मनो विभुत्वे पूर्वं दोष उक्तोऽथासर्वगतत्वेऽस्य गुणमाह–

देहमात्रे च सत्यस्मिन, स्यात् संकोचादिधर्मिणि ।
धर्मादेरूर्ध्वगत्यादि, यथार्थं सर्वमेव तु ॥ ७ ॥

देह एव शरीरमेव मात्रं परिमाणं यस्य स देहमात्रः, तस्मिन् देहमात्रे। देहमात्रता चास्य देह एव तद्गुणोपलब्धेः। चशब्दः पुनरर्थः। नित्यानित्यादिधर्मके आत्मनि हिंसादिरुपपद्यते, देहमात्रे पुनःसति भवति।अस्मिन्नात्मनि, स्याद्भवेत्, सर्वं यथार्थमिति संबन्धः। किंभूते तत्र?,संकोचादिः संकोचनादिः,आदिशब्दात् प्रसरणं, धर्मः स्वभावो यस्य स तथा, तस्मिन् ; संकोचादिधर्मकत्वं चास्य सूक्ष्मेतरशरीरव्याप्तेः। किं तत्स्यादित्याह-(धर्मादेरूर्ध्वगत्यादि)"धर्मेण गमनमूर्ध्वं, गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चा-

पवर्गः" इत्यादिकं वचनमिति गम्यते । यथार्थं निरुपचरितं, सर्वमेव निरवशेषमेव, तुशब्दः पूरण इति ॥ ७ ॥

उपसंहरन्नाह-

विचार्यमेतत्सद्बुद्ध्या, मध्यस्थेनान्तरात्मना ।
प्रतिपत्तव्यमेवेति, न खल्वन्यः सतां नयः ॥ ८ ॥

विचार्यं विचारणीयम, एतद्यदनन्तरमहिंसादि विचारितं, सद्बुद्ध्या शोभनप्रज्ञया, मध्यस्थेनाऽपक्षपतितेन, अन्तरात्मना जीवेन, मनसा वा न केवलं विचार्यं, तथा प्रतिपत्तव्यमेव न तु न स्वीकर्त्तव्यम। इतिशब्दो विवक्षितार्थपरिसमाप्तौ । अथ कस्मात्प्रतिपत्तव्यमेवेत्याह-न खलु नैव, अन्य उक्तनयविलक्षणः, सतां सत्पुरुषाणां, नयो न्याय इति ॥८॥ हारि० १६ अष्ट० । द्वा०। विशे०।

अहिंसालक्खण-अहिंसालक्षण-पुं० । अहिंसा प्राणिसंरक्षणं, लक्षणं चिह्नं यस्य स अहिंसालक्षणः । सत्त्वानुकम्पानुमेयसंभवे, पा० । दयाचिह्ने, ध० ३ अधि० ।

अहिंसासमय-अहिंसासमय-पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमे, संकेते चोपदेशरूपे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अहिंसिय-अहिंसित-त्रि० । अमारिते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अहिकंखंत-अभिकाङ्क्षत्-त्रि० । अभिलषति, " अहिकंखंतेहिं सुभासियाइं " । पं० व० ४ द्वार ।

अहिकरण-अधिकरण-न० । नरकतिर्यग्गतिषु, आत्मनोऽधिकरणं वा तुल्यसत्त्वे इत्यर्थः । कलहे, नि० चू० ४ उ० ।

अहिकरणी-अधिकरणी-स्त्री० । सुवर्णकारोपकरणे, स्था० ८ ठा० ।

अहिकिच-अधिकृत्य-अव्य० । प्रतीत्येत्यर्थे, " पडुच्च त्ति वा पप्प त्ति वा अहिकिच त्ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अहिग-अधिक-त्रि० । विशिष्टे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगगुणत्थ-अधिकगुणस्थ-त्रि० । अधिकगुणवर्तिनि, षो० ७ विव० ।

अहिगत-अधिकत्व-न० । विशिष्टेतरत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगम-अधिगम-पुं० । विशेषपरिज्ञाने, प्रव० १४९ द्वार । अवबोधे, स्था० ७ ठा० । "णाणं ति वा संवेदणं ति वा अहिगमो त्ति वा वेयणि त्ति " । आ० चू० १ अ० ।

अभिगम-पुं० । उपचारे, "अभिगमेणं अभिगच्छंति" । औ० । ('अभिगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७१२ पृष्ठेऽस्य भेदा उक्ताः)

अहिगमण-अधिगमन-न० । परिच्छेदने, विशे० ।

अहिगमरुइ-अधिगमरुचि-पुं० । स्त्री० । सम्यक्त्वभेदे, तद्वति च । प्रव० १४७ द्वार । (५६८ पृष्ठे तथा ७१२ पृष्ठे चास्मिन्नेव भागे अधि० अभि० प्रकरणे द्रष्टव्यम)

अहिगमास-अधिकमास-पुं० । अभिवर्द्धितमासे, ज्यो० १ पाहु० ।

अहिगय-अधिकृत-त्रि० । प्रस्तुते, विशे० । पञ्चा० । भावे क्तः, अधिकारे, न० । विशे० ।

अधिगत-त्रि० । परिज्ञाते, अनु० । गीतार्थे, व्य० १ उ० । दीक्षाविप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृते प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयगुणवुड्ढि-अधिकृतगुणवृद्धि-स्त्री० । सम्यक्त्वादिगुणवर्द्धने, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीव-अधिकृतजीव-पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे, यथा दीक्षाधिकारे दीक्षणीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीवाजीव-अधिगतजीवाजीव-त्रि० । अधिगतौ सम्यग्विज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा । जीवाऽजीवयोः परमार्थतो विज्ञानवति, रा० ।

अहिगयट्ठ-अधिगतार्थ-पुं० । अधिगतोऽर्थो येन स तथा, अधिगतार्थो वाऽर्थावधारणात । तत्त्वज्ञे, दश० १० अ० ।

अहिगयतित्थविहाया-अधिकृततीर्थविधातृ-पुं० । वर्त्तमानप्रवचनकर्तरि भगवति महावीरे, पञ्चा० ९ विव० ।

अहिगयरगुण-अधिकतरगुण-पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगयविसिट्ठभाव-अधिगतविशिष्टभाव-पुं० । प्रस्तुतप्रकृष्टशुभाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अहिगयसुंदरभाव-अधिकृतसुन्दरभाव-पुं० । प्रस्तुतशोभनपरिणामे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽधिकारीक्रियते दुर्गतावात्मा येन तदधिकरणम। बाह्ये वस्तुनि, स्था० २ ठा० १ उ० । आव० । प्रव० । पापोत्पत्तिस्थाने, आतु० । दुरनुष्ठाने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । स्वपक्षपरपक्षविषये विग्रहे, स्था० ७ ठा० । राटौ, तत्करवचने च । कल्प० ९ क्ष० । कलहे, ग० २ अधि० । खड्गनिवर्त्तनादौ, ज्ञा० ५ अ० । औ० । सूत्र० । कषायाद्याश्रयभूते हलशकटादौ, भ० ७ श० १ उ० । (अधिकरणस्य कर्त्तव्यता क्षामणा च 'अधिगरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५७२ पृष्ठे ५७१ पृष्ठे च उक्ता, नवरं चातुर्मास्ये)

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वइत्तए, जे णं निग्गंथो वा निग्गंथी वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से णं 'अकप्पेणं अज्जो वयसि' त्ति वत्तव्वे सिया, जे णं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से णं निज्जूहियव्वे सिया ॥ ५८ ॥

(वासावासं पज्जोसवियाणमित्यादि) चतुर्मासकं स्थितानां नो कल्पते साधूनां साध्वीनां च पर्युषणातः परम, अधिकरणं राटिः, तत्करं वचनमपि अधिकरणं, तत् वक्तुं न कल्पते । अथ यः कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा परं पर्युषणातः अधिकरणं क्लेशकारि वचनं वदति, स एवं वक्तव्यः स्यात्-यत् हे आर्य ! त्वमकल्पेन अनाचारेण वदसि, यतः पर्युषणादिनतोऽर्वाक्, तद्दिने एव वा यदधिकरणमुत्पन्नं तत्पर्युषणायां क्षामितं, यच्च त्वं पर्युषणातः परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प इति भावः । यश्चैवं निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पर्युषणातः परम, अधिकरणं वदति स निर्यूहितव्यः ताम्बूलिकपत्रदृष्टान्तेन सङ्घाद् बहिः कर्त्तव्यः । यथा-ताम्बूलिकेन विनष्टं पत्रमन्यपत्रविनाशनभयाद् बहिः क्रियते, तद्वदयमप्यनन्तानुबन्धिक्रोधाविष्टो विनष्ट एवेत्यतो बहिः कर्त्तव्य इति भावः तथा-

ऽन्योऽपि द्विजदृष्टान्तः । यथा-खेटवास्तव्यो रुद्रनामा द्विजो वर्षाकाले केदारान् कर्षुं हलं लात्वा क्षेत्रं गतः । हलं वाहयतस्तस्य गली बलीवर्द उपविष्टः । तोत्रेण ताड्यमानोऽपि यावन्नोत्तिष्ठति तदा क्रुद्धेन तेन केदारत्रयमृत्खण्डैस्ताड्यमानो मृत्खण्डस्थगितमुखः श्वासरोधान्मृतः । पश्चात्स पश्चात्तापं विदधानो महास्थाने गत्वा स्ववृत्तान्तं कथयन्नुपशान्तो न वेति तैः पृष्टो, नाद्यापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजैरपाङ्क्तेयश्चक्रे । एवमनुपशान्तकोपतया वार्षिकपर्वणि अकृतक्षामणः साध्वादिरपि उपशान्तोपस्थितस्यैव मूलं दातव्यम् ॥ ५८ ॥

वासावासं पज्जोसवियाणं० इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अज्जेव कक्खडे कडुए विग्गहे समुपज्जित्था, सेहे राइणियं खामिज्जा, राइणिए वि सेहं खामिज्जा, खमियव्वं खमावियव्वं उवसमियव्वं उवसामियव्वं सुमइसंपुच्छणाबहुलेणं होयव्वं, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा; तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं । से किमाहु भंते !, उवसमसारं खु सामण्णं ॥ ५९ ॥

चतुर्मासकं स्थितानामिह खलु निश्चयेन साधुसाध्वीनां च (अज्जेव त्ति) अद्यैव पर्युषणादिन एव च 'कक्खडे' उच्चैःशब्दरूपः कटुको जकारमकारादिरूपो विग्रहः कलहः समुत्पद्यते, तदा (सेहे त्ति) शैक्षो लघुः रात्निकं ज्येष्ठं क्षामयति । यद्यपि ज्येष्ठः सापराधस्तथापि लघुना ज्येष्ठः क्षमणीयः, व्यवहारात् । अथापरिणतधर्मत्वाल्लघुर्ज्येष्ठं न क्षमयति तदा किं कर्त्तव्यमित्याह-(रायणिए वि सेहं खामिज्ज त्ति) ज्येष्ठोऽपि शैक्षं क्षमयति । ततः क्षन्तव्यं स्वयमेव क्षमयितव्यः परः, उपशमितव्यं स्वयमुपशमयितव्यः परः (सुमइ त्ति) शोभना मतिः सुमतिः रागद्वेषरहितता, तत्पूर्वा या संपृच्छना सूत्रार्थविषया समाधिः प्रश्नो वा तद्बहुलेन भवितव्यं; येन सहाधिकरणमुत्पन्नमासीत्तेन सह निर्मलमनसा आलापादि कार्यमिति भावः । अथ द्वयोर्मध्ये यद्येकः क्षमयति नापरस्तदा का गतिरित्याह-(जो उवसमइ इत्यादि) य उपशाम्यति, अस्ति तस्याऽऽराधना, यो नोपशाम्यति नास्ति तस्याऽऽराधना । तस्मात् आत्मना उपशमितव्यम् । (से किमाहु त्ति) तत्कुत इति प्रश्ने गुरुराह-(उवसमेत्यादि) उपशमसारमुपशमप्रधानम्, खु निश्चये, श्रामण्यं श्रमणत्वम् । कल्प० ९ क्ष० ।

साधिकरणस्य प्रतिक्रिया-

साहिगरणं भिक्खुं गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणावच्छेयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए करणिज्जं वेयावडियं जाव रोगायंकाओ विप्पमुक्के तओ पच्छा अहालहुस्सगे नामं ववहारे पट्ठवियव्वे सिया इति ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ?, इति संबन्धप्रतिपादनार्थमाह-

अभिभवमाणो समणं, परिग्गहो वा से वारितो कलहो ।
उवसामेयव्वो उ ततो, अह कुज्जा दुविहच्छेयं तु ॥

श्रमणं साधुमभिभवन् गृहस्थो यदि, वा (से) तस्य गृहस्थस्य परिग्रहः परिजनः वारितः सन् कलहं कुर्यात्, ततः स कलह उपशमयितव्यः । एतत्प्रदर्शनार्थमधिकृतसूत्रारम्भः । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्याद्द्विविधं द्विप्रकारं, संयमभेदं जीवितभेदं चेत्यर्थः ।

तत आह-

संजमजीवियभेदे, संरक्खण साहुणो य कायव्वं ।
पडिवक्खनिराकरणं, तस्स ससत्तीएँ कायव्वं ॥

संयमभेदे जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणे संरक्षणं साधोः कर्तव्यम् । तथा-तस्य साधोर्यः प्रतिपक्षः, तस्य निराकरणं स्वशक्त्या कर्तव्यम् ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेसणया, जा लद्धी जस्स तं न हावेज्जा ।
किं वा सति सत्तीए, होइ सपक्खे उवेक्खाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम् । तथाप्यतिष्ठति भीषणमुत्पादनीयम् । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य या लब्धिः स तां न हापयेत्, प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्षे फलाभावोपदर्शनेन द्रढयति-किं वा सत्यां शक्तौ भवति स्वपक्षे स्वपक्षस्य उपेक्षा ?, नैव किञ्चिदिति भावः । केवलं स्वशक्तिवैफल्यमुपेक्षानिमित्तं, प्रायश्चित्तापत्तिश्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिस्फोरणीयेति । व्य० ९ उ० । स्था० । "अधिकरणं प्रायः कलिर्विकिञ्च कलहं झंझं रुमरं वा करेज्जा गच्छुवज्झो" महा० ७ अ० । "अहिकरणं एवट्टइ, नाहं न करेइ" । आव० ६ अ० । आश्रये, पो० ३ विव० । सन्निधाने आधारे, स च देशकालादिः । यथा चक्रमस्तकादौ स्वप्रस्तावे च निष्पद्यते घट इति; एवं पटादावपि भाव्यम् । आ० चू० १ अ० । आ० म० । स चतुर्भेदः । तद्यथा-व्यापक औपश्लेषिकः, सामीप्यको, वैषयिकश्च । तत्र व्यापको यथा-तिलेषु तैलम, औपश्लेषिको यथा-कटे आस्ते, सामीप्यको यथा-गङ्गायां घोषः, वैषयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० । नि० चू० । विशे० । स्वपरिणामे च सामायिकमव्यवच्छिन्नं धरतीत्यधिकरणम् । अधिकरणपरिणामाऽनन्ये सामायिककर्तरि साध्वादौ, विशे० ।

अहिगरणकर (म)-अधिकरणकर-त्रि० । अधिकरणं कलहस्तत्करोति तच्छीलश्चेत्यधिकरणकरः । कलहकरे, "अहिकरणकडस्स भिक्खुणो" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० ।

अहिगरणज्झाण-अधिकरणध्यान-न० । अधिकरणं पापोत्पत्तिहेतुस्थानं, तस्य ध्यानमधिकरणध्यानम्; वापीध्यानतत्परस्य नन्दिमणिकारस्येव । दुर्ध्यान, आतु० ।

अहिगरणसाला-अधिकरणशाला-न० । लोहपरिकर्मगृहे, भ० १६ श० १ उ० ।

अहिगरणसिद्धंत-अधिकरणसिद्धान्त-पुं० । यत्सिद्धावन्यस्यार्थस्यानुषङ्गेण सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । "स चासौ अहिगरणो, जहियं सिद्धे सेसं अणुसमवि सिज्झे, जह निच्चत्ते सिद्धे अन्नत्तामुत्तत्तसंसिद्धी" यस्मिन् सिद्धे शेषमनुक्तमपि सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे सिद्धे, शरीरादन्यत्वसंसिद्धिरमूर्त्तत्वसंसिद्धिश्च । एषोऽधिकरणसिद्धान्तः । सूत्र० ।

अहिगरणि-अधिकरणि-स्त्री० । अधिक्रियते कुट्टनार्थं लोहादि यस्यां साऽधिकरणिः । लोहकारसुवर्णकाराद्युपकरणे, भ० १६ श० १ उ० । स्था० ।

अहिगरणिखोमि-अधिकरणखोटि-स्त्री० । अधिकरणनिवेशनकाष्ठे, यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते। भ० १६ श० १ उ०।

अहिगरणिया-अधिकरणिकी-स्त्री० । अधिकरणविषये व्यापारे,प्रश्न०। सा च द्विविधा-निवर्त्तनाधिकरणक्रिया,संयोजनाधिकरणक्रिया च। तत्राद्या खड्गादीनां तन्मुष्टयादीनां निवर्तनलक्षणा। द्वितीया तु—तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति । दुर्गतौ यकाभिरधिक्रियते प्राणी तासु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। प्रति० । आव० । "अहिगरणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संजोयणाहिगरणिया य, णिव्वत्तणाहिगरणिया य " । प्रज्ञा० २२ पद ।

अहिगा(या)र-अधिकार-पुं० । प्रयोजने, प्रस्तावे च । विशे० । आ०म० । दश० । नि० चू० । व्यापारे आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । संथा० । अधिक्रियन्ते समाश्रियन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्तावविशेषेषु, प्रव० १ द्वार ।

अहिगारि-(ण्) अधिकारिन्-त्रि० । तद्योग्ये, प्रव० २ द्वार। आलम्बनापरपर्याये योग्ये, संथा० । पञ्चा० । दर्श० ।

अहिच्छत्ता-अहिच्छत्रा-स्त्री० । जङ्गलदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, "अहिच्छत्ता जंगलो चेव " अहिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देशः, आर्यक्षेत्राणि। प्रव० १४८ द्वार । सूत्र० । "चंपाए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए अहिच्छत्ता नामं नयरी होत्था " ज्ञा० १६ अ० । तत्कल्पश्च—

" तिहुअणभाणुं तिजए, पयडं नमिऊण पासजिणचंदं ।
अहिछत्ताए कप्पं, जहासुहं किंपि जंपेमि " ॥ १ ॥

" इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मज्झमखंडे कुरुजंगलजणवए संखावई नाम नयरी रिद्धिसमिद्धा हुत्था । तत्थ भयवं पाससामी छउमत्थविहारेणं विहरंतो काउसग्गे ठिओ पुव्वनिबद्धवेरेण कमठासुरेण अविच्छिन्नधाराए वाएहिं वरिसंतो अंबुहरो विउव्विओ । तेण सयले महीमंडले एगण्णवीभूए आकंठमग्गं भगवंतं ओहिणा आभोएऊण पंचग्गिसाहणुज्जुयं कमठमुणिं आणाविअ कट्ठा खोमी अंतरमज्जंतसप्पभयवयारं सुमरेण धरणिंदेण नागराएण अग्गमहिसीहिं सह आगंतूण मणिरयणविचइअं सहस्ससंखफणामंडलछत्तं सामिणो उवरिं करेऊण हिट्ठे कुंमलीकयभोयणं संगिण्हिअ सो उवसग्गो निवारिओ। तओ परं तीसे नयरीए अहिच्छत्त ति नामं संजायं। तत्थ पायारएहिं जहा जहा पुरओ ठिओ उरगरूवी धरणिंदो कुंडिलगईए सप्पइ तहा तहा इट्टनिवेसो कओ । अज्ज वि तहेव पायारे रयणा दीसइ। सिरिपाससामिणो चेइयं संघेण कारियं, चेइआओ पुव्वदिसि अइमहुरपसन्नोदगाणि कमठजलहरोज्झियजलपुण्णाणि सत्त कुंमाणि चिट्ठंति । तज्जले सुविहिअण्हाणाओ निंदिआ थिरवत्थाओ हवंति। तेसिं कुंमाणं मट्टियाए धाउवाइआ धाउसिद्धि भणंति, पाहाणलठिमुठिअ महासिद्धरसकूविआ य इत्थं दीसइ । तत्थ निच्छुरायणस्स अणेगे भमिदाणाइउग्घामिणोवक्कमा निप्फलीहुआ । तीसे पुरीए अंतो बहिं पत्तेयं कूवाणं वीहियाणं च सवायं लक्खं अत्थइ महुरोदगाणं। जत्तागयजणाणं पाससामिचेइए ण्हवणं कुणंताणं अज्जवि कमठो खरपवणदुद्दिणवुट्ठिगज्जिअविज्जुमाइ दरिसेइ। मूलदेवइआओ नाइदूरे सिद्धखित्तम्मि पाससामिणो धरणिंदपउमावईसेविअस्स चेइअपायारसमीवे सिरिनेमिमुत्तिसहिआ सिद्धबुद्धकलिआ अंबकुंबिहत्था सिंहवाहणा अंबा देवी चिट्ठइ । ससिकरनिम्मलसलिलपडिपुण्णा उत्तराभिहाणा वावी। तत्थ मज्जणे कए तवट्टे मट्टिआलेवे अ कुट्ठीणं कुट्ठरोगोवसमो हवइ । धन्नंतरिकूवस्स य पिंजरवण्णाए मट्टिआए गुरुवएसा कंचणं उप्पज्जइ । बंभकुंमतमयरुढाए मंडुक्कबंभीए दलचुण्णेण एगवुल्लगेण खीरेण सम्मं पीएण पन्नामहासंपन्नो निरोगो किंनरस्सरो अ होइ । तत्थ य पाएण उववणेसु सव्वमहीरुहाणं वंदया उवलब्भंति, ताणि ताणि अ कज्जाणि साहंति। तहा जयंती-नागदमणी-सहदेवी-अपराजिआ-लक्खणा-तिवण्णी-नउली-सउली-सपक्खी-सुवण्णसिला-मोहली-सोमली-रविभत्ता-निव्विसी-मोरसिहा-सल्ला-विसल्लापाजेइओ महोसहीओ एत्थ वट्टंति । ढोइआणि अ अणेगाणि हरिद्दरहिरण्णगज्जचंडिआजवणथंभकुंमाईणि तित्थाणि । तहा एसा नयरी महातवस्सिस्स सुगिहीयनामधेयस्स कण्हरिसिणो जम्मभूमि त्ति, तप्पयपंकयपरागकणनिकरण पवित्तीकयाए य वत्थवस्स पाससामिस्स संभरणेणं आहिव्वाहिसप्पविसदारिकारेण चोरजलजलणरायदुट्ठगहमारिदूअवेअसाइणीपमुहखुद्दोवद्दवा न हवंति भविआणं ति " ।

" इअ एस अहिच्छत्ता-कप्पो उववण्णिओ समासेणं ।
सिरिजिणपहसूरीहिं, पउमावईधरणकमठपिओ " ॥ २ ॥

इति अहिच्छत्राकल्पः समाप्तः । ती० ७ कल्प० । आचा० ।

अहिजाय-अभिजात-त्रि० । कुलीने, "अहिजायं महक्खमं" अभिजातं कुलीनं महती क्षमा यत्र तथा पूज्यं क्षमं समर्थत्वं यत्तथा। ततः कर्मधारयः अथ वा-अभिजातानां मध्ये महत् पूज्यं क्षमं समर्थं च यत्तथा । भ० ए श० ३३ उ० ।

अहिज्जग-अधीयान-त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोपा-ऽऽगम-वर्ण-विकार-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिज्जमाण-अधीयमान-त्रि० । पठति, व्य० ४ उ० । सूत्र० ।

अहिज्जिउं-अध्येतुम्-अव्य० । पठितुमित्यर्थे,दश० ४ अ० ।

अहिज्जित्ता-अधीत्य-अव्य० । अध्ययनं कृत्वेत्यर्थे,उत्त० १ अ० । पठित्वेत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

अहिज्झियता-अभिध्यितता-स्त्री० । भिध्या लोभः, सा संजाता यत्र स भिध्यितः। न भिध्यितोऽभिध्यितः । तद्भावस्तत्ता। अलोभे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहिट्ठाण-अधिष्ठान-न० । सन्निपद्यावेष्टिते पद्योपवेशने, नि० चू० ५ उ० । भावे ल्युट्-आश्रयणे,सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । 'अहिट्ठाणं काऊण ठितो' आ०म० द्वि० । पतित्वे, स्वामित्वे च । आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

अहिट्ठिज्जमाण-अधिष्ठीयमान-त्रि० । समाक्रम्यमाणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अहिट्ठित्तए-अधिष्ठातुम्- अव्य० । निषद्यादिना परिभोक्तुमित्यर्थे, बृ० ३ उ० ।

अहिट्ठिय-अधिष्ठित-त्रि० । अध्यासिते, ज्ञा० १४ अ० । " संवो जुद्धमहिट्ठितो" । आ०म०प्र० । आविष्टे, स्था० ५ ठा० २ उ० । वशयतां गते, " राजाहिट्ठिया " राजाधिष्ठिताः राजाधीनाः । ज्ञा० १४ अ० ।

अहिणउलमयमयाहिवयमुह--अहिनकुलमृगमृगाधिपमुख--त्रि० । भुजगबभ्रुहरिणसिंहप्रभृतिके, प्रमुखग्रहणादश्वमहिष्यादिपरिग्रहः । पञ्चा० ४ विव० ।

अहिणंदण--अभिनन्दन--पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भरतक्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थकरे, ध० २ अधि० ।

" अवन्तिषु प्रसिद्धस्य, सिद्धस्पेद्धतरायते ।
अभिनन्दनदेवस्य, कल्पं जल्पामि लेशतः " ॥ १ ॥

इह कुले इक्ष्वाकुवंशमुक्तामणेः श्रीसंवरराजसूनोः सिद्धार्थाकुक्षिसरसीराजहंसस्य कपिलाञ्छनस्य चामीकररुचेः स्वजन्मपवित्रितश्रीकोशलापुरस्य सार्द्धधनुःशतत्रितयोच्छ्रायकायस्य चतुर्थतीर्थेश्वरस्य श्रीमदभिनन्दनदेवस्य चैत्यं मालवदेशान्तर्वर्त्तिमङ्गलपुरप्रत्यासन्नायां महाटवीगतायां मेदपल्ल्यामासीत् । तस्यां विविधचित्रपापकर्मवतामजातनिर्वेदा मेदाः प्रतिवसन्ति स्म । अन्यदा तुरुष्कम्लेच्छसैन्येन तत्रोपेत्य भग्नं तज्जिनायतनम्, नवखण्डीकृतं च । प्रमदोद्धुरतया दुरभिप्रायकालीकालिकाखदुर्ललितानामकल्पनीयतया प्रतिहतप्रणतजनविघ्नमपि तच्चैत्यालङ्कारभूतं भगवतोऽभिनन्दनदेवस्य बिम्बं केचित्सप्तखण्डानीत्याहुः । तानि च शकलानि संजातमनःखेदैर्मेदैः संमील्य एकत्र प्रदेशे धारितानि । एवं वहीयसि गतवत्यनेहसि हरहसितगुणग्रामाभिरामाद् धाराद्रुपेत्य नित्यं वणिगेकः स्वकलाकुशलो वड्जाभिधस्तत्र क्रयाक्रयिकरूपं वाणिज्यमकार्षीत् । स च परमार्हतः । ततः प्रत्यहं गृहमागत्य देवमपूपुजत् । सत्यकृतायां देवपूजायां न जातु बुभुजे । ततः पल्लीपतीमुपेयिवानेकदाऽनेकदारुणकर्मभिस्तैरभिदधे स श्राद्धः । किमर्थं त्वमेहिरेयाहिरांकुरुषे अस्यामेव पल्ल्याम्?, वणिग्विचित्रभोज्यपूरणकल्पवल्ल्यां वल्भ्यां किं न भुङ्क्षे ? । ततश्च भणितं वणिजा-भो राजन्याः! यावदहमर्हन्तं देवाधिदेवं त्रिभुवनकृतसेवनं न पश्यामि न पूजयामि चेत्तावन्न वल्भ्यां प्रगल्भे । किरातैर्जगदे-यद्येवं देवं प्रति तव निश्चयस्तदा तुभ्यं दर्शयामस्त्वदभिमतं दैवतम् । वणिजा प्रोचे-तथाऽस्तु । ततस्तैस्तानि नवापि वा सप्तापि वा खण्डानि यथावयवन्यासं संयोज्य दर्शितं भगवतोऽभिनन्दनस्य बिम्बं, तद्रसुसुचितरम्यमाणपाषाणघटितं विलोक्य प्रमुदितमुदितयाऽसनातिशयेन तेन वणिग्वरेण ऋजुमनसा नमस्कृतास्तिरस्कृतदुरन्तदुरितो भगवान्, पूजितश्च पुष्पादिभिश्चैत्यवन्दना च विरचिता । ततः स तत्रैव भोजनमकरोत् । गुरुतराभिग्रह इत्थंकारं प्रतिदिनं जिनपूजानिष्ठामनुतिष्ठति सति तस्मिन् वणिजि अपरेगुरुग्दविवेकातिरेकबहुलैर्नाहलैस्तस्मात्किमपि द्रव्यं धनायद्भिस्तद्बिम्बशकलानि गुप्तीकृत्य क्वचिदपि संगोपितानि, वृत्ते यावत्पूजावसरे तां प्रतिमामनालोक्य नासौ बुभुजे, ततस्तेन विषण्णमनसा विहितं भयानकमुपवासत्रयम् । अथ स मेदैरपृच्छि-किमर्थं नाऽश्नासि? । स यथातथ्यमेवाकथयत् । ततः किरातव्रातैरवादि-यद्यस्मभ्यं गुडं ददासि तदा तुभ्यं दर्शयामस्ते देवम् । वणिजा बभाणे-वितरिष्याम्यवश्यमिति । ततस्तैस्तत्सकलमपि शकलानां नवकं सप्तकं वा प्राग्वत् संयोज्य प्रकटीकृतम् । दृष्टं च तेन संयोज्यमानं तद् बिम्बं सुतरां निषादसंस्पर्शविषादकलुषितहृदयः समजनि । स श्राद्धधुरीणस्तदनु सात्त्विकतयाऽभिग्रहमग्रहीत्-यावदिदं बिम्बमखण्डं न विलोकये न तावद्भोजनमश्नामि । तस्येत्थमनुदिनमुपवसतस्तद्बिम्बाधिष्ठायकैः स्वप्ने निजगदे-यदस्य बिम्बस्य नवखण्डसन्धयश्चन्दनलेपेन पूरणीयाः, तत इदमखण्डमतामेष्यतीति प्रबुद्धेन प्रातर्जातप्रमोदेन तथैव चक्रे । समपादि भगवानखण्डवपुः, सन्धयश्च मिलिताश्चन्दनलेपमात्रेण क्षणमात्रेण । भगवन्तं विशुद्धश्रद्धया संपूज्य भुक्तवान् । पण्याजीवः पीवरां मुदमुद्वहन् ददौ च गुडादि मेदेभ्यः । तदनन्तरं तेन वणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहृष्टेन शून्यखेटके पिप्पलतरोस्तले वेदिकाबन्धं विधाय सा प्रतिमा मण्डिता । ततः प्रभृति श्रावकसंघाश्चातुर्वर्ण्यलोकाश्चतुर्दिगन्तादागत्य यात्रोत्सवं सूत्रयितुं प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्त्तिभानुकीर्तिअम्बाराजकुलास्तत्र मठपत्याचार्याश्चैत्यचिन्तां कुर्वते स्म । अथ प्राग्वाटवंशावतंसेन थाहडात्मजेन साधुहालाकेन निरपत्येन पुत्रार्थिना विरचितमुपयाचितकम्-यदि मम तनुजो जनिता तदाऽत्र चैत्यं कारयिष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकत्रिदशसान्निध्यतः पुत्रस्तस्योदपद्यत कामदेवाख्यः । ततश्चैत्यमुच्चैस्तरशिखरमचीकरत्साधुहालाकः । क्रमात्साधुजावडस्य दुहितरं परिणायितः कामदेवश्च पित्राऽपि माहाग्रामादाहूय मलयसिंहादयो देवार्चकाः स्थापिताः । महणियाभिख्यो मेदः स्वाङ्गुलीं भगवदुद्देशेन कृत्तवान्-किलाहमस्य भगवतोऽङ्गुलीवर्द्धितः सेवक इति । भगवद्विलेपनचन्दनगलनाच्च तस्याङ्गुलिः पुनर्नवीबभूव । तमतिशयमतिशायिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भारभास्वरान्तःकरणः स्वामिनं स्वयमपूजयत् । देवपूजार्थं चतुर्विंशतिहलकृष्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः । द्वादशहलवाह्यां चावनीं देवार्चकेभ्यः प्रददाववनिपतिः । अद्यापि दिग्मण्डलव्यापिप्रभाववैभवो भगवानभिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूज्यमानोऽस्ति ।

" अभिनन्दनदेवस्य, कल्प एष यथाश्रुतम् ।
अल्पीयान् रचयांचक्रे श्रीजिनप्रभसूरिभिः " ॥ १ ॥

इति सकलभूवलयनिवासिलोकाभिनन्दनस्य श्रीअभिनन्दनदेवस्य कल्पः । ती० ३२ कल्प ।

अहिणव--अभिनव--त्रि० । नूतनविशिष्टवर्णादिगुणोपेते, रा० ।

अहिणवसड्ढ--अभिनवश्राद्ध--पुं० । व्युत्पन्नश्रावके, पिं० ।

अहिणिबोह--अभिनिबोध--पुं० । अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिस्वरूपको बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञाने, अभिनिबुध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अभिनिबोधः । मत्यावरणक्षयोपशमे, प्रज्ञा० २६ पद ।

अहिण्णु--अभिज्ञ--त्रि० । संयोगादेर्जस्य लुक् ञस्य णत्वद्वित्वे, "ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ" ८। १। ५६ । इति णकारादुत्तरस्यात उः । अहिण्णु । प्रा० १ पाद । "ज्ञो ञः" । ८ । २ । ८३ । इति अस्य लुक्, अहिज्जो । प्रा० २ पाद । प्राज्ञे, वाच० ।

अहितत्त--अभितप्त--त्रि० । अत्यन्तपीडिते, उत्त० २ अ० ।

अहित्ता--अधीत्य--अव्य० । पठित्वेत्यर्थे, " अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं" । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अहिदट्ठ--अहिदष्ट--न० । सर्पदशने, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिदट्ठाइ--अहिदष्टादि--त्रि० । सर्पदशनप्रभृतौ, "अहिदट्ठाइसु छेयाइ वज्जयंतीह तह सेसं" । पञ्चा० १८ विव० ।

अहिधारणा--अभिधारणा--स्त्री० । प्रत्यिक्षो यदुवदिरवतिष्ठते याताऽऽगमनमार्गे तस्मिन्, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अहिपच्चुअ--ग्रह--धा० । "ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराऽ-

हिपच्चुआः" । ८ । ४ । २०६ । इति ग्रहेरहिपच्चुअ आदेशः । अहिपच्चुअइ-गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

अहिमञ्जु-अभिमन्यु-पुं० । "न्यण्यज्ञञ्जां ञ्जः" । ८ । ४ । २९३। इति द्विरुक्तो ञ्जः । प्रा० ४ पाद । "अभिमन्यौ जञ्जौ वा" ८ । २ । २५ । इति द्विभागस्य जो ञ्जश्च । पक्षे—'अहिमन्नू' । प्रा० २ पाद ।

अहिमम-अहिमृत-पुं० । मृताहिदेहे, जी० ३ प्रति० । सर्पकलेवरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अहिमर-अभिमर-पुं० । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽभिमराः । प्रश्न० ३ संव० द्वार । दुर्दरचौरेषु अश्वहरेषु, नि० चू० १ उ० ।

अहिमाइय-अह्यादि-पुं० । उरःपरिसर्पादौ, उत्त० ३६ अ० ।

अहिमास-अधिमास-पुं० । अभिवर्द्धितमासे, आव० १ अ० ।

अहिय-अधिक-त्रि० । आधिक्यविशिष्टे, "आरूढो सोहइ अहियं सिरे चूडामणि जहा" उत्त० २२ अ० । जं० । औ० । अक्षरपदादिभिरतिमात्रमधिके, अनु० । हेतोर्दृष्टान्तस्य चाधिक्ये सति, अधिकं यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्याम्, घटपटवदित्यादि । एकस्मिन् साध्ये एकएव हेतुर्दृष्टान्तश्च वक्तव्यः । अत्र च प्रत्येकं द्वयाभिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० । विशे० । वृ० । अधिकं यत्पञ्चानामवयवानामन्तरेण समधिकम् । वृ० १ उ० । आ० म० द्वि० । "अहियसस्सिरीयं" अधिकरूपेण सश्रीकः शोभनो यः स तथा तम् । कल्प० ३ क्ष० । अधिकमपि द्विधा-द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्याधिके तथैव द्रेऽविरतिके दृष्टान्त औषधैः पीडकेन च (एवं तावदक्षरपदादिभिराधिके सूत्रे दोषा मासलघुप्रायश्चित्तादयः "हीणक्खर" शब्दे वक्ष्यन्ते) सम्प्रति भावाधिक एवोदाहरणमाह-

" पाडलेऽसोग कुणाले, उज्जेणी लेहलिहण सयमेव ।
अहिय सवत्तीमत्ता-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥
मुरियाण अप्पडिहया, आणा सयमंजणं निवे णाणं ।
गामण सुयस्स जम्मं, गंधव्वाउट्टणा केइ ॥
चंदगुत्तपपुत्तो य, बिंदुसारस्स नत्तुओ ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागिणिं" ॥ बृ०१ उ० । विशे० ।

अहित-त्रि० । अपथ्ये, भ० ७ श० ६ उ० । स्था० । अपाये, स्था० ५ ठा० १ उ० । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । परिणामासुन्दरत्वे, दशा० ६ अ० ।

अहियदिण-अधिकदिन-न० । दिनवृद्धौ, स्था० ६ ठा० ।

अहियपोरिसीय-अधिकपौरुषीक-त्रि० । पुरुषप्रमाणाधिके, "कुंभीमहंताहियपोरिसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा" । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अहियप्पण्णाण-अहितप्रज्ञान-त्रि० । अहितं प्रज्ञानं बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । अहितबोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०२ उ० ।

अहियरूवसस्सिरीय-अधिकरूपसश्रीक-त्रि० । अतिशोभिते, कल्प० ३ क्ष० ।

अहियहिय-अहितहित-त्रि० । अतिबहुकादिषु तथाविधे भोजने, पिं० ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह-

दहितेल्ल समाजोगा, अहिओ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, न य हेऊ होइ रोगस्स ॥ ६१० ॥

दधितैलयोः, तथा-क्षीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सोऽहितो, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-"शाकमूलफलपिण्याककपित्थलवणैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्रायः क्षीरं विरुध्यते" ॥ १ ॥ इत्यादि । अविरुद्धद्रव्यमेलनं पुनः पथ्यं, तच्च रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भावितो रोगस्य हेतुः कारणम् । उक्तञ्च-"अहिताशनसंपर्कात्-सर्वरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं त्याज्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम्" ॥ १ ॥ पिं० ।

अहियास-अध्यास-पुं० । परीषहादीनां सम्यक्तितिक्षायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वर्तने पालने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

" क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहतापशीतपवना क्लेशान्न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परं,
यद्यत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो ! तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः " ॥ १ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचा० । उत्त० । स्था० । अविचलकायतया (ज्ञा० १ अ०) सौष्ठवातिरेकेण सहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अहियासणया-अहिताऽऽसनता-स्त्री० । अहितमननुकूलं टोल्लपाषाणाद्यासनं यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । अननुकूलासने, स्था० ६ ठा० ।

अध्यशनता-स्त्री० । अध्यशनमेवाध्यशनता । दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात् । अजीर्णे भोजने, "अजीर्णे भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमुच्यते" इतिवचनात् । स्था० ६ ठा० ।

अहियासित्तए-अध्यासयितुम्-अव्य० । अधिसोढुमित्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अहियासित्ता-अधिसह्य-अव्य० । सोढ्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अहियासिय-अध्यासित-त्रि० । भावे क्तः । कृतेऽधिसहने, "दवियाण पासअहियासियं ।" आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

अहियासेतु-अध्यासह्य-अव्य० । अधिकमासह्य । अव्ययं सोढ्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहियासेमाण-अध्यासयत्-त्रि० । सम्यक्तितिक्षमाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरण्णसोवण्णिय-अहिरण्यसौवर्णिक-पुं० । हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा न । प्रश्न० ३ संव० द्वार । हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशादि न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरण्यसौवर्णिकः । उपलक्षणत्वात् सर्वपरिग्रहरहिते, पा० । रजतसुवर्णमयकलशादिरहिते, ध० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराज-पुं० । मौलिपृथिवीपतौ, वृ० ३ उ० ।

अहिरियया–अन्हीकृता–स्त्री० । निर्लज्जतायाम्, उत्त० ३४ अ० । पिं० ।

अहिरीमण–अन्हीमनस्–त्रि० । लज्जाकारिणि शीतोष्णादौ परीषहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहिरेम–पूरि–धा० । पूरणे । " पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः " । ८ । ४ । १६९ । अहिरेमइ पूरइ, पूरयते । प्रा० ४ पाद ।

अहिलंघ(ख)–काङ्क्ष्–धा० । अभिलाषे, " काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्खव० । ८ । ४ । १९२ । इत्यादिसूत्रेण काङ्क्षतेरहिलंघाहिलंखादेशः । अहिलंखइ, अहिलंघइ । प्रा० ४ पाद ।

अहिलाण–अहिलान–न० मुखबन्धनविशेषे, ज्ञा० १७ अ० । मुखसंयमने, जं० ३ वक्ष० । औ० । कविके, ज्ञा० ४ अ० ।

अहिलावित्थी–अभिलापस्त्री–स्त्री० । अभिलप्यत इत्यभिलापः, स एव स्त्री । स्त्रीलिङ्गाभिधाने शब्दे, यथा–शालामालासिद्धिरिति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १० उ० ।

अहिलोयण–अभिलोकन–न० । अभिलोक्यते अवलोक्यते यत्र तदभिलोकनम् । उन्नतस्थाने, प्रश्न० ४ संब० द्वार ।

अहिवइ–अधिपति–पुं० । नायके, स्था० ५ ठा० १ उ० । रक्षके, जं० १ वक्ष० । नरेन्द्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अहिवइजंभग–अधिपतिजम्भक–पुं० । राजादिनायकविषये जृम्भके, भ० १४ श० ८ उ० ।

अहिवडंत–अधिपतत्–त्रि० । आगच्छति, ओघ० ।

अहिवासण–अधिवासन–न० । शुचिविशेषापादनेन बिम्बप्रतिष्ठायोग्यताकरणे, पञ्चा० ८ विव० ।

अहिसक्कण–अभिष्वष्क –न० । विवक्षितकालस्य संवर्द्धने परतः करणे, बृ० १ उ० । ध० ।

अहिसरिय–अभिसृत–त्रि० । प्रविष्टे, आ० म० द्वि० ।

अहिसहण–अधिसहन –न० । तितिक्षणे; स्था० ६ ठा० ।

अहीकरण–अधीकरण–न० । अधीरबुद्धिमान पुरुषः, स तं करोतीत्यधीकरणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहीण–अधीन–त्रि० । स्वायत्ते, प्रश्न० ४ संब० द्वार ।

अहीन–त्रि० । अन्यूने, "अहीणपडिपुण्णपंचिंदियसरीरा" अहीनान्यन्यूनानि स्वरूपतः प्रतिपूर्णानि लक्षणतः पञ्चापीन्द्रियाणि यस्मिन् तत् तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा । औ० । ज्ञा० । विपा० । भ० । अहीनमङ्गोपाङ्गप्रमाणतः परिपूर्णपञ्चेन्द्रियं, प्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियं वा शरीरं यस्य सोऽहीनपरिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरोऽहीनप्रतिपूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरो वा । स्था० ६ ठा० । कल्प० ।

अहीणक्खर–अहीनाक्षर–न० । एकेनाप्यक्षरेणाहीने, ग० २ अधि० । सूत्र० । गुणे, अनु० । ग० । विशे० । संथा० । (' हीणक्खर ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अहीणदेह–अहीनदेह–त्रि० । परिपूर्णदेहावयवे, व्य० ३ उ० ।

अहीय–अधीत–त्रि० । आगमिते, "उवयारो त्ति वा अहीतं ति वा आगमियं ति वा एगट्ठं " नि० चू० १ उ० । स्था० ।

अहीयसुत्त–अधीतसूत्र–त्रि० । गृहीतसूत्रे, " सम्मं अहीयसुत्तो ततो विमलयरबोहजोगाओ " पं० व० १ द्वार ।

अहीरग–अहीरक–न० । ह्रियमानस्यैव न विद्यते हीरिकास्तन्तुलक्षणा मध्ये यस्य तदहीरकम् । तन्तुहीने, प्रव० ४ द्वार ।

अहुणाधोय–अधुनाधौत–त्रि० । अचिरधौते, अपरिणते च । दश० ५ अ० ।

अहुणुव्वासिय–अधुनोद्वासित–त्रि० । अचिरोद्वासिते, ओघ० । साम्प्रतोद्वासिते, व्य० ४ उ० ।

अहुणोवालित्त–अधुनोपलिप्त–त्रि० । साम्प्रतोपलिप्ते, दश० ५ अ० ।

अहुणोववन्नग–अधुनोपपन्नक–त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्था० ।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोके–

तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । तं जहा–अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने से णं माणुस्सए कामभोगे णो आढाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ, णो ठिइप्पकप्पं पकरेइ, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने, तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने दिव्वे संकंते भवइ २ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० जाव अज्झोववन्ने, तस्स णमेवं भवइ इयर्णिहं गच्छं मुहुत्तं गच्छं, तेणं कालेणमप्पाउया माणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा पवत्तेइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेमि ॥ १ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवइ, एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइदुक्करदुक्करकारगे तं गच्छामि णं भगवंते वंदामि णमंसामि० जाव पज्जुवासामि ॥ २ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मायाइ वा० जाव सुण्हाइ वा तं गच्छामि णं तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इमं एयारूवं दिव्वं

देवहिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं ; इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचारित्तए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अधुनोपपन्नो देवः, केत्याह-(देवलोगेसु त्ति) इह च बहुवचनमेकस्यैकदाऽनेकेषूत्पादासम्भवादेकार्थे दृश्यम्, वचनव्यत्ययाद्देवलोकानेकत्वोपदर्शनार्थं वा; देवलोकेषु मध्ये कचिद्देवलोक इति, इच्छेदभिलषेत् पूर्वसङ्गतिकदर्शनाद्यर्थं मानुषाणामयं मानुषस्तम् । (हव्वं ति) शीघ्रम् (संचाएइ त्ति) शक्नोति । दिवि देवलोके भवा दिव्यास्तेषु कामौ च शब्दरूपलक्षणौ भोगाश्च गन्धरसस्पर्शाः कामभोगाः तेषु । अथवा-काम्यन्त इति कामा मनोज्ञाः, ते च इति भुज्यन्त इति भोगाः शब्दादयः, ते च कामभोगास्तेषु,मूर्च्छित इव मूर्च्छितो मूढः,तत्स्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विबोधाक्षमत्वात् गृद्धः,तदाकाङ्क्षावानत्म इत्यर्थः । ग्रथित इव ग्रथितस्तद्विषये स्नेहरज्जुभिः संदर्भित इत्यर्थः । अध्युपपन्न आधिक्येनासक्तोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः । नो आद्रियते-न तेष्वादरवान् भवति, नो परिजानाति-एतेऽपि च वस्तुभूता इत्येवं न मन्यते । तथा तेष्विति गम्यते । नो अर्थं बध्नाति-एतैरिदं प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति । तथा-तेषु नो निदानं प्रकरोति-एते मे भूयासुरित्येवमिति । तथा-तेष्वेव नो स्थितिप्रकल्पमवस्थानविकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठेयमिति,एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरीभवन्त्वित्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टप्रकल्प आचार आसेवेत्यर्थः । तं प्रकरोति कर्तुमारभते,प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति । एवं दिव्यविषयप्रशक्तिरित्येकं कारणम् । तथा यतोऽसावधुनोपपन्नो देवो दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति, अतस्तस्य मानुष्यकं मनुष्यविषयं, प्रेम स्नेहो, येन मनुष्यलोके आगम्यते तद्व्यवच्छिन्नम्,दिवि भवं दिव्यं स्वर्गगतवस्तुविषयं संक्रान्तं तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति दिव्यप्रेमसंक्रान्तिरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् (तस्स णं ति) तस्य देवस्य (एवं ति) एवंप्रकारं चित्तं भवति, यथा (इयण्हिं ति) इदानीं गच्छामि (मुहुत्तं ति) मुहूर्तेन गच्छामि, कृत्यसमाप्तावित्यर्थः । (तेणं कालेणं ति) येन तत्कृत्यं समाप्यते स च कृतकृत्यत्वादागमनशक्तो भवति, तेन कालेन, गतेनेति शेषः । तस्मिन्वा काले गते, 'णं' शब्दो वाक्यालङ्कारे । अल्पायुषः स्वभावादेव मनुष्यमात्रादयो यद्दर्शनार्थमाजिगमिषति तेन कालधर्मेण मरणेन संयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनार्थमागच्छति असमाप्तकर्त्तव्यता नाम तृतीयमिति (इच्चेत्यादि) निगमनम् ॥३॥ देवः कामेषु काश्चिदमूर्च्छितादिविशेषणो भवति । तस्य च मन इति गम्यते । एवंभूतं भवति आचार्यप्रतिबोधकप्रव्राजकादिरनुयोगाचार्यो वा । इति एवंप्रकारार्थो, वाशब्दो विकल्पार्थः । प्रयोगस्त्वेवम्-मनुष्यभवेऽयं ममाचार्योऽस्तीति वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, सोऽस्तीति वा । एवं सर्वत्र, नवरं प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्ती । उक्तं च-"तवसंयमयोगेसु, जो जोगो तत्थ तं पवट्टेइ । असुहं च नियत्तेइ, गणतत्तिल्लो पवत्तीओ " ॥ १ ॥ प्रवर्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः । उक्तञ्च-" थिरकरणा पुण थेरो, पवत्ति वावारिएसु अत्थेसु । जो जत्थ सीयइ जइ, संतबलो तं थिरं कुणइ " ॥ १ ॥ गणोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो जिनशिष्यविशेषः । आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः । उक्तञ्च-" पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गो उज्जुओ य तेयंसी । संगहुवग्गहकुसलो, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई " ॥ १ ॥ गणस्यावच्छेदो विभागोंऽशोऽस्यास्तीति । यो हि गणान् संगृह्य गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदिकः । आह च-" ओहावणापहावण-खेत्तोवहिमग्गणासु अविसाई । सुत्तत्थतदुभयविऊ, गणवच्छो एरिसो होइ " ॥ १ ॥ (इम त्ति) इयं प्रत्यक्षासन्ना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे रूपान्तरभाक् सा एतद्रूपा, दिव्या स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवानां सुराणामृद्धिः श्रीर्विमानरत्नादिसंपद्देवर्द्धिः, एवं सर्वत्र, नवरं द्युतिर्दीप्तिः शरीराभरणादिसम्भवा, युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणाऽनुभावोऽचिन्त्या वैक्रियकरणादिका शक्तिर्लब्ध उपार्जितो जन्मान्तरे प्राप्त इदानीमुपनतः, अभिसमन्वागतो भोग्यतां गतः । तदिति तस्मात्तान् भगवतः पूज्यमानान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोम्यभ्यादरकरणेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासे सेवे इत्येकम् । (एस णं ति) एषोऽवध्यादिप्रत्यक्षीकृतः मानुष्यके भवे, वर्त्तमान इति शेषः । मनुष्य इत्यर्थः । ज्ञानीति वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमिति दुष्कराणां सिंहगुहाकायोत्सर्गकरणादीनां मध्ये दुष्करमनुरक्तपूर्वोपभुक्तप्रार्थनापरतरुणीमन्दिरवासाप्रकम्पब्रह्मचर्यानुपालनादिकं करोतीति अतिदुष्करकारकः, स्थूलभद्रवत्, तस्मात् । (गच्छामि त्ति) पूर्वमेकवचननिर्देशेऽपीह पूज्यविवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् भगवतो वन्दे इति द्वितीयम् । तथा-" मायाइ वा पियाइ वा भज्जाइ वा भइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा " इति । यावच्छब्दाक्षेपः स्नुषा पुत्रभार्या । तदिति तस्मात्तेषामन्तिके समीपे प्रादुर्भवामि प्रकटीभवामि । (ता मे त्ति) तावत् मे ममेति तृतीयम् ॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि समुब्भूयं वेयणं वेयमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयलोगंसि णिरयपालेहिं भुज्जो भुज्जो अहिट्ठिज्जमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए,नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहुणोववन्ने णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेइयंसि अणिज्जिण्णंसि इच्छेज्जा, नो चेव णं संचाएइ, एवं निरइया ओअंसि कम्मंसि अक्खीणंसि० जाव णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥ इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने णेरइए० जाव नो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अधुना जीवसाधर्म्यान्नारकजीवानाश्रित्य तदाह-(चउहीत्यादि) सुगमं, केवलं (ठाणेहिं ति) कारणैः । (अहुणोववन्ने त्ति) अधुनोपपन्नोऽचिरोपपन्नो निर्गतोऽयः शुभमस्मादिति

निरयो नरकः,तत्र भवो नैरयिकः। तस्य चाऽनन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयलोके तस्मादिच्छेन्मानुषाणामयं मानुषस्तं लोकं क्षेत्रविशेषं (हव्वं) शीघ्रमागन्तुं (नो चेव त्ति) नैव, 'णं' वाक्यालङ्कारे। (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति आगन्तुं (समुब्भूयं ति) समुद्भूता मतिप्रबलतयोत्पन्ना। पाठान्तरेण-संमुखभूतामेकहेलोत्पन्नाम्। पाठान्तरेण-अमहन्तो महतो भवनं महद्भूतं तेन सह या सा समहद्भूता,तां समहद्भूतां वा वेदनां दुःखरूपां वेदयमानोऽनुभवन् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणमेतदेव वाऽशक्तस्य,तीव्रवेदनाभिभूतो हि न शक्त आगन्तुमिति । तथा-निरयपालैरेवंवादिभिः भूयोभूयः पुनःपुनरधिष्ठीयमानः समाक्रम्यमाण आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव वाऽऽगमनाशक्तिकारणं,तैरत्यन्ताक्रान्तस्यागन्तुमशक्तत्वादिति। तथा-निरये वेद्यते अनुभूयते यद् निरयवेद्यं वा यद्वेदनीयम् अत्यन्ताशुभनामकर्मादि,असातवेदनीयं वा, तत्र कर्मणि अक्षीणे स्थित्या अवेदितेऽननुभूतानुभागतयाऽनिर्जीर्णे जीवप्रदेशेभ्योऽपरिशटिते इच्छेन्मानुषं लोकमागन्तुं, न च शक्नोति अवश्यवेद्यकर्मनिगमयन्त्रितत्वादित्यागमनाशक्त एव कारणमिति। तथा-(एवमिति) "अहुणोववन्ने " इत्याद्यभिलापसंसूचनार्थः। निरयायुष्के कर्मणि अक्षीणे, यावत्कारणात् 'अवेइ' इत्यादि द्रष्टव्यमिति निगमयन्नाह-(इच्चेएहिं ति)। इति एवंप्रकारैरेतैः प्रत्यक्षैरनन्तरोक्तत्वादिति। अनन्तरं नारकस्वरूपमुक्तम्। ते चासंयमोपष्टम्भकपरिग्रहादुत्पद्यन्त इति ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु—

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने से णं माणुस्सए कामभोगे णो आढाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ,णो ठिइप्पगप्पं पगरेइ ॥१॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने दिव्वे संकंते भवइ ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं एवं भवइ इयाणिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छं तेणं कालेणमप्पाउआ मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति ॥३॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ, उड्ढं पि य णं माणुस्सए णं गंधे चत्तारि पंच जोयणसयाइं हव्वमागच्छइ ॥४॥ इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ।

त्रिस्थानके तृतीयोद्देशके प्रायो व्याख्यातमेवेदं तथापि किञ्चिदुच्यते-(चउहिं ठाणेहिं नो संचाए त्ति) सम्बन्धः । तथा-देवलोकेषु, देवमध्ये इत्यर्थः । (हव्वं) शीघ्रम् (संचाएइ) शक्नोति । कामभोगेषु मनोज्ञशब्दादिषु मूर्छित इव मूर्छितो मूढस्तत्स्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विबोधाक्षमत्वात् गृद्धः,तदाकाङ्क्षावान् अतृप्त इत्यर्थः । ग्रथित इव ग्रथितः,तद्विषयस्नेहरज्जुभिः संदर्भित इत्यर्थः। अध्युपपन्नोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः । नाद्रियते-न तेष्वादरवान् भवति । न परिजानाति एतेऽपि वस्तुभूता इत्येवं न मन्यते-तथा तेष्विति गम्यते। नोऽर्थं प्रतिबध्नाति-एतैरिदं प्रयोजनमिति निश्चयं करोति । तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे भूयासुरित्येवमिति। तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थानविकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भवन्त्वित्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थितिप्रकल्पः,तं प्रकरोति कर्तुमारभते;प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति। एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरेकं कारणं, तथा-यतोऽसावधुनोत्पन्नो देवः कामेषु मूर्च्छितादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकमित्यादीति दिव्यप्रेमसंक्रान्तिर्द्वितीयम् । तथाऽसौ देवो यतो भोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् । (तस्स णमित्यादीति) देवकार्यायत्ततया मनुष्यकार्यानायत्तत्वं तृतीयम्। तथा-दिव्यभोगमूर्च्छितादिविशेषणत्वात्तस्य मनुष्याणामयं मानुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो दिव्यगन्धविपरीतवृत्तिः प्रतिलोमश्चापि इन्द्रियमनसोरनाह्लादकत्वादेकार्थौ चैतावत्यन्तामनोज्ञताप्रतिपादनायोक्ताविति । यावदिति परिमाणार्थः। (चत्तारि पंचेति) विकल्पदर्शनार्थं कदाचिद्भरतादिष्वेकान्तसुषमादौ चत्वार्येव, अन्यदा तु पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चां बहुत्वेनौदारिकशरीराणां तदवयवतन्मलानां च बहुत्वेन दुरभिगन्धप्राचुर्यादिति। आगच्छति मनुष्यक्षेत्रादाजिगमिषुं देवं प्रतीति। इदञ्च मनुष्यक्षेत्रस्याशुभस्वरूपत्वमेवोक्तम्। न च देवोऽन्यो वा नवभ्यो योजनेभ्यः परत आगतं गन्धं जानातीति। अथवा अत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रियापेक्षयैव संभाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षादिप्रमाणेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुः, यदि परं प्रति शब्दद्वारेणान्यथा वेति नरभवाशुभत्वं चतुर्थमनागमनकारणमिति । शेषं निगमनम् । स्था० ४ ठा० ३ उ०।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छिए०जाव अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवइ-अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा पवित्तीइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवड्ढी दिव्वा देवजुई लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया तं गच्छामि णं, ते भगवंते वंदामि० जाव पज्जुवासामि। अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइदुक्करकारए तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि०जाव पज्जुवासामि ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स

णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मायाइ वा० जाव सुण्हाइ वा तं गच्छामि णं, तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इममेयारूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं ॥३॥ अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववण्णे तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मित्तेइ वा सुहीइ वा सहाएइ वा संगइएइ वा तेसिं च णं अम्हे अण्णमण्णस्स संगारे पडिसुए भवइ, जो मे पुव्विं चयइ से संबोहियव्वे इच्चेएहिं० जाव संचाएइ ह-व्वमागच्छित्तए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभोगेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवंभूतं मनो भवति-यदुत अस्ति मे; किं तदित्याह-आचार्य इति वाऽऽचार्य एतद्वाऽस्ति; इति रूपप्रदर्शने; वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। क्वचिदिति-शब्दो न दृश्यते, तत्र सूत्रं सुगममेवेति। इह चाचार्यः प्रतिबोधप्रव्राजकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्त्ती, प्रवर्त्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरो, गणोऽस्याऽस्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनशिष्यविशेष आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽस्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति (इमे त्ति) इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरभाक् सा, तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका द्युतिः। शरीरादिसम्भवा युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणा लब्धा उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभिसमन्वागता भोग्यावस्थां गता (तं ति) तस्मात्तान् भगवतः पूज्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि, आदरकरणेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्ये सेवामीत्येकम्। तथा-ज्ञानी श्रुतज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(मायाइ वा भज्जाइ वा भइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दाक्षेपः, स्नुषा पुत्रभार्या (तं) तस्मात्तेषामन्तिकं समीपं प्रादुर्भवामि प्रकटीभवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीयम्। तथा-मित्रं पश्चात् स्नेहवत् सखा बाल्यवयस्यः सुहृत्सज्जनो हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते यस्यासौ साङ्गतिकः परिचितस्तेषां (अम्हे त्ति) अस्माभिः (अण्णमण्णस्स त्ति) अन्योन्यं (संगारे त्ति) संकेतः प्रतिश्रुतोऽभ्युपगतो भवति स्मेति। (जो मे त्ति) योऽस्माकं पूर्वं च्यवते देवलोकात्स संबोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यभवे कृतसंकेतयोरेकस्य पूर्वलक्षादिजीविषु भवनपत्यादिषूत्पद्य च्युत्वा च नरतयोत्पन्नस्यान्यः पूर्वलक्षादि जीवित्वा सौधर्मादिषूत्पद्य संबोधनार्थं यदिहागच्छति तदवसेयमिति। इत्येतैरित्यादि निगमनमिति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अहे-अधस्-दिग्भेदे, नि० चू० १८ उ०। भ०।

अध-अव्य०। अथार्थे, भ० १ श० ६ उ०। 'अहे णं से अम्मापियरं' अथ चैतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे। स्था० २ ठा० १ उ०। आचा०। क्षेपे, नियोगे च। स०।

अहेउ-अहेतु-पुं०। यथोक्तहेतुप्रतिपक्षे, स०। अनुमानानुत्थापके हेत्वाभासे, स्था०।

पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउं ण जाणइ० जाव अहेउछउमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउं जाणइ० जाव अहेउकेवलिमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो यः प्रत्यक्षज्ञानादितयाऽनुमानानपेक्षः स धूमादिकमहेतुनाऽयं हेतुर्ममानुमानोत्थापक इत्येवं जानातीत्यतो हेतुभूतं तं जानन्नहेतुरेवासावुच्यते। एवं दर्शनबोधाभिसमागमापेक्षयाऽपि तदेवमहेतुचतुष्टयं छद्मस्थमाश्रित्य देशनिषेधत आह-(अहेतुमिति) धूमादिकं हेतुमहेतुभावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथञ्चिदेवावगच्छतीत्यर्थः। नञो देशनिषेधार्थत्वात्, ज्ञातुश्चावध्यादिकेवलित्वेनानुमानाव्यवहर्तृत्वादित्येकोऽयमहेतुर्देशप्रतिषेधत उक्तः। एवमहेतुं कृत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः। न बुध्यते न श्रद्धत्ते इति तृतीयः। नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः। तथा-अहेतुमध्यवसानादिहेतुनिरपेक्षं निरुपक्रमतया छद्मस्थमरणमनुमानव्यवहर्तृत्वेऽप्यकेवलित्वात्तस्यायं च स्वरूपत एव पञ्चमो हेतुरुक्तः। तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेत्वभावेनावध्यादिकेवलित्वाद् जानात्यसावहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि। एवं च छद्मस्थमाश्रित्य पदचतुष्टयेनाहेतुचतुष्टयं देशप्रतिषेधत आह। तथाऽहेतुनोपक्रमाभावेन छद्मस्थमरणं म्रियत इति पञ्चमोऽहेतुः स्वरूपत एव उक्तः ६। तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतुं न हेतुभावेन विकल्पितं धूमादिकं जानाति केवलितया योऽनुमानाव्यवहारित्वात्सोऽहेतुरेव। एवं यः पश्यतीत्यादि। तथा अहेतुं निर्हेतुकमनुपक्रमत्वात् केवलिमरणमनुमानाव्यवहारित्वाद् म्रियते यात्यसावहेतुः पञ्चमः। एते पञ्चापीह स्वरूपत उक्ताः ७। एवं तृतीयान्तसूत्रमप्यनुसर्त्तव्यमिति ८। गमनिकामात्रमेतत्, तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति ॥ स्था० ५ ठा० १ उ०। न विद्यते हेतुरस्येति; अनाद्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भ०।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं०। हिनोति गमयत्यर्थमिति हेतुः, तत्परिच्छिन्नोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः। यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतुवादः। दृष्टिवादादन्यस्मिन्, सम्म०।

(दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य)।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाभवियादओ भावा ॥१४०॥

भव्याभव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादने अध्यक्षादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः। नह्ययं भव्योऽयमभव्य इत्यत्रागमप्रमाणेन प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंभवः। अस्मदाद्यपेक्षया न तु तद्विभागप्रतिपादकं वचो यथार्थमर्हद्वचनत्वात्, अनेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकवचोवदित्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तौ कथं न तस्यानुमानविषयता। न। एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्व्यतिरेकेण प्रमाणान्तरस्य तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्याभावात्। अर्हदागमस्य च प्रा-

धान्यार्थसंवादनिबन्धनतत्प्रणीतत्वनिश्चयेऽनुमानतोऽतीन्द्रियार्थविषये प्रामाण्यं निश्चीयत इत्यभ्युपगम्यत एव । आगमनिरपेक्षस्य तु प्रमाणान्तरस्यास्मदादेस्तत्र प्रवृत्तिर्न विद्यत इत्येतावता अहेतुवादत्वमेव विषयागमस्योच्यत इति वचनव्यापारं केवलमपेक्ष्यायं क्रमः । यदा तु ज्ञानदर्शनचारित्रत्रितये यथा तदनुष्ठानप्रवणस्तद्विकलश्च पुरुषः प्रतीयते, तदाऽनुमानगम्योऽपि तद्विनाशो भवति । यथा भव्योऽभव्यो वाऽयं पुरुषः, सम्यग्ज्ञानादिपरिपूर्णत्वान्यथा, लोकप्रसिद्धभव्याभव्यपुरुषवत् । अहेतुवादागमावगते धर्मिणि भव्याभव्यस्वरूपे तद्विपरीतनिर्णयफलो हेतुवादः प्रवृत्ते योऽयमागमे भव्यादिरभिहितः स तथैव, यथोक्तहेतुसद्भावादिति । आह–

भविओ सम्मदंसण–णाणचरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो, त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥१४१॥

भव्योऽयं सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिपत्तिसंपूर्णत्वात्,उक्तपुरुषवत्, तत्परिपूर्णत्वादेव नियमात्संसारदुःखान्तं करिष्यति,कर्मव्याधेरात्यन्तिकविनाशमनुभविष्यति, तन्निबन्धनमिथ्यात्वादिप्रतिपक्षाभ्याससात्मीभावात्,व्याधिनिदानप्रतिकूलाचरणप्रवृत्ततथाविधाऽऽतुरवत्;यः पुनर्न तत्प्रतिपक्षाभ्याससात्म्यवानसौ दुःखान्तकृत भविष्यति, तन्निदानानुष्ठानप्रवृत्ततथाविधाऽऽतुरवद् इति हेतुवादस्य लक्षणम् । हेतुवादः प्रायो दृष्टिवादः;तस्य द्रव्यानुयोगत्वात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादेरनुमानादिगम्यस्यार्थस्य तत्र प्रतिपादनात् । यथाऽस्यानुमानादिगम्यता तथा गन्धहस्तिप्रभृतिभिर्विक्रान्तमिति नेह प्रदर्श्यते, ग्रन्थविस्तरभयात् ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

अहेकम्म–अधःकर्मन्–न० । विशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्याऽऽत्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधःकर्म । बृ० ४ उ० । अधो नरकादेर्येन भक्तेन भुक्ते वाऽऽत्मा क्रियते तदधःकर्म । दश० ५ अ० । अन्नविशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेऽधोऽधस्तरामागमने, पिं० । आधाकर्मणि, पिं० । ('अधेकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अहेकाय–अधःकाय–पुं० । ऊर्वादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अहेगारवपरिणाम–अधोगौरवपरिणाम–पुं० । येनायुःस्वभावेन जीवस्याधो दिशि गमनशक्तिलक्षणपरिणामो भवति, तस्मिन् गौरवपरिणामभेदे, स्था० ९ ठा० ।

अहेचर–अधश्चर–पुं० । बिलवासित्वात् सर्पादौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

अहेतारग–अधस्तारक–पुं० । पिशाचभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अहेपन्नगद्धरूव–अधःपन्नगार्द्धरूप–त्रि० । अधोऽधस्तनं, यत् पन्नगस्य सर्पस्यार्द्धं तस्येव रूपमाकारो येषां तेऽधःपन्नगार्धरूपाः । अधःपन्नगार्द्धं वदति,सरलेषु दीर्घेषु च । जी० ३ प्रति० रा० ।

अहेसणिज्ज–यथैषणीय–त्रि० । उत्कर्षणापकर्षणरहिते, अपरिकर्मणि, "अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा" । आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अहेसत्तमा–अधःसप्तमी–स्त्री० । तमस्तमायां पृथिव्याम्, अधोग्रहणं विना सप्तमी उपरिष्टाच्चिन्त्यमाना रत्नप्रभाऽपि स्यादित्यधोग्रहणम् । " अहेसत्तमाए पुढवीए " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अहो–अहो–अव्य० । न हा–मो । शोके, धिगर्थे, विषादे, दयायाम्, सम्बोधने, प्रशंसायाम्, वितर्के, असूयायां च । वाच० । विस्मये,आ० म० प्र० । दश० । भ० । स्था० । उत्त० । सूत्र० । आश्चर्ये, अष्ट० १९ अष्ट० । प्रति० । आचा० । विपा० । दैन्ये, आमन्त्रणे च । ग० २ अधि० । अनु० । सूत्र० ।

अहोकरण–अधःकरण–न० । अधोऽधस्तादात्मनः करणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोकाय–अधःकाय–पुं० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे, आव० ३ अ० ।

अहोणिस–अहर्निश–न० । अहोरात्रे, " णिरये णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अहोतरण–अधस्तरण–न० । अधोऽधस्तादवतारभूमिं गृहनिश्रेण्या इव करणमधःकरणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोदाण–अहोदान–न० । विस्मयनीये दाने, " अहोदाणं चघुट्ठं" अहो इतिविस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽन्यो दाता ?। उत्त० २ अ० । कल्प० । आ० म० । अहोदानस्यायमर्थः–एवं दीयते एवं हि दत्तं भवतीति । आव० १ अ० ।

अहोदिसिव्वय–अधोदिग्व्रत–न० । दिगधोऽधोदिक्,तत्संबन्धि, तस्या वा व्रतमधोदिग्व्रतम् । एतावती दिगध इन्द्रकूपाद्यवतारणादवगाहनीया न परत इत्येवंरूपे दिग्व्रतभेदे, आव० ६ अ० ।

अहोभागि (ण्)–अधोभागिन्–त्रि० । अधस्ताद् भागिनि, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहोरत्त-अहोरात्र-पुं० । त्रिंशन्मुहूर्तात्मके, ज्यो० २ पाहु० । जं० । कर्म० । भ० । दिवसरात्र्युभयात्मके, सू० प्र० १० पाहु० । सूत्र० । विशे० । अनु० । आ० म० । उत्त० । स्था० । कालभेदे, न० । "तिविहे अहोरत्ते तीते, पडुप्पन्ने, अणागए" । स्था० ३ ठा० ४ उ० । अहोरात्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । (पौरुषीकालः 'काल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

अहोराइया–अहोरात्रिकी–स्त्री० । त्रिभिर्दिवसैर्याति प्रतिमा । अहोरात्रस्यान्ते षष्ठभक्तकरणात् प्रतिमाभेदे, पञ्चा० १८ विव० । "अहोराइंदिया णवरं छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा० जाव रायहाणीए वाईणि दोवि पादे वग्घारितपाणिस्स ठाणं ठाइ तए, सेसं तं चेव० जाव अणुपालिया भवइ" आ० चू० ४ अ० ।

अहोलोय-अधोलोक-पुं० । लोक्यते केवलिप्रज्ञया परिच्छिद्यते इति लोकः । अधोव्यवस्थितो लोकोऽधोलोकः । अथवाऽधःशब्दोऽशुभपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुभावाद् बाहुल्येनाशुभ एव परिणामो द्रव्याणां जायतेऽतोऽशुभपरिणामवद्द्रव्ययोगादधोऽशुभो लोकोऽधोलोकः ॥

अहवा अहो परिणामो, खेत्ताणुभावेण जेण उसन्नं

असुहो अ इोति भणिओ, दव्वाणं तेणऽहोलोगो त्ति ॥

लोकभेदे, स च अस्यां रत्नप्रभायां बहुसमभूभागे मेरुमध्ये नभःप्रतरद्वयश्च प्रदेशो रुचकः, समास्थितस्य च प्रतरद्वयस्य मध्ये एकस्मादधस्तनप्रतरादारभ्याधोऽभिमुखं नवयोजनशतानि परिहृत्य परतः सातिरेकसप्तरज्ज्वायतोऽधोलोकः । अनु० । चमरादिभवने, आव० १ अ० । स्था० । प्रज्ञा० । आ० म० । अधोलौकिकेषु ग्रामेषु, नं० । "अहोलोएणं चत्तारि वि सरीरा अहोलोए णं सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणोदहीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणवाओ पण्णत्ताओ, सत्त तणुवाया पण्णत्ताओ, सत्त उवासंतरा पण्णत्ता, एएसु णं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया, एएसु णं सत्तसु तणुवाएसु सत्त घणवाया पइट्ठिया, सत्तसु घणवाएसु सत्त घणोदही पइट्ठिया, एएसु णं सत्तसु घणोदहीसु पिंडलगपिहुलसंठाणसंठियाओ सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–पढमा० जाव सत्तमा" । स्था० ७ ठा० ।

अहोवाय–अधोवात–पुं० । अधो गच्छन् यो वाति वातः सोऽधोवातः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति वायुभेदे, प्रा० १ पद । अपानजे वायौ च । जीत० । आ० म० ।

अहोवियड–अधोविकट–त्रि० । अधः कुड्यादिरहिते, ऊर्ध्वे इषुपरि तद्भावे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहोविहार–अहोविहार–पुं० । अहो इत्याश्चर्ये, विहरणं विहारः । आश्चर्यभूतोऽहोविहारः । संयमानुष्ठाने, "समुट्ठिए अहोविहारए" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अहोसिर–अधःशिरस्–त्रि० । अधोमुखे, "अहोसिरा कंटया जायंति" अधोमुखाः कण्टकाः भवन्तीति चतुर्दशस्तीर्थकरातिशयः । स० ३४ सम० । अधोमस्तके, उत्त० २३ अ० । "उड्ढं जाणू अहोसिरे" अधोमुखो नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः, किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिः । ज्ञा० १ अ० । विपा० । जं० । सू० प्र० । भ० । औ० । चं० प्र० । नि० ।

अहोहि–अधोऽवधि–त्रि० । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्यस्य सोऽधोवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते, रा० । स्था० ।

अहोहिय–यथावधि–त्रि० । यत्प्रकारोऽवधिरस्येति यथावधिः । नियतक्षेत्रविषयाऽवधिज्ञानिनि, स्था० २ ठा० ९ उ० । स० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–

श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८ श्री–

विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे

ह्रस्वाऽकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

॥ समाप्तश्चायं प्रथमो भागः ॥

॥ श्रीपञ्चपरमेष्ठिभ्यो नमः ॥

॥ श्रीः ॥

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-

कलिकाल-सर्वज्ञ-श्रीमद्भट्टारक

जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री

१००८ श्रीविजयराजे-

न्द्रसूरिविरचिते अ-

भिधानराजेन्द्रे

प्रथमो भागः समाप्तः ।